* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

भाषा-भाष्य

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेव शर्मा,

विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक

आर्य्यसाहित्यमण्डल, लिमिटेड अजमेर.

मुद्रक—

श्रीदुर्गा प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

द्वितीयावृत्ति २०००	सं० १९८८ वि०	मूल्य ४) रुपये

आर्य्य-साहित्यमण्डल लिमिटेड अजमेर के
लिये सर्वाधिकार सुरक्षित.

श्री बाबू दुर्गाप्रसाद अध्यक्ष के प्रबन्ध से
श्रीदुर्गा ब्रिटिश प्रेस, धानमण्डी,
अजमेर में मुद्रित.

॥ ओ३म् ॥

सामवेद भाष्य के प्रथम संस्करण की भूमिका

तमिद् वर्धन्तु नो गिरो वत्सं संशिश्वरीरिव ।
य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ सामवेद १३३६ ॥
तं धेनवो वत्समिवासृताभिमवस्यं हार्दं महिमानमैशम् ।
गिरो गुरोराद्यतमस्य नित्यं निपीयमाना विदुर्धरपुष्णम् ॥

(१)

वेद मानव जाति के ईश्वरप्रदत्त धर्मशास्त्र है । वे संख्या में चार है । ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । सृष्टि के आदि में अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा इन चार ऋषियों के हृदय में परमात्मा ने उक्त चार संहिताओं का प्रकाश किया । सृष्टि का आरम्भ हुए आर्य ज्योतिषियों की गणना के अनुसार १९६०८५३०२६ वर्ष बीत गये हैं, तदनुसार वेदों को उत्पन्न हुए भी इतने ही वर्ष बीते समझने चाहिये । इसका स्पष्ट विवरण महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्ति प्रकरण में किया है । चारों वेदों के चार ही विषय हैं (१) विज्ञान, (२) कर्म, (३) उपासना और (४) ज्ञान । ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान 'विज्ञान' शब्द से कहा जाता है । कर्म दो प्रकार का है एक मोक्षसाधना और दूसरा इह लोक के व्यवहारों की साधना । ईश्वर की स्तुति और आत्मसाक्षात्कार पूर्वक ईश्वरप्रणिधान करना उपासना कहाती

हैं। ज्ञानकाण्ड में ईश्वर, प्रकृति और जीव विषयक विशेष ज्ञान का विवरण है। इन चार विषयों का विशेष रूप से चार वेदों में वर्णन किया गया है। जिसपर विशेष विस्तार से ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि दयानन्द ने 'वेदविषयविचार' विषय में बहुत विचार किया है। इस ग्रंथ में उपासना विषय को दर्शाने वाले ग्रन्थ "सामवेद" का ही भाष्य प्रस्तुत किया गया है जिससे भक्तिरस के पिपासु जन उपनिषदों और सूरदास, कबीर एवं भागवत आदि ग्रन्थों में जो भक्तिरस प्राप्त करते हैं उससे भी अधिक और स्वच्छ परमार्थदर्शक भक्तिरस का लाभ सामवेद में प्राप्त करें। भाष्य पढ़ने के पूर्व पाठकों के समक्ष हम भाष्य से सम्बद्ध अन्य विषयों पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं इसलिये यह भूमिका लिखने का प्रयास है।

(२) सामवेदसंहिता

प्रकाशित सामवेद संहिताओं में से हमारी दृष्टि में प्रामाणिक पाच संहिताएं ही आई हैं.—

(१) सायणभाष्यसहित सामवेदसंहिता श्री सत्यव्रतसामश्रमी द्वारा प्रकाशित जिसको बंगाल एशियाटिक सोसायटी ने १८७६ ई० में प्रकाशित किया।

(२) सायणभाष्यसहित सामवेद संहिता जिसको श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने १८९२ ई० में प्रकाशित किया।

(३) अजमेर नगर में श्रीमती परोपकारिणी सभा ने मूलमात्र सामवेद संहिता प्रकाशित की है।

(४) श्री पं० तुलसीरामजी मेरठ निवासी ने मेरठ से अपने भाषा और संस्कृत भाष्य सहित प्रकाशित की है।

(५) रेव० जे० स्टीवन्सन ने लण्डन से एक सामसंहिता प्रकाशित की है। नगरावा निवासी श्री प० कृपाराम शर्मा ने भी एक सामवेद

संहिता प्रकाशित की, परन्तु उसको हमने अपनी गणना में नहीं रक्खा और विशेषता न होने से उस पर विचार भी नहीं किया। उक्त पाचों प्रकाशित संहिताओं में अपनी २ विशेषता है। रेव० जे० स्टीवन्सन की छापी संहिता में अरण्य काण्ड और महानाम्नी आर्चिक का भाग नहीं है शेष सभी संहिताओं में उक्त दोनों भाग हैं। उक्त रेवरेण्ड महोदय ने अपनी संहिता में वे भाग क्यों नहीं समावेशित किये उसका विशेष कोई कारण उल्लेख नही किया। इसका उचित कारण यही प्रतीत होता है कि पंडित स्टीवन्सन ने राणायनीय शाखा के पाठानुसार ही संहिता का प्रकाश किया है। परन्तु भारतवर्ष में तीन शाखाओं का अधिक प्रचार है कौथुम शाखा गुजरात में, जैमिनीय शाखा करनाटक में और राणायनीय शाखा महाराष्ट्र में प्रचरित है। परन्तु क्योंकि चतुर्वेदभाष्यकार सायण के भाष्य सहित सामवेद संहिता में ये भाग उपलब्ध हैं इसलिये इन भागों की उपेक्षा नही की जा सकती। इस कारण इन भागों को हमने भी अपने भाष्य में रक्खा है। यहा यह कहना भी अप्रासंगिक नहीं है कि चतुर्वेदानुवादकार प० ग्रीफिथ ने भी इस अंश को अपने अनुवाद में स्थान नही दिया, क्योंकि वे भी स्टीवन्सन के अनुयायी हैं।

पं० जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने अपने प्रकाशित सायण भाष्य में इसको स्थान दिया है। इस प्रकार पेशियाटिक सोसायटी के सत्यव्रत-सामश्रमी के सम्पादित सायण भाष्य में भी उक्त दोनों खण्डों को स्थान प्राप्त है।

(३) शाखाभेद

अथर्ववेद परिशिष्ट के 'चरणव्यूह' प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—

(१) "तत्र सामवेदस्य शाखासहस्रमाऽसीद्। अनध्याये-ष्वधीयाना. सर्वे ते शक्रेण विनिहता [प्राविक्षीना.]।

(२) तत्र केचिदेवाणिष्ठा प्रचरान्ति। तद् यथा—राणा-यनीयाः, साद्य [त्य] मुग्रा, कालापा, महाकालापा कौथुमा, ला-ङ्गलिकाश्चेति। कौथुमानां षड्भेदा भवन्ति। तद् यथा—सारा-यणीया. वातरायणीया. वैतधृता. प्राचीनास्तैजसा. आनिष्ठ-केति।

अर्थात्—सामवेद की हज़ार शाखाएं थीं। लोग उनको अनध्याय के दिनों में भी पढ़ते थे, अतः इन्द्र ने उन सबका विनाश कर दिया। कुछ शाखाएं बची हैं जैसे राणायनीय, साद्य[त्य]मुग्र, कालाप महाकालाप, कौथुम, और लाङ्गलिक। इनमें से कौथुम शाखा के छ भेद हैं सारायणीय, वातरायणीय वैतधृत, प्राचीनतैजस, और आनिष्टक।

चरणव्यूह के इस लेख से अन्य व्यूहों में कुछ भेद भी है जैसे—प्रपञ्चव्यूह दर्शाते हुए वाचस्पत्य बृहदभिधान और शब्दकल्पद्रुम में लिखा है कि

"सामशाखाभेदा यथा—आसुरायणीयाः, वासुरायणीया., वार्त्तान्तवेया, प्राञ्जलाः, ऋग्वर्णभेदाः, प्राचीनयोग्या, ज्ञान-योग्या, राणायनीयाश्च।राणायनीयानां नव भेदाः, राणायनीयाः, शाट्यायनीयाः (शावायनीया शाट्यमुग्रिया इति वा) पाराय-णीया, सात्यवत्ता. सात्यद्रवा इति वा) मौद्गला खल्वलाः महाखल्वला कौथुमा जैमिनीयाश्च।"

अर्थात्-इनके अनुसार आसुरायणीय, वासुरायणीय, वार्त्तान्तवेय, प्राञ्जल, ऋग्वर्णभेद, प्राचीन योग्य ज्ञानयोग्य, राणायनीय ये आठ मुख्य भेद हैं जिनमें से राणायनीय शाखा के पुनः नव भेद हुए, जैसे राणायनीय शाट्यायनीय. (शावायनीय या शाट्यमुग्रिय.) पारायणीय, सात्यवत्त या सात्यसद्रव, मौद्गल, खल्वल और महाखल्वल, कौथुम और जैमिनीय।

इसके अतिरिक्त सामवेद की और, शाखाभेद कैसे और कब हुआ इस विषय में विष्णुपुराण में उक्त शाखाओं के नामों से भी भिन्न २ नामों की सूचना मिलती है।

सामवेदतरोः शाखा व्यासशिष्यः स जैमिनि ।
क्रमेण येन मैत्रेय विभेद शृणु तन्मम ॥
सुमन्तुस्तनयस्य पुत्रोऽभूद् सुकर्माऽस्याप्यभूत् सुतः ।
अर्धानवन्नाद्येकैकां संहितां तौ महामुनी ॥
साहस्रं संहितामेकं सुकर्मा तत्सुतस्तत ।
चकार तं च सञ्छिष्यौ जगृहाते महाव्रतौ ॥
हिरण्यनाभि कौशल्य पाष्यञ्जिश्च द्विजोत्तम ।
उदीच्या सामगा शिष्याः तस्य पञ्चशताः स्मृता ॥
हिरण्यनाभाच्चान्यः संहिता यैर्द्विजोत्तम ।
गृहीतास्तेऽपि चोच्यन्ते पण्डितैः प्राच्यसामगाः ॥
लोकाक्षि कुथुमिश्चैव कुषीदिर्लाङ्गलिस्तथा ।
पौष्यञ्जिशिष्यास्तुदुभदा संहिता बहुलीकृता ॥
हिरण्यनाभशिष्यश्च चतुर्विंशति संहिता ।
प्रोवाच कृतिनामासौ शिष्येभ्यः सुमहामति ॥
तैश्चापि सामवेदोऽयं शाखानिर्यहुलीकृतः ।

अर्थ- श्यामदेव के शिष्य जैमिनि ने शाखाओं का भेद इस क्रम से किया कि उनका पुत्र सुमन्तु हुआ। 'सुमन्तु' का पुत्र 'सुकर्मा' । इन दोनों ने एक एक संहिता पढ़ी। सुकर्मा ने सहस्र संहिता भेद किये। उस के दो शिष्य हुए हिरण्यनाभि कौशल्य, और पौष्यञ्जि। लोकाक्षि, कुथुमि, कुषीदी और लाङ्गलि, ये पौष्यञ्जि के शिष्य थे उनको 'उदीच्यसामगाः' कहते थे। और हिरण्यनाभ के पाच सौ शिष्य थे उनको 'प्राच्यसामगाः' कहते थे। हिरण्यनाभ का एक शिष्य 'कृति' नाम था, उसने अपने शिष्यों

को चौबीस संहिताओं का उपदेश किया। उसके शिष्य प्रशिष्यों ने भी सामवेद की बहुत शाखाए करदीं।"

इस उद्धरण में कुथुमि और लाङ्गलि ये दो नाम (अथर्व परिशिष्ट) चरणव्यूह के शाखाभेदों में भी आये हैं। प्राच्यसामग कदाचित् प्राचीन योग्य हों और शेष सब नाम नवीन ही हैं। यह पुराणप्रदर्शित शाखा भेद चरणव्यूह में कहे जैमिनीयशाखा के उपभेद को बतलाता है, परन्तु ऐसा अनुमान करने में यही बाधा है कि कौथुम और लाङ्गलशाखा स्वतन्त्र हैं वे जैमिनीय शाखा के भेद नहीं हैं। वह बाधा भी तब नहीं रहती जब भागवतपुराण प्रोक्त शाखाभेद पर दृष्टिपात करते हैं। उसमें पौष्यञ्जि के शिष्यों का नाम लोगाक्षि, माङ्गलि, कुल्य, कुसीद और कुक्षि लिखा है। इसी प्रकार के नाम भेद से हमें पुराणोक्त शाखा भेद विशेष विश्वास योग्य प्रतीत नहीं होता।

पुराण के उद्धरण से ऐसा भी प्रतीत होता है कि व्यासदेव के समय यह शाखाभेद नहीं था, जैमिनी के शिष्यों से ये शाखाभेद हुए। और जितने २ शिष्य उतनी २ शाखाएं हो गईं। इसका तात्पर्य यही है कि गुरुभेद से शाखाभेद हुआ अर्थात् गुरुओं की प्रतिभा--भेद से शाखाओं में यत्किंचित् भेद हो जाने से ही शाखाभेद हो गया। उनमें बहुतसी शाखाएं लुप्त हो गईं। क्यों ? चरणव्यूह ने तो उनका कारण यही दर्शाया कि अनध्याय के दिनों में विद्यार्थियों ने पढ़ना शुरू किया, इससे कुपित इन्द्र ने वज्र से उन शाखाध्यायियों का विनाश किया। अन्धविश्वासी लोग इस कथा पर विश्वास करने में संकोच अनुभव न करेंगे। परन्तु इसका गूढार्थ यही है कि सामवेद का स्वाध्याय गुरुपरम्परा से लोप हो गया और विनोद या गायनमात्र समझकर विद्यार्थीगण अनध्याय के दिनों में सामगान सीखने आते हैं। इस पर गुरु या आचार्यों ने अपने सामवेद को गौण विषय बनते देख, अपने वेद का अपमान जान शिष्यों

को देना बंद कर दिया हो और इस प्रकार मुख्य शिष्यों के अभाव से वे शाखाएं या कालान्तर में गुरु परम्परा से खण्डित हो गई हों। वैदिक युग में इन्द्र और गुरु शब्द पर्यायवाची थे, इसी आधार पर यह कथा गढ़ी गई प्रतीत होती है।

इसी प्रसंग में हम यह भी कह सकते हैं कि शेष शाखाओं के यद्यपि नाम भी लुप्त से हो गये हैं तो भी उनका कुछ आभास उपलब्ध नामों के साहचर्य्य से पा सकते हैं। जैसे पाणिनि व्याकरण के पैलादिगण (२ । ४ । ५६) में राणि, शब्द का पाठ है । अपत्यार्थ में 'फिञ्' प्रत्यय करने से 'राणायनि' ऐसा प्रयोग होता है । यह एक साम शाखा का प्रवर्त्तक हुआ है उसी प्रकार पैल ऋक्शाखा का प्रवर्त्तक हुआ । इस गण में पठित और भी कितने ही नाम हैं वे भी अन्य शाखाप्रवर्त्तक होने सम्भव हैं । उसी प्रकार तौल्वलादि गण, (२ । ४ । ६१) यस्कादि (२ । ४ । ६३) गोपवनादि (२ । ४ । ६७) शिकिकितवादि (२ । ४ । ६८) उपकादि (२ । ४ । ६९) गण भी दर्शनीय हैं । उन गणों में भी नाना वेदशाखा प्रवर्त्तकों के नाम हैं । इसी प्रकार शार्ङ्गरवादि (४ । १ । ७३) क्रौडयादि (४ । १ । ८०) अश्वपत्यादि (४ । १ । ८४ उत्सादि (४ । १ । ८६) विदादि (४ । १ । १०४) गर्गादि (४ । १ । १०५) तिकादि (४ । १ । १५४) गहादि (४ । २ । १३८) शौनकादि (४ । ३ । १०६) रैवतिकादि (४ । ३ । १३१) गण हैं उन में नाना शाखा-प्रवर्त्तकों के नाम आते हैं । सात्यमुग्रि आदि शुद्ध नाम भी व्याकरण सूत्रों में प्राप्त है उनके सहयोग में अन्य नामों की भी संगति का अन्वेषण कर लेना चाहिये।

(४) साम-ब्राह्मण

ऋक् शाखाभेद पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट होती है कि गुरु प्रवचन भेद से ही यह शाखाभेद हो गया है । परन्तु इससे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि सामवेद की शाखाभेद से सामसंहिता में भेद हुआ

हो । क्योंकि परम्परा से मूलसंहिता एक ही थी और जैमिनि, कौथुम और राणायनीयादि का ब्राह्मण भी छान्दोग्य एक ही है । इसी मुख्य ब्राह्मण के प्रथम पच्चीस अध्यायों को प्रौढ़ ब्राह्मण, बीच के पाच ब्राह्मणों को अद्भुत या षड्विंश ब्राह्मण और शेष दश अध्यायों का नाम छान्दोग्य उपनिषद् है । इस उपनिषद भाग में भी प्रथम दो अध्याय 'मन्त्र ब्राह्मण' कहाते हैं और आर्षेय, सामविधान, देवताध्याय, वंश, संहितोपनिषत् आदि नामों से प्रसिद्ध ब्राह्मण अनुब्राह्मण नाम से प्रसिद्ध हैं,-इसी महाब्राह्मण को कौथुम शाखा में ताण्डय महाब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है ।

(५) साम-संहिता

बहुतसे विद्वानों का मन्तव्य है कि सामवेद मूल केवल ७५ मन्त्रों का ही है । और शेष समस्त मन्त्र ऋग्वेद से ही संगृहीत हैं, अत उनका ग्रहण ऋग्वेद से ही हो जाता है । यह उनका कथन सभी ठीक हो सकता है जब कि ऋग्वेद और सामवेद दोनों संहिताओं का प्रयोजन एक ही हो । परन्तु यदि प्रयोजन भिन्न २ हैं तो संहिता में समानता होने पर भी उनका पृथक् २ होना आवश्यक है ।

सामवेद के दो भाग हैं एक पूर्वार्चिक भाग और दूसरा उत्तरार्चिक । पूर्वार्चिक के साथ ही महानाम्नी आर्चिक भी संयुक्त ही समझी जाती है । पूर्वार्चिक में ग्रामगेय गान और आरण्यक गान दो भाग हैं । ग्रामगेय गान का तात्पर्य यह है, कि वे सामगान जो जनसमूह में गान किये जांय । आरण्यक गेय गान जो वन के परिव्राजक, मुमुक्षुमार्ग पर जीवन बिताने वाले तपस्वी यति लोग गान करें । इसके अतिरिक्त 'महानाम्नी' आर्चिक में शाक्वरी छन्द का उपसर्ग पदों के साथ रक्खा है यह भी विशेष गायन रीति का निदर्शक है । इसके बाद उत्तरार्चिक में ऊहगान और ऊह्यगान का प्रतिपादन है जो एक मन्त्र के गान के अतिरिक्त दो, तीन, चार, पाच, छ, ऋचाओं का एक गान है ।

वास्तवमें देखा जाय तो "गीतिषु सामाख्या" (जैमिनीय मीमांसा सूत्र) गान की रीति का नाम ही साम है। परन्तु बिना छन्दोमय ऋचाओं के गान किस आधार-पर वास करे। वह ऋचाओं में ही निवास करेगा। इसी लिये वेदों के सिद्धान्तरूप उपनिषद ग्रन्थों में यही निर्णय किया है कि "ऋच्यध्यूढं साम गीयते।" ऋग्वेद में आश्रय पाये हुए साम का ही गान किया जाता है। फलतः अब यह एक स्पष्ट अर्थ निकल आता है कि गानविद्या के मर्मों के आश्रयभूत मन्त्रों की संहिता सामसंहिता है। जैसा कि श्री स्वामी शबर ने मीमांसादर्शन में नवमाध्याय के २७ वें सूत्र "अर्थैकत्वादविकल्पः स्यात्" पर स्पष्ट कहा हैं।

"सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः। आह कतमे गीत्युपाया नाम। उच्यते। गीतिर्नाम क्रिया ह्यभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणाम् अभिव्यञ्जिका सामशब्दाभिलप्या। सा नियतप्रमाणायामृचि गीयते। तत्सम्पादनार्थोऽयमृगक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोभ इत्येवमादयः सर्वे सामवेदे समाम्नायन्ते॥"

अर्थ—सामवेद में हजारों गीति के उपाय हैं। गीति का अर्थ है गान क्रिया। वह अभ्यन्तर प्रयत्न से उत्पन्न होकर विशेष स्वर को उत्पन्न करती है, उसीको "साम" शब्द से कहा जाता है। यह नियत प्रमाण वाली ऋचा में गाई जाती हैं। उस गान क्रिया को उत्पन्न करने के लिये ऋचा के अक्षरों में विकार; विश्लेष, विकर्षण, अभ्यास, विराम और स्तोभ आदि किये जाते हैं। इन सबका सामवेद में आचार्य लोग उपदेश करते हैं। परन्तु सामान्य संहिता पाठ में विकार, विश्लेष, विकर्षण अभ्यास, विराम और स्तोभ आदि के बिना ही ऋचायें रहती हैं परन्तु प्रयोगकाल में उद्गाता उन ऋचाओं के वर्णों-मे विकार आदि करके गाता है।

(६) सामगान

यद्यपि इस साम-वेदभाष्य में गायन के विषय का विवरण नहीं किया और न गान योग्य सामरूप को प्रकट किया है तो भी सामविषयक गायन

का साधारण परिचय पाठकों को करा देना आवश्यक है। सो नारदीय शिक्षा के अनुसार संक्षेप से देते हैं।

((१) उरस्, कण्ठ और शिर इन तीन स्थानों से शब्द उठता है) तीनों स्थानों को क्रम से प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीय सवन के समान जानना चाहिये। इन तीनों स्थानों पर सातों स्वर विचरते हैं। उरःस्थल मे विचरते हुए सातों स्वर कानों में सुनाई नहीं देते।

((२) सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनाएं और ४९ तान होते है। ये सब 'स्वरमण्डल' कहाता है। (षड्ज ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवत, निषाद, ये सात स्वर हैं। षड्ज, मध्यम, गान्धार, ये तीन ग्राम हैं। षड्जग्राम में १४, मध्यमग्राम में २० और गान्धार ग्राम में १५ तान होते हैं। ऋषि, पितर और देवभेद से प्रत्येक की सात मूर्छनाएं हैं, जैसे-नन्दी, विशाला, सुमुखी, चित्रा, चित्रवती, सुखा, और बला ये ७ देवमूर्छनाए हैं। आप्यायिनी, विश्वभृता, चन्द्रा, हेमा, कपर्दिनी, मैत्री वाईती, हृष्यका, उत्तरायता और रजनी ये ऋषियों की ७ मूर्छना हैं। देव, पितृ, और ऋषि इनकी मूर्छनाओं के गन्धर्व, यक्ष और मनुष्य क्रम से अनुयायी हैं। लौकिक मूर्छनाएं ऋषियों की हैं। (षड्ज से देव, ऋषभ से ऋषि, गान्धार से पितर, मध्यम से गन्धर्व, पञ्चम से सबजन निषाद से यक्ष और धैवत से अन्य प्राणी प्रसन्न होते हैं।

(३) गान के दस गुण हैं=रक्त, पूर्ण, अलंकृत, प्रसन्न, व्यक्त, विकुष्ट श्लक्ष्ण, सम, सुकुमार और मधुर।

(४) स्वरभेद पांच प्रकार का है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचित और निघात। आर्चिक में उदात्त अनुदात्त और स्वरित ये तीन ही है। स्वरित से परे उदात्त ही प्रचित कहाता है। स्वरित दो प्रकार का होता है एक वर्ण स्वार और दूसरा अतीत स्वार। उच्च और नीच दोनों के बीच को ही स्वार कहा जाता है। उदात्त में निषाद और गान्धार, अनु-

दात्त में ऋषभ और धैवत और स्वरित में षड्ज, मध्यम और पञ्चम रहते हैं। विशेष ज्ञान नारदीय शिक्षा एवं अन्य गानग्रन्थों से जानना चाहिये सामवेदियों में सामवेद संहिता की ऋचाओं के नाना गान स्वरूपों की कल्पना गानशास्त्र के अनुसार की है। वे गान संहिताएं मन्त्रसंहिता से भिन्न होती हैं। उसका कुछ नमूना दर्शाते हैं।

मन्त्र—अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि॥

गेयगान—ओग्नाइ। आया हीं३ वोइ वोईतोया २इ। तोया २इ। गृणानो ह। व्यदातोया २इ। तोया २इ। ना ३ हो ता त्सा २ ३। त्सा २ इ। वा २ ३ ४ औ हो वा हों २ इ ४ पी।१।

यह गौतम ऋषि का पक्ष साम कहाता है। इसी प्रकार इसी ऋषि का दूसरा पक्ष इस प्रकार है।

अग्न आया हि। वो ५ इ तया इ गृणा नो हव्य दा १ ता ३ ये। नि होता २ ३ ४ सा। त्सा २ ३ ४ इ वा। हो २ ३ ३ ४ इ षो ३ हा इ॥ ३॥

इन दोनों पक्षों के भीतर काश्यप ऋषि का 'बार्हिष्य' है जैसे—

अग्न आया हो वो। तयाइ। गृणानो हव्य दात्ता। २ ३ या इ नि होता सत्सि बर्हा २ ३। र्षि। वर्हा २ इ पा १ ३४ औ हो वा। वर्हीं ३ षी २ ३ ४ ५।

इसी प्रकार स्तोभ, ऊह गान और ऊह्यगानों के भी विशेष रूप निर्धारित हैं। उन ही का विशेष परिज्ञान करना सामवेद का परिज्ञान करना है।

(७) सामवेदभाष्य

अभी तक जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हैं वे 'सामवेद' संहिता पर संस्कृत भाष्य ही हैं। जिनमें बहुत से तो लुप्त हो ही गये हैं। निघण्टु के टीकाकार देवराज यज्वा ने स्कन्दस्वामी, भवस्वामी, राहदेव, श्रीनिवास, माधवदेव, उवटभट्ट, भास्कर मिश्र, भरतस्वामी इन आठ भाष्यकारों के नाम दर्शाये हैं। इन सब में से केवल माधवीय विवरण के कुछ अंश उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त सायण भाष्य प्राप्त है। श्री० पं० तुलसीरामजी ने भी सामवेद का एक भाष्य प्रसिद्ध किया है। इन सब भाष्यों के होते हुए भी वेद के मन्त्रों का अन्वयानुसारी ऐसा भाषा-भाष्य उपलब्ध नहीं था जिसको सुगम, सुन्दर और हृदयगम भाषा में शब्दार्थों के पृथक् २ ज्ञान करने के साथ २ पढ़ लेते। इसलिये इस भाष्य को प्रकाशित करने की आवश्यकता हुई।

इसके अतिरिक्त हम यह भी स्पष्ट शब्दों में कहना उचित समझते हैं कि अभी तक जितने भाष्य हुए हैं उनमें से एक भी ऐसा भाष्य नहीं जो सामवेद के वास्तविक उद्देश्यभूत उपासना काण्ड के लक्ष्य को दर्शा सके। श्री सायणाचार्य ने तो यज्ञपरक अर्थ कर के ही अपने कार्य को पूर्ण किया है। प्राय: जो भाष्य सायण का ऋग्वेद के मन्त्रों पर है उसको ज्यों का त्यों ही उठाकर रख दिया है। उसमें विशेष फेर फार नहीं है। परन्तु क्योंकि सामवेद का विषय उपासनाकाण्ड है इसलिये सामवेद के मन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करना संगत प्रतीत नहीं होता। इसके अनन्तर मेरठ निवासी श्री स्वामी गुरुदीनजी का भाष्य है। उनके समक्ष भाष्य में कुछ एक स्थलों को छोड़कर प्राय सायण भाष्य को ही अनुसरण

किया है। हमने उक्त दोनों भाष्यों में से किसी का भी अनुसरण नहीं किया। ऐसा करने के बहुत से कारण है।

(१) सायण ने अपने भाष्य में ऐतिहासिक पक्ष को बहुत पुष्टि दी है जो वेदों को साक्षात् ईश्वर वचन मानने में भारी विघातक है। इससे वेदों का महत्व भी बहुत घट जाता है।

(२) यज्ञपरक अर्थ करलेने में यद्यपि, सायण सफल हुआ है तो भी एक दोष उसके भाष्य में यह है कि जो विशेषण जिस पदार्थ के योग्य होना चाहिये वह उस पर नहीं लगता और जो विशेषण जिस पदार्थ में नहीं घटते वे उस पर लगाये जारहे हैं। इससे वेदमन्त्रों में असत्यार्थ प्रतिपादन करने का भारी कलङ्क आता है। केवल यज्ञ में आये अग्नि, सोम आदि पदार्थों के वर्णन में सामवेद का अधिक भाग लगा हुआ देखकर सायण भाष्य के अनुसार विचार करने से यह प्रतीत होगा कि वेदमन्त्र में अनावश्यक गीत गा गा कर मन्त्र पूरे किये गये हैं और उनका गुढ़ तात्पर्य कुछ नहीं है। यही प्रभाव योरोप के विद्वानों पर भी पड़ा है। इसी कारण योरोप के अनुवादक भी सायण के पीछे २ पग रखते हुए उसी प्रकार असंगत अर्थ करते गये है जिस प्रकार सायण ने किये है। उससे भी बढ़कर योरोप के अनुवादकों ने कहीं २ स्वतन्त्र भी अर्थ किये हैं-परन्तु ऐतिहासिक पक्ष को छोड़ कहीं भी उन्होंने वेद के यौगिक अर्थों पर विचार नहीं किया। हमारा कहने का तात्पर्य यह है कि वेदार्थ के करने में विद्या के परम भण्डार, ईश्वरीय ज्ञान के आदरणीय ग्रन्थों का जिस गम्भीरता से वेदभाष्य प्रकट होना चाहिये था वैसा अभी तक किसी ने भी करने का प्रयास नहीं किया। हम अपने मन्तव्य को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये कुछ एक नमूने अन्य भाष्यों के उद्धृत करते हैं जिससे पाठक हमारे कथन का अभिप्राय समझ सकेंगे। जैसे—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

यह सामवेद का प्रथम मन्त्र है । इसमें सायण ने 'अग्नि' शब्द से साधारण भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है और इसी प्रकार समस्त आग्नेय काण्ड में अग्नि शब्द से यज्ञ के कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि के सिवाय दूसरा पदार्थ नहीं लिया है । क्योंकि सायण लिखते हैं—

"हे अग्ने ! अङ्गनादिगुणविशिष्ट त्व आयाहि अस्मद् यज्ञं प्रत्यागच्छ । किमर्थं, वीतये हविषां चरुपुरोडाशादीनां भक्षणाय ।

अर्थात् हे चमक आदि गुणों से युक्त अग्ने ! तू आ अर्थात् हमारे यज्ञ में आ । क्यों ? ' वीतये ' चरु पुरोडाश आदि हवियों के खाने के लिये । चरु आदि खाने वाला अग्नि सिवाय भौतिक अग्नि के दूसरा पदार्थ नहीं है । इससे आगे तीसरा मन्त्र है—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ।

इस मन्त्र में अग्नि का विशेषण है ' विश्ववेदसं ' । जिसका सायण स्वय अर्थ करते हैं—

'विश्वानि वेत्ति इति विश्ववेदा, यद्वा वेद इति धननाम, विश्व सर्व वेदो धन यस्य तम् " ।

अर्थात् समस्त पदार्थों को जानने हारा या समस्त साधनों का स्वामी 'विश्ववेदा' कहावेगा । परन्तु सायण के अनुसार यह विशेषण 'अग्नि' का है । भौतिक अग्नि जड़ होने से न तो समस्त ज्ञानवान् है और न समस्त धनों का स्वामी हो सकता है । इसी प्रकार उक्त मन्त्र में 'सुक्रतु' शब्द पड़ा है । जिसका अर्थ सायण ने "निष्पादकत्वेन शोभनकर्माणम् अथवा क्रतुरिति प्रज्ञा नाम शोभनप्रज्ञ वा" किया है अर्थात् यह अग्नि यज्ञनिष्पादक होने से 'सुक्रतु' है, या क्रतु प्रज्ञा, अर्थात्

शोभनप्रज्ञ वह अग्नि है यह विशेषण भी भौतिक अग्नि में व्यर्थ है क्योंकि जड़ अग्नि न यज्ञ का कर्ता है और न प्रज्ञावान् ही है। फलतः ये विशेषण किसी चेतनावान् पदार्थ के होने उचित हैं। यह दोष न केवल आग्नेय काण्ड के अग्नि देवता के मन्त्रों में है, प्रत्युत इन्द्र, सोम, उषा आदि देवता के मन्त्रों में भी सायण कृत अर्थों में यही दोष विद्यमान है। क्योंकि सायण ने इन्द को एक विशेष रूपवान् हाथों पैरों वाला, घोड़ों से युक्त रथपर चढा हुआ माना है इसलिये उसमें भी "ईशानमस्य जगतः" "ईशानमस्य तस्थुष" (पू० अ० ३ । १) चराचर जगत् का स्वामी आदि विशेषण नही घटेंगे, उसी प्रकार पावमान काण्ड में सोम का वर्णन किया है। सायण ने सर्वत्र सोम, इन्दु, पवमान आदि शब्दों से सोमलता और उसके रसों का ही ग्रहण किया है। उस लता या सोमरस में-"जनिता अग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनितोत विष्णो" (पू० अ० ५ । ६ । ५) इत्यादि सूर्य, इन्द और विष्णु का उत्पादक विशेषण नहीं घटेंगे। उसी प्रकार सोम को "यो रायामानेता य इषानाम्।" (पू० अ० ५ । ११ । ५) धनों और अन्नों का लाने वाला बतलाया गया है, यह विशेषण भी सोमरस में नहीं घटेंगे।

परन्तु ये सभी मन्त्र परमेश्वरपरक हैं। उनके विशेषण परमेश्वर ही में मुख्यवृत्ति से घट सकते हैं इसलिये उन मन्त्रों का मुख्यार्थ परमेश्वर को और गौण अर्थ अन्य पदार्थों को दर्शावेगा। हमने अपने भाष्य में स्थान २ पर इस विशेषता को दर्शाया है और स्थान २ में वेदमन्त्रों के अर्थ को उपनिषदों और दर्शनों के उद्धरणों से पुष्ट किया है, पाठक यथा-स्थान देख लेंगे। यहां अधिक ग्रन्थ का विस्तार नही दिखाकर अब हम सामवेद का भाष्य प्रारम्भ करने के पूर्व वेद के सिद्धान्तों पर पाठकों का ध्यान आकर्षण करना चाहते हैं।

(८) सिद्धान्त दिशा विचार

यह हम पहले दर्शा चुके हैं कि सामवेद का मुख्य विषय उपासना काण्ड है। वेदों में सिवाय ईश्वर के और किसी देवता की उपासना प्रतिपादित नहीं की है। यह सिद्धान्त कोई नवीन नहीं है। योरोप के विद्वान् एवं सायण के मतानुयायी भले ही वेद के मन्त्रों में पर्वतों, नदियों और वृक्षों या आग, जल, वायु आदि जड़ पदार्थों की स्तुति मानते हैं परन्तु ऐसा उनका मानना उनकी वेद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञता को बतलाता है। उन ही के पीछे चलने वाले नयी रोशनी के पले भारतीय विद्वान् भी बहुत से उस भ्रमजाल में पड़ गये हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वे लोग वेद को वेद के सिद्धान्त भाग से अलग कर लेते हैं। उनकी यही धारणा है कि वेद और उपनिषद् दो भिन्न पदार्थ है। उनका ऐसा समझना ही उनको भ्रम में डाल देता है। योरोप के विद्वानों की दृष्टि में उपनिषदें बाद में बनीं अर्थात् ईश्वर, जीव आदि दार्शनिक सिद्धान्तों की उत्पत्ति बाद में हुई। इसी धारणा से वे उपनिषदों को वेदों से अलग कर देते हैं। वास्तव में उपनिषदों का ज्ञान वेदों से किसी अवस्था में अलग नहीं किया जा सकता। उपनिषदें वेदों के सिद्धान्त प्रदर्शक ग्रन्थ हैं। यदि शरीर में से आत्मा को पृथक् कर दिया जाय तो शरीर केवल हाड़, मास, चाम का मुर्दा मात्र दिखायी देता है और शरीर के अंगों की शक्तियों का चमत्कार नहीं जाना जा सकता। आंख नाक कान, त्वचा, वाणी ये साधन और अन्त करण मन ये संसार में जितना चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं वे सब इस जड़ शरीर से नहीं हो सकते परन्तु आत्मा के होने पर ही ये सब चमत्कार दिखाई दे रहे हैं। उसी प्रकार जब आत्मस्वरूप उपनिषद्, ब्रह्मविद्या को वेदों के शरीर से अलग कर लिया जाता है उस समय वेद के मन्त्र अग्नि जल, नदियों और पर्वतों की स्तुतियों से भरे हुए प्रतीत होते हैं। परन्तु जब उनके आधार

में ब्रह्मविद्या रूप दीपशिखा उपनिषद् को रख दिया जाता है तो वेद ज्ञान का अपूर्व भण्डार दिखाई देता है। यह मन्तव्य बहुत प्राचीन काल में उपनिषत्कारों ने स्वयं स्वीकार किया है। जैसे कठक में—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम्
इत्येतत् ॥ २ । १५)

"समस्त वेद जिस परम पद का पुन. २ प्रतिपादन करते, समस्त तप जिस को दर्शाते हैं, जिसको प्राप्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को संक्षेप से कहता हू 'ओम्' यह है।" अर्थात् सब वेद ईश्वर का प्रतिपादन पुन: २ करते हैं। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चविध आत्मा का अद्भुत प्रत्यक्षमय स्वरूप दर्शाते हुए पाच कोशों को दर्शाया है, वह बहुत ध्यान देने योग्य है। यहा अन्नरसमय पुरुष के पाच अंग दर्शाये गये हैं:—

अन्नरसमय—(१) शिर, (२) दक्षिण पक्ष, (३) उत्तर पक्ष, (४) आत्मा (धड़), (५) आश्रय पुच्छ।

प्राणमय—(१) प्राण, (२) व्यान, (३) अपान, (४) आकाश, (५) पृथिवी।

मनोमय—(१) यजु:, (२) ऋग्, (३) साम, (४) आदेश, (५) अथर्व।

विज्ञानमय—(१) श्रद्धा, (२) ऋत, (३) सत्य, (४) योग, (५) महः।

आनन्दमय—(१) प्रिय, (२) मोद, (३) प्रमोद, (४) आनन्द, (५) ब्रह्म।

ये पाचों कोश उत्तरोत्तर एक दूसरे के भीतर प्रविष्ट हैं, इनमें (१) शिर स्थानीय शिर, प्राण, यजु., श्रद्धा और प्रिय ये क्रमश. एक ही के सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम रूप है। इसी प्रकार दक्षिण पक्ष व्यान, ऋक्, व्रत, मोद उत्तर पक्ष, अपान, साम, सत्य, प्रमोद और आत्मा (धड़) आकाश, आदेश, योग, आनन्द और आश्रय (पुच्छ), पृथिवी, अथर्व, महः, ब्रह्म इनको भी समझना चाहिये। यदि इन सबका कोई एक आश्रय उपनिषत्कार ने बतलाया है तो ब्रह्म को ही बतलाया है। इसी प्रकार स्थान २ पर वेदत्रयी का सार अ, उ, म् को बतलाया है। फलतः यह कहना कि ब्रह्म विद्या को वेदों से पृथक् किया जा सकता है केवल साहसमात्र है।

यदि उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेदों से अलग भी करना चाहें तो भी वे अलग हो नहीं सकतीं, क्योंकि उपनिषदों की स्वतः सत्ता ही कुछ नहीं रह जाती यदि उनका मूल काट दिया जाय। ईश उपनिषद् साक्षात् यजुर्वेद का ४० वा अध्याय है। इस अध्याय का विस्तृत विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ का एक अंश है। इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रकाश है। और ऐतरेय उपनिषद ऐतरेयारण्यक का एक अंग है। छान्दोग्य उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण के आरण्यक भाग का प्रकाश है। जब सभी बड़ी २ उपनिषदें वेद और वेद के व्याख्यानों के अंग ही हैं तब उनको वेद से अलग करना वैसे ही ऋषियों के ज्ञान भण्डार के साथ भारी अन्याय है। जिस प्रकार दीपक को निकाल लेने से घर सूना प्रतीत होता है उसी प्रकार उपनिषदों या ब्रह्मविद्या को वेद से दूर कर देने पर वेदमन्त्र भी अन्धकारमय हो जाता है। यही कारण है कि कर्मकाण्ड को ज्ञानकाण्ड से अलग कर देने पर विषय अविद्या के दूर नहीं रहता। मध्यकालीन विद्वानों ने अलग कर्मकाण्ड में वेद के मन्त्रों का विनियोग पाकर वेदों का कर्म कर्मकाण्डों का बिया। परन्तु उन्होंने यह नहीं विचारा कि

इनके ऐसा करने से वेदभवन अन्धकारमय हो जायगा और वास्तव में वैसा ही हुआ भी। कर्मकाण्ड को मुख्य रखकर वेदमन्त्रों का यज्ञपरक अर्थ करने से दो प्रवृत्तियां जागीं। एक तो कल्पित मनगढ़न्त कर्मकाण्ड गढ़ २ कर उसमें वेदमन्त्रों का मनमाना विनियोग होने लगा जिससे गोमेध, नरमेध, अश्वमेध आदि पवित्र यज्ञों का क्रियाकाण्ड भी भ्रष्ट हो गया, दूसरा वास्तविक वेदों का परमार्थ और विज्ञानमय अर्थ लुप्त हो गया। और उसमें ऐतिहासिक अर्थ और लौकिक अभिधार्थ ही किया जाने लगा। भाष्यकारों ने अपना मतलब साधने के लिये प्राचीन ग्रंथों के उद्धरणों से काम तो लिया परन्तु वेदार्थ करने की शैली को नहीं अपनाया।

वेदों की सबसे उच्च कोटि की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में की गई है। उनमें जहां साथ २ यज्ञ की शैली और लोक-व्यवहार को दर्शाया है वहां यज्ञ की क्रिया का अध्यात्म अर्थ भी किया है। जब समस्त वैदिक कर्मकाण्ड का अर्थ अध्यात्मपरक है तो कोई कारण नहीं की उसमें विनियुक्त मन्त्रों का अर्थ अध्यात्मपरक न हो। भाष्यकारों ने ब्राह्मण ग्रन्थों के इस रहस्य को नहीं समझा। इसी से वे वेदों का जब अध्यात्मपरक अर्थ नहीं लगा सके तब वेद को नित्य ईश्वरज्ञान मानकर भी उनका ऐतिहासिक अर्थ करने एवं भौतिक पक्ष में अर्थ कर उनके गूढ़ ब्रह्मपरक विशेषणों को भी न सुलझा सके। अब हम पाठकों के समक्ष ब्राह्मणकार या उपनिषत्कार ऋषियों के मन्त्रार्थ करने की रीति पर कुछ प्रकाश डालते हैं।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन् अध श्येनो जवसा निरदीयम्॥

(ऋग्वेद म० ४। सू २७। म० १)

इसका प्रतीयमान साधारण अर्थ है—"मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये, मुझे सौ लोहे के कोट घेरे हुए थे और मैं श्येन

था बाज पक्षी होकर बड़े वेग से निकल आया।" यह एक पहेली सी है। इस ऋग्वेद के मन्त्र का व्याख्यान ऐतेरयोपनिषद (अ० २) में इस प्रकार है-

"पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेज सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद् यदाग्निं सिञ्चत्यथैनज् जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥ तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं। तथा तस्मादेनां न हिनस्ति। साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं। भावयति ॥ २ ॥ सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्रे कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनाऽग्रेऽधि-भावयति आत्मानमेव तद् भावयति एषां लोकाना सन्तत्या। एवं सन्तता हि इमे लोकाः। तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥ सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथ अस्य आयान्तर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म। तदुक्तमृषिणा।

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवाना जनिमानि विश्वा।
शत मा पुर आयसीररक्षन् अधः श्येनो जवसा निरदीयमिति।
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच। स एवं विद्वान् अ-स्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्य अमुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामान् आप्त्वाऽमृत समभवत् समभवत्।

अर्थ—पुरुष में ही प्रथम यह गर्भ होता है। वह पुरुष में वीर्य रूप से रहता है वह वीर्य सब अङ्गों से शुक्र रूप में उत्पन्न होता है। उसको

पुरुष अपने ही शरीर में आत्मा रूप से धारण करता है। जब वह मैथुन द्वारा स्त्री के गर्भ में आधान करता है तब उसको उत्पन्न करता है। यह उस आत्मा का प्रथम जन्म है। तब वह गर्भ स्त्री के एक अंग के समान हो जाता है इसलिये वह उसको कोई पीड़ा नहीं देता। स्त्री भी अपने पति के ही आत्मा को अपने भीतर प्रविष्ट हुआ समझ कर उसका पालन करती है। उसका पालन करती हुई स्त्री अपने पति के पालन योग्य होती है। स्त्री उस आत्मा को अपने गर्भ में पालन पोषण करती है। उत्पन्न हो जाने पर उसका पिता उसको जातकर्म आदि द्वारा अपनाता है। पिता जो उस कुमार को पालता है एक प्रकार से अपने को ही उस रूप में विचार करता है वह भी इसलिये कि ये लोक सन्तति द्वारा ही फैलते है, इसलिये यह लोक सन्तति बनी ही रहे। इस प्रकार पुत्र का यह जन्म आत्मा का द्वितीय जन्म है। यही आत्मा बड़ा हो जाने पर पुनः शास्त्रोक्त विधि द्वारा पिता का प्रतिनिधि होकर उसके स्थान पर हो जाता है। और इधर यह पिता का आत्मा जीवन को सफल करके बूढ़ा हो, चल बसता है। यहां से जाकर पुनः वह पैदा हो जाता है। यह उसका तीसरा जन्म है। इसी प्रकार वेदमन्त्र ने भी कहा है कि—(गर्भे नु सन्विति०)—अर्थात् 'मैंने गर्भ में ही इन देवों के सब रूप जान लिये मुझे लोहे के सौ कोट घेरे हुए थे श्येन पक्षी के समान मैं आत्मा बड़े वेग से निकल आया" इति। गर्भ में ही सोते हुए वामदेव ने इस प्रकार कहा। वह वामदेव इस शरीर के बन्धन को तोड़कर परलोक में सर्वाप्तकाम होकर अमृत, मुक्त हो गया।

उपनिषत्कार ने यह एक वेदमन्त्र की संगति लगा कर दर्शाई है और आत्मा के अमर होने का और मुक्त होने का सिद्धान्त दर्शाया है। इसी प्रकार अन्य २ मन्त्रों की भी व्याख्या ब्राह्मणों और आरण्यकों में प्राप्त होती है। इस व्याख्या में दो ध्यान देने योग्य विचार बिन्दु हैं जैसे

(१) सौ लोहे की कीलें (शतं आयसी: पुर:) और (२) बाज के समान वेग से बाहर निकलना। इन दोनों घटनाओं का वर्णन प्राय. अग्नि और इन्द्र और सोम तीनों देवताओं के विषय में रूपान्तर से आयेगा। १०० पुरी ९९ पुरी या ९० पुरी का वर्णन जैसे—

इन्द्र के विषय में—

अया चीती परिस्रव यस्त इन्द्रो मदेष्वा। अवाहन्नवतीर्नव॥

(साम० उ० अ० ६। ५। १। १)

इन्द्र ने सोम के मद में ९९ पुरियों का विनाश किया है।

इन्द्र और अग्नि दोनों के विषय में जैसे—

इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा॥

(साम० उ० अ० १६। १। १। २)

दोनों को शत्रु के ९० पुरी का विनाशक बतलाया है।

केवल अग्नि के विषय में जैसे—

"प्रभूर्जयन्त महाविपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम्॥"

(साम० पूर्व० अ० १। ८। २)

उक्त सभी उदाहरणों में पुरों का या परकोटों का विनाश समान है और संख्या भी ९९, १००, ९० समान दी है अत: इन सबकी सगति एक ही अर्थ में होना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषत् ने एक मंत्र की सगति बैठाकर वेद के एक सभी मन्त्रों की व्याख्या कर दी है। प्राय ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों और ब्राह्मणकारों की यही शैली रही है जिससे वेदमन्त्रों की अव्याख्यातता दूर हो जाती है। परन्तु भाष्यकारों ने इन व्याख्याओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

अब हम सामवेद गत देवताओं पर विचार करते हैं :

सामवेद के देवता (९)

सामवेद गत देवताओं पर विचार करने के पूर्व देवता शब्दपर सामान्य रूप से विचार कर लेना उचित है। इस विषय पर वेद विषय में प्रमाण ग्रन्थ सबमे अधिक यास्क का निरुक्त है। यास्क लिखते हैं—

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवनः स मन्त्रो भवति"।

जिस वस्तु की अभिलाषा करके मन्त्रद्रष्टा ऋषि जिस देवता में अपने अभिप्राय का स्वामित्व निश्चित जानकर स्तुति करता है उस मन्त्र का वही देवता कहा जाता है।

(वेदों की ऋचाए तीन प्रकार की है (१) परोक्षकृत (२) प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक। परोक्षकृत मंत्रों में देवता को प्रथम पुरुष बनाकर क्रिया मे भी प्रथम पुरुष का व्यवहार किया है। प्रत्यक्षकृत मंत्रों में 'तू' इस प्रकार देवता को कह कर क्रिया में मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है और आध्यात्मिक में 'अहं' इस प्रकार उत्तम पुरुष का प्रयोग किया गया है।)

निरुक्तकार यास्क लिखते हैं-

माहाभाग्याद्देवतायाः एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मानोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपिच सत्वानां प्रकृतिभूमभि ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः। प्रकृतिसार्वनाम्न्याच्चेतरेतरजन्मानो भवन्ति, इतरेतरप्रकृतय. कर्मजन्मानः आत्मजन्मान.। आत्मैव एषां रथो भवत्यात्मा अश्व आत्मा आयुधम्, आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य०।" इत्यादि॥

अर्थ—देवता का बड़ा ऐश्वर्य होने से एक आत्मा का बहुत प्रकार से वर्णन किया गया है। एक आत्मा के ही अन्य देवता अङ्ग प्रत्यङ्ग हो जाते हैं। और नाना प्रकार के सामर्थ्य देखकर भी अनेक नामों से ऋषियों ने स्तुतियां की है। और वह आत्मा सब पदार्थों में समान रूप से मूलकारण होने से सभी नाम उस महान् आत्मा के ही होने सम्भव हैं, इस कारण से भी उस ही आत्मा की नाना नामों से स्तुति की जाती है। उस महान् आत्मा का ऐसा ही विशेष ऐश्वर्य होने के कारण वेद के देवता इतरेतरजन्मा हैं अर्थात् एक दूसरे के मूलकारण और कार्य हो जाते हैं। बहुत से कर्मभेद से देवताओं की कल्पना है। परन्तु वह सब महान् आत्मा से ही उत्पन्न है। वही उनका रथ है, वही अश्व है, वही आयुध है, वही हनु है, वह सब कुछ देव परम आत्मा स्वयं है। बहुत से स्थलों पर पुरुष के समान अङ्गों वाला देवता मान कर उनकी स्तुति की हैं और पुरुष के समान ही उसके कर्म भी दर्शाये हैं जैसे–

आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि'" हे इन्द्र दो घोड़ों से आप आओ'। और जैसे "'आद्धि इन्द्र पिब च' 'हे इन्द्र खा और पी इसी प्रकार अचेतन पदार्थों से भी देवता की स्तुति की है। जिस प्रकार अग्नि, वायु, आदित्य सोम, प्रावा आदि नामों से भी बहुतसी स्तुतियां है। परन्तु सब स्थानों पर पुरुषों के समान ही कर्म करने वाले देवता का निरूपण किया है।

देवता का क्या स्वरूप है इसकी व्यवस्था के लिये निरुक्तकार यास्क का मत है कि तीन ही देवता हैं पृथिवी पर अग्नि अन्तरिक्ष में वायु या इन्द्र और द्यौ में सूर्य। या देवताओं के महा ऐश्वर्य होने से और नाना कर्म होने से एक के ही बहुत से नाम हैं। जहां कर्म पृथक २ होने से देवता पृथक् पृथक् हैं वहां जिस प्रकार बहुत से कर्म करने वाले एक ही काम को आपस में बांटकर कार्य करते हैं उसी प्रकार वे भी रहते हैं, वे एक

दूसरे के उपकारक भी हो जाते हैं। यहां इनकी व्यवस्था नरराष्ट्र के समान ही समझनी चाहिये।

और भी स्पष्टता के लिये निरुक्तकार ने इन देवताओं को तीन विभागों में बांट दिया है। हवि का वहन करना देवताओं का आवाहन करना या दृष्टिविषयक सब काम अग्निविषयक समझा जाय। पृथिवी स्थानी देव गण अग्न, शकुनि आदि निघण्टु (अ० ५ ख० ३) में पढ़ दिये हैं अग्नि के सस्तविक देव इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य, ऋतु है। अर्थात् इन नामों से भी अग्नि की स्तुति की गई है।

इसी प्रकार मध्यस्थानी देवता निघण्टु (अ० ५, ख० ४, ५) में पढ़ दिये गये हैं। उनमें मुख्य इन्द्र या वायु है। सब बल कर्म इन्द्र नाम से कहे जाते हैं, इसका कार्य रस का अनुप्रदान करना और वृत्र का वध करना है। अग्नि सोम, वरुण, पूषा, बृहस्पति, ब्राह्मणस्पति, पर्वत कुत्स, विष्णु, वायु आदि इसके संस्तविक देव है। तृतीय स्थान के देवता निघण्टु (५, ख० ६) में पढ़े गये हैं। रश्मियों से रस का लेना और धारण करना आदित्य का कार्य है। इसके संस्तविक देव चन्द्रमा, वायु और संवत्सर है।

निरुक्तकार यास्क का यह देवता विभाग केवल भौतिक विज्ञान के वर्णन में ही लागू होता प्रतीत होता है। समाज क्षेत्र में वेदज्ञान को प्रवृत्त कराने के लिये यास्क की व्याख्या केवल यही है कि "नदेवनर राष्ट्रमिव" नरराष्ट्र के समान ही वेद में देवराष्ट्र की व्यवस्था समझनी चाहिये। इस प्रकार उन्हीं देवनामों से यथास्थान राजप्रबन्ध, और समाज की वर्णव्यवस्था का भी वर्णन निकल आयगा। और अध्यात्म वर्णन के लिये यास्क का सिद्धांत यही है कि 'महाभाग्याद्देवतानां एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एक ही महान् आत्मा की उसके महान् ऐश्वर्य के कारण नानारूप से स्तुति की गई है।

इसीलिये दैवतकाण्ड या ज्ञान या कर्मकाण्ड की व्याख्या कर चुकने पर स्वय निरुक्तकार ने ऊर्ध्वमार्ग गति या उपासना मार्ग पर दृष्टि डालकर लिखा है। अथैतदनु प्रवदन्ति अथैतं महान्तमा त्मानमेपर्म्गण प्रव दानि। इन्द्रमित्र वरुणाग्नमाहुरिति। यह सब ऋचाओं का समूह उस महान आत्मा का ही वर्णन करता है। इस प्रकरण में यास्क ने सोम, इन्द्र, आदित्य विष्णु आदि देवताक ऋचाओं का उल्लेख करके आध्यात्म विषय को उत्तम रीति से दर्शाया है। इसमें यही ध्यान देने योग्य बात है कि महान् आत्मा के निम्नलिखित पर्याय यास्क ने दर्शाय हैं-;

हंस. । धर्म । यज्ञ' । वेन । मेध । क्रमि. । भूमि । विभु । प्रभु. । शंभु' । राशु । भुवनम् । भविष्यत् । आप' । महत् । व्योम । यश । मह' । स्वर्णीकम् । स्तृतीकम् । सतीकम् । सतीनम् । गहनम् । गभीरम् । गह्वरम् । कम् । अन्नम् । हवि । सप्त । सदनम् । ऋतम् । योनि. । अमृतस्य योनिः । सत्यम् । नीरम् । हवि. । रयि. । सत् । पूर्णम् । सर्वम् । क्षितम् । बर्हि । नाम । सर्पि । अप. । पवित्रम् । अमृतम् । इन्दु । हेम । स्व । सर्गो । शम्बरम् । अम्बरम् । वियत् । व्योम । बर्हि । धन्व । अन्तरिक्षम् । आकाशम् । आप. । पृथिवी । भू । स्वयभू' । अध्वा । पुष्करम् । सगर । समुद्र' । तप' । तेजः । सिन्धु । अर्णव. । नाभि । वृक्ष । ऊर्ध । तत् । यत् । किम् । ब्रह्म । वरेण्यम् । हस । आत्मा । भवति । वधन्त्यध्वानम् । यद् वाहिष्या शरीराणि । अव्यय च संस्कुरुते । यज्ञ आत्मा भवति । पदेन तन्वते ।

इन हंस आदि डाक्त शब्दों से आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को वेदमन्त्रों में दर्शाया गया है। इसलिये आध्यात्म तत्व के खोजक को चाहिये कि वेद मन्त्र पर विचार करने के पूर्व ही प्रथम इन शब्दों की उपस्थिति को

देखते और फिर आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करे तो नि सन्देह मन्त्रों का आध्यात्मिक रहस्य खुल जाता है । अब हम सामवेद गत देवताओं की संक्षेप से एक २ की आलोचना करते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार उपासनाकाण्ड में इन देवताओं की संगति लगती है ।

अग्नि (१०)

प्रथम आग्नेय काण्ड है । इस काण्ड भर में अग्नि देवता को लक्ष्य करके ही सब मन्त्र हैं । वह अग्नि क्या पदार्थ है ! इसका विवेचन वेद के सिद्धान्त या आश्रयभाग उपनिषदों में देखिये ।

(१) कठोपनिषद में नचिकेता ने गुरु यम से प्रश्न किया है–

स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्र ब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम् ।

आप उस स्वर्ग देने वाले अग्नि को जानते हो, मुझ श्रद्धालु को उसका उपदेश करो । इसके उत्तर में यम ने कहा है ।

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् ।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ।
लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै० ... । इत्यादि ।

कठ० १ । १ । १३ १४ ।

मैं तुमको उसी स्वर्ग देने हारे अग्नि का उपदेश करता हूं । वह अनन्त लोकों को प्राप्त कराता और अनन्त लोकों का आश्रयस्थान है । वह सब लोकों का आदि मूल कारण है ।

इस अग्नि का नाम भी 'नाचिकेत' अग्नि ही है ।

पाठक समझ सकते हैं यह कौनसी अग्नि है । यह नाचिकेत अग्नि 'नासिकेत' प्राणस्वरूप अग्नि है ।

आत्मा का प्रतिपादन करते हुए पुनः लिखा है:—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भणीभिः (क०२।१।८)
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निरेतद्वै तत् ।

गर्भिणी जिस प्रकार गर्भ को धारण करती हैं उनके समान अरणियों में जो जातवेदा विद्यमान हैं, जागने हारे हविष्मान् पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुति करने योग्य जो अग्नि है, वह यह अग्नि आत्मा है। अर्थात् आत्मा का प्रतिनिधि ही यज्ञाग्नि है दूसरा पदार्थ नहीं। फलतः, यज्ञोक्त मंत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य वह आत्मा ही है। मन्त्रों का तो केवल प्रतिनिधिवाद से यज्ञों में विनियोग किया जाता है। (इस उक्त मन्त्र की स्पष्ट व्याख्या देखिये अवि० सं० ७६) यह वही अग्नि है, हृदय में छुपे हुए जिसका योगी लोग ध्यान निर्मथन के अभ्यास से साक्षात् देख लेते हैं।

(२) इस रहस्य को श्वेताश्वतर उपनिषद् में बड़े उत्तम रूप में रखा है।

वन्हेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाश ॥
स भूय एवेन्धनयोनिग्राह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥

जिस प्रकार अपने कारण भूत अरणियों में अग्नि की मूर्ति नहीं देख पड़ती और न अग्नि के सूक्ष्मरूप का विनाश ही होता है और बाद में भी उसको उसके मूलकारणभूत इंधन से ही मथन द्वारा प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार देहा आत्मारूप अग्नि में भी इस देह में प्रणव के मनन से प्रकट होते हैं।

अर्थात्—स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

अपने देह आत्मा को अधर अरणि और प्रणव ओंकार को उत्तर अरणि बनाकर ध्यानरूप मन्थन दण्ड को पुनः रगड २ कर ज्योति.स्वरूप, देव, अर्थात् प्रकाशस्वरूप आत्मा का दर्शन करे ।

तिलेषु तैलं दधिनीव सर्पिरापः स्रोतः स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥

तिलों में तेल, दही में घी, नादियों में जल और अरणियों में अग्नि जिस प्रकार उपलब्ध होती है उसी प्रकार आत्मा में ही वह परमात्मा व्यापक रूप में जाना जाता है, योगी जन उसको सत्य अर्थात् भूताहिन, अहिंसा आदि यम, नियम, सत्याचरण और तप से प्राप्त करते हैं ।

इसी अभिप्राय को दर्शाने वाले अन्य वाक्य भी देखने योग्य हैं । जैसे—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥

अर्थ—अग्नि के प्रकाश को ही मानो सविता जगदुत्पादक प्रभु ने इस पृथिवीरूप देह में छिपाया था । अर्थात् पृथिवी में जिस प्रकार अग्नि है उसी प्रकार देह में आत्मा है । इसी प्रकार—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्तत्तत्प्रजापतिः ॥
नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भः ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्त्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥

इन दो मन्त्रों में अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, नील, पतङ्ग, हरित, लोहिताक्ष आदि सब नाम उसी ब्रह्म परमात्मा के गुण एवं स्वरूपके निदर्शक हैं ।

मैत्रायणी उपनिषद् में:—

'अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्करे एवाग्निरोऽन्नमत्ति स एषो ऽग्निर्दिवि श्रितः सोयं कालाख्योऽदृश्य. सर्वभूतान्नमत्ति ।'
(मैत्रा० ५ । २)

हृदय कमल में स्थित यह अग्नि (आत्मा) है जो अन्न खाता है और वह मोक्षधाम, द्यौ. में स्थित कालाग्नि नामक परमेश्वर रूप अग्नि है जो प्रलय काल में समस्त भूतों को खाजाता है, लीन कर लेता है ।

एष हि खलु आत्मा ईशानः शंभुर्भवो रुद्र प्रजापतिर्वि. श्वसृड् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंस. शान्तो विष्णुर्नारायणोऽ. र्कः सविता धाता सम्राड् इन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना. पिहित. सहस्राक्षेण आनन्दमयेनैष वा विजिज्ञासितव्योऽन्वे ष्टव्यः । (मैत्रायणी उप० ५ । ८)

- वही आत्मा ईशान, शम्भु आदि नामों से कहा जाता है वही अग्नि ज्योति. अर्थात् प्रकाश से आवृत होकर प्रकाशित होता है ।

शिर. पक्षसी पुच्छमृष्टवाग्नेयोऽग्नि: । ' प्राणो वै वायुः प्राणोग्नि. ।''' असौ वा आदित्य इन्द्र' सैषोऽग्नि ''६।३६॥ इन्द्रोऽग्निरिव विश्वरूप. ॥

इत्यादि स्थलों में वह परब्रह्म ही अग्नि शब्द से लिया गया है उपको ही

'तस्मादग्निर्यष्टव्यश्चेतव्य' ॥ ६ । ३४ ॥

इत्यादि स्थलों में उपासना करने का उपदेश है ।

प्रश्नोपनिषद् में—

"स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोग्निरुदयते ।"

परब्रह्म की सूर्यरूप से उपासना का वर्णन किया है ।

हम अग्नि के सम्बन्ध में और अधिक उपनिषद् वाक्यों को उठाकर लेख नहीं बढ़ाना चाहते । पाठक स्वय हमारी दिखाई दिशा से वेदमन्त्रों के भीतर रखे हुए विशेषणों पर विचार करेंगे और यथास्थान उनका आध्यात्मिक तत्व जान लेंगे ।

इसके अतिरिक्त अग्नि के सम्बन्ध में एक बात यह भी लिखना अप्रासङ्गिक न होगा कि वेद में अग्नि शब्द जहा आत्मा और परमात्मा का मुख्य नाम है वहां इसी अग्नि शब्द का प्रयोग वैदिक भाषा में आचार्य और ज्ञानी विद्वान् के लिये भी आता है । जैसा उपनयन पद्धति में आचार्य बालकका अञ्जलि पकड़कर जल छुड़ाते समय कहा करता है ।

"अग्निराचार्यस्तव असौ" । कस्य ब्रह्मचार्यसि ? भवत. ।
इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यस्मि । अग्निराचार्यस्तवाहमाचार्यस्तव ।

पार० का० २, कं० २

ये पद्धतिया प्राचीन वैदिक विशेष परिभाषा-पदों के प्रयोगों की सूचना देती है । हमें उनको भी भुलाना नहीं चाहिये । इसलिये हमारा अधिक बल इस बात पर है कि विशेषणों को देखकर वेदमन्त्र के अर्थ करने चाहिये । निरुक्तकार ने अग्नि का निर्वचन इस प्रकार किया है ।

अग्नि कस्माद्अग्रणीर्भवति । अग्रे यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति संनममान । अक्तोपनो भवनि । त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायते शाकपूणिरित.दक्षाद् दग्धाद् वा नीतात् ॥

अर्थात्—अग्रणी, यज्ञ में प्रथम प्रणयन करने योग्य यज्ञाग्नि, अङ्ग या देह को लेजाने वाला जीव, नर्मीला होने वाला विद्युत, ज्ञान प्रकाशक आचार्य और दाहक ताप ये सब अर्थ अग्नि के हैं । इन अर्थों को यथास्थान लगाना उचित है ।

इन्द्र (११)

लौकिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ राजा है। पौराणिक साहित्य में इन्द्र एक काल्पित स्वर्गका राजा और अपनी देव कथाओं का विलासी पात्र है। परन्तु वैदिक साहित्य में इन्द्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण है। जैसा इस देह में आत्मा है उसी प्रकार विश्वमय ब्रह्माण्ड में परमात्मा है जिसका वर्णन 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' इत्यादि विशाल अलकारों से किया जाता है। इसी को 'यस्य भूमि प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम्' इत्यादि अलकारो से ज्येष्ठ ब्रह्म बतलाया है।

यह अन्तरात्मा इन्द्र है। इसके लिये सर्व प्रसिद्ध प्रमाण देह की इन्द्रियां हैं जिनका नाम ही इन्द्र के आधार पर है। पाणिनि आचार्य ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति लिखी है—

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा

(पा० ५ । २ । ९३)

इन्द्र आत्मा का ज्ञापक लिङ्ग उसका देखा, उससे उत्पन्न, उससे सेवित और उसकी शक्ति से युक्त होने के कारण ही इन्द्रिय कहाते हैं। इसके अतिरिक्त सब कथा कथानकों में प्रसिद्ध पुराणगत इन्द्र कोई पदार्थ नहीं है। वह भी आलकारिक रूप से इसी इन्द्र आत्मा के सम्पन्न, सिद्ध, ऐश्वर्यवान् आदि रूपों को दर्शाया है। दूसरा इन्द्र वह परमात्मा है जिसका वर्णन वेद में स्थान २ पर आता है। जैसे 'इन्द्रो महा रोदसी पप्रथच्छवा' (साम० उत्त० अ० १६ । २ ८ । २ ।)

अब यह तो पाठक भाष्य में देखेंगे कि समस्त इन्द्र पर्व इन्द्र विषयक है और उषार्चिक में भी इन्द्र विषयक बहुतसी ऋचाएं हैं।

यहां थोड़ासा उपनिषदों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हैं—

(१) ऐतरेय उपनिषद् में—

'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यदु इदमदर्शमिती ँ तस्मा दिदन्द्रो नाम। इदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया हि देवाः।

वह मुमुक्षु इस पुरुष को ही ब्रह्मरूप से देखता है।

और कहता है 'इदम् अदर्शम्' इससे उस ब्रह्म का नाम 'इदन्द्र' है इसका ही परोक्षरूप 'इन्द्र' है।

बृहदारण्यक में—

इन्धो ह वै नाम एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः। तं वा एतमिन्धं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते ४। २। २॥

दक्षिण चक्षु में द्रष्टा रूप से विराजमान आत्मा ही 'इन्ध' है उसको ही 'इन्द' कहते हैं ,स इन्द्रः स एषोऽसपत्नः (१। ५। १२), यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी (६। ४। २२)। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गल: सपरिश्रमः (६। ४। २३) इन स्थलों पर इन्द जीवात्मावाचक है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में—

स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। (१। ४। १) शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। (१। १। १) स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः। सामवेद उत्तरा० अ० १। ८) इन स्थलों पर इन्द शब्द परमात्मावाचक निर्विवाद है।

यहां विवाद योग्य बात यही है कि सामवेद में इन्द के साथ दो तीन विशेष घटनाएं प्राय जुड़ी हैं। एक तो इन्द्र का सोमपान, दूसरा इन्द्र का वज्र से पुर भेदन और तीसरा वृत्रहनन। उपनिषत्कार इनको क्या मानते हैं इस पर भी कुछ प्रकाश डालना उचित है।

१. सोमपान के प्रकरण को सोमदेवता के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। पुर भेदन के विषय को अग्नि के प्रकरण में स्पष्ट कर आये हैं। वज्र के विषय में गीता में व्यासदेव स्वय भगवान् को ही "आयुधानामहं वज्रम्" सब आयुधों में श्रेष्ठ वज्र स्वीकार करते हैं। सब दु खों के भवबन्धन के छेदन करने हारा ईश्वर ही स्वत. ज्ञानस्वरूप सबसे उत्तम वज्र है।

काठक उपनिषद् में-

प्राण एजति निःसृतम्। महद् भयं वज्रमुद्यतम्।
य तद् विदुरमृतास्ते भवन्ति। (६। २)

ईश्वर की शक्ति प्राण को वज्र कहा है।

क्षुरिकोपनिषत् में-

मनसस्तु क्षुरं गृह्य सुनीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम्।
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तम्॥

ज्ञान, ध्यान में तत्पर मन को ही वज्र लिखा है। उस वज्र द्वारा सुषुम्ना सहित १०१ नाड़ियों के बन्धन को ध्यान योग से काटता है। जैसे लिखा है-

द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाड़िषु तैतिलम्।
छिद्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।
योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा॥
छिन्देत्तान्नाड़िगतं धीरः प्रभावादिह जन्मनि॥

ये सात नाड़ी ही आयमी पुर हैं, जिनको कहीं ९९ या ९० भी कहा जाता है। इनमें न्यास तैतिल=अन्धकार को ही अभ्यास योगी वृत्र कहते हैं। इसका विवरण स्थान २ पर पाठकगण भाष्य में ही देखेंगे। इन्द्र और वृत्र की कथा की आलंकारिक व्याख्या का विस्तृत विवरण महर्षि ने

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में स्पष्टरूप से 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यविषय' में कर दिया है। उसको पुनः यहां उठाकर रखना पिष्टपेषण होगा।

(१२) सोम देवता

सोम क्या पदार्थ है इसका निर्णय कठिन है। याज्ञिक लोगों का सोम एक लता है, जिसके रस पान करने के लिये विशेष विधि है। जो सोमपान तैयार करने की विधि महीधर आदि भाष्यकारों ने दी है वह बहुत सरल है। सन की छाल, त्रिफला, सूंठ, पुनर्नवा, पीपल, गजपीपल आदि नाना ओषधियों में धान और जौ की खीलें मिला, कूटकर उनको कलश में बंद करके, उसे तीन दिन तक रक्खा जाता है और फिर उसे कम्बल के टुकड़े से छानकर उसमें दूध, मधु आदि मिलाकर पान किया जाता है। छानने और पान करने की इन सब क्रियाओं को करते समय सोम देवता के मन्त्रों का पाठ किया जाता है परन्तु उनमें सोम कोई पदार्थ नहीं गिना जाता है। उसमें प्रतिनिधि वाद से ही सोम की कल्पना करके सोमदेवताक मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। महीधर के काल के सोम सौत्रामणि को देखकर यह कहना कि समस्त सोमदेवताक मन्त्र इसी सुरारूप सोम का वर्णन ही करते हैं यह भारी भूल होगी। ब्राह्मण ग्रन्थों ने यज्ञ में रखी यज्ञक्रियाओं की व्याख्या करने का यत्न किया है। उसमें वे सोम के निमित्त प्रतिनिधि पदार्थों को मन्त्र में आये शब्दों का अर्थ स्वीकार नहीं करते, प्रत्युत, जिस मुख्य अर्थ के अभिप्राय में वह शब्द मन्त्रों में पढ़ा गया है उसको ही वहां खोलकर बतला देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण और ऋषियों के मत से वह मन्त्र सोमद्रव्यपरक न होकर अध्यात्मपरक हो जाता है। यज्ञकाण्ड को खोलकर दिखाने पूर्वक उसके यज्ञव्याख्यानुसार सोमपरक मन्त्रों की अध्यात्म व्याख्या कर दिखाने के लिए यहां स्थान नहीं और न यहां अवसर है। तो भी ब्राह्मण

कारों ने सोम, सत्त्व के प्रकरण में सोम के जो २ अर्थ किये है उनपर पाठकों का ध्यान खींचते हैं।

जैसे—

श्रीर्वै सोम (श० ४ । १ । ३ । ६) राजा वै सोमः (श० १४। १ । ३ । १०) यदाह गयोऽसि इति सोमं वा एतदाह (गो० पू० ५ । १४) सोमो वै प्रजापति (श० ५ । १ । ५ । २६) यदाह श्येनोऽसि इति सोमं वा एतदाह। एष ह वा अग्निर्भूत्वा संश्यायति। (गो० पू० ५ । १२) यो वै विष्णु सोम स (श० ३ । ३ । ४। २१) योयं (वायु) पवते एष सोम (श० ७ । ३ । १ । १) स यदाह सम्राड् असि इति सोमं वा एतदाह। एष ह वै वायुर्भूत्वा अन्तरिक्षलोके सम्राजति । (गो० पू० ५ । १३) एष वै यज्ञमानो यत् सोम (तै० १ । ३ । ३ । ५) क्षत्रं वै सोमः (श० ३ । ४ । १) १०) सोमो वै यशः (तै० २ । ७ । ८ । ८) एषा कवला यत्सोमाहुति (ग० १ । ७ । २ । १०) प्राणः सोम. (श० ७ । ३ । १ । ४५) रेतः सोम' (ऐ० १३ । ७) सोमो वै ब्राह्मण (तै० २ । ७ । ३ । १) एष वै ब्राह्मणानां सभामाह सखा (श० १० । ७ । १ । १०) इत्यादि।

अर्थात्-सोम के अर्थ श्री, राजा, प्राण, प्रजापति, गृहस्थ, अग्नि विष्णु, परमात्मा, वायु सम्राट, पशुत्रिय, वीर्य, यश, केवल आनन्दमय, परमात्म का लय, पीय और ब्राह्मण आदि सभी सोम शब्द से लिए जाते हैं और प्रकरणानुसार सभी अर्थ सोम के स्थान २ पर लिये भी गये हैं। प्रकरणों का परिज्ञान मन्त्र के भीतर आये विशेषणों से जाना जायगा। यदि विशेषण इन अर्थ वाचकों और यहां सोम के दूसरे और अर्थ के लिये आवें तो, यह वेद मन्त्र के साथ बड़ा अन्याय होगा।

सोम को सोमविक्रयी से खरीदकर बड़े आदर से शकट पर लादकर उसे पत्थरों से कूटा जाता है और पुनः उसे दशापवित्रनामक वस्त्र से एक द्रोणकलश नामक घट में छान लिया जाता है। द्रोणकलश में जब होते हैं उनको 'वसतीवरी' नामक 'आपः' कहा जाता है। जिस वस्त्र से छाना जाता है उसको बालों से बना होने के कारण 'अव्या' या 'अव्यय' या 'अव्या वार' शब्द से पुकारा जाता है। उसी को दशापवित्र या पवित्र नाम से भी पुकारा जाता है। सामवेद के प्रायः बहुतसे मंत्रों में सोम को इस पवित्र' नामक वस्त्रखण्ड से छानने का वर्णन किया है। सायण ने प्रायः बहुतसे मन्त्रों में से सोम के छाने जाने परक कई अर्थ लिये हैं। परन्तु हमने सायणकृत अर्थों की उपेक्षा की है क्योंकि सोमलता और कूटा हुआ सोमरस जो जड़ पदार्थ हैं उसमें ऐसे विशेषणों का आना जो जड़ पदार्थ में नहीं लग सकते हमें सायणकृत अर्थों के न मानने के लिये बाधित करता है। उदाहरणार्थ—

जैसे—

पुनान सोम जागृविरव्या वारे. परिप्रियः।
विप्रोऽभवोऽङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञ मिमिक्ष णः॥

(ऋवि० सं० ५१६)

सायण ने इसका अर्थ यह किया है—

"हे सोम जागरणशील छाना जाता हुआ तू मेषी=भेड़ के बालों से बने दशापवित्र नामक वस्त्रखण्ड पर बहता है, हे अंगिरों में श्रेष्ठ मेधावी तू पितरों का नेता होता है, वह तू हमारे यज्ञ को मधु अर्थात् अपने रस से सींच।

सोमरस को अवश्य यज्ञ में भेड़ के बालों से बने कम्बल के टुकड़े से छाना जाता है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उक्त मन्त्र में 'जगृवि'=जागरणशील, 'विप्र'=मेधावी', 'अङ्गिरस्तम'=अङ्गिरसों में श्रेष्ठ, ये विशेषण

ऐसे हैं जो कभी जड़ सोमरस पर लगने उचित नहीं है, इसलिए सायण का अर्थ अशुद्ध है, क्योंकि इसमें योग्यतारहित पदों से वाक्य बनाया गया है। जिस वाक्य के पदो में योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति तीनों हों वही वाक्य कहाता है अन्यथा उन्मत्तप्रलाप है। इसी प्रकार 'जागृवि' आदि विशेषण किसी चेतन की आकाङ्क्षा करते हैं, क्योंकि उनमें चेतन में लगने की ही योग्यता है परन्तु सायण ने उन विशेषणों को एक जड़ पदार्थ पर लगा दिया है, इसलिये सायण का लिखा पदसमुदाय वाक्य नहीं बन सकता। क्योंकि जड़ सोमरस न मेधावी है, न अंगिरसों में श्रेष्ठ है और न जागरणशील है। तब प्रश्न यह होता है कि इसका सामर्थ्य क्या है (देखिये आलोकभाष्य पृष्ठ २५७) 'अंगिरस्तम' सोम क्या है इस पर विचार कीजिये। इसके ऋषि दृष्टा सप्तर्षि हैं। अर्थात् उपनिषत्कार जिन सात ऋषियों को शिर के सात प्राण बतलाते हैं उसके ज्ञाता इस तत्व को साक्षात् करते हैं अर्थात् सात मूर्धागत प्राण अपने में मुख्य अंगिरा =अंग के रसरूप मुख्य आसन्य प्राण या आत्मा को कहते हैं कि हे 'अंगिरस्तम' सबसे अधिक प्रकाशमान ! हे 'जागृवि' जागरणशील तू कभी न सोने वाला है, शेष सब इन्द्रियां थक २ कर सो जाती हैं पर प्राणात्मा कभी नहीं सोता। यदि वह सोजाय तो मृत्यु हो जाय, श्वास न चले। वह सांस चलाने के लिये उस समय प्राणरूप में जागृत रहता है, वह आत्मा 'विप्र' अर्थात् मेधावी है, मेधा बुद्धि उसके पास है, वह आत्मा (प्रिय') सबसे अधिक प्रिय और सबका पोषक है।

उपनिषत् कहती है—"न ह वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति"।

स्त्री जाया होने के कारण स्त्री प्रिय नहीं, प्रत्युत अपने लिये ये जाया प्रिय हैं। फलतः यह आत्मा सबसे अधिक प्रिय है, इस प्रकार प्रिय है सोम! सब के प्रेरक! तू (अप्याः वारे) जल के वारे, अर्थात्

अवि के बाल ? भेड़ के बाल नहीं, प्रत्युत अवि=चितिशक्ति, जो सब अंगों को रक्षा करती है, या अवि=ज्ञान, उसके वरण=व्यापार प्रवृत्ति इन द्वारा (पुनानः) परिष्कृत होता हुआ (न. यज्ञं मध्वा मिमिक्ष) हमारे यज्ञ को अमृत अर्थात् चैतन्य से सींच ।

पाठक विचार कीजिये अब कोई बात असंगत नहीं रहगई। इसी प्रकार साधक आत्मा के प्रति यह उपदेश है कि वह अपना चितिशक्ति के संचारों और प्राण के निरोधों द्वारा अपने को परिष्कृत शुद्ध करे और अपने यज्ञ, देवपूजा ईश्वरप्रणिधान को आनन्दमय और अमृतमय करे, अपने जीवन में आनन्द-घन का दर्शन करे । इसमें कोई खींचातानी की बात नहीं है । स्पष्ट २ विशेषणों के बल से यहां सोमशब्द आत्मापरक है ।

हमारे इस विचार के पोषक प्राचीन ब्राह्मणकारों के सिवाय एक परम वेदज्ञ महर्षि यास्क ही हैं । महर्षि यास्क ने परमात्मा और आत्मा के तत्व का वर्णन करने के लिये सोम देवता के मन्त्रों का भी उल्लेख किया है ।

जैसे—

सोमः पवते जनिता मतीनां, जनिता दिवो जनिता पृथिव्या ।
(अवि० सं० ५२७)

सोम मतियों का उत्पादक, द्यौ का उत्पादक और पृथिवी का उत्पादक है । यह तत्वार्थ सोमरस पर नहीं लगता क्योंकि वह द्यौ और पृथिवी को उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिये यास्क लिखते हैं—

"अथैत महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति"

अर्थात् ये ऋचाएं महान् आत्मा का वर्णन करती हैं । इसी को जीवात्मापरक भी लगाया है । लिखते हैं—

"अथाध्यात्मं। सोम आत्माऽप्येतस्मादेव। इन्द्रियाणां जनिता इत्यर्थः। अपि वा सर्वाभिर्विभूतिभिर्विभूतत आत्मेत्यात्मगतिमाचष्टे ।"

अर्थात्, अध्यात्म पक्ष में सोम आत्मा भी इसी मन्त्र से कहा गया है क्योंकि वह (मतीना) इन्द्रियों का उत्पादक है। अथवा वही सब विभूतियों को प्राप्त करता है इस प्रकार आत्मा की गति कही है।

ब्रह्मा देवानां पदवी कवीनां "सोमः पवित्रमत्येति रेभन्।

(ऋ० ८। ९६। ६)

इस मन्त्र को यास्कमुनि ने आधिदैविक पक्ष में सूर्य और अध्यात्म में आत्मापरक लगाया है। और 'दशापवित्र'='पवित्र' के सब रहस्य को स्वयं खोल दिया है। इस मन्त्र में सोम का 'श्येनो गृध्राणां', "माहिषो मृगाणां" इत्यादि विशेषणों से उपदेश किया है और अन्त में कहा है कि वह 'पवित्र' पर शब्द करता हुआ जाता है। सायण के अनुसार तो "घर घराता हुआ सोम दशापवित्र नामक वस्त्र पर पड़कर छन आता है' यह अर्थ हुआ और बाकी विशेषण सब असगत रह जाते हैं। यास्कमुनि कहते हैं—

"माहिषो मृगाणामिति अयमपि महान् भवति मृगाणा मार्गणकर्मणामिन्द्रियाणां। श्येनो गृध्राणामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मण । गृध्राणि इन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मण., यत एतस्मिंस्तिष्ठन्ति।"

अर्थात् मृगों में माहिष अर्थात् मार्गण करने वाली, विषयों को ढूंढ निकालने वाली इन इन्द्रियों में सबसे बड़ा और गृध्रों में श्येन अर्थात् बाज, के समान, गृध्र अर्थात् विषयों के ज्ञानसाधन इन्द्रियों में से श्येन अर्थात् ज्ञान सम्पन्न यह आत्मा है। इसी प्रकार उक्त मन्त्र में हरि, कवि, विप्र और वन ये सब नाम इन्द्रियों के हैं जो उनके भिन्न २ गुण दर्शाते हैं। उनमें यह आत्मा ही सबसे अधिक गुणशाली है, यह पवित्र अर्थात् इन्द्रियगण पर (रेभन्) स्तूयमान अर्थात् प्रशंसित होकर उनमें (अत्येति) अधिक यह ग्राही होकर उनका भोग करता है, इस प्रकार.—

'सोमं गावो धेनवो वावशाना.० ॥ अक्रान्त्समुद्र'०
...'बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दु ॥ महत्तत्सोमो महिषश्चकार० ॥

ये मन्त्र सोमपरक होकर भी आत्मपरक ही यास्क मुनि ने माने हैं और स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि—

'समुद्र आत्मा', 'इन्दुरात्मा' ।

समुद्र और इन्दु दोनों शब्दो का अर्थ आत्मा है ।

जब यास्क जैसा मुनि हमें सोमदेवताक मन्त्रों को आत्मा के वर्णन में लगाने की दिशा दिखाता है तो कोई कारण नहीं कि उपासना काण्ड के परम वेद सामवेद के पावमान काण्ड एव सोम सूक्तों का परम चरम अभिप्राय ईश्वर और आत्मापरक न हो । और इस विषय पर कुछ उप निषदो के प्रमाण भी ध्यान देने योग्य हैं जिनको हम क्रम से देते हैं—

१. मैत्रेयी उपनिषद् में स्वहृदयार्चन प्रकार लिखते हुए लिखा है—

"विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम् ।"

यहां आत्मा को ही 'सोम' कहा है । इसी प्रकार—

"सोमसंज्ञोऽयं भूतात्मा,'

स्पष्ट लिख दिया है । छान्दोग्य में कितना सुन्दर लिखा है—

"अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् । एष हि आत्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते । अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् । तदरश्च ह वै रण्यश्च अर्णवो ब्रह्म लोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरमदीयं सरस्तदश्वत्थ सोमसवनं तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम् ॥"

(छा० ८ । ५ । ३)

अर्थ—यह जो 'अनाशकायन' और 'अरण्यायन' कहा जाता है । यह भी ब्रह्मचर्य का व्रत ही है क्योंकि क्षुधा पर वश करके और अरण्य

वास में गुरु की अधीनता में रहकर जो ब्रह्मचर्य का पालन कर आत्मा के परम ज्ञान को प्राप्त करता है वह नष्ट नहीं होता। ब्रह्मलोक में 'अर' और 'रय' इन नाम के समुद्र या दो तालाब हैं। उसी तृतीय द्यौ, स्वर्ग लोक में 'ऐरंमदीय' नामक 'सर है और 'सोमसवन' नामक 'अश्वत्थ' है। वहीं 'अपराजिता' ब्रह्मपुरी है, वहा ही प्रभु परमेश्वर का दिया ईश्वर ज्ञान या ब्रह्मज्ञानमय स्वर्ग है यह सब अध्यात्म ज्ञान की कथा है। यहा सोमसवन नामक अश्वत्थ आत्मा ही है, वह ऐरंमद ज्ञानानन्दमय ब्रह्म ही यहा 'सर.' ताल या रसमय मोक्षपद हैं। वही ब्रह्मपुरी है वहा ही ब्रह्म ज्ञान है। यह सब आलकारिक वर्णन है। इसी प्रकार--

"तन् मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन"

(छान्दो० ३। ६। १)

यहा सोम का अर्थ प्राण हैं।

"आर्द्रं उद्रेतसोऽसृजत तदु सोमः।"

यहा सोम का अर्थ वीर्य है। मुण्डक में "सोमात्पर्जन्यः" (१।१५) यहा सोम का अर्थ सूर्य है। "यास्ते सोम प्राणास्तां जुहोमि" (महानारायणोप० १७। ६) यहा सोम का अर्थ आत्मा है।

'सोमं पिब वृत्रहन्' (महानारायणोप० २०२) यहां सोम का अर्थ ब्रह्मानन्द रस है। "अपाम सोममभृता अभूम" यहा आत्म ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही सोमार्थ है "सोमो भूत्वा रसात्मक" (गीता) यहा सोम का अर्थ परमात्मा की शक्तिरूप समष्टि रस है। इसके अतिरिक्त सोमपान करने हारे पुरुषों के विषय में भी देखिये। 'सोमपा अभयङ्कर.'' (महानारा० उप० २०। ५) यहा सोम का अर्थ समस्त ससार है। उसका पालन एव प्रलयकाल में पान कर जाने हारा परमात्मा 'सोमपा' शब्द से कहा गया है। 'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा.' तीनों वेदों के ज्ञाता, योगाभ्यासी, ब्रह्मज्ञ, निष्पाप पुरुष 'सो-

मपा' शब्द से कहे गये है। इसी प्रकार ' इन्द्रिय सोमपीथ ' (ते० १ । ३ । १० । २) यहा इन्द्रिय को सोम अर्थात् ज्ञान का पान करने हारा कहा है। "मामिदं साम्याहर" हे सोम्य ! शिष्य ! मसिधा ले आओ। इस स्थान में ज्ञानपिपासु शिष्य भी सोम्य कह गये हैं । ब्रह्मविद्विद्य भासि (छा० उप० ४ । ९ । २) सोम्य यहा भी शिष्य को ही सम्बोधन किया गया है। उपनिषदों में सोम्य शब्द का बहुत ही अधिक प्रयोग आता है। गीता में भी—भूत्वा पुनः सोम्यवपुर्महात्मा। इत्यादि प्रयाग है।

इतने उद्धरणों से पाठक महोदय अवश्य सोम शब्द के विशेष अर्थो और प्रयोगों को देखकर विचार कर सकते हैं कि वेद साहित्य में सोम विषयक मन्त्रों पर किस रीति से विचार करना चाहिये । विस्तारभय से और अधिक न लिखकर यही कहेंगे कि आप स्वयं सामवेद का स्वाध्याय करें और मन्त्रों पर विचार करें।

उषा देवता (१३)

कुछ मन्त्र और सूक्त उषा देवता के भी हैं। यह उषा देवता क्या पदार्थ हैं इसका निरूपण हम इस स्थान पर विशेष नहीं करना चाहते परन्तु आग्रह करेंगे कि इस विषयक मन्त्रों पर ही हमने विशेष विवरण खोला है वहा देखलें ।

यों तो वेद का विषय बड़ा गम्भीर है। वेद के प्रत्येक शब्द में ज्ञान भरा हुआ है। जिस दृष्टि से विचार करें उस दृष्टि से नये २ सत्य और गूढ़ तत्वों का प्रकाश होता प्रतीत होता है। परन्तु वेदों का स्वाध्याय छूट जाने से वेदमय सरस्वतीरूप कामधेनु के न तो परिपालक ही रह गये हैं और न उस रस का आस्वादन करने हारे भावुक ही रहे हैं, अस्तु।

(१४) उपसंहार

उपसंहार में हम पाठकों को इस भाष्य की कुछ विशेषताओं के सम्बन्ध में भी दो एक बात कहना चाहते हैं। वेदमन्त्रों की भाष्यशैली बहुत सरल रक्खी गई है। जहा तक हो सका है वेद के प्रत्यक पद को पृथक् २ कोष्ठों में रखकर धातुज अर्थ को दर्शाते हुए मन्त्र का सरल अर्थ कर दिया है। अग्नि इन्द्र आदि विशेष देवता वाचक शब्दों को प्राय. यथास्थान स्पष्ट कर दिया है। केवल अर्थमात्र पढ़ने से ही उसका सरल अर्थ आप से हा आप स्पष्ट हो जाता है। विशेष मन्त्रों पर उपनिषद् आदि प्रमाण ग्रन्थों के उद्धरण देकर भावार्थ भी दर्शाया गया है। जिन शब्दों का विशेष अर्थ किया है उसको टिप्पणी देकर प्रमाणित भी किया गया है। प्रत्येक मन्त्रके साथ अन्य वेदसहिताओं क जहा पाठभेद टिप्पणी में दिये गये हैं वहा प्रत्येक मन्त्र के साथ२ अन्य वेद की प्रतीक भी देदी है।

(१५) सामवेद के प्रतीक सकेत

सामवेद के तीन भाग हैं एक पूर्वार्चिक और दूसरा उत्तरार्चिक और तीसरा मध्यभाग महानाम्नी आर्चिक हैं। पूर्वार्चिक के ४ भाग हैं (१) आग्नेय काण्ड, (२) ऐन्द्र काण्ड, (३) पवमान काण्ड और (४) आरण्यक काण्ड। ये चारों काण्ड ६ प्रपाठक में बटे हुए हैं। सायण के अनुसार इनको पाच अध्यायों में बाटा गया हैं। प्रपाठकों में अर्धप्रपाठक और दशतियों का विभाग हैं। अध्यायों में खण्डों का विभाग हैं। परन्तु अर्ध प्रपाठक के विभागों में भी दशतियों की संख्या बराबर आगे चलती जाती है। इसलिये पूर्वार्चिक में अर्धप्रपाठकों को हमने अनावश्यकता ही जाना है। उत्तरार्चिक में २१ अध्याय और ९ प्रपाठक हैं। इन प्रपाठकों के भी अर्धप्रपाठक है इनमें दशतियों का विभाग नही हैं। प्रत्युत सूक्तों का विभाग हैं। कई सहिताओं में पूर्वार्चिक भाग में दशतियों की सख्या अलग २ करदी हैं। इसलिये प्राय. सामवेद के मन्त्र की प्रतीक (पूर्वा०, प्र०, अर्द्ध०, प्र०, दश०, अ०) इस रीति से दर्शाते है।

अन्तिम निवेदन

वेद के प्रगाढ विद्वानों के समक्ष मेरा यह आलोक भाष्य एक बहुत ही तुच्छ आलोक है जो चक्षुष्मान् शास्त्रालोचक धीमान् पुरुषों की दृष्टि में भी सामान्य दीपकालोक के समान है। यद्यपि नाना विद्यासूर्यों के आलोकों के समक्ष दीपकालोक नगण्य है, तो भी उनके अभाव में दीपकालोक भी लोचनों के लिये पर्याप्त आश्रय है। मार्गमात्र दर्शा देने का प्रयोजन ही इस आलोक से सिद्ध हो सकता है। गभीर गुहागत तत्वों का प्रदर्शन करने के लिये और भी अधिक विस्तृत सूर्यालोक की आवश्यकता है। पुरातन विद्वानों के चरणचिह्नों पर चलते हुए इस तुच्छजन के आलोक प्रदर्शन मे यदि कुछ त्रुटि भी हो गई हो तो मानुष स्वभाव के लिये वह असंगत नहीं, प्रत्युत बालक के गिरने के समान वह भी शोभा ही है। मेरे ग्रन्थ पर दृष्टिपात करते हुए बहुतसे विज्ञगण मेरी त्रुटि देख कर इसलिये प्रसन्न होंगे कि उनको वह बात भी ज्ञात है जो मुझे नहीं ज्ञात है। उनकी इस प्रसन्नता पर मैं भी प्रसन्न होऊगा यदि वे महानुभाव त्रुटिस्थल पर अपना विशेष ज्ञान मुझे जनाकर महानुभावता प्रकट करें। जिससे अगला संस्करण और भी गुणसम्पन्नरूप में प्रकाशित हो। और यदि केवल अपना पाण्डित्य दिखाने के भाव से या, किन्हीं अन्य दुर्भावों से कोई अन्यथा प्रलाप करेंगे और गुणग्रहण की अपेक्षा दोषग्रहण ही करने पर लगे रहेंगे तो ऐसे महानुभावों की कुचोदना पर किसी का वश नहीं और न उससे कोई सत्फल ही प्राप्त हो सकेगा। हम भी कुमारिल के शब्दों में यही कहना चाहते हैं—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद् वर्त्मनागच्छन् स्खलितेष्वप्युपेक्ष्यते ॥ इति शिवम्।

केसरगंज
अजमेर

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार.
मीमांसातीर्थ

ग्रन्थ संकेत सूचि

ऋग्वेद=ऋ०
यजुर्वेद=यजु०
सामवेद=साम०
अथर्ववेद=अथर्व०
ऐतरेय ब्राह्मण=ऐ० ब्रा०
कौषीतकी ब्राह्मण=कौ०
शतपथ ब्राह्मण=श० ब्रा०
तैत्तिरीय ब्राह्मण=तै० ब्रा०
जैमिनीय तलवकार उपनिषद्=जै० उ०
गोपथ पूर्वभाग=गो० पू०
,, उत्तरभाग=गो० उ०
सायण=सा०
सत्यव्रतसामश्रमी=स० सा०
महर्षिदयानन्द=०द०
उणादि=उणा०
देवराजयज्वा=दे० य०
गीता=गी०
उपनिषद्=उप०
छान्दोग्य=छान्दो०
दुर्गाचार्यटीका=दु० टी०
निघण्टु=नि०, निघ०
निरुक्त=नि० निरु०
षड्विंश=ष०

द्वितीय संस्करण की भूमिका

वेद जैसे गम्भीर विषयों पर लिखे गये विशाल ग्रन्थों को खरीदने और पढ़ने की प्रवृत्ति जनता में बहुत कम है। इस कारण मुझे यह भी आशा नहीं थी कि इस भाष्य का द्वितीय संस्करण मुझे मेरे अपने इस जीवन में ही देखने का अवसर प्राप्त होगा। परन्तु गुणग्राही सज्जनोंने मेरे प्रयास का बहुत आदर किया। और दो वर्ष के भीतर ही भीतर सामवेदभाष्य का प्रथम संस्करण समाप्त हो गया। तो भी वेद भाष्य के सहस्रों ग्राहक उसको लेने के लिये उत्सुक हो रहे हैं वे आर्य साहित्य मण्डल के कार्यालय में निरन्तर सामवेदभाष्य का तकाजा करते ही रहते हैं। इसी प्रयोजन से सामवेद भाष्य का द्वितीय संस्करण भी शीघ्र ही छापना पड़ा।

इस अवसर पर मुझे अपने सामवेदभाष्य को पुनः दोहरा लेने का उत्तम अवसर प्राप्त हुआ। मेरे विद्वान् मित्रों ने तथा कुछ महानुभाव उदार वेदज्ञ विद्वानों ने अपने उदार स्वभाव से ही मेरे भाष्य की प्रकाशन, मुद्रण, प्रूफ संशोधन आदि की नाना छोटी मोटी त्रुटियों दर्शाई थी। उसके अतिरिक्त अनेक भी त्रुटियां मुझे स्वयं उसमें प्रतीत हुई उन सब त्रुटियों को इस संस्करणमें दूर करने का यत्न किया है। मैं उन मित्रों और महानुभावों को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने अपने श्रम से मुझे मेरी त्रुटियां दर्शाकर अपनी महानुभावता प्रकट की है। और आगे भी समस्त विद्वानों से यही प्रार्थना है कि वे बराबर मुझे मेरी त्रुटियां और अपने विशेष २ वेद विषयक बहुमूल्य विचारों से सूचित करते रहें, जिससे उत्तरोत्तर संस्करण उनके विचारों से समृद्ध और परिमार्जित होते जावें।

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ।

केसरगंज, अजमेर
माघसुदी दशमी, १९८७ वि-

भूमिका विषय--सूची

पृष्ठ

१.	उपक्रम	१
२.	सामवेद संहिता	२
३.	शाखाभेद	३
४.	साम ब्राह्मण	७
५.	साम संहिता	८
६.	सामवेदभाष्य	१२
७.	सिद्धान्त दिशा विचार	८
८.	इन्द्र	१२
९.	सोमदेवता	३४
१०.	उषा देवता	४३
११,	उपसहार	४४
१२	सामवेद के प्रतीक संकेत	४४
१३.	अन्तिम निवेदन	४६
१४.	ग्रन्थ सकेत सूची	४६
१४.	द्वितीय सस्करण की भूमिका	४७

सामवेद-सूची

पूर्वार्चिकः

आग्नेयकाण्डम् (१—६१)

प्रथमः प्रपाठकः	(प्रथमोर्धः)	१—२६
" "	(द्वितीयोर्धः)	२६—५२
प्रथमोध्यायः		१—६१

ऐन्द्रकाण्डम् (६१—२३५)

द्वितीयः प्रपाठकः	(प्रथमोर्धः)	५२—१८०
" "	(द्वितीयोर्धः)	८०—१०२
द्वितीयोध्यायः		६१—११६
तृतीयप्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	१०२—१४४
" "	(द्वितीयोर्ध.)	१२४—१४६
तृतीयोध्यायः		११६—१८२
चतुर्थ प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्ध·)	१५०—१७७
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	१७७—२०१
चतुर्थोध्यायः		१८२—२३५
पञ्चम· प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	२०१—२२५
" "	(द्वितीयोऽर्धः)	२२५—२४३

पावमान काण्डम् (२३५—२६४)

पञ्चमोऽध्यायः		२३५—२६४
षष्टः प्रपाठकः	(प्रथमोऽर्धः)	२४३—२७३
" "	(द्वितीयोऽर्ध.)	२७३—२६५

आरण्यकं काण्डम् (२६४—३२२)

षष्ठः प्रपाठकः	(तृतीयोर्धः)	२६५—३११

महानाम्न्यार्चिकः (३२२—३२७)

उत्तरार्चिकः

प्रथमः प्रपाठक	,	(प्रथमोऽर्धं)	प्रथमोध्याय	३२८
,, ,,		(द्वितीयार्धं)	द्वितीयोध्याय	३४७
द्वितीयः ,,		(प्रथमोऽर्धं)	तृतीयोध्याय	३६६
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धं)	चतुर्थोध्याय	३८५
तृतीयः ,,		(प्रथमोऽर्धं)	पञ्चमोध्यायः	४०४
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धं)	षष्ठोध्याय	४३०
चतुर्थः ,,		(प्रथमोऽर्धः)	सप्तमोध्याय	४५८
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धं)	अष्टमोध्यायः	४८६
पञ्चमः ,,		(प्रथमोऽर्धं)	नवमोध्यायः	५०७
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धः)	दशमोध्यायः	५३६
षष्ठः ,,		(प्रथमोऽर्धं)	एकादशोध्यायः	५७१
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धं)	द्वादशोध्याय	५८४
,, ,,		(तृतीयोऽर्धं)	त्रयोदशोध्याय	६०६
सप्तमः ,,		(प्रथमोऽर्धं)	चतुर्दशोध्यायः	६३६
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धं)	पञ्चदशोध्यायः	६५३
,, ,,		(तृतीयोऽर्धं)	षोडशोध्यायः	६७०
अष्टमः ,,		(प्रथमोऽर्धं)	सप्तदशाध्यायः	६९१
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धं)	अष्टादशोध्यायः	७०६
,, ,,		(तृतीयोऽर्धं.)	एकोनविंशोध्यायः	७३०
नवमः ,,		(प्रथमोऽर्धं)	विंशोध्यायः	७६७
,, ,,		(द्वितीयोऽर्धं)		७८१
,, ,,		(तृतीयोऽर्धं)	एकविंशोध्यायः	७९७

ऋ० २ २६

* ओ३म् *

सामवेदसंहिता

पूर्वार्चिकः (छन्दआर्चिकः)

आग्नेयं काण्डम्

प्रथममपाठकस्य प्रथमोऽर्द्धः

प्रथमोऽध्यायः

परमेश्वर की स्तुति

॥ द० १ ॥ १, २, ४, ७, ९ भरद्वाजने बार्हस्पत्य० । ३ मेधातिथिः काण्व० । ५ उशनाः । ६ सुदीतिपुरुमीढौ । ८ वत्स काण्व० । १० वामदेवः ॥ गायत्रीछन्दः ॥

[१] अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥ ऋ० ६ । १६ । १० ॥

भा०—हे अग्ने परमात्मन् ! (वीतये[1]) सर्वत्र प्रकाशक और व्यापक होने और (हव्यदातये) हव्य अर्थात् दान और भोग योग्य पदार्थों के प्रदान करने के लिये आप (आ याहि) प्राप्त हों । आप (गृणान[2]) स्तुति करने

१—१ वीतये—वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।

२. गृणान०—गृ स्तुतौ । व्यत्ययेन कर्मणि कर्तृप्रत्ययः ।

योग्य, (होता[3]) सब पदार्थों के देने वाले, यज्ञ में आसन पर होता के समान (बर्हिषि[4]) यज्ञ, आत्मा या ब्रह्माण्ड में (नि सत्सि) विराजमान हैं।

[२] त्वमग्ने यज्ञानाꣳहोता विश्वेषाꣳ हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १६ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमात्मन् ! (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) समस्त (यज्ञानाम्) यज्ञों, देव उपासनाओं का (होता) स्वीकार करने वाला होकर और (देवेभि.[1]) देवों, विद्वानों द्वारा (मानुषे जने) मनुष्य जनों में, यज्ञ में अग्नि के समान (हितः) सर्वोपास्य रूप से स्थापित किया है।

[३] अग्निं दूत वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥ ऋ० १ । १२ । १ ॥

भा०—हम (विश्ववेदसम्[1]) सर्वज्ञानी, सर्वधनी, सर्वेश्वर, (होतारम्) होता, सर्वप्रद, (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञ, ब्रह्माण्ड के (सुक्रतुम्[2]) सुक्रतु, उत्तम कर्त्ता, विधाता और ज्ञाता (अग्निं) अग्नि को (दूतं[3]) दूत अर्थात् उपास्यरूप से (वृणीमहे) वरण करते हैं। इस प्रकार बहुत उत्तम विद्वान् को भी कार्यसाधक दूत रूप से वरण करना चाहिये।

---

३ होता—दाता। आह्वाता, बुलाने वाला। ईश्वर सबको अपने पास बुलाता है। और संसार में सबको खाने और परोपकार करने के लिये पदार्थ भी देता है।

४ बर्हिषि—बर्हि यज्ञ., अन्तरिक्षन्, उदकम्, आसन, कुश।

२—१. देवोदानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा प्रस्थानो भवतीतिवा। निरु०।

३—१ वेदम् वेत्तेरसुन् औणादि। विद् ज्ञाने। वेदो धन। नि० ३ । २ । १० ॥
२, ऋतु कर्मनाम। नि० २ । १। प्रज्ञानाम च। नि० ३ । ९ ॥
३ दूा। दवतेरौणादिकः क्त०। द्रुनोति गच्छति उपतपति वा स दूत, बहुकार्यसाधको राजभृत्यो वा। द० उ०।

[४] अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया ।
सामिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । १६ । ३४ ॥

भा०—(विपन्यया) विशेष स्तुति द्वारा (द्रविणस्युः[1]) उपासकों के द्रव्य, बल और भक्तिभाव को स्वीकार करने वाला 'अग्नि', परमेश्वर (सामिद्ध) चमकता हुआ, (शुक्र) शुद्ध, कान्तिमान् (आहुत.) भली प्रकार से स्तुति किया या स्मरण किया हुआ (वृत्राणि[2]) आत्मा को घेरने वाले पापों को, विघ्नों को और अन्धकारों को (जंघनद्) नाश करे ।

[५] प्रेष्ठं वो अतिथिꣳ स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ८४ । १ ॥

भा०—(वः) तुम्हारे (प्रेष्ठम्) सब से अधिक प्रिय, (मित्रम् इव प्रियम्) मित्र के समान प्यारे, (अतिथिम्[1]) सर्वव्यापक, अतिथि के समान आदरणीय ईश्वर की (स्तुषे) स्तुति करता हूं । हे अग्ने ! प्रकाश-स्वरूप ! तू (रथं न वेद्यम्[2]) रथ के समान समस्त पदार्थों को प्राप्त कराने-हारा, या रस के समान अनुभव वेद्य है ।

[६] त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः ।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ७१ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप[1] (त्व) तू (नः) हमें (विश्वस्याः) समस्त प्रकार के (अरातेः) सुख न देने वाले मनुष्य से (महोभि.)

४—१ छन्दसि परच्छाया क्यच् । द्रविणमिति बलनाम (नि० २ । ९) धननाम च पदनाम च (नि० २ । १०)
२ रक्ष. प्रभृतीनि, तमांसि वा । सा० । शत्रुकुलानि । मा० वि० ।
५—' अग्निम् ' इति पाठभेदः, ऋ० ।
१ ' अतेरिथिन् ' अतिथिः । अभ्यतितो गृहान् इति । नि० ।

उत्तम सुखसाधनों, धनों द्वारा (पाहि) पालन कर, बचा। (उत) और (द्विषःमर्त्यस्य) द्वेष करने वाले मनुष्य से भी (पाहि) बचा।

कंजूस स्वामी जो भृत्यों और प्रजाओं का भाग उनको न दे और द्वेषी जो क्रोध या वैर से दूसरे को दण्ड दे, उन दोनों से रक्षा की प्रार्थना है।

[७] एहगूषु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थतरा गिरः।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभि ॥ ७ ॥ ऋ० ६। १६। १६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (एहि उ) आ। (ते) तेरे लिये (इत्था) इस प्रकार की वैदिक सत्य वाणियां और (इतराः गिरः) उनसे दूसरी लौकिक, या देववाणी से अतिरिक्त असुरवाणियों को मैं तेरी स्तुति में (ब्रवाणि) कहता हूं। (एभिः इन्दुभिः) इन परम ऐश्वर्यों से तू (वर्द्धासः) महिमा में बड़ा है।

ईश्वर अपने सामर्थ्य, ज्ञान और सौम्य गुणों द्वारा सब से बड़ा है और सब वाणियें उसकी ही स्तुति करती हैं।

[८] आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वा कामये गिरा ॥ ८ ॥ ऋ० ८। ११। ७ ॥

भा०—(वत्सः) तेरे पुत्र के समान स्तुतिकर्ता उपासक (ते मनः) तेरे मनन करने योग्य सत्यज्ञान को (परमात् चित् सधस्थात्) परम उत्कृष्ट स्थान से (आ यमत्) वश करता, प्राप्त करता है। हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! (त्वा कामये) मैं तुझे ही चाहता हूं।

अन्तरात्मा में साक्षात् ब्रह्म से मनन करने योग्य सत्य ज्ञान को प्राप्त करता है और ईश्वर के प्रति प्रेम प्रकट करता और उसे चाहता है।

७—१ 'एह' इति पदपाठे विसर्गलोपः। इत्था सन्। सा० वि०। इत्थाभूतान् सत्यानित्यर्थः। इत्थमित्यस्य छान्दसत्वं दीर्घत्वं च।
२ इतराः न एतो अन्याः। सा० वि०।
८—१. यो मतिं ददाति। ३ घ० २। २७। २. मनो दाने (भ्वा०)।

[९] त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ९ ॥ ऋ० ६ । १६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने प्रकाशस्वरूप [1] (त्वाम्) तुझे (अथर्वा [2]) अहिंसक, प्रजापति, ज्ञानी विद्वान् (विश्वस्य वाघतः) समस्त ब्रह्माण्ड को वहन करने वाले (मूर्ध्नः) मूर्धा स्थान, सर्वोच्च (पुष्करात् अधि) पुष्कर अर्थात् सबको पुष्ट करने वाले तेरे शक्तिमान् विराट् स्वरूप से ही (निर्-अमन्थत) अरणियों से अग्नि के समान, मथन करके तुझे प्रकट करता है, तेरा ज्ञान करता है ।

[१०] अग्ने विवस्वदा भरास्मभ्यमूतय महे ।
देवो ह्यसि नो दृशे ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! (अस्मभ्यम्) हमारी (महे, ऊतये) बड़ी रक्षा के लिये (विवस्वत्) विशेष सुखपूर्वक निवास योग्य ऐश्वर्य से युक्त, गृह, यज्ञ आदि को (आभर) प्राप्त करा । क्योंकि (नः) हमारे (दृशे) देखने और मार्ग दिखाने के लिये (देव हि असि) प्रकाशमान, विद्वान्, ज्ञानवान् परमदेव तू ही है ।

इति प्रथमा दशति । प्रथम खण्ड. ।

॥ २ ॥ १ आयुर्ङ्घाहिः । २ वामदेव । ३, ८, ९ प्रयोग । ४ मधुच्छन्दा. । ५, ७ शुन शेप । ६ मेधातिथि काण्व । १० वत्स. काण्व । गायत्री छन्द ॥

[११] नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ७५ । १० ॥

भा०—हे अग्ने । हे (देव) देव [1] (कृष्टयम् [1]) मनुष्य (ते) तुझे (ओजसे [2]) बल के लिये (नमः गृणन्ति) नमस्कार कहते हैं । तू

११—१. कृष्टिरिति मनुष्यनाम । नि० २ । ३ ॥ २. ओज इति बलनाम । नि० २ । ९ ।

(अमै.[3]) यत्नों से (अमित्रम्) शत्रु को (अर्दय) पीड़ित कर। भक्त भगवान् से त्राण मांगते और वन्दना करते हैं कि खल दण्डित हों।

[१२] दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम्।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥ २ ॥ ऋ० ४। ८। १ ॥

भा०—हे अग्ने ! प्रकाशस्वरूप ! (विश्ववेदसम्) समस्त धनों के स्वामी, समस्त ज्ञानसपन्न (हव्यवाहम्) समस्त भोग्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले, (अमर्त्यम्) कभी न मरने वाले, अमृत (दूतम्) दूत के समान परोपकारी सर्वोपास्य, (यजिष्ठम्) सृष्टिमय महान् यज्ञ के करने वाले, अथवा सबसे बड़े उपास्य (व·) तुमको मैं (गिरा) वेदवाणी द्वारा (ऋञ्जसे[1]) अपने अनुकूल करता हूं, आपकी साधना करता हूं। अथवा हे मनुष्यो ! (व· दूत) आप लोगों के उपास्य, सर्वेश्वर, अमृत रूप देवकी वाणी से (ऋञ्जसे) स्तुति करता हूं।

[१३] उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृत·।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥ ३ ॥ ऋ० ८। १०२। १५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हविष्कृतः) स्तुति और हव्य सम्पादन करने वाले पुरुष की (जामय. गिर) वाणियां, भगिनियों के समान, एक ही स्थान पर उत्पन्न होने वाली, अथवा सत्य फलको पैदा करने वाली, (देदिशतीः) तेरे गुणों को प्रकट करती हुई (वायो) सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तेरे ही (अनीके) समीप (उप अस्थिरन्) पहुंचती हैं, तुझ में ही घटती हैं।

[१४] उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥ ४ ॥ ऋ० १। १। ७ ॥

---

३. रोगैर्मलैर्भर्त्सयाँ। मा० वि०।

१२—१ ऋञ्जति· प्रसाधनकर्मा। नि० ४। ३।

भा०—हे अग्ने ! (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषा[1] वस्त.) सायं प्रातः, दिन रात (वयम्) हम सब लोग (धिया) अपनी बुद्धि द्वारा और कर्म द्वारा (नमो भरन्त.) नमस्कार करते हुए या यज्ञ की हवि प्रस्तुत करते हुए (त्वा) तुझको (एमसि) प्राप्त होते हैं ।

[१५] जरावोध तद्विविडाढि विशे विशे यज्ञियाय ।
स्तोम रुद्राय दृशीकम् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । २७ । १० ॥

भा०—हे (जरावोध) स्तुतियों द्वारा ज्ञान करने एवं प्रकट करने योग्य ! अग्ने ! (विशे विशे) प्रत्येक प्रजा के हित के लिये (तत् विविड्ढि) उस परम स्थान या हृदय में प्रवेश करो जहां लोग (यज्ञियाय) यज्ञ, आत्मा के योग्य हितैषी, उपास्य, (रुद्राय) दुष्टों को दण्ड करके रुलाने वाले तुझ ईश्वर के लिये (दृशीकम्) दर्शनीय (स्तोमम्) स्तुति पाठ करते हैं ।

अर्थात् जिस हृदय में कर्मव्यवस्था का भय करके दुष्टों के दण्डकर्त्ता ईश्वर के लिये स्तुति की जाती है, हे स्तुति द्वारा हृदय में प्रकाशित होने वाले परमात्मन् ! आप भक्ति द्वारा प्रत्येक मनुष्य के उस हृदय में प्रकट हों । फलतः, डर से ईश्वर की स्तुति करने की अपेक्षा सब लोग प्रेम और भक्ति से ईश्वर को हृदय में स्थान दें ।

[१६] प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १९ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (त्यं) उस (चारुम् अध्वरम्) सुन्दर, हिंसा-रहित यज्ञ अमर आत्मा की (गोपीथाय) रक्षा करने के निमित्त (प्र हूयसे) पुकारा या याद किया जाता है । तू (मरुद्भि.) विद्वानों द्वारा या प्राणों द्वारा उनकी साधना से हमारे हृदय में (आ, गहि) प्रकट हो ।

[१७] अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
सम्राजं तमध्वराणाम् ॥ ७ ॥ ऋ० १ । १७ । २ ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (वारवन्तं अश्वं न) कष्ट निवारण के साधन रूप बालों से युक्त अश्व के समान (वारवन्त) कष्ट निवारक साधनों से सम्पन्न अथवा अज्ञान वारक, ज्ञानदीप्तियों और विघ्ननिवारक साधनों से सम्पन्न और (अध्वराणा सम्राजं तं) हिंसा रहित धर्म कार्य, यज्ञों के महान् सम्राट, उनके प्रकाशक और उनमें स्वयं प्रकाशमान उस तुझ (अग्निं) अग्नि, प्रकाश-स्वरूप ईश्वर को (नमोभिः) हृदय के विनयों द्वारा (वन्दध्यै) वन्दना करते हैं।

[१८] और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे ।
अग्निं समुद्रवाससम् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १०२ । ४ ॥

भा०—(समुद्रवाससम्[1]) समुद्र, आकाश में व्यापक (शुचिम्) शुद्ध (अग्निम्) अग्नि, ईश्वर को (और्वभृगुवत्, अप्नवानवद्) और्वभृगु पृथ्वी के गर्भगत और अप्नवान अर्थात् ओषधि रसों में विद्यमान अग्नि के समान (आहुवे) स्मरण करता=जानता हूं ।

'और्वभृगु' अग्नि पृथ्वी के गर्भ में रह कर समस्त पदार्थों को अपने ताप से भर्जन करती और पकाती है । 'अप्नवान' अग्नि रसों और ओषधियों में शान्त भाव से रहती है और रस, अन्न क्षार रूप में प्रकट होती है । उसी प्रकार तेजोमय कान्तिमान् ईश्वर को समस्त ब्रह्माण्ड में सामर्थ्य रूप में जानना चाहिये ।

[१९] अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । १०२ । २२ ॥

भा०—(अग्निम्) अग्नि, प्रकाशस्वरूप ईश्वर को (मनसा) हृदय से (इन्धानः) साक्षात करता हुआ (मर्त्यः) मनुष्य (धियम्) बुद्धि

---

१ ८—१ समुद्रं वाक्परिप्लुतम्, नि० २ । ३

२ १—'मि' इति ऋ० ।

या कर्म को (सचेत) प्राप्त हो । (विवस्वभि') सूर्य के समान विद्वानों द्वारा मैं (अग्निम्) उस प्रकाशक रूप ईश्वर को (इन्धे') हृदय में प्रज्वलित करता हूं ।

ईश्वर के मानस ध्यान से मनुष्य बुद्धि और कर्म को सुधारे, उत्तम विद्वानों के सग से ईश्वर का ज्ञान करे ।

[२०] आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योति. पश्यन्ति वासरम् ।
परो यदिध्यते दिवि ॥ १० ॥ अ० ८ । ६ । ३० ॥

भा०—(पर. दिवि) द्यौलोक से भी परे अति अधिक दूर (यत्) जो सूर्य (इध्यते) प्रकाशमान है । (आत् इत्) और (वासरम्) दिन को प्रकाश करने वाले जिस (ज्योति.) सूर्य को लोग (पश्यन्ति) देखते है वह भी (प्रत्नस्य) अति प्राचीन आदिकाल के परम (रेतस) वीर्यवान्, जगत् के विधाता ईश्वर की ही (ज्योति) तेज है ।

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । (कठ उप० २ । १५)

इति द्वितीया दशति' । द्वितीय. खण्ड' ।

॥ द० ३ ॥ १ प्रयोग. । २, ५, ६ भरद्वाजः । ३, १० वामदेव । ४, ६ वसिष्ठ. । ७ विरूप । ८ शुन शेप' । ९ गोपवन. । १० वामदेव । ११ कण्व' । १२ मेधातिथि' । १३ त्रिशिरा स्त्वाष्ट्र सिन्धुद्वीप अम्बरीप., तृत आप्त्यो वा । १४ उशनाः काव्य । गायत्री ॥

[२१] अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥ अ० । १०२ । ७ ॥

भा०—प्रयोग ऋषि । (व') तुम्हारे (अध्वराणाम्) यज्ञों या हिंसा रहित परोपकार के कार्यों के (नप्त्रे) बन्धु, सहायक (सहस्वते) बल-

शाली, (वः वृधन्तम्) तुमको बढ़ाने वाले, (पुरूतमम्) सब से श्रेष्ठ, इन्द्रियों के स्वामी, अन्तरात्मा के समान (पुरूतमम्) और महान् लोकों के स्वामी (अग्निम्) अग्नि परमेश्वर को (अच्छा) सब से श्रेष्ठ जानो ।

[२२] अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यꣳसद्विश्वं न्यत्रिणम् ।
अग्निर्नो वंसते रयिम् ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १६ । ७८ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि अग्रणी राजा के समान, ईश्वर (तिग्मेन, शोचिषा) अपने तीक्ष्ण तेज से (विश्वम्) समस्त (अत्रिणम्) प्रजा के धन और प्राण खाजाने वाले दुष्टों को (नि यसत) नियमन करता है, व्यवस्था में रखता है । और वही (अग्निः) अग्नि, परसतापक (नः) हमें (रयिं) धन और सुखमय जीवन (वंसते[1]) देता है,

[२३] अग्ने मृड महाꣳ असय आ देवयुं जनम् ।
इयेथ बर्हिरासदम् ॥ ३ ॥ ऋ० ४ । ९ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर तू (मृड) हमें सुखी कर । (महान् असि) तू बड़ा है । (देवयुम्) विद्वान् और देव के प्रिय (जनं) पुरुष को (अय[1]) तुझ प्राप्त होते हो । और (बर्हिः) यज्ञ, उपासना में (आसदम्) उपस्थित होने के लिये (इयेथ) आते हो ।

[२४] अग्ने रक्षा णो अꣳहस. प्रति स्म देव रीषत. ।
तपिष्ठैरजरो दह ॥ ४ ॥ ऋ० ७ । १५ । १३ ॥

२२—'वनते' इति ऋ० ।

२३—'अन्वसि' इति ऋ० ।

२४—'प्रति ष्म' इति, ऋ० ।

भा०—हे (देव) उपास्य देव प्रभो ! हे (अग्ने) हे अग्ने ! स्व-प्रकाश ! (नः) हमें (अंहसः) पाप और पापी (रीषतः) हिंसक शत्रु से (रक्ष) रक्षा कर, बचा और (अजरः) कभी हीनबल न होने वाला तू (तपिष्ठैः) तपाने वाले तेजों शस्त्रों से उसको (प्रति दह स्म[1]) भस्म कर डाल ।

[२५] अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधव ।
अरं वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ ऋ० ६ । १६ । ४३ ॥

भा०—हे देव ! हे अग्ने ! (ये) जो (ते) तेरे (साधवः) साधु स्वभाव वाले या योग साधना करने वाले (अश्वासः) अश्व के समान इन्द्रियां, गतिशील, ज्ञानी साधक हैं, उनको (युङ्क्ष्व) लगा, योगाभ्यास में प्रवृत्त करा । वे गतिशील, ज्ञानी, (आशवः) हरएक कार्य में शीघ्र सिद्धि प्राप्त करने वाले साधक (अरम्) पर्याप्त उत्तम रूप से (वहन्ति[1]) ज्ञान और उत्तम कार्य के भार को धारण करते और उद्देश्य तक पहुंचाते हैं ।

[२६] नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्त धीमहे वयम् ।
सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । १५ । ७ ॥

भा०—हे (नक्ष्य) सब के सेवन योग्य, शरण योग्य ! हे (विश्पते) समस्त प्रजा के पति ! हे (आहुत !) सब से पुकारे और बुलाये और याद किये गये तथा हवि, भक्ति द्वारा आदर किये गये पूजित ! हे (अग्ने) अग्ने ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (सुवीरम्) उत्तम सामर्थ्यवान् तेरा (वयम्) हम (धीमहे[1]) ध्यान करते हैं ।

[२७] अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १६ ॥

२५—१ 'युङ्ग्वा', 'वहन्ति मन्यव.' इति ऋ० ।

२६—१. 'देव धीमहि' इति ऋ० ।

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (मूर्धा) सब का शिरोमणि, (दिव ककुत्) द्यौलोक या सूर्य के ककुद् भाग के समान उत्तम, वहन करने वाला, आश्रय और (पृथिव्या पति) पृथिवी का पति स्वामी है। वही (अपाम्) सब लोकों के (रेतांसि) बीजभूत समस्त स्थावर और जगम प्राणियों को (जिन्वति) तृप्त करता है, जीवन देता है।

[२८] ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ऽर २र
इम सू पु त्वमरमाकꣳ सनि गायत्र नव्याꣳसम्।
१ २ ३ २ ३ १ १
अग्ने देवेषु प्र वोच ॥ ८ ॥ ऋ० १ । २७ । ४ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (नव्यासम्) नवीन सम्पन्न अति स्तुत्य (सनिम्) अन्न आदि के समान सेवनीय (अस्माकम्) हमारे (गायत्रम्) प्राणों की रक्षा करने वाले साधन, एवं छन्द, ज्ञान को (देवेषु) देवों, पाचभूतों, इन्द्रियों और विद्वानों में (प्र वोच) उत्तम रूप से कह, प्रकट कर।

[२९] १ २ ३ १ २, ३ १र २र
तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने आङ्गिरः ।
१ २ ३ १ २
स पावक श्रुधी हवम् ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ७४ । ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! (तं, त्वा) उस पूर्व प्रकार से स्तुत तुझको (गोपवन) वाणियों और इन्द्रियों के वश करने वाला पुरुष (गिरा) अपनी वाणी से (जनिषत्) प्रकट करता है। हे (अंगिर) प्रकाशस्वरूप या अगों में रस या बल के समान विद्यमान अग्ने ! हे (पावक) मल आदि से पवित्र करनेहारे ! (स) वह तू हमारी (हवम्) स्तुतिको (श्रुधि) श्रवण कर।

[३०] ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १
परि वाजपति कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
२ ३ १ २ ३ १ २
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ १० ॥ ऋ० ४ । १५ । ३ ॥

२८—अस्मभ्यम्' इति नवीयसम् इति' तै० ।

२९—'च त्वा' इति ऋ० ।

भा०-(वाजपति.[1]) बल, वीर्य, अन्न, ज्ञान का स्वामी (कवि[2]) क्रान्तदर्शी, मेधावी (अग्निं) अग्नि, परमेश्वर (दाशुषे) दान करनेवाले को (रत्नानि) रमणीय पदार्थ, (दधत्) देता हुआ, (हव्यानि) हवन करने योग्य पदार्थों और भक्तिपूर्वक स्तुति वचनों को (परि अकर्मात्) स्वीकार करता है।

[३१] उद् ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उद् त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
३ १ २ २ ३ १ १ २
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १२ ॥ ऋ० १। ५०। १ ॥

भा०-(केतवः[1]) ज्ञान करने, करानेवाले रश्मियों के समान प्रज्ञाएं या विद्वान्गण (सूर्यं) सूर्य के समान प्रकाशमान, समस्त संसार के उत्पादक उस सविता, (जातवेदसे) सब पदार्थों के जाननेहारे या वेदों के मूलकारण (त्यं उ) उस (देव) परमात्मा देव को ही (उद् वहन्ति) धारण करते हैं कि (विश्वाय) समस्त संसार उसको (दृशे) देख ले, जान ले।

सब विद्वान् उसे ज्ञान का मूलकारण और सब प्राणियों का प्रेरक सबसे ऊपर बतलाते हैं कि सब उसको जानलें और उसके दिये ज्ञान से स्वयं भी सब कार्य व्यवहारों को जानें।

[३२] ३ १ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
३ १ २ ३ १ २
देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥ ऋ० १। १२। ७ ॥

भा०—हे पुरुष ! तू उस (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सर्वज्ञ (अध्वरे सत्यधर्माणं[1]) यज्ञ में, जगत् में सत्य धर्मों को धारण करने वाले (देव) दिव्यगुणों से युक्त दाता (अमीवचातनं) दुःखदायी रोगों का नाश करने वाले

३०—१. वाज इत्यन्ननाम, (नि० २। ७।) २. कविरिति मेधाविनाम,
(नि० ३॥ १५।)
३१—१. केतुरिति प्रज्ञानाम। नि० ३। ९॥
३२—१. सत्यकर्माणं। मा० वि०।

(अग्निम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की (उपस्तुहि) दत्तचित्त होकर स्तुति अर्थात् गुण वर्णन कर ।

[३३] शं नो देवीरभिष्टये शं नो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु न ॥ १३ ॥ ऋ० १० । ९ । ४ ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (देवी) दिव्य गुणों से युक्त जल (अभिष्टये[1]) हमारे अभिलषित सुख कार्यों के लिये (शम्) सुखकारी, कल्याणकारी हों । (नः, पीतये, शम्) हमारे पान करने के लिये भी सुखकारी हों । (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याणकारी होकर ही (अभिस्रवन्तु) सब ओर से बहें और सुखों की वर्षा करें[2] ।

[३४] कस्य नूनं परीणसि धिया जिन्वसि सत्पते ।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ८४ । ७ ॥

भा०—[प्रश्न] हे (सत् पते) सज्जनों के प्रतिपालक[1] तुम (नूनम्) निश्चय से (कस्य) किसके (धिय) कर्मों और स्तुतियों और मनः सकल्पों को (परीणसि) बहुधा (जिन्वसि[2]) पूर्ण करते, स्वीकार करते हो ? [उत्तर] (यस्य) जिसकी (ते गिरः) तेरे निमित्त प्रकट हुई वाणियां (गोषाता) अपनी इन्द्रियों को वश करने के लिये है ।

जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को जीतने के लिये ईश्वर-स्तुति, उपासना, प्रार्थना करते हैं ईश्वर उनकी मनोकामना पूर्ण करते हैं ।

इति तृतीया दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥

३३—१ 'आपो भवन्तु' इति ऋ० । १. अभिगमाय, अभिगमन स्नानादिभिः तत्पुनरासेचनम्, । भा० वि० ।

३४—१ 'परिष्कृतः', 'दम्पते' इति च ऋ० । १. परिणसि इति यद्धनाम, (नि० ३ । १)

॥ ४ ॥१, शशुवार्हस्पत्य॰ ३ शशुस्तृणपाणिर्वा । २ भर्ग प्रागाथ॰ । ४ वसिष्ठः ॥ ५ भर्गः प्रागथो मरद्वानो वा । ६ प्रस्कण्व॰ काण्व ॥ ७ तृणपाणि॰ । ८ विरूप । ९ शुनःशेप॰ आजीगर्तिः । ८, ९ भर्ग॰ प्रागाथोवा । १० सोमरि॰ काण्वः । वृत्ती ॥

[३५] ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।
१ २ २३३१२ ३ १२ ३ २ ३१ २
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१॥

ऋ० ६ । ४८ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (च) आप लोग (दक्षसे) बलशाली, सर्व-शक्तिमान् (अग्नये) अग्नि परमेश्वर की (यज्ञा यज्ञा[1]) प्रत्येक यज्ञ में और (गिरा गिरा च) प्रत्येक वेदवाणी से गुण कीर्त्तन करो । (वयम्) हम भी (अमृतं) उस अमृत, मृत्यु से रहित (जातवेदसम्) वेदों के एकमात्र उत्पन्न करनेहारे, सर्वज्ञ, परमेश्वर को (प्रिय मित्र न) प्रिय मित्र के समान (प्र शंसिषम्) कीर्त्तन करते हैं ।

[३६] ३ २ २ ३ १२ ३ २ २ ३ १२
पाहि नो अग्न एकया पाह्यू३त द्वितीयया ।
३ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २ ३ १ २
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

ऋ० ८ । ६० । ९ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर ! (एकया[1]) एक वेदरूप वाणी से (नः पाहि) हमारी रक्षा करो, पालन करो । (उत) और (द्वितीयया[2]) दूसरी वेदमयी वाणी से (पाहि) पालन करो । (तिसृभि[3]) तीनों (गीर्भि) (ऊर्जाम्पते) बल के पालक (पाहि) पालन करो । (चतसृभिः) चारों (वसो) वेदों में बसे हुए परमेश्वर ! तू हमारा पालन कर ।

३५–१ सुपां सुलुक् इति सप्तम्याः लुक् (पा० ७ । १ । ३९) वीप्साया द्विर्वचनम् ।

३६–१ 'ऋग्-लक्षणया' इति मा०, वि० ।
२ यजुर्लक्षणया मा० वि० ।
३. ऋग्यजु. सामलक्षणाभि॰ इति मा० वि० ।

वेद वाणियों से (पाहि) पालन कर । हे (ऊर्जाम्पते) सब अन्नों और बलों के अधिपते ! हे (वसो) सब के भीतर बसने और सबको बसाने वाले वसो ! (चतसृभि.[४]) चारों वेदवाणियों से (पाहि) पालन कर ।

ज्ञान, विज्ञान, क्रिया और उपासना इन चार भेदों के पृथक् २ निरूपण करने से चार वेद हैं । प्रत्येक से प्रजा का पालन करना ही मन्त्र का अभिप्राय है ।

[३७] बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत्पावक दीदिहि ॥ ३ ॥

ऋ० ६ । ४८ । ७ ॥

भा०—हे (देव) दानादि गुणसम्पन्न ! (यविष्ठ) सब से महान् युवतम ! सब से अधिक यौवन सम्पन्न, कभी निर्बल न होने वाले, हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप हे (रेवत् !) समस्त धनों के स्वामी हे कान्तिमन् ! हे (पावक) सबको अपने तेज से पवित्र करने वाले ! तू (शुक्रेण) निर्मल (शोचिषा) तेज से (भरद्वाजे) ज्ञान और बल वीर्य को धारण करने वाले पुरुष में (समिधान) विशेष रूप से प्रदीप्त होते हुए (बृहद्भि) बड़ी (अर्चिभिः) कान्तियों, ज्वालाओं, तेजों से (दीदिहि) प्रकाशमान होओ ।

[३८] त्वं अग्ने स्वाहुत प्रियास्न सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम् ॥ ४ ॥

ऋ० ७ । १६ । ७ ॥

---

४ सदादु सामिलाद्यन्तादि । ऋ० वि० ।
३७–'बृद्' सुर दीप्ति इत्यस्माद् धातोः । ऋ० ।
३८–'ऊर्वान्दयन्त' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने परमेश्वर ! हे (स्वाहुत) उत्तम रीति से यज्ञ मे उपासित ! (सूरय.) विद्वान् लोग जो सबकी मति को प्रेरित करते है वे (प्रियास.) प्रिय (सन्तु) हों । (यन्तार) दान करने वाले या (जनाना) प्रजाओं को (यन्तारः) नियम व्यवस्था में रखने वाले (ये) जो (मघवान) धन ऐश्वर्यसम्पन्न हैं और जो (गोनाम्) गौओं, इन्द्रियों और वेदवाणियों के (ऊर्वम्) समूह को (दयन्त.) पालन करते, वश में रखते और औरों को दान करते हैं वे भी सर्वप्रिय हो ।

[३९] अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षस. ।
अग्नोपिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयु. ॥५॥

ऋ० ८ । ६० । १९ ॥

भा०—हे (देव) देव ! हे अग्ने ! हे (जरित.) स्तुति योग्य या उपदेश करनेहारे ! तू (विश्पति.) प्रजा का स्वामी है । (रक्षस.) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों को (तपानः) सन्ताप देता है । हे (गृहपते) ब्रह्माण्ड रूप गृह के स्वामिन् ! तू गृहमेधी के समान (अग्नोपिवान्) कभी भी प्रवास मे न रहने वाला, सदा विद्यमान (दिवस्पायुः) द्यौलोक की रक्षा करनेहारा, (दुरोणयुः) सबके गृहों या देहों की मगल कामना करनेवाला (महान्, असि) सब से बड़ा है ।

[४०] अग्ने विवस्वदुपसश्चित्रं राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥६॥

ऋ० १ । ४४ । २ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं उषसः) तू उषा का (विवस्वत्) वास्य करने योग्य, विविध सुखों, ऐश्वर्यों का साधक (दाशुषे) यज्ञादि परोपकार करनेवाले

९९–'तेपानो', 'गृहपतिः' इति ऋ० ।

पुरुष को (चित्रं राधः) नाना प्रकार का धन, ज्ञान (आवह) प्राप्त करा । हे (अमर्त्य) मरणरहित, नित्य ! हे (जातवेद·) समस्त उत्पन्न पदार्थों में निवास करने वाले, सबको जानने वाले, वेदों के मूलकारण (त्वं) तू (अद्य) आज (उपबुंध.) सूर्योदय के साथ ज्ञानसम्पन्न एवं जागृत होने वाले (देवान्) इन्द्रियगण को (दाशुषे) इस मनुष्य को (आवह) पुन प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[४१] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तु चे तु नः ॥७॥

ऋ० ६ । ४८ । ९ ॥

भा०—हे (वसो) सब को बसाने वाले अग्ने ! (त्वं) तू (चित्रः) नाना शक्ति सम्पन्न, दर्शनीय (ऊत्या) अपने रक्षासामर्थ्य से (राधांसि) धनों, बलों, सामर्थ्यों को (नः चोदय) हमारे प्रति प्रेरित कर । (त्वं) तू (अस्य) इस (राय.) धन ऐश्वर्य का (रथी.) रथ में बैठे महारथी के समान विजेता या रस ग्रहण करनेहारा (असि) है । और तू (न) हमारे (शुचे) सन्तान के लिये (गाध तु) प्रतिष्ठा ऐश्वर्य को भी (विदा.) प्राप्त करा ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[४२] त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः[1] ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

त्वा विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधस ॥८॥

ऋ० ८ । ६० । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (त्रात·) रक्षा करने हारे ! (त्वम् इत्) तू ही (सप्रथा[1]) सब प्रकार से विख्यात है । तू ही (ऋतः) सत्य, ज्ञानस्वरूप, (कवि) मेधावी क्रान्तदर्शी है । हे (दीदिवः[2]) देदीप्यमान, तेज स्वरूप । हे (समिधान) प्रकाशमान ! तुझको ही (वेधस) स्तुति करने

४२-१. सप्रथा सर्वत. पृथु । नै० ६ । २ । ७ । २. दीदिव दानवत् इति । मा० वि० ।

हारे (विप्रासः) विद्वान् लोग (आ विवासन्ति) भजन, कीर्त्तन करते और प्रकट करते हैं।

[४३] आ नो अग्ने वयोवृधꣳ रयिं पावक शꣳस्यम्।
रास्वा च न उपमाते पुरुस्पृहꣳ सुनीती सुयशस्तरम् ॥६॥

ऋ० ८। ६०। ११ ॥

भा०—हे अग्ने ! हे (पावक) पवित्र करने हारे ! (नः) हमें (शंस्यम्) प्रशंसा के योग्य, (वयोवृधम्) आयु को बढ़ाने वाला (रयिम्) धन ऐश्वर्य (रास्व) दे। हे (उपमाते) ज्ञानसम्पन्न, हे सृष्टि के कर्त्ता ! (सुनीती) उत्तम धर्म की नीति से (नः) हमें (पुरुस्पृहम्) जिस धन को बहुत लोग चाहते हैं और (सुयशस्तरम्) जिसके प्राप्त करने से उत्तम यश भी प्राप्त होता है वह भी (रास्व) दे।

[४४] यो विश्वा दयत वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥

ऋ० ८। १०३। ६ ॥

भा०—(यः) जो अग्नि, ईश्वर (विश्वा वसु) सब प्रकार के वास करने योग्य, जीवनोपयोगी धन (दयते) दान करता है या सब वास करने वाले प्राणियों की रक्षा करता है वह (होता) सब को अन्न आदि पदार्थ देने वाला (जनानाम् मन्द्रः) और सब प्राणधारी जन्तुओं को आनन्द देने हारा है। (अस्मै) इस (अग्नये) अग्नि के लिये (मधोः) मधु, ऋग्वेद के (स्तोमाः) स्तुतिपूर्ण मन्त्र (प्रथमानि) उत्तम या सबसे पूर्व प्रस्तुत (मधोः पात्रा न) मधु से पूर्ण मधुपर्क के पात्रों के समान ही (प्रयन्ति) पुरस्कार में प्रस्तुत किये जाते हैं।

४३–'स्वयशस्तरम्' इति ऋ०।

उस भगवान् की सबसे प्रथम स्तुति करनी चाहिये जो समस्त प्राणियों की रक्षा करता, सबको अन्न देता और आनन्द देता है।

इति चतुर्थी दशतिः। चतुर्थः खण्डः।

॥ द० ५ ॥ १ वसिष्ठो वामदेवो वा। २ भर्गः प्रागाथ। ३, ७ सौभरिः काण्वः। ४ मनुर्वैवस्वतः। ५ सुदीतिपुरुमीढाजमीढाः। ६ प्रस्कण्वः काण्वः। ८ मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च काण्वौ। ९ विश्वामित्र। १० कण्व ऋषिः ॥ बृहती ॥

[४५] एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

ऋ० ७। १६। १॥

भा०—हे मनुष्यो! (एना) इस (नमसा) अन्न द्वारा (ऊर्ज नपात) बल को क्षीण न होने देने वाले (प्रियम्) सबसे उत्तम, प्यारे, (चेतिष्ठम्[1]) सबसे अधिक ज्ञानवान् और ज्ञान कराने हारे, (अरतिं) स्वामी, (स्वध्वरं) उत्तम, हिंसा से रहित, जो न मारे, न मरे, नित्य, (विश्वस्य दूतम्) समस्त संसार को ज्ञान का संदेश देने वाले या सब के लिये संताप निवारक, उपास्य और (अमृतम्) स्वयं नित्य, अविनाशी (अग्निं) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर का (आहुवे) स्मरण करता हूं।

[४६] शोचे वनेषु मातृषु सन्त्वा मर्तासु दुन्धते।
अतन्द्रो हव्य वहसि हविष्कृत आदित्यवपुर्गृणासि ॥२॥

ऋ० ८। ६०। १॥

भा०—हे अग्ने! परमेश्वर[1] तू (वनेषु) जंगलों में अग्नि के समान, देहों में जीव के समान, सब प्राणियों की आत्माओं में और (मातृषु)

४६—'गात्रेषु', 'एत्य' इति ऋ०।

माताओं के गर्भों और भूमियों में चेतन बीजरूप से (शेपे) प्रसुप्त होकर व्याप्त रहता है । (त्वा) तुझको (मर्त्तासः) मरणधर्मा, देहवान् प्राणि-गण (इन्धते) प्रदीप्त करते, प्रकट करते और ज्ञान करते हैं । तू (अतन्द्र') आलस्य से रहित होकर (हविष्कृतः) हवि सम्पादन करने वाले पुरुष के (हव्यं) प्रस्तुत किये ज्ञान को (वहसि) ले जाता है । (आत् इत्) और अनन्तर तू ईश्वर (देवेषु) देवों, विद्वानों और जीवों और इन्द्रियों के बीच में सबसे उत्कृष्ट होकर (राजसि) प्रकाशित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[४७] अदर्शि गातु वित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।

३ २ ३ १२ २२ २ ३ १ २ ३ १ २

उपोषु जातमार्यस्य वर्द्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥

अ० ८ । १०३ । १ ॥

भा०—(गातुवित्तमो[1]) समस्त मार्गों-लोकों को भली प्रकार जानने वाला, पृथिवी का उत्तम ज्ञाता, वह अग्नि (अदर्शि) प्रकट होता है (यस्मिन्) जिसमें, जिसके बल पर दीक्षित लोग (व्रतानि[2]) अपने शुभ-कर्म और संकल्पों को (आदधुः) धारण करते हैं । उस (सुजातम्) शुभ गुणों से युक्त, उत्तम प्रकार से प्रकट होने हारे, (आर्यस्य वर्धन) श्रेष्ठ पुरुष की उन्नति करनेहारे (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (नः गिरः) हमारी वाणियां (नक्षन्तु[3]) प्राप्त हों ।

३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[४८] अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे ।

३ १ २ ३ २ ३२ ३ १ २

ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥ ४ ॥

अ० ८ । २७ । १ ॥

४७–'नक्षन्त नो गिर' इति ऋ० । १. गातुरिति पृथिवीनाम । नि० १ । १ ।
२. व्रतमिति कर्मनाम । नि० २ । १ । ३. नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा । नि० २ । १८ ।
४८–'मरुतो ब्रह्मणस्पति देवान्' इति ऋ० ।

भा०—(उक्थे) उक्थ नाम यज्ञ में (अग्निः) अग्नि, ज्ञानी विद्वान् (पुरोहित०) पुरोहित होता है और (अध्वरे) हिंसारहित यज्ञ में (आवाण०) सोमसम्पादन के लिये, एवं ज्ञानयुक्त कर्म सम्पादन के लिये विद्वान् पुरोहित नियुक्त होते हैं और (बर्हि०) कुशा भी काटी जाती है। हे (मरुतः) देवगण, विद्वानो, प्रजाजनो, अध्यक्ष लोगो ! हे (ब्रह्मणस्पते) वेदवित्, सब विद्वानों के मुख्य ! हे (देत्रा०) विद्वान् लोगो ! (ऋचा) ऋग्वेद के अनुसार (वरेण्यम्) सबसे अधिक वरण करने योग्य (अव०) रक्षा या शरण को (यामि[1]) मैं प्राप्त करू।

३ १ २ ३ ३ २ १ १ २ ३ १ २

[४९] अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।

३ २ ३ १ २ ३ २ ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अग्निं राये पुरुमीढ श्रुत नरोग्निः सुदीतये छर्दि० ॥५॥

ऋ० ८ । ७१ । १४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (शीरशोचिषम्[1]) सुख ज्योति वाले, (अग्निं) अग्नि, परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा, पालन के लिये (गाथाभि०) नाना प्रकार के वेदमंत्रों और विज्ञान कथाओं से (ईडिष्व) वर्णन कर। हे (पुरुमीढ[2]) और बहुत ज्ञान सिंचे ! पुरुष ! (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् का आश्रय (राये) धनादि विभूति प्राप्ति के लिये ले। (श्रुतं) उसी प्रसिद्ध या विद्वान् अग्नि, ज्ञानी के समान प्रभु को (नरः[3]) नेता और

---

१ यामि इति याञ्चाकर्मसु पठितम्। नि० ३ । १९ ।

४९—'अग्निं सुदीतये छर्दि०' इति ऋ० ।

१ शीर अनुशायिनमिति वा आशीनमिति वा इति। निरु० ४ । २ । १४ ॥

२ हे पुरुमीढ ! मदीयान्तरात्मन् ! इति मा० वि० ।

३ नर इति मनुष्यनाम। नि० २ । ३ । नर नराकारम् इति मा० वि० ।

४ 'छर्दि छर्द संदीपने' चुरादि० ।

नरनारी भी अपना आश्रय बनाते हैं । (सुदीतये) प्रकाश करने के निमित्त भी वह (अग्ने) अग्नि ही (छर्दिः) दीप्तिमय प्रकाश है । अथवा (छर्दिः सुदीतये अग्निः) घर को प्रकाशित करने के लिये दीपक के समान भी वही ज्ञानमय प्रभु हृदयगृह का और ब्रह्माण्ड का प्रकाशक है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५०] श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥

ऋ० १ । ४४ । १३ ॥

भा०—हे (श्रुत्कर्ण) श्रवण करने में समर्थ, कर्णेन्द्रिय से सम्पन्न अग्ने ! ज्ञानवन् ! (श्रुधि) आप हमारा निवेदन सुनें । (सयावभिः) समान गति, ज्ञान से सम्पन्न (वह्निभिः) कार्यभार को उठाने में दक्ष, एवं प्रकाशमान (देवैः) देवों के साथ (मित्रः) मित्र, सबको स्नेह करने वाला (अर्यमा) न्यायकारी, स्वामी के पद पर स्थापित, (प्रातर्यावभिः) प्रातःकाल, देवयजन स्थान में आने वाले विद्वानों के सहित (अध्वरे बर्हिषि) हिंसारहित यज्ञ एवं आसन पर (आसीदतु) विराजमान हो ।

१२-२ ३ २ ३ २ब ३ २ ३ १ २

[५१] प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २

अनु मातरं पृथिवीं वि वावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥

ऋ० ८ । १०३ । २ ॥

भा०—(दैवोदासो अग्निः) द्युलोक में उत्पन्न होने वाला अग्नि (देवः) प्रकाशमान होकर (इन्द्रो न) चमचमाते विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना[1]) बलपूर्वक (मातरं पृथिवीं अनु) समस्त प्राणियों की माता

५०—'आमिदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावाणो अध्वरम्' इति ऋ० ।

५१—'अग्निर्देवा अच्छा', 'नाकस्य शानवि' इति ऋ० । 'मज्मना' इति बहुत्र, प्रायः गानग्रन्थेषु । १. मज्मनेति बलनाम । नि० २ । ९ ॥

पृथिवी की ओर (प्र विवावृते) नाना प्रकार से पहुंच कर उसको ढक लेता है, उस पर जालसा बिछा देता है और (नाकस्य) अन्तरिक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) स्थिर है ।

अर्थात् सूर्यलोक से आया तेज प्रभाव वेग से पृथिवी पर गिरता है और वायु में लीन होकर पृथिवी को छाये रहता है । सूर्य से निकलते हुए जीवन के मूलकारण 'आयनज़' पृथिवी माता पर पहुचते हैं । यही वैज्ञानिकों का सिद्धान्त है ।

ईश्वर पक्ष में—(देवोदास. अग्नि) तेजोमय परमेश्वर के आश्रय में विद्यमान् ज्ञानवान् (देव·) स्वयप्रकाश (इन्द्र न) विद्युत् या सूर्य के समान (मज्मना) अपने बल से (मातरम् पृथिवीम् अनु) सब प्राणियों के उत्पन्न करनेवाली माता पृथिवी पर (प्र विवावृते) विशेष रूप से रहता है । और पुनः (नाकस्य) नाक. स्वर्ग, सुखमय, आनन्दमय मोक्ष के (शर्मणि) आश्रय में (तस्थौ) विराजता है ।

[५२] अध ज्मो अधवा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्द्धस्य तन्वा गिरा मम जाता सुक्रतो पृण ॥८॥
ऋ० ८ । १ । १८ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अध ज्म ?) पृथिवी के नीचे (अधवा) और (बृहतः) विशाल, सब पर आच्छादित, (रोचनात्) कान्तिमान् (दिव) सूर्यमण्डल के (अधि) ऊपर भी (अया) इसी (तन्वा) रूप से (वर्द्ध स्व) तू सर्वत्र फैला हुआ है । हे (सुक्रतो) हे सुन्दर संसार के बनाने वाले कारीगर ! (गिरा) अपनी वेदमय ज्ञान-वाणी से (मम) मेरे (जाता) प्रजाजनों का (पृण) पालन कर और पोषण कर ।

५२—ऋ० अध द्यौ इति बहुत्र पाठ । १. ज्मेति पृथिवीनाम । नि० १ । १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[५३] कायमानो वना त्व यन्मातृरजगन्नपः ।
१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
न तत्त अग्ने प्र मृषे निवर्त्तनं यद् दूर सन्निहा भुवः ॥९॥

ऋ० ३ । ९ । २ ॥

भा०—हे अग्ने ! जीव [1] (त्वं) तू (वना) वनों का, देहों का (कायमान [3]) सञ्चय या कामना करता हुआ (यत्) जो (मातृ [2]) माता-स्वरूप उत्पादक (अप) कर्मों को (अजगन्) प्राप्त हो गया, उनमें लग गया है। (तत्) वह (ते) तेरा (निवर्त्तन) अपने मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होना (न प्र मृषे) सहन नहीं होता (यद्) कि (दूरं [3] सन्) विषय वासनाओं और कर्मबन्धनों से दूर रहकर भी (इह) इस कर्मबन्धनमय जीवलोक में (आ भुवः) पुन प्रादुर्भाव हुआ, उत्पन्न हुआ है ।

ईश्वरपक्ष में—(वना) भोग योग्य लोकों को (कायमानः) बनाने की कामना करता हुआ (यत्) जब तू (मातृ॰ अप॰) सब जगत् के उत्पादक मूल प्रकृति के परमाणुओं को (अजगन्) थाम लेता है (तत ते निवर्तनम्) उस समय तेरा निगूढ़ व्यापार (न प्र मृषे) नहीं प्रतीत होता है कि (यत् दूरे सन्) उस प्रकृति से दूर, सर्वथा भिन्न, असग रह कर भी (इह आभुव॰) इसमें व्यापक होकर सृष्टि रचने में समर्थ होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४] नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥

ऋ० १ । ३६ । १० ॥

५३–'ब्रह्माभव' इति ऋ० । १ चायृ पूजानिशामनयोरिति चायतेः चोः कुत्वापत्त्या । कायमनश्चायामन कामयमान इति वा । निरु० ४ । २ । १४ ।
२, मातर॰ इति नदीनाम । नि० १ । ५३ ॥ ३, द्रु । ए इति पदकार॰ ।

भा०—हे अग्ने ! (ज्योति॰) ज्योतिःस्वरूप, ज्ञानमय, प्रकाशरूप (त्वाम्) तुझको (शश्वते[1] जनाय) नाना प्रकार की प्रजाओं के लिये (मनु) मननशील पुरुष ने (निदधे) पूर्णरूप से प्रकाशित किया । और (यं) जिसको (कृष्टय॰) मनुष्यगण (नमस्यन्ति) नित्य नमस्कार करते हैं वह तू (कण्व) मेधावी पुरुष के हृदय में वह (ऋतजातः) सत्य ज्ञान या वेद रूप से प्रकाशमान होकर (अश्वितः) आनन्द रस रूप में सिक्त होकर (दीदेथ) प्रकाशित हो ।

इति पञ्चमी दशतिः । पञ्चम खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धप्रपाठकः ।

॥ द० ६ ॥—१, ७ वसिष्ठः । २, ३, ५ कण्वो॰ घौर॰ । ४ सौभरि काण्वः । ६ उत्कील आत्कीलो वा कात्य । ८ विश्वामित्रः ॥ २ बृहस्पतिः । ३ यज्ञः । बृहती ॥

[५५] देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥

ऋ० ७ । १७ । ११ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) तुम्हारा (देव॰) देव, इष्ट, भक्तिपात्र परमेश्वर (द्रविणोदाः) सब प्रकार के द्रव्यों को देने हारा है । इसलिये वह (पूर्णाम्) भरी हुई (आसिचम्) स्रुवा को ही (विवष्टु) कामना करता है (वा) और (उत् सिञ्चध्वं) खूब ऊपर से आहुति भरकर डालो (वा) और (उप॰ पृणध्वं) उसको पुन भरो (आत् इ) तब शीघ्र ही (व॰) तुम्हारे लिये (देवः) वह दिव्य गुण ईश्वर (ओहते[2]) अभिलषित फल देगा ।

५४—१. शश्वत् बहुनाम (नि० ३ । १ ।)

५५—[1] विवष्टर्यामिचम् , इति ऋ० ।

[2] ओहते वर्धयति । मा० वि० । वहतेरूपम् । सा० । वहतेरूपम् । मा० वि० ।

जो ईश्वर सब कुछ देता है उसके नामपर कंजूसी से दान न देकर खुले हाथ दान करना चाहिये। पात्र में दान देने से फल भी शीघ्र प्राप्त होता है।

२३ १ २ ३ २ ३ २ ४२ ३ १ २
[५६] प्रेतु ब्रह्मणस्पति प्र देव्येतु सूनृता।
१ २ २१२ २१२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥ २ ॥

ऋ० १ । ४० । ३ ॥

भा०—(ब्रह्मणस्पतिः[1]) ब्रह्म का पालक विद्वान् या ईश्वर ब्रह्मणस्पति (प्र एतु) हमारे पास आवे। (सूनृता) वेदवाणी (देवी) दिव्यगुणों से सम्पन्न (प्र-एतु) उत्तम रूप से हमें प्राप्त हो। (देवाः) विद्वान् या इन्द्रियगण (नर्यं) मनुष्यों के हितकारक (वीरम्) वीर्यसम्पन्न (पङ्क्तिराधसम्) पंक्ति, दश से साधन योग्य या परिपक्व ज्ञान से प्राप्य (यज्ञं) यज्ञ को (नः) हमें (अच्छा[2]) भली प्रकार (नयन्तु) प्राप्त करावें।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ २१२ ३ १
[५७] ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ३ ॥

ऋ० १ । ३६ । १३ ॥

भा०—हे अग्ने ! परमेश्वर तू (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (ऊर्ध्वः) उन्नत होकर (सु तिष्ठ) भली प्रकार स्थिर रह। (देवः सविता न) दिव्य गुणों से सम्पन्न सविता, सूर्य या विद्वान् के समान आप (वाजस्य) अन्न और ज्ञान को (सनिता) देनेहारे हो। (यद्) जिस कारण (अञ्जिभिः[1]) गुणों का प्रकाश करने हारे (वाघद्भिः) यज्ञकार्य का

५६—१ ब्रह्मणस्पतिः—ब्रह्म अन्नं, तस्य पतिः। ब्रह्म वेदः, तस्य पतिः।
२. अच्छ आप्तुं सम्भावयितुमिति भा० वि०।
५७—१. अञ्जिभिः त्वद्गुणप्रकाशकैः छन्दोभिः, इति भा० वि०।

सम्पादन करने हारे विद्वानों द्वारा हम आपको (वि ह्वयामहे) बुलाते हैं और आपकी स्तुति उपासना करते हैं।

२ड ३।२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८] प्र यो राये निनीषति मर्त्तो यस्ते वसो दाशत्।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशꣳसिन त्मना सहस्रपोषिणम् ॥४॥

ऋ० ८। १०३। ४॥

भा०—हे वसो[1]! समस्त ससार को आश्रय देने वाले! (यः) जो (मर्त्त) मरणधर्मा पुरुष (राये) अमृत धन के निमित्त (प्र निनीषति[2]) तुझ तक पहुचना चाहता है या कोई श्रेष्ठ कार्य सम्पादन करना चाहता है या प्रेम प्रकट करना चाहता है। और (य) जो (ते) तुझे (दाशत्) समर्पण करता है (स) वह हे अग्ने! परमेश्वर (उक्थशसिनम्) वेदवक्ता (सहस्रपोषिणम्) हज़ारो को भरण पोषण करने वाले (वीरम्) वीर पुत्र को (त्मना) अपने सामर्थ्य से (धत्ते) धारण करता या उत्पन्न करता है।

ईश्वर को स्मरण करने और उसको आत्मसमर्पण करने वाले याज्ञिक धर्मात्मा के घर में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे स्वय विद्वान्, वेदवक्ता और सहस्रों को पालने पोषने में समर्थ होते हैं।

१ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[५९] प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्।
३ १ ३ १ ३ १ २ ३ २ड ३ २ ३ १ २
अग्निꣳ सूक्तेभिर्वचोभिर्नमस्यामि यꣳ समिदन्य इन्धते ॥५॥

ऋ० १। ३६। १॥

भा०—(यं) जिस अग्नि, राजा या ईश्वर को (अन्य इत्) अन्य पुरुष भी (सम् इन्धते) प्रज्वलित प्रदीप्त करते, हृदय में जगाते हैं, उस

५८-'प्र यो राये निनीषति' इति ऋ०। १. वासकाग्ने। सा०। २. णी प्रापणे। भ्वादिः। प्रापण नयन। प्रणय प्रेम।

५९-'वचोभिरीमहे' इति ऋ०। 'ईमिदन्य ईळते' इति ऋ०।

(देवयतीनाम्) दिव्यगुणों से सम्पन्न होना चाहने वाली (पुरूणाम्[1]) पालन पोषण करने मे समर्थ, बलवान्, शरीर में इन्द्रियो के समान (विशा) प्रजाओं के (यह्वम्[2]) व्यवस्थापक, महान्, अधिष्ठातारूप अग्नि को (सूक्तेभि) वेद के सूक्तों द्वारा (प्रवृणीमहे) खूब अच्छी प्रकार वरण करते है । यहा आत्मा और राजा का भी वर्णन है ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२

[६०] अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥ ६ ॥

ऋ० ३ । १६ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि, परमेश्वर और राजा (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य का और (सौभगस्य) सौभाग्य का (हि) भी (ईशे) स्वामी, अधिष्ठाता है । वही अग्नि (रायः) समस्त धनों का (ईशे) स्वामी है । वही (स्वपत्यस्य) सुन्दर पुत्र प्रजा का (गोमत.) गौ आदि पशुओं से सम्पन्न (राय.) धन धान्य का (ईशे) स्वामी है । वही (वृत्रहथानां) वृत्र, विघ्नकारी पापों, पापी पुरुषों के मारने वाल बल और साधनों का भी (ईशे) स्वामी है ।

१२ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २

[६१] त्वमग्ने गृहपतिस्त्वꣳ होता नो अध्वरे ।

१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

त्व पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ॥ ७ ॥

ऋ० ७ । १६ । ५ ॥

भा०—हे अग्ने ! (त्वं) तू (गृहपतिः) घर का स्वामी है, (त्व) तू (नः) हमारे (अध्वरे) यज्ञ, हिंसारहित श्रेष्ठ कर्म मे (होता) यज-

---

१ पुरूणि इन्द्रियाणि । द० उ० । २. यह इति महन्नाम । नि० ३ । ३ ।

६०–'ईशेमहः' इति ऋ० ।

६१–'यक्षि वेषि च' इति ऋ० ।

मान और समस्त भोग्य पदार्थों के देने और स्वीकार करने वाला या विद्वान् दिव्य गुणों, पुत्रों और शक्तियों को बुला कर हमें प्राप्त कराने वाला है। हे (विश्ववार) समस्त संसार के वरण करने योग्य या सब विघ्नों के वारण करनेहारे रक्षक[1] (त्वं) तू (पोता[2]) सब कार्यों का परिशोधक, निरीक्षक, (प्रचेता) उत्कृष्ट मतिसम्पन्न है। तू ही (वार्यम्) सब को प्रसन्न करने वाले वरणयोग्य, श्रेष्ठ पदार्थ ऐश्वर्य को (यासि) देता है और (यासि च[2]) हमें प्राप्त कराता है या स्वयं स्वीकार करता है।

१ २　　३ १　२र　३ १ २
[६२] सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये।
३ १ २र　३ १ २ ३ १　२　३ १ २　३ १ २
अपान्नपातꣳ सुभगं सुदꣳससꣳ सुप्रतूर्त्तिमनेहसम् ॥८॥
ऋ० ३। ९। १॥

भा०—हे अग्ने[1] परमात्मन्[1] (सखायः) हम सब समान ख्याति वाले (मर्त्तासः) मरणधर्मा पुरुष या इन्द्रियगण (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अपां नपातम्[3]) अप अर्थात् कर्मों और ज्ञानों के नपात् अर्थात् अपत्य, उत्पन्न हुए महाप्राण रूप, या हम प्रजाओं को विनष्ट न होने देने वाले (सुभगं) सुख से सेवन योग्य, उत्तम ऐश्वर्यवान् (सुदंससं[2]) शुभ कर्म करने वाले (सुप्रतूर्त्ति[3]) पापियों और पापों के विनाशक, (अनेहसम्[4]) क्रोध और उपद्रवों से रहित (त्वा देवं) तुझ देव को (ववृमहे) वरण करते हैं।

१. पोता—शोधयिता। मा० वि०।　२. यासि याचसे इति मा० वि०।　[3]सुगं सुशीर्तिं' इति ऋ०।

६२—१ अपां नपात्। अपापौत्रत्व, यथा अक्षय ओषधय। ततो रसनोत्पत्तिर्विद्युत्।
अथवा आपोमय प्राण इति मुख्यप्राणस्यादम्भ्यो जन्यत्वात्तदपत्यत्वम्।
२. दंस. कर्मनाम (नि० २। १), ३. तूर्तिर्हिंसार्थः. स्यादि।
४. अनेहसम् उपद्रवरहितं सा०। अक्रोधम्। मा० वि०। एष क्रोधनान। नि० २। १२।

इन्द्रियगण जिस प्रकार आत्मा को वरते हैं उसी प्रकार मनुष्य अपनी रक्षा के लिये इन गुणों से सम्पन्न को ही राजा मुख्यपति नियुक्त और उसी प्रकार ईश्वर को भी वरण करे ।

इति पष्ठी दशति. । षष्ठः खण्डः ।

॥ ७ ॥ ऋषि-१ श्यावाश्वोवामदेवोवा । २ उपस्तुतो वार्ष्टिहव्य. । ३ बृहदुक्थो वामदेव्यः । ४ कुत्सः । ५, ६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ७ वामदेवः । ८, १० वसिष्ठः । ९ त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः ॥ १, ३, ५, ९ त्रिष्टुभ । २, ४ जगत्यौ । १० त्रिपाद्विराड्गायत्री ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३] आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ४ ३ ४ १ २

इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

भा०—हे पुरुषो ! (हविषा) स्तुति और अन्नादि द्वारा (आजुहोत) आदरपूर्वक आहुतिये दान करो और (मर्जयध्वं) सत्कार करो और सुखी करो । (होतारं) सब प्रकार के भोग्य अन्न आदि देने वाले उस होता स्वरूप (गृहपतिं) गृह स्वामी के समान प्रभु को (नि दधिध्वम्) अच्छी प्रकार सेवा शुश्रूषा और धारणा ध्यान द्वारा स्मरण करो । (इड.) इला-पृथिवी यज्ञवेदी और अन्नादि के (पदे) स्थान पर या अवसर पर और (पस्त्यानाम्) घरों के बीच में (रातहव्यं) हवि चरु आदि पुष्टिकारक पदार्थ और आनन्द के दायक स्वामी की नमसा) नमस्कार और उपहार द्रव्यों द्वारा (सपर्यत) पूजा सत्कार करो ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६४] चित्र इच्छिशोरतरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २

अनू ऊधो यदजीजनद्धाचिदा धवद्दोहसद्यो महि दूत्यं चरन् ॥२॥

ऋ० १४ । ११७ । १ ॥

६३–१. पस्त्यानि गृहाणि । नि० ३ । ४ । तेषु ये निवसन्ति ते पस्त्या. । मा० वि० ।

६४–'अत्येति धातवे' 'यदजीजनद' 'अधाचन धवद्दोह सद्यो' इति पाठभेदा, ऋ० ।

भा०—परमात्मा अग्नि का श्लेषपूर्वक शिशु रूप से वर्णन । प्रथम शिशु के पक्ष में—(शिशो.[1]) उस शिशु रूप (तरुणस्य) तरुण अग्नि आत्मा का (इत् वक्षथ[2]) भी यह वहन करने का कार्य (चित्र इत्) आश्चर्यजनक है (य) जो (धातवे) रस पान के लिये भी (मातरौ) माता पिता किसी के पास भी (न अन्वेति) नहीं जाता है । और आश्चर्य यह है कि (अनूधा) बिना दूध के ही अब वह उत्पन्न हुआ (अधा चित्) तब ही (सद्य) तुरन्त (महि) बड़े भारी (दूत्य चरन्) दूत के कार्य के समान गमनागमन करता हुआ (आववक्षत्) कार्य-भार को उठा लेता है ।

ईश्वर परमात्मा व्यापक, सर्वत्र सुप्त के समान व्यापक होने से यास्तुत्य होने से शिशु है, वह नित्य सामर्थ्यवान् होने से 'तरुण' है । उसका विश्व को वहन करने या धारण करने का कार्य अद्भुत है । वह अपने बल प्राप्त करने के लिये (मातरौ) मातृभूत द्यौ और पृथिवी दोनों के अधीन नहीं रहता । वह संसार को स्वयं उत्पन्न कर चुकने पर भी 'अनूधा.' अर्थात् स्वयं उसको धारण करता है । अतएव वह (सद्य·) निरन्तर (महि) बड़ा भारी (दूत्य चरन्) विश्व को उपतापन या तप का कार्य करता हुआ इस संसार को (अववक्षत्) उठा रहा है ।

३२ ३ १२ ३१ २ ३ १२ ३१२३ १ २ ३ १ ?

[६५] इदं त एक पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।

३१२ ३२ १२ ३ २ ३१२ ३ २ ३१२

संवेशनस्तन्वे३चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥ ३ ॥

ऋ० १० । ५६ । १ ॥

भा०—हे आत्मस्वरूप अग्ने ! (इदम्) यह प्रत्यक्ष संसार और यह लोक (ते) तेरा (एकम्) एक रूप है । (पर [3]ऊ) और परलोक का स्वरूप

१. शिशो शसनीयस्य । मा० वि० । २. वक्षय.-वहन गमनम् । मा० वि० ।

३ चित्र पूज्य । मा० वि० ।

६५-'संवेशने तन्व,' इति ऋ० ।

(ते) तेरा (एकम्) एक दूसरा स्वरूप है । तू इन दोनों को अतिक्रमण करके (तृतीयेन) तीसरे उत्कृष्ट (ज्योतिषा) ज्योति, ब्रह्मज्ञान से (संविशस्व) लीन हो । वहां (संवेशन.) सुख के प्रवेश करने योग्य होकर (तन्वे) पुन. शरीर ग्रहण के लिये (चारुः) भली प्रकार गमनशील (एधि) रह, (परमे) उत्कृष्ट (जनित्रे) उत्पत्तिस्थान में (देवानाम्) दिव्य गुण वाले अपने इन्द्रियगण के सामर्थ्यों का (प्रियः) प्रेमपात्र होकर रह ।

ईश्वरपक्ष में—यह प्रत्यक्ष लोक तेरा एक रूप है । पर सूर्य आदि तेरा दूसरा रूप है । तू ही तीर्णतम, तृतीय, सर्वोत्कृष्ट ज्योतिरूप सर्वत्र व्यापक है । तू व्यापक होकर (तन्वे) जगत् के विस्तार करने के लिये भी (चारु· एधि) सर्वत्र व्याप्त होता है । तू (देवाना) देव, पञ्चभूतों या मुक्तात्माओं के परम उत्पादक रूप में भी उनका (प्रिय) प्रिय अर्थात् उनमें सबसे अधिक श्रेष्ठ है ।

सायण ने इस मन्त्र को बृहदुक्थ ऋषि के मुख से अपने मृत, पुत्र के प्रति कहाया है । "तेरा यह एक अंश शरीर इस श्मशानाग्नि में जाय, दूसरा अंश प्राणवायु में मिल जाय, तीसरा अंश सूर्यज्योति में लीन हो जाय और पुनः शरीर धारण के लिये तैयार होकर सूर्यलोक में प्रसन्न होकर रह ।"

३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६] इमꣳ स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संꣳसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३

ऋ० १ । ९४ । १ ॥

भा०—(अर्हते) पूजा सत्कार करने योग्य (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जानने वाले, वेदों के उत्पादक ईश्वर के लिये (इमं स्तोमं) यह स्तुति-वाक्य हम लोग (रथम् इव[1]) रमणीय पदार्थ, उपहार करने योग्य वस्तु के

[1] ६६–१. रथमिव, यथा तक्षा रथ सँस्करोति तथा (सा०) । यथा रथं गमयन्ति तथा स्तोम गमयेम, इति मा० वि० ।

समान (सम्) उत्तम रीति से (मनीषया) अपनी बुद्धि से (महेम) प्रस्तुत करते हैं। (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के (संसद्) सभास्थान, संगम या सत्सङ्ग में (नः) हमारी (प्रमतिः) उत्तम मति सदा (भद्रा हि) कल्याण संकल्प वाली बनी रहे। हे अग्ने ! ईश्वर ! (वयं) हम लोग (तव) तेरे संग (सख्ये) मित्रभाव में (मा रिषाम[2]) कभी कष्ट न पावें, कभी पीड़ित न हों।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ङ ३ २ ३ २

[६७] मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्यो वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ २

कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः॥५॥

ऋ० ६। ७। १॥

भा०—(दिवः) द्यौलोक के (मूर्धानं) शिरोभाग और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अरतिं) स्वामी, (ऋते) सत्य, यज्ञ या समस्त ब्रह्माण्ड में (आ जातम्) सर्वत्र प्रादुर्भूत, व्याप्त, (वैश्वानरम्) सब प्राणियों में व्यापक, (कविम्) मेधावी, क्रान्तदर्शी (सम्राजम्) खूब प्रकाशमान सब के सम्राट्, (जनाना अतिथिम्) मनुष्यों में अतिथि के समान अति आदर से पूजा के योग्य (नः) हमारा (आसन्) मुख भाग में स्थित, अर्थात् सब के प्रमुख (अग्निम्) अग्नि, ज्ञानवान् परमेश्वर को ही (पात्रं[1]) हमारी स्तुतियों और सत्कार का पात्र या पालक (देवाः[2]) विद्वान् पुरुष (जनयन्त) प्रकट करते, बतलाते हैं।

२ङ ३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३ २

[६८] वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र३ १ २ ३ १ २

तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्या जिनाति र्वबाहो जिग्युरश्वा ॥६॥

ऋ० ६। २४। ६॥

६७-१ पात्र पालार। सा०। २ देवा अस्मिन् स्तोतारः। सा०।

६८-ऋग्वेदे पाठभेदो यथा-'वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरिन्द्रानयन्त यज्ञै:।
उ त्वामि सुष्टुतिभिर्वाजयन्त आशिं न जग्मुर्गिर्वाहो जाश्वा॥'

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (देवाः) स्तुति करने वाले या तेरे दिव्य-गुणों को जानने वाले विद्वान् लोग (उक्थेभिः) यज्ञों, ज्ञानचर्चाओं द्वारा (पर्वतस्य) पर्वत या मेघ के (पृष्ठात्) तट या एक देश से (आपो न) जलधाराओं के समान (त्वत्) तुझ से (वि जनयन्त) नानाप्रकार के कार्य सम्पादन करते या तुझे नाना प्रकार से उत्पन्न करते या प्रकट करते हैं । अथवा (देवाः) दिव्यगुण के सूर्य आदि पदार्थ तुझ से, मेघ से जलधाराओं के समान, स्वयं प्रकट होते हैं । हे परमेश्वर (गिर्वणाह) गिरा, वाग् या वाणियों द्वारा प्राप्त या ज्ञान करने योग्य ईश्वर ! (अश्वाः) अश्व (आजिं न) जिस प्रकार संग्राम भूमि में (जिग्युः) विजय करते हैं, उसी प्रकार (सु-स्तुतयो गिरः) उत्तमरूप से गुणवर्णन करने वाली वेदवाणियां (तं त्वा) उक्त प्रकार के गुणों से सम्पन्न तुझको (वाजयन्ति) बढ़ाती हैं, पुष्ट करती हैं, तुझे समृद्ध करती हैं, अलंकृत करती हैं ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २१ ३२ ३ १ २
[६९] आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः ।
३ २ १ २ २ ३ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥
ऋ० ४ । ३ । २ ॥

भा०—(अध्वरस्य) कभी हिंसा का पात्र न होने वाले, कभी न मरने वाले यज्ञ के (राजानम्) अधिपति, (रुद्रम्[1]) घोर गर्जना के साथ गमन करते हुए या पापियों के रुलाने वाले, (रोदस्योः) द्यौः और पृथिवी दोनों लोकों को (सत्ययजम्) सत्य के बल से दान देने वाले अथवा उनमें व्यक्त जगत् रूप से, सत्य यज्ञ करने वाले (होतारं) आकाश से और पृथिवी से

६९–१. रुद्रो रौतीति सतो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा । रोदयतेर्वा, यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकम् । यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम् इति नि० १० । २ । ५ ॥ रुद्र रोदनस्वभाव ! भा० वि० ।

अन्न और जल की आहुति देने वाले (हिरण्यरूपम्) मनोहर, सुवर्ण रूप को धारण करनेहारे तेजोमय (अग्निं) सूर्य के समान परमेश्वर को (अचित्तात्) चेतनारहित (तनयित्नो.[२]) अशनिविद्युत् से भी (पुरा) पूर्व अर्थात् उससे भी उत्कृष्ट (अवसे) अपने रक्षार्थ (कृणुध्वम्) उत्पन्न कर लो, जानो।

३ २४ ३ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७०] इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन।
१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १२ २१३ १ २
नरो हव्येभिरीडते सवाध अग्निरग्रमुषसामशोचि ॥ ८ ॥

ऋ० ७। ८। १ ॥

भा०—(अर्यः) स्वामी राजा) सब से अधिक कान्तिमान् (नमोभिः) आदर वचनों से (सम इन्धे) खूब प्रज्वलित होता है। (यस्य) जिसका (प्रतीकम्[१]) स्वरूप (घृतेन) घृत, स्नेह, कान्ति या पुष्टिकर पदार्थों से (आहुतं) पूरित, हरा भरा है। उस (उषसाम् अग्रम्) उषाकाल में सब से पूर्व प्रकट होने वाले उस अग्नि को (नरः) विद्वान् लोग (सबाधः) उद्वेगों या क्लेशों या विघ्नों से बाधित होकर (हव्येभिः) स्तुतियों से और उत्तम २ पदार्थों से (ईडते) भजन करते हैं। अग्नि के पक्ष में—अग्नि अन्नों से प्रज्वलित होता है। रोगों से पीड़ित लोग उत्तम चरुओं से होमते हैं।

राजा के पक्ष में—राजा आदर वचनों से आदृत होता है और शत्रुओं से पीड़ित प्रजाजन उसकी स्तुति करते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २

[७१] प्र केतुना बृहता यात्यग्निरारोदसी वृषभो रोरवीति।
३ २ ३ १ ३ १२ २१ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानळपासुपस्थे महिषो ववर्द्ध ॥ ९ ॥

ऋ० १। ८। १ ॥

---

२ तनयित्नुरशनि । सा० ।

७०—'आग्निरुक्थैः' इति ऋ० । १ प्रतीकं नाम मुखं । मा० वि० ।

७१—'दिवश्चिन्नाभा उपमाँ उदानळपः' इति ऋ० ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, परमेश्वर (बृहता) बड़े भारी (केतुना) विज्ञानमय प्रकाश के साथ (प्र याति) प्रकट होता है । (रोदसी) द्यौलोक और पृथिवी लोक दोनों में वह (वृषभः) सब से श्रेष्ठ, ज्ञानी और सुखों की वर्षा करने वाला (रेरवीति) शब्द करता है, उपदेश करता है । (दिवश्चित्) अन्तरिक्ष लोक के भी (अन्तात्) एक प्रान्त से उदित होकर (उपमाम्) समीप, हृदय देश में ही (उदानड्) उदित हुआ, प्रकाशित हुआ है । (अपां) समुद्रों के बीच सूर्य के समान लोकों एवं कर्मों और ज्ञानों के (उपस्थे) बीच वह (महिषः) महान् सामर्थ्यवान् (ववर्द्ध) सब से यश और नाम में बड़ा है ।

केतु=ध्वजा, ज्ञान । उपस्थे=अन्तरिक्षे ।

३ २उ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
[७२] अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
३ १ २ ३ १२ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥ १० ॥ ऋ० ७ । १ । २ ॥

भा०—(नरः) नेता, अग्रणी लोग (दीधितिभि) किरणों और अंगुलियों द्वारा (अरण्योः) अरणियों के बीच में (हस्तच्युतम्) हाथों के बल से उत्पन्न हुए, अग्नि के समान द्यौ और पृथिवी के बीच में अपनी शक्ति से स्वयं स्थित, (प्रशस्तम्) सबसे उत्तम, निर्दोष, (दूरे दृशम्) दूर तक दिखाई देने वाले या दूर तक देखने वाले, (गृहपतिम्) घर के स्वामी के समान समस्त प्रजा के रक्षक, (अथव्युम्) गतिशील दूर तक पहुंचने वाले, व्यापक (अग्निम्) अग्नि, परमेश्वर को (जनयत) उत्पन्न करते, प्रकट करते हैं ।

अर्थात् जैसे अरणियों के बीच अग्नि, प्राण और अपान के बीच में आत्मा, माता पिता के बीच में पुत्र है उसी प्रकार द्यौः और पृथिवी के बीच वह परमेश्वर शक्तिरूप से प्रकट है ।

इति सप्तमी दशतिः । सप्तमः खण्डः ॥

॥ द० ८ ॥ ऋषि —१ बुधगविष्ठिरौ । २, ५ वत्सप्रि· । ३ भारद्वाजः । ४,७ विश्वामित्रः । ६ वसिष्ठ । ८ पायु· ॥ देवता—१, २, ४—८ अग्निः । ३ सुर ॥ त्रिष्टुप् ॥

१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७३] अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुपासम् ।
३ २३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २
यह्वा इव प्रवयामुज्जिहाना प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥

ऋ० ५ । १ । १ ॥

भा०—(जनानां समिधा) लोगों की लगाई लकड़ी से जिस प्रकार (अग्नि· अबोधि) सामान्य अग्निहोत्र की अग्नि (धेनुम् इव) दुधार कपिला गाय के समान (आयतीम् प्रति उपासम्) आते हुए प्रत्येक उषाकाल में (अबोधि) प्रदीप्त होती है उसी प्रकार यह (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी आत्मा भी (जनानां समिधा) जनों के प्रदीप्त प्राणरूप काष्ठों से (प्रति उपासम्) प्रति प्रात.काल प्राणायामों द्वारा (अबोधि) चेताया जाता है । (उज्जिहानाः) ऊपर उड़ते हुए पक्षीगण जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्रते) शाखा पर जाते हैं । और जिस प्रकार (यह्वा·) बड़े पुरुष (वयाम् इव) व्यापक उदारनीति की ओर बढ़ते हैं और जिस प्रकार (भानव) सूर्य के किरण (नाकम्) आकाश की ओर (प्रसिस्रते) व्यापते हैं, उसी प्रकार (यह्वाः) बड़े २ शक्तिशाली आत्मा (उज्जिहाना·) उत्क्रमण करते हुए (वयाम्) उस व्यापक परमेश्वरी शक्ति की तरफ़ जाते हैं और (भानव) ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित होकर आदित्य के समान तेजस्वी योगी मुक्तजन (नाकम्) परम सुखमय, आनन्दमय परम पद को (प्र सिस्रते) प्राप्त करते हैं ।

७३—'सिस्रो' इति ऋ० । पश्चिम इन्द्राधिको मन्त्रार्थ साधनीयविषयेऽपि ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १२ २३ ३ १ ३ १ २
[७४] प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरंरमूरं पुरां दर्माणम् ।
१ २ ३ २ ३१३ २२ ३ १ २ ३ १ २१२ ३ २
नयन्तं गीर्भिर्वनान्धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ॥२

ऋ० १९ । ४६ । ५ ।

भा०—(भूः)[1] सबके उत्पत्तिस्थान, भू आदि लोकों को (प्र जयन्त) उत्तम रीति से विजय करने वाले (मूरैः) मोहयुक्त जीवों द्वारा गृहीत (पुरां) शरीरों के (दर्माणम्) नाश करने वाले, उनको मुक्ति दिलाने वाले, (अमूर) स्वयं मोह रहित, (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (वना) भजन करने योग्य (धियं नयन्तं) हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में ले जाने वाले, (हरिश्मश्रुं न) सुवर्ण के समान कान्तियुक्त किरण वाले सूर्य के समान (वर्मणा) कवच से (धनर्चिम्) विभूतिमान् उस अग्नि को (धाः) हृदय में धारण कर ।

त्रिपुरारि, पशुपति, भूतिभृत्, विद्येश्वर आदि की शिवविषयक कल्पना ब्रह्म के विषय में इसी मन्त्र के आधार पर हैं । हरिश्मश्रु, हिरण्यकेश आदि शब्दों के धात्वर्थ समान हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २
[७५] शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
२ ३ २ ३ १ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
विश्वाहि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु ॥३

ऋ० ६ । ५८ । २ ।

भा०—हे पूषन् ! अग्ने ! (ते) तेरा (शुक्रं) कान्तिमान्, प्रकाशमान् रूप (अन्यत्) दूसरा है । और (यजतम्) आपका मिलने वाला, उपास्य, शिवरूप (अन्यत्) और है । (अहनी) ये दिन और रात के समान दोनों

७४-(ऋ) 'भूरा' इति ऋ० । उत्तरार्धं, 'नयन्तो गर्भे वना धिय धु हिरिश्मश्रु नार्वाण धनर्चस् ।' इति ऋ० ।

१. भूर्भुवः प्रदर्शनार्थं, त्रीनपीलोकान् जयन्त इति मा० वि० ।

७५-'स्वधावो' इति ऋ० ।

(विषुरूपे) भिन्न २ रूप के हैं । हे अग्ने ' तू (द्यौः इव असि ') सूर्य के समान है । हे (स्वधावन्) अन्नपते ! प्राणपते ! जीवेश्वर । भूतपते ! (हि विश्वा) क्योंकि तू समस्त संसार की सब प्रकार की (मायाः) मायाओं, सृष्टियों को (अवसि) पालन करता है । हे (पूषन्) समस्त संसार के पोषण करने हारे ! (इह) इस लोक में (ते) तेरा (रातिः) दान (भद्रा) कल्याण और सुख के देने वाला (अस्तु) हो ।

ईश्वर ने अग्नि और सोम, प्राण और रयि दोनों से समस्त संसार को बनाया है । वह दोनों का सूर्य के समान प्रेरक है । सब चराचर सर्ग जो प्रकृति के विकार से बनी (माया) सृष्टिया हैं, उनको वही पालन करता है, यहां ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों रूपों का क्रम से वर्णन किया गया है ।

१ २ ३ १ २ २ १३ २१ ३ २३ २१
[७६] इडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिꣳगोः शश्वत्तमꣳ हवमानाय साऽग्।
१ २ ३ १२ २१ ३१८ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥४॥

ऋ० । ३ । ६ । ११ ।

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! तू (हवमानाय) स्तुति भजन करने वाले पुरुष के लिये (पुरुदसम्) बहुत कर्मों से सम्पन्न या इन्द्रियों को पुष्टिदायक, (गो सनिं) गोधन, इन्द्रिय, वाणी या सरस्वती, विद्या के देने हारे, (शश्वत्तमं) चिरकाल तक (इडाम्) अन्न, ज्ञान, एवं भक्ति को (साऽग) प्राप्त करा । (नः) हमारा (सूनुः) पुत्र (तनयः[1]) अगली सन्तान का विस्तार करने वाला वंशधर (विजावा[2]) नाना प्रकार की सन्तानों का उत्पन्न करने हारा (स्यात्) हो । (ते सा सुमतिः) तेरी वही शोभन मति (अस्मे) हमारे लिये (भूतु) बनी रहे ।

७६-पुरुदमस । सा० भा० ।

१. तनयः पुत्र , तनोति विस्तारयति सन्ततिमिति । २. विजावा विविध जनयित्रा पुत्राणा, अनेन प्रकारेण वंशस्थाविच्छेद आशास्यते । मा० वि० ।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ २
[७७] प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्ते ।
२ ३ २ ३ १ ३ १२ २१ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ १
दधद्यो धायी सु ते वयाꣳसि यन्ता वसूनि विधते तनूपा ॥५॥

ऋ० १० । ४६ । १ ।

भा०—(यः) जो अग्नि (महान्) बड़ा, (होता) स्तुतियोग्य, नाना पदार्थों के दान करने वाला, (नभोविन्) आकाश और अन्तरिक्ष में व्यापक या उसको उत्तम रूप से जानने वाला (जातः) प्रकट है, वह (नृषद्मा) समस्त प्राणियों में विराजमान है । वही (अपां विवर्त्ते [१]) अन्तरिक्ष में, समस्त प्रजाओं के भीतर भी (धायी) धारक पोषक रूप से विद्यमान है । वही (ते) तेरे लिये (वयांसि) अन्नादि पदार्थ और आयु को (दधत्) धारण करावे । (तनूपाः) शरीरों की रक्षा करने वाला वह (यन्ता) सबका नियन्ता (विधते) नियम से अपना कार्य सम्पादन करने वाले पुरुष को (वसूनि दधत्) नाना प्रकार के सुखसाधन देता है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८] प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुꣳसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥

ऋ० । ७ । ६ । १ ।

भा०—(असुरस्य [१]) प्राणों और ज्ञानों से सम्पन्न (कृष्टीनां) प्रजाओं के (अनुमाद्यस्य) हर्षों और सुखों में सुखी होने वाले, (पुंसः)

७७—'नृषद्मा' 'अपामुपस्थे' 'दधियों' 'धायी सते' ऋ० ।

१ अपां विवर्त्तोऽन्तरिक्षलोकः । मा०वि० । २ 'धायी सुते' इति पाठे धायी धारयिता, 'सुते' इत्येकपदम् । अभिसुते इत्यर्थः । पदकारस्तु 'धायी । सु । ते', इति पदत्रय चिच्छेद ।

७८—'प्र सम्राजो' 'प्रशस्ति' 'वन्देदारु वन्दमानो विवक्ति' इति ऋ० । 'वन्दमानो विवक्ति' इति स०सा० ।

पुरुष के (सम्राजम्) सबसे अधिक शोभा, कान्ति से युक्त स्वरूप को (प्रशस्तम्) प्रशसनीय (प्र जानीत) जानो। मनुष्य (इन्द्रस्य इव) इन्द्र के समान (तवस॰ [२]) बलशाली उस पुरुष के (कृतानि) किये गये (वन्दद्वारा) नमस्कार पूर्वक वन्दमाना) स्तुति युक्त कार्यों की (प्र विवक्तु) अभिलाषा करे।

३ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३;र १र ३ १ २

[७६] अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवत्सुभृतो गर्भिणीभि.।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र ३ २

दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥

ऋ० १ । २९ । २ ।

भा०—(अरण्यो) दो अरणियों में जिस प्रकार (जातवेदा॰) अग्नि (निहित॰) गुप्त रीति से रहता है, और (गर्भिणीभि) गर्भिणी स्त्रियों द्वारा (गर्भ इव) जिस प्रकार गर्भ बड़ी सुरक्षा से पालन किया जाता है, उसी प्रकार द्यौ और पृथिवी के बीच में उनका प्रकाशक अग्नि, परमेश्वर भी (निहित) उनके भीतर व्यापक है। और (गर्भिणीभि॰) जगत् की धारक शक्तियों द्वारा (इत् सुभृत॰) उत्तम रूप से सुरक्षित है। (दिवे दिवे) प्रतिदिन (जागृवद्भि) जागने वाले, सावधान, चैतन्य, ज्ञानी (हविष्मद्भि॰) हव्य आदि पदार्थ और स्तवन आदि से सम्पन्न (मनुष्येभि॰) मनुष्यों द्वारा वह (अग्नि) सर्व प्रकाशक, ज्ञानवान् परमेश्वर (ईड्य) उपासना किया जाता है।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[८०] सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षाꣳसि पृतनासु जिग्युः।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अनु दह सहमूरान् कव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्याया ॥८॥

ऋ० १० । ८७ । १९ ।

---

१. असुरिति प्रज्ञानाम नि० ३ । ९ ॥ तद्वान् असुर ।

७९—'सुषितो गर्भिणीषु' इति ऋ० ।

८०—'कव्यादो इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने ! परसंतापकारिन् तू (सनात्) प्राचीनकाल से (यातुधानान्) दुष्ट पुरुषों को (मृणसि) पीड़ित, दण्डित करता रहा है। (पृतनासु) सेना संग्रामों में (रक्षांसि) राक्षस लोग (न त्वा) तुझको कभी भी नहीं (जिग्यु) जीत सके हैं। (मूरान्) मूढ़ (कव्याद[1]) कव्याद—कच्चा मांस खाने वाले राक्षसों को (सह) एक ही साथ तू (अनु दह) तेज से भस्म कर डाल। वे (ते) तेरी (दैव्यायाः) दिव्यगुणों से युक्त (हेत्या) शस्त्र की धार से (मा मुचत) न बच पावें।

इति अष्टमी दशतिः । अष्टमः खण्डः ॥

॥ द० ९ ॥ १ गयप्रिः । २ वामदेव । ३, ४ भरद्वाजः । ५ मृक्तवाहो द्वितः । वसूयव आत्रेयाः । ७, ९ गोपवनः । ८ पुरुरात्रेयः । १० वामदेव. कश्यपो वा मरीचि मनुर्वा वैवस्वत उभौ वा ॥ अनुष्टुप् ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[८१] अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो ।

१ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

प्र नो राये पनीयसे रथिं वाजाय पन्थाम् ॥१॥

ऋ० ५ । १० । १ ।

भा०—हे अग्ने ! (ओजिष्ठम्[1]) कान्तियुक्त बलकारी (द्युम्नम्) धन धान्य सुवर्ण रत्न आदि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त कराओ। हे (अध्रिगो[2]) अक्षय सामर्थ्यवान् देव[1] (न) हमारे लिये (पनीयसे) स्तुति योग्य, प्रशंसनीय, एवं व्यवहार व्यापार आदि करने योग्य (राये) सम्पत्ति के लिये और (वाजाय) अन्न आदि पदार्थों की प्राप्ति के लिये (पन्थाम्) मार्ग, उपाय (प्र रथिं[3]) तैयार कर, हमें सुझा।

१ कव्याद् । रेफवकारयोश्छन्दसि लोपः (स०सा०)

८१—'प्रनो राया परीणसा' इति ऋ० । १ ओजो बलम् (नि० २। ९) २. अधृत शुन्दस्याधृभाव. । गमन गो. । (नि०मा०) ३. रद विलेखने । भ्वादि० ।

१ २ ३ऽङ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८२] यदि वीरो अनुष्याद्अग्निमिन्धीत मर्त्यः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ ऽ २ ३ १ २
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥२॥

अ० ५ । २ । ६ ॥

भा०—(यदि) जब पुरुष (वीर[1]) ब्रह्मचर्य से वीर्यवान् (अनुष्यात्) हो तब वह (मर्त्य) मरणधर्मा पुरुष (अग्निं) ईश्वररूप अग्नि को (इन्धीत) प्रदीप्त करे अपने अन्तरात्मा में जगावे और (आनुषक्) निरन्तर (हव्य) प्राणापान रूप आहुतियों को (आजुह्वत्) उसमें ही समर्पण करता हुआ (दैव्यम्) देव परमेश्वर से प्राप्त (शर्म) सुख और शान्ति को (भक्षीत) भोग करे ।

जब मनुष्य वीर्यवान् हो तो वह गृहस्थ प्रवेश के साथ २ अग्नि आधान करे और उसमें हव्य चरु की आहुति दे ।

३ १ २ ३ १ ३ऽङ ३ऽर २ऽ
[८३] त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि सं छुक्र आततः ।
३ २ङ ३ऽङ ३ १ २ ३ १ २
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ३ ॥

अ० ६ । २ । ६ ।

भा०—हे अग्ने ! (त्वेष) कान्तियुक्त जाज्वल्यमान (ते धूम) तेरा धूम, बल कंपाने का सामर्थ्य, विभूति, मन्यु और काप (दिवि ऋण्वति) समस्त द्यौ सूर्य रूप में परिणत या प्रकट हो रहा है । वह (शुक्र) अत्यन्त शुक्लवर्ण, कान्तियुक्त होकर (आतत) सब तरफ विस्तृत है । (सूरो न) सूर्य के समान (कृपा) सामर्थ्यस्वरूप (द्युता) दीप्ति या सामर्थ्य शक्ति से (त्व) तू (रोचसे) सर्वत्र प्रकाशित है ।

८२–१. वीरः । पुत्र । सा० ।

८३–'दिवि पञ्छुक्र' इति ऋ०

[८४] त्वꣳहि चैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे ।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । २ । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (हि) जिस कारण से (त्वं) तू (चैतवद्) सबको निवास देने वाले (यशः) अन्न, बल को (मित्र न) सूर्य के समान (पत्यसे) नाना प्रकार से प्राप्त करता या उत्पन्न करता है । हे (विचर्षणे) विशेषरूप से सब के द्रष्टा ! (वसो) हे सबको निवास देने वाले अग्ने ! तू (श्रवः) अन्न और ज्ञान को (पुष्टिम् न) पोषण सामर्थ्य के समान ही (पुष्यसि) स्वयं बढ़ाता और पुष्ट करता है, उनमें बल उत्पन्न करता है ।

[८५] प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्त्तास इन्धते ॥ ५ ॥

ऋ० ५ । १८ । १ ॥

भा०—(पुरुप्रियः) बहुतसे प्राणियों का प्यारा या इन्द्रियों को प्रेरणा या पूर्ति, सन्तुष्टि देने हारा (अग्निः) अग्नि, परमात्मा और आत्मा (अतिथिः) इस शरीर या ब्रह्माण्ड रूप गृह में व्यापक है । उसका (विशः) सब प्रजाएं (प्रातः) प्रातःकाल, सबसे पूर्व (स्तवेत) उपासना करें, स्तुति करें (यस्मिन्) जिस (अमर्त्ये) मरण रहित, अविनाशी आत्मामें (विश्वे) समस्त (मर्त्तासः) मरणधर्मा, शरीरधारी प्राणी (हव्य) अन्न रूप हवि और स्तुति को (इन्धते) प्रदान कर प्रज्वलित रखते हैं, जीवित रखते हैं ।

---

८५ विश्वानि यो अमर्त्यो हव्या मर्त्येषु रेण्यति' इति ऋ० । 'विशे स्तवेत इति० सा० विऽस्तवेत' स० सा०

१ २२३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८६] यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥

ऋ० ५ । २५ । ७ ॥

भा०—हे (विभावसो) हे विशेष प्रकार की कांति से युक्त, धन से सम्पन्न ! (बृहद्) तू सब से अधिक (अर्च) प्रकाशमान् हो । (महिषी इव[1]) जिस प्रकार इस बड़ी भारी पृथ्वी से अन्न रत्न आदि प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्वद् रयि॰) तुझ से ही समस्त धन और (त्वद् वाजाः) तुझ से ही समस्त अन्न (उदीरते) उत्पन्न होते हैं । इस कारण (यद्) जो (वाहिष्ठं) ग्राह्य करने या उपहार करने योग्य पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ भाव और अन्नादि है (तत् अग्नये) वह उस परमेश्वर के और अग्नि लिये ही है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८७] विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ७४ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) तुम लोग (विश विश अतिथिं) समस्त प्रजाओं के अतिथि के समान पूज्य या सब प्रजाओं में व्यापक (पुरुप्रियम्) सब के प्रिय (अग्निं) अग्नि परमेश्वर को (वाजयन्त) अर्चना करते और बढ़ाते रहते हो । मैं (शूषस्य) सुख प्राप्ति के लिये (दुर्यं[2]) गृह या इस देह के लिये हितकारी इस (अग्निं) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर विषयक (वचः) वाणी से (मन्मभिः) मनन करने योग्य साधनों से (वः) आप लोगों के प्रति (स्तुषे) ठीक २ प्रकार से वर्णन करता हूं ।

८६-१ महिषीं यथा राजमार्गामिति । मा० वि० ।

८७-१ दुर्याः गृहा. । नि० ३ । ४ । ७ ।

अरह ३ २ ३ १र २र ३ १ ३ १ २
[८८] बृहद्वयो हि भानवेचो देवायाग्नये ।
३ १र २ २र ३ १ २ ३ २ ३ २
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्तासो दधिरे पुरः ॥ ८ ॥

ऋ० ५ । १६ १ ॥

भा०—(भानवे) भानु, कांतिस्वरूप (देवाय) सब के प्रकाशक (अग्नये) अग्नि के लिये (बृहद्) सब से बड़ा (वयः[1]) अन्नभाग या आयु का भाग (अर्च) भक्तिरूप में दे । (यं) जिसको (प्रशस्तये) उत्तम कीर्ति होने के कारण (मर्त्तासः) मनुष्य लोग (मित्रम् इव) अपने हृदय के इष्ट मित्र, स्नेही के समान (पुरः) सदा अपनी चक्षुओं के आगे (दधिरे) रखते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
[८९] अगन्म बृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्षे बृहदनीक इध्यते ॥ ९ ॥

ऋ० ८ । ७४ । ४ ॥

भा०—(बृत्रहन्तमं) विघ्न, उपद्रव और यज्ञविनाशक दुष्ट जीवों को नाश करने वाले, (ज्येष्ठं) सब से अधिक श्रेष्ठ, प्रशंसा करने योग्य, (आनवं) मनुष्यों के हितकारी, (अग्नि) अग्नि परमेश्वर और आत्मा को (अगन्म) हम प्राप्त हों (य.) जो अग्नि (आर्क्षे[1]) नक्षत्र लोकों से और ज्ञानेन्द्रियगण से सम्पन्न, (श्रुतर्वन्) बड़े लोकों और प्राणेन्द्रियों

८८—'प्रशस्तिभिर्मर्त्तासो' इति ऋ० ।

८९—'आगन्म' इति ऋ० । 'यस्य श्रुतर्वा बृहन्नार्क्षो अनीक यधे' इति ऋ० ।

१. ऋषति इति ऋक्षम् । ऋगतेरौणादिक० स , । उ० ३ । ६६ । इन्द्रियम् ।
ऋषेरिन्द्रियत्व बृहदारण्यकोपनिषदि सुस्पष्टम् सप्तर्षिव्याख्याने ।

से युक्त देह में और भौतिक बड़ी २ शक्तियों से युक्त ब्रह्माण्ड में (बृहद् नीकः) प्राणमय बलों और विशाल पंचभूतों के बल से युक्त होकर (इध्यते) प्रकाशित या जीवित, जागृत रहता है।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६०] जात. परेण धर्मणा यत्सबृद्धि सहाभुवः।
३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ ३
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनु कविः ॥ १० ॥

भा०—हे अग्ने ! तू (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट तपस्या और सदाचार के बल से (जात.) उत्पन्न या प्रकट हुआ है (यत्) क्योंकि (सबृद्धि) अपने साथ लगे हुए कर्मचारीगण, इन्द्रियों के (सह) साथ मिलकर (आसुवः) तू सब कार्य करने में समर्थ है। यह अग्नि आत्मा (कश्यपस्य [१]) इस ज्ञान के पान करनेहारे मन का (पिता) पालक है और उसकी (माता) जन्मभूमि (श्रद्धा [२]) सत्य का धारण करनहारी बुद्धि है और (मनुकवि.) मननशील क्रान्तदर्शी पुरुष आत्मा ही इसका गुण है।

परमात्मा के पक्ष में (परेण धर्मणा) परम उत्कृष्ट, धारण सामर्थ्य से (यत्) जो (सबृद्धि) साथ वर्त्तमान शक्तियों के साथ (आसुव) विद्यमान है। तू (कश्यपस्य पिता) सूर्य आदि लोक और ज्ञानी पुरुषों का पालक है। (अग्नि.) प्रकाशस्वरूप, (श्रद्धा) सत्य का धारक, (माता) जगत् का कर्त्ता, (मनु) ज्ञानवान् (कवि.) मेधावी और पारदर्शी है।

इति नवमी दशतिः। नवमः खण्डः।

१,०-१. कश्यप. पश्यको मनसि। शुन०। २. अदिति सम्बनाम, नि० ३।३०।

॥ द० १० ॥ १ अग्निस्तापसः । २ वामदेवः । ३ वामदेव. कश्यप. । असितो देवलो वा । ४ भर्गाहुति. सोमो वा । ५ पायु. । ६ प्रस्कण्वः ॥ देवता—१ विश्वेदेवाः । २ अङ्गिराः । अनुष्टुप् ॥

[१] सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ १ ॥

ऋ० १० । १४१ । ३ ॥

भा०—हम (सोमं) शान्तिदायक, सब जगत् के प्रेरक और उत्पादक (राजानं) प्रकाशमान, (वरुणं) सब पापों के निवारक, (अग्निं) ज्ञान-स्वरूप, सन्मार्ग के नेता परमेश्वर को (अनु आरभामहे) प्रतिदिन स्मरण करते हैं । (च) और (आदित्यं) सब रसों के ग्रहण करने हारे, अखण्ड, (विष्णुं) सर्वत्र व्यापक (सूर्यं) सब के प्रेरक, सर्वप्रकाशक, (ब्रह्माणं) सब से महान्, ज्ञान के भण्डार (बृहस्पतिं) वेदवाणी के स्वामी को नित्य स्मरण करते हैं ।

[२] इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
प्रभूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ २ ॥

भा०—(भूर्जय.[1]) पृथिवी को विजय करने हारे राजर्षि लोग (यथा) जिस प्रकार (पथः) मार्ग से (द्यां ययुः) द्यौलोक, या आदित्य लोक, या स्वर्ग को जाते हैं । उसी प्रकार (एते) ये (अंगिरस) योगी, ज्ञानी

९१—'सोम राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे । आदित्यान्०' इति ऋ० ।

९२—१. भूर्जय. भृज्जतिः पाककर्मा हविर्यो भक्तारः इति सा० । भूः—जयः इति पदकारः । भूः पृथिवी ता ये महावीराख्येनानुष्ठानेन जितवन्तः, ते इति (मा० वि०) भूर्जयः कर्पिण. ।

लोग भी (इतः) इस लोक से (दिवः पृष्ठानि) आदित्य के समान प्रकाशमान मोक्ष के सुखों को (उत् आरुहन्) ऊर्ध्वगति से प्राप्त करते हैं।

अपने २ धर्म के पालन से राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों समान लोक में जाते हैं। अथवा (भू) गृहस्थाश्रम को विजय करके आश्रम परम्परा से निकलकर कर्मिष्ठ लोग जिस मार्ग से मोक्ष का लाभ करते हैं उसी प्रकार से ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ में न जाकर भी मोक्ष लोक को ज्ञान के बल से प्राप्त करते हैं।

[९३] रायेऽग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
ईडिष्वाहि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी॥ ३॥

भा०—हे अग्ने! हे (वृषन्) आत्मा और मानस में आनन्द की वर्षा करने वाले प्रभो! (त्वा) तुझको (महे) बड़े भारी विशाल (राये) अनुपम धन के निमित्त (दानाय) अपने को आत्मसमर्पण करने के लिये हम साधक लोग (समिधीमहि) उत्तम रीति से योग द्वारा प्रज्वलित करते हैं। (हि) क्योंकि (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी लोक दोनों (महे होत्राय[1]) उसी परमेश्वर रूप कालाग्नि में बड़ी भारी आहुति के लिये हैं। तू भी उसी की (ईडिष्व) स्तुति कर।

[९४] दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत्॥ ४॥

ऋ० २। ५। ३॥

९३—१. होममग्नौ कृत्वात्र प्रदर्शनार्थम्। मा० वि०।
२. दधन्वे धारयति धारणेनात्र आत्मा कथ्यते। मा० वि०।
९४—'अद्यापि वेत्ति' इति ऋ०। 'मिनाभवत्' इति ऋ०।

भा०—(ईम्) इस अग्नि को लक्ष्य करके ही (दधन्वे[1]) अध्वर्यु आदि याज्ञिक जिसको धारण करते या शिष्यगण गुरुमुख से श्रवण और स्मरण करते हैं, और वे होता या शिष्य आदि (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (अनुवोचत्) पुनः पाठ या उच्चारण करते हैं (तत् उ) वह सब भी (वेः) ज्ञानवान् प्रकाशस्वरूप अग्नि का ही है। क्योंकि (नेमिः चक्रम् इव) जिस प्रकार लोहे का हाल चक्र के चारों ओर उसको ढक लेता है उसी प्रकार यह अग्नि भी (विश्वानि काव्यानि) समस्त विद्वानों के बनाये काव्यों, ग्रन्थों और कार्यों को (आभुवत्) व्याप रहा है। अर्थात् समस्त विश्व का साहित्य, इस प्रभु की ही महिमा का गान करता है।

[९५] प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि।
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम् ॥ ५ ॥

अ० २० । ८७ । २५ ॥

भा०—हे अग्ने! (यातुधानस्य) हिंसक दुष्ट पुरुष का (विश्वतः परि) समस्त संसार पर जो (हरः) उनके प्राण हरण करने वाला अत्याचारकारी बल है उसको (हरसा) दुष्ट के प्राण निकालने वाले बल, क्रोध, मन्यु से (शृणाहि) नाश कर। और (रक्षसः) दुष्ट राक्षस के (बलं) बल, सेनाबल, (वीर्यं) सामर्थ्य और बीज को भी (न्युब्ज) भून डाल।

[९६] त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥ ६ ॥

अ० २ । ४५ । १ ॥

५—शृणाहि' इति ऋ०। विश्वज वीर्यम्' इति ऋ०।

६—घृ क्षरणदीप्त्योः। जुहोत्यादिः। घृतप्रुषम् तेज प्रसारकम्। भा० वि०।

भा०—हे (अग्ने) प्रभो ! तू (इह) इस संसार में (वसून्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठ वसुओं को (रुद्रान्) दुष्टों को रुलाने वाले, या मूढों को अन्तकाल में दुःखदायी, ११ रुद्रों, प्राणों को और आदान-विसर्ग का कार्य करनेवाले १२ आदित्यों, मासों को और (मनुजातं) अपने मनन सामर्थ्य से उत्तमरूप में प्रकट हुए (घृतप्रुषम्[1]) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण या ज्ञान के प्रसारक (स्वध्वरं जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (यज) अपनी संगति में रख।

मनुष्य सब प्राणियों से इसी बात में उन्नत है कि वह १. 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २. 'घृतप्रुषम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वध्वरं' किसी प्राणी की प्राणहिंसा न करने वाला हो। इन तीन गुणों के कारण वह परमात्मा के संग का लाभ करता है और उसके तुल्य हो जाता है।

इति दशमी दशति । दशम खण्ड. ॥ इति प्रथम. प्रपाठक. समाप्त. ।

अथ द्वितीय. प्रपाठक.

॥ ८० १ ॥ १ दीर्घतमाः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ शित. । ६ अत्रि. सम्वर्त. । ७, ८ विश्वमना वैयश्व । ९ भारद्वाज । १० विश्वमना ॥

५ पवमान. । ६ अदिति ॥ उष्णिक् ॥

[१७] पुरु त्वा दाशिवांसं वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्यव शरण आ महस्य ॥ १ ॥ ऋ० १ । ७५० । ७ ॥

१७—'दाशान्' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने हारा (अरि[1]) ईश्वर है । अत. मैं (तव स्वित्) तेरी ही (पुरु आ वोचे) बहुत अधिक स्तुति करता हूं । और (महस्य) बड़े (तोदस्य इव[2]) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरणे आ) शरण में आता हूं ।

[९८] प्रहाञ्ज पूर्व्ये वचोग्नय भरता बृहत् ।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ २ ॥ अ० ३ । १० । ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरानल में प्रलय काल के अवसर पर आहुति करलेने वाले, (विपा) विद्वानों के (ज्योतींषि) ज्ञान और ब्रह्मचर्यादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विद्युत् आदि प्रकाशों को (बिभ्रते) धारण करनेहार (वेधसे न[1]) सब के विधाता के समान, सब के उत्पादक (अग्नये) उस ईश्वररूप अग्नि के लिये (बृहत् वचः) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त वाणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेश कर औरों तक पहुंचाओ, अध्ययन करो, कराओ ।

[९९] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३ ॥ अ० १ । ९७ । ४ ॥

१ अरिरमित्र ऋच्छतेः । ईश्वरोप्यरिरेतस्मादेव निरु० (५ । २ । २ ।) अरिरीश्वर इति मा० वि० । सेवक. इति सा० । २. तोदः गृहस्थः इति मा० वि० ।

९८—१. वेधा उक्तद्विधाता परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतींषि करोति इति सा० ।

९९—'अस्मे देहि' इति ऋ० ।

भा०—हे (अग्ने) प्रभो ! तू (इह) इस संसार में (वसून्) सृष्टि को बसाने वाले और जीवन के मूलकारण पृथिवी आदि आठ वसुओं को (रुद्रान्) दुष्टों को रुलाने वाले, या मूढ़ों को अन्तकाल में दुःखदायी, ११ रुद्रों, प्राणों को और ग्रहादान-विसर्ग का कार्य करनेवाले १२ आदित्यों, मासों को और (मनुजातं) अपने मनन सामर्थ्य से उन्नतरूप में प्रकट हुए (घृतप्रुषम्[1]) ज्ञान और कर्म से भरपूर या तेज से पूर्ण, या ज्ञान के प्रसारक (स्वध्वरं जनं) सब के रक्षक, अहिंसक, मनुष्य को (यज) अपनी संगति में रख।

मनुष्य सब प्राणियों से इसी बात में उन्नत है कि वह १. 'मनुजात' मननशक्ति से बना हुआ, २. 'घृतप्रुषम्' अपना तेज दूसरों पर फैलाने वाला, ३ 'स्वध्वर' किसी प्राणी की प्राणहिंसा न करने वाला हो। इन तीन गुणों के कारण वह परमात्मा के सङ्ग का लाभ करता है और देव-तुल्य हो जाता है।

इति दशमी दशतिः । दशम खण्डं ॥ इति प्रथमः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

॥ द० १ ॥ १ दीर्घतमाः । २, ४ विश्वामित्र । ३ गोतम । ५ क्षितः । ६ भरद्वाजिः । ७, ८ विश्वमना वैयश्वः । ९ भारद्वाज । १० विश्वमना ॥

७ पवमानः । ८ अदितिः ॥ उष्णिक् ॥

[१७] पुरु त्वा दाशिवांसं वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्यैव शरणे आ महस्य ॥ १ ॥ ऋ० १ । १५० । १ ॥

१७—'अग्नात्' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने ! तू (दाशिवान्) नाना प्रकार के पदार्थों को देने हारा (अरि[1]) ईश्वर है । अत. मैं (तव स्विट्) तेरी ही (पुरु आ चोचे) बहुत अधिक स्तुति करता हूं । और (महस्य) बड़े (तोदस्य इव[2]) गृहस्थ के आश्रय में सेवक के समान तेरे ही (शरणे आ) शरण में आता हूं ।

[६८] प्रहात्रे पूर्व्ये वचोग्नये भरता बृहत् ।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥ २ ॥ अ० ३ । १० । ५ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (होत्राय) होता, समस्त संसार को अपने महान् जठरानल में प्रलय काल के अवसर पर आहुति करलेने वाले, (विपां) विद्वानों के (ज्योतींषि) ज्ञान और ब्रह्मचर्यादि तपोयुक्त गुणों और सूर्य, अग्नि, विद्युत् आदि प्रकाशों को (बिभ्रते) धारण करनेहार (वेधसे न[3]) सब के विधाता के समान, सब के उत्पादक (अग्नये) उस ईश्वररूप अग्नि के लिये (बृहत् वच.) विशाल, ज्ञानसम्पन्न व्यक्त वाणी, वेद को (भरत) प्राप्त करो, उसका उपदेश कर औरों तक पहुंचाओ, अध्ययन करो कराओ ।

[६९] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
अस्मे देहि जातवेदो माऽव ॥ ३ ॥ अ० १ । ९७ । ४ ॥

---

१ अरिरमित्र ऋच्छतेः । ईश्वरोप्यरिरेतस्मादेव निरु० (५ । २ । २ ।) अरिरीश्वर इति मा० वि० । सेवक. इति सा० । २. तोदः गृहस्थः इति मा० वि० ।

६८—१. वेधा जगद्विधाता परमेश्वरः आदित्यादीनि ज्योतींषि करोति इति सा० ।

६९—'अस्मे धेहि' इति ऋ० ।

भा०—हे अग्ने ! तू (गोमतः) पशु, रश्मियों और इन्द्रियों तथा वेदवाणियों से सम्पन्न (वाजस्य) अन्न, धन, ज्ञान और वीर्य का (ईशान) स्वामी है । हे (सहसो यहो) बलपूर्वक प्रकट होने वाले, महान्, (जातवेद) सर्वज्ञ, सर्वेश्वर देव ! (अस्मे) हमें (महि) बहुत उत्तम (अन्नः) अन्न, धन, कीर्ति और ज्ञान का (देहि) दान कर ।

[१००] अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज ।
होता मन्द्रो वि राजस्यति स्रिधः ॥ ३ ॥ ऋ० ३ । १० । ७ ॥

भा०—हे ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! तू (यजिष्ठ) सब से अधिक यजनशील, दानी, संगतिकारक है । तू (अध्वरे) पुण्य दानादि कार्य में (देवयते) विद्वानों और देव, ईश्वर की कामना करते हुए पुरुष के लिये (देवान्) विद्वानों को (यज) एकत्र कर, परस्पर संगति करा । तू स्वयं (होता) सब को दान देने और देव लोगों को आह्वान करने वाला, (मन्द्रः) सब को प्रसन्न करने वाला होता हुआ (स्रिधः) शत्रुगण को (अति वि राजसि) अतिक्रमण करके विशेषरूप से उन पर शासन करता है, उन पर विराट् होकर रहता है ।

[१०१] जज्ञानः सप्त मातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १०२ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (ध्रुव) नित्य, कभी विचलित न होने वाला (सप्त मातृभिः[1]) सात माताओं, सृष्टि के निर्माता पांच भूत, महत् अहंकार

१०१—'जज्ञान सप्तमातरः', 'मेधामशासत' 'चिकेतयत्' इति ऋ० 'अचिकेतयत्' इति । सा० ।

१ सप्तमातरः— सप्त छन्दांसि 'सप्त होत्राः' सप्त सोमस्थाः, इति (मा० वि०) ।

इनसे (जज्ञान·) सृष्टि को प्रकट करता हुआ (श्रिये) अपने विभूतिरूप शोभा या आश्रय के लिये (मेधाम्) उत्तम धारणा शक्ति पर (आशासत) वश करता है। वही परमेश्वर (रयीणां) समस्त ऐश्वर्यों को (आर्चिकेतन्) भली प्रकार से जानता है।

अध्यात्म में—यह ध्रुव आत्मा प्रमाता, इन्द्रियों से ज्ञान करता हुआ (श्रिये) अपने कल्याण के लिये (मेधाम् आशासत) मेधा बुद्धि को धारण करता है। (रयीणाम्) सब प्राणों के वीर्यों को जानता है।

सप्त मातरः=सात प्रमाता, ज्ञान साधन सात मुख्य प्राण हैं जिनको उपनिषत्कार सात ज्वाला, सात ऋषि, सात रथ, सात अश्व, सात अग्नि, सात वह्नि आदि नामों से पुकारते हैं। (नासिकेत) अग्नि ध्रुव अग्नि है जिसका ज्ञान अध्रुव यज्ञ काण्ड से नहीं होता। "नह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्"। का० उप० ॥ इनको ही सात छन्द, सात होता, सात सोम संस्थाओं के नामों से भी पुकारते हैं।

[१०२] ३ २उ ३ १ २ ३ १ २र २
उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत्।
१र २ ३ १ २ ३२३ १ २
सा शंताता मयस्करदप स्रिधः ॥६॥ ऋ० ८। १८। ७ ॥

भा०—(उत स्या) और वह (अदितिः[1]) कभी खण्डित न होने वाली, दृढ़, ईश्वरीय बलवती, सत्य, (मतिः) मननशक्ति, (दिवा) प्रतिदिन (ऊत्या) हमारी रक्षा के लिये (नः आगमत्) हमें प्राप्त हो। (सा) वह (शंताता) शान्ति उत्पन्न करने वाली (मयः करत्) आभ्यन्तर सुख और आनन्द दे। और (स्रिधः[2]) शत्रु या दोष जिनका सत्य ज्ञान से

१०२—'शन्नाति,' 'ऊतये' इति पाठभेदौ। 'सधः', 'स्रिधः' इति पाठभेदौ।

१. सकलप्रपञ्चधारणेच्छदीना इतिस्कन्दस्वामी। अदितिर्देवमाता (मा०वि०)

२. स्रिधंधनार्थः (सा०)

बाध होना सम्भव है, ऐसे भ्रम अज्ञान और विपर्यय या मिथ्या ज्ञानों को वह (अप) दूर करे।

[१०३] ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३यजस्व जातवेदसम् ।
चरिष्णु धूममगृभीतशोचिषम् ॥७॥ ऋ० ८ । २३ । १ ॥

भा०—(जातवेदसं) पदार्थों का ज्ञान करने वाले (चरिष्णु) व्यापक, दूरगामी ज्ञान साधनों से सम्पन्न, (धूमम्) सबको कंपाने वाले, सब के प्रवर्त्तक, (अगृभीतशोचिषम्) अप्रतिहत कान्ति से सम्पन्न, कभी न बुझने वाले, अमर, (प्रति-व्यां) प्रत्येक देह या पदार्थ में व्यापक-आत्मस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप अग्नि को ही, हे पुरुष ! तू (ईडिष्व हि) उपासना किया कर और (यजस्व) उसी को प्राप्त कर, उसी में आत्म समर्पण कर।

[१०४] न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्यः ॥
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥ ऋ० ८ । २३ । १५ ॥

भा०—(य.) जो पुरुष (हव्यदातये) ज्ञानदाता (अग्नये) अग्नि परमात्मा और आचार्य के प्रति अपने को (ददाश) समर्पण कर देता है (तस्य) उस पुरुष का (रिपुः) शत्रु (मर्त्य चन) मनुष्य भी (मायया) बुद्धि द्वारा (न ईशीत) कभी उस पर वश नहीं कर सकता।

[१०५] अप त्यं वृजिन रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥९॥ ऋ० ५ । ५१ । १३ ॥

१०३–'प्रतीव्यं' इति ऋ० ।

१०४–,हव्यदातिभिः' इति ऋ० ।

भा०—हे (सत्पते) सत्पुरुषों के प्रतिपालक ! (त्य) उस (वृजिनं) पापशील, त्याग करने योग्य (रिपुं) हिंसक, शत्रु, (स्तेनं) चोर, (दुराध्यम्) दुःख से वश करने योग्य, (दविष्ठं) हृदय से दूर, द्वेषी पुरुष को (अप-अस्य) दूर कर । और हमारे लिये उसको (सुग) सुखसे वश करने योग्य (कृधि) बना दे ।

[१०६] शुष्टयग्न नवस्य म स्तोमस्य वीर विश्पते ।
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥ ऋ० ८ । २३ । १४॥

भा०—हे (वीर) वीर्यवन् ! हे विश्पते ! प्रजा के पालक ! (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! (मे) मेरे (नवस्य) नूतन (स्तोमस्य) स्तुति को (शुष्टी) श्रवण करके (मायिनः) माया, छल कपट आदि से युक्त, मायावी (रक्षसः) राक्षसों और दुष्ट भावों को (तपसा) अपने तेज से (नि दह) सर्वथा भस्म कर ।

इति प्रथमा दशति. । इति एकादशः खण्डः

॥ द० २ ॥ १-४ प्रयोगो भार्गव. सौभरि. काण्वो वा । २, ३, ५, ६, ७ सौभरि. । ८ विश्वमनाः वैयश्व. ॥ ककुप् ॥

[१०७] प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहत शुक्रशोचिषे ।
उप स्तुतासो अग्नय ॥१॥ ऋ० ८ । १०३ । ८ ॥

१०६—'तपुषा' इति ऋ० ।

१०७-१. शुष्टिः इति स्थाने शुष्टी इति निपातितः । वलोपश्छान्दसः ।

भा०—(माहिष्ठाय[1]) सबसे अधिक दानशील (ऋताव्ने) यज्ञ करनेहारे, सत्यमय, (बृहते) महान्, (शुक्रशोचिषे) देदीप्यमान, कान्ति से युक्त (अग्नये) प्रकाश स्वरूप, ज्ञानी परमेश्वर का हे (उप स्तुतासः[2]) हे स्तोतागण[1] (प्रगायत) उत्तम रूप से कीर्तन करो।

[१०८] प्र सो अग्ने तवोतिभि सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।
यस्य त्वं सख्यमावित्थ ॥२॥ ऋ० ८ । १९ । ३० ॥

भा०—हे अग्ने ! (यस्य) जिसके (त्वम्) तू (सख्यम्) मैत्रीभाव को (आवित्थ) प्राप्त कर लेता है (स) वह (तव) तेरे (सुवीराभि) उत्तम शक्तिसम्पन्न, (ऊतिभि[1]) रक्षासाधनों द्वारा और (वाजकर्मभि) अन्न के उत्पादन और ज्ञान के सम्पादन और बल के कार्यों से (तरति) सब विघ्नों को पार कर जाता है।

[१०९] तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥ ऋ० ८ १५ १ ॥

भा०—हे मनुष्य[1] (तं) उस (स्व -नरं) सब के नेता अथवा उस सुखस्वरूप, मोक्षमार्ग के पथदर्शक, परम (देवम्) देव की (गूर्धय) स्तुति कर, उसके गुणों का गान कर। (देवास) देव-विद्वान लोग इन्द्रिय या पंचभूत उस (देवम्) प्रकाशमान देव को (अरतिं[2]) सर्वज्ञ या अति

१०८-'सुवीराभिस्तिरते वाजमर्भमि ' इति ऋ० ।
'सख्यमावर.' इति ऋ० । 'आवरे' इति स० सा० ।
वाजमर्भमि. इति पाठ शुद्ध', साम्नो 'वाजमर्भीय' इत्याम्नानात् (अनु०)
१०९-'गूर्धया', 'हव्यमोहिरे' इति ऋ० ।
१ अरतिम् अलंगतिं सर्वज्ञमिति भा० वि० ।

प्रीतिमान् स्वामी (दधान्विरे) स्वीकार करते हैं । वह (देवत्रा) दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानों, पञ्चभूतों और इन्द्रियों में (हव्यं) उनके भीतर शक्ति ज्ञान और भोग्य पदार्थों को (उहिषे) पहुंचाता है ।

[११०] मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः ।
य: सुहोता स्वध्वरः ॥४॥ ऋ० ८ । १०३ । १२ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (नः) हमारे (अतिथिं) अतिथि के समान पूजनीय देव के प्रति (मा हृणीथा') क्रोध या अनादर मत कर । (एषः) यह (पुरुप्रशस्तः) बहुत उत्तम प्रशंसा और आदर करने योग्य है । वह (वसु) वास देने योग्य सबके भीतर बसने वाला और सबको बसाने वाला (अग्निः) अग्नि के समान ज्ञान रूप प्रकाश से सम्पन्न है । (यः) जो (सुहोता) उत्तम पदार्थों का दाता और प्रतिगृहीता और (स्वध्वरः) उत्तम हिंसा रहित कार्यों का अनुष्ठाता, पालक है ।

[१११] भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रा अध्वरः ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥ ऋ० ८ । १९ । १९ ॥

भा०—(नः) हमारा (आहुत) भली प्रकार उपासित, (अग्निः) परमेश्वर (भद्र) हमारे कल्याण के लिये हो । हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्यवान् अग्ने ! परमेश्वर ! (रातिः) हमारा दिया दान हमें (भद्रा) कल्याणकारी सुखकारी हो । हमारा (अध्वरः) हिंसा रहित कार्य, यज्ञ भी (भद्रः) कल्याणकारी, सुख शान्ति और ऐश्वर्य का दायक हो, (उत) और (प्रशस्तयः) हमारे सत्कीर्त्तन आदि भी (भद्रा) कल्याणकारी सुखप्रद हों ।

२१०—'मा नो हृणीतामतिथिर्वसु" इति ऋ०।१. मा हृणीथाः मा क्रोत्सीः इति। मा० वि० । हृणिः क्रुध्यतिकर्मा । नि० २ । १२ ॥

[११२] १ २ ३ऽर २ ३ऽर २ऽ३ १ऽ२
याजिष्ठं त्वा ववृमहे देव देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥६॥ ऋ० ८ । १२ । ३ ॥

भा०—(याजिष्ठं) दान आदि करने हारे, सर्वोपास्य (देवत्रा देवं) देवों के देव, (होतारम्) सब पदार्थों के दाता, (अमर्त्यम्) अविनाशी मरणरहित, (अस्य यज्ञस्य) इस जीवनयज्ञ के (सुक्रतुम्) उत्तम प्रकार से सम्पादन करने हारे (त्वा) तुझ को (ववृमहे) हम वरण करते हैं, तेरा भजन करते हैं ।

[११३] १ २ ३ ऽर २ऽर ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहा सदने कञ्चिदत्रिणम् ।
३ १ऽर २ऽर ऽउ ऽ र
मन्यु जनस्य दूढ्यम् ॥७॥ ऋ० ८ । १९ । १५ ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (तद्) वह (द्युम्नम्) अन्न, धन, ज्ञान और बल (आ भर) हमें प्राप्त करा, जो (सदने) हमारे घर में, यज्ञगृह में, हमारे शरणस्थान में (कञ्चित्) हर किसी प्रकार के (अत्रिणम्) पापभोगी, चोर, (जनस्य मन्युं) सर्वसाधारण प्राणियों के क्रोध के पात्र (दूढ्य[1]) दुष्ट पुरुष को (सासाह) दबाओ के ।

[११४] १ऽर २ऽर ३ १ २ ३ ऽर २ऽ ३ १ २ ३ १
यद्वा उ विशपति· शितः सुपीतो मनुषो विशे ।
२ऽर ३ २ऽउ ३ १ २
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥८॥ ऋ० ८ । १३ । २३ ।

भा०—(यद्वा उ) जब भी (शित) मन्यु और न्याय युक्त व्यवस्था के भंग होने पर तीक्ष्ण हुआ (विशपति) प्रजाओं का पालक,

---

११३–'यत्सासहत्सदने' "जनस्य दूढ्य ' इति ऋ० । 'दूढ्या' इति च स० सा० ।

१. दूढ्य· दुर्धिय पापधिय. इति नि० ५ । ४ । ३ ॥

११४–'मनुष्यो विशि' इति ऋ० ।

प्रभु (मनुषो. धिशे) मनुष्यों और प्रजाओं के निमित्त (सुप्रति॰) प्रसन्न, दत्तचित्त होता है, तब (अग्निः) अग्नि स्वभाव, पापों का दाहक तेजस्वी वह (विश्वा इत्) सब प्रकार के (रक्षांसि) राक्षसों को (प्रति सेधति) दूर करता है ।

राजा प्रजा को बसाने के लिये वह प्रजा के घातक प्राणियों और आततायी पुरुषों को तीक्ष्ण स्वभाव होकर दूर करे और प्रजा पर सदा प्रसन्न रहे ।

अध्यात्म पक्ष में—विशपति, इन्द्रियों का राजा आत्मा जब योगादि साधनों से तीक्ष्ण होकर इस देह में स्वच्छ, निर्मल, सुप्रसन्न हो जाता है तब वह आसुरी वृत्तियों पर विजय पाता है और व्युत्थानों को दूर करता है।

इति द्वितीया दशतिः । इति द्वादशः खण्डः ।

इत्याग्नेयं काण्डम् ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालंकारमीमांसातीर्थविरुदोपशोभितश्रीमत्पंडितजयदेव शर्मणा विरचिते सामवेदालोकभाष्ये आग्नेय काण्डं समाप्तम् ।

ओ३म्

अथात ऐन्द्रं काण्डम् ।

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

॥८०३॥ ऋषि.—१ शयुर्बार्हस्पत्यः ।२ शुनकर्णः सुकक्षो वा ।३ हर्यत· प्रगाथ· ।४, ५ शुनकर्ण· । ६ इन्द्रमातरो देवजामय ऋषिका· । ७, ८ गोसूक्तयस्त्वर्चाक्रनौ । ९ मेधातिथिर्गाङ्गिरसः । १० काण्व । गायत्री ॥

१ २ ३।१ २ ३ १ २ ३ १ २

[११५] तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।

२उ ३ २ ३ १ २

श यद्गवे न शाकिने ॥१॥ ऋ० ६ । ४५ । २२ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (व) तुम लोग (सत्वने[1]) वीर्यवान्, सत्यस्व रूप सदा विद्यमान रहने वाले (पुरुहूताय[2]) इन्द्रियगण, प्रजाओं और मनुष्यों द्वारा ज्ञान धन और भक्ति द्वारा पूजित (गवे) गौ, पृथ्वी और वेदवाणी के लिये (शाकिने) शक्तिमान् राजा, बैल या किसान के समान (यत्) जो (श) कल्याणकारी है (तत्) उस इन्द्र का (सुते) अपने यज्ञ में (सचा) एक साथ मिलकर (गायत) कीर्तन करो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[११६] यस्त नून शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मद ।

१ २ ३।१ २ १ २

तेन नून मदे मदे ॥२॥ ऋ० ८ । ९२ । १६ ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और क्रियाओं में कुशल ! हे (इन्द्र[2]) ऐश्वर्यशील ! (य) जो (ते) तेरा (द्युम्नितम·) कीर्तिजनक ऐश्वर्यपूर्ण (मद·) हर्ष का कारण आनन्द रूप है (तेन) उसीसे (मदेम) तृप्तिकारी आनन्दरस में (मदे) स्वय भी प्रसन्न रह और हमें भी प्रसन्न कर ।

११५—१ सत्वने 'इत्नूना साधयिन्ने' सा० । सत्=सत्य तद्वते ।

२ पुरु प्रति इन्द्रियन् । द० उ०

[११७] गाव उपवदा वटे महीं यज्ञस्य रप्सुदा ।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ७२ । १२ ॥
यजु० । ३३ । १६ ॥

भा०—हे (गावः) गौओ ! वाणियो ! रश्मियो ! नदियो ! (अवटे') यज्ञस्थान, रक्षास्थान, ईश्वररूप, गंभीर स्थान में (उपवद) आओ, अपना तात्पर्य प्रकाशित करो । अर्थात् गोएं जिस प्रकार रक्षास्थान में, रश्मियें सूर्य में और नदियें गंभीर गर्त्त, जलाशय या समुद में आश्रय पाती हैं इसी प्रकार हे वाणियो ! तुम सकल रक्षक परमेश्वर में लगती हो । (मही) विशाल यह पृथ्वी और यह द्यौलोक (यज्ञस्य) यज्ञ का (रप्सुदा) उत्तम फल देनेवाले हैं । (उभा) दोनों (हिरण्यया) हरणशील, भोग्य लोकों के प्राप्त कराने में (कर्णा) साधनभूत हैं ।

[टि०—इस मन्त्र पर सब भाष्यकारों के मत भिन्न २ हैं । यजुर्वेद में महीधर और उवट के मत में—"वे गौएं कूए के समीप आवें और पृथ्वी और द्यौ यज्ञका फल देनेवाली है और इनके दोनों कान सोने के हैं ।" सायण के मत से—' हे (गाव') यज्ञकर्त्ताओ ! तुम महावीर के पात्र की स्तुति करो यह यज्ञ का फल देता है । उस कूण्डे के दोनों कान सोने के हैं ।'' स्वामी तुलसीराम के मत से—'यज्ञकुण्ड के समीप हे वाणियों ! तुम इन्द्र की स्तुति करो जिसमे यज्ञभूमि वेदपाठ के प्रवाहवाली हो और श्रोताओं के दोनों कान प्रकाशमय हों ।' इनमें कर्मकाण्ड को लक्ष्य करके

१ ।७—उपावनावत इति पाठभेदः, ऋ०

१ यजुर्वेद भाष्ये अवट शब्दस्य अवट गर्त्तमिति उवटमहीधरयोः सम्मतोऽर्थः अवतीत्यवट रक्षास्थल । अवट कूपम् । रक्षादायकत्वादेव इन्द्रोऽप्यवटशब्दवाच्यः शरण्यत्वादेव । अवतीत्योम् । समानधातुवशाद् ओंकारः परमेश्वर एव सर्वस्तुतिवाच्यो शरणमित्यवटात् ।

यज्ञ के विनियोग के अनुसार सायण महीधरादि की पदयोजना संगत है। परन्तु अध्याहार और उद्देश्यार्थता का दूषण है। यही दोष तुलसीरामजी के अर्थ में भी है। हमारी सम्मति में 'ओम्', 'अवत', 'अवट' ये तीनों शब्द रक्षार्थक अव धातु से बने हैं, इसलिये यह मन्त्र परमात्मा की स्तुति पर लगाना चाहिये।]

[११८] ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १,२
अरमश्वाय गायत श्रुतकक्षाय गव्य।
३ १ २ ३ १ २
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥ ४ ॥ ऋ० ८। ९७। २५ ॥

भा०—हे श्रुतकक्ष) हे वेदविज्ञान को अपने कुक्षि अर्थात हृदय में रखने वाले! (अश्वाय अरं गायत) व्यापक प्रभु या शीघ्र गमनशील, भोक्ता आत्मा के गुणों का वर्णन करो (गवे अरं) गौ, ज्ञानस्वरूप आत्मा, या इन्द्रियों में श्रेष्ठतम इन्द्रियस्वरूप अन्तरात्मा का या ज्योति, रश्मिरूप भीतरी रत्न का उत्तम रीति से वर्णन करो। (इन्द्रस्य[1]) सब इन्द्रियों के मालिक, स्वयं इन्द्र, महान् आत्मा के (धाम्ने, तेजः सामर्थ्य का (अर गायत) खूब गुण गाओ।

[११९] ३,२ ३ २ ३ १ २,
तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥ ५ ॥ ऋ० ८। ९३। ७ ॥

भा०—(त) उस (इन्द्रं) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रभु की हम (वाजयामसि) ज्ञानपूर्वक स्तुति करते हैं। (महे) बड़े भारी (वृत्राय) विघ्नकारी ज्ञान के आवरण करने वाली तामस प्रवृत्तियों को (हन्तवे) विनाश करने के

११८—'श्रुतक्षो अर' इति ऋ०।

१. इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा (पा० अ० ५। २। ९३) इन्द्रशब्दाद् घच्। इन्द्रियम्।

लिये (सः) वह (वृषभः) ज्ञान और सुखों की वर्षा करने वाला और (वृषा) समर्थ, बड़ा बलवान् (असुवत्) है ।

[१२०] त्वामिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः ।
त्वं सनू गृषन् वृषेदसि ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १५३ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! तू (बलाद्) बल से, और (सहसः) शत्रुदमन कारी सहनशक्ति से, (ओजसः) कान्ति और प्रभाव से (जातः सनू) प्रकट होकर ही (वृषन्) हे वृष तुल्य ! सबके भीतर उत्पादक शक्ति के देनेहारे ! समस्त सुखों के वर्षक ! (त्वं) तू (वृषा इद्) वृषा वीर्य सेचन में समर्थ ही (असि) है, तू ही सबमें बलवान् श्रेष्ठ और सबका जन्मदाता और मूल कारण है ।

[१२१] यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशा दिवि ॥ ७ ॥ ऋ० ६ । १४ । ५ ॥

भा०—(यज्ञः) यज्ञ प्रजापति (इन्द्रं) आत्मा को (अवर्धयत्) बढ़ाता है (यद्) क्योंकि यज्ञ ही (दिवि) सूर्य के आश्रय, आकाश में (ओपशा) लटकाकर (आ चक्राणः) चक्र के समान चलाता हुआ (भूमिं) भूमि को (वि अवर्तयत्) विशेषरूप से वृत्तगति में घुमाता है । इस अर्थ से 'इन्द्र' का अर्थ सूर्य' और 'यज्ञ का अर्थ 'सौर जगत्' या प्रवर्तक प्रजापति होता है । समस्त ब्रह्माण्ड में इस सौर जगत् के अनुकरण में ही यह यज्ञवेदी और छोटे अनुपात में यह देह रूप यज्ञभूमि बनी है, वेदमन्त्रों में समान रूप से तीनों का वर्णन किया गया है । अध्यात्म पक्ष में—इस जीवन-यज्ञ ने इन्द्र आत्मा के सामर्थ्य को बढ़ा दिया है अर्थात् देहरूप कर्मभूमि को नाना प्रकार की प्रवृत्तियों में बहने दिया । और द्यौलोक रूप मस्तक में ब्रह्म विद्यमान है, इत्यादि ।

*

[१२२] १ २ ३ २ड ३ ५र २र ३ २ ३ २ ३ ३
यदिन्द्राह गथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
३ २ ३ १ २
स्तोता म गोसखा स्यात् ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । १४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) तू (एक इत्) अकेला ही (वस्व) धन, विभूति, ज्ञान, जीवन शक्ति को (ईशीय) वश करता है उसी प्रकार (यद्) यदि (अहं) मैं जीव भी अपनी इन्द्रियों और वसुरूप प्राणों को वश करने में समर्थ होजाऊं तो (गोसखा) इन्द्रिया के समान ही ख्याति से सम्पन्न यह (मे) मेरा आत्मा भी (स्तोता) इस ईश्वर महान् आत्मा की स्तुति करने वाला (स्याद्) होजाय ।

[१२३] १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पन्यंपन्यमित्सोतार आधावत मघाय ।
१ २ ३ २ ३ १ २
सोमं वीराय शूराय ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । २ । २५ ॥

भा०—हे (सोतार) ज्ञान सम्पादन करने वाले साधन मेरे इन्द्रियों ! अथवा हे ज्ञानयोगी पुरुषो ! (मघाय) सबसे अधिक प्रसन्न होने वाले (वीराय) सामर्थ्ययुक्त वीर, विशेष प्रकार से तुम सबको प्रेरणा देने वाले (शूराय) बलवान् पराक्रमी, आत्मा या परमात्मा के विषयक (पन्यं पन्यं) प्रशंसनीय, उत्तम २ (सोमं) यथार्थ अनुभव रूप आनन्दरस को (आधावत) प्राप्त करने के लिये शीघ्र पहुंचो, शीघ्रता करो ।

संसिद्धि प्राप्त करने वाले साधक की यही भावना होती है ।

[१२४] ३ १ २ ३ २ड ३ २ ३ १ २ ३ १ २
हृदं वसो सुतमन्धः पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
१ २ ३ १ ३
अनाभयिन् रीरमा ते ॥ १० ॥ ऋ० ८ । २ । १ ॥

१२२—'गोसखा' इति ऋ० ।

भा०—हे (वसो) शरीर में बसने वाले देव ! या शरीर में दश इन्द्रियों और अन्तःकरण आदि को बसाने वाले इन्द्र ! आत्मन् ! तू (इदम्) इस (सुतम्) उत्पन्न किये (अन्धः) अन्न, जीवन धारण सामर्थ्य को (सुपूर्णम् उदरम्) खूब पेट भर कर (पिब) ग्रहण कर । हे (अगोभयिन्) भयरहित वीर, यह सब सोम आदि आत्मा (ते) तेरे लिये हम (हरिम) देते हैं, भेंट करते हैं ।

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः" इत्यादि, उपनिषद् की यहीं संगति होती है । आत्मा को राजा के दृष्टान्त से बृहदारण्यक में उत्तम रीति से समझाया है ।

इति तृतीया दशतिः । इति प्रथमः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ ऋषि.—१, २ सुकक्षशुष्मकक्षौ । ३ भारद्वाजः । ४ श्रुतकक्षः । ५, ६ मधुच्छन्दाः । ७, ९, १० त्रिशोकः । ८ वसिष्ठः । गायत्री ॥

[१२५] उद्घेदभि श्रुतामघं वृषभं नर्याप्सम् ।
अस्तारमभि सूर्यम् ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९३ । १ ॥

भा०—हे (सूर्य) समस्त जगत् को प्रेरणा करने वाले आत्मन् ! तू (श्रुतामघम्) प्रसिद्धि धन, ज्ञान और कीर्ति सम्पन्न (वृषभम्) सुख और आनन्द की वर्षा करनेवाले, सर्वश्रेष्ठ (नर्याप्सम्) मनुष्यों के हितकारी कार्य करने और मन संकल्प करने वाले (अस्तारम्) अपने प्रतिपक्षियों और काम क्रोध आदि शत्रुओं को मार गिराने वाले, पराक्रमी वीर पुरुष के प्रति (इद् ह) ही तू (उद् एषि) आगे उठता है, उदित होता है ।

सदाचारी, परोपकारी काम क्रोधादि के जीतने वाले पुरुषपुंगव का आत्मा सूर्य के समान उन्नति को प्राप्त होता है ।

[१२६] २ ३।२ १२ ३ १ २ ३ १ २
यद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य ।
३ १ २ ४ १,२
सर्वं तादिन्द्र ते वशे ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ४ ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) सूर्य के समान मेघ और अज्ञान-अन्धकार या विघ्नों के नाश करने हारे ! हे (सूर्य) समस्त जगत् के समान इस देह के प्रेरक ! हे आत्मन् ! (अद्य) आज (यत् कत् च अभि) जिस किसी पदार्थ के सन्मुख (उद् अगाः) तू उदित होता है (सर्वं तत्) वह सब (ते) तेरे ही (वशे) वश में है । आत्मवान् पुरुष जिस बात पर अपना संकल्प बांधते हैं वही उनके वश में हो जाता है । शौनक ने यह मन्त्र, पाप नाश करने और जगत् भर को वश करने की साधना का मूलमन्त्र लिखा है ।

यदद्यकच्चोदुदिते रवौ स्तुत्वा पुरन्दरम् ।
गृणन्नपाहतं रिपुं वश्य वा कुरुते जगत् । (अभिधाने शौनक)

१२ २२ ३२३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२७] य आनयत्परावत. सुनीती तुर्वशं यदुम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्र स नो युवा सखा ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ४५ । १ ॥

भा०—(यः) जो (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सुनीती) उत्तम नीति, उपाय साधन द्वारा (तुर्वश) कामनाओं से बंधे और (यदु) कुपथ में गये पुरुष को (परावतः) बहुत दूर से भी (आनयत्) सन्मार्ग पर ले आता है (सः) वह (नः) हमारा (युवा) सदा जवान, अजर, अमर, नित्य, (सखा) इष्ट मित्र और समान ख्याति वाला, हमारे आत्मा या हृदय देश में विराजमान परमात्मा या आचार्य है । यहां इन्द्र आत्मा, परमात्मा, आचार्य तीनों पर समान भाव से लगता है ।

[1]. 'तुर्वशं'—तुर्वी हिंसायाम् । भ्वादि. । कलेरशच् । हिंसन्ति आहिंस्यन्ते व्याध्यादिभिर्वा । यद्वा तूर त्वरणहिंसनयोः । दिवादिः । यद्वा तुर्वंग. काम

दृक्षामिति तुर्वशाः। यद्वा चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु वशा एषामिति चतुर्वशाः सन्तः, चकारलोपेन तुर्वशाः। दे० य०। तुर्वश इति मनुष्यनाम। नि० २। ३॥

'यदुम्'—यदुः, यमेर्दुक् इति भोजः। यम्यते नियम्यते आचार्येण अपथप्रवृत्तौराज्ञा वा। यदुरिति मनुष्यनाम। नि० २। ३॥

तुर्वश, द्रुह्यु, अनु, यदु, और पुरु ये ऐतिहासिक पुरुष भी हुए हैं। सायण ने इतिहासपरक ही अर्थ किया है। परन्तु वेद में ये सब मनुष्य के पर्याय शब्द हैं। धात्वर्थों के भेद से भिन्न २ गुण के मनुष्यों के ये वाचक हैं। जैसे-(१) 'तुर्वी हिंसायां' धातु से अशच् प्रत्यय करने से तुर्वश शब्द बनता है। जो प्राणियों को मारें या व्याधि से पीड़ित हों। (२) तुर्वश= जिन को काम अर्थात् एषणा हो वे तुर्वश कहाते हैं। या ३) जो धर्म अर्थ, काम, मोक्ष चारों को अपने वश करलें वे 'तुर्वश' कहाते हैं। उसी प्रकार 'यदु' वे मनुष्य हैं जो कुमार्ग पर पैर धरने पर राजा व आचार्य द्वारा नियम व्यवस्था में लाय जावें। आर्यसाहित्य में देव को इष्ट, बन्धु कहा जाता है और आचार्य को भी सुहृद् माना गया है। 'सुहृद् भूत्वा आचार्य उपदिशति' (पात० महाभाष्य)

[१२८] मा न इन्द्राभ्यां दिशः सूरा अक्तुष्वा यमत्।
त्वा युजा वनम तत् ॥४॥ऋ० ८। ९२। ३१॥

भा०— हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! (आ दिशः) चारों दिशाओं से भी (नः) हमारे (अभि) प्रति (अक्तुषु) रात्रि, अन्धकार युक्त कालों में, राजस तामस अवस्थाओं में भी (सूर०) चुपके २ छापा मारने वाला चोर या हिंसक जन्तु या काम क्रोध आदि शत्रु (न० मा अभि आ यमत्[1]) हम पर काबू न करले, फांस न ले, अधिक हम (तव)

१ २८—'आयमत्' इति ऋ०।

उस समय (त्वा युजा) तुझ अपने सहायक द्वारा उसे (वनेम) मार डालें ।

अक्तु रात्रिनाम । नि० १ । ७ ॥ २. यम परिवेषणे (भ्वादि) ३. अथ क्रय हिंसार्थाः वन्क वेति भ्वादिः ।

[१२९] एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् ।
वर्षिष्ठमूतय भर ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । २ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सानसिं) उत्तम प्रकार से विभाग करने योग्य (सजित्वानं) अपने शत्रु पर विजय दिलाने वाले, (सदासहं) निरन्तर आने वाले आक्रमणों को सहन करने वाले, (वर्षिष्ठं) शत्रु पर बाणों और आयुधों की वर्षा करने वाले या बहुत अधिक (रयिं) सेना को (ऊतये) रक्षा के लिये (आ भर) प्राप्त कर । आत्मा के पक्ष में रयि-प्राण या आत्मिक ज्ञान, बल जो शरीर में स्थान २ पर बटा हुआ है, सब दोषों पर विजय करता है सब कष्टों को सहता है, सब सुखों को उत्पन्न करता है और निरन्तर गति करता है ।

रयि रीङ् गतौ —रीयते गच्छति इति रयि । यद्वा रातेर्दानार्थस्य । गच्छत्याक्रामति शत्रून् इति रयिः सेना । कोशायत्तत्वाद् भृतिरहिता सेना वा रयिः । सजित्वानं सदासहमिति विशेषणबलाद्रयि सेनार्थं ।

[१३०] इन्द्र वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे ।
युज वृत्रेषु वज्रिणम् ॥६॥ ऋ० १ । ७ । ५ ॥

भा०—(महाधने) बड़े २ संग्राम के अवसर में और (अर्भे) छोटे मोटे परस्पर के कलह या चोरी आदि के अवसर पर भी (वयं) हम लोग (वृत्रेषु) विघ्न और उपद्रवों और विघ्नकारियों पर (वज्रिणं) सदा तलवार या सेना-बल को या दण्ड को धारण करने हार, (युज) सदा के

सङ्ग्रामक, (इन्द्रम्) राजा को (अर्वं) हम (हवामहे) बुलाते हैं उसके गुण कीर्त्तन करते हैं। यहां इन्द्र शब्द राजा वाचक है। राजा के दृष्टान्त से उपनिषदों में मुख्य प्राण और आत्मा का वर्णन किया गया है। आत्मा पक्ष में (महाधने) बड़े भारी योगसाधन और (अर्भे) सूक्ष्म विचार में भी (वृत्राणि) आत्मा पर पर्दा डालने वाली तामस, व्युत्थान वृत्तियों पर (वज्रिणम्) सूक्ष्मगति या वर्जक शक्ति अर्थात् असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण करने वाले विवेक से युक्त आत्मा का स्मरण करें। जैसे काठक में "यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्। महद्भयं वज्रमुद्यतम्।" कठ० वल्ली २ ॥

*महाधनमिति संग्रामनाम (नि० ३। १८।)। अर्भो ह्रस्वः।

[१३१] अपिबत् कद्रुवः सुतमिन्द्रः सहस्रबाह्वे।
तत्रादिदिष्ट पौंस्यम्।७। ऋ० ८। ४५। २५॥

भा०—(इन्द्रः) राजा (सहस्रबाह्वे) हजारों प्रकार से शत्रु को परास्त करने के लिये (कद्रुवः) विद्वान् ज्ञानी के (सुतम्) ज्ञान का (अपिबत्) पान करता, उपयोग करता है (तत्र) तभी (पौंस्यं) उसका बल (आदिदिष्ट) अधिक चमकता है।

बाहुर्बाधते, परान् बाधते इति बाहुः इति देवराजो यज्वा। कद्रुः कवतेऽर्चतिकर्मा कद्रु विद्वान्। जश्वादिषु औणादिकं निपातनम्। दया०। ३। १५२॥

आत्मपक्ष में कद्रव मन। बाहु=कर्म। मेघ, बाहु=जलधारा, इत्यादि।

[१३२] त्वमिन्द्र तया ऽऽमघ्नानुमा वृषन्।
विद्धीत्वा३स्य नो वसो ॥८॥ ऋ० ७। ३१। ४॥

१३१—'अत्रादेदिष्ट' इति ऋ०। अत्राददिष्टेति स० सा०।

१३२—'प्रणोनुम' 'विद्धी त्व' इति ऋ०।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (वृषन्) हे सबसे श्रेष्ठ सुखों के वर्षा करने हारे ! (वयम्) हम (मायवः) ज्ञानशील मनुष्य (त्वा) तुझ को (अभि प्र नोनुमः) निरन्तर प्रणाम करते हैं। हे (वसो) सब के भीतर वास करने हारे (नः) हमारे (अस्य) इस सबको तू (विद्धि) निश्चय पूर्वक जानता ही है।

[१३३] आ घा ये अग्निमिन्धत स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्।
यषामिन्द्रो युवा सखा ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ४५ । १ ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् लोग (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (इन्धते) प्रज्वलित करते हैं और (येषां) जिनका (युवा) अजर, अमर, सदा तरुण, अक्षय बल वाला (इन्द्रः) आत्मा (सखा) मित्र है। वे (आनुषक्) निरन्तर (बर्हिः[1]) अपने कर्मबन्धन, देह को (स्तृणन्ति[2]) काट डालते हैं। आत्मा के ज्ञान और प्राण दोनों स्वरूपों को जान लेने वाले विद्वान् कर्मबन्धन से मुक्त होजाते हैं।

'बर्हि' धान्य को कहते हैं। देह की उपमा उपनिषदों में धान्य और वृक्ष से दी हैं। जैसे १. 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः' (काठकम्) २. 'ऊर्ध्वमूल अवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।' 'अहं वृक्षस्य रेरिवा' (तै० उ०)

[१३४] भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ४५ । ४० ।

१३३—१. बृहेर्नलोपश्च । बृहि वृद्धौ । यस्य त्रिधात्वधृत बर्हिः, ऋ० ८ । १०२ । ४ अत्रापि बर्हिः शरीर त्रिधातुज वर्णितम् । यथा भागवते- 'यस्यात्मबुद्धि कुणपे त्रिधातौ०' इत्यादि ।

२ वृश्चति, कृन्तति, स्तृणात्यादयः पर्याया धातवः सर्वे वधकर्माण । नि० २ । १९ ॥

भा०—(विश्वा द्विषः) सब द्वेष करने वालों को हे राजन् ! आत्मन् ! (अप भिन्धि) दूर ही काट डाल और (बाध) पीड़ा पहुंचाने वाले, (मृधः) संग्रामकारी हिंसक, सेनाओं को (परि जहि) सब ओर नाश कर । स्पार्हम्) हमारी अभिलाषा के पात्र (तद्) उस (वसु) हमारे भीतरी आत्मरूप धन को (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में 'नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति । वेद के शब्दों में आत्मा 'स्पार्हं' वसु या सबसे अधिक प्रिय धन है । 'तत्' यह शब्द उस विस्मृत को याद कराता है जिसको हम अविद्या के कारण भूल गये हैं जिसको मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम् । यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' । इस पर याज्ञवल्क्य ने उक्त सिद्धान्त कहकर कहा । 'एतावदरे खलु अमृतम् ।' यह 'तत्' अन्य उपनिषदों में भी है जैसे—'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदु नात्येति कश्चन, तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इत्यादि ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ अ० ५ ॥ १ काण्वो घोरः । २ त्रिशोकः । ३ वत्सः काण्वः । कुसीदी काण्वः ।
४ मेधातिथिः । ६ श्रुतकक्षः । ७ श्यावाश्वः । ८ प्रगाथः काण्वः । ९ वत्स ।
१० हरिमिठः । गायत्री ॥ षड्जः ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३५] इन्द्रेव शृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान् ।
१ २ २ ३ १ २
नियामं चित्रमृञ्जते ॥ १ ॥ ऋ० १ । २७ । २ ॥

भा०—(एषां) इन मरते प्राणों के (हस्तेषु) हाथों में (कशा) कशा है । (यद् वदान्) यह जो बात कहते हैं (इह एव शृण्वे) उसको

१३५—१. हस्तो हन्तेः, प्राशुर्हनने इति । निरु० १, ३, २ ।

मैं यहां ही सुनता हूं। वह कशा (चित्रं) अद्भुत प्रकार से (नियामं) नियम, व्यवस्था को (अञ्जते) साध रही है।

'कशा' का वर्णन अथर्ववेद (का० ६ । सू० १) में किया है। जैसे-

"य एनि मधुकशा ररायो तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम्।"

पश्यन्त्यस्याश्चरित पृथिव्या पृथक् नरो बहुधा मीमांसमाना:।

"अग्नवांनान् मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः।"

साधक प्रत्यक्षदर्शी ऋषि कहता है कि मैं उन मरुतों की कशा (हन्टर) के नाद को सुनता हूं वह विचित्र प्रकार से सबका व्यवस्था में बांधे है। अथर्व में इसको 'मरुतामुग्रा नप्ति' प्राणियों को उग्र रूप होकर बांधने वाली बतलाया है। इसका स्पष्ट विवरण त्रिपुरदहन के अलंकार की व्याख्या में शिव के जगन्नाथ के महारथ पर मरुत् सारथि के हाथों में ओंकार का हन्टा बतलाया है। शि० पु०। योगी लोग उसी ओंकार के अनाहत नाद को सुनते हैं। उसी का यहां विवरण है।

[१३६] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इम उ त्वा विचक्षते सखाय इन्द्र सोमिनः।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
पुष्टावन्तो यथा पशुम् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १६ ॥

भा०—(पुष्टावन्तः) पुष्टिकारक पदार्थ घास दाना आदि को हाथ में लिये पशुपालक पुरुष (यथा) जिस प्रकार स्नेह से अपने (पशुं) पालतू पशु को देखते हैं उसी प्रकार हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (इमे) ये (सोमिनः) सोमरस या आत्मज्ञान के धारण करने वाले पुरुष तेरे (सखाय) मित्र (त्वा) तुझको देखते हैं।

स्नेह प्रदर्शनमात्र समान धर्म दिखाया गया है। आत्मज्ञान साधक पुरुष नानास्तुति ज्ञान चर्चा एवं ध्यान साधना द्वारा अन्तरात्मा एवं ब्रह्म को बुलाते हैं, उसके प्रेम में उसको निरन्तर निहारते हैं कि "अब दर्शन

देता है, अव देता है, अव ! अव ! । गीता में जैसे—'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।"

[१३७] समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६ । ४ ॥

भा०—(अस्य) इस इन्द्र के (मन्यवे) क्रोध के सामने या मनन ज्ञान, संकल्प के समक्ष (विधा) समस्त (विशः, प्रजाः (नमन्त) ऐसे झुकती हैं, जैसे (सिन्धवः) नदियां (समुद्राय इव) समुद्र में समाजाने के लिये आपसे आप बहती ही हुई चली जाती हैं ।

इस 'मन्यु' को गीता में व्यास ने कहा है ।
"कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।"
इस ऋचा की व्याख्या की गई है । जैसे—
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥
गीता ११ । २८ ।

झुकना, जैसे—'सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः' । (गी० ११। ३६)

[१३८] देवानामिदवो महत्तद्वृणीमह वयम् ।
वृष्णामस्मभ्यमूतये ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ७२ । १ ॥

भा०—(वृष्णाम्) सुखों और ज्ञानों की धार बरसाने वाले (देवानाम्) विद्वान् गुरुओं या प्राणों की (इत्) ही (महत् वत् अव) बड़ी भारी उस रक्षा या शरण को हम (अस्मभ्यम्-ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (आ वृणीमहे) सब प्रकार से चाहते हैं ।

तैत्तिरीय उप० (भृ० १ । अनु० १०) में जैसे—"यदि तत कर्मविचिकित्सा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः

युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेश. । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

सद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव । गी० अ० २ । ३४–३५॥

[१३९] ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमाना स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
कक्षीवन्त य औशिज. ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १८ । १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणः पते) ब्रह्मणस्पते ! ज्ञानिन् ! (सोमानां) ज्ञानों के योगसाधन से प्राप्त अनुभवों या रसों को प्राप्त करने के लिये (कक्षीवन्तं) कक्ष, छाती में रहने वाले या प्रसिद्ध प्राण को (स्वरणं) सुख से गमन करने वाला एवं (देदीप्यमान) बलसम्पन्न (कृणुहि) कर (य.) जो प्राण (औशिजः) वश द्वारा साध लिया गया है ।

इस प्रकरण को तैत्तिरीयशाखा में इस प्रकार स्पष्ट किया है— "सोम स्वरणाभित्याह सोमपीथमेव अवरुन्धे । कृणुहि ब्रह्मणस्पते इत्याह ब्रह्मवर्चसमेवावरुन्धे इत्याह ।" अर्थात् ब्रह्मवर्चस्वी ब्रह्मणस्पति है । उसको ज्ञान में प्रखरता प्राप्त करने का उपदेश है । इसी प्रकार 'कक्षीवान्' के विषय में यास्क कहते हैं ' कक्षीवान् कक्ष्यावान् । उशिग् वष्टेः कान्तिकर्मणः । (नि० ६ । ३ । १) कक्षो गाहते कसः इति नामकरणः । ख्यातेर्वा अनर्थकोऽभ्यासः । किमस्मिन् ख्यानमिति । कपतेर्वा तत्सामान्यान्मनुष्यकक्ष· । (नि० ७ । १ । ५)" इस प्रकार कक्षीवान्, ज्ञानवान् ख्यातिमान्, सहायवान्। औशिज=कान्तिसम्पन्न या कामनासम्पन्न । कक्षा=मनुष्य या प्राणी की कोख,

---

१३९—'सोमान' इति ऋ० ।

उनमें निवास करने वाला कहीवान् है। और वही शरीर में जठराग्नि के बल से उत्पन्न होने के कारण 'औशिज' कहाता है। ज्ञानी पुरुष उसको ज्ञान और योगसाधनों द्वारा स्वरण=अधिक शक्ति सम्पन्न, बलवान्, देदीप्यमान करें।

[१४०] बोधन्मना इदस्तु नो वृत्रहा भूर्यासुतिः।
शृणोतु शक्र आशिषम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ६३ । २८ ॥

भा०—(नः) हमारा (शक्र०) शक्तिशाली आत्मा (वृत्रहा) तामस आवरणों का नाश करने वाला (भूर्यासुतिः) अति अधिक समाहित वृत्ति वाला होकर, (बोधन्मनाः) ज्ञानशील चित्त वाला (इत्) ही (अस्तु) हो। और वह (आशिषम्) आशीर्वाद, उत्तम कामना को (शृणोतु) सुने।

[१४१] अद्या नो देव सवितः प्रजावत्सावी सौभगम्।
परा दुष्वप्न्यं सुव ॥ ७ ॥ ऋ० ५ । ८२ । ५ ॥

भा०—हे (सवित) सब के प्रेरक, उत्पादक, प्रकाशमान् देव, आत्मन्! (नः) हमारा (प्रजावत्) अपनी प्रजाओं के समान (सौभगं) उत्तम कल्याण (अद्य) आज, प्रतिदिन (सावी) उत्पन्न कर। (दुष्वप्न्यं) चित्त में से दुःसंकल्पों के कारण होने वाले तन्द्राकालिक प्रमाद को (परा सुव) दूर कर।

योग के साधनों को करते हुए साधक के आग्रहपूर्वक संयम द्वारा इन्द्रियों का बाह्य निरोध होजाने पर भी मन की पूर्व वासनाएं तन्द्रा के

१४०—'बोधिन्मना' इति ऋ०।

१४१—'अद्यानो', 'दुःष्वप्न्य' 'दुष्वप्न्य' इति ऋ०।

अवसर पर दुःख स्वप्नों का कारण होती हैं । उनको दूर करने और शुभ कि; चारों के प्रबल होने की इस मन्त्र में प्रार्थना है ।

[१४२] क्रीड स्य वृषभा युवा तुविग्रीवो अनानतः ।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥ ८ ॥ अ० ८ । ६४ । ७ ॥

भा०—(वृषभ.) इन्द्रियरूप गौओं में बैल के समान भोक्ता सर्व श्रेष्ठ, मेघ के समान सुखों का वर्षक, (युवा) सदा अजर, (अनानतः) कभी किसी के आगे न झुकने वाला, स्तब्ध, (तुविग्रीव) बहुतसी ग्रीवा वाला, इन्द्र (स्य. क) वह आत्मा कहा है ? (तं) उसको (क) कौन (ब्रह्मा) ब्रह्म को जानने वाला विद्वान् (सपर्यति) उसकी पूजा करता है । अर्थात् हे ज्ञानी पुरुषो ! तुम उस अप्रतर्क्य, अवाङ्मनसगोचर सहस्र शीर्षा पुरुष की विवेचना करो और उसके सच्चे उपासक ब्रह्मज्ञानी को भी पहचान करो ।

कथमिन्द्रो बहुग्रीव ? उच्यते । परमात्मस्वरूपत्वात् । 'सर्वत पाणि-पाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वत. श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति, इति मा० वि० । तुवीति बहुपर्याय । (नि० ३ । १ । ३ ।) ग्रीवा निग-रणात् कड्म्येति अनुदात्त प्रक्षान्ताभिपूजितयोरिति प्लुतिरनुदात्तश्च (पा०)

इन्द्र बहुग्रीव किस प्रकार है ? गीता कहती है—

"०बहुवक्त्रनेत्र महाबाहो बाहुपादरूपादम् ॥
बहूदरं बहुदंष्ट्राकराल ॥ अ० ११ । २३ ॥
अनेक वक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥

जैसा वेद में भी लिखा है—'सहस्रशीर्षा पुरुष. सहस्राक्षः सहस्रपात्' (यजु० ३१ । १ ॥)

१४२—क्रस्यति पाठोऽद, अ० ।

[१४३] उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ६ । २८ ॥

भा०—(गिरीणां) पर्वतों के (उपह्वरे) तट प्रान्त में और (नदीनां च) नदियों के (संगमे) संगम स्थान पर (धिया) ज्ञान शक्ति और कर्म के अभ्यास से (विप्र०) मेधावी पुरुष (अजायत) तैयार हुआ करता है ।

तपस्वी लोग एकान्त गिरिकन्दरा और प्राकृतिक रमणीय नदी संगमों पर ध्यान, ज्ञान, तप, जप करके शक्तिमान् होते हैं । आत्मा के गढ़ में—(गिरीणां) मेरुदण्ड के पोरुओं के समीप और इडा, पिंगला और सुषुम्ना इन (नदीना) नाड़ियों के संगम स्थान त्रिकुटी में ध्यान लगाने से दिव्य ज्ञानवान् पुरुष सिद्ध हो जाता है । अथवा—गिरय =स्तोतारः । नद्य= मरुत्वत्यः । धीरध्ययनम् । कवियों, ज्ञानप्रवक्ताओं के पास वेदवाणियों के परस्पर संगम स्थल, सभा स्थानों में अध्ययन करने और मनन करने से विप्र विद्वान्, ब्रह्मज्ञानी होजाता है ।

[१४४] प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः ।
नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १० ॥ ऋ० ८ । १६ । १ ॥

भा०—(चर्षणीनाम्) तत्त्वदर्शी, आचारवान् पुरुषों के बीच (सम्राजं) प्रकाशमान, (नव्यं[1]) स्तुति करने योग्य, (इन्द्रं) ऐश्वर्यसम्पन्न (नरं) सबके नेता, (नृषाहं) सब मनुष्यों को अपने तेज से दबाने वाले, (मंहिष्ठं) सबसे अधिक पूजनीय परमेश्वर की (प्र स्तोत) उत्तम रीति से स्तुति करो ।

१४३—'सगये च नदीनाम्' इति ऋ० ।

१. णु स्तुतौ (तुदादिः) नव्य स्तुतियोग्यमित्यर्थः ।

चर्षणयः चरणवन्तः चरणशीलाः । चरेस्तनिरौणादिः । कृषेर्वा । यद्वा याचितारो द्रष्टारः । विचर्षणिः पश्यतिकर्मा । (नि० २ । २)

चर्षणिश्चायिता द्रष्टा इति स्कन्दस्वामी । चर्षणयो मनुष्याः । (नि० २ । ३ ।)

इति पञ्चमी दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥

॥द० ६॥ ऋषिः—श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । २ मेधातिथिः । ३ गोतमः । ४ भरद्वाज । ५ विन्दुः पूतक्षो वा । ६, ७ श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । ८ वत्सः काण्व । ९ शुनःशेपः । १० शुनःशेपो वामदेवो वा ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । षड्जः ॥

[१४५] ऋपादुशिप्रमन्धसः सुदक्षस्य प्रहोषिणः ।
इन्द्रारिन्द्रा यवाशिरः ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९२ । ८ ॥

भा०—(शिप्री) एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने वाला या प्राणों का स्वामी (इन्द्र) ऐश्वर्यशील आत्मा (सुदक्षस्य) कार्यसम्पादन में कुशल, बलसम्पन्न, (प्रहोषिणः) उत्तम रीति से हवन, दान-आदान करने वाले (इन्दोः) प्रदीप्त, (यवाशिरः) अन्न के सारभूत अंश से मिल कर परिपक्व (अन्धसः) प्राणधारण सामर्थ्य को (अपात्) पान या पालन करता है ।

'प्रहोषिन्'—इसकी व्याख्या देखिये (गीता अ० ४ । २३-३१ ।) इसमें बहुत से यज्ञ दर्शाये हैं जैसे १. ब्रह्मार्पण ब्रह्महविर्याग । २. इन्द्रियों की संयम में आहुति । ३. शब्दादि आठ विषयों की इन्द्रियों में आहुति, ४. ज्ञानेन्द्रिय और ५. प्राणेन्द्रिय कर्मों की संयमाग्नि में आहुति, ६. द्रव्ययज्ञ, ७. तपोयज्ञ ८. योगयज्ञ, ९. स्वाध्याय यज्ञ १०. ज्ञानयज्ञ, ११, अपान में प्राण की आहुति, १२. प्राण में अपान की आहुति, १३.

प्राणों की प्राणों में आहुति इत्यादि। इनके कर्त्ता सभी 'प्रहोषी' है। इनमें सबसे श्रेष्ठ सुदक्ष ज्ञानी वह है जो अपने ज्ञानाग्नि अर्थात् चेतना शक्ति में सब कर्म-शक्ति अर्थात् अन्न की जीवन शक्ति को एक करके कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है।

३ १ २ ३।२ २२ ३ १ २
[१४६] इमा उ त्वा पुरुवसोऽभि प्र नोनुवुर्गिरः।
१ २ ३ २ड ३ १ २
गावो वत्सं न धेनवः ॥ २ ॥ ऋ० ६। ४५। २५ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर! एवं हे इन्द्रियों में भी सामर्थ्य रूप से बसाने वाले आत्मन्! (इमाः) ये (गिरः) वाणियां वेदवाणियां (धेनवः) दूध देनेहारी, (गावः) गौएं (न) जैसे अपने (वत्सं) बछड़े के पास चली जाती हैं उसी प्रकार (त्वा३) तुझको ही (अभि प्र नोनवु·) साक्षात् स्तवन करती हैं।

जैसे—'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति उप०।

२२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ कु २२
[१४७] अत्रा ह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
३ २ ३ १ २ ३ २
इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥३॥ ऋ० १। ८४। १५ ॥

भा०—(अत्र ह) यहां निश्चय से (त्वष्टुः) दीप्तिमान्, तेजस्वी सूर्य की (गो·) गमनशील किरण का (अपीच्यम्) कुछ सुषुप्त अंश ही (चन्द्रमसो गृहे) चन्द्रमा के घर में (नाम) गया हुआ है। (इत्था अमन्वत) ऐसा मानते हैं।

इस प्रकरण में प्राण ही त्वष्टा है जो गर्भगत पुरुष को ९, १० मास में शनैः २ बनाता है। गर्भाशय का गुप्तभाग चन्द्रमा का घर है जो १६ कलायुक्त है। जो क्रम से एक पक्ष में घटता और १५ दिन में बढ़कर पुनः ऋतुकाल में वेला के समान उपस्थित होता है। उस स्थान पर भी

१४६—१. इमा उत्ता शतक्रतोऽभिप्रणोनुवुर्गिरः। इन्द्र वत्सं न मातरः। ऋ०।

सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की ही यह शक्ति है जो गर्भ में भी गुप्तरूप से विद्यमान है। उस गर्भ में भी गति है। उसमें भी मुख्य प्राण-आदित्य का ही अंश प्रसुप्तरूप में शनैः २ बढ़ता है। अथवा स्वप्न पुरुष को कहते हैं पुरुष का वीर्यांश ही गर्भाशय में जाता है। जैसा उपनिषद में लिखा है। 'पुरुषे ह्वा अयमादितो गर्भो भवति। यदतद् रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्त्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति अथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म, इत्यादि (एत० उप० अ० २। १-६)। प्राणरयि की विवेचना करते हुए उपनिषत्कार (प्रश्न० उ०) ने पुरुष को आदित्य और प्राण और स्त्री को चन्द्र और रयि माना है। इस मन्त्र को उद्धृत करके यास्कने लिखा है—"अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते तदेतेनोपेक्षितव्यम्। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति इति। सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः इत्यपि निगमो भवति। सोऽपि गौरुच्यते, अत्राह गोरमन्वतेति तदुपरिष्टाद् व्याख्यास्याम.।

अर्थ—आदित्य भी 'गौ' कहाता है। इसकी एक रश्मि चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। जैसे यजुर्वेद (१८। ४०) में लिखा है। इस सुषुम्ना को भी 'गौ' कहते हैं जैसे 'अत्राह गोरमन्वत' इत्यादि मन्त्र का व्याख्यान आगे यास्क ने (४। ४) में किया है कि अत्राह गो. सममसत आदित्यरश्मयः। स्व नाम अपीच्य अपगतमपचितमपहितमन्तर्हित वाऽमुत्र चन्द्रमसो गृहे।"

आधिदैविक पक्ष में यास्क का यह व्याख्यान है। परन्तु शरीर पक्ष में उपनिषदों का मूल सिद्धान्त ग्रहण करने योग्य है। उपनिषदों में गर्भ में जीव की स्थिति एवं पुष्टि और जन्म और शरीर-रचना जीवनयात्रा आदि के प्रश्नों की खूब सूक्ष्म विवेचना की है। छान्दोग्य के तृतीय प्रपाठक में आदित्य की सप्त रश्मियों की विवेचना मुख्य प्राण को लक्ष्य करके की है।

[१४८] यदिन्द्रो अनयाद्रितो महीरपो वृषन्तमः ।
तत्र पूषा भुवत्सचा ॥४॥ऋ० ६ । ४६ । ४ ॥

भा०—(यद्) जब (वृषन्तमः) सर्वत्र, सोम २ में रस का वर्षण उत्तम रूप से करने वाला (इन्द्रः) आत्मा (रितः) गति करने वाले (महीः अपः) बड़ी नाड़ियों को (अनयद्) समस्त शरीर में पहुंचाता है (तत्र) वहां (सचा) साथ ही वह (पूषा) पोषण करने वाले सामर्थ्य से भी युक्त (भुवत्) हो जाता है ।

आत्मा ही देह में सर्वत्र रस पहुंचाता है और पुष्टि भी करता है । विशाल ब्रह्माण्ड में ईश्वर की शक्ति वर्षा भी करती है और अन्न भी उत्पन्न करती है ।

[१४९] गौरीरिति मरुतां अवस्युर्माता मघोनाम् ।
युक्ता वह्नी रथानाम् ॥२॥ ऋ० ८ । ९४ । २ ॥

भा०—(मघोनां) जीवन-यज्ञ के सम्पादन करने वाले (मरुतां) प्राणों की (माता) उत्पादक, जननी (गौ) चेतनस्वरूपा चितिशक्ति (अवस्युः) अन्न की या ज्ञान की कामना करती हुई (धयति) अपना सोम-रूप ज्ञान पिलाती और वह स्वयं (रथानां) रथस्वरूप दूर तक जाने वाले प्राणेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों में (युक्ता) जुत कर (वह्नी) उन को उठा रही है । आत्मा की चेतना शक्ति इन्द्रियों को चेतन करती है वही उनको पदार्थों तक पहुंचाती है ।

मरुतों की गौ की व्याख्या देखिये—अथर्ववेद (का० १० । सूक्त १०) यह वशा रूप गौ है ।

१४९—१. २हतेर्गतिकर्मणः ।

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोसार॰ पुष्ठे अस्याः ।
ये दवास्तस्या प्राणन्ति ते वशा विदुरेकधा ॥

यही गो 'पृश्नि' कही है । इसका वर्णन ऋग्वेद (८ । १००। १०-११) में इस प्रकार है ।

"यद्वाम् वदन्त्यविचेतनानि, राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्रोऽनुदिश ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्वचिदस्याः परम जगाम ।"

[१५०] उप नो हरिभिः सुत याहि मदाना पते ।
उप नो हरिभिः सुतम् ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ३१ ॥

भा०—(मदाना पते) सब आनन्दों और ज्ञान, विवेकों के पालन करने हारे, (नः) हमारे (हरिभिः) ज्ञान इन्द्रियों द्वारा (सुतं) उत्पादित ज्ञान को (उप याहि) तू प्राप्त कर । (नः) हमारे (हरिभिः सुतम्) प्राण इन्द्रियों द्वारा किये कर्म और उनसे उत्पन्न सुख भोग को तू (उप याहि) प्राप्त हो ।

[१५१] इषा होत्रा असृक्षतेन्द्र वृधन्तो अध्वरे ।
अच्छावभृथमोजसा ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ९३ । ३३ ॥

भा०—(अध्वरे) इस हिंसारहित या कभी नष्ट न होने वाले जीवनमय या आत्मज्ञानमय यज्ञ में (इषः) याग करने वाले या विषयरूप इषियों की आहुति प्राप्त करने वाले (होत्राः[1]) प्राण विषयाहुति को भीतर के चितिशक्ति की ज्वाला में हवन करनेवाले सात ऋषि, सात इन्द्रिया (इन्द्र वृधन्तः) आत्मा के ऐश्वर्य, ज्ञान गौरव को बढ़ाते हुए (ओजसा) ज्ञान और बल से (अवभृथम्) पूर्ण समाधि के अवभृथ

१५१—१. सप्तहोत्रकाः, इति सायणः ।

स्नान पर्यन्त (अच्छा) उत्तम रूप से (असृक्षत) यज्ञ करते हैं और विसर्जन करते हैं ।

ब्राह्म यज्ञ की आध्यात्म व्याख्या का यह मूलमन्त्र है । शिर में सात छिद्र, २ आख, २ नाक, २ कान, १ मुख ये सात ऋषि, सात होता हैं मुख्य आसन्य प्राण—आत्मा 'इन्द्र' है, वाक् सरस्वती यज्ञ की सम्पादिका मिषक् है, चितिशक्ति शची है । इत्यादि वैदिक अलंकार है । विशेष देखो छान्दोग्य उप० (अ० ३ । ख० १६, १७ ।)

[१५२] ३ २ अहमिद्धि ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
३ १ २ ३ २
अहं सूर्य इवाजनि ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६ । १० ॥

भा०—(अहम्) मैं (इत् हि) ही निश्चय से (पितुः) अपने पालक पिता परमेश्वर के (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान, वेद और शक्ति सामर्थ्य के लिये (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को (परि-जग्रह) सब ओर से ग्रहण करूं । (अहं) मैं (सूर्यं इव) सूर्य के समान (अजनि) होजाऊं ।

चतुष्पाद् ब्रह्म की उपासना का फल उपनिषत्कार कहते हैं—"भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।" (छान्दो० अ० ३ । ख० १८ ।) ऋत की मेधा का ग्रहण देखिये छान्दोग्य (अ० ३ । ख० १५) इसमें वसुधान कोश (खज़ाना) अपने पिता से प्राप्त किया जा रहा है । जिसका वर्णन उपनिषत्कार ने किया है—

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति ।
दिशो ह्यस्य सक्थ्यो द्यौरस्योत्तरं बिलम् ॥
स एव कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिदं श्रितम् ॥

१५२—'पितुष्परि', 'जग्रभ' इति ऋ० ।

इसका वर्णन देखिये तैत्तिरीय उप० (अनु० ४ ।)

[१५३] रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः ।
सुमन्तो याभिमदेम ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ३० । १२ ॥

भा०—(इन्दे) आत्मा के (सधमादे) हमारे साथ २ हर्षयुक्त सुप्रसन्न होजाने पर (नः) हमारी (रेवतीः) प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिया (तुविवाजाः) खूब बलवती होजायं । (याभिः) जिनके साथ हम (सुमन्त) अन्न, भोग, गृह आदि से सम्पन्न होकर (मदेम) आनन्द अनुभव करें । गृहस्थ पक्ष में—रेवतीः=स्त्रियः । राष्ट्र पक्ष में—रेवती=प्रजा. ।

[१५४] सोम. पृषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता ॥ १० ॥

भा०—(सोमः) सबका प्रेरक और सबका उत्पादक और (पूषा) सबका पोषण करने हारा परमात्मा (देवत्रा) समस्त देव, पांचों भूतों और भौतिक शक्तियों में और आत्मा देहस्थ इन्द्रियों में व्यापक है और वही (विश्वासा सुक्षितीनाम्) समस्त निवास योग्य भूतों, दुनियाओं और समस्त प्राणियोनियों के (रथ्योः) दोनों प्रकार के कर्म और भोग योनियों के (हिता) हितकारी होते हुए (चेततु) आहार व्यवहार का ज्ञान कराते हैं, एवं सन्मार्ग पर चलने के लिये चेताते हैं ।

दो ही मार्ग से ज्ञान प्राप्त होता है एक उपदेश से, दूसरी आवश्यकता या निज अनुभव से । परमात्मा प्राणियों को एक तो सोम अर्थात् ज्ञानवान् परम गुरु के रूप में ऋषियों के हृदय में ज्ञान प्रेरित करता है । दूसरा पूषा अर्थात् प्राणी शरीर की आवश्यकता भूख प्यास आदि से प्रेरित होकर पदार्थों को खोजते हैं और निजी अनुभव से अपने हित अहित का ज्ञान करते हैं । ईश्वर दोनों रूप से उनको ज्ञान देरहा है । जैसे रोटी के टुकड़े

से कुत्ते को सधाते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी अन्नादि की वासना से पृथ्वी पर अन्नादि रखकर प्राणियों को उसके खोजने और प्राप्त करने के मार्ग में सधाता है। जीव भी कर्म फल, सुख दुःख भोग २ कर पुनः ज्ञानमार्ग पर आजाते हैं। जीवों के भोगों की व्यवस्था करने वाला वह 'पूषा' है। विद्वानों के हृदय में ज्ञान प्रेरणा करने और सबको उत्पन्न करने से वह 'सोम' है। दो भिन्न २ व्यवस्थाओं के भिन्न २ रूप पृथक् २ दर्शाने के निमित्त द्विवचन का प्रयोग है।

इति षष्ठी दशतिः। चतुर्थः खण्डः।

॥ द० ७ ॥ ऋषिः—१, ४ शुनःशेपः। २ वसिष्ठः। ३ मेधातिथिप्रियमेधौ। ५ हरिमिठिः। ६, १६ मधुच्छन्दाः। ७ त्रिशोकः। ८ कुसीदः। ९ शुन.शेपः। इन्द्रो देवता ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५५] पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभिप्रगायत।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वासाहं शतक्रतुं महिष्ठं चर्षणीनाम् ॥१॥ ऋ० ८।९२।१॥

भा०—(वः) आप लोग (अन्धसः) जीवन धारण कराने वाले अन्न के सूक्ष्म, रस रूप सोम को (आ-पान्तम्) अभिमुख प्रत्यक्षरूप में प्राप्त करने वाले, (विश्वासाहं) सब को अभिभव करने, समस्त इन्द्रियों से बढ़ जाने वाले, सबको परास्त करने वाले (शतक्रतुं) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ, सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त, (चर्षणीनां) तत्वदर्शियों के (महिष्ठं) एकमात्र आनन्द देने वाले, या इन्द्रियों में शक्ति देने वाले, पूजनीय उपास्य देव आत्मा और परमात्मा की (अभि प्रगायत) साक्षात् स्तुति करो।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६] प्र व इन्द्राय मादनं हर्यश्वाय गायत।
१ २ ३ १ २
सखायः सोमपाव्ने ॥ २ ॥ ऋ० ७।३१।१॥

१५६—१. कै गै स्तुतौ। स्तुतिः प्रशंसा इति यास्कः (नि० २।७।३।)

भा०—हे (सखायः) समान कीर्ति वाले मित्र ! (वः) आप लोग (सोमपाव्ने) सोम ज्ञान, अन्न रस का पान करने वाले, (हर्यश्वाय) विषयों के प्रति लेजाने वाले, इन्द्रिय साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) ऐश्वर्य सम्पन्न इन्द्र, अपने अन्तरात्मा को (मादनं) प्रसन्न करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से गान करो, उसका कीर्त्तन करो, उसका ज्ञान करो।

[१५७] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः ।
१ २ ३ १ २
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । २ । १६ ॥

भा०—(वयम्) हम और (कण्वाः) मेधावी विद्वान् लोग, हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वायन्तः) तेरी कामना करते हुए, तेरे प्रेमी, तुझे प्राप्त करने में लगे हुए (सखायः) समान ख्याति वाले (तदि-इद् अर्थाः) उस परम तत्व तुझको एकमात्र अपना इष्ट प्रयोजन जानते हुए (त्वा) तेरी (उक्थेभिः) मन्त्रों द्वारा (जरन्ते) स्तुति करते हैं, तेरे स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

[१५८] १ २ ३ १ २, ३ १ २ ३ १ २
इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः ।
३ १ २, ३ १ २
अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १९ ॥

भा०—(नः) हमारी (गिरः) वेदवाणियां (मद्वने) हर्ष, प्रसाद युक्त (इन्द्राय) आत्मा के योग्य (सुतं) सोम, ज्ञान और उत्तम पदार्थ को (परिष्टोभन्तु) वर्णन करें । (कारवः) कर्मण्य, विद्वान् लोग (अर्कम्) उस पूजा के योग्य उपास्यदेव की (अर्चन्तु) उपासना करें ।

इसके पूर्व भी अन्धस्, सोम आदि शब्द आये हैं जिनका अर्थ यज्ञ प्रकरण में याज्ञिक लोगों ने सदा सोमलता का रस ही लिया है, परन्तु उपासना या आत्म विज्ञान काण्ड में ज्ञान और अन्न का सूक्ष्म रस और भोग्य पदार्थ ही लेना उचित है । वेद में भी इन शब्दों को उस अर्थ में

प्रयोग किया है। जैसे (ऋ० ८। ६४। १०)—"अयं ते मानुषे जने सोमः पुरुषु सूयते। तस्येह प्र द्रवा पिब ॥" प्रत्येक मनुष्य में उसकी (पुरुषु) इन्द्रियों में वह सोम उत्पन्न होता है जिसके लिये हे आत्मन्! तू आ और पान कर।

[१५९] ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अयं त इन्द्र सोमो निपूता अधि बर्हिषि।
१ २ ३ २उ ३ १ २
एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥ ऋ० ८। १७। ११ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (अधि बर्हिषि) प्रति यज्ञ और प्रति देह में (निपूतः) प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा संशोधित, संस्कृत किया जाता है। (ईम्) इस समय (अस्य) इसके पान करने के लिये (एहि) आ और (द्रव) शीघ्र आ, (पिब) पान कर।

बर्हिः, यज्ञः, धान्यम्, कुशाः शरीरम्, अन्तरिक्षम् ये इत्यादि पर्याय हैं।

[१६०] १ २ ३ १,२ ३ १ २ ३ १,२
सुरूपकृत्नुमूतय सुदुघामिव गोदुहे।
३ २ ३ १ २
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥ ६ ॥ ऋ० १। ४ १ ॥

भा०—(गोदुहे) दूध के दोहने के लिये जिस प्रकार (सुदुघाम्) उत्तम रूप से दूध देने वाली गाय को प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार (सुरूपकृत्नुम्) उत्तम ज्ञान और कर्म सम्पादन करने वाले इन्द्र को (ऊतये) अपने को पापाचरण से बचाने के लिये (द्यवि-द्यवि[1]) प्रतिदिन (जुहूमसि) हम स्मरण करते और उसकी स्तुति करते हैं।

[१६१] ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये।
३ १ २ ३ १ २
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ ७ ॥ ऋ० ८। ४५। २२ ॥

१६०—द्यवि द्यवि इति अहर्नाम। नि० १। २।

भा०—हे (वृषभ) अन्तरात्मा में सुख की वर्षा करने हारे श्रेष्ठ! (सुते) सोम=ज्ञान या साधना, कर्म के उचितरूप से होजाने पर उसके (पीतये) रस पान करने के लिये (सुतं) उत्तम ज्ञान का (त्वा अभि सृजामि) तेरे सन्मुख ही सम्पादन करता हूं। (तृप्य) तू उससे तृप्त हो और (मदम्) हर्ष, सुख को (वि अश्नुहि) प्राप्त कर।

योगी, अवधूत लोग समाधि-रस को मधुरस से तुलना देते हैं और आत्मा को बुलाते हैं। धर्ममेघ समाधि की सिद्धि प्राप्त होजाने पर आत्मा की वह अवस्था होजाती है।

[१६२] य इन्द्र चमसेष्वा सोमश्चमूषु ते सुतः।
पिबेदस्य त्वमीशिषे ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ८२ । ७ ॥

भा०—(य सोमः) जो सोम हे (इन्द्र) आत्मन्[1] (चमसेषु) चमस पात्रों में (सुतः) तैयार किया है वह (ते) तेरे लिये (चमूषु) छोटे २ पीने के पात्रों में भी है। (अस्य इत्) इसको ही तू (पिब) पानकर (त्वम्, ईशिषे) तू ही इसका समर्थ स्वामी है।

'चमसेषु'—सूर्यपक्ष में चमस मेघ हैं, आत्मपक्ष में प्रत्येक पुरुष का मस्तक चमस है। जैसा उपनिषद् में "अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः"। "चम्वौ द्यावापृथिव्यौ"। द्यौलोक और पृथिवी लोक 'चमू' हैं। शरीर में यही स्थान मस्तक ही है। उसमें भी सात इन्द्रियां उस इन्द्र के आचमन पात्र हैं, उनमें वह ज्ञान ग्रहण करता या मस्तक के कोष्ठ (Colls) ही उसके नाना प्रकार से सोमास्वादन के निमित्त पात्र हैं। इन्द्र ही आत्मा है। इस सिद्धान्त की विशद व्याख्या देखो (ऐतरेय उप० स०) "स एतमेव

१६२—1. चमु, अदने स्वादि। चमन्ति भक्षयन्ति अनेनेति (भा०) चमस इति मेघनाम। नि० १० । १ ।

पुरुष ततमपश्यद् इदमदर्शमिदमदर्शमिती९ । तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्र सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देवाः ॥

[१६३] योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ ६ ॥ ऋ० । १ । ३० । ७ ॥

भा०—(योगे योगे) प्रत्येक समाधि काल में और (वाजे वाजे) प्रत्येक ज्ञानप्राप्ति के अवसर में या प्रत्येक बलकर्म के अवसर में (तवस्तरम्) अति बलशाली, अति वेगवान् (इन्द्रम्) इन्द्र आत्मा को हम (सखायः) सब मित्र के समान प्रेमीजन (हवामहे) बुलाते हैं या उसका गुणगान करते हैं ।

योगः—"तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्" । गीता० । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । पात० योगसूत्र १ । १ ॥

दो ही कार्य बल से सम्पादन किये जाते हैं एक घोर संग्राम और दूसरा ध्यानयोग । दोनों में बली आत्मा को ही स्मरण किया और उसको ही पुकारा जाता है । योगी को "बलेषु हस्तिबलादीनि" । हाथियों का बल तक भी प्राप्त हो जाता है । संग्राम के अवसर पर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन के आत्मा को चेताया । वह वाज या संग्राम के अवसर पर इन्द्र का आवाहन था ।

[१६४] आत्वेता निषीदतेन्द्रमभिप्रगायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥ १० ॥ ऋ० १ । ५ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (आ एत तु) आओ और (आ निषीदत) आमने सामने आकर बैठ जाओ । हे (स्तोमवाहसः) स्तुतियों को धारण करने हारे विद्वान् लोगो ! (इन्द्रम् अभि प्रगायत) आत्मा का उत्तम रीति से साक्षात् दर्शन करके उसका यथार्थ वर्णन करो ।

ताण्डय ब्राह्मण में त्रिवृत्, पन्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश और चतुर्विंश, चत्वारिंश और अष्टाचत्वारिंश इस प्रकार ६ स्तोमों का वर्णन किया है। इनका विशेष प्रकार से गान करने का प्रकार उक्त ब्राह्मण में ही दर्शाया है।

इति सप्तमी दशतिः । इति पञ्चम खण्ड ।

॥ द० ८ ॥ १ विश्वामित्रः । २ मधुच्छन्दाः । ३ कुसीदः काण्वः । ४ प्रियमेधः । ५, ८ वामदेवः । ६, ९ श्रुतकक्षः । ७ मेधातिथिः । १० विन्दुः ॥

इन्द्रो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज ॥

[१६५] इदं ह्यन्वोजसा[1] सुतं राधानां पते ।
पिबा त्वा३ स्य गिर्वणः ॥ १ ॥ ऋ० ३ । ५१ । १० ॥

भा०—हे (राधानां पते) हे समस्त धनों, ज्ञानों और साधनों के स्वामी ! (इदं) यह (ओजसा) बलपूर्वक (सुतं) निष्पादित (गिर्वणः) हे वाणी से कथन या प्रशंसा करने तू योग्य (अस्य) इस ज्ञान को (त्वं) भी (आ पिब) पान कर ।

[१६६] महा इन्द्रः पुरश्च नो[2] महित्वमस्तु वज्रिणे ।
द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ २ ॥ ऋ० १ । ८ । ५ ॥

भा०—(महान्) बड़ा आत्मा (नः) हमारे (पुरः च) आगे सदा विद्यमान रहता है । (वज्रिणे) सब भयों के वारण करने हारे उस आत्मा की (महित्वम् अस्तु) महिमा बनी रहे । (शवः) उसका बल, ज्ञान (प्रथिना) विस्तृत होने से (द्यौः न) द्यौलोक या सूर्य के समान है ।

---

[1] १६५—'अन्नौजसा' इति ऋ० ।
[2] १६६—'परश्च नु' इति ऋ० ।

[१६७] आ तू न इन्द्र क्षुमन्त चित्रं ग्राभं सङ्गृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥३॥ ऋ० ८ । ८१ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (महा हस्ती) बड़े भारी हस्त=धारक प्रयत्न वाला तू (क्षुमन्तं) अन्न, और गृह से सम्पन्न (ग्राभं) ग्रहण करने योग्य (चित्रं) ज्ञान को (दक्षिणेन) उत्तम साधन से (आ संगृभाय) संग्रह कर ।

[१६८] अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥४॥ ऋ० ८ । ६६ । ४ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (गोपतिं) वाणी और, रश्मियों, इन्द्रियों के स्वामी पालक (सत्यस्य सूनुम्) सत्य को उत्पन्न करने हारे, (सत्पतिम्) सत्य पदार्थ या सज्जनों के पालक (इन्द्रम्) इन्द्र को (यथा विदे) यथार्थ ज्ञान के लिये (अभि प्र-अर्च) साक्षात् रूप से स्तुति कर ।

[१६९] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥५॥ ऋ० ४ । ३१ । १ ॥

भा०—(सदावृधः) सत्य के बल से अधिक बढ़ने वाला इन्द्र (चित्र.) ज्ञान करने योग्य, पूज्य अद्भुत, (नः) हमारा (कया) किस अपूर्व (ऊत्या) रक्षण करने वाले सामर्थ्य या ज्ञान से और (कया) किस (शचिष्ठया) शक्तिसम्पन्न बलयुक्त या बुद्धिमत्तायुक्त आश्चर्यमय शक्ति से, (कया वृता) और किस व्यवहार से (सखा) हमारा मित्र (आभुवद्) हो ।

[१७०] त्यमु वः सत्रासाहं विश्वासु गीर्ष्वायतम् ।
आच्यावयस्यूतये ॥६॥ ऋ० ८ । ६२ । ७ ॥

भा०—हे विद्वान् स्तोतः ! (सन्नासाहं) सब को एक साथ विजय कर लेने हारे (वः) तुम्हारे (विश्वासु) समस्त (गीर्षु) वाणियों में (आयतम्) विद्यमान, वर्णित (त्यम्) उस आत्मा को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (आच्यावयसि) साक्षात् कर ।

[१७१] सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषम् ॥७॥ ऋ० १ । १८ । ६ ॥

भा०—(सदसस्पतिं) शरीर के भीतर यथास्थान विराजमान, इन्द्रियों के पालक (अद्भुत) अभूतपूर्व, (इन्द्रस्य प्रियम्) अन्तरात्मा के अत्यन्त प्रिय, (काम्यं) कामना करने योग्य, (सनिं) सत् असत् का विभाग करने हारे, (मेधाम्) धारणावती उत्कृष्ट आत्मबुद्धि को देने हारे विवेक को (अहम्) मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊं ।

[१७२] ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः ।
उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥८॥

भा०—हे इन्द्र ! आत्मन् ! (ये) जो (पन्थाः) मार्ग (ते) तेरे (दिवः अध) द्यौलोक, ब्रह्माण्ड, मस्तक कपाल के नीचे हैं (येभि) जिन्हों से (व्यश्वम्) नाना प्रकार के अश्वों, इन्द्रियों को (ऐरयः) प्रेरित करता है वे और (नः भुवः) हमारे प्राण या कर्मेन्द्रिय (उत) भी (श्रोषन्तु) तेरी आज्ञा को सुनते हैं ।

[१७३] भद्रं भद्रं न आभरेषमूर्जं शतक्रतो ।
यद्दिन्द्र मृडयासि नः ॥९॥ ऋ० ८ । ९३ । २८ ॥

भा०—हे शतक्रतो, हे शतप्रज्ञ ! (इन्द्र) आत्मन् ! (यद्) जब (नः) हमें (मृडयासि) सुखी करते हो तब (भद्रं भद्रं) कल्याणकारी,

सुखकारी, (इषम्) अन्न और (ऊर्जं) बल को (आ भर) प्राप्त कराते हो ।

२ ३ १ २ २ ३ ३१२ २१ ३१२
[१७४] अस्ति सोमो अयं सुतः पिबन्त्यस्य मरुतः ।
३२ ३१२ ३ १ २
उत स्वराजो अश्विना ॥१०॥ ऋ० ८ । ६४ । ४ ॥

भा०—(अयं) यह (सोमः) सोम, ज्ञान या सूक्ष्म अन्न रस, (सुतः) निष्पन्न हुआ है (अस्य) इसको (स्वराजः) प्राण के बल से गति करने वाले, या स्वयं चेतन (मरुतः) इन्द्रियगण, प्राणगण या विद्वज्जन (पिबन्ति) पान करते हैं (उत) और (अश्विना) प्राण और अपान भी या विद्वान् स्त्री पुरुष भी उसी का पान करते हैं ।

इत्यष्टमी दशतिः । इति षष्ठः खण्डः ।

॥ द० ९ ॥—१ इन्द्रमातरो देवजामयः । २ गोधा । ३ दध्यङ् आथर्वणः । ४ प्रस्कण्वः । ५ गोतमः । ६ मधुच्छन्दाः । ७ वामदेवः । ८ वत्सः । ९ शुनः शेपः । १० वातायन ऊर्ध्व ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री । षड्जः ॥

२ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २१
[१७५] ईंखयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते ।
३ १ २ ३ १ २
वन्वानासः सुवीर्यम् ॥१॥ ऋ० १० । १४३ । १ ॥

भा०—(ईंखयन्ती[1]) गतिशील, ज्ञानशील (अपस्युवः) कर्म करने की इच्छावाली इन्द्रियां (जातं) प्रकट हुए (सुवीर्यम्) उत्तम बलशाली (इन्द्रम्) आत्मा को (वन्वानासः) भजन करती हुई या उसको प्राप्त करती हुई (उपासते) उसकी उपासना करती है ।

सायण ने इन्द्र-माताओं पर यह मंत्र लगाया है । इन्द्र आत्मा के माता, प्रमा के साधन इन्द्रियां ही यहां अभिप्रेत हैं । जैसा ऐतरेयारण्यक

१७५—'ईजानास, सुवीर्यम्' इति ऋ० ।

में लिखा है—' इन्द्रियें ' कहा करती हैं "तव उप स्मसि" तेरी ही हैं । इत्यादि ।

[१७६] नकि देवा इनीमसि नकयायोपयामसि ।
मन्त्रश्रुत्य चरामसि ॥२॥ ऋ० १० । १३४ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (देवाः) हम इन्द्रियगण (नकि इनीमसि) कुछ भी बधादि नहीं करते, (नकि आयोपयामसि) और न कुछ भूल करते हैं । (मन्त्रश्रुत्य) मनन संकल्प द्वारा जो कुछ हम सुन सकते हैं तदनुसार हम (चरामसि) आचरण करते हैं । प्रजा लोकों के पक्ष में—हम मन्त्र और श्रुति वेद के अनुसार चलें । हम दोष न करें ।

[१७७] दोषो आगादु बृहद्गाय द्युमद्गामन्नाथर्वण ।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥ ३ ॥ अथर्व० ६ । १ । १ ॥

भा०—साधक[1] अपने ही आत्मा के प्रति कहता है, हे (बृहद्गाय) बृहत्साम का गान करने वाले या प्राण-स्वर से गान करनेहारे ! हे (आथर्वण, जीवन का नाश न करनेहारे आत्मन् ! हे (गामन्) गतिशील ! आत्मन् ! (द्युमद्, दीप) दीप्तिमान्, सब अन्धकारों का नाश करनेहारा ईश्वर (आगात्) अब अन्तरात्मा में उदित होगया है । अतः उस (सवितारं) सबको प्रेरणा करनेहारे (देवं) प्रकाशस्वरूप देव को (स्तुहि) तू कीर्त्तन कर । विशोका, ज्योतिष्मती प्रज्ञा के उदय के अवसर पर साधक की यही दशा होती है ।

१७६—'नकिर्देवा' 'मिनीमसि' इति च ऋ० । 'पजांसिरपिक्षेसिरत्रोभि सरमाहे इति अधिक पाठः, ऋ० ।

१७७—'दोषो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेहि । आथर्वण देव सवितारम्' । इति अथ० ।

१. स्वात्मानमेवमामन्त्रयते । सा० ।

[१७८] ३,२ ३ १र २र २र ३ २ ३२
एषा उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः ।
३ १ २ ३२
स्तुष वामश्विना बृहत् ॥ ४ ॥ ऋ० १ । ४६ । १ ॥

भा०—(एषा) यह (उ) ही (उषाः) ज्योतिष्मती प्रज्ञा (अपूर्व्या) साधक के अनुभव में पहले कभी न आई हुई, अपूर्व, (दिवः प्रिया) मस्तक या मूर्धाभाग को पूर्ण करने वाली या सूर्य के समान तेजस्वी आत्मा के अति प्रिय होती है । हे (अश्विना) गमनशील प्राण और अपान ! आप दोनों के इस उत्तम दशा की प्राप्ति के निमित्त (बृहत्) खूब (स्तुषे) अच्छी प्रकार गुण कहता हूं । साधारणतः उषा के पक्ष में स्पष्ट है ।

[१७९] १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राणि प्रतिष्कुतः ।
३ १ २ ३ १र २र
जघान नवतीर्नव ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ८४ । १३ ॥

भा०—(इन्द्रः) आत्मा (दधीचः) ध्यान द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्मा की (अस्थभिः) तमोनाशक शक्तियों द्वारा (अप्रतिष्कुतः) किसी से भी पराजित न होकर (नव नवतीः) ८१० (वृत्राणि) ज्ञान के आवरण करने वाले विघ्नों को (जघान) नाश करता है ।

आत्मा की शक्ति प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस्, तमस्, तीन कालों के भेद से ९ प्रकार की हुई । प्रभाव, उत्साह और मन्त्र तीन शक्तियों के भेद से २७ प्रकार की हुई । फिर सात्विकादि के सम विषम होने से ८१ प्रकार की, दश दिशाओं के भेद से ८१० प्रकार की होजाती है । इतनी प्रकार की शक्तियों से वह इतनी ही व्युत्थान वृत्तियों पर विजय करता है । इन्द्र की कथा भी आलंकारिक है, स्थानाभाव से नहीं लिखते ।

[१८०] २उ ३ १र २र ३ १ ३ २ १ ३
इन्द्रे हि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ।
३ १ २ ३ १र २र
महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ९ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (इहि) आ साक्षात् हो । (अन्धस॰) प्राण की सूक्ष्म धारणाशक्ति की । विश्वेभि॰) समस्त (सोमपर्वभि॰) वीर्य के पालनकारी सामर्थ्यों से तू (मत्सि) प्रसन्न और तृप्त होता है और (ओजसा) अपने बल से (महॉ अभिष्टिः) बड़ी प्रबल इच्छा शक्ति वाला हाजाता है।

[१८१] आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमा गहि ।
महान्महीभिरूतिभिः ॥ ७ ॥ ऋ० ४ । ३२ । २ ॥

भा०—(वृत्रहन्) हे तामस आवरणों और विघ्नों के निवारक ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (महीभि) बड़ी २ (ऊतिभिः) शक्तियों द्वारा तू (महान्) महान् है । तू (अस्माक) हमारे (अर्द्धम्) समीप (आगहि) आ ।

[१८२] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६ । ५ ॥

भा०—(तत् अस्य ओजः) उस महान् आत्मा का सूर्य के समान वह ओज (तित्विषे) चमकता है (यत्) जिससे वह (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) चमड़े की तरह । समवर्तयत्) सब ओर ढक रहा है, व्याप्त करता है । अथवा—इस आत्मा का वह सामर्थ्य है जिससे वह प्राण अपान दोनों को चर्म या वस्त्र के समान धारण करता है ।

[१८३] अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥ ९ ॥ ऋ० १ । ३० । ४ ॥

भा०—(अयम्) यह साधक जिस प्रकार (कपोतः) कपोत (गर्भधिम् इव) अपनी कपोती के पास आता है उसी प्रकार (ते) तेरे पास (सम् अतसि) आता है, इसी कारण (नः) हमारे (तद् वचः) उस वचन को (ओहसे) प्रेम से श्रवण करता है ।

[१८४] वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे ।
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥ १० ॥ ऋ० १० । १८६ । १ ॥

भा०—(वात·) वायुरूप सर्वव्यापक सब का प्राणस्वरूप आत्मा (न·) हमारे । हृदे) अन्त करण में (शम्भु) कल्याण और शान्ति-कारक, (मयोभु) सुखकारी (भेषजम्) आधि व्याधि को शान्त करनेहारे ओषधि को (आ वातु) प्राप्त कराए और (न) हमें (आयूंषि) समस्त जीवन को (प्र तारिषत्) पार कराए ।

जैसे भक्त जगन्नाथ पण्डितराज ने कहा है—

आधिव्याधिजरापराहत यदि क्षेम निजं वाञ्छसि ।
श्रीकृष्णेति रसायनं रमय रे शून्यैः किमन्यैः रसैः ॥

फलत·, इष्टदेव में ओषधि आदि की भावना भी भक्त कर लेते हैं ।

इति नवमी· दशति । इति सप्तम· खण्ड· ।

॥ द० १० ॥ ऋषि·—१ कण्व· । २, ३, ६ वत्सः । ४ श्रुतकक्षः । ५ मधुच्छन्दा । ६ वामदेवः । ७ हरिमिठ ॥ ८ वाकृणिः सत्यधृति· ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्द· ॥ षड्ज· स्वरः ॥

[१८५] ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आशत सूरो मघोनो अजनिष्ट वज्र्यजनि ।
नकि· स द्रभ्यत जन· ॥ १ ॥ ऋ० ४ । १७ । ३ ॥

भा०— प्रचेतस) उत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न (वरुण·) वरुण, सबसे श्रेष्ठ (मित्र) मित्र, सबका स्नेही और (अर्यमा) अन्तर्यामी, न्यायकारी जन (य)

१८५—'नू चित्स' इति । ऋ० ।

जिसकी (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (स०) वह (जन०) मनुष्य (नकि० दभ्यते) कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता । बृहदारण्यकोपनिषद् के (अ० ३) में इन देवों की पिण्ड और ब्रह्माण्ड में स्थिति का निर्णय किया है ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१८६] गव्यो षु णो यथा पुराश्वयात रथया ।
३ २ ३ १ २
वरिवस्या महोनाम् ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १० ॥

भा०—हे साधक ! (यथा पुरा) पूर्व के समान (गव्या) गौ आदि पशुओं की इच्छा से, (अश्वशा) अश्व आदि शीघ्रगामी साधनों की कामना से और (रथया) रथों की कामना से (उत) और (महोनाम्) धनों के प्राप्त करने के लिये तू (वारिवस्य) उपासना कर । अध्यात्म में-गौ=इन्द्रिया, अश्व=मन और रथ=शरीर । इन तीनों को उत्तम रीति से वश करने और बलवान् बनाने की कामना से इन्द्र=आत्मा और परमेश्वर की उपासना आवश्यक है।

३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८७] इमास्त इन्द्र पृश्नयो घृतं दुहत आशिरम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
एनामृतस्य पिप्युषी ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ६ । २९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (इमा. पृश्नयः) ये रसों तक पहुचने वाली इन्द्रिया (ऋतस्य पिप्युषी) ऋत=सत्य ज्ञान को पान करती हुई (एनाम्) इस अनुभवगम्य (आशिरम्) सम्फुटित हुए (घृतं) विशेष ज्ञान, दीप्ति, कान्ति को (ऋतस्य) जल पान करके दूध को गौओ के समान (दुहते) उत्पन्न करती हैं ।

३ २ ३ २ २ ३ १ १ २र
[१८८] अया धिया च गव्यया पुरुणामन्पुरुष्टुत ।
१र २र ३ १ २
यत्सोम सोम आभुव. ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ६ । २९ ॥

१८६—'वरिवस्य महामह' इति । ऋ० । 'मघोनाम्' इति पाठो विवरणमस्मत० ।

१८८—'आभन' इति । ऋ० ।

भा०—हे (पुरु-नामन्) हे सहस्रों, बहुतसे नामों से पुकारे जाने वाले, हे (पुरुस्तुत) नाना प्रकारों से स्तुति के पात्र ! आत्मन् ! (अया गव्यया) इन इन्द्रियों के अनुकूल कामना (धिया च) और ध्यान द्वारा भी (यत्) जो तू (सोमसोमे) प्रत्येक सोम अर्थात् ज्ञान में (आसुवः) प्रकट होता है । इसीसे तू साक्षात् किया जाता है ।

'प्रतिबोधविदित मतम्' । इति केन उ० ।

[१८६] ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पावका न. सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
३ १ २ ३ १ २
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २६ ॥

भा० —(सरस्वती) वेदवाणी (पावका) हृदय को पवित्र करने वाली (वाजेभि) ज्ञान और कर्मों द्वारा (वाजिनीवती) शक्तिसम्पन्न होकर (धियावसु) ध्यान, धारणा और ज्ञानाभ्यास द्वारा अन्तःकरण में वास करने हारी (यज्ञं वष्टु) हमारे जीवन-यज्ञ को धारण करे । ज्ञान-योग के साथ कर्मयोग द्वारा ही वेद के मन्त्र हृदय को पवित्र करते और जीवन को चिरायु और सफल करते हैं ।

[१९०] २ ३।२ २।३ ३ २।३ ३ १ २
क इमन्नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात् ।
२ ३ २ ३ १ २
स नो वसून्याभरात् ॥ ६ ॥

भा०—(इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र आत्मा को (नाहुषीषु[1]) कर्म-बन्धन में बंधी मनुष्य प्रजाओं में (सोमस्य) गुण-कीर्त्तन और ज्ञान-सम्पादन द्वारा (क तर्पयात्) कौन तृप्त कर सकता है ? अथवा (कः) सुखमय प्रजापति ही (सः) वह परमेश्वर ही 'नः') हमारे (वसूनि) ज्ञानों और ऐश्वर्यों को (आभरात्) सदा प्रदान करे ।

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत् । (स्फुट)

१९०—१. नहुष इति मनुष्यनाम (नि० २ । ३) नहनत्वैः कर्मभिः पूर्वहूतैः ।

[१९१] आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोम पिबा इमम् ।
एद बर्हि. सदा मम ॥ ७ ॥ ऋ० १ । १७ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) (हि) क्योंकि हम (ते) तेरे लिये (सुषुम) ज्ञान को उत्तम रूप से सवन, सम्पादन करते हैं अतः तू (आ याहि) आ प्रत्यक्ष हो । और (इमं) इस (सोम) सोमरूप ज्ञान को (पिब) पान कर । (इद) यह (मम) मेरा दिया (बर्हि.) यज्ञ या हृदयरूप आसन है इसमें (आ सद) विराज ।

[१९२] महि त्रीणामवरस्तु द्युक्ष मित्रस्यार्यम्णः ।
दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ८ ॥ ऋ० १० । १८५ । १ ॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, आदित्य या प्राण (अर्यम्ण) अर्यमा अन्तर्यामी आत्मा और (वरुणस्य) वरुण अपान, (त्रीणाम्) इन तीनों की (महो अवः) बड़ी रक्षा और (दुराधर्षं द्युक्ष) असह्य तेज (अस्तु) हो।

अथवा आदित्य या मित्र चक्षु में स्थित है। यम या अर्यमा हृदय में ठैरा हुआ श्रद्धा और दक्षिणा में विराजमान है। रेतस्=वीर्य में वरुण स्थित है।

[१९३] त्वावतः पुरुवसो वयमिन्द्र प्रणेतः ।
स्मसि स्थातर्हरीणाम् ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (पुरुवसो) शरीर और इन्द्रियों में आवास करने हारे ! (इन्द्र, आत्मन् ! (हरीणाम् प्रणेत) हे इन्द्रियों के प्रेरक ! हे (स्थातः) निश्चल अविचाली, कूटस्थ पुरुष ! हम (त्वावत) तेरे समान स्वामी के ही (स्मसि) हैं। इन्द्रियगण आत्मा को एवं प्रजागण भृत्यादि राजा को इसी प्रकार कहते हैं।

इति दशमी दशति । इति अष्टम खण्ड ।

द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

१९२—'अवोस्तु सुक्षन्' इति । ऋ० ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (१)

॥ द० १ ॥ ऋषि -१ प्रगाथ. । २ विश्वामित्र. । ३, १० वामदेवः । ४, ६ शुनःशेपः । ५ मधुच्छन्दाः । ७ गृत्समद । ८, ९ भरद्वाज । इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

[१९४] उ त्वा मदन्तु सोमा कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥ ऋ० । ६ । १ ।

भा०—हे (अद्रिवः[1]) संहारकारी अभेद्यशक्ति से युक्त ! हे आत्मन्, जीव ! (त्वा) तुझको (सोमा) सोम ज्ञान और ऐश्वर्य (मदन्तु) हर्ष दें । तू (राध.[2]) ज्ञान, धन कृणुष्व सम्पादन कर (ब्रह्मद्विषः) वेद ज्ञान से द्वेष करने हारे पुरुषों और द्वेषयुक्त भावों को (अव जहि) नाश कर ।

[१९५] गिर्वण पाहि न सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ २ ॥

भा०—हे (गिर्वण.) वेदवाणियों द्वारा कीर्त्तन करने योग्य ! तू (न) हमारा (सुतं) सम्पादन किया स्तुतिरूप हव्य (पाहि) पान कर, स्वीकार कर । (मधो॰) मधु=ब्रह्मज्ञान, अमृत, ऋग्वेद की (धाराभि.) धारणाओं, ऋचाओं द्वारा (अज्यसे) तुम्हारा स्तवन, सेवन, भजन, ज्ञान किया जाता है । हे आत्मन् ! (त्वादातम् इद्) यह तुम्हारा ही प्रकाशमान (यश॰) यश, सामर्थ्य है ।

१९४—'स्तोमा' इति । ऋ० । १. अत्तेरद्रि. ।
२. राधसाध संसिद्धौ, स्वादि. ।

देखो—"य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्" इत्यादि (कठ० व० ४ । ५ ।)

[१६६] सदा व इन्द्रश्चकृपदा उपोनु स सपर्यन् ।
न देवो वृत॰ शूर इन्द्रः ॥३॥

भा०—(वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील वह इष्टदेव (सदा) नित्य (आ चकृपत्) अपने समीप आकर्षण करता है । और (सः) वह (नु) ही (सपर्यन्) आदर, प्रेम करता हुआ (इन्द्र) आत्मा, परमात्मा (शूर॰) शीघ्र गति वाला या ज्ञान सम्पन्न (देवः) देव क्या (न वृतः) नहीं वरण किया जाता ? वह सबसे अधिक वरण करने योग्य है ।

[१६७] आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः ।
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥४॥ ऋ० ८ । ६२ । २२ ॥

भा०—(इन्दवः) समस्त ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझ में (सिन्धवः, समुद्रम् इव) जिस प्रकार नदिया समुद्र में प्रवेश करती हैं उसी प्रकार (विशन्तु) प्रवेश करें । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वाम्) तुझ से (न अतिरिच्यते) कोई भी बढ़ नहीं सकता, तुझ से पृथक् नहीं रह सकता । आत्मपक्ष में—(इन्दवः) द्रवणशील इन्द्रिया प्राणगण आत्मा रूप समुद्र में नदियों के समान प्रविष्ट हैं । उससे कोई भी बढ़ नहीं सकता ।

[१६८] इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्कैभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ५ ॥ ऋ० १ । ७ । १ ॥

भा०—(गाथिनः) गायाओं का गान करने वाले, सामगायक (इन्द्रम् इत्) आत्मा को ही (बृहत्) बृहत्साम द्वारा (अनू

पत) स्तुति करते हैं । (अर्किणः) अर्चा करने हारे ऋग्वेदी (अर्केभिः) अपने स्तुति पाठों व ऋग्वेद के मन्त्रों से (इन्द्रम्) आत्मा को ही स्तुति करते हैं और (वाणीः) यजुर्वेद के मन्त्र भी (इन्द्रम्) आत्मा की ही (अनूषत) स्तुति करते हैं ।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति इति काठक उप० ।

[१९९] इन्द्र इषे ददातु न ऋभुक्षणमृभुं रयिम् ।
वाजी ददातु वाजिनम् ॥६॥ ऋ० ८ । ९३ । ३४ ॥

भा०—(इन्द्रः) परमात्मा (इषे) हमारी इच्छानुकूल (नः) हमें (ऋभुक्षणम्) बड़े भारी (ऋभुं) तेज.सम्पन्न, सत्यसामर्थ्य से युक्त (रयिम्) धन, अन्न, ज्ञान का (ददातु) दान करे । (वाजी) सर्वज्ञ, ऐश्वर्यवान् वह हमें (वाजिनं) ज्ञान एवं कर्म बल का भी (ददातु) दान करे ।

[२००] इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभीषदप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥७॥ ऋ० २ । ६' । १० ॥

भा०—(अङ्ग) हे मनुष्य ! वह परमेश्वर (महद् भयम्) बड़ेभारी भय को (अभीषत्) दूर करता है । भयको वह अपचुच्यवत्) परे हटा देता है (सः हि) क्योंकि वह (स्थिरः) स्थिर, कूटस्थ और (विचर्षणिः) सब को देखने वाला, सबका निरीक्षक है ।

[२०१] इमा उ त्वा सुत सुत नक्षन्ते गिर्वणो गिरः ।
गावो वत्सं न धेनवः ॥८॥ ऋ० ६ । ४५ । २८ ॥

२०१—'वत्सं गावो' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—हे (गिर्वणः) वेदवाणियों द्वारा जानने योग्य ! (त्वा उ) तुझको ही (सुतेसुते) प्रत्येक ज्ञानयज्ञ में (इमा गिर) ये वेदवाणिया (धेनव गाव वत्स न) दूध पिलाने वाली गौए जिस प्रकार अपने बछड़े के पास जाती हैं उसी प्रकार (नक्षन्ते) पहुचती हैं तरा वर्णन करती हैं।

[२०२] २ ३ २ ३र २ ३ २ ३ १र २ ३ १ ३
इन्द्रा नु पूषणा वय सख्याय स्वस्तये।
३ १ २ ३ २ ३ २
हुवेम वाजसातये ॥९॥ ऋ० ६ । ५७ । १ ।

भा०—(इन्द्रा पूषणा) सर्वैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र और सबके पालक पूषा परमात्मा को हम लोग अपने (सख्याय) मित्रता, (स्वस्तये) अपने कल्याण और (वाजसातये) ज्ञान बल और अन्नादि सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (हुवेम) प्रार्थना करते हैं।

[२०३] १ २ ३ १र २र ३ १ २र
न कि इन्द्र त्वदुत्तर न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्।
२ ३क ३ २
न कयेव यथा त्वम् ॥१०॥ ऋ० ४ । ३० । १ ॥

भा०—हे (इन्द) परमेश्वर ! (त्वदुत्तरं) तुझ से ऊचा और तुझ से अधिक सूक्ष्म, परम कारण (न कि) कोई भी नहीं है। हे (वृत्रहन्) आवरणकारी तामस विघ्नों को दूर करने हारे ! (ज्यायो न अस्ति) और कोई दूसरा तुझ से अधिक बड़ा एव प्रशंसा करने योग्य भी दूसरा नहीं। (यथा त्वम्) जैसा तू है (एव नकि) इस प्रकार का और कोई नहीं, तू अद्वितीय है।

न त्वत्समोस्त्यभ्यधिक कुतोऽन्य'। गी० ॥
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥ कठ० उप० ॥
इति प्रथमा दशति । नवम खण्ड. ॥

ऋ० २ ॥ ऋषिः—१, ४ त्रिशोकः । २ मधुच्छन्दाः । ३ वशोदञ्जो वत्सोवा । ५ सुकक्षः । ६, ९ वामदेवाः । ७ विश्वामित्रः । ८ गोपूक्त्यश्वसूक्तिनौ । १० शुनश्शेपः ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री षड्जः ॥

३ १ २ ३ २ २ ३।१ २।३ ३ १ २
[२०४] तरणिं वो जनानां त्रदं वाजस्य गोमतम् ।
३ २ ३ १ २ २ ३ ३ २
समानमु प्र शंसिषम् ॥१॥ ऋ० ८ । ४५ । २८ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप सब (जनाना तरणिम्) मनुष्यों को तारने वाले पार करने वाले, (त्रद) त्राण देने वाले या कष्टों को काटने वाले, (गोमत) इन्द्रियों और पशु आदि से सम्पन्न (वाजस्य) धन अन्न और ज्ञान के (समानम् उ) और सब के प्रति समान भाव से देने वाले, निष्पक्ष सर्वव्यापक प्रभु की मैं (प्र शंसिषम्) स्तुति करता हू ।

२ २ ३ १ ३ २ ३ १।२ २।२
[२०५] असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत ।
३ १ २ ३।१२ १२
सजोषा वृषभं पतिम् ॥२॥

भा०—हे 'इन्द्र) परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (गिरः) इन वेदवाणियों को (असृग्रम्) प्रकट करता हू । क्योंकि (सजोषा) प्रेम से या कामना से प्रेरित स्त्री जिस प्रकार (पतिम्) अपने पति के प्रति जाती है उसी प्रकार (वृषभं सर्वश्रेष्ठ, धर्म से देदीप्यमान, सबके पालक (त्वा प्रति) तेरे प्रति ही समस्त वाणियां (उद् अहासत) जा रही हैं ।

३ २ ३ २।३ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
[२०६] सुनीथो घा स मर्त्यो य मरुता यमर्यमा ।
३ २।३ ३ १ २
मित्रस्पान्त्यद्रुहः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । ४६ । ४ ॥

२०६—'मित्र. पान्त्यद्रह', इति पाठभेदः, ऋ०

भा०—(स मर्त्यः) वह पुरुष (सुनीथ॰) उत्तम मार्ग में चला जाता है (य) जिसको (मरुत॰) देव, विद्वान् लोग, और (य) जिसकी (अर्यमा) न्यायकारी, (मित्रः) सब का स्नेही और (अद्रुहः) बिना द्रोह रहित पुरुष (पान्ति) रक्षा करते हैं ।

भगवान् और सन्तों का कृपापात्र पुरुष धन्य है ।

[२०८] यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदाभर ॥४॥ ऋ० ८ । ६ । ४५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) (यद् वीडौ) जो शत्रुओं से न दबने वाले, (यद् स्थिरे) जो स्थिर रहने वाले, और (यत् पर्शाने) जो विचारशील पुरुष में (पराभृतम्) रक्षा करता है (तद्) वह (स्पार्हं वसु) सब के अभिलाषा के योग्य बल, धन और स्थिरता और ऐश्वर्य (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

[२०९] श्रुत वो वृत्रहन्तमं प्र शर्धं चर्षणीनाम् ।
आशिषे राधसे महे ॥५॥ ऋ० ८ । ६ । ६३ ॥

भा०—(वः) आप लोग (श्रुतम्) वेद में विख्यात या जगत् में प्रसिद्ध (शर्धं) उत्कृष्ट बलशाली (वृत्रहन्तमं) विघ्नों के नाश करने वालों में सबसे श्रेष्ठ की (चर्षणीनां) प्रजाओं की (आशिषे) उत्तम कामनाओं की पूर्ति और (महे) श्रेष्ठ (राधसे) साधना या ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (प्र) उपासना करो ।

[२१०] अरं त इन्द्र अवसे गमेम शूर त्वावतः ।
अर शक्र परेमणि ॥६॥

२०७, परिज्ञाने इति पाठ प्रातिशाख्यानुसारी कौथुमानाम् ।

२०८—आयुष इति पाठभेद ऋ०

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! हे (शूर) शत्रुओं के हिंसक! (त्वावतः ते) तेरे समान! अद्वितीय तेरे ही (यवसे) कीर्तिगान करने के लिये हम (अरं गमेम) खूब लगे रहें। हे (शक्र) सर्वशक्तिमन्! (परमायै) तेरी परमता सौंदर्य, परम रूप में ही हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमेम) लीन रहें, मग्न हों।

[२१०] धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।
इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥ ७॥ ऋ० ३। ५२। २॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (नः) हमारे (प्रातः) प्रातःकाल के अवसर में (धानावन्तं) ध्यान धारणा से सम्पन्न, (करम्भिणम्) सुख को आरम्भ करने वाले, (अपूपवन्तम्) अति समीपता दिलाने वाले अथवा दूर और निकट सर्वत्र विद्यमान (उक्थिनं) ज्ञानसम्पन्न, सोम, आत्मा को (जुषस्व) ग्रहण करो, स्वीकार करो।

भुँने जौ 'धाना' कहाते हैं, दही से मिले सत्तू 'करम्भ' कहाते हैं। पके पुरोडाश को 'अपूप' कहा जाता है। प्रतिनिधिवाद से, सूक्ष्मतत्त्व जब स्पष्ट होजाय तो वे ही 'धाना' हैं। ध्यानयोग से विवेक द्वारा पवित्र किया सत्य ज्ञान 'सक्तु' है। उसका विशेष रस अनुभव 'दधि' है, जिसका मथन करने पर या विशेष परिपाक होने पर प्राप्त ब्रह्मज्ञान 'अपूप' है जिसमें आत्मा उस ब्रह्म के समीपतम होजाता है। अथवा [अप-उप-वन्=अपूपवान्] वह दूर और निकट के सब पदार्थों को प्राप्त है। उस समय अपूर्व ब्रह्मास्वाद 'उक्थ' है, तद्वान् आत्मा 'उक्थी' है। उसको स्वीकार करने की प्रार्थना है।

[२११] अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः।
विश्वा यदजय स्पृधः॥ ८॥

२११—स्फायते वर्धते स फेनः। अप, इति अश्वनाम, कर्मनाम च, नि०।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (यत्) जब (विश्वा॰ स्पृध.) अपने से स्पर्द्धा करने वाली सब तामस वृत्तियों को (अजय.) विजय करले तब (नमुचे) कभी न पीछा छोड़ने वाले मृत्यु वा कर्मबन्धन का भी (शिर.) शिर या आश्रय (अपा फेनेन) ज्ञान और कर्मों के बल से अथवा आप्त पुरुषों के शुद्ध ज्ञानोपदेश से (उद् अवर्त्तय) काट डाल ।

[२१२] ३,१ ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
इमं त इन्द्र सोमा. सुतासो ये च सोत्वाः ।
१ २
तेषा मत्स्व प्रभूवसो ॥ ६ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (इमे) ये (सोमा.) सोम, ज्ञान (ते) तेरे लिये (सुतास॰) निष्पादन किये हैं (ये च) और जो (सोत्वा) भविष्य में निष्पादन किये जायेंगे (तेषा) उनसे हे (प्रभूवसो) सारे ऐश्वर्यसम्पन्न ! शरीर के वासी आत्मन् ! (मत्स्व) तू सदा प्रसन्न रह ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[२१३] तुभ्यं सुतास सोमाः स्तीर्णं बर्हिरभावसो ।
३ १ २
स्तातॄभ्य इन्द्र मृडय ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ९२ । २५ ॥

भा०—हे (विभावसो) तेज कान्तिसम्पन्न ! (इन्द) आत्मन् ! (सोमा) सोम, य समस्त आनन्द॰ आनन्द रस (तुभ्य) तेरे लिये (सुतास) निष्पादन किये गये हैं (बर्हि) देहरूप यह आसन अथवा ब्रह्मस्वरूप महान् आश्रय (स्तीर्णं) विस्तृत किया गया है । तू (स्तोतृभ्य) सत्य २ गुणकीर्तन करने वालों को (मृडय) सुखी कर ।

इति द्वितीया दशति । दशत॰ खण्ड ।

अथ द्वितीयोऽध्याय ।

॥ ह० ३ ॥ १ शुभ्रा शोष । शुभ्रान्त्स. । ३ त्रिशोक ४, ५ मेधातिथि । ६ गोतम॰ । ७ त्र्यरुणि । ८ विश्वामित्रो जमदग्निर्वा । ९ प्रस्कण्व. ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री ॥ षड्जः ॥

[२१४] आ व इन्द्रं क्रिविं यथा वाजयन्तः शतक्रतुम् ।
मंहिष्ठं सिञ्च इन्दुभिः ॥ १ ॥ ऋ० १ । ३० । १ ॥

भा०—(व.) आप लोग (इन्दुभिः) सोमों, ज्ञानों, स्तुतियों द्वारा (शतक्रतुं) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों से युक्त (मंहिष्ठ) दानशील, पूजनीय, (इन्द्रं) आत्मा को (वाजयन्त.) बल और ऐश्वर्य की कामना करते हुए (आ सिञ्च) इस प्रकार तृप्त करो ।यथा। जिस प्रकार (क्रिविं[1]) कार्य-साधन करने वाले हथियार या यन्त्र को घृत तैल आदि से सींचते हैं। अथवा-जिस प्रकार (क्रिविं) जलपूर्ण कूप के आश्रय से (वाजयन्तः) अन्न चाहने वाले कृषक खेत को जल से सेचन करते हैं उसी प्रकार प्रभु का आश्रय लेकर समाधि रसों से क्षेत्ररूप आत्मा का सेचन करो ।

[२१५] अतश्चिदिन्द्र न उपायाहि शतवाजया ।
इषा सहस्रवाजया ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १० ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! राजन् ! (अत चित्) इस कारण से ही (शतवाजया) सैकड़ों प्रकार के बलों से सम्पन्न और (सहस्र-वाजया) सहस्रों या अनेक बलों से युक्त (इषा) या इच्छा शक्ति या सेनासहित (न.) हमें (उप याहि) प्राप्त हो ।

[२१६] आ त्वन्द वृत्रहा ददे जात. पृच्छाद्विमातरम् ।
क उग्राः के ह शृण्विरे ॥३॥ ऋ० ८ । ४५ । ४ ॥

भा०—(वृत्रहा) विघ्नों को निवारण करने हारा राजा (जात.) शक्ति सम्पन्न होकर ही (त्वन्द) दण्ड देने और शत्रु का नाश करने हारे बाण या हथियार को (आददे) धारण करता है । और (मातरम्) अपने

२१४—१. करोति येन स क्रिविः, (वा० उ०)

उत्पन्न करनेहारी मातृतुल्य प्रजा से (वि पृच्छात्) नाना प्रकार से पूछता है कि (के उग्राः) तुझे कष्ट देने वाले भयंकर कौन है और (के ह शृण्विरे) कौन हिंसा करते हैं । अथवा-(के ह शृण्विरे) कौन श्रवणशील विद्याभ्यासी और (के उग्राः) कौन उग्र, बलवान् वीर क्षत्रिय हैं । शक्तिधारी पुरुष को जब प्रजा राजा बनाती है तब वह राजदण्ड हाथ में लेता है और प्रजा के दुःखदायी आततायी लोगों को खूब छानबीन करके उन को दण्ड देता है अथवा उनमें बलवान् और विद्वान् प्रजा के शासन और शिक्षण में नियुक्त करता है । आत्मपक्ष में-माता=यथार्थ अनुभवशील चित् शक्ति, वृन्द=ओंकार, वृत्र=अज्ञान, उग्रा=विक्षेपक भाव या प्राणगण और श्रवणशील ज्ञानेन्द्रियगण हैं ।

[२१७] बृवदुक्थं हवामहे सुप्रकरस्नमूतये ।
सखाय कृण्वन्तमवसे ॥४॥ ऋ० ८ । १२ । १० ॥

भा०—हम (ऊतये) रक्षा के लिये (सुप्रकरस्नम्) अपने हाथों को फैलाये (बृवदुक्थ) अति अधिक ख्यातिमान् और (अवसे प्रजा की रक्षा करने के लिये (सखाय कृण्वन्त) साधन करने वाले राजा के समान परमेश्वर को बुलाते हैं ।

[२१८] ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयति विद्वान् ।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥५॥ ऋ० १ । ९० । २ ॥

भा०—(वरुण) सब कष्टों का निवारण करने हारा, (मित्र) सब का स्नेही (विद्वान्) सर्वज्ञ (अर्यमा) अन्तर्यामी न्यायकारी (देवैः) विद्वान् पुरुषों से (सजोषाः) समान रूप से प्रेम करने हारे राजा के समान परमेश्वर (ऋजुनीती) धर्मयुक्त नीतिमार्ग से (नः) हम सब को (नयति) ले जाता है ।

२१८-'नयतु विद्वान्' इति ऋ० ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२१९] दूरादिहेव यत्सतोऽरुणप्सुरशिश्रितत् ।
३ २ ३ १ २
वि भानुं विश्वथाऽतनत् ॥ ६ ॥

भा०—(दूरात्) दूर (सतः) विद्यमान रहकर भी परमेश्वर सूर्य के समान (यत्) जब (अरुणप्सुः) प्रातःकालिक प्रभा के समान कान्तिमान् (इह एव) यहां ही (अशिश्रितत्) चमकता है तब (भानुं) कान्ति, प्रजा या दीप्ति को (विश्वथा वि अतनत्) सब ओर फैलाता है ।

साधक की साधना की सिद्धि के लक्षण विशेष दीप्तियों का मस्तक पर विशेष रूप से चारों ओर दीखना ही है । जैसा लिखा है—

'व्यद्युतद् व्यद्युतदा व्यमीमिषद्' इत्यादि । केन उ० । तद्दूरे तद्व अन्तिक इत्यादि । ईश उ० ।

१ २ ३ १ २
[२२०] आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
३ १ २
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥७॥ ऋ० १ । ६२ । १६ ॥

भा०—हे (मित्रावरुणौ) मित्र, वरुण, प्राण और अपान (घृतैः) दीप्तियों द्वारा (गव्यूतिम्) इन्द्रियों के मिलने के स्थान त्रिपुटीभाग को अथवा गायों के बाड़े के समान एकमात्र आश्रयस्थान आत्मा को (आ उक्षतम्) योगज आनंद-रसों से खूब सेचन करो । हे (सुक्रतू) उत्तम प्रज्ञा और कर्म के सम्पादन करने हारे तुम दोनो ! (नः) हमारे (रजांसि) रजोभाव से युक्त इन्द्रियों को अथवा हमारे लोकों को द्यौ और पृथिवी या दिन और रात्रि के समान (मध्वा[1]) मधु अर्थात् विशेष चेतना या सविल्लिद्धि द्वारा (उक्षतम्) सेचन करो ।

२१९—'यत्सत्यरुणप्सु०', 'विश्वधातनत्' इति ऋ० ।

२२०—१, मधु धमतेर्गतिकर्मणः ।

प्राण और अपान की साधना से त्रिपुटी में दीप्ति और इन्द्रियों में विशेष स्फूर्ति उत्पन्न होती है जिसको 'सवित् ज्ञान' कहते हैं।

[२२१] उदु त्ये सूनवो गिरः काष्ठा यज्ञेष्वत्नत ।
वाश्रा अभिज्ञु यातवे ॥८॥ ऋ० १ । ३७ । १० ॥

भा०—(त्ये) वे (गिर: सूनव:) वाणी के उत्पादक मरुद्गण (यज्ञेषु) अपने निवासस्थान इन्द्रिय-स्थानों, कार्यव्यापारों में (काष्ठा:) अपने जाने की दिशाओं, मार्गों पर इस प्रकार गमन करते हैं जैसे (वाश्रा) गौएं हंभारते समय (यातवे) गति करने के लिये (अभिज्ञु) घुटने के प्रति झुककर (अत्नत) जाती हैं। यहां प्राणों के संचार का स्वरूप बतलाया गया है।

[२२२] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुले ॥९॥ ऋ० १।२२।१७। यजु०५।१५ ॥

भा०—(विष्णु:) देह में सर्वव्यापक वह आत्मा (इदं) इस प्रकार (विचक्रमे) गति करता है कि (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदम्[1]) अपनी शक्ति को (निदधे) स्थापन करता है। और (अस्य) इसकी वह शक्ति सामर्थ्य (पांसुले[2]) इन्द्रियों के शयन करने के स्थान देह में (समूढम्) उत्तम रूप से प्रकट है। परमात्मा पक्ष में—ईश्वर की शक्ति तीनों लोकों में है। 'पांसवो लोकाः'। इस ब्रह्माण्ड भर में उसकी शक्ति समूहित या व्याप्त है।

२२१—'अभ्येत्वत्नत' इति पाठ:, ऋ०।

२२२—पाशुरे', 'पाशुरे' इति पाठ, य०।

१. पद पत्लृ गतिनिक्षेपणयोः।

२. पांसवः पादैः सूयन्ते इति वा, पंसः शेरत इति वा (नि० ११।१८)

आत्मा की त्रेधा शक्ति अन्न से रस का ग्रहण इन्द्रिय से ज्ञान निष्पादन और देह में प्राण और रस का संचरण ।

इति तृतीया दशतिः । एकादशः खण्डः ।

॥ ८० ४ ॥ ऋषि.—१, ७, ८ मेधातिथि॰ । २ वामदेवः । ३, ५ मेधातिथिर्मेधौ । ४ विश्वामित्र॰ । ६ कौरसो दुर्मित्रः । ९ विदवामित्रो गाथिनोऽभीपाद उदलो वा । १० श्रुतवक्ष ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥ षड्ज. स्वरः ॥

[२२३] अतीहि मन्युषाविणं सुषुवांसमुपरय ।
अस्य रातौ सुतं पिब ॥१॥ ऋ० ८ ३२ । २१ ॥

भा०—हे आत्मन् ! तू (मन्युषाविणं) क्रोध को उत्पन्न करने वाले भाव को (अति इहि) छोड़ दे । (सुषुवांसम्) उत्तम रूप से संचालन करने या उत्तम रस सम्पादन करने वाले के (उप ईरय) पास ही सदा स्वस्थ रूप से प्राप्त हो । (अस्य रातौ) उसके आनन्द की दशा में ही तू (सुतं) उत्तम ज्ञान का (पिब) आस्वादन कर ।

[२२४] कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
तदिद्ध्यस्य वर्धनम् ॥ २ ॥

भा०—(महे प्रचेतसे) बड़े भारी ज्ञानवान् (देवाय) इष्टदेव के लिये (कदु उ) कुछ भी, तुच्छसा भी (वचः) वचन (शस्यते) स्तुति रूप में कहा जाय (तद् इत् हि) वह ही (अस्य) इस वक्ता के (वर्धनम्) वृद्धिकारक होता है ।

२२३—समुषाविणं', 'अस्य रातिं सुत पिब' इति ऋ० ।

"अणुरप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् " गीता० । ईश्वर की नित्य थोड़ी आराधना भी आत्मा के बल को बढ़ाती है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२२५] उक्थं च न शस्यमानं नागोरथिराचिकेत ।
१ १ ३ १ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥३॥ ऋ० ८ । २ । १४ ॥

भा०—(अथिः) सर्वव्यापक, परमेश्वर (अगो॰) इन्द्रिय या वाणी रहित अज्ञानी का (शस्यमान) पढ़े हुए (उक्थ चन) स्तुतिपाठ का भी (न आचिकेत) क्या नहीं जानता ? और क्या (गीयमान) गाये गये (गायत्रं) गायत्र साम को भी नहीं जानता ? जानता ही है वह उसको भी स्वीकार करता ही है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२२६] इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजाना च वाजपतिः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
हरिवान्त्सुताना सखा ॥४॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (उक्थेभिः) गुणकीर्तनों से (मन्दिष्ठ) प्रसन्न होने वाला (वाजाना च) और ज्ञानसम्पन्न पुरुषों में (वाजपति) ज्ञानों का एकमात्र स्वामी (हरिवान्) इन्द्रिय आदि ज्ञानसाधनों से युक्त ईश्वरपक्ष में—पञ्चभूत आदि प्रकृति विकारों से सम्पन्न (सुताना) निष्पादित कर्मों, ज्ञानों और उत्पन्न लोकों का (सखा) मित्र है ।

३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
[२२७] आयाह्यप न. सुत वाजेभिर्माहृणीयथा ।
३ १ २ ३ १ २
महाँ इव युवजानिः ॥५॥

भा०—हे परम आत्मन् ! (न) हमारे (सुतं) प्रस्तुत ब्रह्मानन्द-रस या आत्मा रूप सोम के (उप आयाहि) समीप आइये, प्राप्त कीजिये । (वाजेभि) अन्नों, ज्ञानों और बलों से (मा हृणीयथा) हमें मत हारिये ।

२२५—'गोरधिराचिकेत' इति ऋ० ।

आप (महान्) बड़े वीर्यवान् सामर्थ्यवान् (युवजानि॰) अपने प्रपौत्र को भी अपने समक्ष देखने वाले वृद्ध के (इव) समान पूज्यतम हैं ।

'युवजानिः—' जीवति तु वश्ये युवा (पा० ४ । १ । १६३) शाल॰ क्रेर्युवापत्य पुमान् इत्यादि व्याख्यानदर्शनाणुवंसज्ञालौकिकी शास्त्रसिद्धा च प्राचीनकालपरिचिता । जनेरौणादिकोऽमिज् बाहुलकात् (उ० ४ । ५१ ।)

३ १ २ ३१२ २३ १२ २२ ३ १ २ ३२
[२२८] कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आ अच श्मशारुधद्वा ।
३ १ ३ २ ३ १ १
दीर्घं सुतं वाताप्याय ॥ ६ ॥ ऋ० २० । २०५ । २ ॥

भा०—हे (वसो) सबके प्राणाधार, सबमें बसने और सबको बसाने वाले ! (स्तोत्रं हर्यत॰) स्तोत्र या वेदज्ञान का आहरण या लाभ करने वाले पुरुष के लिये तुम (कदा) कब (श्मशा) शरीर के भीतर संचरण करने वाले (वा॰) जीवनरूप जल को (आ अधारुधद्) रोकते हो ? कभी नहीं । (दीर्घं) दीर्घ, लम्बा चौड़ा (सुतं) जीवन (वाताप्याय) प्राण को आयमन करने वाले को ही प्रदान करते हो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३१२ २१
[२२९] ब्राह्मणादिन्द्र राधस॰ पिबा सोममृतूँरनु ।
३ १ ३ १२ २१
तवदं सख्यमस्तृतम् ॥ ७ ॥ ऋ० २ । १५ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्राह्मणात्) ब्रह्म को जानने हारे (राधस) साधना करने वाले विद्वान् के (सोम) ज्ञान और अन्नादि रस को (ऋतून् अनु) प्राणों और इन्द्रियों के साथ (पिब) तू पान कर । (तव) तेरा (इदं) यह (सख्यं) इन्द्रियों के या साधकों के साथ का मैत्रीभाव (अस्तृतम्) कभी नहीं टूटता ।

---

२२८ -'आवश्मशा' इति ऋ० । १. सम शरीर, (निरु०)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३०] वयं घाते अपि स्मसि स्तोतार इन्द्र गिर्वणः ।
१ २
त्वं नो जिन्व सोमपा ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ३२ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्[1] हे परमात्मन् ! हे (गिर्वणः) एक-मात्र वाणी द्वारा स्तुति करने योग्य ! (वयं) हम इन्द्रियगण और हम साधकगण (अपि) भी (ते ह) तेरे ही (स्तोतार स्म) स्तुति करने वाले हैं । (त्वं) नु (सोमपाः) सोम को पान करने हारा होकर (नः) हमें भी (जिन्व) तृप्त कर, हमें भी बलवान् कर । जो सम्बन्ध प्रजा का राजा से और साधकों का प्रभु से है वही इन्द्रियों का आत्मा से है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३१ २
[२३१] इन्द्र पृक्षु कासुचिन्नृमणं तनूषु धेहि नः ।
३ २ ३ १ २
सत्राजिदुग्र पौंस्यम् ॥ ९ ॥

भा०—हे आत्मन् ! हे (उग्र !) हे बलवन् ! (पृक्षु) तुझे स्पर्श करने वाले (कासु चित् तनूषु) किन्हीं देहों में (नः) हम (नृमणं) मनुष्यों के मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन को (धेहि) धारण कर और करा । हे (सत्राजिद्) समस्त सत्-पदार्थों पर विजय करनेहारे ! (कासु-चित्) किन्हीं में (नः पौंस्यं) हमें बल धारण करा ।

अर्थात् तू किन्हीं को ज्ञानी ब्राह्मण बनाता और किन्हीं को क्षत्रिय उत्पन्न करता है ।

३१२ २२ ३ २ ३१२ २२ ३ २ ३ २
[२३२] एवाह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः ।
३ २ ३२ ३ १ २
एवा ते राध्यं मनः ॥ १० ॥ ऋ० ८ । ९२ । २८ ॥

२३०—'अपिष्मसि' इति ऋ० ।

भा०—हे इन्द्र आत्मन् ! क्योंकि तू (हि) निश्चय से (वीरयुः) सामर्थ्यवान् वीर को चाहने वाला (एव असि) ही है । और तू (शूरः) शूर और (स्थिर एव) स्थिर ही है, इसलिए (ते मनः) तेरी मननशील मति या ज्ञान भी (राध्यम् एव) आराधना या साधना करने योग्य ही है, अनुकरण करने योग्य है ।

इति चतुर्थी दशतिः । द्वादशः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

॥ ८० ५ ॥ ऋषिः—१, ६, ९ वसिष्ठः । २ भरद्वाजः । ३ बालखिल्याः । ४ नोधाः । ५ कलिः प्रागाथः । ७ मेधातिथिः । ८ भर्गः । १० प्रगाथः काण्वः ॥ देवता—१—८, १० इन्द्रः । ९ मरुतः । बृहती । मध्यमः ।

३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २

[२३३] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।

१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

ऋ० ७ । ३२ । २२ ॥

भा०—हे (शूर) शूर ! सर्वत्र व्यापक, हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (अस्य जगतः) इस जगत् के और (तस्थुषः) स्थावर संसार के भी, (ईशानम्) सामर्थ्य देने वाले प्रभु (स्वर्दृशम्) आदित्य द्वारा सबको प्रकाशित करनेहारे या आदित्य के समान सबको समान भाव से देखनेहारे (त्वा) तुझको हम (अदुग्धाः धेनवः इव) न दुही गईं, नई ब्याई हुई गौएं जिस प्रकार अपने वत्स को देखकर झुकती और हम्बारती हैं उसी प्रकार (नोनुमः) आदर से, प्रेम से देखते, झुकते और स्तुति करते हैं ।

[२३४] त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारव. ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वा काष्ठास्वर्वतः ॥ २ ॥
ऋ० ४ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (वाजस्य सातौ) धन, अन्न, ज्ञान और बल के विभाग और प्राप्ति के अवसर पर (त्वाम् इद् हि) तुझको ही हम (कारवः) स्तुतिकर्त्ता लोग (हवामहे) स्मरण करते, पुकारते हैं। (वृत्रेषु) विघ्न के अवसरों पर (सत्पतिं) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वां) तुझको ही याद करते हैं। (अर्वतः) गतिशील सूर्य आदि पदार्थों के (काष्ठासु) सीमाएं नियत करने के लिये अथवा ज्ञान शील-भोक्ता इन्द्रियों की भोग मर्यादाओं को सीमित करने के लिये (नरः) विद्वान् लोग तेरा ही स्मरण करते हैं।

[२३५] अभि प्र व. सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विद ।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसु. सहस्रेणेव शिक्षति ॥३॥
ऋ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (वः) आप लोग (सुराधसम्) उत्तम ज्ञान रूप धनसम्पन्न (इन्द्रं) परमेश्वर को (यथा) यथार्थ रूप से (विदे) जानने के लिये (अभि प्र अर्च) उसकी अच्छी प्रकार उपासना करो। (यः) जो (मघवा) धन-यज्ञादि से सम्पन्न (पुरूवसुः) अति धनाढ्य, या सब शरीरों में व्यापक रहकर (सहस्रेण इव) मानो हज़ारों प्रकारों से (शिक्षति) शिक्षाएं देता है और ऐश्वर्य प्रदान करता है।

[२३६] न वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ४ ॥
ऋ० ८ । ८८ । १ ॥

२३४—'साता' इति ऋ० ।

भा०—(वः) आपके (दस्मं) बाधक, शत्रुओं का नाश करने वाले, (ऋतिसहं) बाधाओं को दूर करने वाले, (वसोः) शरीर में आत्मा के वास कराने वाले, सबमें बसने वाले (अन्धसः) प्राण धारण कराने वाले अन्नरस को प्राप्त करके (मन्दानं) अत्यन्त प्रसन्न होने वाले (इन्द्रं) आत्मा को (स्वसरेषु) अपने २ देहों में हम इन्द्रियगण और विद्वान्जन उसी प्रकार (अभि नवामहे) स्तुति करते हैं जिस प्रकार (धेनवः) नवप्रसूता गौएं (वत्सं न) बछड़े के प्रति हम्भारती हैं।

१ २ ३; २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२३७] तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं सबाध ऊतये।
३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ज ३ २ ३ १ २
बृहद्गायन्तः सुतसोमे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥५॥

ऋ० ८ । ६६ । १ ॥

भा०—हे इन्द्रियगण ! हे साधकजनो ! (वः) तुम्हारे (तरोभिः) वेगों, गतियों द्वारा (विदद्वसुम्) ज्ञान के प्राप्त करने हारे (सबाधः) आप लोग जब पीड़ा सहित हों तो (ऊतये) अपनी रक्षा के निमित्त (बृहद्) बृहत्साम द्वारा (इन्द्रम्) इस ऐश्वर्यवान् अपने प्रभु का (गायन्तः) कीर्त्तन करते हुए (सुतसोमे अध्वरे) सोम निष्पादन करने योग्य याग में जिस प्रकार (कारिणं भरं न) ऋत्विग् लोग अपने पोषण-कर्त्ता यजमान का बुलाते हैं उसी प्रकार बुलाया करो, उसका स्मरण किया करो।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ २
[२३८] तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्या युजा।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रवम् ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । २२ । २० ॥

भा०—(तरणिः) अति वेगवान् या संसार से तराने वाला, आत्मा (पुरन्ध्या) देहरूप पुर को धारण करने हारी बुद्धि को (युजा) अपना

साथी बना कर, समाधि द्वारा (वाजं) अन्न आदि कर्म फल और ज्ञान ऐश्वर्य को (सिषासति) ठीक प्रकार से विवेक करता है । (तष्टा इव) जिस प्रकार बढ़ई (सुद्रुवं) उत्तम गति करने योग्य (नेमिं) चक्र के हाल को झुकाता है । उसी प्रकार हे इन्द्रियगण ! मैं साधक (पुरुहूतं) प्रत्येक देह में बल संचार करने वाले (त्वा इन्द्रम्) तुम्हारे स्वामी आत्मा को (गिरा) वेद की ऋचा एवं स्तुति से (आ नमे) अपने प्रति झुकाता हूं । यह आत्मा के मनोवेग को लक्ष्य करके कहा है ।

१ २ ३१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२३९] पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३२ १ २ ३ १ २
आपिर्नो बोधि सधमाद्ये वृधे३ऽस्माँ अवन्तु ते धियः ॥७॥
ऋ० ८ । ३ । १ ॥

भा०—(इन्द) हे आत्मन् ! (नः) हम इन्द्रियों के (गोमतः) अपनी गति से सम्पादित (रसिनः) भोग या ज्ञान के सुख या बल से सम्पन्न (सुतस्य) उत्पादित ज्ञान का (पिब) पान कर, उपभोग कर (मत्स्व) और प्रसन्न और तृप्त हो । (नः) हमारे (सधमाद्ये) एक ही साथ आनन्द भोग करने के स्थान, शरीर में (आपिः) बन्धु के समान हमें सदा प्राप्त होकर तू (न) हमें (बोधि) ज्ञानवान् कर । (ते धियः) तेरी ज्ञानमय वृत्तियां (वृधे) और भी अधिक उन्नति, वृद्धि के लिये (अस्माँ) हमें (अवन्तु) रक्षा करें ।

२अ ३ १ २ ३२अ ३ १ २
[२४०] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
१~२ २ १ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टय उदिन्द्राश्वमिष्टये ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ६१ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! तू (चेरवे) तेरी सेवा परिचर्या करने हारे अपने सेवक के पास (आ इहि) आ, साक्षात् हो । और (वसुत्तये)

२१९—'सधमाद्यः' इति ऋ० ।

सुख से प्राण धारण करने योग्य वसु या प्राणों का दान करने के लिये (भगं) भजन या सेवन करने योग्य ऐश्वर्य, या सेवने योग्य प्रभु को (विदाः) प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर । हे (मघवन्) शक्तिमन् ! (गविष्टये) इन्द्रियों के इष्ट साधन करने के निमित्त (उद् वावृपस्व) उत्तम रीति से सुखों की वर्षा कर । (उत अश्वम् इष्टये) और इन्द्रियों में व्याप्त जो भोक्ता रूप आत्मा, अश्व है उसके भले के लिये भी उत्तम रीति से बल दान कर ।

१र २र ३ २ ३।र २र ३ १ २
[२४१] न हि वश्चरम चन वसिष्ठः परि मंसते ।
३ १ २ ३२ ३ १ २ ३,१ड ३ १ ,२ ३ १ २
असाकमद्य मरुतः सुते सचा विश्वे पिबन्तु कामिन. ॥६॥

ऋ० ७ । ५९ । ३ ॥

भा०—(वसिष्ठ·) मुख्य प्राण (वः) तुम इन्द्रियों में से (चरमं चन) अन्तिम का भी (न हि) नहीं (परिमंसते) तिरस्कार करता । हे (मरुतः) इन्द्रिय मार्गों में विचरण करने वाले प्राणो ! (अस्माकं सुते) हमारे उत्पन्न किये हुए ज्ञानरस में (विश्वे कामिनः) सब अपने रसपान की कामना करने वाले आप लोग (सचा) एक साथ (पिबन्तु) आनन्दामृत का पान करो । इसका विवरण देखो बृहदा० उप० (अ० ६ । १) में वसिष्ठ प्राण का प्रकरण । अथवा—(वसिष्ठः) परमेश्वर (चरमं चन नहिं परिमंसते) सबसे पिछड़े हुए का भी अनादर नहीं करता । हे (मरुत) मनुष्यो ! (अस्माकम् कामिनः) हममें से जो भी परम रस के अभिलाषी हैं वे (विश्वे सचा पिबन्तु) सब आकर समाहित होकर आनन्द रस का पान करें ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (गीता)

२४१—'पिबत कामिनः' इति ऋ० ।

१ २ ३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २
[२४२] माचिदन्यद्विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २ ३ १
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१०॥

ऋ० ८ । २ । २ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (अन्यत् चित्) और कुछ वस्तु की (मा विशंसत) स्तुति मत करो । (मा रिषण्यत) व्यर्थ के जाल में अपना नाश मत करो, खिन्न मत होओ । (इन्द्रम् इत्) आत्मा, परमात्मा का ही (स्तोत) स्तुति करो । (सुते) उत्पादित ज्ञानयज्ञ या आनन्द में मे (सचा) एकसंग (वृषणम्) सबसे श्रेष्ठ आत्मा के प्रति (मुहु॰) बार बार (उक्था च शंसत) वेद के सूक्तों का गान करो ।

इति पञ्चमी दशतिः । प्रथमः खण्डः ।

॥ द० ६ ॥ ऋषिः—१ आङ्गिरसः पुरुहन्मा । २, ३ मेधातिथिर्मेध्यातिथिः । ४ विश्वामित्रः । ५ गौतमः । ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७, ८, ९ मेध्यातिथिः । १० देवातिथिः काण्वः ॥ इन्द्रो देवता । बृहती छन्दः ॥

मध्यमः स्वरः ॥

१ ३ १२ ३२ २ १ ३ १२ ३ १ २
[२४३] नकिष्ट कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १ ३
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥१॥

ऋ० ८ । ७० । ३ ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (यज्ञैः) यज्ञों द्वारा अपने को (विश्वगूर्तम्) सबसे प्रशंसित, (ऋभ्वसम्) ज्ञान सम्पन्न (ओजसा) अपने तेज से (अधृष्टम्) किसी से न पराजित होने वाले (धृष्णुम्) विपत्तियों को धैर्य से सहने वाले (इन्द्रम् न) राजा के समान (कर्मणा) कर्म द्वारा

२४३–'धृष्णवोजसम्' इति ऋ० ।

अपने को (सदावृधम्) सदा उन्नति-मार्ग पर बढ़ाने वाला (चकार) बना लेता है (तं) उसको (नकिः नशद्) कोई नाश नहीं कर सकता ।

३ १, ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२४४] य ऋते चिद्भिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
१ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरुवसुर्निष्कर्ता विह्रुतं पुनः ॥२॥

ऋ० ८ । १ । १० ६

भा०—(यः) जो आत्मा (अभिश्रिषः) आश्लेषण करने वाले द्रव्य के (ऋते चित्) बिना ही (पुरा) पूर्व ही (जत्रुभ्यः) जीवों के (आतृदः) अलग २ हुए अङ्गों के भी (सन्धिम्) जोड़ों को (संधाता) जोड़ता है वह (पुरुवसु) समस्त देहों में रहने वाला (मघवा) जीवन यज्ञ का स्वामी आत्मा (विह्रुतम्) शस्त्र से कटे को भी (पुनः) फिर २ (निष्कर्त्ता) खूब अच्छी तरह से वैसा ही बना देता है । इस रहस्य का स्पष्टीकरण देखो याज्ञवल्क्य का प्रश्न (बृह० उप० अ० ३। ब्रा० ६ । क० २८) और (अथर्ववेद का० ११ । सू० १८ । म० ११-१४)

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२४५] आ त्वा सहस्रमाशतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥३॥

ऋ० ८ । १ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (हिरण्यये) एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाने योग्य आत्मा से युक्त (रथे) रथ में, देह में (युक्ता) लगे हुए (आ सहस्रम्) हजारों और (आ शतम्) सैकड़ों (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म=अन्न की पोषक शक्ति से जुड़े हुए अथवा (ब्रह्मयुजः) ब्रह्म को समाहित चित्त से साक्षात् करने वाले (केशिनः) ज्ञानतन्तुओं

२४४-'इष्कर्त्ता विह्रुतं' इति ऋ० ।

से सम्पन्न ज्ञानी (हरयः) हरण करने वाले घोड़ों के समान प्राणगण एवं विद्वानजन (सोमपीतये) सोमरस का पान करने के लिये (त्वा) तुझको (वहन्तु) वहन, धारण करें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१ २
[२४६] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभि. ।
३ २ ३ १ २ ३ २ड ३ २ड ३ १ २ ३ १ २
मा त्वा केचिन्नियेधुरिन्न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि ॥४॥
ऋ० ३ । ४५ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मन्द्रै) अत्यन्त प्रशंसा योग्य, उत्तम हर्ष के देने वाले, (मयूररोमभिः) मोर के लोमों के समान लोमों तथा आनील विद्युत् कान्ति से सम्पन्न ज्ञानतन्तुओं से युक्त, (हरिभि.) अनुभवों को तुझ तक पहुचाने वाले ज्ञानसाधनों को (याहि) प्राप्त हो । (त्वा) तुझ को (केचित्) कोई भी (पाशिन॰ न) जाल वाले लोगों के समान बन्धनकारी प्रलोभन (न नियेधु) न बाध लें । और तू (तान्) उनको (धन्वा इव) धनुर्धारी के समान (अति इहि) अतिक्रमण कर । राजा के पक्ष में स्पष्ट ही है ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[२४७] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देव. शविष्ठ मर्त्यम् ।
१ड ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वच. ॥५॥
ऋ० १ । ८४ । १६ ॥

भा०—(अङ्ग) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू (देव) स्वयं सब का प्रकाशक होकर भी हे (शविष्ठ) सब गतिमान् और शक्तिमान् पदार्थों और ज्ञानवानों में श्रेष्ठ ! (मर्त्यम्) मरणधर्मा देह को (प्र शंसिषः) प्रशंसा योग्य उत्तम चेतन बनाता है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वदन्यः) तेरे से दूसरा कोई (मर्डिता) सुख का देने हारा (न अस्ति) नहीं है ।

इसलिये (ते) तेरी ही (वचः) स्तुतिपरक वाणी को मैं (ब्रवीमि) कहता हूं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२४८] त्वमिन्द्र यशा अस्यजीषी शवसस्पतिः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतान्येक इत्पुरुनुत्तश्चर्षणीधृतिः ॥६॥
ऋ० ८। ९०। ५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन्! (त्वं) तू (ऋजीषी) ऋजु, कुटिलता रहित मार्ग में अपने भक्तों को प्रेरणा करने वाला, (शवसस्पतिः) बल का स्वामी, शक्तिमान्, (यशाः असि) यश.स्वरूप है। (त्वं) तू (एक इत्) अकेला ही (पुरु-अनुत्त.) देहों में विना किसी से प्रेरित होकर स्वतन्त्र रूप से, (चर्षणीधृतिः) स्वत. सब मनुष्यों में धारक प्रयत्न होकर (अप्रतीनि) न दबने वाले (वृत्राणि) विघ्नों को (हंसि) नाश करता है।

२ ३ २ ३ १ ० ३ १ २ ३ ४ २ ३ ०
[२४९] इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ०
इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥७॥
ऋ० ८। ३। ५॥

भा०—(देवतातये) देव, विद्वानों एवं इन्द्रियों की भलाई के लिये (इन्द्रम् इद्) आत्मा या ईश्वर को ही हम (हवामहे) पुकारते हैं। (अध्वरे प्रयति) हिंसारहित यज्ञ के प्रारम्भ होने पर भी (इन्द्रं) परमात्मा को हम पुकारते हैं, (समीके) समान रूप से ध्यान, विचार, ज्ञान गति करने के अवसर पर या संग्राम में हम (वनिनः) सब भक्तजन (इन्द्रं) उस ईश्वर को ही राजा के समान स्मरण करते हैं और (धनस्य सातये) धन के विभाग और प्राप्त करने के लिये भी (इन्द्रं) ईश्वर को (हवामहे) आह्वान करते हैं।

२३८-'एक इदनुत्ताचर्षणीधृता' इति ऋ०।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
[२५०] इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चिताऽभिस्तोमैरनूषत ॥८॥

ऋ० ८ । ३ । २ ॥

भा०—हे (पुरूवसो) बहुत ऐश्वर्य वाले एवं बहुत लोकों को बसाने और उनमें बसने वाले ईश्वर ! (मम) मेरी (याः) जो (इमाः गिरः) ये वाणियां (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ाती हैं, प्रसिद्ध करती हैं और (पावकवर्णाः) सबको अपने तेज से पवित्र करनेहारे, ईश्वर का वर्णन करने वाले (शुचयः) शुद्ध चित्त वाले (विपश्चितः) कर्म और प्रज्ञा का संचय करने हारे विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (स्तोमैः) स्तुति-मन्त्रों से (अभि अनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

२ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
[२५१] उदु त्ये मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
३ १ २ ३१र २र ३ २ ३ १ २
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥९॥

ऋ० ८ । ३ । १५ ॥

भा०—(त्ये) वे (मधुमत्तमाः) ब्रह्मविद्या से सम्पन्न (गिरः) वेदमन्त्र और (स्तोमासः) स्तुतिमन्त्र (सत्राजितः) सब कष्टों पर विजय पाते हुए, (अक्षितोतयः) अक्षय बलशाली (वाजयन्तः) ज्ञान से सम्पन्न, वेगवान् (रथा इव) रथों के समान (धनसाः) धनों को प्राप्त कराते हुए (उत् ईरते) उत्पन्न होते हैं, ऊपर आते हैं, प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १ ३ १ ३४ ३ १र ३ १ड
[२५२] यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।
३ १ १ ३ १ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २ड ३ १ १
आपित्वेन प्रपित्वे तृयमागहि कण्वेषु सु सचा पिब ॥१०॥

ऋ० ८ । ५ । २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (गौरः) गौर मृग या इन्द्रियों के पीछे भागने वाला व्यसनी पुरुष (तृष्यन्) प्यासा, तृष्णा से सताया हुआ (अपाकृतम्) जल से या रस से भरे (हरिणम्) जलाशय या भोगपदार्थ के प्रति (एति) जाता है । उसी प्रकार हे (इन्द्र, आत्मन् ! आप (नः आपित्वे प्रपित्वे) हमारी बन्धुता को प्राप्त करने पर (कण्वेषु) मेधावी पुरुषों में (त्वं) शीघ्र ही (आगहि) प्राप्त हो और (सचा) साथ ही (सु पिब) उत्तम रूप से सोमरस का पान कर ।

इति षष्ठी दशतिः । द्वितीयः खण्डः ॥

॥ द० ७ ॥ ऋषि—१ मर्गः । २ रेभः काश्यपः । ३ जमदग्निः । ४, ९ मेधातिथिः । ५, ६ नृमेधपुरुमेधौ । ७ वसिष्ठः । ८ रेभः । १० भरद्वाजः ॥ देवता—१, २, ४—१० इन्द्रः । ३ आदित्याः ॥ बृहती छन्द ॥ मध्यमः स्वरः ॥

३ २३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२५३] शग्ध्यूषु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
१ २ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

ऋ० ८ । ६१ । ५ ॥

भा०—हे (शचीपते) सब शक्तियों और प्रज्ञाओं के पालक ! हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (विश्वाभिः) सब प्रकार की (ऊतिभिः) शक्तियों से (उ सु शग्धि) तू हमारी इष्ट पूर्ति कर । हे (शूर) शूर ! (वसुविद) ज्ञानों के प्राप्त करने, कराने और जानने हारे, (यशसं) इन्द्रियों के वीर्यस्वरूप, एवं यशस्वी (भगं न) ऐश्वर्य के समान (त्वा) तेरे (हि) ही (अनु चरामसि) हम अनुकूल चलते हैं । इन्द्रियों की आत्मा के प्रति और भक्तों की ईश्वर के प्रति शक्ति है ।

१ २ ३ २ ३ १ २क्ष २र ३ १ २
[२५४] या इन्द्र भुज आभर स्वर्वा असुरेभ्यः ।
३ २३ १ २ ३ २ ३ २ २ १ २
स्वर्तारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥२॥
ऋ० ८ । ९७ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमेश्वर ! (या भुजः) जिन भोग करने योग्य शक्तियों को (असुरेभ्यः) असुररूप प्राणों से तू (आभरः) प्राप्त करता है (स्वर्वान्) सुख और प्रकाश से युक्त हे (मघवन्) यज्ञ के स्वामिन् ! तू (अस्य) इसके द्वारा (स्तोतारम् इत्) अपने यथार्थ गुण कथन करने वाले को ही (वर्धय) बढ़ा और (ये च) जो (त्व) तेरे लिये ही (वृक्तबर्हिषः) अपना यज्ञ फैला कर बैठे हैं या तेरे में लीन होने के लिये अपने देह का बन्धन काट चुके हैं उनको बढ़ा । आत्मा प्राणों के बलों से साधक को ही आनन्द देता है और शक्ति को बढ़ाता है । राजा भी जिन ऐश्वर्यों को दुष्ट पुरुषों से छीन के लावे उससे वह विद्वानों को और गृहस्थों को बढ़ावे ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २क्ष २र
[२५५] प्र मित्राय प्रार्यम्णे सचथ्यमृतावसो ।
३ २ १२ ३ २ ३ १ २ ३१र २र
वरूथ्ये३वरुणे छन्द्यं वचः स्तोत्रं राजसु गायत ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । १०१ । ५ ॥

भा०—हे (ऋतावसो) सत्य ज्ञान में ही वास करनेहार ज्ञानिन् ! (मित्राय) अपने हृदय के स्नेही के लिये (प्र गायत) उत्तम गान कर । (अर्यम्णे) न्यायकारी और अन्तर्यामी, (वरूथ्ये) अपने गृहस्वरूप देह के हितकारी (वरुणे) सब विघ्नों के निवारक (राजसु) तेजस्वी राजाओं में स्वच्छन्दता से विचरने वाले राजा के समान (राजसु छन्द्यं) तेजस्वी पदार्थों में सूर्यवत् प्रकाशक परमेश्वर या प्राणों में व्यापक आत्मा को लक्ष्य करके (छन्द्यं) वेदानुसार (स्तोत्रं) स्तुतिकारक (सचथ) सेवन करने

योग्य, हृदयग्राही (वचः) स्तुति वचन का (प्र गायत) उत्तम रूप से गान करो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[२५६] अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुदा गृणन्त पूर्व्यम् ॥४॥

अ० ८ । २ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (आयवः) दीर्घ जीवन की कामना करने वाले मनुष्य (पूर्वपीतये) पूर्ण जीवन का रसपान करने के अभिप्राय से (त्वा) तुझको (स्तोमेभिः) वेद के स्तोत्रों द्वारा (अभि) साक्षात् ज्ञान करते हैं । (समीचीनासः) सम्यक् दृष्टि से सम्पन्न (ऋभवः) प्राणविद्या के वेत्ता, ज्ञानी लोग (त्वाम् समस्वरन्) तुझको प्राणरूप से साधते एवं स्तुति करते हैं । और (रुद्राः) ज्ञान के उपदेष्टा विद्वान्जन अथवा प्राणगण भी (पूर्व्यं) पुरातन या पूर्ण या सबसे पूर्व पूजनीय तुझको ही (गृणन्ते) स्तुति करते हैं ।

३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २

[२५७] प्र व इन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २३ १ २ ३ १ २

वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा ॥ ५ ॥

अ० ८ । ८६ । ३ ॥

भा०—हे (मरुतः) प्राणो ! वा विद्वानो ! (वः) आप लोग (बृहते इन्द्राय) बड़े सामर्थ्यवान् आत्मा के लिये (ब्रह्म अर्चत) वेद द्वारा स्तुति करो । अथवा उस महान् आत्मा के साक्षात् के लिये अन्न और बल को प्राप्त करो या (ब्रह्म) वेद परमेश्वर की उपासना करो । वह (शतक्रतु) सैकड़ों कर्मों और प्रज्ञाओं का स्वामी (शतपर्वणा वज्रेण) सैकड़ों पालनकारी, पर्व वाले ज्ञानवज्र द्वारा (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने हारा (वृत्रं हनति) आवरणकारी मेघ को सूर्य के समान और शत्रु को राजा के समान अज्ञान या पाप का नाश करता है ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३१ २
[२५८] बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२
येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवं देवाय जागृवि ॥ ६ ॥
ऋ० ८ । ८६ । १ ॥

भा०—(मरुतः) हे प्राणगण ! हे विद्वान् पुरुषो ! (वृत्रहन्तमम्) वृत्र=अज्ञान पाप का नाश करने में सबसे श्रेष्ठ साम का (बृहत्-इन्द्राय) बड़े भारी इन्द्र के लिये (गायत) गान करो । (येन) जिससे (ऋता-वृधः) सत्य ज्ञान को बढ़ाने वाले विद्वान् लोग (देवाय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (देव) प्रकाशमान (जागृवि) सदा जागे रहने वाले, अमर (ज्योति.) प्रकाश को (अजनयन्) प्रकट करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[२५९] इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रभ्यो यथा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥
ऋ० ७ । ३२ । २६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (यथा) जिस प्रकार (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) अपने बेटों के लिये धन और विद्या आदि देता है उसी प्रकार (नः) हमारे लिये (क्रतुं) प्रज्ञा को (आ हर) प्राप्त कराओ । हे (पुरुहूत) प्रजाओं द्वारा स्मरण किये गये राजा के समान आत्मन् ! परमेश्वर ! (यामनि) इस जीवमार्ग में (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगण (ज्योतिः) ज्ञानमय ज्योति को (अशीमहि) प्राप्त करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२६०] मा न इन्द्र परावृणग्भवा नः सधमाद्ये ।
१ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वं न ऊती त्वमिन्न आप्यं मा न इन्द्र परावृणक् ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ६७ । ७ ॥

२६०—'सधमाद्य.' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (नः) हमें (मा परावृणक्) कभी परित्याग मत कर । (नः) हमारे (सधमाद्ये) एक सग आनन्द प्राप्त करने के स्थान यज्ञ, देह आदि स्थानों में (भव) हमारे सग रह । (त्वं) तू (नः) हमारी (ऊती) एकमात्र रक्षा है । और (त्वम् इत्) तू ही (नः आप्यम्) हमारा एकमात्र प्राप्त करने योग्य उद्देश्य, लक्ष्य है । तू (नः) हमें (मा परा-वृणक्) कभी मत त्याग ।

यह इन्द्रियों का आत्मा के प्रति और भक्तों का भगवान् के प्रति वचन है । देखो उप० बृह० अ० ६ । ब्रा० १ । "ते प्राणा ऊचुर्भो भगव उत्क्रमीः न शक्यामस्त्वदृते जीवितुमिति" ।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[२६१] वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन् परि स्तोतार आसते ॥६॥
ऋ० ८ । ३३ । १ ॥

भा०—(वयं) हम प्राणगण या भक्तजन (सुतावन्तः) अपने कर्मफल प्राप्त करके या ज्ञान सम्पादन करके वृक्तबर्हिषः) बर्हि-अर्थात् जीवनयज्ञ को समाप्त कर या ज्ञान द्वारा देह के बन्धन को काट कर (आपः इव) अपने तट बन्धनों को तोड़कर बहने वाले जलों के समान (पवित्रस्य) वेद के पवित्र ज्ञान के (प्रस्रवणेषु) प्रवाहों के तटों पर, हे (वृत्रहन्) अज्ञान के अन्धकारावरणों को छिन्न भिन्न करनेहारे देव ! तेरे (स्तोतारः) सत्य-गुणों का गान करने हारे (आसते) बैठे हैं ।

प्राणों का ज्ञानमय स्तोता के रूप में बैठने का अलंकार देखो—
(बृहदा० उप० अ० २ । ब्रा० २ । ३ ।) 'तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वाग् अष्टमी ब्रह्मणा संविदाना" ।

१ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[२६२] यादिन्द्र नाहुषीष्वा ओजो नृम्णं च कृष्टिषु ।
३ १ २ ३ २ ३ १र २र३ १र ४र ३ १ २
यद्वा पञ्चक्षितीनां द्युम्नमाभर सत्रा विश्वानि पौंस्या ॥१०॥
अ० ६ । ४६ । ७ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (नाहुषीषु) शरीर-बन्धनों में बधी हुई प्राण-धारी प्रजाओं में (यत्) जो (ओजः) तेज और (कृष्टिषु) अपने कर्म-फल प्राप्त करनेहारे मनुष्यों में जो (नृम्णम्) धन है (यत् वा) या जो (पञ्चक्षितीनाम्) आत्मा की पांचों भूमियों में (द्युम्नम्) कान्ति या ऐश्वर्य है वह और (सत्रा) बड़े २ (विश्वानि पौंस्या) समस्त बल पराक्रम (आ भर) हमें प्राप्त करा ।

लघिमा गरिमा आदि अष्ट सिद्धियें और नव निधियों तथा अन्यान्य बल की प्रार्थना है ।

इति मासमी दशतिः । तृतीय खण्ड. ।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१ मेधातिथिः । २ रेभः । ३ वत्सः । ४ भरद्वाज । ५ नृमेधः । ६ पुरुहन्मा । ७ नृमेधपुरुमेधौ । ८ वसिष्ठ । मेधातिथिर्मेध्यातिथिश्च । २० कलि ॥ इन्द्रो देवता ॥ बृहती । मध्यम ॥

३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
[२६३] सत्यमित्था वृषेदसि वृषजूतिर्नोऽविता ।
८ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
वृषाह्युग्र शृण्विषे परावति वृषा अर्वावति श्रुत. ॥१॥
अ० ८ । ३३ । २० ॥

भा०—हे (उग्र) बलवन् ! (सत्यम्) सत्य ही (इत्था) इस प्रकार का (वृषा इत् असि) सुखों का वर्षक ही है । और (वृषजूति) श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा सेवित तू (नः) हमारा (अविता) पालन करने हारा

(वृषा हि शृण्विषे) 'वृषा' साक्षात् धर्ममय ही सुना जाता है और (परावति । दूर और (अर्वावति) समीप भी तू (वृषा उ) 'वृषा' अर्थात् आनन्दघन ही (श्रुतः) प्रसिद्ध है ।

२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३१ २

[२६४] यच्छक्रासि परावति यदर्वावति वृत्रहन् ।

१ २ ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अतस्त्वा गीर्भिर्युगदिन्द्र केशिभिः सुतावाँ आविवासति २

ऋ० ८ । ९७ । ४ ॥

भा०—हे (शक्र) शक्तिमन् ! (यद्) चाहे तू (परावति) दूर, मुक्ति की दशा में हो और (यद्) चाहे हे (वृत्रहन्) हे पापों के नाश करने हारे ! (अर्वावति) समीप, देह में विद्यमान रह, (अतः) तो भी हे (इन्द्र) आत्मन् ! प्रभो ! (केशिभिः) विशेष ज्ञान दीप्तियों से सम्पन्न विद्वानों और (गीर्भिः) वेदवाणियों से (युगद्) प्रकाश की तरफ़ शीघ्र जाने वाला होकर (सुतावान्) आनन्दरस का सम्पादक है । साधक पुरुष (त्वा) तुझको ही (आ विवासति) प्रकट करता है ।

३ १ २ ३१२२ ३ १ २ ३ २ ३१२ २२

[२६५] अभि वो वीरमन्धसो मदेषु गाय गिरा महाविचेतसम् ।

३ २३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

इन्द्रं नाम श्रुत्यं शाकिनं वचो यथा ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ४६ । १४ ॥

भा०—(वः) आप लोग (अन्धसः मदेषु) अन्न या प्राण धारण कराने वाले चिदात्मा, या अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञान के द्वारा प्राप्त आनन्द के अवसरों पर (महाविचेतसम्) अत्यन्त अधिक ज्ञान और चेतना युक्त (वीरं) वीर्यवान्, (श्रुत्यं) श्रुति, वेद में प्रसिद्ध (शाकिनं) सर्व शक्तिमान्, (नाम) सबको नम्र करने हारे (इन्द्रं) ईश्वर को (यथा

२६४—'नो वृतः' इति ऋ० ।

वच) जिस प्रकार वेदवचन की आदेश है उसी प्रकार (गिरा) वेद की ऋचा द्वारा (गाथ) स्तुति करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २

[२६६] इन्द्र त्रिधातु शरण त्रिवरूथं स्वस्तये ।

३ १ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमभ्यः ॥ ४ ॥

ऋ० ६ । ४६ । ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मघवद्भ्यः) यज्ञ करने हारे ऐश्वर्य और विभूतिमान् अथवा निष्पाप कर्मों वाले साधकों और (मह्यं च) मेरे लिये (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धातुओं से बने, (त्रिवरूथं) तीनों दोषों का वारण करने हारे (शरणं) देह के (स्वस्तये) कल्याण के निमित्त (यच्छ) प्रदान कर । (एभ्यः) उक्त कर्मठ पुरुषों की ओर से (दिद्युम्) वज्रस्वरूप (छर्दिः) आच्छादक बन्धन को (यवया) हटा ।

१ २ ३ २ ३ १२ २२

[२६७] आयन्त इव सूर्य विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२

वसूनि जाते जनिमान्योजसा प्रतिभाग न दीधिम ॥५॥

अथर्व० ८ । ९९ । ३ ॥

भा०—(सूर्य इव) सूर्य के समान सब के प्रेरक आत्मा का (आयन्त) आश्रय लेते हुए (विश्वा) समस्त (जाता) उत्पन्न हुए और (जनिमानि) आगे उत्पन्न होने हारे (वसूनि) प्राणी सब (इन्द्रस्य इत्) उस ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के ही दिये ऐश्वर्य का (भक्षत) भोग करें । इस कारण उसके ही (ओजसा) बल से हम (भागं न) प्राप्त दायभाग के समान उसको (प्रति दीधिम) समझें ।

२६७—'वसूनि जाते जनिमान', 'दीधिम' इति ऋ० ।

[२६८] न सीमदेव आप तदिषं दीर्घायो मर्त्यः ।
एतग्वा चिद्य एतशा युयोजत इन्द्रो हरी युयोजते ॥६॥
ऋ० ८। ७०। ७ ॥

भा०—हे (दीर्घायो) नित्य आत्मन् ! (अदेव·) इष्टदेव से रहित (मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (तत्) उस परम (इषम्[1]) सबके अभिलाषा के योग्य लक्ष्य को (न आप) नहीं प्राप्त करता। अथवा—(अदेवः मर्त्य· इषं न आपतत्) ईश्वर को छोड़ कर मनुष्य अपने अभिलाषित अन्न के समान भोग्य पदार्थ या इष्टलोक को भी नहीं पहुंचता। अथवा—माधव के मत से-(इषं न आपतत्) अपने गन्तव्य परम पद या मार्ग को नहीं चल सकता। (एतग्वा[2]) अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये अश्व आदि साधनों से युक्त पुरुष जिस प्रकार (एतशः) अपने घोड़ों का (युंयोजते)रथ में लगाता है और राह पर डाल देता है। उसी प्रकार सबको सन्मार्ग पर लेजाने वाला (इन्द्रः) महान् ऐश्वर्यशील परमात्मा ही (हरी) उसके घोड़ों को (युयोजते) ठीक मार्ग पर ले जाता है।

'भगवान् के आश्रय से ही सीधा मार्ग और इष्ट फल मिलता है, नहीं तो आदमी भटक जाता जाता है।

[२६९] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूषत ।
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥७॥
ऋ० । ९० । १ ॥

२६८—'हरी इन्द्रो युयोजते', 'आपतदिष' इति 'य एतशा' इति ऋ० । आप तद् इषम् । इति पाठ· सायणसम्मतः आप तद् इषमिति (तु० सा०) 'आप तद् ईषम्' इति मा० वि० ।

१. ईषतिर्गतिकर्मा (नि० २ । १४), २. प्राप्तगन्तव्या·, इति (मा० वि०)

२६९—'हव्य इन्द्रः', 'भूषतु', 'वृत्रहा', ऋचीषम.' इति ऋ० ।

भा०—(विश्वासु) सब (समत्सु) एकत्र आनन्द उत्सवों में (नः) हमारा (हव्यं) स्तुतिवचन (इन्द्रम्) उस ईश्वर को (आ भूषत) सु-भूषित करे, उसका गुणगान करे । हे (वृत्रहन्) विघ्ननिवारक ! सब से अधिक शत्रुओं का नाश करने हारे हे (ऋचीषम) सब स्तुतियों में समानरूप स विद्यमान ईश्वर ! (ब्रह्माणि) वेदस्तवन और वैदिक कर्म (सवनानि) यज्ञ यागादि सब उपासना कर्म तुझको ही (उप भूषत) शोभा देते हैं ।

[२७०] तवेदिन्द्रावमं वसु त्वं पुष्यसि मध्यमम् ।
सत्रा विश्वस्य परमस्य राजसि नकिष्ट्वा गोषु वृणवते ॥८॥
ऋ० ७ । ३२ । १६ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (अवमं) सबसे नीचे का (वसु) बसने योग्य पृथिवी लोक भी (तव इद्) तेरा ही है । (त्वं) तू (मध्यमं वसु) बीच के लोक, अन्तरिक्ष लोक को भी (पुष्यसि) पोषण करता है । और तू आप (परमस्य) सब से उत्कृष्ट (विश्वस्य) संसार में (राजसि) प्रकाशमान है । अथवा—हे आत्मन् ! (अवमं वसु) निकृष्टतम प्राणि तेरा ही विकास है । (मध्यम) मध्यम श्रेणी के प्राणी को भी तू ही पुष्ट करता और (परमस्य) उच्च कोटि के प्राणी में भी तू ही प्रकाशित है । (त्वा) आपको (गोषु) समस्त गतिशील योनियों, लोकों, और आत्मपक्ष में-इन्द्रियों में से भी (नकि) कौन नहीं (वृणवते) वरण करता ? अर्थात् सभी चाहते हैं । अथवा— नकि) कोई भी तुझे न वृणवते) नहीं रोकता। तेरी शक्ति सर्वत्र व्यापक है ।

[२७१] कण्वयथ केदसि पुरुत्रा चिद्धि ते मनः ।
अत्रापि युध्म खजकृत्पुरन्दर प्र गायत्रा अगासिषुः ॥९॥
ऋ० ८ । १ । ७ ॥

भा०—हे (पुरन्दर) हे देहरूप अपने पुरी को अपनी शक्ति से विदारण करने हारे आत्मन् ! (क इथथ) तू कहां २ गति करता है ? (क इत् असि) और तू कहा २ रहता है । (पुरुत्रा चित् हि) बहुत से स्थलों पर या इन्द्रियों के भीतर चित्स्वरूप में (ते) तेरी (मन॰) मननशील संकल्प शक्ति (अलर्षि) गति करती है । हे (युध्म !) हे विषयवासना या रागद्वेषादि से युद्ध करनेहारे ! हे (खजकृत्) ख=इन्द्रियों के द्वारों में उत्पन्न विषयग्राहक सामर्थ्यों के विधात: ! (गायत्रा॰) स्तुति करनेहारे विद्वान् जन और प्राणगण (त्र अगासिषु) तेरी ही महिमा गाते हैं ।

३ १ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ १ २

[२७२] वयमेनमिदाह्योऽपीपेमह वज्रिणम् ।

१ २ ३ १ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १

तस्मा उ अद्य सवने सुतं भरा नूनं भूषत श्रुत ॥१०॥

ऋ० ८ । ६६ । ७ ॥

भा०—(वयं) हम (एनम् इत्) इस (वज्रिणम्) ज्ञानरूप वज्र को धारण करनेहारे आत्मा को ही (ह॰) गत काल में (इह) इस देह में (आ अपीपेम) खूब ज्ञानरस पान कराते रहे । (अद्य) आज (श्रुते सवने इस वेदानुकूल यज्ञ उपासना में (तस्मा उ) उस ही इन्द्र के लिये (सुत) ज्ञानरस या आनन्दरस को लाओ और (नूनं) निश्चय से (भूषत) उसकी शोभा बढाओ ।

गत जीवन में भी ज्ञान सम्पादन किया, इस जीवन में भी करो और ज्ञान से उसकी शोभा करो । विद्यातपोभ्यां भूतात्मा । मनु॰ ।

इति सप्तमी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

॥ द० ९ ॥ ऋषि॰—१, ६ पुरुहन्मा । २ भर्ग॰ ३ हरिमिठि॰ । ४ जमदग्नि ।
५, ७ देवातिथिः । ८ वसिष्ठः । ९ भरद्वाज । १० बालखिल्या ।
देवता- १-३ ५-८ १० इन्द्रः । ९ इन्द्राग्नी । ४ सूर्यः ॥
बृहती ॥ मध्यम॰ ॥

१र २र ३ २ड ३ १ २ ३ १ २
[२७३] यो राजा चर्षणीना याता रथेभिरध्रिगुः ।
१ २ ३ १र २र ३ २३ १ २३२ ३२
विश्वासां तरुता पृतनाना ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥१॥

ऋ० ८ । ७० । १ ॥

भा०—(यः) जो (चर्षणीनां) द्रष्टा इन्द्रियों या मनुष्यों का (राजा) शासक, प्रकाशक या उनके बीच में स्वतः प्रकाशमान है और जो (रथेभि) रमण करने, भोग करने के साधन देहों या प्राणेन्द्रियों से (याता) विषयों तक गमन करने हारा, (अध्रिगुः) इन्द्रियों पर वश करने हारा अधिष्ठाता है और (य) जो (वृत्रहा) सब अज्ञानों का नाशक, (विश्वासा) समस्त (पृतनाना) सेनाओं के समान वासनाओं तथा मनुष्यों का (तरुता) विनाशक या पार करनेहारा है उस (ज्येष्ठम्) सब से श्रेष्ठ आत्मा की मैं (गृणे) स्तुति करता हूं ।

राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

'अध्रिगु'—' अधिकृतशब्दस्य अध्रिभाव इति दे० य० । पृतना इति मनुष्यनाम । नि० २ । ४ ॥ सग्रामनाम च । नि० २ । १७ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२७४] यत्र इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
१ २ ३ २ड ३ १ २ ३ २ ३ २ड ३ १र २र
मघवञ्छग्ध तव तन्न ऊतय आ विद्विषो वि मृधो जहि ॥२॥

ऋ० ८ । ६२ । १३ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत्र) जिससे हम (भयामहे) भय करते हैं (न) हमें (ततः) उससे (अभयं) भयरहित (कृधि) कर । हे मघवन् ! (तव तत्) तेरा वह बल है कि (नः, ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (शग्धि) तू समर्थ है, इस कारण (द्विषः) नाना द्वेष करने हारे

२७४—'तवत्र क्रविधि.' इति ऋ० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२७७] अश्वी रथी सुरूप इद् गोमान् यदिन्द्र ते सखा ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रैर्याति सभामुप ॥५॥

ऋ० ८ । ४ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यदा) जब (ते सखा) तेरा मित्र (अश्वी) बलवान् प्राण, इन्द्रिय सम्पन्न (रथी) उत्तम देहरूप रथ से युक्त (सुरूप.) उत्तम रुचि या कान्तिमान् रूप से युक्त और (गोमान् इद्) उत्तम ज्ञान इन्द्रियों और उत्तम वाणी से युक्त हो जाता है तब वह (सदा) नित्य ही (श्वात्रभाजा) धन धान्य से युक्त (वयसा) अपनी आयु से और (चन्द्रै.) आह्लादकारी या चिरकाल तक आनन्दकारी सज्जनों के साथ (सभाम्) तेरे समान कान्ति या सत्सग को (उपयाति) प्राप्त होता है ।

जितेन्द्रिय ज्ञानी, उत्तम प्रवृत्ति से युक्त पुरुष ही सत्संग से युक्त हो जाता हैं । राजा और ईश्वर पक्ष में स्पष्ट है ।

१२ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
[२७८] यद्द्याव इन्द्र ते शतं शत भूमीरुत स्यु. ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न त्वा वाजिन्त्सहस्र सूर्या अनु न जातमष्टरोदसी ॥ ६ ॥

ऋ० ८ । ७० । ५ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यद द्याव. शत) यदि द्यौलोक भी सैकड़ों (उत भूमी. शतं) और भूमियां भी सैकड़ों (स्यु) हों वे और हे (वाजिन्) सर्व शक्तिमन् ! (सहस्र सूर्या) हजारों सूर्य और । रोदसी) यह सब ब्रह्माण्ड भी (वि अनु जातम्) तेरे पीछे पैदा हुआ (त्वा न अष्ट) तुझे पूरी तरह से व्याप नहीं सकता ।

'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य ' इति बृहदा० उप० । 'एकांशेन स्थित जगत्' । गी० ।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः (गी० ११।१२।)

[१७६] यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः ।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवसि प्रशर्ध तुर्वशे ॥७॥

ऋ० ८ । ४ ।।१ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) क्योंकि (प्राग्) प्राची दिशा में, पूर्व में (अपाग्) पश्चिम में, (उदङ्) ऊपर में (न्यग् वा) या नीचे सर्वत्र (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (हूयसे) तेरी स्तुति की जाती है तू ही पुकारा जाता है। (सिम्-आ) सर्वत्र (पुरू) देहधारियों में (आनवे) प्राणधारियों में (तुर्वशे) इन्द्रियों के वश करने हारे योगियों या इन्द्रियों के अधीन मनुष्यों मे भी तू (नृसूतः) नेता, उत्तम पुरुषों द्वारा अभिषिक्त नृपति के समान पूजित (असि) है।

[२८०] कस्तामिन्द्र त्वावसवामर्त्यो दधर्षति ।
श्रद्धा हि ते मघवन् पार्ये दिवि वाजी वाजं सिषासति ८

ऋ० ७ । ३२ । १४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (वसो) सबको बसाने और सब में बसने हारे ! (तं त्वा) उस स्मरण करने योग्य तुझको । कः मर्त्य) कौन पुरुष (आ दधर्षति) अपमानित कर सकता है। (वाजी) ज्ञानी पुरुष (श्रद्धा) सत्य धारण करने हारा, (मघवान्) यज्ञ कर्मादि और ऐश्वर्यों से सम्पन्न होकर (पार्ये दिवि) पार करने योग्य प्रकाश में, या संसार को पार करने हारे ज्ञानप्रकाश मे रहता हुआ तेरे प्रति (वाजं) अपने ज्ञानमय भेंट को सिषासति) तेरे अर्पण कर देता है।

२८०—'श्रद्धा इत्ते' इति पाठभेदः। ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २
[२८१] इन्द्राग्नी अपादिय पूर्वागात्पद्वतीभ्य. ।
१ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
हित्वा शिरो जिह्वया रारपच्चरत्त्रिंशत्पदान्यक्रमीत् ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ५६ । ६ ॥

भा०—(इन्द्राग्नी) इन्द्र वायु और प्राण और अग्नि सूर्य और आत्मा के बलपर (इयं) यह उषा या चित्-शक्ति (अपात्) बिना पैरों के भी ("पद्वतीभ्य") चरणवाली प्रजाओं से (पूर्वा) पूर्व ही (आगात्) आजाती है । (हित्वा शिरः) अपने शिर को त्याग कर (जिह्वया) अपनी व्यापन शक्ति ग्रहणशक्ति से (रारपत्) शब्द करती हुई (चरत्) गति करती हुई (त्रिंशत् पदानि) तीस पद (अक्रमीत्) गति करती है ।

यजुर्वेद में इसका उषा देवता है । सायण ने उषा पक्ष में ३० पद ३० मुहूर्त कहे हैं । चितिशक्ति के पक्ष में ८ वसु ११ रुद्र और १२ आदित्य ये सब शरीर में ही हैं । उन पर वश करती है । यद्यपि ये ३१ हैं तो भी एकादश रुद्रों में दश प्राण ११ वा स्वयं आत्मा है । अत यह ३० प्राण ही गिने जायगे । आत्मा स्वत· चितिशक्ति से भिन्न नहीं । इन्द्र अग्नि उषा और ३० चरण सब मिलकर ३३ देवता हुए ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[२८२] इन्द्र नदीय एदिहि मितमेधाभिरूतये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ शन्तम शन्तमाभिरभिष्टाभिरा स्वापे स्वापिभः ॥१०॥

ऋ० ८ । ५३ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मितमेधाभिः) ज्ञानयुक्त धारणावती बुद्धियों वाली (ऊतिभि) अपनी रक्षण शक्तियों के साथ तू (आ एहि इत्) हमें प्राप्त हो । हे (शन्तम) सुखकारक ! (शन्तमाभि·) अत्यन्त शान्तिदायक (अभिष्टिभिः) हमारी सुख कामनाओं सहित और हे (स्वापे !) सुख को प्राप्त करने

२८१—'हित्वीशिरो जिह्वया वावदच्' इति ऋ० ।

हारे हे सुबन्धो! (स्वाभिभिः) सुखदायक शक्तियों द्वारा तू (आ) हमें प्राप्त हो।

इति नवमी दशति । पञ्चमः खण्डः ।

॥ द० १० ॥ ऋषिः—१ नृमेध० । २, ३ वसिष्ठः । ४ भरद्वाज । ५ परुच्छेप० । ६ वामदेवः । ७ मेध्यातिथि० । ८ भर्ग० । ९, १० मेधातिथिर्मेध्यातिथि ॥ देवता १–४, ७–१० इन्द्र । ५ वरुण० ॥ बृहती ॥ मध्यम० ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[२८३] इन ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आशुं जेतारं हेातारं रथीतममतूर्तं तुग्रियावृधम् ॥१॥

ऋ० ८। ९६। ७ ॥

भा०—(व') आप लोग (ऊती) अपनी रक्षा के निमित्त (अजरं) कभी जीर्ण न होने वाले (प्रहेतारं) इन्द्रियों या विद्वानों को उत्तम रीति से प्रेरणा करने हारे, (अप्रहितम्) स्वयं किसी से प्रेरित न होने वाले, स्वतन्त्र, (आशुम्) सर्वव्यापक, अति शीघ्रगामी, (जेतारं) सबके विजेता, उत्कृष्ट, (होतारम्) ज्ञान और भोग के दाता (रथीतमम्) सब देहधारियों में सब से श्रेष्ठ, (अतूर्तम्) किसी से भी न मारे जाने वाले, अमर, (तुग्रियावृधम्) तमोनिवारक, ज्ञान के वर्धक, आत्मा की शरण में (इत) आओ। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में समान है।

१२ १२ ३ १ २ ३ २३ ३ १२ २२

[२८४] मा पुत्वा वामतश्च नारे असश्चिरीरमन् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२

आरात्ताद्वा सधमादन आगहीह वा सन्नुप श्रुधि ॥ २ ॥

ऋ० ७। ३२। १ ॥

२८३—'तुग्रियावृधम्' इति ऋ० ।

२८४—'आरात्ताच्चित्' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (त्वा) तेरे लिये (वाघतः) यत्न करते हुए, ज्ञानवान् मेधावी पुरुषों, या इन्द्रियगण को (आरे) समीप से (मा३ उ सु निरीरमन् चन) क्या तू खूब नहीं रमाता है ? रमाता ही है । इसलिये हे इन्द्र ! (आरात्-तात्) दूर से (वा) भी (नः सधमादं) हमारे एकत्र रमण करने के स्थान, आत्मा, हृदय या क्रीड़ा भूमि, शरीर में (आगहि) व्याप्त हो । (इह वा सन्) और यहां ही रहकर (उप शृधि) हमारे वचन सुन ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[२८५] सुनोत सोमपाव्ने सोमिन्द्राय वाजिणे ।

१ २ ३ १२ २८ ३ २८ ३ १२ २८३१२ ३२

पचता पक्तीरवसे कृणुध्वमित्पृणन्नित्पृणते मयः ॥३॥

ऋ० ७ । ३२ । ८ ॥

भा०—हे विद्वानो ! हे इन्द्रियगण ! (सोमपाव्ने) सोम का पान करने हारे (वाजिणे) वज्र, तमोनाशक या वैराग्यसाधक साधनों से सम्पन्न (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सोमं) सोम, आनन्दरस को (सुनोत) उत्पन्न करो । उसके (पक्ती) पक्वान, पक्वज्ञान परिपुष्ट अनुभव (पचत) पकाओ, तैयार करो, प्राप्त करो । (अवसे) अपनी रक्षा के लिये । कृणुध्वम्) यत्न करो । वह (पृणन् इत्) सब को पालन करता हुआ ही (मय पृणात) सुख कल्याण करता है ।

१ २ ३ १२ २८ ३ २ ३ १ २ ३ २

[२८६] य सत्राहा विचर्षणिरिन्द्र तं हूमहे वयम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

सहस्रमन्यो तुविनृम्ण सत्पते भवा समत्सु नो वृधे ॥४॥

ऋ० ६ । ४६ । ३ ॥

भा०—(यः) जो आत्मा (सत्राहा) सब शत्रुओं का नाशक और (विचर्षणि) सब का द्रष्टा है । (त इन्द्र) उस ऐश्वर्यवान् को (वयम्

पदार्थ—'सहस्रमुष्क' इति पाठभेद, ऋ० ॥

हूमहे) हम पुकारते, स्मरण करते हैं । हे (सहस्रमन्यो) सहस्रों मन्युओं, ज्ञानों से युक्त ! हे (तुविनृम्ण) बहुधन ! हे (सत्पते) सज्जनों के प्रतिपालक ! (समत्सु) हमारे आनन्द उत्सवों के अवसरों पर (नः वृधे) हमारी उन्नति के लिये (भव) हो ।

देखो केनोपनिषद् में देवों की विजय-कथा ।

१ २ ३ २ ३ १ २

[२८७] शचीभिर्नः शचीवसू दिवा नक्तं दिशस्यतम् ।

१ १ ३ १ २र ३ २ ३ २ञ ३ १ ३ २ ३ २

मा वां रातिरुपदसत्कदाचनास्मद्रातिः कदाचन ॥५॥

ऋ० १ । १३९ । ५ ॥

भा०—हे (शचीवसू) शक्ति स्वरूप धन से सम्पन्न ! अपने बलपर सब को वास या जीवन को देने हारे प्राण और अपान स्वरूप अश्विवयो ! या हे प्रज्ञा और कर्म के धनी स्त्री पुरुषो, (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (दिवानक्तं) रात दिन (नः दिशस्यतम्) हमें सम्पन्न करो । (वां रातिः) आप लोगों की दानशीलता या आहुति (मा कदा चन उपदसत्) कभी नष्ट न हो, न रुके और (अस्मद् रातिः) और हमारी दी आहुति या दान भी (कदाचन मा उपदसत्) कभी नष्ट न हो ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १

[२८८] यदा कदा च मीढुष स्तोता जरेत मर्त्यः ।

१र २र ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ १

आदिद्धन्देत वरुणं विपा गिरा धर्त्तारं विव्रतानाम् ॥६॥

भा०—(मीढुषे) सकल संसार पर सुखों बलों, और ज्ञानों के वर्षक ईश्वर के लिये (मर्त्यः) मनुष्य (स्तोता) स्तुतिकर्त्ता (यदा कदा च) जब कभी (जरेत) स्तुति करे (आत् इत्) तब ही (विव्रतानाम् धर्तारं) नाना प्रकार के कर्मों के धारण करने हारे विरुद्धाचारियों को रोकने वाले

२८७—'दशस्यतम्' इति ऋ० ।

(वरुण) पाप निवारक सर्व श्रेष्ठ ईश्वर को (विपा गिरा) विशेष रूप से पालन करने हारी वेदवाणी से ही (वन्देत) स्तुति करे ।

३ १२ २ १ ३ २ ३ १ २
[२८६] पाहि गा अन्धसो मद इन्द्राय मेध्यातिथे ।
१२ २२ ३ १ ३ १ १ ३ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २
यः सम्मिश्लो हर्योर्यो हिरण्यय इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥७॥

ऋ० ८ । ४६ । १ ॥

भा०—हे (मेध्यातिथे !) मेधा, बुद्धि से गम्यमान, पवित्र अतिथे ! बिना किसी निर्दिष्ट काल के हृदय में विराजमान होने वाले अतिथि के समान पूज्य ! या नित्य व्यापक परमात्मन् ! (अन्धस. मदे) प्राण धारण करनेहारे पदार्थ के उद्योग या आनन्द लाभ के निमित्त (इन्दाय) इस आत्मा के (गाः) इन्द्रियों की (पाहि) रक्षा कर । (य) जो (इन्द्रः) आत्मा (हर्यो सम्भिश्लः) दोनों प्रकार के बाह्य और भीतरी इन्द्रियों से संनिकर्ष को प्राप्त होकर (हिरण्यय) हित और सुखजनक ज्ञान लाभ करने वाला है वही (इन्द्र. वज्री) सब अज्ञानों का वर्जन करनेहारा आत्मा, (हिरण्यय) प्रकाशस्वरूप ज्योतिर्मय ज्ञान का प्राप्त करनेहारा है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३१२ ३२
[२९०] उभयं शृण्वच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
३ १ २ ३२३ १ २ ३ १२ २२३ १ २
सत्राच्या मघवान्त्सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥८॥

ऋ० ८ । ६२ । १ ॥

भा०—(इन्द्र) आत्मा 'न) हमारे (अर्वाग्) आभ्यन्तर मानस और (इदं च) इस प्रत्यक्ष, उच्चारण किये हुए, (उभय) दोनों प्रकार के (वचः) वचनों को (शृण्वत्) सुनने हारा (मघवान्) नाना ऐश्वर्यों से सम्पन्न, (शविष्ठ) बलवान् आत्मा (सोमपीतये) परमेश्वर के लिये परमसुख

२८६—'पाहिगान्धसो' इति, एतौऽंशः इतः सप्त ऋचो रथो हिरण्यय.' इति च ऋ० ।

रूप सोमरस पान करने के लिये (सप्रायया धिया) सत्यानुकूल बुद्धि से सम्पन्न होकर (आगमत्) हमें प्राप्त हो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२६१] मह्न चन त्वाद्रिवः परा शुल्काय दीयसे ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥९॥

ऋ० ८ । १ । ५ ॥

भा०—(गोदिवः) हे अन्धकार का हरण करने हारे ज्ञानवन् ! (वज्रिवः !) हे वज्र को धारण करनेहारे आत्मन् ! (मह्न चन शुल्काय) बड़े भारी मूल्य के बदले भी (न परा दीयसे) तुझको नहीं दिया जा सकता, तुझे त्याग नहीं किया जा सकता । हे सैकड़ों ज्ञानकर्मों से सम्पन्न ! (न शताय) न सौ के बदले और (न सहस्राय) न हज़ार के बदले, और (न अयुताय) न लाख के बदले ही तुझे दिया जा सकता है ।

१ २ ३ १ ३ २ ४ १ ३ २

[२६२] वस्यॉ इन्द्रासि मे पितुरुत भ्रातुरभुञ्जतः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

माता च मे छदयथः समा वसो वसुत्वनाय राधसे ॥१०॥

ऋ० ८ । १ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (अभुञ्जत) प्राप्त धन का भोग न करने वाले या मेरा पालन न करने हारे (मे पितु०) मेरे पिता से और (भ्रातु) भाई से भी आप (वस्यान् असि) अधिक श्रेष्ठ, अधिक ऐश्वर्यवान् हो । हे (वसो) वसो ! भीतर बसने हारे ! तू और (माता च) मेरी माता अथवा सब विश्व को निर्माता तुम दोनों (समा) समान रूप से (मे) मुझ को (वसुत्वनाय) ऐश्वर्य लाभ करने और (राधसे) कार्य में सिद्धि प्राप्त कराने के लिये (छदयथः) मेरा भोजन आच्छादन द्वारा पालन करते हो ।

इति दशमी दशतिः । षष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः, तृतीयः, प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

२६१—'परा शुल्काय देयाम' इति ऋ० ।

अथ चतुर्थ. प्रपाठक' (प्रथमोऽर्धः) ।

॥ द० १ ॥ ऋषि'—' वसिष्ठ. । २, ६, ७ वामदेव' । मेधातिथिमेध्यातिथी विश्वामित्र इत्येके । ४ नोधाः । ५ मेधातिथि. । ८ शुष्टिगु' काण्वो' । कालस्तिल्या. वा । ९ मेध्यातिथि । १० नृमेधः ॥ देवता—१—६, ८—१० इन्द्र' । ७ बहु' ॥ बृहती ॥ मध्यमः ॥

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २

[२९३] इम इन्द्राय सुन्विरे सोमासो दध्याशिरः ।

१र २र ३२ ३ १ २ ३ २ ३ २

ताँ आमदाय वज्रहस्त पीतये हरिभ्यां याह्योक आ ॥१॥

ऋ० ७ । ३२ । ४ ॥

भा०—(इमे) ये (दध्याशिर) दधि से मिश्रित या ध्यान योग से प्राप्त (सोमासः) सोम, ज्ञान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुन्विरे) सम्पादित किये हैं, हे (वज्रहस्त) हाथ में ज्ञान रूप वज्र को धारण किये हुए आत्मन् ! (मदाय) अपने अन्त प्रसन्नता हर्ष के लिये (तान् आ-पीतये) उनको साक्षात् पान करने के लिये (हरिभ्या) ज्ञान और कर्म या दोनों प्रकार के इन्द्रियों से (ओकः) इस देह में (आ याहि) तू आ ।

३ १र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[२९४] इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

मधो. पपान उप नो गिर. शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वण ॥२॥

भा०—हे आत्मन् ! (ते मदाय) तेरे हर्ष के लिये (इमे) ये (उक्थिन. सोमा.) ब्रह्मज्ञान सम्पन्न सोम=विद्वान् जन या समस्त ब्रह्मानन्द रस (चिकित्रे) प्रतीत होते हैं । तू (मधो' पपान) ब्रह्मविद्या रूप मधु का पान कर । (न गिर) हमारी वेदवाणियां (उप शृणु) श्रवण कर । हे (गिर्वण') वेदवाणियों द्वारा भजन करने योग्य देव ! तू (स्तोत्राय) गुणकीर्त्तन करने हारे पुरुष को (रास्व) अभीष्ट फल दे ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३१ २ ३१ २
[२९५] आ त्वाऽद्य सवर्दुघां हुवे गायत्रवेपसम् ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं धेनुं सुदुघामन्यामिषमुरुधारामरङ्कृतम् ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । १ । १० ॥

भा०—मैं (सवर्दुघाम्) सब प्रकार के ज्ञान रस को दुग्धरूप से देने हारी, (गायत्रवेपसम्) स्तुति गान करने हारे की रक्षा करने हारे शरीर वाली, (सुदुघाम्) सुगमता से दुही जाने योग्य (इषम्) अन्नस्वरूप अथवा बलस्वरूप (उरुधाराम्) बड़े भारी ब्रह्माण्ड को धारण करनेहारी या बहुत धाराएं वर्षाने वाली (अरंकृतं) अत्यन्त अधिक पर्याप्त धन धान्य पैदा करनेहारी या सुभूषित (इन्द्रं) परमेश्वर या आत्मारूप (त्वा) तुझ (धेनुं) गाय कामधेनु माता की (हुवे) मैं स्तुति करता हूं ।

१ २०३२ ३ १ २ ३१२ ३१३
[२९६] न त्वा बृहन्तो अद्रयो वरन्त इन्द्र वीळवः ।
१र २र ३ १र २र३ २ ३ २ ३१र २र
यच्छिक्षासि स्तुवते मावते वसु न किष्टदा मिनाति ते ॥४॥
ऋ० ८ । ८८ । ३ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार बिजुली को (बृहन्तः अद्रयः न वरन्ते) बड़े २ मेघ और पर्वत वरण करते हैं उसी प्रकार (त्वा) तुझको (वीळव) वीर्य-सम्पन्न, (बृहन्तः) बड़े २ (अद्रयः[1]) विद्वान् लोग (न वरन्ते[1]) क्या स्वीकार नहीं करते ? करते ही हैं । अथवा वे (न त्वा वरन्ते) तेरा वारण नहीं करते, विरोध नहीं करते, तेरा निषेध नहीं करते, तेरी सत्ता स्वीकार करते हैं । (यत्) क्योंकि (मावते स्तुवते) मेरे

१ भक्षणार्थस्य अत्तेर्विदारणार्थस्य दृणातेर्वा रिन् प्रत्ययः । अत्ति तमः इत्यद्रिर्ज्ञानी । न दीर्यते मोहादिना वा इत्यद्रिः संयमी ।

२९६—'यद्दित्ससि' इति ऋ० ।

समान स्तुति करनेहारे पुरुष को तू (यत् वसु शिक्षसि) जो वासयोग्य धन, बल प्रदान करता है (ते तद्) तेरे दिये उस धन को न कि. आ॰ मिनाति) कोई भी नाश नहीं कर सकता । विद्युत् पक्ष में बड़े २ (अद्रयः) मेघ या पर्वत भी उसको ढाप नहीं सकते ।

[२६७] क ईं वेद सुते सचा पिबन्त कद्वयो दधे ।
अयं यः पुरो वि भिनत्त्योजसा मन्दान शिप्रिन्धसः ॥५॥
ऋ० ८ । ३२ । ७ ॥

भा०—(सुते) जीवनयज्ञ में (सचा) इन्द्रियगण के एक साथ (पिबन्त) सोम का पान करते हुए आत्मा को (क ईं वेद) कौन जाने ? और कौन जाने कि (कद् वयो दधे) वह कितनी आयु धारण करता है । (य॰) जो आत्मा (शिप्री) वेगवान्, अपनी कर्मगति से एक देह से देहान्तर में गमन करने हारा, (अन्धस॰ मन्दान॰) अन्न द्वारा हर्ष को प्राप्त होता हुआ (ओजसा) अपने तेज से (पुर॰) अपने भोग भूमियों, देहों को (वि भिनत्ति) तोड़ डालता है और मुक्त हो जाता है ।

देह में आत्मा इन्द्रियों के साथ रस भोगता है. परन्तु उसकी उम्र को कोई नहीं जानता । वह अपने कर्मगति से देहों में भ्रमण करता और अन्नरस को भोगता और ज्ञान से देहमुक्त हो जाता है ।

[२६८] यादिन्द्र शासो अव्रत च्यावया सदसस्परि ।
अस्माकमंशुं मघवन्पुरुस्पृहं वसव्ये अधि बर्हय ॥ ६ ॥

भा० —हे (इन्द) राजन् ! आत्मन् ! (यत्) क्योंकि (सदस॰परि) हमारे देह, घर वा सभा स्थान के पास रहने वाले (अव्रतम्) व्रत या नियम का पालन न करने हारे पुरुष का तू (शास) शासन कर और (च्यावय) अधिकार से च्युत करदे । हे मघवन् ! (पुरुस्पृहम्) इन्द्रियों या प्रजा के अभि

लापाओं के योग्य, उनके लिये, (अस्माकं) हमारे (अशु) भाग को (वसव्ये) इस वास योग्य देह या देश में (अधि वहेय) और अधिक बढ़ा दे ।

१ २ ३, २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[२९९] त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः ॥ ७ ॥

भा०—(त्वष्टा) समस्त संसार को गढ़ने वाला या कान्तिसम्पन्न (पर्जन्य) प्रजा जनों का बरसते मेघ के समान अत्यन्त हित करने हारा, (ब्रह्मणस्पति) वेद और वेदज्ञों का स्वामी, (अदिति) किसी से भी खण्डित न होने हारा, अखण्ड, परमेश्वर (नः दैव्यं वचः) हमारे देव सम्बन्धी वेदवाणियों की (पातु) रक्षा करे । वही हमारे (पुत्रैः भ्रातृभिः सह) पुत्रों और भाइयों के साथ (दुष्टरं) दुस्तर (त्रामणं) रक्षा करने योग्य (वचः) प्रतिज्ञा वचन की (पातु) पालन करे ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३००] कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥८॥
ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

भा०—हे आत्मन् ! आप (कदाचन) कभी भी (स्तरी न असि) हिंसक नहीं हैं । अथवा-आप (स्तरी) सूतवत्सा गौ के समान दूध न देने हारे नहीं है । प्रत्युत, (दाशुषे सश्चसि) दानशील पुरुष को और भी देते हो । हे मघवन् ! (ते देवस्य) तुझ देव का (दानं) दान (उप-उप इत् नु) बराबर समीप ही समीप (पृच्यते इत् नु) प्राप्त होता ही रहता है ।

३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २
[३०१] युङ्क्ष्वा हि वृत्रहन्तम हरी इन्द्र परावतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ २ ३ १ २
अर्वाचीनो मघवन्त्सोमपीतये उग्र ऋष्वेभिरागहि ॥९॥
ऋ० ८ । ३ । १७ ॥

३०१—'युङ्क्ष्वाहि' इति ऋ० ।

भा०—हे (वृत्रहन्तम) उत्तम रीति से विघ्नों का नाश करनेहारे (इन्द) परमेश्वर ! आत्मन् ! तू (हरी) दोनों प्रकार के धारण और आकर्षण बलों और दोनों प्रकार के इन्द्रियगण को (युध्व) नियुक्त कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (परावत) दूर देश या इन्द्रियों से अगम्य दशा से भी तू (उग्र.) अत्यन्त वेगवान् होकर (सोमपीतये) आनन्दरूप सोमपान करने के निमित्त (ऋष्वेभि·) दर्शन करनेहारे इन्द्रियसाधनों या मरुत् नामक प्राणों सहित (अर्वाचीन·) साक्षात् रूप में (आगहि) प्राप्त हो।

२ ३ १र २र ३ १ २
[३०२] त्वामिदा ह्यो नरोऽपीप्यन् वज्रिन् भूर्णयः।
१ २ ३ १ २ ३र ३ २ ३ १ २ ३र १
स इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमागहि ॥ १० ॥
ऋ० ८ । ९९ । १ ॥

भा०—हे (वज्रिन्) वज्र को धारण करने वाले शक्तिमन् ! (भूर्णय· नरः) भरण पोषण करनेहारे नेता लोग, (ह्य.) पूर्वकाल में (त्वाम् इत्) तुझको ही (आ अपीप्यन्) पुष्ट करते थे। हे (इन्द) आत्मन् ! (स्तोमवाहसः) स्तुतिकर्त्ता या अन्न को धारण करने हारे पुरुषों की स्तुतियों को (इह) यहां (स) वह तू (श्रुधि) श्रवण कर और (स्वसर) स्वयं कर्मानुसार अर्थात् आत्मा के बल से चलने वाले स्वयं गति करने हारे देहरूप गृह में (आगहि) आ विराजमान हो।

इति प्रथमा दशतिः । प्रथमः खण्ड ।

॥ऋ० २॥ऋषि.—१, २, ७, ८ वसिष्ठः । ३ अश्विनौ वैवस्वतौ । ४ प्रस्कण्व· । ५ मेधातिथिर्मेध्यातिथी । ६ देवातिथि. । ९ नृमेध· । १० गोषा ॥ देवता—४ —१० इन्द्र । १ उषा· । २, ३ अश्विनौ ॥ गृहती ॥ मैक्त· ॥

३०२—'स्तोमवाहसामिह' इति ऋ० ।

[३०३] प्रत्यु अदर्श्यायत्युच्छन्ती दुहिता दिव. ।
अपो महीवृणुते चक्षुषा तमा ज्योतिष्कृणोति सूनरी॥१॥

ऋ० ७ । ८ । १ । २ ॥

भा०—(दिवः दुहिता) सूर्य की प्रभा के समान प्रकाशमान परमात्मा से उत्पन्न हुई शक्ति (उच्छन्ती) अन्धकार को दूर हटाती हुई (प्रति उ अदर्शि) सबको दिखाई दे रही है। वह (मही) महान् विस्तारयुक्त होकर (तम.) अन्धकार को उषा काल के समान (अप वृणुते उ) दूर हटाती है। और वह (सूनरी) उत्तम नेत्री, पथदर्शिका (ज्योति कृणोति) सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश कर देती है। यह मन्त्र मन्त्रमय वेदवाणी और प्रबुद्ध चिति शक्ति और उषा तीनों पर समान रूप से है। साधक की यह दशा ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा का उदयकाल कहा जाता है। यह आदित्यवर्ण पुरुष के दर्शन का पूर्वकाल है।

[३०४] इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना ।
अयं वामह्वेऽवसे शचीवसू विशंविशं हि गच्छथ. ॥२॥

ऋ० ७ । ७४ । १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! प्राण और अपान शक्तियो ! हे (उस्रौ) वास कराने हारो ! (इमाः दिविष्टय.) ये द्युस्थान या मस्तक में गति करने हारी सात इन्द्रियां (उ) भी (वा) आप दोनों की (हवन्ते) महिमा को बतलाती हैं। (अयं) यह मैं आत्मा या मन (अवसे) अपने जीवन की रक्षा के लिये (वाम्) आप दोनों को (अह्वे) पुन: २ भीतर से बाहर, बाहर से भीतर बुलाता हूं। हे (शचीवसू) शक्ति द्वारा

३०३—'अपोमहीवयति चक्षसे' इति ऋ० ।

वास कराने हारो ! आप दोनों (विश विश) प्रति देह में (गच्छथः) गमन कर रहे हो ।

३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३०५] कुष्ठः को वाꣳश्विना तपानो देवा मर्त्यः ।
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
घृता वामश्नया क्षयमाणोऽशुनेत्थमु आद्वन्यथा ॥ ३ ॥

भा०—[प्र० १] हे (अश्विनौ) देह में व्यापक प्राण और अपान (वाम्) आप दोनों (कुस्थ) कहा स्थित हो ? [प्र० २] (वाम्) आप को (को मर्त्यः) कौन मरणधर्मा पदार्थ (तपानः) तप्त करता है । [उत्तर १] (वाम्) आप दोनों (अश्नया) शरीर की भोजन करने की शक्ति द्वारा (घृता) ताड़ित होकर गति करते हो । [उ० २] (यथा आद्वन्) जिस प्रकार भोगों और ऐश्वर्यों का भोक्ता राजा, शासक (अशुना) अपने समस्त देशव्यापी बल से (क्षयमाण) देश भर में विराजमान होकर भृत्यों को चलाता है और तपाता है (इत्थम् उ) उसी प्रकार (आद्वन्) व्यापक आत्मा (क्षयमाणः) देह में रहकर (अशुना) अपने व्यापक भोग-कर्म शक्ति द्वारा आप दोनों को तपाता है, गति देता है । और (अश्नया) अशना और पिपासा द्वारा आप दोनों (घृता) पीड़ित होकर इसके शासन में गति करते हो । (इसका विवरण देखो बृह० उप० अ० १, ब्राह्मण २)

३ १ ३ १ २ उरड ३ १ २
[३०६] अय वां मधुमत्तम सुत सोमो दिविष्टिषु ।
१ २ १ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
तमश्विना पिबतं तिरो अन्ह्य धत्त रत्नानि दाशुषे ॥४॥
अ० १ । ४७ । १ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्वियो ! प्राण और अपान ! (वा) आप दोनों के लिये (दिविष्टिषु) चेतनासम्पन्न इन्द्रियों की एषणाओं में, या

३०६—'साम ऋनाधृग इति ऋ० ।

देवयज्ञों में (अयं) यह (मधुमत्तम) अत्यन्त मधुर (सोम॰) सोमरस अन्न रस, ज्ञानरस (सुत॰) सम्पन्न किया गया है । (तिरः अन्ह्य) विगत काल के सम्पादित (तं) उसको (पिबतं) पान करो शरीर में ग्रहण करते हो और (दाशुषे) अपना ज्ञान या पदार्थ या प्राण को अपान में और अपानं को प्राण मे हविरूप से दान करने हारे साधक को (रत्नानि) रमणीय, सुखकारी साधन बल आरोग्य (धत्तं) प्राप्त कराओ ।

प्राणापान का यज्ञ देखो गीता (अ०४।२९।३०) और छान्दो० उप० अ ०३ ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३०७] आ त्वा सोमस्य गल्दया सदा याचन्नह ज्या ।

१ २ ३१२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २

भूर्णिं मृगं न सवनेषु चुक्रुधं क ईशानं न याचिषत् ॥५॥

अ० ८ । १ । २० ॥

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर (अहं) मै (ज्या) उत्कृष्ट प्रशसा योग्य (सोमस्य गल्दया[1]) सोम की धारारूप वाणी से (त्वा) तुमको (सदा आ याचन्) नित्य प्रार्थना करता हू । (सवनेषु) यज्ञकर्मों और उपासनाओं में (मृग न) सिंह के समान दुष्टों पर (चुक्रुधं) क्रोध करते हुए (भूर्णिम्) संसार भर के भरण करने हारे (ईशान) स्वामी जगदीश्वर की (क न) कौन नहीं (याचिषत्) प्रार्थना करता ।

१ २ ३२ ३ २उ ३ १ २

[३०८] अध्वर्यो द्रावया त्वं सोममिन्द्र॰ पिपासनि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ १

उपो नून युयुजे वृषणा हरी आ च जगाम वृत्रहा ॥६॥

अ० ८ । ४ । २२ ॥

३०७—'मात्वा' इति 'याचन्नह गिरा' इति च ऋ० ।

१. गल्देति वाङ्नाम (नि० १।११) घमन्तमो वा इति (नै० ६ । २४)

३०८—'उपनूनं' इति ऋ० ।

भा०—हे (अध्वर्यो) कभी नष्ट न होने वाले ! अहिंसित ! आत्मस्थित मन ! अहंकार ! (सोम) सोमरूप आनन्दरस को (इन्द्र·) आत्मा (पिपासति) पान करना चाहता है। (त्वं सोम दाशय) तू उस आनन्द रस को चुआ, उत्पन्न कर। (वृत्रहा) विघ्न और तमों के निवारक आत्मा ने (नून) निश्चय से (वृषणा) सब काम्य सुखों की वर्षा करने हारे एव बलवान् (हरी) हरणशील साधन, प्राण और अपान दोनों को (उप युयुजे) जोड़ ही लिया है और वह (आ जगाम च) आभी गया है। साधक अपने अहकारयुक्त आत्मा से सम्बोधन करता है। देखो प्राणाग्निहोत्र उप० (ख० ४) 'अहंकारोऽध्वर्युः'

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[३०९] अभीषतस्तदाभरेन्द्र ज्यायः कनीयसः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पुरूवसुर्हि मघवन् बभूविथ भरे भरे च हव्यः ॥७॥

ऋ० ७ । ३२ । २४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (ज्यायः) सबसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ ! (कनीयसः) अपने से छोटे (ईषतः) आप से साहाय्य चाहने हारे मेरे लिये (तद् अभि आ भर) अच्छी प्रकार सब ओर से उस अभिलाषा योग्य पदार्थ को प्राप्त करा। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (हि) क्योंकि आप (पुरु वसुः) अनेक प्रजाओं को वास कराने हारे (भरे भरे च) और प्रत्येक यज्ञ में (हव्यः) स्तुति योग्य हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १२ १२

[३१०] यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥८॥

ऋ० ७ । ३२ । १८ ॥

३०९—'मघवन्त्सनामि' इति ऋ० ।

३१०—'स्तोतारमिद्दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (यावत· त्वम्) जितने ऐश्वर्य का तू मालिक है-(यद्) यदि (एतावद्) इतना ऐश्वर्य (अहम्) मैं (ईशीय) प्राप्त करलूं तो हे (रदावसो !) समस्त पदार्थों के देने हारे ! मैं (स्तोतृभ्य इद्) स्तुति करने हारे, सत्य ज्ञान के दर्शाने हारे विद्वान् को ही (दधिषे) दे डालूं। (पापत्वाय) पाप के कर्मों के लिये (न रंसिषम्) कभी न दूं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[३११] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥६॥

अ० ८ । ६६ । ५ ।

भा०—हे (इन्द्र त्वं) तू (प्रतूर्तिषु) संग्रामों में या बल के कार्यों में (विश्वा· स्पृध·) समस्त स्पर्द्धा करने हारी सेनाओं या दुर्वासनाओं के (अभि-असि) मुकाबले पर डट जाता है और उनको परास्त करता है। हे (तूर्य) शत्रु के नाश करने हारे ! (त्वं) तू (तरुष्यत·) हिंसा करने की चेष्टा करने वाले शत्रुओं के प्रति (वृत्रतू असि) सब उपद्रवों का नाशक है। और तू ही (अशस्तिहा) शासन को न मानने हारे उद्दण्डों को नाश करने हारा (जनिता) प्रजाओं के पिता के समान है।

१ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[४१२] प्र यो रिरिक्ष ओजसा दिवः सदोभ्यस्परि ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
न त्वा विव्याच रज इन्द्र पार्थिवमति विश्वं ववक्षिथ ॥१०॥

भा०—(यः) जो तू परमेश्वर (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (दिव·) द्यौलोक के (सदोभ्य·) वास भूमियों से भी (परि) परे तक (प्र रिरिक्षे) दूरतक फैला हुआ है। हे (इन्द्र) परमेश्वर ! इसलिये

३१२–'महिरिरिक्ष' 'पित्र मन्तेभ्यस्परि' 'अनुस्वधा विवक्षिथ' इति च ऋ० ।

(पार्थिवं रज) यह पृथ्वी लोक (त्वा) तुझ को (न विव्याच) कभी व्याप्त नहीं कर सकता। तू (अतिविश्वं) इस समस्त ब्रह्माण्ड को अतिक्रमण करके (ववक्षिथ) उसको वहन करता है, धारण करता है।

इति द्वितीया दशति । अष्टमः खण्ड. ।

॥द० ३॥ ऋषि —१, २, ६ वसिष्ठः । गातुरात्रेयो गृत्समदो वा । ४ पृथुर्वैन्यः । ५ सप्तगु । ७ गोरिवीति. । ८ वेनो भार्गवः । ९ बृहस्पतिर्नकुलो वा। १० सुहोत्र ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् . नेवत. ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ ८ २२ ३ १ २ ३ १ २

[३१३] असावि देवं गोऋजीकमन्धो न्यस्मिन्निन्द्रो जनुषमुवोच ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

बोधामसि त्वाह र्यश्व यज्ञैर्बोधा न. स्तोममन्धसो मदेषु॥१॥

ऋ० ७ । २१ । १ ॥

भा०—(गो ऋजीकम्) इन्द्रियों द्वारा ऋजुता से प्रत्यक्ष रूप में, साक्षात् सम्बन्ध द्वारा प्राप्त (देव) दिव्य स्वभाव गुण युक्त, आनन्ददायक (अन्ध) ज्ञान, सोम (असावि) प्राप्त किया। (इन्द्र) आत्मा (जनुषा) उत्पत्तिकाल से ही (इम्) अप्रत्यक्ष रूप में (अस्मिन) इस ज्ञान में (उवोच) समवेत है, समवाय सम्बन्ध से है। अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है। हे। हर्यश्व !) हरणशील भोग साधनों से सम्पन्न ! (त्वा) तुझको (यज्ञै) ज्ञानयज्ञों अथवा अन्तर्योगों द्वारा (बोधामसि) ज्ञान करते हैं। और तू (न) हमारे (स्तोम) सत्य ज्ञान कथाओं को (अन्धस मदेषु) सोमरूप ज्ञान की उत्कृष्ट आनन्द दशा में (बोध) जाना कर।

१ २ २ १ ३ ३ १ २ २ ३ १ ३

[३१४] योनिष्ट इन्द्र सदने अकारिष्टमा नृभि पुरुहूत प्रयाहि ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३

असो यथा नोऽविता वृधश्चिद्दधो वसूनि ममदश्च सोमै'॥२॥

ऋ० ७ । २४ । २ ॥

३१३–'बृधेव' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (ते सदने) तेरे निवास योग्य गृह, इस देह में (योनिः अकारि) तेरे प्रकट होने का स्थान बना है। (तम्) उस स्थान पर हे (पुरुहूत) इन्द्रियों या बहुतसे भक्तों द्वारा निरन्तर स्मरण किये गये आत्मन् ! (नृभिः) अपने नेता, प्राणरूप मरुतों के सहित तू (आ प्र याहि) सब ओर से हटकर वहां ही प्रकट हो और (यथा) जिस प्रकार से (नः) हमारा (वृधः) बढ़ाने हारा (चित्) और (अविता) पालनकर्त्ता (असः) बन और (वसूनि) धन, आनन्द (ददः) दान कर (सोमः च) और सोमों द्वारा (ममदः) आनन्द का उपभोग कर।

अन्तरेण तालुके य एष स्तन इवावलम्बते सा इन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते व्यपोह्य शीर्षकपालं सत्यात्मप्राणारामं मनः आनन्दम् शान्तिसमृद्धममृतम् इति प्राचीनयोग्योपास्स्व (तैत्तिरीयोपनि० अनु० ६ वल्ली १।)

१ २ ३२ ३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३१५] अर्द्दरुत्समसृजो वि खानि त्वमर्णवान् बद्बधानाँ अरम्णाः।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ड ३ २ड ३ २ ३ १ २ ३ २

महान्तमिन्द्र पर्वतं वि यद्व. सृजद्धारा अव यद्दानवान् हन् ॥३॥

ऋ० ५ । ३२ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं) तू ने (उत्सम्) ऊर्ध्वस्थान मूर्धा भाग को (अर्द्दरः) विदारण किया, और (खानि) इन्द्रिय द्वारों को (वि-असृज.) तू ने स्वयं रचा और (त्वम्) तूने (अर्णवान्) गति शील (बद्बधानान्) आघात प्रतिघात करते हुए प्राणों को (अरम्णाः) व्यवस्थित किया। और (यद्) जब तूने (महान्तं) बड़ाभारी (पर्वतं) पोरुओं वाला देह (वि अ०) प्रकट किया और (यत्) जो (दानवान्)

३१५—'अरम्णा' इति, सृजोविधार अवदानव हन् इति च ऋ० ।

ज्ञान देने हारे इन प्राणों को (आवहन्) प्रेरित करता और (धारा) ज्ञान स्मृतिरूप धाराओं को, या अमृतरस की धाराओं को, या इन्द्रिय नाड़ियों को उन छिद्रों में प्रवाह रूप से (विसृजद्) विशेष रूप से प्रेरित करता है। इसका स्पष्टीकरण ऐतरेयोपनिषत् १म, २य, ३य खण्ड में देखिये वहां ही इन्द्र का स्पष्टीकरण भी है। और देखो (बृहदारण्यक उप० अ० १ ब्रा० ४)

'उत्स उत्सरणाद् उत्सहनाद्वोनत्तेर्वा (निरु० १० । १ । ४) स्रवन्ति इन्द्रियाणि, (काठक उ०)। पराञ्चि स्रवन्ति व्यतृणत् स्वयम्भूः ।' रुणद्धीति विसर्जनकर्मा, संयमनकर्मा वा (नि० १० । १ । ४)

[३१६] सुष्वाणास इन्द्र स्तुमसि त्वा न निश्यन्ताश्चिन्तुविष्टम वाजम्।
आ नो भर सुवितं यस्य कोना तना त्मना सह्यामा त्वोता ॥४॥
ऋ० १० । १४८ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हम (वाजं सनिष्यन्तः) भोग्य पदार्थ का सेवन करते हुए भी (त्वा सुष्वाणासः) तेरे लिये ही उनका रस सम्पादन करते हुए हम (स्तुमसि) तेरी स्तुति करते हैं। इसलिये (नः) हमारे लिये (सुवितं) उत्तम बल ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त करा। (यस्य) जिसकी (कोना) कामना करते हुए हम (तना) स्वयं आपसे आप (त्वा उता०) तेरे से रक्षित रहकर या तेरे में पिरोये हुए रहकर (त्मना) स्वयं उत्तम २, विस्तृत अनुभवों को (आ सह्याम) प्राप्त करें। प्राणों का आत्मा के प्रति और मर्त्यों का ईश्वर के प्रति यह वचन है।

[३१७] जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्।
विभा हि त्वा गोमति व्रज गवामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दा ॥५॥
ऋ० १० । ४८ । २ ॥

३१६—'चारुत्मना मना मनुषान इति ऋ० ।

३१७—'इन्द्रभाते' इति पाठभेदः ऋ० ।

भा०—हे इन्द्र ! (वयं वसूयवः) हम प्राणों की कामना या देह में स्वयं वसु होने की कामना करते हुए (ते) तेरा (दक्षिणं) दाया, क्रिया सम्पन्न (हस्त) हाथ (जगृह्म) ग्रहण करते हैं । हे (वसूना) वसुओं के बीच में (वसुपते) प्राणों के पालक ! आत्मन् (त्वा) तुझको (गोना गोपतिं) इन्द्रियों के बीच में इन्द्रियों के स्वामी के समान (विद्म हि) निश्चय से जानते हैं । (अस्मभ्यम्) हमें (चित्रं) सदा बढ़ने वाले या चितिशक्ति से युक्त या ज्ञानसम्पादन करने हारे (वृषणं) सब सुखों के देने वाले, पुष्टिकारक (रयिं) प्राण, अन्न, बल (दाः) दो ।

3 1 2 3 1 2 3 1 2 2 3 1 2 3 2 3 2

[३१८] इन्द्रं नरो नमधिता हवन्ते यत्पार्या युनजते धियस्ता. ।

3 1 2 3 1 2 3 2 3 1 2 3 1 2 3 1 2

शूरो नृषाता श्रवसश्चकान आ गोमति व्रजे भजा त्वं नः ॥६॥

ऋ० ७ । २७ । २ ॥

भा०—(यत्) क्योंकि आत्मा (पार्याः) व्यापार, चेष्टा करने वाले या भरणपोषण करने में समर्थ (धियः) ज्ञान और कर्मों की (युनजते) आयोजना, प्रबन्ध करता है इसलिये (नरः) विद्वान् लोग (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा के समान परमेश्वर या आत्मा को (नेमधिता) संग्राम, यज्ञ, व्यवस्था की स्थापना के अवसर पर (हवन्ते) उसको बुलाते या स्मरण करते हैं । शूरः) शूरवीर (नृषाता) मनुष्यों का उचित विभाग करने हारा (चकमे) कामना करने वाले (गोमति व्रजे) हमारे अभिलषित गौओं के बाड़े के समान इन्द्रियों से सम्पन्न व्रज, गोष्ठ या देह में (त्वं) तू (नः) हमें (श्रवसः) अन्न बल आदि (भज) प्राप्त करा ।

1 2 3 1 2 2 3 1 2 3 1 2 3 1 2 3 1 2

[३१९] वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः ।

1 2 3 1 2 3 2 3 1 2 2 3 2 2 3 1 2 3 2

अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान् ॥७॥

ऋ० ३० । ७३ । ११ ॥

३१८—'शवसश्चकान' इति पाठभेदः, ऋ० ।

भा०—(वयः) दूर तक गति करने हारे, दूरदर्शी, (सुपर्णा.) उत्तम ज्ञान और बल की याचना करते हुए, (ऋषय) विद्वान् लोग और आत्म पक्ष में—इन्द्रिया (इन्द्रम् उपसेदु) इन्द्र आत्मा आचार्य, परमेश्वर के समीप शिष्य भाव से पहुंचे और कहने लगे (ध्वान्त) हमारे अज्ञानरूप अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) दूर कर। (चक्षुः) हमारी आंख को (पूर्धि) शक्तिमान् कर, तेज से भर दे और (निधया इव बद्धान्) जाल में बंधे हुए के समान हमको (मुमुग्धि) मुक्त कर।

इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, शिष्यों का महाज्ञानी गुरु के प्रति, ऋषियों, ज्ञानियों का परमात्मा के प्रति यह वचन है।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२०] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥८॥

ऋ० १० । १२३ । ६॥

भा०—हे ज्ञानस्वरूप। तेजस्विन् आत्मन्! (नाके) दुःख रहित मोक्षमार्ग में (हृदा वनन्त) अपने हृदय या मन से तेरी कामना करते हुए, (उपपतन्त) गमन करते हुए (हिरण्यपक्ष) हितकारी और मनोहर पक्ष या प्राणों या साधनों से युक्त, (वरुणस्य दूतं) सब पापों के वारण करने हारे जगदीश्वर के दूत, संदेश या ज्ञान को प्राप्त कराने हारे (यमस्य) सब के नियन्ता वायु या ईश्वर के (योनौ) प्रकट होने के स्थान या अन्तरिक्ष में (शकुनं) शक्ति से सम्पन्न, (भुरण्युं) भ्रमणशील या सब के पालन पोषण करने हारे (त्वा) तुझको (यत्) जो (अभि-अचक्षत) सर्वत्र देखते हैं। इस आनन्दमय ब्रह्म आत्मा के नाना पक्षों का विवरण देखो तैत्तरीय उप० (आनन्दवल्ली अनु० १ से ६ तक) वहां इस शकुन के पक्षों और पुच्छ आदि का नाना रूप से प्रदर्शन कराया है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२१] ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
क ३ २ १ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठा सतश्च योनिमसतश्च विवः ६
अथर्व० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(वेनः) ज्ञानवान् तेजस्वी परमात्मा (प्रथमं) सबसे प्रथम (जज्ञानं) प्रादुर्भूत या प्रकट होते हुए (ब्रह्म) बृहदाकार ब्रह्माण्ड को (सीम् अतः पुरस्तात्) इस समस्त संसार की रचना के पूर्व ही (सुरुचः) उत्तम कान्तियों का (वि आवः) पुञ्ज बनाकर प्रकट करता है (सः) वह परमात्मा (बुध्न्याः) आकाश में उत्पन्न हुए (अस्य उपमाः) उसके ही सदृश (विष्ठा) विशेष रूप से स्थिति करने हारे ब्रह्माण्ड को भी स्थापित करता है। और (सतः च) इस समस्त सत् रूप में प्रकट जगत् (असतः च) और अव्यक्त प्रकृति के (योनिम्) मूल आश्रय को भी (विव.) वही प्रकट करता है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२२] अपूर्व्या पुरुतमान्यस्मै महे वीराय तवसे तुराय ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
विरप्शिने वज्रिणे शन्तमानि वचांस्यस्मै स्थविराय तक्षुः १०
ऋ० ६ । ३२ । १ ॥

भा०—विद्वान् लोग (महे वीराय) बड़े भारी वीर, (तवसे) बल वान्, (तुराय) वेगवान् (विरप्शिने) ज्ञानवान् (वज्रिणे) विघ्नों और उपद्रवों के निवारक, वज्र बल के धारण करने वाले, (स्थविराय) अचल कूटस्थ (अस्मै) इस परमात्मा के लिये (पुरुतमानि) बहुत से (अपूर्व्या) अद्भुत उसको पूर्ण रीति से वर्णन करने हारे अपूर्व (वचांसि) नाना वचन (तक्षुः) प्रकट करते हैं।

इति तृतीया दशति. । नवमः खण्डः ।

॥ द० ४ ॥ ऋषि—१ २. ४ तिरश्चीद्गृत्समदो मरुत्तो वा । वृहदुक्थः । ५ वाम देव: । ६ ८ वसिष्ठः । ७ विश्वामित्रः । ९ गोरिवीतिः ॥ इन्द्रो देवता॥ छन्द: १–५, ७–९ विराट् । त्रिपदा विराड् त्रिष्टुप् ॥ धैवतः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३२३] अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियान: कृष्णो दशभि: सहस्रै:।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आवत्तमिन्द्र: शच्या धमन्तमप स्नीहितिं नृमणा अधद्राः॥१॥

ऋ० ८ । ९६ । १३ ॥

भा०—(द्रप्स:) द्रवणशील, गतिमान्, (कृष्णः) विलेखन संकर्षण या संक्षिकर्ष करने द्वारा मुख्य प्राण (दशभिः) अर्थों को प्रकाशित करने हारे (सहस्रैः) वेगवान् प्राणों सहित (इयानः) गति करता हुआ (अंशुमतीम्) व्यापनशील चेतना से युक्त चितिशक्ति का (अव अतिष्ठत्) आश्रय लेता है। (इन्द्रः) आत्मा (शच्या धमन्तम्) अपनी शक्ति द्वारा श्वास प्रश्वास लेते हुए (तम्) उसको (आवत्) प्राप्त होता है (नृमणा) सब नरों में मनन शक्ति रूप वह आत्मा (स्नीहितिं) प्रवधात करते हुए उस प्राण को (अप अध द्राः) नीचे अंगों में भी प्रेरित करता है।

प्राण की गति को अपान तथा अन्यान्य अधोगामी स्थानों में प्रेरण करने में आत्मा के संकल्प ही कारण है। इसको सायणादि भाष्यकारों ने कृष्णासुर को मारने की कथा गढ़ कर लगाया है, यह असंगत है।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १

[३२४] वृत्रस्य त्वा श्वसथादीयमाणा विश्व देवा अनुहूयं समायन्

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

महोद्रिरिन्द्र सर्ण्यं तं अस्त्वयमा विश्वाः पृतना जयासि॥२

ऋ० ८ । ९६ । १४ ॥

३२३–'स्नेहितीनृमणा' इति ऋ० ।

भा०—(वृत्रस्य) आवरणकारी इस तामस देह के (श्वसथाद्) श्वास प्रश्वास से (ईयमाणाः) गति करते हुए (विश्वे देवाः) सब इन्द्रगण, मरुद्गण, असुख्य प्राण, चक्षु आदि (ये) जो (सखायः) मित्र (त्वा) तुझको (अजहुः) छोड़ देते हैं अन्तर्मुख न होकर बहिर्मुख हो जाते हैं, तो भी हे आत्मन् ! (ते सख्य, तेरा मैत्रीभाव (मरुद्भि०) उन प्राणों इन्द्रियों से (अस्तु) बना ही रहता है । (अस्य) इसी कारण (हमा) इन (विश्वा०) समस्त (पृतनाः) भरण पोषण योग्य प्राणियों के देहों को (जयासि) तू अपने वश रखता है ।

ईष् गतिहिंसादर्शनेषु, भ्वादिः । ईष् उञ्छे, भ्वादिः । पृतना इति मनुष्यनाम, (नि० २ । ४ ।)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३२५] त्रिधुं दद्राण समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ २

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समानः ॥३॥

ऋ० १० । ५५ । ५ ॥

भा०—(त्रिधुं) विधमनशील, धौंकनी के समान विशेष रीति से शरीर में गति करने वाले, (समने) समान रूप से प्राण धारण करने के कार्य में (बहूनां) बहुतों को (ददाणं) गति देने वाले, (युवानं सन्त) युवा, बलशाली होते हुए मुख्य प्राण को भी (पलित०) पुराण पुरुष आत्मा (जगार) अपने भीतर लीन कर लेता है । (देवस्य) उस आत्मदेव के (काव्यं) ज्ञान—सामर्थ्य को (पश्य) देख (ह्यः) जो भूत काल में (समानः) निरन्तर जीवित रहा, (स अद्य) वह आज भी (महित्वा) उस 'स्व' अपने महिमा या बड़प्पन में (ममार) अपना प्राण को त्याग देता है अर्थात् उसमें ही लीन हो मुक्त हो जाता है ।

देखो स्पष्टीकरण उपनिषदों के अध्याय—प्रकरण एकायन—प्रकरण और स्व महिमा में संप्रतिपत्ति प्रकरण ।

परमेश्वर पक्ष में—(विधु) चन्द्र को जिस प्रकार पूर्ण हो जाने के बाद भी सूर्य अमावास्या में ग्रस लेता है उसी प्रकार (बहूनां) बहुत से प्राणों के बीच में सबसे अधिक (युवान सन्तं) युवा अति बलवान सत् स्वरूप आत्मा (विधुं दद्राणं) चन्द्र के समान आह्लादकारी एवं गतिशील आत्मा को (पाशिनः) सर्वव्यापक, पुराण परमेश्वर (जगार) अपने भीतर ले लेता है (देवस्य) उस महान् परमेश्वर के बनाये (काव्यं पश्य) इस संसारमय ज्ञानस्वरूप कवि विद्वान् परमेश्वर की बनाई रचना को देख कि (आद्यममार) जो अज मरता है (सः) वह (ह्यः) फिर दूसरे दिन (समानः) प्राण धारी होकर जीता है। अर्थात् पुनः जन्म लेता है। और जो ही जगत् अवनष्ट होता है वह पुन. बनता है।

देखो अथर्व० पाशित सूक्त। का० ६। १। १० ॥

२ ३ २ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२६] त्वं ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशत्रुभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र।
३ १ २ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
गूढे द्यावापृथिवा अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः॥४॥
ऋ० ८। ९६। १६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (त्वं ह) तू ही (जायमानः) प्रकट होते समय (त्यत्-सप्तभ्यः) उन सातों (अशत्रुभ्यः) कभी न सोने हारे, निरन्तर चलने वाले शरीरस्थ प्राणों को (शत्रु) एकमात्र सुलाने वाला, अपने में लीन करने हारा, या शातयिता, उनके वेग को कम करने हारा या उनको इन्द्रियरूप में शिरोदेश में फोड़कर बनाने वाला (अभव.) है। और उसके बाद तू ही (गूढे) गुहा या बुद्धि में स्थित (द्यावा पृथिवी) अन्तरिक्ष एवं सूर्य और पृथिवी के समान मूर्धाभाग और शेष शरीरभाग को (अनु अविन्द.) प्राप्त करता है। और (विभुमद्भ्य.) सत्तावान् बलवान्, (भुवनेभ्य) प्राणों से (रण) रमण, विनोद, आनन्द की मात्रा स्वयं (धाः) धारण करता है, अर्थात् भोग करता है।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३२७] मेडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुभस्मानं वृषभं स्थिरप्स्नुम्
३ १२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
करोष्यर्यस्तरुषीर्देवस्युरिन्द्र ध्रुवं वृत्रहणं गृणीषे ॥५॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (देवस्यु.) परिचर्या, सेवा की इच्छा करने हारा तू (अर्यः) अपनी गतिशील इन्द्रियों को (तरुषीः) पदार्थों या भोग्य विषयों तक चले जाने योग्य (करोषि) कर लेता है। इस कारण मैं (मेडिं न) मेल करने हारे योगी के समान (वज्रिणं) वर्जन करने वाले बल वैराग्य द्वारा सब पदार्थों के ज्ञानपूर्वक संग त्याग से सम्पन्न (भृष्टिमन्तं) पापों को भून देने हारी परिपक्व, सम्यग् बुद्धि से युक्त (पुरुभस्मानं) इन्द्रियों को आश्रय देने हारे (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ (स्थिर-प्स्नुम्) कूटस्थ, अचल, नित्य, ध्रुव (ध्रुवं) प्रकाशस्वरूप, (वृत्रहणं) तम.स्वरूप देहबन्धन को नाश करने हारे (त्वा) तेरी मैं (गृणीषे) स्तुति करता हूं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३२८] प्र वो महे महे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्रसुमतिं कृणुध्वम् ।
१ २ ३ १२ २३ ३ २
विशः पूर्वीः प्रचर चर्षणिप्राः ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ३१ । १० ॥

भा०—(वः) आप लोग (महे वृधे) महिमा से बढ़ने वाले (महे) बड़े भारी आत्मा के लिये (प्र भरध्वं) उत्तमरूप से हव्य पदार्थ अन्न और ज्ञान का संग्रह करो (प्रचेतसे) उत्कृष्ट ज्ञानसम्पन्न आचार्य आत्मा या परमेश्वर के निमित्त (प्र सुमतिं) उत्तम २ विचार या मनन (कृणुध्वम्) किया करो। हे (इन्द्र) आत्मन् ! (चर्षणिप्राः) विद्वानों को ज्ञान से पूर्ण करनेहारे आप (पूर्वीः विशः) पालन करनेहारी श्रेष्ठ धर्मात्मा प्रजाओं के पास (प्र चर) उत्तमरूप से आओ, प्राप्त होओ।

३२८—'प्र वो महो महिद्रुध' 'प्रचर', चर्षणिप्राः' इति ऋ०।

३ १ २ ३ १ २३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
[३२९] शुन हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानि॥७॥
ऋ० ३ । ३० । २२ ॥

भा०—(अस्मिन्) इस (भरे) भरण पोषण करने हारे (वाजसातौ) अन्न और ज्ञान के साधन कार्य में (शुन) ज्ञानसम्पन्न, सर्वव्यापक, (मघवानम्) ऐश्वर्यसम्पन्न, (नृतम) सबसे उत्तम नेता, (शृण्वन्त) सबकी प्रार्थनाओं को सुनने हारे (उग्रम्) दुष्टों के प्रति उग्र स्वभाव वाले (समत्सु) संग्रामों और उत्सवों में (वृत्राणि) उपद्रवकारियों को (घ्नन्तं) नाश करने हारे, (धनानि) नाना विभूतियों को (संजितं) स्वयं जीतने हारे (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा के समान (समत्सु) योगज हर्षों या आनन्द प्राप्ति के अवसरों में (वृत्राणि घ्नन्तम्) आवरणकारी तामस भावों का नाश करने वाले और (धनानि संजितम्) ऐश्वर्यों पर विजय करने वाले आत्मा और परमेश्वर को (हुवेम) हम स्मरण करें, पुकारें ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३०] उद्व ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ८
ऋ० ७ । २३ । १ ॥

भा०—हे (वसिष्ठ) वाग् ! या विद्वन् ! (श्रवसा) ज्ञान की प्राप्ति के लिये (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों का (उद् ऐरत) उच्चस्वर से पाठ कर । (समर्ये) यज्ञ आदि विद्वानों की संगति में (इन्द्रं) उस परमात्मा की (महय) उपासना कर (यः) जो (श्रवसा) अपने सामर्थ्य से (विश्वानि) समस्त ब्रह्माण्डों को (आततान) रचता है और (यः) जो (मे) मुझ (ईवतः) ज्ञानी पुरुष के (वचांसि) वचनों को (उप श्रोता) समीपतम होकर श्रवण करता है ।

३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १२ २२
[३३१] चक्रं यदस्याप्स्वानिषत्तमुतो तदस्मै मध्वित्क्षरति स्वधावत् ।
३ १२ २२ ३ २२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
पृथिव्यामतिषितं यदूधः पयो गोष्वदधा ओषधीषु ॥६॥
ऋ० १० । ७३ । ६ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर का (यद्) जो (चक्र) सृष्टिक्रम (अप्सु) प्रजाओं में (आनिषत्तम्) विद्यमान है । (उत उ) और (अस्मै) इस सृष्टिचक्र के लिये (मधु इत्) विशेष मधुर, अन्नादि जीवनरस को ही (चक्षद्यात्) गुप्तरूप से रखता है और (यद्) जो (ऊधः) ऊपर उठा हुआ रस का भण्डार, समुद्र, मेघ और पर्वत (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर (अति-सितं) खूब बलपूर्वक बंधा हुआ है उससे ही वह (गोषु) गौओं में और (ओषधीषु) ओषधियों में (पयः) पान करने योग्य रसको (अदधाः) आधान करता है ।

अन्न से प्राणिगण, मेघों से अन्न, यज्ञ से मेघ, कर्म से यज्ञ, ब्रह्म से कर्म, अक्षर से ब्रह्म, ऐसा 'चक्र' है, देखो (गी० अ० ३ । १४,१५)

इति चतुर्थी दशतिः । दशमः खण्डः ।

॥ द० ५॥ ऋषिः—१ अरिष्टनेमिस्तार्क्ष्यः । २ मृगो भरद्वाजो वा । ३ वासुक्रो विमदो वा । ४–६, ९ वामदेवः । ७ विश्वामित्रः । ८ रेणुः । १० गोतमः ॥ देवता–१–६, ९, १० इन्द्रः । ७, ८ पर्वतेन्द्रौ ॥
१ त्रिष्टुप ॥ धैवतं ।
३ ३ २ ३ १·२ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३३२] त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
१ २ ३ १ ३ २ ३ २३ १ २ ३ १ २
अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥
ऋ० १० । १७८ । १ ॥

३३२—तृणमत्तुते इति तार्क्ष्यः । तार्क्ष्य इति अश्वनाम । नि० १ । १४ ॥

भा०—हम लोग (त्य) उस (वाजिन) ज्ञान, वेग, कर्म से युक्त, (देवजूतं) देवों, विद्वानों और इन्द्रियों से पूजित, तर्पित, (सहोवानं) सहनशीलता एवं बल से युक्त, (रथाना तस्तारं) इन रथरूप देहों या गतिशील नक्षत्रों और ग्रह उपग्रहों को गति तथा परस्पराकर्षण की अद्भुत व्यवस्था द्वारा चलाने हारे, (अरिष्टनेमिं) शुभ मार्ग में सबको नियम में सचालन करने हारे, (पृतनाजं) सब मनुष्य प्रजाओं के भीतर प्रकट होने हारे, (आशुं) सर्वत्र व्यापक या कर्मफल के दाता या भोक्ता (तार्क्ष्यम्) अत्यन्त वेगवान् या व्यापक परमात्मा और आत्मा का (इह) यहां इस अन्त करण में (आहुवेम) आह्वान करते हैं ।

[३३] त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
ह्वये नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रमिदं हविर्मघवा वेत्विन्द्र ॥२॥
ऋ० ६ । ४७ । ११ ॥

भा०—(त्रातारम् इन्द्रं) त्राणादि से पालक परमेश्वर को, (अवितारम् इन्द्रं) रक्षक ईश्वर को और यज्ञों, उपासनाओं से (सुहव) सुख से योग्य, या सुगमता से स्मरण करने योग्य, (शूरं) वीर्यवान् (इन्द्र) परमात्मा को, (शक्र) शक्तिमान् (पुरुहूत) इन्द्रियों या प्रजाओं से पूजित (इन्द्रं) परमात्मा और आत्मा को (नु) ही (हुवे) मैं स्तुति करता हूं । (इदं हवि॰) इस योग्य स्तुति को (मघवा) वह ऐश्वर्ययुक्त प्रभु (इन्द्र॰) आत्मा (वेतु) स्वीकार करे ।

[३४] यजामह इन्द्र वज्रदक्षिणं हरीणां रथ्या३ विप्रतानाम् ।
प्र शमश्रुमिद्दोधुवदूध्न्या भुवद्धि सेनाभिर्भयमानो वि राधसा ॥३॥
ऋ० १० । २३ । २ ॥

३३३—'सुरमिन्द्र', 'हवामि शक्र', 'धास्विन्द्र', इति ऋ० ।

३१४—'रथ्य विप्रतानान्', 'प्रश्मश्रुमिदो', 'दयमानो' इति ऋ० ।

भा०—(वज्रदक्षिणं) विघ्नों और पापों के निवारण करने के कार्य में चतुर, (विश्रतानां) निकम्मे या विपरीत कर्मों में जाने वाले (हरीणा) इन्द्रियों के (रथ्या) उत्तम सारथी (इन्द्रं) आत्मा की हम (यजामहे) उपासना करते हैं। वह (श्मश्रुभिः[1]) शरीर में व्याप्त शिराओं द्वारा सबको (दोधुवद्) गति देता हुआ (ऊर्ध्वधा) सब से उच्च (भुवद्) रहता हुआ सेनापति के समान (सेनाभिः) अपनी ग्रासकारिणी सेनाओं, के समान बन्धनरज्जुओं द्वारा (विराधसा) विशेष साधना द्वारा (भयमान॰) सब को कंपाया करता है।

३ २३ १ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[३३५] सत्राहणं दाधृषिं तुम्रमिन्द्रं महामपारं वृषभं सुवज्रम्।

३ २ ३।२ १ ३ ३।२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्ता यो वृत्रं सनितोत वाजं दाता मघानि मघवा सुराधा ॥४॥

ऋ० ४ । १७ । ८ ॥

भा०—(सत्राहणं) सब विघ्न और उपद्रवों के नाशक (दाधृषिं) सबको दबाने वाले (तुम्रं) सबके प्रेरक, (अपारं) अपार, (वृषभं) सबसे श्रेष्ठ, (सुवज्रं) उत्तम वज्र को धारण करने हारे, (महाम्) बड़े भारी और (यः वृत्रहन्ता) जो वृत्ररूप अज्ञान को मारता (उत वाज सनिता) ज्ञान और अन्न का विभाग कर देनेहारा, (सुराधाः) उत्तम साधनों और धनों से सम्पन्न या उत्तमरूप से आराधन करने योग्य, (मघानि दाता) ऐश्वर्यों और कर्मफलों को देनेहारा है उसको (इन्द्रं) 'इन्द्र' कहो, जानो।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३३६] यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त्त उगणा वा मन्यमानस्तुरा वा।

३ २ ३।१ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोता ॥५॥

---

१. श्मनि शरीरे श्रेरते इति श्मश्रूणि; सिराः। श्म शरीर निरु० ३।२।५।

भा०—(यो मर्त्तः) जो मनुष्य (वनुष्यन्) मारने की इच्छा से (नः, अभिदाति) हम पर प्रहार करता है। (उगणा वा मन्यमानः) या अपने को बहुतसे योद्धाओं सहित बलवान् मानता हुआ, (तुरो वा) या आवेश में आया हुआ, (क्षिधी) प्राणविनाशक (युधा) हथियार से या (शवसा) बल से हमारे प्रति (अभिदाति) आता और प्रहार करता है, हे परमेश्वर ! सेनापते ! (स्वोता.) हम तेरे से रक्षित होकर (वृषमण.) खूब पुष्ट शरीर होकर (तम्) उस दुष्ट के प्रति (अभिष्याम) मुकाबले पर डट जायं और उसे दबावें।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३३७] यं वृत्रेषु क्षितय स्पर्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते।
१र २र ३ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् य विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्र॥६॥

भा०—(यं) जिसको (वृत्रेषु) उपद्रव और विघ्नों के अवसर पर या ज्ञान के आवरण करनेहारे कारणों के उपस्थित होने पर (क्षितय') देश निवासी प्रजाएं और देह की इन्द्रिया (स्पर्द्धमानाः) एक दूसरे से बढ़ने की इच्छा करने हारी (हवन्ते) स्तुति करती हैं, (य) जिसका (युक्तेषु) संग्रामों में या योगक्रियाओं में योगरत पुरुषों के बीच (तुरयन्त) परस्पर हिंसा करते हुए या व्युत्थान दशाओं पर या विघ्नों पर विजय करते हुए साधक (हवन्ते) स्मरण करते हैं। (यं शूरसातौ) जिसे शूरवीरों के संग्राम में स्मरण किया जाता है। (यम् अपाम्) जिस को प्रजाओं के बीच में पुकारा जाता है और (यम् उपज्मन्) जिसको भूमि पर अन्न आदि लाभ के लिये पाठ किया जाता है और (य विप्रास') जिसको ज्ञान के अभिलाषी विद्वान् लोग (वाजयन्ते) स्तुति करते हैं (स इन्द्र') वह 'इन्द्र' है।

१ २ ३ १२ २२ ३ २३ ३ १ २ २ ३ १ २
[३३८] इन्द्रापर्वता बृहता रथेन वामीरिष आवहतं सुवीराः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
वीतं हव्यान्यध्वरेषु देवा वर्धेथां गीर्भिरिडया मदन्ता ॥७॥

ऋ० ३ । ५३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! और हे (पर्वत) सबको पूरण, पालन और तृप्त करने हारे परमेश्वर ! आप दोनों (बृहता रथेन) बड़े रथ या रमण साधन के द्वारा (सुवीरा.) उत्तम वीर्यसम्पादक या उत्तम सन्तानजनक, (वामीः) मनोहर । इष.) अन्नादि भोग्य पदार्थ (आवहतं) प्राप्त कराओ । हे (देवा) दोनों दानशील देवो ! (अध्वरेषु) यज्ञ आदि हिंसारहित जीवोपकारी कार्यों में (हव्यानि) आदान योग्य पदार्थों को (वीतं) स्वीकार करो । (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा और (इडया) अन्न के उत्तम अंशों से (मदन्ता) प्रसन्न, तृप्त होते हुए (वर्द्धेथां) पुष्ट होओ । अध्यात्म पक्ष में इन्द्र=आत्मा और पर्वत=शरीर, आधिभौतिक में इन्द्र=सूर्य, पर्वत=मेघ या विद्युत् और पर्वत ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३,१२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[३३९] इन्द्राय गिरो आनिषितसर्गा अपः प्रैरयत् सगरस्य बुध्नात्।
१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
यो अक्षेणेव चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ॥८॥

ऋ० १० । ८९ । ४ ॥

भा०—जो परमेश्वर (सगरस्य बुध्नात्) अन्तरिक्ष के प्रदेश या पेन्दा से मेघ के समान (अप प्रेरयत्) जलों को नीचे वर्षण करता है और (य.) जो (अक्षेण) धुरे के बल पर (चक्रियौ इव) दो चक्रों के समान शची-

---

३३८—'मदन्तास्' इति पाठः कलिकाता अजमेरादि मुद्रणगतः प्रामादिकः ।
सायणादिभाष्यविरोधादसंगतेश्च ।
३३९—"चक्रियौ" इति ऋ० ।

भिः) अपनी शक्तियों से (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और द्यौलोक को (तस्तम्भ) थामे हुए हैं । उस (इन्द्राय) सर्वशक्तिमान् ईश्वर के लिये (अनिशितसर्गाः) अखण्डित रचना वाली (गिर.) वेदवाणियां स्तुति करने हारी हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३२ ३१ २ ३१ २

[३४०] आ त्वा सखाय: सख्या ववृत्युस्तिर. पुरूचिद्वर्णवाञ् जगम्याः।

३१२ २२३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२

पितुर्नपातमादधीत वेधा अस्मिन् क्षये प्रतरा दीद्यानः ॥६॥

ऋ० १० । १० । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (सखाय:) तेरे समान ख्याति चाहने वाले, तेरे स्नेही (सख्या) मित्रभाव से (त्वा) तुझको (आववृत्यु.) प्रेम करते हैं या अपनाते हैं । तू (तिर.) तिर्यग् योनियों में (पुरू) इन्द्रियों या प्रजाओं में (चिद्) चेतनावान् होकर (अर्णवम्) देह में (जगम्याः) प्रविष्ट है, उसको प्राप्त है । तू (अस्मिन् क्षये) इसनिवासयोग्य देह में (प्रतरा) अति उत्तम प्रकार से (दीद्यान) प्रकाशमान होता हुआ, (वेधा·) ज्ञान सम्पन्न होकर (पितु.) सबके पालन करनेहारे परमेश्वर के समान (पात) हमारी रक्षा (आदधीत) कर । इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा या परमेश्वर के प्रति कथन है ।

२ ३ १ २ ३ २ उ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[३४१] को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हणायून्।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

आसन्निषामप्सुवाहो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्१०

ऋ० ५ । ८४ । १६ ॥

३४०—' चित्सखाय सख्या, ववृत्या तिरः पुरूचिद्वर्णव जगन्वान् । पितुर्नपातमादधीत वेधा अधि क्षमि प्रतर दीध्यान." । इति ऋ० ।

१. यमी ऋषि·, ऋग्वेदे ।

३४१—'आसन्निषून्हस्त्वसो' इति ऋ० ।

भा०—(अथ) वर्त्तमान में (ऋतस्य) इस गतिमान् जीवित देह-रूप रथ के (धुरि) धुरा में (शिमीवतः) कामना करने हारे (भामिन·) आवेश से युक्त, (दुः-हृणायुन्) दुःशील (अप्सुवाहः) अपने अभिलाषित पटार्यों में शरीर को लेजाने वाले (मयोभून्) सुख उत्पन्न करनेहारे (गाः) बैलों के समान, इन्द्रियों को (कः) कौन (युक्ते) लगाता है ? (एषां आसन्) इनके मुख में (यः) जो (एषां) इनकी (भृत्या) भरण पोषण सामग्री को (ऋणधत्) उत्तम रूप से देता है और उनका पालन पोषण करता है (सः) वह ही (जीवात्) जीवन धारण करता है ।

इति पञ्चमी दशतिः । एकादशः खण्डः ।

॥ ८० ६ ॥ ऋषि.—१ मधुच्छन्दा· । २ जेता माधुच्छन्दसः । ३, ६ गौतम. । ४ अत्रिः । ५, ८ तिरश्चीः । ७ काण्वो नीपातिथि· । ९ विश्वामित्रः । १० शंयुर्बार्हस्पत्यः ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २
[३४२] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ १ ॥

ऋ० १ । १० । १ ॥

भा०—हे शतक्रतो ! (त्वा) तुझको (गायत्रिणः) गान करनेहारे उद्गाता, सामगायक (गायन्ति) गान करते हैं । (अर्किणः) ऋग्वेदी विद्वान् (त्वा अर्चन्ति) वेदमन्त्रों द्वारा तेरे गुणगान करते हैं । (ब्रह्माणः) और अथर्ववेद या चारों वेदों के विद्वान् ब्रह्मा लोग (त्वा) तुझको (वंशम् इव) अपने वंशधर, प्रथम पुरुषा के समान (उद् येमिरे) उच्चकोटि पर मानते हैं ।

२ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २

[३४३] इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।

३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २

रथीतमं रथीना वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥ २ ॥

ऋ० १ । २२ । २ ॥

भा०—(विश्वा गिरः) समस्त वेदवाणियां (समुद्रव्यचसं) आकाश के समान सर्वत्र व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) महारथियों में सर्वश्रेष्ठ महारथी के समान देहधारियों में सब से विराट् देह, ब्रह्माण्ड को धारण करनेहारे, सबके प्रेरक, (वाजाना) सब ज्ञानवान् पुरुषों के (सत्पतिं) सच्चे स्वामी, या सज्जनों के पालक और (पतिं) सबके पालक (इन्द्रं) परमेश्वर को (अवीवृधन्) बड़ा कहती हैं, उसकी महिमा को बढ़ाती हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३४४] इमामिन्द्रसुतं पिब ज्येष्ठममर्त्यं मदम् ।

३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन् धारा ऋतस्य सादने ॥ ३ ॥

ऋ० १ । ८४ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (इमं) इस (अमर्त्यं) मरणधर्मा पुरुषों को प्राप्त न होने वाले, या कभी नष्ट न होने वाले, दिव्य, (ज्येष्ठं) सब से उत्कृष्ट, (मदं) आनन्दस्वरूप, (सुतं) योगज ज्ञानसम्पन्न रस को (पिब) पान कर । (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (सादने) उत्पन्न होने की स्थिति में (शुक्रस्य) शुद्धस्वरूप, शुक्र, कान्ति की (धारा) धारणाशक्ति, धारा या प्रवाह (त्वा) तेरे प्रति (अभि अक्षरन्) बहते हैं ।

पतञ्जलि ने योगसूत्र में स्पष्ट लिखा है—'निर्विचारवैशारद्ये अध्यात्मप्रसादः' । जिस पर व्यासदेव ने लिखा है "अशुद्ध्यावरणमलापेतस्य प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्वस्य रजस्तमोभ्यामनभिभूतः स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यं । यदा निर्विचारस्य समाधेर्वैशारद्यमिदं जायते तदा योगिनो भवति अध्यात्मप्रसादः । सूतार्थविषय. क्रमानुरोधी स्फुटः प्रज्ञालोक.' । अर्थ

भरा तत्र प्रज्ञा। (पात० सू०) तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या 'ऋतंभरा' इति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा। नच तत्र विपर्यास-ज्ञानगन्धोऽपि॥" इसी प्रकार ऐतरेय उप० में भी लिखा है। अर्थात् निर्मल चित्त होजाने पर स्वच्छ स्थिति प्रवाह होजाता है तब योगी के सत्य-ज्ञान का प्रज्ञा-नयन खुल जाता है।

३ २ ३उ ३ १ २
[३४५] यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति त्वादातमद्दिवः।
३ १ २ ३ १ २
राधस्तन्नो विदद्वसो उभया हस्त्याभर॥ ४॥

ऋ० ८। ३९। १॥

भा०—हे अदिवः! सब अन्धकारों को दूर करनेहारे इन्द्र! (मे) मेरा (इह) इस संसार में (यद्) जो (त्वादातं) तेरे से दानरूप में प्राप्त करने योग्य (नास्ति) नहीं हुआ है (तद् राधः) वह धन या सिद्धि हे (चित्र) पूजनीय! हे (विदद्वसो) विद्वानों के एकमात्र प्राणस्वरूप! (नः) हमें (उभया हस्त्या भर) दोनों हाथों से, दिल खोलकर दे।

३ १२ २२ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
[३४६] श्रुधी हवं तिरश्च्या इन्द्र यस्त्वा सपर्यति।
३ १ २ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २
सुवीर्यस्य गोमतो रायस्पूर्धि महाँ असि॥ ५॥

ऋ० ८। ६४। ४॥

भा०—हे इन्द्र! (यः) जो (त्वा) तुझे (सपर्यति) उपासना करता है उस (तिरश्च्या) पूर्ण रूप से शरीर में गति करनेहारे प्राण, या पूर्ण ज्ञानी साधक की (हवं) स्तुति का (श्रुधि) श्रवण कर, स्वीकार कर। हे इन्द्र! तू (महान् असि) बड़ा है, इसलिये (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्यसम्पन्न (गोमतः) पशु एवं इन्द्रिय और वाणी आदि से युक्त (रायः) धनों और ज्ञानों से हमें भर दे।

३४५—'यदिन्द्र चित्र मेह नास्ति' इति ऋ०।

१ २ ३ १२ ४ १ २ ३ १२
[३४७] असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवागहि ।
१ २ ३२४ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वा पृणक्तिन्द्रियं रज. सूर्यो न रश्मिभि. ॥ ६ ॥
ऋ० १ । ८४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (ते) तेरे लिये (सोम.) सोम, ऐश्वर्य और ज्ञानानन्द (असावि) उत्पन्न किया जाता है । हे (शविष्ठ) अति बलिष्ठ ! हे (धृष्णो) सबको परास्त करनेहारे ! (आगहि) आ जा, समीप आ जा । (इन्द्रिय) यह इन्द्रिय और चित्त अथवा तेरी विभूति या ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (सूर्य न) सूर्य जिस प्रकार (रश्मिभि.) अपनी रश्मियों से (रज.) इस अन्तरिक्ष को पूर्ण देता है उसी प्रकार (आ पृणक्तु) सब ओर से भर दे ।

१ २ ३ १ २ ३२ ३ १ २ ३ २
[३४८] एन्द्र याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ७ ॥
ऋ० ८ । ३४ । १ ॥

भा०—हे इन्द्र ! अपने (हरिभि.) ज्ञान प्राप्त करानेहारे साधनों, इन्द्रियों से (कण्वस्य) कर्णों से संचित इस देह, या देही, या प्रज्ञावान् आत्मा की (सु स्तुतिं) उत्तम स्तुति या उपभाग को (उप आयाहि) प्राप्त कर और भोग कर । हे (दिवावसो) अपने तेज से प्राणरूप होकर बसनेहारे जीव ! (अमुष्य) उस तेरे (दिव) इस द्यौलोक को शासन करनेवाले जगदीश्वर के (दिव) दिव्य कान्ति को (यय) चला, जा, प्राप्त कर ।

३ २ १२ ३ २ ३ १ २ ३१
[३४९] आ त्वा गिरो रथीरिवास्थुः सुतेषु गिर्वण ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३४ ३ १ २
अभि त्वा समनूषत गावो वत्सं न धेनवः ॥ ८ ॥
ऋ० ८ । ९५ । १ ॥

भा०—हे गिर्वणः ! वेदवाणियों द्वारा ज्ञान करने योग्य (सुतेषु) योगसाधनों में, यज्ञों में (गिरः) वेदवाणियां (रथीः इव) वेगवान् रथारोहियों के समान (त्वा अस्थुः) तेरे ही प्रति आ जाती हैं। (गावः) ये वेदवाणियां (धेनवः वत्सं न) गौएं जैसे अपने बछड़े के प्रति आती हैं उसी प्रकार (त्वा अभि सम् अनूषत) तेरी ही प्रत्यक्षरूप से स्तुति करती हैं।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५०] एनो न्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान् ममत्तु ॥ ६ ॥

ऋ० ८। ६५। ७॥

भा०—हे विद्वानो ! आप लोग (आ इत) आओ, (नु) और (शुद्धं इन्दं) विद्या और तप से पवित्र (शुद्धेन साम्ना) स्वरसंस्कारों से शुद्ध सामगान द्वारा, (शुद्धैः उक्थैः) पवित्र ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा (वावृध्वांसं) महिमा से बड़े (इन्दं) परमेश्वर को (स्तवाम) स्तुति करें। (शुद्धैः) शुद्धिजनक तपों से यह (आशीर्वान्) शुभ आशीर्वादों से युक्त होकर (ममत्तु) आनन्द प्रसन्न रहे।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[३५१] यो रयिं वो रयिन्तमो यो द्युम्नैर्द्युम्नवत्तमः।
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमः सुतः स इन्द्र तेऽस्ति स्वधापते मदः ॥१॥

ऋ० ६। ४४। १॥

भा०—(यः) जो स्वयं (रयिन्तमः) सबसे उत्तम ऐश्वर्य, है और (यः द्युम्नैः) जो कान्तियों, ओजों और ऐश्वर्यों से (द्युम्नवत्तमः) अत्यन्त

३५०—'शुद्ध आशीर्वान्' इति ऋ०।

३५१—'यो रयिवो' इति ऋ०।

आधिक कान्तिसम्पन्न, ऐश्वर्यवान् है (सः) वह परमेश्वर (नः) आप लोगों को (रयिम्) धन, धन दे। हे परमेश्वर ! (ऐ स्वधापते) हे समस्त स्वयं अपने को धारण करने हारे जीवों के पालक, (सुत.) तैयार किया हुआ (सोम) सोम ज्ञान, आनन्दरस या समस्त ऐश्वर्य ही (ते मदः) तेरे हर्ष का साधन (अस्ति) है।

इति षष्ठी दशतिः । द्वादशः खण्डः ।

इति तृतीयोऽध्यायः

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

१ २ ३ १, ३ १ २ ३ २
[३५३] आ नो वयो वयःशयं महान्तं गह्वरेष्ठाम् ।
३ १ २ ३ २ ३ ३ २ उ ३ १ २
महान्तं पूर्विनेष्ठाम् । उग्र वचो अपावधीः ॥२॥

भा०—(नः) हम लोग (वयःशयं) जीवन भर को समाप्त करने हारे, कालरूप, (महान्तं) बड़े भारी, (गह्वरेष्ठां) हृदयगुहा में स्थित, (वय) जीवनप्रद, (वय शयं) जीवन भर में व्यापक बल को (आ) हमें प्रदान कर । और (पूर्विनेष्ठां) प्रारम्भ काल से संसार को नियम से चलाने हारे (महान्तं) उस महान् परमेश्वर की हम स्तुति करते हैं । हे पुरुष ! (उग्रं वचः) उग्र वचनों को (अप अवधीः) दूर मार भगा । और सौम्यगुण सीख के सब हृदयों में महान् प्रभु का आवास जानकर और उसी को समस्त संसार का व्यवस्थापक जान कर किसी को कठोर वाणी से मत सता ।

२ ३ १ ३ २ ३ १ १ ३ १ २
[३५४] आ त्वा रथं यथोतय सुम्नाय वर्तयामसि ।
३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ १ २
तुविक्रूाममृतीषहमिन्द्रं शविष्ठ सत्पतिम् ॥ ३ ॥

ऋ० ८ । ६८ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार से हम (रथं) अपने हंस रमणसाधन=रथरूप देह को (सुम्नाय) उत्तम मनन करने योग्य ज्ञानरूप धन की प्राप्ति के लिये (आवर्तयामसि) पुनः धारण करते हैं, उसी प्रकार हे (शविष्ठ) बलवान् ! (तुविक्रूमिम्) नाना प्रकार के महान् कार्यों के सम्पादन करनेहारे (ऋतीसहं) इन्द्रियों और दुःखदायी विषयों के अभिभावक, (सत्पतिं) सज्जनों के स्वामी, (त्वा) तुझ परमेश्वर को भी (आवर्तयामसि) बार २ अपने में धारण करते हैं । मोक्षार्थ ज्ञानप्राप्ति के लिये

३५४—'इन्द्र शविष्ठ सत्पते' । इति ऋ० ।

जहां पुनः २ जन्म ग्रहण करना आवश्यक है वहा मोक्ष के लिये पुनः भगवदाराधन भी आवश्यक है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३१२ २२
[३५५] स पूर्व्यो महोनां वेन क्रतुभिरानजे ।
३ २ ३२ २ ३ २ ३२३ १ २ ३ २
यस्य द्वारा मनुः पिता देवेषु धिय आनजे ॥ ४ ॥
ऋ० ८ । ६३ । १ ॥

भा०—(सः) वह (वेनः) विद्वान् (महोनां) पूजनीय पुरुषों में से भी (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, पूजा के योग्य है जो (क्रतुभिः) कर्मों और ज्ञानों द्वारा (आनजे) सबको प्रेरित या प्रकट करता है । (यस्य द्वारा) जिसको साधन बनाकर (मनुः पिता) मननशील स्वामी, परमात्मा (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (धियः) अपनी बुद्धियों को (आनजे) प्रेरित करता है ।

३ १२ ३२ ३ १२ ३ २ ३ २
[३५६] यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा ।
१ २ ३२ ३ २ ३ १ २
पिबन्तो मदिरं मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥ ५ ॥

भा०—(यद्) जहा और जब भी (रथेषु) रमणसाधन या वेगवान् साधनों पर, गतिशील इन्द्रियों के आश्रय (आशवः) शीघ्रगामी मरुद्गण, प्राणगण (भ्राजमानाः) कान्तिमान्, तेजस्वी होकर (ईं) इस आत्मा के (मदिरं) पुष्टिकर (मधु) ज्ञान या आनन्द की मात्रा को (पिबन्तः) पान करते हुए (वहन्ति) पहुंचा देते हैं, वे (तत्र) वहां (श्रवांसि) वेदवचनों, अनाहत नादों को (कृण्वते) साक्षात् करते हैं ।

जैसा कहा है—

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।"
(योग व्या० भा० । सू० ४८)

३५५—'महाना' इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३१२ २१ ३ १ २
[३५७] त्यमु वो अप्रहणं गृणीषे शवसस्पतिम् ।
१ २ ३ २३२३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं विश्वासाहं नरं शचिष्ठं विश्ववेदसम् ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ४४ । ४ ॥

भा०—(वः) आप लोगों के प्रति मैं (त्यम् उ) उस ही (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान्, (विश्वासाहं) सब को सहन करने हारे, (नरं) नेता, (शचिष्ठं) सब से अधिक शक्तिमान्, (विश्ववेदसं) सबको जानने हारे, सर्वज्ञ, (अप्रहणं) किसी से न मारा जाने हारे, (शवसस्पति) बल के द्वारा सबके पालक स्वामी की (गृणीषे) स्तुति करता हूं, उसका उपदेश करता हूं ।

३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[३५८] दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुरभि नो मुखा करत् प्र न आयूंषि तारिषत् ॥७॥

ऋ० ४ । ३९ । ६ ॥

भा०—(जिष्णोः) सब पर विजय प्राप्त करने हारे, (वाजिन) बलवान्, (अश्वस्य) सर्वव्यापक, (दधिक्राव्णः) शरीर को धारण करके योनि से योनि में गति करने हारे आत्मा, अथवा ब्रह्माण्ड भर को स्वयं धारण करके चलाने हारे परमेश्वर का (अकारिषं) मैं वर्णन करता हूं । वह (नः) हमारे (मुखा) रूपादि विषयों को भीतर लेने वाले मुख, इन्द्रियों को (सुरभि) उत्तम रूप से कार्य करने हारे, बलवान्, कर्मा निपुण, (करत्) करे और (नः आयूंषि) हमारे जीवनों को (प्र तारिषत्) तार दे, कृतार्थ करे, बढ़ावे ।

३५७—'नर महिष्ठ विश्वचर्षणिम्' इति ऋ० ।

३ २ ३ १२ २३ ३ १२ २१
[३५९] पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ ८ ॥

ऋ० १ । २२ । ४ ॥

भा०—(पुरां भिन्दुः) समस्त देहों को कारण में लय कराकर उनका भेदन कराने हारा, सबको मुक्ति देनेहारा, (युवा) सबका सखी, (कविः) सबके हृदयों के भीतर का भी जानने हारा, क्रान्तदर्शी, मेधावी (अमितौजाः) अनन्तशक्ति और बल से युक्त, (विश्वस्य कर्मणः धर्त्ता) समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य को धारण करने हारा (वज्री) सबका संहारक, सर्वशक्तिमान् (पुरुष्टुतः) सबसे स्तुति करने योग्य, एकमात्र उपास्य देव (इन्द्रः) वह ऐश्वर्यशील परमेश्वर ही है ।

इति सप्तमी दशतिः । प्रथमः खण्डः ।

॥ द्० ८ ॥ ऋषिः—१, ३, ५ प्रियमेधाः । २, १० वामदेवः । ४ मधुच्छन्दाः ।
६ भरद्वाजः । ७ अत्रिः । ८ प्रस्कण्वः । ९ आप्त्यस्त्रितः ॥
देवता—१-७ इन्द्रः । ८ उषाः । ९ विश्वेदेवाः । १०
ऋक्सामे ॥ अनुष्टुप् ॥ गान्धारः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६०] प्र प्र वस्त्रिष्टुभमिषं वन्दद्वीरायेन्दवे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
धिया वो मेधसातये पुरन्ध्या विवासति ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ६९ । १ ॥

भा०—(वः) आप लोग (वन्दद्वीराय) वीरों से सम्मानित, (इन्दवे) ऐश्वर्यशील आत्मा को (त्रिष्टुभं) मन वाणी और कर्म तीनों द्वारा प्रशंसित, (इषं) सोम आदि अन्न या अभिलाषित कामनाओं को (प्र प्र)

उत्तम रीति से प्रकट करो ।' (पुरं-धी) इस देह या ब्रह्माण्ड रूप पुर को धारण करने हारी (धिया) उत्तम धारणावती बुद्धि से वह आत्मा (मेधसातये) पवित्र ज्ञान की प्राप्ति कराने के लिये (वः) आप लोगों को (आ विवासति) संयुक्त करता और अभिलषित फल प्रदान करता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३,२ ३ २ ३ १ २
[३६१] कश्यपस्य स्वर्विदा यावाहुः सयुजाविति ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३१२ २८ ३ १ २
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ॥ २ ॥

भा०—(स्वर्विदः) ज्योतिःस्वरूप सुख को साक्षात् करनेहारे (धीराः) विद्वान् लोग (यौ) जिन प्राण और अपान को (कश्यपस्य) योगी, साधक, द्रष्टा आत्मा के (सयुजौ) नित्य के सहयोगी, साथी (आहुः) बतलाते हैं और (ययोः) जिनके (विश्वम् अपि) सभी (व्रत) कर्मों को (यज्ञं निचाय्य आहुः) जीवन या प्राणापानमय यज्ञ के निमित्त ही निश्चय करते हैं ।

॥ सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात प्राण, अपान, चित्त और अहंकार, मन, बुद्धि आदि साथी समझने चाहियें । आधिदैविक पक्ष में मित्रावरुण, सूर्य और मेघ लेने चाहियें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६२] अर्चत प्रार्चना नरः प्रियमेधासो अर्चत ।
१ २ ३ २ ३२८ ३ २ ३८ २८
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरमिद् धृष्णवर्चत ॥ ३ ॥
ऋ० ८ । ६९ । ८ ॥

भा०—हे (प्रियमेधासः) उत्तम बुद्धि वाले (नरः) पुरुषो ! आप (पुरम् धृष्णुं इद्) इस पुर, ब्रह्माण्ड और इस पिण्ड को धारण करनेहारे आत्मा और परमात्मा की ही (अर्चत) स्तुति करो, (प्र अर्चत) और उत्तमरूप से गुणगान करो और (अर्चत) उपासना करो । हे (पुत्रका उ)

पुरुषों को दुःखों से त्राण करने हारे लोगो ! उसी की (उत अर्चन्तु) प्रार्थना उपासना किया करो ।

३ १२ २२३ २ ३ १२ ३ १ २

[३६३] उक्थमिन्द्राय शंस्य वर्द्धनं पुरु निष्षिधे ।
३ १२ २२ ३ १ २ ३१ २ ३ १२
शक्रो यथा सुतेषु नो रारणत् सख्येषु च ॥४॥ ऋ०१।१०।५॥

भा०—(पुरु निष्षिधे) इन्द्रियों या प्रजाओं में सब प्रकार की गति देनेहारे, व्यापक (इन्द्राय) आत्मा की (वर्धनं) महिमा दर्शाने वाला, (उक्थं) वेदमन्त्र (शस्य) उच्चारण करना चाहिये । (यथा) जिससे (शक्रः) वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर (सुतेषु) हमारे पुत्र पौत्रों या यज्ञों में और (सख्येषु च) मित्रों और मित्रता के कार्यों में भी (नः) हमें (रारणत्) प्रसन्न रक्खे ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६४] विश्वानरस्य वस्पतिमनानतस्य शवसः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एवैश्च चर्षणीनामूती हुवे रथानाम् ॥ ५ ॥
ऋ० ८ । ६८ । ४ ॥

भा०—हे (मरुतः) इन्द्रियगण ! या प्रजाओ ! (विश्वानरस्य) समस्त संसार के नेता, (अनानतस्य) किसी से न हारने वाले, (शवसः) बल के (पतिं) पालक ईश्वर को (चर्षणीना) सब प्रजाओं के (एवै. च) व्यवहारों के लिये और (रथाना ऊतये) इन देहस्वरूप रथों की रक्षा के लिये (व) आप लोगों को (हुवे) आह्वान करता हूं ।

३ १ २ ३ १ २२ ३१२ २२ ३ १ २

[३६५] स घा यस्ते दिवो नरो धिया मर्त्तस्य शवसः ।
३ १२ २२३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
ऊती स बृहतो दिवो द्विषो अंहो न तरति ॥ ६ ॥
ऋ० ६ । २ । ५ ॥

५६५—'घ इद् यस्ते सुदानवे धियामत्तं शशमते । उतीष०' । इति ऋ० ।

भा०—हे ईश्वर ! (यः) जो (दिवो नरः) द्यौलोक नेता, सूर्य के समान ज्ञान से प्रकाशमान पुरुष (ते) आपके (धिया) ध्यान करने से (शमतः) शान्तवृत्ति (मर्तस्य) पुरुष के (सचा) अनुकूल व्यवहार करता है (सः) वह (बृहतो दिवः) महान् दिव्यस्वरूप, परम पुरुषरूप आपकी (ऊती) रक्षा में ही (द्विषः) अपने आगे आने वाले सब अप्रिय पदार्थों को (अंहः न) पाप के समान (तरति) पारकर जाता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३६६] त्विभोष्ट इन्द्र राधसो विभ्वी रातिः शतक्रतो ।
१ २ ३ १ २
अथा नो विश्वचर्षणे द्युम्नं सुदत्र मंहय ॥ ७ ॥

ऋ० ५ । ३८ । १ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (विभोः) नाना सामर्थ्यवान् (ते) तेरे (राधसः) धन की (रातिः विभ्वी) दानराशि बड़ी भारी है । हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों और कर्मों से सम्पन्न ! हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के द्रष्टः ! हे (सुदत्र) उत्तम दाता ! (नः) हमें भी (द्युम्नं) उत्तम धन (मंहय) दान करो ।

यजु० अ० ३० में इस विचित्र धन का विभाग दर्शनीय है ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
[३६७] वयश्चित्ते पतत्रिणो द्विपाच्चतुष्पादर्जुनि ।
२ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
उषः प्रारन्नृतूँरनु दिवो अन्तेभ्यस्परि ॥ ८ ॥

अ० १ । ४९ । ३ ॥

भा०—हे (अर्जुनि !) गमनशीले ! हे रश्मियों, कान्तियों से सम्पन्न (उषः) प्रभात वेला के समान हृदय के अन्धकारों को नाश करने वाली प्रज्ञे ! (ते ऋतून् अनु) तेरी प्रेरणाओं के पीछे२ (दिवः) द्यौः, सूर्य के

३६६—'द्युम्ना सुदत्र' इति ऋ० ।

समान तेजस्वी आत्मा, या प्रकाशित मूर्धाभाग के (अन्तेभ्यः परि) दिशाओं के परले सिरे या प्रान्तभागों से (पतत्रिणः) उड़नेहारे (वयः) पक्षिगण के समान परमहंस विद्वान्गण, और अध्यात्म में इन्द्रियगण (द्विपात्) और दो पाये मनुष्य और (चतुष्पात्) चौपाये पशु (चित्) भी (आरन्) गति करते हैं। यह उषा के रूपक में चितिशक्ति का वर्णन किया गया है। द्यौः=मूर्धा। पतत्रि=ज्ञान इन्द्रियगण। द्विपात्=हाथ, चतुष्पाद्=पैर आदि। विशोका प्रज्ञा का उदय ही उषा का उदय कहा गया है।

३ १२ २३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ १ २

[३६८] अमी ये देवा स्थन मध्य आरोचने दिवः।

१ २ ३२३ ३ २ ३ १ २ ३ २०३ १ २

कद्व ऋतं कदमृतं का प्रत्ना व आहुतिः ॥ ६ ॥

अ० १ । १०५ । ५ ॥

भा०—(ये अमी देवाः) जो ये देवगण (आ रोचने) कान्तिमान् (दिवः मध्ये) द्यौलोक के मध्य में (स्थन) विद्यमान हैं। हे देवो ! मैं आप से प्रश्न करता हूं कि (वः) आप लोगों का (ऋतं कत्) सत्य २ तत्व क्या है ? (कत् अमृतम्), आपका अमृतस्वरूप किस प्रकार का है ? (वः) आपको (प्रत्ना) प्राचीन (आहुतिः) स्मरण करने और तर्पण करने का पदार्थ क्या है ? अर्थात् आपका प्राचीन मूलभूत नाम और वास्तविक द्रव्य क्या है ?

इन तीनों प्रश्नों के क्रम से उत्तर देखिये ऋ० १ । सू० १०५ । मन्त्र १२, १५, १६ ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[३६९] ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते ।

१२ २२ ३ २ ३१२

वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः ॥ १० ॥

भा०—(याभ्यां) जिन ऋग्वेद और सामवेद से (कर्माणि) यज्ञ आदि समस्त संसार के कर्म (कृण्वते) करते हैं उन (ऋच) ज्ञानमय

ऋग्वेद और (साम) सर्वत्रव्यापक. सामवेद का (यजामहे) हम स्वाध्याय करते हैं। (ते) वे दोनों (सदसि) यज्ञों और सभाओं में (राजतः) विराजते हैं और (देवेषु) विद्वानों में (यज्ञं) यज्ञ दानादि को (वि वक्षत) वहन करते हैं, प्राप्त कराते हैं।

इति अष्टमी दशतिः। द्वितीय. खण्डः।

॥द० ९॥ ऋषि·—१, रेभः। २ सुवेदा· शैरिसिः, सुवेदः शैलूषिर्वा। ३ वामदेव.। ४, ७, ८ सव्यः सत्यो वा आङ्गिरसः। ५ विश्वामित्र। ६ कृष्ण· कृष्टो वा आङ्गिरसः। ९ भरद्वाजः। १० मेधातिथि.। ११ कुत्स·॥ देवता—१—८, १०, ११ इन्द्र। ९ द्यावापृथिवी॥ छन्द·—१—६, ११ जगती। १० महापङ्क्तिः॥ स्वरः—१—९, ११ निषादः। १० पञ्चमः॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[३७०]विश्वा·पृतना अभिभूतरं नरः सजूस्तत्तुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ १२ १ २ ३ १ २
क्रत्वे वरे स्थेमन्यासुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तरसं तरस्विनम् ॥१॥

अ० ८। ९७। १०॥

भा०—(विश्वा) समस्त (पृतनाः) व्यापार करनेहारे (नरः) नेता लोग (सजू) परस्पर मिलकर (अभिभूतरं) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, (इन्द्र) ऐश्वर्यसम्पन्न को अपना स्वामी (ततक्षुः) बनाते हैं और (राजसे) अपने अधिक उन्नतरूप से शोभा पाने के निमित्त (वरे) अत्यन्त उत्तम (स्थेमनि) स्थिर (क्रत्वे) कार्य में (आसुरीम्) सब विघ्नकारियों के संहारक (उग्रं) उग्र (ओजिष्ठं) कान्तिसम्पन्न, बलवान् (तरसं) वेगवान्, (तरस्विनं) आलस्यरहित, चतुर पुरुष को (इन्द्रं

३७०—'क्रत्वा वरिष्ठ वर आसुरि', 'तवस' इति ऋ०।

जजनुः च) अपना इन्द्र प्रभु भी प्रकट करते हैं । अध्यात्मपक्ष में-इन्द्रियाँ ने जीव को अपना स्वामी चुनते हैं । देखो (बृहदारण्यक उप० ६ । १ ।)

१ २ ३ १२ ३ २३ ३ २३ ३ १२ ३२३२

[३७१] अत्ते दधामि प्रथमाय मन्यवेऽहन्यद्दस्युर्नर्यं विवेरपः ।

२ २३ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

उभे यत्त्वा रोदसी धावतामनु भ्यसात्ते शुष्मात्पृथिवी चिदद्रिव २

ऋ० १० । १४७ । १ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) अखण्ड ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (प्रथमाय) सबसे श्रेष्ठतम, सबसे पूर्व विद्यमान, सब के आदि कारण (मन्यवे) माननीय या ज्ञानस्वरूप (ते) तुझे (अत्-दधामि) सत्य रूप मानकर धारण करता हू, तुझे सत्य ज्ञानस्वरूप मानता हूं । (यद्) क्योंकि तू (दस्युं) नाशक उपद्रवी को (अहन्) मारता है और (नर्यं) मनुष्यों के हितकारी (अप.) जल आदि पदार्थों कर्मों और ज्ञानों को (विवे) प्रकट करता है । (यत्) और क्योंकि (त्वा) तेरे बल पर ही (रोदसी) द्यौलोक और पृथिवी लोक (उभे) दोनों (धावताम्) गति कर रहे हैं । हे (अद्रिव.) ज्ञान और बल से युक्त सब के संहारकारिन् ! (पृथिवी चित्) यह अतिविस्तृत अन्तरिक्ष भी (ते शुष्मात्) तेरे बल से (अनु भ्यसात्) भय करता है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २३ ३ १२ १ २३ ३ १ २

[३७२] समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्

२ ३ १२ २२ ३ १ २३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २

स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन्तं वर्तनीरनुवावृत एक इत् ॥३॥

भा०—हे (विश्वाः) समस्त प्रजाओ ! (ओजसा) अपने ओज या तेज से (यः एक एव भूः) जो स्वयं अकेला, सामर्थ्यवान् सत्स्वरूप,

३७१—'अहन्यद् वृत्र इति 'उभे यत्त्वा भवतो रोदसी अनुरेजते' इति च ऋ० ।

समस्त जगत् का उत्पादक है, (जनानाम् अतिथि.) और जो समस्त प्राणियों के भीतर व्यापक है, उस (पतिं) सब के पालक परमेश्वर की शरण में (सम् पृत) आजाओ । (स पूर्व्य.) वह सबसे पूर्व विद्यमान होकर (नूतनम्) पुन बाद में उत्पन्न (आजिगीषन्तं) इस संसार की शक्तियों पर विजय चाहने वाले मानव पुरुष के लिये (एक इत्) एक ही (वर्तनी.) मार्ग (अनु वावृते) है ।

'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।' यो० सू० ।

नान्यः पन्था विद्यते अयनाय । यजु० ।

३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २

[३७३] इमे त इन्द्र ते वय पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।

१ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २

नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिर. सघत् त्रोणीरिव प्रति तद्धर्य नो वच ॥

ऋ० १ । ५७ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे (प्रभूवसो) ! प्रभूत धनसम्पन्न ! हे (पुरु-स्तुत) सब प्रजाओं से स्तुति किये गये ! (ये वयं) जो हम (त्वा आरभ्य) तुझ से ही प्रारम्भ करके (चरामसि) यात्रा कर रहे हैं । (इमे ते) ये वे हम सब (ते) तेरे ही हैं । हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र विषय ! (गिर) इन सब वेदवाणियों को (त्वत् अन्यः) तुझ से दूसरों को (नहि सघत्) प्राप्त नहीं होता अर्थात् वे सब तेरी ही स्तुति करते हैं । (तत्) इसलिये (नः वच) हमारी वाणी को तू (त्रोणीः इव) माता पृथ्वी के समान (प्रति हर्य) स्वीकार कर, श्रवण कर । जैसे सब पदार्थ फेंके जाकर भूमि पर ही आ गिरते हैं उसी प्रकार सब वाणियां ईश्वर पर ही आ गिरती हैं । इस कारण हे भगवन् ! हमारी वाणियों को भी तू ही स्वीकार कर ।

३७३—'प्रति नो हर्य तद् वच.' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३७४] चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्या३ मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत ।
३ १ २ ३१ २ ३ १ ३१२ ३ १२ ३ १ १
बावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्यं जरमाण दिवेदिवे ॥५॥
ऋ० ३ । ५१ । २ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (चर्षणीधृतं) समस्त मनुष्यों को धारण करने हारे, (मघवान) ऐश्वर्यसम्पन्न, (उक्थ्या) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (बावृधान) महिमा में बढ़े, (पुरुहूतं) प्रजाओं से पूजित, (अमर्त्यं) अमर, नित्य (दिवेदिवे जरमाण) प्रतिदिन स्तुति किये गये (इन्द्रं) परमेश्वर को (बृहती गिरः) हमारी बृहती छन्द की वेदवाणियां अथवा अति ज्ञानसम्पन्न, बहुतसी स्तुतियां (अभि अनूषत) सत्य स्वरूप वर्णन करती हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[३७५] अच्छा च इन्द्रं मतयः स्वर्युव. सधीचीर्विश्वा उशतीरनूषत
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्यु मघवानमूतये॥६॥
ऋ० १० । ४३ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मर्यं पतिं) अपने पतिरूप पुरुष को (जनय.) स्त्रियां (परिष्वजन्ते) आलिंगन करती हैं और जिस प्रकार अभीष्ट प्राप्ति के लिये (शुन्ध्यु) व्यवहार में शुद्ध, (मघवानं न) महाजन के पास प्रजा आती हैं उसी प्रकार (स्वर्युव') आनन्द और स्वर्ग के सुखका सेग कराने हारी, (सधीचीः) एकमाथ पढ़ी गई (विश्वा मतय) समस्त स्तुतियें (च.) आप लोगों की (अच्छा उशती.) उत्तम रूप से कामना करती हुई (इन्द्रं अनूषत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करती हैं ।

३७५—'परिष्वजते' इति ऋ० ॥ ।

३ २ड ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३७६] अभि त्यं मेषं पुरुहूतमृग्मियमिन्द्रं गीर्भिर्मदता वस्वो अर्णवम्
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
यस्य द्यावो न विचरन्ति मानुषं भुजे मंहिष्ठमभिविप्रमर्चत ॥७॥
ऋ० १ । ५१ । २ ॥

भा०—(त्यं) उस चिरस्मरणीय, (मेषं) सब सुखों के वर्षानेहारे, (पुरुहूतं) प्रजाओं के स्तुतिपात्र, (ऋग्मियं) ऋचाओं अर्थात् वेदमन्त्रों में प्रतिपाद्य, (वस्व. अर्णवम्) सब जीवनोपयोगी साधनों, प्राणों और वास कराने हारे ब्रह्माण्डों के एकमात्र महासमुद्र, (मंहिष्ठं) दानशील, (विप्रं) ज्ञानी, (इन्द्रं) उस ईश्वर को (भुजे) अपने पालन पोषण के निमित्त (अभि अर्चत) निरन्तर स्तुति करो. (यस्य) जिसकी (द्यावः न) ज्ञानमय किरणें ही मानो (मानुषं विचरन्ति) मनुष्यलोक को नाना प्रकार से व्यापती हैं ।

२ड ३ १ २ ३ १ २ ३१२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२
[३७७] त्यं सुमेषं महया स्वर्विदं शतं यस्य सुभ्वः साकमीरते ।
२ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अत्यं न वाजं हवनस्यदं रथमिन्द्रं वावृत्यामवसे सुवृक्तिभिः ॥८॥
ऋ० १ । ५२ । १ ॥

भा०—हे मनुष्य ! (त्यं) उस (सुमेष) उत्तम सुखों के वर्षक, (स्वर्विदं) स्वर्ग, मोक्ष का आनन्दलाभ करानेहारे की तू (महय) पूजा कर । (यस्य सुभ्वः) जिस उत्तम सत्तावान्, सबके मूलकारण ईश्वर के बनाये (शतं) सैकड़ों कार्यस्वरूप ब्रह्माण्ड (साकम् ईरते) एक साथ गति कर रहे हैं । मैं (अवसे) रक्षा के लिये (सुवृक्तिभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (अत्यं वाजं न) अतिक्रमण करनेहारे घोड़े के समान (हवनस्यदं) उत्तम स्तुतियों से हृदयों में द्रवित होने वाले, (रथम्) रमणीय, परम मनोहर, रसस्वरूप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, परम ईश्वर को (आ वावृत्यां) पुनः २ वर्णन करूं, पुन. स्मरण करूं, जपूं।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
[३७८] घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा ।
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥

ऋ० ६ । ७० । १ ॥

भा०—(घृतवती) दीप्ति से युक्त, (भुवनानाम् अभिश्रिया) समस्त भुवनों का आश्रयरूप (उर्वी) बहुत बड़ी, (पृथ्वी) बहुत विस्तृत, (मधुदुघे) समस्त प्राणियों के जीवनरूप रस का दोहन करनेहारी, (सुपेशसा) सुन्दर मनोहारी रूप वाली, (भूरिरेतसा) बहुत प्रकार के स्थावर जगमों के बीजों को धारण करने हारी, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वरुणस्य धर्मणा) सर्वश्रेष्ठ, सबके वरण करने योग्य परमेश्वर के सामर्थ्य से (विष्कभिते) अधर आकाश में बड़ी हैं ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[३७९] उभे यदिन्द्र रोदसी आपप्राथोषा इव ।
३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ २
महान्तं त्वा महीनां सम्राजं चर्षणीनाम् ।
३ १ २ २ ३ १ २
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥ १० ॥

ऋ० १० । १३४ । १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यद्) जो (उभे) दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी को (उषाः इव) प्रातःकालिक सूर्यप्रभा के समान (आ पप्राथ) चारों ओर से प्रकाशित कर देते हो इसी कारण (महीना महान्तं) बड़ों में बड़े (चर्षणीना) मनुष्यों के (सम्राजं) राजास्वरूप आपको (देवी जनित्री) दिव्य गुणवाली वेदमाता (अजीजनद्) वैसा ही प्रकट करती है, (भद्रा जनित्री) कल्याणकारिणी वेदमाता (अजीजनत्) वैसा ही प्रकट करती है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[३८०] प्रमन्दिने पितुमदर्चता वचो यः कृष्णगर्भा निरहन्नृजिश्विना ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अवस्यवो वृषणं वज्रदक्षिणं मरुत्वन्तं सख्याय हुवेमहि॥१॥

ऋ० १ । १०१ । १ ॥

भा०—(प्रमन्दिने) उत्कृष्ट हर्ष, आनन्दयुक्त ईश्वर के लिये (पितुमत्) सारवान् (वचः) वाणियों (अर्चत) उच्चारण करो । (यः) जो अपने प्रभाव से (कृष्णगर्भा) पाप को अपने भीतर धरनेहारी दुष्प्रवृत्तियों को (ऋजिश्विना) सरल ज्ञान से (नि-अहन्) नाश करता है । (अवस्यवः) रक्षण की इच्छा करने हारे (वृषणं) सुख वर्षण करने हारे (वज्रदक्षिणं) विघ्नविनाशकों में श्रेष्ठ (मरुत्वन्तं) प्राणों के और प्रजाओं के आश्रय परमेश्वर को हम (सख्याय) अपने मित्रभाव के लिये (हुवेमहि) आह्वान करते हैं ।

इति नवमी दशति । तृतीय खण्ड: ।

॥ ८० १० ॥ ऋषिः—१ नाभ. । २, ३ गोपूक्तमदश्वमुक्तिनौ । ४ पर्वत. । ५–७, १० विश्वमना वैयश्व: । ८ नृमेध: । ९ गौतम ॥ इन्द्रो देवता ॥ उष्णिक् । ऋषभ: ॥

१ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ ८ २ २

[३८१] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

विदे वृधस्य दक्षस्य महाँ हि षः ॥१॥ ऋ० ८ । १३ । २ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सुतेषु सोमेषु) सोमरूप हर्षकारी ज्ञान-दशाएं उत्पन्न होने पर (उक्थ्यं क्रतु) वेदानुकूल कर्म और ज्ञान को (दक्षस्य वृधस्य विदे) अत्यन्त बढ़े हुए बल के लाभ के लिये (पुनीषे)

३८०—'हवामहे' इति ऋ० ।

३८१—दक्षसा महान्हि सः इति ऋ० ।

प्राप्त करता है । क्योंकि ('महान् हि सः') वह ईश्वर महान् है । सन्सिद्धियों की प्राप्ति के अनन्तर अणिमादि सिद्धियों का जय होता है, तभी वह महान्, सम्राट् आदि बनता है ।

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[३८२] नमु अभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् ।
१ १ ३ १ २,३ १२ २२
इन्द्रं गीर्भिस्तविषमाविवासत ॥२॥ ऋ० ८ । १५ । १ ॥

भा०—(पुरुहूतं) समस्त प्राणों या प्रजाओं से स्मरण किये गये (पुरु स्तुतं) प्राणों या प्रजाओं द्वारा स्तुति किये गये (तम् उ) उसकी ही (अभि प्रगायत) कीर्त्तन करो । हे विद्वान् लोगो ! (तविषं) महान् (इन्द्रं) ईश्वर को ही (आ विवासत) सब के सामने प्रकट करो, उसकी उपासना करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[३८३] तं त मद गृणीमसि वृषणं पृक्षु सासहिम् ।
३ १ २ ३ १ २
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । १५ । ४ ॥

भा०—हे (अद्रिवः) ज्ञानसम्पन्न ! (ते) तेरे (त) उस (वृषणं) सब प्राणियों के पोषक (पृक्षु सासहिम्) सब सत्रुसेनाओं में भी कभी नष्ट न होने वाले, सब से बढ़कर (लोककृत्नुं) संसार के उत्पादक (हरिश्रियम्) हरणशील, ज्ञानियों के आश्रय लेने योग्य (मदं) आनन्द-रस की (उ) ही (गृणीमसि) चर्चा करें ।

१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[३८४] यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये ।
१ २ ३१. ३ १ २ ३ १२ २२
यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥४॥ ऋ० ८ । १२ । १६ ॥

३८३—'पृक्षु' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्द) आत्मन् ! (यत् सोमम्) जिस सोम, सबके प्रेरक, सर्वोत्पादक वीर्य या परमानन्दरस को (विष्णवि) सर्वव्यापक ईश्वर में (यद् वा घ) या (आप्त्ये) परम समाधि में प्राप्त (त्रिते) तीनों भूमियों को क्रमण करने वाले योगी आत्मा में, (यद् वा मरुत्सु) जो प्राणों, इन्द्रियों या भूमियों में या प्रजाओं में विद्यमान पाते हैं उन सब (इन्दुभि) आनन्दों से हे देव ! तू ही (सुमन्दसे) आनन्दस्वरूप प्रकट होता है ।

आनन्द की मीमांसा देखो (तैत्तरीय उप० आनन्दवल्ली)

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २

[३८५] एतं मधोर्मदिन्तरं सिञ्चाध्वर्यो अन्धसः ।

३ २८ ३ १२ ३१ २ १ २

एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥५॥ ऋ० ८ । २४ । १६ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) अहिंसक पालक (सदावृधः) सदा बढ़ने वाला, महामहिम, (वीरः) सामर्थ्यवान्, प्रभु (एवा हि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है । अतः (मधोः अन्धसः) मनोहर आनन्दकारी अन्न के (मदिन्तरं) अति अधिक आनन्दप्रद तृप्तिकारी अंश को उसी के लिये (आ सिञ्च) आ से चन कर । अन्न और मधु की विवेचना बृहदारण्यक उपनि०में स्पष्ट की है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१

[३८६] एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्यं मधु ।

१२ १२ ३ २

प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥६॥ ऋ० ८ । २४ । १३ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (इन्द्राय) उस इन्द के लिये (इन्दुम्) आह्लादकारी, कान्तिसम्पन्न, ज्ञानमय सोम का (आसिञ्चत) सेचन करो, वह (सोम्यं मधु) शान्तिदायक मधु का (पिबाति) पान करे, वही (महित्वना) अपनी महिमा से ही (राधांसि) बहुतसी विभूतियां (प्र चोदयते) प्रकट करता है, प्रदान करता है ।

३८५—'मध्वो,' 'चाध्वर्यो अन्धसः' इति च ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२
[३८७] एतोन्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् ।
३ १२ १२ ३ २३ ३ २
कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥७॥ ऋ० ८ । २४ । ६३ ॥

भा०—हे (सखायः) हे मित्रो ! (एत उ सु) आओ । और (स्तोम्य) स्तुति के योग्य, (नरं) नेता, (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें । (यः) जो (विश्वाः कृष्टीः) समस्त मनुष्यों पर (एक इत्) अकेला ही (अभि-अस्ति) व्यापक शासक है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २
[३८८] इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥८॥ ऋ० ८ । ९८ । १ ॥

भा०—हे विद्वान् सामगायको ! (बृहते) महान् (विप्राय) विद्वान् (ब्रह्मकृते) ब्रह्मज्ञान का उपदेश करने हारे (विपश्चिते) मेधावी, (पनस्यवे) स्तुति के योग्य (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (बृहत् साम) बृहत् नामक साम (गायत) गान करो ।

२उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३८९] य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥९॥ ऋ० १ । ८४ । ७ ॥

भा०—(यः) जो (एक इत्) अकेला ही (दाशुषे मर्ताय) दान शील पुरुष को (वसु विदयते) नाना रूप से धनधान्य देता है (अङ्ग) हे मनुष्यो ! वह (इन्द्रः) परमेश्वर (अप्रतिष्कुतः[1]) सबसे बढ़कर, किसी से भी पराजित न होने वाला (ईशानः) सबका स्वामी है ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ १ २
[३९०] सखाय आशिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।
३ १ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
स्तुष ऊषु वो नृतमाय धृष्णवे ॥१०॥ ऋ० ८ । २४ । २ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो[1] (वज्रिणे) सर्व विघ्ननिवारक, वज्ररूप ज्ञान को धारण करने हारे (इन्द्राय) परमेश्वर के प्रतिपादन लिये (ब्रह्म) वेद प्रतिपादित ब्रह्मज्ञान की (आशिषामहे) कथा चर्चा करते हैं । (व.) आप लोगों के प्रति मैं (उ नृतमाय) उस पुरुषोत्तम (शुष्मिणे) सबसे बढ़ जाने और सबको पराजय करने हारे परम बली परमेश्वर के (सुस्तुपे) यथार्थ स्वरूप का वर्णन करता हूं ।

इति दशमी दशतिः । चतुर्थः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः । चतुर्थं प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

॥ अ० १ ॥ ऋषिः—१ प्रगाथः । २ भरद्वाजः । ३ नृमेधः । ४ पर्वतः । ५ शुनःशेपः । ६ विश्वमना । ७ वामिष्ठः ॥ देवता—१—४, ८ इन्द्रः । ५ ७ मादित्याः । ६ अग्निः ॥ छन्दः—१—७ उष्णिक् । ८ विराडुष्णिक् ॥ ऋषभः ॥

३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[३६१] गृणे तदिन्द्र ते शव उपमा देवतातये ।

१र २र ३ १र २र

यद्धंसि वृत्रमोजसा शचीपते ॥१॥ ऋ० ८ । ६७ । ८ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (यत्) क्योंकि तू (ओजसा) अपने सामर्थ्य और बल से (वृत्रम्) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार को (हंसि) विनाश करता है । हे (शचीपते) सर्वशक्तिमन् ! (ते) तेरे (शव) बल की (देवतातये) विद्वानों के लिये (उपमा) अनुरूप (गृणे) स्तुति करता हूं । अर्थात् बल के सभी कार्यों में इन्द्र की ही उपमा दी जाती है ।

---

१ ९ ।—'उपम' इति ऋ० । 'भद्राः इन्द्रस्य रातयः' इति सूक्तान्तेऽपि ध्रुवपदमधिकम् ऋ० ।

१ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६२] यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयन् ।
३ १र २र ३ १र २र
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥ २ ॥
ऋ० ६ । ४३ । १ ॥

भा०—(यस्य मदे) जिसके तृप्तिकारक प्रसाद और आनन्द स्वरूप (दिवोदासाय) प्रकाश के आश्रयस्थान सूर्य, आदित्य ब्रह्मचारी के लिये (त्यत् शम्बरं) उस शान्तिवर्षक मेघ या धर्ममेघस्थ आत्मा के स्वरूप को (रन्धयन्) साधता हुआ, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (स. सोम.) वह सोम, साधक योगी ओषधिरस के समान (ते) तेरी प्राप्ति के लिये (अयं) यह (सुत·) तैयार हुआ है । तू उसे (पिब) पान कर, अपने शरण में ले, स्वीकार कर।

१ २ ३ १ २
[३६३] इन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
३ २र ३ १ २ ३ १र २र ३ २
गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥३॥ ऋ० ८ । ९८ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र ! हे प्रिय ! सबसे उत्कृष्ट ! हे (सत्राजित्) सबको विजय करने हारे ! हे (अगोह्य) अगोप्य सब के प्रति प्रकाश करने योग्य ! कभी न छिपने हारे ! तू (दिव· पति·) सूर्य का भी स्वामी (गिरि· न) पर्वत के समान (विश्वतः पृथु.) सब प्रकार से विशाल है । तू (न.) हमारे समीप (आ गधि) आ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६४] य इन्द्र. सोमपातमो मद· शविष्ठ चेततिं ।
३ १ ३ २ ३ १ ३ १ २
येनाहंसि न्यत्रिणं तमीमहे ॥४॥ ऋ० ८ । १२ । १॥

भा०—हे (इन्द) ऐश्वर्यवन् ! हे (शविष्ठ) बलिष्ठ ! (य) जो (सोमपातम) अति अधिक सोम, आनन्दरस पान करने में श्रेष्ठ (मदः) अत्यन्त तृप्त, हृष्ट या दत्तचित्त होकर तू (चेतति) ज्ञानवान् हो जाता है

(येन) जिससे तू (आत्रेयं) दूसरों के कर्मफल को छीनकर स्वयं खाजाने वाले डाकू के समान तृष्णा, काम, क्रोध या लोभ युक्त चित्त को (निः आ हंसि) विनाश करता है हम (तं) उसको (ईमहे) ज्ञान करते हैं ।

३ १२ २३ ३ १३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[३६५] तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे ।
१ २ ३ १ २
आदित्यासः सुमहसः कृणोतन ॥५॥ ऋ० ८ । २४ । २५ ॥

भा०—हे (सुमहसः) तेजस्वी (आदित्यासः) आदित्यरश्मियों के समान तेजस्वी विद्वान् गुरुओ ! (नः तुचे) हमारे पुत्र (तुनाय) और सन्तान चलाने हारे पौत्र और (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के निमित्त (तत्) वह (द्राघीयः) दीर्घ (आयुः) आयु (सु कृणोतन) करो ।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[३६६] वित्था हि निर्ऋतीना वज्रहस्त परिवृजम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
अहरहः शुन्ध्यु. परिपदामिव ॥६॥ ऋ० ८ । २४ । २४ ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) वज्र को हाथ में लिये वीरके समान बलवन् ! ज्ञानवन् ! (निर्ऋतीना) दुष्ट चित्तवृत्तियों के (परिवृजम्) परित्याग करना (वित्थ हि) तुम वैसे ही निश्चय जान जैसे (शुन्ध्यु.) शोध लगाने वाला डिटेक्टिव, गुप्तचर या परिशोध करने हारा आदित्य (परिपदाम्) चारों तरफ जाने हारे चोरों या पक्षियों को जानता है ।

१२ ४२ ३ २ ३-१ ३ १ २ ३ २
[३६७] अपामीवामप स्रिधमप सेधत दुर्मतिम् ।
१ २ ३ १ १ ३ १ २
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः ॥७॥ ऋ० ८ । १८ । १०

भा०—हे (आदित्यासः) आदित्य रश्मियों ! विद्वान् पुरुषो ! आप्तो ! (नः) हमारे (अमीवाम्) रोग को (अप सेधत) दूर करो, (स्रिधम् अप)

३६५—'तुचेतनाय' 'सुमहस.' इति च पाठभेदः ।

हमारे बाधाजनक भीतरी शत्रु को दूर करो और (दुर्मतिम्) दुष्ट मति वाले पुरुष, तथा दु खदायी दु संज्ञक को (अप सेधत) दूर करो । (न) हमें (अंहस') पापों से (युयोतन) पृथक् करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

[३६८] पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वाऽयं ते सुपाव हर्यश्वादि. ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ॥

सोतुर्बाहुभ्या सुयतो नार्वा ॥८॥ म० ७ । २२ १ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! (सोमम् पिब) सोम, आनन्दरस का पान कर । हे (हर्यश्व) हरणशील अश्वरूप प्राणों से युक्त ! (सोतु) प्रेरणा करने हारे सारथि के (बाहुभ्या) बाहुओं से (सुयत') उत्तम रूप से नियन्त्रित (अर्वा न) घोड़े के समान (स) वह आनन्दरस (यम्) जिसको (अद्रि) मेघ के सदृश वर्षण करने वाला धर्ममेघ समाधि (ते) तेरे लिये (सुषाव) उत्पन्न करता है वह (त्वा मन्दतु) तुझको आनन्दित करे ।

इति प्रथमा दशतिः । पञ्चम. खण्ड' ।

॥ द० २ ॥ ऋषि —१—६, ९, १० मौभरिः । ७, ८ नृमेध' ॥ देवता—१, ९, ४, ५, ७—१० इन्द्र । ३, ६ मरुत ॥ ककुप् ॥ ऋषभ' ॥

३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २

[३६९] अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।

३ १ २ ३ १ २

युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥ ऋ० ८ । २१ । १२ ॥

भा०—हे इन्द्र ! (त्व) तू (जनुषा) अपने प्रकट होने के काल से ही (अभ्रातृव्य') शत्रुरहित, अजातशत्रु (अना) बिना नेता के, विनायक, (अनापि') बन्धु बान्धवों से रहित, अद्वितीय, (सनाद्) पुराण पुरुष

३६९—उभयतिगतिकर्मा । नि० २ । १४ ।

(असि) है। तो भी (युधा इत्) योग द्वारा ही (आपित्वम्) तुम बन्धुता को (इच्छसे) चाहते हो, स्वीकार करते हो।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४००] या न इदमिदं पुरा प्रवस्य आनिनाय तमु व. स्तुषे।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
सखाय इन्द्रसूनवे ॥ २ ॥ ऋ० ८। २१ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! जो (न.) हमारे लिये (इदम्-इदम्) यह, यह, नाना प्रकार का, उत्तम उत्तम, (पुरा) पहले काल में, पूर्व जन्म में (वस्य.) आच्छादन योग्य, या निवासयोग्य भोग्य देह आदि (अ आनिनाय) प्राप्त कराता रहा, (तम् उ इन्दं) उसी आत्मा या परमेश्वर की (न) आप के प्रति (स्तुषे) स्तुति करता हूं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०१] आगन्ता मा रिषण्यत प्रस्थावानो मापस्थात समन्यवः।
३ १ २
इळा चिद्यमयिष्णवः ॥ ३ ॥ ऋ० ८ । २० । १ ॥

भा०—हे मरुतो, प्राणो ! और विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (आगन्त) आओ, (मा रिषण्यत) मरो मत, दुखी मत होओ। हे (प्रस्थावानः) निरन्तर गति करने हारो ! (समन्यव) क्रोधयुक्त या ज्ञानयुक्त होकर (मा अपस्थात) बुरे मार्ग पर मत भटको, क्योंकि आप लोग (इळा चित्) दृढ, बलवान् पदार्थों को भी (यमयिष्णवः) नियमन कर लेते हो, वश करने में समर्थ हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०२] आयाह्यग्मिन्दवे श्वपते गोपत उर्वरापते।
१ २
सोमं सोमपते पिब ॥ ४ ॥ ऋ० ८ । २१ । ३ ॥

भा०—हे (अश्वपते !) इन्द्रियों के स्वामिन् ! हे (गोपते) वाणी के मालिक ! हे (उर्वरापते) प्रजनन-शक्ति के स्वामिन् ! हे (सोमपते !)

४०१—'स्थिराचिन्नमयिष्णवः' इति ऋ० ।

ज्ञानवन् ! तू (सोमं पिब) सोम, ज्ञान, आनन्द और बल का पान कर, उसका लाभ कर ।

१ २ ३ २ ३।१ २१ ३ १ २

[४०३] त्वया ह स्विद्युजा वयं प्रति श्वसन्तं वृषभ ह्वयामहि ।
३ १२ २१ ३ १ २
संस्थे जनस्य गोमतः ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । २१ । ११ ॥

भा०—हे (वृषभ !) सर्वश्रेष्ठ ! (त्वया ह स्विद्) तुझे ही (युजा) सहायक द्वारा (गोमतः) वाणी से सम्पन्न (जनस्य) पुरुषों के (संस्थे) संघ में (श्वसन्तं प्रति) श्वास लेते हुए प्राणी के प्रति (ह्वयामहि) तेरी स्तुति करते हैं ।

१ २ ३ २१ ३ २ ३ १ २

[४०४] गावश्चिद् घा समन्यवः सजात्यन मरुतः सबन्धव ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १
रिहते ककुभो मिथः ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । २० । २१ ॥

भा०—हे (मरुतः) मरुद्गण ! प्राणो ! विद्वानो ! आप लोग (गावः चित्) गतिमान्, ज्ञानवान् रहते हुए ही (समन्यवः) ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति से युक्त (सबन्धवः) सब समानभाव से एक स्थान पर ही बधे हुए, प्रेम से युक्त (सजात्येन) समान स्थान पर या समान ज़ाति में उत्पन्न होने के कारण (मिथः) परस्पर (ककुभः) विस्तृत होकर भी (रिहते) परस्पर मिलते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४०५] त्वं न इन्द्राभर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
३ १ २ ३ १ २
आ वीरं पृतनासहम् ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ९८ । १० ॥

भा०—हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञावाले ! हे (विचर्षणे) सब लोकों के द्रष्टः ! हे (इन्द्र) आत्मन् ! हमें (नृम्णं) धन और (ओजः) बल (आभर) प्राप्त करा । और (पृतनासहं) सेनाओं का मुकाबला

करने हारे या प्रजा का भार सहन करने हारे (वीर) वीर, सामर्थ्यवान् पुरुष को (आ भर) प्राप्त करा।

२ ३ऋ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४०६] अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥८॥ ऋ० ८ । ९८ । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (उदा इव) जिस प्रकार जल (उदभिः) अन्य जलों में (ग्मन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार हम (काम) अपनी कामनाओं द्वारा (त्वा उप ईमहे) तेरे पास आते हैं और (ससृग्महे) तेरे साथ मिल जाते हैं।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४०७] सीदन्तस्ते वया यथा गोश्रीते मधौ मदिरे विवक्षणे ।
३ १र २र
अभि त्वामिन्द्र नोनुमः ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । २१ । ५ ॥

भा०—(यथा वयः) रश्मियों के समान (गोश्रीते) दूध से मिश्रित, (मधौ) मधुर, (मदिरे) आनन्दप्रद, (विवक्षणे) विशेष सुख या मुक्ति में लेजाने वाले, (ते) तेरे स्वरूप में हम (सीदन्तः) विराजमान होकर हे (इन्द) आत्मन् ! (त्वाम्) तेरी (अभि नोनुमः) प्रत्यक्ष रूप से स्तुति करते हैं, अर्थात् तेरे आनन्द-रस में मग्न होकर हम तेरी स्तुति करते हैं।

३ २ ३ १ २ २ २ऋ ३ १ २ ३ १ २
[४०८] वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कञ्चिद्भरन्तोऽवस्यवः ।
१ २ ३ १ ?
वाजिञ्छिश्रीं हवामहे ॥ १० ॥ ऋ० ८ । २१ । १ ॥

भा०—हे वज्रिन् ! हे (अपूर्व्य) अपूर्व ! सबसे आदि में विद्यमान (वयं) हम लोग (अवस्यवः) अपनी रक्षा चाहने हारे, (स्थूरं न)

४०६—'कामान्महे, ससृज्महे' इति 'उदे वयन्त' इति च ऋ० ।

गुणों में अधिक धितिमान् पुरुष को जिस प्रकार (कश्चित्) कोई प्रजा लोग भरण पोषण करते हैं उसी प्रकार (चित्र) पूजायोग्य (त्वा) तुझ को (भरन्त) भरण या धारण करते हुए (हवामहे) हम तेरी स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीया दशतिः । षष्ठ खण्ड ॥

॥ द० ३ ॥ ऋषि.—१–८ गौतम० । ९ त्रित. । १० अवस्यु ॥ देवता:—१-८ इन्द्र. । ९ विश्वेदेवा । १० अश्विनौ ॥ पंक्तिश्छन्द ॥ पञ्चमः ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[४०६] स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् १
ऋ० १ । ८४ । १० ।

भा०—सूर्य और राजा के दृष्टान्त से आत्मा और, ईश्वर का वर्णन करते हैं । (गौर्यः) शुभ्र किरणों या गमनशील सेनाओं के समान इन्द्रियां या चित्तवृत्तियां, और प्रजाएं (विषूवत) सर्वव्यापक, (मधोः) सब मनोहर गुणों से युक्त, मधुर, (स्वादो) तृप्तिकारक, परमानन्द रस का (इत्था) इस प्रकार से (पिबन्ति) पान करती हैं कि (या) जो वे (वृष्णा) सब परम आनन्द बरसानेहारे इस इन्द्र के साथ (सयावरी) गमन करती हुई (मदन्ति) आनन्द लाभ करती हैं और (वस्वी) आवास करने हारी वे (स्वराज्यम्) अपने ही राष्ट्र के समान देह या इस संसार रूप ईश्वर के कुटुम्ब की (अनु शोभथा) शोभा बढ़ाती हैं । (मधु की व्याख्या देखो बृहदा० २ । ५)

४०९—'शोभसे' इति ऋ० ।

३ २अ ३ २ब ३ १ २ ३ २३ १ २
[४१०] इत्था हि सोम इन्मदो ब्रह्म चकार वर्धनम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २अ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
शविष्ठ वज्रिन्नाजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् २
ऋ० १ । ८० । १ ।

भा०—हे वज्रिन् ! हे (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! (इत्था) इस प्रकार से (हि) निश्चय (सोमे) उस आनन्दरस के बल पर (इत्) ही (मदः) आनन्दयुक्त विद्वान् जिस प्रकार (ब्रह्म) वेद द्वारा (वर्धनम्) अपने ज्ञान की वृद्धि या उन्नति (चकार) करता है । (अहिम्) सूर्य जिस प्रकार मेघ को भेदन करता है उसी प्रकार (स्वराज्यं) अपने राष्ट्र या प्रताप को (अनु अर्चन्) प्रकट करते हुए आप अपने (ओजसा) बल से (पृथिव्या) इस पृथिवी के आवरणकारी विघ्न को (निःशशाः) विनाश करते हैं । अध्यात्म वेदियों की स्वराज्य की चर्चा उपनिषदों में स्थान २ पर है ।

१ ३ १ २ ३ १२ ३ १२ २र
[३११] इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
२अ ३ २ ३ २ ३ १र २र ३ १र २र३ १ २
तामेन्महत्स्वाजिपूतमंभं हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥३॥
ऋ० १ । ८२ । १ ।

भा०—(इन्द्रः) परमेश्वर ! (मदाय) प्रजाजनों के हर्ष करने के लिये और (शवसे) बल के लिये (वावृधे) बहुत बड़ा है । वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का नाश करने वाला (नृभिः) अपनी प्रजाओं के साथ (वाजेषु) संग्रामों और ज्ञान-यज्ञों में (नः प्र अविषत्) हमारी रक्षा करता है । (तम्) अपनी रक्षा स्वरूप (तम् इत्) उसको ही (महत्सु) बड़े २ (आजिषु) ज्ञान चर्चा के स्थानों या संग्रामों, और यज्ञों में और (अभे) सूक्ष्म हृदयावास में भी (हवामहे) हम उसका स्मरण करते हैं ।

४१०—'मदे मदा' इति ऋ० ।

अर्भ, अल्प, दक्ष, दहर आदि का विवरण छान्दोग्य, और केन दोनों उपनिषदों में स्पष्ट है। आजि=चरम सीमा। राजा के पक्ष में-आजि=सग्राम।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ह २र
[४१२] इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्त वज्रिन्वीर्यम्।
२ ३ २ ३ १ २ ३२ह ३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तव त्यन्मायया वधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥४॥
ऋ० १ । ८० । ७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर! हे (अद्रिवः) मेघपति के समान आनन्द और ज्ञान के धन! अखण्ड या अखण्डित शक्तिशालिन्! हे (वज्रिन्) वीर्यसम्पन्न। (तुभ्यम् इत्) तेरा ही (वीर्यम्) बल सामर्थ्य (अनुत्तम्) कहीं रुका नहीं है। (यत् ह) क्योंकि (त्यं) उस (मायिनं) माया, अज्ञान या प्रकृति के जाल में पड़े (मृगं) ज्ञान के विलोपक चोर के समान देह और मनको अथवा (मृगं) सुख के खोजी पशु के समान प्यासे तृष्णालु जीव को (मायया) अपने प्रज्ञा के बल से (स्वराज्य अनु अर्चन्) स्व-महिमा की सत्ता को प्रकट करता हुआ तू (अवधीः) विनाश करता है, मारता है। या प्राप्त होता है, (तव त्यत् वीर्यम्) वह भी तेरा ही बल, प्रताप है।

२ ३ १ २ ३ २ह ३ २ ३ १ २
[४१३] प्रह्यभीहि धृ'णुहि न ते वज्रो नि यंसते।
१ २ ३ २ह ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥५॥
ऋ० १ । ८० । ३ ॥

भा०—(स्वराज्यम् अनु) आत्मा के मोक्षरूप स्वराज्य प्राप्त करने के लिये (अर्चन्) साधना करते हुए, हे (इन्द) आत्मन्! (प्रेहि) आगे आओ। (अभि इहि) सन्मुख आओ! (धृष्णुहि) बाधाओं को दबाओ। (ते वज्रः) तेरा वज्र (न) कभी नहीं (नियसते) दबता। हे (इन्द) आत्मन्!

४१२—'गृत्स तमुत्वमायया' इति ऋ०।

(ते) तुझे (नृम्णं हि) निश्चय से ऐश्वर्य प्राप्त होगा । तू (शवः) अपने बल से (वृत्र हन.) वृत्र रूप विघ्न अज्ञान को मार और (अप· जय) सब कर्मों, प्रजाओं पर विजय प्राप्त कर ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४१४] यदुदीरत आजयो धृष्णव धीयते धनम् ।

३ १ २ ३ २ २ ३ २ उ ३ १ र २ र ३ १ २ ३ १ २

युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हन. कं वसौ दधोऽस्मां इन्द्र वसौ दध ६

ऋ० १ । ८१ । ३ ॥

भा०—(यद्) जब (आजय) संग्राम या ब्रह्मकथा प्रसङ्ग (उद्· ईरते) उठ खड़े होते हैं तब (धृष्णवे) सब का पराभव करनेहारे के सन्मुख (धनं) धन, प्राप्तव्य पदार्थ (धीयते) रक्खा जाता है । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (मदच्युता हरी) हर्ष बपाने वाले और हरणशील अपने प्राण और अपान दोनों अश्वों को (युक्ष्व) अपने रथ में लगा । [प्र०१] (क हन·) तू किस शत्रु या विघ्न का नाश करता है ? और [प्र०२] (क वसौ दध.) तू किस सहायक, साधन या योगाङ्ग को (वसौ) अपने देह या चित्त में (दधः) धारण करता है ? [उ० १] हे इन्द्र ! (वसौ) इसी आवास स्थान, अन्तरात्मा में (दधः) धारण कर और [उ० २] हमें धारण कर । यह भक्तों का भगवान् के प्रति, इन्द्रियों का आत्मा के प्रति, प्रजा का राजा के प्रति समान रूप से वचन है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

[४१५] अक्तन्नमीमदन्त ह्यवप्रिया अधूपत ।

१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ क २ र ३ १ २

अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी ७

ऋ० १ । ८२ । २ ॥

भा०—(स्वभानव· विप्रा.) स्वयं योगाभ्यास और तपस्या से प्रदीप्त होने वाले, विद्वान्, मेधावी लोग (अक्तन्) सब प्रकार के आनन्दों का भोग करते हैं, (अमीमदन्त) और हर्ष को प्राप्त होते हैं । वे

(प्रिया) सबको प्रिय लगने वाले काम्य पदार्थों और कामनाओं को (अवाऽधूपत) परित्याग करते, झाड़ देते, गिरा देते हैं वे सर्वत्यागी, अवधूत हो जाते हैं । हे (इन्द्र) परमात्मन् ! वे (नविष्ठया) अत्यन्त प्रशंसनीय (मती) शुभ संकल्प या स्तुति से (अस्तोषत) तेरी स्तुति करते हैं। अतः उन पर प्रसन्न होकर (ते हरी) तू अपने अश्वों, हरणशील वाहनों ज्ञान और कर्म रूप बोड़ों को या सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों की (अनु योज) साधना कर ।

३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

[४१६] उपो षु शृणुही गिरो मघवन्माऽतथा इव ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १ २ ३ २ ३ ३ १ २

कदा नः सूनृतावतः कर इदर्थयास इद्योजान्विन्द्र ते हरी ॥८॥

ऋ० १ । ८२ । १ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! (उप सु शृणुहि उ) तू सावधान होकर सुन (गिर) तू हमारी वाणियों की (अतथा इव) प्रतिकूल, शत्रु के समान (मा) उपेक्षा मत कर । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (सूनृतावत.) सत्य और प्रिय वाणी बोलने हारे (न) हमको तू (कदा इद्) कब (करः) अपनाएगा ? (अर्थयासे इत्) आपसे प्रार्थना ही की जाती है । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते हरी योजा नु) तू अपने अश्वों, व्यापक साधन प्राण अपान को अब लगा । अथवा सबीज निर्बीज दोनों का अभ्यास कर ।

३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २

[४१७] चन्द्रमा अप्स्वाऽन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

न वो हिरण्यनेमय. पद विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥९॥

ऋ० १ । १०५ । २ ॥

भा०—(अप्सु अन्तरा) ध्यान धारणाओं, संकल्पों, विकल्पों या वासना जालों में से (चन्द्रमाः) अत्यन्त आह्लादकारी, (सुपर्णः) उत्तम गतिशील आत्मा, (दिवि) द्यौ लोक में चन्द्र के समान, या सूर्य में प्रकाश-

स्वरूप परमात्मा की ओर (धावते) गति करता है। हे (विद्युत·) विशेषरूप में प्रकट होने वाली विद्युत्स्वरूप कान्तियो! हे (हिरण्यनेमयः) सुवर्ण के समान चित्ताकर्षक धाराओं वाली कान्तियां! हमारे इन्द्रियगण या अज्ञानी जनसाधारण अज्ञान में होने से (वः पदं न विन्दन्ति) तुम्हारा स्वरूप ज्ञान प्राप्त नहीं करते। हे (रोदसी) द्यौ और पृथिवी, ऊर्ध्वगामी द्यौस्वरूप प्राण अधोगामी पृथिवीस्वरूप अपान, आप दोनों के (अस्य) इस रहस्य का ज्ञान (मे वित्तं) मुझे लाभ कराओ।

[४१८] प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसु वाहनम्।
स्तोता वामश्विनावृषि. स्तोमेभिर्भूषति प्रति माध्वी मम श्रुतं हवम्
ऋ० ५। ७५। १॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्राण और अपान! (वसु-वाहनं) आत्मकारी आत्मा को वहन करने हारे, (वृषणं) कर्मफल भोग की वर्षा करने वाले (प्रियतमं) अत्यन्त प्रिय, (प्रतिरथं) प्रत्येक रथ रूप देह में (ऋषि.) तत्वदर्शी (स्तोता) सत्य गुणों का वर्णन करनेहारा, (स्तोमेभि.-) वेदमन्त्रों द्वारा (वां) आप दोनों को (प्रति भूषति) उत्तम रूप से अलङ्कृत करना चाहता है। हे (माध्वी) मधुविद्या, ब्रह्म विद्या के जानने हारो! (मम हवं) मेरी स्तुति, गुण-वर्णना को (श्रुतं) श्रवण करो।

इति तृतीयो दशतिः। सप्तमः खण्ड.।

॥ द० ४ ॥ ऋषि —१, ७ वसुश्रुत आत्रेय.। २, ८ विमद ऐन्द्रः प्राजापत्यो वा वसुश्रुत वासुक्रो वा। ३ सत्यश्रवाः आत्रेय.। ५, ६ गौतमो राहूगण। कुलम्ल. शैलूषि.। ८ अहोमुग्वावामदेव्यः॥ देवता—१, २, ७ अश्विनः। ३ उषाः। ४ सोम.। ५, ६ इन्द्रः। ८ विश्वेदेवा.॥ छन्द.—१—७ पङ्क्तिः। ८ उपरिष्टाद् बृहती॥ स्वरः—१—७ पञ्चमः। ८ मध्यमः॥

४१८—'स्तोमेन प्रति भूषति' इति ऋ०।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[४१९] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
यद्ध स्या ते पनायसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आ भर१

ऋ० ५ । ६ । ४ ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) ज्ञानवन् ! (द्युमन्तं) प्रकाशस्वरूप (अजरम्) अविनाशी (ते) आपको (इधीमहे) प्रदीप्त करते हैं, चैतन्य करते हैं । (द्यवि) द्युलोक में (यद्) जो (स्या) वह (ते) आपकी (पनीयसी) प्रशंसनीय (समिद्) कान्ति (दीदयति) चमक रही है । (स्तोतृभ्य) मत्य गुण वर्णन करने हारों को हे देव ! आप (इषं) अन्न और ज्ञान की प्रेरणा (आ भर) प्राप्त कराओ ।

१२ २२ ३ १ २
[४२०] आग्निं न स्ववृक्तिभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शिरं पावकशोचिषं विवं मदे यज्ञेषु स्तीर्णबर्हिषं विवक्षसे ॥२॥

ऋ० १० । २१ । १ ॥

भा०—हे देव ! (विवक्षसे) आप सबको धारण करने हारे सबसे महान् हो । इसलिये (स्ववृक्तिभि॰) उत्तम, दोष रहित निज स्तुतियों से हम लोग (शीर) सबके भीतर ज्ञान रस रूप से शयन करने हारे, (पावक-शोचिष) पवित्र करने वाली दीप्ति से युक्त, (व) हमारे और तुम्हारे (विमदे) विशेष आनन्द लाभ करने के लिये (यज्ञेषु) यज्ञों में (स्तीर्णबर्हिषम्) बर्हि॰=धान्य या कुश, आसन या इस देह को फैलाये हुए (होतारं) सबको जीवन योग्य उत्तम पदार्थों के देने हारे या सबको अपने पास बुलाने वाले (त्वा) तुझ (अग्निं) ज्ञानस्वरूप ईश्वर का (होतारं न) अपने यज्ञ के होता के समान (आवृणीमहे) वरण करते हैं ।

४२०—'यज्ञेषु स्तीर्णे बर्हिषि विवो मदे शीर पावकशोचिषं विवक्षते' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४२१] महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
यथाचिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥३॥

अ० ५ । ७९ । १ ॥

भा०—हे (अश्वसूनृते) आत्मा की सत्यस्वरूप वाणि ! हे (सुजाते) उत्तमरूप से प्रकट होने वाली ! (वाय्ये) वरण करने योग्य ! (सत्य-श्रवसि) सत्य वेदज्ञान में (यथाचित्) जिस प्रकार पहले (नः अबोधयः) हमें ज्ञानवान्, प्रबुद्ध किया था उसी प्रकार हे उषः ! हे सब पापों के दहन करने हारी (दिवित्मती) ज्योतिः स्वरूपा तू (महे) बड़े भारी (राये) दिव्यधन, ब्रह्मज्ञान् की प्राप्ति के लिये (अद्य) आज (बोधय) हमें, जगा, ज्ञानवान कर ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[४२२] भद्रं नो अपि वातय मनो दक्षमुत क्रतुम् ।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १ २
अथा ते सख्ये अन्धसो वि वो मदे रणा गावो न यवसे विवक्षसे॥४

ऋ० १० । २५ । १ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! (विवक्षसे) आप महान् हो । आप (नः) हमारे (मनः) मन और (दक्षम्) आत्मा या बल को (उत) और (क्रतुम्) कर्म को (भद्र) कल्याण के प्रति (अपि वातय) प्रेरित करो । (अथा) और (ते) तुझ (अन्धसः) अन्धकार को दूर करने और प्राण धारण करानेहारे प्रभु के (मदे) हर्षकारी (सख्ये) प्रेम में हमें (यवसे) घास के प्रेम में (रणा गावो न) आनन्द प्रसन्न गौओं के समान (वि०) स्वीकार करो, अपनाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[४२३] कृत्वा महाँ अनुष्वधं भीम आ वावृत शवः ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
श्रिय ऋष्व उपाकयोर्नि शिप्री हरिवान् दधे हस्तयोर्वज्रमायसम् ५

ऋ० १ । ८१ । ४ ॥

४२२—'रणन्न गावो' इतिपाठः, ऋ० । ऋग्वेदे (१० । २० । ५) इत्यत्र 'भद्रा' दि 'मनो'न्तः पाठ एव केवलम् ।

भा०—(महान्) सबसे बड़ा वह परमात्मा (भीम०) सबको भय से चलाने और कंपाने वाला (अनुष्वधम्) स्वधा स्वरूप जीव या प्रकृति के प्रति (ऋत्वा) अपनी क्रिया शक्ति और प्रज्ञा से (शवः) अपनी क्रिया शक्ति या बल या ज्ञान सामर्थ्य को (आ वाधृते) प्रेरित करता है और (क्षिये) समस्त संसार को आश्रय देने के लिये (ऋत्व) वह महान् (शिप्री) शक्तिशाली (हरिवान्) हरण करने वाला या आकर्षण करने वाला, (उपाकयो०) समीपतम (हस्तयोः) आघातकारी साधनों, हाथों में (आयसं वज्रं) लोहे के बने खड्ग को वीर के समान (आयसम्) अयः अर्थात् लोह और वेग के बने (वज्रं) पतन और पाप निवारक साधन को (आदधे) धारण करता है।

ईश्वरने अपनी शक्ति प्रकृति में दी। समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया प्रत्येक परमाणु और पिण्ड में आघात प्रयत्न उत्पन्न किया और ऐसी निरन्तर की गति उत्पन्न की कि अपनी गति पर ही प्रत्येक आकाश का पिण्ड निराश्रय खड़ा है। 'हस्तयो' यह द्विवचनान्त प्रयोग उपमावश है। वीर राजा और अध्यात्म पक्ष में स्पष्ट है।

३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ । ३ १ २

[४२४] स घा तं वृषणं रथमधितिष्ठाति गोविदम्।

१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २क २२ ३ १ ३

य० पात्रं हारियोजनं पूर्णमिन्द्रा चिकेतति योजान्विन्द्र ते हरी ॥६॥

ऋ० १ । ८३ । ४ ॥

भा०—हे इन्द्र! (यः) जो (हारियोजनं) इन्द्रियों को वश करने हारे योग साधन और (पात्रं) क्रिया साधन को (पूर्णं) उचित प्रकार से पूर्ण रूप से (चिकेतति) जानता है (स घ) वही (तं) उस (वृषणं) सुखप्रद, (गोविद) इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले चेतन (रथम्) रथपर (अधि तिष्ठाति) स्वामी होकर सवारी करता है। हे (इन्द्र)

आत्मन् (ते हरी) तुम अपने अश्वों=प्राण अपान दोनों को (योज तु) इस समय समाधि योग से जोड़ो ।

३ १२ २२ ३ २ड ३ २ १२ १२ २ड ३ १ २

[४२५] अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः ।

३ १ २ ३ २ड ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिनं इषं स्तोतृभ्य आभर॥७

ऋ० ५ । ६ । १ ॥

भा०—(तं) उसको (अग्निः) ज्ञानवान् सब का नेता आचार्य या ईश्वर (मन्ये) मानता हूं या उसको अग्नि-तेज रूप से मनन करता हूं (यः वसु.) जो वसु अर्थात् सबके भीतर वास करने हारा, सबको वास देने हारा है । (यं) जिसमें (धेनव.) वाणियें, इन्द्रियां और रश्मियां हैं उसी प्रकार जैसे गौवें (अस्तं) घर में (यन्ति) आती हैं या (अस्तं यंति) आश्रय को प्राप्त होती हैं और (आशवः) व्यापन् स्वभाव वाले (अर्वन्तः) प्राण या वायु आदि पञ्च भूत (अस्त) गृहस्वरूप जिसमें आश्रय लेते हैं और (नित्यास.) नित्य, अविनाशी, (वाजिनः) ज्ञानवान् मुक्त आत्माएँ, विद्वान् लोग भी जिसको (अस्तं) अपना गृह या शरण समझ कर आश्रय करते हैं । हे सर्वाश्रय ! (स्तोतृभ्यः) स्तोता विद्वान लोगों को (इषं) अन्न एवं अपनी ज्ञान प्रेरणाएँ (आ भर) प्राप्त कराओ ।

२ड ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २

[४२६] न तमंहो न दुरितं देवासो अष्ट मर्त्यम् ।

३ १ २ १ २ ३ २ ३ १२ २२ २ ३ १ २ ३ १ २

सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अतिद्विषः ॥८॥

ऋ० १० । २२६ । १ ॥

भा०—हे (देवासः) विद्वान् पुरुषो ! (यम्) जिस (मर्त्यं) मरणधर्मा देहवान् पुरुष को (अर्यमा) वह न्यायकारी, (मित्र.) सब का प्रेमी, (वरुणः) सबको पाप से बचाने हारा जगदीश्वर (सजोषस.)

४२५— नमन्ति' इति पाठभेद., ऋ० ।

अत्यन्त प्रेम पूर्वक (द्विष , अति) विघ्न या बाधाकारियों[1] या अप्रीति करने हारों से दूर कर लेता है (तं) उसको (अह न अप्ट) पाप नहीं स्पर्श करता, (दुरित) और दुष्ट चरित भी उसको नहीं व्यापता ।

इति चतुर्थी दशति । अष्टम खण्ड ।

॥ द० ५ ॥ ऋषि —६ त्र्यरुण त्रसदस्यू । ७ वसिष्ठः । ८ वामदेव । ९ वाजिना स्तुति.।१, ३–५, १० ऐश्वरा धिष्ण्या अग्नय. ॥देवता–१–६, १० पवमान । ७ मरुतः । ८ अग्नि. । ९ वाजिनः ॥ छन्द —१, ३, ४, ५, ७, १० द्विपदा पंक्ति । ८ पदपंक्तिः । ९ परोष्णिक् । २, ६ त्रिपदा अनुष्टुप-पपिपोलिकामध्या ॥ स्वर —१, ३–८, १० पञ्चम । २, ६ गान्धार । ९ ऋषभः ॥

२ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[४२७] परि प्र धन्वेन्द्राय सोम स्वादुर्मित्राय पूष्ण भगाय ॥१॥

ऋ० ६ । १०९ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस को बहाने वाले, सब दुःखों के ओषधिरूप, परमरस स्वरूप ऐश्वर्यवन् ! (स्वादुः) ओषधिरस के समान परम आनन्ददायक आप (मित्राय) सबको स्नेह करनेहारे (पूष्णे) सब को पोषण करनेहारे (भगाय) सबके भजन, सेवन करने योग्य (इन्द्राय) उस ऐश्वर्य के इच्छुक जीव के लिये (परि प्र धन्व[1]) चारों ओर उत्तमरूप से गति कर, बहो ।

२ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २

[४२८] पर्यू षु प्र धन्व वाजसातय परि वृत्राणि सक्षणिः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

द्विषस्तरध्या ऋणयो न ईयसे ॥२॥ ऋ० ९ । ११० । १ ॥

४२७—[1]. धन्वतिगतिकर्मा, (नि०) रिवि रवि धवि गत्यर्थाः । भ्वा० ।

४२८—'ईयसे' इति ऋ० ।

भा०—हे परमेश्वर ! (वाजसातये) ज्ञान या धन या अन्न के लाभ के लिये (वृत्राणि) सब आवरणकारी विघ्नों को (सक्षणिः) सहनशील होकर आप (परि ग्रधन्व) चारों ओर से मार भगाओ । (ऋणया) ऋणों के नाश करने हारे आप (द्विषः) अप्रीति से वर्तने वाले शत्रुओं के (तरध्यै) विनाश करने के लिये (नः) हमें (ईरसे) प्राप्त करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
[४२६] पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम ॥३
ऋ० ९ । १०९ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (महान् समुद्र) बड़े भारी समुद्र हैं, समस्त रसों और आनन्दों के स्रोत और भण्डार हैं, (देवानां) समस्त देवों, भूतों और इन्द्रियों के (पिता) पालक और प्रेरक हैं, अतः (विश्वा धाम) समस्त तेजों को या समस्त आत्मा के निवासस्थान रूप देहों या हृदयों के प्रति (परि पवस्व) आप द्रवित होइये । उनमें स्वयं आनन्द रस का संचार कीजिये ।

१ २ ३ २ड ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र
[४३०] पवस्व सोम महे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय ॥४॥
ऋ० ९ । १०९ । १० ॥

भा०—हे सोम ! (निक्तः) स्नान किया हुआ, निष्णात (वाजी) ज्ञानवान् विद्वान, (अश्वः) क्रियानिष्ठ, साधा हुआ पुरुष और घोड़ा जिस प्रकार (धनाय) धनोपार्जन, या सङ्ग्राम के लिये जाता है उसी प्रकार (महे) बड़े (धनाय) गतिशील या धन्य (दक्षाय) कर्मनिष्ठ साधक जीव के लिये आप (पवस्व) द्रवित हों, कृपायुक्त हों, आनन्द रूप में प्रकट हों ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र
[४३१] इन्दुः पविष्ट चारुर्मदायापामुपस्थे कविर्भगाय ॥ ५ ॥
ऋ० ९ । १०९ । १२ ॥

भा०—(अपाम् उपस्थे) जलों के समीप या प्रजाओं के समीप या कर्म और ज्ञानों के बीच में (मदाय चारुः) हर्ष उत्पन्न करने में श्रेष्ठ, (कविः) क्रान्तदर्शी विद्वान् (भगाय) सौभाग्य, ऐश्वर्य या उचित कर्म फल के आनन्दभोग के निमित्त (इन्दुः) ऐश्वर्यशील सोम (पवित्र) गति करता है या प्रकट होता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४३२] अनु हि त्वा सुतं सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजाँ अभि पवमान प्र गाहसे ॥६॥ म० ९ । ११० । २ ॥

भा०—हे सोम ! (महे) बड़े भारी तेरे (अर्यराज्ये) श्रेष्ठ, जितेन्द्रिय पुरुषों के राष्ट्र में (त्वाम् अनु) तेरे अनुकूल (मदामसि) रहने में सुख प्रसन्न होते हैं। हे (पवमान) सबके प्रेरक शासक ! (वाजान् अभि) शत्रुओं या इन्द्रियों, ऐश्वर्यों के प्रति तू निर्विघ्न होकर (प्र गाहसे) गति करता है, उनमें रमण करता है। राजा, आत्मा और परमात्मा के प्रति प्रजाओं, इन्द्रियों और भक्तों का वचन है।

२ क २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४३३] क ईं व्यक्ता नरः सनीडा रुद्रस्य मर्या अधा स्वश्वाः ॥७॥
म० ७ । ५६ । १ ॥

भा०—(ईं) ये (व्यक्ताः) प्रकट हुए, (सनीडाः) एक ही देह में आश्रय किये हुए, (मर्याः) देहधारी प्राणियों के हितकारी (अध) और (स्वश्वाः) सुख से पदार्थों का भोग करने हारे, (रुद्रस्य) इस समस्त संसार को रुलाने हारे, उस देव, मुख्य प्राण के (के) कौन हैं ? इस आश्चर्य से किये प्रश्न का उत्तर ऋ०मं०६।५६ सूक्त का अगली ऋचाओं में दिया है।

३ २ ३ ३ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[४३४] अग्न तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
३ १ २ ३ १ २
ऋध्यामा त ओहैः ॥८॥ म० ४ । १० । १ ॥

भा०—हे अग्ने ! (अद्य) आज हम (ओहैः) आह्वान करने योग्य (स्तोमैः) स्तुतिपूर्ण सूक्तों द्वारा (अश्वं न) अश्व के समान समस्त संसार के वहन करने हारे, (क्रतुं) रचयिता शिल्पी के समान ब्रह्माण्ड के बनाने हारे, (भद्रं) कल्याणकारी, (हार्दिस्पृशं) हृदय तक को छूने हारे, हृदयंगम (तं) उस प्रसिद्ध तुझको लक्ष्य कर (अभ्याम) स्तुति करते हैं, साधना करते हैं ।

३ १ २ ३ १२ १ ३ १ २ १२ ३१ २ ३ २ ३ २ -
[४३५] आविर्मर्ज्या आ वाजं वाजिना अग्मन् देवस्य सवितु. सवम्।
३ १ २
स्वर्गा ५ अर्वन्तो जयत ॥९॥

भा०—(वाजिनः) ज्ञानवान् (मर्या) मरणधर्मा प्राणी, (देवस्य) सबके दाता, (सवितु) सबके प्रेरक परमात्मा के (वाज सवं) ज्ञान सम्पन्न सर्ग या प्रेरणा, आदेश को (आविः अग्मन्) प्रकट रूप से प्राप्त करते हैं । हे (अर्वन्तः) ज्ञानशील पुरुषो ! (स्वर्गान्) सुख और आनन्द के प्राप्त कराने वाले उस मुक्ति सुखों को (जयत) विजय करो, उनको प्राप्त करो ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २
[४३६] पवस्व सोम द्युम्नी सुधारो महा अवीनामनु पूर्व्यः ॥१०॥
ऋ० ९ । १०६ । ७ ॥

भा०—हे सोम ! (पूर्व्यः) सबसे पूर्व, सबका आदि मूलकारण, (द्युम्नी) कान्तिमान्, (सुधारः) समाज और संसार को उत्तम रूप से धारण करनेहारा (अवीना) गतिशील, आत्माओं में सबसे (महान्) बड़ा परम-आत्मा तू (अनु पवस्व) सबको पवित्र कर, सन्मार्ग में प्रेरणा कर ।

इति पञ्चमी दशतिः । नवमः खण्डः ।

॥ ८०-६ ॥ ऋषिः—१ असदस्युः । ७ सम्पातः ॥ शेषाणां ऋषयो नोपलभ्यन्ते ॥
देवता—१–५, ८–१० इन्द्रः । ६ विश्वेदेवाः । ७ उषाः । पङ्क्तिः ॥ पञ्चमः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[४३७] विश्वतो दावन्विश्वतो न आभर यं त्वा शविष्ठमीमहे ॥ १ ॥

भा०—हे (विश्वतो दावन्) सबका संहार करने या सबको दान करनेहारे संहर्त्ता ! या दातः ! (यं त्वा) जिस तुझ (शविष्ठ) बलवान् को (ईमहे) याचना, प्रार्थना करते हैं कि (नः) हमें (विश्वतः) सब ओर से (आभर) सुख सामग्री प्राप्त कराओ ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[४३८] एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुता गृणे ॥ २ ॥

भा०—(यः ऋत्वियः) जो ऋतुओं में प्रकट होने हारा (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील, सूर्यरूप कालात्मा परमेश्वर है (एषः ब्रह्मा) वही सबसे बड़ा और सबको बढ़ाने वाला (नाम श्रुतः) विख्यात है । (गृणे) मैं उसकी स्तुति करता हूं ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४३९] ब्रह्माण इन्द्रं महयन्तो अर्कैरवर्धयन्नहये हन्तवा उ ॥ ३ ॥
ऋ० ५ । ३१ । ४ ॥

भा०—(ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी पुरुष (अर्कैः) वेदस्तुतियों द्वारा (इन्द्रं) इन्द्र की (महयन्तः) पूजा करते हुए (अहये) मेघ या न नाश होने वाले अन्धकार को (हन्तवा) नाश करने के लिये (उ) ही (अवर्धयन्) उसको बढ़ाते हैं, उसकी महिमा का वर्णन करते हैं । अथवा (अहये) इस समस्त संसार को (हन्तवा) संहार करने के कारण (उ) ही (अवर्धयन्) उसकी महिमा गाते हैं ।

गत्यर्थस्य एतेरपतेरंहतेर्वा व्याप्त्यर्थस्य, आङ् पूर्वाद् हन्तेर्वा, नञो हन्तेर्वा, अहि । अथवा—'य एतत् सर्वमन्तवत् तस्मादहिः' इति वाजसनेयब्राह्मणे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४०] अनवस्ते रथमश्वाय तक्षुस्त्वष्टा वज्रं पुरुहूत द्युमन्तम् ॥ ४ ॥
ऋ० ५ । ३१ । ४ ॥ पूर्वार्धः ॥

भा०—जिस प्रकार (अनव·) प्राणधारण करनेहारे मनुष्य (अश्वाय) समस्त देश में गमन करने के निमित्त (रथं) रमण साधन या गमन साधन या वेगवान् यान=रथ को (तक्षु·) बनाते हैं। उसी प्रकार (अनव) विद्वान् जन (अश्वाय) भोक्ता जीव के लिये (रथ तक्षु·) रसस्वरूप परमेश्वर की साधना करते हैं। (त्वष्टा) सबको रचने हारा शिल्पी विश्वविधाता (पुरुहूतं) सबसे स्तुति किया गया, (द्युमन्तं) दीप्तिमान् (वज्रं) सर्व विघ्ननिवारक, तमोनिवारक सूर्य रूप वज्र को बनाता है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ १ २ ३ २ २ ३ २
[४४१] शं पदं मघं रयीषिणे न काममग्नतो हिनोति न स्पृशद्रयिम् ५

भा०—(शं) शान्तिकारक (पदं) स्थान और ज्ञान, (मघं) धन धान्य और क्रतु योगादि का उत्कृष्ट फल पहले (रयीषिणे) सुखसामग्री या ऐश्वर्य को अन्यों के लिये परोपकार में लगा देने वाले के लिये होता है। (अग्नत.) निकम्मा, मूर्ख, तपस्या आदि न करने हारा, अकर्म और निषिद्ध कर्म करने हारा पुरुष (कामम्) यथेष्ट फल को (न हिनोति) नहीं प्राप्त कर पाता, क्योंकि (रयिम्) वह धन धान्य को (न स्पृशत्) छूता भी नहीं अर्थात् दान भी नहीं करता।

२ ३ २ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४४२] सदा गाव. शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥६॥

भा०—(गाव.) ज्ञानी परिव्राजक, गमनशील किरण या गौएं (शुचयः) सदा ज्ञान के प्रकाश से युक्त, कान्तिमान् सदा शुद्ध और (विश्वधायस) समस्त संसार को ज्ञान रसपान कराने वाले, सबको पुष्ट करने हारे और सबको रस पिलाने हारे होते हैं। क्योंकि (देवा.) विद्वान्, दानी और प्रकाशमान पदार्थ (सदा) सदा (अरेपस.) निर्दोष और निष्पाप होते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ १२ ३ १२ १२
[४४३] आयाहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥७॥
=ऋ० १० । १७२ । २ ॥

भा०—हे उप [1] तू (वनसा) तेज के साथ (आयाहि) आ, प्रकट हो । (गाव.) जिस प्रकार गौवें दूध भरे थनों से सबको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार (गाव.) तेरी रश्मियां (ऊधभि·) वहनशील शक्तियों द्वारा सबको पालन पोषण करके (वर्त्तनिं) तेरे मार्ग को (सचन्त) प्राप्त करती हैं, तेरा अनुगमन करती हैं ।

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[४४४] उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्त· पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥८॥

भा०—हे (इन्द) परमेश्वर ! (मधुमति) मधुर फल से सम्पन्न (प्रक्षे) वट आदि वृक्ष पर आश्रय लेकर जिस प्रकार पक्षिगण और राजा का आश्रय लेकर जीव प्रजागण जिस प्रकार सुख और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (प्रक्षे) विशाल ब्रह्माण्ड में (क्षियन्तः) निवास करते हुए हम जीव (रयिम्) अपने उत्तम कर्मफल को (पुष्येम) प्राप्त करें और उन से वृद्धि को प्राप्त हों और (ते धीमहि) हम तेरा ध्यान करें ।

ब्रह्माण्ड रूप परम प्लक्ष या चमस का वर्णन उपनिषदों में तथा वेद-मन्त्रों में वर्णित है । इसी प्लक्ष से यौ भूमि बनाई गई है । वहां कर्मफल या मोक्षरूप मधु है । देखो बृहदारण्यक और छान्दोग्य के मधुविद्याप्रकरण जिसमें पृथिवी आदि को मधु कहा है । मस्तकरूप चमस में वैसे इन्द्रिय गण का आत्मा के प्रति वचन भी स्पष्ट है ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ ३ १२ २२ ३ २३ ३१ २२
[४४५] अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्का आस्तोभति श्रुतो युवास इन्द्र·९॥

भा०—(स्वर्का·) उत्तम कान्तिसम्पन्न ज्ञानी (मरुतः) प्रजाएं वा प्राणगण (अर्कं) अपने शक्तिदाता सूर्यरूप आत्मा या परमात्मा को (अर्चन्ति) स्तुति करते हैं । (स.) वह (युवा) बलवान् (इन्द्र.)

४४४—'पुष्यन्तो' इति ऋ० ।

परमेश्वर (श्रुतः) विख्यात कीर्त्ति वाला, (आस्तोभति) उनकी रक्षा करता है, उनके शत्रुजनों का सब दिशाओं में विनाश करता है ।

२ ३ १ २ ३१ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २ ३ २ २

[४४६] प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते १०

भा०—(व.) आप लोग (वृत्रहन्तमाय) वृत्रों को विनाश करने में श्रेष्ठ, (विप्राय) ज्ञानवान्, (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (गाथं) ऐसी गान या स्तुति को (प्र गायत) गाओ (यं) जिसको वह (जुजोषते) चाहता है, स्वीकार करता है, जो उसके यथार्थ गुणों का वर्णन करती है ।

इति षष्ठी दशतिः । दशमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

॥ ऋ० ७ ॥ ऋषिः—१ पृषध्रवः काण्वः सम्मातो वा । २ बन्धुः । ३, ४ बन्धुः सुबन्धुर्विप्रबन्धुश्च । गौपायना लौपायना वा । ५ सम्मर्त्तः । ६ भौवन आप्त्यः । ७ कवष ऐलूष । ८ भरद्वाजः । ९ माग्नेयः । १० वसिष्ठः ॥ देवता—१, २ अग्निः । ३, ४, ८, १० इन्द्रः । ५ उषाः । ६, ७, ९ विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—१, २, ५, ७ द्विपदापङ्क्तिः । ३, ४ पञ्चदशाक्षरा गायत्री । १० एकपदा अष्टाक्षरा गायत्री । ६, ८, ९ द्विपदा त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१, २, ५, ७ पञ्चमः । ३, ४, १० षड्जः । ६, ८, ९ धैवतः ।

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २

[४४७] अचेत्यग्निश्चिकितिर्हव्यवाड् न सुमद्रथः ॥ १ ॥

ऋ० ८ । ५६ । ५ ॥

भा०—(सुमद्-रथः) शोभायुक्त, रमणीय, तृप्तिकारी रस से युक्त या यश कान्ति या गतिसाधन देह से युक्त, (चिकितिः) ज्ञानवान्, (अग्नि-) परमात्मा हृदय या ब्रह्माण्ड में और आत्मा देह में (हव्यवाड् न) अन्नादि चरु खाने वाले भौतिक अग्नि के समान (अचेति) चैतन्य है, जागृत है ।

४४७—'चिकितुः' 'हव्यवाट्स०' इति ऋ० ।

[४४८] २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ १ २ ३ ८ १ २
अग्ने त्वं नो अन्तमः उत त्राता शिवो भुवा वरूथ्यः ॥२॥
ऋ० ५ । २४ । १ । पूर्वार्धः ॥ यजु० ३ । २५ । १५ । ४८ पू० ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (त्वं) तू (नः) हमारा (अन्तमः) समीपतम (त्राता) रक्षक, (शिव.) कल्याणकारी, शिवस्वरूप और (वरूथ्यः) सेनानायक के समान वरण करने योग्य (भुव.) हो ।

[४४९] २ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ॥ ३ ॥

भा०—(महोनां) बड़े २ देवों के बीच में (अग्निः) महान् परमेश्वर (भगं नः) सूर्य के समान (चित्र.) चयन करने योग्य, अद्भुत या पूजा करने योग्य है । वह (रत्नम्) रमणीय शक्ति को (दधाति) धारण करता है ।

[४५०] १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ २ ३ ३ २
विश्वस्य प्रस्तोभ पुरो वा सन्यादि वेह नूनम् ॥ ४ ॥

भा०—हे (विश्वस्य प्रस्तोभ) सबके संहारक, सबके उत्कृष्ट पूजा-पात्र ! तू (पुर· वा) पूर्वकाल में भी (सन्) विद्यमान रहा (यदि वा) और (इह) इस वर्त्तमान काल में भी (नूनम्) तू निश्चय से विद्यमान है । अर्थात् जैसे तू पहले था वैसे अब भी है । तू त्रिकाल में सत् है ।

[४५१] ३ २ ३ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उषा अप स्वसुष्टमः सं वर्त्तयति वर्तनिं सुजातता ॥ ५ ॥
ऋ० १० । १७२ । ४ ॥

भा०—(उषा) अन्धकार को नष्ट करने वाली उषा (स्वसु·) जिस प्रकार रात्रि के (तमः) अन्धकार को (सुजातता) अपने उत्तम प्रादुर्भाव के कारण (अप) दूर कर देती है और राहगीर को (वर्तनिं) सन्मार्ग में (संवर्त्तयति) करती है, उसी प्रकार विशोका प्रज्ञा का उदय भी (स्वसु) स्वयं सरण करने वाली अविद्या के अन्धकार को दूर करती और आत्मा के परम गन्तव्य ब्रह्म मार्ग को प्रकाशित कर देती है ।

४४८— मगो' इति ऋ० ।

३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४५२] इमा नु कं भुवना सीषधंमन्द्रश्च विश्वे च देवा ॥ ६ ॥

ऋ० २० । १५७ । १ ॥

भा०—(इन्द्रः च) आत्मा और (विश्वे देवाः च) सब इन्द्रियरूप देव मिलकर (इमा भुवना) इन समस्त भुवनों, पदार्थों को हम (सीषधेम कम्) प्राप्त करें, वश करें ।

२ ३ २ ३ १ २३ ३ ३ १ २ड २ ३ १ २
[४५३] वि श्रुतया यथापथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ॥ ७ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (पथा) मार्ग पाकर (रातयः) बहने वाली जलधाराएं बह जाती हैं उसी प्रकार (रातयः) नाना पदार्थों की दानराशियां, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वद्) तुझ से (वि यन्तु) विविध प्रकार से निकल कर हमें प्राप्त हों ।

३ १र ३२र ३१ २ ३ १ २ ३१२ ३ १ २
[४५४] अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥८॥

ऋ० ६ । १७ । १५ ॥

भा०—(अया) इस प्रकार की परमेश्वर की गुणस्तुति से (देवहितं) परमेश्वर के दिये हुए (वाजं) ज्ञान, बल और अन्न को (सनेम) हम प्राप्त करें, करावें और (सुवीरा) उत्तम पुत्रों से युक्त, वीर्यवान् सामर्थ्यवान् होकर (शतहिमाः) सौ वर्षों तक (मदेम) आनन्दित, सुप्रसन्न, सन्तुष्ट होकर रहे ।

३ २ ३ १र २र ३२३ १२३१ २ ३ १ २
[४५५] ऊर्जा मित्रो वरुण पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र ९

भा०—(मित्रो वरुणः) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ मिलकर (ऊर्जा) विद्युत्रूप बल, पराक्रम से युक्त होकर (इडाः) जिस प्रकार भूमियों को जलों से (पिन्वत) सेचन करते हैं उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा दोनों मिलकर समाधिकाल में आत्मा की मनो भूमियों को धर्म-

मेघ के रस से आ सेचित करें। और हे (इन्द) मेघ ! आप (इषं) अन्न की फसल को (पीवरीं) खूब अधिक मात्रा में, ज़ोरों पर कसरत से (कृणुहि) उत्पन्न करते हो उसी प्रकार हे आत्मन् ! आप (इषं) अभिलाषायोग्य परम सुख की अधिक मात्रा को (कृणुहि) उत्पन्न करो।

२ २ २

[४५६] इन्द्रो विश्वस्य राजति ॥ १० ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा ही (विश्वस) समस्त ब्रह्माण्ड को (राजति) प्रकाशित करता है। और उसमें स्वयं प्रकाशित होता है उस पर शासन करता है।

इति सप्तमी दशतिः। एकादश खण्डः।

॥ द० ८ ॥ ऋषिः—१, १० गृत्समदः। २ गौराङ्गिरसः। ३, ५, ९ पक्षच्छेपः। ४ रेभः। ६ पवयामरुत्। ७ अनानतः पारुच्छेपिः। ८ नकुलः॥ देवता—१, ३, ४, १० इन्द्रः। २ सूर्यः। ५ विश्वेदेवाः। ६ मरुतः। ७ पवमानः। ८ सविता। ९ अग्निः॥ छन्दः—१, ३, ५, ७, ९ अत्यष्टिः। २, ४ ६ अतिजगती। ८, १० अतिशक्करी॥ स्वरः—१, ३, ५, ७, ९ गान्धारः। २, ४, ६ निषादः। ८ १० पञ्चमः॥

१ २ २ १ २ ३ २ २ १ २ ३

[४५७] त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिब

१ ३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

द्विर्नृणा सुतं यथावशम्। स ईं ममाद महिकर्म कर्तवे

३ ३ २ १ २ ३ १ ३ १ २ २ ३ १ २ १

महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुं सत्यमिन्द्रम् ॥१॥

ऋ० १० । ८६ । ४ ॥

भा०—(महिषः) बड़ा पूजनीय, (तुविशुष्मः) बड़ा बलशाली, (तृपत्) सबको तृप्त करने हारा आत्मा (त्रिकद्रुकेषु) तीनों लोकों में

४५७—'तृपत्सोम,' 'यथावशम्' 'सत्यमिन्द्र सत्य इन्दु' इति ऋ०।

(विष्णुना) सर्वव्यापक परमेश्वर से (सुतं) प्रेरित या उत्पादित, (यवाशिर) यव आदि अन्नों से मिले हुए (सोमं) ओषधिरसों के समान ज्ञान और आनन्द को (यथावशं) अपनी शक्ति के अनुसार (आपिबत्) पान करता है। (स ईं) वही इस प्रकार (महि कर्म) बड़े २ काम (कर्त्तव्ये) करने के लिये भी (ममाद) सदा प्रसन्नचित्त रहता है। वह (महाम् उरु सैन) बड़े भारी, नाना दिशा में, नाना प्रकार की शक्तिरूप सेनाओं के स्वामी, विश्वक्सेन (देवं) परमात्म देव को (देवः) प्रकाशमान, ज्ञानवान् होकर (सश्चत्) प्राप्त होता है। वह (सत्यः इन्दुः) सच्चा, सब का आह्लाद करने हारा, या ऐश्वर्य और विभूतिमान् होकर (सत्यम्) सत्यस्वरूप (इन्दम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को भी प्राप्त होता है।

ताण्डयमहाब्राह्मणे—"स एतान् स्तोमान् अपश्यत् ज्योतिर्गौरायुरिति। इमे वै लोका. स्तोमा.। अयमेव ज्योतिरयम्मध्यमो गौरसावुत्तम आयुः। ऋग्भाष्ये दयानन्दस्तु 'त्रिकद्रुकेषु लोकेषु'।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ड २ १ २
[४५८] अयं सहस्रमानवो दृशः कवीना मतिर्ज्योतिर्विधर्मा।
३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ १
ब्रध्न समीचीरुषसः समैरयद्रेरपसः सचेतसः स्वसरे
३ १ २ ३ २
मन्युमन्तश्चिता गो ॥ २ ॥

भा०—(अयं) यह (सहस्रमानवः) सहस्रों मननशील विद्वानों से उपासित, (दृशः) दर्शनीय, (कवीना) क्रान्तिदर्शी, मेधावी लोगों से (मति.) एकमात्र मनन करने योग्य, (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप, (विधर्म) नाना प्रकार की प्रजाओं को धारण करने हारा, (ब्रध्नः) सबको प्राणसूत्र में बांधने हारा, महान्, सूर्य के समान परमात्मा (स्वसरे) स्वयं सरण करने हारे, दिन=जीवनकाल में या इस संसार में (समीची·) उत्तम प्रकार से हृदय में प्रवेश करने हारा, (अरेपस.) तम और पाप के लेप से रहित,

रजो भाव से शुद्ध, (सचेतसः) ज्ञानयुक्त, (उपसः) विशुद्ध ज्योतिर्मय दशाओं, उषाओं, प्रज्ञाओं को (सम् ऐयरत्) उत्तम रीति से प्रेरित करता है । जो (गो॰) सूर्य के (मन्युमन्तः) अत्यन्त ज्ञान प्रकाशवान् नाना (चिता॰) एकत्र हुए किरणों के समान होता है ।

[४५९] ऐन्द्र याह्युप नःपरावतो नायमच्छा विदथानीव सत्पतिरस्ता।
राजेव सत्पतिः । हवामहे त्वा प्रयस्वन्त सुतेष्वापुत्रासो
न पितर वाजसातये मंहिष्ठ वाजसातये ॥३॥ऋ० ३।५३।१॥

भा०—हे (इन्द्र) आत्मन् ! जिस प्रकार (अयम्) यह (सत्पतिः) सज्जनों का या सत्य का प्रतिपालक यजमान (विदथानि) यज्ञों में (राजा इव) राजा के समान (सत्पतिः) सज्जनों का पालक होकर (अस्ता राजा इव) शत्रुओं पर बाण आदि फेंकने वाला, वीर धनुर्धारी राजा जिस प्रकार शत्रु आदि के संकटों को दूर करने के लिये प्राप्त होता है उसी प्रकार तू (न) हमारे पास (परावतः) दूर देशों से भी (उप आयाहि न) आ हीं तो जा। (पुत्रासः पितरं न) जिस प्रकार पुत्र लोग पिता की (वाजसातये) दायभाग की प्राप्ति के लिये स्तुति करते हैं उसी प्रकार हम भी (प्रयस्वन्तः) अन्नादि हवि को आपके अर्पण करने के लिये अपने हाथों में लिये हुए (वाजसातये) अन्न और ज्ञान के लाभ के लिये (सुतेषु) इन यज्ञ स्थानों में (मंहिष्ठं) सबसे बड़े दानशील (त्वा) तुमको (आ हवामहे) आह्वान करते हैं, आदर से याद करते हैं ।

[४६०] तमिन्द्र जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुत
अवांसि भूरि । माहिष्ठा गीर्भिरा च यज्ञिया वसन रायं नो
विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥४॥ ऋ० ८ । ९७ । १३ ॥

४६०—'यज्ञियो वसन्तद्' इति ऋ० ।

भा०—(तं) उस (मघवानं) धन धान्य, सम्पत्ति, विभूतियों से सम्पन्न, (उग्रं) वेगवान्, (सत्रा) सत् पुरुषों के नाना, (भूरि अवांसि) नाना प्रकार की बल, शक्तियों, ज्ञानों, वेद ऋचाओं को (दधानम्) धारण करते हुए (अप्रतिष्कुतम्) किसी से भी न पराजित, (इन्द्रं) वीर राजा के समान परमेश्वर को (जोहवीमि) स्मरण करता हूं। वह (मंहिष्ठः) सबसे महान् दानशील (गीर्भिः) वेदमन्त्रों द्वारा (यज्ञियाः) यज्ञ के कार्यों में (आ ववर्त्तत्) पुनः २ स्मरण किया जाता है, आवृत्ति किया जाता है। वह (वज्री) सब विघ्नों का नाशक (नः) हमारे लिये (राये) धन प्राप्त करने के लिये (विश्वा) सब (सुपथा) उत्तम २ मार्ग, द्वार, साधन (कृणोतु) करे, खोल दे।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
[४६१] अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निं धिया दध आ नु त्यच्छर्धो दिव्यं
३ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृणीमह इन्द्रवायु वृणीमहे । यद्ध क्राणा विवस्वते नाभा
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३२
सन्दाय नव्यसे। अध प्र नूनमुपयन्ति धीतयो देवाँ
३ २ ३ १ २
अच्छा न धीतयः ॥५॥ ऋ० १। १३६। १ ॥

भा०—(धिया) आधानकर्म या ध्यानबल से (पुरः) साक्षात् (अग्निं) प्रकाशस्वरूप देव अग्नि को (दधे) धारण करता हूं, (त्यत् शर्द्धः) उसके बल में (दिव्य) प्रदीप्त ज्योति को (अनु वृणीमहे) निरन्तर प्रत्यक्ष वरण करते या प्राप्त करते हैं और (इन्द्रवायू) आत्मा और प्राण दोनों का (वृणीमहे) साक्षात् करते हैं। (यत्) जो दोनों (ह) निश्चय से (नव्यसे) सदा नवीन (विवस्वते) सूर्य या सूर्य के समान आत्मा के (नाभौ) आकर्षण शक्ति में (संदाय) अच्छी प्रकार अल्प २ प्राणों को अर्पण करके, जोड़कर (क्राणा) समस्त देहों को रचते हैं। (अध)

३६१—'तच्छर्धो,' 'विवस्वति', 'सदायिनव्यसा,' 'प्रनू न उपयन्तु' इति ऋ०।

और हम (धीतय) ध्यान योग से उपासना करने हारे या अध्ययन द्वारा ज्ञान सम्पादन करने हारे (धीतय इव) रश्मियों के समान या विद्वानों या आगे जाने हारी अंगुलियों या शिष्यों के समान (देवान्) देवों विद्वानों के (नूनं प्र उपयन्ति) अत्यन्त समीप पहुंचते हैं ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १
[४६२] प्र वो महे मतयो यन्तु विष्णवे मरुत्वते गिरिजा एवया-
२ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ६
मरुत् । प्र शर्धाय प्र यज्यव सुखादये तवसे भन्ददिष्टये
१ २ ३ १ २
धुनिव्रताय शवसे ॥६॥ ऋ० ५ । ८७ । १ ॥

भा०—जिस प्रकार (मरुत्वते) पवनों वाले मेघ के लिये (गिरिजाः) बिजुलियां चलती हैं । उसी प्रकार (वः मतयः) आपकी बुद्धियां या स्तुतियां (गिरिजाः) बड़े मस्तक वाले विद्वान् प्रवक्ताओं से उत्पन्न हुई हुई (महे) बड़े (मरुत्वते) वायुओं और प्राणों के बलों से युक्त, या प्रजाओं से युक्त, (विष्णवे) व्यापक जगदीश्वर को (यन्तु) पहुंचे । (एवयामरुत्) और प्राणों को चलानेवाला मुख्य प्राणस्वरूप आत्मा भी उसी (शर्धाय) बलवान्, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के सम्पादक, (सुखादये) उत्तम आयुधों से भूषित (तवसे) वीर्यवान् (भंददृ-इष्टये) कल्याणकारी यज्ञ के पात्र (धुनि-व्रताय) सब को कम्पन करने वाले, कर्म करनेहारे (शवसे) बल-स्वरूप उस ईश्वर के (प्र यातु) खोज में प्रवृत्त होजायँ ।

३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १
[४६३] अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति स्वयु
२ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
ग्वभिः सूरो न स्वयुग्वभि । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनानो
२ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ४
अरुषो हरिः । विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभिः सप्तास्येभि-
१ २
रृक्वभिः ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ११० । १ ॥

भा०—(सयुग्वभिः) साथ योग देनेहारे सहायकों द्वारा (सूरः न) जिस प्रकार प्रेरक नेता (विश्वा द्वेषांसि तरति) सब शत्रुओं को तर जाता है उसी प्रकार (सयुग्वभि॰) अपने सहायक इन्द्रियगणों, अश्वों, योग-साधनों द्वारा (सूर) सबका प्रेरक, विद्वान्, सूर्य के समान तेजस्वी (हरिः) गतिशील आत्मा (अया) इस (हरिण्या) अज्ञान हरने वाली (रुचा) ज्योति से (पुनानः) मल आदि का परिशोधन करता हुआ (विश्वा द्वेषांसि) सब प्रकार के विरोधियों को (तरति) पार कर जाता है। उस (पृष्ठस्य) सबके धारण करने हारे सोम की (धारा) धारण पोषण करनेहारी शक्ति (रोचते) सर्वत्र प्रकाशित होती है। वह (हरिः) सर्व-व्यापक, सर्वदुःखहारक, (अरुष॰) सर्व प्रकार से प्रकाशमान, (पुनान) सबको प्रेरित करता हुआ, (यद्) जो वह (विश्वा रूपा) सब पदार्थों या आकाशस्थ पिण्डों को (ऋक्वभि॰) प्रकाश ज्ञानयुक्त (सप्तास्येभि॰) शिरोगत सप्त प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या विशाल ब्रह्माण्ड में सब नक्षत्रों को चलाने हारे सात महावायुओं द्वारा (परि यासि) घेरे बैठा है, व्यापक है।

३ २ञ ७ २ ३ १ २ ३क ३ र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[४६४] अभि त्यं देवं सवितारमोण्यो॰ कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं

३ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ञ ३ २ ३ १र २र ३

रत्नधामभिप्रियं मतिम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिभा अदिद्युत-

१ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २

त्सवीमनि हिरण्यपाणिरिमीत सुक्रतु कृपाम्व॰ ॥ ८ ॥

यजु० ४ । २५ ॥ अथर्व० ७ । १४ । १, २ ॥

भा०—(ओण्योः सवितारं) द्यौ और पृथिवी के उत्पादक, (कवि-क्रतुं) क्रान्तदर्शी, एवं ज्ञानसम्पन्न मेधावी, (सत्यसवं) सत्य को प्रकट करने हारे, (रत्नधाम्) रमणीय विभूतियों को धारण करने वाले, (अ-

४६४—प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वा अनुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि इत्यधिक॰ पाठ॰, यजु० 'कृपाश्व स्व' इति अथर्व० ।

अभिप्रियं) सबके प्रिय, (मतिं) मनन योग्य (स्यं देव) उस देव की (अभि अर्चामि) साक्षात् स्तुति करता हूं । (यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊर्ध्व=ऊपर को जाने वाली या सबसे ऊपर विद्यमान (भा॰) सूर्यरूप तेजःकान्ति, (अमतिः) अचिन्त्य, अद्वितीय, (सवीमनि) जगत् के उत्पत्ति कार्य में (अदिद्युतत्) सर्वत्र प्रकाशित होती है । वह (हिरण्यपाणि॰) क्रियारूप या गतिरूप हाथों वाला, अथवा तेजोमय किरणों वाला, (सुक्रतु॰) उत्तम कारीगर (कृपा) अपने सामर्थ्य से (स्व॰) सब प्रकाशमान सूर्य आदि द्यौलोक और परमसुख को (नि॰-अमिमीत) बनाता और देता है ।

३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३
{४६५} अग्निं होतार मन्ये दास्वन्तं वसोः सूनुं सहसो जातवेदस
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
विप्रं न जातवेदसम्। य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
कृपा घृतस्य विभ्राष्टिमनुषुक्शोचिष आजुह्वानस्य
३ १ २
सर्पिषः ॥ ६ ॥ ऋ० १ । १२७ । १ ॥

भा०—मैं (दास्वन्तं) दान करने हारे, सबके दाता, (वसो) उस वास करने वाले (सहसः) बलरूप जीवात्मा के (सूनुं) प्रेरक, (जात वेदसं) समस्त भूतिमान् धनादि पदार्थों के उत्पन्न करने हारे, (विप्रं न) विप्र, मेधावी पुरुष के समान (जातवेदसं) समस्त उत्पन्न हुए पदार्थों के जानने हारे (अग्निं) परमेश्वर को (होतारं) इस महा ब्रह्माण्डरूप यज्ञ का कर्त्ता (मन्ये) स्वीकार करता हूं (य॰) जो (ऊर्ध्वया) ऊपर आकाश में स्थित ज्वाला द्वारा (स्वध्वरः) उत्तम अहिंसित, अविनाशी, हिंसारहित यज्ञ का करनेहारा (देवाच्या) देवों तक पहुंचने हारे (कृपा) सामर्थ्य से (शुक्रशोचिष) अत्यन्त दीप्त कान्ति वाले, (सर्पिषः) सर्वव्यापी, प्रवरणशील (घृतस्य) कान्तियुक्त सूर्य या अग्नि में आहुति किये

४६५—'विभ्राष्टिमनुषुक्शो' इति ऋ० । 'वसुं' इति ह० ।

घी के समान (विभ्राष्टिम्-अनु) विशेष भर्जन करने वाले प्रताप और तेज के साथ स्वयं (वष्टि) विराजमान, प्रकाशित होरहा है ।

२ ३ १२ २१ ३ १ १ ३२ ३ २ ३ २ ३ १ २

[४६६] तव त्यं नर्य नृतोऽप इन्द्र प्रथमं पूर्व्यं दिवि प्रवाच्य

३ २ ३ ३ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ २ ३

कृतम् । यो देवस्य शवसा प्रारिणा असुरिणन्नपः । भुवो

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २१

विश्वमभ्यदेवमोजसा विदेदूर्जं शतक्रतुर्विदेदिषम् ॥१०॥

ऋ० २ । २२ । ४ ॥

भा०—हे (नृत) समस्त संसार को नचाने या अपनी इच्छानुकूल चलाने हारे ! (त्यत्) वह (अप॰) कर्म (प्रथमं) सबसे उत्कृष्ट (दिवि) द्यौलोक में भी (पूर्व्यं) सबसे पूर्व (प्रवाच्यं) उत्तम रीति से वर्णन करने योग्य (कृतं) किया हुआ सर्ग (तव) तेरा ही है । (य॰) जो (शवसा) अपने वेग या बल से (देवस्य) प्रकाशमान, विजिगीषु, महाप्राणधारी हिरण्यगर्भ के (असुम्) पवनरूप प्राण को (रिणन्) गति देता हुआ (अप॰) नाना लोकों को (प्र अरिण॰) प्रकृष्ट वेग से चला रहा है । और वह देव (विश्वम्) समस्त (अदेव) न प्रकाशित होने वाले, मृतप्राय, नाना पृथिवी आदि लोकों, पिण्डों को भी (ओजसा) अपने बल से, कान्ति से (भुवत्) व्याप्त होकर उनमें (ऊर्जम्) अन्नादि खाद्य पदार्थ और जीवनमय पदार्थ (विदेत्) प्राप्त कराता है, उत्पन्न करता है वह (शतक्रतु॰) सैकड़ों कर्मों का करने हारा शिल्पी (इषं विदेत्) हमें जीवन, प्राण और अन्न दे ।

इति अष्टमी दशतिः । इति द्वादशः खण्डः ।

इति ऐन्द्रं काण्डम् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

४६६—'सुवत्' 'विदादिषम्' इति ऋ० ।

अथ पावमानकाण्डम्।

अथ पञ्चमोऽध्यायः।

॥ ६० ६ ॥ ऋषि॰—१, ४ अमहीयु । २ मधुच्छन्दा॰ । ३ भृगुर्वारुणिः जमदग्निर्वा । ५ त्रितः आप्तय॰ । ६ कश्यप॰ । ७ जमदग्निः । ८ ध्रुवच्युत आगस्त्य. । ९, १० काश्यपोऽसित॰ । पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज. ॥

३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र
[४६७] उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्याददे ।
३ २ड ३ २ ३ १ २
उग्रं शर्म महि श्रवः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर! (ते) तेरे (अन्धसः) प्राणधारण सामर्थ्य से (जातं) उत्पन्न हुए (दिविसद्) द्यौलोक, सूर्य में विद्यमान (उग्र) उग्र, उत्कृष्ट, (शर्म) सुख, शरण और (महि॰ श्रवः) महान् ज्ञान या बल, अन्न को (भूमि) भूमि पर के पुरुष भी (आददे) प्राप्त करते हैं। अर्थात् सूर्य में विद्यमान जीवन, सुख और ज्ञान दीप्ति आदि को हम भूमि पर भी प्राप्त करते हैं।

२ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४६८] स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ २ ॥ ऋ० ९ । १ । २ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ईश्वर! आप (स्वादिष्ठया) अत्यन्त रस दायक (मदिष्ठया) अत्यन्त हर्ष या आनन्दकारक (धारया) अपनी धारण शक्ति से (पवस्व[1]) सब में व्यापक हो। (इन्द्राय) इस आत्मा के

४६७—'दिविषद्' इति ऋ० ।

४६८—१. पवतिर्गतिकर्मा (नि० २ । १४)

(पातवे) पान करने के लिये यह सोम, ज्ञानानन्द रस (सुत.) उत्पन्न किया जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६६] वृषा पवस्व धारया मरुत्वते च मत्सरः ।
३ १ २ ३ १ २
विश्वा दधान ओजसा ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । ६५ । १० ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (वृषा) धर्मस्वरूप, सुखों का वर्षक, सबसे श्रेष्ठ, (मत्सरः) सबको तृप्त करनेहारा और आनन्दस्वरूप होकर सबके हृदयों में व्यापक, (मरुत्वते) प्राणों और समस्त वायुओं और प्रजाओं के स्वामी आत्मा, सूर्य, ईश्वर और राजा के लिये (धारया) अपनी धारक पोषक शक्ति द्वारा (विश्वा) समस्त प्राणियों, लोकों और प्रजाओं को अपने (ओजसा) बल से (दधान.) धारण करता हुआ (पवस्व) प्रकाशित हो ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७०] यस्ते मदो वरेण्यस्तेनापवस्वान्धसा ।
३ १ २ ३ २
देवावीरघशंसहा ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १९ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (मदः) आनन्द या हर्ष प्रकाश, (देवावीः) देवों, विद्वानों या इन्द्रियगण में प्रकट होता है और जो (अघ-शंसहा) पाप की शिक्षा देने वाले दुष्ट पुरुष या अचेतनता और अज्ञान का नाशक ज्ञान और काम क्रोधादि दुष्ट भावों का भी नाश करता है (तेन) उस (अन्धसा) प्राणशक्ति से (आ पवस्व) प्रकट हो ।

३ २ख ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७१] तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः ।
१ २ ३ १ २
हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ३३ । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (धेनवः) दुधार (गावः) गौएं (मिमन्ति) अपना दूध देने के लिये हंभारती हैं उसी प्रकार (तिस्रः वाचः) तीनों

वेदसंहितायें अपना २ विज्ञान, ज्ञान और कर्म का रस पान कराने के लिये (उद्-ईरते) अपना २ अभिप्राय प्रकट करती हैं और (हरिः) सर्व-व्यापक जगदीश्वर, एवं विद्वान् (कनिक्रदत्) अपनी ध्वनि या उपदेश मेघ के समान करता हुआ, ज्ञान और सुखों के वर्षक रूप से (एति) हमें प्रतीत होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७२] इन्द्रायेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६४ । २१ ॥

भा०—हे इन्दो ! ऐश्वर्यशील ! (मरुत्वते) मरुत् प्राणों, वायुओं और समस्त तीव्र, वेगवान् बलशाली पदार्थों के स्वामी (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (मधुमत्तमः) मधु के उत्तम रूप से धारण करने हारा तू (अर्कस्य) ज्ञान के सूर्य, प्रकाश या जीवन रूप यज्ञ के (योनिं) उत्पत्ति स्थान पर (आसदम्) विराजमान होने के लिये (पवस्व) प्रकट हो ।

१ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ २
[४७३] असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षा गिरिष्ठाः ।
३ २ ३ ३ १ २
श्येनो न योनिमासदत् ॥७॥ ऋ० ९ । ६२ । ४॥

भा०—(गिरिष्ठाः) पर्वतों या मेघों में स्थित और विद्वानों की वाणियों में स्थित, या विद्वानों में रहने वाला, (अंशुः) सर्वव्यापक (अप्सु) कर्मों और ज्ञानों को उत्पन्न करने में (दक्षः) बलशाली, सोम, आनन्दरस (असावि) प्रकट होता है । वह (योनिम्) अपने प्रादुर्भाव होने के स्थान में (श्येनः न) श्येनस्वरूप आत्मा के समान ही (आसदत्) विराजमान होता है । आत्मा के समान परमात्मा भी हृदय में विराजमान है ।

४७२—'ऋतस्य' इति ऋ० ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७४] पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥८॥ ऋ० ९ । २५ । १ ॥

भा०—हे (हरे) हरितवर्ण ! अथवा पापहरणशील, गतिशील, सर्वव्यापक ! (दक्षसाधनः) समस्त कार्यों को करने हारा (मदः) आनन्द रूप तू (मरुद्भ्यः) प्राणस्वरूप या प्रजारूप (देवेभ्यः) दानशील पुरुषों या इन्द्रियों को और (वायवे) सर्वव्यापक आत्मा के (पीतये) उपभोग के लिये (पवस्व) प्रकट हो ।

१ २ ३ १२ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[४७५] परि स्वानो गिरिष्ठा पवित्र सोमो अक्षरत् ।
१ २ ३ २
मदेषु सर्वधा असि ॥९॥ ऋ० ९ । २८ । २ ॥

भा०—(सोमः) सोम, वह आनन्दमय (स्वान०) सबको प्रेरित करता हुआ. या स्वयं प्रकाशित होता हुआ (गिरिष्ठाः) वाणी और हृदय में विद्यमान भी (पवित्रे) पवन साधन, शोधक या स्वत पवित्र हृदय में (अक्षरत्) क्षरित होता है द्रवित होता है, प्रकट होता है । हे (सोम) हे सर्वप्रेरक ! आनन्दमय ! तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वधा) सब रूपों से उनको धारण करता हुआ, तन्मय होकर (असि) विद्यमान है।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४७६] परि प्रिया दिव कविर्वयांसि नप्त्योर्हितः ।
३ १ २ ३ १ २
स्वानैर्याति कविक्रतुः ॥१०॥ ऋ० ९ । ९ । १ ॥

भा०—(कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, सोम, आत्मा (नप्त्योः) अधिसवन करने के फलकों, या द्यौ और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों के

४७४—१ हरे पापहर्त०, इति सायणः ।
४७५—सुवान०, 'अक्षरा' इति ऋ० ।
४७६—सुषाना, इति ऋ० ।

बीच (हितः) विद्यमान (दिव.) सूर्य या ज्योति के (प्रिया) प्रिय (वयांसि) आत्माओं जीवों तक वह (कविक्रतु.) ज्ञानानुसार कार्य करने हारा (स्वान.) ब्रह्मज्ञान को प्रकट करने हारे विद्वानों द्वारा (परि याति) सर्वत्र प्रचलित हो जाता है, सर्वत्र चर्चा किया जाता है ।

इति नवमी दशति । प्रथम. खण्डः ।

॥द० १०॥ ऋषि.—१ कविर्मेधावी । २ श्यावाश्वः । ३ त्रित. । ४, ८ नभस्वीयु । ५ भृगु. । ६ काश्यपः । ७ निध्रुविः काश्यप । ९, १० काश्यपोऽसित ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्ज. ॥

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७७] प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
३ २ ३ १ २
सुता विदथे अक्रमुः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ३२ । १ ॥

भा०—(मदच्युत.) आनन्द को बहाने वाले (सोमासः) सौम्य स्वभाव वाले विद्वान् या आनन्दरस (विदथे) यज्ञ या ज्ञान के अवसर पर (सुता·) नियुक्त या अभिषिक्त, द्रवित होकर (मघोना) धन या धनादिसम्पन्न (न·) हमारे (श्रवसे) ज्ञान, कीर्ति, अन्न प्राप्त करने के लिये (प्र अक्रमु·) उत्तम रूप से प्रवृत्त होते हैं ।

१र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[४७८] प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मय ।
१ २ ३ १ २
वनानि महिषा इव ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ९३ । १ ॥

भा०—(ऊर्मयः) जिस प्रकार समुद्र की तरंगें पुरुषों को समुद्र में नाना देशों के भीतर पहुंचा देती हैं या जैसे (महिषा.) बड़े २ साधु पशु

४७७—'मघोन.' इति ऋ० ।
४७८—'नयन्ति' इति ऋ० ।

भैंसे आदि पीठ पर उठाकर, उनके वाहन बन कर दूर देशों तक पहुंचा देते हैं उसी प्रकार (विपश्चितः) विद्वान्, ज्ञानवान्, कर्मवान् (सोमास) सौम्य स्वभाव वाले जन (अपः) प्रजाओं को (वनानि) उत्तम सेवन करने योग्य पदार्थों के प्रति (नयन्त) प्राप्त कराते हैं।

[४७९] पवस्वेन्दो वृषा सुतः कृधी नो यशसो जने ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २८ ॥

भा०—हे इन्दो ! हे विद्वन् ! आत्मन् ! (सुतः) तू तैयार होकर (जने) राष्ट्र में (पवस्व) प्रकट हो। और (नः) हमें (यशसः) कीर्तिसम्पन्न (कृधि) बना, (विश्वा द्विषः) समस्त द्वेष करने वालों को (अप जहि) नाश कर।

[४८०] कृपा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
पवमान स्वर्दृशम् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६५ । ४ ॥

भा०—हे विद्वन् ! आत्मन् ! हे (पवमान) सबको पवित्र करनेहारे ! (कृपा हि असि) तू सब सुखों के वर्षण करनेहारा है। (भानुना) सूर्य, या कान्ति से (द्युमन्तं) दीप्तिमान् (स्वर्दृशम्) सुख या सब के द्रष्टा (त्वा) तेरी हम (हवामहे) स्तुति करते हैं।

[४८१] इन्दुः पविष्ट चेतन. प्रियः कवीना मतिः ।
सृजदश्वं रथीरिव ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १० ॥

भा०—(चेतनः) चेतनास्वरूप (कवीनां) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञों का (प्रियः) अत्यन्त आदर और प्रेम का पात्र (मतिः) मननशील (रथीः इव) सारथी के समान (अश्वम्) अश्व=इन्द्रियगण को (सृजत्) प्रेरण करता हुआ (पवते) व्यवहार में प्रवृत्त होता है।

४८१—'मती' इति ऋ०।

[४८२] १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया ।
३ १ २ ३ १२ २२
शुक्रासो वीरयाशव. ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६४ । ४ ॥

भा०—(वाजिन.) बलवान् (आशव.) शक्तिकारी आलस्यरहित (शुक्रास.) कान्तिमान् (सोमास.) योगिजन, (गव्या) गौ या वाणी की कामना से (अश्वया) अश्व अर्थात् इन्द्रियों को वश करने की इच्छा से और (वीरया) वीर्य, सामर्थ्य लाभ करने की इच्छा से (प्र असृक्षत) प्रयत्न करते हैं ।

[४८३] १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
पवस्व देव आयुषगिन्द्र गच्छतु ते मदः ।
३१२ २२३ १२
वायुमारोह धर्मणा ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६३ । २२ ॥

भा०—हे (देव) द्योतमान रसस्वरूप आत्मन् ! (पवस्व) तू प्रकट हो और (आयुषक्) साथ ही (ते मद.) तेरा आनन्दप्रवाह (इन्द्रं गच्छतु) आत्मा के पास जावे । और तू (धर्मणा) अपने धारक प्रयत्न से (वायुं) प्राणवायु को (आरोह) वश कर, उस पर आरूढ़ हो ।

[४८४] १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २
पवमानो अजीजनदिव्यश्चित्रं न तन्यतुम् ।
१ २ ३२ ३२
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १६ ॥

भा०—(पवमानः) अन्तःकरण और बुद्धितत्व को विमल करने वाला साधक योगी सूर्य के समान (दिव) द्युलोक, मूर्धा के (चित्रं) विचित्र आदर योग्य (वैश्वानर) सब नरों में व्यापक, (बृहत्) विशाल (ज्योति·) प्रकाश को (तन्यतुं न) बिजली के समान (अजीजनत्) प्रकट करता है ।

[४८५] १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परि स्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
१ २ ३ १ २
मधो अर्षन्ति धारया ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । १० । ४ ॥

४८५—'परि सुवानास', 'सुता अर्षन्ति' इति ऋ० ।

भा०—(स्वानासः) सवन किये, सुसम्पादित, (इन्दवः) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान्जन (मदाय) अति आनन्द के लिये (बर्हणा) बहुत बड़ी (गिरा) वेदवाणी से (मधोः) मधु, सारभूत आनन्दरस की (धारया) धारा या धारणा शक्ति से (परि अर्षन्ति) सर्वत्र प्रकाशित होते, या व्यापते हैं ।

[४८६] परिप्राणिष्यदत्कवि. सिन्धोरूर्मावधिश्रितः ।
कारुं बिभ्रत्पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥ ऋ० ९ । १४ । १ ॥

भा०—(कवि) तत्वदर्शी, विद्वान् (सिन्धोः) आनन्दमय समुद्र के (ऊर्मौ) तरङ्ग में (अधिश्रित) बहता हुआ (पुरुस्पृहं) प्रजा के प्रेमपात्र (कारुं) आत्मारूप शिल्पी को (बिभ्रत्) धारण करते हुए जहाज़ के समान (परि प्र असिष्यदत्) सब ओर वेग से गमन करता है ।

इति दशमी दशतिः । द्वितीय. खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्धः । पञ्चमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

अथ षष्ठः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्ध.) ।

॥ ८० १ ॥ ऋषिः—१, ८, ६ अमहीयु. । २ बृहन्मतिराङ्गिरसः । ३ काश्यपोऽ-सितः । ४ प्रभूवसु· । ५ मेध्यातिथिः । ६, ७ निध्रुवि काश्यपः । १० उचथ्य. ॥ पवमानो देवता ॥ गायत्री ॥ षड्जः ॥

[४८७] उपोषु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १३ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुजातं) उत्तम गुणों से सम्पन्न उत्तम रूप से उत्पन्न, (अप्तुरं) प्रजाओं या इन्द्रियों या कर्मों, ज्ञानों में व्यापक, गतिमान्, (गोभिः) गौओं, उनके दुग्धों, वाणियों, रश्मियों से (परिष्कृतम्) सुशोभित, सुमिश्रित, (भङ्गं) सब दुःखों और

शत्रुओं के तोड़ने हारे (इन्दुं) इस आत्मरूप सोम या परमेश्वर के आनन्दरस को (उप अयासिषु·) प्राप्त करते हैं। ईश्वर, आत्मा, राजा और सोमरस चारों पक्षों में स्पष्ट है।

[४८८] पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणि ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ४० । १ ॥

भा०—(विचर्षणि·) विविध प्रजाओं का द्रष्टा (सोम.) आत्मा (विश्वा·) समस्त (मृध) संग्रामों को (पुनान·) पवित्र करता हुआ, सबके कलह मिटाता हुआ (अभि अक्रमीत्) प्रत्यक्षरूप से सबको व्यवस्थापक रूप में पार कर जाता है वह सबसे ऊंचा होकर विराजता है। उस (विप्रं) मेधा बुद्धि से सम्पन्न ज्ञानी को विद्वान्जन (धीतिभि·) अपनी मतियों और स्तुतियों से (शुम्भन्ति) अलंकृत करते हैं।

[४८९] आविशन्कलशं सुतो विश्वा अर्षन्नभि श्रियः ।
इन्दुरिन्द्राय धीयते ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १९ ॥

भा०—(सुत.) अभिषिक्त राजा जिस प्रकार राष्ट्र में प्रवेश करता है उसी प्रकार विद्वान् ज्ञानी साधक योगी का आत्मा (कलश) सोलह कलाओं से बने इस औंधे मस्तक या ब्रह्माण्ड में (आविशत्) व्याप्त होता हुआ (विश्वा.) समस्त (श्रियः) उत्तम आश्रयस्थानों, सम्पदाओं, ज्ञाननाड़ियों एवं सब लोकभूमियों में (अभि अर्षत्) व्याप्त होता है। (इन्दु.) वही इन्दु परमैश्वर्यसम्पन्न सिद्धयोगी, (इन्द्राय) उस महान् ऐश्वर्यवान् आत्मा को प्राप्त करने के लिये (धीयते) प्रस्तुत होजाता है, उसका ध्यान करता है।

[४९०] असर्जि रथ्यो यथा पवित्रे चम्वोः सुत. ।
काष्ठा अन्वाजी त्यक्रमीत् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६५ । २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्यः) रथयोग्य (वाजी) वेगवान् अश्व (कार्ष्मन्) आकर्षण करनेहारा (सुतः) प्रेरित होकर (चम्वोः) दोनों सेनाओं के बीच (पवित्रे) पैंतरे पर (नि-अक्रमीत्) वेग से दौड़ता है। उसी प्रकार यह आत्मा (सुत·) ऐश्वर्य से युक्त होकर (चम्वोः) निष्पादन फलकों, द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान के बीच (पवित्रे) पवित्र करने हारे प्राण वायु में (कार्ष्मन्) सब इन्द्रियों को कर्षण करता हुआ (रथ्यः) इस देह के योग्य (वाजी) वेगवान् अति बलवान् (असर्जि) होकर (नि-अक्रमीत्) नाना स्थानों में गमन करता है। सोम और रथ के घोड़े के दृष्टान्त से मुख्य प्राण और ब्रह्माण्ड के विधारक सूत्रात्मा वायु का वर्णन है।

२ड ३ १ २ १ ४ २ ३ २ ३ १ २
[४६१] प्र यद्गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रमुः ।
१ २ ३ २ड ३ ४ १
घ्नन्तः कृष्णामपत्वचम् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ४१ । २ ॥

भा०—(यत्) जो (गावः न) किरणों के समान (भूर्णयः) सब के प्रेरक करने हारे वा क्षिप्रगामी, (त्वेषाः) कान्तिमान् (अयासः) गतिशील, (कृष्णां) कृष्ण, कर्षण करने वाली, हानिकारक (त्वचम्) त्वचा, ऊपर की खाल या देखावे, अन्धकार, ढोंग, देहबन्धन को (घ्नन्तः) विनाश करते हुए (प्र अक्रमुः) विचरते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[४६२] अप घ्नन्पवस्व मृधः कृतुविन्नाम मत्सरः ।
३ १ २ २ड ३ १ २
नुदस्वा देवयुं जनम् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २४ ॥

४६१—'प्रये गावो' इति ऋ० ।

४६२—मृधः=मृधि उन्दने स्वादिः, उन्दनं क्लेदन । मृधः सङ्गदोषान्, बन्धनानि कर्माभिसङ्गा इति वा ।

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! हे रसरूप (मत्सर·) हर्षकारी होकर विचरने हारा तू (क्रतुवित्) सब उत्कृष्ट ज्ञान और कर्मों का जानने और लाभ कराने हारा (मृध·) परस्पर के कलहों, संग्रामों या बन्धनों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अदेवयुं) देवों, विद्वानों के प्रतिकूल नास्तिक (जनं) पुरुष को (नुदस्व) परे कर ।

[४९३] अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।
हिन्वानो मानुषीरपः ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६३ । ७ ॥

भा०—हे विद्वन् ! रसरूप (यया) जिस (धारया) धारा या धारण पोषण शक्ति से (मानुषी·) मनुष्य (अप) प्रजाओं या प्राणों को (हिन्वानः) प्रेरित करता है (यया) जिससे (सूर्यं) सूर्य के समान सबके प्रेरक राजा या विद्वान् गुरुको (अरोचय·) सब में प्रकाशित करता है (अया) उस धारा से (पवस्व) तू भी सर्वत्र प्रकाशित हो ।

[४९४] स पवस्व य आविथेन्द्रं वृत्राय हन्तवे ।
वव्रिवांसं महीरपः ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २२ ॥

भा०—हे रसरूप ! (य) जो (महीः) बहुत सारे (अपः) जलों, कर्मों, प्राणों या लिंग-शरीरों और प्रज्ञाओं को (वव्रिवांसं) आवरण किये, रोके हुए (वृत्राय) आवरणकारी मेघ के समान अज्ञान अन्धकार या कर्मबन्धन को (हन्तवे) विनाश करने के लिये (इन्द्रं) सूर्य के समान आत्मा की (आविथ) रक्षा करता है (सः) वह तू (पवस्व) प्रकाशमान हो ।

[४९५] अया वीती परिस्रव यस्त इन्द्रो मदेष्वा ।
अवाहन्नवतीर्नव ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २ ॥

भा०—हे रसरूप ! (ते) तेरे (मदेषु) आनन्द-रसों में यह कर (इन्द्रः) आत्मा (नवतीः नव) ९९ वर्ष (यः) जो (अवाहन्) पार

कर जाता है (अया) इस (वीती) रीति से (परिस्रव) देह में व्याप्त रह, गति कर । ऐतिहासिक पक्ष में इन्द्र का ९९ शम्बर की पुरियों का विनाश करना आदि आलंकारिक है ।

१ २ ३ १ २ २ ३ ३ ३ १ २ ३ ३ २
[४९६] परि ष्णुक्षं सनद्रयिं भरद्वाजं नो अन्धसा ।
३ १ २ ३ २ ३ २
स्वाना अर्ष पवित्र आ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ५२ । १ ॥

भा०—हे (सोम) विद्वन् ! आनन्दमय ! (नः) हमें (अन्धसा) जीवन-धारण सामर्थ्य से, (ष्णुक्षं रयिं) कान्तिस्वरूप धन को (परि सनद्) प्रदान कर, और (नः वाजं भरद्) हमें अन्न और ज्ञान भी प्राप्त करा । हे (सोम) विद्वन् ! (स्वानः) सम्पादित होता हुआ, ऐश्वर्यवान् तू (पवित्र) पवित्र करनेहारे दशा पवित्र नामक वस्त्रखण्ड के समान पवित्र, शुद्ध हृदय या ब्रह्म में तू (आ अर्ष) स्वयं व्यापक, विराजमान हो और विचर ।

इति प्रथमा दशतिः । तृतीयः खण्डः ॥

॥ द० २ ॥ ऋषिः—१ मेध्यातिथिः । २, ७ भृगुः । ३ उचथ्यः । ४ अवत्सारः । ५, ६ निभृवि-काश्यपः । ८, ९ काश्यपो मारीचः । १० असितः । ११ कविः । १२ जमदग्निः । १३ अयास्य आङ्गिरसः । १४ ममहीयुः । पवमानो देवता ॥ गायत्री । षड्जः ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २
[४९७] अचिक्रदद् वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
१ २ २
स सूर्येण दिद्युते ॥ १ ॥ ऋ० ९ । २ । ६ ॥

भा०—(वृषा) वर्षणशील, (हरिः) सबको गति देने हारा, जगदीश्वर (महान्) सबसे बड़ा (मित्रः न) सबके प्रति स्नेही, सूर्य के समान

४९६—'परीष्णुक्षं' 'सनद्रयिः' 'स्वानो' इति ऋ० ।
४९७—'सूर्येण रोचते' इति ऋ० ।

(दर्शतः) दर्शनीय, (सूर्येण) अपने प्रेरक बल और तेज से (सं दिद्युते) उत्तमरूप से प्रकाशित होता है ।

[४९८] आ ते दक्षं मयोभुवं वह्निमद्या वृणीमहे ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ २ ॥ ऋ० ६ । ६५ । २८ ॥

भा०—हे प्रभो ! (ते) तेरे (मयोभुवं) शान्ति और कल्याण के जनक, (वह्निं) सुखों के प्राप्त कराने वाले, (पान्तं) पालक, (पुरुस्पृहं) सबके अभिलाषा योग्य, (दक्षं) बल की (अद्य) इस समय हम (आ वृणीमहे) सब प्रकार से याचना करते हैं ।

[४९९] अध्वर्यो अद्रिभिः सुतं सोमं पवित्र आनय ।
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ५२ । १ ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) यज्ञनिष्पादक ! (अद्रिभिः) पाषाण-खण्डों से जिस प्रकार सोमरस निकाला जाता है उसी प्रकार ज्ञानोत्पादक गुरुओं द्वारा (सुतं) निष्पादन किये (सोमं) ज्ञान या आनन्द रस को (पवित्रे) दशा पवित्र नामक वस्त्र खण्ड के समान विवेकशील चित्त में (आनय) प्राप्त करा और (पातवे) पान करनेहारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पुनाहि) इसे विमल, और स्वच्छ कर ।

[५००] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ५८ । २ ॥

भा०—(सः) वह (मन्दी) स्तुति करने हारा, स्वतः मुक्त आत्मा (तरत्) इस देहबन्धन को तर जाता है । वही (सुतस्य) उत्पन्न हुए (अन्धसः) अन्धकार के नाशक ज्ञान और आनन्दरस की (धारा) धारा, या शक्ति द्वारा (धावति) ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है । वही (तरत्) अज्ञान

४९९—'पुनीहि' इति ऋ० ।

को धार करके (मन्दी) अत्यन्त आनन्दमय होकर (धावति) परम शुद्ध होकर ब्रह्म को प्राप्त होजाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०१] आ पवस्व सहस्रिणं रयिं सोम सुवीर्य्यम् ।
३ १२ १२
अस्मे अवांसि धारय ॥ ५ ॥ अ० ९ । ६३ । २ ॥

भा०—हे (सोम) आनन्दरस रूप आत्मन् ! तू (सहस्रिणं) सहस्रों (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न (रयिं) धन को (आ पवस्व) प्राप्त करा । (अस्मे) हमें (अवांसि) नाना ज्ञान और अन्न (धारय) धारण करा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५०२] अनु प्रत्नास आयवः पदं नवीयो अक्रमुः ।
३ १ २ ३ २
रुचे जनन्त सूर्य्यम् ॥ ६ ॥ अ० ९ । २३ । २ ॥

भा०—(प्रत्नासः) पुराने, प्राचीन, शाश्वत (आयवः) जीवन की कामना करने वाले पुरुष (नवीयः) अत्यन्त स्तुतियोग्य, उत्तम (पदं) प्राप्तव्य ब्रह्मपद या ज्ञातव्य ज्ञान को (अनु अक्रमुः) अनुसरण करते हैं । वे (रुचे) अपनी दीप्ति-प्रकाश के निमित्त (सूर्यं) सूर्य के समान प्रेरक मुख्य प्राण को या परमेश्वर को (जनन्त) सामर्थ्यवान् बनाते, उसकी सब शक्तियों की भावना करते या साक्षात् करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[५०३] अपां सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत् ।
३ २ ३ २ ३ २
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥ ७ ॥ अ० ९ । ६५ । १९ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ! हे (द्युमत्तम) प्रकाशमान् पदार्थों में सबसे श्रेष्ठ ! (वनेषु) सेवन करने योग्य पदार्थों और कर्मफलों में या ब्रह्मपदों में, (योनौ) अपने आश्रयस्थान पर (सीदन्) विराजमान होकर (आ) विचर और (द्रोणानि अभि) द्रवणशील, विनाशशील

५०३—'सीदन् द्रोणे न योनिमा' इति ऋ० ।

इन कलशस्वरूप देहों में भी (रोरुवत्) प्राणरूप से नाद करता हुआ तू (आ अर्ष) व्याप्त हो ।

[५०४] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
१ ३ १ २
वृषा धर्माणि दधिषे ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (वृषा) सब काम्य-सुखों के वर्षक आप (द्युमान्) दीप्ति से युक्त (असि) हो । हे (देव) सुखों के देनेहारे ! (वृषा) तू सबसे श्रेष्ठ (वृषव्रत·) धर्मानुकूल कार्य करने और सुखों के बर्षाने वाले मेघ के समान (वृषा) स्वतः सर्वसुखों के वर्षक, धर्ममेघ स्वरूप होकर (धर्माणि) सबको धारण करने वाले नियमों को (दधिषे) धारण करता, निर्माण करता, स्थापन करता है ।

[५०५] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इषे पवस्व धारया मृज्यमानो मनीषिभिः ।
१ २ ३ ४ २
इन्दो रुचाभि गा इहि ॥ ९ ॥ ऋ० ९ । ६४ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (मनीषिभि·) मनन करने वाले या मन को तेरे प्रति प्रेरणा करने वाले विद्वान् साधकों द्वारा (मृज्यमानः) विवेचना किया गया, परिशोधित किया हुआ होकर (धारया) निरन्तर आनन्द के प्रवाह रूप में (इषे) अन्न और ब्रह्म सम्पादन के निमित्त (पवस्व) प्रकट हो । और (रुचा) अपनी कान्ति द्वारा दीप्त हो (इन्दो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! प्राणशक्ति ! तू (गाः) वाणियों या इन्द्रियों के प्रति भी (अभि इहि) प्राप्त हो ।

[५०६] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
मन्द्रया सोम धारया वृषा पवस्व देवयुः ।
३ १ २ ३ २
अव्या वारेभिरस्मयुः ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ६ । २ ॥

५०४—'दधिषे' इति ऋ० ।

५०६—'अव्यो वारेष्वस्मयुः' इति ऋ० ।

भा०—हे सोम ! (वृषा) वर्षणशील, सुखों का वर्षक, (देवयु.) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों का हितकर तू (मन्दया) आनन्ददायक (धारया) रसरूप धारा से (पवस्व) प्रवाहित हो, और (अस्मयु) हमारा हितकारी (वारेभिः) विघ्ननिवारक बलों से (अव्याः) हमारी रक्षा कर । अथवा—(अव्याः) क्षिति शक्ति के (वारेभिः) आवरण करनेहारे कोशों में से भी तू (पवस्व) क्षरित होकर प्रकट हो ।

[५०७] अया सोम सुकृत्यया महान्त्सन्नभिष्टवर्धया. ।
मन्दान इद् वृषायसे ॥ ११ ॥ ऋ० ९ । ४७ । २ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अया) इस (सुकृत्यया) उत्तम सदाचाररूप विधि से तू (महान् सन्) बड़ा होता हुआ (अभि अवर्धयाः) साक्षात् बड़ा और (मन्दान.) हर्ष से (इद्) ही (वृषायसे) मेघ के समान नाद कर ।

[५०८] अयं विचर्षणिर्हितः पवमानः स चेतति ।
हिन्वान आप्यं बृहत् ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १० ॥

भा०—(अयं) यह आत्मा (विचर्षणि) सबको विशेष रूप से देखने वाला, (पवमान.) सबको शुद्ध, पवित्र करता हुआ, सर्वव्यापक (सः) वह (बृहत्) बहुत अधिक (आप्यं) प्रजाओं के हितकारी वस्तु अन्न और ज्ञान को (हिन्वानः) प्रेरित करता हुआ (चेतति) जाना जाता, या स्वयं ज्ञानवान् होता, या ज्ञान प्रदान करता है ।

[५०९] प्र न इन्दो महे तुन ऊर्मिं न बिभ्रदर्षसि ।
अभि देवाँ अयास्यः ॥ १३ ॥ ऋ० ९ । ५४ । १ ॥

५०७—'सोम', 'महद्भिरभ्यावर्धत', 'मन्दान इं-वृषायते' इति ऋ० ।

५०९—'महेतन' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्दो) ऐश्वर्यसम्पन्न ! आप (महे तुने) विशाल ज्ञान प्राप्त करने के लिये (नः) हमारे लिये (ऊर्मिम् न) तरङ्ग के समान (बिभ्रद्) हर्ष उत्पन्न करते हुए (अर्षसि) प्रकट हो और (देवान् अभि) देवों, विद्वानों ज्ञानयोगियों के प्रति (अयास्यः) 'अयास्य' अर्थात् मुख्य प्राण रूप में प्रकट होते हो। 'अयास्य' का वर्णन बृहदा० उप० में देखो।

[५१०] ३ १ २ ३ २उ ६ २ ३ १ २
अप घ्नन्पवते मृधोप सामो अराव्णः ।
३ १ २ ३ २
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १४ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २५ ॥

भा०—(सोम) ज्ञानवान् आत्मा (मृधः) काम क्रोध आदि आत्मा के साथ युद्ध करने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (अराव्णः) अदानशील, कृपण वृत्तियों को भी (अप) दूर करता हुआ (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (निष्कृतम्) मोक्षपद को (गच्छन्) प्राप्त होता है।

इति द्वितीया दशतिः । चतुर्थं खण्डं ।

॥ द० ३ ॥ ऋषि—भरद्वाजः काश्यपो गोतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठश्चेते सप्तर्षय । पवमानो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

३ १ २उ३ १ २ ३ १र १र
[५११] पुनान सोम धारयापा वसानो अर्षसि ।
१ २ ३ १र २र ३१ २ ३ २ २ ३१ २३ १ २
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्ययः ॥१॥
ऋ० ९ । १०७ । ४ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! तू (धारया) धारा से (अपः वसानः) कर्मों और प्रजाओं प्राणों या लिङ्ग शरीरों में व्याप्त होकर मन को (पुनान) पवित्र करता हुआ (अर्षसि) विराजता है। (रत्नधा) रमणीय पदार्थों

५११—'देव' इति ऋ०।

का पोषक (ऋतस्य) इस जीवन या ज्ञान के (योनिम्) मूलकारण में (आ सीदसि) स्थित है । और स्वयं (हिरण्यय.) कान्तिस्वरूप या सब इन्द्रियगण के लिये हित और रमणीय होता हुआ (देव.) सबका तर्पक, सबके प्रति (उत्सः) रस का सञ्चार कराने हारा है । यहां शुक्र, ज्ञान और योगसाधन से प्राप्त विशेष आनन्दमय अनुभव का वर्णन है ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[५१२] परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ ३
दधन्वाँ यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥२॥

ऋ० ९ । १०७ । १ ॥

भा०—(अध्वर्युः) इस जीवनयज्ञ या योगयज्ञ का सम्पादक, (सोमम्) अन्तरात्मा के आनन्द को (अद्रिभि.) मेघों से जल के समान, और विद्वानों से ज्ञानों के समान योगसाधनों द्वारा (सुषाव) पैदा करता है । (यः) जो सोम (नर्यः) मनुष्यों का हितकारी, (अप्सु) प्रजाओं या कर्मों या प्रज्ञाओं प्राणों के (अन्तरा) बीच में (दधन्वान्) व्याप्त रहता है, (यः सोम.) जो सोम (उत्तमं) उत्तम (हवि.) हविः=तृप्ति परम संतोष और परम आनन्द का साधन है उसको वह योगी (इतः) इस हृदय स्थान से (सुतं) उत्पन्न हुए को (परिषिञ्चति) सब ओर को बहाता है ।

१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[५१३] आ सोम स्वाना अद्रिभिस्तिरा वाराण्यव्यया ।
३ २ ३ २ १ २ ३ १ ३ २ ३ १
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दधिषे ॥ ३ ॥

ऋ० ९ । १०७ । २० ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (अद्रिभि.) योगसाधनों या योनियों द्वारा (सुवान.) उत्पन्न या साक्षात् किया जाकर (अव्यया) अवि-भेड़ के बालों के बने, छानने के कपड़े के समान तमोमय (वाराणि) आवरणों

५१३—'सुवानो' 'दधिषे' च ऋ० ।

को (तिरः) पार करता हुआ (जन न पुरि) जिस प्रकार वीर पुरुष कोट लांघता हुआ नगर में प्रवेश करता है उसी प्रकार (चम्वो.) चमसों या द्यौ और पृथिवी में और आत्मा मस्तक के दोनों भागों में (विशद्) प्रवेश करता हुआ, (हरि) सब तमोमय बाधाओं को दूर करता हुआ (वनेषु) सेवन करने योग्य स्थान, हृदय में (सद) स्थिति (दधिषे) प्राप्त करता है। ब्रह्मानन्द, आत्मानन्द या योगज सुख का समान रूप से वर्णन है।

[५१४] प्र सोम देववीतय सिन्धुर्न पिप्ये अर्षसा ।
अंशा पयसा मदिरो न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥४॥
ऋ० ९ । १०७ । १२ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों के अथवा परमेश्वर के ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अर्षसा) जल के समान ज्ञान, विशेष अनुभव, या प्राणशक्ति से (सिन्धुः न) महान् नदी या समुद्र के समान (पिप्यसे) बढ़ता है। और (मदिरः) हर्ष का उत्पादक, (जागृवि) निरन्तर जागने वाला, (अंशोः) व्यापनशील आत्मा के (पयसा) ज्ञान या स्वाभाविक आनन्द रस से मिलकर (मधुश्चुतं) मधुर आत्मज्ञान को बहाने वाले (कोशं) आनन्दमय कोश या परमसुख की निधि को (अच्छ) प्राप्त हो।

मधु और देवों के मधुच्युत् कोश का वर्णन अथर्ववेद और बृहदारण्यक (बृहदा० उप० अ० २ । ५) में उत्तम रूप से वर्णित है।

[५१५] सोम उ प्वाणः सोतृभिरधिष्णुभिरर्वीनाम् ।
अश्वयेव हरिता याति धारया मन्द्रया याति धारया ॥५॥
ऋ० ९ । १०७ । ८ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (सोतृभि.) सवन करनेहारे साधकों द्वारा (अवीनां) इन्द्रियों के (अधिण्युभि.) मार्गों से (स्वानः उ) सवन किया जाता हुआ (हरितया) गतिशील (अध्वया) व्यापक चेतना से (मन्द्रया) आनन्दजनक (धारा) प्रवाह के रूप में (याति) हृदय में प्रकट होता है और (मन्द्रया धारया याति) उत्तम अश्व के समान आनन्दजनक धारा के रूप में प्रकट होता है, अर्थात्, जैसे राजा तेज़ घोड़ी पर दुडकी चाल से चलकर नगर में सर्वत्र जाता है उसी प्रकार (सोम) आत्मानन्द भी मन्द्रा-धारा से हृदय में प्रकट होता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५१६] तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २उ ३ १ २

पुरूणि वव्रो निचरन्ति मामव परिधीँ रति ताँ इहि ॥६॥

म० ६ । १०७ । १६ ॥

भा०—हे (सोम) परम रस ! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (अहं) मैं (इन्द) आत्मा (रारण) निरन्तर रमण करूं । हे (वव्रो !) समस्त प्रजा के भरण पोषण करने हारे ! (पुरूणि) ये इन्द्रियां या प्रजायें (मा) मुझ को (नि-अव चरन्ति) नीची वृत्तियों में ले दौड़ती हैं । इसलिये (तान्) उन (परिधीन्) चारों ओर से घेरे हुए वैरी रूप इन इन्द्रियों को (अति इहि) पार करले, वश करले उनपर विजय कर जिससे वे विषयरसों में न भागकर भीतरी आनन्द की ओर ही अन्तर्मुख होजायं ।

३ १ २ ३ १ २ २ २

[५१७] मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचमिन्वसि ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३क २ख

रयिं पिशङ्गं वहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥ ७ ॥

ऋ० ९ । १०७ । २१ ॥

५१७—'सुहस्त्य इति ऋ० ।

भा०—हे (सुहस्त्या) उत्तम हाथ की अंगुलियों के समान दश प्राण साधनों से युक्त ! अथवा अज्ञान को उत्तम रीति से हनन करनेहारे कुशल ! (सोम) आत्मन् ! तू (समुद्रे) समुद्र, आनन्द-रस के उत्पत्तिस्थान हृदयाकाश में (मृज्यमान·) पवित्र होता हुआ (वाचं) व्यक्त वेदवाणी को (इन्वसि) प्रेरित करता है । हे (पवमान) हृदय को पाप से शून्य, पुनः पवित्र करनेहारे ! आप (पिशङ्ग) पीले, सुवर्ण के समान कान्तिमान । (बहुलं) अति अधिक (पुरुस्पृहं) प्रजाओं और इन्द्रियों के स्पृहा, अभिलाषा के विषय (रयिं) भोग्य पदार्थ, ऐश्वर्य विभूति को (अभि अर्षसि) स्वतः व्यापता है ।

३ १२ २३ ३२३ १२३ २३ १२
[५१८] अभि सोमास आयवः पवन्ते मद्यं मदम् ।
३ १२ २३ ३१२ ३१२ ३१२ ३ १२
समुद्रस्याधिविष्टपे मनीषिणो मत्सरासो मदच्युतः ॥८॥
ऋ० ९ । १०७ । १४ ॥

भा०—(सोमासः) सोम=सौम्य स्वभाव के, शान्त, तपस्वी (आयवः) दीर्घजीवी, (मदच्युतः) हर्ष, सुख का प्रकाश करनेहारे मौजी (मत्सरासः) स्वयं गौरव से परिपूर्ण, आनन्दयुक्त, (मनीषिणः) मन को अपने वश करने हारे, योगि जन (समुद्रस्य) उमड़ते हुए आनन्दसागर की (अधिविष्टपे) चरम सीमा में स्थित होकर (मद्यं) हर्षजनक (मदं) आनन्दरस को (अभि पवन्ते) चारों ओर बहाते या साक्षात् करते हैं ।

३ १ २ ३ १२३२ ३ २३ ३२ ३२
[५१९] पुनान सोम जागृविरव्या वारैः परि प्रियः ।
१२ २२ ३१ २ ३१ २
त्वं विप्रो अभवोङ्गिरस्तम मध्वा यज्ञं मिमिक्ष नः ॥९॥
ऋ० ९ । १०७ । ६ ॥

५१८—'अधिविष्टपि', 'मत्सरास स्वर्विदः' इति ऋ० ।

५१९—'जागृविरव्यो' 'वारे' अभिर्योगिरङ्गमो' 'मिमिक्ष नः' इति च ऋ० ।

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (जागृविः) जागरणशील, (अव्या) अवि, चेतना या प्राण के (वारैः) वृत्तियों, चेष्टाओं या ऊहापोहों द्वारा (पुनानः) पवित्र करता हुआ (प्रियः) सबका प्रिय, (विप्रः) मेधावी, (त्वं) तू (अङ्गिरस्तमः) सबसे अधिक प्रकाशमान, आनन्दरूप परमरस में (परि स्रवः) प्रकट होता है । तू (नः) हमारे (यज्ञं) जीवन-यज्ञ को (मध्वा) उस आनन्दरूप मधु से (मिमिक्ष) सींच दें, भर दे ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३१ २ ३ २
[५२०] इन्द्राय पवते मदः सोमो मरुत्वते सुतः ।
३१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
सहस्रधारो अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायवः ॥ १० ॥

ऋ० ९ । १०७ । १७ ॥

भा०—(सुतः) सोमरस के समान तैयार किया हुआ, छाना हुआ, परिशोधा हुआ (मदः) आनन्दस्वरूप (सोमः) सोम (मरुत्वते) प्राणों, प्रजाओं और मध्यस्थानीय मरुद्गण के अधिपति (इन्द्राय) आत्मा, राजा और परमात्मा के लिये (पवते) बहता है । वह (सहस्रधार०) सहस्रों शक्तियों के रूप में (अव्यम्) अवि=चेतनामय मन.साधन को (अति) अतिक्रमण करके (अर्षति) प्रकट होता है । (तम्) उस (ईं) इस सोम रस को (आयवः) परम आयु से सम्पन्न साधक लोग (मृजन्ति) और भी परिष्कृत करते हैं । अवि मेषी रूप चेतना का वर्णन अथर्व में विस्तार से है । जैसे—अविर्वै नाम देवतर्त्तेन परीवृता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः । अथर्व० (१०८ । ३१)

इसीका वर्णन वशा, ब्रह्मगवी, मेषी, शतौदना, मधुकशा आदि नाना नामों से वेदों में आया है । यही सप्तर्षियों की ब्रह्मवती है जिसका सोम वत्स और छन्द. पात्र है, ब्रह्म और तप उसका दूध है । इत्यादि । अथर्व० ८ । १० (४) १४ ॥

[५२१] पवस्व वाजसातमोऽभि विश्वानि वार्या ।
त्वं समुद्रः प्रथमे विधर्मन् देवेभ्यः सोम मत्सरः ॥११॥

ऋ० ९ । १०७ । २३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मानन्द ! (विश्वानि) समस्त (वार्या) आवरणकारी बाधाओं को (अभि) मुकाबला करके, उनको हटाकर (वाजसातमः) ज्ञान और बल से सम्पन्न होकर (पवस्व) प्रकाशित हो। (त्वं) तू हे (सोम) परमरस ! हे (विधर्मन्) नाना प्रकार से पोषण करने वाले (मत्सरः) आनन्द रस में बहने वाला, (समुद्रः) समुद्र के समान हृदय में उमड़ने वाला (देवेभ्यः) द्योतमान, प्रकाशमान, ज्ञानी, दिव्यगुणी, साधकों या इन्द्रियों के लिये भी (प्रथमे) श्रेष्ठ कर्म, मुख्य उपदेश में (पवस्व) प्रकट हो ।

[५२२] पवमाना असृक्षत पवित्रमतिधारया ।
मरुत्वन्तो मत्सरा इन्द्रिया हया मेधामभिप्रयांसि च ॥१२॥

ऋ० ९ । १०७ । २५ ॥

भा०—(पवमानाः) पवित्र, परिशोधित किये गये, (मत्सरा.) आनन्दरस में विचरण करने वाले (धारया) अपनी धारणा के बल से (पवित्रं) पवित्र, पावन करनेहारे ज्ञान को (अति) अतिक्रमण करके (मरुत्वन्त) मरुत्, प्राणों से युक्त (इन्द्रियाः) आत्मा के ऐश्वर्य से युक्त (हया.) गतिशील ज्ञानी होकर (मेधाम्) मेधा (प्रयांसि) और बलों को (अभि) साक्षात् प्राप्त करते हैं ।

इति तृतीया दशति. । पञ्चमः खण्डः ।

५२१—'वाजसातये' 'काव्या' 'समुद्र' इति ऋ० ।

५२२—'पवमाना' 'अभिप्रयांसि' इति ऋ० ।

॥ द० ४ ॥ ऋषिः—१, ९ उशनाः काव्यः । २ वृषगणो वासिष्ठः । ३, ७ पराशरः शाक्त्यः । ४, ६ वसिष्ठो मैत्रावरुणः । ५, १० प्रतर्दनो दैवोदासिः । ८ प्रस्कण्वः काण्वः । पवमानो देवता । त्रिष्टुप् । ऐवत ॥

[५२३] प्र तु द्रव परि कोशं निषीद नृभि. पुनानो अभिवाजमर्ष ।
अश्वं न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोच्छा वर्हीं रशनाभिर्नयन्ति॥१॥

अ० ९ । ८७ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परम आनन्दरस ! (प्र द्रव) तू त्वरित हो । और (कोशं) कोश, ब्रह्माण्ड, मूर्धास्थान को (परि निषीद) व्याप्त करके विराजमान हो और (नृभि. पुनान·) विद्वान् पुरुषों से पवित्र या विवेचित, परिशोधित होकर (वाजम्) ज्ञान के प्रति (अभि अर्ष) साक्षात् प्रवाहित हो, ज्ञान को प्राप्त हो । (वाजिन) बलवान्, वेगवान् (अश्व न) अश्व को जिस प्रकार (मर्जयन्तः) परिमार्जन करते हुए, झाड़ते पोंछते हुए, या सान्त्वना देते हुए (रशनाभि.) वागों से पकड़ कर संग्राम में ले जाते हैं उसी प्रकार (वाजिनं) ज्ञान विभूति से युक्त सोमरूप आत्मा को परिमार्जन, या शोधन करते हुए (रशनाभिः) योगसाधनाओं से (वर्हिः) हृदयरूप यज्ञ में या बृहत् ब्रह्म में (नयन्ति) ले जाते हैं ।

[५२४] प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमाविवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् २

ऋ० ९ । ९७ । ७ ॥

भा०—(उशना इव) विद्वान् मेधावी, सोम्यस्वभाव, (देवः) विद्वान्, सुखप्रद होकर (काव्यं) सुन्दर काव्य, वेदज्ञान या संसार के रहस्य को (प्र ब्रुवाणः) उत्तम रीति से वर्णन, उपदेश करता हुआ (देवानां) वसुओं, रुद्रों और आदित्यों, एवं इन्द्रिय गण, और प्राण अपानादि नव प्राणों के

(जनिम्) प्रादुर्भाव होने के रहस्य को (आ विवक्ति) स्पष्ट रूप से बतलाता है। और (महिव्रतः) विशाल कर्म और प्रज्ञा का करने वाला, (शुचिबन्धुः) अपने शुद्ध तेज द्वारा सबको अपने साथ बांधने हारा, सब पवित्र हृदयों का बन्धु, (पावकः) सबको पवित्र करने हारा, अग्निस्वरूप (वराह =वर-आहः) श्रेष्ठ उत्तम वाणी का बोलने हारा (रेभन्) उत्तम ज्ञानोपदेश करता हुआ (पदा) प्राप्त करने योग्य ज्ञान रहस्यों को और उत्तम स्थानों, ज्ञानदशा और सुखप्रद दशाओं को (अभि एति) प्राप्त होता है।

'उशनाः—वशे, कनसिरौणादिः। वश कन्तौ अदादि ।

[५२५] तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ९७ । ३४ ॥

भा०—(वह्नि) ज्ञान का वहन करने वाला (तिस्रः वाचः) ऋग्, यजुः, साम स्वरूप तीन वेदवाणियों को (प्र-ईरयति) उत्तम रूप से प्रकट करता है। (ऋतस्य) सत्य, ज्ञान और यज्ञ को धारण करने वाली (ब्रह्मणः) ब्रह्म या वेदज्ञ की (मनीषाः) मनको प्रेरणा करने वाली वाणी स्तुति को भी प्रेरित करता है। जिस प्रकार गौएं गोपाल के पास आजाती हैं उसी प्रकार ये (गावः) गोरूप वेदवाणियां मानो अपना रहस्य-तत्व (पृच्छमानाः) पूछती हुई (गोपतिं) वेदवाणियों के परिपालक विद्वान् के पास (यन्ति) पहुंच जाती हैं (मतयः) मननशक्तियां या सुन्दर विचार धाराएं भी (वावशानाः) अपने अनुकूल पालक की कामना करती हुई (सोमं) उस शम, दम आदि गुणसम्पन्न तत्वज्ञानी के पास (यन्ति) चली जाती हैं।

ऋषि यास्क के मत से वह्निरात्मा भवति। स तिस्रो वाच ईरयति प्रेरयति विद्यामतिबुद्धिमताम्। ऋतस्यात्मनः कर्माणि ब्रह्मणो मतानि।

अपमेवेतत्सर्वमनुभवति, इति आत्मगतिमाचष्टे । अर्थात्-वह्नि आत्मा है । वह तीन वाणियों को प्रेरित करता है विद्या, मति और बुद्धि को । ऋत अर्थात् आत्मा के कर्म ब्रह्म को अभिमत हैं । यह ही सब अनुभव करता है इस प्रकार इस मन्त्र में आत्मा की गति कही है । विवरणकार माधव के मत में विद्या अर्थात् महत् तत्व, बुद्धि अर्थात् अहंकार, मन अर्थात् प्रधानता से पांचों ज्ञानेन्द्रिया, आत्मा इनको प्रेरित करता है । ऋतरूप आत्मा को धारण करने वाली मन की प्रेरणा ब्रह्म के अनुकूल होती है । इन्द्रिय रूप गौएं गोपति आत्मा से उसको पूछती हैं अर्थात् सोमरूप आत्मा की कामना से उसी में लीन हो जाती है ।

३ २ ३ २३१२३ १ २ ३२३२३ १२ ३१२ ,
[५२६] अस्य प्रपा हेमना पूयमानो देवो देवेभिः समपृक्त रसम् ।
३ २ ३ २३१२३ १ २ ३२३१२ ३२ ३ १२
सुतः पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता॥४॥

ऋ० ९। ९७ । १ ॥

भा०—(अस्य) इस विद्वान् आत्मा के (प्रेपा) प्रेरणा करने वाले (हेमना) स्वर्ण के समान कान्ति वाले तेज से (पूयमानः) पवित्र, परि-शुद्ध होता हुआ (देव.) अति दीप्तिमान्, या सबको आनन्दरस का देने हारा. (देवेभिः) इन्द्रियगण के साथ (रसं) आनन्द रस का (सम् अपृक्त) सम्पर्क करा देता है । उस समय (सुतः) वह प्रकट होकर (रेभन्) उपदेश करते हुए ज्ञाता के समान अनाहत ध्वनि करता हुआ (पवित्रम्) परम पावन पद को (परि-एति) प्राप्त होता है और (मिता इव) जिस प्रकार कार्यकर्त्ता आकर (पशुमान्त) पशुओं से युक्त (सद्म) घर में आता है और पशु को जोतकर रथ में लगाता है उसी प्रकार वह (होता) साधक (मिता) ज्ञानी होकर (पशुमन्ति) पशुरूप इन्द्रियगण से युक्त (सद्म) इस शरीर को (परि-एति) पूर्ण वश कर लेता है । सोमरस के

प्रादुर्भाव होने पर साधक की वृत्तियां स्वयं संसार के भोगों से विरत होकर आत्मानन्द में लग जाती हैं, उसी दशा को दर्शाया गया है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५२७] सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवां जनिता पृथिव्या. ।
३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ २
जनितान्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥५॥

ऋ० ९ । ९६ । ५ ॥

भा०—(मतीनां) सब मनोवृत्तियों का (जनिता) प्रादुर्भाव करने हारा, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशमान, तेज पुञ्ज का (जनिता) उत्पादक, (पृथिव्या.) पृथिवी के समान विस्तृत त्वचा का (जनिता) उत्पादक, (अग्नेः) अग्निरूप वाणी का (जनिता) उत्पादक, (सूर्यस्य) सूर्यरूप चक्षु का (जनिता) उत्पादक, (इन्द्रस्य) प्राणरूप इन्द्र का उत्पादक, (विष्णोः) सर्वव्यापक आकाश के समान श्रोत्र या हृदयाकाश का (जनिता) उत्पादक यह (सोम) आत्मा (पवते) प्रकट होता है। (देखो निरुक्त यास्क परि० २ । २२)

समष्टि व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड में परमात्मा और पिण्ड में आत्मा समानरूप से स्पष्ट हैं। इसका विवरण देखो (कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् अ० ३, प्रतर्दनेन्द्र संवाद)

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५२८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामक्षोपिणमवावशन्त धीराः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
वना वसाना वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वार्याणि॥६॥

ऋ० ९ । ९० । २ ॥

भा०—(धीराः) वेद की वाणियां, या आत्मा का निरूपण करने हारी सब वाणियां (त्रिपृष्ठं) वाणी, मनः और काय तीनों स्थानों पर स्पर्श करने वाले, (वृषणं) सब सुखों, ज्ञानों और बलों के वर्षक, (वयोः-धाम्) प्राणरूप बल को धारण करने हारे, (अक्षोपिणम्)

प्रत्येक अङ्ग में निवास करने वाले, आत्मा को (अभि वावशन्त) नित्य कामना करती हैं अर्थात् अपना सब गुप्त रहस्य उसी के प्रति प्रकट करती हैं और वह (वना) सब देहों में (वसानः) निवास करता हुआ (वरुणः) सबको व्याप्त करने वाला, सबके वरण योग्य, नदियों के लिये, (सिन्धुः न) महासमुद्र के समान (वार्याणि) सबके मनन हरने हारे, वरण योग्य धनों को (रत्नधा॰) रत्नों को धारण करनेहारा, होकर (वि-दयते) नाना प्रकार से प्रदान करता या पालन करता है।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ ३ १२ २२ १ २
[५२६] अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः ॥७॥
अ० ६ । ६७ । ४० ॥

भा०—(बृहत् सोमः) यह बड़ा विशाल सोम, सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा और आत्मा (स्वानः) प्रकट होता हुआ (अद्रिः) कभी न टूटने वाला, अभेद्य, नित्य, अमर आत्मा (वृषा) सब सुखों के वर्षाने हारा, (अव्ये) अविनाशी, चिन्मय (पवित्रे) सबको पवित्र करने हारे (सानोः अधि) आनन्दस्वरूप ब्रह्म में या मूर्धा प्रदेश में (वावृधे) बढ़ता है, अपनी महिमा को अनुभव करता है। वह (समुद्रः) समुद्र के समान सब इन्द्रियों का एकमात्र आश्रयस्थान, (प्रथमे) अति उत्कृष्ट (विधर्मन्) नाना आश्रयस्थानों में या अन्तरिक्ष स्थानों में या इन्द्रियों के छिद्र देशों में (प्रजाः) अपनी प्रजाओं को, इन्द्रियगणों को, (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, (भुवनस्य) इस ब्रह्माण्ड और इस देह का (गोपाः) पालक (अक्रान्) सबको लांघ कर बैठा है, वह सबसे परे विद्यमान है।

५२६—'धामाङ्गूषिण' इति अ०।

इसका रहस्य गीता, बृहदारण्यक, ऐतरेय आदि में स्पष्ट किया है। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में यास्क ने लगाया है (यास्क परि० २ अ०)।

[५३०] कनिक्रन्ति हरिरासृज्यमान सीदन्वनस्य जठरे पुनानः।
नृभिर्यतः कृणुते निर्णिजं गामता मतिं जनयत स्वधाभिः ॥८॥
ऋ० ९। ९५। १ ॥

भा०—(आसृज्यमानः) सब ओर से प्रकट होता हुआ (पुनानः) शुद्ध पवित्र रूप से प्रकट होकर (हरि.) सर्वव्यापक, आत्मा (वनस्य) भोग्य या सेवन करने योग्य इस देह के (जठरे) मध्य भाग में (सीदन्) विद्यमान, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा, (यत.) संयत होकर (गाम्) वाणी को (निर्णिजं) अति शुद्ध, परिमार्जित (कृणुते) कर देता है। (अतः) इसलिये आप लोग (स्वधाभिः) स्व=अपनी धारणा शक्तियों, या स्व=आत्मा को धारण करनेहारी चिति शक्तिद्वारा (मतिं) मनन, विचार (जनयत) करो, उसकी साधना, उपासना, स्तुति आदि करो।

[५३१] एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमो वृषा वृष्णः परि पवित्रे अक्षाः
सहस्रदाः शतदा भूरिदावा शश्वत्तम वर्हिरावाज्यस्थात् ॥९॥
ऋ० ९। ८७। ४ ॥

भा०—हे (इन्द) आत्मन्! (वृष्ण) वर्षणशील (ते) तेरे लिये (एषः स्यः) यह वह (सोमः) आत्मा सोम, आनन्दरूप रस (वृषा) आनन्द का वर्षक (मधुमान्) ब्रह्मज्ञान रूप मधु से युक्त (पवित्रे) पवित्र ज्योतिर्मय रूप में (परि अक्षाः) चारों ओर से स्रवित होता है। वह (सहस्रदाः) हजारों सुखों का देने वाला, (शतदाः) सैकड़ों शक्तियों का देने वाला, (भूरि-दावा) बहुत आनन्द को देने वाला, (शश्वत्तमं) निरन्तर, स्थायी, नित्य, (वर्हिः) महान् आत्मा में (वाजी) बल, ज्ञान से सम्पन्न होकर (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है।

[५३२] पवस्व सोम मधुमाँ ऋतावापो वसानो अधि सानो अव्ये ।
अव द्रोणानि घृतवन्ति रोह मदिन्तमो मत्सर इन्द्रपानः ॥१०॥
ऋ० ९ । ९६ । १३ ॥

भा०—हे (सोम) आत्मन् ! (मधुमान्) मधुर ब्रह्मरस से युक्त, (ऋतावा) सत्यज्ञान से युक्त, (सानोः अधि) हृदय देश या मस्तक भाग में (अव्ये) अवि-चेतना या प्राण के बने चित्त पर भी (अपः) नाना ज्ञान वृत्तियों को (वसानः) आच्छादित करता हुआ । (घृतवन्ति) दीप्ति या ज्योति से सम्पन्न (द्रोणानि) कलशों, मस्तकों में (मदिन्तमः) अति हर्ष आनन्द या आत्मा में संतोष उत्पन्न करने वाला (मत्सरः) हर्ष के रूप में हृदय में व्यापने वाला (इन्द्रपानः) आत्मा के एकमात्र पान करने योग्य होकर (अव रोह) नीचे की ओर बह आ ।

इति चतुर्थी दशतिः । षष्ठः खण्डः ।

॥ ८० ५ ॥ ऋषि—१ प्रतर्दनः । २, १० पराशरः शाक्त्यः । ३ इन्द्रप्रमतिर्वासिष्ठः । ४ वसिष्ठो मैत्रावरुणः । ५ कर्णश्रुन्मृडीको वा वासिष्ठः । ६ नोधाः गौतमः । ७ कण्वो घोरः । ८ मन्युर्वासिष्ठः । ९ कुत्स आङ्गिरसः । ११ कश्यपो मारीचः । १२ प्रस्कण्वः काण्वः ॥ पवमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् । १ धैवतः ॥

[५३३] प्र सेनानीः शूरो अग्रे रथानां गव्यन्नेति हर्षते अस्य सेना ।
भद्रान् कृण्वन्निन्द्रहवान्त्सखिभ्य आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते ॥१
ऋ० ९ । ९६ । ५ ॥

भा०—(सेनानीः) सेना का नायक, (शूरः) बलवान्, शूरवीर, सेनापति जिस प्रकार (रथानां अग्रे) रथों, रथारोही सैनिकों के आगे (गव्यन्) पृथिवी के विजय के लिये (प्र एति) आगे २ बढ़ता है और

५३२—'वृषावृष्णो' 'सहस्रसाः शतसा' इति ऋ० ।

(अस्य सेना) इसकी सेना (हर्षते) उत्साह से प्रसन्न होती है, वह (सोम॰) वीर राजा (सखिभ्यः) अपने मित्रों के लिये (भद्रान्) अति कल्याणकारी, सुखदायक (इन्द्र-हवान्) ऐश्वर्ययुक्त राजोचित आह्वानों, पुकारों और आज्ञावचनों को (कृण्वन्) करता हुआ (रभसानि) अति वेग वाले (वज्रा) ढक देने वाले शत्रु के आक्रमणों को (आ दत्ते) हटा देता है उसी प्रकार (सेनानी॰) इन्द्रियगणों का नेता (रथानाम् अग्रे) रमण योग्य आनन्दप्रद देहों, या आभ्यन्तर रसों के मुख्य पद में स्थिर होकर (गव्यन्) वाणियों, या इन्द्रियसामर्थ्यों को, या आत्मभूमियों पर वश करता हुआ (प्रयति) आगे बढ़ता है। (अस्य सेना हर्षते) इसके समस्त इन्द्रिय, प्राणगण, या साधक प्रसन्न होते हैं। (सखिभ्यः) मित्र साधकों या प्राणगण को वह (भद्रान्) ऐश्वर्ययुक्त (इन्द्रह-वान) आत्मा के नाना ज्ञानसामर्थ्य प्रदान करता हुआ (रभसानि वस्त्राणि) अति वेग से युक्त प्रबल आच्छादक आवरणों को (आदत्ते) दूर कर देता है। इन्द्रिया तन्मुख होजाती हैं। इन्द्र अर्थात् आत्मा के संस्मरण उस समय मंगल-जनक जंचते हैं और तामस आवरण आत्मा के सामने से हटने लगते हैं।

१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२

[५३४] प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारं यत्पूतो अत्येष्यव्ययम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

पवमान पवसे धाम गोना जनयन्त्सूर्यमपिन्वो अर्कैः ॥२॥

ऋ० ९ । ९७ । ३१ ॥

भा०—हे सोम आनन्दमय ! (मधुमतीः) अति आनन्ददायक मधु से मिली हुई, ब्रह्मज्ञान की (ते धाराः) तेरी रस-धाराएं तब (प्र असृग्रन्) खूब उत्पन्न होती हैं (यत्) जब तू (पूतः) छने हुए ओषधि रस के समान पवित्र होकर (अव्ययम्) प्राणमय कोश में से (अति एषि) पार होकर प्रकट होता है। हे (पवमान) पवित्रकारक ! (गोना) इन्द्रियों के

५३४—'अत्येष्यव्यान्' 'जघान॰' इति ऋ० ।

भीतर तू अपना (धाम) तेजो रूप रस (पवसे) चुआता है और वहां प्रकट होकर (अर्कैः) अपनी पवित्र किरणों से (सूर्यं) सूर्य के समान तेजस्वी साधक को (अपिन्वः) आनन्दरस से पूर्ण करता है। इस दशा में आदित्य के समान साधक तमतमाता है।

१ २ ३ ८ २ ८ ३ १ ८ २ ८ ३ १ ८ २ ८

[५३५] प्र गायताभ्यर्चाम देवान्त्सोमं हिनोत महते धनाय ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ८

स्वादुः पवतामतिवारमव्यमासीदतु कलश देव इन्दुः ॥३॥

ऋ० ९ । ९७ । ४ ॥

भा०—हे विद्वान् लोगो ! (महते) बड़े भारी (धनाय) खजाने के प्राप्त करने के लिये (प्र गायत) उत्तम रीति से स्तुति गान करो। और (देवान्) विद्वानों की हम (अभि अर्चाम) सब प्रकार से अर्चा, पूजा, सत्कार और प्राणों की साधना करें। (सोमं हिनोत) सोम, आत्मानन्दमय रस को प्रेरित करो, प्राप्त करो। (अव्यं वार) प्राणमय आवरण को (अति) पार करके (स्वादुः) आनन्दकारक आनन्दरस (पवताम्) प्रस्रावित हो और (इन्दुः, देवः) वह प्रकाशमान, ऐश्वर्यवान् देव (कलशं) इस घट, देह हृदयाकाश, या सोलहॉकला वाले आत्मा में घट में सोमरस के समान स्वच्छ होकर, (आसीदतु) राष्ट्र में राजा के समान आ विराजमान हो।

१ २ ३ २ ३ १ ८ २ ८ ३ २ ३ १ ८ २ ८ ३ १ २

[५३६] प्र हिन्वानो जनिता रोदस्यो रथो न वाजं सनिषन्नयासीत् ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रं गच्छन्नायुधा संशिशानो विश्वा वसु हस्तयोरादधानः ॥४॥

ऋ० ९ । ९७ । १ ॥

भा०—(हिन्वानः) सबको प्रेरणा करने वाला, (रोदस्योः जनिता) सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान दोनों का उत्पादक, या प्रेरक

५३५—'स्वादुः पवते' 'देवयुनः' इति ऋ० ।

५३६—'सनिष्यन्' इति ।

(वाजं सनिषन्) ज्ञान, बल और अन्न का विभाग या प्रदान करता हुआ (रथ. न) रथ, या रमणीय सूर्य के समान योगी या स्वच्छ आत्मा (प्र अयासीत्) उत्कृष्ट मार्ग से गति करता है और (आयुधा) उत्तम हथियार, योगसाधनों से (इन्द्रम्) आत्मा या परमात्मा की ओर (गच्छन्) जाता हुआ (सशिशानः) अच्छी प्रकार और भी तीक्ष्ण, प्रखर तेजस्वी होता हुआ (विश्वा वसु) समस्त जीवन के वास हेतु सम्पदाओं को (हस्तयो·) अपने वश में (आदधानः) करता हुआ (प्र अयासीत्) आगे २ बढ़ता चला जाता है ।

[५३७] तद्यदी मनसो वनता वाग् ज्येष्ठस्य धर्म द्युक्षोरनीके ।
आदीमायन्वरमा वावशाना जुष्टं पतिं कलशे गाव इन्दुम् ॥५॥
ऋ० ९ । ९७ । २२ ॥

भा०—(वेनत·) कान्तिमान्, अज्ञान, तम से पार ज्ञानी (मनस·) मननशील योगी की (वाग्) वाणी (यदि) जब आनन्दरस को (ज्येष्ठस्य) इस ज्येष्ठ इन्द्र आत्मा के (धर्मन्) धारण करनेहारे, (द्युक्षो·) प्रदीप्त, प्रकाशित तेज के (अनीके) प्रमुख स्थान में (तक्षत्) प्रकट करता है । (आत्) तब (वरं) वरण करने योग्य (जुष्टं) सेवनीय, (पतिं) अपने पालक (इन्दुम् ई) इस हृदय में साक्षात् द्रवित होने वाले आनन्दमय रस के पास (गावः) इन्द्रिय या प्राणगण (आ वावशाना·) अत्यन्त कामना करती हुई गौओं के समान (आयन्) आजाते हैं। आनन्द रस के वर्णन में जब वाणी मग्न होजाती है तब और इन्द्रिय वृत्तियां भी अन्तर्मुख होजाती हैं ।

[५३८] साकमुक्षो मर्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो धनुत्री ।
हरि. पर्यद्रवज्जा. सूर्यस्य द्रोणं ननक्षे अत्यो न वाजी ॥६॥
ऋ० ९ । ९३ । २ ॥

५३७— धर्मणिश्चोरनीके' इति ऋ० १ ।

भा०—(धीरस्य) ध्यानवान् योगी की (साकमुचः) एक साथ ज्ञान या आनन्दरस का सेचन करने हारी (दश स्वसारः) दश बहनों के समान स्वयं सरण करनेहारी दश (धनुत्रीः) प्रेरण करने वाली (धीतयः) ध्यानवृत्तियां, इन्द्रियां, या स्तुतियां (मर्जयन्त) आत्मा को निरन्तर अधिकाधिक पवित्र करती हैं। (हरिः) सब दुःखों को हरण करनेहारा आत्मानन्दरस (सूर्यस्य) कान्तिमान्, मुख्य, आदित्य के समान उज्ज्वल आत्मा के (जाः) स्त्रियों के समान उसके अधीन प्रकट चित्तवृत्तियों के प्रति (पर्यदधत्) बहता है। और वह स्वयं (अत्यः न वाजी) वेगवान् अश्व के समान (द्रोणं) पात्र या कलश में सोम रस के समान होनेवाली आत्मा में (ननक्षे) व्याप्त हो जाता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ २
[५३६] अधि यदस्मिन्वाजिनीव शुभः स्पर्द्धन्ते धियः सूरे न विशः।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अपा वृणानः पवते कवीयान्व्रजं न पशुवर्द्धनाय मन्म ॥७॥

ऋ० ९ । ९४ । २ ।

भा०—(वाजिनि-इव शुभः) जिस प्रकार घोड़े पर आभूषण एक से एक बढ़कर शोभा देते हैं और (सूरे न विशः) जिस प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा के समक्ष प्रजा के लोग भेंट चढ़ाने में एक से एक बढ़ते हैं, उसी प्रकार (विशः) अन्तःप्रवेश करनेहारी (शुभः) शोभादायक, कल्याणकारिणी (धियः) चित्तवृत्तियां भी (अस्मिन्) इसके राजा रूप आत्मा के समक्ष (अधि स्पर्द्धन्ते) एक से एक बढ़ने का यत्न करती हैं। और (मन्म) जिस प्रकार अपने मन को हरने वाले (व्रजं न) गौवों के बाड़े में गोपालक (पशुवर्द्धनाय) अपने पशुओं की वृद्धि करने के लिये जाता है उसी प्रकार (कवीयान्) क्रान्तदर्शी विद्वान्,

---

*३६—'सूर्येन विशः' इति 'कवीयन्' इति च ऋ० ।

आत्मा (अपः वृणानः) चित्तवृत्तियों, या नाना कर्मों या प्राणगण या लिंग शरीरों को वश करता हुआ (पशु-वर्धनाय) इन्द्रिय रूप पशुओं की शक्ति को बढ़ाने के लिये (मन्म) मनोमय सकल्पमय (व्रज) गमन या प्राप्त करने योग्य परमपद, आत्मस्वरूप ब्रह्म में (पवते) प्रवेश करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[५४०] इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।

३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा ॥८॥

ऋ० ९ । ९७ । १० ॥

भा०—(वाजी) ज्ञान और बल से सम्पन्न (इन्दुः) हृदय में द्रवणशील (सोम०) आत्मानन्दरस (मदाय) आनन्द हर्ष की वृद्धि करने के लिये (सह०) सहन करने योग्य बल को (इन्द्राय) आत्मा में (इन्वन्) प्रेरित करता हुआ (गो नि ओघा) रश्मियों या ज्ञान वाणियों, स्तुतियों को नीची तरफ बहाने वाला होकर चन्द्र के समान अथवा दुग्ध-मिश्रित सोमरस के समान (पवते) क्षरित होता है । उस समय वह आनन्दरस (रक्ष) आत्मोन्नति के बाधक, विघ्न करने वाले, कारण को भी (बाधते) दूर करता है और (अरातिं) प्रिय न लगने वाले अप्रिय कारण को (परि बाधते) दूर करता है । (वृजनस्य) समस्त बल का (राजा) स्वामी होकर वही (वरिव०) वरणीय आत्मगुप्त धन, अणिमादि सिद्धि और नवतुष्टियों को (कृण्वन्) प्रकट करता है ।

१ २ ३ १ २ ३ ३र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५४१] अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्रधन्व ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २ २

ब्रध्नश्चिद्यस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकव नरं धात् ॥९॥

ऋ० ९ । ९७ । ४२ ॥

५४०—'पर्यरातीर्वरिवः' इति ऋ० ।

५४१—'ब्रध्नश्चिदस्य वातो न जूतः' इति ऋ० ।

भा०—हे (इन्दो) हृदय में बहने वाले आनन्दरस ! (अया) इस (पवा) पवित्र करने हारी धारा से (एना) इन (वसूनि) वास या जीवन के साधन प्राण या ऐश्वर्यों को (पवस्व) प्रेरित कर, प्रकट कर । हे (इन्दो) सोम ! (माध्यत्वे) मन के एकमात्र गमन स्थान, मनोहर (सरसि) जलाशय में जल के समान, कलश में ओषधि रस के समान, मानस हृदय में (प्रधन्व) द्रवित हो । (यस्य) जिस तेरे (जूर्तिं) वेग को (अक्तः) सूर्य के समान रश्मियों और आकर्षण से अपने साथ इन्द्रियों को बांध रखने वाला आत्मा (चित्) भी (वातः न) वायु के समान (धात्) धारण करता है और (पुरुमेधाः) नाना प्रकार की धारणावती बुद्धियों का मालिक, साधक (नरं) नायक आत्मा को (तकवे) परमपद तक पहुंचने के लिये (धात्) धारण करता है ।

अक्तः—वक्षातेरौणादिर्नक्, बन्धेश्च अक्ज्यादेशः (उणा० ३ । ५)

३ २ र २ र ३ १ २ २ ३ १ र २ र ३ २

[५४२] महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।

१ २ ३ २ २ १ २ ३ १ र २ र ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अदधादिन्द्र पवमान ओजोऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥१०॥

ऋ० ९ । ९० ४२ ॥

भा०—(महिषः) महान् आत्मा (महत्) बड़ा भारी कार्य तो (तत्) यह (चकार) करता है (यद्) कि (अपां गर्भः) सब कर्मों प्रज्ञाओं और प्राणों को अपने भीतर ग्रहण करने में समर्थ होकर (देवान्) सब इन्द्रियों को (अवृणीत) अपने भीतर छुपा कर आवृत करके सुरक्षित रखता है । (पवमान) व्यापनशील प्राण (इन्दे) आत्मा में (ओजः) बल और तेज (अदधात्) प्रदान करता है (यत्) जिससे (इन्दुः) शरीर में व्यापक एवं द्रवणशील वीर्य, (सूर्ये) सबके प्रेरक और उत्पादक सूर्य रूप मुख्य प्राण में (ज्योतिः) प्रकाश, कान्ति, को (अजनयत्) उत्पन्न करता है ।

१ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[५४३] असर्जि वक्वा रथ्ये यथाजौ धिया मनाता प्रथमा मनीषा।
२ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
दश स्वसारो अधि सानो अव्ये मृजन्ति वाजे सदने चक्ष्॥११॥

ऋ० ९१ । ९२ । १ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (रथ्ये) रथों से विजय करने योग्य (आजौ) संग्राम में (धिया) प्रज्ञा और कर्म के विचारपूर्वक (वक्वा) सबको वचनोपदेश या आज्ञा करने वाला सेनापति (असर्जि) नियत किया जाता है, उसी प्रकार इस (रथ्ये) शरीर-साधना योग्य अथवा परमरस के प्राप्त करने वाले एक से दूसरे देह में जाने वाले आत्मा के हितकारी (आजौ) योग साधनों के यज्ञ रूप संग्राम में (धिया) ध्यान, धारणा द्वारा (वक्वा) ओंकारादि जप और स्तुति मन्त्रों को बोलने वाला साधक ही (असर्जि) सेनापति के रूप में नियत किया गया है। वह स्वयं (प्रथमा) सब से श्रेष्ठ, (मनीषा) मन या मनन करने हारे साधन की ईषा-प्रेरणा, चेष्टा की आश्रय चित्त शक्ति है जिसमें (मनोता) मनकी सब वृत्तियां ओत प्रोत हैं। (अधि सानो) अति उन्नत प्रदेश में-(दश स्वसारः) दश बहनों के समान एक ही आश्रय रूप आत्मा के अधीन स्वयं सरण करने हारी दश प्राण वृत्तियां (वाजे) सबके वहन करने वाले आत्मा को (मृजन्ति) परिष्कृत, सुशोभित करती हैं और (सदनेषु) अपने २ स्थानों में (अक्ष्) प्राप्त होती हैं।

३ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २३ १ २
[५४४] अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ५१ २१ ३ २ ३ १ २
नमस्यन्तीरुप च यन्ति धीं चा च विशन्त्युशतीरुशन्तम् १२॥

ऋ० ९ । ९५ । ॥

भा०—(मनीषाः) मनन करने वाले आत्मा की ईषा अर्थात् चेष्टा करने वाली, ध्यानवृत्ति ही (अपा ऊर्मय इव) जलों की तरङ्गों के समान,

५४३—'प्रथमो मनीषा' 'सदनानि' इति ऋ० ।

प्राणों की तरङ्ग (तर्तुराणाः) अति वेगवती होकर (सोमं) आनन्द-रस रूप आत्मा को (अच्छ) उत्तम रीति से (प्र-ईरते) द्रवित करती है । वे ध्यानमयी बुद्धिवृत्तियां ही (नमस्यन्तीः) उस आत्मा को आदर से नमस्कार करती हुई, उसके प्रति झुकती हुई, अन्तर्मुख होकर (उशन्तम् उशतीः) कामनायुक्त प्रेमी को प्रेम करने वाली प्रियतमाओं के समान, मानो स्वयं कामना वाली होकर, या प्रकाशस्वरूप तेजोधारा के समान चमकती हुई स्वयं वे (उशन्तम्) प्रकाश के पुंजस्वरूप आत्मा को ही प्रियतम के समान प्राप्त कर उसमें ही (सं विशन्ति च) लीन हो जाती हैं, उसके संग सो सी जाती हैं । और (आ च विशन्ति) उसी रूप में प्रकट होती हैं, तन्मय हो जाती हैं ।

इति पञ्चमी दशतिः । सप्तमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

ऋषिः—१ आन्धीगुः श्यावाश्विः । २,३ ययातिर्नाहुषः । ४ मनुः सावर्णः । ५, ८ अम्बरीषश्चजिश्वानौ । ६, ७ ऋभवस्त्वष्टुः काण्वपौ । प्रजापतिर्वाश्यः ॥ पवमानो देवता ॥ छन्दः—१—६, ९ अनुष्टुप् । ७ बृहती ॥ स्वरः—१-६, ८, ९ गान्धारः । मध्यम ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५४५] पुराजिती वो अन्धसः सुनाय मादयित्नवे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अप श्वानं श्नथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वथम् ॥ २ ॥

ऋ० ९ । १०१ । २ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रो ! (वः) आप लोग (पुरोजिती) आगे बहिर्मुखता को विजय करने हारी (अन्धसः) जीवन को धारण करने वाली शक्ति से सम्पन्न सोम के (सुताय) उत्पन्न, (मादयित्नवे) अतिपरम आनन्द-जनक रस को प्राप्त करने और इसकी रक्षा के लिये (दीर्घजिह्वथम्) लम्बी

जीभ वाले, दूर तक विषय-रस लेने हारे । अतितृष्णालु इस (श्वानम्) कुक्कुर के समान लोभी, भोगी मनको (अप शथिहन) विषयों के रस से दूर रख कर शिथिल करो ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४६] अयं पूषा रयिर्भगः सोमः पुनानो अर्षति ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
पतिर्विश्वस्य भूमनो व्यख्यद्रोदसी उभे ॥ २ ॥

ऋ० ८ । १०१ । ७ ॥

भा०—(पूषा) पुष्टिकारक, (भगः) सब के भजन सेवन योग्य, कल्याणकारी, ऐश्वर्यवान्, (रयिः) कांतिजनक, परम धनस्वरूप (अयं) यह (सोमः) परमानंद (पुनानः) सब बाह्याभ्यंतर को पवित्र करता हुआ या स्वयं-शुद्ध पवित्र रूप में प्रकट होता हुआ (अर्षति) द्रवित होता है । (विश्वस्य) समस्त (भूमनः) विशाल, भूमास्वरूप आत्मा का (पतिः) पालक होकर (रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (वि अख्यत्) अपने तेज से प्रकाशित करता है ।

॥ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४७] सुतासो मधुमत्तमा सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदा ॥३॥

ऋ० ९ । १०१ । ४ ॥

भा०—(मधुमत्तमाः) आत्मरसानुभव से शुक्र (मन्दिनः) आनन्द और हर्ष के जनक (सुतासः) तैयार किये, प्रकट हुए (सोमाः) परमानन्दरस और विद्वान् जन (पवित्रवन्तः) पवित्रस्वरूप को धारण करने वाले, दीक्षिदशा में वर्त्तमान (इन्द्राय) आत्मा के लिये (अक्षरन्) क्षरित होते हैं । हे सोमरसो ! (वः) तुम्हारे (मदाः) आनन्द, हर्ष (देवान्) इन्द्रियगण या विद्वान् जनों को (गच्छन्तु) प्राप्त हों जिससे वे अन्तर्मुख हो जायं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४८] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।
३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ ४ २ ३ १ २
मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विद. ॥ ४ ॥

ऋ० ९ । १०२ । १० ॥

भा०—(गातुवित्तमाः) मार्ग को उत्तम रीति से जानने हारे, (इन्दवः) आत्मा के प्रति साक्षात् द्रवित होने वाले, कान्तिस्वरूप, (सोमाः) ब्रह्मरस या योगिजन (मित्राः) हृदय अन्तःकरण के या सब के मित्र, (अरेपसः) निर्दोष, निर्मल, निष्पाप, (स्वाध्यः) उत्तम ध्यानयोग के साधक (स्वर्विद.) प्रकाश के प्रापक, सर्वज्ञता के दायक, (स्वाना.) प्रकट होते हुए (पवन्ते) क्षरित होते या विचरते हैं ।

सोमरस, आत्मानन्द और योगियों का समानरूप से वर्णन है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५४९] अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतस्पृहम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्दो सहस्रभर्णसं तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ ५ ॥

ऋ० ९ । ९८ । १ ॥

भा०—हे (इन्दो) दीप्तमान ! सोम ! विद्वन् ! (नः) हमें (वाजसातमं) अन्न, ज्ञान, बल को देने वाले, (शतस्पृह) सैकड़ों की अभिलाषा के पात्र, (सहस्रभर्णसं) सहस्रों का भरण पोषण करनेहारे, (तुविद्युम्न) बहुत ऐश्वर्य या तेज से सम्पन्न (विभासहम्) विशेष दीप्ति को भी प्राप्त करने वाले (रयिं) उस दिव्य धन आत्मा का (अभि अर्ष) प्रकाश कर, उसको प्राप्त कर, उस तक पहुच ।

५४८—सुवानाः, इति ऋ० ।

५४९—'अभि' 'पुरुस्पृहम्' 'विश्वासहम्' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५५०] अभी नवन्ते अदुहः प्रियामेन्द्रस्य काम्यम् ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ ७ ३ १ ०
वत्सं न पूर्व आयुनि जातं रिहन्ति मातरः ॥ ६ ॥
ऋ० ९ । १० । २ ॥

भा०—(मातरः) गौएं, माताएं (पूर्वे आयुनि) पूर्व, बाल अवस्था में (जातं) नये उत्पन्न हुए (वत्स) बछे को (न) जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं, स्नेह से चूमती हैं, उसी प्रकार (अदुहः) समस्त संसार के प्राणियों के प्रति द्रोह का त्याग करनेहारे, अहिंसा के पालक, साधक (इन्द्रस्य) भीतरी आत्मा के (काम्यं) अत्यन्त कामना या स्नेह के विषय, जीवनरस के (अभि नवन्ते) निमित्त झुकते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, उसको स्नेह करते हैं । योग के प्रथम अंग अहिंसा का निरूपण किया है ।

'अहिंसा, सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः' । इति व्यासभाष्यम् । अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः सर्वप्राणिनां भवति' । (यो० सू० । व्या० भा०) सब कालों में सब प्रकार से प्राणियों का द्रोह न करना अहिंसा है । अहिंसा पालन से समस्त प्राणी वैर त्याग देते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५५१] आ हर्यताय धृष्णवे धनुष्टन्वन्ति पौंस्यम् ।
३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २
शुक्रा वियन्त्यसुराय निर्णिजे विपामग्रे महीयुवः ॥ ७ ॥
ऋ० ९ । ९९ । २ ॥

भा०—(हर्यताय धृष्णवे) अति प्रेमयुक्त राजा के लिये जिस प्रकार उसके सैनिक (पौंस्यं धनुः तन्वन्ति) बलयुक्त धनुष तानते हैं, जी-जान से शत्रु पर प्रहार करते हैं उसी प्रकार विद्वान्जन (हर्यताय) सबके अभिलाषा के योग्य कमनीय (धृष्णवे) सब वृत्तियों को दबाने हारे, उस सोम अर्थात् आत्मा के हित के लिये (पौंस्यं) मर्दानगी दर्शाने वाले (धनुः)

५५१—'धनुस्तन्वन्ति', 'शुक्रा व्यायन्त्यसुराय निर्णिजे' इति ऋ० ।

धनुष कामरूप धनु को (तन्वन्ति) साधते, वश करते है । अथवा परम पुमान् परमेश्वर के नाममय ओंकाररूप धनुष को तानते है उसका जप और मनन करते हैं । और (महीयुव॰) महत्व की आकांक्षा करने हारे साधक (विपाम् अग्रे) विद्वान् मेधावी पुरुषों के समक्ष (असुराय) प्राणों के प्रेरक इस आत्मा के (निर्णिजे) स्वरूप को शोधन करने के लिये (विवयन्ति) विशेष रूप से जाते हैं । पौरुष धनुष का तानना=ब्रह्मचर्य का पालन और विद्वानों के पास जाना=स्वाध्याय है ।

ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियोपस्थसयम॰ । ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । यस्य-लाभादप्रतिवान् गुणान् अणिमादीन् उत्कर्षयति । सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञान-माधातुं समर्थो भवति (व्यासभाष्ये) । स्वाध्यायादिष्टदेवतासप्रयोग॰ (यो॰ सू॰) तस्य वाचक॰ प्रणव॰ । २७ । तज्जपस्तदर्थभावनम् । २८ । ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ उपस्थ इन्द्रिय का संयम ब्रह्मचर्य है । इससे वीर्य प्राप्त होता है । इससे अखण्ड बल प्राप्त होता है इसी के बल पर आचार्य शिष्यों में ज्ञान स्थापन करता है । स्वाध्याय से परमेश्वर में भक्ति होती है । 'ओ३म्' परमेश्वर का नाम है । उसकी भावना से शीघ्र आत्मा का साक्षात् होता और सब विघ्न दूर होते हैं ।

२ ३ १ २ ३।१ २ १ ३ २ ३ १ २
[५५२] परि त्य हर्यतं हरिं वर्धुं पुनन्ति वारेण ।
३ २ ३ ३ २ ३ ३ १ २ ३।१ २
यो देवान् विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ ८ ॥
ऋ॰ ९ । ९० । ७ ॥

भा॰—(हर्यतं) सब के मनों को हरनेवाले अति कान्तियुक्त (हरिं) सर्वव्यापक, सब दुःखों के हरणकारी (वर्धुं) कान्तिमान्, सबके भरण पोषण करने हारे, (त्यं) उस आत्मा को (वारेण) वरण करने वाले भीतरी अन्तःकरण द्वारा या दोषों का वारण करने वाले प्रतिपक्ष-भावना या वितर्क-साधन द्वारा स्वच्छ करते हैं । (यः) जो आत्मा (विश्वान्

देवान्) समस्त देवों, इन्द्रियगण को भी (मदेन) आनन्द-रस के (सह) साथ (परि गच्छति) भर देता है, प्राप्त होता है ।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् । वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । (यो० सू० २ । ३३, ३४) । प्रतिपक्षभावना से वितर्कों के नष्ट होजाने पर योगी को सिद्धि के शीघ्र ही लक्षण प्रकट होते हैं ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १र २र

[५५३] प्रसुन्वानायान्धसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र

अप श्वानमराधसं हता मखं न भृगवः ॥ ६ ॥

ऋ० ९ । १०१ । १३ ॥

भा०—(अन्धस) अज्ञान अन्धकार के नाश करने वाले, परमानन्दस्वरूप सोमरस को (प्रसुन्वानाय) उत्पन्न करने हारे साधक के लिये प्रकट हुई (तद् वचः) उस सोम की अनाहत वाणी को (मर्त्त) साधारण मरणधर्मा पुरुष जिसको अमृत, सोमरस प्राप्त नहीं हुआ, वह (न वष्ट) नहीं प्राप्त कर सकता । (भृगवः) ज्ञानाग्नि से अज्ञान और पाप को भून डालने वाले ज्ञानी लोग जिस प्रकार (मख न) कर्मकाण्ड को दूर कर देते हैं उसी प्रकार (अराधसं) साधना न करने हारे, (श्वान) कर्मफल के लोभी कुकुर के समान, स्वल्पभोगों को पुनः २ चाहने वाले, वान्ताशी, चित्त को (अप हत) मारो ।

इति षष्ठी दशतिः । अष्टमः खण्डः ।

॥ द० ७ ॥ ऋषिः—१—३, ५ कविर्भार्गवः । ४ ऋषिगणः । ६ सिकता निवावरीः, खि [ऋषि]गणो (?) वा । ७ वेणुर्वैश्वामित्रः । ८ वेनो भार्गवः । ९ भारद्वाजो बसुः । १० वत्सः । ११ अत्रिर्भौमः । १२ पवित्र आङ्गिरस । पवमानो देवता ॥ जगती ॥ निषादः ॥

५५३—'प्र सुन्वानस्य' मृततद्वच.' इति ऋ० ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३
[५५४] अभि प्रियाणि पवते चनोहितो नामानि यह्वो अधि येषु
१ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
वर्द्धते । आ सूर्य्यस्य बृहतो बृहन्नधिरथं विष्वञ्चमरुहद्वि-
२ ३
चक्षणः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ७२ । १ ॥

भा०—(चनोहितः) पाकयोग्य अन्न के समान प्रवचन करने योग्य परिपक्व ज्ञान के निमित्त धारण किया गया, (यह्वः) महान् आत्मा (येषु) जिन विशेष गुणों के आधार पर (अधि वर्धते) समस्त प्रजाओं के हृदयों में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है उन सब (प्रियाणि) अत्यन्त प्रिय (नामानि) नामों, या विशेषणों या सबको नमाने वाले महान् कर्मों में (अभि पवते) साक्षात् रूप से प्रकट होता है । वही (बृहतः) सबको बढ़ाने वाले (सूर्यस्य) सबके प्रेरक परमात्मा के बनाये (विष्वञ्चं) समस्त प्राणियों को प्राप्त होने वाले (रथं) इस देह-रथ को (विचक्षणः) साक्षी, द्रष्टास्वरूप होकर (अधि-आ-अरुहद्) अधिरोहण करता है, उस पर शासन करता और उसका भोग करता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[५५५] अचोदसो नो धन्वन्त्विन्दवः प्र स्वानासो बृहद्देवेषु हरयः ।
१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
त्रि चिदह्याना हवया अरातयोर्यो नः सन्तु सनियन्तु नो
१ २
धियः ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ७९ । १ ॥

भा०—(हरयः) स्वयं हरणशील, गतिशील, (अचोदसः) बिना किसी के बाह्य बल के स्वयं प्रेरित (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् जीव, (स्वानासः) प्रकृष्ट रूप से प्रकट हुए (देवेषु) देवों, दिव्यगुणयुक्त विद्वानों या इन्द्रियों के बीच में (नः) हमें (बृहत्) खूब (धन्वन्तु) प्राप्त हों और (नः) हमारे (अर्यः) अरि-शत्रुस्वरूप, (अरातयः) सुख, काम्यफल के न देने

५५५—'प्रस्वानासो बृहद्दिवेषु हरयः । विचनश्चन इषे अरातयोऽर्यो नशन्त सनि-यन्त नो धियः' इति ऋ० ।

वाले (इषय.) केवल कामोपभोग या अन्न की कामना करने वाले, कामी, तृष्णालु इन्द्रियगण (अक्षानाः) भोग करते हुए (वि चित्र) न (सन्तु) रहें । (नः) हमें (धियः) उत्तम ध्यानवृत्तियाँ, ज्ञान और उत्तम कर्मों का (सनिषन्तु) प्रदान करें ।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[५५६] एष प्र कोशे मधुमाँ अचिक्रददिन्द्रस्य वज्रो वपुषो वपुष्टमः।

३ २ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभ्यृतस्य सुदुघा घृतश्चुतो वाश्रा अर्षन्ति पयसा

३ १ २

च धेनवः ॥३॥ ऋ० ९ । ७७ । १ ॥

भा०—(एषः) यह सोम (इन्वस्य) आत्मा के (वज्रः) वज्र के समान सब विघ्नों और पापों का नाशक (वपुषः) बीजों को वपन करने हारे से भी अधिक (वपुष्टमः) बीज वपन करने वाला, वीर्यवान् (कोशे) हृदय-कोश, आभ्यन्तर मनोमय कोश के बीच में (मधुमान्) ब्रह्मानन्द के मधुर रस से पूर्ण (प्र अचिक्रदद्) उत्कृष्ट रूप से अनाहत नाद उत्पन्न करता है । जिस प्रकार (वाश्राः) हम्भारव करती हुई (सुदुघाः) उत्तम दूध देने हारी (धेनवः) दूध पिलाने वाली गौएं (पयसा) दूध से (अर्षन्ति) धाराएं बहाती हैं उसी प्रकार ये (घृतश्चुतः) कान्ति की धाराएं बहाने वाले (ऋतस्य) ज्ञान के (सुदुघाः) दोहने वाले परमानंदरस (च) भी (अर्षंति) हृदय में चरित होते हैं, प्रकट होते हैं ।

'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' । (पातं० सू०)

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २

[५५७] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रमिनाति

३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सक्षिरम् । मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे

३ १ २ ३ २

शतयामना पथा ॥४॥ ऋ० ९ । ७६ । २ ॥

५५६—'वपुषो वपुष्टरः' 'गभीनृतस्य' 'पयसा' इति ऋ० ।

५५७—'शतयाम्ना' इति ऋ० ।

भा०—(इन्दुः) प्रकाशमय जीव, आत्मा (इन्द्रस्य) इन्द्र परमेश्वर का (सखा) समान नाम रूप धारण करने वाला उसके (निष्कृतं) पद, ज्ञान, स्थान, मोक्ष को भी (अयासीद्) प्राप्त हो जाता है तो भी (सख्यु) अपने सखा परमात्मा की (संगिर) उत्तम वेदवाणी, आज्ञा या शक्ति को (न) नहीं (प्र मिनाति) पार करता, नहीं मापता, नहीं उल्लघन करता। वह (सोम.) सोम्य स्वभाव होकर (युवतिभिः) युवा स्त्रियों के साथ (मर्य इव) जिस प्रकार मर्द, युवा पुरुष (सम् अर्षति) संग करता है उसी प्रकार वह अपनी (युवतिभिः) सदा साथ रहने वाली प्राण और ज्ञानवृत्तियों सहित (शतयामना) सैंकड़ों प्रकार से जाने योग्य (पथा) मार्ग से (कलशं) षोड़श-कलासम्पन्न ब्रह्म या आनन्दमय कोश में (सम् अर्षति) विचरण करता है।

[५१८] धर्त्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसा दक्षो देवानामनुमाद्यो नृभिः
हरिः सृजाना अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि कृणुषे नदीष्वा ॥५॥ ऋ० ९ । ७६ । १ ॥

भा०—(दिव.) द्यौलोक के समान देहमें मूर्धाभाग, या प्रकाशरूप सूर्य या ज्ञान का (धर्त्ता) धारण करने वाला (कृत्व्य.) योग साधनों द्वारा उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, (रसः) आनंदरस स्वरूप (देवानाम्) ३३ देवों इन्द्रियों और विद्वानों का (दक्षः) बलदाता, (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (अनुमाद्यः) हर्ष प्राप्त करने योग्य, (अत्यः न) गमन करने हारे अश्व या आत्मा के समान (सत्वभि') अपने सात्विक विभूतियों द्वारा (नदीषु) अपनी अनाहत नाद करने वाली धाराओं में, नदियों में जल के समान (वृथा) बिना प्रयत्न के, स्वभावतः (पाजांसि) नाना प्रकार के बल (कृणुषे) प्रकट करता है।

५१—'कृणुते नदीष्वा' इति अ०।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[५५९] वृषा मतीनां पवते विचक्षण सोमो अह्ना प्रतरीतोषसा
३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिव: । प्राणा सिन्धूनां कलशाँ आचिक्रददिन्द्रस्य हार्द्यां
३ १ २ ३ १ २
विशन्मनीषिभि: ॥६॥ * ऋ० ९ । ६६ १ ॥

भा०—(वृषा) सुखों का वर्षण करने वाला (सोमः) सोम (मतीना) मनन शक्तियों या ज्ञान वृत्तियों को (विचक्षणः) विविध प्रकार से साक्षात् करने वाला (अह्ना) दिनों, (दिव) आकाश और (उषसा) प्रभात वेलाओं के समान, प्राणों, मूर्धाभाग और तेज दीप्तियोंके (प्रतरीता) खूब बढ़ाने वाला (सिन्धूना) देह की नाड़ियों में (प्राणा) जीवन सञ्चार करने वाला आनन्दरस (इन्दस्य) आत्मा के (हार्दि) हृदय में (मनीषिभि.) मन की प्रेरणाओं द्वारा (आविशन्) प्रवेश करता हुआ (आचिक्रद्) भीतर २ नाद करता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५६०] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परमे व्योमनि ।
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यदृतैरयर्धत७
ऋ० ९ । ७० । १ ॥

भा०—(यद्) जब (ऋतै) सत्य ज्ञानों से आत्मा स्वयं (अवर्धत) समृद्ध हो जाता है तब (अस्मै) इस के लिये (सप्त) सात (धेनव) रसपान कराने वाली गौओं के समान ये सात इन्द्रियां जो मस्तक के सात छिद्रों में विराजमान हैं (परमे) सब से उत्कृष्ट (व्योमनि) अपने रक्षास्थान मूर्धा, या ब्रह्माण्ड कपाल में विराजमान होकर (सत्याम्) सत्यस्वरूप, यथार्थ (आशिर) ज्ञानधारा को (त्रि) ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों प्रकारों से (दुदुह्रिरे) दोहन करता है। और (अन्या) अन्य (चत्वारि भुवनानि) चारों देह के भागों या अवस्थाओं को (निर्णिजे)

५६०—'दुदुह्रे' 'पृच्यें' इति ऋ० ।

परिशोधन करने के लिये वह (चारुणि) उत्तम कान्ति और बल से युक्त कर देता है।

[५६१] इन्द्राय सोम सुषुतः परिस्रवापामीवा भवतु रक्षसा सह।
मा ते रसस्य मत्सत द्रुयाविनो दविध्वतस्त इह सन्त्विन्दवः ॥८॥
ऋ० ९ । ८५ । १ ॥

भा०—हे (सोम) ब्रह्मानन्दरस ! (सुषुतः) उत्तम रीति से उत्पन्न होकर तू (इन्द्राय) आत्मा के लिये (परिस्रव) बह, प्रकट हो (अमीवा) शरीरगत रोग (रक्षसा) मनोगत बाधक विघ्नों के (सह) साथ (अप भवतु) दूर हो। (द्रुयाविन.) अमीवा और रक्षः अर्थात् शरीरगत रोग और मन की कुटिलता दोनों से भरे हुए पापी लोग (ते रसस्य) तेरे रस को (मा मत्सत) पाकर कभी प्रसन्न न हों। (इह) इस योगसाधना में (इन्दवः) अन्तःकरण में प्रकट होने वाले रस (दविध्वतः) द्रुत गति वाले होकर बहते (सन्तु) रहें।

[५६२] असावि सोमो अरुषो वृषा हरी राजेव दस्मो अभि गा
अचिक्रदत्। पुनानो वारमत्यव्ययं शयेनो न योनिं
घृतवन्तमासदत् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । ८२ । २ ॥

भा०—(राजा इव) राजा के समान (दस्म) दर्शनीय, सबका शरण्य, (अरुषः) अरुणवर्ण, देदीप्यमान, कान्तिमान्, (वृषा) मेघ के समान सुखों का वर्षक (हरिः) सबको हरण करने वाला, या सर्वव्यापक नेता, (सोमः) योगी आत्मा (असावि) तय्यार किया गया है। जो (गा अभि) इन्द्रियों, वाणियों और जलों के प्रति (अचिक्रदत्) अपना नाद करता है। और (पुनानः) प्रकाशमान होता हुआ (अव्यय) कभी

५६२—'पर्यत्यव्यय' 'आसदत्' इति ऋ०।

क्षीण न होने वाले, अभेद्य (वार) निवारक, रुकावट को भी (अति-एपि) पार कर जाता है । और (श्येन न) गतिशील आत्मा बाज के समान अपने (घृतवन्तं) अत्यन्त दीप्ति युक्त (योनिं) मूलकारण, आश्रय परमेश्वर को (आसदत्) प्राप्त करता है ।

३२३ ३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ २ ३ २३
[५६३] प्र देवमच्छा मधुमन्त इन्दवोऽसिष्यदन्त गाव आ न
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १
धेनव. । वर्हिषदो वचनवन्त ऊधभिः परि स्रुतमुस्रिया
३ १ २
निर्णिजं धिरे ॥ १० ॥ ऋ० ९ । ६८ । १ ॥

भा०—(मधुमन्त) मधुर रस वाले, ब्रह्मज्ञानी (इन्दव·) सौम्य-गुणसम्पन्न, सबके आह्लादक, ब्रह्म की तरफ जानेहारे योगी, (धेनव· गाव· न) दूध देनेहारी गौएं जिस प्रकार अपने बच्छे के प्रति (प्र असिष्यन्दत) अपना दूध प्रवाहित करती हैं उसी प्रकार (देव) प्रकाशस्वरूप उपास्य देव के प्रति (अच्छा) साक्षात् (प्र-असिष्यदन्त) गति करते हैं । और वे (वर्हिषद·) महान् ब्रह्म में रमण करने वाले, (वचनवन्तः) वेदवाक्यों का अनुसरण करते हुए, (ऊधभि·) ऊर्ध्व, मूर्धास्थान में आनन्दरस धारण करने हारे स्थानों से (परिस्रुत) चुए हुए (निर्णिज) अति शुद्ध पवित्र आनन्दरस को (उस्रिया·) सूर्य की किरणों के समान प्रकाशमान होकर (धिरे) धारण करते हैं, या पान करते हैं ।

१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ ३ ३ २
[५६४] अञ्जत व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मध्वाऽभ्यञ्जते ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावा. पशुमप्सु
२
गृभ्णते ॥ ११ ॥ ऋ० ९ । ४६ । ४६ ॥

५६३—'वचनावन्त' इति ऋ० ।

५६४—'मधुनाऽभ्यञ्जते', 'पशुमासु' इति ऋ० ।

भा०—योगी, साधक, अञ्जन (अञ्जते) साक्षात् करते हैं, (वि-अञ्जते) उसको नाना प्रकार से प्रकट करते हैं (सम्-अञ्जते) उसमें उत्तम रीति से अपने को लीन करते हैं, तब (क्रतुं) कर्म करनेहारे आत्मा के आनन्द को (रिहन्ति) आस्वादन करते हैं, उसका रस लेते हैं, उसको सतृष्ण हृदयों से पान करते हैं। (मध्वा अभि-अञ्जते) उसको भीतरी आनन्दरस के साथ एकरस कर लेते हैं। वे (हिरण्यपावा., ज्ञान से आत्मा को परिष्कार करने वाले (सिन्धो.) समुद्र के समान सर्वत्र गतिशील, या कर्मबन्धनों से बंधे जीवों को धारण करनेहारे आनन्द के अगाध सागर परमात्मा के (उतृ-श्वासे) अपनी ओर ऊपरकी तरफ प्रबल श्वास या प्राण के आकर्षण बल में (पतयन्त) गति करते हुए (उक्षणं) आनन्दवर्षी (पशुम्) द्रष्टा जीव को (अप्सु) अपने ही प्रज्ञानों में (गृभ्णते) ग्रहण करते हैं, ज्ञान करते हैं। अथवा (सिन्धो.) गतिशील प्राणों के (उच्छ्वासं) ऊर्ध्व अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र की ओर की गति में (पतयन्त उक्षणं पशुं) धावन करते हुए आनन्दवर्षी द्रष्टा जीवात्मा को (हिरण्यपावा.) हिरण्यमय, दीप्ति-मान् ढकने को भी पार करने हारे साधक (अप्सु गृभ्णते) अपने ही प्रज्ञानों या प्राणों के बीच में साक्षात् करते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
[५६५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
१ २ ३२४ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २ ३ १२ २२
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥ १२॥
ऋ० ९। ८३। १ ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) ज्ञानरूप ब्रह्म के स्वामिन्! प्रभो! (ते) तेरा (पवित्र) पवित्र ज्ञान (विततं) बड़ा विस्तृत, सर्वत्र व्यापक है। (प्रभुः) प्रकृष्ट सामर्थ्यवान् आप (विश्वतः) सब प्रकार से (गात्राणि)

५६५—'तत्समाशत' इति ऋ०।

सब देहों में (परि-एषि) व्यापक हो । (अतप्ततनू) इस शरीर को तपस्याओं, योगसाधनाओं द्वारा तप्त न करने वाला तपहीन (आम॰) कच्चा पुरुष (तद्) उस तेरे पवित्र ज्ञानमय स्वरूप को (न अश्नुते) नहीं प्राप्त करता । (शृतासः) तपोमय अग्नि में परिपक्व विद्वान् (इत्) ही (वहन्तः) ज्ञान को स्वयं धारण करने हारे (तद्) उस सुख को (सम् आयत) उत्तम रीति से प्राप्त करते और भोगते हैं ।

इति नवमी दशति. । नवम खण्ड. ।

॥ द० ८ ॥ ऋषि.—१, ७, ११ अग्निश्चाक्षुष. । २ चक्षुर्मानव । ३,४, ९, १० पर्वतनारदौ काश्यप्यावप्सरसौ वा ।५ त्रित आप्त्य । ६ मनुराप्सवः । ८, १२ द्वित आप्त्यः । इन्द्रो देवता । उष्णिक् । ऋषभ॰ ॥

३ १ २ ३ १ ३१२ २१ ३ १ २

[५६६] इन्द्रमच्छ सुता इमं वृषणं यन्तु हरयः ।

३१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

श्चुष्टे जातास इन्दवः स्वर्विदं॰ ॥ १ ॥ अ० ९ । ५८ । २ ॥

भा०—(इमे) ये (सुताः) उत्पन्न किये हुए (हरय.) हरणशील, मनोहर (श्चुष्टे जातास) व्यापक आत्मा में प्रादुर्भाव हुए, या सुखस्वरूप ईश्वर में लीन हुए, (स्वर्विद) प्रकाश, ज्ञान, और आनन्द का लाभ करनेहारे, (इन्दवः) सौम्य गुण वाले, साधक योगी (वृषणं) सुखों के वर्षक (इन्द्रम्) उस परमात्मा को (अच्छ यन्तु) भली प्रकार प्राप्त होते हैं ।

२ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २

[५६७] प्र धन्वा सोम जागृविरिन्द्रायेन्दो परिस्रव ।

३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २

द्युमन्तं शुष्ममाभरे स्वर्विदम् ॥२॥ अ० ९ । १०८ । १४ ॥

भा०—हे (सोम) सौम्यगुण वाले ! (इन्दो) ईश्वर के प्रति रस प्रवाह के समान गति करनेहारे साधक ! (जागृवि.) जागरणशील, कर्मा

५६६—'श्चुष्टी जातास' इति ऋ० ।

आलस्य तन्द्रा को न प्राप्त होकर, (इन्द्राय) उस ईश्वर या आत्मा को लक्ष्य करके (परिस्रव) बह, आगे बढ़ ! (द्युमन्तं) कान्तियुक्त, (स्वर्विदम्) समस्त पदार्थों का ज्ञान लाभ कराने वाले (द्युम्नम्) आत्मज्ञान रूप बल को (आ भर) सञ्चित कर ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[५६८] सखाय आ निषीदत पुनानाय प्रगायत ।

३ २ ३ १ २ ३ २

शिशुं न यज्ञै. परिभूषत श्रिये ॥३॥ ऋ० ९ । १०४ । १ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रगण ! (आ निषीदत) आओ बैठो । (पुनानाय) योग-साधन द्वारा अपने त्रिविध मलों का शोधन करनेहारे आत्मा के विषय में (प्र गायत) उत्तम रूप से सत् स्तुति करो उसका वर्णन करो । और (शिशुं न) जैसे बालक को (श्रिये) मात्र शोभा के लिये सजाते हैं उसी प्रकार उस (शिशुम्) सबके भीतर शयन करने हारे आत्मा को (यज्ञैः) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के यज्ञों द्वारा (श्रिये) आत्म सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये (परि भूषत) सब प्रकार से अलंकृत करो, उसकी शोभा बढाओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[५६९] तं घ. सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्त्तिभि. ॥४॥ ऋ० ९ । १०५ । २ ॥

भा०—हे (सखाय) मित्रो ! (घ.) आप लोग (तं) उस (पुनानं) तपस्या आदि से मलों को शोधन करने हारे साधक, या मुख्य प्राण की (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये (अभि गायत) साक्षात् गुण स्तुति करो । और (गूर्त्तिभि') स्तुतियों द्वारा और (हव्यै) उत्तम सात्विक पदार्थों और विचारों द्वारा (शिशुम् न) जिस प्रकार मधुर अन्नों का (स्वदयन्त) रस चखाकर बालक को वश करते हैं उसी प्रकार

५६९—'यज्ञै.' इति ऋ० ।

(शिशुम्) सबके भीतर विद्यमान आत्मा को (स्वदयन्त.) अमृत का रसा स्वादन कराकर अपने वश कर, उस तक पहुंचा ।

[५७०] प्राणा शिशुर्महीनां हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
विश्वा परिप्रिया भुवदध द्विता ॥५॥ ऋ० ९ । १०१ । २ ॥

भा०—(प्राणा) देहों को प्राण देने वाली (महीनाम्) बड़ी भारी ईश्वरीय शक्तियों में (शिशु) प्रसुप्त रूप से विद्यमान, व्यापक चित् रूप आत्मा (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (दीधितिम्) दीप्ति किरण या धारणा को (हिन्वन्) प्रेरित करता हुआ (विश्वा) समस्त (प्रिया) उत्तम प्रिय पदार्थों को (द्विता) दो प्रकार से, समष्टि व्यष्टि रूप से, स्थूल और सूक्ष्म भेद से, या गृहीत और ग्राह्य, या विषयी और विषय भेद से (परि भुवत्) प्राप्त करता है ।

[५७१] पवस्व देववीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम नः सदः ॥७॥ ऋ० ९।१०६।७॥

भा०—हे (सोम) रस स्वरूप ! हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (देववीतये) देवों, विद्वानों, इन्द्रियों, पञ्चभूतों को कान्तिमान्, बलवान्, ज्ञानवान् करने के लिये तू (धाराभिः) अपनी धारण पोषण करने हारी शक्तियों द्वारा (ओजसा) अपने बल से (पवस्व) प्रकट हो । और (मधुमान्) ज्ञानवान् तू (नः) हमारे (कलशं) देह या अन्तःकरण में (आसदः) अधिष्ठित रूप में आ विराजमान हो ।

[५७२] सोमः पुनान ऊर्मण्यव्ये वारं विधावति ।
अग्रे वाचः पवमानः कनिक्रदत् ॥७॥ ऋ० ९ । १०६ । १० ॥

५७०—'क्राणा' इति ऋ० । ५७२—'अव्यो वारं' इति ऋ० ।

भा०—(पुनानः सोमः) सोम इसके समान स्वच्छ कान्तिमान आनन्दरस या मलादि रहित अन्त:करण वाला, शमादि गुणों से सम्पन्न सोमनाम योगी जन (ऊर्मिणा) अपनी ऊर्ध्व गति से (अव्य वारं) अज्ञान के आवरण को (विधावति) पार कर जाता है । (पवमान) वह और भी अधिक उज्वल और पवित्र होकर (वाचः) वेदवाणी के (अग्रे) उत्तम, रहस्य भाग में (कनिक्रदत्) गति करता हुआ स्तुतियों में मग्न हो जाता है ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७३] प्र पुनानाय वेधसे सोमाय वच उच्यते ।
३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २
भृतिं न भरा मतिभिर्जुजोषते ॥८॥ ऋ० ९ । १०३ । १ ॥

भा०—(वेधसे) स्वयं कर्म के विधाता मेधावी (पुनानाय) अन्त:करण को मलादि से रहित करने वाले (सोमाय) शम दम आदि सौम्य गुणों से युक्त आत्मा या योगिजन के लिये (वचः) सब अध्यात्म वाणियों का (प्र उच्यते) प्रवचन किया जाता है उपदेश किया जाता है । (मतिभिः) अपने मनन-क्रियाओं द्वारा स्वयं उपासक (जुजोषते) उस सोमस्वरूप अपने ही आत्मरस का सेवन करता है । हे उपासक लोगो ! जिस प्रकार (भृतिं न) श्रमी को नियम से भरण पोषण को द्रव्य या आजीविका दी जाती है उसी प्रकार उस आत्मा की शक्ति को बढ़ाने वाली (भृतिं) भरण पोषणकारिणी चिति शक्ति को (भर) नियम से अभ्यास द्वारा बढ़ाओ ।

द्वितो नाम ऋषिः स्वामान प्रत्याह, इति सायणः । सोमाय 'मेधाविने' इति माधवः ।

५७३—'वच उथ्यम्' इति ऋ० । 'उच्यते' इति सायणः ।

[५७४] गोमन्न इन्दो अश्वमत्सुतः सुदक्ष धनिव ।
शुचिं च वर्णमधि गोषु धारय ॥९॥ ऋ० ९ । १०५ । ४ ॥

भा०—हे इन्दो ! सोम्यगुणयुक्त ! आत्मन् । हे सुदक्ष ! उत्तम कर्म के साधक ! (नः) हमें (गोमत्) ज्ञानवाणियों से युक्त (अश्वमत्) सम्पन्न, अधिक सामर्थ्य वाली इन्द्रियों से युक्त धन (धनिव) दो । और (गोषु) हमारी वाणियों या इन्द्रियों में (शुचिं वर्णं च) कान्तियुक्त तेजस्वी वर्ण को (धारय) धारण करो ।

[५७५] अस्मभ्यं त्वा वसुविदमभि वाणीरनूषत ।
गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि ॥१०॥ ऋ० ९ । १०५ । ४ ॥

भा०—(अस्मभ्यं) हमें (वसुविदं) प्राणों ऐश्वर्यों का ज्ञान, जीवन का लाभ कराने हारे (त्वा) तुझको (वाणीः) सब वेदवाणियां (अनूषत) यथार्थ वर्णन करती हैं । हे आत्मन् ! (ते वर्णम्) तेरे वरण करने योग्य स्वरूप को (गोभिः) इन वेदस्तुतियों द्वारा (अभि वासयामसि) आच्छादित करते हैं, ढकते हैं, अलंकृत करते हैं ।

[५७६] पवते हर्यतो हरिरतिह्वरांसि रंह्या ।
अभ्यर्ष स्तोतृभ्यो वीरवद्यश ॥११॥ ऋ० ९ । १०६ । ४ ॥

भा०—(हर्यतः) हरण-गमन करने योग्य, सब का प्राप्य, (हरिः) सोम, आत्मा (रंह्या) वेग से (ह्वरांसि) कुटिल, कष्टकारी विघ्नों को भी (अति पवते) अतिक्रमण करके चमचमाता है । हे सोम ! (स्तोतृभ्य) स्तुति करनेहारे, यथार्थ गुणवक्ताओं को (वीरवद्) सामर्थ्यसम्पन्न (यश) तेज (अभि अर्ष) प्रदान कर ।

५७४—'धन्व' 'शुचि ते' 'गोषुतोषसम्' इति ऋ० ।

५७६—'मन्दसा' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७७] परि कोशं मधुश्चुतं सोमः पुनानो अर्षति ।
३ २ ८ ३ १ २ ३ १ २
अभि वाणीरृषीणां सप्तानूषत ॥१२॥ ऋ० ९ । १०३ । ३ ॥

भा०—(पुनानः) मल आदि रहित, प्रकट होने वाला या चरित होनेवाला (सोम.) आत्मा (मधुश्चुतं) मधुर आनन्द रस को चुआने वाले आनन्दमय (कोशं) कोश को (परि अर्षति) व्याप्त कर लेता है । (ऋषीणां) ब्रह्माण्ड या मूर्धादेश में स्थित सातों प्राणस्वरूप ऋषियों की (सप्त वाणी.) सात वाणियां, सातों ज्ञानप्रवाह (अभि-अनूषत) आत्मा की साक्षात् स्तुति करते हैं ।

इति अष्टमी दशतिः । इति दशमः खण्डः ।

॥ ऋ० ९ ॥ ऋषिः—१ गौरिवीतिः शाक्त्यः । २ ऊर्ध्वसद्मा आङ्गिरसः । ३, ८ असितो भारद्वाजः । ४ कृतयशा आङ्गिरसः । ५ ऋणव आङ्गिरसः । ६ शक्तिर्वासिष्ठः । ७ उग्राङ्गिरसः । पवमानो देवता । १—५, ६ ककुप् । यवमध्या गायत्री । ७, ८ प्रगाथः । १—४, ६ ऋषभः । ५ षड्जः । ७, ८ मध्यम ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५७८] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम ऋतुवित्तमो मदः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
महि द्युक्षतमो मदः ॥ १ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १ ॥

भा०—हे (सोम) परमेश्वर ! हे (मधुमत्तम) सब से अधिक आनन्द और ज्ञानसम्पन्न ! (ऋतुवित्तमः) ज्ञान की प्राप्ति और कर्मों का ज्ञान करने या कराने हारों में सबसे श्रेष्ठ (मदः) आनन्दस्वरूप आप (इन्द्राय) विभूतिसम्पन्न आत्मा के लिये (पवस्व) प्रकट होइये, आप (मदः)

५७७—'सप्तानूषत' इति ऋ० ।

अत्यन्त आनन्दस्वरूप होकर (द्युक्षतमः) सब दिव्य, तेज सम्पन्न पदार्थों में आप ही सबसे श्रेष्ठ और (महि) सबसे महान् हैं ।

३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५७९] अभिद्युम्नं बृहद्यश इषस्पत दीदिहि देव देवयुम् ।
१ २ २ ३ २ २
वि कोशं मध्यमं युव ॥२॥ ऋ० ९ । १०८ । ९ ॥

भा०—हे (इषस्पते) अन्न, एवं ज्ञान और मानस प्रेरणा के स्वामिन् ! हे देव ! (देवयु) विद्वानों और समस्त दिव्य लोकों को अपने वश करनेहारे, आपके प्रति हम प्रार्थना करते हैं कि (बृहद् यशः) बहुत अधिक यश, अन्न, ज्ञान, सामर्थ्य (द्युम्न) और धन, बल को (अभि दीदिहि) साक्षात् प्रकाशित करो, और (मध्यमं) बीच के (कोश) आवरण करने वाले मनोमय, विज्ञानमय कोश को (वियुव) काट दो अर्थात् उन कोशों को काट कर आप आनन्दमय कोश को प्रवेश कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[५८०] आ त्वाता परि षिञ्चताश्वन स्तोममद्रुर रजस्तुरम् ।
३ १ २ ३ १ २
वनस्पतिमुदप्रुतम् ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ७ ॥

भा०—हे साधकगण ! (स्तोम) स्तुति योग्य, (अद्रुरं) ज्ञान और कर्मों से प्राप्त करने योग्य, (रजस्तुरम्) समस्त लोकों में व्यापक (वनस्पतिम्) सबके आत्माओं में कूटस्थरूप से व्यापक, फलों को जैसे वृक्ष देता है उसी प्रकार सेवन करने योग्य आनन्दरसों को देने वाले (उद् प्रुतम्) ज्ञान से परिपूर्ण, शान्ति के दायक, आत्मरस को (आसोत) अपने हृदय में प्रकट करो । (परि षिञ्चत) पुनः उसके आनन्दमय रसों का आ सेचन करो ।

५७९—'देवयुः' इति ऋ० ।

५८०—'वनस्पश्न्' इति ऋ० । 'वनस्पृशम्' इति क्वचित् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८१] एतमु त्य मदच्युतं सहस्रधारं वृषभं दिवो दुहम् ।
३ १ २ ३ १ २
विश्वा वसूनि बिभ्रतम् ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १२ ॥

भा०—(एतम् उ) इस ही (मदच्युतं) हर्ष रस के बरसाने हारे (सहस्रधारं) सहस्रों लोकों को धारण करने वाले, या सहस्रों सुखधाराओं के बहाने वाले, (वृषभं) सुखों के वर्षक, (दिव) सूर्य के समान प्रकाशक, लोकों या ज्ञान प्रकाश का (दुहम्) दोहन करने वाले (विश्वा वसूनि) सब प्राणों और समस्त वास के देने हारे वसु रूप लोकों को (बिभ्रतं) धारण करने वाले आत्मा, परमात्मा को प्राप्त करते हैं ।

१ २ ३ १ २ १ २ ३ २ २ १ २ १ १ २
[५८२] स सुन्वे यो वसूनां यो रायामानेता य इळानाम् ।
२ ३ १ २ ३ १
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । १०८ । १३ ॥

भा०—(य) जो (रायां) ऐश्वर्यों, (वसूना) समस्त प्राणों और सूर्यादि लोकों के और (इळाना) समस्त भूमियों, ज्ञानधाराओं और अन्नों का (आनेता) प्राप्त कराने हारा है और (य. सुक्षितीना) जो उत्तम निवास योग्य शरीरों, क्षेत्रों का नेता, निर्माणकर्त्ता है (सः सोमः) वह सबका प्रेरक आत्मा और परमात्मा (सुन्वे) हृदय देश में साक्षात् किया जाता है ।

२ १ २ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[५८३] त्वं ह्यां३ग दैव्यं पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।
३ १ २ ३ १ २
अमृतत्वाय घोषयन् ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ५ ॥

भा०—(अंग पवमान) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (द्युमत्तम·) सबसे अधिक कान्तिमान् (त्वं हि) तू ही (दैव्यं) दिव्=अन्तरिक्ष द्युलोक या देव, पञ्चभूतों और दिव्य गुणयुक्त समस्त पृथिवी आदि लोकों की (जनिमानि) उत्पत्तियों और प्रकट होने वाले अद्भुत २ विकासों के मूल-

---

५८१— दिवो दुहः' इति ऋ० । 'दिवदुह' इति सा० ।

५८३—'त्वंह्यं ग दैव्या', 'घोषयः' इति ऋ० । 'घोष.' इति सा० ।

कारणों का (अमृतत्वाय) नित्य, निरन्तर विद्यमान अमृतस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (घोषयन्) उपदेश करता है ।

[५८४] एष क्य धारया सुतोऽज्या वारेभिः पवते मदिन्तमः ।
क्रीडन्नूर्मिरपामिव ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । १०६ । ५ ॥

भा०—(सुतः) निष्पन्न, अभिव्यक्त आनन्दरस (अज्या वारेभिः) क्षितिशक्ति के आवरणों से पार होकर (मदिन्तमः) अति अधिक आनन्द से समृद्ध (अपा) जलों के (ऊर्मि इव) प्रवाह या तरंग के समान ज्ञानों, कर्मों का तरंग (धारया) अपनी निरन्तर धारा या धारक शक्ति से (क्रीडन्) संसार में क्रीड़ा सी करता हुआ, लीला करता हुआ (स्यः एषः) जिसको ढूंढते हैं वह यह (पवते) हृदय देश में प्रकाशित होता है ।

[५८५] य उक्षिया अपिया अन्तरश्मनि निर्गा अकृन्तदोजसा ।
अभि व्रजं तत्निषे गव्यमश्व्यं वर्मीव धृष्णवारुजं ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ६ ॥

भा०—(यः) जो सोम (उक्षिया) ऊर्ध्व गति करने वाली (अज्या) कर्म और ज्ञान की बनी हुई (गाः) गतिशील इन्द्रियों को (ओजसा) अपने बल से (अन्तः अश्मनि) अश्मा=व्यापक या प्रस्तर के समान किसी से न हारने वाले, परिपक्व 'अश्माखण' नामक मुख्य प्राण के भीतर (निर्-अकृन्तत्) बनाता है, निर्माण करता है और जो (गव्यं) ज्ञान-सम्बन्धी और (अश्व्यं) कर्म या मनः सम्बन्धी (व्रजं) इन्द्रियगण को (अभि तत्निषे) अपने चारों ओर विस्तारित करता है, हे (धृष्णो[1]) सबको विजय करने हारे परमात्मन् ! तू हमारे (वर्मी इव) कवचधारी सुरक्षित योद्धा के समान (आ रुज) सब विघ्न बाधाओं को दूर कर ।

इति नवमी दशतिः । एकादशः खण्डः ।

इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

इति पावमानकाण्डं समाप्तम् ।

५८५—'अज्या अन्तरश्मनो' इति ऋ० ।

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ आरण्यकं काण्डम् *

ग्रा द० २० ॥ ऋषिः—१ भरद्वाज॰ । २ वसिष्ठ । ३, ६ वामदेवः । ४ शुनःशेपः । ५ गृत्समदः । ७, ८ अमहीयुः । ९ आत्मा । २–३ इन्द्रः । ४ वरुण॰ । ५, ७, ८ पवमानः । ६ विश्वेदेवाः । ९ अन्नम् । १ बृहती । २, ६ त्रिष्टुप् । ३, ७, ८ गायत्री । ४, ५ चतुष्पदा गायत्री । ६ एकपदा गायत्री । १ मध्यमः । २, ६ धैवतः । ३, ८ षड्जः ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५८६] इन्द्र ज्येष्ठं न आभर ओजिष्ठं पुपुरि श्रवः ।

१र २र ३ १ २ ३ १र १ २र

यद्दिधृक्षेम वज्रहस्त रोदसी उभे सुशिप्र पप्राः ॥ १ ॥

ऋ० ६ । ४६ । ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (ज्येष्ठं) अत्यन्त प्रशंसनीय (ओजिष्ठं) कान्ति और बल से युक्त, (पुपुरि) पूर्ण करने वाला, (श्रवः) ज्ञान (नः) हमें (आभर) प्राप्त कराओ । हे (वज्रहस्त[1]) सब विघ्नों को निवारण करने हारे ज्ञान और वैराग्यरूप वज्र को अपने हाथ में लिये हुए, या ज्ञानरूप वज्र से तमका हनन करने हारे परमात्मन् ! हे (सुशिप्र[2]) उत्तम दाढ़ों या रश्मियों वाले तेजस्विन् ! समस्त संसार के प्रलयकाल में भक्षण करने वाले ! अथवा उत्तम ज्ञानी और बलशाली ! (यद्) जिसको

---

* क्वचित्संहितासु काण्डमिदं न लभ्यते, अत एव तासु 'य इन्त्रिया' इति ऋचोऽन्त्यपादाभ्यासो दृश्यते इति हेतौ रत्नैव पूर्वार्चिकस्य समाप्तिरिति विज्ञायते, क्वचिदाभ्यासो न दृश्यते, षष्ठोध्यायश्च तृतीयार्धप्रपाठकरूपेणैव लभ्यते । केचिदिममध्याय परिशिष्टमिव मन्वते । विविधा हि देवता अत्र स्तूयन्ते इति प्राक्परिगणितकाण्डत्रयाद् भिन्नमिदमारण्यक काण्ड व्यवहरन्ति ।

५८६—'आभर', 'ये नेमे चित्र वज्रहस्त', 'ओमे' इति ऋ० ।

(दिधक्षेम) हम धारण करना चाहते हैं उस ज्ञान को (उभे रोदसी) इस लोक परलोक दोनों में (पप्रा) पूर्ण कर, प्राप्त करा। अथवा धारण करने योग्य समस्त ज्ञान और चेतना को ब्रह्माण्ड में तू पूर्ण कर रहा है।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३२ ३ १ २३ १ २

[५८७] इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधिक्षमा विश्वरूपं यदस्य।

१ २ ३२३ १ २ ३ २३ ३ १ २ ३ २

ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक् ॥२॥

ऋ० ७ । २७ । ३ ॥

भा०—(इन्द्र) परमात्मा (जगत.) जगम प्राणिसंसार का और (चर्षणीनाम्) मानवों का और (अधिक्षमा) इस पृथिवी पर (विश्वरूप) नाना प्रकार के पदार्थ, जीव, या ब्रह्माण्ड (यत्) जो भी हैं (अस्य) इस सब का (राजा) स्वामी है। (ततः) वह सर्वव्यापक ईश्वर (दाशुषे) दानशील पुरुष को ही (वसूनि) जीवनोपयोगी नाना ऐश्वर्य (ददाति) देता है। वही (उपस्तुतः) सबसे स्तुति किया गया (राधः) धन और ज्ञान (अर्वाक्) हमें (चोदयत्) दे।

२ ३२३ २ ३१२ ३२३ ३ २३३ २१

[५८८] यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः।

१ २ ३ १ २ ३२

इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ॥ ३ ॥

भा०—(यस्य) जिस (रजोयुज) कान्ति, ज्योति से युक्त या प्रकृति के रजोगुण से योग करने हारे आत्मा का (तुजे जने) दानशील पुरुष में (इदं) यह (स्वः) सुखकारी, दिव्य, समस्त (वनं) सेवन करने योग्य नाना सम्पदा है उस (इन्द्रस्य) परमात्मा का (रन्त्यं) रमणीय ऐश्वर्य भी (बृहत्) बहुत अधिक बड़ा है।

---

१ हस्तो हन्तेः (निरु०), २ क्षिप्र सपंते ।

५८७—'अधिक्षमि', 'विपुरूप', 'उपस्तुतः' इति ऋ० ।

[५८९] उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथादित्य व्रते वयन्तवानागसो अदितये स्याम ॥ ४ ॥

ऋ० २ । २४ । ५ ॥

भा०—हे (वरुण) सर्वव्यापक, सब पापों के निवारक, सर्वश्रेष्ठ परमात्मन् ! (उत्तमं) उत्कृष्ट अपने (पाशं) पाश, प्राकृतिक तेजोमय सात्विक बन्धन को (उत् श्रथाय) उत्तम भोगों द्वारा शिथिल कर और (अधमं) निकृष्ट तामस, काम मोहादि बन्धन को (अव श्रथाय) नीचे निम्न कोटि के भोगों द्वारा ढीला कर । और (मध्यमं) मध्य-स्थानीय राजस-बन्धन-आवेश, क्रोध, लोकैषणा आदि को (विश्रथाय) नाना प्रकार के भोगों से शिथिल कर । (अथ) और हे (आदित्य) सब को अपने भीतर लेने हारे ! तेजस्विन् ! (तव व्रते) तेरी नियम व्यवस्था में (वयं, हम (अनागसः) निरपराध, निष्पाप होकर (अदितये) दीनतारहित होने में (स्याम) समर्थ हों ।

[५९०] त्वया वयम्पवमानेन सोम भरे कृत विचिनुयाम शश्वत् ।
तन्नो मित्रा वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥५

भा०—हे सोम ! जगदीश्वर ! (पवमानेन) समस्त संसार को पवित्र करने हारे (त्वया) तुझ सहायक से (भरे) फल प्राप्त कराने हारे इस जीवन में (शश्वत्) निरन्तर (कृत) अपने उत्तम किये कर्म ही (वि चिनुयाम) विशेष रूप से संग्रह करें । (मित्र) स्नेहवान्, (वरुण) सब पापों का निवारक (अदितिः) कभी न खण्डित होनेवाला अखण्ड, (सिन्धुः) समुद्र के समान सर्वव्यापक, सब का आश्रय, (पृथिवी) पृथिवी के समान सबको धारण करने हारा (उत) और

५८९—'अधा वयमादित्य व्रते तवा०' इति ऋ० ।

(द्यौः) सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप (नः) हमें (तत्) वह अभिलषित उत्तम फल (मामहन्ता) प्रदान करे ।

[५६१] इमं वृषणं कृणुतेदमिन्मामं ॥ ६ ॥

भा०—हे प्राणो ! विद्वानो ! (इमं मां) इस मुझ (एकं) अकेले को (वृषणं) सब सुखों का वर्षण करने हारा (कृणुत इदं) बनादो ।

[५६२] स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
वरिवोवित्परिस्रव ॥ ७ ॥ ऋ० ९ । ६१ । १२ ॥

भा०—(सः) वह सोम (नः) हमारे (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील, (यज्यवे) जीवनयज्ञ के कर्त्ता, (वरुणाय) व्यवस्थापक वरणस्वरूप आत्मा (मरुद्भ्यः) और प्राणस्वरूप इन्द्रियों या, भीतरी पञ्च प्राणों के लिये (वरिवोवित्) हितकारी पदार्थों को दाता होकर (परि स्रव) हमारे प्रति प्रकट हो ।

[५६३] एना विश्वान्यर्य द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ६२ । ११ ॥

भा०—हे जगदीश्वर ! आप (अर्यः) सब के स्वामी (मानुषाणां) मनुष्यों के (विश्वानि) समस्त (एना) ये (द्युम्नानि) धन, रत्न आदि (आ) हमें प्राप्त करावें । हम (सिषासन्तः) उनको सेवन करने या सब में बांट देने की इच्छा से (वनामहे) याचना करते हैं ।

[५६४] अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम ।
या मा ददाति स इदेव मावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥ ९ ॥

भा०—(अहम्) मैं महान् आत्मा, परमात्मा (ऋतस्य) इस सत् अभिव्यक्त जगत् से (प्रथमजा) प्रथम ही हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ (अस्मि) हूं। (देवेभ्य) देवताओं, पञ्चभूतों, इन्द्रियों से भी (पूर्वं) पूर्व मैं विद्यमान रहा। मैं ही (अमृतस्य) कभी विनाश न होने वाले, नित्य आत्मा का (नाम) स्वरूप हूं। (यः) जो (मां) मुझको, मेरे स्वरूप को अन्यों के प्रति (एव) इस प्रकार से (ददाति) दान करता अर्थात् जो ब्रह्म या आत्म ज्ञान का उपदेश करता है (स. इत्) वही (मा) मेरी (आवत्) रक्षा करता है। (अहम् अन्नम्) मैं अन्न के समान प्राण को धारण कराता हूं। मैं ही (अन्नम्) अन्न रूप से सबको धारण कराता हू। मैं ही (अदन्तम्) कर्मफल का भोग करने वाले जीवों को (अधि) अपने में मग्न कर लेता हूं।

ब्रह्म की अन्नोपासना उपनिषदों में कही है। 'अन्ना चराचरम्ह यात्' (वेदा० सू०)

इति दशमी दशतिः। प्रथम खण्डः।

॥ ८०२१ ॥ ऋषिः—१ श्रुतकक्षः। २ पवित्रः। ३, ४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः। ५ प्रथः। ६ गृत्समदः। ७ नृमेधपुरुमेधौ ॥ देवता—१, ३, ४, ७, इन्द्रः ५ पवमानः। ५ विश्वेदेवाः। ६ वायुः ॥ छन्द.—१, ३, ४, ६ गायत्री २ जगती। ५ त्रिष्टुप ॥ ७ अनुष्टुप ॥ स्वरः १, ३, ४, ६ षड्ज.। २ निषादः। ५ धैवतः। ७ गान्धार. ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[५६५] त्वमेतद्धारय कृष्णासु रोहिणीषु च।
१ २ ३ २ ३ १ २
पर्कण्णीषु रुशत्पयः ॥१॥ ऋ० ९। ९३। १४ ॥

५६५—१ हरावती पर्कण्णीत्याह। पर्वमती भास्वती, कुटिलगामिनी (निरु० ९।२६)

भा०—हे आत्मन्[1] (त्व) तू ही (कृष्णासु) प्राणों को कर्षण करने हारी पिङ्गला नाम नाड़ियों और (रोहिणीषु) प्राणों का रोहण, परिवर्धन करने वाली इड़ा नाड़ियों में और (परुष्णीषु[2]) पौरु २, या अंग २ में निवास करनेहारी, ज्ञानवाहिनी चित्रकण्डालिनी सुषुम्ना आदि नाड़ियों में (रुशत्) कान्तिमय (पय) तेज या रस को सूर्य के समान (अधारयः) धारण करता है[2]।सूर्यपक्षमें—कृष्णा=रात्रियें, रोहिणी=उषाएं, परुष्णी[3]=दिन मध्याह्नवेला।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[५९६] अरूरुचदुषस. पृश्निरग्निय उक्षा ।मंमति भुवनेषु वाजयु ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षस: पितरा गर्भमादधु' ॥२॥

ऋ० ६ । ८३ । ३ ॥

भा०—(उषस) साधक की साधना के अवसर पर त्रिपुटी में प्रकट होने वाली कान्ति का (पृश्नि·) आदित्य ही (अग्निय उक्षा[1]) सब से प्रथम सुखों का सेचन करने हारा, (भुवनेषु) समस्त प्राणों और प्राण कोशों में (वाजयु·) बल की कामना करने हारा आनन्दघन आत्मा, (अरूरुचद्) प्रकाशित होता है । (मायाविन) चित्ति शक्ति या प्रज्ञा, प्रेरणा या ज्ञान से सम्पन्न देवरूप इन्द्रिया या अग्नि आदि पाचों भूत (अस्य मायया) इसकी ही माया, प्रकृति, या ज्ञान शक्ति से सम्पन्न होकर (नृचक्षस) मनुष्यों के द्रष्टा (पितर) सबके पालन करने हारे (ममिरे) पदार्थों का ज्ञान करते हैं, या सृष्टि के पदार्थों की रचना करते हैं और (गर्भम्) हिरण्य गर्भस्वरूप विराट्रूप को (आदधु·) धारण करते हैं। आत्मा परमात्मा दोनों पक्षों में स्पष्ट है । अध्यात्म में-(पितर) प्राणगण ।

---

२ द्रष्टव्य ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् इम मे गङ्गे यमुने इत्यादि व्याख्यानम्

(प्र० ३०) ।३। परम उत्तरवर्त्यो घटिका ।

५०६—'उक्षा मिमेति भुवनानि' इति ऋ० ।

२ ३ २र ३ २ ३१ १ ३ २ ३१ २
[५६७] इन्द्र इद्धर्यो.सचा सम्मिश्ल आ वचो युजा ।
१ २ ३१ २३ १२
इन्द्रा वज्री हिरण्यय ॥३॥ ऋ० २ । ७ । २ ॥

भा०—(इन्द्र इत्) आत्मा ही (वचोयुजा) वाणीमात्र से योग रखने वाले (हर्यो.) हरण करने वाले अश्वों, शक्तियों ज्ञान, कर्म और इन्द्रियों को (सचा) एक साथ (संमिश्ल) मिला कर रखने वाला है । वही (वज्री) संहारक शक्ति से युक्त और (हिरण्ययः) सूर्य के समान कान्तिमान्रूप वाला या स्वतः हित, प्रिय, रमणीय, और गतिशील आत्मा है ।

१ ३ १ २ ३ १ २
[५६८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
३ २ ३ १ ८ ३ १ २
उग्र उग्राभिरूतभिः ॥४॥ ऋ० १ । ७ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उग्र.) उग्र स्वभाव के आप (उग्राभि ऊतिभि) अति वेग्वाली शक्तियों द्वारा (वाजेषु) ज्ञानों और बलों के कार्यों में और (सहस्रप्रधनेषु च) बलशाली सहस्रों अनों के एकत्र होने के अवसरों, या युद्धों में (नः) हमारी (अव) रक्षा करो ।

१ २ ३ १ २ २ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
[५६९] प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुभस्य हविषो हवियत् ।
३ १ २र ३ २ ३ १ २ ३१ २र ३ १ २
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमाजभारा वसिष्ठः ॥५॥
ऋ० १० । १८१ । २ ॥

भा०—(यस्य) जिसके (प्रथः) विस्तार करने वाला, प्राण और (सप्रथ) उस विस्तार करने वाले का साथी अपान यह दोनों ही (नाम) स्वरूप हैं वह (वसिष्ठ) मुख्य आत्मा (आनुष्टुभस्य) प्रतिदिन स्तवन करने योग्य (यत्) जो (हविषः हवि) ग्रहण करने योग्य द्रव्य हवि का भी हवि, अर्थात् उत्तम है उस 'अमृत' (रथन्तरं) देहरूप रथ को चलाने, प्रेरणा करने वाले मुख्य प्राण को (धातु.) सबके पालन पोषण करने

हारे और (सवितु) सबके उत्पादक (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के पास से ही (आ जभार) प्राप्त करता है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६००] नियुत्वान्वायवागह्ययं शुक्रो अयामि ते ।
१ २ ३ २ ३ २
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ ६ ॥ ऋ० २ । ४१ । २ ॥

भा०—हे (वायो) प्राण ! या व्यापक आत्मन् ! आप (नियुत्वान्) नियमकारी वेगों से सम्पन्न (आ गहि) हमें प्राप्त हों । (अयं) यह (शुक्रः) कान्तिमान् सूर्य, और देह में वीर्य, आज (ते) तेरे (अयामि) नियम में बंधा है । आप (सुन्वतः) योग साधना करने हारे, (गृहम्) ग्रहण करने वाले आभ्यन्तर इन्द्रिय, मन में भी (गन्तासि) प्राप्त होते हैं ।

१ २ ३ १ २ १ ३ २
[६०१] यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय ।
१ २ ३ २ २ ३ २,१ ३ १ २
तत् पृथिवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उतो दिवम् ॥ ७ ॥

ऋ० ८ । ८६ । ५ ॥

भा०—हे (अपूर्व्य) अद्वितीय ! आदि मूलकारण ! हे (मघवन्) समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! (यत्) जो तू (वृत्रहत्याय) आवरण-कारी तामस बन्धन को नाश करने के लिये (जायथा) प्रकट होता है (तत्) वह तू (पृथिवीम्) इस विशाल भूमि को भी (अप्रथयः) प्रकट करता है और (दिवम् उत्) द्यौलोक को भी (अस्तभ्नाः) थाम आकाश में थामता है ।

इति एकादशी दशतिः । इति द्वितीयः खण्डः ।

॥ द० १२ ॥ ऋषि.—२, ५, ७, १० वामदेवः । २, ३ गौतमः । ४ मधुच्छन्दाः । ६ गृत्समद । ८, ९ भरद्वाजो बार्हस्पत्य. । ११ हिरण्यस्तूपः । १२, १३ विश्वामित्रः । देवता—१ प्रजापति. । २, ३ पवमान. । ४–६, १३ अग्नि. । ७ रात्रि । ८ वैश्वानर । विश्वेदेवाः । १० लिङ्गोक्तः । ११ इन्द्रः । १२ सर्वात्मा । छन्दः—२, ७ अनुष्टुप् । २, ३, ५, ६, ९, ११–१३ त्रिष्टुप् । ४ गायत्री । ८ जगती । १० महापङ्क्तिः । स्वरः—१, ७ गान्धारः । २, ३, ५, ६, ९, ११–१३ धैवतः । ४ षड्ज. । ८ निषादः । १० पञ्चम. ॥

२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६०२] मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥१॥अथर्व० ६ । ६६ । ३ ॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, उत्तम स्थान पर स्थित, परमात्मा (प्रजापति.) समस्त स्थावर और जंगम प्रजा का पालक (दिवि) आकाश में जिस प्रकार (द्याम् इव) सूर्य को स्थित करता है उसी प्रकार (मयि) मुझ में (वर्च.) बल, तेज, (अथो) और (यशः) यश (अथो) और (यज्ञस्य) आत्मा या परमेश्वर का (यत्) जो (पयः) पोषक नामक परम आनन्दरस है उसको (दृंहतु) नित्य बनाये रक्खे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[६०३] सं ते पयांसि समु यन्तु वाजाः संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥ २ ॥

ऋ० १ । ९२ । १८ ॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन् ! (अभिमातिषाहः) अभिमान करने हारे पुरुषों को दण्ड देने वाले (ते) तेरे (पयांसि) पोषक ज्ञानरस, (वाजाः) समस्त ऐश्वर्य और अन्न, (वृष्ण्यानि) समस्त बल (सं यन्तु) प्राप्त हों और तू आप (आप्यायमान) खूब परिपूर्ण होता हुआ (अमृताय)

६०२—'तन्मयि प्रजापतिर्दिवि' इति अथर्व० ।

इस अमृत, जीव के लिये (दिवि) मोक्षरूप स्वर्ग में (उत्तमानि) उत्तम (श्रवांसि) ज्ञानों, बलों और सुखों को (धिष्व) धारण करा।

२ ३ १ २ २ ३ २ १ २ ३ १ ३

[६०४] त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।

१ २ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

त्वमातनोरुर्वान्तरिक्षं त्वं ज्योतिषो वि तमो ववर्थ ॥३॥

ऋ० १। ९१। २२॥

भा०—हे (सोम) परमात्मन्! (त्वं) तू (इमा०) इन (विश्वाः) समस्त प्रकार की (ओषधीः) ओषधियों, वनस्पतियों को (अजनय०) उत्पन्न करता है। (त्वम् अप०) तू ही समस्त रसों को उत्पन्न करता है। और (त्वं गा) तू ही समस्त गौ आदि पशुओं और भूमियों को पैदा करता है। (त्व) तू ही (ज्योतिषा) सूर्य आदि के प्रकाश से (तम०) अन्धकार को (वि ववर्थ) विविध प्रकारों से दूर करता है। अध्यात्मपक्ष में-ओषधि -देह। अप०-ज्ञान और कर्म। गा०—इन्द्रिय, चित्तवृत्तियां। सोम-आत्मा। तम०-तामस आवरण।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २

[६०५] अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।

१ २ ३ १ २

होतारं रत्नधातमम् ॥४॥ अ० १। १। २॥

भा०—(यज्ञस्य देवम्) समस्त यज्ञों, उपासनाओं के उपास्य देव (पुरोहितम्) प्रकाशमान, ज्ञानवान् पूज्य, सर्वरूप से अन्धकार में दीपक के समान ज्ञान प्रकाश प्राप्त करने के लिये आगे मुख्य स्थान पर स्थापित (ऋत्विजम्) ऋतुओं आदित्यों और प्राणों द्वारा पूजनीय, (होतारं) सबको धारण करने और सब सुखों को प्रदान करनेहारे, सबके प्रतिपालक (रत्नधातमम्) समस्त रमणीय पदार्थों को धारण करने वाले, (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप सबके अग्रणी, प्रकाशक परमात्मा की (ईडे) स्तुति करता हूं।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६०६] ते मन्वत प्रथमन्नाम गोनाम्निः सप्त परमन्नाम जानन् ।
१ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
ता जानतीरभ्यनूषत त्ना आविर्भुवन्नरुणीर्यशसा गावः ॥ ५ ॥

ऋ० ४ । १ । १६ ॥

भा०—(ते) वे विद्वान् लोग (गोनां) वेद वाणियों के (प्रथमं) सबसे प्रथम, श्रेष्ठ, आदिमूल (नाम) उत्पत्ति स्थान को (अमन्वत) मनन करते हैं और वे (त्रि. सप्त) इक्कीस प्रकार से (परमं नाम) परम नाम को (जानन्) जिज्ञासा करते हैं । (ताः) वे वाणियां (जानती) सब रहस्य जनाती हुई (ता.) अपनी निवासभूमियों आदि मूलकारणों की (अभिनूषत) स्तुति करती हैं । और (यशसा) तेज से (अरुणीः) अरुण वर्ण वाली, (गावः) किरणों के समान वाणियों में (आविर्भुवन्) प्रकट होती हैं ।

वाणियों के २१ प्रकार के नाम २१ प्रकार के छन्द हैं जैसे—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती ये सात । अतिजगती, शक्करी अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति ये सात। और कृति प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति, उत्कृति ये सात । सब मिल कर २१ हुए ।

२ ३ १ २ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
[६०७] समन्या यन्त्युपयन्त्यन्याः समानमूर्ध्वन्नद्यस्तृणन्ति ।
१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
तमू शुचिं शुचयो दीदिवांसमपान्नपातमुपयन्त्यापः ॥ ६ ॥

ऋ० २ । ३५ । ३ ॥

६०६—'नाम धेनो ' 'सप्त मातुः परमाणि विन्दन्' 'तज्जानतीरभ्यनूषत त्ना आविर्भवद्अरुणीर्यशसा गोः, इति ऋ० ।

६०७—'अपा नपात परिस्तृरापः' इति ऋ० ।

भा०—जिस प्रकार (अन्याः नद्य) भिन्न २ नदिया (सं यन्ति) परस्पर मिल जाती हैं और (अन्याः) भिन्न २ नदिया (उपयन्ति) समीप देशों में गमन करती है और (समान) समानरूप से एक ही (ऊर्व) विशाल समुद्र को (पृणन्ति) भरा करती हैं, उसी प्रकार (आपः) ईश्वर तक को प्राप्त कराने वाली (नद्यः) समृद्ध स्तुति वाणिया अथवा आप्त प्रजाएं (अन्या.) नाना प्रकार की प्राणधारी जीव प्रजाएं (सयन्ति) एक साथ मिलजाती हैं और (अन्या. उपयान्ति) बहुतसी समीप ही एक प्रकार के अर्थ का बोध कराती हैं और (समानम् ऊर्वम्) समान ही रूप से उस विशाल महान् परमेश्वर को (पृणन्ति) स्तुति करती हैं और वे (आपः) ज्ञान और कर्म का उपदेश करने हारी वाणिया (शुचय.) शुद्ध प्रकाश करनेहारी (तम् उ शुचिम्) उसही शुद्ध पवित्र (दीदिवांसम्) देदीप्यमान (अपा नपातम्[1]) समस्त वेद के ज्ञानों और कर्मों के एकमात्र आश्रय ईश्वर को (उपयन्ति) प्राप्त होती हैं । (आपः=वाणिया, बुद्धिया, प्रजाएं, आप्तजन, लोक, नद्यः=स्तुतियां, वाणिया, नदिया) ।

१२ २३ ३ १ २ ३१२ २३ ३ १ २३

[६०८] आप्रागाद्भद्रा युवतिरक्तः केतून्त्समीर्ध्वति ।

१ २ ३ २ ३१२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभूद्भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ॥ ७ ॥

भा०—(रात्री) सुख के देनेहारी रात्रि के समान ब्रह्मविद्या (विश्वस्य) समस्त (जगतः) जगम ससार का (निवेशनी) आश्रयस्थान और (भद्रा) कल्याणकारिणी है । वह (अह्न) कभी नाश न होने वाले, अमर, सूर्य, आत्मा या अमर परमेश्वर की (युवति) उदयकालीन सूर्य के साथ संगत उषा और तेजस्वी पुरुष के संग स्त्री के समान ही सदा सत्संगति करानेवाली, (भद्रा) साधकों को सुख देनेहारी (आ) सब ओर

१. नपात्—नेन्युपमार्थ. । पतंन्तीव यत्र स नपात् "नपात्" इति निपातः ।

(प्रागात्) प्रकट होती है और (केतून्) किरणों के समान ज्ञानों को (सम् इर्पति) प्राप्त कराती है ।

[६०६] ३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
प्रक्षस्य वृष्णो अरुषस्य नू महः प्र नो वचो विदथा
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
जातवेदसे । वैश्वानराय मतिर्नव्यसे शुचि. सोम इव
३ १ २ ३ १ २
पवते चारुरग्नये ॥ ८ ॥ ऋ० ६ । ८ । २ ॥

भा०—(प्रक्षस्य) सब के भीतर सम्पर्क करने हारे, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, (वृष्णः) सुखों के वर्षक, (अरुषस्य) कान्तिमान्, (जातवेदसे) समस्त पदार्थों के जाननेहारे परमेश्वर के (महः) पूजनीय तेज को (विदथा) ज्ञान काल में, या यज्ञ में (नः) हमारी (वचः प्र) वाणी उत्तम रूप से वर्णन करे, (नव्यसे) स्तुति करने योग्य (वैश्वानराय) समस्त नरों में नाना प्रकार से व्यापक (अग्नये) उस ज्ञानस्वरूप, सबके अग्रणी, परमात्मा के लिये (शुचि.) शुद्ध, (मति.) ज्ञान, संकल्प, (सोम इव) प्रेरक ब्रह्मानन्द के समान (चारु) अत्यन्त उत्तम रूप में (पवते) प्रकट होता है ।

[६१०] १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
विश्वे देवा मम शृणवन्तु यज्ञमुभे रोदसी अपामपाच्च
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
मन्म । मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं सुम्नेष्वित्वो
१ २
अन्तमा मदेम ॥ ९ ॥ ऋ० ६ । ५२ । १४ ॥

भा०—हे (विश्वेदेवा) समस्त दिव्यगुण सम्पन्न विद्वानो ! आप लोग (मम) मेरे (मन्म) मनन करने योग्य (यज्ञम्) इष्ट उपासना को (शृणवन्तु) सुनो । वह (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों लोक और (अपा नपात् च) समस्त प्रजाओं, प्रज्ञाओं और कर्मों का आश्रय ईश्वर भी उसको श्रवण करता है । (वः) आपके (वचांसि) वचनों को (मा

६०६—'पृक्षस्य' 'सन. प्रत्नवोच' 'जातवेदसे' 'नव्यसी' इति ऋ० ।

परित्यजयाणि) मैं परित्याग न करूं, प्रत्युत उनको (सुम्नेषु इत्) सुख के अवसरों में भी (वोच) उच्चारण करू । (व अन्तमा.) आप लोगों के अत्यन्त समीप होकर हम (मदेम) आनन्दित रहें ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २

[६११] यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्रबृहस्पती ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम् ।

३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यशस्व्य३ स्याः संसदोऽहम् प्रवदिता स्याम् ॥ १० ॥

भा०—(मा) मुझको (द्यावापृथिवी) द्यौलोक और पृथिवी का (यशः) यश प्राप्त हो । मुझे (इन्द्र-बृहस्पती) सूर्य और वायु का (यशः) यश प्राप्त हो । (भगस्य) ऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर का (यशः) यश (विन्दतु) प्राप्त हो । (यशः) यश मुझे (मा) मत (प्रतिमुच्यताम्) छोड़े । (अहम्) मैं (यशस्वी) कीर्त्तिमान् होकर (अस्याः) इस (ससदः) उत्तम प्रकार से विद्वानों को अपने में स्थिति प्राप्त कराने हारी सभा या इस ब्रह्मविद्या का (वदिता) प्रवक्ता, ज्ञानोपदेशक (स्याम्) होजाऊ ।

१ २ ३ १ २क २ख ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

[६१२] इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

अहन्नहिमन्वपस्ततर्ह प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम् ॥ ११ ॥

ऋ० १ । ३२ । २ ॥

भा०—(इन्द्रस्य) विद्युत् या सूर्य के समान बलवान्, शक्तिमान् परमेश्वर के (वीर्याणि) नाना पराक्रम के उन कार्यों को मैं (प्रवोच नु) कहता हू (यानि) जिन (प्रथमानि) अतिश्रेष्ठ महत्वपूर्ण कार्यों को (वज्री) अणु से अणु तक को पृथक् करने हारा परमेश्वर (चकार) किया करता है । वह (अहिम्) कभी नष्ट न होनेवाले, स्वभावत. विद्यमान अन्धकार को (अहन्) विनाश करता है, स्वय (अनु) बिजुली जिस प्रकार मेघों

६१०—'यशिया' इति ऋ० ।

मे जलों और पर्वतों से झरनों को पैदा कर देती है उसी प्रकार वह भी अज्ञानरूप 'अहि' का नाश करके (अप०) प्रज्ञानों को (ततर्द) प्रवाहित करता है । और (पर्वताना) बड़े २ पर्वतों के (वक्षणाः) नदियों के समान विद्वानों के हृदय ग्रन्थियों या अंगों से बने देहादि बन्धनों को (प्र-अभिनत्) काट देता है ।

१ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २.

[६१३] अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतम्मे चक्षुरमृतम्म आसन्

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

त्रिधातुरर्को रजसो विमानोऽजस्रञ्ज्योतिर्हविरस्मि सर्वम् ॥१३॥

ऋ० ३ । २६ । ७ ॥

भा०—मैं (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (जन्मना) श्रवण, मनन, निदिध्यासन की अपेक्षा विना किये ही, स्वभावत (जातवेदा) समस्त पदार्थों का जानने वाला (अस्मि) हूं । (मे) मेरा (चक्षु) सबको देखने और दिखाने वाला साधन (घृतं) अतिदीप्तिमान् है । (मे आसन्) मेरे मुख्य स्थान या मुख अर्थात् स्वरूप में (अमृतम्) कभी नाश न होने वाला अमृत मोक्ष है । और मैं (त्रिधातुः) समस्त पदार्थों को तीन बलों से धारण करने वाला (अर्क) तेज स्वरूप सूर्य, (रजस) समस्त लोकों को (वि-मान) निर्माण करता हुआ (अजस्र) कभी नाश न होने वाला, अवि-नाशी, सदा वर्तमान, (ज्योति.) प्रकाशस्वरूप और (सर्व) सर्वव्यापक (हवि) हवि=भोग्य पदार्थों का दाता भी मैं ही (अस्मि) हूं ।

२ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[६१४] पात्यग्निर्नृपो अग्रम्पद्वे पाति यद्व्रश्चरण सूर्यस्य ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ ८ ३ २

पाति नाभा सप्तशीर्षाणमग्नि. पाति देवानामुपमाद्मर्त्य ॥१४॥

ऋ० ३ । ५ । ५ ॥

६१३—'विमानो घर्मो' इति ऋ० ।

६१४—'पाति प्रिय रिपो अग्र' इति ऋ० ।

भा०—(विप॰) मेधावी, ज्ञानी (अग्नि॰) परमेश्वर (वे) गति शील पृथिवी के (अग्रम्) गमन के (पदं) मार्ग को (पाति) सुरक्षित करता है। (यद्ध॰) वह महान् (सूर्यस्य) सूर्य के (चरण) चलने के मार्ग को भी (पाति) पालन करता है (नाभा) नाभिस्थान, केन्द्र अथवा अन्तरिक्ष या बन्धनस्थान मूर्धा में (अग्नि॰) यह अग्नि ही (सप्तशीर्षाणम्) सात शिर के वाली प्राणों के स्वामी जीव को भी (पाति) रक्षा करता है। (पश्व॰) दर्शनीय देव॰या (देवानाम्) अग्नि आदि देवों और विद्वानों को आनन्दकारक आत्मा या इन्द्रियों के ग्राह्य विषय की भी (पाति) रक्षा करता है।

इति द्वादशी दशतिः। तृतीय खण्डः।

॥ द० १३ ॥ ऋषि॰—१, २, ८-१२ वामदेवः। ३-७ नारायणः। देवता—अग्नि॰। २ क्रतु॰। ३-६ पुरुष॰। ७ स्रष्टा। ८ द्यावापृथिवी। ९, ११ इन्द्र॰। १० आत्मा। १३ गौ ॥ छन्दः—१, २ पङ्क्ति। ३-७, ९, १० अनुष्टुप्। १, २ पञ्चम॰। ४-७, ९, १० गान्धारः। ७, ११, १२ धैवत॰ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १
[६१५] आजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्तरासनि।
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
स त्वञ्नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशे दाः ॥ १ ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान्! हे (समिधान) प्रकाशमान! हे (दीदिवः) देदीप्यमान! (अन्त॰ आसनि) प्रत्येक आश्रय स्थान देह में, मुख में जीभ के समान (आजन्ती) प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, चित्-शक्तिरूप (जिह्वा) ज्ञान ग्रहण करने हारी शक्ति (चरति) विचर रही है। हे अग्ने! (स त्व) वह तू (वसुविद्) वास करानें हारे प्राणों या ऐश्वर्यमय लोकों को जानने, या कर्मानुसार प्राप्त करानें हारा (नः) हम

(पवस्व) अन्न, ज्ञान, पुष्टिकारक पदार्थ के साथ (रयिं) जीवन और (वर्चः) बल और कान्ति, रक्षा सामर्थ्य (अदाः) प्रदान कर ।

३ १२ २२ ३ १२ २२
[६१६] वसन्त इत्तु रन्त्यो ग्रीष्म इत्तु रन्त्यः ।
३ १ २ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः शिशिर इत्तु रन्त्यः ॥ २ ॥

भा०—(वसन्त इत्) वसन्त ही (नु) निश्चय से रमण करने योग्य है । और (ग्रीष्म.) ग्रीष्म भी (इत् नु) निश्चय से (रन्त्यः) आनन्द लाभ करने योग्य है । (वर्षाणि) वर्षाकाल और (अनु शरदः) बाद में आने वाले शरत् के दिन और (हेमन्तः) हेमन्त और (शिशिरः) शिशिर (इत्) ये सभी (नु) निश्चय से (रन्त्यः) जीवन का आनन्द लाभ करने के लिये ही हैं ।

ऋतुनामों से ईश्वर को याद किया गया है । (वसन्तः) सब प्राणियों को बसाने हारा वह परमात्मा (इत् नु) ही तो केवल (रन्त्य) आनन्द लाभ करने योग्य है । (ग्रीष्मः) सबको ग्रास करने हारा परमात्मा भी आनन्द ही देता है । (वर्षाणि) सब सुखों की वर्षा करने वाली (अनु शरदः) तथा उनके समान ही सब दुखों का नाश करने वाली शक्तियों और (हेमन्तः) सब पदार्थों को प्रेरणा या ताड़ना करने वाला और (शिशिरः) शनैः २ प्रत्येक पदार्थ की आयुबल और शरीर को घिसाने वाला काल रूप परमात्मा (इत् नु) ही (रन्त्यः) एकमात्र आनन्द लाभ कराने वाला है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६१७] सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥३॥
ऋ० १० । ९० । ४ ॥ यजु० ३१ । ४ ॥

६१७—'स भूमिं विश्वता धृत्वा' इति ऋ० । 'सर्वतः स्पृत्वा' इति पाठभेदः यजु० । 'सहस्रशीर्षा' इति यजु० ।

भा०—(सहस्रशीर्षाः) सहस्रों शिरों वाला, (सहस्राक्षः) हज़ारों आखों वाला, (सहस्रपात्) हज़ारों पगों वाला, (पुरुष) पुरुष, ईश्वर विराट् (सः) वह (भूमिम्) ब्रह्माण्ड नामक भुवन को (वृत्वा) घेरकर, व्याप्त होकर और भी (दशाङ्गुलम्) दश अङ्गुल अर्थात् दशों दिशाओं से भी (अति अतिष्ठत्) परे तक विराजमान है ।

१० अङ्गुल—परमात्मा के दशों दिशा में फैलने वाली व्यापक शक्तियां हैं । आत्मपक्ष में भूमि—नाभि, दश अङ्गुल दश इन्द्रिय । सर्व व्यापक सर्वान्तर्यामी और सब का नियामक होने से समस्त प्राणियों के सर्व शिर, आखों और पैरों को लक्ष्य करके ईश्वर को सहस्रशीर्षा आदि विशेषणों से गौण रूप से दर्शाया है । अथवा ब्रह्माण्डगत नाना द्यौलोक उस के शिर हैं, प्रकाशमान नाना सूर्य उसकी चक्षुएं और नाना वास योग्य भूमियां उसके चरण हैं ।

३ २ ३ २अ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[५१८] त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोस्येहाभवत्पुनः ।

२ ३ २ ३क २ख ३ २ ३ २

तथा विष्वङ् व्यक्रामदशनानशने अभि ॥ ४ ॥

ऋ० १० । ९० । ४ । यजु० ३१ । ४ ॥

भा—(पुरुषः) इस महान् ब्रह्माण्डरूप पुर में शयन करने हारा सर्वव्यापक, परमात्मा (त्रिपात्) सत्, चित्, आनन्दस्वरूप (ऊर्ध्व ऐत्) सबसे उत्कृष्ट होकर, सब पर वश किये हुए अधिष्ठाता के समान होकर वर्त्तमान है । (अस्य) इसका (पादः) ज्ञान और क्रियारूप शासन ही (इह) इस ब्रह्माण्ड पर (पुनः) बार बार (अभवत्) सत्तारूप में प्रकट होता और विलीन होता है । (तथा) और वही (विष्वङ्) सर्वत्र (अशनानशने अभि) भोजन करने हारे प्राणियों और न भोजन करने हारे स्थावर, जड़ पदार्थों में भी (वि-अक्रामत्) व्यापक है ।

६१८—'साशनानशने' इति ऋ० यजुः० ।

[६१९] पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतम् यच्च भाव्यम् ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥७॥

ऋ० १० । ९० । २ पूर्वार्ध, ३ उत्तरार्ध, यजु० ३१ । २ पू० । ३ उ० ॥

भा०—(यद् भूतं) जो अबतक उत्पन्न जगत् है, (यत् च भाव्यं) और जो भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाला जगत् है (इदं सर्वं) यह सब (पुरुष एव) पुरुष ही है । अर्थात् (सर्वा) समस्त (भूतानि) उत्पन्न हुए पदार्थ और प्राणिगण (अस्य पादः) इसके चरण हैं, इससे व्याप्त हैं या इसके एक चतुर्थांश हैं, या कार्य होने से उस प्रभु स्वामी के ज्ञापक हैं । और (अस्य त्रिपाद्) इसके तीन चरण (दिवि) अपने प्रकाशस्वरूप में (अमृतं) विनाशरहित, अमृतरूप सत्, चित्, आनन्द हैं । अर्थात् कार्यरूप जगत् विकार को प्राप्त होता है । वह ब्रह्म का एक पाद है और अमृतस्वरूप तीन शक्तियां सत्, चित्, आनन्द यह उसके निज अमृत, अविनाशी, अविकारी कारणस्वरूप हैं ।

[६२०] तावानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पूरुषः ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ ६ ॥

ऋ० १० । ९० ३ ॥ यजु० ३१ । ३ पू०, २ उ० ॥

भा०—(तावान्) इस संसार में जितना (अस्य) इस जगत् का (महिमा) विस्तार है (ततः) उससे भी (ज्यायान्) बड़ा वह (पूरुष) पुरुष परमेश्वर है । (उत) और वही (अमृतत्वस्य) इस अमर जीव संसार का (ईशानः) स्वामी है (यत्) जो (अन्नेन) अन्न या कर्मफल भोग के द्वारा (अतिरोहति) मूल कारण से कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात् संसार को उत्पन्न करता है ।

६२०—'तावानस्य' 'महो ज्याया' इति ऋ०, यजु० ।

[६२१] ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ७ ॥
ऋ० १० । ९० । ५ ॥ यजु० ३१ । ५ ॥

भा०—(ततः) उस पुरुष से (विराट्) हिरण्यगर्भ नामक महा राड (अजायत) उत्पन्न हुआ । (विराज अधि) उस विराट् से (पूरुषः) पुरुष, जीव उत्पन्न अर्थात् प्रकट हुआ, (सः) वह विराट् ही (अति अरिच्यत) सबसे बड़ा रहा । (पश्चात्) उसके पश्चात् उसने (भूमिम्) इस भूमि को और (अथो पुरः) इन देहों को या इन सौर जगतों को भी उत्पन्न किया ।

[६२२] मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथाममितम-
भियोजनम् । द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चत-
महसः ॥ ८ ॥ अथर्व० ४ । २६ । १ ॥

भा०—हे (द्यावापृथिवी) सबको प्रकाश देनेहारे गुरो ! सूर्य के स मान प्रकाशक परमात्मन् ! और पृथिवी के समान विस्तृत विशाल प्रकृति ! मैं (वाम्) आप दोनों को (सुभोजसौ) उत्तम पालन करने वाले (मन्ये) मानता व जानता हूं । आप दोनों (अमित) अपरिमित अनन्त (योजनं) इस संसार को (अप्रथेथाम्) विस्तृत कर रहे हो । हे (द्यावापृथिवी) पूर्वोक्त पुरुष और प्रकृति ! आप हमारे लिये (स्योने) सुखकारक (भवत) होओ । (ते) वे दोनों आप (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतम्) मुक्त करो ।

६२२—"मन्ये वां द्यावा • ममितां योजनानि । प्रतिष्ठे अमवत्ता वसूना ते नो०"
इति अथर्व० ४

[६२३] हरी न इन्द्र श्मश्रूण्युता न हारेतो हरी ।
तन्त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुपासो वनर्गव' ॥ ९ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (ते) तेरी (श्मश्रूणि) किरणें (हरी) हरणशील, सर्वव्यापक हैं (उत उ) और (ते हरी) तेरे गतिमान् अश्व, प्राण और अपान (हरितो) सब शरीरों को गति में रखने वाले व सर्वत्र विद्यमान हैं। (तं त्वा) उस परम स्मरणीय तुझको (वनर्गवः) सुन्दर वाणियों वाले (कवयः) मेधावी (पुरुपास.) पुरुष (स्तुवन्ति) स्तुत करते हैं।

[६२४] यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत ।
सत्यस्य ब्रह्मणा वर्चस्तेन मा सं सृजामसि ॥ १० ॥

भा०—(हिरण्यस्य) हरणशील मन, सुवर्ण या सूर्य का (यद् वर्चः) जो बल, तेज है (उत वा) और (यत्) जो (वर्च) तेज, बल (गवा) इन्द्रियों का या किरणों का है और जो (वर्च) तेज (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मण) वेद का है (तेन) उससे हम (मा) अपने आत्मा को (संसृजामसि) युक्त करें।

[६२५] महस्तन इन्द्र दद्रथाज इंशे ह्यस्य महना विराप्शिन् ।
क्रतुं न नृम्णं स्थाविरञ्च वाज वृत्रेषु शत्रून्तमहना कृधी न' ॥११॥

भा०—हे (इन्द्र) परमात्मन्! हे (विराप्शिन्) हे सत्यज्ञानमय! (नः) हमें (तत्) वह (सह) बाधक, दोषों को दबाने वाला सहन बल और (ओजः) तेज पराक्रम (दाद्धि) प्रदान करो जिससे आप (अस्य महतः) इस महान् संसार पर (इंशे) प्रभुता करते हो। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! स्वामिन्! (नः) हमारे आप (क्रतुं न) कर्म के समान ही (नृम्ण) उपभोग योग्य धन धान्य और (स्थविरम्) स्थिर (वाजं) बल, अन्न और

ऐश्वर्य (कृधि) करो और (नः) हमारे (स-हना) हथियारों वाल हिंसक (शत्रून्) शत्रुओं को (वृत्रपु) नाना विघ्नों में (कृधि) डाल।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६२६] सहर्षभा. सहवत्सा उदेत विश्वा रूपाणि बिभ्रतीर्द्व्यूध्नी।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
उरु. पृथुरय वो अस्तु लोक इमा आप सुप्रपाणा इह स्त ॥१२

भा०—हे गौओ ! आप (सहर्षभा) साढों के साथ और (सहवत्सा) बछड़ों के साथ (द्व्यूध्नीः) दोहरे स्तनमण्डल को वहन करती हुई (विश्वा) नाना प्रकार के (रूपाणि) रूप (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (उत् एत) उन्नति को प्राप्त होओ। (अय लोक.) यह लोक (वः) तुम्हारे लिये (उरु पृथु) खूब बड़ा विशाल (अस्तु) रहे। (इमाः) ये (आप.) जल (सु प्र-पाना.) उत्तम पान करने वाले स्थानों से साज्जित रहे। (इह स्त) तुम यहां रहो। रश्मियों के पक्ष में–ऋषभ, सूर्य, वत्स, ग्रहादि और रस धारण करने हारे दो ऊधस् मेघ और पर्वत हैं। इन्द्रियों के पक्ष में–ऋषभ आत्मा परमात्मा। वत्स–मन, दो ऊधस् ज्ञान और कर्म, आप–प्रज्ञान और लोक।

इति त्रयोदशी दशतिः। चतुर्थ. खण्डः।

॥ट० १४॥ ऋषि.—१ वैखानसः। विभ्राट् सूर्यपुत्र.। २ कुत्स। ४–६ सार्प राज्ञी। ७–१४ प्रस्कण्व काण्वः ॥ देवता—१ अग्निः पवमान। २–१४ सूर्य. ॥ छन्दः २ जगती। ३ त्रिष्टुप्। १, ४–१४ गायत्री ॥ स्वर १ निषाद। ३ धैवत.। १, ४–१४ षड्ज ॥

३ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
६२७] अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिष च नः।
३ १ २ ३ १ २
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥१॥ ऋ० ९। ६६। १॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (नः) हमें (आयूंषि) आयु (पवसे) प्रदान कर । (नः) हमें (ऊर्जम्) बल और (इषं) अन्न (च) भी दो । (दुच्छुनाम्) बुरे पागल कुत्कुर के समान लोभ और क्रोध से अन्धे पुरुषों को (आरे) दूर ही (बाधस्व) पीड़ित कर ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६२८] विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविंहुतम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १२

वातजूतो या अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा

२२

विराजति ॥२॥ ऋ० १० । १७० । २ ॥ यजु० ३३ । ३० ॥

भा०—(विभ्राट्) विशेषरूप से देदीप्यमान सूर्य के समान स्वतःप्रकाश, परमात्मा (बृहत्) बड़ा भारी (सोम्य) उत्पादक और प्रेरक गुणों से युक्त (मधु) जीवनरस को (पिबतु) पान अर्थात् अपने भीतर धारण करे । और (यज्ञपतौ) यज्ञ जीवनयज्ञ या अन्य देवपूजा आदि सत्कर्मों के अनुष्ठाता पुरुष को (अविहुतम्) सरल, अकुटिल धार्मिक (आयुः) जीवन (दधत्) धारण कराता है । (यः) जो परमात्मा (वातजूतः) वात, वायु के समान गतिमान् शक्तियों से युक्त होकर (त्मना) स्वयं (प्रजाः) प्रजाओं को (अभि रक्षति) रक्षा करता है, (पिपर्त्ति) पालन पोषण करता है और (बहुधा विराजति) बहुत प्रकारों से सबके ऊपर शासक रूप से विराजमान है ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २

[६२९] चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २

आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥३॥

ऋ० १ । ११५ । १ ॥

भा०—(देवानाम्) दिव्यगुण वाले विद्वानों और सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदि वसु और प्राणादि रुद्रों और १२ आदित्यों के (अनीकं) सैन्य,

---

§ २८—'प्रजाः पुपोष पुष्टिमा' इति ऋ० ।

बल देनेहारे, प्रमुख (चित्रं) पूजनीय, (मित्रस्य) स्नेहवान्, (वरुणस्य) पापनिवारक (अग्ने.) प्रकाशस्वरूप लोकों के (चक्षुः) प्रकाशक या द्रष्टा और (द्यावापृथिवी) द्यौलोक, पृथिवीलोक और (अन्तरिक्ष च) अन्तरिक्ष को भी (आप्रा) व्याप्त करनेहारा (जगत.) जगम ससार और (तस्थुष च) स्थावर ससार का (आत्मा) गति देनेहारा, उनका आत्मास्वरूप अधिष्ठाता, (सूर्य.) सबका प्रेरक और उत्पादक है ।

१र २र ३१ २ ३ ३१ २ ३ २

[६३०] आयङ्गौ. पृश्निरक्रमीदसदन्मातरम्पुरः ।

३१ २ ३ १ २

पितरञ्च प्रयन्त्स्व ॥ ४ ॥

ऋ० १० । १८९ । १ ॥ यजु० ३ । ६ ॥

भा०—(अयं) यह (गौ.) गमनशील, सर्वत्रव्यापक या वेदवाणीस्वरूप, (पृश्नि) सर्वान्तर्यामी समस्त ससार के तेज. पुञ्जों को स्पर्श करनेहारा, (पुरः) साक्षात् (आ अक्रमीत्) प्रकट होता है । और (मातरं) ज्ञान के प्राप्त करने हारे ज्ञाता के (पुर.) समक्ष ही (असदत्) विराजता है और (पितरं) अपनी प्रजाओं और तत्स्थानीय इन्द्रियों के पालक को भी (स्व) सुखस्वरूप होकर (प्रयन्) प्राप्त होता है ।

जिस प्रकार सूर्य, पृथिवी, माता पिता और अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं उसी प्रकार परमेश्वर विद्वानों और प्रजापालकों के हृदय में प्रकट होता है । वे ईश्वर के प्रेम से प्रजा का पालन और उपकार करते हैं ।

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १

[६३१] अन्तश्चरति रोचनास्यप्राणादपानती ।

२र ३ १ २र

व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ५ ॥ ऋ०० १ । १८६ । २ ॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की (रोचना) सबको रुचिकर, प्रेममयी दीप्ति (प्राणद्) प्राण प्रदान करती हुई (अपानती) प्राण वायु को बाहर करती हुई (अन्त.) देह के भीतर (चरति) गति करती है,

कर्मफल-भोग करती है । (महिष.) वह महान् परमात्मा (दिवम्) सूर्य को भी (वि-अख्यत्) प्रकाशित करता है ।

३ २८ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३२] त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

प्रति वस्तोरह द्युभि. ॥ ६ ॥ ऋ० १० । १८९ । ३ ॥

भा०—वह परमात्मा (वस्तो) दिन के (त्रिंशद् धाम) तीसों स्थान, तीसों घड़ियों तक (द्युभि.) दीप्तियों से (विराजति) हृदय में विराजता है । (वाक्) यह वेदवाणी, उसी (पतंगाय) सर्वव्यापक ईश्वर के लिये (प्रति धीयते) प्रत्येक पुरुष द्वारा मनन करने योग्य है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३३] अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।

१ २ ३ १ २

सूराय विश्वचक्षसे ॥७॥ ऋ० १ । ५० । २ ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (अक्तुभि.) रात्रियों के साथ २ (नक्षत्रा) नक्षत्र (विश्वचक्षसे) सब के दर्शक, प्रकाशक, (सूराय) सूर्य के कारण (अप यन्ति) लोप को प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार हे परमात्मन् ! (विश्वचक्षसे सूराय) समस्त प्राणियों के प्रकाशक, सब के प्रेरक आपके उदय होने के कारण (त्ये) वे (तायव.) हृदय के चोर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी पाप (अप यान्ति) दूर भाग जाते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३४] अदृश्रन्नस्य केतवा वि रश्मयो जनाँ अनु ।

१ २ ३ १ २

भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥८॥ ऋ० १ । ५० । ३ ॥

भा०—(भ्राजन्त.) प्रकाशमान् (अग्नयः) तेजस्वी ज्ञानी पुरुष (यथा) जिस प्रकार सब प्राणियों पर दृष्टि रखते हैं उसी प्रकार (अस्य)

६३४—'अदृश्रस्य' इति ऋ० ।

इस परब्रह्म परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मय) किरण (जनान् अनु) जन्म लेने वाले प्राणियों को (अदृश्रन्) बराबर देखते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३५] तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।

२ ३ १ २ ३ २

विश्वमाभासि रोचनम् ॥३॥ ऋ० १ । ५० । ४ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (तरणि) सबको इस भवबन्धन के पार तारने वाले, (विश्वदर्शतः) समस्त संसार में एकमात्र दर्शनीय, (ज्योतिष्कृद्) समस्त सूर्य आदि प्रकाशमान ज्योतियों को पैदा करने हारे, (असि) हैं। आप ही (विश्व) समस्त (रोचन) मनोहर कान्तिमान् सुन्दर पदार्थों को (आभासि) प्रकाशित करते हो। सूर्य एक सैकण्ड में २२०० योजन जाने से और रोगों से पार करने के कारण 'तरणि' और ग्रहों को प्रकाशित करने वाला होने से 'ज्योतिष्कृद्' कहाता है।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[६३६] प्रत्यङ् देवाना विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषान्।

३ १ २ ३ क २ ३ २

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥१०॥ ऋ० १ । ५० । ५ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! आप (देवाना) विद्वानों प्राणों और सब सूर्य चन्द्रादि दिव्य पदार्थों के (विश) भीतर निवास करने वाली प्रजाओं के (प्रत्यङ्) सामने और (मानुषान्) मनन करने हारे प्राणियों के (प्रत्यङ्) सन्मुख और (स्व.) द्यौलोक आनन्दमय मोक्ष के (दृशे) दर्शन करने के निमित्त (विश्वम्) समस्त संसार के (प्रत्यट्) प्रति (उद्-एषि) उदय को प्राप्त होते हैं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६३७] येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु।

१ २ ३ १ २

त्वं वरुण पश्यसि ॥११॥ ऋ० १ । ५० । ६ ॥

भा०—हे (पावक) सबको पवित्र करनेहारे ! हे (वरुण) सब अनिष्टों का वारण करने हारे परमात्मन् ! (येन) जिस (चक्षुषा) चक्षु से (जनान्) जन्तुओं को (भुरण्यन्तं) भरण पोषण करने हारे तुमको हम देखते हैं उसी प्रेममय चक्षु से (त्व) तू समस्त जीवों को (पश्यसि) देखता है ।

१२ २३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६३८] उ द्यामेषि रजः पृथ्वहा मिमानो अक्तुभिः ।
२ ३ १ २
पश्यञ्जन्मानि सूर्य ॥१२॥ ऋ० १ । ५० । ७ ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक, उत्पादक परमेश्वर ! (अक्तुभिः) व्यापनशील, शक्तियों द्वारा (पृथु) विशाल (रजः) समस्त लोकसमूह को (अह) और (द्याम् उ) समस्त सूर्य और द्यौलोक के भी (जन्मानि) जन्म लेने वाले समस्त पदार्थों और प्राणियों को (पश्यन्) देखता (एषि) रहता है ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ कर
[६३९] अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
१ २ ३ १ २
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ १३ ॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—(सूर) सबको प्रेरणा करने हारा परमात्मा (रथस्य) सब देहों में आत्मा के साथ (शुन्ध्युवः) शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने वाली, (नप्त्यः) कुमार्ग पर न गिराने वाली इन्द्रियों को (अयुक्त) जोड़ देता है और (ताभिः) उन द्वारा ही (स्वयुक्तिभिः) अपनी शक्तियों के द्वारा (याति) वह सर्वत्र व्यापक है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[६४०] सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
३ १ २
शोचिष्केशं विचक्षण ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ५० । ८ ॥

६३८—'वि द्यामेषि' इति ऋ० ।

२ १

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक और उत्पादक ! हे (देव) प्रकाश मान ! हे (विचक्षण) सबके आत्मन् ! (रथे) इस शरीररूप रथ में (त्वा) तुमको (शोचिष्केशं) कान्तियुक्त किरणों वाले (सप्त हरितः) सात ज्ञान प्राप्त कराने वाले इन्द्रियगण (वहन्ति) धारण करते हैं अर्थात् वे तेरी शक्ति से अनुप्राणित हैं ।

इति चतुर्दशी दशति. । पञ्चमः खण्डः ।

इति षष्ठ. प्रपाठकः समाप्त. ॥

इति षष्ठोऽध्यायः । इत्यारण्यकं काण्डम् ।

इति सामवेद-संहितायां पूर्वार्चिकः समाप्तः ॥

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारपदवीविभूषितेन मीमासातीर्थोपाध्यलङ्कृतेन श्री पण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये आग्नेयैन्द्रपावमानाख्यकाण्डचतुष्टयात्मकः सामवेदसंहिताया. पूर्वार्चिकाख्यो भागः समाप्त. ।

ओ३म्.

अथ महानाम्न्यार्चिकः *

प्रजापतिर्ऋषिः. । इन्द्रस्त्रैलोक्यात्मा देवता ।

[१]

[६४१] विद्मा मघवन् विद्मा गातुमनुशंसिषो दिश ।
शिक्षा शचीनामपते पूर्वीणामुरुवसो ॥१॥

[६४२] आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वाऽ३र्नोषु. ।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र शुम्नाय नव्ये ॥२॥

[६४३] एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिव ।
शविष्ठ वज्रिन्नञ्जसे महिष्ठ वज्रिन्नृजसे ।
आ याहि पिब मत्स्व ॥३॥

भा०—(१) हे (मघवन्) परमेश्वर ! (विद्मा) आप सब कुछ जानते हैं। अतः (गातुं) मार्ग का (विद्मा;) आप प्राप्त करावें, आप (दिश) दिशाओं का (अनुशंसिषः) उपदेश करें, हमें लक्ष्य तक पहुचने की दिशा दर्शावें। हे (पूर्वीणां) पूर्ण (शचीना) शक्तियों के (पते) स्वामिन् ! हे (पुरुवसो) समस्त प्रजाओं के भीतर बसने और उनको बसाने वाले ! या अति अधिक धन सम्पन्न ! (शिक्ष) हमें शिक्षा करो, नियमों का उपदेश करो

---

* अयमार्चिकः नतु छन्दआर्चिके नाप्युत्तरार्चिके । सर्वत्र एवमेव पूर्वोत्तरयोर्मध्ये पठितत्वात्परिशिष्टमिति केचित् । तदयुक्तम् । सर्वत्र सामसंहितासु तथोपलब्धेः । यज्ञे च होतुः पृष्ठेऽस्य विनियोगदर्शनाच्च ।१. सोपसर्गाया अस्या ऋचः सामर्गः खण्डत्रयं कृतम् । तत्र प्रथमे आद्यपादद्वयमुपसर्गं द्वितीये मध्यमपादद्वयमुपसर्गं तृतीये चान्तिमपाद उपसर्गः । शेषे सप्तभिः पादैरष्टाक्षरैः षट्पञ्चाशदक्षरा शक्वरी पूर्यते । सर्वत्र रेफाङ्किताः पादा उपसर्गाः ज्ञेयाः ।

(२) हे त्रैलोक्यपते ! हे (प्रचेतन) उत्कृष्ट चेतनासम्पन्न ! चिन्मय जगदीश्वर ! हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् ! आप (स्वः न) सबको प्रेरणा करने वाले सूर्य के समान (अंशु) सर्वव्यापक, (आभिः) इन (अभिष्टिभि) अभीष्ट उपासनाओं से (इषे) अन्न और जीवन प्राप्त करने के लिये और (द्युम्नाय) ज्ञानस्वरूप प्रकाश प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (प्रचेतय) उत्तम रीति से ज्ञानवान् करो ।

(३) हे (मंहिष्ठ) सबसे महान् ! सबसे बड़े दाता और पूजा के योग्य ! हे (वज्रिवः) पापों का वर्जन करने हारे, ज्ञान से सम्पन्न ! आप (शक्र) शक्तिमान् (एव हि) ही हैं । अत हे (शविष्ठ) सबसे अधिक बलशालिन् ! सर्वव्यापक, वज्रिन् ! आप हमें (राये) धन, ज्ञान, शक्ति, तेज और (वाजाय) बल, अन्न के निमित्त (ऋन्जसे) समर्थ करो । हे वज्रिन् ! (ऋन्जसे) आप हमें समर्थ बनाओ । (आयाहि) आप हमारे हृदय में प्रकट होओ । (पिब) यह ज्ञान, स्तुतिमय भक्तिरस मेरे हृदय पात्र में से पान करो या स्वीकार करो (मत्सव) और आनन्दमय होकर विराजो ।

[२]

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[६४४-६४६] त्विदा राये सुधीर्य्यम्भवा वाजानाम्पतिर्वशाँ अनु ॥

१ २ ३ १ ३ १२ २१ ३ १ २

मंहिष्ठ वज्रिन्नृज्जसे य. शावष्ठः शूराणाम् ॥४॥

१२ २१ ३ १ २ ३ २३ ३ १

या माघोनामंशुर्न्न शोचिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३१ २१

त्विोकत्वो अभि नो नयेन्द्रा वित्रे तमु स्तुहि ॥५॥

२ ३ २ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२

ईश हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

स नः स्वर्दृति द्विषः ऋतश्छन्द ऋत बृहत् ॥६॥

६४४-६४६—रेखाङ्किता, पादा उपमर्गाः । शेषं मसमि, पादैः शक्वरी ।

भा०—हे त्रैलोक्यपते ! आप हमें (रायः) श्रेष्ठ धन, आत्मज्ञान के प्राप्त करने के लिये प्रथम (सुवीर्यं) उत्तम वीर्य, सामर्थ्य, ब्रह्मचर्य को (विदाः) प्राप्त कराओ। (यः) जो (शूराणाम्) शूरवीरों में भी (शविष्ठः) सब से अधिक बलवान् है, हे (महिष्ठ) सबसे महान् ! (वज्रिन्) बलवन् ! पापनाशक ! आप (वाजाना पति.) समस्त ऐश्वर्यों, ज्ञानों और बलों के पति (भवः) हैं। और (वशान्) आपके वशीभूत समस्त लोकों के (अनु) अनुकूल हितके लिये उनपर (ऋन्जसे) वश करते हो ॥४॥

भा०—(य.) जो (मघोना) समस्त ऐश्वर्य वालों में (महिष्ठः) सबसे बड़ा दाता है वही (अंशु न) समस्त संसार में अपनी प्रसरण-शील रश्मियों से व्यापक सूर्य के समान (शोचि.) शुद्ध, कान्तिमान् है। हे (चिकित्व) सर्वज्ञ ! आप (इन्द्र) समस्त ऐश्वर्यशाली (न.) हमें भी (विदे) ज्ञान और बल को प्राप्त कराने के लिये (अभि नय) आगे ले चलो। हे मनुष्य ! तू (तम्) उसकी ही (स्तुहि) स्तुति कर ॥५॥

भा०—(हि) क्योंकि (शक्र.) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर ही (ईशे) सब का शासन करता है इसलिये (उतये) अपनी रक्षा के लिये (अपराजितं) किसी से भी न हारे हुए, (जेतारं) सब पर विजय करने वाले उस परमात्मा को (हवामहे) हम स्मरण करते हैं। (स.) वह (न.) (हमारे (द्विषः) शत्रुओं को (सु अर्पंद्) विनाश करे। वह महान् परमेश्वर ही (क्रतु) सब दुनिया का कर्त्ता (छन्द.) वेदज्ञानमय, सब का रक्षक, (ऋतम्) सत्यस्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा है ॥६॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४७] इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम् ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

स न. स्वर्षदति द्विषः स न स्वर्षदति द्विषः ॥७॥

[६४८] पूर्वस्य यत्त अद्रिवोऽशुम्मदाय।
सुम्न आ धेहि नो वसो पूर्ति शविष्ठ शस्यते।
वशी हि शक्रो नूनं तवस्व्य सन्न्यसे ॥८॥

[६४९] प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्यपु प्रवाचहै।
शूरो यो गोषु गच्छति सखा सुशेवो अद्वयु ॥९॥

भा०—(धनस्य) परमैश्वर्य को (सातये) प्राप्त करने के लिये हम (अपराजित जेतारं) न हारे हुए, पराक्रमी विजेता (इन्द्रं) परमात्मा को (हवामहे) पुकारते हैं। (स न द्विष अति स्वर्षद् २) वह हमें शत्रुओं से पार करे, वह हमारे शत्रुओं से पार करे ॥७॥

भा०—हे (अदिव) ज्ञानस्वरूप, अखण्ड! सबके प्रलय करने हारे! (पूर्वस्य) सबके पूर्व विद्यमान मूल कारण तेरा (यद्) जो स्वरूप (अंशु) सर्वव्यापक (मदाय) आनन्द देने के लिये है, हे (वसो) सबको बसाने हारे! वह (न सुम्न) हमारे सुख के लिये हमें (आ धेहि) प्रदान कर ॥ हे (शविष्ठ) सर्व शक्तिमान्! तेरा (पूर्ति.) सबका पालन पोषण करने वाला स्वरूप ही (शस्यते) प्रशंसा किया जाता है। (नूनं) निश्चय से आप (शक्र) शक्तिमान् होकर (वशी) सब पर वश करने हारे हो। (तव्) इसीलिये उस (तव्य) स्तुतियोग्य आपको ही (स न्यसे) मैं अपने हृदय में आराध्यदेव के समान स्थापन करता हूं ॥८॥

भा०—हे (प्रभो, वृत्रहन्) समर्थ! हे विघ्नविनाशक! हम स्त्री पुरुष, गुरु या शिष्य (जनस्य) प्राणियों के (मर्यपु) बड़े २ स्वामियों के भी ऊपर विद्यमान (प्रवाचहै) तेरी स्तुति करते हैं। (य) जो आप (गोषु) वेदवाणियों में (गच्छति) प्रतिपाद्य अर्थ के रूप में व्याप्त हैं वह (सखा) हमारे आत्मा के मित्र, (सुशेव) उत्तम रीति से सेवा करने योग्य (अद्वयुः) एकमात्र अद्वितीय है ॥ ९ ॥

अथ पञ्च पुरीषपदानि

ऽऽऽ ऽऽ

[६४०] (१) एवाह्योऽ३ऽ३ऽ३व

भा०—हे इन्द्र ! परमेश्वर आप (एव) ऐसे (हि) ही (एव) निश्चय से हो।

(२) एवा ह्यग्ने

हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (एवं हि) आप ऐसे प्रकाशस्वरूप ही हो।

(३) एवाहीन्द्र

हे (इन्द्र) सर्वैश्वर्यसम्पन्न ! सब के प्रकाशक, स्वयं प्रकाशमान ! (एव हि) निश्चय आप ऐसे ही हो।

(४) एवा हि पूषन्

हे (पूषन्) सबके पोषण करने हारे परमात्मन् ! (एव हि) आप ऐसे ही हो।

(५) एवा हि देवाः

हे (देवाः) हे समस्त देवगण ! दिव्यगुणों से सम्पन्न पदार्थों ! एवं विद्वानो ! (एव हि) आप सब परमेश्वर के गुणों से ही इस प्रकार के हो।

इति पञ्च पुरीषपदानि ।

इति महानाम्न्यार्चिकः समाप्तः ।

इति प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-मीमांसातीर्थोपाध्यलङ्कृतेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा विरचिते सामवेदस्यालोकभाष्ये सामवेदसंहितायाः महानाम्न्यार्चिकाख्यो भागः पूर्त्तिमगात् ॥

॥ ओ३म् ॥

सामवेदसंहितायाः

उत्तरार्चिके

प्रथमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

अथ प्रथमोऽध्यायः

ऋषिः—१ असितः काश्यपो देवलो वा । २ काश्यपो मारीचः । ३ वैखानसा आङ्गिरसः । ४ भरद्वाजः । ५ विश्वामित्रो जमदग्निर्वा । ६ ऋरिमिठः । ७ विश्वामित्रो गाथिनः । ८—१० जमदग्नियुराङ्गिरसः । ११ वसिष्ठः । १२ वामदेवः । १३ नोधा काण्वीवसः । १४ कलिः प्रागाथः । १५ पुष्पलोऽग्निः । १६ सप्तर्षयः । १७ शफः । १८ श्यावाश्वः । १९ आन्धीगवः । २० अग्निर्वैश्वानरः । २१ साकमश्वः । २२ सौभरिः । २३ नृमेध ॥ देवता—१–३, ८—१०, १५—१९ सोमः । ४, २०, २१ अग्निः । ५ मित्रावरुणौ । ६, ११, १३, १४, २२, २३ इन्द्रः । ७ इन्द्राग्नी । १२ सर्वे देवाः ॥ छन्दः—१—८, १२, १५, २१ गायत्री । ९, ११, १३, १७, २० बृहती । १० त्रिष्टुप् । १६, २२, २३ ककुप् । १७ उष्णिक् । १८ अनुष्टुप् । १९ जगती ॥ स्वरः—१—८, १२, १५, २१ षड्जः । ९, ११, १३, १४, २० मध्यमः । १० धैवतः । १६, १७, २२, २३ ऋषभः । १८ गान्धारः । निषादः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[६५१] उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे ।

३ २ ३ १ २

अभि देवां इयक्षते ॥ १ ॥

[६५२] ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
अभि नो मधुना पयोऽथर्वाणो अशिश्रयुः ।
३ २ ३ १ २ ३ २
देव देवाय देवयुः ॥ २ ॥

[६५३] १ २ ३ २क ३ १ २ ३ १ २
स नः पवस्व शं गव शं जनाय शमर्वते ।
१ २ ३ १ २
शं राजन्नोषधीभ्यः ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ९ । ११ । १-३ ॥

भा०— (१) हे (नरः) मनुष्यो ! (अस्मै) इस (पवमानाय) शुद्धिकारक (देवा अभि इयक्षते) देवों, विद्वानों के प्रति अपना ज्ञान प्रदान करते हुए (इन्दवे) परमेश्वर की (उप गायत) स्तुति गान करो, उपासना करो ।

(२) (ते) तेरे (देवं) दिव्यगुणसम्पन्न (देवयु.) देवों, विद्वानों से अभिलषित, (पय) पोषणकारी आनन्द रस को (अथर्वाणः) अहिंसक तपस्वी लोग (मधुना) मनन करने योग्य ब्रह्मज्ञान के सग (अशिश्रयु.) मिलाकर आस्वादन करते हैं ।

(३) हे (राजन्) देदीप्यमान परमेश्वर ! (सः) वह तू (नः) हमारे (गवे) ज्ञानेन्द्रियगण या पशु सम्पत्ति में (श) कल्याण, सुख (पवस्व) प्रदान कर । (जनाय) हमारी समस्त प्रजाजन को, (श) सुख कल्याण हो और (अर्वते) कर्मेन्द्रियों या अश्वादि सेनाङ्गों में (शं) शान्ति सुख हो । और हमारे (ओषधीभ्यः) ओषधि, प्रताप या तेज को धारने हारे लोगों को भी (शं) सुख हो ।

[६५४] १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
दविद्युतन्या रुचा परिष्टोभन्त्या कृपा ।
१ २ ३ १ २
सामा. शुक्रा गवाशिरः ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ २क २
[६५५] हिन्वानो हेतृभिर्हित आ वाज वाज्यक्रमीत् ।
१ २ ३ १ २
सीदन्तो वनुषो यथा ॥ २ ॥

[६५६] ऋघक्सोम स्वस्तय संजग्मानो दिवा कवे ।
पवस्व सूर्यो दृशे ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ६४ । २८-३० ॥

भा०—(१) (सोमा') सौम्य गुणों से युक्त विद्वान् योगीजन, (शुक्रासः) शुक्ल कर्म अर्थात् निष्पाप कर्म करने हारे, (गवाशिर') अपनी इन्द्रियों पर वश करने हारे, (दविद्युतत्या) अधिक प्रकाशमान (रुचा) कान्ति और (परिष्टोभन्त्या) सर्वत्र गुणवर्णन करने हारे (कृपा) प्रशंसनीय सामर्थ्य से युक्त रहते हैं ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (वनुष') हिंसक योद्धा लोग (सीदन्त') विशेष पैंतरों पर रहते हुए आक्रमण करते हैं, या जिस प्रकार (वाजी) बलवान् घोड़ा (हेतृभि.) हण्टरों से (हिन्वान) ताड़ा गया (वाजं) युद्ध के मैदान में (अक्रमीत्) दौड़ता है उसी प्रकार (वाजी) ज्ञानवान् पुरुष (हेतृभि') लौकिक कष्टों या हेय, त्याज्य दुःखों से (हिन्वान') प्रेरित होकर (हित') सन्मार्ग में आकर (वाज) ज्ञानपथ पर (अक्रमीत्) क़दम रख देता है ।

(३) हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् ! मेधाविन् ! हे (सोम) सौम्यगुणों से युक्त महानुभाव ! विद्वन् ! (दिवा) प्रकाश, ज्ञान के बल पर (ऋघक्) दूर २ भी, लोक के (स्वस्तये) कल्याण के लिये (संजग्मान') गमन करता हुआ तू (सूर्य) सूर्य के समान (दृशे) सबको सत्य पदार्थों के दर्शाने के लिये (पवस्व) सर्वत्र जा ।

[६५७] पवमानस्य ते कवे वाजिन्त्सर्गा असृक्षत ।
अर्वन्तो न श्रवस्यव. ॥ १ ॥
[६५८] अच्छा कोशं मधुश्चुतमस्रग्रं वारे अक्षरन् ।
अधावशन्त धीतय ॥ २ ॥

१ २ ३ १ ३ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ १
[६५९] अच्छा समुद्रमिन्दवोऽस्तं गावो न धेनवः ।
१ २ ३ १ ३ २ ३ २
अग्मन्नृतस्य योनिमा ॥ ३" ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ६६ । १०–१२ ॥

भा०—(१) हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वान् पुरुष ! हे (वाजिन्) ज्ञानवन् ! (अर्वन्तः न) जिस प्रकार रथ दौड़ाते हुए पुरुष के घोड़े बराबर सरपट होजाते हैं उसी प्रकार (ते पवमानस्य) योगसाधना के मार्ग पर गमन करते हुए तेरे (अवस्यव) ज्ञान को प्राप्त करने हारे (सर्गा) प्रयत्न (असृक्षत) आप से आप सफल होने लगते हैं ।

(२) (धीतयः) ध्यान करने हारे साधक लोग (अज्यये) कभी न क्षीण होने वाले, या प्रायमय (वारे) आवरण के ऊपर (मधुश्चुतं) मधु, ब्रह्मानन्द रस को चुवाने वाले (कोशं) आनन्दमय कोश को (अच्छा) उत्तम रीति से (असृग्रं) प्रकट करते हैं और (अवावशन्त) उसी की कामना करते हैं । अर्थात् तामस आवरण पार करके वे ज्ञानमय आनन्द को प्राप्त करते हैं और उसी में मग्न होजाते हैं ।

(३) (धेनवः गावः) दुधारी गौएं जिस प्रकार (अस्तं न) घर को स्वयं आजाती हैं उसी प्रकार (इन्दवः) ऐश्वर्यसम्पन्न, ज्ञान से प्रकाशित चित्त वाले विद्वान् लोग (समुद्रं) उत्तम रीति से उमड़ने वाले आनन्दसागर, परम धाम, (ऋतस्य योनिम्) सत्य ज्ञान और समस्त यज्ञ के मूल कारण परमेश्वर को (अच्छ) भली प्रकार (आ, अग्मन्) प्राप्त होते हैं ।

इति प्रथमः खण्डः ।

— ० —

२ ३ १ २ ३ १ १ ३ २ ३ १ १
[६६०] अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
३ १ ३ १ १
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १ ॥

[६६१] तं त्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ २ ॥
[६६२] स नः पृथु श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि ।
बृहदग्ने सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१] पृ० १ ॥

(२) हे (अंगिरः) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (तं) उस प्रसिद्ध (त्वा) तुझ परमेश्वर को (समिद्भिः) दीप्ति के साधन ज्ञानों और (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (वर्धयामसि) हम आपको बढ़ाते है. आपकी विशालता प्रकट करते हैं, अतः हे (यविष्ठ्य) सबसे अधिक सामर्थ्य वाले ! सर्वशक्तिमन् ! (बृहत्) आप अति अधिक (शोच, हृदय में प्रकाशित हों ।

(२) हे देव ! अग्ने ! विद्वन् ! प्रभो ! आप हमें (पृथु) अति विशाल (बृहत्) बड़े, (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (श्रवाय्य) श्रवण करने योग्य वेदज्ञान को (अच्छ) भली प्रकार (विवाससि) प्रकट कर ।

[६६३] आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ १ ॥
[६६४] उरुशंसा नमोवृधा मह्ना दक्षस्य राजथ ।
द्राघिष्ठाभिः शुचिव्रता ॥ २ ॥
[६६५] गृणाना जमदग्निना योनाविव तनं हितम् ।
पात सोममृतावृधा ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ३ । ६२ । ६१-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२१०] पृ० ११३ ॥

(२) हे (मित्रावरुणा) प्राण और अपान ! तुम दोनों (शुचिव्रतौ) शुद्ध पवित्र कर्म करनेहारे, (उरुशंसौ) अति प्रशंसनीय, (नमोवृधौ) मान

बल, यश और स्तुति से बढ़ने वाले (दक्षस्य) आत्मा के (महा) महान् सामर्थ्य से और (दाधिष्ठाभि) अति दीर्घ दृष्टियों से आप (राजथः) प्रकाशित होते और सबके ऊपर विराजमान रहते हो ।

(३) तुम दोनों (ऋतावृधा) सत्य और ज्ञानयज्ञ के बढ़ाने हारे, (जमदग्निना) हृदय के भीतर प्रकाशित, अग्निस्वरूप आत्मा या परमेश्वर के ज्ञान से प्रज्वलित आत्मा वाले योगी द्वारा (गृणानौ) अपने सामर्थ्य को प्रकट करते हुए आप प्राण और अपान (ऋतस्य) इस जीवनयज्ञ या उपासना या योगयज्ञ के (योनौ) मूल भाग में (सीदतम्) स्थिति को प्राप्त करो और (सोमं) सर्वप्रेरक बल को (पातं) प्राप्त करो ।

[६६६] आयाहि सुषुमा हि न इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
पतं बार्हिः सदो मम ॥ १ ॥

[६६७] आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥२॥

[६६८] ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥ ६॥ ऋ० ६ । १७ । १ ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो मन्त्र संख्या [१६१] पृ० १०२ ॥

(२) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ब्रह्मयुजा हरी) मन, ब्रह्मविद्या या वेद मन्त्रों के ज्ञानपूर्वक योग युक्त, समाहित होने वाले (हरी) गतिशील प्राण और अपान, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय (केशिना) दीप्तियों से युक्त होकर (त्वा) तुझको (वहताम्) आगे, उन्नति पथ पर लेजावें । और तू (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों को (शृणु) सुन और मनन कर । ज्ञानी पुरुषों का अपने आत्मा के प्रति सम्बोधन है ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (वयम्) हम (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (सोमपा॰) सोमरस का पान करने वाले (सुतावन्तः) सम्पादित सोम

मय आनन्दरस को प्राप्त होकर (युजा) समाधि द्वारा (त्वा) तुझ (सोमपाम्) सोम, समस्त विश्व का पान अर्थात् आदान या वश करने हारे परमेश्वर को (हवामहे) पुकारते हैं ।

[६६९] इन्द्राग्नी आगत सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् ।
अस्य पात धियेषिता ॥१॥

[६७०] इन्द्राग्नि जरितुः सचा यज्ञो जिगाति चेतनः ।
अया पातामिमं सुतम् ॥२॥

[६७१] इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूत्या वृणे ।
ता सोमस्येह तृम्पताम् ॥३॥७॥ । ऋ० ३ । १२ । १,३॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्यवान् आचार्य ! और ज्ञानसम्पन्न अग्ने ! उपदेशक ! जिस प्रकार वायु और सूर्य सब जगत् की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार (अस्य मध्ये) इस संसार के बीच में (इषिता) समस्त बातों का ज्ञान कराने हारे (गीर्भि.) अपनी वाणियों से और (धिया) अपनी धारणावती बुद्धि से (नभ) समस्त जगत् की ओर (वरेण्यं सुत) वरण करने योग्य, श्रेष्ठ पुत्र की (पात) रक्षा करो । अथवा—(नभ.) सब को एक सूत्र में बांधने वाले (वरेण्य) श्रेष्ठ (सुत) ज्ञान और आनन्द का (पात) उत्तम रीति से स्वयं पान करो, और अन्यों को कराओ, उपदेश करो ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ऐश्वर्य के स्वामिन् इन्द्र ! राजन् ! और अग्ने ! ज्ञान के स्वामिन् ! विद्वन् ! ब्राह्मण ! जो (चेतनाः) चेतनास्वरूप (यज्ञः) आत्मा (युवा) आप दोनों को (जिगाति) प्राप्त है आप उस (जरितु) सत्य गुणगान करने हारे पुरुष के (सचा) साथ रहकर (अया) इस प्रत्यक्ष शक्ति से (इमं सुतं) इस उत्पन्न संसार का (पात) पालन करो ।

(२) मैं (कविच्छदौ) मेधावि पुरुष के आच्छादन, सत्संग और रक्षा करने वाले (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् और (अग्निं) ज्ञानवान् पुरुष को (यज्ञस्य) इस पूज्य आत्मा में (ज्म्या) भीतरी ज्योति से (वृणे) वरण करता हूं, अपनाता हूं । (तौ) वे दोनों (इह) इस संसार में (सोमस्य) समस्त ऐश्वर्य के द्वारा (तृम्पता) स्वयं तृप्त हों, और सबको तृप्त करें ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

[६७२] उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्याददे ।
उग्रं शर्म महि श्रवः ।
[६७३] स न इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
वरिवोवत्परिस्रव ॥२॥
[६७४] एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥३॥ ८॥ अ० ६ । ६१ । १०,१२,१३॥

भा०—इन तीनों ऋचाओं का व्याख्यान क्रम से देखो अविकल संख्या [४६७] पृ० २३६, और [५६२, ५६३] पृ० २६८ ॥

[६७५] पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षसि ।
आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देवो हिरण्यय ॥१॥
[६७६] दुहान ऊधर्दिव्य मधुश्चुतं घृतं सदस्थमासदत् ।
आ पृच्छ्यं धरुणं वाज्यर्षसि नृभिर्धौतो विचक्षणः ॥२॥६॥
ऋ० ६ । १०७ । ४, ५ ॥

भा०—(१) इसकी व्याख्या देखो अविकल संख्या [५११] पृ०२५२।
(२) (विचक्षणः) चतुर, बुद्धिमान्, (वाजी) ज्ञानी, (ऊधः) उन्नति के पथ में ले जाने वाले, (दिव्यं) दिव्य (धौतम्) मल और

भीतरी पापा आदि से मुक्त, शुद्ध पवित्र, (प्रियं) उत्तम, (प्रत्नं) प्राचीन आनादि (सधस्थं) नित्य साथ रहने वाले, (मधु) मनन योग्य आत्मानन्द या ज्ञान को (आसदत्) प्राप्त हो जाता है और बाद में वही योगी (नृभिः) ज्ञानवान् पुरुषों से भी (आपृच्छ्य) गुरुओं से प्रश्न पूर्वक ज्ञान करने योग्य (धरुणं) सबके आश्रयभूत ईश्वर को (अर्षसि) प्राप्त होता है ।

[६७७] प्रो तु द्रव परिकोश निषीद नृभि' पुनानो अभिवाजमर्ष ।
अश्व न त्वा वाजिनं मर्जयन्तोच्छा बर्हिरशनाभर्नयन्ति१
[६७८] स्वायुध. पवते देव इन्दुरशस्तिहा वृजना रक्षमाणः ।
पिता देवानां जनिता सुदक्षो विष्टम्भो दिवो धरुण
पृथिव्या ॥२॥
[६७९] ऋषिर्विप्र· पुरएता जनानामृभुर्धीर उशना काव्येन ।
स चिद्विवेद निहित यदासामपाच्यं१गुह्यं नाम गोनाम् ।
॥३॥१०॥ ऋ० ९ । ८७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल संख्या [५२३] पृ० २५९ ॥

(२) (इन्दुः) ऐश्वर्यशील, (देवः) देव, ईश्वर और राजा (स्वायुध) उत्तम आयुधों से युक्त (अशस्तिहा) शासन न मानने वालों का नाश करने वाला, (वृजना) सेनाबलों की (रक्षमाण·) रक्षा करता हुआ, (देवानां पिता) सब देवों, विद्वानों का पालक (सुदक्षः) उत्तम बलशाली, कार्यकर्त्ता (दिवः) ज्ञान प्रकाश, और दिव्यगुण सम्पन्न सूर्य, द्यौलोक और सात्विक पुरुषों को (विष्टम्भ·) थामने वाला, वशकारक (पृथिव्या·) इस पृथिवी, और राष्ट्र का एकमात्र धारण करने हारा है ।

६७८—(२) 'वृजिना' इति ऋ० ।

(३) (ऋषिः) अतीन्द्रिय ज्ञानों का द्रष्टा, (विप्रः) ज्ञानवान् मेधावी, (जनाना पुरः एता) समस्त जनों, जीवों का नायक के समान अग्रेसर, (ऋभु.) सत्य ज्ञान से अति प्रकाशमान, (धीरः) कर्म और प्रज्ञानों का दाता, (उशनाः) सब पर वश करने वाला, एकमात्र योगी (काव्येन) ज्ञान-मय वेद साहित्य द्वारा (आसा) इन (गोना) वेदवाणियों का (अपीच्यं) मनोहर, गुप्त, (गुह्यं) हृदय से जानने योग्य (निहितं) भीतर रक्खा हुआ (नाम चिद्) सार (विवेद) स्वयं जाने और औरों को जनावे ।

इति तृतीयः खण्ड. ।

---

[६८०] अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।
ईशानमस्य जगत. स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥१॥
[६८१] न त्वावाँ अन्यो दिव्या न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥२॥

॥११॥ ऋ० ७ । ३२ । २२–२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिफल संख्या [२३३] पृ० ११६ ।

(२) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! परमेश्वर ! (त्वावान्) तेरे जैसा (अन्य.) दूसरा (दिव्य') दिव्य गुणों से युक्त (न जात.) न पैदा हुआ और (न जनिष्यते) न पैदा होगा । और तेरे जैसा अन्य (पार्थिव.) इस पृथ्वी का कोई पदार्थ, या पृथ्वी का मालिक भी (न जातः न जनिष्यते) न हुआ और न होगा । हम (अश्वायन्तः गव्यन्तः) अश्व और गौओं या प्राण और कर्मेन्द्रियों को चाहने वाले, (वाजिनः) ज्ञान और बल के इच्छुक होकर (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं ।

६८१—(२) 'शतं भवास्यूतिभिः' इति ऋ० ।

१ २ ३ १२ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८२] कया नश्चित्र आभुवदूती सदावृधः सखा ।
२ ३ १ २ ३ २
कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥
१ २ ३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २
[६८३] कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥
३ २३ ३ २ ३ २ ३ २
[३८४] अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
३ १ २ ३ १ २
शते भवास्यूतये ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ४ । ३१ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१६६] पृ० ६३ ।

(२) (महिष्ठः) पूजनीय, (सत्य.) सत्यस्वरूप, (मदाना) हर्षों, आनन्दों के बीच में (क) कौनसा (अन्धस) जीवन धारण कराने वाला या अन्धकार का नाश करने वाला परम रस है जो (आरुजे) आरोग्य के लिये और (दृढ चिद् वसु) दृढ वास योग्य जीवनरूप धन होकर (त्वा) आपको (मत्सत्) आनन्दित करे ।

(३) हे इन्द्र ! आप (नः) हमारे (सखीना) मित्र (जरितृणा) सद्विद्या का उपदेश करने वाले विद्वानों के (ऊतये) रक्षा के लिये (शतं) सौ वर्षों तक (अविता) रक्षक (भवासि) बने रहें ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २३
[६८५] तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
३ २ ३ १२ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३२ ३ १ २
[६८६] द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ , ३ १ २ ३ १२ २३
सुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मंहिष्ठं गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥
॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ८८ । १–२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [२३६] पृ० १२० ।
(२) (शुचिं) दिव्य गुणों में निवास करने हारे (सुदानु) उत्तम दाता, (तविषीभि.) बलों से (आवृतम्) घिरे हुए, परिपूर्ण, (पुरुभोजस) प्रजाओं के पालक से हम (घुमन्तं) निवास योग्य गृहादिसम्पन्न (शतिन) सैकड़ों (सहस्रिण) सहस्रों सुखों और लाभों से युक्त (गोमन्तं) गो धन से पूर्ण (वाज) ज्ञान और ऐश्वर्य को (ईमहे) याचना करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६८७] नरोभिर्वो वेदद्वसुमिन्द्र सवाध ऊतये ।
३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २
बृहद्वायन्तः सुतसामे अध्वरे हुवे भरं न कारिणम् ॥१॥
२ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[६८८] न यं दुधा वरन्ते न स्थिरा मुरो मदे सुशिप्रमन्धसः ।
२ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ ३ २ २
य आहत्या शशमानाय सुन्वत दाता जरित्रे उक्थ्यम् ॥२॥
॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ६६ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल संख्या [२३७] पृ० १२१ ।
(२) (य) जिस (सुशिप्र) उत्तम ज्ञानवान् पुरुष या आत्मा को (दुधाः) बड़ी कठिनता से रोके जाने योग्य, अदम्य क्रोध, काम आदि के वेग भी (न वरन्ते) वारण नहीं करते, या नहीं घेरते और (स्थिराः न) स्थिर, तामसभाव या आलस्य आदि भी जिसको रोक नहीं सकते । और जिसको (मुर) मरणशील क्षणिकभाव भी विचलित नहीं कर सकते वह आत्मा (अन्धस) सोमरस, जीवनदायक, अज्ञान नाशक ज्योति के (मदे) आनन्द में (शशमानाय) स्तुति उपासना करते हुए (सुन्वते) योग साधना करनेहारे (जरित्रे) अन्यों को सद्विद्या का उपदेश करनेहारे साधु पुरुष को (उक्थ्य) वेदमय ज्ञान को (आदृत्य) आदरपूर्वक (दाता) प्रदान करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

[६८९] स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥
[६९०] रक्षोहा विश्वचर्षणिरभियोनिमयोहते ।
द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २ ॥
[६९१] वरिवो धातमो भुवो मंहिष्ठो वृत्रहन्तम ।
पर्षि राधो मघोनाम् ॥ ३ ॥ १५ ॥ ऋ० ९ । १ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४६८] पृ० २३६ ।

(२) (रक्षोहा) राक्षसों, दुष्ट पुरुषों का नाशक (विश्वचर्षणि.) संसार का द्रष्टा, प्रभु (अयोहते द्रोणे) लोह के बने कूंडे में जलराशि के समान (अयोहते) गतिदायक शक्ति से गतिमान् (द्रोणे) जगत् में व्यापक होकर (सधस्थ) साथ ही स्थिर रहने वाले, स्वाभाविक (योनिं) इस अन्तरिक्ष को (अभि आसदत्) सर्वत्र व्याप्त किये हुए हैं ।

(३) हे (वृत्रहन्तम) आवरणकारी तम, अज्ञान के नाशक परमात्मन् ! आप (वरिवः धातमः) नाना प्रकार से वरण करने योग्य धनों, रत्नों को धारण करने हारे, (महिष्ठः) और सब से बड़े दानी (भुव) हैं । आप ही (मघोनाम्) बड़े २ धनाढ्यों को भी (राध) धन (पर्षि) देकर पूर्ण करते हो ।

[६९२] पवस्व मधुमत्तम इन्द्राय सोम ऋतुवित्तमो मदः ।
महि द्युक्षतमो मद ॥ १ ॥
[६९३] यस्य ते पीत्वा वृषभो वृषायतेऽस्य पीत्वा स्वर्विदः ।
स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोच्छ्वा वाजं नैतशः ॥ २ ॥ १६ ॥
ऋ० ९ । १०८ । १-२ ॥

काम क्रोधादि पर वश करने हारे आत्मा को (चेतति) ऐसे जान लेता है (यथा विदे) मानो उसे साक्षात् प्राप्त ही कर लेता है।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मदेषु) अपने आत्मिक ज्ञान के आनन्द प्रवाहों में (सानसिं) सेवन भजन करने और (आभ) ग्रहण करने योग्य (वज्रं) काम क्रोधादि के वर्जन करने में समर्थ ज्ञानशक्ति को (आ अस्येत्) चारों ओर फेंके, फैलावे । (अप्सुजित्) क्रियाओं, प्रज्ञानों और प्राणों पर विजय प्राप्त करने हारा योगी (स भरत्) अज्ञान का नाश करता हुआ या ज्ञान का संग्रह करता हुआ (वृषणं) सुखों की वर्षा करने हारे उस परमात्मा को (गृभ्णाति) पकड़ता, उसका आश्रय लेता या प्राप्त हो जाता है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६९७] पुरोजिती वो अन्धस सुताय मादयित्नवे ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३क २र
अप श्वान श्रथिष्टन सखायो दीर्घजिह्वयम् ॥१॥
१ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६९८] यो धारया पावकया परि प्र स्यन्दते सुतः ।
२ ३२ ३ २र
इन्दुरश्वो न कृत्व्य ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[६९९] तं दुरोषमभी नर सोमं विश्वाच्या धिया ।
३ १ २ ३ १ २
यज्ञाय सन्त्वद्रय. ॥३॥१८॥ ऋ० ९ । १०२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल स० [२४५] पृ० २७३ ।

(२) (इन्दु) वह परम ऐश्वर्य, विभूतियों से सम्पन्न योगी (अश्व न) अश्व के समान (कृत्व्यः) कर्म करने में कुशल होता है । (य) जो (पावकया) पवित्र करने वाली (धारया) धारणा का ज्ञान धारा में (सुत.) निष्पन्न, निष्णात, उसमें निष्ट होकर (परि प्र स्यन्दते) चारों तरफ अपने ज्ञान-उपदेशों द्वारा विचरण करता है ।

६९७—(३) 'यत्र हिन्वन्त्यद्रिभिः' इति ऋ० ।

(३) (तं) उस (दुरोपं) दुःखकारी रोष या दाह, प्रताप या तेज वाले (सोमं) सोम्य योगी के पास (नरः) लोग (विश्वाच्या धिया) विश्वव्यापी प्रेमबुद्धि से (अभि) आते हैं। मनुष्यों को चाहिये कि वे (अद्रय·) पर्वत के समान स्थिर, अभेद्य हृदय या मेघ के समान आदरपूर्ण, उदार हृदय होकर (यज्ञाय) दान आदि शुभ कार्यों के निमित्त (सन्तु) लगे रहें ।

[७००] अभि प्रियाणि पवते चनो हितो नामानि यह्वो अधि येषु
वर्धते । आ सूर्यस्य बृहतो बृहन्नधि रथं विष्वञ्चमरुह
द्विचक्षणः ॥ १ ॥

[७०१] ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं वक्ता पतिर्धियो अस्या·
अदाभ्य । दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यं३ नाम तृतीयमधि·
रोचने दिवः ॥ २ ॥

[७०२] अव द्युतानः कलशां अचिक्रदन्नृभिर्येमाण कोश आ
हिरण्यये । अभी ऋतस्य दोहना अनूषताधि त्रिपृष्ठ
उषसो विराजसि ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ७५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५४] पृ० २७६ ।

(२) (ऋतस्य) सत्यवादी, योगाभ्यासी की (जिह्वा) वाणी (प्रियं) अति उत्तम, हृदय को तृप्त करने वाले, (मधु) आनन्दजनक रस और ज्ञान को (पवते) बहाती है। (अस्याः) इस (धियः पतिः) सत्य धारणा या बुद्धि का स्वामी और (वक्ता) सत्य वाणी का बोलने हारा (अदाभ्य) कभी नाश नहीं किया जा सकता, पापियों से मार कर दबाया नहीं जा सकता ।

७००—(२) 'अधिरोचने' इति ऋ० ।

(३) 'अभीमृतस्य' 'विराजति' इति ऋ० ।

तब वह योगी (पुत्रः) अपने मा बाप का सुपुत्र (पित्रोः) मा बाप से भी (अपीच्यं) अज्ञात, (तृतीयं) तीसरे (दिव अधि रोचनं) दिव्य गुण वाले ज्ञानप्रकाश से युक्त, सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश करने वाला, विद्वानों के समाज की शोभा बढ़ाने वाला (नाम) स्वरूप या तेजस्वी पद (दधाति) प्राप्त करता है । एक माता का प्रेम का नाम, एक पिता का व्यावहारिक नाम, तीसरा वह प्रतिष्ठित नाम जिससे दुनिया उसका आदर करती है, जैसे महर्षि, महात्मा, लोकमान्य, देशबन्धु आदि । यहा सत्यवाणी सोम है ।

(३) वह योगी आत्मा (द्युतानः) दीप्तिमान् होकर (नृभिः) नयन करने हारे प्राणों से (येमानः) नियन्त्रित होकर (हिरण्यये) हिरण्मय, आनन्दमय (कोशे) कोश में (अव अचिक्रदत्) शनैः २ प्रवेश करता है । (ऋतस्य) सत्यमय ज्ञान के (दोहनाः) दोहन या पूर्ण करने वाले प्रवाह (इम्) इसका (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं, प्रकट होते हैं । (त्रिपृष्ठे) तीन प्राणों के स्पर्श या संगम-स्थान त्रिपुटी स्थल पर (उषस) प्रातःप्रभा के समान विशोका प्रज्ञाओं के बीच (अधि विराजसि) विराजमान होता है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
[७०३] यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥
३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७०४] ऊर्जो नपात स हिनायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥ २० ॥
ऋ० ६ । ४८ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३९] पृ० १९ ।

(२) (ऊर्जं) बल को (नपातं) न क्षीण होने देने वाले इस 'अग्नि' का मैं वर्णन करता हूं । (स०) वह (हिनः) तो सदा (अस्मयुः)

हमारा हितकारी है। (हव्यदातये) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को दान करने वाले उस परमात्मा को हम भी (दाशेम) अपना आत्मा समर्पण करें। वह (वाजेषु) संग्रामों या बल के कार्यों में (अविता) रक्षक (भुवत्) होता है और (वृधे) हमारी उन्नति के अवसरों पर (तनूनाम्) देहों और देहधारियों का (त्राता) पालक (उत) भी (भुवत्) होता है।

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[७०५] एह्यू षु ब्रह्माणि तऽग्न इत्येतरा गिरः।
३ १ २ ३ १ ३
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ १ ॥
२ ३ क २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७०६] यत्र क च ते मनो दक्षं दधस उत्तरम्।
२ ३ १ २
तत्र योनिं कृणवसे ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[७०७] न हि ते पूर्त्तमक्षिपद्भुवन्नमाना पते।
२ ३ १ २
अथा दुवो वनवसे ॥३॥२१॥ ऋ० ६। १६। १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७] पृ० ४।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानी आत्मन् ! हे परमात्मन् ! तू (ते) अपने (मन) चित्त या मनन करनेहारे आत्मा का (उत्तरं) उन्नत (दक्ष) कर्म (दधसे) धारण कर। (तत्र) वहां तू (योनिं) आश्रयस्थान (कृणवसे) बना।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् आत्मन् ! हे (नेमानां) इन्द्रियों और शरीर के (पते) पालक ! प्रभो ! (ते पूर्त्तम्) तेरा पूर्ति या तृप्ति करने वाला तेज या बल (अक्षिपद्) इन्द्रियों का नाश करने वाला (नहि) न (भुवत्) हो। (अथ) और इस कारण (दुवः) परिचर्या, सेवा या साधना को (वनवसे) स्वीकार कर।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १ २
[७०८] वयमु त्वामपूर्व्य स्थूर न कञ्चिद्भरन्तोऽवस्यवः।
१ २ ३ १ २
वाजिञ्चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

[७०६] उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् ।
त्वामिद्धयवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥२॥२२॥
ऋ० ८ । २१ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०८] पृ० २०७ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (कर्मन्) समस्त कर्मों में (ऊतये) रक्षा और ज्ञान के निमित्त (त्वा) आपको (उप) उपासना करते हैं । (स.) वह (युवा) बलवान् (उग्र.) तेजस्वी है (य) जो (धृषत्) शत्रु, काम, क्रोधादि को पराजित करता है । हे (इन्द्र) प्रभो ! (त्वामिद् हि) तुझको ही हम (सखाय') मित्र जीवगण मिलकर (सानसिं) सबके प्रति समान रूप से आश्रय करने योग्य (अवितार) रक्षक रूप से (ववृमहे) वरते हैं ।

[८१०] अधाहीन्द्र गिर्वण उप त्वा काम ईमहे ससृग्महे ।
उदेव ग्मन्त उदभिः ॥ १ ॥
[७११] वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि ।
वावृध्वांस चिदद्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥
[७१२] युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे वचोयुजा ।
इन्द्रवाहा स्वर्विदा ॥३॥२३॥ ऋ० ८ । ६८ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०६] पृ० २०७

(२) हे (अद्रिव) न विनाश होने वाले ज्ञान को धारण करने हारे ! हे शूर ! नदियों से (वा न) जिस प्रकार जलमय समुद्र भरता है उसी प्रकार (दिवे दिवे) प्रतिदिन (ब्रह्माणि) ब्रह्मज्ञान या वेदमन्त्र (वावृध्वांस) सबसे बड़े महान् (त्वा) तुझको (यव्याभिः) तुझ तक पहुचने वाली स्तुतियों से (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, अर्थात् वे तेरी महिमा को उससे और बढ़ाते हैं ।

(३) (इषिरस्य) सबको प्रेरणा करने वाले ईश्वर की (गाथया) स्तुति द्वारा ही योगी लोग (उरुयुगे) विशाल २ समाधि वाले (रथे) रमण-योग्य स्थान इस देह या रसस्वरूप आत्मा में, रथ में, घोड़ों के समान (वचोयुजा) वाणी द्वारा ही समाहित या वश होजाने वाले (हरी) हरणशील प्राण और अपान दोनों को (युञ्जन्ति) योग से अपने वश कर लेते हैं । वे ही दोनों (स्वर्विदा) ज्योति और सुख को प्राप्त कराने हारे (इन्द्रवाहा) आत्मा के वहन करने वाले दो अश्व के समान हैं ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति प्रथमोऽध्यायः । इति प्रथमोर्वः प्रपाठकः ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

द्वितीयोर्ध. प्रपाठक ।

ऋषिः—१, ४ श्रुतकक्षः । २ १४,१५ वसिष्ठः । ३ मेध्यातिथिप्रियमेधौ । ५ हरिमिठि. । ६ कुमीद. काण्व. । ७ त्रिशोकः । ८ काण्व प्रियमेध । ९ विश्वामित्र. । १० मधुच्छन्दाः । ११ शुन:शेपः । १२ नारद. । १३ वामदेव । १६ अवत्सार । १७, १८ असितः काश्यपो अमहीयुर्वा । १९, २१ इयावाश्वः । २० भरद्वाजादयः सप्त ऋषय. । २२ प्रथममन्त्रस्येन्द्र इयावाश्व. द्वितीयमन्त्रस्य प्रजापतिः, तृतीयमन्त्रस्य अम्बरीष. ॥ देवता—१—१२ इन्द्र । १३, १६ अग्निः । १४ उषाः । १५ अश्विनौ । १७—२० सोम. ॥ छन्द.—२, ११, १६—१९, २१ गायत्री । १२ उष्णिक् । १३—१५, २० बृहती । २० प्रथम द्वितीयमन्त्रयो रुष्णिक् तृतीयस्था त्रिष्टुप् ॥ स्वरः—१—११, १६—१९, २१ २२ षड्जः । १२ ऋषभ । १३—१५, २० मध्यमः ॥

[७१३] पान्तमा वो अन्धस इन्द्रमभि प्र गायत ।
विश्वासाꣳ शतक्रतुं महिष्ठं चर्षणीनाम् ॥ १ ॥

[७१४] पुरुहूतं पुरुष्टुतं गाथान्याऽ३ऽसनश्रुतम् ।
इन्द्र इति ब्रवीतन ॥ २ ॥

[७१५] इन्द्र इत्त्वो महोना दाता वाजाना नृतुः ।
महाँ अभिज्ञायमत् ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५५] पृ० ८७ ।

(२) (पुरुहूतं) इन्द्रियों द्वारा, या प्रजाओं द्वारा अपनी रक्षा के निमित्त पुकारे गये, (पुरुष्टुत) प्रजाओं या इन्द्रियों द्वारा स्तुति किये गये, (गाथान्यं) गाथारूप, वेदवाणियों के श्रवण द्वारा प्राप्त करने योग्य, (सनश्रुत) सदाकाल से गुरुपदेशों में सुने गये, विशेष पुरुष-आत्मा को (इन्द्र) इन्द्र, (इति) इस प्रकार (ब्रवीतन) कहो । राजा, आत्मा, परमात्मा सर्वत्र समान है ।

(३) (इन्द्र इत्) परमेश्वर ही (नः) हमें (महोनां) दिव्य तेजों से युक्त महान् (वाजाना) अन्नों और बलों का दाता, (नृतु) सबको अपने बल पर नचाने वाला (महान्) सबसे बड़ा (अभिज्ञु) सर्वज्ञ (आयमत्) सबको व्यवस्था में बाधता है ।

[७१६] प्र व इन्द्राय मादन हर्यश्वाय गायत ।
सखायः सोमपाव्ने ॥ २ ॥

[७१७] यस्सेदुक्थ सुदानव उत द्युक्तं यथा नरः ।
चक्रमा सत्यराधसे ॥ २ ॥

७१३—(२) 'गाथान्य' ½ (१) 'महोना' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ब ३ १ २
[७१८] त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो ।
१ २ ३ १ १
त्वं हिरण्ययुर्वसो ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ७ । ३१ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२६] पृ० ८७ ।

(२) (यथा) जिस प्रकार (नरः) नेता लोग (सुदानवे) उत्तम दानी के लिये (शुक्रं) दिव्य विशेषणों से युक्त (उक्थ) स्तुति करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष उस (सुदानवे) उत्तम दानी परमेश्वर के लिये (शुक्रं) श्रेष्ठ दिव्य, (उक्थं) ओंकार पद वाली वेदमन्त्रमय स्तुति (शसेद्) उच्चारण करे। हम भी (सत्यरुद्धमे) सत्य ही से प्रकट होने वाले, या सत्यरूप उसी परमात्मा की स्तुति (चक्रम) करें ।

(३) हे (इन्द्र) ईश्वर ! (त्व) तू (न) हमारे (वाजयु) ज्ञान और अन्न, बल के देने वाला (त्वं गव्यु) तू आप ही इन्द्रिय, वाणी और रश्मियों गौवों के देने वाला है। और हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्मों के करने वाले ! हे (वसो) सबको बसाने वाले परमात्मन् ! (त्वं) तू ही (हिरण्ययु) स्वर्ण के समान मनोहर हितकारी प्रिय, काम्य पदार्थों का भी देने वाला है ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७१९] वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वा यन्त सखाय ।
१ २ ३ २ ३ १
कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते ॥ १ ॥
१ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७२०] नघमन्यदापपन वज्रिन्नपसो नविष्ठ ।
१ ३ २ १
तवेदु स्तोमैश्चिकेत ॥ २ ॥
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७२१] इच्छन्ति देवा सुन्वन्त न स्वनाय स्पृहयन्ति ।
१ २ ३ २ ३ १ २
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥३॥३॥ ऋ० ८ । २ । १६-१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२७] पृ० ८८ ।

(२) हे वज्रिन् ! हे ज्ञान-वज्र के धारक इन्द्र ! (अपस·) कर्म के (नविष्टौ) आरम्भ में मैं (अन्यद्) और किसी की (न व ईमृ. आपपन) स्तुति नहीं करता । (तव इत् उ) तेरा ही (स्तोमैं.) स्तुतियों द्वारा (चिकेत) ज्ञान करता हूं ।

(३) (देवा·) विद्वान् लोग या इन्द्रियगण (सुन्वन्तं) प्रेरणा या आज्ञा करते हुए या सोम सवन या ईश्वरोपासना करते हुए या ज्ञान-ऐश्वर्य लाभ करते हुए पुरुष को ही (स्पृहयन्ति) प्रेम करत हैं । (स्वप्नाय) सोते हुए आलसी पुरुष को (न स्पृहयन्ति) प्रेम नहीं करते । (अतन्द्रा) आलस्य रहित होकर ही ये विद्वान्, देव या इन्द्रियगण (प्र· मादं) अत्यन्त हर्ष को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ।

[७२२] इन्द्राय मद्वने सुत परिष्टोभन्तु ना गिरः ।
अर्कमर्चन्तु कारव ॥ १ ॥

[७२३] यस्मिन् विश्वा अधिश्रिया रणन्ति सप्त सप्तद. ।
इन्द्रं सुते हवामहे ॥ २ ॥

[७२४] त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत ।
तमिद्वर्धन्तु ना गिर ॥३॥ ४ ॥ ऋ० ८ । ९२ । १९–२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५८] पृ० ८८ ।

(२) (यस्मिन्) जिस इन्द्र में (विश्वा श्रिय.) समस्त विभूतियां (अधि) अधिक शोभा देती हैं और जिसमें (सप्त सप्तद) उत्तम प्रकार से अपने स्थिति प्राप्त किये हुए होता स्वरूप सात इन्द्रियगण (रणन्ति) ज्ञान-यज्ञ में आनन्दलाभ करते हैं उस (इन्द्रम्) आत्मा को (सुते) योग यज्ञ में ऋतम्भरा सिद्ध होने पर (हवामहे) पुकारते हैं उसका स्मरण, चिन्तन, स्तुति करते हैं ।

(४) (देवकाः) देवकाख्यः (शिवकुमारः) शिवो नामको यस्य (तस्य) कुमारस्य (सखे) मित्रे (चतुरे) चतुरो (मकरन्दे) मकरन्दाख्ये (मन्त्रिणि) मन्त्रिपुत्रे (च) (न्यस्तः) समर्पितः (भरः) कार्यभारः (यैः) यैः (इव) इवार्थे, यथा (तौ) तौ सन्धिमन्तौ स्याताम् ।

इति तृ० अवतरः ।

[उदा०] अथ स तस्य सखा सत्यो मित्रमूतो आत्रेय इति ।

तद्दोषस्य दुष्टा वाचः ।

[उदा०] सान्त्विता प्रसादिता च स्वयमेव सुखः ।

कथं विदुषः सन्धिर्न ॥

[उदा०] सकलः शुद्धात्मा सत्यः प्रसन्नः कृतज्ञाग्रणीः ।

स्वस्तिमान् मद्रं वो मनो मङ्गलं ते ॥ ८ । १ । ३१ । ३ ॥

भा०—(१) स्वरस्य देशो व्याख्यातः ॥ १३ ॥ पृ० ८२ ।

(२) हे (सन्धिनौ) सन्धिं सन्धिरूपं ! हे (सन्धिनौ) सन्धिरूपौ, सन्धिनौ, वीर सन्धिनौ मे सुत आगत ! हे (सन्धिपुत्र) सन्धिनौ रूपस्य पुत्रस्य सम्बुद्धौ हे (मे) मम (सुतः) उत्पन्नः पुत्रः सन्धानं मेलनं योग के लिये है । हे (आनन्दवर्द्धन) आनन्दका को बढ़ाकर मङ्गल करने वाले हमें विवेकी आत्मन् ! (त्र हुवसे) तुमको ही अपने द्वारा पुकारता जाता है ।

(३) हे (इन्द्र) आत्मन् ! (यः) जो (ते) तेरा (शुद्धशुभा मनसा) अज्ञान नाश करनेहारे पूर्णज्ञान आत्मा को न जानने द्वारा, (शुभस्पतिना) शुभ अर्थात् कल्याण करने वाले प्राणों द्वारा पान करने योग्य, (मनसा) आत्मा को रक्षा करने वाला ज्ञानरूप है (अग्निम्) इसको योगी (मन्म) मनन शील ध्यान को (नि आदधे) नित्य, या स्थिर; रूप से धारण करता है ।

[७२८] आ तू न इन्द्र क्षुमन्तं चित्रं ग्राभं सङ्गृभाय ।
महाहस्ती दक्षिणेन ॥१॥

७२९] विश्मा हि त्वा तुविकूर्मिन्तुविदष्णं तुवीमघम् ।
तुविमात्रमवोभिः ॥२॥

[७३०] न हि त्वा शूर देवा न मर्ता सो दित्सन्तम् ।
भीम न गा वारयन्ते ॥३॥६॥ ऋ० ८ । ८१ । १ ३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [३६७] पृ० ६३ ।

(२) हे इन्द्र (त्वा) तुझको हम (अवोभिः) तेरी रक्षाओं, ज्ञानों और कृपाओं के कारण (तुविकूर्मिम्) बहुत से कर्मों के करनेहारा (तुविदष्णं) बहुतसे धन सम्पदाओं का दाता, (तुवीमघम्) बहुत उत्तम धनों, ज्ञानों से सम्पन्न (तुविमात्र हि) बहुतसे ज्ञान साधनों से युक्त भी (विद्म) जानते हैं ।

(३) हे शूर ! (भीम) भयजनक (गा न) जिस प्रकार साढ को कोई हटाने का साहस नहीं करता उसी प्रकार (भीमं) सबको भयजनक, सर्वव्यापक (दित्सन्तं) दान की कामना करते हुए तुझको (न देवा.) न विद्वान् लोग और (न मर्ता स.) और न साधारण लोग (वारयन्ते) वारण करते हैं ।

[७३१] आभ त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥१॥

[७३२] मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आदभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥२॥

६८०—[२] 'ब्रह्मद्विषो' इति ऋ० ।

[७३३] इह त्वा गोपरीणसं महे मन्दन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ॥३॥७॥ ऋ० ८ । ४५ । २३-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६१] पृ० ८६।

(२) हे (इन्द) आत्मन् ! (मूरा०) मूर्ख (अविष्यव०) तुझे पालने पोषणे की चेष्टा करने हारे भोगी विलासी लोग (त्वा) तुझे (मा दभन्) नाश न करें । (मा उपहस्वान) तुझ पर उपहास करनेहारे, तेरे उपेक्षाकारी भी तेरा विनाश न करें । और (ब्रह्मद्विष०) वेद और ब्रह्मज्ञान का प्रेम न रखने वाले तेरा कभी सेवन न करें, तेरा कभी आनन्द लाभ न करें ।

मूर्ख लोग देह की पालना कर आत्मा का नाश करते है उपहास कारी लोग नास्तिक भी आत्मा का नाश करते है, पापों में वह जाते हैं और वेद और ब्रह्मविद्या के द्वेषी भी आत्मज्ञान का आनन्द नहीं पाते ।

(३) (यथा) जिस प्रकार (गौर० मृग०) गौर मृग (सर०) जल से भरे तालाब पर जाकर जल पीता है उसी प्रकार हे (इन्द) आत्मन् ! तू यहा इस हृदय में विराज कर ब्रह्मानन्द के रस को (पिब) पान कर । (इह) यहा ही (गो-परीणस) इन्द्रियगण से परिवृत, जितेन्द्रिय (त्वा) तुझको (महे राधसे) बड़ी भारी ब्रह्मज्ञान-साधना के लिये (मन्दन्तु) साधक लोग आनन्दित करते हैं, जगाते हैं ।

[७३४] इन्द वत्सो सुतमन्ध पिबा सुपूर्णमुदरम् ।
अनाभयिन् तरिमा ते ॥१॥
[७३५] नृभिर्धौतः सुतो अश्नैरव्या वारैः परिपूत. ।
अश्वो न निक्तो नदीषु ॥२॥
[७३६] त ते यवं यथा गोभिः स्वादुमकर्म श्रीणन्त. ।
इन्द्र त्वास्मिन्त्सधमादे ॥३॥८॥ ऋ० ९ । २ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [१२४] पृ० ६६।

(२) (नदीषु) नदियों में (निक्तः) स्नान कराये गये (अश्व० न) अश्व के समान (नृभिः) नेता लोगों द्वारा (धौतः) मलादि छुड़ाकर शुद्ध किया गया (अद्रैः) सूक्ष्म तत्वों तक पहुचने, एव आत्मानन्द का भोग करने हारे विद्वानों द्वारा (सुतः) उत्पन्न किया, सोमरस, आत्मज्ञान (अव्याः) चिति शक्ति या प्राण के (वारैः) प्रकट करने हारे योगाङ्गरूप साधनों द्वारा (परिपूत·) परिशोधित, (नदीषु निक्त·) प्रवाह के रूप में बहने वाली ज्ञानधाराओं में शुद्ध होता है।

(३) (यथा) जिस प्रकार हम (गोभिः) गो-रसों से (श्रीणन्तः) मिलाते और परिपाक करते हुए (यवं) यव के बने पकान्न को (स्वादुं) आनन्ददायक यवागू पाक (अकर्म) बना लेते हैं उसी प्रकार (तं) उस ज्ञानमय आत्मा को (ते) वे साधक लोग (गोभि·) ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त रसों या तेजोमय ध्यानरश्मियों से (श्रीणन्तः) मिलाते, परिपक्व या दृढ़ करते या अभ्यास करते हुए (अस्मिन्) इस (सधमादे) आनन्द-जनक समाधि-दशा में हे (इन्द्र) आत्मन्! (त्वा) तुझको (स्वादुं) स्वादु, अति हर्षदायक रूप से (अकर्म) साक्षात् करते हैं।

इति द्वितीयः खण्डः।

३१२ २३ ३ १ २
[७३७] इद ह्मन्वोजसा सुतं राधानां पते।
२ ३ २ १ ३
पिबा त्वाऽऽस्य गिर्वण· ॥१॥
२ ३ १३ ३ १२ २३ ३ १२ १२ ३८ २२
[७३८] यस्ते अनु स्वधामसत्सुत तियज्ञ तन्वम्।
१ २
स त्वा ममच्छ सोम्य ॥२॥

[७३९] प्र ते अश्नोतु कुक्ष्यो३ प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।
प्र बाहू शूर राधसा ॥२॥९॥ ऋ० ३ । ५३ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६५] पृ० ९२ ।

(२) हे इन्द्र ! (ते) तेरा (यः) जो (स्वधाम्) स्व-अर्थात् अपने स्वरूप में धारणा करने के (अनु) अनन्तर (असत्) प्रकट होता है (सुते) उस उत्पन्न आनन्द में तू हे आत्मन् ! (तन्वं) अपने स्वरूप को (नि यच्छ) नियमित कर, समर्पित कर । हे सोम्य ! सोमरस के पान करने योग्य आत्मन् ! वह ज्ञानरस (त्वा) तुझको (ममत्तु) अति आनन्दित करे ।

(३) हे (इन्द्र) आत्मन् ! वह ज्ञानरस और आनन्दरस (ते कुक्ष्यो.) तेरे दोनों ज्ञान और कर्मरूप पार्श्वों को और (शिरः) शिर को (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान द्वारा (अश्नोतु) व्याप्त करे या दु.खों को बांधे । और हे शूर ! (ते बाहू) तेरी बाहुओं को (राधसा) बल, ऐश्वर्य से पूर्ण करे ।

आत्मा के दोनों कार्यों और शिर का व्याख्यान देखो (तैत्ति० उप० १)

[७४०] आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत ।
सखायः स्तोमवाहसः ॥१॥
[७४१] पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् ।
इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥२॥
[७४२] स घा नो योग आभुवत्स राये स पुरन्ध्या ।
गमद्वाजेभिरा स नः ॥३॥१०॥ ऋ० १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६४] पृ० ९१ ।

(२) (पुरूणां) प्रजाओं और इन्द्रियों में सबसे (पुरूतमम्) श्रेष्ठ (वार्याणाम्) वरण करने योग्य ज्ञानों और धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्दम्)

राजा और आत्मा की (सुते सोमे) उत्पन्न किये इस आनन्दकारी, सबके प्रेरक, भोग्य रस या ज्ञानरस, या ऐश्वर्य में मग्न होकर सब (सखा) साथ मिलकर (अभि प्र गायत) गान करो, उसकी स्तुति करो ।

(२) (स घ) वही आत्मा (नः) हमारी (योगे) समाधिदशा में (आभुवत्) साक्षात् होता है । (स राये) वही नाना ज्ञान, तप, रूप धनसम्पत्ति के अवसर में और (स) वही (पुरन्ध्या) नाना पदार्थों को स्मृतिरूप से या देह को धारण करने हारी बुद्धि द्वारा भी (आभुवत्) प्रत्यक्ष साक्षात् होता है । (स. नः) वह हमारे पास (वाजेभि) ज्ञानों द्वारा (गमत्) प्राप्त हो ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[७४३] योगे योगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

सखाय इन्द्रमूतये ॥१॥

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र

[७४४] अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ २

यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७४५] आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिर्वाजेभिः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

वाजेभिरुप नो हवम् ॥३॥११॥ऋ० १ । ३० । ७, ९, ८ ॥

भा० –(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१६३] पृ० ६१ ।

(२) (प्रत्नस्य) बहुत प्राचीन (ओकस.) परम आश्रयरूप मोक्ष के प्रति (नरं) लेजाने वाले (तुविप्रतिं) बहुतों की कामना पूर्ण करने हारे परमेश्वर को (अनु हुवे) पुनः २ प्रतिदिन स्मरण करता हूं । (यं) जिस (ते) तुझको (पिता) हमारे पालन करनेहारे साक्षात गुरु, आचार्य आदि (पूर्वं) हमसे पहले (हुवे) स्तुति करते रहे ।

(३) (यदि) यदि वह परमेश्वर (नः) हमारी (हवम्) स्तुति को (श्रवत्) सुनले तो वह (सहस्रिणीभिः) सहस्रों बलशालिनी (जातिभिः)

रक्षा करनेहारी शक्तियों से और (वाजेभि.) सहस्रों सत्य ज्ञानों के सहित (उ आगमत् घ) साक्षात् प्रकट ही होजावे ।

[७४६] इन्द्र सुतेषु सोमेषु क्रतुं पुनीष उक्थ्यम् ।
विदे वृधस्य दक्षस्य महा हि षः ॥ १ ॥

[७४७] स प्रथमे व्योमनि देवाना सदने वृधः ।
सुपारः सुश्रवस्तमः समप्सुजित् ॥ २ ॥

[७४८] तमु हुवे वाजसातय इन्द्रं भराय शुष्मिणम् ।
भवा नः सुम्न अन्तमः सखा वृधे ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । १३ । १२-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८१] पृ० १६७ ।

(२) (स) वह परमेश्वर (प्रथमे) सबसे श्रेष्ठ (व्योमनि) विशेष रूप से शरण प्राप्त करने योग्य (देवाना सदने) विद्वान् ज्ञानी और मुक्त पुरुषों के आश्रय या निवास करने योग्य लोक में (वृधः) सबसे बड़ा है । वह (सुपारः) उत्तम रूप से ज्ञान करने योग्य, और कष्टों से तराने वाला (सुश्रवस्तमः) उत्तम यश और ज्ञान का धारण करनेहारा, (समप्सुजित्) समस्त कर्मबन्धनों या बन्धनों में फंसे जीवों में सबसे उत्कृष्ट एवं आदि मूल कारण प्रकृति पर भी वश करने वाला है ।

(३) (तम्) उस (भराय) भरण पोषण करनेहारे, अथवा (भराय=हराय) कर्मजाल को हरण करके मुक्तिमार्ग में लेजाने वाले (शुष्मिणम्) सर्वशक्तिमान् को ही मैं (इन्द्रं) 'इन्द्र' नाम से (हुवे) पुकारता हूं । वह परमात्मा (नः) हमारे (सुम्ने) सुखप्राप्ति और (वृधे) वृद्धि करने के निमित्त (अन्तमः) अति समीप का, अन्तरंग (सखा) मित्र है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

७४६—(३) 'वसु हे' इति ऋ० ।

[७४९] ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २र३ १ २
एना वो अग्निं नमसाजो नपातमाहुवे ।
३ १ २र ३ १ २ ३ १ २र ३ २ ३ १ २
प्रियं चेतिष्ठमरतिं स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥

[७५०] १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ २क २र
स याजते अरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत्स्वाहुतः ।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३३क ३ १ २
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देव राधो जनानाम् ॥२॥१३॥
ऋ० १० । ६ । ५ ॥ यजु० ३ । ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४५] पृ० २० ।

(२) (सः) वह परमात्मा (अरुषा) दीप्तिमान्, (विश्वभोजसा) विश्व, समस्त संसार का भोग कराने हारे पालक सूर्य और पृथिवी दोनों को (योजते) नियुक्त करता है । वह (स्वाहुतः) उत्तम रूप से कीर्तित परमात्मा ही (दुद्रवत्) सर्वत्र व्यापक है । वही (सुब्रह्मा) उत्तम ज्ञानवान्, सबका उत्पादक है और वही (यज्ञः) महादानी, यज्ञस्वरूप, (सुशर्मा) उत्तम शान्त गुण सम्पन्न है । (वसूना) वास करने हारे (जनाना) जन्तुओं के (राध देवं) उस आराधनीय देव की उपासना करो ।

[७५१] १ २ ३ २ १ २ ३ २ ३ १
प्रत्यु अदृश्रायत्यूऽ३ऽच्छन्ती दुहिता दिवः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
अपो मही वृणुते चक्षुषा तमो ज्योतिष्कृणोति सूनरी ॥१॥

[७५२] २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १
उदुस्रिया सृजते सूर्यः सचा उद्यन्नक्षत्रमर्चिषा ।
१ २र ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तवेदुषो व्युषि सूर्यस्य च सं भक्तेन गमेमहि ॥२॥१४॥
ऋ० ७ । ८१ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२०३] पृ० १५५ ।

(२) (सूर्यः) सबका प्रेरक उत्पादक परमात्मा । (उस्रिया) वास करने योग्य किरणों और भूमियों को (सचा) एक साथ सूर्य के समान (उत्सृजते) प्रकट करता है और (उद्यन्) उदित होता हुआ भी स्वयं (नक्षत्रम्) अपने स्थान से च्युत न होने वाले नक्षत्र के समान स्थिर रहा

व्यापक (अर्चिवत्) तेजोमय है । हे (उषः) पापदाह करने वाली ज्योतिष्मतिः ! प्रज्ञे ! (तव इत्) तेरे और (सूर्यस्य च) सूर्य के समान तेजोमय आत्मा के (वि उषि) प्रखर तेज से प्रकट होने के अवसर में (भक्षेम) भजन करने योग्य उस इष्टदेव से (सं गमेमहि) हम सत्संग करें, उसका ध्यान करें ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ १

[७५३] इमा उ वां दिविष्टय उस्रा हवन्ते अश्विना ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

अय वामह्वेऽवसे शचीवसू विशं विशं हि गच्छथः ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[७५४] युवं चित्रं ददथुर्भोजनं नरा चोदेथां सूनृतावते ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अर्वाग्रथं समनसा नियच्छतं पिबतं सोम्यं मधु ॥२॥१५॥

ऋ० ७ । ७४ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३०४] पृ० १५५ ।

(२) (अश्विना) हे अश्वियो ! प्राण अपान नामक नेताओ ! या विद्वान स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (चित्रं) संग्रह करने योग्य, विविध प्रकार के (भोजनं) भोग योग्य पदार्थ (ददथुः) देते हो । और (सूनृतावते) सूनृता, नाम वेदवाणी को धारण करनेहारे के लिये धन (चोदेथा) प्रदान करते हो । आप (समनसा) समान मन वाले होकर (अर्वाग्) नीचे की ओर या (अर्वाग्) इन्द्रियों के प्रति जानेहारे (रथं) अपने वेग या वेगवान् आत्मा या मन और शरीर को (नियच्छतं) नियन्त्रित करो, वश करो और आप दोनों (सोम्यं मधु) सोमरसयुक्त मधुररस उत्तम शुद्धवायु, और आरोग्यता का (पिबतम्) पान करो ।

प्राणायाम का अभ्यासी प्राण को अपान में और अपान को प्राण में आहुति दे और ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करे ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३ २ ३ २व ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७५५] अस्य प्रत्नामनुद्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रय ।
१ २ ३ १र २र
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १ ॥
३ १र २ १र ३२३ १र २र
[७५६] अयं सूर्य इवोपदृगयं सरांसि धावति ।
३२३ २र ३ १र २र
सप्त प्रवत आदिवम् ॥ २ ॥
३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[७५७] अयं विश्वानि निष्टते पुनानो भुवनापरि ।
१ २ ३ १र २र
सोमो देवो न सूर्यः ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ५४ । १, ३ ॥

भा०—(१) (अस्य) इस सोमस्वरूप परम आत्मा की (प्रत्नाम्) अनादि काल से चली आई, पुरानी (द्युतम्) वेदज्ञानरूप कान्ति को (अनु) अनुसरण करके (अह्रय.[1]) नि सकोच, माननीय, विद्वान् लोग, (सहस्रसाम्) सहस्रों फलों को देने वाले, (शुक्रं) शुद्ध, पापरहित (ऋषिं) अतीन्द्रिय बातों को दिखलाने हारे (पयः) ज्ञान, वेदराशि को (दुदुह्रे) दोहन करते, उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

(२) (अयं) यह सोम (सूर्य इव) सूर्य के समान (उपदृग्) समस्त पदार्थों और सब प्राणियों, सब लोकों का द्रष्टा है (अयं) यह सोम (सरांसि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापता प्रकाशित करता और गति देता है, (दिवम्) आकाश के (सप्त) सात प्रकार के (प्रवत) गतिमान् पदार्थों को चलाता है । अध्यात्मपक्ष में—जीव, प्राणात्मा (सरांसि) इन्द्रियों में स्वयं गति करता है और द्यौः अर्थात् मूर्धास्थान में (सप्त प्रवतः) सात शीर्षण्य प्राणों को भी गति देता है ।

(३) (अयं) यह (सोमः) सोम, परमात्मा (सूर्यः न) सूर्य के समान (विश्वानि) समस्त (भुवना उपरि) लोकों के ऊपर (पुनान)

७५५—१. अह्रयो गाव इति महीधरः ।

उनको गति देता हुआ और पवित्र करता हुआ (तिष्ठति) उनपर शासन करने वाले अधिष्ठाता के रूप में विराजमान है ।

३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १
[७५८] एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्य सुतः ।
१ २ ३ १ २
हरिः पवित्र अर्षति ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ३ । ६ ॥
३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७५९] एष प्रत्नेन मन्मना देवो देवभ्यस्परि ।
३ १ २ २ २
कविर्विप्रेण वावृधे ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ४२ । २ ॥
३ १ ३ १ २ २ ३ ३ ३ १ २
[७६०] दुहान. प्रत्नमित्पयः पवित्रे परिषिच्यसे ।
१ २ ३ १ २
क्रन्दन् दवां अजीजनः ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ९ । ४२ । २ ॥

भा०—(१) (एष·) यह सोम (देव·) ज्योतिर्मय आत्मा (प्रत्नेन) अनादिकाल से चले आये (जन्मना) जन्म, जननशक्ति, सामर्थ्य से (देवेभ्यः) इन्द्रियों के लिये भोगार्थ (सुत) प्रकट होकर (हरि) हरणशील, उनको गति देनेहारा होकर (पवित्रे) प्राण और अपान के बने मलशोधन करने वाले, साधन में (अर्षति) गति करता है ।

प्राणापानौ पवित्रे । तै० ३ । ३ । ४ । ४ ।

(२) (एष·) यह सोमस्वरूप जीव (प्रत्नेन) अनादिकाल से वर्त्तमान (मन्मना) मनन शक्ति द्वारा (देवेभ्य·) अपनी दिव्यगुण वाली इन्द्रियों के भोग के निमित्त (देव.) स्वयं प्रकाशस्वरूप, चेतन (कवि·) मेधावी, ज्ञानी होकर भी (विप्रेण) मेधावी परम ब्रह्म प्रजापति के साथ (परिवावृधे) सब प्रकार से उन्नति को प्राप्त होता है ।

प्रजापतिर्वै विप्रः, देवा· विप्रा· । शतपथ ६ । ३ । १ । १६ ॥

७५८—'धारयापवते सुतः ।' इति ऋ० । ७६०—'अजीजनन्' इति ऋ० ।

(३) हे सोम ! (प्रत्नम् इत्) पुराने, अनादिकाल से चले आये (पय॰) प्राण, जीवन को ही (दुहानः) रस या जीवनरूप में दुहता हुआ तू (पवित्रे) पवित्र करने हारे प्राण और अपान या परम पावन ज्ञान के द्वारा ही (परि सिच्यसे) पवित्र किया जाता है। (क्रन्दन्) शब्द करता हुआ, 'सोहं' का नाद करता हुआ या 'ओं' का नाद करता हुआ तू (देवान्) इन्द्रियगण को (अजीजनः) प्रकट करता है।

प्राणा पय॰ ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १५ । और ६२ । ३ । ३ । ३१ । अन्तर्हितमिव वा एतद् यद् पयः । ताण्डय० ८ । ६ । ३ ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[७६१] उप शिक्षापतस्थुषो भियसमा धेहि शत्रवे ।

१ २ ३ २ ३ २

पवमान विदा रयिम् ॥१॥ ऋ० ९ । १९ । ६४

२ ३ २ ३ १ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[७६२] उपोषु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् ।

१ २ ३ १ २

इन्दुं देवा अयासिषु ॥२॥ ऋ० ९ । ६१ । १९ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ ४

[७६३] उपास्मै गायता नर॰ पवमानायेन्दवे ।

३ २ ३ १ २ ४

अभि देवाँ इयक्षते ॥३॥१८॥ ऋ० ९ । ११ । १ ॥

भा०—(१) हे (पवमान) पावन करने वाले ! हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! (अपतस्थुष॰) नीचवृत्ति से स्थिति रखने हारों को (उपशिक्ष) शिक्षा दो कि वे अपनी बुरी वृत्ति को छोड़कर भले मार्ग में आवें। (शत्रवे) शत्रु को (भियसम्) भय (आधेहि) दिलावो। हे प्रभो ! (रयिम्) धन को (विदा) प्राप्त कराओ।

अग्निर्ऋषिः पवमान॰ । ऐ० ९ । ३७ ॥ प्राणो वै पवमान॰ ॥ श० ९ । ७ । १ । ६ ॥ आत्मा वै पवमानः । तां० ७।३।७ ॥ पुष्टं वै रयिः । श० २।३। ७।१३ । वीर्यं वै रयि॰ । श० १३ । १४ । २ । १३ ॥ पशवो वै रयिः ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [१८७] पृ० २४३ ।

(३) व्याख्या देखो अवि० सं० [६२१] पृ ३२८ ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[७६४] प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयन्त ऊर्मयः ।
वनानि महिषा इव ॥१॥

[७६५] अभि द्रोणानि बभ्रवः शुक्रा ऋतस्य धारया ।
वाजं गोमन्तमक्षरन् ॥२॥

७६६ सुता इन्द्राय वायव वरुणाय मरुद्भ्यः ।
सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥३॥ १६॥ ऋ० ९ । ३३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४७८] पृ० २४० ।

(२) (बभ्रव.) बभ्रु वर्ण वाले, काषाय वस्त्रधारी विद्वान् लोग (ऋतस्य) ज्ञान और तप की (धारया) धारणा से (शुक्रा.) कान्तिमान्, (अभि द्रोणानि) राष्ट्रों के प्रति (अभि) आकर (गोमन्तम्) वेदवाणी से युक्त या पश्वादि से सम्पन्न (वाजं) ज्ञान या धन को (अभि क्षरन्) उत्पन्न करते, प्रदान करते हैं । अथवा अध्यात्म में—(बभ्रव) पुष्टिकारक प्राण और (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (धारया) धारण करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा से (शुक्राः) कान्ति या ज्योति से सम्पन्न होकर (द्रोणानि) प्राणेन्द्रियों के प्रति (अक्षरन्) प्रवाहित होते हैं । और (गोमन्त) वाणी से युक्त (वाज) ज्ञान को (अभि अक्षरन्) साक्षात् प्रकट करते हैं ।

राष्ट्रं द्रोणकलशः । ता० ६ । ६ । १ । प्राणा वै द्रोणकलशः ता० । ६ । ५ । १५ ।

७६३—'अपा नयन्त्यूर्मयः' इति ऋ० ।

७६६—'अषन्ति' इति ऋ० ।

(३) (सुता॰ सोमा॰) उत्पन्न हुए ये ज्ञान या आनन्दप्रद समस्त पदार्थ (वायवे) प्राणस्वरूप (वरुणाय) ज्ञानी (विष्णवे) सर्वव्यापक ब्रह्म में लगि (इन्द्राय) आत्मा के लिये और (मरुद्भ्य) विद्वानों के लिये (अर्षन्तु) प्राप्त हों ।

[७६७] प्र सोम देववीतय इन्धुर्न पिप्ये अर्णवः ।
अंशो पयसा मादेरा न जागृविरच्छा कोशं मधुश्चुतम् ॥१॥

[७६८] आहर्यता अजुना अत्क अव्यत प्रिय. सूनुर्न मर्ज्यः ।
तमी हिन्वन्त्यपसो यथा रथं नदीष्वागभस्त्यो ॥२॥२०॥

ऋ० ९ । १०७ । १२, १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [५१४] पृ० २५४ ।

(२) (हर्यत॰) हरण करने योग्य, प्रिय (अर्जुनः[1]) इन्द्र, आत्मा (प्रिय॰) प्राणों का प्रिय, इष्ट (सूनु॰ न) पुत्र के समान (मर्ज्यः) सँभाल कर, धो, पोंछ कर, साफ स्वच्छ करने योग्य है । वह (अत्के) सर्वव्यापक ब्रह्म में (आ अव्यत) मग्न होजाता है और (तम् ईं) उसको ही (गभस्त्यो) दीप्तिस्वरूप प्राण और अपान, इड़ा और पिंगला के बीच की (नदीषु) धाराओं या नाड़ियों में (अपस॰) वेगवान् प्राण या ध्यान वृत्तियों को उसी प्रकार (आ हिन्वन्ति) प्रेरित करता है (यथा) जिस प्रकार (अपसः) वेगवान् सुभट (रथं) अपने रथ को प्रेरित करते हैं, आगे बढ़ाते हैं ।

१. 'अर्जुनो ह वा इन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम ॥ श० ५ । ४ । ३ । ७ ॥

[७६९] प्र सोमासो मदच्युतः श्रवसे नो मघोनाम् ।
सुता विदथे अक्रमुः ॥१॥

७६९—'मघोन' इति ऋ० ।

[७७०] आदीं हंसो यथा गण विश्वस्यावीवशन्मतिम् ।
अत्यो न गोभिरज्यते ॥२॥

[७७१] आदीं त्रिनस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभि. ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥३॥ २१॥ ऋ० १० । ३२ । १, ३, २॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७७] पृ० २४० ।

(२) (आत्) और (गणं) उत्पन्न होने वाले (इं) इस शरीर-गत प्राणगण को (हंस) आत्मा (यथा) जिस प्रकार से (अवावशत्) वश करता है उसी प्रकार वह परमात्मा (विश्वस्य) समस्त संसार के (मतिं) मनों को भी (अवीवशत्) वश करता है । और (अत्य न) जिस प्रकार अश्व (गोभिः) नाना प्रकार की चालों से (अज्यते) अपने गुण प्रकट करता है उसी प्रकार वह आत्मा अपनी इन्द्रियों की नाना सुख, दुःख, ज्ञान आदि गतियों मे और वह प्रभु अपने बनाये नानिर्वाल पिण्डों और वेदवाणियों से अपनी सत्ता और स्वरूप को प्रकट करता है ।

[७७२] अया पवस्व देवयूरभन् पर्येषि विश्वत ।
मधोर्धारा असृक्षत ॥ १ ॥ ऋ० ९ । १०६ । १४ ॥

[७७३] पवते हर्यता हरिरतिह्वरांसि रंह्या ।
अभ्यर्षं स्तोतृभ्यो वीरवद्यश ॥ २ ॥ ऋ० ९ । १०६ । १३॥

[७७४] प्रसुन्वानाय्यन्धसा मर्तो न वष्ट तद्वच. ।
अपश्वानमराधसं हता मखं न भृगव ॥ ३ ॥ २२ ॥
ऋ० ९ । १०१ । १३ ॥

भा०—(१) हे सोम ! योगिन् ! (देवयु.) अर्थों का प्रकाश करने वाले विद्वानों और इन्द्रियगणों से युक्त होकर । (अया) इस (धारया)

७७२—(२) द्वितीयतृतीयपादयोर्विपर्ययः, ऋग्वेदे ।

१ २ ३ १ २ ३ १२ २ ३ १ २ ३ १ २
[७७५] पवस्य वाचो अग्रियः सोम चित्राभिरूतिभिः ।
३ १ २२ ३ १ २
अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ २ १२ २२ ३ १ २
[७७६] त्वं समुद्रिया अपाग्रिया वाच ईरयन् ।
१ २
पवस्व विश्वचर्षणे ॥ २ ॥

२ ३ १२ २२ ३ १ २
[७७७] तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे ।
१ २ ३ १ २
तुभ्यं धावन्ति धेनव ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६२ । २५-२७ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सबके प्रेरक ! आप अपनी (चित्राभिः) पूजनीय (ऊतिभिः) शक्तियों और रक्षा-कार्यों और ज्ञानों सहित (वाचः) हमें वेदवाणियां (पवस्व) प्राप्त कराते हो। और (विश्वानि) समस्त (काव्या) क्रान्तदर्शी, मेधावी पुरुषों की वाणियों के (अभि) साक्षात् वाच्य हो।

(२) हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार के देखने हारे ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! जिस प्रकार मेघ या वायु स्वरूप सोम शब्द करता हुआ समुद्र से भरे जल को पृथ्वी पर बरसाता है इसी प्रकार (अग्रियः) सबके अग्रणी सबसे प्रथम वर्त्तमान, सबसे मुख्य, अनादि (वाचः) वेदवाणियों को (ईरयन्) प्रकट करते हुए आप (समुद्रियाः) भली प्रकार उन्नति की ओर लेजाने वाले (अपः) कर्मों को (पवस्व) उपदेश करते हो।

(३) हे (कवे !) मेधाविन् ! हे (सोम) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, रसस्वरूप ! (महिम्ने) विशाल महिमास्वरूप (तुभ्यं) तेरे लिये (इमा भुवना) ये समस्त लोक (तस्थिरे) स्थिर हैं। (तुभ्यं) तेरे लिये ये (धेनवः) वाणियां और नदियां (धावन्ति) गति कर रही हैं, प्रकट होती

७७५—(२) 'विश्वमेजय' इति ऋ० । (३) 'तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः' इति ऋ० ।

हैं, दौड़ रही हैं। अर्थात् ये समस्त लोक और वेदवाणियां, नदियां काम-धुक् भूमियां तेरी ही महान् सत्ता को प्रकट करने के लिये हैं।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[७७८] पवस्वेन्दो वृषा सुत. कृधी नो यशसो जन।
२ ३ २ ३ १ २
विश्वा अप द्विषो जहि ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[७७९] यस्य ते सख्ये वयं सासह्याम पृतन्यतः।
१ २ ३ १ २ ३ २
तवेन्दो द्युम्न उत्तमे ॥ २ ॥
१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २
[७८०] या ते भीमान्यायुधा तिग्मानि सन्ति धूर्वणे।
३ २ ३ २
रक्षा समस्य नो निद' ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ६१ । २८, ३० ॥

भा०—(१) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! आप (सुत.) सामर्थ्यवान् (वृषा) सब सुखों के वर्षाने वाले (पवस्व) हमारे समीप प्रकट होओ। और (जने) जनसमूह में (न.) हमें (यशस.) यशस्वी (कृधि) करो। और (विश्वा) समस्त (द्विष) हमसे अप्रीति करने हारे, हमारे अनिष्टकारियों को (अप जहि) दूर करो।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (यस्य ते) जिस तेरे (सख्ये) मित्र भाव में रहते हुए (पृतन्यतः) सेनाएं लेकर चढ़ाई करने हारे विरोधियों को (सासह्याम) पराजित करें उस (तव) तेरे (उत्तम) उत्तम (द्युम्नम्) तेज या ऐश्वर्य या बल के अधीन हम सदा रहें।

(३) हे प्रभो! (या) जो (ते) तेरे (तिग्मानि) तीक्ष्ण (आयुधा) हथियार (धूर्वणे) हिंसाकारियों के लिये (सन्ति) हैं उन द्वारा (न) हमारी (समस्य) समस्त (निद.) निन्दाकारियों से (रक्ष) रक्षा कर।

राजा के प्रति योजना भी स्पष्ट है।

७७८—(३) द्वितीयतृतीययो. पादयोर्विपर्यय., ऋ० । .. ..

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८१] वृषा सोम द्युमाँ असि वृषा देव वृषव्रतः ।
२ ३ २ ३
वृषा धर्माणि दधिषे ॥१॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २
[७८२] वृष्णस्ते वृष्ण्यं शवो वृषा वनं वृषा सुतः ।
१र २र३ १र २र
स त्वं वृषन्वृषेदसि ॥२॥
२ ३ १ २ ३ १ ३ १र २र ३ १र २र
[७८३] अश्वो न चक्रदो वृषा सं गा इन्दो समर्वतः ।
१ २ ३ १र २र
वि नो राय दुरो वृधि ॥३॥३॥ ऋ० ९ । ६४ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये ऋचि० सं० [५०४] पृ० २५० ।

(२) हे वृषन् ! सबसे महान् सब सुखों के वर्षा करने हारे ! हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (वृष्ण्यः) वर्षणशील (ते) तेरा (शव) बल और ज्ञान (वृष्ण्यं) सुखवर्षक है । तेरा (वनं) भजन सेवन भी सुखदायक है और (सुत.) तेरी प्रेरणा भी सुखदायक है । (स त्व) वह तू (वृषा इत्) सदा सुखवर्षक (असि) है ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (वृषा) सब सुखों के वर्षक आप (अश्व. न) भोक्ता आत्मा के समान (गाः) ज्ञानेन्द्रियों को (सं चक्रद) अच्छी प्रकार नाडित करो, ज्ञानवान् करो । और (अर्वत.) अश्व के समान दौड़ने हारी प्राणेन्द्रियों को भी (प चक्रद) बलवान् करो । अथवा (अश्वः न) राष्ट्र या राजा जिस प्रकार अपने गौ आदि पशुओं को अधिक समृद्ध और बलवान् बनाता है उसी प्रकार आप सर्वव्यापक, सर्वेश्वर होकर (गा.) वेदवाणियों का उपदेश करो और (अर्वत) ज्ञानी पुरुषों को उपदेश करो । आप (नः) हमारे (दुर.) द्वारों को (राये) इष्ट ज्ञानरूप धन के निमित्त (वि वृधि) और अधिक खोल दो ।

७८१—(२) 'वृषागदः' 'उरु' इति ऋ० ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८४] वृषा ह्यसि भानुना द्युमन्तं त्वा हवामहे ।
१ २ ३ १ २
पवमान स्वर्दृशम् ॥१॥

२ ३ १ २ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८५] यदद्भिः परिषिच्यसे मृज्यमान आयुभिः ।
१ २ ३ २ ३ १ २
द्रोणे सधस्थमश्नुषे ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २
[७८६] आ पवस्व सुवीर्यं मन्दसानः स्वायुध ।
३ १ २ ३ १ २
इहोष्विन्दवागहि ॥३॥४॥ ऋ० ९ । ६५ । ४, ६, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८०] पृ० २४१ ।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! (आयुभिः) मनुष्यों या प्राणों द्वारा (मृज्यमान) परिशोधित होकर (यद्) जब (अद्भिः) योगाभ्यास के कर्मों द्वारा, या ज्ञान धारणाओं द्वारा (परिषिच्यसे) पुनः २ स्वच्छ किया जाता है तब (द्रोणे) इस मूर्धास्थल या देह में (सधस्थम्) अपने साथ ही स्थिर, कूटस्थ परम आत्मा को भी (अश्नुषे) प्राप्त कर लेता है ।

(३) हे (स्वायुधः) उत्तम आयुधों से सम्पन्न समाधि में ध्येय हे देव के संग मिलने के लिये उत्तम यम नियम के साधनों से सम्पन्न आत्मन् ! आप (मन्दसान) आनन्दमय होकर (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य को (आ पवस्व) प्रकट करो । हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! द्रवणशील, रस रूप से बहने वाले ! (इह उ) यहां ही इस अन्तःकरण में (सु आगहि) उत्तम रूप से आ, प्रकट हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[७८७] पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः ।
३ १ २
सखित्वमा वृणीमहे ॥१॥

७८५—'मृज्यमानो गभस्त्योर्वृषा' इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २. ३ १ २
[७८८] ये ते पवित्रमूर्मयोऽभिक्षरन्ति धारया ।
१ २
तेभिर्नः सोम मृळय ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[७८९] स नः पुनान आ भर रयिं वीरवतीमिषम् ।
१ २ ३ १ २
ईशानः सोम विश्वतः ॥२॥ ५ ॥ म० ९ । ६१ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (पवित्रम्) समस्त शरीर को पवित्र करने वाले मेरे आत्मा या अन्त करण को (अभि उन्दतः) साक्षात् द्रवित करते हुए, आपकी तरफ बहते हुए भावयुक्त बनाते हुए (पवमानस्य) सबके परम पावन (ते) आपके (सख्यं) मित्रभाव को हम (आ वृणीमहे) वरण करते हैं ।

(२) हे (सोम) समस्त संसार के उत्पादक ! प्रेरक ! (ते ऊर्मयः) तेरी शक्तियां (धारया) समस्त संसार को धारण करने हारी शक्ति के रूप में (पवित्रम्) हमारे अन्त करण में (अभि क्षरन्ति) प्रकट होती हैं तू (तेभिः) उनसे (नः) हमें (मृळय) सुखी कर ।

(३) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! (सः) वह अतिप्रसिद्ध आप (ईशानः) समस्त संसार पर वश करने हारे स्वामी (नः) हमें (पुनानः) पवित्र करते हुए (रयिं) प्राण और रयि-चितिशक्ति या ऐश्वर्य को (आ भर) प्राप्त कराइये और (वीरवतीम्) बलसम्पन्न (इषम्) अन्न आदि पदार्थों या इच्छा शक्ति को (विश्वतः) सब ओर से प्राप्त कराइये ।

इति प्रथम खण्ड ।

—०:—

३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[७९०] अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥

[७९१] अग्निमग्निं हवीमभिः सदा हवन्त विश्पतिम् ।
हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥२॥

[७९२] अग्ने देवाँ इहावह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे ।
असि होता न ईड्यः ॥३॥६॥ ऋ० १ । १२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविः सं० [३] पृ० २ ।

(२) विद्वान् लोग (अग्निम्-अग्निम्) सबके आगे विद्यमान प्रकाश-स्वरूप, ज्ञानप्रद, आचार्यरूप सर्वोत्तम अग्नि और सब पापों के विनाशक (विश्पतिं) सब प्रजाओं के स्वामी, (पुरुप्रियं) समस्त प्रजाओं के प्रेम पात्र, (हव्यवाहं) समस्त स्तुतियों को धारण करने वाले परमात्मा को ही (हवीमभिः) स्तुति करने योग्य मन्त्रों से (सदा) नित्य (हवन्ते) स्मरण करते हैं, पुकारते हैं ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! आप (देवान्) दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वायु, अग्नि आदि देवों और विद्वानों को (बृहद्बर्हिषे) दृढ़ बन्धनों को काट देनेहारे, जीवन्मुक्त, कुशल पुरुष के लिये (इह) इस संसार में (जज्ञानः) उनके सब रहस्यों को प्रकट करते हुए (आ वह) हमें प्राप्त कराओ । आप (होता) सबको अपने भीतर आहुतिरूप में ले लेने हारे एवं सबको सुख ऐश्वर्य के दाता होकर (नः) हमारे (ईड्यः) एकमात्र स्तुति योग्य हैं ।

[७९३] मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीतये ।
या जाता पूतदक्षसा ॥१॥

[७९४] ऋतेन यावृतावृधावृतस्य ज्योतिषस्पती ।
ता मित्रावरुणा हुवे ॥२॥

[७९५] वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभि. ।
करता नः सुराधस. ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । २३ । ४-५ ॥

भा०—(१) (वयं) हम लोग (सोमपीतये) समाधि से उत्पन्न होने वाले उस ब्रह्मानन्द रस का पान करने के लिये (मित्रं) स्नेह करने योग्य प्राण, मन, चित्त और (वरुण) शरीर के विघ्नों का वारण करने हारे अपान को (हवामहे) परस्पर में आहुति देते या उनको वश करते हैं। (या) जो दोनों (पूतदक्षसा) पवित्र कर्म करने हारे, मल के शोधक होकर (जाता) विद्यमान एवं प्रकट हैं।

(२) मैं (नौ) उन (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण दोनों को (हुवे) पुकारता हू (यो) जो दोनों (ऋतेन) जीवनमय यज्ञ से या सत्य के बलपर (ऋतावृधौ) वास्तविक सत्य और जीवन को वृद्धि करने हारे (ऋतस्य) सत्य आत्मा को (ज्योतिषःपती) आनन्दमय विशोका, ज्योति के पालन करने हारे हैं।

(३) (वरुण) वरुणस्वरूप अपान (अविता) देह को दुःखों से बचाने वाला (प्र भुवत्) होता हुआ और (मित्र·) मित्र, प्राण (विश्वाभिः सब प्रकार की (ऊतिभि) रक्षण शक्तियों से (न·) हमारे (सुराधसः) उत्तम साधनाए (करताम्) सिद्ध करें।

[७९६] इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किण ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ १ ॥

[७९७] इन्द्र इद्धर्योः सचा सम्मिश्ल आ वचो युजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्यय ॥ २ ॥

[७९८] इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च ।
उग्र उग्राभिरूतिभि. ॥ ३ ॥

[७९९] इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ४ ॥ ८ ॥ ऋ० १ । ७ । १,२,४,३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१९८] पृ० १०४।

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [२९७] पृ० ३०१।

(३) व्याख्या देखो अविकल स० [२९८] पृ० ३०१।

(४) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा (दीर्घाय) दूर देश तक के पदार्थों को (चक्षसे) दर्शन करने अर्थात् दिखलाने के लिये (दिवि) आकाश में सूर्य के समान उच्च ज्ञान में (सूर्यं) तेजस्वी विद्वान् को (आ ऐरयत्) स्थापित करता है। और (गोभिः) रश्मियों द्वारा (अद्रिम्) मेघ के समान आनन्दवर्षी आत्मा को (ऐरयत्) विशेष रूप में प्रेरित करता है।

[८००] इन्द्रे अग्ना नमो बृहत्सुवृक्तिमेरयामहे।
धिया धेना अवस्यवः ॥ १ ॥
[८०१] ता हि शश्वन्त ईडत इत्था विप्रास ऊतय।
सवाधो वाजसातये ॥ २ ॥
[८०२] ता वां गीर्भिर्विपन्यव, प्रयस्वन्तो हवामहे।
मधुसाता मनिष्यव, ॥ ३ ॥ ९ ॥ ऋ० ७ । ९१ । ४–६ ॥

भा०—(१) (इन्द्र) ऐश्वर्यशील, (अग्नौ) ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित और अन्धकारमय, अज्ञान मार्गों में अग्नि के समान पथदर्शक विद्या प्रदाता, अग्निस्वरूप परम आचार्य में (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार और (बृहत्) बहुत (सुवृक्तिम्) उत्तम गुण स्तुतियों का (आ ईरयामहे) प्रयोग करें। और (अवस्यवः) ज्ञान, रक्षा, तेज और उत्तमगुणों की कामना वाले

होकर इस (धिया) ध्यान और मननपूर्वक (धेनाः) ज्ञानरस पान कराने वाली वेदवाणियों का उच्चारण करें ।

(२) (विप्राम) मेधावी विद्वान् लोग (ता) इन्द्रस्वरूप और आत्मस्वरूप परम गुरुओं के प्रति (शश्वन्त.) अनादि काल से (ऊतये) आत्मरक्षा और ज्ञान प्राप्त करने के लिये (इत्था) इसी प्रकार की सत्य-वाणियों द्वारा (सबाध) एक दूसरे से समान रूप से बंधे हुए विद्वान् जन (वाजसातये) ज्ञानप्राप्ति के लिये (ईडते) स्तुति करते हैं ।

(३) हम (विपन्यवः) विशेष स्तुतिकर विद्वान्जन (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी (मेधसातौ) पवित्र ज्ञान और बुद्धि की प्राप्ति के लिये (सनिष्यवः) भजन करने की कामना से (गीर्भि.) वेदवाणियों द्वारा (ता वा) उन आप दोनों को (हवामहे) स्तुति करते हैं ।

इति द्वितीय. खण्डः ।

[८०२] वृषा पवस्व धारया । मरुत्वते च मत्सरः ।
विश्वा दधान ओजसा ॥ १ ॥

[८०३] तं त्वा धर्त्तारमोण्योऽ३ऽप्पवमान स्वर्दृशम् ।
हिन्वे वाजेषु वाजिनम् ॥ २ ॥

[८०४] अया चित्तो विपानया हरिः पवस्व धारया ।
युजं वाजेषु चोदय ॥ ३ ॥ १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४६३]

(२) हे (पवमान) समस्त संसार को गति देने हारे परमात्मन् ! (ओण्यो.) दुःखों को दूर करने वाले, आकाश और पृथिवी दोनों के (धर्तारं) धारण करने वाले (स्वर्दृशम्) परमसुख या ज्ञान के प्रकाश को

दर्शाने हारे (वाजिन) ज्ञान और बल के भण्डार आपको (वाजेषु) बल के कार्यों, संग्राम आदि के अवसरों पर (हिन्वे) स्मरण करता हू ।

(३) हे सोम ! (हरि·) सब दुःखों के हरण करने हारे आप (अया) इस (विपानया) विशेष रूप से पान करने योग्य (धारया) ब्रह्मानन्द की धारा से (चित्तः) चेतनामय स्वरूप से पृथक् प्रकट होकर (वाजेषु) ज्ञानों और ऐश्वर्यों में आप (युजम्) योग करने हारे इस साधक को (चोदय) प्रेरित करो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ १ २
[८०५] वृषा शोणो अभि कनिक्रदद्गा नदयन्नेषि पृथिवीमुत द्याम् ।
१ २ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
इन्द्रस्येव वग्नुरा शृण्व आजौ प्रचोदयन्नर्षसि वाचमेमाम् ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २
[८०६] रसाज्यः पयसा पिन्वमान ईरयन्नेषि मधुमन्तमंशुम् ।
१ २ २ ३ १ २ ३ १ ३ २१ ३ १ २
पवमान सन्तनिमेषि कृण्वन्निन्द्राय सोम परिषिच्यमानः ॥
३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८०७] एवा पवस्व मदिरो मदायोदग्रामस्य नमयन् वधस्नुम् ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
परि वर्णं भरमाणो रुशन्तं गव्युर्नो अर्ष परि सोम सिक्त
॥ ३ ॥ ११ ॥ ऋ० ९ । ९७ । १३—१५ ॥

भा०—(१) (शोणः) गतिमान्, सर्वत्रव्यापक (वृषा) सब सुखों की वर्षा करने हारा परमात्मा (कनिक्रदद्) शब्द या ज्ञानोपदेश करता हुआ, या मेघ जिस प्रकार (गाः) भूमियों को जलसे सींचता है और महावृषभ जिस प्रकार गर्जता हुआ गौओं में वीर्य सेचन करता है और आचार्य जिस प्रकार गम्भीर उपदेश से शिष्यों रूप भूमियों को या उनकी चित्त-भूमियों को ज्ञान से सींचता है उसी प्रकार (नदयन्) प्रतिध्वनि करता हुआ

८०५—(१) 'नदयन्नेति' 'प्रचेनयन्नर्षति' इति ऋ० ।
; [२] "नमयन् वधस्नैः' इति ऋ० ।

(पृथिव्याम्) पृथिवी (उत द्याम्) और आकाश में सर्वत्र (ऐपि) व्यापक है (इन्द्रस्य इव) भीतर बैठे २ अपने अन्तरात्मा के समान उसकी (वग्नु·) वाणी (आजौ) हृदय में (शृण्वे) सुनता हूं । वह तू (प्रचो-दयन्) अन्त.करणों को प्रेरित करता हुआ, सब आत्माओं को ज्ञानवान् करता हुआ (इमाम् वाचम्) वेदवाणी या स्तुति को (अर्षसि) सर्वत्र प्रकट करता, एवं प्राप्त होता है ।

१. शुन गतौ इत्यस्माच्छोण. ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (रसाय्य·) आनन्द रस से परिपूर्ण, (पयसा) ज्ञान से (पिन्वमान·) तृप्त करता हुआ, (मधुमन्तं) मधुर, ज्ञान, ब्रह्मविद्या से युक्त (अंशुम्) व्यापक आत्मा को तू (ऐषि) प्राप्त होता है । तू (पवमान) समस्त आत्माओं को पवित्र करता हुआ (इन्द्राय) अन्तरात्मा के लिये (परिषिच्यमानः) रसके समान सेचन किया जाता हुआ, पुनः २ ध्यान किया गया (सन्तनिं) निरन्तर बंधी धारणा को (कृण्वन्) दृढ़ करता हुआ (ऐषि) हृदय में आ, विराज ।

(३) हे (सोम) आनन्दमय ! रसस्वरूप ! (मदिर·) हर्ष को जागृत करने हारा (उद्-ग्राभस्य) सत्य ज्ञान के ग्रहण करने हारे आत्मा के (वधस्नु) विद्युत् द्वारा ताड़ना करने पर स्रवण करने वाले मेघ के समान, प्राणों के वश करने पर धर्ममेघ द्वारा आनन्द रसको वर्षा देनेहारे, चित्त या आत्मा को (नमयन्) अपने अधीन करता हुआ (पवस्व एव) अवश्य प्रकट हो । और (रुशन्तं) कान्ति से सम्पन्न (वर्णं) धारण करने योग्य स्वरूप को (परि भरमाणः) सब ओर से धारणा करता हुआ (सिक्त.) सर्वत्र व्याप्त या आनन्द से पूर्ण होकर (गव्यु.) समस्त इन्द्रियों को प्रेरणा करता हुआ (अर्ष) स्रावित हो, प्रकट हो ।

इति तृतीय· खण्ड. ।

[८०८] त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारव ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वा काष्ठास्वर्वत ॥ १ ॥
[८०९] स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः मन्वानो अद्रिवः ।
गामश्वं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥२॥१२॥
ऋ० ६। ४६ । १-२ ॥

भा०—व्याख्या देखो अवि० सं० [२३४] पृ० १२० ।

(२) हे (चित्र) पूजनीय ! समस्त प्राणियों को ज्ञान और चेतना के देने हारे ! (वज्रहस्त) खड्ग के धारण करने वाले वीर पुरुष के समान ज्ञानमय खड्ग को अज्ञान अन्धकार के नाश के लिये धारण करने हारे ! हे (अद्रिवः) अभेद्य, अखण्डनीय बलधारक ! परमात्मन् ! (धृष्णुया) आप सबका धर्षण करने वाले, (महः) महान्, तेज-स्वरूप (मन्वानः) सबकी स्तुतियों के पात्र होकर (जिग्युषे) इन्द्रियों पर विजय करने हारे पुरुष के प्रति (वाजं न) जिस प्रकार ज्ञान ऐश्वर्य आप देते हैं उसी प्रकार (रथ्य) इस रथरूप देह के हितकारी हमें (गाम्) गौ=ज्ञानेन्द्रियों और (अश्वम्) अश्व, कर्मेन्द्रियों को भी (सत्रा) उत्तम रीति से (सं किर) प्रदान करो ।

[८१०] आभ प्र वः सुराध्समिन्द्रमर्च यथा विदे ।
यो अरित्रभ्यो मघवा पुरूवसुः । सहस्रेणेव शिक्षति ॥१॥
[८११] शतानीकेव प्राजगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥२॥
॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ४६ । १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२३५] पृ० १२० ।

(२) (धृष्णुया) अपनी इन्द्रियों पर और चित्त के शत्रु काम क्रोधादि को वश करने वाला पुरुष या (शतानीक इव) सैकड़ों सेनाओं के पति

विजेगीषु पुरुष के समान (प्र जिगाति) उत्तम प्रकार से आगेबढ़कर विजयकर लेता है। हे (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हारे के लिये (वृत्राणि) उसके घेर लेने वाले पाप विकल्पों को भी वह प्रभु (हन्ति) विनाश करता है। (अस्य) इस (पुरुभोजसः) इन्द्रियों के भोग भोगने हार आत्मा के (दत्राणि) त्याग किये हुए विषय ही (गिरेः इव वृत्राणि) मेघ से बरसे जलों के समान या पर्वत से झरते झरनों के समान आनन्दों को बहाने वाले आनन्द घन, ज्ञानोपदेशक परमेश्वर से बहते (रसा) आनन्दरस ही उसको (प्र पिन्विरे) अति अधिक तृप्त और पूर्ण करते हैं।

२ ३ १ २ २ ३ १ २
[८१२] न्वा॑मिदा ह्वो नरोऽपीप्यन् वाजेन् भूर्णय॑ः।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
न इन्द्र स्तोमवाहस इह श्रुध्युप स्वसरमा गहि ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
[८१३] मत्स्वा सुशिप्रिन् हरिवस्तमीमहे त्वया भूषन्त वेधसः।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तव श्रवांस्युपमान्युक्थ्य सुतोऽविन्द्र गिर्वण ॥ २॥ १४॥
ऋ० ८। ९९। १-२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३०२] पृ० १५४

(२) हे (सुशिप्रिन्) उत्तम ज्ञानसम्पन्न! (हरिवः) व्यापनशील शक्तियों से युक्त! हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र! (तं) उस तुझ इष्टदेव को हम (ईमहे) प्राप्त होते हैं। हे देव! (वेधसः) विद्वान मेधावी लोग (त्वया) तुझ से, तेरे उत्तम गुणों से (भूषन्ति) अपने आपको अलङ्कृत करते हैं। तू स्वयं (मत्स्व) अपने ही में आनन्दस्वरूप होकर रह। हे (उक्थ्य) प्रशंसा के योग्य (श्रवांसि) सब श्रवण करने योग्य श्रुतियां (ते) तेरी ही (उपमानि) ज्ञान देने हारी हैं।

इति चतुर्थं खण्ड।

८१३—'सुशिप्र इति ऋ०।

[८१४] यस्त मदो वरेण्यस्तेना पवस्वान्धसा ।
देवावीरघशंसहा ॥१॥

[८१५] जहिनर्वृत्रमामित्रिय सस्निर्वाज दिवे दिवे ।
गोषातिरश्वसा असि ॥ २ ॥

[८१६] सम्मिश्लो अरुषो भुवः सूपस्थाभिर्न धेनुभि ।
सीदच्छ्येनो न योनिमा ॥३॥१५॥ ऋ० ९।६१। १९-२१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७८] पृ० २३७ ।

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! सर्वप्रेरक ! (त्वम्) तू 'अमित्रिय' मित्रता या स्नेह से शून्य (वृत्र) हृदय को अज्ञान से घेरने वाले पाप को (जहिः) नाश करने वाला है । और (दिवे दिवे) दिनों दिन (वाजं) ज्ञान, बल और अन्न, पुष्टि को (सस्नि.) देने हारा है । और तू ही (गो-सातिः अश्व-सातिः) ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को भी शक्ति देने वाला (असि) है ।

(३) हे (सोम) सर्वैश्वर्यवन् ! ज्ञान के दातः ! (सूपस्थाभिः धेनुभि न) सुख से समीप प्राप्त होने वाली, सुशील गौए जिस प्रकार मधुर दुग्ध प्रदान करती हैं उसी प्रकार तू (सूपस्थाभि) आचार्य के समीप जाकर सुख से प्राप्त करने योग्य (धेनुभि) ब्रह्मास्वाद, रस का पान कराने हारी वेद और उपनिषद् की स्तुति वाणियों से (सम्मिश्लः) उत्तम रीति से युक्त होकर (अरुष) अतिरोचक, कान्तिसम्पन्न (भुव.) होता है और तभी (श्येन. न) बाज़ के समान शीघ्र गतिकारी एवं ज्ञानवान् आत्मा रूप (योनिम्) अपने आश्रय रूप, शरणप्रद परमेश्वर में (आसीदन्) विराजमान होता है ।

८१४—(२) 'गोत्रा, उ अश्वसा' इति ऋ० ।

अथवा—(सूपस्थाभिर्न धेनुभिः) सुशील गायों से जिस प्रकार (अरुषः) लाल साड (संमिश्लः भुवः, युक्त रहे और जिस प्रकार (श्येनः न योनिम् आसीदत्) बाज़ अपने आश्रय स्थान पर जाता है उसी प्रकार उत्तम रूप से स्थिर रहने वाली, रसप्रद इन्द्रियों या वाणियों द्वारा युक्त होकर आत्मा अपने गृह के समान परम आश्रयप्रद शरण, परब्रह्म में मग्न होजाता है ।

३ १ ३ २ ३ १८ ३ १ २ ३ १ २
[८१७] अयं पूषा रयिर्भग. सोम पुनानो अर्षति ।
२ ३ १ १ ३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ २
पतिर्विश्वस्य भूमना व्यख्यद्रोदसी उभे ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८१८] समु प्रिया अनूषत गावो मदाय घृष्वयः ।
१ ३ ३ १र २र ३ १ १
सोमासः कृण्वते पथः पवमानास इन्दवः ॥२॥
१ १र ३ ५र २र ३ १ २ ३ १ २
[८१९] ये ओजिष्ठास्तमाभर पवमान श्रवाय्यम् ।
१ १र ३ १ ३ २ ३ ४ ३ १ १
यः पञ्च चर्षणीरभि रयिं येन वनामहै ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ९ । १०१ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल स० [५४६] पृ० २७४ ।

(२) (प्रियाः) मनोहर (गावः) वाणियां या इन्द्रियां (घृष्वयः) परस्पर स्पर्द्धा करती हुई, या अति तेजोयुक्त होकर (मदाय) आनन्द प्राप्त करने के लिये (सम् अनूषत) आत्मा की स्तुति करती हैं । (पवमानासः) हृदय को विमल करते हुए (इन्दवः) परमैश्वर्यसम्पन्न साधक (सोमासः) शमदम आदि से सम्पन्न होकर मुमुक्षु गण (पथः) मोक्ष साधनों को (कृण्वते) करते हैं ।

(३) हे (पवमान) सबके हृदयों को पवित्र करने हारे परमात्मन् ! (यः) जो तू (ओजिष्ठः) सबसे अधिक वह कान्ति और तेज से युक्त है वह तू (श्रवाय्यं) श्रवण करने योग्य, श्रुति से ज्ञान करने योग्य

रसरूप है । (तम्) उस परम आनन्द रस को हमें (आभर) प्राप्त कराओ। (य पञ्चचर्षणी॰) जो पाचों ज्ञानदृष्टा इन्द्रियों का व्याप्त करता है, जिस से हम (रयिं) पुष्टि, वीर्य या ऐश्वर्य को (वनामहे) प्राप्त किया चाहते हैं वह भी हमें प्राप्त कराओ ।

[८२०] वृषा मतीना पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां
दिवः । प्राणा सिन्धूनां कलशां असिक्रदिन्द्रस्य हार्यो॰
त्रिशन्मनीषिभिः ॥ १ ॥

[८२१] मनीषिभि पवते पूर्व्य कविर्नृभिर्यत परिकोशा असि॰
ष्यदत् । त्रितस्य नाम जनयन्मधु क्षरिन्द्रस्य वायु
मरुताय वर्धयन् ॥२॥

[८२२] अयं पुनान उषसो अरोचयदय सिन्धुभ्यो अभवदु लो
कृत् । अय शिः सप्त दुदुहान आशिर स्वाय सदः पयस
चारु मत्सर. ॥३॥१७॥ स० ६ । ८६ । २०–२२॥

भा०—(१) (पूर्व्य॰) सबसे आदि में वर्तमान, जग, (कवि) ज्ञानी मेधावी, आत्मा (मनीषिभि॰) मन को सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले विद्वान् (नृभि) पुरुषों द्वारा (यत॰) संयत, नियमित किया गया (पवते) प्रकट होता है और (कोशान्) पाचों कोशों को (परि असिष्यदत्) प्राप्त होता है उनपर अपना अधिकार कर लेता है । (त्रितस्य) तीनों स्थानों पर अर्थात् कण्ठ के ऊपर शिर, मध्यभाग और मूल इन तीनों स्थानों पर व्याप्त (इन्द्रस्य) आत्मा के (नाम) स्वरूप को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (मधु) आनन्दरूप अमृत रस को (क्षरत्) चुआता हुआ (वायुम्) प्राणबल को (मरुता) अनुकूल रूप में (वर्धयन्) बढ़ाता है, इस प्रकार वह

(३) (अयं) यह सोम (पुनानः) क्षरित होता हुआ (उषसः) प्रकाशित तेज.पटल को (अरोचयत्) और अधिक उज्ज्वल कर देता है। (अयं) और यह सोम (सिन्धुभ्य) शरीर के भीतर बहने वाली ज्ञान-धाराओं या नाड़ियों को (उ) भी (लोककृत्) अधिक कान्तिमान् करने वाला (अभवत्) होता है। (अयं सोमः) यह सोम, ब्रह्मानन्दरस (त्रि-सप्त) २१ प्रकारों से (आशिर) आनन्दरस को (दुदुहान) उत्पन्न करता हुआ (हृदे) हृदय में (मत्सर.) आनन्द बहाता हुआ (चारु) उत्तम रूप से (पवते) प्रकट होता है।

[८२३] ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
एवाह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिर.।
३ २ ३ १ ३ १ २
एवा ते राध्य मनः।

[८२४] ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभि ।
१ २ ३ १ २
अधाचिदिन्द्र न सचा ॥२॥

[८२५] २ ३ १ २ ३ १ २ २
मा पुब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवा वाजानां पते।
१ १ ३ २ ३ १ २
मत्स्वा सुतस्य गोमत. ॥३॥१८॥ ऋ० ६। १८। २८-३०॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकक्ष संख्या [२३२] पृ० ११८

(२) हे (तुवीमघ !) ऐश्वर्यवन् ! (इन्द्र) आत्मन् ! (विश्वेभि·) समस्त (धातृभि) धारण करने वाले लोग (राति) तेरे दिये दान को (एव) ही (धायि) धारण करते हैं। (अध चित्) और हे (इन्द्र) आत्मन्! आप (नः) हमारे (सचा) सदा सहायक हो।

(३) हे (वाजानां पते !) ज्ञानों, ऐश्वर्यों बलों के स्वामिन्! आप (ब्रह्मा इव) ब्रह्मा, वेदज्ञ विद्वान् के समान सदा सावधान रहते हुए (तन्द्रयु) कभी आलस्ययुक्त, निकम्मा (मा उ प्रभव·) नहीं रहते अपितु (गोमत.) इन्द्रियों के सम्पादित ज्ञान से मिले (सुतस्य) योगज

सुख को (मत्स्य) आनन्द-लाभ करो । प्राय. केवल ज्ञानी लोग अजगरी वृत्ति धारण कर लेते हैं । परन्तु ज्ञान, बल दोनों से युक्त पुरुष को तो उत्तम कर्म सदा करते रहना उचित है ।

[८२६] इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥१॥

[८२७] सख्ये त इन्द्र वाजिना मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्र णोनुमो जेतारमपराजितम् ॥२॥

[८२८] पूर्वीरिन्द्रस्य रातयो न विदस्यन्त्यूतय ।
यदा वाजस्य गोमतस्तोतृभ्यो मंहते मघम् ॥३॥१६॥

ऋ० १ । ११ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४३] पृ० १७८

(२) हे (शवसस्पते) बलों के स्वामिन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्य के देने हारे ! (ते सख्ये) तेरे प्रेम भाव या मित्रभाव में रहते हुए हम (वाजिनः) बलशाली, ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी होकर (मा भेम) भय न करें (जेतारं) सबसे उत्कृष्ट (अपराजित) किसी से पराजित न होने वाले (त्वा) तुझ को (अभि प्र णोनुम) साक्षात् प्रणाम करते हैं ।

(३) (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्य के दाता परमेश्वर के (पूर्वीः) सब से आदि काल से चले आये (रातय) दिये दान और (ऊतयः) रक्षाएं (न विदस्यन्ति) कभी नाश को प्राप्त नहीं होती, (यदा) क्योंकि वह (स्तोतृभ्यः) सद्गुणों के प्रकाशक विद्वानों को (गोमत) ज्ञान वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) बल या ज्ञान के (मघम्) ऐश्वर्य को भी (मंहते) प्रदान करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति तृतीयोऽध्यायः । इति द्वितीयप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

द्वितीयोर्धः ।

ऋषिः—१ नभःप्रिय । २ भृग्वाणिर्जमदग्निर्वा । ३ कविर्भार्गवः । ४ कश्यप । ५ मेधातिथि काण्व. । ६, ७ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ९ सप्तर्षयः । १० पराशरः । ११ पुरुहन्मा । १२ मेध्यातिथिः काण्वः । १३ वसिष्ठः । १४ त्रित. । १५ ययातिर्नाहुष. । १६ पवित्र. । १७ सौमरिः काण्व. । १८ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । १९ तिरश्चीः ॥ देवता—३—४, ६, १०, १४—१६ पवमानः सोमः । ५, १७ अग्निः । ६ मित्रावरुणौ । ७ मरुत इन्द्रश्च । ८ इन्द्राग्नी । ११—१३, १८, १९ इन्द्रः ॥ छन्दः—१—८, १४ गायत्री । ९ बृहती सतोबृहती द्विपदा क्रमेण । १० त्रिष्टुप् । ११, १३ प्रगाथः । १२ बृहती । १५, १६ अनुष्टुप । १७ जगती । १८ ककुप् सतोबृहती च क्रमेण । १८ उष्णिक ॥ स्वरः—१—८, १४ षड्जः । ९, ११—१३ मध्यमः । १० धैवतः । १५, १६ गान्धार. । १७ निषादः । १८, १८ ऋषभः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[८३०] एते असृग्रमिन्दवस्तिरः पवित्रमाशव. ।

१ २ ३ १ २

विश्वान्यभिसौभगा ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[८३१] विघ्नन्तो दुरिता पुरु सुगा तोकाय वाजिनः ।

१ २ ३ १ ३ १ २

त्मना कृण्वन्तो अर्वतः ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[८३२] कृण्वन्तो वरिवो गवेऽभ्यर्षन्ति सुष्टुतिम् ।

१ २३ १ २ ३ १ २

इडामस्मभ्यं संयतम् ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । ६२ । १–३ ॥

(१) जिस प्रकार (तिर.) तिरछे रूप से जाते हुए (पवित्रं) दशा पवित्र नामक वस्त्र खण्ड पर (एते) ये (आशव.) शीघ्र गति करनेहारे

सोम ओषधि के रस (विश्वानि) समस्त (सौभगा) सौभाग्यों को (अभि) प्राप्त करने के लिये (असृग्रम्) छोड़े जाते हैं, प्रवाहित किये जाते हैं । उसी प्रकार (आशव.) व्यापनशील (इन्दव) आह्लादकारक, आनन्द रस (एते) ये (तिर.) सत्स्वरूप, (पवित्र) शुद्ध, मलादि दोषों से रहित चित्त में (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों के साक्षात् करने के लिये (असृग्रम्) प्रवाहित होते हैं।

इस मन्त्र से समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई ऐसा बहुतसे विद्वानों का मत है । तदनुसार सृष्टि प्रकरण में (आशवः) गतिशील (इन्दवः) प्रकाशमान पिण्ड (एते) ये सब (विश्वानि सौभगानि अभि) समस्त ऐश्वर्यों को साक्षात् प्रकट करने के लिये (तिर. पवित्रम्) सत्स्वरूप, परम ब्रह्मरूप मूलकारण से (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (वाजिन.) ज्ञानवान् सोम शम दमआदि साधनों से सम्पन्न विद्वान् लोग (पुरु) बहुत से (दुरिता) दुष्ट कर्मों को (विष्यन्त) नाश करते हुए (धिया) अपने सामर्थ्य से (अर्वत) प्राणों की (कृण्वन्त.) साधना करते हुए (तोकाय) अपने सन्तान के लिये, अथवा अपने विविध दुखों के नाश करने के लिये या अगली जन्म-परम्परा के सुधार लिये (सुगा) सुखपूर्वक अनुगमन करने योग्य उत्तम मार्ग बनाते हैं ।

(३) और वे ही विद्वान् लोग (गवे) ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के लिये (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति (कृण्वन्तः) करते हुए (अस्मभ्य) हमारे लिये (वरिव') धन और (इळाम्) उत्तम अन्न और (संयतं) उत्तम व्यवस्था (अभि अर्षन्ति) प्रकट करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
[८३] राजा मेधाभिरीयते पवमानो मनावधि ।
३ १ २ ३ १ २
अन्तरिक्षण यातवे ॥ ६ ॥

[८३४] आ न सोम सहो जुवो रूप न वर्चसे भर।
सुष्वाणो देववीतये ॥ २ ॥

[८३५] आ न इन्दो शतग्विनं गवा पोषं स्वश्व्यम्।
वहा भगत्तिमूतये ॥३॥२॥ ऋ० ९। ६५। १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) (राजा) प्रकाशमान रूप में (पवमानः) प्रकट होता हुआ, आत्मानन्द रस (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष से मेघ के समान अन्त.करण से (यातवे) जाने के लिये (मनौ अधि) मननशील चित्त के भीतर (मेधाभिः) प्रज्ञाओं, कर्मों द्वारा (ईयते) व्याप्त होता है।

(२) हे (सोम) आत्मन् ! तू (देववीतये) विद्वानों के इष्टसिद्धि के लिये (सुष्वाणः) स्वत उत्पन्न होता हुआ (नः) हमें (वर्चसे) दीप्ति कान्तिमान् तेजस्वी होने के लिये (सहः) सहनशीलता (जुवः) वेग और (रूपं) कान्ति (आ भर) प्राप्त करा।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! आप (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये हमें (शतग्विनं) सैकड़ों गौओं और (स्वश्व्यं) उत्तम २ घोड़ों से युक्त (पोषं) पुष्टिकारक पदार्थ और (भगत्तिम्) सेवन करने योग्य, उत्तम ऐश्वर्य (आ वह) प्राप्त कराइये।

[८३६] तं त्वा नृम्णानि बिभ्रतं सधस्थेषु महो दिवः।
चारुं सुकृत्ययेमहे ॥ १ ॥

[८३७] सवृक्तबर्हिषमुक्थ्यं महो मंहिष्ठं मदम्।
शतं पुरो रुरुक्षणिम् ॥ २ ॥

[८३८] अतस्त्वा रयिमभ्ययद्राजानं सुक्रतो दिवः।
सुपर्णो अव्यथी भरत् ॥ ३ ॥

[८३९] अथा ह्विन्वान इन्द्रियं ज्याया महित्वमानशे ।
अभिष्टिकृद्विचर्षणि ॥ ४ ॥

[८४०] विश्वस्मा इत्स्वर्दृशे साधारणं रजस्तुरम् ।
गोपामृतस्य विभरत् ॥५॥३॥ ऋ० ९ । ४८ । १-५ ।

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (नृम्णानि) नाना धनों को (बिभ्रतं) धारण करते हुए (ते) उस (दिव) द्योलोक या सूर्य के (सधस्थेषु) समान स्थान, अन्तराकाश में विद्यमान अनन्त लोकों में (चारुं) व्यापक (महः) महान् (त्वा) तुझको हम (सुकृत्यये) उत्तम पुण्य कर्म करके (ईमहे) प्राप्त होते हैं ।

(२) और पुनः (संवृक्तघृष्णुं) आत्मा का धर्षण करने हारे काम क्रोधादि नाना शत्रुओं का मूल काट डालने वाले, (उक्थ्य) वेदमन्त्रों से स्तुति करने योग्य, (महामहिव्रतं) बड़े भारी पूजनीय कर्म करने वाले (शतं पुर) सैकड़ों देहों के समान ब्रह्माण्डों के भोक्ता, या सैकड़ों देहधारियों को (रुरुक्षिणं) उच्च लोक-मोक्ष में उठा लेने वाले आपको हम प्राप्त होते हैं ।

(३) (अतः) इसी कारण (त्वा राजानं) तुझ समस्त संसार के प्रकाशक स्वामी के पास हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म से सम्पन्न ! (दिवः) सूर्यलोक का भी (रयिः) समस्त बल और ऐश्वर्य (त्वा अभि अयट्) तुझको ही प्राप्त है । तू ही (सुपर्ण) उत्तम ज्ञान और शक्ति से सम्पन्न होकर समस्त संसार को (अदभ्रधी) बिना व्यथा या पीड़ा अनुभव किये ही (भरत्) पालन पोषण और धारण करता है ।

(४) (अथ) और (विचर्षणि) सब संसार का द्रष्टा, निरीक्षक तू (अभिष्टिकृत्) सबको अभीष्ट कर्मफल देने वाला होकर (इन्द्रियं) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा से युक्त देहों को प्रेरित करता हुआ (ज्यायः) बहुत

बड़े (महित्व) महान् सामर्थ्य को (आनशे) धारण करता है। अथवा (इन्द्रिय ज्याय॰ महित्वम् आनशे) परमैश्वर्य युक्त, सबसे अधिक बड़े महान् सामर्थ्य को प्राप्त है।

(५) (विः) देह से देहान्तर में गति करने हारा, पक्षि के समान यह जीव आत्मा (विश्वस्मा) सब प्रकार के (इ) ही (स्वः) सुखों या ज्ञानों का (दृशे) दर्शन करने के लिये (साधारणं) समस्त लोकों को समान रूप से धारण करने हारे, (रजस्तुर) समस्त लोकों को गति देने हारे (ऋतस्य) समस्त जगत् और ज्ञान की (गोपाम्) रक्षा करनेहारे परमात्मा को (भरत्) अपने चित्त में धारण करे।

[८४१] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इष पऊन्ध धारया सुत्यमाना मनीषिभिः।
१ २ ३ १ ४
इन्दो रुचामि गा इहि ॥ १ ॥

[८४२] ३ १ २ ३ १ ३ १ ३
पुनान॰ वरिवस्कृध्यूर्जं जनाय गिर्वणः।
१२ ३ २ ३ १ २
हरे सृजान आशिरम् ॥ २ ॥

[८४३] ३ २ ३१ २ ३ १ २ ३२
पुनानो देववीतय इन्द्रस्य याहि निष्कृतम्।
३ २ ३ १ २ ३ २
धुवानो वाजिभिर्हित. ॥३॥४॥ऋ० ९ । ६४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या, देखो अविकल सं० [५०५] पृ०२५० ।

(२) हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! प्रभो ! (आशिरं) इस शीर्ण होने वाले देह को (सृजान॰) बनाता हुआ, (पुनान॰) स्वतः मलरहित, पवित्र बन्धन रहित होकर भी (जनाय) उत्पन्न होने हारे इस मनुष्य के लिये (वरिव॰) ज्ञानरूप उत्तम धन, और (ऊर्जं) अन्न आदि बल (कृधि) उत्पन्न कर और प्रदान कर।

(३) हे परमात्मन् ! (वाजिभि) विद्वानों द्वारा (हितः) समाधि में साक्षात् किया हुआ और धारण किया गया (धुवान॰) प्रकाशस्वरूप

(पुनानः) सब मलों को शोधता हुआ (देवयीतये) दिव्यगुणों के प्राप्त कराने के लिये (इन्द्रस्य) आत्मा के (निष्कृतम्) आवासस्थान हृदय देश में (याहि) आ, विराजमान हो।

इति प्रथमः खण्डः ।

[८४४] अग्निनाग्निः समिध्यते कविर्गृहपतिर्युवा ।
हव्यवाड् जुह्वास्यः ॥ १ ॥

[८४५] यस्त्वामग्न हविष्पतिर्दूतं देव सपर्यति ।
तस्य स्म प्राविता भव ॥ २ ॥

[८४६] यो अग्निं देवयीतये हविष्माँ आविवासति ।
तस्मै पावक मृळय ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १२ । ६, ८ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (अग्निना) अग्नि से (हव्यवाट्) घर आदि हवि पदार्थों को जलवायु आदि पदार्थों तक पहुंचाने वाला (जुह्वास्यः) जुहू नामक यज्ञ पात्र या ज्वालारूप मुख वाला (अग्निः) आहवनीय अग्नि (समिध्यते) प्रज्वलित किया जाता है। अथवा जिस प्रकार एक अग्नि से दूसरा अग्नि जला लिया जाता है। उसी प्रकार (युवा) तरुण (कविः) विद्वान् मेधावी दूसरे विद्वान् से ज्ञान प्राप्त करता और (गृहपतिः) वह गृहस्थ भी दूसरे गृहस्थ से अपनी कला को पाता है।

(२) हे अग्ने! (यः) जो (हविष्पतिः) यज्ञ हवि पदार्थ, अन्नादि का जीव (त्वां) तेरा (सपर्यति) भजन करता है, हे देव! (तस्य) उसके (प्र प्राविता) रक्षा करने हारे (भव) होओ।

(३) (यः) जो (हविष्मान्) उत्तम अन्नादि और पदार्थों का स्वामी (देवयीतये) विद्वानों या मानसिक दिव्य गुणों और पदार्थों को प्राप्त करने के

लिये (अग्निं) अग्नि के समान ज्ञानस्वरूप, स्वयंप्रकाशक परमात्मा के (आविवासति) उपासना करता है । हे (पावक) सबको पवित्र करनेहारे परमेश्वर ! आप (तस्मै) उसको (मृडय) सुख शान्ति दें ।

३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८४७] मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।

३ २ ३ २ ३ १ २

धियं घृताचीं साधन्ता ॥ १ ॥

३ १ २

[८४८] ऋतेन मित्रावरुणावृतावृधावृतस्पृशा ।

१ २ ३ १ २

क्रतुं बृहन्तमाशाथे ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८४९] कवी नो मित्रावरुणा तुविजाता उरुक्षया ।

१ २ ३ १ २

दक्षं दधाते अपसम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० १ । २ । । ७–९ ॥

भा०—(१) मैं (पूतदक्षं) पवित्र, निष्पाप कर्म करने हारे, पवित्र बल वाले, मित्रं) सबके स्नेही और सबको मृत्यु के भय से बचानेहारे, ब्रह्माण्ड में वर्त्तमान सूर्य के समान और देह में वर्त्तमान प्राण के समान (रिशादसं) शत्रुओं के समान कष्टदायी रोगों का विनाश करने वाले, (वरुणम्) श्रेष्ठ प्राणवायु या भीतरी अपान वायु और उसके समान सब कष्टों के निवारक तेज (हुवे) रहस्यपूर्ण अध्यात्म पदार्थों के ज्ञान के साथ २ ज्ञान करता हूं ! (घृताचीं) जिस प्रकार सूर्य और वायु जल को ऊपर और सर्व देशों में लेजाते हैं उसी प्रकार वे दोनों प्राण और अपान भी शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाले घृत या शुक्ररूप रस को सर्वत्र प्राप्त कराने हारी (धियं) क्रिया को (साधन्ता) साधने वाले होते हैं । उसी प्रकार हे परमेश्वर ! मृत्यु से त्राण करने वाला स्नेहमय और दुःखों का निवारक तेरा रुद्र और वरुणरूप दोनों रूप ही (घृताचीं धियं साधन्ता) आनन्दरस को प्राप्त कराने वाली बुद्धि को साधते हैं ।

(२) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण दोनों (ऋतस्य) गति, ज्ञान और सत्य के बल पर (ऋतावृधौ) जल से बढ़ने हारे वायु सूर्य के समान, ऋतरूप ब्रह्म की शक्ति से बढ़ने वाले (ऋतस्पृशा) जल के द्रावक सूर्य, वायु के समान (ऋत वृधौ) ज्ञान का सर्वत्र प्रचार करने हारे (बृहन्तं) बड़े भारी (क्रतु) संसार रूप यज्ञ को ब्रह्मादेह और पिण्डों को (आशाथे) व्याप्त किये हुए हैं।

(३) (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण (कवी) क्रान्तदर्शी सब प्रकार के व्यवहारों का दर्शन करने हारे, (सुविज्ञाता) बहुत से कारणों से प्रसिद्ध, (उरुक्षया) नाना जगत् के पदार्थों में व्यापक (दक्षं) बल और (अपसं) क्रिया को (दधाते) धारण करते हैं, स्थापन करते हैं।

[८५०] इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा ।
मन्दू समानवर्चसा ॥ १ ॥
[८५१] आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे ।
दधाना नाम यज्ञियम् ॥२॥
[८५२] वीडु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः ।
अविन्द उस्रिया अनु ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ६ । ७, ४, ९ ॥

(१) हे प्राण ! तू (अबिभ्युषा) भयरहित (इन्द्रेण) इन्द्रस्वरूप आत्मा के साथ (संजग्मानः) गति करता हुआ (सं दृक्षसे हि) दिखाई देता है। इस कारण तुम दोनों प्राण और आत्मा (समानवर्चसा) समान कान्ति वाले होकर (मन्दू) आनन्द के उत्पादक होते हो। जीव और परमात्मा के पक्ष में, एवं सूर्य और वायु के पक्ष में भी स्पष्ट है।

(२) मरुद्गण, इन्द्रियां या दसों प्राण (स्वधाम् अनु) अपने स्वरूप, या देह को स्वयं धारण करने में समर्थ जीवात्मा के साथ (आयुः)

बाद में (पुनः) फिर (गर्भत्वम्) गर्भरूप से (एरिरे) प्रकट होते हैं और (यज्ञियं) जीवनरूप यज्ञ के योग्य (नाम) संज्ञा को (दधाना) धारण करते हैं। आधिदैविक पक्ष में स्वधा=जलके साथ वायुएं आकाश में गर्भित होकर यज्ञ के योग्य जलवर्षा कराते हैं।

(३) जिस प्रकार सूर्य का तेज गुहा अर्थात् अन्तरिक्ष में किरणों द्वारा पदार्थों तक पहुचता है और उनके भीतर प्रवेश करने हारी वायुओं से अन्तरिक्ष में जल को धारण करता है उसी प्रकार हे (इन्द) आत्मन्! (गुहा चित्) भीतरी गुहा, गर्भस्थान में भी (बीळु-चित्) अति दृढ स्थान को (आरुजत्नुभि) पीड़ित करते हुए (वह्निभिः) वहन करने वाले प्राणों से प्रकट होकर (अनु) पश्चात् (दाशिषा[1]) अपनी किरणस्वरूप इन्द्रियों द्वारा (अनु अविन्दः) तू ज्ञेय पदार्थों को प्राप्त कर। अथवा हे (इन्द) आत्मन्! तू गुहारूप हृदय देश में विराजमान होकर भी दृढ़ शरीर के भागों को फोड़ कर जीवन को वहन करने वाले इन प्राणों से अपने (उक्थियाः) ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करता है।

[८५३] ता हुवे ययोरिदं पप्ने विश्वं पुराकृतम्।
इन्द्राग्नी न मर्धतः ॥१॥
[८५४] उग्रा विघनिता मृध इन्द्राग्नी हवामहे।
ता नो मृळात ईदृशे ॥२॥
[८५५] हथो वृत्राण्यार्या हथो दासानि सत्पती।
हथो विश्वा अप द्विषः ॥३॥८॥ ऋ० ६। ६०। ४-६॥

भा०—(१) मैं उन (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि या परमात्मा आत्मा दोनों को। हुवे) स्तुति करता हूं (ययोः) जिनके आधार पर

८५३—३. 'दशो ऋ०।

(इदं) यह (विश्वम्) विश्व (पप्रे) व्यवहार योग्य प्रसिद्ध होता है। और (पपो) जिन्हों के आधार पर यह जगत् (पुराकृतम्) प्रथम काल में भी बनाया गया था, जो इसको (न मर्धतः) विनाश नहीं होने देते।

(२) उन (मृध·) हिंसक शत्रुओं को (विचर्षिता) विशेषरूप से आघात करने हारे (उग्रा) वेग वाले (इन्द्राग्नी) पूर्व उक्त इन्द्र और अग्नि दोनों को (हवामहे) स्वीकार करते, स्तुति करते हैं जिनके आधार पर हम और (ता) वे दोनों (नः) हमें (ईदृशे) इस प्रकार के जीवन संग्राम में भी (मृळात) सुखी करें।

(३) (आपो) उत्तम गुण कर्म स्वभाव वाले वे दोनों (वृत्राणि) मेघों के समान आवरक विघ्नों को (हथ) आघात करते, या नाश करते हैं। (सरयती) और वे दोनों सज्जनों के पालक (दासानि) नाशकारी पदार्थों को (हथ·) विनाश करते हैं और (विश्वा) समस्त (द्विषः) शत्रुओं को (अप हथ) दूर मार भगाते हैं।

इति द्वितीयः खण्ड·।

---

[८५६] अभि सोमास आयव पवन्त मद्यं मदम्।
समुद्रस्याधिविष्टपे मनाविषो मत्सरासो मदच्युतः ॥१॥

[८५७] तरत्समुद्र पवमान ऊर्मिणा राजा देव ऋतं बृहत्।
अर्षा मित्रस्य वरुणस्य धर्मणा प्र हिन्वान ऋतं बृहत् ॥२॥

[८५८] नृभिर्येमाणो हर्यता विचक्षणो राजा देवः समुद्रथः ॥४॥
॥६॥ ऋ० ९ । २०७ । १४ १३॥

८५६—१. "मत्सरास· स्वर्विद" इति ऋ० ।
२ 'अर्षन् मित्रस्य,' 'प्रहिन्वान' इति ऋ० ।
३ 'देवः समुद्रियः' इति ऋ० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१८] पृ० २५६ ।

(२) (पवमान०) समस्त मलों को शोधन करने हारा (राजा) सूर्य के समान योगी (देव०) विद्वान् (ऊर्मिणा) अपनी उच्चगति द्वारा (बृहत्) बड़े (ऋतम्) सत्यज्ञान स्वरूप परिपक्व (समुद्र) समस्त रसों के आश्रय ब्रह्म को (तरत्) प्राप्त हो जाता है । और (मित्रस्य) सबके स्नेहशील प्राणस्वरूप (वरुणस्य) सब पापों के निवारक परमात्मा को (धर्मणा) यम नियम पूर्वक प्राप्त धारक बल से, या सदाचार से (हिन्वान०) सन्मार्ग में गति करता हुआ स्वयं (बृहत्) बड़े (ऋतं) सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म को (प्र अश्नुते) प्राप्त होता है ।

(३) (नृभि) विद्वान् नेताओं, या प्राणों के द्वारा (संभाव०) सुव्यवस्थित (राजा देवः) प्रकाशस्वरूप योगी आत्मा (हर्यत०, सबके प्रेमका पात्र (विश्वप्स्य०) और सब का साक्षी रूप होकर (समुद्र्य०) महान् रससागर में आनन्द प्राप्त करने वाला होकर उसी में मग्न हो जाता है ।

[८५९] तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥२॥

[८६०] सोम गावो धेनवो वावशाना. सोम विप्रा मतिभि. पृच्छमाना० ।
सोमः सुत ऋज्यते प्रियमानः सोम अर्षन्ति पवमानः सस्रवन्ते ॥२॥

[८६१] एवा ग० सोम परिषिच्यमान आसवक्त्व पूयमानः स्वस्ति।
इन्द्रमाविश बृहता मदेन यद्धृगा वाचं जनया पुरन्धिम्
॥३॥१०॥ ऋ० ९ । ६७ ।,३४-३६ ॥

८५९—३. 'बृहता रवेण' इति ऋ० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२५] पृ० २६०।

(२) (धेनवः) दुग्धपान कराने हारी (गावः) गौओं के समान ज्ञानरस का पान कराने वाली, ज्ञानवाणियां (सोमं) सोमस्वरूप आत्मा या परमात्मा के प्रति (वावशाना) कामना प्रकट करती हैं। उसी को चाहती अथवा उसी की स्तुति करती हैं। और (विप्राः) मेधावी पुरुष (मतिभिः) अपने मननों द्वारा (सोमम्) उसी रसस्वरूप आत्मा की (पृच्छमाना) जिज्ञासा करते हैं। यही (सोम) रसरूप आत्मा (पूयमान) विशुद्ध स्वरूप (सुतः) अन्तर्हृदय में प्रकट होकर (ऋ-ष्यते) स्तुति किया जाता है। और (अर्का) सूर्य के समान तेजस्वी, वेद के विद्वान् ज्ञानी पुरुष (सोमे) उसी परमात्मा के विषय में (ब्रिष्टुभः) तीनों प्रकार से मनसा, वाचा, कर्मणा, उसकी स्तुति करने हारे होकर उसकी (स नवन्ते) अच्छी प्रकार स्तुति करते हैं।

(३) हे (सोम) रसस्वरूप ! (परिसिच्यमान) बार २ निदिध्यासन द्वारा साक्षात् किया गया, (पूयमानः) विशुद्धरूप (स्वस्ति) कल्याण-कारी होकर (नः आपवस्व) हमारे प्रति प्रकट हो। और (बृहता) बड़े भारी (मदेन) आनन्दरस से (इन्द्रम्) आत्मा को (आविश) प्राप्त कर और (वाचं) वाक्शक्ति को (वर्धय) बढ़ा। और (पुरन्धिम्) देह रूप पुर का धारण करने हारी चितिशक्ति या बुद्धि को (जनय) प्रकट कर।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३

[८६२] यद्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[८६३] आ पप्राथ महिना कृष्ण्या वृषन्नित्था शविष्ठ शवसा।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अस्मा अश्वं मघवन् गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभरूतामं

॥ २ ॥ ११ ॥ ऋ० ८ । ७० । ५-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [२७८] पृ० १४२ ।

(२) हे (वृषन् !) सुखों की वर्षा करने हारे परमात्मन् ! हे (शविष्ठ !) सर्वशक्तिमन् ! आप (महिना) बड़े भारी (शवसा) बल, शक्ति, सामर्थ्य से (विश्वा) समस्त (वृष्ण्या) सुखवर्षक और जलवर्षक सबके पोषक मेघ, पृथिवी आदि पदार्थों को (आ पप्राथ) पूर्ण कर रहे हो, सब में व्याप्त हो । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (वज्रिन्) पापनाशक ज्ञान के स्वामी ! (गोमति) इन्द्रियों से सम्पन्न इस (व्रजे) गतिशील नश्वर देह में (चित्राभिः) नाना आदरणीय (ऊतिभि) रक्षाओं या ज्ञानधाराओं से आत्मा की (अव) पालन कर, पुष्ट कर ।

३ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[८६४] वय घ त्वा सुनावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

पवित्रस्य प्रस्रवेषु वृत्रहन् पार स्तोतार आशत ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[८६५] स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिन ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

कदा सुतं तृषाण ओक आगम इन्द्र स्वब्दिव वंसग. ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २ २ ३ १ २

[८६६] कण्वाभिर्धृष्णवा धृषद्वाज दर्षि सहस्रिणम् ।

३ १ २ ३ १ २

पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥३॥१३॥

ऋ० ८ । ३३ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [२६१] पृ० १३३ ।

(२) हे (वसो) सब को वास देने हारे परमात्मन् ! (सुते) इस उत्पन्न जगत् में (एके) बहुत से (उक्थिन.) ज्ञानी, स्तोता लोग (त्वा) तुझ को ही (नि. स्वरन्ति) पुकारते हैं तेरी ही स्तुति गाते हैं । (तृषाण.) प्यासा पुरुष जिस प्रकार (ओकः) जल के स्थान के प्रति आता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (स्वब्दी इव) उत्तम मेघवान् वायु के समान (वंसगः) शुभ

गमन युक्त होकर इस (सुते) अपने उत्पन्न किये पुत्ररूप संसार के प्रति (कदा) कब (आगमः) आएँगे, कब कृपादृष्टि और आनन्दवृष्टि करेंगे ?

अथवा भक्त अपने आत्मा के प्रति कहता है--हे (वसो) आत्मन् ! बहुत से ज्ञानी अपने ज्ञानमय हृदय में तुझे ही स्वरसे गाते हैं । जिस प्रकार प्यासा जल के प्रति जाता है उसी प्रकार तू भी उत्कण्ठित होकर, उत्तम मेघवान् वायु के समान मनोहर गति वाला होकर कब हृदय-देश में प्रकट होगा और धर्म मेघ रूप में सुख की वर्षा करेगा ?

(३) हे (मघवन् !) सम्पूर्ण धनों और यज्ञों के स्वामिन् ! हे (विश्वर्षयो !) समस्त संसार के द्रष्टा ! हे (शप्यो) सहनशील ! समस्त संसार के भार को वहन करने हारे ! सब कष्टों और दुष्टों को दूर करने हारे ! आप (करवेभि) मेधावी पुरुषों के निमित्त (सहस्रिणम्) सहस्रों ऐश्वर्यों से युक्त (शपद) बाधक विरोधियों को पराजित करने वाले (वाज) बल को (आदर्षि) देते हैं । उस ही (पिशङ्गरूपं) अत्यन्त मनोहर, पीतवर्ण के, सुवर्ण आदि और (गोमन्तम्) गौ आदि पशुओं से युक्त (वाज) धन की (मक्षू) निरन्तर हम (ईमहे) याचना करते हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[८६७] तरणिरित्सपति वाजं पुरन्ध्या युजा ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २३ ३ १ २

आ व इन्द्रं पुरुहूत नमे गिरा नेमिं तष्टेव सुद्रुवम् ॥१॥

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ १ २

[८६८] न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते न स्रेधन्तं रायर्नशत् ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ १२ २३ ३ २

सुशक्तिरिन्मघवन् तुभ्य मावते देष्णं यत्पार्ये दिवि ॥२॥

॥१३॥ ऋ० ७ । ३२ । २०-२१ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२३८] पृ० १२१ ।

८६७—२. 'न दुष्टुती मर्तो विन्दते वसु' इति ऋ० ।

(२) (द्रविणोदेषु) द्रविण-धन और ज्ञान के दान करने हारे उदार पुरुषों के विषय में (दुः-स्तुतिः) बुरी निन्दा (न शस्यते) नहीं कही जाय और (सेधन्तं) दूसरों की हिंसा करने हारे पापी पुरुष को (रयि.) धन प्रजा और पुष्टि (न नशत्) नाश हो । (यत्) जो (पार्थे) पालन करने हारे (दिवि) आकाश या सूर्य में (मावते) मेरे जैसे पुरुष के लिये (देष्णं) दान करने योग्य तेज जल वृष्टि आदि पदार्थ हैं । हे मघवन् ! (तुभ्यं इत्) तेरी ही वह (सुशक्ति.) उत्तम शक्ति है ।

इति चतुर्थः खण्ड. ।

[८६९] निन्यो वाच उदीरत गावो मिमन्ति धेनवः ।
हरिरेनि कनिक्रदत् ॥ १ ॥

[८७०] अभि ब्रह्मीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातरः ।
मर्जयन्तीर्दिव शिशुम् ॥ २ ॥

[८७१] राय. समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
आपवस्व सहस्रिणः ॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० ९ । ३३ । ४–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७१] पृ० २३७।

(२) (ब्रह्मी) ब्रह्म-वेद की वाणियें (ऋतस्य मातरः) सत्य का ज्ञान कराने हारी (दिवः) आकाश में सूर्य के समान, परम तेज और दिव्यगुणों में ज्ञान के स्वरूप में (शिशुं) शयन करने वाले, व्यापक परमात्मा को (अभि-अनूषत) साक्षात् रूप से स्तुति करती हैं ।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक ! परमेश्वर ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहस्रिणः) सहस्रों पदार्थों से सम्पन्न (रायः) धनों से पूर्ण

८६९— २ 'मर्मृज्यन्ते' इति ऋ० ।

(चतुरः) चारों (समुद्रान्) समुद्रों, या उन्नति के साधन रूप या नाना ऐश्वर्यों और सुखों के उत्पादक धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों को (आ पवस्व) प्राप्त करा ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[८७२] सुतासो मधुमत्तमा॰ सोमो इन्द्राय मन्दिन॰ ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
पवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[८७३] इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसः ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २
[८७४] सहस्रधारः पवत समुद्रो वाचमीङ्खयः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सोमस्पती रयीणा सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ३ ॥ १५ ॥
ऋ० ९ । १०४ । ८-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४७] पृ० २६४।

(२) (इन्दुः) सोम्य गुणवाला आनन्दस्वरूप, सोममय ईश्वर (इन्द्राय) इस आत्मा के हित के लिये (पवते) प्रकट होता है। (इति) इस प्रकार (देवासः) विद्वान् लोग (अब्रुवन्) कहते हैं। और यही सोम (ओजसः) विशेष बल और प्रभाव के कारण (विश्वस्य) समस्त संसार का (ईशानः) प्रभु और (वाचस्पति) वेदवाणियों का स्वामी होकर (मखस्यते) यज्ञों द्वारा पूजा करने योग्य है।

(३) (सहस्रधारः) सहस्रों धारण शक्तियों से सम्पन्न, (समुद्रः) समस्त रत्नों का भण्डार, या समुद्र के समान महान्, (वाचम् ईङ्खयः) समस्त विश्व की वेदमय वाणियों को प्रकट करने हारा, (रयीणां) समस्त जड़ और चेतन पदार्थों और ऐश्वर्यों का (पतिः) स्वामी और (इन्द्रस्य)

८७१— २ 'ईशान ओजसा' इति ऋ० ।

इस आत्मा का (सखा) परम मित्र (सोमः) सबका प्रेरक और उत्पादक परमात्मा (दिवेदिवे) प्रतिदिन (पवते) प्रकट हो ।

[८७५] पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तः सं तदाशत ॥१॥

[८७६] तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदेऽर्चन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् । अवन्त्यस्य पवितारमाशवो दिवः पृष्ठमधिरोहन्ति तेजसा ॥ २ ॥

[८७७] अरूरुचदुषसः पृश्निरग्रिय उक्षा मिमेति भुवनेषु वाजयुः ।
मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमादधुः ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ८२ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६५] पृ० २६५।

(२) (तपो०) समस्त संसार को तपाने हारे, सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर का (पवित्र) पवित्र करने हारा, परम पावन स्वरूप, (दिव०) समस्त दिव्य तेजोमय पदार्थों में (विततं) व्याप्त है । (अस्य) इस परमेश्वर के (अर्चन्त०) गुणों को प्रकट करते हुए (तन्तव०) नाना तन्तु, यज्ञमय सूत्र (व्यस्थिरन्) नाना प्रकारों से विद्यमान हैं । (अस्य) इसके (आशव०) व्यापक और अति वेगवान् सामर्थ्य या शक्तियां (पवितारं) सबके शोधक सूर्य और वायु को (अवन्ति) नष्ट होने से बचाते हैं। और (तेजसा) तेज के रूप में (दिव०) आकाश के (पृष्ठ) सबसे उन्नत भाग में भी (अधिरोहन्ति) पहुंचे हुए हैं ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६६] पृ० ३०० ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[८७८] प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहतः शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ॥ १ ॥
[८७९] आ वसंत मघवा वीरवद्यशः समिद्धो द्युम्न्याहुतः ।
कुवित्नो अस्य सुमतिर्भवीयस्यच्छ वाजेभिरागमत् ॥२॥१७॥

ऋ० ८ । २७३ । ८, ९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०७] पृ०५७ ।

(२) (मघवा) ऐश्वर्यवान् (समिद्ध') प्रकाशमान, (द्युम्नी) यशस्वी, कान्तियुक्त, (आहुतः) विद्वानों से पुकारा गया परमात्मा (वीरवद्) सामर्थ्य से पूर्ण पुत्रा मृत्य मित्र आदि से युक्त (यश.) अन्न और तेज (आ वंसते) प्रदान करता है । (अस्य भवीयसी) सबसे अधिक शक्तिशाली (सुमतिः) उत्तम मनन या सकल्प शक्ति (न.) हमें (वाजेभि.) नाना बलों ऐश्वर्यों और ज्ञानों सहित (कुवित्) बहुधा (आगमत) आवे, प्राप्त हो ।

[८८०] नं ते मदं गृणीमसि वृषण पृक्षु साधुहिम् ।
उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥
[८८१] येन ज्योतिर्न्यायवे मनवे च विवेदिथ ।
मन्दानो अस्य बर्हिषो विराजसि ॥ २ ॥
[८८२] तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा ।
वृषपत्नीरपो जया दिवेदिव ॥३॥ १८ ॥ ऋ० ८।२५।४-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३८३] पृ०१९८ ।

(२) (येन) जिस सामर्थ्य से हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (आयवे) जीवन के साधक, प्राणायाम के अभ्यासी और (मनवे) मननशील पुरुष

के प्रति अपनी (ज्योतींषि) ज्ञानदीप्तियों को (विवेदिथ) प्राप्त कराते हो, प्रकाशित करते हो, उस ही सामर्थ्य से (मन्दानः) आनन्दपूर्ण होकर (अस्य इस (बर्हिष) महान् ब्रह्माण्डरूप यज्ञ के आश्रय बन कर (विराजसि) विराजते हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उक्थिनः) ज्ञानी लोग (अद्य चित्) आज तक भी (पूर्वथा) पहले के समान ही (ते) तेरी (अनुष्टुवन्ति) निरन्तर स्तुति करते हैं । तू (वृषपत्नी) भीतरी आनन्दरस वर्षण करने हारे इन्द्र के सामर्थ्यों का पालन करने हारी (अपः) शक्तियों और बुद्धियों को (दिवेदिवे) प्रतिदिन नित्य (जय) विजय कर उन पर वश कर ।

[८८३] श्रुधी ३ हव ३ १ २ इरज्या ३ इन्द्र ३ यस्त्वा ३ सपर्यति ३ १ २ ।
सुवीर्यस्य ३ १ २ गोमतो ३ १ २ रायस्पूर्धि ३ १ २ महाँ ३ १ २ असि ॥ १ ॥

[८८४] यस्त इन्द्र ३ १ २ नवीयसी ३ १ २ गिर ३ १ २ मन्द्रामजीजनत् ३ १ २ ।
चिकित्विन्मनसं ३ १ २ धियं ३ १ २ प्रत्नामृतस्य ३ १ २ पिप्युषीम् ॥ २ ॥

[८८५] नमु ३ १ २ ष्टवाम ३ १ २ य ३ १ २ गिर ३ १ २ इन्द्रमुक्थ्या ३ १ २ नि ३ १ २ वावृधुः ३ १ २ ।
पुरूणयस्य ३ १ २ पौंस्या ३ १ २ निषासन्ता ३ १ २ वनामहे ॥३॥१६॥

ऋ० ८ । ६५ । ४–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४६] पृ० १७६ ।

(२) हे इन्द्र ! (य) जो (ते) तेरे लिये (नवीयसीम्) अति सुन्दर, अति स्तुति करने हारी (मन्द्रा) गम्भीर (गिरं) वाणी को (अजीजनत्) प्रकट करता है उस ज्ञानी, मननशील पुरुष को तू (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (पिप्युषीम्) पुष्ट करनेहारी (प्रत्ना) अति प्राचीन (चिकित्वन्मनस) ज्ञानशील मन से संयुक्त (धिय) बुद्धि या धारणा शक्ति को प्रदान करता है ।

(३) (तं) उस (इन्द्र) ऐश्वर्यशील परमात्मा को (उ) ही हम नित्य (स्तवाम) स्तुति करें (यं) जिसकी (उक्थानि) वेदमन्त्र (वावृधुः) सदा महिमा बढ़ाते हैं । हम अल्पशक्ति जीव (अस्य) उस परमात्मा के (पुरूणि) नाना प्रकार के (पौंस्या) बल से किये जाने वाले विश्वसर्जन, धारण और प्रलय आदि पौरुष कर्मों को, या बलयुक्त नाना ऐश्वर्यों को (सिषासन्तः) नाना प्रकार से उपयोग और सेवन करते हुए (वनामहे) उसकी स्तुति या भजन करते हैं ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयः प्रपाठकः समाप्तः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ तृतीयः प्रपाठकः (प्रथमोर्ध्वः)।

ऋषिः—१ आकृष्टाभाषा० । २ असहीयु० । ३ मेध्यातिथिः । ४, १२ गृत्स० न्मतिः । ५ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निः । ६ सुतभर आत्रेयः । ७ गृत्समदः । ८, २१ गोतमो राहूगणः । ९, १३ वसिष्ठः । १० ब्रह्मच्युत आगस्त्यः । ११ सप्तर्षयः । १४ रेभः काश्यपः । १५ पुरुहन्मा । १६ असितः काश्यपो देवलो वा । १७ शक्तिरूरुश्च क्रमेण । १८ अग्निः । १९ प्रतर्दनो दैवोदासिः । २० प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अथर्वाग्नी गृहपतियविष्ठौ सहसः सूनू सप्तोर्वान्यतरः ॥ देवता—१—५, १०—१२, १६—१९ पवमानः सोमः । ६, २० अग्निः । ७ मित्रावरुणौ । ८, १३—१५, २१ इन्द्रः । ९ इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—१, ६ जगती । २—५, ७—१०, १२, १६, २० गायत्री । ११ बृहती सतोबृहती च क्रमेण । १३ विराट् । १४ अतिजगती । १५ प्रागाथः । १७ ककुप् च सतोबृहती

च क्रमेण । १८ उष्णिक् । १६ त्रिष्टुप् । २१ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१, ६, १४ निषाद. । २—५, ७—१०, १२, १६, २० षड्जः । ११, १३, १५, १७ मध्यमः । १८ ऋषभ । १६ धैवत· । २१ गान्धारः ॥

[८८६] प्र त आश्विनी. पवमान धेनवो दिव्या असृग्रन् पयसा
धरीमणि । प्रान्नक्षत्रात् स्थाविरीस्ते असृक्षत ये त्वा
मृजन्त्यृषिपाण वेधस ॥ १ ॥

[८८७] उभयतः पवमानस्य रश्मयो ध्रुवस्य सत परियन्ति
केतवः । यदी पवित्र अधिमृज्यते हरिः सत्ता नि योनौ
कलशेषु सीदति ॥ २ ॥

[८८७] विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वसः प्रभाष्टे सत परियन्ति
केतव· । व्यानशी पवस सोम धर्मणा पतिर्विश्वस्य भुव-
नस्य राजसि ॥३॥१॥ ऋ० ९ । ९६ । ४, ६, ५, ॥

भा०—(१) हे (पवमान) परमपावन व्यापक परमात्मन् ! (ते) तेरी (आश्विनी.) सर्वत्र व्यापक, (दिव्या.) दिव्यगुणयुक्त, (स्थाविरी·) निरन्तर स्थिर रहने वाली, (धेनव·) सबको आनन्दरस का पान कराकर तृप्त करने वाली शक्तियां (पयसा) ज्ञान और बल और आनन्दरस एवं जल के द्वारा (धरीमणि) धारण करने हारे आत्मा या अन्तरिक्ष में (प्र असृग्रन्) उत्तमरूप से प्रकट होती हैं । हे (ऋषिपाण) ऋषियों, मन्त्रद्रष्टा ज्ञानी पुरुषों द्वारा भजन करने योग्य आत्मन् परमात्मन् ! (ये) जो (वेधसः) विद्वान् पुरुष (त्वा मृजन्ति) तेरे शुद्ध रूप को साक्षात्

(१) 'पवमान धीजूवो', 'प्रान्नक्षत्रय. स्थावरीरसक्षत' इति ऋ० ।
२. 'व्यानशिः' 'धर्मभिः' इति ऋ० ।

करते हैं (ते) वे (स्थाविरीः) स्थिर कूटस्थ धारारूप धारणाओं को (अन्तरिक्षात्) अपने अन्त करण रूप भीतरी साधन् करने वाले साधन मन या अन्त करण से (प्र असृक्षत) तेरा ज्ञान सम्पादन करते, तेरी साधना करते हैं, निदिध्यासन करते हैं । आत्मपक्ष में—ऋषिः इन्द्रियगण ।

(२) (पवमानस्य) समस्त ससार में व्यापक, सब को गति देने हार, परमेश्वर के (केतवः) ज्ञान कराने वाले (रश्मय) किरण (ध्रुवस्य सत) सत्स्वरूप उस कूटस्थ ब्रह्म के (उभयतः) जड़ और जगम दोनों प्रकार के संसार के प्रति (परियन्ति) व्याप्त होरहे हैं । (यदूई) जब भी (हरि) समस्त ससार को गति देने और समस्त दुखों को हरने हारा ईश्वर (पवित्रे) पवित्र अन्त.करण में (अधिसृज्यते) विवेक द्वारा साक्षात् किया जाता है तब (सत्ता) हृदयों में सत्यस्वरूप होकर विराजमान वह (कलशेषु) सब शरीरों में भी विद्यमान (योनौ) उनके मूल आश्रय, अन्तरात्मा में घुसकर (सीदति] विराजमान है ।

(३) हे (विश्वचक्षः) समस्त ससार को देखने वाले परमात्मन् ! (सोम) सबके उत्पादक ! (सतः) सत्यस्वरूप, महान् (प्रभो) सर्व शक्तिमान्, (ते) आपके (केतव) सूर्य के किरणों के समान महिमा को जतलाने वाले चिह्न और ज्ञापक शक्तियां (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों में (परि यन्ति) फैली हुई हैं । और आप (व्यानशी) सर्वव्यापक (विश्वस्य भुवनस्य पतिः) समस्त ससार के स्वामी, (धर्मणा) अपने धारण करने हारे बल से (विराजसि) सबसे ऊपर विराजमान हैं ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[८८६] पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
१ २ ३ २ ३ २
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ॥२॥

[८९०] पवमान रसस्तव मदो राजन्नदुच्छुनः ।
वि नारमव्यमर्षति ॥२॥

[८९१] पवमानस्य ते रसा दक्षो विराजति द्युमान् ।
ज्योतिर्विश्वं स्वर्दृशे ॥३॥२॥ ऋ० ९ । ६१ । १६ ।-१८ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [९८४] पृ० २४२ ।

(२) हे [पवमान] सर्व व्यापक ! परमपावन परमेश्वर ! (तव) तेरा (रस.) रस, आनन्दमय (मदः) हर्ष कारक (अदुच्छुनः) दुष्ट कुत्ते के समान भोग तृष्णावाली इन्द्रियों के स्पर्श से दूर, अथवा पागल कुत्ते के समान दुःखदायी काम, क्रोधआदि भीतरी शत्रुओं से रहित होकर । अव्य) आत्मा के (वार) वरण करने योग्य स्वरूप को (वि अर्षति) व्याप लेता है ।

(३) (पवमानस्य) अन्त करण को पवित्र करने हारे, या प्रकाशित करने हारे (ते) तेरा 'रस') आनन्दरस (दक्ष) ज्ञान और बल रूप (द्यु- मान्) कान्तिमय होकर (विराजति) विशेष रूप से चमकता है । और वह (ज्योति ।) ज्योति. स्वरूप (विश्वम्) समस्त (स्व) सुखों को (दृशे) प्रकाशित कर दर्शाने हारा है ।

[८९२] अ यद् गावो न भूर्णयस्त्वेषा अयासो अक्रतुः ।
घ्नन्तः कृष्णामप त्वचम् ॥१॥

[८९३] सुवितस्य धनामहेऽति सेतुं दुरास्यम् ।
साह्याम दस्युमव्रतम् ॥२॥

[८९४] शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः ।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥३॥

२. 'पवमानस्य ॥ रसो' ३. 'पवमानरसस्तव' इति पादयोर्व्यत्ययः; ऋ० ।

[८६५] आ पवस्व मह्यमिषं गोमदिन्दो हिरण्यवत् ।
अश्ववत्सोम वीरवत् ॥४॥

[८६६] पवस्व विश्वचर्षण आ मही रोदसी पृण ।
उषा. सूर्यो न रश्मिभि. ॥ ५ ॥

[८६७] परि नः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वत. ।
सरा रसेन वित्पम् ॥६॥३॥ ऋ० ९ । ४१ । १-६॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८६१] पृ० २४५ ।

(२) (सुवितस्य) सब संसार को उत्तम रूप से शासन करने हारे, सबके प्रेरक परमात्मा की (मनामहे) हम शरण में जाते और ध्यान करते हैं जिससे (सेतुम् अति) मर्यादा और सामाजिक बन्धन व्यवस्था को तोड़ने हारे, (दुरत्ययम्) कष्टसाध्य, बेकाबू, दुर्दान्त (अव्रतम्) कर्तव्य कर्मों से गिर हुए निकम्मे (दस्युम्) प्रजा के विनाशक, डाकू आदि अपराधी, या आत्मा के नाशक काम क्रोध आदि को (सासह्याम) हम विजय करें ।

(३) जैसे (दिवि) आकाश में (विद्युत.) बिजुलियां (चरन्ति) गति करती हैं उसी प्रकार जब आत्मा की, या ब्रह्मानन्दरस की (विद्युतः) विशेष कान्तियां, दीप्तियां, (दिवि) समस्त संसार में या मूर्धारूप ब्रह्मा-ण्ड में (चरन्ति) वेग से गति करती हैं तब (शुम्भिता.) अति बल वान् (पवमानस्य) अन्तःकरण को पवित्र करने हारे और आनन्द का वर्षण करने हारे ब्रह्म का (स्वनः) घोष (वृष्टेः) मेघ के समान (शृ-ण्वे) सुनता हूं । धर्ममेघ समाधि के अवसर में अनाहत आत्मरूप पर्जन्य ध्वनि का यह वर्णन है ।

८६५—'मनामहे' 'दुरत्यय' 'साहासो' 'अश्ववद् वाजवत्सुत.' इति ऋ० ।

८६६—'स पवस्व विचर्षणे' इति ऋ० ।

(४) हे (सोम !) परमात्मन् ! (इन्द्रो) ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप हमें (गोमत्) गौओं, वाणियों और इन्द्रियों से सम्पन्न (अश्ववत्) घोड़ों और प्राणों और वेगवान् साधनों से युक्त, (वीरवत्) पुत्रादि वीर पुरुषों से युक्त, (इषं) अन्न, प्रबल इच्छा शक्ति और शासन आदि ऐश्वर्य को और (महीम्) बड़ी प्रसिद्धि को (आ पवस्व) प्राप्त कराओ ।

(५) हे (विश्वचर्षणे) समस्त संसार को देखने हारे परमात्मन् ! (रश्मिभिः) किरणों से (सूर्यः न) जिस प्रकार सूर्य (उषा.) उषा के समयों में (मही रोदसी) बड़े भारी आकाश और पृथिवी दोनों को पूर्ण करता है उसी प्रकार आप भी उनको पूर्ण करते और पालन करते हो । आप हमारे प्रति (पवस्व) अपनी कृपा दर्शाइये ।

(६) हे सोम ! (रसा इव) जिस प्रकार जल से पूर्ण नदी (विष्टपम्) मैदान में बहती है, उसी प्रकार आप भी (शर्मयन्त्या) सुख देने हारी (धारया) अपनी धारण समर्थ शक्ति या आनन्दरस की धारा से (विश्वतः) सब ओर से (नः) हमारे प्रति (परि स्रव) प्राप्त होइये ।

इति प्रथम खण्डः ।

[८९८] आशुरर्ष बृहन्मते परि प्रियेण धाम्ना ।
यत्र देवा इति ब्रवन् ॥१॥

[८९९] परिष्कृण्वन्ननिष्कृतं जनाय यातयन्निषः ।
वृष्टिं दिवः परिस्रव ॥२॥

[९००] अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ ।
सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥३॥

[९०१] सुत पति पवित्र आ त्विषिं दधान ओजसा ।
विचक्षाणो विरोचयन् ॥४॥

[६०२] आशिवासत् परावत आ अथो अर्वावत सुत. ।
इन्द्राय सिच्यते मधु ॥५॥
[६०३] समीचीना अनूषत हरिं हिन्वन्त्यद्रिभि' ।
इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥६॥४॥ ऋ० ९ । ३९ । १-६ ॥

भा०—(१. हे (बृहन्मते) महान् ज्ञानसम्पन्न परमात्मन् ! आप (आशु) सर्वत्र व्यापक होकर (प्रियेण) अतिमनोहर, श्रेष्ठ, (धाम्ना) धारणशील तेज से । परि अर्षं) व्याप्त हो रहे हैं । (यत्र देवा.) जहां २ विद्वान्गण, या दिव्यगुण से युक्त पृथ्वी, जल वायु आदि पदार्थ हैं वहां ही आप भी व्यापक हैं, वे आप से भिन्न जल नहीं रखते । (इति) इस प्रकार आप (ब्रुवन्) उपदेश करते हैं ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! (प्र निष्कृतम्) संस्कार या परिष्कार रहित स्थान, गर्भाशय, या भूमि को (जनाय) जन्तुओं के उत्पत्ति के लिये (परिष्कृण्वन्) संस्कृत, स्वच्छ परिष्कृत करते हुए (इष) मनो कामना ओं, पुष्टिकारक पदार्थों वा ओषधियों और अन्नों का (पातयन्) वहा स्वयं उत्पन्न करते हुए आप (दिव.) सूर्यलोक, आकाश या पुरुष दोनों पक्षों से (वृष्टिं) जलवर्षण यज्ञिवान आदि क्रिया के कार्य को (परिस्रव) करवाते हैं । समष्टि और व्यष्टि रूप से सृष्टि की उत्पत्ति समान रूप से चर्चित है ।

(३) (य) जो सोम (दिवः परि) सूर्य में (रघुयामा) हलका सूक्ष्म रूप होकर विचरता है (स) वह (पवित्रे) मलादि दोष रहित, (सिन्धो) स्रवण करने हारे जल के (ऊर्मौ) सघात रूप में (वि अव्यत) नाना प्रकार से धारित होता है ।

(४) (सुत) सबका प्रेरक वह सोम, सर्वोत्पादक (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (पवित्रे) स्वच्छ मलरहित पदार्थों में (त्विषिम्) कान्ति को

(दधान) धारण करता हुआ (चिकित्वान्) नाना पदार्थों को प्रकाशित करता और (विचक्षण) समस्त पदार्थ को देखता और दिखाता हुआ अति (आपवति) सर्वत्र व्यापक है ।

(५) (सुत·) वह सबका प्रेरक, सर्वोत्पादक (परावत·) दूर के (अथो) और (अर्वावत) समीप के लोक को (आविवासति) प्रकाशित करता है । 'इन्द्राय) ऐश्वर्यशील सृष्टि या आत्मा के जन्म के निमित्त (मधु) आनन्दकारी मधुर ज्ञानरूप से (सिच्यते) सेचन किया जाता है।

(६) (समीचीना·) उत्तम उद्देश्य से एकत्र हुए विद्वान् लोग (हरिं) सर्वव्यापक परमात्मा को (अद्रिभि) दृढ़ साधनों द्वारा (हिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, और (इन्द्राय) अपने आत्मा के (पीतये) ज्ञान और आनन्दरस के पान कराने के लिये (इन्दुम्) हृदय में कान्ति रूप से स्थित होने वाले आनन्दरस की (अनूषत) स्तुति करते हैं ।

[६०४] हिन्वन्ति सूरमुस्रय स्वसारं जामयस्पतिम् ।
महामिन्दुं महीयुव ॥ १ ॥
[६०५] पवमान रुचारुचा देव देवेभ्य सुतः ।
विश्वा वसून्याविश ॥ २ ॥
[६०६] आ पवमान सुष्टुतिं वृष्टिं देवेभ्यो दुवः ।
इषे पवस्व संयतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ६५ । १-३ ॥

(१) (उस्रय·) गतिशील, (स्वसार·) स्वयं सरण या गमन करने वाली (जामय) भार्याओं या भगिनियों के समान ये इन्द्रिया या प्रजागण (महीयुव·) महत्व की आकांक्षा करती हुई (महा) पूजनीय, (इन्दुं)

६०४—(०) 'देव देवेभ्यस्परि' इति ऋ० ।

आह्लादक उस आनन्दमय (सूरं) प्रेरक और उत्पादक (पतिं) पति के समान पालक को (हिन्वन्ति) स्तुति करती और प्राप्त होती हैं ।

(२) हे (पवमान) सर्वव्यापक, परमपावन परमात्मन् ! (देवेभ्यः) विद्वानों के निमित्त (सुतः) प्रकट होकर आप (विश्वा) समस्त (वसूनि) आवास-योग्य लोकों में (आविश) व्यापक हैं ।

(३) हे (पवमान) परमपावन, सर्वव्यापक ! (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-सम्पन्न विद्वानों की (दुवः) प्रार्थनोपासना और कामनाओं को पूर्ण करने के लिये (सुस्तुतिं) उत्तम प्रशंसा योग्य स्तुतिरूप वेदवाणी और (इषे) अन्नादि पदार्थों के लिये (वृष्टिं) आनन्दरस की वृष्टि को (संयतम्) नियमपूर्वक (पवस्व) प्रदान कीजिये । अर्थात्-हे परमेश्वर ! विद्वान् पुरुषों के सुख के लिये अन्नों के लिये, नियमपूर्वक वृष्टि और भजन और उपासना के लिये उत्तम स्तुति रूप वेदवाणी प्रदान करें ।

इति द्वितीय खण्डः ।

---

[१०७] जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे । घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः ॥ १ ॥

[१०८] त्वामग्ने अङ्गिरसो गुहाहितमन्वविन्दञ्छ्रथियाणं वनं । स जायसे मन्यमानः सहो महत्त्वमाहुतः सहसः पुत्रमद्भिरः ॥ २ ॥

[१०९] यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितमग्निं नरस्त्रिषधस्थे समिन्धते । इन्द्रेण देवैः सरथं स बर्हिषि सीदन्नि होता यजथाय सुक्रतुः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ५ । ११ । १, ५, २ ॥

१०९— 'समीधिरे' इति ऋ० ।

भा०—(१) (जनस्य गोपाः) समस्त जनों और जन्तुओं का रक्षक, (जागृविः) सदा जागरणशील, कभी आलस्य न करने वाला (सुदक्ष०) उत्तम बल से सम्पन्न, (घृतप्रतीकः) घृत, दीप्ति विशेष, ओजस्विता से सर्वत्र पहिचानने योग्य, (शुचि०) शुद्ध, स्वच्छ अन्तःकरण वाला, निष्कपट (अग्निः) सबको आगे ले चलने वाला, आचार्यस्वरूप, अग्नि के समान तेजस्वी नायक, परम पुरुष, सबके (नव्यसे) नये २ अपूर्व (सुविताय) कल्याण के लिये (अजनिष्ट) प्रकट होता है। और वही (बृहन्ना) बड़े भारी (दिविस्पृशा) आकाश तक को स्पर्श करने वाले सूर्य समान तेज से (भरतेभ्यः) भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों के लिये (शुमत्) ज्ञानमय प्रकाशस्वरूप होकर (विभाति) विशेष रूप से शोभा देता है। अग्नि और सूर्य के दृष्टान्त से विद्वान् और ईश्वर का वर्णन किया गया है।

(२) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप प्रकाशस्वरूप परमात्मन्[1] (वने वने) जिस प्रकार जंगल २ में, या काष्ठ२में आग गुप्तरूप से रहती है उसी प्रकार जीव२, जीव में (शिश्रियाणं) व्यापक (गुहाहितं) हृदय में छुपे हुए (त्वा) तुझको (अगिरस०) ज्ञानी लोग प्रत्येक पदार्थ में (अनु अविन्दन्) खोज करते और प्राप्त करते हैं। (सः) वह आप (सहः) सर्वशक्तिमान् (मथ्यमान) हृदयदेश में पुनः प्रत्याहरण या मनन करने योग्य, (महत्) महान् हैं। हे (अगिरः) ज्ञानस्वरूप[1] (त्वां) आपको (सहसस्पुत्र) योगशक्ति, या योगबल से पुरुष की पापों से रक्षा करने हारा (आहुः) कहते हैं। आत्मा, विद्वान्, परमात्मा और अग्नि चारों पक्षों में स्पष्ट है।

(३) (नरः) विद्वान् लोग (यज्ञस्य) देवपूजा एवं संगति आदि धर्मकार्य के (केतुं) बतलाने वाले, (प्रथमं पुरोहितं) सब से प्रथम, साक्षीरूप से स्थित परमेश्वर को (त्रि-सधस्थे) तीन प्राणों के एकत्र होने के प्रदेश त्रिपुटी में (समिन्धते) प्रज्वलित करते हैं। (स०) वह (बर्हिषे) इस जीवन यज्ञसे सम्पन्न, परावर बुद्धि को प्राप्त, ज्ञान और जीवन रूप

यज्ञ में (इन्द्रेण) इस आत्मा और (देवैः) इन्द्रियों के साथ (होता) सबको अपनी ओर बुलालेने हारा, सब सुखों का दाता (सुकृतः) उत्तम प्रज्ञान और कर्म करने हारा, सबका रचयिता परमात्मा (यजथाय) यज्ञ सम्पादन या आनन्द प्रदान करने के लिये (सरथं) समान रूप से रमण करने योग्य हृदय-देश में (नि सदत्) विराजमान होता है । आधिदैविक पक्ष में-इन्द्र=महान् विद्युत् और देव=अन्य पञ्चभूत और बर्हि=अन्तरिक्ष, यजथ=ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ ।

[६१०] अया वां मित्रावरुणा सुत. सोम ऋतायुधा ।
ममदिह श्रुत हवम् ॥ १ ॥

[६११] राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे ।
सहस्स्थूण आशाते ॥ २ ॥

[६१२] ता सम्राजा घृतासुती आदित्या दानुपस्पती ।
सचेते अनवह्वरम् ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० २ । ४१ । ५-६ ॥

भा०—(१) हे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, प्राण और उदान के समान अध्यापक और शिष्य ! (ऋतायुधौ) सत्य ज्ञान और जीवन को बढ़ाने वाले (वां) आप दोनों के लिये (अयं) यह (सोम) ओषधियों का रस, या जीवन का रस, या ज्ञान (सुत) तय्यार है । (मम इत्) मेरा ही (हव) आह्वान, आदेश (श्रुतम्) आप लोग श्रवण करें ।

जिस प्रकार प्राण और उदान सब रस ग्रहण करके जीवन को बढ़ाते हैं उसी प्रकार सत्यज्ञान के घर्षक अध्यापक और शिष्य भी ज्ञान का रस लेते हैं । उनके प्रति सब लोग अपना प्रेम प्रकट करें ।

(२) हे मित्र और वरुण ! प्राण और अपान आप दोनों (राजानौ) इस शरीर के राजा, (अनभिद्रुहौ) परस्पर द्रोह न करने हारे (उत्तमे)

उत्कृष्ट (ध्रुवे) नित्य (सहस्रस्थूणे) सहस्रों स्तम्भों के समान सत्कर्मों के आश्रय विराजमान (सदसि) भवनरूप, सत्यस्वरूप, सर्वाश्रय आत्मा में (आशाते) उपविष्ट हों । प्राण और उदान अध्यापक शिष्य, राजा, राजमन्त्री और ब्रह्म, जीव तथा जीव और मन सबका वर्णन भी समान है।

(३) (तौ) वे दोनों (घृताप्रुती) प्रदीप्त तेज को उत्पन्न करने हारे, (आदित्या) आदित्य के समान प्रकाशमान, अखण्डित, (दानुन पती) धनों के स्वामी (सम्राजौ) सम्राट् के समान तेजस्वी मित्र और वरुण, प्राण और उदान (अनवह्वर) सरल, कपटादि रहित होकर (सचेते) परस्पर मिलकर कार्य करते हैं।

[६१३] इन्द्रो॑ दधी॒चो॒ अस्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः ।
जघान नव॒तीर्नव ॥ १ ॥
[६१४] इच्छन्नश्वस्य यच्छिर॑ पर्व॒ते॒ष्वप॑श्रितम् ।
तद्विदच्छर्य॑णावति ॥ २ ॥
[६१५] अत्राह गो॒रम॑न्वत॒ नाम॒ त्वष्टु॒रपी॑च्यम् ।
इत्था॑ चन्द्र॒मसो॑ गृ॒हे ॥३॥८॥अ० १ । ८४ । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७६] पृ० ६७० ।

(२) (पर्वतेषु) पोरुओं वाले मरुदण्ड के मांहरों में (अपश्रितं) स्थित (अश्वस्य) शरीर में व्यापक, आत्मा का यत् जो (शिरः) मुख्य अंश है उसको (इच्छन्) चाहता हुआ (इन्द्र) आत्मा (शर्य-णावति) हृदय-देश में (तद्) उसको (विदद्) प्राप्त करता है ।

मधुविद्या या ब्रह्मविद्या का उपदेश करने वाला दधीचि का शिर अश्वियों ने काट दिया, वह शर्यणावत् तालाब में पड़ा था । उसको इन्द्र ने अपना वज्र बनाने के निमित्त उसी स्थान पर पाया । ऐसी कथा प्रसिद्ध

है । इस अलंकार में ध्यान धारणा से सम्पन्न योगी आत्मा दर्शाया है । उसका ब्रह्मज्ञानोपदेशक शिरोभाग जो प्राण और उदान को ठीक रखने का शिक्षण करता है मस्तक भाग में है । काम क्रोधादि पर वश करने वाला इन्द्र आत्मा उसी चित् केन्द्र को खोज करता है जिसके प्राण और अपान वश में हैं । वह उसको सम्प मस्तक में पाता है और ८१० प्रकार की मनोवृत्तियों पर वश करता है । यह अलंकार है ।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [१४७] पृ० ८१ ।

[६१६] ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
इमं वामस्य मन्मन इन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिः ।
३ २ ३ १ २
अभ्राद्वृष्टिरिवाजनि ॥ १ ॥

[६१७] २ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शृणुतं जरितुर्हवमिन्द्राग्नी सोमपीतये ।
३ १ २ ३ १ २
ईशाना पिप्यतं धियः ॥ २ ॥

[६१८] १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २
मा पापत्वाय नो नरेन्द्राग्नी माभिशस्तये ।
१ ३ ३ २
मा नो रीरधतं निदे ॥ ३ ॥ ६ ॥ प० ७ । १४ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि महान् गुरु शिष्य, यज्ञ और ज्ञान ! (वाम्) आप दोनों का (इदम्) यह पूर्वोक्त (मन्मन) मननशील विद्वान् पुरुष से (अभ्रात्) मेघ से (वृष्टि इव) वर्षा के समान (अजनि) प्रकट होता है ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) गुरु शिष्य के समान यज्ञ और ज्ञान अग्नि ! (जरितुः) स्तुति करने हारे विद्वान् के (हवम्) आह्वान या स्तुति को तुम दोनों (शृणुतं) श्रवण करो । और (पीतये) अन्नादियों के (धियः) यज्ञ, शिल्प का (ईशाना) ऐश्वर्यवान् होते हुए (पिप्यतं) यज्ञ प्रजा के कार्यों को (पिप्यतं) पूर्ण करते हैं (सम्पन्न करते हैं) ।

(३) हे (नरा) नेताओ ! (इन्द्राग्नी) गुरु, शिष्य ! या अध्यापक उपदेशक ! या परमेश्वर और आचार्य ! सूर्य और अग्नि के समान ब्रह्म और जीव ! आप दोनों (नः) हमें (पापत्वाय) पापकार्य के लिये और (अभिशस्तये) पराधीनता या हिंसा कार्य के लिये और (निदे) निन्दा-जनक कार्य, या निन्दा करने के लिये (मा रीरधतं) कभी किसी के वश में न होने दें ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[६१६] पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे ।
मरुद्भ्यो वायवे मदः ॥ १ ॥

[६२०] स देवै शोभते वृषा कविर्योनावधि प्रियः ।
पवमानो अदाभ्यः ॥ २ ॥

[६२१] पवमान धिया हितोऽभियानि कनिक्रदत् ।
धर्मणा वायुमारुहः ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । २५ । १,३,२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७४] पृ० २३९ ।

(२) (वृषा) सब सुखों का वर्षण करने वाला, (पवमानः) सब को ज्ञानदान से पवित्र करने हारा, (अदाभ्य) किसी से हिंसा न करने योग्य, (प्रियः) सबको प्रिय (कविः) विद्वान्, क्रान्तदर्शी, मेधावी (योनौ अधि) अपने आश्रय में ही (देवैः) अन्य विद्वानों, या सहचर इन्द्रियगणों, या वायु आदि देवों के साथ (शोभते) शोभा देता है ।

राजा, योगी आत्मा, परमात्मा सब के पक्ष में समान है ।

६१९—'वृत्रहा देववीतय' इति ऋ० ।

६२१—'वायुमाविश,' इति ऋ० ।

(३) हे (पवमान) आत्मन् ! (धिया) ध्यान के बल से (अभि-योनिं) अपने मूलस्थान, आश्रय, हृदयदेश में (हितः) स्थिर होकर (कनिक्रदत्) अनाहत नाद या ईश्वर की स्तुति करता हुआ धर्मण्या) अपने धारक प्रयत्न द्वारा (वायुम्) प्राणवायु पर (आ अरुह-) वश कर ।

[६२२] नवाह साम रारण सख्य इन्दो दिवेदिवे ।
पुरूणि यभ्रो निचरन्ति मामव परिधीँ रति सो अदि ॥१॥

[६२३] तवाह नक्तमुत सोम ते दिवा दुहानो यभ्र ऊधनि ।
घृणा तपन्तमति सूर्यं पर शकुना इव पप्तिम ॥२॥११॥

ऋ० ९ । १०७ । १०-२० ।

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६१६] पृ० २६५ ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! हे (यभ्रो) मनुष्य संसार के भरण पोषण करने हारे परमेश्वर ! (नक्तं) रात में (तव) तेरे (वयं) हम (दिवा) दिन में भी (ते) तेरे हो । ऊधनि) रसमय कोश में (अह) मैं (दुहान-) रस प्राप्त करता हुआ । ऊधनि शकुना इव) उषःकाल के अवसर में पक्षियों या रश्मियों के समान हम । घृणा) दीप्ति से (तपन्तं) जाज्वल्यमान (सूर्यम्) सूर्य के समान सर्वोपरि पद । परमेश्वर के पास देखकर (अति पप्तिम) अतिक्रमण कर पार करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय ।

[६२४] पुनानो अक्रमीदभि विश्वा मृधो विचर्षणिः ।
शुम्भन्ति विप्रं धीतिभिः ॥ १ ॥

[६२५] आ योनिमकृपा सहस्रं भसद्विप्रा घृणा सुनस ।
धर्म सधस्थे अदितेः ॥ २ ॥

[१२६] नू नो रयिं महामिन्दोऽकमभ्यं सोम विश्वतः ।
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । ४० । १–३ ॥

(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८८] पृ० २४४ ।

(२) (अरुण०) अरुणवर्ण, कान्तिमान्, सोम (योनिम्) मूल-स्थान, हृदय-देश में (असदत्) प्रकट होता है और (वृषा) सुखों का वर्षक (इन्दुः) आत्मा (सुतम्) आनन्दस्वरूप में प्रकट हुए उसके प्रति (गमत्) झुक जाता है । वह आनन्दस्वरूप परमात्मा मेरे (ध्रुव) स्थिर (सदसि) आश्रयस्थान आत्मा में (सीदतु) सदा विराजमान हो ।

(३) हे (इन्द्रो) सोम ! (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सहस्रिणं) सब सुखों से युक्त (महा) विशाल (रयिम्) ऐश्वर्य को (विश्वतः) सब ओर से (नः आ पवस्व) प्राप्त कराओ ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

[१२७] पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा य ते सुषाव हर्यश्वाद्रिं ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयता नार्वा ॥ १ ॥
[१२८] यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि ।
स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥
[१२९] वोथा सु मे मघवन्वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् ।
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥३॥ १३ ॥ ऋ० ७।२२।१–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० (३९८) पृ० २०४ ।

(२) हे (हर्यश्व) हरणशील, अश्वरूप इन्द्रियों और मन से युक्त आत्मन् ! (यः) जो (ते) तेरा (युज्यः) योग समाधि से उत्पन्न होने वाला (मद०) आनन्द (चारु०) मनोहर, उपभोग करने योग्य (अस्ति)

है और (येन) जिसके बल पर तू (वृत्राणि) आवरणकारी विघ्नों, काम, क्रोध आदि शत्रुओं को (हंसि) विनाश करता है । हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! हे (प्रभूवसो) समस्त प्राणियों में बसने हारे ! (सः) वह (त्वा) तुझको (ममत्तु) आनन्दित करे ।

(२) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (वसिष्ठ) वसिष्ठस्वरूप, इन्द्रिय या मुख्य प्राण, या विद्वान् पुरुष (या) जिस (प्रशस्ति) उत्तम गुण वर्णन करने वाली (वाच) वाणी को (अर्चति) प्रकट करता है (इमा) इस (मे) मेरी वाणी को (सुबोध) तू उत्तम रूप से ज्ञान कर । और (इमा) इन (ब्रह्म) वेदमन्त्रों को (सधमादे) एकत्र हर्ष प्राप्त करने के स्थान यज्ञ आदि, अथवा त्रिपुटी या हृदयदेश में (जुषस्व) सेवन कर, उनका मनन कर ।

[६३०] विश्वाः पृतना अभिभूतरन्नर. सजूस्ततक्षुरिन्द्रञ्जजनुश्च
राजसे । ऋत्वे वरे स्थेमन्यामुरिमुताग्रमांजिष्ठ तरसं
नरास्विनम् ॥ १ ॥

[६३१] नेमिं नमन्ति चक्षसा मर्षं विप्रा अभि स्वर ।
सुदीतया वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विन समृक्वभि. ॥ २ ॥

[६३२] ममु रमासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्व. पतिर्यदी वृध धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभि ॥३॥१४॥

ऋ ८ । ६७ । १०, १२, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३७०] पृ० १६१ ।

(२) (विप्रा) मेधावी, ज्ञानी लोग (चक्षसा) अपने दर्शन कराने हारे आलोक से साक्षात् करके (अभिस्वरे) गायन में (नेमिं) नमन करने हारे (नेम) सूर्य या मेघ के समान सुखों के वर्षाने वाले इस परमात्मा को ही

(नमन्ति) नमस्कार करते हैं । (व.) आप लोग भी (सुदीतयः) उत्तम कान्तिसम्पन्न और (अदुहः) परस्पर द्रोह न करते हुए (तरस्विनः) शीघ्र कार्य सम्पादक होकर (ऋक्वभि) वेदमन्त्रों से (कर्वे) प्रत्यक कार्य में उसी का नमस्कार करें ।

(३) (रभसः) स्तुति करने हारे, गायक, विद्वान् लोग (सोमस्य) आनन्दरूप सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (इन्द्र उ) इस आत्मा को लक्ष्य करके ही (सम् अस्वरन्) एकत्र होकर गान करते हैं । (यद् ईं) और जब (घनव्रतः) सब को धारण करने वाला आत्मा (वृधे) बढ़ता है, शक्तिशाली और उन्नत होता है तब ही वह (ओजसा) अपने तेज से (ऊतिभि) अपने बलशील, प्राणों सहित (सं) एक साथ वृद्धि को प्राप्त होता है ।

२ ३ १२ ३ १उ ३ १ २ ३ १ २

[६३३] यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।

१ २ ३ १ १२ ३२ ३ १ २३ २ ३ २

विश्वासां नरुता पृतनानां ज्येष्ठं यो वृत्रहा गृणे ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३४] इन्द्रन्तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवस यस्य द्विता विधर्त्तरि ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३२

हस्तेन वज्रः प्रतिधायि दर्शतो महो दिवो न सूर्यः ॥ २ ॥

अ० ८ । ७० । १—२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७३] पृ० ३४० ।

(२) हे (पुरुहन्मन्) इन्द्रियों को वश करने हारे आत्मन् ! (तं) उस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशील परमेश्वर को (अचमे) अपनी रक्षा के लिये (शुम्भ) पुकार, स्मरण कर (यस्य) जिस तेरे अपने (विधर्त्तरि) विविध प्रकार से पालक पोषक परमेश्वर में (द्विता) स्वामी सेवक, भक्त भगवान् का सा भेद है । और जिसने (हस्तेन) हाथ से खड्ग के समान अज्ञानान्ध-

६३३—१. 'हस्तेन', 'महो दिवे न' इति ऋ० ।

कार का नाशक (वज्रः) ज्ञानमय वज्र (प्रतिधायि) धारण किया है, वह (दर्शत) दर्शनीय (महां) महान्, (देव॰) सब सुखों का दाता, (सूर्यं न) सूर्य के समान सब ज्ञानों का प्रकाशक और प्रेरक है ।

इति पञ्चम खण्डः ।

—:०:—

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ १२ ३क २१ ३ २

[६३५] परि प्रिया दिव. कविर्ययासि नप्त्योर्हितः ।

३ १ २ ३ १ २

स्वानैर्याति कविक्रतु ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[६३६] स सूनुमानरा शुचिर्जातो जाते अरोचयत् ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २

महान्मही ऋतावृधा ॥२॥

१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ १

[६३७] प्र प्र क्षयाय पन्यसे जनाय जुष्ट अद्रुहे ।

३क १२ ३ १ २

वीत्यर्ष गनिष्टयं ॥३॥१६॥ अ० १ । ६ । १, २, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४१६] पृ० २३१ ।

(२) (सः) वह सर्वोत्पादक परमेश्वर (सूनु) पुत्र के समान हर्ष का सञ्चारक, समस्त ऐश्वर्यों का देने वाला, सब लोकों का प्रेरक (जात) होकर (शुचि.) स्वच्छ, कान्तिमान् (महान्) यशस्वी है । वह (जाते) प्रसिद्ध हुए (ऋतावृधा) सत्य ज्ञान और नियम को बढ़ाने वाले (द्यावा) मा बाप दोनों को पुत्र के समान, आकाश और पृथिवी तुल्य विस्तृत और सर्व पुरुष, राजा और प्रजा दोनों को (अरोचयत) प्रकाशित करता है ।

(३) (पन्यसे) स्तवनीय वा स्तुति करने योग्य (जनाय) पुरुष के लिये (जुष्ट) प्रेम से सेवन करने योग्य (अद्रुहे) द्रोह से रहित हे वाजेश्वर ! आप (क्षयाय) निवास और (वीतिहवं) यज्ञादि

१ ३ क—३ 'अद्रुः' इति [ऋग्वेदे] पाठः ।

स्तुति और (वीती) रक्षा और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (प्र) अच्छी प्रकार (अर्ष) हमें प्राप्त हो ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६३८] त्वं ह्या२ङ्ग दैव्य पवमान जनिमानि द्युमत्तमः ।

३ १ २ ३ १ २

अमृतत्वाय घोषयन् ॥१॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ङ ३ १ २ ३ २

[६३९] येना नवग्वा दध्यङ्ङपोर्णुते येन विप्रास आपिरे ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ५ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

देवानां सुम्ने अमृतस्य चारुणो येन श्रवांस्याशत॥२॥१७॥

ऋ० ९ । १०८ । ३, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५८३] पृ० २९३ ।

(२) (नवग्वा) सदा अभिनव वेदवाणियों को ग्रहण करने वाला, नव-शिक्षित (येन) जिस परमब्रह्म के द्वारा (दध्यङ्) विद्वान्, ध्यानवान् होकर (अप ऊर्णुते) ज्ञान प्रकट करता है। (येन) जिसके बल पर (विप्रास) विद्वान् मेधावी जन वेदमन्त्रों के तत्व या परमपद को (आपिरे) पहुंचते हैं । और येन जिसके बल पर (देवाना) विद्वान् दिव्यगुणसम्पन्न महात्माओं के (सुम्ने) सुखकारी यज्ञादि स्थानों में (चारुणः) उत्तम (अमृतस्य) आत्मा के (श्रवांसि) ज्ञान-रहस्यों को (आशत) विद्वान् लोग प्राप्त करते हैं । हे परमेश्वर ! वही तुम हमें प्राप्त होवो ।

१ २ ३ २ ३ २ङ ३ २ ३ १ २

[६४०] सोमः पुनान ऊर्मिणाव्यं वारं वि धावति ।

१ २ ३ १ २र ३ १ २

अग्रे वाचः पवमान कनिक्रदत् ॥१॥

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४१] धीभिर्मृजन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तमत्यविम् ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

अभि त्रिपृष्ठं मतयः समस्वरन् ॥२॥

६३८—२ 'नवग्वो', 'आनशुः' इति इति ऋ० ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ड ३ १ २ ३ २
[६४२] असर्जि कलशां अभि मीढ्वान् त्सप्तिर्न वाजयु ।
३ १ २ ३ १ २
पुनानो वाचञ्जनयन्नसिष्यदत् ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ६ । १०६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५७२] पृ० २८८ ।

(२) (वने) शरीर में (क्रीडन्तं) नाना कर्मों को या क्रीड़ा, विनोद, करते हुए (वाजिनं) अति बलवान्, ज्ञानी (अत्यविम्) शरीरबन्धन को अतिक्रमण करके विराजमान, अतीन्द्रिय आत्मा को (धीभिः) धारणावाली बुद्धियों और उत्तम कर्मों द्वारा (मृजन्ति) परिशोधन करते, उसको स्वच्छ और समाहित करके और भी अधिक विवेक से उसके दर्शन करते हैं । (मतयः) मननशील मुनि लोग (त्रिपृष्ठं) मन, वाक्, काय तीनों स्थानों पर विराजमान उस आत्मा को (अभि सम् अस्वरन्) साक्षात् स्तुति करते हैं ।

(३) (मीढ्वान्) आनन्दघन, वह सोम (वाजयुः) सग्राम में जाने हारे (सप्तिः न) अश्व के समान (कलशान् अभि) सकल देहों में (असर्जि) प्रकट होता है । और (पुनानः) सब मलों को दूर करता हुआ (वाचम्) वाणी को (जनयन्) प्रकट करता हुआ (असिष्यदत्) द्रवित होता है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[६४३] सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३
पृथिव्याः । जनितान्नंजनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनि-
१ २
तोत विष्णोः ॥१॥
३ २ ३ १ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[६४४] ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
[६४५] प्राचीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिरस्तामाप्नवमानो मनीषाः
३ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अन्त. पश्यन्वृजनेमावराण्यातिष्ठति वृषभो गोषु जानन्
॥ ३ ॥ १९ ॥ ऋ० ९ । ९६ । ६,७॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२७] पृ० २६२ ।

(२) (सोम.) सोम (देवाना) इन्द्रियों और विद्वानों के बीच में (ब्रह्मा) समस्त विद्या के ज्ञाता के समान, (कवीना) क्रान्तदर्शी तत्वज्ञानियों का (पदवीः) मार्गदर्शक, (विप्राणा) मेधावी पुरुषों में (ऋषि.) मन्त्रों के अर्थों का द्रष्टा, (मृगाणा) मृगों के बीच में (महिष.) महिष के समान बलवान्, (गृध्राणा) गृध्र आदि पक्षियों में (श्येन) श्येन के समान आकांक्षा शीलों में बलवान् (वनानां) जंगल के वृक्षों के बीच (स्वधिति) कुठार के समान कर्मबन्धनों के नाश करने हारा (सोमः) आत्मा (रेभन्) अनाहत नाद करता हुआ (अति एति) सब जालों को पार करके (पवित्रं) शुद्ध निर्मल ब्रह्म को प्राप्त होता है।

यास्काचार्य के मत से अध्यात्म पक्ष में—(ब्रह्मा देवानां) यह आत्मा देवनकर्मा क्रीडाशील इन्द्रियों का ब्रह्मा अर्थात् साक्षी है । (पदवी कवीना) चेतन के समान काम करने वाली पदार्थों का ज्ञान करने वाली इन्द्रियों के पद को जानने वाला है । (ऋषि विप्राणा) व्यापन कर्मा इन्द्रियों को गति देने वाला है । (महिषः मृगाणां) विषयों को खोजने वाली इन्द्रियों में से सबसे बड़ा है। (श्येन॰ गृध्राणां) विषयाभिलाषी ज्ञानशील इन्द्रियों के बीच यह आत्मा स्वत चेतन ज्ञाता है । (स्वधिति वनाना) विषयों के सेवने वाली इन्द्रियों के कर्मों को स्वय अपने में धारण करता है । ऐसा सोम, आत्मा (पवित्र) इन्द्रियों पर ही (रेभन्) स्वयं स्तुति किया जाकर (अति एति) उन द्वारा सब अनुभव करता, सबसे ऊपर विराजता है (निरु० प० अ० २ । १३) ।

(३) (पवमान॰) पवित्र, शुद्ध, ज्योतिर्मय आत्मा (मनीषा) मनन साधनों की प्रेरणा करने वाला (सिन्धु॰ न) नदी के प्रवाह के समान (वाचं) वाणी के (ऊर्मिम्) तरंग को (प्रावीविपत्) प्रेरित करता है। और (गिर॰) वाणियों या स्तुतियों के (स्तोमान्) समूहों को भी प्रकट करता है और स्वयं अपने को (अन्तः) भीतर की ओर (परयन्) देखता हुआ (गोषु) इन्द्रियरूप गौओं में (वृषभ॰ इव) बैल के समान वीर्य या बल का सेचन करता हुआ (अवराणि) न वरण करने योग्य, अर्थात् त्याग करने योग्य, अथवा अपने अधीन (हमा) इन (वृजिना) वेगवती इन्द्रियों वृत्तियों को (आतिष्ठति] वश करता है।

इति षष्ठः खण्ड ।

—:o:—

३ २र २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[६४६] अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।

१ ३ २ ३ १ २

अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥१॥

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २

[६४७] अयं यथा न आभुवत् त्वष्टा रूपेव तक्ष्या ।

३ २ड ३ १ २

अस्य क्रत्वा यशस्वतः ।

३ १ २र ३ २ड ३ २ ३ १ २

[६४८] अयं विश्वा अभिश्रियोऽग्निर्देवेषु पत्यते ।

२ड ३ १ २

आ नाजैरुप नो गमत् ॥३॥२०॥ ऋ० ८ । १०२ । १७-१९

भा०— १) क्यारवा देखो अधिकल सं० [२१] पृ० ६ ।

(२) (यथा इव) जिस प्रकार तक्षवान शिल्पी (तक्ष्या) काट २ कर बनाने योग्य (रूपा) पदार्थों को बनाता है उसी प्रकार (यथा) यथावत् ठीक ठीक (अयं) यह (अग्नि॰) सबका अग्रणी, सबसे पूर्व विद्यमान ज्ञानवान् परमेश्वर भी (नः) हमारे लिये सब (क्रत्वा) कर्मों सामर्थ्यों को (आभुवत्) बनाता है। हम लोग भी (यशस्वतः)

समस्त महिमा वाले (अस्य) इसके ही (क्रत्वा) ज्ञान और कर्म सामर्थ्य क द्वारा उत्पन्न हुए हैं।

(३) (देवेषु) दिव्यगुणों से युक्त समस्त पदार्थों, लोकों और विद्वानों से (अयं) यह (अग्निः) ज्ञानवान् परमात्मा (विश्वाः) समस्त (श्रियः) लक्ष्मियों को (अभिपत्यते) प्राप्त है, उनका स्वामी है । वह (नः) हमारे पास (वाजैः) अन्नों बलों ज्ञानों और कर्मों और ऐश्वर्यों द्वारा (उप आगमत्) हमें प्राप्त हो।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६४९] इमामिन्द्र सुत पिब ज्यष्ठममर्त्यं मदम् ।
३ १ २ ३क २र ३ १ २ ३ ? ३ १ ?
शुक्रस्य त्वाभ्यक्षरन्धारा ऋतस्य सादने ॥१॥
२ ३ ? ३ १ ४ २ ३ १ ? ३ १ २
[६५०] नकिष्ट्वद्रथीतरो हरी यदिन्द्र यच्छसे ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
नकिष्ट्वानु मज्मना नकिः स्वश्व आनशे ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
[६५१] इन्द्राय नूनमर्चतोक्थानि च ब्रवीतन ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सुता अमत्सुरिन्दवो ज्यष्ठं नमस्यता सहः ॥ ३ ॥ २१ ॥

ऋ० १ । ८४ । ४, ६, ५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४४] पृ० १७८ ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्) क्योंकि तू संसार को चलाने हारे बलवान् अश्वों के समान (हरी) ज्ञान और शक्तिरूप बलों को (यच्छसे) नियम में रखता है अतः (त्वत्) तुझ से (रथीतरः) बड़ा रथका स्वामी या अधिक आनन्दरस और बलवाला (नकिः) कोई दूसरा नहीं है । (मज्मना) बल के कारण भी (त्वा अनु) तेरे मुकाबले पर (नकिः) कोई नहीं है । और (सु-अश्वः) उत्तम व्यापन शक्ति से सम्पन्न या वेगवान् कोई पदार्थ भी (नकिः आनशे) इस संसार में तुझसे बढ़कर और कोई व्यापक नहीं है ।

(३) हे मनुष्यो ! उस (इन्द्राय) ऐश्वर्यशील परमेश्वर की (अर्चत) उपासना करो और (उक्थानि च) सूक्तों वेदमन्त्रों का (प्रवादत) उच्चारण करो । जिस के आश्रय में (सुताः) ये समस्त संसार के उत्पन्न (इन्द्रवः) कान्तिमान, दिव्यगुण सम्पन्न पदार्थ और साधकगण (अमत्सुः) आनन्दलाभ कर रहे हैं । उस (सहः) सर्व शक्तिमान् (ज्येष्ठं) सबसे बड़े और अधिक प्रशंसनीय परमात्मा को (नमस्यत) नमस्कार करो ।

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[६५२] इन्द्र जुषस्व प्रवहायाहि शूर हरिह ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ १ २
पिबा सुतस्य मतिन मधाश्चकानश्चारुमदाय ॥१॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[६५३] इन्द्र जठर नव्य न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्य सुतस्य स्वाऽऽऽजोप त्वा मदा सुवाचो अस्तुः॥२॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
[६५४] इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो न जघान वृत्र यतिर्न ।
३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
विभेद वल भृगुर्न ससाहे शत्रून्मद सोमस्य ॥३॥२२॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन् ! तू (जुषस्व) इस आनन्दरस का सेवन कर । (आयाहि) आ प्रकट हो । हे (शूर) बलवान् शक्ति शालिन् ! हे (हरिह) इन्द्रियरूप घोड़ों का ताड़न करने हारे ! (सुतस्य) इस उत्पन्न आनन्दरस को (पिब) पान कर (मति न) मनन करने हारे ज्ञानवान् के समान (चारु) अत्यन्त मनोहर होकर (मदाय)

६५२—'चतुस्त्रिंशदक्षराणि स्तुता भवन्ति इत्यत', 'प्रवह' 'इहि 'मतिन' इति नवोपसर्गाक्षराणि प्रथमस्यानुचि, द्वितीयस्या 'नव्य न' 'दिवो न' 'पवस्व' इति नवोपसर्गाक्षराणि, तृतीयस्या 'मित्रो न, 'यतिर्न' 'भृगुर्न' इति नवोपसर्गाक्षराणि भवन्ति ॥

हमें आनन्द प्राप्त करने के लिये (मधो.) मधुर ब्रह्मरस की (चकान.) कामना कर सदा उसकी अभिलाषी बना रह उसी को सदा चाह ।

(२) हे आत्मन् ! जिस प्रकार (दिव. न) ज्योति से यह आकाश पूर्ण है उसी प्रकार (मघो) ब्रह्म-आत्मरस से (जठरं) अपने मध्य भीतरी भाग को (नव्यम् इव) सदा तरो ताजा के समान (अस्य सुतस्य) इस सोमरस के (स्व न) अत्यन्त सुखकारक स्वरूपों के समान (मदा) हर्षतरंग रूप (वाच) सुन्दर वाणीया (त्वा) तुझको (सु अस्थुः) प्राप्त हों ।

(३) (इन्द्र.) वह ऐश्वर्यशील आत्मा (मित्रः न) सूर्य के समान (तुरापाट्) हिंसकों का नाशक (यति न) यम नियम के साधक ज्ञानी के समान (वृत्रे) आवरक काम, क्रोधादि शत्रुओं को (जघान) नाश करे (भृगु. न) पापों को भून डालने वाले योगी या आचार्य या अग्नि के समान (बलं) शत्रु की सेना को (विभेद) भेद डालता है (सोमस्य) उसी सोम के (मदे) हर्ष में (शत्रून्) कामादि अन्त शत्रुओं को (स साह) पराजित करता है ।

इति सप्तम. खण्ड. ।

इति तृतीय प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः

इति पञ्चमोऽध्याय.

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

(द्वितीयोऽर्धः)

ऋषि —त्रय ऋषिगणाः । २ काश्यप. ३, ४, १३ असित काश्यपो देवलो वा । ५ अगस्तिः । ६, १६ जमदग्नि. । ७ अरुणो वैतहव्यः । ८ उरुचक्रिरात्रेयः ९ कुरुसुतिः काण्व । १० भरद्वाजो बार्हस्पत्य. । ११ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निर्वा १२ मनुराप्सवः सप्तर्षयो वा । १४, १५, २ । गोतमो राहूगण. । १७ ऊर्ध्वसद्मा कृतयशाश्च क्रमेण । १८ त्रित आप्त्य. । १९ रेभसूनू काश्यपौ । २० मन्युर्वासिष्ठ २१ वसुश्रुत आत्रेय. । २२ नृमेधः ॥ देवता—१—६, ११—१३, १६—२०, पवमान. सोम. । ७, २१ अग्निः । मित्रावरुणौ । ९, १४, १५, २२, २३ इन्द्र. । १० इन्द्राग्नी ॥ छन्द.—१, ७ जगती । २—६ ८—११, १३, १६ गायत्री । २ । १२ बृहती । १४ १५, २१ पङ्क्तिः । १७ ककुप सतोबृहती च क्रमेण । १८, २२ उष्णिक् । १८, २३ अनुष्टुप् । । २० त्रिष्टुप् ॥ स्वर १, ७ निषाद. । २—६, ८—११, १३, १६ षड्ज. । १२ मध्यम. । १४, १५, २१ पञ्चम । १७ ऋषभ. मध्यमश्च क्रमेण । १८, २२ ऋषभ । १९ २३ गान्धार । २० धैवत. ॥

[९५५] गावत्पवस्व वसुविद्धिरण्यविद्रताघा इन्दो भुवनप्रार्पित.।
त्वं सुवीरो असि सोम विश्वा इत् तं त्वा नर उप गिरेम
आसने ॥१॥

[९५६] त्वं नृचक्षा असि सोम विश्वतः पवमान वृषभ ता
विधावसि । सन. पवस्व वसुमद्धिरण्यवद्वय स्याम भुवन-
पु जीवसे ॥२॥

७५६—१. 'त त्वा विप्रा', ऋषि ऋ० ।

३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[६४७] इशान इमा भुवनानि ईयसे युजान इन्दो हरित. सुपर्ण्य.।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २

नाकस्य क्षरन्तु मधुमद् घृतम् पयस्तव व्रते सोम निष्टुन्तु

३ १ २

कृष्टयः ॥३॥१॥ ऋ० ८६ । ३६, ३८, ३७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन् ! आप (गो-वित्) वेदवाणियों, ज्ञानरश्मियों और इन्द्रियों को प्राप्त कराने हारे, एवं समस्त गतिमान् पदार्थों में व्यापक हैं । आप (वसुवित्) सब धनों के दाता, समस्त जीवों को प्राप्त और समस्त वास देने हारे लोकों में व्यापक हैं, आप (हिरण्यवित्) समस्त धनों को प्राप्त करने हारे और समस्त तेजोमय पिण्डों में भी व्यापक हैं । हे (इन्दो) इस समस्त संसार में व्यापक ! हे ऐश्वर्य के स्वामिन् ! आप (भुवनेषु) समस्त लोकों में (रेतोधा) जीवों और नाना प्रकार के सर्गों को उत्पन्न करने के सामर्थ्य को स्वयं धारण करके (अर्पितः) सब में व्याप्त हो, (त्वं) आप (विश्ववित्) सर्वज्ञ और (सुवीर) उत्तम शक्तिमान् (असि) हैं । (तं त्वा) उन आपको (इमे नरः) ये समस्त मनुष्य (गिरा) अपनी वाणी द्वारा (उप आसते) उपासना करते हैं । आप (पवस्व) हमारे हृदयों में प्रकट होइये ।

(२) हे (सोम) सबके प्रेरक ! आप (विश्वतः) सब प्रकार से और सर्वत्र (नृचक्षाः) सब मनुष्यों को देखने हारे हैं । हे (पवमान) समस्त हृदयों में प्रकट होने हारे ! हे (वृषन्) समस्त सुखों के वर्षक ! आप ही (ताः) इन प्रजाओं में (वि धावसि) नाना प्रकार से व्यापक हो रहे हैं । (सः) वह आप (वसुमद्) वास योग्य प्राणों से युक्त (हि-

---

६४७—३ 'हिन्वानो' 'अकान्देवो' इति ऋ० ।

३ 'नीयसे' इति ऋ० ।

श्रवयवत्) हिरण्य आदि सम्पत्तियों वाले, या आत्मा से शुक्र ऐश्वर्य को (न पवस्व) हमें प्रदान करें। (वयं) हम (सुवंनेषु) लोकों में (जीवसे) दीर्घ जीवन प्राप्त करने के (स्याम) समर्थ हों।

(३) हे (ईशान) समस्त संसार के स्वामिन्! हे (इन्दो) ऐश्वर्य से सम्पन्न! आप (हरित॰) हरण करने हारी वेगवान् (सुपर्ण्य॰) और सुन्दर, शोभन, कल्याणकारी मार्ग में गमन करने हारी सात्विक, राजस तामस, देव, मानव, तिर्यङ्, द्यौ, अन्तरिक्ष और भूलोक इन सब में उत्पन्न होने हारी तीनों प्रकार की प्रजाओं को (युजान) सन्मार्ग में नियुक्त करते हुए (इमाः) इन समस्त (भुवनानि) लोकों को (ईयसे) शासन करते हैं। (ता॰) वे सब प्रजाएं (ते) आपके लिये (मधुमत्) ज्ञान से भरे, मधुर, भक्तिरसपूर्ण (घृत) स्नेह और कान्ति से युक्त (पय॰) आनन्दरस को (क्षरन्तु) प्रवाहित करें। (कृष्टयः) श्रमशील मनुष्य प्रजाएं हे (सोम) परमेश्वर! (तव व्रते) आपकी आज्ञा में, व्यवस्था में (तिष्ठन्तु) रहें।

[६५८] पवमानस्य विश्ववित्प्र ते सर्गा असृक्षत।
सूर्यस्येव न रश्मय॰ ॥१॥
[६५९] केतुं कृण्वन्दिवस्परि विश्वा रूपाभ्यर्षसि।
समुद्रः सोम पिन्वसे ॥२॥
[६६०] जक्षाना वाचामभ्यसि पवमान विधर्मणि।
क्रन्दन्नेवो न सूर्य॰ ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ९। ६४। ७, ६ ॥

भा०—(१) हे (विश्ववित्) सर्वज्ञ (सूर्यस्य इव) सूर्य के समान (पवमानस्य) सर्वव्यापक, (ते) तेरे (सर्गा॰) बनाये समस्त जगत्, सूर्य

६५८—३. 'हिन्वानो' 'अक्रान्दवो' इति ऋ०।

से उत्पन्न (रश्मय. न) किरणों के समान (असृक्षत) उत्पन्न होकर गति कर रहे हैं।

(२) हे (सोम) सब जगत् के उत्पादक ! (समुद.) समस्त लोकों को अपने भीतर से धारण करने और प्रकट करने हारे आप समुद्र के समान हैं, अनन्त हैं (दिव. परि) आकाश में (केतुं) अपनी महिमा को बतलाने वाले अथवा सब पदार्थों के ज्ञान कराने वाले सूर्य को (कृण्वन्) रचकर (विश्वा रूपा) समस्त कान्तिमान् और रूपवान् पदार्थों को (अभि अर्षसि) प्रकट करते, स्वयं व्यापते और (पिन्वसे) सब को पूर्ण कर रहे हो।

(३) (सूर्यः न) सूर्य के समान (देव.) सर्वत्र प्रकाशक, (जज्ञान.) आप स्वयं हृदयदेश में प्रकट होकर (विधर्मणि) विशुद्ध आत्मा में (पवमान) स्वयं प्रदीप्त होकर, या ज्ञानधारा के रूपमें क्षरित होकर गर्जते मेघ के समान (क्रन्दन्) उपदेश करते हुए आप (वाचं) वेदवाणी को (इष्यसि) ऋषियों के हृदयों में प्रेरित करते हो।

[१६१] प्र सोमासो अधन्विषुः पवमानास इन्दवः।
श्रीणाना अप्सु वृञ्जते ॥ १ ॥

[१६२] अभि गावो अधन्विषुरापो न प्रवता यतीः।
पुनाना इन्द्रमाशत ॥ २ ॥

[१६३] प्र पवमान धन्वसि सोमेन्द्राय मादनः।
नृभिर्यतो विनीयसे ॥ ३ ॥

[१६४] इन्दो यदद्रिभिः सुतः पवित्रं परिधावसि।
अरमिन्द्रस्य धाम्ने ॥ ४ ॥

१६१—१ 'मृजते', १६३ 'सोमेन्द्राय पातवे' १६४ 'पवित्र परिधावसि' इति ऋ०।

[६६५] त्वं सोम नृमादनः पवस्व चर्षणीधृतिः।
सक्षीयो अनुमाद्यः ॥ ५ ॥

[६६६] पवस्व वृत्रहन्तम उक्थेभिरनुमाद्यः।
शुचिः पावको अद्भुतः ॥ ६ ॥

[६६७] शुचिः पावक उच्यते सोम सुतः स मधुमान्।
देवावीरघशंसहा ॥ ७ ॥ ३ ॥ ऋ० ९। २५। १–७ ॥

भा०—(१) (पवमानासः) भ्रमण करते हुए, (इन्दवः) ज्ञान-सम्पन्न, (सोमासः) बहते जलों के समान सौम्य गुणों से युक्त, शमदमादि के साधक, शान्त स्वभाव, मुक्तजन (श्रीणानाः) अपने अनुभव और ज्ञान में परिपक्व या तपस्वी होकर (अप्सु) प्रजाओं या लोकों में (वृज्यन्ते) भ्रमण करते हैं।

(२) (गाव) गमनशील, ज्ञानी, विद्वानजन, (प्रवता) प्रकृष्ट उत्तम मार्ग में (यतीः) गमन करते हुए (आप. न) जल प्रवाहों के समान (अभि अधन्विषुः) बराबर आगे बढ़ते जाते हैं। और वे (पुनानाः) सब विघ्नों को पार करते हुए और अपने आत्मा को नित्य पवित्र करते हुए (इन्द्रम्) ऐश्वर्यशील उस सबके प्रभु को (आशत) प्राप्त होजाते और आत्मानन्द का लाभ करते हैं।

(३) हे (पवमान) गतिशील ! हे (सोम) विद्वन् शिष्य ! तू (इन्दाय) आचार्यरूप इन्द्र के लिये (मादन) अति प्रसन्नता का कारण होता हुआ (प्र धन्वसि) उत्तम दशा को, उत्तम ज्ञान को प्राप्त हो और (नृभिः) सन्मार्ग के नेता गुरुओं द्वारा (यतः) नियमों में व्यवस्थित होकर (वि नीयसे) विनयपूर्वक शिक्षित किया जावे।

६६५. 'चर्षणीसहे' ९६६. 'सुतस्य मध्वः' इति ऋ०।

(४) हे (इन्दो) उपासक शिष्य ! व ब्रह्मचारिन् ! (अद्रिभिः) पर्वत के समान स्थिर प्रज्ञा वाले विद्वानों से (सुतः) प्रेरित एवं शिक्षित होकर (पवित्र) पावन करने वाले ज्ञानस्वरूप प्रभु के प्रति तू (परिदीयसे) समर्पित किया जा रहा है । अर्थात् ज्ञान और सदाचार के मार्ग में आगे बढ़ रहा है । (इन्दस्य) ज्ञानवान् आचार्य के (धाम्ने) पद, स्थान के लिये (अरं) तू पर्याप्त रूप से योग्य होजा ।

(५) हे (सोम) शिष्य ! ब्रह्मचारिन् (त्वं) तू (नृमादनः) सब नेता गुरुओं के हर्ष को उत्पन्न करने और (चर्षणीधृतिः) निरीक्षक लोगों की दृष्टि में उत्तम आचार को धारण करने वाला होकर (सत्तिः) स्नान करके, स्नातक होकर (य) जो आप पुनः (अनुमाद्य-) सब के हर्ष का कारण बनकर (पवस्व) ज्ञान का प्रदान कर !

(६) हे (वृत्रहन्तम) विघ्नों और काम, क्रोध आदि आभ्यन्तर, तामस आवरणों को नाश करने में सबसे उत्तम ! तू (उक्थेभिः) उत्तम वचनों द्वारा (अनुमाद्य) आदर करने योग्य (शुचिः) शुद्ध, कान्तिमान्, (अद्भुतः) आश्चर्यजनक, (पावकः) समस्त प्रजा को पवित्र, निष्पाप बनानेहारा होकर (पवस्व) सर्वत्र भ्रमण कर और ज्ञान प्रदान कर ।

(७) (सः) वह ब्रह्मचारी (मधुमान्) ज्ञानवान्, ब्रह्मवेत्ता, (शुचिः) मन, वाणी और कार्य में पवित्र, (पावकः) औरों को पवित्र करनेहारा, पंक्तिपावन (सोमः) सोम (उच्यते) कहाता है जो (देववीः) विद्वानों का और दिव्यगुणों का रक्षण करने हारा और (अघशंसहा) पाप की बात बतलाने वालों के पाखण्ड को नाश करने वाला होता है ।

इति प्रथमः खण्डः ॥

[६६८] प्र कविर्देववीतयेऽव्या वारेभिरव्यत ।
सालह्नन्विश्वा अभिस्पृधः ॥ १ ॥

[६६९] स हि ष्मा जरितृभ्य आवाज गोमन्तमिन्वति ।
पवमानः सहस्रिणम् ॥ २ ॥

[६७०] परि विश्वानि चेतसा मृज्यसे पवसे मती ।
स नः सोम श्रवो विदः ॥ ३ ॥

[६७१] अभ्यर्ष बृहद्यशो मघवद्भ्यो ध्रुव रयिम् ।
इष स्तोतृभ्य आभर ॥ ४ ॥

[६७२] त्व राजन्य सुव्रतो गिरः सोमा विवेशिथ ।
पुनानो वह्ने अद्भुत ॥ ५ ॥

[६७३] स वह्निरप्सु दुष्टरो मृज्यमानो गभस्त्योः ।
सोमश्चमूषु सीदति ॥ ६ ॥

[६७४] क्रीळुर्मखा न मंहयु पावत्र सोम गच्छसि ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥ ७ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । २० । १-७ ॥

भा०—(१) ब्रह्मचारी (कवि०) क्रान्तदर्शी, विद्वान् वाग्मी, मेधावी (देवजीतये) ज्ञान से प्रकाशमान विद्वानों को प्राप्त होने के लिये (अव्या वारेभिः) भेड़ के बालों से बने कम्बलों द्वारा (अव्यत) अपने को ढांपता है और (विश्वा) समस्त (अभिस्पृधः) प्रतिस्पर्धी शत्रुओं के समान आगे आने वाली बाधाओं को (साह्वान्) पराजित करता है । अथवा (अव्याः) रक्षा करने हारी विद्या के (वारेभिः) आवरणों, व्रतों, साधनों से (अव्यत) अपने को युक्त करता है ।

(२) (स हि) और वही (पवमानः) सर्वत्र गमन करता हुआ (जरितृभ्यः) विद्या का उपदेश करने हारे आचार्यों के लिये (सहस्रिणं)

६६८—देवजीतये इत्या' 'वारेभिरव्यत्रि' ६६९—'मृज्यसे पवसे' इति ऋ० ।

सहस्रों सुखों के देनेहारे (गोमन्तं) गवादि पशु से सम्पन्न धन को (इन्वति) गुरुदक्षिणा में लाकर देता है ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् ! तू (चेतसा) अपने ज्ञान से (विश्वानि) सबको (परिष्कृण्वसे) परिशोधित करता है, विवेक करता है । और (मती) मनन करने हारी शक्ति से (पवसे) तत्त्व तक पहुंचता है । (स.) वही तू (नः) हमें (श्रवः) वेदज्ञान को (विंद·) प्राप्त करा ।

(४) हे (सोम) ब्रह्मचारिन् स्नातक ! (बृहद्) बड़े (यश) यश को तू (अभि-अर्ष) प्राप्त हो और (मघवद्भ्य.) बड़े धनाढ्य पुरुषों से तू (ध्रुवं) स्थिर (रयिं) धन को भी प्राप्त कर । और (स्तोतृभ्यः) सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाले गुरुओं के लिये (इषं) उनकी इच्छानुकूल अन्न, धन (आ हर) लेजा ।

(५) हे (सोम) हे स्नातक ! हे (वह्ने) ज्ञान को धारण करने हारे ! हे (अद्भुत) हे अभूतपूर्व विद्वन् ! तू (सुव्रतः) उत्तम व्रतनिष्ठ, सदाचारी (पुनानः) सर्वत्र गमन या पवित्र करता हुआ (राजा इव) स्तुति पात्र राजा के समान (गिर.) वेदवाणियों के (आ विवेशिथ) मर्म में प्रवेश कर अथवा स्तुतियों को प्राप्त कर ।

(६) (सः) वही (वह्निः) ज्ञान का नेता (सोम·) ब्रह्मचारी, शान्त, तपस्वी (अप्सु) प्रजाओं के भीतर (दुस्तरः) दुर्गम, अजेय (गभस्त्योः) ज्ञान और कर्म द्वारा (मृज्यमानः) शुद्ध पवित्र होकर (चमूषु) सत्पात्रों में, प्रजा के हृदयों में (सीदति) स्थिति पाता है ।

(७) हे सोम ! (क्रीळु) क्रीडा करने वाला, किशोर-दशा में वर्त्तमान, सुप्रसन्न तू (मख. न) यज्ञ के समान (मंहयुः) पूजनीय (पवित्रं) पवित्र व्रत में (गच्छसि) आचरण करता है और (स्तोत्रे) सत्य गुण के प्रकाशक गुरु के अधीन (सुवीर्यं) उत्तम ज्ञान को और बल को (दधत्) धारण करता है ।

[६७५] यवं यवं नो अन्धसा पुष्ट पुष्टं परिस्रव ।
विश्वा च सोम सौभगा ॥ १ ॥

[६७६] इन्दो यथा तव स्तवो यथा ते जातमन्धसः ।
नि बर्हिषि प्रिये सदः ॥ २ ॥

[६७७] उत नो गोविदश्ववित्पवस्व सोमान्धसा ।
मक्षू तमोभिरहभिः ॥ ३ ॥

[६७८] यो जिनाति न जीयते हन्ति शत्रूमभीत्य ।
स पवस्व सहस्रजित् ॥ ४ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ५५ । १-४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सबको उत्पन्न करने हारे प्राणों के प्रेरक परमात्मन् ! अन्नपते [1] (नः) हमें (अन्धसा) प्राण धारण कराने हारे सोमार्थ से (पुष्टं पुष्टं) खूब पुष्ट हुए (यवं यवं) यव तथा यव के समान अन्य धान्य भी (परि स्रव) प्रदान कर । (विश्वा च) और समस्त (सौभगा) सौभाग्य देनेहारे पदार्थ भी प्रदान कर ।

(२) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! (अन्धस) जीवन धारण कराने हारे, प्राणों के प्राण, अथवा अन्धकार के नाशक तेरी (यथा स्तवः) जिस प्रकार सत्यगुण प्रकाशक स्तुति है और (यथा) जिस प्रकार तेरी प्रसिद्धि है, ठीक उसी प्रकार सम्पन्न होकर (प्रिये) सबको प्रिय लगने वाले प्यारे, उत्तम (बर्हिषि) सूर्य में तेज के समान, देह में आत्मा के समान विद्वान् में, या उत्तम आसन पर (नि सदः) विराजमान हो ।

(३) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् [1] (उत) और (गोविद्) ज्ञानेन्द्रियों के वश करने हारे और (अश्वावित्) प्राणेन्द्रियों के वश करने हारे आप (अन्धसा) प्राण के धारक आप (मक्षूतमेभिः) शीघ्र ही गुजर जाने वाले (अहोभिः) इन थोड़े से दिनों में ही (नः) हमें (पवस्व) प्राप्त हो ।

(४) (यः) जो (जिनाति) स्वयं जीत लेता है और (न जीयते) दूसरों से नहीं जीता जाता और (अभि-हत्य) सन्मुख आकर (शत्रुम्) शत्रु को (हन्ति) नाश करता है (सः) वह (सहस्रजित्) हज़ारों को जीतने वाला, बलस्वरूप तू (पवस्व) हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो।

[६७६] यास्ते धारा मधुश्च्युतोऽसृग्रमिन्द ऊतये।
ताभिः पवित्रमासद॑ ॥ १ ॥

[६८०] सो अर्षेन्द्राय पीतये तिरो धारायव्यया।
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥

[६८१] त्वं सोम परिस्रव स्वादिष्ठो अङ्गिरोभ्यः।
वरिवोविद् घृतं पय॑ ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ९। ६२। ७-९ ॥

भा०—(१) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (ते) तेरी (मधुश्च्युत॑) मधुर रस को बहाने वाली, ज्ञान देने हारी, आनन्दप्रद (धारा॑) धारण करने वाली शक्तियां (याः) जो (ऊतये) रक्षा करने के लिये हैं (ताभिः) उन से (पवित्रं) पवित्र करने हारे वायु या सूर्य, प्राण में सूक्ष्म रूप से (आसदः) विराजमान हो।

(२) (सः) वह तू (इन्द्राय) इस अन्तरात्मा के (पीतये) पान के लिये, तृप्ति के लिये, (अव्यया) अवि अर्थात् चित्-प्रकृति के (धारा) आवरण करनेहारे आवरणों को (तिरः) दूर (अर्ष) कर और (ऋतस्य) प्रकाशस्वरूप सत्य के (योनिम्) आश्रय स्थान ब्रह्म को (सीदन्) प्राप्त होकर (आ) प्रकट हो।

६८०—'तिरो रोमाण्यव्यया सदिन्योता वनेषा' इति ऋ०।

६८१—'त्वमिदौ पती' इति ऋ०।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (त्व) तू (अंगिरोभ्यः) ज्ञानी आत्माओं के लिये (वरिवोविद्) वरण करने योग्य सुखों, आत्मानन्दों को प्राप्त कराने हारा और (स्वादिष्ट) अत्यन्त अधिक रस का देने वाला होकर (घृतम्) अति प्रकाशमय (पयः) अमृत रस को (परिस्रव) प्रदान कर ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

[६८२] तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतोऽग्नाश्चकित्र उषसामिवेतयः ।
यदंपधीरभिसृष्टो घनानि च परि स्वयं चिनुषे अन्नमाशवे ॥१॥

[६८३] वातोपजूत इषितो वशाँ अनु तृषु यदग्ने वयिषद्धि-
तिष्ठसे । आ ते यतन्ते रथ्योऽयथा पृथक् शर्द्धास्यग्ने
अजस्य धर्णसः ॥२॥

[६८४] मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूषत
मतिम् । त्वामभस्य हविषः समानमित्त्वां मदो यृणुते
नान्यं त्वत् ॥३॥७॥ ऋ० १० । ६१ । ५, ७, ८ ॥

भा०—(१) हे परमेश्वर ! (अग्ने) ज्ञान प्रकाशक (तव) तेरी (श्रि-
य) विभूतियां (वर्ष्यस्य) मेघ की (विद्युतः इव) विद्युतों के समान
(उषसा) प्रभात कालों में निकलती हुई (इतय.) किरणों के समान

६८२—'विभादिवचित्र', 'त्वमा न केतव' 'अजमाद्दे' इति ऋ० ।

६८३—'वातोपधूत' 'अजगादि यज्ञत' इति ऋ० ।

६८४—'परिष्कृत' तमिन्मेहविषा समानमित्तिन्त्सा' इति ऋ० ।

(चिकित्रे) सर्वत्र जानी जाती हैं। (यत्) जब कि (ओषधीः) ओषधियों और (वनानि च) वृक्षादि वनस्पतियों में भी (अभिसृष्टः) लग कर उनमें भी व्याप्त होकर, (आसनि) मुख में (अन्नम्) अन्न के समान समस्त पदार्थों को (स्वयं) अपने भीतर लेलेता है।

ओषधि अन्नादि और वनस्पतियों को जिस प्रकार अग्नि अपने भीतर जलाकर मानों ग्रास कर जाता है उसी प्रकार परमेश्वर सब पदार्थों को अपने भीतर लीन करता है इसी प्रकार विद्वान भी समस्त ओषधि वृक्षादि को अन्न के समान जानकर उनका खाद्यरूप से विवेक करे।

(२) (वातोपजूतः) गन्धन आदि गुणों के ज्ञान से सम्पन्न (हविषः) स्वय इच्छा पूर्वक (वृषु) शीघ्र ही (वयां) कमनीय उत्तम गुण से युक्त वनस्पतियों का, (अन्ना) और अन्नों को (वेविषद्) प्राप्त कर के (वितिष्ठसे) नाना प्रकार से प्रकाशित करता है। हे (अग्ने) प्रकाश-स्वरूप ! विद्वन् (अजरस्य) कभी वृद्ध न होने वाले, (धृषतः) अग्नि के समान अज्ञान को भस्म करने हारे, (रथ्यः) रथपर चढ़े महारथी शूरवीर के छोड़े शस्त्र जिस प्रकार (पृथक्) पृथक् २ लक्ष्यों पर जाते हैं उसी प्रकार (ते) तेरे (शर्धांसि) बल प्रयोग और ज्ञानरूप तेज भी (पृथक्) पृथक् २ नाना कार्यों में (आयतन्ते) लग रहे हैं, सफल हो रहे हैं।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् (मेधाकारं) ज्ञान और धारणावती बुद्धि के उत्पादक (विदथस्य प्रसाधनम्) ज्ञान की परम उत्कृष्ट साधना के करने वाले (अग्निं) सबके आगे होकर चलने वाले दीपक के समान सर्व प्रकाशक, (होतारं) सबको अपने शरण में लेने और सब सुखों के देने वाले, (परिभूतरम्) सब ओर अपने सामर्थ्य या सत्ता को प्रकट करने हारे, (मतिं) मननशील (त्वाम्) तुझको ही (अर्भस्य) छोटे और (महः) बड़े, थोड़े और बहुत (हविषः) ज्ञान के लिये भी (समानम्--

इव) समान रूप से ही (वृणते) सब वरण करते हैं, चुनते हैं (न वां अन्य न) मुझ से दूसरे को नहीं ।

[६८५] पुरुदक्षा चिद्धयस्यथा नूनं वां सदृशीनाम् ।
मित्र वंसि वा सुमतिम् ॥१॥

[६८६] ना वा सध्यगकवाणवमश्याम धाम वाम ।
वयं वां मित्रा स्याम ॥३॥

[६८७] धामं नो मित्रा वायुभिर्गत धामेषां सुप्रायणा ।
धामन् दक्षस्य सोमिनो ॥३॥८॥ ऋ० ७ । ७० । १-३ ।

भा०—(१) हे मित्र ! हे वरुण ! (वां) आप दोनों का (सदृशीनाम्) समान ज्ञान (पुरुदक्षा) बहुत अधिक (चित् हि) ही (अस्ति) है । (नूनम्) निश्चय से (वां) आप दोनों ही अपनी (सुमतिम्) उत्तम ज्ञान को (वंसि) देते हो ।

(२) (ना) वे दोनों (वां) आप दोनों (कवाणवम्) किसी को (सध्यक्) नहीं जाने । हम आपके (धाम) तेज को, यश को, (वाम) आप दोनों के तेज को (अश्याम) प्राप्त करें, आप को, हम को और (धाम) हम (वां) आपके (मित्रा) मित्र (स्याम) होवें ।

(३) आप दोनों (मित्रा) हमारे समीप आने वाले हैं हम (नः) आपके (धामं) तेज को (वायुभिः) वायुओं से (गत) प्राप्त करें । (धामेषां) तेजों को (सुप्रायणा) सुख से प्राप्त करने वाले आप दोनों (नः) हमें (धामन्) तेज (दक्षस्य) बल से (सोमिनः) ऐश्वर्य से युक्त करें ।

मित्र और वरुण से प्राण और अपान, सभापति और सेनापति, राजा और मन्त्री समझने चाहिये।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
[९८८] उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वा शिप्रे अवेपयः।
१ २ ३ २ ३ २
सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १र २र
[९८९] अनु त्वा रोदसी उभे स्पर्धमानमदेताम्।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्र यद्दस्युहाभवः ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[९९०] वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतावृधम्।
२ ३ १ २ ३क २र
इन्द्रात्परि तन्वं ममे ॥३॥६॥ ऋ० ८। ७६। १०-१२॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) आत्मन्! (चमूसुतम्) सेना दलों में अभिषेक को प्राप्त पदाधिकारी के राजा या सेनापति के समान इन्द्रियों, प्राण और अपान रूप चमसों में उत्पन्न हुए (सोमं) सबके प्रेरक आत्मा के बल वीर्य और प्राण को (पीत्वा) पान करके (ओजसा) बल और कान्ति सहित (उत्तिष्ठन्) उठते हुए आप (शिप्रे) अपने हनुस्वरूप ज्ञान और कर्म की शक्तियों को (अवेपयः) गति देते हो। परमात्म पक्ष में हनू द्यावापृथिवी।

(२) (यद्) जब तू (दस्युहा) विनाशक पदार्थों और बाधक विघ्नों का शत्रुओं के समान नाश (अभव) करता है। हे (स्पर्धमान) सब से आगे बढ़ने हारे (इन्द) इन्द्रियों के स्वामिन्! आत्मन्! (त्वा अनु) तेरे पीछे २ तेरी शक्ति से (उभे रोदसी) दोनों प्राण और अपान या शरीर के ऊपर और नीचे के दोनों भाग (मदेताम्) आनन्द अनुभव करते हैं।

(३) मैं (अष्टापदीं) आठ चरण वाली (नवस्रक्तिं) नौ प्रकार की रचनावली (ऋतावृधम्) यज्ञ और सत्य की वृद्धि करने वाली (तन्वं)

९८८—'१. 'पीत्वी' २ कम्पमानमकम्पेताम्' ३. ऋतास्पृशम्' इति च ऋ०।

विस्तृत (वाचं) वाणी का (इन्द्रान्) इन्द्रस्वरूप अपने आचार्य या उस परमगुरु परमेश्वर से (परि ममे) ज्ञान प्राप्त करता हूं ।

अष्टापदी चार वेद और चार उपवेद ये वाणी के आठपद अर्थात् विद्या के आश्रय स्थान हैं । नवरुक्ति —नव लक्षण. रचना यस्या. । १ शिक्षा, २ कल्प, ३, व्याकरण, ४ निघण्टु, ५ निरुक्त, ६, छन्दः, ७ ज्योतिष, ८ धर्मशास्त्र, और ९ मीमांसा । ये नौ प्रकार की रचनाएं वेदों के आशय स्पष्ट करने के लिये हैं ।

[९९१] इन्द्राग्नी युवामिमेऽभि स्तोमा अनूषत ।
पिबतं शम्भुवा सुतम् ॥१॥

[९९२] या वां सन्ति पुरुस्पृहो नियुतो दाशुषे नरा ।
इन्द्राग्नी ताभिरागतम् ॥२॥

[९९३] ताभिरा गच्छतं नरोपेदं सवनं सुतम् ।
इन्द्राग्नी सोमपीतये ॥३॥१०॥ ऋ० ६ । ६३ ७-९ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) विद्युत् और सूर्य के समान सभापति और सेनापति ! (युवाम्) आप दोनों के (इमे) ये (स्तोमाः) प्रशंसा युक्त कार्य (अनूषत) वर्णन करते हैं । आप (शम्भुवा) सबके सुख और कल्याण का कार्य करने हारे (सुतम्) इस दुग्ध आदि रस एवं ओषधियों के रस और ज्ञान को (पिबतम्) पान करो । इन्द्राग्नी, से प्राण और अपान, गुरु शिष्य, सभापति और सेनापति सूर्य और विद्युत् आदि का ग्रहण उचित है ।

(२) हे (नरा) सबके नेताओ ! (दाशुषे) सबको शान्ति सुख देने हारे नरपति के निमित्त (वां) आपकी (या) जो (पुरुस्पृहः) सबको प्रिय लगने वाली (नियुतः) अनेक निश्चित मतियें (सन्ति) हैं, हे

(इन्द्राग्नी) सूर्य विद्युत् के समान ज्ञानोपदेश करने हारे अध्यापक और उपदेशक महोदयो ! आप (ताभिः) उनके सहित (आगतम्) प्रजाओं में आओ ।

(३) हे (नरौ) दोनों नेताओ ! (ताभिः) आप पूर्वोक्त विवेचक शक्तियों के साथ ही (इदं) इस (सुतं) उत्पादित (स्वनं) यज्ञ मे (सोम-पीतये) उत्तम आनन्दप्रद, सोमरस, या धर्मपथ प्राप्त कराने के लिये (उप आ गच्छतं) आइये ।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६४] अर्षा सोम द्युमत्तमोभिद्योणानि राजवत् ।
२ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन्योनौ वनेष्वा ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६५] अप्सा इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
१ २ ३ १ २
सोमा अर्षन्तु विष्णवे ॥२॥
१ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[६६६] इषं ताकाय नो दधदस्मभ्यं सोम विश्वतः ।
१ २ ३ १ २
आ पवस्व सहस्रिणम् ॥३॥११॥ ऋ० ९ । ६४। १६-२१ ॥

भा०—व्याख्या देखो अविकल सं० [५०३] पृ० २५६।

(१) (इन्द्राय) आत्मा के लिये, (वायवे) प्राण के निमित्त, (वरुणाय) अपान के लिये (मरुद्भ्यः) अन्य ज्ञानेन्द्रियों और प्राणेन्द्रियों के लिये और (विष्णवे) उस सर्व व्यापक प्रजापति परमात्मा के साक्षात् ज्ञान के लिये (अप्सा) नाना ज्ञानों और कर्मों को व्याप्त करने हारे (सोमाः) आनन्दरस और विद्वान् जन (अर्षन्तु) प्राप्त हों ।

६६४—'सीदन् श्येनो न योनिमा, ६६५—'सोमा अर्षंति' इति ऋ० ।

(३) ते (सोम) पवमान तव ! धारा (अ) इमाः (सोदाव) मदनीयाः के भवन्ति (धारयाः) दृढ़ा (विश्वतः) सर्वतः ते (इन्दो) रस क्षरन्ति (सहस्रिणम्) बहवो मुनयो ये वायुं सेवन्ते तादृशानां (वाजं) अन्नं (न) इव ते धारा बहुसाधिकाः सन्तीत्यर्थः ।

[३१७] सोमः उपवाजं, सोमुमिर्मधुमत्तमः ।
अस्मभ्यं वृष्टिमा पवत सहस्रधारया वाजि धारया ॥१०॥

[३१८] अधुक्षत सोमान्, सोमिनस्तिरो मर्मृजत दुरः सोमिनस्तिरः ।
समुद्रं न संवतोऽवसानमाशवः सोमासः इन्द्रमाविशन् ॥२॥१२॥

ऋ० ९ । १०७ । ८-९ ॥

भा०—(१) द्वादशाहे द्वितीये अहिकल्पे सं० [५१६] २२४ ।

(३) जिस प्रकार (सोमान्) सोमरस (सोमि) सोमों के साथ अनेकों यज्ञों के लिये (अधुक्षत) जिस देश में (क्षरन्ति) जाता है उसी प्रकार (सोमाः) ऐश्वर्यवान् आनन्दरस (दुरः) दुष्ट के समान ज्ञानपूर्ण आनन्दरस आत्मा के साथ जिस, हृदयदेश में परिणत होते हैं । (संवतः न) जल जिस प्रकार (समुद्रं न) समुद्र की तरफ बहते हैं उसी प्रकार उपासक स्व प्राप्त करने योग्य, मंगल करने योग्य आनन्दरस भी मनुष्यत्व विशेष रहित आत्मा में प्रकट होते हैं और (मन्दी) आनन्द से मग्न आत्मा (मदाय) अति हर्ष प्राप्त करने के लिये (तोशते) पात्र बहता है ।

[३१९] यत्सोम चित्रमुक्थ्यं दिव्यं पार्थिवं वसु ।
तन्नः पुनान आभर ॥१॥

०००—'पुनान आयुषु' 'योनिमाभरत्' इति प० ।

[१००] ऋषा पुनान आयूषि स्तनयन्नधि वर्हिषि ।
हरिः सन् योनिमासदः ॥२॥

[१००१] युव हि स्थः स्वःपती इन्द्रश्च सोम गोपती ।
ईशाना पिप्यतं धियः ॥३॥१३॥ अ०९। २६ । १, ३, २, ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (पुनानः) तू सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमें (यत्) जो (चित्रं) संग्रह करने योग्य उत्तम अद्भुत (दिव्यं) दिव्यगुण सम्पन्न, (पार्थिवम्) इस पृथ्वी पर (वसु) धन है (तत्) वह (आभर) प्राप्त करा ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! तू (ऋषा) सब सुखों का वर्षक (अधिबर्हिषि) यज्ञ में, इस देह में, अन्तरिक्ष में, (स्तनयन्) गर्जते मेघ के समान उपदेशकरता हुआ (आयूषि) समस्त प्राणियों की आयुओं को (पुनानः) पुनः नया, शुद्ध पवित्र हराभरा करता हुआ (हरिः सन्) दुःखहारी होकर (योनिम्) हृदयदेश में (आ सद०) आ विराजमान हो । ईश्वर, पर्जन्य, प्रजापति, सोमरस और योगज ब्रह्मानन्दरस और राजा का समान रूप से वर्णन है । राजा के योनि अर्थात् आश्रय प्रजाएं हैं ।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक तू और (इन्द्र० च) ऐश्वर्यवान् दोनों (गोपती) इन्द्रियों, प्रजाओं और रश्मियों के स्वामी (युव हि) आप दोनों (स्वःपती स्थ०) सब सुख और ज्ञान, ज्योतिर्मय पिण्डों और द्यौलोक के स्वामी हो । आप (ईशाना) सबके ईश्वर हमारे (धियः) बुद्धियों को (पिप्यतं) बढ़ाइये ।

सोम=परमात्मा इन्द्र=आत्मा अथवा इन्द्र=परमात्मा सोम आत्मा । आत्मा, और परमात्मा, जीव और मन, वायु और सूर्य, राजा और मन्त्री आदि का समान रूप से वर्णन है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

[१००२] इन्द्रा मदाय वायुवं गृणाने पूषणा कृधि ।
सातिमदक्षितोतिषु संमदेषु ध्वाजेषु प्रत्नथा हिषम् ।

[१००३] अभि ष्टे शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः । अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ २ ॥

[१००४] यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम् । युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्मां इन्द्र वसौ दधः ॥ ३ ॥ १५ ॥ ८० । १ । ८२ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० [४११] पृ० २०६ ।

(२) हे शूर ! (नोनव. अभि) तू सेना का हितकर है । और (धृषि) बहुत (धारयन्ति) मनुष्यों को धारण देने हारा है । और तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य भोगे वालों के निर्बल को (गिर्भि) वाणी (नूम.) बढ़ाने हारा (असि) है । तू (सुन्वते) सुखों के उत्पन्न करने हारे (यजमानाय) यज्ञ के करने, या कारीगरों को (ते भूरि वसु) तू अपना बहुत धन (शिक्षसि) देता है । जो 'इन्द्र' अर्थात् स्वामी या सेना के सहित होता है वह 'सेना' कहाता है । इन्द्रियगण आत्मा सेनापति के संग होने से सेना कहाती हैं । उनको शिक्षा कर, इनमें उत्तम आत्मा 'सेन्य' है । वह काम क्रोध आदि का पराभव करके स्वाप (दक्ष) बढ़ानेवाला को भी विशाल करता है और यजमान स्वरूप मुख्य प्राण को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वस्तुएं देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देखिये अवि० सं० [४१४] पृ० २११ ।

[१००५] स्वादोरित्था विषूवतो मधो. पिबन्ति गौर्यं । या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥

१००५—'मदन्ति शोभसे' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१००६] ता अस्य पृशनायुव सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।प्रिया इन्द्रस्य
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १
[१००७] ता अस्य नमसा सह' सपर्यन्ति प्रचेतसः ।मन्यस्य
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥३॥१५॥

ऋ० १ । ८४ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०६] पृ० २०८ ।

(२) (ता) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृशनायुव) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुंचने की चेष्टा करने वाली (पृश्नयः) रस तक पहुंचने वाली, (प्रियाः) प्रिय (धेनवः) गौओं के समान इन्द्रिया (सोमं) ज्ञान को (श्रीणन्ति) और भी परिपक्व करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, अन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने हारे आत्मा की शक्तिया (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिपक्व होने पर इन्द्रिया ही स्वयं भोग को त्याग कर देती है। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रिया अन्तर्वृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतसः) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (ता) वे इन्द्रियरूप गौएं (अस्य) इस आत्मा के (सह.) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

[१६६८] ३ १ २ ३ २ब ३ १र २र ३ १र २र
कुवित्सस्य प्र हि व्रजङ्गामन्तन्दस्युहा गमत् ।
१ २ ३ १ २
शचीभिरप नोवरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २२–२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपश्रवत) सुन लेता है तब वह (वसु·) सब संसार को बसाने हारा और सर्वव्यापक (गोमत·) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और बल के (दानं) ब्रह्मदान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है ।

(३) (स·) वह (दस्युहा) उपक्षय करने हारे या क्षयशाली विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौओं के निवासस्थान (व्रज) बड़ा रूप देह का, (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है । परन्तु (स्यः) वह ही उसको (शचीभि·) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—(कुवित्सस्य[1]) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्तःकरण में प्राप्त होकर (शचीभि·) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (न·) हमारे कल्याण के लिये (अप अवरत्) दूर कर देता है । अथवा—'कुवित्स' बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुनः देह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१६६८—१. कुत्सितं विन्दते वेत्ति मनोति च तस्य, अथवा कुवित् बहुना; स्यति-हिनस्ति इति कुवित्सः इति सायण· ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ २
[१६६९] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
१ २ ३ २
समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥
१ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १२ २१
[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥
१२ २१ ३ २ ३१२ २१ ३ १ २
[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
३ २ ३ २ ३ १ २
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥
१२ २१ ३ १ ३ ३ २ ३ १ २
[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २
[१६७४] अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
३ २ ३ १ २
पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२ । १६–२१ १६, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप लिया। (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया। (अस्य) इसके (पांसुले) लोकों को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम रीति से स्थित है। व्याख्या अधि० सं० [२२२] पृ०।

(२) (गोपाः) समस्त गतिशील लोकों का पालक (अदाभ्यः) नित्य अविनाशी (विष्णुः) वह व्यापक परमात्मा (अतः) निरन्तर गति द्वारा ही (धर्माणि) समस्त लोकों को (धारयन्) धारण करने हारा होकर (त्रीणि) तीन (पदा) शक्तियों से (विचक्रमे) समस्त विश्व को बना और चला रहा है ।

(३) (विष्णोः) उस सर्वव्यापक परमात्मा के (कर्माणि) आश्चर्य जनक कार्यों को (पश्यत) देखो (यत) जिन कर्मों को देखकर (व्रतानि) जीव समस्त ज्ञानों को (पस्पशे) प्राप्त करता है । वह ही परमात्मा (इन्द्रस्य) इस जीवात्मा का (युज्यः), सदा साथ रहने हारा (सखा) समान ख्याति अर्थात्=नाम से युक्त आत्मा, उसका मित्र है ।

(४) (विष्णोः) सर्व व्यापक परमेश्वर के (परमं) परम उत्कृष्ट (पदं) धाम परमपद, या मोक्षज्ञान को शास्त्रदृष्टि से (सूरयः) विद्वान् आदित्य के समान ज्ञानी पुरुष (सदा) निरन्तर (पश्यन्ति) देखते हैं । वह परम ज्ञान (दिवि) आकाश और पृथिवी में (चक्षुः इव) सूर्य पदार्थों के दर्शक सूर्य के समान (आततम्) सर्वत्र व्यापक है ।

(५) (विष्णोः) सर्वव्यापक ईश्वर का जो (परम) उत्कृष्ट (पदं) ज्ञानमय स्वरूप है (तत्) उसको (विपन्युवः) विशेष रूप से सत्य का यथार्थ वर्णन करने हारे (विप्रासः) मेधावी विद्वान् (जागृवांसः) निरन्तर ज्ञानदृष्टि से जागरण करने हारे, प्रमादरहित होकर (समिन्धते) प्रदीप्त करते हैं, उसको प्रकाशित करते हैं, उसको अपने हृदय—मंदिर में प्रज्वलित करते हैं, उसकी ज्योति जगाते हैं ।

(६) (यत्) जिस कारण से (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (विचक्रमे) सर्व संसार को रचता और चलाता है (अत) इसी पद से

१६७०—६. 'पृथिव्या सप्तधाममिः' इति ऋ० ।

(देवाः) समस्त दिव्य पदार्थ अग्नि, वायु, जल, पृथिवी, आकाश आदि भूत और सूर्य, चन्द्र आदि सब लोक, या विद्वान्गण (पृथिव्याः) इस लोक के (अधि सानवि) उच्च से उच्च भाग पर या उत्कृष्ट पद मोक्ष के विषय में भी (नः) हमें (अवन्तु) प्राप्त करावें ।

इन मन्त्रों पर भाष्यकारों का अद्भुत मतभेद है और वह सभी विचार योग्य है । हम संक्षेप से उल्लेख करते हैं—

(१) सायण—(विष्णुः) त्रिविक्रमावतारधारी ने इस जगत् को उद्देश करके (विचक्रमे) विशेष रूप से क्रमण किया और तब (त्रेधा पदं निदधे=त्रिभिः प्रकारः स्वकीयं पदं निक्षिप्तवान्) तीन प्रकारों से अपना पद रक्खा । (अस्य पांसुले समूढं=विष्णोः धूलियुक्ते पादस्थाने इदं सर्वं जगत् सम्यगन्तर्भूतम्) उस विष्णु के धूली वाले पैर में यह सब जगत् भली प्रकार छिपा है ।

(२) उव्वट-यज्ञ में दक्षिण शकट के दायें चक्र के समीप सुवर्ण रख कर इस मन्त्र से होम करता है । ('इदं' 'जगत्' 'विष्णुर्विचक्रमे' विक्रान्तवान्, सर्वप्राणिनो हि भूतेन्द्रियमनोजीवकायेनाविशति इति विष्णुः किंच "त्रेधा निदधे पदं" पद्यते ज्ञायते अनेनेति पदं भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदं । किंच "समूढमस्य पांसुरे" अस्य विष्णोरन्यत् पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरमित्येवंलक्षणम् समूढमन्तर्हितमविज्ञातमकृतात्मभिः । पांसुरे लुप्तोपमैतत् । पांसुल इव प्रदेशे निहितं न दृश्यते तत्समूढमिति, अर्थात्—सब प्राणियों में पंचभूत इन्द्रिय मन और जीव इन सब में प्रवेश करने से वह विष्णु है । उसने इस जगत् का क्रमण किया, जिससे ज्ञान किया जाय वह 'पद' है । भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि, वायु, सूर्य, रूप से तीन रूपों में वह 'पद (ज्ञानसाधन) या ज्ञापक लिंग रक्खा । इस ही विष्णु का अन्य एक ' पद ' है विज्ञानघन, आनन्दस्वरूप, अज, अद्वितीय, अक्षर

स्वरूप जिसको अकृतात्मा, असाधक, अविद्वान् पुरुष नहीं जानते । यह लुप्तोपमा है । जिस प्रकार धूल भरे स्थान में पड़ी वस्तु नहीं दीखती उस प्रकार इत्यादि ।

(३) महीधर—हम भाष्यकार ने सायण और उव्वट दोनों का अर्थ लिया है । इतना विशेष लिखा है कि ("समूढमस्य पांसुरे" पांसवो भूम्यादिलोकरूपाः विद्यन्ते यस्य तत्पांसुरं तस्मिन् पांसुरे अस्य विष्णोः पदं समूढ सम्यग् अन्तर्भूत विश्वमिति शेष यद्वेति उव्वटवत्) अर्थात् पांसुरे-भूमि आदि लोक जिसमें स्थित हैं उस पांसुर पद में सब विश्व छिपा है । 'यद्वा' से आगे दूसरा अर्थ उव्वट के समान ही है ।

श्रीफिथ—'इस संसार में विष्णु ने पैर रक्खे, तीन बार उसने पैर जमाये और सब उसके पैर की धूल में जमा हो गया ।

सायण और महीधर ने यह मन्त्र पौराणिक आशय को लेकर लगाया है । उव्वट को वह अर्थ सम्मत नहीं । उसने पद का अर्थ ज्ञापक लिङ्ग किया है । और संसार में ईश्वर के तीन ज्ञापक अग्नि, वायु, और सूर्य बतलाये हैं । और चतुर्थ ज्ञापक वह परम अक्षर बतलाया है जिसका ज्ञान योगी मुमुक्षु लोग करते हैं ।

सायण के आशय से विष्णु ने तीन चरण रक्खे और धूलियुक्त चरण में समस्त लोक छिपे हैं । उसके मत में 'पद' क्या वस्तु है यह प्रतीत नहीं होता । महीधर ने 'पद' शब्द की उव्वट कृत व्याख्या को माना है । और भूम्यादिलोकमय पांसु से युक्त समस्त ब्रह्माण्ड को एक पद माना है । और अग्नि, वायु, सूर्य रूप से तीनों लोकों में विष्णु का एक २ ज्ञापक भी स्वीकार किया है । इसमें महीधर के मत में त्रिविक्रम का निरूपण आलङ्कारिक है । महर्षि दयानन्द—(इदं) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् को व्यापक ईश्वर ने (विचक्रमे) यथायोग्य प्रकृति परमाण्वादि पादों को अर्थात् अंशों को विशेष करके सावयव किया । इस जगत् के

(पांसुरे) प्रशान्त रेणुओं वाले अन्तरिक्ष में (त्रेधा निदधे पदं) और तीन प्रकार से प्राप्त करने योग्य 'पद' धरा। वह उत्तम रीति से जानने योग्य पदार्थ 'पद' कहाता है। भावार्थ यह है कि यह तीन प्रकार का संसार बनाया (१) प्रत्यक्ष पृथिवीमय जो प्रकाश से रहित है, (२) कारणरूप अदृश्य, (३) प्रकाशमय सूर्यादिक।

(२) धर्माणि=अग्निहोत्र आदि, (सा०) कर्माणि=कर्म, (उव्वटो महीधरश्च), स्वस्वभावजान्य धर्म, (दया०), अतः इन तीन लोकों में, (सा०) तीनों पदों से (उ०, म०)

(३) विष्णोः कर्माणि=वीर्याणि (उ०), सृष्टिसंहारादि (म०), जगद्रचन पालनन्यायकरणप्रलय आदि (द०), व्रतानि=अग्निहोत्रादि (सा०), लौकिकवैदिकंकर्म (म०), कर्म=आधान, पशु सोम याग आदि, अथवा अग्नि वायु और सूर्य का अपना २ कार्य।

(४) विष्णोः परमं पदं=उत्कृष्ट स्थान (सा०), विज्ञानघनबहुल आनन्दस्वरूप विष्णु का परमपद आदित्य (उ०), मोक्षाख्य (द०)।

(५) समिन्धते=दीपयन्ति (सा०, उ०, य०) प्रकाशयन्ते प्राप्नुवन्ति (द०)।

(६) देवा=विष्णु आदि (सा०) विद्वान् लोग और अग्नि आदि पदार्थ (द०)।

१ २र ३ १ २ ३ २ड ३ १र २र
[१६७५] मोषु त्वा वाघतश्च नारे अस्मन्निरीरमन्
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
आरात्ताद्वा सधमादञ्च आगहीह वा सन्नुपश्रुधि ॥ १ ॥
३ १र २र ३ १ २ ३ २ड, ३ २ ३ २ड ३ १ २
[१६७६] इमे हि ते ब्रह्मकृत: सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २ड ३ १ २
इन्द्रे कामञ्जरितारो वसूयवो रथे न पादमादधुः ॥२॥६॥

अ० ७ । ३२, १, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८४] पृ० १४५ ।

(२) हे इन्द ! (मधौ) मधु=शहद पर (मक्ष. न) जिस प्रकार मक्खी आ बैठती है उसी प्रकार (इमे) ये (ब्रह्मकृत' हि) ब्रह्मयज्ञ करने हारे वेद के विद्वान् गण (ते सचा) तेरे साथ मोक्षानन्द प्राप्त करने के लिये (आसते) आ बैठते हैं और ब्रह्म का रस प्राप्त करते हैं । और (इन्द्रे) उस इन्द्र परमात्मा में ही (वसूयवः) वसु=आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाले (जरितार.) स्तुतिशील विद्वान्गण (कामम्) अपनी अभिलाषा को इस प्रकार (आदधुः) रख देते हैं जिस प्रकार (वसूयवः रथे पादम्) धनाभिलाषी क्षत्रिय लोग अपना चरण रथ पर रखते हैं और फिर देशों को विजय करते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र
[१६७७] अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १
पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥
१ड ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ड ३ १ १
[१६७८] समिन्द्रो रायो बृहतीरधूनुत सङ्क्षोणी समु सूर्यम् ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २र ३ १ ३ १ २
स शुक्रामः शुचयः सं गवाशिरः सोमा इन्द्रममन्दिषुः
॥ २ ॥ ७ ॥ ऋ० ८ ५२ । ९, १० ॥

भा०—(१) (अस्तावि) परमेश्वर की ही स्तुति की जाती है । इसलिये (पूर्व्यं) पूर्ण तृप्तिकारक अति प्राचीन (मन्म) मनन करने योग्य (ब्रह्म) वेदमन्त्र का (इन्द्राय) उस परमेश्वर की स्तुति के लिये (वोचत) पाठ करो । (ऋतस्य) वेद की या यज्ञविषयक या ज्ञान, और ब्रह्मविषयक सत्यज्ञानसम्बन्धी (पूर्वी.) प्राचीन या पूर्ण (बृहतीः) बृहती छन्द के वेद मन्त्रों से (अनूषतः) स्तुति करते हुए (स्तोतु.) स्तुतिकर्त्ता विद्वान् के (मेधा) नाना प्रकार के ज्ञान (असृक्षत) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (इन्द्रः) परमेश्वर ने (बृहतीः) बड़ी २ (राय.) सम्पत्ति यां और शक्तियां (सम् अधूनुत) प्रेरित की हैं (उत) और (द्यौणी) बहुतसी पृथिवियों अर्थात् बहुतसे लोकों को आकाशमण्डल में चला रक्खा है । और (सम् उ सूर्यम्) सूर्य को भी चला रक्खा है । (शुचयः) कान्तिमान् (शुक्रासः) शुद्ध कर्म करने हारे निष्पाप पुण्यात्मा (गवाशिरः) ज्ञान का आश्रय करने हारे या गो=वेदवाणी का आश्रय लेने हारे और गो=इन्द्रियों का दमन करने हारे जितेन्द्रिय (सोमा.) योगी मुमुक्षु आत्माएं उस (इन्दम्) इन्द्र परमेश्वर को (सम् अमन्दिषुः) प्रसन्न करते हैं ।

[१६७९] इन्द्राय सोमपातवे वृत्रघ्ने परिषिच्यसे ।
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ १ ॥

[१६८०] तं सखाय पुरूरुचं वयं यूयं च सूरयः ।
अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् ॥ २ ॥

[१६८१] परि त्य हर्यतं हरिम्० ॥ ३ ॥ ८ ॥ अ० ६ । ६८ । १०, १२, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५०५] ऋ ६ ।

(२) हे (सखाय.) मित्रगण ! (सूरय.) विद्वान् (यूयं) आप लोग और (वयं च) हम लोग सब (वाजगन्ध्यं) ज्ञान की सुगंध से युक्त (वाजपस्त्यम्) और बल के एकमात्र आश्रय, सर्वशक्तिमान् (पुरूरुच) अपने प्रकाश से सबके प्रकाशक (तं) उस सोम परमात्मा को (अश्याम) प्राप्त हों । सोम ओषधि पक्ष में—(वाजगन्ध्यं) अन्नगन्धी और (वाजपस्त्यं) बलकारी सोम का भोग करें ।

१६७९—१. 'दधाय सदनासदः' २. 'पुरोरुच यूय वय च सूरयः' ३. 'हरिं त्व हर्यतहरिं' इति ऋ० ।

(३) "परि त्यं हर्यतं हरिम्" यह प्रतीकमात्र उद्धृत किया गया है । इसकी व्याख्या देखो अविकल सं० [५५२] पृ० २७७ ।

१२ २२ ३
[१६८२] कस्तमिन्द्र त्वा वसो० ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२
[१६८३] मघोन स्म वृत्रहत्येषु चोदय ये ददति प्रिया वसु ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तव प्रणीती हर्यश्वसूरिभिर्विश्वा तरेम दुरिता ॥२॥९॥

ऋ० ७ । ३२ । १४,१५॥

भा०—(१) 'कस्तमिन्द्र त्वावसो०' यह प्रतीकमात्र है । व्याख्या देखो अविकल सं० [२८०] पृ० १४३ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन्! (मघोनः) ज्ञानी पुरुषों को (वृत्रहत्येषु) आवरणकारी अज्ञान अन्धकार और विघ्नकारी, दुष्ट पुरुषों के विनाश के कार्यों में (चोदय स्म) प्रेरित कर । (ये) जो (प्रियाः) प्रिय (वसु) वास योग्य उपकरण गृह आदि अथवा अपने धनों को (तव प्रणीती) तेरे, प्रणय=प्रेम के कार्य में या तेरे बनाये हुए वेदानुकूल मार्ग में (ददति) दान करते हैं उन (सूरिभिः) विद्वानों, त्यागियों की सहायता से (विश्वा) समस्त (दुरिता) पापों को (तरेम) हम पार करें ।

इति द्वितीय खण्ड ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८४] एतु मघोर्मदिन्तर सिञ्चाश्वयों अन्धसः ।
१ २क ३ १२ २२ ३ १ २
एवा हि वीरस्तवते सदावृधः ॥ १ ॥

१६८१—१. कस्मिन्वा वसुगा, इति ऋ० ।

१६८३—१ "एतु मघो मदिन्तर सिञ्चाश्वयो"

[१६८५] इन्द्र स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् ।
उदानंश शवसा न भन्दना ॥ २ ॥

[१६८६] तं वो वाजानां पतिमहूमहि श्रवस्यवः ।
अप्रायुभिर्यज्ञेभिर्वावृधन्यम् ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० ८ । २४ । १६–१८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८५] पृ० १४६ ।

(२) हे इन्द्र ! हे (हरीणा) समस्त गतिमान् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिकों के (स्थातः) प्रतिष्ठापक ! परमेश्वर ! (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्व के ऋषि महर्षियों द्वारा गाई गई, सत्य, यथार्थ गुणवर्णना को (शवसा) अपने बल से (नकिः) कोई भी नहीं (उदानंश) पा सकता । और (न भन्दना) न कोई संसार के प्रति सुख कल्याण के कार्य करके भी तेरी महती स्तुति को पा सकता है । अर्थात् तू सबसे अधिक शक्तिमान् और सर्व का कल्याणकारी है तेरे तुल्य दूसरा ' न भूतो न भविष्यति ' न हुआ, न होगा ।

(३) हम लोग (वः) आप लोगों के (वाजानां) ज्ञान, धन, बल और अन्नों के (पतिं) परिपालक, (अप्रायुभिः) प्रमादों से रहित, विनाशरहित, (यज्ञेभिः) बड़े सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि विशाल कर्मों तथा प्रजापालनादि सत्कर्मों से (वावृधन्यम्) अपने यश और महिमा में सब से बढ़े (तं) उस परमेश्वर को (श्रवस्यवः) धन, अन्न, और ज्ञान, वेद की कामना करने हारे हम लोग (अहूमहि) नित्य स्मरण करते हैं ।

यहां 'व' इस युष्मत् के प्रयोग से समस्त संसार के प्राणी अभिप्रेत हैं क्योंकि स्तुतिकर्ता की दृष्टि में अपनेसे अतिरिक्त सब युष्मत् पदवाच्य हैं । परमात्मा केवल 'तत्' पदवाच्य है ।

१ २ ३उ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८७] त गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
३ २ ३ १ २
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६८८] विभूतरातिं विप्रचित्रशोचिषमग्निमीडिष्व यन्तुरम् ।
३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
अस्य मेधस्य सोम्यस्य सोभरे प्रमध्वराय पूर्व्यम् ॥२॥११॥
ऋ० ८ । १९ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१०९] पृ० ५८ ।

(२) हे (सोभरे) उत्तम रीति से ज्ञान का धारण करने हारे ! हे (विप्र) मेधाविन् ! ब्राह्मण ! ज्ञानोपासक ! शिष्य ! तू (अध्वराय) अविनश्वर या हिंसादि दोषों से सर्वथा रहित, स्वाध्याय यज्ञ या गुरु परम्परा से कभी विनाश को प्राप्त न होने हारे, अविच्छिन्न ज्ञानयज्ञ के निमित्त (विभूतरातिम्) बहुत अधिक ज्ञानराशि के दान करने हारे, (चित्रशोचिषं) संग्रह करने योग्य ज्ञान और तप आदि तेजस्कर गुणों से युक्त, (अस्य) इस (सोम्यस्य) ज्ञानयुक्त या ज्ञान के आनन्द प्राप्त कराने हारे (मेधस्य) पवित्र यज्ञ के (यन्तुरं) नियामक, व्यवस्थापक, (पूर्व्यम्) सबसे पूर्व विद्यमान, सबसे श्रेष्ठ आचार्य रूप परमेश्वर की (ईडिष्व) उपासना कर ।

१ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[१६८९] आ सोम स्वानो अद्रिभिः कलशे वाजसातये ।
२ ३ १ ३ १ ३क २र ३ २ ३ २ ३ १ २
जनो न पुरि चम्वोर्विशद्धरिः सदो वनेषु दध्विषे ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र ३क २र ३ १ड ३ १ १ ३ ३
[१६९०] स मामृजे तिरो अण्वानि मेष्यो मीढ्वांसमभि वाजयुः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अनुमाद्य पवमानो मनीषिभिः सोमो विप्रभिरूयते ॥
॥ २ ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । १०७ । १०, ११ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५१३] पृ० २५३।

(२) जिस प्रकार सोमरस को दृढ़ प्रस्तरों से कूटकर, भेड़ी के लोम से बने दशापवित्र नामक कम्बल के टुकड़े से स्वच्छ कर लिया जाता है, उसी प्रकार उस आत्मस्वरूप ज्ञान के रस को भी स्वच्छ कर लिया जाता है, उसी का वर्णन करते हैं। योगी का आत्मा (सप्तिः न) अति वेगवान् अश्व के समान (वाजयुः) बल और ज्ञान को प्राप्त करने हारा (सः) वह (मेध्यः) चितिशक्ति के (अणवानि) सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों को (तिरः) प्राप्त करके (मीढ्वान्) सब सुखों का स्वयं वर्षण करने हारा धर्ममेघ होकर (मास्तृजे) शुद्ध पवित्र हो जाता है। वही (सोमः) शमदमादि गुणों से युक्त सोमस्वरूप आत्मा (पवमानः) पवित्र होता हुआ और अन्य इन्द्रियवृत्तियों, ज्ञानवृत्तियों को पवित्र करता हुआ (मनीषिभिः) मनन करने में गतिशील, (विप्रेभिः) मेधावी (ऋक्वभिः) वेदज्ञों द्वारा (अनुमाद्यः) आनन्द लाभ करने योग्य, प्रशंसनीय होता है।

३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २
[१६९१] वयमेनमिदाह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
१ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २
तस्मा उ अद्य सवने सुत भगा नूनं भूषत श्रुत ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६९२] वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति।
२ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २.३ २
सेमं नस्तोममुजुषाण आगहीन्द्र प्र चित्रया धिया॥२॥१३

ऋ० ८। ६६। ७, ७॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७२] पृ० १३९।

(२) (अस्य) इस आत्मा का (वारणः) पापों से निवारण करने हारा साधन (वृकः चित् ?) कुत्ते या भेड़िये के समान (उरामथिः) भेद के

१६९'—२. 'मोळ्हे सप्तिर्न' इति ऋ०।

समान बातों से छिपे चोरों बड़े २ संकटों को भी मथन करने हारा होकर (वयुनेषु) प्रज्ञा या महान् कार्यों में (आभूषति) शोभा देता है। हे आत्मन्! (अ.) वह आप (इमं) इस (स्तोमं) स्तुतिमय वचन को (जुजुषाणः) स्वीकारते हुए (चित्रया) ज्ञानयुक्त (धिया.) प्रज्ञाबुद्धि से (आगहि) हमें साक्षात् दर्शन दो।

अथवा—(अस्य) इस इन्द्र का (वृकःचित्) आदित्य ही (वारण.) अन्धकार दूर करने का साधन (उरामथिः) महान् अन्धकार को मथन कर देने हारा होकर (वयुनेषु) समस्त लोकों में (आभूषति) शोभा देता है। अथवा—(वृकश्चित्) आदित्य के समान इसका (वारण.) वरणीयस्वरूप (उरामथिः) अज्ञानों का नाश करने हारा (वयुनेषु) समस्त प्रज्ञावान् पुरुषों के आत्माओं में (आभूषति) शोभा देता है।

अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण. उरामथि·) भूमि को काटने हारा हल ही इसका वरण करने योग्य पदार्थ है जो उरामथिः=पृथिवी की ऊन के समान जमी घास को मथन करता है और वही (वयुनेषु) नाना ज्ञानयुक्त कार्यों में (आभूषति) प्रयोग किया जाता है। शोभा देता है। अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण. उरामथिः) सब पापों का निवारक ज्ञानरूप वज्र ही इस आत्मा के शत्रुओं का नाशक वारण=आयुध है जो (वयुनेषु) सब मार्गों में और प्रज्ञाओं में (आभूषति) शोभा देता है।

अथवा—राजाके पक्षमें (अस्य) इस इन्द्र राजा का (वृक·) वज्र अर्थात् खड्ग और (उरामथि) शत्रुओं का मथन करने हारा (वारण.) राज बल दोनों (वयुनेषु) संग्राम के मैदानों में या राजकार्यों में (आभूषति) शोभा देते हैं। वह राजा (इमं) इस (न·) हमारे (स्तोम) ज्ञानसमूह और देश के विद्वान् सभ्य को (जुजुषाण·) प्रेम से अपनाता हुआ (चित्रया) विचित्र या ज्ञानयुक्त (धिया) बुद्धि, राजनीति या देश को धारण करने हारी दण्डनीति द्वारा (आगहि) उत्तम रूप से शासन करे। अन्य

भाष्यकारों ने 'वृक' शब्द से स्तेन आदि का ग्रहण किया है सो असगत प्रतीत होता है । ४. वृको लाङ्गलं विकर्त्तनात् (नि० ६ । ख० २६) ५; वृक इति वज्रनाम विकर्त्तनादेव । (निघं० २ । २०) । वृक आदाने (भ्वादि.) इति इगुपधलक्षणः क' । वृणक्तेर्वा पृषोदरादित्वाद् । वृणोतेर्वौणादिक. क. । यद्वा वृजी वर्जन (अदादि०) इत्यतः औणादिक. कः नकारजकारलोपश्च । यद्वा वृणक्तेर्वधकर्मणः । विपूर्वकस्य कृन्ततेर्वा पृषोदरादि त्वाच्छिपातनम् । ६. 'दाना मृगो न वारण'(६८८) अत्रापि वारणो गजपर्यायः सायणसम्मत उपलभ्यते ।

अथवा—(वृकश्चिद् अस्य वारण उरामथिरावयुनेषु भूपति) जंगली भेड़िया भी जो भेड़ों को मारता है इन्द्र की आज्ञा में रहता है । वारणः—जंगली । श्वा अपि वृक उच्यते । विकर्त्तनात् । वृकश्चिदस्य वारण उरामथिः । उरणमथि· उरण ऊर्णावान् भवति । (निरु० ५ । ४ । २) आदित्यो पि वृक उच्यते यदावृङ्क्ते (निरु० ५ । ५ । १)

१ २ ३ १ ३ २३ ३ १ २

[१६९३] इन्द्राग्नी रोचना दिवः परि वाजेषु भूषथः ।

१ १ ३ २ ३क २२

तद्वां चेति प्रवीर्यम् ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ १

[१६०४] इन्द्राग्नी अपसस्परि० ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २

[१६९५] इन्द्राग्नी तविषाणि वां० ॥३॥ १४ ॥ ऋ०३।१२।६,७,८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्राग्नी ! आप (दिवः रोचना) द्यौलोक को प्रकाशित करने हारे इन्द्र अर्थात् सूर्य या विद्युत् के समान प्राण और अपान होकर इस मूर्धास्थल को प्रकाशित करते हो और (वाजेषु भूषथः) सब कार्यों में या ज्ञानयज्ञों में शोभा देते, कार्य सम्पादन करते हो । (तत् वीर्यं) यह सब सामर्थ्य (वां च) आप दोनों ही का है । राजपक्ष में इन्द्राग्नी सेना सनाध्यक्ष । और वाजेषु सग्रामों में ।

(२) 'इन्द्राग्नी अपसस्परि०' प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अवि० सं० [१५७७] पृ० ६७१ ।

(३) 'इन्द्राग्नी ताविषाणि वा०' यह भी प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अविकल सं० । १५७८] पृ० ६७१।

१ २ ३ १२ २३
[१६६६] क ईं वेद सुते सचा० ॥ १ ॥
३ २ ३ १२ २३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६६७] दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नकिष्ट्वा नियमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा ॥ २ ॥
२ ३ १२ २३ ३ १२ २३ १ २
[१६६८] य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यदि स्तातुर्मघवा शृणवद्धवन्नेन्द्रो योषत्यागतम् ॥ ३ ॥ १५

ऋ० ८ । २१ । ७–९

भा०—(१) 'क ईं' वेद सुते सचा० प्रतीकमात्र है। व्याख्या देखो अवि० सं०[२९७] पृ० १५२।

(२) (मृग) बनैला (वारणः) हाथी (न) जिस प्रकार (दाना) अपने मदजलों के कारण (पुरुत्रा) बहुत से स्थलों पर (चरथं) विचरण (दधे) करता है और उसको कोई (नकिः नियमत्) नहीं रोकता उसी प्रकार हे इन्द्र आप भी मत्त हाथी के समान (दाना) अपने नाना प्रकार के दानों, रक्षण सामर्थ्यों सहित (पुरुत्रा) सर्वत्र (चरथ दधे) विचरण करते हो, (सुते) इस उत्पन्न विश्व में (त्वा) आपको (नकिः नियमत्) कोई भी रोकने वाला नहीं है। आप (महान्) सबसे बड़े होकर (ओजसा) अपने पराक्रम सामर्थ्य से (चरसि) सर्वत्र विचरण करते हो। आप (सुते) इस विश्व में और हमारे हृदय और यज्ञ में (आगम.) व्याप्त हो।

(३) (यः) जो आत्मा (उग्र·) वीर्यवान्, शक्तिमान् (अ· निस्तृतः) अविनाशी, किसी से न मारा गया, (स्थिरः) कूटस्थ, नित्य (रण्याय) सर्वत्र विश्व में और इस देह में रमण करने के लिये (संस्कृत.) संस्कार किया गया, नाना कर्म फलों से, या तप· साधनों से शुद्ध किया गया है । (यदि) जब (मघवा) ज्ञानवान् आत्मा (स्तोतुः) स्तुति करने हारे विद्वान् की (हवे) पुकार को (शृणवत्) सुनलेता-है तो, (इन्द्र·) वह ऐश्वर्यवान् आत्मा (न योषति) पृथग् नहीं रहता प्रत्युत (आगमत्) उसे प्राप्त हो जाता है ।

परमात्मा के पक्ष में—(संस्कृतः) नाना गुणों से उपासित होकर जब वह अपने भक्त की पुकार सुनता है तो उसके हृदय में प्रकट होता है ।

इति तृतीय· खण्ड· ।

—०—

[१६९९] पवमाना असृक्षत सोमा शुक्रास इन्दवः ।
अभि विश्वानि काव्या ॥ १ ॥

[१७००] पवमाना दिवस्पर्यन्तरिक्षादसृक्षत ।
पृथिव्या अधि सानवि ॥ २ ॥

[१७०१] पवमानास आशवः शुभ्रा असृग्रमिन्दव ।
घ्नन्तो विश्वा अप द्विषः ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ९ । ६३ । २५, २७, २६ ॥

भा०—(पवमानाः) शुद्ध पवित्र (शुक्रासः) शुद्ध शुक्ल कर्मों के करने हारे, (सोमाः) शमादिगुणसम्पन्न, (इन्दवः) योगी, विदेहमुक्त जन (विश्वानि) समस्त (काव्या) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात् (असृक्षत) करते हैं ।

(२) (पवमानाः) शुद्ध पवित्र, या गति करने हारे, या ज्ञानवान् पुरुष (दिवस्परि) द्यौ अर्थात् प्रकाशमान् लोकों में (अन्तरिक्षात्) और अन्तरिक्ष में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (अधि सानवि) उच्च पर्वत भागों में (असृक्षत) तप और विद्या का सम्पादन करते हैं।

(३) (शुभ्राः) शुभ्रगुणयुक्त, (आशवः) शीघ्र गति करने हारे, अप्रमादी, (पवमानासः) सब को पवित्र करने हारे, (इन्दव) ज्ञानी पुरुष (विश्वा.) सब (द्विषः) द्वेष करने हारे पुरुषों को, या द्वेषभावों को (अप घ्नन्तः) दूर मार भगाते हुए (असुग्रम्) कार्य सम्पादन करते हैं।

यज्ञपक्ष में पवमाना., शुक्र, आशवः, शुभ्रा., इन्दवः, आदि सब विशेषण गौणवृत्ति से सोमरसों में लगते हैं।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१७०२] तोशा वृत्रहणा हवे स जित्वानापराजिता।

३ १ २ ३ १ २

इन्द्राग्नी वाजसातमा ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २

[१७०३] प्र वामर्चन्त्युक्थिन ० ॥ २ ॥

१ २ ३ १र २र

[१७०४] इन्द्राग्नी नवतिं पुरः० ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ३ । १२ । ४, ९॥

भा०—(१) (तोशा) भीतरी रोगादि शत्रुओं के नाशक, (वृत्रहणा) अज्ञान के हनन करने वाले, (सजित्वाना) समान रूप से विजय करने हारे, प्रबल, (अपराजिता) कभी न हारने वाले, अनथक, (वाजसातमा) बल के देने वाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि प्राण और अपान आत्मा और अन्तःकरण, परमात्मा और जीवात्मा, राजा सेनापति, गुरु शिष्य होते हैं।

(२, ३) " प्रवामर्चन्त्युक्थिनः० " और "इन्द्राग्नी नवतिंपुर " यह दोनों प्रतीकमात्र हैं। व्याख्या देखो अवि० सं०[१५७५, १५७६] पृ० ६७१।

[१७०५] उप त्वा रण्वसन्दृशं प्रयस्वन्त सहस्कृत ।
अग्ने ससृज्महे गिरः ॥ १ ॥

[१७०६] उपच्छायामिव घृणेरगन्म शर्म ते वयम् ।
अग्ने हिरण्यसन्दृशः ॥ २ ॥

[१७०७] य उग्र इव शर्यहा तिग्मशृङ्गो न वंसगः ।
अग्ने पुरो रुरोजिथ ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ६ । १६ । ३७-३९ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बल और साधना से साक्षात् करने योग्य अग्ने ! (प्रयस्वन्तः) ज्ञानी मुमुक्षु हम लोग (रण्वसन्दृशं) रमण करने हारे या रमणीय और दर्शन करने योग्य या सबके द्रष्टा (त्वा) आप परमेश्वर के (उप) समीप प्राप्त होने के लिये (गिरः) स्तुतियों या वेदवाणियों का (ससृज्महे) उच्चारण करें ।

(२) जिस प्रकार (घृणेः) देदीप्यमान सूर्य के तेज से सन्तप्त होकर लोग (छायाम् इव) छाया का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार हे (अग्ने) ज्ञानवन् प्रभो ! (हिरण्यसन्दृशः) सूर्य समान स्वरूप वाले (ते) आपके (शर्म) शरण सुख को (वयं) हम (उप अगन्म) प्राप्त हों ।

(३) (यः) जो (शर्यहा) बाणों से मारने हारे योद्धा के (इव) समान (उग्रः) अति भयंकर शक्तिशाली (वसगः न) बैल के समान (तिग्मशृंगः) तीक्ष्ण शृंग अर्थात् प्रखर तेज वाले, हैं वही आप हे (अग्ने) प्रभो ! (पुरः) सब देहों को (रुरोजिथ) ज्ञान वज्र से तोड़ डालते हो और मुमुक्षुओं को मुक्त कर देते हो ।

सायण ने अग्नि को रुद्ररूप मानकर त्रिपुर दहन की कथा को लगाया है । लिखा है—" रुद्रो वा एष यदग्निः ' इति श्रुतेः । रुद्रकृतमपि त्रिपुर-

दहनम् अग्निकृतमेवेति श्रूयते । यद्वा त्रिपुरदहनसाधनभूतं वाये अग्नि-नीकरणावस्थानादग्निः पुराणि भस्मवान् इत्युच्यते । " अर्थात् रुद्र अग्नि का नाम है ऐसी ब्राह्मण श्रुति है । अतः रुद्र का किया त्रिपुरदहन अग्नि ही का किया कहा जाता है । अथवा त्रिपुर के दहन करने में साधन बने बाण में अग्नि सहायक था, इससे अग्नि ने पुरों को तोड़ा ऐसा कहा जाता है । परन्तु इस का रहस्य सायण ने स्पष्ट नहीं किया, यह आल-कारिक है । वस्तुतः—

वेदत्रयी त्रिनेत्राणि त्रिपुरं त्रिगुणं वपुः । (पु०)

भस्मीकरोति तद्देवत्रिपुरघ्नस्ततः स्मृतः ॥ (स्कन्द० महि० कौ० ख० २ । अ० २५)

अर्थात्—रुद्र के तीन वेद तीन नेत्र हैं, त्रिगुण देह त्रिपुर है. उसको वह ज्ञानरूप से प्रकट होकर भस्म कर देने से त्रिपुरघ्न कहा जाता है ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७०८] ऋतावान वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।

१ २ ३ १ २

अजस्रं घर्ममीमहे ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २

[१७०९] य इदं प्रनिपप्रथे यज्ञस्य स्वरुत्तिरन् ।

३ २ १ २ ३ २

ऋतून्नृत्सृजते वशी ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७१०] अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।

३ २ ३ १ २

सम्राडेका विराजति ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋग्वेदे नास्ति ॥ आर्चा—यजु० २९ । ६ ॥ आथर्व० ६ । ३६ । २ ॥ द्वि-तीयाऽथ० ६ । २६ । २ ॥ तृतीया—यजु० १४ । ११७ ॥

१६०८—२. "स त्रिधा प्रतिचाक्लृप ऋतूँरुत्सृजते वशी यस्य व्रय उपस्तिरन्" इति पाठभेदोऽथर्वणि । ३. 'अग्नेः परेषु धामसु' इति आथर्व० ।

भा०—(१) हे अग्ने ! (ऋतावानं) सत्यज्ञान से युक्त, या इस ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले (वैश्वानरम्) समस्त नर अर्थात् आत्माओं में भी व्यापक, सबके हितकारक (ज्योतिषः पतिं) सब ज्योतिष्मान् सूर्य आदि विशाल लोकों के प्रतिपालक (अजस्रः) अनादि, नित्य, (घर्मं) शुद्ध दीप्तिमान् आपको (ईमहे) उपासना करते हैं ।

(२) (यः) जो अग्नि[१] परमात्मा (यज्ञस्य) आत्मा को (स्वः) आनन्दमय मोक्ष (दातिरम्) प्रदान करता है और (इदं) समस्त ब्रह्माण्ड को (प्रतिपप्रथे) रचता है और सब का वशकर्त्ता, अधिष्ठाता होकर (ऋतून्) प्राणों को और गतिशील पिण्डों और छहों कालरूप वसन्त आदि ऋतुओं को सूर्य के समान (उत्सृजते) उत्कृष्ट रूप में बनाता और प्रकट करता है ।

(३) वह (अग्निः) सब का पूजनीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा (भूतस्य) समस्त भूतकाल और उसमें उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों और (भव्यस्य) भविष्यत् काल और उसमें होने वाले समस्त जगत् का (कामः) मूल उत्पादक सकल्प के समान आदिकारण (प्रियेषु) अति श्रेष्ठ और विभूतियुक्त, प्रेष्ठ (धामसु) लोकों में (एकः) एकमात्र, अद्वितीय (सम्राट्) सार्वभौम, सम्राट् परमेश्वर, स्वामी होकर (विराजति) विशेष रूप से विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इत्यष्टादशोऽध्यायः समाप्तः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः ।

---

१. वशी परमात्मतया जगद्वशीकर्त्ता सोऽग्निः । इति सायण.-]

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।

ऋषिः—१ विश्व सांकृत्यः । २, १८ अत्रिः । ३ गोपवनः । ४ देवातिथिः काण्वः । ५, ८, ९, १६ गौरिवीतिः शाक्त्यः । ६ वामदेवः । ७ प्रस्कण्वः काण्वः । १० मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ११ गाथी कौशिकः । १२ सप्तर्षयो वसिष्ठाः । १३ कुसीदी काण्वः । १४ कुरुसुतिः काण्वः । १५ अग्निः । १७ दीर्घतमा औचथ्यः ॥ देवता—१, १०, १३ अग्निः । २, १८ पवमानः सोमः । ३–५ ८८ । ६, ८, ११, १४, १६ इन्द्रः । ७, ९ १२, १५, १७ अश्विनौ ॥ छन्दः—१, ३, ६ ७, १८ गायत्री । २ ४ बृहती । ५ प्राजापत्या । ८, ९ उष्णिक् । १०–१२ पङ्क्तिः । १३–१५ त्रिष्टुप् । १६, १७ जगती ॥ स्वरः—१, ३, ७, १८ षड्जः । ३, ५, ९ गान्धारः । ८, ९ ऋषभः । १०—१२ पञ्चमः । १३–१५ धैवतः । १६, १७ निषादः ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २

[१७११] अग्निः प्रत्नेन जन्मना शुम्भानस्तन्वा३ऽ२ स्वाम् ।

३ १२ २२

कविर्विप्रेण वावृधे ॥ १ ॥

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१७१२] ऊर्जो नपातमाहुवाग्निं पावकशोचिषम् ।

३ २ ३ १ २ ३ २

अस्मिन्यज्ञे स्वध्वरे ॥ २ ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[१७१३] स नो मित्रमहस्त्वमग्ने शुक्रेण शोचिषा ।

३ १२ २२ ३ १ २

देवैरासत्सि बर्हिषि ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० ८ । ४४ । १२–१४ ॥

१७११—१. "प्रत्नेन मन्मना" इति ऋ० ।

भा०—(१) (अग्नि.) ज्ञानस्वरूप प्रकाशमय आत्मा (प्रत्नेन) अपने पुराने अर्थात् पूर्व के किये (जन्मना) जन्म अर्थात् स्वरूप से या जन्म में किये कर्मों द्वारा (स्वां) अपने (तन्वा) शरीर को 'शुम्भान') उत्तम रूप से सुशोभित करता हुआ (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, ज्ञानी होकर (विश्वेद) मेधावी ज्ञानमय परमेश्वर के संग (वावृधे) अपनी वृद्धि और अभ्युदय प्राप्त करता है।

सायण ने 'जन्मना' और 'विश्वेद' का अर्थ स्तोत्र किया है। तुलसीरामजी–'प्रत्नेन जन्मना'-पुराने जन्म से-सनातनस्वरूप से। ग्रीफिथ पुराने तरीक़े से।

(२) (ऊर्जोनापातम्) बल धैर्य का विनाश न होने देने हारे (पावकशोचिषम्) लोकों को शोध कर पवित्र करने हारे तेज से युक्त (अग्निम्) अग्निस्वरूप आत्मा को (अग्निना) इस (स्वध्वरे) उत्तमरूप, अविनाशी (यज्ञे) दान प्रतिदान स्वरूप यज्ञ या इष्टदेवपूजा या समाधि दशा में या सर्व पूज्य परमआत्मा में (आहुवे) समर्पित करता हूं।

(३) हे (अग्ने) आत्मन् ! हे (मित्रमहः) अपने मित्र परमस्नेही परमेश्वर के संग से स्वतः तेजस्विन् ! (त्वम्) तू (शुक्रेण) शुद्ध (तेजसा) तेज से (देवैः) अपनी इन्द्रियों के साथ (बर्हिषि) इस देह में (आ सत्सि) विराजमान है।

परमात्म पक्ष में-हे मित्र ! या सूर्य के समान, कान्ति वाले या सब के मित्र एवं पूजनीय परम प्रभो ! (त्वं) आप शुद्ध कान्ति से दिव्य गुण युक्त विद्वानों और सूर्यादि 'देव' लोकों के संग इस (बर्हिषि) ब्रह्माण्ड में (आ सत्सि) विराजमान हो।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७१४] उक्षे शुष्मासो अस्थू रक्षो भिन्दन्तो अद्रिवः।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
हुदस्व याः परिस्रुचः ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र ३ २
[१७१५] अया निजाग्निरोजसा रथसङ्गे धने हिते ।
२ ३ १ २ ३ २
स्तवा अविभ्युषा हृदा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ २र ३ १ २ ३र २र
[१७१६] अस्य व्रतानि नाधृषे पवमानस्य दूढ्या ।
३ १र २र ३ १ २
रुज यस्त्वा पृतन्यति ॥ ३ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७१७] तं हिन्वन्ति मदच्युतं हरिं नदीषु वाजिनम् ।
२ ३ १, २ ३ २
इन्दुमिन्द्राय मत्सरम् ॥ ४ ॥ २ ॥ ऋ० ९ । ५३ । १–४ ॥

भा०—(१) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! हे (अद्रिव०) आदरणीय ! अक्षयबलवन् ! परमात्मन् ! आदर करने वाले भक्तों के स्वामिन् ! (ते) तेरे (शुष्मासः) बलप्रयोग (रक्षः) दुष्ट पुरुषों को, या विघ्नों को (भिन्दन्तः) विनाश करते हुए (उत् अग्नुः) सबसे ऊपर विराजमान हैं (याः) जो (स्पृधः) तुझ से स्पर्द्धा करते हैं उन नास्तिकों को तू (नुदस्व) नीचे गिरा देता है ।

(२) हे (सोम) ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! आप (अया) इस प्रकार के (ओजसा) तेज और बल से विघ्नों और विघ्नकारियों को (निजाग्नि०) विनाश करने हारे हो । (रथसंगे) इस रमण करने योग्य देह या रसस्वरूप तेरा सग लाभ हो जाने पर और (धने[1]) तृप्ति योग्य भोग्य पदार्थ के (हिते) प्राप्त हो जाने पर मैं (अविभ्युषा) निर्भय (हृदा) चित्त से (स्तवै) आपकी स्तुति करता हू ।

(३) (अस्य) इस (पवमानस्य) पवमान, सर्वप्रेरक, व्यापक और सब को पवित्र करने हारे एव स्वयं पवित्र परमेश्वर की (व्रतानि) व्यवस्थाएं (दूढ्या) दुष्ट बुद्धि वाले, मूढ, अभिमानी पुरुष से (न

१७१४—२. धन, धिनोतीति सत्य (निरु० अ० ३ । ख० ९) धिनोतिस्तर्पणार्थः ।

आधृषे) अपमान, या विनाश नहीं हो सकती। हे परमात्मन् ! (यः) जो (त्वा) आपका (शृणत्वति) विरोध करता है आपके नियमों और आज्ञाओं का उल्लंघन करता है आप उसको, (रुज [२]) पीड़ा उत्पन्न करते हैं या उसका विनाश कर देते हैं।

(४) (तं) उस (मदच्युतं) आनन्द रस के बहाने वाले, (वाजिनम्) ज्ञानमय, (हरिं) दुःखों के हरण करने हारे, सर्वव्यापक (मरुत्वन्तम्) स्वयं परमसुखजनक, आनन्दस्वरूप (इन्दुम्) परमेश्वर को (इन्द्राय) अपने आत्मा के हित के लिये (हिन्वान्ति) उपासना करते हैं !

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७१८] आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ड ३ २ड ३ १ २ ३ १ २
मा त्वा केचिन्नियेधुरिश्च पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि॥१॥
३ १ २ ३ १ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २
[१८१९] वृत्रखादो वलं रुजः पुरां दमो अपामजः।
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २
स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृढाचिदारुजः॥२॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७२०] गम्भीराँ उदधीँरिव क्रतुं पुष्यसि गा इव।
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १ २
प्र सुगोपा यवसं धेनवो यथा हृदं कृण्वन्त्सुवासरत
॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० १ । ४५ । १—३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४६] पृ० १२६ ।

(२) (वृत्रखादः) आवरणकारी अज्ञान का नाशक (वलं रुजः) बलन करने वाले, प्राण धारण करने वाले देह, या मोक्ष का अपरोध करने वाले तामस आवरण को तोड़ डालने हारे, (पुरां दमः) पञ्चकोश रूप पुरियों के विदारक, (रथस्य स्थाता) इस रथ या देह या विशाल ब्रह्माण्ड

---

[२] रुजो भङ्गे (तुदादिः) रुज हिंसायाम् (चुरादिः)।

रूप रथ के अधिष्ठाता (अपाम् अजः) कर्मों और मनः संकल्पों के प्रेरणा करने वाले, (हर्योः अभिस्वरः) प्राणेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय अथवा प्राण और अपान इनका साक्षात् रूप से प्रेरक (इन्दः) आत्मा और परमात्मा (दृढाचित्) दृढ से दृढ, कठोर से कठोर बन्धनों या विघ्नों को भी (आरुजः) विनाश कर देता है ।

(६) हे इन्द ! (त्वं) आप (गंभीरान्) गभीर (उदधीन् इव) समुद्रों को जिस प्रकार निरन्तर सहस्रों जलधारा पुष्ट करती हैं, और वह सूखते नहीं उसी प्रकार आप इस (ऋतुं) जीवात्मा को नाना जीवन धाराओं से पुष्ट करते हो कभी विनाश नहीं होने देते । और (सुगोपाः) उत्तम गोपालक (गाः इव) जिस प्रकार अपनी गौओं को (प्र पुष्यति) खूब खिलाकर पुष्ट करता है उसी प्रकार आप जीवों को भी खूब अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं । और (यथा) जिस प्रकार (धेनवः) गौएं (यवसे) अपने चारे पर आती हैं उसी प्रकार ये जीवगण आपके पास पहुंच जाते हैं और (कुल्याः इव) जिस प्रकार सब नहरें या नदियां (ह्रदं) विशाल ताल या समुद्र में आ गिरती हैं उसी प्रकार ये जीव आप में ही सब भेदभाव त्याग कर आ मिलते हैं ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ २उ ३ १२ २र

[१७२१] यथा गौरो अपाकृतं तृष्यन्नेत्यवेरिणम् ।

३ १ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २ ३ २उ ३ १ २

आपि त्वे नः प्रपित्वे तूयमागहि कण्वेषु सु सचा पिबा॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१७२२] मन्दन्तु त्वा मघवन्निन्द्रेन्दवो राधो देयाय सुन्वते ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ १

आमुष्या सोममपिबश्चमूसुतं ज्येष्ठं तद्धिषे सहः ॥२॥४॥

ऋ० ८ । ४ । ३, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२५२] पृ० १२८ ।

(२) हे (मघवन्) ज्ञानवान् आत्मन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (इन्दव.) ये सोमरस ज्ञान और आनन्ददायक समाधि के विशेष अनुभव (त्वा) तुझको (मन्दन्तु) हर्षित करें । (सुन्वते) ज्ञानरस को उत्पन्न करने हारे साधक विद्वान् योगी के (राधः) सिद्धि (दयाय) प्राप्त कराने के लिये (धमू-सुतं) प्राण और अपान रूप धमू दोनों से उत्पन्न किये गये (सोमम्) सोम अर्थात् आनन्दरस को (अमुष्य) गुप्तरूप से प्राप्त करके स्वयं (सोमम्) ब्रह्मानन्द को (अपिबः) पान करता है और तू (तत्) उस अलौकिक (ज्येष्ठं) सबसे महान् (सह) सह, स्वरूप, सर्वशक्तिमान् ईश्वर को अपने भीतर (दधिषे) धारण करता है ।

[१७२३] त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः ॥१॥

[१७२४] मा ते राधांसि मा त ऊतयो वसोऽस्मान् कदाचनादभन् ।
विश्वा च न उपमिमीहि मानुष वसूनि चर्षणिभ्य आ ॥२॥५॥

ऋ० २ । ८४ । १६, २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४७] पृ० १२६ ।

(२) हे (वसो !) सर्व संसार को बसाने हारे परमात्मन् ! (ते) तेरे (राधांसि) बलस्वरूप पञ्चभूत (कदाचन) कभी (मा दभन्) विनाशकारी न हों । और (ते ऊतयः) तेरी समस्त पालक शक्तियां (अस्मान्) हमें कभी (मा दभन्) विनाश न करें । और हे (मानुष) मनुष्य ! तू (विश्वा च) समस्त (वसूनि) आवास-साधनों को (उप मिमीहि) स्वयं उत्पन्न कर और उनको ज्ञान कर । और (नः चर्षणिभ्य) हम विद्वान् पुरुषों को वे नाना पदार्थ जो तू जानता और तैयार करता है (आ) प्रदान कर ।

इति प्रथम खण्ड. ।

—.0.—

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७२५] प्रति ष्या सूनरी जनी व्युच्छन्ती परि स्वसुः ।
३ १ २ ३ २
दिवो अदर्शि दुहिता ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७२६] अश्वेव चित्रारुषी माता गवामृतावरी ।
१ २ ३ १ २ ३ १
सखाभूदश्विनोरुषा ॥ २ ॥
३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
[१७२७] उत सखास्यश्विनोरुत माता गवामसि ।
३ २ ३ १ २
उतोषो वस्व ईशिषे ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० १ । ९२ । १-३ ।

भा०—(१) (सा) वह (दिवः) सूर्य की (दुहिता) पुत्री उषा (परि स्वसुः) रात्रि के उपरान्त (व्युच्छन्ती) तम को दूर करती हुई (सूनरी) उत्तम नेत्री रूप (जनी) स्त्री के समान (प्रति अदर्शि) प्रकट होती है ।

अथवा—(सा सूनरी जनी) वह उषा उत्तम पुत्र उत्पन्न करने हारी, शुभ लक्षणों से युक्त स्त्री के समान (स्वसुः परि) अपनी भगनी के पीछे २ (व्युच्छन्ती) अपना रूप प्रकट करती हुई लोक में प्रकट होती है, उसी प्रकार यह (दिवः) आदित्य के समान प्रकाशमान योगी की (दुहिता) आनन्द रस का दोहन करने वाली ज्योतिष्मती प्रज्ञा (स्वसुः) स्वयं सरण करने वाली, आप से आप प्रकट होने वाली प्रतिभा के (परि) साथ २ (जनी) उत्पन्न होती हुई ज्ञान उत्पन्न करने हारी (सूनरी) उत्तम मोक्ष-मार्ग की नेत्री होकर (प्रति अदर्शि) दिखाई देती है ।

(२) (उषा) अज्ञानाङ्कुरों का दहन करने हारी उषा साधक की विशोका प्रज्ञा (अश्वा) व्यापनशील विद्युत् के समान (चित्रा) विचित्र संज्ञानवती, (अरुषी) सब प्रकार से कान्तिमती तेजस्विनी, (गवां) इन्द्रियरूप गौओं की (माता) उत्पादन करने वाली (ऋतावरी) सत्य

ज्ञान को वरण करने हारी या प्राप्त करने हारी ऋतम्भरा स्वरूप (अश्विना) शरीर भर में व्यापक प्राण और अपान इन दोनों की (सखा) साथ रहने वाली, उनके साथ ही वर्णन की जाने योग्य, अथवा समान रूप से इन्द्रिय देशों में व्याप्त (अभूत्) है।

(३) पूर्व ऋचा के समान ही है (उप॰) ज्योतिष्मति! विशोका नामक प्रज्ञे! (उत) यद्यपि (अश्विनोः) अश्वि अर्थात् प्राण और अपान दोनों की तू (सखा असि) सखा है, (उत गवां माता असि) और गो अर्थात् इन्द्रियों की तू उत्पादक माता के समान है। अथवा उनके गृहीत ज्ञान को भी ग्रहण करने हारी, प्रमात्री है (उत) तथापि हे उषः! प्रकाश-स्वरूप प्रज्ञे! तू (चस्व) आत्मा या प्राण की (दंशिपे) शक्ति को धारण करती है।

[१७२८] एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।
स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥ १ ॥
[१७२९] या दस्रा सिन्धुमातरा मनोतरा रयीणाम्।
धिया देवा वसुविदा ॥ २ ॥
[१७३०] वच्यन्ता वां ककुहासो जूर्णायामधि विष्टपि।
यद्वां रथो विभिष्पति ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १ । ४६ । १—३॥

भा०—(१) (एषा उ) यह (उषा) उषा, सकल पापदाहिका विशोका प्रज्ञा (अपूर्व्या) योगी के अनुभव में पूर्व कभी न आई हुई (दिवः) प्रकाशमान आत्मा की (प्रिया) अत्यन्त प्रेमपात्र है। हे (अश्विना) देह में निरन्तर गति करने हारे प्राण और अपान इस विशोका की प्राप्ति के लिये (वां) आप दोनों के (बृहत्) बहुत अधिक (स्तुषे) गुणकारी होने का यथार्थ वर्णन करता हूं।

(२) (या) जो दोनों (देवा) देव, प्राण और अपान (दस्रा[1]) अत्यन्त दर्शनीय, अथवा काम क्रोधादि मलों के नाशक, अथवा सब कर्म कराने हारे, या रोग विनाशक, शरीर के भीतर सब के कर्म के करने कराने हारे (सिन्धुमातरौ) देह के सब रक्तप्रवाहिनी नदियों या प्राणों को प्रवाहित करने हारे उनको ठीक रीति से संचालक, (रयीणां) सब ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के ज्ञान और कर्मों को (मनोतरा) मनोबल द्वारा प्रेरणा करने और मनोबल से ही उनके ज्ञान और क्रिया को स्वयं प्राप्त करने कराने हारे (धिया) ध्यान वृत्ति से (वसुविदा) वसु, आत्मा को ज्ञान कराने वाले या, उस तक स्वयं पहुंचने वाले हैं।

(३) पूर्वोक्त रूप से वर्णित किये गये हे अश्विनौ ! (वां) आप दोनों का (रथः) रमणस्थान यह आत्मा (यत्) जब (निभिः) पदार्थों तक पहुचने वाले प्राणगणों सहित (जूर्णियाम्) अतिप्रशंसा योग्य या सनातन (अधि विष्टपि) मोक्षस्थान पर (पतात्) गमन करता है तब (वां) आप दोनों के (कुकुहास.) उत्तम गुण (वन्यन्ते) वर्णन किये जाते हैं। उन दोनों का (रथः) रमण स्थान यह देह (जूर्णियाम् अधिविष्टपि) जीर्णदशा, वृद्धावस्था तक पहुचं जाता है। पूर्णायु भोग लेता है तब उन दोनों के गुण वर्णन किये जाते हैं।

१७२८—१. दसि दशदर्शनयोः। दसि दस इत्येके (चुरादिः), दसि भावार्थः (चुरादिः), तस्मादुपसंख्याने दसु च (दिवादिः) इत्येतेभ्यो 'स्फायितञ्ची वि०' औणादिको रक् (उणा० २ । १३)। दस्यति रोगान् उपक्षपयति इति दस्रः (दया० उणा०) दस्रा शत्रूणां दासयितारौ, दसयितारौ, कर्मणां कृष्यादीनां कारयितारौ। एतावेवविधौ कर्म कारयन्तौ कुर्वाणौ वा इति दुर्गाचार्यः (निरु० अ० ६ ख० २६) नीरुक्तटीकायाम्।

२ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३१] उपस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
येन तोकं च तनय च धामहे ॥ १ ॥
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७३२] उषो अद्येह गोमत्यश्वावति विभावरी ।
३ २ ३ १ २
रेवदस्मै व्युच्छ सूनृतावति ॥ २ ॥
३ १२ १२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१७३३] युङ्क्ष्वा हि वाजिनीवत्यश्वाँ अद्यारुणाँ उष ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अथा नो विश्वा सौभगान्यावह ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋ० १ । ९२ । १३–१५ ॥

भा०—(१) हे (उषः [१]) कमनीय कन्या के समान विशोकप्रज्ञे ! ज्योतिष्मति ! हे (वाजिनी वति) ज्ञानमय वाणी से युक्त ! (अस्मभ्य) हमें (तत्) वह (चित्र) सम्यक् योग्य प्राप्तव्य ज्ञान (आभर) प्राप्त करा। (येन) जिससे (तोक) पुत्र के समान प्रिय एवं क्रीड़ाशील चित्त और (तनयं) समान लालन पालन योग्य इस देह को (धामहे) धारण करें, चिरकाल तक जितेन्द्रिय, चिरायु होकर रहें।

(२) हे (विभावरि !) ज्योति से सम्पन्न या विशेष कान्ति से वरण करने योग्य, या कान्ति से सम्पन्न ज्योतिष्मति ! हे (उष) आभ्यन्तर मलों को दाह करने हारी चितिशक्ति ! हे (गोमति) वाणी या ज्ञानेन्द्रियों या रश्मियों से युक्त ! हे (अश्वावति) अश्व अर्थात् कर्मेन्द्रिय या मनरूप अश्व वाली ! हे (सूनृतावति) उत्तम ऋत अर्थात् त्रिकालबाधित ज्ञान से सम्पन्न

---

[१] ७३३—१. उष दाहे, (भ्वादि), उषस् प्रभातभावे (कण्ड्वादि.) तयो रूपः किच्चेति असिरौणादिः (उणादि० ४ । २३४) । ओषति दहतीति उषः, कर्णच्छिद्रं, पर्वतभेदो वा, (स्त्रियां) प्रभातप्रकाशः (दया०) ।

अथवा सूनृता वेदवाणी का दर्शन मनन और निदिध्यासन करने हारी तू (अस्मै) हमारे लिये (रेवत्) रयि, अर्थात् ज्ञान प्राण और ऐश्वर्य से युक्त आत्म स्वरूप को (व्युच्छ) हमारे सामने खोल दे ।

(३) हे उष. ! हे वाजिनीवति ! (अद्य) आज (अरुणान्) चेत नाश से युक्त दीप्तिमान्, अथवा रोगरहित (अश्वान्) प्राणों को (युक्ष्व हि) इस देहरूप रथ में प्रेरित कर । (अथा) और (नः) हमें (विश्वा) समस्त (सौभगानि) उत्तम सुखदायी पदार्थों को (आवह) प्राप्त करा ।

१ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७३४] आश्विना वर्तिरस्मदा गोमद्दस्रा हिरण्यवत् ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्वाग्रथ समनसा नियच्छतम् ॥ १ ॥
१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७३५] इह वां मयोभुवा दस्रा हिरण्यवर्तनी ।
३ १ २ ३ १ २
उषर्बुधो वहन्तु सोमपीतये ॥ २ ॥
१ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७३६] यावित्था श्लोकमा दिवो ज्योतिर्जनाय चक्रथुः ।
२ ३ १ २ ३ १
आ न ऊर्जं वहतमश्विना युवम् ॥ ३ ॥ ६ ॥

ऋ० १ । ६१ । १६, १८ १७ ॥

भा०—(१) हे (अश्विनौ) देह में व्यापनशील ! प्राण और अपान ! आप दोनों (दस्रौ) रोगों के विनाशक हो । अतः आप दोनों (समनसा) हमारे मन के मानस बल के साथ होकर (हिरण्यवत्) आत्मा से युक्त और (गोमत्) इन्द्रियों से युक्त (रथम्) इस रमण योग्य उत्तम रथ रूप देह को (अर्वाग्) अपने अधीन करके साक्षात् रूप से (नियच्छतम्) नियम में रक्खो ।

(२) (इह) इस देह में (उषर्बुधः) ज्योतिष्मती प्रज्ञा को ज्ञान-जागृति से चेतन कर लेने वाले अथवा प्रबुद्ध योगी जन (हिरण्यवर्तनी)

आत्मा के बल पर अपनी चेष्टा करने वाले अथवा आत्मारूप रथ पर चढ़े हुए अथवा हिरण्य=आत्मा को, वर्त्तनि अर्थात् अपना प्रेरक और आश्रय बनाने हारे, (दस्रा) मलादिशोधक, अतएव (मधोभुवा) सुख और आरोग्य के उत्पादक, (देवा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (सोमपीतये) ब्रह्मानन्दरस को पान करने के लिये (आवहन्तु) अपने वश करें ।

(३) हे (अश्विनौ) पूर्वोक्त प्राण और अपान ! (यौ) जो आप दोनों (इत्था) इस प्रकार से (दिवः) द्यौलोक या मूर्धाभाग से (श्लोकं) प्रशंसनीय या अतिघनीभूत ज्योति विशोका, विवेक ख्याति को (जनाय) साधक पुरुष के लिये (चक्रथुः) उत्पन्न करते हो वे ही (युवं) आप दोनों (नः) हम लोगों के लिये (ऊर्जं) परम पोषक रसरूप बल को (आवृतम्) प्राप्त कराओ ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

३ १२ २२ ३ २८ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ २ ३ १ २

[१७३७] अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः । अस्तमर्वन्त

३ २८ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषं स्तोतृभ्य आभर ॥१॥

३ २८ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २८ ३ २

[१७३८] अग्निर्हि वाजिनं विशे ददाति विश्वचर्षणिं । अग्नी राये

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

स्वाभुवं स प्रीतो याति वार्यमिष स्तोतृभ्य आभर ॥२॥

२ १२ २२ ३ २८ ३ १ २ ३ १ २ १२ २२

[१७३९] सो अग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः । समर्वन्तो

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

रघुद्रुवः समु जानाससः सूरय इषं स्तोतृभ्य आभर ॥३॥

१० ॥ ऋ० ५ । ६ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकञ्च सं० [५२५] पृ० ।

(२) (हि) निश्चय से (विशे) प्रजाओं के हित के लिये (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमात्मा हमें (वाजिनं) बलवान् पुरुष, ज्ञानी पुरुष और अन्नादि पदार्थ (ददाति) देता है। वह (विश्वचर्षणिः) समस्त संसार को देखने वाला सर्वसाक्षी, (अग्नि.) प्रत्येक अंग २ में व्यापक सबका प्रकाशक है।(सः) वह (प्रीत॰) उत्तम प्रेम से परिपूर्ण एवं प्रसन्न होकर प्रभु (स्वा भुवम्) अपने आश्रय पर प्राण धारण करने वाले जगत् को (राये) उत्तम कल्याण के लिये (याति) प्राप्त होता है और वही (स्तोतृभ्य॰) विद्वान् वेदज्ञों को (वार्यम्) वरण करने योग्य (इषं) ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान करे।

(३) (सः) वह (अग्निः) 'अग्नि' (गृणे) कहा जाता है (यः) जो (वसु॰) समस्त संसार को बसाने हारा और स्वयं सब में बसने हारा, सब का आच्छादक, शरण्य है। और (यं) जिसके शरण में (धेनवः) गौएं, वाणियां एवं ज्ञानरस का पान करने और कराने हारे विद्वान्जन (सम् आयन्ति) पहुंचते हैं। और जिसके शरण (रघुद्रुवः) ज्ञान मार्ग में गमन करने वाले विद्वान् (सम्) प्राप्त होते हैं, उपासना करते हैं, और (सुजातास॰) संसार में उत्तम स्थिति को प्राप्त, कृतकृत्य, यशस्वी (सूरयः) सूर्य के समान प्रजाओं को धर्ममार्ग में चलाने हारे महापुरुष जिसके शरण में (सम्) आजाते हैं वह तू परमेश्वर ज्ञानस्वरूप (स्तोतृभ्य) विद्वान् उपासकों को (इष) उत्तम ज्ञान और अन्न का (आभर) प्रदान कर ।

---

२ 'सप्रीतो याति' इति पाठः सायणादिसम्मतः। अजमेरुद्रिते तु 'सुप्रीतो' इति निरामनादरणीय, क्वापि नोपलम्भात्, ऋक्पाठविरोधाच्च 'सप्रीतो' इत्येव ऋग्वेदीयः पाठः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ १ २ ३
[१७४०] महे नो अद्य बोधयोषो राये दिवित्मती । यथा चिन्नो
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥१
१ २ ३ १ २ ३ १र २र १ २ ३
[१७४१] या सुनीथे शौचद्रथे व्यौच्छो दुहितर्दिव । सा व्युच्छ
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते॥२
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २र २ ३
[१७४२] सा नो अद्यो भरद्वसुर्व्युच्छा दुहितर्दिवः । या व्यौच्छ
१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
सहीयसि सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते
॥ ३ ॥ ११ ॥ ऋ० ५ । ७९ । १–३ ॥

भा०—(१) हे (उषः) उषा के समान ज्योतिष्मति विदोका प्रज्ञे ! तू (दिवित्मती) ज्योतिष्मती होकर (अद्य) आज, अब (महे) बडे भारी (राये) आत्मज्ञानरूप धन को प्राप्त करने के लिये (नः) हमें (बोधय) जगा, ज्ञानवान् कर, प्रबुद्ध कर । हे (अश्वसूनृते) व्यापक आत्मा में शुभ, ऋत अर्थात् उत्तम ज्ञान को पूर्ण करने और वाणी को धारण करने वाली प्रज्ञे ! (वाय्ये) बुने जाने योग्य सूत्र के समान अविच्छिन्न, निरन्तर विद्यमान, सब इन्द्रियों को उस सूत्र में पिरोने हारे (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भाव होने वाले (नः) हमारे (सत्यश्रवसि) सत्य संकल्पकारी आत्मा में (यथाचित्) जिस प्रकार से उत्तम रीति से हो सके उस प्रकार (अबोधयः) तू ज्ञान का प्रकाश कर । देखो व्याख्या अधिकल संख्या [४२१] पृ० २१५।

(२) (दिवः) हे सूर्य के समान प्रेरक आत्मा के (दुहितः) आनन्दरस का दोहन करने हारी उषः । ऋतम्भरे ! (या) जो तू (सुनीथे) उत्तम पद पर प्राप्त, मुक्त (शौचद्रथे) अति पवित्र, शुद्ध, चित्स्वरूप आत्मा में, (व्यौच्छः) अज्ञान आवरण को हटाती रही है वैसे ही अब, हे

(अश्वसूनृते) आत्मामें सत्य आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान को सम्यग्वाणी और धारण करने हारी ऋतम्भरे ! (सा) वह तू (वाश्ये) तन्तु या पट के समान निरन्तर अविच्छिन्न क्रिया साधन करने हारे (सत्यश्रवसि) सत्यज्ञानमय (सुजाते) उत्तम रूप से प्रादुर्भूत (सहीयसि) सहनशील बलवान् आत्मा में भी (व्युच्छ) अज्ञान के आवरण को दूर कर ।

(३) हे (दिवः दुहिते.) आत्मा के रस दोहन करने हारी विशोके ! (भरद्-वसु.) वसुरूप प्राणों और मुख्य आत्मा को ज्ञान से भरपूर करने वाली पूर्वोक्त ! तू (या) जो (सहीयसि सत्यश्रवसि वाश्ये सुजाते) सहनशील तपस्वी, सत्यज्ञानी, अविच्छिन्न, उत्तम, शुभरूप से प्रकाशमान आत्मा से (व्यौच्छः) आवरण को दूर करती है (सा) वह तू हे (अश्वसूनृते) आत्मा को सत्यज्ञान से पूर्ण करने हारी तू (नः) हमारे अज्ञान को भी (अद्य) आज (व्युच्छ.) दूर कर ।

उषा के दृष्टान्त से गृहपत्नी के कर्त्तव्य भी इस सूक्त में बतलाये हैं ।

[१७४३] प्रति प्रियतमं रथं वृषणं वसुवाहनम् ।
स्तोता वामश्विना वृषिः स्तोममिर्भूषति प्रति ।
माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ १ ॥

[१७४४] अत्यायातमश्विना तिरो विश्वा अह सना ।
दस्रा हिरण्यवर्त्तनी सुषुम्णा सिन्धुवाहसा ।
माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ २ ॥

[१७४५] आ नो रत्नानि बिभ्रतावश्विना गच्छतं युवम् ।
रुद्रा हिरण्यवर्त्तनी जुषाणा वाजिनीवसू ।
माध्वी मम श्रुतं हवम् ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० १।१७५।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४१८] पृ० १३ ।

(२) हे (अश्विना) पूर्वोक्त प्राण अपानरूप अश्विदेवो ! आप (दस्रा) दोषों के परिशोधक, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मा के आश्रय पर विराजमान, (सुपुम्णा) उत्तम सुख के देने हारे, अथवा 'सुपुम्ना' उत्तम रूपसे शरीर में व्यापक, सुषुम्ना रूप से विद्यमान, (सिन्धुवाहसा) गतिशील नाड़ियों में रुधिर को प्रेरित करने हारे, (माध्वी) मधुर, अमृतमय मधुविद्या से युक्त (सना) सनातन से वर्त्तमान, आप दोनों (अतिआयातम्) सब बाधाओं को पार करके प्राप्त होवो (अहं) और मैं आत्मा (विशः) सब को (तिरः) पार करूं। अतः आप (मम) मेरी (हवम्) उपासना या आज्ञा या वचन को (श्रुतं) श्रवण करो।

(३) हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! (युवं) आप दोनों (रत्नानि) रमण साधन इन्द्रियों को धारण करते हुए (न) हमारे पास (आगच्छतं) आओ। आप दोनों (रुद्राः) देह को छोड़ते समय कष्ट देने हारे, रुलाने हारे, (हिरण्यवर्त्तनी) आत्मरूप रथ पर गति करने वाले (वाजिनीवसू) ज्ञानमयी और बलमयी चित्ति शक्ति में बसने हारे (माध्वी) मधु-विद्या, आत्मविद्या जानने हारे, (सुपाणा) नित्य इस जीवन यज्ञ को सेवन करने वाले (मम हवं श्रुत) मेरे वचन को श्रवण करो मेरे वशवर्ती रहो ।

इति तृतीय. खण्ड. ।

[१७८६] अबोध्यग्निः समिधा जनानामप्रति धेनुमिवायतीमुषासम् । यह्वा इव प्रयामुज्जिहाना. प्र भानवः सस्रत नाकमच्छ ॥ १ ॥

[१७४७] अबोधि होता यजथाय देवानूर्ध्वो अग्नि सुमना· प्रातरस्थात् । समिद्धस्य रुशददर्शि पाजो महान्देवस्त· मसो निरमोचि ॥ २ ॥

[१७४८] यदीं गणस्य रशनामजीगः शुचिरङ्क्ते शुचिभिर्गोभि· रग्निः । आद्दक्षिणा युज्यते वाजयन्त्युत्तानामूर्ध्वो अ· धयज्जुहूभिः ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ५ । १ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [७३] पृ० ३८ ।

(२) (देवान्) विद्वानों और ३३ देवों को (यजथाय) एकत्र संगति करने के लिये, (होता) समस्त जगत् का दान अर्थात् उत्पत्ति और आदान अर्थात् प्रलय का कर्त्ता (अग्नि.) सूर्यके समान स्वय प्रकाशक परमात्मा, (सुमनाः) उत्तम ज्ञान से युक्त (अबोधि) सदा उदित होता है । वही सबसे (ऊर्ध्वः) ऊपर विराजमान होकर भी (प्रात) प्रकृष्ट रूप से व्यापक होकर प्रातःउदित सूर्य के समान सर्वत्र (अस्थात्) विद्यमान रहता है । (समिद्धस्य) देदीप्यमान उस महान् प्रभु का (रुशत्) तेजस्वी (पाजः) बल (अदर्शि) साक्षात् दीखता है । वही (महान् देव·) महान् देव, सूर्यके समान महा देव समस्त चर अचर संसार को (तमसः) मृत्युरूप तम से (निरमोचि) सर्वथा मुक्त कर निश्रेयस प्राप्त कराता है । प्रात.—प्राप्तेतरत्नू (उणादि० ५ । ५६) प्रकृष्टमतति गच्छति इति प्रात. (दया० उ०) ।

(३) (यद्) जब (ईं अग्नि.) यह अग्नि, स्वयंप्रकाश समस्त जगत् का प्रकाशक, सब का प्रबोधक परमात्मा (गणस्य) सब प्राणियों और स्थावर पदार्थों की (रशना) भोग सामग्री और उसमें व्यापक चेतना शक्ति और नियामक शक्ति को स्वय (अजीगः) अपने वश में किये

है अपने आप समेटे हुए हैं और वही (अग्निः) सूर्य के समान प्रकाशक (शुचिभिः) शुद्ध (गोभिः) रश्मियों और वेदवाणियों द्वारा और तेजस्वी पिण्डों द्वारा (अङ्क्ते) समस्त विश्व के ज्ञानों और पदार्थों का प्रकाशित कर रहा है तब (वाजयन्ती) ज्ञान और कर्म का सम्पादन और बल का प्रकाश करने वाला (दक्षिणा) विघ्नदमनकारिणी शक्ति को (युज्यते) संसार को महान् कार्यों में लगाता है। और (उत्तानां) उत्कृष्ट रूप से सर्वत्र विस्तृत उस शक्ति को (ऊर्ध्वः) वह सबसे उच्च पद पर विराजमान परमात्मा (जुहूभिः) अपनी दान, आदान क्रियाओं द्वारा (अधयत्) अपने वश करता और अपना बल प्रदान करता है उसको अपने भीतर ही लीन करता या धारण करता है।

अशेरश्च् (उणादि० २। ७५) अश्नुते व्याप्नोति इति रश्ना (दया० उ०) :

३ २ङ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३

[१७४९] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट

१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ङ ३ २ ३

विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवायैवा रात्र्युषसे

१ २

योनिमारैक् ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२

[१७५०] रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगुकृष्णा सदनान्यस्याः।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ङ ३ १ ९ ३ २

समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिमाने

॥ २ ॥

३ २ङ ३ १ २ ३ २ङ ३ १ २ ३ १ २

[१७५१] समाना अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ १ ३ १ २

न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे

॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ११३ । १-३ ॥

भा०—(१) (इदं) यह साक्षात् (श्रेष्ठं) सबसे उत्कृष्ट (ज्योतिषां ज्योतिः) सब ज्योतिष्मान् दिव्य पिण्डों को भी प्रकाशित करने हारा ज्योति (आगात्) प्राप्त होता है । और इसी ज्योति से यह (चित्रः) अद्भुत आश्चर्यजनक परमपूजनीय ग्रहण करने योग्य (प्रकेत०) उत्तम ज्ञान (अजनिष्ट) उत्पन्न होता है । (यथा) जिस प्रकार उत्पन्न हुई उषा (सवितु०) सूर्य के (सदाय) उत्पन्न होने के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) रात्रि (उषसे) उषा के लिये (योनिम्) पूर्वरूप को (आरैक्) छोड़ती है (एवा) उसी प्रकार ऋतम्भरारूप उषा (सवितु०) सर्व प्रेरक ब्रह्म के (सदाय) ज्ञान प्रादुर्भाव के लिये पूर्वरूप है और (रात्री) सब को सुख प्रदान करने वाली सुषुम्ना (उषसे) ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय के लिये (योनिं) आश्रय स्वरूप आत्मा को (आरैक्) सम्पर्क करा देती है ।

रात्र्यादिभ्यां त्रिप् (उणादि० ४ । ६७) रातिसुखं ददाति इति रात्रि० (दया० उ०)

(२) (श्वेत्या) जिस प्रकार शुक्लवर्णा गौ या महिला के समान उषा (रुशती) दीप्तियुक्त होकर (रुशद्वत्सा) देदीप्यमान सूर्य को अपने श्वेत बछे के समान साथ लिये आती है और (उ) मानो (कृष्णा) श्याम गौया महिला के समान रात्रि (असया) उस श्वेत गौर-उषा के लिये (सदनानि) विराजने के निमित्त स्थान (आरैक्) खाली कर देती है, आदर से छोड़ देती है ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों (समानबन्धू) समान रूप से प्रिय बन्धु हों । और दोनों ही (अमृते) कभी न मरने हारी (अनूची) अनिर्वचनीय होकर (वर्ण) समस्त जगत् के वर्णनीय रूप को साक्षात् करने योग्य (आमिनाने) बनाती हुई (याना) तेजोरूप होकर (चरत०) विचरण करती हैं । उसी प्रकार यह उषा रूप विशोका प्रज्ञा स्वयं अध्यात्म कान्तियों से सम्पन्न होकर अपने शोभमान बालक

प्राण को या हंसरूप आत्मा को साथ लिये प्रकट होती है और कृष्णा= आकर्षण करने वाली या दुःखों को काटने वाली सुषुम्ना वृत्ति (अस्याः सदनानि आरैक्) इस विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञा के लिये उचित भूमि या आधार तैयार कर देती है। ये दोनों ही (अमृते अनूची समानबन्धू) अमृतरस, आत्मानन्द से पूर्ण, अवर्णनीय और समान नामक सर्वगत प्राण द्वारा बद्ध होती है, या परस्पर समान रूप से सम्बद्ध होती है। ये दोनों (वर्ण आभिमाने) वरण करने योग्य आनन्द या आत्मज्ञान को उत्पन्न करती हुई (आवा चरतः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के साथ वर्त्तमान रहती हैं।

(२) (स्वस्रोः) रात्रि और उषा इन दोनों भगिनियों या भाई बहनों का (समानः) समान रूप से (अनन्त) अनन्त (अध्वा) मार्ग है। (तं) उस मार्ग पर (देवशिष्टे) देवरूप सूर्य से अनुशिक्षित होकर ये दोनों (अन्या अन्या) एक २ करके (चरतः) चलती हैं। (सुमेके) शुभ लक्षण वाली (नक्तोषासा) रात्रि और उषा दोनों (विरूपे) विरुद्ध रूप काली और श्वेत, तम और प्रकाश रूप होकर भी (समनसा) एकचित्त होकर परस्पर (न मंथेते) न लड़ती भिड़ती हैं और (न तस्थतुः) न कभी कहीं रुकते हैं। इसी प्रकार इन रात्रि और उषा के समान इस देह में विशोका और सुषुम्ना वृत्ति इन दोनों (स्वस्रोः, अध्वा समान.) बहनों का या स्वयं सरण करने वाली, स्वयं प्रकट होने वाली दोनों वृत्तियों का (अध्वा) मार्ग या आश्रय समान है या वह सर्वत्र देह में समभाव से वर्त्तमान आत्मा ही है। (देवशिष्टे) प्रकाशमान ज्ञानी आत्मा से अनुशासित होकर दोनों (अन्या अन्या) जुदी जुदी (तं चरतः) उसी को प्राप्त होती है। अर्थात् ये दोनों अवस्थाएं उसी आत्मा की है। ये दोनों (सुमेके) उत्तम रूप से आनन्द के उत्पन्न करने हारी धर्ममेघ समाधि के सरण करने वाली (विरूपे) सुख और ज्ञान दो प्रकार के भिन्न २

अनुभव कराने से विभिन्न २ रूप वाली होकर (समनसा) समान रूप से एक ही मन का आश्रय लेने वाली (न मेथेते) एक दूसरे का बाधक नहीं होतीं और (न तस्थतुः) निरन्तर स्थिर भी नहीं रहतीं प्रत्युत क्रम २ से प्रकट होती हैं ।

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १र २र
[१७५२] आभात्यग्निरुषसामनीकमुद्विप्राणान्देवया वाचो अस्थु: ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
अर्वाञ्चा नूनं रथ्येह यातं पीपिवांसमश्विना घर्म-
२र
मच्छ ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १
[१७५३] न सस्कृतं प्रमिमीतो गविष्ठान्ति नूनमश्विनोप स्तुतेह ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १
दिवाभिपित्वेऽवसा गमिष्ठा प्रत्यवर्ति दाशुषे शम्भविष्ठा
॥ २ ॥
३ १ २ २ ३ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७५४] उतायातं सङ्गवे प्रातरह्नो मध्यन्दिन उदिता सूर्यस्य ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ २र
दिवानक्तमवसा शन्तमेन नेदानीर्पीतिरश्विना ततान ॥
३ ॥ १५ ॥ ऋ० ५ । ७६ । १–३ ॥

भा०—(१) (अग्निः) सूर्य (उषसाम् अनीकम्) मानो उषाओं का मुख हो ऐसे (आभाति) प्रकाशित होता है । (विप्राणा) मेधावी विद्वान् भक्त पुरुषों की (देवया) इष्टदेव परमात्मा तक पहुचने वाली (वाचः) वेदमन्त्र ध्वनियां (उद्-अस्थु) उठने लगती है । हे (अश्विनौ) अश्विदेवो ! प्राण और अपान एवं स्त्री पुरुषो ! हे (रथ्या) देहरूप रथपर आरूढ प्राण और अपान आप दोनो ! (इह) इस देह में (अर्वान्चम्) निम्न देश में गति करने वाले होकर भी (यातम्) अब ऊपर आओ और (पीपिवांस) बराबर बढ़ते हुए (घर्मं) ज्योतिस्वरूप रस को (अच्छ) साक्षात् करो । अथवा

(अग्निः, उषसां अनीकं) अग्निहोत्र की अग्नि उषाओं का मुखरूप होकर (आभाति) प्रकाशित होता है ।

अथवा—अध्यात्मपक्ष में विशोका प्रज्ञाओं का (अनीक) पूर्वरूप मुखरूप (अग्निः) विशेष तेज (आभाति) धारणाप्रदेशों में प्रकाशित होता है । उसी समय विद्वान् पुरुषों की इष्टदेव आत्मविषयक वेदवाणियां प्रकट होती हैं । शेष पूर्ववत् हे (अश्विनौ) प्राण और अपान ! तुम दोनों रथपर देह के हितकारी होकर (अर्वाञ्चा) साक्षात् रूप से प्रकट होकर (पीपिवांसं घर्मम्) बराबर बढते हुए तेज को (अच्छ यातं) उत्तम रीति से प्राप्त होओ या प्राप्त कराओ । जैसाकि श्वेताश्वर उपनिषद् (अ० २ । ११ । १२ ।) में लिखा है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योताविद्युत्स्फटिकशशिनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥
पृथिव्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥

योग समाधि के अभ्यास के अवसर में ब्रह्मसाक्षात् के पूर्व नीहार धूम, सूर्य, अग्नि, विद्युत् स्फटिक आदि के रूप प्रकट होते हैं । उस समय पाचों भूतों पर वश हो जाता है । जरा और मृत्यु हट जाती है शरीर योगाग्निमय हो जाता है ।

(२) हे (उपस्तुता) प्रशंसनीय ! आदर योग्य ! हे (अश्विनौ) अश्विगण प्राण और अपान ! या स्त्री पुरुषो ! आप दोनों (आन्ति) अत्यन्त समीप (गमिष्ठा) प्राप्त होने हारे (संस्कृत, उत्तम रूप से तैयार किये इस ब्रह्मरस को (न प्रमिमीते) विनाश नहीं करते । प्रत्युत (दिवा अभिपित्वे) प्रकाश या दीप्ति के प्राप्तिकाल में आप दोनों (अवसा) अपने पालक बल सहित (आगमिष्ठा) अवश्य प्राप्त होते हो और (वाशुषे) अपने को समर्पण करने हारे आत्मा के (अवांसि प्रति) पुनः जीवन में लौट

कर न आने अर्थात् मुक्त हो जाने के निमित्त (शन्भविष्ठा) कल्याण-कारी होते हो ।

(३) हे (अश्विना) अश्विगण ! प्राण और अपान आप दोनों (अह्न.) दिन के (प्रात') प्राप्त होने पर प्रातः काल में (उत) भी (आयातम्) आइये । और (सूर्यस्य) सूर्य के (उदिता) ऊर्ध्वस्थान पर प्राप्त होने के (मध्यन्दिने) मध्याह्न काल में भी आइये । और (शन्तमेन) अति कल्याण कारी सुख शान्तिदायक (अवसा) अपने पालक बल द्वारा प्राप्त होइये । (इदानीं) इस समय अन्य इन्द्रियों की (पीति.) रसास्वादन की क्रिया (न आततान) नहीं की जाती बल्कि यह केवल ब्रह्मरस के आस्वादन का भाग आपके ही करने का है । प्रातः मध्याह्न और साय इन तीनों कालों में प्राणायाम करने से योगियों को विशेष सुख की प्राप्ति होती है । अथवा तेज पुञ्जों के प्रकट होने के प्रारम्भ, मध्य और नैरन्तर्य काल में अर्थात् जब दिवानक्त अर्थात् रात दिन समान रूप से हो तब भी प्राण और अपान ही ब्रह्मरसास्वादन में भारी सहायक है ।

इति चतुर्थः खण्ड. ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७५५] एता उ त्या उषस' केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानु'
३ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ ३ ,१ २१
मञ्जते। निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णव. प्रति गावोरु'
३ १ २
षीर्यन्ति मातरः ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ २ १ २
[१७५६] उद्वयन्तमरुणा भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर्गा अयुक्षत ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २८
अक्रन्नुषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तं भानुमरुषीरशिश्रयुः
॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१७५७] अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेना
२ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
परावतः। इषं वहन्ती सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय
३ २
सुन्वते ॥ ३ ॥ १६ ॥ अ० १ । ६२ । १—३ ॥

भा०—(१) उषापक्ष में—(एताः उ त्याः) ये वे (उषसः) उषाएं अन्तरिक्ष लोक में (पूर्वे अर्द्धे) पूर्व के आधे भाग में (भानुम्) सूर्य को (अञ्जते) प्रकट करती हैं। मानो (केतुम्) सब को अपना आगमन दर्शाने के लिये ज्ञापक चिह्न, ध्वजा=झण्डे के समान (अकृत) बना लेती हैं। (अरुषी,) प्रकाशमान (मातर·) मातास्वरूप उषाएं (अरुषीः) दीप्तिमान् (गावः) किरणों को (आयुधानि इव) अपने हथियारों के समान (निष्कृण्वाना.) सजाती हुई (शुष्मवः) शत्रुओं का मानदलन करने वाले सुभटों के समान (प्रतियन्ति) अन्धकार को दूर करने के लिये युद्धयात्रा सी करती हैं।

अध्यात्म पक्ष में—(एताः उ त्या·) ये वे, जिनका वर्णन पूर्व किया और जो योगाभ्यासी के लिये अपूर्व हैं वे (उषसः) नई नई विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाएं (केतुम्) अपने ज्ञापक (भानुम्) आदित्य के समान स्वयं प्रकाश और विशोका के प्रकाशक प्राणात्मा का (रजस [1]) तीहार या धूम के प्रकटीभाव होने के (पूर्वे) पूर्ण रूप से (अर्द्धे [2])

१७५५–१. 'रजसः'–रजति रज्यति वा तद् रज. । भूरञ्जिभ्या कित् । (उणा० ४ । २१७) लोकः सात्मधूलि., स्त्रीमुरुषगुणो वा इति दयानन्द उणादि-व्याख्यायाम्, रज रागे [भ्वादि दिवादिश्च]

२. अर्धो हरतेविपरीताद् धारयतेर्वा स्याद्वृतं भवत्यृणोतेर्वा स्याद्धतमो विभागः (निरु०)। ऋधु वृद्धौ (दिवादिः)। ऋधु वृद्धौ छन्दसि (स्वादिः)।

ऋद्धतम या उत्तम रूप से सम्पन्न होजाने पर (अञ्जते) प्रकाशित करती हैं। वे (अरुषीः) सर्वतः प्रकाशमान (मातरः) प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान कराने वाली ऋतम्भराए (घृष्वयः) शत्रु पर चढ़ाई करने हारे सुभट जिस प्रकार (आयुधानि इव) अपने भाले आदि शस्त्रों को ऊपर उठाते और चलाते जाते हैं उसी प्रकार (गावः) इन्द्रियवृत्तियों को या प्राणों को (निष्कृण्वानाः) आगे प्रेरित करती हैं।

योगाभ्यास की यह दशा विशेष विचारयोग्य है। अश्विद्वय और उषा का उदय ये दो घटनाए योगाभ्यास में प्राणायाम की साधना के अनन्तर उत्पन्न होने वाली विशोका ज्योतिष्मती के उदय को दर्शाता है। यहां स्पष्ट करने के लिये योग शास्त्र के सूत्र एवं भाष्य का उद्धरण देते हैं।

मन को स्थिर करने के लिये "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।" (योग० १ । ३४) प्राण के प्रच्छर्दन और विधारण का जो अभ्यास किया जाता है वही प्राणायाम कहाता है। इसी प्रच्छर्दन और विधारण को प्राण और अपान के नाम से पुकारा जाता है। अथवा धारणा द्वारा—"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।" (यो० १ । ३५) विषयवाली जब कोई सवित् प्रवृत्ति उत्पन्न होजाती है तब भी मन उसमें स्थिर हो जाता है। और वे सचित्त ज्ञान भी समाधिप्रज्ञा अर्थात् विशोका के उत्पन्न होने मे कारण हो जाता है। उसके बाद "विशोका वा ज्योतिष्मती।" (यो० सू० १ । ३६) हृदयदेश में धारण करने पर बुद्धि सत्य सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप साक्षात् होता है। उसके बाद आत्मज्ञान होता है। जैसा इसी सूत्र पर महर्षि व्यासजी ने अपने भाष्य में लिखा है।

'हृदयपुण्डरीके धारयतो वा बुद्धिसंवित्। बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं। तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः। सूर्य-इन्दु-ग्रह-मणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहो-

दधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तं—'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत्स प्रजानीते इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती चास्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते। यया योगिनश्चित्तं स्थिति-पदं लभते।'

अर्थात्—हृदय पुण्डरीक में धारणा करते हुए योगि को बुद्धिसंवित् अर्थात् सूक्ष्म दिव्य प्रज्ञा की सिद्धि होती है। वह बुद्धिसत्व मानस भास्वर=सूर्य के समान प्रकाशवान् विशाल आकाश के समान व्यापक प्रभापटल साक्षात् होता है, उस दशा में योगी का चित्त अति आनन्द-जनक, स्थिर स्थिति को प्राप्त करता है। वहां वह बुद्धिसंवित् या चितिशक्ति सूर्य, चन्द्र शुक्रादि ग्रह, दिव्य मणियों की विशेष प्रभा का स्वरूप होकर स्वयं प्रकाशित होता है, उस समय वह बुद्धितत्व सुषुम्ना में रहता है। इसकी उत्पत्ति वैकारिक अहंतत्व से ही होने के कारण अतिसात्विक होने से अस्मितामात्र 'अहं' ऐसा ही भान होता है। उस समय वह चित्त तरङ्गरहित, विशाल समुद्र के समान शान्त और अनन्त प्रतीत होता है। इसी दशा को उपनिषत्कार महर्षियों ने उपनिषदों में लिखा है—"तमणु-मात्रमात्मानमनुविद्याऽस्मीत्येव स प्रजानीते" इति। अर्थात् उस अणुपरि-माण आत्मा को प्राप्त करके 'अस्मि' मैं हूं इस प्रकार ज्ञान कर लेता है। विशोका दो प्रकार की होती है एक 'विषयवती' जिसमें गन्धादि पांचों ग्राह्य विषयों की तीव्र संवित् की जागृति होती है और दूसरी 'अस्मिता-मात्र' इसमें 'अहं' तत्व या मनस्तत्व का साक्षात् अनुभव होता है।' दोनों प्रकार की विशोका 'ज्योतिष्मती' नाम से ही कही जाती है। इसके साक्षात होने से योगी आनन्द में मग्न हो जाता है और फिर इसका चित्त इसी के द्वारा स्थिति पद को प्राप्त हो जाता है। इस ज्यो-तिष्मती के सग एक चित्तवृत्ति का दूसरा रूप भी होता है उस को योग शास्त्र में 'स्वप्नज्ञान' या 'निद्राज्ञान' दो नामा से पुकारा जाता है उसका

आलम्बन करके भी योगी का चित्त मग्न होजाता है । यह सात्विकी निद्रावृत्ति है । उपासनारूप में साधक लोग इसका स्वरूप ऐसा निर्धारित करते हैं जैसे चन्द्रमण्डल से निकलने वाली, कोमल मृणाल खण्ड के समान शुभ्रवर्णा, मानों चन्द्रकान्तमणि की बनी हो । बहुत से उसी को इष्टदेव की मूर्ति जानकर उसकी उपासना करते हैं । उसी निद्रा या सुप्तावस्था को भी ब्रह्म का स्वरूप कहा करते हैं वेद में उसको उषा के साथ 'नक्त' या रात्रि' नाम से पुकारा है । योगी का इस प्रकार धारणा या प्राणायाम द्वारा स्थिर चित्त जिस विषय पर बैठ जाय वहां ही उसी की 'तत्स्थ–तदञ्जनता' हो जाती है । अर्थात् वह उसी में तन्मय तदाकार हो जाता है । यह 'समापत्ति' कहाती है यह 'सवितर्का' और 'निर्वितर्का' 'सविचारा' और 'निर्विचारा' भेद से चार प्रकार की होती है । ये चारों ही समाधि' दशा कहाती हैं । इनमें निर्विचार दशा में चित्त पर कोई अशुद्धि या मल का आवरण नहीं रहता । उस समय बुद्धिसत्व का प्रवाह स्वच्छ सिन्धु के समान रहता है । उसी दशा में योगी का अध्यात्मप्रसाद' और 'प्रज्ञालोक' उत्पन्न होता है ।" निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद " (१ । ४७) । और उसी समय "ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ' (१ । ४८) 'ऋतम्भरा' नामक सत्यद्रष्टिनी बुद्धि का उदय होता है । प्राय. उषा देवता के मन्त्रों में इसी 'विशोका प्रज्ञा' और 'स्वप्न ज्ञान' और चारों समाधियों और ऋतम्भरा का वर्णन है । सक्षेप से यहां विषय दर्शाया है । इसका विशेष ज्ञान, योगदर्शन पर व्यासमुनिकृत भाष्य देखने से भास होगा ।

(२) उषा पक्ष में—(अरुणाः) दीप्तिमान् (मानवः) उषाकाल की किरणें (द्रुषा) सर्वव्यापन करती हुई अथवा अनायास, आप से आप (उद्यतन्) ऊपर उठती हैं । मानों उषा के रथ में (स्वायुजः) आपसे आ जुड़ने वाली सुशील (अरुषीः) दीप्तिवाली (गाः) गौओं या बैलों के समान रश्मियों को (अयुक्षत) लगाया हो । इस प्रकार

उषाएं (पूर्वथा) सोने के पूर्व वर्त्तमान गत दिवस के (वयुनानि) ज्ञानों और व्यवहारों को (अक्रन्) पुनः उत्पन्न करती है । तब (अरुषी') देदीप्यमान उषाएं (रुशन्तं भानुम्) देदीप्यमान सूर्य का (अशिश्रयुः) आश्रय लेती हैं ।

अध्यात्मपक्ष में—(अरुणाः भानवः वृथा उदपप्तन्) कान्तिमान् रश्मियां या आलोक सहज ही मूर्धाभाग को आवरण करने हारे नाना धारणा प्रदेशों में प्रकट होते हैं अर्थात् बहुत से सवित् उत्पन्न होते हैं । वे (स्वायुज.) स्व=अपने २ विषयों से या आत्मा से, जुड़ने हारी (गाः) इन्द्रिय-वृत्तियां (अरुषी) विशेष आलोक से आलोकित होकर (अयुक्षत) समाधि द्वारा प्रकट होती हैं अर्थात् ये विषयवती विशोकाए हैं । ये सब उषाएं या ज्ञानालोक (पूर्वथा) पूर्वकाल से वर्त्तमान (वयुनानि) चित्त के सब संस्कारों, स्मृतिज्ञानों को (अक्रन्) जागृत कर देते हैं । और वे सब प्रज्ञाएं (अरुषी.) देदीप्यमान होकर (रुशन्तं भानुं) देदीप्यमान आत्मा को (अशिश्रयुः) आश्रय किये रहती हैं ।

(३) जिस प्रकार (विष्टिभिः) अपने वेतनों के कारण (आपरावत.) दूर देश से भी आई (समानेन योजनेन) समान उद्योग में लगी हुई (अपसः) काम करने वाली (नारी) स्त्रियां (सुदानवे) उत्तम दानशील, (सुकृते) उत्तम कर्मशील (सुन्वते) सोम सवन करते हुए (यजमानाय) यजमान वेतनदाता स्वामी पुरुष के लिये (इषं) उत्पादित अन्न उस के अभिलाषित कार्य को सार पछोर कर तैयार करती हुई (अचंन्ति) उसका यश गान करती हैं (न) उसी प्रकार यह उषाएं=ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञाएं (विष्टिभिः) तत्व में प्रवेश करने वाली रश्मियों से (समानेन योजनेन) समान रूप समाधि योग से (सुन्वते) आनन्दरस के उत्पादक (सुदानवे) आत्म-समर्पक, (सुकृते) निष्ठ, कुशल (यजमानाय) आत्मा के लिये (विश्वा इद् अह) समस्त (इषः) ज्ञान और बल (वहन्ती.) प्राप्त करती हुई

(परावतः) दूर देशों तक विद्यमान पदार्थों का (अर्चन्ति) ज्ञान करा देती हैं और उसी की महिमा का प्रकाश करती है ।

१ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ २ १ ३ ३ ३ २१

[१७५८] अबोध्यग्निर्जर उदेति सूर्यो व्यूऽउषाश्चन्द्रा मह्यावो

३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

अर्चिषा । आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावीद्देवः

२ ३ २ ३ १ २

सविता जगत्पृथक् ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३

[१७५९] यद्युञ्जाथे वृषणमश्विना रथं घृतेन नो मधुना क्षत्रमुक्ष-

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

तम् । अस्माकं ब्रह्म पृतनासु जिन्वतं वयं धना शूर-

साता भजेमहि ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३

[१७६०] अश्वांड्त्रिचक्रो मधुवाहनो रथो जीराश्वो अश्विनायातु

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

सुष्टुतः । त्रिबन्धुरो मघवा विश्वसौभगः शश्वत्तमागन्त्वच्छ

३ २ ३ १ २

द्विपदे चतुष्पदे ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० १ । १५७ । १–३ ॥

भा०—(१) (जज्ञे) पृथिवी में (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अग्निहोत्र के समय (अबोधि) जगाया जाता है और (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है । और (चन्द्रा) आह्लादकारिणी (उषाः) उषाएं भी (महती) विशाल रूप में (वि भानः) विविध तेजों सहित प्रकट होती और अन्धकारों को हटाती है उसी प्रकार इस आत्मारूप वेदि में ज्ञानरूप अग्नि प्रदीप्त होजाता है और ब्रह्मरूप सूर्य उदित होता वा आनन्दरस को उत्पन्न करने हारी विशोका ज्योतिष्मती उषा के समान (अर्चिषा) अपने तेज से (वि आव) मलावरणों को दूर कर देती है इस कारण हे (अश्विना) प्राण और अपान ! तुम दोनों (यातवे) आत्मा तक पहुंचने के लिये (रथम्) इस देह या मनरूप रथ को (आ-

अयुक्षताम्) योगाभ्यास द्वारा युक्त करो । जिनसे (सविता) सबका प्रेरक (देवः) प्रकाशमान् आत्मा (जगत्) समस्त जगत् के पदार्थों को (प्रा-सावीत्) उत्तम रूप से ज्ञान करे ।

(२) हे (अश्विना) प्राण और अपान आप दोनों (यत्) जब (वृषणं) सुखों के वर्षक (रथे) रमणसाधन, चित्त या आत्मरूप रथ को (युञ्जाथे) योगाभ्यासा द्वारा समाहित करते हो तब आप (न) हमारे (वृत्रम्) प्रेरक आत्मा को (घृतेन) देदीप्यमान तेज से (उक्षतम्) सेचन करते हो और (अस्माकं) हमारे (पृतनासु) विषयों को ग्रहण करने हारी इन्द्रियवृत्तियों में (ब्रह्म) विशेष सत्य संवित् ज्ञान को (जिन्वतं) उत्पन्न करते हो और (वयं) हम (शूरसातौ) आत्मज्ञान की प्राप्ति में (धना) नाना दिव्य ज्ञानों को (भजेमहि) प्राप्त करते हैं ।

(३) (अश्विनोः) उन प्राण और अपान का (त्रिचक्र.) तीन चक्रों से युक्त (मधुवाहनः) अमृत='ओ३म्' अथवा एकमात्र वहन करने हारे आत्मारूप अश्व से युक्त (जीराश्वः) बहुत प्राचीन सनातन अमर अविनाशी अश्व अर्थात् आत्मा से युक्त (सुस्तुत) उत्तमरूप से वर्णित किया गया रथ (अर्वाङ्) साक्षात्रूप से (यातु) गति करता है । (मघवा) वह ज्ञानवान् योगी आत्मा रथरूप, (त्रिबन्धुरः) तीन प्रकार के सारथिपीठों या बन्धनों से युक्त है और उनमें आत्मा मन और इन्द्रिय या तीन गुण या वात, पित्त, कफ आदि तीन धातु ये तीन ही प्रकार के सारथि या बन्धन के हेतु हैं । और वह (विश्वसौभगः) समस्त संसार को सौभाग्य या सुखैश्वर्य का देने हारा अथवा समस्त संसार के सब उत्तम ऐश्वर्यों को सिद्ध करने हारा होकर (नः) हमारे (द्विपदे) समस्त मनुष्य संसार और (चतुष्पदे) पशु संसार को (शं) कल्याण (आ-वक्षत्) करे ।

इसी सनातन अश्व के पीछे लगे रथ की कल्पना को प्रकारान्तर से श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार बतलाया है:—

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद् उ अनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानाधितिष्ठत्येकः ॥
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ।
अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ॥

इसी प्रकार मुण्डक में—

'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ।
मनोमय प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृत यद् विभाति । इत्यादि ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१७६१] प्र ते धारा असश्चतो दिवो न यन्ति वृष्टये ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अच्छा वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१७६२] अभि प्रियाणि काव्या विश्वा चष्टाणो अर्षति ।
१ २ ३ १२ २२
हरिस्तुञ्जान आयुधा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७६३] स मर्मृजान आयुभिरिभो राजेव सुव्रतः ।
३ १२ २२
श्येनो न वंसु षीदति ॥ ३ ॥
२ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १२ २२
[१७६४] स नो विश्वा दिवो वसूनो पृथिव्या अधि ।
३ १ २ ३ १ २
पुनान इन्दवाभर ॥ ४'॥ १८ ॥ ऋ० ९ । ७७ । १—४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! आत्मन् ! (असश्चतः) संगरहित (दिव) प्रकाशस्वरूप (ते) तेरी (धाराः) धारणा शक्तियां (दिवः) द्यौलोक से (वृष्टयः) वर्षाओं के समान (सहस्रिणं) अतिबलवान् या सहस्रों ज्ञानों

से युक्त (वाज) ज्ञानस्वरूप परमात्मा को (अच्छ) प्राप्त होती हैं अथवा ब्रह्मानन्द की धाराएं आत्मा को प्राप्त होती हैं ।

(२) यह आत्मा ! (विश्वा) समस्त (प्रियाणि) मनोहर (काव्या) जगत् के सूक्ष्म ज्ञानों को (अभि) साक्षात् रूप में (चक्षाणः) दर्शन करता हुआ (आयुधा) अपने प्रहार करने हारे ज्ञान से (तुंजानः) कर्म बन्धनों को काटता हुआ (हरि.) मोक्षपद में गमन करने वाला मुक्तात्मा होकर (अभि अर्षति) सर्वत्र विचरता है ।

(३) (स॰) वह आत्मा (आयुभिः) दीर्घायु, ज्ञानवान् तपस्वियों द्वारा (मर्मृजान.) योग साधनों से परिमार्जित किया गया (इभः) निर्भय (राजा इव) राजा के समान और (श्येनः न) पक्षि ससार में निर्भय बाज या गरुड़ के समान (सुव्रतः) उत्तम कर्मों से युक्त (वंसु) अपने इच्छानुकूल समस्त लोकों में (सीदति) विचरता है ।

(४] हे इन्दो ! सोम ! ऐश्वर्यवन् ! परमात्मन् ! (सः) वह तू , (न) हमें (दिव) द्यौलोक के (उत उ) और (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर के (विश्वा वसू) समस्त पदार्थों को (पुनानः) पवित्र करता हुआ (न॰) हमारे लिये (आ भर) प्राप्त करा ।

उक्त चारों मन्त्र परमात्मा पक्ष में भी स्पष्ट है ।

(१) (असश्चत ते धारा दिवो वृष्टयो न सहस्रिणं वाजं अच्छ) हे ईश्वर तुझ असङ्ग परम पुरुष की धारणपोषणकारी शक्तियां सहस्रों धनों से युक्त अन्न को दान करती हैं ।

(२) (प्रियाणि विश्वा काव्यानि चक्षाणः आयुधा तुंजान हरि अभि अर्षति) मनोहर समस्त लोकों को देखता हुआ अपने बल से विघ्नों का नाश करता हुआ परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है ।

(३) (स आयुभिर्मंसृजानः, इभो राजा इव सुव्रत श्येनो न वंसु सीदति) पुरुषों द्वारा हृदय में स्वच्छरूप में साक्षात् करने योग्य वह

अभयरूप उत्तम कर्मों को सम्पादक परमेश्वर राजा के समान और आत्मा के समान सब लोकों में विराजमान है ।

(४) चतुर्थ स्पष्ट है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठकः । इति अष्टमः प्रपाठकः समाप्तः ।

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः ॥

अथ नवमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

ऋषिः—१ नृमेधः । २ प्रियमेधः । ४ दीर्घतमा औचथ्यः । ५ वामदेवः । ६ प्रस्कण्वः काण्वः । ७ बृहदुक्थो वामदेव्यः । ८ विन्दुः पूतदक्षो वा । ९ जमदग्निर्भार्गवः । १० सुकक्ष । ११—१३ वसिष्ठः । १४ सुहा पंजवनः । १५ मेधातिथि काण्वः प्रियमेधश्चाङ्गिरसः । १६ नीपातिथिः काण्वः । १७ जमदग्नि । १८ परुच्छेपो दैवोदासिः । २ एतत्साम ॥ देवता—१, १७ पवमानः सोम । २,१७ १०-१६ इन्द्रः । ४, ५ १८ अग्निः । ६ अग्निरश्विनयुषा । १८ गरुत्मः । ९ सूर्यः । ३ एतत्साम ॥ छन्दः—१, ८, १०, १५ गायत्री । ३ अनुष्टुप् पथमस्य गायत्री उत्तरयोः । ४ उष्णिक् । ११ भुरिगनुष्टुप् । १३ विराडनुष्टुप् । १४ शक्करी । १६ अनुष्टुप । १७ द्विपदा गायत्री । १८ अभ्यष्टिः । २ एतत्साम । स्वरः—१, ८, १०, १५, १७ षड्जः । ३ गान्धारः प्रथमस्य, षड्ज उत्तरयोः ४ ऋषभः । ११, १३, १६, १८ गान्धारः । ५ पञ्चमः । ६, ८, १२ मध्यमः ७, १४ धैवतः । २ एतत्साम ॥

२ ३ , २ ३ १ २ ३ १२ २२
[१७६५] प्रास्य धारा अक्षरन्वृष्णः सुतस्यौजसः ।
३ १२ २२ ३ १ २
देवा अनु प्रभूषतः ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१७६६] ऋषिं मृजन्ति वेधसो गृणन्तः कारवो गिरा ।
१ २ ३ २ ३ १ २
ज्योतिर्जज्ञानमुक्थ्यम् ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६७] सुपर्णा सोम तानि ते पुनानाय प्रभूवसो ।
१ २ ३ १ २
वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ३ । २६ । १–३ ॥

भा०—(१) (सुतस्य) सबके प्रेरक, (वृषणः) सुखों के वर्षक (देवान्) देवों के (अनु प्रभूषतः) इन्द्रिय वृत्तियों को अपने अनुकूल रखकर उन पर वश करने वाले, (अस्य) इस आत्मा के (ओजसः) शक्ति और तेज की धाराएं (अक्षरन्) चारों ओर प्रवाहित होती हैं ।

परमात्मापक्ष में देव, पञ्चभूत आदि दिव्य पदार्थ और विद्वान् गण ।

(२) (काव्यः) कर्मफल, कर्त्ता, कर्मयोगी (वेधसः) मेधावी, विद्वान् पुरुष (उक्थ्यम्) 'ओ३म्' इस प्रकार के उक्थ नाम से कहने योग्य, स्तुत्य, वेदसूक्तों के प्रतिपाद्य; श्रेष्ठ (जज्ञानम्) प्रादुर्भाव होती हुई (ज्योतिः) ज्योति को (गिरा) अपनी वाणी द्वारा (गृणन्तः) स्तुति करते हुए (सप्तिम्) सर्पणशील सात इन्द्रियों से युक्त आत्मा को ही (मृजन्ति) मांजते, शुद्ध, पवित्र, परिष्कृत किया करते हैं । सप्ति= सात मूर्धागत प्राण, जैसे-दो नाक, दो आंख, दो कान, एक मुख और आठवीं वाणी ।

(३) हे सोम ! हे (उक्थ्य) वेदप्रतिपाद्य परमात्मन् ! या आत्मन् ! हे (प्रभूवसो) प्रभूत ऐश्वर्यसम्पन्न परमेश्वर ! अथवा हे सामर्थ्यवान् होकर सब विश्व में बसने हारे अन्तर्यामिन् ! प्रभो ! (ते) तेरे (तानि)

वे समाधि दशा में प्रकट होने हारे तेज (सुसहा) अन्य सब चित्त वृत्तियों और व्युत्थान संस्कारों को उत्तम रीति से विनाश करने हारे होते हैं । अत. उनसे ही तू (समुदम्) उस रसों के आनन्ददायक स्रोत को (वर्ध) और बढ़ा ।

ज्योतिष्मती विशोका के विवरण में व्यासदेव ने लिखा है—

"हृदयपुण्डरीके धारणतो या बुद्धिसंवित् बुद्धिसत्व हि भास्वरमाकाशकल्पं तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्ति: सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते तथा अस्मितामा समापन्न चित्त निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्र भवति ।" इसका विवरण देखो अवि० स० [१७५६] पृ० ७५३–७५७ पर उद्धरण टिप्पण । इस मन्त्र में समुद्र शब्द से 'निस्तरङ्ग महोदधिकल्प' चित्तदशा का ही ग्रहण होता है ।

३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
[१७६८] एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ॥ १ ॥
१ २ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[१७६९] त्वामिच्छवसस्पते यन्ति गिरो न संयत. ॥ २ ॥
१ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७७०] त्रिश्रुतयो यथा पथा० ॥ ३ ॥ २ ॥ सूक्तम् ऋग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) (३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३८] पृ० २२२ । और [४५३] पृ० २२७ ।

(२) हे (शवसस्पते) बलों के स्वामिन् ! सर्वशक्तिमन् ! (संयत) प्राणों का संयम करने हारे साधक, ईश्वर प्रणिधान के अभ्यासी पुरुष की (गिर. न) वाणियों के समान समस्त (गिरः) वेदवाणियां (त्वाम् इत्) तुझको ही (यन्ति) प्राप्त होती हैं ।

१७६८—३ प्रतीकमात्र दीगई है ।

[१७७१] आ त्वा रथं यथातये० ॥ १ ॥

[१७७२] तुविशुष्म तुविक्रतो शचीवो विश्वया मते ।
आ पप्राथ महित्वना ॥ २ ॥

[१७७३] यस्य ते महिना महः परेऽमायन्तमीयतुः ।
हस्ता वज्रं हिरण्ययम् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० ८ । ३८ । ०-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३५४] पृ० १८३ यह प्रतीकमात्र है ।

(२) हे (तुविशुष्म) प्रभूत अनन्त शक्तिशालिन् ! हे (तुविक्रतो) विशाल प्रभूत कर्म करने वाले ! अथवा बहुप्रज्ञ ! अनन्तज्ञान ! हे (शचीवः) शक्ति के स्वामिन् ! परमेश्वर ! आप (विश्वया) समस्त विश्व में व्यापक (महीत्वना) महिमा या महान् सामर्थ्य से (आ पप्राथ) सर्वत्र व्यापक हैं ।

(३) (यस्य महत) जिस महान तेरी (महिना) बड़ीभारी शक्ति से (हस्तौ) तेरे हनन साधन दो विशाल शक्तियां (परि) सर्वत्र (ममायन्तं) व्यापक (हिरण्ययम्) गतिशील (वज्रं) वज्र को (ईयतुः) ग्रहण करती हैं वह तू इन्द्र है ।

[१७७४] आ य पुरं नार्मिणमदीदेदत्यः कविर्नभन्योऽरे नार्वा ।
सूरो न रुरुक्वाञ्छुतात्मा ॥ ४ ॥

[१७७५] अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो
अस्थात् । होता यजिष्ठो अपां सधस्थे ॥ ५ ॥

३ २ ३ १ ३ १ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ २
[१७७६] अयं स होता यो द्विजन्मा विश्वा दधे वार्याणि श्रवस्या
२ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २
मर्तो यो अस्मै सुतुको ददाश ॥ ३ ॥ ४ ॥

ऋ० १ । १४६ । ३-५॥

भा०—(१) (य.) जो (नार्मिणीं) नर=आत्मा और मन के निवास योग्य (पुर) इस देहरूप पुरी को (अदीदेत्) प्रकाशित करता है, चेतन बनाये रखता है । वह (कविः) क्रान्तदर्शी इन्द्रियों द्वारा क्रमण करके देखने हारा (नभन्यः) अन्तरिक्ष आकाश अर्थात् विचरण करने वाले व्यापक वायु=के समान प्राणरूप हृदयाकाश में व्यापक (अर्वा न) अश्व के समान वेगवान् और (सूर न) सूर्य के समान (रुरुक्वान्) कान्तिमान् (शतात्मा) सैकड़ों प्राणियों में आत्मारूप से विराजमान है ।

(२) यह अग्नि (द्विजन्मा) ज्ञान और कर्म इन दोनों से अपना प्रादुर्भाव करने हारा अथवा कर्त्ता भोक्ता रूप से, अथवा साधारण अग्नि जिस प्रकार दो अरणियों के रगड़ने से उत्पन्न होता है उसी प्रकार देह और प्रणव इन दो अरणियों से प्रकाशमान अन्तरात्मा (श्री) तीन (रोचनानि) भू अन्तरिक्ष और द्यौ लोकों को (शुशुचानः) प्रकाशित करता हुआ अथवा तीनों प्रकृति के सत्व, रजस, तमस, इनको परिशोधित परिष्कृत करता हुआ (विश्वा) समस्त (रजांसि) लोकों में या देहों में (अस्थात्) विराजमान है । और वही (होता) सबका ग्रहण करने हारा । (यजिष्ठः) सबसे बड़ा यज्ञकर्त्ता होकर (अपा) लोकों के या कर्म और ज्ञानों के (सधस्थे) एक साथ रहने के स्थान ब्रह्माण्ड में (अस्थात्) विराजमान है ।

(३) (यः) जो अग्नि (द्विजन्मा) कर्त्ता और भोक्ता इन दो रूपों में प्रकट होने हारा अथवा पूर्वोक्त रूप से देह और 'ओ३म्' इन दो अर-

ऋषियों से निष्पादित होने वाला (होता) सब का दाता और प्रदानकर्त्ता है (सः) वह (विश्वा) समस्त (वार्याणि) वरण करने योग्य, उत्तम, (अवस्या) कीर्ति के योग्य कार्यों को (दधे) धारण करता है । (य.) जो (मर्त्य·) मरणधर्मा पुरुष (अस्मै) इसके निमित्त अपने को (ददाश) समर्पण करता है वह (सुतुक) उत्तम सन्तति वाला होजाता है ।

[१७७७] २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अग्ने तमद्याश्वन्न स्तोमैः क्रतुन्न भद्रं हृदिस्पृशम् ।
३ १ २ ३ १ २
ऋध्यामा त ओहैः ॥ १ ॥

[१७७८] २ ३ क २ र ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अधा ह्यग्न क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधो ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
रथीर्ऋतस्य बृहती बभूथ ॥ २ ॥

[१७७९] ३ १ २ ३ १ र २ र ३ २ १ र २ र
पांभनो अग्ने मवा नो अवाक्स्वा३ण ज्योतिः ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अग्न विश्वभि सुमना अनीकैः ॥३॥५॥ ऋ०४।१०।१२-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३४] पृ० २२० ।

(२) (अध हि) और क्योंकि हे अग्ने ! परमेश्वर ! आप (बृहतः) बड़े भारी (ऋतस्य) सत्य ज्ञान और इस महान् ब्रह्माण्ड के (रथीः) धारण करने हारे (बभूथ) हो और (क्रतोः) प्रज्ञानस्वरूप (भद्रस्य) भजन या सेवन करने योग्य कल्याणकारी (साधो.) अभीष्ट फलों के साधक यज्ञ के भी (रथी) प्रवर्तक हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप (ज्योति) ज्योति स्वरूप आप (स्वः न) सूर्य के समान (विश्वेभिः) समस्त (अनीकैः) सुखस्वरूप दिव्यगुण पदार्थों के सहित (सुमनाः) उत्तम चित्त होकर (नः) हमारे (अवांक्) समक्ष (एभिः) इन (अर्कैः) अर्चनायोग्य तेजों से (भव) प्रकट होवो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

[१७८०] अग्ने विषस्व दुषसश्चित्र राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवा उषर्बुधः ॥ १ ॥

[१६८१] जुष्टो हि दूता असि हव्यवाहनाऽग्ने रथीरध्वराणाम् ।
सजूरश्विभ्यामुषसा सुवीर्यमस्मे धेहि श्रवो बृहत् ॥२॥

॥ ६ ॥ ऋ० १ । ४४ । १, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४०] पृ० १७।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (अध्वराणा) सब यज्ञों के (रथी०) नेता और (जुष्ट०) सब विद्वानों से सेवित (हव्यवाट्) समस्त स्तुतियों के धारण करने हारे एवं समस्त जगत् के धारण करने हारे (दूतः) सर्वव्यापक या उपासित (असि) है । आप (अश्विभ्यां) प्राण और अपान के द्वारा (उषसा) ज्योतिष्मती विशोका प्रज्ञा द्वारा (अस्मे) हमें (सुवीर्यं) उत्तम बल और (बृहत्) विशाल (श्रव०) ज्ञान (धेहि) धारण करावें ।

[१७८२] विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥१॥

[१७८३] शाकमना शाकिनो अर्कसाता सुपर्णेन आ यो महः शरः सना० ।
दनीड । यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत
जेतोत दाता ॥ २ ॥

[१७८४] एभिर्ददे वृष्ण्या पौंस्यानि येभिरौशद्बृत्रहत्याय वज्री ।
ये कर्मणः क्रियमाणस्य मह्न ऋते कर्ममुदजायन्त देवाः

॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋ० १० । ५५ । ५–७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो ऋग्वे० सं० [३२५] पृ० १६७ ।

(२) (यः) जो (शूर) सर्वप्रेरक (सनाद्) सनातन, नित्य, (अनीडः) स्वतः सबका आश्रय होने से किसी अन्य पदार्थ का आश्रय न लेने हारा, सब का स्वयं मूलकारण, (अरुषः) दीप्तिमान् सब का प्रेरक, (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान् सबका उत्तम पालक (शचमना) अपनी ही शक्ति से (शाक.) सर्वशक्तिमान्, परमात्मा (यत्) जो कुछ भी (चिकेत) स्वयं जानता और ऋषियों के हृदय में ज्ञान उत्पन्न करता है (तत्) वह सब (सत्यम् इत्) सत्य ही होता है (न मोघं) वह कभी व्यर्थ निष्प्रयोजन नहीं होता । वही उस (स्पार्हं) सब के अभिलाषा योग्य, (वसु) आवास योग्य सब भूमियों का (जेता) विजेता (उत) और (दाता) जीवों को सब ऐश्वर्य का दान करने हारा है ।

(३) परमात्मा (एभिः) इन मरुद्गण रूप शक्तियों से (शुष्मया) सुखों के बर्षाने वाले (पौंस्यानि) नाना पौरुषयुक्त बलों को (ददे) अपने वश में कर रहा है (येभिः) जिन वेगवती शक्तियों से (वृत्रहत्याय) प्राणियों के उपद्रव शान्त करने के लिये, अथवा अज्ञान विघ्नों का विनाश करने के लिये, (औक्षत्) सुखों, जलों और ज्ञानों की वर्षा करता है । और (ये देवाः) जो देव विद्वान्गण और दिव्य शक्तियां (महन.) बड़े भारी (क्रियमाणस्य) किये जाने योग्य (कर्मणः) जगत् प्रचालनरूप कर्म के (ऋते) तथ्य ज्ञान में विराजमान होकर (कर्मम्) कर्मबन्धन को (उद अजायन्त) पार करके मुक्त हो जाते हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ ३
[१७८५] अस्ति सोमो अयं सुत. पिवन्त्यस्य मरुत. ।
३ २ ३ १ २ ३ १ ३
उत स्वराजो अश्विना ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ १ २
[१७८६] पिबन्ति मित्रो अर्यमा तना पूनस्य वरुण. ।
३ २ ३ १ २
शिपधस्थस्य जावनः ॥ २ ॥
३ १ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ १ २
[१७८७] उतो न्वस्य जोषमा इन्द्र. सुतस्य गोमतः ।
३ १२ २२
प्रातर्होतेव मत्सति ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ८ । ६४ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१७४] पृ० ६६ ।

(२) (मित्र·) सूर्य के समान स्नेह करने हारा, सबको अपने २ कर्म में प्रवृत्त कराने हारा, (अर्यमा) सबका स्वामी, न्यायकारी (वरुण·) सब दुखों का निवारक, ये तीनों देव (जावत·) ज्ञान के उत्पादक, आनन्दजनक (शिपधस्थस्य) प्राण, अपान और समान, या इड़ा, पिङ्गला, और सुषुम्ना तीनों में विराजमान सोमरूप ब्रह्मानन्द का (पिबन्ति) पान करते हैं । मित्र, अर्यमा, और वरुण ये तीनों योगियों के तीन भेद हैं । १ सूर्य के समान प्रज्ञालोकवान् मित्र, भूतजय करने हारा इन्द्रिय-संवित् द्वारा स्थितिप्रज्ञ अर्यमा और विशाल आकाशकल्प समुद्र के समान शान्त, शुद्धचित्त सत्व का अनुभवी योगी वरुण कहाता है ।

(३) (प्रात) प्रात काल के अवसर में (होता इव) जिस प्रकार सोमयाग करने वाला होता प्रसन्न हो जाता है उसी प्रकार (इन्द्र·) अध्यात्मयोगी का आत्मा (उतो) भी (नु) निश्चय से (अस्य) इस (गोमत·) इन्द्रियों के संवित् ज्ञानों से युक्त (सुतस्य) उत्पादित ब्रह्मरस को (जोषम्) सेवन कर लिये (आ मत्सति) खूब मग्न हो जाता है ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७८८] वर्णमहँ आसि सूर्य बडादित्य महाँ असि ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ १
महस्ते सतो महिमा पनिष्टम मह्ना देव महाँ असि ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७८९] वट् सूर्य श्रवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि ।
३ २ ३ १ २ ३ २ २ १ २ १ ३ २ ३ १ २
महा देवानामसुर्य पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ।
॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । ३२ । १७, १२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७६] पृ० १४१ ।

(२) हे सूर्य ! सबके प्रेरक परमात्मन् ! आप (श्रवसा) ज्ञान और यश के द्वारा (वट्) सचमुच (महान्) सबसे बड़े (असि) हो । हे देव ! प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! आप (सत्रा) सचमुच निश्चय से (महान् असि) सबसे बड़े हो । आप ही (देवाना) सब विद्वानों के (महा) अपने महत्व या शक्ति से (असुर्य.) प्राणों को चलाने हारे, (पुरोहित.) साक्षात् पुरोहित के समान प्रवर्त्तक, उनको साक्षात् धारण करने हारे और साक्षीरूप द्रष्टा हो, आप ही वास्तव में (विभु) सर्वत्र विशेष रूप से व्यापक, (अदाभ्यम्) अविनाशी, नित्य (ज्योति.) ज्योतिः स्वरूप प्रकाशस्वरूप हैं ।

इति द्वितीय खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१७९०] उप नो हरिभिः सुतं याहि मदानाम्पते ।
१ २ ३ १ ३ २
उप ना हरिभिः सुतम् ॥ १ ॥
३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७९१] द्विता यो वृत्रहन्तमो विदं इन्द्रः शतक्रतुः ।
१ २ ३ १ २ ३ २
उप नो हरिभि सुतम् ॥ २ ॥
१२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २
[१७९२] त्वं हि वृत्रहन्नेषां पाता सोमनामसि ।
१ २ ३ १ २ ३ २
उप नो हरिभि. सुतम् ॥३॥१०॥ ऋ० ८ । ६२ । ६१-३३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५०] पृ० ८४ ।

(२) (व.) जो (वृत्रहन्तमः) समस्त विघ्नों का विनाशक और (शतक्रतु.) सैंकड़ों कर्मों का करने हारा है उसको (द्विता) दो रूपों में (विदे) मैं जानता हूं। एक परमात्मा रूप से और दूसरा जीवात्मा रूप से। वह (नः सुतम्) हमारे उत्पन्न किये पदार्थों को (हरिभिः) अपने हरणकारी वायु आदि साधनों और आत्मपक्ष में इन्द्रियों द्वारा (उप) प्राप्त करें।

(३) हे (वृत्रहन्) अज्ञान के विनाशक ! (एषा) इन (सोमानां) सोमों, समस्त जगत् के जीवों का (पाता) पालनकर्त्ता (त्वं) तू ही (असि) है। (न.) हमारे (सुतम्) योग साधनों से परिष्कृत आत्मा को (हरिभि.) ज्ञानों द्वारा (उप) प्राप्त होइये।

१ २, ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१७६३] प्र वो महेमहे वृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
१ २ ३ १र २र
विशः पूर्वीः प्रचरचर्षणिभ्या. ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र ३ १ २ ३ १ २
[१७६४] उरुव्यचसे महिने सुवृक्तिमिन्द्राय ब्रह्म जनयन्त विप्रा. ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीरा. ॥ २ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ १ २
[१७६५] इन्द्र घाणीरनुत्तमन्युमेव सत्रा राजानं दधिरे सहध्यै।
१ २ ३ २ ४ २
हर्यश्वाय बर्हया समापीन् ॥ ३ ॥ ११ ॥

ऋ० ७ । २१ । १२०–१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३२८] पृ० १६६ ।

(२) (विप्रा.) विद्वान् ब्राह्मण लोग (उरुव्यचसे) महान् ब्रह्माण्ड में व्यापक (महिने) बड़े भारी (इन्द्राय) परमात्मा की (सुवृ

क्रिस्) उत्तम स्तुतिरूप (ब्रह्म) वेद का (जनयन्त) ज्ञान करते हैं। (धारा.) वे विद्यावान्, ध्यानवान् पुरुष (तस्य) उसके (व्रतानि) उपदेश किये नियमों को (न मिनन्ति) विनाश नहीं करते, उल्लंघन नहीं करते।

(३) (वाणी.) वेदवाणियाँ और (सम्राजा) समस्त विश्व के (राजान) प्रकाशक स्वामी। अनुत्तमन्युं) अद्वितीय नित्य ज्ञानी, नित्य, सामर्थ्यवान् (इन्द्रं) इन्द्र को (सहध्यै) सब पर दमन करने के लिये (दधिरे) धारण करती हैं। अतः, हे नर (हर्यश्वाय) समस्त लोकों और जीवों में व्यापक ईश्वर के लिये (आपीन्) अपने समीप आप सब बन्धुओं को (सम् वर्हय) उत्तम रीति से बढ़ा, उन्नत कर।

[१७९६] १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
यादृङ्ङिन्द्र यावतस्त्वमेनावदहमीशीय।
३ २ ३ १ २ ३ १ १ २ ३ १ २
स्तोतारमिद्दधिषे रदावसो न पापत्वाय रंसिषम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१७९७] शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
न हि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता च न
॥ २ ॥ १२ ॥ ऋ० ७ । ३२ । १८, २१ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३१०] पृ० १२८।

(२) परमेश्वर का संकल्प है कि (महयते) दानशील या मेरी स्तुति करने हारे (कुहचिद्विदे) कहीं भी हो वहां ही उसे (दिवे दिवे) प्रतिदिन (रायः) धनों को (आ शिक्षेयम्) दान दिया करता हूं। इस प्रकार की ईश्वर की दयादृष्टि होने से भक्त का भी संकल्प होता है कि हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्! (त्वदन्यत्) तेरे से दूसरा कोई और व्यक्ति (नः) हमारे लिये (वस्यः) आवास देने हारा, (आप्यं) प्राप्त करने योग्य, इष्टदेव, उत्तम वस्तु (नहि) नहीं है और तुझ से उत्तम दूसरा (पिता च) पिता पालक भी (न) नहीं है।

३ १र २र ४ २ड ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१७९८] शुश्री हव विपिपानस्याद्रेर्बोधा विप्रस्यार्चतो मनीषाम्।
३ २ड ३ १ २ ३ २ ३ ३
कृण्वा दुवांस्यन्तमा सचेमा ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ड २र
[१७९९] न ते गिरो अपि मृष्ये तुरस्य न सुष्टुतिमसुर्यस्य विद्वान्।
१ २ ३ १ २
सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि ॥ २ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८००] भूरि हि ते सवना मानुषेषु भूरि मनीषी हवते त्वामित्।
२ड ३ १ २ ३ १ २
मरे अस्मन्मघव न्ऊत्याकः ॥३॥१३॥ ऋ० ७ । २२।४–६॥

भा०—(१) हे (इन्द) ऐश्वर्यवन्! (विपिपानस्य) आनन्दरस का पान करने हारे (अद्रे) आदरणीय और ज्ञानी, एवं पर्वत के समान दृढ़, काम क्रोध आदि से दीर्ण न होने वाले योगाभ्यासी के (हवं) पुकार को (श्रुधि) श्रवण करें (अर्चतः) स्तुति करते हुए (विप्रस्य) मेधावी विद्वान् पुरुष की (मनीषाम्) मन की गति, या स्तुति को (बोध) आप जानते हो। और (सचा) आप सहायक रूप से (इमा) इन (दुवांसि) तुम कामनाओं को (अन्तमा) हृदयंगम (कृण्व) कीजिये।

(२) हे (इन्द) ऐश्वर्यवन्! (असुर्यस्य) प्राणों के हितकारी, (तुरस्य) शत्रुओं के नाशक, अथवा सबके प्रेरक (ते) तेरा वर्णन करने हारी (गिरः) वाणियों की भी (न मृष्ये) कभी परित्याग नहीं करता। और (विद्वान्) ज्ञानवान् होकर मैं (ते सुस्तुतिम्) तेरी उत्तम स्तुति को भी कभी नहीं त्यागता। (ते) तेरे (स्वयश) यशःस्वरूप उज्ज्वल (नाम) नाम को (सदा) नित्य (विवक्मि) विविध प्रकार से बखाना करता हूं।

(३) हे (इन्द) ऐश्वर्यवन्! (ते) तेरे लिये (मानुषेषु) मनुष्यों में (भूरि) बहुत से (सवना) उपासना प्रकार, या ऐश्वर्य हैं। (मनीषी) मननशील विद्वान् भी (त्वाम् इत्) तेरी ही (भूरि) बहुत (हवते) स्तुति करता है। हे

(मघवन्) ज्ञानाश्रय ! हे सर्वशक्तिमन् ! आप (अस्मत्) हमसे (अंरे) दूर (ज्यांक्) कभी भी (मा कः) मत होवें ।

इति तृतीय. खण्ड. ।

—0—

१ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २

[१८०१] प्रोष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत । अभीके चिदु

३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ ३ १ २ ३ १२

लोककृत्सङ्गे समत्सु वृत्रहा । अस्माकं बोधि चोदिता

२१ ३ १ २ ३ २३ ३ १ २

नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ १ ॥

२३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८०२] त्वं सिंधूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम् । अशत्रुरिन्द्र

३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३

जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यम् । तं त्वा परिष्वजामहे

१ २ ३ १ २ ३ २३ ३ १ २

नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ २॥

२३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३

[१८०३] विषु विश्वा अरातयोऽर्योनशन्त नो धियः । अस्तासि

१ २ ३ १२ २१ ३ १ २ १ २ ३ २ २३ ३

शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति । या ते रातिर्ददिर्वसु

१ २ ३ १ २ ३ २३ ३ १ २

नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ३॥ [४ ॥

अ० ८० । १३३ । १—३ ॥

भा०—(१) (अस्मै इन्द्राय) इस ऐश्वर्यवान् प्रभु के (पुरो-रथम्) विश्व, ब्रह्माण्ड रूप रथ को पूर्ण करने हारे, या पालन करने वाले, या गति देने वाले (शूषम्) बल को (प्र सु अर्चत) यथार्थरूप से वर्णन करो । देखो, वह ईश्वर (अभीके) अत्यन्त समीप, चित्त में साक्षात् (चिद् उ) ही (लोककृत्) सब का दर्शन करता है, सबको देखता है, या चित्त में सब के प्रकाश करता है । और (सङ्गे) संग हो जाने पर आत्मा को प्राप्त कर (समत्सु) इन्द्रियवृत्तियों में (वृत्रहा) तामस आवरण का नाश

कर देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अस्माकं) हमें (बोधि) ज्ञान देता है और हमारे भावों को जान जाता है (अन्यकेषां) हमारे आभ्यन्तर तुच्छवृत्ति शत्रु, काम आदि के (अन्यकेषु) कमानों पर (अधि) चढ़े हुए (ज्याका॰) निर्बल चिल्ले भी (नमन्ता) टूट फूट जाते हैं।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर! तूने (सिन्धू॰) सब नदियों को और शरीर की नाड़ियों को (अधराच॰) नीचे जाने हारी (अवासृजः) रचा है। और तू (अहिम्) न हटने वाले या अ.घात या पीड़ा कारी तामस आवरण, या मेघ को (अहन्) विनाश करता है। हे इन्द्र! तू (अशत्रुः) शत्रुरहित सब का मित्र (जज्ञिषे) जाना जाता है। ऐसे ही (तं) उस सब के मित्र परमस्नेही (त्वा) आपको (परि स्वजामहे) हम आलिंगन करते हैं, अपना निरन्तर का सङ्गी बनाते हैं, अपनाते हैं, हृदय में धारण करते हैं।

(३) हे इन्द्र! (नः) हमारे (विश्वा॰) समस्त (अर्यः) शत्रु रूप, हम पर चढ़ाई करने वाले (अरातयः) अज्ञानशक्ति, उचित कर न देने हारे, (विश्वा) सब शत्रुगण (वि सु नशन्त) नाना प्रकार से खूब नाश को प्राप्त हों। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! (यः) जो (नः) हमें (जिघांसति) विनाश करना चाहता है उस (शत्रवे) शत्रु पर (वधं) अपने हननकारी बल को (अस्ताऽसि) प्रयोग कर। और (या) जो (ते) तेरी (रातिः) दान और कृपा है वह हमें (वसु) धन आदि पदार्थों का (ददिः) दान करे। (अन्यकेषां ज्याका धनुषु नशन्ताम्) और अन्य तुच्छ शत्रुओं के धनुषों की निर्बल डोरियाँ नष्ट हो जावें।

३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
[१८०४] त्वां इद्रेवतस्कृतो स्यात्त्रावतो मघोनः।
१ २ ३ १ २
प्रदु हरिवः सुतस्य ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ १२
[१८०५] उक्थं च न शस्यमानं नागो रायश्चिकेत ।
१ २ ३ २ ३ १ २
न गायत्रं गीयमानम् ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ १२ २३ ३ १ २
[१८०६] मा न इन्द्र पीयत्नवे मा शर्धते परा दाः ।
१ २ ३ १ २
शिक्षा शचीवः शचीभिः ॥३॥१५॥ अ० ८।२।१३—२५॥

भा०—(१) हे (हरिवः) गतिमान् समस्त लोकों के स्वामिन्! अथवा किरणों और प्राणों के प्राण! हे प्रभो! लोक में (रेवतः) धनाढ्य पुरुष का (स्तोता) स्तुति करने हारा (रेवत्) धनवान् हो जाता है। और ज्ञानी पुरुष का उपासक ज्ञानवान् (स्यात्) हो जाता है। फिर (त्वावतः) तुझ जैसे अनुपम (मघोनः) ज्ञानी और धनसम्पन्न (सुतस्य) ऐश्वर्यवान्, अथवा ब्रह्मानन्दरस के उत्पादक प्रभु का तो (प्र भूत् ट) फिर क्या कहना! तेरा उपासक तो भारी धनी और ज्ञानी हो ही जायगा।

(२) व्याख्या देखो अवि० सं० [२२५] पृ० ११६।

(३)) हे (इन्द्र) परमेश्वर! (नः) हमें (पीयत्नवे) हिंसक, दुष्ट पुरुष के हाथों में (मा परा दाः) मत डाल। और हमें (शर्धते) हमारा मान भंग करने हारे हिंसक पुरुष के हाथों में (मा पराद्राः) मत डाल। तू (शचीभिः)अपने ज्ञानों और शक्तियों से ही हे (शचीवः) शक्तिमन्! हमें (शिक्ष) शिक्षित कर, दक्षिक्षत कर, अथवा ज्ञान प्रदान कर।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१८०७] एन्द्रा याहि हरिभिरुप कण्वस्य सुष्टुतिम् ।
३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दित्रावसो ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ १ २
[१८०८] अत्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः ।
३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ १२ २२
[१८०९] आ त्वा ग्रावा वदन्निह सोमो घोषेण वक्षतु ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ८ । २४ । १, ३, २ ।

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [३४८] पृ० १८० ।

(२) (वृकः) भेड़िया (उरा न) जिस प्रकार भेड़ को (धुनुते) धुन देता है, भय से कंपित करता है उसी प्रकार (एषां) इन प्राणों का (नेमिः) नमन करने हारा वश करने हारा, आत्मा भी उस (उरा) चित्तिशक्ति को (विधूनुते) अपने बल से प्रचालित करता है । (दिव) प्रकाशमान, प्रकाशस्वरूप, विश्व में रमण या क्रीड़ा करने हारे (शासत) शासकरूप (अमुष्य) इस परमात्मा के (दिव·) ज्योतिर्मय ज्ञान को हे (दिवावसो) ज्योतिरूप प्रकाश में वास करने हारे जीवात्मन् ! तू (यय) प्राप्त हो ।

(३) हे प्रभो ! (इह) इस संसार में, इस जन्म में (सोमी) सोमरस का आस्वादन करने हारा आत्मज्ञानी (ग्रावा) विद्वान्, ज्ञानोपदेशक (त्वा) तेरी (वदन्) स्तुति करता हुआ (घोषेण) वेद ज्ञान के साथ ही (त्वा वक्षतु) तुझे प्राप्त हो । हे (दिवावसो) आत्मन् ! (अमुष्य शासत दिवः दिवं यय) आत्मक्रीड़, आत्मरति होकर उस शासन करने हारे परमात्मा के प्रकाशस्वरूप मोक्ष लोक को तू प्राप्त हो ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८१०] पवस्व सोम मन्दयन्निन्द्राय मधुमत्तमः ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८११] नः सुतासो विपश्चितः शुक्रा वायुमसृक्षत ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८१२] असृग्रं देववीतये गावो जयन्तो रथा इव ॥ ३ ॥ १७ ॥

ऋ० ९ । ६७ । २६, २८, २७ ॥

भा०—(१) हे (सोम) ज्ञानैश्वर्य सेयुक्त (मधुमत्तम.) अतिशय ज्ञान सम्पन्न होकर (मन्द्रयन्) आनन्दमय होता हुआ योगिन् ! तू (इन्दवे) परमेश्वर को प्राप्त होने के लिये (पवस्व) गतिकर ।

(२) (ते) वे (विपश्चित) ज्ञानसम्पन्न, ज्ञानों का संग्रह करने हारे या ज्ञानरूप अग्नि का चयन करने हारे परमात्मदर्शी (शुक्र) तेजस्वी, या शुक्ल कर्म करने हारे, (सुतासः) सिद्ध योगी (वायुम्) सर्व प्रेरक प्रभु परमात्मा को (असृक्षत) प्राप्त होते हैं ।

(३) सोमस्वरूप योगी गण (वाजयन्त) संग्राम करने हारे विजयी (रथा इव) रथों के समान स्वयं (वाजयन्तः) ज्ञानस्वरूप होकर (रथा) केवल आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होकर (देववीतये) ईश्वर को प्राप्त होने के लिये (असृग्रम्) जा रहे हैं ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३' १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२

[१८१३] अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसो सूनुं ।

२२ ३१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

सहसो जातवेदसं विप्रꣳ जातवेदसम् ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवाच्या कृपा ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

घृतस्य विभ्राष्टिमनुशुक्रशोचिष आजुह्वानस्य सर्पिषः ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३

[१८१४] यजिष्ठं त्वा यजमाना हुवेम ज्येष्ठमङ्गिरसां विप्र

१ २ ३ १ २ ३ १ २

मन्मभिर्विप्रेभिः शुक्र मन्मभिः ॥

१ २ ३ १२ २२ ३ २

परिज्मानामिव द्यां होतारं चर्षणीनाम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

शोचिष्केशं वृषणं यमिमा विशः प्रावन्तु जूतये विशः ॥२॥

२८ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१८१५] स हि पुरूचिद्दोजमो विरुक्मता दीद्यानो ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ २८ ३ २
भवानि द्रुहन्तरः परशुर्न द्रुहन्तरः ॥
३ २ ३ २ ३ १ ८ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
वीळुचिदस्य समृतौ श्रुवद्वनेव यत्स्थिरम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
निष्षहमाणो यमते नायते धन्वासहा नायते ॥३॥१८॥
ऋ० १ । १७७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो ऋषि० सं० [४६५] पृ० २३४ ।

(२) हे (विप्र) ज्ञानवन् ! अग्ने ! परमेश्वर ! इम (यजमानाः) उपासना करने हारे लोग (यविष्ठ) सब उपासकों में से सबसे अधिक श्रेष्ठ, (अंगिरसां) समस्त ज्ञानवान् आत्माओं से भी (ज्येष्ठ) श्रेष्ठ पर आत्मरूप आपको (विप्रेभिः) विशेष रूप से आपके महत्व को दर्शाने हारे ज्ञानमय (मन्मभिः) विचारों, मन्त्रों से (त्वा) आपको (हुवेम) स्मरण करते हैं । हे (शुक्र) तेज.स्वरूप सबके प्रकाशक ! (परिज्मन्) सर्वव्यापक, (पा) तेजस्वरूप, (चर्षणीनां) समस्त मनुष्यों को (दोतारं) कृपा का दान करने हारे (शोचिष्केशं) कान्तिमान् सूर्यादि पिण्डों को वश करने हारे (वृषण) सब सुखों के वर्षक (यं) जिस आपको (इमा) ये समस्त (विश.) आप में आश्रय पाने हारे जीवगण (आयन्तु) प्राप्त होते हैं ।

(३) (स॰ हि) निश्चय से वह अग्नि (विरुक्मता) विशेष कान्ति से युक्त (भाजमा) तेज से (पुरुचित्) अति अधिक (दीद्यानः) प्रकाशित होता हुआ (द्रुहन्तर) वृक्षों को विनाश करने हारे (परशुः न) फरसे के समान (द्रुहन्तर.) दक्षणशील, विनाशी इस देह बन्धन को काटने हारा (भवति) होता है, (यस्य) जिसको (मन् कर्मा) सम्यङ् में साक्षात् प्राप्त कर लेने पर (वीळु) दृढ़ और (यत्) जो (स्थिरं)

स्थिर, स्थायी यह संसार या देहबन्धन (चित्) भी (वना इव) जंगल या जसों केसमान (श्रुवत्=क्षुरत्) छितरा जाता है। अग्नि के संयोग जिस प्रकार जंगल जल जाता या जल भाफ होकर विलीन होजाता है उसी प्रकार यह समस्त संसार भी जिस में प्रलय काल में विलीन होजाता है वह (निः सहमान.), समस्त संसार की सब विरोधिनी शक्तियों को अपने वश करता; हुआ (यमते) समस्त संसार की व्यवस्था करता है और उसी में क्रीड़ा करता है एवं (धन्वा सहा न) धनुर्धर विजयी के समान (अयते) संसार के रण क्षेत्र में भी आता है और (न अयते) और इसके भीतर पाश में भी नहीं आता।

इति नवमस्य प्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धप्रपाठक.*

अथ नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

ऋषिः—१ अग्निः पावकः । २ सोभरिः काण्वः । ५, ६ अवत्सारः काश्यप अन्ये च ऋषयो दृष्टलिङ्गाः* । ८ वत्सप्रीः । ९ गोपूत्रयवसप्रक्किनौ काण्वायनौ । १० त्रिशिरास्त्वाष्ट्रः सिन्धुद्वीपो वाम्बरीषः । ११ उलो वातायनः । १२ वेनः । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥ देवता—१, २, ८ अग्निः । ५, ६ विश्वे देवाः । ९ इन्द्र । १० अग्निः । ११ वायुः । १२ वेनः । ३, ४, ७, १२ इतिसाम ॥ छन्दः—१ विष्टारपङ्क्तिः, प्रथमस्य, सतोवृहती उत्तरेषां त्रयाणां, उपरिष्टाज्ज्योतिः अत उत्तरस्य, त्रिष्टुप् चरमस्य । २ प्रागाथम् काकुभम् । ५, ६, १३ त्रिष्टुप् । ८-११ गायत्री । ३, ४, ७, १२ इतिसाम ॥ स्वरः—१ पञ्चमः प्रथमस्य, मध्यमः उत्तरेषां त्रयाणां, धैवतः चरमस्य । २ मध्यमः । ५, ६, १३ धैवतः । ८-११ षड्जः । ३, ४, ७, १२ इति साम ॥

*केषु । चिन्मतेनात्र विंशाध्यायस्य, पञ्चमखण्डस्य च विरामः ।

२ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ ३ १ २
[१८१६] अग्न तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो विभावसो ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं ३ दधासि दाशुषे कवे ॥१॥
ॐ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८१७] पावकवर्चा. शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि भानुना ।
३ २ २ १ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणासि रोदसी उभे ॥२॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८१८] ऊर्जो नपाज्जातवेद सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हित: ।
२ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
त्वे इष सन्दधुर्भूरिवर्पस: श्विघ्रातयो वामजाता. ॥३॥
३ १ २ ३ १ २ ३ ५ ४ २
[१८१९] इरज्यन्नग्ने प्रथमस्य जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ १
स दर्शतस्य वपुषो विराजति पृणक्षि दर्शतं क्रतुम् ॥४॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१८२०] इळ्कर्णोरमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः । रातिं
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २
वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिं रयिम् ॥५॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१८२१] ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो
२ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
जना. । श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्या मानुषा
३ २
युगा ॥ ई ॥ १ ॥ ऋ० १० । १४० । १-६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने, ज्ञानस्वरूप ! प्रकाशक ! परमात्मन् ! (विभा-
वसो) अपने विशेष प्रकाश से सब को बसाने और सर्वत्र स्वयं बसनेहारे
व्यापक परमात्मन् ! (तव) तेरा (श्रव*) कीर्ति और (वयः) ज्ञान, बल
(महि) महान् है और तेरी (अर्चयः) ज्वालायें सूर्य अग्नि रूप में

*दृष्टिर्ज्ञेया इत्यस्य भाष्यस्य पाठः १८१६—३. 'गन्धर्वोऽग्नि' ४. पुनर्ऋग्भा-
ष्ये 'ग्नि' इति भ्रु० ।

(आजभ्रे) प्रकाशित हो रही हैं। हे (बृहद्भानो) सब प्रकाशों से महान्! आप (उक्थ्यं) वेद द्वारा प्रतिपादनीय (धाः) ज्ञान दो। हे (कवे) मेधाविन्! तू (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य को आचार्य के समान (दधासि) धारण करता है।

(२) हे अग्ने! तू (पावकशोचिः) पवित्र करने हारे तेज से युक्त (शुक्रशोचिः) शुद्ध, निर्मल कान्ति से सम्पन्न, (अमूरशोचिः) सब से अधिक तेजस्वी होकर (भानुना) प्रकाशक तेज के सहित (द्रुदुरुषि) उदय होता है, हृदय में प्रकट होता है। जिस प्रकार (पुत्रः) पुत्र (मातरा) मातृस्वरूप या माँ बाप दोनों के समीप (विचरन्) विचरता हुआ उनको पुनः पालता और पोषता है और जिस प्रकार यह सूर्य आकाश और पृथिवी दोनों के बीच विचरता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) लोकों को भासमान् करता और पालन पोषण करता है उसी प्रकार तू भी समस्त लोकों को (उपाससि) स्वयं उन में व्यापक होकर रक्षा करता और (पृणासि) पालन करता है। इसी प्रकार देहगत जीवात्मा पर भी यह मन्त्र स्पष्ट है। २

(३) हे (ऊर्जो नपात्) बल को, सामर्थ्य को एवं ब्रह्मानन्दरस को कभी न परित्याग करने हारे! हे (आशुषेणः) सर्वज्ञ! तू (सुस्तुतिभिः) उत्तम स्तुतियों से और (धीतिभिः) वेदाध्ययन और अग्निहोत्रादि यज्ञ-ज्ञानों से (मन्दस्व) प्रसन्न हो, अपना आनन्दमय स्वरूप प्रकट कर। (भूरिवर्पसः) नानारूप। (चित्रोतयः) विचित्र या मनोहर बुद्धि वाले (वामजाताः) उत्तम प्रकृति के कुलीन, विद्वान् लोग भी (त्वे) तेरे निमित्त ही (हवः) नाना अन्न आदि, हवियों को (संदधुः) अग्नि में डालते हैं। या तेरे आश्रय नाना कामनाएं करते हैं।

(४) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप! हे (अमर्त्य) अविनाशी परमात्मन्! आप (जन्तुभिः) उत्पन्न होने हारे जन्तुओं द्वारा (राज्यम्) ऐश्वर्य

को बढ़ाते हुए (अस्मे) हमारे (रायः) धनों को (प्रयन्दस्व) बढ़ाओ। (सः) वह आप (दर्शतस्य) दर्शनीय (वपुषः) अपने बीज वपन करने हारे, उत्पादक सामर्थ्य से (विराजसि) सब पर ईश्वर होकर विराजमान हैं। और आप (दर्शतं) दर्शनीय (कृतुं) अपने बनाए हुए इस संसार को (पृणक्षि) पालन पोषण करते हो ।

(५) (अध्वरस्य) इस महान् जगत् मय यज्ञ के (हव्यकर्तारम्) प्रेरणा करने हारे, वा पूर्णरूप से संचालन करने हारे (प्रचेतसः) उत्तम, ज्ञानवान् (महः) बड़े श्रेष्ठ, (राधसः) आराधनीय, वा साधनयोग्य धन या ज्ञान को (शिषन्तं) अपने वश करने हारे, उसके स्वामी और (वामस्य) प्राप्त करने योग्य उत्तम श्रेष्ठ पदार्थों के (दातिं) दाता की हम स्तुति करते हैं। हे परमात्मन् ! आप (मही) बहुत बड़ी (सुभगा) उत्तम सौभाग्ययुक्त, शुभ (इषे) अन्न आदि सम्पदा को और (सातये) परस्पर विभाग कर के भोगने योग्य अथवा प्रत्येक को पृथक २ प्राप्त (रयिम्) प्राण, देह आदि अध्यात्म-सम्पत्ति को (दधासि) धारते और प्रदान करते हो ।

(६) (जना०) मनुष्य लोग (ऋतावानं) सत्यज्ञान से युक्त, (महिषं) बड़े सामर्थ्यवान्, (विश्वदर्शतम्) सबसे अधिक दर्शनीय, विश्व के द्रष्टा एवं सब पदार्थों के प्रदर्शक विद्वान् (अग्निम्) अग्नि अर्थात् आचार्य के समान अग्रणी ज्ञानप्रकाशक परमेश्वर को अपने (पुरः) समक्ष साक्षिरूप से और मार्गदर्शक रूप से (सुम्नाय) सुख लाभ करने एवं प्रत्येक कार्य पर उत्तम रूप से मनन करने और स्वयं उसका उत्तम ज्ञान प्राप्त करने के लिये (दधिरे) पुरोहित, आचार्य और गुरुरूप में रखते हैं। उसी प्रकार हे परमात्मन् ! (मानुषा) मननशील (युगा) नर नारियों के जोड़े (समग्मतमं) सर्वत्र अति प्रसिद्ध, विख्यात (श्रुत्कर्णम्) श्रुतिरूप कर्णों से युक्त अथवा वेद के अनुसार समस्त जगत् के रचने हारे (गिरा)

इस वेदवाणी के अनुसार (दैव्यं) दिव्यगुणों से युक्त (त्वां) तुमको अपने सुख-सम्पादन के लिये (पुरो दधिरे) सब कार्यों में साक्षी या आचार्य पुरोहित के समान स्थापन करते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

—०—

[१८२२] प्र सो अग्ने तवातिभि सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥ १ ॥

[१८२३] तव द्रप्सो नीलवान्वाशो ऋत्विय इन्धानः सिष्णवा
ददे । त्वं महीनामुषसामसि प्रियः क्षपो वस्तुषु राजसि
॥ २ ॥ २॥ ऋ० ८ । १६ । ३०,३' ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [१०८] पृ० ५८ ।

(२) हे (सिष्णो) आनन्दरस से हृदय के सेचन में समर्थ ! धर्म मेघरूप आत्मन् ! (तव) तेरा (द्रप्सः) द्रवणशील व्यापक रस (नील-वान्) आश्रयदाता, (वाशः) कमनीयरूप, (ऋत्वियः) प्राणों में रहने वाला (इन्धानः) प्रदीप्त होकर (आदेद) मन से ग्रहण किया जाता एवं सबको अपने वश करता है, जाना जाता है । (त्वं) तू (महीना) विशाल या पूजनीय (उषसा) ज्ञानोदय से युक्त विशोका ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं का (प्रियः) प्रिय (असि) है और (क्षपः) सर्व दुःखों के नाश करने वाली, रात्रि के समान अन्तः सात्विक निद्रा से सम्बद्ध (वस्तुषु) तत्वों में (राजसि) प्रकाशमान, जागृत रहता है ।

[१८२४] तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त
मातरः । तमित्समानं वनिनश्च धीरुधोन्तर्वतीश्च सुवते
च विश्वहा ॥ ३ ॥ ३ ॥ ऋ० १० । ९१ । ६ ॥

भा०—(१) (त) वस (ऋत्विय) ऋतुओं में सूर्य के तेजो रूप मे प्रकट होने हारे अग्नि को (ओषधी.) ओषधिगण अपने भीतर रसरूप से (दधिरे) धारण करती हैं (त) उसी (अग्नि) अग्नि को (मातर) सब के मूल-कारण (आप.) आप.=जल भी (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं और (तम् इत्) उसको ही (समानं) समान रूप से (वनिनः) वन के बड़े २ वृक्ष भी धारण करते और उत्पन्न करते हैं और उसी अग्नि को (अन्तर्वतीः) गर्भ धारण करने हारी पुष्पिणी (च) और (वीरुध.) विशेष रूप से रोहण करने हारी लताएं (विश्वहा) सर्वदा उत्पन्न करती हैं । उसी प्रकार वनस्पति और लताओं के दृष्टान्त स आत्मा का उत्पत्ति का वर्णन करते हैं—(मातर·) माताएं, (आप) प्राप्त होने योग्य पतियों स सगत (ओषधी·) तेज=वीर्य को धारण करने वाली (त) उस आत्मरूप अग्नि को (ऋत्विय) ऋतुकाल में होने वाले (गर्भं दधिरे) गर्भरूप से धारण करती हैं (त) उसी को (जनयन्त) बालक रूप से उत्पन्न करती हैं। (च) और (वनिन.) नर वृक्षों के समान पुरुष और (वीरुध.) लताओं के समान (अन्तर्वती. च) गर्भिणी स्त्रिया (विश्वहा) सदा (समान) समान भाव से (सुवते) उसको प्रसव करती हैं।

फलत. वृक्ष वनस्पतियों में भी वही जीव है । एवं जो जल वृष्टिरूप से पृथिवी पर आकर वनस्पति रूप से उत्पन्न होता है और खाये जाकर वही वीर्य बनकर पुन पुरुषों द्वारा वही गर्भों में निषिक्त होता है और वही गर्भ मे जमकर पुन· पुत्ररूप मे उत्पन्न होता है, यह सूक्ष्म रहस्य उपनिषदों में पञ्चाहुति प्रकरणों से दर्शाया गया है ।

[१८२५] अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो विराजति ।
महिषीव विजायते ॥ ४ ॥

भा०—(१) (अग्नि) वह आत्मा (इन्द्राय) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (पवते) विवेक से निर्मल होकर उसकी ओर गति करता

है । (शुक्र) शुक्लकर्मा, निर्मल कान्तिमान् होकर (दिवि) मोक्ष में (विराजति) प्रकाशित होता है । (महिषी इव) जिस प्रकार (महिषी) राजमहिषी, महारानी नाना प्रकार के रूप धारण करके प्रजा के सम्मुख उपस्थित होती है उसी प्रकार वही आत्मा (विजायते) नाना रूपों में प्रकट होता अथवा (महिषी इव) दुग्धरस देने हारी भैंस के समान वही आत्मा आनन्दरस की धार वर्षण करने हारी कामधेनु बनकर चितिशक्ति के रूप में ऋतम्भरा रूप से प्रकट होती है ।

अथवा अग्नि=परमात्मा इस इन्द्र=आत्मा के लिये प्रकट होता है वही मोक्ष में शुद्ध रूप से विराजमान है । वही उसको रस देने हारी कामधेनु के समान नाना पदार्थ प्रदान करता है ।

[१८२६] यो जागार तमृचः कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका ॥ १ ॥ ५ ॥ ऋ० ६ । ४४ । १४ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् ब्रह्मवेत्ता (जागार) अविद्या की नींद से जाग जाता है (तं) उसको (ऋचः) ऋग्वेद की ऋचाएं और उन के समान ज्ञानप्रद जन भी (कामयन्ते) चाहते हैं । और (यः) जो (जागार) अविद्या निद्रा से जग जाता है (तम् उ) उसको ही (सामानि) साम के उपासनापरक मन्त्र और उपासना करने वाले भक्त लोग भी (यन्ति) प्राप्त होते हैं (यः) जो (जागार) ज्ञानमार्ग में जागृत सावधान रहता है (तम्) उसको ही (अयं) यह (सोमः) सोमरूप, सब का प्रेरक जगदीश्वर, या संसार का ऐश्वर्य भी (आह) कहता है कि (तव सख्ये) तेरी मित्रता में ही (अहम्) मैं भी (न्योका) निवास करता हूं । इसी ऋचा से अगली ऋचा में इस जागरणशील निरालस तपस्वी को 'अग्नि' नाम से बतलाया है ।

[१७२७] ३ २ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २ ३ १
अग्निर्जागार तमृचः कामयन्तेऽग्निर्जागार तमु सा
२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २ १ २
मानि यान्ति । अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि
३ १ २
सख्ये न्योकाः ॥ १ ॥ ६ ॥

भा०—(१) पूर्व ऋचा के (यः) 'जो' की जिज्ञासा में ही यह उत्तर ऋचा कही जाती है । इसमें विद्वान् निरालस आत्मा के साथ २ परमात्मा का भी वर्णन इस रूप से होता है । अर्थात्—अग्नि=परमात्मा ही सदा जागता है, ऋग्वेद की ऋचाएं उसको चाहती हैं, उसी का सामगण गान करते हैं और यजुः स्थानीय सोम अथवा कर्मप्रधान यह जीव भी उस परमेश्वर को ही कहता है कि हे भगवन् ! मैं आपके मित्रभाव में सदा आश्रय प्राप्त करूं ।

[१८२८] १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
नमः सखिभ्य पूर्वसद्भ्य. नम. साकंनिषेभ्य' ।
३ १र २र ३ १ २
युञ्ज वाचं शतपदीम् ॥ १ ॥

[१८२९] ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
युञ्जे वाचं शतपदीं गाय सहस्रवर्तनि ।
३ १र २र ३ १ २
गायत्र त्रैष्टुभ जगत् ॥ २ ॥

[१८३०] ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
गायत्र त्रैष्टुभ जगद्विश्वा रूपाणि सम्भृता ।
३ १र २र ३ २
देवा ओकांसि चक्रिर ॥ ३ ॥ ७ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (पूर्वसद्भ्य.) पूर्णब्रह्म, मोक्षधाम में विराजमान (सखिभ्य') मेरे आत्मा के समान आख्यान वाले मुक्तात्माओं को (नम.) मैं नमस्कार करता हूं । और (साकनिषेभ्य) साथ ही विराजमान विद्वान् मित्रों के लिये भी (नमः) आदरपूर्वक नमस्कार है । मैं आप लोगों के समान ही (शतपदीं) सैकड़ों ज्ञानों से पूर्ण (वाच) वेदवाणी का (युञ्जे) समाहित चित्त से विचार करता हूं ।

(२) (शतपदी) सैकड़ों ज्ञानों से युक्त (वाचं) वाणी का (युञ्जे) योगसमाधि द्वारा मनन करता हूं और (सहस्रवर्तनिं)

सहस्रों मार्ग से युक्त सहस्रवर्त्मा सामवेद जिसमें (गायत्र) गायत्र (त्रैष्टुभं) त्रैष्टुभ और (जगत्) जगत् साम विशेष है उसका (गाये) गान करता हूं ।

(३) (गायत्रं, त्रैष्टुभ, जगत्) गायत्र, त्रैष्टुभ और जगत् इन तीन मुख्य सामों के ही (विश्वा रूपाणि)) नाना प्रकार के रूप (सम्भृता) बनाये गये हैं । और उनमें ही (देवाः) विद्वान् लोग (ओकांसि[1]) संहिताओं का या ज्ञानवाक्यों का (चक्रिरे) साक्षात् कर प्रकाश करते हैं ।

[१८३१] अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्र ।
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य ॥ १ ॥

[१८३२] पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा ।
पुनर्नः पाह्यंहसः ॥ २ ॥

[१८३३] सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ।
विश्वप्स्न्या नि विश्वतस्परि ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋग्वेद नास्ति । आर्षा यजु० ३ । ६ ॥ द्वितीया यजुः० १२ । ४० ॥ तृतीया यजु० १२ । ५१ ॥

भा०—(१) (अग्निः) अग्नि (ज्योति) ज्योतिःस्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप ही (अग्निः) अग्नि है । (इन्द्रः) इन्द्र भी (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप है और (ज्योतिः) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (इन्द्रः) इन्द्र है । (सूर्यः) सब का प्रेरक सूर्य (ज्योति) ज्योतिर्मय है ।

१८३०—१. ओकांसि—बाहुलकादवतेरौणादिकः कक् । उणा० ३ । ४१) ओक —राशिः स्थान वा । अथवा वचेः सार्वधातुभ्योऽसुन् (उणा० ४ । २१६) उच्यते इत्योक ।

१८३१—१. "अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा" इति याजुषः पाठः । मध्यमः पाठो यजुर्मन्त्रे नास्ति ।

(ज्योतिः) ज्योतिर्मय पदार्थ ही (सूर्यः) सूर्य है । फलतः ज्योतिर्मय होने से ही अग्नि, इन्द्र और सूर्य तीनों नाम एक पदार्थ के हैं । वह समानरूप से तीन नाम एक पदार्थ के और इनका चौथा पर्याय ज्योति है । ये चारों नाम मुख्यता से ईश्वर के और गौणदृष्टि से अन्यों के हैं ।

(२) हे अग्ने परमात्मन् ! आप (ऊर्जा) रसस्वरूप आनन्दघन रूप में और (इषा) ज्ञानरूप में और (आयुषा) जीवनरूप से (पुनः पुनः) बार बार हमें (नि वर्त्तस्व) प्रकट हों । अर्थात् प्रत्येक समाहित दशा में एवं प्रतिजन्म में आपके सत् चित्, और आनन्द तीनों रूपों के हमें दर्शन हों ।

(३) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (रय्या) अपने रमणीय, मनोहर मोहनीय रूप से हमें (नि वर्त्तस्व) पुनः प्राप्त हो । हे अग्ने ! तू हमें (विश्वत परि) सबसे अधिक, एवं सबपर शासन करने हारे (विश्वप्न्या) समस्त संसार को अपने भीतर लेलेने हारी सर्वव्यापिनी (धारया) अपनी रसधारा से (पिन्वस्व) तृप्त कर ।

इति षष्ठः खण्डः ।

[१८३४] यद्धिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोसखा स्यात् ॥ १ ॥

[१८३५] शिक्षेयमस्मै दित्सेय शचीपते मनीषिणे ।
यद्हं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥

[१८३६] धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । १४ । १—३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अग्निकक्ष सं० [१७२] पृ० ।

(२) (यद्) यदि (अहं) मैं (गोपतिः) वाणी, भूमि और गौओं का पति=पालक (स्याम्) होऊं तो हे (शचीपते) शक्तिमन् ईश्वर ! साक्षात् और ब्रह्मविद्या के स्वामिन् ! मैं (अस्मै) इस (मनीषिणे) मनस्वी, जितेन्द्रिय बुद्धिमान् पुरुष को (दित्सेय) दान कर दूं और (शिक्षेय) विद्या की शिक्षा दूं ।

(३) हे (इन्द) परमात्मन् ! (ते) तेरी (सूनृता) उत्तम सत्य सत्यों के दर्शाने हारी सत्यमयी (धेनु) ज्ञानरस का पान कराने हारी वेदवाणी । (सुन्वते) ज्ञान सम्पादन करने वाले (यजमानाय) स्वाध्याय यज्ञ के करने हारे अध्येता को (पिप्युषी) पुष्ट करती हुई (गाम्) वाणी और (अश्वं) आत्मिक सामर्थ्य युक्त आत्मा का भी बल (दुहे) प्रदान करती है :

[१८३७] आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥
[१८३८] यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥
[१८३९] तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥ १० ॥

ऋ० १०१ । ६ । १-३ ॥ अथर्व० १ । ५ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (आपः) प्राप्त होने हारी ज्ञान जलधाराओं ! आप ही (मयोभुवः) शान्ति और कल्याण के उत्पन्न करने हारी (स्थ) हो । ज्ञानजल (नः) हमें (ऊर्जे) बल या आनन्द-रस प्राप्त करने के लिये (दधातन) अपने में धारण करें । और वे ही हमें (महे) बड़े (रणाय) रमणीय, दर्शनीय इष्टदेव के (चक्षसे) दर्शन प्राप्त करने के लिये (दधातन) समर्थ और पुष्ट करें ।

(२) हे (आपः) प्राप्तव्य योगभूमियो ! (य.) जो (व) आप का (शिवतमः) अति कल्याणकारी, शान्तिदायक, सर्वोत्तम (रस.) आनन्दरस है (तस्य) उसको (इह) इस लोक में (नः) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ । आप साक्षात् (उशतीः) पुत्रों के प्रति उनको पुष्टि करने की लालसा से भरी (मातरः) माताओं के समान हम मुमुक्षुओं को (मातर.) ज्ञान देने हारी हो ।

(३) हे (आप.) प्राप्यतम योगभूमियो ! (तस्मा) उस रस के प्राप्त करने के लिये ही (व) आपके प्रति हम (अरं) अच्छी प्रकार (गमाम) प्राप्त हों । (यस्य) जिसके (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये आप (जिन्वथ) हमें प्रेरित करते हो । (च.) और जिसके लिये हमें (जनयथ) उत्पन्न करती हो, उसके लिये समर्थ भी होती हो ।

उन मन्त्रों में आपः जल हैं । यह वे जल हैं जो आत्मा नदी में बहते है । जिसका वर्णन व्यासदेव ने किया है—

' आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था सत्योदका शीलतटा दयोर्मि." ॥

अथवा जिसमें वह कर भक्त कहा करते हैं:—

"ओषधं जान्हवीतोय वैद्यो नारायणो हरि ।"

[१८४०] ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
धान आ धातु भेषजं शम्भु मयोभु ना हृदे ।
२ ३ १ २
प्र न आयूंषि तारिषत् ॥ १ ॥
[१८४१] ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २
उत धान पतासि न उत भ्रातोत नः सखा ।
१ २ ३ १ २
स नो जीवातवे कृधि ॥ २ ॥

१८४०—ऋषिदेवता च नान्यत्र संहिताऽनुलभ्यते । अनुक्रमणिकायां त्वत्र लौकाक्षिकं मुद्गलपिप्पलायणशाण्डिलगार्ग्यादिरेव ज्ञेय । अनुक्रमणिकायां तु "ऋषिदेवता साम" इतिमात्र प्रदर्शितम् ।

[१८४२] यद्दो वात ते गृहेऽमृतं निहितं गुहा ।
तस्य नो धेहि जीवसे ॥३॥११॥अ० २० । २८६ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१८४] पृ० ६६ ।

(२) हे वात ! सर्वव्यापक परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (पिता असि) प्राणवायु के समान साक्षात् पालक हैं, (उत भ्राता) और प्राण वायु के समान भरण पोषण करने वाले और (नः सखा) हमारे आत्मा के समान हमारे प्रेमी मित्र हैं । (सः) वह आप (नः) हमें (जीवातवे) जीवनमय यज्ञ के लिये सदा समर्थ (कृधि) करो ।

(३) हे (वात) प्राणों के प्राण परमात्मन् ! (यत्) जो (अद) वह कभी न भूलने योग्य (अमृतं) अमृतरस, परमज्ञान (ते) तेरे (गृहे) शरण में (गुहा) हृदयरूप गुहा में (निहितं) गुप्तरूप से रक्खा है भग-वन् ! (तस्य) उसको (नः जीवसे) हमारे जीवन के निमित्त (धेहि) प्रदान करो ।

[१८४३] अभि वाजी विश्वरूपो जानिष्व हिरण्ययं बिभ्रदर्क सु-
पर्ण । सूर्यस्य भानुमृतुथा वसानः परिष्वजे मेधमृत्वी
जजान ॥ १ ॥

[१८४४] अप्सु रेत शिश्रिये विश्वरूपं तेज पृथिव्यामधि यत्सं
बभूव । अन्तरिक्षे स्वमहिमानं मिमान. कानेक्रान्ति
वृष्णो अश्वस्य रेत' ॥ १ ॥

[१८४५] अयं सहस्रा परि युक्ता वसान सूर्यस्य भानु यज्ञा दा-
धार । सहस्रदाः शतदा भूरिदावा धर्ता दिवो भुवनस्य
विश्पति ॥३॥१२॥ ऋग्वेद नास्ति । अथर्वणि यजुषि च नो लभ्यते ॥

भा०—(१) (विश्वरूप.) नाना प्रकार के रूपों को धारण करने हारा जीवात्मा (वाजी) ज्ञानवान् और बलवान् होकर (सुपर्णः । उत्तम प्रज्ञान और पालन करने के सामर्थ्य से सम्पन्न, या उत्तम मार्गगामी (अज्र) कर्माशयों को परिपाक करके (हिरण्यय) तेज.सम्पन्न (जनित्रम्) अपने मूलभूत (अक्त) आत्मस्वरूप को (विभ्रत्) परिपुष्ट करता हुआ (ऋतुथा । प्राणों के बलपर अथवा नियत काल के अनुसार स्वयं (सूर्यस्य) आदित्य के (भानुं) कान्ति और तेज का (वसान) धारण करता हुआ (स्वयं) आप से आप (अध) उस पवित्र परमपुरुष को (परिजज्ञान) ज्ञान कर लेता है प्राप्त होजाता है ।

(२) (विश्वरूप तेज) नाना प्रकार के नर, तिर्यक् आदि रूप धारण करने हारे जीवात्मारूप ज्योति ने (अप्सु) जलों में (रेत) वीर्य रूप होकर (शिश्रियं) आश्रय प्राप्त किया (यत्) पुनः उसके बाद वह (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि सम्भुव) जीवरूप से उत्पन्न हुआ उसके बाद वह (स्वं) अपने (माहिमान) सामर्थ्य को (अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में भी (मिमान) व्यापारित करता हुआ अर्थात् पक्षी या सूर्य रूप में प्रकट होकर (घृष्णु) उस वीर्यसङ्ग सब के पिता (अश्वस्य) परमात्मा के (रेत) वीर्य की (कनिक्रान्ति) महिमा का वर्णन करता है ।

(३) वह विश्वरूप अग्नि (यज्ञ.) आत्मारूप (दिवः) स्वर्ग का (धर्त्ता) धारक और (भुवनस्य) इस लोक की (विश्पति.) समस्त देहधारी प्रजाओं का परिपालक, (सहस्रदा) सहस्रों पदार्थों का दाता (शतदाः) सैकड़ों पदार्थों का दाता और (भूरिदावा) हरेक वस्तु को बहुतसी मात्रा का दाता, अथवा बहुत धन देने वाला, (महत्या) बड़ी (युक्ता) देहों को (वमानः) धारण करता हुआ (सूर्यस्य) सूर्य के (भानु) तेज को भी (दाधार) धारण करता है ।

यह समष्टि रूप से जीव शक्ति का वर्णन किया है जिसका मंत्र में वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस रूप से किया है ।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपास्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिप संचरति स्वकर्मभि. ॥
अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप' संकल्पाहंकारसमन्वितो य' ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्ट. ॥
सकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते ॥
स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्ट ॥
अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै. ॥

[श्वेता० अ० ५]

[१८४६] नाके सुपर्णमुप यत्पतन्त हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत
त्वा । हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं
भुरण्युम् ॥ १ ॥
[१८४७] ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थात्प्रत्यङ्चित्रा बिभ्र-
दस्यायुधानि । वसानो अत्कं सुरभिर्दृशे कं स्वा३र्ण
नाम जनत प्रियाणि ॥ २ ॥
[१८४८] द्रप्स' समुद्रमभि यज्जिगानि पश्यन् गृध्रस्य चक्षसा
विधर्मन् । भानुः शुक्रेण शोचिषा चकानस्तृतीये चक्रे
रजसि प्रियाणि ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० १० । १७३ । ६-८ ॥

भा०—(१) हे (वेन) कर्म सन्तान उत्पन्न करने हारे आत्मन्! कान्ति-मन्! द्रष्टः (त्वा) तुझको (यद्) जब (हृदा) हृदय से, मन से (वेनन्त) कामना करते हुवे विद्वान् लोग (अभि अचक्षत) साक्षात् करते हैं तब वे

(हिरण्यपर्णं) ज्योति:स्वरूप, (वरुणस्य) सबसे वरने योग्य, दुखों के निवारक परमात्मा के (दूत) पास गमन करने हारे और (भुरण्युम्) अपने सामर्थ्यों को धारण करने वाले (शकुनम्) शक्तिमान् तुझ को उस समय (यमस्य) समस्त संसार के नियामक जगदीश्वर के (नाके) दुःखरहित (योनौ) आश्रयस्थान मोक्षपद में (उप पतन्तं) विचरण करते हुए (सुपर्णं) उत्तम ज्ञान और कर्म रूप पङ्खों के धारक पक्षी के समान (अग्रभम) वर्णन करते हैं।

(२) (गन्धर्वं) गौ=किरणों के धारण करने हारे सूर्य के समान अपनी इन्द्रियों का धारण करने वाला वह वेन=मेधावी आत्मा आत्म रूप से (चित्रा) विचित्र दर्शनीय (आयुधानि) यम नियमादि साधनाओं को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (कं) आनन्दमय, सुख रूप (स्वान:) सूर्य के समान तेजोमय (नाम) परम रूप को (दृशे) देखने के लिये (अधिनाके) मोक्ष मार्ग में (अस्थात्) स्थिति प्राप्त करता है और (प्रियाणि) अपने प्रिय यथेष्ट कामनाओं को (जनयन्) उत्पन्न करता है, यथेष्ट विचरता है।

(३) वह ज्ञानी आत्मा (यत्) जब (द्रप्सः) स्वयं बढ़ने हारे नद के समान गति करता हुआ (समुद्रम्) उस आनन्द-रस के अगाध समुद्र के समान गंभीर परम जगदीश्वर को (जिगाति) प्राप्त होता है या (विधर्मन्) अपने विशेष धारण करने हारे भगवान् की दया में स्थित होकर (गृध्रस्य) इसकी आकांक्षा करने हारे याचक के समान मोक्ष अभिलाषी की (चक्षसा) दृष्टि से (पश्यन्) अपने स्वामी को देखता है तब वह स्वयं (भानु.) सूर्य के समान (शुक्रण) शुद्ध (शोचिषा) तेज से (चकान) देदीप्त होता हुआ (तृतीये) तारण करने हारे, परम, सर्वोत्कृष्ट, (रजसि) प्रकाशमान पद में (प्रियाणि) अपने प्रिय मनोरथों को (चक्र) पूर्ण करता है। इति सप्तमः खण्ड.।

इति त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः ॥

इति नवमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धं ।

अथैकविंशोऽध्यायः

अथ नवमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ॥

ऋषि —१—४ अप्रतिरथ ऐन्द्र. । ५ अप्रतिरथ ऐन्द्र प्रथमयो. पायु-भारद्वाजः चरमस्य । ६ अप्रतिरथः पायुर्भारद्वाजः प्रजापतिश्च । ७ शामो भारद्वाजः प्रथमयोः । ८ पायुर्भारद्वाज प्रथमस्य, तृतीयस्य च । ९ जय ऐन्द्र. प्रथमस्य, गो-तमो राहूगण उत्तरयो. ॥ देवता—१, ३, ४ आद्योरिन्द्र चरमस्यमरुत. । इन्द्र. । बृहस्पति. प्रथमस्य, इन्द्र उत्तरयोः ५ अप्वा प्रथमस्य, इन्द्रो मरुतो वा द्वितीयस्य ऋषवः चरमस्य । ६, ८ लिंगोक्ता संग्रामाशिषः । ७ इन्द्रः प्रथमयोः । ९ इन्द्रः प्रथमस्य, विश्वेदेवा उत्तरयो ॥ छन्द.—१-४, ६ त्रिष्टुप । ५, ८ त्रिष्टुप प्रथमस्य अनुष्टुबुत्तरयो । ६, ७ बृहतिः चरमस्य, अनुष्टुप् द्वयोः ॥ स्वर.—१—४, ६ धैवतः । ५, ८ धैवतः प्रथमस्य, गान्धार. उत्तरयो. । ६, ७ पञ्चम. चरमस्य, गान्धारो द्वयोः ॥

[१८४९] ३ १र २र ३ ३र ३ १ २ ३ १र २र
आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्च
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
मर्याणाम् । सङ्क्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना
३ १र २र
अजयत्साकमिन्द्र ॥ १ ॥

[१८५०] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
सङ्क्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन
३ १ २ १ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
धृष्णुना । तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुह-
३ १ २
स्तेन वृष्णा ॥ २ ॥

[१८५१] १र २र ३ १ २ १ २ ३ १र २र ३ २र ३ १ २
स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सं स्रष्टा स युध इन्द्रो
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
गणेन । सं सृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्यूऽ३ग्रधन्वा प्रति
३ १ २
हिताभिरस्ता ॥ ३ ॥ १ ॥ अ० १० । १०३ । १—३ ॥

भा०—(१) (इन्द्र') ऐश्वर्यशील इन्द्र राजा जिस प्रकार (शि-शान.) तीक्ष्णमति, (शीभु.) शीघ्रगामी, (वृषभ न भीमः) वृषभ के समान अति भयंकर (घनाघन) शत्रुओं को बार २ मारने वाला, (चर्षणीना) मनुष्यों और प्रजाओं को (क्षोभण') विक्षुब्ध करने कंपा देने हारा, (संक्रन्दनः) शत्रुओं के सुलाने वाला या उनको सग्राम के लिये बुलाने वाला, (अनिमिष) आलस्यरहित (एकवीरः) एकमात्र वीर होकर भी (साकं) एक साथ ही (शत) सैकड़ों (सेनाः) सेनाए (अजयत्) विजय कर लेता है उसी प्रकार यह इन्द्ररूप आत्मा (आशुः) व्यापक (शिशान) अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म २ तत्वों में भी जाने के लिये तीक्ष्णमति (वृषभ न भीम) जिस पकार बैल अपने दोनों सींगों से भय पैदा करता है उसी प्रकार तप और ज्ञान से सबके हृदय में आतङ्क बैठाने वाला, (घनाघन') आनन्द को निरन्तर बर्षाने के लिये साक्षात् धर्ममेघ स्वरूप, (चर्षणीना) पदार्थ देखने हारा, इन्द्रियों को कर्षाने हारा उनमें गति देने हारा, (सक्रन्दन') उत्तम रीति से ईश्वरस्तुति का उपा रण करने वाला, (अनिमिष) आलस्यरहित, निद्रा को भी वशकारी (एकवार) इन्द्रियों में एकमात्र सामर्थ्यवान् होकर यह (साक) एक साथ ही (शत सेनाः) सैकड़ों चित्तवृत्तियों को (अजयत्) विजय कर लेता है।

(२) हे (नर) पुरुषो ! आप लोग (सक्रन्दनेन) शत्रुओं को रुलाने वाले (अनिमिषेण) आख न झपकने वाले, निरालसी, सावधान, (जिष्णुना) विजयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने हारे, (दुश्च्यवनेन) अविचलित रहने हारे (धृष्णुना) धैर्यवान्, (तुविहस्तेन) धनुष बाण हाथ में लिये, (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) राजा से जिस प्रकार शत्रुओं को दबाया जाता है और युद्धों में विजय प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार आप लोग स्वराज से भी अधिक कष्टसाध्य मोक्ष को (सक्रन्दनेन)

स्तुतिशील, (अनिमिषेण) अनालसी, (जिष्णुना) सब इन्द्रियों विषयों पर जयी, (युत्कारेण) विघातक विघ्नों से युद्ध करने हारे (दुश्च्यवनेन) साधना से अविचल (धृष्णुना) धैर्यवान् (इषुहस्तेन) ज्ञान को हाथ में लिये (वृष्णा) सुखवर्षक (इन्देण) इस इन्द्र आत्मा से (तत् सहध्व) वह सब सहन करो और (युध·) आने वाले आभ्यन्तर शत्रुओं को (जयत) जीत जाओ।

(३) जैसे (स·, इन्द्र·) वह इन्द्र राजा (इषुहस्तै) धनुष बाण हाथ में लिये सुभटों से (वशी) सब राष्ट्र पर वश करता है उसी प्रकार वह आत्मा भी इषु अर्थात् कामनाओं से प्रेरित, मरुत् अर्थात् एकादश प्राणों से समस्त शरीर पर वश करता है और ईश्वर अपने विद्युत् जल वायु एवं प्रवहण आदि मरुतों द्वारा समस्त संसार पर वश कर रहा है। (सः) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (निषङ्गिभिः) बाणों से भरे तूणीर तर्कस वाले सुभटों के द्वारा नगर वा राष्ट्र का (वशी) विजय करता है उसी प्रकार आत्मा इन्द्र नित्य निरन्तर सङ्ग रहने हारे प्राणों द्वारा ही शरीर पर एवं परमात्मा प्रतिपरमाणु में व्याप्त पञ्चभूतों द्वारा सब ब्रह्माण्ड पर वश कर रहा है, (स इन्द्र·) वह इन्द्र राजा जिस प्रकार (युध) युद्ध करने हारा होकर (गणेन) अपने सहायक प्रजागण से (संसृष्टा) मिल कर (संसृष्टजित्) अपने विपक्ष में मिले शत्रुसंघ को जीत लेता है उसी प्रकार वह इन्द्र आत्मा (युधः) समस्त देहों को चलाता हुआ (गणेन संसृष्टा) अपने प्राणगण से ही इस देह को उचित रीति से निर्माण करके स्वयं अपने से विपक्ष में सङ्गठन किये काम, क्रोध, लोभ मोहादि इन्द्रिय व्यसनों को एक वार ही जीत लेता है। और परमात्मा भी (गणेन) प्राकृतिक वैकारिक गण द्वारा समस्त संसार का (संसृष्टा) रचने हारा होकर ही सब संसार के संघात से बने पदार्थों को अपने वश करता है। और जिस प्रकार राज्याभिषेक युक्त राजा (सोमपा) सोमरस का पान करके (बाहुशर्धी)

अपने बाहुबल में उत्कृष्ट होकर (उग्रधन्वा) भयंकर धनुष लेकर (प्रतिहिताभि॰) फेंके गये बाणों से ही (अस्ता) सब शत्रुओं का नाश करता है उसी प्रकार यह इन्द्र आत्मा (सोमपा) ज्ञान और योगाभ्यास रस का आस्वादन करके प्राण और अपान इन दो बाहुओं के बल से सम्पन्न होकर ओंकाररूप धनुष को तान कर (प्रति हिताभिः) प्रेरित इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों से इस देह-बन्धन को शीघ्र ही काट डालता है। और वह परमात्मा भी समस्त संसाररूप सोम या सूर्यरूप सोम का पान या प्रदान करने, या अपने वश करने हारा अपने प्रेरक बल से सर्वशक्तिमान् उग्ररूप में संसार की कर्म व्यवस्था से सब को धुन डालने हारा होकर अपनी प्रेरित शक्तियों से (अस्ता) संहार करता है।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ १ २

[१८५२] बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।

१ १२ २३ ३ २ २ १३ २३ ३ १ २ ३ १२

प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणा युधा जयन्नस्माकमेध्यविता

२३

रथानाम् ॥ १ ॥

३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ १२ २३

[१८५३] बलविज्ञाय. स्थविरः प्रवीर॰ सहस्वान्वाजी सहमान

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ २ ३

उग्रः । अभिवीरो अभिसत्वा सहाजा जैत्रमिन्द्र रथमा

२ ३ १

तिष्ठ गोवित् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

[१८५४] गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा । इमं सजाता अनुवीरयध्वमिन्द्रं सखायो अनुसं॰

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

रभध्वम् ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० १० । १०३ । ४७६ ॥

भा०—(१) (बृहस्पते) बृहती, वेद वाणी के परिपालक आत्मन् ! जिस प्रकार बृहती=बड़ी भारी सेना का स्वामी, सेनापति (रक्षोहा) दुष्ट पुरुषों का विनाशक, (अमित्रान्) शत्रुओं को दूर ही से मार भगाता हुआ अपने (रथेन) रथ से युद्धक्षेत्र में चारों ओर परिक्रमा करता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! तू भी (रक्षोहा) सब समाधिविघातक विघ्नों, काम, क्रोध आदि भावों का विनाश कर । (अमित्रान्) स्नेह वृत्ति के विनाशक, शत्रुभावों के उत्तेजक प्रलोभनों, या द्वेषभावों को वितर्कबाधना द्वारा दूर करता हुआ (रथेन) अपने मन या देहरूप रथ से (परिदीया) परिव्राट् होकर मोक्ष मार्ग पर गमन कर । और जिस प्रकार सेनापति (सेना प्रभञ्जन्) शत्रु सेनाओं को तोड़ता फोड़ता हुआ और (युधा) अपने प्रहारों से (प्रमृणन्) प्रतिहिंसक शत्रुओं को (जयन्) जीतता हुआ अपने पक्ष के रथों का रक्षक होजाता है उसी प्रकार हे बृहस्पते इन्द्र ! आत्मन् ! तू भी (सेना. प्रभञ्जन्) मोह से उत्पन्न दोषवृत्तियों को विनाश करता हुआ (युधा प्रमृण. जयन्) प्राणायाम के बल से विरोधी इन्द्रियों को वश करता हुआ (अस्माक) हमारे (रथानाम्) इन देहों का (अविता) परिपालक (पुधि) हो ।

(२) जिस प्रकार सेनापति (बलविज्ञायः) अपने समस्त सेना सामर्थ्य को भली प्रकार जानता हुआ और साथ ही शत्रुपक्ष को भी जानता हुआ, (स्थविरः) पुराना, अनुभवी या स्थिर रूप से युद्ध के अवसर पर जमने वाला, (प्रवीर.) सब वीरों में उत्तम सामर्थ्यवान्, (सहस्वान्) शत्रु के आक्रमण को सहन करने हारा, (वाजी) ज्ञान और वेग से युक्त, (सहमानः) शत्रु पर विजय प्राप्त करता हुआ, (उग्र) तीक्ष्णस्वभाव होकर (अभिवीरः) वीर सुभटों को साथ लिये (अभि. (सत्वा) सात्विक बल और तेज को धारण करे (गोविद्) अपने अर्थों

को रासों से सम्भाल कर (जैत्रं रथं) विजयशील रथ पर चढ़ता है उसी प्रकार हे (इन्द) आत्मन् ! तू भी (बलविज्ञायः) आत्मिक बल को जान कर (स्थविरः) योगसाधनों अर्थात् मुमुक्षु मार्ग के योग्य तप साधनों में स्थिर रूप से रह कर अथवा पुरातन, तू (प्रवीर) उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होकर, (सहस्वान्) सहनशील (वाजी) ज्ञानवान्, (सहमान·) तपस्वी तितिक्षु, (उग्र·) तेजस्वी, (अभिवीरः) चारों ओर अपने सामर्थ्यवान् प्राणों को संग लिये, (अभिसत्वा) सत्व गुण में प्रतिष्ठित होकर (सहोजाः) ओजस्वी और (गोविद्) जितेन्द्रिय, वेदवाणियों को ज्ञानी या आत्मारूप गौ को प्राप्त होकर (जैत्रं रथं) मोक्षमार्ग पर विजय करने हारे रथरूप ब्रह्म पर (आ तिष्ठ) आ बैठ, उसी में स्थिर होजा।

(३) जिस प्रकार (गोत्रभिदं) शत्रुकुलों का नाश करने, (गोविदं) पृथिवी के विजेता या विद्वान्, (वज्रबाहु) वज्र अर्थात् खड्ग हाथ में लिये (अजम जयन्तं) संग्राम करते हुए (ओजसा) अपने बल से (प्रमृणन्तं) शत्रु का नाश करते हुए सेनापति को उसके सहवर्त्ती सहायक लोग और बान्धव लोग प्रोत्साहित करते और उसके साथ ही स्वयं भी उसकी आज्ञा के अनुसार युद्ध करते हैं। उसी प्रकार हे (सप्तास्य) समान आख्यान या नाम से पुकारे जाने वाले इन्द्रियगण और विद्वानों ! हे (सजाताः) उसके साथ ही अपना सामर्थ्य प्रकट करने हारो ! आप लोग भी (गोत्रभिदं) उस देहबन्धन को तोड़ने हारे, (गोविदं) आत्मा को या परमेश्वर को प्राप्त करने हार ज्ञानी, (वज्रबाहुं) वैराग्य या ज्ञानरूप शस्त्र-वार को हाथ में लिये (ओजसा) अपने तप और ज्ञान के सामर्थ्य से काम, क्रोधादि अन्तः-शत्रुओं को (प्रमृणन्तं) मर्दन करते हुए (अजम) चरम, प्राप्य स्थान तक (जयन्तं) विजय करने हारे (इन्द्रम) इन्द्र (इन्दवः) आत्मा के (अनुवीरयध्वं) पीछे २ उसकी आज्ञा में रह कर

सामर्थ्यवान् रहो और (शनु संरभध्वं) और उसके शासन में ही सब कार्य करो ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३
[१८५५] अभिगोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युः
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ३ १ २
इन्द्रः । दुश्च्यवनः पृतनाषाडयुध्योऽस्माकं सेना
३ १ २ ३
अवतु प्रयुत्सु ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८५६] इन्द्र आसामनता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञं पुर एतु सोमः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥२
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१८५७] इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध-
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उग्रम् । महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जय-
३ १ २
तामुदस्थात् ॥ ३ ॥ ३ ॥ अ० १० । १०३ । ६—९ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार (इन्द्रः) वीर सेनापति, या राजा, (गोत्राणि अभि) शत्रुकुलों के प्रति चढ़ाई करता हुआ और उनको (सहसा) अपने बल से (गाहमानः) पीरता हुआ, (अदयः) उन पर दयाभाव न रखता हुआ, (वीरः) वीर, सामर्थ्यवान्, (शतमन्युः) सैकड़ों प्रकार से उन पर क्रोध करने हारा, (दुश्च्यवनः) शत्रुओं से अविचालित, (पृतनाषाट्) शत्रुसेनाओं का विजेता, (युत्सु) युद्धों में अपनी सेनाओं की रक्षा करता है उसी प्रकार (गोत्राणि अभि) देहों के भीतर (सहसा गाहमानः) अपने बल के सामर्थ्य से विचरता हुआ, (अदयः) तपस्या आदि द्वारा शरीर के सुखों पर विचार न कर, निर्भय होकर तप करने हारा (वीरः) सामर्थ्यवान्, (इन्द्रः) आत्मा (शतमन्युः) सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त होकर

(दुरश्यवन.) शत्रुओं के सिद्धि के प्रलोभनों में न गिरकर, दृढ़ता होकर, (पृतनाषाट्) दुर्वृत्तियों का दबाता हुआ, (शवुध्य) अविच्छिन्न रहकर, (युत्सु) संग्रामों में आसुर और सात्विक भावों के परस्पर संग्राम के अवसरों पर (अस्माक सेना) हमारी सात्विक सेना, उत्तम प्राण वृत्तियों की (प्र अवतु) रक्षा करे ।

(२) (इन्द्रः) जिस प्रकार राजा (सासा) इन मरुद्गण वैश्यों का या वायु के समान चढ़ाई करने में तेज सेनाओं का नेता होता है, उसी प्रकार (इन्द्र) आत्मा मरुद्गण प्राणों का भी नेता है । दस्यु (पुर) नाश आगे (बृहस्पति) बृहती=वाक् का पालक मन, राजा के मन्त्री के समान, (दक्षिणा) कार्यकुशल, बलशालिनी क्षितिशक्ति और (यज्ञ । पूजनीय परमात्मा और (सोम·) सबका प्रेरक प्राण ये सात (पशु) पशु हैं । (अभिभञ्जतीना) असुर सेनाओं का विनाश करने वाली, (नवतीना) असुर वृत्तियों पर विजय करने वाली (देवसेनानी) दिव्यगुणसम्पन्न वृत्तियों के (अग्रं) आगे २ मुख्य स्थान पर (गच्छन्) एकाग्र हुए (पशु) गमन करते हैं ।

(३) (शूषण) सुखों की वर्षा करने हारे सिद्ध ऋषियों से सेवित (इन्द्रस्य) इन्द्र, आत्मा का (वज्रः) सबका नाशी (परमात्मा) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का और (सोमः) सोम ऐश्वर्य और (दक्षिणा) दक्षिणा ये सब (पशु) पशु हैं । (अभिभञ्जतीना) असुर सेनाओं का विनाश करने वाली, (नवतीना) असुर वृत्तियों पर विजय करने वाली (देवसेनानी) दिव्यगुणसम्पन्न वृत्तियों के (अग्रं) आगे २ मुख्य स्थान पर (गच्छन्) एकाग्र हुए (पशु) गमन करते हैं ।

धार्मिक राजा और उसकी सेनाओं के विषय में यह मन्त्र स्पष्ट है। परमात्मा पक्ष में भी इन मन्त्रों की योजना है। प्रलय काल में तीनों लोकों का विनाश ही त्रिपुरदहन है। उस कल्पना को चित्त में रखकर इस अलंकार को लगाना उचित है।

१ २ ३ १ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २
[१८५८] उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनांसि ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २
उद्वृत्रहन्वाजिना वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥ १
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २१ ३
[१८५९] अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता
२ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ ३
जयन्तु । अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मा उ देवा
३ १ २
अवता हवेषु ॥ २ ॥
३ १२ २१ ३ १२ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २
[१८६०] असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना ।
१ ३ २३ १ २ ३ २३ १२ ३ १ २
तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं
३ २
न जानात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

साध द्वय ऋ० १० । १०३ । १० । ११ । यजु० १७ । ४२ । ४३ ।
तृतीया ऋग्वेदे नास्ति किन्तु यजुः १७ । ४३ । अथ० ३ । २ । ६ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) राजन्! (आयुधानि) युद्ध के साधनों को (उद् हर्षय) ऊंचा कर। (मामकाना) मेरे सम्बन्धी (सत्वनां) सात्विक वीर, बलवान् पुरुषों के (मनांसि) हृदयों को (उत्) हर्षित करो। हे (वृत्रहन्) दुर्ग को घेरने हारे शत्रु के नाशक राजन्! सेनापते! (वाजिनां) ज्ञानी पुरुषों और अश्वों के (वाजिनानि) ज्ञानयुक्त कर्मों कौशलों और वेगों को (उत्) बढ़ाओ और (जयताम्) स्थान) विजय

शील रथों के (घोषाः) नाद (उद्) ऊंचे उठें । इसी प्रकार आत्माराम पक्ष में—(मघवन् आयुधानि उद्हर्षय) हे परमात्मन् ! या आत्मन् ! हमारी दुष्टवृत्तियों से युद्ध करने के, या उनको प्रहार करके निकट भगाने के साधनों को उन्नत करो । (मामकानां सत्वनां मनांसि उत) मेरे निजी बलशाली सात्विक प्राणों को उत्तम बलयुक्त करो । हे (वृत्र हन् ! (वाजिनां वाजिनानि उत) अज्ञान आवरणों के विनाशक प्रकाश स्वरूप आत्मन् ! इन्द्रियों की संविद् शक्तियों को बढ़ाओ । (जयतां इव घोषाः, उत) विजयशील सिद्ध आत्माओं के घोष, वेदपाठ और स्तुतियां भी उच्च स्वर से हों ।

(२) (इन्द्रः) राजा (अस्माकं ध्वजेषु सनूषु) हमारे झण्डे जब शत्रुओं के झण्डों में जा मिलें तब भी हमारी रक्षा करें । (अस्माकं याः इषवः ता जयन्तु) हमारे जो बाण हैं वे ही विजयशील हों । (अस्माकं वीराः, उत्तरे भवन्तु) हमारे वीर उत्कृष्ट बलशाली विजयी रहें । (देवाः हवेषु अस्मान् उ भवन्तु) देव=दिव्य अस्त्रधारी विद्वान सेनापति गण युद्धों में भी हमारी रक्षा करें । अध्यात्मपक्ष में—(इन्द्र) आत्मा (अस्माकं) हमारे (ध्वजेषु) प्राणों के (सनूषु) परस्पर मिल जाने पर रक्षा करे, (याः) जो (इषवः) मानसवृत्तियां हैं (ताः) वे (जयन्तु) बलवान् हों । (अस्माकं वीराः) हमारे प्राणगण वशवर्ती (उत्तरे) उत्कृष्टतर होकर रहें । (देवाः) विद्वान् मन की इन्द्रिय शक्तियां (हवेषु) ईश्वर की उपासना के अवसरों में (अस्मान् उ) हमें (भवन्तु) सुंदर मार्ग में जाने में सहायक हों ।

(३ (हे (मरुत) वायु के समान वेगवान् वीरो या इन्द्रियो विद्वानो ! (अयं वः परिषदः मेघः) यह जो मनुष्यों का मेला (अभिसृष्टः स्वर्णसाताः) आप से हमारे साथ सहायता करने (कर्तवे)

हमारी तरफ बढ़ती चली आरही है (तां) उसका (अपव्रतेन तमसा गूहत) क्रियाशक्ति को नष्ट करनेहारे तम या मूर्छा से ढक दो (यथा अमी अन्यो अन्य न जानान्) जिससे वे एक दूसरे को न पहचान सकें, इसी प्रकार अध्यात्मपक्ष में—हे (मरुतः) प्राणो ! (असौ) यह (या) जो (सेना) मोहादि वृत्तियों की परम्परा (परेषां) प्रलोभनों की अपने आत्मा से अतिरिक्त अन्य अनात्म पदार्थों की (आजसा) आत्मा के बल से प्रतिस्पर्द्धा करती हुई, उसके बल या तेज पर आवरण डालती हुई (अभ्यैति) साक्षात् आरही है और मुग्ध कर रही है (तां) उसको (व्रतेन) कर्म और ज्ञान के दृढ़ संकल्प द्वारा (तमसा) उसको शिथिल कर डालने वाले बल से (अप गूहत) दूर करदो । (यथा जिससे (अन्यः) एक अनात्मभाव (अन्यं) दूसरे भाव को (न जानात) न उत्पन्न करे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१८६१] अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥ १ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६२] प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथाऽसथ ॥ २ ॥

१ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६३] अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २

गच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां कं च नोच्छिषः ॥ ३ ॥ ५ ॥

आदे चत्वौ, ऋ० १० । १०३ । १२, १३ ॥ आद्या, यजु० १७ । ४५ ॥ द्वितीया यजु० २७ । ४७ ॥ तृतीया ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥ यजु० २७ । ४५ ॥

भा०—(१) (अमीषा) इन शत्रुओं के (चित्त) चित्त को (प्रति लोभयन्ती) विमोहित करती हुई हे (अप्वे) पापप्रवृत्त ! व्याधे ! या हे भीति ! (अङ्गानि) उनके अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले अर्थात् उनके शरीरों का नाश करदे । (अभिप्रेहि) उनतक पहुच और (हृत्सु) हृदयों में प्रवेश करके उनको (शोकैः) शोकों द्वारा (निर्दह) जला । (अमित्राः) शत्रुगण (अन्धेन तमसा) अन्धकारमय मोह से (सच-न्ताम्) युक्त हो जाय । अध्यात्मपक्ष में—हे पापप्रवृत्ते ! (अप्वे) सन्मार्ग से दूर हटाने वाली । (अमीषा) इन हमारे प्राणों के (चित्त) चेतन सामर्थ्य को (प्रतिलोभयन्ती) प्रलोभन करती हुई तू (अगानि) हमारे अंगों, शरीरों को (गृहाण) ग्रहण करती है । अतः (परेहि) तू दूर हट जा । और तू स्नेह न करने हारे, द्वेष करने वाले पुरुषों के पास, (अभिप्रेहि) जाती है और उनको (शोकै) शोकों द्वारा (हृत्सु) हृदयों में (निर्दह) दाह उत्पन्न करती है, इसलिये (अमित्राः) द्वेष भावों से युक्त पुरुष ही (अन्धेन तमसा) अन्धकार भरे मोह से (सच-न्ताम्) घिर जाते हैं ।

(२) हे (नरः) नेता लोगो ! (प्रेत) आगे बढ़ो (जयत) और विजय करो । (वः) आप लोगों को (इन्द्रः) ऐश्वर्यशील परमात्मा (शर्म) सुख और शान्ति (यच्छतु) दे । (वः) आप लोगों की (बाहवः) बाहुएं (उग्राः) उग्र बलवान् (सन्तु) हों (यथा) जिससे (अनाधृष्याः) आप लोग किसी के भी वशीभूत, अपमानित न (असथ) होवें ।

(३) हे इषो ! हे (शरव्ये) शरकाण्ड के बने बाण ! हे (ब्रह्मसंशिते) मन्त्र द्वारा तीक्ष्ण किये गये ! (अवसृष्टा) तू छोड़ी जाकर (परा-पत) दूर जा । और (अमित्रान्) शत्रुओं को (प्र-पद्यस्व) पहुच और

(अमीषां) उनमें से (कंचन) किसी को भी (मा) मत (उच्छिषः) बचा रहने दे । अध्यात्मपक्ष में—हे (शारव्ये) अज्ञान के नाश करने वाली, हे (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्मज्ञान या ब्रह्मोपासना से तीक्ष्ण की हुई आत्मशक्ते ! (अवस्पृष्टा) युक्त होकर (परा) इस देहबन्धन से दूर मोक्षधाम में (पत) चली जा और (गच्छ) ज्ञान प्राप्त कर, (अमी-त्रान्) मोहादि शत्रुओं और बाधक अन्तरायों को भी (प्रपद्यस्व) प्राप्त कर । (अमीषां) उनमें से भी (कंचन) किसी एक को भी मा उच्छिषः) शेष न रहने दे ।

नवेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि ॥
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥ (मुण्डक २ । २, २, ४)

मुण्डक उपनिषद् में ब्रह्म को वेधन योग्य लक्ष्य मानकर उसको वेध करने के लिये औपनिषद्, ब्रह्मविद्यामय धनुष्, उपासना की शाण पर चढ़ा आत्मा रूप बाण और प्रणव ओंकार रूप धनुष् से निष्प्रमाद होकर जानने पर ब्रह्ममय होजाने का उपदेश किया है ।

३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ ; १ २ ३ १ २
[१८६४] कद्रू. सुपर्णा अनुयन्त्वेनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु
१ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सेना । मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र वयांस्येनाननुसंय-
३ १ २
न्तु सर्वान् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१८६५] अभित्वेना मघवन्नृषमाञ्छूशूयतीमभि ।
३ १२ २२ २ ३ १ २ ३ १ २
उभौ तमिन्द्र वृत्रहन्त्रग्निश्च दहतं प्रति ॥ २॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१८६६] यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
तत्र नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु ॥
३ २ ३ २ २
विश्वाहा शर्म यच्छन्तु ॥ ३ ॥ ६ ॥

आधे ऋग्वेदे न स्नः । तत्र द्वितीया अथर्व० ३ । १ । ३ ॥

तृतीया ऋ० ३ । ७५ । २७ ॥ यजु० २७ । ४८ ॥

भा०—(१) (सुपर्णाः) उत्तम पक्ष वाले (कंकाः) गीध (एना) उन शत्रुओं पर (अनु यन्तु) जा दौड़ें । (असौ सेना) वह शत्रुसेना (गृध्राणां) गीधों का (अन्नम्) भोज्य (अस्तु) हो । हे इन्द्र ! राजन् (एषां) इनमें से कोई भी (मा मोचि) न बच रहे और (अघहारश्च) कोई पापी भी (न) न छूट जाय (एनान् सर्वान्) इन सब पर (श्येनाः) गीध और कौवे ही (अनु संयन्तु) आ लगें ।

अध्यात्म पक्ष में—(सुपर्णाः) उत्तम ज्ञान वाले, (कंकाः) सुखाभिलाषी पुरुष (एनान्) अन्तः—शत्रुओं, अज्ञानविद्या के चिह्नों के (अनु संयन्तु) पीछे लग जावें ! अर्थात् उनका निर्मूल नाश किये बिना न छोड़ें। (असौ सेना) यह दुष्ट वासनाओं की सेना (गृध्राणाम्) गृध्र के समान उत्पतनशील प्राणों के (अन्नम्) भोज्य बने अर्थात् प्राणों के विरोध से उनका नाश किया जाय । (एषां मा मोचि) इन पापभावों में से एक भी न छूट जावे । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (अघहारश्च न) पाप का भागी

१८६४—२. त युव 'तामिन्द्र वृत्रहन्' इति अथर्व० ।

भी कोई विचार शेष न रह जाय । (वयांसि) गतिशील प्राण भी (पुनान्) इनको (अनु संयन्तु) पीछा करके सर्वनाश करें ।

(२) हे (मघवन्) इन्द्र ! राजन् ! (अस्मान्) हमारे प्रति (अभि शत्रुयतीम्) साक्षात् शत्रुरूप होकर चढ़ाई करती हुई, (ताम्) अमह्य बलवती (अमित्रसेना) शत्रु सेना का आप (अग्नि. च) और अग्नि अग्रणी दोनों मिलकर (प्रति दहतं) भस्म कर डालो । अध्यात्मपक्ष में- हे (इन्द्र) वृत्रहन् ! अज्ञाननाशक ! मघवन् ज्ञानवन् पुरुष ! तुम उस अमित्र=द्वेषभावों की परम्परा को अग्निरूप परमात्मा से मिलकर भस्म करदो ।

(३) (यत्र) जहां (विशिखाः) शिखारहित (कुमारा इव) बालकों के समान (बाणाः) बाण (सम्पतन्ति) पड़ रहे हों (तत्र) वहां (ब्रह्मणस्पतिः) वेद का विद्वान्, परमेश्वर (अदितिः) अखण्डित सामर्थ्यवान् होकर हमें (शर्म) शान्ति और सुख (यच्छतु) प्रदान करें और (विश्वाहा) सदा (शर्म यच्छतु) कल्याण करें ।

२ब ३ १ब २र ३ २ ३ २ ३ १ २

[१८६७] वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१८६८] वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

यो अस्मां अभि दासत्यधरं गमया तमः ॥ २ ॥

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१८६९] इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतिष्कनृ-

३ २ १ २ ३ ४ब २ १ २ ३ १ २ ३ १र

म्णा सह्यौ । तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितः

२र ३ ३ २ ३ २

मरुराणां सहो महत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

आद्ये द्वे ऋ० १० । १५२ । ३ । ४ ॥ तृतीया ऋग्वेदे नास्ति ।

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे वृत्रहन् ! (रक्ष०) राक्षस पुरुष को (वि जहि) विनाश कर । और (मृध विजहि) हमारे उत्तम द्रव्यों पर लोभ करने हारे पुरुषों को भी विनाश कर । (वृत्रस्य) हमें घेर कर नाश करने हारे निघरूप शत्रु के (हनू) आघातकारी उन दाढ़ों को (वि रुज) तोड़ डाल, जिन्हें वे हमारे ऊपर गड़ाना चाहता है । और (अभिदासत०) हमारे नाश करने हारे और हमें दास की तरह पराधीन करने वाले (अमित्रान्) आभ्यन्तर शत्रुओं के समान शत्रुओं के (मन्युं) अभिमान और क्रोध को भी (वि) विनाश कर ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (न) हमारे (मृध०) शत्रुओं को (वि जहि) नाशकर और (पृतन्यत) अपनी सेनाएं बढ़ाना चाहने वाले लोगों को भी (नीचा यच्छ) नीचे डाल दे । (य) और जो (अस्मान्) हमें (अभि दासति) सब प्रकार से विनाश करता या दास के समान पराधीन करता है उसको (तम०) तृष्णा में या अन्धकार में (गमय) डाल । अध्यात्म पक्ष में—आभ्यन्तर शत्रुओं को इन्द्र आत्मा नाश करे । हृदय का स्पर्श करने वाले दुर्भावों का नियमन करे और विनाशक मोहादि भावों को दूर करे ।

(३) (इन्द्रस्य) राजा के समान इस आत्मा की (युवानौ) जवानी भरी सदा बलवान् (स्थविरा) मज़बूत, पक्की, सदा स्थिर रहने वाली, (अनाधृष्यौ) कभी पराजित न होने वाली (सुप्रतीकौ) उत्तम रीति से शत्रु का मुकाबला करने वाली, (असह्यौ) शत्रुओं के लिये असह्य (बाहू) उनको पीड़ा देने हारी, प्राण और अपान दो बाहुएं हैं (प्रथमे) प्रारम्भ में ही (योगे आगते) संग्राम के समान कठिन, श्रमदायी योग समाधि के अवसर प्राप्त होने पर (तौ) उन दोनों को उचित रीति से (युञ्जीत) समाधि साधना में प्रयोग करे, अर्थात् चित्तवृत्ति के स्थिर करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास करे । (याभ्यां) जिनसे (असुराणां) अन्य प्राणों का (महत्) बड़ा भारी (सहः) बल (जितम्) वश किया जाता है ।

[१८७०] मर्माणि ते वर्मणाच्छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु-
वस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा
मदन्तु ॥ १ ॥

[१८७१] अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहय इव ।
तेषा वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरं वरम् ॥ २ ॥

[१८७२] यो नः स्वोऽरणो यश्च निष्ट्यो जिघांसति । देवास्तं सर्वे
धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरं शर्म वर्म ममान्तरम् ॥ ३ ॥ ८ ॥

प्रथमा तृतीया च ऋ० ६ । ७२ । १८ । १९ ॥ तृतीया अथर्व० २ । १६ ॥
३, ५ । पञ्चमो पूर्वोत्तरार्धे । द्वितीया ऋग्वेदे नास्ति ॥

भा०—(१) (ते) तेरे (मर्माणि) कोमल मर्मों को (वर्मणा) कवच से (आच्छादयामि) ढकता हूं । (सोम॰ राजा) दीप्तिमान् राजा के समान सबका प्रेरक सोम, परमेश्वर (अमृतेन) अमर आत्मशक्ति से (अनु वस्ताम्) और भी सुरक्षित करे । (वरुण॰) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (ते) तुझे (उरोर्वरीय) अधिक से अधिक वरणीय उत्तम सुख (कृणोतु) उत्पन्न करे । (जयन्तं) चरम मोक्ष को प्राप्त होते हुए (त्वा) तुझको देखकर (देवा॰) विद्वान् लोग (अनु मदन्तु) हर्षित हों ।

(२) हे (अमित्रा) द्वेषभाव रखने हारे शत्रुओ ! तुम लोग (अ-शीर्षाणः) बिना दिमाग के, बिना सिरवाले क्रोधी (अहय इव) सांपों

१८७०—३. यो नः स्वो यो अरणः स जात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदा-
सति' इति (१ । २६ । ३) इत्यस्या॰ पूर्वार्धभाग । 'देवास्त
सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम्' इति (१ । ३९ । ४) इत्यस्या
उत्तरार्धभागः इति पाठभेदविवेकः; अथर्व० ।

के समान (अन्धा. भवत) अन्धे, अविवेकी होजाओ। (अभिनुज्ञाना) अपने ही क्रोध की आग से फुंके हुए, (तेषां) उनके (वरं वरं) उत्तम २ पुरुष या शिर को (इन्द्रः) राजा, प्रभु नाश करे।

(३) (य.) जो (नः) हमारा (स्वः) सम्बन्धी होकर भी या स्वयं (अरण्य.) अप्रियाचरण करने वाला है और जो (निष्ट्यः) दूर रहकर भी छुपे रूप में (न.) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है (त) उसके (सर्वे) समस्त (देवा.) विद्वान् पुरुष (धूनेन्तु) विनाश करें। (ब्रह्म) वेदज्ञान और परमेश्वर (मम) मेरा (अन्तर) भीतरी (वर्म) कवच या रक्षासाधन हो। (शर्म) वह सुखकारी, आनन्दघन सब का शरण दाता हो (मम) मेरा (अन्तरम्) भीतर का एकमात्र रक्षक साक्षी है।

[१८७३] मृगो न भीम. कुचरो गिरिष्ठा. परावत आ जगन्था
परस्या. । सृकं सं शाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रू.स्ताढि
वि मृधो नुदस्व ॥ १ ॥

[१८७४] भद्रं कर्णेभि. शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायु ॥

[१८७५] स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि. स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ३ ॥ ६ ॥

आसा ऋ० २० । ९८० । २ ॥ उत्तरे द्वे ऋ० १ । ८६ । ८. ६ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (गिरिष्ठाः कुचर मृग. न भीमः) पर्वतों में रहने वाले, कुत्सित रूप से विचरण करने वाले, जंगली

हिंसक हाथी या सिंह के समान भयकारी एवं आप (सृग·) योगियों से भीतरी गुफा में खोजने योग्य, या आत्म-परिशोधन करने योग्य हैं, आप (कुचर) कहां नहीं व्यापक हो ? अर्थात् सर्वव्यापक हो। आप (गि-रिष्ठा) विद्वानों, वाणियों एवं वेदमन्त्रों में शब्द और उसके अर्थ रूप में विद्यमान हो और साथ ही सबके ऊपर शासक होने से सब के भयप्रद हो। (आ परस्या· परावत) दूर से दूर देश, अलभ्य मुक्तिधाम से हमारे हृदयों तक या 'परा' ब्रह्मविद्या के भी (परावतः) निगूढ़ परम रहस्यमय मार्ग से आप (आजगन्थ) आते हो, या प्रकट होते हो। हे (इन्द्र) परमात्मन् (सृक) प्रसरणशील (तिग्मं) तेजोमय, तीक्ष्ण (पविम्) परमपावन ज्ञानवज्र को (सशाय) अति तीक्ष्ण करके (शत्रून्) अन्तः-शत्रुओं को राजा के समान (वि ताढि) विनाश करो और (मृधः) हमारा सर्वस्व अपहरण करनेहारे डाकुओं के समान तामस भावों को (वि नु-दस्व) परे करो, दूर हटाओ।

(२) हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! हम सब (कर्णेभिः) कानों से (भद्र) कल्याणकारी, एवं सदा सुखपूर्वक उत्तम उपदेशकों को (शृणु-याम) श्रवण करें। और हे (यजत्रा·) सदा यज्ञ आदि धर्मकार्यों का अनुष्ठान करनेहारे भद्र पुरुषो ! हम सब (अक्षभि·) आंखों से (भद्रं) सुखकारी एवं कल्याणकारी पदार्थों को (पश्येम) दर्शन करें और (तु-ष्टुवास·) ईश्वर का भजन एवं सत्य का वर्णन करते हुए (स्थिरैः) दृढ (अंगै·) अंगों और (तनूभि·) दृढ शरीरों से (यद्) जो (आयु) आयु (देवहित) विद्वानों के हित में लगे या देव, परमात्मा जो दीर्घ आयु प्रदान करे उस दीर्घ ११६ या १२० वर्ष या इससे भी अधिक आयु का हम (वि अशेमहि) भोग करें।

(३) (वृद्धश्रवा·) महान्, यशस्वी और ज्ञानवान् (इन्द्रः) परमे-श्वर (नः) हमारा (स्वस्ति दधातु) कल्याण करे। (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ,

सब पदार्थों का स्वामी, (पूषा) सब संसार का पालक, पोषक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे । (अरिष्टनेमिः) जिसके काल-रूप महान् शासन का कोई विनाश नहीं करता वह (तार्क्ष्यः) सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे । (बृह-स्पति) वेदवाणी का पति, स्वामी, पालक परमात्मा (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे ।

॥ ओ३म् ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

वेद-भगवान् का स्वामी भगवान् हमारा सदा कल्याण करे ।

इति तृतीयोऽर्धप्रपाठकः नवमश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इत्युत्तरार्चिक समाप्तः ॥

इति सामवेदसंहिता समाप्ता ॥

रामचन्द्रेन्दवे पक्ष्यां पौषे सिते शनौ ।
आलोकभाष्यं वेदस्य सामनोऽवधिमुपागमत् ॥

इति श्रीमाण्डीगुरुकुलविश्वविद्यालयस्य प्रतिष्ठितविद्यालङ्कारपदवीविभूषितेन कुलिकातःस्थसंस्कृतविद्यालयस्य मीमांसातीर्थोपाधिलब्धेन गुरुकुलप्रवर्तक श्रीमत्परिव्राजकाचार्यश्री १०८ पूज्यपाद महर्षिदयानन्द सरस्वती-शिष्य पूज्यपादश्री १०८ स्वामिश्रद्धानन्दसरस्वती-शिष्येण वसिष्ठगोत्रोद्भवेन श्रीपण्डितजयदेवशर्मणा विरचिते बालकल्याणसामवेदभाषाभाष्ये नवप्रपाठकात्मक उत्तरार्चिकभाग पूर्तिमागात् ॥

समाप्तोऽयं वेदसंहिताऽऽलोकभाष्यम् ॥

[१००२] इन्द्रा मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभि ।
तामेन्महत्स्वाजिषूतिमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नो विषत् १
[१००३] असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराददिः । असि दभ्रस्य
चिद्वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु ॥ २ ॥
[१००४] यदुदीरत आजयो धृष्णव धीयते धनम् । युङ्क्ष्वा
मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधाऽसा इन्द्र वसौ दधः
॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० १ । ८१ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० [४११] पृ० २०६ ।

(२) हे वीर ! (सेन्यः असि) तू सेना का हितकर है । और (भूरि) बहुत (पराददिः) शत्रुओं को पराजय देने हारा है । और तू (दभ्रस्य) स्वल्प थोड़े सामर्थ्य वाले निर्बल को (चित्) भी (वृधः) बढ़ाने हारा (असि) है । तू (सुन्वते) सुखों के उत्पन्न करने हारे (यजमानाय) यज्ञ के कर्त्ता, या करदाताओं को (ते भूरि वसु) तू अपना बहुत धन (शिक्षसि) देता है । जो 'हन' अर्थात् स्वामी या नेता के सहित होती है वह 'सेना' कहाती है । इन्द्रियगण आत्मा नेता के संग होने से सेना कहाती हैं । उनका हितकर, उनमें उत्तम आत्मा 'सेन्य' है । वह काम क्रोध आदि का पराभव करके स्वरूप (दभ्र) दहराकाश को भी विशाल करता है और यजमान स्वरूप मुख्य प्राण को नाना प्रकार के ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों द्वारा प्राप्त भोग्य वस्तुएं देता है ।

(३) इसकी व्याख्या देखिये अवि० सं० [४१४] पृ० २११ ।

[१००५] स्वादोरित्था विषूवतो मधो. पिबन्ति गौर्या । या इन्द्रेण
सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभथा वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥१॥

१००५—'मदन्ति शोभते' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
[१००६] ता अस्य पृशनायुव सोमं श्रीणन्ति पृश्नयः।प्रिया इन्द्रस्य
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
धेनवो वज्रं हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम्॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १
[१००७] ता अस्य नमसा सह सपर्यन्ति प्रचेतसः ।व्रतान्यस्य
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम्॥३॥१५॥

ऋ० १ । ८४ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [४०६] पृ० २०८ ।

(२) (ताः) वे (अस्य) इस आत्मा के (पृशनायुव.) स्पर्श, संग, या सन्निकर्ष चाहती हुई, या भोग्य पदार्थों तक पहुंचने की चेष्टा करने वाली (पृश्नयः) रस तक पहुंचने वाली, (प्रिया.) प्रिय (धेनवः) गौओं के समान इन्द्रियां (सोमं) ज्ञान को (श्रीणन्ति) और भी परिपक्व करती हैं, बढ़ाती हैं। और वे (सायकं) नाश करने वाले, अन्त कर डालने वाले (वज्रं) वैराग्य को (हिन्वन्ति) उत्पन्न करती हैं और वे (वस्वीः) इस शरीर में वास करने हारे आत्मा की शक्तियां (स्वराज्यं) अपने निजी आत्मा के प्रकाशमय सत्ता के (अनु) अनुकूल, वश होकर उसमें ही विराजती हैं। साधक का अनुभव परिपक्व होने पर इन्द्रियां ही स्वयं भोग को त्याग कर देती हैं। और वैराग्य होकर आत्मा में आभ्यन्तर ज्ञान-प्रकाश उत्पन्न होता है और उसके अनुकूल सब इन्द्रियां अन्तर्वृत्ति होकर रहती हैं।

(३) (प्रचेतस.) उत्कृष्ट चेतनाशक्ति से युक्त होकर (ता) वे इन्द्रियरूप गौएं (अस्य) इस आत्मा के (सहः) सहनशक्ति या काम, क्रोध आदि पराजित करने वाले बल को (नमसा) शरीर के बल को अन्न के समान अपने प्राप्त अनुभव से (सपर्यन्ति) और भी अधिक आदर और अनुकूलता से बढ़ाती हैं। और (पूर्वचित्तये) पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने

३ १२ २३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०१३] प्राणा शिशुर्महीना हिन्वन्नृतस्य दीधितिम् ।
२ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
विश्वा परि प्रिया भुवदध द्विता ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ १ ३ १२ २३ ३ २
[१०१४] उप त्रितस्य पाष्यो३३रभक्त यद् गुहा पदम् ।
३ १ २ ३ १२ २३ ३ १ २ ३ २
यज्ञस्य सप्तधामभिरध प्रियम् ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २
[१०१५] त्रीणि त्रितस्य धारया पृष्ठेष्वैरयद्रयिम् ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
मिमीते अस्य योजना वि सुक्रतुः ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ९ । १०२ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [२७०] पृ० २२५ ।

(२) (यत्) जब (त्रितस्य) मन, वाक्, काय तीनों से साधना करने हारे योगी आत्मा के (पाष्यः०) पाषाण के समान कुचल डालने वाले, प्राण और अपान दोनों के बीच में प्रकट होकर वह आनन्दरस (गुहा) भीतरी आकाशगुहा में (पदं) स्थिति को (उप अभक्त) प्राप्त होता है, तब (यज्ञस्य) यज्ञस्वरूप आत्मा के (सप्तधामभिः) सातों ऊपर के धारणशील प्राणों से (प्रियम्) आनन्दकारी, उस आत्मानन्दरस का आस्वादन किया जाता है ।

(३) (त्रितस्य) साधक आत्मा की (धारया) धारणा से केवल (त्रीणि) तीन रसस्थान प्रकट होते हैं। और उन तीनों (पृष्ठेषु) रस के सेचक मुख्य केन्द्रों में आत्मा अपने (रयिम्) कान्तिमय ऐश्वर्य को (ऐरयत्) प्रकट करता है । (सुक्रतु) उत्तम योगी साधक (अस्य) इस आत्मा के (योजना) तीनों योग द्वारा–जागृत स्थानों को (वि मिमीते) विशेष रूप से जान लेता है और साध लेता है । तीन स्थान–१ ब्रह्मरन्ध्र,

१०१५—'पृष्ठेष्वैरय रयिम्' इति ऋ० ।

१ आज्ञाचक्र या सोमचक्र और २ मणिपूर या स्वाधिष्ठान चक्र अथवा मूलाधार, हृदय और भ्रूमध्य।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०१६] पवस्व वाजसातये पवित्रे धारया सुतः।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्राय सोम विष्णवे देवेभ्यो मधुमत्तरः ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०१७] त्वां रिहन्ति धीतयो हरिम्पवित्र अद्रुहः।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वत्सं जातं न मातरः पवमान विधर्मणि ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०१८] त्वं द्यां च महिव्रत पृथिवीं चाति जभ्रिषे।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अति द्रापिमुञ्चथाः पवमान महित्वना ॥ ३ ॥ १६ ॥

अ० ६। १०० । ६, ७, ६ ॥

भा०—(१) हे सोम! (वाजसातये) ज्ञान प्राप्ति के लिये (धारया) धारणावती बुद्धि द्वारा निरन्तर (सुतः) साक्षात् किया गया, प्रेरित या उत्पन्न किया गया, तू (मधुमत्तरः) बराबर क्रम से अधिक २ आनन्द और सुख का देने हारा होकर (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा और (विष्णवे) सर्वव्यापक परमात्मा के प्रकाश के लिये और (देवेभ्यः) विद्वानों के हितार्थ या प्राणों के ज्ञान के लिये (पवस्व) प्रकट हो।

(२) हे (पवमान) व्यापक रसस्वरूप! (मातरः) गौएं (जातं) उत्पन्न हुए (वत्सं न) बछड़े को जिस प्रकार (रिहन्ति) चाटती हैं। उसी प्रकार (धीतयः) ध्यानवृत्तियां (विधर्मणि) विशेष धारणा के स्थल, (पवित्रे) पवित्र शुद्ध धारणास्थान में (अद्रुहः) एक दूसरे का घात-प्रतिघात या विरोध न करती हुई (हरिं) सब दुःखों के हारक (त्वा) तुझको उत्सुकता से (रिहन्ति) आस्वाद लेती हैं तेरे आनन्द अनुभव करती हैं।

१०१६—'वाजसातमः', इति ऋ०।

(३) हे (महिव्रत) महान् कर्मों के करने वाले परमात्मन् ! आप (द्यां) आकाश या सूर्य, और (पृथिवीं च) पृथिवी दोनों लोकों को (अति जभ्रिषे) पार करके भी दोनों को ग्रहण किये हुए हो। हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (महित्वना) अपनी महिमा से आप (वार्षि) रूपवान् जगत् को कवच को वीरपुरुष के समान (प्रतिमुच्यथा) धारण कर रहे हैं।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

[१०१९] इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं वरिवस्कृण्वन्वृजनस्य राजा॥१

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०२०] अध धारया मध्वा पृचानस्तिरो रोम पवते अद्रि दुग्धः।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्दुरिन्द्रस्य सख्यं जुषाणो देवो देवस्य मत्सरो मदाय॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ ३ १ २ ३ २

[१०२१] अभि व्रतानि पवते पुनानो देवो देवान्त्सवेन रमन पृञ्चन्।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

इन्दुर्धर्माण्यृतुथा वसानो दश क्षिपो अव्यत सानो अव्ये

॥ ३ ॥ २० ॥ ऋ० ९ । ६७ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४०] पृ० २७० ।

(२) (अध) और (अद्रिदुग्धः) दृढ़ साधनों द्वारा या धर्ममेघ द्वारा उत्पन्न किया गया (इन्दुः) आनन्दरूप सोमरस (मध्वा) ज्ञानसम्पन्न, मधुर, मनोहर (धारया) धारणा द्वारा (पृचानः) संयुक्त होकर (रोम) रक्षक पदार्थों को (तिरः) पार करके (पवते) बहता या प्रकट होता है। यह (इन्द्राय) आत्मा की (सख्यं) मित्रभाव, प्रेम या आनन्दरूपता को (जुषाणः) प्राप्त करता हुआ (देवः) प्रकाशमान, (मत्सरः) आनन्द हर्षस्वरूप होकर (देवस्य) दृष्टा, आत्मा के (मदाय) हर्ष और आनन्द का कारण होता है।

१०१२—'अभिप्रियाणि' इति ऋ० ।

(३) (स्वेन रसेन) अपने आनन्द रस से (देवान्) विद्वानों या इन्द्रियों को (पृञ्चन्) तृप्त करता हुआ (देव.) सुख शान्तिप्रद, तेजोमय वीर्य, (पुनान.) स्वतः स्वच्छ और पवित्र एवं व्यापक होकर (व्रतानि) सब कर्मों को (अभिपवते) पवित्र कर सर्वत्र प्रकट होता है। (इन्द्रः) आत्मा (ऋतुथा) प्रत्येक ऋतु के अनुकूल, या प्राणों के बल से (धर्माणि वसान) धारण-सामर्थ्यों या नाना धर्मों अर्थात् गुणों को सम्पादन करता हुआ (अव्ये सानो) न गतिशील, प्राणमय, स्थिर सानु अर्थात् सुखग्राहक अन्त.करण में (दश क्षिप·) दशों क्षिप्रगति करनेहारी इन्द्रियों को (अव्यत) प्राप्त होता है।

ऊर्ध्वरेता योगियों की साधना से वीर्य ऊर्ध्वगामी होकर उन में सब ऋतुओं में सहनशीलता उत्पन्न करता और इन्द्रियों में बल पैदा करता है।

इति षष्ठ. खण्डः ।

[१०२२] आ ते अग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् । यद्धस्था ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवीषं स्तोतृभ्य आभर ॥ १ ॥

[१०२३] आ ते अग्न ऋचा हविः शुक्रस्य ज्योतिषस्पते । सुश्चन्द्र दस्म विश्पते हव्यवाट् तुभ्यं हूयत इषं स्तोतृभ्य आभर२॥

[१०२४] ओमे सुश्चन्द्र विश्पते दर्वी श्रीणीष आसनि । उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आभर ॥३॥२१॥

ऋ० ५ । ६ । ४; ५, ६ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मन् ! हे (देव) सबके प्रकाशक ! (ते) तेरी प्राप्ति के निमित्त या तुझ से हम

१०२३-'शोचिषस्पते'। १०२४-'उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो' इति ऋ०।

(द्युमन्तं) प्रकाशित, (अजरम्) न जीर्ण होने वाले, अमर, नित्य अपने आत्मा को (इधीमहि) प्रकाशित करते हैं । (यत्) और जो (अवि) मध्य आकाश में (पनीयसी) व्यवहार करने योग्य, अतिस्तुत्य (समिद्) समान रूप से प्रकाशित होने वाली सूर्य रूप ज्योति (दीदयति) चमकती है (स्म) वह भी (ते) तेरा ही प्रकाश है । इस कारण हे परमात्मन् ! (स्तोस्तृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को आप ही (इषं) उत्तम ज्ञान और अन्न (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(२) हे (ज्यातिषः स्पते) सूर्य आदि ज्योतियों के परिपालक परमात्मन्! (शुक्रस्य) शुद्ध कान्तिस्वरूप (ते) आपको (ऋचा) ऋग्वेद के ज्ञान द्वारा (हविः) समर्पण करने योग्य इस आत्मा रूप हवि को (तुभ्यं) आपके लिये (आहूयते) सब प्रकार से अर्पित किया जाता है । हे (सु॰ चन्द) सबको उत्तम सुख, आह्लाद देने हारे ! हे (॰ दस्म) सबके भीतर व्याप्त, वा विघ्नों के हर्त्ता ! हे (हव्यवाट्) समस्त संसार को वहन करने हारे ! हे (विश्पते) समस्त प्रजाओं के स्वामी (स्तोतृभ्यः) सत्य गुणों के प्रकाशकों के निमित्त (इषम्) अन्न और उत्तम ज्ञान प्रेरणा को (आ भर) प्राप्त कराइये ।

(३) हे (सु-चन्द) सर्व उत्तम ऐश्वर्यों के स्वामिन् ! सर्वसुखकारक, (विश्पते) प्रजेश्वर ! हे (शवस स्पते) सर्वशक्तिमन् ! सब बलों के स्वामिन् ! आप (उभे) दोनों (दर्वी) अज्ञान का दलन करने हारे ज्ञान और कर्म या सूर्य और पृथिवी को (आसनि) अपने मुखस्थानीय तप में (श्रीणीषे) परिपक्व करते हो और (उक्थेषु) प्रशंसा करने योग्य धर्मयुक्त कर्मों में, यज्ञों में (नः) हमें (उरुपूर्णा) उत्तम फलों द्वारा पूर्ण करें (इषं स्तोतृभ्यः, आ भर) आप विद्वान् सत्यज्ञानी पुरुषों को अन्न और ज्ञान प्राप्त कराइये ।

[१०२५] इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ।
ब्रह्मकृते विपश्चित पनस्यवे ॥१॥

[१०२६] त्वामेन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचय. ।
विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥२॥

[१०२७] विभ्राजञ्ज्योतिषा स्वाऽऽरगच्छो रोचनन्दिव. ।
देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥३॥२२॥ ऋ० ६।१८।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८८] पृ० २००।

(२) हे इन्द्र ! (त्वम्) आप (अभिभूः) सबसे अधिक सामर्थ्यवान् (असि) हो। (त्वं) आप ही (सूर्यं) सूर्य को (अरोचयः) प्रकाशित करते हो। और आप ही (विश्वकर्मा) समस्त संसार के बनाने हारे (विश्वदेवः) सबके प्रकाशक और उनके उपास्य देव सब ऐश्वर्यों के दाता, सब देवों के देव और (महान्) सबसे बड़े पूजनीय (असि) हो।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! आप (दिवः) सूर्य आदि समस्त द्यौलोक के (रोचनं) प्रकाशक, आनन्दमय, सात्विक (ज्योतिषा) ज्योति से (विभ्राजन्) विशेष रूप से देदीप्यमान होकर (स्व) आनन्दमय मोक्ष में (अगच्छ) व्याप्त हो। (देवाः) सब विद्वान्गण और तेजस्वी पृथिवी आदि लोक भी (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिये (येमिरे) प्रयत्न करते हैं।

[१०२८] असावि सोम इन्द्र ते शविष्ठ धृष्णवागहि ।
आ त्वा पृणक्तिन्द्रिय रजः सूर्यो न रश्मिभिः ॥१॥

[१०२९] आ तिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।
अर्वाचीनं सुते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥२॥

[१०३०] इन्द्रमिद्धरी वहतो प्रतिधृष्णशवसम् ।
ऋषीणां सुष्टुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥३॥२३॥
ऋ० १ । ८४ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३४७] पृ० १८० ।

(२) हे (वृत्रहन्) विघ्नों के नाशक ! (रथम्) रमणीय, अत्यन्त प्रिय, रस रूप हृदय या आत्मा में, रथमें वीर पुरुष के समान (आ तिष्ठ) आ, विराज । (ते) तेरे (हरी) हरण करनेहारे, भजन करने वाले मन और वाणी दोनों को (ब्रह्मणा) मन्त्र द्वारा (युजा) वाणी (वस्तुना) मनोहर ध्यान द्वारा हमें (ते) तेरे (अर्वाचीनं) अभिमुख (सु-कृणोतु) उत्तम प्रकार से करे जिससे तेरा साक्षात् करें ।

(३) (हरी) हरण करने हारे मन और वाणी, ज्ञान और कर्म दोनों (अप्रतिष्कुत-शवसं) अदम्य और असह्य, बलवान् (इन्द्र) आत्मा को (ऋषयः) विद्वानों या इन्द्रियों की (सुस्तुतीः)उत्तम स्तुतियों और अभिलाषाओं को और (मानुषाणां) मनुष्यों के (यज्ञम्) यजन योग्य, उपास्य और सगति करने योग्य परमेश्वर को (उप वहतः) प्राप्त कराते हैं ।

इति सप्तमः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः ।

इति तृतीयः प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थः प्रपाठकः (प्रथमोर्धः.)

अथ सप्तमोऽध्यायः

ऋषिः—१ (१) आकृष्टाभाषा (२, ३) सिकतानिवावरी च । २, ११ कुत्सपुत्रः । ४ मेधातिथिः । ५ हिरण्यस्तूपः । ६ सदसस्पतिः । ७ जमदग्निः । ८ कुत्स

आगिरसः । ८ वसिष्ठः । ९ त्रिशोकः काण्वः । १० इन्द्राग्नयः । १२ सप्तर्षय' । १३ जमदग्नयः । १४ शुनःशेप आजीगर्तिः । १६ मान्धाता यौवनाश्व. । १५ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । १७ अत्रिः कादयपो देवलो वा । १८ ऋणचय. शाक्तय. । १९ पवंतनारदौ । २० मनु' सावरण' । २१ कुत्सः । २२ बन्धुः सुबन्धु श्रुतबन्धुविप्रबन्धुश्च गौपायना लौपायना वा । २३ भुवन आप्त्यः साधनो वा भौवनः । २४ ऋषि रथाः, प्रतीक्षत्रय वा ॥ देवता—१—६, ११—१३, १७—२१ पवमान. सोमः । ७, २२ अग्नि' । १० इन्द्राग्नी । ९, १४, १६, इन्द्र' । १५ सोमः । ८ आदित्य' । २३ विश्वेदेवा. ॥ छन्दः—१, ८ जगती । २–६, ८–११, १३, १४,१७ गायत्री । १२, १५, बृहती । १६ महापङ्क्तिः । १८ गायत्री सतोबृहती च । १९ उष्णिक् । २० अनुष्टुप् २१, २३ त्रिष्टुप् । २२ भुरिगबृहती । स्वरः—१, ७ निषादः । २–६, ८—११, १३, १४, १७ षड्जः । १–१५, २२ मध्यम' १६ पञ्चमः । १८ षड्ज' मध्यमश्च । १९ ऋषभ' । २० गान्धार. । २१, २३ धैवतः ॥

[१०३१] ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधुप्रियं पिता देवानां जनिता
विभूवसुः । दधाति रत्नं स्वधयोरपाक्य मदिन्तमो मत्सर
इन्द्रियो रस' ॥१॥

[१०३२] अभिक्रन्दन् कलशं वाज्यर्षति पतिर्दिवः शतधारो विच.
क्षण' । हरिर्मित्रस्य सदनेषु सीदति मर्मृजानोऽविभिः
सिन्धुभिर्वृषा ॥२॥

[१०३३] अग्ने सिन्धूनां पवमानो अर्षस्यग्ने वाचो अग्रियो वरेण्यः
यच्छसि । अग्ने वाजस्य भजसे महद्धनं स्वायुधः सोतृभिः
सोम सूयसे ॥३॥१॥ ऋ० ९ । ८७ । २०–१२ ॥

१०३२—३ 'अर्षत्यग्ने', 'गच्छति' इति ऋ० ।

भा०—(१) (यज्ञस्य) यज्ञ, जीवन और समस्त ब्रह्माण्ड का (ज्योति॰) प्रकाशक (प्रियम्) सबसे उत्कृष्ट (मधु) मनन करने योग्य, योग समाधि द्वारा साक्षात् करने योग्य, (देवाना पिता) २४ देवों का पालक और (जनिता) उत्पादक, (विभूवसुः) सर्वव्यापक होने से सब के भीतर वास करने और सबको वास कराने हारा, (स्वधयोः) अपनी सत्ता से देह और विद्या को धारण कराने वाले, जीवात्मा और प्रकृति इन दोनों के भीतर (अपीच्यम्) अति सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक (मादिन्तमः) सबसे अधिक आनन्दमय और (मत्सरः) सबके हृदयों में आनन्द को बहाने वाला (इन्द्रियः) ऐश्वर्यमय, अथवा इन्द्ररूप जीव आत्माओं का हितकारी, (रसः) सर्वव्यापक, रसस्वरूप परमात्मा (रत्नं) समस्त ज्योतिर्मय पिण्ड, हिरण्यगर्भ को या अति रमण योग्य सुखमय मोक्ष को (दधाति) धारण करता है।

(२) (वाजी) सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (दिवः पतिः) द्यौलोक का या सूर्यादि दिव्य पिण्डों का भी परिपालक, उनको नाश होने से बचाने वाला स्वामी, (शतधार) सैकड़ों धारण-शक्तियों से युक्त, (विचक्षणः) समस्त संसार को देखने वाला, (अभिक्रन्दन्) नाद करता हुआ, गर्जता हुआ (कलशेषु) कलशों में, जीवधारियों के देहों में आत्मा के समान (अर्षति) व्याप्त रहता है। और वही (हरिः) सबके कष्टों और तापों को हरने वाला, सबको गति देने हारा (मित्रस्य) अपने स्नेहपात्र आत्मा के (सदनेषु) निवासगृह, देहों में भी (सीदति) व्यापक होकर विराजता है। वही (वृषा) सब सुखों का वर्षक (सिन्धुभि॰) विषयों के प्रति द्रुत गति से जाने वाली (अद्रिभिः) तन्मात्राओं या इन्द्रियों या प्राण शक्तियों द्वारा, धारणाओं द्वारा (मर्मृजान) बार २ शोधा, या बार २ खोजा, या साक्षात् परिष्कृत किया जाता है।

(३) हे आत्मन्! तू (सिन्धूना) उन सूक्ष्म इन्द्रिय शक्तियों प्राणों के (अग्रे) आगे ही (पवमानः) ज्योति.स्वरूप होकर प्रकट होने वाला (वाचः अग्रे) वाणी के भी आगे और (गोषु) प्राणेन्द्रियों के भी (अग्रियः) नेता के समान (अग्रे) आगे होकर (गच्छसि) जाता है अर्थात् वह उनसे भी परे रहकर उनका ग्राह्य विषय नहीं होता। (वाजस्य) ज्ञान और बल का स्वामी प्राण के भी (अग्रे) आगे (महद् धनं) बड़े भारी आनन्दरूप कोष को (भजसे) धारण करता है और (सु आयुध.) उत्तम सत्संग साधनों से युक्त या उत्तम शक्तियों से सम्पन्न होकर हे (सोम) सबके प्रेरक, आत्मन्! (सोतृभि.) योगियों द्वारा तू (सूयसे) साक्षात् किया जाता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ २
[१०२४] असृक्षत प्र वाजिनो गव्या सोमासो अश्वया।
३ १ २ ३ १२ २३
शुक्रासो वीर्याशवः ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०२५] शुम्भमाना ऋतायुभिर्मृज्यमाना गभस्त्योः।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पवन्ते वारे अव्यये ॥२॥
१२ २३ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०२६] ते विश्वा दाशुषे वसु सोमा दिव्यानि पार्थिवा।
१ २ ३, १२ ३२
पवन्तामान्तरिक्ष्या ॥३॥२॥ ऋ० ९।६४। ४-६।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८२] पृ० २२४।

(२) (ऋतायुभिः) सत्य, यज्ञ और आत्मा की कामना करने वाले शिष्य साधकों द्वारा (शुम्भमानाः) स्तुति किये, गये, प्रार्थना किये गये या उनसे शोभा प्राप्त करने वाले, (गभस्त्यो.) अन्धकार को दूर करने हारे, ज्ञान और योगाभ्यास दोनों से (मृज्यमानाः) अपने को परिष्कृत शुद्ध, निष्पाप मलरहित, करते हुए (अव्यये.) आत्मा से उत्पन्न, या

अव्यय, अविनाशी (वारे) सब कष्टों के वारक, रक्षास्थान, अभय परमेश्वर में (पवन्ते) विचरते हैं ।

(३) (ते) वे (सोमाः) सोम्यगुणसम्पन्न, विद्वान् योगीजन (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने हारे शिष्य के लिये (दिव्यानि) दिव्य, पारलौकिक और (पार्थिवा) इहलोक के और (आन्तरिक्षा) मध्यमलोक के (वसु) वास भोग्य ज्ञानरूप ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्रदान करते और स्वयं प्राप्त करते हैं ।

१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१०३७] पवस्व देववीरनि पवित्र सोम रंह्या ।
१ २ ३ १र २र
इन्द्रमिन्दो वृषा विश ॥१॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१०३८] आवच्यस्व महि प्सरो वृषेन्दो द्युम्नवत्तमः ।
१र २र ३ २
आ योनिन्धर्णसिस्सदः ॥२॥
१ २ ३ २ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०३९] अधुक्षत प्रियं मधु धारा सुतस्य वेधसः ।
३ १ २ ३ १ २
अपो वसिष्ट सुक्रतुः ॥३॥
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१०४०] महान्तं त्वामहीरन्वापो अर्षन्ति सिन्धवः ।
११ २र ३ १ २
यद् गोभिर्वासयिष्यसे ॥४॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०४१] समुद्रो अप्सु मामृजे विष्टम्भो धरुणो दिवः ।
१ २ ३ १ २ ३ २
सोम पवित्रे अस्मयु ॥५॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[१०४२] अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः ।
१र २र
स सूर्येण दिद्युते ॥६॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४३] गिरस्त इन्द्र ओजसा मर्मृज्यन्ते अपस्युव-।
२ ३ १ २ ३ १ २
याभिर्मदाय शुम्भसे ॥७॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४४] तन्त्वा मदाय घृष्वय उ लोककृत्नुमीमहे।
२ ३ १ २ ३ १
तव प्रशस्तये महे ॥८॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१०४५] गोषा इन्द्रो नृषा असि यशवसा वाजसा उत।
३ २ ३ १ २ ३ २
आत्मा यज्ञस्य पूर्व्य- ॥८॥
३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१०४६] अस्मभ्यमिन्दविन्द्रियं मधोः पवस्व धारया।
३ १ २ ३ १ २
पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ॥२०॥३॥ ऋ० ९ । २ । १–६० ॥

भा०—(१) (देववी-) पृथिवी तत्वों और प्राणों में भी व्यापक, उन को कान्ति देने हारा, उनको प्रेरित करने हारा, तू हे (सोम) आत्मन् ! (रंह्या) वेग से (पवित्रे) हृदयदेश, मन को (अति) अतिक्रमण करके (पवस्व) प्रकाशित हो । हे (इन्दो) कान्ति और ऐश्वर्ययुक्त ! (वृषा) सुखों का वर्षक ! तू (इन्द्रं) आत्मा या परमात्मा के ऐश्वर्यमय स्वरूप में (विश) प्रवेश कर ।

(२) हे (इन्दो) आत्मन् ! (वृषा) सुखों का वर्षक (द्युम्नवत् तमः) अति अधिक तेज-सम्पन्न, यशस्वी, होकर (महि) बड़े (श्रवः) ज्ञान को (आ वक्षस्व) प्रकट कर । और (धर्णसिः) धृतिशील, ध्रुव होकर (योनिम्) अपने आश्रय स्थान या स्वरूप में (सदः) प्रतिष्ठित हो ।

(३) (सुतस्य) योग साधनों से निष्पन्न (वर्धसः) स्वयं कर्त्ता, विद्वान् योगी की (धारा) धारणा शक्ति (प्रिय मधु) अति आनन्द

७ ।१४-८. 'अशस्तयो गही.'इति ऋ० । १०४५. अस्मभ्यमिन्दविन्द्रयुरिति ऋ० ।

अमृत रस को (अधुक्षत) दोहती हैं, प्रकट करती हैं और (सुक्रतुः) उत्तम कर्मनिष्ठ योगी (अप) समस्त प्रज्ञानों और कर्मों और लोकों पर (वसिष्ट) वश करता है और उनमें वास करता है ।

मधु अमृतम् [सा०]

(४) हे सोम ! (यत्) जब (गोभिः) आदित्य की सी किरणों से तू (वासयिष्यसे) आच्छादित हो जाता है तब (त्वा) तुझे (महान्त) महान् को (सिन्धव) गतिशील, व्यापक (मँहीः) बड़े भारी (आपः) प्राप्त होने योग्य लोक (अनु अर्षन्ति) पीछे २ गमन करते अर्थात् अनुसरण करते, तेरे वशवर्ती होते हैं ।

(५) (पवित्रे) महान् आकाश में (सोमः) सूर्य (अस्मयुः) हमारा आश्रय (दिवः धरुण) द्यौलोक को धारण करने वाला (विष्टम्भ) नाना प्रकार के पिण्डों का स्तम्भक, आश्रय, (समुद्रः) समुद्रों को बहाने वाला होकर (अप्सु) अन्तरिक्ष में जैसे (मामृजे) विशुद्ध रूप में भासता है । उसी प्रकार योगी का आत्मा भी भीतर हृदयाकाश में आनन्दरस का सा होकर विराजमान होता है ।

(६) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६७] पृ० २४६।

(७) हे (इन्दो) आत्मन् ! (ते) तेरे (ओजसा) बल से (अपस्युवः) कर्म और इच्छा को प्रकाश करने हारी (गिरः) वाणियां (मृज्यन्ते) परिष्कृत स्वच्छ शुद्ध हो जाती हैं (याभिः) जिनसे (मदाय) आनन्द की प्राप्ति के लिये तू (शुम्भसे) प्रकाशित होता है ।

(८) हे सोम ! परमात्मन् ! (मदाय) हर्ष के लिये (घृष्वये) आत्मा के स्पर्श करने वाले (मदाय) आनन्द को प्राप्त करने के लिये (नो ककुत्सु) दर्शन करने हारे, सर्वद्रष्टा या ज्ञान के उत्पादक या समस्त संसार के रचयिता (त्व) उस परमानन्दस्वरूप (त्वा) आपको (महे)

बड़े भारी (तव) आपकी (प्रशस्तये) महिमा होने के कारण (ईमहे) प्राप्त होते हैं या प्रार्थना करते हैं।

(६) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! आप (गोपा) वाणियों, गौओं, रश्मियों और ज्ञान इन्द्रियों के दाता (नृपा) पुत्र भृत्यादि तथा नेता अग्रणी पुरुषों के देने हारे, (अश्वसा) देहों में आत्मा, ब्रह्माण्ड में सूर्य और प्राणेन्द्रियों और धन में अश्वों के देने हारे, (वाजसा) ज्ञानबल और अन्न के देने वाले (उत) भी (असि) हो। आप ही (यज्ञस्य) आत्मा, ब्रह्माण्ड, जीवन और सब कर्मों के (पूर्व्यः) पूर्ण करनेहारे, सबसे आदिम (आत्मा) आत्मा, कर्त्ता, स्वामी हो।

(१०) हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन्! (मधोः) अमृत की (धारया) धारणा शक्ति से (इन्द्रियं) आत्मा के बल को बढ़ाने वाले या उसके स्वरूप के दर्शन रूप को (अस्मभ्यम्) हमारे लिये जिस प्रकार (वृष्टि-मान्) वर्षाने वाला (पर्जन्य.) मेघ रस को वर्षाता है उसी प्रकार (पवस्व) बरसाओ।

इति प्रथम खण्डः।

—:0:—

१ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २
[१०४७] सना च सोम जेषि च पवमान महिश्रवः।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ १ ॥
२ ३ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २
[१०४८] सना ज्योतिः सना स्वाऽऽविश्वा च सोम सौभगा।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०४९] सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि।
१ २ ३ १ २
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ३ ॥

[१०५०] पवीतारः पुनीतन सोममिन्द्राय पातवे ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ४ ॥

[१०५१] त्वं सूर्य न आभज तव क्रत्वा तवोतिभिः ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ५ ॥

[१०५२] तव क्रत्वा तवोतिभिर्ज्योक् पश्येम सूर्यम् ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ६ ॥

[१०५३] अभ्यर्ष स्वायुध सोम द्विबर्हसं रयिम् ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ७ ॥

[१०५४] अभ्याऽऽवर्तिनच्युतो वाजिन्त्समत्सु सासहिः ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ८ ॥

[१०५५] त्वा यज्ञैरवीवृधन् पवमान विधर्मणि ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥ ९ ॥

[१०५६] रयिं चश्चित्रमश्विनमिन्दो विश्वायुमाभर ।
अथा नो वस्यसस्कृधि ॥१०॥४॥ प्र० २ । ४ । १–१० ॥

भा०—(१) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! हमें (महि) बहुत बड़ा (अव) यश और ज्ञान का (मन) दान करो और (जेषि च) विघ्नों पर विजय करो । (अथ) और बाद में (न) हमें (वस्यस.) ऐश्वर्यों से युक्त या ज्ञानियों में श्रेष्ठ (कृधि) करो ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् ! हमें (ज्योतिः) प्रकाश, ज्ञान (मन) दो । (स्व) सुख (मन) दो । और (विश्वा च सौभगा) समस्त सौभाग्यपूर्ण पदार्थ दो । (अथा न वस्यस कृधि) और हमें उत्तम धनवान् अर्थात् ज्ञानी गवों में श्रेष्ठ करो ।

(३) हे प्रभो ! हमें (दक्षम् उत क्रतुं) बल और उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य (सन) दो और (मृध.) प्रतिस्पर्धी, विघ्नकारी हिंसकों को (अप जहि) विनाश करो, (अथ नः०) और हमें सब में श्रेष्ठ करा ।

(४) हे (पवितार·) प्रभु को साक्षात् करने हारे विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय पातवे) आत्मा को पान कराने के लिये (सोम) आनन्दरस या ज्ञान को (पुनीतन) उत्पादन करो, प्रकट करो (अथ न·०) और हमें श्रेष्ठ करो ।

(५) हे (सोम) परमात्मन् ! (तव) तेरे (क्रत्वा) ज्ञान सामर्थ्य या कर्म सामर्थ्य से और (तव ऊतिभि) तेरी शक्तियों से (त्व) तू (न.) हमें (सूर्ये) सबके प्रेरक आत्मा या परमात्मा में (आ भज) प्राप्त करा (अथ न.०) और हमें सबसे उत्तम बना ।

(६) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (तव क्रत्वा) तेरे ज्ञान से (तव ऊतिभिः) तेरी प्रेरणाओं से (सूर्य) सूर्य के समान ज्ञान और प्रकाशस्वरूप तेरा (ज्योक्) चिरकाल तक (पश्येम) दर्शन करें ।

(७) हे (सोम) सर्वप्रेरक ! हे (स्वायुध) उत्तम साधनों, बलों से युक्त ! (त्व) तू (द्विबर्हस) दोनों लोकों में बढ़ाने वाले (रयिं) प्राणरूप सामर्थ्य को (अभि अर्ष) दे। और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ बना ।

(८) हे (सोम) प्रेरक ! (समत्सु) समान भाव से आनन्द के प्राप्त करने के अवसरों में हे (वाजिन्) बल और ज्ञान से सम्पन्न ! (अनपच्युत) अविचल और (सासहि) अभ्यन्तर शत्रुओं को दबाने हारा होकर तू (अभि अर्ष) प्रकट हो (अथ न ०) और हमें सबसे श्रेष्ठ बना ।

(९) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! (विधर्मणि) अपने विशेषरूप से परिष्कृत और नाना शक्तियों के आश्रय स्थान आत्मा में (यज्ञै.) कर्म, ज्ञान, तप आदि यज्ञों द्वारा साधकजन (त्वा) तुझको ही (अवीवृधन्) बढ़ाते हैं और तू (अथ न.०) हमें सबसे उत्तम बना ।

(१०) हे (इन्दो) परमेश्वर ! तू (चित्र) संग्रह करने योग्य नाना प्रकार के (अभिनम्) इन्द्रियों को धारण करने हारे (विश्वायुं) समस्त आयु को देने वाले (रयिं) आत्मिक सामर्थ्य, वीर्य को (आ भर) दे । और (अथ नः०) हमें श्रेष्ठ उत्तम बना ।

[१०५७] तरत्स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ १ ॥

[१०५८] उस्रा वेद वसूनाममर्त्यस्य देव्यवसः ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ २ ॥

[१०५९] द्वयावो. पुरुषन्त्यारा सहस्राणि दद्महे ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ३ ॥

[१०६०] आ ययोस्त्रिंशत तना सहस्राणि च दद्महे ।
तरत्स मन्दी धावति ॥ ४ ॥ ५ ॥ ऋ० ९ । ५८ । १-५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल स० [५००] पृ० २४८ ।

(२) (उस्रा) ऊपर की ओर स्रवण करने वाली (देवी) सुख और प्रकाश को देने वाली, प्रकाशस्वरूप, सोमरूप शुक्र की धारा (मर्त्यस्य) मरणधर्मा शरीर के भीतर (वसूना) वास करने हारे प्राणों को (अवसः) रक्षा करने का सामर्थ्य (वेद) प्राप्त कराती है । तभी (तरत् स मन्दी धावति) वह योगी आत्मा आनन्दमय होकर, सब कष्टों को पार करता, हुआ ब्रह्म की ओर चला जाता है ।

(३) हम (द्वयावो;) दु-खों को क्षय करनेहारे, या दुःख विनष्ट होने वाले (पुरुषन्त्यो) पुरुषरूप आत्मा के सदा समीप वर्तमान प्राण और अपान दोनों के हे (सोम) परमेश्वर ! (सहस्राणि) हज़ारों श्वास प्रश्वास तथा वक्ष,

कर्मों को हम (आदधाहे) धारण करें, अपने वश करें। उन बलों से ही (तरत् स०) वह आत्मा सैकड़ों कष्ट पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

(४) हम (ययो) जिनके बल पर (त्रिंशतं सहस्राणि) तीस हज़ार ३०००० (तना) दिन, रात अर्थात् लगभग ४०० वर्ष पर्यन्त (आदधाहे) जीवन ग्रहण करते हैं उनके बल पर ही (तरत्स मन्दी धावति) वह आनन्दमय जीव सब दुःखों को पार करके ब्रह्म की ओर चला जाता है।

३ २र २र ३ २र २र ३ १
[१०६१] एते सोमा असृक्षत गृणाना शवसे महे।
३ १ ३ ३ १ १
मदिन्तमस्य धारया ॥ १ ॥
३ १र २र ३ १ २ ३ १ ३ २ १ २
[१०६२] अभि गव्यानि वीतये नृम्णा पुनानो अर्षसि।
३ १ २ ३ १ २
सनद्वाजं परिस्रव ॥ २ ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०६३] उत नो गोमतीरिषा विश्वा अर्ष परिष्टुभः।
३ २ ३ १ २
गृणानो जमदग्निना ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ६ । ६२ । २२–२४ ॥

भा०—(१) (मदिन्तमस्य) अति आनन्दकारक परमात्मा की (धारया) आनन्दरूप धारणा शक्ति से (महे) बड़े भारी (शवसे) ज्ञान प्राप्ति के लिये (गृणानाः) वेद का अध्ययन, प्रवचन करते हुए (एते सोमाः) ये विद्वान् गुरुजन (असृक्षत) उत्पन्न हों। 'शवसे' इति अ०।

(२) हे (सोम) परमात्मन्! (वीतये) सर्वत्र कान्ति या प्रकाश करने के लिये (गव्यानि) ज्ञान-वाणियों के योग्य (नृम्णानि) मनुष्यों के चित्तों को (पुनान) पवित्र करता हुआ तू (अभि अर्षसि) साक्षात् प्रकाशित होता है। हे (सनद्-वाजः) ज्ञान के देने हारे, बल के देने हारे ईश्वर! आप हमें ज्ञान और बल (परि स्रव) प्राप्त करावें।

(३) हे परमात्मन्! (जमदग्निना) आत्मा को साक्षात् करने हारे योगी द्वारा (गृणानः) स्तुति किये हुए (नः) हमारे लिये (गोमतीः)

वेदवाणियों से सम्पन्न (विश्वा॰, इष॰) सब कामनाओं और ऐश्वर्यों को और (परिस्रुव॰) सब प्रार्थनाओं को (उत) भी (अपं) पूर्ण स्वीकार कर प्रदान करो।

[१०६४] इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सम्महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं
तव ॥ १ ॥

[१०६५] भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा पर्वणा
वयम्। जीवातवे प्रतरां साधया धियोऽग्ने सख्ये मा
रिषामा वयं तव ॥ २ ॥

[१०६६] वयमग्ने त्वा समिधा सुहवा घृतस्तेभिः सुविदत्रेभिरक्तुभिः।
हुवेम। रमाद्न्या आयहि सानुषु३ऽस्मत्सखायं मा रिषामा वयं तव ॥ ३ ॥३॥ ऋ० १ । ४८ । १,४,५ ॥

भा०—(१) (अर्हते) पूजनीय (जातवेदसे) सब के ज्ञाता, हम विद्वान्, परमेश्वर और आचार्य के लिये (मनीषया) अपनी मति से (रथम् इव) उत्तम ज्ञानयान के समान सुसज्जित (सम्महेम) भली प्रकार पूजा करें। (भद्रा) सदा से (हि) निश्चय (नः) हमारी (प्रमतिः) उत्तम मति और ज्ञान (अस्य) इसके लिये (अस्तु) उपलब्ध हो और सुखकारिणी होवे। इसके (सख्ये) मित्रभाव में (मा रिषाम) हम कभी कष्ट न पावें। हे प्रभो! और हे विघ्न नाशो! (वयं तव) हम तुम्हारे हैं। इन्द्रियों का ज्ञान के लिये, मनों का ईश के लिये और लियों का पुत्र के लिये समर्पण ही श्रेयस्कर है।

(२) हे अग्ने! सुसज्जित उपासक! (ते) तेरे लिये (पर्वणा पर्वणा) प्रतिदिन, अवसर होने के अनुसार (वयं) हम प्रयत्न करें। (चितयन्तः)

ग्रहण करने योग्य नाना पदार्थों को (कृणवाम) सम्पादन करें । और (वयं) हम (ते) तेरा (पर्वणा) पोरू २ पर, या पूर्ण साधन या प्रति पर्व, या अध्याय २ द्वारा (चितयन्त) शक्ति और ज्ञान का लाभ करते हुए, (जीवातवे) अपने जीवन के निमित्त (तव सख्ये) तेरे सहयोग या मैत्री में (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों । और तू (प्रतरां) बहुत उत्तम प्रकार से (धियः) हमारी प्रज्ञाओं और कर्मों को (साधय) सुदृढ़ बना ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन्! प्रभो! गुरो! (धियः) हमारी बुद्धियों को (साधय) उत्तम बना । हम (समिधम्) उत्तमरूप से प्रकाशित होने हारे (त्वा) तेरी सेवा करने में (शकेम) समर्थ हों । (त्वे) तेरे आधार पर (देवाः) विद्वान् लोग (आहुतम्) श्रद्धापूर्वक दान किये हुए अन्न आदि पदार्थ को (अदन्ति) भोग करते हैं । (त्वम्) और तू सूर्य के समान (आदित्यान्) किरणों, बारहों मासों, अथवा आदित्य के समान, तेजस्वी या सवत्सर के अधीन रहने वाले मासों के समान गुरु के अधीन रहने वाले शिष्यों को यथायोग्य (आ वह) प्राप्त कर, हम (तान्) उनको (उष्मसि) चाहते हैं । और हे (अग्ने) प्रकाशक! (तव सख्ये) तेरी मित्रता में (वयं) हम (मा रिषाम) कभी दुःख, पीड़ा प्राप्त न करें ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:०:—

५ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१०६७] प्रति वां सूर उदिते मित्रं गृणीषे वरुणम् ।
३ १ २ ३ १ २
अर्यमणं रिशादसम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१०६८] राया हिरण्यया मतिरियमवृकाय शवसे ।
३ १ १ २ ३ १ २
इयं विप्रा मेधसातये ॥ २ ॥

[१०६९] ने स्याम देव वरुण ते मित्र सूरिभिः सह ।
इषं स्वश्च धीमहि ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ७ । ६६ । ७-९ ॥

भा०—(१) (सूरे) सूर्य के समान सबके प्रेरक, मुख्य आत्मा के (उदिते) उदय होने पर, जागृत होने पर (मित्रं) मित्र, (वरुण) और वरुण, प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (रिपादस) विघ्नों के नाशक (अर्यमणम्) न्यायकारी स्वामी के समान पालक जानकर (प्रति-गृणीषे) उन दोनों को उपदेश करता हूं ।

(२) (इयम्) यह हमारी (मति-) मति, बुद्धि, मननशक्ति, (हिरण्यया) हितकारी, मनोहर (राया) सम्पत्ति द्वारा, (अवृकाय) हिंसक, चोरों से अतिरिक्त साधु पुरुष के (शवसे) बल वृद्धि करने के लिये हो । हे (विप्रा) विद्वान् पुरुषो ! यह हमारा ज्ञान (मेधसातये) अन्य पवित्र दीक्षित, शिष्यों को ज्ञान दान करने के लिये हो ।

(३) हे देव ! वरुण ! हे (मित्र) मृत्यु को मेटने हारे ! (सूरिभिः) तत्व के ज्ञाता विद्वानों के साथ हम (स्याम) रहें । और (ते) तेरे (इषं) अन्न, ज्ञान और (स्व- च) सुख, आनन्द-स्वरूप को (धीमहि) ध्यान और धारण करें ।

[१०७०] मिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृध- ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥

[१०७१] यस्य ते विश्वमानुषग्भूरेदुत्तस्य वदति ।
धस्तु स्पार्हन्तदा भर ॥ २ ॥

[१०७२] यद्वीडावि न्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने परा मृनम् ।
वसु स्पार्हं तदा भर ॥ ३ ॥ ९ ॥ ऋ० ८ । ४५ । ४०-४२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१३४] पृ० ७२ ।
(२) हे इन्द्र (ते) तेरे (भूरे) बहुतसे (यस्य) जिस (दत्तस्य) दिये हुए दान के विषय में (विश्वम्) समस्त संसार (आनुषग्) बराबर सदा युक्त रह कर (वेदति) जानता या प्राप्त करता है (तत्) वह (स्पार्हं) अभिलाषा करने योग्य (वसु) वासयोग्य जीवनरूप उत्तम धन (आ हर) हमें प्राप्त करा ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [१०७] पृ० १०८ ।

३ १ ३ २८ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१०७३] यज्ञस्य हि स्थ ऋत्विजा सक्षी वाजेषु कर्मसु ।
१ २ ३ १ १
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २८
[१०७४] तोशासा रथयावाना वृत्रहणापराजिता ।
१ १ ३ १ १
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १८ २८ ३ १ २ ३ १ २
[१०७५] इदं वां मदिरं मध्वधुक्षन्द्रिभिर्नरः ।
१ २ ३ १ २
इन्द्राग्नी तस्य बोधतम् ॥३॥१०॥ अ० ८ । ३८ । १–३ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र, गुरो ! और अग्ने ! विद्वन् ! आचार्य और अध्यापक आप दोनों (यज्ञस्य) इस महान् अध्ययनाध्यापन ज्ञान दानरूप यज्ञ और परमेश्वर के (ऋत्विजौ) यथाऋतु प्रवर्त्तक एवं प्राणों साधना द्वारा उपासना करने हारे (स्थः) हो । और (वाजेषु) ज्ञान यज्ञों में और (कर्मसु) सब कर्मों में (सक्षी) सातक पारगत हो । (तस्य) उस उक्त यज्ञ के विषय में आप (बोधतम) हमें ज्ञान कराइये ।

(२) आप दोनों (रथयावाना) रथरूप देह या रसस्वरूप प्रभु को प्राप्त होने हारे (वृत्रहणा) समस्त अज्ञान आवरण का नाश करने हारे, (अपराजिता) कभी पराजित न होने वाले, (तोशासा) विघ्नों के नाशक

हैं, (इन्द्राग्नी) आप इन्द्र और अग्नि परमात्मा और आचार्यस्वरूप दोनों मुझको उस यज्ञ का ज्ञान कराइये ।

(३) (नरः) विद्वान् मनुष्य (अद्भिभिः) अखण्ड व्रतों से (वा) आप दोनों के (इदं) इस दर्शनीय (मधु) अमृत, ज्ञान को (अधुक्षन्) प्राप्त करते हैं (तस्य) उसका (बोधतम्) हमें भी ज्ञान कराइये ।

इति तृतीय खण्ड. ।

---

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१०७६] इन्द्राग्नेन्दो मरुत्वते पवस्व मधुमत्तमः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१०७७] नन्त्वा विप्रा वचोविदः परिष्कृण्वन्ति धर्णसिम् ।
१ २ ३ १ २
स त्वा मृजन्त्यायव ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०७८] रस ते मित्रो अर्यमा पिबन्तु वरुण कवे ।
१ २ ३ १ २
पवमानस्य मरुत ॥३॥११॥ ऋ० ९ । ६४ । २२-२० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७२] पृ० २३८ ।

(२) हे प्रभो ! (वचोविद) वेदवाणी का तत्त्व जानने हारे वे (विप्राः) मेधावी लोग (तं) उस स्मरणीय (धर्णसिं) समस्त संसार को देह के समान धारण करने हारे (त्वा) तुझ परम आत्मा को (परिष्कृण्वन्ति) नाना प्रकार से चमकाते हैं । (त्वा) तुझको ही (आयवः) मनुष्य लोग (सं मृजन्ति) योग साधनों से खोजते और आत्मा को पवित्र करते हैं ।

(३) हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् विद्वन् ! (मित्रः) मृत्यु से बचाने हारा प्राण और (वरुणः) वरुणरूप अपान और (अर्यमा) समान और (मरुतः) शेष प्राणगण भी (पवमानस्य ते) प्रवाहित होते हुए तेरे (रस) बल को (पिबन्तु) पान करें ।

[१०७९] मृज्यमानः सुहस्त्या समुद्रे वाचामन्वासि ।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहं पवमानाभ्यर्षसि ॥१॥
[१०८०] पुनानो वारे पवमानो अव्यये वृषा अचिक्रदद्वने ।
देवानां सोम पवमान निष्कृतं गोभिरञ्जानो अर्षसि
॥२॥१२॥ ऋ० ९ । १०७ । २१–२२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल स० [५१७] पृ० २५५ ।

(२) (अव्यये वारे) आवरणमय या कर्ममय आवरण में से (पुनानः) पवित्र होता हुआ, (पवमान) व्यापक आत्मा (वृषः) सुखों का वर्षक होकर (वने) इस ब्रह्माण्ड या अन्तरिक्ष में मेघ के समान (अचिक्रदत्) अनाहत रूप से नाद करता और सुखों की वर्षा करता है । हे (सोम) प्रेरक ! आप (गोभिः) रश्मियों से (अंजानः) अभिव्यक्त होते हुए (देवानां) समस्त प्रकाशमान पदार्थों के (निष्कृतं) स्थान या मूलकारण को (अर्षसि) प्राप्त हो । आत्मपक्ष में–वह (गोभिः) प्राणों से (अंजानः) प्रकट होकर इन्द्रियों के आश्रय को प्राप्त है ।

[१०८१] एतमु त्यं दश क्षिपो मृजन्ति सिन्धुमातरम् ।
समादित्याभिरख्यत ॥१॥
[१०८२] समिन्द्रेणोत वायुना सुत एति पवित्र आ ।
सं सूर्यस्य रश्मिभिः ॥२॥
[१०८३] स नो भगाय वायव पूष्णा पवस्व मधुमान् ।
चारुर्मित्रे वरुणे च ॥३॥१३॥ ऋ० ९ । ६१ । ७–९ ॥

१०८१—२ 'मृजानो वारे,' वृषावचक्रदो वने' इति ऋ० ।

भा०—(१) (एतम्) इस (उ त्यं) ही उस (सिन्धुमातरं) प्रवण शील प्राणों के माता अर्थात् उत्पादक या ज्ञाता आत्मा को (दश क्षिपः) बाहर फैके गये दस गौण प्राण, इन्द्रियां (मृजन्ति) परिष्कृत करती हैं। वह (आदित्येभिः) किरणों के समान सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा (सम् अञ्जत) भली प्रकार देखता है। परमेश्वर के पक्ष में—उस (सिन्धुमातरं) समस्त आकाश और सागर आदि के निर्माता प्रभु को दशों दिशाएं सुशोभित करती हैं। वह सूर्य से सबको प्रकाशित करता है।

(२) (इन्द्रेण) आत्मा (उत वायुना) और प्राण से (सुतः) निष्पादित होकर वह आनन्दरस (सूर्यस्य) सबके प्रेरक मुख्य प्राण की (रश्मिभिः) किरणों से (पवित्रे) पवित्र करने हारे अन्तःकरण में (सम् आ एति) उत्तम रीति से विदित होता या प्राप्त है।

(३) (सः) वह (मधुमान्) अमृत स्वरूप (भगाय) ऐश्वर्यवान् (वायवे) प्राण स्वरूप (पूष्णः) पुष्टिकारक, आत्मा के निमित्त और (मित्रे) प्राण और (वरुणे च) अपान के लिये भी (पवस्व) प्रकट हो। परमेश्वर पक्ष में—(मित्रे वरुणे च) सर्व स्नेहवान् और सर्व दुःख वारक के रूप में प्रकट होता है।

इति चतुर्थः खण्डः।

अ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०८५] रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः।
३ २ ३ १ ३ १ २
शुमन्तो यामिर्मरुतः ॥१॥
२ ३ १ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १
[१०८६] आ घ त्वावान्मनसा युक्त स्तातृभ्यो धृष्णवीयानः।
३ २ ३ १ ३ २
ऋणारक्षं न चक्र्याः।

१०८५—'तनाऽऽज' इति ऋ०।

१र २र ' ३ १र २र ३ २
[१०८६] आ यहुव शतक्रवावाकामं जरितृणाम् ।
३ २ब ३ १र २र
ऋणोरध्रं न शचीभि ॥३॥१४॥ ऋ० १ । ३० । १३-१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५३] पृ० ८६ ।

(२) हे (वृष्णो) शत्रुओं के या काम क्रोधादि के धर्षण अर्थात् मान मर्दन करने हारे (चक्र्यो.) रथ के चक्रों का (अक्ष न) धुरा जिस प्रकार स्वयं अपने आश्रय रहकर भी रथ को दूर देश में पहुचाता और आप भी जाता है उसी प्रकार हे आत्मन् ! (त्वावान्) तेरे सदृश तू ही (त्मना युक्र) स्वयं अपने आपमें समाहित होकर (इयान.) इसको अभीष्टतक पहुंचाता हुआ (आ ऋणोः) मोक्ष तक पहुंचता और साथ ही स्वयं भी वहां प्राप्त होता है ।

(३) (अक्षं न) जिस प्रकार धुरा (शचीभि·) अपने में लगे अरों द्वारा रथ को दूर देश तक पहुंचा देता है । उसी प्रकार हे शतक्रतो ! सैकड़ों प्रज्ञानों से युक्त आत्मन् ! (जरितृणाम्) विद्वान् ज्ञानोपदेशकों को भी (आकाम) उनकी कामनाओं के अनुसार (दुव·) उनके मनोरथ या प्रार्थित पदार्थ (शचीभि) अपनी शक्तियों से (आ ऋणो·) प्राप्त करा देते हो ।

सर्वाप्तकाम ब्रह्मवेदी जीवनमुक्त की दशा का वर्णन है । उसके साथ ही राजा और प्रभु का वर्णन भी स्पष्ट है ।

३ २३१२३१ ३ ३१२
[१०८७] सुरुपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे ।
२ ३ २ ३ २
जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०८८] उप नः सवनागहि सोमस्य सोमपाः पिब ।
३ २ब ३-२-३ १ २
गोदा इद्रेवतो मदः ॥२॥

[१०८९] अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम् ।
मा नो अतिख्य आगहि ॥३॥१५॥ ऋ० १ । ४ । २–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१६०] पृ० ८६ ।

(२) (सोमपा) सोम अर्थात् आत्मानन्द के रस का पान करने हारा, समस्त आत्म पदार्थों और ज्ञानों का रक्षक, सोम्य गुणों को धारण करने हारे विद्वानों का पालक, सूर्य के समान विद्यार्थियों का प्रकाशक आचार्य और परमात्मा (सोमस्य) उत्पन्न कार्य जगत् के बीच में (स-वना) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों और ज्ञानों को प्रकाशित करने के लिये (न.) हमारे (उप) समीप (आगहि) आवे और (पित) स्वयं ज्ञान प्राप्त करके अन्यों का पान करावे । (गोदा.) ज्ञान की आखों को देने वाला (इन्द्र) ही (रेवत) इष्ट पदार्थ को प्राप्त करने वाले जीव को (मद.) हर्षकारी होता है ।

(३) हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (अन्तमाना) समीप में प्राप्त (सुमती-ना) उत्तम मेधावी ज्ञानियों के पास से (विद्याम) हम तेरा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करें (न., आगहि) आप हमें प्राप्त होइये, (मा नो अतिख्य) हमें त्याग न कीजिये ।

[१०९०] उभ यादिन्द्र राजसी आपप्राथोषा इव ।
महान्त त्वा मदीनां सम्राज चर्षणीनाम् ।
देवा जानन्त्यजीजनन्द्विता जानन्त्यजीजनत् ॥१॥

[१०९१] दीर्घं ह्यङ्कुश यथा शक्ति बिभर्षि मन्तुमः ।
पूर्वेण मघवन् पदा वयामजा यथा यम ।
देवा जानन्त्यजीजनन्द्विता जानन्त्यजीजनत् ॥२॥

१०९१—२ 'मघवन् पदाजोवया यथा यम.'।

१ २ ३ ४२ ७२ ३ १
[१०६२] अव स्म दुर्हणायतो मर्त्तस्य तनुहि स्थिरम् ।
३ १२ ७२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
अधस्पद तमी कृधि यो अस्माँ अभिदासति ॥
३ १२ ४२ ३ १२ ४२
देवी जनित्र्यजीजनद्भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥२॥१६॥

ऋ० १० । १३४ । १, ६, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३७६] पृ० १६६ ।

(२) हे (मन्तुम.) ज्ञानवान्[1] सर्वज्ञ ! (यथा) जिस प्रकार आप (दीर्घं) दूर तक जाने वाले (अकुशम्) ज्ञानांकुश को (बिभर्षि) धारण करते हो उसी प्रकार (शक्तिं) उसके प्रयोग के सामर्थ्य और उपाय को भी जानते हो। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन्[1] (यथा) जिस प्रकार से (यम*) इन्द्रियों और उनके समान लोकों पर वश करने हारा (अज.) अजन्मा आत्मा परमात्मा-मा (पूर्वेण) पूर्व (पदा) ज्ञान और सामर्थ्य से (वया) व्यापक प्रकृति को वश करता है और तभी (देवी) दिव्यगुण वाली यह प्रकृति (जनित्री) समस्त संसार को उत्पन्न करने हारी (अजीजनत्) इस संसार को उत्पन्न करती है। (भद्रा) कल्याण और सुख को देने हारी (जनित्री) प्रकृति (अजीजनत्) इस संसार को उत्पन्न करती है। और (भद्रा) वह सुखदात्री (जनित्री) माता के समान संसार की जननी होकर भी महिमा को प्रकट करती है।

(३) हे परमेश्वर (दुर्हणायत.) दुष्ट चोर (मर्त्तस्य) मनुष्य की (स्थिरं) स्थिति को (अधतनु हि स्म) नीचा कर। (य.) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) गुलाम बनाना चाहता है (तम् ईम्) उसको ही (अध पदं) नीचे के स्थान में (कृधि) करदे। (देवी जनित्री ०,) उस दिव्यगुण वाली सबकी माता प्रकृति तेरी महिमा को

१०६२ ३. 'यो अस्मा आदिदेशति, इति ऋ० ।

प्रकट करती है । वह कल्याणकारी सब की माता होकर भी तेरी महिमा को प्रकट करती है ।

इति पञ्चमः खण्ड. ।

---

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१०९३] परि स्वानो गिरिष्ठा. पवित्रे सोमो अक्षरत् ।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ।
२३ १ २ ३ १ २३ ३ २ ३१ २१
[१०९४] त्वं विप्रस्त्वं कविर्मधुप्रजातमन्धस ।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥२॥
१२ २१ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१०९५] त्वं विश्वे सजोषसो देवासः पीतिमाशत ।
१ २ ३ १ २
मदेषु सर्वधा असि ॥३॥१७॥ ऋ० ९ । १८ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४७५] पृ० २२९ ।

(२) हे (सोम) परमात्मन् (त्वं) तू (विप्रः) मेधावी (कविः) क्रान्त दर्शी है । (अन्धसः) अन्न से (जातम्) उत्पन्न हुए जीवन शक्ति के रूप में प्रकट होने वाले (मधु) अमृतस्वरूप वीर्य और आनन्द को (नः) प्रदान कर । तू (मदेषु) सब आनन्दों में (सर्वधाः) समस्त संसार को धारण करने हारा है ।

(३) (त्वं) च (विश्वे) समस्त (सजोषसः) समान रूप से आप को प्रेम करने हारे (देवासः) विद्वान् लोग (पीतिम्) आपके रसास्वादन का आनन्द (आशत) प्राप्त करते हैं और (मदेषु) सब आनन्दों में आप ही सबको धारण करने हारे हो ।

१ २ ३ १२ १२ ३ २ ३ १ २ १ १२ १२
[१०९६] स सुन्वे यो वसूना यो रायामानना य इडानाम् ।
२ ३ १ २ ३ १
सोमो यः सुक्षितीनाम् ॥४॥

[१०९७] १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तस्य त इन्द्र पिबाद्यस्य मरुतो यस्य वामंण्णा भगः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे ॥२॥१८॥
ऋ० ६ । २०८ । १३-१४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५८२] पृ० २६३ ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर (यस्य) जिस (ते) तेरे रस को (इन्द्र.) यह आत्मा (पिबात्) पान करता है (यस्य) जिस तेरे रस को (मरुत.) ये दश प्राण और समस्त विद्वान्गण और (यस्य वा) जिस तेरे रस या बल को (अर्यम्णा) अर्यमा अर्थात् समान वायु के साथ (भगः) उदान वायु और सूर्य पान करते हैं और (येन) जिसके बल पर (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों को (आ करामहे) परिचालित करते हैं और (इन्द्रम्) जिसके बल पर विद्वान्जन आत्मा को (आ) साक्षात् करते हैं । वह तू (महे अवसे) बड़ी रक्षा प्राप्त करने के लिये है तू ही शान्तिप्रद, अभय स्वरूप है ।

[१०९८] १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
तं वः सखायो मदाय पुनानमभिगायत ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
शिशुं न हव्यैः स्वदयन्त गूर्तिभिः ॥१॥
[१०९९] ३ ४ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
स वत्स इव मातृभिरिन्दुर्हिन्वानो अज्यते ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
देवावीरघो मतीभिः परिष्कृतः ॥ २ ॥
[११००] ३ १ २ १ २ ३ १ ३ २ १ २ २ ३ ३ १ २
अयं दक्षाय साधनाय्य शर्धाय वीतये ।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
अयं देवेभ्यो मधुमत्तरः सुतः ॥३॥१९॥ ऋ० ९।१७२।१-३॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२६९] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभि) दूध पिलाने वाली माताओं द्वारा (वत्स. इव) जिस प्रकार बच्चा (हिन्वानः) प्रेरित और परिवर्धित और पालित

१०९८—३ 'मधुमत्तमः सुखः' इति ऋ० ।

पोषित होकर (अज्यते) प्रकट होता है । उसी प्रकार (इन्दु·) सोम= विद्वान् शिष्य भी (मातृभिः) विद्वान् ज्ञानियों द्वारा बालक के समान (हिन्वानः) शिक्षित किया गया (अज्यते) विद्या आदि उत्तम गुणों से प्रकट होता है । वह (देवावीः) विद्वानों के पास जाने हारा (मदः) सबको हर्षकारक (मतिभिः) विशेष मननयोग्य प्रज्ञाओं या मननशील विद्वानों द्वारा (परिष्कृत·) परिष्कृत, अलंकृत होता है ।

(३) (अयं) यह (सोमः) उत्तम गुणों से युक्त ज्ञानवान् पुरुष (दक्षाय) बलशाली कार्य को (साधनः) साधन करने वाला और (अयं) यह (शर्धाय) बल या ज्ञान के प्राप्त करने (वीतये) और कान्ति, दीप्ति या तेज प्राप्त करने के लिये यत्नवान् हो । (अयं) यह (देवेभ्यः) विद्वानों के हित के लिये (मधुमत्तरः) माधुर्य आदि गुणों से और अधिक युक्त होकर (सुतः) उत्पन्न या दीक्षित है ।

सोम के दृष्टान्त से स्नातक का वर्णन किया है ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[११०१] सोमाः पवन्त इन्दवोऽस्मभ्यं गातुवित्तमाः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २ ४ १ २

मित्राः स्वाना अरेपसः स्वाध्यः स्वर्विदः ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[११०२] ते पूतासो विपश्चितः सोमासो दध्याशिरः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ४ २

सुरासो न दर्शतासो जिगत्नवो ध्रुवा घृते ॥२॥

३ १ २ ३ १, २ ३ १, २ ४ १२ २२ ३ २

[११०३] सुष्वाणासो व्यद्रिभिश्चिताना गोरधि त्वचि ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

इषमस्मभ्यमभित. समस्वरन्वसुविद. ॥३॥२०॥

ऋ० ९ । ९०१ । १०, १२, १३ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो आर्विकल सं० [५४८] पृ० २७५ ।

११०१—१. 'मित्रा सुवानाः' २. 'एते.पूताः' इति ऋ० ।

(२) (ते) वे (पूतासः) पवित्र हृदय वाले (विपश्चितः) मेधावी (सोमासः) सोम्यगुण वाले विद्वान् (धृते) ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप ब्रह्म में (जिगत्नवः) उन्नति की तरफ जाने वाले (ध्रुवा॰) स्थिर, अखण्डित, दृढ (सूरासः) आदित्यों के समान तेजस्वी, विद्वान्, आदित्य ब्रह्मचारी होकर (दर्शतासः) दर्शनीय, भव्य हों ।

(३) (गोः) सूर्य के समान तेजस्वी गुरु के (अधि त्वचि) आश्रय या संरक्षकता में (सु स्वानासः) ज्ञानवान् होते हुए (अद्रिभिः) विद्वानों द्वारा (वि चिताना॰) नाना प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हुए (वसुविद॰) आत्मज्ञान के जानने हारे (अस्मभ्यम्) हमें (अभित॰) सब ओर से (इषं) ज्ञान का (सम्-अस्वरन्) उपदेश करें ।

३ २ ३ १ २ १३ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[११०४] अया पवा पवस्वैना वसूनि मांश्चत्व इन्दो सरसि प्रधन्व ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १२ १ २ ३ १ २ ३ १ २

ब्रह्मश्चियस्य वातो न जूतिं पुरुमेधाश्चित्तकवे नरं धात् ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[११०५] उत न एना पवया पवस्वाधि श्रुते श्रव्यस्य तीर्थे ।

३ २ ३ १ २ ३ १२ १२ ३ २३ ३ १ २ ३ १ २

पर्षि सहस्रा नैगुतो वसूनि वृक्षं न पक्वं धूनवद्रणाय ॥२॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[११०६] महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्र ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २

अस्वापयन्निगुतः स्नेहयच्चापामित्रॉ अपाचितो अचेतः

॥ ३ ॥ २१ ॥ ऋ० ९ । ६७ । ५२–५४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४१] पृ० २७० ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर ! (श्रव्यस्य) श्रवण करने योग्य उपदेश के दाता तुझ प्रसिद्ध जगद्गुरु के (तीर्थे) ज्ञानसागर से तराने वाले स्थान, या आश्रमस्वरूप (श्रुते) वेद में (अधि) और भी अधिक (एना) इस प्रकार की (पवया) पवित्र करने हारी ज्ञान धारा या धारणा से (न॰)

। हमारे लिये (पवस्व) उपदेश करो । (वृक्षं न पक्वं) जिस प्रकार फल , खाहने वाला पके फलों से लदे वृक्ष को बल से कंपाता है और सहस्रों फल नीचे आ टपकते हैं उसी प्रकार आप (नैगुतः) जो मुख से कभी न कहे ।जाते हों ऐसे अत्यन्त गुह्य, ज्ञानों के रक्षक हैं । आप (षष्टिं सहस्रा) ६० हज़ार या १०६० (वसूनि) ज्ञान रत्नों को (रण्याय) आत्मा के आनन्द प्राप्ति के लिये (धूनुवत्) हमें प्राप्त कराओ ।

(३) (अस्य) इस आत्मा के (इमे) ये (सुप नाम) सुखों का वर्षण और उद्धर्तों का नमन् ये दोनों काम (मही) बड़े भारी (शूषे) सुखकारी, मन् के एकमात्र गतिस्थान हृदय में होते हैं । हे साधक (वा) और (पृशने) स्पर्शन करने वाले (वधत्रे) हिंसा या पीड़ा से बचाने वाले आश्रय त्वगिन्द्रिय में (निगुतः) छुपे हुए, निगूढ, काम और क्रोध आदि शत्रुओं को (अस्वापयत्) सुलाता हुआ (स्नेहयत च) और उन का नाश करता हुआ तू (अभिघ्नान्) उन शत्रुओं और (अचित अप) ज्ञान रहितों को दूर कर और (अचेतः) चेतना रहित जड़ पदार्थों मूर्खों, हृदयहीनों को भी (अप) दूर कर ।

इति षष्ठः खण्डः ।

३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३क २ख

[११०७] अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भुवो वरूथ्य ॥१॥

१ २ ३ १ख २ख ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २

[११०८] वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥२॥

१ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[११०९] तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ।

॥३॥ २२ ॥ ऋ० ५ । २४ । १, २, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१४८] पृ० २२६ ।

(२) (वसु०) मनमें वास करने द्वारा (वसुश्रवाः) ज्ञान का श्रवण करने वाला ज्ञानधन (अग्नि) ज्ञानवान् (द्युमत्तम०) अति अधिक

तेजस्वी, आत्मा (नवि) हृदय में व्यापक है । वह तू हमें (रयिं) समस्त जीवन रूप धन को (दाः) दान कर ।

(२) हे (शोचिष्ठ) कान्ति और तेज से युक्त ! हे (दीदिवः) दीप्ति-मान् अग्ने ! प्रभो, हम (सुम्नाय) सुख के लिये और (सख्यं) अपने समान ख्याति वाले अपने मित्रों और बन्धुओं के लिये (नूनं) अवश्य (ईमहे) आप से याचना करते हैं ।

[१११०] ३ २अं ३ १ २ ३,१ २ ३ १ २ ३ २
इमा नु कं भुवना सीषधेमन्द्रश्च विश्वे च देवा. ॥३॥
३ १ २ ३ ८ २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[११११] यच्च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधातु ॥२
३ २अ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१११२] आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्
॥ ३ ॥ २३ ॥ ऋ० १० । १५७ । १, २, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल्प सं० [४५२] पृ० २२७ ।

(२) (नः) हमारे (यज्ञम्) आत्मा को (तन्वं च) और शरीर को (प्रजां च) और प्रजा सन्तति को (इन्द्रः) परमात्मा (आदित्यैः) द्वादश मासों, या आदित्य स्वरूप विद्वानों और प्राणों के (सह) साथ (सीषधातु) रक्षा कर ।

(३) (इन्द्रः) आत्मा (मरुद्भिः) प्राणों और (आदित्यैः) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या वायुओं और ऋतुओं के द्वारा सूर्य के समान (सगणः) अपनी अन्य सहायक शक्तियों सहित (अस्मभ्यं) हमारे लिये (भेषजा) आरोग्यकारक उपाय (करत्) करें ।

१ २
[१११३-१५] प्रवोचेम ॥२४॥

भा०—(१) (वः) आप लोग (इन्द्रं) परमेश्वर की उत्तम रूप से,
(२) (अर्चत) स्तुति करो,

१११२—२. 'सहचीकल्पाति' इ. 'अस्माक भूत्वविता तनूना' इति च ।

१-(३) और (उप) उपासना करो ।

[सायणाचार्य ने इस मन्त्र को एक ऋचा मान कर व्याख्या की है । माधव ने अपने विवरण में इस मन्त्रों को तीन मन्त्रों की एक संक्षिप्त प्रतीक माना है जो क्रम से 'प्र व इन्द्राय०' 'अर्चन्त्यर्क०' 'उप प्रक्षे मधुम०' इन मन्त्रों के आद्य अक्षरों से बनी है । इन तीनों मन्त्रों की क्रम से व्याख्या देखिये अविकल सं० [४४६, ४४५, ४४४] पृ० २२५; २२४) तदनुसार इनको यहां संक्षेप से रख देने का प्रयोजन 'उद्गातृपुत्र' नामक ऊहगान को दर्शाना मात्र है ।

इति सप्तमः खण्डः ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठकः ।

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथाष्टमोऽध्यायः

अथ चतुर्थप्रपाठकस्य (द्वितीयोऽर्धः)

ऋषि —१ वृषगणो वाश्विकः । २ असितः काश्यपो देवलो वा ।' ११ भृगुर्वारुणिर्जमदग्निः । ८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ४ यजत आत्रेयः । ५ मधुच्छन्दो वैश्वामित्रः । ७ सिकता निवावरी । ८ पुरुहन्मा । ९ पर्वतानारदौ शिखण्डिन्यौ काश्यप्यावप्सरसौ । १० भृगवो विष्ण्याः । १२ वत्सः काण्वः । नृमेधः । १४ अग्निः ॥ देवता—१, २, ७, ९, १० पवमान सोमः । ४ मित्रावरुणौ । ५, ८, ११, १४ इन्द्र । ६ इन्द्राग्नी । १२ अग्निः ॥ छन्दः—१, ३ त्रिष्टुप् । २, ४, ५, ६, ११, १२ गायत्री । ७ जगती । ८ प्रागाथः । ९ उष्णिक् । १० द्विपदा विराट् । १३ ककुप्, पुर उष्णिक् । १४ अनुष्टुप् ॥ स्वरः—१—३ धैवतः । २, ४, ५, ६, १२ षड्जः । ७ निषादः । १० मध्यमः । ११ ऋषभः । १३ गान्धारः ॥

[१११६] प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो देवो देवानां जनिमाविवक्ति ।
महिव्रतः शुचिबन्धुः पावकः पदा वराहो अभ्येति रेभन् ॥१॥

[१११७] प्रहंसासस्तृपलावन्तुमच्छामादस्तं वृषगणा अयासुः ।
अङ्गोषिणं पवमानं सखायो दुर्मर्षं वाणं प्रवदन्ति साकम् ॥२॥

[१११८] स योजत उरुगायस्य जूतिं वृथा क्रीडन्तं मिमते न गावः ।
परीणसं कृणुते तिग्मशृंगो दिवा हरिर्ददृशे नक्तमृज्रः ॥३॥
ऋ० ९ । ९७ । ७–९ ॥

[१११९] प्र स्वानासो रथा इवार्वन्तो न श्रवस्यवः ।
सोमासो राये अक्रमुः ॥ ४ ॥

[११२०] जिन्वानासो रथा इव दधन्विरे गभस्त्योः ।
भरासः कारिणामिव ॥ ५ ॥

[११२१] राजानो न प्रशस्तिभिः सोमासो गोभिरञ्जते ।
यज्ञा न सप्त धातृभिः ॥ ६ ॥

[११२२] परिस्वानास इन्दवो मदाय बर्हणा गिरा ।
मघोनि अर्षन्ति धारया ॥ ७ ॥

[११२३] आपानासो विवस्वतो जिन्वन्ति उषसो भगम् ।
सूरा अण्वं वितन्वते ॥ ८ ॥

१११७—'तृपल मन्यु', 'आगूष्य पवमान', 'दुर्मर्षं साकं प्रवदन्ति वाणं' ।

१११८—'सरहत उरुगायस्य' इति ऋ० । ११२३—'जनन्त उषसो भग' ।

[११२४] अप द्वारा मतीनां प्रत्ना ऋण्वन्ति कारवः ।
वृणो हरस आयवः ॥ ९ ॥

[११२५] समीचीनास आशत होता नः सप्त जानयः ।
पदमेकस्य पिप्रतः ॥ १० ॥

[११२६] नाभा नाभिं न आददे चक्षुषा सूर्यं दृशे ।
कवेरपत्यमादुहे ॥ ११ ॥

[११२७] अभि प्रिय दिवस्पदमध्वर्युभिर्गुहा हितम् ।
सूरः पश्यति चक्षसा ॥ १२ ॥ १ ॥ ऋ० ९ । १० । १-९॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११२४] पृ० ४८७ ।

(२) (हंसासः) नीर क्षीर का विवेक करने हारे हंसों के समान सत्यासत्य का विवेक करने हारे परमहंस योगी लोग (तृप्रता[1]) सत्व, रजस् और तमस् तीनों को पार करके जाने हारे, या काम क्रोधादि को प्रहार करने हारे, उन पर वशी, (वानुम्) रमणीय अनाहत नाद को (अच्छ) लक्ष्य करके (वृषगणाः) उत्तम, धर्ममेघ समाधि के साधक योगिजन (अमात्[2]) अध्यक्ष बल या ज्ञान से (अस्तं) शरण-योग्य आत्मा को (प्र अयासुः) प्राप्त होते हैं । (सखायः) वे समान आत्मा नाम वाले, या परम प्रभु के प्यारे, (साकं) एक साथ (पवमानं) व्यापक (दुर्मदं) न सहन करने योग्य, असह्य तेज से युक्त (अंशोर्पिबं[3]) इस देह में

११२५—'आसते होतार', 'सप्त आसत.' ।
११२६—'चतुश्चिदंशुं मचा' । ११२७—'अभिप्रिया दिवस्पदः' इति ऋ० ।

१. तृपन्. क्षिप्रप्रहारी, सुप्रहारी योगी वा इन्द्रो वा (निरु० ५।२।७)
२ अमा बलनिर्मित्र अपि (निरु० ५ । २ । ८)
३. उप शंसं दीर्घो च । दीर्घ सोमं इति (सा० वि०)

बसने हारे, कान्तिस्वरूप या स्तुति करने योग्य (वाणं) भोग्य आत्मा को (प्र वदन्ति) उपदेश करते हैं ।

(३) (सः) वह योगी (उरुगायस्य) विशाल गुणों वाले, स्तुतियों से सम्पन्न परमात्मा की (जूतिं) ज्योति या प्रेरणा को (वोनते) समाधि द्वारा साक्षात् करता है । (गावः) अन्य इन्द्रियगण या अन्य लोग (वृथा) अनायास (क्रीळन्तं) नाना प्रकार से जगत् सर्जन प्रलय आदि लीला करते हुए उस परमात्मा को (न) नहीं (मिमते) ज्ञान करते । (सः हरिः) वह सब दुःखों को हरण करने वाला, हरि (तिग्मशृंगः) तीक्ष्ण तेज से युक्त होकर आदित्य के समान (परीणसं) नाना प्रकार का तेज प्रकट करता है, और वह (ऋजुः) विस्पष्ट प्रकाश से युक्त ऋजु मार्ग पर चलने हारा, धार्मिक, होकर (दिवा नक्तं) रात दिन (ददृशे) प्रकाशित होता है ।

इसमें सूर्य और स्वराट् योगी का वर्णन है । जिसके मुख पर दिन रात तेज का मण्डल दीखने लगता है ।

(४) (स्वानासः) विशुद्ध रूप में प्रकट होने वाले (सोमासः) ज्ञानी लोग (रथा इव) वेगवान् रथों के समान और (अर्वन्तः न) अश्वों के समान (श्रवस्यवः) अन्न, ज्ञान और परम ऐश्वर्य की कामना करने हारे (रायं) आत्म साक्षात्कार या परमानन्द प्राप्ति के लिये (अक्रमुः) और आगे क़दम रखते हैं ।

(५) वे (रथा इव) रथों के समान प्रबल वेगवान् होकर और (कारिणाम्) योद्धाओं के (भरास.) समान या यज्ञकर्त्ताओं के कर्त्ताओं के समान (हिन्वानासः) आगे बढ़ते हुए (गभस्त्योः) प्राण और अपान दोनों की साधनाओं द्वारा (दधन्विरे) साधना करते हैं ।

(६) (प्रशस्तिभिः) उत्तम कीर्तियों, स्तुतियों से (राजानः न) राजाओं के समान और (सप्तधातृभिः) सात ज्ञान धारण करनेहारे

याज्ञिक ऋत्विजों द्वारा या सात मुख्य प्राणों द्वारा आत्मा के समान (गोभिः) प्रकाश की किरणों द्वारा (अञ्जते) आत्मा के स्वरूप को प्रकाशित करते हैं ।

(७) (इन्दव) ज्ञान सम्पन्न योगिजन (स्वानासः) ब्रह्मरस का सम्पादन करते हुए, (वईणा) वही, ब्रह्मरूप (गिरा) वेदवाणी द्वारा (मधोः) अमृत रस या आत्मानन्द की (धारया) धारक शक्ति से युक्त होकर (मदाय) ब्रह्मानन्द प्राप्ति के लिये (परि अर्षन्ति) और आगे बढ़ते हैं । [देखो अवि० सं० ४८५ । पृ० २४२]

(८) (अप नास) अपान को वश करने हारे योगिजन (विवस्वतः) विशेष रूप से देह में निवास करने हारे आत्मा के (उषसः) पापदाहक, तमोनाशक तेज के (मगम् ऐश्वर्य) को (जिन्वन्ति) प्राप्त करते हैं । वे (सूरा) सूर्य के समान आदित्य योगी उस (अण्व) अति सूक्ष्म आत्म-तत्व को (वितन्वते) विशेषरूप से साक्षात् करते हैं ।

(९) (प्रत्नाः) पुरातन, उत्कृष्ट अभ्यासी, (कारवः) योगक्रिया के करने हारे (वृत्त्य.) वर्तणशील, सुखवर्षक आत्मा के (हरस·) स्वरूप को प्राप्त होने वाले (आयव·) उस तक पहुंचे हुए जन (मतीनां) मनन शक्तियों के (द्वारा) द्वारों को (अप अरण्वन्ति) खोल डालते हैं ।

(१०) जिस प्रकार यज्ञ में एक यजमान का कार्य सम्पादन करने के लिये सात होता लोग बैठते हैं उसी प्रकार (समीचीनासः) उत्तमरूप से गति या ज्ञान सम्पादन करने हारे, शान्तस्वरूप, सोमस्वरूप (सप्त) सात, या प्रसर्पणशील, प्राण (होतार) आत्मा का अनुसन्धान करनेहारे (जानय·) ज्ञानोत्पादक इन्द्रियगण और विद्वान्जन (एकसा) एक ही आत्मा के (पदं) स्थान, स्वरूप, ज्ञान या सामर्थ्य को (विप्रा) पूर्ण करते हुए (आशत) विराजते हैं, आनन्द का भोग करते हैं ।

(११) (नाभिं) सबको केन्द्ररूप होकर बांधने हारे आत्मा को (नः) हम (नाभा) अपने शरीर के केन्द्र, या मुख्य बन्धनस्थान अपने मन में (आददे) धारण करें जिससे (चक्षुषा) ज्ञान चक्षु से हम (सूर्यं) सर्वप्रेरक प्रकाशक आदित्यरूप परमात्मा का (दृशे) दर्शन करें। (कवेः) क्रान्तदर्शी, मेधावी के (अपत्यं) अविनाशी, अपने आश्रित को नीचे न गिरने देने वाले ध्रुव स्वरूप परमात्मा के (आदुहे) आनन्द रस का ग्रहण करें।

अपत्यं कस्मादपततं भवति, न अनेन पतति इति (निरु० ३ । १ । १)

(१२) (सूर.) सूर्य के समान आदित्य योगी, उत्तम योगबल से सम्पन्न होकर ('चक्षसा) दिव्य चक्षु द्वारा (अभिप्रियं) अत्यन्त मनोहर (अध्वर्युभि.) जीवन यज्ञ के सम्पादक, इन्द्रियों के सूक्ष्म सामर्थ्यों सहित (गुहा हितम्) हृदयाकाश रूप गुहा, या गुह्यरूप परमात्मा के भीतर (दिव.) दीप्त तेज.स्वरूप आत्मा के (पदं) स्वरूप को (पश्यति) देखता है।

दिवस्पदं तस्यात्मन. पदम् (सा०)।

इति प्रथम. खण्ड·।

[११२८] अस्रुग्रमिन्दव पथा धर्मभृतस्य सुश्रियः ।
विदाना अस्य योजना ॥ १ ॥

[११२९] प्र धारा मध्वो अग्रियो महीरपो विगाहते ।
हविर्हविष्षु वन्द्यः ॥ २ ॥

[११३०] प्र युजा वाचो अग्रियो वृषा अचिक्रदद्वने ।
सद्मा अभिसत्या अयं ॥ ३ ॥

११२९—'मध्वो अग्रियो' इति ऋ० ।

२ ३ १२ २२ ३ २३ १ २ ३१२ २३
[११३१] परि यत्काव्या कविर्नृम्णा पुनानो अर्षति ।
१२ ३ १ २
स्वर्वाजी सिषासति ॥ ४ ॥

१ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २
[११३२] पवमानो अभिस्पृधो विशो राजेव सीदति ।
१ २ ३ १ २ ३१ २
यदीमृण्वन्ति वेधसः ॥ ५ ॥

२ ३ १ ३ १ २ ३ २३ ३ १ २
[११३३] अव्या वारे परि प्रियो हरिर्वनेषु सीदति ।
३ १ २ ३ २
रेभो वनुष्यते मती ॥ ६ ॥

२ ३१२ २२३ १ २ ३ १२ २२
[११३४] स वायुमिन्द्रमश्विना साकं मदेन गच्छति ।
१ ३ १ २ ३ १ २
रणा यो अस्य धर्मणा ॥ ७ ॥

२ ३१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३
[११३५] आ मित्र वरुण भगे मधो. पवन्त ऊमयः ।
३ १ २ ३ १ २
विदाना अस्य शक्मभिः ॥ ८ ॥

३ १ २ ३ १३ ३ १ २ ३ १ २
[११३६] अस्मभ्यं द्यावापृथिवी रयिं मघेषु वाजस्य सातये ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अधा यथा नसि सञ्जिनम् ॥ ९ ॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[११३७] आ नो दक्षं मयोभुवं यद्विमया गृणीमसे ।
१ ३ १ १ ३ १ २
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १० ॥

१ ३ १२ १२ ३ २३ ३ १ १ ३ १ २
[११३८] आनन्दभाग्रंगयमाधिग्रमा मनाधिषम् ।
१ १ १ २ ३ १ १
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ ११ ॥

११३१—'सूना वाजी' । ११३३—'हरिर्वनेषु' ।
११३४—'इन्द्रं वन्दे' । ११३६—अ. 'दक्षं रंगं' इति ऋ० ।

[११३६] आ रथिमा सुचेतुनमा सुक्रतो तनूष्वा ।
पान्तमा पुरुस्पृहम् ॥ १२ ॥ २ ॥

आत्मा नव ऋ० ६ । ७ । १–६ । शेषास्तिस्रः ऋ० ६ । ६५ । ५८–६० ॥

भा०—(१) (इन्दव०) आत्मसम्पत्ति से सम्पन्न, शमादि गुणयुक्त योगीजन, (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (धर्मन्) धारण करने हारे परमात्मा के स्वरूप में (सुश्रियः) उत्तम रूप से आश्रय प्राप्त करने वाले (पथा) सत्य ज्ञान के मार्ग से (अस्य) इस आत्मा के (योजना) योग-समाधि द्वारा मिलापों के आनन्दों का (विशाना) लाभ करते हुए (अञ्जसम्) कृतकृत्य होजाते हैं ।

(२) (हविष्टु) समस्त अभिलाषा योग्य, या इष्टदेव को समर्पण करने योग्य पदार्थों में भी उत्तम (हविः) स्वीकार करने और वरने योग्य पदार्थ आत्मा ही (वन्य०) स्तुतियोग्य है । वह (मही०) बड़े (अपः) ध्यान, धारणाओं, और कर्मों और प्रज्ञाओं को समुद्रों के समान (विगाहते) पार कर जाता है और (मधो०) अमृत की (अभिय०) आगे प्रकट होने हारी, मुख्य, उत्तम (धाराः) शक्तियों को (प्र) प्राप्त करता है ।

(३) (अभिय०) मुख्य या प्रबल (वृषा उ) सुखों का वर्षक आत्मा ही (प्रयुजाः) प्रयोग करने योग्य (वाच०) वाणियों को (चने०) भजन करने योग्य ब्रह्म में (अचिक्रदत्) उच्चारण करता है । वह योगी आत्मा (सत्यः) सत्याचरण करने हारा, सज्जनों में श्रेष्ठ, (अध्वर) किसी की हिंसा न करने हारा, (सप्त) अपने आश्रयस्वरूप, परम शरण परमेश्वर को (अभि) प्राप्त होता और साक्षात् करता है ।

(४) (यत्) जब (कविः) मेधावी, ज्ञानवान् (नृम्णानि) मनुष्यों के मननशील साधन, चित्त को (पुनानः) शुद्ध पवित्र करता हुआ (काव्या) उत्तम वेदवाणियों का (परि अर्षति) ज्ञान प्राप्त करता है

तब वह (वाजी) ज्ञानवान् होकर (स्वः) परमसुख मोक्षरूप आनन्द को (सिषासति) सेवन करता है ।

(५) (यद्) जब (ईम्) इस आत्मा को (वेधसः) योगसाधक ज्ञानी लोग (अरण्वन्ति) प्राप्त करते हैं तब (पवमान·) देदीप्यमान, आत्मा (अभिस्पृधः) स्पर्धा करने हारे, विघ्नकारी, बाधक कारणों या व्युत्थान लक्षणों का दूर करके (विशः राज इव) प्रजाओं पर राजा के समान (सीदति) प्रबल होकर बैठता है ।

(६) (हरिः) दुःखों के विनाशक आत्मा (प्रिय·) अत्यन्त प्यारा होकर (वनेषु) देहों में (अव्याः वारे) चितिशक्तिरूप अवि के आवरण-कारी, या वरण-योग्य भ्रिपुटी आदि स्थान में (परिसीदति) विराजता है । और (रेभ·) अप्रतिहत नाद करने हारा, या स्तुतिशील (मती) मनन-शक्ति द्वारा (वनुष्यते) प्राप्त किया जाता है ।

वनुष्यतिर्हन्तिकर्माऽनवगतसंस्कारो भवति (निरु० ५ । ६ । २)

(७) (य·) जो (अस्य) इस सोम के (धर्मणा) धारणयोग्य गुण या धारणा बल से (रणा) रमण करता है, (स·) वह आत्मज्ञानी (वायुम्) प्राणवायु, (इन्दम्) आत्मा और (अश्विनौ) ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों को (मदेन) आनन्द और हर्ष के साथ (गच्छति) वश कर लेता है ।

(८) (मधो) हर्षकारक आनन्दरूप सोमरस की (ऊर्मयः) ऊर्ध्वगतिया या तरंगें (मित्रे) प्राण और (वरुणे) अपान (सगे) और समान में (पवन्ते) गति करती हैं । और साधकजन (अस्य) इस आत्मा की (शक्तिभि) शक्तियों द्वारा (सं-विदाना·) उत्तम रीति से ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।

(९) हे (रोदसी) सूर्य और पृथिवी, प्राण और अपान तुम दोनों (इमम्) हमें (वाजस्य) ज्ञान और (सप्त्य) आनन्दस्वरूप अमृत की (सातये)

प्राप्ति के लिये (रयिं) प्राण सामर्थ्य, बल, (अत्रः) उपदेश, (वसूनि) जीवनोपयोगी पदार्थों पर (स जितं) वश करादो।

(१०) हे सोम ! (वयं) हम लोग (अद्य) आज (मयोभुवं) शान्ति को उत्पन्न करने हारे, (वह्निं) शक्तियों के वहन करने हारे, (पान्तं) हमारे पालक, (पुरुस्पृहं) सब के कामना के योग्य, (ते दक्षं) तेरे बल को (आवृणीमहे) उत्तम समझ कर प्राप्त करते हैं। अवि० [४६८]

(११) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वोत्तम, (विप्रं) मेधावी और (मनीषिणं) सबके हृदयों के प्रेरणा करने हारे (पान्तं) सब के पालक (पुरुस्पृहम्) सब के प्रेमपात्र आपको हम (आ) साक्षात् करते हैं।

(१२) हे (सुक्रतो) उत्तम कर्म और ज्ञान से युक्त ! प्रज्ञा से सम्पन्न ! हे (साम) सब के प्रेरक ! (रयिम्) रयिस्वरूप (सुचेतुनम्) उत्तम ज्ञाता (तनूषु आ) हमारे देहों में भी व्याप्त (पान्तं) रक्षक (पुरुस्पृहम्) प्रजा के प्रेमपात्र और सबके स्नेही आपको (आ) वरण करते हैं।

इति द्वितीय. खण्डः।

[११४०] मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवा.॥१॥

[११४१] त्वां विश्वे अमृत जायमानं शिशुं न देवा अभि सं नवन्ते।
तव क्रतुभिरमृतत्वमायन् वैश्वानर यत्पित्रोरदीदः॥२॥

[११४२] नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामाहावमभि सं नवन्त।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवा॥३॥३॥

॥ अ० ६। व० ७। ३, ४, २॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [६७] पृ० ३४ ।

(२) हे (अमृत) मरणरहित अमृतस्वरूप ! हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! आत्मन् ! (शिशुं न) लोग बालक के प्रति जिस प्रकार प्रेम से आकृष्ट होकर उसको बार २ देखने की इच्छा से उस पर झुकते और प्रेम प्रकाश करते हैं (विश्वे देवा०) समस्त दिव्यगुणयुक्त सूर्य, चन्द्र, वायु आदि पदार्थ और विद्वान् गण उसी प्रकार (शिशुं) सर्वत्र गुप्त रूप से व्यापक (जायमानं) अपने सामर्थ्य से सर्वत्र प्रकट होने हारे आपको (अभि सनवन्ते) साक्षात् कर स्तुति करते हैं । हे (वैश्वानर) समस्त मनुष्यों के हृदयों में व्यापक ! वे विद्वान् योगी लोग (तव) आपके ही (क्रतुभिः) उपदिष्ट कर्मों और ज्ञानों द्वारा (अमृतत्वम् आयन्) अमृतत्व या मोक्षपद को प्राप्त करते हैं । और आपका रसरूप तेज (पित्रोः) मात पिता के बीच में पुत्र के समान ही देह के पालक प्राण और अपान के मध्य सुषुम्ना नाड़ी में (अदीदे०) प्रकाशित होता है ।

(३) (यज्ञाना) देवपूजा, सत्संग, मैत्री और समस्त दान पुण्य आदि परोपकार के कार्यों के (नाभिं) एकमात्र आश्रय, केन्द्र (रयीणां सदनं) समस्त ऐश्वर्यों और वीर्य-सामर्थ्यों के भण्डार (महां) बड़े भारी (आहावं) तृष्णा का शान्त करने के निमित्त सब को अपने प्रति बुलाने वाले जलाशय के समान जीवनाधार रस के समुद्र, आपको (देवाः) विद्वान् लोग (अभि सं नवन्ते) साक्षात् स्तुति करते हैं । और उसको (अध्वराणां) समस्त हिंसा रहित पवित्र कार्यों के (रथ्यम्) महारथी के समान वहन करनेहारे (वैश्वानरं) समस्त हृदयों में व्यापक, सबके नेता और (यज्ञस्य) आत्मा का (केतुं) ज्ञापक (जनयन्त) बतलाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[११४३] प्र वो मित्राय गायत वरुणाय विपा गिरा ।

१ २ ३ १ २

महि क्षत्रमावृतं घृतव्रत ॥१॥

३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १२ २२
[११४४] सम्राजा या घृतयोनी मित्रश्चोभा वरुणश्च ।
३ २ ३ १ १ ३ २
देवा देवेषु प्रशस्ता ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[११४५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य महो रायो दिव्यस्य ।
१ २ ३ २ ३ १ २
महि वां क्षत्रं देवेषु ॥३॥४॥ ऋ० ५ । ६ । १-३ ॥

भा०—(१) (वः) आप लोग (मित्राय) जीवन को स्नेह करने हारे प्राण और (वरुणाय) दोषों का वारण करने वाले अपान को या विद्वान् और उपदेशक को (विपा) ज्ञानयुक्त, मन से प्रेरित, सार्थक (गिरा) वाणी से (प्र गायत) स्तुति करो । हे मित्र और वरुण, (महि-क्षत्रा) बड़े बलशाली आप दोनों (बृहत्) बड़े भारी (ऋतं) सत्य आत्म-ज्ञान को प्रकाश करते हो ।

(२) (या) जो (मित्रः च वरुणः च) मित्र और वरुण प्राण और अपान हैं वे (उभा) दोनों (घृतयोनी) कान्ति, प्रकाश और तेज के उत्पत्ति-स्थान और (सम्राजा) स्वयं उत्तम रीति से प्रकाश देनेहारे (देवेषु) दिव्य पदार्थों, विद्वानों और इन्द्रियगण में (प्रशस्ता) प्रशंसा योग्य (देवा) सुख के दाता हैं ।

(३) (ता) वे दोनों (नः) हमारे लिये (पार्थिवस्य) पृथिवी और (दिव्यस्य) आकाश से होने वाले (महः) बड़े भारी (रायः) ऐश्वर्य सामर्थ्य को (शक्तं) भोगने और धारण करने में समर्थ हैं। (देवेषु) समस्त दिव्य पदार्थों और विद्वानों में (वां) आप दोनों का भी (महि क्षत्रं) बड़ा भारी बल है ।

१ २ २ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[११४६] इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥१॥
३ २

[११४९] तमीडिष्व यो अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत् ।
कृष्णा कृणोति जिह्वया ॥१॥
[११५०] य इद्ध आ विवासति सुम्नमिन्द्रस्य मर्त्य ।
द्युम्नाय सुतग अपः ॥२॥
[११५१] ता नो वाजवतीरिष आशून् पिपृतमर्वतः ।
एन्द्रमग्निं च वोढवे ॥३॥६॥ ऋ० ६ । ६० । १०–१२ ॥

भा०—(१) हे मनुष्य ! (तम् अग्निम्) उस सबके पापों के दहन करने हारे ज्ञानमय परमात्मा की (इडिष्व) उपासना कर (यः) जो (अर्चिषा) अपने तेज से (विश्वा) समस्त (वना) भोगने योग्य कर्म-बंधनों को वनों में अग्नि के समान (परिष्वजत) जा लगता है और जैसे अग्नि वनों में लगकर उनको जलाकर काला कर देता है उसी प्रकार वह अपनी (जिह्वया) अग्नि की ज्वाला के समान भस्म करने वाली शक्ति से सबको (कृष्णा) छिन्न भिन्न, दग्ध (कृणोति) कर डालता है । जंगलों को जला देने वाली अग्नि से कर्मदाहक ज्ञानाग्नि की तुलना है ।

(२) (यः मर्त्यः) जो मरणधर्मा मनुष्य (इद्ध) स्वयं प्रकाशित, ज्ञानवान होकर (इन्द्रस्य) आत्मा के (सुम्नं) सुख करने वाले ज्ञान को (आ विवासति) उद्घाटन करता है उस (द्युम्नाय) प्रकाशस्वरूप ज्ञानों के लिये (अपः) कर्म बन्धन (सुतरा) सुख से तरण योग्य हो जाते हैं ।

(३) हे प्राण और अपान ! (ता) वे आप दोनों (वाजवतीः इषः) ज्ञानसम्पन्न कामनाओं और (आशून्) शीघ्रगामी वेगवान् (अर्वतः) ज्ञानेन्द्रियों को (पिपृत) तृप्त करो जिससे हम (इन्द्रम् अग्निम् च) हम आत्मा और उस ज्ञानस्वरूप ईश्वर को (वोढवे) अपने में सुख से धारण करें ।

इति तृतीयः खण्डः ।

११४९—३. 'इन्द्रमग्निं च' इति ऋ० ।

[११५२] प्रो अयासीदिन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतं सखा सख्युर्न प्रमिनाति सङ्गिरम् । मर्य इव युवतिभिः समर्षति सोमः कलशे शतयामना पथा ॥१॥

[११५३] प्र वो धियो मन्द्रयुवो विपन्युवो मनस्युव: संवरणेष्वक्रमुः । हरिं क्रीडन्तमभ्यनूषत स्तुभो भि धेनव: पयसा दशिश्रयुः ॥२॥

[११८४] आ न: सोम सयतं पिप्युषीमिषमिन्दो पवस्व पवमान ऊर्मिणा । या नो दोहते त्रिरह्नसध्र्यी क्षुमद्वाजवत्म: सुमत्सुवीर्यम् ॥३॥७॥ ऋ० ९ । ९८ । १६-२८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४७] पृ० ७८० ।

(२) हे (सोमाः) विद्वान् पुरुषो ! (वः) आप लोगों की (धियः) प्रज्ञाएं, बुद्धियां, वाणियां (मन्द्रयुवः) आनन्दस्वरूप परमात्मा की तरफ लगी हुई (पनस्युवः) स्तुति करने की इच्छा करती हुई, (विपन्यवः) और स्तुति करती हुई (संवरणेषु) हृदयों में विशेषरूप से या विविध अन्तर्गृहों समाधियों, विद्वन्मण्डलों में (अक्रमुः) फैलती हैं । (स्तुभः) विद्वान् लोग (क्रीडन्तं) जगत् का सर्जन और (हरिं) प्रलय करने हारे परमात्मा को (इत्) ही (अभ्यनूषत) साक्षात् स्तुति करते हैं और (धेनवः) रसपान करने कराने हारे ध्यानवाले लोग भी अपने (पयसा) अन्नरस से, दुग्धरस से गौओं के समान उसको ही (अभि अशिश्रयुः) अपना आधार बनाते हैं । अथवा (धेनवः) वेदवाणियां (पयसा) अपने ज्ञानरस से उसका ही अभिषेक करती हैं ।

११५२—१. 'दशपवित्रा' २. 'अभ्यर्षन्त्यक्षरम्' 'सोम मनीषा अभ्यनूषत' 'दशां मृजिभिरु' 'पवमानो अजिगः' इति ऋ० ।

(२) (हे इन्दो) तेजस्विन् ! सोम ! (पवमान) सर्वत्र व्यापक ! (या) जो (नः) हमारे लिये (अहन्) दिन में (त्रि.) तीनवार (अस श्चुषी) बिना रोक टोक के (सुमत्) कीर्त्तियुक्त (वाजवत्) बलयुक्त, ज्ञानयुक्त (मधुमत्) आनन्दरस से पूर्ण (सुवीर्यम्) उत्तम बल (दोहते) प्राप्त करावे ऐसी (संयतं) उत्तम रीति से सुप्रबन्ध युक्त (पिप्युषीम्) सदा वृद्धि करने हारी (इषं) समृद्धि को (ऊर्मिणा) अपनी अनन्त शक्ति से (पवस्व) प्राप्त कराओ ।

२ ३ १२ २३ ३ २ ३ १२ ३ १ २
[११५५] नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम् ।
२ ३ २ ३ ३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २३
इन्द्रञ्च यन्नैर्धिष्वगूर्तमभ्वमधृष्टं धृष्णुमोजसा ॥ १ ॥
१ २ ३ १२ २३ ३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २
[११५६] अपाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः ।
१ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामीरनोनवुः ॥२॥
अ० ८ । ७० । २–४॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४३] पृ० १२४ ।

(२) (यस्मिन्) जिसके (जायमाने) प्रादुर्भाव होने पर (उरुज्रयः) अति वेगवान् पराक्रमी (महीः) बड़ी २ (धेनवः) गौओं के समान अधिक सम्पत्ति देनेहारे प्रजागण या विद्वानगण (अनोनवुः) झुकते और स्तुति करते हैं । उस (अपाढं) असह्य (पृतनासु सासहिं) सेनाओं में सबसे अधिक सामर्थ्य वाले शासक के प्रति (द्यावः) तेजस्वी, उत्तम श्रेणी के धनाढ्य और ज्ञानी पुरुषगण या साधारण प्रजाएं (क्षामीः) पृथिवी के निवासी जमींदार या भूपाल भी (अनोनवुः) विनयपूर्वक स्तुति करते हैं । आत्मपक्ष में–पृतना=इन्द्रियगण । धेनवः—वाणियां, वेद-ऋचाएं आधिदैविक पक्ष या ब्रह्मपक्ष में, धेनवः=वेदवाणियां, द्यावः, क्षामीः=तेजोमय लोक और पार्थिव लोक ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

११५५—'धृष्णुमोजसा' २. अपाळ्हं' 'द्याव. क्षमो' इति ऋ० ।

[११५७] सखाय आ निषीदत पुनानाय प्रगायत ।
शिशुन्न यज्ञैः परि भूषत श्रिये ॥ १ ॥
[११५८] सभी वत्सं न मातृभिः सृजता गयसाधनम् ।
देवाव्यमदमभि द्विशवसम् ॥ २ ॥
[११५९] पुनाता दक्षसाधनं यथा शर्धाय वीतये ।
यथा मित्राय वरुणाय शन्तमम् ॥ ३ ॥ ९ ॥

ऋ० ९ । १०४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६८] पृ० २८७ ।

(२) (मातृभिः) माताओं से जिस प्रकार (वत्सं न) बच्चे या बछड़े को उनका दूध प्राप्त करने के लिये मिलाया जाता है उसी प्रकार (इं) इस (सोमं) सोम रूप शुक्र को (मातृभिः) ज्ञान के साधन इन्द्रियों और मनन-शक्तियों से और (सोमं मातृभिः) जिज्ञासु शिष्य को ज्ञान कराने वाले गुरुओं से (अभि स सृजत) साक्षात् रूप से संयोजित करो । उस (गयसाधनम्) समस्त प्राणों को वश करने हारे, (देवाव्यं) दिव्य कान्ति, सामर्थ्य और बल के प्रेरक प्रकाशक या रक्षक (मदम्) हर्षकारक और (द्विशवसं) ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार के बल को धारण करनेहारे वीर्य तथा शिष्य को (अभि) उत्तम रूप से सम्पादन करो, शिक्षित करो ।

(३) (दक्षसाधनं) शरीर के बल को सम्पादन करने वाले इस सोम अर्थात् शुक्र को इस प्रकार (पुनात) सम्पादन करो, प्राप्त करो कि (यथा) जिस प्रकार वह (शर्धाय) शरीर के बल की वृद्धि और (वीतये) कान्ति के निमित्त हो । और (यथा) जिस प्रकार (मित्राय) प्राण और

११५८—'अभि द्विशवसम्' इति क्वचित् प्रमादिकः सायणादिभिश्चाप्यनुसृतः पाठः ।

(वरुणाय) अपान इन दोनों जीवनाधारों के लिये भी (शन्तमम्) अति अधिक सुख और कल्याणकारक हो ।

[११६०] प्र वाज्यक्षाः सहस्रधारस्तिरः पवित्रं वि वारमव्यम् ॥१॥

[११६१] स वाज्यक्षाः सहस्ररेता अद्भिर्मृजानो गोभिः श्रीणानः ॥२॥

[११६२] प्र सोम याहीन्द्रस्य कुक्षा नृभिर्येमाणो अद्रिभिः सुतः

॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । १०९ । १६–१८ ॥

भा०—(१) (वाजी) शक्तिमान्, ज्ञानी या आनन्दरस (सहस्रधारः) सहस्रों धारण करने वाली शक्तियों से युक्त होकर (अव्यं) ध्रुव, प्राणमय, (पवित्रं) पावन करने हारे (वारं) वरणीय, या दुःखों के वारक आत्मा को (तिरः वि प्र अक्षाः) साक्षात्, नाना प्रकार से उत्तम रीति से प्राप्त हो ।

(२) (सः) वह सोम योगी का आत्मा या आनन्दरस (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, (सहस्ररेता) सहस्रों पदार्थों का मूलकारण, सहस्रों शक्तियों से युक्त (अद्भिः) कर्मों और प्रज्ञाओं से (मृजानः) पवित्र होता हुआ, अधिक विस्पष्ट होता हुआ (गोभिः), वाणियों द्वारा (श्रीणानः), परिपक्व होकर (अक्षा) हृदय में प्रकट हो ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! (नृभिः) नेताओं द्वारा (येमानः) हृदय-देश में यम नियमों द्वारा या ईश्वर-प्रणिधान द्वारा विचार किया जाकर (अद्रिभिः) स्थायी अखण्डित तपःकर्मों, या ज्ञानी पुरुषों से (सुतः) साधित होकर (कुक्षौ) आत्माकाशरूप गुहा में (आयाहि) आ, प्रकट हो ।

[११६३] य सोमास परावति य अर्वावति सुन्विरे ।
य वादः शर्यणावति ॥ १ ॥

[११६४] य आजीकेषु कृत्वसु य मध्ये पस्त्यानाम् ।
य वा जनेषु पञ्चसु ॥ २ ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[११६५] ते नो वृष्टिं दिवस्परि पवन्तामा सुवीर्यम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
स्वाना देवास इन्दवः ॥४॥११॥ ऋ० ९ । ६५ । २२-२४ ॥

भा०—(१, २, ३) (ये) जो (सोमासः) सोम, विद्वान् लोग (परावति) दूर देश में और (ये) जो (अर्वावति) समीप-देश में और (ये वा) जो (शर्यणावति) विषम अरण्यभूमि में और जो (अर्जीकेषु) ऋजु और सरल, सम देशों में और जो (पस्त्याना) गृहमेधी, गृहस्थियों के (मध्ये) बीच में (कृत्वसु) बनाये हुए गृहों में, (ये वा) और जो (पञ्चसु) पांचों प्रकार के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र और पांचवें निषाद जो चारों वर्णों के भी धर्म पालन न कर सकने के कारण देश या नगर की सीमा से बाहर कर दिये जाते हैं उनमें भी (सोमासः) ज्ञान-सम्पन्न विद्वान् लोग हैं (ते) वे (नः) हमें (दिव०) आकाश या प्रकाश और शुभ पदार्थों की ज्ञान प्रकाश से उत्तम हितोपदेशों की (वृष्टिं) वर्षा अर्थात् अति अधिक राशि को (परिपवन्ता) दें और (सुवीर्यं) हमें उत्तम बल भी प्राप्त करावें । क्योंकि (देवासः) विद्या आदि शुभ दिव्य गुणों से युक्त विद्वान् (स्वानाः) ज्ञानी पुरुष ही (इन्दवः) सोम या 'इन्दु' कहाते हैं ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[११६६] आ त वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
२ ३ १ २ ३ १
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ १ ॥
३ २ ३ ३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २
[११६७] पुरुत्रा हि सदृङ्ङसि दिशो विश्वा अनु प्रभुः ।
३ १ २
समत्सु त्वा हवामहे ॥ २ ॥

[११६८] समत्स्वग्निमवसे वाजयन्तो हवामहे ।
वाजेषु चित्रराधसम् ॥३॥१२॥ ऋ० ८ । ११ । ७–९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८] पृ० ४ ।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! (पुरुत्रा) समस्त प्रजाओं को आप (सदृङ्) समान दृष्टि से देखने वाले (असि) हो । (विश्वा दिशः, अनु) समस्त दिशाओं में (प्रभुः) आप ही ईश्वर, उत्तम सामर्थ्यवान् हो। (समत्सु) आनन्द, उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों पर (त्वा) तेरी ही (हवामहे) याद करते हैं ।

(३) हम (समत्सु) एकत्र आनन्द उत्सवों, यज्ञों और संग्रामों के अवसरों में (वाजेषु) ज्ञान, बल और अन्नादि के प्राप्ति, उत्पत्ति और वृद्धि के कार्यों में (वाजयन्तः) ज्ञानों और ऐश्वर्यों की कामना करते हुए या बल प्राप्त करते हुए हम (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (अग्निम्) आगे के नेता-स्वरूप, आचार्य, परमगुरु परमात्मा का ही (हवामहे), स्मरण-करते हैं ।

[११६९] त्व न इन्द्राभर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे ।
आ वीरं पृतनासहम् ॥ १ ॥
[११७०] त्व हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अधा ते सुम्नमीमहे ॥ २ ॥
[११७१] त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाजयन्तमुपब्रुवे सहस्कृत ।
स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ १३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [४०५] पृ० २०६ ।

(२) हे (वसो) सब में निवास करने हारे सर्वव्यापक ! (त्वं हि) आप ही हमारे (पिता) पालक हैं । (त्व) आप (माता) माता के

समान उत्पादक और ज्ञानदाता (बभूविथ) हैं । (अथ) और हे (शतक्रतो) सैकड़ों ज्ञानों, कर्मों को अनायास सम्पादन करने वाले ! हम (ते) आपके (सुम्न) आनन्द, सुख की (ईमहे) प्रार्थना करते हैं ।

(३) हे (शुष्मिन्) सर्वशक्तिमन् ! हे (पुरुहूत) बहुतों से स्तुति योग्य हे (सहस्कृत) सब बलों और बलशाली शक्तिमान् पदार्थों के उत्पादक ! (वाजयन्तम्) ज्ञान और बल को दान करने हारे आपसे मैं (उपश्रुवे) प्रार्थना करता हूं कि (नः) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम बल, वीर्य और पुत्र, तेज और यश का (रास्व) प्रदान करें ।

[११७२] यदिन्द्र चित्र म इहनास्ति त्वादातमद्रिवः ।
राधस्तन्नो विदद्वस उभया हस्त्याभर ॥ १ ॥

[११७३] यन्मन्यसे वरेण्यमिन्द्र शुष्मन्तदाभर ।
विद्याम तस्य ते वयमकूपारस्य दावनः ॥ २ ॥

[११७४] यत्ते दिक्षु प्रराध्यं मनो अस्ति श्रुतं बृहत् ।
तेन दृढा चिदद्रिव आ वाज दर्षि सातये ॥ ३ ॥ १४ ॥

ऋ० ५ । १६ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३४२] पृ० १०६ ।

(२) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (यत्) जो (शुष्मम्) अन्न, धन और यश आप (वरेण्यं) वरण करने योग्य श्रेष्ठ (मन्यसे) जानते हैं (तद्) वही (आभर) हमें प्राप्त करावें । (तस्य) उस अचिन्त्य महिमा वाले (अकूपारस्य) अति सुन्दर, अनिन्दनीय, असीम परम आनन्द के

११७२—'उपश्रुवे सहस्कृत' इति ऋ० ।
११७३—'दावने' । ११७४—'यत्ते दिक्षु' इति ऋ० ।

सागरस्वरूप, सबको उत्तमरूप से पालन करने हारे (ते) तुझ (दावनः) दानशील के दान को हम ('विद्याम) प्राप्त करें ।

(३) हे (अदिव॰) ज्ञानस्वरूप या प्रलय करने हारी शक्ति के मालिक ! (यत्) जो (ते) तेरा (दिक्षु) समस्त दिशाओं में (पराभ्यं) उत्तम रूप से आराधन करने योग्य, (बृहत्) बड़ा विशाल, (श्रुतं) श्रवण करने योग्य (मन॰) मनन करने योग्य बल और ज्ञान है (तेन) उस से ही (दृढाचित्) पुष्ट, उत्तम (वाजं) ज्ञान और बल को (सातये) सबको समान रूप से दान करने के लिये (आदर्षि) खण्ड २ करके, अनुभव और विचारक्रम से देते हो ।'

इति षष्ठ खण्ड ।

इति द्वितीयोऽर्धं ।'

इति चतुर्थः प्रपाठकः समाप्तः । इत्यष्टमोऽध्यायः समाप्त ॥

अथ पञ्चमः प्रपाठकः (प्रथमोर्धः)

अथ नवमोऽध्यायः ।

ऋषि॰—१ प्रतर्दनो दैवोदासिः । २–४ अग्निः काश्यपो देवलो वा । ५, ७।१ उचथ्यः । ६, ७ अमहीयुः । ८, १२ निध्रुवि काश्यप॰ । ९ वसिष्ठः । १० सुकक्षः । ११ कविः । १३ देवातिथिः काण्वः । १४ भर्गः प्रागाथः । १५ अम्बरीषः । ऋजिश्वा च । १७ अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वराः । १८ उशना काव्य । १९ नृमेध॰ । २० जेता माधुच्छन्दस॰ ॥ देवता—२–८, ११, १३, १५–१७ पवमान. सोमः । ९, १८ अग्नि॰ । १०, १३, १४, १९, २० इन्द्रः ॥ छन्दः—२–११, १५, १८ गायत्री । त्रिष्टुप् । १२ जगती । १३ बृहती । १४

आगाथ । १६, २० अनुष्टुप् १७ द्विपदा विराट् । १९ उष्णिक् ॥ स्वरः—२—११, १५, १८ षड्जः । १ धैवतः । १२ निषाद० । १३, १४ मध्यम० । १६, २० गान्धार० । १७ पञ्चमः । १९ ऋषभ० ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[११७५] शिशुं जज्ञानं हर्यतं मृजन्ति शुम्भन्ति विप्रं मरुतो गणेन।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

कविर्गीर्भिष्काव्येन कविः सन्त्सोमः पवित्रमत्येति रभन्॥१॥

१ २ १ १ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ २ २ १

[११७६] ऋषिमना य ऋषिकृत्स्वर्षा० सहस्रनीथः पदवीः कवीनाम्। तृतीयं धाम महिषः सिषासन्त्सोमो विराजमनु राजनि ष्टुप् ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[११७७] त्रयूषच्छ्येनः शकुनो विभृत्वा गोविन्दुर्द्रप्स आयुधानि बिभ्रत्। अपामूर्मिं सचमानः समुद्रं तुरीयं धाम महिषो विवक्ति ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ९। ९६। १७–१९ ॥

भा०—(१) विद्वान् लोग (मरुत गणेन) अपने प्राणों के गण प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, देवदत्त, कृकल, धनंजय, नाग, कूर्म आदि, अथवा मूर्धा स्थान के ७ प्राणों द्वारा (जज्ञानं) ज्ञान प्राप्त करने हारे (हर्यतं) कान्तिस्वरूप, सब का प्रकाशक (विप्रं) ज्ञान और कर्म से सम्पन्न, (शिशुं) शरीर में शयन करने हारे, आत्मा को (मृजन्ति) शुद्ध करते और (शुम्भन्ति) नाना गुणों से सुशोभित करते हैं। (कवि०) क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी मेधावी, पुरुष (काव्येन) क्रान्तदर्शी परम ज्ञानी परमेश्वर के ज्ञानमय वेदमय काव्य से (कविः) अन्यों को ज्ञान देने हारा (सन्[1]) परमगति को प्राप्त मुक्त होकर (सोमः) सोम्यगुणवान् आनन्द और शमादि से सम्पन्न आत्मा (पवित्रं) सब पतितों के पावन परमात्मा

११७५—'वह्नि मरुतो' इति ऋ० ।

की (रेभन्[२]) अर्चना, ध्यान, गुणगान करता, हुआ (अति एति) कर्म बन्धन को पार कर जाता है ।

(२) (य) जो (ऋषिमनाः) मन्त्रद्रष्टा के समान मनन शक्ति से युक्त, स्वयं (ऋषिकृत्) अपने आपको ऋषि, तत्वदर्शी बनाने हारा, विवेकी, (स्वर्षाः) स्वयं उत्तम २ सब पदार्थों के मर्मों का द्रष्टा, (सहस्रनीथः) सहस्रों प्रकार से ईश्वर की स्तुति करने हारा, या सहस्रों सुख और ज्ञान औरों को प्राप्त कराने हारा (कवीनां) बहुत मेधावी प्रज्ञावान् पुरुषों को (पदवीः) ज्ञान प्राप्त कराने हारा, सन्मार्ग का दर्शक स्वयं (महिषः) महान् है, यह मुमुक्षु जीव (तृतीयं) तीसरे (धाम) लोक को अथवा इस कर्मबन्धन को पार करके प्राप्त होने योग्य परम ज्योति स्वरूप मोक्ष को (सिषासन्) प्राप्त करता हुआ, (विराजम्) विराट परमेश्वर की (स्तुप्) स्तुति करता हुआ (अनु राजति) उसके अनुग्रह से आनन्द प्राप्त करता है और सद्गति को प्राप्त होता है ।

(३) (चमूषत्) अपनी ग्राहक इन्द्रिय-शक्तियों में पूर्ण रूप से विराजमान (श्येन) गतिशील आत्मा कर्मबन्धन को पार करके मोक्ष मार्ग से गमन करने हारा, (शकुनः) शक्तिसम्पन्न, (विभृत्वा) समस्त लोकों में विहार करने में स्वतन्त्र होकर (गोविन्दुः) समस्त ज्ञान-रश्मियों और आदित्यमय लोक या परमब्रह्म को प्राप्त करने हारा जितेन्द्रिय या समस्त लोकों को प्राप्त करने हारा, (आयुधानि) सकल सामर्थ्यों को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ, (महिषः) महिमा में सम्पन्न, महत्व को प्राप्त होकर (अपा) समस्त लोकों के (ऊर्मिम्) प्रेरक (समुद्रं) समुद्र के समान एकमात्र उत्कृष्ट सब के आश्रय परमेश्वर को (स्तवमानः) भजन करता हुआ (तुरीयं) मोक्षस्वरूप (धाम) आनन्द को (विवक्ति) प्राप्त करता है । इस सूक्त में परमहंस की परमगति का स्पष्ट वर्णन है, ऐसे परम मुक्ति लाभ करने हारे को वेद गोविन्दु, शकुन, श्येन आदि नामों से,

पुकारता है । पौराणिकों ने गरुड़ गोविन्द, समुद्रशायी आदि की कल्पना इन्हीं शब्दों के आधार पर की प्रतीत होती है ।

[११७८] एते सोमा अभि प्रियमिन्द्रस्य काममक्षरन् ।
वर्धन्तो अस्य वीर्यम् ॥१॥

[११७९] पुनानासश्चमूषदो गच्छन्तो वायुमश्विना ।
ते नो धत्त सुवीर्यम् ॥२॥

[११८०] इन्द्रस्य सोम राधसे पुनानो हार्दि चोदय ।
देवानां योनमासदम् ॥३॥

[११८१] मृजन्ति त्वा दश क्षिपो हिन्वन्ति सप्त धीतय. ।
अनु विप्रा अमादिषु: ॥४॥

[११८२] देवेभ्यस्त्वा मदाय कं सृजानमति मेष्य. ।
सं गोभिर्वासयामसि ॥५॥

[११८३] पुनान. कलशेष्वा वस्त्राण्यरुषो हरि ।
परि गव्यान्यव्यत ॥६॥

[११८४] मघोन आ पवस्व नो जहि विश्वा अप द्विष: ।
इन्द्रो सखायमाविश ॥७॥

[११८५] नृचक्षसं त्वा वयमिन्द्रपीतं स्वर्विदम् ।
भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥८॥

[११८६] वृष्टिं दिव परिस्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि ।
सहो न: सोम पृत्सु धा: ॥९॥२॥ ऋ० ९ । ८ । १-९ ॥

१-१७८—९. 'धरसुतीयन', 'मृतस्य योनि' इति 'नवम्याष्टम्यो व्यत्यय., ऋ०' ।

भा०—(१) (एते सोमाः) ये सोम्यगुणसम्पन्न विद्वान्गण (अस्य) इस इन्द्र के (वीर्यं) सामर्थ्य या यश को (वर्धन्तः) बढ़ाते हुए, फैलाते हुए (इन्दस्य) ईश्वर के (प्रियं) उत्तम (कामम्) अभिलषित धर्म, सृष्टि के उत्पादन, रक्षा और परोपकार आदि को (अक्षरन्) प्रकाशित करते हैं।

(२) (चमूषद·) अपने ज्ञान ग्रहण शक्तियों में जितेन्द्रिय होकर विराजमान (पुनानास) पवित्र होते हुए (अश्विना) प्राण और अपान दोनों और (वायुम्) सबके प्रेरक आत्मा को, (गच्छन्तः) उपलब्ध करते हुए (तेन) उस परमेश्वर या अपने भीतरी इन्द्र स्वरूप आत्मा के बल पर (उ) ही (सुवीर्यम्) उत्तम यश, बल और सामर्थ्य को (धत्त) धारण करते हैं।

(३) हे (सोम) साधक ! (राधसे) इन्द्रस्वरूप परमात्मा की आराधना के लिये (हार्दि) हृदय में विराजमान (देवाना) देवगण, इन्द्रियों तथा पञ्चभूतों के (आसदं) प्रतिष्ठास्थान और (योनिं) मूल-कारण चिति शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर।

(४) हे (सोम) योगिन् (त्वा) तुझको (दश) दश (क्षिपः) यम और नियम, या दश धर्मलक्षण, या दश प्राण (मृजान्ति) पवित्र; परिशोधन करते हैं और (सप्त) सात (धीतयः) ज्ञानेन्द्रिय या मूर्धा में स्थित सप्त छिद्रों में प्रवाहित प्राणशक्तियें, या सात स्थानों में लगाई गई ध्यानवृत्तियां, (हिन्वान्ति) तुझको पूर्ण आनन्दित करती, बढ़ाती हैं। (विप्राः) ज्ञानी पुरुष तुझको लक्ष्य करके, तेरे अनुकूल होकर (अमादिषु) प्रसन्न होते हैं।

(५) (देवेभ्य·) इन्द्रियगण या विद्वानों को (मदाय कं) आनन्दलाभ करने और आनन्दकारी, ज्ञान से तृप्त करने के लिये (मेष्य·) आत्मा में

आनन्दरस वर्षण करने वाली प्राण शक्ति को (अति) पार करके (सृजान॰) वर्त्तमान आत्मानन्दरस को (गोभि॰) वेदवाणियों द्वारा (सं वासयामसि) आच्छादित करते हैं। उसका वेदवाणियों द्वारा वर्णन करते हैं।

(६) (कलशेषु) हृदय प्रदेशों में (पुनानः) पवित्र होता हुआ (अरुषः) कान्तिमान् (हरिः) दुःखहारी, व्यापक आनन्दरस (गव्यानि) वेदवाणियों या प्राणों के बने (वस्त्राणि) आच्छादनों को (परि अव्यत) धारण करता है, उनसे परे चला जाता है।

(७) हे (इन्दो) आत्मन्! (मघोनः) सम्पत्तियों से युक्त ज्ञानवान् (नः) हमारे प्रति तू (आपवस्व) प्रकट हो। और (विश्वाः) समस्त (द्विषः) दूसरे के प्रति अप्रेम या द्वेष के भावों को (अप) दूर कर। (सखायम्) परम सखा परमात्मा में (आविश) प्रवेश कर, उसे प्राप्त कर।

(८) हे (सोम) साधक आत्मन् (स्वर्विदः) मोक्ष सुख को प्राप्त करने और जानने हारे (इन्दपीतं) ईश्वर के अनुग्रह से, या आत्मा के अपने ही रस से तृप्त (नृचक्षसम्) समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने हारे (त्वा) तुझको हम (भक्षीमहि) सेवन करें और (प्रजाम्) उत्तम सन्तान और (इषम्) बल, अन्न और सत् ज्ञान को भी (भक्षीमहि) प्राप्त करें।

(९) हे (सोम) परमात्मन् (दिव॰) अपने तेजमय प्रकाश से आकाश से मेघ के समान (पृथिव्याः अधि) पृथिवी के ऊपर (वृष्टिं) सुखों की वर्षा (परिस्रव) बरसा। और (द्युम्नं) तेज, यश या धन और (सह॰) सहन शक्ति, या बल को (नः) हमारी (पृत्सु) इन्द्रियों और प्रजाओं में (धा॰) धारण करा।

इति प्रथम खण्डः।

—.0:—

[११८७] सोम पुनानो अर्षति सहस्रधारो अत्यवि.।
वाथोरिन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

[११८८] पवमानमवस्यवो विप्रमभिप्रगायत ।
सुष्वाणं देववीतये ॥२॥

[११८९] पवन्ते वाजसातये सोमा. सहस्रपाजसः ।
गृणाना देववीतये ॥३॥

[११९०] उत नो वाजसातये पवस्व बृहतीरिष. ।
द्युमदिन्दो सुवीर्यम् ॥४॥

[११९१] अत्या हियाना न हेतृभिरसृग्रं वाजसातये ।
विचारमव्यमाशवः ॥५॥

[११९२] ने न. सहस्रिणं रयिं पवन्तामा सुवीर्यम् ।
स्वाना देवास इन्दवः ॥६॥

[११९३] वाधा अर्षतीन्दवोऽभि वत्सं न मातरः ।
दधन्विरे गभस्त्योः ॥७॥

[११९४] जुष्ट इन्द्राय मत्सर. पवमान कनिक्रदत् ।
विश्वा अप द्विषो जहि ॥८॥

[११९५] अप घ्नन्तो अराव्ण पवमाना. स्वर्दृशः ।
योनावृतस्य सीदत ॥९॥३॥ ऋ० ९ । ६३ । १–९ ॥

भा०—(१) (सोमः) आत्मा, (पुनान) पवित्र करने हारा (सहस्रधारः) हज़ारों, अनेक अगणित शक्तियों से सम्पन्न होकर (वायोः) सर्वव्यापक (इन्दस्य) परमात्मा के (निष्कृतं) कर्म-बन्धनों से परे परम पद को (अत्यवि.) प्राण के आवरण को पार करके (अर्षति) प्राप्त होता है।

(२) हे (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले विद्वान् लोगो ! (पवमानं) सब को पवित्र करने हारे (विप्रम्) विशेष ज्ञान से और आनन्द से सबको पूर्ण करने हारे, (देववीतये) परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (सुष्वाणं) उत्तम रूप से प्रकट होने हारे उत्तम ज्ञान को या प्रसव या उत्तम प्रेरणा करने हारे उस आत्मा को (अभि प्र गायत) लक्ष्य कर स्तुति करो।

(३) (सहस्रपाजसः) सहस्रों ज्ञानों से युक्त, सहस्रों आत्मिक बलों से युक्त (सो.मा.) शमदम आदि गुण से सम्पन्न विद्वान् गण (देववीतये) परमात्मा को प्राप्त करने के लिये (गृणानाः) उसकी स्तुति करते हुए (पवन्त) अपने आत्मा को पवित्र करते हैं।

(४) हे (सोम) सबके उत्पादक ! (नः) हमें (वाजसातये) ज्ञान प्राप्त करने के लिये (बृहती. इष.) बड़ी २ प्रेरणायें, दीप्तियें, शक्तियें (पवस्व) प्रकाशित कर। हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! हमें (द्युमत्) दिव्य गुणों से युक्त (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्य भी दो।

(५) (वाजसातये) ज्ञान और सुख के लाभ के लिये (हियाना.) प्रयत्न करते हुए (आशव) मोक्ष या ज्ञान मार्ग से भी शीघ्रगति करते हुए विद्वान् लोग (हेतृभि) साधनों से (अप्यं वारं) तामस या प्राकृतिक या प्राणमय आवरण को (वि-अति-असृप्रन्) पार कर जाते हैं।

(६) (ते) वे (इन्दवः) योगिजन (देवाप्यः) विद्वान् पुरुष (स्वानाः) साधना करते हुए (न.) हमारे लिये भी (सुवीर्यम्) उत्तम बलयुक्त, यश उत्पादक (सहस्रिणं) हज़ारों तत्वों के प्रदर्शक (रयिम्) ज्ञान और ऐश्वर्य को (पवन्ताम्) प्राप्त करें और प्रकट करें।

(७) (वाश्रा॰) उत्तम उपदेश करनेहारे (मातरः) ज्ञान सम्पादन करने हारे (इन्दव॰) विद्वानगण परमात्मा के प्रति इसी प्रकार (अर्षन्ति) जाते हैं जैसे (मातर॰ वत्सं न) गौवें अपने बच्चे के प्रति जाती हैं । और वे (गभस्त्यो) उसी प्रकार प्राण अपान दोनों के बल से अपने को (दधन्विरे) धारण करते हैं, स्थिर, दृढ बनाये रहते हैं।

(८) हे (पवमान) परमपावनकारी ! तू (इन्द्राय) परमात्मा के लिये (जुष्ट॰) प्रेम करने हारा साधक (मत्सर॰) अपने ही में सदा सुप्रसन्न आत्मानन्द, स्वत॰ तृप्त (ऋनिक्रदत्) सबको समान भाव से उपदेश करके (विश्वाः) समस्त (द्विषः) द्वेष करने हारे प्राणियों को और द्वेष बुद्धियों को (जहि) नाश कर अर्थात् अजात शत्रु हो जा ।

(९) हे (पवमान) समस्त संसार को अपने धर्माचरणों से पवित्र करते हुए, पक्षिपावन (स्वर्दृश॰) मोक्ष सुख का दर्शन करने वाले आप लोग (अराव्ण) दान रहित, कदर्यवृत्तियों को (अप घ्नन्त) दूर करते हुए (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (योनौ) परम आश्रय, ब्रह्म में (सीदत) प्राप्त होवो ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

—:o:—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[११९६] सोमा असग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य धारया ।

१ २ ३ १ २

इन्द्राय मधुमत्तमाः ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १

[११९७] अभि विप्रा अनूषत गावो वत्सं न धेनवः ।

२ ३ १ १ ३ १ २

इन्द्रं सोमस्य पीतये ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[११९८] मदच्युत् क्षमि साधन शिन्धोरूर्मा विपश्चित् ।

१ २ ३ १ २ ३ २

सोमा गौरी अधिश्रितः ॥ ३ ॥

३ १र २र ३ २ ३ १ ३
[११९९] दिवो नाभा विचक्षणोऽव्या वारे महीयते ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
सोमो यः सुक्रतु· कविः ॥ ४ ॥
१र २र ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२००] य· सोमः कलशेष्वा अन्तः पवित्र आहितः ।
२ड ३ १ २
तमिन्दु परिषस्वजे ॥ ५ ॥
२ड ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१२०१] प्र वाचमिन्दुरिष्यति समुद्रस्याधि विष्टपि ।
२ ३ १ २ ३ १ १
जिन्वन् कोशं मधुश्चुतम् ॥ ६ ॥
१ २ ३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२०२] नित्यस्तोत्रो वनस्पतिर्धेनामन्तः सवर्दुघाम् ।
३ १र २र ३ २
हिन्वानो मानुषा युजा ॥ ७ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २
[१२०३] आ पवमान धारय रयिं सहस्रवर्चसम् ।
३ १ २ ३ १ २
अस्मे इन्दो स्वाभुवम् ॥ ८ ॥
३ २ ३ २ ३ २ ३ २ड ३ १र २र ३ २
[१२०४] अभि प्रिया दिव कविर्विप्रः स धारया सुतः ।
१ २ ३ १ २
सोमो हिन्वे परावति ॥ ९ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । १२ । १–९ ॥

भा०—(१) (इन्दाय) परमेश्वर के निमित्त (मधुमत्तमा·) अमृतमय ज्ञानों से सम्पन्न (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (धारया) धारा, व्यवस्था, या वाणी से (सुता) प्रेरित हुए (इन्दव) ज्ञानैश्वर्यादि से सम्पन्न सब के आह्लादक (सोमाः) शुभ गुणों से युक्त विद्वान् लोग (असृग्रम्) उत्पन्न होते हैं ।

(२) (वत्सं न) जिस प्रकार बछड़े के प्रति (धेनवः) दूधार (गावः) गौएं हंभारती हैं, प्रेम से उसको अपने प्रति बुलाती हैं उसी प्रकार (सोमस्य पीतये) ज्ञानरस का पान करने के लिये (इन्दं)

अपने आत्मा और ऐश्वर्यवान् परमात्मा को (विप्रा॰) मेधावी लोग प्रेम से (अनूषत) स्तुति करते हैं, उसके सत्यगुणों का स्मरण करके उस को पुकारते हैं ।

(३) (विपश्चित्) ज्ञान और कर्म फल का सञ्चय करने वाला, (मदच्युत्) हर्ष और आनन्द का जनक, (सोमः) शमादि सम्पन्न, विद्वान् पुरुष, (गौरी) वेदमयी वाणी में (अधिक्षितः) आश्रय पाकर (मद-च्युत्) ज्ञानी होकर (सादने) अपने आश्रय देने वाले (ऊर्मौ) ऊर्ध्व गति की तरफ़ लेजाने हारे (सिन्धौ) सिन्धु के समान सब को गति देने, सबको बांधने और अपने में आश्रय देने हारे, प्राणों के प्राण और ज्ञान के समुद्र परमात्मा में (रेभति) निवास करता है ।

(४) (विचक्षण॰) विशेष तत्व का द्रष्टा, (कवि) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (सुक्रतु) उत्तम प्रज्ञावान्, (दिवः) समस्त द्यौलोक को (नाभौ) अपनी शक्ति में बांधने वाले (अव्याः वारे) महान् प्रकृति को भी आवरण करने हारे परमात्मा या प्राण के बने अन्त.करण में (महीयते) महत्व को प्राप्त करता, बड़ी शक्ति प्राप्त करता है ।

(५) (य॰) जो (सोम॰) आनन्दमय परमात्मा (कलशेषु) अन्तःप्राप्त देहों में अन्तर्यामी होकर विराजता और (पवित्रे) पवित्र हुए आत्मा के बीच (आहित॰) विशेष रूप से प्रकट होता है (तम्) उसको (इन्दु॰) ज्ञानी पुरुष, जीव (परि सस्वजे) जा चिपटता है, आश्रय कर लेता है, उसमें प्रविष्ट होता है ।

(६) (इन्दु॰) ज्ञानी पुरुष (समुद्रस्य) समस्त आनन्द-रसों के सागर परमेश्वर के (अधिविष्टपि) परम तेज या ज्ञानरूप परमपद में विराजमान होकर (मधुश्चुतम्) परम आनन्दरस को देने हारे, आनन्द-मय (कोश) कोश को (निन्वन्) प्राप्त करता हुआ, मधुमय पुरुष कोश:

को प्राप्त भौंरे के समान (वाचं) स्तुतिमय वेदवाणी के उत्तम ज्ञान को (इष्यति) प्राप्त करता है ।

(७) (वनस्पति॰) समस्त लोकों का स्वामी (नित्यस्तोत्र॰) नित्य-स्तुतिकर्त्ता ज्ञानी, (युजा) योग सम्पादन करने हारे (मानुषा) मनुष्यों के (अन्त॰) भीतर (सवर्दुघाम्) सुख, परमानन्द रस का दोहन करने वाली (धेना) सरस्वती या आनन्द पान कराने वाली ज्ञानमयी चिति शक्ति को (हिन्वान॰) प्रेरण करने और उसके बल को बढ़ाने हारा है ।

(८) हे (पवमान) सर्वव्यापक ! हे (इन्दो) तेज॰स्वरूप ! (सहस्रवर्चसम्) सहस्रों दीप्तियों से युक्त, (स्वाभुवम्) उत्तम सामर्थ्य से सम्पन्न, (रयिं) ऐश्वर्य और बल को (अस्मे) हमें (धारय) धारण करा ।

(९) (कवि॰) क्रान्तदर्शी, (सुतः) ज्ञानसम्पन्न ! विद्वान् (परावति) परम रक्षास्थान, परमात्मा में स्थित होकर (विप्रः) मेधावी (धारया) परमात्मा से प्राप्त अपनी धारणा शक्ति या रसधारा से (सः) वह (दिव) सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल (प्रिया) अति उत्तम कान्तियुक्त लोकों में (अभि हिन्वे) विहार करता है ।

इति तृतीय॰ खण्ड॰ ।

---

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२०५] उच्चे शुष्मास ईरते सिन्धोरूर्मेरिव स्वनः ।
३ १ २ ३ २
वाणस्य चोदया पवित्रम् ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ १
[१२०६] प्रत्यवे न उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः ।
२ ३ ३ २ ३ १ २
यदव्य एषि सानवि ॥ २ ॥

१२०५—[१] अभ्यो वारे' इति ऋ० ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२०७] अव्या वारै॰ परि प्रिय हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।
१ २ ३ १ २
पवमानं मधुश्चुतम् ॥ ३ ॥
१ २ ३ ३ २ १ २
[१२०८] आपवस्व मदिन्तम पवित्रं धारया कवे ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
अर्कस्य योनिमासदम् ॥ ४ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२०९] स पवस्व मदिन्तम गोभिरञ्जानो अक्तुभि. ।
१ २ ३, २
एन्द्रस्य जठर विश ॥ ५ ॥ ५ ॥ अ० ९ । ५० । १-५ ॥

भा०—(१) हे सोम ! (सिन्धोः) नदी या समुद्र के (ऊर्मेः) उमड़ने वाले तरङ्ग का (इव) जिस प्रकार (स्वनः) ध्वनि (उत् ईरते) उठता है उसी प्रकार (ते) तेरे (शुष्मासः) बल और शक्तियों के तरङ्ग भी सर्वत्र उठते हैं, प्रकट होते हैं । तू (वाघत्स्व) इस संसार या इस शरीर के (धीं) वाणी या प्रवर्तक शक्ति को (चोदय) प्रेरित कर ।

(२) (ते) तेरे (प्रसवे) प्रकट होने पर (मखस्युवः) तेरी अर्चना के इच्छुक भक्तजन की (तिस्र वाचः) तीनों प्रकार की वेदवाणियां ज्ञानमय गानमय और कर्ममय, ऋक्, साम, यजु॰ स्वरूप उस समय (उत् ईरते) उठती हैं, प्रकट होती हैं । जब तू (अग्ये) चितिशक्ति या प्राण के बने (सानौ) उन्नत मस्तक देश या आनन्द प्रकट करने वाले अन्तःकरण में (पवसे) धारणा द्वारा प्रकट होता है ।

(३) विद्वान् लोग (प्रियं) तृप्तिकर, उत्कृष्ट, (हरिं) दुःखों को दूर करने हारे, (पवमानं) हृदय को पवित्र करने वाले, (मधुश्चुतम्) अमृतरस को चुआने वाले उस प्रभु को (अद्रिभिः) योगसाधनों या गुरुओं, ज्ञानियों द्वारा उपदिष्ट साधनों से (अग्याः वारैः) चितिशक्ति की वृत्तियों धारणा और निदिध्यासनादि व्यापारों द्वारा (हिन्वन्ति) साक्षात् करते हैं, उत्पादन करते हैं ।

(४) हे (मदिन्तम) सबमे अधिक आनन्द प्राप्त करनेहारे आत्मन् ! हे (कवे) मेधाविन् ! विद्वन् ! (अर्कस्य) प्रकाशमान परमात्मा के (योनिं) परम स्थान को (आसद) प्राप्त होने के लिये (धारया) अपनी धारणा शक्ति या वाणी से (पवित्रं) स्वच्छ, शुद्ध, उस पतितपावन के प्रति (आपवस्व) गति कर, उसकी तरफ़ लौट जा उसकी स्तुति कर ।

(५) हे (मदिन्तम) आनन्द प्रदान करने हारे आत्मन् ! (अ-क्तुभि) ज्ञान-साधनों और (गोभिः) आदित्यरश्मियों, वेदवाणियों द्वारा (अञ्जान·) अभिव्यक्त और भी प्रकाशमान होकर (सः) वह परम रूप होकर (पवस्व) क्षरित हो, गति कर, उद्योग कर और (इन्दस्य) ऐश्वर्यशील परमात्मा के (जठरे) भीतर गर्भ में (विश) प्रवेश कर, उसी में रम ।

इति चतुर्थ· खण्डः ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१२१०] अया वीती परिस्रव यस्त इन्दो मदेष्वा ।

३ १ २ ३ १ २ २

अवाहन्नवतीर्नव ॥ १ ॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२११] पुरः सद्य इत्था धिये दिवो दासाय शंबरम् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

अध त्यं तुर्वशं यदुम् ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २

[१२१२] परि नो अश्वमश्वविद्गोमदिन्दो हिरण्यवत् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

क्षरा सहस्रिणीरिष ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० । ९ । ६१ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४९५] पृ० २४६ ।

(२) हे सोम ! (इत्था धिये) सत्य प्रज्ञानों से युक्त और सत्यकर्मों (दिवोदासाय) सूर्य के समान ज्ञानमय प्रकाश में निवास करनेहारे, जीवन्मुक्त पुरुष के लिये (शंबरं) सुख, कल्याण के विनाशक बल (तुर्वशं)

हिंसक स्वभाव, क्रोध और (यद्युं) नियम करने योग्य काम को (अध) भी (अव अहन्) नाश करता है ।

(२) हे (इन्दो) रसरूप आत्मन् ! (अश्वविद्) इन्द्रिय और मन को उत्तम रूप से लाभ करने हारा, (गोमत्) ज्ञानेन्द्रियों और (हिरण्यवत्) हरणशील प्राणेन्द्रियों से युक्त (अश्वं) मन को वश करके (नः) हमें (सहस्रिणी.) सहस्रों प्रकार से वर्त्तने वाली या बलवती (इषः) कामनाओं को (धर) पूर्ण कर ।

[१२१३] अपघ्नन् पवते मृधोऽप सोमो अराव्ण. ।
गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥१॥

[१२१४] महो नो राय आभर पवमान जही मृध. ।
रास्वेन्दो वीरवद्यश. ॥२॥

[१२१५] न त्वा शतं चन हुतो पधो दित्सन्तमामिनन् ।
यत् पुनानो मखस्यसे ॥३॥७॥ ऋ० ९ । ६१ । २५–२७ ॥

भा—(१) (सोम) परमात्मा (इन्द्रस्य निष्कृतं गच्छन्) जीव आत्मा के पवित्र अन्तःकरण में प्रकट होता हुआ (अराव्णः मृधः) सुख न देने हारे, दुःखदायी कारणों को (अपघ्नन्) विनाश करता हुआ (पवते) प्रकट होता है ।

(२) हे (पवमान) हे सबको पवित्र करने हारे परमात्मन् ! (नः) हमें (रायः) नाना प्रकार की धन धान्य सम्पदाएं (आ भर) प्राप्त करा । (मृध) हिंसक शत्रुओं को (जहि) नाश कर । हे (इन्दो) ऐश्वर्यशील हमें (वीरवत्) पुत्र पौत्रों से युक्त (यशः) यश और सम्पत्ति का (रास्व) दान कर ।

(३) हे (सोम) परमात्मन् ! या आचार्य ! उपदेशक ! विद्वन् ! (राधः) ज्ञानरूप साधनों का ज्ञानोपदेश (दित्सन्तम्) करने की इच्छा

वाले (त्वा) आपको (शतं चन) सैकड़ों भी (हुनः) कुटिलाचारी हिंसक पुरुष (न अभिनन्) नहीं मार सकते । (यत्) क्योंकि पुनान.) सबको पवित्र करते हुए आप (मखस्यमे) सबको ज्ञान का प्रदान करना चाहते हो।

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१२१६] अया पवस्व धारया यया सूर्यमरोचयः ।

३ १र २र ३ २

हिन्वानो मानुषीरपः ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र

[१२१७] अयुक्त सूर एतशं पवमानो मनावधि ।

३ १ २ ३ १ २

अन्तरिक्षेण यातवे ॥२॥

३ २ङ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२१८] उत त्या हरितो रथे सूरो अयुक्त यातवे ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ २

इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन् ॥३॥८॥ ऋ० ९ ६३ । ७-९ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४९३] पृ० २४६ ।

(२) (पवमानः) आत्मा को पवित्र करने हारा (सूरः) सूर्य के समान ज्ञानी (मनौ) मननशील चित्त में (अन्तरिक्षेण) भीतर के हृदयाकाश में, या परमसुख, या मोक्ष मार्ग में (यातवे) जाने के लिये (एतशं) अश्व के समान गमन साधन मन को (अयुक्त) योगसमाधि द्वारा ईश्वर से मिला, उसके प्रति जोड़ें ।

(३) (इन्दुः) ईश्वर के प्रति द्रुतगति से जाने हारा (सूरः) ज्ञानी, योगी (उत) भी (त्या हरित.) उन हरणशील प्राणों को (इन्दुः) 'परमेश्वर ही (इन्द्र) परम ऐश्वर्यवान् हैं' इति) इस प्रकार (ब्रुवन्) कहता हुआ (रथे) अपने रमण करने योग्य परब्रह्म में ही आपको (अयुक्त) योगसमाधि से जोड़ दे ।

इति पञ्चमः खण्ड. ।

१२१६—'हरितो वक्ष' इति ऋ० ।

[१२१९] ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
अग्निं वो देवमग्निभिः सजोषा यजिष्ठं दूतमध्वरे
२ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
कृणुध्वम् । या मर्त्येषु निध्रुविर्ऋतावा तपुर्मूर्धा घृतान्नः
३ २
पावकः ॥१॥
२ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२२०] प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन् यदा महः संवरणादव्यस्थात्।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
आदस्य वातो अनुवाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णं
२
मस्ति ॥२॥
१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२२१] उद्यस्य ते नवजातस्य वृष्णोऽग्ने चरन्त्यजरा इधाना ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
अच्छा द्यामरुषो धूम एषि सं दूतो अग्न ईयसे हि देवान्
॥३॥६॥ ऋ० ७ । ३ । १-३ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् गण ! (यः) आप लोग (अग्निभिः) सूर्यादि अग्नियों के समान प्रकाश करने हारे विद्वानों के साथ (सजोषाः) समान रूप से प्रेम करने हारे, निष्पक्षपात, (यजिष्ठ) दानशील पुण्यकर्मा (अग्निम्) तेजस्वी, अग्निसम, विद्वान को (अध्वरे) हिंसारहित धर्म कार्यों और व्यवहारों में (दूत) दूत के समान अपना संदेशहर (कृणुध्वम्) बनाओ (यः) जो (मर्त्येषु) मनुष्यों में (निध्रुवि) खूब स्थिर निश्चय वाला, धैर्यवान् (ऋतावा) सत्याचारी, सत्यकर्मा, (तपुः) तपस्या युक्त सहनशील और राजाओं को तापकारी, (मूर्धा) सब में शिर के समान मुख्य और (घृतान्न) तेजस्वी, सात्विक भोजन करने हारा (पावकः) पवित्रकारी है । अध्यात्मपक्ष में-शेष अग्नियों, इन्द्रियादि सात उषाल्लार्चियों से युक्त उस अग्नि, ज्ञानवान् आत्मा को अपने जीवन रूप अध्वर=यज्ञ में दूत, उपदेशक या मार्गदर्शी, प्रेरक बनाओ जो मरणधर्मा पुरुषों में भी आत्मा रूप से अचल सत्यज्ञानी, तपस्वी, मूर्धन्य, तेजस्वी और

हृदय को पवित्र करने हारा है । परमात्म पक्ष में–(अग्निभि॰ सजोषा॰) सूर्यादि समस्त तेजों में भी व्यापक (घृताम्न॰) तेजोयुक्त समस्त हिरण्यगर्भादि लोकों को प्रलय काल में अपने में लीन करने हारा (तपुः) सब का तापक, (पावकः) सब का शोधक, (निधुवि॰) नित्य ध्रुव (अतावा) सत्य स्वरूप, सत्योपदेष्टा है उसको अपने समस्त कार्यों में ज्ञानदाता गुरु समझो ।

(२) (प्रोथत्) शब्द करता हुआ (अश्वः न) अश्व जिस प्रकार (अविष्यन्) भोजन करने की कामना से (यवसे) घास पर जाता है उसी प्रकार (यदा) जब (मह) महान् श्रेष्ठ (संवरणात्) संवरण निरोधस्थान या वरण योग्य उत्तम ब्रह्मचर्याश्रम, या गुरुगृह से अपने यश और धनादि प्राप्ति और गृहस्थादि भोग्य आश्रमों के लिये (वि अस्थात्) बाहर आता है और (आत्) अनन्तर (अस्य) इसके (शोचि॰) तेज के (अनु) अनुकूल (वातिः) प्राण भी (वाति) गति करता है (अध) तब ही हे विद्वान् ! (ते) तेरा (व्रजन) मार्ग या गमन करना (कृष्णम्) समस्त लोकों को अपनी ओर आकर्षण करने वाला (अस्ति) होता है । ब्रह्मचर्य करने के बाद गृहस्थ में भी उत्तम सदाचार और स्वस्थता से व्यवहार और जीवन यापन करने वाले विद्वानों के जीवनपथ पर दुनिया भी खिंची चली आती है । मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्या॰ पार्थ सर्वश॰ । गीता ।

(३) हे अग्ने ! (नवजातस्य) सावित्री के गर्भ से अभी नये ही बाहर आये नवस्नातक, (वृष्णः) ज्ञानों के वर्षण करने हारे (यस्य ते) जिस तेरे (अजरा) जरारहित होकर बलवान् प्रखर, (इधाना) तेज (उद्यरान्ति) प्रकट होते हैं । और (अरुषः) कान्तिमान् (धूम॰) प्रतिपक्षियों में कम्पना उत्पन्न करने हारा होकर (यामन्) सूर्य या तेज प्रकाशक और ज्ञान को (एषि) प्राप्त करता है वह तू हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! (देवान्) विद्वानों के प्रति (दूत) ज्ञान सदेश ले जाने के लिये दूत या

गुरु के समान उस तक (ईयसे) पहुंचता है। साधक की आत्मा के भीतर जब नया ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है उस समय विशोक चितिशक्ति या प्रदीप्त आत्मा की जो दशा होती है उसका भी वर्णन इन तीनों मन्त्रों में साथ ही किया है। तीसरे में—अजरा=प्राणगण। घूम=प्राणों को गति देने हारा आत्मा। दूत=गतिशील, प्रेरक आत्मा। देवान्=इन्द्रियों को। ईयसे=प्राप्त होता है, वश करता है। शेष स्पष्ट है।

१र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२२२] तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे।
१ २र ३ १ २
स वृषा वृषभो भुवत् ॥१॥
१ ३ १र २र ३ १र २र ३ १र २र ३ २
[१२२३] इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठ स वल हितः
३ २ ३ २क ३ २
द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥२॥
३ २क २ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१२२४] गिरा वज्रो न सम्भृत स वलो अनपच्युतः।
३ २ ३ १र २र
ववक्ष उग्रो अस्तृतः ॥३॥१०॥ ऋ० ८। ६३। ७—९॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [११६] पृ० ६४

(२) (सः) वह (इन्द्र) इन्द्र परमेश्वर (दामने) समस्त सुख देने में (कृतः) समर्थ, (ओजिष्ठ) सबसे अधिक बलशाली होने के कारण (सः) वह (वलं) बल योग्य, संसार के उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि विशाल कार्य में (हित) लगा हुआ है। वही (द्युम्नी) यशस्वी, (श्लोकी) वेदमय स्तुतियों से युक्त और (सोम्यः) उत्तम गुणों से सम्पन्न है।

(३) (सः) वह (वज्रः) बलवान् (अनपच्युतः) कभी अपने कर्त्तव्य जगत् रचनादि कार्यों से न डिगने वाला (उग्रः) दुर्जनों के प्रति

१२२२—'ववक्ष ऋघ्व' इति ऋ०।

अति उग्रस्वभाव (अस्तृतः) कभी न हिंसित (वज्र. न) विघ्न नाशक आयुध के समान (गिरा) वेदवाणी द्वारा (सम्भृत.) उत्तम रीति से धारण किया गया (ववक्षे) संसार का धारण करता है ।

इति पञ्च० खण्डः ।

---

१ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ २ ३ १ २
[१२५] अध्वर्यो अद्रिभिः सुत सोम पवित्र आनय ।
३ १ २ ३ १ २
पुनाहीन्द्राय पातवे ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ १
[१२६] तव त्य इन्दो अन्धसो देवा मघोऽशत ।
१ २ ३ १ २
पवमानस्य मरुतः ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१२७] दिव पीयूषमुत्तम सोमेन्द्राय वज्रिणे ।
३ २ ३ १ २
सुनोता मधुमत्तमम् ॥३॥११ अ० ६ । ५१ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल म० [४६६]पृ० २४८ ।

(२) हे (इन्दो) सोम ! आत्मन् ! परमात्मन ! (पवमानस्य) पवित्र करने हारे, या स्वयं पवित्र, (मघो) अमृतरसस्वरूप ते) तेरे (अन्धस.) जीवन धारण करने की शक्ति या उपभोग्य आनन्दरस का (ये) वे (मरुत) प्राणस्वरूप (देवा) देव अर्थात् तेजस्वी सूर्य आदि और विद्वान्जन (वि आशत) विविध प्रकार से उपभोग करते हैं ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (दिव पीयूषम्) आकाश को आनन्द से भर देने वाले, चन्द्रालोक के समान अति शीतदायक, ज्ञानस्वरूप प्रकाश के (पीयूषम्) अमृतरसस्वरूप, (मधुमत्तम्) अति मधुर, आनन्दकारी, (सोमम्) ब्रह्मानन्दरस को (वज्रिणे ज्ञान और वैराग्य रूप वज्र के धारण करने हारे (इन्द्राय) आत्मा के लिये (सुनोत) उत्पन्न करो ।

११२५—१. 'पुनाहीन्द्राय' ऋ० ।

[१२२८] धर्त्ता दिवः पवते कृत्व्यो रसो दक्षा देवानामनुमाद्यो
नृभिः । हरिः सृजानो अत्यो न सत्वभिर्वृथा पाजांसि
कृणुषे नदीषु वा ॥१॥

[१२२९] शूरो न धत्त आयुधा गभस्त्योः स्वा३: सिषासन् रथिरो
गविष्टिषु । इन्द्रस्य शुष्ममीरयन्नपस्युभिरिन्दुर्हिन्वानो
अज्यते मनीषिभिः ॥२॥

[१२३०] इन्द्रस्य सोम पवमान ऊर्मिणा तविष्यमाणो जठरे
ष्वाशिश । प्र न पिन्व विद्युदभ्रेव रोदसी धिया नो वाजी
उपमाहि शश्वतः ॥२॥१२॥ ऋ० ९ । ७६ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५५८] पृ० २९ ।

(२) (शूर न) जिस प्रकार शूरवीर योद्धा अपने (गभस्त्योः) दोनों हाथों में (आयुधा) नाना प्रकार के हथियार (धत्ते) धारण करता है उसी प्रकार सोमस्वरूप साधक अपने प्राण और अपान नामक ग्रहण साधनों से नाना ज्ञानसाधनों को, या ईश्वर को प्राप्त करने के साधनों को धारण करे और (रथिरः) रथी, वीर के समान (गविष्टिषु) गौ=इन्द्रियों या वेद मन्त्रों के इष्ट मार्गों में (स्वः) सुख को (सिषासन्) यथावत् प्राप्त करता हुआ (इन्द्रस्य) अपने आत्मा के (शुष्मम्) बल या प्राण को (ईरयन्) प्रेरित करता हुआ (अपस्युभिः) सिद्ध, कर्मयोगी (मनीषिभिः) विद्वानों द्वारा (हिन्वानः) अपने योगमार्ग में ज्ञानोपदेश द्वारा प्रेरित होता हुआ (इन्दुः) परमैश्वर्य सम्पन्न होकर (अज्यते) ज्ञान, प्रकाशों द्वारा देदीप्त हो ।

१२२८—कृणुत, १२३०—प्र ण पिन्व इति ऋ० ।

(३) हे (सोम) ब्रह्मानन्द के साधक मुमुक्षो ! हे (पवमान) हृदय को पवित्र करने हारे ! तू (ताविष्यमाण.) महान् सामर्थ्यवान् होकर (इन्द्रस्य) परमात्मा के (जठरेषु) बनाये हुए या प्राणियों को उत्पन्न करने हारे लोकों में (ऊर्मिणा) ऊर्ध्वगति द्वारा (आविश) प्रविष्ट हो ! (विद्युत् अभ्रा इव) जिस प्रकार विद्युत उत्पन्न होकर मेघों को जल बरसाने के लिये पूर्ण करती है उसी प्रकार तू (रोदसी) प्राण और अपान दोनों को पूर्ण कर और (न) हमारे लिये (शश्वत.) बहुत से (वाजान्) बलों और ज्ञानों को (उप माहि) उत्पन्न कर ।

१ २ ३ २ज ३ २ ३क २र ३ २ ३ १ २
[२१३१] यादेन्द्र प्रागपागुदग्न्यग्वा हूयसे नृभि ।
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ ३ १ २
सिमा पुरुनृषूनो अस्यानवसि प्रशर्द्ध तुर्वशे ॥१॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२३२] यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
कण्वास्त्वा स्तोमेभिर्ब्रह्मवाहस इन्द्रा यच्छन्त्यागहि
॥२॥१३॥ ऋ० ८ । ४ । १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७६] पृ० १३४ ।

(२) हे इन्द्र ! आप (रुमे) रमणीय, (रुशमे) हिंसक (श्यावके) गतिमान और (कृपे) सामर्थ्यवान् पुरुष में (सचा) समान भाव से (मादयसे) आनन्द और हर्ष को प्राप्त कराते हो । (ब्रह्मवाहस.) ज्ञान धारण करने हारे (कण्वास.) मेधावी पुरुष (त्वा) तुमको (स्तोमेभिः) अपनी स्तुतियों द्वारा (यच्छन्ति) बांधते हैं, वश करते या प्राप्त होते हैं । तू (आगहि) आ, दर्शन दे । यहां आत्मा के प्रति सम्बोधन करके कहा गया है । 'रुम,' 'रुशम,' 'श्यावक' और 'कृप' ये चार शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र चारों प्रकार के स्वभावों को दर्शाते हैं । "जात पांत पूछे नहीं कोई हरिको भजे सो हरिको होई ।"

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ १२
[१२३३] उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २३ १ २
सनाच्या मघवान्त्सोमपीतय धिया शविष्ठ आगमत् ॥१॥
२उ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २ ३ १ २
[१२३४] तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसा धिषणे निष्टतक्षतुः ।
३ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उतोपमानां प्रथमो निषीदसि सोमकामं हि ते मनः ।
॥ २ ॥ १४ ॥ ऋ० ८ । ६१ । १, २ ॥

भा० —(१) व्याख्या देखो आर्विकल सं० [२६०] पृ० १४८ ।

(२) (हि) क्योंकि (तं) उस (स्वराज) स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वतः सबके प्रकाशक, (वृषभम्) समस्त सुखों के वर्षक, परमेश्वर को (धिषणे) आकाश और पृथिवी (ओजसा) अपने बल से (निः ततक्षतुः) धारण करती हैं । हे प्रभो ! तू (उपमाना) ज्ञानयोग्य अथवा अपने बनाये समस्त पदार्थों के भी (प्रथमः) प्रथम ज्ञानोपदेश करने हारा या रचने हारा होकर उनमें (निषीदसि) गुप्तरूप से व्यापक है । (ते) तेरे (मनः) मन, संकल्प या ज्ञान सामर्थ्य सदा (सोमकामं हि) सबको प्रेरणा करने वाला, सबका उत्पादक, इच्छामय कारणरूप संकल्प मात्र है ।

'सोऽकामयत बहु स्या प्रजायेय' इत्यादि प्रकार का सृष्टि रचने का भगवान् का संकल्प समस्त पदार्थों में व्यापक है, जो सर्वत्र अद्भुतरूप से स्थावर, जंगम एवं दिव्य सृष्टियों को बराबर बनाता है और उन सबमें भगवान् स्वतः व्यापक भी है । (तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् निरुक्तं चानिरुक्तं च । इत्यादि (तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द वल्ली २। अनु० ६।) आकाश और पृथिवी परमात्मा को अपने भीतर धारण करती हैं। जैसे (मुण्डकोपनि० २ मु० व० १. क० ४) "अग्निर्मूर्धा, चक्षुषी चन्द्र-

१२३३—२, 'तमोजसे' इति ऋ० ।

सूर्यौ ।दिश. श्रोत्रे, वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो, हृदयं ।विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी, ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा" । अथवा छान्दोग्य में, वैश्वानर प्रकरण में- "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मोऽऽत्मा संदेहो बहुलो, बस्तिरेव रयिः, पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनः आस्यमाहवनीयः ।" (छा० उप० अ० ५ । ख० १७) अथवा स्वयं वेद श्रुति–'यस्य भूमिः प्रमाऽन्तरिक्षमुतोदरम् । दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।" (अथर्व० का० १० । सू० ८ । म० १)

इति सप्तमः खण्डः ।

[१२३५] पवस्व देव आयुषगिन्द्रं गच्छतु ते मदः ।
वायुमारोह धर्मणा ॥ १ ॥

[१२३६] पवमान नि तोशसे रयिं सोम श्रवाय्यम् ।
इन्दो समुद्रमाविश ॥ २ ॥

[१२३७] अपघ्नन् पवसे मृधः क्रतुर्वित्सोम मत्सरः ।
नुदस्वा देवयुं जनम् ॥३॥१५॥ ऋ० ९ । ६३ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४८३] पृ० २४२ ।

(२) हे (पवमान) सोम ! विद्वन् ! आप (श्रवाय्यं) यश और कीर्ति के जनक अथवा वेद द्वारा श्रवण करने योग्य (रयिं नितोशसे) आत्मज्ञान रूप ऐश्वर्य को प्रदान करते हो एवं अभ्यास करते हो । अतः हे (इन्दो) ज्ञान-प्रकाशक ! आप (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर, अगाध, ज्ञानमय परमात्म ज्ञान में (आविश) प्रवेश करें ।

१२३५—'प्रिय. सप्तः' इति ऋ० ।

(१) अन्वाय संहितायां 'अथाऽऽत्मा पाप्मनो मृत्यो०' इत्यादेन ऋक्लोकमुपलभ्यते ॥

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४६२] पृ० २४५ ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२३८] अभी नो वाजसातमं रयिमर्ष शतक्रतुम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्दो सहस्रभर्णसन्तुविद्युम्नं विभासहम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[१२३९] वयं ते अस्य राधसो वसोर्वसो पुरुस्पृह' ।

१ २२ ३ १२ २२ ३ १ २

नि नेदिष्ठतमा इषः स्याम सुम्ने ते अधिगो ॥ २ ॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ २ ४ ३ १ २

[१२४०] परि स्य स्वानो अक्षरदिन्दुरव्यं मदच्युतः ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १२ २२ ३ २

धारा य ऊर्ध्वो अध्वरे भ्राजा न याति गव्ययुः ॥३॥१६॥

ऋ० ६ । ६८ । १, ५, ३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५४६] पृ० २७५ ।

(२) हे (अधिगो) ध्रुव ! सबसे अधिक शक्तिशालिन् ! हे (वसो) सबके अन्तर्यामिन् ! (वयं) हम लोग (ते वसो.) सब को वास देने हारे और सब में बसने हारे तेरे (पुरुस्पृहः) सब को प्रेम करने-हारे और सब के प्रेमपात्र (अस्य राधसः) इस आराधनीय (इषः) सब के प्रेरक, सब के इच्छा के विषय, जीवन और अन्नादिक शक्तिस्वरूप के (नेदिष्ठतमाः) अति निकटवर्ती होकर हम (ते सुम्ने) तेरे सुखमय स्वरूप में (नि स्याम) रहें ।

(३) (यः) जो (इन्दुः) सोम अर्थात् वीर्य, (गव्ययुः) गौः= इन्द्रियों में व्याप्त होने वाला या इन्द्रियों की शक्ति से युक्त (न) जिस प्रकार (भ्राजा) अपनी दीप्ति से, (अध्वरे) हिंसारहित जीवन या

१२३८—अन्यासु संहितासु प्रतीकमात्रम् अभी नो वाजसातम०' ।

१२३९—'वयं ते अस्य वृत्रहन् वसो वस्वः पुरुस्पृह.'...'स्याम सुम्नस्याधिगो' ।

१२४०—'परिष्टानो अक्षरत्' 'भ्राजानेति' इति ऋ० ।

प्राणायाम और योगसमाधि रूप यज्ञ में (धारा) धारणा सामर्थ्य वा निष्ठा या वाणीरूप से (कर्ष्व.) ऊर्ध्व प्रदेशों में (याति) गमन करता है। (स्यः) वही (स्वानः) पुनः सूक्ष्म नाड़ीजालों में क्षरित होकर (मदच्युतः) आनन्द-रूप अमृत का स्रवण करता हुआ (इन्दुः) कान्तिमान् होकर (अव्ये) प्राणमय कोश में बल से (अक्षरद्) क्षरित होता या प्रकट होता है।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १र २र

[१२४१] पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां विश्वाभि धाम॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

[१२४२] शुक्रः पवस्व देवेभ्यः सोम दिव पृथिव्यै शं च प्रजाभ्यः॥२॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

[१२४३] दिवो धर्त्तासि शुक्र. पीयूष. सत्ये विधर्मन् वाजी पवस्व

॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ९ । १०९ । ४–६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [४२९] पृ० २१६॥

(२) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्रः) शुद्धस्वरूप, कान्तिमान् (दिवः) आकाश और दिव्य, जाज्वल्यमान सूर्य में तेजःस्वरूप होकर (पृथिव्यै) पृथिवी में जलस्वरूप और अन्नस्वरूप होकर (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं के लिये अन्न, ओषधि और वीर्यरूप होकर (शं) कल्याणकारक, शान्तिदायक और आनन्ददायक है।

(३) हे (सोम) सर्वोत्पादक ! तू (शुक्र) तेज.स्वरूप, शुक्ल, कान्तिमान् (दिव.) सूर्य को भी (धर्त्ता) धारण करने हारा, (सत्ये) सत्यस्वरूप (विधर्मन्) विश्व को नाना रूप से धारण करने हारे परमेश्वर में (पीयूष.) समस्त जीवों द्वारा पान करने, उनको तृप्त कर अनुकूल संवेदन करने योग्य, अनन्त आनन्दस्वरूप, (वाजी) बलवान्, ऐश्वर्यवान् होकर (पवस्व) प्रकाशित हो।

इति अष्टम खण्डः ।

१२४१—३. 'प्रजाये' इति ऋ०।

[१२४४] प्रप्रं वो अग्निमर्चे स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ १ ॥

[१२४५] कविमिव प्रशंस्यं य देवास इति द्विता ।
नि मर्त्येष्वादधुः ॥ २ ॥

[१२४६] त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ३ ॥ १८ ॥अ० ८ । ८४ । १-३ ॥

(१) व्याख्या देखो अधिकल्प सं० [५] पृ० ३ ।

(२) (देवासः) विद्वान् लोग (प्रशंस्यं) उत्तम रीति से स्तुति करने योग्य, (कविम् इव) क्रान्तदर्शी, मेधावी के समान (इति) इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से (यं) जिसको जानकर (द्विता) दो रूपों में (मर्त्येषु) मनुष्यों में (नि-आदधुः) धारण करते हैं ।

विद्वानों की दृष्टि में आत्मा के दो रूप हैं--एक समस्त संसार में व्यापक सर्वज्ञानी परमेश्वर और दूसरा कर्मकर्त्ता और फल भोक्ता जीव दोनों का सामान्य नाम 'आत्मा' है ।

(३) हे (यविष्ठ) सब में व्यापक ! सबसे अधिक शक्ति वाले ! (त्वं) तू (दाशुषः) दानशील, उदार होकर (नॄन्) मनुष्यों को (पाहि) पालन कर । (गिरः) स्तुति वाणियों को (शृणुहि) श्रवण कर । (उत) और (त्मना) स्वयं अपने सामर्थ्य से (तोक) बालक या उसके समान कार्य जगत् की (रक्ष) रक्षा कर ।

[१२४७] एन्द्र नो गधि प्रिय सत्राजिदगोह्य ।
गिरिर्न विश्वतः पृथुः पतिर्दिवः ॥ १ ॥

१२४४—२. 'कविमिव प्रचेतसं', 'अव द्विता' ३, शृणुधी गिरः' इति ऋ० ।

३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२४८] अमि हि सत्य सोमपा उभे चभूथ रोदसी ।
२र ३ २ ३ १र २र ३ २
इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः ॥ २ ॥
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र
[१२४९] त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि ।
३ २ड ३ १ २ ३ १र २र ३ २
हन्ता दस्योर्मनो वृधः पतिर्दिव ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ८ । ६८ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६३] पृ० २०२ ।

(२) हे (सत्य) सत्यस्वरूप परमात्मन् ! (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवन् ! आप (सोमपाः) समस्त संसार के पालन करने वाले, प्रलय काल में सब संसार को स्वयं सूक्ष्म कारण रूप में अपने भीतर पान अर्थात् लीन करने हारे हो । आप (उभे) दोनों (रोदसी) लोकों को या उत्पत्ति और विनाशरूप दोनों मर्यादाओं को (बभूथ) वश करने में समर्थ हो । आप (सुन्वतः) उत्पन्न होते या अपनी शक्ति से प्रेरणा करते हुए (दिवः) सूर्य या प्रकाश को भी (वृधः) बड़े भारी, बढ़ानेहारे (पतिः) मालिक हो ।

(३) हे (इन्द्र) परमात्मन् ! आप (शश्वतीनां) अनादिकाल, से चले आये (पुराम्) देहरूप पुरों के (दर्ता) धारण करने हारे, मुक्तिदायक (असि) हो । (दस्योः) नाशकारी अज्ञान के (हन्ता) नाश करने वाले और (मनोः) मननशील ज्ञानी आत्मा के (वृधः) बढ़ाने वाले और (दिवः) सूर्य तथा उसके समान देदीप्यमान आदित्य योगी पुरुषों और ज्ञानी और ज्ञान-प्रकाश के भी (पतिः) स्वामी हो ।

१२४७—३. धर्त्ता पुराम् इति पाठः सायणसम्मतः । परमार्थतस्तु सायणोऽपि 'दारयिता इत्येव' पर्यायमुल्लिखति । मुम्बई, अजमेरादिमुद्रितो 'धर्त्ता' इति पाठस्तु माध्यन्दिनाशुद्धः । 'पुरामिन्दुरित्यादिशुक्लयजुरन्तरविरोधाच्च ।

[१२५०] पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत ।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः ॥ १ ॥
[१२५१] त्वं बलस्य गोमतो पावरद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अबिभ्युषस्तुज्यमानास आविषुः ॥ २ ॥
[१२५२] इन्द्रमीशानमोजसाभिस्तुतमरंमतिम् ।
सहस्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः ॥ ३ ॥ २० ॥
ऋ० १ । ११ । ४, ५, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३५६] पृ० १८६ ।

(२) हे (अद्रिव) दीर्घ या विनाश न होने वाले अविनाशी स्वरूप वाले आत्मन् ! । त्वं) तू (गोमत) इन्द्रियों से युक्त (बलस्य) प्राण के (बिलम्) प्रवेशस्थान शरीर बन्धन को (अप अव०) खोल देता है, (देव) समस्त अग्नि आदि देव (अबिभ्युष०) तेरी रक्षा में भय न करते हुए (तुज्यमानास०) पीड़ित होकर अथवा तुझ से ही शक्ति प्राप्त करते हुए । (त्वा) तेरे पास (आ अविषुः) शरण में प्राप्त होते हैं ।

जैसा ऐतरेयोपनिषद् में—"ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्" ता एनमब्रुवन् आयतनं नः प्रजानीहि ""ताभ्यः पुरुषमानयत् । ता अब्रुवन् सुकृतं वतेति पुरुषो वाव सुकृतम् । ताः अब्रवीद् यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥ अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशद्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशद् ।" इत्यादि समस्त देवताओं को पुरुष शरीर में प्रविष्ट कराकर आत्मा इन्द्रस्वरूप स्वयं नान्दन द्वार से प्रविष्ट होगया । "स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नामद्वास्तदेतन्नान्दनम् ।" इत्यादि प्रकरण में इस मन्त्र का रहस्य खोला गया है । (ऐतरेय उप० अ० १ । ख० २ । ३)

१२५०—२. 'गोमतोऽपाव', ३. 'अभिस्तोमा' इति ऋ० ।

(३) हे विद्वानो ! (ओजस्या) अपने ओज बल और वीर्य से (ईशानं समस्त संसार को वश करने हारे मालिक (इन्द्र) परम आत्मा की (स्तोमै.) वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूषत) स्तुति करो । (यस्य) जिसके (रातय.) दिये हुए दान हज़ारों और (उत) और भी (भूयसी.) बहुत अधिक (सन्ति) हैं ।

इति नवमः खण्ड. ।

इति प्रथमोऽर्धः प्रपाठक. ।

इति नवमोऽध्याय. समाप्तः ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ पञ्चमप्रपाठकस्य (द्वितीयार्धः) प्रपाठकः ।

ऋषि —१ पराशरः । २ शुन.शेपः । ३ असित काश्यपो देवलो वा । ४, ७ राहूगणः । ५, ६ नृमेधः प्रियमेधश्च । ८ पवित्रो वसिष्ठौ वोभौ वा । ९ वसिष्ठ. । १० वत्सः काण्वः । ११ शत वैखानसाः । १२ सप्तर्षय. । १३ वसुर्भारद्वाज. । १४ नृमेधः । १५ भर्ग प्रागाथः । १६ भरद्वाज. । १७ मनुराप्सवः । १८ अम्बरीष ऋजिश्वा च । १९ असयो धिष्ण्याः ऐश्वरा. । २० अमहीयुः । २१ त्रिशोक. काण्वः । २२ गोतमो राहूगण । २३ मधुच्छन्दा वैश्वामित्र. ॥ देवता—१—७, ११—१३, १६-२० पवमान सोमः । ८ पावमान्यध्येतृस्तुतिः । ९ अग्नि. । १०, १४, १५, २१—२३ इन्द्र ॥ छन्द.—१, ९ त्रिष्टुप् । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ गायत्री । ८, १८, २३ अनुष्टुप । १३ जगती । १४ निचृद्बृहती । १५ प्रागाथ. । १७, २२ उष्णिक् । १२, १९ द्विपदा पक्ति. ॥ स्वरः—१, ९ धैवतः । २—७, १०, ११, १६, २०, २१ षड्जः । ८, १८, २३ गान्धार. । १३ निषादः । १४, १५ मध्यम. । १२, १९ पञ्चम. । १७, २२ ऋषभ. ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १

[१२५६] ३ २ ३ १र २र ३ १ २
एष देवो अमर्त्यः पर्णवीरिव दीयते ।
३ १र २र ३ १ २
अभि द्रोणान्यासदम् ॥ १ ॥

[१२५७] ३ २ १ २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २
एष विप्रैरभिष्टुतोऽपो देवो विगाहते ।
२ ३ १ २ ३ १ २
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २ ॥

[१२५८] ३ १र २र ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एष विश्वानि वार्या शूरो यन्निव सत्वभिः ।
१ २
पवमानः सिषासति ॥ ३ ॥

[१२५९] ३ २ ३ २ २ ३ १ २
एष देवो रथर्यति पवमानो दिशस्यति ।
३ १ २ ३ २
आविष्कृणोति वग्वनुम् ॥ ४ ॥

[१२६०] ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
एष देवो विपन्युभिः पवमान ऋतायुभिः ।
२ ३ १ २
हरिवाजाय मृज्यते ॥ ५ ॥

[१२६१] ३ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
एष देवो विपाकृनोऽतिह्वरांसि धावति ।
१ २ ३ १ २
पवमानो अदाभ्यः ॥ ६ ॥

[१२६२] ३ २ड ३ १ ३ ३ १र २र ३ १ २
एष दिवं विधावति तिरो रजांसि धारया ।
१ २ ३ १ २
पवमानः कनिक्रदत् ॥ ७ ॥

[१२६३] ३ २ड ३ १ २ ३ २ड ३ १ २
एष दिवं व्यासरत्तिरो रजांस्यस्तृतः ।
१ २ ३ २
पवमान स्वध्वरः ॥ ८ ॥

[१२६४] ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
एष प्रत्नेन जन्मना देवो देवेभ्यः सुतः ।
३ २ ३ १ २
हरिः पवित्र अर्षति ॥ ९ ॥

[१२६५] ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
एष उ स्य पुरुव्रतो जज्ञानो जनयन्निषः ।
१ २ ३ २
धारया पवते सुतः ॥१०॥२॥ऋ० ९।३।१,१४,५,३,२,७ १०॥

भा०—(१) (देवः) प्रकाशमान, (अमर्त्यः) मरणरहित, अमृत-स्वरूप जीव (द्रोणकलशानि) द्रोण कलशों, अर्थात् देहों के (अभि) प्रति (आसदम्) प्रवृत्त होकर उनमें विराजने के लिये (पर्णवी. इव) पक्षी या किरणों से युक्त सूर्य के समान या पत्तों से युक्त वृक्ष के समान (दीयते) प्राप्त होता या उनमें विराजता है ।

द्रोण अर्थात् गति करने का स्थान और कलश अर्थात् कला या खण्ड २ संचय करके बना हुआ । फलतः यह शरीर द्रोणकलश है । इनमें शुक्रस्वरूप दीप्तिमय चेतनावान् आत्मा 'सोम' है । वह इन शरीरों में निवास करने के लिये पिञ्जरे में पक्षी के समान आता है । इस आत्मा के साम और इन्द्र विषयक अलंकार का स्पष्टीकरण देखो (यजुर्वेद अ० २० । मं० ८६-९५) यथा-"आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः । श्येनस्य पत्रं न शीहा शचीभिरासन्दी नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥ इत्यादि ।

(२) (एषः) वह आत्मा (विप्रैः) मेधावी, ज्ञानी पुरुषों द्वारा (अभिस्तुतः) ठीक २ प्रकार से साक्षात् करके वर्णित किया हुआ (देवः) प्रकाशस्वरूप (अपः) समस्त प्रज्ञानों, कर्मों और लोकों को (नि गाहते) भ्रमण करता है । और (दाशुषे) आत्म समर्पण करने हारे साधक के (रत्नानि) नाना रमण योग्य सुखों, पदार्थों, या देहों को (दधत्) पुष्ट करता या धारण करता, या देता है ।

(३) (एषः) वह (पवमानः) समस्त शरीर में व्यापक और गतिमान् या उसको पवित्र करता हुआ, या उसमें स्वतः पवित्र होता हुआ, (सत्वभिः) अपने सात्विक बलों से (शूर इव धन्) वीर योद्धा के समान गति करता हुआ (विश्वानि) समस्त (कार्याणि) करण करने योग्य आनन्दों, सुखों का (सिषासति) सेवन करता है ।

(४) (एषः) वह (देवः) प्रकाशमान, (पवमानः) समस्त शरीर और हृदय को पवित्र करता हुआ (रथर्यति) रथ के समान शरीर में रहता है और (दिशस्यति) उपदेश प्रदान करता और (ब्रह्म हृम्) ज्ञानवाणी या स्तुति को (आवि. कृणोति) प्रकट करता है ।

(५) (एषः) वह (हरिः) दुःख हरण करने हारा । देवः) देव (पवमान.) व्यापक आत्मा (विपन्युभिः) विद्वान्, सत्य अर्थों के प्रकाशक (ऋतायुभिः) सत्य कामना वाले विद्वानों द्वारा (वाजाय) बल की प्राप्ति के लिये (सृज्यते) और भी पवित्र किया जाता है ।

(६) (एष देव·) वह सुखों का दाता सर्वप्रकाशक आत्मा (पवमान·) पवित्र किया हुआ (विपा) विशेष पालना करने हारी शक्ति से (कृत.) सम्पन्न होकर (अदाभ्य.) बिना किसी रुकावट के, अदम्य या अविनाशी, अस्तृत होकर (द्वरांसि) समस्त कुटिल विचारों, या पापसंकल्पों, या बंधनों को (अति धावति) पार कर जाता है ।

(७) (एषः) वह (पवमान) शुद्ध, पवित्र होकर (रजांसि) समस्त रजोगुण के कर्मों और लोकों को (धारया) अपनी धारणा शक्ति द्वारा (अति) अतिक्रमण करके (कनिक्रदत्) अनाहत नाद या परमेश्वर की स्तुति करता हुआ (दिव) ज्ञानमय, प्रकाशमय मोक्ष को (विधावति) प्राप्त कर, विचरण करता है ।

(८) (एष· पवमानः) वह मुक्तात्मा सोम (अस्तृत·) वासनाओं से बाधित न होकर (सु-अध्वरः) सुकृत कर्म करके कभी नाश को न प्राप्त होने वाला, होकर (रजांसि) रजोमय विघ्नों को (तिरः) एक तरफ हटाकर (दिव) प्रकाशमान मोक्षलोक को (वि आसरत्) विशेष रूप से प्राप्त होजाता है ।

(९) (एष·) वह (देव.) प्रकाशमान (सुतः) सम्यक् मार्ग में निष्ठ होकर (हरिः) सब दुःखों, या बन्धनों का काटने वाला, आत्मा

(देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषों के हितार्थ (प्रत्नेन) पुराने परिपक्व (जन्मना) उपार्जित उत्तम जन्म द्वारा (पवित्रे) परम पावन, परमात्मा में (अर्षति) जा लगता है ।

(१०) (एषः उ स्य.) और वही यह (पुरुव्रतः) नाना सत्कर्म अनुष्ठान करने हारा (जज्ञानः) शरीर में आकर (इष.) नाना कर्मों, कर्मफलों को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (सुतः) गुरुओं से उपदेशों द्वारा उत्तम मार्गों में प्रेरित और ज्ञान सम्पन्न होकर (धारया) अपनी धारणा शक्ति या वाणी, स्तुति द्वारा (पवते) उत्तम मार्ग में गति करता है ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:0:—

३ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२६६] एष धियायात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभिः ।

२ ३ १ २ ३ २

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम् ॥ १ ॥

३ १ ३ २ २ ३ २ ३ १ २

[१२६७] एष पुरु धियायते बृहते देवतातये ।

२ ३ १ २ ३ १ २

यत्रामृतास आशत ॥ २ ॥

३ १ १ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२६८] एतं मृजन्ति मर्ज्यमुपद्राण्यव्ययवः ।

३ २ ३ १ १ २

प्र चक्राण महीरिषः ॥ ३ ॥

३ १ ३ १ २ १ १ ३ १ ३ १ २ ३ २

[१२६९] एष हिना विनीयतेऽन्तः शुभ्यावता पथा ।

१ २ ३ १ ३ १ २

यदी तुञ्जन्ति भूर्णयः ॥ ४ ॥

३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२७०] एष रुक्मामिरीयते वाजी शुभ्रेभिरंशुभिः ।

२ ३ १ १ ३ १ २

पतिः सिन्धूना भवन् ॥ ५ ॥

१२६६—१. 'आसने' ४. 'शुभ्रावता' इति ऋ० ।

[१२७१] ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २
एष श्रृङ्गाणि दोधुवच्छिशीते यूथ्यो ३ वृषा ।
३ १र २र ३ २ १
नृम्णा दधान ओजसा ॥ ६ ॥

[१२७२] ३ १र २र ३ १र २र ३ १र २र
एष वसूनि पिब्दन. पुरुष्यो यया इवाँ अति ।
२ ३ १ २
अव शादेषु गच्छति ॥ ७ ॥

[१२७३] ३ २ ३ ४द ३ २ ३ १ ५ ३ १ २
एष मु त्य दश क्षिपो हरिं हिन्वन्ति यातवे ।
३ ३ ३ १ २
स्वायुध मदिन्तमम् ॥ ८ ॥ ३ ॥

ऋ० ९ । १५ । १, २, ७, ३, ५, ४, ६, ८ ॥

भा०—(१) (रथेभि.) रथों द्वारा जिस प्रकार (शूरः) शूरवीर योद्धा सेनापति के पद पर अभिषिक्त होकर जाता है उसी प्रकार दूर तक व्यापन करने हारे सात्विक साधनों से युक्त होकर (एष.) यह शमादि-गुणसम्पन्न योगी (आशुभिः) शीघ्रगामी, दूरतक शीघ्र फैलने वाले (अरण्या) सूक्ष्म (धिया) प्रज्ञा, निदिध्यासन, उपासना कर्म या, साधना द्वारा (इन्दस्य) आत्मा और प्रभु परमात्मा के (निष्कृतम्) परम दिव्य धाम को (गच्छन्) जाता हुआ (याति) परम सुख को प्राप्त करता है ।

(२) (एषः) वह आत्मा योगी उस (बृहते) बड़े भारी (देवतातये) दिव्यगुण सम्पन्न प्रभु को साक्षात् करने के लिये (पुरु) नाना प्रकार के सत्कर्मों द्वारा (धियायते) ध्यान करता और योग-समाधि का अनुष्ठान करता है । अथवा (धिया अयते) ध्यान, ज्ञान और कर्म द्वारा मनसा, वाचा कर्मणा प्राप्त होता है । (यत्र) जहां जिसमें वे (अमृतास०) अन्य मुक्तात्माएं अमृत स्वरूप होकर (आशत) मोक्षसुख का भोग करते हैं ।

(३) (आयवः) दीर्घ आयु की कामना करने हारे, या ज्ञानी मनुष्य (एतं) इस (सोमम्) शमदमादि-सोम्यगुणों से सम्पन्न, (मर्जयं) प्रयत्न से शोधने योग्य, या खोजने योग्य (महीः) बड़ी (इषः), इच्छाओं को

या बल साधनाओं को (प्र चक्राणम्) उत्तमरूप से करते हुए आत्मा को (दोषेषु) द्रुतगति वाले अति वेगयुक्त मानसव्यापारों या कोशों में (मृजन्ति) अत्यन्त परिष्कृत करते हैं ।

(४) (यद् ईं) जब (भूर्णयः) भरणशील प्राण और अपान को यथास्थान, यथामार्ग में प्राणायाम द्वारा लेजाने वाले ज्ञानी पुरुष (तुञ्जन्ति) प्राण और अपान की आहुतियां प्रदान करते हैं तब (एषः) यह सोम (अन्तः) भीतर (हितः) गुप्तरूप से विद्यमान (शुन्ध्यावता) शुद्धियुक्त (पथा) मार्ग से (विनीयते) प्राप्त कराया जाता है ।

(५) (एषः) यह सोम (रुक्मिभिः) उत्तम कान्ति से सम्पन्न, देदीप्यमान तेज वाले, (शुभ्रेभिः) श्वेत शुद्ध (अंशुभिः) किरणों से युक्त (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान्, (सिन्धूनां) गतिशील प्रवृत्तियों, प्राणों और प्रनाड़ियों का (पतिः) पालक (भवन्) होता हुआ (ईयते) जाना जाता है ।

(६) जिस प्रकार (यूथ्यः वृषा) गोयूथ में विचरण करने हारा महावृषभ (शृङ्गाणि दोधुवत्) अपने सींग हिलाता हुआ (शिशीते) समीप के पदार्थों को भी कंपाता है उसी प्रकार (एषः) यह विद्वान् अपने (शृङ्गाणि) किरणों को या प्रेरक बलों को (दोधुवत्) प्रेरित करता हुआ (ओजसा) अपने बल से (नृम्णा) प्राणों को (दधानः) धारण करता हुआ (शिशीते) सब प्राणों को भी कम्पित करता उनको संचालित करता है ।

(७) (एषः) यह ज्ञानी (वसूनि) वास करने हारे प्राणों को (पिप्रदनः) पीड़ित या प्रेरित करता हुआ (पस्त्या) प्रत्येक पर्व या मंजिल को (अति यावीवान्) पार करता हुआ (शतेषु) कठिन तपस्याओं या भूमियों में (अव गच्छति) प्रवेश करता है ।

(८) (हरि॰) दुःखों के हरने वाले मनोहर, सबके प्रेरक, सबके धारक, (त्यमेतं) उस इस (सु-आयुधम्) उत्तम साधनाओं से सम्पन्न, (मदिन्तमं) अति आनन्द और हर्षयुक्त सोमरूप साधक आत्मा को (दश क्षिप॰) दशों प्राणगण (पातवे) प्राप्त करने या आनन्दरस पान कराने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करते हैं ।

इति द्वितीयः खण्डः ।

---

३ २ ३ २ड ३ २ड ३ १ २

[१२७४] एष उ स्य वृषा रथोऽव्या वारेभिरव्यत ।

२ ३ड १ २ ३ १ २

गच्छन् वाजं सहस्रिणम् ॥ १ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२७५] एतं त्रितस्य योषणो हरिं हिन्वन्त्यद्रिभिः ।

२ ३ १ २ ३ १ २

इन्दुमिन्द्राय पीतये ॥ २ ॥

३ २ २ड ३ २ ३ २ड ३ १ २

[१२७६] एष स्य मानुषीष्वा श्येनो न विक्षु सीदति ।

१ २ ३ २ड ३ १ २

गच्छन्नारो न योषितम् ॥ ३ ॥

३ २ड २ १ २र ३ १र २र

[१२७७] एष स्य मधो रसोऽवचष्टे दिव. शिशुः ।

२ड ३ २ ३ १ २

य इन्दुर्वारमाविशत् ॥ ४ ॥

३ २ड ३ १ २ ३ १र २र ३ २

[१२७८] एष स्य पीतये सुतो हरिरर्षति धर्णसिः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

क्रन्दन्योनिमभि प्रियम् ॥ ५ ॥

३ २ड ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२७९] एतं त्य हरितो दश मर्मृज्यन्ते अपस्युव. ।

२ ३ १ २ ३ १ २

याभिर्मदाय शुम्भते ॥ ६ ॥ ४ ॥

ऋ० ९ । ३८ । १, २, ४ ५, ६, ७ ॥

भा०—(१) (स्व· एषः) वह यह सोम अर्थात् शम आदि षट्क-सम्पत्ति से युक्त मुमुक्षु जन (कृपा) सुखों का हृदयभूमि में वर्षण करने हारा, (रथ·) गतिशील, रमणस्वभाव, सर्वत्र प्रसन्न होकर विचरने हारा, (सहस्रिणम्) बल से युक्त या नाना प्रकार के सुखों के देने वाले (वाजं) ज्ञान ऐश्वर्य को (गच्छन्) प्राप्त होता है और वह (अव्या) क्षितिशक्ति या मुख्य प्राण के (वारैः) वरण योग्य साधनों से (अव्यत) सुक्षिमार्ग पर गमन करता है।

(२) (एतं) इस (हरिम्) दुःखों के हरने वाले, सबके नेता, मुमुक्षु आत्मा को (त्रितस्य) तीनों प्रकार के दुःखों से परे और मानस, वाचिक, कायिक तीनों बलों से युक्त मुख्य प्राण के साथ (योषणाः) प्रेम करने हारी, उसका सेवन करने हारी, इन्द्रिय-वृत्तियां (इन्द्राय) परम आत्मा के (पीतये) आनन्दरस प्राप्त करने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करतीं या उस के बल की वृद्धि करती हैं।

(३) (एष स्यः) यह वह योगी (मानुषीषु) मनुष्य (विक्षु) प्रजाओं में (श्येन न) पक्षियों में वेगवान् गरुड़ के समान अधिक बल, सामर्थ्य और ज्ञान से सम्पन्न होकर और (योषितम्) स्त्री के प्रति (गच्छन्) गमन करते हुए (जारः न) उसके प्रिय पुरुष के समान गुप्तरूप से परमसुख का अभिलाषी होकर (सीदति) तन्मय भाव से विराजता है।

(४) (यः) जो (इन्दुः) परम ऐश्वर्यसम्पन्न आत्मा (वारम्) वरण करने योग्य मोक्षमार्ग में (आविशत्) प्रवेश करता है (एष स्यः) वह यह (मधु) अतिहर्षयुक्त (रसः) आनन्दमय, रसमय होकर (दिव.) प्रकाशमान उस परम आत्मा की गोद में, माता की गोद में (शिशुः) बालक के समान, या मध्य आकाश में सूर्य के समान रहकर (अवचष्टे) समस्त भुवनों को देखता है।

(५) (एषः स्यः) यह वह सोम मुमुक्षु आत्मा (पीतये) आनन्द-रस पान करने के लिये (सुत) तैयार, निष्पन्न होकर (क्रन्दत्) शब्द करता हुआ, स्तुति करता हुआ, (हरि॰) सब इन्द्रियों का नेता, (धर्णसिः) सब प्राणों को धारण करने हारा होकर (प्रिय) अपने प्रिय, उत्तम (योनिम्) आश्रयरूप शरण परमेश्वर के (अभि-अर्षति) प्रति गमन करता है ।

(६) (एनं) उस इसको (अपस्युवः) कर्म करने की इच्छा करने हारी चेष्टावान् (दश) दस (हरितः) हरणशील इन्द्रियां, या प्राणवृत्तियां निरुद्ध होकर (मर्मृज्यन्ते) और अधिक उज्ज्वल होती हैं (याभिः) जिनसे वह मुमुक्षु (इन्दवस्य) अपने भीतर विराजमान ऐश्वर्य-शील आत्मा के (मदाय) परम आनन्द प्राप्त करने के लिये (शुम्भते) स्वयं प्रकाशित, या सुशोभित, या तैयार होता है ।

इति तृतीयः खण्डः ।

३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२८०] एष वाजी किता नृभिर्विश्वविन्मनसस्पतिः ।
२ ३ ४ ३ १ २
अव्यो वारे विधावति ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१२८१] एष पवित्रे अक्षरत्सोमो देवेभ्य सुतः ।
२ ३ १ २ ३
विश्वा धामान्याविशन् ॥ २ ॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१२८२] एष देव शुभायतेऽधि योनावमर्त्यः ।
३ १ २ ३ १ २
सुत्रह्मा देववीतमः ॥ ३ ॥

१२८०—१. 'अव्यो वारे', ६ "संवसानं विवस्वतः पतिं वाचो अदाभ्यम्" इति च ऋ० ।

[१२८३] एष वृषा कनिक्रदद्दशभिर्जामिभिर्यतः ।
अभि द्रोणानि धावति ॥ ४ ॥
[१२८४] एष सूर्यमरोचयत्पवमानो अधि द्यवि ।
पवित्रे मत्सरो मदः ॥ ५ ॥
[१२८५] एष सूर्येण हासते संवसानो विवस्वता ।
पतिर्वाचो अदाभ्यः ॥ ६ ॥ ५ ॥

"एष वाजी" इत्यारभ्य "एष सूर्यमरोचय" दित्यन्तं, ऋ० ९ । २८ । १–४ ॥ पञ्चम्याश्चर्च- प्रथम पाद. ' पवमान" इत्यारभ्य "हासते" इत्यन्तं पादद्वयं च, ऋ० २७ । ९ । २५ ॥ "संवसान" इत्यारभ्य "अदाभ्य" इत्यन्त ऋ० ९ । २६ । ४ ॥

भा०—(१) (एष.) यह सोम, आत्मा (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान् सबको कंपाने हारा । विश्वचित्) समस्त संसार के सब पदार्थों की व्यवस्था को जानने हारा, सर्वज्ञ (मनसस्पति.) सबके मनों और समस्त ज्ञानों का स्वामी, परमात्मा और देह में आत्मा (नृभि.) सब मनुष्यों और देह में प्राणों द्वारा (हित) धारण किया हुआ है । वही अर्ष्यं) आत्मा या प्राण के (वार)' वरण करने योग्य सीमा को भी,(वि धावति) पार कर जाता है, उनसे परे है।

(२) (एष) यह (सोमः) सौम्यगुणों से युक्त, सब का प्रेरक, परमात्मा (देवभ्य') विद्वान् ज्ञानी पुरुषों क और समस्त दिव्यगुणयुक्त पदार्थों के निमित्त (सुत) सूक्ष्मरूप से सब में प्रकट हुआ (पवित्रे) शुद्ध कान्तिमय रूपों में (अक्षरत्) प्रकट होता है और (विश्वा) समस्त (धामानि) लोकों या तेजों में (आविशन्) व्यापक है ।

(३) (एष. देव.) वही प्रकाशमान देव (अमर्त्य.) अमरणधर्मा, अविनाशी, (वृत्रहा) सब आवरणकारी अन्धकारों का नाशक, (देववीतम)

सब दिव्य पदार्थों को अपने भीतर रख लेने में सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, सब में व्यापक, सबका प्रकाशक (योनौ अधि) मूलकारण रूप प्रकृति में (शुभायते) भासमान है ।

(४) (वृषा) समस्त काम्य सुखों का वर्षण करने हारा, (एषः) यह आत्मा (दशभि.) दश (जामिभिः) भगिनीस्वरूप दश दिशाओं से (यतः) धारण किया गया (द्रोणानि) समस्त लोकों में (धावति) व्यापक हो रहा है । आत्मपक्ष में— (दश जामिभिः) वह आत्मा ज्ञान उत्पन्न करने हारी दश इन्द्रियों सहित (द्रोणानि धावति) देहरूप कलशों में व्यापक है ।

(५) (एषः) वह परमात्मा (पवमानः) सर्वत्र व्यापक (अभि-यवि) आकाश में सूर्य के समान ज्ञान प्रकाश में स्वयं (मदः) आनन्द स्वरूप (पवित्रे) पवित्र करने हारे आत्मा में (मत्सरः) आनन्दरस का सर्वत्र करने हारा होकर (सूर्यः) सूर्य के समान प्राण को भी (अरोचयत्) प्रकाशित करता है ।

(६) (एषः) यह सोम सर्वव्यापक, शक्तिमान् परमात्मा (विवस्वता) दीप्तिमान् (सूर्येण) सबके प्रेरक सूर्य के साथ (संवसानः) समस्त संसार को आवृत करता हुआ (वाच.) समस्त वेदवाणी का (अदाभ्य) अद्वितीय (पतिः) स्वामी होकर (आसते ह) निश्चय से विराजमान है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१२८६] एष कविरभिष्टुतः पवित्रे अधि तोशते ।

३ २ ३ १ २

पुनानो घनञ्जयोऽभिः ॥ १ ॥

१२८६—१ 'धनञ्जयोऽभि.' इति ऋ० ।

३ १ २३ ३ १ २ ३ १२ २२
[१२८७] एष इन्द्राय वायवे स्वर्जित्परिषिच्यते ।
३ १ २ ३ १ २
पवित्रे दत्तसाधनः ॥ २ ॥
३ २३ ३ १ २ ३ २ ३ १३ २२ ३ २
[१२८८] एष नृभिर्विनीयते दिवो मूर्धा वृषा सुतः ।
२ ३ १ २ ३ २
सोमो वनेषु विश्वचित् ॥ ३ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१२८९] एष गव्युरचिक्रदत्पवमानो हिरण्ययुः ।
१ २ ३ १२ २२
इन्दुः सत्राजिदस्तृतः ॥ ४ ॥
३ २ ३ङ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१२९०] एष शुष्म्यसिष्यदद्दन्तरिक्षे वृषा हरिः ।
३ २३ ३ २ ३ २
पुनान इन्दुरिन्द्रमा ॥ ५ ॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१२९१] एष शुष्म्यदाभ्यः सोमः पुनानो अर्षति ।
३ १ २ ३ १
देवावीरघशंसहा ॥ ६ ॥ ६ ॥

ऋ० ९ । २७ । १–४, ६ ॥ ९ । २८ । ६ ॥

भा०—(१) (एषः) यह (कविः) क्रान्तदर्शी, ज्ञानी, सर्वज्ञ परमात्मा, (द्विषः) द्वेष करने हारे दुष्ट पुरुषों को (अपघ्नन्) दूर ही विनाश करता हुआ (पुनानः) सबको पवित्र करने हारा, पतितपावन (अभिस्तुतः) उत्तम रीति से प्रार्थना और स्तुति किया गया (पवित्रे) शुद्ध, पवित्र हृदय-देश में (अधि तोशते) विराजता है ।

(२) (एषः) यह सोम, सब का प्रेरक (दक्षसाधनः) समस्त बलों का साधक, उत्पादक, (स्वर्जित्) समस्त उत्तम लोक और आनन्द, मोक्षसुखों का विजय करने हारा, (वायवे) प्राणस्वरूप (इन्द्राय) आत्मा के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदयदेश में (परि-सिच्यते) सब प्रकार से ध्यानवृत्तियों द्वारा प्रवाहित, आप्लावित अर्थात् मनन किया जाता है ।

(३) (एषः) यह (दिवः मूर्धा) महान आकाश या प्रकाश का मूर्धास्वरूप, मुख्य केन्द्र, सब का प्रेरक, (वृषा) सब सुखों का वर्षक, (सोमः) सोम (विश्ववित्) सर्वज्ञ, (नृभिः) विद्वान् नेता लोगों द्वारा (वनेषु) सेवन करने योग्य कार्यों, देहों और लोकों में (विनीयते) नाना प्रकार से प्राप्त किया जाता, एवं स्मरण किया जाता है ।

(४) (एषः) यह (पवमानः) सर्वव्यापक, सब को पवित्र करने हारा, (हिरण्ययु) समस्त प्रकाशमान लोकों में व्यापक, (इन्दुः) ऐश्वर्यशील, (सत्राजित्) समस्त संसार पर विजय करने हारा, (अस्तृतः) किसी से भी स्वयं हिंसित या विनाश न होने हारा अद्वितीय, (गव्युः) समस्त गतिमान् पिण्डों में भी व्यापक, सबका हितकारी, (अचिक्रदत्) वेद द्वारा उपदेश करता है ।

(५) (एषः) यह सोम (हरिः) सबका नेता, सब दुःखों का हर्त्ता (वृषा) सब सुखों का वर्षक, (शुष्मी) सर्वशक्तिमान् (इन्दुः) सर्वैश्वर्यवान्, (इन्द्रं) भीतरी अन्तर आत्मा को (पुनानः) पवित्र करता हुआ (अन्तरिक्षे) हृदयदेश में (असिष्यदत्) प्रवाहित होता है।

(६) (एषः) यह (अदाभ्यः) अमर, हिंसित न होने वाला, स्वतः धीकाररहित (देवावीः) सब इन्द्रियों, देवों, पञ्चभूतों और दिव्य लोकों में भी व्यापक और उनका, रक्षक (अघशंसहा) पापवार्ता कहने हारे का विनाशक, (सोमः) सोम परमेश्वर (पुनानः) सब को पवित्र और प्रकाशित करता हुआ (अर्षति) सर्वत्र व्यापक है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

[१२९२] स सुतः पीतये वृषा सोमः पवित्रे अर्षति ।
धिया हितो न सप्तिः ॥ १ ॥

[१२९३] स पवित्रे विचक्षणो हरिर्वनि धर्णसिः ।
अभि योनिं कनिक्रदत् ॥ २ ॥

[१२९४] स वाजी रोचनं दिवः पवमानो विधावति ।
रक्षोहा वारमव्ययम् ॥३॥

[१२९५] स मित्रस्याधिसाननि पवमानो अरोचयत् ।
जामिभि सूर्यं सह ॥४॥

[१२९६] स वृत्रहा वृषा सुतो वरिवोविददाभ्यः ।
सोमो वाजमिवासरत् ॥५॥

[१२९७] स देव कविनेषित एऽअभि द्रोणानि धावति ।
इन्दुरिन्द्राय मंहयन् ॥६॥७॥ ऋ० ९ । ३७ । १-६ ॥

भा०—(१) (सः) वह (वृषा) मेघ के समान आनन्द-रसों और सुखों का वर्षक (सोमः) रसस्वरूप, सब का उत्पादक (देवयुः) विद्वानों और प्राणों की अभिलाषा पूर्ण करने हारा, (पीतये) आनन्द पान कराने के निमित्त (सुतः) निष्पन्न होकर (पवित्रे) पवित्र अन्तःकरण, और अन्तरिक्ष में (अर्षति) व्याप्त होता है ।

(२) (स) वह (हरिः) शक्तिमान्, सर्व दुःखों का हर्त्ता, (विचक्षणः) सब का द्रष्टा, (धर्णसिः) समस्त जगत् का धर्त्ता, (कनिक्रदत्) ज्ञानोपदेष्टा आत्मा (पवित्र) पवित्र, अन्तःकरण में (अर्षति) प्रकट होता है ।

(३) (सः) वह आत्मा (वाजी) बलवान्, ज्ञानवान् (दिवः) सूर्य और प्राण का भी (रोचनं) प्रकाशक (पवमानः) सब को पवित्र करने हारा, (रक्षोहा) दुष्टों, दुष्ट भावों और विघ्नों का विनाशक; (अव्ययम्)

अवि अर्थात् प्राणों के बने (वारं) स्थूल आवरण को (विधावति) विशेष रूप से पारकर, रसरूप से प्रकट होता है ।

(४) (स०) वह (शितस्य) प्राण के (अधिसानवि) विशेष-स्थान, त्रिपुटि में (पवमान०) परिशुद्ध होकर (जामिभि) अन्य ज्ञानोत्पादक इन्द्रिय वृत्तियों के (सह) साथ मिलकर (सूर्यं) सूर्य के समान सब के प्रेरक मुख्य, प्राण को (अरोचयत्) और अधिक दीप्त, प्रकाशित करता है ।

(५) (सः) वह (वृत्रहा) सब विघ्नों का विनाशक (सुतः) निष्पन्न (सोमः) सब इन्द्रियों और प्रजाओं का प्रेरक आत्मा (अदाभ्यः) किसी से हिंसित या पराजित न होकर (वरिवोविद्) सबसे उत्तम आत्म रूप या आत्मानन्द कोश=खजाने को लाभ कराने हारा (वाजम् इव) युद्ध में शूरवीर के समान परम ज्ञानमय ब्रह्म की ओर (असरत्) गति करता है ।

(६) (सः) वह (देवः) देदीप्यमान प्रकाशस्वरूप (कविना) क्रान्तदर्शी मेधावी सबके गुरु आत्मा या परमात्मा द्वारा (ईषितः) प्रेरित होकर उसका प्रेमपात्र होकर (इन्दु०) भीतर ही द्रवित होता हुआ (इन्द्राय) इन्द्रियों के स्वामी आत्मा को (मंहयत्) आनन्द प्रदान करता हुआ (द्रोणानि) समस्त ज्ञान कलशों, कोष्ठों, देहों और लोकों में (अभि धावति) विचरण करता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१२६८] यः पावमानीरध्येत्यृषिभि संभृतं रसम् ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना ॥ १ ॥

३ २च ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २
[१२९९] पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३००] पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुघा हि घृतश्चुतः ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
ऋषिभिः सम्भृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम् ॥३॥
३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[१३०१] पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम् ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
कामान्त्समर्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहिताः ॥४॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३०२] येन देवाः पवित्रेणात्मान पुनते सदा ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
तेन सहस्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥६॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३०३] पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम् ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पुण्याश्च भद्रान् भद्रायत्यमृतत्वं च गच्छति ॥६॥८॥

आद्ये द्वे ऋ० ९ । ६७ । ३१, ३२॥ शेषा ऋग्वेद नोपलभ्यन्ते ।

भा०—(१) जो (ऋषिभिः) मन्त्र का साक्षात् दर्शन करने वाले ऋषियों द्वारा (सम्भृतम्) अच्छी प्रकार धारित, और प्राप्त एवं साक्षात् किये और अन्यों को उपदेश किये हुए (रसं) आत्म-ज्ञानस्वरूप मधु विद्यामय, रसरूप (पावमानी) सोम, पवमान सम्बन्धी ऋचाओं को (अध्येति) अध्ययन करता है, उनके तत्वार्थ ज्ञान का लाभ करता है (स) वह (सर्वं) सब (मातरिश्वना) अन्तरिक्ष में व्यापक परब्रह्म या प्राणस्वरूप जीवन्शक्ति द्वारा या (मातरि ज्ञानसाधने इन्द्रिये आत्मनि वा श्वयति गच्छति इति मातरिश्वा मन.) ज्ञानसाधन इन्द्रियगणों या आत्मा में निरन्तर गति करने हारे मन द्वारा (स्वदितं) आस्वादन करने योग्य (पूतं) पवित्र ज्ञान का (अश्नाति) लाभ करता है और उपयोग करता है । 'मन पूत समाचरेत्' इति मनु. ।

(२) (यः) जो (ऋषिभिः सम्भृतं रसं) मन्त्रद्रष्टा, विद्वान् ऋषियों द्वारा प्राप्त अर्थात् साक्षात् किये गये ज्ञान रसस्वरूप (पावमानीः) पवमान सोम सम्बन्धी वेद की ऋचाओं का (अध्येति) अध्ययन करता है (तस्मै) उसके लिये (सरस्वती) वेदवाणी (क्षीरं) शुद्ध दुग्ध के समान आत्मज्ञान (सर्पिः) घृत के समान स्नेहपूर्ण, उज्ज्वल, ज्योतिःस्वरूप आत्मदर्शन और (मधु) मधु के समान आनन्ददायक मधुर ब्रह्म, स्वाद और (उदकं) जल के समान शीतल, शान्तिरस को (दुहे) दोहन करती है।

(३) (याः पावमान्यः ऋचः[1]) जो पवमान सोमसम्बन्धी ऋचाएं हैं वे (स्वस्ययनीः) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने हारी, (सुदुघाः) सुखसे ही परमानन्द रस को देने वाली, (घृतश्चुतः) ज्ञान और सात्विक प्रकाश के उत्पन्न करने वाली हैं। वे तो साक्षात् (ऋषिभिः) ऋषियों द्वारा (संभृत) प्राप्त (रसः) परम रसस्वरूप (ब्राह्मणेषु) वेद के विद्वानों के भीतर (हितम्) स्थापित (अमृतं) कभी न नाश होने वाली अमृत, अध्यात्म ब्रह्मज्ञान के समान हैं।

(४) (पावमानीः) पवमान सोम सम्बन्धी ऋचाएं ही (नः) हमें (इमं) इस (लोकं) लोक (अथो) और (अमुं लोकं) परलोक को (दधन्तु) धारण करावें। और वे (दैवीः) दिव्यगुणप्रकाशक होकर (दैवैः) विद्वान् ज्ञानी पुरुषों द्वारा (समाहृताः) उपदेशों और ध्यानयोगों द्वारा सर्वत्र प्रकाशित होकर (नः) हमारे (कामान्) शुभसंकल्पों को (समर्धयन्तु) पूर्ण करें।

(५) (देवाः) विद्वान् योगी जन (येन) जिस (पवित्रेण) समस्त संसार को पवित्र करने हारे उपाय से (सदा) नित्य अपने (आत्मानं) आत्मा को (पुनते) पवित्र करते हैं (तेन) उस (सहस्रधारेण) सहस्रों

---

१. विषायो विरजोऽविचिदिन्द्रो ब्राह्मणो अर्षति । [तै० उप० ब्रा० १ । ४ । २३]

धारणा शक्तियों से सम्पन्न, योगसाधन या पतितपावन ईश्वर प्रणिधान से ही यह (पावमानीः) पवमान सोम-सम्बन्धी ऋचाएं भी (न) हमें '(पुनन्तु) पवित्र करें।

(६) (स्वस्त्ययनी) कल्याण और योगक्षेम को प्राप्त कराने हारी, (पावमानीः) पावमान सन्यग्धी ऋचाएं ही हैं। (ताभिः) उनसे आत्मा या साक्षात् (नान्दनं) परमानन्द अवस्था, मोक्ष को (गच्छति) प्राप्त होता है और (पुण्यान् च) पुण्य, (भक्षान्) सेवन करने योग्य सुख भोगों को (भक्षयति) उपभोग करता है और (अमृतत्वं च) अमृतत्व-रूप परमपद को भी (गच्छति) प्राप्त करता है।

'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दन तस्य त्रय आवसथाः। त्रय स्वप्ना.। अयमावसथोऽयमा वसथोऽयमावसथ इति। स जातो भूतान्यभिव्यैरयत् किमिहान्यं वावदिषद् इति। स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत् इदमदर्शमिति तस्मादिदन्द्रो नाम इन्द्र इत्वा वै नमन्ते परोक्षम्। इत्यादि। एतरेय० उप० ४। ४।

'इति सप्तम खण्ड.।

[१३०४] अगन्म महा नमसा यविष्ठं यो दीदाय समिद्धः स्वे दुरोणे। चित्रभानुं रोदसी अन्तरुर्वी स्वाहुतं विश्वतः प्रत्यञ्चम् ॥१॥

[१३०५] स महा विश्वा दुरितानि साक्षान्नग्निष्टवे दम आजात. वेदा.। स नो रक्षिषद् दुरितादवद्यादस्मान् गृणाति उत नो मघोनः ॥ २ ॥

१ २अ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३०६] त्वं वरुण उत मित्रो अग्न त्वा वर्धन्ति मतिभिर्वसिष्ठा.।
१अ २अ ३ १ २ ३ २ २ ३ २ ३ १ २
त्वं वसू सुषणानानि सन्तु यूयं पात स्वास्तभिः सदा
नः ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ७ । १२ । १–३ ॥

भा०—(१) (यः) जो (स्वे) अपने (दुरोणे) इस ब्रह्माण्ड रूप अनन्त संसार में (समिद्धः) प्रकाशमान होकर (दीदाय) चमकता है । उस (विश्वतः) सर्वत्र (प्रत्यञ्च) व्यापक, (उर्वी) महान् (रोदसी) द्यौ और पृथिवी लोकों के (अन्तः) बीच (स्वाहुतं) स्वयं सब को वश करने हारे, सबके आश्रयरूप (पवित्रं) सबसे अधिक बलवान्, सब में व्यापक, (चित्रभानुं) पूजनीय, कान्तिमय परमेश्वर को (महानमसा) बड़ी विनय से (अगन्म) हम प्राप्त हों ।

यद्वार्चिमद् यदणुभ्योऽणु यस्मिंल्लोका निहिता लोकिनश्च । (मुण्डक० २ । २ । २)

(२) (सः) वह (महा) अपनी महिमा से (विश्वा दुरितानि) समस्त पापों को (साह्वान्) दूर करने हारा, (अग्निः) अग्निस्वरूप परमात्मा (जातवेदाः) समस्त पदार्थों का जानने हारा (दमे) हमारे हृदयरूप या ब्रह्माण्डरूप गृह में या यज्ञस्थल में (आ स्तवे) सर्व प्रकार से स्तुति किया जाता है । (सः) वह (नः) हमें (अवद्यात्) निन्दनीय (दुरितात्) पापाचरण से (रक्षिषत्) रक्षा करे । और (गृणतः) स्तुति करने हारे (अस्मान्) हम लोगों को बचावे । (उत) और (मघोनः) ज्ञान धन-सम्पन्न (नः) हमें पापाचरण से बचावें ।

(३) हे अग्ने ! ज्ञानस्वरूप (त्वं) तू (वरुण, उत मित्रः) सब पापों से निवारण करने और सर्वश्रेष्ठ होने से 'वरुण' और सबको स्नेह करने हारा और मृत्यु से बचाने वाला होने से 'मित्र' है । (वसिष्ठाः) अपने २ वश में स्थित अथवा परमपद में वास करने हारे ज्ञानी अथवा

अपने स्वरूप में स्थित मुमुक्षु लोग या प्राणगण (मतिभिः) मननशक्तियों द्वारा (त्वा) तुझे या तेरी महिमा को ही (वर्द्धन्ति) बढ़ाते हैं । (त्वे) तुझ में, तेरी साक्षिता में (वसूनि) समस्त ज्ञान, धन, (सुपथानि) उत्तम २ सुख प्रदान करने वाले अथवा सुख से दान करने योग्य (सन्तु) हों । हे विद्वान् लोगो ! (यूयं) आप लोग भी (नः) हमें (सदा) नित्य (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी कार्यों, उत्तम उपायों और आशीर्वादों से (.पात) रक्षा करो ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३०७] महा इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव ।

१ २ ३ १ २

स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥

१ ३ २ २ १ २ ३ ४ १ २ ३ २ ३ १ २

[१३०८] कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् ।

३ १ २ ३ १ २

जामि ब्रुवत आयुधा ॥ २ ॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३०९] प्रजामृतस्य पिप्रत प्र यद्भरन्त वह्नयः ।

१ २ ३ १ ३ १ १

विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥३॥१०॥ अ० ८ । ६ । १, ६, २ ॥

भा०—(१) (वृष्टिमान्) वृष्टि करने वाला (पर्जन्यः इव) मेघ जिस प्रकार अपने सामर्थ्य से सर्वत्र फैल कर स्वयं वृष्टि करता है उसी प्रकार (यः) जो (इन्द्रः) इन्द्र (ओजसा) अपने बल से (महान्) बड़ा होकर (वत्सस्य) बच्चे के समान अपने आश्रय पर रहने वाले समस्त संसार की (स्तोमैः) स्तुतियों द्वारा (वावृधे) बड़ा कीर्तिमान्, प्रसिद्ध होता है ।

(२) (कण्वाः) ज्ञानी स्तोतागण (स्तोमैः) अपने स्तोत्रों द्वारा (यद्) जब (इन्द्रं) इन्द्र अर्थात् आत्मा ही को (यज्ञस्य) जीवनरूप यज्ञ का (साधनं) साधन (अक्रत) बना लेते हैं तब विद्वान् लोग

(आयुधा) अन्य प्राणादि इन्द्रिय-साधनों को या यज्ञ के पात्रादि को (जामि) प्रयोजनरहित ही (ब्रुवते) कहते हैं । साधक लोग जब अध्यात्म यज्ञ करते हैं तब द्रव्ययज्ञ व्यर्थ जान पड़ता है ।

(३) (यद्) जब (विप्रतः) पूर्ण करने हारे (वह्नयः) अग्नि के समान दीप्तिमान् ज्ञान को धारण न करने हारे (विप्राः) मेधावी, ज्ञानी लोग (ऋतस्य) सत्यज्ञान रूप-आत्मा की (प्रजा) उत्तम रीति से प्रादुर्भाव होने हारी आत्मशक्ति और सत्यज्ञान या प्रजा शिष्य आदि को (प्र भरन्त) उत्तम रीति से धारण करते हैं तभी वे (ऋतस्य) ज्ञान और साम के (वाहसा) प्रापक बल से ही उसे धारण करते हैं ।

इति. अष्टमः खण्डः ।

—0—

[१३१०] पवमानस्य जिघ्नतो[1] हरेश्चन्द्रा असृक्षत ।
जीरा अजिरशोचिषः ॥ १ ॥
[१३११] पवमानो रथीतमः शुभ्रशुभ्रेभिरंशुभिः ।
हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः ॥ २ ॥
[१३१२] पवमान व्यश्नुहि रश्मिभिर्वाजसातमः ।
दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम् ॥३॥ ६ । ६६ । २५-२७ ॥

भा०—(१) (पवमानस्य) पवित्र शुद्ध रूप में प्रकट होते हुए (हरेः) समस्त दुःखों का हरण करने हारे और (विप्रान्) समस्त अज्ञान पटलों का बार २ नाश करते हुए सोम अर्थात् आत्मा, की (चन्द्राः) आह्लादकारिणी (जीराः) और दुःखनाशिनी (अजिरशोचिषः) अति तीव्र कान्तियां (असृक्षत) उत्पन्न होती हैं ।

१३१०—१. 'जन्नो' इति ऋ० ।

(२) वह (पवमान) परमपावन आत्मा (रथीतमः) इस देहरूप रथ-पर गति करने हारा, सब से उत्तम रथी, (चन्द्रः) आह्लादक, (हरि-) दुःखनाशक (मरुद्गणः) प्राणगण के साथ वर्त्तमान (शुक्रेभिः) शुक्र तेजों से (शुक्रशस्तम) अति शुभ्रस्वरूप, कान्तिमान्, निर्मल है ।

(३) हे (पवमान) सब को पवित्र करने हारे ! स्वयं पवित्ररूप मैं प्रकट होता हुआ तू (स्तोत्रे) विद्वान् पुरुष में (सुवीर्यं) यश, बल और पुत्रादि धन को (दधत्) धारण पोषण करता हुआ (रश्मिभिः) अपने किरणों से (वाजसातमः) ज्ञान और बल का प्रदान करने हारा होकर (व्यश्नुहि) विविध ऐश्वर्यों को प्राप्त कर ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१३१३] परीतो षिञ्चता सुतं सोमो य उत्तमं हविः ।
३ १२ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
दधन्वा यो नर्यो अप्स्वा३न्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३१४] नूनं पुनानोऽविमि. परिस्रवाद्व्यः सुरभिन्तरः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सुते चित्त्वाप्सु मदामो अन्धसा श्रीणन्तो गोभिरुत्तरम् ॥२॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ ३ २
[१३१५] परि स्वानश्चक्षस देवमादन क्रतुरिन्दुर्विचक्षणः ॥३॥१२॥
ऋ० ९ । १०७ । १–३ ॥

भा०—(१) (य सोम) जो सोम, शरीर में वीर्य, ब्रह्माण्ड में धारक तेज या सूर्यबल, देवों अर्थात् इन्द्रियों में आत्मा और पृथिवी आदि पिण्डों आकाश का रूप (उत्तम) उत्तम, श्रेष्ठ (हवि) उपादान करने योग्य अन्न और खाद्य और जीवनप्रद आश्रय होता है और (य) जो (नर्यः) नेता, इन्द्रियगण और सूर्यादि लोकों के लिये हितकारी और (अप्सु) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और देह के जलीय रुधिरादि अंशों और लोकों के भीतर विद्यमान रहता हुआ उनको (दधन्वान्) स्वतः धारण कर रहा है, उस (सोम)

१३१३—१ 'अस्वर्न्तरा' । २. 'परिस्रवान.' इति ऋ० ।

सोम अर्थात् वीर्य को (अद्रिभिः) न दीर्ण होने हारे अखण्ड, ब्रह्मचर्यादि साधनों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों से (आ सुषाव) उत्पन्न किया जाताहै । अत उस (सुतं) उत्पन्न वीर्य और तेज को हे विद्वान् लोगो! (इतः) इस मूल स्थान से ऊपर (परिषिञ्चत) शिर आदि प्रदेशों की ओर द्रवित करो· अर्थात् ऊर्ध्वरेता बनो । व्याख्या देखो [५१२] पृ० ।

(२) हे सोम ! तू (अदब्ध·) किसी से हिंसित न होने वाला, सब से अधिक बलशाली (सुरभितर·) सब प्राणों से अधिक उत्तम गंध और बल वाला, (नून) निश्चय से (अविभिः) प्राणों द्वारा (पुनान·) अति पवित्र होता हुआ (परि स्रव) समस्त शरीर में गति कर । और (सुतेचित्) शरीर में उत्पन्न होने पर (अन्धसा) प्राण जीवन देने वाले अन्न और (गोभिः), इन्द्रियों के पुष्टिकारक दुग्धादि रसों द्वारा (श्रीणन्तः) तुझे परिपक्व करते हुए (मध्वः) शारीरिक कर्मों और मानसिक विचार क्रियाओं में हम (मदाम) आनन्द-लाभ करते हैं ।

(३) (इन्दुः) परमैश्वर्यवान् उक्त सोम रूप शुक्र का पालन करने हारा ब्रह्मचारी, (विचक्षण·) नाना प्रकार के विज्ञानों का द्रष्टा, (क्रतु) कर्म करने हारा, (देवमादन) अपनी इन्द्रियों और दिव्यगुण युक्त विद्वान् पुरुषों को हृष्ट पुष्ट करने और आनन्द देने हारा, (स्वान·) स्वयं निष्पन्न होता हुआ (परिवस्वसे) सब के देखने योग्य होजाता है ।

१ २ ३ १ २ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ ३र
[१३१६] असावि सोमो अरुषा वृषा हरी राजेव दस्रो अभि गा
१र २ १ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १र १र
अधिक्षदत् । पुनानो वारमत्यय्यव्ययं श्येनो न योनिं
३ १ २ ३ १ २
घृतवन्तमासदत् ॥ १ ॥

१३१६—'वार पर्येत्यव्यय' 'घृतवन्तमासदत्' ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३
[१३१७] पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनो नाभा पृथिव्या गिरिषु
१ २ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ २ २
क्षयं दधे । स्वसार आपो अभि गा उदासरत्सङ्क्रोवाभि-
३ १ २ ३ २
र्वसते वीत अध्वरे ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ २ ३ २ ३ १ २ २
[१३१८] कविर्वेधस्यापयेषि माहिनमत्यो न सृष्टो अभि वाजम
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३
र्षसि । अपलेधन् दुरिता सोम ना मृड घृता वसानः
१ २ ३ १ २
परियासि निर्णिजम् ॥ ३ ॥ १३ ॥ऋ० ९ । ८२ । १-३ ॥

भा०—(१) (अरुषः) दीप्तिमान्, (वृषा) सुखों का वर्षक, श्रेष्ठ (हरी) सब दुःखों का हर्त्ता, सबका नेता (सोमः) सोम, तेजस्वी विद्वान् पुरुष (असावि) उत्पन्न होता है । वह (राजा इव) राजा के समान (दस्मः) दुष्टभावों का नाशक एवं दर्शनीय होकर (गाः) जैसे प्रजाओं के प्रति राजा अपनी घोषणाएं करता है उसी प्रकार आत्मरूप सोम इन्द्रियों के प्रति और आचार्य विद्वान्, प्रजारूप शिष्यों के प्रति (अचिक्रदत्) वेद का उपदेश करता है । (पुनानः) स्वयं पवित्र और देदीप्यमान होता हुआ, (अव्ययं) प्राणमय (वारं) आवरण को (अत्येषि) पार करके (श्येनः न) जिस प्रकार बाज़ पक्षी उड़कर अपने निवास घोंसले की तरफ़ चला जाता है उसी प्रकार वेगवान् होकर वह भी (घृतवन्तं) प्रकाशस्वरूप (योनिं) मूलस्वरूप आश्रय को (आसदत्) प्राप्त होता है । यहां प्राणमय कोश से विज्ञानमय कोश पर वश करने हारे योगाभ्यासी का वर्णन है । व्याख्या देखो अविकल संख्या [५६२] पृ० २८३ ।

(२) (पर्णिनः) ज्ञानसम्पन्न, (महिषस्य) महान्, बलवान् सोमरूप आत्मा का (पिता) पालक (पर्जन्यः) मेघ के समान आनन्दरसों का दाता प्रजापति परमात्मा ही है । वह (पृथिव्याः) भूलोक के (नाभौ)

नाना प्रकार के सम्बन्धों में (गिरिषु) विद्वानों में (धयं) निवास को (दध) धारण करता है । (आप·) ज्ञान-वृत्तियां (स्वसार·) अपने ही स्वरूप से प्रकट होकर निकलने हारी, (गाः अभि) इन्द्रियों के प्रति (उत् आसरन्) ऊर्ध्वगति करती हैं और वह आत्मा (वीते) कान्ति-मान् (अध्वरे) ज्ञानयज्ञ में (प्रावभिः) विद्वानों के सग (संवसते) निवास करता है ।

(३) हे (सोम) आत्मन् ! तू (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी होकर (वेधस्या) विशेष विधान करने हारी मति द्वारा (महिनम्) पूजनीय परमात्मा के प्रति (परि-एषि) गति करता है । (मृष्ट·) अति शुद्धस्वरूप होकर (अत्यः न) वेगवान् घोड़ा जिस प्रकार संग्राम में जाता है उसी प्रकार (अभि वाजम्) ज्ञान को लक्ष्य कर, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (अभि अर्षसि) मोक्षपथ में गति करता है । हे (सोम) विद्वन् ! (दुरिता) दुष्ट चेष्टाओं को (अप संधन्) दूर करता हुआ (मः) हमें (मृड) सुखी कर । और तू (घृता) कान्ति या तेजों के भीतर (यमान) आच्छादित होकर ही (निर्णिजम्) शुद्ध स्वरूप को (परि-यासि) प्राप्त कर ।

१ २ ३ १ ३ १२ १२

[१३१९] आयन्त इव सूर्ये विश्वेदिन्दुरभ्यक्त ।

१ २ ३ १२ १२ ३ १ ४ १ ३ ३ १२ १२

पवमानि जानो जरिमाण्योजसा प्रनिभागमं शतवत्यः ॥१॥

१ २ ३ १२ १२ ३ १२ १२ ३ १ ४

[१३२०] अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।

१ २ ३ १ २ १ १२ ४ १ १ २ ३ १ २ ३ १ १

व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ २ ॥ १४ ॥ प० ८ । ४३ । ३, ४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो ऋचि० सं० [३६०] पृ० १३६ ।

१३१०—'अन्त इन्दवे' इति ऋ० । ९ । ९७ । ४ ।

(२) हे मनुष्य ! तू (अलर्षि रातिं) निष्पाप सात्विक, दानशील, (वसुदाम्) वास योग्य पदार्थ प्राण आदि का दान करने हारे परमेश्वर की (उप स्तुहि) स्तुति कर । क्योंकि (इन्द्रस्य) उस ऐश्वर्यशील परमात्मा के (रातय) सब दान (भद्रा) कल्याणकारी हैं । (यः) जो स्वामी के समान (मनः) अपने मन अर्थात् ज्ञान को (दानाय) दान करने के लिये (चोदयन्) प्रेरित करता हुआ (अस्य विधतः) हम अपने भक्त, सेवा करने हारे स्तोता की (कामं) इच्छा को (न) नहीं (रोषति) नाश करता ।

[१३२१] यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये विद्विषो वि मृधो जहि ॥१॥

[१३२२] त्वं हि राधसस्पते राधसो महः क्षयस्यासि विधर्त्ता ।
तं त्वा वयं मघवन्निन्द्र गिर्वणः सुतावन्तो हवामहे॥२॥१५॥

ऋ० ८ । ६१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२७४] पृ० १४० ।

(२) हे (राधस पते) हे सकल धनों और ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (त्व) तू (हि) निश्चय से (महः) बड़े भारी (क्षयस्य) निवासस्थान और (राधस) बड़ेभारी धन का (विधर्त्ता) विशेष रूप से धारण करने हारा स्वामी (असि) है । हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! हे (इन्द्र) विघ्नों के नाशक ! हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र विषय ! (सुतावन्तः) उत्पन्न समस्त पदार्थों, ज्ञानों और ऐश्वर्यों के स्वामी होकर हम ज्ञानी पुरुष (त्वां) तुझ को ही (हवामहे) आह्वान करते हैं, तेरा स्मरण करते हैं ।

इति दशम. खण्ड ।

१३२२—'त्व हि राधसस्पते', 'विधत.' इति ऋ० ।

[१३२३] त्वं सोमासि धारयुर्मन्द्र ओजिष्ठो अध्वरे ।
पवस्व मंहयद्रयि. ॥१॥
[१३२४] त्वं सुतो मदिन्तमो दधन्वान्मत्सरिन्तमः ।
इन्दुः सत्राजिदस्तृत ॥२॥
[१३२५] त्वं सुष्वाणो अद्रिभिरभ्यर्ष कनिक्रदत् ।
द्युमन्तं शुष्ममाभर ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० ९ । ६७ । १-३ ॥

भा०—(१) हे (सोम) परमेश्वर ! (त्वं) तू (धारयुः) धारणायुक्त अथवा धारा या वेदवाणी का स्वामी, (मन्द्र) अति आनन्दपूर्ण (ओजिष्ठः) अति बलवान्, (मंहयद् रयिः) ऐश्वर्य का प्रापक होकर (अध्वरे) उपासनामय यज्ञ में (पवस्व) प्रकाशित हो ।

(२) (त्वं) तू (सुतः) निष्पन्न होकर (मदिन्तम·) अति हर्षजनक, (मत्सरिन्तमः) अन्य समस्त इन्द्रियों एवं प्रजाजनों और देहों में हर्ष का प्रसारक (इन्दुः) कान्तिसम्पन्न (अस्तृतः) किसी से भी पराजित न होकर (सत्राजित्) सब से अधिक उत्कृष्ट, सब पर विजयशील होकर सबको (दधन्वान्) धारण करता है ।

(३) (त्वं) तू (अद्रिभिः) विदीर्ण न होने वाले, अभेद्य, दृढ, तपों या अखण्ड तपस्वियों द्वारा (सुष्वाण.) निष्पादित किया हुआ परिपक्व या अभ्यास किया हुआ (कनिक्रदत्) उत्तम ज्ञान का उपदेश देने हारा होकर (अभि अर्ष) प्रकट हो हमें प्राप्त हो । और (द्युमन्तं) यशोजनक (शुष्मं) बल को (आ भर) प्राप्त करा ।

[१३२६] पवस्व देव वीतय इन्दो धाराभिरोजसा ।
आ कलशं मधुमान्त्सोम न· सद· ॥ १ ॥

१३२४—'त्व सुतो नृमादन', 'इन्द्राय सरिन्धसा'। १३२५—'शुष्मसुत्तमम्' इति ऋ०।

[१३२७] तव द्रप्सा उदप्रुत इन्द्रमन्मदाय वावृधुः ।
त्वां देवासो अमृताय कं पपुः ॥ २ ॥
[१३२८] आ नः सुतास इन्दवः पुनाना धावता रयिम् ।
वृष्टिद्यावो रीत्यापः स्वर्विदः ॥३॥१७॥अ० ६।१०६।७-९॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आर्चिक सं० [५७१] पृ०

(२) हे (सोम) सबके उत्पादक ! आनन्दरसस्वरूप ! (तव) तेरे (उदप्रुतः) रस को प्रवाहित करने हारे (द्रप्साः) द्रुतगति से बहने वाले आनन्दरस (इन्द्र) आत्मा को (मदाय) अति आनन्द प्राप्त कराके निमित्त (वावृधुः) बढ़ाते हैं, उसे और अधिक शक्तिशाली बनाते हैं । (देवासः) विद्वान् योगिजन (कं) आनन्दस्वरूप (त्वा) तुझको (अमृताय) अमृत-स्वरूप परम आनन्द-प्राप्ति के लिये (पपुः) पान करते हैं ।

(३) हे (इन्दवः) आत्मा के भीतर प्रवाहित होने हारे, कान्ति-युक्त ! (सुतासः) ज्ञानानन्द रसो ! या ज्ञानी पुरुषो ! तुम निष्पन्न होकर (पुनानाः) स्वतः पवित्र (रीत्यापः) सब रसों के पावक (वृष्टिद्यावः) ज्ञान कान्ति के वर्षक, (स्वर्विदः) सुखों के प्राप्त कराने हारे, आप (रयिम्) अति रमणीयरूप आत्मा के प्रति (आ धावत) गति करो और आत्मा को शुद्ध शान्ति प्राप्त कराओ ।

[१३२९] परि त्यं हर्यतं हरिं वभ्रुं पुनन्ति वारेण ।
यो देवान्विश्वाँ इत्परि मदेन सह गच्छति ॥ १ ॥
[१३३०] द्रिर्यं पञ्च स्वयशसं सखायो अद्रिसंहतम् ।
प्रियमिन्द्रस्य काम्यं प्रस्नापयन्त ऊर्मयः ॥ २ ॥

१३३०—'स्वयशस स्वभार.' 'प्रस्नापयन्त्यूर्मिणम्' ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१३३१] इन्द्राय सोमपातवे वृत्रघ्ने परिषिच्यसे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
नरे च दक्षिणावते वीराय सदनासदे ॥ ३ ॥ १८ ॥

ऋ० ९ । ६८ । ७, ६, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५५२] पृ० २७७ ।

(२) (य) जिस मुख्य प्राणरूप, सबके प्रेरक, सोम को (द्वि पंच च) दोगुना पाच अर्थात् दश (सखाय) समान नाम वाले इन्द्रिय नामक प्राण (ऊर्मय:) ऊर्ध्वगति होकर (स्वयशसं) अपने कीर्तिस्वरूप (अद्रिसंहतम्) पर्वत के समान अभेद्य बल से युक्त (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा के अति कामना योग्य, (प्रियम्) अपने प्यारे को (प्रस्नापयन्त) उत्तम रीति से स्नान कराते हैं सुखरूप जलों से मानो उसका अभिषेक करते हैं उसका साक्षात् ज्ञान करो ।

(३) हे (सोम) सबके प्रेरक बल ! आनन्दमय[1] (पातवे) तेरे पान या पालन करने हारे, (वृत्रघ्ने) अज्ञान रूप विघ्न के विनाशक (दक्षिणावते) क्रिया शक्ति से सम्पन्न (सदनासदे) प्रत्येक आश्रयस्थान, जीवनरूप यज्ञ के गृह अर्थात् शरीर में स्थिर रूप से वर्त्तमान (वीराय) शक्तिशाली (नरे), सबके नेता, प्रवर्त्तक, (इन्द्राय) आत्मा के निमित्त तू (परिषिच्यसे) प्रवाहित किया जाता है ।

१ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
[१३३२] पवस्व सोम मह इन्द्रायाश्वा न निक्तो वाजी धनाय ॥१॥
१ २ ३ १ ३ १ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २
[१३३३] प्र ते सोतारो रसं मदाय पुनन्ति सोम महे द्युम्नाय ॥२॥
१ २ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३३४] शिशुं जज्ञानं हरिमृजन्ति पवित्रे सोमं देवेभ्य इन्दुम्
॥ ३ ॥ १९ ॥ ऋ० ९ । १०६ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिक्रम सं० [४३०] पृ० २१६ ।

१३३१—'इन्द्राय सदनासदे' इति च ऋ० ।

(२) (ते) वे (सोतारः) निष्पादक साधक योगीजन (रस) रसस्वरूप उस (सोमं) सबके प्रेरक आनन्दरस सोम को (महे) बड़े भारी (द्युम्नाय) यश और ज्ञान और (मदाय) आनन्द प्राप्ति के लिये (प्र पुनन्ति) उत्तम रीति से परिशोधित करते हैं।

(३) (शिशु) इस शरीर में शयन करने हारे (हरिं) दुःखों के हर्ता और इन्द्रियों के नेता रूप में (जज्ञान) प्रादुर्भाव होने हारे मुख्य प्राणरूप (इन्दुम्) देदीप्यमान (सोमं) सोमरूप आनन्दरस को (देवेभ्यः) देवों, इन्द्रियों और विद्वानों के लिये (पवित्रे) पवित्र हृदय या परमपावन ईश्वर के ध्यान में (सृजन्ति) परिशुद्ध करते हैं उसका साक्षात् करते हैं।

[१३३५] उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भंगं परिष्कृतम् ।
इन्दुं देवा अयासिषुः ॥ १ ॥
[१३३६] न मिद्वर्धन्तु नो गिरो वत्सं न शिश्वरीरिव ।
य इन्द्रस्य हृदं सनिः ॥ २ ॥
[१३३७] अर्षा नः सोम शं गवे धुक्षस्व पिप्युषीमिषम् ।
वर्धा समुद्रमुक्थ्य ॥ ३ ॥२०॥ ऋ० ९ । ६१ । १३–१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४८७] पृ० २४३ ।

(२) (शिश्वरीः) माताएं जिस प्रकार (वत्सं इव) बालक को अपने दुग्धरसों से बढ़ाती हैं उसी प्रकार (नः) हमारी (गिरः) ज्ञान-कथाएं (तमिद्) उस आत्मा के आनन्द को ही (वर्धन्तु) वृद्धि करें। उसके बल को बढ़ावें (यः) जो (इन्द्रस्य) अन्तरात्मा रूप इन्द्र के (हृदसनिः) हृदय में व्यापक रहता है।

(३) हे (सोम) तू (नः) हमारे (गवे) गोरूप वाणी के लिये (शं) शान्तिदायक कल्याणकारी सुख को (अर्ष) प्रेरित कर और

(पिप्युषी) निरन्तर सामर्थ्य बढ़ाने वाली (इषं) इच्छा शक्ति और अन्न के समान पोषक बल को (धुक्षस्व) प्राप्त करा और हे (उक्थ्य) प्रशंसनीय ! (समुद्रं) रसों के सागर रूप आत्मा को (वर्ध) बढ़ा ।

इति एकादशः खण्डः ।

---

२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१३३८] आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥१॥

३ २व ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १व २र

[१३३९] बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथु स्वरुः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥२॥

१ २ ३ २ ३ २व ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४०] आयुद्ध इद्युधा वृतं शूर आजति सत्वभिः ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

येषामिन्द्रो युवा सखा ॥३॥२१॥ ऋ० ७ । ३५ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो आविकल सं० [१३३] पृ० ७२ ।

(२) (युधा) बलवान् (इन्द्रः) परमेश्वर या आत्मा (येषां) जिनका (सखा) मित्र है (एषां) इनका (इध्मः) तेज (बृहत् इत्) बहुत ही बड़ा है और (शस्तं) उनकी स्तुति, महिमा गान करने वाली वाणी भी (भूरि) बहुत है और (स्वरुः) उनका स्वर या प्राण बल या तेज भी (पृथुः) बड़ा है ।

(३) (येषाम् इन्द्रः युवा सखा) बलवान् परमात्मा जिनका मित्र है उनमें से (अयुद्ध इत्) युद्ध न करने वाला भी अकेला (शूर) शूर वीर के समान (युधावृतः) योद्धागण से घिरे प्रतिपक्षी शत्रु पर (सत्वभिः) अपने बलों द्वारा (आजति) चढ़ाई करता है, और उसे उखाड़ फेंकता है ।

१३३८—२. 'भूरिशस्त' इति ऋ० ।

२ उ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४१] य एक इद्विदयते वसु मर्त्ताय दाशुषे ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

इशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥१॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४२] याश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति ।

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २

उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥२॥

३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र

[१३४३] कदा मर्त्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

कदा न शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ३ ॥ २२ ॥

अ० १ । ८४ । ७, ६, ८॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३८६] पृ० २०० ।

(२) (बहुभ्यः) बहुत से पुरुषों में से (यः चित् हि) जो कोई भी (सुतावान्) ज्ञान योग से प्राप्त ब्रह्मानन्द रस के निष्पादक इस परमात्मा का स्वरूप (आविवासति) साक्षात देख लेता है (अङ्ग) हे नर ! (इन्द्रः) परमेश्वर उसको शीघ्र ही (तत्) वह (उग्रं शवः) उग्र, वीर्य सम्पन्न बल (पत्यते) प्रदान करता है ।

(३) (अङ्ग) हे पुरुषो ! (इन्द्र) वह परमेश्वर तो (नः गिरः) हमारी वाणियों को (कदा) अब कभी भी (शुश्रवद्) सुन लेता है और (अराधसं) आराधना न करने हारे, तुच्छ नास्तिक को (पदा) चरण [पैर] मात्र से नष्ट होजाने वाले (क्षुम्पम् इव) सांप की छतरी, खुम्ब या पदवेहरे के नन्हे पौदे के समान (पदा) अपने सामर्थ्य से (कदा) कभी भी (स्फुरत्) विनाश कर देता है ।

१ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २

[१३४४] गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २

ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥१॥

२ड ३ १र २र ३ १र २र ३ १ २
[१३४५] यत्सानोः सान्वारुहो भूर्यस्पष्ट कर्त्वम् ।
२ड ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तादिन्द्रो अर्थं चेतति यूथेन वृष्णिरेजति ।
२ २ड ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१३४६] युंक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ॥२॥
१ २ ३ १र २र
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥ ३ ॥ २३ ॥

ऋ० १ । १० । १ ३७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [३४२] पृ० १७७ ।

(२) (यत्) जब (सानोः सानु) ऊंची से ऊंची चित्तभूमि में साधक (आरुह०) चढ़ जाता है और (भूरि) बहुत कुछ मन संकल्प (कर्त्वं) पूर्ण करने के लिये (अस्पष्ट) साधन करता है । (तद्) तब (इन्द्रः) परमेश्वर (अर्थं) उसके इष्ट प्रयोजन को (चेतति) जान लेता है और तब (वृष्णिः) सुखों की वर्षा करने हारा यह आत्मा (एज-ति) सेनापति के समान आगे बढ़ता है ।

(३) हे (सोमपाः) सोमरूप आनन्दरस का पान करने हारे (इन्द्र) आत्मन् ! (अथा) अब (नः) हमारे (गिराम्) वाणियों की (उपश्रुतिम्) ध्वनि को (चर) श्रवण कर । और (केशिना) ज्ञान, साधना से सम्पन्न (वृषणा) सुखों के वर्षक (कक्ष्यप्रा) कक्षा वालों को पूर्ण करने हारे प्राण और अपान दोनों को (युक्ष्व हि) साधना में नियुक्त कर ।

इति द्वादशः खण्डः ।

इति द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः पञ्चमश्च प्रपाठकः समाप्तः ।

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

अथ षष्ठ· प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

ऋषि —१, ६ मेधातिथि काण्वः । १० वसिष्ठ· । ३ प्रगाथ· काण्व । ४ पराशर । ५ प्रगाथो घौर काण्वो वा । ७ त्र्यरुणस्त्रसदस्यू । ८ अग्नयो धिष्ण्या ऐश्वरा । ९ हिरण्यस्तूप· । ११ सार्पराज्ञी ॥ देवता—१ इध्मः समिद्धो वाग्निः तनूनपात नराशंस· इन्द्रश्च· क्रमेण । २ आदित्या· । ३, ५, ६ इन्द्र । ४,७–९ पवमान सोमः । १० अग्निः । ११ सार्पराज्ञी ॥ छन्द –४–३, ११ गायत्री । ४ त्रिष्टुप । ५ बृहती । ६ प्रागाथ । ७ अनुष्टुप् । ८ द्विपदा पंक्ति· । ९ जगती । १० विराट् जगती ॥ स्वर·—१–३, ११ षड्ज । ४ धैवत । ५, ९ मध्यम· । ६ गान्धार· । ८ पञ्चम ।–९, १० निषाद ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३४७] सु षमिद्धो न आवह देवाँ अग्ने हविष्मते ।

१ २ ३ १ २

होता· पावक यक्षि च ॥१॥

१ २ ३ २ ३ १ २

[१३४८] मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे।

३ १ २ ३ १ २

अद्या कृणुहि वीतये ॥२॥

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ ३ १ २ २

[१३४९] नराशंसमिह प्रियमस्मिन्यज्ञ उपह्वये ।

१ २ ३ १ २

मधुजिह्वं हविष्कृतम् ॥३॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३-१ २ ३ १ २ २

[१३५०] अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईळित आवह ।

१ ३ १ ३ १ २

आसि होता मनुर्हितः ॥४॥१॥ ऋ० १ । १४ । १–४ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने !) प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (सुसमिद्ध) उत्तम रूप से हमारे हृदय में प्रकाशित होकर आप (नः) हमें (देवान्)

१३४८— कृणुहि वीतये' इति ऋ० ।

दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानवान् पुरुषों और दिव्य उत्तम पदार्थों को (आवह) प्राप्त कराइये । हे (होतः) सब पदार्थों के दाता ! हे (पावक) सब के अन्तःकरणों के पवित्र करने हारे ! आप (हविष्मते) अन्तरात्मा में ज्ञानरूप हवि को धारण करने हारे ज्ञानी पुरुष को (च) भी (यक्षि) आप प्रेम करते और उसको प्राप्त होते और अभिलषित पदार्थों को देते हैं ।

(२) (कवे) मेधाविन् ! हे (तनूनपात्) शरीर के छोटे से छोटे भागों की रक्षा करने हारे ! या देह को न गिरने देने वाले प्राणस्वरूप ! (नः) हमारे (यज्ञं) जीवनमय राष्ट्रमय और दान आदि सत्कर्मरूप यज्ञ को (अद्य) आज के समान सदा, (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के निमित्त (देवेषु) विद्वान् पुरुषों इन्द्रियगण और दश प्राणों में (कृणुहि) सम्पादित करें ।

(३) (नराशंसं) समस्त विद्वान् नेता पुरुषों द्वारा स्तुति किये गये, (प्रियम्) उत्कृष्ट, अत्यधिक प्रिय (मधुजिह्व) मधुरूप ब्रह्मविज्ञान को अपने भीतर आदान करने और वेदवाणी द्वारा उपदेश करने, हारे ।हविष्कृतं) ब्रह्मज्ञान रूप हवि को सम्पादन करने हारे अन्तरात्मा और उस प्रभु को भी इस (इह अस्मिन् यज्ञे) यहां इस उपासना कार्य में या संसार में (उपह्वये) ध्यान करूं ।

(४) हे (अग्ने !) प्रकाशस्वरूप ! (सुक्षतमे) अति अधिक सुख कारक (रथे) रमण करने के साधन इस देह में (हृदि त०) समाधि द्वारा अर्चित और परिशोधित होकर (देवान्) इन इन्द्रियों और दिव्यगुणों को (आवह) प्राप्त करा । तू ही (मनुः हित०) इस हृदयगुहा में मननशील होकर या समाधि द्वारा धारण किया गया है । तू ही (होता) इन प्राणों को अपने भीतर आदान करने और सुखों के देने हारा (असि) है ।

(२ ३ २ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३५१] यद्यद्य सूर उदितेऽनागा मित्रो अर्यमा ।
३ १ २ ३ १ २
सुवाति सविता भग० ॥१॥

[१३५२] सुप्रावीरस्तु सत्पतय. प्र नु यामन्त्सुदानवः ।
य नो अंहोऽतिपिप्रति ॥२॥
[१३५३] उत स्वराजो अदितिरदब्धस्य व्रतस्य ये ।
महो राजान ईशते ॥३॥२१ ऋ० १ । ६६ । ४-६ ॥

भा०—(१) (यद्) जो (अद्य) इस समय आज या इस कल्प में (भगः) सेवन करने योग्य है, (सूरे) सूर्य प्राणात्मा के (उदिते) उदित हो जाने पर (अनागाः) सब अपराधों और दोषों से वियुक्त, पाप रहित, (मित्रः) सब का स्नेही, (अर्यमा) न्यायकारी, सब को समान रूप से स्वामी या शत्रुओं का नियन्ता, (सविता) सब संसार का उत्पादक परमात्मा (सुवाति) हमें सुख प्रदान करें ।

(२) (यः) जो (अंहः) पाप को (अति पिप्रति) पार कर लेते हैं वे (यामनि) प्रति दिन (सुदानवः प्र) उत्तम कल्याणकारी उपदेश और उत्तम ऐश्वर्य दान करने हारे हों । और (सत्पत्य) निवास सहित हमारा (सुप्रावी) उत्तम रक्षा का प्रबन्ध भी (अस्तु) हो ।

(३) (उत) और (यः) जो (अदितिः) अखण्डित चरित्र वाले (अदब्धस्य) अविनाशी, सुसम्पादित (व्रतस्य) व्रत, कर्त्तव्य कर्म के कारण (स्वराज) स्वतः अपने अन्तरात्मा के बल से प्रकाशित होने वाले हैं । वे ही (महः राजानः) बड़े ऐश्वर्यशील होकर (ईशते) सब पर शासन करते हैं ।

व्रत का पालक सदाचारी दृढ़ पुरुष ही महान् यशी हो जाता है ।

[१३५४] उ त्वा मदन्तु सोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः ।
अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥१॥
[१३५५] पदा पणीनराधसो नि बाधस्व महाँ असि ।
न हि त्वा कश्चन प्रति ॥२॥

[१३५६] त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् ।
त्वं राजा जनानाम् ॥३॥३॥ ऋ० ८ । ६४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६४] पृ० १०३ ।

(२) हे (इन्द्र) ज्ञानवन् ! (पणीन्) केवल अदले बदले के व्यवहार को करने हारे, धन लोभी (अराधसः) यज्ञादि द्वारा आराधना न करने हारे मूर्ख पुरुषों को अपने (पदा) ज्ञान से (नि बाधस्व) पूर्ण रूप से पीड़ित कर अर्थात् उनकी लोभवृत्ति को नाश करदे । त् (महान्) सबसे बड़ा (असि) है । (त्वा प्रति) तेरे मुकाबले में (क. चन) कोई भी (नहि) नहीं है ।

(३) हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (स) आप (सुताना) उत्पन्न, शिक्षित और (असुतानां) अनुत्पन्न और अशिक्षित, जो कालान्तर में उत्पन्न या शिक्षित होंगे उन सब पर (ईशिषे) सामर्थ्यवान् है क्योंकि (त्वं) तू (जनाना) सब मनुष्यों, और उत्पन्न होने हारे प्राणियों का (राजा) अधिपति, राजा है ।

इन्द्र=परमात्मा, आचार्य और राजा हैं । वे क्रम से योगी और शिष्यों को और प्रजाओं को निरन्तर शिक्षा दें और उनकी व्यवस्था करें ।

इति प्रथम खण्ड. ।

— o —

[१३५७] आ जागृविर्विप्र ऋत मतीना सोम पुनानो असदच्चमू॰
पु । सपन्ति यं मिथुनासो निकामा अध्वर्यवो गविरा
स. सुहस्ता. ॥ १ ॥

१३५७—१. 'पुना मतीना' । २. 'एत न्यसादीम', 'नित्र सीद', 'एत्र' २ 'अधिक्षन्' इति मु० ।

१ २ ३२ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२
[१३५८] स पुनान उपसूर दधान ओभ अप्रा रोदसी वी प
२२ ३ ८ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २२ ८१ ३ १ ३
आव'। प्रियाचिद्यस्य प्रियसास ऊती सतो धनं कारिणे
१२ २२
न प्रयसत् ॥ २ ॥
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ ८ ३ २ ३ २ ३
[१३५९] स वर्द्धिता वर्द्धनः पूयमान. सोमो मीढ्वां अभि नो
१ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
ज्योतिषा वीत् । यत्र न. पूर्वे पितरः पदज्ञा. स्वर्विदो
३ १२ ८२ ३ १
अभिगा अद्रिमिष्णन् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ९ । ६७ । २७–२९ ॥

भा०—(१) (जागृवि.) जागरणशील, कभी आलस्य न करने हारा, सर्वदा सचेत, (मतीना) मनन करनेहारी बुद्धियों या मनन करने योग्य वेदवाणियों के (ऋत) सारभूत सत्यज्ञान को (पुनान) प्रकाशित करता हुआ (विप्र) मेधाबुद्धि से सम्पन्न विद्वान् (सोमः) शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर (चमूषु) प्रजाओं में (असदत्) विराजता है। (यं) जिसके पास (निकामः) नाना प्रकार की कामनाओं से युक्त (मिथुनासः) गृहस्थ नर नारी (अध्वर्यव.) अपने यज्ञादि कर्मकाण्ड में लगे हुए विद्वान् (रथिरास.) देहधारी, (सुहस्ता) उत्तम कर्म करने में कुशल पुरुष भी (सपन्ति) ज्ञान और सत्संग प्राप्त करने के लिये आते हैं।

(२) (स) वह विद्वान् (पुनान) अपने स्वरूप में स्वत. और अधिक शुद्ध पवित्र होता हुआ अपने को (सूरे) सबके उत्पादक और प्रेरक परमेश्वर में (उपदधान) ईश्वर प्रणिधान द्वारा लगाता हुआ (उभे) दोनों (रोदसी) प्राण और अपान या इहलोक और परलोक, सूर्य और पृथिवी के समान ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों को ज्ञान तेज से (आ, अप्रा) पूर्ण करता है, (स.) और वह (वि आवः) विविध प्रकार का ज्ञान प्रकट करता है। और (सत.) अपने उद्देश्य तक पहुंचे हुए (पस्य)

त्रिगतो (त्रिगा) अन्न, और (त्रिगमान') कल्याणदायिनी कामनाएँ (ऊती) रक्षण करने, मर्यों और विद्वानों से बचाने के लिये होती हैं । वह (सः) इन्द्र (धनं) आत्मज्ञान रूप उत्तम धन को (आरिणे न) अपने आत्मा के समान समझ कर (प्र यमत्) प्रदान करे ।

(३) (स) वह (पर्षिता) सब की तृप्ति करने हारा और (पर्षनः) स्वयं भी आगे बढ़ाने हारा, या सबके संशयों को काटने हारा और अन्यों का भी मूलोच्छेद करने हारा (पृथमान.) स्वयं पथिक ज्ञानवान् होकर । (सोम) शमदमादि षट्क सम्पत्ति से युक्त विद्वान् (मीढ्वान्) आनन्द और सुखों का वर्षक, धर्ममेघ समाधि से सिद्ध, (ज्योतिषा) आत्मज्ञानमय ज्योति से (नः) हमें (अभि आवीत्) उस स्थान पर ले जावे (यत्र) जहां (नः) हमारे (परज्ञाः) परम पद, मात्र मुक्त के ज्ञाता (स्वर्षिदः) मुक्ति सुख का लाभ करने हारे (गा) वेदवाणियों को (अभि) साक्षात् करके (पूर्वे पितरः) पूर्व पिता पितामह गुरु आदि पुरुष एवं आचार्य लोग (अदिम्) उस असंघट मल को (इष्णन्) प्राप्त होते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३

[१३६०] मा त्वद्रन्यादिशंसत सखायो मा रिषण्यत ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥१॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१३६१] अवक्रक्षिणं वृषभं यथा जुवं गां न चर्षणीसहम् ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

विद्वेषणं संवननमुभयङ्कर मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥ ५ ॥

ऋ० ८ । १ । १–२ ॥

भा०—(१) हे (सखायः) मित्रो ! समान रूप से प्रवचन करने हारे विद्वान् लोगो ! (अन्यद्) ईश्वर की स्तुति से अतिरिक्त व्यर्थवाद

१३६०—२. 'वृषभ यथा जुवं', 'संवननोभयंकर' इति ऋ० ।

(मा चित्) कभी मत (वि शंसत) उच्चारण किया करो । आप कभी (मा रिषण्यत) क्लेश को प्राप्त न होओ । (च) और (सुते) ज्ञान उत्पन्न होजाने पर (सचा) एकत्र होकर एक साथ (वृषणं) आनन्द-सुखों की वर्षा करनेहारे (इन्द्रम् . गृत) परमेश्वर को ही लक्ष्य करके (उक्थया) वेद-मन्त्रों को (मुहु) बार २ (शसत) उच्चारण और उनका उपदेश किया करो ।

(२) और हे विद्वानो ! आप लोग (जुव) वेगवान्, शक्तिशाली, (अञ्जक्षिण) सबको अपनी ओर खींचने हारे (वृषभ) बलवान् श्रेष्ठ (गां न) बैल के समान बलवान्, (वृषभं) समस्त सुखों के वर्षक (चर्षणीसहम्) समस्त संसार के मानवों के अपराधों को सहन करने हारे, उन पर क्षमा-शील, उनके व्यवस्थापक, (विद्वेषणं) दुष्टों को दण्ड देने के कारण उनकी अप्रीति का पात्र और (सपनन) श्रेष्ठ पुरुषों के शरण करने योग्य (उभयङ्कं) अनुग्रह और दण्ड पालन और सहार दोनों के करने हारे अतएव (महिष्ट) सबसे बड़े दाता, (उभयाविनं) सज्जन और दुर्जन, ज्ञानी और अज्ञानी, दोनों के जीवनों की समान भाव से रक्षा करने हारे (इन्द्रम् इत् स्तोत) उस परमेश्वर की ही स्तुति करो ।

इन्द्रियों को आत्मा और विद्वानों को परमात्मा के प्रति इस भाव से रहना चाहिये । इन्द्रियों के पक्ष में—आत्मा (विद्वेषण सवननं) द्वेष और राग से युक्त, ईप्सा और जिहासा या पाने और त्यागने की इच्छा द्वारा दोनों कार्यों को करनेहारा और सुखकर और दुःखकर दोनों प्रकारों के मार्गों पर जानेहारा है ।

[१३६२] उदु त्य मधुमत्तमा गिरः स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥१॥

[१३६३] कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमाशत ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ । ३ । १५, १६ ॥

१३६३—'विश्वमिद्धीतमानशुः' इति ऋ० ।

भा०—(१) (रथा इव) रमणसाधन, रथ जिस प्रकार (वाजयन्तः) संग्राम में गमन करते हुए (अञ्चितोतयः) अपने रक्षा के साधनों को निरन्तर स्थिर रखने हारे (सत्राजित·) समस्त शत्रुओं का विजय करके (धनसा) धन, लक्ष्मी को प्राप्ति कराते हैं और राजा के प्रति ही आते, उसे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार (त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अति ज्ञान, और आनन्दरूप मधु से पूर्ण (गिरः) वेदवाणीस्वरूप (स्तोमासः) वेद के स्तुति सूक्त, हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (उत् ईरते) भक्तजनों और विद्वानों के हृदयों और कण्ठों से तुझ परमेश्वर के प्रति उठते हैं ।

(२) (मृगव·) पाप को भून डालने हारे, तपस्वी, (कण्वा·) विद्वान् पुरुष (सूर्या इव) सूर्य की किरणों के समान (विश्वम् इत्) इस समस्त संसार को (धीतम्) ज्ञान योग और ध्यान योग से प्राप्त कर के (आशत) भोग करते हैं । और वे (प्रियमेधास·) सूक्ष्म तत्वदर्शिनी, धारणावती बुद्धियों और ज्ञानधाराओं के प्रेमी (आयवः) मनुष्य (स्तोमेभिः) नाना प्रकार के स्तुति-वचनों से (इन्दं) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर की (महयन्तः) अर्चना करते हुए (अस्वरन्) वेद की स्तुतियों का गान करते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६४] पर्यूषु प्रधन्व वाजसातय परि वृत्राणि सक्षणि ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
द्विषस्तरध्या ऋणया न ईरसे ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६५] अजीजना हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पय· ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
गोजीरया रंहमाणः पुरन्ध्या ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३६६] अनु हि त्वा सुत सोम मदामसि महे समर्यराज्ये ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
वाजा अभि पवमान प्रगाहसे ॥३॥७॥ऋ० ९।११०।१,३,२॥

१३६६—तृतीयस्या ऋचः प्रायः सामसंहितासु 'मदामसीत्यन्तं' प्रतीकमुपलभ्यते ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२८] पृ० २१८ ।

(२) हे (पवमान) सब के प्रकाशक प्रेरक और उत्पादक ! आप (गोजीरया) गति के वेग से युक्त (पुरन्ध्या) ब्रह्माण्ड को धारण करने हारी शक्ति से (रंहमाण·) सबको गति देनेहारे होकर अपने ही (शश्वता) शक्ति से (पय·) सबके पुष्टिकारक जल को (विधारे) विशेष रूप से ऊपर किरणों द्वारा धारण कर लेने के लिये (सूर्यं) सूर्य को (अजीजनः) उत्पन्न करते हो। अथवा—(पय सूर्यं विधारे अजीजन·) सबके पोषक सूर्य को भी निरालम्ब आकाश में उत्पन्न करते हो ।

(३) व्याख्या देखो अविकल सं० [४३२] पृ० २२० ।

२ ३ १ ३
[१३६७] परिप्रयन्त्र० ॥१॥
३ १र २र ३ १र २र ३ २ २ १ १ ३ २ ३ १ २
[१३६८] एवामृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्य· पीयूष·॥२॥
२ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
[१३६९] इन्द्रस्ते सोमसुतस्य पेयात् क्रत्वे दक्षाय विश्वे च देवा
॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । १०९ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४२७] पृ० २१८ ।

(२) हे प्रभो ! तू (दिव्यः) दिव्य (पीयूष·) सबको पुष्ट करने वाला, पान करने योग्य आनन्दरसरूप, (अमृताय) अमृत, परम ब्रह्मसुख या मुक्ति प्रदान करने के लिये और (महे) बड़े भारी (क्षयाय) शरण प्राप्त कराने के लिये (एव) ही है । हे सबके उत्पादक (स) वह आप (शुक्र·) शुद्ध कान्तिस्वरूप होकर हम पर (अर्ष) अपनी ज्ञान और

१३६७—३ 'पेयाः' इति ऋ० । च च 'स्टीवन्सनसम्पादिते' लन्दनमुद्रिते ग्रन्थे आद्ये द्वे ऋचावेकीकृत्य मुद्रिते 'परिप्रयन्त्वा एवामृतायेत्यादि, सत्र प्रागादिवत् । अजमेरमुद्रिते तु पूर्णो मन्त्रपाठः ।

आनन्द धारा को प्रेरित करो और हमारे हृदय में प्रकाशित होओ। तं विद्यात् शुक्रममृतम्। कठ० उप०।

(३) हे (सोम) सबके उत्पादक परमात्मन्[1] (सुतस्य) हृदय में प्रकट हुए (ते) आनन्दस्वरूप आपके रस का (इन्दः) यह आत्मा (च) और (विश्वे देवाः) समस्त दिव्यगुणवान् यह इन्द्रियगण, अथवा विद्वान् गण भी (ऋत्वे) ज्ञानप्राप्ति और (दक्षाय) बल प्राप्ति के लिये (पेयात्) पान करें।

इति द्वितीयः खण्डः।

—:o:—

[१३७०] सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुतः साकमीरते। तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन ॥१॥

[१३७१] उपो मतिः पृच्यते सिच्यते मधुमन्द्राजनी चोदते अन्तरासनि। पवमानः सन्तनिः सुन्वतामिव मधुमां इन्दुरर्षति परिष्कृतम् ॥२॥

[१३७२] उक्षा मिमेति प्रतियन्ति धेनवो देवस्य देवीरुपयन्ति निष्कृतम्। अत्यक्रमीदर्जुनं वारमव्यमत्कं न निक्तं परि सोमो अव्यत ॥३॥६॥ ऋ० ९। ६०। ३, २, ४॥

भा०—(१) (सूर्यस्य) सबके प्रेरक प्रकाशस्वरूप सूर्य की (रश्मय, इव) किरणों के समान (द्रावयित्नव) द्रुतगति से जाने हारे (म

१३७०—१. 'प्रसुवः' २. 'सन्नति' ३. 'दक्ष। निष्कृतं' ऋ० ऋ०।

सुत) उत्तम रीति से उत्पन्न, प्रकट या प्रेरित होकर (मत्सरासः) निरपेक्ष गति करते हुए स्वयं प्रेरित, (आशवः) शीघ्रगामी (सर्गासः) सगस्न लोक (ततं) विस्तृत विशाल (तन्तुं) सर्ग, स्थिति, प्रलय के अनादि तन्तु ब्रह्म को आश्रयण करके (साकं) एक ही काल में (परि ईरते) अपनी २ कक्षा में परिक्रमा करते हैं, वास्तव में (किञ्चन) कुछ भी (धाम) शक्ति और तेज (इन्दाद् ऋते) बिना उस परमेश्वर के कहीं से भी (न) नहीं (पवते) प्रकट होता। यहां तेजस्वी लोकों को 'सोमाः' 'मत्सरासः' शब्दों से कहा गया है। अध्यात्मपक्ष में ये प्राण हैं और इन्द=आत्मा।

(२) (मति) मननशक्ति बुद्धि उस परमेश्वर इन्द में समाधि द्वारा (उप शृक्षते) लग जाती है तब (मधु) आनन्द-रस (सिच्यते) अन्तःकरण में प्रवाहित होने लगता है। (मन्दाजनी) अति आनन्ददायक रसधारा (आसनि) मुख के भीतर या मुखस्थान शिरोभाग में (अन्तः) भीतर (चोदते) प्रेरित होती है। (सन्तनि) सर्वत्र समान भाव से विस्तृत होने हारा (पवमानः) प्रकट होता हुआ, कान्तिस्वरूप (दप्सः) वीर्य और रसस्वरूप आनन्दरस (मधुमान्) ज्ञान और आनन्ददायक होकर (वारम्) भृकुटियों के मध्यभाग त्रिपुटीस्थल में या चरणीय प्रदेश में (परि अर्षति) प्रकट होता है।

इसमें ब्रह्माण्डगत सोम के अतिरिक्त शरीरगत सोम का स्वरूप भी दर्शाया गया है।

(३) जैसे (उक्षा) वीर्य सेचन में समर्थ साड (मिमेति) शब्द करता है और (धेनवः) गौएं (त) उसकी तरफ (प्रति यन्ति) चलती हैं। इसी प्रकार (देवी) दिव्यगुण वाली शक्तियां या बुद्धियां (देवस्य) दिव्यगुण शुद्ध अन्तरात्मा के (निष्कृत) गुप्त स्थान या विशुद्ध स्वरूप को भी (उ-

पवन्ति) पहुंचती हैं । (सोमः) शुक्रस्वरूप सर्वप्रेरक शक्ति (अर्जुनम्) शुभ्र या देह के उपचय अपचय करने में समर्थ (अव्ययम्) प्राणमय (वारम्) आवरणकारी कोष को (अति अक्रमीत्) अतिक्रमण करता है और (निष्कम्) शुद्ध (अत्कं) कवच के समान रक्षण करने हारे शरण योग्य पद को (अव्यत) प्राप्त होता है ।

३ २ञ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१३७३] अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम् ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥१॥
२ ३ १ञ ३ १ २ ३ञ १र ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७४] तमग्निमस्ते वसवो न्यृण्वन्त्सुप्रतिचक्षमवसे कुतश्चित् ।
३ २ ३ २ञ ३ २ ३ँ १ २
दक्षाय्या यो दम आस नित्यः ॥२॥
१ ८ ३ १र १र ३ १र
[१३७५] प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
११ १र ३ १ २ ३ ३ १ २
त्वां शश्वन्त उपयन्ति वाजाः ॥ २ ॥ १० ॥

ऋ० ७ । १ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [७२] पृ० ३७ ।

(२) (सुप्रतिचक्षसं) उत्तम रूप से दर्शन करने योग्य, (तम्) उस वरण करने योग्य (अग्निम्) अग्निरूप ज्ञानवान् तेजस्वी आत्मा को (वसवः) आवास के साधन या देह में वास करने हारे देव, इन्द्रियगण या विद्वान् लोग (कुतश्चित्) सब ओर से (अवसे) रक्षा प्राप्त करने के

---

१ ऋज गतिस्थानोपार्जनेषु । ऋजी मृजी भर्जने । अर्ज वर्ज भर्जने, इति स्वादयः । अर्ज प्रतियत्ने इति चुरादिः । एभ्यो बहुलगुण । अर्जुन=गतिमान्, स्थिरः, उपार्जनशीलः, भर्जनशीलः, प्रतियत्नवान् इत्यर्थः ।

लिये (अस्ते) अपने गृह, देह, या हृदयगुहा में (निऋण्वन्) योग समाधि द्वारा खोजते हैं जो (दक्षाय्यः) बल को प्राप्त कराने में चतुर (नित्य॰) अव्यय अविनाशी, (दमे) दमन करने योग्य शरीररूप गृह में (आस) विद्यमान रहता है ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशक आत्मन् ! (यविष्ठ) हे बलवत्तमिन् ! अति युवतम ! अजर, अमर ! (प्रेद्ध॰) योग-साधनों से प्रदीप्त, प्रज्वलित होकर (अजस्रया) निरन्तर प्रकाशमान (सूर्म्या) ज्वाला, ज्ञानमय ज्योति से (दीदिहि) प्रकाशित हो । (शश्वन्त॰) अनादिकाल से बड़े तपस्वी (वाजाः) ज्ञानी पुरुष (त्वा) तुझको (उपयन्ति) प्राप्त होते हैं ।

२ऽ २ऽ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१३७६] आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
३ १ २ ३ १ २
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥१॥
३ १ २ ३ २ऽ ३ १ २ ३ २
[१३७७] अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ।
१ऽ २ऽ ३ १ऽ २ऽ
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥
३ १ऽ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३७८] त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ।
२ ३ २ ३ २ ३ १ २
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥११॥ ऋ॰ २० । १८९ । १-३॥

भा०—(१) (२) (३) व्याख्या देखो अविकल सं० क्रम से [६३०, ६३१ और ६३२] पृ० ३१८, ३१९ ।

इति तृतीयः खण्ड. ।

इति षष्ठस्याष्टकस्य प्रथमोऽर्धः

इत्येकादशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्यः द्वितीयोऽर्धः ।

ऋषिः—१ गोतमो राहूगण., वसिष्ठस्तृतीयस्या । २, ७ वीतहव्यो भरद्वाजो वा बार्हस्पत्य॰ । ३ प्रजापतिः । ४, १३ सोमरि॰ काण्व॰ । ५ मेधातिथिमेध्यातिथी काण्वौ । ६ ऋजिश्वोर्ध्वसद्मा च क्रमेण । ८, ११ वसिष्ठ॰ । ९ तिरश्ची॰ । १० सुतभर आत्रेयः । १२, १६ नृमेधपुरुमेधौ । १४ शुन शेप आजीगर्तिः । १५ नोधाः । १६ मेध्यातिथिर्मेधातिथिर्वा काण्वः । १७ रेणुर्वैश्वामित्रः । १८ कुत्स । २० आगस्त्य॰ ॥ देवता—१, २, ८, १०, १३, १४ अग्नि॰ । ३, ६, ८, ११, १५, १७, १८ पवमानः सोमः । ४, ५, ९, १२, १५, १९, २० इन्द्र ॥ छन्द॰—१, २, ७, १०, १४ गायत्री । ३, ९ अनुष्टुप् । ४, १२, १३, १६ प्रागाथ । ५ बृहती । ६ ककुप् सतोबृहती च क्रमेण । ८, ११, २५, १० त्रिष्टुप् । १७ जगती । १९ अनुष्टुभौ बृहती च क्रमेण । २९ बृहती अनुष्टुभौ क्रमेण ॥ स्वरः—१, २, ७, १०, १४ षड्जः । ३, ९, १० गान्धार॰ । ४–६, १२, १३, १६, २० मध्यम॰ । ८, ११, १५, १८ धैवतः । १७ निषाद ।

[१३७९] उपप्रयन्तो अध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये ।
आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १ ॥

[१३८०] यः क्षीरहेतीषु पूर्व्यः सप्तस्वग्नानासु कृष्टिषु ।
अरक्षद्दाशुषे गयम् ॥ २ ॥

[१३८१] स नो बोधी अमात्यमग्नी रक्षतु शन्तमः ।
उरुष्यान्पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१३८१—'अग्नी रक्षतु विश्वतः' इति ऋ० ।

३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३८२] उत ध्रुवन्तु जन्तव उदग्निर्वृत्रहाजनि ।
३ १र २र
धनञ्जयो रणेरणे ॥ ४ ॥ १ ॥

[२, २, ४] ऋ० १ । ७४ । १-३ [३] ऋ० ७ । १५ । ३ ।

भा०—(१) (अध्वरं) हिंसा आदि रहित पर-उपकार आदि पवित्र कर्मों को (उप प्रयन्त.) अनुष्ठान करते हुए हम लोग (आरे) दूर देश में (च) भी (अस्मे) हमारी स्तुति को (शृण्वते) सुनने वाले (अग्नये) प्रकाशस्वरूप, ज्ञान के दाता परमात्मा की स्तुति के लिये (मन्त्रं) मनन करने योग्य वेदमन्त्र का (वोचेम) उच्चारण करें ।

(२) (यः) जो (संजग्मानासु) समान भाव से संग करने हारी और (कीहितिषु) परस्पर स्नेह करने हारी, या परस्पर लड़ने हारी (कृष्टिषु) प्रजाओं में (पूर्व्यः) सब से प्रथम विद्यमान, या मुख्य पद पर विराजमान, आदरणीय, पूर्ण स्वभाव, निरपेक्ष, निष्पक्ष, न्यायशील ज्ञानी पुरुष है वही (दाशुषे) दान करने हारे त्यागी पुरुषों के (गयं) प्राण और धन की (अरक्षत्) रक्षा करे ।

(३) (सः) वह (शंतमः) अत्यन्त शान्तिदायक, ज्ञान आदि युक्त, निष्ठ, निष्पक्षपात, ज्ञानी पुरुष, (नः) हमारे (अमात्यं) सहायक-पुत्र आदि और (वेदः) ज्ञान और धन की (रक्षतु) रक्षा करे । (उत) और (अस्मान्) हमको (अंहसः) पापों से (पातु) बचावे ।

(४) और इसी प्रकार (जन्तवः) सब लोग (ध्रुवन्तु) उसका वर्णन करें और जानें कि (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान और अंधकार का नाश करने हारा (अग्नि) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, पथ-दर्शक और प्रकाशस्वरूप आचार्य और राजा (रणे रणे) रमणीय २ प्रदेशों और संग्रामों में (धनंजयः) ज्ञान और धन का विजय करने हारा हो ।

[१३८३] अग्ने युंक्ष्व हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥ १ ॥
[१३८४] अच्छा नो याह्यावहाभिप्रयांसि वीतये ।
आ देवान्त्सोमपीतये ॥ २ ॥
[१३८५] उदग्ने भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत् ।
शोचा विभाह्यजर ॥ ३ ॥ २ ॥ ऋ० ६ । १६ । ४३–४५ ॥

भा०—(१) हे (देव) प्रकाशमान आत्मन् ! (ये) जो (साधवः) ज्ञानसाधन और कर्मसाधन में कुशल (तव) तेरे (आशवः) शीघ्रगामी (अश्वास) विषय ग्रहण करने हारे, (अरं) पर्याप्त ज्ञान और फलराशि को (वहन्ति) प्राप्त करते हैं उन इन्द्रिय आदि साधनों और विद्वानों को (युंक्ष्व हि) निश्चय पूर्वक कार्य में नियुक्त कर। व्याख्या देखिये अविकल सं० [२५] पृ० ११ ।

(२) हे (अग्ने) परमगुरुरूप परमेश्वर ! (नः) हमारे (अच्छ) सन्मुख (याहि) प्राप्त हो, हमें दर्शन दो और (वीतये) तत्व साक्षात्कार करने और (सोमपीतये) ऐश्वर्य, आनन्दरस को पान करने के लिये (देवान्) इन्द्रियगणों या विद्वान्जनों को नित्य (प्रयांसि) ज्ञान (अभि आ-वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (भारत) समस्त संसार के भरण पोषण करने हारे ! हे (अजर) जरामरणरहित ! (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परम आत्मन् ! (दवि द्युतत्) निरन्तर प्रकाशमान होता हुआ तू (अजस्रेण) निरन्तर वर्तमान, (द्युमत्) प्रकाशमान तेज से (शोच) स्वयं प्रकाशित हो और (वि-भाहि) उत्तम रीति से समस्त जगत् को भी प्रकाशित कर ।

१३८३—१ 'अर वहन्ति मन्यवे' ।

[१३८६] प्रसुन्वानस्यान्धसो मत्तो न वष्ट तद्वच. ।
अप श्वानमराधसं हता मखन्न भृगव ॥ १ ॥

[१३८७] आ जामिरत्क अव्यत भुजे न पुत्र ओण्योः ।
सरज्जारो न योषणां वरो न योनिमासदम् ॥ २ ॥

[१३८८] स वारो दक्षसाधना वि यस्तस्तम्भ रोदसी ।
हरिः पवित्र अव्यत वेधा न योनिमासदम् ॥ ३ ॥ ३ ॥

ऋ० ९ । १०१ । १३–१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो ऋ० सं० [५५३ तथा ७७४] पृ० २९८ और ५५३ ।

(२) (जामिः) आनन्द को उत्पन्न करने हारा, निर्दोष, शुद्ध अन्तः करण वाला साधक सोम (अत्के) अपने आच्छादक, आनन्दमय कोष में (ओण्योः) मां बाप के (भुजे) गोद में (पुत्रः न) पुत्र के समान और (योषणां) कामिनी स्त्री के प्रति (जारः न) उस में आसक्त पुरुष के समान और (योनिं) कन्यागृह के प्रति (वरः न) वरण करने योग्य पुरुष के समान (सरत्) गमन करता हुआ (योनिं) अपने आश्रय आत्मा में (आसदं) स्थिर, आनन्दरूप स्थिति प्राप्त करने के लिये (अव्यत) पहुंच जाता है ।

(३) (दक्षसाधनः) अपने बलोपार्जन का साधक (यः) जो (रोदसी) प्राण और अपान के वेगों को (तस्तम्भ) रोक लेता या वश कर लेता है (सः) वह (हरिः) इन्द्रियों का विजय करने हारा (वेधाः) ज्ञानी गृहस्थ (योनिं न) जैसे अपने घर में आता है उसी प्रकार वह भी (वेधाः) मेधावी, ज्ञानवान् साधक (योनिम्) आश्रयस्थान, परम

१३८६—१. 'प्रसुन्वानस्यान्धसो', 'मत्तो न वष्ट' इति ऋ० ।

शरणरूप मोक्ष को प्राप्त करने के लिये (पवित्रे) परम पावन परमात्मा में (अव्यत) विचरता है ।

इति: प्रथम: खण्ड: ।

—0—

३ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २

[१३८६] अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि ।

३ १ २ ३ १ २

युधेदापित्वमिच्छस ॥ १ ॥

१ २ ३१ २ ३ १२ ३ १ २ ३ २१

[१३९७] नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः ।

३ २ ३ १ २ ३ १ २१ ३ १ २ ३ १ २

यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे ॥ २ ॥ ४ ॥

ऋ० ८ । २१ । १३, १४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३९६] पृ० २०४ ।

(२) हे प्रभो ! आप (रेवन्त) केवल धनसम्पन्न, धनाभिमानी पुरुष को (सख्याय) अपनी मित्रता के लिये (नकि:) कभी नहीं (विन्दसे) प्राप्त करते । क्योंकि (सुराश्व:[1]) शराब पीकर, या राज्य लक्ष्मी के मद से फूले हुए (ते) वे लोग हितैषियों तक को (पीयन्ति) मारते हैं । और जब (नदनु) सत्य गुणों का उपदेश करने हारे पुरुष को आप अपना मित्र (कृणोषि) बना लेते हो और (सम् ऊहसि) उसको उत्तम रीति से उन्नति के मार्ग पर लेजाते हो । (आत् इत्) तब ही हे परमेश्वर ! आप (पिता इव) पिता के समान (हूयसे) याद किये जाते हो ।

१ २ ३२ ३ २ ३१ ३ १ २१ ३ १ २

[१३९१] आ त्वा सहस्रमाशवं युक्ता रथे हिरण्यये ।

३ २ ३ १२ ३ २ ३ १ २ १ २

ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ ३ ॥

१३८६—१. 'दुजास्त्रि गतिवृद्धयोः [स्वादि]

१. सुरया सुता. यदि सुराश्वः ।

२ ३ १ २ ३ २३ १ २ ३ १ २ १
[१३९२] आ त्वा रथे हिरण्यये हरी मयूरशेप्या ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
शितिपृष्ठा वहतां मध्वो अन्धसो विवक्षणस्य पीतये ॥२॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३९३] पिबा त्वाऽस्य गिर्वणः सुतस्य पूर्वपा इव ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
परिष्कृतस्य रसिन इयमासुतिश्चारुर्मदाय पत्यते ॥३॥५॥

अ० ८ । १ । २४–२६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४५] पृ० १२५।

(२) हे इन्द्र ! (हिरण्यये) हरणशील (रथे) रमण-साधन, भोगायतन इस देह में (मयूरशेप्या) मयूर के पंखों के समान वर्ण वाले, (शितिपृष्ठा) श्वेत या नील कान्ति को स्पर्श करने हारे, (हरी) दु:खहारी या हरणशील, अश्वरूप प्राण और अपान (त्वा) तुझ आत्मा के (विवक्षणस्य) अत्यन्त प्रशंसनीय या प्राप्त करने योग्य, महान्, (मध्वः) मधुर अमृतरस रूप (अन्धः) जीवनशक्तिमय सोमरस के (पीतये) पान करने के लिये (वहता) प्राप्त करावें । विशुद्ध चितिशक्ति के योगसिद्ध अनुभवों को लक्ष्य करके प्राणापान के साधकों के निमित्त प्राण और अपान दोनों का वर्णन भी इसी प्रकार कहा गया है । जैसे—

" काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥मुण्डक॥

जो इन मन्त्रों को सूर्यपरक लगाया जाता है वह आदित्य भी साधक द्वारा अन्तर्दृष्ट आदित्य प्रभु का एक दृष्टान्तमात्र है ।

(२) हे (गिर्वणः) वाणियों के एकमात्र पात्र ! (अस्य) इस (सुतस्य) समाधि द्वारा निष्पादित सोम को (नु) शीघ्र ही (पूर्वपाः इव) प्राण वायु के समान (पिब) पान कर । क्योंकि (परिष्कृतस्य) योग-साधन एवं प्राणायाम आदि कर्मों द्वारा परिशोधित (रसिनः)

ब्रह्मास्वाद रस की (रसम्) यह (आसुतिः) निष्कर्ष या प्राप्ति (मदाय) परम हर्ष के प्राप्त करने के लिये (चारु.) सर्वोत्तम (पत्यते) जानी और प्राप्त की जाती है ।

[१३६४] आसोता परिषिंचताश्व न स्तोममप्तुर रजस्तुरम् ।
वनप्रक्षमुदप्रुतम् ॥ १ ॥

[१३६५] सहस्रधारं वृषभं पयोदुह प्रिय देवाय जन्मने ।
ऋतेन य ऋतजातो वि वावृधे राजा देव ऋतं बृहत्
॥ २ ॥ ६ ॥ ऋ० ९ । १०८ । ७, ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५८०] पृ० २६२ ।

(२) (सहस्रधार) सहस्रों धारणकारिणी शक्तियों या आनन्द धाराओं, या नाना स्तुति वाणियों स युक्त (वृषभं) सुखों के वर्षक (पयो-दुह) पुष्टिकारक आनन्द का दोहन करने हारे (प्रिय) आत्मा के समान सब से अधिक प्रीति के विषय (देवाय) परम इष्टदेव के (जन्मने) अन्तरात्मा में प्रादुर्भाव करने के निमित्त साक्षात्कार करो । जो आत्मारूप सोम (राजा) ज्ञान से प्रकाशित, इस देहेन्द्रिय सघात का प्रकाशक राजा (ऋतजातः) तप से परिष्कृत होकर (ऋतेन) सत्य ज्ञान से (वि वावृधे) अधिक शक्तिशाली होता है और जो स्वय (देव) दिव्यगुण होकर (ऋतं) सत्य स्वरूप और (बृहत्) सबसे बड़ा, या सबका वर्धक है ।

इति द्वितीय खण्ड ।

[१३६६] अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविण स्युर्विपन्यया ।
समिद्ध. शुक्र आहुत ॥ १ ॥

१३६५—२. 'वृषभं पयोदुघं' इति ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१३९७] गर्भे मातु. पितुष्पिता विदिद्युतानो अक्षरे ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ २
सीदन्नृतस्य योनिमा ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १२३ १ २ ३ १ २
[१३९८] ब्रह्म प्रजावदाभर जातवेदो विचर्षणे ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने यद्दीदयद्दिवि ॥३॥७॥ ऋ० ६ । १६ । ३४,-३६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४] पृ० ३ ।

(२) (पितु. पिता) सब पालकों का पालक, पिता का भी पिता, (अग्नि.) ज्ञानवान् परमात्मा (अक्षरे) अविच्युत, स्थिर (मातुः) प्रमाता आत्मा के (गर्भे) अन्त करण में (विदिद्युतान) प्रकाश करता हुआ (ऋतस्य) सत्य ज्ञान क (योनिं) मूल आश्रय ईश्वरीय ज्ञान, वेद को (आसीदन्) स्थापना करता हुआ समस्त आवरणरूप अज्ञानान्धकारों का नाश करता है । अथवा सूर्य आदि पालकों का उत्पादक ज्ञानी एवं सबका अग्रणी, अनादि सिद्ध परमेश्वर (मातु गर्भे) जगत् को रचाने वाली प्रकृति के गर्भ में, उसके बीच (विदिद्युतानः) अपने प्रकाश को स्थापित करता हुआ (ऋतस्य योनिम्) अव्यक्त जगत् के मूल कारण रूप तत्व को (आसीदन्) अपने वश करता है ।

(३) हे (जातवेदः) समस्त संसार के उत्पन्न पदार्थों को जानने हारे ! (विचर्षणे) सबके द्रष्टः ! आप हमें (प्रजावद्) पुत्र आदि सहित (ब्रह्म) ऐसे अन्न और ज्ञान को (आ भर) प्राप्त कराइये (यत्) जो (दिवि) दिव्यगुण से युक्त ज्ञानमय उत्कृष्ट लोक में भी (दीदयत्) प्रकाशित रहे । अर्थात् ऐसा अन्न और ज्ञान प्राप्त कराओ जिसका परलोक और विद्वानों में भी आदर हो ।

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१३९९] अस्य प्रेषा हेमना पूयमानो देवो देवेभि. समपृक्त रसम्।
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
सुत. पवित्रं पर्येति रेभन् मितेव सद्म पशुमन्ति होता ॥१॥

३ १ २२ ३ २ १ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३
[१४००] भद्रा वस्त्रा समन्याऽऽवसानो महान् कविर्निवचनानि
१ २ १ २ ३क २२ ३ १ २ ३ १ २२
शंसन् । आवच्यस्व चम्वो: पूयमानो विचक्षणो जागृविर्
३ १ २
देवयातौ ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१४०१] समु प्रियो मृज्यते सानो अव्ये यशस्तरो यशसां क्षैतो
३ २ ३ २३ १ २ ३ १ २ ३ ३१ २ ३ २ ३
अम्मे । अभि स्वर धन्वा पूयमानो यूय पात स्वस्तिभिः
१ २
सदा नः ॥ ३ ॥ ८ ॥ ऋ० ९ । ९७ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५२६] पृ० २६१ ।

(२) हे सोम ! महायोगिन् विद्वन् ! (भद्रा) कल्याणकारी (समन्या) परस्पर प्रेम पूर्वक सम्मिलन करने योग्य, या सग्राम योग्य, केसरिया, तेजस्वी या कापाय (वस्त्रा) वस्त्र (वसानः) धारण करता हुआ (महान्) बड़ा (कवि) मेधावी पुरुष होकर (निवचनानि) निरन्तर उपदेश करने योग्य वचनों को (शासन्) उपदेश करता हुआ (विचक्षण.) भले बुरे, सत् असत् का विवेक करता हुआ (देवयातौ) परमेश्वर के प्राप्ति के मार्ग में (पूयमानः) अपने अन्त.करण से पवित्र होकर (चम्वोः) द्यौलोक और पृथिवी ज्ञानवान् और अज्ञानी दोनों प्रकार के जनों में (आवच्यस्व) विचरण कर ।

(३) (यशसां) यशस्वियों के बीच, (यशस्तरः) अति अधिक यशस्वी, (क्षैत.) इस पृथिवी में उत्पन्न होकर (उ) भी (अव्ये) प्राणा-याम और (सानौ) उच्चतम आध्यात्म तप.-कोटि में स्थित एवं (प्रिय·) अतिप्रिय होकर (अस्मे) हमारे लिये विद्या आदि सद्गुणों से (सम् मृज्यते) उत्तम रीति से परिष्कार को प्राप्त होता, या भूषित होता है। ऐसा (पूयमान.) पवित्र होकर (धन्वा) गमनशील, परिव्राट् होकर

(अभि स्वर) उत्तम २ उपदेश कर। अध्यात्मपक्ष में—आनन्द भूमि को प्राप्त साधक अपने आत्मा से कह रहा है । हे इसी प्रकार के विद्वान् पुरुषो ! (यूय) आप लोग भी (न.) हमारी (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी उपदेशों और उपायों से (पात) रक्षा करो ।

१ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ २ १ २

[१४०२] एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना ।

३ १ ३ १ २ ३ १ २ ३ ३ ३ १ २

शुद्धैरुक्थैर्वावृध्वांसं शुद्धैराशीर्वान्ममत्तु ॥ १ ॥

१ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[१४०३] इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्ध. शुद्धाभिरूतिभिः ।

३ २ ३ १र २र ३ १ २

शुद्धो रयिन्नि धारय शुद्धो ममद्धि सोम्य ॥२॥

१ १ ३ १र २र ३ २ ३ १र १र ३ १ २

[१४०४] इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे ।

३ १ ३ १ २ ३ १र २र

शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि ॥३॥६॥

अ० ८ . ६५ । ७-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अविकल सं० [३५०] पृ० १८१ ।

(२) हे (इन्द) ऐश्वर्यवन्[1] (शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न') हमें (आगहि) सन्मुख साक्षात् दर्शन दें। और (शुद्धाभि) शुद्ध पवित्र (ऊतिभि) मरुत् रूप या प्राणात्मक शक्तियों सहित आप (शुद्धः) शुद्धस्वरूप ही हैं। अतः (शुद्ध') शुद्धरूप ही आप (रयिं) धारण करने योग्य ऐश्वर्य को (नि धारय) पूर्णरूप से धारण करें और हे (सोम्य') परमानन्द के पात्र शक्तिमय[1] आप (शुद्ध·) शुद्ध रूप ही (ममद्धि) नित्य आनन्द प्राप्त करावें ।

(३) हे (इन्द) ऐश्वर्यवन्! (शुद्ध) शुद्धस्वरूप आप (न') हमें (रयिं) समस्त ऐश्वर्य, जीवन, प्राण और जगत् के समस्त पदार्थ (सिषाससि) प्रदान करते हैं। क्योंकि (दाशुषे) दाता आत्म समर्पक को आप

(शुक्र०) निरपेक्ष शुद्धभाव से ही (रत्नानि) समस्त सुखकारी पदार्थ देते हो । (शुक्रः) स्वयं शुद्ध होकर ही (वृत्राणि) आवरक अन्धकारों और विघ्नों एवं दुष्ट पुरुषों का विनाश करते हो । और (शुक्र०) शुद्धस्वरूप होकर ही आप समस्त संसार को (वाजं) ज्ञान, धन और बल (सिषाससि) प्रदान करते हो ।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१४०५] अग्न स्तोमं मनामहे सिद्धमद्य दिविस्पृशः ।
देवस्य द्रविणस्य वः ॥१॥

[१४०६] अग्निर्जुषत नो गिरो होता यो मानुषेष्वा ।
स यक्षद्दैव्यं जनम् ॥२॥

[१४०७] त्वमग्ने प्रथा असि जुष्टो होता वरेण्य० ।
त्वया यज्ञं वितन्वते ॥३॥१०॥ अ० ५ । १२ । १४ ॥

भा०—(१) (द्रविणस्यवः) धन और द्रुत गति से प्राप्त करने योग्य इष्टदेव को प्राप्त करने की कामना वाले या ऐश्वर्यवान् होकर हम (अद्य) आज, अब (देवस्य) प्रकाशस्वरूप (अग्ने) सबके अग्रणी ज्ञानदाता, नायक परमेश्वर के (सिद्धम्) नित्य (स्तोमं) स्तुति, सद्गुण वर्णन रूप वेद का (मनामहे) मनन करते हैं ।

(२) (यः) जो (अग्नि०) ज्ञानवान् परमेश्वर (होता) समस्त संसार का आदान और विसर्ग, प्रलय और सर्ग करने हारा (मानुषेषु) समस्त मननशील पुरुषों के हृदयों में (आ) साक्षात् रूप से विद्यमान

१४०५—१ 'अग्ने' स्तोम मनामहे सिध्रमद्य' इति ऋ० ।
'सिध्रमिति पाठो नीलकण्ठोदः', सिद्धमिति सायणभाष्ये ।

होकर (नः) हमारी (गिरः) समस्त वाणियों को (जुषते) श्रवण करता है (सः) वही (दैव्यम्) दिव्यगुणयुक्त, ज्ञानप्रकाश वाले (जनं) दिव्य पदार्थ और मोक्षस्थ आत्मा को (यक्षत्) आनन्द सुख प्रदान करता है।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप[1] आप ही (वरेण्यः) सबके वरण करने योग्य, (होता) सब संसार के दाता, प्रतिगृहीता, समस्त यज्ञों के कर्ता, (जुष्ट) सबके प्रेमपात्र, सबके सेवन योग्य और (सप्रथाः) सब से महान् (असि) हो। (त्वया) आप ही के निमित्त से सब लोग अपने (यज्ञं) इष्ट साधन रूप धर्म कार्यों और पूजा आदि का (वितन्वते) सम्पादन करते हैं।

३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४०८] अभि त्रिपृष्ठं वृषणं वयोधामङ्गोषिणमवावशन्त वाणीः।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वना वसानो वरुणो न सिन्धुर्वि रत्नधा दयते वायाणि॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १, २

[१४०९] शूरग्राम सर्ववीरः सहावाजेता पवस्व सनिता धनानि।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३

तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वसाढ साह्वान् पृतनासु

१ २

शत्रून् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २३ ३ १ ३

[१४१०] उरुगव्यूतिरभयानि कृण्वन्त्समीचीने आपवस्वा पुरन्धी।

३ १२ २२ ३ १ ३ १२ १२ २२ ३ २ ३ २ ३

अप सिषासन्नुषसः स्वा३र्गा. संचिक्रदो महो अस्मभ्यं

१ २

वाजान् ॥३॥११॥ ऋ० ९। ६०। २-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५२८] पृ० २८२।

१४०८—१. 'अङ्गूषाणामवावशन्त' 'वरुणो न सिन्धून्' इति ऋ०। 'वार्याणि.' इति पाठस्तु अजमेरमुद्रितः प्रामादिकः।

(१२) हे (सोम) प्राणरूप आत्मन् ! तू (शूरग्रामः) गति में वेगवान् इन्द्रियसंघ का स्वामी, (सर्ववीर) सबसे अधिक सामर्थ्यवान्, (सहायान्) सहनशील, गर्मी सर्दी और सुख दुःख आदि द्वन्द्वों का सहन करने हारा, (जेता) सबको पराजय करने हारा या (जेता) काम क्रोध आदि और इन्द्रिय के वेगों पर विजयशील (धनानि) समस्त रमणीय विषय भोगों को (सनिता) प्रति इन्द्रिय विभाग करने हारा (तिग्मायुधः) तीक्ष्ण साधना रूप आयुधों से सम्पन्न, (क्षिप्रधन्वा) अति शीघ्र गति देने हारा, या स्वयं सबसे अधिक वेगवान् (समत्सु) परस्पर द्वन्द्वों के स्थलों में (अपाढः) किसी से न दबने हारा (पृतनासु) प्रजारूप इन्द्रिय वृत्तियों में (साह्वान्) सबको अपने वश करने हारा होकर (आपवस्व) प्रकट हो। और हमारे शरीर और अन्तःकरण को भी पवित्र कर।

(३) (सोम) हे आत्मन् ! हे विद्वन् ! (उरु गव्यूति) स्वयं समस्त गौ अर्थात् वाणियों और इन्द्रियों के लिये रक्षा या शरण होकर सर्वत्र (अभयानि) अभय (कृणवत्) करते हुए (पुरन्धी) इस देहरूप पुर को धारण करने हारे प्राण और अपान दोनों को (समीचीने) समुचित प्रकार से (आपवस्व) गति दो और पवित्र करो। और (अप.) समस्त कर्मों और प्रज्ञाओं को (सिषासन्) यथाकाल और यथास्थान विभाग करते हुए (स्व.) सुख आनन्ददायक (गाः) वेदवाणियों को (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (मह) श्रेष्ठ २ (वाजान्) ज्ञानतत्वों के देने के लिये (सश्चिक्रदत्) उच्चारण करो, उपदेश करो।

१ ० ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ०

[१४२१] त्वमिन्द्र यशा अस्यृजीषी शर्वसस्पतिः।

८ ० ३ १ ० ० ३ ८ ३ ३ ३ १ २ ३ १ २

त्वं वृत्राणि हंस्यप्रतीन्येक इत्पुनुत्तस्तर्षणाधृषि ॥१॥

१४२१—'शर्वसस्पते' 'हंस्यप्रतीन्येक इदनुता तर्षणीधृषे'।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४१२] तमु त्वा नूनमसुरप्रचेतसं राधो भागमिवेमहे ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

महीव कृत्तिः शरणा त इन्द्र प्र ते सुम्ना नो अश्नुवन्

॥२॥१२॥ ऋ० ८ । ६० । ५, ६ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! (त्वं) तू (यशा) यशस्वी (शवस-स्पते) शक्ति और बल का मालिक, (ऋजीषी) सब को ऋजु, सरल, उत्तम धर्ममार्ग में प्रेरणा करने हारा (पुरु-अनुत्त) बहुतों से भी प्रेरित वा संचालित न होकर, स्वतन्त्र ही (वर्षणीधृतिः) शक्तिरूप से दृढ़ होकर सबको धारण करने हारा है । (त्व) तू (अप्रतीनि) जिनका मुकाबला न किया जा सके ऐसे दुर्घट (वृत्राणि) विघ्नों और दुःसाध्य असुर, अधर्मी पुरुषों को (एक इत्) अकेला ही (हंसि) विनाश करता है । अवि० सं० [१४८]

(२) हे (असुर) प्राणों में रमण करने हारे आत्मन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् (तं) पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त पूर्वप्रसिद्ध (प्रचेतसं) प्रकृष्ट उत्तम ज्ञानवान् (त्वा उ) तुझ से ही हम (राधः) आराधना करने योग्य ज्ञान को (भागम् इव) अन्न के समान (ईमहे) याचना करते हैं । हे (इन्द्र) आत्मन् ! (ते) तेरी (कृत्तिः) कीर्ति ही (मही) बड़ी भारी (शरणा इव) शरण रक्षा के समान है (ते) तेरे से (सुम्नानि) प्राप्त होने योग्य समस्त सुखसाधन (नः) हमें (अश्नुवन्) प्राप्त हों ।

१४१२—"सुम्नानो अश्नवन्" इति च ऋ० । 'पूर्वनुत्त' इति अजमेरमुद्रितः प्रामादिकः पाठः ।

[१४१३] यज्ञिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥१॥

[१४१४] अपान्नपातं सुभग सुदीतिमग्निमु श्रेष्ठशोचिषम् । स नो
मित्रस्य वरुणस्य सा अपामा सुम्न यक्षते दिवि
॥२॥१३॥ ऋ० ८ । १९ । ३, ४ ॥

भा०—(१) (देवता) विद्वान् पुरुषों के भी (देवं) उपासनीय देव, (होतारं) सब यज्ञों के सम्पादक (अमर्त्यम्) मरणरहित, अमृत-स्वरूप (अस्य) इस (यज्ञस्य) समस्त विश्वका संचालन, उत्पादन और प्रलय रूप यज्ञ के (सुक्रतुम्) उत्तम रूप से रचने हारे अतएव (यज्ञिष्ठं) सब यज्ञ कर्त्ताओं में श्रेष्ठ (त्वा) आपको (ववृमहे) वरण करते हैं। व्याख्या देखो [१।१२]

(२) (अपां नपातं) लोकों, कर्मों और प्रजाओं के पतन, विनाश या लोप न होने देने हारे, (सुभग) ऐश्वर्यसम्पन्न, (सुदीतिं) उत्तमकान्ति से युक्त (श्रेष्ठशोचिषम्) सबसे श्रेष्ठ, प्रशंसनीय तेज से सम्पन्न (अग्निम्) अग्नि स्वरूप, सर्वप्रकाशक आत्मा को वरण करो क्योंकि (सः) वह जीवरूप अग्नि (मित्रस्य) समस्त जीव को स्नेह से देखने हारे और (वरुणस्य) सब दुःखों का वरण करने हारे परमेश्वर के (अपां) समस्त प्रजाओं, कर्मों और समस्त लोकों के (सुम्न) सुख को दिवि) ज्ञान प्रकाशमान मुक्तदशा में भी (नः) हमें (यक्षते) प्राप्त कराता है।

अग्नि का आत्मस्वरूप देखो नाचिकेतोपाख्यान काठक उपनिषद् और मुण्डक उपनिषद् में ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

१४१३—२. 'ऊर्जोनपात' इति ऋ० । 'ऊर्जो नपात' इत्येव सायणसम्मतः पाठः ।

[१४१५] यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यञ्जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः ॥ १ ॥

[१४१६] न किरस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित् ।
वाजो अस्ति श्रवाय्यः ॥२॥

[१४१७] स वाजं विश्वचर्षणिरर्वद्भिरस्तु तरुता ।
विप्रेभिरस्तु सनिता ॥३॥ १४ ॥ ऋ० १ । २७ । ७–९ ॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (यं) जिस (मर्त्यं) मरण-धर्मा पुरुष को आप (अवा०) मृत्यु से बचा लेते हैं और (यं) जिसको (वाजेषु) ज्ञान और श्रेष्ठ कर्मों में (जुनाः) प्रेरित करते, चला देते हो (सः) वह आपकी (शश्वतीः) नित्य अनादि काल से चली आई (इष०) प्रेरणाओं और अनादि शक्तियों को (यन्ता) वश कर लेता है ।

(२) हे (सहन्त्य) सब विघ्नों के विनाशक ! (अस्य) इस आपके (कयस्य चित्) किसी भी उपासक साधक को (पर्येता) कष्ट देने हारा या उस पर आक्रमण करने हारा (नकिः) कोई भी नहीं । प्रत्युत उसके पास (अवाय्य०) अवश्य करने योग्य उत्तम (वाजः) ज्ञान या बल (अस्ति) प्राप्त होता है ।

(३) (स०) वह (विश्वचर्षणिः) समस्त मनुष्यों का स्वामी (अर्वद्भिः) ज्ञानी पुरुषों या इन्द्रियगणों से ही (वाजं) ज्ञान को, बल को, या जीवन संग्राम को (तरुता) पार करने हारा (अस्तु) हो और वही अग्नि (विप्रेभिः) विद्वान् मेधावी पुरुषों द्वारा (सनिता) इष्टफल का दाता (अस्तु) हो ।

[१४१८] लाकमुक्षा मर्ज्जयन्त स्वसारो दश धीरस्य धीतयो
धनुञ्जयीः । हरिः पर्यद्रवज्जाः सूर्यस्य द्रोणमनक्षत अत्यो न
वाजी ॥१॥

[१४१९] सं मातृभिर्न शिशुर्वावशानो वृषा दधन्वे पुरुवारो अद्भिः । मर्यो न योषामभि निष्कृतं यन् संगच्छते कलशे उक्षियाभिः ॥२॥

[१४२०] उत प्रपिप्य ऊधरघ्न्याया इन्दुर्धाराभिः सचते सुमेधा । मूर्धान गावः पयसा चमूष्वभिश्रीणन्ति वसुभिर्न निक्तैः ॥ ३ ॥१५॥ ऋ० ९ । ९३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३८] पृ० २६८ ।

(२) जिस प्रकार (मातृभिः न) माताओं द्वारा (शिशु.) उनकी गोद में सोने हारा बालक शिशु (दधन्वे) पालित पोषित होता है उसी प्रकार (अद्रि.) विषयों तक प्राप्त होने हारी (मातृभि) ज्ञान कराने हारी इन्द्रियों द्वारा बालक के समान उनकी गोद में या भीतर प्रसुप्त रूप से शिशु के समान सोने हारा और उनको (वावशान.) निरन्तर चाहने हारा (सोमः) शुक्रस्वरूप, या आनन्दमय अक्षररस (दधन्वे) पालित पोषित होता या धारण किया जाता है । और जिस प्रकार (मर्यः) पुरुष (योषा न) स्त्री के पास, अपने गृह में जाता और उससे आनन्द लाभ करता है उसी प्रकार वह सोम आत्मा (निष्कृतम् अभि) अपने मूल आश्रय मस्तकदेह में (यन्) जाता हुआ (कलशे) नाना कलारूप शिति शक्ति की नाना शक्तियों से युक्त सहस्रदल कमल, मूर्धा भाग या देह में (उक्षियाभि) ऊर्ध्वसर्पण करने हारी इन्द्रिय शक्तियों से (संगच्छते) मिलकर एक हो जाता है ।

(३) (उत) और जब वह सोम, शुक्रस्वरूप योगी के सानुभाग में लगी इन्द्रयोनि से टपकने हारा रस (ऊधरघ्न्यायाः) कभी न विच्छि

होने हारे सदा चेतन चितिशक्तिरूप गौ के (ऊधः) रस के भण्डार रूप ऊर्ध्वस्थान मस्तक भाग को (प्र पिप्ये) भर देता है, पूर्ण कर देता है जब (सुमेधाः) उत्तम ज्ञानधारण में संमर्थ धारणावती मधा बुद्धि से युक्त, (इन्दु·) ज्ञान और तप मे प्रकाशमान योगी (धाराभिः) अपने धारणा के अभ्यासों या स्तुति वाणियों से (सचते) सोम का रस प्राप्त करने एवं आत्मा के स्वरूप तक पहुंचने में समर्थ होता है तब ही (गावः) गमनशील सूक्ष्म इन्द्रियों की संवित् शक्तिया या वाणिया (चमूषु) अपने२ स्थानों में स्थित होकर (पयसा) अपने २ विषयग्रहण के रस से (मूर्धानं) मूर्धास्थल अर्थात् शिरोदेश के सहस्रदल कमल में स्थित सोम आत्मानन्द को (अभि· श्रीणन्ति) ऐसे घेर लेती हैं, आच्छादित कर लेती है जैसे (निक्षे·) स्वच्छ सुन्दर (वसुभि·) वस्त्रों से माताये अपने बालकों को या शुद्ध २ (वसुभिः) ज्ञानरूप उपहार धनों से प्रजाए अपने राजा को आच्छादित कर देती और भर देती हैं।

यहा सम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन किया है, ऊर्ध्वरेता योगी के ध्यान करने और ब्रह्मरसास्वादन करने के रहस्य को खोला गया है।

१ २ ३; २ ३ २ ३ १ २ ३ १, २
[१४२१] पिबा सुतस्य रसिनो मत्स्वा न इन्द्र गोमतः ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ १ २ ३ १ २
आपिर्नो बोधि सधमाद्यो वृधेऽ३ऽस्मां अवन्तु ते धिय. ॥१॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २१ ३ १ २
[१४२२] भूयाम ते सुमतौ वाजिनो वयं मा नस्तरीमिमातये ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
अस्मां चित्राभिरवतादभिष्टिभिरा न· सुम्नेषु यामय॥२॥१६॥
अ० ८। ३। १-२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२३६] पृ०१२२।

(२) (वयं) हम (ते) तेरी (सुमतौ) उत्तम मति, प्रज्ञा वेदरूप ज्ञान के अधीन रहकर (वाजिन·) ज्ञानवान् पुरुष (स्याम) होवें।

(अभिमातये[2]) अभित.=चारों ओर से नाना प्रकार के माति अर्थात् हिंसाकारी विषयभोग रूप शत्रु की बढ़ती के लिये (न.) हमें (मा स्त[1]) मत ढक, अर्थात् उसमें मत फँसा । (चित्राभिः) ज्ञानमय, नाना प्रकार की संग्रह करने योग्य (अभिष्टिभि.) अपनी प्रेरणाओं से (अस्मान्) हमें (अवताद्) रक्षा कर । और (न.) हमें (सुक्षेषु) सुखमार्गों में (आ यामय) व्यवस्थित रख, चला ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १२ ३ १ २
[१४२३] त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे सत्यामाशिरं परम व्यो·
३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ २ ३
मनि । चत्वार्यन्या भुवनानि निर्णिजे चारूणि चक्रे यह
१र २र
तैरन्वर्धत ॥ १ ॥
१र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ २ उ ३ १ २ ३
[१४२४] स भक्षमाणो अमृतस्य चारुण उभे द्यावा काव्येना
१ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३
विशश्थे । तेजिष्ठा अपो मंहना परिव्यत यदी देवस्य
१ २ ३ १ २ ३ २
श्रवसा सदो विदु ॥ २ ॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १र
[१४२५] ते अस्य सन्तु केतवोऽमृत्यवोऽद्राभ्यासो जनुषी उभे
२र १ २ ३ १ २ ३ २र ३ १ २र ३ १ २
अनु । येभिर्नृम्णा च देव्या च पुनत आदिद्राजानं मनना
अगृभ्णत ॥ ३ ॥ १७ ॥ ऋ० ९ । ७० । १–३ ॥

---

१ स्तृञ् आच्छादने क्रयादिः । हिंसार्थस्य स्तृणातेरिति सायण ।

२ अभिमन्यते इति अभिमातिः शत्रुरिति सायण । रोग इति माधवः ।

१४२३—१ 'दुदुहे' 'पुष्वे व्योमनि', ३. 'स भिक्षमाणो' इति ऋ० । 'भिद्यमाण', 'मक्ष्यमाण' इति पाठौ सायणसम्मतौ, जीवानन्दीये 'भक्ष्य-माण' इति च सर्वे प्रामादिका· पाठ. निर्णयसागरीये ऋग्भाष्ये, अन्यासु सामसहितासु छन्दन-काल्किकासुद्रितासु च तथाऽनुपलम्भात् ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [५६०] पृ० ७८२ ।

(२) (यदि) जिस दशा में विद्वान् लोग (देवस्य) उस उपास्य-देव के (सदः) आश्रयस्थान हृदय देश को (अवसा) गुरुपदेश द्वारा (विदुः) ज्ञान कर लेते हैं तब (सः) वह पवमान सोमसाधक (चारुण.) अति उत्तमरूप, उपभोग करने योग्य (अमृतस्य) अमृत या अमरत्व का (भक्षमाणः) सेवन करता हुआ (काव्येन) अपने ज्ञान-सामर्थ्य से (उभे यावा[1]) दिव्यगुणयुक्त आत्मा और परमात्मा दोनों को (विश-श्रथे[2]) प्राप्त करता है और (महना) अपने तपोमहत्त्व से (तेजिष्ठाः) अति तेज से सम्पन्न (अप.) लोकों या प्राणों में (परि व्यत) विचरता है । ऋग्वेद में 'भिक्षमाणः' पाठ है । इसलिये उस पक्ष में (सः) वह साधक (चारुणः, अमृतस्य) उत्तम अमरत्व की (भिक्षमाणः) याचना करता हुआ (उभे यावा विशश्रथे) दोनों तेजोमय आत्माओं को प्राप्त करता है, इत्यादि पूर्ववत् । अथवा (उभे यावा) दिव्यगुणयुक्त प्राण और अपान दोनों को (विशश्रथे) शिथिल या वश कर लेता है । दोनों के बन्धनों को ढीला कर देता है । दोनों को वश करके विदेह-मुक्त होजाता है ।

(३) (अस्य) इस सोमरूप योगी आत्मा के (उभे जनुषी अनु) दोनों जन्म अर्थात् इह और पर दोनों लोकों में (अमृत्यवः) अमर, अविनाशी, (अदाभ्यासः) अखण्डित, अमिट (ते) वह २ (केतवः) ज्ञान और रश्मियां, विभूतियां (सन्तु) उत्पन्न हो जाती हैं (याभिः) जिन के बल से वह (नृमणाः) मनुष्यों के अभिलाषा योग्य और (देव्या)

---

१. द्यावापृथिव्यौ प्राणापानौ, (शत०)

२, 'अथ हिंसार्थः' क्र्यादिः, अथ प्रयत्ने प्रस्थाने च, चुरादिः, अथ मोक्षणे, चुरादिः, अथि दौर्बल्ये, चुरादिः, अथि शैथिल्ये, भ्वादिः, अन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः, क्र्यादिः ।

देवों, विद्वानों के प्राप्त करने योग्य लोक लोकान्तरों को भी (पुनते) प्राप्त करता है । (आत् इत्) और उस विभूति के प्राप्त कर लेने के अनन्तर (राजानम्) सर्वत्र प्रकाशमान्, सर्वतो वशी राजास्वरूप उस आत्मा को, (मनना०) मनन करने से प्राप्त मानसिक सकल्प ही (अगृभ्णत) धारण किये रहते हैं, अर्थात् उस दशा में उसके समस्त संकल्प ही उस आत्मा को लोक लोकान्तरों तक पहुचाते हैं ।

इति पञ्चम खण्ड० ।

३ २ ५ २ ३ ६ १ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४२६] अभि वायु वीत्यर्षा गृणानोऽभि मित्रावरुणा पूयमान० ।

३ १ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्र वृषण वज्रबाहुम् ॥ १ ॥

३ १ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४२७] अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाभिधेनू सुदुघा पूयमान० ।

३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अभि चन्द्रा भर्त्तवे ना हिरण्याभ्यश्वान्रथिनो देवसोम ॥२॥

३ १ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४२८] अभी नो अर्ष दिव्या वसून्यभि विश्वा पार्थिवा पूयमान० ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ ३ ३ १ २

अभि येन द्रविणमश्नवामाभ्यार्षेय जमदग्निवच्च ॥३॥१८॥

ऋ० ९ । ६७ । ४९–५१ ॥

भा०—(१) हे (सोम) विद्वन् ! (वायु) कोष्ठगत वायुरूप प्राण को (वीति) सर्व शरीर में व्याप्त होने के लिये (अभि अर्ष) प्रेरित कर । और (मित्रावरुणा) प्राण और अपान दोनों को (पूयमानः) पावन करता हुआ, उत्तम रूप से गति देता हुआ (अभि) उनको भी प्रेरित कर । (रथेष्ठाम्) इस देहरूप रथ पर सारथि बनकर स्थित (धीजवन) ध्यान, सकल्पमात्र के वेग से जाने वाले, (नर) इन्द्रियगणों के नेता

१४२७—'अभिनर' इति ऋ० ।

मन को (अभि) उत्तम रीति से प्रेरित कर, और इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम ! विद्वन् ! तब (वज्रबाहुम्) अज्ञान का नाश करने हारे ज्ञानरूप वज्र को हाथ में लिये ऋतम्भराऽवस्था में प्रज्ञाऽऽलोक के खुल जाने पर (वृत्रघ्ने) सब सुखों के बाधक (इन्द्रं) उस आत्मा को (अभि-अर्ष) साक्षात् कर ।

(२) हे सोम ! विद्वन् ! (पूयमान) पवित्र होकर या निरन्तर उन्नति की साधना करता हुआ तू (सुवसनानि) उत्तम रूप से आच्छादन करने हारे (वस्त्रा) चमचमाते विभूति, सिद्धियों अर्थात् सात्विक आवरणों या पंचकोषों को (अभि-अर्ष) वश कर । और (सुदुघा०) उत्तम रूप से ज्ञानरस या आनन्दरस का दोहन करने हारी (धेनू०) भीतरी व आनन्दवाहिनी सुषुम्णा आदि नाडियों पर, या इन्द्रिय-शक्तियों पर (अभि) वश कर और (नः) हमें (चन्द्रा) आह्लादकारी (हिरण्या) ज्ञानरूप ऐश्वर्य (भर्त्तवे) भरण, पोषण करने या आत्मतृप्ति करने के लिये (अभि अर्ष) प्रदान कर । हे (देव) ज्ञानदृष्टे ! शमादिसाधनों से युक्त योगिन् ! (रथिन) देहरूप रथों के स्वामी, जितेन्द्रिय (अश्वान्) ज्ञानी पुरुषों को (अभि-अर्ष) हमें प्राप्त करा ।

(३) हे (सोम) विद्वन् ! आप हमें (दिव्या वसूनि) दिव्यगुण युक्त जीवन के वास-हेतु पदार्थों का प्रदान करें और (पूयमानः), सर्वत्र प्रकाशमान्, शुद्ध पवित्र चित्त होकर (विश्वा पार्थिवा) समस्त पृथिवी पर होने वाले ऐहिक पदार्थों का (अभि) उपदेश करें । और आप हमें ऐसे (अभि) सामर्थ्य दें कि (येन) जिससे हम (द्रविणम्) ज्ञान, धन और अन्नादि पदार्थों को (अश्नवाम) प्राप्त करें और उपभोग भी करें । और हे सोम ! आप (नः) हमें (जमदग्निवत्) समस्त अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों को दमन करने हारे परमात्मा के समान (आर्षेय) ऋषियों द्वारा प्राप्त करने योग्य वेदज्ञान का (अभि) उपदेश करें ।

१२ २३ ३ १ २ ३ १ २
[१४२९] यज्जार्यथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २२
तत्पृथिवीमप्रथयस्तद्भ्मा उतो दिवम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २३ १२ २२
[१४३०] तत्ते यज्ञो अजायत तदर्को उत हस्कृतिः ।
१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ २३ ३ १ २
तद्विश्वमभिभूरसि यज्जात यच्च जन्त्वम् ॥२॥
३ १ २ ३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २
[१४३१] आमासु पक्वमैरय आ सूर्ये रोहयो दिवि ।
३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
घर्मं न सामन्तपता सुवृक्तिभिर्जुष्टं गिर्वणसे बृहत् ॥३॥१६॥
ऋ० ८ । ८९ ५-७ ॥

भा०—(१) हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! समस्त संसार को यज्ञरूप में सम्पादन करने हारे, समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (अपूर्व्य) सबसे पूर्व होने हारे ! अद्वितीय मूलकारण परमेश्वर ! (यत्) जब (वृत्र-हत्याय) आवरणकारी 'तुच्छ्व' रूप प्रकृति के रजः पटल को गति देन और उस में विक्षोभ उत्पन्न करने के लिये (जायथाः) उस में शक्तिरूप से प्रकट होता है (तत्) तब (पृथिवीं) अति विस्तृत व्यापक पृथिवी, मूलकारण प्रकृति को या जीवों के निवास के लिये इस पृथिवी को (अ-प्रथयः) तू ही विस्तृत करता है और (दिवं) इस समस्त आकाश स्थित लोकसमूह को भी (अस्तभ्नाः) अपने २ स्थान पर स्तम्भित, स्था-पित करता है ।

(२) (तत्) और तब ही (ते) तेरी शक्ति से सम्पादित (यज्ञः) समस्त वायु, तेज, पृथिवी, आकाश, काल, दिग्, आत्मा, मन इत्यादि देवगणों का उचित रूप से संघटित यज्ञ भी (अजायत) सुसम्पन्न होता है (तत्) और तब ही (अर्कः) यह प्रकाशमान तेजस्वी सूर्य भी प्रकट होता है (उत) और साथ ही (हस्कृतिः) दिन की रचना होती है ।

(तत्) उस समय ही तू हे परमात्मन् ! (विश्वम्) यह समस्त जगत् (यत् जातं) जो कुछ उत्पन्न हुआ (यत् च) और जो (जन्त्वम्) आगे उत्पन्न होता उस सब में (अभिभूः) सब ओर और सब प्रकारों से व्याप्त होकर सबका मूल उत्पत्ति कारण तू ही (असि) है।

(३) हे परमेश्वर ! तू ही (आमासु) न पके, अपक्व, कच्चे, स्थावर और जंगम पदार्थों में (पक्वं) परिपक्व भाव को (ऐरय) प्राप्त करता है। और इस निमित्त तू ही (सूर्यं) सबके प्रेरक सूर्य को (दिवि) इस महान् आकाश में (आरोहयः) इतनी उच्चता पर स्थापित करता है। हे विद्वान् लोगो ! (सामन्) सामवेद द्वारा (घर्मं न) जिस प्रकार आप घर्मयोग या प्रवर्ग्येष्टि को (तपत) प्रतप्त करते हो उसी प्रकार आप लोग (सुवृक्तिभिः) उत्तम ज्ञानस्तुतियों या ज्ञान चर्चाओं द्वारा (गिर्वणसे) समस्त वेदवाणियों के एकमात्र वर्णनीय उस इन्द्र के विषय में (जुष्ट) अतिप्रिय, रुचिकर (बृहत्) महान् या बृहत् साम द्वारा ज्ञान प्राप्त करो।

सत्यमिति सत्यवचा रथीतर । तप इति तपो नित्य. पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्य । तद्धि स्तपस्तद्धि तप· । (तैत्ति० उप० शिक्षावल्ली अनु० ६) अर्थात् ज्ञानप्राप्ति ही तप है। प्रवर्ग्येष्टि में संसार की रचना का ज्ञान दर्शाया जाता है। (देखो शतपथ में प्रवर्ग्येष्टि प्रकरण)

१२ २३ ३ २ ३ १ २ ३ १२ २२

[१४३२] मत्स्यपायि ते मधः पात्रस्येव हरिवो मत्सरो मद. ।

१ २३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

वृषा ते वृष्ण इन्दुर्वाजी सहस्रसातमः ॥१॥

१ २ ३ २३ ३ २ ३ १ २

[१४३३] आ नस्ते गन्तु मत्सरो वृषा मदो वरेण्यः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १२ २३

सहावाँ इन्द्र सानसि. पृतनापाडमर्त्यः ॥२॥

२ड ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३४] त्वं हि शूरः सनिता चोदयो मनुषो रथम् ।
३ २ ३ १ २ ३ २ड ३ २ ३ २ ३ १ २
सहावान्दस्युमव्रतमोषः पात्रं न शोचिषा ॥३॥२०॥

ऋ० १ १७५ । १-३॥

भा०—(१) (पात्रस्य इव मद) जिस प्रकार पात्र में रक्खा तृप्तिकारी हर्षजनक जल और दुग्धादिरस (आपायि) पान कर लिया जाता है उसी प्रकार हे (हरिवः) हरणशील शक्तियों, अन्धकार और अज्ञान के हरने वाले किरणों से युक्त परमेश्वर ! (मत्सर०) आनन्दरूप में सर्वत्र प्रसरणशील (मद) आनन्दप्रद तेजोरूप, सर्वप्रेरक उत्पादकशक्ति रूप से (ते) संसार में व्यापक तेरा महान् सामर्थ्य (अपायि) पान किया जाता है अर्थात् विद्वान्जन उसको अपने भीतर धारण करते हैं अथवा आप ही उस महान् शक्ति के धारण करने हारे हो। (वृष्ण) समस्त सुखों और शक्तियों के वर्षक (ते) तेरा (इन्दु०) ऐश्वर्य, विभूति और सामर्थ्य (वाजी) बलवान् (सहस्रसातम) सहस्रों पदार्थों को देने हारा, (वृषा) सब सुखों का वर्षक है ।

अध्यात्म पक्ष में—इन्द्र=आत्मा, मत्सर०=आनन्दरस, इन्दु०=विभूति सिद्धयोगी, वाजी=ज्ञानवान् । वृषा=ज्ञानवर्षक, सहस्रसातम —सहस्रों उपदेशों का दाता, अथवा सहस्रों को सन्तोष, आशीर्वाद, एवं सुखसाधनों का प्रदाता, इत्यादि ।

(२) हे (इन्द) परमेश्वर (ते) तेरा (मत्सरः) हर्षप्रद ज्ञान और आनन्दरस (न) हमें (आगन्तु) प्राप्त हो । तू ही (वृषा) सुखों का वर्षक, (मद) आनन्द और तृप्तिकारक (वरेण्य) एकमात्र वरण करने योग्य, प्रिय, (सहावान्) सब कष्टों का सहन करने हारा, बलवान् या सहायसम्पन्न, (सानसि) सेवन करने योग्य, (पृतनाषाट्) समस्त प्रजाओं का शासक और (अमर्त्य०) अविनाशी है ।

यहां योगी का साधक आत्मा के प्रति, भक्त का ईश्वर के प्रति, प्रजागण का राजा के प्रति समानरूप से वचन है ।

(३) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वं) आप ही (शूरः) सबमें गति देने हारे, (सनिता) समस्त पदार्थों के दाता होकर (मनुषः) मननशील जीव के (रथं) इस रमण स्थान देह या समस्त विश्व को (चोदयः) प्रेरित कर रहे हो । आप (दस्युम्) नाश करने हारे, दुष्ट (अव्रतम्) नियम रहित, निकम्मे, नियम को न पालने हारे पुरुष को (सहावान्) शक्तिशाली या सहायसम्पन्न होकर (शोचिषा) अपने तेज से (ओप.) ऐसे ही तपाते हो जैसे (शोचिषा) अग्नि के ताप से हम लोग (पात्रं न) हंडिया को तपाया करते हैं ।

इति षष्ठ. खण्ड. ।

इति षष्ठस्य द्वितीयोऽर्ध. प्रपाठक । इति द्वादशोऽध्यायः ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ षष्ठप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्ध. ।

ऋषि.—१ कविर्भार्गवः । २, ६, १६ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । ३ असितः काश्यपो देवलो वा । ४ सुकक्षः । ५ विभ्राट् सौर्य. । ६, ८ वसिष्ठः । ७ भर्गः प्रागाथः १०, १७ विश्वामित्रः । ११ मेधातिथिः काण्वः । १२ शश वैखानसाः । १३ यजत आत्रेयः ॥ १४ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । १५ उशना । १८ हर्यत. प्रागाथः । १० पृहदिव आथर्वणः । २० गृत्समदः ॥ देवता—१, ३, १५ पवमानः सोमः । २, ४, ६, ७, १४, १६, २० इन्द्रः । ५ सूर्यः । ८ सरस्वान् सरस्वती । ९० सविता । ११ ब्रह्मणस्पतिः । १२, १६, १७ अग्नि. । १३ मित्रावरुणौ । १८ अग्निर्वीपि वा ॥ छन्दः—१, ३, ४, ८, १०—१४, १७, १८ गायत्री । २ बृहती चरमस्य, अनुष्टुप् शेषः । ५ जगती । ६, ७ प्रागाथम् । १५,

२६ त्रिष्टुप् । १६ वर्धमाना पूर्वस्य, गायत्री उत्तरयोः । १० अष्टि० पूर्वस्य, अष्टि० शक्करी उत्तरयोः ॥ स्वर०—१, ३, ४, ८, ६, १०—१४, १६—१८ षड्जः । २ मध्यमः, चरमस्य गान्धार० । ५ निषाद० । ६, ७ मध्यम० । १५, १६ धैवतः । २० मध्यम० पूर्वस्य, पञ्चम उत्तरयो० ॥

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३५] पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि ।
३ १ २ ३ १ २ २
अयक्ष्मा बृहतीरिष ॥ १ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३६] तया पवस्व धारया यया गाव इहागमन् ।
१ २ ३ १ २ ३ २
जन्या स उप नो गृहम् ॥ २ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३७] घृतम्पवस्व धारया यज्ञेषु देववीतमः ।
३ १ २ ३ १ २ २
अस्मभ्यं वृष्टिमापव ॥ ३ ॥

१ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३८] स न ऊर्जेव्याऽइव्यय पवित्रं धाव धारया ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २
देवास. शृणवन् हि कम् ॥ ४ ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४३९] पवमानो अजिग्यदद्वस्राभ्यपजन्यम् ।
३ २ ३ २ ३ १ २
प्रानयन्नाक्षयद्गृच. ॥ ५ ॥ २ ॥ क० ० । ४० । १-५ ॥

भा०—(१) हे पवमान सोम, सर्वप्रेरक, सूर्य ! (नः) हमारे प्रति (सु) सुष्ठु, उत्तम रीति से (वृष्टिं) सुखों और जलों की वृष्टि को (आपवस्व) सब ओर से वर्षा करो । और (दिव) द्यौलोक और मूर्धास्थ से (अपां) प्राणों, प्रजाओं और कर्मों की (ऊर्मिम्) तरङ्ग या ऊपर उठने वाली परम्परा को (परि पवस्व) सब ओर से प्रेरित कर । और (वृष्टा) वृष्टिकारक, अति अधिक (अयक्ष्मा) यक्ष्म अर्थात् विषट जोड़दार मूल रोग कीटों से रहित (इष) अन्नों और इष्टदेव और विद्वानों की, तथा सम्पत्ति के नाशक दुर्विचारों से रहित मन की सत्कामनाओं को प्रेरित करो ।

(२) हे (सोम) परमेश्वर वा योगिन् ! (तया) उस (धारया) धारा से या धारणा शक्ति से (पवस्व) प्रेरित कर (यया) जिससे (गाव) दीप्त-रश्मियां, कान्तियां एवं ज्ञानवाणियां (इह) इस हमारे अन्त.करण, एव गृह में (आगमन्) प्राप्त हों । और (नन्यास.) जन, मनुष्य एवं प्राणियों के हितकारक पदार्थ भी (न.) हमारे (गृहम्) देह और गेह को (उप) प्राप्त हों ।

(३) अपनी (धारया) धारणा, पालन पोषण करने हारी शक्ति से (यज्ञेषु) नाना प्रकार के यज्ञों में (देववीतये) दिव्य गुणयुक्त पदार्थों को प्राप्त होकर (अस्मभ्य) हमको (घृतं) कान्तिस्वरूप प्रदीप्त, प्रकाशयुक्त, ज्ञान, कर्मोपदेश को (पवस्व) प्राप्त करा । और (अस्मभ्यं) हमें (वृष्टिं) अन्तः आनन्द-सुखों की वृष्टि को भी (आपव) प्रदान कर ।

(४) हे सोम ! (सः) वह तू (नः) हमारे (ऊर्जे) बल सम्पादन के निमित्त (धारया) अपनी धारण पोषण करने हारी शक्ति से (अव्ययं) सूर्य, प्राण, आत्मारूप (पवित्रं) पवन करने हारे वायु, अन्त.करण या धारणा देश के प्रति (विधाव) विशेष रूप से गति कर । (देवासः) समस्त विद्वान् और दिव्य जल, अग्नि आदि तत्व पदार्थ और इन्द्रिया (कम्) आनन्दकारी तेरी ध्वनि को (शृणवत्) श्रवण करते हैं ।

(५) (पवमान.) अति शुद्धकान्तिरूप से देदीप्यमान सोमरूप अन्तरात्मा का ब्रह्मानन्द रस (असिष्यदत्) जब द्रवित होता है तब (प्रत्नवत्) पूर्व के अपने पुरातन (रुचः) कान्तियों को (रोचयन्) चमकाता हुआ (रक्षांसि) समस्त पाप, कुवासना, दु:संकल्पों को अनायास (अप जघनत्) दूर मार भगाता है ।

इस सूक्त में सूर्य, आत्मा, राजा, प्राण, शुक्र आदि समस्त प्रेरक शक्तियों को सोमधारा के दृष्टान्त से वर्णित किया गया है। मधु, घृत आदि

शब्द वेद मे ज्ञान के वाचक भी हैं । जैसे शतपथ में पञ्चमहायज्ञ प्रकरण में—पय आहुति=ऋग्वेद की ऋचाओं का स्वाध्याय, अग्न्याहुति=यजुर्वेद का स्वाध्याय, सोमाहुति=सामवेद का स्वाध्याय, मेदा हुति=अथर्ववेद के मन्त्रों का स्वाध्याय और मधु आहुति=अन्य शेष विद्या जैसे वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी इत्यादि का स्वाध्याय कहा जाता है । (शत० का० १२ । ४ । ६ । ३ । ८)

इत्यादि रूप से यह सोम का सवन ज्ञानपरक समझना चाहिये। इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वाध्याय प्रशंसा प्रकरण में 'मधु ह वा ऋचः ।' घृत ह सामानि 'अमृत यजूंषि' यद् ह वा अयं वाकोवाक्यमधीनो घीरोदनमासोदनौ भवतः । (शत० का० ११ । ५ । ७ । ५)

[१४४०] प्रत्यस्मै पिपीषते विश्वानि विदुषे भर ।
अरङ्गमाय जग्मयेऽपश्चादध्वने नरः ॥ १ ॥

[१४४१] एमन्नं प्रत्यृतं सोमेभिः सोमपातमम् ।
अग्नेभिर्कृजीषिणमिन्द्रं सुतेभिरिन्दुभिः ॥ २ ॥

[१४४२] यो सुतेभिरिन्दुभिः सोमेभिः प्रातरुप्यथ ।
वेदा विश्वस्य मेधिरो घृतस्य तामृष्यते ॥ ३ ॥

[१४४३] अस्मा अस्मा इदन्धसोऽध्येव प्रभर्ता सुतम् ।
कुविन्नस्मदप्यसज्जन्यस्य शवतोऽभक्तस्येरस्वरत् ॥४॥२॥
ऋ० ६ । ४२ । १-४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३५२] पृ० १८२ ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (एनं) इस (सोमपातमं) सोमरस का पान करने हारों में से सबसे श्रेष्ठ, ज्ञान के परम भण्डार, परमेश्वर का

१४४३—'इन्मिश्रन्नेरस्मारः' इति ऋ० ।

(सोमेभि) ज्ञानों और ज्ञानेयों द्वारा (आ प्रति एतन) प्राप्त या साक्षात् करने का प्रयत्न करो । (अमत्रेभिः) धारण करने वाले धारणा बुद्धि के संकल्पों द्वारा (ऋजीषिणं) ऋजु मार्गों पर प्रेरणा करने हारे, सन्मार्गदर्शी, सत्सगतिकारी परमेश्वर को (सुतेभि) सुप्रसिद्ध, सम्यक् रूप से प्रेरित (इन्दुभिः) आह्लादकारी विद्वानों द्वारा उनके उपदेश पाकर (प्रत्येतन) उसका सत्यज्ञान प्राप्त करो, उसको पहिचानो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! (यदि) जब (सुतेभिः) सिद्ध, निष्पन्न (इन्दुभि.) प्रकाशमान, ज्ञानज्योतियों से युक्त (सोमेभिः) पूर्वोक्त सोमों द्वारा (इन्द्रं) अपने आत्मा या अपने उपास्य इष्टदेव को (प्रतिभूषथ) अलंकृत करो तो वह (मेधिर.) मेधाबुद्धि से युक्त (पृषन्) सब पर वश करने हारा ईश्वर (विश्वस्य) सब कुछ (वेद) जान लेता है और (तं त) उस २ सकल्प को भी (एषते) पूर्ण करता है ।

(४) हे (अध्वर्यो) यज्ञ करनेहारे विद्वन् ! (अस्मै अस्मै इत्) इस ही इन्द्र के लिये (अन्धसः) जीवन धारण करने हारे मूलतत्व के (सुतम्) निष्पादित आनन्द रस को (प्रभर) समर्पित कर । क्योंकि (समस्य) समस्त (जेन्यस्य) वश करने योग्य (शर्धतः) ऊपर उठते हुए (अभिशस्तेः) अभिमानी, घातक काम क्रोधादि शत्रुरूप से (कुवित्) बहुत बार (अवस्वरत्[२]) बचा लेता है ।

इति प्रथम खण्ड ।

—०:—

३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[१४४४] वभ्रवे नु स्वतवसे रुणाय दिविस्पृशे ।

१ २ ३ १ २

सोमाय गाथमर्चत ॥ १ ॥

१४४१—१. स्वरतिर्गत्यर्थो, निघण्टौ । उपसर्ग बलादर्थपर्य ।

[१४४५] हस्तच्युतेभिरद्रिभिः सुत सोम पुनीतन ।
मधावाधावता मधु ॥ २ ॥

[१४४६] नमस्वदुपसीदत दध्ने दमिश्र्याणीतन ।
इन्दुमिन्द्र दधातन ॥ ३ ॥

[१४४७] अभिब्रह्मा विचर्षणिः पवस्व सोम शं गवे ।
देवेभ्यो अनुकामकृत् ॥ ४ ॥

[१४४८] इन्द्राय सोम पातवे मदाय परिषिच्यसे ।
मनश्चिन्मनसस्पतिः ॥ ५ ॥

[१४४९] पवमान सुवीर्यं रयिं सोम रिरीहि णः ।
इन्दविन्द्रेण नो युजा ॥ ६ ॥ ३ ॥ ऋ० ९ । ११ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (वज्रवे) सब का भरण पोषण करने हारे (स्वतवसे) दूसरे की विना अपेक्षा किये, स्वयं बलशाली, (दिविस्पृशे) इस देह में मूर्धास्थान और ब्रह्माण्ड में, महान् आकाश में भी व्याप्त एवं समस्त कान्तिमान् सात्विक दिव्यगुण वाले लोकों और पदार्थों के भीतर विद्यमान, (सोमाय) प्रेरकस्वरूप, शक्ति. प्राणात्मा, परमात्मा एवं राजा आदि की (गाथम्) वास्तविक सत्य गुण कथा का (अर्चत) वर्णन करो ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (हस्तच्युतेभि·) हाथों के समान प्रेरक साधनों से प्रेरित, (अद्रिभि·) पर्वत एवं शिलाओं के समान स्थिर, सदाचारी, विद्वानों द्वारा निष्पादित तैयार किये गये (सोमं) ज्ञानराशि को (पुनीतन) बराबर उद्यत करो, उसका सम्पादन करो और बढ़ाओ और उसको नि संशय करके पवित्र बनाओ । और (मधो) अत्यन्त आनन्द करने हारे अमृतस्वरूप अपने आत्मा में उस (मधु) परम-आत्मज्ञानरूप अमृत को (आधावत) प्राप्त करो ।

(३) हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग उस सोम, सबके प्रेरक अन्तर्यामी, शक्तिमान् परमेश्वर एवं इस शरीर के स्वामी प्राणात्मा के (नमसा इत्) नमस्कार, श्रद्धा, भक्ति द्वारा (उप सीदत) समीप पहुंचो, उसकी उपासना करो । (दक्षा) ध्यान और धारणा-बल से (अभि श्रीणीतन) साक्षात् उसको अपने भीतर परिपक्व करो । और उस (इन्दुम्) ऐश्वर्य-सम्पन्न सोमरूप जीव को (इन्दे) परमेश्वर में (दधातन) स्थापित करो । अथवा ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को अपने आत्मा में धारण करो ।

(४) हे (सोम) सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (अमित्रहा) द्वेष करने तथा स्नेह न करने हारे दुर्वासनायुक्त पुरुषों का नाश करने हारा, (विचर्षणिः) विविध पदार्थों का विशेष रूप से द्रष्टा होकर, (देवेभ्यः) दिव्य-गुण-युक्त पदार्थों, विद्वानों एवं इन्द्रिय शक्तियों के (अनुकामकृत्) कामनानुकूल कार्य करने हारा होकर (गवे) ज्ञानशील आत्मा के लिये (शं) कल्याण-सुख को (पवस्व) प्रवाहित कर ।

(५) हे (सोम) सबके प्रेरक ! ज्ञान-आनन्द रस स्वरूप ! (इन्द्राय) अन्तरात्मा के (पातवे) पान करने और (मदाय) हर्षोत्पादन के लिये (परिषिच्यसे) तू ही सब प्रकार से हृदय में और सर्वत्र आनन्द-ग्राहक स्थलों में विचारधारा से प्रवाहित किया जाता है, क्योंकि तू ही (मन. चित्) मननशील मन को भी जानने हारा एवं (मनसस्पतिः) मन-स्वरूप आत्मा का परिपालक है ।

(६) हे पवमान ! सर्वत्र प्रकाशमान, सर्वव्यापक, सबके प्रेरक सबके प्रकाशक ! सोम ! तू (नः) हमें (सुवीर्यं) उत्तम सामर्थ्य युक्त (रयिं) प्राणबल (रिरीहि) प्रदान कर । और हे (इन्दो) योगिन् ! गुरो ! (इन्देण) परमात्मा या आत्मारूप (युजा) सहायक से (नः रिरीहि) हमें वह बल प्राप्त करा ।

२अ ३ २ ३ १ २ ३ १ब २ २ब
[१४५०] उद्वेदभिश्रुतामघ वृषभन्नयासम् ।
१ २
अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ब २ब ३ १ ३ अ २ब
[१४५१] नव यो नवतिं पुरो विभेद बाह्वोजसा ।
१ ३ ३ १ २
अहिं च वृत्रहावधीत् ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ब २ब २ ३ १ २
[१४५२] स न इन्द्र शिव. सखाश्वावद्गोमद्यवमत् ।
३ १ २
उरुधारेव दोहते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । ६३ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१२५] पृ० ६७ ।

(२-३) (यः) जो इन्द्र (बाह्वोजसा) बाहुओं, विघ्नकारी बाधाओं को दूर करने हारे साधनों के सामर्थ्य या बल से (नव नवतिं) ९९ निन्यानवें (पुरः) पुरों, देहों या देह पर गुजरने हारे उसके परिपोषक एवं तर्पक वर्षों को (विभेद) तोड़ डालता है विनाश करता है और (वृत्रहा) आवरणकारी अज्ञान-अन्धकार को नाश करने हारा वह आत्मा (अहिं) सर्प के समान हृदय-मन्दिर में आ घुसने वाले अज्ञान और उससे पैदा होने वाले काम आदि विकार, आत्मा के प्रकाश के ऊपर आजाने वाले आवरण को (अवधीत्) विनाश करता है (सः) वह (इन्द्र.) वही आत्मा या ऐश्वर्यवान् परमात्मा (शिव.) कल्याणमय, (सखा) सब का मित्ररूप हमारे लिये (उरुधारा इव) दूध की बड़ी धार बहाने वाली कामधेनु के समान, (अश्वावत्) इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न बल और (गोमत्) वेदवाणियों से युक्त ज्ञान और (यवमत्) जव आदि धान्यों से युक्त उत्तम पुष्टिकारक अन्न को एवं समष्टि रूप से अश्वों, गौओं और सस्यादियुक्त ऐश्वर्यों को (दोहते) प्रदान करता है ।

इति द्वितीय. खण्ड. ।

[१४५३] विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्य मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविहृतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पिपर्त्ति बहुधा विराजति ॥ १ ॥

[१४५४] विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातमं धर्मं दिवो धरुणे सत्यमर्पितम् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा ॥ २ ॥

[१४५५] इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत् । विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० १० । १७० । १–३ ॥

भा०—(१) सूर्य के दृष्टान्त से ईश्वर, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी और उत्तम राजा का वर्णन किया है । (विभ्राट्) विशेष रूप से चमकने हारा, आदित्य ब्रह्मचारी, योगी (यज्ञपतौ) समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति और प्रलयरूप दान-आदानमय यज्ञ के स्वामी परमात्मा और प्राणापानाहुतिमय यज्ञ के स्वामी आत्मा में (अविहृतम्) सरल, शुद्ध एवं नित्य जागृत, नित्य चेतन, अमर (आयुः) जीवन को (दधत्) धारण करता हुआ (बृहत्) बड़े भारी (सोम्यं) सोम स्वरूप, प्रेरक व शासन शक्ति के साक्षात् करण से प्राप्त (मधु) अमृत ब्रह्मानन्द रस का (पिबतु) पान करे । (यः) जो (वातजूतः) प्राणवायु द्वारा प्रेरित प्रथम (त्मना) स्वयं अपने आप को (अभिरक्षति) रक्षा करता और निरपेक्ष होकर (प्रजा) अपनी इन्द्रियों और प्रजाओं को भी पालन पोषण करता है और (वि राजति) विशेष रूप से प्रकाशित होता है ।

१४५४—१. 'प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति' इति ऋ० ।

(२) (विभ्राट्) विशेष रूप से तेज से प्रकाशमान (बृहत्) विशाल, बड़ा भारी (सुभृतं) उत्तम रूप से (पालित) पोषित एवं धारित, (वाजसातमं) ज्ञान और बल प्रदान करने हारों में उत्तम है, (धर्मं) धारण करने हारा साक्षात् आनन्द का प्रवर्षक आत्मरूप (दिव) समस्त सूर्य एवं द्यौलोक और विद्वानों के (धरुणे) आश्रय स्वरूप धारण करने हारे परम आश्रय परब्रह्म में (अर्पितम्) प्रतिष्ठापित, (सत्यं) सत्य-स्वरूप, (अमित्रहा) विपरीत जाने हारे शत्रुरूप काम क्रोधादि अन्त:शत्रु और बहि शत्रुओं का भी नाश करने हारा, (वृत्रहा) 'आत्मा के आवरक अज्ञान और योगसमाधि के विघातक आभ्यन्तर और बाह्य विघातक व्युत्थान वृत्तियों का नाशक, (हरयुहन्तमं) शरीर आत्मा के उत्तम सम्पदाओं के विनाशक कारणों का नाश करने हारा, (असुरहा) प्राणों में रमण करने वाले आसुरी स्वभाव के व्यक्तियों को वश करने हारा (सपत्नहा) प्रतिस्पर्द्धियों का विनाशक (ज्योति.) तेज:स्वरूप अर्थात् तेज को धारण करने हारा आदित्य के समान सूर्यव्रतचारी आदित्य योगी (जज्ञे) उत्पन्न होता है ।

(३) वह आदित्ययोगी (इदं) यह (श्रेष्ठं) सर्वोत्कृष्ट (ज्योति:) तेज (ज्योतिषा) समस्त प्रकाशमान पदार्थों में (उत्तम) उत्कृष्ट कोटि का, (विश्वजित्) सब के विजेता, और (धनजित्) सब विभूतियों से भी उत्तम (बृहत्) विशाल (उच्यते) कहा जाता है । वह (विश्वभ्राट्) समस्त संसार का प्रकाशक (भ्राज:) सब पापों और पापी पुरुषों का सताप देने हारा, स्वयंप्रकाश, (महि) बड़ा भारी (सूर्य) सूर्य के समान सब का प्रेरक सब को प्रकाश देने हारा होकर (अच्युत) अविनाशी (सह) सहनशील, सब के अभिभावक तेज, (ओज:) और बल को (उरु) बहुत अधिक (पप्रथे) विस्तीर्ण होता है, फैलाता है ।

[१४५६] इन्द्र क्रतुन्न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥

२ ३ १ २ ३ १ १ ३ २ १ २ ३ १ २
[१४५७] मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो मा शिवासोऽवक्रमु-।
१ २ ३२ ३२ ३ १ २ ३ १ २
त्वया वयं प्रवत शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥२॥६॥

अ० ७ । ३२ । २६-२७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्ररूप योगिन्, आदित्य ! अथवा परमेश्वर (यथा) जिस प्रकार (पुत्रेभ्यः) अपने पुत्रों के लिये (पिता) उनका पालक समस्त आवश्यक भोजन वस्त्रादि पदार्थ लाता और उनको शिक्षा देता है उसी प्रकार आप भी (नः) हमें (ऋतुं) ज्ञान, बल और कर्म को (आ हर) उपदेश करके प्राप्त कराइये और (अस्मिन्) इस जीवनमय ऋतुरूप यज्ञ में हे (पुरुहूत) बहुतसी प्रजाओं से याद किये गये सर्व स्मरणीय, परमात्मन् ! (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दो । हम (जीवाः) जीवगण (यामनि) तेरी सिखाई ज्ञान प्रकाशमय व्यवस्था में रह कर (ज्योतिः) जीवन प्राण और ज्ञानमय ज्योति का (अशीमहि) भाग करें देखो अविकल सं० [२५६] भी ।

(२) हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे गुरो ! (अज्ञाताः) बिना जाने पहिचाने, लुके छिपे चोर (वृजनाः) पापी, (दुराध्यः) दुष्ट, कूट, षड्-यन्त्र करने हारे, कुटिलाचारी (अशिवासः) अमङ्गलकारक, नीच पुरुष और दुष्ट भाव (नः) हमें (मा अवक्रमुः) कभी न दबा सकें । हे (शूर) शूरवीर ! शत्रुओं को दमन करने में बड़े बलवन् प्रभो ! (त्वया) तुझ सहा-यक को पाकर (वयं) हमें (प्रवतः) अति विनयशील होकर भी (शश्वतीः) बहुत से (अपः) कार्यों को (अतितरामसि) निर्विघ्न समाप्त करें ।

३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४५८] अद्याद्या श्वः श्व इन्द्र त्रास्व परे च नः ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
विश्वा च नो जरितृन्त्सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः ॥१॥

३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १२ ३ २
[१४५९] प्र मङ्ही शूरो मघवा तुविमघः सम्मिश्लो वीर्याय कम् ।
३ १ २ ३ १२ २ ३ १२ २३ ३ १ २
उभा ते बाहू वृषणा शतक्रतो नि या वज्रं मिमिक्षतुः ॥२॥७॥

ऋ० ८ । ६१ । १७, १८ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! परमात्मन् ! (नः) हमें (अद्य अद्य) सब आज अर्थात् वर्त्तमान में और (श्व श्वः) सब कल अर्थात् आगामी दिनों में (परे च) सब परसों के दिनों में (अवस्व) रक्षा कर । हे (सत्पते) सज्जन प्रतिपालक प्रभो ! आप ही (विश्वा च अहा) सभी दिनों और (दिवा नक्तं च) दिन और रात भी हमारी (रक्षिषः) रक्षा किया करते हो ।

(२) (मघवा) समस्त यज्ञों का मालिक (तुविमघः) ऐश्वर्यवान् (संमिश्लः) सब को मिला देने हारा, सबमें समान भाव से व्यापक, (प्रभगी) बड़े वेग से शत्रुओं और दुष्ट विचारों को तोड़ फोड़ देने हारा, शूर, परमेश्वर विक्रमशील होने से ही (वीर्याय कम्) बल वर्धन करने के लिये समर्थ होता है । हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं से युक्त (ते) तेरी (उभा बाहू) वीर पुरुषों की दोनों बाहुओं के समान विघ्नों को दबाने वाली ज्ञान और कर्म दोनों शक्तियां (वृषणा) नाना सुखों को बरसाने हारी हैं (या) जो (वज्रं) वज्र को (मिमिक्षतुः) धारण करती हैं ।

परमात्मा के पक्ष में बाहू=ज्ञान और कर्म, वज्र=कर्म, बन्धन को काटने हारी विद्यारूप असि । जीव के पक्ष में-बाहू=प्राण और अपान । वज्र=ज्ञानसिद्धि या चितिशक्ति या वैराग्य । राजा के पक्ष में वज्र=हथियार, शस्त्रास्त्र ।

इति तृतीयः खण्डः ।

---

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१४६०] जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्त सुदानवः ।
१ २
सरस्वन्तं हवामहे ॥ १ । ८ ॥ ऋ० ७ । ९६ । ५ ॥

भा०—(१) (जनीयन्त) पुत्रोत्पादन के निमित्त भार्याओं की कामना करते हुए और (पुत्रीयन्तः) उनमें पुत्रों की कामना करने हारे होकर भी (अप्रव०) उन्नतिशील और (सुदानव०) उत्तम दानी होकर हम लोग (सरस्वन्तं) समस्त आनन्दरस के सागररूप तुझ परमात्मा को (हवामहे) नित्य स्मरण करते हैं ।

[१४६१] ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उत न० प्रिया प्रियासु सप्त स्वसा सुजुष्टा ।
१ २ ३ १ २
सरस्वती स्तोम्याभूत् ॥ ६ ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । ६१ । १० ॥

भा०—(१) (उत) और (न० प्रियासु) हमारी प्रेमपात्री, प्यारियों के बीच में (प्रिया) सबसे अधिक प्रिय (सरस्वती) स्वतः सरण करने हारी अथवा ब्रह्मानन्द रस से भरी पूरी (सप्त-स्वसा) २ आख, २ नाक, २ कान, १ रसना, इन सात स्वत० सरण करने हारी सात ज्ञान-धाराओं के बीच एकमात्र आठवीं भगिनी के समान बहने वाली वाणीरूप सरस्वती (न०) हमारी (स्तोम्या) स्तुति करने योग्य (अभूत्) है । अथवा (सप्तस्वसा=सप्त छन्दांसि) सात छन्दों वाली वेदवाणी स्तुति करने हारी है ।

[१४६२] १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
२ ३ १ ३ १ ३
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ १ ॥ ऋ० ३ । ६२ । १० ॥

[१४६३] ३ २ ३ १ २ ३ १
सोमानां स्वरणं कृणुहि० ॥ २ ॥ ऋ० १ । १८ । १ ॥

[१४६४] २ ३ १ २ ३
अग्न आयूंषि पवसे० ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ६ । ६६ । १६ ॥

भा० —यही मन्त्र ब्रह्मगायत्री, गुरुमन्त्र, वेदमाता सावित्री आदि नामों से कहा जाता है । (तत्) उस (सवितुः) सर्व जगत् के प्रेरक, उत्पादक (देवस्य) स्वत० प्रकाशमान, सब के प्रकाशक सवसुओं के दाता परमेश्वर के

१४६३—क्वचित् पुस्तकेषु द्वितीयतृतीययोरृचो० पूर्ण पाठो दृश्यते । वह्नीषु सहितासु प्रतीकमात्रमुपलभ्यते अस्ति तदेवात्राप्युद्धियते शिष्टाचारात् ।

(वरेण्य) सर्वोत्कृष्ट, वरण करने योग्य अनुपम, (भर्ग) अविद्या, अज्ञान, काम, क्रोध लोभ, मोह आदि अज्ञान से पैदा होने हारे तामस अङ्कुरों को अग्नि और सूर्य के प्रखर तेज के समान भस्म कर डालने हारे तेज का हम (धीमहि[1]) ध्यान करें, धारण करें (यः) जो परमेश्वर (न) हमारी (धियः) बुद्धियों और कर्मवृत्तियों को (प्रचोदयात्) उत्तम सन्मार्ग में प्रेरित करता है।

गोपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र एक मनन करने योग्य व्याख्या इस प्रकार की है।

"वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहु ।
कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात् सविता याभिरेति ॥"

उस उत्पादक परमात्म देव का परम वरणीय भर्गरूप तेज 'वेद' 'छन्द' है जिसको कवि विद्वान् लोग 'अन्न' कहते हैं। और 'धिय' का तात्पर्य 'कर्म' है, हे शिष्य ! यही मैं, तुझको उपदेश करता हूं कि उन कर्मों द्वारा ही परमात्मा सबको प्रेरित करता है। *

(२) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३६] पृ० ७६।

(३) व्याख्या देखो अविकल स० [६२७] पृ० ३१६।

---

१ धीमहि ध्यायाम. धारयेम इति सायणः । आङ पूर्व ध्यायतेः परत्व दिवादेर्धीङ् आधार इत्यस्य ज्ञेयम्।

* इस गायत्री मन्त्र का का प० डब्ल्यू० जोन्स का किया निम्नलिखित अनुवाद बड़े महत्त्व का है—

"हम (तत्) उस (देवस्य सवितुः) देव सविता परमात्मा के (भर्ग) उत्तम तेज की (धीमहि) उपासना करते हैं जो (यः) सब को प्रकाशित करता है, जो (सविता) सब को उत्पन्न करता है और जिससे सब उत्पन्न होते हैं, और जिसमें (भर्गः) सब लीन होजाते हैं, उसी को हम (नः धियः) अपनी बुद्धियों को (वरेण्य) परमपद के प्राप्त करने के लिये (प्रचोदयात्) प्रेरणा करने की प्रार्थना करते हैं।

१ २ ३ १ २
[१४६५] ता नः शक्तं पार्थिवस्य० ॥ १ ॥
३ १ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१४६६] ऋतमृतेन सपन्तेपिरन्द्धमाशाते ।
३ १ २ ३ १ २
अद्रुहा देवौ वर्द्धेते ॥ २ ॥
३ १ २ २ २ ३ १ ३ १ २
[१४६७] वृष्टिद्यावा रीत्यापस्पती दानुमत्याः ।
१ २ ३ १ २
वृहन्तं गर्तमाशाते ॥ ३ ॥ ११ ॥ अ० ५ । ६८ । ३-५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११४३] पृ० ५६७ ।

(२) राजा मन्त्री, जीवात्मा मन, परमात्मा जीवात्मा, प्राणापान, सूर्यवायु, यजमान, अध्वर्यु, सूर्य, पृथिवी, गुरु शिष्य आदि का वर्णन है । वे दोनों मित्र और वरुण (अद्रुहा) परस्पर द्रोह न करते हुए (देवौ) प्रकाशमान ज्ञान से स्वयं प्रकाशित होने, एवं दूसरे को भी प्रकाशित करने हारे, या परस्पर एक दूसरे के आकाङ्क्षी (ऋतं) सत्यज्ञान को (ऋतेन) वेद ज्ञान से (सपन्ता) प्राप्त करते हुए (इषिरं) सबके प्रेरक (वृहं) बल को (आशाते) प्राप्त कर लेते हैं । अध्यात्म पक्ष में—" (ऋत) सत्य ज्ञान को (ऋतेन) ब्रह्म से··· " प्राणापान पक्ष में—(ऋतं) आत्मा को (ऋतेन) तप से इत्यादि पूर्ववत् ।

(३) वे मित्र और वरुण (वृष्टिद्यावा) वर्षण और प्रकाश से युक्त (रीत्यापा) गति या ज्ञान द्वारा ही इष्ट को प्राप्त करने हारे अथवा जलों के समान कर्म और ज्ञानों को बहाने हारे (दानुमत्याः) दान देने योग्य (इष.) चेतनादायक अन्न के (पती) स्वामी होकर (वृहन्तं) विशाल (गर्त्तम्[1]) उत्तम देहरूप या ब्रह्माण्ड रथ में (आशाते) व्याप्त रहते हैं । राजा, मन्त्री पक्ष में (गर्त्तं) उत्तम राष्ट्र या विजयरथ ।

१४६६—रथोऽपि गर्त्त उच्यते गृह्णातेः स्तुतिकर्मणः. स्तुततम यानम् (नि० ३ । ५)

३ १ २ ३ १२३१२ २३ ३ १२३ १२
[१४६८] युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परितस्थुषः ।
१ २ ३ २ ३ २
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ ३२३ १२ ३ १ २
[१४६९] युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
१ २ ३ २ ३ १२
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ २ ॥
३२ ३ १२३२३ १२ ३ १ २३१२
[१४७०] केतुं कृण्वन्नकृतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
२ ३ १ २
समुषद्भिरजायथाः ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ६ । १–३ ॥

भा०—(१) जो विद्वान् साधक योगी लोग (तस्थुषः) स्थिर आसन होकर (परिचरन्तं) समस्त देह में गति करने हारे, (अरुषं) सब मर्मस्थानों में विराजमान, उनका नाश न करने हारे (ब्रध्नं) विशाल, सब इन्द्रियगण को अपने बल से साधने और उनको चलाने हारे मुख्य प्राण को (युञ्जन्ति) योगाभ्यास द्वारा प्राप्त करते हैं वे (रोचना.) कान्तिसम्पन्न होकर (दिवि) सात्विक ऊर्ध्व स्थान, ज्ञान-प्रकाशमय मोक्ष में (रोचन्ते) विराजते और शोभा पाते हैं या (दिवि) सूर्यस्थान में विशेष तेज से प्रकाशमान होते हैं । अथवा—जो विद्वान् योगी (तस्थुष. परिचरन्तं) समस्त स्थावर और जंगम पदार्थों में व्यापक (अरुषं) सब के प्रति स्नेहवान् (ब्रध्नं) सर्वाश्रय, सबसे महान्, ब्रह्मस्वरूप परमेश्वर को (युञ्जन्ति) योग समाधि द्वारा प्राप्त करते हैं वे (दिवि) प्रकाशमान मोक्ष स्थान में (रोचना) तेजोमय होकर (रोचन्ते) विराजमान होते हैं ।

अथवा, जो शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये (ब्रध्नं) सूर्य को, (अरुषं) अग्नि को, (चरन्तं) वायु को सम्यक् रीति से कार्य में नियुक्त करते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और आनन्द लाभ करते हैं ।

महर्षि दयानन्द प्रदर्शित दिशा से ये तीनों अर्थ स्पष्ट हैं।

(२) (अस्य) जिसको पूर्व मन्त्र में 'अघ्न' कहा है जो सूर्य आदि शब्दों से भी सम्बोधित होता है उस मुख्य प्राणात्मा-रूप इन्द्र के (रथे[1]) रमण करने के साधक इस देह रूप रथ में (काम्या) कान्तिसम्पादक व कमनीय, रुचिकर, प्रिय, (हरी) हरणशील (विपक्षसा[2]) नाना प्रकार से शरीर को धारण करने हारे अथवा विविध पार्श्वों में गति करने हारे (शोणा) स्वतः गतिशील, (धृष्णू) शरीर को धारण करने हारे, दृढ, (नृवाहसा) नेतास्वरूप आत्मा के वाहनरूप प्राण और अपान दोनों को जो योगाभ्यास द्वारा (युञ्जन्ति) लगाते हैं, वश कर लेते हैं वे प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं। सूर्यपक्ष में—(हरी) हरणशील आकर्षण और वेगगुण। राजा पक्ष में—(रथे) युद्धोपकरण रथ। परमात्मापक्ष में—(हरी) सूर्य और वायु। सभी सम्प्रदायवादियों ने अपने सर्वव्यापक इष्टदेव के ब्रह्माण्डमय विशाल रथ की कल्पना की है। जिसमें जगन्नाथ का रथ और विष्णु का रथ दर्शनीय हैं।

(३) हे (मर्याः) मनुष्य लोगो! मरणशील मनुष्यो! या जन्तुगण! जिस प्रकार (उपाग्निः) अपनी दाहक रश्मियों से (अकेतवे) निद्रा में अचेत प्राणी के लिये (केतुं) प्रातः चेतना करता हुआ और (अपेशसे) अरूप अर्थात् प्रकाश के अभाव में अदृश्य पदार्थों को (पेशः) रूपवान् अर्थात् दृश्यमान करता हुआ उदित होता है उसी प्रकार यह आत्मा भी (अकेतवे) ज्ञान रहित इस देहादि संघात के निमित्त (केतुं) ज्ञान, चेतना प्रकट करता हुआ और (अपेशसे) रूप रहित अपने लिये (पेश)

---

१. रथो रहतेर्वागतिकर्मणः, स्थिरतेर्वा, स्थादिप्रतीतस्य, रममाणोऽस्मिन्स्थिरो भवतीति वा रंहतेर्वा रसतेर्वा। (निरु० ९ । ११)

२. विपक्षसा—पक्ष परिग्रहे (स्वादिः)

इस देह को रूपवान् (कृण्वन्) करता हुआ (समुपाग्नि०) संताप देने हारे कर्म विपाकों द्वारा पुन. (अजायथा) उत्पन्न होता है। अथवा—हे जीवो ! आत्मा अचेतन देह को चेतन और अरूप अपने आपको सरूप करता हुआ कर्मफलों से पुनः उत्पन्न होता है।

इति चतुर्थः खण्डः ।

३१२ १२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१४७१] अयं सोम इन्द्रं तुभ्यं सुन्वे तुभ्यं पवते त्वमस्य पाहि ।

२ ३१ २ ३१२ १२ ३ २३ ३ १ २३ १ २ ३ १२

त्व ह यं चकृषे त्व वसृष इन्दुं मदाय युज्याय सोमम् ॥१॥

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ १ ३ १ २

[१४७२] स ईं रथो न भुरिषाडयोजि महः पुरूणि सातये वसूनि ।

२ ३ १ २ ३४ १२ ३ १ २ ३ १ १, ३ १ २

आदीं विश्वा नहुष्याणि जाता स्वर्षाता वन ऊर्ध्वा नवन्त ॥

३ २३ ३ १२ १२ ३ १ २ ३ २३ ३

[१४७३] शुष्मी शर्धो न मारुतं पवस्वानभिशस्ता दिव्या यथा

२ २ ३ २ ३ १ २३ १ २ ३१ २ ३

विट् । आपो न मक्षू सुमतिर्भवा नः सहस्रास्ता. पृतना-

१३ ३२

षाड् न यज्ञ ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ९ । ८८ । १, २, ७ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! आत्मन् ! परमात्मन् ! (अयं सोम.) यह सोम, शमादि सम्पन्न योगी (तुभ्यं) तेरे लिये (सुन्वे) साधना करके निष्पन्न होता है। (तुभ्यं पवते) तेरी प्राप्ति के लिये यत्न करता है। (यं) जिसका (त्वं) तू (चकृषे) बनाता है और (त्व वसृषे) तू ही सामर्थ्य देता है या वरण करता है उस (इन्दुम्) ऐश्वर्य और तप से युक्त (सोमम्) शमदमादि साधन सम्पत्ति से युक्त पुरुष को (मदाय) आनन्दप्राप्ति, मोक्षलाभ और (युज्याय) अपने संग रखने अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये (त्व) तू (अस्य पाहि) उसको विघ्नों से बचाता है।

१४७२—पृतनाषाण्न यज्ञ' इति ऋ० ।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥
(कठोपनि० १ । १२ । २२)

(२) (स.) वह सोमरूप योगी (वसूनि) इस में वास करने हारे (पुरूणि) इन्द्रियों को (रथ, न) स्थिर, स्थाणु के समान (भूरिपाट्) अति अधिक सहनशील होकर (महः सातये) तेज को प्राप्त करने के लिये (अयोजि) योग साधन में लग जाता है । (आत् ईम्) और अनन्तर (वने) अभिलाषा के योग्य (स्वर्पतौ) इस परम सुख की प्राप्ति के कार्य में (नहुष्याणि) मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य (विश्वा) समस्त (ऊर्ध्वा) उत्कृष्ट (जाता) पदार्थ आपसे आप उसको (नवन्त) प्राप्त हो जाते हैं । यद्वा-(स भूरिपाड् मह पुरूणि वसूनि सातये रथ इव अयोजि) जब वह अति सहनशील विशाल आत्मा वाला योगी बहुत विभूति, ऋद्धि, सिद्धि की प्राप्ति के लिये सग्रामरथ के समान योगसमाधि में लग जाता है । (आत् ईं विश्वा नहुष्याणि ऊर्ध्वा जाता नवन्त) तब ही समस्त मानुष उत्कृष्ट भोग्य ऐश्वर्य स्वत उसके आगे आ झुकते हैं । इसका स्पष्टीकरण देखो । (छान्दोग्य उप० अ० ८ । ख० १२)

(३) हे सोम ! आत्मन् ! आत्मयोगिन् ! आप (मारुतं) प्राणों के (शर्धः न) प्राणगण के समान (पवस्व) इस देह को-गति देते और (यथा) जिस प्रकार (दिव्या) दिव्यगुण युक्त (विड्) प्रजारूप प्राणेन्द्रिय गण (अनभिशस्ता) अनिन्दित और अखण्डित है उसी प्रकार आप भी अखण्डित और अनिन्दित हैं । आप (आपः न) जलों के समान (मद्वा) शीघ्रगामी, मनोवेग से इन्द्रिय प्रणालिकाओं में बहते हो, अत आप (सहस्रात्मा[1]) अनेकों रूप होकर (पृतनापाड् न) युद्ध

१. आप्त इति रूप नाम (निघ० ३ । ७ । ६)

विजयी सेनापति के समान इस देहरूप वेदी में होने वाले यज्ञ में यजमानस्वरूप (यज्ञ[२]) आत्मा होकर आप (नः) हमारे लिये (सुमतिः) शुभ संकल्प युक्त (भव) रहो ।

[१४७४] त्वमग्ने यज्ञाना होता विश्वेषां हित. ।
देवाभिमानुषे जने ॥ १ ॥

[१४७५] स नो मन्द्राभिरध्वरे जिह्वाभिर्यजा महः ।
आ देवान्वोचिषि च ॥ २ ॥

[१४७६] नेत्था हि वेधा अध्वनः पथश्च देना जसा ।
अग्ने यज्ञेषु सुक्रतो ॥ ३ ॥ १४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२] पृ० २ ।

(२) हे परमेश्वर ! आत्मन् ! (सः) वह आप (मन्द्राभि.) स्तुति के योग्य, हर्षजनक, उपादेय, प्रशंसनीय (जिह्वाभि.) जिह्वाओं, वाणियों से या आदान-प्रतिदान करनेहारी इन्द्रियों एवं पञ्चभूतमय शक्तियों से (महः) महान् होकर (अध्वरे) हिंसारहित व्यवहार एवं एक सूत्र की सत्तानाश न करनेहारी व्यवस्था में (यज) इस ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को सगत करते और परस्पर मिलाते हो । और (देवान्) पञ्चभूतों विद्वानों और इन्द्रियगण को (आवहि) आप अपनी शरण में लेकर उनसे

---

२. यज यजि आत्मना स्तुतौ भूतानामेषु परिगृह्य. "यज आत्मा वर्धति यजन सन्धत्ते" (नि० परि० अ० २ । ११) ।

१४७६—१ जिह्वाभिर्वाग्भिरिति सायणः । वाग्भिर्वाचिभिरिति हरिः स्वामी । कालीकरालीं च मनोजवां च सुलोहितां या च सुधूम्रवर्णां । स्फुलिङ्गिनीं विश्वरुचीं च देवीं लेलायमानां इति जिह्वा. कालिकादिषु प्रसिद्धा. । जिह्वाशब्दः कर्मेन्द्रियेषु । साधारण्येन विशेषेण वाक्येन्द्रियेषु वृत्तिर्मुख्या ।

के मार्ग में लेजाते और (यसि च) संगत करते तथा उनको उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करते हो ।

(३) हे (अग्ने) विद्वन् ! और परमात्मन् ! हे (सुक्रतो) शुभज्ञान और जगत्-रचन आदि नाना कर्मों से सम्पन्न ! हे (देव) प्रकाशक ! हे (वेध) समस्त संसार के विधाता ! आप (यज्ञेषु) समस्त प्रकार के यज्ञों और आत्माओं में (अध्वनः) समस्त बड़े मार्गों और (पथः) लघु मार्गों को भी (अञ्जसा) उत्तम रीति से (वेत्थ) जानने हारे हो, हमें भी उनका ज्ञान कराओ ।

१ २ ३१ २ ३१ २ ३ १ २
[१४७७] होता देवो अमर्त्यः पुरस्तादेति मायया ।
३ १ २ ३ १ २
विदथानि प्रचोदयन् ॥ १ ॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१४७८] वाजी वाजेषु धीयतेऽवरेषु प्रणीयते ।
१ २ ३ २ ३ १ २
विप्रो यज्ञस्य साधन ॥ २ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१४७९] धिया चक्रे वरेण्यो भूनानां गर्भमादधे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
दक्षस्य पितरं तना ॥ ३ ॥ १५ ॥ ऋ० ३ । २७ । ७–९ ॥

भा०—(१) (अमर्त्यः) मरणरहित, अमर (देव.) सबका प्रकाशक परमात्मा (विदथानि[1]) ज्ञान करने योग्य उत्तम कर्मों और आत्मतत्वों को (प्रचोदयन्) हृदय में प्रेरित करता हुआ (मायया[2]) विशेष ज्ञानशक्ति या बुद्धि से (पुरस्तात्) साक्षात् (एति) प्रत्यक्ष होता है ।

(२) (वाजी) बलवान् और ज्ञानवान् पुरुष (वाजेषु) बल के कार्यों में (धीयते) नियुक्त किया जाता है और इसी प्रकार का ज्ञानवान्

१. विदथानि वेदितव्यानि-इति सायणः ।
२. मायया, कर्मविषयाभिज्ञानेन इति सायणः ।

बलशाली पुरुष (अध्वरेषु) परस्पर की हिंसादि से रहित व्यवस्थापन आदि कार्यों में (प्रणीयते) विशेष रूप मे नियुक्त किया जाता है, क्योंकि (यज्ञस्य) दान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय एवं संगतिकरण आदि सत्कार्यों को (साधनः) साधन करने हारा (विप्रः) ज्ञानवान् विपश्चित् पुरुष होता है ।

(३) पूर्व मन्त्र में विप्र, धाजी आदि शब्द से कहा गया विद्वान् ही (धिया) अपनी धारणा ज्ञानशक्ति और कर्म सामर्थ्य के कारण (वरेण्यः) सबसे वरण करने योग्य, सबसे श्रेष्ठ होकर (चक्रे) काम कर । वही (भुवना) सब पदार्थों और प्राणियों को (गर्भं) अपने वश में (आदधः) धारण करता है । और उसको (दक्षस्य) सर्वशक्तिमान् परमात्मा की (तना) उत्पादित प्रजा, उस (पितरं) अपने पालक को पिता के समान (आदधे) धारण करती जानती और मानती है ।

इति पञ्चमः खण्डः ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २,

[१४८०] आ सुतं सिञ्चत श्रियं रोदस्योरभिश्रियम् ।

३ २ ॥

रसा दधात वृषभम् ॥ १ ॥

२ ३ २ ३ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१४८१] न जानत स्वमोक्यꣳ३ꣳ सदत्सासो न मातृभिः ।

३ १ २ ३ १ २

मिथो नसन्त जामिभिः ॥ २ ॥

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २

[१४८२] उप स्रक्षेषु बप्सतः कृण्वते धरुणं दिवि ।

१ २ ३ २ ३ ३ २

इन्द्रे अग्ना नमः स्वः ॥ ३ ॥ १८ ॥ अ० ८ । ७० । १३-१५ ॥

भा०—(१) (सुते) उत्पन्न, या उत्पादित अर्थात् माता पिता और आचार्य से शिक्षित पुत्र में अभिषेक योग्य राजा के समान (रोदस्योः)

मा बाप के (अभि) आश्रित (श्रियं) सम्पत् साधनों को (आसिञ्चत) प्राप्त कराओ और (रसा) रसमय सारिष्ठ पदार्थों में जिस प्रकार अग्नि को नीचे रखकर उनको परिपक्व किया जाता है उसी प्रकार सारयुक्त स्थलों में उस (वृषभं) सुखों के वर्षक बलवान् पुरुष को आश्रयरूप से ही (आदधीत) नियुक्त करो । अध्यात्म पक्ष में—(रोदस्योरभिश्रिय सुते आसिञ्चत) प्राण और अपान में आश्रित बल को साधित चित्त में धारण करो और (वृषभं रसा आदधीत) अग्निस्वरूप आत्मा को आनन्द रस में प्राप्त कराओ।

सायण ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है (सुत श्रियं आसिञ्चत) गौ के दुग्ध में बकरी का गरम दूध डालो जो (रोदस्योरभिश्रियम्) खूब उफान खारहा हो और फिर मिले दूध में आच दो। आश्चर्य ।

(२) (वत्सासः) जिस प्रकार बछड़े (जामिभिः) अपनी २ पैदा करने हारी (मातृभिः) माताओं से (मिथः) परस्पर (नसन्त) मिल जाते हैं उसी प्रकार वे पुत्रादि भी अपने बन्धुओं से स्नेहवश मिले रहते हैं और (स्वं) अपने (ओकय) एक ही प्रदेश में रहने वाले बन्धुवर्ग को (सं जानते) भली प्रकार जान लेते हैं और उनके साथ ही मिल जाते हैं । अध्यात्म में—(ते) वे प्राण प्रमातृरूप इन्द्रियों से इसी प्रकार मिल कर रहते हैं जैसे बछड़े अपनी उत्पादक माताओं से । और उन इन्द्रियों को वे दोनों प्राण अपने स्थान के नित्यवासी जान कर उनसे एक हो रहते हैं ।

(३) (चक्रेषु) सर्जन स्थानों में या इन्द्रिय प्रदेशों में या काली आदि ज्वालाओं में (वप्सत.) भक्षण करते हुए ग्रहण या प्रलय करते हुए उस अग्निरूप महान् आत्मा को विद्वान् पुरुष (दिवि) ज्ञान-प्रकाश में सूर्य के समान (धरुणे) उसको धारक बल या आश्रय रूप से (उप क्षेत्रते) स्वीकार करते हैं । उस (अग्निं) अग्निस्वरूप, पाप दहन करने

कारे, ज्ञानवान् परमेश्वर को (इन्द्रे) इन्द्ररूप आत्मा में भी (नम) बल और (स्व) सुख और आनन्दरूप से (उप क्रुण्वते) उपासना करते हैं।

सामाजिक पक्ष में—(स्वेषु) आमोद प्रमोद स्थलों में विहार करते हुए उस नवयुवक रूप अग्नि को विद्वान् उच्च प्रतिष्ठा देते हैं और तभी वह पालन पोषण के भार को अपने में धारण करके बल और पारिवारिक सुख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार इन मन्त्रों में सामाजिक एवं आध्यात्मिक परिवार का उत्तम वर्णन किया गया है।

[१४८३] तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठ यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः ॥ १ ॥

[१४८४] वावृधान. शवसा भूर्योजा. शत्रुर्दासाय भियस दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि स न नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ २ ॥

[१४८५] तवे क्रतुमपि वृञ्जन्ति विश्वे द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः ।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समद सुमधु मधुना
भियोधीः ॥ ३ ॥ १६ ॥ ऋ० १० । १२ । १, २ ॥

भा०—(१) (तत्) वह परम आत्मा (इत्) ही (भुवनेषु) इन समस्त लोकों में (ज्येष्ठ) सब से अधिक प्रशस्त, उत्कृष्ट, वर्णनीय (आस) है, (यतः) जिससे (त्वेषनृम्ण) कान्ति दीप्ति से युक्त बल-शाली (उग्रः) तेजस्वी, विशाल शक्तिशाली सूर्य और उसके समान तेजस्वी पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न होता है। (सद्य जज्ञानः) उत्पन्न होकर ही वह (शत्रून्) शत्रुओं और पापों को (निरिणाति) दूर करता है (यं अनु) जिसको देखकर (विश्वे) समस्त (ऊमा) जीव प्रजागण (मदन्ति) हर्षित होते हैं।

(२) वह परमात्मा (शवसा) अपने महान् सामर्थ्य, बल से विक्रमशील, प्रतापी होकर (शत्रु॰) विघ्नों का शातन करनेहारा (दासाय) विनाश करनेहारे पापी जन के लिये (भियसं) भीति, डर (दधाति) उत्पन्न करता है और (अन्यनत्) स्थावर पदार्थ जो विशेष रूप से प्राण नहीं लेते और (व्यनत् च) चेतन प्राणी जो नाना प्रकार से प्राण लेते हैं उन को (सन्ति) पवित्र करता है, निहलाता है अर्थात् उनमें भी स्वत॰ नाना गुणों द्वारा व्यापक होता और उनको पवित्र करता है। हे इन्द्र ! (ते) वे सब (प्रभृताः) उत्तम रूप से तेरे द्वारा धारण, पालन पोषण किये गये स्थावर और जंगम सब पदार्थ (मदेषु) हर्ष में मग्न होकर (ते) तेरे आगे (नवन्त) झुकते और तेरी महिमा गाते हैं।

(३) (त्वे) तुझमें (अपि) ही (विश्वे एते ऊमाः) समस्त ये भूत, प्राणिगण (यद्) जब (द्विः) एक से दो और (त्रिः) दो से तीन होजाते हैं तब भी वे (ऋतुं) अपने उत्तम प्रज्ञान को (वृञ्जन्ति) तुझ पर ही व्यय कर देते हैं अर्थात् समस्त पृथिव्यादि भूत और सब प्राणियों के चित्त और सब यज्ञ क्रतु तुझ पर ही समाप्त होजाते हैं। हे इन्द्र ! (स्वादो॰) आनन्द देने वाले प्रिय धनादि से भी (स्वादीयः) बहुत अधिक आनन्ददायक, प्रिय पदार्थ, पुत्र आदि को (स्वादुना) आनन्ददायी पति के प्रति पत्नी और पत्नी के प्रति पति के द्वारा (सृज) उत्पन्न कर। और (अद॰) उस (मधु) अति आनन्ददायी सन्तान को भी (सुसृधुना) उत्तम प्रिय पदार्थ पुत्रवधू एवं पौत्र आदि से (अभियोधीः) आनन्द प्रसन्न कर। जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में आया है "त्वयि इमानि सर्वाणि भूतानि मनांसि क्रतवोऽपि धृंजन्ति।" तुझ में ही समस्त भूत, सब मन और सब यज्ञ आदि समाप्त होजाते हैं। पुरुष ही स्त्रीरूप से भी रहता है क्योंकि विवाह के पश्चात् स्त्री भी उसका आधा अङ्ग होजाती है। श्रुति भी है "अर्धो वा एष यत् पत्नीति" (शत॰) और पुत्र भी उस पुरुष का ही तीसरा रूप

है जैसे वेद में—"आत्मा वै पुत्रनामासि" (शत०) दो से तीन होजाते हैं जैसे—"द्वौ द्वौ सन्तौ मिथुनौ प्रजायेते प्रजापत्या" । "पुत्रो ह स्वादु" पत्नी के प्रति पति और पति के प्रति पत्नी ही स्वादु है जैसे-"मिथुन वै स्वादु, प्रजा. स्वादु" इत्यादि (शत०) । अध्यात्म पक्ष में—स्वादु=देहादि संघात से प्राप्तव्य सुखोपभोग । उससे भी अति आनन्ददायक स्वादीयः= ब्रह्मानन्दरस को स्वादुना=प्रिय रूप आत्मा से (सं सृज) संगत कर । (अद॰ सुमधु) अति मधुर इस अमृत आत्मा को (मधुना) उस परम अमृत, आत्मा या परमेश्वरदर्शन या मोक्ष से मिला, आनन्वित कर ।

[१४८६] त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिब-
द्विष्णुना सुतं यथावशम् । स ईं ममाद महिकर्म कर्त्तवे
महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुं सत्यमिन्द्रम् ॥ १ ॥

[१४८७] साकं जात. क्रतुना साकमोजसा ववक्षिथ साकं वृद्धो
व्यायं. सासह्यिमृधा विचर्षणि । दाता राधः स्तुवते काम्यं
वसु प्रचेतन सैन सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्य-
मिन्द्रम् ॥ २ ॥

[१४८८] अध त्विषीमाँ अभ्यौजसा क्षमि युधाभवद्दा रोदसी अ-
पृणद्स्य मज्मना प्रवावृधे । अधत्तान्यं जठरे प्रमारि
ष्यत प्रचेतय सैनं सश्चद्देवो देवं सत्य इन्दुः सत्यमिन्द्रम्
॥ ३ ॥ २० ॥ ऋ० २ । २२ । १, २, २ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [४५७] पृ० २२८ ।

१४८७—'यथावशम्' इति ऋ० ।

१४८८—क्षमि इति । तिसृषु ऋक्षु "सत्यमिन्द्र सत्यमिन्दुः" इति विपर्यस्त. ऋ० ।

(२) हे इन्द्र ! हे (प्रचेतन) प्रकृष्ट ज्ञानवन् ! (ऋतुना) वेदमय ज्ञान के (साकं) साथ (जातः) वर्त्तमान रह कर आप (ओजसा) अपने बल से (ववक्षिथ) इस ब्रह्माण्डमय जगत् का वहन करते हो, इसको धारण करते हो । अत एव (धीभिः) नाना प्रकार की शक्तियों के (साक) साथ (बृद्धः) समस्त संसार में व्यापक, महान् (मृध·) सब शत्रुओं को (सासहिः) वश करने हारे, (विचर्षणिः) सब संसार के द्रष्टा (,स्तुवते) स्तुति करने हारे भक्तजन के कामना करने योग्य (वसु) धन के (दाता) देने हारे हैं । (स·) वह (देवः) प्रकाशरूप (सत्य·) सत्यस्वरूप (इन्दुः) जीवात्मा, योगी, (सत्यं) सत्यस्वरूप (देवं) सर्वप्रकाशक (एनं) इस (इन्द्रं) ऐश्वर्यशालि परमात्मा को (सश्चत्) प्राप्त करे,।

(३) (अध) इस प्रकार के ब्रह्मदर्शन के अनन्तर (त्विषीमान्) कान्तिमान् इन्द्र (ओजसा) बल से, (त्रिविम्) जीव के बन्धनरूप पाचों अन्नमय आदि कोशों को (युधा) विघ्न नाशक प्रयत्न से (अभि अभवत्) तोड़ देता है । (रोदसी) द्यौ और पृथिवी और प्राण और अपान दोनों को (अपृणद्) व्याप्त करता है । तब (अस्य मज्मना) इसके ही बल से (प्रवावृधे) वह जीव भी शक्तिशाली, और महान् हो जाता है । वह प्रभु (अन्य) जीव को अपने (जठरे) गर्भ में, शरण में (अधत्त) धर लेता है (इंम्) और इसको (प्र अरिच्यत) विशेष रूप से शक्तिशाली बनाता है और (प्रचेतय) प्रकृष्ट रूप से ज्ञानवान् कर देता है । (सः) वह (देव) दिव्य ज्ञानवान् (इन्दुः) योगी जीव (सत्य·) सत्य सकल्प, सत्यरूप होकर (एनं) उस (देवं) देव (सत्यं) सत्यस्वरूप (इन्द्रं) परमेश्वर को (सश्चत्) प्राप्त होता है ।

इति षष्ठः खण्डः ।

इति षष्ठस्य तृतीयोऽर्धं । षष्ठश्च प्रपाठकः समाप्तः ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ सप्तमः प्रपाठकः (प्रथमोऽर्धः)

ऋषिः—१ १, ६ प्रियमेधः । २ नृमेधपुरुमेधौ । ३, ७ त्र्यरुणत्रसदस्यू । ४ शुनःशेप आजीगर्तिः । ५ वत्सः काण्वः । ६ अग्निस्तापसः । ८ विश्वमना वैयश्वः । १० वसिष्ठः । सोभरि काण्वः । १२ शत वैखानसाः । १३ सप्तयव आत्रेयाः । १४ गोतमो राहूगणः । १५ केतुराग्नेयः । १६ विरूप आङ्गिरस ॥ देवता—१, २, ५, ८ इन्द्रः । ३, ७ पवमानः सोमः । ४, १०—१६ अग्निः । ६ विश्वेदेवाः । ९ सामेति ॥ छन्दः—१, ४, ५, १२—१६ गायत्री । २, १० प्रागाथं । ३, ७, ११ बृहती । ६ अनुष्टुप् ८ उष्णिक् । ९ निचिदुष्णिक् ॥ स्वरः—१, ४, ५, १२—१६ षड्जः । २, ६, ७, १०, ११ मध्यमः । ६ गान्धारः । ८, ९ ऋषभः ॥

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४८९] अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
३ २ ३ १ ३ १ २
सूनुं सत्यस्य सन्पतिम् ॥ १ ॥
१२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ २
[१४९०] आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।
२ ३ १ ३ १ २
यत्राभि संनवामहे ॥ २ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ १
[१४९१] इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणं मधु ।
१ २ ३ २ ३ २
यत्सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ६६ । ४, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधि० सं० [१६८] पृ० ।
(२) (बर्हिषि) धान्य या कुशा घास या दर्भ के समान ढापक होकर पुनः ज्ञानाग्नि या योग समाधि द्वारा काटने योग्य निरन्तर वृद्धिशील

इस देहबन्धन में (हरयः) गतिशील (अस्वीः) रक्त वर्ण की धारायें हम भूलोक में जल धाराओं के समान (ससृज्रिरे) नदियों के समान गति कर रही हैं और उस पर (अधि) अधिकार कर रही हैं (यत्र) जिस देह में रह कर हम इन्द्रियगण तथा विद्वान्जन (अभिसंवावहे) उस आत्मरूप इन्द्र की साक्षात् महिमा का अनुभव करते और गान करते हैं अर्थात् जिस देह में हम उस इन्द्र के साक्षात् अधीन रहते हैं ।

ईश्वर पक्ष में-यहि.=यह संसार, अरुषी=कान्तिमान्, हरय.=सूर्यसदृश गतिमान् पिण्ड ।

(३) (गावः) ये सब गतिमान् रक्तधारायें तथा इन्द्रियगण (इन्दाय) इस इन्द्ररूप आत्मा के लिये (आशिरम्) उसके जीवन के आश्रयरूप (मधु) हर्ष कर उस शुक्र या ज्ञान को (दुदुह्रे) उत्पन्न करती हैं, (यत्) जिसको वह इन्द्र (उपहरे) भीतरी हृदय कोश में (सोमम्) सब ओर से (विदत्) प्राप्त करता है ।

ईश्वर पक्ष में—ये गतिमान् तेजस्वी पिण्ड (आशिरं) समस्त ब्रह्माण्ड के आश्रयरूप (मधु) शक्ति को उत्पन्न करते हैं जिसको वह इस ब्रह्माण्ड में धारण किये हैं ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४९२] आ नो विश्वासु हव्यमिन्द्र समत्सु भूषतः ।
२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २
उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहन् परमज्या ऋचीषम ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१४९३] त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥२॥२

ऋ० ८ । ९० । १-२

भा०—(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमारे (हव्यं) स्मरण करने स्तुति करने, और पुकारने, आश्रय करने योग्य (इन्द्रम्) उस परमेश्वर

को (विश्वासु समत्सु) समस्त आनन्द और उत्सवों में तथा परस्पर मेल मिलाप करने के अवसरों पर (आभूषत) नाना वचनालङ्कारों से सुशोभित करो । हे (वृत्रहन्) विघ्नों के निवारक ! हे (परम) सबसे उत्कृष्ट विजयशील, हे (ऋचीषम) ऋचाओं द्वारा मनन करने योग्य परमात्मन् ! आप (नः) हमारे (सवनानि) यज्ञों और (ब्रह्माणि) वेद स्वाध्यायों एवं व्रतादि के अवसरों पर (उप) सदा समीप हृदय देश में विराजें । देखो अवि० सं० [२६६] पृ० १३७ ।

(२) हे परमेश्वर ! (त्वं) आप (पुत्रसा) समस्त पदार्थों और ज्ञानों के (प्रथम) सबसे पहले (दाता) देने हारे (असि) हो और (सत्यः) सत्यस्वरूप सर्व, (ईशानकृत्) सामर्थ्य और प्रभुत्व के देने हारे हो । (शवसः) बलस्वरूप (पुत्रस्य) पुरुषों की विघ्नों से रक्षा करने हारे (महः) महान् (तुविशुष्मस्य) बहुत धनैश्वर्यसम्पन्न आपके (युज्या) सत्संगति को समाधि द्वारा हम (आवृणीमहे) प्राप्त करें ।

३ २ ३ १ २ ३ १ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २

[१४९४] प्रत्नं पीयूषं पूर्व्यं यदुक्थ्यं महो गाहादिव आ निरधुक्षत।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रमभि जायमानं समस्वरन् ॥१॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१४९५] आदीं कान्तिपश्यमानास आप्यं वसु रुचो दिव्या अभ्य-
३ १ २ १ ३ १ २
नूषत्। दिवो न वारं सविता व्यूर्णुते ॥२॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ १

[१४९६] अज यदिमे पयमान रोदसी इमा च विश्वा भुवनाभि
३ १ २ २ १ ३ १ २ ३ १ २ २
मज्मना। यूथे न नि ष्ठा वृषभो विराजसि ॥३॥३॥

ऋ० ९ । ११० । ८, ६, ९, ॥

१४९५—'दिव. पीयूष', १४९६—'धार न देव.' १४९७—'विश्वा भुवनेषु वि-राजसे' इति ऋ० ।

भा०—(१) विद्वान् लोग (यत्) जब (प्रत्नं) सनातन अति उत्तम (पूर्व्यं) पूर्व पुरुषाओं से सेवित, अति पुरातन (उक्था) अति प्रशंसनीय (पीयूष) अमृतस्वरूप ब्रह्मानन्द रस को (महतः) बड़े (गाहात्) अति गम्भीर (दिवः) द्यौलोक, मूर्धा स्थल या सहस्रदलकमल से (आ निरधुक्षत) साक्षात्कार द्वारा प्राप्त करते हैं तब वे (जायमानं) प्रकट होते हुए, साक्षात् ज्ञान का विषय होते हुए (इन्द्रं) आत्मा और परमात्मा की (सम् अस्वरन्) उत्तम रीति से स्तुति करते हैं ।

(२) जब (दिवः) प्रकाशस्वरूप आत्मा के (वारं) आवरण को (सविता न) सूर्य के समान समस्त जगत् का प्रेरक परमात्मा (वि ऊर्णुते) खोलता या हटा देता है (आत्) तब ही (केचित् दिव्या) प्रकाश में वर्त्तमान होकर भी कुछ एक (वसुरुचः) आत्मा के साधक या इन्द्रियादि उपकरणों के चमत्कारों को प्रेम करने हारे साधक (आप्यं) अपने प्राप्त करने योग्य बन्धुरूप (इमं) इस प्रभु को या समाधि से उत्पन्न आनन्द को ही (पश्यमानासः) देखते हुए उसकी (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं ।

(३) (यूथेन) जिस प्रकार गौओं के गोल में (वृषभः) सांड खड़ा रहता और शोभा देता है उसी प्रकार (यद्) जब आप हे (पवमान) सबके प्रेरक ! प्रभो ! (इमे) इन (रोदसी) द्यौ और पृथिवी प्राण और अपान दोनों को और (इमा) इन (विश्वा) समस्त (भुवना) लोकों या इन्द्रियमय शेष प्राणों के (मज्मना) बलपूर्वक (नि स्थ) भीतर व्याप्त होते हो तब (वि-राजसि) आप विशेष रूप से शोभा को प्राप्त होते हो ।

३ २ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१४९७] इममू षु त्वमस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् ।
१ ३ २ ३ १ २
अग्ने देवेषु प्र वोचः ॥१॥

३ १ २ ३ १ २३ १ २ ३ २
[१४९८] विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ ।
३ २ ३ १ २
सद्यो दाशुषे क्षरसि ॥२॥
१ ३ १ २ ३ १ २
[१४९९] आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु ।
२ ३ १ ३ १ २
शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ॥३॥४॥ ऋ० १ । २७ । ४,५,६

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२८] पृ० १२ ।

(२) हे (विचित्रभानो) उपास्य ! कान्तिसम्पन्न ! विचित्र रश्मियों से युक्त ! नाना प्रकार के सूर्यों के स्वामिन् ! प्रभो ! जिस प्रकार (सिन्धोः) विशाल नदी के (उपाके) समीप से (ऊर्मा) छोटी २ नहरें काट ली जाती हैं, उसी प्रकार आप अपने विशाल विभूतिप्रवाह में से (दाशुषे) अपने आत्मसमर्पण करने हारे भक्त के प्रति (विभक्तासि) विविध प्रकार से नाना विभूतियां बांट देते हैं और (सद्यः) शीघ्र ही (क्षरसि) आनन्दरस बहा देते हैं ।

(२) हे अग्ने ! (परमेषु) उत्कृष्ट (वाजेषु) ज्ञान और बलयुक्त पदार्थों में से (नः आ भज) हमें प्राप्त करा और (मध्यमेषु) मध्य कोटि के पदार्थों में से भी हमें प्राप्त करा और (अन्तमस्य) समीपतम (वस्वः) वास योग्य पदार्थों को भी (शिक्ष) प्रदान कर ।

३ २८ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५००] अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रह ।
३ १ २ २
अहं सूर्य इवाजनि ॥ १ ॥
३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५०१] अह प्रत्नेन जन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् ।
२ ३ ३ २ ३ १
येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे ॥ २ ॥

१५०१—'शुम्भ' । १५०२—प्रत्नेन मन्मना इति ऋ० ।

[१५०२] य त्वामिन्द्र न तृष्टुहुरृषयो ये च तुष्टुवुः ।
ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥ ५ ॥ ऋ० ८ । ६ । २०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [१५२] पृ० ८५ ।

(२) ऋषि का आत्मरूप से दर्शन है । मैं जीव (कण्ववत्) मेधावी विद्वान् पुरुष के समान (प्रत्नेन) अपने पूर्व के, सनातन (जन्मना) जन्म अर्थात् अपने स्वाभाविक रूप से ही (गिर) नाना वेदस्तुति वाणियों को (शुम्भामि) प्रकट करता हूं । (येन) जिससे (इन्द्रः) मेरा आत्मा (शुष्मं) आत्मिक बल को (इत्) ही (दधे) धारण करता है ।

(२) हे आत्मन् ! (ये) जो अज्ञानी लोग (त्वां) तुझको (न) नहीं (तुष्टुवु) स्तुति करते और (ये च) जो (ऋषयः) आत्मसाक्षात्कार करने वाले मन्त्रद्रष्टा, ऋषिगण तथा गुरु शिष्य तथा ज्ञानी, जिज्ञासु जन (त्वा तुष्टुवु·) तेरा यथार्थ वर्णन करते हैं उनसे (सु-स्तुत·) उत्तम रूप से स्तुतियों द्वारा अलङ्कृत होकर (मम इद्) मेरी ही स्तुतियों द्वारा मुझे (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त करा ।

अर्थात् प्रत्येक जीव अपनी ही की हुई उपासना और प्रार्थना से बलवान् होता है । दूसरे की की, प्रार्थनोपासना उसके लिये निष्फल है ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:o:—

२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५०३] अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत ।
१ २ ३ २ज ३ २ ३ १ २ ३ १ २
ये देवासो य आयुषु तेभिर्नो महया गिरः ॥ १ ॥ ऋग्वेदे नास्ति ।

१५०३—ऋग्वेदे (३ । २४ । ४) समानाक्षरसन्निवेशवतीयमृगुपलभ्यते ।

" अग्ने विद्वेभिरग्निभिर्देवेभिर्मह्या गिरः । यजेषु ये च चायवः ॥ "

१र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१५०४] प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्नि. स यस्य वाजिनः ।
१ २ ३ २ ३ २ड ३ २ड ३ १ २
तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः॥२॥ऋग्वेदे नास्ति।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्द्धय ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २र
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १४१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवन्! तेजस्विन्! परमात्मन्! तू (विश्वेभि.) अन्य समस्त (अग्निभिः) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोषि) सब को सेवन कराता है। इसलिये हे देव! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवत्रा) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (ये आयुषु) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभि.) उन द्वारा (न.) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (महय) उपदेश प्रदान कर।

(२) (यस्य) जिस (वाजिन·) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है। (स अग्नि) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है। और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजै.) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और ऐश्वर्यों से (परिवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों में भी (आ) पूजा को प्राप्त हो।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप! तू अन्य (अग्निभि) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (न) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञं च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन की (वर्धय) वृद्धि कर और

(न·) हमें (देवतातये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,-ऐश्वर्य आदि पदार्थ दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय अवसे धियं दधुः ।

१ २ ३ क १ २

स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २

[१५०७] अभ्यभि हि अवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षितम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

शर्याभिर्ने भरमाणो गभस्त्योः ॥ २ ॥

१ २ ३ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०८] अजीजनो अमृत मर्त्याय कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

ऋ० ९ । ११० । ७, ५, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम [1] सब के प्रेरक परमात्मन् [1] (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृक्तबर्हिषः) देहबन्धन को काटने हारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (अवसे) यशस्वरूप महा-महिम तुझे प्राप्त करने के लिये (धियः) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधुः) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (सः त्वं) वह तू (नः) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान-गृह को (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गभस्त्योः) बाहुओं की (शर्याभिः) अंगुलियों से (उत्स न) जल के निरन्तर निकलते स्रोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (अवसा) ज्ञान बल से

१५०६—३. " अमृत मर्त्यभ्यो ऋतस्य " इति पाठभेदः ऋ० ।

१र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २
[१५०४] प्र स विश्वाभिरग्निभिरग्नि स यस्य वाजिनः ।
१ २ ३ २ ३ २ह ३ २ह ३ १ २
तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः॥२॥ऋग्वेदे नास्ति।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५०५] त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्द्धय ।
१ २ ३ १ २ ३ १र २ह
त्वं नो देवतातये रायो दानाय चोदय ॥ ३ ॥ ॥ ६ ॥
ऋ० १० । १४१ । ६ ॥

भा०—(१) हे (सहस्कृत) बलपूर्वक, बड़ी तपस्या, ब्रह्मचर्य और समाधि बल से साक्षात्कृत (अग्ने) ज्ञानवन्! तेजस्विन्! परमात्मन्! तू (विश्वेभिः) अन्य समस्त (अग्निभि.) अग्निरूप सूर्यादि पदार्थों और ज्ञानी योगियों द्वारा (ब्रह्म) वेद ज्ञान का (जोषि) सब को सेवन कराता है । इसलिये हे देव! जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (देवत्रा) दिव्य गुणयुक्त, विद्वानों और जीवनयुक्त प्राणों के भीतर और (ये आयुषु) जो कर्मपरायण ज्ञानवान् मनुष्यों के भीतर हैं (तेभि.) उन द्वारा (न) हमें (गिरः) वेदवाणियों का (महय) उपदेश प्रदान कर ।

(२) (यस्य) जिस (वाजिन·) ज्ञान और बल से सम्पन्न परमेश्वर की (विश्वेभि.) समस्त (अग्निभि·) अग्नि के समान तेजस्वी सूर्य आदि लोकों तथा विद्वानों से (प्र) प्रतिष्ठा होती है । (स. अग्नि) वह ही ज्ञानवान् होने से परम अग्नि है । और वही (सम्यङ्) उत्तम रीति से सर्वत्र पूजनीय होकर (वाजै.) ज्ञान और कर्म सामर्थ्यों और ऐश्वर्यों से (परिवृतः) युक्त हुआ (अस्मत्) हमारे (तनये) पुत्र और (तोके) पौत्रों में भी (आ) पूजा को प्राप्त हो ।

(३) हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! तू अन्य (अग्निभि) विद्वान्, तेजस्वी सूर्यादि लोकों और पुरुषों द्वारा (न.) हमारे (ब्रह्म) वेदज्ञान और (यज्ञ च) यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों और जीवन की (वर्धय) वृद्धि कर और

(नः) हमें (देवतातये) विद्वानों के प्रति दान, मान, सत्कार आदि पुण्य कार्य करने और (रायः दानाय) धन,–ऐश्वर्य आदि पदार्थ-दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०६] त्वं सोम प्रथमा वृक्तबर्हिषो महे वाजाय अवसे धियं दधुः ।

१ २ ३ १ २

स त्वं नो वीर वीर्याय चोदय ॥ १ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५०७] अभ्यभि हि अवसा ततर्दिथोत्सं न कञ्चिज्जनपानमक्षितम् ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २

तम् । शर्याभिर्न भरमाणो गभस्त्योः ॥ २ ॥

१ २ ३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५०८] अजीजनो अमृत मर्त्याय कमृतस्य धर्मन्नमृतस्य चारुणः ।

१ २ ३ १ ३ २ ३ १ २

सदा सरो वाजमच्छा सनिष्यदत् ॥ ३ ॥ ७ ॥

ऋ० ६ । ११० । ७, ५, ४ ॥

भा०—(१) हे सोम ! सब के प्रेरक परमात्मन् ! (प्रथमाः) उत्कृष्ट, प्रथम श्रेणी के (वृक्तबर्हिषः) देहबन्धन को काटने हारे, मुक्त पुरुष वे हैं जो (महे) बड़े (वाजाय) ज्ञानस्वरूप (अवसे) यशस्वरूप महा-महिम तुझे प्राप्त करने के लिये (धियं) अपनी धारणावती बुद्धि, चित्तवृत्ति को (दधुः) स्थापित या स्थिर करते हैं । हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! (सः त्वं) वह तू (नः) हमें भी (वीर्याय) बल, सामर्थ्य, शक्ति प्राप्त करने के लिये (चोदय) प्रेरित कर, मार्ग दर्शा ।

(२) जिस प्रकार मानो कोई बुद्धिमान् पुरुष (कञ्चित्) किसी (अक्षितम्) अक्षय (जनपानम्) मनुष्यों के जलपान–गृह को (भरमाणः न) पूर्ण करने की चेष्टा करता हुआ (गभस्त्योः) बाहुओं को (शर्याभिः) अंगुलियों से (उत्सं न) जल के निरन्तर निकलते स्रोत को काट लेता है उसी प्रकार हे (सोम) विद्वन् ! आप अपने (अवसा) ज्ञान बल से

१५०६—३: " अमृत मर्त्येभ्यो ऋतस्य " इति पाठभेद. ऋ० ।

अक्षय (जनपानं) समस्तजनों को जलभण्डार के समान आनन्दरस-सागर को (भरमाणः) पूर्ण करते हुए, मेघ को वायु के समान (उत्सं) मूल निकाम रूप ब्रह्म तत्व को (अवसा) गुरूपदेश, ज्ञान, योग्याभ्यास से (ततर्दिथ) उद्भेद कर देते हो, तब उसे अध्यात्म रस प्राप्त होने लगता है ।

(३) हे (सोम) विद्वन्[1] (मर्त्याय) मरणधर्मा इस जीव के लिये आप (अमृतं) मोक्षस्वरूप, अविनाशी (कम्) सुख को (अजीजनः) उत्पन्न करते हो और (अमृतस्य) अविनाशी (धारुणः) प्राप्त करने योग्य, उत्तम (ऋतस्य) सत्यज्ञानरूप वेद के उपदेश किये हुए (धर्मन्) धर्ममार्ग में (वाज) ज्ञान और बल को (सनिष्यदत्) प्रदान करते हुए (सदा) नित्य (अच्छ) भली प्रकार (सरः) प्रकट होते हो ।

[१५०९] एन्दुमिन्द्राय सिञ्चत पिबाति सोम्य मधु ।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना ॥१॥

[१५१०] उपो हरीणां पतिं राध. पृञ्चन्तमञ्जसम् ।
नूनं श्रुधि स्तुवतो अश्वस्य ॥ २ ॥

[१५११] न ह्यां३ऽङ्ग पुरा च न जज्ञ वरितरस्त्वत् ।
न क्री राया नैवथा न भन्दना ॥ ३ ॥ ८ ॥

ऋ० ८ । २४ । १३–१५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [३८६] पृ० ।

(२) (राध) आराधना योग्य ज्ञान या अभिलाषित ऐश्वर्य को (पृञ्चन्त) प्रदान करते हुए, उद्देश्य तक प्राप्त कराते हुए (हरीणां पतिम्) हरणशील इन्द्रिय आदि सूर्यों और विद्वानों के पालक परम आत्मा के

१५१०—२. 'उपो हरीणा पति दक्षं' 'स्तुवतो गरुव्यस्य' ३. 'नहग इति ऋ० ।

प्रति (उप अग्रधम्-उ) अति समीप होकर मैं यह कह रहा हूं कि (स्तुवतः) तेरा यथार्थस्वरूप वर्णन करने हारे (अश्वस्य) गतिशील, कर्मफल के भोक्ता जीव आत्मा की प्रार्थना को (नूनं) निश्चय से (श्रुधि) श्रवण कर।

(३) (अङ्ग) हे परमेश्वर ! (त्वत्) तुझ से अधिक (वीरतर) सामर्थ्यवान् शक्तिमान् कोई (नहिं) नहीं है। (न च) और न (पुरा) पूर्व कल्पों में भी (जज्ञे) उत्पन्न हुआ। और (नकिः) न कोई (राया) ऐश्वर्य विभूति में तुझ से अधिक है और न हुआ, न होगा, और (न पवथा) न तुझ से अधिक सर्वव्यापक सर्वरक्षक दूसरा है, न हुआ और न होगा, (न भन्दना) न तुझ से अधिक कोई कल्याणकारी प्रशंसा और स्तुति का पात्र ही है, और न हुआ है, न होगा।

३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१२] नदं व ओदतीनां नद योयुवतीनाम्।
१ २ ३ १ २ ३ १ २
पतिं वो अघ्न्यानां धेनूनामिषुध्यसि ॥ १.॥ ६ ॥

अ० ८ । ६९ । २

भा०—(१) (वः) आप लोग (योयुवतीनां) कर्म का आदेश करने हारी ऋचाओं के (नदं) उपदेश करने हारे और (ओदतीनां) अध्यात्म ज्ञान का उपदेश करने हारे वेद वाणियों के (नद) उपदेष्टा और (अघ्न्यानां) कभी घात न होने हारी अविनाशी, नित्य (धेनूना) ज्ञानरस के पिलाने हारी वेदवाणियों के (पतिं) पालक प्रभु को (इषुध्यसि [१]) आश्रय करो और उसी से इष्ट फल प्राप्त कराने की याचना करो।

इति द्वितीयः खण्डः।

१, इषुध्यतिर्याच्ञाकर्मा। (निरु० ३ । ३६ ।)

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१३] देवा वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वा सिचम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥
= २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५१४] त होतारमध्वरस्य प्रचेतसं वह्निं देवा अकृण्वत ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
दधाति रत्नं विधते सुवीर्यमग्निर्जनाय दाशुषे ॥२॥१०॥

ऋ० ७ । १६ । ११-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल्प स० [२५] पृ० २६ ।

(२) जो (अग्निः) ज्ञानवान् आचार्य, परमेश्वर (दाशुषे) दानशील, आत्मसमर्पक (विधते) परिचर्या करते हुए, शिष्य के समान उपासक को (सुवीर्यम्) उत्तम सामर्थ्ययुक्त (रत्नं) रमणयोग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य को (दधाति) धारण कराता है (तं) उस (प्रचेतसे) उत्तम ज्ञानवान् परम पुरुष को (देवा) विद्वान् पुरुष (अध्वरस्य) हिंसारहित ज्ञानयज्ञ का (होतारं) सम्पादक और (वह्निम्) कार्यनिर्वाहक (अकृण्वत) नियत करते जानते, और मानते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५१५] अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १ २
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निन्नक्षन्तु नो गिर ॥१॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५१६] यस्माद्रेजन्त कृष्टयश्चर्कृत्यानि कृण्वत ।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
सहस्रसां मेधसातावपव्रमनाग्निं धीभिर्नमस्यत ॥२॥
१ २ ३ २
[१५१७] प्र दैवोदासो अग्निः ॥३॥११॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अधिकल्प स० [४७] पृ० ।

१५१५—३, प्रतीकमात्रमिदम् । क्वचित्पूर्णाऽपि ऋक् पठ्यते ।

(२) (चर्कृत्यानि) समस्त जगत् के कर्तव्य कर्म (कृण्वतः) कराने हारे (यस्मात्) जिससे (कृष्टयः) मनुष्य (रेजन्त) कांपते हैं, भय अनुभव करते हैं (सहस्रसां) सहस्रों का दान देने हारे उस (अग्निम्) परमेश्वर को (मेधसातौ) ज्ञानबल और मेधा को प्राप्त करने के लिये (धीभिः) अपनी ध्यानधारणावाली बुद्धियों और कर्मों से (स्मना) अपने आत्मा द्वारा (नमस्यत) उपासना करो ।

(३) व्याख्या देखो अविकल्प सं० [५१] पृ० २३ ।

[१५१८] अग्न आयूंषि पवस॰ ॥१॥

[१५१९] अग्निर्ऋषिः पवमान॰ पाञ्चजन्यः पुरोहितः ।
तमीमहे महागयम् ॥२॥

[१५२०] अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्च॰ सुवीर्यम् ।
दधद्रयिं मयि पोषम् ॥३॥१२॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [६८७] पृ० ३१६ ।

(२) (अग्निः) ज्ञानवान्, प्रकाशस्वरूप परमात्मा (ऋषि॰) स्वतः सब मन्त्रों का द्रष्टा, प्रकाशक, सर्वव्यापक और समस्त संसार का द्रष्टा है, वही (पवमानः) सबका पवित्रकारक ज्योतिष्मान् और सबका प्रेरक होने से (पाञ्चजन्य॰) पांचों जन—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद, या देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सर्प और पितर या ५ इन्द्रियों को समानरूप से हितकारी (पुरोहितः) समस्त कार्यों के पूर्व, हृदय में और समस्त विश्व सृष्टि के पूर्व, जगत् में साक्षी रूप से स्थित है, (तं) उस (महागय) महान् प्राणों के प्राण, अथवा बड़े २ देवादि से भी स्तुति किये गये महान्, ज्ञानवान्, परम उपदेष्टा, विशाल कीर्ति वाले परमात्मा से हम (ईमहे) याचना करें ।

१५१८— प्रतीकममात्रम्। क्वचित् पूर्णापि ऋक् पठ्यते ।

(३) हे अग्ने ! (स्वपा०) शोभन प्रज्ञा और कर्म से सम्पन्न रमात्मन् ! आप (अस्मे) हमें (वर्च) तेज (पवस्व) प्राप्त कराओ और (मयि) मुझ में (रयिम्) प्राण, बल और (पोष) पुष्टि (दधत्) धारण कराओ ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२१] अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया ।
२ ३ १ २ ३ १ २
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥१॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५२२] तं त्वा घृतस्नवीमहे चित्रभानो स्वर्दृशम् ।
३ २ ३ १ २
देवा आ वीतये वह ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२३] वीतिहोत्रं त्वा कवे द्युमन्तं समिधीमहि ।
१ २ ३ १ २ ३ २
अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥३॥१३॥ ऋ० ५ । २६ । १-३॥

भा०—(१) हे अग्ने ! (पावक) सबको पवित्र करने हारे ! हे (देव) सब के प्रकाशक ! और स्वयंप्रकाश, देव ! परमेश्वर ! (रोचिषा) अपनी दीप्तिस्वरूप (मन्द्रया) आनन्ददायक (जिह्वया) दान प्रतिदान करने की शक्ति से (देवान्) दिव्य पदार्थ, जल आदि पञ्चभूतों को और ज्ञानमय दीप्ति से विद्वानों को और आकर्षण से समस्त ब्रह्माण्ड के सूर्यादि लोकों को (आवक्षि) आवहन करते, उनका धारण करते (यक्षि च) संगत करते, और व्यवस्थित रखते हो ।

(२) हे (चित्रभानो) नाना विध कान्तियुक्त परमात्मन् ! हे (घृतस्नो) समस्त प्रकाशमान पदार्थों के प्रेरक ! (तं) उस महान् आत्मा (स्वर्दृशं) सबके द्रष्टा, या स्व अर्थात् प्रकाशमय और सुखकारक चक्षु से सम्पन्न, या मोक्षमार्ग को दर्शाने हारे आपको (ईमहे) प्रार्थना करते हैं कि (देवान्) हमारे दिव्य गुणयुक्त इन्द्रियों को और उसी प्रकार ज्ञान कराने हारे विद्वान्

पुरुषों और उपकारक दिव्य पदार्थों को (वीतये) उत्तम ज्ञान, तेज, और सुख प्राप्ति के लिये (आ वह) प्राप्त कराओ ।

(३) हे (कवे) समस्त संसार के पदार्थों के मर्म तक को देखने हारे अन्तर्यामिन् ! हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप ! (वीतिहोत्रं) यज्ञों में व्यापक (द्युमन्त) प्रकाशमान (बृहन्तं त्वा) सब से महान् आपको ही हम (अध्वरे) हिंसा रहित ज्ञान और कर्ममय यज्ञ में (समिधीमहि) प्रदीप्त करते हैं ।

इति तृतीय खण्ड. ।

—o—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२४] अवा नो अग्ने ऊतिभिर्गायत्रस्य प्रभर्मणि ।
१ २ ३ १ २
विश्वासु धीषु वन्द्य ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२५] आ नो अग्ने रयिं भर सत्रासाहं वरेण्यम् ।
१ २ ३ १ २
विश्वासु पृत्सु दुष्टरम् ॥२॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५२६] आ नो अग्ने सुचेतुना रयिं विश्वायुपोषसम् ।
३ १ २ ३ १ २
मार्डीकं धेहि जीवसे ॥३॥१४॥ ऋ० १ । ७६ । ७-९॥

भा०—(१) हे (अग्ने) परमात्मन् ! हे (वन्द्य) वन्दना करने योग्य परमात्मन् ! आप (गायत्रस्य) प्राणों के त्राण करने के साधन शरीर में, (प्रभर्मणि) उत्तम रीति से भरण पोषण करने के कार्य में (ऊतिभिः) अपने रक्षा साधनों से (नः) हमारी (विश्वासु) समस्त (धीषु) कार्यों से (अव) रक्षा करें ।

१५२५—पृतनाशब्दस्य पृदादेशः । षह्नो० इति [पा० ६ । १ । ६३] सूत्रे मास पृत्स्नूनामुपसंख्यानमिति वार्त्तिकम् । पृतनेति मनुष्यनाम [नि० २ । ३] संग्रामनाम च [नि० २ । १७]

(२) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमारे लिये (वरेण्यं) सब से श्रेष्ठ (सत्रासाहं) सब विपत्तियों को दूर करने हारे (रयिं) बल और अन्न (आभर) प्राप्त करावें जो (विश्वासु) सब (पृत्सु) मनुष्यों में या संग्रामों में (दुस्तरं) दुस्तर अर्थात् जिसका कोई मुकाबला न कर सके और न समाप्त कर सके ऐसे हो ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! आप (नः) हमें (जीवसे) जीवन के निमित्त (विश्वायुपोषसं) समस्त मनुष्यों के पालन पोषण में समर्थ (माडींकं) सुख, आरोग्य करने हारे (सुचेतुना) उत्तम ज्ञान सहित (रयिं) अन्न और प्राणबल (धेहि) दें ।

[१५२७] अग्निं हिन्वन्तु नो धियः सप्तिमाशुमिवाजिषु ।
तेन जेष्म धनं धनम् ॥ १ ॥

[१५२८] यया गा आकरामहे सनयाग्ने तवोत्या ।
तां नो हिन्व मघत्तये ॥ २ ॥

[१५२९] आग्ने स्थूरं रयिं भर पृथुं गोमन्तमश्विनम् ।
अङ्धि खं वर्त्तया पविम् ॥ ३ ॥

[१५३०] अग्ने नक्षत्रमजरमा सूर्यं रोहयो दिवि ।
दधज्ज्योतिर्जनेभ्यः ॥ ४ ॥

[१५३१] अग्ने क्रतावेशामसि प्रेष्ठः श्रेष्ठ उपस्थसत् ।
घोषा स्तोत्रे वयो दधत् ॥५॥१५॥ ऋ० १०।१५६। १–५

१५२९—ख वर्त्तया पविम् इति ऋ० । 'सवर्त्तया' इति अजमेरमुद्रितः प्रामादिक पाठः ।

भा०—(१) (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों, कर्मों और स्तुतियां (अग्निं) ज्ञानवान् पुरुष, या आत्मा या परमात्मा को (वाजिषु) संग्रामों में (आशुं सप्तिम् इव) शीघ्रगामी, अश्व के समान (हिन्वन्तु) प्रेरणा करें (तेन) उससे हम (धनं धनं) बहुत सा धन (जेष्म) विजय करें, प्राप्त करें ।

(२) हे (अग्ने) प्रभो ! (यया) जिस (तव) तेरी (ऊत्या) रक्षा ज्ञान और (सेवया) सेवा से (गा.) वाणियों, रश्मियों और गौओं को (आकरामहै) साक्षात् प्राप्त करें (ता) उस अपनी शक्ति को (नः) हमें (मघत्तये) धन ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये (हिन्व) प्रेरित कर ।

(३) हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! तू हमारे पास (पृथु) खूब विस्तृत (गोमन्तं) गौओं और (अश्विनं) अश्वों से युक्त तथा ज्ञान और कर्मेन्द्रिय से सम्पन्न (स्थूरं) स्थिर (रयिं) प्राण और धन को (आभर) प्राप्त करा । (खं[1]) सुख को (अंगिध) हमारे लिये प्रकाशित कर और (पविम्[2]) पापनाशक पावकरूप यज्ञ ज्ञानवज्र या ज्ञानप्रवर्त्तक वाणी को (वर्त्तय) उपदेश कर, उसका प्रयोग कर ।

' खं '–यदेव खं तदेव कं यदेव कं तदेव खम्, छान्दोग्य उप० पवि-रिति वाग्वज्रयज्ञादिनामसु पठितः

(४) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (नक्षत्रम्) सदा गतिशील, या कभी अपने मार्ग से च्युत न होने वाले, नक्षत्रस्वरूप (सूर्यं) सूर्य को (दिवि) द्यौलोक में (आ रोहयः) स्थापित करते हैं कि वह (जनेभ्यः) सब उत्पन्न होने हारे लोकों और प्राणियों को (ज्योतिः) प्रकाश (दधत्) प्रदान करे ।

(५) (अग्ने) परमात्मन् (विश) समस्त प्राणियों को आप (केतुः) ज्ञान देने हारे, (प्रेष्ठः) सब से अधिक प्रिय, और सब से (श्रेष्ठ) उत्तम होकर (उपस्थसत्) सब के समीपतम हृदयदेश में विराजमान हों ।

आप ही (स्तोत्रे) स्तुति करने हारे विद्वान् पुरुष को (बोध) ज्ञान देते हैं और आप ही (वयः) अन्न और जीवन दोनों को (दधत्) धारण कराते हैं ।

[१५३२] अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपा रेताँसि जिन्वति ॥ १ ॥

[१५३३] इशिषे वार्यस्य हि दात्रस्याग्ने स्वःपतिः ।
स्तोता स्यां तव शर्मणि ॥ २ ॥

[१५३४] उद्अग्ने शुचयस्तव शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।
तव ज्यातींष्यर्चयः ॥३॥१६॥ ऋ० ८ । ४४ । १६, १८, १७ ॥

भा०—(१) (अग्निः) सब को आगे ले जाने वाला, सब का ज्ञानदाता ज्ञानस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, परमात्मा (मूर्धा) सब का मूर्धास्थान, सब देवों में शिरोमणि, (दिवः) द्योलोक या सूर्य आदि दिव्य पदार्थों से भी (ककुत्) श्रेष्ठ, उनमें भी ऊपर, (पृथिव्याः) पृथिवी का भी (पतिः) पालक है । वही (अपाः) सब लोकों के (रेतांसि) बीज रूप कारण सत्ताओं का (जिन्वति) शरीर आदि में प्रेरित कर उनको यथासमय जीवन प्रदान करता है ।

(२) हे (अग्ने) परमात्मन् ! आप (स्व पतिः) समस्त मोक्ष के पालक हैं । आप ही (दात्रस्य) दान देने योग्य और (वार्यस्य) वरण करने योग्य विभूति के भी (ईशिषे) प्रभु हैं, अतः (तव) तेरी (शर्मणि) शरण में रहकर मैं (तव) तेरे (स्तोता) सच्चे गुणों का वर्णन करने हारा (स्याम्) रहूं ।

(३) हे अग्ने ! (ते) तेरी (शुक्राः) कान्तिमान् (शुचयः) दीप्तियें (भ्राजन्तः) सब को प्रकाशित करती हुई स्वयं (ईरते) वेग

रही हैं और (अर्चयः) ये सब कान्तियां भी (तव) तेरी ही (ज्योतींषि) जगाई ज्योतियां हैं।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य प्रथमोर्धः समाप्तः ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

अथ पंचदशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ।

ऋषि.—१, १२ गोतमो राहूगण.। २, ६ विश्वामित्रः । ३ विरूप आंगिरस. । ४, ६ मेधातिथिर्मेधातिथेः । ५ त्रितः । ७ उशना काव्यः । ८ सुदीतिपुरुमीळ्हौ तयोरन्यतर । १० सोभरि काण्वः । ११ गोपवन आत्रेयः १३ भरद्वाजो बार्हस्पत्यो गोतमो वा । १४ प्रयोगो भार्गव अग्निर्वा पावको बार्हस्पत्यः, अथर्वाग्नी गृहपति र्वसिष्ठौ सप्तमौ तयोरन्यतर. ॥ अग्निर्देवता । छन्द —१–काकुभम् । ११ उष्णिक् । १२ अनुष्टुप् प्रथमस्य. गायत्री चरमयो. । १३ जगती ॥ स्वरः–१–३, ६. ९. १५ षड्ज. । ४, ७, ८, १० मध्यम. । ५ धैवतः । ११ ऋषभः । १२ गान्धारः प्रथमस्य, षड्जश्चरमयो. । १३ निषादः श्च ॥

[१५३५] कस्त जामिजनानामग्ने को दाश्वध्वर ।
को ह कस्मिन्काले श्रित. ॥१॥

[१५३६] त्वं जामिजनानामग्ने मित्रो असि प्रिय. ।
सखा सखिभ्य ईड्य. ॥२॥

[१५३७] यजा नो मित्रावरुणौ यजा देवां ऋतं बृहत् ।
अग्ने यक्षि स्व दमम् ॥३॥१॥ ऋ० १ । ७५ ।१२–३ ॥

भा०—(१) हे अग्ने ! (जनाना) मनुष्यों में से (तं) तेरा (कः) कौन (जामि.) बन्धु है ? अर्थात् कोई नहीं । तेरे लिये (कः) कौन (दाश्वध्वरः) दानशील, अहिंसा रहित यज्ञ करता है ? (क ह) हे हे अग्ने ! तुम कौन हो, (कास्मिन्) और तुम किस में (श्रित) आश्रय किये (असि) हो ? अर्थात् तुम्हारा सब कुछ अज्ञेय है ।

(२) (त्व) आप (जनाना) सब उत्पन्न होने हारे प्राणियों के (जामि.) उत्पादक और बन्धु हो और (प्रिय.) प्रिय (मित्र) स्नेही सुहृद् (असि) हो । (सखिभ्यः) समान आख्यान अर्थात् नाम वाले भक्त प्रेमी, जीवगण के लिये (सखा) उनके सुहृद् होकर भी उनके लिये (ईड्य) उपासना और स्तुति करने योग्य हो।

(३) हे (अग्ने) प्रभो ! तू (नः) हमारे (मित्रावरुणौ) जैसे मित्र जन और पापनिवारक गुरु उपदेष्टा तथा प्राण और अपान दोनों को (यज) बल और ज्ञान प्रदान कर । और हमारे (देवान्) इन्द्रियों और विद्वानों को (बृहत्) बड़ा भारी (ऋतं) सत्य ज्ञान (यज) प्रदान कर । और हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप (त्व) अपने (दम) दमन करने योग्य समस्त संसाररूप गृह को अथवा (दम=मदं) अपना परम आनन्द और (यसि) देता है ।

[१५३८] ईड्येन्यो नमस्यास्निरस्तमासि दाशतः ।
सनश्चित्रश्रवस्तमो वृषा ॥१॥

[१५३९] वृषा अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः ।
त ह्विष्मन्त ईडते ॥२॥

[१५४०] वृषणं त्वा वय वृषन् वृषणः समिधीमहि ।
अग्ने दीदयतं बृहत् ॥३॥२॥ ऋ० ३ । २७ । १३-१५ ॥

भा०—(१) जिस प्रकार लौकिक अग्नि अन्धकारों को दूर हटा कर स्वयं दिखलाई देता है और अन्धकार में राहगीर उसी की ओर झुके चले आते है एव अन्धेरे में भटकते लोग उसी को सराहते हैं उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाश और ज्ञान से युक्त (तमांसि) समस्त अज्ञानरूप अन्धकारों को (तिरः) दूर करने हारा परमात्मा और आचार्य (दर्शतः) अवश्य नित्य दर्शन करने योग्य, और सब मार्गों का दर्शाने वाला (ईड्येन्यः) स्तुति उपासना करने योग्य और (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य है । (अग्निः) वही ज्ञानस्वरूप (वृषा) सब सुखों का वर्षक, परमात्मा तथा आचार्य श्रेष्ठ होने के कारण (इध्यते) हृदय में ज्ञानरूप से प्रकाशित होता है ।

(२) (वृष.) सब सुखों के देने वाला, आत्मरूप (अग्नि.) अग्नि, (देववाहन.) इन्द्रियों को वहन करने हारा (अश्वो. न) अश्व अर्थात् भोक्ता स्वामी के समान जाना जाकर (समिध्यते) युद्धमें विजिगीषु के अश्व के समान योगाङ्गों द्वारा और भी तेजस्वी, तथा प्रज्वलित किया जाता है । (हविष्मन्त .) स्तुति उपासना करने हारे अथवा चरु आदि से युक्त याज्ञिक लोग भी (तं) उसकी ही (ईळते) स्तुति करते हैं ।

(३) हे (वृषन्) सब सुखों और ज्ञानों के वर्षक (त्वा) तुझ (वृषणं) सब से बलवान् (दीधत) चेतनारूप से और तेज स्वरूप सकल ब्रह्माण्ड को प्रकाशमान करने हारे (बृहत्) महान् आत्मा परमेश्वर को (वयं) हम (समिधीमहि) अपने हृदय में उत्तम रीति से प्रज्वलित करें ।

[१५४१] उक्षे बृहन्ता अश्वय. समिधानस्य रोचिषः ।
अग्ने शुक्रास ईरते ॥१॥

[१५४२] उप त्वा जुह्वाऽ३ मम घृताचीर्यन्तु हर्यत ।
अग्ने हव्या जुषस्व नः ॥ २ ॥

[१५४३] मन्द्रं होतारमृत्विजं चित्रभानुं विभावसुम् ।
अग्निमीडे स उ श्रवत् ॥३॥३॥ ऋ० ७ । ४४ । ४-६ ॥

भा०—हे अग्ने ! (समिधानस्य) उत्तम रीति से प्रज्वलित, प्रदीप्त (ते) तेरी (शुक्रास०) कान्तिमान् तेजोमय, (बृहन्तः) बड़ी २ (अर्चयः) सूर्य्य आदि ज्वालाएं (उद् ईरते) उठ रही हैं ऊर्ध्व आकाश में गति कर रही हैं ।

(२) हे (हर्यत) सब को अपने में ही आहरण कर लेने हारे सबके प्रलयकारक परमेश्वर ! (मम) मेरी (घृताची) घृत, अर्थात् कान्ति या तेज को धारण करने हारी (सुहव) दान प्रतिदान करने वाली चमसरूप इन्द्रियां (त्वा) तेरे प्रति ही (उप यन्तु) गति करें । हे (अग्ने) प्रकाशक (नः) हमारे (हव्या) स्तुतियों और प्रदान करने योग्य समस्त स्वरूप पदार्थों को आप ही (जुषस्व) स्वीकार करो ।

(३) मैं (मन्द्रं) आनन्दस्वरूप (होतारं) समस्त ब्रह्माण्ड यज्ञ के होता सम्पादक (ऋत्विजम्) ऋतुओं, प्राणों तथा सत्य ज्ञानियों द्वारा उपासना करने योग्य (चित्रभानुम्) नाना प्रकार के चित्र विचित्र कान्तिमान् सूर्यों से अलंकृत, (विभावसुम्) कान्तिरूप धन से सम्पन्न, विशेष दीप्ति से समस्त जीवों और लोकों का वास देने हारे उस परमेश्वर रूप (अग्निम्) ज्ञान प्रकाशक की (ईडे) स्तुति करता हूं । (स उ) वही सब स्तुतियों को (श्रवत्) श्रवण करता है ।

[१५४४] पाहि नो अग्न एकया पाह्यु३उ त द्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाह चतसृभिर्वसो ॥१॥
[१५४५] पाह विश्वस्माद्रक्षसो अराव्ण. प्र सम्म याजेषु नोऽव ।
त्वामिद्धि नेदिष्ठं दवतात्य आपिं नक्तामह पृत्रे ॥२॥४॥
ऋ० ८ । ६० । ६-१० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [३६] पृ० १५ ।

(२) हे (अग्ने) तेजस्विन् ! आप (विश्वस्मात्) सब प्रकार के (अरावणः) जीवन, धन, स्वत्व, अधिकार और सुख आदि न देने हारे कंजूस, पर-स्वत्वापहारी (रक्षसः) दुष्ट स्वभाव, राक्षस पुरुष से (पाहि) रक्षा कर । और (नः) हमारी (वाजेषु) संग्रामों में भी (प्र अव स्म) उत्तम रीति से रक्षा कर : (हि) क्योंकि (त्वाम् इत्) तुझको ही (देवतातये) विद्वानों की और अपनी (वृधे) वृद्धि के लिये (नेदिष्ठं) सबसे समीपतम (आगिम्) अपना बन्धु जानकर (नक्षामहे) तेरे शरण आते हैं, तुझे प्राप्त होते है ।

इति प्रथम खण्डः ।

—:0:—

३ १ २ ३१२ २२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५४६] क्नो राजन्नरतिः समिद्धो रौद्रो दक्षाय सुषुमाँ अदर्शि ।

३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

चिकिद्धिभाति भासा बृहन्ना सिक्तीमेति रुशतीमपाजन् ॥१॥

३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१५४७] कृष्णा यदेनीमभिवर्पसाभूज्जनयन्योषां बृहतः पितुर्जाम् ।

३ २ ३ १२ २१ ३ १ २ १२ २२ ३ १२ २२

ऊर्ध्वभानुं सूर्यस्य स्तभायन् दिवो वसुभिररतिर्विभाति २॥

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ क २२

[१५४८] भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति

१ २ ३ १२ २२ ३ २ ३ २ ३ ११ २ ३ १ २ ३ २ ३ १

पश्चात् । सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णाभिरा मस्थात् ॥ २ ॥ ५ ॥ ऋ० १० । ३ । १–३ ॥

भा०—(१) हे (राजन्) सुप्रकाशमान परमात्मन् ! आप (इन.) सब के स्वामी (अरतिः) सब के भीतर व्यापक हैं । आप ही (समिद्ध) खूब प्रकाशमान होकर (रौद्रः) दुष्टों को रुलाने हारे, पापों के भयंकर दण्डविधाता होकर भी (दक्षाय) जीव के लिये (सुषुमान्) उत्तम

१५४६—१. सुष्ठु सवते इति सुषुपुः सोमस्तद्वान् । ओषध्यात्मना स्थितोऽग्निरिति सायण. ।

आनन्द रस के उत्पादक और उत्तम जन्म देने हारे, सौम्य (अदर्शि) दिखाई देते हैं । वह आप परमेश्वर (चिकित्) सर्वज्ञ होकर (बृहता) बड़े भारी (भासा) ज्ञानमय प्रकाश और भौतिक तेजसे सर्वत्र प्रकाशमान् हो रहे हैं । वही आप (रुशतीम्) रुचिर कान्तिवाली उषारूप कान्ति को (अपअजन्) दूर कर पुनः (असिक्नी[3]) कृष्णवर्णा रात्रि को को (एति) प्राप्त कराते हैं । अर्थात् जिस प्रकार अग्नि की शिखा दिन को छोड़ कर रात्रि में प्रकाश काती है उसी प्रकार आप भी ज्ञानमय स्थानों के अतिरिक्त अज्ञानमय दशा में भी प्रकाश करते हैं और या (रुशतीं) कान्तिमय ससार की जाग्रत् अवस्था को दूर कर (असिक्नीम्) रात्रिरूप प्रलय दशा में बदल देते हैं । और इसी प्रकार रात्रि या प्रलय दशा को आप ही पुनः उषा अर्थात् सर्गदशा में बदलते हैं ।

(२) पूर्वोक्त मन्त्र में कहा वह अग्निस्वरूप परमेश्वर (अरति॰) सर्वथा एक (यद्) जब (कृष्णां) कृष्णवर्णा या सब को कर्षण करने हारी, प्रलय करने हारी (पुनीं[3]) गमनशीला कालगति को (वर्पसा) अपने रूप से (अभिभूत्) वश कर लेता है, व्याप लेता है और (बृहत॰) बड़े भारी (पितु) पालन करने हारे, पिता परमात्मा की (जा) प्रजननशील (योषा) कुटुम्ब बसानेहारी स्त्री के समान समस्त पञ्चभूतों का परिपाक करके नाना प्रकार से उनको मिलाने हारी, सर्गकारिणी शक्ति को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ, अथवा (योषा[4]) हिंसाकारक प्रलय

---

२. असिक्नी अशुद्धा असिता (नि० ६ । २६) । रात्रिनाम च (निघ०)

३ एनीरिति नदीनाम् । इण् गतौ (अदादि०) इत्यस्मात् औणादिको नि० (उ० ४ ४८) । नदीवचनोऽन्तोदात्तोऽन्यत्राद्युदात्त इति माधव । अत्र आद्युदात्त एवेति नात्र नदीग्रहणम् ।

४. योषा—यूप हिंसायाम् जुप च (स्वादि) । यौतेर्वा मिश्रणामिश्रणार्थस्य । अपि वा ह्रस्वान्ता योषा की, जुगुप्सार्थस्य यावधने (चुरा०) ।

कारिणी शक्ति को भी (पितुः जां जनयन्) पालक की उत्पादिका शक्ति में बदलता हुआ, (दिवः) इस द्यौलोक ब्रह्माण्ड के (वसुभिः) बास देने हारे लोकों के सहित (सूर्यस्य) सब के प्रेरक सूर्य के (भानु) दीप्तिमय पिंड को (ऊर्ध्वम्) ऊपर आकाश में (स्तभायन्) स्थापित करता हुआ (वि भाति) आप सब से अधिक प्रकाशमान होता है ।

(३) जिस प्रकार रात्रि और उषा के दृष्टान्त से प्रलय और सर्ग का वर्णन किया है उसी प्रकार इस मन्त्र से सूर्य और उषा के दृष्टान्त से पुनः सर्गशक्ति और परमात्मा के सम्बन्ध को दर्शाते हैं । (भद्रः) कल्याण और सुख का देनेहारा सब के भजन करने योग्य परमात्मा (भद्रया) समस्त ससार को मोक्ष और भोग द्वारा सुख के सम्पादन करनेहारी प्रकृति से (सचमानः) युक्त होकर (आगात्) प्रकट हुआ । जिस प्रकार (जारः) समस्त संसार को जरण करने हारा, ब्रह्मा की समस्त आयु को नाश करने हारा, रुद्ररूप वही परमात्मा (पश्चात्) पुनः (स्वसारं) स्वयं सरण करने हारी, स्वत सृष्टिरूप में विकार को प्राप्त होने हारी प्रकृति को (अभि एति) पूर्णरूप से व्याप लेता है, वह (अग्नि) प्रकाशमान, देदीप्यमान परमात्मा (सुप्रकेतैः) उत्तम विज्ञानमय (द्युभिः) नियमों से (वितिष्ठन्) नाना रूप से व्याप्त होकर (उशद्भिः) मनोहर (वर्णैः) रूपों से (रामं) रमण करने योग्य इस जगत् को (अभि अख्यात्) प्रकट करता है, चलाता है, व्यवस्थित करता है ।

[१५४९] कया ते अग्ने अङ्गिर ऊर्जो नपादुपस्तुतिम् ।
वराय देव मन्यवे ॥ १ ॥

[१५५०] दाशेम कस्य मनसा यज्ञस्य सहसो यहो ।
कदुवाच इदं नमः ॥ २ ॥

[१५५१] अधा त्वं हि नस्करा विश्वा अस्मभ्य सुक्षितीः ।
वाजद्रविणसो गिर ॥ ३ ॥ ६ ॥ अ० ८ । ८४ । ४-६ ॥

भा०—(१) हे (अंगिरः) सर्वव्यापक ! सर्वप्रकाशक, तेजस्विन् सब में बल, प्राण और रसरूप में विद्यमान ! (अग्ने) ज्ञान और प्रकाशमान् ! हे (ऊर्जोनपात्) बल के भण्डार ! हे देव ! (वराय) सबसे श्रेष्ठ एवं वरण करने योग्य (मन्यवे) ज्ञानस्वरूप एवं मन्युस्वरूप, सब के मनन करने योग्य (तं) तेरी (कया) किस वाणी से हम उपस्तुतिं दाशेम) स्तुति करें ।

(२) हे (सहस्य यहो) बल और सहनशीलता से प्राप्त करने और स्मरण करने योग्य परमात्मन् ! (कस्य) किस (यज्ञस्य) आत्मा को (मनसा) मन या अन्त करण से (दाशेम) आपके समर्पण करें । (इदं) यह (नम) नमस्कार (कत्) किस विध या किस २ समय (वोच) उच्चारण करें, अर्थात् मन से इस आत्मा को तो दे ही रक्खा है और क्या २ दें । और सदा ही तो आपका स्मरण करते हैं, और हम कब २ करें ।

(३) (अध) और हे परमात्मन् ! (हि) निश्चय से (नः) हमारे लिये (त्व) आपने (न) हमारी (सुक्षितीः) उत्तम २ निवासभूमियों और (वाजद्रविणस-) ज्ञान को बढ़ाने हारी, ज्ञानसम्पन्न (गिर) इन वेदमयी वाणियों का (अस्मभ्यं हि) हमारे ही लिये (कर-) बनाते, प्रकट करते, उपदेश करते हो ।

१५५८ १ अंगिराः—अंगारेष्वंगिराः (अंगारा अंकना अञ्चनाः) । (नि० ३ । ३ । ५) अंगाना क्षेप रम्., इति आंगिरसम् ।

२ यद्वुरिस्थपत्यनामसु पठित. । यद्वुर्गतिर्हिंसयतेश्चौरादिकात्कुप्रत्यये गुणाभावादिदमान्निपातनम् । यातश्चाद्भुतश्चेति माधवः ।

२ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
[१५५२] अग्ने आयाह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
५ ४ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मतीं यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥१॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१५५३] अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥२॥ ७ ॥

अ० ८। ५८। १, २ ॥

भा० —(१) हे अग्ने ! परमात्मन् ! और हे आत्मन् ! तू (अग्निभि.) प्रकाशक विद्वानों और प्राणों के साथ (आयाहि) प्राप्त हो। इस ब्रह्माण्ड और पिण्ड में अपनी शक्ति का दान-आदान करने हारे (त्वां) तुझ को हम (होतारं) अपना होतृस्वरूप शक्ति और सुखों का दाता (वृणीमहे) वरण करते हैं। (यजिष्ठं) सबसे श्रेष्ठ यज्ञ और दान करने हारे (त्वा) तुझ को ज्योतिष्मती प्रज्ञा से (बर्हिषि) इस हृदयकाश में (आसदे) प्राप्त करके (अनक्तु[1]) ज्ञान करें तुझे पहिचानें और अधिक प्रदीप्त हों या तुझ में व्याप्त हो जायं।

(२) हे (सहसः सूनो) बल, तपस्या द्वारा अभिसवन, निष्पादन अर्थात् उपासना और ज्ञान करने योग्य ! हे (अङ्गिरः) सबके प्रकाशक और स्वयंप्रकाश परमात्मन् ! अथवा अंगों २ में रसस्वरूप होकर विराजमान आत्मन् ! (त्वां) तुझको (अच्छ) प्राप्त करने के लिये (हि) ही (अध्वरे) यज्ञ में जिस प्रकार (स्रुचः) यज्ञ के चमसाकार पात्र अग्नि के प्रति जाते हैं उसी प्रकार (अध्वरे) हिंसा रहित जीवनयज्ञ सर्ग-प्रतिसर्ग स्वरूप ब्रह्माण्ड में (स्रुचः[2]) स्रवण अर्थात् गति करने हारे पञ्चभूत और देह

१५५२—१. अवनक्तु, अञ्जूव्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु [रुधादिः]

२. स्रुवः क., चिस्रुच । स्रुवः स्रु इत्येते स्रुधातो रूपे । स्रुगतौ स्वादि.।

में प्राण और इन्द्रियगण (चरन्ति) विचरण करते हैं (यज्ञेषु) सब दान परोपकार और यज्ञ आदि श्रेष्ठ कार्यों में या सब आत्माओं में (पूर्व्यम्) सबसे श्रेष्ठ, सबसे पूर्व विद्यमान एवं पूर्णस्वरूप (ऊर्जः नपात) रस या बल से आत्मा को पालन करने हारे (घृतकेशं) दीप्तिरूप किरणों से युक्त आप (अग्निम्) ज्ञानरूप परमेश्वर को (ईमहे) हम याचना करते और आपकी शरण आते हैं।

१ २ ३ १ ३ ३ १ २ ३ २
[१५५४] अच्छा नः शीरशोचिषं गिरो यन्तु दर्शतम् ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १-२
अच्छा यज्ञासो नमसा पुरुवसुं पुरुप्रशस्तमूतये ॥ १ ॥
३ २ ३ १ २ २ २ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५५५] अग्निं सूनुं सहसो जातवेदसं दानाय वार्याणाम् ।
३ २ ३ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २ ३ २
दिता यो भूदमृतो मर्त्येष्वा होता मन्द्रतमो निशि॥२॥८॥

ऋ० ७ । ७२ । १०, ११ ॥

भा०—(१) (नः) हमारी (गिरः) उच्चारण की हुई वेदवाणियां स्तुतियां (दर्शतम्) ज्ञानदृष्टि से दर्शनीय (शीरशोचिषं) अग्नि के समान देदीप्यमान कान्तियुक्त (पुरुवसुं) समस्त प्रजाओं और इन्द्रियों को वास देने हारे, उनमें बसे या बहुत ऐश्वर्यों के स्वामी (पुरुप्रशस्तं) सबसे श्रेष्ठ या प्रजाओं द्वारा कीर्त्तित उस उत्तमश्लोक परमात्मास्वरूप अग्नि को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (यन्तु) प्राप्त हों । (यज्ञासः) हमारे आत्मा भी (नमसा) आदर और श्रद्धा सहित उसको ही (अच्छ) भली प्रकार प्राप्त हों ।

(२) (सहसः सूनुं) बल द्वारा ज्ञान करने और प्राप्त करने योग्य और समस्त बलों के प्रेरक (जातवेदसम्) व्यापक, सर्वज्ञ सर्वैश्वर्यवान् उस (अग्निं) तेजोमय आत्मा को (वार्याणाम्) वरण करने योग्य पदार्थों के (दानाय) प्राप्त करने के लिये (अच्छ) प्राप्त होओ । (यः) जो (अमृतः)

अमृतस्वरूप होकर भी (द्विता) दो स्वरूपों में विद्यमान है । एक तो (मर्त्येषु) समस्त मरणधर्मा प्राणियों में (आ होता) भोक्तारूप जीव अथवा सब प्राणियों को सुखों और जीवनों का दाता और (विशि) समस्त प्रजाओं में (मन्द्रतम) परम आनन्तदाता ईश्वर है ।

इति द्वितीय. खण्ड. ।

---

१ २ ३ २ ३ २ ३ १२ २२

[१५५६] अद्राभ्यः पुर एता विशामग्निर्मानुषीणाम् ।

२ ३ २ ३ २ ३ १ २

तूर्णीरथ सदा नव. ॥१॥

३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५५७] अभि प्रयांसि वाहसा दाश्वां अश्नोति मर्त्यः ।

१ २ ३ १ २

क्षयं पावकशोचिषं' ॥२॥

३ १२ २३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५५८] साह्वान्विश्वा अभियुजः क्रतुर्देवानामस्कृधि ।

३ २ ३ १ २

अग्निस्तुविश्रवस्तमः ॥३॥६॥ ऋ० ३ । ११ । ५, ७, ६ ॥

भा०—(१) (मानुषीणां) मननशील (विशां) प्रजाओं का (तूर्णी) अति शीघ्रगामी (रथः) रथ के समान देहेन्द्रियसंघात या कर्मवासनाओं को साथ ही लेकर चलने हारा या रमणशील (सदा) निरन्तर (नव.) नूतन, अजर (अग्नि.) आत्मरूप यह अग्नि (अद्राभ्यः) देह के नाश हो जाने पर भी न मरने हारा, (पुरः एता) प्राप्य या पालन करने योग्य देहों में प्राप्त हो जाता है ।

(२) (दाश्वान्) दानशील अपने को उस आत्मा के प्रति समर्पित करने हारा साधक (मर्त्यः) मरणधर्मा पुरुष (वर्हिषा) शरीर को रथ के समान धारण करने हारे उस आत्मरूप अग्नि से ही (प्रयांसि) समस्त सुख और भोग्य पदार्थ (अग्नि अश्नोति) भोग करता है और अपने आप

को (पावकशोचिष) पावन करने हारे तेज के (क्रतुं) निवास स्थान परमेश्वर को भी प्राप्त करता है । अर्थात् आत्मा से ही आत्मज्ञान और मोक्ष का भी लाभ करता है ।

(३) वह अग्नि (सुविश्रवस्तम॰) बहुत अन्नादि भोग्य साधनों से सम्पन्न, (विश्वा॰) समस्त (अभियुज) आक्रमण करने हारों को (साह्वान्) वश करने हारा, (देवाना) विद्वानों का एकमात्र (क्रतुः) कार्यसम्पादक, साक्षात् कर्त्ता, अथवा (देवाना) इन्द्रियों के ज्ञान और कर्म का (क्रतु॰) कर्त्ता (असृक्त॰) अविनाशी और अजन्मा है ।

३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ २

[१५५९] भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा राति॰ सुभग भद्रो अध्वर ।

२ २ ३ १र २र

भद्रा उत प्रशस्तय ॥ १ ॥

३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१५६०] भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्ये येन समत्सु सासहि' ।

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ २ १ २ ३ १ २

अध स्थिरा तनुहि भूरि शर्धतां वनेमा ते अभिष्टये ॥२॥१०॥

ऋ० ८ । १९ । १९; २० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० सं० [१११] पृ० ५९ ।

(२) हे अग्ने परमात्मन् ! (वृत्रतूर्ये) विघ्नकारी अज्ञानों और शत्रुओं को नाश करने के कार्य में (येन) जिस संकल्पशक्ति से आप (समत्सु) संग्रामों में (सासहि.) विघ्नों का नाश करते हैं उस (मन.) हमारे मन को भी (भद्रं) कल्याणकारी (कृणुष्व) कर । (शर्धतां) प्रबल होने हारे शत्रुओं के (स्थिराणि) बलों को (अध तनुहि) नीचे दबा दे । हम (अभिष्टये) अभीष्ट प्राप्ति के लिये (ते) तेरी शरण को (वनेम) प्राप्त होते हैं ।

२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५६१] अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २

अस्मे देहि जातवेदो महि श्रव॰ ॥ १ ॥

[१५६२] स इधानो वसुः कविरग्निरीड्यो गिरा ।
रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ २ ॥
[१५६३] क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३ ॥ ११ ॥

ऋ० १ । ७६ । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो ऋचि० सं० [६६] पृ० ५३ ।

(२) (सः) वह (वसु.) सबको वास देने और सबमें बसने हारा (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (गिरा) वाणी द्वारा (ईड्येन्यः) सबके स्तुति करने योग्य है। हे (पुरु अनीक) पुरु=बहुत भारी, अनीक अर्थात् शक्ति से सम्पन्न या अनन्त सुख, आनन्द से परिपूर्ण परमात्मन् ! तू (अस्मभ्य) हमारे (रेवत्) प्राणवान् आत्मा के भीतर (दीदिहि) प्रकाशमान् हो ।

(३) (उत) और हे (राजन्) समस्त प्रजा का अनुरंजन करने हारे प्रकाश मान परमात्मन् ! (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप आप (त्मना) स्वयं आत्मा के बल से वीर तेजस्वी राजा के समान (रक्षस·) राक्षसी, दुष्टभावों और पुरुषों को (वस्तो.) दिन (उत) और (उषसः) रात्रि के समाप्तिकाल उषाओं अर्थात् नित्य. ज्ञानोदय कालों में (क्षप) दूर भगा दो। हे (तिग्मजम्भ) तीक्ष्णमुख ! अग्नि के समान तेज से अन्धकारों को नाश करने हार ! आप राक्षसी भावों या राक्षसों को (प्रति दह) भस्म करो, निर्मूल करो। जिससे वे निर्बीज होकर पुन. जन्म मरण के बंधन का कारण न हों।

इति तृतीयः खण्डः ।

[१५६४] विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभि. ॥ १ ॥

१र २र ३ १ २ ३१र ३ १ २
[१५६५] यज्ञनासो हविष्मन्तो मित्रं न सर्पिरासुतिम् ।
२ ३ २ ३ १ २
प्रशंसन्ति प्रशस्तिभिः ॥ २ ॥

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५६६] पन्यांसज्जातवेदस यो देवतात्युद्यता ।
३ १र २र ३ २
हव्यान्यैरयद्दिवि ॥ ३ ॥ १२ ॥ ऋ० ८ । ७४ । १-३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [८७] पृ० ४६ ।

(२) (हविष्मन्तः) ज्ञानवान् (जनासः) पुरुष (यं) जिस (सर्पि॰-आसुतिं) सर्पणशील इन्द्रिय और मन को प्रेरणा करने हारे, अथवा तेज को देने हारे. अथवा घृत की आहुति के समान सर्पणशील प्राणरूप इन्द्रिय और मन को अपने भीतर आहुत अर्थात् लीन करने हारे आत्मि को (मित्रं न) मित्र के समान (प्रशस्तिभिः) उत्तम स्तुतियों द्वारा (प्र शंसन्ति) वर्णन करते हैं ।

(३) (पन्यासं) अति स्तुति करने योग्य, या व्यवहार में अति कुशल समस्त जगत्-व्यवहार को चलाने हारे (जातवेदस) सर्वज्ञ, सर्वैश्वर्यवान्, सब पदार्थों के ज्ञाता उस प्रभु की स्तुति करो (यं) जो (देवतातिं) देवों के हितकारी यज्ञस्थान में (उद्यता) उद्यत, प्रस्तुत (हव्यानि) हव्य आदि उत्तम अन्नमय पदार्थों को जिस प्रकार अग्नि अपने तेज से आकाश मे फैला देता है उसी प्रकार जो प्रभु समस्त पदार्थों को (दिवि) सूर्य के प्रकाश और ज्ञान के आश्रय पर (ऐरयत्) प्रेरित करता है । अथवा (यं) जो (देवतातिं) इस महान् देवगण पृथिवी, जल आदि के हितकर (दिवि) आकाश में (उद्यता हव्यानि) ऊर्ध्व दिशा में नियम से बद्ध सूर्यादि लोकों को (ऐरयत्) प्रेरित करता है ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१५६७] समिद्धमग्निं समिधा गिरागृणे शुचिं पावकं पुरो अध्वरे
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
ध्रुवम् । विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहम् कविं सुम्नैरीमहे
३ १ २
जातवेदसम् ॥ १ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ १ २ २
[१५६८] त्वां दूतमग्ने अमृतं युगे युगे हव्यावाहं दधिरे पायुमीड्यम्
३ १ १ ३ १ २ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
देवासश्च मर्तासश्च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा निषेदिरे २
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६९] विभूषन्नग्न उभयाँ अनुव्रता दूतो देवानां रजसी समीयसे ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १
यच्छ योनिं सुमतिमावृणीमहेऽध स्मा नस्त्रिवरूथः शिवो
२
भव ॥ २ ॥ १३ ॥ अ० ६ । १५ । ७–९ ॥

भा०—(१) (समिद्ध) उत्तम रीति से सर्वत्र प्रकाशमय, (शुचिं) शुद्ध कान्तिमय, (पावकं) सब को पवित्र करने हारे (अध्वरे) हिंसारहित, अविनाशी, जीवनप्रद, संसार रूप यज्ञ में (पुरः) सब से पूर्व (ध्रुवम्) [illegible] (अग्निं) तेज स्वरूप परमेश्वर को (समिधा) ज्ञानमयी (गिरा) वाणी से (गृणे) वर्णन करता हूं । उसी (विप्रं) ज्ञानवान् मेधावी (होतारं) सर्वप्रद, (पुरुवारं) प्रजाओं के रक्षक, (अद्रुहं) सब से प्रेम करने हारे एवं द्वेषरहित, सब के प्रिय (कविं) अन्तर्यामी, क्रान्तदर्शी (जातवेदसं) सर्वज्ञ उस परमात्मा की (सुम्नैः) उत्तम मनन निदिध्यासनों द्वारा या सुखकारी स्तोत्रों द्वारा (ईमहे) प्रार्थना उपासना करें ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! (अमृतं) अमृतस्वरूप, (हव्यवाहं) सब स्तुतियों को स्वीकार करने हारे, (पायुं) जगत के पालक, (ईड्यम्) सब के वन्दनीय, (त्वा) तुमको (युगे-युगे) प्रत्येक युग में विद्वान्

लोगों ने अपना (दूत[1]) सदा उपास्य, भजन सेवन करने योग्य एवं ज्ञानों का प्रकाशक (दधिरे) स्वीकार किया, धारण किया। और (देवास.) दिव्य ज्ञानवान् और (मर्त्यास•) मरणधर्मा कर्मबद्ध सामान्य जीव दोनों तुझको ही (जागृविं) सदा जागरणशील (विभुं) सर्वव्यापक और विशेष रूप से सब का उत्पादक (विश्पतिं) समस्त प्रजाओं का पालन करने हारा जानकर (नमसा) भक्ति योग से विनय पूर्वक (नि षेदिरे) तेरे ही चरणों में आ बैठते हैं और तेरे गुरु चरणों में बैठ• कर उपनिषदों द्वारा ज्ञान लाभ करते और उपासना करते हैं।

(३) हे (अग्ने) प्रभो ! (उभयान्) बद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के जीवों को (विभूषन्) अपनी विभूतियों से सुशोभित करता हुआ तू (अनु व्रता) समस्त यज्ञों में (देवाना) देवगण, दिव्य पदार्थों, एवं मुक्त जीवों को (दूत•) साक्षात् प्राप्त और उन के प्रति नाना ज्ञानप्रकाशक होकर (रजसी) समस्त द्यौ और पृथिवी लोकों में (समीयसे) व्यापक रहता है। (यत्) क्योंकि हम (ते) तेरी ही (सुमतिं) उत्तम स्तुति और (धीतिं) ध्यान (आवृणीमहे) करते हैं (अध) और तू (त्रिवरूथः) उत्पादक, पालक और संहारक तीन रूप का हो कर (शिवः) हमारा कल्याणकारी (भव स्म) हो।

[१५७०] उप त्वा जामयो गिरो देदिशतिर्हविष्कृत.।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥ १ ॥
[१५७१] यस्य त्रिधात्ववृतन्बर्हिस्तस्थावसान्देनम्।
आपश्चिन्नदधा पदम् ॥ २ ॥
[१५७२] पद देवस्य मीढुषो नाधृष्टाभिरूतिभि ।
भद्रा सूर्य इवोपदृक् ॥३॥१४॥ ऋ० ६ । ६१ । १३, १५ ॥

१. दु द्र गतौ (भ्वादिः)।

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३] पृ० ६ ।

(२) (यस्य) जिस आत्मा का (त्रिधातु) वात, पित्त, कफ तीन धारणसमर्थ धातुओं का बना (अवृत) अनावृत, नाशयुक्त अथवा मांसादि घृणाजनक पदार्थों का बना होने से न वरण करने योग्य (असान्दिनम्) अबद्ध अर्थात् आत्मा से सर्वथा पृथक् और कभी स्थिर स्थिति न प्राप्त करने हारा, (बर्हि.) वृद्धिशील और बन्धन होने से ज्ञानरूप शस्त्र से काटने योग्य देहबन्धन 'तस्थौ' स्थिर है उस अग्निरूप आत्मा में (आप:) समस्त कर्म और प्राणगण (पद) स्थान (निदधा) प्राप्त करते हैं अथवा सब (आप) प्राण और ज्ञानवृत्तियां (पदं) अपना आश्रय (निदधा) धारण कराती हैं ।

परमात्मा पक्ष में–(त्रिधातु) सत्व, रजस्, तमस् से बना (अवृतं) प्रत्यक्ष रूप (बर्हि·) महान् ब्रह्माण्ड रूप देह (असन्दिनं) गतिमान् (तस्थौ) स्थिर है । जिसमें (आप·) समस्त लोक (पदं निदधा) स्थान पाते हैं ।

(३) (मीढुषः) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने हारे (देवस्य) प्रकाशमान देव का (पद) परम पद, परम रूप (अनाधृष्टाभिः) अद्वितीय, अबाधित, (ऊतिभि.) सुखों से युक्त है । और उसका (उपदृक्) साक्षात् दर्शन (सूर्यः इव) सूर्य के समान सदा (भद्रा) कल्याणकारी है ।

इति चतुर्थः खण्ड. ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य द्वितीयोऽर्धः ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

अथ सप्तम प्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः ।

ऋषि॰—१, ८, १८ मेध्यातिथि॰ काण्व॰ । २ विश्वामित्रः । ३, ४ भर्गः प्रागाथः । ५ सोमरिः काण्वः । ६, १५ शुनःशेप आजीगर्तिः । ७ सुमक्ष । ८ विश्वकर्मा भौवन॰ । १० मनानतः । पारुच्छेपिः । ११ भरद्वाजो बार्हस्पत्य १२ गोतमो राहूगण । १३ ऋजिश्वा । १४ वामदेवः । १६, १७ हर्यतः प्रागाथ॰ देवातिथि॰ काण्व॰ । १९ पुष्टिगुः काण्वः । २० पर्वतनारदौ । २१ अत्रि॰ ॥ देवता—१, ३, ४, ७, ८, १५—१९ इन्द्र । २ इन्द्राग्नी । ५ अग्नि॰ । ६ वरुण॰ । ९ त्रिष्वकर्मा । १०, २०, २१ पवमानः सोमः । ११ पूषा । १२ मरुत॰ । १३ विश्वेदेवा॰ १४ द्यावापृथिव्यौ ॥ छन्द॰—१, ३, ४, ८, १७-१९ प्रागाथम् । २, ६, ७, ११,-१६ गायत्री । ५ बृहती । ९ त्रिष्टुप् । १० अत्यष्टि॰ । २० उष्णिक् । २१ । जगती ॥ स्वरः—१, ३, ४, ५, ८, १७-१९ मध्यम॰ । २, ६, ७, ११—१६ षड्जः । ९ धैवतः . १० । गान्धारः । २० ऋषभ॰ । २१ निषादः ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५७३] अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायव ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

समीचीनास ऋभव समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥१॥

३ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २

[१५७४] अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्णं शवो मदे सुतस्य विष्णवि ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनुष्टुवन्ति पूर्वथा ॥२॥१॥

पं॰ ८ । ३ । ७, ८ ॥

भा॰—(२) व्याख्या देखो अधिकल स॰ [२५६] पृ॰ ।

(२) (इन्दः) इन्द (अस्य इत) इस ही (सुतस्य) उत्पादित सोमरूप आत्मानन्द के (विष्णवि) व्यापक (मदे) आनन्द, हर्ष में (वृष्ण्य) सुखों के वर्षक (शवः) बल को (दधृषे) बढ़ा लेता है । (आयव.) मनुष्य आयु में बद्ध जीवगण और ज्ञानवान् पुरुष (पूर्वथा) पूर्व के समान (अद्य) आज भी (अस्य) इस आत्मा के (तं) उस (महिमान) महान् सामर्थ्य को (अनुष्टुवन्ति) वर्णन करते हैं ।

[१५७५] प्र वामर्चन्त्युक्थिनो नीथाविदो जरितार. ।
इन्द्राग्नी इष आवृणे ॥ १ ॥

[१५७६] इन्द्राग्नी नवातिम्पुरो दासपत्नीरधूनुतम् ।
साकमेकेन कर्मणा ॥२॥

[१५७७] इन्द्राग्नी अपसस्पर्युप प्रयन्ति धीतय. ।
ऋतस्य पथ्या३अनु ॥३॥

[१५७८] इन्द्राग्नी तन्वि पाणि वां सधस्थानि प्रयांसि च ।
युवारप्तूर्यं हितम् ॥४॥२॥ ऋ० ३ । १२ । ५-८ ॥

भा०—(१) हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! परमेश्वर और अग्निरूप जीव ! (वाम्) आप दोनों को (नीथाविदः) सामगान या ब्रह्ममार्ग के जानने हारे (जरितारः) स्तुतिकर्त्ता विद्वान् पुरुष और (उक्थिनः) वेदज्ञानी विद्वान् (प्र अर्चन्ति) उत्तम रूप से उपासना करते हैं । मैं भी (इषे) बल प्राप्त करने के लिये उन दोनों (इन्द्राग्नी) आत्मा और परमात्मा को (आवृणे) वरण करता हूं उपासना करता हूं ।

(२) हे (इन्द्राग्नी) ब्रह्म और जीव ! जो दोनों आप (दासपत्नीः) विना शक भावों से परिपालित (नवतिम्) नव्वे (पुरः) कामनाओं को (एकेन कर्मणा) एक कर्म अर्थात् योग से ही (साकं) एक साथ (अधूनुतम्) कंपा

देते हो उन आप दोनों को हम स्मरण करते हैं। इन्द्रिय भेद से १०, सत्व रजस् तमस् भेद से ३० प्रकार हुए, अन्नमय, प्राणमय और मनोमय भेद से तीनों कोशों में ९० पुर होते हैं। एकादश इन्द्रिया मान कर ९९ पुर भी कहे जाते हैं।

(३) हे (इन्द्राग्नी) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्ने ! (धीतयः) ध्यान करने हारे विद्वान्जन (ऋतस्य) ब्रह्मज्ञान के (पथा) मार्गों को (अनु) अनुगमन करते हुए (अपसः) कर्मों को (परि उप प्रयान्ति) पार कर के आपके समीप तक पहुंच जाते हैं।

(३) हे (इन्द्राग्नी) जीव और ब्रह्म (वा) आपके (तविषाणि) बल और (प्रयांसि) ज्ञान (सधस्थानि) साथ ही रहते हैं और (युवा) आप दोनों में (अप्नूर्यं) कर्मों और लोकों प्राणों तथा प्राणमय सूक्ष्म और स्थूल शरीरों को प्रेरित करने वाला बल भी समानभाव से (हितम्) स्थापित है।

३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २

[१५७९] शग्ध्यूऽ३षू शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभि.।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

भगं नहि त्वा यशस वसुविदमनु शूर चरामसि ॥१॥

३ १२ २२ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १ २

[१५८०] पारो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः।

२ ३ १२ २२ ३ १ २ २ २ ३ १२ २२

नकिर्हि दानं परि मर्ध्दिषत्ते यद्यद्यामि तदाभर ॥२॥ ३ ॥

ऋ० ८। ६१। ६, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२५३] पृ० १२६।

(२) हे देव ! परमात्मन् ! आप (अश्वस्य पारः) भोक्ता जीव के पूर्ण एवं पालन करने हारे और (गवा) इन्द्रियों के भी (पुरुकृत्) पूर्ण करने हारे हैं। अर्थात् आपने भोक्ता जीव को भोग साधन देकर पूर्ण किया है और इन्द्रियों को रूपआदि भोग्य विषय देकर पूर्ण किया है और (हिरण्ययः)

मन हरण करने हारे सुवर्ण के समान तेजों से बने हितकारी और रमणीक (उत्स') कूप के समान सब आनन्दरसों के आश्रय अथवा तेजोमय पदार्थों का उत्पादन करने हारे उनके कारणरूप हैं । आपके लिये आत्मा और इन्द्रियों के भोग्य सुखजनक पदार्थ उत्पन्न करना क्या बड़ी बात है । हे परमात्मन् ! (ते) आपके दिये (दानं) दान को (नकिः परिमर्धिषत्) कोई भी नाश नहीं कर सकता । आपसे मैं (यद् यद्) जो २ (यामि) याचना करता हूं वह २ (आभर) प्राप्त कराइये ।

२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५८१] त्वं ह्येहि चेरवे विदा भगं वसुत्तये ।
१ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
उद्वावृषस्व मघवन् गविष्टये उादन्द्रा।श्वमिष्टये ॥१॥
२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१५८२] त्वम्पुरू सहस्राणि शतानि च यूथा दानाय मंहसे ।
१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
आ पुरन्दरं चकृम विप्रवचस इन्द्राङ्गायन्तोऽवसे ॥२॥४॥

ऋ० ८ । ६१ । ७ । ८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [२४०] पृ० १२२ ।

(२) हे इन्द्र (त्वं) आप (पुरू) बहुतसे (सहस्राणि) हजारों और (शतानि च) सैंकड़ों (यूथा) यूथ (दानाय) दानशील पुरुष को (मंहसे) देते हैं । हम (विप्रवचसः) मेधावी ज्ञानी, पुरुषों के समान वचन बोलने हारे और विविध विद्याओं का प्रवचन करने हारे विद्वान् होकर । अवसे) ज्ञान और रक्षा की प्राप्ति के लिये (गायन्तः) स्तुति करते हुए (इन्दं) आत्मा और परमात्मा को ही (पुरन्दरं) इस देहरूप पुर को तोड़ने हारा (आचकृम) स्वीकार करते हैं । अथवा–हे आत्मन् ! तू सैकड़ों हज़ारों (पुरू) पालन एवं तृप्त करने हारे पदार्थ केवल (दानाय) दान या त्याग करने के लिये ही हमें प्रदान करता है अतः उनको वैराग्य द्वारा त्याग कर विद्वान् ज्ञानी होकर इस देह का अन्त कर, मुक्ति देने हारे इन्द्र,

ईश्वर की स्तुति करते हुए, हम (अवसे) अपनी रक्षा और ज्ञान के लिये (चकृम) साधना करें ।

२ङ ३ १ २ ३ २ ३ ३२ ३ १र २र

[१५८३] यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।

२ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

मधोर्न पात्रा प्रथमा न्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१॥

२ ३ २ ३ २ ३ङ २र ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५८४] अश्वं न गीर्भी रथ्यं सुदानवो मर्मृज्यन्ते देवयवः ।

३ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २ ३ १ २

उभे तोके तनये दस्म विश्पते पर्षि राधो मघोनाम् ॥२॥५

ऋ० २०३ । ६, ७ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [४४] पृ० १६ ।

(२) हे (दस्म) दर्शनीय, कमनीयरूप ! हे (विश्पते) समस्त प्रजा के पालक ! (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमात्मन् ! (देवयव) देव परमात्मा की चाह करने वाले (सुदानव) अपने को उत्तम रूप से समर्पण करने हारे, भक्त (गीर्भि.) अपनी वाणियों और आपकी स्तुतियों से भी (रथ्यं) इस देहरूप रथ के योग्य (अश्वं न) अश्व के समान भोक्ता आत्मा को ही (मर्मृज्यन्ते) शोधन किया करते हैं । उसको बराबर तपस्याओं से शुद्ध पवित्र किया करते हैं आप ही (मघोनाम्) मघ=मख=ज्ञान के धनी पुरुषों के (तोके) पुत्र और (तनये) पौत्र (उभे) दोनों में (राध) आराधनीय विवेक का (पर्षि) दान करते हैं ।

नास्य अब्रह्मवित् कुले भवति (बृहदारण्यकोपनिषद्)

इति प्रथम खण्डः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१५८५] इमम्मे वरुण श्रुधि हवमद्या च मृळय ।

१ २ १र २द

त्वामवस्युराचके ॥१॥६॥ ऋ० १ । २५ । १६॥

भा०—(१) हे (वरुण) सबसे श्रेष्ठ, वरण करने योग्य एवं सब पापों के निवारक परमेश्वर ! (मे) मेरे (इमे) इस (हवम्) पुकार को (श्रुधि) श्रवण कर । (अद्य च) और वर्तमान में हमें (मृडय) सुखी कर । मैं (अवस्यु.) अपनी रक्षा तथा आपकी शरण और ज्ञान चाहता हुआ (त्वा) आपसे (आचके) प्रार्थना करता हूं ।

२ ३ १ २ ३ १र २र
[१५८६] कया त्वं न ऊत्याभिप्रमन्दसे वृषन् ।
१ २ ३ र २ ३ १ २
कया स्तोतृभ्य आभर ॥१॥७॥ ऋ० ८ । ९३ । १९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र ! हे (वृषन्) सुखों के बरसाने हारे श्रेष्ठ परमात्मन् ! (कया ऊत्या) किस अद्भुत रक्षा और ज्ञान से (त्व) आप (नः) हमें (प्रमन्दसे) खूब आनन्दित, सुखी, प्रसन्न करते हैं और (कया) किस उत्तमता से (स्तोतृभ्य.) विद्वान् पुरुषों को (आभर) सब पदार्थ प्राप्त कराते हैं ?

१ ३ २ १ २ ३ १ २ ३र १र ३ १
[१५८७] इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे ।
१ २३ ३ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रं सभीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥१॥
१ २ ३ १र २र ३ २ ३ र ३ १ १
[१५८८] इन्द्रो महद्या रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।
१ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ २ ३ १ र २ ,
इन्द्रह विश्वा भुवनानि येमिरे इन्द्रे स्वानास इन्दव २।८
ऋ० ८ । ४ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [२४६] पृ० १२७ ।
(२) (इन्द्र) परमेश्वर (शवः) अपने बलकी (महद्या) महिमा से (रोदसी) आकाश और पृथिवी दोनों लोकों को (पप्रथत्) विस्तृत करता है, बनाता है । (इन्द्र.) ऐश्वर्यशील परमात्मा (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) प्रकाशित करता है । (इन्द्र.) परमेश्वर (विश्वा) समस्त (भुवनानि) भुवनों को (येमिरे) व्यवस्थित करता है । (इन्द्रे)

परमेश्वर ही (इन्दव.) योगी लोग मुक्त पुरुष (स्वानासः) आनन्द रस का लाभ करते हैं और उसी में निमग्न होजाते हैं ।

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १
[१५८६] विश्वकर्मन् हविषा वावृधान[1] स्वयं यजस्व तन्वं३ऽ३स्वा
२ १ २ ३ ४ ५ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
हिते । मुह्यन्त्वन्ये अभि नो जनास इहास्माकं मघवा
३ १ २
सूरिरस्तु । ॥१॥६॥ ऋ० १० ८२ । ६ ॥

भा०—(१) हे (विश्वकर्मन्) समस्त संसार के स्रष्टा परमेश्वर ! (हविषा) ज्ञान से और सामर्थ्य से (वावृधानः) सबसे सदा महान् (स्वाहिते) उत्तम रीति से आधान किये गये इस विश्व ब्रह्माण्ड में (तन्वा) विस्तार शील, धौ और पृथिवीरूप शरीर में (स्वयं) अपने आप तू (यजस्व) एक को दूसरे का उपकारक बनाता है ! (अन्ये) और तेरे से भिन्न अल्पज्ञ (जनासः) जन जीवगण (अभित) इसको साक्षात् देखकर भी (मुह्यन्तु) मोह को प्राप्त होते हैं। (इह) इस विशाल ब्रह्माण्ड यज्ञ के वितरण करने में (मघवा) ज्ञानसम्पादक परम ज्ञानी परमेश्वर ही (अस्माक) हमारा (सूरि) ज्ञानोपदेष्टा (अस्तु) हो ।

"तत्रेतिहासमाचक्षते-विश्वकर्मा भौवन: सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार । तद्वा एतामृचमनूदाजहार । तदेवाभिगायति ।" (निरु०) । विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेध यज्ञ में समस्त भूतों को हवन कर दिया और अन्त में अपने आपको भी स्वाहा कर दिया । यह आध्यात्मिक यज्ञ का भी वर्णन है । और विराट्रूप में यही यज्ञ महाभूतमय विराट शरीर में भी हो रहा है । परमात्मा समस्त-पृथिवी आदि सारे भूतों को सिरजा करके संसार रचता है और आप भी उसका व्यापक स्वरूप होकर, उसी में लीन रहता है । सायणाद्या नेदमनुरुध्यन्ते ।

---

[1] १५८८—'वृधा पृथिव्यामुत द्यौः' इति ऋ० ।

(छान्दोग्य उप०) इसी प्रकार आत्मा देह में पचभूतों के पांचों शब्दादि विषयों को ग्रहण करता और उनसे ज्ञान सम्पादन करता, पुन. स्वप्न और समाधि दशा में अपने में भी मग्न रहता है ।

अध्यात्मपक्ष में—हे विश्वकर्मन् ! सर्व कर्मों के कर्त्ता जीवात्मन् ! (हविषा) ज्ञान से (वावृधान·) बढ़ता हुआ (स्वाहिते) अपने ही कर्मों से प्राप्त इस (तन्वा) देह में तू (स्वय यजस्व) अपने आप प्राणों द्वारा यज्ञ कर रहा है । और (अन्ये जना मुह्यन्ति) दूसरे, मूर्ख, अनात्मज्ञ लोग मोह को प्राप्त हो जाते हैं और (मघवा) परमात्मा या आत्मज्ञानी आचार्य ही इस आभ्यन्तर योगयज्ञ के सम्पादन में (अस्माकं सूरिः अस्तु) हमारा ज्ञानोपदेष्टा हो ।

१–तनू =अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिश· श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः
वायु. प्राणो हृदय विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

परमात्मा का स्वयं यज्ञ का रूप—तस्मादग्नि· समिधो यस्य सूर्यः सोमात् पर्जन्या ओषधय. पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वी: प्रजा. पुरुषात् सम्प्रसूता· ॥ मुण्डक २ । १ । ५ ॥

गीता के यज्ञचक्र और छान्दोग्य उप० में पञ्चाहुतिप्रकरण भी देखने योग्य हैं ।

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १
[१५६०] अया रुचा हरिण्या पुनानो विश्वा द्वेषांसि तरति सयु·
२ ३ २ १ २ ३ १ २ १ २ ३ १ २ ३ १
ग्वभि· सूरो न सयुग्वभिः । धारा पृष्ठस्य रोचने पुनानो
२ ३ १ २ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
अरुषो हरिः विश्वा यद्रूपा परियास्यृक्वभि. ससास्येभि
१ २
ऋक्वभिः ॥ १ ॥

[१५६१] प्राचीमनु प्रदिशं याति चेकितत्स रश्मिभिर्यतते दर्शतो
रथो दैव्यो दर्शतो रथः । अग्मन्नुक्थानि पौंस्येन्द्र
जैत्राय हर्षयन् वज्रश्च यद्धवथो अनपच्युता समत्स्वन-
पच्युता ॥ २ ॥

[१५६२] त्वं ह त्यत्पणीना विदो वसु सम्मातृभिर्मर्जयासि स्व
आ दम ऋतस्य धीतिभिर्हमे । परावतो न साम तवघ्रा-
रणन्ति धीतय स्त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो
वयो दधे ॥ ३ ॥ १० ॥ ऋ० ९ । १११ । १, ३, २ ॥

भा०—(१) (पृष्ठस्य) सबके साथ स्पर्श करने हारे, सबके पोषक प्राण की (धारा) धारण शक्ति, या वाणी द्वारा वह सोमस्वरूप, आनन्दस्वरूप योगी आत्मा (पुनानः) और भी पवित्र, शुद्धरूप होकर (यत्) जब (विश्वा) समस्त (रूपा) पदार्थों को (सस्मिन्नै) सर्पणशील आत्म अर्थात् इन्द्रियों में विराजमान (ऋक्वभिः) गतिशील, प्राप्यग्राही, (ऋक्वभिः) उत्तम, प्राणरूप इन्द्रियों से (परियासि) प्राप्त करता है तब (सयुग्वभिः) अपने सहयोगी किरणों द्वारा (सूर न) जिस प्रकार प्रेरक सूर्य या राजा (द्वेषांसि तरति) अपने शत्रुओं को पार कर लेता या पराजित कर देता है उसी प्रकार (अरुषः) कान्तिमान् तेजस्वी (हरिः) हरणशील या ईश्वर के प्रति गमन करने हारा योगी (अया) इस तरह (हरिण्या) दुःखों को मिटाने और ज्ञान को प्राप्त करने वाली (रुचा) विशेष दीप्ति से (पुनान) प्रकाशमान होकर (सयुग्वभि) अपने योगबल द्वारा वशीकृत प्राणों या इन्द्रियों और मन के द्वारा (विश्वा) समस्त (द्वेषांसि) द्वेष करने हारे प्राणियों और योग के शत्रुरूप अन्तर्विघ्न काम, क्रोध आदि रिपुओं को (तरति) पार कर जाता है, उन पर वश कर लेता है ।

(२) (यद्) जब जीव और परमात्मा (समत्सु) एकत्र आनन्द प्राप्त करके समाधि के अवसरों पर (अनपच्युता) अविचलित राजा और मन्त्री के समान (अनपच्युता) काम क्रोधादि शत्रुओं से कभी विचलित नहीं होते हैं तब (चेकितत्) ज्ञानवान् योगी (प्राचीं) प्रकृष्ट, उत्तमरूप से उपासना करने योग्य, सुप्राप्य, (प्रदिशं) उत्तमरूप से जानने योग्य दिशा-मार्ग के प्रकाश को (याति) प्राप्त कर लेता है और (दर्शतः) दर्शनीय (रथः) सूर्य्य के समान योगी का वह (दर्शतः) दर्शनीय (रथ·) रमण करने हारा आत्मा (रश्मिभिः) ईश्वरप्रदत्त ज्ञानरश्मियों से और भी (यतते) आगे की ओर मुक्तिमार्ग पर बढ़ता है । तब ही (जैत्राय) अपनी इस मुक्ति मार्ग की विजय के लिये (इन्द्रं) आत्मा को (हर्षयन्) धन्यवाद और साधुवाद देता हुआ, उसे और अधिक हर्षित और प्रबल करता हुआ (पौंस्य) बलशाली या बलप्रद (उक्थानि) स्तुतियों का (अग्रभन्) उच्चारण करता है और सब विघ्नों के नाशक (वज्रं च) अपवर्ग रूप वज्र को भी प्राप्त करता है ।

(३) हे सोम ! योगिन् ! (त्व) तू (पणीनां) व्यवहार में गति करने हारे या स्तुति करने हारे विद्वानों के (स्यत्) उस (वसु) जीवन या वास कराने हारे आत्मधन को (विदः) जानता है और उसको (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (धीतिभिः) धारण करने हारी (मातृभि·) प्रमा अर्थात् यथार्थ अनुभव के साधक ऋतंभरा प्रज्ञाओं द्वारा (दमे) इन्द्रियों और मन को दमन करने वाले (स्वे) अपने (दमे) आश्रयरूप आत्मा में (संमर्जयसि) खोजता या परिशोध लगाता है, और भी परिष्कृत करता है । (तत्) वह परम आश्रयरूप आत्मा (परावतः) दूर देश से सुनाई देने हारे (साम न) गान के समान मनोहर है । (यत्र) जिसमें (धीतयः) ध्यान करने हारे योगी आश्रय लेकर (रण्वन्ति) रमण करते हैं । वह आत्मज्ञानी योगी (त्रिधातुभि·) तीन प्रकार की धारणा करने वाली इन्द्रियों से सम्पन्न (अरुषीभि·) कान्तियों या दीप्तियों या किरणों से ही (वयः) जीवन और

प्राण को (दधे) धारण करता है और फिर (रोचमान•) सूर्य्य के समान प्रकाशमान होकर (वय दधे) चिरस्थायी जीवन और बल को धारण कर लेता है ।

त्रिधातु=मन, वाक्, काय । अथवा शरीर के धारक धातु, वायु, अग्नि और जल के सारभूत, वात, पित्त और कफ ।

इति द्वितीय खण्डः ।

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २

[१५६३] उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत ।

३ १ २ ३ १ २

नृवत्कृणुह्यूतये ॥ ११ ॥ ऋ० ६ । ५३ । १० ॥

भा०—(१) हे परमात्मन्[1] आप (न) हमें (गोषणिं) ज्ञानेन्द्रियों के प्रेरक, (अश्वसां) प्राणेन्द्रियों के प्रेरक (वाजसा) ज्ञान और ऐश्वर्य के देने हारी (उत) और (नृवत्) नेतास्वरूप आत्मा को अपनाने हारे (धियम्) धारणावती बुद्धि और क्रिया शक्ति को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणुहि) प्रदान करो ।

३ १ २ ३ १ २

[१५६४] शशमानस्य वा नरः स्वेदस्य सत्यशवसः ।

३ १र २र ३ १ २

विदा कामस्य वेनतः ॥ १२ ॥ ऋ० १ । ८६ । ८ ॥

भा०—(१) हे (सत्यशवसः) विद्यमान रह कर सबके प्रेरक सत्य-बल से सम्पन्न (नरः) शरीर और इन्द्रियों को वहन करने हारे नेतास्वरूप विद्वानो ! और प्राणो ! (शशमानस्य) शमादि गुणों का अभ्यास करने वाले (स्वेदस्य) प्राणायाम के अवसर पर समस्त गात्र में स्वेद धारण करने वाले, उद्योगी (वेनतः) विद्वान् योगी के (कामस्य) मनःसंकल्प को प्राप्त कराओ ।

१५६२—'कृणुहि वीतये' इति, ऋ० ।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१५६५] उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
३ १ २
सुमृडीका भवन्तु नः ॥ १३ ॥ ऋ० ६ । ५२ । ६ ॥

भा०—(१) (ये) जो (नः) हमारे (सूनवः) ज्ञान के उपदेश करने हारे विद्वान् या पुत्र हैं वे (अमृतस्य) मरणरहित, अजन्मा परमेश्वर के विषय में (गिरः) वाणियों को (उप शृण्वन्तु) प्रेम से श्रवण करें, करावें और (नः) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम रूप से सुखकारी आनन्दप्रद हों । अथवा—वे विद्वान् गण (नः गिरः, उपशृण्वन्तु) हमें अपनी शुभ वेदोपदेशमय वाणियां श्रवण करावें ।

१ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६६] प्र वाम्महि द्यवी अभ्युपस्तुतिम्भरामहे ।
२ ३ २ ३ १ २
शुची उपप्रशस्तये ॥ १ ॥

३ १ ३ २ ३ २ ३ १ २
[१५६७] पुनाने तन्वा मिथ स्वेन दक्षेण राजथ ।
३ १ २ ३ २ ३ २
उह्याथे सनाद्दृतम् ॥२॥
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१५६८] मही मित्रस्य साधथस्तरन्ती पिप्रती ऋतम् ।
१ २ ३ १२ २२
परि यज्ञन्निषेदथुः ॥३॥१४॥ ऋ० ४१ । ५६ । ५–७ ॥

भा०—(१) हे (द्यवी) प्रकाशमान् सूर्य और पृथिवी के समान प्राण और अपान (वा) आप दोनों को (अभि) साक्षात् करके आपके (महि) बड़ी (उपस्तुतिं) गुणवर्णन (प्रभरामहे) करते हैं । आप दोनों (उपप्रशस्तये) उत्तम कीर्त्ति के कारण (शुची) शुद्ध स्वरूप हैं । अथवा द्यौ और पृथिवी के समान हे गुरु और शिष्य या परमात्मन् और मुक्तजीव ! आप दोनों (महि द्यवी उपप्रशस्तये शुची) स्तुति करने के लिये आप प्रकाशमान् और शुद्धरूप हो, आपका (अभि) साक्षात् कर हम (स्तुतिं उप प्र भरामहे) आपके गुणों का सर्वत्र वर्णन करते हैं ।

(२) हे जीव और परमात्मन् ! या शिष्य और गुरो ! (स्वेन) अपने (तन्वा) शरीर अर्थात् स्वरूप और (दक्षेण) ज्ञान बल, और कर्म सामर्थ्य से (मिथः) परस्पर (पुनाने) एक दूसरे को पवित्र करते हुए (राजथः) प्रकाशित होते हो और (सनाद्) सदा काल से (ऋत) सत्य ज्ञान को (उद्यथे) धारण करते हो ।

(३) सूर्य और पृथिवी जिस प्रकार परस्पर एक दूसरे को जल और प्रकाशक का वितरण करते हैं और परस्पर पूर्ण करते हैं उसी प्रकार हे गुरु और शिष्य ! आप दोनों (मही) बड़ी महिमा वाले (ऋतं) सत्यज्ञान को (तरन्ती) वितरण करते हुए और सत्य धर्म को (पिप्रती) पूर्णरूप से पालन करते हुए (मित्रस्य) मित्रस्वरूप परमात्मा की (साधथः) साधना करते हो और (यज्ञ) यज्ञ, परस्पर विद्या-स्वाध्यायरूप यज्ञ के लिये (परिनिषेदथुः) यज्ञ कार्यों से निवृत्त होकर एकान्त में बैठते हो ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१५९९] अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् ।
१ २ १ २
वचस्तांचिन्न ओहसे ॥१॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६००] स्तोत्रं राधाना पते गिर्वाहो वीर यस्य ते ।
१ २ ३ १ २
विभूतिरस्तु सूनृता ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १२ २१
[१६०१] ऊर्ध्वास्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो ।
२ ३ १ २
समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३ ॥ १५ ॥ अ० १ । ३० । ४-६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अधिकल सं० [१८३] पृ० ।

(२) हे (राधाना पते) समस्त आराधनाओं और ज्ञानों के एकमात्र स्वामिन् ! और समस्त विभूतियों के स्वामिन् ! हे (वीर) सर्वशक्तिमन् ! हे (गिर्वाहः) वाणियों द्वारा उपदेश करने हारे प्रभो गुरो ! (यस्य) जिसके

(स्तोत्रं) समस्त सत्य उपदेश हैं उस (ते) तेरी ही (सूनृता) वेदवाणी (विभूतिः) विशेष सत्ता का प्रमाण या सम्पत्ति (अस्तु) हो ।

(३) हे (शतक्रतो) शत प्रज्ञानों से युक्त या सैकड़ों कर्म करने हारे (इन्द्र) आचार्य ! (अस्मिन्) इस (वाजे) यज्ञ में (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये आप (ऊर्ध्वः) हमारे ऊपर सदा (तिष्ठ) विराजमान रहें (अन्येषु) हम अन्य अवसरों पर भी (स ह्वावहै) परस्पर सत्संग कर ज्ञान लिया और दिया करें ।

यहां इन्द्र अर्थात् आत्मा का गुरु परमात्मा है । "कस्य ब्रह्मचार्यसि; मम त्वम्","इन्द्रस्य ब्रह्मचार्यसि" इत्यादि विधानों से इन्द्र ही गुरुस्थानीय है ।

३ १२ ३ २ ३ १ २ ३ १२

[१६०२] गाव उपवदावटे महीयक्षस्य रप्सुदा ।

३ १२ २ ३ १ २

उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १ ॥

३ २३ १२ २३ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०३] अभ्यारमिद्द्रयो निषिक्तं पुष्करे मधु ।

३ १ २ ३ १२

अवटस्य विसर्जने ॥ २ ॥

३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६०४] सिञ्चन्ति नमसावटमुद्ध्नाचक्रं परिज्मानम् ।

३ १ २ ३ १ २

नीचीनवारमाशितम् ॥ ३ ॥ १६ ॥

ऋ० ८ । ७२ । १२, ११, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [११७] पृ० ६३ ।

(२) (अद्रयः[1]) आदर करने योग्य विद्वान् पुरुष (अवटस्य) रक्षण करने हारे देहबंधन के (विसर्जने) परित्याग के अवसर पर (पुष्करे[2]) उस

१६०३—(२) "अवतस्य विसर्जने", (३) "अन्नतमुद्ध्ना चक्र" इति, ऋ० ।

१. अद्रय आदित्यगणाः इति सायणः । २. पुष्करे प्रपद्मे इति सायणः ।

को पुष्ट करने हारे, उसमें बल के प्रदाता स्वतः आत्मा में (निपिक्कं) पूर्ण-रूप से विद्यमान या बरसते हुए (मधु) ज्ञानानन्द अमृत को (अभि आरम् इव) साक्षात् किया करते हैं ।

(३) हे विद्वान् आत्मज्ञानी गण ! (नीचीनबारं) निर्बल इन्द्रिय आदि नव द्वारों वाले (अक्षितं) अक्षीण (परिजमान) परिणाम या वृद्धता को प्राप्त होने वाले, (उच्चाचक्रं) उच्च प्राणचक्र वाले (अवटं) इस देह को (नमसा) अन्न द्वारा (सिंचन्ति) सबल बनाये रहते हैं अर्थात् जब तक देह बना रहता है तब तक उसको अन्न से रक्षा करते हैं ।

इति तृतीयः खण्डः ।

—0—

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २र
[१६०५] मा भेम मा श्रमिष्माग्रस्य सख्ये तव ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ २ ३ १ २
महत्ते वृष्णो अभिचक्ष्यं कृत पश्येम तुर्वशं यदुम् ॥१॥
३ १र २र ३ २र ३ २ ३ २ ३ १ २
[१६०६] सख्यामनुष्किग्यं वावसे वृषा न दानो अस्य रोषति ।
२ ३ १ २ ३ ३ १ २ ३ २ २ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
मघवा सम्पृक्तः सारघेण धेनवस्तूयमोहं द्रवा पिब
॥ २ ॥ १७ ॥ ऋ० ८ । ४ । ७, ८ ।

भा०—(१) हे परमात्मन् ! (तव सख्ये) आपके मित्र भाव में रहते हुए हम (मा भेम) कभी भय न करें । (मा श्रमिष्म) कभी श्रम से पीड़ित न हों, कभी न थकें । (वृष्णः) सब सुखों की वर्षा करने हारे (ते) तेरा (कृतं) बनाया हुआ यह संसार (अभिचक्ष्य) साक्षात् स्तुति योग्य, दर्शनीय एवं (महत्) बहुत बड़ा है । हम इसमें (तुर्वशं[1])

१६०६—[1]. तुर्वश—तुर्वीं हिंसायाम् (स्वादिः) इत्यतो बाहुलक औणादिक. हिंसि हिंस्यते वा व्याप्त्यादिभिरिति तुर्वश. । यथा, तूर-

हिंसाशील, जन्म जरा मरण और रोगों से परिपीड़ित या क्षयवरा होकर भोग करने हारे या काम से पीड़ित, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पर-वश करने हारे इस जीव को (यदुं) परमेश्वर के नियम में स्थित या यम नियमादि के अभ्यासी होकर विषयों से उपरत हुआ (परयम) देख लें ।

(२) (वृषा) वर्षण करने हारा, वीर्य का सेचक पुरुष (दानः) समस्त प्राणियों को जीवन दान करते हुए मेघ के समान वीर्य दान करता हुआ (सन्यां) उत्पादनशील भूमि के समान (स्फिग्यां) कटिप्रदेश में स्थित गर्भधानी में (अनुवावधे) जीव के रूप में स्वयं वास करता है । आत्मा वै जायते पुत्रः । वह (अस्य) इस गर्भगत जीव के प्रति (न रोषति) कभी कोप नहीं करता, वहां (सारघेण) प्रसरणशील, सारवान् (मध्वा) अमृत जीव (Sprm) से (सम्पृक्ताः) संसक्त हुई (धेनवः) शुक्र-धाराएं (protoplasm) हैं । हे जीव ! तू (त्वम्) शीघ्र ही (एहि) आ और (दव) शीघ्र आ और (पिब) उस पोषक रस का पान कर ।

(वृषा सन्यं ववधे) जलों का वर्षक इन्द्र वीर्य कटिभाग में सब प्राणियों को ढक लेता है (दानो न अस्य रोषति) वह दानशील यजमान इन्द्र पर रोष नहीं करता (सारघेण मध्वा सम्पृक्ताः) मधुमक्खी के शहद के समान रसीले दूध आदि से मिलित (धेनवः) धेनु=हमारे पान करने योग्य सोम हैं । (त्वम् एहि दव पिब) हे इन्द्र तुम शीघ्र २ आओ पान करो । यह अर्थ सायणकृत है ।

स्वरगतिक्षिप्तयो (दिवादि०) हस्यन् तूर्णमश्नुते इति पृषोदरादित्वात्यू-र्वपदह्रस्वकारश्चोपजनः, तुर्वशः असन्तुष्ट० । यद्वा तुर्वशः कामो यस्य सः । गद्वा वश्च कान्तौ (दिवादिः । श्यत् अप । चतुर्षु धर्मादिषु वशोऽस्त्येति, चकारलोपेन तुर्वशः ।

यहां वस्तुत गर्भ में बीज के आने, जमने, जीव के प्रवेश और पालन का वर्णन है। यज्ञकाण्ड के अनुसार इन्द्र को उत्तरवेदि स्थान में बुलाया जाता है वहा ही सोम तय्यार करके रक्खे जाते हैं। और उत्तर वेदि योषा और योनि का प्रतिनिधि है। योषा वै उत्तरवेदि (शत०)। इस यज्ञार्थ पर विचार करने से वे सब रहस्य स्पष्ट होते हैं। पुरुष का वीर्य प्रोटोप्लाज़म और रुधिर अर्थात् जीव का भोग्य पदार्थ और बीज कीट से बना होता है। गर्भ में आहित होकर वह वहा उसी के आधार पर जाकर गर्भधानी या छत्रक या कमल (प्लेसेन्टा) नामक स्थान जिसको वास्तविक योनि कहना चाहिये, उस पर जमता है और वहा ही पुष्टि को प्राप्त होकर १०वें मास में बाहर आता है, यह जीवन-उत्पत्ति का रहस्य है।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २

[१६०७] इमा उ त्वा पुरुवसो गिरो वर्द्धन्तु या मम।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
पावकवर्णा शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैरनूषत ॥ १ ॥
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६०८] अयं सहस्रमृषिभि. सहस्कृत: समुद्र इव पप्रथे।
३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
सत्य. सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये
॥ २ ॥ १८ ॥ ऋ० ८ । ३ । ३, ४ ॥

भा०—(१) हे (पुरुवसो) समस्त प्रजाओं में वास करने हारे और प्रचुर धन के स्वामी ! इन्द्रियों में वास करने और नाना जीवों को बसाने हारे (इन्द्र) आत्मन् ! परमात्मन् ! (मम) मेरी (इमा.) ये (गिरः) वेदवाणियां (त्वा उ) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, तेरी यशवृद्धि करें। तुझको ही (पावकवर्णा.) अग्नि के समान कान्ति वाले, तेजस्वी, अथवा पालन करने हारे स्वरूप वाले शुद्ध, उदार, धर्मात्मा (शुचय.) स्वयं तेजस्वी, शुद्धहृदय, (विपश्चित) तपस्वी, ज्ञानवान् विद्वान् गण

(स्तोमै.) उत्तम वेदमन्त्रों द्वारा (अभि अनूषत) साक्षात् ज्ञान करके तेरा गुणगान करते हैं। (अवि० सं० २५०) पृ० १२८।

(२) (अयं) वह आत्मा और परमात्मा (सहस्रं) हजारों (ऋषिभिः) मन्त्रार्थ द्रष्टा, तत्वज्ञानियों और अतीन्द्रिय अर्थ के दर्शन करने हारे परम योगियों द्वारा (सहस्कृत.) बल से युक्त, बलवान्, तीव्र, सब दुःखों पर विजयी किया जाकर (समुद्र. इव) रसधाराओं, आनन्दतरंगों को ऊपर उमड़ाने वाले समुद्र के समान (पप्रथे) विस्तार को प्राप्त हो जाता है अर्थात् आनन्द सागर के समान उमड़ पड़ता है। (अस्य) इस आत्मा की (सः) वह (महिमा) महिमा (सत्य) सत्य है और (विप्रराज्ये) मेधावी विद्वानों के राज्य, अधिकार, शासन, शिक्षण में और (यज्ञेषु) धर्म कर्मों में (अस्य) इस आत्मा के ही (शव) बलकी (गृणे) महिमा का वर्णन करूं।

३ २ ३ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २
[१६०९] यस्यायं विश्व आर्यो दासः शेवधिपा अरिः।
३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १
तिरश्चिदर्ये रुषम पवीरवि तुभ्येत्सो अज्यते रविः॥१॥
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ १
[१६१०] तुरण्यवो मधुमन्तङ्घृतश्चून विप्रासो अर्कमानृचुः।
३ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे स्वानास इन्दवः
॥ २ ॥ १९ ॥ ऋ० ८। ५१। ९, १० ॥

भा०—(१) (यस्य) जिस परमात्मा का (अयं) यह (विश्व) समस्त (आर्य) श्रेष्ठ (अरिः) मनुष्य (शेवधिपा.) उसके दिव्य धन ज्ञान की रक्षा करने हारा (दास.) भृत्य के समान है और उस यज्ञरूप (अर्ये) स्वामी (रुशमे) सबके नियन्ता (पवीरवि [१]) पाप-

---

२६११—१ पवि शल्यो भवति। यद् विपुनाति कायम्। तद्वत् पवीरमायुधं तद्वान् पवीरमान् (नि० । दै० अ० २१। ख० ३०)

निवारक राजदण्ड के समान परम तपस्वरूप वज्र को धारण करने हारे परमात्मा में (तिरश्चित्) यह सब विद्यमान है । हे प्रभो ! (तुभ्य इत्) स्थूल सृष्टि में तेरे गुणों के दर्शन के लिये ही (स) वह (रायिः) प्राण और देह, पृथिवी आदि सब मूर्त पदार्थ (अज्यते) प्रकट होते हैं । तू ही उन का स्वामी सञ्चालक, कर्त्ता धर्ता है ।

(२) (तुरण्यवः) क्षिप्रकारी, अभ्यासी, कार्यकुशल, (विप्रासः) विद्वान् लोग (घृतश्चुतम्) तेज के देने हारे (मधुमन्तम्) आनन्दप्रद, ज्ञानमय (अर्कं) पूजनीय इन्द्र आत्मा को (आनृचुः) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि (अस्मे) हम में (राधिमः) प्राणबल और ज्ञान का प्रकाश (पप्रथे) बढ़े और (अस्मे) हम में (वृष्ण्यं) वीर्यवान् (शवः) बल बढ़े और (स्वानासः) प्रेरणा करने हारे (इन्दवः) शुक्रों की वृद्धि हो । बल वीर्य और शुक्र की कामना से विद्वान् लोग आत्मज्ञान करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६११] गायत्रं इन्द्रो अभ्यवर्तयत्क्रतुं सुदक्षं धनिवं ।
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
शुचिञ्च वर्णमधि गोषु धारयत् ॥ १ ॥
१ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१२] स नो हरीणामधिपा इन्द्रो देवोऽवसस्तमः ।
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
सखेव सख्ये नर्यो रुचे भव ॥ २ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६१३] सनेमि त्वमस्मदा अदेवयुञ्छ्वित्नित्रीणम् ।
३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २ ३ २
साह्वां इन्दो परि वाधो अपह्वयुम् ॥ ३ ॥ २० ॥

ऋ० ९ । १०५ । ४६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५७४] पृ० २६० ।

(२) हे (इन्दो) योगिन् ! हे (हरीणाम् पते) इन्द्रियों के पालक जितेन्द्रिय ! (देव) विद्वन् ! (पवस्तमः) सबसे अधिक तेज वा दीप्ति से युक्त होकर (सः) वह आप (नर्यः) सब मनुष्यों के हितकारक (सख्ये) मित्र के लिये (सखा इव) मित्र के समान (नः) हमारे (रुचे) यश तेज को बढाने के लिये (भव) हो । (२) परमात्मा के पक्ष में—हे परमात्मन् ! समस्त लोकों के स्वामिन् ! (इन्दो) ऐश्वर्यशील ! आप (पवस्तम.) सबसे बड़े दीप्तिमान् हो, आप हमें मित्र के समान होकर तेज प्रदान करें ।

(३) हे (इन्दो) ऐश्वर्यशील राजन्, विद्वन्, परमात्मन् ! (त्वं) आप (अस्मत्) हमारे प्रति (सनेमि) अनादिकाल से चले आये मित्रभाव कृपाभाव को (आ) प्रकट करो । आप (साह्वान्) सब विघ्नों को पराजय करने हारे (अदेवम्) देव, परमेश्वर से रहित (आत्मिणं) केवल भोग करने हारे विषयलोलुप, (कंचित्) किसी भी भोगमय देहबन्धन को (परिबाधः) विनाश करो और (द्वयुं) दो दो, द्वन्द्व, सुख दुःख, शीत उष्ण, जन्म मरण, इहलोक परलोक आदिके चाहने हारे इस अन्त करण को भी (अप) दूर करो।

[१६१४] अञ्जते व्यञ्जत समञ्जत क्रतुं रिहन्ति मध्वाभ्यञ्जते ।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमप्सु गृभ्णते ॥ १ ॥

[१६१५] विपश्चिते पचमानाय गायत मह्वो न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामतिसर्पति त्वचमत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा हरिः ॥ २ ॥

[१६१६] अग्रेगो राजाप्यस्तविष्यते विमानो अह्नाम्भुवनेष्वर्पितः ।
हरिर्घृतस्नु. सुदृशीको अर्णवो ज्योतीरथ. पवते राय ओक्यः ॥ ३ ॥ २१ ॥ ऋ० ९ । ८६ । ४३-४५ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [५६४] पृ० २८४ ।

(२) हे विद्वान् पुरुषो ! (विपश्चिते) ज्ञानशील ब्रह्मज्ञानी, (पवमानाय) मुक्ति के मार्ग में गति करने हारे आत्मा के (गायत) गुण वर्णन करो । वह (अन्ध.) देह को प्राण-धारण कराने हारा सोम आत्मा (मही) बड़ी (धारा न) जलधारा के समान (अति अर्षति) अपने तटों रूप देहबंधनों को भी तोड़कर पार चला जाता है । (जूर्णाम्) जीर्ण हुई (त्वचम्) त्वचा को (अहिं न) जिस प्रकार साप छोड़कर चला जाता है उसी प्रकार जो अपने जीर्ण कलेवर को छोड़कर (अतिसर्पति) निकल भागता है और जो (हरिः) हरणशील, गतिशील, (वृषा) बलवान् आत्मा स्वयं (क्रीडन्) देहों में रमण करता हुआ भी (अत्य. न) अश्व के समान (असरद्) एक लोक से दूसरे लोक या दशा में भाग जाता है ।

(३) यह सोमरूप योगी, आत्मा, चन्द्र के समान भी वर्णन किया जाता है । वह (अग्रेगा.) इन्द्रियों का नेता, और ससार-बन्धनों को काटकर सब भोगों को त्याग कर, आगे श्रेष्ठ पद की ओर जाने हारा, (राजा) प्रकाशमान्, तेजस्वी (आप्य·) कर्म और प्रज्ञानों या प्राणों में श्रेष्ठ (अह्वा) अपनी घटती और बढ़ती कलाओं द्वारा दिनों के (विमानः) रचने हारे चन्द्र के समान अपनी षोडश कलाओं से अपनी ज्योतियों को बनाने हारा (भुवनेषु) लोकों के समान प्राणों में (अर्पित·) स्थापित है । जो (हरि.) गतिशील आत्मा (घृतस्नुः) कान्ति और तेज से देदीप्यमान होकर या ज्ञान से स्नान करके (सुदृशीक.) सम्यक् तत्व, परमपद का दर्शन करने हारा, (अर्णव.) ज्ञानवान्, (ज्योतीरथः) ज्योतिष्मान् स्वरूप होकर (राय) परम धन का अधिकारी (आक्यः) परमपद के योग्य होकर (पवते) विचरण करता है ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तमप्रपाठकस्य तृतीयोऽर्धः । सप्तमः प्रपाठकश्च समाप्तः ॥

इति षोडशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथाष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ॥

॥ १ ॥ ऋषिः—१, ७ शुनःशेप आजीगर्तिः । २ मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः । ३ शयुर्बार्हस्पत्यः । ४ वसिष्ठः । ५ वामदेवः । ६ रेभसूनू काश्यपौ । ८ नृमेधः । ९, ११ गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वायनौ । १० श्रुतकक्षः सुकक्षो वा । १२ विरूपः । १३ वत्सः काण्वः । १४ एतत्साम ॥ देवता—१, ३, ७, १२ अग्निः । २, ८–११, १३ इन्द्रः । ४ विष्णुः । ५ इन्द्रवायुः । ६ पवमानः सोमः । १४ एतत्साम ॥ छन्दः—१, २, ७, ९, १०, ११, १३, गायत्री । ३ बृहती । ४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप् । ८ प्रागाथम् । १२ उष्णिक् । १४ एतत्साम ॥ स्वरः—१, २ ७, ९, १०, १२, १३, षड्जः । ३, ९ मध्यमः । ४ धैवतः । ५, ६ गान्धारः । ११ ऋषभः; १४ एतत्साम ॥

१ २ ३ १ १ ३ २ ३ २ ३ १र १ २र
[१६१७] विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिमं यज्ञमिदं वचः ।
१ २
चनो धाः सहसो यहो ॥ १ ॥
१ ३ १र २र ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २
[१६१८] यच्चिद्धि शश्वता तना देवन्देवं यजामहे ।
१र १र ३ २
त्वं इद्धूयते हविः ॥२॥
३ १ २ ३ २ ३ १ १ ३ १र २र
[१६१९] प्रियो नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।
३ २ ३ १ २ ३ २
प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥३॥१॥ ऋ० १ । २६ । १०,६,७ ॥

भा०—(१) हे (सहसः यहो) बल से प्राप्त करने योग्य अग्ने ! प्रभो ! (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) ज्ञानवान् नेताओं और विद्वानों सहित

(इद) इस (वचः) वाणी, हमारी प्रार्थना को और (इमं) इस (यज्ञ) स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ को प्राप्त होकर हमें (चन.) परिपक्व या उपदेश योग्य ज्ञान (धा) धारण कराओ ।

(२) (यत् चित् हि) यद्यपि (शश्वता) नित्य (तना) आत्मा-रूप यज्ञ द्वारा (देव देव) वरुण, इन्द्र आदि नानारूप से उपास्यदेव को (यजामहे) हम उपासना करते हैं तो भी वह सब (हवि.) प्रस्तुत करने योग्य उपासनामय स्तुति वचन और चरु आदि होम (त्वे इत्) तुझको ही लक्ष्य करके (हूयते) दिया जाता है ।

(३) (विश्पति.) समस्त प्रजाओं का पालक (मन्द्र.) हर्षकारी, आनन्ददायक (वरेण्यः) वरण करने योग्य परमात्मा (नः) हमारा (प्रिय.) प्रिय (अस्तु) हो । (स्वग्नय) उत्तम आत्मज्ञानाग्नि से युक्त हो कर उसके भी (वयम्) हम (प्रिया.) प्रिय हों ।

१ २ ३ २ ३ २ १ २ ३ १ २

[१६२०] इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।

३ १ २ ३ १ २

अस्माकमस्तु केवलः ॥१॥

१ २ ३ ४ ३ १२ २४ ३ १ २

[१६२१] स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि ।

३ २ ३ १ २

अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥२॥

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ २ १ ३ १ २

[१६२२] वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा ।

१ २ ३ १ २

ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥३॥२॥ ऋ० २ । ७ । १०, ९, ८ ॥

भा० —(१) हे विद्वान् पुरुषो ! (व. जनेभ्य) आप लोगों के हित लिये (विश्वत.) सबसे (परि) ऊपर विराजमान (इन्द्रम्) परमेश्वर इन्द्र की (हवामहे) उपासना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह (केवल.) अद्वितीय परमेश्वर (अस्माकं) हमारा सहायक (अस्तु) हो ।

(२) हे (सत्रादावन्) समस्त पदार्थों के एक साथ देने हारे (वृषन्) सबसे श्रेष्ठ, सुखों के वर्षक ! परमात्मन् ! (स) वह आप (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अप्रतिष्कुतः) अद्वितीय, अपराजित, शक्तिमान् कभी सम्भ्रमित न होने वाले, कभी भूलचूक न करने हारे होकर (चरु) अन्नादि पदार्थों के भोगने हारे अविनाशी देह बन्धन को (अप वृधि) दूर करो ।

(३) (वृषा) सब कामनाओं को पूर्ण करने हारा (वंसग) सुन्दर गति वाला बैल (यूथा इव) जिस प्रकार गौओं के गोलों में चला जाता है उसी प्रकार (ओजसा) अपने बल से (ईशानः) सर्व शक्तिमान्, ऐश्वर्यवान् (अप्रतिष्कुतः) अद्वितीय परमेश्वर (कृष्टीः) मनुष्यों को (इयर्ति) प्राप्त होता है ।

१ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

[१६२३] त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।

३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ १ २

अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधन्तुचे तुन. ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २ ३ १ २

[१६२४] पर्षि तोकमुत तनयं पर्तृभिष्ट्वमदब्धैरप्रयुत्वभिः ।

२ ३ १ २ ३ १ १ ३ १ २ ३ १ २

अग्ने हेडांसि दैव्या युयोध्यघानि द्वेषांसि च ॥२॥३॥

ऋ० ४ । ४६ । ६, १० ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल संख्या [४१] पृ० १२ ।

(२) हे अग्ने ! परमेश्वर (त्वं) तू (अप्रयुत्वभि) सदा साथ रहने वाले (अदब्धैः) अहिंसक, एवं अहिंसित, सुरक्षित (पर्तृभि) पालकों द्वारा (तोकं) पुत्र, बालक और (तनयं) पौत्र को (पर्षि) पालन करता है । तू (नः) हमारे (दैव्या) आधिदैविक (हेडांसि) पापियों और ज्ञान और सुखों के देने वाले गुरुजनों के प्रति तिरस्कार आदि पापों को (अदेवानि च) आधिभौतिक और आध्यात्मिक, मानुष,

असात्विक, तामस (द्वरासि) कुटिल सङ्कटों और कुटिल आचरणों को (युयोधि) दूर कर।

१२ २२ ३ २ ३ २ ३ १२ २२ ३ १ २ ३ १
[१६२५] किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं नाम प्रयद्वपस्ते शिपिविष्टो
२ १२ २२ ३ १२ २२ ३ २३ ३ १ २ ३ १
अस्मि। मा वर्पो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिथे
३ १ २
बभूथ ॥ १ ॥
१ ३२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६२६] प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट हव्यमर्यः शंसामि सयुक्तानि
३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १२ ३ १२
विद्वान्। तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य
३ २२ ३ २
रजसः पराके ॥ २ ॥
१ २ ३ १२ २२ ३ १ २
[१६२७] वपद् ते विष्णवास आकृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट
३ २ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३
हव्यम्। वर्द्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्व-
१ ३ १ २
स्तिभिः सदा नः ॥३॥४॥ ऋ० ७। १००। ६, ५, ७ ॥

भा०—(१) हे (विष्णो) सर्वव्यापक ! परमात्मन् ! (यद्) जब आप स्वयं अपने को (शिपिविष्टः) रश्मियों से आवृत तेजोमय पिण्डों में प्रविष्ट (अस्मि) हूं इस प्रकार अपनी शक्ति को (वपेः) बतला रहे हैं तब (ते) आपका (किं इत् नाम) क्या नाम या स्वरूप (परिचक्ष्यं) कहा जाय। हे भगवन् ! (तत्) क्योंकि (समिथे) समाधि के अवसर पर आप (अन्यरूपः) दूसरे ही रूप में (बभूथ) प्रकट होते हैं। आप (एतत्)

१६२५—१. 'किमिते अद्य परिचक्ष्यं मूरयद्भवसे', २, प्रत्ने ऋषिदिविना मार्ष.' इति ऋ०।

वह (वर्पः) तेजोमय रूप (अस्मद्) हम से (मा अपगूह) मत छिपाइये ।

(२) हे (शिपिविष्ट) रश्मियों से आविष्ट, अथवा तेजोमय लोकों में व्यापक परमात्मन् ! मैं (अर्पः) अपनी इन्द्रियों का स्वामी जितेन्द्रिय होकर (वयुनानि) तेरे समस्त सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि महान् कार्यों को (जानन्) जानता हुआ (तत्) वह अति प्राचीन (हव्यं) पुकारने, नित्य ग्रहण और शरण करने योग्य नाम (शंसामि) कहता हूं और (अस्य) इस (रजसः) प्राकृत लोकों के भी (पराके) दूर, परे मोक्ष में भी (दयन्तं) निवास करने हारे (तवसं) महान् (त त्वा) उस सनातन तेरी मैं (अतव्यान्) तुच्छ व्यक्ति (गृणामि) स्तुति करता हूं ।

(३) हे विष्णो ! सर्वव्यापक ! (ते) आपको मैं (आसः) अपने मुख से (वषट्) सर्व कामनाओं का पूरक (आकृणोमि) साक्षात् स्वीकार करता हूं । हे (शिपिविष्ट) तेजोमय ! (मे) मेरा (तत्) वह (हव्यम्) ग्रहण योग्य हुआ स्तुति वचन (शृणुधि) स्वीकार कर (मे) मेरी (सुस्तुतमाः) उत्तम स्तुतिरूप (गिरः) वेदवाणियां (त्वा) तुझको (वर्धन्तु) बढ़ावें, अर्थात् तेरी महिमा को बढ़ावें । हे विद्वान् पुरुषो ! (यूयं) आप लोग (नः) हम लोगों की (सदा) नित्य (स्वस्तिभिः) कल्याणकारी साधनों से (पात) रक्षा करो ।

इति प्रथमः खण्डः ।

—:0:—

१ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २

[१६२८] वायो शुक्रो अयामि ते मध्वो अग्रन्दिविष्टिषु ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

आयाहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥१॥

१ ३ ३ १ २ ३ १ २
[१६२९] इन्द्र श्च वायवेषां सोमानाम्पीतिमर्हथः ।
३ १र २र ३ २ञ ३ २ ३ २
युवां हि यन्तीन्दवो निम्नमापो न सध्र्यक् ॥२॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३०] वायविन्द्रश्च शुष्मिणा सरथं शवसस्पती ।
३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
नियुत्वन्ता न ऊतय आयातं सोमपीतये ॥३॥५॥
ऋ० ४ । ४७ । १–३ ॥

भा०—(१) हे वायो ! प्राणात्मन् ! (दिविष्टिषु) दिव्य तेज की साधना के अवसरों में मैं (शुक्र) वीर्यवान् तेजस्वी होकर (ते) तेरे लिये (अग्रम्) सबसे पूर्व (मध्व.) अमृत ब्रह्मानन्दरस को (अयामि) प्राप्त करता हूं । हे आत्मन् ! देव ! (स्पार्हः) अति स्पृहा का पात्र तू (नियुत्वता) नियुत्=प्राण और मनस्वरूप अश्व अर्थात् बलवान् साधन से (सोमपीतये) सोमरस पान करने के लिये (आयाहि) प्राप्त हो ।

(२) हे वायो ! प्राण और (इन्द्रः च) इन्द्र ! आत्मन् ! आप दोनों ही (सोमाना) ज्ञानों या ब्रह्मानन्द रसों का (पात) पान करने के (अर्हथ.) योग्य हैं । (इन्दवः) समस्त सोम और ब्रह्मरस का आनन्द लेने हारे योगी लोग भी (युवा) आप दोनों के प्रति (सध्र्यक्) एक साथ (निम्नं) नीचे ढालू स्थान पर (आप. न) जलों के समान (यन्ति) चले जाते हैं ।

(३) हे (वायो) ज्ञानवन् ! (इन्द्र· च) और ऐश्वर्यवन् ! आत्मन् ! जीव ! (शवसस्पती) आप दोनों बल के परिपालक हैं, आप (नियुत्वता) मनरूप अश्व से युक्त (शुष्मिणा) बलशाली होकर (सोमपीतये) आत्मज्ञान रूप सोम के पान करने और (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा करने के लिये (आयातम्) आइये, हमें प्राप्त हों ।

इन्द्रियों का आत्मा और प्राण के प्रति प्रजाओं का राजा या नरपति के प्रति और योगियों का भी आत्मा और प्राण के प्रति समानरूप से वचन है।

१ २ ३ १२ २३ ३ १ १ ३ १२ २३
[१६३१] अध क्षपा परिष्कृतो वाजाँ अभिप्रगाहते ।
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ ३ १ २
यदी विवस्वतो धियो हरिं हिन्वन्ति यातवे ॥१॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३२] तमस्य मर्ज्जयामसि मदो य इन्द्रपातमः ।
१२ १२ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
यं गाव आसाभिर्दधु: पुरा नूनञ्च सूरयः ।
१२ २२ ३ १ २ ३ २ ३क १२
[१६३३] तङ्गाथया पुराण्या पुनानमभ्यनूषत ।
३ १ २ ३ १ २ ३ २ ३ २ ३ १ २
उतो कृपन्त धीतयो देवानां नाम बिभ्रतीः ॥३।'६॥
अ० ६ । ६६ । २–४ ॥

भा०—(१) (यदि) जब (विवस्वतः) सूर्य के समान प्रेरक आदित्ययोगी की (धियः) अपनी चित्तवृत्तियां अपनी ध्यान और धारणा शक्तियों को (हरिं) प्राण, या मन, या दुःखहारी प्रभु को (यातवे) आत्मा के समीप प्राप्त होने के लिये (हिन्वन्ति) प्रेरित करता है (अध) तब हे सोमरूप आत्मन् ! (क्षपा [१]) अन्धकार, अज्ञानों का नाश करने हारी चित् शक्ति से (परिष्कृतः) सुभूषित होकर (वाजान्) नाना बलों और बल से साध्य कार्यों या ज्ञानों को (अभि) साक्षात् स्वयं तू (प्र गाहसे) पार कर जाता है ।

(२) (अस्य) इस सोमरूप प्राण या आत्मा के (तं) उस रसरूप को ओषधिरस के समान (मर्जयामसि) परिष्कृत करते हैं (यः) जो (मदः) आनन्दस्वरूप होकर (इन्द्रपातमः) आत्मा द्वारा उत्तम रीति से आस्वादन किया जाता है । (यं) जिसको (गावः) ज्ञान-इन्द्रियगण और (सूरयः) प्राणेन्द्रिय (पुरा) पूर्वकाल में और (नून च) अब भी (आसभिः) देह में अपने नियत स्थानों या मुखद्वारों से (दधुः) धारण

१६३१—१ 'वाजी अभिप्रगाहते' इति ऋ० ।
१. क्षपा क्षपयित्री सेना, इति सायणः ।

करते हैं । अथवा जिसको (गाव. सूरयः) वेदज्ञ विद्वान् पूर्वकालों में और अब भी, अपने (आसभिः) मुखों द्वारा वाणियों और स्तुतियों द्वारा (दधुः) धारण करते हैं ।

(३) (त) उस (पुनान) पवित्र करने हारे और स्वतः पवित्र सोम को (पुराण्या) पुरातन (गाथया) गानरूप छन्दोमय वेदवाणी से (अभि अनूषत) स्तुति करते हैं (उत उ) और (देवानां) देवों, सूर्य, वायु, अग्नि आदि दिव्य पदार्थों का (नाम) नाम या स्वरूप (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (धीतय) वेदवाणियां भी उसको ही (कृपन्त) समर्थन करती हैं, उसका ही गुणगान करती है ।

२ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २
[१६३४] अश्वन्न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निन्नमोभिः ।
३ १ २ ३ १ २
सम्राजन्तमध्वराणाम् ॥१॥
१ २ ३ १ २ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६३५] स घा नः सूनुः शवसा पृथुप्रगामा सुशेवः ।
३ २ ३ १ २
मीढ्वा अस्माक बभूयात् ॥२॥
१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ १ २
[१६३६] स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः ।
३ २ ३ १ २ ३ १ २
पाहि सदमिद्विश्वायु· ॥३॥७॥ ऋ० १ । २७ । १–३ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१७] पृ० ६ ।

(२ (स घ) वह ही परमेश्वर ! (पृथुप्रगामा) विशाल ब्रह्माण्ड में व्यापक (शवसा सूनु·) समस्त संसार को अपने बलमें प्रेरण करने हारा (नः) हमें (सुशेवः) उत्तम रूप से भजन करने योग्य है वही (अस्माकं) हमारे (मीढ्वान्) सब सुखों को वर्षण करने वाला, मेघ के समान आनन्दकारी (बभूयात्) होवे ।

(३) (सः) वह आप जगदीश्वर (विश्वायु०) समस्त प्राणियों को पूर्ण आयु देने हारा (दूरात्) दूर, वर्तमान और (आसात् च) समीप में वर्त्तमान (अघायोः) पापी (मर्त्यात्) मनुष्य से (नः) हमारे (सदम्) देह और गृह को और प्रतिष्ठा को (इत्) भी (नि पाहि) नित्य रक्षा करे।

१ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

[१६३७] त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

अशस्तिहा जनिता वृत्रतूरसि त्वन्तूर्य तरुष्यतः ॥१॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २ड ३ २ ३ १ २

[१६३८] अनु ते शुष्मन्तुरयन्तमीयतु० क्षोणी शिशुं न मातरा ।

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र ३ १ २

विश्वास्ते स्पृध० श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि

॥२॥८॥ ऋ० । ८ । ९९ । ५, ६ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० स० [३११] पृ० १५९ ।

(२) (तुरयन्तं शिशुम्) गमन करते हुए बालक के प्रति (मातरा न) जिस प्रकार मा बाप जाते हैं उसी प्रकार (तुरयन्तं) गति प्रदान करते हुए तेरे या स्वतः देह से देहान्तर में गति करते हुए तेरे (शुष्म) बल के साथ (क्षोणी) द्यौ और पृथिवी, प्राण और अपान (ईयतुः) गमन करते हैं । हे इन्द्र ! आत्मन् ! (यत्) जब (वृत्रं) विघ्नकारी अज्ञान तम का तू (तूर्वसि) नाश करता है तब (मन्यवे) मन्युस्वरूप या ज्ञान स्वरूप, मननशील (ते) तेरे आगे (विश्वाः) समस्त (स्पृध०) स्पर्धा करने वाले काम और क्रोध आदि अन्त शत्रुओं की सब चेष्टाएं (श्नथयन्त) शिथिल हो जाती हैं ।

इति द्वितीयः खण्ड० ।

---

३ १र २र ३ २ड ३ १ २

[१६३९] यच्च इन्द्रमवर्ध्यद्यद्वभूमिं व्यवर्तयत् ।

३ १ २ ३ २ ३ २

चक्राण ओपशान्दिवि ॥ १ ॥

३ १ २ ३ २ ३ १ २ ३ २
[१६४०] व्या३न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
२ ३ १ २र ३ २
इन्द्रो यदभिनद्बलम् ॥ २ ॥
१र २र ३ १ २ ३ २ ३ १र २र ३ २
[१६४१] उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृणवन् गुहा सती' ।
३ १ २ ३ २
अवाञ्चमुदे वलम् ॥ ३ ॥ ६ ॥ ऋ० ८ : ३४ । ५,७,८ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१२१] पृ० ६५ ।

(२) (यद्) जब (इन्द्र') आत्मा (वलम्) घेर लेने वाले काम क्रोधादि तामस आवरण को (अभिनत्) तोड़ डालता है तब (सोमस्य) ज्ञान और शुक्र के (मदे) आनन्द हर्ष में (रोचना) प्रकाशमान (अन्तरिक्षम्) भीतर विराजमान चित्त को भी (व्यतिरत्[1]) अधिक शक्तिशाली बनाता है ।

भौतिक पक्ष में इन्द्र सूर्य है : वल मेघ है अन्तरिक्ष द्यौ. और पृथिवी के मध्य का वह भाग जहां मेघ विचरता है । सोम वायु का वेग है । जिस प्रकार वायु के बल से सूर्य मेघ को छिन्न भिन्न करता और अन्तरिक्ष को स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार योगी का आत्मा प्राण के बल से अज्ञान आवरण को हटाकर अन्तःकरण को स्वच्छ कर देता है । इस प्रकार की उपमा का आधार लेकर श्लिष्टवचन द्वारा दोनों तत्व दर्शाये हैं ।

(३) इन्द्र आत्मा ने (अंगिरोभ्य) अग अर्थात् देह में रम अर्थात् सार प्राणरूप से वर्त्तमान इन्द्रियों के लिये (गुहा) अन्त करण रूप गुहा में (सती) वर्त्तमान (गा') गमनशील, ज्ञानग्राहक शक्तियों को (आविष्कृणवन्) प्रकाशित करता हुआ (उद् आजत्) ऊपर को प्रेरित

१६४०—१. व्यतिरत् व्यवर्धयदिति सायण' ।

करता है और (वलम्) बलवान् तामस आवरण को (अर्वाञ्चम्) नीचे (नुनुदे) पटक देता है, अर्थात् विनाश करता है।

अथवा—(इन्द्र.) परमेश्वर (गुहा सतीः गा आविष्कृण्वन्) निगूढ़ स्थान, अव्यक्तरूप में वर्त्तमान वेदवाणियों को प्रकट करता हुआ (अंगिरोभ्यः उद्राजत्) विद्वानों, ज्ञानी ऋषियों को प्राप्त कराता है और (वलम् अर्वाञ्चं नुनुदे) पाशविक तामस स्वभाव को उस ज्ञान के नीचे कर देता है।

१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६४२] त्वमु वः सत्रा साढं विश्वासु गीर्ष्वायतम्।
१ २ ३ १ २
आ च्यावयस्यूतये ॥ १ ॥
३ १२ २२ ३ १ २ ३ १२ २२
[१६४३] युधमं सन्तमनर्वाणं सोमपामनपच्युतम्।
१ २ ३ १ २
नरमवार्यक्रतुम् ॥ २ ॥
० २ ३ २ड ३ २ ३ १ २
[१६४४] शिक्षा ण इन्द्र राय आ पुरु विद्वाँ ऋचीषम।
१ २ ३ २ ३ १ २
अवा न. पार्ये धन ॥ ३ ॥ १० ॥ अ० ८ ६२। ७. ६ ॥

भा०—(१) हे विद्वन् (युधमं) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि भीतरी शत्रुओं को मार भगाने हारे (सन्तं) सत्स्वरूप, सदा विद्यमान (अनर्वाणं) कूटस्थ, अन्य की अपेक्षा करके न चलने हारे, ध्रुवस्वरूप (सोमपाम्) ज्ञान, आनन्दरस का पान करने हारे (अनपच्युतम्) अपने शुद्ध पद से न गिरने हारे, (नर) नेतारूप, (अवार्यक्रतुम्) अनिवार्य, नित्य, अविनाशी कर्म=उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के करने हारे, अथवा अविनाशी ज्ञानवाले इस इन्द्ररूप परमेश्वर को अपनी रक्षा के निमित्त स्मरण कर।

(२) हे (ऋचीषम) स्तुतियों द्वारा प्राप्त करने योग्य इन्द्र ! परमेश्वर ! आप (विद्वान्) सर्वज्ञ हैं। आप (नः) हमें (रायः) धन नाना

प्रकार के दान (पुरु) बहुत बार, एवं बहुत से प्रकारों से (आ शिक्ष) दान दो । और (पार्ये) परम उत्कृष्ट (धने) धन, मोक्ष के प्राप्त करने में (नः) हमें (अव) रक्षाकर ।

सायण ने 'पार्ये धने' इसका अर्थ किया है—"पाराः शत्रवः तत्र भवे धने" अर्थात् शत्रुओं का धन लूटने के अवसर पर ईश्वर हमारी रक्षा करे । इन्द्र अर्थात्=राजाके पक्षमें यह अर्थ संगत है । ईश्वर पक्षमें मोक्ष को 'पर पार' कहा जाता है । उस में प्राप्त करने योग्य धन मोक्षानन्द है । उस को प्राप्त करने में आने वाले विघ्नों के बीच रक्षा करने की ईश्वर से प्रार्थना है । यही अर्थ आचार्य और गुरु के पक्ष में भी संगत है ।

[१६४५] तव त्यदिन्द्रियं बृहत्तव दत्तमुत क्रतुम् ।
वज्रं शिशाति धिषणा वरेण्यम् ॥ १ ॥
[१६४६] तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्द्धति श्रवः ।
त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥
[१६४७] त्वा विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणात वरुण ।
त्वा शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥३॥११॥ऋ०७।२५।७,८,९ ॥

भा०—(१) हे इन्द्र [1] (तव) तेरे (त्वत्) वह (वरेण्यं) वरण करने योग्य (इन्द्रियं) ऐश्वर्यमय स्वरूप को, (बृहत्) बड़े भारी (तव दत्तम्) तेरे बल सामर्थ्य, अनन्त शक्ति को और (क्रतुम्) उस महान् कर्म= ब्रह्माण्ड संचालन को और वरण करने योग्य ज्ञानरूप (वज्रं) देहबन्धन काटने हारे मोक्षसाधन को हमारी (धिषणा) बुद्धि और वाणी (शिशाति) साक्षात् करती है, उसकी महिमा को दिखलाती है ।

(२) हे इन्द्र [1] (तव) तेरे (पौंस्यं) बल, पौरुष को (द्यौ) वह द्यौलोक जिसमें समस्त सूर्य, नक्षत्र आदि तैजस पिण्ड भ्रमण करते

हैं (वर्द्धति) विशाल रूप में प्रकट करता है । और (तव अवः) तेरी कीर्त्ति को (पृथिवी) यह पृथिवी (वर्द्धति) बढ़ा रही है । (आपः) ये जल, नदियें और (पर्वताश्च) पहाड़ (त्वा) तेरी ही (हिन्वरे) स्तुति गान कर रहे हैं ।

(३) हे परमेश्वर (बृहन्) बड़ा भारी (क्षय॰) निवास स्थान (विष्णुः) सर्वव्यापक आकाश या पृथिवी (मित्र॰) स्नेहवान् जल (वरुण॰) वरण करने योग्य अग्नि आदि ये सब दिव्य पदार्थ (त्वा गृणाति) तेरी स्तुति करते हैं । (मारुतं) वायु का (शर्धः) बल, वेग (त्वां) तेरे ही (अनुमदति) अनुकूल रहकर हर्ष को प्राप्त होता है, नाना प्रकार से नृत्य करता है ।

इति तृतीय॰ खण्ड॰ ।

---

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६४८] नमस्ते अग्ने ओजसे गृणन्ति देव कृष्टय ।

१ २ ३ १ २

अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥

३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २

[१६४९] कुवित्सु नो गविष्ठयेऽग्ने संवेषिषो रयिम् ।

१ २ ३ १ २

उरुकृदुरु णस्कृधि ॥ २ ॥

१ २ ३ १२ २३ ३ १ ३

[१६५०] मा नो अग्ने महाधने परावर्भारभृद्यथा ।

३ १ ३ १ ३ १ २

संवर्गं सं रयिञ्जय ॥३॥ १२ ॥ अ० ८ । ७५ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११] पृ० ५ ।

(२) हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (नः) हमारे (गविष्ठये) आत्मा और इन्द्रियों के हृष्ट साधन के लिये (रयिम्) उपयुक्त विषयरूप धन और प्राणरूप सामर्थ्य को (संवेषिषः) प्राप्त करता है । हे (उरुकृत्)

महान् कार्यसम्पादक आप (नः) हमें भी (उरु कृधि) महान कीजिये ।

(३) हे अग्ने ! (यथा भारभृत्) जिस प्रकार बोझा उठाने वाला अपना बोझ परे फैंक दिया करता है उस प्रकार (महाधने) मोक्षरूप धन की प्राप्ति के अवसर में(नः) हमें बोझासा जानकर (मा परा वर्ग्) परे न हटा, बल्कि हमें (संवर्ग) उत्तम मोक्षरूप (रयिं) धन को (संजय) प्राप्त करा दे ।

१ २ ३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५१] समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टय: ।
३ १ २ ३ १ २
समुद्रायेव सिन्धव ॥ १ ॥
१ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
[१६५२] वि चिद् वृत्रस्य दोधत शिरो बिभेद वृष्णिना ।
१ २ ३ १ २
वज्रेण शतपर्वणा ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६५३] ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत् ।
२ ३ १ २ ३ १ २
इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ ३ ॥ १३ ॥ ऋ० ८ । ६ । ४, ६, ५॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१३७] पृ० ७५ ।

(२) (दोधत:) समस्त जगत् को कंपाने हारे (वृत्रस्य) आवरक अज्ञान या विघ्न के (शिर) शिरोभाग, मूल, जड़ को परमेश्वर अपने (शत पर्वणा) सैकड़ों पोरुओं=पालक शक्तियों के बने (वृष्णिना) सुखों के वर्षक (वज्रेण) वज्ररूप ज्ञान से (विभेद) तोड़ डालता है ।

(३) (तत्) उस समय (अस्य) इस परम आत्मा का (ओजः) सामर्थ्य और तेज (तित्विषे) प्रकाशित होता है (यत्) जब (इन्द्रः) परमेश्वर (उभे रोदसी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (चर्म इव) मानों चमड़े से ढोल के समान (समवर्त्तयत्) मढ़कर तैयार कर देता है । अर्थात् सृष्टि के प्रकट होने पर ही ईश्वर की विभूति का

पितों चलाता है। अथवा (अस्य तत् ओजः तित्विषे) ईश्वर का वह तेज ही चमकता है। (यत् इन्द्र चर्म इव उभे रोदसी समवर्तयत्) जिसको वह दोनों आकाश और पृथिवी पर चाम के समान मढ़े हुए हैं। अर्थात् उसी का सर्वत्र तेज है।

३ २ ३ १ ३ २ ३ १ २
[१६५४] सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी ॥ १ ॥ (यजु०)
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २ २ ३ २
[१६५५] सरूप वृषन्नागहीमौ भद्रौ धुर्याभि।
२ ३ १ २ २
ताधिमा उपसर्पतः ॥ २ ॥
१ २ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ २
[१६५६] नीव शीर्षाणि मृद्वं मध्य आपस्य तिष्ठति।
१ २ ३ १ २ ३ २
शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन् ॥ ३ ॥ १४ ॥ तिस्रोऽपि ऋग्वेदे न सन्ति॥

भा०—(१) (सूनरी) उत्तम शरीर-रथ की नेत्री, चितिशक्ति स्वयं ही (रन्ती) समस्त क्रीड़ा, चेष्टा, व्यापार करने हारी (वस्वी) प्राणरूप वसुओं की स्वामिनी (सुमन्मा) उत्तम रूप से मनन करने हारी है।

(२) हे (सरूप) चितिशक्ति के समान रूपवाले (इन्द्र) आत्मन्! (वृषन्) सर्वश्रेष्ठ! (आगहि) आ, प्रकट हो। (इमा) ये दोनों (भद्रौ) कल्याण और सुखकारी (धुर्यौ) शरीर के धारक प्राण और अपान (अभि) प्रत्यक्षरूप में दिखाई देते हैं। (तौ इमौ) वे दोनों शरीर या नासिका में (उपसर्पतः) गति करते हैं।

(३) हे विद्वान् पुरुषो! आत्मा (आपस्य) इस प्राप्त देह के (मध्ये) भीतर (दशभिः) दश (शृङ्गेभिः) प्राणों द्वारा (दिशन्) ज्ञान और कर्म करता हुआ (तिष्ठति) विराजमान रहता है। आप लोग

१६५४—१. अग्निर्देवता जीवानन्दीये।

उन (शीर्षाणि) शिरोभाग में रहने वाले दशों ही प्राणों को (नि मृड्वम्) वश करो ।

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति सप्तदशोऽध्यायः ।

इति अष्टमप्रपाठकस्य प्रथमोऽर्धः ।

अथ अष्टादशोऽध्यायः ॥

अथाष्टम प्रपाठकस्य द्वितीयार्द्धः ।

ऋषिः—मेधातिथिः काण्वः, प्रियमेधश्चाङ्गिरसः । २ शुनकश्च सुकक्षो वा । ३ शुनःशेप आजीगर्तः । ४ ऋषुर्बार्हस्पत्यः । ५, १५ मेधातिथिः काण्वः । ६, ९ वसिष्ठः । ७ आयुः काण्वः । ८ अम्बरीष ऋजिश्वा च । १० विश्वमना वैयश्वः । ११ सोभरिः काण्वः । १२ सप्तर्षयः । १३ कक्षीवान् प्रागाथः । १५, १७ विश्वामित्रः । १६ त्रिशोकः काश्यपः । १८ भरद्वाजो बार्हस्पत्यः । १९ एतत्साम ॥ देवता—१, २, ४, ६, ७, ९, १०, १३, १५ इन्द्रः । ३, ११ १८ अग्निः । ५ विष्णुः ८, १२, १६ पवमानः सोमः । १४, १७ इन्द्राग्नी । १९ एतत्साम ॥ छन्दः—१–५, १४, १६–१८ गायत्री । ६, ७, ९, १३ प्रागाथम् । ८ अनुष्टुप् । १० उष्णिक् । ११ प्रागाथं काकुभम् । १२, १५ बृहती । १९ इति साम ॥ स्वरः । १–५, १४, १६–१८ षड्जः । ६, ८, ९, ११–१३, १५ मध्यमः । ७ गान्धारः । १० ऋषभः ॥

१ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २

[१६५७] पन्यं पन्यामित्स्तोतार आवावत मद्याय ।

१ २ ३ २ ३ १ २

सोमं वीराय शूराय ॥ १ ॥

[१६५८] १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
इह हरी ब्रह्मयुजा शग्मा वक्षतः सखायम् ।
१ २ ३ १ २ ३ २
इन्द्रङ्गीर्भिर्गिर्वणसम् ॥ २ ॥

[१६५९] १ २ ३ १ ३ १ २ २ ३ २ ३ १
पाता वृत्रहा सुतमा घा गमन्नारे अस्मत् ।
१ २ ३ १ २
नियमते शतमूतिः ॥३॥१॥ ऋ० ८ । २ । २५, २७, २६ ।

भा०—(१) व्याख्या देखिये अवि० स० [१२३] पृ० ।

(२) (इह) इस पिण्ड में (ब्रह्मयुजा) ब्रह्म के साथ समाधि द्वारा युक्त होने वाले, (शग्मा) शक्तियुक्त (हरी) दोनों प्राण और अपान (सखाय) परमेश्वर के मित्रभूत (गिर्वणसम्) गिराओं, वेदवाणियों का सेवन करने हारे (इन्द्रम्) इस जीव को (गीर्भिः) स्तुतियों, प्रार्थना और उपासनाओं के साथ २ (आ वक्षतः) ब्रह्म तक प्राप्त कराते है ।

(३) (सुतं) आनन्दरस का या प्रेरक बल को (पाता) पान करने या धारण करने और (वृत्रहा) विघ्नों का नाश करने वाला वह आत्मा (अस्मत्) हमारे (आरे) समीप (घ) ही (आगमन्) प्राप्त है वह (शतमूतिः) सैंकड़ों प्रकार से शक्तिशाली होकर (नियमते) संयम साधना करता है ।

[१६६०] १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २
आ त्वा विशन्त्विन्दव समुद्रमिव सिन्धवः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
न त्वामिन्द्रातिरिच्यते ॥ १ ॥

[१६६१] ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ २ २
विन्यकथ महिना वृषन्भक्षं सोमस्य जागृवे ।
१ २ ३ १ २
य इन्द्र जठरेषु ते ॥ २ ॥

[१६६२] १ २ ३ २ १ १ २ ३ १ २
अरन्त इन्द्र कुक्षयं सोमो भवतु वृत्रहन् ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अरन्धामभ्यं इन्दवः ॥३॥ २ ॥ ऋ० ८ । ६२ । २२–२४ ॥

१६५७—२. "गीर्मि श्रुत गीर्वणसम्" इति ऋ० ।

भा०—(१) व्याख्या देखो अवि० सं० [१६७] पृ० १०४ ।

(२) हे इन्द्र ! प्रभो परमेश्वर ! (यः) जो सोमरूप[1] संसार (ते जठरेषु) तेरे भीतर, तेरे उदर या मध्यभाग में, तेरे आश्रय में है, हे (वृषन्) सब सुखों के वर्षक ! उस (सोमस्य) समस्त संसार के (मदं) स्वरूप से प्राप्त को भी हे (जागृवे) जागरणशील ! तू ही (महिना) अपनी महिमा से (विव्यक्थ) व्याप्त कर रहा है ।

आत्मपक्ष में हे इन्द्र ! तेरे (अन्तः) हृदयाकाश में, अन्त इन्द्रियों में जो सोम ब्रह्मज्ञान का आस्वाद है उस सोम के आस्वाद को भी तू अपने (महिना) बड़े सामर्थ्य से प्राप्त करता है । सोमरस और राजा के प्रकरण में स्पष्ट है । भौतिक पक्ष में—सूर्य इन्द्र अपने जठर=रश्मियों से जल को उठा लेता है और सदा दीप्यमान रहकर अपनी विशाल शक्ति से जल के उस सूक्ष्म अंश को धारण किये रहता है ।

(३) सूर्य जिस प्रकार प्रकाश के आवरण को दूर हटाता है उसी प्रकार पाप का नाश करने हारे हे (वृत्रहन्[2]) विघ्नकारी तामस आवरण के नाशक ! (सोम) यह समस्त सोमरूप उत्पन्न हुआ संसार (ते) तेरी (कुक्षयः) कोख में या गर्भ में रहकर तेरी महती शक्ति को दर्शाने के लिये (अर मवतु) पर्याप्त है, वह बहुत बड़ा और महान् है (इन्द्रव.) बहुत से इसी प्रकार के ब्रह्माण्ड या देदीप्यमान लोक (धामभ्य) तेरी बड़ी २ धारणा शक्तियों का साक्षात्कार कराने के लिये भी (अरं) पर्याप्त है अर्थात् वही तेरी शक्ति की महत्ता के भारी दृष्टान्त हैं ।

[१६६३] ज॒रा॒बोध॑ तद्विविड्ढि वि॒शेवि॑शे य॒ज्ञिया॑य ।
स्तोम॑ रुद्राय दृ॒शीक॑म् ॥ १ ॥

१६६२—१ सुषत इति सोम०, ।
२ वृत्रहन् पापस्य वा हन्त, इति सायण ।

[१६६४] स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्र ।
धिये वाजाय हिन्वतु ॥ २ ॥

[१६६५] स रेवाँ इव विश्पतिर्दैव्यः केतुः शृणोतु नः ।
उक्थैरग्निर्बृहद्भानुः ॥३॥३॥ ऋ० १ । २७ । १०-१२ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [१५] पृ० ७ ।

(२) वह अग्निरूप सब का मार्गदर्शक सर्वज्ञ, परमेश्वर (महान्) महान् (अनिमानः) अनन्त, अपरिमेय, (धूमकेतुः) समस्त संसार को स्पन्दन या गति देने हारे सामर्थ्य से जानने योग्य (पुरुश्चन्द्र) सबसे अधिक प्रकाशमान, सब प्रकाशमान पदार्थों का प्रकाशक परमात्मा (नः) हमें (धिये) विचारशक्ति, बुद्धि और (वाजस्य) बल और सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये प्रेरित करे ।

(३) (सः) वह (अग्निः) सबका नेता, ज्ञानवान् (उक्थैः) वेद की ज्ञानराशियों से (बृहद्भानु) विशाल तेज सम्पन्न (दैव्यः) सर्व दिव्यगुणों से युक्त (केतुः) समस्त संसार का ज्ञापक, (विश्पति) प्रजा का पालक प्रजापति, परमात्मा (रेवान् इव) बड़े भारी धनी सेठ पुरुष के समान (नः) हम उपासकों की (शृणोतु) प्रार्थना श्रवण करें ।

[१६६६] तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने ।
शं यदुगवे न शाकिने ॥ १ ॥

[१६६७] न घा वसुर्नियमते दानं वाजस्य गोमतः ।
यत्सीमुपश्रवद् गिरः ॥ २ ॥

[१६६८] ३ १ २ ३ २ड ३ १र २र ३ १र २र
कुवित्सस्य प्र हि व्रजङ्गामन्तन्दस्युहा गमत् ।
१ २ ३ १ २
शचीभिरप नोवरत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ऋ० ६ । ४५ । २२-२४ ॥

भा०—(१) व्याख्या देखो अविकल सं० [११५] पृ० ६२ ।

(२) (यत्) जब (सीम्) वह (गिरः) हमारी स्तुतिमय वाणियों को (उपशृंवत) सुन लेता है तब वह (वसुः) सब संसार को बसाने हारा और सर्वव्यापक (गोमत) रश्मियों, इन्द्रियों और प्राणों या वेदवाणियों से युक्त (वाजस्य) ज्ञान और बल के (दानं) ब्रह्मदान, अन्नदान और जीवन दान को देने से (न घा) कभी नहीं (नियमते) रुकता है ।

(३) (सः) वह (दस्युहा) उपक्षय करने हारे या क्षयशाली, विनाशी देह, या अज्ञान का विनाश करने हारा आत्मा (गोमन्त) ज्ञानेन्द्रिय और प्राणेन्द्रिय रूप गौओं के निवासस्थान (व्रज) बाड़ा रूप देह को (हि) निश्चय से (कुवित्) बहुत बार (प्र अगमत्) प्राप्त कर लेता है । परन्तु (स्य.) वह ही उसको (शचीभि) ज्ञान और कर्मसाधनाओं से (नः) हमारे उस देहबन्धन को (अप अवरत्) परे हटा देता है और मुक्त होजाता है । अथवा—(कुवित्सस्य[1]) कुत्सित ज्ञान वाले अल्पज्ञानी जीव के या अपना बहुत सा नाश करने हारे मूढ़ अज्ञानी के (गोमन्त व्रज दस्युहा अगमत्) अज्ञान दस्यु का विनाशक, गुरु या परमदेव, परमात्मा उसके गोमान् व्रज अर्थात् अन्तःकरण में प्राप्त होकर (शचीभिः) अपनी ज्ञान प्रेरणाओं से उस बन्धन को (नः) हमारे कल्याण के लिये (अप अवरत्) दूर कर देता है । अथवा—'कुवित्स' बहुत से देहों का नाश करने हारे अर्थात् जो बहुत से जन्म लेकर बहुतसे देहों को त्याग चुकता है उस जीव को ईश्वर पुनः देह बन्धन से मुक्त कर देता है ।

१६६८—१ कुत्सितं विन्दते वेत्ति मनोति च तस्य, अथवा कुवित् बहुशः, स्यति-हिनस्ति इति कुवित्सः इति सायणः ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ॥ गीता ॥

इति प्रथमः खण्डः ।

—:०:—

३ २उ ३ १ २ ३ १र २र ३ २
[१६६९] इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
१ २ ३ २
समूढमस्य पांसुले ॥ १ ॥
१ २ ३ १र २र ३ १ २ ३ १र २र
[१६७०] त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
२ ३ १ २ ३ १ २
अतो धर्माणि धारयन् ॥ २ ॥
२ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ २
[१६७१] विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
१ २ ३ २ ३ १ २
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥
१र २र ३ २ ३ १र २र ३ १ २
[१६७२] तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
३ १ ३ १ ३ १ २
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ४ ॥
१र २र ३ १ ३ ३ २ ३ १ २
[१६७३] तद्विप्रासो विपन्युवो जागृवांसः समिन्धते ।
२ ३ १ २ ३ २ ३ २
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ५ ॥
१ २ ३ १ २ ३ २ ३ १ ३ २
[१६७४] अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।
३ २उ ३ १ २
पृथिव्या अधि सानवि ॥ ६ ॥ ५ ॥

ऋ० १ । २२ । १६-२१ १६, ॥

भा०—(१) (विष्णुः) सर्व व्यापक परमात्मा ने (इदं) यह समस्त विश्व (विचक्रमे) बनाया और उस को व्याप लिया। (त्रेधा) तीन प्रकार से (पदं) व्यापकशक्ति को (निदधे) स्थापन किया। (अस्य) इसके (पांसुले) लोकों को धारण करने हारे बल में यह समस्त विश्व (समूढम्) उत्तम रीति से स्थित है। व्याख्या अवि० सं० [२२२] पृ०।

* ओ३म् *

यजुर्वेद संहिता

भाषा-भाष्य

(प्रथम खण्ड)

भाष्यकार

श्री पण्डित जयदेवजी शर्म्मा,

विद्यालंकार, मीमासातीर्थ.

प्रकाशक

आर्य्य-साहित्य-मण्डल, अजमेर

मुद्रक

दि डायमण्ड जुबिली प्रेस, अजमेर

प्रथमावृत्ति २००० | सं० १९८६ विक्रमाब्द सन् १९३० ई० | मूल्य ४)

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति ।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे ॥

जो उरे, बीच में और पुराण रूप से 'वेद विद्वान्' का वर्णन करते हैं वे सब 'आदित्य' का ही वर्णन करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में व्रात्य प्रजापति की आसन्दी का वर्णन करते हुए लिखा है।

"ऋच: प्राञ्चस्तन्तवो यजूꣳषि तिर्यञ्चः ॥" अथर्व० १५।३।६॥

ऋचाएं ताना के तन्तु हैं और यजुर्वेद बाना के तन्तु है। इस प्रकार प्रजापति की बैठने की पीढ़ी का वर्णन किया गया है। इन सब स्थानों पर भिन्न २ नामों से भी किसी एक ओर ही निर्देश किया गया है। सर्व- - - स्कम्भ, आदित्य, गरुत्मान्-सुपर्ण और ब्रह्म आदि ये सब एक ही - र के नाम हैं। इसी प्रकार—

कालादृचः समभवन् यजु: कालादजायत ॥ अथर्व० १९।५४।३॥

काल से ऋचाएं [illegible] न हुईं और काल से 'यजु' उत्पन्न हुआ। वह काल रमेश्वर ही है। तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च अनुव्यन्। (अथर्व० १५।६।८।) उस व्रात्य प्रजापति के पीछे ऋचाएं साम, जुगण और ब्रह्म अर्थात् चारों वेद चले। इस स्थल पर व्रात्य प्रजापति वही परमेश्वर है। उससे चारों वेद उत्पन्न हुए यह वेद भगवान् का [illegible]य है। उस यज्ञमय परमेश्वर का स्वरूप क्या है? और वर्त्तमान में प्रचलित यज्ञ कैसे हैं यह बतलाना बहुत अधिक स्थान की अपेक्षा करता है। तो भी इतना कह देना पर्याप्त है कि कर्मकाण्ड के यज्ञ उस महान् विराट् यज्ञपुरुष के प्रतिनिधि या उसके स्वरूप निदर्शक मात्र है। जैसे ये वेद उस महान् यज्ञ का वर्णन करते हैं उसी प्रकार ये इन यज्ञों का भी प्रतिपादन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है।

सुपर्णोऽसि गरुत्मांस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः बृहद्रथन्तरे

पक्षौ स्तोम आत्मा छन्दं ꣳसि अङ्गानि यजूं ꣳषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञिय पुच्छं धिष्ण्या. शफा. । सुपर्णोसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत ।

तू सुपर्ण गरुत्मान् है । तेरा शिर त्रिवृत् स्तोम हैं । आंख गायत्र साम है । बृहत् और रथन्तर दोनो पक्ष है । स्तोम आत्मा है । छन्द (अथर्व-वेद) अंग हैं, यजुर्गण नाम हैं । वामदेव्य साम तनु है । यज्ञायज्ञिय साम पुच्छ है । धिष्ण्य अग्निएं शफ हैं ।

इसमें 'सुपर्ण गरुत्मान्' मे ही चारों वेदों का वर्णन है । कर्मकाण्ड दृष्टि से इसी मन्त्र से श्येनाकार वेदी मे होने वाले यज्ञ का वर्णन भी स्पष्ट हो जाता है । इस 'सुपर्ण' रूप परमेश्वर का वर्णन वेद स्वय करता

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति

ऋ० १० । ७ । ४ । ५

विद्वान् पुरुष स्तुतियों द्वारा एक सुपर्ण की भी व. प्रकार की कर लेते हैं ।

इस 'सुपर्ण' नाम यज्ञ का कितना विस्तार है इस विषय में ऋग्- का मन्त्र है ।

षट्त्रिंशांश्च तुरः कल्पयन्तश्छन्दाꣳसि च दधत आङ्गिरसम् ।
यज्ञं त्रिमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्त्तयन्ति ॥६॥

ऋ० १० । ११४ । ६ ॥

उपांशु और अन्तर्याम, इन्द्रवायव आदि द्विदैवत्य तीन ग्रह, मैत्रावरुणियों के दो ग्रह, आग्रयण, उक्थ, और ध्रुव ये तीन, १२ ऋतु ग्रह, ऐन्द्राग्न, और सावित्र दो, वैश्वदेव दो, मरुत्वतीय तीन, माहेन्द्र एक, आदित्य और सावित्र दो, वैश्वदेव, पार्वत और हारियोजन, ये तीन, इस प्रकार ये ३६ ग्रह या यज्ञांग और इनके साथ, अत्यग्निष्टोम में अंशु, अदाभ्य, दधिग्रह और षोडशी ये चार मिलकर कुल ४० ग्रह या यज्ञांगो

को और प्रउग आदि १२ शस्त्रों तक गायत्री आदि समस्त छंदों को धारण करते हुए विद्वान् लोग यज्ञ का विविध प्रकार से ज्ञानपूर्वक निर्माण करके 'रथ' अर्थात् रमण करने योग्य रस स्वरूप परमेश्वर के स्वरूप को ही ऋक् और साम दोनों द्वारा दो अश्वों से रथ के समान यज्ञरूप में विधान करते हैं।

यह कर्मकाण्ड रूप से कहे यज्ञ का वर्णन करके अध्यात्म यज्ञ का वर्णन भी वेद (ऋ० १।१४।८) स्वयं करता है।

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमान. सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।

पञ्चदश उक्थ सहस्रों प्रकार के देहों में सहस्रों रूप होकर विराजते हैं। जितना विस्तार द्यौ और पृथिवी का है वहांतक उसी ब्रह्म का विस्तार है। उसके महान् समार्थ्य भी सहस्रों प्रकार के हैं, जितना ब्रह्म का स्वरूप विशेष २ प्रकार से स्थित है उतनी ही वाणी भी विस्तृत है। इस देह में १५ अंग या उक्थ हैं ये चक्षु आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय और ५ भूत।

परन्तु क्योंकि ब्रह्म अनन्त है, इससे वाक् वेदवाणी भी अनन्त ज्ञानवती है। प्रतिदेह में वही यज्ञ का स्वरूप है। वेदिगत यज्ञ तो उसका प्रतिनिधि मात्र है। यजुर्वेद द्वारा उन अंगों के समस्त कार्य और व्यवस्था का वर्णन किया जाता है। जैसा स्वयं श्रुति कहती है—

'यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहाः ॥ यजु० १९।२८॥
सत्यं यज्ञेन। यज्ञो यजुर्भिः। यजु० २०।१२॥

फलतः, हम इस परिणाम पर पहुंच गये कि यजुर्वेद में अंग अंगी और इनके कार्यों का वर्णन होना चाहिये। यज्ञ' स्वयं एक प्रजापति है। समस्त विश्व में परमेश्वर, राज्य में राजा, गृह में गृहपति, कुल में कुलपति या आचार्य और देह में आत्मा या मुख्य प्राण ये सभी 'प्रजापति' के स्वरूप

Rajy, I
12595

हैं। ये सब अंग स्वयं एक 'अंगी' या एक सुव्यवस्थित जीवित शरीर (body) की रचना करते हैं। अंग, घटक अवयव मुख्य अंगी के आधार होकर उसी के अधीन हैं। वे 'ग्रह' कहाते हैं। उनका ही वर्णन यजुर्वेद मे किया गया है।

हमारा विचार है कि यजुर्वेद के मन्त्रों की योजना या व्याख्या मुख्य पांच दृष्टियों से होती है। पांच ही वेद संहिताओं के व्याख्या प्रकार माने गये हैं। जैसा कि तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है।

अथात. संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्याम: । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकम् । अधिज्यौतिषम् । अधिविद्यम् । अधिप्रजम् । अध्यात्मम् । ता महासंहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाश: संधि: । वायु: संधानम् । इत्यधिलोकम् । अथाधिज्यौतिषम् अग्नि: पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आप: संधि: । वैद्युत: संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् । अथाधिविद्यम् । आचार्य: पूर्वरूपम् अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधि । प्रवचनं संधानम् । इत्याधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पिता उत्तररूपम् । प्रजा-संधि: । प्रजननं संधानम् । इत्यधिप्रजम् । अथाध्यात्मम् । अधरा-हनु: पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक् संधि. । जिह्वा संधानम् इतीमा महासंहिता. ॥

संहिता की उपनिषद् यह है कि पांच अधिकरणों में एक ही संहिता की पांच प्रकार से व्याख्या होने से पांच महासंहिताएं बनती हैं।

अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज, और अध्यात्म। अधि-लोक में पृथिवी, सूर्य, और आकाश और वायु का विशेष वर्णन होगा। अधि लोक में सूर्य, पृथिवी, आकाश और वायु का, अधिज्योतिष में अग्नि, आदित्य, जल, और विद्युत् का। अधिविद्य मे आचार्य, अन्तेवासी,

विद्या और प्रवचन इनका वर्णन होगा। आधिप्रज में पिता, माता, प्रजा और प्रजनन इनका वर्णन होगा। इसमें में भी समष्टि व्यष्टि भेद से राजा पृथिवी, प्रजा, प्रजापालन आदि का वर्णन भी सम्मिलित हो जाता है।

इन पांचो अधिकरणों की यथावत् पृथक् व्याख्या कर देना यह बड़े भारी ज्ञान और प्रतिभा का कार्य है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यजुर्वेद के मन्त्रों की व्याख्या इन पाचो रूप से हो जाती हैं। जिनका दिग् दर्शन हमने भाष्य में स्थान २ पर किया है। हमने मुख्य रूप से राजा प्रजा एवं प्रजा-पालन के कार्यों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। पाठक उसी दृष्टि से इस भाष्य का स्वाध्याय करेंगे।

इसके अतिरिक्त यजुर्वेद के सम्बन्ध मे ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी नीचे लिखे विशेष विचार विचारणीय हैं जिनसे यजुर्वेद के स्वरूप समझने के लिये बड़ी सहायता प्राप्त होती है।

(१) यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं तेनिरे अथ ऋचा अथ साम्ना। तदिदमप्येतर्हि यजुषा एवाग्रे यज्ञं तन्वतेऽथर्चाऽथ साम्ना। यजो ह वै नाम एतत् यद् यजुरिति। शत० ४। ६। ७। १३॥

विद्वान् लोगों ने पहले 'यजुः' से ही प्रथम यज्ञ किया फिर ऋग् से और फिर साम से। 'यजु' भी यज्ञ के साधन होने से ही 'यजु' कहाते हैं।

(२) ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः। पूर्वे पूर्वेभ्यो वचः एतद्वचु॥ तै० ब्रा० ३। १२। ९॥

ऋग्वेद के मन्त्रों से वैश्य वर्ण, और वैश्योचित वृत्तियों और उन के सम्बन्ध के नाना शिल्पों की उत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद क्षत्रिय अर्थात् क्षात्र बल के कार्य करने वाले के उचित कर्त्तव्यो का उपदेश करता है। साम-वेद ब्राह्मणोचित स्तुति उपासना का मूल कारण है। पूर्व के विद्वान् पूर्व के शिष्यों को ऐसा ही उपदेश करते थे।

(३) यमो वैवस्वतो राजा इत्याह । तस्य पितरो विशः । त इमे समासत इति स्थविरा उपसेमता भवन्ति । तानुपदिशति यजूंषि वेदः । सोयमिति ॥

यम वैवस्वत राजा है । उसकी प्रजाएं पितृगण, पालक जन हैं । वे ये लोग हैं । स्थविर, वृद्ध जन उपस्थित होते हैं । उनका यजुर्वेद है ।

यह उद्धरण भी यजुर्वेद को राजा प्रजा के राष्ट्र पालन के कर्त्तव्यों का उपदेश करने वाला वेद निश्चय कराते हैं ।

यजुर्वेद के शाखा भेद

शौनकीय चरणव्यूह के अनुसार—

(१) यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति । तत्र चरका नाम द्वादश भेदा भवन्ति । चरकाः, आह्वरकाः कठाः, प्राच्याः, प्राच्यकठाः, कपिष्ठलकठाः, चारायणीया, वारायणीया, वार्त्तान्तवीयाः, श्वेताश्वतराः, औपमन्यवः, पाताण्डनीयाः, मैत्रायणीयाश्च ।

(२) तत्र मैत्रायणीया नाम षड् भेदाः भवन्ति । मानवा वाराहा दुन्दुभाश्च्छागलेया हारिद्रवीयाः श्यामायनीयाश्चेति ।

(३) तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति । औखेयाः । खाण्डिकेयाश्चेति । तत्र खाण्डिकेयाः पञ्चभेदा भवन्ति कालेता शाट्यायनी हैरण्यकेशी भारद्वाजी आपस्तम्बी चेति ।

(४) तत्र प्राच्योदीच्यनैर्ऋत्यवाजसनेया नाम पञ्चदश भेदा भवन्ति, जाबाला, बोधायानाः, काण्वाः, माध्यंदिनेयाः, शाफेया स्तापनीयाः, कपोला, पौण्डरवत्साः, आवंटिकाः परमावाटिकाः, पाराशराः, वैणेया अद्धा बौधेयाः ॥ *

---

* यजुर्वेदीय चरणव्यूह में—(१) तत्र मैत्रायणीयाः नाम सप्त भेदाः भवन्ति । मानवाः दुन्दुभाः चैकेयाः वाराहा हारिद्रवेयाः श्यामाः श्यामायनीयाश्च ।

अर्थ—यजुर्वेद को ८६ भेद होते है। उनमें चरकों के १२ भेद होते हैं (१) चरक, (२) आह्वरक (३) कठ (४) प्राच्य, (५) प्राच्यकठ, (६) कपिष्ठलकठ, (७) चारायणीय, (८) वारायणीय, (९) वार्त्तान्तवीय, (१०) श्वेताश्वतर (११) औपमन्यव, (१२) पातण्डिनीय (१३) मैत्रायणीय। मैत्रायणीय के फिर छ भेद होते हैं (१) मानव, (२) वाराह, (३) दुन्दुभ, (४) छागलेय, (५) हारिद्रवीय, (६) श्यामायनीय। तैत्तिरीयो के मुख्य दो भेद हैं। औखेय और खाण्डिकेय। खाण्डिकेयो के पाच भेद कालेत, शाट्यायनी, हैरण्यकेशी, भारद्वाजी, आपस्तम्बी।

उनमे भी प्राच्य, उदीच्य, नैर्ऋत्य इन दिशा के वासी वाजसनेय शाखा के मानने वाले विद्वानो के भी १५ भेद होते हैं। वाजसनेय, जावाल, वोधायन काण्व, मांध्यन्दिनेय, शाफेय, तापनीय, कपोल, आवटिक, परमावटिक, पाराशर, वैणेय, अद्ध और वौधेय।

इस प्रकार ८६ पहली और १५ ये सब मिलकर १०१ यजुर्वेद की शाखाएं हो जाती हैं। जैसा महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—"एकशतमध्वर्युशाखाः ॥" अर्थात् १०१ शाखा यजुर्वेद की हैं, यह वचन पूर्ण हो जाता है।

यजुर्वेदीय चरणव्यूह में*—मैत्रायणीय के ७ भेद लिखे हैं। उसमें 'छागलेय' न पढकर श्याम और चैकेय दो शाखाओ को विशेष कहा है।

---

(२) तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति। औख्याः खाण्डिकेयाश्चेति तत्र खाण्डिकेया नाम पञ्चभेदा भवन्ति। आपस्तम्वाः, वौधायनाः, सत्याषाढाः, हैरण्यकेशाः, काट्यायनाश्चेति। तत्र कठानमुपगानविशेषाश्चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्थाः।

(३) वाजसनेया नाम सप्तदशभेदा भवन्ति। जावाला वौधेयाः काण्वा माध्यन्दिना. शापीया स्तापायनीयाः कापाला' पौण्ड्रवत्सा आवटिका परमावटिका वारायणीया वैधेया वैनेया औधेया गालवा वैजयाः कात्यायनीयाश्च।

और तैत्तिरीय खाण्डिकेय शाखा के आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हैरण्यकेश, और काठ्यायन ये पांच भेद लिखे हैं।

और वाजसनेयों के १७ भेद माने हैं। जिनमें बौधेय शापीय तापायनीय, औधेय, पौण्ड्र वत्स, वैधेय, वैनेय, आदि कुछ नाम अक्षरभेद से आये हैं और औधेय, गालव वैजय, कात्यायनीय ये नाम विशेष है।

परन्तु चरणव्यूह परिशिष्ट में भी १०१ शाखाओं को गिनाया नहीं गया है। जब इसकी तुलना अन्य चरण व्यूहों से करते हैं तो शाखाओं के नामों मे और भी अधिक भेद प्रतीत होता है। अथर्ववेद के परिशिष्टो मे विद्यमान चरणव्यूह में इस प्रकार लिखा है—

तत्र यजुर्वेदस्य चतुर्विंशतिर्भेदा भवन्ति। तद्यथा। काण्वाः। माध्यंदिना.। जाबाला'। शापेया। श्वेताः। श्वेततरा। तायणीया। पौर्णवत्साः। आवटिका। परमावटिका। होण्या.। धौण्या। खाडिका। आह्वरका। चरका। मैत्रा। मैत्राणीया। हारीतकर्णाः। शालायनीयाः। मर्चकठा'। प्राच्यकठा। कपिष्ठलकठा.। उपलाः। तैत्तिरीयाश्चेति।

जब इन तीनों चरणव्यूहों की तुलना करते हैं तो उनमे परस्पर बड़ा भेद है। अथर्व परि० चरणव्यूह में १२ भेद ही गिना कर छोड़ दिये हैं। इन नामों में से कुछ नाम शुक्ल शाखा के हैं और कुछ नाम कृष्ण शाखा के है। इससे कुछ निर्णय नहीं हो सकता कि ये शाखा भेद किस प्रकार हुए। शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट के टीकाकार पण्डित महिदास ने 'नृसिह पराशर' नाम ग्रन्थ का उद्धरण उठा कर कुछ अन्य शाखाओं का भी उल्लेख किया है जैसे—याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, मूलघटक, बाणस सहवास गोत्रपण्डित, समानुज, गयाबल, त्रिदण्ड आदि, देश और ग्राम भेद से नाना नाम हो गये। अग्निपुराण में लिखा है—

एकोनद्विसहस्रं तु मन्त्राणां यजुषस्तथा
शतानि दशविप्राणां षडशीतिश्च शाखिकाः ।
काण्व माध्यंदिनी संज्ञा कठी माध्यकठी तथा ।
मैत्रायणी च संज्ञा च तैत्तिरीयाभिधानिका
वैशम्पायनिकेत्याद्याः शाखा यजुषि संस्थिताः ॥

अर्थ—एक कम दो सहस्र यजुर्वेद में मन्त्र हैं तथा ८६ शाखाएं हैं १००० ब्राह्मण हैं। काण्व, माध्यंन्दिनी भी, माध्यकठी, मैत्रायणी, तैत्तिरीया, वैशम्पायनी इत्यादि यजुर्वेद की नाना शाखाए हैं।

विष्णु-भागवत पुराण में लिखा है—

तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः ।
एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥
पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह ।
वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥
सान्नां जैमिनये प्राह तथा छंदोगसंहिताम् ।
अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे ॥

पराशर से सत्यवती में अंशांशकला से भगवान् ने उत्पन्न होकर वेद को चार प्रकार का किया। वर्ग २ मे ऋग्, यजु, साम, इनके राशियों को उद्धृत करके चार सहिताएं बनायी। उसने चार शिष्यों में से एक २ को एक २ सांहिता प्रदान की। पैल को बहवृच् नामक (ऋग्वेद) वैशम्पायन को निगद' नाम यजुर्वेद। सामों की छंदोग साहिता जैमिनी को और अपने शिष्य सुमन्तु को अथर्वांगिरसी नामक सांहिता दी। आगे यजुर्वेद के विषय में लिखा है—

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्ययोऽभवन् ।
यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांह·क्षयणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥

वैशम्पायन के शिष्य चरकाध्वर्यव थे। जिन्होंने अपने गुरु के लिये ब्रह्महत्या के पाप के निमित्त प्रायश्चित्त का आचरण किया इसी से वे 'चरकाध्वर्यु कहाये।

इस सम्बन्ध मे प्राय. सभी पुराणों में इस कथा को इस प्रकार से वर्णन किया है कि ब्रह्महत्या के निमित्त वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क्य ने अहंकारपूर्वक कहा कि मैं ही समस्त व्रताचरण कर लूंगा और ये शिष्य तो 'अल्पसार' हैं इस पर गुरु वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर अपनी पढ़ायी समस्त विद्या माग ली। याज्ञवल्क्य ने वह सब वमन कर दी। और उसके अन्य शिष्य मुनियो ने तित्तिरि पक्षी बनकर, लोलुप होकर उस वमन को लिया। याज्ञवल्क्यने उसके पश्चात् आदित्य की उपासना करके यर्जुगण को प्राप्त किया। इस सम्बन्ध में भागवत (का० १२ अ० ६। ७३, ७४॥) में लिखा है—

एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः।
यजुर्भिरकरोच्छाखा दश पञ्च शतैर्विभुः।
जगृहुर्वाजसंन्यस्ता काण्वमाध्यन्दिनादयः॥

इस प्रकार स्तुति करने से प्रसन्न होकर वाजि'रूप धर कर हरि (सूर्य) ने याज्ञवल्क्य मुनि को 'अयातयाम यजुर्गण' प्रदान किये। सैकड़ो यजुषो से उस विद्वान् ने १५ शाखाए कीं। 'वाज' अर्थात् केसरों या रश्मियो या वेग से प्रदान की उन शाखाओ को काण्व मध्यन्दिन आदि विद्वानों ने ग्रहण किया।

भागवत के इस लेख के समान ही प्राय अन्य पुराणों भी लेख हैं याज्ञवल्क्य का गुरु से पृथक् होकर सूर्य से यजुर्वेद को प्राप्त करने की कथा प्राय सर्वत्र समान रूप से मिलती है। इससे कुछ पुराणों के अनु-

सार ये परिणाम निकल सकते हैं। (१) याज्ञवल्क्य द्वारा प्राप्त यह यजुर्व॰ व्यासद्वारा व्यस्त यजुर्वेद से अवश्य पृथक् हो। अर्थात् वैशम्पायन को व्यास ने वह यजुर्वेद नहीं पढ़ाया हो। (२) व्यास और वैशम्पायन के पूर्व भी यजुर्वेद स्वतन्त्र रूप से शुद्ध विद्यमान हो। और (३) व्यास के अतिरिक्त भी यजुर्वेद अन्य विद्वानों के पास विद्यमान हो।

पुराणों की कथा मे यजुर्वेद इस चमकते रवि की उपासना से प्राप्त हुआ यह अन्ध-विश्वास बहुत प्रबल है। हमें यह बुद्धिविरुद्ध प्रतीत होता है। इस अन्ध विश्वास को अन्य पुराणों ने भी विचित्र २ प्रकार से पुष्ट किया है। जैसे वायु और ब्रह्माण्ड पुराण (अ० ६१) में लिखा है—

तत. स ध्यानमास्थाय सूर्यमाराधयद् द्विज
सूर्यब्रह्म यदुच्छिन्नं खं गत्वा प्रतितिष्ठति
ततो यानि गतान्यूर्ध्वं यजूंष्यादित्यमण्डले।
तानि तस्मै ददौ तुष्ट सूर्यो वै ब्रह्मरातये॥

याज्ञवल्क्य ने ध्यान लगा कर सूर्य की आराधना की। और 'सूर्य' वेद जो उस समय लुप्त होकर केवल आकाश मे ही विद्यमान था उनमे २ जो यजुः ऊपर सूर्य में चले गये थे वे ही सूर्य ने प्रसन्न होकर ब्रह्मराति अर्थात् याज्ञवल्क्य को प्रदान किये।

यह कल्पना केवल इस शंका को निवारण करने के लिये की गयी है कि जड़ सूर्य मे से यजुर्गण कैसे निकले और वहां आये कहा से ? इ भी एक शका उठती है कि सूर्य ने याज्ञवल्क्य को किस प्रकार उपदश किये। इसके समाधान के लिये पुराणकारों ने यह कल्पना की है कि सूर्य स्वयं अश्व का रूप होकर आया और उसने अश्व रूप से याज्ञवल्क्य को वे का उपदेश कर दिया। जैसा श्रीधर ने भागवत के 'जगृहुर्वाजसन्यस्ता. पद के व्याख्यान मे लिखा है—जगृहुः अधीतवन्त रविणा अश्वरूपेण

कहिये वेदों की यह हत्या या ब्रह्महत्या ही हो गयी थी। समस्त ऋषियों के सामने यह विचारणीय समस्या उपस्थित हुई कि पुन इस दोष को कैसे हटाया जाय। योगी याज्ञवल्क्य ने पुन शुद्ध संहिता प्राप्त करने का भगीरथ यत्न किया हो, इस मत भेद से ही उसने कदाचित् वैशम्पायन कुल को छोड़कर वाजसनेय ऋषि के कुल में दीक्षा ली हो।

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ॥ पा० ४ । ३ । १०३ ॥

तित्तिरि आदि शब्दों से 'तेन प्रोक्तम् अधीयते' इस अर्थ में 'छण्' प्रत्यय होता है। तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते तैत्तिरीया। तित्तिरि आचार्य से कहे प्रवचन को पढने वाले छात्र तैत्तिरीय कहाये और वह ग्रन्थ 'तैत्तिरीय' कहाया। इसी प्रकार पाणिनि ने अन्य भी कई आचार्यों के नाम दिया है। जैसे—शौनकादिभ्यश्छन्दसि पा० ४ । ३ । ६३ इस सूत्र के शौनकादिगण में शौनक, वाजसनेय (साङ्गरव) शार्गरव, पाराशर्य, (सावेय) शोप्पेय शाखेय, खाडायन, स्तम्भ (स्कन्ध) देवदर्शन

(देवदत्तशठ रज्जुभार रज्जुकण्ठ कठशाठ (कशाय) कषाय, तल (तल-घकार) तण्ड, पुरुषासक पुरुषासक) अश्वपेज (अश्वपेज) * ये नाम भी परिगणित है। इनमे वाजसनेय' ऋषि का नाम है। उसके शिष्य - वाजसनेयी कहाते हैं। इससे अश्वरूप सूर्य से याज्ञवल्क्य ने यजुषो को ग्रहण किया इत्यादि कल्पना वाजसनेय' होने मे असत्य प्रतीत होती हैं। शापेय, खाडायन, तलवकार आदिशाखा कारो के नाम भी स्पष्ट हैं।

पाणिनीय सम्प्रदाय मे प्रसिद्ध यह बात है कि —

(१) वैशम्पायन के ६ शिष्य थे आलम्बि, पलङ्ग या फालिंग, कमल ऋचाभ, आरुणि, तारुक्ष्य, श्यामायन, कठ, कलापी ।

(२) कलापि के चार शिष्य थे हरिद्रु छगली, उलप, और तुम्बुरु।

(३) चरक वैशम्पायन काहा नाम थो।

इन नामों मे याज्ञवल्क्य का कोई नाम नहीं आता। याज्ञवल्क्य अति प्राचीन प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य प्रोक्त ब्राह्मण शतपथ भी प्राचीन प्रतीत होता है। चाहे काशिका कारने याज्ञवल्क्य को प्राचीन ब्राह्मणकारो से अर्वाचीन माना है। परन्तु महाभाष्यकारने याज्ञवल्क्य को प्राचीन ब्राह्मणकार के तुल्यकाल ही माना है। फलतः शुक्ल और कृष्ण नाम होने का कोई अन्य ही कारण है।

सर मोनियर विलियम ने अपने प्रसिद्ध कोश मे कृष्ण, शुक्ल होने का यह कारण लिखा है कि कृष्ण यजुर्वेद ब्राह्मण भागो से मिश्रित होने से वह 'कृष्ण' है और यजुर्वेद में ऐसा न होकर शुद्ध मन्त्र संहिता है अत. 'शुक्ल' है। इस कथन में भी हमें बहुत गहराई नहीं पता लगती। एक यह भी विचार है कि वेदव्यास 'कृष्ण' द्वैपायन कहाते थे। उनका नाम कृष्ण' था उस नाम से ही कदाचित् उनकी शिष्यपरम्परा में प्रसिद्ध वेदशाखा

---

* कोष्ठगत नाम काशिकाभिमत हैं। और साथ के दीक्षिताभिमत है।

कृष्ण शाखा है और इससे इतर वाजसनेय शिष्यपरम्परा में प्रसिद्ध वेद शुक्ल शाखा हैं। पुराणों ने जो लिखा है कि याज्ञवल्क्य ने सूर्य से उन यजुर्गण को प्राप्त किया 'यानि वेत्ति न तद् गुरु.' जिनको उनका गुरु नहीं जानता था महिदास पण्डित ने इसका भी यही भाव लिया है कि तेषा व्या सेनानुपदिष्टत्वात् इति भाव.। अर्थात् उनको व्यास ने उपदेश नहीं किया। उक्त पण्डित ने शुक्ल और कृष्ण होने का एक कारण यह भी बतलाया है।

वेदोपक्रमणे चतुर्दशी पौर्णिमाग्रहणात् शुक्लयजुः।
प्रतिपदायुक्तपौर्णिमाग्रहणात्कृष्णयजुः॥

अर्थात् वेदोपक्रम कार्य में चतुर्दशी को पूनम मानने से वे शुक्ल यजु कहाये और प्रतिपत् से युक्त पूनम मान लेने से दूसरों के कृष्ण यजु कहाये। परन्तु यह कारण तुच्छ एवं एकदेशी है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे 'शुक्ल' और 'कृष्ण' के सम्बन्धी नीचे लिखे उद्धरण प्राप्त होते हैं वे भी इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं।

(१) तद् यच्छुक्लं तद् वाचो रूपम्। ऋचो अग्नेर्मृत्योः। सा या सा वाग् ऋक् सा। अथ योऽग्निर्मृत्यु. सः। अथ यत्कृष्णं तदपां रूपम् अन्नस्य मनस. यजुष ॥ तद्यास्ता आपोऽन्न-तत्। अथ यन्मनो यजुस्तत्। जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १। २५॥

जो शुक्ल है वह वाणी का रूप है। ऋक् और मृत्यु का भी श्वेत रूप हैं। वाणी ही ऋक् है। अग्नि मृत्यु है। कृष्ण रूप जलों का अन्न और मन का है। आपः भी अन्न है, मन यजु है। यह 'कृष्ण' और 'शुक्ल' का आध्यात्मिक विवरण है। अध्यात्म में वाणी शुक्ल है और मानस संकल्प कृष्ण है। 'आप' ये अन्न हैं, अर्थात् जिस प्रकार शरीर मे मानस बल ही अन्न के बने शरीर मे क्रियाऽऽधान करता है और उसी प्रकार वेदवाणियों को यजुर्वेद ही कर्मकाण्ड मे नियुक्त करता है।

(२) यज्ञो हि कृष्णः । स य: स यज्ञः । तत्कृष्णाजिनम् ॥ यज्ञ ही कृष्ण है । यज्ञ कृष्णाजिन हैं । इस संकेत से भी कदाचित् यज्ञ में विनियुक्त यजुर्वेद को 'कृष्ण यजुर्वेद' कहा गया हो । और यजुर्वेद की शुद्ध संहिता को शुक्ल कहा गया हो ।

(२) असौ वा आदित्यः शुक्रः । श० ६ । ४ । २ । २१ ॥ एष वै शुक्रो य एष तपति । शत० ४ । ३ । १ । २६ ॥ आदित्य ही शुक्र है । शुक्र वह है जो यह तप रहा है ।

(३) तत्र ह्यादित्यः शुक्र श्चरति । आदित्य शुक्र रूप होकर विचरता है । इससे आदित्य 'शुक्र' होने से आदित्य से प्राप्त यजुर्गण शुक्र या 'शुक्ल यजु' कहाये ।

आदित्य को परमेश्वर का वेदमयस्वरूप हम पहले लिखे आये हैं । शुद्ध यजुर्वेद परमेश्वर से ही प्राप्त हुआ है इस कारण इस का नाम 'वाजसनेय' संहिता है । इस विषय पर प्रकाश डालने वाली नीचे लिखी ऋचा है जो ऋग्वेद अथर्व वेद दोनों में समान रूप से है ।

यदा वाजमसनद् विश्वरूपमा द्यामरुह दुत्तराभिसञ्च ॥
बृहस्पतिं वृषभं वर्धयन्तो नाना सन्तो विभ्रतो ज्योतिरासा ॥

ऋ० १० । ६७ । १० ॥

जब बृहस्पति विद्वान्, वेदज्ञ पुरुष 'विश्वरूप वाज' परमेश्वर के विश्वमय ज्ञान, वेद को प्राप्त करता है और वह तेजोमय मोक्ष या उत्कृष्ट पदों को प्राप्त करता है तब उस पर मेघ के समान ज्ञान के प्रदान करने वाले उस 'बृहस्पति' विद्वान् पुरुष को नाना प्रकार से (आसा ज्योतिर्बिभ्रतः) मुख से ज्ञानरूप ज्योति को धारण करते हुए नाना विद्वान् पुरुष (वर्धयन्त) उसकी ही महिमा को बढाते हैं । यहां बृहस्पति शब्द आचार्य और परमेश्वर दोनों का वाचक हो सकता है ।

इस मन्त्र में विद्वान् आचार्य एवं परमेश्वर का उच्च पदपर विराजना और उससे ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्वानों का उसकी विद्या को फैलाने का वर्णन प्रतीत होता है। पूर्ण वेदमय ज्ञान को 'विश्वरूप वाज' शब्द से कहा प्रतीत होता है। जो विद्वान् उस वाज को स्वय प्राप्त करे और दूसरो को सम्भाग करे, वितरण करे वह विद्वान् वेद के अनुसार 'वाजसन' कहावेगा उसके शिष्य वाजसनेय कहलावेगे। इस समाख्या से गुरुपरम्परा से परमेश्वर (आदित्य) से प्राप्त शुद्ध यजुर्वेद यह शुक्ल यजुर्वेद है इसमे सदेह नहीं है। यज्ञ क्रियाओ मे विनियुक्त हो जाने पर ब्राह्मणादि प्रवचनो से सयुक्त अन्य शाखा यज्ञमय होने से कृष्ण कहाई ऐसा प्रतीत होता है। अभी यह विषय और भी अधिक अनुशीलन चाहता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस पर कुछ भी प्रकाश नही डाला।

शाखा नामो की तुलना से भी हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि परस्पर मे नामो का कोई मेल नही है। शुद्ध नाम भी नहीं मिलते। इन शब्दो के शुद्ध रूपों की आशा केवल व्याकरण से तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में आये नामों से हो सकती है। परन्तु सब के वर्णन में एकता नहीं हैं। चरणव्यूहों तक मे भेद है। एक चरणव्यूह मे वाजसनेय शाखा के १५ भेद हैं तो दूसरे मे १७ भेद हैं। इसी प्रकार अन्यो में भी भेद है।

कठों की विशेष शाखाएं

कठों की भिन्न २ शाखाओं का उल्लेख नही है। तो भी इतना संकेत मिलता है कि—

"कठानां पुनर्वान्याहुः चत्वारिंशच्चतुर्युतान् ॥"

अर्थात् कठो के ४४ उपग्रन्थ कहे हैं। उनका कुछ पता नहीं चलता इसी सम्बन्ध में वेदो के निज्ञ श्रीपाद दामोदर जी सातवलेकर ने स्वप्रकाशित

यजुर्वेद की भूमिका में लिखा है 'तत्र कठानां चतुश्चत्वारिंशदुपग्रन्थाः' इस चरण व्यूह के लेख से इनको भी शाखा ही समझा है। और उनका लेखन न होने से उनको गणना के अयोग्य बतलाया है। परन्तु पण्डित महिदास ने कठों के ४४ उपग्रन्थो को ४४ अध्याय स्वीकार किया है। फलत. उनके यजु संहिता में ४४ अध्याय थे। ऐसा प्रतीत होता है। अब तो केवल पांच संहिताएं ही प्राप्त होती हैं।

(१) काठक संहिता (२) मैत्रायणी संहिता। (३) तैत्तिरीय संहिता। (४) वाजसनेय माध्यंदिन संहिता। और (५) काण्व संहिता। इन पाचो में से पहली तीनो की रचना समान है। और तीनो ब्राह्मण भाग से युक्त हैं। शेष दो काण्व और माध्यदिन दोनों बहुत अधिक समान है परन्तु तो भी इन दोनों मे मन्त्रों की न्यूनाधिकता पाठ, क्रम, प्रवचन आदि मे भेद है। इसी प्रकार वाजसनेय संहिता के माध्यंदिनी और काण्व शाखाओं में भेद है। परन्तु यह भेद बहुत भेद नहीं है। दोनो पर एक ही सर्वानुक्रम सूत्र है। दोनों का एक ही शतपथ ब्राह्मण है। शाखा भेद से ब्राह्मण-संहिताओ मे भी यत्किञ्चित् भेद है।

निगद और अयातयाम

अब प्रश्न यह है कि क्या वैशम्पायन को महर्षि व्यास ने जिस यजुर्वेद का उपदेश किया वह भिन्न था और याज्ञवल्क्य ने जो यजुर्गण आदित्य से प्राप्त किये वे भिन्न थे? यदि दोनो के भेद था तो दो यजुर्वेद सिद्ध होते है। परन्तु वेद ईश्वरोक्त होने से उनको दो नही माना जा सकता। हमारा अपना विचार है कि दोनों यजुर्वेद एक ही थे। कथाकारो ने स्पष्ट लिखा है।

वैशम्पायनसंज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥

अर्थात् वैशम्पायन को 'निगद' नाम यजुर्वेद दिया। 'निगद' का

अर्थ शुद्ध 'मन्त्र पाठ' है। यास्क को जहां मन्त्र की विशेष व्याख्या नहीं लिखनी होती वहां वह 'निगदेनैव व्याख्याता' लिखकर छोड़ देता है। महाभाष्यकार भी 'निगद' शब्द को केवल मन्त्र पाठ के लिये प्रयुक्त करते हैं।

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते
अनग्निरिव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।
पातञ्जलमहाभाष्ये पस्पशान्हिके।

'बिना समझे केवल जो वेदपाठमात्र पढ़ा जाता है वह बिना जले काष्ठ के समान कभी विद्या का प्रकाश नहीं होता इस वेदज्ञान के लिये व्याकरणादि अंगों का पढ़ना आवश्यक है।' हमारी पूर्व विवेचना से यह भी स्पष्ट है कि चरक वैशम्पायन का निज नाम था। उसको व्यासदेव कृष्ण ने शुद्ध यजुर्मन्त्रों का उपदेश किया यह स्पष्ट है। परन्तु यज्ञ में विनियुक्त करके ब्राह्मण से संवलित हो जाने पर पुनः वही कृष्ण' द्वैपायनप्रोक्त मन्त्र पाठ शुद्ध नहीं रहा। पुन. याज्ञवल्क्य की गुरु परम्परा में वह शुद्ध पाठ युक्त यजुर्वेद था वह बाद में भी बराबर शुद्ध मन्त्र मात्र ही रहा। इसलिये वह ही अभी तक यजुर्वेद माना जाता रहा है। महर्षि दयानन्द ने भी इसी कारण से उसी शाखा को शुद्ध यजुर्वेद स्वीकार किया है। ऐसा प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्य ने 'अयातयाम' यजुषों को प्राप्त किया इसका तात्पर्य यह है कि यजुष् इतने शुद्ध यजुष् थे कि मानों जिनको अभी एक प्रहर भी नहीं बीता हो। अर्थात् 'सदा से रहनेवाले', जो कभी पुरातन न हों, ऐसे सारवान् जिनका ज्ञानरस कभी क्षीण न हो।

भागवत के भाष्यकार श्रीधरस्वामी ने 'अयातयामानि' का अर्थ 'अयथावदविज्ञातानि' किया है, अर्थात् जिनका अन्य विद्वानों ने उस समय ठीक प्रकार से ज्ञान नहीं किया था।

वाजसनेय शाखानामों की तुलना

चरणव्यूह (यजु)	चरणव्यूह (शौनक)	चरणव्यूह (अथर्व)	विष्णु पु०	ब्रह्माण्ड पु०	हेमादि	वायु०
वाजसनेयाः	वाजसनेयाः		वाजसनेयाः			
जाबाला	जाबाला.	जाबालाः	जाबालाः	जाबालाः	जाबालाः	
	बौद्धायनाः		बौधायनीया	बौद्धकाः	बौधायनीयाः	
काण्वाः	काण्वाः	काण्वा	काण्वाः	कण्वाः	काण्वाः	काण्वा·
माध्यदिनाः	माध्यदिनेयाः	माध्यंदिनाः	माध्यंदिना'	मध्यंदिनाः	माध्यदिनाः	मध्यंदिना·
शापीयाः	शाफेयाः	शापेया.	शापेयाः	शापेयीः	शापेया.	
तापायनीयाः	तापनीयाः			तापनीयाः		
कापालाः	कपोला·	कपालाः	कपालाः		कपाला	
पौण्ड्रवत्साः	पौण्डरवत्साः	पौर्णवत्साः	पौण्ड्रवाः		पौण्डवाः	
आवटिका	आवटिका	आवटिकाः	रसाराविकाः	आराविकाः	रसाराविकाः	आटाविकाः
परमावटिकाः	परमावटिकाः	परमावटिकाः	परमाराविकाः		परमाराविकाः	
पाराशरीयाः	पाराशराः		पाराशराः		पाराशराः	
वैनेयाः	वैणेयाः					
	प्रद्धाः		ऋद्धाः	प्रद्धाः	ऋद्धाः	

बौधेयाः	बौधेयाः		बौधेयाः	वैधेया.	बोधेयाः	वैधयाः
गालवा				गालवा·		गालवाः
वैजया						
औवेया.						
कात्यायनीयाः						
		ताम्रायणीया·		ताम्रायणा·		ताम्रायणा.
						शालिन
						विदिग्धा
						उद्दला
				वात्सा		वात्स्या.
						शैपिरी
						पर्णी
						वीरणी
						परायणा
				केवला	सुपायिनः	अप्या
					अयोध्या.	
					अयोधेया.	

वाजसनेयों की सारणी देखने से प्रतीत होता है कि नामों में बड़ा भेद हैं। जाबाल सर्वत्र है। बौद्धायन, बौधायन, बौद्धक, बौधायनीय इतने नाम भेद हैं। जिनमें शुद्ध नाम बोधायन, प्राप्त होता है। इसके श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र भी मिलते हैं। काण्वशाखा भी सर्वत्र समान है इस शाखा, की संहिता, सर्वानुक्रम, तथा ब्राह्मण भी प्राप्त है। शापीय शाफेय, शापेय, शापेयी ये नाम उपलब्ध होते हैं। शौनकादिगण में 'शापेय' और 'सावेय' दोनों नाम उपलब्ध होते हैं। तापायनीय, तापनीय दोनों नाम हैं। कपाला', कपोलाः दोनों नाम प्राप्त हैं। सम्भवतः ये कलापी की प्रोक्त कालाप शाखा है जिसके अध्येता 'कालाप' कहाते थे। कलापी की वैशम्पायन के शिष्यों में गणना है। आवाटिक, और आटविक और अटवी तीनों नाम प्राप्त हैं 'रसाराविक' यह विकृत नाम भी मिलता है। इसी प्रकार परमावाटिक परमाराविक दोनों नाम मिलते हैं। सम्भवतः परमाटविक नाम शुद्ध हैं। अटवीका अर्थ अरण्य है। स्यात् आरण्यकाध्यायी आटविक परमाटविक कहाते हों। 'ट' और 'र' के लेखसाम्य से पाठ भेद होकर परमाराविक भी कहा गये हों। पराशर सर्वत्र समान है। अद्ध और 'ऋद्ध' दोनों मे अ और ऋ वर्णलिपि के समानता से बदले दीखते हैं। बौधेय, बोधेय' वैधेय भी इसी प्रकार हैं। गालव केवल एक चरणव्यूह और ब्रह्माण्ड और वायु पु० में मिलते हैं। वैजव केवल एक चरणव्यूह में हैं। औधेय और कात्यायन भी एक ही में है। कात्यायनीय श्रौत और गृह्यसूत्र मिलते हैं। 'ताम्रायणीय' भी तीन स्थानों पर प्राप्त हैं। केवल' शाखा एक स्थान में वत्स और वात्स्य ब्रह्माण्ड और वायु पु० में ही है। शालीन, विदिग्ध, उद्दल, शौषिरी पर्णी वीरणी परायण, और अप्य ये केवल वायु पु० में मिलते हैं। जिनमे उद्दल उद्दालकोक्त शाखा प्रतीत होती हैं। वंश ब्राह्मण में उद्दालक अरुण का शिष्य है। 'शिरीष' कुसुदादिगण और वराहादिगण (पा० ४।२।८०) में पठित है। विदग्ध या विजग्ध भी वराहादिगण में पठित है। शौरिष और शैपिरी एक ही हैं, वर्णव्यत्यय हो गया है। शिशिर शब्द का इससे

कोई सम्बन्ध नहीं । पर्णी, और वरणा दोनो शब्द वरणादिगण (पा० ४।२।८॥) में पढ़े हैं। हेमादिप्रोक्त ऋद्ध्य अयोध्य, अयोधेय, शब्द है इनमें से भी योधेयादि गण में यौधेय शब्द पठित हैं। इस गण पाठ से यद्यपि हम विशेष कोई परिणाम नहीं निकाल सकते परन्तु क्योंकि इनमें बहुत से प्राचीन आर्ष नाम भी पढ़े हैं इस सहयोग से सम्भवत ये शब्द शाखाकारों के मूल नाम हों। यही विकृत होकर स्थान २ पर दीखते हैं ऐसा विचार उत्पन्न होता है। अगले गवेषणाचतुर विद्वान् इससे कोई विशेष स्थिर परिणाम प्राप्त करें।

अभीतक शुक्ल शाखाओं के विषय में यह विचार प्राय देखने में आता है कि याज्ञवल्क्य के ही १५ शिष्यों नें १५ शाखाएं चलादी हैं। परन्तु हमें यह विचार बहुत अधिक महत्व का नहीं जंचता है। हमारे विचार में इन समस्त शाखाकारो का याज्ञवल्क्य से कोई सीधा साक्षात् सम्बन्ध नहीं हैं। वे कदाचित् उसके एक कालिक शिष्य भी नहीं थे। क्योंकि शतपथ के वशब्राह्मण में बहुत से शाखाकारों के नाम आते हैं जैसे याज्ञवल्क्य जिसका दूसरा नाम वाजसनेय भी कहा जाता है वह स्वयं उद्दालक का शिष्य है। उसका शिष्य आसुरि है। उद्दालक की प्रवर्त्तित शाखा का उल्लेख 'उद्दल' नाम से वायु पुराण में प्राप्त है। याज्ञवल्क्य से ६ पीढ़ी पूर्व वाजश्रवा नाम गुरु हैं। कदाचित् उनका दूसरा वाजसन' नाम हो इससे भी इस शाखा का नाम वाजसनेय चलना सम्भव है। इस वश के सब से प्रथम गुरु 'आदित्य' का नाम है इससे ये 'आदित्य' स प्राप्त यजुर्वेद कहे जाते हैं। शिष्य परम्परा से अनन्त शिष्यों के पास पहुच कर भी उनका ज्ञानरस वैसा का वैसा ही सारिष्ट रहा इससे 'अयातयाम' कहाये। 'पाराशर' एक शाखाध्यायी हैं। परन्तु वशब्राह्मण में पाराशरीपुत्र वार्कारुणीपुत्र के शिष्य और भारद्वाजीपुत्र के गुरु हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण मे 'वत्स' और वायु पु० में वात्स्य शाखा का नाम लिखता है भारद्वाजीपुत्र का शिष्य वात्सी-पुत्र था। इसी प्रकार द्वितीय वशब्राह्मण में शाण्डिल्य का शिष्य वात्स्य है। और जातुकर्ण्य का पाराशर्य है। चरणव्यूह, ब्रह्माण्ड और वायु

में गालव शाखा का नाम लिखा है। वंश ब्राह्मण में विदर्भी कौण्डिन्य का शिष्य गालव है। बौद्धायन, बोधायन, आदि का प्राय सभी ने उल्लेख किया है। वशब्राह्मण (१) में शालकायनी पुत्र का शिष्य बोधी पुत्र है। इसी प्रकार यदि सभी अन्य शिष्य परम्पराओ का पता लग जाय तो और शाखाओं के प्रवर्त्तकों का विवरण भी स्पष्ट हो सकता है।

मैत्रायणीय के ७ भेद

चरणव्यूह (यजुः)	चरणव्यूह (शौनकः)	चरणव्यूह अथर्व	विष्णु०	वायु०
मानव	मानव		मानव	
वाराह	वाराह		वाराह	
दुन्दुभ	दुन्दुभ		दुन्दुभ	
छागलेय			छागेय	
हारिद्रवीय	हारिद्रवेय	हारीतकर्ण	हारिद्रवीय	
श्यामायनीय	श्यामायनीय		श्यामायनीय	श्यामायनि
	श्याम		श्याम	
	चैकेय			

मानव, वाराह, दुन्दुभ हारेद्रवाय, श्यामयनीय, ये शाखा सर्वत्र समान हैं। छागलेय का दूसरा नाम छागेय हैं। छगलिनो ढिनुक्। पा० ४। ३। १०६॥ में 'छागलेयिनः' ऐसा पाणिनिसिद्ध प्रयोग शाखाध्यायी शिष्यों के लिये आता है। छगली, कलापी के चार शिष्यों मे से एक है। श्यामायन वैशम्पायन के शिष्यों में है, उसके शिष्य 'श्यामायनी' कहाये हैं। हरिद्र वीयों का पूर्व भी लिख आये हैं। उसका ब्राह्मणों में वर्णन आता है। अथर्व चरणव्यूह मे 'हारितकर्ण' लिखा है। यह वंश ब्राह्मण मे भारद्वाजी-पुत्र का शिष्य हारीतकर्ण पुत्र है। श्याम शाखा का उल्लेख यजु० चरणव्यूह और विष्णु पु० ने किया है। चैकेय भी अज्ञात सा नाम है।

चरक शाखा के द्वादश भेद

चरणव्यूह (यजु)	चरणव्यूह शौनक	चरणव्यूह अथर्व	विष्णु०	वायु०	ब्रह्माण्ड	हेमाद्रि
चरका.	चरका	चरका	चरकाः	चरका.		चरकाः
आह्वरका	आह्वरकाः	आह्वरकाः				कठका
कठा	कठा		कठा			कठा
प्राच्यकठा.	प्राच्यकठा	प्राच्यकठाः	प्राच्यकठा			प्राच्यकठाः
कपिष्ठलकठा	कपिष्ठलकठाः	कपिष्ठलकठाः	कपिष्ठलकठाः			कपिष्ठलकठाः
चारायणीया	चारायणीयाः					
वारायणीयाः	वारायणीयाः					नारायणीयाः
वार्त्तान्तवेया	वार्त्तान्तवीयाः					
श्वेताश्वतरा.	श्वेताश्वतरा.	श्वेततराः	श्वेताश्वतराः			श्वेताश्वतराः
औपमन्यवा	औपमन्यवा					
पातण्डिनीया.	पातण्डनीया					मैत्रायणा
मैत्रायणीया.	मैत्रायणीयाः	मैत्रायणीया	मत्रायणाः			हारिद्रवीयाः
						श्वेता.

इन नामों में बहुत कम भेद है। हेमाद्रि ने 'करकाः' लिखा है। पं० महीदास ने चरकाध्वर्युओं को वरकाध्वर्यु इस नामान्तर से भी लिखा है। हेमाद्रि ने नारायणीय नामान्तर दिया हैं। वरतन्तु से 'वारतन्तवीय' शब्द व्युत्पन्न होता है। चरणव्यूहों में यह शब्द विकृत कर दिया है। 'चारायण' आचार्य का नाम प्राचीन अर्थशास्त्रो में उपलब्ध होता हैं। कठ वैशम्पायन के साक्षात् शिष्य थे। पाणिनि सम्प्रदायने वैशम्पायन को ही चरक माना है। उसके ६ शिष्य माने हैं। आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य श्यामायन कठ और कलापी। प्रचलित इन १२ नामों में केवल कठ और चरक का पता चलता है। बाकी सब वैश्यम्पायन के साक्षात् शिष्य नहीं हैं। वरतन्तु सम्प्रदाय का नाम चरकों में हैं परन्तु वह न वैशम्पायन के शिष्यों में और न कलापी के शिष्यों में हैं। वे स्वतन्त्र आचार्य प्रतीत होते हैं। वारायणीय को हेमाद्रि ने नारायणीय लिखा है। इस नाम से यजुर्वेद का पुरुष सूक्त और उस का अगले अध्याय के द्रष्टा ऋषि नारायण हैं। और तैत्तिरीयारण्यक में नारायणोपनिषत् भी हैं। कदाचित् वही इस शाखा के प्रवर्तक हों। श्वेताश्वतर शाखा की इसी नाम से उपनिषद् प्राप्त है। निरुक्तकार यास्कने औपमन्यव का उल्लेख किया है। पातण्डिनीय या पाताण्डनीय यह नाम विकृत हैं। वैशम्पायन के नव शिष्यो में ताण्ड्य का नाम हैं। इसके शिष्य ताण्डिन्' कहाते हैं। अग्नि पुराण ने एक वैशम्पायनी शाखा का भी स्वीकार किया है। 'मैत्रायणी' शाखा की संहिता उपलब्ध है। आह्वरक शाखा का पता नहीं चला। कठ वैशम्पायन के शिष्य प्रसिद्ध हैं। देशभेद से प्राच्यकठ और गोत्र भेद से कपिष्ठल कठों का भेद हुआ है। हरिद्रु कलापी का शिष्य है। उससे हारिद्रवीय शाखा चली, इसका उल्लेख हेमाद्रि ने किया है।

तैत्तिरीयों के शाखा-भेद

तैत्तिरीयों के मुख्य दो भेद हैं। औखेय और खाण्डिकेय। पाणिनि ने तित्तिरि वरतन्तु और खाण्डिक, उख इन चारों का नाम एकही स्थान पर रख दिया है। तित्तिरिवरतन्तुखाण्डिकोखाच्छण्। वे चारों स्वतन्त्र आचार्य प्रतीत होते हैं। तित्तिरि के शिष्य तैत्तिरीय, खण्डिक के शिष्य खाण्डिकीय और उख के शिष्य औखीय और वरतन्तु के 'वारतन्तवीय' कहाते हैं। तित्तिरि वैशम्पायन के शिष्य नहीं थे। फिर उनकी शाखा कृष्ण क्यों कहाई यह विचारणीय हैं।

खाण्डिकेयों के पांच भेद

चरणव्यूह (यजुः)	चरणव्यूह (शौनकः)	विष्णु
कालेता		कोलया
शाट्यायनी	काट्यायनाः	
हैरण्यकेशी	हैरण्यकेशा	हिरण्यकेशाः
भारद्वाजी		भारद्वाजाः
आपस्तम्बी	आपस्तम्बाः	आपस्तम्बा.
	बौधायनाः	बोधायनीयाः
	सत्याषाढा	

खाण्डिकेयो के पांच भेद हैं आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्य केश और काट्यायन आपस्तम्ब मुनिप्रोक्त धर्म, गृह्य और श्रौत सूत्र और यज्ञ परिभाषा सूत्र उपलब्ध है। परन्तु वाजसनयो में भी एक बौद्धायन और 'बौधेय' नाम आते हैं। वंशब्राह्मण में सालकायनीपुत्र का

शिष्य बौधीपुत्र मिलता है। हिरण्यकेशी संहिता प्राप्त है। इस शाखा के मानने वाले मिलते हैं। मानव गृह्यसूत्र हिरण्यकेशीय शाखा के हैं। कदाचित् पूर्वोक्त मानव शाखा मैत्रायणीयों का भेद होकर भी हिरण्यकेशीयो मे सम्मिलित हो। 'काट्यायन' शाट्यायन शब्द का अपभ्रष्ट स्वरूप प्रतीत होता है। शौनक चरणव्यूह में शाट्यायन का नाम है। इस नाम का श्रौतसूत्र प्राप्त है। ब्राह्मणो में भी स्थान २ पर यह नाम आता है। भारद्वाज का गृह्यसूत्र प्राप्त है। इसका वशब्राह्मण मे भी कई वार नाम आया हैं। सत्याषाढ़ों का श्रौतसूत्र उपलब्ध है। और शेष शाखा के भेदों का उल्लेख कहीं नही मिलता। इन सब भेदों के अतिरिक्त। अथर्व परिशिष्ट चरणव्यूह मे 'उपल' शाखा का नाम है शुद्ध शब्द 'उलप' प्रतीत होता है। वह कलापी के चार शिष्यों मे से है। वहां ही तान्त्रायणीय नाम भी है। शुद्ध शब्द 'तौम्बुरविण' प्रतीत होता है। 'तुम्बुरु' कलापी के चार शिष्यों मे हैं। वायुपुराण मे आरुणि और आलम्बि दो नाम और मिलते है। अरुण उद्दालक के गुरु हैं। दूसरे, वैशम्पायन के नव शिष्यो में एक 'अरुण' है उसके शिष्य भी आरुणि कहाये। 'आलम्बी' वैशम्पायन के नव शिष्यों मे एक हैं। और वंश ब्राह्मण में आलम्बायनीपुत्र का शिष्य आलम्बी पुत्र है।

इस प्रकार बहुत से नाम वशब्राह्मणों मे मिल जाते हैं और वेही नाम शिष्यों से भी मिलते हैं। अतः किससे शाखा नाम चला, नहीं कहा जा सकता। कदाचित् प्राचीन नामों को ही पीछे से किसी भी रूढि के वश शिष्यादि रूप से कल्पित कर लिया हो। या एक ही नाम के बहुत से हो गये हों इत्यादि सभी समस्याएं अन्धकार में हैं। स्वल्प स्थान मे हमने बहुत से नामो का दिग्दर्शन मात्र करा दिया है। आगे निर्णय करना विद्वानों का कार्य है। शतपथ ब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषत् मे जो वंश ब्राह्मण दिये है उनकी शिष्य परम्परा नीचे देते हैं।

(१) शतपथान्तर्गत वंशब्राह्मण । (शत० १४ । ६ । ४)

१. आदित्य· । २. अग्निभणी । ३. वाक् । ४. काश्यप· नैध्रुवि । ५. कश्यप. शिल्प । ६. कश्यप हरित. । ७. आसितः वार्षगण । ८ जिह्वावान् बोध्यागः । ९. वाजश्रवाः । १०. कुश्रिः । ११ उपवेशि । १२ अरुण· । १३. उद्दालक । १४. याज्ञवल्क्य । १५. आसुरि. । १६. आसुरायण· । १७. प्राश्नीपुत्र (आसुरिद्वासी) । १८. कार्शाकैयी पुत्र. । १९. साजीवी-पुत्र. । २०. प्राचीनयोगी पुत्र । २१. भालुकीपुत्र । २२ वैदभृतीपुत्र. । २३ क्रौञ्चुकीपुत्रः । २४ राथीतरीपुत्र । २५. शाण्डिलीपुत्र । २६. भाण्डुकीपुत्र. । २७. सांहुकायनीपुत्रः । २८. जायन्तीपुत्रः । २९ आल म्बायनीपुत्र· । ३० आलम्बीपुत्र । ३१ सांकृतीपुत्र । ३२ शौङ्गीपुत्रः । ३३. आर्त्तभागीपुत्र. । ३४ वार्कारुणीपुत्र । ३५ पाराशरीपुत्र । ३६ भार-द्वाजीपुत्र । ३७. वात्सीपुत्र । ३८ गौतमीपुत्र. । ३९. आत्रेयीपुत्र· ४०. गौतमीपुत्र· । ४१. वार्षगणीपुत्र. । ४२. शालङ्कायनीपुत्र । ४३. बौधी-पुत्र । ४४ कौत्सीपुत्र । ४५ काश्यपीबालानया माठरीपुत्र. । ४६ शौन-कीपुत्र· । ४७ पैङ्गीपुत्र । ४८ भारद्वाजीपुत्र । ४९ हारि(त) कर्णी-पुत्र. । ५० मौषिकीपुत्र । ५१ वाडेयीपुत्र । ५२ गार्गीपुत्र । ५३ पारा-शरीकौण्डिन्यापुत्र । ५४. गार्गीपुत्र. । ५५ वात्सीमाण्डवीपुत्र. । ५६. भारद्वा-जीपुत्रः । ५७. वयम् ।

(२) वंशब्राह्मण (शत० १४ । ५ । १९—२२)

१ स्वयंभुब्रह्म । २. परमेष्ठी । ३. सनक । ४. सनातनः । ५. स-नारु । ६. व्यष्टि । ७ विश्वजित्ति । ८. एकर्षि । ९ ध्वंसनः । १०. ध्वंसनो मृत्यु. । ११ दैव. अथर्वा । १२. दध्यङ् आथर्वण· । १३. अश्विनौ । १४. त्वाष्ट्र· विश्वरूप । १५. त्वाष्ट्र आभूति । १६. आयास्य आङ्गिरसः । १७. सौभर पन्था । १८. वत्सनपात् बाभ्रव । १९. विदर्भी कौण्डिन्य. । २०. गालव. । २१. कुमारहारीतः । २२.

काप्यः कैशोर्यः । २३. शाण्डिल्यः । २४. वात्स्य' । २५. गौतमः । २६. मा[1]ण्टिः । २७ आत्रेय. । २८ भारद्वाज । २९. भारद्वाज. । ३०. आसु[2]रिः । ३१ औपजन्धनिः । ३२. त्रैवणिः । ३३. आसुरायण यास्कः । ३४. भारद्वाज । ३५. जातुकर्ण्य. । ३६. पाराशर्य' । ३७. पारशर्यायण: । ३८. घृतकौशिकः । ३९. कौशिकायनिः । ४०. सायकायनः । ४१. अ[1]-पजन्धनिः । ४२. त्रैवणिः । ४३. सौकरायण' । ४४. कापायणः । ४५ बलाकाकौशिकः । ४६. भारद्वाज । ४७. गौतमः आसुरायण । ४८ भारद्वाज । ४९. जातूकर्ण्य. । ५०. पाराशर्य । ५१. सैतवः । ५२. अग्निवेश्यः कौण्डिन्य । ५३. कौण्डिन्य । ५४. कौण्डिन्यः । ५५. और्णवाभः । ५६. कौण्डिन्यौ । ५७. कौण्डिन्यायन. । ५८. पौतिमाष्यायणः । ५९. रेभ्यः । ६०. जैवन्तायन शौनकः । ६१ रौहिणायन । ६२. शाण्डिल्यः । ६३. वैष्टपुरेयः वैजपायनः । ६४. गौतम' वैजवापः । ६५. शाण्डिल्यः । ६६. औदवाहिः । ६७. भारद्वाज. । सांकृत्यः । ६८. पाराशर्त्यः । ६९. वात्यः । ७०. गौतमः । ७१. शौर्पणाय्य. ।

(३) वंशब्राह्मण (बृहदा उप० ६ । ५)

१. स्वयंभु ब्रह्म । २. प्रजापतिः । ३. तुर. कावषेय. । ४. राजस्तम्बायनः । यज्ञवचा. । ५. कुश्रि. । ६. वात्स्यः । ७. शाण्डिल्य: । ८. वामकक्षायणः । ९. माहित्थि. । १०. कौत्सः । ११. माण्डव्यः । १२. माण्डूकायनिः । १३. सांजीविपुत्रः । (शेष (१) वंश ब्राह्मण में देखो)

प्रस्तुत भाष्य

प्रस्तुत भाष्य मे यह यत्न किया गया है कि जहां तक सम्भव हो सरल, बुद्धिगम्य प्रस्फुट अर्थ, पाठकों को विदित हो । अन्य पक्षों को भी प्रस्तुत भाष्य में यथास्थान संक्षेप से स्वल्प से ही दर्शाया गया है । कर्मकाण्ड के प्रकरण की हमने स्वय उपेक्षा की है । क्योंकि

उसके विवरण के लिये सब्राह्मण मूलमन्त्र के व्याख्यान की आवश्यकता है। उसके लिये विशाल ग्रन्थ अपेक्षित हैं। जिन पक्षों पर महर्षि दयानन्द ने अपने आकर भाष्य में प्रकाश डाला है उनको पिष्टपेषण जान कर विशेष रूप से नहीं दर्शाया गया। महर्षि के पदार्थ-भाष्य की तुलना प्राचीन किसी भाष्य से भी नहीं की जा सकती। क्योंकि वे यज्ञपक्षीय हैं और महर्षि का पदार्थ-भाष्य सर्वतो भद्र है। भाषान्तरकार बहुत से स्थलों पर महर्षि के भावो को सुसयत भाषा मे स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। बहुत से स्थलों पर भाव विकृत भी कर दिया है। पदार्थ भाष्य में महर्षिदयानन्द ने जितने पक्षो को दर्शाने का कौशल दर्शाया है भाषान्तरकारों ने उसपर विशेष विचार नहीं किया है। कुछ स्थल महर्षि के भाष्य में विचार योग्य हैं। उनपर मत भेद हो जाना स्वाभाविक है। महर्षि दयानन्द मार्गदर्शी गुरु हैं। इसमे तानिक भी सदेह नहीं।

भूमिका में जितने अशों को दर्शाया है उससे अतिरिक्त विशेष वक्तव्य विषय अगले खण्ड की भूमिका में दर्शाये जावेगें। और बहुत से विषय महर्षिदयानन्द ने स्वयं अपनी ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका में दर्शा दिये हैं। उनको सर्व विदित जानकर यहां पिष्टपेषण नहीं किया गया। यही शैली पूर्व के खण्डो की भूमिकाओं में भी समझना चाहिये।

मैं मनुष्य हूं, निर्भ्रान्त नहीं हू। सर्वज्ञ भी नहीं हूं। और किसी भी मनुष्यसीमा में स्थित व्यक्ति को सर्वज्ञ, निर्भ्रान्त, तथा एकान्त प्रमाण भी नहीं मानता हूं। सब पूर्वाचार्यों को और उनके वैदिक मार्ग में यथाशक्ति किये यत्न को वेद की रक्षा के निमित्त जान कर मान और आदर का पात्र समझना हूं। मत-भेद होने से कोई विद्वान् अशिष्टोचित अनादर का पात्र नहीं हो सकता। किसी पूर्वाचार्य ने भी अगलों के लिये वेद मार्ग पर विचार करने और स्वतन्त्र भाष्य बनाने का निषेध नहीं किया। और न किया जा सकता है।

यह मेरा परिश्रम गुण ग्राहियो के लिये लिये है। दुर्भाव से भाष्य पर दुर्दृष्टि करने वालों के लिये मैंने कुछ नहीं किया है। इस में सदेह नही कि दोषदर्शन करने मे निपुण खलो के लिये इसमे सहस्रों कल्पित दोष दीखेगे। परन्तु गुणग्राही सज्जनो को मेरे सहस्रो दोषों में से भी गुण दिखाई देगें। और वे उसको अपने स्वभाव के अनुसार हंस के समान अवश्य ग्रहण करेगे। उपसंहार में मै सज्जनों और दुर्जनों के स्वभावो का कुछ वर्णन पूर्व विद्वानों के शब्दों मे करता हूं जिससे पाठक शीघ्र ही इस भाष्य पर किये सदालोचनो और कदालोचनों का भेद और उनके कर्त्ताओ का विवेक कर सकेंगे।

सज्जनों के गुण

(१) नागुणी गुणिनं वेत्ति गुणी गुणिषु मत्सरी।
गुणी च गुणरागी च विरलः सरलो जनः ॥

गुणहीन पुरुष गुणवान् को नहीं पहिचान सकता। गुणवान् होकर भी पुरुष गुणवानों से इर्षा करता है। परन्तु स्वय गुणवान् और दूसरों के गुणो का प्रेमी सरल सज्जन विरला ही होता है।

(२) मुखेन नोद्गिरत्यूर्ध्वं हृदयेन नयत्यधः।
जरयत्यन्तरे साधुर्दोषं विषमिवेश्वर ॥

सज्जन पुरुष दूसरे के दोष को मुख से ऊंचे नही बोलता। वह उसको नीचे हृदय तक भी जाने नहीं देता। वह बीच ही मे ऐसे नष्ट कर देता है जैसे शिव ने कण्ठ में ही गरल रख लिया।

(३) शून्येऽपि गुणग्रन्थामातन्वान. स्वकीयगुणजालै।
विवराणि मुद्रयन् द्रागूर्णायुरिव सज्जनो जयति ॥

गुण न होने पर भी अपने गुणों से गुण बतलाकर दूसरो के छेदों को मूदने वाला सज्जन मकड़ी के समान सर्वोत्कृष्ट है।

(४) अमृतं किरति हिमांशुर्विषमेव फणी सम्पुद्गिरति ।
गुणमेव वक्ति साधुर्दोषमसाधु प्रकाशयति ॥

चन्द्र सदा अमृत बरसाता है, सांप विष उगलता है, सज्जन गुण बखानता है, दुर्जन दोष दिखाया करता है।

(५) दोषो गुणाय गुणिनां महदपि दोषाय दोषिणां सुकृतम् ।
तृणमिव दुग्धाय गवां दुग्धमिव क्षिपाय सर्पाणाम् ॥

गुणग्राहियों को दूसरे के दोष भी गुण से भासते हैं, दोषदर्शियों को बड़ा उपकार भी दोष ही जंचता है। गौवें तृण खा कर भी दूध बनाती हैं और सर्प दूध पीकर भी विष घोलते हैं।

(६) नम्रत्वेनोन्नमन्त परगुणकथनैः स्वान् गुणान् ख्यापयन्त ।
सन्त. साश्चर्यचर्या जगति बहुमता कस्य नाभ्यर्चनीया ॥

सज्जन विनय से झुककर ही ऊंचे चढ़ते हैं वे दूसरे के गुण वर्णन करके ही अपने गुण प्रकाशित करते है। ऐसे आश्चर्यजनक जीवनचर्या वाले सज्जन किसके आदरणीय नहीं।

दुर्जन-स्वरूप।

(१) खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

दुष्ट पुरुष दूसरे के सरसों के बराबर भी छेदों को देखा करता है और अपने बेल फल के समान बड़े छेदों को भी नहीं देखता।

(२) न विना परवादेन रमते दुर्जनो जनः ।
काकः सर्वरसान् भुक्त्वा विना ऽमेध्यैर्न तृप्यति ॥

दुर्जन पुरुष बिना परनिन्दा के नहीं चैन लेता। कौवा सब उत्तम रस खा कर भी बिना गन्दगी खाये नहीं तृप्त होता।

(३) संत्यज्य शूर्पवद् दोषान् गुणान् गृह्णाति पण्डितः ।
दोषग्राही गुणत्यागी पल्लोलीव हि दुर्जनः ॥

छाज के समान सज्जन दोषो को त्याग कर गुणों को ग्रहण करता है । छालनी के समान दुर्जन दोषो को लेकर गुणों का त्याग कर देता है ।

(४) दुर्जनो दोषमादत्ते दुर्गन्धिमिव सूकरः ।
सज्जनश्च गुणग्राही हंसः क्षीरमिवाम्भसः ॥

दुर्जन दोष ही पकड़ता है जैसे सूअर मल पर ही जाता है । सज्जन गुण ही ग्रहण करता है जैसे हंस जल में से भी दूध लेलेता है ।

(५) वृथाज्वलितकोपाग्नेः परुषाक्षरवादिनः ।
दुर्जनस्यौषधं नास्ति किंचिदन्यदनुत्तरात् ॥

व्यर्थ कोपाग्नि भड़काने वाले, कठोर वचन बोलने वाले दुर्जन का औषध सिवाय मौन के दूसरा नहीं ।

इस प्रकार सज्जन दुर्जन की विवेचना के मननसे ही समस्त पाठक सज्जनों के मार्ग का अनुसरण करेंगे । मनुष्य होने के कारण प्रभु की परम वाणी के अत्यन्त गूढ़ अर्थों को मैं प्रकट करने में कितनी त्रुटियां कर सकता हूं इसको मैं ही जानता हूं । और उस अनन्त ज्ञानमय प्रभु की वाणी के पद २ में भरे अनन्त तत्व ज्ञान को सीमा से बांधने में हमारे इन परिमित पदों और क्षणभीमित मानस संकल्पों का क्या सामर्थ्य ? यह तो सब केवल ब्रह्मयज्ञ को कर्त्तव्य समझ कर अपने ही अन्तस्तल को सुखी करने के लिये किया गया है । जो सहृदय मेरे इस प्रयास के साथ २ अपने स्वाध्याय रूप ब्रह्मयज्ञ का सम्पादन करेंगे उनको भी यदि कुछ सन्तोष प्राप्त हो तो इससे अधिक सुख का विषय और क्या है ? विद्वान् वाचकों से हमारा निवेदन यह है कि मेरे इस प्रयास में वे जो त्रुटियां पावें मुझे स्वयं उनसे सूचित करें जिससे अगले संस्करणों में उन त्रुटियों को

दूर करके इस ग्रन्थ को और भी अधिक उत्तम बनाकर ऋषिऋण से मुक्त हो सकूं। अन्त में ईश्वर से प्रार्थना है कि वह स्वयं यज्ञपुरुष मुझे इस पवित्र वेदाध्ययनरूप तप और वेदचिन्तन रूप महान् ब्रह्मयज्ञ में सफल करें। अन्त में पुनः भवभूति के शब्दों में निवेदन है कि—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि ? तान् प्रति नैष यत्नः ॥

एवं भट्ट कुमारिल के शब्दों में

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्य· स्खलन्नपि ।
नहि सद्-वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्युपेक्ष्यते ॥

तथा—गच्छत स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥

अजमेर, केसरगंज,
फाल्गुन कृष्णा, अष्टमी
१९८६ वैक्रमाब्द ।

विद्वानों का अनुचर—
जयदेवशर्मा विद्यालंकार
मीमांसातीर्थ ।

विषय-सूची

प्रथमोऽध्यायः (पृ० १–३०)

मन्त्र (१) परमेश्वर से अन्न, बल की प्रार्थना। रोगरहित पशु सम्पत्ति की इच्छा। दुष्ट पुरुषों का नाश। (२) यज्ञपति प्रभु से तेजोवृद्धि की प्रार्थना। (३) सहस्रधार और शतधार वसु का वर्णन। (४) विश्वकर्त्री और विश्वधात्री परमेश्वरी शक्ति। (५) व्रतपति की आराधना। (६) सर्वनियोजक प्रभु। (७–९) दुष्टो का दमन। (१०) अन्न, ऐश्वर्य की प्राप्ति। (११) दुष्टों के संतापक अग्नि रूप राजा की स्थापना। (१२) राजा और नेताओं का कर्त्तव्य। (१३) नेता का वरण, प्रोक्षण, दीक्षा, और त्रुटियों का दूर करना। (१४) दुष्टों के दमन कर्त्तव्य का उपदेश राजा के कर्त्तव्यों का मुसल और पाषाण के दृष्टान्त से वर्णन। १५. अन्न आदि उत्पत्ति का उपदेश। (१६) दुष्टों का न्याय विभाग द्वारा अपराधविवेचन, दमन। (१७, १८) शत्रुवध का उपदेश। (१९) प्रजाओं की रक्षा का उपदेश (२०) राष्ट्र के दीर्घ जीवन के लिये राष्ट्रपति की स्थापना। (२१) योग्यों से योग्यों के मिलाने का उपदेश। २२. गृहस्थ पतिपत्नी के दृष्टान्त से राष्ट्र का वर्णन। (२३) राजा और पुरुष को कार्यभार उठाने के लिये निर्भय होने का उपदेश। (२४) विद्युत् अस्त्र से शत्रुओं का नाश। (२५, २६) राजा का पृथ्वी के प्रति कर्त्तव्य और दुष्टों का दमन। (२७) राष्ट्र के ब्रह्म, क्षत्र, और ऐश्वर्य तीनों बलों की वृद्धि, पृथ्वी का वर्णन। (२८) युद्ध-यज्ञ। (२९, ३०) दुष्टो के दमन के लिये शत्रु-नाशनी सेना। (३१) आयुधों का स्वरूप।

द्वितीयोऽध्यायः (पृ० ३१-६०)

(१) प्रजावृद्धि के लिये राजा, यज्ञ, गृहस्थ के अभिषेक का उपदेश। (२) राजा आदि के स्वागत का उपदेश। (३) तेजस्वी विद्वान्, मित्र, और

वरुण और राजा के कर्त्तव्य ।(४) विद्वान् अग्रणी की स्थापना और पक्षान्तर में परमेश्वर की स्तुति ।(५)राजा के तेजस्वी होने का उपदेश ।(६) ब्रह्माण्ड और राष्ट्र की तीन बड़ी शक्तियों की तुलना । राजा, अधिकारी और प्रजाओं का उचित अधिकार । (७) राजा का अभिषेक और राष्ट्र चालकों के वेतन रूप स्वधा ।(८)परमेश्वर और राजा की आज्ञा का पालन । (९) दूतस्थापन, सत्पुरुष रक्षा, ऐश्वर्य प्राप्ति । (१०) आत्मबल, सत्य आशीर्वाद, और ज्ञान की याचना ।(११) उत्तम माता पिता की शिक्षा की प्राप्ति और उत्तम स्वास्थ्य । (१२) यज्ञपति के रक्षा की प्रार्थना । (१३) विद्वान पुरुष का यज्ञ सम्पादन । (१४) अग्नि स्वरूप तेजस्वी पुरुष की वृद्धि और उसके अधीनों की वृद्धि । (१५) विजयलाभ, ऐश्वर्यवृद्धि, द्वेषी पुरुष का पराजय, युद्धोपयोगी सेना बल की वृद्धि । (१६) विद्वान् प्रजाओं के लिये राजा का अभिषेक, उसकी रक्षा, उत्तम राज्य की प्राप्ति । तथा आधिभौतिक यज्ञ का वर्णन । (१७) (१८) व्यवहार कुशल पुरुषों द्वारा राष्ट्र की सीमाओं की रक्षा ।(१९) अग्नि और वायु नामक दो अधिकारी । (२०) दुःख, अविद्या, पाप, से रक्षा, सुख शान्ति, उत्तम ज्ञान की प्राप्ति । (२१) वेदमय देव का स्वरूप । (२२) आधिभौतिक यज्ञ और राष्ट्र का वर्णन । (२३) यज्ञ का स्वरूप । (२४) शुद्ध मनन शक्ति, तेज और ऐश्वर्यों की वृद्धि और शुद्धि की प्रार्थना । (२५) व्यापक परमेश्वर और राष्ट्र में व्यापक राजशक्ति का वर्णन । (२६) परमेश्वरसे तेज और बल की प्रार्थना । २७) उत्तम गृहस्थ होने की प्रार्थना । (२८) व्रत पालन । (२९) उत्तमों का पालन और दुष्टों का दमन । (३०) नीच लोगों का निर्वासन । (३१ वृद्धजनों को प्रसन्न रखना । (३२) उनका आदर । ३३ उत्तम सन्तान उत्पन्न करना, उत्तम पुरुष बनाना । (३४) उत्तम पदार्थों से पिता, माता, वृद्ध जनों का तर्पण ।

तृतीयोऽध्यायः (पृ० ६१–९९)

(४) यज्ञ, अग्नि का उपयोग, और ईश्वर उपासना । (५)

अग्न्याधान, राजा का स्थापन और गृहस्थ कर्म का महत्व। (६-८) सूर्य और पृथ्वी का सम्बन्ध। (९. १०) प्रातः सांय के हवन मन्त्रों में ईश्वर-उपासना और भौतिक तत्व। (११) उत्तम मन्त्र का उपदेश। (१२) सूर्य, राजा और परमेश्वर। (१३) विद्युत् अग्नि, तथा राजा और सेना नायक दोनों का वर्णन। (१४) उच्चपद की प्राप्ति। (१५) उच्चपद-प्राप्त राजा, और विद्वानों का संग। (१६) विद्वानों द्वारा शक्तियों का दोहन (१७) आयु की याचना। (१८) वीर बलवान् होकर दीर्घ जीवन की प्राप्ति। (१९) तेज की प्राप्ति। (२०) उत्तम अन्न का भोजन। (२१, २२) प्रजाओं और पशुओं का सम्पन्न होकर बसना। (२३) ईश्वर और राजा का स्वरूप। (२४) राजा का परमेश्वर के समान प्रजा के प्रति पिता के तुल्य होने का उपदेश। (२५) उसका प्रजा का रक्षक होने का कर्त्तव्य। (२६) उससे, ज्ञान, न्याय, दुष्टदमन की याचना करना। (२७) राजा का उत्तम संकल्प। (२८) राजपद पर योग्य की नियुक्ति। (२९) राजा का कर्त्तव्य। (३०) विद्वान् से रक्षा की प्रार्थना। (३१) सुव्यवस्थित राष्ट्र। (३२) उसमें दुष्टों के दमन का लक्ष्य (३३) विद्वानों के लक्षण। (३४) राजा का कर्त्तव्य, प्रजा का पोषण, (३५) पापनाशक परमेश्वर राजा। (३६) राजा का अपराजित रथ, (३७) प्रजा पशु, अन्न, इनकी रक्षा। (३८) सम्राट् का प्रजा को ऐश्वर्य, और बल देने का कर्त्तव्य, (३९) गृहपति राजा का कर्त्तव्य, (४०) अग्रणी, नेता विद्वान का कर्त्तव्य, (४१, ४२, ४३) गृहपति और गृहजनों और प्रजा और अधिकारी जनों का परस्पर परिचय, सद्भाव, अभय होना। (४४) उत्तम विद्वानों का आमन्त्रण। (४५) दुश्चरित्र का त्याग। (४७) कर-व्यवस्था। (४७) श्रमी, कर्मकर और वेतनों की व्यवस्था। (४८) राजा के कर्त्तव्य। (४९) व्यापार और विनियय करने के नियम। (५०) परस्पर विनियम और साख। (५१) विद्वानों के कर्त्तव्य उत्तम पदार्थ प्रस्तुत करना, राजा का काम रक्षा करना। (५२) सर्वनिरीक्षक राजा का आदर। (५३) मानस शक्ति की

वृद्धि के उपाय। (५४) दीर्घजीवन के लिये ज्ञानवृद्धि के उपाय। (५५) ज्ञान और दीर्घायु की प्राप्ति। (५६) ज्ञानवान् होकर प्रजासम्पन्न होना। (५७) राजा के हाथ पांव आदि जन। (५८) दुःखनाशक उपाय। (५९) सब प्राणियों को सुख और रोगनाश करना। (६०) बन्धनमोचन। (६१) वीरों का कर्त्तव्य। (६२) त्रिगुण आयु। (६३) प्रजा अन्न, धन, पुष्टि आदि के घातक कारणों से प्रजा की रक्षा।

चतुर्थोऽध्यायः (पृ० १००–१३७)

(१) देवयजन में प्राप्त होकर बाधाओं को दूर करना आप्तों से रक्षा। (२) आप्त जनों के कर्त्तव्य. दीक्षा और तप, (३), घृत और आदित्य के दृष्टान्त से राजा का कर्तव्य। (४) उपास्य देव से पवित्रता की प्रार्थना। (५) विद्वान् पुरुषों से आशीर्वाद की याचना (६) यज्ञ का सम्पादन व्रत, प्रजाप्रति के पांच यज्ञ। (७) अध्यात्म यज्ञ और आधिभौतिक यज्ञ (८) ईश्वर और राजा का वरण और ऐश्वर्य की प्राप्ति। (९) यज्ञ की समाप्ति तक रक्षा की प्रार्थना। (१०) बल, शरण, और कृषि की प्रार्थना। (११) व्रताचरण, प्रजा प्राप्ति और दीर्घायु और रक्षा। (१२) वीर्यरक्षा, प्रजापालन। (१३) जलों के दृष्टान्त से आप्त पुरुषों का वर्णन। (१४) राजा को सावधान होने का उपदेश। (१५) मन, आयु, प्राण, चक्षु आदि शक्तियों की पुन प्राप्ति। (१६) स्तुत्य ईश्वर और राजा से ऐश्वर्य की याचना। (१७) मन और वाणी शक्ति से ईश्वरोपासना। (१८) वाणी की साधना। (१९) वाणी का वर्णन। (२०) विद्युत् का वर्णन। (२१) पृथ्वी, ब्रह्मशक्ति, विद्युत् और राष्ट्र शक्ति का वर्णन। (२२) राजा प्रजा के परस्पर कर्त्तव्य। (२३) वेदवाणी, विद्युत्, और पत्नी का वर्णन। (२४) राजा का अधिकार दान। (२५) (२६) ईश्वर की स्तुति। राजा के प्रजा के प्रति कर्त्तव्य। (२७) अष्टप्रकृति राज्यव्यवस्था। (२८)

दुश्चरित-बाधन । (२६) उत्तम मार्गों से चलने का उपदेश । (३०) राजा के रक्षा आदि कर्त्तव्य । (३१) राजा के नाना उपमान । (३२) राजा को सर्वप्रिय होने का उपदेश । (३३) प्राण और अपान तथा बैलों के समान दो धुरन्धरों की नियुक्ति । (३४) विजय, दुष्ट-दमन की सुव्यवस्था का उपदेश । (३५) (३६) परमेश्वर का स्वरूप तथा राजा का वर्णन । (३७) ईश्वर और राजा का वर्णन ।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः (पृ० १३८-१८०)

(१) योग्य पुरुष की उत्तम पद पर नियुक्ति और अन्न का उत्तम उपयोग । (२) अग्नि के दृष्टान्त से राजा और प्रजा की उत्पत्ति । (३) स्त्री पुरुषों को परस्पर प्रेम से रहने का उपदेश । (४) अग्नि के दृष्टा त से राजा का कर्त्तव्य । (५) राजा के कर्त्तव्यों का उपदेश । (६) व्रत, दीक्षा ग्रहण । (७) राष्ट्र और राजा का सम्बन्ध ब्रह्मरस और योगी । (८) राजा की शक्ति का वर्णन । (९) पृथ्वी पर राजा का कर्त्तव्य । (१०) सेना और वाणी का वर्णन । (११) राष्ट्र की चारों ओर से रक्षा । (१२) वाणी और राजव्यवस्था का वर्णन । (१३) राजा को उपदेश, यज्ञ और ईश्वर का वर्णन । (१४) योगाभ्यास । (१५) (१६) परमेश्वर की महान् शक्ति । (१७) (१८) स्त्री पुरुषों को उपदेश । (१९) (२०) व्यापक ईश्वर की महान् शक्ति । (२१) ईश्वर का वर्णन और राजा का उच्च पद । (२२) स्त्री तथा सेना के कर्त्तव्य । (२३) घातक प्रयोगों का निवारण (२४) राजा के उच्च पदाधिकार (२५) (२६) दुष्टों और शत्रुओं का नाश । (२७, २८) राजा के कर्त्तव्य । (२९) ऐश्वर्य सम्पत्ति पर राजा का स्वत्व । (३०) इन्द्र का पद । (३१, ३२, ३३) राजा के कुछ उच्च अधिकारसूचक पद । (३४) विद्वान् अधिकारी पुरुषों के कर्त्तव्य (३५, ३८) राजा के कर्त्तव्य । (३९) सेनापति, राजा के कर्त्तव्य । (४०) (४३) गुरु शिष्य और राजा और प्रजा के परस्पर व्रत पालन की प्रतिज्ञा ।

षष्ठोऽध्यायः (पृ० १८१-२१७)

(१) शत्रुओं का नाश । (२) राजा, सभाध्यक्ष के कर्त्तव्य । (३) राजगृहों का वर्णन । (४, ५) ईश्वर और राजा के कर्म । (६, ७) राजा के अधिकार । (७) विद्वानों और राजा का परस्पर सम्बन्ध । (८) समृद्ध प्रजा और राजा । (९) शिष्य के समान राजा का अभिषेक व्रत । (१०) दीक्षा प्राप्ति । (११) स्त्री पुरुषों का कर्त्तव्य । (१२) सदाचार, शिष्टाचार । (१३) उत्तम कन्याओं का उत्तम पात्रों मे प्रदान, प्रजाओं का उत्तम शासक के हाथ मे शासन । (१४) वाक्, प्राण, चक्षु आदि का व्रत दीक्षा मे परिशोधन । (१५) मन आदि की शक्ति की वृद्धि । (१६) दुष्टो और दुष्ट भावों का दूरीकरण । (१७) पाप, मल का परिशोधन । (१८) परस्पर प्रतिज्ञा, अन्न का स्वरूप, गुरु शिष्य और राजा प्रजा के परस्पर सम्बन्ध का वर्णन । (१९) परम तेज का कारण, (२०) शरीर में प्राण के समान राजवल का वर्णन । (२१) ईश्वर से प्रार्थना सेनापति को आदेश । (२२) राजा के कर्त्तव्य । (२३) राजा के प्रति प्रजाजन के प्रति रक्षा का कर्त्तव्य । (२४) कन्याओं का स्वयंवर । तथा प्रजाओं का स्वयं राजा के वरण का वर्णन । (२५) स्वयं वरण के प्रयोजन । (२६) राजा की स्थिति और सेवा कार्य । (२७) प्रजाजनों के कर्त्तव्य । (२८) वैश्य प्रजा के कर्त्तव्य और गृहस्थ के कर्त्तव्य । (२९) योद्धाओं का वृत्ति-बन्धन । (३०) प्रजाजनों का कर्त्तव्य । (३१) पांच योग्य शासकों की नियुक्ति । (३२) राजा का कर्त्तव्य । ३३,३४) प्रजाओं के कर्त्तव्य । (३५) राजा प्रजा का परस्पर अभय, (३६) परस्पर परिचय । (३७) राजा का परम स्वरूप, ईश्वर की स्तुति ।

सप्तमोऽध्यायः (पृ० २१८-२६७)

(१) आज्ञापक और आज्ञाप्य, और गुरु शिष्य का परस्पर पवित्र सम्बन्ध । (२) एक दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण । (३) राजा का सूर्य के समान पद । (७) वायु और प्राण के समान राजा के कर्त्तव्य । (८) सेनापति

और न्यायकर्त्ता का पद। (९) मित्र और वरुण पद, अध्यापक और अध्येता का वर्णन। (१०) मित्र और वरुण, ब्राह्मण और क्षत्रिय गण। (११) सूर्य चन्द्र के समान राजा और प्रजा के परस्पर प्रेम युक्त व्यवहार (१२) (१३) मदमत्त पुरुष के दमन के लिये योग्य अधिकारी की नियुक्ति। पक्षान्तर में योगी का वर्णन। (१४) राजा की उच्च स्थिति, पक्षान्तर में ईश्वर और आचार्य का वर्णन। (१५) राजा और उसके सहायक। (१६) बालक के दृष्टान्त से राजा का वर्णन। पक्षान्तर में चन्द्र का वर्णन, (१७) आक्रामकों के नाशक पुरुष की नियुक्ति। (१८) दुष्टमथनकारि पुरुष का नियोजन। (१९, २३) अधिकारी गण। (२०) मुख्य पदपर सर्वोच्च अधिकारी। (२१) सोम, राजा का वर्णन (२२) इन्द्रपद का वर्णन। (२३) मित्र और वरुण पद का वर्णन। (२४) वैश्वानर सम्राट। (२५) सम्राट् का अभिषेक (२६) उच्चपद प्रदान। (२८) शरीर के अगों और प्राणों से राज्यांगों की तुलना। (२९) नियुक्त अधिकारियों का राजा से परिचय। (३०) संवत्सर के ऋतु, मासों की तुलना से राज्य पद विभाग वर्णन। (३१, ३२) नायक और सेनापति के इन्द्र और अग्नि पदों पर नियुक्ति। (३३, ३४) विद्वान् पुरुषों की नियुक्ति। (३५, ३६, ३७, ३८) मरुत्वान् इन्द्र, सेनापति का वर्णन। (३९ ४०) महेन्द्र पद, (४१ ४२) जातवेदा, राजा, और परमेश्वर और सूर्य। (४३) मार्गदर्शक विद्वान् और परमेश्वर। ४४) प्रजाओं और सेनाओं का वर्गों में विभाग और, प्रजाओं का निरीक्षण और सदस्यों द्वारा व्यवस्था। (४५) उत्तम पुरुष की नियुक्ति। (४६) अधीन पुरुषों को स्वर्णादि का प्रदान। (४७) देने का प्रयोजन।

अष्टमोऽध्यायः (पृ० २६८-३१५)

(१) राज पदपर नियुक्त पुरुष का नियन्त्रण तथा अधिकार। पक्षान्तर में विवाहित गृहस्थ को उपदेश। (२)राजा का वैश्यों पर अधिकार और गृहस्थ का

कर्त्तव्य । (३) राजा का मेघ के समान कर्त्तव्य । चतुर्थाश्रमी का कर्त्तव्य । तथा पक्षान्तर में गृहस्थ को उपदेश । (४) विद्वान गृहस्थों का कर्त्तव्य । (५) विद्वान और गृहस्थ पुरुषों के कर्त्तव्य । (६) उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति । (७) सावित्र पदपर नियुक्ति । (८) समस्त विद्वानों के ऊपर एक योग्य पुरुष की नियुक्ति । पक्षान्तर में गृहस्थ का कर्त्तव्य । (९) प्रजा का कर्त्तव्य, राष्ट्र की ऐश्वर्यवृद्धि । पक्षान्तर में पत्नी का कर्त्तव्य । (१०) राजा प्रजा तथा पति पत्नी का परस्पर मिलकर ऐश्वर्य भोग करना (११) रथ में अश्वों के ऊपर सारथी के समान सञ्चालक पुरुष की नियुक्ति, राज्य तन्त्र के समान गृहस्थ तन्त्र । (१२) राजा के अधीन प्रजा का राष्ट्र भोग । (१३) राजा का प्रजा के दोषों को दूर करने का कर्त्तव्य । (१४) उत्तम वैद्य के कर्त्तव्य । (१४) उत्तम नेताओं का कर्त्तव्य । (१५—१७) नाना अधिकारियों के कर्त्तव्य । (१८, १९) अधिकारी और प्रजाओं के कर्म । (२०) उत्तम पुरुष को उच्च पद पर बुलाना । (२१) राष्ट्रपति के कर्त्तव्य । (२३) ऋजु मार्ग का उपदेश । (२४) प्रत्येक गृह में विद्वान् की योजना । (२५) गृहपति, यज्ञपति, राष्ट्रपति का स्वागत । (२६) आप्त प्रजाओं और उत्तम गृहपत्नियों के कर्त्तव्य । (२७) प्रजा का अपने दोष परित्याग । (२८, २९) राजा की गर्भ से उपमा । (३० नाना पदों से युक्त वशा नाम राज्यशक्ति का वर्णन । पक्षान्तर में नाना पदों वाली वेदवाणी । (३१) उत्तम रक्षक । (३२) राजा प्रजा और पतिपत्नी का परस्पर कर्त्तव्य । (३३, ३४, ३५, ३६,) षोडशी इन्द्र का वर्णन । (३७) सम्राट् राजा का वर्णन । (३८) अग्नि, आचार्य, और नेता का वर्णन । (३७) (३९) इन्द्र पदपर योग्य बलवान् पुरुष का स्थापन । (४०) तेजस्वी सूर्य के समान राजपद (४१) पत्नी और पृथ्वी द्वारा अपने योग्य पालक पति का धारण । (४२) गौ, स्त्री, पृथिवी के नाना गुणों का वर्णन । (४३, ४४, ४५, ४६,) शत्रुमर्दक इन्द्र का वर्णन विश्वकर्मा इन्द्र का

वर्णन । (४७) राजा, इन्द्र का वर्णन । (४८) राजा को भय-प्रदर्शन । (४६, ५०) सदा सावधान रहने योग्य राजपद । (५१) शासकों का कर्त्तव्य । (५२) दीर्घजीवन और मोक्ष का ध्येय । (५३) पर्वत और सूर्य के दृष्टान्त से सेनापति का वर्णन, (५४, ५६) प्रजापति के कर्त्तव्य भेद से भिन्न २ रूप । पक्षान्तर मे सोमयाग का वर्णन । (६०, ६३) यज्ञ और राष्ट्र का वर्णन ।

नवमोऽध्यायः (पृ० ३१५-३५२)

(१) राष्ट्रमय यज्ञ का सम्पादन । (२ ३, ४,) इन्द्र की स्थापना । (५) संग्राम विजयी पुरुष की सर्वोपरि पदप्राप्ति । (६) जलोषधि के समान राजा का वर्णन । (७) वायु, मन, गन्धर्वों के समान वेगवान् अश्व का आयोजन । (८) वेगवान् अश्व का वर्णन, शिल्पयन्त्र, (६) वेगवान् सेनापति का वर्णन । (१०) उत्तम राजा के शासन मे सुख प्राप्ति । (११) सैनिकों को बड़े सेनापति की सहायता का उपदेश । (१२) उनका संग्राम-विजय में सहायांगदान । (१३) वीर सैनिकों को उपदेश । (१४) अश्वरोही का कार्य, (१६) अश्वा रोहियों के कर्त्तव्य । (१७) उनका आज्ञाश्रवण और चालन का उपदेश । (१८) उत्तम मार्गों से जाने और रक्षा करने का उपदेश । (१६) सैनिकों को पवित्र कार्य की दीक्षा । (२०) सूर्य के १२ मासों के समान प्रजापति के १२ स्वरूप । (२१) यज्ञ से आयु, प्राण आदि का बलवान् बनाना । (२२) ऐश्वर्य की वृद्धि । मातृ-पृथिवी का आदर, राष्ट्रशक्ति के नियमन और कृषि सम्पत्ति की वृद्धि । (२३) प्रजा की सम्पन्नता और शासकों को अप्रमाद का उपदेश । (२४, २५,) प्रजापालक का कर्त्तव्य । (२६, २७,) मुख्य विद्वान् ब्राह्मण की सर्वोपरि स्थापना । (२८) विजयी नेता का कर्त्तव्य । (२६) न्यायाधीश आदि के कर्त्तव्य । (३०) राजा का ईश्वर, विद्वान् पुरोहित, राजसभा के आधीन अभिषेक (३१-३४) १७ प्रकार के अन्न्य

बलों से राष्ट्र का वशीकार । (२४, २६,) राजा और उसके नाना प्रकार के नायकों की प्रतिष्ठा । (२६) शत्रु सेनाओं का विजय । (२८) दुष्ट पुरुषों का वध । (२६, ४०,) राजा या इन्द्र आदि उच्च पदोंपर स्थापना और सिंहासनारोहण ।

दशमोऽध्यायः (पृ० ३५३-३८४)

राज्याभिषेक । (१) अभिषेक करने हारे योग्य जलों की प्रजाओं से तुलना । (२-४) राष्ट्रप्रद प्रजाओं के प्रतिनिधि रूप जलों से राज्याभिषेक । सिंहासनारोहण । राजा की तेजस्विता का वर्णन । (६, ७,) राजोत्पादक प्रजाएं । (८) बालकोत्पत्ति से राजोत्पत्ति की तुलना । (९) गृहपति के समान राष्ट्रपति । (१०-१४) दुष्टों का नाश । राजा की रक्षा । (१५) राजा की शोभा । (१६) सूर्योदय के समान मित्र और वरुण दोनों का उदय ।राजा का सिंहासना रोहण । (१७) ऐश्वर्य और तेज से अभिषेक । (१८) राजाभिषेक का प्रस्ताव । (१९) अभिषेक वर्णन । (२०) अधिकार-प्रदान । (२१) योग्यता और अधिकारवर्णन । (२२) राष्ट्र संयमन का उपदेश । (२३) राजा की प्रतिष्ठा । (२४) अधिकार पद-स्तुति । (२५) ईश्वरार्पण । (२६) राजगद्दी का वर्णन । (२७) सम्राट् वरुण । (२८) उसके कर्त्तव्य (२९) योग्य पुरुषों को मध्यस्थ होने का उपदेश । (३०) उन्नतपद प्राप्ति । (३१) बल परिपाक करने का उपदेश । (३२) अन्न के दृष्टान्त से शत्रु नाश, और राष्ट्रसाधन । (३३) स्त्री-पुरुषों के कर्त्तव्य । (३४) राष्ट्र के व्यापक शक्तिमान् दो मुख्याधिकारियों के कर्त्तव्य ।

एकादशोऽध्यायः (पृ० ३८५-४४६)

अग्रणी नायक का वर्णन । परमेश्वर प्रकाशमान, आदित्य योगी का वर्णन । सात्विक ज्ञानी का कर्त्तव्य । राजा का कार्य । (२) योग द्वारा ज्ञान प्राप्ति ।

पक्षान्तर में राजा का कर्त्तव्य । (३, ४) विद्वान् ज्ञानवान् पुरुष का कर्त्तव्य । राजा का कर्त्तव्य । (५) एकाग्र होकर ज्ञान का विचार और विद्वानों से ज्ञान का श्रवण । (६) सब का नेता अग्रणी परमेश्वर और राजा । (७) विद्वान् नेता का कर्त्तव्य । पक्षान्तर में प्राण की शक्ति । (८) क्षत्रपति की स्वीकृति । (९) वज्र का वर्णन । नर रत्न की प्राप्ति । पक्षान्तर मे वाणी का वर्णन । (११) अग्नि, वज्र और वाणी का वर्णन । तेजस्वी होने का उपाय । (१२) उत्तम पद की प्राप्ति । न्यायकारी पद पर नियुक्ति । (१३) दो उत्तम अधिकारियों का यो य विद्वान् पुरुष को नियुक्त करना । (१४) ऐश्वर्यवान् पुरुष को उच्च स्थानों पर बैठाना । (१५) गणपति पद पर योग्यपुरुष की योजना । (१६) तेजस्वी, खड्गहस्त नेता का वर्णन । (१७) सूर्य और विद्वान की तुलना । (१८ विद्वान नेता की योग्य अश्व से तुलना । (१९) वीर नेता का कर्त्तव्य । (२०) राजा का विराट् रूप । उसको ऊपर उठने का आदेश । (२१) उत्तम राजा के शासन में उत्तम नर रत्नों का उत्पत्ति । (२२, २३) योग्य नेता का योग्य आदर । (२४) राजा को उत्तेजित करके उसे अग्नि के समान तेजस्वी बनाना । (२५) अग्नि सेनापति का वर्णन । (२६) उसके अधीन वीर पुरुषों की नियुक्ति । (२७) अग्नि के समान सेनापति का वर्णन । (२८) नेता का प्राप्त करना । (२९) नायक की समुद्र से तुलना । (३०) राजा प्रजा का परस्पर सम्बन्ध । (३१) गृहस्थ के समान राजा के राज्य का वर्णन । (३२) नेता के अग्नि, से तुलना । (३३) वृत्रहन्ता नेता की शक्ति वृद्धि । (३४) विजयार्थ उत्तेजना । (३५) योग्य पदाधिकारी का कर्त्तव्य । (३६) होतृ पदपर विद्वान् की नियुक्ति, उसके लक्षण और कर्त्तव्य । (३७)अग्नि नेता के लक्षण । योग्य अधिकारी । राजा को तेजस्वी, सौम्य होने का उपदेश । (३८) प्रजाओं के कष्ट निवारण का उपदेश । (३९) विदुषि स्त्री, और पक्षान्तर में प्रजा का अपने पालक पति के प्रति कर्त्तव्य ।

(४०) राजकीय पोशाक को धारण करने का उपदेश । (४१) आदर-पूर्वक उन्नत पद पर आना । (४२) सूर्य से राजा की तुलना । (४३) गर्भगत बालक से नवाभिषिक्त राजा की तुलना । अश्व और राजा का दृढ़, ऐश्वर्यवान्, आशुकारी होना । (४५) राजा का प्रजाओं के लिये कल्याण-कारी, कृपालु होना । (४६) तेजस्वी राजा की विद्युत् वाले मेघ से तुलना । (४७) राजा, सेनापति और वीर सैनिकों की वायु और ओषधियों से तुलना । (४८) ओषधियों और प्रजाओं का वर्णन । (४९) प्रजा की गृहपत्नी से तुलना । (५०–५१, ५२) आप , जलों, विद्वानों और पत्नी-न्तर में स्त्रियों के कर्त्तव्य । (५३) प्रजाओं के आरोग्य के लिये उत्तम विद्वान् की नियुक्ति । (५४) सूर्य की रश्मियों से वीर सैनिकों और विद्वानों की तुलना । (५५, ५६,) सिनीवाली, स्त्री और प्रकृति का वर्णन । पत्नी-न्तर में राजसभा का कर्त्तव्य । पत्नीन्तर में ब्रह्मणाग्नि । (५७) हाडी के दृष्टान्त से पृथ्वी का वर्णन । मानवों की उत्पत्ति की भूमि और स्त्री का वर्णन । (५८) वसु, रुद्र, आदित्य नामक विद्वानों। और निवासियों शासकों, व्यापारियों के राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य । (५९) विदुषी माता का वर्णन । (६०) वसु आदि विद्वानों का कर्त्तव्य । (६१) राजसभा का कर्त्तव्य । योग्य राजा और सभापति का ग्रास करना । पत्नीन्तर में विदुषी माताओं का कर्त्तव्य, प्रजा का धारण पोषण । (६२) प्रजा, पृथिवी, और स्त्री का अधिकार । (६३) योग्य पति, और राष्ट्रपति का कर्त्तव्य, (६४) पृथ्वी और पत्नीन्तर में स्त्री का कर्त्तव्य । (६५) विद्वानों का कर्त्तव्य । (६६) आत्मिक शक्ति या और उनके प्रयोग का उपदेश । (६७) ऐश्वर्य के निमित्त ईश्वर और राजा का आश्रय । (६८) पतिपत्नी और राजा प्रजा का परस्पर कर्त्तव्य । (६९) पृथिवी, उखा और आसुरी माया, की तुलना से स्त्री और। राष्ट्रप्रजा का वर्णन । (७९) वीर्यवान् पुरुष और पत्नीन्तर में तेजस्वी का वर्णन । (७१) स्वयंवरण का उत्कृष्ट सिद्धान्त,

पक्षान्तर में राजा का निर्बलों की रक्षा का कर्त्तव्य। (७२) अग्नि, पति, और राजा का दृष्टान्त रूप से वर्णन, (७३) दूरस्थ शत्रुओं के विजय करने का उपदेश, (७४) उपजापकारिणी संस्था का वन्नी के दृष्टान्त से वर्णन। (७५) अश्व के दृष्टान्त से राजा को पोषण करने का प्रजा का कर्त्तव्य, (७६) वेदी के केन्द्र में अग्नि के समान पृथ्वी पर राजा का स्थापन और वर्धन। (७७) राजा का आग्नेय स्वरूप, (७८, ७९) दातों और दाढ़ों के दृष्टान्त से दुष्टों के नाशकारी दमन का वर्णन। (८०) हिंसक शत्रुओं का नाश। (८१) ब्राह्म बल के साथ क्षात्र बल की वृद्धि। (८२) ब्राह्म और क्षात्र बल से शत्रुबल का विनाश।

द्वादशोऽध्यायः (पृ० ४४७-५१६)

(१) सूर्य समान राजा का वर्णन। (२) बालक और सूर्य के दृष्टान्त से राजा का धारण पोषण। (३) सूर्य के समान तेजस्वी राजा। (४) श्येन के दृष्टान्त से राजा और राष्ट्र के अंग प्रत्यंग का वर्णन। (५) राजा को नाना अधिकार प्रदान और नाना कर्त्तव्यों का उपदेश। मेघ के दृष्टान्त से राजा के कर्तव्य। (६) राजा, गृहपति का नाना समृद्धियों की प्राप्ति। (८) पुनः ऐश्वर्यप्राप्ति। (९, १०) देशान्तरों से भी ऐश्वर्य आहरण। (११) ध्रुव पद पर राजा का स्थापन। (१२) पाशमोचक वरुण, श्रेष्ठ अधिकारी राजा। (१३) सूर्य के समान राजा का अभ्युदय। (१४) उसके नाना पद और आदर। (१५) पुत्र के समान पृथ्वी माता के प्रति राजा की स्थिति और कर्त्तव्य। (१६) तेजस्वी शत्रुदमनकारी परंतप राजा का वर्णन। (१७) उसको सर्व कल्याणकारी होने का उपदेश। (१८) विद्वान्, नायक और सूर्य की तुलना। (१९) उसके तीन प्रकार के तेजों का वर्णन। (२०, २१) और्वानल और विद्युत् के समान राज पद का वर्णन। (२२, २३) सूर्य के समान, दाता, पालक, बलवान्, तेजस्वी राजा का वर्णन। (२४) अग्नि के समान राजा का वर्णन।

(२५) सूर्य के समान राजा का वर्णन । (२६) सेनापति और राजा का परस्पर सम्बन्ध । (२७) शत्रु-उच्छेद के लिये सेनापति का स्थापन । (२८) सूर्य समान तेजस्वी पुरुष का वर्णन । (२९, ३०) उसको प्रस्तुत करना उसका गुण वर्णन । (३१) उसके श्रेष्ठ कर्त्तव्य । (३२) शत्रु पर प्रयाण और राजा के त्राण के उपदेश । (३३,३४) प्रजावत्सल विजयी राजा का आदर । (३५) स्त्रियों के स्वयंवर के समान योग्य राजा को प्रजा का स्वय वरण करना, आदर करना, और उसकी शक्ति को बढ़ाना । पक्षान्तर में स्त्रियों का गर्भ धारण का कर्त्तव्य । (३६) गर्भोत्पत्ति के समान राजोत्पत्ति का वर्णन । (३७, ३८) जीवात्मा और राजा का वर्णन । (३९) माता की गोद में बालक के समान पृथ्वी पर राजा की सिंहासन पर स्थिति । (४०) समृद्धि प्राप्ति, विजय । (४२) निन्दा और स्तुति में राजा का कर्त्तव्य । पक्षान्तर में ज्ञानी पुरुष का कर्त्तव्य । (४३) सत्यासत्य का निर्णय, न्यायकारिता का उपदेश । (४४) विद्वानों का पुन. शक्ति उत्तेजन । (४५) चरों और प्रणिधियों का नियोजन । पक्षान्तर मे विद्वानों को आदेश । (४७) विद्वानों, राजा के आश्रितों के प्रति कर्त्तव्यों का उपदेश । (४८) मुख्य विद्वान् का वर्णन । (४८) ज्ञानवान् पुरुष का सूर्य के समान सर्वद्रष्टा का पद । (४९) ज्ञानी पुरुष का शिक्षा का कार्य । (५०) विद्वानों का प्रेमयुक्त, द्रोहरहित होकर रहने का उपदेश । (५१) विद्वान् पुरुष और पक्षान्तर में अध्यापक का कर्त्तव्य । (५२) ऐश्वर्य वृद्धि का उपदेश । (५३) चेतना के समान राजसभा का वर्णन । पक्षान्तर में स्त्री का वर्णन । (५४) राजसभा, पक्षान्तर में स्त्री का वर्णन, (५५) सूर्य की रश्मियों से प्रजाओं और पक्षान्तर में स्त्रियों की तुलना और उनके कर्त्तव्य, (५६) वेद वाणियों के समान प्रजाओं का राजा को बढ़ाना, समुद्र से राजा की तुलना, (५७) दम्पती और राजा प्रजा और पक्षान्तर में मित्रों को प्रेम पूर्वक रहने का उपदेश । (५८, ५९) पुरोहित, अधिपति

का कर्त्तव्य। (६०) दम्पति, मित्रों और युगलों का कर्त्तव्य। (६१) उखा पृथ्वी, प्रजापति के परस्पर कर्त्तव्य, पक्षान्तर में सूर्य पृथिवी का वर्णन। (६२) चारों और डाकुओं को दमनकारी दण्ड शक्ति निर्ऋति का वर्णन। पक्षान्तर में पत्नी और अविद्या का वर्णन। (६६) सूर्य के समान साक्षी राजा का कर्त्तव्य। पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन। (६७) योगाभ्यास और पक्षान्तर में कृषिका उपदेश। (६८–७२) कृषि का उपदेश। (७३) योगियों का वर्णन। पक्षान्तर मे और पशुपालन व्यवहार। (७४) पति पत्नी आदि के दृष्टान्तो से प्रेम वर्त्ताव का उपदेश। (७५) ओषधियों के १०७ धाम। पक्षान्तर में मर्मों का ज्ञान। (७६) ओषधियों, प्रजाओं और वीर सैनिकों का वर्णन, उनके गुण, उनके व्यवहार, तथा उनकी प्राप्ति, उनके कर्त्तव्य। (१०२) परमेश्वर और पक्षान्तर में राजा का वर्णन। (१०३) पृथ्वी और स्त्री का कृषि एवं सन्तानोत्पत्ति का कर्त्तव्य। (१०४) तेज और वीर्य का धारण। (१०५) अन्न और ज्ञान, से आपत्तियों को दूर करना, (१०६) तेजस्वी विद्वान् का कर्त्तव्य। अन्यों को तेज और ज्ञान का प्रदान करना।(१०७) तेजस्वी का सूर्य के समान वर्णन। (१०८) राजा प्रजा का परस्पर पोषण। (१०९) प्रजा की पशु सम्पदा से वृद्धि। (११०, ११७) राजा के कर्त्तव्य। पक्षान्तर में विद्वान् और गृहपति के कर्त्तव्य।

त्रयोदशोऽध्यायः (पृ० ५१७–५५८)

(१) उत्तम विद्वानों के अधीन राजा का रहना। (२,३) ब्रह्म शक्ति का वर्णन। (४) प्रजापति का स्वरूप। (५) शरीर गत प्राणों में वीर्य के समान तेजस्वी राजा की स्थिति। (६–८) सर्पण स्वभाव दुष्टों का दमन। पक्षान्तर मे गुप्तचरों को नियोजन। (९) बल प्राप्त कर दुष्टों का दमन करना और मातङ्ग बल से प्रयाण। राज्यवृद्धि और शत्रु को तीव्रास्त्रों से नाश करने का उपदेश। (१०) वीर सैनिकों का तीव्र धावा, तीव्र अश्वारोहियों का धावा, अशनि नामक अस्त्रों का प्रयोग। (११) प्रजा के कष्ट का श्रवण करके राज[1] का

दूत प्रेषण और प्रजापालन का यत्न । (१२) प्रजा के व्यथादायी शत्रुओं पर आक्रमण और उनको भस्म कर डालने का आदेश । (१३) दिव्यास्त्रों का निर्माण, तथा शत्रुओं के रसद की रोक का उपदेश । (१४) सूर्य के समान राजा का करग्रहण । (१५) सूर्य के समान सेनापति का कर्त्तव्य । (१६) पृथ्वी राजशक्ति, और पक्षान्तर में स्त्री का सुरक्षित रहने का वर्णन । (१७) नौका के दृष्टान्त से प्रजा और पृथ्वी, पक्षान्तर मे स्त्री का वर्णन । (१८) पृथिवी और स्त्री । (१९) उनके रक्षक पति का वर्णन । (२०,२१) दूर्वा के दृष्टान्त से राजशक्ति, पक्षान्तर में स्त्री का वर्णन । (२३,२२) सूर्य के समान प्रजा की अभिलाषा पूर्ण करने वाला राजा । (२४) तेजस्वी राजा और समृद्ध तेजस्विनी प्रजा । (२५) वसन्त से राजा की तुलना । (२६) अषाढ़ा, सेना का वर्णन, पक्षान्तर में पत्नी का कर्त्तव्य । (२७–२९) वायु जल, ओषधि, दिन, रात्रि, भूमि, सूर्य, वृक्ष, गौ आदि समृद्धि के मधुर होने की प्रार्थना । (३०) राजा का कर्त्तव्य प्रजा को सदा सुखी रखना । (३१) पूर्व के सज्जनों के मार्गानुसरण का उपदेश । (३२, ३३) समृद्धि की वृद्धि, व्यापक शक्तिमान् राजा का वर्णन । (३४) पृथ्वी की सम्पदा-वृद्धि के उपाय । पक्षान्तर में स्त्री, गार्हस्थ्य का महत्व । (३५) प्रजापति और प्रजा, पक्षान्तर में पति और पत्नी के परस्पर एक होकर अन्न, बल, तेज, यश, प्रजा की वृद्धि करना । सम्राट् और स्वराट् का वर्णन । (३६) राजा और विद्वान् योगी का अश्वों, योग्य पुरुषों और प्राणों पर वश । (३७) अश्वों के समान योग्य पुरुषों की नियुक्ति । (३८) नदियों से प्राणियों की तुलना, आत्मा का अग्नि और ज्ञान धाराओं का घृत धाराओं से तुलना । यज्ञ और अध्यात्म यज्ञ का वर्णन । (३९) उत्तम विद्वान् पुरुष की उत्तम उद्देश्यों के लिये नियुक्ति । (४९) उस उत्तम पुरुष की सूर्य और स्वर्ग से तुलना । (४१) सूर्य और सुख्य शिरोमणि की तुलना । (४२) उसका कर्त्तव्य । (४३) संवत्सर के समान राज सभा के सदस्यों

साहित सभापति के कर्त्तव्य । (४४) परमेश्वरी शक्ति के पालने का आदेश । (४५) विद्वान् ज्ञानी की रक्षा का उपदेश । पक्षान्तर में परमेश्वर की पूजा का उपदेश । (४६) सूर्य समान नेता और परमेश्वर । (४७–५१) पशु गण की रक्षा, मनुष्य, अश्व आदि एक शफ, गौ आदि दुधार पशु, भेड़, बकरी, इनकी रक्षा और हिंसको के नाश का आदेश । (५२) प्रजा के कष्टो का श्रवण करना उनका दुखों से त्राण (५३) नाना पदो पर योग्य नेता की स्थापना । (५४–५८) दिशा भेद से प्राण भेद से, और ऋतुभेद से राजा, आत्मा और सूर्य संवत्सर, बलों विद्वानों और यज्ञांगों के अनुरूप राष्ट्रांगो का वर्णन ।

चतुर्दशोऽध्यायः (पृ० ५५६–५६०)

(१) उखा, पृथिवी, पक्षान्तर में स्त्री का वर्णन, (२) प्रजा को, स्त्री के समान शिक्षण का उपदेश । (३) सुख, रण, विजय एवं प्रजापालन के लिये राजा की स्थापना । पक्षान्तर में पति के कर्त्तव्य । (४) पतिपत्नी और राजा और पृथ्वी निवासिनी प्रजा का परस्पर आदान प्रतिदान । (५) राज शक्ति और पक्षान्तर में गृहपत्नी का वर्णन । (६) ग्रीष्म के समान राजा का वर्णन । (७) राजा और शासको का प्राणों के दृष्टान्त से वर्णन । पक्षान्तर में गृहस्थ का स्थापन । (८–१०) प्राणादि के पालन की प्रार्थना । (९) वयस् और छन्दस् का दृष्टान्तो से स्पष्टीकरण । (११) राजा सेनापति या पुरोहित का कर्त्तव्य प्रजापालन । (१२) राजा विश्वकर्मा, पक्षान्तर मे पति । (१३) राजशक्ति के दिशा भेद से नाना रूप, एवं स्त्री के नाना गुण । (१४) राजा विश्वकर्मा और पति के कर्त्तव्य । (१५, १६) वर्षा शरद् के दृष्टान्त से राजा का वर्णन । (१७) आयु प्राण आदि की रक्षा । (१९) मा, प्रमा आदि शक्तियों का वर्णन । (२०) अग्नि आदि देवताओं का वर्णन । (२१, २२) नियामक राजशक्ति का वर्णन । (२३)

राजा के नाना स्वरूप । (२४,२६) राष्ट्र की नाना समृद्धियों के स्वरूप। (२७) हेमन्त, राजा का वर्णन । (२८-३१) नाना प्रकार की ब्रह्मशक्ति, और राष्ट्र व्यवस्थाओं का देह की व्यवस्थानुसार वर्णन ।

पञ्चदशोऽध्यायः (पृ० ५६१-६३६)

(१, २) सेनापति और राजा के कर्त्तव्य। शत्रुओं का पराजय, प्रजा का शिक्षण । (३) सुव्यवस्थित राष्ट्र और उत्तम राजा का स्वरूप । (४. ५) ईश्वर के नाना सामर्थ्यों और राजा के नाना सामर्थ्यों का वर्णन । (६, ७) नाना ऐश्वर्यों और कर्त्तव्यों पर नाना उपायों से वश करने का उपदेश । (८, ९) 'प्रतिपद्' आदि पदाधिकारों का वर्णन । (१०, १०) दिग्-भेद से और ऋतु-भेद से सूर्य के समान राजा के प्रताप का वर्णन । (२०) शरीर में प्राण के समान राजा का वर्णन । (२१) अग्रणी, नायक सेनापति का वर्णन । (२२) राजा की उत्पत्ति । (२३) उसका स्वरूप। सूर्य के समान परतप राजा । (२५) वन्दनीय परमेश्वर और स्तुत्य राजा का वर्णन । (२६) दावानल के समान उग्र राजा । (२७) सदा जागरणशील तेजस्वी राजा । (२८) अग्नि के समान राजा का शक्ति-पुंज होना । (२९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६) तेजस्वी पुरुष की स्तुति । (३७) शत्रुनाश का उपदेश । (३८) कल्याणकारी होने का उपदेश । (३९, ४०) संग्राम में विजयी होने का उपदेश । (४१) सर्वाश्रय राजा का कर्त्तव्य । (४२) सर्वशरण राजा । (४३) शक्तिमान् सर्वाह्लादक राजा । (४४) यज्ञ रूप, प्रजापति । (४५) रथी के समान राष्ट्रसञ्चालक राजा । (४६) सेनाओं के स्वामी को सुचित्त होने का उपदेश । (४७) देदीप्यमान अग्नि के समान राजा की तेजस्विता का वर्णन । (४८) अग्नि के समान तेजस्वी, ऐश्वर्यप्रद राजा । (४९) सर्वोच्च पदपर ज्ञानी अग्रणी नेता की स्थापना । (५०) भाई, पुत्र, कलत्र आदि सहित उराम नेता का अनुसरण करना । (५१) न्यायकर्त्ता का

पद और सत्य प्रकाशन का कर्त्तव्य । (५२) प्रमादरहित तेजस्वी नायक । (५३) विद्वानों का मिलकर मर्यादाओं का निर्माण करना । राजा के आश्रय रहकर स्त्री पुरुषों का फलना फूलना । (५४) सावधान होकर राज्य सम्पादन और उत्तम कर्म करना । (५५) उत्तम मार्ग से प्रजा और गृह का चलाना । (५६) ऐश्वर्य वृद्धि । (५७) शिशिर से राजा की तुलना । (५८) राजा प्रजा का उत्तम सम्बन्ध । पक्षान्तर में स्त्री पुरुष का वर्णन । (५९–६१) राजा के कर्त्तव्य । (६२) वीर सेनापति की अग्नि और अग्नि से तुलना । (६३) राजशक्ति का वर्णन । (६४) परमपद, और राजशक्ति और राष्ट्र । (६५) राजा का स्वरूप ।

षोडशोऽध्यायः (पृ० ६४०–६७६)

रुद्राध्याय । (१) राजा रुद्र के मन्यु, इषु और बाहुओं को 'नमः' इसकी स्पष्ट व्याख्या । (२, ३, ४) रुद्र की शिव तनु, शान्तिकारिणी राजव्यवस्था । (५) देह के भिषक् के समान राष्ट्रदेह का भिषक् राजा । (६) तेजस्वी राजा, सेनापति और उसके अधीन रुद्र, उग्र शासक या सैनिक । (७) सेनापति का स्वरूप । पक्षान्तर में आत्मा और ईश्वर का वर्णन । (८) नीलग्रीव, सहस्राक्ष, सेनापति और उसके वीर योद्धा । (९) धनुष से बाणप्रक्षेप । (१०) वीर का सशस्त्र रूप । (११) शस्त्रों से रक्षा की प्रार्थना । (१२) राजा के शस्त्र प्रजा को कष्टप्रद न हों । (१३) उग्र होकर भी प्रजा को सुख दे । (१४) शक्तिशाली की शक्तियों का आदर । (१५, १६) प्रजा की अभय प्रार्थना । (१७, ४६) नाना रुद्रों की नियुक्ति । उनका मानपद, अधिकार एवं नियन्त्रण । (४७) सेनापति से पीड़ित न करने की प्रार्थना । (४८) उसके अधीन सुख से सम्पन्न होकर रहने की प्रार्थना । उसका सर्व दुःखहर स्वरूप । (५०) उसका प्रजा पर कृपा बनाये रखना । (५१) राजा का सुचिरा होकर प्रजा का

पहरा देना। (५२) प्रजा की पीड़ा को नाश करना। (५३) सेनापति के सहस्रों आयुध। (५४) असंख्य रुद्रों के वर्गों का विस्तार। (५४, ६३) नाना रुद्र अधिकारियों का वर्णन। (६४, ६६) नाना रुद्रों का अधिकार मान, आदर।

सप्तदशोऽध्यायः (पृ० ६७७-७५०)

(१) वैश्यों का कर्त्तव्य। प्रजा के प्रति राजा का सौम्य भाव। मरुतों का विवेचन। अश्मा का विवेचन। (२) कोटि २ प्रजा, पशु, सम्पदाओं की वृद्धि। (३) राष्ट्र के घटक अंगरूप कामधेनु प्रजाएं। (४, ५) सैवाल के दृष्टान्त से राजा की रक्षा शक्ति का वर्णन। (६) मंडूकी के दृष्टान्त से प्रजा का वर्णन। उसमें राजा का अवतरण और उसका कर्त्तव्य। (७) राजा का राष्ट्र में सेना कटकों का (छावनी) स्थापन। (८) तेज, प्रभाव से शासन। (९) राष्ट्र का धारण। (१०) प्रजा को ज्ञानवान् करना, तथा शत्रु विजय द्वारा राष्ट्र की वृद्धि। (११, १२) राजा के तेज, बल और प्रभाव का आदर। उच्च मान, आदर प्रदान। (१३) विद्वानों का वार्षिक उपहार और वेतन। (१४) ब्रह्मज्ञानी विद्वानों का पवित्र रूप। (१५) पवित्र राजा और विद्वान्। (१६) अग्नि के समान तीक्ष्ण राजा। (१७) मुख्य राजा का अधीनों के प्रति कर्त्तव्य। पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन। (१८) राष्ट्र या साम्राज्य की उत्पत्ति विषयक विवेचना। पक्षान्तर में सृष्टि-उत्पत्ति विषयक मीमांसा। (१९) विराट्स्वरूप सम्राट्। पक्षान्तर में परमेश्वर का विराट् रूप। (२०) राजा प्रजा की उत्पत्ति की विवेचना। पक्षान्तर में द्यौ, पृथिवी की उत्पत्ति की विवेचना। (२१) विश्वकर्मा राजा का अवरों को पदाधिकार प्रदान और परमेश्वर का वर्णन। (२२) शत्रु पक्ष को मोह में डालने वाली नीति से राज्य शासन के उपदेश। पक्षान्तर में परमेश्वर की अद्वितीय

व्यवस्था । (२३) सर्वपालक, कल्याण कृत् विश्वकर्मा और ईश्वर । (२४) राजा का सेनापति नियोजन । (२५) विद्वान राजा का राजवर्ग और प्रजावर्ग दोनों का शासन करना । पक्षान्तर मे परमेश्वर का वर्णन और पक्षान्तर में विद्वान् को स्त्री पुरुष को सम्बन्धित करना । (२६) विश्वकर्मा, सबका पोषक राष्ट्र निर्माता । सात प्राणों के समान सातो प्रकृतियो का नियामक । पक्षान्तर में ईश्वर का वर्णन । (२७) पिता आदि पदपर एवं शासकों का एक व्यापक नामधारक राजा, पक्षान्तर में समस्त देवों का एक नामधा परमेश्वर, अध्यात्म मे आत्मा । (२८) राजा के उत्तम मन्त्रियों के कर्त्तव्य । प्रजाओ को उन्नत करना । (२९) सर्वोत्कृष्ट पद की मीमांसा । (३७) सर्व वशकर्त्ता केन्द्रस्थ राजा का वर्णन । (३१) अवर्णनीय राजा का रूप । (३२) राजा के चार रूप । (३३) राजा का उग्ररूप सेनापति रूप से इन्द्र का वर्णन । (२८-३३) पक्षान्तर मे परमेश्वर का वर्णन । (३४) सैनिकों का सेनापति के सहयोग में विजय का उपदेश । (३५) विजयी, वशी राष्ट्रपति का वर्णन । (३६) महारथी का कर्त्तव्य । (३७, ३९) दूसरो के बल का ज्ञान करके शत्रु पर आक्रमण का उपदेश । (४०) व्यूह की व्यवस्था (४१, ४२) विजय घोष । (४३) वीरों को उत्तेजना (४४, ४५) भयंकर सेना का शत्रु पीड़न का कार्य । (४६) उग्र अजेय सैनिक । (४७) शत्रु पर भ्रमोत्पादक प्रयोग । (४८) शस्त्रों के गिरते हुए सेवा समितियों के कर्त्तव्य । (४९) वर्म, अन्नौषधि से रक्षा । (५०) सेनापति का राजा के प्रति कर्त्तव्य । (५१) नेता सेनापति का अधीनों के प्रति कर्त्तव्य । (५२, ५३) राजा का कर्त्तव्य । (५४) यज्ञपति, राष्ट्रपति की रक्षा । पक्षान्तर में स्त्रियों का कर्त्तव्य । (५५) यज्ञ और युद्ध की तुलना । (५६) यज्ञ और युद्ध का समान वर्णन । (५७) तुरीय यज्ञ का वर्णन तीनों पक्षों में । (५८) राजा के कर्त्तव्य और परमेश्वर का स्तुति । (५९) सूर्य और पक्षान्तर में

राजा का वर्णन । (६०) राजा गृहपति और योगी का वर्णन । (६१) राजा की स्तुति और पक्षान्तर में ईश्वर की महिमा । (६२) नायक के कर्त्तव्य भरण और पालन । (६३, ६४) राजा के निग्रह और अनुग्रह के कर्त्तव्य । (६५, ६६) सूर्य और नायक की तुलना । (६७) 'स्वर्ज्योति' मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य । (६८) उत्तम सम्राज्य, पक्षान्तर मे मोक्ष लोक का वर्णन (६९, ७०) राजा और पक्षान्तर में उत्तम अध्यात्म ज्ञानी का कर्तव्य । (७१) सहस्राक्ष राजा और परमेश्वर । (७२) उत्तम पालक राजा, सुपर्ण और गरुत्मान् का वर्णन । (७३, ७४) राज-सभा का वर्णन । (७५) सभा का कार्य सञ्चालन । पक्षान्तर में इश्वरो-पासना । (७६, ७७) तेजस्वी सभापति विद्वानों से युक्त विचारसभा । (७८) विचारक सदस्य के कर्तव्य । पक्षान्तर में गुरूपासना और सत्य ज्ञान प्राप्ति । (८०) विद्वानों का वर्णन । (८१) ऋत आदि सात प्रकार की विवेचना । (८२) मुख्य सात सेना विभाग के नायक । । ८४) सात पालक गण । (८५) प्रजा के सात मुख्य अंग । (८६) देवी प्रजा का स्वरूप । (८७) सम्राट् पद की प्राप्ति और राष्ट्र का उपभोग । (८८) तेजस्वी राजा की मेघ से तुलना । (८९) राजा, मेघ, परमेश्वर और गृह-पति के पक्ष में मधुमान् ऊर्मि का वर्णन । (९०) चतुरंग बल से युक्त सेनापति । चतुर्वेदवित् विद्वान् (९१) राजा, यज्ञ, आत्मा, शब्द और परमेश्वर इन पक्षों में महान् देव का स्वरूप (९२) त्रिविध घृत का दोहन । (९३) घृत की धाराओं का अध्यात्म, राज्य और जलधाराओं के पक्षों में योजना । (९६) घृतधाराओं की उत्तम स्त्रियों से तुलना । (९७) उनकी कन्याओं से तुलना । (९८) यज्ञ और राष्ट्र का वर्णन । राजा और ईश्वर पक्ष में उत्तम राष्ट्र सुख, परमानन्द की प्राप्ति ।

———

अनुभूमिका

उपवेद

वेदों के उपवेदों के विषय में भी बड़ा मत भेद है। महर्षि दयानन्द संस्कारविधि में लिखते है कि—"ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, जिसको वैद्यक शास्त्र कहते हैं जिसमें धन्वन्तरिजी कृत सुश्रुत और निघण्टु तथा पतञ्जलित ऋषिकृत चरक आदि आर्षग्रन्थ हैं ..यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद जिसको शास्त्रास्त्र विद्या कहते हैं। जिसमें अङ्गिरा आदि ऋषिकृत ग्रन्थ हैं जो इस समय बहुधा नहीं मिलते। पुनः सामवेद का उपवेद गान्धर्व वेद जिसमें नारद संहितादि ग्रन्थ हैं...अथर्ववेद का उपवेद अर्थवेद जिसको शिल्प शास्त्र कहते हैं जिसमें विश्वकर्मा त्वष्टा और मयकृत संहिता ग्रन्थ हैं।" इसी लेखानुसार शौनकीय चरणव्यूह परिशिष्ट में लिखा है—

ऋग्वेदस्यायुर्वेद उपवेदो यजुर्वेदस्य धनुर्वेद उपवेदः सामवेदस्य गान्धर्ववेदोऽथर्ववेदस्यार्थशास्त्रं चेत्याह भगवान्व्यासः स्कन्दो वा (च० ४)

इसपर महीदास पण्डित ने लिखा है—धनुर्वेदो युद्धशास्त्रम्। गान्धर्ववेदः संगीत शास्त्रम्। अर्थशास्त्रं, नीतिशास्त्रं शस्त्रशास्त्रं विश्वकर्मादिप्रणीतं-शिल्पशास्त्रम्।

सुश्रुत में लिखा है—'आयुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।' गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—सादिशोऽन्वैक्षत ..ताभ्यः पञ्च वेदान्निरमिमत सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेद मितिहासवेदं पुराण वेदमिति। प्राच्य, एवादिशः सर्पवेदं निरमिमत दक्षिणस्याः पिशाचवेदं प्रतीच्या असुरवेद मुदीच्या इतिहासवेदं ध्रुवायाश्चोर्ध्वायाश्च पुराणवेदम्॥ गौ० पू० १। १०॥

शतपथ (१३।४।३।५–१५) में लिखा है—(१) मनुर्वैवस्वतो राजा... तस्य मनुष्या विशः अश्रोत्रियाः गृहमेधिनः...ऋचो वेदः। (२) यमो वैवस्वतो राजा .तस्य पितरो विशः ..स्थविरा ...यजूंषि वदः। (३)वरुण आदित्यो राजा ..तस्य गन्धर्वा विश . .युवानः शोभनाः अथर्वाणो वेद ।(४) सोमो वैष्णवो राजा ..तस्याप्सरसो विश ...युवतयः शोभनाः... आङ्गिरसो वेदः। (५) अर्बुदः काद्रवेयो राजा तस्य सर्पा विशः . सर्पाश्च सर्पविदश्च...सर्पविद्या वेदः। (६) कुवेरो वैश्रवणो राजा रक्षांसि विश. . सेतगाः पापकृतः...देवजनविद्या वेदः...(७) धान्वो राजा... तस्य असुरा विश....कुसीदिन....मायावेद । (८) मत्स्य सांमदो राजा...तस्य उदकेचरा विशः...मत्स्याश्च मत्स्यहनश्च...इतिहासो वेदः॥ (९) तार्क्ष्यो वैपश्यतो राजा...वयांसि च वायोविधिकाश्च...पुराणं वेदः। (१०) इन्द्रो राजा...देवा विशः श्रोत्रिया अप्रतिग्राहकाः...सामानि वेदः।

इसी प्रकार आश्वालायन और शाङ्खायन श्रौतसूत्रों भी ४ वेद और उपवेदों की गणना की है। परन्तु इनमें कौन सा उपवेद किस किस वेद का है यह निर्देश नहीं हैं। केवल चरणव्यूह परिशिष्ट ने ही भेद दर्शाया है। वह भेद कोई विशेष महत्व का नहीं पता लगता क्योंकि आर्षग्रन्थ सुश्रुत में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद स्वीकार किया है। और भी कतिपय उपवेद बने जिस प्रकार भरत मुनि का नाट्यवेद प्रसिद्ध है। वह उसको यजुर्वेद से निकला स्वीकार करते हैं। चरणव्यूहोक्त यजुर्वेद तथा अथर्व-वेद के उपवेदों पर दृष्टि करें तो धनुर्वेद, और अर्थवेद एक दूसरे के सह-योगी हैं। धनुर्वेद युद्धशास्त्र है और अथर्ववेद में नीति शास्त्र, शस्त्रास्त्र शास्त्र और शिल्पशास्त्र तीनों सम्मिलित हैं। असुर वेद या मायावेद धनो-पार्जन की विद्या है वह अर्थवेद से भिन्न नहीं है। आंगिरस वेद, विषवेद या सर्पवेद, ये सभी आयुर्वेद में सम्मिलित हैं। उन ही अंग उपांग विद्याओं के अधिक विस्तार हो जाने से उनके पृथक् २ नाम हो गये हैं।

यजुर्वेद में राज्यशासन, शासन विभाग, राष्ट्र विजय राज्याभिषेक, तथा युद्धादि का वर्णन पर्याप्त विद्यमान है। इसलिये उसका मुख्य अंग-विद्या धनुर्वेद सुतरा उपयुक्त है। इस में वैशम्पायन मुनिकृत नीतिप्रकाशिका और वसिष्ट और विश्वामित्र कृत धनुर्वेद आदि उत्तम उपयोगी ग्रन्थ हैं।

राज्य विषयक रचनाओं आदि का स्थान २ पर जो हमने अपने भाष्य मे वर्णन किया है वह अभी और भी बहुत विचारने योग्य है। यजुर्वेद का केवल राजनीति की दृष्टि से तथा राज्यपालन की दृष्टि से और भी उदार भाष्य होने की आवश्यकता है। और इस विषय पर हमारा विचार एक ऐसे विशद ग्रन्थ लिखने का है जिसमें यज्ञों का वर्णन अंग प्रत्यग रूप से करते हुए उसमें से किस प्रकार राजधर्म, समाजधर्म तथा वर्णाश्रम धर्मों की उत्पत्ति हुई है यह सब दिखलाया जावे। और वेदों का उन सबपर किस प्रकार प्रभुत्व है यह भी उसी ग्रन्थ में पूरी तरह से दिखाया जा सकेगा। जिसका दिग्दर्शन हम कुछ अगले खण्ड की भूमिका में दिखावेंगे।

विषय सूची को हमने प्रत्येक मन्त्र का संक्षिप्त विषय लिखते हुए सुगम कर दिया है कि यजुर्वेद में किस रीति से राजनीतिशास्त्र का कितना अधिक वर्णन है और उसी के गर्भ में राज्य के समान ही ब्रह्माण्ड के राजा परमेश्वर, गृह के राजा गृहपति और देह के राजा आत्मा एवं द्यौ, अन्तरिक्ष, और पृथिवी के राजा क्रम से सूर्य, वायु, और अग्नि एवं प्रतिनिधि वाद से सोम, वरुण, आदि नामों से राजा आदि का वर्णन किस प्रकार किया है। भाष्य को धैर्य से और मनन पूर्वक देखने से विदित हो जायेगा।

विद्वानों का अनुचर
जयदेवशर्मा विद्यालंकार
मीमांसातीर्थ।

शुद्धाशुद्ध पत्र।

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२३	७	विधुत्	विद्युत्
२७	२२	सप नक्षित्	सपत्नक्षित्
३८	११	दूध्व ऽध्वर	दूध्वोंऽध्वर
४०	२३	धारण किया	धारण किये या पुष्टिकर सृष्टि जनक वीर्य्य को धारण करनेवाले
९०	६	की	को
१०९	६	(विष्णो)	(विष्णो)
११०	१४	व न	वन
१४९	९	राजा	राजन् !
१९५	२२	सवापर	सर्वोपरि
२०९	५	०द्योर्वऊ र्मि०	०द्योव ऊर्मि
२२७	१८	पृ वी	पृथ्वी
२८४	९	आसुयम्	असुर्यम्
२९५	३	(मिय)	(मयि)
३३०	९	सव	सब
३३६	३	अशु	अप्सु
२४०	१२	यान्त्रिय	यान्त्रिये
३५०	१३–१६	बध	वध

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
३८६	११	सूर	सूरेः
३६८	१३	अशस्त्र	अशस्त
४४३	१५	आस्यै	आस्ये
४६५	५	अनुधुन्	अनुधून्
५७६	१३,१५	करती, (आरोचन्)	करते (ओरोचने)
५१०	८	सीदम्	सेदिम्
५१६	६	गृहणामि	गृह्णामि
१२५	१६	राचा	राजा
५७६	१८	मन्त्री	यन्त्री
६२१	१३	पुन	पुत्र
६३३	२२	प्रजोत्पालन	प्रजोत्पादन
६५७	८	कायला	कोयला
७१२	४	बृहस्पतिः	बृहस्पतिः
७१८	६	विश्व	विश्वा

दृष्टिदोष से और भी ऐसी बहुत सी त्रुटियां रहनी सम्भव हैं उनको पाठक स्वयं बुद्धयनुसार सुधार कर ठीक कर लें ।

॥ ओ३म् ॥

यजुर्वेदसंहिता*

प्रथमोऽध्यायः

† प्रजापति परमेष्ठी प्राजापत्य, देवा वा प्राजापत्या ऋषय ।

॥ ओ३म् ॥ 'इ॒षे त्वो॒र्जे त्वा॑ वा॒यव॑ स्थ दे॒वो वः॑ सवि॒ता प्रार्प॑यतु श्रे॒ष्ठत॑माय॒ कर्म्म॑ण॒ आप्या॑यध्वमघ्न्या॒ इन्द्रा॑य भा॒गं [2]प्र॒जाव॑तीरनमी॒वा अ॑य॒क्ष्मा मा व॑स्ते॒न ई॑शत॒ माघश॑ꣳसो ध्रु॒वा अ॒स्मिन् गोप॑तौ स्यात ब॒ह्वीर्यज॑मानस्य प॒शून्पा॑हि ॥ १ ॥

शाखा वायुरिन्द्र सविता च देवता । (१) स्वराट् बृहती । मध्यम (२) ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभ स्वर ।

भा०—हे परमेश्वर ! (इषे) अन्न, उत्तम वृष्टि आदि पदार्थों की प्राप्ति और (ऊर्जे) सर्वोत्तम पुष्टिकारक रस प्राप्त करने के लिये (त्वा त्वा) तेरी उपासना करते हैं । हे प्राण और प्राणिगण ! तुम (वायव स्थ) सब वायु रूप हो, वायु द्वारा प्राण धारण करते हो । (व.) तुम सब का (सविता) उत्पादक परमेश्वर ही (देव·) वह परम देव, सब सुखों और पदार्थों का प्रकाशक और प्रदान करने वाला है । वह तुम को (श्रेष्ठतमाय) अत्यन्त श्रेष्ठ, सबसे उत्तम (कर्म्मणे) कर्म

---

*—इषेत्वादि ख ब्रह्मान्त विवस्वानपश्यत् इति सर्वानु० ।

†—परमेष्ठी प्राजापत्यो दर्शपूर्णमासमन्त्राणामृषि । देवा वा प्राजापत्या । इति सर्वा० ।

परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषि । सविता देवता । द० ।

निःश्रेयस प्राप्ति के लिये (प्र अर्पयतु) पहुंचावे, प्रेरित करे। और हे (अघ्न्या.) कभी न मारने योग्य, इन्द्रियस्थ प्राण गण, एवं यज्ञयोग्य गौवो ! और पृथिवी आदि लोको ! आप सब (आप्यायध्वम्) खूब परिपुष्ट होवो। तुम (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् पुरुष या राजा के लिये (भागं) भजन करने योग्य या प्राप्त करने योग्य भाग हो। तुम (प्रजावतीः) प्रजा, वत्स पुत्र आदि सहित, (अनमीवाः) रोगरहित, (अयक्ष्मा.) राजयक्ष्मा से रहित रहो। (वः) तुम पर (स्तेनः) चोर डाकू आदि दुष्ट पुरुष (मा ईशत) स्वामित्व प्राप्त न करे। (अघशंसः) पाप की चर्चा करने वाला, दूसरों को पाप हिंसा आदि करने की प्रेरणा करने वाला नीच पुरुष भी (वः मा ईशत) तुम पर स्वामी न रहे। हे गौवो ! तुम (गोपतौ) गौ अर्थात् गौओं और भूमियों के पालक राजा और रक्षक पुरुष के अधीन (ध्रुवा') स्थिररूप से (बह्वी') बहुत संख्या में (स्यात) बनी रहो। हे विद्वान् पुरुष ! तू भी (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे, दान देने वाले आत्मा, और यज्ञकर्त्ता श्रेष्ठ पुरुष के (पशून् पाहि) पशुओं की पालना कर।

शत० १ । ७ । १ । १–७ ॥

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि। परमेण धाम्ना दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥२॥

वायुरुखा यज्ञश्च च यज्ञो वा देवता। स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप्। धवतः स्वर' ॥

भा०—हे यज्ञपुरुष ! परमेश्वर ! तू (वसोः) सब संसार को बसाने हारे, सब में व्यापक रूप से बसने वाले, श्रेष्ठ कर्म, यज्ञ का (पवित्रम्) पवित्र परम पावन स्वरूप है। (द्यौः असि) तू द्यौ. सबका प्रकाशक है और सबका आश्रय है, तू (पृथिवी असि) पृथिवी के समान सब से महान् सबका आश्रय होने से 'पृथिवी' है। तू ही (मातरिश्वन') अन्तरिक्ष में निर-

२—यज्ञो देवता। द० । 'विश्वधा परमेण' इति काण्व०।

न्तर गति करने वाले वायु का (घर्म. असि) संचालन करने वाला है और इसी कारण (विश्वधाः असि) समस्त प्राणियों का पोष कया धारण करने हारा है। तू (परमेण धाम्ना) परम, सर्वश्रेष्ठ धाम, तेज, धारण सामर्थ्य से (दृहस्व) बढ़, वृद्धि को प्राप्त है। हे परमात्मन् [1] तू (मा ह्वाः) हमें कभी मत त्याग। (यज्ञपतिः) यज्ञ का पालक, स्वामी, यजमान पुरुष भी (ते) तुझ से कभी (मा ह्वार्षीत्) वियुक्त न हो॥ शत० १। ७। १। ६-११॥

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।
देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः॥ ३॥

वायु. पयः प्रश्नश्च सविता च देवता. । भुरिग् जगती । निषाद· स्वर ॥

भा०—हे परमेश्वर [1] आप (वसोः) सब को बसाने हारे और श्रेष्ठ कर्म और सब में बसने वाले वसु आत्मा के (पवित्रम्) परम पवित्र करने वाले और उसको (शतधारम्) सैकड़ों प्रकार से धारण पोषण करने वाले हो। हे परमेश्वर [1] आप (वसो·) सब को बसाने वाले श्रेठ कर्म और सब में वसने वाले आत्मा का (सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से धारण करने वाले होकर उसको (पवित्रम्) पवित्र करने वाले (असि) हैं। हे पुरुष [1] (सविता देवः) सर्वोत्पादक सर्व प्रेरक सर्वप्रद परमेश्वर (त्वा) तुझको (शतधारेण) सैकड़ों धारण शक्ति से या धारण पोषण करने वाले समर्थ्य से युक्त (सुप्वा) उत्तम रीति से पवित्र करने वाले (पवित्रेण) पावन सामर्थ्य से (पुनातु) पवित्र करे। हे पुरुष [1] तूने (कामम्) किस २ वेदवाणी या ईश्वर की परम पावनी किस २ शक्ति का (अधुक्षः) गौ के समान पुष्टि-प्रद रस प्राप्त किया है और तू किस से परम बल प्राप्त किया करता है?. शत० १। ७। १। १४-१७॥

३—सविता देवता। द०।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः ।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेनातनच्मि विष्णो हव्यꣳरक्ष ॥ ४ ॥

गौरिन्द्रो विष्णुश्च देवता. । अतुष्टुप् । गान्धार स्वर ॥

भा०—'काम् अधुक्षः' इस प्रश्न का उत्तर देते हैं। (सा) वह परमेश्वरी शक्ति जिसका प्रकाश वेद द्वारा किया है वह (विश्व-आयु.) समस्त संसार का जीवन रूप है। (सा) वह परमेश्वरी शक्ति (विश्व-कर्मा) विश्व को रचने वाली, सब का निर्माण करने वाली है। (सा) वह परमेश्वरी शक्ति (विश्व-धाया·) समस्त जगत् को अपना परम रस पान कराने और सब को धारण पोषण करने हारी है। हे यज्ञ ! (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर के (भागम्) भजन करने योग्य, सेवनीय स्वरूप (त्वा) तुझ को (सोमेन) सोम, सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक आनन्द रस से (आतनच्मि) दृढ़ करता हूं। हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप (हव्यम्) इस आत्मा के ग्रहण करने योग्य विज्ञान और समर्पण करने योग्य आत्मा की (रक्ष) रक्षा करो। शत० १ । ७ । १ । १७–२१ ॥

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ ५ ॥

अग्निर्देवता । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवत स्वर ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानोत्पादक ! अग्रणी ! सब के नेता परमेश्वर ! हे (व्रतपते) सब व्रतों के, शुभकर्मों के स्वामिन् ! मैं (व्रतम्) व्रत, पवित्र कर्म का (चरिष्यामि) आचरण करूंगा। (तत्) उसको पालन करने में मैं (शकेयम्) समर्थ होऊं। (मे) मेरा (तत्) वह सब व्रताचरण (राध्यताम्) पूर्ण हो, सफल हो। मैं (इदम्) यह व्रत धारण करता हूं कि (अहम्) मैं (अनृतात्) असत्य, मिथ्याभाषण, मिथ्याज्ञान और

४—'सोमेनातनच्मि' इति काण्व० ।

मिथ्या आचरण से और ऋत अर्थात् सत्यमय वेद के विपरीत अनृत से दूर रह कर (सत्यम्) सत्य को (उपैमि) प्राप्त होऊं ॥ शत० १ । १ । १ । ११ ॥

कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति । कर्मणे वां वेषाय वाम् ॥ ६ ॥

स्रुक शूर्पश्च प्रजापतिर्वा देवता । आर्ची पंक्तिः । पञ्चमः स्वरः ॥

भा०—[प्रश्न] हे पुरुष ! तू जानता है कि (त्वा) तुझको कार्यों में (कः) कौन (युनक्ति) प्रेरित करता है ? [उत्तर] हे पुरुष ! (त्वा) तुझको (सः) वह परमेश्वर ही (युनक्ति) उत्तम कार्य और सन्मार्ग में प्रेरित करता है । [प्र०] (त्वा) तुझ को वह परमेश्वर (कस्मै) किस प्रयोजन के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है ? [उ०] (त्वा) तुझ को वह परमेश्वर (तस्मै) उस उस, उत्तम २ कार्य सम्पादन के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है । हे स्त्रीपुरुषो ! और गुरुशिष्यो ! वह परमेश्वर (वाम्) तुम दोनों को (कर्मणे) उत्तम कर्म करने के लिये प्रेरित करता है । और वह (वाम्) तुम दोनों को (वेषाय) सर्वशुभगुणों के प्राप्त करने और पूर्ण जीवन प्राप्त करने के लिये या सर्व व्यापक परमात्मा को प्राप्त करने के लिये (युनक्ति) नियुक्त करता है ॥ शत० १ । १ । १ । ११–२२ ॥ १ । १ । २ । १ ॥

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता अरातयः । उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

रक्षोघ्न ब्रह्मशो वा देवता । प्राजापत्या जगती । निषादः स्वर ॥

भा०—(रक्षः) विघ्नकारी दुष्ट स्वभाव के पुरुष को (प्रत्युष्टम्) भली प्रकार जाच २ करके संतप्त करो । (अरातय) दानशीलता से रहित परद्रव्यापहारी, निर्दयी पुरुषों को (प्रत्युष्टाः) ठीक २ विवेचन करके

७—यज्ञो देवता । द० । रक्षोघ्न ब्रह्म देवता इति सायण का० भा० । रक्ष, लिंगादन्तरिक्ष देवतेति अनन्त० । उरु ब्रह्म रक्षोघ्न सर्वत्रेति सर्वा० ।

संतापित करना चाहिये । (रक्षः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुष (नि तप्तम्) खूब तप्तहो । और (अरातयः) शत्रु भी (निः-तप्ताः) खूब संतप्त हों और इस प्रकार पृथिवी रूप समस्त यज्ञवेदि को दुष्ट विघ्नकारियों से रहित करके पुनः मैं (ऊरु) विस्तृत, महान् (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष प्रदेश को भी (अनु एमि) अपने वश करूं, और दुष्टो का पीछा कर उनका नाश करूं ॥ शत० १ । १ । २ । २–४ ॥

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान्धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः ।
देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं प्रप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥८॥

धूरनोऽग्निश्च देवताः । अतिजगती । निषाद स्वरः ॥

भा०—हे राजन् ! वीर पुरुष ! तथा हे परमात्मन् ! तू (धूः असि) समस्त शत्रुओं का विनाशक एवं शकट के धुरा के समान प्रजा के भार को उठाने में समर्थ है । तू (धूर्वन्तं) हिंसा करने हारे को (धूर्व) विनाश कर । और (तम्) उसको (धूर्व) मार दण्ड दे (यः) जो (अस्मान्) हमको (धूर्वति) वध करता है । और (तं धूर्व) उसको नाश कर (यम्) जिसको (वयम्) हम (धूर्वामः) विनाश करते हैं। हे वीर पुरुष तथा हे परमात्मन् ! (देवानाम्) देव-विद्वान् पुरुषों को (वह्नितमम्) सब से उत्तम, वहन करने वाला, उनका भार शकट के समान अपने ऊपर उठाने वाला, (सस्नितमम्) राष्ट्र को मलिन स्वभाव के दुष्ट पुरुषों से शुद्ध करने हारा, (पप्रितमम्) सब का सर्वोत्तम पालन करने हारा, (जुष्टतमम्) सब को सर्वोत्कृष्ट प्रेम करने वाला, (देवहूतमम्) विद्वान् पुरुषों को सर्वोत्तम उपदेश करने हारा, सब को प्रेम से अपने प्रति बुलाने हारा है । हम तेरी नित्य उपासना करें ॥ शत० १ । १ । २ । १०–१२ ॥

८—अग्निर्देवता । द० । ‘०धूर्व त य०’ इति काण्व० ।

अच्छिद्रमसि हविर्धानं दृꣳहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतꣳ रक्षो यच्छन्तां पञ्च ॥६॥

अनो व्रीहियवादयो रक्षो हविर्विष्णुश्च देवता । त्रिष्टुप् । धैवत स्वर ॥

भा०—हे यज्ञ ! प्रजापते ! तू (अच्छिद्रम्) कुटेलता से रहित (हविर्धानम्) अन्न और ज्ञान का आधार और उसका आश्रयस्थान है। हे यजमान ! यज्ञशील पुरुष ! तू (दृंहस्व) ऐसे यज्ञ को सदा बढ़ा। (मा ह्वा) तू उसको त्याग मत कर। हे यज्ञ ! (ते) तेरा (यज्ञपतिः) यज्ञ पालक, स्वामी पुरुष (मा ह्वार्षीत्) तुझे त्याग न करे। हे यज्ञ ! (त्वा) तुझे (विष्णु.) व्यापक सूर्य या परमेश्वर (क्रमताम्) शासन करता, तुझे रचता और तुझ पर अधिष्ठातारूप से विद्यमान है। वह इस ब्रह्माण्ड रूप शकट या महान् यज्ञ में शासक है। वह ही (उरु वाताय) महान् जीवनप्रद वायु और प्राणियों के प्राण-समष्टि के संचालन करने के लिये विद्यमान है। (रक्ष.) जीवन के विघ्न करने हारा दुष्ट हिंसक (उपहतम्) मार दिया जाय। (पंच) पांचों अंगुलियां जिस प्रकार किसी पदार्थ को पकड़ती हैं उसी प्रकार पांचों जन यज्ञ में एकत्र होकर (यच्छन्ताम्) दुष्टों का निग्रह करें और जीवनोपयोगी सुखों का संग्रह करें। लोग अन्न सम्पादक यज्ञ को बढ़ावें, उसको कभी न त्यागें। व्यापक सूर्य सर्वत्र फैले, जिससे खूब वायु बहे और रक्षोगण, जीवननाशक पदार्थ नष्ट हों और पांचों जन मिल कर उन राक्षसों का दमन करें॥ शत० १।१।२।१२-१२॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अग्नये जुष्टङ्गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ १० ॥

अग्नीषोमौ सविता च देवता । भुरिग् बृहती । मध्यम स्वर ॥

९—विष्णुर्देवता । द० ।

१०—' देवानामसि सस्नितम वन्हितम पप्रितम ०' इति काण्व०

भा०—हे अन्न आदि ग्राह्य पदार्थ ! (त्वा) तुझको (देवस्य) सर्वप्रदाता (सवितुः) सर्वप्रेरक, सर्व दिव्य पदार्थों के उत्पादक परमेश्वर या राजा के (प्रसवे) उत्पन्न किये इस ससार मे या उसकी आज्ञा मे रह कर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियो, स्त्री पुरुषो या यज्ञसम्पादक विद्वानो या सूर्य और चन्द्र की बाहुओं अर्थात् ग्रहण करने वाले सामर्थ्यों द्वारा और (पूष्णः) पुष्टिकारक प्राण के (हस्ताभ्याम्) ग्रहण और विसर्जन करने के सामर्थ्यों द्वारा (अग्नये जुष्टम्) अग्नि अर्थात् जाठर अग्नि के सेवन करने योग्य और (अग्नि-सोमाभ्याम्) अग्नि और सोम, अग्नि और जल इन द्वारा (जुष्टम्) सेवित, या सेवन करने योग्य सुपक्व अन्न को (गृह्णामि) ग्रहण करूं ।

राजा के पक्ष में—अग्नि = राजा या क्षात्र बल और सोम = ब्राह्मण इन दोनों के अभिमत अन्न आदि पदार्थों को अश्वियो स्त्री पुरुषों या राजा, ब्राह्मण विद्वानो के बाहुबल और पूषा अर्थात् पुष्टिकर भागदुघ् नामक कर-संग्राहक अधिकारी के हस्तों, ग्रहण करने के सामर्थ्यों द्वारा सर्वप्रेरक ईश्वर के राज्य में ग्रहण करूं ॥ शत० १ । १ । २ । १७ ॥

भूताय त्वा नारातये स्वराभिविख्येषं दꣳहन्तां दुर्य्याः पृथिव्या-मुर्व्वन्तरिक्षमन्वेमि । पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थेऽग्ने हव्यꣳ रक्ष ॥ ११ ॥

हविः सूर्यगृहहव्यान्यग्निश्च देवता । स्वराड् जगती । निषाद स्वर ॥

भा०—हे अन्न या अग्ने ! या हे राजन् ! मैं (त्वा) तुझको (भूताय) उत्पन्न प्राणियो के हित के लिये उत्पन्न करता हूं । (अरातये न) दान न देने के लिये, या किसी श्रेष्ठ कार्य मे व्यय न होने के लिये नहीं, या शत्रु के हित के लिये नही, प्रत्युत सबके कल्याण के लिये स्थापित

११—अग्निर्देवता । द० । '० हव्य रक्षस्व ०' इति काण्व० ।

करता हूं। मैं पुरुष (स्व.) सुखकारक परमात्मा के परम तेज को (अभि-विख्येषम्) निरन्तर देखूं। मेरे (दुर्या) घर और घर के समस्त प्राणी (पृथिवीम्) पृथिवी पर (दृहन्ताम्) सदा बढ़ें, उन्नति करें। और मैं (ऊरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष में भी (अनु एमि) जाऊं और उस पर भी वश करूं। हे (अग्ने) सब के अग्रणी, ज्ञान प्रकाशक पुरुष ! (त्वा) तुझ को राजा के समान (पृथिव्याः) पृथिवी के, पृथिवीवासी पुरुषों के (नाभौ) केन्द्र में, मध्य में सब को व्यवस्थासूत्र में बांधने के कार्य में और (अदित्या·) इस अविनाशी, अखण्डित राजसत्ता या पृथिवी के (उपस्थे) पृष्ठ पर (सादयामि) स्थापित करता हू। हे अग्ने ! पर संतापक ! तू (हव्यम्) हव्य, ग्रहण करने योग्य, एव ज्ञान योग्य समस्त अन्न आदि पदार्थों की (रक्ष) रक्षा कर। शत० १।१।२।२०-२३ ॥

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवोग्र इमम्मध यज्ञन्नयताग्रे यज्ञपतिꣳ सुधातु यज्ञपतिं देवयुवम् ॥ १२ ॥

पवित्रे आप सविता च देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवत स्वर ।

भा०—(पवित्रे स्थ.) हे सूर्य और जल तुम दोनों पवित्र करने हारे मल आदि के शोधक हो। उसी प्रकार हे प्राण और उदान ! तुम इस देह में पवित्र गति करने वाले हो। तुम दोनों (वैष्णव्यौ) इस संसार और देहमय यज्ञ में वर्त्तमान रहते हो। हे जलो ! और प्राण उदान और व्यान तुम तीनो ! (व·) तुम को (सवितु·) समस्त दिव्य पदार्थों के उत्पादक प्रेरक सूर्य और समस्त इन्द्रियों के प्रेरक आत्मा के (प्रसवे) शासन या प्रेरक बल पर (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित, (पवित्रेण) शोधन करने वाले, छाज से जैसे अन्न स्वच्छ किया जाता है उसी प्रकार (सूर्यस्य रश्मिभि·) निरन्तर पृथ्वी तल पर पड़ने वाली रश्मियों, किरणों द्वारा

(उत् पुनामि) ऊपर लेजा कर मैं और भी पवित्र करता हूं, शुद्ध करता हूं। तब वे (आप.) जल (देवीः) दिव्यगुण युक्त होकर (अग्रेगुवः) अग्र अर्थात् समुद्र=अन्तरिक्ष में व्यापक और (अग्रेपुव·) अन्तरिक्ष या वातावरण को ही पवित्र करने वाली हो जाते हैं। हे पवित्र जलो ! तुम (अद्य) अब, सदा (इमम् यज्ञम्) उस महान् ईश्वरनिर्मित ब्रह्माण्डमय यज्ञ को (अग्रे नयत) सब से श्रेष्ठ पद पर प्राप्त कराते हो। और (सुधातुम्) समस्त संसार को भली प्रकार धारण करने वाले उस (यज्ञपतिम्) यज्ञ के स्वामी परमेश्वर और (देवयुवम्) दिव्य पृथिवी आदि पदार्थों को बनाने और रचने हारे (यज्ञपतिम्) यज्ञपति परमेश्वर को (अग्रे नयत) सबसे उत्तम पदपर स्थापित करते हो।

राजा के पक्ष मे—(पवित्रे स्थः) हे राजा और प्रजा तुम दोनों ही राष्ट्र को परिशोध करने हारे (वैष्णव्यौ) व्यापक राज्यव्यवस्था के अंग हो। मैं पुरोहित (वः सवितुः प्रसवे उत्पुनामि) तुम प्रजाजनों को प्रेरक राजा की प्रेरणा और शासन द्वारा उन्नत करता हूं। (अछिद्रेण पवित्रेण) बिना छिद्र के छाज से जैसे अन्न शुद्ध किया जाता है और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों से जिस प्रकार जल और वायु शुद्ध होते हैं। उसी प्रकार (अछिद्रेण) त्रुटि रहित, बिना छल छिद्र के पवित्र व्यवहार और सूर्य के समान कान्तिमान प्रतापी राजा के रश्मि अर्थात् प्रजाओं को बांधने वाली व्यवस्थापक रासों से राष्ट्र को शुद्ध करूं। (देवी. आपः) दिव्य गुणयुक्त विद्वान् आप्तपुरुष (अग्रे-गुवः) सब कामों में अगुआ हो और (अग्रेपुवः) आगे सबके मार्गदर्शक हों। हे (आपः) आप्त पुरुषो ! आप लोग (अद्य इमं यज्ञं अग्रे नयत) अब इस परस्पर संगत सुव्यवस्थित राष्ट्र को आगे उन्नति के मार्ग पर ले चलो। (सुधातुं देवयुवम् यज्ञपतिम् अग्रे नयत) राष्ट्र के उत्तम रूप से धारक, पालक पोषक विद्वानों के प्रिय, यज्ञपति राष्ट्रपति को आगे ले चलो ॥ शत० १ । १ । ३ । १–७ ॥

[1]युष्मा इन्द्रो वृणीत वृत्रतूर्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्ये प्रोक्षिता स्थ। [2]अग्नये त्वा जुष्टम्प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि। [3]दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै यद्वोशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि[3] ॥ १३ ॥

आपोग्निषोमौ पात्राणि इन्द्रश्च, यज्ञो वा देवता। (१) निचृदुष्णिक्। षड्ज (२) विराट् गायत्री। (३) भुरिग् उष्णिक्। ऋषभ ।

भा०—हे प्रजा के आप्त पुरुषो ! (युष्मा) तुम लोगों को (इन्द्र·) ऐश्वर्यवान् राजा, सूर्य जिस प्रकार मेघ के साथ संग्राम करने और उसको छेदन भेदन करने के अवसर पर ग्रहण करता है उसी प्रकार (वृत्रतूर्ये) राष्ट्र पर आवरण या घेरा डालने हारे शत्रु के वध करने के संग्राम कार्य में (अवृणीत) वरण करता है। और (वृत्रतूर्ये) घेरा डालने वाले या राष्ट्र की सुख सम्पत्ति के वारक दुष्ट पुरुष के साथ होने वाले संग्राम में ही (यूयम्) तुम लोग भी (इन्द्रम्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् प्रतापी पुरुष को अपना नेता, स्वामी (अवृणीध्वम्) वरण किया करो। आप सब आप्त जन (प्रोक्षिता· स्थ) वीर्य और धन आदि द्वारा उत्सिक्त, सम्पन्न, विशेष रूप से दीक्षित, जलसे स्वच्छ या युद्ध में निष्णात होकर रहो। (२) हे वीर पुरुष ! (अग्नये जुष्टम्) अग्रणी नेता के प्रेमपात्र (त्वा) तुझ को (प्रोक्षामि) अभिषिक्त करता हूं, दीक्षित करता हू. (अग्निषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम, क्षत्रिय और ब्राह्मण या राजा और प्रजा दोनों के हित के लिये या दोनों के बलों से (जुष्टम्) सम्पन्न (त्वा) तुझ वीर, उत्तम पुरुष को (प्रोक्षामि) जलों द्वारा अभिषिक्त करता हूं। (३) हे (आप) आप्त पुरुषो ! आप सब लोग मिलकर इस उत्तम पुरुष को (दैव्याय कर्मणे) देवों से या देव, राजा द्वारा सम्पादन करने योग्य कर्म, राज्य-व्यवहार के लिये (शुन्धध्वम्) शुद्ध करें, नाना जलों से अभिषिक्त करें।

१३—(१) इन्द्र (३) यज्ञो देवता। द० ।

और (देवयज्यायै) देवों, विद्वानों द्वारा परस्पर संगत होकर करने योग्य व्यवस्था कार्य के लिये तुझे अभिषिक्त करें। राजा प्रजा के प्रति कहता है—हे प्रजाजनो ! आप्त पुरुषो ! (यद्) यदि (वः) तुम में से जो कोई लोग (अशुद्धाः) मलिन, अशुद्ध, त्रुटिपूर्ण हो कर (पराजघ्नुः) शत्रुओं से पराजित हो कर पछाड़ खागये हैं तो (इदम्) यह मैं इस प्रकार (वः) आप लोगों को (तम्) उस त्रुटि के दूर करने के लिये (शुन्धामि) विशुद्ध, त्रुटि रहित करता हूं ।

राजा प्रजा के आप्त पुरुषों को संग्राम के निमित्त वरे। प्रजाएं राजा को वरें। राजा प्रजा के निमित्त भर्त्ती हुए वीर पुरुषों को भी दीक्षित करे। राजा राज्यकार्य को देवकार्य या ईश्वरीय सेवा जान कर शुद्ध चित्त होकर अभि-षिक्त हों। और राजा अपने समस्त कार्यकर्त्ताओं को त्रुटि रहित करे। शत० १ । १ । ३ । ८ । १२ ॥

शर्म्मास्यवधूतꣳ रक्षोऽवधूता अरातयोदित्यास्त्वगसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु । अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

यज्ञो देवता । स्वराड् जगती । निषादः स्वर ॥

भा०—हे राजन् ! (शर्म असि) जिस प्रकार घर सुखदायी होता है उसी प्रकार तू प्रजा के लिये सुखप्रद है। (रक्षः) तेरे द्वारा ही विघ्न-कारी राक्षसों को (अवधूतम्) नीचे दबा कर नष्ट किया जाता है। (अरातयः अवधूताः) हमारे अधिकार और संपत्ति को हमें न देने हारे, अदानशील, दुष्ट पुरुष भी मार दिये जावें। तू सचमुच (अदित्याः) इस अखण्ड अविनश्वर, अदिति पृथिवी की (त्वक् असि) त्वचा के समान है। अर्थात् जिस प्रकार त्वचा देह की रक्षा करती है उसी प्रकार बाह्य आघातों से तू पृथिवी निवासी प्रजा की रक्षा करता है। (त्वा) तुझ को (अदितिः) यह पृथिवी वासी प्रजाजन (प्रति वेत्तु) प्रत्यक्षरूप में जानें।

हे राजन् तू ' (वानस्पत्यः) वनस्पति के बने (अद्रि) कभी भी न टूटने वाले मूसल के समान दृढ़ है । अथवा (वानस्पत्यः) वनस्पतियों का हितकारी जिस प्रकार मेघ बरसता है उसी प्रकार तू प्रजा के प्रति सुखों का वर्षक (अद्रि) और अभेद्य रक्षक है । (ग्रावा असि) जिस प्रकार दृढ़-शिला अन्न आदि पदार्थों को चूरा २ कर देती है उसी प्रकार तू भी शत्रुओं को चकनाचूर कर देता है । तू (पृथुबुध्न·) विशाल मूल वाला, दृढ आधारवाला है ॥ (अदित्या) अदिति, पृथिवी और उसके ऊपर बसने वाली प्रजा का (त्वक्) त्वचा के समान सवरणकारी रक्षक लोग भी (त्वा) तुझे (प्रति वेत्तु) प्रत्यक्षरूप मे जानें ॥ शत० १ । १ । ४–७ ॥

[1]अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्जनन्देववीतये त्वा गृह्णामि बृहद्ग्रावासि वानस्पत्य स इदन्देवेभ्यो हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व । [2]हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि ॥ १५ ॥

हविर्मुसल वाक्, पत्नी च यज्ञो वा देवता (१) निचृत् जगती, निषाद (२) याजुषी पंक्ति । पञ्चम स्वर ॥

भा०—हे प्रजा के पालक यज्ञमय प्रजापते ! राजन् ! तू (अग्ने तनूः असि) अग्नि का स्वरूप है । अग्नि के समान साक्षात् अग्रणी और दुष्टों का तापकारी है । (वाचः विसर्जनम्) वेद आदि वाणियों और स्तुतियुक्त वाणियों के त्याग करने, भेंट करने का स्थान है । (त्वा) तुझ को हम प्रजाजन (देववीतये) देव, विद्वानों के रक्षा के निमित्त (गृह्णामि) स्वीकार करते हैं । तू (वानस्पत्य) वनस्पति अर्थात् काष्ठ के बने मूसल के समान शत्रुनाशक और (बृहद्ग्रावा असि) बड़ा भारी ग्रावा पाषाण के समान शत्रु के दलन करने वाला है । (इदम्) यह (देवेभ्य)

१५—०'बृहन्ग्रावासि'०, '०शमि हव्य ँ शमीष्व०' इति काण्व० ।

यज्ञो देवता । द० ।

देव विद्वान् पुरुषों के उपकार के लिये (हविः) ग्रहण करने योग्य अन्न या भोग्य पदार्थ है। (स) वह तू राजा उसको (शमीष्व) शान्तिदायक रूप में तैयार कर। (सुशमि) उत्तम रीति से दुःखशमन करने के लिये (शमीष्व) उसको उत्तम रीति से तैयार कर। हे (हविष्कृत्) अन्न आदि पदार्थों के तैयार करने वाले सत्पुरुष ! तू (एहि) आ। हे (हविष्कृत् एहि) अन्न आदि पदार्थों को तैयार करने वाले पुरुष ! तू आ ॥ मात० १ । १ । ४ । ८-१३ ॥

'कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्ज्जमावद त्वया वयꣳ संघातं संघातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूता अरातयोऽपहतꣳ रक्षो वायुर्वो विविनक्तु देवो वः 'सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥

वाक् शूर्प हविः रक्षः तण्डुलाश्च वायुः सविता च देवता (१) आर्षी त्रिष्टुप्, धैवतः, (२) विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे वीर राजन् ! तू (कुक्कुटः) चोर डाकुओं को नाश करने वाला और (मधुजिह्वः) मधुर जिह्वावाला अर्थात् मधुर वाणी बोलने हारा (असि) है। तू हमें (इषम्) अन्न आदि भोग्य पदार्थ या प्रेरक आज्ञा वचन (ऊर्जम्) परम विद्यादि पराक्रम तथा अन्यान्य बलकारी पदार्थों को प्राप्त करने का (आ वद) उपदेश कर। लोगों को अन्नादि उत्पन्न करने की आज्ञा दे। (त्वया) तुझ वीर अग्रणी राजा के द्वारा (वयम्) हम (संघातं संघातम्) शत्रुओं को मार मार कर (जेष्म) विजय करें। (वर्षवृद्धम् असि) जिस प्रकार सूप की सींकें वर्षा से बढ़ी होने के कारण वह सूप वर्षवृद्ध हैं उसी प्रकार हे ज्ञानी

१६—'सघाते सघाते०', ०'प्रतिपूता अरातय०' । ', ० प्रतिगृह्णातु हिरण्य पाणिरच्छिद्रेण 'पाणि' इति काण्व०

पुरुष तू भी वर्षों में अधिक आयु होने से वर्षवृद्ध है। (वर्षवृद्धं त्वा) उस वर्षों में बूढ़े, दीर्घायु, एवं वृद्ध अनुभवी तुझ पुरुष को (प्रतिवेन्तु) प्रत्येक पुरुष जाने। जिस प्रकार सूप अन्न को फटक कर भूसी को पृथक् कर देता है उसी प्रकार हे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुष तेरे विवेक और युक्ति द्वारा (रक्षः) प्रजा में विघ्नकारी दुष्ट पुरुष (पराभूतम्) दूर हो, और (अरातयः) शत्रुगण भी (परापूता.) पछोड़ २ कर दूर कर दिये जांय। इस प्रकार (रक्षः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुष जब (अपहतम्) ताड़ित हो तब (वायु) वायु जिस प्रकार छाज से गिराये अन्न में से भूसी को दूर उड़ा देता है और अन्न पृथक् हो जाता है उसी प्रकार हे प्रजागण! आप्त पुरुषो! (व.) तुम्हारे बीच में (वायु·) व्यापक, ज्ञानी पुरुष ही (वि विनक्तु) धर्म अधर्म का, बुरे भले का विवेक करे। जिस प्रकार पुन· सुवर्णादि से धनाढ्य पुरुष द्रव्य देकर शङ्ख को हाथों से भर कर उठा लेता है उसी प्रकार (हिरण्यपाणिः) सुवर्ण-कंकण को हाथ में धारण करने हारा (वः सविता देव·) तुम्हारा प्रेरक, सूर्य के समान उज्ज्वल, प्रतापी राजा (व.) तुम सब प्रजाजनों को (अच्छिद्रेण पाणिना) छिद्र रहित हाथों से, त्रुटिरहित साधन से (प्रतिगृभ्णातु) स्वीकार करे, रक्षा करे॥ शत० १। १। ४। १८-२४॥

धृष्टिरस्यपाऽग्ने अग्निमामादं जहि निष्क्रव्यादꣳसेधा देवयजं वह। ध्रुवमसि पृथिवीं दꣳह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनिं सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय॥ १७॥

उपदेश कपालान्यग्निश्च देवता। आक्षी पंक्ति। पंचम स्वरः।

भा०—हे धनुर्विद्या में विद्वान् राजन्! वीर पुरुष! राष्ट्र में समीप २ के नाना स्थानों में छावनियें बनाकर बैठने हारे! तू (धृष्टि·असि) शत्रुको घर्षण करने,

१७—०'उपदधामि द्विषतो वधाय' इति काण्व०।

उसको पराजित करने मे समर्थ है । अत. हे अग्ने ! शत्रुसंतापक राजन् ! तू अपने से विपरीत(आमादम्) कच्चे, अपरिपक्व आयु वाले जीवो को खाने वाले, या कच्चे मांसखोर, संतापक पुरुष को या रोगादि ज्वर को (जहि) विनाश कर । और (क्रव्यादम्) जो अग्नि, क्रव्याद, क्रव्यमांस को खाय, वह चिता आदि की अग्नि और उसके समान अन्य अमंगलकारी, प्रजाघातक विपत्तिकारी संतापक जन्तु को भी (नि. पेध) दूर कर । (देवयजं वह) देव विद्वानों और वायु और जल आदि को परस्पर संगत करके सुख वर्धन करने वाले विद्वान् पुरुष को (वह) राष्ट्र मे ला, बसा । तू (ध्रुवम् असि) ध्रुव--स्थिर है, इस कारण तू (पृथिवीम् दृंह) पृथिवी को दृढ़ कर, पालन कर । (ब्रह्मवनि) ब्राह्मणों को वृत्ति देने वाले, (क्षत्रवनि) क्षत्रियों को वृत्ति देने वाले और (सजातवनि) अपने समान वीर्यवान् पुरुषो को भी वृत्ति देने वाले तुझ अखिल ऐश्वर्य के स्वामी पुरुष को (आतृव्यस्य) शत्रु के (वधाय) वध करने के लिये (उपदधामि) स्थापित करता हूं ।

[1]अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व ध्रुवमसि पृथिवीन्दृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि आतृव्यस्य वधाय । [2]ध्रुवमसि दिवंदृंह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवन्युपदधामि आतृव्यस्य वधाय । [3]विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि चितस्थोर्ध्वचितो भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम् ॥ १८ ॥

अग्निर्देवता । (१) ब्राह्मी उष्णिक्, ऋषभ । (२) आर्चीत्रिष्टुप् धैवत (३) आर्ची पक्ति । पचम ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! शत्रुसंतापक और प्रजा के अग्रणी नेता: राजन् ! तू (ब्रह्म) वेद और वेदज्ञ पुरुष, ब्राह्मणों के (गृभ्णीष्व) अपने आश्रय में ले । और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और अन्तरिक्ष मे स्थित वायु आदि

१८—०'द्विषतो वधाय०' इति काण्व० ।

पदार्थों और उसमे विचरने वाले प्राणियों और उसकी विद्या के वेत्ता पुरुषों अथवा अन्तरिक्ष के समान शासक श्रेणी के प्रजाजन को (दंह) उन्नत कर। (ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि सजातवनि उपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय) इत्यादि पूर्ववत् ॥ (धर्त्रम् असि) तू राष्ट्र के धारण करने में समर्थ है । तू (दिवम् दंह) द्यौलोक, उसमें स्थित, प्राणि, दिव्य शक्तियों और द्यौलोक के समान उच्च कोटि के प्रजाजनों को उन्नत कर (ब्रह्मवनि त्वा० इत्यादि) पूर्ववत्। हे राजन्! (त्वा) तुझे (विश्वाभ्य आशाभ्य') समस्त दिशाओं और उनके वासी प्रजाओं के लिये (उपदधामि) स्थापित करता हू। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग भी (चित स्थ) प्रजा को ज्ञान देने हारे और स्वयं ज्ञानवान् हैं । अतएव आप लोग (ऊर्ध्वचित-स्थ) सब से ऊपर रह कर सब को ज्ञानवान् करने में कुशल हो। आप लोग (भृगूणाम्) पाप और पापियों को भून डालने वाले (अंगिरसाम्) अगारों के समान जाज्वल्यमान, तेजस्वी पुरुषों के (तपसा) तपश्चर्या से (तप्यध्वम्) तप करो ॥ शत० १ । २ । ५ । १०--१३ ॥

शर्म॑ास्यव॑धूत॒ꣳ रक्षो॑ऽव॑धूता॒ऽअरा॑तयोऽदि॑त्या॒स्त्वग॑सि प्रति॒ त्वा-दि॑तिर्वेत्तु । द्रि॒षद॑सि पर्व॒ती प्रति॒ त्वादि॑त्या॒स्त्वग्वे॑त्तु दि॒व स्कम्भ॑नीरसि द्रि॒षद॑सि पार्व॒तेयी॒ प्रति॑ त्वा पर्व॒ती वे॑त्तु ॥ १९ ॥

अग्निर्दृषत्शम्या, उपलाश्च देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे राजन् (शर्म असि) तू समस्त प्रजा का सुखदायक शरण है । (अवधूत रक्ष) तेरे द्वारा राष्ट्र के विघ्नकारी राक्षस गण मार भगाये। (अरातय अवधूता) शत्रुगण भी पछाड़ दिये । तू (अदित्या) अखण्ड पृथिवी का (त्वक् असि) त्वचा के समान उस पर फैल कर उसकी रक्षा करने हारा है । (त्वा) तुझे (अदिति) यह समस्त पृथिवी (प्रतिवेत्तु)

१९—'दिवस्कम्भन्यसि' इति काण्व० ।

प्रत्यक्षरूप मे अपना स्वामी स्वीकार करे। हे वेदवाणि ! या हे सेने ! तू (पर्वती) पालन करने के बल और ज्ञान से युक्त (धिषणा) शत्रुओं का धर्षण करने मे समर्थ (असि) है (अदित्याः त्वक्) अदिति, पृथिवी की त्वचा, उसको संवरण, पालन करने वाली प्रभुशक्ति (त्वा प्रतिवेत्तु) तुझे प्राप्त करे और स्वीकार करे। हे प्रभुशक्ते ! तू (दिव स्कम्भनीः असि) द्यौलोक के समान प्रकाश या सूर्य के समान प्रकाश युक्त तेजस्वी विद्वानों का आश्रयभूत (असि) है। तू भी (पार्वतेयी) मेघ की कन्या बिजुली के समान अति बलवती या मेघ से उत्पन्न वृष्टि के समान सब का पालन करने वाली, सब सुखो की वर्षक, उत्तम फल प्राप्त कराने हारी है। (पर्वती) पूर्वोक्त सेना (त्वा प्रति वेत्तु) तुझे प्रत्यक्षरूप से प्राप्त करे, स्वीकार करे ॥ शत० १ । २ । ५ । १४–१७ ॥

धान्यमसि धिनुहि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा । दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धान्देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि ॥ २० ॥

हवि सविता आज्य च देवता । विराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत स्वर ॥

भा०—अन्न और घृत की उपमा से राज्यशक्ति का वर्णन करते है—(धान्यम् असि) हे राजन् जिस प्रकार अन्न समस्त प्रजाओं का धारण पोषण करता है उसी प्रकार तू भी प्रजा को धारण पोषण करता है। इसलिये (देवान् धिनुहि) जिस प्रकार अन्न शरीर के प्राणों को तृप्त करता है उसी प्रकार तू देव अर्थात् शिल्पी, विद्वानों और सत्तावान् राजपुरुषों को तृप्त, प्रसन्न कर। (प्राणाय त्वा, उदानाय त्वा व्यानाय त्वा) जिस प्रकार अन्न को प्राण शक्ति, उदान शक्ति, और व्यान शक्ति की वृद्धि के लिये खाते हैं उसी

२०—'०देवान् धिनुहि यज्ञ धिनुहि यज्ञपति' धिनुहिमा यज्ञन्य प्राणाय० । प्रतिगृह्णात हिरण्यपाणिरच्छिद्रेण० इति काण्व० ।

प्रकार हे राजन् ! तुझ को प्राण अर्थात् राष्ट्र के जीवन धारण के हेतु, बल की प्राप्ति, उदान अर्थात् आक्रमण, चढ़ाई और पराक्रम के लिये और व्यान अर्थात् समस्त राष्ट्र में शुभ अशुभ कर्मों और विद्याओं के फैलाने के लिये, और (दीर्घाम् प्रसितिम् अनु आयुषे धाम्) जिस प्रकार दीर्घ विस्तृत उत्तम कर्म-सतति के अनुकूल, उत्तम कर्म-बन्धन के अनुरूप दीर्घ जीवन के लिये अन्न को खाते हैं उसी प्रकार हे राजन् ! तुझ को भी हम (दीर्घाम्) दीर्घ, अति विस्तृत (प्रसितिम्) उत्कृष्ट रूप से प्रबंध करने वाली राज्य व्यवस्था के (अनु) प्रति लक्ष्य करके राष्ट्र के (आयुषे) दीर्घ जीवन के लिये तुझ को राष्ट्रपति के पद पर हम स्थापित करते हैं । हे प्रजागण ! जिस प्रकार अन्नों को (हिरण्यपाणि. सविता देव) सुवर्ण आदि धन को हाथ में लेने वाला, धनाढ्य पुरुष (अच्छिद्रेण पाणिना) विना छिद्र के हाथ से अन्न को स्वीकार कर लेता है, संग्रह करता है, उसी प्रकार हे प्रजाजनो ! (व) तुम्हारा (सविता) उत्पादक और प्रेरक शासक (हिरण्यपाणि.) सुवर्ण कंकण को हाथ में रखने वाला, सुवर्णालंकृत, धनैश्वर्यसम्पन्न, राजा तुम को (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित, त्रुटिरहित, पूर्ण बलयुक्त (पाणिना) पाणि = हाथ से या सत्य व्यवहार से (प्रतिगृभ्णातु) स्वीकार करें, तुम्हें अपनावे और तुम्हारी रक्षा करे । और हे राजन् ! जिस प्रकार अन्न को स्थिर जीवन धारण करने और चक्षु आदि इन्द्रियों को नित्य चेतन रखने के लिये स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार हम प्रजाजन (त्वा) तुझ को (चक्षुषे) प्रजा के समस्त व्यवहारों को देखने के लिये, निरीक्षक रूप से प्रजा में विवेक बनाये रखने के लिये नियुक्त करते हैं । और हे राजन् ! जिस प्रकार (महीनाम् पय असि) घृत, गौवों के दुग्धों का भी पुष्टिकारक अंश है उसी प्रकार तू (महीनां) बड़ी शक्तिशालिनी विशाल प्रजाओं का (पयः असि) पुष्टिकारक, स्वत वीर्यमय अंश है ॥ शत० १ । २ । ५ । १८–२२ ॥

[1]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
[2]संवपामि समाऽओषधीभिः समोषधयो रसेन। सꣳ रेवतीर्ज-
गतीभिः पृच्यन्ताꣳ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

हविरापो यज्ञो वा देवता । (१) गायत्री । ऋषभ । (२) विराट् पंक्ति । पञ्चम ॥

भा०—(देवस्य) देव (सवितु·) सर्वोत्पादक ईश्वर के (प्रसवे) शासन में या उसके बनाये संसार में (अश्विनो) ब्राह्मण-क्षत्रिय या प्रजा और राजा की बाहुओं से और (पूष्णः) पुष्टिकारक, सर्व पोषक वैश्यगण के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) तुझ को (संव-पामि) स्थापित करता हूं। राष्ट्ररूप यज्ञ मे (आप) ओषधीभि सम् पृच्यन्ताम्) जल जिस प्रकार ओषधियों से मिलाये जाते हैं उसी प्रकार दोषो के नाश करने वाले विद्वान् सदाचारी (आप) आप्त, सत्य व्यवहार युक्त प्रजाजन (सम् पृच्यन्ताम्) मिलें। (ओषधय) ओषधियें जिस प्रकार (रसेन सम् पृच्यन्ताम्) वीर्यवान्, उत्तम रस से युक्त हों उसी प्रकार दोष दूर करने वाले पुरुष के 'साररूप बल से युक्त किये जायं। (जगतीभिः रेवतीः सम्) और जिस प्रकार जगती अर्थात् ओषधियों के साथ रेवती अर्थात् शुद्ध जल मिल कर विशेष गुणकारी हो जाते हैं उसी प्रकार (जगतीभि.) निरन्तर गमन करने वाले दूरगामी रथ आदि साधनों के साथ (रेवती) धनैश्वर्य सम्पन्न प्रजाएं युक्त होकर रहें। वे यानों द्वारा बराबर व्यापार करें। और (मधुमतीभि मधुमती सं पृच्यन्ताम्) जिस प्रकार मधुर रस वाला आषाधियां मधुर रस वाली ओषधियों से मिला दी जाती हैं उसी प्रकार (मधुमती) मधु=ज्ञान से समृद्ध प्रजाएं मधु अर्थात् अध्यात्म आनन्द से सम्पन्न तत्व ज्ञानी पुरुषों से मिलें और आनन्द लाभ करें ॥ शत० १ । २ । ६ । २–२ ॥

२१—०'जगतीभि स मधुमती ०' इति काण्व० ।

इसी मन्त्र में परस्पर विवाह सम्बन्ध करने के निमित्त भी प्रजाओं में गुणवान् पुरुष समान गुण की स्त्रियों से सम्बन्ध करके पुत्र लाभ करें, इसका भी उपदेश किया जाता । इसका सम्बन्ध आगे दर्शावेंगे ।

[1]जनयत्यै त्वा सं यौम्यदग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथाऽउरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथताम् [2]अग्निष्टे त्वचं मा हिꣳसीद् देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधि नाके ॥२२॥

हविराज्य पुरोडाशः प्रजापतिसवितारौ च देवता । (१) स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवत, (२) गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे यज्ञरूप प्रजापते ! पुरुष ! (त्वा) तुझ को (जनयत्यै) नाना प्रकार के ऐश्वर्य और पुत्र आदि उत्पादन करने में समर्थ पृथ्वीरूप स्त्री के साथ (सं यौमि) मिलाता हूं । गृहस्थ बन जाने पर दोनों का भोग्य सम्पत्ति में भाग है । उसमें से (इदम्) यह आधा भाग (अग्ने) अग्रणी पुरुष का है । (इदम्) यह आधा भाग (अग्नीषोमयो) अग्नि और सोम, पुरुष और स्त्री दोनों का है । हे पुरुष तुझ को (इषे त्वा) इच्छानुरूप वीर्य और अन्न आदि समृद्धि प्राप्त करने के लिये नियुक्त करता हूं । हे पुरुष ! तू (धर्मः असि) तू तेजस्वी, वीर्य सेचन में समर्थ, साक्षात् यज्ञरूप प्रजापति है । तू (विश्वायु) समस्त प्राणियों की आयु रूप या पूर्णायु हो । तू (उरुप्रथा) बहुत विस्तृत होने में समर्थ हो । अत (उरु प्रथस्व) खूब अधिक विस्तृत हो । अर्थात् हे गृहस्थरूप यज्ञ ! (ते यज्ञपति प्रथताम्) तेरा यज्ञपति स्वामी गृहस्थ पुरुष प्रजाद्वारा खूब फले । हे स्त्री ! (ते त्वचम्) तेरे शरीर के अंगों को (अग्नि) तेरा अग्रणी, पति, स्वामी (मा हिंसीत्) विनाश न करे, कष्ट न दे । (सविता देव) प्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझे (वर्षिष्ठे) अति सम्पन्न (नाके) सुखमय लोक में (श्रपयतु) परिपक्व करे ॥ शत० १ । २ । ६ । ३–४ ॥

२२—'मा हिंसीदन्तरिक्ष रक्षोऽन्तरिता अरातय । त्वा०' इति काण्व० ।

उसी प्रकार यह मन्त्र यज्ञपति राजा और पृथिवी और राज्यलक्ष्मी के पक्ष में भी स्पष्ट है ।

मा भेर्मा संविक्थाऽ अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात् । त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा ॥ २३ ॥

पुरोडाशः त्रितद्वितैकताः अग्निर्वा देवता वृहती । मध्यम. ॥

भा०—हे पुरुष ! (मा भे) तू मत डर । (मा संविक्थाः) तू उद्विग्न मत हो । (यज्ञ) गृहस्थ रूप यज्ञ (अतमेरुः) सदा ग्लानि-रहित, अनथक, सदा बलवान् रहे । और (यजमानस्य) यज्ञशील पुरुष की (प्रजा) प्रजा, सन्तान भी (अतमेरु) कभी ग्लानियुक्त, मलिन, निर्बल न (भूयात्) हो । हे गृहपते ! (त्वा) तुझ को मैं (त्रिताय) तीन वेदों मे पारंगत और (द्विताय) दो वेद में पारंगत और (एकताय) एक वेद में पारंगत पुरुष के लिये (संयौमि) नियुक्त करता हूं अथवा त्रित=माता, पिता और गुरु के निमित्त, द्वित=माता पिता और एकत=केवल परमात्मा की सेवा में नियुक्त करता हूं । राजा को भी ऐसा ही उपदेश है । तू भय मत कर, उद्विग्न मत हो । राष्ट्रमय यज्ञ ग्लानि रहित हो । राजा, प्रजा ग्लानिरहित' सदा प्रसन्न रहें । त्रित अर्थात् शत्रु । मित्र और उदासीन तीनों के लिये, द्वित अर्थात् सन्धि, विग्रह और एकत अर्थात् एक चक्रवर्ती राज्य के लिये तुझे नियुक्त करता हूं । अथवा प्रजा में विद्यमान, त्रित अर्थात् उत्तम, मध्यम, अधम या तीन वर्ण के लिये द्वित अर्थात् स्त्री पुरुष, पति पत्नी, एकत अर्थात् एकान्त सेवी मोक्षार्थी लोगों के हित के लिये नियुक्त करता हूं ॥ शत० १ । २ । ७ । १–५ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददेऽध्नरुक्तं देवेभ्य इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः । सहस्रभृष्टिः शततेजा वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ २४ ॥

सविता, स्म्यश्च द्यौर्विद्युतौ वा देवते । स्वराड् ब्राह्मी पक्तिः पञ्चमः ॥

भा०—(देवस्य त्वा इत्यादि) पूर्ववत् [१ । २१] हे शस्त्र ! राजा प्रजा को बाहुओ ! और पोषक राजा के हाथों से सर्वप्रेरक सविता राजा के (प्रसवे) शासन में (आददे) तुझ खड्ग को मैं ग्रहण करता हूं। तू (देवेभ्य) देव या विद्वानों के निमित्त (अध्वरकृतम्) राष्ट्रयज्ञ के सम्पादन के लिये या पराजित न होने के लिये ही बनाया गया है। तू (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् राजा का (दक्षिणबाहु असि) दायां हाथ है अर्थात् दायें हाथ के समान सबसे बड़ा सहायक है। हे विद्युत् के घोर अस्त्र ! तू (सहस्रभृष्टि·) हज़ारों को भूंज डालने में समर्थ है। (शततेजा) तुझ में सैकड़ों तेज और ज्वालाएं दीप्त होती हैं। तू (वायु असि) वायु के समान दूर तक फैलने वाला (तिग्मतेजा) सूर्य के समान तीक्ष्ण तेजस्वी और (द्विषत बध) शत्रु का नाश करने वाला परम हथियार है।

पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलम्मा हिंसिषं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

वेदि पुरीष सविता च देवताः। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! हे (देवयजनि) देवगण, पृथिवी, तेज, वायु आदि के परस्पर संगत होने के आश्रयभूत ! एवं देव-विद्वानों और राजाओं के यज्ञ की स्थलि ! मैं (ते) तेरे ऊपर बसी (ओषध्या) यव आदि ओषधियों के (मूलम्) मूल को (मा हिंसिषम्) विनाश न करूं। इसी प्रकार (ओषध्या मूलम्) ओषधिरूप प्रजा के मूल का नाश न करूं। हे पुरुष ! तू (गोष्ठानम्) गौ आदि पशुओं के स्थान और (व्रजं गच्छ) सत्पुरुषों के गमन करने के निवासस्थान को प्राप्त हो अर्थात् पशुपालन के कार्य में लग अथवा (व्रजं गच्छ) सज्जनों के जाने के योग्य मार्ग से जा और

२५—'पृथिव्यै वर्मासि पृथिविदेवयजन्यो०' इति काण्व०।

(गोष्ठानं गच्छ) गो-लोक या वाणी के स्थान अध्ययनाध्यापन आदि के कार्यों मे लग। हे पृथिवि ! (ते) तेरे ऊपर (द्यौ) आकाश या द्यौलोक से मेघ आदि (वर्षतु) निरन्तर उचित काल में वर्षा करे। हे (देव सवित) सर्व प्रजापालक, शासक, राजन् ! (परमस्यां पृथिव्याम्) परम, सर्वोत्कृष्ट पृथिवी में भी (यः) जो दुष्ट पुरुष (अस्मान् द्वेष्टि) हम से द्वेष करता है और (यं च) जिसके प्रति (वयम्) हम भी (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, उस शत्रु को (शतेन पाशैः) सैकड़ों पाशों से (बधान) बांध। (अतः) इस बन्धन से (तम्) उसको (मा मौक्) कभी मत छोड़। शत० १। २। २। १६ ॥ परस्पर पृथिवी निवासी प्रजा का नाश न करें ॥ लोग कृषि और गोपालन करे। राजा दुष्टों का नाश करे, उनको कैद करे।

[1]अपारꣳ पृथिव्यै देवयजनाद्ध्यासं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳशतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक्। [2]अररो दिवं मा पप्तो दूष्सस्ते द्यां मा स्कन् व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याꣳशतेन पाशैर्योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २६ ॥

ऋ॰सुरसे वेदिः. सविता च देवता: (१) स्वराड् ब्राह्मी पंक्ति, (२) भुरिक् ब्राह्मी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—(पृथिव्यै) इस पृथिवी या पृथिवीवासिनी प्रजा के हित के लिये (अररुम्) दुष्ट, हिंसकस्वभाव शत्रु को (देवयजनात्) देव-विद्वानों के यज्ञस्थान से (अप बध्यासम्) मैं क्षत्रिय पुरुष दूर मार भगाऊं। (व्रजं गच्छ० इत्यादि) पूर्ववत्। हे (अररो) प्रजापीड़क असुर पुरुष ! तू (दिव) द्यौलोक, स्वर्ग या सुख को (मा पप्त) मत प्राप्त कर। हे

२६—'अपारस बध्यास पृथिव्यै देवयजनात्। व्रज०' इति काण्व०।

पृथिवि ! (ते) तेरा (द्रप्स) उत्तम रस (द्याम्) आकाश की तरफ़ (मा स्कन्) शुष्क न हो । (व्रज गोष्ठानं गच्छ० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

गायत्रेण॑ त्वा छन्दसा॒ परि॑गृह्णामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ जाग॑तेन त्वा छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि । सुक्ष्मा चा॑सि शि॒वा चा॑सि स्यो॒ना चा॑सि सु॒षदा॑ चास्यू॒र्जस्व॑ती चासि॒ पय॑स्वती च ॥ २७ ॥

विष्णुर्वेदी च यज्ञो वा देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा० — हे यज्ञमय प्रजासघ ! (त्वा) तुझ को (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्द से अर्थात् ब्राह्मणों के ज्ञानकार्य से मैं (परिगृह्णामि) स्वीकार करू, तुझे अपनाऊं । (त्वा) तुझ को (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्द से अर्थात् क्षत्रियों के क्षत्रकर्म से (परि गृह्णामि) स्वीकार करता हू और (जागतेन छन्दसा) जगती छन्द से अर्थात् वैश्यकर्म व्यापार से (परिगृह्णामि) स्वीकार करता हू, अपनाता हू । अर्थात् राजा को पृथ्वी के पालन रूप राष्ट्रमय यज्ञ-कार्य के लिये विद्वान् लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्गों के पुरुष प्रसन्नतापूर्वक अपना राजा स्वीकार करें, हे पृथिवी ! तू (सुक्ष्मा च असि) उत्तम भूमि है । (शिवा च असि) कल्याणकारिणी, सुखकारिणी है । (स्योना च असि) तू सुखदायिनी है । (सुषदा च असि) तू सुखपूर्वक वसने और बैठने योग्य है । (ऊर्जस्वती च असि) तू उत्तम अन्न रस से युक्त है । और तू (पयस्वती च) दूध और घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों से युक्त है ॥ शत० १ । २ । ३ । ६–११ ॥

गायत्रच्छन्दा वै ब्राह्मणः । तै० १ । १६ । ६ ॥ ब्रह्म गायत्री क्षत्र त्रिष्टुप् । शत० १ । ३ । ५ । ५ ॥ त्रैष्टुभो वै राजन्य । ऐ० १ । २८ । ८ । २ ॥ त्रिष्टुप् छन्दा वै राजन्यः । तै० १ । १ । ६ । ६ ॥ क्षत्र त्रिष्टुप् । कौ० ३ । ५ ॥ जागतो वै वैश्य. ऐ० १ । २८ ॥ जागता पशव. । को ३० । २ ॥ जगती छन्दा वै वैश्यः । तै० १ । १ । ६ । ६ ॥

इसके अतिरिक्त अध्यात्म में विष्णु रूप प्रजापति की उपासना के लिये उसके विराट् शरीर के तीन भाग करने चाहियें। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ। वे क्रम से गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्द नाम से कही जाती हैं।

या वै सा गायत्र्यासीदियं वै सा पृथिवी। श० १। ४। १। ३४॥ गायत्रोऽयं भूलोकः॥ कौ० ८। ९॥ त्रैष्टुभमन्तरिक्षम्। श० ८। ३। ४। ३१॥ जागतोसौ द्युलोकः। कौ० ८। ९॥

आधिदैविक पक्ष में—गायत्रं वा अग्नेश्छन्दः। का० १। ३। ५। ४॥ त्रैष्टुभो हि वायु.। श० ८। ७। ३। १२॥ जगती छन्द आदित्यो देवता। श० १०। ३। २। ६॥ जागतो वा एष य एष तपति। कौ० २५। ४॥

अध्यात्मिक पक्ष में—इस शरीर के शिर, उरस् और जघन भाग उक्त तीन छन्द हैं। गायत्रं हि शिरः। श० ८। ६। २। ६॥ उरस्त्रिष्टुप्। ष० २। ३॥ श्रोणी जगत्यः। श० ८। ६। २। ८॥

विद्वत्पक्ष में—वसु, रुद्र और आदित्य रूप तीन छन्द हैं। गायत्री वसूनां पत्नी। गो० ३। २। ९॥ त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी। गो० ३०। २। ९॥ जगत्यादित्याना पत्नी। गो० उ०। २। ९॥

शरीर में प्राण, अपान, व्यान तीन छन्द हैं। गायत्री वै प्राणः। श० १। ३। ५। १५॥ अपानस्त्रिष्टुप्। ता० ७। ३। ८॥ अयमवाड् प्राण एष जगती। श० १०। ३। ९। ९॥ प्रजननसंहिता में वीर्य, प्रजनन, स्त्रीप्रजनन ये तीन छन्द हैं। इत्यादि समस्त प्रकरणों में परमेश्वर, पुरुष, राजा, राष्ट्र, समाज, अधिभौतिक अन्नोत्पत्ति आदि सब यज्ञ शब्द से लिये जाते हैं। पृथिवी शब्द से पृथिवी, प्रजा, स्त्री, प्रकृति, चिति आदि पदार्थ लिये जाते हैं। इति दिक्॥

पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुम्।

यामेरयँश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्ताम् धीरासो अनुदिश्य यजन्ते ।
प्रोक्षणीरासादय द्विषतो वधोऽसि ॥ २८ ॥

अवशस ऋषिः । चन्द्रमाः प्रैषः स्फ्यो यज्ञो वा देवता । विराड् आर्षीपक्तिः ।
पञ्चमः स्वर ॥

भा०—हे (विरप्शिन्) महापुरुष ! (क्रूरस्य) घोर (विसृप) योद्धाओं की नाना चालों से युक्त युद्ध के (पुरा) पूर्व ही (जीवदानुम्) समस्त प्राणियों को जीवन प्रदान करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी और पृथिवी निवासिनी प्रजा को (उद् आदाय) उठाकर, उन्नत करके (याम्) जिसको समस्त (धीरास) धीर, बुद्धिमान् पुरुष (स्वधाभि·) स्वय अपने श्रम से धारण उत्पादन करने योग्य या स्व अर्थात् आत्मा, शरीर को धारण पोषण करने में समर्थ अन्नों द्वारा (चन्द्रमसि) सब के आह्लादक, चन्द्र के समान, सर्वप्रिय राजा के अधीन (एरयन्) सौंप देते हैं (ताम् अनु दिश्य) उसको लक्ष्य करके उसको ही परम वेदी मानकर (धीरास·) धीर पुरुष (यजन्ते) यज्ञ करते हैं या परस्पर संगति करते या संघ बना २ कर रहते हैं। हे राजन् ! तू (प्रोक्षणी·) उत्कृष्ट रूप से सेवन करने वाले सुख के साधनों और योग्य विद्वान् प्रजाओं को या शत्रु-पर अग्नि बाण आदि की वर्षा करने वाले शस्त्रास्त्रों को या (अपः) आप्त पुरुषों और जलों को तू (आसादय) स्वीकार कर और पुनः शस्त्र लेकर तू (द्विषतः) शत्रुओं का (वध·) वध करने में समर्थ (असि) हो ॥ शत० २ । ३ । १८ । २२ ॥

'प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ता ऽअरातयः । अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै

२८—(२८-३१) यज्ञो देवता इति । द० । '०तां धीरासो०, '०यजन्ते द्विषतो०' इति काण्व० ।

सम्मार्ज्मि । [२]प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ-रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। अनिशिताऽसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ॥ २९ ॥

रक्ष. स्रुचौ यज्ञो वा देवता । (१) भुरिग्जगती धैवत । (२) त्रिष्टुप् षड्जः ॥

भा०—(प्रत्युष्टं रक्ष) राक्षस, विघ्नकारी लोग जो राज्यारोहण और राष्ट्रशासन के उत्तम कार्य में विघ्न करते हैं उनको एक एक करके दग्ध कर दिया जाय । (अरातय प्रति-उष्टा) शत्रु जो प्रजा को उचित अधिकार नहीं देते वे भी एक २ करके जला दिये जायं । (रक्ष नि त-सम्) विघ्नकारियों में प्रत्येक को खूब संतप्त किया जाय और (अरातय नि तप्ता) दूसरों का उचित अधिकार आदि न देने हारे पुरुषों को खूब अच्छी प्रकार पीड़ित किया जाय । हे राजन् हे ! शस्त्रधारिन् ! और हे (सपत्नक्षित्) शत्रुओं के नाशक ! तू अभी (अनिशित असि) तीक्ष्ण नहीं है। तुझ (वाजिनम्) बलवान्, अश्व के समान वेगवान्, संग्राम में शूर एवं घुड़सवार वीर को (वाजेध्यायै) वाज अर्थात् संग्राम के प्रदीप्त करने के (सम् मार्जि) मांजता हूं, तीक्ष्ण करता हूं, उत्तेजित करता हूं । (प्रत्युष्टं रक्ष ० इत्यादि पूर्ववत्) । सेना के प्रति--हे सेने ! तू (सपत्नक्षित्) शत्रु को नाश करने हारी है तो भी तू अभी (अनिशिताऽसि) तीक्ष्ण नहीं है । (त्वा वाजिनीम्) तुझ बलवती, संग्राम करने में चतुर सेना को (वाजेध्यायै सम् मार्ज्मि) सग्राम को प्रदीप्त करने के लिये उत्तेजित करता हूं ।

यज्ञ में स्रुच्, स्रुव इन दो यज्ञपात्रों को मांजते हैं । इन दोनों का पतिपत्नी भाव है । इसी प्रकार सग्राम मे शस्त्र, शस्त्रवान्, एवं सेना सेना-पति का ग्रहण है ॥ शत० १ ॥ ३ । ४ । १-१० ॥

२९—यज्ञो देवता इति । द० । ०'सम्मार्ज्मि' इति काण्व० ।

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्योऽस्यूर्ज्जे त्वाऽदब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि घृताचीमसि सुहूर्देवेभ्यो धाम्ने धाम्ने मे भव यजुषे यजुषे ॥ ३० ॥

योक्त्रमाज्य च यज्ञो वा देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सेने ! तू (अदित्यै) अदिति, पृथिवी के (रास्ना) समस्त उत्तम पदार्थ, रूप रसों को ग्रहण करने वाली या उसको बांधने या वश करने वाली (असि) है। तू (वेष्य असि) व्यापक प्रभु राजा के व्यापक विस्तृत बलरूप हैं। (त्वा) तुझ सेना को मैं सेनापति (अदब्धेन) हिंसा रहित (चक्षुषा) आंख से (अवपश्यामि) देखता हूं। हे बल ! तू (अग्ने) अग्नि, युद्धाग्नि या अग्रणी राजा की (जिह्वा) जीभ, ज्वाला के समान तीक्ष्ण है। (देवेभ्य) देव, उत्तम पुरुषों, युद्ध क्रीड़ा करने वाले सुभटों के लिये (सुहू) उत्तम रूप से आहुति देनेवाली है। तू (मे) मेरे (धाम्ने धाम्ने) सर्व स्थानों, नामों और जन्मों तथा (यजुषे यजुषे) प्रत्येक यज्ञ या श्रेष्ठ कर्म या प्रत्येक युद्ध के लिये रक्षक हो ॥ शत० १ । २ । ४। १२–१७ ॥

[1]सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः । सवितुर्वैः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः । [2]तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ ३१ ॥

आप आज्य च यज्ञो व देवता (१) जगती । निषाद । (२) अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—आजि अर्थात् युद्ध के उपयोगी शस्त्रों के प्रति कहते हैं। जिस प्रकार निरन्तर गिरनेवाली सूर्य की किरणों से अन्न आदि को शुद्ध

---

३० —'०रास्नासीन्द्राग्नये सहनन । विष्णोर्वेष्योस्यू०" ०अग्ने जिह्वा सुभूर्देवेभ्य० इति काण्व० ।

३१—'०देवयजनम्' ॥ इति काण्व० । अत परमेको मन्त्रोऽधिकः काण्व०, परिशिष्टे द्रष्टव्य ।

किया जाता है उसी प्रकार हे शस्त्रास्त्रज्ञल ! (सवितु प्रसवे) सर्व प्रेरक राजा के शासन में (अच्छिद्रेण पवित्रेण) विना छिद्र के शोधन करने हारे साधन से और सूर्य की रश्मियों से तुझे (उत्पुनामि) अच्छी प्रकार शुद्ध करता हूं, तुझे चमकाता हूं। अन्य अस्त्रों के प्रति भी (व) तुम सबको भी (सवितु प्रसवे० इत्यादि) पूर्वोक्त प्रकार से स्वच्छ करता हूं। पुन उसी बलयुक्त शस्त्र के प्रति हे शस्त्र ! तू (तेज असि) तेज है, (शुक्रम् असि) तू शुक्र, वीर्य है। तू (अमृतम् असि) अमृत है। (धाम नाम असि) तेरा नाम धाम, धारण करने वाला तेज है या राज्य का धारक और शत्रु को दवाने वाला है। तू (देवानां प्रियम्) देव अर्थात् युद्धविजयी राजाओं का प्रिय और (अनाधृष्टम्) कभी धर्षित या पराजित न होने वाला (देव-यजनम् असि) देवों अर्थात् युद्ध-यज्ञ करने वालों का साधन है ॥ शत० १।३।४।२४–२८ ॥ १।३।५।१–१८ ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

[आद्ये ऋचश्चैकत्रिंशत्]

इति मीमासातीर्थ-विद्यालकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मवृ-

यजुर्वेदालोकभाष्ये प्रथमोध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

१—३४ परमेष्ठी प्राजापत्य, देवा प्राजापत्या, प्रजापतिर्वा ऋषि ॥

॥ ओ३म् ॥ कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदि-रसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ ॥

यज्ञो देवता । निचृत् पंक्ति । पञ्चम ॥

भा०—हे यज्ञ ! यज्ञमय राष्ट्र या राजन् ! तू (कृष्णः आसि) 'कृष्ण' अर्थात् सब प्रजाओं को अपने भीतर आकर्षित करने वाला और (आखरेष्ठ) चारों ओर से खोदी हुई खाई के बीच में स्थित दुर्ग के समान सुरक्षित है। अथवा हे क्षेत्र तू हलादि से कर्षित और कुदाल आदि से खोदे गये स्थान में है। (अग्नये) अग्रणी नेता के लिये (जुष्टम्) प्रेम से स्वीकृत (त्वा) तुझको मैं (प्रोक्षामि) जल आदि से सींचता या अभिषिक्त करता हू। हे पृथिवि ! तू (वेदि असि) वेदी है। तुझसे ही सब पदार्थ और सुख प्राप्त होते हैं। (त्वा) तुझको (बर्हिषे) कुश आदि ओषधि के लिये (जुष्टम्) उपयोगी जानकर (प्रोक्षामि) जल से सींचता हूं। हे ओषधि आदि पदार्थों ! तुम (बर्हि असि) जीवनों की और प्राणियों की वृद्धि करते हो, अत (स्रुग्भ्य) प्राणियों के निमित्त (जुष्टम्) सेवित, उपयुक्त (त्वा) तुझको (प्रोक्षामि) सेवन करता हूं।

हवन पक्ष में—(कृष्ण) अग्नि और वायु से छिन्न भिन्न और आकर्षित होकर खोदे हुए स्थान में यज्ञ किया जाता है। अग्नि के निमित्त घृत आदि से सेचन करता हूं। वेदि को अन्तरिक्ष के लिये सींचित करूं जल को स्रुचादि के लिये प्रोक्षित करूं।

१—इध्मवेदिबर्हिषो देवता । सर्वा० । प्रजापतिः परमेष्ठी ऋषि । द० ।

स्रुच —इमे वे लोका स्रुच ॥ तै० ३ । ३ । १ । २ ॥

गृहस्थ पक्ष में —(कृष्णा) आकर्षणशील यह गृहस्थाश्रम (आखरेष्ठ.) एक गहरे खने हुए गढ़े मे वृत्त के समान गड़ा है । उसमें उस यज्ञ को अग्नि पुरुष के लिये उपयुक्त उसको पवित्र करता हूं । यह स्त्री वेदि है । उसको (बर्हिषे) पुत्र प्राप्त करने या प्रजावृद्धि के लिये अभिषिक्त करता हूं । (बर्हि.) प्रजाएं अति वृद्धिशील हैं उनको (स्रुभ्य) लोक लोकान्तरों में बसने के लिये दीक्षित करूं । प्रजा वै बर्हि । कौ० ५ । ७ ॥ ओषधयो बर्हि । ऐ० ५ । २ ॥

संवत्सररूप यज्ञ में—सूर्य कृष्ण है । 'आखर आषाढ़ मास है । अग्नि= अग्नि वेदि=पृथ्वी । बर्हि=शरत । स्रुच.=वायुएं या सूर्यकिरण हैं । इसी प्रकार भिन्न २ यज्ञों में कृष्ण आदि शब्दों के यौगिक अर्थ लेने उचित हैं ॥ शत० १ । ३ । ६ । १-३ ॥

अदित्यै व्युन्दनमसि विष्णोस्तुप्पोऽस्यूर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्यो भुवपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानाम्पतये स्वाहा ॥ २ ॥

यज्ञो देवता । स्वराड् जगती । निषाद ॥

भा०—भूमि को छिड़क कर उस पर आसन बिछाकर राजा आदि का स्वागत करने का उपदेश करते हैं। पर्जन्यरूप प्रजापते[1] तू (अदित्यै) अदिति पृथिवी को (व्युन्दनम् असि) गीला करने वाला है । हे प्रस्तर, राजन् ! क्षात्रबल[1] तू उस व्यापक वा (विष्णो.) विष्णुरूप यज्ञ या राष्ट्र की (स्तुप) शिखा (असि) हो । हे पृथिवी[1] (ऊर्णम्रदसम्) ऊन के समान कोमल (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों के लिये (स्वासस्थाम्) उत्तम रीति से बैठने और बरतने के योग्य (त्वा) तुझको (स्तृणामि) आसन आदि से आच्छादित

२—आपः प्रस्तरो वेदिरग्निश्च देवता । सर्वा० ।

करता हूं। हे प्रजापुरुषो! (भुवपतये स्वाहा) भू अर्थात् पृथिवी के स्वामी, राजा, अग्रणी नेता के लिये (सु-आहा) उत्तम आदरपूर्वक वाणी कहकर उसका आतिथ्य करो। (भुवनपतये) भुवन—लोक के पालक पुरुष के लिये (स्वाहा) आदर वचनों का प्रयोग करो। (भूतानां पतये) भूत, उत्पन्न प्राणियों के पालक पुरुष के लिये (सु आहा) उत्तम रूप से आदर करो। छत्रं वै प्रस्तरः ॥ श० १ । ३ । ४ । १० ॥

यज्ञपक्ष में—यज्ञ पृथिवी पर जल वर्षाता है, उलूखल आदि यज्ञ की शिखा है। वेदि में विद्वान् बैठें। जीवोत्पादक, पृथिवी भुवनों और भूतों के पालक परमेश्वर की स्तुति करें।

[1]गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [2]इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः। [3]मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तान्ध्रुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ ३ ॥

परिधयोऽग्निर्वा देवता। (१) भुरिग् आर्ची त्रिष्टुप्। (२) आर्ची पंक्तिः। (३) पंक्ति। (२,३) पञ्चमः ॥

भा०—हे राष्ट्रमय यज्ञ! (त्वा) तुझको (गन्धर्वः) गौ अर्थात् पृथिवी के समान गौ, वाणी को धारण करने वाला (विश्वावसुः) समस्त विश्व को बसाने हारा या समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी सूर्य के समान विद्वान्, (विश्वस्य अरिष्ट्यै) समस्त संसार के सुखों के लिये (परि दधातु) चारों ओर से तुझे पुष्ट करे, तेरी शक्ति की वृद्धि करे। हे विद्वन्! सूर्य! राजन्! तू (यजमानस्य) यज्ञ करने हारे यज्ञपति की (परिधिः) चारों ओर से रक्षा और पोषण करने के कारण 'परिधि' (असि) है। हे विद्वन्! तू (अग्नि)

(३) 'अग्निरिड ईडित इति' काण्व०॥

सूर्य के समान आगे मार्गप्रदर्शक और (इडः) स्तुति योग्य और (ईडितः) सब प्रजाओं द्वारा स्तुति किया गया है। तू (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा का भी (विश्वस्य) समस्त विश्व के (अरिष्टये) कल्याण और रक्षा के लिये (दक्षिणः बाहुः असि) दायां, बलवान् बाहु अर्थात् सेनापति रूप में परम सहायक है (यजमानस्य परिधिः असि) यजमान, राष्ट्ररक्षक राजा का तू रक्षक है। तू भी (ईडित. अग्नि.) स्तुति योग्य सर्वलोक से आदर प्राप्त हो। हे सज्जन ! (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, मित्र, सबका स्नेही, हितैषी न्यायकर्त्ता और वरुण, दुष्टों का नाशक, दण्ड का अधिकारी दोनों (त्वा) तेरी (ध्रुवेण धर्मणा) अपने ध्रुव, स्थिर, धर्म, क़ानून या धर्मशास्त्र द्वारा (विश्वस्य अरिष्टये) समस्त लोक के सुख के लिये (परिधत्ताम्) रक्षा करें। (यजमानस्य परिधिरसि इत्यादि०) पूर्ववत् ॥ शत०। १। ३। ७। १-५ ॥

वीतिहोत्रन्त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि। अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥४॥

विश्वावसुरग्निर्देवता। गायत्री। षड्ज ॥

भा०—हे (कवे) क्रान्तदर्शिन्, दीर्घदर्शिन् ! मेधाविन् ! विद्वन् ! (वीतिहोत्रम्) नाना यज्ञों में विविध प्रकार के ज्ञानों से सम्पन्न (द्युमन्तम्) दीप्तिमान्, तेजस्वी (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् अग्रणी ! (अध्वरे) अहिंसामय अथवा अजेय इस राष्ट्रपालनरूप यज्ञमें (बृहन्तम्) सबसे बड़े (त्वा) तुझको हम (सम् इधीमहि) भली प्रकार और भी प्रदीप्त, तेजस्वी और तेज.सम्पन्न करें।

ईश्वर के पक्ष में और भौतिक अग्नि के पक्ष में स्पष्ट है। हे क्रान्तविज्ञान अग्ने ! तुझ तेजोमय को हम यज्ञ में दीप्त करते हैं। हे ईश्वर ! ज्ञानमय तेजोमय तुझे ज्ञानयज्ञ में हम हृदय-वेदि में प्रदीप्त करते हैं।

समिदसि सूर्यस्त्वा पुरस्तात् पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै ।
सवितुर्बाहुस्थ ऽऊर्णम्रदसन्त्वा स्तृणामि स्वासस्थन्देवेभ्य
आ त्वा वसवो रुद्राऽआदित्याः सदन्तु ॥ ५ ॥

यज्ञो देवता । निचृद् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे यज्ञ के स्वरूप प्रजापते राजन् या राष्ट्र ! (सूर्यः) सूर्य जिस प्रकार इस महान् ब्रह्माण्डमय यज्ञ को प्राची दिशा से रक्षा करता है उसी प्रकार तू भी (त्वा) तुझको सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानी पुरुष (पुरस्तात्) आगे से (कस्या श्चित्) किसी प्रकार की भी अर्थात् सब प्रकार के (अभिशस्त्यै) अपवाद से (पातु) बचावे । हे राजन् ! (समित् असि) अग्नि के संयोग में आकर जिस प्रकार काठ और सूर्य के संयोग में आकर जिस प्रकार वसन्त ऋतु चमक जाती और खिल उठती है उसी प्रकार विद्वान् के योग से तू भी तेजस्वी होजाता है । इसलिये तू 'समित्' है। आगे से रक्षा करने वाले सूर्य के समान विद्वान् (सवितु) सर्व प्रेरक की तुम राजा और प्रजा ये दोनों (बाहू स्थ) दो बाहुओं के समान हो । हे आसन के समान सर्वाश्रय राजन् ! (ऊर्णम्रदसं त्वा) ऊन के समान कोमल तुझको (स्तृणामि) फैलाता हू । (देवेभ्य·) देव-विद्वानों के लिये (सु-आसस्थम्) उत्तम रीति से बैठने, आश्रय लेने योग्य हो । (त्वा) तुझ पर (वसव.) वसु नामक विद्वान्, गृहस्थ (रुद्राः) दुष्टों को रुलाने में समर्थ अधिकारीगण, (आदित्याः) ४८ वर्ष के आदित्य ब्रह्मचारीगण, (आ सदन्तु) आकर विराजें ।

ब्रह्माण्ड यज्ञ में बल, वीर्य दो सूर्य के बाहु हैं । यज्ञमें अग्नि आदि आठ वसु और ११ प्राण और १२ मास आकर विराजते, महान् यज्ञ का सम्पादन करते हैं । उसमें वसन्त समित् है । सूर्य उस महान् यज्ञ की

५—अग्निसूर्यविधृतयो देवताः । सर्वा० ।

प्राची दिशा से रक्षा करता है। तीन ओर से पूर्वोक्त ३ मन्त्र में कही तीन परिधि, तीन लोक रक्षक हैं ॥ शत० १ । ३ । ७ । ७–१२ ॥

[1]घृताच्यसि जुह्वर्नाम्ना सेदमिप्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना सेदमिप्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद। [2]प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सदऽआसीद। ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम् ॥६॥

विष्णुर्देवता (१) ब्राह्मी त्रिष्टुप्। (२) निचृत् त्रिष्टुप्। धैवत ॥

भा०—यज्ञ में तीन स्रुए होते हैं जुहू, उपभृत् और ध्रुवा, ये तीनों ब्रह्माण्ड में तीन लोक द्यौः, अन्तरिक्ष और पृथिवी है। राष्ट्र में राजा भृत्य और प्रजा हैं। उनका वर्णन करते हैं। हे राजन्! तू (जुहूः) समस्त प्रजागण से शक्ति लेने वाला और सब को सुख प्रदान करने में समर्थ (घृताची असि) घृत अर्थात् तेज., पराक्रम से युक्त है। (जुहू नाम्ना) तेरा नाम 'जुहू' है। (सा) वह राजशक्ति (इदम्) इस राजभवन और राज्यसिंहासन या पदरूप (प्रियं सद.) अपने प्रिय आश्रयस्थान, गृह और आसन पर अपने (प्रियेण धाम्ना) प्रिय, अनुकूल धाम अर्थात् तेज से युक्त होकर (आसीद) विराजमान हो। हे राष्ट्र के अधिकारी वर्ग! तुम भी (घृताची असि) तेज से सम्पन्न हो। (नाम्ना उपभृत्) नाम से तुम 'उपभृत' हो, क्योंकि राजा तुमको अपने समीप रख कर भृति या वेतन द्वारा पोषण करता है। (सा) वह अधिकारीगण रूप प्रकृति भी (इदम्) इस अपने (प्रियम् सदः) प्रीतिकर, अनुकूल गृह और आसन पर (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रीतिकर अनुकूल धाम, तेज से युक्त होकर (आसीद) विराजमान हो। हे

६—जुहूपभृद्-ध्रुवाहविषश्च विष्णु र्वा देवता। सर्वा०। ०जुहूर्नाम०, ०प्रिये ॥दसि सीद०, ०यज्ञन्यम् ॥ इति कागव०।

प्रजागण ! तू भी (घृताची असि) घृत के समान पुष्टिकारक अन्न आदि पदार्थों और तेजोमय रत्न, सुवर्ण आदि पदार्थों को प्राप्त करने और कराने वाले तेजस्वी हो। (नाम्ना ध्रुवा) नाम से तुम ध्रुवा अर्थात् सदा पृथिवी के समान स्थिर हो। (सः) वह तू भी (इह प्रियं सदः) अपने प्रिय अनुकूल भवनों और आसनों पर (प्रियेण धाम्ना) अपने प्रिय तेज सहित (आसीद) विराजमान हो। (प्रियेण धाम्ना प्रिय सद आसीद) सब कोई अपने अपने भवन, आसन और पद पर अपने प्रिय अनुकूल तेज से विराजें। (ऋतस्य योनौ) ऋत अर्थात् सत्य ज्ञान के योनि अर्थात् आश्रयस्थान, सर्वआश्रय पर (ता) वे तीनों और उनके आश्रित समस्त उत्तम उपादेय न्यायकारी ईश्वर के आश्रय पर (ता) वे तीनों और उनके आश्रित समस्त उत्तम उपादेय पदार्थ भी (ध्रुवा असदन्) ध्रुव, स्थिर रहें। हे (विष्णो) व्यापक प्रभो (ता पाहि) उनकी रक्षा कर। (यज्ञं पाहि) यज्ञ की रक्षा कर। (यज्ञपतिम् पाहि) यज्ञ के पालक स्वामी की रक्षा कर। (मां यज्ञन्यम्) यज्ञ के नेता प्रवर्तक मेरी रक्षा कर ॥ शत० १ । ३ । ७ । १४ १६ ॥

राजप्रकृति, अधिकारी-प्रकृति और प्रजाप्रकृति तीनों उचित आसनों पर विराजें और अपने २ अधिकारों का भोग करें ॥

अग्ने वाजजिद्वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि ।
नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

यज्ञो देवता । भुरिक् पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! राजन् ! तू (वाजजित्) वाज अर्थात् संग्राम का विजय करने हारा है। (वाजम्) संग्राम के प्रति (सरिष्यन्तम्) गमन करने की इच्छा करते हुए (वाजजितम्) युद्ध के विजय करने हारे (त्वा) तुझको मैं (सम् मार्ज्मि) सम्मार्जन करता हू, तुझे परिशुद्ध करता या

७—अग्निर्देव पितरौ स्रुचौ च देवताः । सर्वा० ॥

भली प्रकार अभिषिक्त करता हूं। हे विद्वान् पुरुषो! (देवेभ्यः) युद्ध क्रीड़ा करने वाले वीरों के लिये (नमः) अन्न है। (पितृभ्यः स्वधा) पालक, राष्ट्र के अधिकारियों के लिये यह (स्वधा) उनके शरीर रक्षा की वेतन आदि सामग्री उपस्थित है। राजप्रकृति और शासक अधिकारी प्रकृति दोनों (मे) मुझ राष्ट्र पुरोहित के अधीन (सुयमे) उत्तम रूप से राष्ट्र को नियन्त्रण करने में समर्थ, एव सुखपूर्वक मेरे अधीन, मेरे द्वारा भरण पोषण करने योग्य एवं सुव्यवस्थित, सुसयत (भूयास्तम्) रहें॥ शत० १। ४। ६। १५॥ तथा शत० १। ५। १। १॥

अस्कन्नमद्य देवेभ्यऽआज्यꣳसम्भ्रियासमङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषं वसुमतीमग्ने ते च्छायामुपस्थेषं विष्णो स्थानमसीतऽइन्द्रो वीर्य्यमकृणोदूध्वस्तिष्ठन्नाऽआस्थात्॥ ८॥

विष्णुर्देवता। विराट्पंक्तिः। पञ्चमः स्वरः॥

भा०—(अद्य) आज मैं (देवेभ्यः) देव, विद्वान् पुरुषों और अपने प्राणों के लिये (अस्कन्नम्) विक्षोभरहित, वीर्यसम्पन्न (आज्यम्) घी आदि पुष्टिप्रद पदार्थों या तेज को (सम् भ्रियासम्) संग्रह करूं। हे (विष्णो) विष्णो! व्यापक परमेश्वर वा यज्ञ या राजन्! (अंघ्रिणा) गमन करने के साधन वा चरण द्वारा (त्वा मा अवक्रमिषम्) तेरा उल्लंघन न करूं अर्थात् तेरी आज्ञा का उल्लंघन न करूं। हे (अग्ने) ज्ञानवान्! (ते) तेरी (छायाम्) प्रदान की छाया या आश्रयरूप (वसुमतीम्) वसु, वास करने वाले जीवों से पूर्ण और ऐश्वर्य से पूर्ण पृथिवी को (उपस्थेषम्) प्राप्त होऊं। हे यज्ञ! राष्ट्र! तू (विष्णोः स्थानम् असि) विष्णु व्यापक, पालक राजा का स्थान है। (इत) इस यज्ञ के द्वारा ही (इन्द्रः) सूर्य, वायु और मेघ के समान (वीर्यम्)

८—स्रुचौ विष्णुरग्निरिन्द्रश्च देवताः। सर्वा०। '०अस्कन्नयमद्याज्य देवेभ्य सम्भ्रियासम्०' इति काण्व०॥

बल का कार्य (अकृणोत्) करता है । वह (अध्वरः) हिंसारहित, अहिंसनीय सबका पालक (ऊर्ध्वः अस्थात्) सबके ऊपर विराजमान है ।

राजा के पक्ष में—(अद्य देवेभ्यः) आज देवों, शासक अधिकारियों, विद्वानों और युद्धवीरों के लिये (अस्कन्नम्) विक्षोभ रहित, वीर्यसम्पन्न (आज्यम्) आजि, संग्राम की हितकारी सामग्री को मैं राजा (संभ्रियासम्) धारण करूं । हे (विष्णोः) राष्ट्र में शासन व्यवस्था द्वारा व्यापक राजन्! मैं प्रजाजन (त्वा) तेरा (अघ्रिणा) पैर से, गमन साधनों से (मा अवक्रामिषम्) कभी उल्लंघन न करूं, तेरा अपमान न करूं । हे (अग्ने) यज्ञ वेदि में अग्नि के समान पृथिवी में प्रदीप्त तेजस्विन् राजन्! (ते वसुमतीम्) तेरे अधीन शासक होकर, वसु=विद्वानों, वसु=प्राणियों और वसु=ऐश्वर्यों से पूर्ण इस (छायाम्) आश्रयस्वरूप आच्छादकरूप पृथिवी या शरण को (उपस्थेषम्) प्राप्त करूं । हे पृथिवि! (इतः) तू यज्ञवेदि के समान (विष्णोः) व्यापक राजा का आश्रयस्थान (असि) है । (इत.) इस राष्ट्रशासन रूप यज्ञ के द्वारा ही (इन्द्र.) ऐश्वर्यवान् राजा (वीर्यम्) वीरोचित कार्य को (अकृणोत्) करता है । वह राजा ही (ऊर्ध्वः) सब से ऊपर विराजमान रहकर (अध्वरः) किसी से भी हिंसित न होकर एवं अपने बल पराक्रम से सब शत्रुओं को कम्पायमान करता हुआ (अस्थात्) सब पर शासक रूप से विराजता है ॥ शत० १ । ५ । १ । २ । ३ ॥

अग्ने वेहोत्रं वेदूत्युमवतान्त्वान्द्यावापृथिवीऽअत्र त्वं द्यावापृथिवी स्विष्टकृद्देवेभ्य ऽइन्दु ऽआज्येन हविषा भूत्स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः ॥ ९ ॥

इन्द्र आज्यमग्निर्वा देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान दूरगामी, प्रकाशक, सर्व पदार्थों को अपने भीतर लेनेहारे व्यापक राजन्! तू (होत्रम्) अग्नि जिस प्रकार

९—अग्निर्देवता । द० । ०'अवतां त्वा द्यावा०' इति काण्व० ।

यज्ञ का सम्पादन और रक्षण करता है उस प्रकार तू (होत्रम् वेः) सबको अपने भीतर लेने व राष्ट्र की सुव्यवस्था कर के, संग्रह करने के कर्म की और (दूत्यम्) दूत के सन्धिविग्रह आदि कर्म की (वेः) रक्षा कर। (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के महान् यज्ञ की रक्षा करते हैं उसी प्रकार द्यौ और पृथिवी 'द्यौः' प्रकाशरूप, ज्ञानी न्याय विभाग और पृथिवी बड़ी राज्य सत्ता दोनों अथवा स्त्री, पुरुष, राजा प्रजाएं दोनों (त्वाम्) तेरी (अवताम्) रक्षा करें। और (त्वम्) तू (द्यावा पृथिवी) पूर्व कहे द्यौ और पृथिवी दोनों की (अव) रक्षा कर। तू (देवेभ्यः) देव-विद्वानों के लिये (सु-इष्टकृत्) शोभन और उनके इच्छानुकूल कार्य करने हारा हो। (आज्येन) जिस प्रकार 'आज्य' घृत आदि पुष्टिकारक तेजोमय पदार्थ (हविषा) अन्न आदि चरु से (इन्द्र) वायु, अधिक गुणकारक (भूत्) हो जाता है उसी प्रकार (आज्येन हविषा) बलकारी, संग्रामोपयोगी (हविषा) अन्न और शस्त्रादि सामग्री से (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (भूत्) समर्थ होता है। (सु आह) वेदवाणी इसका उपदेश करती है। (ज्योतिः) जितने ज्योतिर्मय, सुवर्ण आदि कान्तिमान् बल पराक्रम के पदार्थ हों वे (ज्योतिषा) ज्योतिर्मय तेजस्वी राजा के साथ (सम्) संगत हों। रत्न आदि पदार्थ यशस्वी राजा को प्राप्त हों। अथवा (ज्योतिषा) तेजस्वी विद्वान् लोक समूह के साथ (ज्योतिः) प्रकाशवान् राजा सदा (सम्) संगत रहे ॥ शत० ३।५।१।४–७ ॥

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम्।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषऽउपहूता पृथिवी
मातोप मां पृथिवी माता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ १० ॥

इन्द्रो मघवा देवता। भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

१०—एषा वा आशी। जीवेय, प्रजा मे स्यात्, श्रिय गच्छेयम्। शत० १। ८। १। ३६ ॥ मयीदमाशीः प्रतिग्रहणम् इति सर्वानु०। मयीद नः सन्त्वाशिषः इति काण्व०। इत्यतःपर ३१ तमो मन्त्रः पठ्यते। काण्व०।

भा०—(इन्द्र.) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (मयि) मुझमें (इदम्) शुद्ध, ज्ञानरूप, प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने योग्य (इन्द्रियम्) तेज और इन्द्र व आत्मा के सामर्थ्य, आत्मबल को (दधातु) धारण करावे । (अस्मान्) हमें (मघवानः) अति अधिक सुवर्ण, विद्या और बल आदि धनों से पूर्ण (रायः) अनेक ऐश्वर्य (सचन्ताम्) प्राप्त हों । (अस्माकम्) हमारी (आशिषः) सब कामनाएं और इच्छायें (सत्याः सन्तु) सत्य, सफल और धर्मयुक्त (सन्तु) हों । (पृथिवी माता) पृथिवी के समान विशाल अन्न-दात्री (माता) ज्ञानदात्री पालन करने वाली माता (उपहूता) स्वयं आदर से युक्त हो । और (पृथिवी माता) यह विशाल सुखदात्री माता (माम्) मुझको (उपह्वयताम्) उपदेश करे और उसके पश्चात् (अग्नीध्रात्) अग्नि ज्ञानोपदेशक आचार्य के स्थान या पद से (अग्निः) ज्ञानी, उपदेष्टा मुझे (स्वाहा) उत्तम उपदेश करे ।

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
माता मूर्त्ति. पृथिव्यास्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ मनु० ॥
शत० १ । ८ । १ । ४०–४२ ॥

उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ।
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

द्यावापृथिवी, सविता, प्राशित्रं च देवताः । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(द्यौः पिता) अब जिस प्रकार आकाश वृष्टि या सूर्य आदि वर्षा करके समस्त प्राणि संसार का पालन करता है उसी प्रकार बालकों को सब प्रकार के सुख देनेवाला पिता भी (उपहूतः) शिक्षित हो और मान

११—ब्रह्मत्व प्रतिष्ठान्त बृहस्पतिरागिरमोऽपश्यत् । अत. परमेष्ठी मन्त्राः काण्व-शाखायामधिकाः पठ्यन्ते, । ते परिशिष्टे द्रष्टव्याः ।

और आदर का पात्र हो। (माम्) मुझको (द्यौः पिता) वह सब सुख-वर्षक पिता भी (उपह्वयताम्) शिक्षा प्रदान करे। और उसके पश्चात् (अग्नीध्रात् अग्निः) आचार्य पद से आचार्य (सु-आह) उत्तम ज्ञानोपदेश करे। अथवा (अग्नीध्रात् अग्निः सु आह) जिस प्रकार अग्न्धीध्र=जाठर अग्नि के स्थान से अग्नि अर्थात् जाठर अग्नि अन्न को उत्तम रीति से ग्रहण करता और उत्तम रस प्रदान करता है। उसी प्रकार आचार्य हमें उत्तम ज्ञान-रस प्रदान करे। हे अग्ने ! (देवस्य सवितुः) सर्वोत्पादक, देव परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पादित इस जगत् में मैं (अश्विनोः) अश्विन्, प्राण और अपान के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पूष्णः) पूषा, पोषक समान वायु के (हस्ताभ्याम्) शोधन और सब अंगों में रस पहुंचा देने के दोनों बलों से (त्वा) तुझ अन्न को (प्रति गृह्णामि) ग्रहण करूं। और (त्वा) तुझ (अग्नेः) कभी मन्द न होने वाले जाठर-अग्नि के (आस्येन) मुख से (प्राश्नामि) अच्छी प्रकार भोजन करूं ॥ शत० १ । ७ ४ । १३-१५ ॥

एतन्ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे। तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिन्तेन मामव ॥ १२ ॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषिः। विश्वेदेवाः सविता वा देवता। भुरिग् बृहती। मध्यमः ॥

हे (देव सवितः) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक (देव) प्रकाशक, सर्वप्रद, परमेश्वर (ते) तेरे उपरोक्त (यज्ञम्) यज्ञ का (प्राहुः) विद्वान् लोग नाना प्रकार से वर्णन करते हैं। यह यज्ञ (बृहस्पतये) बृहती वेदवाणी के पालक (ब्रह्मणे) ब्रह्म अर्थात् वेदज्ञान के ज्ञाता विद्वान् के लिये है। (तेन) उस ही महान् यज्ञ के द्वारा (यज्ञम्) मेरे इस यज्ञ की (अव) रक्षा कर। (तेन) उस महान् यज्ञ द्वारा (यज्ञपतिम् अव) यज्ञ के परिपालक स्वामी की भी रक्षा कर। (तेन माम् अव) और उससे मेरी भी रक्षा कर ॥ शत० १ । ७ । ४ । २१ ॥

१२—सविता देवता। द०।

एते वै यज्ञमवन्ति ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानाः एते ह्येनं तन्वते, एनं जनयन्ति ॥ शत० १ । ८ । १ । २८ ॥ विद्वान् ब्राह्मण इस यज्ञ का सम्पादन करते हैं ।

मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य बृहस्पतिर्यज्ञमिमन्तनोत्वरिष्टं यज्ञꣳ समिमन्दधातु । विश्वे देवास इह मादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥ १३ ॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषिः । बृहस्पतिर्विश्वेदेवाश्च देवता॰ ॥

भा०—(जूतिः) अति वेगवान्, वेग से समस्त कार्यों मे लगने वाला अथवा उत्तम ज्ञानयुक्त, सावधान (मनः) मन ज्ञानसाधन, अन्त.करण (आज्यस्य) आज्य, ज्ञान-यज्ञ के योग्य समस्त साधनों को (जुषताम्) सेवन करे, अभ्यास करे । (बृहस्पतिः) वेदवाणी का परिपालक या बृहत् महान् राष्ट्र का पालक विद्वान् (यज्ञम् इमम्) इस यज्ञ को (तनोतु) सम्पादन करे । वही विद्वान् ब्रह्मवित् (इमम्) इस (अरिष्ट) अहिंसित, हिंसारहित, एवं विघ्न रहित (यज्ञम्) यज्ञ को (सम् दधातु) उत्तम रीति से धारण करे, उस में विघ्न और विच्छेद होने पर भी उसको भली प्रकार जोड़ दे । (इह) इस लोक में, राज्य में और यज्ञ में (विश्वे) समस्त (देवासः) देवगण, विद्वान् पुरुष (मादयन्ताम्) हर्षित हों, प्रसन्न रहें, आनन्द लाभ करें । (ओ३म्) हे ब्रह्मन्, विद्वन् ! (अति-स्थ) तू प्रस्थान कर, प्रयाण कर, विजय लाभ कर ॥ शत० १ । ७ । ४ । २२ ॥

[1]एषा ते ऽअग्ने समित्तया वर्धस्व चा च प्यायस्व । वयꣳ सिषीमहि च प्रजया च प्यासिषीमहि । [2]अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳ सं मार्ज्मि ॥ १४ ॥

अग्निर्देवता । (१) अनुष्टुप् गान्धारः । (२) निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

१३—'०मनोज्योति०' इति काण्व० ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्नि के समान प्रकाशक, शत्रुसंतापक एवं अग्रणी ! जिस प्रकार आगको लकड़ी बहुत अधिक प्रकाशित करती है। (एषा) यह (ते) तेरे लिये (समित्) अच्छी प्रकार प्रदीप्त होने की विद्या या कला है (तया) उससे अथवा (एषा) यह पृथिवी और प्रजा ही (ते समित्) तेरे प्रदीप्त और तेजस्वी होने का साधन है। (तया वर्धस्व) उससे तू बढ़। (आप्यायस्व च) और खूब पुष्ट हो। (वयम्) हम प्रजाजन भी तुझ से (वर्धिषीमहि) बढ़ें और (आप्यासिषीमहि च) सब प्रकार से वृद्धिशील, हृष्ट पुष्ट, समृद्ध हों। हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! सेनापते ! तू (वाजजित्) वाजत् अर्थात् ऐश्वर्य एवं संग्राम को जीतने हारा है। (वाजं ससृवांसम्) युद्ध में प्रयाण करने वाले और (वाजाजितम्) युद्ध के विजयी तुझको (संमार्ज्मि) भली प्रकार आभिषिक्त करता हूं ॥ शत० १ । ८ । २ । ४-६ ॥

'अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि । अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि । इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि । 'इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ॥ १५ ॥

अग्नीषोमौ, इन्द्राग्नी च देवता. । (१) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः । (२) अतिजगती । निषाद ॥

भा०—(अग्निषोमयोः) अग्नि, शत्रुसंतापक, अग्रणी, सेनापति और सोम और चन्द्र के समान शान्तियुक्त, आह्लादकारी या सर्वप्रेरक आज्ञापक राजा दोनों के (उत्-जितिम्) उत्तम विजय के (अनु) साथ मैं भी (उत् जेषम्) उत्तम विजय लाभ करूं। मैं (माम्) अपने को (वाजस्य) युद्धोपयोगी (प्रसवेन) उत्कृष्ट सामग्रीयुक्त ऐश्वर्य से (प्र ऊहामि) और आगे बढ़ाऊं। (अग्नीषोमौ) पूर्वोक्त अग्नि और सोम (तम् अपनुदताम्)

उसको दूर मार भगावे (यः अस्मान्) जो हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है और हमसे प्रेम का व्यवहार नहीं करता। और (यं च) जिसको (वयम्) हम (द्विष्म.) द्वेष करते हैं। (वाजस्य प्रसवेन) युद्ध के सेना बल के उपयोग ऐश्वर्य से ही मैं उस शत्रु को (अप ऊहामि) दूर फेंक दूं, उखाड़ दूं। इसी प्रकार (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि, वायु और विद्युत् के समान कंपा देने और जड़मूल से पर्वतों को उखाड़ देने वाले बलवान् अस्त्रों और अस्त्रज्ञों के (उज्जितिम् अनु) उत्कर्ष के साथ साथ मैं राजा (उत् जेषम्) उत्कृष्ट विजय लाभ करूं। (वाजस्य प्रसवेन मा प्रोहामि) युद्ध के उपयोगी सेना-बल के ऐश्वर्य से मैं अपने को आगे बढ़ाऊं। (इन्द्राग्नी तम् अप नुदताम्) पूर्वोक्त इन्द्र और अग्नि उसको दूर मार भगावें। (यः अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म) जो हमसे द्वेष करे और जिससे हम द्वेष करें। (एनम्) उस दुष्ट शत्रुको युद्ध के योग्य (वाजस्य प्रसवेन) बल, वीर्य, उत्तम २ अस्त्र साधन से (अप ऊहामि) मैं दूर भगा दूं।

[1]वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा संजानानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम्। [2]व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह। चक्षुष्पा अग्नेऽसि चक्षुर्मे पाहि ॥ १६ ॥

द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ च देवता॰। निचृदार्ची पंक्ति पञ्चमः। (१) विराट् त्रिष्टुप्। (२) धैवत. ॥

भा०—हे राजन्[1] (त्वा) तुझको (वसुभ्य) वसु नामक राष्ट्र में बसने वाली वसुओं, प्रजाजनों, ब्राह्मणों (रुद्रेभ्य.) शत्रुओं को रुलाने वाले बलवान् शस्त्रास्त्र कुशल क्षत्रिय वीरों और (आदित्येभ्य.) आदान प्रतिदान

'मरुता० आवह' इत्यस्यकपिर्ऋषिः प्रस्तरो देवता। मरुता कपिर्वृहतीप्रास्तरीमिति सर्वा०। "०व्यन्तु वयो रिप्तो रिहाणा मरुता पृषतीगच्छ०"। चक्षुष्पा असि० इति काण्व०।

करने वाले वैश्यों के लिये अथवा वसु, रुद्र, आदित्य, इन तीन प्रकार के ब्रह्म-निष्ठों के हित के लिये प्रजापति रूप से आभिषिक्त करता हूं। (द्यावापृथिवी संज्ञानाथाम्) द्यो और पृथिवी दोनों को प्रजाएं (त्वा संज्ञानाथाम्) तुझे अप-नावें (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण, सूर्य और मेघ (त्वा) तुझे और तेरे राष्ट्र की (वृष्ट्या अवताम्) वृष्टि द्वारा रक्षा करें। (रिहाणा.) नाना प्रकार की स्तुति करने हारे विद्वान् जन (वयः) गान करने वाले पक्षियों के समान (अक्रम्) प्रकाशमान प्रतापी बलशाली तेरे पास, तेरी शरण में (व्यन्तु) आवें, तुझे प्राप्त हों। (मरुताम्) मरुत्, वायुओं के वेग से चलने वाले (पृषती.) सेनाओं को तू प्राप्त हो। और तू हे राजन्! क्षत्रिय (वशा) अपने वशीभूत (पृश्नि.) रसों का ग्रहण करने वाली भूमि के समान होकर तू (दिवं गच्छ) द्यौलोक को—उत्तम राज्य को प्राप्त हो। (ततः नः) वहां से हमें (वृष्टिम्) ऐश्वर्य सुखों की वर्षा को (आवह) प्राप्त करा। हे (अग्ने) अग्ने! तू (चक्षुः-पा. असि) हमारी दर्शन शक्ति की रक्षा करने हारा है। (मे चक्षु. पाहि) मेरे देखने के साधन चक्षु और विद्वानों की रक्षा कर॥ शत० १। ८। ३। १२। १६॥

यज्ञपक्ष में—८ वसुओं, ११ रुद्रों और १२ आदित्य, १२ मासों के लिये मैं यज्ञ करता हूं। सूर्य का प्रकाश और भूमि ये दोनों उत्तम रीति से जानें। मित्र और वरुण, सर्वप्राण वाह्य वायु और अन्तस्थ उदान वायु दोनों (वृष्ट्या) शुद्ध जल वर्षण द्वारा संसार की रक्षा करते हैं। जिस प्रकार पक्षी अपने स्थान को जाते हैं उसी प्रकार अर्चना करते हुए हम यज्ञ में आवें। (वशा पृश्निः) कामित आहुति अन्तरिक्ष में जाकर (मरुतां दिवं गच्छ) वायुओं के संग्रह से द्यौलोक में सूर्य के तेज से मिले। तब वह (वृष्टिम् आवह पृषतीः) वर्षा लावें, वह नदियों, नाड़ियों में बहे। (अग्निः) भौतिक अग्नि, दीपक जिस प्रकार आंख को अन्धकार से बचाता है उसी प्रकार सूर्य भी आँखों का रक्षक है, वह हमारी चक्षुओं की रक्षा करे॥ शत० १। २। ३। १२-१६॥

यं परिधिं पर्यधत्थाऽअग्ने देवपणिभिर्गुह्यमानः ।
तन्तंऽएतमनुजोषं भराम्येष मेत्त्वदपचेतयाताऽअग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम् ॥ १७ ॥

देवल ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी राजन् ! स्वय (देवपणिभिः) विद्वानों और व्यवहार-कुशल व्यापारियों द्वारा (गुह्यमानः) सुरक्षित रहते हुए (यम्) जिस (परिधिभिः) राष्ट्र को चारों ओर के आक्रमण से बचाने वाले सेनानायक आदि शासक को (परि अधत्थाः) राष्ट्र की सीमाओं पर नियुक्त करते हो (ते) तेरे द्वारा नियुक्त (तम्) उस (एतम्) इस 'परिधि' नामक सीमापाल को (जोषम्) प्रेमपूर्वक (अनुभरामि) तेरे अनुकूल बनाता हूं। जिससे (एषः) वह (त्वत्) तुझसे (मा इत्) कभी भी न (अपचेतयाते) बिगडे। तेरे विपरीत न हो। हे (परिधिनायक) दो सीमापालो ! तुम दोनों भी (अग्ने. प्रियम् पायः) अग्नि राजा के प्रिय, पान या पालन करने योग्य अन्न आदि भोग्य पदार्थ या राष्ट्र को (अपि इतम्) प्राप्त करो ॥ शत० १ । ८ । ३ । २२ ॥

सꣳस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः ।
इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वꣳस्वाहा वाट् ॥ १८ ॥

सोमसूक्तम. सोमशुष्मो वा ऋषि. । विश्वेदेवाः देवता. । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—हे विद्वन् बलशाली राजा के नियुक्त अधिकारी पुरुषो ! आप लोग (इषा) ज्ञान, प्रेरक आज्ञा और शासन बल से (बृहन्तः) बडे

१७—सवदस्व । श्रावय । औपट् । स्वगा दैव्या होतृभ्य. । स्वस्तिर्मानुषेभ्यः । इत्यधिकानि यजूषि इत. पूर्वं पठ्यन्ते । शत० । (च०) 'नेत्त्वदप' इति पाठभेद ।

१८—परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः । द० । '.० परिधयश्च देवाः' इति काण्व० ।

शक्तिशाली और (प्रस्तरेष्ठाः) उत्तम आसन और आस्तरणों या पदों पर अधिष्ठित होने वाले (देवा.) युद्ध में चतुर, व्यवहारज्ञ, विद्वान्, तेजस्वी और रखने योग्य (परिधेयाः च) रक्षा करने के लिये चारों ओर हो । आप लोग (सत्रवभागाः स्थ) उत्तम ऐश्वर्य के भागी बनो । आप (विश्वे) सब लोग (इमाम्) इस प्रयत्न (वाचम्) वेदमय न्यायवाणी को (अस्मिन् बर्हिषि) इस न्यायासन या ज्ञानयज्ञ में (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) हम सबको प्रसन्न करो और (वट्) समस्त सुखों को प्राप्त करने वाली वाणी और क्रिया से (सु आहा) उत्तम उपदेश करो और यश प्राप्त करो ॥ शत० १ । २ । ३ । २५ ॥

घृताचीं स्थो धुर्यौ पातꣳ सुम्ने स्थः सुम्ने मां धत्तम् ।
यज्ञ नमश्च तऽउपश्च यज्ञस्य शिवे सन्तिष्ठस्व स्रुचौ मे सन्तिष्ठस्व ॥ १९ ॥

शूर्प, यत्रमान् ऋषिः, उद्बालवान्, धानान्तर्वान्, एते पञ्च ऋषय । स्रुचौ, यज्ञोऽग्निवायू वा देवते । भुरिक् पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे अग्नि और वायु ! अग्नि के समान शत्रुसंतापक और वायु के समान वेगवान्, एवं राष्ट्र के प्राणभूत राजपुरुषो ! आप दोनों (घृताची स्थ.) घृत तेज को धारण करने वाले हो । आप राष्ट्रशासन रूप यज्ञ में (धुर्यौ) अग्नि वायुके समान ही समस्त शासन भार के धुरा को उठाने में समर्थ हो। आप दोनों (पातम्) राष्ट्र का पालन करो । आप दोनो अग्नि और वायु के समान ही (सुम्ने=सुमने) उत्तम ज्ञानपूर्ण एवं सुखप्रद हो । (मा) मुझको (सुम्ने) सुख में या शुभमति में (धत्तम्) धारण करो, रखो । हे (यज्ञ) पूजनीय प्रभो ! (ते च) तुझे हम नमस्कार करते हैं । और तू (उप च) खूब परिपुष्ट होओ । हे राजन् ! प्रभो ! आप

१९—उत्तरार्धस्य सूर्य यत्रमानः, ऋषिरुद्बालवान्, धनान्नवान् इत्येते ऋषय इत्युव्वट.। अस्य मन्त्रस्य शूर्पयत्रान्, कृषिरुद्बालवान् धानान्तर्वान् इति पञ्च ऋषयः । यज्ञो देवता । इति मद्दीधरः ॥ प्रजापतिः परमेष्ठी ऋषिः । अग्निवायू देवते । द० ॥

(यज्ञस्य) यज्ञ के (शिवे) कल्याणकारी स्वरूप में (सं तिष्ठस्व) उत्तम रीति से स्थित हो। (मे) मेरे (सु-इष्टे) उत्तम इष्ट कार्य में (सं तिष्ठस्व) लगा रह ॥ शत० १ । ८ । ३ । २५ ॥

अग्नेऽदब्धायोऽशीतम पाहि मा दिद्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ट्यै पाहि दुरद्मन्याऽअविषन्नः पितुं कृणु। सुषदा योनौ स्वाहा वाड्ग्नये संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशोभगिन्यै स्वाहा ॥ २० ॥

गार्हपत्यदक्षिणाग्नी सरस्वती च देवता । भुरिग् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! हे (अदब्धायो) अनष्टजीवन ! अमृत ! प्रभो ! सुरक्षित जीवन वाले या जीवनों की रक्षा करने हारे स्वामिन् ! हे (अशीतम) सर्वव्यापक ! सर्वत्र विद्यमान ! आप (मा) मुझको (दिद्योः) अति प्रदीप्त वज्र या कठोर दारुण दण्ड-रूप दुःख से (पाहि) रक्षा करो। (प्रसित्यै पाहि) भारी बन्धनकारिणी अविद्या या पाप-प्रवृत्ति से मेरी रक्षा करो। (दुरिष्टयै पाहि) दुष्ट जनों की संगति से बचाओ। (दुरद्मन्यै पाहि) दुष्ट अन्न के भोजन से रक्षा करो। (नः) हमारे (पितुम्) अन्नको (अविषम् कृणु) विष रहित करो। (योनौ) घर में (सुषदा) उत्तम रूप से विराजने योग्य भूमि हो। (अग्नये स्वाहा वाट्) उस ज्ञानवान्, अग्नि के समान प्रतापी स्वामी से यह उत्तम प्रार्थना है। यह हमें उत्तम फल प्राप्त करावे। (संवेशपतये स्वाहा) उत्तम रीति से बसने वाले पृथिवी आदि लोकों के पालक से यह उत्तम प्रार्थना है। (यश-भगिन्यै) यश ऐश्वर्य को प्राप्त कराने वाली (सरस्वत्यै) वेदवाणी से (स्वाहा) हम उत्तम ज्ञान प्राप्त करें ॥ शत० १ । ७ । २ । २० ॥

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्ते मनुष्येभ्यो वेदो भूयाः।

२०—अग्निसरस्वत्यौ देवते। द० । अत. पर द्वौ मन्त्रावधिकौ काण्वशाखागतौ परिशिष्टे द्रष्टव्यौ ।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित मनसस्पतऽइमं देव यज्ञꣳ स्वाहा वाते धाः ॥ २१ ॥

प्रकृतो, मनसस्पतिश्च ऋषी । वेद. प्रजापतिर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः ॥

भा० हे (देव) सब पदार्थों के देने और उनका प्रकाशन करने हारे परमेश्वर ! (येन जिस ज्ञान से (त्वं) तू (वेद) समस्त संसार के पदार्थों और विज्ञानों को जानता और सब को जनाता है, इसी से तू (वेदः असि) स्वयं भी 'वेद' स्वरूप है। उसी कारण, उसी वेदमय ज्ञानरूप से तू (देवेभ्यः) ज्ञानप्रकाशक विद्वानों के लिये भी स्वयं (वेदः) वेद या ज्ञान रूप से (अभवः) प्रकट होता है। (तेन) उसी ज्ञानरूप में हे परमेश्वर ! आप (मह्यम्) मेरे लिये (वेदः) 'वेदमय' ज्ञानमय रूप से (भूया·) प्रकट हों। (देवाः) देव, ज्ञान के प्रकाश करने हारे पुरुष (गातुविदः) पदार्थों के यथार्थ गुणों को जानने वाले, एवं गातु अर्थात् गमन करनेयोग्य मार्ग को जानने वाले होते हैं। हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (गातुम्) गातु, सब पदार्थों के यथार्थ स्वरूप या उत्तम भाग का ज्ञान करने वाले, मार्गोपदेशक वेद का (वित्वा) ज्ञान करके (गातुम्) उपदेश करने योग्य यज्ञ या संसार की सत् व्यवस्थाओं को (इत) प्राप्त होवो, उसको अपने वश करो। हे (मनसः पते) समस्त संकल्प विकल्प करने वाले समष्टिरूप मनके परिपालक प्रभो ! हे (देव) प्रकाशक ! (इमम्) इस संसार रूप यज्ञ को (वाते) वायु रूप महान् प्राण के आधार पर आप (धाः) धारण कर रहे हो। (सु आहा) यही समस्त संसार की वायु रूप सूत्रात्मा तुझ में उत्तम आहुति अर्थात् धारणव्यवस्था है ॥

अध्यात्म मे—ज्ञानकर्ता, सब विषयों के ज्ञान का उपलब्धिकर्ता आत्मा 'वेद' है। देव इन्द्रियों को भी वही ज्ञान करता है। गातु अर्थात्=ज्ञान या

२१—उत्तरार्धस्य मनसस्पतिर्ऋषि । वातो देवता । सर्वा० । वामदेव ऋषिः प्रजापतिर्देवता । इति द० ॥

शरीर। गात्र=मनसस्पति, आत्मा। वात=प्राण। यज्ञ=मानस यज्ञ या शरीर। योजना स्पष्ट है ॥ शत० १ । ६ । २ । २३–२८ ॥

सं बर्हिरङ्क्ताꣳ हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः।
सामिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्तां दिव्यं नभो गच्छतु यत् स्वाहा ॥२२॥

लिंगोक्ता। इन्द्रो वा देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(बर्हि) यह महान् अन्तरिक्ष (घृतेन) घृत के साथ और (हविषा) हवि, होम करने योग्य चरु के साथ (सम् अंक्ताम्) संयोग करे। (आदित्यैः) आदित्य की किरणों से (वसुभि.) अग्नि, वायु आदि आठ जीवन संचारक तत्वों से और (मरुद्भि·) वायुओं, प्राणों से भी (सम् अक्ताम्) भली प्रकार युक्त हो। (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् आत्मा और परमेश्वर (विश्वदेवेभि) समस्त इन्द्रियों और समस्त दिव्य पदार्थों से (सम् अक्ताम्) संयुक्त हो। (यत्) जब २ (स्वाहा) उत्तम आहुति हो तब २ (दिव्य नभ) दिव्य जल (गच्छतु) बहे ॥

राष्ट्र पक्ष में—(इन्द्र.) ऐश्वर्यवान् राजा (बर्हिः) बढ़नेवाले राष्ट्र को (घृतेन) तेजोमय, शक्तिशाली, दोषरहित अन्न से संयुक्त करे। उसको आदित्य, वसु, मरुत्, अर्थात् वेश्यों, वसु=बसने हारे जीवों और मारणकर्मा, तीव्र योद्धाओं से सुसज्जित करे। इस राष्ट्र को (यत्) जब (विश्वदेवेभि) सब विद्वान् अधिकारियों से युक्त करे तब (दिव्यं नभ. गच्छतु) दिव्य परस्पर संगठन, संयमन या व्यवस्था को राष्ट्र प्राप्त हो। (सु आहा) वह राष्ट्र उत्तम कहे जाने योग्य है ॥ शत० १ । ६ । २ । २३ ॥

कस्त्वा विमुंचति स त्वा विमुंचति कस्मै त्वा विमुंचति तस्मै त्वा विमुंचति। पोषाय रक्षसा भागोऽसि ॥ २३ ॥

प्रजापती रक्षश्च देवता । निचृद् बृहती । मध्यमः ।

२२—वामदेव ऋषि· । द० ॥

भा०—हे यज्ञ ! यज्ञमय कर्मबन्धन ! (त्वा) तुझको (कः विमुञ्चति) कौन मुक्त करता है ? (त्वा सः विमुञ्चति) तुझको वह जिसने यज्ञ समाप्त करलिया है, मुक्त करता है ? (कस्मै त्वा विमुञ्चति) तुझको वह किस प्रयोजन से मुक्त करता है (त्वा) तुझको वह (तस्मै) उस लोकोत्तर ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने के लिये मुक्त करता है। हे यज्ञ से प्राप्त सत् अन्न ! तू (पोषाय) आत्मा शरीर को पुष्ट करने हारा है और हे दुष्ट पापमय अन्न ! तू (रक्षसां भागः असि) दुष्ट पुरुषों के सेवन करने योग्य है।

अथवा—[प्रश्न] हे पुरुष ! (त्वा) तुझको कर्मबन्धन के दुःख से (कः) कौन (विमुञ्चति) विशेष रूप से मुक्त करता है। [उत्तर] (सः) वह सर्वोत्तम परमेश्वर ही (त्वा) तुझको कर्मबन्धन से मुक्त करता है। [प्र०] (त्वा कस्मै विमुञ्चति) वह परमेश्वर तुझे किस कार्य के लिये या किस हेतु से मुक्त करता है। [उ०] (तस्मै त्वा विमुञ्चति) तुझे उस महान् मोक्ष प्राप्ति के लिये मुक्त करता है। [प्र०] ये सब संसार के उत्तम पदार्थ और कर्मसाधनाएं किसके लिये हैं ? [उ०] ये समस्त कर्मसाधनाएं (पोषाय) आत्मा को पुष्ट करने के लिये हैं। [प्र०] तब ये कर्मफल, भोग विलास आदि किसके लिये हैं। [उ०] हे विलासमय तुच्छ भोग ! तू (रक्षसाम्॥) विघ्नकारी, मुक्तमार्ग के बाधक लोगों के (भागः) सेवन करने योग्य अंश (असि) है ॥ शत० १ । ७ । २ । ३३ ॥

संवर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

त्वष्टा देवता । विरट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज, (पयसा) पुष्टि, (तनूभिः) दृढ़

२४—' विलीष्टम् ' इति शत० । इत आरभ्य आ अध्यायपरिसमाप्तेः ऋषिः स एवेति दयानन्दः । प्रजापतिः परमेष्ठी वामदेवो वेति सन्दिह्यते ।

शरीरों और (शिवेन मनसा) कल्याणकारी शुद्ध चित्त या मनन शक्ति से (सम् ३ अगन्महि) भली प्रकार संयुक्त रहें । (सुदत्रः) उत्तम २ पदार्थों का दाता (त्वष्टा) सर्वोत्पादक परमेश्वर हमें (रायः) समस्त ऐश्वर्य (विदधातु) प्रदान करे और (तन्व.) हमारे शरीर में (यत्) जो कुछ (विलिष्टम्) विपरीत, अनिष्टजनक, प्राणोपघातक पदार्थ हों उसको (अनुमार्ष्टु) शुद्ध करे, दूर करे ॥ शत० १ । ९ । ३ । ६ ॥

[1]दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निभँक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो[2]ऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निभँक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः । [3]पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निभँक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नाद्यस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः संज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

विष्णुर्देवता. । (१) निचृदार्षी । (२) आर्ची पंक्तिः । (३) जगती । निषादः ॥

भा०—(दिवि) द्यौ. महान् आकाश में (विष्णु.) विष्णु, व्यापक परमेश्वर (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द से, जगतों की रचना करने वाले बल से (वि अक्रस्त) नाना प्रकार से व्यापक है और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (विष्णु) व्यापक परमेश्वर (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्द अर्थात् तीनों लोकों के पालक व्यापार से (वि अक्रंस्त) व्यापक है । वहा वायु, मेघ, विद्युत् रूप से प्रकट है और (पृथिव्याम्) पृथिवी में विष्णु (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र छन्द अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाले बल, अन्न आदि रूप से (व्यक्रंस्त) व्यापक है । इसी प्रकार उसी विष्णु, व्यापक, सर्व शक्तिमान् परमात्मा के अनुकरण में राजा, प्रजापति एवं समस्त यज्ञ भी द्यौलोक में जागत छन्द से अर्थात् स्वर्ण रत्नादि ऐश्वर्य मे वैश्यों के बल से और अन्तरिक्ष में त्रैष्टुभ छन्द से अर्थात् तीनों वर्णों की रक्षारूप क्षात्रबल

से और पृथिवी निवासी जनता में गायत्र छन्द अर्थात् ब्राह्मणोचित बल से व्यापक रहे। सब पर अपना शासन रक्खे और हमारा शत्रु (यः अस्मान् द्वेष्टि) जो हमसे द्वेष करता है और (यं वयं द्विष्मः) जिसको हम द्वेष करते हैं वह (ततः) उन २ लोकों से और उन २ स्थानों से (अस्मात् अन्नात्) इस उपभोग योग्य अक्षय अन्न आदि पदार्थ से और (अस्यै प्रतिष्ठायै) इस भूमि के ऊपर प्राप्त प्रतिष्ठा से (निर्भक्तः) सर्वथा भाग रहित करके निकाल दिया जाय। तब हम (स्वः) सुखमय लोक को (अगन्म) प्राप्त हों। और ज्ञान समृद्धि को (सं अभूम) भली प्रकार प्राप्त हो ॥

अपने लक्ष्यभूत उद्देश्य के बाधकों को दूर करके यज्ञ द्वारा तीनों लोकों पर विजय करके सुख समृद्धि विद्या आदि प्राप्त करने का उपदेश है ॥ शत० १ । ७ । ३ । ११ । १४ ॥

स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्वर्चोदाऽअसि वर्चो मे देहि।
सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २६ ॥

ईश्वरो देवता । उष्णिक् छन्द । ऋषभः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (स्वयंभूः असि) किसी की अपेक्षा विना किये, स्वतन्त्र समस्त जगत् के उत्पादन, पालन और संहार में स्वयं समर्थ है। तू सब से (श्रेष्ठः) प्रशंसनीय (रश्मिः) परम ज्योति अथवा रश्मि, सब को अपने वश में करने वाला है। तू (वर्चोदाः असि) सूर्य के समान तेज का देनेहारा है। (मे वर्चः देहि) मुझे तेज प्रदान कर। मैं भी (सूर्यस्य) सूर्य के समान सब चराचर जगत् के प्रेरक उत्पादक परमेश्वर के (आवृतम्) उपदेश किये आचार या व्रत का (अनु आवर्ते) पालन करूं। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य नियम से दिन रात का सम्पादन करता है और सबको प्रकाश

२६—ईश्वरो देवता । द० ।

देता और तपता है उसी प्रकार मैं नियम से सोऊं, जागूं, तेजस्वी बनूं, तप करूं। सूर्य के व्रत का पालन करूं ॥ शत० १ । ६ । ३ । १६ । १७ ॥

अग्ने गृहपते सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेहं गृहपतिना भूयासꣳ सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः । अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳ हिमाः सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते ॥ २७ ॥

अग्निर्देवता । (१) निचृत्पंक्तिः । पञ्चमः । (२) गायत्री । षड्जः ॥

भा० — हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! नेतः ! आचार्य ! हे (गृहपते) गृहपालक ! हे (अग्ने) अग्ने ! (त्वया गृहपतिना) गृह के पति अर्थात् पालकरूप तेरे बल से (अहम्) मैं (सुगृहपतिः भूयासम्) उत्तम गृह का स्वामी हो जाऊं और (त्वं) तू (मया गृहपतिना) मुझ गृहपति के साथ, मेरे द्वारा (सुगृहपतिः भूयाः) उत्तम गृहपति हो । इस मन्त्र से गृहस्थ एक दूसरे के उत्तम गृहपति होने में सहायक हो, यह भी वेद ने उपदेश किया । हे परमेश्वर ! (नौ) हम स्त्री और पुरुष (गार्हपत्यानि) गृहपति और गृहपत्नी दोनों के करने योग्य समस्त कर्त्तव्य (शतं हिमा) सौ बरसों तक (अस्थूरि सन्तु) दोनों द्वारा मिलकर किये जाया करें । अर्थात् एक बैल से जुती गाड़ी चल नहीं सकती, वह 'स्थूरी' कहाती है । हमारे कार्य 'अस्थूरी' एक बैल से जुते शकट के समान विघ्न युक्त न हों, प्रत्युत स्त्री-पुरुष रूप दो भारवाही बैलों से युक्त शकट के समान निर्विघ्न सत्-मार्ग पर चलते रहें । मैं (सूर्यस्य आवृतम्) सूर्य के व्रत को (अनु आवर्त्ते) पालन करूं, उसके समान सब का प्रेरक, पालक, होकर नियमपालक, ज्ञानप्रकाशक तेजस्वी, तपस्वी होकर रहूं ॥

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषꣳ तदशकꣳ तन्मेऽराधि ।
इदमहं यऽएवास्मि सोऽस्मि ॥ २८ ॥

अग्निर्देवता । भुरिक् उष्णिक् । ऋषभः ॥

२८—इत्यन्ताः दर्शपूर्णमासमन्त्राः । अतः परं पितृयज्ञः । प्रजापतेरार्षम् । सर्वत्र ।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने परमेश्वर ! हे (व्रतपते) व्रतों के पालक परमेश्वर ! आचार्य ! मैंने (व्रतम्) व्रत को (अचारिषम्) पालन किया (तत् अशकम्) उस व्रत का पालन करने में मैं समर्थ हुआ । (मे) मेरा (तत्) वही व्रत (अराधि) सिद्ध हुआ । (इदम् अहम्) मैं साक्षात् (य एव अस्मि) जो भी अब बन गया हूं (सः अस्मि) वही यथार्थ शक्ति रूप आत्मा मैं हूं । इस मन्त्र से व्रत विसर्जन करते हैं ॥ शत० १ । ७ । ३ । २३ ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा ।
अपहता असुरा रक्षाꣳसि वेदिषदः ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । मन्त्रोक्ता अग्निसोमसुरा देवता· ॥

भा०—(कव्यवाहनाय) कवि, क्रान्तदर्शी विद्वानों के हितकारी अन्न या ज्ञान को धारण करने वाले (अग्नये) अग्नि, मार्गदर्शक, तेजस्वी आचार्य एवं विद्वान् के लिये (सु-आहा) उत्तम अन्नदान करो और आदरपूर्वक वचन बोलो । (पितृमते सोमाय स्वाहा) पिता, माता और गुरुजनों से युक्त सोम, ज्ञानवान्, नवयुवक विद्वान् ब्रह्मचारी जिज्ञासु के लिये (स्वाहा) उत्तम अन्न का दान और आदरपूर्वक सुन्दर वचन का प्रयोग करो । (वेदिपदम्) वेदि में अर्थात् पृथिवी में समस्त उपयोगी, उत्तम पदार्थ के लाभ करा देने वाली इस यज्ञभूमि में विद्यमान (रक्षांसि) दूसरों के पीड़ाकारी, स्वार्थी, विघ्नकारी (असुरा.) केवल असु, प्राणों में रमण करने वाले अर्थात् इन्द्रियों के विषय भोगों में ही जीवन का व्यय करने वाले, विषयविलासी पुरुषों को (अपहताः) मार कर दूर भगा दिया जाय ॥

भौतिक पक्षमें कव्यवाहन, ज्ञानी पुरुषों के कार्यों को चलाने वाले अग्नि को उत्तम रीति से प्रयोग करके ऋतु और पालकों से युक्त सोम राजा या प्रधान पुरुष के आदर द्वारा दुष्ट पुरुषों को नाश किया जाय ॥

ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात् ॥ ३० ॥

कव्यवहनोऽग्निर्देवता । भुरिक् पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(ये) जो लोग (रूपाणि) रुचिकर पदार्थों को (प्रतिमुञ्चमानाः) त्यागते हुए (असुराः) केवल प्राण अर्थात् इन्द्रियों के भोगों में रमण करते (सन्तः) हुए (स्वधया) अपने बलसे या पृथिवी के शासन बल सहित (चरन्ति) विचरण करते हैं और (ये) जो (परापुरः) दूर दूर तक बड़े २ अपने पुर बनाते हैं और (निपुरः) नीचे भूमि में अपने पुर बनाते अथवा जो (परापुरः) परित्याग करने योग्य काम्य स्वार्थों को पूर्ण करते और (निपुरः) जो नीच निकृष्ट वासनाओं को पूर्ण करते हैं अथवा (परापुरः निपुरः) स्थूल और सूक्ष्म देहों को (चरन्ति) पोषण करते हैं (अग्निः) अग्नि, दुष्टों का सन्तापक राजा अग्रणी नेता (तान्) उन लोगों को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (प्र नुदाति) निकाल दे ॥

अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वम् ।
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ३१ ॥

पितरो देवताः । बृहती । मध्यम ॥

भा०—(अत्र) यहां, इस स्थान में, गृह में, देश में, लोक में (पितरः) पालन करनेहारे गुरु, विद्वान् पुरुष, माता पिता एवं वृद्धजन और देश के पालक अधिकारीगण (मादयध्वम्) आनन्द, प्रसन्न रहें और स्वयं औरों को भी वे सुप्रसन्न करें । (यथाभागम्) अपने उचित भाग के अनुरूप अर्थात् अपने अधिकार, मान, पद एवं शक्ति, योग्यता के अनुकूल (आवृषायध्वम्) सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट हों और औरों को भी आनन्दित करें । (पितरः अमीमदन्त) पालक वृद्धजन खूब हर्षित प्रसन्न हों और (यथाभागम् आ वृषायिषत) अपनी शक्ति योग्यता एवं पद के अनुरूप हृष्ट पुष्ट भी हों ॥

[1]नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय, नमो वः पितरो मन्यवे। [2]नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त सतो वः पितरो देष्मै तद्वः पितरो वासः ॥ ३२ ॥

लिंगोक्ता देवता. पितर (१) ब्राह्मी बृहती। (२) निचृद् बृहती। पञ्चम. ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक पुरुषो ! वृद्ध जनो ! (रसाय) ब्रह्मानन्द रस और ज्ञानरस के लिये (व नमः) आप लोगों का हम आदर करते हैं। (शोषाय) आप लोगो का जो शोषण अर्थात् दुःखो का निवारण और शत्रुओ का कमजोर करने का सामर्थ्य है उसके लिये (वः नम.) आपका हम आदर करते हैं। (जीवाय) आपके प्रजा को जीवन धारण कराने के सामर्थ्य के लिये (वः नमः) आप लोगो को हम नमस्कार करते हैं। (स्वधायै) स्वयं समस्त राष्ट्र के धारण करने के सामर्थ्य के लिये और अन्न उत्पन्न करने के सामर्थ्य के लिये (वः नमः) आप लोगों को हम आदर करते हैं। (घोराय) आप लोगों के प्रति भय दिलाने वाले घोर, युद्ध करने के सामर्थ्य के लिये (व. नमः) आप लोगों को हम नमस्कार करते हैं। (मन्यवे) आप लोगों के मान बनाये रखने वाले उच्चता के भाव के लिये अथवा आपके दुष्टों और देश का यश कीर्त्ति के नाशको के प्रति उत्तेजित हुए क्रोध के लिये (वः नमः) आप लोगों को हम नमस्कार करते हैं। हे (पितरः) पालक वृद्ध शासक जनो ! आप लोग हमारे और समस्त राष्ट्र के पालक हो, अतएव (व. नम.) आप का हम आदर सत्कार करते हैं। (पितर. नमो व.) हे पालक पुरुषों ! आप लोगों को हम नमस्कार एवं सत्कार करते हैं। हे (पितरः) पालक जनो ! (नः) हमारे (गृहान्) गृह के निवासी स्त्री आदि बन्धुओ के प्रति (दत्त) उनको उचित पदार्थ एवं विद्या और शिक्षा प्रदान करो और हे (पितरः)

वृद्ध गुरुजनो ! हम लोग (व.) आप लोगो को (सत·) अपने पास, विद्यमान नाना अन्न, धन, वस्त्र आदि पदार्थ (देप्म) प्रदान करें । हे (पितर) पालक जनो ! (वः) आप लोगों के लिये (एतत्) यही (वास) शरीर आदि आच्छादन करने योग्य उत्तम वस्त्र एव निवास गृह है । आप इसे स्वीकार करें ॥

उव्वट, महीधर दोनो ने यह मन्त्र ऋतुओं परक लगाया है । हे ऋतुओ ! (नमो व रसाय) आपके रसरूप वसन्त को नमस्कार है । (व शोषाय नम) आपके सुखाने वाले ग्रीष्म को नमस्कार है । (व जीवाय नम) जीवन के हेतु वर्षाओ को नमस्कार है । (व. स्वधायै नम.) आपके अन्नोत्पादक शरत् के लिये नमस्कार है । (व वीराय नम.) आपके घोररूप हेमन्त को नमस्कार है । (मृत्यवे नमः) शिशिर को नम. ॥

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥३३॥

पितरो देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—पुत्रो का पालन करने मे समर्थ गृहस्थजनो ! आप लोग (गर्भम्) गर्भ का (आधत्त) आधान करो और फिर (पुष्कर स्रजम्) पुष्टिकर पदार्थों के द्वारा बने शरीर वाले, सुन्दर (कुमारम्) बालक को (आधत्त) बराबर पालन पोषण करो (यथा) जिससे (इह) इस लोक मे वह आपका गर्भ में आहित वीर्य एव बालक ही (पुरुष असत्) पूर्ण पुरुषरूप होजाय । गृहस्थ लोग पुरुषो को उत्पन्न करने के लिये गर्भाधान करें । उसका गर्भ में पुष्टिकारक पदार्थों से पालन करे और उसे शिक्षित कर पूर्ण पुरुष बनावे । आचार्य पक्ष में—हे (पितर) पालक आचार्य आदि जनो (गर्भम्) गर्भ के समान ही (पुष्कर-स्रजम्) पद्म की माला धारण किया विद्यार्थी कुमार को अपने विद्यारूप सावित्री के गर्भ मे धारण करो । जिससे वह पूर्ण विद्वान् पुरुष हो जाय । इसी प्रकार शासक जन राजा को अपने भीतर आदरपूर्वक रक्खें, जिससे वह बलवान् बना रहे॥

ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥

आपो देवता । भुरिग् उष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—हे (आपः) आपः ! आप्त पुरुषो ! आप्त पुत्रादि जनो ! आपः-जल के समान स्वच्छ उपकारक पुरुषो ! (ऊर्जम्) उत्तम अन्न रस (अमृतम्) रोगहारी, जीवनप्रद (घृतम्) तेजोदायक, घृत (पयः) पुष्टिकारक दुग्ध (कीलालम्) अन्न और (परिस्रुतम्) सब प्रकार से स्रवित रससे युक्त, पके फल एवं ओषधि विधि से तय्यार किये उत्तम रसायन आदि इन सब को (वहन्तीः) धारण करते हुए (मे पितॄन्) मेरे पालक वृद्धजनों को (तर्पयत) तृप्त करो । आप (स्वधाः स्थ) अब स्वयं अपने आपको और अपने वृद्ध, पालक, सत्कार योग्य पुरुषों को भी अपने बलपर धारण पोषण करने में समर्थ हो ॥

अन्न पक्षमें=(ऊर्जं) उत्तम अन्नरस, (अमृतम्) जीवनशक्ति, (घृतम्) घी, तेज, (पयः) दूध, पुष्टिकारक पदार्थ, (कीलालम्) भोज्य अन्न, (परिस्रुतम्) आसव आदि तीव्र सूक्ष्म औषध इन सब तत्वों को धारण करने वाले (आपः) जल हैं । वे ही ' स्वधा ' चरम अन्न हैं । उनसे हे पुरुषो ! (मे पितॄन् तर्पयत) मेरे प्राणों को तृप्त करो ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

[आद्ये ऋचश्चैकत्रिंशत्]

इति मीमांसातीर्थ-विद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डित-जयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

१—८ अग्न्याधेयमन्त्राणां प्रजापतिर्देवता अग्निर्गन्धर्वश्च ऋषयः ॥

॥ ओ३म् ॥ समिधाग्निन्दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन्हव्या जुहोतन ॥ १ ॥ ऋ० ८ । ४४ । १ ॥

विरूप आङ्गिरस ऋषि । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(समिधा) प्रदीप्त करने के साधन काष्ठ से जिस प्रकार अग्नि को तृप्त किया जाता है उसी प्रकार (सम-इधा) अच्छी प्रकार तेजस्वी बनाने वाले साधन से (अग्निम्) अग्नि, आत्मा, गुरु, परमेश्वर की (दुवस्यत) उपासना करो और (अतिथिम्) सर्वव्यापक, अतिथि के समान पूजनीय उसको (घृतै·) अग्नि को जिस प्रकार क्षरणशील, पुष्टि-कारक घृत आदि पदार्थों से जगाया जाता है उसी प्रकार उद्दीपन करने वाले तेज.प्रद साधनों के अनुष्ठानों से उसको (बोधयत) जगाओ और (अस्मिन्) उसमें (हव्या) सब पदार्थों, ज्ञानस्तुतियों और कर्मों को और कर्मफलों को आहुति के रूप में (आ जुहोतन) निरन्तर त्याग करो ॥

भौतिक अग्नि में—हे पुरुषो ! (समिधा दुवस्यत) काष्ठ से उसकी सेवा करो, घृताहुतियों से उसको चेतन करो और उसमें चरु पुरोडाश आदि आहुतिरूप में दो । इसी प्रकार यन्त्रकला आदि में भी अग्नि के उद्दीपक पदार्थों से अग्नि को जलाकर (घृतै.) जलों द्वारा उसकी शक्ति को और भी चैतन्य करके उसे यन्त्रादि में आधान करे ॥

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रञ्जुहोतन । अग्नये जातवेदसे ॥२॥
ऋ० ५ । ५ । १ ॥

वसुश्रुत ऋषि । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्ज ॥

२—सुश्रुत ऋषि । द० ।

भा०—(सु-सम्-इद्धाय) खूब अच्छी प्रकार प्रदीप्त (शोचिषे) प्रकाशमान, ज्वालामय, अन्यो के भी दोष निवारण मे समर्थ (जात-वेदसे) प्रत्येक पदार्थ मे व्यापक, प्रज्ञावान्, ऐश्वर्यवान् (अग्नये) अग्नि, परमेश्वर, विद्वान् एवं राजा में (तीव्रम्) अतितीव्र, दोषनिवारक (घृतम्) आज्य, जल और उपायन एवं बलदायक या जयप्रद पदार्थ (आ जुहोतन) सब प्रकार से प्रदान करो ॥

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥ ऋ० ६ । १६ । ११ ॥

भरद्वाज ऋषि । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे अग्ने ! अंगिरः ! व्यापक, ज्ञानवान्, प्रकाशक ! (त्वा) तुझे (तम्) उस परम प्रसिद्ध, परम उच्च, परमेश्वर को (सम्-इति) उत्तम प्रदीप्त, प्रकाशित होने के साधन योग आदि द्वारा और (घृतेन) आत्मा के प्रकाशक तेज और तप द्वारा (वर्धयामसि) बढ़ाते हैं। हे (यविष्ठ्य) युवतम, सदा सर्वशक्तिमान् ! संसार के समस्त पदार्थों के सयोग विभाग करने में अनुपम बलवाले ! (बृहत्) महान् होकर (शोच) खूब प्रकाशित हो। अग्निपक्षमे--हे प्रकाशक अग्ने ! तुझे समिधा और घृत से बढ़ावें और तू पदार्थों के विभाजक बल से युक्त, खूब प्रकाशित हो ॥

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्यत । जुषस्व समिधो मम ॥४॥

प्रजापतिर्ऋषि । अग्नि । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (हर्यत) सब कार्यों के प्रापक या दर्शनीय ! कमनीय ! कान्तियुक्त। हे अग्ने ! (उप) तेरे समीप (घृताची) घृत से युक्त, (हविष्मती) हवि, अन्न आदि से युक्त (समिध) समिधाएं (यन्तु) प्राप्त हों उन (मम) मेरी (समिधः) समिधाओं को (जुषस्व) सेवन कर। हे अग्ने ! आत्मन् ! मेरी (हविष्मतीः) ज्ञानमय (घृताची) तेजोमय (समिधः)

प्रकाशित होने के साधन तपस्या, विद्याभ्यास, जप, योग आदि सब तेरी प्राप्ति के लिये हों, उनको तू स्वीकार कर ॥

[1]भूर्भुवः स्व[2]द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ ५ ॥

अग्निवायुसूर्या पृथिवी च देवता । (१) दैवी बृहती । (२) निचृद्बृहती ।
मध्यम स्वर ॥

भा०—(भूः) यह पृथ्वी लोक (भुवः) अन्तरिक्ष और (स्वः) वह द्यौलोक और (भू) ब्राह्मण, (भुवः) क्षत्रिय, (स्व.) वैश्य और (भू·) आत्मा, या स्वयं पुरुष (भुवः) प्रजा, पुत्र आदि (स्वः) पशुगण इनके हित के लिये मैं (भूम्ना) अति अधिक महान् ऐश्वर्य और सामर्थ्य से और अधिक प्रजाजनों से उसी प्रकार युक्त होजाऊं जैसे (द्यौ·) यह महान् आकाश नक्षत्रों से, परमैश्वर्य युक्त है और (पृथिवी इव) पृथिवी जिस प्रकार विशाल है, सबको आश्रय देती है, उसी प्रकार को (वरिम्णा) विशालता से मैं भी युक्त होऊं । हे (पृथिवि) पृथिवि ! हे (देवयजनि) देव-विद्वानों के यज्ञ करने के आश्रयभूत ! (ते तस्याः) उस तेरी (पृष्ठे) पीठ, पृष्ठ पर (अन्नादम्) समस्त अन्नों के भोग करने वाले (अग्निम्) अग्निरूप प्रजापति राजा को (आदधे) स्थापित करता हूं । अथवा–हे स्त्री और हे वेदि ! तू (भूम्ना) अपनी महती शक्ति से (द्यौः इव) आकाश के समान गुण रूप नक्षत्रों से सुशोभित है और (वरिम्णा पृथिवीव) उत्तम गुणों से पृथिवी के समान उदार पुत्रादि उत्पत्तिकारक पालक और गृहका आश्रय है । हे (देवयजनि पृथिवि) विद्वान् द्वारा पूजनीय पृथिवी के समान योग्य भूमि (अन्नादम् अग्निम्) अन्न का भोग करने वाले या कर्म फल के भोग करने वाले अग्नि, जीवात्मा को मैं (अन्नाद्याय) भावी जीवन

५—०'भूम्ना भूमिरिव वरिम्णा' इति काण्व० ।

के कर्मफल भोग के लिये ही वीर्य रूप से तुझ में (आदधे) आधान करता हूं ॥ शत० का० २ । ८ । १–२८ ॥

आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः । पितरञ्च प्रयन्त्स्वः ॥ ६ ॥

ऋ० १० । १८९ । १ ॥

सार्पराज्ञी कद्रूर्ऋषिका । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अयम्) यह (गौः) गमनशील (पृश्नि.) रसों को और समस्त ज्योतियों को अपने भीतर ग्रहण करने हारा, आदित्य (मातरम् पुरः) प्राणियों के उत्पादक मातृरूप पृथिवी के ऊपर नित्य प्राची दिशा में (असदत्) विराजता है । (अक्रमीत्) चारों ओर व्याप्त है और (पितरम्) सबके पालक (स्वः) आकाश को भी (प्रयत्) अपने निज वेग से जाता हुआ (असदत्) उसको भी व्याप्त करता है ॥

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती । व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥७॥

ऋ० १० । १८९ । २ ॥

वायुरूपोऽग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(अस्य) इस महान् अग्नि की ही (रोचना) वायुरूप ज्योति, दीप्ति है जो (अन्तः) शरीर के भीतर, इस ब्रह्माण्ड के भीतर (प्राणात्) प्राण रूप होने के पश्चात् (अपानती) अपान का स्वरूप धारण करती है । वही (महिषः) अनन्त महिमा से युक्त होकर (दिवम्) द्यौलोक को या प्रकाशमान सूर्य के तेज को (वि अख्यत्) विशेष रूप से बतलाता है । अर्थात् ब्रह्माण्ड में वही वायु स्वयं प्रबल चलता और ऊपर उठता और मन्द होता और नीचे आता है । शरीर में वही प्राण, पुन अपान रूप में बदलता है । परन्तु यह उसी महान् अग्नि का तेज है, ब्रह्माण्ड मे सूर्य की शक्ति से वायु नाना गतियों से चलता है । और शरीर में जाठर अग्नि के बल से प्राणों की विविध गति होती है ॥

त्रिꣳशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते ।
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥८॥ ऋ० १० । १८ । १८९ । ३ ॥

अग्निर्देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—ईश्वररूप अग्नि । जो प्रकाशक अग्नि (त्रिंशत्) तीस (धाम) धारक पदार्थों को (विराजति) व्याप्त होकर उनको प्रकाशित करता है उसी (पतङ्गाय) व्यापक परमेश्वर के लिये (वाक्) वेद-वाणी (धीयते) पढ़ा जाता है और उसको (प्रति वस्तोः) प्रतिदिन (द्युभिः) प्रकाशमान पदार्थों के द्वारा (अह) निश्चय से (धीयते) ध्यान, मनन करना चाहिये ॥

' त्रिंशत् धाम '–दिन रात्र के ३० मुहूर्त (उक्थ) । जो वाणीदिन के तीसों मुहूर्त प्रकाशित होती न केवल वह अग्नि (पतङ्ग) के लिये है प्रत्युत प्रतिदिन उत्सवों के साथ भी वह बात उसी 'पतङ्ग' के लिये ही है । महीधर–या मास के तीसों दिन जो वाणी 'पतङ्ग' के लिये है वह प्रति दिन उत्सवों में भी उसी के लिये है ॥ उक्थ ६-८ शत० २ । १ । ४ । २९ ॥

दयानन्द–जो अग्नि प्रतिदिन तीसों धर्म्मों के धारक पदार्थों को प्रकाशित करता है उस स्वयगतिशील, अन्यों के प्रेरक अग्नि को धारण करना चाहिये । ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, इनमें से अन्तरिक्ष वह आदित्य अग्नि को छोड़ शेष ३० । पतङ्ग=अग्नि परमेश्वर है ॥

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा । अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा । ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योति स्वाहा ॥ ९ ॥

अग्निसूर्यौ देवते । पक्ति । मध्यम । अग्निर्ज्योतिरिति द्वयस्य तच्चा ऋषि । ज्योतिः सूर्य इत्यस्य जीवलश्चैलकिश्च ऋषी ।

८—इत पर एको मन्त्रोऽधिक काण्व० परिशिष्टे द्रष्टव्य. ।

९—विशेषतश्च अग्निर्वर्च इत्यस्यास्तच्चा ऋषि । ज्योति सूर्य इत्यस्याजीवलश्चैलकिर्ऋषि । सर्वा० । इतःपर मेको मन्त्रोऽधिक काण्व० पठित परिशिष्टे द्रष्टव्य ।

भा०—(अग्निः ज्योतिः) अग्नि ज्योति.स्वरूप है और (ज्योतिः अग्निः) समस्त ज्योति अग्निरूप है। (स्वाहा) यह ज्योति स्वरूपता ही अग्नि के अपनी महिमा का प्रत्यक्ष वर्णन है। (सूर्यः ज्योतिः) सूर्य ज्योति है। (ज्योतिः सूर्यः) ज्योति ही सूर्य है। (स्वाहा) यही उसके अपने महत्व का उत्तम स्वरूप है। इस देह मे (अग्निः वर्चः) अग्नि ही तेज है (ज्योतिर्वर्चः) ज्योति ही तेज है। (स्वाहा) यही उसका अपना उत्कृष्टरूप है। (सूर्यः वर्चः ज्योतिः वर्चः) सूर्य तेज है, ज्योति तेज है। (स्वाहा) यही उसका अपना महत्वपूर्ण रूप है। (ज्योतिः सूर्य सूर्य. ज्योतिः स्वाहा) ज्योति सूर्य है और सूर्य ही ज्योति है। यही उसका यथार्थ महत्वरूप है॥

स्वाहा—स्वो वै महिमा आह इति। स्वाहा इत्येवाजुहोत्। शत० १। २। ४। ६॥ यह मेरा ही महत्व या उत्कृष्टरूप है इस बात को 'स्वाहा' शब्द कहता है। प्रजापति की अपने उत्कृष्टरूप अग्नि सूर्य, ज्योति और वर्चस्, ये है और ये सर्वत्र प्रकट होकर अपने महत्व को दर्शाते हैं। इसका व्याख्यान-विस्तार शतपथ मे देखें। शत० कां० २। २। ४, ५॥ 'स्वस्य अहानमस्तु' इति स्वाहा इत्युत्वटः। अपने स्वरूप का नाश नहीं होता यह 'स्वाहा' का अर्थ है। स्वं प्राह इति वा स्वाहुतं हाविर्जुहोति इति वा। निरु०॥

अथवा—(अग्नि) ज्ञानमय परमेश्वर (ज्योतिः) सर्वप्रकाशक है और (ज्योतिः) प्रकाशमय (अग्निः) भौतिक अग्नि के समान ही परमेश्वर सब पदार्थों का ज्ञापक अग्नि है। यह (स्वाहा) सत्य बात है। (सूर्यः) सब ससार मे व्यापक और उसका ज्ञाता परमेश्वर (ज्योति.) वेद द्वारा समस्त विद्याओं का उपदेष्टा 'ज्योति' है। वह भी (ज्योतिः) पृथिवी आदि पदार्थों के द्योतन या प्रकाशन करने वाले (सूर्य) सूर्य के समान

तेजोमय है । (स्वाहा) यही वास्तविक बात है । (अग्निः) सर्वविद्या-प्रदाता आचार्य (वर्च) सब पदार्थों का दीपक, ज्ञापक विद्याप्रदाता है, वह (ज्योति.) सब पदार्थ प्रकाशक (वर्च) तेज के समान ही सब विद्याओं का प्रकाशक है । (स्वाहा) इस प्रकार ही सत्य जानो । (सूर्य.) सब व्यवहारों का प्रवर्तक प्राण ही (वर्च.) सबका प्रकाशक है । (ज्योतिर्वर्च) सर्व पदार्थों का द्योतक तेज ही है (स्वाहा) यह सत्य ज्ञान है । (सूर्यो ज्योति.) सूर्य ही सब पदार्थों का ज्योति अर्थात् प्रकाशक है और प्रकाशक ज्योति ही सूर्य है । यही (स्वाहा) उसकी अपनी महिमा का स्वरूप है ॥

[1]सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा। [2]सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या । जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥ १० ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । (१) अग्निः (२) सूर्यः । (१) गायत्री, (२) भुरिग् गायत्री । षड्जः स्वरः ॥

भा०—(अग्नि) यह भौतिक अग्नि जिस प्रकार (देवेन सवित्रा) सर्व प्रकाशक, सर्व व्यवहारप्रवर्तक, सर्वोत्पादक परमेश्वर के बल से (सजूः) सब पदार्थों को समान भाव से सेवन करता है । (इन्द्रवत्या) इन्द्र, वायु से युक्त (रात्र्या) रात्रि या आदानकारिणी शक्ति से युक्त होकर (सजू) समस्त पदार्थों को समान रूप से अपने भीतर लीन करता है, उसी प्रकार (अग्निः) प्रकाशक अग्नि, सर्वेश्वर परमात्मा (जुषाणः) सबको प्रेम करता हुआ या सबको सेवन करता हुआ (अग्नि) भौतिक अग्नि के समान ही परमेश्वर (स्वाहा) अपनी महिमा या महत्त्व शक्ति से (वेतु) सर्वत्र व्याप्त है और (देवेन) सर्व प्रकाशक (सवित्रा) सर्वोत्पादक परमेश्वर के बल से सूर्य (सजू) सर्वत्र समान भाव से व्याप्त होता है और वही

१०—इत पर मन्त्रचतुष्क काण्व० पठित परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ।

(इन्द्रवत्या) प्रकाशमय (उषसा) उषा या प्रभा के साथ (सजू) समान भाव से व्याप्त होता है, उसी प्रकार (सूर्य.) सर्व प्रेरक परमेश्वर सबको (जुषाण.) प्रेम करता हुआ (स्वाहा) अपनी महान् शक्ति से सर्वत्र (वेतु) व्यापक है, सबको अपने भीतर लिये है ॥

अग्निहोत्र पक्षमें—देव सविता परमेश्वर की उत्पादित सृष्टि के साथ मिल कर और इन्द्रवती रात्रि अर्थात् विद्युत् शक्ति से युक्त रात्रि से मिल कर हवि आदि को अग्नि अपने भीतर ले । इसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति से युक्त और प्रकाश युक्त उषा से होकर सूर्य चरुद्रव्यो को अपने भीतर ले ॥

उपप्रयन्तोऽअध्वरं मन्त्रं वोचेमाग्नये । आरेऽअस्मे च शृण्वते ॥११॥

[११–३०] बृहदुपस्थानमन्त्राणा देवा ऋषय । गोतम ऋषिः । अग्निर्देवता ।
निचृद् गायत्री । षड्ज. ॥

भा०—(अध्वरं) जिसको शत्रुगण परास्त न कर सकें ऐसे अध्वर, अहिंसक सर्वपालक राष्ट्र यज्ञ में (उप प्रयन्त.) पहुंच कर (अस्मे च) हमारे वचनो को (दूरे च) समीप और दूर भी (शृण्वते) श्रवण करने वाले (अग्नये) अग्रणी नेता, राजा के हित के लिये (मन्त्रम्) उत्तम विचार वेदानुकूल विज्ञान वाक्य को (वोचेम) उच्चारण करे, कहे ॥

यज्ञपक्ष मे—यज्ञ से आते हुए हम ईश्वर की उपासना के लिये मन्त्रों को उच्चारण करे । वह हमारा दूर पास सर्वत्र सुनता है ॥ शत० ३ । ४ । १० ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ।
अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति ॥ १२ ॥

विरूप ऋषि । अग्नि । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(दिवि) द्योलोक मे या प्रकाशवान जगत् मे जिस प्रकार (मूर्धा) सबके शिरोभूत, सबसे ऊपर (अग्निः) सूर्य, सबका प्रवर्त्तक

और प्रकाशक है उसी प्रकार (अयम्) यह (ककुत्) सबसे महान् सर्व श्रेष्ठ (पृथिव्या पति.) पृथिवी का भी स्वामी राजा है। वह (अपां) समस्त प्रजाओं के (रेतांसि) समस्त वीर्यों को (जिन्वति) स्वयं ग्रहण करता, वश करता है ॥

ईश्वर पक्षमे—(अग्नि.) सर्वस्वामी ईश्वर, (मूर्धा) सर्वोपरि विराजमान है। वह (दिव ककुत्) द्यौ, आकाश और सूर्य आदि से भी महान् और जलो के वीर्यों, उत्पादक सामर्थ्यों को (जिन्वति) पुष्ट करता है, शक्तिमान् बनाता है। सूर्य के पक्षमें—(अपाम् अग्नि. दिव मूर्धाः, पृथिव्या. ककुत् पति) यह अग्नि सूर्य, द्यो लोक का शिर पृथिवी का सबसे बड़ा पालक है। वह (अपां रेतांसि जिन्वति) समस्त जलों, प्राणियो के उत्पादक वीर्यों को पुष्ट करता है ॥ शत० २ । ३ । ४ । ११ ॥

उभा वामिन्द्राग्नीऽआहुवध्यांऽउभा राध्यसः सह मादयध्यै ।
उभा दातारांविषाꣳ रयीणामुभा वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥१३॥

भरद्वाज ऋषि । इन्द्राग्नी देवते । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा० - हे (इन्द्र-अग्नी) इन्द्र और अग्ने ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! हे (अग्ने) शत्रुसंतापक अग्ने ! अग्रणी ! सेना नायक ! (वाम् उभा) तुम दोनों को (आहुवध्यै) अपने पास बुलाने के लिये और (उभा) दोनों को (राधस) नाना ऐश्वर्य के द्वारा (सह) एकत्र (मादयध्यै) आनन्द लाभ करने के लिये (हुवे) मै बुलाता हू। (उभा) तुम दोनों (इषाम्) अन्नों और (रयीणाम्) ऐश्वर्यों के (दातारो) प्रदान करने वाले हैं। (उभौ) आप दोनो को (वाजस्य) उत्तम अन्न के (सातये) प्राप्ति और भोग के लिये (वाम्) तुम दोनों के (हुवे) बुलाता हूं। दोनो को आदरपूर्वक स्वीकार करता हूं। विद्युत् अग्नि के पक्षमे—परस्पर के बुलाने, वार्तालाप,

१३ — ०'दातारा इषा ४' इति काण्व० ।

दूरस्थ देश से सन्देश आदि देने और धनैश्वर्य के परस्पर मिलकर भोग करने के लिये समस्त कामनाओं और ऐश्वर्यों के प्रदाता वीर्यवान्, या बल-युक्त कार्यों की सिद्धि के लिये अग्नि और विद्युत् शक्तियों को मैं (हुवे) स्वयं अपने वश करता हूं ॥ शत० २ । ३ । ४ । १२ ॥ अथवा, इन्द्र=सूर्य और अग्नि ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः ।
तꣳजानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥ १४ ॥

देवश्रवोदेववातौ भारतौ वा ऋषी । अग्निर्देवता । स्वराड् अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे अग्ने ! (ते) तेरा (अयम्) यह (योनिः) मूल आश्रय स्थान, (ऋत्वियः) ऋतुओं, राजकर्त्ताओं और सदस्यों में आश्रित है । (यत) जहां से (जात.) तू सामर्थ्यवान् होकर (अरोचथा.) प्रकाशमान होता है । हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (तत्) उस अपने मूल-कारण को (जानन्) भली प्रकार जानता हुआ ही तू (अरोहथाः) ऊंचे पद सिंहासन पर आरूढ़ होता है । तू (नः) हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य को (वर्धय) बढ़ा ।

ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । वै० १ । १ । १३ ॥ ऋतवो वै विश्वेदेवा. । शत० ७ । १ । १ । ४२ ॥ ऋतवः उपसदः शत० १० । २ । ५ । ७ ॥ ऋतव एते यद्दतव्या' । श० ६ । ७ । सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३ । १२ । ६ । ४ ॥ शत० । २ । ३ । ४ । १३ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥ १५ ॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) इस अग्नि के समान शत्रुसन्तापक (प्रथम·) सर्व-श्रेष्ठ पुरुष को (इह) इस राष्ट्र में (धातृभिः) राष्ट्र के धारण करने

वाले पुरुषों द्वारा (धायि) अधिकारी रूपमें स्थापित करते हैं। यह (होता) सबको अपने वश मे लेने वाला, (याजिष्ठ.) सबको संगतिकारक (अध्वरेषु) यज्ञों में यज्ञशील होता के समान (अध्वरेषु) संग्रामों में (ईड्य.) स्तुति के योग्य है। (यम्) जिस (अमवान·) प्रजा, सन्तान वाले सत्कर्मवान् (भृगव·) तपस्वी पुरुष, वानप्रस्थ पुरुष जिस प्रकार वनों में नाना प्रकार से अग्नि को प्रज्वलित करते हैं, उसी प्रकार वे (विशे विशे) प्रत्येक प्रजासंघ में (चित्रम्) पूजनीय (विभ्वम्) विशेष सामर्थ्यवान् पुरुष को (विरुरुचुः) विशेष रूप से प्रदीप्त करते हैं॥ शत० २। ३। ४। १४॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳशुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः।
पयः सहस्रसामृषिम्॥ १६॥

अवत्सार ऋषि । गौः पयो वा देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(अस्य) इस अग्निरूप परमेश्वर की (प्रत्नाम्) अति पुरातन, अनादि सिद्ध (द्युतम्) द्युति, कान्ति, तेज, शक्ति को (अह्रय·) आकाश में रश्मियों द्वारा फैलने वाले प्रकाशमान तेजोमय सूर्य आदि (शुक्रम्) शुक्र, कान्तिमय तेज के रूपमें (दुदुह्रे) दोहते हैं, प्राप्त करते हैं। वे मानो, सर्व कामदुघा परमेश्वर रूप गौ से (सहस्रसाम्) सहस्रों कार्यों को सम्पादन करने वाले (ऋषिम्) सब के प्रेरक, स्वयं गतिशील (पय) पुष्टिकारक दुग्ध के समान बल और वीर्य को (दुदुह्रे) प्राप्त करते हैं॥

राजपक्षमें—(अह्रय अस्य प्रत्नाम् द्युतम्, शुक्रम् ऋषिम्, सहस्र· साम् पय दुदुह्रे) दूर २ तक प्रज्ञा द्वारा पहुंचने वाले विद्वान् इस राजा के प्रत्न=श्रेष्ठ कान्ति या वीर्य को ऋषि, व्यापक या निरीक्षक शक्ति को और (सहसाम्) हज़ारों को, अन्न वस्त्र शरण देने वाली शक्ति और पुष्टि-कारक बल को गाय से दूध के समान प्राप्त करते हैं। हज़ारों कार्यों के

१६—'वत्सार' इति सर्वा० ।

साधक प्रदीप के समान पदार्थदर्शक अनादि सिद्ध कान्ति को अग्नि से विद्वान लोग प्राप्त करते हैं ॥ शत० २ । ३ । ४ । १५ ॥

तनूपा अग्नेसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेस्यायुर्मे देहि वर्चोदाऽअग्नेसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे तन्वा ऊनंतन्मऽआपृण ॥१७॥

अग्निर्देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! परमेश्वर ! तू (तनूपा. असि) हमारे शरीरों की रक्षा करनेहारा है । तू (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की (पाहि) रक्षा कर । हे (अग्ने) अग्ने ! (आयुर्दा असि) तू आयुष् जीवन का देने वाला है (मे आयुः देहि) मुझे आयु प्रदान कर । हे (अग्ने) अग्ने (वर्चोदा असि) तू वर्चस् तेजको देने वाला है तू (मे वर्चः देहि) मुझे तेज का प्रदान कर (यत् मे तन्व) और जो मेरे शरीर में (ऊनं) न्यूनता हो (मे) मेरी (तत्) उस न्यूनता को (आपृण) पूर्ण कर । शरीर-रक्षक, जीवनरक्षक, बल, तेज के दाता, राजा से भी ऐसी प्रार्थना सम्भव है । वह हमारे शरीर की न्यून बल की पूर्ति अपनी सद् व्यवस्था से करे । निर्बलों का बल राजा है ॥ शत० २ । ३ । ४ । १७-२० ॥

इन्धानास्त्वा शतꣳ हिमा द्युमन्तꣳ समिधीमहि वयस्वन्तो वयस्कृतꣳसहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धा-सोऽअदाभ्यम् । चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ १८ ॥

अग्निर्रात्रिश्च देवताः । निचृद्ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चम ॥

भा०—हे राजन् ! अग्ने ! (द्युमन्तं) प्रकाशमान्, तेजस्वी (वयस्कृतम्) आयु के बढ़ाने और देने वाले (सहस्कृतम्) बल के देनेवाले (सपत्न

१७—१७-१९ अवत्सार ऋषि । द० ॥

१८—चित्रावसो इत्यस्य ऋषय, ऋषिः । रात्रिर्देवता आहवनीयोपस्थानमन्त्रा ११-१८ एते । म० ॥

द्रम्भनम्) शत्रुओं के नाशक (अदाभ्यम्) किसी से भी न मारने योग्य, सर्वविजयी । (त्वा) तुझको (वयस्वन्त) हम दीर्घायु (सहस्वन्त) बलवान् और (अदब्ध-स) शत्रुओं से कभी न मारे जाकर, अक्षुण्ण रहकर (शत-हिमा) सौ वर्षों तक (इन्धाना) तुझे प्रदीप्त और अधिक दीप्तिमान् करते हुए (सम् इधीमहि । हम भी अग्नि के समान तुझे बराबर बढ़ाते और कीर्ति मे उज्ज्वल ही करते रहें । हे (चित्रावसो) नाना प्रकार के ऐश्वर्यवाले (स्वस्ति) तेरा कल्याण हो । (ते) तेरे (पारम्) पालन और पूर्ण करने वाले सामर्थ्य का मैं सदा (अशीय) भोग करू ।

ईश्वर पक्ष में—हे अग्ने परमेश्वर! हम अहिंसित, दीर्घायु, बलवान् रहकर सौ वर्षों तक तेरे ही प्रकाशवान स्वरूप को प्रकाशित करे । तेरी कृपा से (पारं स्वस्ति अशीय) सर्व दु खों को पार करके सुख भोग करें । इसी प्रकार अग्नि को भी दीर्घायु, बलकारक जीवन के शत्रुओं के नाशकर रूप में प्रदीप्त करके उसको अपने उद्योग में लाकर समस्त सुख को प्राप्त करें ॥ शत० २ । ३ । ४ । २१–२३ ॥

सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चसागथाः समृषीणाꣳ स्तुतेन ।
सं प्रियेण धाम्ना समहमायुषा सं वर्चसा सं प्रजया सꣳ रायस्पोषेण गिमषीय ॥ १६ ॥

अग्निर्देवता । जगती । निषाद ॥

हे अग्ने राजन् ! (त्वम्) तू (सूर्यस्य वर्चसा । सूर्य के तेज से (सम् अगथा.) युक्त हो । (ऋषीणाम्) मन्त्र द्वारा ऋषियों, विद्वानों के (स्तुतेन) प्रस्तुत, उपवर्णित सत्य ज्ञान से भी (सम् अगथा) युक्त हो । (प्रियेण धाम्ना) प्रिय धाम, स्थान, नाम और जन्म इन तीनों प्रिय धामों, तेजों से (सम्) संयुक्त हो और मैं तेरी रक्षा मे रहकर (आयुषा) आयु से (वर्चसा) तेज से (प्रजया) प्रजा से और (रायस्पोषेण) धनैश्वर्यों की पुष्टि द्वारा (सं गिमषीय) संयुक्त होऊं ।

ईश्वर पक्ष में—ईश्वर सूर्य के समान तेजोमय ऋषियों के मन्त्रों द्वारा स्तुति किया गया है एवं प्रिय धारण सामर्थ्य से युक्त है। वह मुझे आयु, तेज, प्रजा, धन आदि दे। इसी प्रकार आचार्य तेजस्वी, ज्ञानी हो वह शिष्य को आयुष्मान्, तेजस्वी, प्रजावान्, ऐश्वर्यवान् बनावे ॥ शत० २। ३। ४। २४ ॥

अन्ध्र स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीयोर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय रायस्पो षस्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥ २० ॥

आपः गावो वा देवता । भुरिग्बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (आप) जल के समान समस्त अन्न आदि पदार्थों के उत्पादक प्रजाजनो ! आप्त पुरुषो ! आप लोग अथवा हे (गावः) गौओं एवं उनके समान सर्वोत्पादक भूमियो ! आप (अन्धःस्थ) अन्न हो। (व) तुम्हारे (अन्ध) अन्न को मैं (भक्षीय) खाऊं, प्राप्त करूं। आप (मह स्थ) वीर्य रूप हो (व मह. भक्षीय) तुम्हारे वीर्य का मैं भोग करूं। (ऊर्ज. स्थ) तुम उत्तम अन्न रस रूप हो (व ऊर्ज भक्षीय) तुम्हारे बल-कारी रस का मैं भोग करूं। (रायस्पोष स्थ) ऐश्वर्य के द्वारा प्राप्त पुष्टिरूप हो (वः राय पोषं भक्षीय) आपके द्वारा मैं ऐश्वर्य की पुष्टि को प्राप्त करूं। अथवा अन्न आदि नाना पदार्थों को ही सम्बोधन करके उनके सारे भाग प्राप्त करने की प्रार्थना करली जाय। अथवा सर्वोत्पादक गौओं को सब कुछ मानकर उनसे उन सब पदार्थों की प्रार्थना है ॥ शत० २। ३। ४। २५ ॥

रेवती रमध्वमस्मिन्योनावस्मिन् गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन् क्षये। इहैव स्त माप गात ॥ २१ ॥

विश्वेदेवा गावो वा देवताः । उष्णिक् । ऋषभः ॥

२०—याज्ञवल्क्य ऋषि । आपो देवता । द० ॥

२१—याज्ञवल्क्य ऋषि. । विश्वेदेवा देवता । द० । अस्मिन् लोकेऽस्मिन् गोष्ठे । इति काण्व० ॥

भा०—हे (रेवती) धन सम्पन्न समृद्ध प्रजाओ ! आप लोग (अस्मिन् गोष्ठे) इस गोष्ठ, गौ वाणियो के निवास स्थान या भूमि के आश्रयभूत (अस्मिन् क्षये) इस सब के बसाने वाले घरके समान आश्रयप्रद राजा पर निर्भर रहकर इस राष्ट्र में (रमध्वम्) आनन्द पूर्वक रहो । (इह एव स्त) यहां ही रहो । (मा अपगात) यहां से दूसरे देश मत जाओ ।। गो पक्ष में—हे गौवो ! तुम इस गोशाला और घर में रहो, यहां से दूर मत होओ ।। शत० २ । ३ । ४ । २६ ॥

[1]सꣳहितासि विश्वरूप्यूर्जा मा विꣳश गौपत्येन ।
[2]उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ २२ ॥

वश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । गौरग्निश्च देवताः । (१) भुरिगासुरी गायत्री, । (२) गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे गौ ! तू संहिता असि) भली प्रकार से घरों में बांधली जाती है । तू ही (विश्वरूपी) नाना प्रकार के पशुओं के रूप धारण करने वाली है, उनकी प्रतिनिधि है । तू (ऊर्जा) अन्न-सम्पत्ति और (गौपत्येन) गौओं के पति या स्वामित्व के यश के साथ (मा विश) मुझे प्राप्त हो ।।

प्रजा के प्रति राजा—हे प्रजे ! (विश्वरूपी) तू नाना रूप की है, समस्त प्रकार के जनो-प्राणियों से युक्त है । तू (संहिता असि) भली प्रकार व्यवस्था में बद्ध है । (ऊर्जा) बल से और (गौपत्येन) पृथ्वी के स्वामित्व के साथ (मा विश) मुझे प्राप्त हो ॥

हे (अग्ने) अग्ने राजन् ! परमेश्वर ! हे (दोषावस्त) अपने तेज से रात्रि रूप अन्धकार को आच्छादन करने हारे ! हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (धिया) अपनी बुद्धि और कर्म से (नम भरन्त) नमस्कार करते हुए या अन्नादि पदार्थ प्राप्त कराते हुए (त्वा उप एमसि) तुझे प्राप्त हों ।

अथवा—हे परमेश्वर प्रतिदिन हम धारणद्वारा तेरा ध्यान करते हुए तुझे प्राप्त हों ॥ शत० २ । ३ । ४ । २६ ॥

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् । वर्द्धमानꣳ स्वे दमे ॥२३॥

वैश्वामित्रोमधुच्छन्दा ऋषि । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(राजन्तम्) सर्वत्र यश और प्रताप से प्रकाशमान (अध्वराणाम्) शत्रुओं से न नाश होने योग्य दुर्ग और उत्तम रक्षा के उपायों के रक्षक, (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (दीदिविम्) प्रकाशक, (स्वे दमे) अपने दमन कार्य मे (वर्धमानं) सबसे अधिक बढ़ने वाले तुझ राजा को हम अन्न का उपहार करते हुए प्राप्त हो ।

ईश्वर पक्ष में—यज्ञो के रक्षक ऋग्वेद के प्रकाशक, परम मोक्षपद में विद्यमान, सर्वोपरि राजमान परमेश्वर की हम उपासना करे ।

अग्नि पक्ष में—इसी प्रकार प्रकाश या अग्नि को हम अपने घर में हवि से पुष्ट करें ॥ शत० २ । ३ । ४ । २७ ॥

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥२४॥

वैश्वामित्रो मधुच्छन्दाऋषि । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे राजन् ! अग्ने ! प्रभो ! अग्रणी पुरुष ! (स) वह तू (सूनवे) पुत्र के लिये पिता के समान (सूपायन भव) सुखपूर्वक प्राप्त होने योग्य, शरण के समान पालक हो और (नः स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये (न सचस्व) हमें प्राप्त हो । राजा प्रजा के प्रति पिता के समान हो । उनके कल्याण के लिये कार्य मे नियुक्त हो । ईश्वर के प्रति स्पष्ट है ॥

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥२५॥

[२५-२८] वत्स्वादयश्चत्वा-ऋषय., अग्निर्देवता । भुरिग बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, राजन् ! (त्वं न. अन्तम·) तू हमारे सबसे निकट (उत) और (त्राता) रक्षक (शिव.) सुखकारी और (वरूथ्य) हमारे गृहों के लिये हितकारी वरूथ=सेना का पति है। तू (अग्नि·) सबका नेता होकर भी (वसु.) सबको बसाने वाला और (वसुश्रवा.) धन ऐश्वर्य के कारण महान् कीर्त्ति से सम्पन्न है। (अच्छ नक्षि) हमें भली प्रकार उत्तम रूप में प्राप्त हो और हमें (द्युमत्तमम्) अति उज्ज्वल, (रयिम्) धन ऐश्वर्य (दा) प्रदान कर ॥

ईश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर तू हमारे (अन्तम) निकटतम या प्राण-दाताओं मे सबसे श्रेष्ठ है। त्राता, कल्याणकर, सर्व गुणवान् है। तू (वसु) सर्वत्र बसने वाला, सबको बसाने वाला सर्वत्र व्यापक है। तू हमें सर्वोत्तम उज्ज्वल ऐश्वर्य दे ॥

तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नायं नूनमीमहे सखिभ्यः ।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरूष्या णोऽअघायतः समस्मात् ॥ २६ ॥

अग्नि । स्वराड् बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे (शोचिष्ठ) ज्वालायुक्त अग्नि के तेज से अति देदीप्यमान ! हे (दीदिव) प्रकाशयुक्त तेजस्विन् ! अग्ने ! राजन् ! (नूनम्) निश्चय से हमें (तम्) परम प्रसिद्ध (त्वा) तुझसे (सखिभ्य.) अपने मित्रों के लिये भी (ईमहे) याचना, प्रार्थना करते हैं। (स.) वह तू (न) हमें हमारे अभिप्राय को जान, अथवा वह हमें (बोधि) ज्ञान प्राप्त करा और हमारे (हवम्) स्तुति और प्रार्थना को (श्रुधि) श्रवण कर। (न) हम (समस्मात्) सब प्रकार के (अघायत.) पापाचारी, अत्याचार करने वाले हिंसक पुरुष से (उरुष्य) बचा। ईश्वर के पक्ष में स्पष्ट है ॥ शत० २।२।४।३१ ॥

२६—सुवन्धुर्ऋषिः । द० ।

इडे पत्न्यादित एहि काम्याऽएतं । मयि वः कामधरणम्भूयात् ॥२७॥

इडा गौर्वाग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (इडे) इडे ! पृथिवी ! अन्न दात्रि ! (आ इहि) हमें तू प्राप्त हो । हे (अदिते) अखण्डित ! राज्यशासनव्यवस्थे ! अथवा पृथिवी ! (आ इहि) तू हमे अखण्ड चक्रवर्ती राज्य शासन के रूप में प्राप्त हो। हे पुरुषो ! प्रजाजनो ! (वः कामधरणम्) आप लोगो की समस्त अभिलाषों का आश्रय (मयि भूयात्) मेरे पर निर्भर हो ॥ शत० ३ । २ । ४ । ३४ ॥

सोमानꣳस्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं यऽऔशिजः ॥२८॥

सुन्ध्वादयो ब्रह्मणस्पति मेघातिथिर्वा ऋषि. । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । विराड् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्म=वेदशास्त्र के पालक ईश्वर वा आचार्य तू (य) जो (औशिज) कान्ति या प्रताप से उत्पन्न तेजस्वी और प्रतापी है उसको ही (सोमानं) सबका प्रेरक सोम (स्वरणन्) सबका आज्ञापक, सन्मार्ग उपदेशक और (कक्षीवन्तम्) उत्तम कार्य, उत्तम नीति सम्पन्न, विद्या, राज्यप्रबन्ध आदि कार्य में, रथ में अश्व के समान, नियुक्त (कृणुहि) कर । तेजस्वी पुरुष को विद्वान् लोग राष्ट्र का नेता, प्रवर्तक आज्ञापक और प्रभुपद पर नियुक्त करे ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर जो मैं सब विद्या का अभिलाषी हूं मुझको सबका साधक, सर्व विद्योपदेशक बना ॥ शत० ३ । २ । ४ । ३५ ॥

२७—श्रुतबन्धुर्ऋषि । ०'काम्य एहि । इति काण्व० ।

२८—ब्रह्मणस्पतिर्ऋषिरिति महीधर । बृहस्पतिर्देवतेति दयानन्दः । बृहस्पतिरेव ब्रह्मणस्पतिरिति उव्वट, । प्रबन्धुर्ऋषिः । द० ।

यो रेवान्योऽअमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः ।
स नः सिषक्तु यस्तुरः ॥ २६ ॥

ब्रह्मखस्पतिर्मेधातिथिर्वाऋषि । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । गायत्री । षड्जः ।

भा०—हे ब्रह्मणस्पते ! (य) जो (देवान्) धनवान्, ऐश्वर्यवान्, (अमीवहा) रोगों और शरीर और मानस दोषों को दूर करने हारा, (वसुवित्) धनों, रत्नों का ज्ञाता अथवा (वसुवित्) राष्ट्र के वासी समस्त प्रजाजनों का ज्ञाता या प्राप्त करने वाला, उनको अपनाने वाला या वसुवित् वासस्थान नगर ग्रामादि एवं लोक लोकान्तरों का ज्ञाता प्राप्त-कर्त्ता, उन परवशी, (पुष्टिवर्धन) शरीरों की पुष्टि को बढ़ाने वाला, ईश्वर राजा, वैद्य या हितकारी पुत्र मित्र है और (य) जो (तु) शीघ्रकारी, विना विलम्ब के यथोचित काल में कार्य सम्पादन करता है (सः) वह (न) हमें (सिषक्तु) प्राप्त हो, वह हमें सयोजित करे, संगठित करे, वह हमें मिलाये रखने में समर्थ है । धनादिसम्पन्न, रोग, दोष अपराधों को दूर करने में समर्थ प्रजापोषक, प्रजारंजक, तुरन्त कार्यकर्त्ता अप्रमादी राजा हो वही प्रजा को सगठित कर सकता है । ईश्वर के प्रति विशेषण स्पष्ट हैं । उव्वट के मत में, उक्त विशेषणों वाला पुत्र हमें प्राप्त हो ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३५ ॥

मा नः शꣳसोऽअररुषो धूर्तिः प्रणङ् मर्त्यस्य ।
रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

ब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वा ऋषि. । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । निचृद् गायत्री षड्जः ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) वेद के पालक प्रभो ! (अररुष) अदान-शील, अराति, शत्रु का (शंस) अनिष्टचिन्तन और (धूर्तिः) धूर्तता,

---

३०—[३०-३३] सप्तधृतिर्वारुणिर्ऋषि. । द० ॥

हिंसाजनक प्रयोग (नः) हम तक (मा प्रणक्) न पहुंचे । तू (न) हमें (रक्षः) बचा । अथवा हे परमेश्वर (नः शंस मा प्रणक्) हमारी स्तुतियें नष्ट न हों और (अररुष मर्त्यस्य धूर्त्ति) शत्रु का हिंसा प्रयोग हमें न प्राप्त हो । उससे (न रक्ष.) हमारी रक्षा कर ॥ शत० २ । ३ । ४। ३६ ॥

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्य्यम्णः दुराधर्षं वरुणस्य ॥३१॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदित्यः । विराड् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(मित्रस्य) मित्र, (अर्यम्ण.) अर्यमा और (वरुणस्य) वरुण (त्रीणाम्) इन तीनों का (महि) बड़ा (द्युक्षम्) ज्ञान प्रकाश और न्याय का आश्रयभूत (दुराधर्षम्) एवं अमेद्य, अछेद्य (अव) पालन या राज्य, प्रजापालन कार्य (अस्तु) हो । राज्य शासन में मित्र, सबको मरने से त्राण करने वाला, रक्षा विभाग, अर्यमा, न्यायविभाग, वरुण, शत्रुदमन एवं योद्धृवर्ग इन तीनों द्वारा किये गये प्रजा पालन के कार्य नीति न्यायपूर्वक और शत्रुओं और द्रोहियों द्वारा अभेद्य हों जिसको कोई तोड़ न सके । भौतिक पक्ष में प्राण, सूर्य और बल इनका पालन कार्य हमें सदा प्राप्त हो ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३७ ॥

नहि तेषामुमा चन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरघशंसः ॥३२॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदित्य । निचृद् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(तेषाम्) उन राष्ट्रवासी प्रजाओं के (उमा चन) घरों में और (अध्वसु) मार्गों में और (वारणेषु) शत्रु, चोर, व्याघ्र आदि के निवारण करने वाले कार्यों में ही (अघशस) पापयुक्त कामों की शिक्षा देने वाला दुष्ट षड्यन्त्रकारी पुरुष और (रिपु) शत्रु, पापीजन (न, न ईशे) बल नहीं पकड़े, अथवा । पूर्वोक्त मित्र, वरुण, अर्यमा आदि के घर, मार्ग युद्ध आदि में दुष्ट पुरुष घात नहीं लगा सकता ॥ शत० २ । ६ । ४ । ३७ ॥

ते हि पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय। ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥३३॥

सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । विराड् गायत्री । षड्ज' ॥

भा०—(ते) वे मित्र, अर्यमा और वरुण पूर्वोक्त (अदिते.) अखण्ड शासन या पृथिवी के (पुत्रास.) पुत्र अर्थात् पुरुषों को पापदु खो से त्राण करने वाले है जो (मर्त्याय) मनुष्य को (जीवसे) जीवन लाभ के लिये (अजस्रम्) अविनाशी (ज्योति) प्रकाश का (प्र यच्छन्ति) प्रदान करते है। भौतिक पक्ष मे--वे (अदिते) अखण्ड परमेश्वरी शक्ति के पुत्र, उससे ही उत्पन्न हैं वे मनुष्य को अविनाशी चेतना, जीवन प्रदान करते हैं ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३७ ॥

कदा चन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥ ३४ ॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्र ऋषि । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती । मध्यम. ॥

भा०—हे इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! प्रभो ! आप (कदा चन) कभी भी (स्तरीः न असि) हिंसक नहीं है। कभी प्रजा का द्रोह नहीं करते और (दाशुषे) आत्मसमर्पण करने वाले पुरुष को (सश्चसि) सदा सुख प्रदान करते है। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (ते देवस्य) तुझ राजा, विजिगीषु का (दानम्) दान, (इत् नु) ही निश्चय से (उप पृच्यते) सदा हमे प्राप्त होता है और (भूय इत् नु उपपृच्यते) खूब ही और बार बार, बराबर हमें मिलता और सम्पन्न करता है। राजा प्रजा का घातक न हो, प्रत्युत प्रजा पर अपना ऐश्वर्य बराबर प्रदान करे। अपनी सम्पत्ति से प्रजा को लाभ पहुचावे ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३८ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ३५ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । सविता देवता । निचृद् गायत्री । षड्ज. ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(सवितुः) समस्त देवों के प्रसविता उत्पादक और उत्कृष्ट शासक, आज्ञापक, प्रेरक (देवस्य) विजेता महाराज के (तत्) उस (वरेण्यम्) अति श्रेष्ठ (भर्गः) पाप के भून डालने वाले तेज को हम सदा (धीमहि) धारण करें, सदा अपने ध्यान में रक्खें (यः) जो (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को और समस्त कार्य-व्यवहारों को (प्रचोदयात्) उत्तम मार्ग पर संचालित करता है ॥

ईश्वर पक्ष में—समस्त जगत् के उत्पादक और संचालक उस देव परमेश्वर के सर्वश्रेष्ठ, पापनाशक तेज को हम धारण करें (यः नः प्रचोदयात्) जो हमें सन्मार्ग में सदा प्रेरित करे ॥ शत० २ । ३ । ४ । ३९ ॥

परि॑ ते दू॒डभो॒ रथो॑ऽस्माँ२ ऽअ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑ ।
येन॒ र॒क्षसि॑ दा॒शुषः॑ ॥ ३६ ॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(येन) जिससे हे राजन्! (दाशुषः) दानशील, करप्रद प्रजा जनों की (रक्षसि) रक्षा करता है, वह (ते) तेरा (दूडभः) अपराजित, अविनाशी, अजेय (रथः) रथ, युद्ध का साधन रथ, वज्र, बल और ज्ञान है, वह (अस्मान्) हमें (विश्वतः) सब ओर से (अश्नोतु) व्याप्त रहे, सब ओर से प्राप्त हो, हमारी रक्षा करे ॥

ईश्वर पक्ष में—जिस ज्ञान और वीर्य से वह समस्त उपासकों की रक्षा करता है वह उसका ज्ञान और बल हमें सब ओर से प्राप्त हो ॥ शत० २ । ३ । ४ । ४० ॥

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ।

३६—०विश्वत । समिद्धो मासमर्धय प्रजया च धनेन च ॥ इति काण्व० ।

नर्यं प्रजां मे पाहि शꣳस्यं पशून्मे पाह्यर्थर्यं पितुम्मे पाहि ॥३७॥

आसुरिरादित्यश्च ऋषि । गार्हपत्याहवनीयदाक्षिणाग्नयो देवताः । ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—(भूः भुवः स्वः) प्राण, उदान और व्यान इनके बल पर मैं पुरुष (प्रजाभिः) पुत्र पौत्र आदि सन्तानों से (सुप्रजाः) उत्तम सन्तान वाला (स्याम्) होऊं । (वीरैः) वीर्यवान्, शूरवीर पुरुषों से मैं (सुवीरः स्याम्) उत्तम वीर होऊ और (पोषैः) पुष्टिकारक धन ऐश्वर्य और अन्न आदि पदार्थों से मैं (सुपोषः) उत्तम पुष्टि युक्त धन आदि सम्पन्न होऊं । हे (नर्य) नरों पुरुषों के हितकारिन् ! तू (मे प्रजाम् पाहि) मेरी प्रजा का पालन कर । हे (शस्य) स्तुति योग्य (मे पशून् पाहि) मेरे पशुओं का पालन करो और हे (अथर्य) संशयरहित, ज्ञानवन् ! (मे पितुम् पाहि) मेरे अन्न की तू उत्तम रीति से रक्षा कर । प्रत्येक प्रजाजन उत्तम सन्तानों, वीर पुरुषों और धनादि से सम्पन्न हो और राजा भी उत्तम प्रजा, वीर पुरुषों और रत्नों से युक्त हो । वह राजा और प्रजा दोनों पशु और अन्न की रक्षा के लिये हितकारी, उत्तम, ज्ञानी और गुणवान् पुरुषों को नियुक्त करें । परमेश्वर से भी यही प्रार्थना समुचित है ॥ शत० २ । ४ । १ । १–५ ॥

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् ।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सहऽआ यच्छस्व ॥ ३८ ॥

आदित्य आसुरिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गांधारः ॥

भा०—(विश्ववेदसम्) समस्त ज्ञानों और धनों के स्वामी और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (वसुवित्तमम्) सब से अधिक धनों, ऐश्वर्यों को

३७—वामदेव ऋषिः अग्निर्देवता इति दयानन्द । ३७–४४ द्युन्नकोपस्थमन्त्राः । सर्वाः नर्येत्यादिप्रवत्स्यपःस्थान मन्त्राः ३७–४३ पर्यन्तीः तेषामासुररादित्यश्चर्षी । ०जा प्रजया भूयासम् । सु० । ०पशून्मे पाहि इति कायव० ॥

३८—आसुरिति विदयानन्दः ।

प्राप्त करने वा कराने वाले या हम में से सबसे अधिक ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले श्रेष्ठ पुरुष को हम (आ अगन्म) प्राप्त हों, उसकी शरण में जॉय और कहें—हे (अग्ने) हमारे अग्रणी पुरुष ! तू (सम्राट्) हमारे मे सब से अधिक प्रकाशमान, सम्राट् है । तू (द्युम्नम्) धन और अन्न को और (सहः) समस्त बल को (अभि अभि) सब ओर से (आ यच्छस्व) एकत्र कर और हमें प्रदान कर और प्रजा को प्राप्त करा ॥

ईश्वर पक्ष में—(विश्ववेदसम् वसुवित्तमम् आ अगन्म) सर्वज्ञ, ईश्वर परमात्मा की शरण मे हम आवें । वह परम सम्राट् हमे धन, अन्न और बल दे ॥ शत० २ । ४ । १ । ७, ८ ॥

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ।
अग्ने गृहपतेऽभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥ ३९ ॥

असुरिरादित्यश्च ऋषी । अग्निर्देवता । भुरिग् बृहती न्यकुसारणी । मध्यमः ॥

भा०—(अयम्) यह (अग्नि) हमारा अग्रणी, नेता, राजा, (गृहपतिः) हमारे घरों का पालक होने से गृहस्वामी के समान और (गार्हपत्य.) गार्हपत्य अग्नि के समान समस्त गृहस्वामियों से सयुक्त है अथवा राष्ट्र-रूप गृह का स्वामी है । वह (प्रजायाः) समस्त प्रजा के (वसुवित्तमः) समस्त ऐश्वय प्राप्त करन वालों में सब से श्रेष्ठ है । हे (अग्ने) अग्रणी ! ज्ञानवन् ! हे (गृहपते) गृह के स्वामिन् ! (द्युम्नम् सहः, अभि, आयच्छस्व) तू बल और अन्न और धन ऐश्वर्य को सब प्रकार से नियत कर और हमें प्राप्त करा । राजा अन्य समस्त गृहस्थ प्रजा के संयुक्तशक्ति से स्थापित होकर स्वयं भी गृहस्थ रहे । वह भी सब के समान गृहस्थ, सब का स्वामी, सब के लिये अन्न और धन का आयोजक हो । ईश्वर पक्ष में-वह सबके गृहों का स्वामी, उपास्य है, वह भी महान् गृहपति है । वह सबको अन्न, बल दे ।

३९—आसुरिरितिदया० । ०प्रजावान् वसुवित्तमः । इति काण्व० ।

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः ।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह ऽआयच्छस्व ॥ ४० ॥

आसुरिरादित्यश्च ऋषी । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—(४०) यह (अग्नि) अग्रणी नेता पुरुष (पुरीष्य) लक्ष्मी और ऐश्वर्य प्राप्त करने और प्रजा को पुष्ट करने योग्य कर्मों का साधक इन्द्र या राजपद प्राप्त करने योग्य है, देवों या राजाओं, प्रजाओं के भी ऊपर वश-कारी है और यह (रयिमान्) ऐश्वर्यवान् और (पुष्टिवर्धन) प्रजा के बल और ज्ञान को बढ़ाने वाला है । हे (अग्ने) अग्ने राजन् ! हे (पुरीष्य) पुरीष्य ! इन्द्रासनयोग्य पुरुष ! (द्युम्न अभि सह. अभि आयच्छस्व) धन और बल को हमें प्राप्त करा ।

पुरीष्य.—पुरीष्य इति वै तमाहुर्य. श्रियं गच्छति । समानं वै पुरीष च करीषं च । श० २ । १ । १ । ७ ॥ पुरीषम् इयं पृथिवी । श० । १२ । ५ । २ । ५ ॥ ऐन्द्र हि पुरीषम् । श० ८ । ५ । ४ । ६ ॥ आत्मा के पक्षमें—पुरीतत् पुरीष्यम् । श० ८ । ४ । ४ । ६ ॥ ईश्वर पक्ष में—दिशः पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १७ ॥ सूर्यपक्ष में—नक्षत्राणि पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १४ ॥ शरीर के अग्निपक्ष में—मांस पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १७ ॥ जाठराग्नि पक्ष मे—अन्न पुरीषम् । श० ८ । १ । ४ । ५ ॥ इत्यादि ॥

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत ऽएमसि ।
ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ४१ ॥

आसुरिरादित्य शयुश्च ऋषय । वास्तुर्देवता । आर्षी पंक्तिः । पन्चम. ॥

भा०—हे (गृहा) गृहस्थ पुरुषो ! आप लोग (मा बिभीत) मत डरो, हम सैनिक राजपुरुषों से भय मत करो । (मा वेपध्वम्) मत कापो,

---

४१—आसुरिर्ऋषिः । वास्तुरग्निर्देवता । इति दया० ।

दिल में मत घबराओ। जब हम (ऊर्जं) विशेष बल (बिभ्रतः) धारण करते हुए (एमसि) आवें और मैं राजा या अधिकारी पुरुष भी (ऊर्जम्) बल (बिभ्रद्) धारण करता हुआ (सुमनाः) शुभ मन से और (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि से युक्त होकर (मनसा मोदमानः) अपने मन से प्रसन्न होता हुआ (गृहान्) गृहों को, गृहस्थ पुरुषों को (एमि) प्राप्त होऊं। प्रजाजन राजपुरुषों को देख कर भय न करें। राजा के अधिकारी प्रसन्न, उत्तम चित्त होकर प्रजाजनों के पास जावें।

येषाम॒द्ध्येति॑ प्र॒वस॒न्येषु॑ सौम॒नसो॑ ब॒हुः।
गृ॒हान॒भि प्र॑ यामहे ते नो॑ जानन्तु जान॒तः॥ ४२॥

शयुर्ऋषिः। वास्तुपतिरग्निर्देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(प्रवसन्) दूर प्रवास में रहता हुआ पुरुष (येषाम्) जिनको (अधि-एति) याद किया करता है और (येषु) जिनके बीच में (बहुः) बहुत अधिक (सौमनसः) परस्पर शुभचित्तता, एवं सुहृद्भाव है उन (गृहान्) गृहस्थ पुरुषों को हम उनके ही कृतज्ञ पुरुष (उपह्वयामहे) उनको पुकारते हैं। (ते) वे (नः जानतः) हम जानकार लोगों को पुनः (जानन्तु) जानें, पहचानें। हम दूसरे नहीं, राज-कारणों से दूर जाकर भी हम तुम्हें भूले नहीं, प्रत्युत् तुम्हारे पास प्रेम भाव से आते हैं॥

उप॑ह्वता॒ऽइ॒ह गाव॒ऽउप॑ह्वता॒ऽअजा॒वयः॑।
अथो॑ऽअन्न॑स्य की॒लाल॑ ऽउप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः।
क्षेमा॑य वः॒ शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः॥ ४३॥

शयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः। वास्तुपतिर्देवता। भुरिग् जगती। निषादः॥

भा०—(इह) यहां, राष्ट्र में और गृह में (गावः) दुधार गौवें (उपहूताः) हमें प्राप्त हों। (अजावयः उपहूताः) बकरियां और भेड़ें प्राप्त हों। (अन्नस्य) प्राण धारण करने में समर्थ भोग्य पदार्थों में से (कीलालः)

उत्तम अन्न आदि पदार्थ (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (उपहूत·) प्राप्त हो। हे गृहो ! गृहस्थ पुरुषो ! (वः) तुम लोगों के पास मैं (क्षेमाय) आप लोगों की कुशल क्षेम, रक्षा के लिये और (शान्त्यै) विघ्नों और विघ्नकारियों को शान्त करने और सुख प्रदान करने के लिये (प्रपद्ये) तुम्हें प्राप्त होऊं। (शयोः शयोः) सुख शान्तिदायक, प्रत्येक उपाय से (शिवम् शग्मम्) कल्याण और सुख ही प्राप्त हो ॥

प्रघासिनो॑ हवामहे मरुतश्च रिशादसः ।
करम्भेण॑ सजोषसः ॥ ४४ ॥

[४४–६३] प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हम लोग (प्रघासिनः) उत्तम अन्न के भोजन करने हारे (रिशादसः) हिंसकों के विनाशक और (करम्भेण) उत्तम कर्म करने हारे पुरुष के साथ (सजोषस.) प्रेम करने वाले (मरुत.) विद्वान्, शूरवीर प्रजा के पुरुषों को (हवामहे) अपने घरों पर बुलावें, निमन्त्रित करें अथवा (करम्भेण सजोषसः) करम्भ=यवमय अन्न से तृप्त होने वाले पुरुषों को अपने यहा बुलावें ॥ शत० २ । ५ । २ । २१ ॥

यद् ग्रामे॒ यदर॑ण्ये॒ यत्स॒भाया॒ यदि॑न्द्रि॒ये ।
यदे॑नश्च॒कृमा व॒यमि॒दन्तदव॑यजामहे॒ स्वाहा॑ ॥ ४५ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । मरुतो देवता । स्वराड् अनुष्टुप् । गाधार. ॥

भा०—(वयम्) हम (यद् एन.) जो पाप, अपराध, अयुक्त काय, निषिद्धाचरण (ग्रामे) ग्राम में करें, (यत् अरण्ये) जो बुरा काम जगल में करें, (यत् सभायाम्) जो बुरा कार्य हम सभा मे करे और जो काम हम (इन्द्रिये) आख, नांक, कान और मन में भी, उनको कुचेष्टा और दुरि-

४४—अथातश्चातुर्मास्यमन्त्रा. आ अध्यायपरिसमाप्तेः ।

च्छारूप से (चकृम) करें (तत्) उसको हम (अवयजासहे) सर्वथा त्याग दें । (स्वाहा) यह प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रति दृढ़ भावना किया करे ॥ शत० २ । ५ । २ । २५ ॥

'क्षत्र वा इन्द्रो विशो मरुतः' । क्षत्रं वै निषेद्धा, विशो निषिद्धा आसन्निति ॥ शत० २ । ५ । २७ ॥

मो षू ण॑ऽइन्द्रात्र॑ पृत्सु दे॒वैरस्ति॒ हि ष्मा॑ ते शुष्मिन्नव॒याः ।
म॒हश्चि॒द्यस्य॑ मी॒ळुषो॑ य॒व्या ह॒विष्म॑तो म॒रुतो॑ वन्द॒ते॒ गीः ॥ ४६ ॥

अगस्त्य ऋषिः । इन्द्रो मरुतश्च देवता. । भुरिक् पंक्तिः । पञ्चम ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! (अत्र) इस राष्ट्र में रहते हुए (नः) हमें (मा) सर्वथा मत मार, मत कटा । (सु) प्रत्युत उत्तम रूप से रक्षा कर । हे (शुष्मिन्) बलशालिन् ! (हि) निश्चय से (देवै.) देव, विजयशील सैनिकों सहित (ते) तेरा (अवयाः) पृथक् भाग (अस्ति) है । अर्थात् अन्नादि पदार्थों के लिये राजा अपना कर प्रजा से नियत भाग में लेले । उसके लिये वह प्रजा का संग्रामों में नाश न करे । (यस्य) जिस (मीढुषः) नाना सुखों के प्रवर्षक, उदार राजा के लिये (यव्या) यवों, अन्नों के बने उत्तम पदार्थ ही (महः चित्) बड़ी भारी पूजा सत्कार है और जिस (हविष्मतः) अन्न से सम्पन्न या अस्त्रादि से सम्पन्न (मरुत.) प्रजागणों या मारणशील सैनिक अधिकारीगण की (गीः) हमारी वाणी ही (वन्दते) वन्दना करती है, उनको अभिवादन करती है उस तुझ इन्द्र के लिये हमारा अवश्य पृथक् भाग है । प्रजा राजा को उत्तम अन्नों से सत्कार करे और अधिकारियों को आदर से नमस्कार करे और वे उसी को अपना पर्याप्त सत्कार समझें ॥ शत० २ । ५ । २ । २८ ॥

अक्रन् कर्म॑ कर्मकृतः स॒ह वाचा॑ मयो॒भुवा॑ ।

देवेभ्यः कर्म कृत्वास्तं प्रेत सचाभुवः ॥ ४७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गाधारः स्वरः ॥

भा०—(कर्मकृत) काम करने वाले पुरुष (वाचा सह) अपनी वाणी से (मयोभुवः) परस्पर एक दूसरे को सुख शान्ति प्रदान करते हुए (कर्म) काम (अक्रन्) करे और हे (कर्मकृतः) काम करने वाले कर्मचारी पुरुषो ! (देवेभ्य) देवों, विद्वान् राजा आदि धनदाता पूज्य पुरुषों के लिये (कर्म कृत्वा) काम या सेवा करके (सचाभुव) परस्पर साथ मिलकर एक दूसरे के सहाय से सामर्थ्यवान् होकर प्रसन्नता पूर्वक (अस्त प्रेत) अपने अपने घर को जाया करो ॥ शत० २ । ५ । २ । २६ ॥

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः । अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ ४८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । यज्ञो देवता । भाक्षी अनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे (अवभृथ) अवभृथ ! सबको नीचे से ऊपर तक भरण करनेहारे ! हे (निचुम्पुण) निचुम्पुण ! सर्वथा मन्द मन्द गति चलनेहारे ! अथवा नीचे स्वर से सभ्यता पूर्वक कहनेहारे ज्ञानी पुरुष ! तू (निचेरु) सब ज्ञानों को भली प्रकार संग्रह करने हारा और (निचुम्पुण असि) सर्वथा मन्द २, अति शान्ति से सर्वत्र पहुचने हारा या अति शान्ति से वार्तालाप करनेहारा है । मैं भी (देव) देवो, अपने इन्द्रिय आदि प्राणों से अथवा विद्वानों के द्वारा (देवकृतम्) देवों, युद्ध विजयी सैनिकों द्वारा (एन) युद्ध से किये घात प्रतिघात आदि के अपराध को (अव अयासिषम्) दूर

४७—अगस्त्य ऋषिः । ६० ॥

४८—और्णवाभ ऋषिः । द० । १ चुपमदागयामातौ (भ्वादिः) निपूर्वादतः उणः मत्ययः । नीचैरस्मिन् कृण्वन्ति इति ।

करता हूं। (मर्त्यैः) साधारण मनुष्यों के द्वारा (मर्त्यकृतम् एनः अव अयासिषम्) मनुष्यों के किये पाप को दूर करूं। हे (देव) देव ! राजन् ! (पुरुराव्णः) अति अधिक रुलाने वाले, अति कष्टदायी (रिषः) हिंसक शत्रु पुरुष से तू (पाहि) हमारी रक्षा कर। राजा सबका पालन और अति शान्ति से शनैः २ सब कार्य करे। अधिकारी लोगों के अपराधों की उनकी व्यवस्था द्वारा दूर करे और प्रजा के अपने लोगों से प्रजा के परस्पर घात को रोके। बाहर के कष्टदायी शत्रु से राजा प्रजा की रक्षा करे। यज्ञ पक्ष में—हे ज्ञानवन् ! आप ज्ञान से शुद्ध हैं और अन्तर्यामी भीतर ही भीतर उपदेश करते हैं। (देवैः देवकृतमेनः अयायासिषम्) इन्द्रियों की तपस्या से इन्द्रियगत पापों को दूर करूं। पुरुषों द्वारा पुरुषों के दोष दूर करूं। परमात्मन् ! आप हमारी पाप से रक्षा करें ॥ शत० २ । ५ । २ । ४७ ॥

पूर्णा॑ दर्वि॒ परा॑ पत॒ सुपू॑र्णा पुन॒रा प॑त ।
व॒स्ने॒व॒ वि॒क्रीणा॑वहा॒ऽइष॒मूर्ज॑ꣳ शतक्रतो ॥ ४६ ॥

और्णवाभ ऋषिः । यज्ञो देवता । अनुष्टुप् छन्दः । गान्धारः स्वरः ॥

भा०—हे (दर्वि) देने योग्य पदार्थों को अपने भीतर लेने वाली पात्रिके ! (पूर्णा) तू पूर्ण होकर, भरी भरी (परा पत) दूसरे के पास जा। (सुपूर्णा) खूब पूर्ण होकर, भरी भरी ही (पुन.) फिर (आ पत) हमें भी प्राप्त हो। हे (शतक्रतो) सैकड़ों कर्म करने में समर्थ इन्द्र ! राजन् ! (वस्ना इव) विक्रय करने योग्य पदार्थों के समान ही हम (इषम्) अन्न और मन चाहे सभी पदार्थ और (ऊर्जम्) अपने बल पराक्रम का भी (विक्रीणावहै) विनिमय करें, लें, दें। व्यापार में परिमाण पूरा पूरा दे और पूरा पूरा लें। इस प्रकार अन्न और मन चाहे सभी पदार्थ और परिश्रम को भी अदला बदला करें।

यज्ञ पक्ष में—भरकर चमस डालें और फिर उत्तम वृष्टि आदि फल

भी खूब प्राप्त हों। अन्न आहुति अग्नि में दें और विनिमय में उत्तम रस-बल और अन्नोत्पत्ति प्राप्त करें।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारन्निहरामि ते स्वाहा॥ ५०॥

और्णवाभ ऋषिः। इन्द्रो देवता। भुरिग् अनुष्टुप्। गान्धार स्वरः॥

भा०—व्यापार के लेन देन का नियम दर्शाते हैं। (मे देहि) तुम अपना पदार्थ मुझे दो तो मैं भी (ते ददामि) तुम्हें अपना पदार्थ दूं। (मे निधेहि) तुम मेरा पदार्थ धारो, गिरवी रक्खो तो (ते निदधे) मैं तुम्हारे पदार्थ को भी अपने पास रक्खूं (निहारं च) और तू यदि पूर्ण मूल्य का ये पदार्थ (मे हरासि) मेरे पास ले आवो तो (ते) तेरे द्रव्य का भी (निहारं) पूर्ण मूल्य (निहराणि) चुका दूं। (स्वाहा) इस प्रकार सत्य-वाणी, व्यवहार द्वारा व्यापार किया जाता है अथवा इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना पदार्थ प्राप्त करे। लोग सत्यवाणी पर विश्वास करके परस्पर लें दें, उधार करें और मूल्य चुकाया करें॥ शत० २। ५। ३। १६॥

अन्नन्नमीमदन्त ह्यव प्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी॥५१॥

गोतमो राहूगण ऋषिः। इन्द्रो देवता। विराट् पंक्तिः। पन्चम. स्वरः॥

भा०—(स्वभानव) स्वतःप्रकाश, आत्मज्ञानी पुरुष (अन्नन्) अन्न का भोजन करें। (अमीमदन्त) सबको प्रसन्न करें और स्वयम् भी तृप्त हों। (प्रियाः) सब प्रिय, प्रेम पात्र होकर (अव अधूषत) सबके दुःखों को दूर करें और (विप्राः) विशेष ज्ञान से परिपूर्ण, विपश्चित्, ज्ञानी पुरुष (नविष्ठया) अति प्रशस्त, नई, नई, पुनः (मती) मति, मनन

५०—'०ते दधौ ! निहार निहरामिते निहार निहरात्रि मे स्वाहा।' इति काण्व०।

द्वारा (अस्तोषत) ईश्वर के एवं अन्य पदार्थों के सत्यगुणों का वर्णन करें । हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! सेनापते ! तू (ते) तेरे, अपने (हरी) हरणशील घोड़ों के समान बल और पराक्रम को भी (योज नु) इस राज्य कार्य मे संयोजित कर । विद्वान् लोग सब पदार्थों का उत्तम उत्तम ज्ञान प्रस्तुत करें और राजा बल पराक्रम द्वारा उनका उपयोग करे ॥ शत० २ । ६ । १ । ३८ ॥

सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि । प्र नूनं पूर्णबन्धुर स्तुतो यासि वशाँ२ ऽअनु योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

गोतमो राहूगण ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराट् पंक्तिः । पञ्चमः स्वर ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (सुसंदृशम्) उत्तम रूप से सब को देखने हारे (त्वा) तुझको (वयं) हम (वन्दिषीमहि) अभिवादन करते हैं । तू (पूर्णबन्धुर) पूर्ण रूप से सबका पालने हारा, एवं सब को व्यवस्था में रखने हारा होकर (स्तुतः) सबसे प्रशंसित होकर (नूनम्) निश्चय से (वशान् अनु) कामना योग्य समस्त पदार्थों को (यासि) प्राप्त कर और हे (इन्द्र) राजन् ! तू अपने (हरी) रथ मे अश्वों के समान दूरगामी एवं नाना पदार्थ प्राप्त कराने वाले बल पराक्रम दोनो को (योज नु) नियुक्त कर । अर्थात् जिस प्रकार रथ पर सब उपकरण लगा कर ही अपने घोड़े जोड़ता है, उसी प्रकार राष्ट्र मे सब व्यवस्था करके अपने बल पराक्रम का प्रयोग कर ॥ शत० २ । ६ । १ । ३३ ॥

मनो न्वाह्वामहे नाराशꣳसेन स्तोमेन । पितॄणां च मन्मभिः ॥५३॥

वन्धुर्ऋषि । मनो देवता । अतिपाद्निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा० —(नाराशसेन) विद्वान् नेता मनुष्यो के कथनोपकथन सम्बन्धी (स्तोमेन) गुणानुवाद से और (पितॄणां च) पालन करने वाले ज्ञानी गुरु-

५३ — ०न्वाहुयामहे ०इति काण्व० ।

जनों के (मन्मभि·) ज्ञानसाधन, प्रमाणों या मनन करने योग्य मन्तव्यों द्वारा हम लोग (मन) मन को, अपने ज्ञान और संकल्प विकल्प करने वाले अन्त करण की शक्ति को (आह्वामहे) बढ़ावें । बड़े पुरुषों के जीवनो और अनुभवो और उनके युक्ति परम्परा और ज्ञानमय उपदेशों से हम अपने ज्ञान को बढ़ावें ॥ शत० २ । ६ । १ । ३६ ॥

आ॑ न ऽपतु॒ मन॒: पुन॒: क्रत्वे॒ दक्षा॑य जी॒वसे॑ ।
ज्योक् च॒ सूर्यं॑ दृ॒शे ॥ ५४ ॥

बन्धुर्ऋषि । मनो देवता । विराड् गायत्री । षड्ज स्वरः ॥

भा०—(न) हमें (पुन) वार २ (क्रत्वे) उत्तम विद्या और उत्तम कर्म, अनुभूत संस्कार को पुन. स्मरण के लिये और (ज्योक् च) चिरकाल तक (जीवसे) जीवन धारण करने के लिये और (सूर्यम्) सबके प्रेरक सूर्य के समान ज्योतिर्मय परमेश्वर के (दृशे) देखने के लिये (मन.) मन: शक्ति या ज्ञानशक्ति (आ एतु) प्राप्त हो ॥ शत० २ । ६ । १ । ३६ ॥

पुन॑र्नः पितरो॒ मनो॒ ददा॑तु दैव्यो॒ जन॑: ।
जी॒वं व्रात॑ꣳ सचेमहि ॥ ५५ ॥

बन्धुर्ऋषिः । मनो देवता । निचृद् गायत्री । षड्ज स्वर· ॥

भा०—हे (पितर) पालक पूजनीय पुरुषो ! (दैव्य जन) देवों, विद्वानो में सुशिक्षित या देव परमेश्वर मे निष्ठ आचार्य या देव, ईश्वरीय दिव्य शक्तियो, ईश्वर प्रदत्त आध्यात्म प्राणों का वशीकर्त्ता, विज्ञ (जन.) जन (न.) हमे (पुनः) पुन' २ (मन) ज्ञान (ददातु) प्रदान करे । हम लोग (जीवं) जीवन और (व्रातम्) उत्तम व्रतों, कर्मों को (सचे-महि) प्राप्त हों । अर्थात् राज्य के पालक लोगों के प्रबन्ध से विद्वान् पुरुषो से हम ज्ञान प्राप्त करें, दीर्घ जीवन जीवे और सत्कर्म करें ॥ शत० २ । ६ । १ । ३६ ॥

व॒यꣳ सो॑म व्र॒ते त॑व॒ मन॑स्त॒नूषु॒ बिभ्र॑तः ।
प्र॒जाव॑न्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥

वन्धुर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक राजन् ! परमेश्वर ! (वयम्) हम (तव) तेरे (व्रते) बनाये शासन कर्म में वर्त्तमान रह कर और (तनूषु) अपने शरीरों और आत्माओं में (तव) तेरे दिये (मनः) ज्ञान को (बिभ्रतः) धारण करते हुए (प्रजावन्तः) प्रजा पुत्र आदि से युक्त होकर (सचेमहि) सुख प्राप्त करें ।

ए॒ष ते॑ रुद्र भ॒ागः स॒ह स्वस्राम्बि॑कया॒ तं जु॑षस्व॒ स्वाहा॑ ।
ए॒ष ते॑ रुद्र भ॒ाग ऽआ॑खु॒स्ते॑ प॒शुः ॥ ५७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । निचृदनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्ट जनों के रुलाने हारे राजन् ! (ते एषः भागः) तेरा यह सेवन करने योग्य अंश है । (तं) उसको (स्वस्रा) अपनी भगिनी, सेना और (अम्बिकया) माता, पृथिवी के साथ (जुषस्व) स्वीकार कर । (स्वाहा) यह हमारा उत्तम त्याग है । हे (रुद्र) विद्वन् ! राजन् ! (ते) तेरा (एषः) यह (भागः) सेवन करने योग्य अंश है । (आखुः) भूमि को चारों ओर धातुओं, ओषधियों के खोदने वाले खनक लोग (ते) तेरे निमित्त नाना पदार्थों के (पशुः) देखने वाले हैं । वे तेरे लिये अभिमत लोह आदि धातु और ओषधि आदि पदार्थ प्राप्त कराते हैं । अथवा हे रुद्र ! विद्वन् ! (एष ते भागः) यह तेरा सेवन करने योग्य भाग है । (स्वस्रा अम्बिकया) उत्तम विवेककारिणी वेदवाणी से उसका विवेक करके (जुषस्व) सेवन करो । (ते पशु आखुः) तेरा दर्शनकारी चित्त ही सबको चारों ओर खनन करने हारा है, वह तेरा पशु है । वह तुझे सर्वत्र पहुं-

५७—वन्धुर्ऋषि । द० ।

चाने वाला साधन है । अध्यात्म में – हे रुद्र ! प्राण ! यह अन्न तेरा भाग है । इसे विवेककारिणी वाणी के साथ भोग कर । चारों तरफ व्याप्त वायु या प्राण ही तेरा पशु, तेरे वाहन के समान है ॥ शत० २ । ६ । २ । १० ॥

अव॑ रुद्र मदीमह्यव॑ देवं॒त्र्यम्ब॑कम् । यथा॑ नो॒ वस्य॑स॒स्कर॒द्यथा॑ नः॒ श्रेय॑स॒स्कर॒द्यथा॑ नो व्यवसा॒याय॑ात् ॥ ५८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । विराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(रुद्रम्) दुष्टों को रुलाने वाले (त्रि-अम्बकम्) तीनों कालों में ज्ञानमय, वेद वाणी से तीन रूप अथवा उत्साह, प्रज्ञा, नीति आदि तीन शक्तियों से युक्त (देवम्) राजा से (अदीमहि) अपने समस्त कष्टों का अन्त करवावें । (यथा) जिससे वह (नः) हमें (वस्यसः) अपने राष्ट्र का सबसे उत्तम वासी, (करत्) बनावे और (यथा) जिससे वह (नः) हमें (श्रेयसः) सबसे श्रेष्ठ पदाधिकारी (करत्) बनावे और (यथा) जिससे वह (नः) हमें (वि-अवसाययात्) उत्तम व्यवसाय वाला, दृढ़ निश्चयी, कर्म में सफल यत्नवान् बनावे ॥ शत० २।६।२।११॥

ईश्वर पक्ष में—हम उत्पत्ति, स्थिति, तप आदि तीन शक्तियों से युक्त ईश्वर से अपने दु.ख दूर करावें, वह हमें सर्वश्रेष्ठ बनावे ॥ शत० २ । ६ । २ । ११ ॥

भे॒ष॒जम॑सि भेष॒जङ्गवे॒ऽश्वा॑य॒ पुरु॑षाय भेष॒जम् ।
सु॒खम्मे॒षाय॑ मे॒ष्यै ॥ ५९ ॥

प्रजापतिर्ऋषि. । रुद्रो देवता । स्वराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (रुद्र) रुद्र ! तू (भेषजम् असि) समस्त रोगों को दूर करने में समर्थ है । अतः (गवे) गौओं (अश्वाय) घोड़ों और (पुरुषाय)

५८—[५८, ५९] वन्धुर्ऋषिः । द० ।

५९—'०० सुगां मेषाय०' इति काण्व० ।

पुरुषो के लिये भी तू (भेषजम्) उनके रोगों का नाशक है। तू ही (मेषाय) मेष, मेढ़ा पुरुष और मेष्यै , मेढ़ी या स्त्री के लिये भी (सुखम्) सुखकारी है। अध्यात्म मे गौ- ज्ञानेन्द्रिय। अश्व- कर्मेन्द्रिय। पुरुष- देह। मेष- आत्मा। मेषी- चित्तिशक्ति। इन सबके कष्टो का वारक, वह रुद्र प्राण और प्राणो का प्राण परमेश्वर है॥ शत० २। ६। २। १२॥

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनं।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनं।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥ ६०॥

वसिष्ठ ऋषि । रुद्रो देवता। विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः स्वरः॥

भा०—(त्रि-अम्बकम्) तीन शक्तियो से सम्पन्न (सुगन्धिम्) उत्तम मार्ग में प्रेरणा करने वाले। पुष्टिवर्धनम्) प्रजा के पोषण कार्य को बढ़ाने वाले राजा का हम (यजामहे) सत्संग करें, साथ दें, उसका आदर करें। जिससे मैं प्रजाजन (मृत्यो. बन्धनात्) मृत्यु के बन्धन से (उर्वारुकम् इव) लता के बन्धन से पके खरबूजे के समान (मुक्षीय) स्वयं मुक्त रहूं, (अमृतात् मा) और अमृत अर्थात् जीवन से मुक्त न होऊं। इसी प्रकार (सुगन्धिम्) उत्तम मार्ग मे प्रेरणा करने वाले (पतिवेदनम्) पालक पति को प्राप्त कराने वाले (त्र्यम्बकम्) वेदत्रयी रूप ज्ञान से युक्त राजा का यजामहे) हम आदर करते हैं। जिससे मै (उर्वारुकम् इव) लताबन्धन से खरबूजे के समान (इतः बन्धनात्) इस बन्धन से (मुक्षीय) मुक्त हो जाऊं। (मा अमुत.) उस परमार्थिक सम्बन्ध से न टूटूं। ईश्वर पक्ष मे- शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर की हम उपासना करे जिससे मै मृत्यु के बन्धन से मुक्त होऊं और अमृत अर्थात् मोक्ष से दूर न होऊं। परम पालक को प्राप्त कराने वाले इस ईश्वर की पूजा करे जिससे हम इस देह बन्धन से छूटें, उस परम मोक्ष से वञ्चित न रहे। स्त्रिये भी प्रार्थना करती हैं--उत्तम पति प्राप्त कराने वाले

परमेश्वर की हम उपासना करते हैं कि इस पितृ-बन्धन से छूटें और उस पतिबन्धन से वियुक्त न हों॥ शत० २ । ६ । २ । १२ । १४ ॥

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि । अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाऽअहिꣳसन्नः शिवोऽतीहि ॥ ६१ ॥

वशिष्ठ ऋषि. । रुद्रो देवता । भुरिगास्तारपक्तिश्छन्दः । पन्चमः स्वर ॥

भा०—हे (रुद) शत्रुओं के रुलाने वाले शूरवीर ! (ते) तेरा (एतत्) यह (अवसम्) रक्षण सामर्थ्य है, (तेन) उससे (पर.) उत्तम सामर्थ्यवान् होकर (मूजवतः) घास, वन आदि वाले महा पर्वतों को भी (अतिइहि) पार करने में समर्थ है । तू (अवतत-धन्वा) धनुष कसे, (पिनाकावसः) शत्रुओं को दमन करने में समर्थ बल से युक्त होकर (कृत्तिवासाः) चर्म के समान आच्छादन वस्त्र धारण किये हुए (नः) हमें (अहिंसन्) न विनाश करता हुआ (शिवः) सुखपूर्वक (अतीहि) गुजर जा ॥ शत० २ । ६ । २ । १७ ॥

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥ ६२ ॥

नारायण ऋषि । अग्निर्देवता । ऊष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—(जमदग्नेः) नित्य प्रज्वलित, तीव्र जाठर अग्नि से युक्त या देदीप्यमान चक्षु वाले पुरुष को जो (त्र्यायुषम्) तिगुणी आयु प्राप्त होती है और (कश्यपस्य) कश्य अर्थात् ज्ञान के पालक पुरुष को जो (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु प्राप्त होती है (यत्) और जो (देवेषु) देव, विद्वान्

६१—'एतेनरुद्रावसेन परो०' इति काण्व० । अस्त परमन्तु काण्व० अधिकम् परिशिष्टे प्रष्टव्याम् ॥

६२—रुद्रो देवता । द० । कश्यपस्य त्र्यायुष जमदग्ने०, यद्देवानां० तन्मे० इति काण्व० ॥

पुरुषों मे (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु है (तत्) वह (त्रि-आयुषम्) त्रिगुण आयु (नः अस्तु) हमें भी प्राप्त हो ॥

शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्तेऽअस्तु मा मा हिꣳसीः । निर्वर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्यायँ ॥ ६३ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । रुद्रो देवता । भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों को रुलानेहारे राजन् ! तू राष्ट्र के लिये (शिवः नाम असि) मङ्गलकारक, कल्याणस्वरूप है, (स्वधितिः) स्वयं अपने आपको धारण करने की शक्ति या खड्ग या वज्र (ते पिता) तुझे उत्पन्न करने वाला, तेरा पालक, 'पिता' है । (ते नमः अस्तु) तुझे हमारा आदरपूर्वक नमस्कार हो । (मा मा हिंसी.) मुझ, तेरे अधीन प्रजाजन को मत मार । मैं (आयुषे) दीर्घ आयु को प्राप्त करने के लिये (अन्नाद्याय) अन्न आदि भोग्य पदार्थ की भोग शक्ति की प्राप्ति के लिये, (प्रजननाय) उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न करने के लिये, (रायः पोषाय) धन की वृद्धि के लिये, (सुप्रजास्त्वाय) उत्तम प्रजा को प्राप्त करने के लिये, (सुवीर्याय) और उत्तम बल वीर्य के लाभ के लिये, तुझ रोदनकारी तीक्ष्ण स्वभाव के उग्र पुरुष को अपने ऊपर आघात करने के कार्य से (निवर्त्तयामि) निवृत्त करता हूं, रोकता हूं । अर्थात् राजा को प्रजा के आयु, सम्पत्ति, अन्न, धन, पुष्टि, प्रजा और वीर्य की वृद्धि के लिये उनके नाशक कार्यों से निवृत्त रहना चाहिये । वह प्रजा को न मारे, प्रजा उसका आदर करे, वह प्रजा के लिये कल्याणकारी हो ॥

६३—नारायण ऋषिः । रुद्रो देवता । द० । अस्य स्थानेऽन्यन्मन्त्रद्वय काण्व० परिशिष्टे द्रष्टव्यम् ॥

परमेश्वर के पक्ष में—ईश्वर 'शिव' है, मङ्गलमय है। वह अविनाशी और दुःखहन्ता होने से 'स्वधिति' है। हे पुरुष! वह तेरा पिता है। उसको नमस्कार है। वह हमें नाश न करे। आयु आदि के लिये मैं उसके आश्रय होकर सब कष्टों को दूर करूं।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

[तत्र त्रिषष्टिर्ऋचश्च]

इति मीमासातीर्थ-विद्यालंकारविरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये तृतीयोध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

१—२७ प्रजापतिर्ऋषिः ॥

॥ ओ३म् ॥ एदमगन्म देवयजनम्पृथिव्या यत्र देवासोऽअजु-षन्त विश्वे । ऋक्सामाभ्याꣳ सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम । इमा आपः शमु मे सन्तु देवीः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः ॥ १ ॥

प्रजापतिर्ऋषि । देवयजन प्राय ओषधि स्रुरश्च देवता । विराड् ब्राह्मी जगती, व्यवसाना अत्यष्टिर्वा छन्द. । निषाद स्वरः ॥

भा०—हम (पृथिव्या.) पृथिवी के बीच (इह) इस प्रत्यक्ष (देवय जनम्) विद्वान् ब्राह्मणों के यज्ञ करने और राजाओं के शासन कर्म करने के स्थान पर (आ अगन्म) प्राप्त हों । (यत्र) जहा (विश्वे देवासः) समस्त देव, विद्वान् ब्राह्मण और राजा लोग (अजुषन्त) आकर बसें । वहां (ऋक्-सामाभ्याम्) ऋक्, विज्ञानमय वेदमन्त्र और साम गायन मय सामगान दोनों उपायों से और (यजुर्भिः) परस्पर संघ बनाने के विधानरूप यजुर्मन्त्रों से (संतरन्त.) समस्त बाधाओं को पार करते हुए (राय.पोषेण) धन की वृद्धि अर्थात् अत्यन्त अधिक ऐश्वर्य और (इषा) प्रचुर अन्न प्राप्त करके (सम् मदेम) हम सब आनन्दित और सन्तुष्ट होकर रहें । (इमाः आपः) ये दिव्य गुणवाले जल एवं आप्त पुरुष (मे शम् उ सन्तु) मेरे लिये शान्तिदायक हों हे (ओषधे) ओषधे ! रोगनिवारक ओषधे ! या दोषों से रक्षा करने में समर्थ ! जलों के भीतर या उनसे उत्पन्न ओषधि के समान तीव्र स्वभाव के राजन् ! तू हमें (त्रायस्व) रक्षा कर । हे (स्वधिते) स्वधिते ! स्व=अपने बल से राष्ट्र

१—अत परमग्निष्टोमो महीद्यौः० [अ० ८ । ३२] पर्यन्तम्।

BVCL
12595
294 12 Ya1Y

को धारण करने में समर्थ वज्रमय या वज्र के समान क्षत्रबल से सम्पन्न ! शस्त्रबल से युक्त राजन् ! (एनं मा हिंसी.) इस मुझ प्रजाजन को या राष्ट्र को मत विनाश कर ॥ शत० का० ३ । १ । १ । ११, १२-१७ ॥

आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु । विश्वꣳहि रिप्रम्प्रवहन्ति देवीः । उदिदाभ्यः शुचिरापूतऽएमि । दीक्षातपसोस्तनूरसि तान्त्वा शिवाꣳ शग्माम्परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥ २ ॥

आपो वासश्च देवताः । स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । अत्यष्टिर्वा छन्दः । धैवतः स्वरः ॥

भा०—(अस्मान्) हम (आप.) जलों के समान स्वच्छ (मातरः) ज्ञान करने हारे या माता के समान पालन करने वाले आप्तजन (शुन्धयन्तु) शुद्ध करें, जैसे जलधाराएं शरीर को शुद्ध करती हैं और माताएं अपने स्नेह और उपकार से हृदय के पापको नष्ट करती हैं वैसे ही आप्त ज्ञानी पुरुष हमें आचार में पवित्र करें । वे (घृतव.) घृत, दीप्ति या तेजोमय अंश से पवित्र करने वाले आप्त जन (न.) हमें अपने (घृतेन) घृत से जिस प्रकार शरीर के विष नाश हो जाते हैं उसी प्रकार (पुनन्तु) पवित्र करें । (देवी·) दिव्य गुणवाली माताओं, जल-धाराओं, नदियों के समान और देवियों के समान आप्त जन भी (विश्वम् रिप्रम्) समस्त पाप को (हि) भी (प्रवहन्ति) धो बहाते हैं । (आभ्यः इत्) इनसे ही (आपूत) सब प्रकार से पवित्र होकर मैं (उत् एमि) उत्कृष्ट पदको प्राप्त होऊं । जैसे जलों से स्नान करके मनुष्य शुद्ध वस्त्र पहनता है, वैसे ही आप्त-जनों से अपने पाप से मुक्त होकर अपने शरीर और आत्मा को स्वच्छ कर लेता है । हे वास. ! वस्त्र के समान आच्छादक शरीर ! आत्मा के वासस्थान ! तू (दीक्षातपसोः) दीक्षा अर्थात् सत्पथ पर दृढ़ता से रहने के उत्तम व्रतधारण और तपस्=तपस्या का बना (तनूः असि)

शरीर है । (तां) उस (त्वा) तुझको (शिवाम्) कल्याणकारिणी (शग्माम्) सुखदायिनी, आरोग्य पवित्र को मैं (भद्रं वर्णं पुष्यन्) सुखकारी, उत्तम वर्ण को, उत्कृष्ट जीवन स्थिति को पुष्ट करता हुआ (परि दधे) धारण करूं । स्नान के बाद पुरुष जैसे दीक्षा के निमित्त विशेष स्वच्छ वस्त्र पहने उसी प्रकार दीक्षा और तप से शरीर को शुद्ध करके अपने जीवन को उच्च करे और ज्ञान की नदी रूप आप्तजनों के उपदेशों में स्नान करें ॥

राजा के पक्ष में--आप्त पुरुष हमारे माता के समान पालक अपने तेज से हमें पापों से बचावे । मैं राजा उन आप्तजनों द्वारा शुद्ध पवित्र होकर उदय को प्राप्त होऊं । इस तप से प्राप्त पृथिवी को अपने शरीर के समान धारण करूं और उत्तम वर्ण को पुष्ट करूं ॥ शत० ३ । १ । २ । १०-२० ॥

मह्नीनाम्पयोऽसि वर्च्चोदाऽअसि वर्च्चो मे देहि ।
वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दाऽअसि चक्षुर्मे देहि ॥ ३ ॥

मेघो वा नवनीतमञ्जन च देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—मेघ या नवनीत, घृत या आदित्य के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्य का वर्णन करते हैं । (महीनाम् पय आसिः) हे सूर्य तू ! (महीनां) पृथिवियों पर (पय) जल बरसने का कारण है । अथवा, हे मेघ ! तू पृथिवी पर जल बरसाता है । हे नवनीत तू गौओं के दूध से उत्पन्न है । हे राजन् ! तू (महीनां) पृथिवीवासिनी प्रजाओं का (पयः असि) पुष्टिकारक सार भाग है । हे राजन् ! तू (वर्चोदाः असि) वर्च., तेज का प्रदान करने हारा है (मे वर्चः देहि) मुझे वर्चस्, तेजोबल प्रदान कर । तू (वृत्रस्य) राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को भी (कनीनकः) आंख में पुतली के समान देखने वाला है । तू (चक्षुर्दा. असि) चक्षु अर्थात् आंख का देने वाला है । (मे चक्षुः देहि) मुझे चक्षु प्रदान कर ॥

३—मेघो वा देवता । द० ।'०वृत्रस्य कनीनकासि०' इति काण्व० ।

मेघ पक्ष में—जिस प्रकार सूर्य मेघ को भी अपने तेज से छिन्न भिन्न कर देता है। उसी प्रकार राजा शत्रु को छिन्न भिन्न कर उसकी माया को खोल देता है। सूर्य चक्षु को दर्शन शक्ति देता है उसी प्रकार राजा भी प्रजा को मार्ग दिखाता है ॥

ईश्वर पक्ष में—(महीनाम्) तू महती, बड़ी बड़ी शक्तियों का (पयः) परम सार, उनका भी परम पोषक बल है। हे तेजस्वी! तू मुझ उपासक को वर्चस् प्रदान कर। तू आवरणकारी वृत्र-अज्ञान को भी अपनी ज्ञानज्योति से चमका कर नाश कर देता है सर्वदृष्टा, सबको ज्ञानचक्षु प्रदान करता है, मुझे भी चक्षु प्रदान कर ॥

चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥ ४ ॥

प्रजापतिसवितारौ परमात्मा वा देवता। निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—(चित्-पतिः) समस्त चेतनाओं, चेतन प्राणियों और समस्त विज्ञानों का पालक परमेश्वर (मा पुनातु) मुझे पवित्र करे। (सविता देवः) सबका उत्पादक उपास्य देव (अच्छिद्रेण) छिद्र रहित, अविनाशी, (पवित्रेण) निर्दोष, (पवित्रेण) परम पालक, सबको शुद्ध करने वाले अपने स्वरूप से और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) तेजोमय किरणों से (मा) मुझे, मेरे अन्तःकरण और देह को (पुनातु) पवित्र करे। हे (पवित्रपते) पवित्र पुरुषों के पालक, शुद्धात्माओं के स्वामिन्! (पवित्रपूतस्य) पवित्रगुणों से परिपूत, शुद्ध (तस्य ते) उस तेरी कृपा से पवित्र हुआ मैं (यत्कामः) जिस कामना को करके (पुनः) अपने आपको पवित्र करूं (तत्) मैं उसको (शकेयम्) पूर्ण कर सकूं ॥

आ वो॑ देवास॒ऽईम॑हे वा॒मम्प्र॑यत्यृध्व॒रे ।
आ वो॑ देवास॒ऽआशिषो॑ यज्ञिया॑सो हवामहे ॥ ५ ॥

देवा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः स्वरः ॥

भा०—हे (देवासः) देवगण, विद्वान् पुरुषो ! (प्रयति) उत्तम सुख और उत्तम फल देने वाले (अध्वरे) अविनाशी और हिंसारहित पालनात्मक शासनरूप यज्ञ में (वः) आप लोगों से (वामम्) प्राप्त करने योग्य उत्तम कार्य सम्पादन करने की (ईमहे) याचना करता हूं । हे (देवासः) विद्वान् ब्रह्मज्ञानी पुरुषो ! हे (यज्ञियासः) यज्ञ करनेहारे ! (वः) आप लोगों से (आशिषः) मन की आशाओं या इच्छाओं की (याचामहे) हम याचना करते हैं ॥

स्वाहा॑ य॒ज्ञम्मन॑सः॒ स्वाहो॒रोर॒न्तरि॑क्षात् ।
स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑ꣳ स्वाहा॒ वात॒मारभे॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

यज्ञो देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार स्वरः ॥

भा०—मैं प्रजापति, प्रजा का पालक (मनसः) मन से (यज्ञम्) यज्ञ का (स्वाहा) उत्तम वेदोक्त वाणी के मनन द्वारा (आरभे) यज्ञ सम्पादन करूं । (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (स्वाहा) उत्तम आहुति द्वारा (यज्ञम् आ रभे) यज्ञ सम्पादन करूं । (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौः, ऊपर का विस्तृत आकाश और समस्त पृथिवी मण्डल दोनों से (स्वाहा) दोनों की शक्तियों को परस्पर में आदान प्रतिदान की क्रिया से (यज्ञम् आरभे) यज्ञ को सम्पादन करता हूं और मैं (वातात्) वात-वायु से, प्राण के निश्वास उछ्वास क्रिया द्वारा अथवा समुद से मेघों को लेकर भूमि पर उत्तम रीति से वर्षण क्रिया द्वारा (यज्ञम् आरभे) यज्ञ करता हूं ॥

६—'०रमे॥' इति काण्व० ।

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ रघु० ।

अर्थात् परमेश्वर पांच यज्ञ करता है । (१) मानसयज्ञ, सबको अपने संकल्प बल से चला रहा है और वेदवाणी द्वारा सबको उपदेश करता है । (२) अन्तरिक्ष यज्ञ, उसमें नित्य मेघों का उठना और लीन होना । (३, ४) द्यावापृथिवीयज्ञ, सूर्य का जल खेंचना और पृथ्वी पर वर्षा की आहुति होना । (५) वातयज्ञ, वायु का मेघों को धारण करना, बिजुली का गिराना या प्राणापान यज्ञ । यह सब परमात्मा स्वयं करता है ।

[1]आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा । [2]आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशंभुवो द्यावापृथिवीऽउरो अन्तरिक्ष । बृहस्पतये हविषाविधेम स्वाहा ॥ ७ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्न्यद्द्यावापृथिव्यन्तरिक्षबृहस्पतयो देवताः । (१) पक्तिः, पन्चम , (२) आर्ची बृहती । मध्यम ॥

भा०—अध्यात्म यज्ञ और आधिभौतिक यज्ञ का वर्णन करते हैं । (आकूत्यै) अपने सकल्पों या आभिप्राय को प्रकट करने वाले, (प्रयुजे) इन्द्रियों को अपने ग्राह्यविषयों में और आभिप्राय को प्रकट करने के लिये मन द्वारा विवेचन पूर्वक वाणी और अन्य कार्यों में शरीर के अन्य अंगों को प्रयुक्त करने वाले (अग्नये) ज्ञानमय चेतन अग्नि अर्थात् चेतन आत्मा को (स्वाहा) अपने 'स्व' आत्मा रूप से कहो । (मेधायै) मेधा='मे-धा' अर्थात् मुझ आत्मा की धारणावती बुद्धि रूप और (मनसे) ज्ञान करने की शक्ति या संकल्प विकल्प करने वाली शक्ति रूप (अग्नये) पूर्वोक्त इन्द्रियों के नायक रूप (स्वाहा) आत्मा का ज्ञान करो । (दीक्षायै तपसे अग्नये

७—०पृथिवी उर्वन्तरिक्ष । इति काण्व० ।

स्वाहा) दीक्षा व्रत धारण करने और 'तप' अर्थात् तपस्या करने वाली शक्ति रूप (अग्नये) अग्नि का अपने आत्मा की शक्ति रूप से ज्ञान करो। (सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा) सरस्वती, वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण करने वाली शक्ति और पूषन्--शरीर को निरन्त पुष्ट करने वाली शक्ति रूप अग्नि, चेतन शक्ति को 'स्व' अपनी आत्मा जानो। अर्थात् आत्मा की ही ये निज शक्तियां हैं। आकूति प्रयोग, मेधा मनस, दीक्षा, तप, सरस्वती और पुष्टि। इनके रूप में प्रकट होने वाले अग्नि को तुम (स्वाहा) स्वयं अपने आत्मा जानो और (देवीः) दिव्य शक्तियों से युक्त (आपः) आप--जल, जो (विश्वशम्भुवः) समस्त जगत् की शान्ति को उत्पन्न करती हैं और (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, सूर्य और भूमि, (अन्तरिक्ष) और अन्तरिक्ष अर्थात् वायु जिस प्रकार इन सबमें विद्यमान (बृहस्पतये) उस महान् शक्ति के परिपालक परमेश्वर के लिये हम (हविषा) अग्नि में जिस प्रकार इन पञ्चभूतों की शुद्धि के लिये ओषधि आदि चरु को आहुति देते हैं, उसी प्रकार हविः--सत्य ज्ञान और प्रेम भाव से (विधेम) उपासना करें (स्वाहा) यह भी एक महान् यज्ञ है। अथवा (हविषा स्वाहा विधेम) हवि अर्थात् सत्य प्रेमभाव से स्वाहा--उत्तम स्तुति, वाणी का (विधेम) प्रयोग करें। ईश्वर की उत्तम स्तुति करें ॥ शत० ३। १। ४। ५--१७ ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्त्तो॑ वुरीत स॒ख्यम्।
विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पु॒ष्यसे॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। ईश्वर सविता देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः स्वरः ॥

भा०—(विश्व) समस्त (मर्तः) मनुष्य लोग (नेतुः) अपने नेता (देवस्य) ईश्वर और राजा के (सख्यम्) मित्रता को (वुरीत)

८—ईश्वरो देवता। द०।

वरें, चाहें (विश्वः) और सब (राये) धन ऐश्वर्य के प्राप्त करने लिये (इषुध्यति) वाण, शस्त्रास्त्र धारण करें और सभी (द्युम्नम्) धन को (पुष्यसे) शरीर और आत्मा की पुष्टि, वल वृद्धि के लिये (वृणीत) चाहें (स्वाहा) यही उसका उत्तम सत् उपयोग हैं। या उस धनको उत्तम कार्य में त्याग करें।

(विश्वो राये इषुध्यति) सभी धनकी याचना करते हैं॥ [उव्वट-महीधर] शत० ३ । १ । ४ । १८ । २३ ॥

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः। शर्म्मासि शर्म मे यच्छ नमस्तेऽस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ ६ ॥

कृष्णाजिन विद्वान् वा देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे कृष्ण और शुक्ल विद्याओ ! क्रियात्मक और ज्ञानात्मक विद्या या कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तुम दोनो (ऋक् सामयो) ऋग्वेद और सामवेद इन दोनों के भीतर से उत्पन्न (शिल्पे स्थः) विशेष कौशल रूप हो। (ते वाम्) तुम दोनों को मैं (आरभे) आरम्भ करता हूं। अभ्यास करता हूं। (ते) वे तुम दोनों (मा) मुझे (अस्य उदृच. यज्ञस्य) इस उत्तम ऋचाओं, वेद मन्त्र और ज्ञानों से युक्त यज्ञ के समाप्ति तक (मा पातम्) मुझे पालन करें। हे शिल्पपते ! शर्म असि) तू शरण है। (मे शर्म यच्छ) मुझे सुख प्रदान कर, हे विद्वन् ! राजन् शिल्पस्वामिन् ! (ते नमः अस्तु) तुझे मैं आदरपूर्वक नमस्कार करता हूं। (मा) मुझको (मा हिंसीः) विनाश मत कर॥

यज्ञ में कृष्णाजिन यज्ञ के दो अङ्गों को स्पष्ट करता है, कृष्ण और शुक्ल। इन दोनों को ऋक्, साम दोनों का शिल्प ही है। कदाचित् कर्मकाण्ड (Practicl) और ज्ञानकाण्ड (Thoritical) दो स्वरूपों को

६—[६–१५] आंगिरस ऋषिः । विद्वान् देवता : द० ॥

दर्शाने के लिये पूर्व में दो शाखा भी प्रचलित हुई हों। वेद के दोनों अङ्गों से राज्य शासन रूप यज्ञ की पूर्ति के लिये प्रार्थना है। उसके संचालक पुरुष का आदर और उससे रक्षा की प्रार्थना है॥

अध्यात्म में—शुक्लगति और कृष्णगति, देवयान और पितृयाण और ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग दोनों ऋक् और साम के प्रतिपादित शिल्प=शील आचार विधान हैं। उनको हम (आ यज्ञस्य उद्दचः) यज्ञ=आत्मा की ऊर्ध्वगति तक करते रहे। हे परमात्मन्! यज्ञ! तू सबका शरण है। तुझे नमस्कार करते हैं। तू हमें (मा हिंसीः) मत मार, हमारी रक्षा कर॥

उक्त दो गतियों के विषय में उपनिषदों में—'द्वे सृती अश्रृणवम्' इत्यादि वर्णन है और 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' इत्यादि गीता में भी स्पष्ट किया है॥

शतपथ में—इस भूमि लोक और उस द्यौलोक दोनों को सम्बोधित किया है कि वे ऋक्, साम दोनों के शिल्प अर्थात् प्रतिरूप हैं। उन दोनों के बीच में जैसे हिरण्यगर्भ सुरक्षित है, माता पिता के बीच में जैसे गर्भगत बालक सुरक्षित है उसी प्रकार जीवनयज्ञ की समाप्ति तक ऋक् साम दोनों का अभ्यास मेरी रक्षा करे। छत और फर्श के समान दोनों का गृह बना है। वही हमारा शरण है। वह शरण हमें सुख दे। हमें विनाश न करें॥ शतपथ ३। २। १। १८॥

[1]ऊर्ग॑स्याङ्गिर॒स्यूर्ण॑म्रदा ऊर्ज॒ मयि॑ धेहि। सोम॑स्य नी॒विर॑सि॒ विष्ण॒ोः शर्मा॑सि॒ शर्म॑ यज॑मान॒स्येन्द्र॑स्य॒ योनि॑रसि सु॒स॒स्याः कृ॒षीस्कृ॑धि। [2]उच्छ्र॑यस्व वनस्पत ऊ॒द्ध्वो मा॑ पा॒ह्यꣳह॑स॒ऽआस्य यज्ञस्यो॒दृचः॥ १०॥

आगिरस ऋषय । यज्ञो मेखला नीवि वासः कृष्णा विषाणा दण्डश्च यज्ञो वा देवता। (१) निचृदार्षी, निषाद, (२) साम्नी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

१०—०ऊर्ज मेयच्छ। इति काण्व०। यज्ञो देवता। द०॥

भा०—हे (आंगिरसि) अंगिरस् आदित्य या अग्नि से उत्पन्न होने वाली पृथिवी ! तू (ऊर्णम्रदा उर्ग् असि) ऊर्ण=आच्छादन, अन्धकार का नाश करने वाली, प्रकाशरूप (उर्ग् असि) बलरूप है । अथवा ऊनके समान कोमल, होकर भी बड़ी बलवती है । तू (मयि ऊर्जं धेहि) मुझ में बल या अन्नादि पदार्थ प्रदान कर । तू (सोमस्य) सर्वप्रेरक आदित्य या पर्जन्य की (नीवि.) अच्छी प्रकार लाकर एकत्र करने वाली (असि) है । (विष्णो) व्यापक जल का (शर्म्म असि) शरण, आश्रय स्थान है और (यजमानस्य) शर्म) यज्ञ करने वाले पुरुष या इस महान् जलवृष्टि द्वारा अन्नोत्पादन करने वाले यज्ञपति का भी (शर्म) शरण या आश्रय है । (इन्द्रस्य योनि. असि) हे सूर्य के किरण ! (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यशील मेघ की तू (योनि.) उत्पत्ति स्थान है । हे पुरुष ! तू हमारे (कृषी.) खेतियों को (सुसस्याः) उत्तम सस्य से युक्त (कृधि) कर । हे (वनस्पते) वनस्पते ! सेवन करने योग्य जल आदि पदार्थों के पालक पर्जन्य । तू (उत् श्रयस्व) ऊपर आ । (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (अस्यै यज्ञस्य उद्दच. आ) इस यज्ञ की समाप्ति पर्यन्त (अंहस. पाहि) पाप से रक्षा कर ।

मेखला पक्ष में—हे आंगिरसि, विद्वानों की रची मेखले ! तू बलरूप है, मुझे बल दे । सोम-ब्रह्मचारी या वीर्य की रक्षिका ग्रन्थि है । विष्णु व्यापक वेद और यजमान आत्मा की शरण है । इन्द्र=आचार्य की 'योनि' उत्पादक है । हे दण्ड ! तू आ । मेरे व्रत की समाप्ति तक तू मेरी रक्षा कर ॥

शिल्पविद्या पक्ष में—हे वनस्पते विद्वन् ! जो (आंगिरसी) विद्वानों द्वारा उत्पादित (उर्णम्रदा) प्रकाशकारिणी (ऊर्क्) अन्नोत्पादक बलवती शिल्प विद्या है वह मुझे बल दे । वह (सोमस्य नीवि.) नाना पदार्थों की आश्रय है । (विष्णो.) विद्वान् को सुखकारी है । ऐश्वर्यवान् होने का कारण है । उसके बल पर उत्तम सम्पन्न खेतियों को पैदा कर । हे विद्वन् !

तू स्वयं उन्नति कर। हमें पापफल दुःख से बचा। इस उत्तम यज्ञ की पूर्त्ति कर॥

[1]व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः। दैवीन्धियंमनामहे सुमृडीकामभिष्टये वर्चोधां यज्ञवाहसꣳ सुतीर्था नो असद्वशे। [2]ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्तेनोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहा॥ ११॥

यज्ञो धी प्राणापानौ अध्यात्मम्, अधिदवत अग्निर्मित्रावरुणा वादित्यो विश्वे देवा देवता'।

(१) स्वराड् ब्राह्मी, गान्धार स्वरः। (२) आर्षी उष्णिक्। ऋषभ स्वर' ॥

भा०—हे पुरुषो! आप लोग (व्रतं कृणुत) व्रत करो, धर्माचरण पालन करने का दृढ़ संकल्प धारण करो। (अग्निः ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान और वह ज्ञानमय परमेश्वर ही महान् अग्नि, मार्गप्रदर्शक, विश्वप्रकाशक, ज्ञानप्रदाता तुम्हारा अग्रणी आचार्य है। (यज्ञः अग्नि.) वही सब का पूजनीय अग्नि है। वही (यज्ञियः) सब देव पूजाओं के योग्य स्वयं (वनस्पतिः) व. न, आत्माओं जीवों का परिपालक प्रभु है। हम (दैवीम्) देव परमेश्वर की प्रदान की हुई, दिव्यगुण सम्पन्न ध्यान धारणावती, (सुमृड़ीकाम्) उत्तम सुख प्राप्त कराने वाली, (वर्चोधाम्) तेजोदायिनी, (यज्ञवाहसम्) यज्ञ, पूज्य परमेश्वर तक पहुंचा देने वाली (धियम्) ध्यान धारणावती योग समाधि से प्राप्त प्रज्ञा की (मनामहे) याचना करते हैं। वह (सुतीर्था) इस संसार से सुखपूर्वक तरानेहारी, भवसागर के पार पहुंचानेहारी, ब्रह्ममयी प्रज्ञा (नः) हमारे (वशे) वशमें (असन्) रहे और (ये) जो (देवाः) देव, इन्द्रियगण (मनोजाताः) मन या मननशक्ति, विषय ग्रहण करने में समर्थ और (मनोयुजः) मनके साथ

११—' व्रत कृणुत व्रत कृणुत व्रत कृणुत। अग्नि '०,' वर्चोदा विश्वधायस सु० ' इति काण्व० ॥

युक्त होकर (दक्षक्रतवः) बलपूर्वक कार्य करने और ज्ञान करने में समर्थ हो जाते हैं (ते नः अवन्तु) वे प्राण भी हमारी रक्षा करें। (ते न. पान्तु) वे हमारा पालन करें। (तेभ्यः) उनको भली प्रकार आत्मा में आहुति करें। उनको अपने भीतरी आत्मा के वश, अन्तर्मुख करलें। अथवा (ये देवा) जो विद्वान् ज्ञानी लोग (मनोजाता.) विज्ञान या मनन द्वारा सामर्थ्यवान् होकर (मनोयुज.) अपने मनको परब्रह्म विज्ञान में योग द्वारा जोड़ते हैं वे (दक्षक्रतवः) शरीर, आत्मा-बल और प्रज्ञाओं से सम्पन्न हो जाते हैं। (ते न. अवन्तु ते न. पान्तु) वे हमारी रक्षा करें, वे हमें पापों से बचावें। (तेभ्य. स्वाहा) उन ब्रह्मज्ञानी विद्वानों के लिये हम अन्न आदि का प्रदान करें, उनका आदर करें या उनसे हम उत्तम वेद-उपदेश ग्रहण करें ॥ शत० ३ । २ । २ । १-१८ ॥

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो अस्माकमुन्तरुदरे सुशेवाः।
ता अस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमीवाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृता
ऽऋतावृधः ॥ १२ ॥

आपो देवता । आर्ची अनुष्टुप् । गान्धार. स्वरः ॥

भा०—हे (आप.) आप्त पुरुषो ! हे जलों के समान स्वच्छ बुद्धि-वाले आप्त पुरुषो ! जिस प्रकार बल (श्वात्रा.) अति शीघ्रगामी पान करने योग्य होते हैं उसी प्रकार आप लोग भी (श्वात्राः) प्रशस्त धन और ज्ञान से युक्त और ज्ञानरस के पान करने वाले ही (भवत) बने रहो और जिस प्रकार जल (अन्त उदरे) पेट के भीतर (सुशेवा) सुख से सेवन करने योग्य होते हैं उसी प्रकार आप लोग (अस्माकम्) हमारे बीच में (सुशेवा.) सुख से सेवा करने योग्य हैं और जिस प्रकार जल (अयक्ष्मा) यक्ष्मा, रोग रहित (अनमीवा) कष्टकर रोगों से भी रहित और (अनागस.) निष्पाप, पवित्र होकर हमें अति स्वादु प्रतीत होते हैं उसी प्रकार (ताः)

वे आप्त प्रजाजन भी (अयक्ष्माः) राज-रोगों से रहित, (अनमीवा) नीरोग, (अनागसः) निष्पाप (देवीः) दिव्यगुणों से युक्त और (ऋतावृधः) सत्यज्ञान को बढ़ाने वाले (अमृताः) अमृत, पूर्ण शतायु दीर्घजीवी होकर (अस्मभ्यम्) हमें (स्वदन्तु) सब प्रकार के सुख प्रदान करावें ॥ शत० ३ । २ । २ । १६ ॥

इयं ते यज्ञिया तनूरप मुञ्चामि न प्रजाम् । अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव ॥ १३ ॥

लोष्ठ मूत्र आपो वा देवता । भुरिग् आर्षी पक्तिः । पन्चम स्वर ॥

भा०— हे पुरुष ! (इयं) यह (ते) तेरी (यज्ञिया तनू) यज्ञ के योग्य या यज्ञ अर्थात् आत्मा के निवास के योग्य होकर जिस प्रकार (अपः), प्राणों या जलों का त्याग नहीं करती प्रत्युत उनको अपने भीतर धारण करती है, उसी प्रकार मैं पुरुष भी (प्रजाम् न मुञ्चामि) प्रजा का परित्याग नहीं करता और हे आप्त पुरुषो । हे प्राणो ! जल जिस प्रकार (पृथिवीम् आविशन्ति) पृथिवी के भीतर प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार तुम भी (अंहोमुच) आत्मा से उसके किये बुरे पापकर्मों को छुड़ाने वाले और (स्वाहाकृताः) वेदवाणी द्वारा उत्तम यज्ञानुष्ठान करने हारे सब शरीर में अन्नादि का आदान करने वाले प्राण जिस प्रकार पृथिवी के विकार देह में प्रविष्ट है उसी प्रकार (पृथिवीम् आविशत) पृथिवी में स्थिर गृह आदि बनाकर रहो और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर हे पुरुष ! तू (सम्भव) भली प्रकार अपनी प्रजा उत्पन्न कर ॥ शत० २ । २ । २ । २० ॥

अग्ने त्वꣳसु जागृहि वयं ꣳ सु मन्दिषीमहि ।
रक्षा णोऽअप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥ १४ ॥

अग्निर्देवता । स्वराडार्च्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रुसतापक अग्ने ! राजन् ! (त्वं) तू (सु) भली प्रकार (जागृहि) जाग, प्रमाद रहित रह कर पहरा दे । (वयं) हम (सु) अच्छी प्रकार निश्चिन्त होकर (मन्दिषीमहि) सोवें । (न.) हमारी (अप्रयुच्छन्) प्रमाद रहित होकर (रक्ष) रक्षा कर (पुन) और फिर हमें (प्रबुधे) जागृत दशा में (कृधि) करदे, जगादे ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर तू बराबर जागता है, हम अविद्या में सोते हैं। तू बेचूक हमारी रक्षा कर, हमें पुन प्रबोध, सत्य ज्ञान के लिये चैतन्य कर । प्राण के पक्ष में—हम समस्त इन्द्रियां सोती हैं, प्राण जागता है। वह हमारी रक्षा करता है, पुन. निद्रा के बाद हमें चैतन्य करता है ॥ शत० ३ । २ । २ । २२ ॥

पुनर्मनः पुनरायुर्म आऽआगन् पुनः प्राण. पुनरात्मा म आऽआगन् पुनश्चक्षु पुनः श्रोत्रम्म आगन् । वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपाऽअग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् ॥ १५ ॥

अग्निर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यम स्वर ॥

भा०—शयन के बाद (मे मन.) मेरा मन (पुन. आगन्) मुझे पुन प्राप्त होता है । (पुनः मे आयु.) आयु मुझे पुन प्राप्त होता है । (पुन प्राण) प्राण मुझे पुन प्राप्त होता है । (पुन चक्षु) चक्षु मुझे फिर प्राप्त होता है । (मे श्रोत्रम् पुनः आ अगन्) मुझे श्रोत्र, कान पुनः प्राप्त होता है । (वैश्वानर) समस्त नरदेहों में प्राणों के नेतारूप से विद्यमान वैश्वानर जीवात्मा (अदब्ध) अविनाशी (तनूपा) शरीर का स्वामी (अग्नि) अग्नि-अग्रणी राजा के समान है, वह (न') हमें (अवधात्) निन्दनीय (दुरितात्) दुष्टचरण से (पातु) बचावे । ईश्वरपक्ष में भी स्पष्ट है कि रात्रि समय में वैश्वानर परमेश्वर अविनाशी है, वह हमारे

१५—' ० आगात् ' ३, ० ' ० अग्निर्मा० ' इति काण्व० ॥

शरीरो का रक्षक 'तनूपा' है, वह हमें सब निन्दनीय पाप से बचावे। मरण के पश्चात् पुनः जीवन प्राप्ति के अवसर पर भी मन, आयु, प्राण, देह, चक्षु, श्रोत्र आदि हमें पुन प्राप्त हों और ईश्वर हमें पाप से बचावे। इसी प्रकार प्रलय काल ब्राह्मरात्रि होती है, उसमें भी जीव सुप्त दशा में रहते हैं। उसके पश्चात् पुन. ब्राह्म रात्रि के प्रारम्भ में हम जीवों को आयु आदि प्राप्त होते हैं। परमेश्वर ही सब के शरीरों को बचाता है। वह हमें पाप से बचावे ॥ शत० ३ । २ । २ । २३ ॥

त्वमग्ने व्रतपाऽअसि देवऽआ मर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः रास्वेयत्सोमाभूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥ १६ ॥

वत्सऋषि । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पक्ति । पन्चम ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने, परमेश्वर ! अथवा राजन् अग्रणी ! हे (देव) देव ! राजन् ! (त्वम्) तू (व्रतपाः) समस्त व्रतों, उत्तम कर्मों का पालक, उनको निर्विघ्न समाप्त होने में रक्षक (असि) है। तू हे देव ! (सत्येषु) सत्य में और (यज्ञेषु) यज्ञों में भी (आ ईड्यः) सब प्रकार से स्तुति योग्य, वन्दनीय है। हे (सोम) सोम ! सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक ! (इयत् रास्व) हमें इतना अर्थात् बहुत परिमाण में प्रदान कर अथवा तू (इयत् रास्व) हमारे पास प्राप्त होकर हमें धन प्रदान कर और (भूय भर) और भी अधिक दे। (नः) हमें (वसोः दाता) वसु, जीवन और धन का देने हारा है। वही (वसु अदात्) सब प्रकार जीवनोपयोगी धनैश्वर्य (अदात्) प्रदान करे।

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव भ्राजङ्गच्छ ।
जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥ १७ ॥

हिरण्यमाज्य वाक् च, अग्निर्वा देवता । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

१६—[१६-३६] वत्सऋषिः । द० । ऋ० ८ । ११ । १ ॥

१७—अग्निर्देवता । द० ॥

भा०—हे (शुक्र) शुचिमान्, ज्योतिष्मान्, वीर्यवान् पुरुष ! (एषा ते तनू.) यह तेरा शरीर है । (एतद् वर्चः) यह तेज है । (तया सम्भव) इस देह से तू मिल कर एक होजा । (आजं गच्छ) प्रकाशमान् सोम परमेश्वर या प्राण, जीवन को प्राप्त हो । हे वाणी या चितिशक्ति ! तू (जू. असि) 'जू' सबके सेवन करने योग्य, सबके प्रेम को उत्पन्न करने वाली है । तू (मनसा) मन, मनन और विज्ञान से (धृता) धारण की गई उसके वशीभूत रह कर (विष्णवे) यज्ञ सम्पादन करने या व्यापक परमात्मा के भजने में (जुष्टा) लग जाती है । जूरित्येतद् ह वा अस्या. वाच एकं नाम । मनसा वा इयं वागृधता मनो वा इदं पुरस्ताद्वाच इत्थं वेद, मा एतदवादीः, इत्यलग्लामिव वै वाग् वेदद् यन्मनो न स्यात् ॥ शत० ३ । २ । ४ । ११ ॥ 'जू' यह वाणी का एक नाम है । मन इस वाणी को वश रखता है । वाणी बोलने के पूर्व मन विचार करता है । ऐसा बोल, ऐसा मत बोल । यदि मन न हो तो वाणी गड़बड़ बोल जाती है ॥

महर्षि दयानन्द के विचार से—हे शुक्र ! विद्वन् ! तेरी जो यह विष्णु यज्ञ या परमेश्वर की उपासना के लिये जो यह तेरा शरीर है जो तू ने धारण किया और सेवन किया है उससे तू (जूः) वेगवान् होकर इस तेज को धारण कर । प्रकाश या तेज को धारण कर और विज्ञान से पुरुषार्थ को प्राप्त कर ॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा ।
शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥ १८ ॥

हिरण्यवान् विद्युत् देवता । स्वराट् आर्षी बृहती । मध्यम. ॥

१८—विद्युत् देवता । द० । '०तनु यन्त्रम० । शुक्रमसि चन्द्रमस्य०' इति काण्व० ॥

भा०—हे वाणि ! या हे चितिशक्ते ! चेतने ! (सत्यसवसः) सत्य को उत्पन्न करने वाली, सत्यभाषिणी वा सत्य—सत् आत्मा से उत्पन्न होने वाले या आत्मा को अपना मुख्य उत्पत्तिस्थान रखने वाली (ते तस्या.) उस तेरे (प्रसवे) उत्पादित ऐश्वर्य में (तन्वः) शरीर के (यन्त्रम्) यन्त्र को (अशीय) प्राप्त करूं। अथवा (सत्यसवसः प्रसवे) सत्यैश्वर्यवान् परमेश्वर के बनाये इस संसार में (तस्याः ते) हे विद्युत् या वाणि तेरे (तन्व.) विस्तृत शक्ति को (यन्त्रम्) नियमन करने वाले साधन या विशेष उपकरण को मैं प्राप्त करूं, (स्वाहा) और उसका उत्तम रीति से उपयोग करूं। वाणी और चेतना शक्ति के नियमनकारी बलरूप आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं। शरीर रूप यन्त्र के नियामक बल ! वीर्य ! आत्मन् अथवा विद्युत् आदि यन्त्र के नियामक शक्ते ! तू (शुक्रम् असि) शुक्र, अति दीप्तिमान् है (चन्द्रम् असि) आह्लादक है। (अमृतम् असि) तू अविनाशी है (वैश्वदेवम् असि) समस्त दिव्य पदार्थों में सूक्ष्म रूप से विद्यमान है ॥ शत० ३ । २ । ४ । १२—१५ ॥

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयत शीर्ष्णी। सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषा ध्वनस्पात्विन्द्वायाध्यक्षाय ॥ १९ ॥

वाग् विद्युद्रूप सोमक्रयणी च देवता । भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चम. स्वर' ॥

भा०—हे वाक्शक्ते ! तू (चित् असि) शरीर की चेतना है। (मन असि) तू मननकारिणी, संकल्प विकल्प करने वाली, पदार्थों का ज्ञान करने वाली है। (धी असि) तू ध्यान करने वाली, ज्ञान के धारण करने वाली है। (दक्षिणा असि) बलकारिणी शक्ति है, यज्ञ में दक्षिणा के समान शरीर में बल का प्रदान करने वाली है। (क्षत्रिया असि) राष्ट्र में जिस प्रकार

१९—(उ०) 'सुप्रतीची भव' इति काण्व० ॥

ज्ञानशक्ति है, उस प्रकार शरीर में चेतना है। (यज्ञिया असि) यज्ञ में जिस प्रकार दीप्तिमान अग्नि उपास्यदेव है, उसी प्रकार शरीर में समस्त प्राणों की उपास्य शक्ति यह चेतना है। (अदिति असि) पृथ्वी जिस प्रकार अखण्ड भाव से सबका आश्रय है, उस प्रकार यह भी शरीर में अखण्ड अविनाशी है जो शरीर के नाश होने पर भी नाश नहीं होती। (उभयतः शीर्ष्णी) जिस प्रकार प्रसव काल में गौ के गर्भ से बच्चा आधा बाहर आने पर आगे और पीछे दोनों ओर दो सिर वाली होजाने से वह 'उभयतः शीर्ष्णी' कहाती है उसी प्रकार यह चेतना भी ज्ञान प्रसव-काल में उभयतः शीर्ष्णी है। उसका एक अंश बाहर पदार्थ का ज्ञान करता है और दूसरा अंश भीतर मनन करता है। या बाह्य पदार्थों और भीतरी सुख दुःख आदि दोनों का ज्ञान करती या बाह्य चक्षु इन्द्रिय आदि उसके एक मुख हैं और भीतरी इन्द्रिय मन उसका दूसरा मुख है। (सा) वह तू हे चितिशक्ते (नः) हमें (सुप्राची) उत्तम रीति से आगे आये पदार्थों पर जाने और उसका ग्रहण करने वाली और (सु प्रतीची) उत्तम रीति से प्रत्येक, भीतरी आत्मतत्व तक पहुंचने वाली (एधि) है। (मित्र,), मित्र-तेरा प्रेमी, स्नेही प्राण जैसे गाय को पैरों से बांधते हैं, उसी प्रकार (त्वां) तुझे (पदि) ज्ञान साधन में बांधे अथवा (मित्रः) स्नेह आत्मा तुझे (पदि) ज्ञेय, ध्येय पदार्थ या ज्ञानमय ब्रह्म में (बध्नी-ताम्) लगावे और (पूषा) पुष्टिकारक प्राण ही (इन्द्राय अध्यक्षाय) उसके ऊपर अध्यक्ष रूप से विद्यमान इन्द्र-आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति या ज्ञान करने के लिये (अध्वन') उस तक पहुंचने वाले योग या ज्ञान मार्ग से उसकी (पातु) रक्षा करे। अर्थात् प्राणायाम के बल पर उस चितिशक्ति के ध्येय विषय पर बांधे और उसको विचलित होने से बचावे।

विद्युत् पक्षमें—वह (चित्) आकर्षण शक्ति से पदार्थों को मिलाने वाली (मनः असि) स्तब्ध करने वाली (दक्षिणा) बलवती, (क्षत्रिया)

आघात करने वाली (यज्ञिया) परस्पर मिलाने वाली, रसायन योग उत्पन्न करने वाली, (उभयतः शीर्ष्णी) Positive and Negative धन और ऋण नामक दो सिरों वाली, वह (सुप्राची) उत्तम प्रकाश करने वाली, (सुप्रतीची) समान जाति की विद्युत् से परे हटने वाली, (मित्रः) रसायन भोगों का मेलक पुरुष उसे (पदि) आश्रयस्थान, विद्युत् घट आदि में बद्ध करे। (पूषा) पोषक, उसकी शक्ति को बढ़ाने वाला, मार्ग में विलीन होने से दुर्वाहक लेपों द्वारा सुरक्षित रक्खे। जिससे (अध्यक्षाय इन्द्राय) मुख्य ऐश्वर्यवान् राजा के या बलकारी यन्त्र के समस्त कार्य सिद्ध हों। राजा की राष्ट्रशक्ति भी, संचयकारिणी, स्तम्भनकारिणी, राष्ट्रधारिणी, बलवती क्षात्रबल से युक्त है, मित्र राजा उसकी व्यवस्था करें पूषा अधिकारी, इन्द्र राजा के लिये उसकी मार्गों पर रक्षा करे। शत्रुगण विशेष मार्गों से आक्रमण न करें॥ शत० ३। २। ४। १५–१०॥

[1]अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒तानु॒ भ्रात॒ा सग॒र्भ्योनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः। [2]सा दे॑वि दे॒वमच्छे॒हीन्द्रा॑य॒ सोम॑ꣳ रु॒द्रस्त्वावर्त्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा पुन॒रेहि॑॥ २०॥

सोमक्रयणीवाग्विद्युत्च देवते। (१) साम्नी जगती। निषाद स्वर।

(२) भुरिगार्षी उष्णिक्, ऋषभ स्वर॰॥

भा०—हे चितिशक्ते या वाक्शक्ते [1] (त्वा) तुझे (माता) पदार्थों का प्रमाणों द्वारा ज्ञान करने वाला पुरुष या आत्मा (अनुमन्यताम्) अपने अनुकूल ज्ञान कार्य में प्रेरित करे (पिता) तेरा पालक पिता (भ्राता) तेरा पोषक भ्राता (सगर्भ्य) एक ही शरीर रूप गर्भ में विद्यमान (सयूथ्या) इन्द्रियों और अमुख्य प्राणों के यूथ में विद्यमान (सखा) तेरे ही समान ज्ञान करने में सामर्थ, प्राण, मन और अन्तःकरण सब (अनु, अनु, अनु) तेरे अनुकूल होकर, यथार्थ रूपसे ठीक २ (मन्यताम्) ज्ञान करें। हे (देवि) प्रकाशमयि देवि ! सब इन्द्रियों को चेतनांश और प्राण

प्रदान करने वाली ! तू (इन्द्राय) इन्द्रियों के प्रवर्तक आत्मा के विशेष सुख के लिये (सोमम्) सबके प्रेरक (देवम्) परम प्रकाशमय उपास्यदेव परमेश्वर को (अच्छेहि) प्राप्त हो । (त्वा) तुझको (रुद्र) सबको रुलाने वाला प्राण (त्वा) तुझको प्रेरित करे और हे जीव ! तू (सोमसखा) सोम उस सर्वोत्पादक परमेश्वर का मित्र होकर या उसके समान शुद्ध बुद्ध मुक्त आनन्दमय होकर (पुनः) फिर मुक्ति काल समाप्त होने पर (एहि) इस संसार में आ ॥

अथवा—उपासक मोक्षाभिलाषी के लिये कहा गया है कि–ब्रह्म के मार्ग में जाने के लिये मुझे तेरी माता, तेरे पिता, तेरे (सगर्भ्य. भ्राता) सहोदर भाई, एक श्रेणी के मित्र अनुमति दें और हे देवि ब्रह्म-विद्ये ! तू (इन्द्राय सोम देवमच्छा इति) परमैश्वर्य प्राप्ति के लिये देव सोम विद्वान् को प्राप्त हो । (रुद्र त्वा वर्तयतु) हे देवि विद्ये ! तुझको रुद्र नैष्ठिक ब्रह्मचारी ग्रहण करे । हे पुरुष ! या हे विद्ये ! तू (सोमसखा) ईश्वर की सहवर्ती होकर हमें पुन. प्राप्त हो ॥

विद्युत् पक्ष में—माता उत्पादक कला, पिता पालक यन्त्र, भ्राता पोषक या धारक यन्त्र जो तुझे अपने गर्भ में ग्रहण कर सके, (सयूथ्यः सखा) समान रूप से तुझे अपने से पृथक् करने वाला आकाश भीतरी पोलयुक्त पात्र में सब अनुकूल रूप में तेरा स्तम्भन करें ॥

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि ।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रमणातु रुद्रो वसुभिराचके ॥ २१ ॥

वत्स ऋषि. । वाग् विद्युत् सोमक्रमणी गौर्वा देवता । विराडार्षी बृहती ।

मध्यम स्वर ॥

भा०—हे पृथिवि ! (वस्वी असि) तू वस्वी, वसु-शरीर में वास करने वाले जीवों को बसाने वाली (असि) है । (अदिति. असि) तू अखण्ड

ऐश्वर्य वाली, नित्य अविनाशिनी है । तू (आदित्यासि) आदित्य आदान करने वाली, सबको अपने में धारण करने वाली, आदित्यों द्वारा सेवित है । (रुद्रा असि) सबको रुलाने वाली प्राणों के समान रोदनकारी, दुष्ट पीड़क, शासकों द्वारा सेवित है । (चन्द्रा असि) सब को आह्लादकारिणी है । (त्वा) तुझे (बृहस्पतिः) विद्वान् योगी (सुम्ने) उत्तम ब्रह्ममय आनन्द में (रमणातु) रमावे, प्रेरित करे । (रुद्रः) मुख्य प्राण, जीवात्मा (वसुभिः) अन्य प्राणों सहित उनके साधना बल से तुझको प्राप्त करना चाहता है ॥

ब्रह्मशक्ति पक्ष में—वह सर्व वसु=लोको में व्यापक, अखण्ड प्रकाशमयी, सर्व रोदनकारी या वेद द्वारा उपदेष्ट्री, सर्वाह्लादिका है ॥ वह परमेश्वर बृहस्पति उसे उत्तम आनन्दरूप में या ज्ञानरूप मे प्रेरित करता है । वही रुद्र ईश्वर उसको समस्त वसुओं, जीवों सहित अपनाता है, चाहता है ॥

विद्युत् पक्ष में—वस्वी, ऐश्वर्यवती, अविनाशिनी, प्रकाशवती, रुद्रा, शब्दकारिणी, आह्लादिका है । विद्वान् उसके सुख से किये जाने के कार्यों में या उत्तमरूप से पदार्थों के स्तम्भन कार्यों में लगावे । रुद्र, विज्ञानोपदेष्टा वसु, निवासियों सहित उसको चाहते हैं ॥

राष्ट्रशक्ति पक्ष में—जनों को बसानेवाली, अखण्ड शक्ति सबकी वशयित्री, दुष्टों को रुलाने वाली, सर्वाह्लादिनी है । राजा सुखमय राष्ट्र में रमण करे । वह रुद्र राजा वसुओं सहित उस शक्ति को प्राप्त करे । इसी रूप से ये विशेषण पृथ्वी के भी हैं । सोमयोग में सोमक्रमणी गौ के लिये यह मन्त्र है । वहां सोम=राजा और गौ पृथिवी ॥

आदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्म्मि देवयजने पृथिव्याऽइडायास्पदमसि

घृतवत् स्वाहा । अस्मे रमस्वास्मे ते बन्धुस्त्वे रायो मे रायो मा वयꣳ रायस्पोषेण वियौष्म तोतो राय. ॥ २२ ॥

आन्यवाग्विद्युतौ लिंगोक्ता गौर्वा देवता । ब्राह्मीपक्ति । पन्चम स्वर ॥

भा०—हे विद्वन् ! बलवन् बाहुपराक्रमशालिन् पुरुष ! (स्वा) तुझको (पृथिव्याः) पृथिवी के (देवयजने) देवों, विद्वानों के एकत्र होने के स्थान रूप (अदित्या) अदिति, अखण्डशासनव्यवस्था के (मूर्धन्) शिर पर या मुख्यपद पर (आजिघार्म्मि) प्रदीप्त या सुशोभित करता हूं । हे (देवयजने) देवों के संगमस्थान, सभा गृह या हे सभास्थ विद्वान् पुरुषो ! तुम (इडायाः) अन्नस्वरूप, अन्न के देनेवाली पृथिवी के (पदम्) प्राप्त करने वाली, प्रतिष्ठा, पद (त्वम् असि) तुम ही हो । तुम भी (स्वाहा) उत्तम ज्ञान से ही (घृतवत्) तेजोमय हो । हे राजन् ! (अस्मे रमस्व) तू हम में प्रसन्न होकर रह । (अस्मे ते बन्धु) हम प्रजाजन तेरे बन्धु हैं । (त्वे रायः) तेरे समस्त ऐश्वर्य (मे राय) हमारे भी ऐश्वर्य हैं । (वयम्) हम प्रजाजन (राय पोषेण) धन, ऐश्वर्य के पुष्टि, बल से (मा वियौष्म) वियुक्त न हों । (तोतो राय.) ज्ञानवान् आपके भी बहुतसे ऐश्वर्य हों । वीर पुरुष को विद्वत्सभा के सभापतिपद पर मूर्धन्य बनाकर राज्य पालन के लिये नियुक्त करें । उसकी प्रतिष्ठा करें । उसको जीवन के सब सुख दें । राजा और प्रजा दोनों एक दूसरे के ऐश्वर्य की वृद्धि करें ॥

'इडाया. पदम्', 'देवयजनम्' यहां विद्वानों के संगतिस्थल या 'सभाभवन' पद से समस्त सभास्थ विद्वानों का जहत्स्वार्था लक्षणा से ग्रहण होता है । अंग्रेज़ी में भी 'House' या भवन शब्द से समस्त सभासदों का ग्रहण होता है ॥ शत० ३ । ३ । १ । ४–१० ॥

२२—(उ०) 'त्वेरायो अस्मे रय' । इति काण्व० ॥

समंख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुच्चक्षसा । मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहं तव वीरं विदेय तव देवि संदृशि ॥ २३ ॥

आशी वाग्विद्युतौ, गौर्वा देवता । आस्तारपक्ति । षन्चमः स्वरः ॥

भा०—(देव्या धिया) दिव्यगुण युक्त, प्रकाश ज्ञानवती (धिया) प्रज्ञा से (सम् अख्ये) विवेक करके मैं कथन करूं, उपदेश करूं। (दक्षिणया) अति ज्ञानयुक्त, अज्ञाननाशक बलवती और (उरुचक्षसा) अति अधिक देखने वाली दर्शन शक्ति से देख भालकर मैं (सम् अख्ये) सत्य बात का उपदेश करूं। हे (देवि) देवि ! सर्व सत्य प्रकाश करने, दर्शाने वाली वेदवाणी ! (तव संदृशि) तेरे दिखाये उत्तम सम्यक् दर्शन में रहते हुए (मे आयुः) मेरे जीवन को तू (मा प्रमोषीः) विनाश मत कर। (मा उ अहं तव) और न मैं तेरे जीवन का नाश करूं और मैं (वीरं विदेय) वीर पुरुषों का लाभ करूं। वैदिक व्यवस्था से विवेक पूर्वक राष्ट्र के शासन का निरीक्षण करूं। वह राजा व्यवस्था का नाश करे और व्यवस्था राजा के अधिकार का नाश न करें और वीर पुरुष राजा को प्राप्त हों ॥

विद्युत् पक्ष में—उस प्रकाशवती धारक विद्युत शक्ति के प्रकाश से हम अन्धकार दूर करके देंखे। विद्युत् के आघात हमें नाश न करे। न हम विद्युत् का नाश करें। उसके प्रकाश में हम शक्तियुक्त पदार्थों का लाभ करें ॥

पत्नी के पक्ष में—धारण पोषण में समर्थ देवी कार्यकुशल दीर्घ-दर्शिनी पत्नी के द्वारा मैं समस्त कार्यों का निरीक्षण करूं। मैं उसके और वह मेरे जीवन का नाश न करे उसके सम्यग् दर्शन में वीर पुत्र का लाभ करूं। इसी प्रकार देवी, विद्वत्सभा के पक्ष में भी योजना करनी चाहिये ॥

शत० ३ । ३ । १ १२-१६ ॥

[1]एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाꣳसाम्राज्यंगच्छेति मे सोमाय ब्रूतात्। [2]आस्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रह्यो विचितस्त्वा वि चिन्वन्तु ॥ २४ ॥

लिंगोक्ता., सोमो यज्ञो वा देवता । (१) ब्राह्मी जगती । निषादः स्वर. ।
(२) याजुषी पंक्ति । पन्चमः स्वर ॥

भा०—राजा को अधिकार प्रदान। हे विद्वन् मण्डल ! (मे सोमाय) सबके प्रेरक मुझ सोम को (इति ब्रूतात्) इस प्रकार स्पष्ट करके बतलाओ कि (एष ते गायत्रो भागः) हे राजन् ! तेरा यह गायत्र=ब्राह्मणों का भाग है। इसी प्रकार (मे सोमाय इति ब्रूतात्) मुझ राजा को यह बतलाओ कि (एष ते त्रैष्टुभो भाग) त्रैष्टुभ अर्थात् क्षात्रबल सम्बन्धी यह तेरा भाग है और (एष ते जागतो भाग) यह इतना वैश्य सम्बन्धी तेरा भाग है और मुझ सोम राजा को यह आज्ञा दो कि (छन्दो-नामानां) छन्द=प्रजाके पालन और दुष्टों के दमन के समस्त उपायों के (साम्राज्यम्) समस्त राजाओं के ऊपर सर्वोपरि विराजमान महाराज के पद को तू (गच्छ इति) प्राप्त हो। अथवा -प्रत्येक प्रजा के प्रतिनिधि अपना कर या अंश देते हुए बीच के प्रधान पुरुष से कहें, (इति) यह (मे) मेरा वचन (सोमाय ब्रूतात्) सोम राजा को कहो कि हे राजन् (एष ते गायत्रो भाग.) ब्राह्मणों की तरफ़ से यह तेरा सेवनीय अंश है। (एष ते त्रैष्टुभो भाग) यह तेरा क्षत्रियों की तरफ से अंश है। (एष ते जागतो भाग) यह वैश्यों की ओर से तेरा भाग है। (छन्दो नामानाम्) छन्द अर्थात् समस्त राष्ट्र के अधिकार पदों और नाम अर्थात् नमन करने के अधिकारों में से सबसे ऊंचे

२४—'०छन्दोमानाना साम्राज्य गच्छतादिति०' इति काण्व० ।

१ वृषा वै सोमो योषा पत्नी । इति शत० ॥

साम्राज्य पदको तू प्राप्त हो। प्रजाजन कहे—हे राजन्! तू (आस्माकः असि) हमारा ही है। (शुक्र) अति तेजस्वी शरीर में वीर्य के समान सभी राष्ट्र शरीर में तेजस्वी पदार्थ, एवं शासनपद और इसी प्रकार इन्द्र आदि सब अधिकार भी (ते ग्रह्याः) तुझे ही स्वीकार करने योग्य हैं और (विचित.) विशेष रूप से या विविध प्रकार से चुनने वाले ज्ञानी पुरुष भी (त्वा) तुझको ही (विचिन्वन्तु) विशेष रूप से आदर योग्य पद पर चुनें, वरण करके तुझ जैसे योग्य पुरुष को खोज खोज कर अपना राजा बनावें ॥ शत० ३ । ३ । २ । १–८ ॥

[1]अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ रत्नधामभि प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भाऽअदिद्युत-त्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत [2]सुक्रतुः कृपा स्वः। प्रजाभ्यस्त्वा प्रजास्त्वानुप्राणन्तु प्रजास्त्वमनुप्राणिहि ॥ २५ ॥

सविता सोमश्च देवते। आर्ष्युष्णिक्। ऋषभः स्वरः। सविता देवते। आर्षी जगती। निषादः स्वरः। सोमो देवता। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः स्वरः॥

भा०—(त्यम्) उस (ओण्योः सवितारम्) द्यौ और पृथिवी के उत्पादक (सत्यसवम्) सत्रूप से व्यक्त जगत् के उत्पादक या सत्यज्ञान के प्रदाता (कविक्रतुम्) क्रान्तदर्शी, सर्वोपरि ज्ञान से युक्त (रत्नधाम्) सूर्य आदि समस्त रमणीय पदार्थों के धारक (मतिं) ज्ञानरूप (अभिप्रियम्) सर्वप्रिय, (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (देवम्) देव—परमेश्वर की (अभि-अर्चामि) स्तुति करता हू (यस्य) जिसका (अमति.) परमरूप (मा) तेजोमय (ऊर्ध्वा) सब से ऊपर (अदिद्युतम्) प्रकाश करती है और जो (सवीमनि) उत्पन्न होने वाले संसार में (हिरण्यपाणि.) तेजोमय,

---

१ 'शुक्रन्ते गृह्य.' इति दयानन्दसम्मतः पाठः। 'ग्रह्य' इति शत० अन्यत्र च सर्वत्राभिमत. ॥

अति रमणीय, कार्य कुशल हाथों वाला होकर समस्त पदार्थों को (अमिमीत) बनाता है और जो (सुक्रतु) सब से उत्तम प्रज्ञावान् और शिल्पी है और जिसकी (कृपा) सर्वोच्च शक्ति या कृपा (स्वः) सबकी प्रेरक और तापक है या जिसकी कृपा ही परम मोक्षमय सुखमय है। हे परमेश्वर (त्वा) तुझे (प्रजाभ्यः) समस्त प्रजाओं के लिये उपास्य बतलाता हू। (त्वा प्रजा अनुप्राणन्तु) समस्त प्रजाए तेरी शक्ति से नित्य प्राणधारण करें और (त्व) तू (प्रजा) समस्त जीव प्रजाओं को अपनी शक्ति से (अनुप्रारितहि) प्राण धारण करा ॥

राजा के पक्ष में—(ओष्यो. सवितारं त्व देव कविक्रतुम्) राजाओं या शासकों और जासूमों अथवा पुरुष स्त्री दोनों के ससारों के प्रेरक प्रज्ञावान् मेधावी, सत्य न्याय का प्रदाता, रमणी गुणों के धारक, प्रिय मननशील क्रान्तदर्शी राजा को, हम पूजा या आदर करें जिसकी (अमतिर्मा) अगम्य कान्ति सब से ऊपर विराजती है और जो सुवर्णादि धन परवश करके सदाचारी होकर सुखमय राज्य बनाने में समर्थ है। हे पुरुष (त्वा प्रजाम्य.) तुझे प्रजाओं के हित के लिये हम राजा नियुक्त करते है। (त्वा प्रजा अजन्तु प्राणन्तु) तेरे आधार पर प्रजाएं जीवित रहें। (प्रजाः त्वम् अनुप्राणिहि) प्रजा की वृद्धि पर तू भी अपना जीवन धारण कर ॥ शत० ३। ३। २। ११–१६ ॥

शुक्रं त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रं चन्द्रेणामृतं समृतेन । सुगमे ते गोरुस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णैः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयम् ॥ २६ ॥

यज्ञो लिङ्गोक्ता अजा सोमो वा देवता । भुरिग् ब्राह्मी पंक्ति । पञ्चम ॥

२६—'सग्मेते गौरस्मै' इति उव्वट महीधराभिमतः पाठो निर्णयसागरीय. । 'सग्मेते गोरस्मे' इति शत०, द०, सात०, काण्व० । 'चन्द्र त्वा चन्द्रेण० शुक्र-शुक्रेणाम्०' इति काण्व० ॥

भा०—राजा-प्रजा के परस्पर के व्यवहार को स्पष्ट करते है। हे राजन् ! (शुक्रं) शरीर में वीर्य के समान राष्ट्र में बलरूप से विद्यमान (त्वा) तुझको मैं राष्ट्रवासी प्रजाजन (शुक्रेण) अपने तेजोमय सुवर्ण-रजतादि अर्थबल से या अपने भीतर विद्यमान शरीर बल से ही (क्रीणामि) अदला बदली करते हैं, ग्रहण करते हैं और (चन्द्रेण) अपने चन्द्र आह्लादकारी धन ऐश्वर्य के द्वारा (त्वां चन्द्रम्) तुम सर्व प्रजारञ्जक पुरुष को (क्रीणामि) अपनाते स्वीकार करते हैं और (अमृतेन) अपने अमर आत्मा द्वारा (अमृतम्) अमृत, अविनाशी तुझको स्वीकार करते हैं। (ते) तेरे (राज्ये) चक्रवर्ती राज्य में (गो.) इस पृथिवी से उत्पन्न (अस्मे चन्द्राणि) हमारे समस्त प्रकार के धन ऐश्वर्य (ते) सब तेरे ही है और तू साक्षात् (तपसः) तप का (तनूः) विग्रहवान्, शरीरों रूप (असि) है, अर्थात् शत्रु और दुष्टजनों का तापक एवं प्रजा के सुख के लिये समग्र तपस्या करने से साक्षात् तपःस्वरूप है और तू (प्रजापतेः) प्रजा के पालन करने वाले पिता या परमेश्वर के (वर्णः) महान् प्रजा पालन के कार्य के लिये हमारे द्वारा वरण करने योग्य है और (परमेण) परम, सर्वोत्तम (पशुना) गौ, हाथी सिंह इत्यादि रूप से (क्रीयसे) समस्त प्रजाओं द्वारा स्वीकार किया जाता है, माना जाता है अथवा तुझे प्रजा अपने सर्वोत्तम पशु धन देकर अपना रक्षक स्वीकार करती हैं। मैं, हम प्रजाजन (सहस्रपोषम्) हज़ारों धन समृद्धि सम्पदाएं प्राप्त करके (पुषेयम्) पुष्ट होवें ॥

मित्रो नऽएहि सुमित्रधऽइन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन्नुशन्तꣳ स्योनः स्योनम् । स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानवेते वः सोमक्रयणास्तान्रक्षध्वं मावो दभन् ॥ २७ ॥

सोमः सोमरक्षका विष्णयाः, विद्वान् वा देवता । भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

२७—०'कृशानो । एते'० इति काण्व० ।

भा०—अष्ट प्रधान या अष्ट प्रकृति राज्यव्यवस्था का वर्णन करते हैं। नरोत्तम ! तू (मित्र इव) प्रजाको मरण से त्राण करने वाले सूर्य के समान पालक (सुमित्रध) उत्तम २ मित्रों, सहायकों का धारण पोषण करने हारा होकर (न एहि) हमें प्राप्त हो। हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर या ऐश्वर्यवान् राष्ट्रपति के (दक्षिणम्) दायें या बलवान् (उशन्तम्) कामना युक्त (स्योन) सुखप्रद (उरुम्) विशाल, बहुतों को आश्रय देने में समर्थ पद को (आविश) प्राप्त कर। हे (स्वान) प्रजा के उपदेष्टा, हे (भ्राज) शस्त्रास्त्रों से परम शोभायमान। हे (अघो) अघं= पाप के शत्रो, पापी पुरुषों के दमनकारिन् ! हे (हस्त) शत्रुओं के युद्ध में हनन समर्थ सेनापते ! हे (सु-हस्त) उत्तम २ पदार्थ शिल्प द्वारा रचने में समर्थ विश्वकर्मन् ! हे (कृशानो) दुर्बलों या कृशों के उज्जीवक ! अथवा शत्रुओं के कर्शन करने हारे, उनके बल को नीति द्वारा तोड़ने हारे सात मुख्य पदाधिकारी पुरुषो ! (एते) ये सब प्रजास्थ पुरुष या प्रतिनिधिगण ! (व) तुम सबको (सोम-क्रयणाः) सोम, राजा को नाना प्रकार से स्वीकार रहे हैं। (तान् रक्षध्वयस्) उन सबको आप लोग रक्षा करें और वे (व) तुम सबको (मादयन्) विनाश न करें ॥

१परि माग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा मा सुचरिते भज।
२उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ २अनु ॥ २८ ॥

अग्निर्देवता। (१) साम्नी बृहती, मध्यम.। (२) साम्न्युष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) परमेश्वर अथवा शत्रु सन्तापक राजन् ! तू (मा) मुझको (दुश्चरिताद्) दुष्ट आचार से (परि बाधस्व) सब ओर से हरा। और (मा) मुझको (सुचरिते) उत्तम चरित्र में (भज) स्थापित कर। मैं (अमृताम् अनु) अमृत आत्मोपासक जीवनमुक्त या दीर्घायु पुरुषों के अनुगामी होकर (सु-आयुषा) सुदीर्घ आयु से युक्त (आयुषा) जीवन से

मुक्त होकर (उद अस्थाम्) उत्तम मार्ग में स्थिर रहूं ॥ शत० ३ । ३ । ३ । १४ ॥

प्रति॒ पन्थां॑मपद्महि स्वास्ति॒गामने॒हस॑म् ।
येन॒ विश्वाः॒ परि॒ द्विषो॑ वृ॒णक्ति॑ वि॒न्दते॒ वसु॑ ॥ २९ ॥

अग्नि पन्था वा देवता । निचृदार्षी गान्धारः ॥

भा०—हम लोग (स्वास्तिगाम्) कुशलपूर्वक उत्तम स्थान तक पहुंचाने वाले (अनेहसम्) चोर आदि हत्याकारी उपद्रवों से रहित (पंथाम्) उस मार्ग पर (प्रति अपद्महि) चला करें । (येन) जिससे सभी लोग (विश्वा.) सब प्रकार की (द्विषः) द्वेष करने वाली शत्रु सेनाओं को (परिवृणक्ति) दूर कर देते और (वसु विन्दते) नाना ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ शत० ३ । ३ । ३ । १ । १८ ॥

[1]आदित्यास्त्वग॒स्यदि॑त्यै॒ सद॒ऽआसी॑द । अस्तं॑भ्ना॒द् द्यां वृ॑ष॒भोऽ
अ॒न्तरि॑क्ष॒मामि॑मीत व॒रि॒माणं॑ पृथि॒व्याः । [2]आसी॑दद्विश्वा॒ भुव॑नानि
स॒म्राड् विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि ॥ ३० ॥ ऋ० ८ । ४२ । १ ॥

कृष्णाजिनः सोमो वरुणश्च देवताः । (१) स्वराड् याजुषी त्रिष्टुप्, (२) विराडार्षी त्रिष्टुप् छन्द. ॥

भा०—हे राजन् ! तू (आदित्या.) अदिति पृथिवीस्थ प्रजा का (त्वग् असि) त्वचा के समान उसका रक्षक है । तू (अदित्यै) अदिति पृथिवी के लिये (सदः) गृह के समान शरण होकर (आसीद) विराज । (वृषभ.) वर्षणशील मेघ या सूर्य जिस प्रकार (द्याम् अस्तभ्नात्) द्यौलोक को धारण करता है और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी व्याप्त करता है उसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (वृषभ.) सर्वश्रेष्ठ प्रजा पर उनके काम्य सुखों की

२९—अग्निर्देवता । द० । द्यामृषभो इति काण्व० ॥

वर्षा करने वाला होकर राजा (द्याम् अन्तरिक्षम् अस्तभ्नात्) द्यौ, आकाश और अन्तरिक्ष और उसमें होने वाले ऐश्वर्यों को अपने हस्तगत करे। और वही (पृथिव्या परिमाणम्) पृथिवी के विशाल परिमाण को भी (अमिमीत) स्वयं मापले, उसका पूरा ज्ञान रखे। वही (सम्राड्) महाराजाओं का महाराजा, सम्राट् होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों पर (आसीदत्) अधिष्ठाता होकर रहे, उन पर अधिकार करे। (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ राजा के (तानि) यही (विश्वा) सब नाना प्रकार के (व्रतानि) कर्तव्य हैं।

ईश्वर के पक्ष में—हे ईश्वर! तू पृथ्वी का रक्षक है, द्यौ और अन्तरिक्ष में व्यापक उसको थामने वाला है। पृथिवी के विस्तार को जानता है। अन्तरिक्ष में समस्त भुवनों को स्थापित करता है। ये सब महान् कार्य उस परमेश्वर के ही हैं, दूसरे के नहीं॥

सूर्य-वायु के पक्ष में—वायु पृथ्वी का आवरण है। उसका घर सा है। सूर्य, द्यौ अन्तरिक्षस्थ पिण्डों को थामता और पृथ्वी को प्रकाशित करता है। सब भुवनों को स्थापित करता है। यही महान् परमेश्वर के महान् कार्य हैं।

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु।
हृत्सु क्रतुं वरुणो अग्निमन्दिवि सूर्यं दधात् सोममद्रौ ॥३१॥

वरुणो देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवत ॥

भा०—राजा के उपमानों का समुच्चय करते हैं। (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (वनेषु) वनों के ऊपर उनके पालन करने, उन पर जलादि वर्षा करने के लिये (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और उसमें स्थित वायु और मेघों को (विततान) तानता है, जिससे वे खूब बढ़ें। और (अर्वत्सु) वेगवान् अश्वों और बलवान् पुरुषों में (वाजम्) बल, वीर्य और अन्न प्रदान करता है। (उस्रियासु) नदियों में जल, गौओं में दूध और सूर्य-किरणों

मे सूक्ष्म पुष्टिकारक बल रखता है। (दत्सु क्रतुम्) हृदयों में दृढ़ सकल्प को धारण कराता है। (दिवि सूर्यम्) आकाश में प्रकाशवान् सूर्य को स्थापित करता है। (अद्रौ) पर्वत पर (सोमम्) सोमवल्ली को या (अद्रौ) मेघ में (सोमम्) सर्वसृष्टयुत्पादक जल को (अदधात्) वैश्वा नर अग्नि के समान अग्नि अर्थात् अग्रेणीनेता को भी स्थापित करता है। अर्थात् परमात्मा ही प्रजाओं मे नेता को अधिक शक्तिमान् बना कर उसको उत्तम उत्तम कर्तव्य भी सौंपता है। वह अन्तरिक्ष के समान सब पर आच्छादक, रक्षक रहे। अश्वों में वेग के समान संग्रामों मे विजयी रहे। गौओं में दूध के समान निर्बलों का पोषण करे। हृदयों में दृढ़ संकल्प के समान प्रजा में स्थिरमति हो। आकाश में सूर्य के समान सबको प्रकाश दे। ज्ञान दे। मेघ में स्थित जल के समान सबको प्राणप्रद, अन्नप्रद हो। वह परमात्मा सबको उपास्य है जिसने ये सब पदार्थ भी रचे॥

सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्।
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता॥ ३२॥

अग्निर्देवता। निचृदार्ष्यनुष्टुप्। गाधारः॥

भा०—हे राजन्! तू (यत्र) जहां कहीं भी (विपश्चिता) विद्वान् पुरुषों के साथ अपने (एतशेभिः ईयसे) घोड़ों से जाय वहां ही तू (सूर्यस्य [प्रकाश इव]) सूर्य के प्रकाश के समान लोगों की आखों पर (आरोह) चढा रह, उनको शक्ति देकर उन पर अनुग्रह कर। और रात्रि के समय (अग्नेः [प्रकाश इव]) अग्नि के प्रकाश के समान (अक्ष्णः कनीनकम् आरोह) लोगों की आख की पुत्तली पर चढ़, अर्थात् अन्धकार में आख जिस प्रकार सदा चमकती आग या दीपक पर ही जाती है उसी प्रकार लोगों की आखों की पुत्तली तेरी ओर ही लगी रहे, अर्थात् तू उनकी

३२—' ०कनीनकाम् । ' इति काण्व० ॥

आखों पर लक्ष्य के समान बना रह । प्रजाओं को अन्धकार में भी प्रकाश दे और मार्ग दर्शा ॥

ईश्वर पक्ष में—(यत्र) जहा और जब भी (एतशेः) व्यापकता, सर्वज्ञत्वादि गुणों से (आजमान.) देदीप्यमान होकर (विपश्चिता) विद्वान् पुरुष द्वारा (ईयसे) बतलाया जाता है । वहा और उसी समय तू हे ईश्वर ! (सूर्यस्य चक्षु. आरोह, अग्ने. कनीनकं आरोह) दिन में सूर्य के प्रकाश के समान और रात्रि में अग्नि के प्रकाश के समान चक्षु और आंख की पुतली पर चढते हो और उन पर अपना अधिकार करते हो अर्थात् तुम्हीं उनको ज्ञान मार्ग दिखाते हो । इसी प्रकार मुख्य प्राण अपने जीवन प्रदाता आदि गुणों से ज्ञापित होकर हमें मार्ग दिखाती है, प्रकाश देती है ॥

[1]उस्रावेतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ।
[2]स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतम् ॥ ३३ ॥

सूर्यविद्वांसौ नड्वाहो वा देवता । (१) भुरिगार्षी पंक्ति. । पञ्चम ।
(२) याजुषी जगती । निषाद ॥

भा०—(एतौ) ये दोनों (धूर्षाहौ) पृथ्वी का भार धारण करने में समर्थ और प्रजाओं को बसाने वाले (अवीरहणौ) अपने राष्ट्र के वीर पुरुषों को नाश करने वाले और (ब्रह्मचोदनौ) ब्रह्मज्ञान या वेदविज्ञान को उन्नत करने वाले राजा, अमात्य या दोनों विद्वान् पुरुष हैं (अनश्रू) आँसुओं से, क्लेश विपत्तियों और बाधा पीड़ा से रहित, सुप्रसन्न चित्त से रहने वाले उन दोनों को (युज्येथाम्) गाड़ी में बैलों के समान राष्ट्र सचालन के कार्य में नियुक्त किया जाय । हे उक्त दोनों समर्थ नरपुंगवो ! आप दोनों (यजमानस्य) दानशील, धार्मिक, उदार प्रजाजन के (गृहान्)

३३—'अनश्च्यू' इति दयानन्दभाष्य गतः पाठश्चिन्त्य. । च्यु हसन सहनयोः चुरादिः । अथवा च्युङ्गतौ भ्वादिः । 'उस्रा एत धूर्वाहौ०' इति काण्व० ॥

घरों के (स्वस्ति गच्छतम्) सुखपूर्वक प्राप्त होओ, अथवा उनको सुख कल्याण प्राप्त कराओ ॥

देह पक्ष में—(उक्षौ एतौ) आत्मा के देह में निवास के हेतु प्राण, अपान सुप्रसन्न (अवीरहणौ) शरीर के समर्थ अंगों का नाश करनेवाले (ब्रह्मचोदनौ) ब्रह्म, आत्मा के प्रेरक दोनों को योगाभ्यास में लगाओ । वे यजमान, आत्मा के देह को सुख से प्राप्त हों या सुख प्राप्त करावें । इसी प्रकार सूर्य और वायु अन्नागढ में (ब्रह्मचोदनौ) अन्न को प्राप्त करानेवाले उनको अपने शिल्पकार्यों में लगावें । बैलों के पक्ष में स्पष्ट है ॥

'अनश्च्यू' इति महर्षिसम्मतपाठः । (अनश्च्यू अनः=च्यू १) 'अनस' शकट को 'च्यु' उठाने वाले राष्ट्र रूप शकट को दूर अथवा शकट को लेजाने वाले । अथवा स्त्री पुरुषों पर भी यह मन्त्र लगता है । (अवीरहणौ) वीर-पुत्रों का नाश न करने वाले (ब्रह्मचोदनौ) वेद का स्वाध्याय करने वाले (अनश्रू) आंसू न बहाने वाले, परस्पर सुप्रसन्न, (धूर्षाहौ) गृहस्थ के भार को सहने में समर्थ, (उक्षौ) एकत्र वसने वाले, अथवा (उत्सर्पिणौ) उन्नत मार्ग पर जानेवाले दोनों को (युज्येथाम्) गृहस्थ में लगाया जाय । ऐसे युवा युवति, यजमान यज्ञशील, धार्मिक पुरुष के घरों पर आवें और सुख प्रदान करें ॥

[1]भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वान्यभिधामानि । [2]मा त्वा परिपरिणौ विदन् मा त्वा परिपन्थिनौ विदन् मा त्वा वृका अघायवौ विदन् । [3]श्येनो भूत्वा परापत यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ सꣳस्कृतम् ॥ ३४ ॥

यजमान सोमो वा देवता । (१) भुरिगार्षी गायत्री । षड्ज । (२) भुरिगार्ची बृहति मध्यमः । (३) विराड् आर्ची । गान्धार ॥

३४—यजमानो देवता । द० ॥

भा०—हे (ध्रुवः पते) पृथ्वी के पालक राजन् ! तू (मे) मुझ राष्ट्रवासी प्रजाजन के लिये (भद्रः) कल्याण करने और सुख पहुचाने वाला (असि) है (विश्वानि धामानि) समस्त राष्ट्र के अन्तर्गत स्थानों या पृथ्वी पर विद्यमान देशों को (अभि प्र च्यवस्व) प्राप्त हो, उन पर आक्रमण करके विजय कर । ऐसी दशा में (त्वा) तुझको (परिपरिणः) पर्यवस्थाता, तुझे घेर लेने वाले शत्रुगण या आक्रामक, चोर डाकू लोग (मा विदन्) न पकड़ सकें, तुझ तक न पहुंचे और (परिपन्थिनः) शत्रु लोग, दस्युजन (त्वा मा विदन्) तुझे न जान पावें। और (अघायवः) तुझ पर हत्या आदि का पाप करने की इच्छावाले (वृकाः) चोर लोग (मा त्वा विदन्) तुझे न पावें । तू उन पर (श्येन भूत्वा) श्येन होकर, अर्थात् शिकार पर जिस प्रकार बाज़ झपटता है उस प्रकार, उन पर (परापत) दूर तक आक्रमण कर और विजयी होकर आ । या (श्येनो भूत्वा परापत) श्येन बाज के समान शीघ्रगामी होकर उनके फन्दों से छूट आ । (यजमानस्य) सत्संग करने योग्य पूजनीय विद्वान् पुरुषों के (गृहान् गच्छ) गृहों को या उनसे बसे द्वीप, देश देशान्तर को प्राप्त हो । (नौ) हम प्रजाजन और तुझ राजा दोनों का (तत्) वह विजयोपयोगी युद्धोपकरण रथ आदि सब (सुसंस्कृतम्) उत्तम रीति से सुसज्जित हो । या (नौ तत् सुसंस्कृतम्) हमारा परस्पर—वह सब शासन और विजय कार्य उत्तम रीति से हो ॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतꣳ सपर्यत ।
दूरेदृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्य्याय शꣳसत ॥ ३५ ॥

सूर्यो देवता । निचृदार्षी जगती । निषादः स्वरः ॥

भा०—(मित्रस्य) सबके मित्र, सबके स्नेही, सबको मरण से बचाने वाले (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ, सर्वदुःखवारक, सबसे वरण करने योग्य, (चक्षसे) सर्वद्रष्टा उस परमेश्वर को (नमः) हम नमस्कार करें । (महः

देवाय) महान् उस सर्वप्रद, सर्वदर्शी, सर्वप्रकाशक परमेश्वर के (तत् ऋतम्) उस सत्यस्वरूप, सत्य ज्ञान की (सपर्यतः) पूजा करें । (दूरे दृशे) दूर २ के पदार्थों को भी दिखाने वाले (देवजाताय) दिव्यगुणों से प्रसिद्ध या देव-विद्वानों द्वारा प्रसिद्ध या पृथिवी अग्नि वायु सूर्य आदि दिव्य पदार्थों के उत्पत्तिस्थान उस (केतवे) सर्वप्रज्ञापक, ज्ञानस्वरूप, चित्स्वरूप, (दिवः पुत्राय) प्रकाशस्वरूप, सर्वपवित्रकारक या समस्त दिव्य, द्यौ-लोक या तेजोमय पदार्थों के पवित्रकारक, संस्कारक, प्रकाशक या उसमें व्यापक (सूर्याय) सबके प्रेरक, चराचररूप परमैश्वर्य के कारणभूत परमेश्वर के (शंसत) गुणों का गान करो ।

राष्ट्रपक्ष में—मित्र, वरुण दोनों अधिकारियों का आदर कर, मार्गदर्शी देव, विद्वान् पुरुष या राजा के 'ऋत' ज्ञान या क़ानून का आदर करो । दूरदर्शी विद्वानों और राजाओं में शक्तिमान् ज्ञानी, दिव्य वेदवाणी के पुत्र उसके विद्वान् ज्ञानसूर्य के गुणों की प्रशंसा करो ॥

वरुणस्योत्तम्भनमसि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थो वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऽऋतसदनमसि वरुणस्य ऽऋतसदनमासीद ॥ ३६ ॥

वरुण सूर्यो वा देवता । विराड् ब्राह्मी बृहती छन्दः । मध्यमः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य) वरण करने योग्य, इस श्रेष्ठ जगत्-ब्रह्माण्ड का (उत् तम्भनम्) ऊपर उठानेहारा बल है । हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य) इस ब्रह्माण्ड का (स्कम्भसर्जनी स्थः) खम्भे के समान आश्रय देने और 'सर्जनि' उत्पन्न करने या प्रेरणा देने, दोनों प्रकार का बल रूप (स्थः) है । अथवा (स्कम्भसर्जनी स्थः) या जगत् के या आवरणकारी वायु के, आधार शक्तियों, मूल तत्वों को सर्जन और प्रेरण करनेवाले दोनों बलरूप हैं । हे परमेश्वर ! तू ही (वरुणस्य) सर्वोपरि विराजमान सूर्य के

३६—सूर्यो देवता । द० । ०'सदनीमासीद' इति काण्व० ॥

भीतर विद्यमान (ऋतसदनी) ऋत अर्थात् जलों को धारण और लोकों के आकर्षण करनेवाली शक्ति है । (वरुणस्य ऋतसदनम् असि) वरुण, समस्त उत्तम पदार्थों के (ऋतसदनम्) यथार्थ सत्य ज्ञान का आश्रय है । हे परमेश्वर ! तू (वरुणस्य ऋतसदनम्) वरुण—सर्व उत्तम गुणों के सत्यज्ञानों के आश्रय को (आसीद) स्वय प्राप्त करने और अन्यों को प्राप्त करानेहारा है ॥

राजा के पक्ष में—हे विद्वान् पुरुष ! तू 'वरुण' वरण करने योग्य सर्व श्रेष्ठ राजा का 'उत्तम्भन' ऊपर उठाने वाला, आश्रयभूत है । हे विद्वत्सभाओ ! तू वरुण राजा का (स्कम्भसर्जनी स्थः) आधारभूत, अन्य शासक पदाधिकारी जनों को धारण करनेवाली या शासन के धारण करनेवाली और व्यवस्था नियम को बनाने और चलानेवाली दो राजसभा हो । एक राजनियम निर्मात्री 'लेजिस्लेटिव', दूसरी सचालिका 'एक्जिक्यूटिव' सभा, और हे तीसरी सभे ! तू (ऋतसदनी असि) ऋत, ज्ञानों का आश्रयभूत विद्वत्सभा या ज्ञानसभा है, और हे सभाभवन ! तू (वरुणस्य ऋतसदनम् असि) सर्वश्रेष्ठ स्वयंवृत राजा के ऋत या राज्यशासन का मुख्यस्थान, केन्द्र या सिंहासन या उच्च सभापति का अधिकारासन है । हे सर्वश्रेष्ठ पुरुष ! तू (ऋतसदनम् आसीद) उस शासन और न्याय के उत्तम आसन पर विराजमान हो । सबको न्याय प्रदान कर ॥

सूर्य के पक्ष में—वह वरुण अपने वरणकारी ग्रह मण्डल का आरम्भक है । उसको थामने और गति देनेवाला है, उसकी शक्ति का केन्द्र स्वयम् ऋत अन्न, जल आदि का आश्रय है ।

य ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्यान् ॥ ३७ ॥

गोतमो राहूगण ऋषिः । सोमो यज्ञो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

३७—यज्ञो देवता । द० ॥

भा०—हे सोम राजन् ! परमेश्वर (या धामानि) जिन स्थानों को (हविषा) आदान अर्थात् साधक या वश करने के साधनों को (यजन्ति) तेरे सैनिक प्राप्त कर लेते हैं, (ता) उन (ते) तेरे (विश्वा) सब पर तू (यज्ञम्) यज्ञ=शासन, सबके संगमस्थान, शासन, सभाभवन का (परिभूः) सब प्रकार से समर्थ अधिकारी होकर (अस्तु) रह। और तू (गयस्फानः) अपने प्रजा के पुत्र, धन और गृह ऐश्वर्य आदि की वृद्धि करता हुआ, (प्रतरणः) नाव के समान उनको सब कष्टों से पार करता हुआ (सुवीरः) उत्तम वीर भटों से युक्त, (अवीरहा) वीरों को व्यर्थ युद्ध-कलहों में नाश न करता हुआ (दुर्यान्) हमारे गृहों को (प्रचर) प्राप्त हो, हमसे परिचय प्राप्त कर ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! जिन तेरे बनाये धारणशील आश्रय पदार्थों, मूल तत्वों को विद्वान् जन (हविषा) ग्राह्य या दातव्य पदार्थ या कार्य-साधक पदार्थ से (यजन्ति) मिलाते हैं उन (ते) तेरे बनाये समस्त पदार्थों को हम भी मिलावें, प्राप्त करें और जो तेरा (गयस्फानः) ऐश्वर्य-वर्धक (सुवीरः) उत्तम, बलयुक्त (अवीरहा) कातर मनुष्यों का नाशक (यज्ञम्) यज्ञ है, उस पर तू (परिभूः) सब प्रकार से शासक है। हे सोम, सर्वेश्वर या विद्वन् तू स्वयं यज्ञ का सम्पादन कर गृहों को प्राप्त हो, गृह के कार्यों को सम्पादन कर। अथवा—हे परमेश्वर ! तू (या ते विश्वा धामानि) जितने तेरे धाम, धारण सामर्थ्यों और तेजों को विद्वान् लोग (हविषा यजन्ति) ज्ञानपूर्वक उपासना करते हैं। (ता विश्वा ते) वे सब तेरे ही सामर्थ्य हैं। और तू (यज्ञम् परिभूः अस्तु) यज्ञ, समस्त प्राणों के संगमस्थान आत्मा के ऊपर भी वश करने हारा है। आप (गयस्फानः प्रतरणः सुवीरः) प्राण, पुत्र, धन, गृह आदि के वर्धक, दुःखों से पार उतारने वाले, उत्तम बलशाली, (अवीरहा) वीर पुरुषों के नाश न करने और कातरों के नाश करने वाले हैं। हे (सोम दुर्यान्

नः प्रचर) सोम राजन् हमारे भी द्वारों से युक्त इस अष्टचक्रा नव द्वारा पुरी के हृदयों में प्रकट होइये ।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

[तत्र सप्त त्रिंशदृचः]

इति मीमांसातीर्थ-विद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डित-जयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

१—४३ प्रजापतिर्ऋषि ॥

॥ ओ३म् ॥ अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा तिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वाग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा ॥ १ ॥

विष्णुर्देवता । स्वराड्ब्राह्मी बृहती । मध्यमः स्वरः ॥

भा०—हे अन्न या हे योग्य पुरुष ! तू (अग्नेः तनूः असि) अग्नि का स्वरूप है । (विष्णवे त्वा) तुझको राज्य शासन रूप यज्ञ या व्यापक राज्यव्यवस्था के कार्य के लिये प्रदान करता हूं । हे जल, तू (सोमस्य तनूः असि) सोम का शरीर है । (त्वा विष्णवे) तुझको मैं व्यापक, प्रजा-पालक के लिये प्रदान करता हूं । हे जल ! तू (अतिथे) अतिथि के लिये (आतिथ्यम् असि) आतिथ्य है । अर्थात् अतिथि के समान पूजनीय राजा के निमित्त है । (त्वा) तुझे (विष्णवे) विष्णु, व्यापक राज्य-शासन के लिये (श्येनाय त्वा) श्येन=बाज के समान शत्रु पर आक्रमण करने वाले (सोमभृते) सोम-राष्ट्र को पालन पोषण करने वाले के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूं । (विष्णवे त्वा) व्यापक या प्रजा के भीतर पूज्य-रूप से रहने वाले (अग्नये) अग्नि के समान ज्ञानप्रकाशक या शत्रुतापक और (रायः पोषदे) धन की समृद्धि और पुष्टि प्रदान करने वाले (विष्णवे त्वा) विष्णु, समस्त कार्यों में मुख्य रूप से वर्तमान पुरुष के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूं ॥

भौतिक पक्ष में—हे हवि ! तू अग्नि विद्युत् का दूसरा स्वरूप है । (विष्णवे त्वा) तुझे यज्ञ-पदार्थों के संश्लेषण विश्लेषण के लिये प्रयुक्त

१—[१–१४] गोतम ऋषिः । द० ॥

करूं। तू सोम, जगत् के उत्पन्न पदार्थ या रस का विस्तारक है। तुझे (विष्णवे) व्यापक वायु के लिये प्रयुक्त करूं। और हे हवि ! अन्न तू (अतिथेः आतिथ्यम् असि) विना तिथि के आये विद्वान् अतिथि के आतिथ्य सत्कार करने के योग्य है और व्यापिशील, विज्ञान प्राप्ति के लिये तुझे प्रयोग करता हूं। (श्येनाय त्वा) श्येन के समान शीघ्र जाने के लिये, (सोमभृते विष्णवे त्वा) सोम, ज्ञान या प्रेरणासामर्थ्य या राजा के अपने कर्म पालन पोषण करने वाले या राष्ट्रपोषक, सर्वकर्मकुशल, सर्व-विद्या के पारंगत पुरुष के लिये तुझे प्रयुक्त करूं। (अग्नये) अग्नि की वृद्धि के लिये तुझको प्रयुक्त करूं। (रायस्पोषदे विष्णवे त्वा) विद्या, धन, ऐश्वर्य की पुष्टि, समृद्धि प्राप्त कराने वाले (विष्णवे त्वा) सद्गुण विद्या आदि की प्राप्ति के लिये भी तेरा प्रयोग करूं॥ शत०॥

अर्थात् यज्ञ, विद्वान्, अतिथि, शूरवीर, शत्रुविजयी पुरुष, राष्ट्रपालक धनैश्वर्य का प्रदाता ये सब 'विष्णु' हैं और उनके लिये राष्ट्र की भिन्न २ प्रकार के भोग्य, आदर योग्य पदार्थ प्रदान करें। उनको उचित योग्य पुरुष सहायक दिये जायं और उन कार्यों के लिये उत्तम योग्य पुरुष नियुक्त करें। इस प्रकार ५ प्रकार के विष्णु हैं। १ अग्नि विष्णु, २ सोम विष्णु, ३ अतिथि विष्णु, ४ श्येन विष्णु, ५ रायस्पोषद अग्नि विष्णु। इन के लिये ५ प्रकार की विशेष हवि या अन्नादि सामग्री प्रस्तुत करें। जैसे शरीर में आत्मा प्रजापति पांच प्राण, जैसे संवत्सरमय सूर्य के पाच ऋतु वैसे राजा प्रजापति के ये पांच विष्णु अर्थात् पांच विभाग हैं जहां राजा अपने कोश और अन्न को प्रदान करे॥

[1]अग्नेर्जनित्रमसि। वृषणौ स्थ ऽउर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा ऽआसि।
[2]गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि

जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥ २ ॥

शकन, दर्भतृणे, अधरोत्तरारण्यौ, अग्निश्च, विष्णुर्यज्ञो वा देवता । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः । (२) आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! तू (अग्नेः जनित्रम् असि) जिस प्रकार अग्नि को उत्पन्न करने के लिये नीचे काष्ठखण्ड रक्खा होता है, उस पर अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार तू भी (अग्नेः) अग्नि के समान शत्रुतापक राजा का (जनित्रम्) उत्पन्न करने वाला, उसका भोग्य रूप अन्न है । हे शत्रुहिंसक सेनापति और मन्त्रिन् ! तुम दोनों (वृषणौ स्थः) जिस प्रकार पुत्र को उत्पन्न करने वाले माता पिता दोनों वीर्य सेचन क्रिया में समर्थ होते हैं उसी प्रकार तुम दोनों भी (वृषणौ) सूर्य वायु के समान राजा के समस्त कार्यों में बल प्रदान करने वाले हो । हे राजसभे ! (उर्वशी असि) तू उस विशाल राष्ट्र को वश करने में समर्थ है । हे राजन् या सभापते ! तू (पुरूरवाः असि) बहुत से पुरुषों तक अपना ज्ञानमय उपदेश पहुंचाने में समर्थ सुवक्ता, उपदेष्टा है । हे राजन् ! (त्वा) तुझको (गायत्रेण छन्दसा) ब्राह्मणों, विद्वान् पुरुषों के रक्षा बल से (मन्थामि) मथता हूं । (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप्, अर्थात् क्षात्र बल से मथता हूं । (त्वा जागतेन छन्दसा मन्थामि) तुझको जागत अर्थात् वैश्य के बल से मथता हूं ॥

पुत्रोत्पत्ति पक्ष में—जिस प्रकार हे वीर्य रूप हवि ! तू अग्नि चेतना का उत्पतिस्थान है, शरीर मे (वृषणौ स्थः) सेचन समर्थ स्त्री पुरुष हैं । उर्वशी स्त्री है, पुरुरवा पुरुष पति है । उसी प्रकार यह सूर्य का तेज ही विद्युत का उत्पति स्थान है । सूर्य और वायु जल को आकाश में सेचन करते हैं, उर्वशी विद्युत् है । उसका पालक मेघ पुरुरवा महान् गर्जन करता

२—विष्णुर्यज्ञो देवता । द० ॥

है। गायत्री आदि पृथिवी, अन्तरिक्ष द्यौ.लोक के भिन्न २ व्यापार से वह मंथित होती है ॥

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ३ ॥

यज्ञो देवता । पंक्ति. । पञ्चमः स्वर. ॥

भा०—हे स्त्री और पुरुष तुम दोनो ! (नः) हममें (सचेतसौ) समान चित्त वाले (अरेपसौ) पापरहित (समनसौ) एक समान ज्ञान या सकल्प विकल्प वाले (भवतम्) होकर रहो। तुम दोनों (यज्ञम्) एक दूसरे के प्रति परस्पर दान या परस्पर के संग को (मा हिंसिष्टम्) विनाश मत करो। (यज्ञपतिम्) इस यज्ञ के पालक को भी नाश मत करो। (जातवेदसौ) धन और ज्ञान से युक्त होकर (अद्य) आज से (न) हमारे लिये (शिवौ) कल्याण और सुखकारी (भवतम्) होकर रहो। इसी प्रकार अध्यापक शिष्य, राजा प्रजा, राजा सचिव आदि पर भी यह मन्त्र समान रूप से लगता है ॥ शत० ३ । ४ । १ । २०–२३ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणांपुत्रो अभिशस्तिपावा । स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳसदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥ ४ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—जो (अभिशस्ति-पावा) चारों तरफ से होनेवाला, घातक विपत्ति से बचानेवाला (ऋषीणाम् पुत्र) वेदार्थवक्ता ऋषियों का पुत्र या शिष्य होकर (अग्नौ) अग्नि में जिस प्रकार (अग्निः) अग्नि (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर और अधिक प्रदीप्त हो, उसी प्रकार (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, तपस्वी और ज्ञानी होकर (अग्नौ) ज्ञान और तेज से

३—०'सचेतसा अरेप०' इति काण्व० ॥

सम्पन्न गुरु के अधीन उसके चित्त में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (चरति) व्रत का आचरण करता है या अपने जीवन सुखों का, या अन्न आदि का भोग करता हैं और (देवेभ्यः) देवों, विद्वानों के लिये (हव्यम्) अन्न और (सदम्) निवासस्थान (स्वाहा) उत्तम वचन, मधुरवाणी सहित आदर-पूर्वक (अप्रयुच्छन्) प्रदान करने में कभी आलस्य न करता हुआ (चरति) जीवन पालन करता है । हे मनुष्य ! तू (स) वह (स्योनः) सर्व सुख-कारी (सुयजा) उत्तम यज्ञ दान कर्म से (इह) इस लोक में (यज) यज्ञ कर, दान पुण्य के कार्य कर ।

राजा सबका रक्षक विद्वानों का पुत्र होकर मानो अग्नि में अग्नि के समान प्रविष्ट होकर खूब तेजस्वी होकर विचरता है । वह प्रमाद रहित होकर उत्तम रीति से दान करे । अपने अधिकारी देव पुरुषो को उनका वेतन आदि देने में भी और विद्वानों को अन्न वस्त्र देने में आलस्य न करे ॥ शत० ३ । ४ । १ । २ । ५ ॥

[1]आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्नऽओजिष्ठाय । [2]अनाघृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽनभिशस्त्यभिशस्तिपाऽअनभिशस्तेन्यमꣳसा सत्यमुपगेषꣳ स्विते मा धाः ॥ ५ ॥

वायुविद्युद् आज्य च देवता । (१) आर्षी उष्णिक् । ऋषभः ।
(२) भुरिगार्षी पक्तिः । पन्चम ॥

भा०—हे सर्वश्रेष्ठ, सर्वोत्तम पुरुष ! मैं (त्वा) तुझको अपना (आपतये) चारों तरफ से, सब प्रकार से रक्षक होने के लिये, (परिपतये) सब स्थानों पर पालकरूप से, (तनूनप्त्रे) शरीर के रक्षकरूप से, (शक्वने) शक्तिमान्, (शाक्वराय) शक्तिशालियों के भी ऊपर उनके अधिपतिरूप से

५—विद्युद् देवता । द० । 'आपतये त्वा । गृह्णामि परिपतये त्वा गृ० ', ०शक्वमन्तोजि०' 'सुविते मा धाः' इति काण्व० ॥

विराजने के लिये (गृह्णामि) तुझे स्वीकार करता हूं। हे राजन् सब से मुख्य उत्कृष्ट पुरुष [1] तू (अनाधृष्यम्) कभी भी पराजित न होने वाला (देवानाम्) देव, युद्धविजेता पुरुषों का (ओजः) शरीर में ओज के समान परम बल है। जो (अनभिशस्ति) कभी विनाश नहीं किया जा सकता, (अभिशस्तिपा) सब बाधाओं, पीड़ाओं और आघातों से रक्षा करने वाला और (अनभिशस्तेन्यम्) विपत्ति, घातप्रतिघात से रहित, निर्विघ्न मार्ग में सबको लेआने, पहुंचा देने वाला है। (अञ्जसा) जल्दी ही या स्पष्टरूप से, प्रकाश रूप से मै (सत्यम्) अपने सत्य परिपालन के व्रत को (उपगेषम्) प्राप्त होऊं। हे राजन् ! तू (स्विते मा धाः) सज्जनों से प्राप्त होने योग्य उत्तम मार्ग में स्थापित कर ॥

सब लोग अपने राष्ट्र को अजय बना लेने के लिये सत्य शपथ पूर्वक अपने से श्रेष्ठ शक्तिशाली पुरुष को उक्तरूप से अपना सर्वस्व स्वामी वरण करें और उससे द्रोह न करने की प्रतिज्ञा करें। वह उनको उत्तम मार्ग में रक्खे। आधिभौतिक में वायु, अध्यात्म मे प्राण और परमेश्वर पक्ष में भी यह मन्त्र समानरूप से है। इसी मन्त्र से आचार्य का वरण भी शिष्य करे ॥ शत० ३ । ४ । २ । १०–१४ ॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूरियꣳ सा मयि यो मम तनूरेषा सा त्वयि। सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षान्दीक्षा-पतिर्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः ॥ ६ ॥

अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मीपङ्क्तिः । पञ्चमः स्वरः ॥

भा०—हे अग्ने ! आचार्य ! अथवा परमेश्वर वा राजन् ! आप (व्रतपाः) व्रतों के, सत्य धर्माचरण और प्रजाओं के परस्पर व्यवहार शासन व्यवस्थाओं के पालक हैं, (त्वे) तेरे अधीन मैं (व्रतपाः) व्रतों का

६—'०या मम०' इति काण्व० ॥

पालन करनेहारा होऊं। (तव) आपकी (या) जो (तनूः) विस्तृत शरीर शक्ति है (इयं) यह (सा) वह शक्ति (मयि) मुझ पर शासन करे और (या) जो (मम) मेरे में (तनूः) व्यापक सामर्थ्य है (सा) वह (त्वयि) तुझ में, तेरे अधीन रहे। हे (व्रतपते) व्रतों के पालक ! (नौ) हम दोनों के (व्रतानि) समस्त व्रत (सह) एक साथ रहें। (दीक्षापतिः) दीक्षा का पालक (मे) मुझे (दीक्षाम् अनुसन्यताम्) दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करे और (तपः पतिः) तपश्चर्या का पालक, आचार्य और परमेश्वर (तप) मुझे तपो व्रत ग्रहण करने की अनुमति दे। राजा और उसके अधीन प्रतिज्ञाबद्ध भृत्य, सेवक, सहायक एवं सेनापति, सैनिक और आचार्य, शिष्य परस्पर ऐसे प्रतिज्ञा करे। शिष्य इस प्रार्थना से दीक्षा ले तप का पालन करे ॥ शत० ३ । ४ । ३ । १–६ ॥

'अꣳशुर꣡ꣳशुष्टे देव सो꣡माप्या꣡यता꣡मिन्द्रा꣡यैकध꣡नविदे꣡। आ तु-भ्य꣡मिन्दु' प्याय꣡ताꣳमात्वमिन्द्रा꣡य प्यायस्व। 'आप्या꣡यय꣡ास्मान्त्स-खी꣡꣫न्त्स꣡न्या मे꣡ध꣡या स्व꣡स्ति ते꣡ देव सोम सु꣡त्यामशीय। पु꣡ष्टा राय꣡ः प्रेषे भगा꣡यऽऋ꣡तꣳसृ꣡तव꣡रादिभ्यो नमो꣡ द्यावा꣡पृथि꣡वीभ्याम् ॥ ७ ॥

सोमो देवता। (१) आर्षी बृहती। मध्यम। (२) आर्षी जगती। निषाद. ॥ प्रकृतिर्वा छन्दः ॥

भा०—हे (देव सोम) प्रकाशस्वरूप सोम ! सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर या परब्रह्मानन्द ! (ते अंशुः अंशुः) तेरा प्रत्येक अंशु, तेरी प्रत्येक व्यापक शक्ति (एकधन विदे) एक विज्ञान मात्र धन को लाभ करने वाले, (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त ज्ञानसम्पन्न आत्मा को (आप्यायताम्) बढावे, उसको शक्ति प्रदान करे। (इन्दः) और वह इन्द (तुभ्यम्) तुझे

७—अग्निर्देवतेति माधव। लिंगोक्ता इति० सर्वा०। ०'सुत्यामुदृचमशीय'। ०'नम पृथिव्यै'। इति काण्व०॥

(आप्यायताम्) बढ़ावें, (त्वम्) तू (इन्द्राय) इन्द्र को (आप्याययस्व) बढ़ा ! बढ़ा ! (अस्मान् सखीन्) हम मित्रों को भी (सन्त्या मेधया) सत् स्वरूप परमेश्वर तक पहुंचाने वाली मेधा, धारणवती प्रज्ञा से (आप्याययः) बढ़ा, तृप्त कर । हे (देव सोम) प्रकाश स्वरूप सोम । योग समाधि द्वारा प्राप्त ब्रह्मानन्द रस ! हम (स्वस्ति) सुखपूर्वक (ते) तेरे (सुत्याम्) आनन्द रसकी प्राप्ति को (अशीय) लाभ करें । हे सोम परमेश्वर ! (आ इष्टा.) सब प्रकार से इष्ट (रायः) ऐश्वर्यों को । (इषे) अन्न और उत्तम कामना और (भगाय) ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (प्र) उत्तम रीति से प्राप्त करें । (ऋतवादिभ्य.) सत्यवादी पुरुषों से हम (ऋतम्) सत्य ज्ञान प्राप्त करें और (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यौ और पृथिवी से हम (नमः) अन्न प्राप्त करें ॥

राष्ट्र पक्ष में—हे सोम राष्ट्र ! तेरा एक अंशु एक मात्र धन के स्वामी राजा को बढावें, या उसके लिये बढे । तुझे इन्द्र राजा बढावे । तू राजा के लिये वृद्धि को प्राप्त हो । हमारे मित्र राष्ट्र को (सन्त्या मेधया) सन्मार्ग-में लेजाने वाली बुद्धि से बढ़ा । सुख पूर्वक हम तेरी (सुत्या) प्रेरक आज्ञा, या शासन व्यवस्था में रह कर इष्ट धनों को प्राप्त करें । उत्तम अन्न ऐश्वर्य लाभ करें । सत्यज्ञानियों से ज्ञान और द्यौ पृथिवी में से अन्न प्राप्त करें । इसी प्रकार हे सोम ! हे शिष्य ! एक मात्र विज्ञान के धनी आचार्य के लिये तेरा प्रत्येक अंग बढ़े, तुझे वह बढ़ावे, तू उसे बढ़ावे । हमारे स्नेहियों को सन्मार्गगामिनी बुद्धि से बढ़ा । तेरी ज्ञान प्राप्ति में हम धन प्राप्त करें । तू ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त कर । द्यौ और पृथिवी से बल, धन, अन्न प्राप्त कर । इस प्रकार भिन्न २ प्रकरण में मन्त्रार्थ जानना चाहिये ॥

[1]या तेऽअग्नेऽयःशया तनूर्वर्पिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपाव-धीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत् स्वाहा । [2]या तेऽअग्ने रजःशया तनूर्वर्पिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचोऽअपावधीत्त्वेषं वचोऽअपावधीत्

स्वाहा । या तेऽअग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं वचो अपावधीत् स्वाहा ॥ ८ ॥

अग्निर्देवता । (१) पूर्वस्य विराड् आर्षी बृहती । (२) निचृदार्षी बृहती । मध्यम. ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (या) जो (ते) तेरी (तनूः) व्यापक शक्ति (अयः शया) अयस्=अर्थात् निम्न श्रेणी की प्रजाओं में प्रसुप्त रूप मे विद्यमान, (वर्षिष्ठा) नाना सुखों की वर्षा करने वाली (गह्वरेष्ठा) प्रजा के हृदयों में बसी है, वह शत्रुओ के (उग्रं वचः अपावधीत्) उग्र भयकारी वचन का नाश करती है । और (त्वेषं वचः) प्रदीप्त क्रोध पूर्ण वचन को (अपावधीत्) नाश करती है । उसी प्रकार हे अग्ने ! (या ते तनूः) जो तेरी विस्तृत शक्ति (रजः शया) रजस्, अर्थात् राजस, क्रिया-शील मध्यम श्रेणी के लोगों में व्याप्त है वह भी (वर्षिष्ठा) अति सुख वर्षक या बड़ी विस्तीर्ण और (गह्वरेष्ठा) निगूढ़ है । (उग्रं वच० इत्यादि) वह भी शत्रु के भयंकर और तीखे वचनों का नाश करती है । इसी प्रकार हे (अग्ने) राजन् ! (या ते तनूः) जो तेरी विस्तृत शक्ति (हरि-शया) हरणशील या ज्ञानवान् पुरुषों के भीतर या हरणशील, पशु और सवारियों में, (वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा) अति विस्तृत और निगूढ़ रूप से विद्यमान है वह भी (उग्रं वच. अपावधीत्, त्वेषं वच. अपावधीत्) शत्रु के उग्र और तीक्ष्ण वचनों का नाश करती है । (स्वाहा) वह शक्ति राजा का उत्तम वचन ज्ञान रूप ही है ॥

विद्युत् और अग्नि पक्ष में—हे अग्ने ! तेरी जो (तनूः) शक्ति (अयः शया) लोहादि धातु में है और तेरी शक्ति (रजःशयाः) सूक्ष्म परमाणुओं में विद्यमान है और जो (हरिशया) तीव्रगतिमान् विद्युत्, प्रकाश, ताप आदि में विद्यमान है वह (वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा) अति बलवती और बहुत

निगूढ़ है। वह भी (उग्रं) अति भयंकर (वचः) शब्द (अपावधीत्) उत्पन्न करती है। (त्वेषं वचः अप अवधीत्) तीव्र वचन या शब्द या तेजोमयरूप उत्पन्न करने में समर्थ है। (स्वाहा) वह शक्ति उत्तम रीति से सब पदार्थों के भीतर विद्यमान है॥

परमेश्वर के पक्ष में—हे अग्ने! परमात्मन्! जो तेरी शक्ति (अयःशया) दिशाओं में या इस भूलोक में, (रजशया) समस्त लोकों में और (हरिशया) द्यौलोक या आदित्य में व्यापक है वह (वर्षिष्ठा) सबसे महान् और (गह्वरेष्ठा) सबके भीतर गुप्तरूप से विद्यमान है। वह (उग्रं-वच. अपावधीत्) बड़े बलवान् वचन या विज्ञान को प्रकट करती है। (त्वेषं वच अपावधीत्) वह बड़े तीव्र वचन अर्थात् सुतीक्ष्ण ज्ञान को प्रकट करती है॥ शत० ३। ४। ४। २३–२५॥

इस मन्त्र में कुछ शब्दों के स्पष्टीकरण नीचे लिखे उद्धरण, से स्पष्ट करते हैं—'अयः'=दिशो वा अयस्मय्यः। तै० ३। स ६। ५। विशः एतद् रूपं यदय.। श० १३। ३। २। १६॥ भूलोकस्य रूपमयस्मय्यः। तै० ३। ७। ६। ५॥ 'रज.'—द्यौर्वै तृतीयं रज.। श० ६। ७। ४। ५॥ इयं रजता। तै० १८। ७। ८॥ अन्तरिक्षस्य रूप रजता.। तै० ३। ७। ६। ५॥ राष्ट्रं हरिणः। श० १३। २। ६। ८॥ हरिणी हि द्यौः। श० १४। १। ३। २७॥ विड् वै हरिणी। तै० ३। ६। ७। २॥ हरिभ्रियः पशवः। तां० १५। ३। १०॥

[1]तस्यायनी मेऽसि वित्तायनी।मेऽस्यवतान्मा नाथितादवतान्मा व्यथितात्। [2]विदेदग्निर्नभो नामाग्नेऽआङ्गिर आयुना नाम्नेहि योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यशियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभोनामाग्नेऽआङ्गिर आयुना [2]नाम्नेहि यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यशियं तेन त्वा दधे विदेदग्निर्नभो

नामाग्नेऽङ्गिर ऽआयुना नाम्नेहि यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे । [४]अनु त्वा देववीतये ॥६॥

पृथिवी अग्निश्च देवते । (१) भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । षड्जः । (२) भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः । (३) । निचृद् ब्राह्मी जगती, निषादः स्वर । याजुषी अनुष्टुप्गाधारः ॥

भा०—(१) (तप्तायनी मे असि) हे पृथिवि ! तू तप्त, भूख आदि से पीड़ित या आधिदैविक उत्पात, हिम वर्षा, आतप आदि से पीड़ित पुरुष को अयन अर्थात् शरणरूप में प्राप्त होनेवाली है । अथवा 'तप्त' प्रतप्त या ताप देनेवाले अग्न्युत्पादक पदार्थों को देनेवाली है । तू (वित्त-अयनी मे असि) हे पृथिवि ! मेरे समस्त वित्त, धन ऐश्वर्य आदि भोग्य पदार्थों और ज्ञातव्य पदार्थों के अयनी अर्थात प्राप्त करानेवाली है । (मा) मुझको (नाथितात्) संताप, पीड़ा से (अवतात्) बचा । (व्यथितात् मा अवतात्) व्यथा, कष्ट, शत्रुओं और दुष्ट जीवों के आक्रमण आदि से बचा । (नभः नाम) नभः, सब प्रजाओं को अपने अधीन बांधने वाला, अथवा दुष्टों को बांधने वाला (अग्निः) अग्रणी नेता पुरुष (नभः नाम) 'नभस्' नाम से प्रसिद्ध है, वह तुझे (विदेत्) प्राप्त करे । हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी नेता पुरुष ! हे (अङ्गिरः) शरीर में रस या प्राण के समान समाज शरीर के प्राणभूत पुरुष ! तू (आयुना नाम्ना) समस्त प्राणियों को एकत्र कर मिलाने और रक्षा करने हारा होने से 'आयु' है, उसी 'आयु' नाम से प्रसिद्ध होकर (इहि) यहां प्राप्त हो । (यः) जो तू (अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (असि) सामर्थ्यवान् है और (यत्) जो (ते) तेरा (अनाधृष्टं) शत्रुओं से न धर्षण किया जाने योग्य, दुःसह (यज्ञियम्) परस्पर संगतिकरण करने का

६—तप्तायनी चत्वारि पार्थिवानि । सर्वा० । '०मा व्यथितमवता न्मा नाथितम्' । 'विदेरग्ने०' ०'दधे विदेरग्नेर्न०' । इति काण्व० ॥

वल कर्म है (तेन) उससे (त्वा) तुझे (आदधे) स्थापित करूं। इसी प्रकार (नभः नाम अग्निः विदेत्) सबको व्यवस्था में बांधने वाला अग्रणी इस पृथिवी को प्राप्त करें। हे नभ· नाम वाले अग्ने ! हे अङ्गिरः ! ज्ञानवान् ! तू 'आयु' नाम से प्रसिद्ध है। तू सबको एकत्र करने में समर्थ है। तू (द्वितीयस्याम् पृथिव्याम् असि) दूसरी पृथिवी, अन्तरिक्ष में भी सामर्थ्यवान् है। वहां जो तेरा अप्रतिहत वल है उससे तुझे स्थापित करूं। इसी प्रकार हे अग्ने ! तू 'नभ' नामक है (अङ्गिरः) सूर्य के समान तेजस्वी तू सबको जीवनों का प्रदाता 'आयु' इस नाम से (तृतीयस्याम् पृथिव्याम् असि) तीसरी पृथिवी-द्यौ में सूर्य के समान तेजस्वी है। हे राजा (अना धृष्टं नाम यज्ञियम्) जो अप्रतिहत, अविनाशी बल है (तेन त्वा दधे) उससे तुझे स्थापित करूं और (देववीतये) देव, विद्वान्, शक्तिमान पुरुषों की रक्षा के लिये दिव्य पदार्थों के प्राप्ति या भोग के लिये भी (त्वा अनुदधे) तुझे पुनः स्थापित करूं। अर्थात्–पृथिवी में जल नामक 'नभ.' अग्नि है, अन्तरिक्ष में, वायु या विद्युत् और द्यौलोक में सूर्य तीनों 'नभः' हैं। उनके समान राजा शक्तिशाली, सबको मिलाने घुलाने वाला, तेजस्वी प्राणप्रद होकर 'आयु' नाम से प्रजा को प्राप्त हो। विद्वान् पुरोहित उसको अप्रतिहत, सर्वोच्च तेज से सम्पन्न करे, उसे राज्य पर स्थापित करे। वह उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीनों पर शासन करे और समस्त देव, विद्वान्, शक्तिमान् पुरुषों की रक्षा करे ॥

विद्युत् पक्ष में—विद्युत् मेरे लिये वित्तायनी, ऐश्वर्य के देनेवाली और धनप्रद है। वह ऐश्वर्य से या पीड़ा से हमें रक्षा करे। वह प्रकाशरूप होने से 'नभ.' है। वह शरीर में जाठर अग्निरूप में अंगिरा है। वह जीवनप्रापक होने से 'आयु' नाम से हमें प्राप्त है। उसको मैं अविनाशी रूप जीवन सम्पादक ब्रह्मरूप से यज्ञाग्नि के समान धारण करूं। भौतिक अग्नि 'नभः' अन्तरिक्षस्थ जल को प्राप्त करे। वह अंगार में स्थित होने से 'अंगिरा'। जीवनप्रापक, नाना वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला होने से 'आयु' है। इसी

प्रसिद्ध नाम से वह हमें प्राप्त होवे। वह द्वितीय पृथिवी अर्थात् अन्तरिक्ष में है। उस यज्ञ सम्बन्धी अग्नि को मैं धारण करूं। तीसरा अग्नि सूर्य 'नमः' आकाश को प्राप्त है। वह (अंगिराः) व्यापक है। वह भी सर्व पदार्थ प्रापक होने से 'आयु' कहाता है। उसी प्रसिद्ध नाम से हमें प्राप्त हो। वह तृतीय कक्षा में विद्यमान भूमि अर्थात् द्यौलोक में है। उस नाना शिल्प विद्याओं के उपयोगी होने वाले याज्ञिय अग्नि को हम दिव्य गुणों के प्राप्त करने के लिये स्वीकार करें, अपने वश करें।

सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धस्व सिꣳह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व ॥१०॥

गोतमः प्रजापतिर्वा ऋषिः। उत्तरवेदिर्देवता। आर्ष्युष्णिक्। ऋषभः स्वरः॥

भा०—हे सेने ! तू (सपत्नसाही ३) शत्रुओं का विजय करनेवाली (सिंहीं ३) उनका नाश करनेवाली (असि ३) है। तू (देवेभ्यः) देव राजाओं के लिये (कल्पस्व) शक्तिशाली होकर रह। तू उनके लिये (शुन्धस्व) समस्त कण्टकों को शोधन कर, तू (देवेभ्यः शुम्भस्व) देव, राजाओं को शोभित कर, उनकी शान का कारण बन॥

वाणी के पक्ष में—तू दोषों के नाश करने और शब्दों के धारा प्रवाह बरसाने या उच्चारण करने से 'सिंही' है और प्रेम सिंचन द्वारा, शत्रुओं पर भी अपना अधिकार कर लेने से 'सपत्नसाही' है। तू देव दिव्य गुणवाले पुरुषों, विद्याभ्यासियों और शूरवीर पुरुषों को (कल्पय) समर्थ कर, और (देवेभ्यः शुन्धस्व) देव धार्मिकों को शुद्ध कर। और (देवेभ्यः शुम्भस्व) सुशील पुरुषों को सुशोभित कर। यज्ञ में यह उत्तर वेदी है जो स्त्री और पृथिवी की भी प्रतिनिधि है। इससे उन पक्षों में भी इसकी योजना करनी चाहिये।

१०—वाग् देवता। द०। त्रैदि०। सर्वा०॥

इन्दुघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहं तप्तं वार्बृहिर्द्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥ ११ ॥

वाग उत्तरवेदिरापश्च देवता । निचृद् ब्राह्मी । धैवतः स्वर ॥

भा०—हे मनुष्यो ! (इन्दुघोष) इन्द्र विद्युत् के घोष या गर्जना के समान गर्जना उत्पन्न करने वाले आग्नेयास्त्र का ज्ञाता पुरुष (वसुभिः) राष्ट्र के सुखपूर्वक बसने में कारण रूप, शत्रुनिवारक योद्धाओं द्वारा (पुरस्तात् पातु) आगे से रक्षा करे । (प्रचेताः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् पुरुष (रुद्रः) शत्रुओं को रुलाने में समर्थ बड़े २ सत्ताधारी सर्दार, नृपतियों क्षत्रिय राजाओं के सहित (पश्चात्) पीछे से (त्वा पातु) तेरी रक्षा करे । (मनोजवा) मनके वेग के समान वेगवान्, तीव्रगति वाला, अतिशीघ्रगामी रथों का अध्यक्ष, अथवा मानस ज्ञान और विचार से आगे बढ़ने वाला अतिविवेकी पुरुष (पितृभिः) पालन या रक्षा करने में समर्थ वृद्ध ज्ञानी, विचारवान्, ठण्डे दिमाग से सोचने वाले विद्वान् पुरुषों के साथ (त्वा) तुझ राष्ट्रवासी जनको (दक्षिणतः पातु) दक्षिण अर्थात् दायें से रक्षा करे। और (विश्वकर्मा) समस्त प्रकार के शिल्पों को रचनेहारा पुरुष विश्वकर्मा (आदित्यः) आदित्य, ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले, व्यवहारकुशल वैश्यों द्वारा (उत्तरतः त्वा पातु) उत्तर अर्थात् बायें से तेरी रक्षा करे । और मैं राजा (इदम्) इस प्रकार (तप्तम्) तपे हुए खूब क्रोध और रोष से पूर्ण शत्रु के आक्रमण को न सहन करने वाले (वा) उनको वारण करने वाले बलको (यज्ञात्) सुसंगठित देश से (बहिर्धा) बाह्य देश की रक्षा के लिये (निःसृजामि) नियुक्त करूं ॥

राष्ट्र की रक्षा के लिये वीर सुभट, राजा, नरपति लोग, विचारवान्

११—वाग् देवता । द० । उत्तर वेदिः, आपश्च । सर्वा० ।

पुरुष और शिल्पी और व्यापारी अपनी २ दिशा में रक्षा करें और उग्र, तीव्र या तप स्वभाव के लोगों को राष्ट्र की रक्षार्थ बाहर की छावनियों में लगावें ॥

इसके अतिरिक्त—(इन्द्रघोष) परमेश्वर की वेदवाणी का उपदेश हमारी आगे से रक्षा करे। प्रेचता उत्कृष्ट ज्ञानी पुरुष रुद्र ब्रह्मचर्यवान् पुरुषों सहित हमें पीछे से बचावे। 'मनोजवा' मनन बलवाले लोग ज्ञानी पालकों द्वारा दायें से और आदित्य ब्रह्मचारियों से (विश्वकर्मा) वह सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर बायें से रक्षा करे। अध्यात्म में इन्द्र घोष, आत्मा का भीतरी मुख्य प्राण। वसु गौण प्राण। 'प्रचेताः' बुद्धि। मनोजव=मन, विश्वकर्मा, आत्मा। वसु, रुद्र, पितर, आदित्य ये सभी प्राण हैं। इनकी सहायता से वे शक्तियां हमें बचावे। (तप्तं वाः) क्रोध, शोक और दुःख को हम अपने यज्ञ अर्थात् आत्मा से बाहर करें ॥

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा। भूतेभ्यस्त्वा ॥१२॥

वाक् स्रुक् च देवते। भुरिग् ब्राह्मी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—हे वाक्! तू (स्वाहा) उत्तम रूप से उच्चारण करने योग्य और (सिंही असि) अविद्या का नाश करनेवाली होने से 'सिंही' है। तू (सिंही असि) 'सिंही' क्रूरता अर्थात् अज्ञान का नाशक है तू (आदित्यवनिः) बारह मासों को प्राप्त होनेवाली, उनका वर्णन करनेवाली ज्योतिष् विद्या जिस प्रकार उनका उत्तम वर्णन करती है। उसी प्रकार प्रजा के भीतर, कर-आदान करने वाले १२ प्रकार के राजाओं को उचित रीति से वर्णन करनेवाली (स्वाहा) वाणी है। तू भी (सिंही असि) उनके क्रूरता का नाश करती है। तू (ब्रह्मवनि) ब्राह्मणों को प्राप्त होती और (क्षत्रवनिः)

१२—भूतेभ्यः स्रुक्। सर्वा० ॥

क्षत्रियों को प्राप्त होती है। तू भी (स्वाहा) उत्तम उपदेशमयी वाणी है। और (सिही असि) चोर दस्युओं के नाशक होने और अज्ञान का नाश करनेवाली होने से या शत्रुओं के परभव करनेवाली होने से नीतिरूप 'सिंही' है। तू (सिंही) प्रजा के समस्त दुःखदायी चोर आदि दुष्ट और रोगों के नाश के उपाय बतलाने वाली होने से सिंहीरूप से ही (सुप्रजावनी) उत्तम प्रजाओं को प्राप्त कराने वाली (असि) है। तू (स्वाहा) उत्तम उपदेश देनेवाली होकर (रायस्पोषवनि) ऐश्वर्य समृद्धि को प्राप्त करानेवाली है। (सिंही असि) तू सब दुःखों को नाश करनेवाली 'सिही' है। तू (स्वाहा) उत्तम ज्ञानोपदेश करनेवाली होकर (यजमानाय) विद्वानों के पूजा सत्कार करने हारे दानशील पुरुष के समीप (देवान्) विद्वान्, ज्ञानी, देव पुरुषों को प्राप्त कर। हे वाणि ! मैं तुझे (भूतेभ्यः) समस्त प्राणियों के उपकार के लिये प्रयोग करूं ॥

राजशक्ति या व्यवस्था के पक्ष में—तू शत्रु नाशक सिंही है। (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रयोग की जाकर (आदित्यवनिः) तू आदित्य-विद्वानों या आदित्य अर्थात् धनसंग्रही वैश्यों को वृत्ति देनेवाली है। तू (ब्रह्मवनिः क्षत्रवनि.) ब्राह्मणों और क्षत्रियों की वृत्ति देती है। तू (सुप्रजावनिः रायस्पोषवनिः) उत्तम प्रजाओं का वृत्ति देनेवाली, धन सम्पृद्धि के देनेवाली है। तू सर्वदा नाशक 'सिंही' है। तू (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रयोग की जाकर ही (यजमानाय) दानशील राजा के पास (देव) विद्वानों, विजयी सुयोद्धाओं को प्राप्त कराती है (भूतेभ्य. त्वा) तेरा उत्तम उपयोग मैं समस्त प्राणियों के हित के लिये करूं। राज शासनव्यवस्था भी एक विद्या या दण्ड नीति है वही यहां सिही, वाग्रूप में कही गई है ॥

यदसुराणां लोकानादत्त तस्मादादित्यः। ते० ३ । ७ । २१ । २ ॥
एष उद्यन् एव क्षत्रं वीर्यमादत्त तस्मादादित्यो नाम श० २ । १ । २ । १८ ॥

असौ वा आदित्य॰ पाप्मनोऽपहन्ता श० १३ । ८ । १ । ११ ॥ आदित्य लोकस्तद्दिव्यं चत्रम् । सा श्री । तद् ब्रध्नस्य विष्टपम् तत् स्वाराज्यमुच्यते ॥

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दꣳह ध्रुवक्षितिर्ध्रुवक्षितीनाꣳ ध्रुवक्षितिरन्तरिक्षन्दꣳहाच्युतक्षितिर्दिवं दꣳहाग्नेः पुरीषमसि ॥ १३ ॥

यज्ञो देवता । भुरिगार्षी अनुष्टुप् । गांधार॰ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (ध्रुवः असिः) तू निश्चल, स्थिर है । तू (पृथिवीं दꣳह) पृथिवी को, राज्य की भूमि को, पृथिवीवासी प्रजा को बढ़ा, विस्तृत कर, उन्नत कर । तू (ध्रुवक्षित् असि) ध्रुव या स्थिर पदार्थों को या स्थिर पदाधिकारियों को, स्थिर स्थायी कार्यप्रबन्धों, नियमों को स्थापन करने वाला है । तू (अन्तरिक्षम् दꣳह) अन्तरिक्ष को और उसमें विद्यमान शक्ति मेघ, वायु आदि पदार्थों को (दꣳह) बढ़ा, उन पर वशकर के उन शक्तियों को अधिक लाभदायक कर । तू (अच्युतक्षित् असि) अच्युत, विनाश रहित, स्थिर सिंहासन पर विराजमान, या नाशरहित स्थिर पदों या पदार्थों का स्थापक है । तू (दिव दꣳह) द्यौलोकस्थ प्रकाश आदि पदार्थ को और अधिक शक्तिशाली कर । तू (अग्ने) अग्नि, विद्युत् आदि तेजोमय पदार्थ को (पुरीषम्) पूर्त्ति करने वाला है । अथवा (अग्नेः पुरीषम् असि) अग्नि, शत्रुओं के संताप देनेवाले महान् सामर्थ्य या सेनाबल का 'पुरीष' एकमात्र परमेश्वर्यवान् या प्राणरूप राजा है । अथ यत् पुरीषं स इन्द्रः । श० १० । ४ । १ । ७ ॥ स एष प्राण एव यत् पुरीषम् । श० ८ । ७ । ३ । ६ ॥

यज्ञ पक्ष में—यज्ञ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों लोकों को बढ़ावे । स्थिर पदार्थों को प्रदान करे । वह (अग्ने पुरीषम् असि) अग्नि विद्युत् आदि की और पशु सम्पत्ति की पूर्त्ति करो । अध्यात्म यज्ञ पक्ष में—हे आत्मन् !

१३—यज्ञो देवता । द० । 'अग्ने' सम्भारा गुल्गुल्वादय । सर्वा० ॥ ०दꣳहाग्नेर्भस्माग्ने पुरीषमसि ।' इति काण्व० ॥

शरीर के पृथिवी भाग और, अन्तरिक्ष, मध्य भाग, द्यौः, मस्तक तीनों को पुष्ट कर। स्थिर अंगों में निवास कर, तू जाठर अग्नि का भी प्राण या प्रणेता है। ईश्वर पक्ष में—वह ध्रुव नित्य परमात्मा तीनों लोकों को बढ़ाता, विस्तार करता है। वह सब नित्य पदार्थ आकाश आदि में व्यापक हैं। वह अग्नि तेजोमय सूर्यों का पुरीष=प्रणेता प्राण या राजा है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः
स्वाहा ॥ १४ ॥

श्यावाश्व ऋषिः। सविता देवता। स्वराडार्षी जगती। निषादः ॥

भा०—(बृहत) उस महान् (विपश्चित) सर्वज्ञ, अनन्त विद्या के भण्डार, (विप्रस्य) मेधावी, विविध कामों को पूर्ण करने वाले नाना फलप्रदाता, परमेश्वर के ध्यान में (विप्रा·) मेधावी, (होत्रा·) अपने आत्मा की उसमें आहुति करने वाले, या प्राणापान की आहुति देने वाले पुरुष उसमें अपने (मन· युञ्जते) मन को योग द्वारा युक्त करते हैं। (उत) और (धिय) अपने बुद्धियों, वाणियों और समस्त कर्मों या चेष्टाओं या क्रियाओं को (युञ्जते) उधर ही लगा देते हैं। वे उसका (विदधे) विशेष रूप से वर्णन करते हैं। या मैं उसका (विदधे) विशेष रूप से या नाना प्रकार से वर्णन करूं। वह (वयुनावित्) समस्त उत्तम कर्मों और विज्ञानों का ज्ञाता (एक· इत्) एक ही है। उस (सवितु) सब के उत्पादक, सर्वप्रेरक (देवस्य) देव, सर्वद्रष्टा, सर्वप्रदाता परमेश्वर की (मही परिस्तुति·) बड़ी भारी स्तुति, या महिमा है। (स्वाहा) वह सत्य वाणी का उपदेष्टा है, या सत्यवाणीस्वरूप है ॥

राज पक्ष में—सब विद्वान् अपने में सबसे अधिक विद्वान् ब्राह्मण, मेधावी के प्रति अपने और कर्मों को जोड़ें, उसके अधीन रहें। वह सब

शासन कार्यों का ज्ञाता होकर रहे । उसी सब के प्रेरक, देव, विद्वान राजा की आज्ञा सर्वोत्तम रीति से पालन हो ॥

यज्ञ में—मुख्य ब्रह्मा को करके सब ऋत्विज् अपना ध्यान उसकी ओर रखें । वह सबका ज्ञाता, सबका आज्ञापक रहे । यज्ञो वै प्रजापतिः ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।
समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा ॥ १५ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(विष्णुः) चर और अचर समस्त जगत् में व्यापक परमेश्वर (इदं) इस समस्त जगत् को (विचक्रमे) विविध रूपों में व्याप्त होकर रचता है और उसने (त्रेधा) तीन प्रकार से इसमें (पदम्) अपने ज्ञान या स्वरूप को (निदधे) स्थापित किया है । और (पांसुरे) जिस प्रकार धूलिमय देश में कोई पदार्थ लुप्त रहता है और बड़ा यत्न करने पर ढूंढने से प्राप्त होता है उसी प्रकार (अस्य पदम्) उसका वह गूढ़ स्वरूप भी (समूढम्) खूब गूढ़ है, सर्वत्र व्यापक है, और मनन निदिध्यासन द्वारा जानने योग्य है। (स्वाहा) उसको उत्तम रीति से ज्ञान करो और उसकी उपासना करो ॥

सत्व, रजस्, तमस् इन तीनों रूपों में परमेश्वर अपनी सर्वत्र शक्ति प्रकट करता है और चतुर्थ निर्गुण रूप भी प्रकृति के परमाणुओं के भीतर ही खूब सूक्ष्म रूप में व्यापक है । [विशेष विवेचना देखो साम-भाष्य० पृ० ७५६] ॥

इरावती धेनुमती हि भूतꣳसूयवसिनी मनवे दशस्या । व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहा ॥१६॥

वसिष्ठ ऋषि । विष्णुर्देवता । स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

१५—'समूळ्ह०' इति काण्व० ।

१६—०'विष्ण एते'० इति काण्व० ।

भा०—हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर ! आप (एते) इन दोनों (रोदसी) द्यौ और पृथिवी को (वि-अस्कम्ना.) विशेष रूप से थाम रहे हो। और (अभित.) सब ओर से (मयूखै) जैसे किसी पदार्थ के चारों ओर खूटियां या कीलें लगा कर उनमें तान दिया जाता है उसी प्रकार आपने (स्वाहा) अपनी धारण शक्ति से (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (दाधर्थं) धारणं किया है। ये दोनों द्यौ और पृथिवी आकाश और भूमि (इरावती) अन्न और जल से पूर्ण, (धेनुमती) दुग्ध देने वाली गौओं और रसप्रद रश्मियों से पूर्ण, (सूयवसिनी) उत्तम अन्न चारे से पूर्ण (भूतम्) हैं। और (मनवे) मननशील पुरुष को सब प्रकार के पदार्थ (दशस्या) प्रदान करती है। अथवा, (दशस्या=दशस्याय) देने योग्य (मनवे) ज्ञान के लिये (एते) ये सब हम सबको बतलावें।

दम्पति के पक्ष में—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (इरावती धेनुमती सुयवसिनी मनवे दशस्या भूतम्) अन्न गोओं और चारे आदि नाना पदार्थों से समृद्ध होकर ज्ञानवान् पुरुष के लिये दानशील रहो और हे विष्णो ! प्रजापते पुरुष। तू (रोदसी व्यस्कभ्ना) अपने पूर्वज पिताओं और अगली सन्तान इन दोनो को थाम। और (मयूखै.) किरणों से (स्वाहा) स्वयं वरण पूर्वक (अभित. पृथिवीं दाधर्थ) सब ओर से अपने प्रजोत्पत्ति की एक मात्र पृथिवी रूप स्त्री को धारण पोषण कर। यही योजना राजाप्रजापक्ष में समझनी चाहिये। वे दोनों अन्न पशु आदि से समृद्ध हों और राजा पृथिवी को (मयूखैः) करों द्वारा पालन करे॥

मयूखै —माङ् ऊखो मय च उणादि सूत्रम्। मिमीते मान्यहेतुर्भवति इति मयूख। किरण कान्ति करो ज्वाला वा। इति दयानन्दः॥

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं

नयतं मा जिह्वरतम् । स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्यें ऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः ॥ १७ ॥

अश्वधुरौ हविर्धाने, विष्णुर्वा देवता । स्वराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (देवश्रुतौ) दिव्य विद्याओं में प्रसिद्ध, विद्वानों के बीच प्रसिद्ध, अथवा विद्वानों से बहुत शिक्षा प्राप्त होकर (देवेषु आ घोषतम्) देव, विद्वानों के बीच में अपने गृहस्थ धारण करने के उत्तम संकल्प को आघोषित करो, ऊचे स्वर से निवेदित करो । आप दोनों (प्राची) सदा उत्तम, ऊँचे मार्ग पर, प्रकाश की ओर जाते हुए (प्र इतम्) आगे बढ़ो और (अध्वरं) हिंसा रहित शुभ कर्म का (कल्पयन्ती) अनुष्ठान करते हुए आप दोनों (यज्ञम्) यज्ञ को, आत्मा को, या गृहस्थ कार्य को, या परस्पर की संगति को (ऊर्ध्वम्) ऊंचे पदतक (नयतम्) पहुंचा दो और परस्पर (मा जिह्वरतम्) कभी कुटिलता का व्यवहार मत करो। और (स्वं) अपने (गोष्टं) बात चीत (आ वदतम्) एक दूसरे को कहो, परस्पर सुख से वार्तालाप करो । या (स्वं गोष्ठम् आवदतम्) दोनों के अपने धन और गौशाला आदि स्थानों को अपना स्वीकार करो । (देवी दुर्यें) दिव्य रमण योग्य, सुखदायी घरमें रहते हुए (आयुः) अपने जीवन को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट मत करो । (प्रजाम्) अपनी प्रजा सन्तान को (मा निर्वादिष्टम्) नष्ट मत करो । (अत्र) इस संसार में । (पृथिव्याः) पृथिवी के (वर्ष्मन्) वृष्टि युक्त, हरे, भरे लम्बे चोड़े प्रदेश में (रमेथाम्) दोनों आनन्द पूर्वक जीवन व्यतीत करें । राजा प्रजा, गुरु शिष्य आदि सब युगलों को यह उपदेश समान है ॥

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांऽसि ।

१७—वसिष्ठ ऋषि । विष्णुर्देवता । ब्र० । देवश्रुतावश्वधुरौ । सर्वा० ॥

योऽअस्कभायदुत्तरꣳसधस्थ वि चक्रमाणस्त्रेधोरुगायो विष्णवे त्वा ॥ १८ ॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषि । विष्णुर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यः) जो (पार्थिवानि) पृथिवी या अन्तरिक्ष में विदित, या पृथिवी के (रजांसि) समस्त लोकों को (विममे) नाना प्रकार से बनाता है और (यः) जो (उत्तरं सधस्थम्) ऊपर के लोकों को या उत्कृष्ट कारण को भी (अस्कभायत्) थाम रहा है, अपने वश में करता है। और जो (विचक्रमाणः) विविध रूप से क्रमण करता हुआ, सर्वत्र कारण के अवयवों को विविध प्रकार से संयुक्त करता हुआ (त्रेधा) तीन प्रकार से तीनों लोकों में, अग्नि, वायु, सूर्य इन तीन शक्तियों द्वारा सर्वत्र व्यापक होता हुआ, वह (उरुगायः) महान् व्यापक, सबका स्तुत्य, या सबको वेद द्वारा समस्त पदार्थों का उपदेष्टा है। उस (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (नुकम्) ही (वीर्याणि च) वीर्यों का नाना सामर्थ्यों का (प्रवोचम्) उत्तम रीति से प्रवचन करूं, औरों को सिखाऊं और हे पुरुष ! उस (विष्णवे) परमेश्वर की उपासना के लिये (त्वा) तुझको मैं उपदेश करता हूं ॥

दिवो वा विष्णऽउत वा पृथिव्या महो वा विष्णऽउरोरन्तरिक्षात् । उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्याद्विष्णवे त्वा ॥ १९ ॥

विष्णुर्देवता । निचृदार्षी जगतीछन्दः । निषादः स्वरः ॥

भा०—हे (विष्णो) यज्ञरूप प्रजापते ! चराचर में व्यापक परमेश्वर ! (दिवः) आकाश, विद्युत् अग्नि से (उत वा महः) बड़ी भारी (पृथिव्याः) और पृथिवी से, हे (विष्णो) परमेश्वर ! (उरोः) विशाल (अन्तरिक्षात्)

१९-२१ दीर्घतमा ऋषि । द० ॥

अन्तरिक्ष से तू हमारे (उभा हस्ता हि) दोनों हाथों को (वसुना) ऐश्वर्य से (आ पृणस्व) पूर दे । (दक्षिणात्) दायें (उत) और (सव्यात्) बायें से भी तू हमें नाना प्रकार का धन (आ प्रयच्छ) प्रदान कर । हे परमेश्वर ! (त्वा) तेरी हम (विष्णवे) यज्ञ या उपासना के निमित्त प्रार्थना करते हैं । अथवा (विष्णवे) आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष से समस्त ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले विष्णु, व्यापक परमेश्वर के लिये (त्वा) तुझ पुरुष को मैं उपदेश करता हूं ॥

राजा के पक्ष में—वह तीनों लोकों से ऐश्वर्यमय विज्ञान और धन का संग्रह करके प्रजा को प्रदान करे । हे पुरुष ! मैं तुझे ऐसे राज्य के कार्य में नियुक्त करूं ॥

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २० ॥

औतथ्यो दीर्घतमा ऋषि । विष्णुर्देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(यस्य) जिसके (उरुषु) महान् (त्रिषु विक्रमणेषु) तीन प्रकार के विक्रम, तीन लोक या सत्व, रजस, तमस् त्रिगुणात्मक सर्ग में (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न होने वाले पदार्थ और लोक (अधिक्षियन्ति) निवास करते हैं । (तद्) वह (विष्णु) व्यापक परमेश्वर अपने महान् (वीर्येण) सामर्थ्य के कारण (कुचरः) वनादि में विचरने वाले (गिरिष्ठा) पर्वतों के वासी (भीम. मृगः न) भयानक व्याघ्र या सिंह के समान (कुचरः) पृथिव्याकाशादि में व्यापक (गिरिष्ठा) समस्त वेदवाणियों में प्रतिपाद्यरूप से स्थित (प्र स्तवते) सबसे उत्कृष्टरूप से वर्णन किया जाता है या वह (प्र स्तवते) सबको उपदेश देता है ॥

राजा के पक्ष में—जिस राजा के महान् प्रज्ञा, उत्साह और शक्ति तीन प्रकार के विक्रमों के वश में समस्त लोक प्राणी बसते हैं वह वनचर

गिरिगुहावासी सिंह के समान भया वह अपने वीर्य के कारण ही स्तुति को प्राप्त होता है ।

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नप्त्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि । वैष्णवमसि विष्णवे त्वा ॥ २१ ॥

विष्णुर्देवता ।भुरिगार्षी पंक्ति. । पञ्चमः ॥

भा०—हे जगत् ! तू (विष्णो रराटम् असि) विष्णु, व्यापक परमेश्वर से उत्पन्न होता और उसके द्वारा वेदरूप से प्रकाशित किया जाता है । हे जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों ! तुम दोनो (विष्णो) विष्णु, व्यापक परमेश्वर के (श्नप्त्रे स्थ) दो प्रकार की शुद्ध शक्तियें हो । हे वायो ! तू सब प्राणियों के भीतर (विष्णो) व्यापक परमेश्वर के शक्ति से ही (स्यू असि) सीनेवाला परम सूत्र है । हे आत्मन् ! तू (विष्णो) व्यापक परमेश्वर के सामर्थ्य से ही (ध्रुव असि) सदा ध्रुव, अविनाशी है । हे समस्त जगत् ! (वैष्णवम् असि) तू उसी परमेश्वर का बनाया हुआ है । हे पुरुष ! (त्वा विष्णवे) तुझको मैं व्यापक परमेश्वर की अर्चना के लिये नियुक्त करता हूं ।

राजपक्ष में—(विष्णो) व्यापक राज्यव्यवस्था का हे राजन् ! तू (रराटम् असि) ललाट मस्तक भाग है । हे दोनों विद्वानो ! तुम उस राज्य के मुख्य भाग हो । हे पुरुष ! तू राज्य का सीवन करने वाला हो । हे राजन् ! तू (विष्णौ ध्रुव असि) राज्य का ध्रुव, सस्थापक स्तम्भ है । हे राज्य के प्रजाजन ! या राष्ट्र ! तू (वैष्णवम् असि) विष्णु अर्थात् यज्ञ सम्बन्धी है या उस (विष्णवे त्वा) तुझे उस व्यापक शासन के लिये ही व्यवस्थित करता हूं ।

[1]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
[2]आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि । बृहन्नसि

बृहद्रवा वृहतीमिन्द्राय वाचं वद ॥ २२ ॥

सवितात्रि-रक्षौघ्नभुपरवाश्च यज्ञो वा देवता । (१) साम्नीपक्ति । पञ्चम

(२) भुरिगार्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे स्त्री ! (सवितुः) सर्वोत्पादक (देवस्य) परमेश्वर के (प्रसवे) इस ऐश्वर्यमय संसार में (अश्विनोः) स्त्री पुरुष, जायापति की बाहुओं और (पूष्णः) पुष्टिकारक पोषक पति के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आददे) स्वीकार करता हूं । हे स्त्रि ! तू (नारी असि) नारी गृहस्थ के समस्त कार्यों की नेत्री है और (अहं) मैं पुरुष तेरा पति (इदम्) यह इस प्रकार से (रक्षसां ग्रीवा. अपि कृन्तामि) विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों की गर्दनों को काटूं । हे विद्वान् पुरुष ! तू (बृहन् असि) हम में सबसे बड़ा, ज्ञानवृद्ध है । तू (बृहद्-रवा) बडा भारी उपदेशक है । तू (इन्द्राय) इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा को (बृहतीं वाचम् वद) बृहती वेदवाणी का उपदेश कर ॥

सेना के पक्ष मे—राजा के राज्य में मैं सेनापति उस 'नारी' अर्थात् मनुष्यो को बनी सेना को अपने वश करूं । मैं दुष्ट पुरुषों की गर्दन काटूं । विद्वान् पुरुष राजा को वेदवाणी या राज नीति का उपदेश करें ॥

[1]रक्षोहणं बलगहनं [2]वैष्णवीमिदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे निष्ट्यो यमस्मात्यो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे समानो यमसंमानो निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि [3]यं मे सबन्धुर्यमसंबन्धुर्निचखानेदमहं तं वलगमुत्किरामि यं मे सजातो यमसंजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि ॥ २३ ॥

वलग उत्कृत्या कृत्या वा विष्णुर्यज्ञो वा देवता (१) याजुषी बृहती (२) स्वराड् ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभः ॥

२२—'० रक्षसो ग्रीवा०' इति काण्व० ।

२३—यज्ञो देवता । दया० । इदमह तहलगमुद्वपामि (४), कृत्यां किरामि इति काण्व० ।

भा०—पूर्व मन्त्र से 'इन्द्राय बृहतीं वाच वद' इसकी अनुवृत्ति आती है। हे विद्वान् पुरुष ! तू (रक्षोहणम्) राक्षस, दुष्ट पुरुषों के नाश करने वाली (वलगहनम्) बलग-हन्' अर्थात् गुप्त हिंसा के प्रयोगों को विनाश करने वाली (वैष्णवी) यज्ञ, परस्पर सगतिकारिणी राष्ट्रनीति रूप (बृहतीम्) विशाल वेदवाणी का (वद) उपदेश कर। (अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (तम् वलगम्) उस गूढ़ हिंसा प्रयोग को (उत् किरामि) खोद कर परे करूं, (यम्) जिस हिंसाकारी प्रयोग को (मे) मेरा (निष्ट्य) सन्तान, पुत्र आदि, (यम्) जिस गुप्त घातक प्रयोग को (अमात्य) मेरा पुत्र और जिसको अमात्य मन्त्री, या मेरे गृहका कोई सम्बन्धी या मेरा साथी, मेरे विपरीत (निचखान) गाड़े। इसी प्रकार (यम्) जिसको (मे समान) मेरे बल विद्या में समान या (असमान.) मेरे असमान, न्यून या अधिक बलशाली पुरुष (निचखान) गाड़े (तम् वलगम्) उस गुप्त, सवृत घातक प्रयोग को भी (इदम् अहम्) मैं इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से (उत् किरामि) खोद डालू। (मे सबन्धु) मेरे कुलशील आदि में बन्धु के समान और (यम्) जिस गुप्त प्रयोग को (असबन्धु) बन्धु जनों से दूसरा व्यक्ति (निचखान) गाड़े (इदम्) यह (अहम्) मैं (त वलगम्) उस गुप्त घातक प्रयोग को भी (उत्किरामि) उखाड़ दू और (यम्) जिस गुप्त प्रयोग को (सजात) मेरे साथ उत्पन्न भ्राता सहोदर भाई और (यम्) जिस घातक प्रयोग को (असजात) सहोदर भ्राता आदि से अतिरिक्त आदमी (निचखान) गाड़ दे (तम्) उसको भी मैं (इदम्) यह प्रत्यक्ष रूप में (उत् किरामि) उखाड़ दूं। इस प्रकार मैं सब (कृत्याम्) घातक गुप्त क्रिया को (उत् किरामि) उखाड़ दूं, निर्मूल कर दू॥

इस मन्त्र में महर्षि दयानन्द का 'बल-गहनम्', 'बलगाहन्' इत्यादि पाठ स्वीकार करना चिन्ता का विषय है॥

वलग=वल वल्ल संवरणे । संवृतरूपेण गच्छति इति वलगः । शत पथ [का० ३ । ५ । ४ । ३ ७-१४] में 'वलगा कृत्या' का वर्णन किया है । यह वह कृत्या है जिसका अथर्ववेद का० १० । १ । ३१ तथा ५ । ३१ । १-१२ । में वर्णन किया गया है ॥

स्वराडसि सपत्नहा सम्राडस्यभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा ॥ २४ ॥

उपरवा सूर्यविद्वासौ वा देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गाधार. ॥

भा०—हे राजन् ! तू (स्वराट्) स्वयं सर्वोपरि विराजमान, (सपत्नहा) शत्रुओं का नाश करने वाला (असि) है । तू (अभिमातिहा) अभिमान करने वाले, गर्वीले शत्रुओं का हन्ता और (सम्राट्) सत्रों, यज्ञों में विद्वत्सभाओं, या एकत्र परस्पर की रक्षा करने वाले संघों में सर्वोपरि विराजमान (असि) होता है । हे राजन् ! तू (रक्षोहा) राक्षस, विघ्नकारी पुरुषों का नाशक होकर (जनराड् असि) समस्त जनों पर राजा के समान विराजता है । तू (अमित्रहा) अमित्र, न स्नेह करने वाले शत्रुओं का नाशक होकर (सर्वराट् असि) समस्त प्रजाओं व राजा के रूप में विराजमान होता है ॥

[1]रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽव नयामि वैष्णवान् रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् रक्षोहणौ वां [2]वलगहना ऽउपदधामि वैष्णवी रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ ॥ २५ ॥

विष्णुर्यज्ञो वा देवता । (१) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ।
(२) आर्षी पंक्ति. । पञ्चम ॥

२४—सूर्यविद्वासौ देवते । द० । स्वरासि औपरवाणि चत्वारि । सर्वा० । '०राक्षसि०' (४) इति काण्व० ॥

२५—' रक्षोहणो वलगहन ' (४) इतिकाण्व० ।

भा०—(वैष्णवान्) विष्णु, सर्वव्यापक यज्ञमय, राष्ट्र के पालक (रक्षोहण.) राक्षसों के नाशकारी (वलग-हनः) शत्रु के घातक प्रयोगों को नाश करने वाले (वः) आप लोगों को मैं (प्रोक्षामि) अभिषिक्त करता हूं। (अव-स्तृणामि) आप सब वीर पुरुषों को अपनी रक्षा में रखता एव सुरक्षित रखता हूं। हे प्रधान अधिकारियो ! आप दोनों भी (रक्षोहणौ वलग-हनौ) राक्षसों और इनके गुप्त घातक प्रयोगों के नाशक हो। तुम दोनों को (उपदधामि) मैं अपने समीप के पद पर नियुक्त करता हूं और इसी प्रकार पूर्वोक्त गुणवान् दो वीरों को (पर्यूहामि) विवेक से निश्चित करके उचित पद पर नियुक्त करता हूं। यही (वैष्णवी) विष्णु अर्थात् यज्ञ के स्थापना और रक्षा की उचित रीति है। हे राष्ट्र ! तू (वैष्णवम् असि) विष्णु, राज्यपालनरूप सद्व्यवस्था का स्वरूप है। और हे शासक वीर, अधिकारी पुरुषो ! आप लोग भी (वैष्णवा· स्थ) विष्णु, प्रजापति राजा के उपकारक भाग हो। अध्यात्मपक्ष में शतपथ ने इन इन्द्रियों को विष्णुरूप आत्मा के उपकारक, रक्षोघ्न संवरणकारी अज्ञान का नाशक माना है। उनमें प्राणों का स्थापन प्रोक्षण है, उनमें चेतना का स्थापन अवनयन है, लोमादि लगाना अवस्तरण है, उनमें दो जबाड़े स्थित है, उनको दृढरूप से स्थापित करना पर्यूहण है। वहा शरीरमय अध्यात्म यज्ञ का वर्णन है ।

इसमें महर्षि दयानन्द ने 'बल-गाहनः' 'बलगाहनौ' इत्यादि पाठ स्वीकार किया है ।

'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांम्पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे।नार्यसीदमहꣳ रक्षसाङ् ग्रीवाऽ अपि कृन्तामि । 'यवोंऽसि यवयास्मद् द्वेषों यवयारातीर्दिवे त्वा ऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥ २६ ॥

यज्ञो औदुम्बरी पितरश्च यज्ञो वा देवता । (१) आर्षी पक्तिः । पचम. ।
(२) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

२६—शुंधन्तांपित्ये । सर्वा० । यज्ञः । द० । ०रक्षसा ग्रीवा० इति काण्व० ॥

भा०—(१) (देवस्य त्वा०० अपि कृन्तामि) व्याख्या देखो अ० ५ । म० २२ ॥ (२) हे राजन् तू (यव असि) तू हमारे शत्रुओं को दूर करने में समर्थ है। अत. तू 'यव' है । तू (अस्मत्) हम से (द्वेष.) द्वेष करनेवालों को या ईर्षादि दोषो को (यवय) दूर कर । और (अराती) शत्रुओ को जो हमें कर नहीं देते हैं उनको भी (यवय) दूर कर । (पितृषदनाः) पिता, पालक, ज्ञानी पुरुषों के पदों पर विराजमान देश के पालक (लोकाः) समस्त लोक प्रजाजन हे राजन् ! त्वा) तुझे (दिवे) द्यौलोक मे सूर्य के समान स्थापन करने के लिये (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष में वायु के समान और (पृथिव्यै) पृथिवी के हित के लिये (शुन्धताम्) शुद्ध करें, अभिषेक करे । तू स्वयं (पितृषदनम् असि) समस्त प्रजा के पालक पुरुषो का आश्रय है ।

उद्दिवꣳस्तभानान्तरिक्षं पृण दृꣳहस्व पृथिव्यां द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳह आयुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥२७॥

औदुम्बरी यज्ञो वा देवता । ब्राह्मी जगती छन्दः । निषाद. स्वरः ॥

भा०—हे राजन् (दिवम्) द्यौलोक या प्रकाशमान पिण्डों को या प्रकाश को जिस प्रकार सूर्य उठा रहा है । उस प्रकार तू भी (उत् स्तभान) प्रकाश या ज्ञान और उत्तम पुरुषों को ऊपर स्थापित कर । (अन्तरिक्षम् पृण) अन्तरिक्ष को जिस प्रकार वायु पूर्ण कर रहा है उसी प्रकार अन्तरिक्ष को या मध्यम श्रेणी के लोगों को पूर्ण कर या पालन कर । और तू (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (दृंहस्व) राष्ट्र की वृद्धि कर । (द्युतान) देदीप्यमान, तेजस्वी, पुरुष (मारुतः) वायु के समान प्रबल होकर (त्वा) तुझको (मिनोतु) संचालित करे । (मित्रावरुणौ) मित्र न्यायकर्त्ता और वरुण, दुष्टो का वारक दोनो अधिकारी जन भी (ध्रुवेण

धर्मणा) अपने ध्रुव, स्थायी, सामर्थ्य से (त्वा मिनुताम्) तुझे सञ्चालित करें । (त्वा) तुझको (ब्रह्मवनि) ब्रह्म, ब्राह्मणों का पोषक, (क्षत्रवनि) क्षात्रबलत्र का पोषक (रायस्पोषवनि) धनों के, ऐश्वर्यों को पुष्ट के करने वाला (पर्यूहामि) जानता हूं, एवं नियत करता हूं । तू (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान और विद्या बल को (दृह) बढ़ा । (क्षत्रं दृंह) क्षात्रबल को व वीर्य को बढ़ा । (आयु दृंह) आयु को बढ़ा । (प्रजाम् दृह) प्रजा की वृद्धि कर ॥

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने प्रजया पशुभिर्भूयात् । घृतेन द्यावापृथिवी पूर्येथामिन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया ॥ २८ ॥

द्यावापृथिव्यौ इन्द्रश्च यज्ञो वा देवता । आर्षी जगती । निषाद ॥

भा०—हे पृथिवी अथवा हे महान् शक्ति ! तू (ध्रुवा असि) तू ध्रुव, सदा स्थिर है । उसी प्रकार (अयं) यह (यजमान·) यजमान, दानशील या संगतिकारक व्यवस्थापक राजा भी (अस्मिन् आयतने) इस आयतन, गृह, प्रतिष्ठा के स्थान पर (प्रजया) प्रजा और (पशुभिः) और पशुओं सहित (ध्रुव भूयात्) ध्रुव, स्थिर होकर रहे । हे (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि ! तुम दोनों (घृतेन) तेज, घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों से (पूर्येथाम्) पूर्ण होवो । अथवा हे पृथिवी और सूर्य या प्रजा और राजन् ! एवं पति और पत्नि ! तुम दोनों आकाश और भूमि के समान पुष्टिकारक पदार्थों से पूर्ण रहो । हे राजशक्ते ! तू (इन्द्रस्य) परमेश्वर्यवान् राजा के लिये या ऐश्वर्यवान् राष्ट्र के लिये (छदि·) छदि अर्थात् छत हो । उसको सब दुखों और आघातों से बचानेवाली आड़ हो । हे राजन् ! तू (विश्वजनस्य छाया) सब श्रेणियों के मनुष्यों के लिये (छाया) छाया, शरण या आश्रय (असि) है ।

२८—'–वासि ध्रुवोऽस्मिन् यजमान आयतने भूयात्० ' इति काण्व० ॥

परिं त्वा गिर्वणो गिरऽइमा भवन्तु विश्वतः ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ २९ ॥

मधुच्छन्दा वैश्वामित्रो ऋषि. । इन्द्र ईश्वरः ! सभाध्यक्षौ वा देवते । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (गिर्वणः) समस्त वाणियों, स्तुतियों को भजन करने वाले ! उनके उपयुक्त पात्र (इमा गिर) ये समस्त वाणियां (विश्वतः) सब प्रकार से (त्वा परि) तेरे ही लिये (भवन्तु) हों । (वृद्धायुम्) वृद्ध, दीर्घजीवी, वृद्ध पुरुषों से युक्त या महापुरुष तुझको (अनु) लक्ष्य करके ही (वृद्धयः) ये सब बढ़ी हुई सम्पत्तियां और (जुष्टयः) तृप्त करनेवाली भोग सम्पत्तियां भी (जुष्टाः भवन्तु) प्राप्त हों ॥

ईश्वरपक्ष में—हे ईश्वर ! समस्त स्तुतियों के पात्र ! ये सब स्तुतियां तेरी ही हैं । ये सब सम्पत्ति ऐश्वर्य भी तुझे ही प्राप्त हैं ।

इन्द्रस्य स्यूरसीन्द्रस्य ध्रुवोऽसि ऐन्द्रमसि वैश्वदेवमसि ॥ ३० ॥

इन्द्रो विश्वे देवताः ईश्वरसभाध्यक्षौ वा देवते । आर्च्युष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—हे सभापते ! हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजपद का (स्यूः) सूत्र के समान सीकर उसे दृढ़ करनेवाला है । जिस प्रकार सूत्र वस्त्र के खण्डों को सीकर दृढ़ कर देता है उसी प्रकार राजा भी राष्ट्रों के भिन्न २ ऐश्वर्यवान् भागों को सीकर दृढ़ कर देता है । (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा के पद को तू (ध्रुवः) ध्रुव, उसको स्थापन करनेवाला या उस पर स्थिररूप से विराजने वाला है । हे राजसिंहासन पद ! या हे राष्ट्र !

२९—ईश्वरसमाध्यक्षौ देवते । द० । अनिरुक्ता ऐन्द्री । सर्वा० । २०-३५ मधुच्छन्दा ऋषि । द० ॥

३०—ईश्वरसभाध्यक्षौ । द० ॥

तू (इन्द्रम्) इन्द्र का पद (असि) है। तू (वैश्वदेवम् असि) समस्त देव, विद्वान् पुरुषों को सम्मिलित एक सामूहिक मानपद है।

इसी प्रकार ईश्वर पक्ष में—ईश्वर, इन्द्र आत्मा को अपने साथ सीनेवाला उसको ध्रुव आश्रय, उसका प्रेमी, स्वयं ऐश्वर्यवान्, सर्व देवों का हितकारी है ॥

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः ।
श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥ ३१ ॥

धिष्ण्या अग्नयो देवता । विराडार्च्युनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (विभू असि) विशेष ऐश्वर्य और सामर्थ्य से युक्त और (प्रवाहण) महानद नौका या रथ के समान सब प्रजाओं के भार को अपने ऊपर उठा लेने में समर्थ है। और हे विद्वन् ! (वह्नि) जिस प्रकार अग्नि समस्त (हव्यवाहनः) आहवनीय पदार्थों को वहन करता है उसी प्रकार तू सभी राज्य के पदार्थों और कार्यों को वहन करने में समर्थ और (हव्य वाहनः) ग्राह्य पदार्थों और समस्त ज्ञानों का धारण करनेहारा (असि) है। हे विद्वन् ! तू (श्वात्रः) ज्ञानवान्, सर्वत्र पहुंचने वाला या कल्याण-कारी, (प्रचेताः) प्राण के समान सबको चेतना देनेवाला, सबका शिक्षक और ज्ञानदाता है। हे विद्वन् ! तू (विश्ववेदा) जिस प्रकार सब प्राणियों में वायु समस्त विश्व के पदार्थों में व्याप्त है उसी प्रकार तू भी सबको प्राप्त करनेवाला है, सर्वज्ञाता या सब धनों का स्वामी और (तुथ असि) तू ज्ञान का वर्धक या सबको ऐश्वर्य बांटने वाला है। इस प्रकार यहां चार विशेष पदाधिकारियों या राजा के ही चार स्वरूपों का वर्णन है ॥

तुथो ह स्म वै विश्ववेदा देवानां दक्षिणा विभजतीति । तैत्ति० ।
शिवा ह्यापस्तस्मादाह श्वात्रा. स्थेति । श० ३ । ७ । ४ । १६ ॥

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः । सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतका मृष्टोऽसि हव्यसूदन ऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः॥३२॥

आहवनीयो वह्निष्पवमानदेशा , चात्वाली , शामित्रः, औदुम्बरीय अग्निर्वा देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत ।

भा०—हे राजन् ! तू (उशिग्) सबका वश करने हारा एवं कान्तिमान्, तेजस्वी और (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी (असि) है । तू (अंघारिः) अघ अर्थात् पापी कुटिल जीवो या पापों का अरि शत्रु है । और (बम्भारिः) पापी दुष्ट पुरुषो का बांधने वाला या सबका भरण पोषण करने में समर्थ है । तू (अवस्यूः) अपने नीचे के समस्त कार्य कर्त्ताओं को सिये रहता या परस्पर संयुक्त किये रहने में समर्थ या (अवस्यू) रक्षा करने में समर्थ है और (दुवस्वान्) अन्न या सेवा करने योग्य ऐश्वर्य गुण से युक्त है । तू (शुन्ध्यूः) स्वयं शुद्ध, निष्पाप और (मार्जालीयः) अन्यों का भी शोधन करने हारा, पापों को पता लगाकर उनका दण्ड देकर पापों का शोधने हारा (असि) है । तू (परिषद्य.) पारिषद् विद्वानो की सभा में विराजने हारा है, उस द्वारा राजा बनाया जाता है और तू (पवमानः) सत्या सत्य का निर्णय करके सत्य के बल से पवित्र करने वाला है । तू (नभः[1]) सबको परस्पर बांधने, संगठित करने[1] हारा या चोरादि को वध दण्ड देने वाला या उनको बांधने वाला और (प्रतका)[1] उनको खूब अच्छी प्रकार पीड़ा देने वाला (असि) है । तू (मृष्ट.[2]) सबको सेचन करने हारा, सबका पोषक या सहिष्णु और तितिक्षु और (हव्यसूदनः)[3] समस्त अन्नों और ऐश्वर्य के पदार्थों को क्षरित करने वाला, सबको प्रदान करने

३२—१ तकि कृच्छ्रे जीवने भ्वादिः । २. मृषु सेचने, सहने च, भ्वादी । मृषति तितिक्षायाम चुरादि. । ३ षूद क्षरणे चुरादि । भ्वादिश्च । अग्निर्देवता । द० ॥

वाला (असि) है । (ऋतधामासि) सत्य का धारण करने वाला सत्य का आश्रय और और जलके धारण करने में समर्थ सूर्य के समान (स्वज्योंति.) आकाश मे चमकने वाला साक्षात् सूर्य है या (स्व.ज्योति.) शत्रुओं का उपताप देने हारे प्रचण्ड भानु के समान (असि) है । ये ही सब विशेषण ईश्वर के भी हैं ।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा ऽअजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यै-न्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥ ३३ ॥

ब्रह्मासन, शालाद्वार्यं., प्राजहित , सद , द्वार्यं, सूर्यश्च अग्निर्वा देवता ।

ब्राह्मी पंक्ति । पन्चमः ॥

भा०—हे विद्वन् ! और हे ईश्वर ! तू (विश्वव्यचा) समस्त विश्व में व्यापक, अपने समस्त राष्ट्रवासी जनों मे व्यापक, उनको प्राप्त और (समुद्रः असि) समुद्र के समान, अगाध ज्ञान और ऐश्वर्य से सम्पन्न और समुद्र के समान गंभीर और अक्षय है । हे ईश्वर ! तू (एकपात्) एकस्वरूप, एकमात्र अद्वितीय, या अपने एक चेतन रूप में ही समस्त विश्वको धारण करने हारा और (अज असि) कभी शरीर मे बद्ध होकर उत्पन्न न होने वाला, अनादि है। हे राजन् ! तू भी (एकपात् अज. असि) एकछत्र राजा के रूप मे ज्ञात, और राष्ट्र में व्यापक है । हे ईश्वर ! तू (बुध्न्यः) सब के मूल आश्रय में विराजमान और (अहि असि) अविनाशी कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता । हे सेनापते ! तू राष्ट्र का (बुध्न्य.) आश्रय और (अहिः) किसी से न मारने योग्य, सब से अधिक बलवान् है । हे ईश्वर ! तू (ऐन्दम् असि, वाग् असि) इन्द्र, ऐश्वर्यमय है और तू वाणी, ज्ञान

३३—"बुध्न्य. सम्राडसि० ०सूदन [३२] समूह्योसिविश्ववेदा उतातिरिक्तस्य प्रतिष्ठा ।' इति० काण्व० ॥

मय वेदरूप है । हे विद्वन् ! तू इन्द्र के पद का स्वामी और वाक्, सबका उपदेष्टा, आज्ञापक है । हे ईश्वर ! तू (सदः) सबका आश्रय स्थान है । हे विद्वत्सभे ! तू भी (सद आसि) स्वयं परिषद् या विद्वानों का आश्रय स्वरूप है । हे (ऋतस्य) सत्य व्यवहार के (द्वारौ) द्वार भूत दण्ड कर्त्ता और न्यायकर्त्ता ! तुम दोनों ! (मा) मुझ सत्यवादी प्रजाजन को (मा संताप्तम्) कष्ट मत दो, पीड़ित मत करो । हे (अध्वपते) समस्त मार्गों के स्वामिन् ! (मा) मुझको (अध्वनाम्) सब मार्गों के (प्र तिर) पार उतार दे । (अस्मिन्) इस (देवयाने) देव विद्वानों के चलने योग्य (पथि) मोक्ष मार्ग में (मे) मेरा (स्वस्ति भूयात्) सदा कल्याण हो । हे राजन् ! तेरे इस (देवयान) विद्वानों के जाने योग्य सदाचार रूप मार्ग में या राजोचित मार्ग में चलते हुए मेरा सदा कल्याण हो ।

मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात माग्नयः पिपृत माग्नयो गोपायत मा नमो वोऽस्तु मा मा हिꣳसिष्ट ॥ ३४ ॥

ऋत्विजोऽग्निर्वा देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—उक्त सब विद्वान पुरुष और अधिकारी जन अग्निरूप हैं। उनको राजा स्वयं अग्नियों को यजमान के समान स्थापित करता है और उनके प्रति कहता है । हे (अग्नयः) विद्वान पुरुषो ! (मा) मुझको (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आंख से (ईक्षध्वम्) देखा करो । हे (सगराः) विद्योपदेश के सहित ज्ञानी पुरुषो ! आप लोग (सगराः स्थ) सभी समान रूप से ज्ञानवान् एवं स्तुति के पात्र हो । आप लोग अपने (सगरेण) ज्ञान उपदेश सहित (नाम्ना) नमन करने वाले, शिक्षाकारी बल

३४—ऋत्विज । सर्वा० । 'अग्नयः सगरा.० ०पिपृत माग्नयो नमो वोऽस्तु०' इति काण्व० ॥

और (रौद्रेण अनीकेन) शत्रुओं को रुलाने वाले सैन्य से (मा पात) मेरी रक्षा करो। हे (अग्नयः) अग्नि के समान प्रकाशवान्, ज्ञानी पुरुषो ! (मा पिपृत) मेरा पालन करो और मेरी न्यून शक्तियों की पूर्ति करो। हे (अग्नय·) आगे सेनापति रूप में या अग्रणीरूप में चलने हारे अग्रगण्य नेता पुरुषो ! आप लोग (मा गोपायत) मेरी रक्षा करो। (व. नमः अस्तु) आप लोगों को मैं सदा नमस्कार या आप लोगों को राष्ट्र मे सदा (नम.) नमनकारी वज्र बल, प्राप्त हो। तो भी (मा मा हिंसिष्टम्) आप लोग मेरा कभी घात मत करें।

ज्योतिरसि विश्व रूपं विश्वेषांद्देवानाꣳसमित् त्वꣳ। सोम तनू-कृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य ऽउरु यन्तासि वरूथꣳस्वाहा। जुषाणो ऽअाज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ ३५ ॥

ऋतुर्भार्गवऋषिः। विश्वेदेवाः सोमोऽग्निर्वा देवता। निचृद्ब्राह्मी पंक्तिः। पञ्चम ।

भा०—हे राजन् ! तू (विश्वरूपं ज्योतिः असि) नानारूप से प्रकाशित होने वाला या सब प्रकार का ज्योति प्रकाशक, सूर्य के समान तेजस्वी है। और (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों और राज-पदाधिकारियों को (सम्-इत्) अच्छी प्रकार तेजस्वी बनाने और चमकाने वाला है। हे (सोम) सब के प्रेरक राजन् ! तू (तनूकृद्भ्य.) शरीरों के नाश करने वाले (द्वेषोभ्य) और परस्पर द्वेष कलह करने वाले और (अन्यकृतेभ्य.) अन्य अर्थात् शत्रुओं से किये गये या लगाये गये गूढ़ शत्रुओं से भी राष्ट्र को बचाने के लिये (उरु वरूथम्) शत्रु के वारण करने में समर्थ विशाल सेना बल को (यन्तासि) नियमन करता है। (सु-आहा) तेरे निमित्त हमारा यह उत्तम त्याग है (आज्यस्य) आज्य, घृत के समान

३५—अग्निर्देवता। द० । ऋतुर्भार्गव ऋषि. । सर्वा० ।

३५—अगस्त्यऋषि । द० ॥

पुष्टिकारक या आजि, संग्राम योग्य बलवीर्य को (जुषाणः) सेवन एवं प्राप्त करता हुआ (अप्तु) आप्त राजा (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था से, इस उत्तम आहुति को (वेतु) प्राप्त करे ।

ईश्वर पक्ष में—सब देवों, दिव्य पदार्थों का प्रकाशक, 'विश्वरूप' ज्योति परमेश्वर है । हे सोम परमेश्वर ! हमारे शरीर के नाशक और अन्य सब द्वेषों को भी नियमन करने वाला तू ही स्वयं बड़ा भारी बल है । तू ही सर्व व्यापक समस्त आज्य=बल वीर्य का स्वामी होकर हमें भली प्रकार प्राप्त है ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ २६ ॥

अगस्त्य ऋषि , अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ।

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ज्ञानवान् पुरुष ! राजन् ! हे (देव) देव ! विद्वन् ! तू (विश्वानि) समस्त (वयुनानि) प्रशस्त कर्मों और मार्गों, ज्ञानों और प्रजाओं को (विद्वान्) जानता हुआ (राये) धन, ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (अस्मान्) हमें (सुपथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले चल । और (अस्मत्) हमसे (जुहुराणम्) कुटिल (एनः) पाप को (युयोधि) दूर कर । (ते) तेरे लिये हम (भूयिष्ठाम्) बहुत २ (नम उक्तिम्) नमस्कार वचन, स्तुति आदि और आदरसूचक वचन (विधेम) प्रयोग करें ।

ईश्वर के पक्ष में स्पष्ट हैं ।

अयं नो ऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन् । अयं वाजाञ्जयतु वाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतु जह्वेषाणः स्वाहा ॥२७॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

२७—'०वाजसाता अय०' इति काण्व० ।

भा०—(अयम्) यह (अग्नि) अग्नि अग्रगामी, नेता पुरुष सेनापति ! (न) हमारी (वरिव) रक्षा (कृणातु) करे। अथवा (न. वरिव कृणोतु) हमारे लिये ऐश्वर्य प्रदान करे। और (अयम्) यह (मृध) सग्राम सम्बन्धी (पुर· प्रभिन्दन्) गढ़, पुरों, नगरों को तोड़ता हुआ (एतु) आवे। अथवा (मृध प्रभिन्दन्) सग्रामों को विजय करता हुआ (पुर. एतु) आगे बढ़े। और (वाजसातौ) सग्राम के कार्य मे (वाजान्) सग्रामो को और (वाजान्) धन, अन्न व ऐश्वर्य को भी (जयतु) विजय करे। और (जहृषाण.) खूब प्रसन्न हो होकर (स्वाहा) उत्तम आहुति, पराक्रम करता हुआ (शत्रून् जयतु) शत्रुओं को जीते।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिव प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ३८ ॥

विष्णुर्देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे (विष्णो) विद्या आदि गुणो में व्यापक ! अथवा शत्रु के गढ़ो में और पूर्ण राष्ट्र में प्रवेश करने में चतुर ! सेनापते ! तू (उरु विक्रमस्व) खूब अधिक विक्रम पराक्रम कर। (न) हमारे (क्षयाय) निवास के लिये (उरु) बहुत अधिक ऐश्वर्य एव विशाल राष्ट्र का (कृधि) उत्पन्न कर। (घृतयोने) घृत से जिस प्रकार अग्नि बढ़ता है उसी प्रकार घृत अर्थात् दीप्ति और तेज के आश्रय भूत राजन् ! तू भी खूब (घृतं पिव) अग्नि के समान घृत=तेज, पराक्रम का पान कर, उसको प्राप्त कर। और (यज्ञपतिम्) जिस प्रकार विद्वान् जन यज्ञपति, यजमान को पार कर देते हैं उसको तार देते हैं, उसी प्रकार तू भी (यज्ञपतिम्) यज्ञरूप सुव्यवस्थित, सुसगत राष्ट्र के पालक राजा को (स्वाहा) अपनी उत्तम वीर्याहुति से (प्र प्र तिर) भली प्रकार विजय कार्य के पार कर दे

[1]देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन्। [2]एतत्त्वं देव सोम देवो देवाँ२॥ उपागा ऽइदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ॥ ३९ ॥

सोमसवितारौ देवते। (१) साम्नी बृहती। मध्यम । (२) आर्षीपङ्क्तिः, पञ्चमः॥

भा०—विजय करने के अनन्तर सेनापति राजा के प्रति कहे—हे (देव) देव, राजन्! हे (सवित) सब के प्रेरक और उत्पादक! (एषः सोमः) यह सोम, ऐश्वर्य समूह या राष्ट्र (ते) तेरा है। उसकी (रक्षस्व) रक्षा कर। इस रक्षा कार्य मे (त्वा) तुझको शत्रुगण (मा दभन्) न मार सकें। हे (देव) सुखप्रद ऐश्वर्यों के दाता राजन्! हे (सोम) ऐश्वर्य मय सबके प्रेरक! राजन्! तू (देवः) सब के अधिकार प्रदान करने हारा राजा, देव होकर (देवान्) अन्य अपने आधीन उसी प्रकार के राज शासकों को (उप आगाः) प्राप्त हो।

राजा का वचन—(अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (रायः पोषेण सह) धनैश्वर्य की वृद्धि, पुष्टि के सहित (मनुष्यान्) राष्ट्र के मनुष्यों के प्रति (स्वाहा) अपने को राज्य रक्षा के कार्य में उत्तम रीति से आहुति करता हूं। और (वरुणस्य पाशात्) वरुण के पाश से अपने आपको (निर्मुच्ये) मुक्त करूं। अथवा (इदम् अहम् रायः पोषेण सह मनुष्यान् स्वाहा वरुणस्य पाशान् निर्मुच्ये) इस प्रकार मैं राजा धनैश्वर्य की वृद्धि के साथ २ सब मनुष्यों को (स्वाहा) अपने सत्यवाणी के प्रयोग से वरुण अर्थात् सबको दुख में डालनेवाले दुष्ट जन के पाश से छुड़ादूं। अथवा (वरुणस्य-पाशान् निर्मुच्ये) इस राज्याभिषेक के हर्ष में जो अपराधी वरुण अर्थात् दण्डधर राजा के पाशों में फंसे हुए हैं उन सबको छोड़ता है। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा अपने बहुत से अपराधियों को बन्धन से मुक्त करते हैं। इसका यह मूल प्रतीत होता है॥

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि यो मम तनूस्त्वय्यभूदियꣳ सा मयि । यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षांदीक्षापतिरमꣳस्तानु तपस्तपस्पतिः ॥ ४० ॥

अग्निर्देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—नियुक्त शासक जन राजा से अधिकार पद की दीक्षा इस प्रकार लेते हैं—हे अग्ने ! राजन् ! हे (व्रतपा.) समस्त व्रत अर्थात् राज्य कार्य्यों को पालन करनेहारे (त्वाम्) । तुझको हम वचन देते हैं कि (या) जो (एवं) तेरे (व्रतपाः) व्रतों, राज्य कार्य्यों और परस्पर के सत्य प्रतिज्ञाओं के पालन करनेवाला (तनू.) स्वरूप (मयि) मुझ में (अभूत्) है (एषा सा) यह वह (त्वयि) तुझ मे भी हो । (यो=या उ) और जो (मम) मेरा (तनूः) स्वरूप (त्वयि) तुझ में (अभूद्) विद्यमान है (सा इयम्) वह यह (मयि) मेर मे हो, अर्थात् राजा के शासकरूप से सौंपे अधिकार जो वह अपने अधीन अधिकारियों को प्रदान करता है वे राजा के ही समझे जांय । और जो अधिकार राजा के हैं वे कार्यनिर्वाह के अवसर पर अधिकारियों के समझे जांय, इस प्रकार राजा और राजकर्मचारी एक दूसरे के अधीन होकर रहें । हे (व्रतपते) व्रतो के पालक राजन् ! हम दोनों के (व्रतानि) कर्त्तव्य कर्म (यथायथम्) ठीक ठीक प्रकार से, उचित अधिकारों के अनुरूप रहें । (दीक्षापति.) दीक्षा अर्थात् अधिकारदान का स्वामी तू राजा (मे) मुझे (दीक्षाम्) योग्य पदाधिकार की प्राप्ति की (अनु अमंस्त) अनुमति दे । और (तपस्पति.) तप अर्थात् अपराधियो को सन्तप्त करने या दण्ड देने के सब अधिकारों का स्वामी राजा मुझको (तपः) दण्ड देने के भी अधिकार की (अनु अमंस्त) उचित रीति से अनुमति दे ॥

राजा और उसके अधीन शासकों का सा ही सम्बन्ध गुरु शिष्य का है । वे भी परस्पर इसी प्रकार प्रतिज्ञा करते हैं । हे अग्ने ! आचार्य ! तू व्रत

४०—० मात्वापि याममं ० इति काण्व० ॥

का पालक है। तेरे भीतर जो विद्या का विस्तार है वह मुझे प्राप्त हो। मेरा विद्याभ्यास एवं हृदय तेरे भीतर रहे। हम दोनों के व्रत ठीक २ रहें! समस्त दीक्षाओं के लिये दीक्षापति, आचार्य एवं परमेश्वर अनुमति दे। तपस्पती, हमारे तपों की अनुमति दे। हमें वह दीक्षाएं दे और तपस्याएं करने का आदेश दे॥

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा॥ ४१॥

भा०—व्याख्या देखो म० ३८॥

अत्यन्याँ२॥ अगान्नान्याँ२ऽ उपागामर्वाक्त्वा परेभ्योऽविंदम्परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते देवयज्यायै देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तां विष्णवे त्वा। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳ हिꣳसीः॥ ४२॥

वनस्पतिः कुशतरुण परशुश्च अग्निर्वा देवता। स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(अन्यान् अति अगाम्) तेरे से भिन्न और शत्रु राजाओं को मैं अति क्रमण कर दूं और (अन्यान्) अन्य नाना राजाओं के समीप भी मैं (न उत अगाम्) न जाऊंगा। (परेभ्यः) परे के, अर्थात् दूर के राजाओं की अपेक्षा (त्वा) तुझे (अर्वाक्) समीप और (अवरेभ्यः) तेरी अपेक्षा अवर, निकृष्ट जनों की अपेक्षा तुझे (परः) उत्कृष्ट जानकर ही (त्वा अविंदम्) तेरे समीप प्राप्त हुआ हूं। हे (देव) देव राजन्! हे (वनस्पते) महावृक्ष के समान छायाप्रद आश्रयवृक्ष! शरण्य! (देवयज्यायै) देवों, अन्य विद्वानों का परस्पर संगति लाभ करने के लिये (तम् त्वा जुषामहे) उस तेरी ही हम सेवा करते हैं। (देवाः) और देव, राजा और विद्वान् लोग भी (देवयज्यायै) देव विद्वानों की परस्पर संगति लाभ के लिये

४२—'०परेभ्यः परोवरीः। इति काण्व०'॥

ही (त्वा जुषन्ताम्) तुझे प्राप्त हों । हम लोग तो (विष्णवे) वह यज्ञ रूप राष्ट्रपालन जिसमें सब प्रजाऐं प्रविष्ट हैं उस पद के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करते हैं । हे (ओषधे) दुष्टों को दण्ड प्रदान करने वाले राजन् ! तू (त्रायस्व) हमारी रक्षा कर । हे (स्वधिते) अपने ही बल से समस्त राष्ट्र की रक्षा करनेहारे हे शस्त्रवन् ! तू (मा एनं हिंसी) इस राष्ट्र को या इस पुरुष को हत्या मत कर ॥

गुरु के प्रति शिष्य—हे आचार्य ! मैं (अन्यान् अति अगाम्) अन्य अविद्वान् या अन्य ज्ञानी लोगों को छोड़कर तेरे पास आया हू और (अन्यान् न उप अगाम्) दूसरों के पास नहीं गया हूं । बहुत उत्कृष्टों से कम और अन्य ज्ञानियों की अपेक्षा श्रेष्ठ जान कर तेरी शरण आता हू । 'देवयज्या' अर्थात् ईश्वरोपासना के लिये हम तेरी शरण हैं और विद्वान् भी इसी निमित्त तेरे पास आते हैं ॥

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या संभव । अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्रणिनाय महते सौभगाय । अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳ रुहेम ॥ ४३ ॥

वनस्पतिर्यज्ञो वा देवता । साम्नी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे शस्त्र और अस्त्र गण ! या उनके धारण करने हारे पुरुष ! तू (द्याम्) द्यौ, आकाश को और उसके निवासी लोकों को (मा लेखीः) विनाश मत कर अर्थात् विद्वान् पुरुषों को मत नाश कर । इसी प्रकार (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को और उसके प्राणियों को (मा हिंसीः) मत विनाश कर । (पृथिव्या सम्भव) पृथिवी और उसके वासी प्राणियों से प्रेम भाव से मिल कर रह । हे राजन् ! (अयम् स्वधितिः) यह शस्त्र (तेतिजानः) अति तीक्ष्ण होकर भी (त्वा) तुझको (महते

४३—यज्ञो देवता । द० । वनस्पति । सर्वा० । 'दिव मा ले०' इति काण्व० ॥

सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य के लिये (प्रणिनाय) नियुक्त करता है। (अतः) इसलिये हे (देव) राजन् ! आप वृक्ष के समान ही (शत वल्श.) बहुत से अंकुरों के समान बहुत से कार्य सामर्थ्यों से युक्त होकर (वि रोह) नाना मार्गों में उन्नति और प्रतिष्ठा को प्राप्त हो और (वयम्) हम सब भी (सहस्रवल्शाः) सहस्रों शाखाओं सहित (वि रुहेम) नाना प्रकार से फलें फूलें ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

[तत्र त्रयश्चत्वारिंशदृचः]

इति मीमांसातीर्थ-विद्यालङ्कार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डित जयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ [1]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांपूष्णो हस्ताभ्यामाददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवा अपिकृन्तामि। [2]यवोऽसि यवयास्मद् द्वेषो यवयारातिं [3]दिवे त्वाऽन्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनमसि ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ५, मं० २६ ॥

[1]अग्रेणीरसि स्वावेशऽउन्नेतृणामेतस्य वित्तादधि त्वा स्थास्यति [2]देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः। द्यामग्रेणास्पृक्षऽआन्तरिक्षम्मध्येनाप्राः पृथिवीमुपरेणादꣳह्हीः ॥२॥

शक्वल सविता, चात्वाल, यूपश्च सविता वा देवता। (१) निचृद् गायत्री। षड्जः। (२) स्वराट् पंक्ति । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! हे सभाध्यक्ष ! तू (अग्रेणीः असि) तू शिष्यों को गुरु के समान आगे ले चलनेवाला अग्रणी है। तू (उत् नेतृणाम्) ऊपर ऊंचे मार्ग में ले चलनेवाले, उत्तम कोटि के नेताओं को भी (स्वावेशः) उत्तम रीति से सन्मार्ग में ले चलने और स्थापित करनेवाला है। तू (एतस्य) इस महान् राष्ट्र के पालन कार्य को (वित्तात्) भली प्रकार जान या प्राप्त कर। (देवः सविता) सबका प्रेरक महान् देव, राजा या परमेश्वर (त्वा अधि स्थास्यति) तेरे पर भी आधिष्ठाता के रूप में विद्यमान

१—सर्वानुक्रमण्या नास्ति। पूर्वोक्तत्वात्। 'रक्षसो ग्रीवा' इति काण्व०॥

२—'पृथिवीमपरेण' इति महीधराभिमतः पाठः। शाकल्य ऋषिः, सविता देवता। द०॥ दिव्यग्रेण० इति काण्व०॥

रहेगा । और वही (त्वा) तुझको (मध्वा) मधुरगुण या मधुविद्या, ज्ञान से (आनक्तु) आजे, चमकावे विद्वान् करे । और वही (त्वा) तुझको (सुपिप्पलाभ्यः) उत्तम फलवती (ओषधीभ्यः) दाहजनक सामर्थ्य को धारण करने और दोषो को नाश करने वाली क्रियाओं से भी (आनक्तु) प्रकाशित करे । तू (अग्रेण) अपने अग्रगामी यश या सर्वोत्कृष्ट गुण से (द्याम् अस्पृक्त.) द्यौलोक या सूर्य को या प्रजा के उत्कृष्ट भाग को वशकर, छू, स्पर्श कर, सूर्यलोक के समान बन । (मध्येन) अपने मध्य, बीच के साधारण कार्यों से (अन्तरिक्षम् अप्राः) अन्तरिक्ष को, प्रजा के मध्यम जनों को पूर्ण कर, पालन कर । और (उपरेण) अपने शेष नीचे के भाग से या उत्कृष्ट नियत व्यवस्था से (पृथिवीम्) पृथिवी लोक के, या प्रजा के तीसरी श्रेणी के लोगों को (अदृंहीः) दृढ़ कर ॥

अथवा—अग्र से द्यौ अर्थात् विद्या और राजनीति को उन्नत कर, शेष बल से धर्म को और नियम से राज्य को पुष्ट कर ॥

[1]या ते धामान्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गाऽअयासः । [2]अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः परमम्पदमवभारि भूरि । [3]ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनिं रायस्पोषवनि पर्यूहामि ब्रह्म दृꣳह क्षत्रं दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजां दृꣳह ॥ ३ ॥

दीर्घतमा ऋषिः । यूपो विष्णुश्च देवता । (१) आर्षी उष्णिक् । (३) साम्न्युष्णिक् । ऋषभः । (३) निचृत् प्राजापात्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे सभाध्यक्ष राजन् ! (ते) तेरे (या) जिन २ (धामानि) सुखों को, धारण करानेवाले राज्य प्रबन्ध के सामर्थ्यों को हम लोग (गमध्यै) स्वयं प्राप्त होने के लिये (उश्मसि) कामना करते हैं (यत्र)

३—'ता वा वास्तून्यूश्मसि०', 'ऽवृष्णः' इति ऋ० । 'अत्राहैत पुरु०' इति काण्व० ॥

जिनमें (भूरिशृङ्गा·) अति अधिक प्रकाशमान (गाव.) किरण और बड़े बड़े सींगोंवाली गौवें हमें (अयासः) प्राप्त हों । अथवा जिनके द्वारा हमें बहुत सी ज्ञानोपदेश युक्त वाणियां प्राप्त होती हों । (अत्र अह) इसमें ही (उरुगायस्य) अति अधिक स्तुति के योग्य (विष्णो.) विष्णु, व्यापक, ईश्वर प्रभु के (परमम् पदम्) परम पद (भूरि) बहुत अधिक (अव भारि) निरन्तर पुष्ट होता है ॥

अथवा—राजगृह कैसे हों—हे राजन् ! हम (या ते धामानि गमध्यै उष्मसि) तेरे योग्य जिन विशेष सभा आदि भवनों प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे हों (यत्र भूरिशृङ्गाः गाव. अयास.) बहुत प्रदीप्त किरणें आया करती हों । (उरुगायस्य विष्णोः तत्) अधिक स्तुतिभजन, प्रशंसनीय विष्णु, व्यापक सार्वभौम राज्य का वही उत्कृष्ट परमपद (अत्र अह अव भारि) यहां ही, इन महाभवनों में ही विराजता है । (३) मैं तुझको (ब्रह्मवनि, क्षत्रवनि, रायस्पोषवनि) ब्राह्मणों, क्षत्रियों और ऐश्वर्य से पुष्ट वैश्यों को यथोचित वृत्ति को विभाग करनेवाला (पर्यूहामि) जानता हूं । तू (ब्रह्म दंह) ब्राह्मण बल को बढ़ा, (क्षत्रं दंह) और क्षात्रबल को पुष्ट कर, (आयु· दंह) प्रजा की आयु को बढ़ा और (प्रजां दंह) प्रजा की भी वृद्धि कर ॥

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ४ ॥ ऋ० १ । २२ । १९ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे जनो ! (विष्णोः) व्यापक ईश्वर के कर्माणि) उन नाना कार्यों को जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था के कार्यों को (पश्यत) देखो (यतः) जिनके द्वारा वह (व्रतानि) नाना नियमों को (पस्पशे) बांधता है । वह परमेश्वर (इन्द्रस्य) आत्मा का (युज्य)

समाधि में उसके प्राप्त होने वाला (सखा) उसका मित्र है। अथवा हममें से प्रत्येक ईश्वर का मित्र है ॥

राजा के पक्ष में—(विष्णोः कर्माणि पश्यत) हे राजसभा के सभासदो ! राष्ट्र के व्यापक शक्तिवाले राजा के उन कर्मों को निरीक्षण करो। (यतः) जिनसे वह नाना नियमों को (पस्पशे) बांधता है। तुममें से प्रत्येक (इन्द्रस्य) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा का (युज्यः) योगदायी (सखा) मित्र है ॥

तद्विष्णोः परमं पदꣳ सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ५ ॥ ऋ० १ । २२ । २० ॥

ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

भा०—(सूरयः) वेद के विद्वान् पुरुष (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (तत्) उस (पदम्) पद को जो (दिवि) प्रकाश में (चक्षुः इव) चक्षु के समान (आततम्) व्यापक है अथवा (दिवि) आकाश में (चक्षुः इव) सूर्य के समान व्यापक है उसको ही (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (पदम्) पद, प्राप्त होने योग्य परम धाम का (पश्यन्ति) साक्षात् करते हैं ॥

राजा के पक्ष में—विष्णु राष्ट्र के व्यापक उस राजा के ही परम पद को विद्वान् प्रजा के प्रेरक नेता पुरुष आकाश में सूर्य के समान तेज से व्याप्त होने वाला, देखते हैं ॥

[1]परिवीरसि परि त्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां परिमं यजमानꣳ रायो मनुष्याणाम् । [2]दिवः सूनुरस्येष ते पृथिव्याँल्लोक आरण्यस्ते पशुः ॥ ६ ॥

यूपः स्वरुश्च विद्वासो वा देवताः । (१) आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः । (२) भुरिक् साम्नी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! (त्वं) तू (परिवीः असि) समस्त विद्याओं

५—दीर्घतमा ऋषिः । विद्वासो देवताः । द० ॥

को प्राप्त करनेवाला, अथवा प्रजा की चारों ओर से रक्षा करनेवाला, या प्रजाओं द्वारा चारों ओर से आश्रय किये जाने योग्य है। इसी कारण (त्वा) तुझको (दैवी विशः) देव, राजासम्बन्धिनी, विद्वानगण (विश.) प्रजाएं (परिव्ययन्ताम्) चारो ओर से अधीन अधिकारीरूप में घेर कर बैठें। (इयं) इस (यजमानम्) राष्ट्र की व्यवस्था करनेहारे यजमान या दानशील इसको (मनुष्याणाम्) मनुष्यों के उपयोगी (राय) ऐश्वर्य भी (परि-व्ययन्ताम्) चारों ओर से प्राप्त हों। हे राजन्! तू (दिव) प्रकाशमय सूर्य से (सुनू) उत्पन्न होनेवाले किरण समूह के समान तेजस्वी (असि) है। और (एष) यह (पृथिव्या) पृथिवी पर निवास करनेवाला (लोक.) समस्त लोक, भूलोक, या जन भी (ते) तेरा ही है। तेरे ही अधीन है। (आरण्य पशु.) अरण्यवासी समस्त पशु जाति भी (ते) तेरी ही सम्पत्ति है॥

उपावीरस्युपं देवान्दैवीर्विशः प्रागुंरुशिजो वन्हितमान्।
देवं त्वष्टर्वसु रम हव्या तें स्वदन्ताम् ॥ ७ ॥

तृण पशवश्च त्वष्टा वा देवता। आर्षी बृहती। मध्यम ॥

भा०—हे सभापते! राजन्! तू (उपावीः असिः) प्रजा के नित्य समीप रहकर उनका पालन करनेवाला रक्षक है। (दैवीः विशः) देव, राजा की दिव्य, या उत्तम गुणवाली (विश) प्रजाएँ (उशिजः) कान्तिमान् तेजस्वी (वन्हितमान्) राज्य कार्य भार को उत्तम रीति से वहन करने वाले, समर्थ (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (उप प्र अगु) प्राप्त हों। हे (देव) देव! राजन्! हे (त्वष्टः) प्रजाओं के दुःखों को काटनेहारे तू (वसु) पशु, प्रजा और नानाविध सम्पत्तियों का (रम) उपभोग कर। (हव्या) नाना प्रकार के भोजन करने योग्य अन्न और भोग्य पदार्थ (ते)

७—मेधातिथिर्ऋषिः त्वष्टा देवता। द० ॥

तुझे (स्वदन्ताम्) आस्वाद दें। अथवा (ते हव्या स्वदन्ताम्) तेरे नाना भोग्य पदार्थों को प्रजाएँ भोग करें। विद्वांसो हि देवाः ॥ शत० ३। ७। ३। ९–१२ ॥

[1]रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि। [2]ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः ॥ ८ ॥

पशवोबृहस्पतिर्देवता। (१) प्राजापत्यानुष्टुप् ऋषभः। निचृत् प्राजापत्या बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे (रेवतीः) ऐश्वर्य पशु और धन से सम्पन्न प्रजाओ ! आप लोग (रमध्वम्) खूब आनन्द प्रसन्न होकर विचरण करो। हे (बृहस्पते) बृहती वेद वाणी के पालक विद्वान् पुरुष ! आचार्य ! तू (वसूनि) नाना ऐश्वर्यों को और पशु सम्पत्ति को भी (धारय) धारण कर। और (ऋतस्य पाशेन) ऋत, सत्य ज्ञान और न्याय के पाश से (त्वा) तुझे (देवहविः) देवों विद्वानों के प्राप्त करने योग्य विज्ञान और चरित्र ही (प्रतिमुञ्चामि) धारण कराता हू। तू हे विद्वन्[1] (मानुष) मनुष्य, मननशील होकर (धर्ष) सब अज्ञानों को धर्षण कर, बलपूर्वक वश कर ॥

राजा के पक्ष में—प्रजाए राष्ट्र में आनन्दित रहें। हे बड़े राष्ट्र के पालक[1] तू समस्त ऐश्वर्यों को धारण कर। ऋत, सत्य न्याय के पाश या व्यवस्था से देवोचित हविः अर्थात् आदान योग्य कर, बलि आदि के द्वारा बाधता हूं। तू अब मनुष्य होकर भी प्रजा के भीतर के दुष्ट पुरुषों और शत्रुओं और प्रजाओं को परास्त कर ॥

[1]देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। [2]अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्रात्रा सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नी-

८—दीर्घतमा ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। द० । ०‘ धर्षान्मानुषः’ इति काण्व० ॥

षोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ ६ ॥

सविता अश्विनौ पूषा च देवता. । (१) प्राजापत्या वृहती । मध्यमः ।
(२) पक्ति धैवत. ॥

भा०—हे शिष्य ! और हे राजन् ! (त्वा) तुझको (देवस्य सवितु·) देव, सर्वप्रकाशक, सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पादित जगत् और शासन में (अश्विनो. बाहुभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाशमान् तेजस्वी (बाहुभ्याम्) पापबाधक शक्तियों या बाहुओं से और (पूष्ण.) सब के पोषक पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) हाथों के समान धारण और आकर्षण से स्वीकार करता हूं । और (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि, अग्रणी, सेनानायक और शान्तस्वभाव, न्यायाधीश दोनों से (जुष्टम्) युक्त तुझको (नि युनज्मि) राज्य कार्य में नियुक्त करता हू । और (त्वा) तुझको (अग्नी षोमाभ्याम् जुष्टम्) अग्नि और सोम, सेनापति और न्यायाधीश से युक्त अथवा अग्नि के समान सन्तापकारी और सोम, चन्द्रमा के समान आल्हादकारी भयानक और सौम्य गुणों से युक्त (त्वा) तुझको (अद्भ्य) जलों और उनके समान आप्त पुरुषों और (ओषधीभ्यः) तापजनक, तीव्र रसयुक्त ओषधियों से (प्रोक्षामि) अभिषेक करता हूं । या (अद्भ्य ओषधीभ्य त्वाम् प्रोक्षामि) आप्त पुरुषों और प्रजाओं के हित करने के लिये तुझे अभिषिक्त करता हू । (त्वा माता। अनुमन्यताम्) तुझे इस महान् राज्याभिषेक के लिये तेरी माता अनुमति दे । (पिता अनुमन्यताम्) पिता तुझे अनुमति दे । (भ्राता अनु) भाई तुझे अनुमति दे । (सगर्भ्यः) एक ही गर्भ में सोनेवाला, सहोदर (अनु) तुझे अनुमति दे । (सयूथ्य) एक जनसमुदाय में तेरे साथ रहने वाला साथी या सहपाठी या सहवर्गी पुरुष और (सखा) तेरा मित्रगण तुझे (अनु) अनुमति दे । इसी प्रकार आचार्य

६—०धीभ्यः प्रोक्षाणम्यनुत्वा० । इति काण्व० ॥

शिष्य को भी स्वीकार करे, जलों और ओषधियों से अभिषिक्त करे। और अपने अधीन लेते हुए उसे कहे कि तेरी माता, पिता, तेरे भाई, सहोदर, सहवर्गी, मित्र आदि तुझे आचार्याधीन विद्या प्राप्ति के लिये दीक्षित होने की अनुमति दें ॥ शत० ३ । ७ । ४ । ३–५ ॥

आपो वै सर्वे देवाः ॥ शत० १० । १ । ४ । १४ ॥ अग्नेर्वा आपः सुपत्न्यः ॥ शत० ६ । ८ । २ । ३ ॥ आपो वरुणस्य पत्न्यः । तै० १ । ९ । ३ । ८ ॥ ओषधयो वै देवाना पत्न्यः ॥ श० ६ । ५ । ४ ॥

[1]अपांपेरुरस्यापो देवीः स्वदन्तु स्वात्तच्चित्सदेवहविः । [2]संते प्राणो वातेन गच्छताꣳ समङ्गानि यज्ञैः सं यज्ञपतिराशिषा ॥१०॥

आप शुश्च देवता (१) प्राजापत्या बृहती । मध्यमः । (२) निचृदार्षीबृहती । मध्यमः ।

भा०—हे दीक्षाप्राप्त राजन्! या शिष्य! तू (अपाम्) समस्त आप्त पुरुषों का (पेरुः) पालन करने वाला (असि) है। (देवीः आपः) देव, दानशील, तत्वदर्शी (आपः) आप्त पुरुष (सु-आत्तम्) सुखपूर्वक प्राप्त की हुई अथवा (स्वात्तम्) आस्वादन करने योग्य भोग्य, आनन्दप्रद, (चित्) उत्तम (सत्) श्रेष्ठ पुरुषों, या राजा के योग्य हविः अर्थात् अन्न आदि उपादेय पदार्थों का स्वय (स्वदन्तु) भोग करें और तुझे भी भोग करावें। (आशिषा) सब बड़ों के आशीर्वाद से (ते प्राणः) तेरा प्राण (वातेन) वायु के साथ मिल कर अनुकूल रूप से (सं गच्छताम्) गति करे। अर्थात् तेरा प्राण वायु के समान बलवान हो। और (अंगानि) तेरे समस्त अंग या तेरे राष्ट्र के समस्त अंग (यजत्रैः) विद्वान्, पुरुषों द्वारा यज्ञ के अंगों के समान (सगच्छन्ताम्) शिक्षा, और पोषण द्वारा उत्तम रीति से वर्तें। और तू (यज्ञपति) समस्त राष्ट्रमय यज्ञ का पालक होकर (आषिषा सं गच्छताम्) उत्तम आज्ञाओं और आशीर्वाद से युक्त हो ॥ शत० ३ । ७ । ४ । ६–९ ॥

१०—०'सदन्तु' ०स, 'यजमान आषिषा' इति काण्व० ॥

घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाꣳ रेवति यजमाने प्रियं धा आविश । उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्मना यज सꣳस्यस्य तन्वा भव । वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

स्वरुशासौ, वाक्तृणम्, देवाश्च वातो वा देवता । भुरिगार्ची उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (घृतेन अक्तौ) घृत=तेज और स्नेह से युक्त होकर (पशून्) पशुओं का (त्रायेथाम्) पालन करो । हे (रेवति) ऐश्वर्यवति वाणि या भाग्यवती स्त्री ! तू (यजमाने) इस यजमान देवोपासक या सगति करने हारे पुरुष में (प्रियम् धा.) उसका प्रियाचरण कर और (आविश) उसमें प्रविष्ट हो । अर्थात् उसका ही एकाङ्ग होकर रह । अथवा हे स्त्री ! तू (रेवति यजमाने) ऐश्वर्य और सौभाग्य सम्पन्न यजमान गृह पति के आश्रय रह कर उसका (प्रियं धाः) प्रिय आचरण कर और (आविश) उसके भीतर एकचित्त होकर रह । (देवेन) देव, दिव्यगुणसम्पन्न (वातेन) प्राण के साथ (सजू.) इसकी सहसंगिनी, मित्र के समान होकर (उरोः अन्तरिक्षात्) विशाल अन्तरिक्ष से जिस प्रकार वायु सब की रक्षा करता है उसी प्रकार बडे २ सकट से तू उसकी रक्षा कर । और (अस्य) इसके (हविष) हवि, होमयोग्य अन्न आदि पदार्थों से (त्मना) स्वय भी (यज) यज्ञ कर । अथवा (अस्य हविषा त्मना यज) इसके अन्न को स्वय भी अपने उपभोग में ला और (अस्य तन्वा) उसके शरीर से ही तू (सम् भव) सगत होकर पुत्रलाभ कर, उससे एक होकर रह उसके विपरीत आचरण मत कर । हे (वर्षो) सब सुखों के वर्षक, सब सुखों की दात्रि ! (वर्षीयसि यज्ञे) अति विस्तीर्ण, बडे भारी गृहस्थ रूप यज्ञ में (यज्ञपतिम्) यज्ञ को पालन करने में समर्थ गृहपति को (धाः) स्थापित कर । (देवेभ्यः स्वाहा) यज्ञ के पूर्व ही आये देवों,

विद्वानों का प्रेमवचनों से सत्कार करो और (देवेभ्यः स्वाहा) यज्ञ के पश्चात् भी आदर वाणी से विद्वानों का आदर सत्कार करो ॥

राज्य पक्ष में—हे शास अर्थात् शासक और हे स्वरो ! दुष्टों के दण्ड द्वारा उपतापक ! तुम घृत अर्थात् तेज से युक्त रहो। हे रेवति ! वेदवाणि ! तू यजमान राजा में प्रिय मनोहर रूप को धारण कर। अन्तरिक्ष में जिस प्रकार वेगवान् वायु सब प्राणियों को जीवन देता उनपर शासन करता है, उसी के समान शासक होकर उस राजा के (हविषः त्मना) आज्ञापक आत्मा के साथ (यज) संगत हो। सकल सुःखों के वर्षण करने हारे इस राष्ट्रमय महान् यज्ञ में यज्ञ पति की रक्षा कर। हे राजन् ! समस्त विद्वान् ब्राह्मणों और शासकों का उत्तम वाणियों से आदर कर ॥

इसी प्रकार यजमान के यज्ञ कर्ता भी उसकी इसी प्रकार सेवा करें, उसके अनुकूल होकर रहें, उसको हविसे यज्ञ करें, यज्ञ पति की स्थापना करें और यज्ञ में आये विद्वानों का आदर करें ॥ शत० ३ । ८ । ६ । १–१६ ॥

माहिंर्भूर्मा पृदांकुर्नमंस्तऽआतानान्वा प्रेहि ।
घृतस्यं कुल्याऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनुं ॥ १२ ॥

रज्जु यज्ञःश्च विद्वासो वा देवता ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (अहिः) सर्प के समान कुटिल मार्ग पर चलने वाला या अकारण क्रोधी (मा भूः) मत हो। और तू (पृदाकूः) मूढ़ के समान अभिमानी, या व्याघ्र के समान हिंसक, या पृदाकू=अजगर के समान अपने सङ्गी को हड़पजाने वाला, उसके प्राणों का नाशक (मा भूः) मत हो। स्त्री पुरुष को और प्रजा राजा को कहती है कि हे (आतान) हे यज्ञसम्पादक पुरुष ! हे प्रजा के सुख को भली प्रकार विस्तार करने वाले पुरुष ! या सुख के विस्तारक ! (ते नमः) हम तेरा आदर करते हैं। (अनर्वा प्रेहि) तू आ

१२—०'पथ्याउप०' इति काण्व० ॥

और जिस प्रकार (घृतस्य) घृत आदि पुष्टिप्रद पदार्थ या घृत=जल की धारा अर्थात् सत्कारार्थ इन जलों को मुख आदि प्रक्षालन के लिये (उप इहि) प्राप्त हो, स्वीकार कर। और (ऋतस्य) ऋत, अन्न के (पथ्या) खानेयोग्य भोजनों को भी (अनु) पीछे स्वीकार कर। अथवा (ऋतस्य पथ्याः अनु) सत्य ज्ञान के मार्गों को तू अनुसरण कर ॥

राजा के पक्ष में—हे राजन्! तू सर्प के समान कुटिलाचारी और अजगर के समान प्रजाभक्षी मत बन। हे विस्तृत राष्ट्र शासक! तेरा हम प्रजाजन आदर करते है। तू (अनर्वा) विना सवारी, या विना अश्वसेना या विना शत्रु के विचर। जलकी धाराओं पर पुष्टिकर पदार्थों की धाराओं को प्राप्त हो और सत्य के मार्गों का अनुसरण कर ॥ शत० ३। ८। २। १–३ ॥

वर के गृहद्वार पर भी उसकी स्वयंवरा कन्या और गृहपति के आने पर उसकी गृह पत्नी भी उसी प्रकार आतिथ्य करे यह वेद का उपदेश है ॥

देवीरापः शुद्धा वोऽद्ध्वꣳसुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं प-रिवेष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

आपो देवताः। निचृदार्षी अनुष्टुप्। गान्धारः स्वरः ॥

भा०— हे (आप) आप्तगुणों से युक्त या प्राप्त होने योग्य, या जलों के समान स्वच्छ (देवी) देवियो, विदुषी स्त्रियो! आप लोग (शुद्धा.) शुद्ध आचरण वाली होकर (वोऽद्ध्वम्) स्वयंवर पूर्वक विवाह करो। और तुम कन्याजन! (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में ही (सु परिविष्टाः) उत्तम रीति से उनके अर्धाङ्गिनियों के रूप मे उनको प्रदान की जाओ। कन्यायें उत्तर दें—हे विद्वान् पुरुषो! (वयम्) हम कन्याए (सु परि विष्टा.) विद्वान् पुरुषों के हाथों दी जावे। पुरुष कहें (वयम्) हम (परिवेष्टार)) विवाह करने वाले (भूयास्म) हों। उनका पाणिग्रहण करें ॥

राजा प्रजा पक्ष में—राजा कहता है—हे प्रजाओ! तुम शुद्ध रूप से

आज्ञा को धारण करो और (देवेषु) विद्वानों के आश्रय में सुख से वस कर रहो [1]। प्रजा कहे-हम सुख से हैं। राज गण कहें—हम प्रजा जनों के उत्तम रक्षक बनें। अर्थात् राजा प्रजा का व्यवहार स्वयंवृत पति पत्नी के समान हो ॥ शत० ३ । ८ । २ ॥

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुंधामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥ १४ ॥

विद्वासो देवताः ॥

भा०—स्त्री स्वयंवर के अवसर पर पति को कहती हैं—और इसी प्रकार गुरुजन अपने शिष्यों को भी कहते हैं—(ते वाचम् शुंधामि) मैं तेरी वाणी को शुद्ध करती हूं। (ते प्राणान् शुन्धामि) मैं तेरे प्राण को शुद्ध करती हूं। (ते चक्षु शुन्धामि) तेरी आंख को शुद्ध करती हूं। (ते श्रोत्रं शुन्धामि) तेरे कान को शुद्ध करती हूं। (ते नाभिम् शुन्धामि) तेरी नाभि को शुद्ध करती हूं। (ते मेढ्रं शुन्धामि) तेरे प्रजननाङ्ग को शुद्ध करती हूं। (ते पायुम् शुन्धामि) तेरे पायु अर्थात् गुदा भाग को शुद्ध करती हूं और (चरित्रान् शुन्धामि) तेरे चरणों और आचरणों को भी शुद्ध करती हूं। जितने भी सम्बन्ध आपस के भेद भाव रहित निष्कपटता के हैं वहां २ परस्पर एक दूसरे के समस्त अंगों को पवित्र करें। पत्नी पति के और पति पत्नी के और गुरु शिष्य के, समस्त अंगों को पवित्र और शुद्ध आचारवान् बनाने की प्रतिज्ञा करें। विवाह पद्धति में कन्याहुति द्वारा उसी उद्देश्य को पूर्ण किया जाता है। उपनयनादि में गात्र स्पर्श द्वारा आचार्य भी वही कार्य करता है ॥

इसी प्रकार प्रजा भी राजा की वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, नाभि

१४—पशुर्देवता । सर्वा० ॥

लिङ्ग, गुदा, चरण आदि सब को पवित्र करे। उसको पाप में पैर न रखने दे ॥

मनस्त आप्यायतां वाक्तऽआप्यायतां प्राणस्तऽआप्यायताञ्चक्षु-स्तऽआप्यायताꣳश्रोत्रं तऽआप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तऽआप्यायतां निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः। ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनꣳहिꣳसीः ॥ १५ ॥

विद्वासो देवताः। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। पञ्चम ॥

भा०—हे मनुष्य! (ते मनः) तेरा मन, सकल्प विकल्प करने वाला चित्त (आप्यायताम्) बढ़े, शक्तिशाली हो। (ते वाक्, प्राण', चक्षु. श्रोत्रम् आप्यायताम् ४) तेरी वाणी प्राण, चक्षु, कान, ये समस्त इन्द्रियां शक्तिमान् हों और (यत्) जो (ते) तेरा (क्रूरम्) क्रूर स्वभाव है वह (नि. स्त्यायताम्) दूर हो। और (यत्) जो (आस्थितम्) तेरा स्थिर निश्चय या स्थिर स्वभाव है वह (आप्यायताम्) वृद्धि को प्राप्त हो, बढ़े। और (तत्) वह भी (ते) तेरा (शुध्यतु) शुद्ध हो। (अहोभ्य.) सब दिनों के लिये (शम्) शान्ति और कल्याण, सुख प्राप्त हो। हे (ओषधे) ओषधि त्याग और औषधियों के प्रयोक्ता वैद्य लोगो! (त्रायस्व) तुम इसकी रक्षा करो। हे (स्वधिते) शस्त्र या हे शस्त्रधारी पुरुष! (एनम्) इस मनुष्य को (मा हिंसीः) मत मार ॥

गुरु शिष्य पक्ष में—हे (ओषधे) दोषों को दूर करने में समर्थ गुरो! तुम इस शिष्य की रक्षा करो। और हे (स्वधिते) शिष्याओं को शिष्य को अपने पुत्र के समान पालने हारे गुरो और आचार्याणि! तुम (मा एनं हिं सी.) इस शिष्य को व्यर्थ ताड़ना मत करो।

१५—पशुर्देवतेति सर्वा०। ०'निष्टथायता' इति काण्व०॥

राजा के भी मन वाणी आदि शक्तियां बढ़े और शस्त्रधारी रक्षक उसका घात न करें ॥ शत० ३ । ८ । २ । १२ ॥

रक्षसां भागोऽसि निरस्तꣳ रक्षोऽइदमहꣳ रक्षोऽभितिष्ठामीद-महꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳ रक्षोऽधमन्तमो नयामि । घृतेन द्यावापृथिवी प्रोर्णुवाथां वायो वे स्तोकानामग्निराज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृतेऽऊर्द्ध्वनभसं मारुतङ्गच्छतम् ॥ १६ ॥

द्यावापृथिव्यौ देवते । ब्राह्म्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे दुष्ट कर्म के करनेवाले ! दुराचारिन् ! तू (रक्षसाम्) दूसरों के कार्यों का नाश करके अपने स्वार्थ की रक्षा करनेवाले, नीच पुरुषों का ही (भाग. असि) भाग है अर्थात् तू उनके आचरणों और नीच स्वभावों का सेवन करता है एवं उनका आश्रय है । इसलिये (रक्षः) ऐसा स्वार्थी दुष्ट पुरुष (निरस्तम्) नीचे गिरा दिया जाय । (अहम्) मैं (इदम्) इस प्रकार (रक्षः) दुष्ट पुरुष के (अभितिष्ठामि) ऊपर चढ़ाई करूं, उसका मुकाबला करूं । मैं (इदम्) इस प्रकार अभी, बिना विलम्ब के, (रक्षः अवबाधे) राज्य कार्य के विघ्नकारी पुरुष को नीचे गिराकर दण्डित करूं । (इदम्) और शीघ्र ही इस प्रकार से (रक्षः) राक्षस, विघ्नकारी दुष्ट पुरुष को (अधमं तमः) नीचे गहरे अन्धकार में या अन्धेरी कोठरी में (नयामि) घोर दुःख भोगने के लिये भेजदूं । और हे (द्यावापृथिवी) पिता, माता एवं पुरुष और स्त्री और गुरु, शिष्य ! जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी (घृतेन) जल से या प्रकाश से आच्छादित रहती है । उसी प्रकार तुम दोनों (घृतेन) घृत आदि पुष्टिप्रद पदार्थ, वीर्य सामर्थ्य और ज्ञान से (प्र-ऊर्णुवीथाम्) अच्छी प्रकार सम्पन्न रहो । हे

१६—रक्षो, द्यावापृथिवी, वायुः अति वपाश्रपणयौच्च देवताः । सर्वा० । 'ओप्रो-र्णुवाथां वायो वेस्तोकानाम् । जुषाणोऽग्निरा०' इति काण्व ॥

(वायो) ज्ञानवन् ! जिस प्रकार वायु जल के सूक्ष्म कणों को अपने भीतर वाष्परूप में ग्रहण करलेता है उसी प्रकार तू भी (स्तोकानाम्) अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञानों और सूक्ष्म २ तत्वों को भी (वेः) ज्ञान कर। और (अग्नि) अग्नि जिस प्रकार आज्य अर्थात् घृत को प्राप्त होकर प्रकाशमान होजाता है उसी प्रकार या सूर्य जिस प्रकार जल को ग्रहण करता, हे विद्वान् पुरुष ! तू भी (अग्नि) अग्नि के स्वभाव का होकर, स्वयंप्रकाश होकर (आज्यस्य) अज, अविनाशी परमात्मविषयक ज्ञान को अथवा आनन्द, ज्ञान, प्राणबल, सत्य तत्व, वीर्य या वेद ज्ञान को (वेतु) प्राप्त करे। और (स्वाहा) यही सब से उत्तम आहुति है। या वह उत्तम यश को उत्पन्न करता है। हे (स्वाहाकृते) इस प्रकार उत्तम उपदेश-ज्ञान की परस्पर आहुति प्रदान या ग्रहण करनेवाले स्त्री पुरुषो ! (ऊर्ध्वनभसम्) जिस प्रकार अग्नि घृत को ग्रहण करके प्रज्वलित करता और वायु उसके सूक्ष्म कणों को ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार ऊपर के जल से युक्त वायु को दोनों आकाश और पृथिवी प्राप्त कर लेते हैं। उसी प्रकार तुम दोनों (ऊर्ध्वनभसम्) सर्वोच्च, सबके परम बन्धनकारी (मारुतम्) सबके जन्म मरण के कर्त्ता या प्राणस्वरूप परमेश्वर का (गच्छतम्) ज्ञान करो, उसको प्राप्त करो ॥

राज प्रजा के पक्ष में—राजा प्रजा (घृतेन) तेज से, ऐश्वर्य से एक दूसरे को आच्छादित करे। वायु स्वभाव प्रजा स्वल्प २ पदार्थों का भी संग्रह करे। अग्नि राजा युद्धोपयोगी ऐश्वर्य को प्राप्त करे। एक दूसरे को (स्वाहा) उत्तम आदान प्रतिदान करे। इस प्रकार (स्वाहाकृते) आदानप्रतिदान करनेवाले हे राजा और प्रजाओ ! तुम दोनों (ऊर्ध्वनभसम्) ऊपर सबपर बांधनेवाले एक नियन्तारूप (मारुतम्) मरुद्गणों, समस्त सेनाओं या वैश्यों के महान् बल को प्राप्त करो ॥ शत० ३ । ८ । २ । १३-२२ ॥

हृदमापः प्रवहताव॒द्यञ्च॒ मल॑ञ्च॒ यत् । यच्चाभिदु॒द्रोहानृ॑तं यच्च शे॒पेऽअ॑भीरु॒णम् । आपो॑ मा॒ तस्मा॒देन॑सः पव॑मानश्च मुञ्चतु ॥१७॥

आपो देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे (आपः) जलों के समान शान्त स्वभाव, एवं मलशोधक विद्याओं को प्राप्त करनेहारे आप्त पुरुषो ! (अवद्यं च) जो निन्दनीय कर्म और (यत् मलं) जो मल, मलिन कार्य है और (यत् च) जो कुछ मैं (अभिदुद्रोह) दूसरे के प्रति द्रोहकार्य, द्वेष, घात, वैर आदि करूं और (यत् च) जो (अनृतम्) असत्य भाषण करूं और जो (अभीरुणम्) निर्भय होकर मैं (शेपे) दूसरे को कोसूं, निन्दाजनक अपशब्द कहूं उस सब मल को आप लोग (इदम्) बहुत शीघ्र (प्रवहत) जलों के समान बहाकर दूर करो और मुझे स्वच्छ करदो । और (आपः) वे आप्त पुरुष और (पवमानः च) पवित्र करनेहारा, या सूर्य या वायु के समान अन्न को तुष से पृथक् २ करदेनेहारा व न्यायकारी पुरुष (मा) मुझको (तस्मात्) उस पाप से (मुञ्चतु) छुड़ावें ॥

[1]सं ते॒ मनो॒ मन॑सा॒ सं प्रा॒णः प्रा॒णेन॑ गच्छताम् । [2]रे॒ड॒स्य॒ग्निष्ट्वा॑ श्रीणात्वाप॑स्त्वा॒ समा॑रिणन्वा॒तस्य॑ त्वा ध्राज्यै पू॒ष्णो र॒ꣳह्या॒ऽ-ऊ॒ष्मणो॑ व्यथिष॒त्प्रयु॑तं॒ द्वेषः॑ ॥ १८ ॥

अग्निर्देवता । (१) प्राजापत्यानुष्टुप् । गाधार । (२) दैवी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन अन्तःकरण (मनसा) मन, मनन सामर्थ्य या विज्ञान से युक्त हो और (प्राणः) प्राण (प्राणेन) प्राण बलसे (सं गच्छताम्) युक्त हो । अथवा स्त्री पुरुष, राजा प्रजा और

१७—अय मन्त्रः शतपथे नास्ति । इदमापः प्रवहत यत्किच दुरित मयि यद्वाहमभि दुद्रोह यद्वा शेप उतानृत । इति काण्व० ॥

१८—हृदय, वसा, द्वेषश्च देवताः । सर्वा० ॥

गुरु शिष्य परस्पर प्रतिज्ञा करते हैं कि (ते मनः मनसा सं गच्छताम्) तेरा मन मेरे मन से मिलकर रहे । (ते प्राणः प्राणेन संगच्छताम्) तेरा प्राण मेरे प्राण से मिलकर रहे ॥

द्यौ और पृथिवी से उत्पन्न अन्न के पक्ष में—हे अन्न ! भोजनयोग्य पदार्थ ! तू (रेट्=लेट् असि) तू आस्वादन करने योग्य है । (त्वा अग्नि श्रीणातु) तुझे अग्नि परिपक्व करे । (आपः त्वा सम् अरिणन्) जल तुझमें मिलें (त्वा) तुझको (वातस्य) वायु के (ध्राज्यै) वेगवती, तीव्र गति और (पूष्ण) परिपोषक सूर्य के (रह्यै) प्रचण्डता की (उष्मणा) उष्णता से (व्यथिषत्) तपाया जाता है । और इस प्रकार (द्वेष.) अप्रीतिकर, बुरे पदार्थ तुष आदि को तुझ से (प्रयुतं) पृथक् कर दिया जाता है ॥

इसी प्रकार शिष्य के पक्ष में—(रेट् असि) तू ज्ञानवान् होने योग्य है । अग्नि, आचार्य तुझे ज्ञान में परिपक्व करे । आप्त पुरुष तेरे संग रहे । वात अर्थात् प्राण के तीव्रगति और परिपोषक सूर्य के प्रचण्डता की उष्णता से अर्थात् तप से तुझे तपस्या करायी गयी है । अत. हे सहनशील मेरे भीतर से (प्रयुतं द्वेष·) प्राणियों के प्रति तेरे हृदय में बैठे द्वेषभाव को पृथक् कर दिया गया है ॥

राजा प्रजा पक्ष में और योद्धा पक्ष में—(रेट्) शत्रुओं का तू नाशक है । अग्नि, अग्रणी सेनापति युद्धाग्नि तुझे परिपक्व करे । या (वातस्य त्वा ध्राज्यै) वायु के प्रचण्डवेग और (पूष्णः रह्यै) सूर्य के प्रचण्ड गति के प्राप्त करने के लिये (त्वा आप सम् अरिणन्) जलों के समान शान्त स्वभाव के विद्वान् पुरुष तुझे प्रेरित करें । या ऐसे जल तुझे प्राप्त हों । तेरी (उष्म) अपनी प्रचण्डता से (प्रयुतम्) लक्षों (द्वेष·) द्वेषकारी शत्रु (व्यथिपत्) पीड़ित हों ॥ शत० ३ । ८ । ३ । ६–२४ ॥

घृत घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा। दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशः उद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥

विश्वेदेवा देवताः । ब्राह्म्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (घृतपावानः) घृत=जल के और घृत आदि के पान करनेहारे पुरुषो ! आप लोग (घृतम् पिबत) घृत, जल और घी आदि पुष्टिकारक पदार्थों का पान करो। अथवा हे (घृतपावान') परम तेज के पालन करनेहारे पुरुषो। तुम लोग 'घृत' अर्थात् राजयोग्य परम तेज को धारण करो॥

[घृत शब्द वेद मे नाना प्रकार से प्रयुक्त होता है जैसे-पुतद्वा अग्ने. प्रियं धाम यद् घृतम्। शत० ६ । ६ । १ । ११ ॥ घृतं वै देवानां वज्रं कृत्वा सोममघ्नन्। गो उ० २ । ४ ॥ देवव्रतं वै घृतम्। तां० १८ । २ । ६ ॥ रेतःसिक्तिर्वै घृतम्। घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्। श० ७ । ५ । १ । ३ ॥ अन्नस्य घृतमेव रसस्तेज । मै० २ । ६ । १५ ॥ तेजो वा एतत्पशूनां यद् घृतम्। ते० ८ । २० ॥]

अग्नि अर्थात् राजा का तेज, राष्ट्र को प्राप्त करने के लिये शस्त्रबल, देव का व्रत अर्थात् राजा के निमित्त निर्धारित कर्तव्य, गृहस्थों का वीर्यसेचन आदि कर्तव्य पालन, अन्न का परम रस और पशु सम्पत्ति ये सब पदार्थ सामान्यतः 'घृत' हैं। उनको पान करने या पालन करने में समर्थ पुरुष इन वस्तुओं का पान अर्थात् प्राप्त करें और उसका उपयोग करें। (वसां वसापावान. पिबत) हे 'वसा' को पान करनेवालो ! तुम 'वसा' को पान करो ॥

'वसा'—श्रीर्वैपशूनां वसा। अथो परमं वा एतद् अन्नाद्यं यद् वसा। श० १२ । ८ । ३ । १२ ॥

१६—विश्वेदेवाः दिशश्च देवताः । सर्वा० ॥

अर्थात्—हे पशु सम्पत्ति और उत्तम अन्न समृद्धि के पालनेहारे पशु पालक और वैश्यजनो ! आप लोग (वसां पिबत) आप उत्तम पशु सम्पत्ति और उत्तम अन्न आदि खाद्य पदार्थों का पान करो, उपभोग करो उनसे प्राप्त दूध, दही मक्खन और नाना लेह्य चोष्य पदार्थ बनाकर खाओ। हे अन्नादि पदार्थों ! (अन्तरिक्षस्य हविः असि) तू अन्तरिक्ष की हवि अर्थात् प्राप्त और संग्रह करने योग्य पदार्थ है ॥

वैश्वदेवं वा अन्तरिक्ष । तद्यदेनेनेमा. प्रजा. प्राण्त्यश्चोदान्त्यश्चान्त रिक्षमनुचरन्ति) अन्तरिक्ष विश्वेदेव का रूप है अर्थात् समस्त प्रजाएं अन्त-रिक्ष हैं। पूर्वोक्त घृत और वसा अर्थात् उत्तम अन्न, बल, शस्त्र और पशु सम्पत्ति ये पदार्थ विश्वेदेव अर्थात् समस्त प्रजाओं का हवि अर्थात् उपादेय अन्न है । इसलिये (स्वाहा) इनको उत्तम रीति से प्राप्त करना चाहिये, इनका प्राप्त करना उत्तम है । इन सब पदार्थों को (दिशः) समस्त दिशाओं से, (प्रदिश.) उपदिशाओं से, (आदिश.) समीप के देशों से और (विदिशः) विविध दूर २ के देशों से और (उद्दिश.) ऊंचे पर्वती देशों से अर्थात् (दिग्भ्य.) सभी दिशाओं या देशों से (स्वाहा) भली प्रकार प्राप्त करना चाहिये । और नाना देशों को भेजना भी चाहिये ॥

वीरों के पक्ष में—वीर लोग 'अन्तरिक्ष की हवि हैं' अर्थात् दोनों देशों के बीच में लड़कर युद्ध यज्ञ में आहुति होने के योग्य हविरूप है अर्थात् वहां उनका उपयोग है। वे भी दिशा उपादिशा, दूर समीप के सभी देशों को प्रस्थित हों, वहां विजय करें ॥ शत० ३ । ८ । ३ । २१-२५ ॥

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः । देव त्वष्ट्रर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपम्भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ २० ॥

सेनापतिर्देवता । याजुष्य उष्णिह. । ऋषभ. ॥

२०—०निधीत ऐन्द्र० निदीधे ।' इति काण्व० ॥

भा०—जिस प्रकार (ऐन्द्रः) इन्द्र अर्थात् जीव सम्बन्धी (प्राणः) प्राण, चेतना (अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में, प्रत्येक अङ्ग में (निदीध्यत्) निरन्तर प्रकाशित या चेतनारूप से विद्यमान रहती और गति करती या क्रीड़ा करती है। और जिस प्रकार (एन्द्रः उदान) जीव की एक शक्ति उदान भी (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अङ्ग में (निधीतः) निरन्तर स्थिर रहती है उसी प्रकार (ऐन्द्र. प्राण.) राष्ट्र में भी प्राण के समान ऐन्द्र=अर्थात् इन्द्र राजा का उत्कृष्ट बल राष्ट्र के (अङ्गे २ निदीध्यत्) प्रत्येक अङ्ग में विराजमान हो, उज्ज्वलरूप मे विद्यमान हो। और इसी प्रकार (ऐन्द्रः उदानः) राजा के उत्तम सामर्थ्य उसको उन्नत करनेवाला बल भी (अङ्गे अङ्गे निधीतः) राष्ट्र के प्रत्येक अंग में स्थापित किया जाय। हे (देव) देव ! हे विजिगीषो ! राजन् सेनापते ! हे (त्वष्टः) शत्रुओं के बलको काटने वाले, हे प्रजापते ! और गृहपते ! हे वीर पुरुष ! (ते) तेरा (यत्) जो (सलक्ष्म) एक ही चिह्न या लक्षण को धारण करनेवाला, एक ही पोषाक पहनने वाला (विषुरूपम्) नाना प्रकार का सेना बल है वह (भूरि) बहुत अधिक मात्रा में (सम् एतु) एकत्र हो। (देवत्रा) देवों, राजाओं के बीच (यन्तम्) गमन करते हुए (त्वा अनु) तेरे पीछे २ चलनेवाले (सखायः) तेरे सुहृद् राजा लोग (अवसे) तेरी रक्षा के लिये चलें और (माता पितरौ) तेरे माता पिता भी (त्वा अनु) तेरे उन्नति के साथ (मदन्तु) हर्षित हों। अथवा तेरे मित्रगण तेरे माता पिता को हर्षित करें ॥

गृहपति पक्ष में—हे (त्वष्टः) गृहपते ! वीर्यनिषेक ! (यत्) जब (सलक्ष्मा) तेरे ही समान लक्षणोंवाली तेरी धर्मपत्नी (विषुरूपं भवाति) विषुरूप अर्थात् सन्तानरूप से नाना रूप होजाय तब वह (भूरि) बहुत अधिक (सम्, सम् एतु) तुझे सन्तान आदि सहित प्राप्त हो। (देवत्रा यन्तं सखायः माता पितरौ च त्वा अनु मदन्तु) और विद्वानों के बीच तेरे मित्र और माता पिता तुझे देख २ कर प्रसन्न हों। अथवा–(सलक्ष्मा ते भूरि

सं समेतु) हे वीर्य निषेक करने में समर्थ युवा पुरुष (ते) तेरे समान लक्षणों वाली स्त्री तुझे प्राप्त हो । (यत्) जिससे वह (विषुरूपं, भवति) नाना सन्तानों से नाना रूप हो । शेष पूर्ववत् ॥ शत० ३ । ८ । ३ । ३६ ॥

'त्वष्टा'—इन्द्रो वै त्वष्टा । ऐ० ६ । १० ॥ त्वष्टा वै रेतः सिक्तं विकरोति । श० १ । ८ । २ । १० । ३ ॥ रेतः सिक्तिर्वै त्वाष्ट्र । कौ० १६ । ६ ॥

समुद्रङ्गच्छ स्वाहाऽन्तरिक्षङ्गच्छ स्वाहा देवꣳ सवितारङ्गच्छ स्वाहा । मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा होरात्रे गच्छ स्वाहा छन्दाꣳसि गच्छ स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा यज्ञं गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा दिव्यं नभो गच्छ स्वाहाग्निं वैश्वानरङ्गच्छ स्वाहा मनो मे हार्दि यच्छ दिवं ते धूमो गच्छतु स्वर्ज्योतिः पृथिवीं भस्मना पृण स्वाहा ॥ २१ ॥

सेनापतिर्देवता । याजुष्य उष्णिहः । ऋषभः ॥

भा०—(समुद्रं गच्छ स्वाहा) हे सेनापते ! तू (स्वाहा) उत्तम नौका आदि विद्या से तैयार किये, उत्तम उपाय से (समुद्र गच्छ) समुद्र की यात्रा कर । विमानविद्या द्वारा बनाये विमान आदि उत्तम उपाय से (अन्तरिक्षम् गच्छ) अन्तरिक्ष को प्राप्त कर, उसमें जा । (सवितारम् देवम् गच्छ स्वाहा) ब्रह्मविद्या से प्रकाशस्वरूप सविता, सर्वोत्पादक परमेश्वर को (गच्छ) प्राप्त हो । (स्वाहा मित्रावरुणौ गच्छ) योग विद्या से मित्र और वरुण, प्राण और उदान को वश कर । (स्वाहा अहोरात्रे

२१—'हार्दियच्छ' इत्यन्तो । मन्त्रः शत० । दिवन्ते०—स्वाहा' शतपथे नास्ति । लिंगोक्ता समुद्रादयो स्वरुश्च देवता । इति सर्वा० । समुद्र गच्छ स्वाहा देव १० सवितार गच्छ स्वाहा अन्तरिक्ष० । ०सोम गच्छ स्वाहा यज्ञ गच्छ स्वाहा नभो दिव्य०, हार्यच्छ । दिव ते धूमो गच्छत्वन्तरिक्ष ज्योतिः । इति काण्व० ॥

गच्छ) कालविद्या से दिन और रात्रि का ज्ञान कर । (स्वाहा छन्दांसि गच्छ) वेद वेदाङ्ग की विद्या से समस्त ऋग्, यजु., साम और अथर्व चारों वेदों का ज्ञान कर । (स्वाहा द्यावापृथिवी गच्छ) आकाश, खगोल, भूगोल और भूगर्भ विद्या से द्यौ और पृथिवी, आकाश और भूमि के समस्त पदार्थों का ज्ञान कर । (स्वाहा यज्ञं गच्छ) उत्तम उपदेश से यज्ञ, अग्निहोत्र, राज्यशासन आदि कार्यों को जान । (स्वाहा सोमम् गच्छ) उत्तम उपदेश द्वारा समस्त ओषधियों के परम रस व परम वीर्य को प्राप्त कर, उसका ज्ञान कर । (स्वाहा दिव्यं नभः गच्छ) उत्तम विद्या द्वारा दिव्य गुणयुक्त नभः आकाश के भागों को या जलों को जान । (स्वाहा अग्निम् वैश्वानरम् गच्छ) उत्तम विद्योपदेश द्वारा वैश्वानर अग्नि, जाठर अग्नि, अथवा सूर्य से प्राप्त अग्नि का ज्ञान कर ॥

हे परमात्मन् ! (मे) मेरे (हार्दि) हृदय में प्राप्त होने योग्य (मनः) उत्तम ज्ञान (यच्छ) प्रदान कर । हे अग्ने ! अग्रणी सेनापते ! (ते धूमः) जिस प्रकार अग्नि का धूआं आकाश में चला जाता है, उसी प्रकार (ते) तेरा (धूमः) शत्रुओं को कंपा देने वाला सामर्थ्य (दिवं गच्छ) प्रकाशमान सूर्य को प्राप्त करे अर्थात् प्रकाशित हो । तेरी (ज्योतिः) ज्योति.=यश, (स्व·) सूर्य को प्राप्त हो, अर्थात् यह सूर्य के समान प्रकाशित हो । और तू (पृथिवीम्) पृथिवी को (भस्मना) अपने तेज और शत्रु को दबानेवाले आतङ्क से (स्वाहा) उत्तम नीति से (आपृण) पूर्ण कर । 'भस्मना' भस भर्त्सनदीप्त्यो. । इत्यत. सार्वधातुको मनिन् ॥

अर्थात् उत्तम २ विद्याओं द्वारा, और उत्तम विद्योपदेशों द्वारा समुद्र अन्तरिक्ष आदि को प्राप्त हो । अथवा हे राजन् ! तू (स्वाहा समुद्र गच्छ) उत्तम आदान योग्य गुणों से समुद्र को प्राप्त हो अर्थात् तू समुद्र के समान गम्भीर रत्नों का आश्रय हो । तू अन्तरिक्ष को प्राप्त हो अर्थात् अन्तरिक्ष के समान पृथिवी का रक्षक बन, सूर्य के समान सब का प्रेरक राजा बन,

प्राण उदान के समान राष्ट्र का जीवन बन । दिन रात्रि के समान कार्य सञ्चालक और विश्रामवाला बन । इसी प्रकार वेदों के समान ज्ञानमय, द्यावापृथिवी के समान सबका आश्रय, यज्ञ के समान सब का पालक, सोम के समान रोगनाशक आकाश या जल के समान व्यापक और शान्ति-दायक, वैश्वानर अग्नि के समान सर्वहितकारी नेता, बन ॥ शत० ३ । ८ । ४ । १०–१८ ॥ ३ । ८ । ५ । १–६ ॥ यह मन्त्र प्रजोत्पत्ति पक्ष में शतपथ मे व्याख्यात है । जिसका अभिप्राय है कि महान् परमेश्वर का वीर्य जिस प्रकार समुद्र अन्तरिक्ष, सूर्य, मित्रवरुण द्यौ पृथिवी आदि नाना पदार्थों में परिवर्तित है, उसीप्रकार हे वीर्य ! तू भी माता के गर्भाशय में जाकर शरीर के ही नाना भागों में परिवर्तित हो ॥

[1]मापो मौषधीर्हिꣳसीर्द्धाम्नो धाम्नो राजꣳस्ततो वरुण नो मुञ्च । यदाहुरघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च । [2]सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्चं वयं द्विष्मः ॥ २२ ॥

वरुणो देवता । ब्राह्मी (१) स्वराड् उष्णिक् । ऋषभ ।
(२) विराड् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! हे (वरुण) वरुण ! सर्वश्रेष्ठ प्रजाओं और आप्तों द्वारा वरण करने योग्य ! तू (आप) आप्त प्रजाजनों को और (ओषधीः) दुष्टों के दोषों का नाश करने वाले, सामर्थ्यवान् वीर्यवान् पुरुषों को, (मा हिंसी) मत नाश कर । अथवा (आपः ओषधीः मा हिंसी) राष्ट्र में जलों, कूप तड़ाक आदि, ओषधि, अन्न आदि के खेतों और वनों का नाश मत कर । उनकी रक्षा कर । और (धाम्न धाम्न) प्रत्येक स्थान से (नः) हमें (मुञ्च) भय से मुक्त कर, हमें स्वतन्त्र रख । (यत्) जब २ हम हे (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौ और ! विद्वान् ब्राह्मण गण ! हे (वरुण) सर्व श्रेष्ठ दोषवारक ! (इति) इस प्रकार कहकर हम (शपामहे) आगे

अपराध न करने की शपथ लें (तत) तब उस अपराध के दण्ड से (नः) हमें (मुञ्च) मुक्त कर । (न) हमारे लिये (आपः) समस्त जल और (ओषधयः) ओषधियां और आप्त पुरुष और दण्ड दाता अधिकारी-जन (नः) हमारे (सुमित्रियाः) उत्तम स्नेहकारी मित्र के समान वर्ताव करने वाले (सन्तु) हों । और वे ही (तस्मै) उस मनुष्य के लिये (दुर्मित्रियाः) दुःखदायी हों (यः) जो (अस्मान्) हमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यं च वयं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं ॥

'आपः'—आपो वै सर्वे देवाः । श० १० । ५ । ४ । १४ ॥ आपो वरुणस्य पत्न्यः । तै० १ । १ । ३ । ८ ॥ अग्निना वा आप सुपत्न्यः । श० ६ । ८ । २ । ३ ॥ मनुष्या वा आपः चन्द्रा. । श० ७ । ३ । १ । २० ॥

'ओषधी'—ओषं धय इति तत ओषधय समभवन् । तेज और ताप को धारण करने वाला 'ओषधि' है ॥

गृहपति पक्ष में यही मन्त्र व्याख्यात होता है । जिससे स्त्रियें और गर्भिणिएं अदण्ड्य होती हैं ॥ शत० ३ । ५ । १० । ११ ॥

हविष्मंतीरिमाऽआपो हविष्माँऽ आविवासति ।
हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँऽ अस्तु सूर्यः ॥ २३ ॥

आप यज्ञः सूर्याश्च देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—(इमाः आप.) ये जल सदा (हविष्मतीः) हवि, अर्थात् ग्रहण करने योग्य रस और अन्न से युक्त हो उनको (हविष्मान्) हविः, उत्तम गुण और ज्ञान से सम्पन्न पुरुष (आविवासति) प्रयोग में लावे, उपयोग करे । अथवा—(इमा.) इन (हविष्मती) ज्ञान से समृद्ध प्रजाओं और आप्त पुरुषों या यज्ञादिक आप्त कर्मों को (हविष्मान् आविवासति) ज्ञान जल और अन्न से समृद्ध पुरुष ही सेवन करता है । (देवः) देव, साक्षात् राजा (अध्वरः) शत्रुओं से न पराजित होने वाला

(हविष्मान्) ग्रहण करने योग्य राष्ट्र से युक्त हो। और (सूर्यः) वह सूर्य के समान रश्मियों से युक्त तेजस्वी होकर (हविष्मान् अस्तु) अन्नादि उपयोगी पदार्थों से सम्पन्न हो ।

यज्ञ में ये आपः, 'वसतीवरी' कहाती हैं जो 'वसति' अर्थात् राष्ट्र के नगर, ग्राम आदि में बसी श्रेष्ठ प्रजाओं की प्रतिनिधि हैं।

अथवा—(हाविष्मान्) हवि, ग्रहणशक्ति से सम्पन्न वायु जिस प्रकार (हविष्मती आपः आविवासति) रस वाले जलों को अपने भीतर लेता है उसी प्रकार (अध्वरः देव हविष्मान्) अपराजित राजा स्वयं बल शाली होकर समस्त प्रजाओ को अपने वश रखे। और इसी प्रकार 'अध्वर' हिंसा रहित यज्ञ जिस प्रकार अन्नवान् है और जिस प्रकार सूर्य अपने रस ग्रहण की शक्तिरूप हवि को धारण करता है उसी प्रकार राजा भी अन्न आदि से समृद्ध हो ॥ शत० ३ । ६ । २ । १०+१२ ॥ इसी प्रकार प्रत्येक गृहपति को भी हविष्मान् और पत्नी को हविष्मती और वीर्यवान्, वीर्यवती, होने का उपदेश है । इस मन्त्र में 'आप' कन्या हैं क्योंकि उनको वरण द्वारा प्राप्त किया जाता है। उनके प्रतिनिधि भी 'वसतीवरी' हैं क्योंकि बसना चाहने वाले नवयुवकों को वे वरण करती हैं। और स्वंयवरा कन्या 'सूर्या' कहाती है। वरण योग्य पुरुष 'सूर्य' कहाता है ॥

'अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्वाग्न्योर्भागधेयी स्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ। ²अमूर्याऽउप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥२४॥

ऋ० १ । २३ । १७ ॥

अग्निर्देवता । (१) आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) त्रिपाद् गायत्री षड्जः ॥

भा०—हे स्वंय वरण करने हारी कन्याओ ! मैं तुम्हारा पिता

(व) तुम सब को (अपन्नगृहस्य) विपत्तिरहित गृह वाले पुरुष के (सदसि) गृह में (सादयामि) स्थापित करूं। तुम (इदाग्न्योः) इन्द्र और अग्नि, इन्द्र=आचार्य और अग्नि=ज्ञानवान् गृहस्थ अथवा इन्द्र राजा शक्तिशाली पुरुष और ज्ञानवान् पुरुषों के (भागधेयी स्थ) भाग, अर्थात् सेवन करने योग्य अंश को धारण करती हो अर्थात् उनके योग्य हो। अथवा उनके सेवन करने योग्य अन्न आदि के धारण करने हारी हो। (मित्रा वरुणयो भागधेयी. स्थ) मित्र, स्वस्नेही पुरुष और वरुण, पापों से निवारण करने वालो के भागों या अन्नादि पदार्थों को धारण करने वाली हो। (विश्वेषां देवानाम्) समस्त देव, विद्वान पुरुषों के (भाग-धेयीः स्थ) भोग्य अन्न आदि पदार्थों को धारण करने वाली हो। और ऐसी ही, इन्द्र, आचार्य, अग्नि, ज्ञानवान् पुरुष, मित्रजन, पाप निवारक हितैषी, समस्त विद्वानों के लिये अन्नादि से उनका सत्कार करने वाली बनी रहो॥

(या) जो गृहस्थ वधुएं (सूर्ये) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के (उप) समीप रहें और (याभि· सह) जिनके साथ (सूर्यः) सूर्य जैसा तेजस्वी पुरुष निवास करे (ताः) वे (न.) हमारे (अध्वरम्) अजेय राष्ट्र की शक्ति को (हिन्वन्ति) बढ़ाने वाली हो॥

राजा के पक्ष में—हे आप्त प्रजाओ ! तुमको (अपन्नगृहस्य सदसि साद-यामि) जिसका गृह अर्थात् वश करने की शक्ति कभी कष्ट नही होती ऐसे राजा के सदस् अर्थात् राजसभा में स्थापित करता हूं। आप सब इन्द्र राजा और अग्नि सेनापति दोनों के (भागधेयी.) प्राप्तव्य अंश को धारण करती है, इसी प्रकार मित्र, न्यायकर्त्ता और वरुण, दुष्टों के दमनकारी अधिकारियों के भी भागों को धारण करती हो। तुम समस्त (देवानाम्) राज्य शासकों के भागों को धारण करती हो। और जितनी आप्त प्रजाएं (सूर्ये उप) सूर्य समान तेजस्वी राजा के समीप, उसके आश्रय हैं और जिनके साथ

तेजस्वी राजा सदा विद्यमान है, वे प्रजाएं राष्ट्र की वृद्धि करती हैं। अर्थात् प्रजा राज्य के सब विभागों को धन आदि से पालन करे और उनका व्यय दे। राजा प्रजा परस्पर मिल कर रहें तो राष्ट्र की वृद्धि होती है॥ शत० ३। ६। २। १३—१७॥

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ॥ २५॥

सोमो देवता। आर्षी विराड् अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे कन्ये! मैं तुझे (हृदे) हृदय वाले, प्रेम से युक्त, पुरुष के लिये, (मनसे) मन वाले या ज्ञानी, (दिवे) प्रकाश वाले, तेजस्वी और (सूर्याय) सूर्य के समान कान्तिमान्, वरण करने योग्य पुरुष के हाथ [यच्छामि] प्रदान करता हूं। और तू हे कन्ये! (इमम्) इस वरण योग्य (अध्वर) अपराजित, अहिंसक (ऊर्ध्वम्) उत्कृष्ट पद पर स्थित पुरुष को (दिवि) ज्ञान प्रकाश में स्थित (देवेषु) देव विद्वानों के बीच में (होत्राः) जो आहुति देने वाले या दान देने योग्य गृहस्थ पुरुष हैं उनके नियम में (यच्छ) बांध। अथवा वरण करने हारी कन्या वर के प्रति कहती है। मैं (हृदे त्वा मन से दिवे त्वा, सूर्याय त्वा वृणोमि) अपने हृदय, चित्त, और प्रकाश या सुख के और अपने प्रेरक पति बनाने के निमित्त वरण करती हूं। (इमम् ऊर्ध्वम् अध्वरम्) तू इस गृहस्थ रूप यज्ञ को (दिवि) सुख लाभ के लिये (देवेषु) विद्वान पुरुषों में से भी जो (होत्राः) ज्ञान ऐश्वर्य प्रदान करने वाले यज्ञशील पुरुष हैं उनको (यच्छ) प्रदान कर, उनके अधीन कर॥

राजा के पक्ष मे—हे राजन् तेरे हृदय मन, तेज और राज पद के लिये तुझे हम प्रजाएं वरण करती हैं। ज्ञान, प्रकाश में जो विद्वानों में भी

२५—ऊर्ध्वोऽअध्वर० इति काण्व०॥

(होत्राः) उत्तम दानशील उदार पुरुष हैं तू इस राष्ट्रमय यज्ञ को उनके अधीन कर ॥ शत० ३ । ६ । ३ । १—५ ॥

[1]सोम॑ राजन्वि॒श्वास्त्वं प्र॒जाऽउ॒पाव॑रोह॒ वि॒श्वास्त्वांप्र॒जाऽउ॒पा-व॑रोहन्तु । [2]शृ॒णोत्व॒ग्निः स॒मिधा॒ हव॑ं मे शृ॒ण्व॒न्त्वापो॑ धि॒षणा॑श्च दे॒वीः । श्रोता॑ ग्रावाणो वि॒दुषो॒ न य॒ज्ञꣳ शृ॒णोतु॑ दे॒वः सा॑वि॒ता हव॑ं मे॒ स्वाहा॑ ॥ २६ ॥

सोमो राजा देवता । (२) गायत्री । षड्जः । (२) आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सोम राजन्) सोम, सर्वप्रेरक राजन् ! सर्व उत्तम गुणों से प्रकाशमान ! सर्वोपरि विराजमान ! (त्वम्) तू (विश्वा प्रजाः) समस्त प्रजाओं के (उप अवरोह) अधीन होकर रह । और (विश्वा प्रजाः) समस्त प्रजाएं (त्वा उप अवरोहन्तु) तेरे अधीन होकर रहें । अर्थात् तुझ पर शासन प्रजा का हो और तेरा शासन प्रजा पर रहे ॥

(समिधा) उत्तम काष्ट या इंधन से जिस प्रकार अग्नि प्रदीप्त और प्रबल हो जाता है उसी प्रकार (सम्-इधा) उत्तम तेज या सेना बल से प्रतापी (अग्निः) अग्रणी, या सेनापति (मे) मेरी, मुझ वेदज्ञ विद्वान् की (हवम्) हव, आज्ञा को (शृणोतु) सुने । और (आपः) आप्त प्रजाएं और (देवी.) विदुषी (धिषणाः) ज्ञान, और बुद्धि के प्रदान करने वाली श्रेष्ठ प्रजाएं भी (मे हवम्) मेरी आज्ञा को (शृण्वन्तु) सुनें । हे (ग्रावाणः) ज्ञान पूर्वक विवेचन करने वाले गुरुजनो ! आप लोग भी (विदुषः= विद्वांस यज्ञं न) यज्ञ परमेश्वर को, जिस प्रकार उसके विद्वान् लोग श्रवण करते हैं उसी प्रकार मेरे राष्ट्र रूप यज्ञ, के विषय में (श्रोत) श्रवण करो । और (सविता देवः) समस्त देवों, अधीन राजाओं का उत्पादक, प्रेरक राजा भी (मे हवम्) मेरे हव अर्थात् आज्ञा (शृणोतु) श्रवण करे । (स्वाहा) यही उत्तम वेदानुकूल व्यवस्था है ॥

'उपावरोह, उपावरोहन्तु' इन दोनों का अर्थ धातु, उपसर्ग साम्य से एक ही होना चाहिये। महीधर और उव्वटने 'उपावरोह' का अर्थ किया है 'आधिपत्याय तिष्ठ। (उपावरोहन्तु) प्रत्युत्थानादिभि. प्राप्नुवन्तु।' यह ठीक नहीं। 'धिषणा'—धी सादिन्यो वा धीमानिन्य इति निरु० २। ४॥ 'विदुष.,' अत्र विभक्तिव्यत्यय प्रथमार्थे द्वितीया। शत० ३। ६। ३। ६–१४॥

देवीरापो ऽअपान्नपाद्योवऽऊ मिर्हाविष्यू ऽइन्दियावान् मदिन्तमः।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो येषाम्भाग स्थ स्वाहा॥ २७॥

आपो देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवत॥

भा०—हे (देवी. आप·) दिव्य, उत्तम गुणवान् विद्वान्, आप्त प्रजा-जनो! (य) जो (वः) तुम से से (अपां नपात्) प्रजाओं मे से ही उत्पन्न, प्रजाओं के हित को नष्ट न होने दे, ऐसा (ऊर्म्मि) जलों के बीच तरङ्ग के समान उन्नत (हविष्य) अन्न आदि से सत्कार करने योग्य (इन्दियावान्) समस्त इन्द्रियों से सम्पन्न, अथवा इन्द्र अर्थात् राजपद के योग्य, ऐश्वर्य, वैभव और बल सामर्थ्य से सम्पन्न (मदिन्तम) शत्रुओं को पराजय और अपने राष्ट्र को हर्षित करने में सब से अधिक समर्थ है उसको (देवेभ्य.) समस्त राजगण और विद्वान् पुरुषों के हितार्थ और (शुक्रपेभ्य) शुक्र अर्थात् वीर्य का पालन करने वाले आदित्य ब्रह्मचारियों, योगियों और सत्य ज्ञान के पालन करने वाले विद्वानों के लिये अथवा शुक्रप अर्थात् प्रजाओं के पालन करने वाले अथवा शुक्रप अर्थात् शुक्र, आदित्य व्रत के पालक उन पुरुषों के लिये (देवत्रा) समस्त राजोचित अधिकार (दत्त) प्रदान करो। (येषाम्) जिनमें से आप लोग भी (भागः स्थ) एक श्रेष्ठ भाग हो। शत०॥

'मादिन्तम'—मदी हर्षग्लेपनयो.। मदयतीति मदी सोतिशयितो मदिन्तम। नाद्घस्येति नुम्!

२७—०'देवत्रा दात शु०' इति काण्व०॥

'शुक्रपेभ्य '। एष वै शुक्रो य एस आदित्यस्तपति । श० ४ । ३ । २६ ॥ अस्य अग्नेर्वा एतानि नामानि घर्म अर्क शुक्र ज्योति सूर्य । श० ६ । ४ । २ । २५ ॥ सत्यं वै शुक्रम् । श० ३ । ६ । ३ । २५ ॥ शुक्रा ह्याप. । तै० १ । ७ । ६ । ३ ॥

कार्पिरसि समुद्रस्य त्वा क्षित्या ऽउन्नयामि ।
समापो ऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥ २८ ॥

प्रजा देवताः । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे वैश्यवर्ग ! तू (कार्षिः असि) समस्त भूमि पर कृषि कराने में समर्थ है । अथवा हे प्रजावर्ग ! और हे राजन् ! हे पुरुष ! (कार्षिः असि) परस्पर एक दूसरे को आकर्षण करने मे समर्थ है । (त्वा) तुझको मैं परमेश्वर या राजा (समुद्रस्य क्षित्यै) प्रजाओं के उत्पत्ति स्थान, इस राष्ट्रवासी वर्तमान प्रजाओं का कभी नाश न होने देने के लिये (उत् नयामि) उच्च आसन पर बैठाता हूं । (आपः अद्भिः) जल जिस प्रकार जलों से मिलकर एक होजाते हैं उस प्रकार प्रजाओं में स्त्रियें प्रेमपूर्वक पुरुषों को (सम् अग्मत) प्राप्त हों । (ओषधीभि ओषधीः सम् अग्मत) ओषधियां जिस प्रकार ओषधियों से मिलकर अधिक गुणकारी और वीर्यवान् होजाती हैं उसी प्रकार तेजस्वी पुरुष तेजस्वी पुरुषों से एवं तेजस्वी पुरुष तेजस्विनी स्त्रियों से मिलें और अधिक तेजस्वी सन्तान उत्पन्न हों ।

इसी प्रकार गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष तू (कार्षि असि) कृषक के समान अपनी सन्तति के खेती करने मे समर्थ एवं स्त्री को अपने प्रति प्रेम से आकर्षण करनेहारा है । समुद्र=अर्थात् प्रजाओं के उद्भवरूप मानव समुद्र को नित्य बनाये रखने के लिये तुझे उन्नत पद देता हूं । जलों में जैसे जल मिलजाएं उस प्रकार पुरुष स्त्रियों से प्रेमपूर्वक ही विवाहित होकर सगत हों । और (ओषधीभिः ओषधीः) जिस प्रकार एक गुण की

२८—आज्यम्, आपश्च देवता । सर्वा० ॥

ओषधियां परस्पर मिलकर अधिक वीर्य को उत्पन्न करती हैं उसी प्रकार बलवीर्य युक्त स्त्री पुरुष मिलकर अधिक गुणवान् सन्तति उत्पन्न करें ॥ शत० ३ । ७ । ३ । २६ । २७ ॥

यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥ २९ ॥ अ० १ । २७ । ७ ॥

मधुच्छन्दा ऋषि । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नेत ! राजन् ! (यम् मर्त्यम्) जिस पुरुष को तू (पृत्सु) सग्रामों में (अव) रक्षा करता है और (वाजेषु) संग्रामों में (यम्) जिसको (जुना) भेजता है (स) वह पुरुष ही (शश्वती.) निरन्तर आजीवन प्राप्त होने योग्य (इष.) अन्न आदि वृत्तियोग्य पदार्थों को यन्ता) प्राप्त हो । (स्वाहा) यह सबसे उत्तम व्यवस्था है । अर्थात् जो पुरुष सग्रामों में बचकर आजाय और जो सग्रामों में भेजे जायँ राजा उनकी चिरकालिक या आजीवन या पुश्तैनी वृत्ति बांध दे । यह उत्तम व्यवस्था है । पेन्शन आदि देने का यही वैदिक आदेश है ॥ शत० ३ । ७ । ३ । ३२ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आददे रावासि गभीरमिममध्वरंकृधीन्द्राय सुषूतमम् । उच्चमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तं निग्राभ्या स्थ देवश्रुत्स्तर्पयत मा ॥ ३० ॥

मनो मे तर्पयत वाचं मे तर्पयत प्राणं मे तर्पयत चक्षुर्मे तर्पयत श्रोत्रं मे तर्पयतात्मानं मे तर्पयत प्रजां मे तर्पयत पशून्मे तर्पयत गणान्मे तर्पयत गणा मे मा वितृषन् ॥ ३१ ॥

सविता देवता । स्वराडार्षी पक्ति. । पन्चम ॥ ३० ॥

प्रजा सभ्या राजानो देवता । उष्णिहः । ऋषभ ॥ ३१ ॥

३०–३१–रावा इत्यस्य आवा, निग्राभ्या इत्यादि मन्त्रस्य आपो देवता । सर्वा० ॥

भा०—हे सेना समूह से सम्पन्न राजन् ! मैं (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक परमेश्वर के (प्रसवे) राज्य शासन मे (अश्विनो) सूर्य चन्द्रमा दोनों के (बाहुभ्याम्) शान्तिदायक और संतापकारी सामर्थ्यों द्वारा और (पूष्णः) पुष्टिकारक अन्न के (हस्ताभ्याम्) मधुर एवं गुणों द्वारा (आददे) तुझे ग्रहण करता हूं । तू (रावा असि) समस्त पदार्थों का प्रदान करनेहारा है । (इमम् अध्वरम्) इस राष्ट्ररूप यज्ञ को (गभीरम्) गम्भीर, समुद्र के समान गम्भीर अगाध ऐश्वर्यवान् और (इन्द्राय सूसूतमम्) इन्द्र, परमैश्वर्यवान् राजा के लिये खूब ऐश्वर्य बल एवं शक्ति के उत्पन्न करनेवाला (उत्तमेन पविना) उत्कृष्ट पवित्र अर्थात् वज्रस्वरूप, शस्त्रो के राजबल से इस यज्ञ को (ऊर्जस्वन्तम्) उत्तम बलयुक्त (मधुमन्तम्) अन्नादि खाद्य पदार्थों से समृद्ध (पयस्वन्तम्) दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थ और गाय बैल आदि पशुओं से सम्पन्न (कृधि) बना ।

हे प्रजाजनो ! आप लोग (निग्राभ्या स्थ) मुझ राजा से राज्यव्यवस्था द्वारा वश करने योग्य हैं । आप लोग (देवश्रुतः) देव अर्थात् राजा और विद्वान् पुरुषो की आज्ञा और उपदेश के श्रवण करने वाली हो । अतः मै राजा तुम्हें आज्ञा देता हूं कि–(मा तर्पयत) मुझे कर आदि द्वारा तृप्त करो, संतुष्ट करो ॥ ३० ॥ (मे मनः तर्पयत) मेरे मनको तृप्त करो । (मे वाचं तर्पयत) मेरी वाणी को तृप्त करो । (प्राणं मे तर्पयत) मेरे प्राण को तृप्त करो । (मे चक्षुः तर्पयत) मेरी चक्षुओं को तृप्त करो । (मे श्रोत्रं तर्पयत) मेरे कान को तृप्त करो । (मे आत्मानं तर्पयत) मेरे आत्मा को संन्तुष्ट करो । (मे प्रजाम् तर्पयत) मेरी प्रजा पुत्र पौत्र आदि को सन्तुष्ट करो । (मे पशून् तर्पयत) मेरे पशु, रथ, वाहन, अश्व, गौ, महिष आदि को संतुष्ट करो । (मे गणान्) मेरे आधीन शासकवर्गों को और सेनागण को (तर्पयत) सन्तुष्ट करो । और ऐसा तृप्त करो कि (मे गणाः) मेरे सैनिक

और शासक वर्ग (मा वितृषन्) नाना पदार्थों के लिये तरसते न रहें, भूखे प्यासे न रहें ।

इन्द्रा॑य त्वा॒ वसु॑मते रु॒द्रव॑तऽइन्द्रा॑य त्वादि॒त्यव॑त॒ इन्द्रा॑य त्वाभि-मा॒ति॒घ्ने । श्ये॒नाय॑ त्वा सोम॒भृ॒तेऽग्नये त्वा रायस्पोष॒दे ॥ ३२ ॥

सभापती राजा देवता । पन्क्तपाद्ज्योतिष्मती जगती । निषाद ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! सभाध्यक्ष अथवा राष्ट्र ! (त्वा) तुझको मैं (वसुमते) वसु, ऐश्वर्यवान् प्रजाजनों से युक्त (इन्द्राय) इन्द्रपद के लिये और (रुद्रवते) शत्रुओं को रोदन कराने वाले रुद्र, वीर पुरुषों से सम्पन्न (इन्द्राय) परमैश्वर्य युक्त इन्द्र पद के लिये और (आदित्यवते) आदित्य के समान तेजस्वी अथवा आदान प्रदान करने हारे वैश्यगणों से युक्त (इन्द्राय) इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्य पद के लिये और (अभिमातिघ्ने) अभिमान करने वाले शत्रुओं के नाशक (इन्द्राय) पराक्रमी इन्द्र पद के लिये और (सोमभृते) सोम रूप, राष्ट्र का भरण पोषण करने वाले (श्येनाय) श्येन-बाज़ पक्षी के समान शत्रु पर आक्रमण करने वाले सेनापति पद के लिये और (राय पोषदे) धनैश्वर्य को पुष्टि देने वाले (अग्नये) अग्रणी पद के लिये (त्वा ५) तुझ अमुक २ वीर, विद्वान्, ऐश्वर्यवान्, पराक्रमी, गुणवान् पुरुष को पदाधिकारी बनाता हू । इस प्रकार राजा पांच पदों के लिये पांच योग्य शासक पुरुषों को नियुक्त करे ।

यत्ते॑ सोम दि॒वि ज्योति॒र्यत्पृ॑थि॒व्यां यदु॒राव॒न्तरि॑क्षे ।
तेने॒मान्या॒लोक॒ राये कृ॑धी॒ह बो॒धे वो॑चः ॥ ३३ ॥

सोमो देवता । भुग्विगार्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे सोम ! सर्व राष्ट्रप्रेरक राजन् ! सभाध्यक्ष ! (ते) तेरा (यत्) जो (दिवि ज्योति) सूर्य में अर्थात् सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी

३२—सोमो देवता । सर्वा० ॥ ३३—०'यदुरा अन्त०' इति काण्व० ॥

रूप से रहने मे जो तेज है और (यत् पृथिव्याम्) जो तेरा तेज पृथिवी पर अर्थात् पृथिवी के समान सर्वाश्रय बने रहने में जो तेरा पराक्रम है और (यद् उरौ अन्तरिक्षे) जो विशाल अन्तरिक्ष अर्थात् वायु के समान सबके प्राणों का स्वामी होने में जो तेरा तेज है (तेन) उससे (अस्मै यजमानाय) इस यज्ञ सम्पादन करने वाले राष्ट्र यज्ञ के कर्त्ता, (उरु राये) महान् धनादि ऐश्वर्य सम्पन्न राष्ट्र के लिये समस्त कार्य (कृधि) तू सम्पन्न कर। और (दात्रे) तुझे अधिकार और वेतन आदि देने वाले इस राष्ट्र के लिये ही तू (अधिवोचः) अधिकार पूर्वक आज्ञा प्रदान किया कर। शत० ३ । ६ । ४ । १२ ॥

श्वात्राः स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्त्ता ऽअमृतस्य पत्नीः ।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत ॥ ३४ ॥

यज्ञो देवता । स्वराड् आर्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! आप लोग ही (श्वात्राः) विशेष नियम में बद्ध जलधाराओं के समान शीघ्र कार्य सम्पादन करने में समर्थ (स्थ) हो। और तुम लोग (राधो गूर्त्ता.) राधस्=धन ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले और (अमृतस्य पत्नीः) अमृत, अन्न और जल का उचित रूप से पालन करते हो। हे (देवी.) विद्वान् या धन दान करने वाले (ताः) वे प्रजाजन (देवत्रा) देव अर्थात् योग्य उत्तम राजाओं और शासक पुरुषों के हाथ (इम यज्ञम्) इस राष्ट्रमय यज्ञ को (नयत) प्राप्त कराते हो। और आप लोग (उपहूता) आदर पूर्वक बुलाये जाकर (सोमस्य) इस राष्ट्र से उत्पन्न उत्तम फल का या राजा के इस राज्य का (पिबत) पान करो, आनन्द प्राप्त करो।

गृहस्थ पक्ष में—(श्वात्राः) विद्युत् के समान शीघ्र कार्य करने वाली, कार्य दक्ष (वृत्रतुरः) मेघ को जिस प्रकार बिजली फाड़ देती है उसी

३४—निम्नाभ्या देवता. । सर्वा० ॥

प्रकार विघ्न के नाश करने वाली (राधोगूर्त्ता) धन के बढ़ाने वाली (अमृतस्य सोमस्य पत्नी.) अमर, सदा स्थिर राजा की पत्नियों के समान अमृत रस या अन्न की पालन करने वाली गृहपत्नी (देवी) देविया (देवत्रा) अपने देव-तुल्य पतियों के आश्रय रहकर (इमं यज्ञ नयत) इस गृहस्थ यज्ञ को पूर्ण करें, निबाहें। और वे (उपहूता. सोमस्य पिबत) आदरपूर्वक यज्ञ में बुलाई जाकर सोम आदि ओषधियों के रसका पान भी करें।

शतपथ में—यह वर्णन 'निम्राभ्या-आप' का है। उनका विशेषण 'श्वात्रा' और 'वृत्रतुर' है। इससे वे शीघ्र कार्य करने वाली, वेगवती, शत्रुओं के नाश करने वाली, अमृत, सोम रूप राजा की रक्षक हैं। अर्थात् जब तक उनका प्रेरक सेनापति या राजा मरता नहीं तब तक वे उसकी रक्षा पर डटी रहती हैं। वे ही (राधोगूर्त्ता) समस्त धन ऐश्वर्य प्राप्त कराती हैं। वे समस्त देवो, विद्वान् शासको के बीच में राष्ट्र को स्थापन करतीं और आदरपूर्वक निमन्त्रित होकर राज्य के उत्तम फलों का उपयोग करें। 'वृत्रतुर' एतानि वृत्रमघ्नन्।

'सोमस्य पिबत' तदुपहूता एव प्रथमभक्षं सोमस्य राज्ञो भक्षयन्ति। शत० ३। ९। ४। १६।

माभेर्मा संविक्था ऽऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्वी सती वीडयेथा-मूर्जं दधाथाम्। पाप्मा हतो न सोमः॥ ३५॥

द्यावापृथिव्यौ देवते। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। गान्धार.॥

भा०—हे राजन्! और हे प्रजागण! तू (मा भे) भय मत कर। (मा संविक्था) तू भय से कंपित न हो। तू (ऊर्जं धत्स्व) 'ऊर्ज' बल को धारण कर। हे राजा और प्रजा तुम दोनों! (धिषणे) एक दूसरे का आश्रय होकर आकाश और पृथिवी या सूर्य और पृथिवी के समान दोनों (वीड्वी सती) वीर्यवान्, बलवान्, दृढ़, हृष्ट पुष्ट होकर (वीडयेथाम्)

एक दूसरे का बल बढ़ाओ। और अपने को बलवान् करो। इस प्रकार युद्धादि के अवसर पर भी यद्यपि राजा पर आक्रमण होगा तब भी प्रजा और राजा दोनों के बलिष्ठ होने पर (पाप्मा हतः) पाप करने वाला दुष्ट शत्रु पुरुष ही मारा जाय। (न सोम) सोम, सर्वप्रेरक राजा या राष्ट्र का नाश नही होता। शत० ३। ९। ४। १६–१८॥

गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष और हे स्त्री ! तुम दोनों गृह के पालन के कार्य में मत डरो। भय से कम्पित मत होओ। एक दूसरे के आश्रय और (धिषणे) बुद्धिमान और आत्मसन्मान, बलवान्, (वीड्वी) वीर्यवान् होकर सदा बलवान् व दृढ़ बने रहो और ऊर्ज, पराक्रम को धारण करो। इस प्रकार समस्त पाप नष्ट हो जायगा। और 'सोम' अर्थात् परस्पर का गृहस्थ सुख या आह्लाद कभी नष्ट नहीं होगा।

प्राग॒पाग॒दग॒धरा॑क्स॒र्वत॑स्त्वा दिश॒ऽआ धा॑वन्तु।
अम्ब॒ नि॒ष्प॑र॒ स॒मरी॑वि॒दाम्॥ ३६॥

सोमो देवता। उष्णिक्। ऋषभ.॥

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तेरी शरण में (प्राक्) पूर्व (अपाक्) पश्चिम, (अधराक्) दक्षिण और (उदक्) उत्तर (सर्वतः) इन सब ओर से (दिशः) समस्त दिशाओं के प्रजाजन (आधावन्तु) आवें और कहें। हे (अम्ब) हमारे प्रेमी ! (नि. पर) हमें सब प्रकार से पालन कर। (अरीः) समस्त प्रजाएं (त्वा) तुझे अपना स्वामी, माता के समान पालक (सम् विदाम्) भली प्रकार जाने॥ शत० ३। ९। ४। २१॥

गृहस्थ पक्ष में—हे (अम्ब) बच्चों की माता ! तेरे पुत्र सब दिशाओं से तेरे पास आवें, कहें हमें पालन कर। समस्त प्रजाएं तुझे अपनी माता ही जानें।

त्वम॒ङ्ग प्र॑श॒ꣳसि॒षो दे॒वः शा॑विष्ठ॒ मर्त्य॑म्। न त्वद॒न्यो म॑घवन्नस्ति मर्डि॒तेन्द्र॒ ब्रवी॑मि ते॒ वचः॥ ३७॥ ऋ० १। ८४। १९॥

गोतम ऋषि। इन्द्रो देवता। भुरिगार्षी अनुष्टुप्। गाधार॥

भा०—हे (अङ्ग) हे (शविष्ट) सब से अधिक शक्तिमन् ! तू (देवः) विजिगीषु राजा होकर (मर्त्यम्) मनुष्यमात्र को (प्रशंसिष) उत्तम शिक्षा प्रदान कर, उत्तम उपदेश कर। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (त्वत् अन्यः) तेरे से दूसरा कोई (मर्डिता न) कृपालु, उन पर दया करने वाला, सुखकारी नहीं है। हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! मैं (ते) तुझे (वच) उत्तम वेदानुकूल राजधर्म के वचनों का उपदेश करता हू ॥ शत० ३ । ६ । ४ । २४ ॥

परमेश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर (शविष्ठ) सर्वशक्तिमन् ! तू समस्त (मर्त्यम्) मानव जाति को (प्र) सब से प्रथम (शसिष) उपदेश करता है। (त्वदन्य.०) तेरे से दूसरा कोई सुखकारी दयालु नहीं है। (ते वच. ब्रवीमि) तेरे ही-वेद वचनो का म सर्वत्र उपदेश करूं।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

[तत्र त्रयश्चत्वारिंशदृचः]

इति मीमासातीर्थ-विद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्परिडतजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ वाचस्पतये पवस्व वृष्णो ऽअꣳशुभ्यां गभस्ति-
पूतः । देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि ॥ १ ॥

प्राणो देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गाधार. ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (वाचःपतये) आज्ञा करने वाली वाणी के पालक अर्थात् स्वामी के लिये (पवस्व) पवित्र हो, उसकी आज्ञा पालन करने के निमित्त दत्तचित्त होकर चित्त से वैर आदि के भावो को त्याग कर । (वृष्ण.) सूर्य के (गभस्तिपूतः) किरणो से जिस प्रकार वायु पवित्र होकर वाचःपति प्राण के लिये शरीर में जाता है इसी प्रकार (वृष्णः) समस्त सुखों के वर्षक, राजा के (गभस्तिपूत.) ग्रहण करने के सामर्थ्य, तेज या प्रताप से पवित्र होकर और उसके (अंशुभ्याम्) दोनों प्रकार की वाह्य और आभ्यन्तर शक्तियों से पवित्र होकर तू स्वयं (देव) देव, दानशील, एवं विजिगीषु होकर (येषाम्) जिनका तू (भाग. असि) स्वय सेवनीय अंश है । (देवेभ्य.) उन, देव, विद्वानों के उपकार के लिये (पवस्व) शुद्ध पवित्र होकर काम कर । जिस पुरुष को प्रथम राज कार्य में नियुक्त करे उसको अपने वाचस्पति अर्थात् अपने ऊपर के आज्ञादाता के प्रति स्वच्छ रहना चाहिये वह उसकी आज्ञा का कभी उल्लंघन न करे । वह स्वय विद्वान् , उनके ही निमित्त उसको वद्ध करे । राजा से लेकर अन्तिम कर्म करने तक यही मन्त्र लागू हो पदाधिकारी स्वयं भी ' देव ' अर्थात् राजा के स्वभाव का हो ।

अध्यात्म में—अशु प्रजापति आत्मा के दो भाग प्राण और उदान हैं ॥ वायु उन द्वारा गृहीत होकर वाचस्पति आत्मा मुख्य प्राण के लिये शरीर मे गति करता है । वह स्वय एक मुखगत ' देव ' या कर्मेन्द्रिय होकर अन्य

अंगों के या इन्द्रियों के लिये शरीर में गति करता है। इसी प्रकार राजा और मुख्य नियुक्त पुरुष भी अपने अधीन पदाधिकारियों के लिए पवित्र निष्कपट होकर काम करे। शतपथ में यह ग्रहों के प्रकरण मे लिखा गया है। 'ग्रह' का अर्थ है राज्य को वश करने के निमित्त विशेष विभाग का अधिकारी। वे सब सोम राजा के ही अधिकार को बाट कर रहते हैं॥ शत० ४। १। १। ८—१२॥

यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रह। श० १०। १। १। ५॥ त सोमम् अघ्नन्। तस्य यशो व्यगृह्णत ते ग्रहा अभवन्। यद्वित्त (यज्ञं) ग्रैर्व्यगृह्णत तद् ग्रहाणा ग्रहत्वम्। ए० ३। ६॥ अध्यात्मम्—अष्टौ ग्रहा। प्राण जिह्वा, वाक् चक्षु, श्रोत्रम् मनो, हस्तो त्वक् च। श० १०। ६। २। १॥ प्राणा वै ग्रहा। श० ४। २। ४। १३॥ अङ्गानि वै ग्रहा। श० ४। ५। ६। ११। अर्थात्—जो ग्रहण करे सबको वश करे वह 'ग्रह' है। सोम को प्राप्त करके उसके विस्तार के टुकड़े २ कर दिये, राजा के अधिकार को विभक्त कर दिया, वे राजा के अधीन विभागों के अध्यक्ष 'ग्रह' होगये। यज्ञ अर्थात् प्रजापति राष्ट्र को विभक्त कर दिया वे 'ग्रह' हैं। शरीर में प्राण 'ग्रह' है अङ्ग 'ग्रह' है।

गभस्ति—गा भसति अदन्ति दीप्यन्ते वा गभस्तय इति देवराज। गृहेर्गभस्तिरिति माधव।

मधुमतीर्न इषस्कृधि यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्व्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ २ ॥

सोमो देवता। निचृदार्षी पक्ति। पचम स्वर॥

२—कृध्यन्तस्य प्राण उपाशुग्रहरूपो देवता। स्वाहाकारस्य अग्नि। उर्वन्तरिक्षमित्यस्य रक्षो देवता। सर्वा०।

भा०—हे राजन् ! (न) हमारे लिये (मधुमतीः) मधुर रस से युक्त (इष.) अन्नो को (कृधि) उत्पन्न कर । अथवा हे (मधुमतीः) अपनी (राय.) प्रेरक आज्ञाओं को (मधुमतीः) बल से युक्त कर । (यत्) क्योंकि हे (सोम) सर्व प्रेरक राजन् ! (ते नाम) तेरा नाम, तेरा स्वरूप या तेरा नमाने या झुकाने या दमन करने का सामर्थ्य भी (अदाभ्यम्) कभी विनाश नहीं किया जा सकता, तोड़ा नही जा सकता और वह (जागृवि.) सदा शरीर में प्राण के समान जागता रहता है । (तस्मै) इस कारण से हे (सोम) सर्वप्रेरक राजन् ! (ते सोमाय स्वाहा) तेरे निमित्त हमारा यह आत्मत्याग है । अर्थात् हम पदों पर नियुक्त पुरुष सर्व प्रकार से तेरे अधीन हैं । राजा अपने अधीन पुरुषों और प्रजाओं को अपने प्रति ऐसा वचन सुनकर स्वयं भी कहे (स्वाहा) यह मेरा भी तुम्हारे लिये आत्मोत्सर्ग रूप आहुति है । अथवा अपनी वश करनेवाली शक्ति या प्रतिष्ठा से मैं अब (उरु अन्तरिक्षम्) विशाल अन्तरिक्ष को (अनुएमि) अनुसरण करता हूं । अर्थात् जिस प्रकार अन्तरिक्ष समस्त पृथिवी पर आच्छादित है इसी प्रकार मैं समस्त प्रजा पर समयरूप से शासक बनता हूं । जिस प्रकार वायु सबका प्राण है उस पर सब जीते हैं इसी प्रकार मेरे आश्रय पर समस्त प्रजाएं जीवन धारण करें । अथवा (अन्तरिक्षम् अन्वेमि) अन्तरिक्ष अर्थात् प्रजा और राजा के बीच के शासक मण्डल पर भी मैं अपना अधिकार करता हूं । वे प्रजा की रक्षा करने से 'रक्षोगण' है उनका वश करने के लिये राजा उन पर पूरा वश रक्खे ।

स्वाहा—स प्रजापतिर्विदांचकार स्वो वै मा महिमा आहेति, स स्वाहे त्येवा जुहोत् । श० २ । २ । ४ । ६ ॥ हेमन्तो वै ऋतूनां स्वाहाकारः हेमन्तो हि इमाः प्रजा स्व वशमुपनयते । श० १ । ५ । ४ । ५ ॥ अन्तं हि स्वाहाकार । श० ६ । ६ । ३ । १७ ॥ प्रतिष्ठा वै स्वाहाकृतय. । ए० ४ ॥

'अन्तरिक्षम्'—तद्यदस्मिन् इदं सर्वमन्तस्तस्मादन्तर्यक्षम्। अन्तर्यक्षं ह वै नामैतत् तदन्तरिक्षमिति परोक्षमाचक्षते। जै० उ० १। २०। ४॥ ईक्षं हैतन्नाम तत. पुरा अन्तरा वा इदमीक्ष मभूदिति तस्मादन्तारिक्षम्॥ शत० ७। १। २। २३॥ अन्तारिक्षायतनाहि प्रजा.। ता० ४। ८। १३॥ असुराः रजताम् अन्तरिक्षलोके अकुर्वत। ऐ० १। २३॥

अर्थात्—प्रजापति का अपना बड़ा सामर्थ्य या ऋतुओं में तीक्ष्ण प्रहार करनेवाले राजा का हेमन्त या पतझड़ का सा रूप है। 'जो प्रजाओं को अपने वश करने का सामर्थ्य या अन्न या प्रतिष्ठा हैं ये स्वाहा के रूप हैं। भीतर सबका निरीक्षक पूजनीय, 'अन्तरिक्ष' है। भीतरी निरीक्षक पदाधिकारी 'अन्तरिक्ष' है। चांदी या धन के द्वारा बंधे अधिकारीमण्डल भी 'अन्तरिक्ष' हैं। शत० ४। १। १। १–५॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य ऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्य. पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यो देवाꣳशो यस्मै त्वेड़े तत्सत्यमुपरिप्लुता भुङ्क्ष्व हुतोऽसौ फट् प्रणाय त्वा व्यानाय त्वा॥ ३॥

विद्वासो देवता। विराट् ब्राह्मी जगती। निषाद.॥

भा०—हे राजन्[1] (इन्द्रियेभ्य) इन्द्रियों के हित के लिये जिस प्रकार आत्मा (दिव्येभ्य.) आकाश या प्रकाशमान लोकों के लिये जिस प्रकार सूर्य स्वय अपने तेज से प्रकाशमान है उसी प्रकार (पार्थिवेभ्य) पृथिवी के निवासी राजागण या प्रजा लोगों के हित के लिये तू (स्वाङ्कृत) स्वय अपने सामर्थ्य से राजा बनाया गया (असि) है। (त्वा मन अष्टु) तुझे मन अर्थात् शुद्धविज्ञान प्राप्त हो। अथवा–तुझे मननशील मन्त्री प्राप्त

३—'स्वा० सूर्याय' अस्य उपाशुर्देवता। 'देवे अभ्य' इत्यस्य देवा, फडन्तस्य सोमाशु.। प्राणाय त्वेत्यस्य ग्रह। व्यानापत्वे त्यभ्योपाशुर्देवता। सर्वा०। '०स्वभवसूर्याय' ०यस्मै त्वेळे०॥ परिप्लुता० इति कायव०।

हो । अथवा जिस प्रकार समस्त चक्षु आदि इन्द्रियों पर मन अधिष्ठाता है उसी प्रकार समस्त लोकों पर मनके समान, सर्वविचारक और प्रेरक पद तुझे प्राप्त हो । हे (सुभव) उत्तम सामर्थ्य से युक्त उत्तम कुलजात ! उत्तम पद पर विराजमान ! हे सुजात ! मैं विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझको (सूर्याय) सूर्य के पद के लिये नियुक्त करता हूं । अर्थात् सूर्य जिस प्रकार तेजस्वी और आकर्षक होकर सब ग्रहों को प्रकाशित और व्यवस्थित करता है उसी प्रकार समस्त प्रजा और शासकों को व्यवस्थित करने के लिये तुझे वरता हूं । और (मरीचिपेभ्य. देवेभ्यः) मरीचि, किरणों से जिस प्रकार सूर्य पृथिवी के जलों को चूस लेता है उसी प्रकार अपने मरीचि=सृत्युदायक, त्रासकारी साधनों से प्रजा के अन्न धनों को चूसनेवाले 'देव' विजुगीष राजाओं के लिये, उन पर वश करने के लिये भी (त्वा) तुझे नियुक्त करता हूं । हे (देव) देव ! राजन् ! हे (अंशो) अंशो ! हे प्रजापते ! (यस्मै) जिस कारण से (त्वा ईडे) मैं तेरी स्तुति करता हूं या तेरी मैं इतनी प्रतिष्ठा करता हूं (तत्) वह तेरा (सत्यम्) सत्य है, सत्य का पालन, न्यायस्थापन तेरा धर्म या व्रताचरण ही है । अर्थात् राजा राष्ट्र के सत्यधर्म या क़ानून का पालन करता है, उसका यह सत्यपालन का कर्त्तव्य ही उसकी स्तुति और पूजा का कारण है । और (उपरिप्रुता) सत्य की मर्यादा को लांघजाने वाले (भङ्गो न) नियमोलङ्घन व सत्य के रौंद डालने से (हत.) ताड़ित होकर (असौ) अमुक असत्य मार्गगामी, विपरीत राजा (फट्) विध्वंस होने योग्य है, उसे मार दिया जाय । हे राजन् (त्वा) तुझको (प्राणाय) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में समस्त कार्यों के सञ्चालन के लिये और (त्वा) तुझको (व्यानाय) शरीर में विभक्त होकर नाना कर्मेन्द्रियों के चालक व्यान के समान राष्ट्र में विविध कार्यों के चलने के लिये नियुक्त करता हूं ॥ शत० ४ । १ । १ । २२-२८ ॥

'मरीचिपेभ्य '—मृङ् प्राण त्यागे (तुदादि) असमादीचि (उणा०) 'अंशो'—प्राण एवाशुरुदानोऽदाभ्य । चक्षु एवाशु श्रोत्रमदाभ्य प्रजापतिर्वा एष यदंशु । श० ४ । ६ । १ । १ ॥ अंशुर्वै नामग्रह स प्रजापतिः । ४ । १ ॥ १ । २ ॥ सोऽस्य एष आत्मैव । ४ । ६ । २ । १ ॥ 'सत्यम्' त्रयी सा विद्या तत्सत्यम् । श० ८ । ५ । १ । १८ ॥ सत्य वा ऋतम् । श० ७ । ३ । १ । २३ ॥ यौ वै धर्म सत्य वै तत् । सत्य वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति । धर्मं वा वदन्त सत्य वदतीति । श० १४ । ४ । २ । २६ ॥ समूलो ह वा एष परिशुष्यति य एवानृतं वदति ॥ बृहदा० उप० ॥

उपयामगृहीतोऽस्युन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् ।
उरुष्य राय ऽएषो यजस्व ॥ ४ ॥

इन्द्रो मघवा देवता । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—हे मघवन्[1] ऐश्वर्यवन्[1] तू (उपयामगृहीत असि) तू 'उपयाम' इस समस्त पृथिवी के शासन द्वारा गृहीत है । तुझे समस्त पृथ्वी देकर उसके बदले मे तुझे राज कार्य मे लगाया गया है । हे (मघवन्) ऐश्वर्य सम्पन्न[1] तू (अन्त यच्छ) राष्ट्र का भीतर से नियन्त्रण कर और (सोमम् पाहि) सोम राजा या राष्ट्र की रक्षा कर । (राय उरुष्य) समस्त पशु आदि ऐश्वर्यों की रक्षा कर और (इष) अन्नों को (आयजस्व) प्राप्त कर अर्थात् प्रजा से अन्नादि रूप में करले । और भूमि को प्राप्त कर । शत० ४ । १ । २ । १५ ॥ 'उपयाम '—इयं पृथिवी वा उपयाम । इय वा इदमन्नाद्यमुपयच्छति पशुभ्यो मनुष्येभ्यो वनस्पतिभ्य. । श० ४ । १ । २ । ८ ॥

अध्यात्म में—हे साधक[1] तू (उपयामगृहीत.) स्वीकृत यम नियमादि द्वारा गृहीत है । प्राणादि को भीतर वश कर । योग सिद्ध ऐश्वर्य रूप सोम का पालन कर । ऋद्धि सिद्धि रूप ऐश्वर्य और इच्छाओं को भी रक्षा कर ॥

४—'रायोवेषो '० इति काण्व० ॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्युन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ५ ॥

मघवा ईश्वरो देवता । आर्षी पंक्तिः । पन्चम ॥

भा०—हे मघवन् ! इन्द्र ! राजन् ! (ते अन्त.) तेरे शासन के भीतर (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी दोनों को (दधामि) स्थापित करता हूं । और (ते अन्त.) तेरे ही शासन के भीतर (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (दधामि) स्थापित करता हू । अर्थात् तीनो को तेरे वश मे रखता हू अथवा तुझे तीनों का पद प्रदान करता हूं । वह 'द्यौ' सूर्य के समान, सब का प्रकाशक, एवं समस्त सुखो का वर्षक, पृथिवी के समान सब का आश्रय और अन्तरिक्ष के समान उनका आच्छादक हो । और (अवैर.) अपने से नीचे के (देवेभि.) कर देनेवाले माण्डलिक राजाओ के साथ (सजू) प्रेमयुक्त व्यवहार करता हुआ, उनका प्रेम पात्र होकर और (परैः च) अपने से दूसरे शत्रु राजाओं के साथ मित्रभाव करके (अन्तर्यामे) अपने राष्ट्र के भीतरी प्रबन्ध में (मादयस्व) समस्त प्रजाओं को सुखी, प्रसन्न कर ।

'अन्तर्याम'—यद्वा अनेन इमाः प्रजा यतारतस्मादन्तर्यामो नामा सोऽस्य अयमुदानोऽन्तरात्मन् हित. । श० ४ । १ । २ । २ ॥ तेन उ ह असावादित्य उद्यन्नेव इमाः प्रजा न प्रदहति तेनेमा प्रजास्त्वाताः । श० ४ । १ । २ । १४ ॥

प्रजा का भीतरी प्रबन्ध विभाग 'अन्तर्याम' है । उसके प्रबल होने पर राजा बहुत बलिष्ठ होकर भी अपनी प्रजाओं को नाश नही करता । इस भीतरी प्रबन्ध में राजा अपने अधीन राजाओं और शत्रु राजाओं से सन्धि करके उनके साथ एकमति होकर मित्रभाव से रहता और अपनी उन्नति करता है इसीसे उसकी प्रजा सुरक्षित रहती हैं॥ शत० ४ । १ । २ ॥

५—मघवा देवता । 'सर्वा'० । ०न्तरिक्षमन्वेमि ॥ इति काण्व० ॥

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्योऽइन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य ऽउदानाय त्वा ॥ ६ ॥

मघवा इन्द्रो योगी वा देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा०—(स्वाङ्कृत असि० ०मरीचिपेभ्य.) इस भाग की व्याख्या देखो (अ० मन्त्र ६) (उदानाय त्वा) हे राजन् ! अथवा हे उसी के समान बलशालिन् ऐश्वर्यवान् पुरुष ! तुझको शरीर में उदान के समान राष्ट्र में उपराजा के पदपर नियुक्त करता हूं । अथवा राजा को ही दोनों पद दिये जाय ॥ शत० ४ । १ । २ । १७–२७ ॥ यह दूसरा पुरुष भी राजा का सहयोगी उपराजा समझना चाहिये ।

अध्यात्म में—वह मुख्य प्राण के शक्ति सामर्थ्य से इन्द्रियों के लिये हे (सुभव) योगिन् ! (त्वं स्वांकृत असि) तू स्वांकृत, स्वयं सिद्ध अनादि आत्मा है । तू समस्त इन्द्रियों और दिव्य और पार्थिव बल प्राप्त करने में समर्थ है । (मन्न त्वा अष्टु) योग द्वारा मनन शक्ति तुझे प्राप्त हो । (सूर्याय) सूर्य के समान तेजस्वी होने के लिये (मरीचिपेभ्य. देवेभ्य.) रश्मियों के पालक देव, दिव्य पदार्थों के समान तेजस्वी होने के लिये और (उदानाय) उदान की साधना या उदान के जय से उत्कृष्ट जीवन और बल का साधन करने के लिये तुझे उपदेश करता हूं ॥ शत० ४ । १ । २ । १७–२४ ॥

आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार । उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्व-पेय वायवे त्वा ॥ ७ ॥ ऋ० ७ । ९२ । १ ॥

वशिष्ठ ऋषिः । वायुर्देवता । निचृत् जगती । निषाद ॥

६—' उदानाय त्वा ' इत्यस्य ग्रहो देवता । ' ०स्वभवस्सूर्याय ' इति काण्व० ॥

भा०—हे (वायो) वायु के समान देश में तीव्र गति से जानेवाले और शत्रु पर तीव्र गति से आक्रमण करनेहारे और शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में जीवन या अधिपति रूप से स्थित राजन् ! हे (शुचिपा) सब व्यवहार में शुद्धता और निष्कपटता, छल छिद्र रहितता के पालन करनेवाले ! सत्य के और धर्म के पालक ! राजन् ! हे (विश्ववार) समस्त प्रजाओं से राजपद पर वरण किये गये ! अथवा सबके रक्षक ! तू (नः) हमारे (उप) समीप (आ भूष) सुशोभित हो । (ते नियुत सहस्रम्) तेरे अधीन सहस्रों नियुक्त पुरुष अश्व या अश्वारोही हैं। (ते) तेरे (मघम्) तृप्ति करनेवाले (अन्ध.) अन्न को मैं (उपो अयामि) तुझ तक प्राप्त कराता हूं। जिसको हे (देव) राजन् ! तू (पूर्वपेयम्) सबसे प्रथम पान या ग्रहण (दधिषे) करता है । (त्वा) तुझ शक्तिशाली पुरुष को (वायवे) वायु के समान सर्वाश्रय, सर्वरक्षक पदपर नियुक्त करता हूं । योग्य शक्तिशाली पुरुष को वायु पद पर स्थापित करे ।

अध्यात्म में—हे वायो ! प्राण ! तू शरीर में शुद्धता, दोषनाशक गुणको पालन करता है, शुद्ध कान्ति बनाये रखता है, तू समस्त प्राणियों का पालक है । तू सदा (आ भूष) शरीर में गति कर। (ते सहस्रं नियुतः) तेरे हजारों प्रवेश द्वार या या व्यापन के साधन है। तेरे लिये मैं तृप्तिकारक अन्न नित्य प्राप्त करता हूं। हे देव प्राण ! तू इस अन्न को सबसे प्रथम ग्रहण करता है । अन्न को वायुरूप प्राण के लिये ग्रहण करते हैं । शत० ४ । १ । ३ । १–१८ ॥

अयं वै वायु योयं पवते । एष वा इदं सर्वं विविनक्ति । यदिदं किंञ्च-विविच्यते । श० १ । १ । ४ । २२ ॥ वायुवैं देवनामाशु सारसारितमः । तै० ३ । ८ । ७ । १ ॥ योयं वायु पवते सैष सोम । श० ७ । ३ । १ । १ ॥ वायुर्वा उग्र । श० ६ । १ । ३ । १३ ॥ वायुर्वा उपश्रोता गो । उ०

२ । १६ ॥ तस्य वायो मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । श० ८ । ६ । १ । १७ ॥

वायुपदपर अधिष्ठित पुरुष सत्यासत्य का विवेक करता है । वह सबसे तीव्रगामी, बलवान्, उग्र है, सबसे ममताशून्य, युद्धशक्ति का अध्यक्ष है ।

यतियों के पक्ष में—योगी वायु या प्राण के समान व्यापक, यम आदि का पालक, सब आनन्दों को वरणकर्त्ता, उसको हम तृप्तिकर अन्न दें । जिसके आधार पर वह श्रेष्ठ योगबल प्राप्त करता है ।

[1] इन्द्रवायू३इमे सुता३उप प्रयोभिरागतम् । इन्दवो वामुशन्ति हि । [2] उपयामगृहीतोऽसि वायवे३इन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वा ॥ ८ ॥ ऋ० १ । २ । ४ ॥

मधुच्छन्दा ऋषि । इन्द्रवायू देवते । (१) आर्षी गायत्री । (२) आर्षी स्वराड् गायत्री । षड्ज स्वर ॥

भा०—हे (इन्द्रवायू) इन्द्र और हे वायो ! हे सेनापते ! और हे न्यायकर्त्त । दोनों (प्रयोभि) वेग से चलने वाले अश्वों से तुम दोनों (उप आ गतम्) आओ । (इमे) ये (सुता) उत्तम रीति से प्रेरित, अपने पदों पर स्थापित (इन्दव.) ऐश्वर्यवान् और शीघ्रगामी पुरुष (वाम्) तुम दोनों को (हि) निश्चय से (उशन्ति) चाहते हैं । हे राजन् ! तू (उपयामगृहीतः असि) उपयाम, अर्थात् पृथ्वी के प्रजाजनों द्वारा स्वीकृत है । तुझे (वायवे) पूर्व कहे वायु पद या विवेचक पद के लिये नियत करता हू । और (त्वा) तुझको (इन्द्रवायुभ्याम्) इन्द्र, सेनापति और वायु, विवेचक, उपद्रष्टा पद के लिये भी नियत करता हूं । (ते एष योनि) तेरा यह आश्रयस्थान या पद है । (त्वा) तुझे (सजोषोभ्याम्) प्रेम सहित, इन्द्र और वायु पद पर अधिष्ठित दोनों शासकों के पद पर शासक नियत करता हू । इन्द्र वायु आदि पद कार्य भेद से भिन्न २ होकर भी सामान्य रूप से राजा के ही पद के भिन्न २ विभक्तरूप हैं ।

योगी पक्ष में—हे (इन्द्रवायू) योग के उपदेष्टा और अभ्यासी जन तुम दोनों को (इमे सुता इन्दव. वाम् उशन्ति) ये समस्त उत्पादित पदार्थ चाहते हैं, तुम इन सहित आओ। हे योग के जिज्ञासो ! तू उपयाम अर्थात् योगज्ञों द्वारा स्वीकृत है उनमें अभ्यस्त है। तू वायु ! अर्थात् योग विचक्षण हो। यह योग ही तेरा (योनिः) दु.खवारक शरण है ॥ शत० ४ । १ । ३ । १९ ॥

[1] अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोमऽऋतावृधा । यमेद्रह श्रुतꣳहवम् । [2] उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा ॥ ९ ॥

ऋ० २ । ४१ । ४ ॥

मृत्समद ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । (१) आर्षी गायत्री । (२) आसुरी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—मित्र और वरुण पदाधिकारियों का वर्णन करते हैं। हे (ऋतावृधा) ऋत सत्य व्यवस्था को बढ़ानेवाले या सत्यधर्म की व्यवस्था से स्वयं बढ़नेवाले (मित्रावरुणा) मित्र सबसे स्नेह करनेवाले ब्राह्मण गण और (वरुण) वरुण, सब दुष्टो के वारण करनेवाले क्षत्रिय (अयं सोम) यह सोम सर्व प्रेरकरूप से राजा (सुतः) बनाया गया है। (इह) इस अवसर पर (मम इत्) मेरे ही (हवम्) आज्ञा या अभ्यर्थना का (श्रुतम्) श्रवण करो। हे राजन् ! (त्वा) तुझे (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्र और वरुण पद के भी वश करने के लिये उन पर शासक रूप से नियुक्त करता हूं।

अध्यापक और अध्येता के पक्ष में—वे दोनों ऋत=ज्ञान को बढ़ाने वाले है। उनका सोम, योगैश्वर्य है। वे दोनों मित्र और वरुण है। शिष्य मित्र के समान है, आचार्य उसको पाप से निवारक होने से वरुण है । अथवा आचार्य सुहृत् है और छात्र गुणदोषवारक होने से वरुण है। अध्यात्म में ज्ञान और बल दोनों मित्र और वरुण हैं। क्रतुदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ

एतन्वध्यात्मं स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं मे कुर्वीय इति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृद्धयते स दक्ष । मित्र एव क्रतुर्वरुणो दक्ष । ब्रह्मैव मित्र. क्षत्रं वरुण. । अभिगन्ता एव ब्रह्म कर्त्तो क्षत्रिय. । इत्यादि । शत० ४ । १ । ४ । १—७ ॥

राया वयꣳसंसवाꣳसो मदेम हव्येन देवा यवसेन गावः । तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीमेष ते योनिर्ऋतायुभ्यान्त्वा ॥ १० ॥ ऋ० ४ । ४२ । १० ॥

असदस्युर्ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । ब्राह्मी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र और हे वरुण ! हे ब्राह्मणगण, और हे क्षत्रगण ? जिस रसपान कराने वाली वेदवाणियों की व्यवस्था के अनुसार (वयम्) हम लोग (राया) ऐश्वर्य का (ससवांस.) विभाग करते हुए जैसे (देवाः) देव, विद्वानगण अपने अभिलषित ज्ञान से और (गाव यवसेन) गौ आदि पशु जिस प्रकार दैनिक चारा पाकर प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार प्रसन्न हों (ताम् धेनुम्) उस धेनु सर्वरस पिलाने वाली वाणी, गौ और पृथिवी को (युवम्) आप दोनों (विश्वाहा) सब दिन, नित्य (अनपस्फुरन्तीम्) विना कष्ट के, व्यथारहित रूप से, उसे विना तङ् पाए (धत्तम्) उसका धारण पोषण करो । या उसको ऐसे पालन करो कि वह कष्ट पाकर किसी और के पास न चली जाय । हे राजन् ! (एष ते योनिः) तेरा यही ब्राह्मण और क्षत्रियगण, मित्र और वरुण दोनों आश्रय स्थान हैं (ऋतायुभ्याम् त्वा) अर्थात् सत्य ज्ञान और आयु अर्थात् निर्विघ्न दीर्घ आयु दोनों के प्राप्त करने के लिये (त्वा) तुझ योग्य पुरुष को नियुक्त करता हूं । शत०—४ । १ । ४ । १० ॥

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षत-

तम् । उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒श्विभ्या॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॒र्माध्वी॑भ्यां त्वा ॥ ११ ॥ ऋ० १ । २२ । ३ ॥

मेधातिथिर्ऋषि । अश्विनौ देवते । ब्राह्मी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अश्विना) हे सूर्य और चन्द्र या सूर्य और पृथिवी के समान परस्पर नित्य मिले हुए राजा और प्रजाजनो ! या स्त्री पुरुषो ! (या) जो (वाम्) तुम दोनों वर्गों की (मधुमती) मधुर, आनन्दप्रद, रस से युक्त (सूनृतावती) उत्तम सत्य ज्ञान से पूर्ण (कशा) वाणी है (तया) उससे (यज्ञम्) इस राष्ट्र रूप यज्ञ को (मिमिक्षतम्) सेचन करते रहो, उससे इसमे निरन्तर आनन्द की वृद्धि करते रहो । हे योग्य पुरुष ! राजन् ! (उपयाम-गृहीत. असि) देश के शासन द्वारा तू बद्ध है । (त्वा) तुझको (आश्विभ्याम्) देश के स्त्री और पुरुष दोनों की उन्नति के लिये नियुक्त करता हू । (एष ते योनि.) तेरे लिये यही आश्रय है । (त्वा) तुझको (माध्वीभ्याम्) मधु, उत्तम रस के प्रदान करने वाली, नीति और शक्ति दोनों के लिये प्रतिष्ठित करता हूं ।

शिष्य अध्यापक के पक्ष में—वे दोनों सूर्य चन्द्र के समान प्रकाशित हैं उनकी मधुमयी, ज्ञानमयी मधुरवाणी उनके ज्ञान यज्ञ को बढ़ावे । यही उनका आश्रय है । शत० ४ । १ । ५ । १५ ॥

[1]तं प्र॒त्नथा॑ पू॒र्वथा॑ वि॒श्वेथे॒मथा॑ ज्ये॒ष्ठता॑तिं बर्हि॒षद॑ꣳस्वर्वि॒दम्। प्र॒ती॒ची॒नं वृ॒जनं॑ दोहसे॒ धुनि॒माशुं॑ जय॑न्त॒मनु॒ यासु॑ वर्ध॒से। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ शण्डा॑य त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्वी॒रता॑ पा॒ह्यप॑मृष्टः॒ शण्डो॑ देवास्त्वा॑ शु॒क्रपाः॑ प्रणय॑न्त्वना॑धृष्टासि ॥ १२ ॥ ऋ० ५ । ४४ । १ ॥

काश्यपो वत्सार ऋषिः । विश्वेदेवा देवता । (१) निचृदार्षी जगती । निषाद । (२) पक्तिः । पन्चम ॥

१२—‘ दोहसे गिराशु ’ इति ऋ० ॥

भा०—हे राजन्! तू (प्रत्नथा) अपने से पूर्वकाल के, (पूर्वथा) अपने से पूर्व या अधिक बलशाली राजाओं के, (विश्वथा) समस्त देशों के और (इमथा) इन प्रत्यक्ष वीर पुरुषों के समान (ज्यष्टेतातिम्) सब से ज्येष्ठ, उत्तम गुणशाली, (बर्हिषदम्) उच्च आसन पर विराजमान, (स्वर्विदम्) तापकारी बल और तेज के धारण करनेवाले (प्रतीचीनम्) शत्रु के प्रति चढ़ाई करनेवाले, (वृजनम्) शत्रुओं को वारण करनेवाले, (धुनिम्) शत्रुओं के कंपा देनेवाले, उनको धुन डालनेवाले (आशुम्) अति शीघ्रकारी सिद्धहस्त (तम्) उस प्रसिद्ध विख्यात पुरुष को (यासु) जिन जिन दिशाओं और प्रजाओं में (दोहसे) पूर्ण करता है उनमें ही तू उसके अनुकूल होकर (अनुवर्धसे) स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है। अथवा ऐसे बलवान् पुरुष को साथ लेकर जिन प्रजाओं में तू स्वयं बढ़ता है उनके तू (प्रतीचीन वृजन दोहसे) शत्रु के प्रतिगामी बलको प्राप्त करता है। हे वीर पुरुष! राजन्! (उपयामगृहीत. असि) तुझे उपयाम, अर्थात् पृथिवी निवासी प्रजातन्त्र ने स्वीकार किया है। (शण्डाय त्वा) बलके कारण पदयुक्त पुरुष के कम्पन के निमित्त (त्वा) तुझको इस पद पर नियुक्त करते हैं। (एष ते योनि) तेरे लिये यही पद है। तू (वीरताम्) अपने वीर्य, वीरस्वभाव या वीर जनों की (पाहि) रक्षाकर। (शण्ड.) बलके मद में मत्त पुरुष भी (अपमृष्ट.) प्रजा से पृथक कर दिया जाय। और (शुक्रपा.) वीर्य के पालन करनेवाले, बलवान् (देवा) युद्ध विजयी पुरुष भी तुझसे स्नेह करें। या तेरे लिये कार्य करे। और हे प्रजे! या हे राजशक्ते! इस प्रकार तू (अनाधृष्ट. असि कभी शत्रुओंद्वारा दबाई, या पीड़ित नहीं हो सकती। शत० ४। २। १। ६॥

योगी के पक्ष में—हे योगिन्! तू (उपयामगृहीतोऽसि) योग के यमादि अंगों में अभ्यस्त हो। यही तेरा आश्रय है। इनसे (अपमृष्ट) शुद्ध होकर (शण्ड =शं-ड.) शान्त स्वभाव होकर (यासु) जिन योग क्रियाओं

में (वर्धसे) तू वृद्धि को प्राप्त हो और पूर्व के अभ्यासी लोगों के समान, (ज्येष्ठतातिं बर्हिषदं स्वर्विदं प्रतीचीनमाशुं जयन्तं धुनिं वृजनं च दोहसे) सब से उत्तम, आत्मस्थ, सुखकारी, विषयों के विरोधी, जयप्रद योगबलको प्राप्त करता है (तं) उसको (शुक्रपाः देवाः) वीर्यपालक, ब्रह्मचारी विद्वान् प्राप्त करावें। तू अपनी वीरता या बल वीर्य की रक्षा कर। तेरा वीर्य कभी खण्डित न हो। यह मन्त्र पुत्रप्रजनन पर भी लगता है। इस प्रकरण में सृष्टि उत्पत्ति का रूप भी कहा है।

[१] सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा निरस्तः शण्डः [२] शुक्रस्याधिष्ठानमसि ॥ १३ ॥

विश्वेदेवाः देवता.। (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः। (२) प्राजापत्या-गायत्री, षड्जः ॥

भा०--हे वीर पुरुष ! तू (सुवीरः) उत्तम वीर होकर और (वीरान्) और वीर पुरुषों को उत्पन्न करता हुआ (परि इहि) राष्ट्र से परे, दूर देशों में जा। और (रायः पोषेण) धन ऐश्वर्य की समृद्धि सहित (यजमानम्) अपने दानशील वृत्तिदाता राजा को (अपि इहि) प्राप्त हो। इस प्रकार (दिवा) सूर्य और (पृथिव्या) पृथिवी से (संजग्मानः) सदा संगति लाभ करते हुए (शुक्र.) तेजस्वी सूर्य के समान (शुक्रशोचिषा) शुद्ध कान्ति से युक्त होकर विराजमान हो। इस प्रकार से राज्य के भीतर (शण्ड.) बलवान् वीर पुरुष भी (निरस्तः) देश से बाहर कर दिया जाय। हे राजन् ! तू स्वयं (शुक्रस्य) तेजस्वी सूर्य का (अधिष्ठानम् असि) अधिष्ठान, परम पद है ॥ शत० ४ । २ । १ । १६ ॥

योगी के पक्ष में—उत्तम वीर के समान योगी वीर्यवान् गुणों को उत्पन्न करके ऐश्वर्य से युक्त हो, शुद्धकान्ति से (निरस्त) विषय वासनारहित, शान्त होकर वीर्य का आश्रय बने ॥

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम। सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः ॥ १४ ॥

विश्वेदेवाः देवता । स्वराड् जगती । निषाद ॥

भा०—हे (देव सोम) प्रकाशमान सबके प्रेरक राजन् ! (सुवीर्यस्य ते) उत्तम वीर्यवान् तेरे (अच्छिन्नस्य) अच्छिन्न, अटूट, अक्षय (राय. पोषस्य) धनैश्वर्य की समृद्धि के हम प्रजाजन (ददितारः) देनेवाले (स्याम) हों। (सा) वह राजशक्ति ही (विश्ववारा) समस्त राष्ट्र की रक्षा करनेवाली (प्रथमा संस्कृति) सबसे उत्कृष्ट रचना है। (स) इस प्रकार का बनाया हुआ राजा (प्रथम.) सबमें उत्तम, प्रजा का रक्षक, (मित्र) सर्वोत्तम प्रजा का स्नेही और (प्रथम. अग्नि) सर्वोत्तम अग्रणी नेता है। शत० ४ । २ । १ । २१ ॥

शिष्याध्यापक पक्ष में—हे शिष्य ! उत्तम वीर्यवान् अखण्ड ब्रह्मचारी को हम ज्ञान ऐश्वर्य के देनेवाले हों। यह शिक्षा सर्व श्रेष्ठ सबको एव स्वीकार करने योग्य हैं। हम में से तुझे पाप से वारक अग्नि आचार्य तेरे मित्र के समान स्नेही है।

ईश्वर के पक्ष में—हे देव सोम ! परमेश्वर ! महान् वीर्यवान् (अच्छिन्नस्य) अखण्ड ऐश्वर्य के परिपोषक तेरे हम सदा (ददितार) देनेवाले, देनदार, ऋणी रहें। वही परमेश्वरी शक्ति सबसे उत्तम संस्कृति है, जो सबकी रक्षा करती है। वह परमेश्वर ही सब से श्रेष्ठ प्रथम, आदि मूल वरुण मित्र और अग्नि है ॥

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्माऽइन्द्राय सुतमा जुहोत

१४—सोमो देवता । सर्वा० ॥

स्वाहा । तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीतः सुहुता यत्स्वाहा याड्ढ्ग्नीत् ॥ १५ ॥

विश्वेदेवाः देवताः । निचृद् ब्राह्म्यनुष्टुप । गान्धार ॥

भा०—(स.) वह (प्रथमः) सब से प्रथम, सर्व श्रेष्ठ (चिकित्वान्) विद्वान्, (बृहस्पतिः) बृहती, वेदवाणी का पालक है । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (तस्मै इन्द्राय) उस ऐश्वर्यवान् राजा को (सुतम्) इस राष्ट्र के राजत्व पद को (स्वाहा) उत्तम शासन, वश कारिणी शक्ति से (आ जुहोत) प्रदान करो । और (होत्रा) राजा के मुख्य अधिकारी, जो राज्य के महान् कार्य को चलाने मे समर्थ है वे राज्य की विभाजक शक्तियां (मध्वा) मधुर अन्न आदि भोग्य पदार्थों से (तृम्पन्तु) तृप्त हों । (यत्) क्योंकि (या) जो (स्विष्टा) उत्तम रीति से अपना भाग प्राप्त करके, (या सुप्रीताः) जो सुप्रसन्न होकर और (सुहुता) उत्तम रीति से आदर मान पाकर (स्वाहा) राष्ट्र को उत्तम रीति से वहन करती है । इस प्रकार (अग्नीत्) अग्रणी नेता को प्रज्वलित करने हारा, राष्ट्र यज्ञ का प्रमुख पुरुष (अयाड्) उस कार्य का सम्पादन करे । शत० ४ । २ । १ । २७, २८ ॥

'होत्रा'—अग्नानि वाव होत्रका । ऋतवो वा होत्रा गो० ३० ६ । ६ ।

'अग्नीत्'—यज्ञमुख वा अग्नीत् । गो० उ० ३ । १८ ॥

गृहस्थ पक्ष मे—होत्रा=स्त्रियें । सुत=वीर्य । अग्नीत्=पुरुष । इन्द्र=पुत्र । बृहस्पति=पुरुष ॥

[1] अयं वेनश्चोदयत्पृश्निगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने । इममपाꣳसंङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति । [2] अयामगृहीतोऽसि मरुद्भ्यस्त्वा ॥ १६ ॥ ऋ० १० । १२३ । १ ॥

वेनो देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत । (२) गायत्री । षड्जः ॥

१५—इन्द्र होत्रा च देवते । सर्वा० । ०मग्नीयत् स्विष्ट य सुभृत यत्स्वाहा ॥ इति काण्व० ॥

भा०—(अयं) यह (वेन) कान्तिमान् राजा एक उत्पन्न होने वाले बालक के समान है। (रजस' विमाने) गर्भस्थ जल के विशेष रूप से बने स्थान में स्वयं (ज्योतिर्जरायु) बच्चा जिस प्रकार जेर में लिपटा रहता है उसी प्रकार वह राजा भी (रजस' विमाने) समस्त लोकों के बने विशेष संगठन के भीतर ज्योति , प्रकाश, तेज रूप जेर से लिपटा रहता है। बच्चा जिस प्रकार (पृश्निगर्भा) माता के पेट के जलों को प्रथम बाहर फेंकता है उसी प्रकार यह राजा भी ज्योति के धारण करने वाले सूर्य को अपने भीतर ग्रहण करने वाली प्रजाओं को (चोदयात्) प्रेरित करता है। (अपा संगमे) जलों के एकत्र हो जाने पर जिस प्रकार बच्चे को अगुलियों से बाहर कर लिया जाता है। इसी प्रकार (विप्रा.) मेधावी विद्वान् पुरुष (शिशुं न) बालक के समान ही (सूर्यस्य) सूर्य के समान, प्रचण्ड ताप के कारण (शिशुम्) प्रशंसनीय, या उसके समान दानशील राजा को (अपा सगमे) प्रजाओं के एकत्र होने के अवसर पर (मतिभि.) अपनी ज्ञानमय स्तुतियों से (रिहन्ति) अर्चना करते हैं। हे योग्य पुरुष ! (त्वम्) तू (उपयामगृहीत असि) राज्य के नाना अगों, या राष्ट्र के समस्त भागों से स्वय राजा रूप में स्वीकृत है। (त्वा) तुझको (मर्काय) मर्क अर्थात् शरीर मे जिस प्रकार समस्त अंगों में प्राण वायु चेष्टा करता है उसी प्रकार समस्त राष्ट्र मे विशेष प्रेरणा देने वाले उत्तेजक पुरुष के पद पर नियुक्त करता हू। शत० ४ । २ । १ । ८—१० ॥

'मर्काय' मर्चते कन् (उणा०) मर्चति चेष्टते असौ इति मर्क शरीर वायुर्वा ।

चन्दपक्ष मे—यह (वेन) कान्तिमान् चन्द (रजस' विमाने) जल के निर्माण अर्थात् वर्षाकाल मे (ज्योतिर्जरायु) दीप्ति में लिपट कर (पृश्निगर्भा) अन्तरिक्ष या वातावरण मे स्थित जलों को वर्षा रूप में प्रेरित

करता है। और जलों के प्राप्त हो जाने पर विद्वान लोग सूर्य के पुत्र के समान इसकी स्तुति करते हैं ॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता।
आ यः शर्याभिस्तुविनृम्णोऽअस्या श्रीणीता दिशं गभस्तावेष ते
योनिः प्रजाः पाह्यपमृष्टो मकों देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्त्व-
नाधृष्टासि ॥ १७ ॥ ऋ० १० । ६१ । ३ ॥

विश्वेदेवा देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः स्वरः ॥

भा०—हे राजन् ! हे प्रजाजन ! (येषु) जिन (हवनेषु) युद्ध के अवसरों पर (मन. न) मन के समान (तिग्मं) तीक्ष्ण अति तीव्र-गति वाले (विपः) विपश्चित्, या कार्यकुशल पुरुष को (शच्या) अपनी शक्ति या सेना से (द्रवन्तौ) गमन करते हुए (वनुथ.) प्राप्त करते हैं। और जो (तुविनृम्ण.) बहुत ऐश्वर्यवान् (अस्य) इस राजा के लिये (आदिशम्) 'प्रत्येक दिशा, या देश में (गभस्तौ) अपने ग्रहण या आक्रमण या देश विजय करने के बल पर (शर्याभिः) अपने शर प्रहार करने वाली सेनाओं से (आश्रीणीत) सब प्रकार राजा का आश्रय करता या उसके शत्रु को सन्तप्त करता है। हे वीर पुरुष ! (एषः) यह प्रजा भी (तेयोनि) तेरा आश्रय स्थान या पद है। तू (प्रजाः पाहि) प्रजा का पालन कर इस प्रकार (मकः) प्रजा पर मृत्यु का दुःख डालने वाले शासकों का दुर्नय या दुष्प्रबन्ध और उसके कारण उत्पन्न होने वाला पारस्परिक घात प्रतीघात या माहमारी आदि रोग (अपमृष्ट) दूर किया जाय। हे राजन् (त्वा.) तुझको (मन्थिपाः) शत्रुओं को मथन करने वाले पुरुष के रक्षक (देवाः) विजिगीषु लोग (प्रणयन्तु) आगे विजय मार्ग पर ले चलें। हे प्रजे ! इस प्रकार तू (अनाधृष्टा असि) शत्रुओं द्वारा कभी पीड़ित नहीं होसकती। शत० ४ । २ । १ । १२ ।

१७—हौमस्तुतिर्दक्षिणोत्तरे वेदी च देवता । सर्वा० ॥

राजा एक ऐसे विद्वान को नियुक्त करे जो युद्ध के अवसरों पर मन के समान तीक्ष्ण मननशील हो। राजा प्रजा उसकी शक्ति से सब कार्यों में आगे बढ़ें। वह प्रत्येक दिशा में शत्रुओं को पराजित करे। उसको उचित आश्रय दे। जो राजा प्रजा का पालन करे, आक्रामक शत्रु का नाश करे उसका नाम 'मन्थी' है। उसके आज्ञा के पालक राजा को आगे बढावें। प्रजा सुरक्षित रहे।

[१] सुप्रजाः प्रजा. प्रजनयन् परीह्यभि रायस्पोषेण यजमानम्। संजग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी मन्थिशोचिषा निरस्तो मर्कः [२] मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

प्रजापतिर्देवता । (१) निचृत् तिष्टुप् । धैवत । (२) प्राजा प्रत्या गायत्री षड्ज ॥

भा०—हे विद्वन्! तू (सुप्रजा) उत्तम प्रजावान् होकर (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा को (प्रजनयन्) बनाता या उत्पन्न करता हुआ (परि इहि) सर्वत्र गमन कर। (यजमानम्) तू भृति, वेतन एवं समस्त ऐश्वर्य को देने वाले राजा के समीप (रायः पोषेण अभि इहि) ऐश्वर्य की समृद्धि सहित प्राप्त हो। (दिवा) द्यौः या सूर्य के समान तेजस्वी राजा और (पृथिव्या) सर्वाश्रय, प्रजा दोनों के साथ (सं जग्मानः) सत्संग करता हुआ (मन्थी) शत्रुओं का, या असत्य और अविद्या का मथन या विनाश करने वाला होकर विद्यमान रह। (मन्थिशोचिषा) ऐसे मथनकारी के तेज से (मर्कः) प्रजा के मृत्यु के कारण रूप अन्यायी पुरुष, एव शत्रु, दुष्ट, हिंसक पुरुष को (निरस्त) दूर कर दिया जाय। हे राजन्! तू (मन्थिनः) उक्त प्रकार के शत्रु या दुष्ट पुरुषों के मथन के करने वाले पुरुष का भी (अधिष्ठानम् असि) अधिष्ठाता, आश्रयदाता है। शत० ४। २। १। १५–२१ ॥

ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादश स्थ । अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥ १९ ॥ ऋ० १ । १३१ । ११ ॥

विश्वेदेवा देवता । भुरिगार्षी पक्तिः । धैवत ॥

भा०—हे (देवासः) विद्वान्! देव पुरुषो ! आप लोग (ये) जो (दिवि) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के अधीन (एकादश स्थ) ११ राजसभा के सभासद हो, और आप लोग (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी, पर (एकादश स्थ) ११ देव, अधिकारी गण हो। और (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (अप्सुक्षित.) प्रजा में निवास करने वाले आप लोग (एकादश स्थ) ११ हो, वे सब मिल कर (इमं) इस (यज्ञम्) यज्ञ को (जुषध्वम्) सेवन करें, उसमें अपना भाग लें ।

अर्थात् जिस प्रकार शरीर की रचना में, मूर्धा भाग में प्राण, अपान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनजय और जीव ये ११, पृथिवी में पृथिवी, आपः, तेज, वायु, आकाश, आदित्य, चन्द्र, नक्षत्र, अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति ये ग्यारह और प्राणों में श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राग, वाक्, हाथ, पाद, गुदा, मूत्राशय, और मन ये ग्यारह प्राण विद्यमान हैं और क्रम से शरीर के और ब्रह्माण्ड के देहों को धारण करते यथावत् समस्त कार्य चला रहे हैं उसी प्रकार राष्ट्रदेह में, राजा के साथ ११ विद्वान् पुरुष, पृथिवी पर के शासकों में से ११ और प्रजाओं में से ११ विद्वान् प्रतिनिधि मिलकर सभा बना कर कार्य सचालन करें। शत० ४। २। २। १–९॥

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः । पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं विष्णुस्त्वामैन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभि सवनानि पाहि ॥ २० ॥

यज्ञो देवता । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

२०—लिंगोक्ता देवता सर्वा० ॥

भा०—हे सभापते ! तू (उपयामगृहीत असि) राष्ट्र के नियम व्यवस्था द्वारा स्वीकृत है। तू (आग्रयण असि) 'आग्रयण' अग्र अर्थात् मुख्य २ पद प्राप्त करने योग्य है। और तू (सु-आग्रयण) उत्तम पूजा योग्य अग्रपद प्राप्त, सर्वोच्च पदाधिकारी (असि) है। तू (यज्ञम् पाहि) इस व्यवास्थित राष्ट्र का पालन कर और (यज्ञपतिम्) यज्ञ या राष्ट्र के पालक स्वामी की भी (पाहि) रक्षा कर। हे राष्ट्र ! (विष्णु.) सब शक्तियों और राष्ट्र के विभागों में समानरूप से व्यापक राजा (त्वाम्) तुझको (इन्द्रियेण) अपने इन्द्र, ऐश्वर्यभाजन पदयोग्य राजबल से (पातु) पालन करे (त्वम्) तू हे विद्वन् ! या प्रजाजन ! (विष्णुम्) उस व्यापक शक्तिमान् राजा को (पाहि) पालन कर। और तू (सवनानि) समस्त ऐश्वर्य के द्योतक अधिकार पदों की भी (पाहि) रक्षा कर ॥ शत० ४ । २ । २ । ९–१० ॥

[1]सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवतऽइषऽऊर्जे पवते ऽदभ्यऽ ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूतायं पवते विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य [2]ऽएष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २१ ॥

सोमो देवता । (१) स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत । (२) जगती । निषाद ॥

भा०—(सोम) सर्वप्रेरक राजा (पवते) अपने कार्य में और सूर्य के समान राष्ट्र के सब कार्यों में प्रवृत्त होता और अन्यों को भी प्रेरित करता है। (सोमः पवते) राजा, सोम अर्थात् चन्द्र के समान या वायु के समान सर्वत्र जाता है। (अस्मै ब्रह्मणे) महान् परमेश्वर के बनाये नियम, वेद और ब्रह्मचर्य के पालन कराने ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण, विद्वान्

२१—अस्मै ब्रह्मणे पवतेऽस्मै क्षत्राय पवतेऽस्मै सु० ०सुभूताय पवते ब्रह्मवर्चसाय पवते । इति काण्व० ॥

प्रजा के लिये, (अस्मै क्षत्राय) इस क्षत्र वीर्यवान् क्षत्रिय, वीर प्रजा के लिये, और (अस्मै सुन्वते यजमानाय) इस समस्त विद्याओं के सिद्धान्तो को प्रकट करनेहारे विद्या आदि प्रदान करनेवाले, सर्वसम्मत विद्वान् या ब्रह्मोपासक पुरुष की रक्षा और वृद्धि के लिये (पवते) राज्य में उद्योग करता है । वह राजा और विद्वान् पुरुष अपने राष्ट्र में (इषे ऊर्जे) अन्न उत्पन्न करने और उससे बल प्राप्त करने के लिये (पवते) उद्योग करता है । वह (अद्भ्यः ओषधीभ्यः पवते) उत्तम जल और उत्तम ओषधियों के संग्रह के लिये उद्योग करता है । (द्यावापृथिवीभ्याम् पवते) द्यौ, सूर्य के प्रकाश, एवं उत्तम वृष्टि और पृथिवी के उत्तम पदार्थों की उन्नति के लिये अथवा, आकाश और पृथिवी दोनो के बीच में विद्यमान समस्त ऐश्वर्यों के लिये उत्तम पिता और माता स्त्री और पुरुषों की उन्नति के लिये (पवते) चेष्टा करता है । वह (सुभूताय पवते) उत्तम भूति, ऐश्वर्य की प्राप्ति, सबके उत्तम उपकार और उत्तम सन्तान की उन्नति के लिये उद्योग करता है । हे राजन् ! (त्वा) तुझको हम (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देवों, राजाओं, विद्वानों, शासकों एवं वायु, विद्युत्, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि दिव्य पदार्थों के उपकार और सद् उपयोग के लिये स्थापित करता हूं । (ते [illegible] योनिः) तेरा यह आश्रय स्थान, पद या आसन है (विश्वेभ्य देवेभ्यः त्वा) समस्त देवों, उत्तम विद्वान्, सत्पुरुषों के लिये तुझे नियुक्त करता हूं ।

शत० ४ । २ । २ । ११–१६ ॥

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसीन्द्रा॑य त्वा बृ॒हद्ग्रा॑ते॒ वय॑स्वत उक्थ॒व्यं॑ गृह्णामि । यत्ते॑ऽइन्द्र बृ॒हद्वय॒स्तस्मै॑ त्वा विष्णवे त्वै॒ष ते॒ योनि॑रु॒क्थेभ्य॑स्त्वा दे॒वेभ्य॑स्त्वा देवा॒व्यं॑ य॒ज्ञस्यायु॑षे गृह्णामि ॥ २२ ॥

ऋ० ६ । ५१ । १—२ ॥

विश्वेदेवा देवता. । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

२२—०'उक्था युव०' ०'देवायुव०' ॥

भा०—हे उत्तम, वीर पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) तू राज्य के उत्तम नियमों द्वारा 'गृहीत' अर्थात् वधा है। (उक्थाव्यम्) उत्तम ज्ञानों की रक्षा करने वाले (त्वा) तुझ विद्वान् को मैं (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य युक्त (बृहद्वते) वडे भारी राष्ट्र के कार्यों से युक्त (वयस्वते) अति दीर्घ जीवन वाले पद या राजा के लिये (गृह्णामि) नियुक्त करता हू। हे (इन्द्र) इन्द्र परमैश्वर्यवान्। राजन् अथवा ' सेनापते ! (यत् ते) जो तेरा (बृहत्) महान् राज्य और (वयः) जो तेरा यह दीर्घजीवनसाध्य कार्य है (तस्मै) मैं उसके लिये (त्वा) तुझको नियुक्त करता हू। (विष्णवे त्वा) तुझे राज्यपालन रूप, विष्णु अर्थात् व्यापक राष्ट्र के पालन कार्य के लिये नियुक्त करता हू। (एष ते योनिः) यह तेरा आश्रय स्थान या पद है। (देवाव्यम्) देव, विद्वानों, शासकों और पदाधिकारियों के और अधीन राजाओं के रक्षक (त्वा) तुझको (देवेभ्य गृह्णामि) उन देवों अर्थात् विद्वान् पदाधिकारी, अधीन राजाओं की रक्षा के लिये भी (गृह्णामि) नियुक्त करता हू। और मै तुझे (यज्ञस्य) इस 'यज्ञ' अर्थात् राज्यव्यवस्था के (आयुषे) दीर्घजीवन के लिये भी (गृह्णामि) नियुक्त करता हू। यात० ४। २। २। १–१० ॥

[1]मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामीन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[2]न्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[3]न्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[4]न्द्रा-बृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामी[5]न्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि ॥ २३ ॥

विश्वेदेवा देवता । (१) अनुष्टुप् । (२) प्राजापत्यानुष्टुप् । (३) स्वराट् साम्न्यनुष्टुप् । गाधार स्वर । (४) भुरिगार्ची गायत्री । षड्ज. । (५) भुरिक् साम्न्यनुष्टुप् । गाधार ॥

२३—'देवायुव' ०सर्वंच काण्व० ॥

भा०—हे सभापते या राजन् ! (देवाव्यं त्वां) देव, विद्वानों और अधीन राजाओं के रक्षक तुझको (मित्रावरुणाभ्यास्) मित्र और वरुण इन पदों पर (यज्ञस्य आयुपे) राष्ट्रव्यवस्था के दीर्घ जीवन के लिये (गृह्णामि) नियुक्त करता हू । हे राजन् ! (देवाव्यस् त्वा) विद्वानों और राजा जनों के रक्षक तुझको (इन्द्राय, यज्ञस्य आयुषे, गृह्णामि) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् सेनापति पद पर राष्ट्रमय यज्ञ के दीर्घ जीवन के लिये नियुक्त करता हू । (२) (देवाव्य इन्द्राग्नीभ्याम् यज्ञस्य आयुषे त्वा गृह्णामि) देवों, विद्वान् पुरुषों के रक्षक तुझको इन्द्र और अग्नि पद अर्थात् इन्द्र, राजा और अग्नि, दुष्टों के संतापक और अग्रणी पद पर राज्य की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हू । (त्वा देवाव्य इन्द्रावरुणाभ्याम् यज्ञस्य आयुपे गृह्णामि) देवों के रक्षक, तुझको इन्द्र और वरुण पद पर यज्ञ की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूं । (त्वा देवाव्य इन्द्राबृहस्पतिभ्या यज्ञस्य आयु गृह्णामि) देवों के रक्षक तुझे इन्द्र औरबृहस्पति पद पर राज्य के दीर्घ जीवन के लिये नियुक्त करता हूं । (इन्द्र-विष्णुभ्या त्वा, देवाव्यं यज्ञस्य आयुषे गृह्णामि) देवों के रक्षक तुझको इन्द्र और विष्णु पद पर राज्य की दीर्घायु के लिये नियुक्त करता हूं । ४ । २ । २ । १–१८ ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र-अग्नि, इन्द्र-वरुण, इन्द्र-बृहस्पति, इन्द्र-विष्णु ये सब राज्य के विशेष अंग हैं । जिनके पदाधिकारी इन नामों से कहे जाते हैं । उन सबके लिये योग्य पुरुषों को नियुक्त करने और उन सबकी रक्षा के लिये उन सबके ऊपर सबको रक्षा करने में समर्थ एक पुरुष को न्युक्त करने का उपदेश वेद ने किया है । शत० ४ । २ । २ । १–१८ ॥

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआजातमग्निम् ।

कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥२४॥

ऋ० ६ । ७ । १ ॥

भरद्वाज ऋषि. । विश्वे देवा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(देवा) विद्वान् पुरुष, समस्त राजगण मिलकर (दिवः मूर्धानम्) द्यौ लोक, आकाश के शिरोभाग पर जिस प्रकार सूर्य विराजमान है उसी प्रकार समस्त (दिव) ज्ञान, प्रकाश और विद्वान पुरुषों के मूर्धन्य शिरोमणि, (पृथिव्या. अरतिम्) पृथिवी में जिस प्रकार भीतरी अग्नि व्यापक है, और अन्तरिक्ष में जिस प्रकार वायु व्यापक है उस प्रकार पृथिवी निवासी प्रजा में (अरतिम्) प्रेम और आदर पूर्वक सबके भीतर व्याप्त प्रतिष्ठित (वैश्वानरम्) समस्त विश्व के नेता, समस्त राष्ट्र के नेता रूप (ऋते आजातम्) सत्य व्यवहार, ऋत, वेद ज्ञान और (ऋते) राज्य नियम मे अति विद्वान्, निष्ठ (अग्निम्) सबके अग्रणी, ज्ञानवान् (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (सम्राजम्) अतिप्रकाशमान, सर्वोपरि सम्राट्, (अतिथिम्) अतिथि के समान, पूजनीय, (जनानाम् पात्रम्) समस्त जनों के पालन करने में समर्थ, योग्य पुरुष को (आसन्) मुख में, सबसे मुख्य पद पर (आ जनयन्त) स्थापित करे । श० ४ । २ । ३ । २४ ॥

[1]उपयामगृहीतोऽसि [2]ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमऽएष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा । ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि । अथा न इन्द्र श्रद्धिशोऽसप्त्नाः समनसस्करत् ॥ २५ ॥ ऋ० १० । १७ । १ ॥

वैश्वानरो देवता । (१) याजुषी अनुष्टुप् । गान्धार. । (२) विराड् आर्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे सम्राट् ! पूर्व मन्त्र में कहे सर्वोपरि विराजमान पुरुष ! तू

भी (उपयामगृहीत असि) समस्त राज्यव्यवस्था के नियमों में बद्ध है। तू (ध्रुव असि) तू ध्रुव, स्थिर है, तुझे शत्रुगण उखाड़ नहीं सकते। तू (ध्रुवक्षिति) ध्रुव, स्थिर निवासवाला हो अथवा तेरे अधीन यह भूमि सदा स्थिररूप से रहे। तू (ध्रुवाणां ध्रुवतम) समस्त स्थिर, अचलरूप से रहनेवालों में सबसे अधिक स्थिर, प्रतिष्ठित, है। तू (अच्युतक्षित्-तमः) शत्रुओं के आक्रमणों से भी अपने आसन से च्युत न होनेवाले, न विनष्ट होनेवाले राजाओं में से भी सबसे अधिक दृढ़ है। (एषः ते योनि.) यह तेरा पद या प्रतिष्ठा स्थान है। हे उत्तम पुरुष ! (त्वा) तुझको मैं (वैश्वानराय) समस्त प्रजाओं के नेतृ पद पर नियुक्त करता हूं। (ध्रुवेण मनसा) मैं ध्रुव, स्थिर चित्त से और (वाचा) वाणी से (सोमम्) सबके प्रेरक, प्रवर्त्तक राजा को (अवनयामि) अभिषिक्त करता हूं, पद पर प्रतिष्ठित करता हूं। (अथ) अब, इसके पश्चात् (नः इन्द्रः) तू हमारा इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा होकर (इत्) ही (विशः) समस्त प्रजाओं को (असपत्नाः) शत्रुरहित, (समनसः) समान चित्त वाला, प्रेमयुक्त (करत्) करे, बनावे ॥ शत० ४ । २ । ३ । २४ ॥

ईश्वर पक्ष में—हे ईश्वर ! तू यम नियमों से, शास्त्र सिद्धान्तों से स्वीकृत है। ध्रुव, स्थिर अविनाशी है। आकाश, काल, आत्मा आदि अविनाशी पदार्थों में स्वयं अविनाशी होकर उनमें व्यापक है। उसको मैं एकाग्रचित्त से सबके सोम, सर्व-उत्पादक और प्रेरक आनन्दरस रूप से ध्यान करूं। वह हरि सबको प्रेममय एक चित्त बनावे।

यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्तेऽअꣳशुर्यो ध्रुवोऽच्युतो ध्रिषणायोरुपस्थात्। अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतꣳ स्वाहा देवानामुत्क्रमणमसि ॥ २६ ॥

देवश्रवा ऋषि । यज्ञो देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन्! (ते) तेरा (य.) जो (द्रप्सः) सूर्य के समान तेजस्वी वीर्य और य.) जो (ते) तेरा (अशुः) व्यापक सामर्थ्य (धिषणयोः) द्यौ और पृथिवी इन दोनों के (उपस्थात्) समीप से (आवच्युतः) विद्वानों, प्रजाओं द्वारा या वीर सैनिकों द्वारा ज्ञात या प्रकट होता है, और (यः) जो (अध्वर्योः) अध्वर्यु, अखण्डित, अहिंसित सेनापति या महामन्त्री या राज्य से (वा) अथवा (यः) जो (पवित्रात्) पवित्र अर्थात् सत्यासत्य के निर्णय करनेवाले तेरे व्यवहार से ज्ञात होता है (तत्) उस ते) तेरे (मनसा) मन द्वारा, मनन द्वारा या ज्ञानद्वारा (वषट्कृतम्) सकल्प किये गये या निश्चित किये गये स्वरूप सामर्थ्य या बल, अधिकार को (स्वाहा) उत्तम वेदवाणी द्वारा (जुहोमि) तुझे प्रदान करता हूं। अथवा उस अधिकार को नेता पुरुष को प्रदान करता हूं। हे राजपद! (देवान्) तू समस्त देवों, राजाओं और विद्वानों में से (उत्क्रमणम्) सबसे अधिक ऊंचे जानेवाला (असि) है। शत० ४ । २ । ४ । १, ५ ॥

'द्रप्स'—असौ वा आदित्यो द्रप्सः। श० ७ । ७ । १२० ॥

'अंशु.'—प्रजापति र्हवा एष यदंशुः। सोऽस्य एष आत्मा एव। श० ११ । ५ । ६ । ११ ॥

'अध्वर्यु.'—राज्यं वा अध्वर्युः। तै० ३ । ८ । ५ । १ ॥ मनोऽध्वर्यु.। श० १ । ५ । १ । २१ ॥

'आवा'—वज्रो वै आवा। श० ११ । ५ । ६ । ७ ॥ विशो आवाण.। श० ३ । ३ । ३ ॥ विद्वांसो हि आवाण । श० ३ । ६ । ३ । १४ ॥

'वषट्कृतम्'—त्रयो वै वषट्काराः वज्रो धामच्छदिक्ष । ऐ० ३ । ७ ॥ वज्रो वै वषट्कार । ऐ० ३ । ८ ॥

'पवित्रात्'—पवित्रं वै वायुः। तै० ३ । २ । ५ । ११ ॥

[1]प्राणाय॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व [2]व्या॒नाय॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्वो[3]दा॒नाय॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व [4] वा॒चे मे॑ वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒ [5] क्रतू॒दक्षा॑भ्यां मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒ [6] श्रोत्रा॑य मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒[7]चक्षु॑भ्यां मे वर्चो॒दसौ॒ वर्च॑से पवेथाम् ॥२७॥

आ॒त्मने॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पव॒स्वौज॑से मे वर्चो॒दा वर्च॑से पव॒स्वायु॑षे मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒ विश्वा॑भ्यो मे प्र॒जाभ्यो॑ वर्चो॒दसौ॒ वर्च॑से पवेथाम् ॥ २८ ॥

यज्ञपतिर्देवता । (१, २) आसुर्यनुष्टुभौ । गान्धार । (३) आसुर्यष्णिक् । ऋषभ । (४) साम्नी गायत्री । षड्जः । (५) आसुरी गायत्री । षड्जः । (६) आसुर्यनुष्टुप् । गान्धारः । (७) आसुर्युष्णिक् । ऋषभ॰ ॥

भा०—अब राजा अपने अधीन नियुक्त पुरुषों को अपने राष्ट्र रूप शरीर के अंग मान कर इस प्रकार कहता है । जिस प्रकार प्राण शरीर में मुख्य है, वह परम आत्मा से उतर कर है, उसी प्रकार आत्मा के समान राजा के समीप का पद 'उपाशु' कहा है । हे उपाशु ! उपराज ! हे सभाध्यक्ष ! तू (वर्चोदा) वर्चस, तेज का देने वाला है तू (मे) मेरे (प्राणाय) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र मे मुख्य कार्य के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदा) मुझे बल देने वाले ! या बल की रक्षा करने वाले ! तू (व्यानाय) शरीर मे व्यान के समान मेरे राष्ट्र मे व्यापक प्रबन्ध के (वर्चसे) बल, तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) बल और अन्त र्नियन्त्रण के अधिकारी पुरुष ! (मे उदानाय वर्चसे) शरीर मे उदान वायु के समान, आक्रमणकारी बल की वृद्धि के लिये तू उद्योग कर । हे (वर्चोदा॰) ज्ञान रूप तेज के प्रदान करने हारे । उस वायु पद के अधिकारी विद्वान्

पुरुष ! तू (मे वाचे वर्चसे) शरीर में वाणी के समान वेदज्ञान रूप मेरे तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदा.) तेज और बलप्रद मित्रावरुण पद के अधिकारी पुरुष ! तू (क्रतुदक्षाभ्या) ज्ञान वृद्धि और बल वृद्धि और (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चोदा.) बलप्रद 'आश्विन' पद के अधिकारी पुरुष ! तू मे (श्रोत्राय वर्चसे) शरीर में श्रोत्र के समान राष्ट्र में परस्पर एक दूसरे के दु.ख सुख श्रवण करने रूप तेज की वृद्धि के लिये (पवस्व) उद्योग कर । हे (वर्चो-दसौ) तेज के देने हारे शुक्र और मन्थी पद के अधकारी पुरुषो ! तुम दोनों (चक्षुभ्र्याम्) शरीर में आखों के समान कार्य करने वाले अधिकारियों के (वर्चसे) बल वृद्धि करने के लिये (पवेथाम्) उद्योग करो । हे (वर्चोदा) तेज बल देने हारे 'आग्रयण' पद के अधिकारी पुरुष ! तू (मे आत्मने वर्चसे पवस्व) तू मेरे आत्मा या देह के समान राष्ट्र या राजा के बल की वृद्धि के लिये उद्योग कर । हे (वर्चोदा·) तेज देने वाले उक्थ्य पद के अधिकारी पुरुष ! (ओजसे मे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीर में ओजस् के समान राष्ट्र के ओजस्, पराक्रम, वीर्य के बढ़ाने के लिये तू उद्योग कर । हे (वर्चोदा) तेज के बढ़ाने वाले ध्रुव पद के अधिकारी पुरुष ! तू (आयुषे मे वर्चसे पवस्व) मेरे शरीर में आयु के समान राष्ट्र के दीर्घ जीवन की वृद्धि के लिये उद्योग कर । हे (वर्चोदाः) तेज के बढ़ाने वाले पूतभृत् और आहवनीय पद के अधिकारी पुरुषो ! आप दोनों (मे विश्वाभ्य प्रजाभ्य वर्चसे पवेथाम्) मेरी समस्त प्रजाओं के तेज बल बढ़ाने का उद्योग करो ।

शरीर में जितने प्राण कार्य करते हैं तदनुरूप राष्ट्र में अधिकारियों को स्थापित करने का वर्णन मन्त्र ३ से २६ तक किया गया है । जिसका तुलना-त्मक सार नीचे देते हैं ।

शरीरगत प्राण	राष्ट्रगत पद नाम		मन्त्र संख्या
१ प्राण .	उपांशु सवन	...	देखो मन्त्र ३, ४, ५,
२ व्यान	,,		.. ..
३ उदान .	अन्तर्याम	...	६, ७,
४ वाक्	इन्द्रवायु	...	८,
५ क्रतु-दक्ष	मित्रावरुण	...	९, १०,
६ श्रोत्र .	आश्विन	...	११,
७ चक्षुः	शुक्रामन्थिन्	...	१२,१३,१४,१५,१६,१७,१८,
८ आत्मा	आग्रयण	..	१९, २०, २१,
९ ओजस	उक्थ्य	...	२२, २३,
१० आयुष्	ध्रुव	.	२४, २५,
११ प्रजा ...	पूतभृत्-आहवनीय	...	२६,

[1]कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि । यस्य ते नाम-न्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम । [2]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ २९ ॥

प्रजापतिर्देवता । (१) आर्ची पक्ति । (२) भुरीक् साम्नी पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—राजा नियुक्त अधिकारी का और अधिकारी लोग राजा का परस्पर परिचय प्राप्त करें । हे राजन् ! तूः (कः असि) कौन है ? और (कतमः) अपने वर्ग में से कौनसा (असि) है ? (कस्य असि) किस

पिता का पुत्र है । (क. नाम असि) तेरा शुभ नाम क्या है ।(यस्य ते) जिस तेरा (नाम) शुभ नाम (अमन्महि) हम जानें (यं) जिस (त्वा) तुझको (सोमेन) सर्वप्रेरक राजपद प्रदान करके (अतीतृपाम) हम तुझे तृप्त, सन्तुष्ट करते हैं ।

इसी प्रकार राजा भी प्रत्येक अधिकारी का परिचय करे । तू कौन है ? किस वर्ग का है ? किसका पुत्र है ? नाम क्या है ? जिस का वह राजा नाम जाने और जिसको (सोमेन) राज की ओर से दिये जाने वाले धन द्वारा वह तृप्त करे । मैं राजा (भूः) भूमि, (भुव.) अन्तरिक्ष (स्व) सर्व प्रेरक सूर्य तीनों के ऐश्वर्य से युक्त होकर (प्रजासि) इन प्रजाओं से (सु-प्रजा.) उत्तम प्रजा से सम्पन्न (स्याम्) होऊं । (वीरै) इन वीर पुरुषों द्वारा मैं (सुवीरः) उत्तम वीर होऊं । (पौषै) इन पोषक ऐश्वर्य-वान् पुरुषों से मिलकर मैं (सुपोष) राष्ट्र का उत्तम पोषक, समृद्धिवान् होजाऊं । उव्वट और महीधर के मत से (क.) प्रजापति है ।

[1]उप॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ मधु॑वे त्वो[2]पया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ माधु॑वाय त्वो[3]पया॒मगृ॑हीतोऽसि शु॒क्राय॑ त्वो[4]पया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ शु॒चये॑ त्वो-[5]पया॒मगृ॑हीतोऽसि॒ नभ॑से त्वो[3]पया॒मगृ॑हीतोऽसि नभ॒स्या॑य त्वो [7]पया॒मगृ॑हीतोऽसी॒षे त्वो॒[8]पया॒मगृ॑हीतोऽस्यू॒र्जे त्वो॒[9]पया॒मगृ॑ही-तोऽसि॒ सह॑से त्वो[10]पया॒मगृ॑हीतोऽसि सह॒स्या॑य त्वो[11]पया॒म गृ॑हीतोऽसि॒ तप॑से त्वो[12]पया॒मगृ॑हीतोऽसि तप॒स्या॑य त्वो[13]पया-मगृ॑हीतोऽस्यꣳह॒सस्प॒तये॑ त्वा ॥ ३० ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । (१, ३–५, ९, ११) साम्न्यो गायत्र्य. । षड्जः । (२) आसुर्यनुष्टुप् । (३–५) साम्नीगायत्री । प्रजापतिर्ऋषिः । (१, ३–५, ९, ११) सामन्यो गायत्र्य । षड्जः । (२, ६, १०, १२) आसुर्योऽनुष्टुभ । गाधार. । ७, ८, यागुष्यौ पंक्ती । पञ्चमः । १३ आसुर्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा० —प्रजा राजा के राज्य तन्त्र को सवत्सर रूप से वर्णन करते हैं तदनुसार राज्य के कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति करते हैं। हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीत. असि) राज्यव्यवस्था के नियमों द्वारा नियुक्त किया जाता है। (त्वा मधवे) तुझे 'मधु' पद के लिये नियुक्त करता हूं। (त्वा माधवाय) तुझको 'माधव' पद के लिये नियुक्त करता हूं। (त्वा शुक्राय) तुझको 'शुक्र' पद के लिये नियुक्त करता हू। (त्वा शुचये) तुझको 'शुचि' पद के लिये नियुक्त करता हूं। (ऊर्जे त्वा) तुझे 'ऊर्ज' पद के लिये नियुक्त करता हूं। (इषे त्वा) तुझे 'इष्' पद के लिये नियुक्त करता हूं। (सहसे त्वा) तुझे 'सहस्' पद के लिये नियुक्त करता हूं। (सहस्याय त्वा) तुझे सहस्य पद के लिये नियुक्त करता हूं। (तपसे त्वा) तुझे 'तपस्' पद के लिये नियुक्त करता हूं। (तपस्याय त्वा) तुझे 'तपस्य' पद के लिये नियुक्त करता हूं। और (अंहसस्पतये त्वा) तुझे 'अहंसस्पति' पद के लिये नियुक्त करता हूं। शत० ४। ३। १। १—२ ॥

इस प्रकार राजा अपने अधीन १३ पदाधिकारियों को नियुक्त करता है। और ये १३ पदाधिकारी राजा ही के मुख्य अधिकार के १३ विभाग हैं इसलिये ये १३ हों अधिकार राजा को भी प्राप्त हो जाते हैं।

जैसे सवत्सर या वर्ष में ६ ऋतुएं और प्रत्येक ऋतु में दो २ मास हैं और १३ वां मलमास है। उसी प्रकार प्रजापति राजा के अधीन ६ सदस्य और प्रत्येक के अधीन दो २ अधिकारी नियुक्त हैं। जिनमें एक सेनानी, दूसरा ग्रामणी अर्थात् एक सेनापति दूसरा नगराध्यक्ष हो। परन्तु ये समस्त अधिकार राजा को भी प्राप्त हैं अतः प्रत्येक ऋतु भी राजा का एक रूपान्तर है।

(१) 'मधु माधव'—तस्य (अग्नेः) रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ इति वासन्तिकौ तावृत्। श० ८। ६। १। १६ ॥ एतौ एव

वासन्तिकौ मासौ । स यद् वसन्ते ओषधयो जायन्ते वनस्पतय पच्यन्ते तेनोहैतौ मधुश्च माधवश्च ॥ श० ४ । ३ । १ । १४ ॥

(२) 'शुक्र ','शुचि '—एतौ (शुक्रश्च शुचिश्च) एव ग्रैष्मौ मासौ । स यदे तयोर्बलिष्ठ तपति तेनोहैतो शुक्रश्च शुचिश्च । श० ४ । ३ । १ । ५ ॥ तस्य वायो रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ । इति ग्रैष्मौ तावृतू । श० ८ । ६ । १ । १७ ॥

(३) 'नभ ','नभस्यः'—तस्यादित्यस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानी-ग्रामण्यौ इति वार्षिकौ तावृतू श० ८ । ६ । १ । १८ ॥ एतौ (नभश्च नभस्यश्च) एव वार्षिकौ मासौ अग्नुतो वै दिवा वर्षति तेनो हैतौ नभश्च नभस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १६ ॥

(४) 'इष ', ऊर्ज ' एतावेव शारदौ स यच्छरद्यूर्ग्रस ओषधय पच्यन्ते तेनोहैताविषश्चोर्जश्च । श० ४ । ३ । १ । ६ ॥ तस्य तार्क्य-श्चारिष्टतेमिश्च सेनानीग्रामण्यौ इते शारदौ तावृतू । श० ८ । ६ । १ । १८ ॥

(५) 'सह· ।', 'सहस्यः ।'—तस्य सेनजिच्च सुषेणश्च सेनानी-ग्रामण्यौ हेमन्तिकौ तावृत् । श० ८ । ६ । १ । ७ ॥ एतौ एव हेमन्तिकौ स यद् हेमन्त इमा प्रजा सहसैव स्व वशमुपनयते तेनोहैतौ सहश्च सहस्यश्च । श० ४ । ३ । १ । १८ ॥

(६) 'तप ', 'तपस्य '—एतौ एव शैशिरौ स यदेतयोर्बलिष्ठं श्यायति तेनो हैतौ तपश्च तपस्यश्च श० ४ । ३ । १ । १६ ॥

संवत्सर के अशों और प्रजापालक राजा के नियत पदाधिकारी पुरुषों की तुलना को साथ दिये मानचित्र से देखें ।

ऋतु नाम	मास नाम	विशेष नाम	पद नाम सेनानी, ग्रामणी
१ वसंतः	चैत्र ..	मधुः	रथगृत्सः सेनानीः .
	वैशाख	माधवः	रथौजा ग्रामणीः .
२ ग्रीष्मः	ज्येष्ठः ...	शुक्रः .	रथस्वनः सेनानी. ...
	आषाढः	शुचिः ...	रथेचित्रः ग्रामणीः . .
३ वर्षा·	श्रावणः .	नभः ...	रथप्रोतः सेनानीः ..
	भाद्र ..	नभस्यः...	असमरथ· ग्रामणीः ...
४ शरद्	आश्विनः(कुमारः)	इषः ...	तार्क्ष्य· ... सेनानीः ...
	कार्तिकः	ऊर्जः ...	अरिष्टनेमिः ग्रामणीः .
५ हेमन्तः	मार्गशीषः	सहः ...	सेनजित् .. सेनानीः ..
	पौषः ..	सहस्यः...	सुषेणः... ग्रामणीः ..
६ शिशिर.	माघः ...	तपः .	....
	फाल्गुनः ...	तपस्यः...	
७	मलमास ..	अहंसस्पतिः	. ... .

अप्सरा नाम, संकेत	हेतिः, प्रहेतिः	दिशा	देतारौ
पुंजिकस्थला सेना क्रतुस्थला समिति.	दक्षिणपशु. हेति पौरुषेयवध. प्रहेति	पूर्वा	अग्नि हरिकेश
मेनका द्यौः सहजन्या पृथिवी	यातुधाना हेति रक्षासि प्रहेतिः	दक्षिणा	विश्वकर्मा वायु.
प्रम्लोचन्ती अह अनुम्लोचन्ती रात्रि	व्याघ्रा हेति. सर्पा प्रहेति	पश्चिमा	विश्वव्यचाः आदित्य.
विश्वाची वेदि घृताची स्रुक्	आप· हेति वात. प्रहेति	उत्तरा	सयद्वसु यज्ञ
उर्वशी आहुति. पूर्वचित्ती दक्षिणा	अवस्फूर्जन् विद्युत्	उपरि	अर्वाग्वसु पर्जन्य
... .	. .. .	ध्रुव.	. ...
		मध्यं	.....

इन्द्राग्नी॑ऽ आग॑तꣳसु॒तं गी॒र्भिर्न॑भो वरे॒ण्यम्। अ॒स्य पा॑तं धि॒ये-षि॒ता। उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसीन्द्रा॒ग्निभ्या॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑रिन्द्रा॒ग्निभ्या॑ त्वा ॥ ३१ ॥ ऋ० ३ । १२ । १ ॥

विश्वामित्र ऋषि । इन्द्राग्नी देवते । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! सेनापते ! और हे अग्ने ! अग्रणी नेत. ! विद्वन् ! आप दोनों (सुतम्) अभिषिक्त हुए (गीर्भि) नाना वाणियो, स्तुतियो द्वारा या प्रजा या अधिक सभासदो की सम्मतियों द्वारा (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ (नभ) सबको एक सूत्र मे बांधने वाले अथवा आदित्य के समान तेजस्वी इस पुरुष के समीप (आगतम्) प्राप्त होओ और उसके अधीन रहकर (धिया) अपनी प्रज्ञा या कर्म, कर्त्तव्य द्वारा (इषिता) प्रेरित होकर (अस्य) इसके आज्ञा का (पातम्) पालन करो। उसको अपना राजा स्वीकार करो। (उपायामगृहीत असि) हे पुरुष ! तू राज्य की व्यवस्था द्वारा बद्ध है। (त्वा इन्द्राग्नीभ्याम्) तुझको इन्द्र और अग्नि दोनो के पद पर शासन करने के लिये नियुक्त करता हूं। (एष· ते योनि·) यह तेरा आश्रय स्थान या पद है। (त्वा) तुझको मैं (इन्द्राग्नि-भ्याम्) इन्द्र और अग्नि दोनो के अधिकार पदों के लिये नियुक्त करता हूं। शत० ४ । ३ । १ । २३–२४ ॥

[1]आ घा॒ ये ऽअ॒ग्निमि॑न्ध॒ते स्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरा॑नु॒षक्। येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑। [2] उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्यग्नी॒न्द्राभ्या॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑रग्नी॒न्द्रा-भ्या॑ त्वा ॥ ३२ ॥ ऋ० ८ । ४५ । १ ॥

त्रिशोक ऋषिः । विश्वे देवा देवताः । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः । (२) उष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् पुरुष (घ) नित्य (अग्निम् इन्धते) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को प्रदीप्त करते, अधिक बलवान् करते हैं और

जो (आनुपक्) पदों के क्रम से (बर्हि.) आसनों को (आस्तृणान्ति) योग्य पुरुषों के लिये बिछाते हैं । (येषाम्) जिनका (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजा (युवा) सदा तरुण, सदा उत्साही, नित्य बलशाली, (सखा) मित्र है वे (आनुपक्) राजा के अधीन उसके अनुकूल रहकर क्रम से, उत्तरोत्तर क्रम से (बर्हि. स्तृणान्ति) योग्य पदों को योग्य आसन देते हैं । (उपयामगृहीत. असि० इत्यादि) पूर्ववत् ।

[1]ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत । दाश्वाꣳसो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३३ ॥ ऋ० १ । ३ । ७ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । विश्वे देवा देवता. । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः । (२) आर्ची बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे (विश्वे देवासः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! अधिकारी राजगण ! आप लोग (ओमास.) राष्ट्र के रक्षक और (चर्षणीधृत) समस्त मनुष्यों को नियम मे या व्यवस्था में रखने वाले हो । आप लोग (दाशुष) अपने को अन्न, धन आदि देने वाले राजा के प्रति (दाश्वास) उसको बल, ऐश्वर्य देने वाले हो । आप लोग (सुतम्) सुत, अर्थात् अभिषिक्त राजा के अधीन (आगत) आओ । हे पुरुष, तू (उपयामगृहीत) राज्य व्यवस्था द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (विश्वेभ्य. देवेभ्य) समस्त देवों, विद्वानों, अधिकारी राजाओं के लिये सर्वोपरि नियुक्त करता हू । (ते एष. योनि) तेरा यह उच्च पद है । (विश्वेभ्य देवेभ्य. त्वा) समस्त देवों, विद्वानों की रक्षा के लिये तुझे नियुक्त करता हू । शत० ४ । ३ । १ । २७ ॥

विद्वानों के पक्ष मे—सोम=शिष्य के प्रति । हे विद्वान पुरुषो ! आप लोग आओ, उसे शिक्षा दे । और हे शिष्य (उपयाम गृहीत) तू नियम में बद्ध होकर उनके अधीन है । वे विद्वान ही उसके आश्रय हों ।

[1] विश्वे देवास ऽआगत शृणुता ऽम इमꣳ हवम्। एदं बर्हिर्निषीदत। [2] उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ ३४ ॥ ऋ० २ । ४१ । १३ ॥

गृत्समद ऋषिः । विश्वेदेवा देवता । (१) आर्षी गायत्री षड्जः । (२) निचृदार्ष्युष्णिक । ऋषभः ॥

भा०—हे (विश्वेदेवासः) समस्त विद्वान् देवगण ! प्रजाजनो ! आप लोग (आगत) आओ । (मे) मेरा (इदं हविम्:) इस अभ्यर्थना को (शृणुत) सुनो । (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ।

[1] इन्द्र मरुत्वऽ इह पाहि सोमं यथा शार्य्यातेऽअपिबः सुतस्य । तव प्रणीती तव शूर शर्म्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः । [2] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा ऽमरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ ३५ ॥ ऋ० ३ । ५१ । ७ ॥

प्रजापतिरिन्द्रो देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (मरुत्वः इन्द्र) समस्त मरुद्गण अर्थात् प्रजागण या सैन्य के स्वामी इन्द्र ! सेनापते ! (इह) इस अवसर पर भी (सोमम्) सर्वप्रेरक राजा को (पाहि) रक्षा कर, या उसको स्वीकार कर जिस प्रकार (शार्याते) बाणोंद्वारा शत्रु पर आक्रमण करने के अवसर पर भी (सुतस्य अपिबः) सुत अर्थात् राजा के पद को स्वीकार किया था । हे (शूर) शूरवीर पुरुष ! तेरी (प्रणीती) उत्कृष्ट नीति से और (तव शर्मन्) तेरी शरण में (सुयज्ञाः) उत्तम यज्ञशील, ईश्वरोपासक, या उत्तम दान शील, या उत्तम राष्ट्रपति, या उत्तम संग्रामकारी योद्धा लोग और (कवयः) क्रान्तदर्शी ऋषि, महर्षि, विद्वान् पुरुष (आ विवासन्ति) रहें, तेरी आज्ञा का पालन करें । हे शूरवीर पुरुष ! (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था द्वारा तुझे नियुक्त किया जाता है । (इन्द्राय मरुत्वते) प्रजाओं के या वायु के समान

तीव्र सैनिकों के स्वामी पद के लिये (त्वा) तुझे नियुक्त करता हू । (एष ते योनि·) यह तेरा आश्रयस्थान और पद है । (इन्द्राय मरुत्वते) प्रजाओं और वीर सुभटों के स्वामी पद के लिये तुझे स्थापित करता हू । शत० ४ । ३ । ३ । १–१३ ॥

'शार्याते'—शर्या अगुल्यः । शर्या इषव. । शृ हिंसायाम् (क्रयादि·) शृणाति पापान् । इति देवराज. । शर्याभि. वाणैरतन्ति यस्मिन् तत् शार्यातम् युद्धकर्म । अथवा शर्याभि· निवृत्तानि कर्माणि शार्याणि तान्यतति व्याप्नोति स शार्यातस्तस्मिन्, इति दयानन्द· ।

यहा 'शार्यात' शब्द से महीधर श्रीफिथ आदि का असगत है, क्योंकि मनु के पुत्र शर्याति के पुत्र का ग्रहण करना शतपथादि में भी उसका उल्लेख नहीं है ॥

'मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारि दिव्यꣳ शासमिन्द्रम् । विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रꣳसहोदामिह तꣳ हुवेम । ²उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । ³उपयामगृहीतोऽसि मरुतान्त्वौजसे ॥ ३६ ॥ ऋ० ३ । ४७ । ५ ॥

विश्वामित्र ऋषि. । प्रजापतिर्देवता । (१) विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत । (२) आर्षी उष्णिक् । (३) साम्नी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(मरुत्वन्तम्) मरुद्गण, प्रजाओं और वीर सुभटों के स्वामी (वृषभम्) स्वयं सर्वश्रेष्ठ, सब सुखों के वर्षक, (वावृधानम्) सबको बढ़ानेवाले और स्वयं बढ़ानेवाले, वृद्धिशील, उदयशील, विजिगीषु (अकवारिम्=अकव-अरिम्, अक वारिम्) अकव अर्थात् अधर्मात्म के शत्रु, अथवा अक=दुःखों के वारण करनेवाले (दिव्यम्) दिव्य गुणवान्, तेजस्वी, (विश्वासाहम्) समस्त शत्रुओं के विजयी, (सहोदाम्) बलपूर्वक दमन करने में समर्थ (शासम्) शासनकारी (तम्) उस पुरुष

को हम (इह) इस अवसर पर (इन्द्रम् हुवेम) इन्द्र सेनापति या इन्द्र नाम से (हुवेम) बुलाते हैं । (उपयामगृहीत असि इन्द्राय त्वा मरुत्वते । एष. ते योनि । इन्द्राय त्वा मरुत्वते) इति पूर्ववत् । (उपयामगृहीत असि) तू राज्य की व्यवस्था द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (मरुताम्) वायु के समान तीव्र गतिशील सुभटों के और प्रजाओं के (ओजसे) ओज, पराक्रम के कार्य के लिये नियुक्त करता हूं ॥ शत० ४ । ३ । ३ । १४ ॥

[1]सजोषाऽइन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् । जहि शत्रूँ१॥ रप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः । [2]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ ३७ ॥ ऋ० ३ । ४७ । २ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मरुत्वान् इन्द्रः प्रजापतिर्देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । (२) प्राजापत्या त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सजोषाः) सबको समान भाव से प्रेम करनेवाले (मरुद्भिः सगणः) वायुओं के समान तीव्र गतिमान् सैनिकों के गणों से युक्त होकर हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् सेनापते ! हे (शूर) शूरवीर ! आप (विद्वान्) ज्ञानवान्, सब शत्रु के कल, बल, छल को जानते हुए (वृत्रहा) नगरों को घेरनेवाले शत्रुओं का नाश करके (सोमं) सोम अर्थात् राज्य के उत्तम पद को (पिब) पान कर, स्वीकार कर और तू (शत्रून् जहि) शत्रुओं को नाश कर । (मृधः) संग्रामों को या संग्रामकारी शत्रु सेनाओं को (अप नुद) मार भगा । और (नः) हमें (विश्वतः) सब तरफ़ से (अभयम्) भयरहित (अथ कृणुहि) कर । (उपयाम० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

[1]मरुत्वाँ२॥ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधमदाय । आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वꣳ राजासि प्रतिपत्सुतानाम् ।

[२]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त एष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ ३८ ॥

विश्वामित्र ऋषि॰ । मरुत्वान् इन्द्र प्रजापतिर्देवता । (१) निचृदार्षी त्रिष्टुप् । (२) प्राजापत्या त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! सेनापते ! (मरुत्वान्) उत्तम प्रजा और सेनाओं का स्वामी (वृषभ) सर्वश्रेष्ठ, बलवान् या शत्रुओं पर शर-वर्षा करनेवाला तू (अनुस्वधम्) अपनी धारणशक्ति के अनुसार (मदाय) सबको सन्तुष्ट या हर्षित करने के लिये (रणाय) संग्राम के लिये (सोमम्) 'सोम' ओषधि रस के समान बलकारी राजा के अधिकार को (पिब) पान कर, स्वीकार कर । (जठरे) पेट में जिस प्रकार (मध्व ऊर्मिम्) अन्न के खालेने पर बल उत्पन्न होता है उसी प्रकार तू अपने (जठरे) जठर अर्थात् वश में (मध्व॰) अन्न और शत्रु के दमन सामर्थ्य के (ऊर्मिम्) उद्योग को (आ सिञ्चस्व) प्रवाहित कर । (त्वम्) तू (सुतानाम्) राज्य के समस्त अंगों के (प्रतिपत्) प्रत्येक पद पर (राजा असि) राजा रूप से विद्यमान है । (उपयामगृहीत ०इत्यादि) पूर्ववत् ॥

[१]म॒हाँ२ऽ इन्द्रो॑ नृ॒वदा च॑र्षणि॒प्रा उ॒त द्वि॒बर्हा॑ अमि॒नः स॒हो॒भिः । अ॒स्म॒द्र्य॒ग्वावृ॑धे वी॒र्या॑य॒रुः पृथुः॑ सु॒कृतः॑ कर्तृ॒भिर्भू॑त् । [२]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि महे॒न्द्रा॑य॒ त्वैष ते॒ योनि॑र्महे॒न्द्रा॑य॒ त्वा ॥ ३९ ॥

ऋ० ६ । १९ । १ ॥

भरद्वाज ऋषिः । महेन्द्र प्रजासेनापतिर्देवता । (१) भुरिक् पंक्ति , पञ्चमः । (२) साम्नी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(महान् इन्दः) महान् ऐश्वर्यवान् राजा (नृवत्) नेता पुरुषों का स्वामी अथवा नेता के समान (आचर्षणीप्राः) समस्त लोकों और प्रजाजनों को पूर्ण करने वाला (उत) और (द्विबर्हाः) दोनों प्रजा और

राजा के अधीन शासकजन दोनों को बढ़ानेवाला या दोनों का स्वामी (सहोभिः आमिन) अपने शत्रु-दमनकारी सामर्थ्यों और बलो से आमित पराक्रमी (अस्मद्र्यक्) हमारे प्रति कृपालु होकर (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त हो। वह (वीर्याय) वीर्य के अधिक होजाने से ही (उरुः) विशाल (पृथुः) विस्तृत राज्यवाला और (कर्तृभि) उत्तम कार्यकर्त्ताओं के सहाय से (सुकृत.) उत्तम राज्य कार्यकर्त्ता (भूत्) हो। हे राजन्! तू (उपयामगृहीत. आसि) राज्य के समस्त नियमो द्वारा बद्ध है। (त्वा) तुझको (महेन्द्राय) महेन्द्र पद के लिये नियत करता हूं। (एष ते योनि) यह तेरा आसन है। (त्वा महेन्द्राय) तुझे महेन्द्र पद के लिये स्थापित करता हूं ॥ शत० ४ । ३ । ३ । १८ ॥ उक्त मन्त्र परमेश्वर पक्ष में स्पष्ट है।

[1]म॒हाँ२ऽ इन्द्रो य२ऽओज॑सा प॒र्जन्यो॑ वृ॒ष्टिमाँ२ऽ इ॑व। स्तोमै॑र्व॒त्स॒स्य वावृधे। [2]उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि महे॒न्द्राय॑ त्वै॒ष ते॒ योनि॑र्महे॒न्द्राय॑ त्वा ॥ ४० ॥ ऋ० ८ । ६ । १ ॥

वत्स ऋषिः । इन्द्रः प्रजापतिर्देवता । (१) आर्षी गायत्री । (२) विराड् आर्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(य) जो (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजा (ओजसा) बल से (महान्) महान् है। और (पर्जन्यः इव) मेंघ के समान (वृष्टिमान्) प्रजा पर अत्यन्त सुख सम्पत्तियों की वर्षा करनेवाला है। वह (वत्सस्य) अपने राज्य में वसनेवाला, पुत्र के समान प्रजा के किये (स्तोमैः) स्तुति-गुणानुवादों, अथवा संघों द्वारा (वावृधे) वृद्धि को प्राप्त होता है। (उपयाम-गृहीत. आसि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

परमेश्वर पक्ष में—वह बल में सबसे महान्, मेघ के समान समस्त सुखो का वर्षक उसकी महिमा प्रजा की स्तुतियो से और भी बढती है।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यꣳ स्वाहा ॥ ४१ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(त्वं) उस (जातवेदसम्) ऐश्वर्यवान् (देवम्) देव, राजा को (केतवः) ज्ञानवान् पुरुष भी (उद् वहन्ति) अपने ऊपर आदर से धारण करते उसको अपने सिरमाथे स्वामी स्वीकार करते हैं। उस (विश्वाय) समस्त कार्यों और प्रजाओं के (दृशे) दर्शन करने या कराने वाले साक्षीरूप (सूर्यम्) सूर्य के समान सर्वप्रेरक राजा को (स्वाहा) उत्तम कहा जाता है ॥

परमेश्वर पक्ष में--समस्त पदार्थों का दर्शन कराने के लिये जिस प्रकार (सूर्यम्) सूर्य को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं और उसको (केतव) रश्मियें प्राप्त हैं, उसी प्रकार समस्त संसार को दर्शानेवाले उस परमेश्वर को भी सूर्य कहते है। समस्त (केतव) ज्ञान उसी परमेश्वर वेदों के उत्पत्ति स्थान को ही बतलाते हैं ॥ शत० ४ । ३ । ४ । ६ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षꣳ सूर्यऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च
स्वाहा ॥ ४२ ॥

कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों और राज्य के पदाधिकारियों में से यह राजा (चित्रम्) अति पूजन (अनीकम्) सर्वशिरोमणि, सब से मुख्य होकर (उद् अगात्) उदय को प्राप्त होता है। वह (मित्रस्य वरुणस्य अग्ने) मित्र वरुण और अग्नि इन पदाधिकारियों का भी (चक्षु) आंख के समान मार्ग दिखाने वाला या उनपर निरीक्षक रूप से नियुक्त है। वह (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्) द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष, राजा, प्रजा और

बीच के शामक सबको (आ अप्रा॰) पूर्ण करता है वह (सूर्य) सूर्य के समान सर्वप्रेरक तेजस्वी (जगतः) जगत् और (तस्थुष च) स्थावर पशु और जंगल, पर्वत, नगर आदि समस्त धनों का (आत्मा) आत्मा, अपनाने वाला स्वामी (स्वाहा) कहा जाता है ॥ शत० ४ । ३ । ४ । १० ॥

ईश्वर पक्ष मे—इस शरीर में आत्मा और ब्रह्माण्ड शरीर में परमात्मा (देवानाम् अनीकं) समस्त देवो, दिव्य शक्तियों में मुख्य (चित्रम्) सबका पूजनीय मित्र वरुण अग्नि, वायु, जल और आग सबका (चक्षुः) द्रष्टा और सबका प्रकाशक है । वह द्यौ, पृथ्वी, अन्तरिक्ष सबका पालक है । स्थावर और जंगम सबका आत्मा, सबका स्वामी, सब में व्यापक है । (स्वाहा) उसकी स्तुति करो । इस देह मे—आत्मा (देवानाम्) चक्षु आदि इन्द्रियों का (अनीकं) नेता । मित्र, वरुण प्राणापान और जाठर अग्नि का प्रवर्त्तक, शिर, मध्य और चरण भाग तीनो का पालक, पोषक गतिशील, अंग और स्थिर धातु सबका स्वामी है । वह 'आत्मा' कहाता है । उसको उत्तम रीति से ज्ञान करो ॥

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒येऽअ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान् ।
यु॒यो॒ध्यु॒स्मज्जु॑हु॒रा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम॒ स्वाहा॑ ॥४३॥

ऋ० १ । १८९ । १ ॥ यजु० ५ । ३६ ॥

आगिरस ऋषिः । अग्निरन्तर्यामी जगदीश्वरो वा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान सबके प्रकाशक और अग्रणी या दुष्टो के तापदायक ! हे (देव) देव ! राजन् ! (अस्मान्) हमें (राये) ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (सुपथा) उत्तम मार्ग से (नय) ले चल । तू (विश्वानि वयुनानि) समस्त मार्गों और उत्कृष्ट ज्ञानों को (विद्वान्) जानता है । और (जुहुराणम्) कुटिलता कराने वाले (एनः) पाप

और पापी पुरुष को (अस्मत्) हम से (युयोधि) दूर कर। (ते) तेरे लिये हम (भूयिष्ठाम्) बहुत २ (नम) आदर युक्त (उक्तिम्) वचन (विधेम) प्रयोग करते हैं। (स्वाहा) जिससे तेरा उत्तम यश हो।

ईश्वर पक्ष में—हे अन्तर्यामिन्! स्वप्रकाश! देव! तू हमें सन्मार्ग से योग सिद्धि प्राप्त करने के लिये आगे बढ़ा। तू हमारे सब कर्म उत्कृष्ट ज्ञानों को जानता है। हमारे हृदय से कुटिल पाप को दूर कर। हम (स्वाहा) वेद-वाणी से तेरी बहुत २ स्तुति करते हैं॥ शत० ४। ३। ४। १२॥

अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्। अयं वाजाञ्जयतु वाजसावयꣳ शत्रूञ्जयतु जर्हृषाणः स्वाहा॥ ४४॥ यजु० ५। ३७॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ५। ३७॥

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु। ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्युन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः॥४५॥

प्रजापतिर्देवता। निचृज्जगती। निषादः॥

भा०—हे प्रजाओ और हे सेना के पुरुषो! (रूपेण) रूप अर्थात् चान्दी आदि मूल्यवान्, एवं प्रिय पदार्थ से (व) तुम्हारे (रूपम्) वास्तविक रूप, शरीर और उसमें विद्यमान तुम्हारे गुण या शिल्प को (अभि आगाम्) प्राप्त करता हूं। (विश्ववेदाः) समस्त धन ऐश्वर्य का स्वामी या सर्वज्ञ विद्वान् (तुथ) ज्ञानवृद्ध ब्राह्मण, (व) तुमको (विभजतु) नाना प्रकार से धन और ज्ञान का वितरण करे। अथवा (व विभजतु) तुमको वर्गों में विभक्त करे। तुम सब (ऋतस्य पथा) ऋत, सत्य-ज्ञान यज्ञ परस्पर संगत, सुव्यवस्था के मार्ग से (प्र इत) गमन करो। और (चन्द्रदक्षिणा.) चन्द्र, सुवर्ण और चाँदी आदि की दक्षिणा अर्थात्

अपने क्रिया के बदले वेतन प्राप्त करो । हे राजन् ! तू (स्व) आकाश में विद्यमान् तेजस्वी सूर्य को (वि पश्य) विशेष रूप से देख अर्थात् उसके समान तेजस्वी शत्रुतापक होकर राजपद को जान और उसका पालन कर । और (अन्तरिक्षं विपश्य) अन्तरिक्ष को भी विशेष रूप से जान । अर्थात् अन्तरिक्ष जिस प्रकार समस्त पृथिवी पर आच्छादित रहता और वायु वृष्टि द्वारा सबको पालता है उस प्रकार पृथ्वी निवासी प्रजा का पालन कर । और (सदस्यै) सभा के सदस्यों द्वारा (यतस्व) राज्य करने का उद्योग कर ॥ शत० ४ । ३ । ४ । १४–१८ ॥

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम् । अस्मद्दाता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

विद्वासो देवता. । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवत' ॥

भा०—मैं राजा (अद्य) इस राज्य-कार्य में (पितृमन्तम्) उत्तम पिता माता गुरुजनों से युक्त, (पैतृमत्यम्) उत्तम जितेन्द्रिय पितामह वाले, (ऋषिम्) स्वयं वेद मन्त्रों के द्रष्टा, (आर्षेयम्) ऋषियों के विज्ञान को जानने वाले, (सुधातुदक्षिणम्) उत्तम सुवर्ण आदि धातु की दक्षिणा प्राप्त करने योग्य (ब्राह्मणम्) ब्रह्म के ज्ञानी, विद्वान् पुरुष को मैं (विदेयम्) प्राप्त करूं । हे सेना और प्रजा के पुरुषो ! आप लोग (अस्मद् रातः) हम से वेतन प्राप्त करके (देवत्रा) विद्वान् पुरुषों को या विद्वान् पुरुषों के पदों को (गच्छत) प्राप्त करो । और (प्रदातारम्) उत्कृष्ट, दानशील अधिकारी के (आविशत) अधीन होकर रहो ॥ शत० ४ । ३ । ४ । १९–२० ॥

[1]अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्रऽएधि मयो मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे [2] रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय प्राणो दात्रऽएधि वयो मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे [3] बृह-

४६—ब्राह्मणो दक्षिणाश्च लिंगोक्ता देवता । सर्वा० ॥

स्पतेये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय त्वग्दात्रऽएधि मयो मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे ४ युमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीय हयो दात्रऽएधि मयो मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

वरुणो देवता । (१) भुरिक् प्राजापात्या । (२) स्वराट् प्राजापत्या । (३) निचृदार्ची । (४) विराड् आर्षी जगती । निषाद ॥

भा०—राजा अपने अधीन पुरुषों को स्वर्णादि धन, गौ आदि पशु और वस्त्र और अश्व का प्रदान करता है । (वरुण) सर्वश्रेष्ठ, हमारे स्वय अपनी इच्छा द्वारा वृत राजा, स्वामी (त्वा) हे सुवर्ण आदि धन ! तुझे (मह्यम्) मुझ (अग्नये) अग्रणी नेता पदाधिकारी या अग्नि के समान शत्रुतापकारी पुरुष को (ददातु) प्रदान करे । (स.) वह मैं (अमृतत्वम्) पूर्ण आयु को प्राप्त करूं । (दात्रे आयु) दाता की दीर्घ आयु हो । और (मह्यम् प्रतिगृहीत्रे) मुझ ग्रहण करने वाले को सुख हो ! । हे पशु और अन्न आदि भोग्य पदार्थ ! (वरुण त्वा मह्य रुद्राय) वरुण राजा मुझ रुद्र-स्वरूप शत्रुओं को रुलाने वाले वीर पुरुष को (ददातु) प्रदान करे । (स अमृतत्वम् अशीय) वह मैं अमृत अर्थात् पूर्ण आयु का भोग करू । (प्राण· दात्रे) दान करने वाले को प्राण, उत्तम जीवन बल प्राप्त हो । (मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे नम) मुझ ग्रहण करने वाले को सुख प्राप्त हो । (वरुणः) राजा वरुण (त्वा) तुझ वस्त्र को (मह्यं बृहस्पतये ददातु) बृहस्पति, वेदवाणी के पालक, विद्वान् को प्रदान करे । जिसे मैं (अमृतत्वम् अशीय) अमृत, पूर्ण आयु का भोग करू । (त्वग् दात्रे एधि) दानशील, दाता को आवरणकारी वस्त्र आदि समस्त पदार्थ प्राप्त हों । (मह्यम् प्रतिग्रहीत्रे मय एधि) मुझे स्वीकार करने वाले को सुख प्राप्त हो । (वरुण) सर्व-श्रेष्ठ राजा (मह्य यमाय) मुझ राष्ट्रनियन्ता को हे अश्व ! तुझे (ददातु) प्रदान करे । मैं (अमृतत्वम् अशीय) अमृतत्व या जीवन के सुख को

प्राप्त करूं। (हयः दात्रे एधि) दानशील पुरुष को घोड़े प्राप्त हों। (मह्यं प्रतिग्रहीत्रे मयः) मुझ प्राप्ति स्वीकार करने वाले को सुख हो ॥ शत० ४ । ३ । ४ । २८-३१ ॥

ईश्वर और आचार्य पक्ष में—अग्नि अर्थात् वसु नाम ब्रह्मचारी को आयु प्रदान करे। रुद्र को प्राण का बल दे। बृहस्पति वेदवक्ता को त्वचा की सहनशीलता प्रदान करे और यम, ब्रह्मचारी को (हयः) उत्कृष्ट ज्ञान का उपदेश करे। जिससे ग्रहण करने वालों को सुख हो और दान देने वाले की वे शक्तियां और बढ़ें ॥

कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात् ।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥ ४८ ॥

कामः आत्मा देवता । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—[प्रश्न] (क अदात्) कौन देता है ? और (कस्मै अदात्) किसको देता है ? [उत्तर] (कामः अदात्) कामना करनेवाला, अपने मनोरथ पूर्ण करने का इच्छुक स्वामी (अदात्) अपने अधीन पुरुषों को द्रव्य, अन्न आदि प्रदान करता है। और (कामाय) उस नियत द्रव्य को लेने के अभिलाषी पुरुष को ही वह प्रदान करता है। वस्तुत (काम. दाता) मनोरथ या आवश्यकता वाला पुरुष ही प्रदान करता है। (कामः) इच्छुक या आवश्यकता वाला ही (प्रतिग्रहीता) उस दिये धनको लेता है। (एतत्) यह सब लेन देन का कार्य हे (काम) अभिलाषी ! हे सकल्प ! हे इच्छा ! (ते) तेरा ही है ॥ शत० ४ । ३ । ४ । ३२-३३ ॥

ईश्वर पक्ष में—(क अदात् कस्मै अदात्) कौन ? किसको देता है ? (काम. कामाय अदात्) महान् कमनीमय, संकल्पमय परमेश्वर संकल्पकारी इच्छावान् जीव को कर्मफल देता है। सबकी कामना का विषय परमेश्वर भी 'काम' है वही दाता है। और कामनावान् 'काम' जीव

प्रतिग्रहीता लेनदार है। हे काम ! जीव ! (एतत्) यह वेदाज्ञा तभी तुझ जीव के लिये ही देता हू। विवाहादि में स्त्री पुरुष एक दूसरे को अपने आप समर्पण करते हैं। वहा भी लेने की इच्छावाला लेता, देने की इच्छा वाला अभिलाषुक प्रेमी देता है। इत्यादि स्पष्ट है। समस्त लेन देन पारस्परिक लेन देन की इच्छा या कामना से ही है। अन्यथा नही ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

[तत्र अष्टाचत्वारिंशदृचः]

इति मीमासातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वा विष्ण॑ऽ उरु-गा॒यै॒ष ते॒ सो॒म॒स्तꣳ र॑क्षस्व॒ मा त्वा॑ दभन् ॥ १ ॥

बृहस्पतिः सोमो विष्णुर्वा देवता । आर्षी पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! राजन् ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य-नियम द्वारा बद्ध है । (त्वा) तुझको (आदित्येभ्य.) आदित्य के समान तेजस्वी विद्वानो, ब्राह्मणों और प्रजाओं के लिये नियुक्त करता हूं । हे (विष्णो) विष्णो ! राष्ट्र में व्याप्त शासनवाले ! हे (उरुगाय) महान् कीर्त्ति वाले ! (एष) यह (सोम) राजा का पद या राष्ट्र (ते) तेरे अधीन है । (तम्) उसकी रक्षा कर । हे सोम राजन् ! ये आदित्यगण तेजस्वी पुरुष (त्वा) तुझको (मा दभन्) विनाश न करें ॥ शत० ४ । ३ । ५ । ६ ॥

'आदित्याः'—आदित्याः वै प्रजाः । तै० १ । ८ । ८ । १ ॥ एते वै खलु वादित्या यद् ब्राह्मणा । तै० १ । १ । ६ । ८ ॥

गृहस्थपक्ष में—हे पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः) विवाह द्वारा सुझ स्वय वर कन्या द्वारा स्वीकृत है । तुझे आदित्य के समान तेजस्वी पुत्रों के लिये वरण करती हूं । हे (विष्णो) विद्यादि गुणों में प्रविष्ट ! अथवा तुझमें गृहस्थरूप से प्रावेष्ट पते ! (एष ते सोमः) यह पुत्र गर्भ आदि में स्थित तेरा ही है, इसको रक्षा कर । (मा त्वा दभन्) तुझे काम आदि व्यसन न सतावे ॥

१—विष्णुर्देवता । सर्वा० ॥

क॒दा च॒न स्त॒रीर॑सि॒ नेन्द्र॑ सश्चसि दा॒शुषे॑ । उपो॑पेन्नु मघव॒न्भूय॒ ऽइन्नु ते॒ दानं॑ दे॒वस्य॑ पृच्यत॒ ऽआदि॒त्येभ्य॑स्त्वा ॥ २ ॥

ऋ० ८ । ५१ । ७ ॥

गृहपतिर्मघवा इन्द्रो देवता । भुरिक् पक्ति । पन्चम. ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! तू (कदाचन) कभी भी (स्तरी.) प्रजा का हिंसक (न असि) नहीं है। और (दाशुषे) दानशील कर-प्रदाता के दिये कर को तू (सश्चसि) स्वीकार करता है । हे (मघवन्) उत्तम धनैश्वर्यसम्पन्न ! (ते देवस्य) तुझ देव दानशील का (दानम्) दिया हुआ दान (उप उप इत् नु) अति समीप और (भूय. इत्) बहुत अधिक (पृच्यत) हमें प्राप्त होता है । (आदित्येभ्य त्वा) तुझको मैं आदित्यों के समान तेजस्वी पुरुषों या आदान प्रतिदान करनेवाले वैश्य लोगों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हू ॥ शत० ४ । ३ । ५ । ११ ॥

गृहस्थपक्ष में—हे इन्द्र पते ! आप (स्तरी) कभी अपने भावों को नहीं छिपाते । आत्मसमर्पण करनेवाले को प्राप्त होते हैं । आप विद्वान् का दिया दान ही सदा मुझे प्राप्त हो । आपको मैं वरती हू ॥

क॒दा च॒न प्रयु॑च्छस्य॒भे नि॑पा॑सि॒ जन्म॑नी । तुरी॑यादित्य॒ सव॑नन्त इन्द्रि॒यमा त॑स्थाव॒मृतं॑ दि॒व्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वा ॥ ३ ॥

आदित्यो गृहपतिर्देवता । निचृदार्षी पक्ति । पन्चमः ॥

भा०—हे (आदित्य) आदित्य ! सूर्य ! जिस प्रकार भूमि से जल अपनी रश्मियों से ग्रहण करके पुन मेघरूप से भूमि पर ही बरसा देता है उसी प्रकार प्रजाओं से करादि लेकर प्रजा के उपकार में लगानेहारे आदित्य ब्रह्मचारिन् ! तू (कदाचन) भिक्षा आदि में भी कभी क्या (प्रयुच्छसि)

२—ऋ० वाल० ३ । ७ ॥

३—'०मानस्था अमृत' इति काण्व० । ऋ० वालखिल्ये ४ । ७ ॥

प्रमाद करे ? नहीं । तू कभी प्रमाद मत कर । तू (उभे) दोनों (जन्मनी) जन्मों को (निपासि) पालन कर । हे (तुरीय) तुरीय ! सबसे अधिक उच्च, सबसे तीर्णतम ! चतुर्थ आश्रमवासिन् ! (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्विन् ! विद्वन् ! (ते) तेरा (सवनम्) सबको प्रेरणा करने वाला या उत्पन्न करनेवाला या ऐश्वर्यवान् (इन्द्रियम्) इन्द्रिय या वीर्य (दिवि) प्रकाशमय ज्ञान, मनन मे (अमृतं) अमृत, अविनाशी, अखण्डरूप में (आ तस्थौ स्थिर हो । (त्वा) तुझको (आदित्येभ्य) समस्त आदित्यो अर्थात् ज्ञानी पुरुषो के मुख्य पद पर अभिषिक्त करता हूं ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १२ ॥

उभे जन्मनी—दोनों जन्म एक माता के गर्भ से दूसरा आचार्य के गर्भ से । आदित्य पद पर ऐसे पुरुष को अभिषिक्त करे जो द्विज हो, चतुर्थाश्रमसेवी और अखण्ड ब्रह्मचारी हो ॥ शत० ४ । ३ । ५ । १२ ॥

गृहाश्रम पक्ष में स्त्री कहती है—हे पते ! (त्वं कदा च न प्रयुच्छसि) तू कभी प्रमाद मत करे तो (उभे जन्मनी निपासि) भूत और भविष्यत् दोनों जीवनों को बचा सकेगा । (यदि ते सवनम् इन्द्रियम् आतस्थौ , यदि तेरा उत्पादक इन्द्रिय प्रजननाङ्ग वश में रहा तो (आदित्येभ्य. त्वा) आदित्य समान पुत्रों या १२ मासो अर्थात् सदा के लिये तुझे वरती हूं ॥

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः ।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

कुत्स ऋषि । आदित्यो गृहपतिर्देवता । निचृत् जगती । निषादः ॥

भा०—(देवानां यज्ञः) देव, विद्वान् पुरुषों का संग या गृहस्थयज्ञ (सुम्नम् प्रति एति) सुख प्राप्त कराता है । हे (आदित्यास.) आदित्य के समान तेजस्वी पुरुषो ! आप लोग (मृडयन्त. भवत) सबको सदा सुख

देनेहारे बने रहो। (व.) आप लोगों की वह (सुमति.) शुभमति (अर्वाची) हमारे प्रति (आ ववृत्यात्) अनुकूल बनी रहे। (या) जो (अहोः चित्) पापी पुरुष को भी (वरिव· वित्तरा) अति अधिक ऐश्वर्य या सुखलाभ करानेवाली (असत्) होती है। हे राजन् ! या हे सोम ! (त्वा आदित्येभ्य.) तुझे मैं ऐसे आदित्य अर्थात् तेजस्वी पुरुषों की रक्षा के लिये नियुक्त करता हूं। या हे पते ! तुझे मैं १२ मासों के लिये वरती हूं॥ शत० ४। ३। ५। १५॥

[1]विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन् मत्स्व। [2] अदस्मै नरो वचसे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः। पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा विश्वाहारप एधते गृहे॥ ५॥

गृहपतयो देवता· । (१) प्राजापत्याऽनुष्टुप्। गान्धारः। (२) निचृदार्षी। निषाद॥

भा०—हे (विवस्वन्) विविध स्थानों पर निवास करनेहारे या विविध ऐश्वर्यों के स्वामिन् [1] हे (आदित्य) आदित्य के समान तेजस्विन् ! राजन् ! पुरुष ! (एष.) यह (ते सोमपीथ.) तेरा सोमपद का पालन करने का कर्त्तव्य है। (तस्मिन्) तू उसमें ही (मत्स्व) आनन्द प्रसन्न रह। हे (नर) नेता पुरुषो ! (अस्मै वचसे) इसके वचन में (अत् दधातन) सत्य और श्रद्धा बुद्धि को धारण करो। (यत्) जिसके आश्रय पर (आशीर्दा) आशीर्वाद देनेवाले (दम्पती) पति पत्नी भी (वामम्) सुख को (अश्नुत) भोगते हैं। और (पुमान् पुत्र जायते) पुमान्, वीर पुत्र उत्पन्न होता है. (वसु विन्दते) वह ऐश्वर्य प्राप्त करता है। और (विश्वहा) सदा, नित्य (अरपः) पाप रहित निर्विघ्न (गृह) गृह में (एधते) वृद्धि को प्राप्त होता है॥ शत० ४। ३। ५। १७–२४॥

५—' विवस्वा २ आ० ' इति काण्व०॥

गृहस्थ के पक्ष में—हे गृहाश्रमिन् ! (एष ते सोमपीथ) यह गृहाश्रम पालन ही तेरा सोम समान आनन्द रस के पान के बराबर है। तू इसमें सुख से रह। हे पुरुषो ! तुम इसके वचन को आदर से सुनो। जिसमें आशीर्वाद देनेवाले स्त्री पुरुष सुख से रहते हैं, उस गृह में पुमान् पुत्र उत्पन्न होता है, ऐश्वर्य प्राप्त करता है और निर्विघ्न बढ़ता है।

वामम॒द्य स॑वितर्वाम॒मु श्वो दि॒वे दि॑वे वाम॒मस्मभ्यꣳ सावीः।
वाम॑स्य॒ हि क्षय॑स्य देव॒ भूरे॑रया॒ धिया॑ वा॑म॒भाजः॑ स्याम ॥ ६ ॥

ऋ० ६ । ७१ । ३ ॥

गृहपतयः सविता वा देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवत ॥

भा०—हे (सवित) ऐश्वर्य के उत्पादक ! सवितः ! (अद्य) आज (वामम्) प्राप्त करने योग्य उत्तम सुख (सावी) उत्पन्न कर। (ऊँ श्व. वामम् सावीः) और आगामी दिन, कल भी उत्तम सुख को उत्पन्न करो और (अस्मभ्यं) हमारे लिये (दिवे दिवे) प्रतिदिन (वामम्) भोग करने योग्य उत्तम पदार्थ उत्पन्न कर। (हि) जिससे (वामस्य) सुन्दर, उत्तम (भूरेः) बहुत ऐश्वर्यों से युक्त (क्षयस्य) परम निवासगृह के बीच के हे (देव) देव ! राजन् ! हम (अया धिया) इस उत्तम बुद्धि से ही (वामभाज स्याम) सब उत्तम सुखों का भोग करनेवाले हों ॥ शत० ४ । ४ । १–२६ ॥

'सविता'—सविता वै प्रसवानामीशे। कौ० ५ । २ ॥ प्रजापतिर्वै सविता। तां० १६ । ५ । १७ ॥ प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा असृजत। तै० १ । ६ । ४ । १ ॥ सविता राष्ट्रं राष्ट्रपति.। तै० २ । ५ । ७ । ४ ॥

उप॑ याम॒गृ॑हीतोऽसि सावि॒त्रोऽसि च॒नोधाश्च॑ने॒धा अ॑सि च॒नो मयि॑ धेहि। जिन्व॑ य॒ज्ञं जिन्व॑ य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य दे॒वाय॑ त्वा सवि॒त्रे ॥ ७ ॥

भरद्वाज ऋषि। सविता देवता। विराड् ब्राह्मी अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

७—०चनोधाश्चनो मयि०, भगाय सवित्रे त्वा'; इति काण्व० ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य के नियम व्यवस्था द्वारा बद्ध है । तू (सावित्र.) सविता के पद पर स्थित (चनोधा. असि) अन्न समृद्धि को देने और सूर्य के समान ही धारण पोषण करने हारा है, क्योंकि तू (चनोधा. असि) अन्न को धारण पोषण करता है । तू (मयि) मुझे भी (चनः) अन्न (धेहि) प्रदान कर । (यज्ञं जिन्व) तू अन्न से यज्ञ राष्ट्र को तृप्त कर (यज्ञपतिम्) राष्ट्रपति को भी (जिन्व) तृप्त कर । (भगाय) समस्त ऐश्वर्यमय (देवाय) देव (सवित्रे) सविता के पद के लिये (त्वा) तुझको नियुक्त करता हूं ॥ शत० ४ । ४ । १ । ६ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष ! तुझे मैं स्त्री उपयाम=विवाह द्वारा स्वीकार करती हूं । तू सावित्र अर्थात् प्रजा के उत्पादक या परमेश्वर के उपासक या स्वय सविता सूर्य के समान तेजस्वी है । तू अन्न समृद्धि का धारक है । तू गृहस्थ यज्ञ को पुष्ट कर । सविता रूप तुझे अर्थात् सन्तानोत्पादक पति पद के लिये वरती हूं ।

[1] उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि [2] सु॒शर्मा॑सि सु॒प्रति॑ष्ठानो बृ॒ह॒दु॒क्षाय॒ नमः । विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॒ ए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्यः ॥ ८ ॥

विश्वेदेवा देवता । (१) प्राजापत्या गायत्री । षड्जः । (२) निचृदार्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—(उपयामगृहीतः असि) हे पुरुष तू राज्यव्यवस्था द्वारा बद्ध है । हे योग्य पुरुष ! राजन् ! तू (सुशर्मा असि) तू उत्तम सुखकारी आश्रय या गृह और शरणों वाला है । और (सुप्रतिष्ठान) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में उत्तम रीति से प्रतिष्ठित हुआ है । (बृहद्-उक्षाय) महान् विश्व के भार के वहन या सचालन करने वाले प्रजापति के समान बड़े राष्ट्र के कार्य भार को उठाने वाले तुझे (नम.) आदर प्राप्त हो, अथवा तुझे नमनकारी बल प्राप्त हो । (त्वा) तुझको (विश्वेभ्यः देवेभ्य.) समस्त देव,

विद्वान् पुरुषों की रक्षा के लिये करता हूं। (एषः ते योनि) यह तेरा स्थान या पद है। (विश्वेभ्यः देवेभ्य त्वा) समस्त देव अर्थात् विद्वान् पुरुषो के लिये तुझको 'विश्वेदेव' पद पर नियुक्त करता हूं ॥ शत० ४। ४। १। १४ ॥

गृहस्थ पक्ष में—पुरुष विवाह द्वारा बद्ध हो। वह उत्तम गृह और प्रतिष्ठावान् हो। (बृहदुक्षाय) वीर्यसेचन में समर्थ उसको (नमः) आदर एवं अन्न आदि पदार्थ प्राप्त हों। समस्त विद्वानों के लिये मैं स्त्री तुझे वरती हूं।

[1] उपयामगृहीतोऽसि [2] बृहस्पतिसुतस्य देव सोम त ऽइन्दो-रिन्द्रियावतः। पत्नीवतो ग्रहाँ २ऽ ऋध्यासम्। [3] अहं परस्ता-दहमवस्ताद्यदन्तरिक्षं तदु मे पिताभूत्। अहꣳसूर्य्यमुभयतो ददर्शाहं देवानापरंमगुह्यं यत् ॥ ९ ॥

विश्वेदेवा देवताः। (१) प्राजापत्या गायत्री षड्जः। (२) आर्षी उष्णिक् ऋषभः। आर्षीपंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—हे योग्य पुरुष! राजन् तू! (उपयामगृहीतः असि) राज्यतन्त्र द्वारा स्वीकृत एवं बद्ध है। हे (देव सोम) देव! सोम! राजन्! (इन्द्रियावतः) इन्द्र राजा के योग्य ऐश्वर्य बल से सम्पन्न (इन्दोः) सबके आह्लादक (पत्नीवतः) अपनी पालक शक्ति से युक्त (बृहस्पतिसुतस्य) बृहती, वेद वाणी के पालक विद्वान् के द्वारा प्रेरित (ते) तेरे निमित्त (ग्रहान्) समस्त राज्य के अंगों को मैं (ऋध्यासम्) समृद्ध करता हूं। (अहम्) मैं (परस्ताद्) परे से परे, दूर देशों में और (अवस्तात्) अति समीप अपने अधीन के देशों में भी (ऋध्यासम्) समृद्ध होऊं। (यद् अन्तरिक्षम्) जो अन्तरिक्ष अर्थात् बीच का उत्तम प्रदेश है (तत् उ) वह भी (मे) मेरा

९—०सुतस्य ते देव। इन्द्र इन्द्रियावत' ० "तदु मे पितास।" इति काण्व०।

(पिता अभूत्) पालक ही हो। (अहम्) मैं (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् को ही (उभयतः) दोनों ओर (ददर्श) देखूं। और (देवानाम्) देव, विद्वान् पदाधिकारियों के (गुहा) गुहा या हृदय में (यत्) जो (परमम्) परम तत्व ज्ञान हो उसका भी दर्शन करूं॥ शत० ४। ४। २। १२॥

गृहस्थ पक्ष में—हे सोम! वर! बड़े विद्वान् के पुत्र आह्लादक ऐश्वर्यवान् वीर्यवान्, पत्नी सहित तेरे (ग्रहान्) स्वीकार किये समस्त कर्त्तव्यों को आगे पीछे मैं पत्नी बढ़ाऊंगी। हमें अन्त करण का विज्ञान प्राप्त हो। दोनो तरफ़ अर्थात् इस लोक परलोक दोनों में उस (सूर्यं) सबके प्रेरक परमेश्वर को अपना पालक देखती हूं। जो विद्वानों के हृदय में परमतत्व रूप से गुप्त रहता है।

अग्ना३इ पत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा। प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय॥ १०॥

अग्निः प्रजापतिश्च देवते। विराड् ब्राह्मी बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! अग्रणी राजन्! हे (पत्नीवन्) राष्ट्र के पालन करने वाली अपनी शक्ति सहित! तू (देवेन) देव, दानशील, (त्वष्ट्रा) त्वष्टा सेनापति के साथ (सजू) सहयोग करके (सोमम् पिब) सोम नाम राज पद का उपभोग कर (स्वाहा) इससे तेरा उत्तम यश होगा। हे राजन्! (प्रजापतिः) तू प्रजा का पालक (वृषा) राष्ट्र पर सुखों का वर्षक या राष्ट्र का व्यवस्थापक (असि) है। तू (रेतोधा) वीर्य का धारण करने वाला है। (मयि) मुझ राष्ट्र वासी प्रजाजन में भी (रेतः) वीर्य को (धाः) धारण करा। (प्रजापते.) प्रजा के पालक (वृष्ण.) सब सुखों

१०—गृहपतयो देवता। द० । अग्ने वाक् पत्नि सजू०' इति काण्व०।

के वर्षक (रेतोधसः) उत्पादक वीर्य के धारक (ते) तेरे (रेतोधाम्) वीर्य धारण करने में समर्थ राष्ट्र का (अशीय) मैं प्रजाजन भी भोग करूं ॥ शत० ४ । ४ । २ । १५-१८ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे अग्ने पत्नीवन् ! स्वामिन् ! (देवेन त्वष्ट्रा सजूः) त्वष्टा, वीर्य को पुत्र रूप से परिणत करने वाले दिव्य सामर्थ्य से युक्त होकर तू (स्वाहा सोमम् पिब) उत्तम रीति से सोम, ओषधि का पान कर । हे पुरुष ! पते ! तू प्रजा का पालक वीर्यसेचन में समर्थ रेतस् वीर्य धारण कराने वाला है । तू (मयि) मुझ पत्नी में वीर्य धारण करे । तुझ प्रजापति के (रेतोधाम् अशीय) वीर्यवान् पुत्र को मैं प्राप्त करूं । अथवा वीर्याधान के सुख को प्राप्त करूं ॥

उपयामगृहीतोऽसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यान्त्वा ।
हर्यौर्धानाः स्थ सहसोमा इन्द्राय ॥ ११ ॥

प्रजापतिर्हरिर्देवता ।

हे सोम राजन् ! तू (उपयामगृहीत असि) उपयाम अर्थात् राज्य तन्त्र द्वारा बद्ध है । तू (हरिः असि) राज्य को चलाने में समर्थ है । तू (हारियोजनः) राष्ट्र के कार्यों को उठाने और चलाने वाले अपने अधीन पदाधिकारियों को सारथी जिस प्रकार घोड़ों को लगाता है उसी प्रकार नाना पदों पर नियुक्त करने हारा है । (त्वा) तुझ वीर पुरुष को (हरिभ्याम्) उक्त दोनों ही हरि पदों के लिये नियुक्त करता हूं । हे अन्य पदाधिकारीगण आप सब लोग (सहसोमाः) मुख्य राजा के सहित (इन्द्राय) परमैश्वर्यवान् राजा या राज्य के लिये सभी (हर्यौ धाना स्थ) दोनों हरि पदों के धारण करने हारे हो ॥ शत० ४ । ४ । ३ । ६ ॥

११—गृहपतयो देवता । द० ।

राज्य-तन्त्र के समान गृहस्थ तन्त्र में—हे पुरुष तू[1] (उपयाम गृहीतः असि) स्त्री विवाह द्वारा स्वीकृत है। अश्व के समान गृहस्थ को वहन करने और सारथि के समान उसको सत् मार्ग पर ले चलने वाला भी है। तुझको ऋक्, साम के समान स्त्री पुरुष दोनों के हित के लिये गृहपतिरूप से मैं वरती हू। हे विद्वान् पुरुषो[1] आप सब मेरे पति सोम सहित हम स्त्री पुरुषों को सन्मार्ग मे धारण करने हारे (स्थ) रहो॥

यस्तेऽअश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य तऽइष्टयजुष स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि॥ १२॥

धाना गृहपतयो वा देवता। आर्षी पंक्तिः। पञ्चम॥

भा०—हे सोमराजन्! (यः ते) जो तू (अश्वसनि.) अश्वों से युक्त है और (य) जो तू (गोसनि.) गौ आदि पशुओं से युक्त (भक्ष) बल या राज्य की रक्षा करनेवाला अन्नरूप राज्य का भोक्ता है (तस्य) उस (इष्टयजुष) यज्ञशील, युद्धविजयी (स्तुतस्तोमस्य) प्रशस्त सेना संघ से युक्त और (शस्तोक्थस्य) उत्तम विद्वान् ब्राह्मण से युक्त (उपहूतस्य) आदरपूर्वक आमन्त्रित एव राज्यपद में अभिषिक्त तेरे द्वारा ही (उपहूत) आदरपूर्वक अनुज्ञा पाकर हम प्रजाजन भी (भक्षयामि) उक्त सामर्थ्य का भोग कर॥ शत० ४। ४। ३। ११—१५॥

गृहस्थतन्त्र में—हे पते[1] तू अश्वों और गौ आदि ऐश्वर्यों से युक्त अथवा अश्व, कर्मेन्द्रिय गौ, ज्ञानेन्द्रियों से युक्त, अथवा अग्न्यादि, विद्या और भूमि का भोक्ता और दाता है उस तेरे तीनों वेदों में विद्वान् का आदर-पूर्वक निमन्त्रित कर शेष का मैं उपभोग करूं। इसी प्रकार पति अपनी विदुषी उदारपत्नी एव अन्य बन्धुओं को आदरपूर्वक बुलाकर भोजनादि करावें।

१२—'यस्ते देवाश्वसनि०' [०क्थस्योपहूत उपहूतस्य म०' इति काण्व॥

[1]देवकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि [2]मनु॒ष्यकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमासि [3]पि॒तृकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नमस्या॒ [4]त्मकृ॑तस्यैन॑सोऽव॒यज॑नम॒स्ये [5]न॑स एनसोऽव॒यज॑नमासि। [6]यच्चा॒हमे॑नो॒ वि॒द्वाँश्च॒कार॒ यच्चा॑वि॒द्वाँस्तस्य॒ सर्व॑स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमासि ॥ १३ ॥

अग्निर्देवता। (१) आसुरी, (२) साम्नी (३-४) निचृत्साम्न्यौ, (५) प्राजापत्या, (६) निचृदार्षी (उष्णिह) ऋषभः ॥

भा०—हे परमेश्वर और हे राजन् [1] तू (देवकृतस्य) दानशील या उपदेष्टा विद्वानों धनी पुरुषों के किये (एनसः) पाप या अपराध को (अवयजनम् असि) दूर करनेवाला है। तू (मनुष्यकृतस्य एनस) मनुष्यों द्वारा किये पाप को भी (अवयजनम् असि) दूर करनेहारा है। इसी प्रकार (पितृकृतस्य) माता पिता या राष्ट्र के पालक जनों के किये (एनस.) पाप और अपराध का (अवयजनम् असि) दूर करने का साधन है। (आत्मकृतस्य एनस अवयजनम् असि) अपने आप किये गये पाप और अपराध को दूर करने में समर्थ है। (एनसः एनसः अवयजनम् असि) एक पाप या अपराध के कारण उससे उत्पन्न होनेवाले दूसरे अन्य अपराध या पाप को भी दूर करनेहारा है। अथवा (एनसः एनसः) प्रत्येक प्रकार के अपराध या पाप को दूर करनेहारा है। और (यत् च) जो (एनः) अपराध या पाप (अहम्) मैं (विद्वान् चकार) जान बूझ कर करूं। और (यत् च अविद्वान्) जो अपराध में बिना जाने करूं (तस्य सर्वस्य एनसः अवयजनम् असि) उस सब प्रकार के अपराध को तू दूर करने में समर्थ है।

सं वर्च॑सा॒ पय॑सा॒ सन्त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा॒ सꣳ शि॒वेन॑।
त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ वि द॑धातु॒ रायोऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॒ यद्वि॑लि॒ष्टम्॥ १४॥

अथर्व० ६। ५३। ३॥

भरद्वाज ऋषिः। विश्वे देवाः देवता। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्। धैवत॥

१३—विश्वेदेवा गृहपतयो देवताः। द०।

भा०—हम लोग (वर्चसा) तेज, ब्रह्मवर्चस् और अन्न (पयसा) जल, दुग्ध आदि पुष्टिकर पदार्थ (तनूभि) उत्तम शरीर और (शिवेन मनसा) कल्याणकारी शुभ चित्त से सदा (सम् अगन्महि) संयुक्त हों। (सुदत्र) उत्तम दानशीलपुरुष, परमेश्वर या सुखप्रद वैद्य (राय. विदधातु) समस्त ऐश्वर्य प्रदान करे। (यत्) जो हमारे (तन्वः) शरीर का (विलिष्टम्=विरिष्टम्) पीड़ित, दु.खित भाग हो उसको (अनुमार्ष्टु) वह सुख युक्त करे ॥ शत० ४ । ४ । ४ । ८ ॥

सामिन्द्र गो मनसा नेषि गोभिः सꣳ सूरिर्भिर्मघवन्त्सꣳ स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानाꣳ सुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥ १५ ॥ ऋ० ५ । ४२ । ४ ॥

अत्रिर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् हे (मघवन्) परम श्रेष्ठ ! धनवन् ! (न.) हमें (मनसा) मनसे (गोभि.) इन्द्रियों, वेदवाणियों गौ आदि पशुओं और (सूरिभि) विद्वान् पुरुषों के साथ (सं नेषि) संगत कर या इन द्वारा हमें सत्मार्ग पर चलाओ और (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद या धन से और (देवकृतम् यत् अस्ति) देव, विद्वानों या इन्द्रियों द्वारा जो उत्तम कार्य किया जाता है उससे भी हमें (स नेषि) सगत कर। हमें उससे युक्त कर और (यज्ञियानां) सत्संग करने योग्य, आदरणीय (देवानाम्) श्रेष्ठ विद्वान् पुरुषो के (सुमतौ) शुभ मति के अधीन हमें (स्वाहा) उत्तम ज्ञानवाणी द्वारा (स्वस्त्या) सुखपूर्वक (सं नेषि) सब कुछ प्राप्त करा। (स्वाहा) यह तेरा उत्तम यशोजनक कर्त्तव्य है॥ शत० ४ । ४ । ४ । ७ ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

भा०—व्याख्या देखो [अ० २ । २४ और अ० ५ । १४]।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया सꣳ रराणा यजमानाय द्रविणं दधात्तु स्वाहा ॥ १७ ॥ अथर्व० ७ । १७ । ४ ॥

लिंगोक्ता धात्रादयो देवताः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(धाता रातिः सविता प्रजापतिः निधिपा अग्निः देवः त्वष्टा विष्णुः) धाता, राति, सविता, प्रजापति, अग्नि, त्वष्टा और विष्णु ये सब देवगण अधिकारी वर्ग (इदम् जुषन्ताम्) इस परस्पर के सहयोग से बने राष्ट्र को प्रेम से स्वीकार करें और (प्रजया) अपने संतान के समान प्रजा के साथ (सं रराणाः) अच्छी प्रकार आनन्द प्रसन्न रहते और जीवन को सुखी करते हुए, (यजमानाय) अपने को धारण पोषण देने वाले राजा को (द्रविणम्) धनैश्वर्य (स्वाहा) उत्तम धर्मयुक्त रीति से (दधात) प्रदान करें, उसे पुष्ट करे । श० ४ । ४ । ६ ॥

सुगा वो देवाः सदना ऽअकर्म य ऽआजग्मेदꣳ सवनं जुषाणाः । भरमाणा वहमाना हवीꣳष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥१८॥ अथर्व० ७ । ९७ । ४ ॥

विश्वेदेवा देवताः । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (देवाः) देव, विद्वानों और दानशील वैश्य पुरुषो ! या राजपदाधिकारियो ! (ये) जो आप लोग (इदं) इस (सवनं) राष्ट्रमय यज्ञ की सेवा करते हुए और (हवींषि) नाना अन्न आदि उपादेय पदार्थों को (भरमाणाः) भोग करते हुए और (वहमाना) उनको प्राप्त

१८—यास्कसम्मत पा०स्तु—'सुगा वो देवाः सदनमकर्म य आजग्मुः सवनमिद जुषाणा । जक्षिवांसः पपिवासश्च विश्वेस्मे धत्त वसवो वसूनि ।'

(द्वि०) य आजग्म सवने मा जुषाणा । (तृ०) वहमाना भरमाणा स्वा वसूनि (च०) वसुधम दिवमारोहतानु इति अथर्व० ॥

करते हुए अथवा (भरमाणा) यहां से लेजाते हुए और (वहमाना) यहा को लाते हुए (आजग्मु.) आते है (व) उन आप लोगों के लिये (सुगा.) सुखपूर्वक चलने योग्य मार्ग और (सदना) उत्तम आश्रय स्थान. व्यापार के निमित्त दुकान या बाजार आदि हम (अकर्म) बनावे। हे (वसव) यहा के निवासी वसुजनो प्रजाजनो ! आप लोग (अस्मे) हमारे राष्ट्र के लिये (स्वाहा) उत्तम रूप से धर्मानुकूल प्राप्त करने और दान देने योग्य (वसूनि धत्त) ऐश्वर्यों को धारण करो, कराओ ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १० ॥

यॉ२ऽ आवंह ऽ उशतो देंव देवॉंस्तान् प्रेरंय स्वे ऽअंग्ने सधस्थें। जक्षिवाꣳसः पपिवाꣳसश्च विश्वे ऽ सुं घर्म्मꣳस्वरांतिष्ठतानु स्वाहां ॥ १६ ॥ अथर्व० ७ । ६३ । ३ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप । धैवत. ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी पुरुष ! हे (देव) राजन् ! (यान्) जिनको (उशतः) नाना कामनाओं और इच्छाओ से युक्त (देवान्) देवो, विद्वानों, ऐश्वर्यवान् पुरुषो को तू स्वय (स्वे सधस्थे) अपने सहयोग के पद पर (आवह) स्थापित करता है (तान्) उनको (प्रेरय) प्रेरित कर। हे (देवा.) राज पदाधिकारी पुरुषो ! आप लोग (जक्षिवास) भोजन करते हुए (पपिवांस च) जल आदि पान करते हुए (स्वाहा) उत्तम रीति से (असुम्) अपने प्रज्ञा और प्राण को प्राप्त करो (घर्मम्) अतितेजोयुक्त (स्व.) सुखमय उत्तम पद पर अनु (आतिष्ठत) विराजो और सुखी रहो ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १६ ॥

वयꣳ हि त्वां प्रयति यज्ञे अस्मिन्नग्ने होतांरमवृणीमहीह। ऋध-ग्यॉऽ ऋधंगुताशंमिष्ठा. प्रजानन्यज्ञमुपंयाहि विद्वान्त्स्वाहां ॥२०॥

अथर्व ७ । ६७ । १ ॥

भा०--(वयं) हम सब लोग (अस्मिन्) इस (प्रयति यज्ञे) राष्ट्ररूप यज्ञ के प्रारम्भ में ही (इह) इस (अग्रे) सबसे अग्र अर्थात् मुख्य स्थान पर (होतारम्) यज्ञ में होता के समान यज्ञनिष्पादक रूप से आदान प्रतिदान करने में निपुण नेता का वरण करते हैं। हे विद्वान् समर्थ पुरुष ! तू (ऋधक्) समृद्धि सम्पत्ति की वृद्धि करता हुआ (अयाः) इस महान् यज्ञ को सम्पादन कर। (उत) और (ऋधक्) समृद्धि करता हुआ ही (अशमिष्ठा.) इस कार्य में आनेवाले विघ्नों का शमन कर। तू (यज्ञम्) यज्ञ, राष्ट्र के व्यवस्था के समस्त कार्य को (विद्वान्) जानता हुआ ही (स्वाहा) उत्तम विज्ञान सहित (उपयाहि) प्राप्त हो ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १२ ॥

योग्य कार्य मे योग्य पुरुष को वरण करके उसे उस कार्य के लिये नियत करें। वह उसको करे और उसके बीच में आनेवाले विघ्नों का वही शमन करे ॥

देवा॑ गातुविदो गा॒तुं वित्वा गा॒तुमित ।
मन॑सस्पत ऽइ॒मं दे॑व य॒ज्ञꣳ स्वाहा॒ वाते॑ धाः ॥ २१ ॥

भा०—इसकी व्याख्या देखो [अ० २ । मं० २१ ।]। शत० ४ । ४ । ४ । १३ ॥

[1]य॒ज्ञं य॒ज्ञ ग॑च्छ य॒ज्ञप॑तिं गच्छ॒ स्वां योनि॑ङ्गच्छ॒ स्वाहा॑। [2]ए॒ष ते॑ य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्तवाकः॒ सर्व॑वीर॒स्तञ्जु॑षस्व॒ स्वाहा॑ ॥ २२ ॥

भा०—हे (यज्ञ) यज्ञ ! राष्ट्ररूप यज्ञ ! तू (यज्ञम्) परस्पर की संगति को, एक दूसरे के प्रति समर्पण भाव को (गच्छ) प्राप्त कर। (यज्ञपतिम् गच्छ) उसको पालन करनेवाले योग्य समर्थ पुरुष को प्राप्त कर। तू (स्वाम् योनिम् गच्छ) अपने आश्रय को प्राप्त कर। (स्वाहा) तभी उत्तम रीति से सम्पादन हो सकता है। हे (यज्ञपते)

यज्ञ के पालक राष्ट्रपते ! (ते) तेरा ही (एष यज्ञः) यह यज्ञ है। यह (सह-सूक्तवाक) उत्तम वेद के सूक्तों का अध्ययन करनेवाले विद्वान् पुरुषों से युक्त और (सर्ववीर) सब प्रकार के वीर पुरुषों से युक्त है। (तम्) उसको तू (स्वाहा) उत्तम रीति से वेदानुकूल (जुषस्व) स्वीकार कर ॥ शत० ४ । ४ । ४ । १४ ॥

१ माहिर्भूर्मा पृदाकुः । २ उरुꣳ हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ । अपदे पादा प्रतिधातवेऽकरुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् । ३ नमो वरुणायाभिष्टितो वरुणस्य पाशः ॥ २३ ॥

ऋ० १ । २४ । ८ ॥

(१) याजुषी उष्णिक् । ऋषभः । (२) भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवत । (३) आसुरी गायत्री । षड्ज । शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता ।

भा०—राज्यव्यवस्था में राजा की न्यायानुकूल व्यवस्था। हे पुरुष ! तू (अहिः मा भूः) सांप के समान कुटिल, क्रोधी मत बन। (मा पृदाकुः) अजगर के समान सब प्राणियों को निगलनेवाला, एवं उनको अपने बधन मे बांधकर मारनेवाला क्रूर या कुत्सितभाषी भी तू मत बन। (वरुण राजा) सर्वश्रेष्ठ राजा ने (सूर्याय) सूर्य के प्रकाश के समान उज्ज्वल सत्य तक (अनु एते व उ) पहुंचने के लिये ही (उरुम् पन्थाम् चकार) विशाल मार्ग बना दिया है। वह (अपदे) जहां पैर भी नहीं रखा जासके ऐसे स्थानों में भी (पादा) पैर (प्रतिधातवे) रखने के लिये मार्ग (अकः) बना देता है। और वह वरुण राजा (हृदयाविध चित्) हृदय को कटु वाक्यों से और अपने क्रूर कृत्यों से दूसरों के छेदनेवाले मर्म भेदी दुष्ट पुरुष का भी (अपवक्ता) अपवाद करनेवाला उसके प्रति अभियोग चला कर निग्रह करनेवाला है। ऐसे (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठ, पापों के वारण करनेहारे राजा को (नमः) नमस्कार है। (वरुणस्य) ऐसे सर्वश्रेष्ठ राजा

का (पाशः) पाश, राज्य नियमों का दमनकारी पाश (अभिष्टितः) सर्वत्र स्थिर रहे ॥ शत० ४ । ४ । ५ । १-११ ॥

अग्नेरनीकमप ऽआविवेशापाँ नपात् प्रति रक्षन्नसुर्यम् । दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा ॥ २४ ॥

अग्निर्देवता । स्वार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अग्नेः) अग्रणी नेता, राजा का (अनीकम्) मुख्यबल या सेनासमूह (अपां नपात्) प्रजाओं को गिरानेवाला न होकर, उनका विनाशक न होकर प्रत्युत (अपां नपात्) प्रजाओं के पुत्र के समान ही होकर उनसे ही उत्पन्न होकर (असुयम्) उनके प्राण धारणोपयोगी द्रव्य जान माल की (प्रतिरक्षन्) रक्षा करता हुआ (अप.) आप्त प्रजाओं मे (आविवेश) प्रविष्ट या व्याप्त होकर रहे । हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! तू (दमेदमे) घर घर मे या प्रत्येक दमन के कार्य में (सामिधम्) प्रकाशयुक्त तेजस्वी पुरुष को (यक्षि) नियुक्त कर । हे राजन् ! (ते) तेरी (जिह्वा) वशकारिणी शक्ति, (घृतम्) घृत, तेज उग्रता को (स्वाहा) भली प्रकार (उत् चरण्यत्) प्राप्त करे ॥ शत० ४ । ४ । ५ । १२ ॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः । यक्ष्मस्य त्वा यक्ष्मपते सूक्तोक्तौ नमोवाके विधेम यत् स्वाहा ॥ २५ ॥

सोमो देवता । भुरिगार्षी पंक्ति । पञ्चम ॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरा (हृदयम्) हृदय (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर (समुद्रे) नाना प्रकार के उन्नतिकारक व्यवहार मे लगे । और (त्वाम्) तुझ मे (ओषधीः) दुष्टों को दण्ड द्वारा पीडित करनेवाले जन, अधिकारी (उत्) और (आपः) आप्त प्रजाजन सब (आविशन्तु) आश्रय पावे वे तेरे अधीन रहें । हे (यक्ष्मपते) राष्ट्रयज्ञ के पालक ! (यक्ष्मस्य) यज्ञ के (सूक्तोक्तौ) जिसमे वेद के सूक्त प्रमाणरूप से कहे

जायं ऐसे उत्तम कार्य मे और (नमोवाके) आदर योग्य वचनों के कार्य में (यत्) जो भी (स्वाहा) उत्तम त्याग योग्य और ग्रहण योग्य पदार्थ हैं वह (त्वा) तुझे (विधेम) प्रदान करें ॥ शत० ४ । ४ । ५ । २० ॥

गृहस्थ पक्ष में—वेदादि के अध्ययन कार्य और आदर योग्य वचनों से युक्त (सयुदे) उत्तम धर्म कार्य में हे गृहपते ! तेरा हृदय प्राणों के भीतर रहे । ओषधियां और शुद्ध जल तुझे प्राप्त हों । उसी उत्तम कार्य में तुझे हम नियुक्त करें ।

देवीरापऽएष वो गर्भस्तꣳसुप्रीतꣳसुभृतं बिभृत ।
देव सोमैष ते लोकस्तास्मिञ्छं च वच्व परिं च वच्व ॥ २६ ॥

आप सोमदेवता. । स्वरार्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे (देवी आप) दानशील, या ज्ञान प्रकाशयुक्त (आपः) आप्त प्रजाओ ! (एष.) यह राजा (व) आप लोगों का (गर्भ.) माताओं या गृह-देवियों द्वारा उत्तम रीति से गर्भ के समान रक्षा करने एव धारण करने योग्य है । (तम्) उसको (सुप्रीतम्) अति उत्तम रीति से तृप्त, सतुष्ट और (सुभृतम्) उत्तम रीति से परिपुष्ट रूप मे (बिभृत) धारण करो । हे (देव सोम) राजन् सर्व प्रेरक सोम ! (ते एष लोक) तेरा यह प्रजाजन ही निवास करने योग्य आश्रय है । तू (तस्मिन्) उसमें विद्यमान रहकर (श च वच्व) शान्ति प्राप्त करा और उसको (परि वच्व च) अन्य नाना पदार्थ भी प्राप्त करा अथवा उसको सब ओर से धारण कर । या राष्ट्रवासियों को (परि वच्व) सब कष्टों से पार कर, उससे बचा॥ शत० ४ । ४ । ५ । २१ ॥

गृहस्थ पक्ष मे—हे देवियो ! तुम लोग अपने गर्भ को भली प्रकार पुष्ट, तृप्त और सुप्रसन्न रूप में धारण पोषण करो । हे गृहपते ! यह पत्नी ही तेरा आश्रय है । उसको शान्ति दे और उसको अन्य पदार्थ भी प्रदान कर ।

[1]अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। [2]अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिष स्पाहि। देवानाꣳसमिदसि ॥ २७ ॥ यजु० २ । ४८ ॥

अग्निर्देवता । (१) भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप् । गाधार ।
(२) स्वराडार्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे राजन् ! हे (अवभृथ) अपने अधीन समस्त अधिकारी और प्रजावर्ग को भरण पोषण करनेहारे ! और हे (निचुम्पुण) मन्द, अलक्षितरूप से गतिशील ! तू (निचेरुः आसि) नित्य चलता रहता है, सर्वत्र राष्ट्र में व्यापक है, पर तो भी (निचुम्पुणः) अत्यन्त मन्दगति है, तेरी गति का पता नहीं लगता। हे (देव) राजन् ! देव, द्रष्ट ! विजयशील ! दमनकारिन् ! मैं (देवकृतम्) देवों, पूज्य विद्वानों के प्रति किये गये (एनः) अपराध को (देवैः) विद्वान् पुरुषों द्वारा (अव यासिषम्) दूर कर त्याग दूं। और (मर्त्यकृतम् एनः) साधारण लोगों के प्रति किये अपराध को (मर्त्यैः) साधारण जनों के साथ मिलकर (अव यासिषम्) दूर करूं। हे (देव) देव ! राजन् ! तू (पुरुरावृणः) नाना विध दारुण कष्टों के देनेवाले (रिषः) हिंसक पुरुष से हमें (पाहि) रक्षाकर। तू (देवानाम्) देव, विद्वानों और समस्त राष्ट्र के पदाधिकारियों के बीच में (समित्) प्रज्वलित काष्ठ या सूर्य के समान तेजस्वी (असि) है ॥ शत० ४ । ४ । ५ । २२ ॥

[1]एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह। [2]यथा यं वायुरेजति यथा समुद्रऽएजति। [3]एवायं दशमास्योऽअस्रज्जरायुणा सह ॥२८॥

गर्भो देवता । व्यवसाना महापक्ति । अथवा (१) साम्न्यासुरी उष्णिक् । ऋषभः ।
(२) प्राजापत्यानुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—मं० २६ में राजा को गर्भ से उपमा दी है। उसी का पुनः

२८—दम्पती देवते । द० ।

निर्वाह करते हैं। (दशमास्य. गर्भ) दश मास का गर्भ जिस प्रकार (जरायुणा) जेर के साथ शनै. २ बाहर आता है और माता को प्रसवकाल मे पीड़ा देता है। उसी प्रकार दश मास के परिपक्व गर्भ के समान अच्युत, दृढ़ (गर्भः) राष्ट्र को पूर्ण प्रकार से ग्रहण करने मे समर्थ राजा (जरायुणा) अपने जरायु अर्थात् चारो ओर से घेरनेवाले, अपनी स्तुति करनेवाले, अपने सपक्षी दल के साथ (एजतु) चले। और (यथा) जिस प्रकार (अय वायु.) यह वायु बड़े वेग से समस्त वृक्ष आदि को कपाता हुआ (एजति) चलता है और (यथा समुद्र एजति) जिस प्रकार समुद्र गर्जता हुआ तरङ्गो द्वारा कापता है (एवा) उसी प्रकार (अयम्) यह (दशमास्य.) दशो दिशाओ मे मास अर्थात् चन्द्रमा के समान आह्लाक दशमास्य गर्भ के बालक के समान स्वय उत्पन्न होनेहारा और प्रजाओं को प्रसन्न करने हारा राजा (जरायुणा सह) अपने स्तुति करनेहारे दल के साथ (असत्) बाहर आता है, स्पष्टरूप मे प्रकट होता है ॥ शत० ४ । ५ । २ । ४, ५ ॥

'जरायु'—शणा जरायु ॥ श० ६ । ६ । २ । १५ ॥ यत्र वा प्रजापतिरजायत गर्भो भूत्वा एतस्मात् यज्ञात्। तस्य यन्नेदिष्ठमुल्वमासीत् ते शणा ॥ श० ३ । २ । १ । ११ ॥

गर्भपक्ष में—दस मास का गर्भ जरायु के साथ चले। जिस वेग से वायु और समुद्र चलता है उस प्रकार विना बाधा के जरायु सहित गर्भ बाहर आवे। इस मन्त्र को महीधर आदि ने गर्भिणी गाय के गर्भ कर्त्तन मे लगाया है, सो असगत है।

यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी। अङ्गान्यहुता यस्य तं मात्रा समजीगमम् स्वाहा ॥ २६ ॥

भा०—गृहस्थ पक्ष में—(यस्मै) जिसका (याज्ञिय.) संगति के योग्य (गर्भः) गर्भाशय है। और (यस्यै) जिसकी (योनिः) योनि

देश भी (हिरण्ययी) अभिरमण करने योग्य है, अथवा स्वर्ण के समान स्वच्छ निर्दोष है उस (मात्रा) पुत्र की भावी माता होने योग्य स्त्री के साथ (तम्) उस पुरुष को (यस्य अंगानि) जिसके अंग (अहुता) कुटिल नहीं हो, (सम् अजागमम्) हम सग करावें । (स्वाहा) यही उत्तम प्रजननाहुति है । अथवा तभी उत्तम गर्भ ग्रहण होता है ॥ शत० ४ । ५ । २ । १४ ॥

इस मन्त्र मे 'मातृ' पद पुत्रोत्पत्ति के पूर्व ही वेद का कहना इसलिये संगत है कि (१) डिम्ब को उत्पन्न करने से ही वह प्रथम माता है । (२) पुत्रोत्पादन से वह भाविकाल में 'माता' बनेगी (३) उस स्त्री को मातृ-शक्ति या उत्पादिक शक्ति ही संगति में प्रेरित करे ।

राजा पक्ष में—(यस्यै) जिस पृथिवी के हित के लिये (सञ्जिय) राष्ट्र के एवं प्रजापति पद के योग्य ही (गर्भः) उसके वश करने में समर्थ, पुरुष है । और यस्यै) जिसकी (योनिः) आश्रय (हिरण्ययी) सुवर्ण आदि ऐश्वर्य से युक्त कोश है । उस (मात्रा) माता के समान पृथिवी के साथ (तम्) उस राजा को (अस्य अङ्गानि अहूतानि) जिसके अंग अर्थात् राज्य के समस्त अंग कुटिलता से रहित, सत्यवादी और धर्मात्मा हों उसको उस पृथिवी के ऊपर शासन के लिये (सम् अजीगमम्) मैं पुरोहित संयुक्त करता हूं ।

पुरुदस्मो विषुरूपऽ इन्दुरन्तमँहिमानमानञ्ज धीरः । एकपदी द्वि-पदी त्रिपदी चतुष्पदीमष्टापदीं भुवनानु प्रथन्ताꣳ स्वाहा ॥३०॥

गर्भो देवता । आर्षी जगती । मध्यम ॥

भा०—(पुरुदस्मः) अति अधिक दानशील, अथवा बहुतसे प्रजा-जनो के बीच दर्शनीय, अथवा बहुत से दुखो का नाशक (विषुरूपः) राष्ट्र में व्यापक बहुत से रूपो में प्रकट होनेवाला (इन्दु.) ऐश्वर्यवान् (धीरः)

धीर, बुद्धिमान्, सर्व व्यवहारों में कुशल होकर (अन्त) प्रजाओं के बीच (महिमानम्) अपने महान् सामर्थ्य को । आनञ्ज) प्रकट करता है । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग । एकपदीम्) राजा रूप एकमात्र चरण अर्थात् आश्रयवाली, (द्विपदीम्) राजा और राजाङ्गरूप से चरणवाली, (त्रिपदीम् । राजा, राज्याङ्ग और राजसभा इन तीन से तीन चरणवाली, । चतुष्पदीम् चारों वर्णों से चतुष्पदी, चार चरणोंवाली अथवा सेना के चार अगों द्वारा चतुष्पदी और (अष्टापदीम्) चार वर्ण और चार आश्रम द्वारा अष्टापदी अथवा राज्य के सात अङ्ग और पुरोहित इनसे अष्टापदी, 'वशा' अर्थात् राज्य की वशकारिणी शक्ति को (भुवना अनु) समस्त भुवनों में (स्वाहा , उत्तम रीति से (प्रथन्ताम्) विस्तृत करो ॥ शत० ४ । ५ । २ । १२ ॥

गृहस्थ पक्ष मे—दु खों का नाशक ऐश्वर्यवान्, धीर, गृहस्थ पुरुष अपने सामर्थरूप वीर्य को स्त्री के भीतर स्थापित करे । सब लोग एकपदी, द्विपदी आदि विशेषण युक्त वेदवाणी को सर्वत्र विस्तृत करें । 'ओम्' यह एक पद । अभ्युदय और नि श्रेयस दो पद । वाचिक, मानस, शरीर-सुख ये तीन पद । धर्म, अर्थ, काम मोक्ष, चार पद । ४ वर्ण, ४ आश्रम ये आठ पद । अर्थात् इनको प्राप्त करानेवाली ।

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥ ऋ० १ । ८६ । १ ॥

गोतम ऋषि । मरुतो देवता । आर्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (विमहस) विविधरूपो से और विशेष रीति से पूजन, आदर सत्कार करने योग्य (मरुतः) मरुद्गणो ! वैश्यजनो ! और विद्वान् पुरुषो ! एव वायु के समान तीव्रगामी सैनिक पुरुषो ! आप लोग (यस्य हि क्षये) जिसके अधीन राष्ट्र में रहकर (दिव) दिव्यगुणो

को या उत्तम पदार्थों को (पाथ) प्राप्त होते और पालन करते हो (सः) वह ही (जनः) पुरुष (सुगोपातमः) सबसे उत्तम पृथ्वी या वाणी या प्रजा का रक्षक है ॥ शत० ४ । ५ । २ । १७ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरीमाभिः ॥ ३२ ॥ ऋ० १ । २२ । १३ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । द्यावापृथिव्यौ दम्पती वा देवते । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(मही) बड़ी भारी पूजनीय (द्यौः द्यौ आकाश के समान या सूर्य के समान तेजस्वी और वीर्यवान् , सेचनसमर्थ राजा और पति और (पृथिवी च) उसके आश्रय पर प्राण धारण करनेवाली पृथिवी और धारणादि शक्ति सम्पन्न स्त्री के समान पृथिवीवासिनी प्रजा, दोनों (इमं यज्ञम्) इस राष्ट्रमय और गृहस्थरूप यज्ञ को (मिमिक्षताम्) सेचन करे । जैसे सूर्य पृथिवी पर वर्षा करता है और पृथ्वी अपना जल प्रदान करती है इस प्रकार वे प्राणियों के जीवनरूप अन्न से उनको पालते हैं उसी प्रकार राजा प्रजा से कर ले, प्रजा राजा के ऐश्वर्यों से बलवान् बने । इसी प्रकार पति पत्नी वीर्य सेचन करें और प्रजा लाभ करें । और दोनों (नः) हमें (भरीमाभिः) भरण पोषणकारी पदार्थों और साधनों से (पिपृताम्) पालन करें, पूर्ण करें ॥ शत० ४ । ५ । २ । १८ ॥

[१]आतिष्ठ वृत्रहन्रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । अर्वाचीनꣳ सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना । [२] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३३ ॥ ऋ० १ । ८४ । ३ ॥

गोतम ऋषिः । षोडशी इन्द्रो देवता । (१) आसुर्यनुष्टुप् । गान्धारः ।
(२) विराडार्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—शोडषी इन्द्र का वर्णन—हे (वृत्रहन्) वृत्र-मेघ के समान पुर के घेरने वाले शत्रु के या विघ्नकारी पुरुष के नाशकारिन् ! राजन् ! तू (रथम्)

रमणीय राज्यासनरूप रथ पर (आतिष्ठ) विराजमान हो। (ते) तेरे (हरी) हरणशील वेगवान् अश्वों के समान धारण, आकर्षण गुण (ब्रह्मणा) ब्रह्म, ज्ञान या ज्ञानी पुरुष ब्रह्मवेत्ता विद्वान् या ऐश्वर्य या बल से (युक्ता) युक्त हों। (आवा) मेघ के समान सुखों का वर्षक, ज्ञानोपदेशक विद्वान् (वग्नुना) उत्तम वाणी द्वारा (अर्वाचीनम्) अधोगामी (ते मन.) तेरे चित्त को (सु कृणोतु) उत्तम मार्ग में प्रवृत्त करे। हे पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य के नियमव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है। (त्वा) तुझको (षोडशिने इन्द्राय) सोलहों कलाओं से सम्पन्न, इन्द्र परमैश्वर्यवान् राजा के लिये नियुक्त करता हूं। (ते एष योनि) तेरा यह आश्रय, पद है। (त्वा षोडशिने इन्द्राय) तुझे योग्य पुरुष को षोडश कला वाले राज्य के प्रधान १६ पदाधिकार शक्तियों से युक्त अथवा १६ महामात्यों से युक्त इन्द्र के लिये नियुक्त करता हू ॥ शत० ४ । ५ । ३ । ६ ॥

षोडप कला—स प्रजापति. षोडशधा आत्मान व्यकुरुत। भद्रं च समाप्तिश्चाऽऽभूतिश्च सम्भूतिश्च, भूतं च सर्वं च, रूपञ्चापरिमितं च, श्रीश्च यशश्च नाम चाग्रञ्च, सजाताश्च पयश्च मही च रसश्च। जै० उ० १ । ४६ । २ ॥ प्रजापति का भद्र आदि १६ कला हैं। राज्य के १६ अमात्य १६ कला है। यज्ञ में १६ ऋत्विग् हैं। देह में शिर, ग्रीवा आदि १६ अग हैं। ब्रह्म में सत्, असत् वाक् मन आदि सोलह कला हैं। गृहपति पक्ष मे मन्त्र स्पष्ट है।

[1]युञ्ज्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा। अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर। [2]उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३४ ॥ ऋ० १ । १४ । ३ ॥

मधुच्छन्दा ऋषि । षोडशी इन्द्रो देवता। (१) विराडार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार. ।
(२) विराडार्ष्युष्णिक् ऋषभ ॥

३४—' षोळशि० ' सर्वत्र काण्व० ॥

भा०--हे (इन्द्र) इन्द्र ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तू (वृषणा) वीर्यवान् वर्षणशील, (केशिनौ) उत्तम केशों वाले (कक्ष्यप्रा) बगल मे बंधने की पेटी से भरे पूरे, कसे कसाये, (हरी) दो अश्वो को अपने रथ में (युंक्ष्व) जोड़ । उसी प्रकार अपने रमणीय राष्ट्र में (कक्ष्यप्रा) एक दूसरे के कक्ष्य अर्थात् दायें बांयें पार्श्वों के पूर्ण करने वाले (वृषणा) वीर्य सेचन मे समर्थ (हरी) परस्पर के चित्तहारी (केशिनौ) उत्तम प्रसाधित केशवान्, सुरूप स्त्री पुरुष रूप जोड़ो को गृहस्थ कार्य में (युक्ष्व) नियुक्त कर । तू (सोमपा.) सोम=राष्ट्र का पालक होकर (नः) हमारी (उपश्रुतिम्) स्पष्ट सुनी जाने वाली (गिराम्) वाणी को प्राप्त कर. जान । (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ४ । ५ । ३ । १० ॥

[1] इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् । ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ३५ ॥ ऋ० १ । ८४ । २ ॥

गोतम ऋषि । देवतादि पूर्वोक्तम् ।

भा०—(अप्रतिधृष्टशवसम्) जिसके बल को शत्रु कभी सहन करने मे समर्थ नही है ऐसे (इन्द्रम्) इन्द्र, परमैश्वर्यवान् राजा या सेनापति को ही (हरी) तीव्र गतिमान् अश्व (वहत) वहन करते हैं । हे वीरपुरुष राजन् ! तू (ऋषीणाम्) वेद मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषियो के (स्तुती.) स्तुतियों और (मानुषाणां च) मनुष्यो के (यज्ञम्) आदर सत्कार को (उप) प्राप्त हो ।

परमेश्वर पक्ष में—हरी=ऋग्वेद और सामवेद । दोनो उस सर्वशक्तिमान् का वर्णन करते है । सब ऋषियो की स्तुतियां और सबकी उपासना उसी को प्राप्त होती है ॥

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ ३६ ॥

विवस्वान् ऋषि. । इन्द्र । षोडशी प्रजापति परब्रह्म परमेश्वरो वा देवता ।
भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(यस्मात्) जिससे (पर) उत्कृष्ट, उत्तम (पर अन्य') दूसरा कोई (न जात अस्ति) नही हुआ है और (य) जो (विश्वा भुवनानि समस्त भुवनो लोको मे (आविवेश) आविष्ट, विराजमान, एव व्यापक है। वह (प्रजापति) प्रजा का पालक राजा और परमेश्वर (प्रजया) अपनी प्रजा से (स रराण भली प्रकार रमण करता हुआ अथवा समस्त उत्तम पदार्थों का दान करता हुआ (त्रीणि ज्योतीं षि) सूर्य, विद्युत्, और अग्नि इन तीनो ज्योतियों को (सचते अपने भीतर धारण करता है। (स) वह ही (षोडशी) सोलहों कलाओं से युक्त है ॥

ब्रह्म पक्ष मे - इच्छा, प्राण, श्रद्धा, पृथिवी आप., अग्निः, वायु आकाश इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप , मन्त्र, लोक नाम ये १६ कला है (देखो प्रश्न उप०)।

राजा के पक्ष में—षोडषी प्रजापति सम्राट् वह कहाने योग्य है, जिससे उत्कृष्ट दूसरा न हो। वह अपने राज्य के समस्त स्थानों और पदो पर शासक हो। वह अपने प्रजा सहित रमण करता हुआ तीनो ज्योति सूर्य, विद्युत् अग्नि के गुणों को धारण करे। तेज मे सूर्य, बल में विद्युत् और ज्ञान में अग्नि के समान तेज वी हो। वह 'षोडशी' सोलह कलावान् पुरुषोत्तम पद का भागी होता है ॥

[1] इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ तें भक्तं चक्रतुरग्र एतम्।

[२]तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥ ३७ ॥

विवस्वान् ऋषिः । इन्द्रावरुणौ षोडपी वा देवता । (१) साम्नी त्रिष्टुप्
(२) विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत स्वर ॥

भा०—(इन्द्र॑ च वरुण च) इन्द्र और वरुण (सम्राट् राजा) दोनों क्रम से सम्राट् और राजा हैं । अर्थात् महाराजा चक्रवर्ती राजा का सम्राट् या इन्द्र कहा जाता है और माण्डलिक राजा को राजा या वरुण कहना उचित है । हे प्रजाजन ! या हे राष्ट्र ! (तौ) वे दोनो (अग्रे) सब से प्रथम, मुख्य पद पर विराज कर (ते) तेरे (एतम्) इस (भक्षम्) उपभोग करने योग्य पदार्थ को सेवन (चक्रनुः) करते हैं । और (तयो अनु) उन दोनो के बाद (अहम्) मैं विद्वान् प्रजाजन (भक्षम् अनु-भक्षयामि) राष्ट्र के भोग्य पदार्थ का भोग करता हूं । (वाग्) वाणी जिस प्रकार (प्राणेन स्वाहा) प्राण के साथ मिलकर (सोमै जुषाणा) ज्ञान का सेवन करती हुई तृप्त होती है उसी प्रकार यह (देवी) देवी, पृथिवी या महारानी (सोमस्य) सब के शासन करने हारे राजा के साथ (जुषाणा) प्रेम करती हुई (स्वाहा) उत्तम कीर्त्ति से (तृप्यतु) तृप्त हो ॥

[१]अग्ने पवस्व स्वपाऽअस्मे वर्चः सुवीर्य्यम् । दधद्रयिं मयि पोषम्। [२] उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे। [३] अग्ने वर्चस्विन्वर्चस्वाँस्त्वन्देवेष्वसि वर्चस्वान्महं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३८ ॥ ऋ० ९ । ६६ । २१ ॥

वैखानस ऋषिः । अग्निर्देवता । (१) भुरिक् त्रिपाद् गायत्री । षड्जः ।
(२) स्वराडार्ष्यनुष्टुप् । (३) भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गाधार ॥

३८—'१' इत्यस्य स्थाने 'अग्न आयूषि०' इत्यय च (यजु० १९ । ३८) पठ्यते । काण्व० । अग्ने वर्चस्वन्० इति काण्व० ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, ज्ञानवन् पुरुष ! तू (भ्वपा) शुभ कर्म और ज्ञान से युक्त हो और (अस्मे) हमें (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य से युक्त (वर्च.) तेज (पवस्व) प्रदान कर। (मिय) मुझ में (पोषम्) पुष्टिकारक समृद्धिजनक (रयिम्) वीर्य और ऐश्वर्य (दधत्) धारण करा। हे पुरुष तू (उपयामगृहीत असि) उत्तम राज्यव्यवस्था के वश है। (अग्नये) अग्नि पद के (वर्चसे) तेज के लिये (त्वा) तुझको नियत करता हू। (ते एष योनिः) तेरा यह पद है। (अग्नये वर्चसे त्वा) अग्नि के तेजस्वी पद के लिये तुझे स्थापित करता हू। हे (वर्चस्विन् अग्ने) तेजस्विन् ! अग्ने अग्रणी, विद्वन् ! (देवेषु) देवों, विद्वानों और राजाओं के बीच में (त्व वर्चस्वान्) तू तेजस्वी (असि) है। (अहम्) मैं (मनुष्येषु) मनुष्यों मे (वर्चस्वान् भूयासम्) वर्चस्वी होऊ, अग्नि शब्द से अग्रणी, राजा, विद्वान्, आचार्य आदि ग्रहण करने चाहियें ॥ शत० ४ । ५ । ४ । ६ ॥

'उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रेऽअवेपयः सोममिन्द्र चमू सुतम्। 'उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे । 'इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोऽहम्मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥ ऋ० ८ । १५ । १० ॥

वैखानस ऋषि । इन्द्रो देवता । (१) आर्षी गायत्री । षड्जः ।
(२) स्वराडार्षी (३) भुरिगार्षी (अनुष्टुप्) गाधारः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् राजन् ! ऐश्वर्य की प्राप्ति के अभिलाषिन् ! तू (ओजसा सह) अपने बल, पराक्रम के साथ (उत् तिष्ठन्) ऊपर उठता हुआ, उन्नति लाभ करता हुआ (चमू) अपनी सेनाओं द्वारा (सुतम्) सम्पादित (सोमम्) सोम अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त राज्य पद को (पीत्वा) प्राप्त करके (शिप्रे) अपने हनु और नासिका दोनों को (अवेपयः)

३९—'इन्द्रौजस्वन्नौजस्वास्त्व देवेष्वसि ओजस्वानह०' इति काण्व० ॥

कंपा । अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य स्वादु पदार्थ पीकर तृप्त होजाने पर नाक मुख हिलाता है इसी प्रकार तू भी राज्यैश्वर्य प्राप्त करके अपना सन्तोष प्रकट कर । हे योग्य, वीर पुरुष ! तू (उपयामगृहीत. असि) राज्य-व्यवस्था के द्वारा स्वीकृत है । (त्वा इन्द्राय ओजसे) तुझको पराक्रमशील इन्द्र पद के लिये मैं नियत करता हूं । (एष ते योनि) यह तेरा सिंहासन है । (इन्द्राय त्वा ओजसे) इस पराक्रमशील इन्द्र पद के लिये तुझे इस पद पर स्थित करता हूं । हे (ओजिष्ठ इन्द्र) सबसे अधिक ओज, तेज और पराक्रम से युक्त, इन्द्र ! राजन् ! (त्वं देवेषु ओजिष्ठः असि) तू समस्त राजाओं मे से सबसे अधिक पराक्रमी है । (अहं) मैं तेरे द्वारा (मनुष्येषु ओजिष्ठ. भूयासम्) मनुष्यों में सबसे अधिक ओजस्वी हो जाऊं ॥ शत० ४ । ५ । ४ । १० ॥

अद॑श्रमस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जना॑ँ२अ॒नु भ्रा॑जन्तोऽअ॒ग्नयो॑ यथा । [२] उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्य्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनि॒: सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑ सू॒र्यं भ्रा॑जिष्ठ भ्रा॒जिष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्वसि॒ भ्रा॑जि॒ष्ठोऽहं म॑नु॒ष्ये॒षु भू॒यास॑म् ॥ ४० ॥ ऋ० १ । ५० । ३ ॥

प्रस्कण्व ऋषि. । सूर्यो देवता ॥

भा०—सूर्य की रश्मियां जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नियें के समान दिखाई पड़ती हैं उसी प्रकार (अस्य) इस राजा के (रश्मय.) सूर्यकिरणों के समान दीप्तिवाले तेजस्वी (केतवः) ज्ञापक, ज्ञानवान् अधिकारी लोग (यथा) जिस प्रकार (आजन्त.) देदीप्यमान (अग्नयः) अग्नि हो उसी प्रकार तेजस्वी ज्ञानवान् अग्रणी पुरुष हैं, उनको (जनान् अनु) समस्त प्रजाजनो के उपकार के लिये नियुक्त (अदृश्रम्) देखता हूं । हे तेजस्वी

४०,४१—'सूर्याय त्वा भ्राजे०' सर्वत्र । 'सूर्य भ्राजस्वास्त्व देवेष्वसि भ्राजस्वान्०' इति काण्व० ॥

पुरुष ! तू (उपयामगृहीत' असि) राज्य के व्यवस्था नियमों से बद्ध है। (आजाय सूर्याय त्वा) प्रकाशमान तेजस्वी 'सूर्य' पद के लिये तुझे वरता हू। (एष ते योनि) तेरा यह आश्रय पद है। (आजाय सूर्याय त्वा) प्रदीप्त सूर्य पद के लिये तुझे स्थापित करता हूं। हे (आजिष्ट सूर्य) अति दीप्त 'सूर्य' के समान पदाधिकारिन् ! (आजिष्ट देवेषु असि) तू सब देव, विद्वानो और राजाओ में सबसे अधिक तेज और दीप्ति से युक्त है। तेरे तेज से (मनुष्येषु अहम्) मनुष्यो मे मैं (आजिष्ट भूयासम्) सबसे अधिक दीप्तिमान् होऊ ॥ शत० ४ । ५ । ४ । ११ ॥

३८–४० तीनो मन्त्र परमात्मा के पक्ष मे भी स्पष्ट हैं जैसे -(१) हे ज्ञानवन् ! परमेश्वर हमें वीर्यवान् तेज और पुष्टिकारक बल दे। (२) हे इन्द्र ! परमेश्वर अपने (चमू) आदान सामर्थ्यों से इस प्रकट (सोमम्) महान् ससार को स्वय पान करके, ग्रहण करके तू (शिप्रे) पृथिवी और आकाश दोनों को चला रहा है। तू सबसे अधिक बलशाली है हमे बल दे। (३) हे (सूर्य) सूर्य के समान परमेश्वर आपकी समस्त किरणें अग्नियो के समान दीप्त हैं। आप हमे दीप्ति दें। हम दीप्तिमान् हों।

'उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राजायैष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजाय ॥ ४१ ॥ ऋ० ५ । ५० । १ ॥

प्रस्कण्व ऋषि । सूर्यो देवता । (१) निचृद्गायत्री, ।(२) स्वराडार्षी, गायत्री षड्ज ॥

भा०—(त्यं) उस (जातवेदसम्) समस्त पदार्थों के ज्ञाता, वे दो के मूलकारण या समस्त पदार्थों के स्वामी परमेश्वर को और ऐश्वर्यवान् (सूर्यं देवम्) सूर्य के समान तेजस्वी देव, राजा और परमेश्वर को (केतव)

४१—देवानामाम् । सर्वा० । अत पर 'चित्र देवानाम्०' इति (यजु० ७ । ४२) मन्त्रः, (८ । ४०) उपयाम० ०भूयासम्, त्रय च मन्त्रः पठ्यते ।

किरणों के समान प्रकाशमान ज्ञानी विद्वान् लोग (विश्वाय दृशे) समस्त संसार के यथा योग्य ज्ञानपूर्वक देखने के लिये निरीक्षक साक्षीरूप से (उद् वहन्ति) सबके ऊपर स्थापित करते हैं। हे सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष तू (उपयामगृहीत. असि) राज्य नियमव्यवस्था द्वारा सुबद्ध है। (त्वा सूर्याय आजाय) तुझको तेजोयुक्त सूर्य पद के लिये नियुक्त करते हैं। (एष. ते योनिः) यह तेरा पद है। (सूर्याय आजाय त्वा) सूर्य के समान तेजस्वी पदाधिकार के लिये तुझको स्थापित करता हूं।

परमात्मा पक्ष में—(केतवः) ज्ञानी पुरुष उस सर्वज्ञ सर्वेश्वर देव को (विश्वाय दृशे) समस्त विश्व के हित के लिये उस पर साक्षीरूप से द्रष्टा के रूप में (उद् वहन्ति) सर्वोच्च बतलाते हैं॥ शत० ४। ६। २। ८॥

आजिघ्र कलशं मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः। पुनरूर्जा निवर्त्तस्व सा नः सहस्रं धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्मा विशतादयिः ॥४२॥

कुसुरुबिन्दुर्ऋषिः। पत्नी गौर्वा देवता। स्वराड् ब्राह्मी उष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—हे (महि) पूजा करने योग्य, गौ के समान महती, एवं गृहस्थ में पत्नी के समान आदर करने योग्य पृथिवी! तू (कलशम्) समस्त कलाओं, राज्य के अंगों को सुचारुरूप से धारण करनेवाले राष्ट्र और राष्ट्रपति को (आ जिघ्र) आघ्राण कर, स्वीकार कर (त्वा) तुझे मैं (इन्दवः) ऐश्वर्यवान् राजा, प्रजाजन और ऐश्वर्य के पदार्थ (आ विशन्तु) प्रविष्ट हों। तू (पुनः) बार २ (ऊर्जा) अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थों से रहित (निवर्त्तस्व) भरी पूरी हो, और हमें प्राप्त हो। (सा) वह तू (न) हमें (उरुधारा) बहुत से धारण पोषण के सामर्थ्यवाली और (पयस्वती) अन्न, घी, दूध आदि से युक्त गौ के समान होकर (सहस्रं) हजारों ऐश्वर्य (धुक्ष्व) प्रदान कर। और (रयिः) ऐश्वर्यरूप तू (मा) मुझको (पुनः) बार २ (आविशतात्) प्राप्त हो या

दान दे। इसी प्रकार गृहस्थ अपनी पत्नी को भी कहे वह कलश के समान पति को सुपात्र जानकर ग्रहण करे, उसमे सब ऐश्वर्य प्राप्त हो। वह अन्न से युक्त हो। घर के सहस्रो ऐश्वर्य बढ़ावे। पुन पति को ही बार २ प्राप्त हो ॥ शत० ४ । ५ । ८ । ७-९ ॥

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदितेसरस्वति महि विश्रुति। एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात् ॥ ४३ ॥

ऋषिर्देवते पूर्वोक्ते । आर्षी पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—हे (इडे) स्तुति योग्य अन्नदात्रि ! हे (रन्ते) रमण करने योग्य रमणीय ! हे (हव्ये) स्वीकार करने योग्य ! हे दान करने योग्य ! हे (काम्ये) कामना करने योग्य कमनीय ! कान्तिमति ! हे (ज्योते) ज्योतिष्मति प्रकाशस्वरूप ! हे (चन्द्रे) चन्द्र के समान आह्लादकारिणी ! धनैश्वर्यरूपे ! हे (अदिते) अविनाशिनि ! अखण्डचरित्रे ! हे (महि) पूजनीय ! हे महति ! हे (विश्रुति) विविध गुणों से प्रसिद्ध, विविध विद्याओं में कुशल (मा) मुझे अपने पति पालक को (देवेभ्य·) अन्य विद्या आदि देनेवाले एवं विजयी पुरुषों के समक्ष (सुकृतम्) उत्तम कर्म करनेवाला पुण्याचारवान् (ब्रूतात्) बतला, प्रसिद्ध कर। हे (अघ्न्ध) कभी दण्ड न देने योग्य ! कभी न मारने योग्य ! न कभी विनाश करने योग्य ! (एता) इडा, रन्ता, हव्या, चन्द्रा, ज्योता, अदिति, सरस्वती, मही, विश्रुती ये सब (ते) तेरे ही (नामानि) नाम, तेरे ही स्वरूप हैं ॥ शत० ४ । ५ । ८ । १० ॥

गौ, स्त्री और पृथिवी तीनों पर समानरूप से यह मन्त्र लगता है। इसके अध्यात्म मे ब्रह्मशक्ति, आत्मा का चितिशक्ति और वेदवाणी का भी इस मन्त्र में वर्णन है।

' वि नऽइन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः। योऽअस्माँ२ऽ

आभिदासत्यधरं गमया तमः । [२] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विमृधऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विमृधे ॥ ४४ ॥

ऋ० १० । १५ । १४ ॥

शासो भारद्वाज ऋषि । विमृद् इन्द्रो देवता । (१) भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः । (२) विराडार्षी गायत्री । षड्ज. ॥

भा०—हे (इन्द्र) सेनापते या राजन् ! तू (न) हमारे (मृध) शत्रुओं को (विजहि) विनाश कर (पृतन्यत) युद्ध के लिये सेनासंग्रह करने वाले या सेना से चढाई करने वाले शत्रुओं को (नीचा यच्छ) नीचे, गहरे स्थानो मे बन्द करके रख या (नीचा यच्छ) उन नीच, दुष्ट पुरुषो को बांध कर रख । (य') जो (अस्मान्) हमको (अभि दासति) सब प्रकार से नाश करना चाहता है उसको (अधर तम') नीचे गहरे अन्धकार के स्थान में (गमय) पहुंचा । हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीत असि) राज्यव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है । (त्वा) तुझको (विमृधे इन्द्राय) विशेष रूप से शत्रुओं के नाशक, विशेष संग्रामकारी इन्द्र सेनापति के पद पर नियुक्त करता हूं । (ते एष योनि) तेरा यह पद या आश्रय है । (विमृध इन्द्राय त्वा) 'विमृध इन्द्र' नामक पद पर तुझे स्थापित करता हू ॥ शत० ४ । ६ । ४ । ४ ॥

[१] वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजेऽअद्या हुवेम । स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशंस्भूरवसे साधुकर्मा । [२] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे ॥ ४५ ॥

शासो भारद्वाज ऋषिः । वाचस्पतिर्विश्वकर्मा इन्द्रो देवता । (१) भुरिगार्षी त्रिष्टुप् धैवत (२) स्वराडार्ष्यनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—(वाच. पतिम्) वाणी के स्वामी, सब आज्ञाओं के स्वामी,

(विश्वकर्माणम्) समस्त कर्मों और धर्मों के व्यवस्थापक उनके सम्पादन करने कराने में समर्थ, (मनोजुवम्) मनके समान वेगवान् पुरुष को हम (अद्या) आज, नित्य (वाजे) सग्राम कार्य में (हुवेम) बुलाते हैं, चाहते हैं। (स.) वह (साधुकर्मा) उत्तम श्रेष्ठ कर्म करने हारा सदाचारी, अथवा सब कामो के करने में कुशल (विश्वशम्भू) सबका कल्याणकारी होकर (न) हमार (विश्वानि) समस्त (हवनानि) प्रार्थनाओ को अभिलाषाओं को (जोषत्) स्वीकार करे और पूर्ण करे। हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीत असि) राष्ट्रव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है। (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझको 'विश्वकर्मा इन्द्र' के पद पर नियुक्त करता हू। (एष ते योनि) यह तेरा पद और स्थान है (त्वा इन्द्राय विश्वकर्मणे) तुझको इन्द्र विश्वकर्मा पद पर स्थापित करता हू॥ शत० ४। ६। ४। ५॥

[1] विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्। तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत्। [2] उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मणऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मणे॥ ४६॥

शामो भारद्वाज ऋषिः। विश्वकर्मा इन्द्रो देवता। पूर्ववत् छन्दः स्वरौ॥

भा०—हे (विश्वकर्मन्) समस्त कला कौशल के कार्यों को भली प्रकार से सम्पादन करने में समर्थ विद्वान् क्रियाकुशल पुरुष [1] तू (वर्धनेन हविषा) वृद्धि करने वाले उपाय या साधन से या काष्ठ, लोह आदि पदार्थों के छेदन भेदन की (हविषा) उचित साधन से सामग्री से (त्रातारम्) राष्ट्र के रक्षक इन्द्र को (अवध्यम् अकृणोः) अवध्य, बना देता है। अर्थात् तेरे कौशलों से सुरक्षित राजा को कोई भी युद्ध मे मारने मे समर्थ नहीं होता है। (तस्मै) उस रक्षक राजा के आगे (पूर्वी) शिक्षा

४६—अतःपर 'विश्वकर्मन्० ०सूरिरस्तु' अय (यजु १७। २०) मन्त्रः पठ्यते। काण्व०॥

में पूर्ण, (विशः) समस्त प्रजाएं (सम् अनमन्त) भली प्रकार झुकती हैं। तेरे ही कारण (अयम्) यह राजा (विहव्यः) विशेष साधनों से सम्पन्न (यथा असत्) जिस प्रकार हो तू ऐसा प्रयत्न कर। हे योग्य पुरुष (उपयाम गृहीतः असि०) इत्यादि पूर्ववत् ॥ शत० ४ । ५ । ४ । ६ ॥

उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रछन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुभेऽभिगरः ॥ ४७ ॥

देवा ऋषय । अदाभ्यो देवता ! विराड् ब्राह्मी बृहती मध्यमः ॥

भा०—हे योग्य पुरुष तू (उपयामगृहीतः असि) राज्यव्यवस्था द्वारा स्वीकृत है। (अग्नये) अग्नि पद के लिये (गायत्रछन्दसम्) गायत्री छन्द से युक्त (त्वा) तुझको (गृह्णामि) स्वीकार करता हू। और हे पुरुष (त्रिष्टुप् छन्दसम् त्वा) त्रिष्टुप् छन्द से युक्त तुझको (इन्द्राय) इन्द्रपद के लिये स्वीकार करता हू। (जगत्-छन्दसं त्वा) जगत् छन्द से युक्त तुझको (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त देव विद्वानों के हित के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हू। हे राजन् ! (ते अभिगरः) तेरा उपदेष्टा आज्ञापक (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् यह वेदवाणी है ॥ शत० ॥

(१) 'गायत्रछन्दसं'—गायत्रोऽय भूलोकः ॥ कौ० ८ । ९ ॥ ब्रह्म-गायत्री, क्षत्र त्रिष्टुप्। भूलोक और ब्रह्म वेद या ब्राह्मणों की 'छन्दस्' अर्थात् आच्छादक रक्षक को 'अग्नि' पद के लिये नियुक्त करे।

(२) क्षत्रस्यैवैतच्छन्दो यत् त्रिष्टुप्। कौ० १० । ५ ॥ बलं वै वीर्यं त्रिष्टुप् कौ० ७ । २ ॥ बल की रक्षा करने वाले को 'इन्द्र' पद के लिये नियुक्त करे।

(३) पशवो वै जगती कौ० १६ । २ ॥ जगती वै छन्दसा परमं पोषं पुष्टा। समस्त अन्य देवों के पदों पर पशु प्रजा समृद्धि के पालक पुरुषों को नियुक्त करे ॥

(४) 'अनुष्टुप्'—वाग् वा अनुष्टुप्। श० ३। १। ४। २॥ प्रजापतिर्वा अनुष्टुप्। ता० ४। ८। ९॥ आनुष्टुभो राजन्य.। तै० १। ८। २॥ वार्णी और प्रजा पालक शक्ति राष्ट्र का 'अभिगर' आज्ञापक या उपदेष्टा हो।

[1] श्रेशीनां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [2] कुकूननानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [3] भ्रन्दनानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [4] मादिन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [5] मधुन्तमानां त्वा पत्मन्नाधूनोमि। [6] शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोम्यन्हो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु॥ ४८॥

देवा ऋषयः। प्रजापतयो देवता। (१, ३, ४, ५) याजुषी त्रिष्टुप् धैवतः। (२) याजुषी जगती। निषादः। ६। साम्नी बृहती मध्यमः॥

भा०—हे सोम! राजन्! हे (पत्मन्) पतनशील! (श्रेशीनाम्) आवृतस्थान पर शयन करने वाली प्रजाओं के बीच धर्माचरण से गिरते हुए (त्वा) तुझको (आधूनोमि) तुझे कपाता हूं। (कुकूननाना त्वा पत्मन् आधूनोमि) निरन्तर विद्याभ्यास करने वाली विनयशील प्रजाओं के बीच न्यायाचरण से गिरने पर (त्वा) तुझको मैं (आधूनोमि) कम्पित करू। (भन्दनाना) कल्याणकारिणी, सुख देने वाली प्रजाओं के बीच (पत्मन् त्वा आधूपयामि) तेरा अधःपतन होने पर मैं पुरोहित तुझको कम्पित करूं। (मदिन्तमाना पत्मन् त्वा आधूनोमि) अत्यन्त हर्षदायिनी, स्वयं सदा सन्तुष्ट रहने वाली प्रजाओं के बीच नीच आचरण से गिरने वाले तुझको मैं दण्ड से कम्पित करू। (मधुन्तमाना त्वा पत्मन् आधूनोमि) मधुर स्वभाव वाली ज्ञान सम्पन्न प्राजाओं के बीच अन्याय से गिरने पर तुझको मै कम्पित करू। हे (शुक्र) कान्तिमान् शुद्धाचरणवान् राजन्! (अन्हः रूपे) दिन या सूर्य के प्रदीप्त स्वरूप में और (सूर्यस्यरश्मिषु) सूर्य की किरणों

४८—'मध्वन्तमाना०' इति काण्व०॥

के समान स्वयं सब प्रकार का कार्य साधन करने वाले पुरुषों में (शुक्रम्) दीप्तिमान् तुझका मै पत्यन्) नीचाचार होने पर मैं तुझे (आधूनोमि) कम्पित करता हू । पुरोहित राजा को नाना प्रकार की प्रजाओं में रहकर नीच आचार करने पर भयादि दिखाकर उन दुराचारों से बचावे । राजा प्रजा के समान पति पत्नी का भी व्यवहार है। अतः पत्नी या पुरोहित भिन्न स्वभाव को परदाराओं के निमित्त दुराचार में गिरने वाले पति को नाना उपायों से दण्डित कर दुष्ट मार्ग से बचावे ॥

[1] ककुभꣳ रूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः । [2] यत्ते सोमादाभ्यन्नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥ ४९ ॥

देवा ऋषय. । विश्वेदेवाः प्रजापतयो देवताः । (१) विराट् प्राजापत्या जगती । निषादः । (२) भुरिगार्षी उष्णिक् । वैवतः ॥

भा०—(वृषभस्य) सब सुखों के वर्षक राजा या सभापति का (ककुभम्) दिशा के समान शुद्ध और आदित्य के समान कान्तिमान् (रूपं रोचते) रूप प्रकाशित होता है । (शुक्रस्य) दीप्त, उज्ज्वल शुद्ध धर्म का (बृहत्) महान् (शुक्रः) कान्तिमान आदित्य जिस प्रकार (शुक्रस्य) शुद्ध दीप्ति मानादिका (पुरोगाः) पुरोगामी, नेता, प्रवर्त्तक, होता है उसी प्रकार (शुक्र) तेजस्वी शुद्धाचारी राजा ही (शुक्रस्य पुरोगाः) शुक्र और ते जस्वी धर्मानुकूल राष्ट्र का नेता होता है, या तेजस्वी राजा का तेजस्वी विद्वान् ही पुरोगामी नेता होता है । इसी प्रकार (सोम.) हे राजन् तू सोम सबका प्रेरक होकर (सोमस्य) ऐश्वर्य पूर्ण राष्ट्र का (पुरोगा) नेता हो । हे सोम ! राजन् ! (यत) क्योंकि (ते) तेरा (अदाभ्यम्) कभी नाश न होने वाला

४९—'ककुहꣳ'० 'बृहत्सोमः सोमस्य पुरोगा शुक्रा शुक्रस्य पुरोगाः स्वाहा। इति काण्व० ॥

(जागृवि) सदा जागरणशील, सदा सावधान (नाम) स्वरूप है (तस्मै) उस कर्त्तव्य के लिये ही (त्वा गृह्णामि) तुझे मैं ग्रहण करता हूं। हे (सोम) राजन् ! (तस्मै ते) उस तेरे लिये (सु आहा) उत्तम यश प्राप्त हो ॥

उ॒शिक् त्वं दे॑व सोमा॒ग्नेः प्रि॒यं पाथोऽपी॑हि व॒शी त्वं दे॑व सो॒मे-न्द्र॑स्य प्रि॒यं पाथोऽपी॒ह्यस्मत्स॑खा॒ त्वं दे॑व सोम॒ विश्वे॑षां दे॒वानां-प्रि॒यं पाथोऽपी॑हि ॥ ५० ॥

देवा ऋषय. प्रजापति. सोमो देवता । स्वराडार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे (देवसोम) दानशील, राजन् ! सोम ! तू (उशिक्) कान्तिमान् एवं इच्छावान् होकर (अग्ने.) उत्तम विद्वान्, अग्रणी पुरुष के (प्रियम् पाथः) प्रिय लगाने वाले, पालनकारी कर्त्तव्य को (अपीहि) प्राप्त हो। हे (देव सोम) देव ! सोम ! राजन् ! (त्वम्) तू (इन्द्रस्य प्रियम् पाथः अपीहि) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् सेनापति के प्रिय पालन व्यवहार को प्राप्त हो। हे (देव सोम) देव राजन् ! सोम ! तू (अस्मत् सखा) हमारा मित्र होकर (विश्वेषा देवानाम्) समस्त देवों, विद्वानों, राज्याधिकारियों और प्रजाजनों के (प्रियम् पाथ.) प्रिय अभिमत पालन-कर्त्तव्य या पदाधिकार को प्राप्त हो ॥

इ॒ह र॑ति॒रि॒ह र॑मध्वमि॒ह धृ॑ति॒रि॒ह स्व॑धृ॒तिः स्वाहा॑। उ॒प॒सृ॒ज-न्ध॒रुणं॑मात्रे ध॒रुणो॑ मा॒तर॑ं धयन्। रा॒यस्पोष॑मस्मासु दीधर॒त् स्वाहा॑ ॥ ५१ ॥

देवा ऋषयः । प्रजापतयो देवताः । आर्षी जगती । निषाद. ॥

५०—अत. पर (७ । २७–२९), (७ । ४१–४८), (८ । १५–२२) (८ । २३–२७), (८ । २८–३३), (८ । ४२–४३) (८ । ५२) क्रमश पठ्यन्ते काण्व० ॥

भा०—हे प्रजापालक राजा के अधीन शासक पुरुषो ! हे गृहपति जनो ! (इह) इस राष्ट्र और घर में (रतिः) आनन्द प्रमोद आपकी इच्छा रहे । (इह रमध्वम्) यहां आप लोग आनन्द से जीवन व्यतीत करो । (इह) यहां (धृतिः) सब पदार्थ और व्यवहार स्थिर हैं आप लोगों की (स्वधृति) अपनी स्थिति और आपके समस्त पदार्थों की स्थिति (स्वाहा) सत्यवाणी और क्रिया भी यहां ही रहे । हे प्रजापालको ! आप लोग (धरुणम्) धारण करने योग्य जिस सन्तान को (मात्रे) पुत्र की माता के (उप असृजन्) आधीन करते हो वह (धरुणः) बालक (मातरम्) उस माता का (धयन्) स्तन्य-पान करता हुआ (अस्मासु) हम में (स्वाहा) उत्तम विद्या और सदाचार लाभ करके (राय पोषम् दीधरत्) धनैश्वर्य की वृद्धि करे ॥ शत० ४ । ६ । ७ । ६ ॥

सुत्रस्य ऽऋद्धिरस्यगन्म ज्योतिरमृता ऽअभूम ।
दिवं पृथिव्या ऽअध्यारुहामाविदाम देवान्त्स्वर्ज्योतिः ॥ ५२ ॥

ऋ० ८ । ४८ । ३ ॥

देवा ऋषय. । प्रजापतिर्देवता । भुरिगार्षी बृहती । मध्यम. ॥

भा०—हे विद्वन् ! हे राजन् ! (सत्रस्य) परस्पर संगत या एकत्र हुए राजा प्रजा के राष्ट्ररूप यज्ञ का (ऋद्धि असि) तू ऐश्वर्य या समृद्ध-रूप या शोभा है । हम सब प्रजाजन (ज्योति अगन्म) विज्ञान के प्रकाश और ऐश्वर्य को प्राप्त हों । हम लोग (अमृताः अभूम) अमृत, १०० वर्ष तक के दीर्घ जीवन वाले हो । (पृथिव्या) इस पृथिवी से (दिवम्) प्रकाशमय लोक, ज्ञान ऐश्वर्य को (अधि आरुहाम) प्राप्त हों । (देवान्) विद्वान् पुरुषों का (आ आविदाम) नित्य संग लाभ करें । और (ज्योतिः) सब पदार्थ के प्रकाशक (स्वः) सुखस्वरूप, आनन्दमय परम मोक्ष को भी प्राप्त करे ॥ शत० ४ । ६ । ९ । १२ ॥

[1]युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यादप तं-तमिद्धतं वज्रेण तं-तमिद्धतम्। [2]दूरे चत्ताय छन्त्सद् गहनं यदिनक्षत्। [3]अस्माकꣳ शत्रून् परि शूर विश्वतो दर्मा दर्षीष्ट विश्वतः। [4]भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभि. स्याम सुवीरा वीरैः सुपोषाः पोषैः ॥ ५३ ॥ ऋ० १ । १३२ । ६ ॥

देवा ऋषयः। इन्द्रापर्वतौ देवते। (१) आर्ष्यनुष्टुप्। गान्धार । (२) आसुर्युष्णिक्। ऋषभः। (३) प्राजापत्या बृहती। मध्यम (४) विराट् प्राजापत्या बृहती। पञ्चम ॥

भा०—हे (इन्द्रपर्वता) इन्द्र और पर्वत! सूर्य के समान तेजस्विन् और पर्वत के समान अभेद्य सेनापते! और व्यूहकारिन् सेनापति के सेनाजनो! (युवम्) आप दोनों (पुरायुधा) आगे बढ़कर युद्ध करनेवाले होकर (य) जो भी (न) हम पर (पृतन्यात्) सेना से चढ़ाई करे (तं त) उस २ को (इत्) ही (अप हतम्) मार भगाओ। (त तं) उस २ को (इत्) ही (वज्रेण) वज्र, खाँडा आदि अस्त्र शस्त्रों से (हतम्) मारो। (यद्) यदि वह शत्रुदल (गहनम्) हमारे सैन्य तक (इनक्षत्) पहुच जाय तो उसको (दूरे चत्ताय) दूर भगादेने के लिये (छन्त्सत्) पराक्रम से दूर करो। हे (शूर) शूरवीर सेनापते! तू (दर्मा) शत्रुदल के फाड़देने में समर्थ होकर (अस्माकम्) हमारे (विश्वतः) चारों तरफ आये हुए (शत्रून्) शत्रुओं को (विश्वत) सब ओर से एकदम (दर्षीष्ट) काट फाट डाले। (भू. भुव. स्व.) भूमि, अन्तरिक्ष और आकाश तीनों लोकों में हम (प्रजाभि.) अपनी उत्तम सन्तानों से (सुप्रजाः स्याम) उत्तम प्रजावान् बनें, (वीर.) वीर, (सुवीरा.) उत्तम वीरों वाले और (पौषै.) धनादि ऐश्वर्यों से (सुपोषा.) उत्तम समृद्धिशाली (स्याम) हों ॥ शत० ४ । ६ । ६ । १४–२५ ॥

५३—'०सुप्रजा: प्रजया ।' इति काण्व० ॥

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामन्धो अच्छेतः।
सविता सन्यां विश्वकर्मा दीक्षायां पूषा सोमक्रयणयाम् ॥ ५४ ॥

वसिष्ठ ऋषिः। प्रजापतिर्देवता। साम्न्युष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—यज्ञमय प्रजापति या सोम के या राजा के कर्त्तव्यों के भिन्न २ रूप। (सोमः अभिधीतः) साक्षात् संकल्प किया जाय या मन से विचारा जाय तो वह वस्तुतः (परमेष्ठी) परम=सर्वोच्चस्थान पर विराजनेवाला है। (२) (वाचि व्याहृतायाम्) उच्चारण की जानेवाली वाणी या आज्ञा करने में वह (प्रजापतिः) 'प्रजापति' प्रजा का स्वामी है। (३) (अच्छेत अन्धः) साक्षात् देखने या प्राप्त करने पर 'अन्धः' अर्थात् अन्न के समान प्राणप्रद है। (४) वह (सन्यां) प्रजाओं को ऐश्वर्य बांटने के कार्य में राजा स्वयं (सविता) सूर्य के समान सबको समानरूप से प्रदान करता है। (५) (दीक्षायां विश्वकर्मा) दीक्षा अर्थात् व्रत धारण करने के अवसर पर वह विश्वकर्मा है वह समस्त कार्यों को सुचारु रूप से करने में समर्थ हो। (६) (सोमक्रयणयाम्) सोमक्रयणी अर्थात् सोम राजा को शासन के कार्य के लिये समस्त पृथिवी को समक्ष रखकर प्राप्त करने के अवसर पर वह साक्षात् (पूषा) 'पूषा' सबका पोषक है ॥

सोमयाग के पक्ष में—यजमान के संकल्प करने पर सोम परमेष्ठी है। मुंह से कहदेने पर कि मैं सोमयाग करूंगा वह सोम 'प्रजापति' है। सोम को आंखों से देखले तो वह सोम 'अन्धस्' है। सोम को विभक्त करने पर वह 'सविता' है। दीक्षा लेने के अवसर पर 'विश्वकर्मा' है। सोमक्रयणी इष्टि के अवसर पर वह 'पूषा' है।

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः प्रणयमानो मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्ट उरावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः ॥ ५५ ॥

५५—'०क्रपाय०' इति दयानन्दाभिमत पाठः। 'ऊरा आ०' इति काण्व०।

भा०—(७) (क्रयाय उप-उत्थितः) क्रय अर्थात् द्रव्य देकर उसके बदले में शत्रु के विरुद्ध उठकर चढ़ते समय सोम अर्थात् राजशक्ति का स्वरूप (इन्द्र मरुतः च) इन्द्र सेनापति और मरुत् अर्थात् प्राणघातक सेना के वीरजन हैं। (८) (पण्यमान·) नाना भोग्य पदार्थों के एवज में खरीद कर उसको राजपद देते समय वह राजा सोम स्वय (असुरः) महान् व्यापारी है। (९) (क्रीत मित्र) जब स्वीकार ही कर लिया जा चुकता है तब वह प्रजा का मित्र स्नेही है। (१०) (उरौ) विशाल राज्य के आसन पर (आसन्न·) स्थित राजा साक्षात् (शिपिविष्टः विष्णु·) किरणों से आवृत, व्यापक तेज से युक्त सूर्य के समान 'शिपिविष्ट विष्णु' अथवा शयन स्थान में सोया, प्रसुप्तरूप में विद्यमान, व्यापक आत्मा के समान है। (११) (नरन्धिष) समस्त मनुष्यों को आज्ञा देने हारा और सबको हिंसा से बचाने वाला होकर वह (विष्णुः) 'विष्णु' है। 'इन्द्रश्च मरुत्श्च क्रपायोपोत्थित·' यह पाठ महर्षि दयानन्द को अभिप्रेत है। उस पाठ में (क्रपाय उप-उत्थितः) बलपूर्वक कार्य करने के लिये उद्यत राजा इन्द्र और मरुत् है। ऐसा अर्थ जानना चाहिये ॥

'शिपिविष्ट·'—शिपयोऽन्तर्रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति। निरु० ५। २। ३॥ अन्यत्र। ऋ० ७। १००। ६। "किमित्ते विष्णोऽपरिऽक्ष्य भूत्। प्रयद् वक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मा वर्पो अस्मदपगूह एतत् यद् अन्यरूप· समिथे बभूथ"। हे प्रजापालक विष्णो! राजन्! तेरे विषय में हम क्या कहें? तू अपने को 'शिपिविष्ट' कहता है। अपना वह तेजस्वीरूप हम से मत छिपा जो युद्ध में तू दूसरा रूप धारण करता है ॥

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसुन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो हविर्द्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणः ॥ ५६ ॥

वसिष्ठ ऋषि । आर्षी पंक्तिः । पञ्चम· ॥

भा०—(अ ऊह्यमाणः आगतः) अति आदर से सवारी आदि द्वारा लाया जाकर जब राजा प्राप्त होता है तब वह (सोमः) 'सोम', सर्वोपरि शासक और सबका आज्ञापक है। (आसन्द्याम् आसन्नः) आसन्दी राज्यसिंहासन पर स्थित हुआ वह राजा (वरूणः) सर्वश्रेष्ठ, सब से वरण करने योग्य, पापों से निवारक 'वरूण' है। (आग्नीध्रे अग्निः) तेजस्वी पद पर विराजमान, अग्नि के समान सन्तापकारी पद पर विराजमान वह (अग्नि.) अग्नि है। (हविर्धाने) वह अन्न द्वारा सब राष्ट्र के पालक 'हविर्धान' सब से मुख्य पद पर विराजता हुआ समस्त पृथिवी पर शासन करता हुआ राजा (इन्द्रः) 'इन्द्र' है (उपावहियमाणः अथर्वा) प्रजा की रक्षा करने के लिये सदा उसके संनिकट स्थापित रहता हुआ वह (अथर्वा) अहिंसक, प्रजापालक 'अथर्वा', प्रजापति है ॥

'आग्नीध्रम्'—अन्तरिक्षम् आग्नीध्रम्। शत० ६। २। ३। १५। द्यावापृथिव्यौ वा एष यदाग्नीध्र.। श० १। ८। १। ४ ॥

हविर्धानम्। शिर एवाऽस्य यज्ञस्य हविर्धानम्। श० ३। ५। ३। ५ ॥ अयं वै लोको दक्षिणं हविर्धानम् कौ० ८। ४ ॥

विश्वे देवाऽअꣳशुषु न्युप्तो विष्णुराप्रीतपाऽआप्याय्यमानो यमः सूयमानो विष्णुः सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः शुक्रः पूत. शुक्रः क्षीरश्रीर्मन्थी सक्तुश्रीः ॥ ५७ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते। भुरिक् साम्नी बृहती। मध्यम ॥

भा०—(अंशुषु) राज्यशासन के विभागों में वही राजपद (न्युप्त) पृथक् २ बांट दिया जाकर (विश्वेदेवाः) 'विश्वेदेव' अर्थात् समस्त राजपदाधिकारी होजाते हैं। (आप्रीतपा.) सब प्रकार सन्तुष्ट प्रजाजनों का पालन करनेहारा और (आप्याय्यमान.) स्वयं भी प्रजाओं

५७—'अंशुषु न्युप्यमानेषु' इति काण्व०।

द्वारा शक्ति में अति हृष्ट पुष्ट होकर राजा (विष्णु.) 'विष्णु', सर्व राष्ट्र के व्यापक शक्तिवाला होता है । (सूयमान यमः) राजसूय द्वारा राज्याभिषेक किया जाकर राजा 'यम' सर्व नियन्ता होता है । (सम् म्रियमाण विष्णुः) प्रजा द्वारा पालित पोषित, हृष्ट पुष्ट होकर राजा (विष्णुः) व्यापक शक्ति से युक्त 'विष्णु' होजाता है । (पूयमान.) स्वय पवित्र आचरणों से युक्त राजा (वायुः) वायु के समान राष्ट्र का जीवन, एव प्रजा को भी पवित्राचारी बनाने में समर्थ होता है । (पूतः शुक्र) स्वय पवित्र होकर ही वह 'शुक्र' तेजस्वी, कान्तिमान होता है । (शुक्र.) कान्तिमान् वीर्यवान् वह राजा (क्षीरश्री.) क्षीर, दुग्ध के समान कान्तिवाला, कीर्तिमान् होता है । और (सक्तुश्री. मन्थी) प्राप्त हुए अन्नादि पदार्थों का आश्रय लेकर ही राजा 'मन्थी' शत्रुओं का मथन करनेहारा होता है ।

विश्वे देवाश्चमसेषून्नीतोऽसुर्होमायोद्यतो रुद्रो हूयमानो वातोऽभ्यावृत्तो नृचक्षाः प्रतिख्यातो भक्षो भक्ष्यमाणः पितरो नाराशꣳसाः ॥ ५८ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । भुरिगार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(चमसेषु उन्नीत) भिन्न २ पात्रों में अर्थात् राज्य के भिन्न भिन्न अंगों में बटा हुआ राजपद (विश्वे देवाः) 'विश्वेदेव' अर्थात् समस्त विद्वान् रापज्यदाधिकारियों के रूप से रहता है । (होमाय उद्यत) होम आहुति करने के लिये उद्यत अर्थात् युद्ध करने के लिये उद्यत राजा (असु.) 'असु' शस्त्र प्रक्षेपा धनुर्धर के रूप में होता है । (हूयमान. रुद्र) जब वह युद्ध में आहुति होजाता है तब वह 'रुद्र' दुष्टों को रुलाने में समर्थ 'रुद्र' रूप होजाता है । (अभि आवृत्त.) जब साक्षात् सामने वेग से आक्रमण कर रहा होता है तब वह (वात) 'वात', प्रचण्ड

५८—'०भक्ष पीत. पितरो नाराशसा साध्यमान., इति काण्व० ।

वायु के समान 'वात' रूप साक्षात् 'आँधी' होता है। अथवा (आभि आवृतः) जब राजा प्रजा को या परराष्ट्र को चारों ओर से घेर लेता है तब वह (वात) वात वायु के समान उसको घेरता है। (प्रतिख्यातः प्रत्येक पुरुष को देखनेवाला होने से वह (नृचक्षाः) मनुष्यों का निरीक्षक 'नृचक्षा' कहाता है। (भक्ष्यमाण. भक्षः) जब समस्त प्रजाजन उसके राजत्व का सुख भोगते हैं तब वह 'भक्ष' सब राष्ट्र का भोक्ता कहाता है। तब (नाराशंसा) सभी उसकी प्रजा के लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और नाना प्रकार से वह प्रजा का पालन करता है इसलिये वही राजा (पितरः) पितृगणों या प्रजापालकों के रूप में प्रकट होता है।

'सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः समुद्रोऽभ्यवह्रियमाणः सलिलः प्रप्लुतो ययोरोजसा स्कभिता रजांऽसि वीर्येभिर्वीरतमा शविष्ठा
²या पत्यैते ऽअप्रतीता सहोभिर्विष्णू अगन्वरुणा पूर्वहूतौ ॥ ५९ ॥

अथर्व० ७ । २५ । १ ॥

ऋषिर्देवता च पूर्वोक्ते । विष्णुर्वरुणश्च देवते । (१) आर्षी बृहती । निषादः ।
(२) विराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अवभृथाय) राष्ट्र के पालन करने के लिये (उद्यतः) उत्कृष्ट नियमकारी राजा (सन्न) अपने राज्यासन पर अभिषिक्त होकर विराजा हुआ साक्षात् (सिन्धुः) महान् समुद्र के समान अति गम्भीर और अगाध गुणरत्नों से युक्त भयंकर भी होने से 'सिन्धु' रूप है। (अभ्यवह्रियमाण) जब प्रजाजनों द्वारा राजपद पर बैठा दिया जाता है और प्रजा उसका उपभोग करती है, तब वह (समुद्र) समस्त पदार्थों का उत्तम रीति से प्रदान करनेवाला, अनन्त रत्नों का आकर होने से 'समुद्र' होता है। (प्रप्लुत. सलिलः) वह राजा सर्वत्र प्रजाओं मे समान भाव से

व्यापक होकर पानी के समान फैल जाता है अत 'सलिलः' अर्थात् मानो दयाभाव से पानी २ हो जाता है।

(ययो.) जिन दोनों के (ओजसा) पराक्रम से (रजांसि) समस्त लोक (स्कभिता) स्थिर हैं और (या) जो दोनों (वीर्येभिः) अपने वीर्यों, सामर्थ्यों से (वीरतमा) सबसे अधिक वीर और (शविष्ठा) सबसे अधिक बलशाली हैं। और (या) जो दोनों (अप्रतीतौ) सर्व साधारण द्वारा न पहचाने गये, जिनके गुण वीर्य को कोई नहीं जानता कि कितना है, अथवा (अप्रति इतौ) शत्रुओं द्वारा मुकाबले पर न पराजित अर्थात् जिन पर शत्रु आक्रमण करने में समर्थ न हों ऐसे (सहोभिः) अपने पराजय करनेवाले बलों, सेनाओं सहित जो (पत्येते) शत्रु पर जा टूटते हैं वे दोनों ही (विष्णु) व्यापक सामर्थ्यवान् और (वरुणा) वरुण सर्वश्रेष्ट वरण करने योग्य एवं शत्रुओं के वारण में समर्थ, (पूर्वहूतौ) सर्व प्रथम, मुख्यरूप से विद्वानों द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। उनको (अगन्) समस्त प्रजाजन प्राप्त होते हैं। अथवा उनको समस्त राष्ट्र प्राप्त है।

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यान्नन्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवीमगन्यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन्यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् ॥ ६० ॥

विश्वेदेवा देवताः । स्वराड् साम्नी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (यज्ञ) यज्ञ (देवान्) देवों, विद्वानों को और (दिवम्) विद्या आदि के प्रकाश को (अगन्) प्राप्त होता है (तत) उससे (मा) मुझको (द्रविणम् अष्टु) द्रव्य, ऐश्वर्य प्राप्त हो। जो (यज्ञः) यज्ञ, राजा प्रजा का व्यवहार (मनुष्यान् अन्तरिक्षम् अगन्) मनुष्यों को और अन्तरिक्ष, मेघ आदि को प्राप्त होता है (तत. मा द्रविणम् अष्टु) उससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो। और जो (यज्ञः पितॄन् पृथिवीम् अगन्) राष्ट्र के

पालक पितृलोगों और पृथिवी को प्राप्त है (ततः मा द्रविणम् अप्नु) उससे मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो। (यज्ञः) यज्ञ (यं कं च) जिस किसी (लोकम्) लोक को भी (अगन्) प्राप्त हो (ततः) उससे (मे) मुझे (भद्रम्) कल्याण और सुख ही (अभूत्) हो।

चतुस्त्रिꣳशत्तन्तवो ये वितत्निरे यऽइमं यज्ञꣳ स्वधया ददन्ते।
तेषा छिन्नꣳसम्वेतद्दधामि स्वाहा घर्मोऽअप्येतु देवान् ॥ ६१ ॥

वसिष्ठ ऋषिः। यज्ञो देवता। स्वराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(ये) जो (इयं) इस (यज्ञं) यज्ञ को (वितत्निरे) विस्तृत करते है वे (चतुस्त्रिंशत्) ३४ चौंतीस हैं। यज्ञ के विस्तार करने से ही वे (तन्तव.) तन्तु हैं। पट को बनाने वाले जैसे तन्तु होते हैं उसी प्रकार राज्य आदि के घटक अवयव भी 'तन्तु' ही कहाते हैं। इसी प्रकार जगन्मय यज्ञ के घटक भी ३४ तन्तु ही हैं। (ये) जो वे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ को (स्वधया) स्वधा, अपने धारण सामर्थ्य से और अन्न आदि पोषण सामर्थ्य से (ददन्ते) धारण करते हैं। (तेषाम्) उनका जो (छिन्नम्) पृथक् अपना २ कर्त्तव्य कर्म और अंश है उसको मैं (एतत्) इस प्रकार एक सगठित रूप से (स्वाहा) सत्य वाणी या उत्तम परस्पर आदान प्रतिदान द्वारा (सम् दधामि) एकत्र जोड़ता हूं। वह (घर्मः) घर्म, यज्ञ प्रदीप्त राष्ट्र या एकत्र किया हुआ एकीभूत यज्ञ (देवान्) देवों, विद्वान् शासको को (अप्येतु) प्राप्त हो, उनके वश में रहे। ब्रह्माण्ड जगत् मय यज्ञ के ३४ तन्तु, आठ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र, प्रजापति और प्रकृति ये जगत् के ३४ कारण हैं। राष्ट्र में ५४ से ५६ तक कहे सोम राजा के अधीन ३४ पदाधिकारी जो सोम के ही अंश हैं वे ३४ तन्तु हैं॥

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सोऽअष्टधा दिवमन्वाततान। स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायाꣳरायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा ॥६२॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते। स्वराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवत ॥

भा०—(यज्ञस्य) यज्ञ का (दोह) भरा पूरा सामग्रीसमूह या उत्तम फल (पुरुत्रा) नाना पदार्थों मे नाना प्रकार से (वितत) विस्तृत है। (स) वह (अष्टधा) आठों दिशा मे आठ प्रकार का होकर (दिवम् अनु आततान) सूर्य के प्रकाश के सामान आकाश मे फैल जाता है। हे (यज्ञ) यज्ञ ! वह तू (मे प्रजायाम्) मेरी प्रजा में (महि) वड़ा भारी (राय पोष) धनैश्वर्य की समृद्धि को (धुक्ष्व) प्रदान कर। और मैं (स्वाहा) उत्तम आचरण और उत्तम आहुति, उत्तम वाणी और उत्तम व्यवस्था द्वारा (विश्वम् आयु.) सम्पूर्ण आयु का (अशीय) भोग करू। राष्ट्रमय यज्ञ का उत्तम फल नाना प्रकार से फैलाता है, वह (अष्टधा) आठ अमात्य-आदि प्रकृतियो के रूप मे सव के ऊपर शिरोभाग के समान रहता है। वह मेरी प्रजाओं का ऐश्वर्य वढ़ावे। मैं राजा उत्तम आदान-प्रतिदान से पूर्ण आयु का भोग करू।

आ पवस्व हिरण्यवदश्वंवत्सोम वीरवत्।
वाजं गोमन्तमा भर स्वाहा ॥ ६३ ॥

वभिष्ठ ऋषि । सोमो देवता । स्वराडार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सोम) सोम राजन् ! तू (वीरवत्) वीर पुरुषों से युक्त (अश्ववत्) अश्व और अश्वारोहियों मे युक्त (हिरण्यवत्) सुवर्ण रत्नादि से समृद्ध धनैश्वर्य को (आ पवस्व) पवित्र कर, प्राप्त कर और हमें (गोमन्तम् वाजम्) गौ आदि पशु सम्पत्ति से समृद्ध (वाजम्) ऐश्वर्य को (स्वाहा) उत्तम यश कीर्त्ति और उत्तम ज्ञान और कर्म द्वारा (आ भर) प्राप्त करा।

राजा राष्ट्र में सुवर्णादि धन, घोड़े, वीर पुरुष, गौओं और अन्नो की वृद्धि करे। इसी प्रकार गृह यज्ञ का पति गृहस्थ भी ऐश्वर्य को प्राप्त करे।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥

इति मीमासातीर्थप्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्येऽष्टमोऽध्याय ॥

अथ नवमोऽध्यायः

१—३४ इन्द्रो बृहस्पतिश्च ऋषी ।

॥ ओ३म् ॥ देवं सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाजं नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥

सविता देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सवितः) सबके प्रेरक, आज्ञापक, ऐश्वर्यवन् ! चक्रवर्त्तिन् ! (देव) दानशील ! तेजस्विन् ! कान्तिमन् ! राजन् ! तू (यज्ञम्) यज्ञ प्रजापालन आदि राज्य कार्य को (प्रसुव) अच्छी प्रकार चला और (यज्ञपतिम्) यज्ञ, राज्य के पालन करने वाले अधिकारी और प्रजावर्ग को भी (प्रसुव) उत्तम रीति से चला ! (दिव्य.) प्रकाशमान क्षात्र आदि गुणों से सम्पन्न (गन्धर्वः) पृथिवी का पालक, भूमिपति (केतपू) सबके ज्ञानों, मतियों को पवित्र रखने वाला, उनमें कभी दुष्ट विचार न उत्पन्न होने देने वाला, धर्मात्मा राजा और (वाचस्पतिः) वेद वाणी का पालक विद्वान्, आचार्य (नः) हमारे (केतम्) ज्ञान और विचारों को (पुनातु) सदा शुद्ध बनावे और वह (स्वाहा) उत्तम रीति से, वेदानुकूल (नः वाजं) हमारे अन्न आदि उपभोग योग्य ऐश्वर्य का (स्वदतु) उपभोग करे । राजा सबको उत्तम व्यवस्था में चलावे, सबको उत्तम शिक्षा दे । समस्त प्रजा के ऐश्वर्य का भोग करे । शत० ५ । १ । १ । १६ ॥

१—काण्वशाखाया इत पूर्वं [अ० ७ । २७–२९, ४ १–४८] मन्त्राः पठ्यन्ते । ततः [अ० ८ । २३–२७, २८–३२, ४२–४३, ५२, ५३, ५४– ६०] एते मन्त्रा क्रमशः पठ्यन्ते । ततो देवसविता० । इत्यादि । ‘ प्रसुवेम भगाय । ’ ०केतपाः०, ‘ ०स्पतिर्नो अद्य वाज स्वदतु ’ इति काण्व० ।

' ध्रुवसदं त्वा नृषदं मनः सदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम्। ' अप्सुषदं त्वा घृत-सदं व्योमसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् पृथिविसदं त्वाऽन्तरिक्षसदं दिवि-सदं देवसदं नाकसदमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णा-म्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ २ ॥

इन्द्रो देवता । (१) आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः । (२) विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ' तू (उपयाम गृहीत असि) राज्यव्यवस्था मे नियुक्त राजपुरुषों, प्रजा के और राज्य के उत्तम पुरुषों और राज्य के साधनों और उपसाधनों से स्वीकृत है। (त्वा इन्द्राय) तुझको इन्द्रपद के (जुष्टं) योग्य जानकर (गृह्णामि) इस पद के लिये नियुक्त करता हूं। (ते एषः योनि) यह तेरा आश्रयस्थान और पद है। (जुष्टतमम्) सब से योग्यतम (ध्रुवसदम्) ध्रुव, स्थितरूप से विराजनेवाले (नृसदम्) समस्त नेता पुरुषों में प्रतिष्ठित (मन सदम्) सब प्रजाओं के मन में और मनन योग्य विज्ञान में प्रतिष्ठित (त्वा) तुझको स्थापित करता हू। इसी प्रकार, (अप्सुषदम्) प्रजाओं में, समुद्रों में और्वानल या विद्युत् के समान तेज पूर्वक विराजमान, (घृतसदम्) घृत मे अग्नि के समान तेजस्वीरूप से विराजमान (व्योमसदम्) आकाश में सूर्य के समान प्रतापी होकर विरा-जमान (त्वा) तुझको स्थापित करता हूं। (उपयामगृहीत. इत्यादि) पूर्ववत्। इसी प्रकार (पृथिवीसदम्) पृथिवी पर पर्वत के समान स्थिररूप से विराजने हारे (अन्तरिक्षसदम्) अन्तरिक्ष में वायु के समान व्यापक, (दिविसदम्) द्यौलोक या नक्षत्रगणों में सूर्य या चन्द्र के समान विराज-मान (देवसदम्) देव-विद्वानो और योद्धाओं में विजिगीषु पुरुषों में प्रति-ष्ठित (नाकसदम्) दुःखरहित धर्म या परमेश्वर में दत्तचित्त, (त्वा)

तुझको मैं राज्यपद पर प्रतिष्ठित करता हूं। (उपयामगृहीतः असि० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ५ । १ । २ । १–६ ॥

अपाꣳरसमुद्वयसꣳ सूर्ये सन्तꣳ समाहितम् । अपाꣳ रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तममुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ ३ ॥

इन्द्रो देवता । अतिशक्वरी । पञ्चम ॥

भा०—(उद्वयसम्) उत्कृष्ट दीर्घ जीवन को देने वाले (सूर्ये सन्तम्) सूर्य में सदा वर्त्तमान, सूर्य की रश्मियों द्वारा प्राप्त और (सम् आहितम्) उनके बल पर सर्वत्र व्याप्त (अपाम्) जलों के (रसम्) वीर्य ' ाररूप जीवन को और (अपां रसस्य) जलों के रस अर्थात् सार-रूप भाग का भी (य. रस) जो रस, सारिष्ठ, सब से अधिक साररूप वीर्य धातु है, विद्वान् पुरुष जिस प्रकार हे (आपः) जलो ! (व.) आप के उसको (तम्) उस (उत्तमम्) सब से उत्कृष्ट वीर्य को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं उसी प्रकार हे (आपः) आप्त प्रजाजनो ! (अपाम्) आप्त प्रजारूप (वः) आप लोगो का (उद्वयसम्) उत्कृष्ट, उन्नत जीवन वाले, दीर्घायु, अनुभवी (सूर्ये) सर्व प्रेरक राजा के आश्रय पर (सन्तम्) विद्यमान एवं (समाहितम्) उसके प्रति एकाग्र चित्त होकर रहने वाले (रसम्) वीर्यवान् राजबल को और (अपां रसस्य) प्रजाओ के बलवान् भाग मे से भी जो (रसः) उत्तम बल है (वः तम् उत्तमम् रसम्) आप लोगों के उस सर्वोत्कृष्ट रस या बल को मैं राष्ट्र का पुरोहित (गृह्णामि) प्राप्त करता हू और उसे राष्ट्र के कार्य में नियुक्त करता हूं । (उपयामगृहीतः असि०) इत्यादि पूर्ववत् ॥ शत० ५ । १ । २ । ७ ॥

अहाऽऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् । तेषां विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जꣳ समग्रभमुपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णा-

म्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् । सम्पृचौ स्थः सं मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥

लिंगोक्ता देवता । भुरिक्कृति. । निषाद. ॥

भा०—हे (ऊर्जाहुतय) अन्न और बलको ग्रहण करने और प्रदान करनेवाले (ग्रहाः) राज्य के भिन्न २ विभागों और अगों को अपने अधीन पदाधिकारीरूप में स्वीकार करनेवाले पुरुषो ! आप लोग (विप्राय) राष्ट्र को विविध सम्पत्तियों से पूर्ण करनेवाले विद्वान् राजा को (मतिम्) सत् मति, मनन योग्य ज्ञान और शत्रुस्तम्भक बल (व्यन्त) विविध प्रकार से देते रहते हो । (विशि-प्रियाणाम् तेषाम्) प्रजाजनों में के प्रिय, या (वि-शिप्रियाणाम्) विविध शक्तियों और बल के सामर्थ्यों से युक्त (तेषाम्) उन आप लोगों के लिये मैं (इषम्) इच्छानुकूल अन्न और (ऊर्जम्) बलकारी अन्न, रस को (सम्-अग्रभम्) संग्रह करता हू । (उपयामगृहीत· असि०) इत्यादि पूर्ववत् । हे राष्ट्र के स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों गण ! (सम्-पृचौ स्थ) परस्पर अच्छी प्रकार सम्बद्ध होकर, दृढ़तया पतिपत्नीभाव मे बँध कर रहो । अथवा हे न्यायधीश और राजन् ! आप दोनों कल्याण सुख से युक्त करते हैं अत. आप 'सम्पृक्' हो अत (मा) मुझ राष्ट्रपति को (भद्रेण) कल्याण और सुख से (सम् पृङ्क्तम्) युक्त करो । हे न्यायाधीश और पालक शक्ति के स्वामिन् ! राजन् ! धर्म व्यवस्थापक विद्वान् पुरुषो ! हे स्त्री पुरुषो ! तुम दोनों (विपृचौ स्थ.) ' विपृक् ' हो, अत (मा) मुझको (पाप्मना) पाप से (विपृङ्क्तम्) दूर रखने में समर्थ होओ ॥ शत० ५ । १ । २ ८–१८ ॥

यज्ञ प्रकरण में सोम और सुराग्रह को 'सम्पृचौ' और अध्वर्यु और नेष्टा को 'विपृचौ' कहा है । प्रतिनिधिवाद से सोम और सुरा दोनों पुरुष और स्त्री

४—राजधर्मराजादयो देवता. । द० । 'सम्पृच स्थ० स मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच स्थ वि मा पापेन पृङ्क्त,' इति काण्व० ।

के सांकेतिक नाम हैं। और अध्वर्यु वायु=विवेचक और नेष्टा पत्नीवान्=पालनशक्ति का स्वामी राजा कहाते हैं। वे कल्याण और सुख के साथ में योग करानेवाले और पाप से छुड़ानेवाले होने के कारण ही 'सम्पृक्' और 'विपृक्' कहे जाते हैं।

इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजसास्त्वयाऽयं वाजꣳ सेत्। वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे। यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यान्नो देवः सविता धर्म सावि॑षत् ॥५॥

सविता देवता। भुरिग् अष्टिः। मध्यम ॥

भा०—हे वीर पुरुष! तू (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा का (वज्रः) शत्रु निवारक वज्र या खड्ग के समान शत्रु का नाशक (असि) है। तू (वाजसा) संग्रामों का पूर्ण अनुभवी है। (त्वया) तेरे द्वारा (अयम्) यह राजा (वाजम्) सग्राम को विजय (सेत्) करे। (नु) शीघ्र ही (वाजस्य प्रसवे) वीर्य के या युद्ध के ऐश्वर्यजनक कार्य में (महीम्) बड़ी (अदितिम्) अखण्डित, अविनाशी (मातरम्) भूमि माता को हम (वचसा) अपनी आज्ञा से (नाम) अपने अधीन वश (करामहे) करें। (यस्याम्) जिसमे (इदं) यह (विश्वं भुवनम्) समस्त संसार (आविवेश) स्थित है। (तस्याम्) उसमें (सवितः) सब अधिकारियों का प्रेरक प्रवर्त्तक और उत्पादक (देव) देव, राजा (नः) हमारे लिये (धर्म) धर्म, धारण या राष्ट्र व्यवस्था को (साविषत्) चलावे। अथवा (यस्याम् इदं भुवनं आविवेश) जिसमें यह समस्त विश्व स्थित है उसमें सर्वोत्पादक परमेश्वर (धर्म) हमारे पालन पोषण की सुव्यवस्था करे॥ शत० ५। १। ४। ३, ४ ॥

५—'०साविषक्' इति काण्व०।

रथपक्ष में—हे रथ[1] तू इन्द्र का संग्रामगामी वज्र है। तुझ से वह संग्राम में जावे। (भ्राजाय प्रसवे) ऐश्वर्य के लाभ के लिये हम अखण्ड पृथिवी को (वचसा वाम करामहे) अपनी आज्ञा से वश करें। इत्यादि पूर्ववत्।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो वऽऊर्मिः प्रतूर्त्तिः कृकुन्मान्वाजस्तास्तेनायं वाजꣳ सेत् ॥ ६ ॥

अश्वो देवता। भुरिग्जगती। निषादः ॥

भा०—(अमृतम्) अमृत, मृत्यु का निवारण करनेवाला, मूल कारण (अप्सु अन्त) जलों के भीतर विद्यमान है। और (भेषजम्) रोगों के दूर करने का सामर्थ्य भी (अप्सु) जलों के भीतर है। (उत) और हे (वाजिन) वीर्यवान् और ज्ञानवान् पुरुषो! आप लोग (अपाम्) जलों के (प्रशस्तिषु) उत्तम प्रशंसनीय गुणों के आधार पर ही (अश्वा भवत) अति वेगवान बलवान् हो जाओ।

राजा के पक्ष में—(अप्सुः अन्तः) आप्त प्रजाओं के बीच में ही (अमृतम्) राष्ट्र के मृत्युरूप शत्रु के आक्रमण आदि का निवारण करने का बल है और (अप्सु) उन प्रजाओं में ही (भेषजम्) सब कष्टों के दूर करने का सामर्थ्य है। हे (वाजिनः) वीर्यवाले योद्धा लोगो! आप लोग (अपाम् प्रशस्तिषु) प्रजाओं के भीतर विद्यमान प्रशंसनीय उत्तम गुणवान् पुरुषों के आधार पर ही (अश्वा) शीघ्रगामी अश्व, बलवान् क्षत्रिय (भवत) होओ। हे (आपः देवी) दिव्य आप्त पुरुषो! हे राजा की प्रजाओ! (यः) जो (वः) तुम्हारा (ऊर्मिः) उच्च सामर्थ्य और (प्रतूर्त्तिः) प्रकृष्ट क्रिया शक्ति है उनसे यह राजा (ककुन्मान्)

६—'देवीरापो अपा नपाद्यो वः ऊर्मि.०' इति काण्व०॥

सर्वश्रेष्ठ पद और सामर्थ्य को धारण करने और (वाजसाः) युद्ध में जाने के समर्थ हो । (तेन) उस पराक्रम से वह (वाजं सेत्) युद्ध को प्राप्त करे, युद्ध का विजय करे ।

जलों के पक्ष में—जल के उत्तम गुणों पर ही अश्व अधिक वेग वाले होते हैं । उसी से बैल भी हृष्ट, पुष्ट और भूमि भी खूब उपजाऊ होती है, उससे भूमि-पति भी प्रभूत अन्न प्राप्त करता है ॥ शत० ५ । १ । ४ । ७ ॥

वातो वा मनो वा गन्धर्वाः सप्तविꣳशतिः । ते अग्रेऽश्वमयुञ्जँस्तेऽस्मिन् जवमादधुः ॥ ७ ॥

अश्वो देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—(वातः वा) वायु जिस प्रकार वेग को धारण करता है, (मनः वा) और जिस प्रकार मन वेग को धारण करता है, और जिस प्रकार (सप्तविंशतिः गन्धर्वाः) सत्ताईस गन्धर्व=प्राण, इन्द्रियें और स्थूल सूक्ष्म भूत, सभी वेग धारण करते हैं उसी प्रकार (ते) वे विद्वान् पुरुष भी (अग्रे) अपने गाड़ियों और रथों के आगे (अश्वम्) वेगवान् अश्व, गतिसाधन यन्त्र या अश्व के समान कार्य निर्वाहक अग्रणी पुरुष को (अयुञ्जन्) जोड़ते हैं । और वे विद्वान् पुरुष (अस्मिन्) उसमें (जवम्) वेग और बल का (आदधुः) आधान करते हैं ॥ शत० ५ । १ । ४ । ८ ॥

वातरꣳहा भव वाजिन् युज्यमानोऽइन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियैधि । युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदसोऽआ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥८॥

अश्वो देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ज्ञान और बल से युक्त पुरुष ! वेगवान् अश्व जिस प्रकार गाड़ी में लगाया जाता है और वह (वातरंहाः)

७—सेनापतिर्देवता । द० । 'वातो वो वा मनो वा०' इति काण्व० ।

८—प्रजापतिर्देवता । द० ।

वायु के समान तीव्र वेग से जाता है उसी प्रकार तू (युज्यमान) राष्ट्र के कार्य मे नियुक्त होकर वायु के समान तीव्र वेगवान् (भव) हो । और (दक्षिणः) तू दक्षिण अर्थात् बल के कार्यों में कुशल होकर (इन्द्रस्य) इन्द्र, राजा या सेनापति की (श्रिया) लक्ष्मी से युक्त (एधि) हो ॥ अथवा तू (दक्षिणः इन्द्रस्य) दक्ष, बल, सामर्थ्य वाले इन्द्र राजा की लक्ष्मी से युक्त हो, अथवा (इन्द्रस्य दक्षिणः इव) इन्द्र, राजा के दायें हाथ के समान उसका सर्वश्रेष्ठ सहायक होकर लक्ष्मी, धन ऐश्वर्य से युक्त हो । (विश्ववेदस मरुतः) समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों और ज्ञानों के स्वामी मरुत् गण, देव तुल्य राजा लोग, विद्वान् लोग और वैश्यगण (त्वा) तुझको उचित कार्य में (आ युञ्जन्तु) नियुक्त करें और (त्वष्टा) शिल्पी जिस प्रकार वेग युक्त यन्त्र को रथ में लगाता है और उसके (पत्सु) गमन करने वाले अंगों चक्रों में (जवं) वेग उत्पन्न करता है उसी प्रकार (त्वष्टा) राजा (ते) तेरे (पत्सु) चरणों में, गमन करने के साधनों में (जवम् आदधातु) वेग स्थापित करे ॥ शत० ५ । १ । ४ । ६ ॥

शिल्प यन्त्र के पक्ष में—हे (वाजिन्) वेग वाले, बल वाले पदार्थ तू यन्त्र में नियुक्त होकर वायु वेग से चल । तू (दक्षिणः इन्द्रस्य) बलशाली विद्युत की दीप्ति से चमक । सर्वज्ञ (मरुतः) विद्वान् लोग तुझे नियुक्त करें । (त्वष्टा) शिल्पी तेरे पैरों, चक्रों में गति स्थापित करें ।

जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीत्तोऽअचरच्च वाते । तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिच्च भव समने च पारयिष्णुः । वाजिनो वाजजितो वाजꣳ सरिष्यन्तो बृहस्पतेर्भागमवाजिघ्रत ॥ ६ ॥

अश्वो वीरो वा देवता । धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—हे (वाजिन्) विद्या, शास्त्र ज्ञान और संग्राम साधनों से

६—०'वाजजिच्चैधि स०' इति काण्व० ।

युक्त बलशालिन् सेनापते ! वीर पुरुष ! (गुहा निहितः) यन्त्र के गूढ स्थान में जिस प्रकार वेगजनक पदार्थ रक्खा जाता है उसी प्रकार (ते यः जवः) तेरा जो वेग तेरी (गुहा) गुहा में, बुद्धि में (निहितः) स्थित है और (यः) जो वेग (श्येने) श्येन अर्थात् बाजपक्षी में और उसके समान आक्रमण करने वाले तुझ में विद्यमान है और (यः) जो वेग (वाते च) प्रचण्ड वायु में (अचरत्) व्याप्त है । हे (वाजिन्) वेग और बल से युक्त सेनापते ! वीर पुरुष ! (तेन) उस वेग से और (बलेन) उस बल से तू (वाजजित् च) संग्रामविजयी भी हो और (समने) संग्राम में भी (पारयिष्णुः) हम सबको संकट से तराने वाला (भव) हो । हे (वाजिनः) वेगवान्, बलवान्, वीर, अश्वारोही पुरुषो ! आप लोग (वाजजित) संग्राम का विजय करने हारे हैं । आप लोग (वाजं सरिष्यन्तः) जब संग्राम में तीव्र वेग से शत्रु पर धावा करने को हों, तब सब लोग (बृहस्पतेः) बृहती, बड़ी भारी सेना के स्वामी, सैनापति या बड़े २ सेना संचालकों के भी स्वामी, सेनाध्यक्ष के अथवा—बृहती, वाणी, आज्ञा के पति स्वामी, आज्ञापक पुरुष के (भागम्) सेवन करने योग्य आज्ञा-वचन को (अवजिघ्रत) सदा सूंघते रहो, सदा ग्रहण करते हो, उसकी सदा खोज में रहो उसके प्रति सदा सावधान रहो ॥ शत० ५ । १ । ४ । १०–१५ ॥

देवस्याहꣳसवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकꣳ रुहेयम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसऽइन्द्रस्योत्तमं नाकꣳ रुहेयम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहम् । देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसऽइन्द्रस्योत्तमं नाकमरुहम् ॥ १० ॥

इन्द्रा बृहस्पती देवते । विराड् उत्कृतिः । षड्जः ॥

१०—देवस्य वय स०, ० रुहेम्, ‘० मारुहम् । इन्द्रास्योत्तम नाकमारुहाम’ इनिकारव० ।

भा०—(अहम्) मैं (सवितुः) सर्वप्रेरक, (सत्यसवसः) सत्य मार्ग पर चलने की आज्ञा देने वाले, (बृहस्पते.) बृहती, बड़ी भारी सेना के पालक, सेनाध्यक्ष के (सवे) आज्ञा, अनुशासन में रह कर और उसी प्रकार सर्वप्रेरक, सत्यमार्ग या उचित मार्ग में आज्ञा करने वाले, (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (सवे) शासन में रह कर (उत्तमम् नाकम्) सब से उत्कृष्ट, सुखमय लोक और पद को (रुहेयम्) प्राप्त होऊं ॥ शत० ५ । १ । ५ । १–५ ॥

परमेश्वर के पक्ष में—(देवस्य) सर्वत. प्रकाशमान, (सवितु) सकल जगत् के उत्पादक (सत्यसवस) सत्य ऐश्वर्यवान्, (बृहस्पते.) बृहती वेदवाणी और महती प्रकृति आदि के पालक स्वामी परमेश्वर के (सवे) उत्पन्न किये संसार में और (सत्यसवस इन्द्रस्य) सत्य न्याययुक्त शासन वाले, इन्द्र परमैश्वर्यवान् सम्राट् या राजा के (सवे) ऐश्वर्य या समृद्ध शासन में रहकर मैं (उत्तमं नाकम् अधिरुहेयम्) उत्तम दुःखरहित और सुखमय आनन्द को प्राप्त होऊं ।

इसी प्रकार (अहम्) मैं (सवितु) सकल ऐश्वर्योत्पादक (सत्यप्रसवस) सत्य ज्ञान के प्रसव करनेवाले सकल बोधों के जनक (बृहस्पते सवे) वेदवाणी के पालक आचार्य, विद्याप्रकाशक आचार्य के शासन में रहकर मैं (उत्तमं नाकम् अरुहम्) उत्तम सुखमय स्थिति को प्राप्त करूं। इसी प्रकार (देवस्य) धनुर्विद्या में विज्ञ (सवितु) विजयोत्पादक (सत्यप्रसवस.) सत्य व्यवहारों और विजयों के कर्त्ता (इन्द्रस्य) शत्रुनाशक सेनापति के (सवे) शासन में रहकर मैं (उत्तमं नाकम् अरुहम्) उत्तम सुख को प्राप्त होऊं ॥

बृहस्पते वाचं जय बृहस्पतये वाचं वदत बृहस्पतिं वाजं जापयत।
इन्दु वाजं जयेन्द्राय वाचं वदतेन्दुं वाजं जापयत ॥ ११ ॥

इन्द्रबृहस्पती देवते । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहस्पते ! महती सेना के स्वामिन् ! तू (वाजं जय) संग्राम को विजय कर । (बृहस्पतये) उक्त बृहस्पति के लिये हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (वाचं) उत्तम विज्ञानयुक्त वाणी का (वदत) उपदेश करो, उसके योग्य उसको ज्ञान प्राप्त कराओ । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (बृहस्पतिम्) महान् राष्ट्र के पालक राजा के (वाजम्) संग्राम को (जापयत) विजय कराने में सहायता दो । हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (वाजं जय) संग्राम का विजय कर । हे विद्वान् पुरुषो ! (इन्द्राय वाचं वदतं) इन्द्रपद के योग्य ज्ञानवाणी को उपदेश करो । और (इन्द्रं वाजं जापयत) इन्द्र राजा के युद्ध विजय मे सहायता करो ।

वेदज्ञ बृहस्पति के पक्ष में—वह (वाजं जय) ज्ञान, विद्या-बोध प्राप्त करे और (वाजं) वेदवाणी का उसको उपदेश करे । उसको ज्ञान प्राप्त करने में सब सहायता दें ॥ शत० ५ । १ । ५ । ८-९ ॥

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपता-जीजपत बृहस्पतिं वाजं वनस्पतयो विमुञ्चध्वम् । एषा वः सा सत्या संवागभूद्ययेन्द्रं वाजमजीजपताजीजपतेन्द्रं वाजं वनस्पतयो विमुञ्चध्वम् ॥ १२ ॥

इन्द्राबृहस्पती देवते । स्वराड् अतिधृति । षड्जः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (व) आप लोगो की (एषा) यह (सा) वह (सत्या) सत्य, न्याययुक्त, उचित (सं-वाग्) सम्मिलित, एक दूसरे से संगत वाणी (अभूत्) होना चाहिये (या) जिससे (बृहस्पतिम्) बृहती सेना के स्वामी, सेनाध्यक्ष या बृहत् राष्ट्र के पालक राजा को (वाजम्) संग्राम का (अजीजपत) आप लोग विजय कराने में समर्थ होते हैं । आप लोग उस एक सम्मिलित उत्तम ज्ञान-वाणी से ही (बृहस्पतिम्) इस बृहस्पति राजा को (वाजं अजीजपत) संग्राम का विजय कराने में समर्थ

हुए हैं। अतः हे (वनस्पतय.) प्रजा समूहों के एवं सैनिक समूहों के पालक पुरुषो ! आप लोग (विमुच्यध्वम्) अपने सैनिकों, अश्वों और रथों को बन्धन से छोड़ दो। (एषा) यह (व.) तुम लोगों को (सत्या सवाग्) सच्ची, परस्पर सम्मिलित सहमति (अभूत्) है (यया) जिससे आप लोग (इन्दम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (वाजम् अजीजपत) संग्राम को विजय कराते हो। आप लोग ही (इन्दम्) इन्द्र को (वाजम् अजीजपत) संग्राम विजय कराते हो। (वनस्पतय) हे सैनिक समूहों के पालक, अध्यक्ष कप्तान लोग ! (विमुच्यध्वम्) आप विजय के अनन्तर अपने सैनिको, घोड़ों और रथों को छोड़ दो, उनके बन्धन खोल दो, उनको आराम दो ॥ शत० ५ । १ । ५ । १२ ॥

समस्त सैनिक सेनानायक लोग मिलकर एक आवाज, एक आज्ञा से चलकर सेनापति राजा के युद्ध को विजय कराते हैं और विजय करलेने पर उनको अपने दस्तों और अश्व आदि के बन्धनमुक्त करने की आज्ञा हो।

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्। वाजिनो वाजजितोऽध्वनꣳ स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ॥ १३ ॥

भा०—(अहम्) मैं सेनानायक (सवितु) सर्वप्रेरक (सत्य प्रसवस) सत्य, यथार्थ, यथोचित आज्ञा के प्रदाता (देवस्य) सर्वप्रद, सर्वप्रकाशक विद्वान् (बृहस्पतेः) बड़ी सेना के पति, बड़े सेनाध्यक्ष के (सवे) शासन में रहकर उस (वाजजितः) संग्रामविजयी के (वाजम्) संग्राम को (जेषम्) विजय करूं। हे (वाजजित वाजिन.) सग्राम का विजय करनेहारे, वेगवान्, बलवान् अश्वो और अश्वारोही वीर सवार लोगो !

१३—देवस्य वय०, ०जेष्म। वाजिनो वाजं जयताध्वनः स्कम्नन्त। ०अनु-सन्तवीत्वत्प० इति काण्व०।

आप लोग (अध्वनः) शत्रु के बढ़ने के मार्गों को (स्कभ्नुवन्तः) रोकते हुए (योजना मिमानाः) कोसों को मापते हुए, अर्थात् वेग से कोसों लांघते हुए (व्यष्टां गच्छत) परली सीमा तक पहुंच जाओ ॥ शत० ५ । १ । ४ । १५–१७॥

एष स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽअपिकक्ष आसनि । क्रतुं दधिक्रा अनु सꣳसनिष्यदत्पथामङ्कꣳस्यन्वाघनीफणत् स्वाहा ॥ १४ ॥

दधिक्रावा ऋषिः । अश्वो देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(एषः स्य.) यह वह वीर सेनापति (वाजी) वेगवान् होकर (क्षिपणिम्) कशा को या शत्रुनाशक सेना को (तुरण्यति) बड़े वेग से चलता या आगे बढ़ाता है । (दधिक्राः) घुड़सवार को अपनी पीठपर लेकर वेगसे दौड़नेवाला अथवा मार्ग में आनेवाली रुकावटों को भी पार करजाने वाला अश्व (ग्रीवायां) गर्दन, (अपिकक्षे) बगलों और (आसनि) मुख में भी (बद्धः) बंधा हुआ होकर (क्रतुम्) क्रियावान् ज्ञानवान् कर्त्ता पुरुष, सवार को लेकर (अनु) उसके अभिप्राय के अनुकूल (संसनिष्यत्) निरन्तर दौड़ता हुआ (स्वाहा) अपने उत्तम वेग से, अपने पालक की वाणी के अनुसार (पथाम्) मार्गों के (अंकांसि) बीच में लगे समस्त चिह्नों को, या ऊंचे नीचे टेढ़े मेढ़े समस्त रास्तों को (अनु आ पनीफणत्) सुख से पार कर जाया करता है । सेनापति सेना को आगे बढ़ावे । घुड़सवार हण्टर लगावे । घोड़ा मय सवार के सब रास्ते पार करे । ऐसे घुड़सवार लेने चाहियें ॥ शत० ५ । १ । ४ । १८–१९ ॥

उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न वेरनुवाति प्रगर्धिनः । श्येनस्येव ध्रजतोऽअङ्कसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रतः स्वाहा ॥ १५ ॥

दधिक्रावा ऋषिः । दधि क्रावा अश्वो देवता । जगती । निषाद ॥

१४—बृहस्पतिर्देवता । द० ।

भा०—(उत) और (अस्य एव) इसके ही (द्रवतः) भागते हुए और (तुरण्यतः) वेग से जाते हुए (प्रगाधिन.) प्रबल वेग से अगले मार्ग को पहुंचने की अभिलाषा करनेवाले (ऊर्जा सह) पराक्रम के साथ (परि तरित्रतः) बड़े वेग से भागते हुए (दधिक्रावृण) मार्ग की समस्त बाधाओं को लांघते हुए अश्व को (अङ्कसम्) ध्वज, चामर आदि चिह्न (वेः पर्णं न) वेग से जाते हुए पक्षी या तीर के पंखों के समान और (प्रगार्धिनः) मांस या शिकार के अभिलाषी, (ध्रजतः) वेग से झपटते हुए (श्येनस्य इव) सेन के पंखों के समान (अनुवीति) उसके पीछे ही वेग से जाता है ॥ शत० ५ । १ । ५ । २० ॥

अथवा—(अङ्कसं परिस्रत.) चिह्नों से युक्त मार्ग पर दौड़ते हुए अश्व का (पर्णम्) पालनकारी पूछ और वक्षादि शिकार पर झपटते हुए बाज के पंखों के समान पीछे को होजाते हैं । इस स्थल में 'पर्णम्' शब्द दीपकालंकार से है ।

शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तोऽहिं वृकꣳ रक्षाꣳसि सेनम्यस्मद् युयवन्नमीवाः ॥ १६ ॥

वसिष्ठ ऋषि. । अश्वो देवता । जगती निषाद ॥

भा०—(हवेषु) संग्रामों में (वाजिन.) वेगवान् घोड़े और युद्ध-सवार (नः) हमें (शम् भवन्तु) कल्याणकारी हों । और वे (देवताता) देवों, युद्ध के विजय करनेवाले विजेता लोगों के कामों में (मितद्रवाः) परिमित गति से जानेवाले (सु-अर्काः) उत्तम सत्कार वाले, खूब सजे सजाये हों । वे (अहिम्) सर्प को, सर्प के समान कुटिलता से भागनेवाले या मेघ के समान वायु वेग से जाने या अपने ऊपर शर वर्षण करनेवाले शत्रु को और (वृक) चोर या भेड़िये या भेड़िये के समान पीछे से आक्रमण करनेवाले और (रक्षांसि) विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों को और (अमीवाः

शोग के समान दुःखदायी शत्रुओं को (सनेमि) सदा या शीघ्र ही (अस्मद् युयवन्) हम से दूर करें ॥ शत० ५ । १ । ५ । २२ ॥

ते नोऽअर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः । सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनꣳ समिथेषु जभ्रिरे ॥ १७ ॥

नाभानेदिष्ट ऋषिः । अश्वो देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(ते अर्वन्तः) अश्व, अश्वों के ऊपर चढ़ने हारे राजा के अधीन वे वीर लोग (हवनश्रुत) ग्राह्य आज्ञा और शास्त्र-वचनों का श्रवण करने वाले ज्ञानी पुरुष हों । वे (विश्वे) सब (वाजिनः) ज्ञान और बल से युक्त (मितद्रवः) शास्त्र से जाने गये समस्त पदार्थों तक पहुंचाने वाले होकर (मे) मुझ, राजा की और राष्ट्रवासी प्रजाजन की (हवम्) ज्ञान-पूर्ण वचन या आज्ञा (शृण्वन्तु) सुनें । वे (सहस्रसाः) सहस्रों का वेतन पाने वाले (मेधसाता) प्राप्त होने योग्य अन्नों को (सनिष्यवः) प्राप्त करना चाहते हैं । (ये) जो (समिथेषु) संग्रामों में (महः धनम्) बड़े भारी धन ऐश्वर्य को (जभ्रिरे) प्राप्त करते हैं । वे लोग संग्राम के अवसरों पर देश की आगे लिखे प्रकार से रक्षा करें ॥ शत० ५ । १ । ५ । २३ ॥

वाजेवाजेऽवत वाजिनो नो धनेषुऽविप्राऽअमृता ऋतज्ञाः । अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

वसिष्ठ ऋषिः अश्वा देवताः । निचृत् त्रिष्टुप् । निषादः ॥

भा०—हे (वाजिनः) बलवीर्य और अन्नादि वाले एवं अश्व के समान वेगवान्, एवं अश्वों पर चढ़ने वाले वीर पुरुषो ! और ज्ञानी लोगो ! आप लोग (वाजे वाजे) संग्राम संग्राम में (नः अवत) हमारी रक्षा करो । और हे (विप्राः) मेधावी विद्वान् जनो ! हे (अमृता) अमर, कभी नष्ट न

१७ —'सहस्रसा मेधसाता इव त्मना मृहो०' इति काण्व० ।

होने वाले, एवं जीवन्मुक्त दीर्घ जीवी लोगो ! हे (ऋतज्ञाः) सत्य व्यवस्था के जानने वालो ! आप लोग (अस्य) इस (मध्व.) मधु, मधुर अन्न और ज्ञान का (पिबत) पान करो, भोग करो और (मादयध्वम्) तृप्त होओ । और (तृप्ता) तृप्त होकर (देवयानै. पथिभि) देवों, विद्वानों के चलने योग्य धार्मिक या राजोचित मार्गों से (यात) गमन करो ॥ शत० ५ । १ । ५ । २४ ॥

आ मा वाजस्य प्रसवो जगम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे ।
आ मा गन्तां पितरा मातरा चामा सोमोऽअमृतत्वेन गम्यात् ।
वाजिनो वाजजितो वाजꣳ सस्रुवाꣳसो बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत
निमृजाना ॥ १९ ॥

वसिष्ठ ऋषि । प्रजापतिर्देवता । निचृद्धृति । निषाद ॥

भा०—(मा) मुझको (वाजस्य प्रसवः) ज्ञान, बल और अन्न का ऐश्वर्य (आजगम्यात्) प्राप्त हो । (इमे) ये दोनों (विश्वरूपे) समस्त रोचना या दीप्ति युक्त पदार्थों को धारण करने वाली (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी, राजा और प्रजा (आ गन्ताम्) मुझे प्राप्त हों । (मा) मुझे (पितरा मातरा च) पिता और माता दोनों (आगन्ताम्) प्राप्त हों । (मा) मुझे (सोम) सर्वप्रेरक राजपद, ऐश्वर्य और ओषधियों का परम रस और वीर्य (अमृतत्वेन) रोगनिवारक, दीर्घजीवनरूप से (आ गम्यात्) प्राप्त हो । हे (वाजजित) संग्रामों का विजय करने हारे (वाजिन) बलवान् अश्वारोही वीर पुरुषो ! आप लोग (वाज ससृ-वास.) सग्राम को जानने हारे हैं । आप लोग (निमृजाना) सर्वथा शुद्ध पवित्र चित्त होकर (बृहस्पते भागम्) बृहती सेना के स्वामी सेनाध्यक्ष के सेवन करने योग्य वचन को (अवजिघ्रत) आदरपूर्वक, सावधान होकर ग्रहण करो । शत० ५ । १ । ५ । २६, २७ ॥

१९—'०गन्त पितरा मातरा युवमा सोमो अमृतत्वाय गम्यात् ।' इति काण्व० ।

आपये स्वाहा स्वापये स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳ शिनाय स्वाहा विनꣳशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाऽधिपतये स्वाहा ॥ २० ॥

वसिष्ठ ऋषिः. प्रजापतिर्देवता। भुरिक् कृति । निषाद ॥

भा०—सूर्य के जिस प्रकार १२ मास हैं और उनमें उसके १२ रूप हैं इसी प्रकार प्रजापति के भी १२ रूप तदनुसार उसकी १२ अवस्थाएं हैं और उनके अनुसार १२ नाम हैं । [१] (आपये स्वाहा) सकल विद्याओं और सज्जनों की प्राप्त करने वाला, बन्धु के समान राजा 'आपि' है। उसको समस्त विद्याएं और ऐश्वर्य प्राप्त करने के लिये (स्वाहा) सत्य क्रिया, यथार्थ साधना करनी चाहिये। [२] (स्वापये स्वाहा) शोभन पदार्थों को प्राप्त करने कराने वाला या उत्तम बन्धु पुरुष 'स्वापि' है । उत्तम पदार्थों और सुखों की प्राप्ति के लिये (स्वाहा) उसे उत्तम धर्मानुकूल आचरण करना चाहिये । [३] (अपिजाय स्वाहा) पुनः पुनः ऐश्वर्यवान् होने वाला । एक के बाद दूसरा आने के कारण राजा भी 'अपिज' है । इस प्रकार पुनः २ प्रतिष्ठा प्राप्त कर पदाधिकारी होने के लिये (स्वाहा) पुरुषार्थ युक्त साधना करनी चाहिये । [४] (क्रतवे स्वाहा) समस्त कार्यों का सम्पादक, एवं सब विद्याओं का विचारक ज्ञानी 'क्रतु' है। शरीर में आत्मा और राष्ट्र में राजा वह भी 'क्रतु' है। उस पद के लिये ज्ञान प्राप्त करने के लिये (स्वाहा) अध्ययन अध्यापन की उत्तम व्यवस्था होनी चाहिये । [५] (वसवे स्वाहा) समस्त प्रजाओं को बसाने हारा राजा वसु है । उस पद को प्राप्त करने के लिये भी (स्वाहा) सत्य-व्यवहार वाणी और न्याय होना चाहिये । [६] (अह पतये स्वाहा) सूर्य जिस प्रकार दिन का स्वामी है पुरुषार्थ से काल-गणना द्वारा समस्त दिवस का पालक पुरुष भी 'अहःपति' है उसके लिये (स्वाहा) वह

काल विज्ञान की विद्या का अभ्यास करे । [७] (मुग्धाय) जिसका मोह का कारण उपस्थित होजाने पर ज्ञान का प्रकाश न रहे ऐसे (अह्वे) मेघ से आवृत सूर्य के समान ऐश्वर्य के मद में ज्ञान रहित प्रजापालक के लिये भी (स्वाहा) उसको चेतानेवाली वाणी का उपदेश होना चाहिये । [८] (मुग्धाय वैनंशिनाय) नाशवान् पदार्थों और नाशकारी आचरणों में, मोहवश ऐश्वर्यप्रेमी, विलासी एवं अत्याचारी राजा के लिये (स्वाहा) उसको सावधान करने और सन्मार्ग में लानेवाले उत्तम उपदेश होने चाहियें । [९] (विनंशिने) स्वयं विनाश को प्राप्त होनेवाले या राष्ट्र का विनाश करने में तुले हुए (आन्त्यायनाय) अन्तिम सीमा तक पहुचे हुए, अन्तिम, नीचतम कोटि तक गिरे हुए राजा को (स्वाहा) विनाशकारी आचरणों से बचानेवाला उपदेश और उपाय होना उचित है । [१०] (आन्त्याय) सबके अन्त में होनेवाले, सबसे परम, सर्वोच्च (भौवनाय) सब भुवनों पदों में व्यापक उनके अधिपति के लिये (स्वाहा) उन सब पदों के व्यवहार ज्ञान के उपदेशों की आवश्यकता है । [११] (भुवनस्य पतये) भुवन, राष्ट्र के पालक राजा को (स्वाहा) राष्ट्र पालन की विद्या दण्डनीति जाननी चाहिये और [१२] (अधिपतये स्वाहा) सब अध्यक्षों के ऊपर स्वामी रूप से विद्यमान राजा के लिये (स्वाहा) उत्तम राज्य नीति जाननी चाहिये ॥ शत० ५ । २ । १ । २ ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पताम् यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । प्रजापतेः प्रजाऽअभूम स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम ॥ २१ ॥

वसिष्ठ ऋषि । प्रजापतिर्देवता । अत्यष्टि । गान्धारः ॥

भा०—(यज्ञेन) यज्ञ, परस्पर के आदान प्रतिदान, राज्य की

२०—'०कल्पताम् । जाय एहि स्वो रोहाव । प्रजापतेः०' इति काण्व० ।

व्यवस्था तथा प्राजापति रूप यज्ञ से (आयुः) सब प्रजाओं की दीर्घ जीवन (कल्पताम्) स्वस्थ बना रहे । (यज्ञेन प्राणः कल्पताम्) यज्ञ, एक दूसरे के अन्न आदि दान से प्राण पुष्ट हों । (यज्ञेन चक्षुः कल्पताम्) यज्ञ से, ज्ञान व्यवहार के देखने में समर्थ चक्षु बलवान् हो । (यज्ञेन श्रोत्रं कल्पताम्) यज्ञ द्वारा ही श्रोत्र, श्रवण शक्ति समर्थ बनी रहे । (यज्ञेन पृष्ठं कल्पताम्) यज्ञ से हमारी पीठ, मेरुदण्ड समर्थ बना रहे । (यज्ञः) हमारे यज्ञ, ईश्वरोपासना और आपस के धर्म कार्य सब (यज्ञेन कल्पताम्) उत्तम राजा के प्रजा पालन के कार्य से बने रहें । हम सब (प्रजापतेः) प्रजा पालक राजा की और परमेश्वर की (प्रजाः अभूम) प्रजाएं बनी रहें । हम लोग (देवाः) विजयी ज्ञानवान् होकर (स्वः अगन्म) परम सुखमय मोक्ष और सुखप्रद राज्य को प्राप्त हों । हम (अमृताः अभूम) परमेश्वर के राज्य में अमृत, मुक्त हो जायं और उत्तम प्रजापालक राजा के राज्य में (अमृतः) पूर्ण सौ वर्ष और उससे भी अधिक आयुवाले हों ॥ शत० ५ । २ । १ । ३–१४ ॥

एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति । श० ९ । ५ । १ । १० ॥ य एव शत वर्षाणि, यो वा भूयांसि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति । श० १० । २ । ६ । ८ ॥

अस्मे वोऽअस्तिवान्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चाꣳसि सन्तु वः । नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयं ते राड्यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुणः । कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ २२ ॥

दिशो देवता । पृथिवी, आसन्दी सुन्वानश्च देवता । निचृदत्यष्टि । गान्धारः ॥

भा०—हे (दिशः) दिशाओं, समस्त दिशाओं के निवासी प्रजा-

२२—नमो मात्रे पृथिव्या इय०, कृष्यै क्षेमाय रय्यै पोषाय ॥ इति काण्व० ।

जनो ! (वः) तुम्हारा (इन्द्रियम्) समस्त ऐश्वर्य और बल (अस्मे अस्तु) हम राज्यकर्त्ताओं के लिये उपयोगी हो। आप लोगों का (नृम्णम्) धन, (उत क्रतु.) बल और ज्ञान (अस्मे) हमारी रक्षा और वृद्धि के लिये हो। (वः) आप लोगों के (वर्चोसि) तेज (अस्मे) हमारे लिये उपयोगी (सन्तु) हों। इसी प्रकार प्रजाजन में राज्य के अधिकारियों से यही कहे कि-हे चारों दिशाओं के रक्षक पुरुषो ! आप लोगों का बल, धन, प्रज्ञान और तेज सब हमारी वृद्धि और रक्षा के लिये हो। सामान्यतः हम सब परस्पर प्रेम से रहते हुए अपने इन्द्रिय सामर्थ्य, धन, बल, विज्ञान और तेजों को एक दूसरे के लिये उपयोग करें। (मात्रे पृथिव्यै नमः) माता पृथिवी जो समस्त प्रजा को उत्पन्न करती और अन्न देती और राजा को भी उत्पन्न करती और पोषती है। उसको (नमः) हम आदर करते हैं। हे राजन् (इयं) यह पृथिवी ही तेरी (राड्) राजशक्ति है। तू (यन्ता असि) नियन्ता, व्यवस्थापक है। तू (यमन.) सब प्रकार से नियमन करनेवाला, (ध्रुव.) ध्रुव नक्षत्र के समान स्थिर, निश्चल, (धरुण असि) राष्ट्र को धारण करनेहारा, आश्रय-स्तम्भ है। हे राजन् ! पुरुष ! (त्वा) तुझको (कृष्यै) कृषि, खेती, पृथिवी पर अन्नादि उत्पन्न करने के लिये (त्वा क्षेमाय) तुझको जगत् के कल्याण के लिये, (त्वा रय्यै) तुझको राष्ट्र के ऐश्वर्य वृद्धि के लिये, (त्वा पोषाय) तुझको राष्ट्र के पशु समृद्धि के लिये नियुक्त किया जाता है ॥ शत० ५ । २ । १ । १५–२५ ॥

वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमꣳ राजानमोषधीष्वप्सु। ता ऽअस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयꣳ राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा ॥ २३ ॥

प्रजापतिर्देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वाजस्य प्रसवः) संग्राम और वीर्य का ऐश्वर्य या समृद्धि ही (अग्रे) सबसे प्रथम (ओषधीषु सोमम्) ओषधियों में जिस प्रकार सोम सर्वश्रेष्ठ सबसे अधिक वीर्यवान् है उसी प्रकार (अशु) प्रजाओं में (इमं राजा) इस सर्वोपरि राजमान सम्राट् को (सुषुवे) उत्पन्न करता है। (ताः) वे ओषधियें (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (मधुमतीः) अन्न आदि मधुर पदार्थों से सम्पन्न हों और वे प्रजाएं भी अन्न आदि ऐश्वर्य से युक्त हों और जल भी मधुरगुण से युक्त हों। (वयम्) हम अमात्य आदि राष्ट्र के पालक पुरुष (राष्ट्रे) राष्ट्र में, सब कार्यों में (पुरोहिताः) अग्रसर होकर, मुख्य पद पर विराजकर राष्ट्र में (स्वाहा) उत्तम शासन व्यवस्था सहित (जागृयाम) सदा जागते रहें, सदा सावधान होकर शासन करें ॥ शत० ५ । २ । २ । ५ ॥

वाजस्येमां प्रसुवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट्। अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिं सर्ववीरं नियच्छतु स्वाहा ॥ २४ ॥

प्रजापतिर्देवता । स्वराट त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वाजस्य) अन्न, वीर्य और सांग्रामिक बल का (प्रसवः) उत्पादक यह (सम्राट्) सम्राट्, महाराज, (इमाम्) इस और (दिवम्) आदित्य, के समान प्रकाशमयी और आकाश के समान विस्तृत ज्ञानपूर्ण राजसभा को और (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवनों, देशों, लोकों को, समस्त लोकों को परमेश्वर के समान विशाल शक्ति से (शिश्रिये) धारण करता है। वह (प्रजानन्) सब कुछ जाननेहारा (अदित्सन्तम्) कर या किसी की देन को न देना चाहनेवाले से भी (दापयति) दिलवाता है। (स) वह (नः) हमें (सर्व वीरम् रयिम्) सब वीर पुरुषों से

२४—०'च्छतु ।' इति काण्व० ।

युक्त ऐश्वर्य को (स्वाहा) उत्तम धर्मानुकूल व्यवस्था से (नियच्छतु) प्रदान करे ।

वाजस्य नु प्रसव आ बभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वतः । सनेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानो अस्मे स्वाहा ॥ २५ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—जो पुरुष (वाजस्य) ज्ञान, बल और ऐश्वर्य को (नु) बहुत शीघ्र (प्रसव) प्राप्त करने, उत्पन्न करने और साधन में (आ बभूव) समर्थ होता और (इमा च) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों, उनमें उत्पन्न प्राणियों और अधीन शासकपदों के भी (सर्वत आ बभूव च) सब प्रकार से ऊपर उनके शासकरूप से विद्यमान है, वह (विद्वान् राजा) विद्वान्, ज्ञानी राजा (अस्मे) हमें ही (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था, नीति और कीर्त्ति से (प्रजाम्) प्रजा और (पुष्टिम्) धन, अन्न और पशुओं की समृद्धि को (वर्धयमान.) बढ़ाता हुआ (सनेमि) अपने सदातन, स्थिर नीति से (परियाति) सबसे ऊपर के पद को प्राप्त हो जाता है । वही हमारा राजा होने योग्य है ॥ शत० ५ ॥ २ । २ । ७ ॥

सोमꣳ राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे । आदित्यान्विष्णुꣳ सूर्य्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिꣳ स्वाहा ॥ २६ ॥ ऋ० १० । १४१ । ३ ॥

तापस ऋषि । सोमाग्न्यादित्यविष्णुसूर्यब्रह्मबृहस्पतयो विश्वेदेवाश्च देवताः । अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हम लोग (अवसे) रक्षा के लिये (सोमम्) सौम्य स्वभाव, सबके प्रेरक और (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुतापक और

२५—'विद्वान् रयिं पुष्टि०' इति काण्व० ।

२६—'आदित्य वि०' इति काण्व० ।

प्रकाशवान्, तेजस्वी विद्वान् पुरुष को (राजानम्) राजा (अनु आरभामहे) बड़े सोच विचार के पश्चात् बनावें । और (स्वाहा) उत्तम विद्या और आचार के अनुसार ही (आदित्यान्) ४८ वर्ष के ब्रह्मचारी, आदित्य के समान तेजस्वी विद्वानों को (विष्णुम्) व्यापक, सर्व विद्याओं और राज-व्यवस्थाओं मे व्यापक, विज्ञ या पारगत (सूर्यम्) सूर्य के समान सबको समानरूप से प्रकाश देनेवाले और (ब्रह्माणम्) वेदों के विद्वान् ,और (बृहस्पतिम्) बृहती वेदवाणी, बृहत् महान् राष्ट्र और बृहत् बड़े बड़े आप्त पुरुषों के पालक पुरुष को भी हम (अनु-आ-रभामहे) अपनी रक्षा के लिये नियुक्त करें, उनको शासक अधिकारी बनावें ॥ शत० ५ । २ । २ । ८ ॥

अर्य्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय । वाचं विष्णुꣳ सर-स्वतीꣳ सवितार चं वाजिनꣳ स्वाहा ॥ २७ ॥

ऋ० १० । १४१ । ५ ॥

तापस ऋषिः । अर्यमबृहस्पतीन्द्र-वनयु-विष्णु-सरस्वत्यो देवताः । अनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अर्यमणम्) पक्षपातरहित, न्यायकारी, (बृहस्पतिम्) वेदादि समस्त विद्याओं के विद्वान्, (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य-वान् इन पुरुषों को (दानाय) दान करने के लिये (चोदय) प्रेरणा कर । न्यायकारी पुरुष उत्तम न्याय दे । बृहस्पति, विद्वान् ज्ञान प्रदान करे और इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पुरुष धन दान दे और (वाचम्) वेदवाणी को, (विष्णुम्) व्यापक शक्ति वाले या सकल विद्यापारंगत पुरुष को और (सरस्वतीम्) बहुतसी विद्याज्ञानों को धारण करने वाली स्त्रियों को, (सवितारम्) सबके प्रेरक, आचार्य, सर्वोपदेष्टा पुरुष को और (वाजिनम्) ज्ञानी, बलशाली, ऐश्वर्यवान् पुरुष को (च) भी (स्वाहा) उत्तम सदा-चार नीति से (चोदय) चला ॥ शत० ५ । २ । २ । ६ ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव। प्र नो यच्छ सहस्राजित्त्वꣳ हि धनदा असि स्वाहा ॥ २८ ॥ ऋ० १० । १४१ । १ ॥

तापस ऋषि । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गाधार. ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ! शत्रुतापक ! ज्ञानवान् ! तेजस्विन् ! राजन् ! तू (इह) यहा, इस लोक में, राष्ट्र में (न) हमें (अच्छा वद) उत्तम उपदेश कर। (न. प्रति सुमना. भव) हमारे प्रति उत्तम चित्त वाला होकर रह। तू (सहस्राजित्) हजारों युद्धों का विजय करने हारा है। तू (न प्रयच्छ) हमें ऐश्वर्य प्रदान कर। (त्वं हि) तू निश्चय से (स्वाहा) उत्तम नीति, रीति और कीर्ति से ही (न) हमें (धनदा. असि) धनैश्वर्य का प्रदाता है ॥ शत० ५ । २ । २ । १० ॥

प्र नो यच्छत्वर्य्यमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः । प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा ॥ २९ ॥ ऋ० १० । १४१ । २ ॥

तापस ऋषि. । अर्यमादयो देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(अर्यमा) अर्यमा, न्यायाधीश (पूषा) राष्ट्र का पोषक, सब को वेतनादि देने हारा, भागधुक् नामक वेतनाध्यक्ष या कराध्यक्ष (बृहस्पतिः) वेद का विद्वान् और ये सब (प्रयच्छतु) हमें उत्तम पदार्थ प्रदान करें और (वाग् देवी) वाणी, देवी अथवा विद्या से युक्त (देवी) माता (न) हमें (स्वाहा) उत्तम रीति से ज्ञान और पुष्टि (प्र ददातु) प्रदान करे ॥ शत० ५ २ । २ । ११ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।

२९—'०बृहस्पतिः प्र सरस्वती । प्र वाग्'० इति काण्व० ।

सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रियं दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ ॥ ३० ॥

तापस ऋषि । सुन्वन् देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(सवितुः देवस्य) सविता देव, सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न किये संसार में, अथवा सर्वप्रेरक, सर्वोत्पादक पुरोहित (देवस्य) विद्वान् के (प्रसवे) विशेष आज्ञा या नियन्त्रण मे मैं (अश्विनो बाहुभ्याम्) शीघ्रगामी सूर्य और चन्द्र के समान या दिन और रात्रि के समान स्त्री पुरुषों की (बाहुभ्याम्) धारण और आकर्षणशील बाहुओ से और (पूष्णः) पोषक वर्ग के (हस्ताभ्याम्) हाथों से और (सरस्वत्यै) सरस्वती, परम विदुषी परिषद् और (बृहस्पते.) महान् वेदवाणी और महान् राष्ट्र के पालन में समर्थ (वाचः यन्तु.) वाणी का नियमन या अभ्यास करने वाले के (यन्त्रियं) उत्तम नियन्त्रण में (त्वा) तुझको (दधामि) स्थापित करता हूं। और (असौ) हे अमुक नाम वाले पुरुष ! (साम्राज्येन) इस महान् साम्राज्य के पदाधिकार सहित तुझको (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूं ॥ शत० ५ । २ । २ । १३ ॥

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत् तमुजैषमग्निनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतां तानुजैषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्तानुजैषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुजैषम् ॥३१॥

तापस ऋषि. । अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः देवताः । अत्यष्टि । गान्धारः ॥

भा०—[१] (अग्निः) अग्नि, जिस प्रकार जीव, परमेश्वर (एकाक्षरेण) एक अक्षर ओकार के बल से और एकमात्र वायु की अक्षय शक्ति से (प्राणम्) प्राण और महाप्राण वायु को (उद् अजयत्) अपने वश करता है, उसी प्रकार मैं राजा स्वयं (अग्नि) अग्नि के समान शत्रुओ

३०—'सम्राड देवता' । द० । 'यन्तुर्येतुर्यं दधामि०' शो० । 'षिञ्चामीन्द्रस्य त्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चामि' इति काण्व० ।

को संतापकारी और अग्रणी होकर (एकाक्षरेण) अपने क्षीण होनेवाले, अपार बल से (तम् प्राणम्) उस प्राण को, प्रजा के जीवनाधार अन्न को (उत् जेषम्) अपने वश करू ।

[२] (अश्विनौ) अश्विन्, दिन और रात्रि, सूर्य और चन्द्र, माता और पिता दोनों अपने (द्व्यक्षरे) दो प्रकार का अक्षय बल, प्रकाश, अन्धकार या श्रम और विश्राम. ताप और शीतलता, पराक्रम और प्रेम से (द्विपद मनुष्यान्) दोपाये मनुष्यों को (उद् अजयताम्) अपने वश करते है उसी प्रकार मे राजा दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र और माता पिता के समान होकर (द्विपदः मनुष्यान्) दो पाये मनुष्यों को काम और आरम्भ, तीव्रता और सौम्यता, पराक्रम और प्रेम इन दो दो प्रकार के अनश्वर सामर्थ्य से (उत् जेषम्) अपने वश करूं और उनको उन्नत करूं।

[३] (विष्णु) व्यापक प्रकाशवाला सूर्य जिस प्रकार (अक्षरेण) अपने तीन प्रकार के आदित्य, विद्युत् और अग्नि इन अक्षय बलों या तेजो से (त्रीन् लोकान्) तीनो लोको को (उद् अजयत्) अपने वश कर रहा है उसी प्रकार मैं भी अपने तीन प्रकार के प्रज्ञा, उत्साह और बल इन तीन अक्षय सामर्थ्यों से (तान् त्रीन् लोकान्) उन उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीनों प्रकार के लोको को (उत् जेषम्) वश करू ।

[४] सोम) सोम परमेश्वर जिस प्रकार (चतुरक्षरेण) अपने चार अक्षय बल या अ, उ, म् और अमात्र इन चार अक्षरों से (चतुष्पद) चार चरणों वाले एव जाग्रत्, स्वप्न सुषुप्ति और तुरीय इन चार स्वरूप या चार स्थिति वाले (पशून् साक्षात् द्रष्टा जीवात्माओं को (उत् अजयत्) अपने वश करता है उसी प्रकार मैं (सोमः) सर्वैश्वर्यवान्, सबका प्रेरक होकर (चतुरक्षरेण) अपने चार अक्षय बल, चतुरङ्ग सेना या साम, दान भेद और दण्ड इन चार उपायों द्वारा (तान् पशून्) उन पशुओं आदि को, ऐश्वर्यों को या पशुओं के समान प्राणोपजीवी प्रजापुरुषो को (उत् जेषम्) विजय करू ॥ शत० ५ । २ । २ । १७ ॥

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिश उदजयत्ता उज्जेषꣳ सविता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत्तानुज्जेषम् । मरुतः सप्ताक्षरेण सप्तग्राम्यान् पशूनुदजयꣳस्तानुज्जेषम् । बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ॥ ३२ ॥

[५] (पूषा) सर्व पोषक परमेश्वर या चन्द्र (पञ्चाक्षरेण) अपने पांच अक्षय, अविनाशी और पांच भूतरूप पांच सामर्थ्यों से (पञ्च दिशः) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, अधः-ऊर्ध्व, इन पांच दिशाओं को अथवा समष्टि जीव संसार में विद्यमान पांच ज्ञानदर्शक, ज्ञानेन्द्रियों को (उद् अजयत्) वश करता है इसी प्रकार मैं राजा (पूषा) स्वयं राष्ट्र की प्रजा का पोषक होकर (पञ्चाक्षरेण) अपने पांचों अक्षय भोग्य सामर्थ्यों से (पन्चदिश उत् जेषम्) पांचों दिशाओं को वश करूं ।

[६] सविता सूर्य या सर्वोत्पादक परमेश्वर (षड्-अक्षरेण) अपने ६ प्रकार के अक्षय बलों से (षड् ऋतून् उद् अजयत्) छहों ऋतुओं को अपने वश करता है उसी प्रकार मैं (सविता) सबको आज्ञापक होकर (षड्-अक्षरेण) अपने छ प्रकार के अक्षर, न द्रवित होनेवाले, सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव (षड् ऋतून्) इन छहों ऋतुओं के समान (तान्) राष्ट्र के छः गुणों पर विचार करनेवाले महामात्यों या छहों गुणों पर वश करूं ।

[७] (मरुत) मरुद्गण, प्राणगण जिस प्रकार (सप्ताक्षरेण) सात अक्षय बलों द्वारा (सप्त ग्राम्यान् पशून्) सातों ग्राम्य पशुओं को अपने वश करते हैं उसी प्रकार मैं भी (सप्ताक्षरेण) सातों प्रकार के अन्नों द्वारा (तान्) सातों ग्राम के पशु गौ आदि को एवं ग्राम अर्थात् समूह में विद्यमान शीर्षण्य सातों प्राणों को (उत् जेषम्) वश करूं ।

[८] (बृहस्पतिः) बृहत्-महान् ब्रह्माण्ड का स्वामी परमेश्वर (अष्टाक्षरेण) अपने आठ अक्षय सामर्थ्यों से (गायत्रीम्) आठ अक्षरों

वाली गायत्री के समान अष्टधा प्रकृति से बनी प्राणपालनी-सृष्टि को अपने वश करता है उसी प्रकार मैं राष्ट्रपति आठ अपने सामर्थ्यों से स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, बल और भूमि । अथवा आठ महामात्यों से (गायत्रीम् उत् जेषम्) सब राष्ट्र के प्राणों की पालिका पृथिवी को अपने वश करू ।

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳ स्तोममुदजयत् तमुज्जेषम् । वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्दु एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषम् । विश्वे देवा द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ ३३ ॥

[९] (मित्र.) सब का स्नेही, एवं स्नेहपात्र यह मुख्य प्राण (नवाक्षरेण) अपने नव-द्वारों में स्थित अक्षय सामर्थ्य से (त्रिवृतं स्तोमम्) त्रिवृत् स्तोम अर्थात् नव द्वारों में विद्यमान नवों प्राणों को (उद् अजयत्) अपने वश करता है और जिस प्रकार (मित्र.) सर्वस्नेही तपस्वी, ब्राह्मण (नवाक्षरेण) नवों द्वारों में अक्षर अर्थात् अस्खलित रूप से विद्यमान वीर्य द्वारा (त्रिवृत स्तोमम्) त्रिगुण सामर्थ्य से पालन करता है या जिस प्रकार (मित्र) सब का स्नेही परमेश्वर (नवाक्षरेण) अपने अक्षय नव प्रकार के सामर्थ्यों से अष्ट वसु और नव कुमार एवं नवधा दैवसर्गों को (उत् अजयत्) रचता और वश करता है उसी प्रकार मैं (मित्र.) समस्त प्रजा का मित्र राष्ट्रपति राजा (नव-अक्षरेण) अपने नवों प्रकार के अक्षय कोशों से (त्रिवृत स्तोमम्) मौल, भृत्य और मित्र बल तीनों को (उत् जेषम्) वश करू ॥

[१०] (वरुण) वरुण सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर जिस प्रकार (विराजम्) विराट् प्रकृति को (दशाक्षरेण) पांच स्थूल और पांच सूक्ष्म भूतों द्वारा विभक्त करके उसे अपने (उद् अजयत्) वश में रखता है या (वरुणः)

समस्त अंगों के वरण करने में समर्थ योगी अपने दशविध प्राण-बल से अपने (विराजम्) विविध प्रकाशमान् चिंत शक्ति पर वश करता है या जिस प्रकार 'वरुण' मुख्य प्राण दशविध इन्द्रियों से विराट्=अन्न को अपने भीतर ग्रहण करता है उसी प्रकार मैं विजिगीषु (वरुणः) सब से श्रेष्ठ प्रजा द्वारा राजा वरा जाकर (दश अक्षरेण) अपने दसों प्रकार के दश्शावरा परिषद् के सदस्यों द्वारा ही (विराजम्) विविध ऐश्वर्यों से प्रकाशमान या राजा रहित राज्यव्यवस्था को या पृथिवी को (उत् जेषम्) वश करूं ॥

[११] (इन्द्र·) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर जिस प्रकार (एकादश अक्षरेण) अपने ११ रुद्र रूप सामर्थ्यों से (त्रैष्टुभम्) त्रिलोकी को (उद् अजयत्) वश करता है, अथवा (इन्द्र) जीव जिस प्रकार दश इन्द्रिय और ११वां मन इनसे (त्रैष्टुभम्) तीन प्रकार से स्थित मन, इन्द्रिय, शरीर को वश करता है उसी प्रकार मैं (इन्द्र) ऐश्वर्यवान् होकर (एकादश-अक्षरेण) दश सदस्य और ११वां सभापति द्वारा या शत्रुओं को हरानेवाले ११ मुख्य सेनापतियों द्वारा (त्रैष्टुभम्) अपने मित्र, शत्रु, उदासीन इन तीन प्रकार के राजन्य-बलों को (उद् जेषम्) वश करूं ॥

[१२] (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण विद्वान् और उनका स्वामी प्रजापति इसी प्रकार जैसे (विश्वे देवाः) समस्त देव=किरणगण और उनका पुञ्ज सूर्य (द्वादश-अक्षरेण) १२ अक्षय शक्ति, १२ मासों से (जगतीम्) जगती इस पृथिवी को अपने वश करते हैं और जिस प्रकार (विश्वेदेवा) समस्त प्राणगण १२ विभागों में विभक्त प्राणों द्वारा गमनशील शरीर को वश रखती है उसी प्रकार मैं (विश्वे देवा) समस्त राजपुरुषों पर अधिकारस्वरूप होकर (द्वादश-अक्षरेण) १२ अक्षय अर्थात् प्रबल सहायकों द्वारा (ताम् उत् जेषम्) उस पृथिवी के ऊपर बसे वैश्यों की व्यवहार नीति को और पृथिवी को वश करूं ।

[१] वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदशꣳ स्तोममुदजयꣳस्तमुज्जेषम् । रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशꣳ स्तोममुदजयꣳस्तमुज्जेषम् । [२] आदित्या. पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशꣳ स्तोममुदजयꣳस्तमुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेण षोडशꣳ स्तोममुदजयꣳस्तमुज्जेषम् । प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदशꣳ स्तोममुदजयꣳस्तमुज्जेषम् ॥ ३४ ॥

तापस ऋषिः । वस्वादयो देवताः । (१) निचृज्जगती । निषादः ।

(२) निचृद् धृतिः । ऋषभ ॥

भा०—[१३] (वसव) गृह बसाने योग्य, २४ वर्ष का ब्रह्मचारी, विद्वान् पुरुष (त्रयोदशाक्षरेण) जिस नव बाह्यद्वार और चार अन्तः-करणों में स्थित अक्षय वीर्य से (त्रयोदशं स्तोमम्) इन १३ हों के समूह इस काम पर (उद् अजयन्) वश करते हैं उसी प्रकार मैं भी राजा, १३ प्रधान पुरुषों के बल से (त त्रयोदशं स्तोमम्) उन १३ विभागों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करू ।

[१४] (रुद्राः) प्राणों के अभ्यासी, ३६ वर्ष के नैष्ठिक ब्रह्मचारी जिस प्रकार दश बाह्येन्द्रिय और ४ भीतरी अन्त करणों को वश करके (चतुर्दशं स्तोमम् उत् अजयत्) १४ हों के समूह को वश करते हैं उसी प्रकार मैं रुद्ररूप शत्रुओं को रुलाने में समर्थ होकर १४ अध्यक्षों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करूं ।

[१५] (आदित्या.) आदित्य के समान तेजस्वी ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपालक विद्वान् पुरुष जिस प्रकार (पञ्चदशाक्षरेण) मेरुदण्ड के चौदह मोहरों और उनमें व्यापक १५ वें वीर्य को सुरक्षित रखकर (पञ्चदश स्तोमम् उदजयन्) १५ के समूह इस मेरुदण्ड को वश करते, उसे खूब दृढ़ करते हैं उसी प्रकार मैं आदित्य के समान तेजस्वी होकर १५ राष्ट्र के विभागाध्यक्षों के बल से (पञ्चदश स्तोमम्) १५ विभागों से युक्त राष्ट्र को (उत् जेषम्) वश करू ।

[१६] (अदिति) अखण्ड ब्रह्मचारिणी जिस प्रकार (षोडशाक्षरेण) १६ वर्ष के अखण्ड तप से (षोडशं स्तोमम् उद् अजयत्) १६ वर्ष समूह पर विजय प्राप्त करती है और जिस प्रकार (अदिति) अखण्ड ब्रह्मशक्ति १६ कला समूहों पर वश करती है, उसी प्रकार मैं (अदितिः) अखण्ड शासन से युक्त होकर (षोडशाक्षरेण) १६ सदस्यों द्वारा (षोडशं स्तोमम्) उनसे चलाये गये राज्य-कार्य को (उत् जेषम्) वश करूं ।

[१७] (प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर (सप्तदशाक्षरेण) १६ कलाओं और १७ वीं ब्रह्मकला के अक्षय बल से युक्त होकर सप्तदशं स्तोमम् उदजयत्) सप्तदश स्तोम, १७ हों शक्तियों के समूह को वश करता है उसी प्रकार मैं (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी राजा होकर १६ अमात्य एवं १७ वीं अपनी मति सहित सबके अक्षर, अखण्ड-बल से (तम्) उस सब पर (उत् जेषम्) वश करूं ।

१	अग्निः	एकाक्षरेण	प्राणम्	उदजयत्
२	अश्विनौ	द्व्यक्षरेण	द्विपद मनुष्यान्	,,
३	विष्णु	त्र्यक्षरेण	त्रीन् लोकान्	,,
४	सोमः	चतुरक्षरेण	चतुष्पद. पशून्	,,
५	पूषा.	पञ्चाक्षरेण	पञ्चदिश.	,,
६	सविता	षडक्षरेण	ऋतून्	,,
७	मरुत	सप्ताक्षरेण	सप्तग्राम्यान् पशून्	,,
८	बृहस्पतिः	अष्टाक्षरेण	गायत्रीम्	,,
९	मित्र	नवाक्षरेण	त्रिवृतं स्तोमम्	,,
१०	वरुण.	दशाक्षरेण	विराजम्	,,

११	इन्द्रः	एकादशाक्षरेण	त्रिष्टुभम्	उदयाच्चल
१२	विश्वेदेवा	द्वादशाक्षरेण	जगतीम्	,,
१३	वसवः	त्रयोदशाक्षरेण	त्रयोदशं स्तोमम्	,,
१४	रुद्राः	चतुर्दशाक्षरेण	चतुर्दशं स्तोमम्	,,
१५	आदित्याः	पञ्चदशाक्षरेण	पञ्चदशं स्तोमम्	,,
१६	अदितिः	षोडशाक्षरेण	षोडश स्तोमम्	,,
१७	प्रजापतिः	सप्तदशाक्षरेण	सप्तदशं स्तोमम्	,,

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाऽग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरः सद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥

वरुण ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । निचृदुत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—हे (निर्ऋते) सर्वथा सत्याचरण करनेवाले, सत्यधर्म के पालक राजन् ! अथवा हे (निर्ऋते) पृथिवी ! राष्ट्र ! (एषः ते भागः) यह तेरा भाग है, विभाग है। (तं जुषस्व) उसको तू प्रेम से स्वीकार कर। (स्वाहा) और इस सत्य व्यवस्था को पालन कर। (पुर सद्भ्य) राजसभा में आगे विराजनेवाले (अग्निनेत्रेभ्यः) अग्नि के समान शत्रुतापक, सेनानायक पुरुष को अपने नेता स्वीकार करनेवाले (देवेभ्य) युद्ध विजयी वीर पुरुषों के लिये (स्वाहा) धर्मानुकूल उत्तम अन्न और ऐश्वर्य प्राप्त हो। (दक्षिणासद्भ्यः) दक्षिण की ओर, दायीं ओर विराजनेवाले

३५—अतः पर राजसूयमन्त्राः वरुणदृष्टाः।

(यमनेत्रेभ्यः) दुष्टों के नियन्ता यम को अपने नेता स्वीकार करनेवाले अथवा वायु के समान तीव्रगति वाले, इन युद्ध-विजयी पुरुषों के लिये (स्वाहा) उत्तम अन्न-भाग प्राप्त हो। (विश्वेदेवनेत्रेभ्य देवेभ्य. पश्चात्-सद्भ्य स्वाहा) पीछे या पश्चिम की ओर विराजनेवाले समस्त विद्वानो को अपना नेता या उनके द्वारा अपनी नीति प्रयोग करनेवाले विद्वान् विजयी पुरुषों को उत्तम अन्न ऐश्वर्य प्राप्त हो। (मित्रावरुणनेत्रेभ्यः) शरीर में प्राणापान के समान राष्ट्र में समान, जीवन सञ्चार करनेवाले अथवा मित्र=सूर्य और वरुण=मेघ के समान नीति वाले या मित्र, न्यायाधीश और वरुण, दुष्टवारक पुरुष को अपना नेता स्वीकार करनेवाले (वा) और (मरुत्नेत्रेभ्यः) मरुत् अर्थात् शत्रु-मारण में चतुर पुरुषो को नेता रखनेवाले (देवेभ्यः) विजयी (उत्तरा सद्भ्य) उत्तर दिशा में या बांयीं ओर विराजनेवाले पुरुषों को (स्वाहा) उत्तम अन्न और ऐश्वर्य, योग्य दूत आदि का कार्य प्राप्त हो। (सोमनेत्रेभ्य) सोम सौम्य स्वभाववाले आचार्य, योगी पुरुष को अपने नेता बनानेवाले (उपरिसद्भ्यः) सर्वोपरि विराज-मान (दुवस्वद्भ्यः) ईश्वरोपासना, यज्ञ, विद्याध्ययनादि कार्य आचरण करनेवाले (देवेभ्यः) इन विद्वान् पुरुषो को (स्वाहा) उत्तम अन्न, धन और ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो ॥ शत० ५ । २ । ३ ॥ ३ ॥

राजा के राज्यकार्य को पांच विभाग में बांटा जिनके नेता, मुख्य अधिकारी अग्नि, यम, विश्वेदेव, मित्रावरुण, मरुत् और सोम हैं। राज-दर्बार मे उनके पाच भिन्न स्थान हों और पृथ्वी के शासन मे उनके पांच विभाग हों।

ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्ते-भ्यः स्वाहा। ये देवा मित्रावरुणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरासद-

स्तेभ्यः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहा ॥ ३६ ॥

भा०—(ये) जो (देवा) देव, राज्यकार्य मे नियुक्त विद्वान् पुरुष (अग्निनेत्रा) 'अग्नि' ज्ञानवान्, तेजस्वी पुरुष को प्रमुख रखनेवाले (पुर सद) आगे या पूर्व भाग मे विराजते हैं, (तेभ्यः स्वाहा) उनको उत्तम आदर यश प्राप्त हो अथवा (ये अग्निनेत्रा) जो अग्नि, विद्युत् आदि तत्वों को जाननेवाले हैं उनको उत्तम यश, धन, ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो। (ये देवाः यमनेत्रा दक्षिणासद) जो देव, विद्वान् दक्षिण दिशा में विराजमान या बलशक्ति में विराजमान अथवा (यमनेत्रा) अहिंसा आदि यम नियमों मे निष्ठ अथवा पूर्वोक्त शत्रुनियामक मुख्य पुरुष के अधीन हैं (तेभ्य. स्वाहा) उनको उत्तम आदर, यश, अन्न, ऐश्वर्य प्राप्त हो। (ये देवा. विश्वदेवनेत्राः) जो विजयी, विद्वान्, विश्वेदेव अर्थात् प्रजा या प्रजापति को प्रमुख मानने वाले या प्रजाओं के नेता (पश्चात्-सदः) पीछे ये पश्चिम भाग में विराजते हैं (तेभ्य स्वाहा) उनको उत्तम यश और आदर प्राप्त हो। (ये देवा. मित्रावरुणनेत्रा.) जो विद्वान् मित्र और वरुण न्यायाधीश और नगर के पोलीसाध्यक्ष के अधीन (वा) और (मरुत्नेत्रा.) वायु के समान तीव्र चढ़ाई करनेवाले सेनापति के अधीन वीर पुरुष (उत्तरासद) उत्तर दिशा में विराजते हैं (तेभ्य. स्वाहा) उनको उत्तम यश आदर और ऐश्वर्य प्राप्त हो। (ये देवा सोमनेत्रा) जो विद्वान् शासक लोग सोम आचार्य या राजा के अधीन (दुवस्वन्त.) ईश्वरपरिचर्या या ज्ञानाराधना, धर्म, यज्ञ यागादि करते हैं और (उपरिसद) सबसे ऊपर विराजते हैं, (तेभ्यः स्वाहा) उनको उचित आदर, यश, अन्न, धन प्राप्त हो ॥ शत० ५ । २ । ४ । ५ ॥

राज्याभिषेक में, राजसूय में पाचों विभाग में विराजनेवाले प्रतिष्ठितो को

आदर सत्कार, स्वागत, धन, अन्न, ऐश्वर्य देकर मान, प्रतिष्ठा करनी चाहिये। और उनको राज्य में भी उत्तम भूमि और पदाधिकार देने चाहियें।

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि ॥ ३७ ॥

देववात ऋषि । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(अभिमातीः) अभिमान और गर्व से भरी हुई शत्रु-सेनाओं को (अपास्य) दूर फेंक कर-परास्त करके हे (अग्ने) अग्रणी अग्नि के समान संतापक तेजस्वी सेनापते ! तू (पृतनाः) समस्त संग्रामों और शत्रु-सेनाओं को (सहस्व) बलपूर्वक विजय कर। तू स्वयं (दुः-तरः) दूसरे शत्रुओं द्वारा दुस्तर, अजेय, अबध्य, अपार, दुःसाध्य होकर (अरातीः तरन्) शत्रुओं को नाश करता हुआ (यज्ञवाहसि) परस्पर संगत राजधर्मों और व्यवस्थाओं को धारण करनेवाले राष्ट्र और राष्ट्रपति में (वर्चः धा) तेज और बल का प्रदान कर ॥ शत० ५ । २ ४ । १६ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्।
उपाꣳशोर्वीर्य्येण जुहोमि हुतꣳ रक्षः स्वाहा। रक्षसां त्वा ब्रध्नाय बधिष्म रक्षोऽबधिष्मामुमसौ हतः ॥ ३८ ॥

देववात ऋषिः । रक्षोघ्नो देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (सवितुः) सबके उत्पादक, कर्त्ता एवं प्रेरक (देवस्य) देव, राजा के (प्रसवे) ऐश्वर्यमय राज्य में (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्वियों के बाधक सामर्थ्यों से और (पूष्णः) परिपोषक मित्र राजा के (हस्ताभ्याम्) सब हनन साधनों से और (उपांशोः) उपांशु, प्राणस्वरूप

३८—'०वधिष्म रक्षोऽमुष्यत्वा वधायावधिष्म। जुषाणोऽध्वाज्यस्यवेतु स्वाहा।' इति काण्व०।

प्रजापति राजा के (वीर्येण) बल, वीर्य और अधिकार से (रक्षसां) राक्षसों, विघ्नकारियों के (बधाय) विनाश करने के लिये ही (त्वा जुहोमि) तुझे युद्ध-यज्ञ में आहुति देता हूं, भेजता हू । जाओ (स्वाहा) उत्तम युद्ध की शैली से उत्तम कीर्ति और नामवरी सहित (रक्षः) राक्षसों, राज्य के विघ्नकारी लोगों को (हतम्) मारडाला जाय । हे (रक्ष) राक्षस, दुष्ट पुरुष (त्वा) तुझको हमें युद्धस्थल में तुझे (अवधिष्म) नाश करते हैं । इस प्रकार हम (रक्ष) समस्त दुष्ट पुरुषों को (अवधिष्म) विनाश करें । और (अमुम् अवधिष्म) हम उस अमुक विशेष शत्रु का नाश करते हैं । इस प्रकार (असौ हतः) वह शत्रु छाट २ कर मारा जाय ॥ शत० ५ । २ । ४ । १७ ॥

सवि॒ता त्वा॑ स॒वाना॑ꣳसुवता॒मग्नि॑र्गृ॒हप॑तीना॒ꣳ सोमो॑ वन॒स्प॒तीना॑म् । बृह॒स्पति॑र्वा॒च इन्दो॒ ज्यैष्ठ्या॑य रु॒द्रः प॒शुभ्यो॑ मि॒त्र स॒त्यो व॑रु॒णो धर्म॑पतीनाम् ॥ ३९ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते । अतिजगती । निषाद ॥

भा०—हे राजन् ! तू (सवानां सविता) समस्त ऐश्वर्यों का उत्पादक होने से सविता है । (गृहपतीनाम् अग्नि) गृहस्थों के बीच में उनका अग्नि, ज्ञानवान, अग्रणी नेता एव तेजस्वी है । (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों के बीच में सोम के समान सर्वश्रेष्ठ अथवा वनस्पतियों अर्थात् जनसंघ पतियों के ऊपर उनका अधिष्ठाता, उनका आज्ञापक है । (वाच.) वेद-वाणी का (बृहस्पति) तू बृहस्पति परम विद्वान् प्रवक्ता है (ज्यैष्ठ्याय सबसे उत्कृष्ट पद के प्राप्त करने के कारण तू 'इन्द्र' है । (पशुभ्य.) पशुओं के हित के लिये तू साक्षात् (रुद्र) उनका रोधक, पालक पशुपति है । (सत्यः) सत्यवादी तू (मित्रः) सर्वस्नेही न्यायाधीश है । (धर्मपतीनाम्)

३९—'०प्रसवाना०' । '०रुद्रः पशूना मित्र सत्याय०' इति काण्व० ।

धर्मपालकों में तू (वरुणः) दुष्टो का वारक है। (त्वा) तुझको सब लोग (सुवताम्) राजपद पर आभिषिक्त करें ॥ शत० ५ । ३ । ३ । ११ ॥

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ ४० ॥

भा०—(महते क्षत्राय) बड़े भारी क्षात्रबल के लिये (महते ज्यैष्ठ्याय) बड़े भारी सर्वश्रेष्ठ राजपद के लिये (महते जानराज्याय) बड़े भारी जनों के ऊपर राजा होजाने के लिये और (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् राजा के (इन्द्रियाय) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये (देवाः) विजयी वीरगण और विद्वान् शासक पुरुष (अपपक्षन्) शत्रुओं से रहित (इमम्) इस वीर विजयी, योग्य पुरुष को (सुवध्वम्) आभिषिक्त करें। (इमम्) इस (अमुष्य पुत्रम्) अमुक पिता के पुत्र, (अमुष्यै पुत्रम्) अमुक माता के पुत्र को (अस्यै विशे) इस प्रजा के लिये राज्याभिषिक्त किया जाता है। हे (अमी) अमुक २ प्रजाओ ! (वः एषः राजा) आप लोगो का यह राजा (सोम) सोम चन्द्र के समान आह्लादक और सोमलता के समान आनन्द, तृप्ति और हर्षजनक और प्रवर्त्तक है। वह (अस्माकम्) हम (ब्राह्मणानाम्) वेद-ज्ञान के विद्वान् ब्राह्मणो का भी (राजा) राजा है। हमारे बीच मे भी शोभायमान हो ॥ शत० ५ । ३ । ३ । ४२ ॥

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

इति मीमासातीर्थप्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥

४०—'०महते ज्यैष्ठ्याय इममसु०, ०अमुष्या पुत्र० । एष व. कुरवो राजैत्व. पञ्चालानाराजासोमो०' इति काण्व० ।

अथ दशमोऽध्यायः

अथ राज्याभिषेकः

॥ ओ३म् ॥ आपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्व-श्चितानाः । याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

वरुण ऋषि । आपो देवताः । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(देवा) देव, विद्वान् पुरुष (मधुमती अप) मधुर गुण-वाले जलों के समान (मधुमतीः) ज्ञान और बल, क्रियाशक्ति से युक्त (अप) आप्त प्रजाजनों को (अगृभ्णन्) ग्रहण करते हैं। जो स्वयं (ऊर्जस्वतीः) अन्नादि समृद्धिवाले (चिताना.) ज्ञानवाले या विवेक से कार्य करनेवाले हैं और (राजस्वः) राजा को बनाने या उसके अभिषेक करने में समर्थ हैं। (याभिः) जिनके बल से (देवा.) विजिगीषु, विद्वान् पुरुष, (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण दोनों का (अभि अषिञ्चन्) अभिषेक करते हैं। और (याभि) जिनसे (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (अराती.) कर न देनेवाले समस्त शत्रुओं के (अति अनयन्) ऊपर विजय प्राप्त कराते हैं ॥ शत० ५ । ३ । ४ । ३ ॥

वृष्णऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा ।
वृष्णऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ।
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा ।
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

वरुण ऋषि । वृषा देवता । स्वराड् ब्राह्मी पंक्ति. । पञ्चम स्वरः ॥

भा०—(१) हे पुरुष ! तू (वृष्ण) बलवान् पुरुष को (ऊर्मि

१—'०वरुणा अभ्य०' इति काण्व० ।

असि) ऊंचे पद पर पहुंचाने में समर्थ है । तू (राष्ट्रदाः) राष्ट्र को देने में समर्थ है । तू (स्वाहा) उत्तम नीतिव्यवस्था से (मे राष्ट्रं) मुझे राष्ट्र, अर्थात् राज्यशक्ति (देहि) प्रदान कर । (वृष्णः) तू सुख वर्षक राज्य का (ऊर्मिः असि) ज्ञाता है, तू (राष्ट्रदाः) राज्य देने में समर्थ होकर (अमुष्मै) अमुक नाम के पुरुष को (राष्ट्रम् देहि) राष्ट्र, राजपद, या राज्याधिकार प्रदान कर ।

(२) हे वीर पुरुष ! तू (वृषसेनः असि) वृषसेन, बलवान्, हृष्ट पुष्ट सेना से युक्त है । तू (राष्ट्रदाः) राज्यशक्ति प्रदान करनेहारा होकर (स्वाहा) उत्तम रीति से (मे राष्ट्रं देहि) मुझको राज्यपद प्रदान कर और इसी प्रकार (वृषसेन· राष्ट्रदाः असि) बलवान् पुरुषों की बनी सेना से युक्त होकर राष्ट्र देने में समर्थ है । (अमुष्मै राष्ट्रम् देहि) अमुक पुरुष को राष्ट्र या राज्य सम्पद् प्रदान कर ।

इस प्रकार मन्त्र के पूर्व भाग से बलवान् और सेनासम्पन्न पुरुषों से राजा बल की याचना करे और उत्तर भाग से पुरोहित उस राजा को राज्यपद प्रदान करने की अनुमति ले । सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये । इस मन्त्र से तरंग के जलों से राजा को स्नान कराते हैं ।

' अर्थैत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थैत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे [२] देहि स्वाहाऽपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां गर्भोऽसि [१] राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ ३ ॥

आपः अपांपतिश्च देवताः । (१) अतिकृतिः । ऋषभः ।
(२) निचृत् जगती । निषादः ॥

भा०—[राजा] (३) हे (आप) आप्त पुरुषो, आप्त समागत प्रजाजनो ! आप लोग (अर्यत स्थ) अर्थ-विशेष इष्ट प्रयोजन से बलपूर्वक गमन करने में, शत्रु पर चढ़ाई करने में समर्थ है, अतएव आप भी (राष्ट्रदा) राष्ट्र सम्पद् को देने में समर्थ हैं । आप लोग (मे राष्ट्रं स्वाहा दत्तम्) उत्तम रीति से मुझे राष्ट्र, राज्यैश्वर्य प्रदान कीजिये । [अध्वर्यु] हे वीर पुरुषो ! आप (अर्यत· राष्ट्रदाः स्थ) अर्थ, धन, सम्पत् के बल पर शत्रु पर चढ़ाई करने में समर्थ है । अत. एव राष्ट्र दिलानेहारे हो, आप लोग अमुष्मै राष्ट्रं दत्त) अमुक नाम के योग्य पुरुष को राष्ट्र प्रदान करो ।

इस मन्त्र से बहती नदियों के जल से राजा को स्नान कराते हैं ।

(४) [राजा] (ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा·) आप लोग ओजस्वी, विशेष पराक्रमशील और राष्ट्र को देने में समर्थ हैं । (राष्ट्र मे दत्त) मुझे राष्ट्र प्रदान करें । [अध्वर्यु] (ओजस्वती राष्ट्रदा· स्थ) आप लोग ओजस्वी हैं, आप राष्ट्र देने मे समर्थ हैं । (अमुष्मै राष्ट्र दत्त) अमुक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान करें । जो जल प्रवाह से विपरीत बहें उन जलो से स्नान कराते है ।

(५) [राजा] (परि वाहिणी· राष्ट्रदाः स्थ) हे वीर प्रजाजनों ! आप लोग सब प्रकार से उत्तम सेनाओं से युक्त हो, अतः राष्ट्र प्राप्त कराने में समर्थ हो । आप (मे राष्ट्रम् दत्त) मुझे राष्ट्र प्रदान करो । [अध्वर्यु] हे वीर प्रजाजनो ! आप लोग (परिवाहिणी: राष्ट्रदा स्थ, अमुष्मै राष्ट्र दत्त) सब प्रकार से सेनाओं से युक्त, राज्य प्रदान करने में समर्थ हो । आप अमुक नामक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान करो । इस मन्त्र से जो नदियों की शाखाए फूटकर पुन उनमें जा मिलती हैं उनके जलों से स्नान कराते हैं ।

(६) [राजा] (अपां पति. असि) तू समस्त जलों के समान प्रजाजनों का पालक है । (राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे देहि) तू राष्ट्र प्राप्त करानेवाला

है, तू मुझे राष्ट्र प्राप्त करा। [अध्व०] (अपां पति. असि, राष्ट्रदाः, राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) तू समस्त प्रजाओं का पालक है। तू सबका नेता राष्ट्र प्राप्त कराने में समर्थ है। तू अमुक योग्य पुरुष को राष्ट्र प्रदान कर। इस मन्त्र से समुद्र के जल से स्नान कराते हैं ।

(७) [राजा] तू (अपां गर्भः असि, राष्ट्रदाः राष्ट्रं मे देहि स्वाहा) तू प्रजाओं को अपने अधीन अपने साथ रखने में समर्थ है। तू मुझे राष्ट्र अच्छी प्रकार प्राप्त करा । तू मुझे राष्ट्र प्रदान कर । [अध्व०] तू (अपां गर्भ राष्ट्रदाः असि राष्ट्रम् अमुष्मै देहि) प्रजाओं को वश करने में समर्थ है। तू राष्ट्र प्राप्त कराने हारा है। तू अमुक योग्य पुरुष को राज्य प्रदान कर। [इस मन्त्र से निवेष्य अर्थात् नदी के भँवर के जलो से स्नान कराते हैं ॥ शत० ५ । ३ । ४ । ४ ।–११ ॥

[1] सूर्य्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्य्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [2] सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [3] व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [4] शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [5] शक्करी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्करी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [6] जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [7] विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । [8] मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं

क्षत्रियाय वन्वाना अनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥ ४ ॥

वरुण ऋषिः । सूर्यादयो मन्त्रोक्ता देवता· । (१) जगती । निषाद । (२) स्वराट् पंक्ति । पन्चम । (३, ४) स्वराड् विकृतिः । मध्यमः । (५) स्वराट् संकृतिः । गान्धार. । (६) भुरिगाकृति. पन्चम । (७) भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(८) हे उत्तम प्रजागणो ! आप लोग (सूर्यत्वचसः स्थ) सूर्य के दीप्तिमान आवरण के समान उज्ज्वल आवरणवाले, धनैश्वर्यवान् तेजस्वी हो । (९) (सूर्यवर्चस· स्थ) सूर्य के तेज के समान तेज धारण करनेहारे हो । (१०) (मान्दाः स्थ) सबको आनन्दित, सुप्रसन्न करनेहारे हो । (११) (व्रजक्षित. स्थ) आप लोग गौ आदि पशुओं के समूहों के बीच में निवास करनेहारे हो । (१२) (वाशा. स्थ) आप लोग कान्तिमान और जनों को अपने वश करनेहारे अथवा उत्तम मधुर वचन बोलने और उत्तम सुमधुर गायन या उपदेश करनेहारे वाग्मी हो । (१३) आप लोग (शविष्ठाः स्थ) अति बलवान हो । (१४) आप लोग (शक्करीः स्थ) शक्तिशाली हो । (१५) आप लोग (जनभृतः स्थ) समस्त जनों के कृषि आदि द्वारा, भरण पोषण करने में समर्थ हो । (१६) आप लोग (विश्वभृतः स्थ) विश्व, समस्त प्रजाओं को भरण पोषण करने में समर्थ हो । (१७) आप लोग (स्वराज) स्वय अपने बल से उत्तम पद, प्रतिष्ठा पर विराजमान हो, आप सब नाना उत्तम गुणों को धारण करनेहारे प्रजागण, आप लोग सभी अपने २ सामर्थ्यों से (राष्ट्रदा) राष्ट्र के देने या पालने मे समर्थ हो । (मे राष्ट्रं) मुझे आप

४—म मधुमती० । ०'सहोजसा' इति काण्व० । अतः पर [९ । २९, ४०] पठ्यते । काण्व० ॥

सब लोग राष्ट्र या राज्य का कार्य (स्वाहा) अति उत्तम रीति से सुविचार कर (दत्त) प्रदान करो। हे उपरोक्त नानागुणवाले प्रजागणो ! आप लोग राष्ट्र के देने में समर्थ हो, आप लोग (अमुष्मै) अमुक योग्य पुरुष को (राष्ट्रं दत्त स्वाहा) राज्य प्रदान करते हो। आप सब प्रजाएँ (मधुमती.) जिस प्रकार मधुर जल मधुर जलों से मिलकर और मधुर होजाते हैं उसी प्रकार आप लोग (मधुमती) उत्तम वाणी और ज्ञान से युक्त होकर (मधुमतीभि) उत्तम बल और ज्ञान विज्ञानों से युक्त अन्य प्रजाओं से परस्पर (पृच्यन्ताम्) सम्पर्क करो, मिलके एक दूसरे से सत्संग करो। और (क्षत्रियाय) देश को क्षति से त्राण करने, पालन करने में समर्थ पुरुष को आप सब (महि क्षत्रम्) बड़ाभारी पालक बल, वीर्य (वन्वाना) प्रदान करते हुए और स्वयं भी (क्षत्रियाय) बलवान् शूरवीर राष्ट्र को क्षति होने से त्राण करने या बचाने वाले राजा के लिये (महि क्षत्रं दधती.) बड़ा भारी बल सामर्थ्य धारण करती हुई (सहोजसः) उसके समान एक साथ ही पराक्रमी बलशाली होकर (अनाधृष्टा) शत्रुओं से कभी भी पराजित न होनेवाली अजेय होकर (सीदत) इस राष्ट्र में विराजमान रहो। प्रतिनिधिवाद से इन १६ प्रकार की प्रजाओं के द्वारा राज्याभिषेक को निबाहने के लिये कर्मकाण्ड में १६ प्रकार के भिन्न २ प्रकार जलों को ग्रहण किया जाता है। उनसे राजा राणी को सभी अमात्य, पुरोहित, ब्राह्मण, वैश्य एवं प्रजा के भिन्न २ प्रतिनिधिगण बारी २ से स्नान कराते हैं। गौणवृत्ति से ये सब विशेषण उन नाना जलों में भी संगत होते हैं। ये सौलह प्रजाएं राष्ट्रकलश और राजा की १६ कलाएं वा अङ्ग समझनी चाहिये। १६ प्रकार की प्रजाएं और १७ वां राजा स्वयं यह प्रजापति का 'सप्तदश' स्वरूप भी स्पष्ट है ॥ शत० ५ । ३ । ४ । २२–२८ ॥

उक्त १७ प्रकार के राष्ट्रदा जलों के निम्नलिखित रूप से गौणार्थ जानने चाहियें—

(१) (वृष्णः ऊर्मि.) जल में प्रविष्ट पशु या पुरुष के आगे की तरग के जल, (वृष्ण) सेचन में समर्थ पुरुष का (ऊर्मि.) तरग है ।

(२) उसी पुरुष या पशु के पीछे की तरग का जल (वृषसेनाः असि०) सेचन समर्थ पुरुष की सेना के समान है ।

(३) (अर्षत स्थ) किसी अर्थ या प्रयोजन अर्थात् यन्त्रचालन आदि में प्रेरित जल ।

(४) (ओजस्वती. स्थ) प्रजा के विपरीत दिशा में लौट के जानेवाले जल विशेष बल से युक्त ' ओजस्वती ' हैं ।

(५) (परिवाहिणी स्थ) नदी के मार्ग को छोडकर शाखा फूटकर बहनेवाले जल 'अपयती आप.' कहाते हैं, वे ' परिवाहिणी ' हैं ।

(६) (अपापतिः) समुद्र के जल ।

(७) (अपांगर्भा) नदी में पड़े भँवर अर्थात् निवेप्य जिन जलों को अपने गर्भ में लेता है ।

(८) (सूर्यत्वचस) बहते जलों में से जो जल स्थिर हों, सदा घाम में रहते हों ।

(९) धूप के रहते २ जो जल बरसते हों वे 'आतपवर्ष्य' जल कहाते हैं वे (सूर्यवर्चस) ' सूर्यवर्चस् ' कहाते हैं ।

(१०) तालाब के जल (मान्दाः) नाना जीवों के प्रमोद हेतु होने से ' मान्द ' कहाते हैं ।

(११) कूए के जल (व्रजक्षित) या मेघ के जल 'व्रजक्षित्' कहात ह ।

(१२) ओस के विन्दुओं से सग्रह किये जल (वाशाः) 'वाशा' कहाते हैं ।

(१३) मधु को (शविष्टाः) 'शविष्ठा' कहा जाता है ।

(१४) गौ के प्रसव के पूर्व गर्भाशय से बाहर आनेवाले जल (शक्करी) 'शक्करी' कहे जाते हैं।

(१५) (जनभृतः) दूध 'जनभृत्' कहाते हैं।

(१६) घृत (विश्वभृतः) 'विश्वभृत' कहाते हैं।

(१७) स्वयं धाम से तपे जल (स्वराजः आपः) 'स्वराज्' कहे जाते हैं।

ये नाम गौणवृत्ति से कहे गये हैं। यज्ञ में या आभिषेक के अवसर पर ये प्रतिनिधिवाद से राज्यपद देनेवाली उत्तम गुणवती प्रजाओं और आप्त पुरुषों के श्लेष से वर्णन किया गया है, और ये नाना जल भिन्न २ गुणों के दर्शक हैं।

सिंहासनारोहण

सोमस्य त्विषिरसि तवैव मे त्विषिर्भूयात्। अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहांशाय स्वाहा भगाय स्वाहार्यम्णे स्वाहा ॥ ५ ॥

अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः। भुरिगतिधृति । ऋषभः।

भा०—हे सिंह ! या सिंहासन ! तू (सोमस्य) राजा की (त्विषिः असि) कान्ति या शोभा है। (तव इव) तेरे समान, तेरे अनुरूप ही (मे) मेरी, मुझ राजा की भी (त्विषिः) कान्ति, तेज, शोभा (भूयात्) हो। (अग्नये त्वा) हे राजन् ! तू अग्नि के उत्तम तेज को धारण कर। (सोमाय स्वाहा) हे राजन् ! तुझे सोम राष्ट्र का क्षात्रबल उत्तम रीति से आप्त हो। (सवित्रे स्वाहा) समस्त दिव्य तेजों के उत्पादक सूर्य का

५—'सोमस्य त्विषिरस्यग्नये०' 'इन्द्राय स्वाहाशाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहा घोषाय स्वाहा भगाय०' इति काण्व० ॥

तेज तुझे भली प्रकार प्राप्त हो । (सरस्वत्यै स्वाहा) सरस्वती, वेदवाणी का उत्तम ज्ञान तुझे प्राप्त हो । (पूष्णे स्वाहा) पुष्टिकारक पशुओं की समृद्धि तुझे प्राप्त हो । (बृहस्पतये स्वाहा) ब्रह्म, वेद के पालक विद्वान् पुरुषों का ज्ञान बल तुझे प्राप्त हो । (इन्द्राय स्वाहा) परम वीर्यवान् राजा का वीर्य तुझे प्राप्त हो। (घोषाय स्वाहा) घोष, सबको आज्ञा प्रदान करने और घोषणा करने का उत्तम अधिकार तुझे प्राप्त हो । (श्लोकाय स्वाहा) समस्त जनों द्वारा स्तुति और यश प्राप्त करने का पद प्राप्त हो । (अंशाय स्वाहा) सबको उचित उनके अंश, धन, भूमि आदि के बाटने का अधिकार तुझे प्राप्त हो। (भगाय स्वाहा) समस्त ऐश्वर्यों का स्वामित्व तुझे प्राप्त हो । (अर्यम्णे स्वाहा) सब राष्ट्र पर स्वामी होकर उनको न्याय प्रदान करने का अधिकार तुझे प्राप्त हो ॥ शत० ५ । ३ । ५ । ३–९ ॥

तेजो वा अग्नि. । तेजसा एवैनमभिषिञ्चति । क्षत्र वै सोमः । क्षत्रेणै वैनमेतदभिषिञ्चति । सविता वै देवाना प्रसविता । सवित्रृप्रसूत एव एन-मेतदभिषिञ्चति । वाग् वै सरस्वती । वाचैवैनमेतदभिषिञ्चति । पशवो वै पूषा । ब्रह्म वै बृहस्पति । वीर्यं वा इन्द्र. । वीर्यं घोषः । वीर्यं वै श्लोक । वीर्यं वा अश. । वीर्यं वै भग. । अर्यम्णो स्वाहा । तदेनमस्य सर्वस्य अर्यमण करोति ॥ शत० ५ । ३ । ५ । ८–९ ॥

अथवा—हे राजन् तू (सोमस्य त्विषि) परम ऐश्वर्य की शोभा है । मुझे भी ऐसी शोभा प्राप्त हो । (अग्नये स्वाहा) विद्युत् आदि के ज्ञान के लिये (सोमाय) औषधि ज्ञान के लिये, (सवित्रे) सूर्यविज्ञान के लिये, (सरस्वत्यै) वेदवाणी के लिये, (पूष्णे) पशु पालन के लिये, (बृहस्पतये) परमेश्वर ज्ञान के लिये, (इन्द्राय) जीव के ज्ञान के लिये, (घोषाय) वाणी, (श्लोकाय) काव्य के गद्यपद्य छन्दोज्ञान के लिये, (अंशाय) परमाणु ज्ञान के लिये, (भगाय) ऐश्वर्यप्राप्ति के लिये, (अर्यम्णे)

न्यायाधीश पद के लिये हे राजन् ! तू उनके योग्य (स्वाहा १२) विज्ञानों का अभ्यास कर ।

अथवा—सूर्य के १२ मासों के जिस प्रकार १२ रूप होते हैं उसी प्रकार अग्नि, सोम आदि भिन्न २ गुणों अधिकारों और सामर्थ्यों के सूचक १२ पद या अधिकार राजा को प्राप्त हों ।

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥ ६ ॥

वरुण ऋषि । आपो देवता. । स्वराट् ब्राह्मी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! दोनों प्रकार की प्रजाओ ! तुम (पवित्रे) पवित्र, शुद्धाचरणवाली (स्थ) होकर रहो । तुम दोनों (वैष्णव्यौ) समस्त विद्याओं में निष्णात होओ। अथवा (वैष्णव्यौ) राष्ट्र की व्यापक राज शक्ति के मुख्य अंग होवो । (वः) तुम दोनों को (सवितुः) सर्वोत्पादक परमेश्वर और सर्वप्रेरक राजा के (प्रसवे) बनाये ऐश्वर्यमय जगत् और राजा के राज्य में (अच्छिद्रेण) छिद्र या त्रुटि रहित (पवित्रेण) शुद्ध पवित्र, ब्रह्मचर्य, विद्या, शिक्षा आदि के आचार व्यवहार द्वारा (उत्पुनामि) पवित्राचारवान् करके उन्नत करूं । और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से शुद्ध पवित्र होकर जल जिस प्रकार ऊर्ध्व आकाश में जाता है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध, उत्तम शिक्षा आदि द्वारा अपनी प्रजाओं को शुद्ध आचारवान् करके उन्नत पद को पहुंचाऊं। हे राष्ट्र और राष्ट्रवासी प्रजाओ ! तुम (अनिभृष्टम् असि) शत्रु और दुष्ट पुरुषों से कभी सताए न जाओ । और तुम (वाच बन्धुः) वाणी द्वारा परस्पर प्रियभाषण करते हुए एक दूसरे को बन्धु समान प्रेम में बद्ध होकर रहो । आप लोग (तपोजाः) तप, ब्रह्मचर्य, विद्याध्ययन आदि तपों द्वारा अपने

को बढ़ाओ और परिपक्व वीर्यों से सन्तान उत्पन्न करो। आप लोग (सोमस्य) सोम अर्थात् राजा के पद को (दात्रम्) प्रदान करने में समर्थ (असि) हो। (स्वाहा) इसी कारण अपने इस सत्याचरण और व्यवहार से आप (राजस्व) राजा को उत्पन्न करने में समर्थ हो। शत० ५। ३। ५। १४॥

राजा, स्त्री पुरुष दोनों प्रजाओं को उन्नत करे। दोनों तपश्चर्या करें, बल बढ़ावें और राज्य कार्यों में भाग लें, दोनों राजा का अभिषेक करें।

सध्रमादो द्युम्निनीरापऽएताऽअनाधृष्टाऽअपस्यो वसानाः।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाꣳशिशुर्मातृतमासु गन्तः॥७॥

आपो वरुणश्च देवता। विराडार्षी त्रिष्टुप्। धैवत॥

भा०—(एता) ये (आप) आप्त प्रजाएं (सधमाद) समस्त, एक साथ ही आनन्द अनुभव करनेहारी और (द्युम्निनी) धन ऐश्वर्य और बलवीर्य वाली हों। वे (अपस्य) उत्तम कर्म करने में कुशल, (अनाधृष्टा) शत्रुओं से धर्षित और पीड़ित न होकर, एक ही राष्ट्र में (वसाना) रहती हैं। उन (पस्त्यासु) गृह बनाकर रहनेवाली प्रजाओं में (वरुणः) उन द्वारा वरण करने योग्य सर्वोत्तम राजा (अपा शिशु) जलों के भीतर व्यापक अग्नि के समान और (मातृतमासु अन्त) उत्तम माताओं के भीतर जिस प्रकार बालक निर्भय होकर रहता और पालन पोषण पाता है उसी प्रकार राजा उन (मातृतमासु) राजा को सर्वोत्तम रूप से माता के समान मान करनेहारी प्रजाओं के बीच (शिशु.) व्यापकरूप से रहकर उनमें ही (सधस्थम्) अपना आश्रय स्थान (चक्रे) बनाता है और उनके साथ ही रमता है। शत० ५। ३। ५ १६॥

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जरायवसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं

वृत्रं वधेत् । दृवासि रुजासि च्युमांसि । प्रातैनं प्राञ्च पातैनं प्रत्यञ्च प्रातैनं तिर्यञ्च दिग्भ्यः पात ॥ ८ ॥

तार्प्यपाण्ड्वाधीवासोष्णीषाणि धनुरिषवश्च देवता । स्वराट् कृति । निषाद ॥

भा०—हे राजन् ! तू (क्षत्रस्य) राष्ट्र के क्षात्रबल का (उल्वम् असि) गर्भ की रक्षा करनेवाले आवरण के समान रक्षक है । (क्षत्रस्य जरायु असि) तू क्षात्रबल का जरायु, जेर के समान आवरण है । तू स्वयं (क्षत्रस्य योनिः असि) क्षात्रबल का आश्रय है । तू (क्षत्रस्य नाभि असि) तू क्षात्रबल का केन्द्र है । हे शस्त्र और शस्त्रधारिन् ! तू (इन्द्रस्य) राजा के (वार्त्रघ्नम्) शत्रु नाशक बल स्वरूप है । तू (मित्रस्य वरुणस्य) सर्व स्नेही और शत्रुओं के वारक राजपदाधिकारियों के योग्य अस्त्र शस्त्र (असि) है । (त्वया) तुझ द्वारा (अयम्) यह राजा (वृत्रम्) विघ्नकारी शत्रु को (वधेत्) विनाश करे । तू (दृवा असि) शत्रुओं के गढ़ों को तोड़ने हारा है । तू (रुजा असि) बाण के समान शत्रुओं को पीड़ा दायक है । तू (च्युमा असि) शत्रुओं को कंपा देनेवाली शक्ति है । हे वीर सैनिक पुरुषो ! आप लोग (प्राञ्चं) आगे बढ़ते हुए (एनं) इस राजा की (पात) रक्षा करो । (एनम् प्रत्यञ्चं पात) इसको पीछे जाते की रक्षा करो । (एनं तिर्यञ्चं पात) इसको तिरछे जाते की रक्षा करो । इस राजा को तुम लोग (दिग्भ्यः पात) समस्त दिशाओं से रक्षा करो ॥ शत० ५ । ३ । ५ । २०—३० ॥

इस मन्त्र से राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को तार्प्य, पाण्ड्व, अधिवास नामक तीन वस्त्र, एक उष्णीष, धनुष और तीन बाण दिये जाते है ।

आविर्मर्य्याऽआविवित्तोऽअग्निर्गृहपतिराविवित्तऽइन्द्रो वृद्धश्रवाऽआविवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावाविवित्तः पूषा विश्ववेदाऽआविवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावाविवित्तादितिरुरुशर्म्मा ॥ ९ ॥

प्रजापतिर्देवता । भुरिगष्टिः । मध्यम ॥

८—०वार्त्रघ्नमसि त्वयाय वृत्र वध्यान् मित्रस्या० । '०च्युपासि' ।

भा०—हे (मर्याः) मनुष्यो ! आप लोगों ने यह (अग्नि.) अग्नि, अग्रणी, अग्नि के समान तेजस्वी, (गृहपति.) गृह के स्वामी के समान राष्ट्रपति, और आप सबके गृहों का पालक (आविः) साक्षात् (आवित्तः) प्राप्त किया है। आप लोग इसे गृहपति के समान अपना स्वामी जानें। आप लोगों को यह (वृद्धश्रवा.) अति प्रभूत धनैश्वर्यसम्पन्न, (इन्द्र) ऐश्वर्यवान्, राजा (आवि. आवित्त) साक्षात् विदित एवं प्राप्त हो। (धृत-व्रतौ) सब राजव्यवस्थाओं को धारण करनेवाले (मित्रावरुणौ) मित्र, न्यायाधीश और वरुण, बलाध्यक्ष दोनों (आवित्तौ) आप लोगों को साक्षात् विदित हों। (विश्ववेदा) समस्त धनैश्वर्यवान्, (पूषा) सबको पोषक यह राजा तुम्हें (आवित्त) प्राप्त हो। तुम लोगो को (विश्व शम्भुवौ) समस्त संसार को कल्याण देनेवाली (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, माता पिता, (आवित्तौ) सब प्रकार से प्राप्त हों। (उरुशर्मा अदिति.) बहुतो को शरण देनेवाली अखण्ड राजनीति, या पृथिवी या वपन योग्य भूमि, स्त्री भी तुम्हें (आवित्ता) प्राप्त हो। राजा ही तुम्हें ये सब प्राप्त करावे ॥ शत० ५ । ३ । ५ । ३१–३७ ॥

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत् स्तोमो वसन्त ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ १० ॥

भा०—(दन्दशूका.) मधुमक्खी, ततैये, बर्र, आदि के समान दु खदायी प्राणी (अवेष्टा) नीचे गिराकर मारडाले गये। अब हे राजन् ! तू (प्राचीम्) प्राची दिशा अर्थात् आगे की ओर (आरोह) चढ़, उधर बढ़, (गायत्री) गायत्री छन्द, (रथन्तर साम) रथन्तर साम और (त्रिवृत् स्तोम) त्रिवृत् स्तोम (वसन्त ऋतु.) वसन्त ऋतु और (ब्रह्म द्रविणम्) ब्राह्मण रूप धन (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करे ॥ शत० ५ । ४ । १ । १–६ ॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदशस्तोमो ग्रीष्म ऽऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳ साम सप्तदश स्तोमो वर्षा ऋतुर्विड् द्रविणम् ॥ १२ ॥
उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजꣳ सामैकविꣳशस्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ १३ ॥

भा०—(दक्षिणाम् आरोह) दक्षिण दिशा पर चढ़, उस पर आक्रमण या वश कर। (त्रिष्टुप्, बृहत्साम पञ्चदश स्तोम. ग्रीष्मः ऋतुः क्षत्रम् द्रविणम्) त्रिष्टुप्, बृहत् साम, पञ्चदश स्तोम, ग्रीष्म ऋतु और क्षत्रबल रूप द्रविण, धन (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करे ॥ ११ ॥

(प्रतीचीम् आरोह) प्रतीची, पश्चिम दिशा की ओर बढ़ । (त्वा) तुझको (जगती, वैरूपं साम, सप्तदश स्तोमः, वर्षा ऋतु., विड् द्रविणम् अवतु) जगती छन्द, वैरूपं साम सप्तदश स्तोम, वर्षा ऋतु, विड् अर्थात् वैश्यरूप धन रक्षा करे ।

(उदीचीम् आरोह) उदीची दिशा पर चढ़ । वहां (अनुष्टुप् वैराजं साम, एकविंशः स्तोमः, शरद् ऋतुः, फलं द्रविणम्, त्वा अवतु) अनुष्टुप् छन्द, वैराज साम, एकविंश स्तोम, शरद् ऋतु और फल अर्थात् श्रम द्वारा प्राप्त अन्न आदि कृषि तेरी रक्षा करे ॥ शत० ५ । ४ । १ । ४–६ ॥

ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्ररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नर्मुचेः शिरः ॥ १४ ॥

भा०—(ऊर्ध्वाम् आरोह) ऊर्ध्व दिशा की ओर चढ़, उधर आक्रमण कर । (पंक्तिः, शाक्ररेवते सामनी, त्रिनवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ, हेमन्तशिशिरौ

१४—'०शिशिरा ऋतू' इति काण्व० ।

ऋतू, वर्चः द्रविणम् त्वा अवतु) पंक्ति छन्द, शाक्वर और रैवत साम, त्रिनव और त्रयस्त्रिंश नामक दोनों स्तोम, हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतु और वर्चस=तेजरूप धन ये तेरी रक्षा करे। (नमुचे , पापाचार को न छोड़नेवाले का (शिरः) शिर (प्रति अस्तम्) काटकर फेंक दिया जाय। शत० ५ । ४ । १ । ७-६ ॥

(१०-१४)—(१) दन्दशूका —नैते क्रिमयो नाक्रिमय· यद् दन्द-शूका । लोहिता इव हि दन्दशूका । श० ५ । ४ । १ । २ ॥ लाल धमूड़ या लाल वर्ण दन्दशूक कहाता है, वह विना प्रयोजन काटता है । उसी के स्वभाव वाले व्यर्थ परपीड़क लोग भी दन्दशूक कहाते हैं ।

(२) 'प्राची '—प्राची हि दिग् अग्ने । श० ६ । ३ । ३ । २ ॥ अग्नि नेत्रेभ्यो देवेभ्य पुर सद्भ्य. स्वाहा । यजु० ६ । ३५ ॥ अथैनामिन्द्र प्राच्या दिशि वसव. देवा अभ्यषिञ्चन् साम्राज्याय । ए० ८ । १४ ॥ वसव-स्त्वा पुरस्तादभिषिञ्चतु गायत्रेण छन्दसा । तै० २ । ७ । १५ । ५ ॥ तेजो वै ब्रह्मवर्चस प्राची दिक् ॥ ऐ० १ । ८ ॥

(३) 'गायत्री '—सेयं सर्वा कृत्स्ना मन्यमाना अगायत् । यदगायद् तस्मादिय पृथिवी गायत्री । श० ६ । १ । १ । १५ ॥ गायत्रोऽयं भूलोक । कौ० ८ । ६ ॥ गायत्री वसूनां पत्नी । गो उ० २ । ६ ॥ गायत्री वै रथन्तर-स्य योनि । ता० १५ । १० । ५ ॥ या द्यौ सा अनुमति· सा एव गायत्री । पै० २ । १७ ॥

(४) 'रथन्तरं साम '—अभि त्वा शूर नोनुम (ऋ० ७ । ३२ । २२) इत्यस्यामृचि उत्पन्न साम रथन्तरम् । ऐ० ४ । १३ ॥ सायण । इय वै पृथिवी रथन्तरम् । ऐ० ८ । १ ॥ वाग् वै रथन्तरम् ऐ० ४ । २८ ॥ रथन्तरं वै सम्राट् । तै० १ । ४ । ४ । ६ ॥

(५) 'त्रिवृत् स्तोमः'—वायुर्वा आशुः त्रिवृत् । श० ८ । ४ । १ । ६ ॥ वज्रो वै त्रिवृत् । श० ३ । ३ । ४ । तेजो वै त्रिवृत् तां० २ । १७ । २ ॥ ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत् । तां० ७ । ६ । ३ ॥

(६) 'वसन्त ऋतु.'—तस्य अग्नेः रथगृत्सश्च, रथौजाश्च सेनानी ग्रामण्यौ इति वासन्तिकौ तावृत् । श० ८ । ६ । १ । १६ ॥ वसन्तो वै ब्राह्मणस्य ऋतुः । तै० १ । १ । २ । ६ ॥

सोमस्य त्विषिरसि तवैव मे त्विषिर्भूयात् ।
मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥ १५ ॥

रुक्मः परमात्मा वा देवता । निचृदार्षी पंक्तिः । पञ्चमम् ॥

भा०—हे सिंहासन ! एवं राज्यपद ! हे परमेश्वर तू ! (सोमस्य) सर्वप्रेरक राजा की ही (त्विषिः) कान्ति या शोभा (असि) है । (मे त्विषिः) मेरी शोभा भी (तव इव) तेरे ही समान (भूयात्) हो जाय । हे परमेश्वर ! तू अमृत है, तू (मृत्यो पाहि) मृत्यु से रक्षा कर । (ओज असि, सहः असि अमृतम् असि) तू ओज है । सहस, बल है, तू अमृतस्वरूप है ॥ शत० ५ । ४ । १ । ११–१४ ॥

अथवा—राजा के प्रति प्रजा का वचन है । तू सोम, अधिकारी या राज्य पद के योग्य शोभा है । मुझ प्रजाजन की भी तेरे समान कान्ति हो । हे राजन् ! तू राष्ट्र को मृत्यु से बचा । तू ओज, पराक्रमरूप बलरूप और अमृत है । परमेश्वर के पक्ष में स्पष्ट है ।

हिरण्यरूपा उषसो विरोकऽउभाविन्द्राऽउदिथः सूर्य्यश्च ।
आरोहतं वरुण मित्र गर्त्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च ।
मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥ १६ ॥

मित्रावरुणौ देवते । जगती । निषादः ॥

१६—'इन्द्रा उदित०' इति काण्व० ।

भा०—हे मित्र और हे वरुण ! (उभा) आप दोनों (हिरण्यरूपैः) स्वर्ण के समान तेजस्वी (इन्दौ) राजा के समान ऐश्वर्यवान् (उषस.) उषाओं को (विरोके) विशेष प्रकाश द्वारा (सूर्य च) सूर्य और चन्द्र के समान नाना कार्यों और विद्याओं को प्रकाशित करते हुए (उदिथ.) उदय होते हो । आप दोनों हे वरुण ! हे मित्र ! (गर्त्तम्) रथ पर और राष्ट्रवासी प्रजाजनों के ऊपर (आरोहतम्) आरूढ होओ और उन पर शासन करो । (तत.) और तब (अदितिम्) अखण्ड राज-व्यवस्था या पृथिवी और (दितिम्) खण्ड २ रूप से विद्यमान समस्त विभक्त व्यवस्था का भी (चक्षाथाम्) उपदेश करो या उनका निरीक्षण करो । हे राजन् ! (मित्र. असि) तू ही स्वयं मित्र, सर्व स्नेही है और (वरुणः असि) तू ही वरुण, सब शत्रुओं को वारण करने में समर्थ है ॥ शत० ५ । ४ । १ । १६–१७ ॥

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्र-स्येन्द्रियेण । क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति द्विषो पाहि ॥ १७ ॥

क्षत्रपतिर्देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! वीर पुरुष ! (त्वा) तुझको (सोमस्य) सोम, सर्वप्रेरक सर्वश्रेष्ठ राजपद के योग्य (द्युम्नेन) यश और ऐश्वर्य से (अग्ने.) अग्नि या अग्रणी नेता के (भ्राजसा) तेज से और (सूर्यस्य वर्चसा) सूर्य के तेज से और (इन्द्रस्य इन्द्रियेण) इन्द्र, विद्युत् या वायु के बल से (त्वा अभिषिञ्चामि) तेरा अभिषेक करता हूं । हे अभिषिक्त राजन् ! तू (क्षत्राणाम्) वीर्यवान् क्षत्रियों, राजाओं का (क्षत्रपति एधि) क्षत्रपति, राजाधिराज होकर रह । (द्विषः) प्रजा के नाश करनेवाली सब विपत्तियों को (अति) पार करके प्रजाओं को (पाहि) रक्षा कर । अथवा

१७—०इन्द्रियेण मरुतामोजसा, क्षत्राणा० । इति काण्व० ।

(दिद्यून्) विद्या और धर्म के प्रकाश करनेवाले व्यवहारों और विद्वानों का (अति पाहि) सब कष्टों से पार करके भी रक्षा कर अथवा (दिद्यून्) बाण आदि शस्त्रों की खूब (पाहि) रक्षा कर । उन पर पर्याप्त प्रतिबन्ध रख जिससे वे परस्पर हिंसा का कारण न हों ॥ शत० ५ । ४ । २ । २ ॥

इमं देवाऽअसपत्नꣳ सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय । इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ १८ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ९ । ४० ॥ शत० ५ । ४ । २ । ३ ॥

हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इमम्) इस योग्य पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े भारी क्षत्रबल सम्पादन के लिये, (महते ज्यैष्ठ्याय) बड़े भारी उत्तम राज्य प्राप्त करने के लिये, (महते जानराज्याय) बड़े भारी जनराज्य स्थापित करने के लिये और (इन्द्रस्य इन्द्रियाय) इन्द्र-पद के सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये (असपत्नं) शत्रु रहित इस वीर पुरुष को (सुवध्वम्) अभिषिक्त करो । (अमुष्य पुत्रम्) अमुक पिता के पुत्र, (अमुष्यै पुत्रम्) अमुक माता के पुत्र (इमम्) इसको (अस्यै विशे) इस प्रजा के निमित्त अभिषिक्त करो । हे (अमी) अमुक प्रजाजनो ! (एष वः राजा) यह आप लोगों का राजा है । (एषः सोमः) यह राजा सोम ही (अस्माकं ब्राह्मणानां राजा) हम वेद के विद्वान् ब्राह्मणों का भी राजा है । यह हम विद्वानों को भी अभिमत है ।

प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिचऽइयानाः । ता ऽआवव्रुत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिं बुध्न्युमनु रीयमाणाः । विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः क्रान्तमसि ॥ १९ ॥

देववात ऋषि । विष्णुर्देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—जिस प्रकार (पर्वतस्य पृष्ठात्) पर्वत या मेघ के पृष्ठ से

(इयाना) निकलनेहारी (नाव) जल-धाराए वहती हैं। उसी प्रकार (वृषभस्य) नर-श्रेष्ठ राजा के पीठ पर से भी (इयाना) जाती हुई (स्वासिच) शरीर का सेचन करनेवाली (नाव) जलधाराएं अभिषेक काल में (चरन्ति) बहें। (ता.) वे (अधराक् उदक्) नीचे और ऊपर सर्वत्र (वुध्न्यम्) सबके आश्रय में स्थित (अहिम्) अहन्तव्य, वीर पुरुष को पर्वत की जलधाराएं जिस प्रकार उसके मूल भाग को घेरती है उसी प्रकार (रीयमाणा.) घेरती हुई (ता) वे (आववृत्रन्) उसको घेरें या प्राप्त करें ॥ शत० ५ । ४ । २ । ५, ६ ॥

राजा प्रजा पक्ष में—(नाव) स्तुति करनेवाली प्रजाए (स्वासिच) स्व अर्थात् धन से राजा को सेचन वृद्धि करनेवाली (पर्वतस्य) पर्वत के समान दृढ़ एवं (वृषभस्य) वृषभ के समान बलवान् अथवा मेघ के समान सब के काम्य सुखों के वर्षक अति दानशील पुरुष के (पृष्ठात्) पीठ से, उसके आश्रय लेकर (इयाना.) सर्वत्र गमन करती हुई (चरन्ति) विचरण करती हैं। (ता.) वे समस्त प्रजाए अपने राजा को (वुध्न्यम्) आश्रय-भूत सबके अहन्ता पालक का (अनु रीयमाणा.) अनुगमन करती हुई उसको (अधराक्) नीचे से और (उदक्) ऊपर से (आववृत्रन्) व्याप्त होकर रहती हैं। उसको घेरे रहती हैं।

हे पृथिवी तू (विष्णो क्रमणम् असि) व्यापक राजशक्ति का विक्रम करने का स्थान है। हे अन्तरिक्ष ! शासकगण ! तू (विष्णो) वायु के समान बलशाली राजा का (विक्रान्तम् असि) नाना प्रकार के पराक्रमों का स्थान है। हे द्यु लोक ! राज्यपद ! तू आदित्य के समान (विष्णो) राजा के पराक्रम का (क्रान्तम् असि) स्थान है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत्का-मास्ते जुहुमस्तन्नो अस्त्वयमुमुष्य पिता स्यामस्य पिता वयꣳ

स्याम॒ पत॑यो र॒यीणा॑ꣳ स्वाहा॑ । रुद्र॒ यत्ते॒ क्रिवि॒ परं॒ नाम॒ तस्मिन्॒ हुतम॑स्यमे॒ष्टमा॑सि॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥ ऋ० १० । १२१ । १० ॥

प्रजापतिर्देवता । स्वराड् अतिधृतिः । षड्ज ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के पालक राजन् अथवा परमेश्वर ! (एतानि) इन (ता विश्वा रूपाणि परि) समस्त नाना रूपवाले पदार्थों चर अचर प्राणी शरीरों के ऊपर (त्वत् अन्यः न बभूव) तुझ से दूसरा कोई स्वामी नही है । हम लोग (यत्-कामा) जिस पदार्थ की कामना या अभिलाषा करते हुए (जुहुम.) तुझे कर प्रदान करते और तुझे राजा स्वीकार करते हैं (तत् न अस्तु) वह हमारा प्रयोजन पूर्ण हो । (अयम्) यह राजा (अमुष्य पिता) अमुक बालक का पिता है । (अस्य) और इस राजपद पर आरूढ़ पुरुष का (असौ पिता) अमुक पुरुष पिता है । हम इस प्रकार तुझको अपना राजा स्वीकार करते हैं । तेरे द्वारा (वयम्) हम सब (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था और धर्मानुकूल आचरण द्वारा (रयीणाम्) ऐश्वर्यों के (पतयः स्याम) पालक, स्वामी बनें ॥ शत० ५ । ४ । २ । ६, १० ॥

हे (रुद्र) रुद्र ! सर्व प्रजाओं के पालक और सब प्रजाओं के रोचक, वशीकारक एवं शत्रुओं के रुलानेहारे ! (ते) तेरा (यत्) जो (परं नाम) पर सर्वोत्कृष्ट स्वरूप और नाम (क्रिवि) क्रिवि अर्थात् सब कार्य करने में समर्थ, एवं सबको मारने में समर्थ, सर्व शक्तिमान्, सर्वहन्ता का पद या अधिकार है (तस्मिन्) उस पर तू (हुतम् असि) स्थापित किया गया है । तू (अमा) घर घर में (इष्टम् असि) पूज्य और आदर के योग्य बनाया जाता (असि) है, (स्वाहा) यह सब तेरे उत्तम आचरण और सत्य व्यवस्था का ही परिणाम है ।

२०—तन्नो अस्तु य स्याम०, ०क्रिवि पर नाम तस्मै० इति काण्व० ॥

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि । अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टोऽअर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा सामेन्द्रियेण ॥ २१ ॥

क्षत्रपतिर्देवता । भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे राजन् ! तू (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् राजपद का (वज्रः असि) वज्र अर्थात् उस पर विराज कर सब दुर्त्रों का दलन करनेहारा है । (त्वा) तुझको (मित्रावरुणयो) पूर्व कहे हे मित्र और वरुण, सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष, न्यायाधीश और बलाध्यक्ष ! (प्रशास्त्रो) इन दोनों उत्तम शासकों के (प्रशिष) उत्तम शासनाधिकार से (युनज्मि) युक्त करता हूं । (त्वा) तुझको (स्वधायै) स्वकीय राष्ट्र के पालन पोषण और उससे अपने शरीर मात्र की भृति प्राप्त करने मात्र के लिये नियुक्त करता हू । तू (अरिष्ट) किसी से भी हिंसित न होकर और (अर्जुन) अति सुशोभित, सुप्रतिष्ठित होकर, अति प्रदीप्त, तेजस्वी होकर (मरुतां) प्रजाओं, वैश्यों या शत्रुओं के मारनेहारे वीरभटों के (प्रसवेन) उत्कृष्ट बल से या (मरुतां प्रसवेन) विद्वानों की आज्ञानुकूल (जय) विजय प्राप्त कर और हम लोग (मनसा) मन से और (इन्द्रियेण) बल से भी (सम् आपाम) तेरे साथ मिले रहें ॥ शत० ५ । ४ । ३ । ५-१० ॥

मा तऽइन्द्र ते व्ययं तुराषाडयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम । तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वान् ॥ २२ ॥

ऋ० ५ । ३३ । ३ ॥

सवरण ऋषि । इन्द्रो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) वज्र, खड्ग को हाथ में लिये हुए राजन् !

२१—०रिष्ट फल्गुनः ०इति काण्व० ।

२२—'मा न इन्द्र' इदि शतपथपाठः । ०यद् वन०, ०युवसे० इति काण्व० ।

तू (तुराषाड्) शीघ्र ही शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ होकर (यम् रथम्) जिस रथ पर, रथ के समान राज्यपद पर भी (अधितिष्ठ) अधिष्ठातः होकर विराजता है और हे (देव) राजन् ! जिसके (स्वश्वान्) उत्तम घोड़ो या अश्वों के समान राष्ट्र सञ्चालक उत्तम पुरुषों को (रश्मीन्) उनकी बागडोरों से (यमसे) उनको अपने नियन्त्रण में रखता है (ते) तेरे उस राज्य में (वयम्) हम निवास करें । (ते) तेरे प्रति (अयुक्तासः) अयुक्त अधर्माचरण न करते हुए (अब्रह्मता) वेद और ईश्वरनिष्ठा से रहित होकर या ब्रह्म अर्थात् ज्ञान और अन्न से रहित होकर (मा वि-दसाम) कभी नष्ट न हो ॥ शत० ५ । ४ । ३ । १४ ॥

राजा जिस रथ पर चढ़े उसमें लगे घोड़े भी जिस प्रकार रथ में न लगने के अवसर पर भी चारा पाते है और पाले पोसे जाते हैं उसी प्रकार सब प्रजा के लोग राजा के राज्य मे नियमपूर्वक कार्यों में लगे रहें । वे बेरोज़गार होकर भी (अब्रह्मता) अपराध में, या अन्ना-भाव से भूखों न मरें ।

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा । पृथिवि मातर्मा मा हिꣳसीर्मोऽअहं त्वाम् ॥ २३ ॥

लिङ्गोक्ता अग्न्यादयो देवताः । जगती । निषाद ॥

भा०—(गृहपतये) गृहों के पालक या गृह के समान राज्य के पति (अग्नये) अग्नि, अग्रणी या विद्वान् पुरुष का (स्वाहा) हम आदर करें । (वनस्पतये सोमाय स्वाहा) वन=सेना समूह के पालक सोम राजा का हम आदर सत्कार करें । (मरुताम्) शत्रु को मारने मे समर्थ, वायु के समान तीव्रगामी भटो के (ओजसे) बल के लिये (स्वाहा) हम अन्न धनादि को प्रदान करें । (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (इन्द्रियाय) बल

२३—०स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहा । इति काण्व० ।

का हम आदर करें । राजा भी प्रजाजन से कहे—हे (पृथिवि मात) मात पृथिवी ! पृथिवीवासी जन ! (मा) मुझको तू (माहिंसी) विनाश मत कर । और (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको भी (मा) न विनाश करू । प्रजावासी लोग गृहों के पालक, तेजस्वी, सेनाओं के पालक और बलवान् ऐश्वर्यवान् राजा का आदर करें । वह प्रजा का नाश न करे और प्रजा उसका नाश न करे । इसी प्रकार सामान्यत भी पुत्र माता को कष्ट न दे । माता पुत्र को कष्ट न दे । विद्वान् गृहपति, वनस्पति आदि सोम ओषधि, प्राणों और विद्वानों और केवल इन्द्र, जीव के इन्द्रियों का उनकी उत्तम विद्या के अनुकूल उपयोग लें ॥ शत० ५ । ४ । ३ । १६–२० ॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत् ॥ २४ ॥ ऋ० ४ । ४० । ५ ॥

वामदेव ऋषि । सूर्यो देवता । भुरिगार्षी जगती । निषाद ॥

भा०—हे राजन् ! तू (हंस.) शत्रुओं का नाशक है । तू (शुचिषत्) शुद्ध आचरण और व्यवहार में वर्तमान, निश्छल, निर्लोभ, निष्काम स्वरूप, परायण है । तू (वसु·) प्रजाओं को बसानेहारा है । तू (अन्तरिक्ष-सत्) अन्तरिक्ष के समान प्रजा के ऊपर रहकर उसका पालन करता है । (होता) राष्ट्र से कर ग्रहण करने और अपने आपको उसके लिये युद्ध-यज्ञ में आहुति देनेवाला है । तू (वेदिषत्) भूमिरूप वेदि में प्रतिष्ठित है, (अतिथि) राष्ट्र मे राष्ट्रकार्य से बराबर भ्रमण करनेवाला, एवं अतिथि के समान सर्वत्र पूजनीय है । (दुरोणसत्) बड़े २ कष्ट सहन करके पालन योग्य राष्ट्ररूप गृह में विराजमान (नृषत्) समस्त नेता पुरुषों में प्रतिष्ठित, (ऋतसत्) ऋत्=सत्य पर आश्रित, (व्योमसत्) विशेष रक्षाकारी राज-पद पर स्थित, (अब्जाः) अप्=कर्म और प्रजा द्वारा प्रजाओं में विशेषरूप

से प्रादुर्भूत, (गोजाः) पृथ्वी पर विशेष सामर्थ्यवान्, (ऋतजाः) सत्य और ज्ञान से विशेष सामर्थ्यवान्, (अद्रिजा) न विदीर्ण होनेवाले अभेद्य बल से सम्पन्न या उसका उत्पादक और साक्षात् (बृहत्) स्वयं बड़ाभारी (ऋतम्) सत्यरूप बल वीर्य है ॥ शत० ५ । ४ । ३ । २२ ॥

परमात्मा पक्ष में—(हंस) सर्व पदार्थों को संघात करनेवाले, (शुचिषत्) शुद्ध पवित्र पदार्थों और योगियों के हृदयों में और पवित्र गुणों में विराजमान, (अन्तरिक्षसत्) अन्तरिक्ष में व्यापक, (होता) सबका दाता, सबका गृहीता, (अतिथिः) पूज्य, (दुरोणसत्) ब्रह्माण्ड में व्यापक, (नृसत् वरसत्) मनुष्यों में और वरणीय श्रेष्ठ पुरुषों के हृदयों में विराजमान, (व्योमसत्) आकाश में व्यापक, (ऋतसत्) सत्य में व्यापक ज्ञानमय, (अब्जा) जलों का उत्पादक, (गोजाः) गौ, पृथिव्यादि लोको और इन्द्रियों का उत्पादक, (ऋतजा) सत्यज्ञान वेद का उत्पादक (अद्रिजा) मेघ पर्वतादि का जनक, स्वयं (बृहत् ऋतम्) महान् सत्य-स्वरूप है । अध्यात्म में और सूर्य पक्ष में भी यह लगता है ।

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यू-र्गस्यूर्जं मयि धेहि । इन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥

सूर्यो देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (इयत् असि) इतना बड़ा है । हे जीवन स्वरूप तू (इयत् असि) इतना ही है । तू (आयुः असि) हे देव ! आयुः जीवन स्वरूप है । (मयि आयु धेहि) मुझ में आयु प्रदान कर । तू (युङ् असि) सबको शुभ कार्यों में जोड़नेवाला एवं अपने से मिलाने-हारा है । हे परमेश्वर ! तू (वर्च असि) तेजःस्वरूप है (मयि वर्चः धेहि)

२५—'०देहि०' '०वीर्यकृता उपा०' इति काण्व० ।

मुझे तेज प्रदान कर। (ऊर्क् आसि) तू बलस्वरूप है (मयि ऊर्जं धेहि) मुझे बल प्रदान कर। हे सभाध्यक्ष और सेनापते ! मित्र और वरुण ! (वाम्) तुम दोनों ! (वीर्यकृत) सामर्थ्यवान् (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (बाहू) दो बाहुओं के समान हो। मैं पुरोहित या राजा तुम दोनों को (अभि उप आहरामि) राजा के समक्ष उसके अधीन स्थापित करता हू। अथवा—हे राजा और प्रजाजनो वां बाहू इन्द्रस्य अभ्युपावहरामि) तुम दोनो के बाहुबल को परमेश्वर के अधीन करता हू॥ शत० ५। ४। ३। २५–२७॥

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि। स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

आसन्दी देवता। भुरिगनुष्टुप्। गान्धार ॥

भा०—हे पृथिवी और हे आसन्दि ! तू (स्योना असि) सुखकारिणी है। तू (सुषदा असि) सुख से बैठने योग्य है। तू (क्षत्रस्य योनि असि) क्षत्र, राष्ट्र के रक्षाकारी बलवीर्य का आश्रय और उत्पत्तिस्थान है। हे राजन् ! तू (स्योनाम् आसीद) सुखकारिणी उस राजगद्दी और इस भूमि पर अधिकारी होकर विराज। (सुषदाम् आसीद) सुख से बैठने योग्य इस गद्दी पर विराज और (क्षत्रस्य योनिम्) क्षात्रबल के परम आश्रयरूप इस गादी पर (आसीद) विराज॥ शत० ५। ४। ४। १–४॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥ ऋ० १। २५। १०॥

शुन शेप ऋषिः। वरुणो देवता। पिपीलिका मध्या विराड् गायत्री। षड्जः॥

भा०—(धृतव्रत) व्रत, प्रजा पालन के शुभ व्रत और राज्य-व्यवस्था को धारण करनेवाला (सुक्रतु) उत्तम क्रियावान् प्रज्ञावान् (वरुण) सर्वश्रेष्ठ राजा (पस्त्यासु) न्याय-गृहों में और प्रजाओं के

के बीच में (साम्राज्याय) साम्राज्य के स्थापन और उसके सञ्चालन के लिये (आ नि-ससाद) अधिष्ठाता रूप से विराजमान हो ॥ ५ । ४ । ४ । ५ ॥

आभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः । बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

यजमानो देवता । धृतिः । ऋषभ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (अभिभू असि) शत्रुओं का पराजय करने में समर्थ है । (एता पञ्च दिश) ये पांचों दिशाएं (ते कल्पन्ताम्) तेरे लिये सुखकारी और बल-पुष्टिकारी हों । हे (ब्रह्मन्) महान् शक्तिवाले ! तू (ब्रह्मा असि) महान् शक्ति सम्पन्न, सब का वृद्धिकर है । तू (सत्यप्रसव सविता असि) सत्य ऐश्वर्यवाला, सत्य व्यवहार का उत्पादक 'सविता' है । तू (सत्यौजा । वरुणः असि) सत्य पराक्रमशील वरुण है । तू (विशौजा इन्द्र असि) प्रजाओं के द्वारा पराक्रम करनेहारा 'इन्द्र' है । तू (सुशेव) सुखपूर्वक सेवन करने योग्य (रुद्र असि) प्रजाओं का रोधक और शत्रुओं को रुलानेहारा एवं ज्ञानोपदेष्टा भी है । हे (बहुकार) बहुत से कार्यों, अधिकारों के निभाने में समर्थ ! हे (श्रेयस्कर) प्रजा के कल्याण करनेवाले ! हे (भूयस्कर) अति अधिक समृद्धि के कर्त्ता ! तू विद्वान् पुरुष ! (इन्द्रस्य) इन्द्र राजा का भी (वज्रः) वज्र है, उसको पापमार्गों से वर्जन करने में समर्थ और उसको ऐश्वर्य पद का प्रापक है । (तेन) उससे (मे) मुझे (रध्य) अपने वश कर । अथवा मेरे लिये राष्ट्र को वशकर ॥ शत० ५ । ४ । ४ । ६–२१ ॥

अग्निः पृथुर्धर्मँणस्पतिर्जुषाणोऽअग्निः पृथुर्धर्मँणस्पतिराज्यस्य वेतु

२८—अभिभूरस्यया नाभेतास्ते० । प्रियङ्कर श्रेय० इति काण्व० ।

स्वाहा॑ स्वाहा॑ कृताः सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑र्यतध्वꣳ सꣳज्ञाताना॑ मध्य॒मेष्ठ्या॑य ॥ २९ ॥

अग्निर्देवता.। स्वराडार्षी जगती । निषाद ॥

भा०—(अग्नि) अग्रणी, दुष्टों का सतापक राजा सूर्य के समान कान्तिमान् (पृथु) बड़ा भारी (धर्मण पति) धर्म का पालक है। उसी प्रकार वह (अग्नि) राजा भी अग्नि के समान तेजस्वी होकर (पृथु) विशाल शक्ति सम्पन्न होकर (धर्मण पति) राजधर्म का पालक होकर (स्वाहा) उत्तम, सत्य व्यवहार और व्यवस्था से (आज्यस्य) संग्राम योग्य तेज पराक्रम को (वेतु) प्राप्त करे। हे (स्वाहाकृता) उत्तम धन, पद, ऐश्वर्य आदि देकर बनाये गये अधिकारी पुरुषो[1] आप लोग (सूर्यस्य रश्मिभि.) सूर्य की किरणों से बलवान् होकर जिस प्रकार आखें देखती हैं उसी प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा की (रश्मिभि) रश्मियों, दिखाये उपायों द्वारा आप लोग (सजाताना) इसके समान शक्ति में समर्थ राजाओं के (मध्यमेष्ठ्याय) मध्य में रहकर सम्पादन करने योग्य कार्य करने के लिये (यतध्वम्) यत्न करो ॥ शत० ५ । ४ । ४ । २२,२३ ॥

स॒वि॒त्रा प्र॑सवि॒त्रा सर॑स्वत्या वा॒चा त्वष्ट्रा॑ रू॒पै पू॒ष्णा प॒शुभि॒रिन्द्रे॑णा॒स्मे बृह॒स्पति॑ना ब्रह्म॒णा वरु॑णेनौजस॒ाग्निना॒ तेज॑स॒ा सोमे॑न॒ राज्ञा॒ विष्णु॑ना दश॒म्या दे॒वत॑या प्रसू॒त. प्रस॑र्पामि ॥ ३० ॥

शुन शेप ऋषि । मन्त्रोक्ता देवताः । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(१) (प्रसवित्रा) समस्त ऐश्वर्यों के उत्पादक, सब कर्मों के प्रेरक (सवित्रा) सविता सूर्य या वायुके समान विद्यमान प्रेरक आज्ञापक और कार्यप्रवर्त्तक के दिव्यगुण से, (२) (सरस्वत्या वाचा) उत्तम विज्ञान युक्त वाणी से, (३) (रूपै.) नाना प्रकार के प्राणियों

२९—०ज्यस्य हविषो वेतु० इति काण्व० ।

की नाना जातियों के द्वारा प्रसिद्ध (त्वष्टृ) प्रजापति, त्वष्टा के समान प्रजा और राष्ट्र के पशुओं के नाना भेदों से प्रसिद्ध त्वष्टा या प्रजापति के रूप से, अथवा नाना प्रकार के विविध शिल्पों से उत्पन्न पदार्थों सहित त्वष्टा, शिल्पी से (४) (पशुभिः पूष्णा) पशुओं से युक्त पूषा, या सर्वपोषाक पृथिवी से, (५) ब्रह्मणा वेद के ज्ञान से युक्त (बृहस्पतिना) वाक्पति वेदज्ञ से, (६) (अस्मे इन्द्रेण) अपने आप स्वयं इन्द्र, राजा रूप से, (७) (ओजसा वरुणेन) पराक्रम से युक्त वरुण से, (८) (तेजसा अग्निना) तेज से युक्त अग्नि से, (९) (राज्ञा सोमेन) राजा स्वरूप सोम से, (१०) (दशम्या) दश संख्यापूर्ण करनेवाले (विष्णुना) व्यापक राजशक्ति रूप या समस्त राष्ट्रमय यज्ञ या प्रजापति रूप विष्णु इन दस (देवतया) देव अर्थात् राजा होने योग्य विशेष गुणों और सामर्थ्यों द्वारा (प्रसूतः) प्रेरित या शक्तिमान् होकर मैं (प्रसर्पामि) आगे उन्नत, उत्कृष्ट मार्ग पर गमन करूं । शत० ५ ॥ ४ । ५ । २ ॥

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।
वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिस्रुतः । इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३१ ॥

अश्विनावृषी । सोमः क्षत्रपतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पुरुष ! हे राजन् ! तू (अश्विभ्याम्) स्त्री पुरुषों, राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य उनके हित के लिये (पच्यस्व) अपने को परिपक्व कर, तप कर अर्थात् उनकी सेवा के लिये श्रम कर, अथवा स्वयं उत्तम माता पिता बनने के लिये श्रम और तप कर । (सरस्वत्यै पच्यस्व) सरस्वती, वेद की ज्ञानवाणी के प्राप्त करने और उन्नति करने के लिये अपने को परिपक्व कर, श्रम और तप कर । (सुत्राम्णे) राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा करनेहारे (इन्द्राय) परमैश्वर्य्यवान् राजपद

श्रा राज्य-व्यवस्था के लिये (पच्यस्व) स्वयं परिपक्व बलवान् होने का यत्न कर। (वायुः) वायु के समान सर्वत्र गतिशील, यत्नवान् ज्ञानी, (पवित्रेण पूत.) पवित्र आचार व्यवहार और तप से पवित्र होकर (प्रत्यङ्) साक्षात् पूजनीय (सोम.) सोम, सौम्यगुणों से युक्त राजा रूप से (अतिस्रुत) सबको लांघ कर सबसे उच्च होजाता है और जिस प्रकार पवित्र करने की विधि से पवित्र होकर (वायु.) व्यापक प्राण शरीर में पुन (सोम) वीर्य बनकर उत्कृष्ट रूप धारण करता है और वह इन्द्र अर्थात् जीव का मित्र होजाता है, अथवा पवित्र आचार से पवित्र होकर वायु या प्राण का अभ्यासी स्वय वायु के समान शुद्ध पवित्र, (सोम) योगी ज्ञानी पुरुष (अतिस्रुत) अति ज्ञानी होजाता है और वह (युज्य) योगी, युक्त होकर (इन्द्रस्य सखा) इन्द्र, परमेश्वर का मित्र बनजाता है, उसी प्रकार पवित्र आचार से पवित्र होकर ज्ञानवान् विद्वान् पुरुष (अति-स्रुत) सबसे बढ़कर (इन्द्रगय) ऐश्वर्यवान् राजा का (युज्य.) उच्च पद पर नियुक्त होने योग्य, (सखा) मित्र के समान अमात्य आदि हो जाता है। इसके लिये भी उस पुरुष को परिपक्व होने अर्थात् तप करने की आव-श्यकता है ॥ शत० । ५ । ५ । ४ । २०-२३ ॥

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय । इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥

ऋ० १० । १३६ । ७ ॥

काक्षीवत सुकीर्तिर्ऋषि । सोम क्षत्रपतिर्देवता । निचृद् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अङ्ग) हे ज्ञानवान् पुरुष [1] (यथा) जिस प्रकार (यवमन्त) जौ के खेतो वाले किसान लोग (यव चित्) जौ को (दान्ति) काटते हैं तब (अनुपूर्वं) क्रम से, नियमपूर्वक उचित उसको (वियूय) विविध

रीतियों से सूप, छाज आदि द्वारा फटक कर तुष आदि से अलग करके बाद में (ये) जो (बर्हिष) वृद्ध प्रजा के योग्य गुरु अतिथि माता पिता आदि वृद्धजन हैं (नमः उक्तिम्) नमस्कार योग्य वचन, आदर सत्कार (यजन्ति) प्राप्त करते हैं उनको ही (इह इह) इस इस स्थान में अर्थात् प्रत्येक स्थान में (एषां) उनको (भोजनानि कृणु) भोजन प्राप्त करा। उसी प्रकार विद्वान् पुरुष (यवमन्त) शत्रुनाशक राजा, सेनापति आदि 'यव' वीर पुरुषों से सम्पन्न होकर (यवम्) पृथक् करने योग्य शत्रु को काट देते हैं और क्रम से उनको (वियूय) पृथक् करके नाश करके राष्ट्र को स्वच्छ कर देते हैं और जो (बर्हिषः) राष्ट्र के परिवर्धक, पालक लोग (नम उक्तिं यजन्ति) हमारे आदर वचनों को प्राप्त करते अथवा (नमः उक्तिम्) शत्रुओं को नमाने या वश करने के वचनों या आज्ञाओं का प्रदान करते हैं (इह इह एषां भोजनानि कृणुहि) उन २ का हे राजन् ! भोजन तू आच्छादन आदिका प्रबन्ध कर।

हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीत. असि) राज्य के उत्तम नियमों और ब्रह्मचर्य सदाचार के नियमों द्वारा सुबद्ध है (त्वा) तुझको (अश्वि-भ्याम्) माता पिता, राजा और प्रजा के उपकार के लिये नियुक्त करता हूं। (त्वा) तुझको हे योग्य पुरुष ! (सरस्वत्यै) ज्ञानमयी वेद वाणी के अर्जन के लिये नियुक्त करता हूं। हे योग्य पुरुष ! (त्वा) तुझको (सुत्राम्णे इन्द्राय) प्रजाओं की उत्तम रक्षा करने वाले 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजपद के लिये नियुक्त करता हूं॥ शत० ५। ५। ४। २४॥

युवꣳसुरामंमश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥ ३३॥

अश्विनौ देवते। निचृदनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्रजा के स्त्री पुरुषो ! अथवा सूर्य्य चन्द्र के

समान सभापति और सेनापते ! तुम दोनों (नमुचौ) कभी भी न छूटने वाले, अथवा कर्त्तव्य कर्म को न छोड़ने वाले (आसुरे) असुर, बलवान् पुरुष द्वारा किये जाने योग्य मेघ के समान शत्रु पर किये गये शरवर्ष आदि युद्ध कार्य्य में अथवा (नमुचौ) शरीर से कभी न छूटनेवाले (आसुरे) आसुर, भोग विलासादि के कार्य्य मे भी वर्तमान (सुरामम्) अति रमणीय अति मनोहर राजा को (विपिपाना) विविध उपायों से रक्षा करते हुए या (सुरामम् सोमम् विपिपानौ) उत्तम रमणीय 'सोम' राज्य समृद्धिका भोग करते हुए (शुभस्पती) शुभ गुणों के पालक होकर (युवम्) तुम दोनों (कर्मसु) सब कार्यों मे (इन्द्रम्) ऐश्वर्य्यवान् राजा की (आ अवतम्) रक्षा करते रहो ॥ शत० ५ । ५ । ४ । २५ ॥

भोगविलासमय आसुरकर्म नमुचि है । उसको 'अपा फेन' अर्थात् आप्त पुरुषों के शुद्ध स्वच्छ ज्ञानोपदेश से नाश करे । ऐश्वर्य्य जिसको भोग-विलास ग्रसे हुए था उसको भोगविलास से बचाकर रजो विमिश्रित ऐश्वर्य्य का नरनारी आनन्दप्रद भोग करें । तो भी इन्द्र अर्थात् अपने राष्ट्र और राष्ट्रपति की सदा रक्षा करें ।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथु. काव्यैर्दꣳसनाभि । यत्सुरामं व्यापिंव शचीभि. सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥

ऋ० १० । १३१ ॥ ४ ॥

अश्विनौ देवते । भुरिक पंक्ति । पञ्चम ॥

भा०—(पितरौ पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता और पिता, पुत्र की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) राष्ट्र में व्यापक शक्तिवाले समाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष या रक्षक दो घुड़सवार अथवा राष्ट्र के नर और नारीगण (काव्यै) विद्वान् पुरुषों द्वारा रचे गये (सनाभि.) उपायों

३४—० पितरा अश्विना० इति काण्व० ।

रीतियो से सूप, छाज आदि द्वारा फटक कर तुष आदि से अलग करके बाद में (ये) जो (बर्हिष) वृद्ध प्रजा के योग्य गुरु अतिथि माता पिता आदि वृद्धजन हैं (नमः उक्तिम्) नमस्कार योग्य वचन, आदर सत्कार (यजन्ति) प्राप्त करते हैं उनको ही (इह इह) इस इस स्थान में अर्थात् प्रत्येक स्थान में (एषां) उनको (भोजनानि कृणु) भोजन प्राप्त करा। उसी प्रकार विद्वान् पुरुष (यवमन्त) शत्रुनाशक राजा, सेनापति आदि 'यव' वीर पुरुषों से सम्पन्न होकर (यवम्) पृथक् करने योग्य शत्रु को काट देते हैं और क्रम से उनको (वियूय) पृथक् करके नाश करके राष्ट्र को स्वच्छ कर देते हैं और जो (बर्हिषः) राष्ट्र के परिवर्धक, पालक लोग (नम उक्तिं यजन्ति) हमारे आदर वचनों को प्राप्त करते अथवा (नमः उक्तिम्) शत्रुओ को नमाने या वश करने के वचनों या आज्ञाओं का प्रदान करते हैं (इह इह एषां भोजनानि कृणुहि) उन २ का हे राजन् ! भोजन तू आच्छादन आदिका प्रबन्ध कर।

हे योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राज्य के उत्तम नियमों और ब्रह्मचर्य सदाचार के नियमों द्वारा सुबद्ध है (त्वा) तुझको (आश्वि-भ्याम्) माता पिता, राजा और प्रजा के उपकार के लिये नियुक्त करता हूं। (त्वा) तुझको हे योग्य पुरुष ! (सरस्वत्यै) ज्ञानमयी वेद वाणी के अर्जन के लिये नियुक्त करता हूं। हे योग्य पुरुष ! (त्वा) तुझको (सुत्राम्णे इन्द्राय) प्रजाओं की उत्तम रक्षा करने वाले 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् राजपद के लिये नियुक्त करता हूं॥ शत० ५। ५। ४। २४॥

युवꣳसुरामंमश्विना नमुंचावासुरे सचा।
विपिपाना शुंभस्पती इन्दं कर्मंस्वावतम् ॥ ३३ ॥

अश्विनौ देवते। निचृदनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्रजा के स्त्री पुरुषो ! अथवा सूर्य्य चन्द्र के

समान सभापति और सेनापते ! तुम दोनों (नमुचौ) कभी भी न छूटने वाले, अथवा कर्त्तव्य कर्म को न छोड़ने वाले (आसुरे) असुर, बलवान् पुरुष द्वारा किये जाने योग्य मेघ के समान शत्रु पर किये गये शरपर्ण आदि युद्ध कार्य्य में अथवा (नमुचौ) शरीर से कभी न छूटनेवाले (आसुरे) आसुर, भोग विलासादि के कार्य्य में भी वर्तमान (सुरामम्) अति रमणीय अति मनोहर राजा को (विपिपाना) विविध उपायों से रक्षा करते हुए या (सुरामम् सोमम् विपिपानौ) उत्तम रमणीय 'सोम' राज्य समृद्धिका भोग करते हुए (शुभस्पती) शुभ गुणों के पालक होकर (युवम्) तुम दोनों (कर्मसु) सब कार्यों में (इन्द्रम्) ऐश्वर्य्यवान् राजा की (आ अवतम्) रक्षा करते रहो ॥ शत० ५ । ५ । ४ । २५ ॥

भोगविलासमय आसुरकर्म नमुचि है । उसको 'अपां फेन' अर्थात् आप्त पुरुषों के शुद्ध स्वच्छ ज्ञानोपदेश से नाश करे । ऐश्वर्य्य जिसको भोग-विलास ग्रसे हुए था उसको भोगविलास से बचाकर रजो विमिश्रित ऐश्वर्य्य का नरनारी आनन्दप्रद भोग करें । तो भी इन्द्र अर्थात् अपने राष्ट्र और राष्ट्रपति की सदा रक्षा करें ।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः । यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥

ऋ० १० । १३१ ॥ ४ ॥

अश्विनौ देवते । भुरिक पंक्तिः । पञ्चम ॥

भा०—(पितरौ पुत्रम् इव) जिस प्रकार माता और पिता, पुत्र की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) राष्ट्र में व्यापक शक्तिवाले समाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष या रक्षक दो घुड़सवार अथवा राष्ट्र के नर और नारीगण (काव्यै) विद्वान् पुरुषों द्वारा रचे गये (सनाभि.) उपायों

३४—० पितरा अश्विना० इति काण्व० ।

और प्रयोगों द्वारा हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तेरी (अवथुः) रक्षा करें । और (यत्) जब तू अपनी (शचीभिः) शक्तियों के बल से (सुरामम्) अति सुन्दर, रमणीय, सुख से स्मरण करने योग्य 'सोम' राज्यपद का (वि-अपिबः) भोगकर रहा हो तब हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् राजन् ! (सरस्वती) विद्या या ज्ञानमयी वाणी के समान सुखप्रदा पत्नी भी (त्वा) तुझे (आभिष्णक्) प्राप्त हो, तुझे सुख प्रदान करे ॥ शत० ५ । ५ । ४ । २६ ॥

अर्थात्—सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष राजा को अपने पुत्र के समान नाना उपायों से रक्षा करे और राजा की शक्तियों द्वारा सुरक्षित राष्ट्र रहने पर राजा विदुषी पत्नी से गृहस्थ का सुख भी ले ।

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

[तत्र चतुस्त्रिंशदृचः]

इति मीमासातीर्थप्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥

॥ अथ एकादशोऽध्यायः ॥

११—१८ अध्यायाना प्रजापतिः साध्या वा ऋषय ॥

॥ ओ३म् ॥ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत् ॥ १ ॥

भा०—(सविता) सर्व-उत्पादक, प्रजापति परमेश्वर (प्रथमम्) सब से प्रथम अपने (मन.) ज्ञान और (धिय) समस्त कर्मों या धारण सामर्थ्यों को (तत्वाय) विस्तृत करके (अग्नेः) अग्नि तत्व से या सूर्य से (ज्योति.) ज्योति, दीप्ति, परम प्रकाश को (निचाय्य) उत्पन्न करके (पृथिव्या अधि) पृथिवी पर (आभरत्) फैलाता है ।

योगी के पक्ष मे—(सविता) सूर्य जिस प्रकार अपने किरणों को फैलाकर अपने भीतरी (अग्ने. ज्योति· निचाय्य) अग्नि तत्व की दीप्ति को एकत्र करके (पृथिव्या अधि आभरत्) पृथिवी पर पहुचाता है उसी प्रकार (युजान) योग समाधि का अभ्यासी आदित्य योगी पुरुष (प्रथमं) सबसे प्रथम (मन.) अपने मनन वृत्ति और (धिय.) ध्यान करने और धारण करने की वृत्तियो को (तत्त्वाय) विस्तार करके अथवा (तत्त्वाय युञ्जानः) तत्व ज्ञान के लिये समाहित या एकाग्र करता हुआ (अग्ने) ज्ञानवान् परमेश्वर के (ज्योति) परम ज्योति का (निचाय्य) ज्ञान करके (पृथिव्या अधि) इस पृथिवी पर, अन्य वासियों को भी (आभरत्) प्राप्त कराता है ॥ शत० ६ । ३ । १ । १२ ॥

अथवा—(सविता) सूर्य के समान तीव्र सात्विक ज्ञानी (प्रथमं) सबसे प्रथम सृष्टि के आदि मे (तत्त्वाय मन धियः युञ्जान.) परम तत्व ज्ञान को प्राप्त करने के लिये अपने मन और बुद्धि वृत्तियो को योग

१—८ सविता ऋषिः । सविता देवता । विराट्आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः स्वरः ॥

'तत्वाय' इति उव्वटमहीधरसम्मत पाठ. ।

समाधि द्वारा समाहित, स्थिर, एकाग्र करता हुआ (अग्नेः) परम परमेश्वर के (ज्योति) ज्ञानमय प्रकाश को (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर (आभरत्) प्राप्त करता है, प्रकट करता है। इस योजना से आदित्य के समान अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा चारों एक ही कोटी के तेजस्वी ज्ञानियों द्वारा वेद-ज्ञान का योग द्वारा साक्षात् करना और पुनः प्रकाशित करना जाना जाता है।

राजा के पक्ष में—(सविता) विद्वान् राज्यकर्त्ता पुरुष अपने मन, ज्ञान और नाना कर्मों को (तत्त्वाय) विस्तृत करके प्रथम जब (युञ्जानः) कर्त्ताओं को नियुक्त करता है तब (अग्नेः) मुख्य अग्रणी, नेता पुरुष के ही (ज्योतिः) पराक्रम और तेज को (निचाय्य) स्थिर करके, उसको प्रबल करके (पृथिव्या अधि आभरत्) पृथिवी पर अधिष्ठाता रूप से फैला देता है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

ऋषिदेवते पूर्वोक्ते। शङ्कुमती गायत्री। षड्जः ॥

भा०—(वयम्) हम सब लोग (युक्तेन मनसा) योग द्वारा समाहित, एकाग्र स्थिर (मनसा) चित्त से (सवितु) सर्वोत्पादक (देवस्य) परम देव, परमेश्वर के (सवे) उत्पादित जगत् में (शक्त्या) अपनी शक्ति से (स्वर्ग्याय) परम सुख लाभ के लिये (ज्योति =आभरेम) उस परम ज्ञान को प्राप्त करे।

राजा के पक्ष में—एकाग्र, शुद्ध चित्त से हम प्रेरक राजा के राज्य में अपनी शक्ति से सुखमय राष्ट्र की उन्नति के लिये यत्न करें ॥ शत० ६। ३। १। १४ ॥

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

ऋषिदेवते पूर्ववत्। निचृदनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—(सविता) जगत् के समस्त प्रकाशमान पदार्थों को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर (स्वः यतः) सुख और प्रकाश और ताप को प्राप्त करने या देनेवाले (देवान्) विद्वानो, एवं दिव्य गुणो, सूक्ष्म दिव्य तत्वों को (धिया) अपनी धारण शक्ति और क्रिया शक्ति से (दिवम्) तेज के साथ (युक्त्वाय) युक्त करके बाद (बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) बड़े भारी प्रकाश या विज्ञान को पैदा करनेवाले (तान्) उनको (प्रसुवाति) उत्तम रीति से प्रेरित करता है। उसी प्रकार (सविता) वैज्ञानिक पदार्थों का उत्पादक विद्वान् पुरुष (दिवं स्व यत.) प्रकाश और सुख या ताप उत्पन्न करनेवाले (देवान्) दिव्य सूक्ष्म उन तत्वो को जो (बृहत् ज्योतिः करिष्यत.) बड़े २ भारी प्रकाश या विज्ञानसिद्ध कार्य को करने मे समर्थ हैं उनको (प्रसुवाति) उत्पन्न करे, प्रेरित करे, सयोजित करे ॥ शत० ६ । ३ । ११ । १५ ॥

योगी के पक्ष में—सविता, आदित्य-योगी (स्व. यत. देवान्) सुख या परमानन्द की तरफ जानेवाले इन्द्रियरूप प्राणों या साधनों को (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर के साथ (युक्त्वाय) योग द्वारा समाहित करके (सविता) सूर्य के समान या प्रजापति के समान बृहत् (ज्योति. करिष्यत तान् प्रसुवाति) कालान्तर में महान् ज्योति को साक्षात् कराने मे समर्थ उनको प्रेरित करे।

परमेश्वर के पक्ष में—सविता परमेश्वर सुख और (दिवम्) मोक्ष की तरफ जानेवाले (देवान् (विद्वानों को अपने (धिया) ज्ञान से युक्त करके (बृहत् ज्योति) महान् ब्रह्म तेज का सम्पादन करनेवाले उनको (प्रसुवाति) और भी उत्कृष्टरूप से प्रेरित करता है।

राजा के पक्ष में—प्रेरक, आज्ञापक सेनापति अपनी बुद्धि मे सुख और तेज को प्राप्त (देवान्) विजयेच्छु पुरुषों और विद्वानों को स्थान २ पर

नियुक्त करके (बृहत् ज्योति.) बड़े भारी वीर्य बल या राज्य के वैभव को बनाने या देनेवाले उनको (सविता) प्रेरक आज्ञापक राजा (प्रसुवाति) उत्तम रीति से चलाता है । इतिदिक् ।

युञ्जते मनऽउत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः । वि होत्रा दधे वयुनाविदेकऽइन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥ ऋ० ५ । ८१ । १ ॥

जगती । निषाद. ॥

भा०—(विप्रा) ज्ञान को विशेष रीति से पूर्ण करने वाले (होत्रा) दूसरो को ज्ञान देने और अन्यों से ज्ञान ग्रहण करनेवाले मेधावी, विद्वान् पुरुष (बृहतः) बड़े भारी (विपाश्चित) ज्ञानके संग्रही, सकल विद्याओं के भण्डार के समान स्थित, परमगुरु (विप्रस्य) विशेष रूप से समस्त संसार को अपने ज्ञान से पूर्ण करने हारे परमेश्वर के प्राप्त करने के लिये (मनः) अपने मनको उसमें (युन्जते) योगाभ्यास द्वारा एकाग्र कर उसका चिन्तन करते हैं (उत) और (धियः) अपनी धारण समर्थ वृत्तियो को भी (युन्जते) उसीसे जोड़ते है और उससे ज्ञान प्राप्त करते हैं । वह (विप्रः) पूर्ण ज्ञानवान् परमेश्वर (एक इत्) एक ही ऐसा है जो (वयुनावित्) समस्त प्रकार के विज्ञानों को जानने हारा होकर संसार को (विदधे) विविध रूपमें बनाता और विविध शक्तियों से धारण करता है । हे विद्वान् पुरुषो ! (सवितुः) उस सर्वोत्पादक (देवस्य) ज्ञान-प्रकाशस्वरूप, समस्त अर्थों के द्रष्टा और प्रदाता परमेश्वर की (मही) बड़ी भारी (परिष्टुतिः) सत्य वर्णन करने वाली वेदवाणी या बडी भारी स्तुति या महिमा है ॥ शत० ६ । २ । ३ । १६ ॥

इसी प्रकार जिस पूर्ण विद्वान् के पास अन्य ज्ञानपिपासु लोग मन और बुद्धियो को एकाग्र कर विद्याभ्यास करते हैं । वह सविता आचार्य्य समस्त ज्ञानो को जानता है । उसकी बड़ी महिमा है ।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः
॥ ५ ॥ ऋ० १० । १३ । १ ॥

विराडार्षी । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! और हे गुरुशिष्यो ! हे राजा प्रजाजनो ! (वाम्) आप दोनों के हित के लिये मैं विद्वान् पुरुष (नमोभि) उत्तम आत्मा को विनय सिखानेवाले उपायों द्वारा, (पूर्व्यं ब्रह्म) पूर्ण योगिजनों, ऋषियों से साक्षात् किये गये (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान को, वेद को या परमेश्वर को (युजे) अपने चित्त में एकाग्र होकर साक्षात् करूं और आप लोगों को उसका उपदेश करूं । वह (श्लोक.) सत्यवाणी से युक्त, वेद ज्ञान अथवा सत्य ज्ञान से युक्त, विद्वान् अथवा (सूर श्लोकः) सूर्य के समान विद्वान् का वह (श्लोक.) ज्ञानोपदेश (वां) आप दोनों के लिये पथ्या इव) उत्तम मार्ग के समान (वि एतु) विविध उद्देश्यों तक पहुंचे । (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य ज्ञानमय (धामानि) तेजों, प्रकाशों को या उच्च स्थानों, पदों को (आतस्थुः) प्राप्त हैं उन लोगों से हे (विश्वे पुत्रा) समस्त पुत्रजनो ! आप लोग (अमृतस्य) उस अमृतस्वरूप परमेश्वरविषयक ज्ञान का (शृण्वन्तु) श्रवण करो ॥ शत० ६ । २ । ३ । १७ ॥

यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा ।
यः पार्थिवानि विममे सऽएतशो रजांसि देवः सविता महित्वना ॥ ६ ॥ ऋ० ५ । ८१ । ९३ ॥

जगती । निषादः ॥

भा०—(यस्य देवस्य) जिस देव के (ओजसा) वीर्य से पराक्रमपूर्वक किये गये (प्रयाणम्) प्रकृष्ट या गमन के (अनु) पीछे पीछे

(अन्ये देवाः) अन्य देव, विद्वान्गण (इत्) भी (ययु) गमन करते हैं और जिसके (महिमानम् अनुययु) महान् सामर्थ्य का अन्य विद्वान् अनुकरण करते हैं और (य.) जो (पार्थिवानि) पृथिवी पर प्रसिद्ध (रजांसि) समस्त लोको को (महित्वना) अपने महान् सामर्थ्य से (विममे) विविध प्रकार से बनाता है। (स.) वह (एतश) सर्व जगत् मे व्यापक (देव.) प्रकाशस्वरूप देव ही (सविता) सविता, सबका उत्पादक है ॥ शत० ६ । २ । ३ । १८ ॥

राजा के पक्ष में—(यस्य देवस्य प्रयाणम् अनु) जिस देव, राजा के प्रयाण अर्थात् विजय यात्रा के पीछे (अन्ये देवाः ययु) और राजा लोग गमन करते हैं (ओजसा) बल पराक्रम से जिसके (महिमानम् अनु ययुः) महान् सामर्थ्य को भी वे अनुकरण करते है, जो पृथिवी के समस्त जनो को अपने (महित्वना) बड़े भारी बल से (विममे) वश करता है, (सः एतशः) वह सूर्य के समान तेजस्वी (देव) राजा (सविता इत्) 'सविता' कहा जाता है।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय। दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु ॥ ७ ॥

यजु० अ० ९ । १ ॥

आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ९ । मं० १ ॥

हे (देव सवितः) सूर्य के समान सर्व कार्यों के प्रवर्त्तक तेजस्वी पुरुष ! विद्वान् ! तू (यज्ञं) सुखप्रद राष्ट्र व्यवस्था को (यज्ञपतिम्) राष्ट्र के पालक राजा को (भगाय प्रसुव २) ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये उत्कृष्ट मार्ग पर चला। (दिव्यः) विजय करने मे समर्थ, उत्तम गुणवान् (गन्धर्वः) पृथ्वी या वाणी का पालक, सबको ज्ञान से पवित्र करने

वाला (नः केत पुनातु) हमारे ज्ञान को सदा पवित्र निर्मल बनाये। (वाच. पति) वाणी, वेद का रक्षक विद्वान् (नः) हमें (वाचं स्वदतु) वेदवाणी को आनन्दप्रद रीति से आस्वादन करावे॥ शत० ६। २। ३। १६॥

इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यꣳ सखिविदꣳ सत्राजितं धनजितꣳ स्वर्जितम्। ऋचा स्तोमꣳ समर्धय गायत्रेण रथन्तरं बृहद्वायत्रवर्त्तनि स्वाहा॥ ८॥

शक्करी। धैवत॥

भा०—हे (देव सवित·) देव! विद्वन्! सवित! सर्व प्रेरक! तू (इमम्) इस (नः यज्ञम्) हमारे यज्ञ को, राष्ट्र को, यज्ञ=प्रजापति राजा को भी (देवाव्यम्) विद्वानों का रक्षक, (सखिविदम्) मित्रों का प्राप्त करनेवाला, (सत्राजितम्) सत्य की उन्नति करनेवाला या युद्धविजयी, (धनजितं) धनैश्वर्य के विजय करनेवाला और (स्वर्जितम्) सुख के बढ़ानेवाला (प्रणय) बना या उसको उत्तम मार्ग पर चला। (स्तोम) स्तुति करने योग्य पुरुष या राष्ट्र को (ऋचा) ऋग्वेद के ज्ञान से (सम् अर्धय) समृद्ध कर। (गायत्रेण) ब्राह्म-बल से (रथन्तरं) रथों के बल पर तरण करनेवाले क्षात्रबल को और (गायत्रवर्त्तनि) ब्राह्म-बल पर अपने मार्ग बनानेवाले (बृहत्) बड़े भारी राष्ट्र को (स्वाहा) उत्तम व्यवस्था और ज्ञानोपदेश से (समर्धय) समृद्ध कर॥ शत० ६। ३। २०॥

[१] अध्यात्म में—गायत्र. प्राण·। ता० २६। १६। ५॥ वाग् वै रथन्तरम्। ता० ७। ६। २६॥ अर्थात् प्राण के बल से वाणी को समृद्ध करो। मनो वै बृहत्। तां० ७। ६। १६॥ (गायत्रवर्त्तनि बृहत् स्वाहा समर्धय) प्राणमार्ग से चलनेवाले मन को उत्तम प्राणायाम विधि से समृद्ध बलवान् करो।

[२] भौतिक विज्ञान से—आग्निर्गायत्री, गायत्रो वा अग्निः । कौ० १ । ७ ॥ इयं पृथिवी रथन्तरम् । अग्नि, विद्युत् आदि के बल से पृथ्वी को समृद्ध करो, अग्नि के द्वारा पृथिवी के यन्त्र कला कौशल आदि सम्पन्न करो और (गायत्रवर्तनि) अग्नि के द्वारा जलने वाले (बृहत्) बड़े २ कार्य सम्पन्न करो ।

[३] तेजो वै रथन्तरम् । तां० १५ । १० । ६ । रथन्तरं वै सम्राट् तै० । १ । ४ । १ । ६ ॥ गायत्रो वै ब्राह्मणः । ऐ० ६ । २८ ॥ गायत्री ब्रह्मवर्चसं । तै० २ । ७ । २ । ३ । वीर्यं वै गायत्री । तां० ७ । ३ । १३ ॥ वीर्हतोऽसौ स्वर्गो लोकः । गो० पू० ४ । १२ ॥ पशवो बृहती । कौ० १७ । २ ॥ अर्थात् ब्राह्मण-बल से सम्राट् को समृद्ध करो और उनके दिखाये मार्ग पर बड़ा भारी राष्ट्र समृद्ध हो । दूसरे ब्रह्मचर्य, से तेज बढ़ा कर और ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पशुओं की वृद्धि करो । इत्यादि नाना पक्षों के अर्थ जानने चाहियें ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यु-मङ्गिरस्वदाभर त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ६ ॥

भुरिगति शक्करी । पञ्चमः ॥

भा०—हे वज्र ! हे वज्र धारक, राष्ट्र के बलधारिन् सत्रपते ! (त्वा) तुझको (सवितुः) सूर्य के समान देव, राजा या परम विद्वान् के (प्रसवे) शासन में रह कर ' अश्विनोः बाहुभ्याम् ' प्राण और उदान, स्त्री पुरुषों, राजा प्रजा के बाहुओं बाधक बलों से और पूष्णः) पोषणकारी राजा के (हस्ताभ्याम्) हाथों से (आददे) ग्रहण करता हूं । (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र च्छन्द से, (अंगिरस्वत्) अंगारों के समान जाज्वल्यमान (पुरीष्यम् अग्निम्) पुरीष्य अग्नि को (पृथिव्याः) पृथिवी के आश्रय पर (आभर)

प्राप्त कर और इसी प्रकार (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभ छन्द से अंगारे के तुल्य अग्नि को स्वयं (अंगिरस्वत्) अगारों के समान विद्याप्रकाश से प्रकाशमान होकर (आभर) प्राप्त करा ॥ शत० ६ । २ । ३ । ३८ । ३६ ॥

(१) (गायत्रेण छन्दसा अंगिरस्वत् पुरीष्यमग्निम् आभर)–गायत्रो-ऽयं भूलोक' । कौ० ८ । ६ ॥ इमे वै लोकाः गायत्रम् । तां० ७ । ३ । ६ ॥ यद् गायन्नत्रायत तद् गायत्रस्य गायत्रत्वम् । जै० उ० ३ । ३८ । ४ ॥ अंगिरो हि अग्नि. । श० १ । ४ । १ । (पुरीष्यम्) पुरीष्य इति वै तमाहुर्य श्रियं गच्छति । श० २ । १ । १ । ७ ॥ पुरीषं वा इयं पृथिवी । श० १२ । ५ । २ । ५ ॥ यत् पुरीषं स इन्द्र । ५ । १० । ४ । १ । ७ ॥ देवा पुरीषम् । श० ८ । ७ । ४ । १७ । प्रजाः पुरीषम् श० ६ । ७ । १६ । पशवः पुरीषम् । अर्थात् (गायत्रेण छन्दसा) पृथिवीलोक अर्थात् उसके निवासियों के अपने अभिलाषा के द्वारा अथवा विद्वान् पुरुषों की अनुमति से (पुरीष्यम्) इन्द्रपद के योग्य, ऐश्वर्यवान्, प्रजा, पशु और विद्वानों के हितकारी (अङ्गिरस्वत्) अग्नि और अंगारों के समान तेजस्वी पुरुष को (आहर) राजारूप से प्राप्त करा । कहा से प्राप्त करें ? (पृथिव्या' सधस्थात्) पृथिवी पर एकत्र निवास करनेवाले जन समुदाय में से ही । वह पुरुष किस प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी रहे ? (त्रैष्टुभेन छन्दसा अंगिरस्वत्) वज्र. त्रिष्टुप् । कौ० ३ । २१ । शत० ६ । ३ । २ । ३९ ॥ त्रिष्टुप् इन्द्रस्य वज्रः । ऐ० २ । २ ॥ वलं वै वीर्यं त्रिष्टुप् । कौ० ७ । २ ॥ त्रैष्टुभो वै राजन्यः । क्षत्रं त्रिष्टुप् । कौ० ३ । ५ ॥ या राका सा त्रिष्टुप् । ऐ० ३ । ४७ । ४८ ॥ हे राजा वज्र, आयुधबल और राजशक्ति या पूर्णिमा के समान सर्वप्रिय, सर्वाङ्ग पूर्ण शासक शक्ति के (छन्दसा) स्वरूप से (अंगिरस्वत्) अग्नि सूर्य और विद्युत् के समान तेजस्वी हो ।

अभ्रिरसि नारयसि त्वया वयमग्निꣳ शकेम खनितुꣳ सधस्थ आ। जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ १० ॥

अभ्रिर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे वज्र ! तू (अभ्रि. असि) तू अभ्रि, पृथ्वी खोदने वाले यन्त्र के समान तीक्ष्ण स्वभाव, एवं शत्रुके बीचमे विना किसी रोक के घुस जाने मे समर्थ है । तुझे कोई भी रोकने में समर्थ नही है । अत तू (नारी असि) तू नारी, स्त्री के समान सर्वकार्यसाधिका एवं सर्वथा शत्रु रहित या नेता पुरुषो द्वारा बनी हुई सेना या सभा रूप है । (त्वया) तुझसे (वयम्) हम (सधस्थे) इसी समान आश्रय स्थान सभाभवन मे जिसमें हम और हमारे प्रतिद्वन्द्वी एवं अधीन लोग भी रहते हैं उस स्थान में (अग्निम्) सोने के समान दीप्तिमान् पदार्थों को जिस प्रकार रम्भी या कुदाली से (खनितुं शकेम) खोद या पा सकते हैं उसी प्रकार हम लोग (त्वय[1]) तुझ अप्रतिहत वीर्यवाली सेना या सभा से (अग्निम्) अग्रणी पुरुष या अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को प्राप्त करे । वह अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष किस प्रकार हो [?] वह (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द वैश्यबल से (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्वी ऐश्वर्यवान् है ॥ शत० ६ । ३ । १ । ४१ ॥

(१) 'जागतेन छन्दसा'—जगती गततमं छन्दः । जज्जगतिर्भवति । क्षिप्रगतिः जज्मला कुर्वन् आसृजते इति ब्राह्मणम् । दे० य० ३ । १७ ॥ जगती हि इयं पृथिवी । श० २ । २ । १ । १० ॥ जगत्य ओषधय. । श० १ । २ । २ । २ ॥ पशवो वै जगती । गो० पु० ५ । ५ ॥ जागतोऽश्व. प्राजापत्यः । तै० ३ । ८ । ८ । ४ ॥ जागतो वै वैश्य । ऐ० १ । २८ ॥ द्वादशाक्षरपदा जगती । तां० ६ । ३ । १३ ॥ अष्टाचत्वारिशदक्षरा जगती । जगत्यादित्यानां पत्नी। गो० उ० २ । ९ ॥ जागतो वा एष य एष सूर्यः तपति।

बलं वै वीर्यं जगती । कौ० ११ । २ ॥ जागत श्रोत्रम् । तां० २० । १६ । ५ ॥ जागता वै ग्रावाणः । कौ० २६ । १ ॥ अर्थात् (१) युद्धसें तीव्रगति से राजा तेजस्वी बने । (२) इस पृथिवी के राज्य से बलवान् हो । (३) पशु, ओषधि और अश्वादि सेना द्वारा प्रजाका पालक होकर तेजस्वी हो । (४) वैश्यों की समृद्धि, व्यापार, १२ पदाधिकारियो की सगठित सभा, सूर्यके समान प्रखरता, बल, वीर्य द्वारा तेजस्वी हो और श्रोत्र द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानवान् हो ।

अध्यात्ममे—वाणी अग्नि है । वेदवाणी के अभ्यास से हम विद्वानो को प्राप्त करें । और वह (जागतेन छन्दसा) ४८ वर्ष के आदित्य ब्रह्मचर्य से तेजस्वी हो ।

हस्तंऽआधायं सविता विभ्रदग्निꣳ हिरण्ययींम् । अग्नेर्ज्योंति-र्निचाय्यं पृथिव्याऽअध्याभंरदानुंष्टुभेन छन्दंसाङ्गिरस्वत् ॥ ११॥

सविता देवता । आर्षी पक्ति. । पन्चमः ॥

भा०—(सविता) शिल्पी जिस प्रकार (हिरण्ययीम्) लोहे की चमकती हुई (अग्निम्) कुदाली को (हस्ते आधाय) हाथ मे लेकर (पृथिव्याः) पृथिवी के गर्भ से (अग्ने. ज्योति) अग्नि के मूलभूत ज्योतिर्मय सुवर्ण आदि पदार्थ को (अधि आभरत्) खनकर प्राप्त करता है । उसी प्रकार पूर्वोक्त सर्व प्रेरक सविता विद्वान् (हिरण्ययीम्) सुवर्णमय बल, तेज से बने वज्र या सेनाबल को अपने हाथ मे रखकर (पृथिव्या अधि) पृथिवी के निवासियों में से ही । अग्ने) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष के (ज्योतिः) वीर्य, अर्थात् बलानुसार अधिकार सामर्थ्य को (निचाय्य) उत्पन्न कर (अधि आभरत्) प्राप्त करता है । वह अग्रणी पुरुष किस प्रकार तेजस्वी हो ? वह (आनुष्टुभेन छन्दसा) आनुष्टुभ छन्द से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के अङ्गारों के समान तेजस्वी हो ॥ शत० ६ । २ । १ ॥

'आनुष्टुभेन छन्दसा'—अनुष्टुप् अनुस्तोभनात् । दे० ३ । ७ ॥ ष्टुभ स्तम्भे । भ्वादिः । यस्याष्टौ ता अनुष्टुभम् । कौ० ६ । २ ॥ द्वात्रिंशदक्षरानुष्टुप् । कौ० २६ । १ ॥ अनुष्टुम्मित्रस्य पत्नी । गो० ३० २ । ६ ॥ वाग् अनुष्टुप् । कौ० ५ । ६ ॥ ज्यैष्ठ्यं वा अनुष्टुप् । तां० ८ । ७ । ३ ॥ प्रजापतिर्वा अनुष्टुप् । ता० ४ । ८ । ६ ॥ आनुष्टुभः प्रजापति । तै० ३ । ३ । २ । १ ॥ यस्य ते (प्रजापतेः) अनुष्टुप् छन्दोऽस्मि । ऐ० ३ । १२ ॥ अनुष्टुप् सोमस्य छन्दः । कौ० १५ । २ ॥ विश्वेदेवाः आनुष्टुभं समभरन् । जै० उ० १ । १८ । ७ ॥ आनुष्टुभो राजन्यः । तै० १ । २ । ८ । २ ॥ सत्यानृते वा अनुष्टुप् । तै० १ । २० । १० । ४ ॥ आनुष्टुभी रात्रि । ऐ० ४ । ६ ॥ उदीची दिक् । श० ८ । ३ । १ । १२ ॥ वृष्टिः । तां० १२ । ८ । ८ ॥ अर्थात् शत्रुके स्तम्भन करने वाले बलसे, अष्टप्रधाना अमात्य परिषद् से, मित्र अर्थात् मरण से त्राणकारी बलसे, राजा की पालनी शक्ति से, सब से बड़े पद से, प्रजापति के पद से, सबके रमणकारिणी, सत्य और अनृत के विवेक शक्ति से राजा तेजस्वी हो । विद्वान् पुरुष वाणी के अभ्यास से, ३२ वर्ष के ब्रह्मचर्य से तेजस्वी बने ।

प्रतूर्त्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनु संवतम् । दिवि ते जन्म परमन्तरिक्षे तव नाभिः पृथिव्यामधि योनिरित् ॥ १२ ॥

नाभानेदिष्ट ऋषिः । वाजी देवता । आस्तारपङ्क्तिः । पञ्चमम् ॥

भा०—हे (वाजिन्) ज्ञान और बलसे युक्त ! विद्वन् राजन् ! वीर ! तू (प्रतूर्तं) अश्व जिस प्रकार अच्छी भूमि में बड़े वेग से जाता है इसी प्रकार (वरिष्ठा) सबसे श्रेष्ठ (संवतम्) सेवन करने योग्य पदवी को (प्रतूर्तम्) अति वेगसे, (आ द्रव) प्राप्त कर । (ते) तेरी (दिवि) तेजस्विता में, ज्ञानप्राप्ति में और विजय में या विद्वानों की बनी राजसभा में ही (परमम् जन्म) परम, सर्वोत्कृष्ट प्रादुर्भाव होता

है । (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष या वायु जिस प्रकार सब संसार पर आच्छादित है उसी प्रकार प्रजा के ऊपर पक्षपात रहित होकर सबका सुखादि देकर पालन करने के कार्य मे (ते नाभिः) तेरा बन्धन अर्थात् नियुक्ति की जाती है । और (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी पर (तव) तेरी (योनिः) आश्रयस्थान है । अर्थात् पृथिवी की प्रजाओ में ही राजा का परम आश्रय है । प्रजा के आश्रय पर राजा स्थित है । भौतिक विज्ञानपक्षमे—हे विद्वन् शिल्पिन् ! शिल्पविद्या में तुम्हारा उत्तम प्रादुर्भाव है । अन्तरिक्ष मे तुम्हारी (नाभिः) स्थिति है । पृथिवी पर आश्रय है । तू विमानों द्वारा शीघ्र गति से जाने मे समर्थ हो ॥ शत० ६ । ३ । २ । २ ॥

युञ्जाथाꣳ रासभं युवमस्मिन् यामे वृषण्वसू ।
अग्निं भरन्तमस्मयुम् ॥ १३ ॥

कुत्सिर्ऋषिः । रासभो देवता । गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (वृषण्वसू) समस्त सुखों के वर्षक और सबको बसाने वाले स्त्री पुरुषो या विद्वान् गणो ! (युवम्) तुम दोनो (याने) गमन करने मे समर्थ रथ में जिस प्रकार (रासभम्) शब्द और दीप्ति से युक्त अग्नि का शिल्पी लोग प्रयोग करते है उसी प्रकार, हे (वृषण्वसू) प्रजा पर सुख वर्षण करनेहारे वीर पुरुषो और हे वसो ! वासशील प्रजाजन (युवं) आप लोग (अस्मिन् यामे) इस राज्य की नियम व्यवस्था मे (अस्मयुम्) हमें मुख्य उद्देश्य तक पहुंचाने में समर्थ या हमें चाहने वाले हमारे प्रिय हितैषी, (भरन्तम्) राष्ट्र के भरणपोषणकारी या कार्य्य संचालन करनेहारे (रासभम्) विज्ञानोपदेश से प्रकाशमान, (अग्निं) ज्ञानवान् पुरुष को (युञ्जाथाम्) उत्तम पदपर नियुक्त करो । अथवा (अग्निं भरन्तम्= हरन्तं) अग्निके समान तेजस्वी विजिगीषु राजा को और सन्मार्ग पर लेजानेहारे विद्वान् पुरुष को नियुक्त करो ॥ शत० ६ । ३ । २ । ३ ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

शुनःशेप ऋषिः । इन्द्र । क्षत्रपतिर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो ! आप लोग (योगे योगे) प्रत्येक नियुक्त होने के पद पर (तवस्तरम्) औरों से अधिक बल शाली (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (वाजे वाजे) प्रत्येक संग्राम के अवसर पर (हवामहे) हम आदर से बुलावें । उसे अपना नेता बनावें ॥ शत० ६ । ३ । २ । ४ ॥

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि । उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन् पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

अश्वरासभौ गणपतिर्वा देवता । आर्षी जगती । निषाद. ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! तू (तूर्वन्) अतिवेग से गमन करता हुआ (अशस्तीः) अशस्त्र, शासना को उल्लंघन करने या उच्छृंखल दुष्ट पुरुषों को और शत्रु सेनाओं को या उनकी की हुई अपकीर्त्तियों को (अवक्रामन्) पददलित करता हुआ (प्र एहि) आगे बढ़ । और (मयोभूः) सबके सुख और कल्याण की भावना करता हुआ, (रुद्रस्य) शत्रुओं के रुलाने वाले सेना समूह के (गाणपत्यं) गण के पति पद अर्थात् सेनापतित्व को (एहि) प्राप्त कर । और तू (स्वस्ति-गव्यूति.) सुखपूर्वक निष्कन्टक मार्गवाला होकर और (सयुजा) अपने साथ रहने वाले (पूष्णा) पुष्टिप्रद पृथिवी वासी राष्ट्र जन और पुष्ट सेनाबल के (सह) साथ सब स्थानों को (अभयानि) भय रहित (कृण्वन्) करता हुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष मार्ग को अथवा विशाल अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक सर्वोपरि विद्यमान राजपद को (वि इहि) विशेष रूप से प्राप्त कर ॥ शत० ६ । ३ । २ । ७–८ ॥

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः ॥ १६ ॥

अग्निदेवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत स्वर. ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! तू (पृथिव्या) पृथिवी के (सधस्थात्) उस एक स्थान से ही जहां प्रजा बसी है (पुरीष्यम्) समस्त प्रजाओं को पालन करने मे समर्थ, (अङ्गिरस्वत्) अग्नि या सूर्य के समान तेजस्वी, (अग्निम्) अग्रणी नेता पुरुष को (आभर) प्राप्त कर । हम लोग भी (पुरीष्यम्) पालन करने में समर्थ, समृद्ध (अङ्गिरस्वत्) सूर्य या विद्युत् के समान तेजस्वी, (अग्निम्) अग्नि के समान शत्रुसंतापक नेता को (अच्छेम) प्राप्त हों । (पुरीष्यम् अङ्गिरस्वद् भरिष्याम.) उक्त प्रकार के समृद्ध, तेजस्वी नेता को हम भी धारण करेंगे और हम उसको प्राप्त करेंगे, उसका पालन पोषण करेंगे । शत० ६ । ३ । २ । ८–६ । ३ । ३ । ४ ॥

पृथिवी के जिस स्थान की प्रजा हो (सधस्थ) उसी स्थान का उनका शासक नेता होना चाहिये । वे उसको स्वयं चुनें, और स्वयं उसको स्थापित करें ।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः । अनु सूर्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवी आततन्थ ॥ १७ ॥

पुरोधस ऋषय । अग्निर्देवता । निचृद् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अग्निः) महान् अग्नि (प्रथम) सब से प्रथम (जातवेदाः) विद्यमान, ज्ञानवान् परमेश्वर ही (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) अग्र, मुख्य भाग सूर्य को भी (अख्यत्) प्रकाशित करता है । (अनु) उसके पीछे स्वय सूर्य तदनुसार अन्य उत्कृष्ट विद्वान् पुरुष भी व्यवहारों को प्रकाशित करे । (अनु अहानि अख्यत्) वही परमेश्वर दिनों को प्रकाशित करता है । (सूर्यस्य) वही सूर्य की (पुरुत्रा) बहुतसी (रश्मीन्) रश्मे,

किरणों को भी प्रकाशित करता है (अनु) वही (द्यावा पृथिवी) आकाश और पृथिवी को भी (आततन्थ) सर्वत्र विस्तृत करता है। उसी प्रकार राष्ट्र में (प्रथमः जातवेदाः) सब से श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष भी (उषसाम् अग्रम्) उदय कालों को प्रकाशित कर (अहानि) प्राप्त दिनों को प्रकाशित करे। (सूर्यस्य पुरुत्रा रश्मीन्) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के नाना प्रबन्ध व्यवस्थाओं और कार्यों को प्रकाशित करे। वह (द्यावा पृथिवी) राजा प्रजा दोनो की वृद्धि करे ॥ शत० ६ । ३ । ३ । ६ ॥

आगत्य वाज्यध्वानꣳ सर्वा मृधो वि धूनुते ।
अग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥ १८ ॥

मयोभुव ऋषयः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—जिस प्रकार (वाजी) वेगवान् अश्व (अध्वानम्) मार्ग पर आकर अपनी सब थकावटों को झाड़ फैंकता है उसी प्रकार (वाजी) बलवान् राजा (अध्वानम् आगत्य) राष्ट्र को प्राप्त करके (सर्वा. मृधः) समस्त संग्रामकारी शत्रुओं को (विधूनुते) कंपा देने में समर्थ होता है। और (महति) बड़े महत्व युक्त प्रतिष्ठा के (सधस्थे) अपने याग्य स्थान पर ही (अग्निम्) ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष को (चक्षुषा) अपनी आंखों से (निचिकीषते) देख लेता है। या (चक्षुषा) दर्शन सामर्थ्य से युक्त (अग्नि) विद्वान् को उस पद पर (नि चिकीषते) नियुक्त करता है। शत० ६ । ३ । ३ । ८ ॥

राजा बलपूर्वक शत्रुओं का दमन करके प्रजा के शासन कार्य पर विद्वान् को अपना स्थानापन्न नियुक्त करे।

आक्रम्य वाजिन् पृथिवीमग्निमिच्छ रुचा त्वम् । भूम्या वृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयम् ॥ १९ ॥

अग्निरश्वो वा देवता । निचृदनुष्टुप् । गाधारः ॥

१९—०भूमे 'वृत्वाय०' इति काण्व० ।

भा०—हे (वाजिन्) वेगवान अश्व के समान बलवान्, एवं सग्राम में शूर पुरुष ! (त्वम्) तू (पृथिवीम् आक्रम्य) पृथिवी पर आक्रमण करके (रुचा) दीप्ति या कान्ति या अपनी रुचि प्रीति के अनुसार (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष या उस पद को (इच्छ) चाह । (भूम्या) भूमि पर (वृत्त्राय) पूर्ण अधिकार करके तू (न.) हमे (ब्रूहि) स्वयं बतला. (यतः) जहां से हम (तं) उस ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष को (खनेम) प्राप्त करें या जहां उसको स्थापित करें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । ११ ॥

भूगर्भ विद्या पक्ष में—इसी प्रकार विद्वान् पुरुष ही बतलावे कि भूमि सुवर्ण रूप तेजोमय पदार्थ कहां से प्राप्त करें ।

द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी सधस्थमात्मान्तरिक्षꣳ समुद्रो योनिः ।
विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृतन्यतः ॥ २० ॥

अश्व क्षत्रपतिर्देवता । निचृदार्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे राजन् प्रजापते ! (ते) तेरा (पृष्ठम्) पालन सामर्थ्य, प्रजा को अपने ऊपर उठाने का बल (द्यौः) आकाश के समान महान् एवं सबको जल वर्षा कर अन्न-सुख देने हारा है । (सधस्थम्) रहने का स्थान आश्रय (पृथिवी) पृथिवी या पृथिवी के समान विस्तृत और ध्रुव है । (आत्मा) तेरा आत्मा अपना स्वरूप (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष या वायु के समान सब का प्राणस्वरूप या सब को आच्छादक, शरणदायक है । (योनि) तेरा आश्रय तुझे राजा बनाने वाले, तेरा राज्य स्थापन करने वाले अमात्य आदि या अन्य कारण (समुद्र.) समुद्र के समान गम्भीर और अमर्यादित, अगाध है । (चक्षुषा) अपने चक्षु, दर्शन शक्ति से (विख्याय) विशेषरूप से आलोचन करके (त्वम्) तू (पृतन्यत.) अपनी सेना से आक्रमण करने वाले शत्रुओं पर (अभितिष्ठ) आक्रमण कर ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १२ ॥

उत्क्रामं महते सौभगायास्मादास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन् ।
वयꣳ स्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थे अस्याः॥२१॥

द्रविणोदा वाजी देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः स्वरः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ऐश्वर्य और बल से सम्पन्न राजन् ! तू (द्रविणोदाः) प्रजा और नियुक्त पुरुषों को यथोचित धन प्रदान करने में समर्थ होकर (महते) बड़े भारी (सौभगाय) यज्ञ में शोभते ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (अस्मात् आस्थानात्) इस निवासस्थान से (उत्क्राम) ऊपर उठ । (वयम्) हम लोग (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (उपस्थे) पीठ पर (अग्निम्) अग्नि के समान ज्ञानवान्, अग्रणी, तेजस्वी पुरुष को श्रम से (खनन्तः) प्राप्त करते हुए या स्थापित करते हुए उसके (सुमतौ) उत्तम ज्ञान और मन्त्रणा के अधीन (स्याम) रहें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १३ ॥

उदक्रमीद् द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकꣳ सुकृतं पृथिव्याम् ।
ततः खनेम सुप्रतीकमग्निꣳ स्वो रुहाणा अधिनाकमुत्तमम् ॥२२॥

द्रविणोदा वाजी देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अर्वा) अश्व के समान बलवान् एवं (वाजी) ज्ञानवान्, (द्राविणोदा) प्रकाशप्रद सूर्य के समान विद्वान् राजा (उत् अक्रमीत्) उदय को प्राप्त होता है और (पृथिव्याम्) इस पृथिवी पर (लोकम्) समस्त लोक, जन समुदाय को (सुकृतम्) पुण्य आचारवान्, श्रेष्ठ (सु अकः) बना देता है। हम लोग (उत्तमम्) उत्तम, सर्वोत्कृष्ट (नाकम्) सुखमय लोक को (आधिरुहाणाः) प्राप्त कर (ततः) वहां (सुप्रतीकम्) उत्तम, कान्तिमान सुन्दर (अग्निम्) सुवर्ण के समान कान्तिमान्, विद्वान् पुरुष को (खनेम) प्राप्त करें । उत्तम राजा राज्य को उत्तम बनावे प्रजा के उस उत्तम राज्य में से ही विद्वान् नर-रत्न उत्पन्न होंगे ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १४ ॥

आ त्वा जिघर्मि मनसा घृतेन प्रतिक्षियन्तं भुवनानि विश्वा ।
पृथुं तिरश्चा वयसा बृहन्तं व्यचिष्ठमन्नै रभसं दृशानम् ॥ २३ ॥

गृत्समद ऋषि॰ । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(घृतेन) घी से जिस प्रकार अग्नि को आहुति द्वारा सेचन किया जाता है उसी प्रकार (विश्वा भुवनानि) समस्त पदार्थों के भीतर (प्रतिक्षियन्तम्) निवास करनेवाले, व्यापक (त्वा) तुझ शक्ति को (मनसा) मनसे, ज्ञान द्वारा (आ जिघर्मि) प्रज्वलित करता हूं। (तिरश्चा) तिरछे गति करनेवाले, (वयसा) जीवन सामर्थ्य से (पृथुम्) अति विस्तृत, (बृहन्तम्) महान् (व्यचिष्ठम्) सबसे अधिक व्यापक, अति सूक्ष्म (रभसम्) बलस्वरूप, (दृशानम्) दर्शनीय उस आत्मा को (अन्नैः) अन्न और उसके समान भोगयोग्य सुखों द्वारा (आ जिघर्मि) प्रदीप्त करता हूं। इसी प्रकार राजा के और विद्वान् के पक्ष में—समस्त पदों पर अपने बल से रहनेवाले विद्वान् राजा को दूरगामी बल से विशाल, बड़े, व्यापक सामर्थ्यवान्, दर्शनीय, बलवान् पुरुष को हम (अन्नैः) अन्नादि भोग्य पदार्थों से उसी प्रकार जैसे घृत से अग्नि को प्रदीप्त करते हैं, सत्कार करें ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १६ ॥

आ विश्वतः प्रत्यञ्चं जिघर्म्यरक्षसा मनसा तज्जुषेत । मर्यश्री स्पृहयद्वर्णोऽअग्निर्नाभिमृशे तन्वा जभुराणः ॥ २४ ॥

गृत्समद ऋषि । अग्निर्देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चम. ॥

भा०—जिस प्रकार अग्नि में घृत का आसेचन करके उसको प्रज्वलित और अधिक दीप्तिमान् किया जाता है उसी प्रकार हे राजन्! मैं (विश्वतः) सब ओर से (प्रत्यञ्चं) शत्रु के प्रति आक्रमण करनेवाले तुझको (आजिघर्मि) सब प्रकार से उत्तेजित, प्रदीप्त करूं। वह राजा (तत्) इस प्रकार प्रेम से दिये उत्तेजना सामग्री को (अरक्षसा) निर्विघ्न, राक्षस या क्रूर स्वभाववाले दुष्ट पुरुष से विपरीत, सज्जनस्वभावयुक्त,

(मनसा) चित्त से (जुषेत) स्वीकार करे । वह (अग्निः) अग्रणी, राजा (मर्यश्री.) मनुष्यों द्वारा आश्रय करने योग्य या मनुष्यों के बीच विशेष शोभावान्, उनका शिरोमणिस्वरूप और (स्पृहयद्-वर्णः) प्रेमयुक्त पुरुषों द्वारा अपना नेता चुना गया, या कान्तिमान् अग्नि के समान तेजस्वी (तत्वा) अपने विस्तृत शक्ति से या अपने स्वरूप से (जर्भुराणः) अंगों को ऊपर नीचे नमाता हुआ लचकती ज्वालाओं से (अग्निः) अग्नि जिस प्रकार अति तीक्ष्ण होकर (आभिमृशे न) स्पर्श करने के योग्य नहीं होता उसको कोई छू नहीं सकता उसी प्रकार वह भी युद्ध में जब अति तीक्ष्ण होकर अपने गात्र नमाता या पैंतरे चलता है तब (अग्नि) आग के समान तेजस्वी होकर (आभिमृशे न) किसी भी द्वारा अभिमर्शन, या तिरस्कार करने योग्य नहीं रहता । उसका कोई अपमान नहीं कर सकता ॥ शत० ६ । ३ । ३ । १५ ॥

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ २५ ॥

सोमक ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(वाजपति) संग्राम का पालक, सेनापति (कविः) दूर देश तक दर्शन करने मे समर्थ, क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी (अग्नि) अग्नि के समान तेजस्वी, एवं अग्रणी होकर (हव्यानि) प्राप्त करने योग्य, विजय करने योग्य स्थानों पर (परि अक्रमीत्) आक्रमण करे और (दाशुषे) करादि दान देनेवाले या दान योग्य प्रजाजन को (रत्नानि) नाना रमणीय, रत्न सुवर्ण आदि पदार्थ (दधत्) प्रदान करे ।

गृहपति के पक्ष मे—(वाजपति.) अन्नादि का पालक विद्वान् अग्नि के समान तेजस्वी होकर (हव्यानि) ग्रहण योग्य पदार्थों को प्राप्त करे । (दाशुषे) दान योग्य ब्राह्मण, अतिथि आदि को (रत्नानि दधत्) सुवर्ण रत्नादि प्रदान करे ।

परिं त्वाग्ने पुरं व्रयं विप्रंꣳ सहस्य धीमहि ।
धृषद्वंर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम् ॥ २६ ॥

पायुर्ऋषि । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी, अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! हे (सहस्य) अपने बल को चाहनेवाले ! (वयम्) हम प्रजा के लोग (विप्रम्) विविध प्रकारों से राष्ट्र को पूर्ण करने और (पुरम्) नगरकोट के समान पालन करने में समर्थ (दिवेदिवे) प्रतिदिन, नित्य (भङ्गुरावताम्) विनाश करने योग्य, दुष्ट स्वभावों वाले दुष्ट पुरुषों के (हन्तारम्) नाश करनेवाले और (धृषद्वर्णम्) प्रगल्भ, तीक्ष्ण, असह्य वर्ण अर्थात् स्वभाव वाले, तेजस्वी (त्वा) तुझको अपने (परिधीमहि) चारों तरफ रक्षा करने के लिये नियुक्त करते हैं । वीर पुरुषों को रक्षा के लिये चारों तरफ नियुक्त करना चाहिये ।

त्वमंग्ने द्युभिस्त्वमांशुशुक्षणिस्त्वमद्भ्यस्त्वमश्मनस्परिं ।
त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः ॥ २७ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! तेजस्विन् ! (नृपते) मनुष्यों के पालक राजन् ! (त्वं द्युभिः जायसे) जिस प्रकार प्रकाशमान किरणों से सूर्य प्रकाशित होता है और प्रकाशमान तेजों से अग्नि दीप्त है, उसी प्रकार न्याय, विनय, प्रताप आदि तेजस्वी गुणों से तू भी प्रकाशमान होता है । (त्वम् आशुशुक्षणिः) अग्नि सूर्य या जिस प्रकार शीघ्र ही अन्धकार का नाश करता है उसी प्रकार तू भी दुष्टों को शीघ्र नाश करता है (अश्मनः परि) जिस प्रकार विद्युत् मेघ से उत्पन्न होता है और प्रकाशित होता है उसी प्रकार (त्वम्) तू (अश्मन) व्यापक सामर्थ्य या वज्ररूप शस्त्रबल

२३—०'दिवे मेत्तार भङ्गु०' इति काण्व० ।

के ऊपर (परि जायसे) वृद्धि को प्राप्त होता है। (वनेभ्यः) किरणों से जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित होता है और वनों से जिस प्रकार सर्वदाहक दावानल पैदा होता है उसी प्रकार (त्वं) तू भी (वनेभ्यः) सेवन करने योग्य प्रजाजनो के बीच में से उत्पन्न होता है। (त्वम् ओषधीभ्यः) ओषधियों के बीच मे से काष्ठ आदि में से जिस प्रकार अग्नि प्रकट होती है अथवा जिस प्रकार ओषधि रसों से, तेजाबरूप दाहक रस उत्पन्न होता है अथवा दाह या ताप धारण करनेवाले रश्मियों से सूर्य प्रकट होता है उसी प्रकार तू (ओषधीभ्य) दाह, प्रताप, पराक्रम को धारण करनेवाले वीरों के बीच में से प्रकट होता है। (त्वं नृणाम् शुचिः) तू समस्त मनुष्यो को शुद्ध, उज्वल करनेवाला और उन सब मे से स्वयं (शुचिः) शुद्ध, तेजस्वी, एवं निश्छल निष्कपट, शुद्ध व्यवहारवान् , सत्यवादी, निष्पाप होकर (जायसे) प्रकट होता है।

'शुचिः' शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। अयमपि इतरः शुचिरेतस्मादेव। निष्पिक्तमस्मात् पापकम् इति नैरुक्ताः। निरु० ६। १॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामि। ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीकमजस्रेण भानुना दीद्यतम्। शिवं प्रजाभ्योऽहिꣳसन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वत् खनामः॥२८॥

अग्निर्देवता। भुरिक् प्रकृतिः। धैवतः॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! (सवितुः देवस्य प्रसवे) सर्वप्रेरक देव, राजा और परमेश्वर के शासन में रहकर (अश्विनोः बाहुभ्याम्) इस संसार मे द्यो, पृथिवी के धारण और आकर्षण के समान राजा और प्रजा और स्त्री और पुरुष दोनो के (बाहुभ्याम्) बाहुओं से और (पूष्णः) पुष्टिकारक, प्राण के बल और पराक्रम के समान पोषक राजा के बल

पराक्रम स्वरूप (हस्ताभ्याम्) हनन करने के साधनों से (अंगिरस्वत्) शरीर में विद्यमान प्राणवायु, अन्तरिक्ष में व्यापक वायु या आदित्य के समान बलवान् तेजस्वी, (पुरीष्यम्) राष्ट्र के पूर्ण करने वाले साधनों से सम्पन्न, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (पृथिव्या सधस्थात्) पृथिवी के, पृथिवी निवासी प्रजाजन के एकत्र होने के सभाभवन रूप स्थान से (खनामि) पृथिवी से खोदकर जिस प्रकार अंग में रसस्वरूप, पुष्टिकारक, पशव्य अग्नि अर्थात् पशूपयोगी घास आदि पदार्थ को या (अङ्गिरस्वत्) तेजोमय शोभा जनक सुवर्णादि धातु को खना जाता है उसी प्रकार राजा को मैं मुख्य पुरोहित प्रजा की परिषद् में छुपे हुए गुप्त वीर्यवान्, उत्तम पुरुष को ऊपर उठाता, मानो नरसभा में से खोदता हूं, उसको ऊपर उठाता हूं, उच्च पद प्रदान करता हूं। हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्वी पुरुष ! (सुप्रतीकम्) सुन्दर शोभावान् (अजस्रेण भानुना) निरन्तर कान्ति, दीप्ति से (दीद्यतम्) चमकनेवाले, (ज्योतिष्मन्तम्) ज्योतिष्मान्, सूर्य के समान देदीप्यमान, कान्तिमान्, यशस्वी, तेजस्वी ऐश्वर्यवान्, (प्रजाभ्य) प्रजाओं के लिये (शिवं) कल्याणकारी, (अहिंसन्तम्) प्रजा का नाश न करते हुए (त्वा) तुझको (पृथिव्या सधस्थात्) इस पृथिवी के ऊपर के निवासियों के एकत्र होने के सभास्थान से (अंगिरस्वत् पुरीष्यम् अग्निम्) अंगारों के समान जाज्वल्यमान, समृद्धि से सम्पन्न, अग्रणी नेता को (खनाम) रत्न सुवर्णादि के समान ऊपर खोदते, निकालते, उच्च पद पर लाते हैं ॥ शत० ६ । ४ । १ । २ ॥

अपां पृष्ठमसि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् । वर्धमानो महाँ२ऽ आ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥ २६ ॥

पुष्करपर्णम्, अग्निर्वा देवता । स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! (अपाम्) जिस प्रकार जलों का (पृष्ठम्) पृष्ठ या पृष्ठ स्थित पद्मपत्र आदि पदार्थ उसके ऊपर विद्यमान रहता है उसी प्रकार

तू भी (अपां) प्रजाओं के भीतर (पृष्ठम्) उनका पृष्ठ स्वरूप, पोषकरूप, उनका धारक, उनके ऊपर आच्छादक, रक्षकरूप मे रहकर उनसे ऊपर और उनसे अधिक वीर्यवान् होकर (असि) रहता है । हे विद्वान् ! तू (अग्ने. योनिः असि) जिस प्रकार वेदि अग्नि का आश्रय है उसी प्रकार तू (अग्नेः) अग्नि के समान तेजस्वी राजा के पद प्रताप का (योनिः) आश्रय है । तू (अभितः) सब ओर (पिन्वमानम्) ऐश्वर्य द्वारा सुखों का वर्षण करते हुए या बढ़ते हुए (समुद्रम्) समुद्र के समान गम्भीर राजपद को वेला के समान धारण कर । और तू (पुष्करे) महान् आकाश में सूर्य के समान (पुष्करे) अपनी पुष्टिकर्त्ता के आधार पर तेजस्वी होकर (वर्धमान) नित्य बढ़ता हुआ (महान् च) सबसे अधिक महान् होकर (दिव) सूर्य की (मात्रया) तेज शक्ति से और (वरिम्णा) पृथिवी की विशालता से (आ प्रथस्व च) चारों ओर स्वयं विस्तृत राज्यसम्पन्न हो ॥ शत० ६ । ४ । १ । ८ ॥

इस मन्त्र में राजा और उसके पोषक दोनों का वर्णन है । जो अगले मन्त्र में स्पष्ट है ।

शर्म॑ च॒ स्थो वर्म॑ च॒ स्थोऽछि॑द्रे बहु॒ले उ॒भे ।
व्यच॑स्वती॒ संव॑साथां भृ॒तम॒ग्निं पु॑री॒ष्यम् ॥ ३० ॥

कृष्णाजिनपुष्करपर्णे, दम्पती वा देवते । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०— हे स्त्री पुरुषो ! हे राजा और प्रजा, तुम दोनो ! (शर्म च स्थः) एक दूसरे के सुखकारी गृह के समान आश्रयप्रद हो । (वर्म च स्थः) कवच के समान एक दूसरे को सब ओर से रक्षा करनेवाले हो । (उभे) तुम दोनों (अछिद्रे) छिद्र रहित और (बहुले) बहुत से पदार्थ एवं सुखों को प्राप्त करानेवाले, (व्यचस्वती) एक दूसरे के लिये विशाल अवकाश वाले होकर (संवसाथाम्) एक दूसरे को अच्छी प्रकार वस्त्र के समान

आच्छादित किये रहो, धारण किये रहो। और जिस प्रकार स्त्री पुरुष मिलकर वीर्य धारण करते और गर्भस्थ बालक की रक्षा और धारण पोषण करते हैं उसी प्रकार तुम दोनों राजवर्ग और प्रजावर्गो ! (पुरीष्यम् अग्निम्) पालन कार्यों में उत्तम अग्नि के समान तेजस्वी, ऐश्वर्यवान् पुरुष को (भृतम्) धारण करो, सुरक्षित और सुपुष्ट बनाये रक्खो ॥ शत० ६ । ४ । १ । १० ॥

संवसाथाꣳ स्वर्विदा समीची उरसा त्मना ।
अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमित् ॥ ३१ ॥

पुष्करपर्णकृष्णाजिने जायापती वा देवते । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(स्वर्विदा) सुख को प्राप्त करनेवाले (उरसा) उर स्थल से उर.स्थल को और (त्मना) पूर्ण देह से (समीची) पूर्ण देह को आलिंगन करते हुए एक दूसरे से (ज्योतिष्मन्तम्) तेजोयुक्त, शुद्ध, (अजस्रम्) अविनाशी, (अग्निम्) तेज या वीर्य को (अन्त. भरिष्यन्ती) गर्भ के भीतर धारण करते हुए स्त्री पुरुष जिस प्रकार (सं वसाथाम्) एकत्र संगत होते हैं, गृहस्थ बनकर सन्तानोत्पत्ति करते हैं उसी प्रकार हे राज-प्रजाजनो ! आप दोनों (स्वर्विदा) एक दूसरे को सुख प्रदान करते हुए (उरसा) राजा अपने उरस्थल से अर्थात् क्षात्रबल से और प्रजाजन (त्मना) अपने वैश्य भाग से (ज्योतिष्मन्तम्) तेजस्वी (अजस्रम् इत्) और अविनाशी, अक्षय (अग्निम्) ऐश्वर्य को (भरिष्यन्ती) धारण करते हुए (समीची) एक दूसरे से सगत, परस्पर सुबद्ध रहकर (सं वसाथाम्) एकत्र होकर रहो, एक दूसरे की रक्षा करो ॥ शत० ६ । ४ । २ । ११ ॥

पुरीष्योऽसि विश्वभरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ।
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥३२॥

ऋ० ६ । १६ । १३ ॥

भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्वी पुरुष ! तू (पुरीष्यः, असि) पुरीष्य अर्थात् नाना ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। तू (विश्वभराः असि) सूर्य के समान समस्त विश्व का भरण पोषण करने में समर्थ है। (त्वा) तुझको (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ, सबसे प्रथम विद्वान् (अथवा) प्रजापालक, अहिंसक विद्वान् अग्नि को जिस प्रकार मथकर निकालता है उसी प्रकार परस्पर संघर्ष या प्रतिस्पर्द्धा द्वारा (निः, अमन्थत) मथन करके प्राप्त करता है। हे (अग्ने) तेजस्विन् राजन् ! (अथर्वा) अथर्वा व्यापकशील वायु=जिस प्रकार विद्युत् को (पुष्करात्) पुष्कर, अन्तरिक्ष से मथन करके प्रकट करता है और जिस प्रकार (अथर्वा) अथर्वा प्राण, हे अग्ने ! जाठर अग्ने ! तुझको (पुष्करात्) पुष्टिकर अन्न से प्राप्त करता है इसी प्रकार हे अग्ने ! राजन् ! (वाघतः) मेधावी, (अथर्वा) प्रजाओं में से वीर पुरुष को दृढ़कर प्राप्त करने मे कुशल वेदवित् विद्वान् (विश्वस्य) समस्त राष्ट्र के (मूर्धः) मूर्धास्थल, उच्चपद पर विराजमान (पुष्कराद्) पुष्टिकारी अंश से ही (त्वाम् नि अमन्थत्) तुझे अग्नि के समान संघर्ष या स्पर्धा द्वारा मथन करके ही प्राप्त करता है ॥ शत० ६ । ४ । २ । १ ॥

तमु॑ त्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र॑ऽइ॒धेऽअथ॑र्वणः ।
वृत्र॒हण॑ पुरन्द॒रम् ॥ ३३ ॥ ऋ० ६ । १६ । १४ ॥

भारद्वाज ऋषि । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (तम् त्वा उ) उस तुझको (अथर्वण) अहिंसक, रक्षक विद्वान् का (दध्यङ्) प्रजा के धारण करने वाले समस्त साधनों को प्राप्त करने में समर्थ, (पुत्रः) पुरुषों का त्राणकर्त्ता, (वृत्रहणम्) मेघों को सूर्य के समान शत्रु के हन्ता और (पुरन्दरम्) शत्रुओं के गढ़ तोड़ने में समर्थ तुझको (ईधे) तेजस्वी, मन्यु और पराक्रम से प्रज्वलित करे ॥ शत० ६ । ४ । २ । ३३ ॥

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् ।
धनञ्जयꣳ रणेरणे ॥ ३४ ॥ ऋ० ६ । १६ । १५ ॥

भरद्वाज ऋषि । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्ज स्वरः ॥

भा०—(पाथ्यः वृषा) पाथस्=अन्तरिक्ष में उत्पन्न, वर्षण समर्थ वायु जिस प्रकार विद्युत् रूप अग्नि को संघर्षण द्वारा मेघो के जलों में उत्पन्न करता है उसी प्रकार (पाथ्यः) राष्ट्रपालन के समस्त मार्गों का उत्तम ज्ञाता, (वृषा) सब पर उत्तम व्यवस्था-बन्धन करने वाला विद्वान् (दस्युहन्तमम्) प्रजा के नाशकारी, चोर डाकुओं के सब से प्रबल विनाशक, (रणेरणे धनञ्जयम्) प्रत्येक संग्राम में ऐश्वर्य धन के विजय करने हारे (तम् त्वा उ) उस तुझको ही (सम्-ईधे) युद्धादि में भली प्रकार प्रदीप्त करता है, पराक्रम से युद्ध करने के लिये उत्तेजित करता है ॥ शत० ६ । ४ । २ । ४ ॥

सीद होतः स्वऽउ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञꣳ सुकृतस्य योनौ ।
देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयोधाः ॥ ३५ ॥
ऋ० ३ । २९ । ८ ॥

देवश्रवा देववातश्च ऋषी । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (होतः) राज्यपद या उसके किसी विभाग के या दानाध्यक्षके पदाधिकार को स्वीकार करने वाले योग्य विद्वान् पुरुष! तू (स्वे उ) अपने ही या सुखमय या शान्तिप्रद (लोके) स्थान, प्राप्तपद या अधिकार में (सीद) प्रतिष्ठित हो। और (यज्ञम्) धर्मानुकूल परस्पर संगत, राजा प्रजा के व्यवहाररूप राज्य-कार्य को (सुकृतस्य) उत्तम पुण्याचारवान् धार्मिक (योनौ) आश्रय या आधार, मूल पर (सादय) स्थापित कर। हे (अग्ने) तेजस्विन् ! विद्वन् ! तू (देवावीः) विद्वानों और उत्तम गुणों की रक्षा करने हारा, या उन्हों द्वारा स्वयं सुरक्षित होकर (हविषा) अन्न आदि दातव्य वेतनादि पदार्थों द्वारा (देवान्) विद्वान् शासक

राजाओं को (यजासि) प्राप्त कर, राष्ट्र में नियुक्त कर। और (यजमाने) समस्त राज्य व्यवस्था को संचालन करने वाले सर्वोपरि राजा मे या करादि देने वाले प्रजाजन में (बृहत् वयः) बड़ा भारी दीर्घ जीवन और ऐश्वर्य भी (धाः) धारण करा ॥ शत० ६ । ४ । २, । ६ ॥

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ऽ असदत्सुदक्षः ।
अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽअग्निः ॥ ३६ ॥

ऋ० २ । ६ । ११ ॥

गृत्समद ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(विदान) विद्वान् पुरुष, (त्वेष.) सूर्य या अग्नि के समान कान्तिमान्, (दीदिवान्) तेजस्वी, (सुदक्ष) उत्तम कार्यकुशल, समर्थ, प्रज्ञावान् होकर (होता) आदान प्रतिदान करने मे चतुर अधिकारी (होतृसदने) 'होता' के पद पर (नि असदत्) विराजे। वह (वसिष्ठ.) सब से अधिक वसुमान्, ऐश्वर्यवान्, सब को बसाने वाला, सबका रक्षक, (सहस्रम्भरः) सहस्रों, अपरिमित प्रजाजनों को पालन पोषण करने में समर्थ, (शुचिजिह्व.) शुद्ध सत्य वाणी बोलने वाला (अदब्धव्रत-प्रमति) अखण्डित व्रतो, ब्रह्मचर्य धर्माचरण और नियम, व्यवहारों द्वारा उत्कृष्ट मतिमान् पुरुष भी (अग्निः) अग्नि के समान ही तेजस्वी और ज्ञानवान् 'अग्नि' कहाने योग्य होता है ॥ शत० ६ । ४ । २ । ७ ॥

स॒ꣳ सी॒दस्व म॒हाँ२ ऽअ॑सि॒ शोच॑स्व देववी॒तमः ।
वि धू॒ममग्ने॒ अरु॑षं मि॒येध्य सृ॒ज प्र॑शस्त दर्श॒तम् ॥ ३७ ॥

ऋ० १ । ३६ । ६ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! योग्य अधिकारिन् ! राजन् ! तू अपने पद, आसन पर (सं सीदस्व) अच्छी प्रकार विराजमान हो। तू

(महान् असि) महान् है । तू (देववीतम०) देवों, विद्वानों, अधीन राजाओं और शुभ गुणों से, प्रकाश युक्त किरणों से सूर्य और अग्नि के समान (शोचस्व) कान्ति युक्त हो । और हे (अमियेध्य) दुष्टों के दलन करने हारे ! और हे (प्रशस्त) सब से श्लाघ्यतम ! राजन् ! विद्वन् ! अग्ने ! (विधूमम्) धूम से रहित (अरुषम्) उज्ज्वल, (दर्शतम्) दर्शनीय तेजोमय अग्नि के समान तू भी (विधूमम्) मद न दिखाने वाले, सौम्य (अरुषम्) रोषरहित, प्रेमयुक्त (दर्शतम्) दर्शनीय, सुन्दर, सौम्य स्वरूप को (सृज) प्रकट कर ॥ शत० ६ । ४ । २ । ६ ॥

अपो देवीरुप सृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ।
तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ॥ ३८ ॥

सिन्धुद्वीप ऋषि । आपो देवता । न्यङ्कुसारिणी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे विद्वन् पुरुष ! हे राजन् ! हे सद्वैद्य ! तू (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के (अयक्ष्माय) रोगों को नाश करने के लिये (मधुमती०) मधुर गुण युक्त (देवी०) दिव्य गुणसम्पन्न (अप०) जलों को (सृज) उत्पन्न कर । (तासाम्) उन जलों के (आस्थानात्) आश्रय स्थान से या देश में सर्वत्र बने रहने से ही (सुपिप्पला) उत्तम फल वाली (ओषध्य०) ओषधियां, (उत् जिहताम्) उत्पन्न हों, उगें । शत० १ । ४ । ३ । २ ॥

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् ।
यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव वषडस्तु तुभ्यम् ॥ ३९ ॥

पृथिवीवायुश्च देवते । विराट् त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—जिस प्रकार (उत्तानाया०) ऊपर को विस्तृत रूप से फैली पृथिवी के (यद् हृदयम्) जो हृदय के समान भीतरी भाग, गढ़ा आदि (विकस्तम्) खुल जाता है उसको (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करने-वाला (वायु०) वायु भर देता है उसी प्रकार हे स्त्री ! (मातरिश्वा) अन्त करण में प्रियतमरूप से व्यापक, हृदयगत (वायुः) विवाहित

पति, प्रजापति, स्वामी श्री (ते) तेरा (यत्) जब (हृदयं) हृदय (विकस्तम्) खूब खिले, प्रसन्न हो (उत्तानायाः) तब उत्सुक एवं उतान हुई तेरे साथ (दधातु) संग कर गर्भ धारण करावे। स्त्री कहे–हे (देव) स्वामिन् देव ! जो तू (देवानां) विद्वान् उत्तम पुरुषों के बीच में मेरे (प्राणयेन) प्राण के समान प्रिय होकर (चरसि) विचरते हो (तुभ्यम्) तुझ (कस्मै) क=प्रजापति स्वरूप, सुखप्रद पति के लिये (वषड् अस्तु) सदा मेरा सर्वार्पण या कल्याण हो ॥ त० ६ । ४ । ३ । ४ ॥

राजा के पक्ष में—हे पृथिवीवासिनि प्रजे ! (मातरिश्वा वायुः) आकाशचारी वायु के समान पृथिवी या मातृ अर्थात् राष्ट्र निर्माताओं की राजसभा में प्राणरूप से विराजमान वायु, प्रजापति, राजा (यत्) जब (उत्तानाया) उत्सुक हुई प्रजा का (हृदयं विकस्तं) हृदय उसके प्रति खिले, अति प्रसन्न होः तब २ वह (ते संधातु) तेरे साथ भली प्रकार मिले, संधि से रहे। या उसे खूब भरण पोषण करे। (यः) जो राजा (देवानां) राजाओं और अधीन शासकों, विद्वानों के बीच प्रजा के (प्राणथेन) प्राणरूप से (चरति) विचरे, हे (देव) देव, राजन् ! (कस्मै) प्रजा के सुखप्रद प्रजापति स्वरूप (तुभ्यम् वषट् अस्तु) तेरा यश, बल और क्षेम हो।

'वायुः'—वायुर्वा उशन् ! तां० ७ । ५ । १६ ॥ वायुर्वै देव. । जै० उ० ३ । ४ । ८ ॥ एतद् वै प्रजापते. प्रत्यक्षं रूपम् । कौ० १६ । २ ॥ अयं वै पूषा । श० १४ । २ । १ । ६ ॥ एष स्वर्गस्य लोकस्य अभिवोढा । ऐ० ४ । २० ॥ वायुरेव सविता (उत्पादकः) । श० १४ । २ । २ । ६ ॥

'वषड्'—वाग्वै वषट्कारः । वाग् रेतः । रेत एव एतत् सिञ्चति षड् इति । तद्दतुष्वे वैतद्देत सिञ्चति । तद्दतव. रेतः सिक्षामिमा प्रजाः प्रजनयति तस्मादेव वषट् करोति । एते वै वषट्कारस्य प्रियतमे तनू यदोजश्च सहश्च । ऐ० ३ । ८ ॥

सुजा॑तो ज्योति॑षा स॒ह शर्म॒ वरू॑थ॒मास॑दत् स्व॒: ।
वासो॑ऽअग्ने वि॒श्वरू॑प॒ꣳ सं व्य॑यस्व विभावसो ॥ ४० ॥

अग्निर्देवता । भुरिग् अनुष्टुप् । गाधार. ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजोमय राजन् ! ते (ज्योतिषा सह) ज्योति, प्रकाश और तेज के साथ (सुजात) उत्तम रूप से प्रकट होकर (वरूथम्) श्रेष्ठ, उत्तम (स्व) सुखकारी (शर्म) गृह को (आसदत्) प्राप्त हो । हे (विभावसो) विशेष कान्ति से युक्त ऐश्वर्यवान् स्वामिन् ! तू (विश्वरूप) उत्तम गृहपति के समान विविध प्रकार के चित्र विचित्र स्वरूप के (वास) वस्त्र को (सं व्ययस्व) सुजज्जित दुलहे के समान धारण कर । शतपथ में यह प्रजोत्पत्ति सम्बन्धी प्रकरण अद्भुत रहस्य के साथ वर्णित है जो प्रजनन-संहित के व्याख्यान में संगत होता है । हमारा अभिमत राजोत्पत्ति प्रकरण है इसलिये यहां उसी परक संगति दर्शाई है ॥ शत० ६ । ४ । ३८ ॥

उदु॑ तिष्ठ स्वध्व॒रावा॑ नो दे॒व्या धि॒या ।
दृ॒शे च॒ भा॒सा बृ॑ह॒ता सु॑शु॒क्रनि॒रग्ने॑ याहि सु॒शस्ति॑भिः ॥ ४१ ॥

विश्वमना ऋषि । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! तू (सु-अध्वरावा) उत्तम अहिंसक, यज्ञमय रक्षा के कार्य व्यवहारों वाला होकर (नः) हमारे बीच में से (देव्या) देवी, अपनी धर्मपत्नी रानी सहित और (धिया) धारण पोषण समर्थ शक्ति एवं ध्यान करने में समर्थ बुद्धि के साथ (उत् तिष्ठ उ) उठ खड़ा हो, उन्नत पद पर स्थित हो । और (बृहता भासा) बड़े भारी प्रकाश, तेजसे सूर्य के समान (सुशुक्रनिः) उत्तम पवित्र, कान्ति से युक्त या पवित्र आचारों से युक्त होकर (सु-शस्तिभि) उत्तम कीर्त्तियों सहित, उत्तम शासन विधियों सहित और उत्तम शिक्षाओं और उत्तम गुणों

सहित, उत्तम सधे घोड़ों से रथी के समान (आयाहि) हमें प्राप्त हो ॥ शत० ६ । ४ । ३ । ६ ॥

ऊर्ध्वऽऊ षु णं ऊतये तिष्ठा देवो न सविता । ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥ ४२ ॥ ऋ० १। ३६ । १३ ॥

कण्व ऋषि । अग्निर्देवता । उपरिष्टाद बृहती । मध्यम स्वर ॥

भा०—हे राजन् ! विद्वन् ! (देव सविता न) प्रकाशमान सूर्य के समान आप भी (देवः) विद्या और बलसे तेजस्वी, विजयशील होकर (ऊतये) राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा करने के लिये (न) हमारे (ऊर्ध्वः ऊँ) ऊपर उच्च पदस्थ होकर ही (तिष्ठ) विराजमान् हो । तू (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व, सबसे ऊपर सूर्य के समान रहकर अपने (अञ्जिभि) प्रकाशमय (वाघद्भि.) सूर्य की किरणो के समान ज्ञानो के प्रकाशक विद्वानों द्वारा अथवा अति गतिशील योद्धाओ द्वारा (वाजस्य सनिता) अन्न, बल और युद्ध विजय का देनेहारा हो । तुझको हम (वि ह्वयामहे) विविध प्रकारो से स्तुति करें ॥ शत० ६ । ४ । ३ । १० ॥

स जातो गर्भोऽअसि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु । चित्रः शिशुः परि तमाꣳस्यक्तून् प्र मातृभ्योऽअधि कनिक्रदद्गाः ॥ ४३ ॥

ऋ० १० । १ । २ ॥

त्रित ऋषि । अश्वोऽग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! हे विद्वन् ! (स.) वह आप (जातः) नव उत्पन्न (गर्भः) गर्भ के समान है । (रोदस्योः) आकाश पृथिवी के बीच में सूर्य के समान (चारु.) अति सुन्दर और (ओषधीषु) माता पिताओं के द्वारा धारण किया गया गर्भ जिस प्रकार ओषधियों के द्वारा (विभृत) विशेषरूप से परिपुष्ट होता है उसी प्रकार हे राजन् ! हे विद्वन् ! (ओषधीषु) दुष्टो के सन्तापजनक वीर पुरुषों के बीच में विशेषरूप से स्थित, एव (ओषधीषु विभृतः) तापधारक रश्मियों के

भीतर विशेषरूप से विद्यमान, तेजस्वी सूर्य के समान है । आप (चित्र) नानावर्ण की रश्मियों से विचित्र, एवं (शिशुः) बालक के समान अद्भुत और अद्भुत पराक्रमी, (शिशु) प्रशंसनीय हैं । और सूर्य जिस प्रकार (अक्तून् ,) रात्रिरूप (तमांसि) अन्धकारों को (मातृभ्यः) परिमाण करनेवाली दिशाओं से (परि) दूर करता हुआ (अधि कनिक्रदत् प्रगा.) पृथिवी के भागों पर फैलता हुआ आता है । और बालक जिस प्रकार (मातृभ्य.) अपने मान करने योग्य माताओं से (तमांसि अक्तून्) शोकादि अन्धकारों को दूर करता हुआ (अधि कनिक्रदत् प्र गा.) हर्षध्वनि करता हुआ जाता है उसी प्रकार तू सुप्रसन्न होकर (रोदस्योः गर्भजातः) रोधकारी, मर्यादाशील राजप्रजा वर्गों के बीच वश करने में समर्थ होकर (ओषधीषु चारुः विभृतः) शत्रुतपदायक वीर पुरुषों के बीच सचरण करनेवाला एवं सुरक्षित (चित्र.) पूजनीय, चेतनावान् ज्ञानवान्, (शिशु) अतिप्रशस्त । तमांसि अक्तून् परि) घोर अन्धकार अज्ञानों को दूर करता हुआ (मातृभ्य) राष्ट्र के बनानेवाले, बड़े अनुभवी पुरुषों से अथवा (मातृभ्य =प्रमातृभ्यः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् गुरुओं से (अधिकनिक्रदत्) विद्याओं का अध्ययन करके (प्रगा) आवें ॥ शत० ६ । ४ । ४ । २ ॥

इसमें वाचकलुप्तोपमा द्वारा राजा विद्वान् को गर्भजात बालक और सूर्य की उपमा देकर श्लिष्ट वर्णन किया है ।

स्थिरो भव वीड्वङ्ग ऽआशुर्भव वाज्यर्वन् ।
पृथुर्भव सुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

रामभो अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अर्वन्) विज्ञानयुक्त ! अति शीघ्रगामिन् ! विद्वन् वीर ! ब्रह्मचारिन् ! तू (स्थिरः) स्थिर (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगोंवाला (आशुः) अश्व के समान वेगवान् और (वाजी) ज्ञानवान्, बलवान्, ऐश्वर्यवान्

(भव) हो। (त्वम्) तू (पृथु) विशाल शरीरवाला (सुषदः) सुख से आश्रय करने योग्य या गुणों का उत्तम आश्रय और (अग्नेः) अग्रणी राजा के लिये (पुरीषवाहनः) उसके ऐश्वर्य को वहन करनेवाला (भव) हो। अश्व के पक्ष में स्पष्ट है ॥ शत० ६ । ४ । ४ । ३ ॥

शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा द्यावापृथिवी ऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा वनस्पतीन् ॥ ४५ ॥

अग्निर्देवता । विराट् पथ्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अङ्गिर) हे सूर्य के समान तेजस्विन्! हे प्राण के समान प्रिय विद्वन्! (त्वम्) तू (मानुषीभ्यः प्रजाभ्यः) मानव प्रजाओं के लिये (शिव भव) कल्याणकारी हो। तू (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी, इन दोनों के बीच के प्राणियों को (मा अभिशोचीः) संतप्त मत कर। (अन्तरिक्षम् मा) अन्तरिक्षस्थ प्राणियों को भी मत सता। (वनस्पतीन् मा) वनस्पतियों को भी कष्ट मत दे, व्यर्थ नाश मतकर ॥ शत० ६ । ४ । ४ । ४ ॥

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्नि पुरीष्यं मा पाद्यायुषः पुरा । वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भꣳ समुद्रियम् । अग्न ऽआयाहि वीतये ॥ ४६ ॥

वाजी रासभश्चाग्निवी देवता । ब्राह्मी बृहती । मध्यम ॥

भा०—(वाजी) ज्ञानवान् पुरुष, (कनिक्रदद्) उपदेश करता हुआ आवे। अथवा—(वाजी) बलवान् पुरुष (कनिक्रदद्) मेघ के समान गर्जन करता हुआ या विद्युत् के समान कड़कता हुआ (प्र एतु) शत्रु पर आगे बढ़े। (रासभः) बल से शोभायमान या ज्ञान से तेजस्वी पुरुष (पत्वा) शीघ्रगामी अश्व के समान, एवं विद्याओं में गतिशील होकर

४५—०'रासभस्पत्वा'० इति काण्व० ।

(नानदत्) सिंह के समान गर्जता हुआ (प्र एतु) आगे बढ़े। (पुरीष्यम्) प्रजाओं के पालन करनेवाले, समृद्धिशाली (अग्निम्) तेजस्वी राजा को (भरन्) पुष्ट करता हुआ (आयुष. पुरा मा पादि) आयु के पूर्व न मरे। अथवा विद्वान् पुरुष (पुरीष्यम् अग्निम्) पालन या रक्षा कार्यों में समर्थ विद्युत् अग्नि को (भरन् आयुष. पुरा मा पादि) धारण करता हुआ अपनी आयु के पूर्व विनष्ट न हो। (वृषा) बलवान् वायु जिस प्रकार (समुद्रियम्) समुद्र या अन्तरिक्ष से उत्पन्न होनेवाले (अपा गर्भम्) जलों के भीतर छुपे (वृषणम्) वर्षणशील विद्युत् को (भरन्) धारण करता है उसी प्रकार (वृषा) बलवान् पुरुष (समुद्रियम्) सेना के महा समुद्र के बीच में तेजस्वी (अपां गर्भम्) आप्त प्रजाओं को वश करने में समर्थ, उनके मध्य में विराजमान, (वृषणं) सुखों के वर्षक, एवं स्वतः बलवान् राजा या सेनापति को (भरन्) धारण करे। हे (अग्ने) अग्रणी, ज्ञानवान् तेजस्विन् ! राजन् ! आप (वीतये) कान्ति या प्रकाश के लिये या विविध ऐश्वर्यों के भोग करने के लिये (आयाहि) हमें प्राप्त हों ॥ शत० ६। ४। ४। ७ ॥

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भराम: । ओषधय: प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्मा' । व्यस्यन् विश्वा ऽअनिराऽअमीवा निपीदन्नोऽअप दुर्मतिं जहि ॥ ४७ ॥

अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(अङ्गिरस्वत्) वायु जिस प्रकार (पुरीष्यम् अग्निम्) रक्षाकारी साधनों में सब से उत्तम विद्युत् को धारण करता है। और जिस प्रकार (अङ्गिरस्वत्) तेजस्वी विद्वान् (पुरीष्यम्) पालन करने में समर्थ (अग्निम्) अग्नि के समान परंतप राजा को पुष्ट करता है उसी प्रकार हम लोग (सत्यम्) सत्य, यथार्थ ज्ञान को या (सत्यम्) सत् पुरुषों में विद्यमान. (ऋतम्) यथार्थ ज्ञान और भाषण और कर्म को या वेदज्ञान

को (भगम) धारण करें । (ओषधय·) जिस प्रकार विजली के कड़कने पर जौ आदि ओषधियां अति प्रसन्न होकर लहलहाती हैं उसी प्रकार हे (ओषधय) वीर्यों को धारण करने वाले वीर पुरुषो ! आप लोग (शिवम्) कल्याणकारी (युष्मा अभि) आप लोगों के प्रति (अत्र आयान्तम्) इधर इस राष्ट्र मे प्राप्त होते हुए (एतम् अग्निम्) इस तेजस्वी शत्रुसंतापक राजा को प्राप्त कर (प्रतिमोदध्वम्) सत्कारों द्वारा हर्ष प्रकट करो । हे राजन् ! हे विद्वन् ! तू (विश्वाः) समस्त प्रकार के (आनिरा·) अन्नादि समृद्धियों को न देने वाली अथवा (आनिराः) अन्नादि के नाशक दैवी विपत्तियों को (व्यस्यन्) दूर करता हुआ (अमीवा) स्वयं रोग रहित होकर (निषीदन्) विराजमान होकर (न·) हमारे (दुर्मतिम्) दुष्टमति या दुष्ट मार्ग में जाने वाली दुःखदायी मति को या (न. दुर्मतिम्) हममे से दुष्ट बुद्धि वाले पुरुष को (अपजहि) विनाश कर । शत० ६ । ४ । ४ । १०—१६ ॥

कालिदास ने जिस प्रकार वसिष्ठ का वर्णन रघुवंश में लिखा है —

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतय. ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद् ब्रह्मवर्चसम् ॥ १ । ६३ ॥
उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे ।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्त्ता त्वमापदाम् ॥ १ । ६० ॥
हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ १ । ६२ ॥

ओषधयः प्रति गृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः ।
अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमासदत् ॥ ४८ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप । गाधारः ॥

भा०—(ओषधयः) ओषधियां जिस प्रकार (पुष्पवतीः) फूल वाली और (सुपिप्पला.) उत्तम फलवाली होकर गर्भ ग्रहण करती हैं

उसी प्रकार हे (ओषधय) वीर्य को धारण करने में समर्थ स्त्रियो! आप सभी (पुष्पवतीः) रजस्वला एवं (सुपिप्पला) उत्तम, सफल होकर (प्रतिगृभ्णीत) प्रत्येक पृथक् २ गर्भ ग्रहण करो। (व) तुम्हारा (अयं) यह (गर्भः) ग्रहण किया हुआ गर्भ (ऋत्विय.) ऋतुकाल में प्राप्त होकर (प्रत्नम्) अपने प्रथम प्राप्त (सधस्थम्) स्थान पर ही (आसदत्) स्थिर रहे।

राजा के पक्ष में—हे (ओषधयः) वीर प्रजाजनो ! आप लोग (पुष्पवती.) पुष्टिप्रद अन्न आदि से समृद्ध और (सुपिप्पला) उत्तम रक्षा साधनों से युक्त होकर (प्रतिगृभ्णीत) प्रत्येक सुरक्षित रहो। (अय वः) यह राजा तुम्हें (गर्भ.) ग्रहण या वश करने में समर्थ है। वह (प्रत्नं) पूर्व प्राप्त (सधस्थम्) उच्च आश्रय को (आसदत्) प्राप्त किये रहे, अपने पूर्व पद से न गिरे ॥ शत० ६ । ४ । ४ । १७ ॥

वि पाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसोऽअमीवाः।
सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्याम्ग्नेरहꣳ सुहवस्य प्रणीतौ ॥ ४६ ॥

ऋ० ३ । १५ । १ ॥

उत्कील ऋषि. । अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे राजन् ! पृथिवीपते ! पालक ! तू (पृथुना) बड़े (विस्तृत पाजसा) वीर्य, बल से (शोशुचान·) तेजस्वी होता हुआ (अमीवा.) राष्ट्र के रोग स्वरूप (रक्षसः) विघ्नकारी दुष्ट (द्विष.) शत्रुओं को (वि बाधस्व) नाना प्रकार से पीड़ित कर। (बृहत) बड़े भारी (सुशर्मण.) उत्तम सुखकारी शरणवाले (अग्ने·) अग्नि के समान तेजस्वी राजा के (शर्मणि) गृह में पति के गृह में पत्नी के समान (अहम्) मैं प्रजा (सुहवस्य) उत्तम रूप से ग्रहण करनेवाले एव उत्तम ऐश्वर्य, वीर्य के देनेवाले पालक स्वामी के (प्रणीतौ) उत्कृष्ट नीति में (स्याम्) रहूं ॥ शत० ६ । ४ । ४ । २० ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे
॥ ५० ॥ ऋ० १० । ९ । १ ॥

सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (आपः) आप्तजनों ! आप लोग जलधारा के समान शीतल एवं ज्ञानरस से युक्त (हि) ही सदा (स्थ) रहो । (ताः) वे आप लोग (भयोभुव) सुख को उत्पन्न करनेहारी होकर (ऊर्जे) बल, पराक्रम और (महे) बड़े भारी (चक्षसे) दर्शनीय (रणाय) संग्राम के समान साहस योग्य कार्य करने के लिये (नः) हमें (दधातन) पुष्ट करो ॥ शत० ६ । ५ । १ । २ ॥

विद्वानों के पक्ष में—(आपः) आप्त पुरुष (ऊर्जे) बलस्वरूप (महे) बड़े पूजनीय, (चक्षसे रणाय) दर्शनीय, परम रमणीय उपास्यदेव ब्रह्म की प्राप्ति के लिये हमें (दधातन) धारण करें । अपने शिष्यरूप से स्वीकार करें ।

स्त्रियों के पक्ष में—(आपः) जल के समान शीतल, सरलस्वभाववाली स्त्रिये देहमें (महे रणाय चक्षसे) बड़े भारी दर्शनीय, उत्तम कारण अर्थात् रमणीय कार्य गृहस्थ आदि के लिये (दधातन) पति आदि रूप से स्वीकार करें ।

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः । उशतीरिव मातरः
॥ ५१ ॥ ऋ० १० । ९ । २ ॥

सिन्धुद्वीप ऋषि । आपो देतवाः । गायत्री । षड्ज· ॥

भा०—(उशती मातरः इव) पुत्रों के प्रति कामना युक्त, स्नेह युक्त माताएं जिस प्रकार अपने उत्तम कल्याणकारी दुग्धरस से उनको पुष्ट करती हैं उसी प्रकार, हे (आप.) जलो ! और जलों के समान ज्ञानरस से पूर्ण आप्त पुरुषो ! एवं स्त्रीजनो ! आपका जो (शिवतमः)

सबसे अधिक कल्याणकारी (रसः) रस, बल, प्रेम है । (तस्य) उसको (इह) इसलोक मे (नः) हमें (भाजयत) प्राप्त कराओ ॥ शत० ६ । ५ । १ । २ ॥

तस्मा ऽअरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ५२ ॥ ऋ० १० । ९ । ३ ॥

ऋषिदेवताच्छन्द.स्वरा पूर्वोक्ता ॥

भा०—हे (आपः) आप्त पुरुषो ! आप लोग (यस्य) जिस ज्ञान-रस से (क्षयाय) सुखपूर्वक इस संसार में निवास करने के लिये (जिन्वथ) समस्त प्राणियों को तृप्त करते हो, अपना ज्ञानरस प्रदान करते हो, हम (तस्मै) उस रसको (अरम्) पर्याप्त रूप से (गमाम) प्राप्त हों । और हे (आपः) आप्त पुरुषो ! आप लोग (न च) हमें भी (जनयथ) योग्य बनाओ ॥ शत० ६ । ५ । १ । २ ॥

स्त्रियों के पक्ष मे—हे (आपः) जलके समान शीतल स्वभाववाली स्त्रियो ! (यस्य) जिस आनन्द-रस के प्रेम और बल से (क्षयाय) गृहस्थ कार्य सम्पादन के लिये तुम (जिन्वथ) सबको प्रसन्न एवं तृप्त करती हो । हम (तस्मै) उसी प्रेम सुख को (अरम् गमाम) भली प्रकार प्राप्त करें और तुम ही (न. च जनयथ) हमारे लिये सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ हो ।

मित्रः सꣳसृज्यं पृथिवीं भूमिं च ज्योतिषा सह ।
सुजातं जातवेदसमयक्ष्मायं त्वा सꣳसृजामि प्रजाभ्यः ॥ ५३ ॥

मित्रो देवता । उपरिष्टाद् बृहती । मध्यम ॥

भा०—(मित्रः) सूर्य के समान स्नेही परमेश्वर (पृथिवीम्) विस्तृत अन्तरिक्ष और (भूमिम् च) भूमि को (ज्योतिषा) अपने प्रकाश से (संसृज्य) संयुक्त करके जिस प्रकार (सु जातम्) उत्तम गुणों से युक्त, (जातवेदम्) अग्नि को भी (प्रजाभ्य.) प्रजाओं के (अय-

दमाय) रोगों के नाश के लिये (ज्योतिषा सह संसृजति) तेज के सहित उत्पन्न करता है उसी प्रकार (मित्रः) सबका स्नेही राजा (पृथिवीम्) विशाल राजशक्ति और (भूमिम् च) जनपद, भूमि को (ज्योतिषा सह संसृज्य) तेजोमय ऐश्वर्य से युक्त करके (प्रजाभ्य अयदमाय) प्रजाओं के रोग सन्ताप के नाश करने के लिये (त्वा) तुझे (सुजातम्) उत्तम गुणों और विद्याओं में सुविख्यात (जातवेदसम्) विज्ञानवान् विद्वान् पुरुष को (सं सृजामि) भली प्रकार नियुक्त करता हू ॥ शत० ६ । ५ । १ । ५ ॥

रुद्राः सꣳ सृज्यं पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधिरे ।
तेषां भानुरजस्र ऽइच्छुक्रो देवेषु रोचते ॥ ५४ ॥

रुद्राः देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(रुद्राः) प्राणरूप से सूक्ष्म प्राकृतिक जीवनप्रद परमाणु रूप वायुए या रश्मियां जिस प्रकार (बृहत् ज्योतिः) महान् दीप्ति स्वरूप सूर्य को (संसृज्य) परस्पर मिलकर उत्पन्न करके (पृथिवीम्) पृथिवी को भी (सम् ईधिरे) खूब प्रज्वलित और प्रकाशित करते हैं (तेषाम्) उनमें से (भानुः इत्) यह ज्योतिष्मान् अग्नि तत्त्व है जो (अजस्रः) कभी क्षीण न होकर, (शुक्रः) सदा कान्तिमान् होकर, समस्त (देवेषु) देव, दिव्य पदार्थों में (रोचते) प्रकाशित होता है । उसी प्रकार (रुद्राः) दुष्टों को रुलानेवाले वीर पुरुष (संसृज्य) परस्पर एक व्यवस्थित राष्ट्र बनाकर (पृथिवीम्) पृथिवी पर (बहत्-ज्योतिः) सूर्य के समान बड़े भारी तेजस्वी सम्राट् को (सम् ईधिरे) मिलकर प्रज्वलित करते, उसको बहुत तेजस्वी बना देते हैं । (तेषाम्) उनमे से (अजस्रः) शत्रुओं से कभी विनष्ट न होनेवाला (भानु.) सूर्य के समान तेजस्वी (शुक्रः) शुद्ध, कान्तिमान् वह राजा (इत्) ही (देवेषु)

विद्वानों और राजाओं में (रोचते) बहुत प्रकाशित होता है ॥ शत० ६ । ५ । १ । ७ ॥

सꣳसृ॑ष्टां॒ वसु॑भी रु॒द्रैर्धी॒रैः कर्म॑ण्यां मृ॒दम् ।
हस्ता॑भ्यां मृ॒द्वी कृ॒त्वा सि॑नीवा॒ली कृ॑णोतु॒ ताम् ॥ ५५ ॥

सिनीवाली देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—जिस प्रकार (हस्ताभ्याम्) हाथों से (मृदम्) मिट्टी को (मृद्वीं कृत्वा) कोमल करके, सान २ करके, जलों से मिलाकर शिल्पी या कुम्भार उसको (कर्मण्या करोति) घड़ा आदि नाना पदार्थ बनाने के काम का बना लेता है, उसी प्रकार (सिनीवाली) परस्पर बाधने में समर्थ शक्तियों को अपने गूढ़रूप से धारण करनेवाली महती ब्रह्मशक्ति (धीरै.) क्रियाशील, धारणपोषणसमर्थ, (वसुभिः) जीवों को वास करानेवाले आठ विकारों और (रुद्रैः) रोदनकारी, प्राणों से (संसृष्टाम्) भली प्रकार रची गयी, संयुक्त हुई (मृदम्) सब प्रकार से मर्दन करने योग्य नाना विकारवती प्रकृति को (हस्ताभ्यां) संयोग, विभागरूप हाथो से (मृद्वीं कृत्वा) मृदु, विकृत होने योग्य करके (कर्मण्या) सृष्टि के नाना पदार्थों के रचने योग्य (कृणोतु) करती है । इसी प्रकार कन्याओ के पक्ष में—(सिनीवाली) प्रेमबद्ध कन्याओं की रक्षिका हाथों से कोमल करके मिट्टी को जिस प्रकार जलों से मिलाकर योग्य बना लेते है उसी प्रकार (वसुभि.) २४ वर्ष के, (रुद्रैः) ३६ वर्ष के, (धीरैः) बुद्धिमान् धारणावान् विद्वान् पुरुषों से (ससृष्टा) ससर्ग को प्राप्त, योग्य कन्याओं को (कर्मण्या कृणोतु) गृहस्थ के प्रजोत्पादन आदि कार्यों के योग्य (कृणोतु) बनावे ॥ शत० ६ । ५ । १ । ९ ॥

राजपक्ष में—(सिनीवाली) राष्ट्र को नियम में बाधनेवाली राजसभा (वसुभि.) विद्वान्, (रुद्रै.) वीर्यवान्, धीर पुरुषों से (संसृष्टा) बनी हुई (मृदम्) पृथिवीवासिनी प्रजा को (हस्ताभ्या) दमन करने के

वाह्य और आभ्यन्तर, प्रकट और अप्रकट साधनों से "(मृद्वीं) कोमल, विनीत बनाकर (कर्मण्यां करोतु) उत्तम कर्म करनेवाली बनावे। 'मृत्' यहा सामान्य प्रजा का वाचक उसी प्रकार है जैसे प्रजा का वाचक है।

सिनीवाली सुकपर्दा सुकुरीरा स्वौपशा।
सा तुभ्यमदिते मह्योखां दधातु हस्तयोः ॥ ५६ ॥

अदितिर्देवता। विराड अनुष्टुप्। गाधार स्वरः॥

भा०—हे (अदिते) अखण्डित प्रजातन्तुरूप आनन्दवाली गृहणी ! हे (महि) पूजनीय ! जो (सिनीवाली) प्रेमबन्धन से युक्त, (सुकपर्दा) उत्तम केशवाली, (सुकुरीरा) उत्तम आभूषणवाली, (स्वौपशा) उत्तम अंगोंवाली है (सा) वह (तुभ्यम्) तेरे लिये (हस्तयोः) हाथ में (ऊखाम् इव) वेग के समान (उखाम्) 'उखा' अर्थात् प्रजापति के सन्तान प्रसव के कर्म या गर्भ को (आ दधातु , धारण करे ॥ शत० ६ । ५ । १ । १० ॥

अर्थात् सासों के घर में सुन्दर सुभुषित, सुकुमारियां आवें और वे गर्भ धारण कर सन्तान उत्पन्न करें।

'उखा'—आत्मा वा उखा। श० ६। ५। ३। ४ ॥ उदरम् उखा। श० ७। ५। १। ३८ ॥ योनिर्वा उखा। श० ७। ५। २। २ ॥ इमे वै लोका उखा। श० ६। ५। २। १७ ॥ प्राजापत्यम् एतत् कर्म यदुखा। श० ६। ५। २। १७ ॥

ब्रह्मपक्ष में—हे अदिते-अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मशक्ते ! (तुभ्यम्) तेरे प्राप्त करने के लिये (सिनीवाली) सर्वनियमकारिणी (सुकपर्दा) सुखमयी, (सुकुरीरा) उत्तम कर्ममयी, (स्वौपशा) उत्तम योग निद्रा, समाधि में समाहित, (सा वह चित्त स्थिति (उखां आदधातु) अर्ध्व पद को प्राप्त करनेवाले आत्मा को सदा धारण करे।

राष्ट्र पक्ष में—हे (अदिते) अखण्ड शासन शक्ते ! सिनीवाली नामक सभा ! उत्तम कपर्द=अर्थात् राज्य प्रबन्धवाली वह राजनीति उत्तम कर्मवाली, उत्तम व्यवस्थावाली, तेरे समस्त पृथिवी, निवासी लोगों को हाथ में कलसी के समान धारण करे ।

उ॒खां कृ॑णोतु शक्त्या॑ बा॒हुभ्या॒मदि॑तिर्धि॒या । मा॒ता पु॒त्रं यथो॒पस्थे॒ साग्निं बिभर्त्तु॒ गर्भ॒ऽ आ । म॒खस्य॒ शिरो॑ऽसि ॥ ५७ ॥

अदितिर्देवता । भुरिग् बृहती । मध्यम. ॥

भा०—शिल्पी जिस प्रकार (बाहुभ्याम्) अपनी बाहुओं से (उखां कृणोति) मट्टी से हांडी बनाता है उसी प्रकार परमेश्वर (धिया) धारण आकर्षण करने वाली (शक्त्या) शक्ति से (उखां) इस पृथ्वी को (कृणोतु) बनाता है । और (यथा) जिस प्रकार (माता) माता (उपस्थे) अपनी गोद में (पुत्रं आ बिभर्त्ति) पुत्र का धारण और पालन करती है उसी प्रकार (सा) वह (उखा) पृथिवी (गर्भे) अपने भीतर (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी राजा को (आ बिभर्त्तु) धारण करे और उसी प्रकार (सा) वह पृथिवी के समान (उखा) उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ स्त्री भी (गर्भे) अपने गर्भ में (अग्निम्) तेजस्वी वीर्य को (आ बिभर्त्तु) प्रेम से धारण करे । हे राजन् ! हे गृहपते ! तू (मखस्य शिर असि) यज्ञ और ऐश्वर्यमय राष्ट्र का शिर मुख्य है। इसी प्रकार हे गर्भगत वीर्य ! तू (मखस्य) शरीर रचना रूप यज्ञ का (शिर. असि) आश्रय रूप मुख्य अंश या प्रारम्भरूप है ॥ शत० ६ । ५ । १ । ११ ॥

[1] वसंवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाꣳरायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्य्यꣳ सजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ

सुवीर्य्यꣳ सजातान्यजमानायादित्यास्त्वा[१] कृण्वन्तु जागतेन छन्दसाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि धौरसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान्यजमानाय विश्वे त्वा देवा वैश्वा नराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि धारया मयि प्रजाꣳ रायस्पोषं गौपत्यꣳ सुवीर्यꣳ सजातान् यजमानाय ॥ ५८ ॥

वसुरुद्रादित्यविश्वेदेवा देवताः । (१,२) उत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—गृहस्थ प्रकरण मे–हे स्त्रि ! तुझे (वसवः) राष्ट्र में वसने वाले विद्वान् पुरुष (गायत्रेण छन्दसा) गायत्र छन्द से (अंगिरस्वत्) शरीर मे विद्यमान प्राण के समान मेरे हृदय या गृह में प्राण के समान प्रिय (कृण्वन्तु) बनावें । तू (ध्रुवा असि) गृहस्थ व्रत में अचल हो, (पृथिवी असि) पृथिवी के समान सबका आश्रय (असि) हो । (मयि) मेरे लिये (प्रजाम्) सन्तान को अपने भीतर (धारय) धारण कर (रायस्पोषं) धनैश्वर्य की समृद्धि, (गौपत्यम्) गौ आदि पशुओं की सम्पत्ति और (सुवीर्यं) उत्तम वीर्य को (धारय) धारण कर और (सजातान्) समान बल वीर्य से उत्पन्न, अनुरूप पुत्रो और भाइयो को (यजमानाय) विद्या के प्रदान करने वाले आचार्य के अधीन कर । इसी प्रकार स्त्री भी वरण योग्य पति से कहे–हे प्रियतम ! (वसवः) वसु नाम विद्वान् गण (गायत्रेण च्छन्दसा) वेदोपदिष्ट, प्राणो इन्द्रियों और वीर्यों की रक्षा के सुदृढ़ उपाय से तुमको (आङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) अग्नि के समान तेजस्वी और अंग या शरीर में रस के समान प्रवाहित होने वाले प्राणके समान प्रिय बना देवें । हे प्रियतम ! आप (ध्रुवः पृथुः असि) पर्वत के समान अचल और पृथ्वी के समान विशाल सर्वाश्रय हो । आप (मयि) मुझ अपनी प्रियतमा स्त्री में (प्रजाम्) प्रजा (रायः पोषम्) धन समृद्धि (गापत्यम्) पशु

१—चतुर्थ्यर्थे सप्तमी ।

सम्पत्ति (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य (धारय) धारण कराओ और (सजातान्) हम दोनों के समान वीर्य से उत्पन्न पुत्रों को (यजमानाय) विद्या के प्रदाता आचार्य विद्वान् पुरुष के अधीन रख । इसी प्रकार (रुद्रा) रुद्र नामक विद्वान् नैष्टिक पुरुष (त्रैष्टुभेन छन्दसा) वेदोक्त त्रैष्टुभ छन्द से (अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) ज्ञान और वीर्य से तेजस्वी बनावें । (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी विद्वान् (जागतेन छन्दसा) जागत, अर्थात् लोकोपकारी वृत्ति की शिक्षा से तुझे (अङ्गिरस्वत्) ज्ञानवान्, तेजस्वी बनावें । और (वैश्वानराः) समस्त नेता पुरुषों के नेताओं में भी उच्चपदों पर विराजमान (विश्वे देवाः) समस्त दानशील एव दर्शनशील राजा और विद्वान् लोग (आनुष्टुभेन छन्दसा अङ्गिरस्वत् कृण्वन्तु) आनुष्टुभ छन्द से अर्थात् परस्पर एक दूसरे के अनुकूल व्यवस्था पूर्वक रहने की शिक्षा से सूत्रात्मक वायु के समान प्रिय बनावें (ध्रुवा असि० यजमानाय ३ इत्यादि) पूर्ववत् । शत० ६ । ५ । २ । ३—६ ॥

राज पक्ष में—हे पृथिवी ! हे राजन् ! तुझको (गायत्रेण छन्दसा) गायत्रछन्द, अर्थात् ब्राह्मण बल से (वसवः) वसु नामक विद्वान्गण (अगिरस्वत्) अग्नि सूर्य और वायु और आकाश के समान तेजस्वी बलवान् और व्यापक बनावें । (रुद्रा.) शत्रुओं को रुलाने में समर्थ वीर सैनिक (त्रैष्टुभेन छन्दसा) क्षात्रबल से तुझको तेजस्वी बनावें । (आदित्यै·) आदान कुशल वैश्यगण तुझको वैश्यबल से तेजस्वी ऐश्वर्यवान् बनावें । (वैश्वानराः) समस्त प्रजा के नेता लोग (आनुष्टुभेन छन्दसा) परस्परानुकूल व्यवहार से युक्त श्रमी वर्ग के बलसे तुझे बलवान् बनावे । हे पृथिवी ! तू पृथिवी है । तू (ध्रुवा असि) ध्रुव, स्थिर है । तू (मयि) मुझ राष्ट्रपति के लिये (प्रजां, रायःपोषम्, गौपत्यं, सुवीर्यं धारय) प्रजा, धनैश्वर्य, पशु समृद्धि, उत्तम वीर्य को धारण कर । (यजमानाय सजातान्)

मेरे समान बलशाली राजाओं को भी मुझ यज्ञशील राष्ट्रपति के अभ्युदय के लिये (धारय) धारण कर ।

अदित्यै रास्नासीदितिष्ट्वा बिलं गृह्णातु । कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये । पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः श्रपयानिति ॥ ५९ ॥

अदितौ रास्ना देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे विदुषि स्त्रि ! तू (अदित्यै) अदिति अर्थात् अखण्ड विद्या का (रास्ना) दान करनेवाली (असि) है । हे विद्ये ! (ते बिलम्) तेरे विज्ञानप्रकाश, या गूढ रहस्य को (अदितिः) अखण्ड व्रत का पालन करनेवाला कुमार और कुमारी (गृभ्णातु) ग्रहण करे । (अदितिः) पुत्रों की माता जिस प्रकार (मृन्मयीम् उखां कृत्वाय) मट्टी की हांडी को बना कर (पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्) पुत्रों को दे देती है और आज्ञा दे दिया करती है कि (श्रपयान् इति) उसको आग पर पकाओ । उसी प्रकार (सा) वह विदुषी माता (महीम्) पूजनीय (अग्नये) अग्निस्वरूप ज्ञानवान आचार्य्य के अधीन (योनिम्) अपने पुत्र पुत्रियों का आश्रय निवासस्थान में प्राप्त होनेवाली (उखाम्) उत्तम फलदात्री विद्या को (कृत्वाय) प्राप्त करके (अदितिः) स्वयं अखण्ड व्रत होकर विद्या का प्रदानकर्ता आचार्य (पुत्रेभ्यः प्रायच्छत्) पुत्रों को विद्या प्रदान करे । और कहे कि इस ब्रह्मविद्या रूप परम आनन्दरस की दात्री को (श्रपयान् इति, तप द्वारा परिपक्व करो ॥ शत० ६ । ५ । २ । १२ ॥

वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वत् । विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिन्द्रस्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥

वस्वाद्यो लिङ्गोक्ता देवता । स्वराट् सकृतिः । गान्धारः ॥

भा०--हे पृथिवि ! (गायत्रेण छन्दसा) पूर्वोक्त गायत्र छन्द, (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभ छन्द और (जागतेन छन्दसा) जागत छन्द और (आनुष्टुभेन छन्दसा) वेदोक्त अनुष्टुभ छन्द इन सबके अध्ययन, मननद्वारा एवं पूर्वोक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव श्रमी प्रजाओं के परस्पर प्रेम व्यवहार से (आङ्गिरस्वत्) अग्नि या ज्ञानवान् के समान विदुषी, तेजस्विनी, समृद्ध (त्वा) तुझको (वसव) वसु नामक विद्वान् प्रजागण, (रुद्रा) रुद्र नामक नैष्ठिक, राष्ट्र के प्राणस्वरूप शत्रुनाशक लोग (आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी और (विश्वेदेवा) समस्त देवगण जो (वैश्वा नरा) वैश्वानर अग्नि के समान सर्व प्रकार या समस्त प्रजा के नेता लोग हैं वे (धूपयन्तु) तुझे सुसंस्कृत करें तुझे शिक्षित करें। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वरुणः त्वा धूपयतु) सर्व श्रेष्ट, दुष्टो का वारक, शासक (त्वा धूपयतु) तुझे उत्तम संस्कृत करे। (विष्णु·) व्यापक शक्तिका स्वामी राजा (त्वा धूपयतु) तुझे शुद्ध एव संस्कृत, सुशिक्षित करे। ब्रह्मचारिणी पक्षमें—वसु आदि विद्वान् गायत्री आदि वेदोक्त मन्त्रों द्वारा कन्याओं और कुमारों को शिक्षित और संस्कार युक्त करे। (वरुण. विष्णु.) आचार्य, विद्या के लिये गुरुरूप से वरण करने योग्य और समस्त विद्याओं मे व्यापक विद्वान् आचार्य जन भी तुझे शिक्षित करे ॥ शत० ६ । ५ । ३ । १० ॥

'धूपयन्तु'—धूप भापार्थ । चुरादिः । 'सुगन्धान्नादिभिः, विद्यासु शिक्षाभ्यां, सत्यव्यवहारग्रहणेन, राजविद्यया राजनीत्या संस्कुर्वन्तु, इति दयानन्द· ।

[9] आदित्यै त्वा देवी विश्वदेव्यावती पृथिव्याः सधस्थेऽ आङ्गिरस्वत् खनत्ववट देवानां त्वा पत्नीर्देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽआङ्गिरस्वद्धत्तऽ ध्रिषणास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः

पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धताम् [२] उखे वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थेऽअङ्गिरस्वच्छपयन्तूखे ग्नास्त्वांत्वां देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे जनयस्त्वाछिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे ॥ ६१ ॥

अदित्यादयो लिङ्गोक्ता देवताः । (१) भुरिक्कृतिः । निषादः ।

(२) प्रकृतिः । धैवत ॥

भा०—विद्वान् पुरुष जिस प्रकार गढ़े को खोदता है उसी प्रकार हे (अवट) रक्षण करनेहारे पुरुष [1] (विश्वदेव्यवती) समस्त विद्वानों के योग्य ज्ञानों से पूर्ण (अदितिः) अखण्डित राजशक्ति (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के पीठ पर (अङ्गिरस्वत्) शरीर में प्राणशक्ति के समान (त्वा) तुझे (खनतु) खने, गुप्तरूप में छिपे, तुझे खोद के प्राप्त करे । और (देवानां पत्नी) देवों विद्वानों और राजा के पालन करनेवाली राज सभाएं, राजमहर्षिओं के समान (विश्वदेव्यवती) समस्त विद्वानों योग्य ज्ञान से युक्त होकर (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर, हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! (त्वा दधतु) तुझे वे धारण करें हे (उखे) उखे ! पृथिवी ! (विश्वदेव्य वती) विद्वानो के ज्ञान से पूर्ण (धिषणाः देवी) उत्तम वाणी से युक्त बुद्धियां या सभाएं (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (त्वा अभि इन्धताम्) तुझे प्रज्वलित करें । तुझे तेजस्वी और यशस्वी करें । हे (उखे , उखे ! पृथिवि ! प्रजे ! (विश्वदेव्यवतीः) समस्त ज्ञानों से युक्त (वरूत्री. देवीः) श्रेष्ट, राजशक्तियां (पृथिव्या सधस्थे) पथिवी के ऊपर (त्वा श्रपयन्तु) तुझे परिपक्व, तपस्वी और दृढ़ बलवान् बनावे । हे (उखे) पृथिवि ! प्रजे ! (विश्वदेव्यवतीः ग्नाः देवी) समस्त ज्ञानो और राजबलों से युक्त व्यापक वेदवाणियां और स्त्रियां

या व्यापक राजशक्तियां (पृथिव्याः सधस्थे) पृथिवी के ऊपर (अङ्गिरस्वत्) आग पर रक्खी हांडी के अंगारों के समान (त्वा पचन्तु) तुझे परिपक्व करें। और (अच्छिन्नपत्रा.) अच्छिन्न या अखण्डित रथों वाली (जनयः) प्रजाएं (विश्वदेव्यवतीः) समस्त विजयोपयोगी सामग्री से युक्त इस (पृथिव्या· सधस्थे) पृथिवी के ऊपर, हे (उखे) उखे ! पृथिवि ! हे प्रजे ! (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) हांडी को अंगारों के समान (पचन्तु) पक्व करें। कन्या आदि सन्तानों के पक्ष में— (अदितिः) विदुषी माता (अवट त्वा खनतु) बालक को ग्रास करें। (धिषणाः) विदुषी स्त्रियां, (वरूत्री) श्रेष्ठ रक्षाकर्त्री स्त्रियां, (ग्राः) वेदवाणियों के समान ज्ञानपूर्ण वा उत्तम आचारवाली स्त्रियां और (अच्छिन्नपत्रा. जनय) अखण्डिताचार वाली स्त्रिया, अंगारों पर जिस प्रकार हांडी पकाई जाती है उसी प्रकार प्रजा को भी (दधतु) धारण पोषण करें, (अभि इन्धता) विद्यादि गुणों से प्रज्वलित करें (अपयन्तु पचन्तु, पचन्तु) ब्रह्मचर्य व्रत पालनादि से मन वाणी और शरीर को परिपक्व करे ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १-८ ॥

मित्रस्य चर्षणीधृतोऽवो देवस्य सानसि ।
द्युम्नं चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६२ ॥ ऋ० ३ । ५९ । ६ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मित्रो देवता । निचृद् गायत्री । षड्ज. स्वर· ॥

भा०—(मित्रस्य) प्रजा को मरने से बचानेवाले (चर्षणी-धृतः) प्रजाओं को धारण पोषण करने में समर्थ (देवस्य) देव, राजा के (सानसि) सदा से चले आये, (चित्रश्रव-ःतमम्) विचित्र अन्न आदि भोग्य पदार्थों से समृद्ध (द्युम्नम्) ऐश्वर्य को हे प्रजे ! हे पृथिवि ! तू (अवः) प्राप्त हो। इसी प्रकार स्त्री के पक्ष मे—स्त्री अपने मित्र भूत प्रजा के पालक (देवस्य) कमनीय पति के नाना धन सम्पत्ति को प्राप्त करे ॥ शत० ६ । ५ । ४ । १० ॥

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या।
अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआपृण ॥ ६३ ॥

सविता देवता । भुरिग्बृहती । मध्यम ॥

भा०—(सविता देव) सूर्य के समान तेजस्वी राष्ट्र का संचालक देव, विद्वान् राजा हे पृथिवि ! (सुपाणिः) उत्तम पालन करनेवाले साधनो से युक्त, (स्वङ्गुरिः) उत्तम अंगों, राज्य के समस्त अंगो से सम्पन्न, (सुबाहुः) शत्रुओं को बांधनेवाले उत्तम सेना, आयुध आदि से युक्त होकर (उत) और (शक्त्या) शक्ति से युक्त होकर (त्वा) तुझको (उद्वपतु) स्वीकार करे और उत्तम बीज वपन करे। इसी प्रकार (सु-पाणिः) उत्तम हाथोंवाला (सु-अङ्गुरि) उत्तम अंगुलियों वाला, (सुबाहु) उत्तम बाहुबल और (उत शक्त्या) उत्तम शक्ति से युक्त होकर हे स्त्रि ! (त्वा उद्वपतु) तुझ मे सन्तानार्थ बीज वपन करे। तू हे प्रजे ! (अव्यथमाना) किसी प्रकार का कष्ट न पाती हुई (पृथिव्याम्) इस भूतल पर (आशाः दिशः) समस्त दिशा और उपदिशाओं को भी (आपृण) पूर ले, अर्थात् फल फूलकर सर्वत्र फैल जा। और हे स्त्री ! तू अपने पति द्वारा कभी पीड़ित न होकर इस पृथिवी पर (आशा.) अपनी समस्त कामना और दिशाओं को भी पूर्ण कर ॥ शत० ६ । ५ । ४ । ११ । १२ ॥

उत्थाय बृहती भवोद्तिष्ठ ध्रुवा त्वम्।
मित्रैतां त उखां परि ददाम्यभित्याऽएषा मा भेदि ॥ ६४ ॥

उखा देवता । अनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे प्रजे ! तू (उत्थाय) उठकर, अभ्युदयशील होकर (बृहती भव) बहुत बड़ी हो। तू (उत् तिष्ठ) उदय को प्राप्त हो, उठ, (ध्रुवा त्वम्) तू ध्रुवा है, सदा स्थिर रहने वाली है। हे (मित्र) प्रजा के सुहृद्-रूप राजन् ! (उखाम्) नाना ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली इस प्रजा को

हांडी के समान (ते परि) तेरे अधीन (अभित्यै) कभी छिन्न भिन्न न होने देने के लिये (ददामि) प्रदान करता हूं। देखना (एषा) यह (मा भेदि) कभी टूट न जाय। इसी प्रकार हे स्त्री ! तू उठकर बड़े पुरुषार्थ वाली हो। उठ, तू स्थिर होकर खड़ी हो। हे मित्रवर ! इस (उखां) प्रजा को खनन या प्राप्त कराने वाली स्त्री को तुझे सौंपता हूँ तुझ से कभी अलग न होने के लिये प्रदान करता हू। यह तुझ से भिन्न होकर न रहे॥ शत० ६। ५। ४। १२॥

वस॑वस्त्वा छृन्दन्तु गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्रु॒द्रास्त्वा छृन्दन्तु त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदा॑दि॒त्यास्त्वा छृन्दन्तु जाग॑तेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्विश्वे॑ त्वा दे॒वा वै॑श्वान॒रा॒ऽआछृ॑न्दन्त्वानु॒ष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वत्॥ ६५॥

वस्वादयो लिङ्गोक्ता देवता । धृतिः । षड्जः॥

भा०—हे उखे ! पृथिविवासिनी प्रजे ! (त्वा) तुझको (वसवः) प्रजाओं को बसाने में समर्थ वसु नामक विद्वान् (गायत्रेण छन्दसा) पूर्वोक्त गायत्र छन्द, ब्राह्मण शक्ति (आंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेज से युक्त होकर (छृन्दन्तु) तेजस्वी बनावें। (रुद्रा त्रैष्टुभेन छन्दसा आङ्गिरस्वत् छन्दन्तु) अंगारे जिस प्रकार हड्डियों को तपाते हैं उसी प्रकार रुद्र नामक विद्वान् पुरुष तुझको त्रिष्टुभ छन्द से तेजस्वी ज्ञानवान् करे। (आदित्याः त्वा जागतेन छन्दसा छृन्दन्तु आङ्गिरस्वत्) आदित्य नामक विद्वान् अग्नि के समान तुझको जागत छन्द से तेजस्वी, पराक्रमशील समृद्धिमान् करें। (वैश्वानराः) समस्त प्रजाओं के नेता (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान् पुरुष (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुभ् छन्द से (आङ्गिरस्वत्) प्रदीप्त अग्नि के समान या सूर्य की किरणों के समान (आछृन्दन्तु) प्रदीप्त, उज्वल, सम्पन्न वैभवयुक्त करें॥ शत० ६। ५। ४। १७॥

हे स्त्री वा पुरुष तुमको वसु, रुद्र, आदित्य विश्वेदेव नामक विद्वान्गण गायत्री आदि वेद मन्त्रों से ज्ञानवान् तेजस्वी करें ।

आकूतिम॒ग्निं प्र॒युज॒ꣳ स्वाहा॒ मनो॑ मे॒धाम॒ग्निं प्र॒युज॒ꣳ स्वाहा॑ चि॒त्तं वि॒ज्ञात॒मग्निं प्र॒युज॒ꣳ स्वाहा॑ वा॒चो वि॒धृति॒मग्निं प्र॒युज॒ꣳ स्वाहा॑ । प्र॒जाप॑तये॒ मन॑वे॒ स्वाहा॒ग्नये॑ वैश्वान॒राय॒ स्वाहा॑ ॥ ६६ ॥

अग्न्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(आकूतिम्) समस्त अभिप्रायों को ज्ञान करनेवाली शक्ति और उसके (प्रयुजम्) प्रयोग करनेहारे (अग्निम्) ज्ञानवान् आत्मा को (स्वाहा) यथार्थ सत्य क्रिया के अभ्यास से जानो । (मन.) मनन करनेवाले अन्त करण और (मेधा) धारणावती बुद्धि को और (अग्निम् प्रयुजम्) उसके प्रेरक अग्नि आत्मा को या विद्युत् शक्ति को (स्वाहा) उत्तम योगक्रिया द्वारा प्राप्त करो । (चित्तम्) चिन्तन करनेवाले (विज्ञातम्) विशेष ज्ञान के साधन और (प्रयुजम्) उसके प्रेरक (अग्निम्) अग्नि के समान प्रकाशित आत्मा को (स्वाहा) उत्तम रीति से जानो । (वाचः विधृतिम्) वाणी को विशेषरूप से धारण करनेवाली शक्ति और (प्रयुजम् अग्निं) और उसमें प्रयुक्त या उसकी प्रेरणा करनेवाली अग्नि, विद्युत शक्ति को (स्वाहा) उत्तम रीति से प्राप्त करो। हे पुरुषो ! आप लोग (मनवे) मननशील (प्रजापतये) प्रजा के पालक पुरुष को (स्वाहा) उत्तम आदर सत्कार करो । (वैश्वानराय अग्नये) समस्त पुरुषों में प्रकाशमान, सबके हितकारी (अग्नये) सबके प्रकाशक परमेश्वर या विद्वान् का भी (स्वाहा) उत्तम रीति से स्तवन, गुणगान करो ॥ शत० ६ । ६ । १ । १५–२० ॥

विश्वो॑ दे॒वस्य॑ ने॒तुर्मर्तो॑ वुरीत स॒ख्यम् ।

विश्वो॑ रा॒यऽइ॑षुध्यति द्यु॒म्नं वृ॑णीत पुष्य॒से स्वाहा॑ ॥ ६७ ॥

ऋ० ५ । ५० । १ ॥

आत्रेय ऋषिः । सविता देवता । अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—(विश्वः मर्त्त.) समस्त मनुष्य (देवस्य नेतु) सबके नायक राजा और विद्वान् एव सब सुखो के प्रापक परमेश्वर के (सख्य वुरीत) प्रेम या मित्रता को चाहें । (विश्व.) समस्त मनुष्य ही (राये) ऐश्वर्य के लिये (इषुध्यति) ईश्वर से प्रार्थना करते अथवा (इषुध्यति) पराक्रम से शस्त्रादि धारण करते या आकाक्षा करते हैं और (पुष्यसे) पुष्ट होने के लिये (स्वाहा सत्य व्यवहार द्वारा (द्युम्नं वृणीत) धन ऐश्वर्य को प्राप्त करें ॥ शत० ६ । ६ । १ । २१ ॥

मा सु भि॑त्था मा सु रि॒षोऽम्ब॑ धृष्णु वी॒र्य॑स्व सु ।
अ॒ग्निश्चे॒दं क॑रिष्यथः ॥ ६८ ॥

उखा अम्बा वा देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राजा के अधीन प्रजे ! एवं पुरुष के अधीन स्त्रि ! तू (मा सु भित्था) राजा से एवं अपने पालक पति से भेद या द्रोह मत कर । (मा सु रिष·) अपने हित के लिये ही कभी विनष्ट मत हो, अपना नाश मत कर या अपने पालक पति या राजा का घात मत कर । हे (अम्ब) हे स्त्रि ! पुत्रों की माता के समान तू (धृष्णु) दृढ़ता से (सु वीरयस्व) अपने ही हितार्थ पराक्रम बल के कार्य कर । तू (अग्निः च) अग्नि के समान तेजस्वी राजा या अग्नितत्व-प्रधान पति, वीर्यवान् पुरुष दोनों मिलकर राज्य के समस्त कार्य को और स्त्री पुरुष दोनों मिलकर गृहस्थ कार्य को (करिष्यथ.) करें ॥ शत० ६ । ६ । २ । ५ ॥

दृ॒ꣳह॒स्व दे॒वि पृ॑थिवि स्व॒स्तय॑ऽआसु॒री मा॒या स्व॒धया॑ कृ॒ताऽसि॑ ।
जु॒ष्टं दे॒वेभ्य॑ऽइ॒दम॑स्तु ह॒व्यमरि॑ष्टा॒ त्वमुदि॑हि य॒ज्ञेऽअ॒स्मिन् ॥ ६९ ॥

उखा अम्बावा देवता । गायत्री । षड्ज. ॥

भा०—हे (देवि पृथिवि) देवि पृथिवि ! तू (स्वधया) अन्न और जल से या स्व=अर्थात् शरीर को धारण पोषण करने वाली शक्ति से (आसुरी माया) प्राणों की या प्राणों में रमण करने वाले जीवों या बलवान् बुद्धिमान् पुरुषों की प्रज्ञा या बुद्धि या चमत्कार करने वाली अद्भुत शक्ति से (कृता असि) बनाई जाती है। तू (स्वस्तये) कल्याण के लिये (दंहस्व) दृढ़ हो, वृद्धि को प्राप्त हो। (इदम् हव्यम्) यह अन्न, उपादेय भोग्य पदार्थ (देवेभ्यः) विद्वान्, विजयी पुरुषों को (जुष्टम् अस्तु) प्रिय लगे। (त्वम्) तू (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में इस यज्ञ, प्रजापति राजा के आश्रय रहकर (अरिष्टा) विना क्लेश पाये, अपीड़ित, सुखी प्रसन्न रहती हुई (उद् हि) उदय को प्राप्त कर, उन्नतिशील हो। पृथिवी के भीतर अग्नि है, उखा नाम हाडी के भीतर अग्नि रक्खी जाती है आसुरी अर्थात् विस्फोटक बाम्ब आदि में भी भीतर अग्नि है, इस उपमा के बल से पृथिवी निवासनी प्रजा भी अपने भीतर राजा, विद्वान् रूप अग्नि को धारण करके और गृहपत्नी पति के वीर्यरूप अग्नि को धारण करके आसुरी माया के समान होजाता है ॥ शत० ६ । ६ । २ । ६ ॥

स्त्री-पक्ष में—हे देवि ! तू (स्वधया कृतासि) अन्न से पुष्ट होकर कल्याण के लिये (दंहस्व) बुद्धि को प्राप्त हो। तेरा यह अन्न विद्वानों को तृप्तिकर हो। तू इस यज्ञ प्रजापति या गृहस्थ कार्य में (उदिहि) उदय को प्राप्त हो।

द्रूऽन्नः सुऽर्पिरासुतिः प्रऽत्नो होता वरेऽण्यः ।
सहऽसस्पुत्रोऽअद्भुतः ॥ ७० ॥ ऋ० २ । ७ । ६ ॥

सोमाहुतिर्भार्गव ऋषि । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(द्रूवन्नः) अग्नि जिस प्रकार काष्ठों को जलाता है वे ही उसके अन्न है। इसी प्रकार मनुष्य भी (द्रूवन्नः) 'द्रु' ओषधि वनस्प-

तियों का आहार करने हारा है। (सर्पिरासुति) अग्नि जिस प्रकार घी से बढ़ता है इसी प्रकार तू भी घृत के सेवन से वृद्धि को प्राप्त होने वाला अथवा सर्पि, वीर्य को आसेचन करने में समर्थ है। वह (प्रत्न) सदा से (वरेण्य) सदा स्वीकार करने योग्य, (होता वीर्य आदि का आधानकर्त्ता, एवं पत्नी का ग्रहीता है। वह (सहस. पुत्र) बल से उत्पन्न एवं बलवान् पुरुष से उत्पन्न पुत्र (अद्भुतः) आश्चर्यजनक गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है॥ शत० ६। ६। २। १४॥

राजा के पक्ष में—पृथिवी रूप उखा में राजा रूप अग्नि (दवत्तः) काष्ठादि के जलाने वाले अग्नि के समान तेजस्वी, (सर्पिरासुति) तेज से उत्पन्न (प्रत्न. वरेण्य. होता) सदा से वरण करने योग्य, सबका दाता, प्रतिग्रहीता (सहस) अपने बल पराक्रम से युक्त (पुत्र) पुरुषों का दुःखों से त्राण करने में समर्थ (अद्भुतः) आश्चर्यकारी प्रतापवान् है। इसी प्रकार स्त्री रूप उखा में ओषधि वनस्पतियों का परिणाम भूत वीर्य, तेजोमय स्वीकार करने योग्य गर्भ में आहुतिप्रद है। वह बल से उत्पन्न आश्चर्यकारी है, जो पुत्र रूप से उत्पन्न होता है।

परस्या॒ऽअधि॑ संवतोऽव॑राँ२ऽ अभ्यात॑र।
यत्राहमस्मि॒ ताँ२ऽ अव॥ ७१॥ ऋ० ८। ६४। १५॥

विरूप आगिरस ऋषिः। अग्निर्देवता। विराड् गायत्री। षड्जः॥

भा०—स्त्री-पक्ष में—हे कन्ये! (परस्या) उत्कृष्ट गुणोंवाली कन्या की अपेक्षा (संवत अधि) समान कोटिके और (अवरान्) नीच कोटिके पुरुषों को तू (अभि आतर) त्याग दे, मत वर। और (यत्र) जिस पदपर (अहम् अस्मि) मैं उत्कृष्ट पद का पुरुष स्थित हूं। (तान् अव) उनको वरण कर, प्राप्त हो।

राजा के पक्ष मे—हे राजन् अग्ने ! (परस्या) शत्रु सेना के साथ होनेवाले (संवतः अधि) युद्ध में स्थित हम (अवरान् अभ्यातर) समीप-स्थों की रक्षा कर (यत्र अहम् अस्मि) मैं जहां स्थित हूं (तान् अव) उन सबकी रक्षा कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १ ।

परमस्याः परावतो रोहिदश्वऽइहा गहि ।
पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरामृधः ॥ ७२ ॥

आरुणिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—हे राजन् ! तू (रोहिदश्व.) लाल वर्ण के या वेगवान् अश्वों से युक्त होकर तू (परमस्याः) दूर से दूर के (परावतः) दूर देश से भी (आ गहि) यहां आकर प्राप्त हो । हे अग्ने ! शत्रुतापक राजन् ! तू (पुरीष्य) समृद्धिमान्, इन्द्रपद के योग्य, (पुरुप्रियः) बहुतसी प्रजाओं को प्रिय होकर (त्वं मृधः) शत्रु सेनाओं को (तर) विनाश कर ।

गृहपति पक्ष में—हे अग्नि के समान तेजस्विन् ! पुरुष ! अग्नि आदि वाहन साधनों से सम्पन्न होकर (परमस्याः कृते) परम श्रेष्ठ स्त्री को प्राप्त करने के लिये (परावतः) दूर देश से भी (इह आगहि) यहां आ । और (मृधः तर) शत्रुओं को विनाश कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ४ ॥

यदग्ने कानिकानि चिदा ते दारूणि दध्मसि ।
सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७३ ॥ ऋ० ८ । ६१ । २० ॥

जमदग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) प्रकाशस्वरूप तेजस्विन् अग्ने ! (यत्) जब (ते) तेरे लिये (कानि कानि चित्) जो कुछ भी नाना प्रकार के (दारूणि =दारूणि) काष्ठ जिस प्रकार अग्नि में रक्खे जाते हैं और उसको प्रज्वलित करते है उसी प्रकार, हे राजन् ! (ते) तुझे हम (कानि-कानि चित्)

नाना प्रकार के कितने ही (दारुणि) हिंसाजनक, शत्रु के भयजनक, शत्रु सेनाओं के विदारण करने में समर्थ शस्त्रास्त्र साधन अथवा आदर योग्य उत्तम पदार्थ (आ दधमसि) प्रदान करते हैं (तत्) वह (सर्वं) सब (ते) तेरा (घृतम्) तेजोवर्धक (अस्तु) हो । हे (यविष्ठ्य) बलवन्, सबसे महान् (तत्) उसको (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ५ ॥

'दारुणि'—दारुणि इति यावत् । 'दारुणि' इति ऋग्वेदीय शतपथीयश्च पाठः । 'दारुणि' इत्र'रु' इति ह्रस्वछान्दस. । दारु दृणाते-र्दृणातेर्वा तस्मादव दः । इति निरु० ४ । ३ । ७ ॥ 'दृसनि'० इति उणादिसुण । दारु । दृङ् आदरे, दृ भये, भ्वादी । दृ हिंसायाम्, भ्वादि. । दृविदारणे क्र्यादि. । दृ हिंसायाम् व्रयादि । तेभ्यो सुण् । हिंसासाधनानि, आदरयोग्यानि, दारुणसाधनानि आयुधानि दारुणि । दारुणि इति सप्तम्यन्त पदम् इति दयानन्दस्तच्चिन्त्यम् ।

पति पक्ष में--हे पते हम जितने भी (दारुणि) अग्नि में काष्ठो के समान आदर योग्य पदार्थ तुझे प्रदान करें वे सब तुझे घृत के समान पुष्टिजनक हों । हे अति युवक ! उनको स्वीकार कर ।

यदत्त्युपजिह्विकाऽयद्वम्रो अतिसर्पति । सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यविष्ठ्य ॥ ७४ ॥ ऋ० । ८ । ९१ । २१ ॥

जमदग्निर्ऋषि । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—(यत्) जो पदार्थ भी (उपजिह्विका) दीमक । अत्ति) काठ खाजाती है और (यत्) जो पदार्थ (वम्र.) बड़ा दीमक (अतिसर्पति) लग जाता है वह भी जिस प्रकार आग में घी के समान तीव्रता से प्रज्वलित होता है उसी प्रकार हे राजन् ! (उपजिह्विका । शत्रु के बीच उपजाप करनेवाली संस्था और (यत् । जो कुछ खाजाती है (वम्र.) दीमक के समान समस्त वृत्तान्त को राजा के सन्मुख वमन

करनेवाला चरविभाग (यत्) जिस पदार्थ तक भी (अति सर्पति) पहुंच जाय (तत् सर्वं, वह सब । तेष्ट घृतम् अस्तु) तेरे लिये यशो जनक एव तेजोवर्धक हो हो । हे (यविष्ठ्य) बलवान् राजन् ! (तत् जुषस्व) उसको तू सेवन कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ६ ॥

स्त्री पक्ष में—हे पुरुष (उपाजिह्विका) जिह्वा को वश करनेहारी निर्लोभ स्त्री जो पदार्थ खाये और जो (वम्रः) प्राणोद्गार बाहर आवे वह सब मुझे भी पुष्टिकारक हो ।

अहरहरप्रयावं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै ।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा रिषाम ॥ ७५ ॥

अथर्व० १९ । ५५ । १ ॥

नाभानेदिष्ठ ऋषि । अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(तिष्ठते अश्वाय घासम् इव) घर पर खडे घोड़े को जिस प्रकार नित्य नियम से, विना नागा घास दिया जाता है उसी प्रकार हे राजन् ! हम लोग (अहः-अह) प्रतिदिन (घासम्) खाने पीने योग्य भोग्य-सामग्री को (भरन्तः) प्राप्त करते हुए और तुझे प्रदान करते हुए (राय· पोषेण) धनैश्वर्य की समृद्धि से और (इषा) अन्न की समृद्धि से (सम् मदन्तः) अति हर्षित, आनन्द, तृप्त होते हुए हे (अग्ने) गृहपते ! राज्यपते ! हम लोग (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी के समान तेरे में प्रविष्ट, तेरे अधीन, तेरी बनायी धर्म मर्यादाओ में रहते हुए (मा रिषाम) कभी पीड़ित न हों ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ७ ॥

नाभां पृथिव्या समिधानेऽअग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे ।
इरम्मदं बहुकथं यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम् ॥ ७६ ॥

नाभानेदिष्ठ ऋषि. । अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवत· ॥

भा०—(पृथिव्या. नाभा) पृथिवी के नाभिस्थान, केन्द्र या मध्य भाग मे (समिधाने) अति प्रदीप्त (अग्नौ) अग्नि में जिस प्रकार

आहुति दी जाती है उसी प्रकार हम लोग (बृहते) बडे भारी (राय॰ पोषाय) ऐश्वर्यों की वृद्धि के लिये (हरन्मदम्) अन्नादि पदार्थों और पृथ्वी आदि ऐश्वर्य से प्रसन्न होनेवाले (दृहद्युक्थं) महान् कीर्ति से युक्त (यजत्रम्) दानशील (पृतनासु) सग्रामों मे (सासहिम्) शत्रु के बराबर पराजय करने मे समर्थ (जेतारम्) विजयी (अग्निम्) अग्नि, तेजस्वी प्रतापी पुरुष को (हवामहे) हम लोग आदर से बुलावें, उसका आदर करें ॥ शत० ६ । ६ । ३ । ९ ॥

या. सेनाऽअभीत्वरीराव्याधिनी रुगणा उत ।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

भा०—राजा का आग्नेय स्वरूप । हे (अग्ने) शत्रुसतापक राजन् ! -- (या) जो (अभीत्वरी) हमारे पर आक्रमण करनेवाली (आव्याधिना) सब ओर से शस्त्र प्रहार करनेवाली (रुगणा) शस्त्रादि उठाये हुए (सेना॰) सेनाएं हो (उत) और (ये स्तेना) जो चोर और (ये च) जो (तस्करा॰) नाना हत्यादि पाप करनेवाले डाकू हैं (तान्) उन सबको (ते) तेरे (आस्ये) शत्रुओं के विनाशकारी बल मे मुख मे जिस प्रकार ग्रास डाल लिया जाता है उसी प्रकार (दधामि) झोंक दू । तू उनको ग्रस जा, विनाश कर ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

दꣳष्ट्राभ्यां मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्करौँऽउत । हनुभ्याꣳ स्तेनान् भगव्रस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान् ॥ ७८ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगुष्णिक । ऋषभ ॥

भा०- जिस प्रकार मनुष्य अपनी (दंष्ट्राभ्यां) दाढों से चबाकर (जम्भ्यै.) अगले कुतरनेवाले दातों से कुतर २ कर (तनूभ्या) दोनो दाढ़ो और जबाड़ों से कुचिल २ कर उत्तम रीति से (सुखादितान्) चबाये गये ग्रासों को खा जाता है उसी प्रकार हे अग्ने ! राजन् ! हे (भगव.)

ऐश्वर्यवान् राजन् [1] (दंष्ट्राभ्याम्) दांतों के समान दशन करनेवाले शस्त्रों के दो दलों से (मालिम्लून्) मलिन कार्य करने एवं प्रजाओं की मृत्यु करनेवाले दुष्टों को और (तस्करान्) छुपे पापों, हत्याओं को करनेवाले पुरुषों को (जम्भ्यै) बांध २ कर मारनेवाले उपायों से, और (हनूभ्याम्) हनन करनेवाले द्विविध उपायों से (स्तेनान्) चोर डाकू पुरुषों को (त्वं) तू (खाद) चबा डाल, कुचल कर ग्रस ले ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

ये जनेषु मलिम्लवस्तेनासस्तस्करा वने ।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥

भा०—(ये) जो (जनेषु) प्रजा के लोगों में (मलिम्लवः) मलिनाचार वाले और जो (वने) वन में (स्तेनास.) चोर और (तस्करास) डाकू छिपे हों (कक्षेषु) हमारे गृहों के इधर उधर या नदी पर्वतादि के तटो में या राजा के पार्श्ववर्त्ती सामन्त राजाओं और अमात्य आदि में (अघायव.) अपने पाप से दूसरो पर पापाचार करना चाहते हैं (तान्) उन सबको (जम्भयो) दाढो मे ग्रास के समान (ते) तेरे वश में (दधामि) धरता हूं ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

यो ऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ।
निन्दाद्यो ऽअस्मान् यिप्साच्च सर्वं तं भस्मसा कुरु ॥ ८० ॥

अग्निर्देवता । अनुष्टुप । गान्धारः ॥

भा०—(यः) जो पुरुष (अस्मभ्यम्) हमारे प्रति (अरातीयात्) शत्रु के समान वर्ताव करे और (यः च) जो (जन) जन (नः) हम

८०—०'भस्मसा कुरु' इति० द० । तन्मते भस्मसात् इत्यत्र छान्दसस्तलोप । मस्मसा इति सर्वत्र पाठ. । 'सर्वान् निमष्मषाकर द्ष दाखल्वा इव', [इति अथर्व० ५ । ३ । ८ ॥] अथर्वगत पाठस्तत्रा नुसधेय. ।

से (द्वेषते) द्वेष, अप्रीति का वर्ताव करे । (यः च) जो (अस्मान्) हमारी (निन्दात्) निन्दा करे और (धिप्साच्च) हमें मारना या हम से छलकर के हमें हानि पहुंचाना चाहता है (सर्वं तम्) उन सबको हे राजन् ! (मस्मसा कुरु) दांतों में अन्न के समान पीस डाल ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १० ॥

सꣳ शिꣳतं मे ब्रह्म सꣳ शिꣳतं वीर्यं बलꣳम् । सꣳ शिꣳतं क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहꣳित ॥ ८१ ॥ अथर्व० ३ । १९ । १ ॥

अग्नि पुरोहितो यजमानश्च देवते । निचृदार्षी पक्ति । पन्चमः ॥

भा०—(यस्य) जिसका (अहम्) मैं (पुरोहित.) पुरोहित मार्गदर्शी (अस्मि) होऊं । उसका (जिष्णु) जयशील (क्षत्र) क्षात्रबल अथवा वही (जिष्णु क्षत्रम्) विजयशील क्षत्रिय कुल (संशितम्) खूब अच्छी प्रकार तीव्र रहे । और (मे) मेरा (ब्रह्म) ब्रह्म, वेदज्ञान और ब्रह्मचर्य बल भी (सशितम्) खूब तीक्ष्ण रहे । और मेरा (वीर्यं बलम्) वीर्य और बल पराक्रम भी (संशितम्) खूब तीक्ष्ण, प्रचण्ड रहे ॥ शत० ६ । ६ । १४ ॥

उदेꣳषां बाहू ऽअꣳतिरमुद्वर्चो ऽअथो बलꣳम् । क्षिणोमि ब्रह्मꣳणामित्रान्नुन्नꣳयामि स्वाँ२ ऽअहम् ॥ ८२ ॥ अथर्व० ३ । २७ । ३ ॥

अग्नि सभापतिर्यजमानो वा देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(एषाम्) मैं इन दुष्ट पुरुषों एवं शत्रुओं के (बाहू) बल वीर्यों को (उत् अतिरम्) उल्लंघन कर जाऊं । (अथो) और उनके (वर्च·) तेज और (बलम्) शरीर-बल या सेना-बलको भी (उद् अतिरम्) अतिक्रमण कर जाऊं, उनसे अधिक होजाऊं । (ब्रह्म) वेदज्ञान के बल से अथवा अपने महान् बड़े भारी क्षात्रबल से मैं (अमित्रान्) शत्रुओं का (क्षिणोमि) विनाश करूं । और (अहम्) मैं

(स्वान्) अपने पक्ष के योद्धा, वीर पुरुषों को (उत् नयामि) ऊंचा उठाऊं उनको उन्नत पद प्रदान करूं ॥ शत० ६ । ६ । ३ । १५ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्र दातार तारिष ऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ८३ ॥

अन्नपतिरग्निर्यजमानः पुरोहितो वा देवता । उपरिष्टाद् बृहती मध्यमः ॥

भा०—हे (अन्नपते) अन्नों के पालक स्वामिन् ! तू (न) हमें (शुष्मिणः) बलकारी, (अनमीवस्य रोगरहित (अन्नस्य) अन्न का (देहि , प्रदान कर । और (दातारम्) दानशील पुरुष को (प्रप्रतारिष) खूब बढ़ा । उसे भरा पूरा, सन्तुष्ट रख । (न) हमारे (द्विपदे) दो पाये मनुष्य आदि और (चतुष्पदे) चौपाये गौ आदि पशुओं के लिये (ऊर्जं धेहि) बलकारी अन्न प्रदान कर ॥ शत० ६ । ६ । ४ । ७ ॥

॥ इत्येकादशोऽध्यायः ॥

[तत्र त्र्यशीतिर्ऋचः]

इति मीमासातीर्थप्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजय देवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये एकादशोऽध्यायः ॥

८३—विश्वकर्मणे स्वाहा । इति काण्व० ।

अतः पर १२ । ४४ मन्त्र पठ्यते । काण्व० ।

अथ द्वादशोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः। अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः॥ १॥

ऋ० १० । ४५ । ८॥

वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिक् पंक्ति । पञ्चम ॥

भा० —(दृशान) साक्षात् स्वयं दीखता हुआ, और समस्त पदार्थों का दिखाने वाला स्वयद्रष्टा, (रुक्म.) दीप्तिमान्, (उर्व्या) बड़ी भारी कान्ति से या विशाल इस पृथ्वी सहित (श्रिये) अपने परम कान्ति से (रुचान.) प्रकाशित होता हुआ, सूर्य जिस प्रकार (दुर्मर्षम् आयु) अविनाशी, जीवन सामर्थ्य, अन्नादि को (व्यद्यौत्) विविध प्रकार से प्रकाशित करता है। उसी प्रकार (दृशान.) सर्व पदार्थों को विज्ञान द्वारा दर्शाने वाला, (श्रिये रुचान) महान् लक्ष्मी की इच्छा करता हुआ, (रुक्म) कान्तिमान्, तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, विद्वान् राजा (दुर्मर्षम्) शत्रुओं और बाधक कारणों से अपराजित जीवन को (उर्व्या) इस विशाल पृथ्वी पर (व्यद्यौत्) नाना तेजों से प्रकट करता है और अपना तेज दिखाता है। (अग्नि) अग्नि, दीप्तिमान् सूर्य जिस प्रकार (वयोभि.) अपनी शक्तियों, तेजों, किरणों से (अमृत.) अमृत, अमर (अभवत्) है उसी प्रकार (अग्नि) विद्वान् ज्ञानी एव अग्रणी के समान तेजस्वी राजा भी (वयोभि अमृत. अभवत्) अपने ज्ञान-बलों से और अन्नों द्वारा अपने वयोवृद्ध सहायकों से अमृत, अमर, अखण्डित होकर रहता है। (यत्) क्योंकि (एनं) उस सूर्य को (सुरेता.) उत्तम वीर्य वाला, समस्त ब्रह्माण्ड के उत्पादन सामर्थ्य से युक्त, (द्यौ·) तेजोयुक्त, महान् हिरण्यगर्भ (अजनयत्) उत्पन्न करता है इसी प्रकार (एन) इस विद्वान् को और तेजस्वी राजा को भी (सुरेताः द्यौ.) उत्कृष्ट

१—अतः परमुखाधारणम् [१—४५]

वीर्यवान् तेजस्वी पिता और आचार्य (अजनयत्) उत्पन्न करता है। असह्य पराक्रमी, तेजस्वी पुरुष को तेजस्वी पिता माता ही उत्पन्न करते हैं। शत० ६ । ७ । २ । १ ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳ समीची।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन्द्राविणोदाः॥२॥

ऋ० १० । ४५ । ८ ॥

अग्निर्देवता । कुत्स ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (नक्तोषासा) रात्रि और दिन दोनों (विरूपे) एक दूसरे के विपरीत कान्ति वाले तम स्वरूप और प्रकाशस्वरूप होकर (समीची ।) परस्पर अच्छे प्रकार मिलकर सूर्य को धारण करते हैं उसी प्रकार माता पिता दोनों (समनसौ) एकचित्त होकर (विरूपे) विचित्र स्वरूप या विविध रुचिवाले और (समीची) परस्पर संगत होकर (एकम्) एक (शिशुम्) बालक को (धापयेते) दुग्ध रसपान कराते और अन्न से पुष्ट करते हैं उसी प्रकार (नक्त-उषासा) रात दिन के समान अप्रकाश, अज्ञानी या निस्तेज निर्बल और ज्ञानी सतेज और सर्वत्र दोनों प्रकार के जन (समीची) परस्पर संगत होकर (शिशुम्) बालक के समान ही प्रेमपात्र (एकम्) एकमात्र राजा को (धापयेते) रस, अन्न और बलद्वारा पुष्ट करते हैं। वह भी (द्यावाक्षामा) आकाश और पृथिवी के (अन्तः) भीतर (रुक्म) दीप्तिमान् सूर्य के समान तेजस्वी और पुत्र के समान माता पिता के बीच निर्बल प्रजा और सबल शासकों के बीच तेजस्वी होकर राजा (विभाति) प्रकाशित होता है। (द्राविणोदा) वीर्य, बल, अन्न को प्रदान करनेवाले (देवाः) वीर, विजयी, पराक्रमी राजगण, उस (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (धारयन्) धारण करें ॥ शत० ६ । ७ । २ । ३ ॥

द्रविणोदा कस्मात् । धन द्रविणमुच्यते यदेनमाभिद्रवन्ति । वस्तु वा द्रविण यदेनेनाभिद्रवन्ति । तस्य दाता द्रविणोदा । निरु० ८ । १ । २ ॥

विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे ।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्यो ऽनु प्रयाणमुषसो विराजति ॥ ३ ॥

ऋ० ५ । ८१ । २ ॥

श्यावाश्व ऋषिः । सविता देवता । विराट् जगती । निषाद ॥

भा०—(कविः) क्रान्तदर्शी, विद्वान् पुरुष (विश्वा रूपाणि) समस्त प्रकार के पदार्थों को (प्रति मुञ्चते) प्रसिद्ध करता, प्रकट करता है। और (द्विपदे चतुष्पदे) दो पाये, मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपाये, पशुओं के लिये (भद्र) सुख, कल्याण को (प्रासावीत्) उत्पन्न करता है। और वह सब का (सविता) प्रेरक, (वरेण्य) सब के वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ पुरुष, (नाकम्) अत्यन्त सुखस्वरूप, स्वर्ग और मोक्ष को भी (वि अख्यत्) विशेषरूप से प्रकाशित करता, उसका उपदेश करता है। और (उषसः प्रयाणम्) प्रातः प्रभात के प्राप्त होने के (अनु) समय में, जिस प्रकार सूर्य चमकता है उसी प्रकार वह भी (उषसः) अपने दाहक, शत्रुनाशक तेज के (प्रयाणम् अनु) अच्छी प्रकार उदित हो जाने पर (विराजति) तेजस्वी होकर विराजता है ॥

शत० ६ । ७ । २ । ४ ॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मॉंस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ स्तोमऽआत्मा छन्दाꣳस्यङ्गानि यजूꣳषि नाम । साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं विष्टपाः शफाः । सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ स्वाहा पत ॥ ४ ॥

गरुत्मान् देवता । धृतिः कृतिर्वा । ऋषभः ॥

भा०—तू (सुपर्णः) उत्तम ज्ञानवान्, उत्तम पालन करने के साधनों से सम्पन्न, 'सुपर्ण', और (गरुत्मान्) महान् गम्भीर आत्मा-

वाला है । (त्रिवृत्) कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से युक्त साधना (ते शिर.) शरीर मे शिर जिस प्रकार मुख्य है उसी प्रकार तेरा मुख्य व्रत हैं जो (शिर.) स्वयं समस्त दु.खों को नाश करता है । अथवा (त्रिवृत्) तीनो लोक मे व्यापक वायु के समान बलशाली पराक्रम, अङ्गार, अर्चि और धूम के समान शत्रुओं के जलाने, अपने गुणों के प्रकाशन और सबको भय से कंपाने इन तीन गुणो से युक्त तेज होना हे राजन् ! (ते शिर.) तेरा शिर के समान मुख्य स्वरूप है । (गायत्रं चक्षुः) गायत्री से प्राप्त वेद ज्ञानतेरी चक्षु है । अथवा गायत्र अर्थात् ब्राह्मण, विद्वान्, वेदज्ञ पुरुष और स्वतः गान करनेवाले को विपत्तियों से ज्ञान द्वारा त्राण करने मे समर्थ वेद का परमज्ञान (चक्षु.) तेरे लिये सब पदार्थों को दर्शाने में समर्थ चक्षु के समान है । (बृहद् रथन्तरे पक्षौ) बृहत् और रथन्तर ये दोनो साम जिस प्रकार यज्ञ के पक्ष या बाजू के समान हैं उसी प्रकार यज्ञमय प्रजापति राजा के बृहत् अर्थात् सर्वश्रेष्टता, सर्वज्येष्टता, अथवा उसका अपना ज्येष्ठ पुत्र युवराज या विशाल क्षात्रबल और रथन्तर' अर्थात् यह समस्त पृथिवी निवासी प्रजाजन और या वेदवाणी का ज्ञाता विद्वान्, या सेनापति या सम्राट् ये दोनों तुझ राजशक्ति के दो पक्ष अर्थात् बाजू हैं । (स्तोम आत्मा) स्तोम अर्थात् ऋग्वेद तेरी आत्मा अर्थात् अपना स्वरूप या देह के मध्य भाग के समान है । अथवा (स्तोमः आत्मा) परम वीर्य ही तुझ प्रजापालक प्रजापति, राजा का आत्मा, स्वरूप है । (अंगानि छन्दांसि) नाना छन्द जिस प्रकार यज्ञ के अङ्ग है उसी प्रकार प्रजापति रूप राष्ट्र के अन्तर्गत राष्ट्र को विपत्तियों से बचाने वाले एवं प्रजा के आश्रय स्थान होने से वे उसके अङ्ग हैं । (यजूंषि नाम) यजुर्वेद की श्रुतियां ही उसके स्वरूप के समान हैं । अर्थात् यजुर्वेद में प्रतिपादित राष्ट्र के पालको के विभाग ही राजा के कीर्त्तिजनक हैं । (वामदेव्यम्

साम ते तनूः) हे यज्ञ ! तेरा शरीर वामदेव्य नामक साम है । जिस साम को वाम, मननीय एकमात्र उपास्य देव परमेश्वर ने ही सबको दर्शाया है वह साम यज्ञ का स्वरूप है । और राष्ट्रमय प्रजापति का भी (वामदेव्य) समस्त प्रजा के पालन करने का सामर्थ्य, सबके सम्भजन या शरण करने योग्य राजा का अपना (साम) शान्तिदायक सुखकारी उपाय ही (ते तनूः) तेरा विस्तारी राज्य है । (यज्ञायज्ञिय पुच्छम्) यज्ञ का यज्ञायज्ञिय नामक साम पुच्छ के समान है । प्रजापति का भी (प्रजायज्ञियम्) पशु और अन्न आदि योग्य समृद्धि और जन समृद्धि राष्ट्र या प्रजापालक राज्य के (पुच्छम्) पुच्छ अर्थात् आश्रय-स्थान के समान है । (धिष्ण्या शफा) यज्ञ में जिस प्रकार धिष्ण्य नामक अग्नि यज्ञ का आश्रय होने से वे शरीर में शफों या खुरों के समान हैं । उसी प्रकार राष्ट्रमय प्रजापति रूप यज्ञ के (धिष्ण्या) धारण करने, और मार्गोपदेश करने में कुशल, विद्वान्, वाग्मी या अन्तपाल अधिकारी लोग (शफा) शफ खुर या चरणों के समान आश्रय हैं । इस प्रकार हे यज्ञ और राष्ट्रमय प्रजापति तू (गरुत्मान्) पक्षवाले (सुपर्ण) विशाल पक्षी के समान (गरुत्मान्) महान शक्तिमान् और (सुपर्ण) उत्तम पालनकारी साधनों से युक्त (असि) है तू (दिव) सुन्दर विज्ञान, प्रकाशमय लोक या राजसभाभवन को (गच्छ) प्राप्त हो । (स्व पत) और सुख को प्राप्त कर ॥ शत० ६ । ७ । २ । ६ ॥

१. 'त्रिवृत्'—वायुर्वा आशु त्रिवृत् । स एष त्रिषु लोकेषु वर्तते । श० ८ । ४ । १ । ६ ॥ त्रिवृद् अग्निः । श० ६ । ३ । १ । २५ ॥ ब्रह्म वै त्रिवृत् । ता० २ । १६ । ४ ॥ तेजो वै त्रिवृत् । तां० २ । १७ । २ ॥ वज्रो वै त्रिवृत् प० ३ । ३ । ४ ॥

२. 'गायत्रं'—यद् गायन्नत्रायत तद् गायत्रस्य गायत्रत्वं । जै० उ० । ३ । ३८ । ४ ॥ गायत्री वा इयं पृथिवी । श० ४ । ३ । ४ । ६ ॥ गायत्रो वै ब्राह्मण. । ऐ० १ । २८ ॥ ब्रह्म वै गायत्री । ऐ० ४ । १ ॥

३. 'बृहत्'—श्रैष्ठ्यं वै बृहत् । तां० ८ । ६ । ११ ॥ ज्यैष्ठ्यं वै बृहत् । ऐ० ८ । २ ॥ यथा वै पुत्रो ज्येष्ठः एवं वै बृहत् प्रजापतेः ॥ तां० ७ । ६ । ६ ॥ द्यौर्बृहत् । तां० १६ । १० । ८ ॥ क्षत्रं बृहत् । ऐ० ८ । १२ ॥

४. 'रथन्तरं' साम—अयं वै लोको रथन्तरम् । ऐ० ८ । २ ॥ वाग् वै रथन्तरम् । ऐ० ४ । २८ ॥ रथन्तरं वै सम्राट् । तै० १ । ४ । ४ । ६ ॥ अग्निर्वै रथन्तरम् । ए० ५ । ३० ॥

५. स्तोम.—वीर्यं वै स्तोमाः । ता० २ । ५ । ४ ॥

६. (छन्दांसि) इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसि । श० ७ । ३ । १ । ३७ ॥ प्राणाः वै छन्दांसि । कौ० ७ । ६ ॥ छन्दांसि वै देवाः साध्याः । ते अग्रे अग्निना अग्निमयजन्त । ऐ० १ । १६ ॥ प्रजापतेर्वा एतान्यंगानि यच्छन्दांसि । ऐ० २ । १८ ॥

७. 'वामदेव्यं साम'—पिता वै वामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि ता० ७ । ६ । १ ॥ प्राजापतिर्वै वामदेव्यं । तां० ४ । ८ । १५ ॥ श० १३ । ३ । ३ । ४ ॥ पशवो वै वामदैव्यम् । तां० ४ । ८ । १५ ॥

८. 'यज्ञोयज्ञियम्'—अतिशयं वै द्विपदां यज्ञायज्ञियम् । तां० ५ । १ । १६ ॥ वाग् यज्ञायज्ञीयम् । तां० ५ । ३ । ७ ॥ पशवोऽज्ञां यज्ञायज्ञीयम् । तां० १५ । ६ । १२ ॥

९. 'धिष्ण्याः'—वाग् वै धिषणा । श० ६ । ५ । ४ । ५ ॥ विद्या वै धिषणा । तै० ३ । २ । २ । १ ॥ अन्तो वै धिषणा । ऐ० ५ । २ ॥ [स्वान भ्राज. अंधारि बम्भारिः हस्तः सुहस्त. कृशानुः] एतानि वै धिष्ण्यानां नामानि श० ३ । ३ । ३ । ११ ॥

विष्णो॰ क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द ऽआरोह पृथिवीमनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द ऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व । विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआरोह दिवमनु वि क्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ता नुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥ ५ ॥

विधावादयो लिंगोक्ताः देवता. । भुरिंगुत्कृतिः । षड्ज ॥

भा०—हे यज्ञमय प्रजापति, प्रजापालक के प्रथम क्रम अर्थात् प्रथम व्यवहार ! तू (विष्णो॰) राष्ट्र में व्यापक सत्तावाले राजा का (सपत्नहा) शत्रु को नाश करनेवालः (क्रम॰ असि) क्रम, अर्थात् प्रथम चरण, कार्य का प्रथम भाग है । तू (गायत्र छन्द॰ आरोह) गायत्र छन्द अर्थात् विद्वान् वेदज्ञ पुरुषों के त्राण करनेवाले पवित्र कार्य पर आरूढ हो । तू (पृथिवीम् अनु) पृथिवी और पृथिवी वासी प्रजा के अनुकूल रहकर (विक्रमस्व) विविध प्रकार के कार्य कर । इसी प्रकार तू (विष्णोः क्रम॰ असि) व्यापक शक्ति का दूसरा स्वरूप (अभिभातिहा असि) आभिमानी वैरी लोगों का नाश करनेहारा है । तू (त्रैष्टुभं छन्द॰) तीन प्रकार के बलशाली क्षात्रबल पर (आरोह) आरूढ़ हो । और (अन्तरिक्षम् अनु विक्रमस्व) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक एवं सर्व प्राणप्रद वायु के समान विक्रम कर । तू (विष्णोः क्रम) विष्णु, सूर्य के समान समुद्रादि से जलादि ग्रहण करनेवाले व्यापक शक्ति का स्वरूप है । तू (अरातीयत) कर-दान न करनेवाले शत्रुओं का (हन्ता) विनाशक है । तू (जागतं छन्द आरोह) आदित्यों के कार्य व्यवहार पर और वैश्यवर्ग पर (आरोह) बल प्राप्त कर । तू (दिवम् अनु विक्रमस्व) सूर्य या मेघ के समान पृथ्वी पर से जल लेकर उसी पर वर्षा कर जगत् के उपकारने का व्रत धार कर अपना (विक्रमस्व) पराक्रम कर । (विष्णोः क्रमः असि)

व्यापक वायु के समान कार्य करने मे कुशल उसका प्रतिरूप है। तू (शत्रूयताम् हन्ता) शत्रु के समान आचरण करनेवाले द्रोहियों को नाश करनेहारा है। तू (आनुष्टुभं छन्दः आरोह) समस्त प्रजा के अनुकूल सुख वृद्धि के कार्य व्यवहार को प्राप्त कर। (दिश अनु) तू दिशाओ को विजय कर अर्थात् दिशाओं के समान सब प्रजाओं को आश्रय देने मे समर्थ हो ॥ शत० ६ । ७ । २ । १३-१६ ॥

अक्रन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धो ऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥६॥

ऋ० १० । ४५ । ४ ॥

वत्सप्रीर्ऋषि. । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अग्नि) अग्नि विद्युत् जिस प्रकार (अक्रन्दत्) गर्जना करता है। और (द्यौ.) जल दान करनेवाला मेघ जिस प्रकार (स्तनयन् इव) गर्जना करता है उसी प्रकार (अग्नि) ज्ञानी, विद्वान् गम्भीर स्वर से उपदेश करे और मेघ के समान समानभाव से सबको ज्ञान प्रदान करे, इसी प्रकार तेजस्वी राजा सिंह गर्जना करे और मेघ के समान गम्भीर ध्वनि करे। मेघ (क्षामा) क्षामा अर्थात् पृथ्वी को जिस प्रकार जलधारा रूप से प्राप्त होकर (विरुध. सम् अञ्जन्) नाना प्रकार से उत्पन्न होने वाली लताओं को प्रकट करता है उसी प्रकार वह तेजस्वी राजा भी (क्षामा) पृथिवी को (रेरिहत्) स्वयं भोग करता हुआ (वीरुधः) नाना प्रकार से उन्नतिशील प्रजाओं को (सम् अञ्जन्) ज्ञानादि से प्रकाशित करता है। वह (सद्य.) शीघ्र ही (जज्ञान) प्रकट होकर अपने गुणों से (इद्ध·) तेजस्वी एवं प्रकाशित होकर (हि) निश्चय से (ईम्) इस लोक को (वि अख्यत्) विशेष प्रकार से प्रकाशित करता है। और (रोदसी) आकाश और पृथिवी के (अन्त.) बीच में सूर्य के समान

राजा प्रजा के बीच और विद्वान् पुत्र माता पिता के बीच (भानुना) अपनी कान्ति से (आ भाति) प्रकाशित होता है ॥ शत० ६ । ७ । ३ । २ ॥

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन । सन्या मेधया रय्या पोषेण ॥ ७ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (अभ्यावर्त्तिन् अग्ने) मेरे सम्मुख आनेवाले या घर में पुन आनेवाले गृहपते ! एवं शत्रुओं को वार २ विजय करके पुन. लौटने वाले विजयशील राजन् ! तू (मा अभि) मेरे प्रति (आयुषा) दीर्घ जीवन, (वर्चसा) तेज, (प्रजया) प्रजा, (धनेन) धन, (सन्या) धन लाभ, (मेधया) मेधा बुद्धि, (रय्या) ऐश्वर्य और (पोषेण) पुष्टि इन सब के साथ (निवर्त्तस्व) प्राप्त हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

अग्ने ऽअङ्गिर. शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं त ऽउपावृतः । अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नो रयिमा कृधि ॥ ८ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । निषाद ॥

भा०—हे (अङ्गिरः अग्ने) ज्ञानवन् ! अंगारों के समान देदीप्यमान अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (ते आवृत·) तेरे हमारे प्रति लौट कर आगमन भी (शतं सन्तु) सैकड़ो हों और (ते) तेरे (उपावृत·) हमारे समीप आगमन भी (सहस्रं सन्तु) हजारो हों । (अथ) और (पोषस्य) पुष्टिकारक धन समृद्धि की (पोषेण) बहुत अधिक वृद्धि से (न नष्टम्) हमारे हाथ से गये धन को भी (पुनः कृधि) हमें पुनः प्राप्त करा (नः) हमारे (रयिम्) ऐश्वर्य को (पुनः आकृधि) फिर प्रदान कर ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

पुरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न ऽइषायुषा । पुनर्नः पाह्यꣳहसः ॥ ९ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! तू (पुनः) वार २ (ऊर्जा) बल पराक्रम से युक्त होकर और (पुनः) वार २ (इषा) अन्न और (आयुषा) दीर्घ आयु से युक्त होकर (निवर्त्तस्व) लौट आ । (नः) हमें (पुन) वार २ (अहस.) पाप से (पाहि) बचा ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व । विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥१०॥

अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! राजन् ! तेजस्विन् ! तू (रय्या) ऐश्वर्य के (सह) साथ और (विश्वप्स्न्या) समस्त योग्य पदार्थों का भोग प्राप्त करानेहारी और (धारयः) धारण करनेहारा विद्या और शक्ति से (विश्वत· परि) सब देशों से ऐश्वर्य को लालाकर (पिन्वस्व) देश को समृद्ध कर और (निवर्त्तस्व) पुनः अपने देश मे आ ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ६ ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविंचाचलिः ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ ११ ॥

ऋ० १० । १७३ । १ ॥

ध्रुव ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ष्यनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—मैं पुरोहित, हे राजन् ! (त्वा आहार्षम्) तुझको स्थापित करता हूं । तू (अन्त) प्रजा के भीतर (अभू) सामर्थ्यवान् हो । तू (अविचाचलि.) अचल, (ध्रुवः) ध्रुव, स्थिर, दृढ़ होकर (तिष्ठ) बैठ । (त्वा) तुझको (सर्वा) समस्त (विश) प्रजाएं (वाञ्छन्तु) चाहें । (त्वत्) तेरे हाथ से कहीं (राष्ट्रम्) राष्ट्र, राज्य का वैभव (मा अधिभ्रशत्) न निकल जाय ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ७ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो ऽअदितये स्याम ॥ १२ ॥

ऋ० १ । २४ । १५ ॥

शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (वरुण) शत्रुओं को बांधने वाले या वारण करने हारे राजन् ! (अस्मत्) हम से (उत्तमम् पाशम्) शरीर के ऊपर के भाग में वधे वन्धन को (उत् अथय) ऊपर से दूर कर। (अधम पाशम् अव अथय) नीचे के वन्धन को नीचे गिरादे। (मध्यम वि अथय) बीच के बधे वधन को विशेष रीति से शिथिल कर। (अथ) और हे (आदित्य) सूर्य के समान समस्त राष्ट्र को अपने वश में लेनेहारे तेजस्वी पुरुष ! (वयम्) हम (तव व्रते) तेरी रक्षण व्यवस्था में रहते हुए (अदितये) अखण्ड राज्य भोग के लिये (अनागस) अपराध रहित होकर (स्याम) रहें ॥ शत० ६ । ७ । ३ । ८ ॥

अग्ने बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान् तमसो ज्योतिषागात् ।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्गऽआजातो विश्वा सद्मान्यप्राः ॥ १३॥

ऋ० १० । १ । १ ॥

त्रित ऋषि । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—(अग्ने) सब से प्रथम (बृहत्) महान् सूर्य जिस प्रकार (उषसाम् ऊर्ध्वः) उषा कालों, प्रभात वेलाओं के भी ऊपर (अस्थात्) प्रखर तेज से विराजता है और (ज्योतिषा) अपनी दीप्ति से (तमसः) अन्धकार को (नि जगन्वान्) दूर हटाता हुआ (अगात्) उदित होता है (अग्निः) दीप्तिमान् सूर्य (रुशता) कान्तिमान् (भानुना) अपने तेज से (स्वङ्ग) सुन्दर शोभा वाला होकर (विश्वा सद्मानि) सब घरों को भी (अप्राः) प्रकाश से पूर्ण करता है, उसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (बृहत्) महान् शक्ति सम्पन्न, (उषसाम् ऊर्ध्वः) शत्रुदाहक सेनाओं के ऊपर उनका

नायक होकर (ज्योतिषा) अपने पराक्रम रूप तेजसे (तमस.) आवरण-कारी शत्रुरूप अन्धकार को दूर हटाता हुआ उदित हो। ऐसा तेजस्वी होकर (रुशता भानुना) शत्रु के नाश करने वाले तेज से (आजात.) सब प्रकार से समृद्ध होकर (स्वङ्ग) उत्तम राज्य के अंगो से बलवान्, स्वयं भी सुदृढ़ अंग होकर (विश्वा सद्मानि) सब स्थानों को, सब के घरों को, समस्त विभागों को (अप्रा) पूर्ण कर, समृद्ध कर। शत० ६। ७। ३। १०॥

द्वꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद् व्योमसद्ब्जा गोजा ऽऋतजा ऽअद्रिजा ऽऋतं बृहत्॥ १४॥ ऋ० १०। ४०। ५॥

अग्निर्जीविश्वरौ देवते। स्वराड् जगती। निषाद॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १०। २४॥ शत० ६। ७। ३। ११ १२॥

सीद त्वं मातुरस्या ऽउपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान्। मैनां तपसा मार्चिषाऽभिशोचीरन्तरस्याꣳ शुक्रज्योतिर्विभाहि॥ १५॥

अग्निर्देवता। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(मातुः) माता के (उपस्थे) समीप जिस प्रकार विद्वान् पुत्र विराजता है और उसके सुख का कारण होता है, इसी प्रकार, हे (अग्ने) अग्ने! सूर्य के समान तेजस्विन्! हे राजन्! (त्वम्) तू (मातुः) अपने बनाने वाले, उत्पादक ज्ञानवान् गुरु, अथवा भूमि के, या प्रजा के (उपस्थे) समीप, उसके पृष्ठ पर (विश्वानि वयुनानि) समस्त उत्कृष्ट ज्ञानों को जानता हुआ (सीद) विराजमान हो। (एनाम्) उसको (तपसा) तप से, तापजनक (अर्चिषा) ज्वाला के समान शस्त्र बल से (मा अभि-शोची.) सतप्त मत कर। तू (अस्यां अन्त.) उसके भीतर (शुक्र ज्योतिः) शुद्ध, प्रकाशवान्, तेजस्वी, बलवान् एक निष्पाप रीति से ऐश्वर्यवान् होकर (विभाहि) विविध रूपों से प्रकाशित हो॥ शत० ६। ७। ३। १५॥

अन्तरग्ने रुचा त्वमुखाया सदने स्वे ।
तस्यास्त्वꣳहरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥
अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! (त्वम्) तू (उखाया. अन्तः) नाना ऐश्वर्यों को खोदकर निकालने की एकमात्र खान रूप भूमि एवं राष्ट्र की प्रजा के भीतर और (स्वे सदने) अपने आश्रयस्थान या आसन पर विराजमान रहकर (रुचा) दीप्ति से सूर्य के समान प्रज्वलित हो । और (त्वं) तू (हरसा) अपने ज्वालामय तेज के समान पररा‌ष्ट्र के हरण करने मे समर्थ बल से (तस्या) उसको (तपन्) तपाता हुआ भी, हे (जातवेद) ऐश्वर्यों से महान् ! तू (तस्या.) उस प्रजा के लिये (शिवः भव) सूर्य और अग्नि के समान ही कल्याणकारी हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । १५ ॥

शिवो भूत्वा मह्यमग्ने ऽअथो सीद शिवस्त्वम् ।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ॥ १७ ॥
अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धार. ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तू (मह्यम्) मुझ राष्ट्रवासी प्रजा के लिये (शिवः भूत्वाम्) कल्याणकारी होकर (सीद) सिंहासन पर विराज । (त्वम् शिव.) तू कल्याणकारी है । इसलिये (सर्वा दिश) समस्त दिशाओं को (शिवा· कृत्वा·) कल्याणमय, सुखकारिणी बनाकर (इह) इस राष्ट्र में (स्व योनिम्) अपने आश्रय स्थान प्रजा के ऊपर (आसद) विराजमान हो ॥ शत० ६ । ७ । ३ । १५ ॥

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे ऽअग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदा· ।
तृतीयमप्सु नृमणा ऽअजस्रमिन्धान ऽएनं जरते स्वाधीः ॥ १८ ॥
१८-२६—वसश्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(प्रथम) सब से प्रथम (दिव. परि) आकाश मे विद्यमान सूर्य के समान ज्ञान में निष्ठ (अग्निः) अग्नि, अग्रणी विद्वान् (जज्ञे) उत्पन्न होता है। (द्वितीयम्) दूसरे (अस्मत्) हममे से (जातवेदा.) वेदों का विद्वान्, एवं ऐश्वर्यवान् भी अग्नि विद्युत् के समान है। (तृतीयम्) तीसरा (अप्) जलो मे विद्यमान रस के समान या बडवानल के समान है जो (नृमणाः) मनुष्यों में सबसे अधिक विचारवान् है। जो स्वयं (अजस्रम्) नित्य निरन्तर (इन्धानः) तेज से प्रकाशमान रहता है। (एनम्) उसको (स्वाधी) उत्तम रीति से धारण करने में समर्थ विचारशील प्रजाजन (जरते) उसकी स्तुति करते हैं ॥ शत० ६ । ७ । ५ । २ ॥

त्रिधा ते ऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि त्रिधा ते धाम विभृता पुरुत्रा।
त्रिधा ते नाम परमं गुहा यद्त्रिधा तमुत्सं यत ऽआजगन्थ ॥ १६ ॥

अग्निर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! (ते) तेरे (त्रेधा) तीन प्रकार के (धाम) धाम, तेज को हम (विद्म) जाने। और (पुरुत्रा) समस्त प्रजाओं के पालने मे समर्थ (त्रयाणि) तीनों (विभृता) विविधरूपों से धारण किये हुए (धाम) धारण सामर्थ्यों और बलों को भी (विद्म) जानें। और (ते) तेरा (गुहा यत्) गुहा मे, विद्वानो के हृदय मे या वाणी मे छिपे या विख्यात तेरे (नाम) नाम, नमनकारी बल को या विख्याति को (विद्म) जाने और तू (यत) जहां से, जिस स्थान से (आजगन्थ) आता या प्रकट होता है हम (तम्) उस (उत्सम्) बल आदि के निकास को भी (विद्म) जानें ॥ शत० ६ । ७ । ४ । ४ ॥

'त्रेधा धाम'—अग्नि, विद्युत् और सूर्य।

'त्रयाणि धामानि' भवन्ति स्थानानि, नामानि, जन्मानि। अथवा आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्न्यादीनि।

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अन्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाꣳसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्॥२०॥

अग्निर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(नृमणा) मनुष्यों के भीतर अपने चित्त को देनेवाला, लोकोपकारक पुरुष (त्वा) तुझको (समुद्रे) समुद्र के बीच और (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर से भी विद्युत् या बड़वानल के रूप से (ईधे) प्राप्त करता है और उसी प्रकार (समुद्रे अप्सु अन्तः त्वा ईधे) उत्तम अभ्युदय के मार्ग पर प्रजाओं के बीच राजा को प्रज्वलित करता है। (नृचक्षा) मनुष्यों को ज्ञानदर्शन करानेवाला विद्वान् जन ही (दिवः ऊधन्) सूर्य प्रकाश के उद्गमस्थान, या आकाश के ऊधस्, गायके थान के समान नित्य रसप्रदान करनेवाले मेघ में विद्युत् के समान (दिव ऊधन्) ज्ञान प्रकाश के उद्गमस्थान आचार्य में (ईधे) प्रज्वलित करता है और (तृतीय) सर्वोच्च (रजसि) लोकमें (तस्थिवासम्) विराजमान (त्वा) तुझको (महिषा) बड़े २ विद्वान् लोग (अपाम् उपस्थे) प्रजाओं के बीच, जलों के बीच, विद्युत् के समान (अवर्धन्) बढ़ावें॥

शत० ६। ७। ४। ५॥

अकन्ददग्नि स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥२१॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १२। ६॥

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो ऽअप्सु राजा वि भात्यग्र ऽउषसामिधानः॥२२॥

अग्निर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(श्रीणाम्) लक्ष्मी, ऐश्वर्यों का (उदार.) सत्पात्रों में दान करने द्वारा (रयीणाम्) ऐश्वर्यों का आश्रय स्थान, उनका धारण करनेवाला, (मनीषाणाम्) नाना ज्ञान करानेवाली मतियों के (प्रार्पणः) प्राप्त करानेवाला, (सोमगोपा) सोम, ऐश्वर्यमय राष्ट्र का या विद्वानों का रक्षक, (वसु.) प्रजाओं का बसाने वाला, (सहस.) शत्रु के पराजय करनेवाले बलका (सूनु.) प्रेरक, सञ्चालक, सेनानायक (राजा) राजा (उषसाम् अग्रे) दिनों के प्रारम्भ में उदय होनेवाले सूर्य के समान (इधान.) स्वयं अपने प्रताप से दीप्त होनेवाला (अप्सु) जलों या समुद्र के तल पर उठते सूर्य के समान प्रजाओं के बीच (विभाति) विविध प्रकार से शोभा देता है ।

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी ऽअपृणाज्जायमानः ।
वीडुं चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

अग्निर्देवता । आर्ची त्रिष्टुप । धैवत ॥

भा०—सूर्य जिस प्रकार (विश्वस्य) अपने प्रकाश से समस्त संसार का (केतु) ज्ञान कराने वाला है और (भुवनस्य) समस्त लोक को (गर्भः) अपने वश में करने वाला, एवं उसमें नियामक शक्ति के रूप में व्यापक है और (जायमान) प्रकट होता हुआ (रोदसी) द्यौ और पृथ्वी दोनों को (आ अपृणात्) सर्वत्र व्याप लेता है उसी प्रकार जो विद्वान् पुरुष (विश्वस्य केतु·) सबको अपने ज्ञान से ज्ञान कराने वाला, और (जायमानः) उदित होकर (रोदसी) राजवर्ग और प्रजावर्ग दोनों को (आ अपृणात्) पूर्ण और पालन करने में समर्थ है और वायु जिस प्रकार (अद्रिम् अभिनत्) मेघ को या विद्युत् पर्वत को काट देता है उसी प्रकार (वीडुम् अद्रिम्) बलवान् अभेद्य शत्रुगण को (परायन्) उनपर

२३—'वीळु'० इति काण्व० ।

आक्रमण करता हुआ (अभिनत्) तोड़ डालता है और (यत्) जिस (अग्निम्) अग्रणी नामक, ज्ञानवान् पुरुष को (पञ्च) पांचो जन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद (अयजन्त) आदर करते है वह राजा सूर्य के समान प्रकाशित होता है ।

उशिक् पावको ऽअरतिः सुमेधा मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि ।
इयर्त्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ २४ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(मर्त्येषु) मरणधर्मा देहों में (अमृत.) अविनाशी, अमृत स्वरूप जिस प्रकार विद्यमान् है, उसी प्रकार मनुष्यो के बीच (उशिक्) सबका वशयिता, कान्तिमान्, (पावक) सबको पवित्र करने वाला, (अरति.) अत्याधिक मतिमान्, (सुमेधा.) उत्तम बुद्धि सम्पन्न, विद्वान्, (निधायि) स्थापित किया जाय । (अग्नि) जिस प्रकार (अरुष धूमम् इयर्त्ति) कान्ति रहित धूम को छोड़ता है उसी प्रकार वह विद्वान् भी (अरुषम्) रोषरहित (धूमम्) शत्रुओं को अपने पराक्रम से कंपाने वाले वीर्य या बल को (उत् इयर्त्ति) उन्नत करता है । समस्त राष्ट्र को (भरिभ्रत्) भरण पोषण करता हुआ · शुक्रेण शोचिषा) अति उज्ज्वल प्रकाश से सूर्य (द्याम् इनक्षन्) जिस प्रकार आकाश को व्यापता है उसी प्रकार वह भी उज्ज्वल प्रकाश से (द्याम्) तेजस्वी लोको को या ज्ञानवान् पुरुषों को प्राप्त होता है ।

दृशानो रुक्म उर्व्या व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः ।
अग्निरमृतो ऽअभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ २५ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १२ । १ ॥

यस्तेऽ अद्य कृणवद्भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने ।
प्र तं नय प्रतरं वस्योऽ अच्छाभि सुम्नं देवभक्तं यविष्ठ ॥ २६ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (देव) देव, राजन् ! (यः) जो (अद्य) आज, नित्य (ते) तेरे लिये (घृतवन्तम्) घृत से भरा हुआ (अपूपम्) अपूप, मालपूए के समान, भोज्य पदार्थ को (कृणवत्) तैयार करता है । (तं) उस (प्रतरम्) उत्कृष्ट पुरुष को (प्र नय) प्राप्त कर । हे (वनिष्ठ) बलवान् पुरुष ! तू (वस्यः) सर्व श्रेष्ठ (सुम्नम्) सुखकारी (देवभक्तम्) विद्वान् सात्विक पुरुषोचित अन्न को (अच्छ अभि) प्राप्त करे ॥

सेनापति पक्ष में—हे (भद्रशोचे) कल्याण, कमनीय तेजवाले देव ! अग्ने ! राजन् ! (यः ते) जो तेरे (घृतवन्तम् अपूपं) तेजोयुक्त इन्द्रिय और राज्य सामर्थ्य को (कृणवत्) करता है (ते) उस (प्रतरं) राज्य कार्य को पार लगानेवाले राज्यकर्ता को (वस्य. नय) उत्तम धन प्राप्त करा। हे (यविष्ठ) युवतम् ! वीर्यवन् ! उस (देवभक्तं) राज के सेवन योग्य (सुम्नं अच्छ अभि) सुखदायी धन भी प्रदान कर ॥

आ तं भज सौश्रवसेष्वन्न ऽउक्थ ऽउक्थ ऽआ भज शस्यमाने ।
प्रियः सूर्य्ये प्रियो ऽअग्ना भवात्युज्जातेन भिनदुज्जनित्वैः ॥२७॥

अग्निर्देवता विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्वी, राजा के पद पर (प्रिय) सबको प्रिय, हितकारी और (अग्नौ) अग्नि, शत्रुतापक, अग्रणी सेना नायक के पद पर भी (प्रिय) सर्वप्रिय (भवाति) हो और (जातेन) अपने किये हुए कार्य से और (जनित्वैः) आगे होनेवाले कार्यों से भी (उत् अभिनत्) शत्रुओं को उखाड़ता और प्रजा के उपकार के कार्यों को उत्पन्न करता है (तम्) उसको, हे राजन् ! (सौश्रवसेषु) उत्तम कीर्त्ति के पदों और अवसरों पर (आ भज) नियुक्त कर और (उक्थे उक्थे शस्यमाने) प्रत्येक प्रशसा योग्य यज्ञादि कार्य के वर्णन करने के अवसर पर भी (तं आ भज) उसकी शुश्रूषा कर, उसको मान-पद प्राप्त करा ॥

त्वामग्ने यजमानाऽअनु द्यून् विश्वा वसु दधिरे वार्य्याणि ।
त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः ॥२८॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वान् राजन् ! (त्वां यजमाना) तेरे से संगति करनेहारे, तेरे सहयोगी, (अनु द्युन्) प्रतिदिन (वार्याणि) नाना वरण करने योग्य (विश्वा) सब प्रकार के (वसु) धनैश्वर्यों को (दधिरे) धारण करते हैं । और वे (त्वया सह) तेरे साथ ही उद्योग से (द्रविणम्) ऐश्वर्य को प्राप्त करना (इच्छमाना.) चाहते हुए (उशिज.) वशी एवं कामनावान् विद्वान् पुरुष (गोमन्त) उत्तम किरणों से युक्त सूर्य और विद्युतों से युक्त मेघ को जिस प्रकार किसान चाहते है, धनी लोग जिस प्रकार गौओं से भरी गोशाला को चाहते है उसी प्रकार (गोमन्त) किरणों से युक्त (व्रजम्) सूर्य के समान तेजस्वी, एव वेद-वाणियों से युक्त (व्रजम्) सबसे अभिगन्तव्य परिव्राट् के समान विद्वान् को (विवव्रु.) वरण करते हैं, उसके शरण में आते, उसको घेर कर बैठते हैं ।

अस्तावि नरां सुशेवो वैश्वानरोऽग्निर्ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरम् ॥ २९ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(नरां सुशेव) मनुष्यों को उत्तम सुख देनेवाला, (वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का हितकारी, प्रजापति, (सोमगोपा.) सोम, राजपद या राष्ट्र के ऐश्वर्य का रक्षक (अग्नि.) तेजस्वी राजा, नेता (ऋषिभि.) मन्त्रद्रष्टा विद्वान्, ऋषियों द्वारा (अस्तावि) स्तुति किया जाता है । हम (द्यावा-पृथिवी) राजा और प्रजा को पिता और माता के समान (अद्वेषे) द्वेष रहित रहने का (हुवेम) उपदेश करते हैं । हे (देवा.) देवगण विद्वान् शासको ! विजयशील योद्धाओं और दानशील धनाढ्य पुरुषो ! आप लोग

(अस्ये) हमे (सुवीरम् रयिम्) उत्तम वीर पुरुषों से युक्त ऐश्वर्य को (धत्त) प्रदान करो ॥

सुमिद्धाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।
आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ ३० ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । १ ॥ शत० ६ । ८ । १ । ६ ॥

उदु त्वा विश्वेदेवाऽअग्ने भरन्तु चित्तिभिः ।
स नो भव शिवस्त्वꣳ सुप्रतीको विभावसुः ॥ ३१ ॥

तापस ऋषि. । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप । गान्धार ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! राजन् ! (त्वा) तुझको (विश्वे-देवा·) समस्त विजयशील विद्वान् एवं दानशील पुरुष (चित्तिभिः) अपनी विद्याओं से और संचित शक्तियों से या बुद्धि पूर्वक किये कार्यों से (उद् भरन्तु) पूर्ण करें, उन्नत करें, तुझे बढावें और (स) वह तू (नः) हमारे लिये (सुप्रतीकः) सुरूप, शत्रु के प्रति उत्तमता से जाने में समर्थ, (विभावसु·) विशेष तेजस्वी, ऐश्वर्यवान्, अग्नि और सूर्य के समान दीप्तिमान्, (शिव.) कल्याणकारी (भव) हो ॥ शत० ६ । ८ । १ । ७ ॥

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् ।
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन् मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजाः ॥ ३२ ॥

अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! विद्वन् ! (ज्योतिष्मान्) परम तेजस्वी होकर भी (त्वम्) तू (शिवेभि. अर्चिभि.) अपनी कल्याणकारी ज्वालाओं, एक मात्र शस्त्रमालाओं से (प्र इत् याहि) प्रयाण कर और (बृहद्भि) अपने बड़े (भानुभिः) सूर्य के समान तेजों से (भासन्) प्रकाशित होता हुआ भी (प्रजा) अपनी प्रजा को (तन्वा) शरीर से (मा हिंसी)

कभी नष्ट मत कर । प्रजाओं को शारीरिक वध का दण्ड मत दे । उनको मत सता । अथवा (तन्वा प्रजा मा हिंसी) अपनी विस्तृत शक्ति से प्रजा का नाश मत कर । शत० ६ । ८ । १ ॥ १० ॥

अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ।
सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः॥२३॥

भा०—व्याख्या देखो १२ । ६ ॥ शत० ६ । ८ । १ । १३ ॥

प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वियत्सूर्यो न रोचते बृहद्भाः । अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्योऽअतिथिः शिवो नः॥ २४ ॥

ऋ० ७ । ८ । ४ ॥

वत्सप्रीर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धवतः ॥

भा०—(अयम् अग्नि) यह तेजस्वी राजा (यत्) जब (भरतस्य) अपने भरण पोषण, एवं पालन करने योग्य राष्ट्र के (प्रप्र शृण्वे) समस्त सुख दुःख स्वयं सुनता है, उसके कष्टों पर कान देता है, तब (बृहद्भा.) विशाल तेजस्वी राजा (सूर्य न सूर्य के समान (रोचते) प्रकाशित होता है । और (य) जो राजा (पृतनासु) सेनाओं से (पूरुम्) पूर्ण बलवान् शत्रु पर भी (अभितस्थौ) चढ़ जाने में समर्थ है वह । दैव्यः) दिव्य शक्तियों से युक्त होकर (दीदाय) प्रकाशित हो । और वह (न) हमारा मंगलकारी होने से (अतिथि) अतिथि के समान पूजनीय हो ॥

शत० ६ । ८ । १ । १४ ॥

आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत्स्योने कृणुध्वꣳ सुरभाऽउ लोके।
तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत् ॥ ३५ ॥

भा०—हे (देवा. आपः) दिव्य गुण वाले, विजय शक्ति से युक्त, एवं दानशील बलों के समान शुभ, शान्ति आदि गुणों में व्यापक एवं आप्त प्रजाओ ! तुम लोग (एतत्) इस (भस्म) राजा के अनुरूप, तेज को

(प्रतिगृभ्णीत) धारण करो । (स्योने) सुखकारी, (सुरभौ लोके) ऐश्वर्यवान् लोक में, या उत्तम नियमकारी पद पर इसको (कृणुध्वम्) रखो, पालन करो । (तस्मै) उसके सुख के लिये (सुपत्नी) उत्तम पत्नी रूप (जनय.) स्त्रियां जिस प्रकार वीर्य धारण करने के लिये अपने प्रिय पति के सामर्थ्य आदर से (नमन्तां) झुकती हैं। उसी प्रकार प्रजाएँ अपने राजा के प्रति आदर से झुके । और (पुत्रः माता इव) पुत्र को जिस प्रकार माता पालती पोषती है उसी प्रकार हे आप्त प्रजाजनो ! आप लोग भी (एतत्) इस राजकीय तेज को (अप्सु) अपने उत्तम कार्यों और व्यवहारों द्वारा (बिभृत) पुष्ट करो ॥ शत० ६ । ८ । २ । ३ ॥

स्त्रियों के पक्ष मे—हे पुरुषो ! (आपः देवीः) आप्त, शुभ गुणों वाली देवियों को आप लोग (एतत् भस्म प्रति गृभ्णीत) इस तेज ग्रहण करो । (स्योने सुरभौ लोके उ कृणुध्वम्) उनको सुखमय स्थानों में रक्खो । (सुरभौ) पति के (एतत् भस्म) इस तेजस्वी वीर्य को (सुपत्नीः जनयः) उत्तम पत्नियें (नमन्ताम्) आदर से स्वीकार करें, धारण करें । और (माता पुत्रः इव एतत् बिभृत) पुत्र को माता के समान, उस वीर्य को धारण पोषण करें ।

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे ।
गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ ३६ ॥ ऋ० ८ । ४ । ३ । ६ ॥

विरूप ऋषि । अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्ज ॥

भा०—गर्भों में बीजोत्पत्ति की समानता से राजोत्पत्ति का वर्णन करते है । हे (अग्ने) तेजस्विन् ! राजन् ! जिस प्रकार जीव की (अप्सु संधि) जलो में स्थिति है । उसी प्रकार हे राजन् ! (अप्सु ते सधि) आप्त प्रजाजनो मे तेरा निवासस्थान है । जीव, जिस प्रकार (ओषधी. अनुरुध्यसे) ओषधियो को प्राप्त होता है । ओषधिरूप में उत्पन्न होता है । अथवा (सः)

वह जीव (ओपधी. अनु) ओषधियों के समान (रुध्यसे) गर्भों में उत्पन्न होता है वह ठीक ओषधियों के समान ही मातृ-योनि कमल मे गर्भित होकर अपना मूल जमाकर उत्पन्न होता है। हे जीव ! तू (गर्भे सन् पुनः जायसे) गर्भ में रहकर पुन. पुत्ररूप से या शरीरधारी रूप से उत्पन्न होता है। उसी प्रकार राजा का भी (अप्सु संधिः) प्रजाओं के बीच में निवासस्थान है। (स) हे राजन् ! वह तू (ओषधीः अनुरुद्धयसे) प्रजाओं के हित के लिये ही राज्यपद ग्रहण के लिये आग्रह किया जाता है। उनके (गर्भे सन्) ग्रहण या वश करने में समर्थ होकर, तू (पुन· जायसे) पुन , वार २ शक्तिमान् होकर प्रकट होता है ॥ शत० ६ । ८ । २ । ४ ॥

गर्भो ऽओषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो ऽअपामसि ॥ ३७ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे जीव ! अग्ने ! तू (ओषधीनां गर्भ. असि) ओषधियों का भी गर्भ है। उनके भी बीच में विद्यमान है। तू (वनस्पतीनां गर्भ. असि) वनस्पति बडे २ वृक्षों का गर्भ है। अर्थात् उनके भी बीच में विद्यमान है। (विश्वस्य भूतस्य गर्भः) समस्त उत्पन्न प्राणियों के बीच में विद्यमान है और (अपा गर्भः असि ' जलों के भीतर भी विद्यमान है। इसी प्रकार अग्नि या विद्युत् ओषधियों के रसों में, वनस्पतियों के काष्ठों में और समस्त पदार्थों के बीच और जलों के भीतर भी विद्यमान है। राजा के पक्ष में—(ओषधीना) तापधारक वीर पुरुषों के (गर्भः) ग्रहण करने या वश करने में समर्थ है, (वनस्पतीनाम्) महावृक्ष के समान सर्वाश्रय बड़े २ पुरुषों को भी (गर्भः) वश करने में समर्थ है। (विश्वस्य भूतस्य) समस्त प्राणियों को वश करने में समर्थ है।

और (अपा गर्भ. असि) आप्तजन, प्रजाओं को भी वश करने में समर्थ, उनसे स्वीकार किये जाने योग्य है ॥ शत० ६ । ८ । २ । ४ ॥

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ।
सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ॥ ३८ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जीवपक्ष में—हे (अग्ने) जीव ! तू (भस्मना) अपने देह की भस्म से (पृथिवीम् प्रसद्य) पृथिवी में मिलकर और (भस्मना) तेजमय वीर्यरूप से ही (अप.) जलों और (योनि च) मातृयोनि को भी प्राप्त होकर (मातृभिः) माताओं के साथ पितृरूपों में (संसृज्य) संयुक्त होकर (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी बालक होकर (पुनः आसदः) पुनः इस लोक में आता है। अग्नि-पक्ष मे—अग्नि जिस प्रकार भस्म होकर पुनः पृथिवी पर लीन होजाता है और जलों से मिलकर फिर (मातृभिः) ईश्वर की निर्माणकारिणी शक्तियों से युक्त होकर वृक्षादि रूप में पुनः काष्ठ होकर उत्पन्न होता है और जलता है ॥ शत० ६ । ८ । २ । ६ ॥

राजा के पक्ष में—हे (अग्ने) तेजस्विन् राजन् ! (भस्मना) अपने तेज से (योनिम्) अपने मूलकारण उत्पादक और आश्रयरूप (अप.) प्रजाओं और (पृथिवीम्) पृथिवी को (प्रसद्य) प्राप्त होकर (मातृभि.) ज्ञानशील पुरुषों के साथ (संसृज्य) मिलकर (ज्योतिष्मान्) सूर्य के समान तेजस्वी होकर (पुनः बार २ (आ सद.) अपने आसन पर आदर-पूर्वक विराज ।

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने ।
शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳशिवतमः ॥ ३९ ॥

अग्निर्ऋषि । निचृदनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—(यथा) जिस प्रकार (मातुः उपस्थे) माता की गोद में बालक सोता है, उसी प्रकार हे (अग्ने) राजन् ! तेजस्विन् ! तू भी (पुन.) फिर अपने (सदनम्) सिंहासन पर (आसद्य) बैठकर (अप पृथिवीम्) समस्त प्रजाओं और पृथिवी को (आसद्य) प्राप्त कर, उसपर अधिष्ठित होकर (अस्याम्) इस पृथिवी के भीतर (शिवतम) सबसे अधिक कल्याणकारी होकर (शेषे) व्याप्त, प्रसुप्त, गम्भीर होकर रह ॥ शत० ६ । ८ । २ । ६ ॥

पुनर्ऊर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यꣳहसः ॥४०॥
सह रय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया। विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि॥

भा०—व्याख्या देखो १२ । ९,१० ॥ शत० ६ । ८ । २ । ६ ॥

बोधा मेऽस्य वचसो यविष्ठ मꣳहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधावः।
पीयति त्वोऽअनु त्वो गृणाति वन्दारुष्टे तन्वं वन्देऽअग्ने ॥ ४२ ॥

ऋ० १ । १४७ । २ ॥

दीर्घतमा ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (यविष्ठ) युवतम ! हे बलवन् ! हे (स्वधाव.) स्व= शरीर को धारण करने योग्य अन्न के स्वामिन् ! (मे अस्य) मुझ इस प्रार्थी के (मंहिष्ठस्य) अत्यन्त अधिक आवश्यक रूप से कहने योग्य और (प्रभृतस्य उत्तम रीति से यथाविधि आपतक पहुंचाये गये (वचसः) वचन को (बोध) यथावत् जानो । इस न्यायकार्य में (त्व) कोई ' पीयति) तेरी निन्दा करेगा और (अनु त्व गृणाति) और कोई तेरी स्तुति करेगा । अथवा इस मेरे वचन को (त्व. पीयति) एक काटे और (त्व) दूसरा (अनुगृणाति) उसके पक्ष में कहे । इस प्रकार दोनों पक्षों की बात सुनकर आप निर्णय करें । और मैं (वन्दारु·) वन्दना करनेवाला, विनीत प्रार्थी, हे (अग्ने) ज्ञानवन् !

सत्य असत्य के विवेक करनेवाले विद्वन् ! राजन् ! (ते तन्वं) तेरे शरीर का या विस्तृत शासन का (वन्दे) अभिवादन करता हूं । राजा या विवेकी विद्वान् धर्माध्यक्ष के पास जाकर कोई अपना वचन लिखित प्रार्थनापत्र आदि उचित रीति से कहे । एक उसके विपक्ष में और एक पक्ष में कहे । फैसला होने पर विनीत प्रार्थी आदरपूर्वक विदा हो ॥ शत० ६ । ८ । २ । ९ ॥

अध्ययनाध्यापन पक्ष मे—हे (यविष्ठ) बलवन् ! युवतम ! (प्रभृतस्य) उत्तम ज्ञान के धारण करनेवाले, (मंहिष्ठस्य) तुझ बड़े विद्वान् पुरुष का (वचसः बोध) वचन का ज्ञान प्राप्त कर । हे (अग्ने) ज्ञानवन् पुरुष ! (पीयति त्वः अनुगृणाति त्वः) चाहे तुमारी कोई निन्दा करे या स्तुति करे, (वन्दारुः) अभिवादनशील शिष्य मैं (ते तन्वं वन्दे) तेरे शरीर के चरणों में नमस्कार करता हूं ।

स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन् ।
युयोध्यस्मद्द्वेषांसि विश्वकर्मणे स्वाहा ॥ ४३ ॥

सोमाहुतिर्ऋषिः अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वसुपते) धन ऐश्वर्य के पालक ! हे (वसुदावन्) धनप्रदाता ! (मघवा) ऐश्वर्यवान् (सूरिः) विद्वान् (सः) वह तू (बोधि) हमारे समस्त अभिप्राय को या सत्य असत्य को जान । और (अस्मत्) हम से (द्वेषांसि) द्वेषके या परस्पर के अप्रीति के कारणों को (युयोधि) दूर कर । हममें न्यायपूर्वक फैसला कर । (विश्वकर्मणे) समस्त राष्ट्र के कार्यों को उत्तम रीति से करनेहारे तेरे लिये (स्वाहा) हम सदा आदर वचन का प्रयोग करते हैं ॥ शत० ६ । ८ । २ । ९ ॥

पुनस्त्वाऽऽदित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ ।
यज्ञैः । घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ।

४४—'कामास्स्वाहा' इतिकाण्व० ।

भा०—(आदित्या.) आदित्य के समान विद्वान् (रुद्राः) रुद्र ब्रह्मचारी, (वसवः) वसु ब्रह्मचारी (त्वाम्) तुझको (पुनः समिन्धताम्) वार २ प्रदीप्त करे । (ब्रह्माणः) ब्रह्म, वेद के विद्वान् लोग (यज्ञैः) यज्ञों या सत्संगों द्वारा, हे (वसुनीथ) ऐश्वर्य के प्राप्त करानेहारे ! (पुन.सम् इन्धताम्) वार २ तुझे प्रदीप्त करें, पुन ज्ञानवान् करे । और (त्वम्) तू (घृतेन) घी से अग्नि के समान पुष्टिकारक पदार्थ से अपने (तन्व) शरीर को (वर्धयस्व) पुष्ट कर । (यजमानस्य) दानशील या संगति करनेहारे पुरुष के (कामाः) समस्त सकल्प, समस्त आशाएं (सत्याः सन्तु) सत्य हों ॥

अपेत॒ वीत॒ वि च॑ सर्प॒तातो॒ येऽत्र॒स्थ पु॒राणा॒ ये च॒ नूत॑ना॒ः ।
अदा॑द्य॒मोऽव॒सान॑ पृथि॒व्याऽअक्रा॒न्निमं पि॒तरो॑ लो॒कम॑स्मै ॥ ४५ ॥

लिंगोक्ता पितरो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत॰ ॥

भा०—हे (पितरः) राष्ट्र के पालक पुरुषो ! आप लोगो में से (अत्र) इस राज्यपालन के कार्य में (ये पुराणा) जो पुराने, पहले से नियुक्त और (ये च) जो (नूतनाः) नये नियुक्त हैं । वे (अप इत) दूर २ देशो मे भी जायें. (वि इत) विविध देशों में भ्रमण करे, (वि सर्पत) विविध उपायों से सर्वत्र सर्पण कर गुप्त दूतों का भी काम करे । (यमः) सर्वनियन्ता राजा (पृथिव्या) पृथिवी में (अवसानम्) तुम लोगो को अधिकार और स्थान (अदात्) प्रदान करता है । और (पितर.) राज्य के पालक लोग (अस्मै) इस राजा के लिये (इम लोकम्) इस भूलोक को (अक्रन्) वश करते हैं ।

शिक्षा-पक्ष में—(ये पुराणा ये च नूतना) जो पुराने वृद्ध और नये (पितर) पिता लोग हैं वे (अपेत) अधर्म से परे रहें । (वि इत)

४५—अथ गार्हपत्यचयनम् ।

धर्म का पालन करें (अत्र वि सर्पत च) यहां ही विचरण करें । (यमः) नियामक आचार्य (पृथिव्या अवसानं अदात्) पृथिवी में तुमको अधिकार पद दे, आप लोग इसके लिये इस सत्य सकल्पवान् पुरुष के लिये (इमं लोकम् अकन्) इस आत्मा का ज्ञान लाभ करावें ॥ शत० ७ । १ । १ । २–४ ॥

संज्ञानमसि कामधरणम्मयि ते कामधरणं भूयात् । अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितस्थ परिचितऽऊर्ध्वचित श्रयध्वम् ॥४६॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे अग्ने ! विद्वन् ! तू (संज्ञानम् असि) समस्त प्रजा को ज्ञान देनेहारा है । (ते) तेरा (कामधरणं) अपनी अभिलाषा को पूर्ण करने का जो सामर्थ्य है वह (मयि) मेरे में भी (कामधरणं भूयात्) मेरी आभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला हो । हे विद्वन् ! तू (अग्ने) अग्रणी, नेता पुरुष का (भस्म असि) भस्म अर्थात् तेज.स्वरूप है (अग्ने पुरीषम् असि) तेजस्वी सूर्य का लक्ष्मीसम्पन्न समृद्ध रूप है । हे प्रजाओ ! एवं अधिकारी पुरुषो ! आप लोग (चितः स्थ) ज्ञानवान् हो । आप लोग (परिचितः) सब ओर से ज्ञान सग्रह करनेहारे और (ऊर्ध्व-चित स्थ) उच्च पद मोक्ष का प्रवचन या ज्ञान करनेहारे भी हो । आप लोग (श्रयध्वम्) इस राष्ट्र में सुख से आश्रय पाइये । अथवा — हे (परिश्रित.) राजा के आश्रित एव उसके रक्षक प्रजा के सभासद् पुरुषो ! आप लोग (चित स्थ) विज्ञानवान् एवं धन सञ्चय करने में कुशल हैं । (परिचितः स्थ) सब ओर से उत्तम पदार्थों के संग्रहशील एवं (ऊर्ध्वचित·) उत्कृष्ट पदार्थों के संग्रहशील हो । आप लोग सञ्चित ईंटो के समान राष्ट्र की भित्ति मे (श्रयध्वम्) एक दूसरे के आश्रय बनकर रहो । या राजा का आश्रय करके रहो, उसकी सेवा करो ॥ शत० ७ । १ । १ । ८ ॥

अयꣳसोऽअग्निर्यस्मिन् त्सोमꣳसिन्द्रः सुतं दध्ने जठरे वावशानः ।
सहस्रियं वाजमत्यं न सप्तिꣳ ससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः ॥४७॥
ऋ० ३ । २२ । १ ॥

अग्निदेवता । विश्वामित्र ऋषि । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत स्वर ॥

भा०—(अय स. अग्नि) यह वह अग्नि, ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष है (यस्मिन्) जिसके आश्रय पर (इन्द्र.) ऐश्वर्यवान् राजा (वावशान.) अति अधिक सन्तुष्ट, एव अभिलाषावान् होकर (सहस्रिय) सहस्रो ऐश्वर्यों से समृद्ध (वाजम्) अन्नादिक (अत्य न सप्तिम्) अति वेगवान अश्व के समान आरोहण योग्य (सुतम्) व्यवस्थित, शासित (सोमम्) समृद्ध राष्ट्र को (जठरे) अपने वश करनेवाले अधिकार में। दधे) धारण करता है । हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवान् एव प्रजावान् पुरुष ! तू भी (ससवान् सन्) दान करता हुआ ही (स्तूयसे) स्तुति किया जाता है ॥ शत० ७ । १ । १ । २१ ॥

यहा 'सहस्रियं वाजम्' यह पाठ महर्षि दयानन्दसंमत विचारणीय है ।

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥ ४८ ॥
ऋ० ३ । २२ । २ ॥

विश्वामित्र ऋषि । अग्निदेवता । भुरिगार्षी पक्ति । पन्चम ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! तेजस्विन् सूर्य के समान राजन् ! (यत् ते वर्च) जो तेरा तेज (दिवि) सूर्य में विद्यमान है और (यत् ते वर्च पृथिव्याम्) जो तेरा तेज पृथिवी मे विद्यमान है और (यत् ओषधीषु) जो तेरा तेज ओषधियो और शत्रुसतापकारी सैनिको मे है और हे (यजत्र) उपासनीय पूज्य पुरुष ! जो तेरा तेज (अप्सु) जलों के समान शान्त-स्वभाव प्रजाजनो

४७—सहस्त्रिय वाजमितिपाठो दयानन्दसम्मतश्चिन्त्य. ॥

में है, (येन) जिस तेज से (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी तू (आततन्थ) व्यापता है, (स) वह तेरा तेज (भानुः) अति दीप्ति युक्त (त्वेषः) कान्तिमान् अति तीक्ष्ण होकर भी (अर्णव) व्यापक या जल से पूर्ण समुद्र के समान गम्भीर, ज्ञानवान् और (नृचक्षाः) समस्त मनुष्यों के शुभाशुभ कर्मों का सूर्य के समान द्रष्टा है ॥ शत० ७ । १ । १ । २३ ॥

अग्ने दिवोऽअर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँऽ ऊचिषे धिष्ण्या ये ।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तऽआपः ॥४९॥

ऋ० ३ । २२ । ३ ॥

विश्वामित्र ऋषि । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्ति । पञ्चम ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! तेजस्विन् ! तू (दिवः) सूर्य या प्रकाश के (अर्णम्) विज्ञान को (अच्छा जिगासि) भली प्रकार प्राप्त करता है । (ये धिष्ण्याः) और जो बुद्धियों को प्रेरणा करनेवाले, विद्वान् पदाधिकारी पुरुष हैं उन (देवान्) मुख्य पुरुषों को (ऊचिषे) तू उपदेश और अनुज्ञा प्रदान करता है । और (याः) जो (आपः) आप्तजन (सूर्यस्य) सूर्य के समान तेजस्वी राजा के (रोचने) अभिमत कार्य में (परस्तात्) दूर देश में जाते हैं और (याः च अवस्तात्) जो आप्तजन उसके समीप (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित रहते हैं तू उनको भी (जिगासि) अपने वश कर और उनको (ऊचिषे) शिक्षा कर ॥ शत० ७ । १ । १ । २४ ॥

पुरीष्यासोऽअग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः ।
जुषन्तां यज्ञमद्रुहांऽनमीवाऽइषो महीः ॥५०॥ ऋ० ३ । २२ । ४ ॥

विश्वामित्र ऋषि. । अग्निर्देवता । आर्ची पंक्ति' । पञ्चमः ॥

भा०—(पुरीष्यास) प्रजाओं के पालन करने में समृद्ध, ऐश्वर्यवान् (प्रावणेभिः) उत्कृष्ट सम्पत्तियों के लाभ करने के साधनों और विद्वानों

द्वारा (सजोषस) सबके प्रति समान प्रेम से वर्त्ताव करनेवाले, (यज्ञम्) व्यवस्थित राष्ट्र के प्रति (अद्रुह) कभी द्रोह न करनेहारे अग्नय) तेजस्वी, अग्रणी नायक विद्वान् पुरुष (अनमीवाः) रोगरहित (महीषः) बड़े अन्न आदि सम्पत्तियों को (जुषन्ताम्) सेवन करें, प्राप्त करे ॥ शत० ७ । १ । १ । २५ ॥

इडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिं गोः शश्वत्तमꣳ हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ५१ ॥

ऋ० ३ । २२ । ५ ॥

विश्वामित्र ऋषि । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! (हवमानाय) बल से स्पर्द्धा करनेवाले के लिये (इडाम्) अन्न और भूमि और (पुरुदꣳसम्) बहुत से कार्य व्यवहारों को पूर्ण करनेवाली (गो सनिम्) पृथ्वी के या पशुओं के विभाग को (शश्वत्-तमम्) सदा के लिये (साध उन्नत कर । (नः) हमारा (सूनु) उत्पन्न (पुत्र) पुत्र (विजावा स्यात्) विविध ऐश्वर्यों का जनक हो । हे (अग्ने) राजन् ! (सा) वह (ते सुमतिः) तेरी दी हुई उत्तम व्यवस्था (अस्मे) हमारे कल्याण लिये (भूतु) हो ।

अध्यापक के पक्ष मे—हे अग्ने ! आचार्य ! तेरा (पुरुदꣳस) बहुत से कामों का साधन वा स्तुति योग्य (गो. सनिम्) वेदवाणी का दान और (शश्वत्तमम्) सदा तन का वेद ज्ञान (हवमानाय साध) विद्या के लिये अति उत्सुक पुरुष को प्रदान कर । हमारा पुत्र विविध ऐश्वर्यों को उत्पन्न करनेवाला हो । तेरी शुभ मति या उत्तम ज्ञान हमारे कल्याण के लिये हो ।

अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्नऽआरोहथानो वर्धया रयिम् ॥ ५२ ॥

ऋ० ३ । २७ । १० ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । १४ ॥

चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ।
परि चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५३ ॥

इष्टके अग्निर्वा देवता । स्वराडनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे राजसभे ! (चित् असि) तू 'चित्' समस्त योग्य सुख साधनों का सञ्चय करनेवाली, शरीर में चित् चेतना के समान शक्ति है। तू (तया) उस (देवतया) देवता या राजशक्ति या विजयिनी शक्ति से युक्त होकर (अङ्गिरस्वत्) प्राण के समान या अग्नि के समान या विद्वान् पुरुषों से युक्त होकर, (ध्रुवा) ध्रुव, स्थिर निष्कम्प भाव से अचल होकर (सीद) विराज। इसी प्रकार तू (परि-चित् असि) सब ओर से अपने अपने बल को संग्रह करनेवाली है। तू (तया देवतया) उस उत्कृष्ट विजय करनेवाली राजशक्ति से (अङ्गिरस्वत्) अग्नि के समान या सूर्य के समान (ध्रुवा) स्थिर होकर (सीद) विराजमान हो।

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्री तू 'चित्', विद्या को जाननेहारी है तू (तया देवतया) उस प्रजा के समान प्रिय देवीरूप होकर देह में प्राण के समान गृह में स्थिर होकर रह।

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५४ ॥

अग्निर्देवता विराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राजसभे ! अथवा हे राजन् ! तू (लोकं पृण) समस्त लोक का पालन कर। (छिद्रं पृण) जो कुछ 'छिद्र' अर्थात् न्यूनता हो उसको पूर्ण कर। (अथो) और (त्वम्) तू (ध्रुवा) पतिगृह में स्त्री के समान स्थिर होकर (सीद) विराजमान हो। (इन्द्राग्नी) इन्द्र और

५४—'०योना असीषदन्' इति काण्व० ॥

अग्नि, सेनापति और राजा (बृहस्पति) वेदवाणी का पालक (त्वा) तुझको (अस्मिन् योनौ) इस आश्रयस्थान में (असादयन्) प्राप्त कराते हैं, स्थापित करते हैं ।

कन्या के पक्ष मे—(इन्द्र-अग्नी) माता पिता और (बृहस्पति.) आचार्य तुझको इस (योनौ) निवासगृह में स्थापित करते हैं । तू स्थिर रहकर लोक का पालन कर और छिद्र और त्रुटि को पूर्ण कर ।

ता अस्य सूदंदोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ५५ ॥

ऋ० ८ । ५८ । ३ ॥

इन्द्रपुत्र प्रियमेधा ऋषिः । आपो देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—जिस प्रकार (ता) वे (सूदंदोहस) जलों को पूर्ण करने वाले (पृश्नय) आदित्य के रश्मिगण (अस्य) इसके लिये (सोम श्रीणन्ति) सोम, अन्न को परिपक्व करती है । और (देवाना जन्मन्) देवों, ऋतुओं के उत्पादक पूर्ण संवत्सर मे (दिव.) सूर्य के (त्रिषु) तीन प्रकार के (आरोचन्) दीप्ति युक्त सवनों अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा और शरत् में (विश) व्यापक रश्मियें होती है । उसी प्रकार (सूदंदोहस) बलों को बढाने वाली (पृश्नय विश) नानाविध प्रजाएं (दिव) तेजस्वी राजा के (त्रिषु आरोचने) तीनों तेजों से युक्त रूपो मे (देवाना जन्मनि) विद्वानों के उत्पन्न करने वाले राष्ट्र में (अस्य) इस राजा के लिये (सोमं श्रीणन्ति) समृद्ध राष्ट्र को परिपक्व करती हैं ।

स्त्रियों के पक्ष में—(देवानाम्) विद्वान् पतियों के (ताः) वे (पृश्नयः) स्पर्श योग्य कोमलाङ्गी (विश) गमन योग्य स्त्रियां (सूदंदोहस) उत्तम पाचन और दोहन करने मे कुशल होकर (दिव·) दिव्य (आरोचने) रुचिकर व्यवहार में (त्रिषु) तीनों कालों में (जन्मनि) इस जन्म में या

द्वितीय जन्म विद्यादि द्वारा गृहस्थ धारण करके (अस्य सोमं श्रीणन्ति) इस ब्रह्मचर्य या गृहस्थ-आश्रम के भी परम सौभाग्यमय फल वीर्य या पुत्रादि को परिपक्व करती हैं ।

अथवा—(ता.) वे स्त्रिये (सूददोहसः) प्रस्रवणशील दुग्धादि को प्रदान करने वाली (पृश्नय·) गौवें जिस प्रकार (सोमं श्रीणन्ति) दुग्धरूप सोम का परिपक्व करती हैं और प्रदान करती हैं उसी प्रकार (सूददोहस.) वीर्य को पूर्ण करने वाली (पृश्नय) स्पर्श योग्य, कोमलाङ्गी स्त्रियें भी (सोमं श्रीणन्ति) परम रसस्वरूप वीर्य को परिपक्व करती हैं । (दिव.) सूर्य के (त्रिषु आरोचने) जिस प्रकार तीनो प्रकार के सवनों मे (देवानां जन्मनि) देव–रश्मियों के उद्भव होजाने पर (विश) प्रजाएं जिस प्रकार (सोमं अ) अन्न को प्राप्त करती हैं । उसी प्रकार (विशः) पतियो के साथ सवेश–अर्थात् शयन करनेहारी पत्नियां भी (दिव·) क्रीड़ाशील पति के (त्रिषु रोचनेषु) वाचिक, मानस शारीरिक तीनों प्रकार के रुचिकर, प्रीतिकर व्यवहारों मे (देवानां) सात्विक विकारों के (जन्मन्) उदय होजाने पर (सोमं आ) परिपक्व वीर्य को प्राप्त करती हैं अर्थात् वीर्य धारण करती हैं ।

इन्दं॑ विश्वा॑ अवीवृधन्त्समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिरः॑ ।
र॒थीत॑मꣳ र॒थीना॑ं वाजा॑ना॑ꣳ स॒त्पति॒ पति॑म् ॥ ५६ ॥

ऋ० १ । २ । १ ॥

जेता माधुच्छन्दस ऋषि. । इन्द्रो देवता । निचृद्अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(विश्वा गिर) समस्त वेदवाणियां (समुद्रव्यचसम्) समस्त प्रकार की शक्तियो के उद्भवस्थान, उस महान् व्यापक (इन्द्रम्) परमेश्वर को महिमा को (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं । वही (रथीतमं रथीनाम्) रथी योद्धाओं के बीच महारथी क समान समस्त देहवान् प्राणियों के

बीच सब से श्रेष्ठ 'रथीतम' महारथी, सब से बड़े, विराट् और (सत्-पतिम्) सत् पदार्थों के पालक, (वाजाना) समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी की (अवीवृधन्) महिमा को बढाती हैं। उसी प्रकार (विश्वा गिरः) समस्त स्तुतियां (समुद्रव्यचसम्) समुद्र के समान विविध ऐश्वर्यों से पूर्ण या विस्तृत व्यापक, (रथीना रथीतमम्) रथी योद्धाओं में महारथी (वाजानां) संग्रामो, अन्नो और ऐश्वर्यों के (पतिम्) पालक, (सत्पतिम्) उत्तम प्रजाजनो के स्वामी राजा को (अवीवृधन्) बढ़ावें।

गृहस्थ प्रकरण में—(विश्वा॰ गिर॰) समस्त स्तुतिशील स्त्रियें अपने पति की प्रशंसा करनेवाली होकर उसके यश, धन और मान को बढ़ावे।

समितꣳ सं कल्पेथाꣳ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ।
इषमूर्जमभि संवसानौ ॥ ५७ ॥

द्यग्नी देवते। भुरिग् उष्णिक् छन्दः। ऋषभः स्वर ॥

भा०—हे पति-पत्नी भावसे बद्ध स्त्री पुरुषो! या राजा प्रजाओ तुम दोनों! (संप्रियौ) एक दूसरे के प्रति अति प्रेमयुक्त (रोचिष्णू) एक दूसरे के प्रति रुचिकर, एक दूसरे को प्रसन्न करनेहारे एवं (सु-मनस्यमानौ) एक दूसरे के प्रति शुभ चिन्तना करते हुए, (संवसानौ) एकत्र निवास करते हुए या एक दूसरे की रक्षा करते हुए (इषम्) अन्नादि अभिलषित पदार्थ और (ऊर्ज्जम्) परम अन्नरस या बल पराक्रम को (अभि) लक्ष्य करके (सम् इतम्) एक साथ चलो, (सं-कल्पेथाम्) एक साथ समानरूप से उद्योग करो या समानरूप से संकल्प करो।

इसी प्रकार दो विद्वान्, या दो राजा, या राजा और प्रजा दोनों भी परस्पर मित्र रहकर एक दूसरे की शुभ चिन्तना करके एक दूसरे की रक्षा करते हुए, अन्न और बल के लिये एक साथ यत्न करे ॥

सं वां मनाꣳसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्।
अग्नेः पुरीष्याधिपा भव त्वं नऽइषमूर्ज्जं यजमानाय धेहि ॥ ५८ ॥

भा०—मैं आचार्य या पुरोहित (वाम्) तुम दोनों के (मनांसि) मन के संकल्प विकल्पों को (सं आ अकरम्) समान करता हूं। (व्रता सम्) व्रत, प्रतिज्ञाओं को भी समानरूप करता हूं। (चित्तानि) चित्तों को या ज्ञानपूर्वक किये कर्मों को भी (सम् आ अकरम्) समानरूप से करता हूं। हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! विद्वन् ! हे (पुरीष्य) पुर में सबसे अधिक इष्ट, समृद्ध राजन् ! (त्वम् अधिपाः भव) तू सबका स्वामी हो। (इषम् ऊर्जम्) अन्न और बल को तू (न यजमानाय) हमारे में से दानशील, सत्संगी या देवोपासक धर्मात्मा पुरुष को (धेहि) प्रदान कर।

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमाँ२ ऽअसि।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहास्सदः ॥ ५९ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! पुरुष ! (त्वं पुरीष्यः) तू समृद्धिमान्, (रयिमान्) ऐश्वर्यवान्, (पुष्टिमान्) पशु सम्पत्ति से भी युक्त, (असि) है। (सर्वा दिशः) समस्त दिशाओं को देशों को और वहां की प्रजाओं को (शिवाः कृत्वा) कल्याणकारी, सुखी (कृत्वा) करके (स्वं योनिम्) अपने आश्रयस्थान, पद पर (इह) यहां (आसदः) विराजमान हो।

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ। मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥ ६० ॥

दम्पती अग्नी वा देवते। आर्षी पंक्तिः। पञ्चम ॥

भा०—हे स्त्री पुरुषो ! (नः) हमारे लिये तुम दोनों (समनसौ) एक समान मन वाले, (सचेतसौ) समान चित्त वाले और (अरेपसौ) एक दूसरे के प्रति अपराध न करने वाले एवं निष्पाप, स्वच्छ चित्त होकर (भवतम्) रहो। (यज्ञं) इस यज्ञ, परस्पर की संगति को (मा हिंसिष्टम्) मत विनाश करो, मत तोड़ो। (यज्ञपतिं मा) परस्पर की इस संगति के

पालक को भी मत विनाश करो। (अध) आज (न.) हमारे हित के लिये तुम दोनों (जात–वेदसौ) ज्ञानवान् और ऐश्वर्यवान् होकर (शिवौ भवतम्) सुखकारी होओ। यही बात मध्यस्थ पुरुष से सन्धि से मिले हुए दो राजाओं, राजा और मन्त्री दोनों के लिये भी समझे।

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा। तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि मुञ्चतु ॥ ६१ ॥

पत्नी उखा च देवते। आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—(माता) माता (पुत्रं इव) पुत्रको जिस प्रकार (स्वे योनौ अभा) अपने गर्भाशय मे धारण करती है, उसी प्रकार (उखा) हाडी के समान गोल (पृथिवी) पृथिवी भी (स्वे योनौ, अपने गर्भ में, अपने भीतर (पुरीष्यम्) सबको पालन करने में समर्थ (अग्निम्) अग्नि और सूर्य को (अभा) धारण करती है। उसी प्रकार (पृथिवी उखा) उत्तम ज्ञानवती पृथिवीनिवासिनी प्रजा भी (पुरीष्यम्) अति समृद्ध ज्ञान, बल और ऐश्वर्य से युक्त (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (स्वे योनौ) अपने लोक में (अभा.) धारण करती है। (प्रजापतिः) प्रजा का पालक, पति और राजा (विश्वकर्मा) समस्त राष्ट्र के उत्तम कार्यों के करने मे समर्थ (विश्वै.) समस्त (ऋतुभिः) ज्ञानवान् सदस्यों और (विश्वै देवैः) और देव, विद्वान्, शूरवीर योद्धा, एव व्यवहारज्ञ पुरुषों से (सविदान.) सहमति और सहयोग लेता हुआ (तां) उसको (विमुञ्चतु) विविध उपायो से धारण करता है, रक्षा करता है।

सूर्य पक्ष में—(विश्वकर्मा) समस्त कार्यों का कर्ता, वृष्टि आंधी आदि परिवर्तनों का कर्त्ता (प्रजापति.) सूर्य (विश्वै. देवै ऋतुभिः) समस्त दिव्य ऋतुओं के साथ मिलकर पृथ्वी को (विमुञ्चतु) पालता है।

६१—०'योना अभा०' इति काण्व०।

असुन्वन्तमयजमानमिच्छ स्तेनस्येत्यामन्विहि तस्करस्य। अन्य-मस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु ॥ ६२ ॥

निर्ऋतिर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (निर्ऋते) दुष्टों को दमन करने वाली दण्डशक्ते ! तू (असुन्वन्तम्) राजा को कर न देने वाले और (अयजमानम्) राजा के आदर न करने वाले को (इच्छ) पकड । (स्तेनस्य) चोर और (तस्करस्य) निन्दनीय कार्यों के करने वाले पापी पुरुष की (इत्याम्) चाल का (अनु इहि) पीछा कर । चोर डाकू आदि रात को धनापहरण करके जहां भी छुपे हों उनके चरण-चिन्हों से उनकी चाल पता लगाकर उनकी खोज कर (अस्मत् अन्यम्) हम से भिन्न, हमारे शत्रु को (इच्छ) पकड । (ते सा) तेरी वही (इत्या) चलने योग्य चाल है । हे (निर्ऋते देवि) व्यवहार कुशले ! निर्ऋते ! सर्वत्र व्यापक दमन शक्ते ! (तुभ्यम् नम अस्तु) तुझे ही सब दुष्टों को नमाने वाला बल प्राप्त हो ।

इस मन्त्र मे—'मा इच्छ' इस प्रकार की महर्षि दयानन्दकृत योजना विचारास्पद है ।

नमः सुते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयं विचृता वन्धमेतम् ।
यमेन त्वं यम्या संविदाना चोत्तमे नाकेऽअधि रोहयैनम् ॥ ६३ ॥

निर्ऋतिर्देवता । भुरिगार्षी पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—हे निर्ऋते ! व्यापक दण्डशक्ते ! (तिग्मतेज) दुःसह तेज से युक्त (ते नमः) तेरा नमनकारी बल, वज्र है । और तू (एतम्) इस (अयस्मयं वन्धम् विचृत) लोहे से बने वन्धन को दूर कर । (त्वं) तू (यमेन) नियन्ता राजा और (यम्या) नियमकारिणी राजसभा से (संविदाना) अच्छी प्रकार सम्मति करती हुई (एनम्) इस अपने राजा को (उत्तमे) उत्तम (नाके) सुखमय लोक मे (अधि-रोहय) स्थापित कर ।

यस्यास्ते घोर ऽआसन् जुहोम्येषां वन्धानामवसर्जनाय। यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः ॥ ६४ ॥

निर्ऋतिर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (घोरे) दुष्टों के प्रति भयंकर ! (यस्याः) जिस (ते) तेरे (आसनि) मुख मे, तेरे मुख्य स्थान में (एषां) इन (वन्धानाम्) दुःखदायी वन्धनो के (अव सर्जनाय) त्याग के लिये (जुहोमि) मै, दण्ड आदि रूप से धन आदि पदार्थ प्रदान करता हूं। और (यां त्वा) जिस तुझको (भूमिः इति) भूमि सर्व पदार्थों का आश्रय, एवं उत्पादक ऐसा कह कर (जन.) लोग (प्रमन्दते) तुझे प्रसन्न करते है या स्वयं प्रसन्न होते हैं उस (त्वा) तुझको (निर्ऋतिम्) पापी पुरुषो पर अधिष्ठात्री रूप से रहनेवाली आश्रयरूप से पृथिवी के समान एवं नि शेष जीवों के रमण करनेवाली (विश्वतः) सब प्रकार से (अहं) मैं (परिवेद) तुझे प्राप्त करूं, तुझे जानूं।

पत्नी के पक्ष मे—हे घोरे पत्नि ! समस्त दुःखदायी कारणो को दूर करने के लिये, मै अन्नादि पदार्थ तेरे मुख में प्रदान करूं। लोग तुझ नारी को 'भूमि' ऐसा कहाते हैं, तुझे प्रसन्न करते हैं। तू (निर्ऋतिम्) सब प्रकार से नि शेष आनन्दकारिणी है। मैं ऐसा जानता हूं।

यंते देवी निर्ऋतिराववन्ध्र पाशं ग्रीवास्वविचृत्यम्।
तं ते विष्यामि आयुषो न मध्यादथैतं पितुमद्धि प्रसूत.।
नमो भूत्यै येदं चकार ॥ ६५ ॥

भा०—(देवी निर्ऋति.) राजा की दमनकारिणी व्यवस्था हे पुरुष ! (यम्) जिस (अविचृत्यम्) अखण्ड, कभी न टूटनेवाले, दृढ़ (पाशम्) पाश को (आववन्ध) वांधती है मैं (ते) तेरे (तं) उस पाश को (आयुषः मध्याद् न) नियम के बीच मे ही (विष्यामि)

काटता हूं, उस पाश का अन्त करूं। (अथ) और हे राजन्! (एतं पितुम्) उस अन्न या पवित्र भोग्य पदार्थ को (प्रसूतः) उत्कृष्ट रूप मे उत्पन्न होकर तू (अद्धि) खा, भोग कर। (या) जो (देवी) देवी (इदम्) इस जीवोत्पादन के व्यवस्था और पालन पवित्र कार्य को (चकार) करता है उस (भूत्यै) सर्वोत्पादक, ऐश्वर्यमयी देवी का (नमः) हम आदर करें।

इसी प्रकार अपराधी के अपराध समाप्त होजाने पर दमनकारिणी व्यवस्था द्वारा जो बन्धन अपराधी जनों की गर्दनो में डाले जायं उनको न्यायकारी उनके जीवन के रहते २ काटे। और (प्रसूतः) मुक्त होकर वह पुरुष अन्न का भोग करे। जो देवी, विद्वत् समिति या पृथ्वी इस प्रकार जीवों को बन्धनमुक्त करके अमृत का भोग प्रदान करती है उसको हमारा नमस्कार है।

अध्यात्म में—(निर्ऋति) अविद्या जिस पाश को जीवो के ऊपर बांधती है उसको मैं, आचार्य ज्ञानोपदेश से (आयुष मध्यात् न) जीवन के बीच में ही काट दूं। (प्रसूतः) उत्कृष्ट स्थिति में जाकर मेरा जीव (पितुम्) अमृत का भोग करे। उस सर्वोत्पादिका (भूत्यै) भूति नाम ईश्वरीय शक्ति को नमस्कार है जो (इदं चकार) इस विश्व को उत्पन्न करती है और जीवों को उत्पन्न कर अन्न देती है और कर्मबंधनों से मुक्त कर मोक्षामृत लाभ कराती है।

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाऽभिचष्टे शचीभिः।
देवऽइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥ ६६ ॥

ऋ० १० । १३९ । ३ ॥

विश्वावसुर्गन्धर्व ऋषि । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप । धैवतः ॥

भा०—(सविता इव) सूर्य के समान (सत्यधर्मा) सत्य धर्मों का पालक (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (देव) राजा (वसूनां) राष्ट्र मे बसनेवाले

प्रजाओं का (निवेशन) पृथ्वी पर बसानेहारा और (वसूनां) वास कारी-जनों का (सङ्गमन.) एकत्र होने का आश्रय होकर (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (विश्वा रूपा) समस्त प्राणियों को (अभिचष्टे) देखता है । और वह ही (पथीनाम्) शत्रुओं के साथ (समरे) युद्ध मे (तस्थौ) स्थिर रहता है ।

परमात्मा के पक्ष में—वह (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (सविता) सर्वोत्पादक देव, परमेश्वर (वसूनां निवेशन) जीवो का और योग्य लोकों का सस्थापक और (संगमन·) एक मात्र गन्तव्य एवं सर्वव्यापक (शचीभिः) अपनी शक्तियो से (विश्वा रूपा अभिचष्टे) समस्त पदार्थों को देखता है । सब का साक्षी है । वही युद्ध में इन्द्र, सेनापति के समान (समरे) सब के गन्तव्य संसार में (पथीनां) समस्त आवागमन करनेवाले जीवो के ऊपर (तस्थौ) अधिष्ठाता रूप से विराजमान है ।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।
धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६७ ॥ ऋ० १० । १०१ । ४ । ३ ॥

बुध सौम्य ऋषि. । सीरो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(कवय) मेधावी, बुद्धिमान् पुरुष जिस प्रकार (सीरा) हलो को (युञ्जन्ति) जोतते हैं । और (धीराः) धीर, बुद्धिमान् पुरुष (देवेषु) देवो, विद्वानों को (सुम्नया) सुख हो ऐसी बुद्धि से (युगा) जुओ को, जोड़ों को (वितन्वते) विविध दिशों में लेजाते हैं । उसी प्रकार विद्वान् योगीजन (सीरा युञ्जन्ति) नाड़ियों में योगाभ्यास करते हैं । (देवेषु) इन्द्रिय-वृत्तियो में (सुम्नया) सुषुम्ना द्वारा या सुखप्रद धारणा वृत्ति से (युगा) प्राण अपान आदि नाना जोड़ों को (पृथक्) अलग २ (वितन्वते) विविध प्रकार से अभ्यास करते हैं ।

६७—अथ क्षेत्रकर्षणौषधवपनादि ।

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् । गिरा च श्रुष्टिः सभराऽअसन्नो नेदीयऽइत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

बुध·सौम्य ऋषिः । सीरा कृषीवलता. कवयो वा देवताः ।

विराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत· ॥

भा०—(सीरा युनक्त) हलों को जोतो, (युगा वि तनुध्वम्) जुओं को नाना प्रकार से फैलाओ । (योनौ कृते) क्षेत्र के तय्यार होजाने पर (इह) उसमें (बीजम् वपत) बीज बोओ । और (गिरा च) कृषिविद्या के अनुसार (श्रुष्टिः) अन्न की नाना जातियां (सभराः) खूब हृष्ट पुष्ट (असत्) हो । (नेदीय इत्) और शीघ्र ही (सृण्यः) दातरी से काटने योग्य अनाज (न.) हमारे लिये (पक्वम् आ इयात्) पककर हमें प्राप्त हो ।

शुनꣳ सुफाला विकृषन्तु भूमिꣳ शुनं कीनाशाऽ अभियन्तु वाहैः । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पलाऽओषधीः कर्त्त-नास्मै ॥ ६९ ॥ अथर्व० ३ । १७ । ५ ॥ ऋ० ४ । ५७ । ८ ॥

कुमार हारीत ऋषि । सीता कृषीवला वा देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सुफालाः) उत्तम हल के नीचे लगी लोहे की बनी फालियें (भूमिम्) भूमि को (शुनम्) सुख से (विकृषन्तु) नाना प्रकार से बाहें । (कीनाशा.) किसान लोग (वाहैः) बैलों से (शुनम्) सुख-पूर्वक (अभियन्तु) जावें । हे (शुनासीरा) वायु और आदित्य तुम दोनों (हविषा) जल और अन्न से (तोशमानौ) भूमि को सींचते हुए (अस्मै) इस प्रजाजन के लिये (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (सुपिप्पलाः) उत्तम फल युक्त (कर्तन) करो ।

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भि. । ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥ ७० ॥

अथर्व० ३ । १७ । ९ ॥

कुमारहारीत ऋषि. । सीता कृषीवला वा देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सीता) हलकी फाली या हल से विदीर्ण भूमि (घृतेन मधुना) जल और अन्न से (सम् अज्यताम्) युक्त हो। (विश्वैः देवैः) समस्त देवों, सूर्यकिरणों और (मरुद्भि) वायुओं से भी (अनुमता) युक्त होकर वह हे (सीते) हलकी फाली या उससे खुदी भूमि तू ! (पयसा) जल से (पिन्वमाना) खूब सींची जाकर (ऊर्जस्वती) अन्न से समृद्ध होकर (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और दुग्ध आदि पदार्थों से (अस्मान्) हम सबको (अभि आववृत्स्व) प्राप्त हो और सब प्रकार से बढ़ा के समृद्ध कर।

अथवा—'सीता' कृषि का उपलक्षण है। (विश्वै देवै॰ मरुद्भि॰ च अनुमता सीता) समस्त विद्वानों से आदर प्राप्त कृषि (घृतेन मधुना समज्यताम्) घृत और अन्न से युक्त हो। हे कृषे ! तू (पयस्वती ऊर्जस्वती) पुष्टिकारक जल या अन्न से स्वयं समृद्ध होकर (पयसा न अभि आववृत्स्व) पुष्टिकारक दुग्ध आदि सहित हमें प्राप्त हो।

लाङ्गलं पवीरवत्सुशेवꣳ सोमपित्सरु। तदुद्वपति गामविं प्रफर्व्यं च पीवरी प्रस्थावद्रथवाहनम् ॥ ७१ ॥ अथर्व० ३। १७। ३॥

कुमारहारीत ऋषि। सीता देवता। विराट् पंक्ति॰। पञ्चम॰॥

भा०—(सोमपित्सरु) अन्न का पालक, क्षेत्र में कुटिलता से चलने वाला (सुशेवम्) सुखकारी, (पवीरवत्) फालवाला (लाङ्गलम्) हल (तत्) यह ही (गाम्) गौ आदि पशु (अविम्) भेड़, बकरी आदि क्षुद्र पशु (प्रफर्व्यम् च) उत्तम रीति से गमन करने योग्य (पीवरीम्) स्वस्थ हृष्ट पुष्ट शरीर की स्त्री और (प्रस्थावत्) प्रस्थान करने योग्य (रथ-वाहनम्) रथ और घोड़े आदि ऐश्वर्यों को (उद्वपति) उत्पन्न करता है। अर्थात् कृषि से ही समस्त ऐश्वर्य, पशु, रथ, अश्व आदि भी प्राप्त होते हैं॥

कामं कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च ।
इन्द्रायाश्विभ्यां पूष्णे प्रजाभ्यऽओषधीभ्यः ॥ ७२ ॥

कुमारहारीत ऋषि. । सीता वा मित्रादयो लिंगोक्ता देवता आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (कामदुघे) समस्त कामनाओं को पूर्ण करनेहारी कृषे ! भूमे ! तू (मित्राय) अपने स्नेही, (वरुणाय) शत्रुओं के वारक, (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा के लिये और (अश्विभ्याम्) स्त्री पुरुषों के लिये (पूष्णा) पोषणकारी पिता माताः और (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिये और (ओषधीभ्यः (ओषधियों वनस्पतियों के लिये (कामं धुक्ष्व) सब मनोरथों को पूर्ण कर ॥

वि मुंच्यध्वमघ्न्या देवयानाऽअगंन्म तमंसस्पारमस्य ।
ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥ ऋ० १ । ७२ । ६ ॥

लिंगोक्ता देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (अघ्न्याः) कभी न मारने योग्य, रक्षा करने योग्य (देवयानाः) देव-दिव्य भोगों को प्राप्त करानेवाले बैलों को (वि मुच्यध्वम्) सायकाल मुक्त करो । हम लोग (अस्य) इस (तमसः) रात्रि के अन्धकार के (पारम् अगन्म) पार प्राप्त होवें । (ज्योति आपाम) पुनः सूर्य के प्रकाश को प्राप्त करें । अर्थात् सायंकाल को बैल जुओं से खोल दिये जांय । रात बीतने पर प्रातःकाल ही पुनः कृषि कार्य मे लगें ।

अथवा—हे (अघ्न्याः) अविनाशी देवयान से गति करनेवाले योगी जनो ! (विमुच्यध्वम्) विशेषरूप से मुक्त होने का यत्न करो । (तमस पारम् अगन्म) हम सब अन्धकार बन्धन से पार हों और (ज्योति आपाम) ब्रह्ममय ज्योति को प्राप्त करें ।

सुजूरर्वोऽअयंवोभिः सुजूरुषा ऽअरुंणीभिः । सुजोषंसावश्विना

दꣳसोभिः सजू सूर एतशेन सजूर्वैश्वानरऽइडया घृतेन स्वाहा॥७४

लिंगोक्ता देवता । यार्षी जगती । निषाद ॥

भा०—जिस प्रकार (अब्द) संवत्सर मिले जुले अन्नो से और मास अर्ध मास आदि काल के अवयवो से (सजू) युक्त है । और जिस प्रकार (अरुणीभि) किरणो से (उषा) प्रभात वेला (सजू) संयुक्त रहती है, (अश्विना) स्त्री और पुरुष, पति पत्नी दोनो जैसे (दंसोभि) गृहस्थ कार्यों से (सजोषसौ) परस्पर प्रेमयुक्त होकर रहते है और (सूर) सूर्य जिस प्रकार (एतशेन) अपने व्यापक प्रकाश से (सजू) युक्त है और जिस प्रकार सर्व जीवो के भीतर विद्यमान (इडया) अन्न से और अग्नि जिस प्रकार (घृतेन) दीप्तिकारी प्रकाश या घृत से (सजू) सगत होकर एक दूसरे को प्रकाशित करते है उसी प्रकार (स्वाहा) हम सब भी सत्य व्यवहार से युक्त होकर प्रेम से वर्तें ॥

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च ॥ ७५ ॥

ऋ० १० । ९७ । १ ॥

आथर्वणो भिषगृषि । ओषधिस्तुतिः । अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—ओषधि विज्ञान (या) जो (ओषधीः) ओषधिये (देवेभ्य) दिव्यगुण के पदार्थ पृथिवी जल आदि से, या ऋतुओं के अनुसार (पुरा) पहले (त्रियुगम्) तीन वर्ष पहले तक को या वर्षा, ग्रीष्म, शरद् तीनो कालो में (पूर्वा जाताः) पहले से उत्पन्न होती हैं उन (बभ्रूणाम्) परिपाक होजाने से बभ्रु भूरे रग को, पीली हुई हुई उन ओषधियों के (शत) सौ और (सप्त च) सात अर्थात् १०७ प्रकार के (धामानि) धारण सामर्थ्यों से पालन पोषण के बलो को (नु) मै (मनै) मनन करू, जानू ।

७४—'सजोषसा अश्विना० ।' इति काण्व० ॥

अथवा—(बभ्रूणा) पुष्टिकारक उन ओषधियों के १०७ वीर्यों को जानूं।

अथवा—(शतं सप्त च धामानि बभ्रूणां ओषधीनां मनै) १०७ शरीर के मर्मस्थानों को पुष्ट करनेवाली ओषधियों का ज्ञान करूं। अथवा (बभ्रूणां) भरण पोषण योग्य रोगियों के १०७ मर्म स्थानों में प्रभाव-जनक व्याप्त ओषधियों का ज्ञान करूं ॥ शत० ७ । २ । ४ । २६ ॥

शतं वोऽअम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥ ७६ ॥

ऋ० १० । ९७ । २ ॥

पूर्वोक्ते ऋषिदेवते । अनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—हे (अम्बे) माता के समान पुष्टिकारक ओषधियो ! (वः) तुम्हारे (शतं धामानि) सैकड़ों वीर्य हैं। (उत) और (वः) तुम्हारे (रुह.) प्ररोह, अंकुर, पुत्र सतति आदि भी (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार के हैं। (अध) और (यूयम्) तुम सब भी (शतक्रत्व) सैकड़ों प्रकार के कार्य करनेवाली हो। अथवा—हे शतक्रत्व) सैकड़ों प्रजाओं से युक्त विद्वान् पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (मे) मेरे शरीर को (अगदं कृत) नीरोग करो ॥ शत० ७ । २ । ४ । २७ ॥

ओष अर्थात् वीर्य को धारण करनेवाली हे सेनाओ ! (वः शतं-धामानि) तुम्हारे सैकड़ों वीर्य हैं और (व. सहस्रं रुह) तुम्हारे सहस्रों उन्नति स्थान और उत्पत्तिस्थान है। (यूयं शतक्रत्वः) तुम सब सैकड़ों वीर्यों से युक्त हो, (मे इमं अगदकृत) मेरे इस राष्ट्र को क्लेश रहित करो।

ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वाऽइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥ ७७ ॥

ऋ० १० । ९७ । ३ ॥

ऋषिदेवते पूर्ववत् । निचृदनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (ओषधी·) ओषधियो ! तुम (पुष्पवती.) फूलोंवाली (प्रसूवरी.) उत्तम फल उत्पन्न करनेहारी हो। (अश्वाः इव) अश्वारोही लोग जिस प्रकार (सजित्वरीः) परस्पर मिलकर युद्ध मे विजय करते हैं और (पारयिष्णव) शत्रु सेना के पार करनेवाले वीर (वीरुध) शत्रुओं को आगे बढ़ने से रोकते हैं उसी प्रकार हे ओषधियो ! तुम भी रोगों पर मिलकर विजय करनेवाली, रोगों को रोकनेवाली और कष्टों से पार करनेवाली हो।

हे (ओषधी.) वीर्यवान् प्रजाओ ! आप लताओ के समान (पुष्पवती. प्रसूवरीः सत्य प्रमोदध्वम्) ऐश्वर्यवान् शोभावान् और उत्तम सन्तानों को उत्पन्न करनेवाली होओ। हे वीर प्रजाओ ! (अश्वा· इव सजित्वरी) अश्वों, घुड़सवारो के समान परस्पर मिलकर एक दूसरे का हृदय जीतनेवाली (वीरुध) विविध उपायों से बीज वपन करके उत्पन्न होनेवाली एव (पारयिष्णव.) एक दूसरे को और राष्ट्र को पालन करनेहारी होओ। इसी प्रकार स्त्रिया भी लता और ओषधियों के समान फले और फूलें पतियों का हृदय जीतें और संसार के कार्यों से पार लगाने या पालन करने में समर्थ हो ॥

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे। सनेयमश्वं गां वासमात्मानं तव पूरुष ॥ ७८ ॥ ऋ० १० । ९७ । ४ ॥

भा०—ओषधि के समान देवियो ! तुम (ओषधी.) वीर्य को धारण करनेहारी हो। (इति) इसी कारण से तुम (मातर·) माता अर्थात् सन्तान को उत्पन्न करनेवाली जगत् की माता हो। (तत्) इसी कारण से (व) आप (देवी) देविया हो। ऐसा करके मै (ब्रुवे) बुलाता हूं। स्त्री कहती है—हे (पूरुष) पुरुष ! मै (तव) तुझे (अश्वं, गां वास.) अश्व, गौ और वस्त्र और (आत्मान) अपने आपतक को (सनेयं) सौंपती हूं।

राजा-प्रजापक्ष मे—हे वीर्यवती प्रजाओ ! तुम माता के समान मुझे अपना राजा बनाती हो । तुमको 'देवी' कहके पुकारता हूं । प्रजा कहें । हे प्रजापते ! पुरुष ! मुझ प्रजा के अश्व, गौ, वस्त्र आदि और हम अपने आपको भी तुझे सौंपते है ।

लता पक्ष में—हे ओषधियो ! माता के समान अन्नादि से पोषक हो । तुम बलजीवन देनेवाली होने से, 'देवी' कहाती हो । ओषधिया कहती हैं—हे पुरुष ! हम तुझे गौ आदि पशु, अश्व, वेद या वाहन, वस्त्र और (आत्मान) प्राण भी प्रदान करती हैं ।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम् ॥ ७६ ॥

अ० १० । ६७ । ५ ॥

भा०—हे प्रजाओ ! (व) तुम्हारा (निषदनम्) आश्रय (अश्वत्थे) अश्वारोही सेना बल पर है । (वः वसति.) तुम्हारा निवास (पर्णे कृता) पालन करनेवाले राजा के आधार पर किया है । (यत्) जब भी (पुरुषम्) पौरुष से युक्त राजा की सेवा करो, तो तुम भी (गोभाज·) गवादि पशु और भूमि आदि सम्पत्ति को प्राप्त करनेवाली (असथ किल) अवश्य होजाओ ।

अथवा—हे मनुष्यो ! (वः निषदनम्) तुम जीव लोगो की जीवन स्थिति (अश्वत्थे=अ-श्व -स्थे) कल तक भी स्थिर न रहनेवाले देह पर और (वः वसति.) तुम लोगो का वास (पर्णे) चञ्चल पत्र के समान इस चञ्चल प्राण पर किया है । आप लोग (गोभाजः किल असथः) पृथ्वी का आश्रय लेनेवाले रहो । और (पूरुषं सनवथ) पूर्ण पुरुष देह को प्राप्त करो ।

ओषधि पक्ष में—हे वीर्यवती ओषधियो ! (यत्) जब (अश्वत्थे) पीपल के वृक्ष पर तुम्हारी स्थिति है, और पत्तों पर तुम निवास करती हो । (गोभाजः

इत्) इन्द्रियों तक पहुंचती हो तो तुम (पुरुषं सनवथ) पुरुष सन्तान प्राप्त कराती हो ।

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिता इव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥ ८० ॥

ऋ० १० । ९७ । ६ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(यत्र) जहां या जिसके आश्रय पर (समितौ) संग्राम या राज-सभा मे (राजान इव) क्षत्रिय राजाओ के समान (ओषधीः) ओषधियां हों । हे मनुष्यो ! वहां ही आप लोग (सम् अग्मत) जाओ । जो पुरुष (रक्षोहा) राक्षस, दुःखदायी पुरुषो के नाश करनेवाले वीर्यवान् क्षत्रिय के समान (अमीवचातन) रोगो का नाश करने में समर्थ हो (सः) वह (विप्रः) ज्ञानपूर्ण मेधावी पुरुष (भिषग्) रोग नाश करनेहारा पुरुष 'भिषक्' (उच्यते) कहाता है अथवा ऐसा रोगनाशक पुरुष ही (उच्यते) उपदेश किया करे ।

अश्वावतीꣳ सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आविंत्सि सर्वा ओषधीरुस्माऽअरिष्टतातये ॥ ८१ ॥

ऋ० १० । ९७ । ७ ॥

आथर्वणो भिषग् ऋषिः । वैद्यः, ओषधयो वा देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—मैं (अश्वावतीम्) अति शीघ्र शरीर मे व्यापने वाले गुणों से युक्त और (सोमावतीम्) वीर्यवती और (ऊर्जयन्तीम्) बल पराक्रम-शालिनी, (उद् ओजसम्) उत्कृष्ट ओजधातु की वृद्धि करनेवाली और उत्तम पराक्रम करनेहारी (ओषधीः) सन्ताप, बल को धारण करने-वाली ओषधियो को (अरिष्टतातये) हिंसक रोगों के नाश करने के

८१—ओषधीः प्रतिगृभ्णीत राजानः समिता इव इति काण्व० ।

लिये (आविस्सि) सब प्रकार से सब स्थानो से प्राप्त करूं। इसी प्रकार समस्त (ओषधीः) वीर्यवती प्रजाओं और सेनाओं को (अरिष्टतातये) अपने राष्ट्र के नाश होने से बचाने के लिये प्राप्त करूं (अष्मावतीम्) क्षत्रियो से पूर्ण अथवा अश्मा=वज्र या शास्त्रों से युक्त (सोमावतीम्) सेना नायक से युक्त और (उदोजसम्) उत्कृष्ट पराक्रम युक्त (ऊर्जयन्ती) बलशालिनी सेना को मैं प्राप्त करूं।

उच्छुष्माऽओषधीनां गावो गोष्ठादिवेरते।
धनञ्ज सनिष्यन्तीनामात्मानं तव पूरुष ॥ ८२ ॥

ऋ० १० । ९७ । ८ ॥

ओषधयो देवताः । भिषग्गृषि । अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—(गोष्ठात्) गौओं के बाड़े से जिस प्रकार (गावः ईरते) गौवे निकलती हैं उसी प्रकार हे (पूरुष) पुरुष ! प्रजापते ! राजन् ! (तव) तेरे (आत्मानम्) शरीर के प्रति, तेरे अपने उपकार के लिये (धनं) ऐश्वर्य को (सनिष्यन्तीनाम्) प्रदान करने वाली रस वीर्यवती ओषधियों के समान वीर्यवती प्रजाओ में से जो (शुष्माः) अधिक बलकारिणी हैं वे (स्वयं तव आत्मानम् उदीरते) स्वयं तेरे आत्मा को प्राप्त होती हैं। और उन्नत करती हैं। अर्थात् ओषधियां जिस प्रकार पुरुष-शरीर मे अधिष्ठाता आत्मा के बल की वृद्धि करती हैं इसी प्रकार बलवती प्रजाएं राजा के बल की वृद्धि करती हैं।

इष्कृतिर्नाम वो माताथो यूयञ्ज स्थ निष्कृतीः।
सीराः पतत्रिणीः स्थन यदामयति निष्कृथ ॥ ८३ ॥

ऋ० १० । ९७ । ९ ॥

भिषगृषि । ओषधयो देवताः । अनुष्टुप् । गाधार. ॥

भा०—हे ओषधियो ! (व. माता) तुम्हारी माता (इष्कृतिः) 'इष्कृति' नाम से प्रसिद्ध है। अर्थात् तुम्हारी 'माता' निर्माणकारिणी शक्ति

'इष्कृति' अर्थात् 'इष्' अन्न के समान पुष्ट करने वाली है, अथवा तुम्हारी (माता) निर्माण-कर्त्री या शरीर रचना शक्ति भी (इष्कृतिः=निष्कृति) रोगों को शरीर से बाहर निकाल देने वाली है (अथो) इसी कारण (यूयम्) तुम सब (निष्कृतीः) शरीर मे से रोगों को बाहर निकाल देने से ही 'निष्कृति' भी कहाती (स्थ) हो। तुम (सीरा स्थन) अन्न के समान पुष्टिकारक होने से 'सीरा' कहाती हो। अथवा नदी जिस प्रकार भूमि के मल मार्गों को बहाकर दूर लेजाती हैं उसी प्रकार तुम भी शरीर मे से रोग को बहा देने से 'सीरा' कहाती हो। और (पतत्रिणीः स्थन) शरीर में व्याप्त होकर रोग को बाहर कर देने और शरीर की रक्षा करने में समर्थ होने से तुम 'पतत्रिणी' हो। (यत्) जो पदार्थ भी शरीर में (आमयति) रोग उत्पन्न करता है उसको (निष्कृथ) बाहर कर देते हो।

बलवती वीर प्रजाओं के पक्ष में—हे वीर सेनाओ ! (व. माता इष्कृतिः) 'इष्कृति' शत्रु को राष्ट्र से बाहर निकालने वाली शक्ति ही बनाने वाली 'माता' के समान है। इसी से (यूयं निष्कृतीः स्थ) तुम सब 'निष्कृति' नाम से कहाती हो। तुम सदा (सीरा) अन्न आदि पदार्थों सहित होकर (पतत्रिणीः स्थन) शत्रु के प्रति गमन करती हो। भोजन का प्रबन्ध करके चढ़ाई करो। और (यद् आमयति) राष्ट्र मे रोग के समान पीड़ाकारी हो उसको (निष्कृथ) निकाल बाहर कर दिया करो।

अति विश्वाः परिष्ठास्तेनइव व्रजमक्रमुः।
ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किंच तन्वो रपः ॥ ८४ ॥

ऋ० १० । ९७ । १० ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(स्तेनः व्रजम् इव) चोर जिस प्रकार गौएं के बाड़े पर (अतिक्रामति) आक्रमण करता है उसी प्रकार (परिष्ठाः विश्वाः)

सर्वत्र व्यापनशील या रोगों पर वश कर लेने वाली समस्त ओषधियाँ भी (व्रजम् अति अक्रमुः) रोग समूह पर आक्रमण करती हैं और (यत् किं च) जो कुछ भी (तन्वः) शरीर का (रपः) दुःखदायी रोग होता है उसको (ओषधीः) ओषधियां (प्राचुच्यवुः) दूर कर देती हैं ।

इसी प्रकार दुर्ग के चारों ओर (परिष्ठाः विश्वाः ओषधीः) घेरकर बैठने वाली बलवती सेनाएं (व्रजम् अति अक्रमुः) परकोट को फांद कर निकलती हैं । वे (तन्वः रपः) विस्तृत राष्ट्र शरीर में पापी शत्रु को (प्राचुच्यवुः) परे भगा देती हैं ।

यद्दिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे ।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा ॥ ८५ ॥

ऋ० १० । ९७ । २२ ॥

भा०—(यत्) जब (अहम्) मैं (इमाः ओषधीः) इन ओषधियों को (वाजयन्) अधिक बलशाली बनाकर (हस्ते आदधे) अपने हाथ में लेता हूं (यथा पुरा) पूर्व के समान ही तब (जीवगृभ) जीवन को लेलेने वाले प्राणघातक (यक्ष्मस्य) राजयक्ष्मा का भी (आत्मा) मूल कारण (पुरा नश्यति) पहले ही नष्ट होजाता है । अथवा (यथा जीवगृभः) जिस प्रकार जीते जी पकड़े हुए अपराधी के आत्मा, प्राण (पुरा) पहले ही उठ जाते हैं उसी प्रकार ओषधि लेते ही (यक्ष्मस्य पुरा आत्मा नश्यति) रोग का मूल कारण पहले ही दूर होजाता है ।

इसी प्रकार मैं राजा जब (ओषधीः) वीर्यवती सेनाओं को (वाजयन्) संग्राम के लिये उत्तेजित करता हुआ अपने हाथ में लेता हूं । तो (यक्ष्मस्य) ओषधियों से राजयक्ष्मा के समान पीड़ाकारी (जीवगृभः) प्राणघाती नर-पिशाच का भी (आत्मा पुरा नश्यति) प्राण पहले ही निकलने लगता है ।

यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ८६ ॥

अ० १० । ९७ । १२ ॥

भा०—हे (ओषधी.) ओषधियो ! (यस्य) जिस रोगी पुरुष के (अङ्गम् अङ्गम्) अंग अंग और (परु परु.) पोरु पोरु में (प्रसर्पथ) तुम अच्छी प्रकार फैल जाती हो तब (मध्यमशी.) मर्मों तक को काट देने वाला या मध्यम, (उग्र इव) प्रचण्ड बलवान् राजा जिस प्रकार शत्रु को नाश कर डालता है उसी प्रकार (तत.) उस शरीर से (यक्ष्म) रोग को (विबाधध्वं) विनष्ट कर देती हो ।

इसी प्रकार हे (ओषधी) वीर्यवती सेनाओ ! तुम जिस राष्ट्र के अंग २ और पोरू २ मे फैल जाती हो (मध्यमशी. उग्र. इव) बीच के भागों को तोड़ने वाले या मध्यम, प्रचण्ड क्षत्रिय के समान ही तुम सब भी रोग के समान शत्रु का नाश करती हो ।

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना ।
साकं वातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥ ८७ ॥

अ० १० । ९७ । १३ ॥

भा०—हे यक्ष्म ! राजरोग ! तू (किकिदीविना) ज्ञानपूर्वक प्रयोग किये गये (चापेण) भोजन के (साकम्) साथ ही तू (प्र पत) परे भाग जा । और (वातस्य साक) वायु के प्रबलगति के साथ (प्र पत) दूर भाग जा । अर्थात् प्राणायाम द्वारा नष्ट हो । और (निहाकया साकम्) रोग को नि.शेष दूर करने की प्रक्रिया के साथ तू (नश्य) नष्ट हो ।

इसी प्रकार रोग के समान शत्रो ! तू किकियाने वाले चाप नामक पक्षी और वायु के वेग के साथ और सर्वथा (निहाकया) तीव्र भाग दौड़ के साथ (प्र पत, प्र नश्य) भाग जा ।

अन्या वोऽअन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत ।
ताः सर्वाः संविदाना इदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥

ऋ० १० । ९१ । १४ ॥

भा०—हे ओषधियो ! (व) तुममे से (अन्या) एक (अन्याम्) दूसरी की (अवतु) रक्षा करे । और (अन्या अन्यस्याः) एक दूसरी के गुणो और प्रभावों को (उप अवत) रक्षा करो । (ता सर्वा.) वे सब (संविदाना) परस्पर सहयोग करती हुई (मे इद वच) मेरे इस वचन को (प्र वत) अच्छी प्रकार पालन करो । इसी प्रकार हे सेना के पुरुषो ! तुम एक दूसरे की रक्षा करो । परस्पर मिलकर मेरी आज्ञा का पालन करो ।

या. फलिनीर्या ऽअफला ऽअपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥ ८९ ॥

ऋ० १० । ९७ । १५ ॥

भा०—(या.) जो ओषधियां (फलिनीः) फलवाली हैं और (या· अफला) जो फल रहित हैं, (या अपुष्पाः) जो फूलवाली नहीं है (या. च पुष्पिणी) जो फूलवाली हैं (ताः) वे सब (बृहस्पति-प्रसूता.) बृहती विद्या के पालक उत्तम विद्वान-द्वारा प्रयोग की जाकर (न.) हमें (अंहसः) दु.खो से (मुञ्चन्तु) छुडावें ।

इसी प्रकार जो वीर प्रजाएं (फलिनी) शस्त्र के फलो से युक्त, या (अफला) शस्त्रो के फलो से रहित, (अपुष्पा.) पुष्टिकर पदार्थों से रहित, (पुष्पिणी) पुष्टिकर पदार्थों से युक्त हैं वे सब भी बड़े राष्ट्रपति से प्रेरित होकर हमे (अहस) पाप-कर्मो या कष्टो से बचावे ।

मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत ।

अथो यमस्य पड्वीशात्सर्वस्माद् देवकिल्विषात् ॥ ९० ॥

ऋ० १० । ९७ । १६ ॥

वन्धुर्ऋषि । ओषधयो देवता । अनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—हे ओषधियो ! ओषधियों के समान कष्टों के निवारक वीर, आप्त, प्रजाजनो ! जिस प्रकार ओषधियें (शपथ्यात्) कुपथ्य या निन्दा योग्य कर्म से होनेवाले कष्ट से, (वरुण्यात्) निवारण करने योग्य रोग से और (यमस्य पड्वीशात्) मृत्यु के बन्धन से और (देव-किल्विषात्) इन्द्रियों मे बैठे विकारो से युक्त करती है, उसी प्रकार आप लोग भी (शपथ्यात्) आक्रोश या परस्पर निन्दा के वचनो से उत्पन्न पाप से, (अथ वरुण्यात् उत) और वरुण, राजा या वरणीय श्रेष्ठ पुरुष के अपराध से उत्पन्न होनेवाले (अथो) और (यमस्य) नियन्ता, न्यायाधीश के द्वारा दिये जाने वाले (पड्वीशात्) बेड़ियों, कैद आदि बन्धन से और (सर्वस्मात्) सब प्रकार के (देवकिल्विषात्) विद्वानों के प्रति किये या राजा के प्रति किये अपराधो से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, हमें उन अपराधों से बचावें ।

अव॑पतन्तीरवदन्दि॒व ओष॑धय॒स्परि॑ ।
यं जी॒वम॒श्नवा॑महै॒ न स रि॑ष्याति॒ पूरु॑षः ॥ ९१ ॥

ऋ० १० । ९७ । १७ ॥

वन्धुर्ऋषि । ओषधयो देवता । अनुष्टुप् गाधार॰ ॥

भा०—(दिवः) प्रकाशमान् सूर्य से आनेवाली किरणों के समान ज्ञानवान वैद्य पुरुष के पास से (अवपतन्ती॰) आती हुई (ओषधय) वीर्यवती ओषधिया (अवदन्) मानो कहती है कि (यं जीवम्) जिस प्राणधारी के शरीर को भी हम (अश्नवामहै) व्याप लेती हैं (सः पूरुष॰) वह देहवासी आत्मा, पुरुष (न रिष्याति) पीड़ित नहीं होता ।

९१—अवयन्तीः समवदन्त दिव० ।

इसी प्रकार (दिवः परि अवपतन्ती) सूर्य के समान तेजस्वी एवं युद्धविजयी सेनापति के पास से जाती हुई वीर्यवती (ओषधय.) ताप और वीर्य को धारण करनेवाली सेनाएं कहती हैं कि (यं जीवम्) जिस जीवधारी प्राणी को हम (अश्नवामहै) अपने अधीन लेलेती हैं (सः पूरुषः न रिष्यति) वह पुरुष कष्ट नहीं पाता ।

स्त्रियों के पक्ष में--(दिवः) तेजस्वी पुरुष के पास से गर्भित होकर (ओषधयः) वीर्य धारण करने में समर्थ स्त्रिये (अवपतन्तीः) पतियों से संगत होकर कहती हैं (यं जीवम् आश्नवामहै) प्राणधारी जिस जीव को हम गर्भ में धारण करलेती हैं (स पूरुषः न रिष्यति) वह आत्मा कभी नष्ट या पीड़ित नहीं होता ।

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
तासामसि त्वमुत्तमारं कामाय शꣳ हृदे ॥ ९२ ॥

ऋ० १० । ९७ । १८ ॥

भा०—(याः) जो (ओषधीः) ओषधियें (सोमराज्ञीः) सोम-वल्ली के गुणों से प्रकाशित होती हैं और (शतविचक्षणाः) सैकड़ों रोगों के दूर करने में नाना प्रकार से उपदेश की जाती हैं (तासाम्) उनमें से (त्वम्) हे विशेष ओषधे ! तू सब से अधिक (उत्तमा असि) उत्तम है । तू (कामाय) यथेष्ट सुख के प्राप्त करने के लिये और (हृदे शम्) हृदय को शान्ति देने के लिये (अरम्) पर्याप्त है ।

वीर प्रजाओं के पक्ष में—(सोमराज्ञीः) सोम-राजा को अपना राजा मानने वाली (याः बह्वी ओषधीः) बहुत सी वीर्यवती, बलवती प्रजाएं (शतविचक्षणाः) सैकड़ों कार्यों में कुशल हैं (तासाम्) उनमें से (त्वम् कामाय शं हृदे) कामना और हृदय की शान्ति के लिये तू ही सबसे (उत्तमा असि) श्रेष्ठ है ।

स्त्री के पक्ष में—(सोमसञ्ज्ञी) वधू की कामना करनेवाले की रानी बननेवाली (बह्वी) बहुत सी (शतविचक्षणा.) सैकड़ों गुणों में विलक्षण, चतुर (ओषधीः) ओषधियों के समान वीर्यवती, वीर्य धारण में समर्थ स्त्रिये हैं। (तासाम्) उनमें से (त्वम्) तू (कामाय शम्) कामना भोग की शान्ति और (हृदे शम्) हृदय की शान्ति के लिये भी (उत्तमा असि) तू ही उत्तम है।

या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ।
बृहस्पतिप्रसूताऽअस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ ९३ ॥

ऋ० १० । ९१ । १६ ॥

भा०—(सोमराज्ञीः) सोम वल्ली के गुणों से प्रकाशित होनेवाली (याः ओषधीः) जो ओषधियां (पृथिवीम् अनुविष्ठिताः) पृथिवी पर एक दूसरे के अनुकूल गुण होकर स्थित हैं वे (बृहस्पति-प्रसूताः) वेदविद्या के पालक विद्वान् द्वारा प्रयोग की गई (अस्यै) इस विशेष ओषधी को (वीर्यम् संदत्त) विशेष बल प्रदान करें।

वीर प्रजाओं के पक्ष में—(सोमराज्ञी ओषधीः) सोम को राजा स्वीकार करनेवाली प्रजाएं जो पृथिवी पर परस्पर अनुकूल होकर विराजती हैं, वे बृहत्, महान् पति द्वारा प्रेरित होकर (अस्यै) इस विशेष सेना को (वीर्यम् स दत्त) बल प्रदान करें। उसको पुष्ट करें।

याश्चेदमुप शृण्वन्ति याश्च दूरं परागताः ।
सर्वाः संगत्य वीरुध्रोऽस्यै संदत्त वीर्यम् ॥ ९४ ॥

ऋ० १० । ९७ । २० ॥

भा०—(याः च) और जो ओषधियां (इदम्) इस प्रकार (उप शृण्वन्ति) सुनी जाती हैं और (या. च दूरं परागता) और जो दूर २ तक फैलाई गई हैं। (सर्वा. संगत्य) वे सब मिलकर (वीरुध्र) नाना प्रकार से उगनेहारी

वृक्षलता आदि (अस्यै वीर्यं संदत्त) इस विशेष ओषधि को वीर्य प्रदान करे अथवा इस प्रजा को बल प्रदान करें ।

वीर पुरुषो के पक्ष मे—जो वीरसेनाएं (इदम्) सभापति के इस बचन को सुनती हैं और जो दूर तक चली गई हैं वे सब मिलकर (वीरुध) विविध ऐश्वर्यपद प्राप्त करनेवाली अथवा विविध प्रकार से शत्रुओं को रोकने मे समर्थ (अस्यै वीर्यम् संदत्त) इस विशेष सेना को या पृथ्वी को बल प्रदान करें ।

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकꣳ सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ९५ ॥

ऋ० १० । ९७ । २१ ॥

भा०—हे ओषधियो [1] (खनिता) तुमको खोदनेवाला तुम्हें (मा रिषत्) विनाश न करे । और (यस्मै च) जिसके लिये मैं (व) तुमको (खनामि) खोदूं वह (द्विपात् चतुष्पात्) मनुष्य और पशु (सर्वम्) सब (अस्माकम्) हमारे (अनातुरम्) नीरोग, सुखी (अस्तु) हों । हे वीर पुरुषो ! तुम्हारा (खनिता) खनन करनेवाला, तुमको सामान्य प्रजा से अलग करनेवाला राजा (मा रिषत्) तुम्हें पीड़ित न करे और जिस राष्ट्र की रक्षा के लिये वह तुम्हें पृथक् करता है वे सब मनुष्य, पशु सुखी हों ।

ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा ।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तꣳ राजन् पारयामसि ॥ ९६ ॥

ऋ० १० । ९७ । २१ ॥

भा०—(ओषधय) वीर्य धारण करनेवाली ओषधियां (सोमेन) सोमलता के साथ (सम अवदन्त) मानो संवाद करती है कि हे

९५—'द्विपच्चतुष्पदस्मा०' इति काण्व०

(राजन्) हे राजन्, सोम ! (ब्राह्मण) वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण (यस्मै कृणोति) जिसको प्रदान करता है (त) उसको हम (पारयामसि) पालन करती हैं। वीर्यवती प्रजाएं (सोमेन राज्ञा सह) प्रेरक बलवान् राजा के साथ मिलकर (सम् अवदन्त) आलाप करती हैं कि (ब्राह्मणः यस्मै कृणोति) वेदज्ञ पुरुष जिस प्रयोजन या देश की रक्षा के लिये हमें दीक्षित करता है। हे राजन् (तं पारयामसि) उसका हम पालन करती हैं।

स्त्रियों के पक्ष में—वीर्य धारण करने में समर्थ लता के समान स्त्रियां वधू के इच्छुक तेजस्वी पुरुष के साथ (सम् अवदन्त) संगत होकर प्रतिज्ञा करती हैं कि (यस्मै) जिस गृहस्थ कार्य के लिये हमें (ब्राह्मण) वेदज्ञ विद्वान् संस्कार द्वारा प्रदान करता है हे राजन् ! वर ! (तं पारयामसि) हम उसको संसार-सागर से तराती हैं। उसका पालन करती हैं।

नाशयित्री बलासस्यार्शंस उपचितामसि।
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनी ॥ ९७ ॥

भा०—हे ओषधे ! तू (बलासस्य) बल को नाश करनेवाले कफ रोग को (अर्शस.) अर्श, बवासीर और (उपचिताम्) दोषों के एकत्र होजाने से उठनेवाले गण्ड माला आदि रोगों की (नाशयित्री असि) नाश करनेवाली है। (अथ) और इसी प्रकार के (शतस्य यक्ष्माणाम्) सैंकड़ो रोगो के और (पाकारो) पकनेवाले फोड़े की भी (नाशनी असि) नाश करदेने वाली हो।

वीर प्रजा के पक्ष मे—(बलासस्य) बलपूर्वक आक्रमक (अर्शस.) हिंसाकारी, (उपचिताम्) अन्यो के धनो को अन्याय से संग्रह करनेवाले और (पाकारो) परिणाम मे पीड़ा देनेवाले और इसी प्रकार (शतस्य-यक्ष्माणाम्) सैकड़ों गुप्त पीड़ाकारी दुष्टो का नाश करनेहारी हो।

त्वां गन्धर्वा अखनँस्त्वामिन्दुस्त्वां बृहस्पतिः ।
त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यत ॥ ९८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(त्वाम्) तुझको (गन्धर्वाः) गौ वेदवाणी के ज्ञाता और भूमि के पालक (अखनन्) खोदते हैं, प्राप्त करते हैं (त्वां) तुझको (इन्दः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् (बृहस्पति) बड़े राष्ट्र के पालक और (सोमः राजा) राजा सोम और (विद्वान्) विद्वान् पुरुष भी प्राप्त करता है । (यक्ष्मात्) और रोग से (अमुच्यत) मुक्त होता है ।

वीर सेना के पक्ष में—(गन्धर्वाः) पृथ्वी के पालक, भूपति लोग (इन्द) सेनापति और (सोम राजा) राजा सोम सम्राट् सभी प्राप्त करते हैं और कष्ट से मुक्त होते हैं ।

सहस्व मे अरातीः सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वं पाप्मानꣳ सहमानास्योषधे ॥ ९९ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधि के समान वीर्य को धारण करनेवाली सेने ! (सहमाना असि) रोग के समान तू शत्रु को भी पराजित करनेहारी है । तू (सर्वं पाप्मानम्) समस्त पापाचार को (सहस्व) विनष्ट कर । (मे अरातीः) मेरे शत्रुओं को (सहस्व) पराजित कर और (पृतनायतः) सेना लेकर चढ़नेवालों को भी (सहस्व) बलपूर्वक पराजित कर ।

दीर्घायुस्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।
अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा वि रोहतात् ॥ १०० ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(ते खनिता) तुझे खोदकर प्राप्त करनेवाली और (यस्मै च) जिसके लिये (त्वा) तुझको (अहम् खनामि) मैं खोदकर प्राप्त करता हूं

हे (ओषधे) वीर्यवति ओषधे ! बलवति ! (स दीर्घायुः) वह दीर्घ आयुवाला हो ! (अथो) और हे पुरुष ! हे स्त्री ! और हे ओषधे ! हे वीर्यवति प्रजे ! (त्वं) तू भी (दीर्घायुः भूत्वा) दीर्घ आयुवाली होकर (शतवल्शा) सैकड़ों अंकुरों सहित (विरोहतात्) विविध प्रकार से उत्पन्न हो, उन्नत हो, पुष्ट हो ।

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽअस्मॉ२॥ अभिदासति ॥१०१॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—हे (ओषधे) ओषधे ! वीर्यवति (त्वम् उत्तमा असि) तू सबसे श्रेष्ठ है । (वृक्षा) अन्य वृक्ष भी (तव उपस्तयः) तेरे अधीन रहें । तेरे बल से (सः) वह (अस्माकम् उपस्ति अस्तु) हमारे अधीन रहे (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) आक्रमण पूर्वक नष्ट करता है ।

अथवा—हे ओषधे ! तू सबसे श्रेष्ठ है । (वृक्षा) वट आदि वृक्ष तेरे समीप (उपस्तय) संघ बनाकर ठहरते हैं । (यः अस्मान् अभिदासति) जो हमें सुख देता है वह (अस्माकं उपस्ति. अस्तु) हमारे पास हमसे मिलकर रहे ।

सेना पक्ष में—(उपस्तयः) संघ बनाकर रहनेवाली सेनाएँ (तव वृक्षा) तेरे काटने योग्य है । अथवा (वृक्षा) काटने योग्य वृक्षों के समान छेद्य शत्रु (उपस्तय =संहन्तव्याः) विनाश करने योग्य हैं । इसी प्रकार जो हमें (अभि दासति) विनष्ट करे (स अस्माक उपस्ति.) वह भी हमारे लिये विनाश योग्य है ।

मा मां हिꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या या वा दिवꣳ सत्यधर्मा

व्यानट् । यश्चापश्चन्द्रः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १०२ ॥

हिरण्यगर्भ ऋषि । को देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (पृथिव्या. जनिता) पृथिवी का उत्पादक है और (यः वा) जो (सत्य-धर्मा) सत्य धर्मवाला, सत्य के बल से जगत् को धारण करनेवाला होकर (दिव) द्यौलोक, आकाश और सूर्य को (वि आनड्) विविध प्रकार से व्याप्त है । और (यः) जो (प्रथमः) सबसे प्रथम विद्यमान होकर (आपः) जलों को (चन्द्रा) ज्योति वाले सूर्यादि लोकों को (जजान) उत्पन्न करता है (कस्मै) उस सुखमय उपास्य देव की हम (हविषा) भक्ति और स्तुति से (विधेम) अर्चना करें । वह (मा मा हिंसीत्) मुझे कभी नाश न करे ।

राजा के पक्ष में—जो पृथिवी का (जनिता) पिता के समान पालक सत्य नियमों वाला होकर (य दिव व्यानट्) जो सब व्यवहारों को चलाता है (चन्द्रा आप) जो सबसे श्रेष्ठ होकर सब आह्लादकारी आप्त प्रजाओं को (जजान) प्रकट करता है । उसके कर्त्तारूप प्रजापति को हम (हविषा) अन्न आदि उत्तम उपादेय पदार्थों से सेवा करें । वह राजा (मा मा हिंसीत्) मुझ राष्ट्र की प्रजा का नाश न करे ॥ शत० ७ । ३ । १ । २० ॥

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह ।
वपान्तेऽअग्निरिषितोऽअरोहत् ॥ १०३ ॥

अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! हे स्त्री ! तू (यज्ञेन) यज्ञ, परस्पर के प्रेमपूर्वक संग और (पयसा) जल, पुष्टिकारक अन्न और वीर्य के (सह) साथ (आभि आवर्तस्व) सब प्रकार से प्राप्त हो, वर्तमान रह ।

(इषितः) कामनावान्, अभिलाषुक (अग्नि) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष राजा या पति (ते वपाम्) तेरी बीजवपन करने की भूमि मे (अरोहत्) बीज वपन कर और अन्न और पुत्र आदि प्राप्त करे ।

अर्थात्—(पयसा सह यथा पृथिवी अभि आवर्तते) मेघ के जल से जिस प्रकार पृथिवी युक्त होती है उसी प्रकार (यज्ञेन पृथिवी अभ्यावर्तस्व) हे स्त्री ! तू यज्ञ अर्थात् सगत पति से युक्त होकर रह । और (अग्नि.) तेजस्वी राजा जिस प्रकार इच्छानुकूल प्रजाओ द्वारा चाहा जाकर (ते वपाम्) तेरी उत्पादक शक्ति पर अधिष्ठाता रूप मे विराजता है उसी प्रकार (अग्नि.) तेज.स्वरूप वीर्य (इषित.) स्त्री की इच्छानुसार प्राप्त होकर (ते वपां) तेरी सन्तानोत्पादक शक्ति को प्राप्त कर (अरोहत्) सन्तानरूप से बढे ॥ शत० ७ । ३ । १ । २१ ॥

अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूतं यच्च यज्ञियम् ।
तद्देवेभ्यो भरामसि ॥ १०४ ॥

अग्निर्देवता । भुरिग् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! (यत् ते शुक्रं) जो तेरा शुद्ध, उज्ज्वल और (यत् चन्द्र) जो चन्द्र, आह्लादकारी (यत् पूत) जो पवित्र, (यत् च यज्ञियम्) और जो 'यज्ञ' प्रजापति होने योग्य तेज है (तत्) उसको हम प्रजागण (देवभ्य) विजयी वीर पुरुष के लिये (भरामसि) प्राप्त कराते हैं ।

सन्तानोत्पादक वीर्य के पक्ष मे—हे अग्ने ! वीर्य ! जो तेरी शुद्ध, आह्लादकारी पवित्र क्रिया में हितकारी स्वरूप है उसको (देवेभ्य) दिव्यगुणों और प्राणों के लिये प्राप्त करावे ॥ शत० ७ । ३ । १ । २२ ॥

इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् ।
आ मा गोषु विशत्वा तनूषु जहामि सेदिमनिराममीवाम् ॥१०५॥

आशीर्वा विद्वान् अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(अहम्) मैं (इत) इस पृथ्वी से (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बलकारक समस्त उत्तम भोजन (आदम्) प्राप्त करूं। (इत.) इस पृथ्वी से ही (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (योनिम्) कारणरूप (महिषस्य) महान् परमेश्वर को (धाराम्) धारण करनेवाली वेदवाणी को भी प्राप्त करता हू। वह अन्न बल और सत्यज्ञान (मा आविशतु) मुझे प्राप्त हो। और वही अन्न पुष्टिकारक पदार्थ (गोषु तनूषु) हमारी इन्द्रियों और शरीरों में भी प्राप्त हो। और (अतिराम्) अन्न से शून्य, उपवास करानेवाली, (अमीवाम्) रोगों से उत्पन्न (सीदम्) और भुखमरी आदि प्राणनाशक विपत्ति को (जहामि) मै त्याग करूं, दूर करूं, हटाऊ ॥ शत० ७ । ३ । १ । २३ ॥

अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्तेऽअर्चयो विभावसो ।
बृहद्भानो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कवे ॥ १०६ ॥

पावकाग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृत् पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवान् तेजस्विन् ! हे (विभावसो) विशेष ज्ञानदीप्ति मे वसनेवाले तेजोधन ! एवं ज्ञानधन विद्वन् ! (तव) तेरा (महि श्रव) बड़ाभारी ज्ञान और (महि वय) बड़ी भारी जीवन सामर्थ्य, ये सब (अर्चय) अग्नि की ज्वालाओं के समान (भ्राजन्ते) प्रकाशित होते हैं। हे (बृहद्भानो) महान् दीप्तिवाले सूर्य के समान तेजस्विन् ! एवं बृहती वेदवाणी के प्रकाश से युक्त हे (कवे) क्रान्तदर्शिन् मेधाविन् विद्वन् ! तू (शवसा) बल से (उक्थं वाजम्) ज्ञान और वीर्य को (दाशुषे) दानशील पुरुषों अथवा दान योग्य विद्यार्थी पुरुष को (दधासि) प्रदान करता है ॥ शत० ७ । ३ । १ । २९ ॥

पावकवर्चा शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चाऽउदियर्षि भानुना ।

पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणासि रोदसीऽउभे ॥ १०७ ॥

ऋ० १० । १४० । १ ॥

अग्निर्विद्वान् देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(पावकवर्चाः) अग्नि के समान, पवित्रकारी तेजवाला, (शुक्रवर्चाः) वीर्य के समान विशुद्ध तेजवाला, एव सामर्थ्यजनक, (अनूनवर्चाः) किसी से भी न्यून बल न होकर अति बलशाली, तेजस्वी राजा होकर (भानुना) अपने तेज से तू सूर्य के समान (उत् इयर्षि) ऊपर उठता है। और (मातरा) माता पिता दोनों के बीच (पुत्र) जिस प्रकार पुत्र नि.संकोच, निर्भय होकर विचरता है उसी प्रकार (उभे) दोनो (रोदसी) द्यौ और पृथिवी के बीच (पुत्र) पुरुषों को त्राण करने में समर्थ होकर (विचरन्) विविध प्रकार से विचरता हुआ (उप अवसि) उन्हें प्राप्त हो और दोनों को (पृणासि) पालन पोषण कर ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३० ॥

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः ।
त्वेऽइषः संदधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः ॥ १०८ ॥

ऋ० १० । १४० । २ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(ऊर्जः नपात्) अपने बल और पराक्रम को कभी धर्म-मार्ग से न गिरने देनेवाले ! हे (जातवेद) विद्वन्, ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! तू (सुशस्तिभिः) उत्तम शासन क्रियाओं से और सुख्यातियो से (धीतिभिः) अंगुलियों के समान अग्रगामी धारण शक्तियों से (हित) प्रजा का हितकारी एवं सुस्थापित होकर (मन्दस्व) सुप्रसन्न हो। (त्वे) तुझ में (भूरि वर्पस) नाना धन, गौ आदि पशु, नाना रूप

१०७—०‘उदय ऋषि भानुना०’ इति काण्व० ॥

के ऐश्वर्यों से युक्त (चित्रोतयः) वित्त और विविध रक्षा साधनों से सुरक्षित (वाम जाना.) उत्तम वंशों में उत्पन्न हुई प्रजाएं (इष. संदधु.) अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान करे ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३१ ॥

इरज्यन्नग्ने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायोऽअमर्त्य ।
स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम् ॥१०९॥

ऋ० १० । १४० । ३ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—हे राजन् ! (स.) वह तू (दर्शतस्य वपुषः) दर्शनीय शरीर से (विराजसि) विशेष दीप्ति से चमकता है (सानसिम्) सनातन से चली आई, चिरकाल से प्राप्त (क्रतुम्) प्रज्ञा और शक्ति को (पृणक्षि) पूर्ण किये रहता है। और हे (अग्ने) अग्ने, प्रतापवन् ! विद्वन् ! तू (इरज्यत्) ऐश्वर्यवान् होता हुआ हे (अमर्त्य) नाशवान् साधारण मनुष्यों से भिन्न, विशेष पुरुष ! तू (जन्तुभि.) गौ आदि जन्तुओं से (अस्मे) हमारे उपकार के लिये (राय) धन ऐश्वर्यों को (प्रथयस्व) बढ़ा ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३२ ॥

इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तꣳ राधसो महः ।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि सानसिꣳ रयिम् ॥११०॥

ऋ० १० । १४० । ४ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(अध्वरस्य) अहिंसारहित, पालक यज्ञ, व्यवस्था के (इष्कर्तारम्=निष्कर्तारम्) करनेवाले, (प्रचेतसं) प्रकृष्ट ज्ञानवान्, (क्षयन्तम्) निवासी और (महः) बड़े भारी (वामस्य) अति सुन्दर, प्राप्त करने योग्य (राधस) धन के (रातिम्) देनेवाले पुरुष को और (सुभगाम्) उत्तम ऐश्वर्ययुक्त (महीम् इषं) बड़े भारी अन्न समृद्धि को

और (सानसिम्) अनन्त, अनादि, सनातन, अक्षय (रयिम्) सम्पत्ति को भी (दधासि) धारण करता है, अतः तू पूजनीय है ॥ शत० ७ । २ । १ । ३३ ॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निꣳ सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः ।
श्रुत्कर्णꣳ सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा ॥ १११ ॥

ऋ० १० । १४० । ५ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(ऋतावानम्) सत्य ज्ञानवान्, सत्य कर्मवान्, (महिषं) महान् (विश्वदर्शतम्) सब विद्याओं के द्रष्टा एवं सर्व प्रकार से दर्शनीय, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान्, श्रवण किये हुए (श्रुत् कर्णम्)गुरु के उपदेश को अपने कानों में सदा धारण करनेवाले अथवा गुरु के उपदेशानुसार आचरण करनेवाले, (दैव्यम्) देव, विद्वानों में कुशल (त्वा) तुझ विद्वान् (अग्निम्) ज्ञानी, तेजस्वी पुरुष, राजा को (सुम्नाय) अपने सुख के लिये (पुर) पालन करने में चतुर या पालन योग्य (जना.) लोग (सुम्नाय) अपने सुख के लिये ही (दधिरे) स्थापित करते हैं। और (सप्रथस्तमम्) विस्तृत यश के पात्र तुझको (मानुषा युगा) मनुष्यों के युग, जोड़े अर्थात् सभी नर नारी (गिरा) वाणी से भी (दधिरे) प्रतिष्ठित करते हैं ॥ शत० ७ । ३ । १ । ३४ ॥

आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यम् ।
भवा वाजस्य सङ्गथे ॥ ११२ ॥ ऋ० १० । १४० । ६ ॥

गोतम ऋषिः सोमो । देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! (ते) तेरा (वृष्ण्यम्) प्रताप, बलशाली कार्य (विश्वत) सर्वत्र (सम-एतु) प्राप्त हो। तू (विश्वतः आप्यायस्व) सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हो और (वाजस्य) वीर्यवान्, वेग या

ऐश्वर्य के निमित्त होनेवाले (सङ्गथे) संग्राम में तू विजयी (भव) हो ॥ शत० ७ । ३ । १ । ४६ ॥

सं ते पयाꣳसि समु यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानोऽअमृताय सोम दिवि श्रवाꣳस्युत्तमानि धिष्व ॥ ११३ ॥

ऋ० १० । १४० । ७ ॥

सोमो देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (सोम) सोम ! (ते) तुझे (पयांसि) पुष्टिकारक पदार्थ (सं यन्तु) प्राप्त हो । और (आभिमाति षाहः) आभिमानी शत्रुओं को पराजित करने मे समर्थ (वाजा. स यन्तु) वीर्यवान् पदार्थ और वेगवान् पदार्थ तुझे प्राप्त हों । इसी प्रकार (वृष्ण्यानि) सब प्रकार के बल भी (सं यन्तु) प्राप्त हो । हे सोम ! (दिवि) आकाश मे चन्द्र के समान (आप्यायमान.) प्रतिदिन बढ़ती कलाओं से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (अमृताय) 'अमृत', मोक्ष सुख, या सन्तति-परम्परा से सदा अमर या चिरस्थायी होने के लिये या अमृत, अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त दीर्घ जीवन को प्राप्त करने के लिये (उत्तमानि) उत्तम २ (श्रवांसि) अन्नो को प्राप्त कर, उत्तम अन्न खा ॥ शत० ७ । ३ । १ । ४६ ॥

आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरꣳशुभिः ।
भवा नः सुप्रथस्तमः सखा वृधे ॥ ११४ ॥

ऋ० १० । ९१ । १८ ॥

सोमो देवता । आर्च्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (मदिन्तम) अति प्रसन्नचित्त ! हे (सोम) ऐश्वर्ययुक्त राजन् ! तू (विश्वेभिः) समस्त (अंशुभिः) किरणों से (आप्यायस्व) वृद्धि को प्राप्त हो । तू (वृधे) वृद्धि के लिये ही (नः) हमारे (सुप्रथस्तमः) अति अधिक विस्तृत यशों और गुणों से प्रसिद्ध कीर्तिमान् (सखा) मित्र (भव) हो ।

आ तें वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वाकामया गिरा ॥ ११५ ॥ ऋ० । १ । ९१ । १७ ॥

वत्सार ऋषि. । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री । षड्ज. ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् पुरुष ! (वत्स) बछड़ा जिस प्रकार अपनी माता के साथ (आ यमत्) बांध दिया जाता है उसी प्रकार (परमात् चित् सधस्थात्) परम आश्रयस्थान से प्राप्त हुई (त्वां-कामया) जिस वाणी से हम तेरे प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शन करते हैं उस (गिरा) वेद वाणी से ही तेरे चित्त को (आ यमत्) बांधा जाता है । तू उससे बद्ध होकर राष्ट्र की व्यवस्था कर । आत्मा के पक्ष में–(त्वां-कामया=आत्मानं कामया) अपने आत्मा को ही दर्शन करने की इच्छा वाली वाणी से (परमात् सधस्थात् चित्) परम आश्रय परमेश्वर से प्राप्त (गिरा) ज्ञान वाणी द्वारा (ते मन. आ यमत्) तेरा मन बंध कर एकाग्र हो ॥ शत० ७ । ३ । २ । ८ ॥

स्त्री पुरुष के प्रति—हे अग्ने ! तेजस्विन् पुरुष ! (परमात् सधस्थात्) परमस्थान, हृदय से उत्पन्न (त्वांकामया गिरा) तुझे चाहने वाली मेरी वाणी से तेरा (मन.) मन गौ के साथ बछड़े के समान (आ यमत्) सब तरफ से मेरे साथ बंधे ।

तुभ्यं ताऽअङ्गिरस्तम विश्वाः सुक्षितय. पृथक् ।
अग्ने कामाय येमिरे ॥ ११६ ॥ ऋ० ८ । ११ । ७ ॥

विरूप ऋषि. । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अंगिरस्तम) अति अधिक ज्ञानी या जलते अंगारों के समान तेजस्विन् ! (ताः सुक्षितय.) वे नाना उत्तम प्रजाएं (पृथक्) पृथक् २ (कामाय तुभ्यं) कामना करने योग्य, कान्तिमान्, तुझ राजा को (येमिरे) प्राप्त हों ॥ शत ७ । ३ । २ । ८ ॥

स्त्री-पुरुष के पक्ष में—हे (अंगिरस्तम) अंग २ मे रमण करनेवाले प्रियतम (ताः विश्वा. सुक्षितयः) वे समस्त उत्तम भूमि रूप स्त्रियां (पृथक्) पृथक् २ (कामाय तुभ्यम्) काम्यस्वरूप, सुन्दर, तुझे या तुझे अपने हृदय को कामना पूर्त्ति के लिये (येमिरे) विवाहे ।

अगिरस्तम इति जात्यैकवचनम् ।

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।
सम्राडेको विराजति ॥ ११७ ॥ ऋ० ८ । ४३ । १८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, अग्रणी जो (भूतस्य) उत्पन्न प्रजाओं और (भव्यस्य) आगामी काल में आनेवाले प्रजाजनो या सभासदों को (प्रियेषु) प्रिय लगनेवाले (धामसु) स्थानों पर भी (काम) सबसे कामना करने योग्य, सब के मनोरथों का पात्र, कान्तिमान् हो । वह (एकः) एक मात्र (सम्राड्) सम्राड् होकर (विराजति) राज्यसिंहासन पर विशेष रूप से शोभा प्राप्त करता है ॥ शत० ७।३।२।९॥

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

[तत्र सप्तदशोत्तरशतमृचः ।]

इति मीमासातीर्थप्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डित जयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ मयि॑ गृह्णाम्य॒ग्रेऽअ॒ग्निꣳ रा॒यस्पोषा॑य सु॒प्रजा॒स्त्वाय॑ सु॒वीर्य्या॑य । माम॑ु दे॒वताः॑ सचन्ताम् ॥ १ ॥

अग्निर्देवता । आर्ची पंक्ति ककुप् वा । पञ्चम स्वर ॥

भा०—(अग्रे) सब से प्रथम (मयि) अपने में, अपने ऊपर नियन्ता रूप में (अग्निम्) ज्ञानवान्, विद्वान्, तेजस्वी पुरुष को या परमेश्वर को (रायस्पोषाय) धनैश्वर्य समृद्धि के प्राप्त करने के लिये, (सुप्रजास्त्वाय) उत्तम प्रजाएं प्राप्त करने के लिये, (सुवीर्याय) और उत्तम वीर्य, बल प्राप्त करने के लिये (गृह्णामि) मैं स्वीकार करता हू । जिसके अनुग्रह से (देवता.) उत्तम विद्वान् या उत्तम गुण (माम् उ सचन्ताम्) मुझे प्राप्त हों ।

राजा अपने भी ऊपर विद्वान्, पुरोहित, ज्ञानवान् पुरुष को, ऐश्वर्य वृद्धि, उत्तम प्रजाओं, बल वृद्धि के लिये नियुक्त करे । इसी प्रकार अभी प्रथम अपने ऊपर उपदेशप्रद गुरु, आचार्य रूप अग्नि को रखकर (राय. पोषाय) उत्तम गुणों की पुष्टि वीर्यलाभ, ब्रह्मचर्य और उत्तम सन्तान के लिये रक्खें ॥ शत० ७ । ४ । १ । २ ॥

अ॒पां पृ॒ष्ठम॑सि॒ योनि॑र॒ग्नेः स॑मु॒द्रम॒भितः॑ पिन्व॑मानम् ।
व॒र्धमा॑नो म॒हाँ२ऽ आ च॒ पुष्क॑रे दि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थस्व ॥२॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० ६ । २६) । शत० ७ । ४ । १ । ६ ॥

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒नऽआ॑वः ।
स बु॒ध्न्या॑ऽउप॒मा ऽअ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ विवः॑ ॥३॥

अथर्व० ४ । १ । १ ॥

ब्रह्मा ऋषिः । आर्ची त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

त्) सब से प्रथम (जज्ञानम्) प्रकट हुई। (प्रथमम्) ध सब से अधिक विस्तृत (ब्रह्म) सब से महान्, ब्रह्म रूप परमात्मा की शक्ति को (वेन.) वही कान्तिमान्, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर (सीमत) समस्त लोको के बीच मे व्यवस्था रूप से व्याप्त होकर (सुरुचः) समस्त रुचिकर तेजस्वी सूर्यों को (वि आवः) विविध रूप से प्रकट करता है। (सः) वही परमेश्वर (अस्य) इस महान्शक्ति के (उपमा) बतलानेवाले निदर्शक (विष्ठा.) नाना स्थलो मे और नाना रूपो में स्थित (बुध्न्या) आकाशस्थ लोको को भी (वि आवः) विविध रूप से प्रकट करता है। और वही परमेश्वर (सत च) इस व्यक्त जगत् के और (असत. च योनिम्) अव्यक्त मूल कारण के भी आश्रयस्थान आकाश को भी (वि वः) प्रकट करता है।

राष्ट्र पक्ष में—सब से प्रथम ब्रह्मशक्ति उत्पन्न होती है। वही मर्यादा से (सुरुचः) तेजस्वी क्षत्रियों को भी प्रकट करती है। वही (अस्य विष्ठाः उपमा) इस राष्ट्र के विशेष स्थितिवाले ज्ञानी (बुध्न्या) आश्रय भूत वैश्यवर्ग को उत्पन्न करता है। और वही (सतः असतः च योनिम् विवः) सत् और असत् के आश्रय सामान्य प्रजा को भी उत्पन्न करता है॥ शत० ७। ४। १। १४॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्र भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

ऋ० १०। १२१। १॥

हिरण्यगर्भ ऋषिः। कः प्रजापतिर्देवता। आर्ची त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(अग्रे) सृष्टि के आदि में (हिरण्यगर्भः) स्वर्ण के समान दीप्त सूर्यों और ज्ञानी पुरुषों को अपने गर्भ में धारण करनेवाला, सब का वशी (भूतस्य) इस उत्पन्न होनेवाले विश्व का (एकः) एकमात्र (जातः) उत्पादक और (पतिः) पालक (आसीत्) रहा और (सम्

अवर्त्तत) उसमें व्याप्त होकर सदा रहता भी है। और (स·) वही (इमाम् पृथिवीम्) इस सर्वाश्रय पृथिवी को और (द्याम् उत) आकाश या तेजोदायी सूर्यादि को भी (दाधार) धारण करता है (कस्मै) उस सुखस्वरूप प्रजापति की हम (हविषा) भक्तिपूर्वक (विधेम) उपासना करे ॥ शत० ७ । ४ । १ ॥ १८ ॥

राष्ट्र के पक्ष में—(हिरण्यगर्भः) सुवर्ण, कोश का ग्रहण करनेवाला उसका स्वामी, समस्त राष्ट्र के उत्पन्न प्राणियों का एकमात्र पालक है। वह ही (पृथिवीम्) पृथिवीस्थ नारियों और (द्याम्) सूर्य के समान पुरुषों को भी पालता है। उसी प्रजापति राजा की हम (हविषा) अन्न और आज्ञा पालन द्वारा सेवा करें।

दृप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु सञ्चरन्त दृप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ५ ॥

अथर्व० १८ । ४ । २८ ॥

ईश्वर, आदित्यो देवता। विराड् आर्षी त्रिष्टुप् ॥

भा०—(दृप्स·) आदित्य का तेज (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (चस्कन्द) प्रकाश और मेघ जल के रूप में प्राप्त होता है। (अनु द्याम्) और फिर वह आकाश में जाता है। (य· च पूर्व) जो स्वयं वह आदि में पूर्व या पूर्ण है वह (इमं च योनिम् अनु) इस स्थान को भी प्राप्त होता है। इस प्रकार (समानम् योनिम् अनु) अपने समान अनुरूप आश्रय-स्थान को प्राप्त करते हुए (दृप्स) हर्ष के कारणरूप आदित्य को जिस प्रकार (सप्त होत्राः) सातों आदानकारी दिशाओं मे फैलता देखते है उसी प्रकार हम (दृप्सं) आनन्द और हर्ष के हेतु वीर्य को (सप्त होत्रा.) सातों प्राणों में (अनुजुहोमि) संचारित करूं।

१—अथात पुष्करपर्णाद्यपधानम् ॥ ककुप् । सर्वा० । वत्सार ऋषिः । द० ॥

राष्ट्र-पक्ष मे—(द्रप्सः) प्रजा के हर्षजनक राजा (य. च पूर्व) जो पूर्ण शक्तिमान् है वह (पृथिवीम् अनु द्यामनु च) पृथिवी को और सूर्य को अनुकरण करता हुआ (पृथिवीम् चस्कन्द) पृथिवी को प्राप्त होता है। (योनिम्) अपने भूलोक के समान (सं चरन्तं) समान रूप से संचरण करनेवाले (द्रप्सं) हर्षकारी आदित्य के समान तेजस्वी पुरुष को (सप्त होत्रा अनु) सात प्राणों में वीर्य के सामान सातो दिशाओं में सूर्य के समान (जुहोमि)[1] स्थापित करता हूं ॥ शत० ७ । ४ । १ । २० ॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु ।
ये ऽअन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ६ ॥

अथर्व० ३ । २६ । २७ ॥

सर्पा देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—(ये के च) जो कोई भी (पृथिवीम् अनु) इस पृथिवी पर और (ये) जो अन्तरिक्ष में और (ये दिवि) जो दूर आकाश में विद्यमान लोक हैं (तेभ्य) उन (सर्पेभ्य.) सर्पण स्वभाव लोकों को (नमः) अन्न प्राप्त हो और (तेभ्य· सर्पेभ्यः नमः) उन सर्प के स्वभाव वाले दुष्ट पुरुषों का उत्तम रीति से दमन हो ।

इमे वै लोकाः सर्पाः या एव एषु लोकेषु नाष्ट्रा, व्यद्वरो या शिमिदा तदेवैतत्सर्वं शमयति ॥ शत० ७ । ४ । १ । २८ ॥

अथवा राष्ट्र में राजाओं के प्रति जानेवाले, प्रजाओं में फैले हुए और अन्तरिक्ष अर्थात् शासकजनों में फैले हुए (सर्पेभ्यः) गुप्त रूप से गतिशील चरों की (नम) हम नियम-व्यवस्था करे ।

या ऽइषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीꣳरनु ।
ये वावटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । अनुष्टुप् छन्दः । गाधारः ॥

५—१. जुहोति स्थापयामीति उव्वट ।

भा०—(याः) जो (यातुधानानां) प्रजा को पीड़ा देनेवाले दुष्ट पुरुषों के (इषव) शस्त्र हैं अर्थात् उनके द्वारा चलाये हथियारों के समान प्रजा के नाशकारी है (ये वा) और जो (वनस्पतीन् अनु) वृक्षों के आश्रित सर्पों के समान प्रजा को आश्रय देनेवाले माण्डलिक भूपतियों के अधीन रहते हैं। (ये अवटेषु) जो गढ़ों मे रहने वाले सापो के समान प्रजा की निचली श्रेणियों में (शेरते) गुप्त रूप से रहते हैं (तेभ्यः सर्पेभ्य.) उन सब कुटिल स्वभाव के लोकों का भी (नमः) दमन हो ॥ शत० ७ । ४ । १ । २६ ॥

ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । अनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—(ये) जो (दिवः) सूर्य या विद्युत् के (रोचने) प्रकाश में और (ये वा) जो (सूर्यस्य रश्मिषु) सूर्य की रश्मियों में चलते फिरते हैं और (येषाम्) जिनका (अप्सु) जलों के भीतर (सद) निवास-स्थान, आश्रय दुर्ग (कृतम्) बना है (तेभ्य) उन (सर्पेभ्य·) कुटिल लोकों को भी राजा (नम) अपने वश करे ॥ शत० ७ । ४ । १ । ३० ॥

कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वी याहि राजेवामवाँ२ऽ इभेन ।
तृष्वीमनु प्रसितिं द्रूणानोऽस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

ऋ० । ४ । ४ । १ ॥

देवा वामदेवश्च ऋषय । अग्नि· प्रतिसरो वा देवता । रक्षोघ्नी ऋक् । भुरिक् पक्ति । त्रिष्टुप् वा । पञ्चमो धैवतो वा ।

भा०—हे राजन्[1] हे सेनापते ! तू (पाज· कृणुष्व) बल को उत्पन्न कर, राष्ट्र के पालन और दुष्ट दमन के सामर्थ्य को उत्पन्न कर । तू (अमवान्)

९—वामदेव ऋषि । द० ।

सहायक अमात्य पुरुषों से युक्त होकर (प्रसितिम्) सुप्रबद्ध, सुव्यवस्थित पृथिवी को (इभेन) हस्तिबल से (राजा इव) राजा के समान (याहि) प्राप्त हो। अथवा—(प्रसितिं न पाजः कृणुष्व) तू अपने बल को विस्तृत जाल के समान बना। जिसमें समस्त प्रजाएं बधें। (राजा इव अमवान् इभेन पृथिवीं याहि) राजा के समान सहायक पुरुषो से युक्त होकर हस्तिबल से पृथ्वी को प्राप्त कर। और पृथ्वी, अति वेगवाली, बलवती (प्रसितिम् अनु) उत्कृष्ट बन्धनो से युक्त राजव्यवस्था के अनुसार (रक्षसः) विघ्नकारी दुष्ट पुरुषों को (द्रणान.) विनाश करता हुआ तू उनपर (अस्ता असि) बाण आदि शस्त्रो के फेकने वाला ही हो और (रक्षसः) विघ्नकारी पुरुषों को (तपिष्ठैः) अति संतापजनक शस्त्रों से (विध्य) ताड़ना कर, दण्डित कर ॥ शत० ७ । ४ । १ । ३४ ॥

तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनु स्पृश धृषता शोशुचानः ।
तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितो विसृज विष्वगुल्काः ॥ १० ॥

ऋ० ४ । ४ । २ ॥

वामदेव ऋषि । रक्षोहा अग्निर्देवता । भुरिक् पक्ति । त्रिष्टुप् वा ।
पन्चमो धैवतो वा ॥

भा०—हे राजन् ! जिगीषो ! (तव) तेरे (आशुया) शीघ्र गमन करने वाले (भ्रमासः) भ्रमणशील वीर जन (पतन्ति) वेग से जायं और तू (शोशुचानः) अति तेजस्वी होकर (धृषता) शत्रु के मान नष्ट करने मे समर्थ बल से युक्त होकर (अनु स्पृश) उनके पीछे लगा रह। हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! सेनानायक ! तू (असंदित.) शत्रु के जाल में न पड़ कर, अखण्डित बल होकर (जुह्वा) शस्त्रों को प्रेरण करने वाली सेना से (तपूंषि) सन्तापकारी अस्त्रो को (विसृज) नाना प्रकार से छोड़। (पतङ्गान्) तीव्र घोड़ों को या घुड़सवारो को या

बाणों को (वि सृज) छोड़ । और (विश्वग्) सब ओर (उल्का.) टूटते तारों के समान वेग और दीप्ति से आकाश मार्ग से जाने वाले अग्निमय अशनि नामक अस्त्रों को (वि सृज) चला ।

प्रति स्पशो विसृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशोऽअस्याऽअदब्धः ।
यो नो दूरेऽअघशंसो योऽअन्त्यग्ने मा किष्टे व्यथिरादधर्षीत् ॥११॥

ऋ० ४ । ४ । ३ ॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(य. अघशंस.) जो पापाचरण करने को कहता है वह (य.) और जो (न) हमारे से (दूरे) दूर है और (य) जो (अभि) हमारे पास है हे (अग्ने) अग्रनायक राजन् ! वह भी (व्यथि) हमे व्यथादायी होकर (ते) तेरा (मा आदधर्षीत्) आज्ञा भग कर अपमान न कर सके । इसलिये तू (तूर्णितम·) अति वेगवान् होकर (स्पश) प्रतिहिंसक योद्धा, प्रतिभटों को और अपने दूतों को (प्रति विसृज) शत्रु के प्रति भेज । और स्वय (अदब्ध.) शत्रु से मारा न जा कर, सुरक्षित रहकर (अस्या· विश) इस प्रजा का (पायु.) पालन करने हारा (भव) हो ।

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ२ऽ ओषतात्तिग्महेते ।
यो नोऽअरातिꣳसमिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्यतꣳसं न शुष्कम् ॥१२॥

ऋ० ४ । ४ । ५ ॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पक्तिः । पञ्चम ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! सेनापते ! राजन् ! तू (उत् तिष्ठ) उठ, शत्रु के प्रति आक्रमण करने के लिये तैयार हो । (प्रति आतनुष्व) शत्रु के विपरीत अपने बल और राज्य को विस्तृत कर । हे (तिग्महेते) तीक्ष्ण शस्त्रों से युक्त राजन् ! तू (अमित्रान्) शत्रुओं को (निः ओषतात्) सर्वथा जला डाल । हे (सम्-इधान) उत्तम तेजस्विन् ! (यः) जो

(न) हमारे साथ (अरातिम्) शत्रुता का व्यवहार (चक्रे) करता है। (तम्) उसको (शुष्कम्) सूखे वृक्ष को अग्नि के समान (नीचा धत्ति) नीचे गिराकर जला डाल।

ऊर्ध्वो भव प्रति विध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने।
अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रून्।
अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि ॥ १३ ॥

वामदेव ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृदार्ष्यतिजगती। निषाद ॥

भा०—हे अग्ने! तेजस्विन् राजन्! तू (ऊर्ध्व.) सब से ऊंचा होकर (भव) रह। (दैव्यानि) दिव्य पदार्थों से बने विद्वान् पुरुषों के बनाये अस्त्रों को (आवि. कृणुष्व) प्रकट कर। (स्थिरा) स्थिर, दृढ़ धनुषों को (अव तनुहि) नमा। (यातुजूनाम्) वेग से चढाई करने वाले शत्रुओं के (जामिम्) सम्बन्धी और (अजामिम्) असम्बन्धी अथवा (यातुजूनां जामिम् अजामिम्) आक्रमण के वेग में आनेवाले शत्रुओं के भोजन द्रव्य, तथा उससे अतिरिक्त द्रव्य को अपने वश करके (शत्रून् प्रमृणीहि) शत्रुओं का नाश कर। हे राजन्! हे वज्र! (त्वा) तुझको (अग्ने) अग्नि के (तेजसा) तेज से (सादयामि) स्थापित करता हूं ॥ शत० ७। ४। १। ७ ॥

अग्निर्मूर्धा दिव ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम्।
अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति। इन्द्रस्य त्वौजसा सादयामि ॥ १४ ॥

ऋ० ८। ४४। १६ ॥

भा०—व्याख्या देखो० अ० ३। १२ ॥ जिस प्रकार (दिव. मूर्धा) द्यौलोक का शिरो भाग (अग्निः) सूर्य है और वह ही (ककुत्पतिः) सबसे बड़ा स्वामी है और (पृथिव्या) पृथिवी का भी स्वामी है उसी प्रकार (अयम्) यह (अग्निः) तेजस्वी पुरुष, राजा भी (दिवः)

प्रकाशमान तेजस्वी पुरुषों या राजसभा का (मूर्धा) शिर, उनमें शिरोमणि (ककुत्) सर्वश्रेष्ठ, (पृथिव्याः) पृथिवी का (पति) पालक, स्वामी है। (अपाम्) सूर्य जिस प्रकार जलों के (रेतांसि) वीर्यों को या सार-भागों को ग्रहण करता है उसी प्रकार यह राजा भी (अपा) आप्त प्रजाओं के सार भाग, वीर्यों और बलों को (जिन्वति) परिपूर्ण करता है। वश करता है। हे तेजस्विन् ! (त्वा) तुझको (इन्द्रस्य ओजसा) इन्द्र, वायु और सूर्य के (तेजसा) बल पराक्रम के साथ (सादयामि) स्थापित करता हूं॥ शत० ७। ४। १ ४१ ॥

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भि॑: सच॑से शि॒वाभि॑: ।
दि॒वि मू॒र्द्धान॑ दधिषे स्व॒र्षां जि॒ह्वाम॑ग्ने चकृषे ह॒व्य॒वाह॑म् ॥ १५ ॥

त्रिशिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तेजस्विन् ! सूर्य और अग्नि जिस प्रकार (भुवः यज्ञस्य रजस च नेता) पृथिवी, वायु और लोकों का नायक है और वह (नियुद्भि शिवाभि·) मङ्गलकारिणी वायु की शक्तियों से युक्त होता है और (दिवि मूर्धानम् मेदधिषे) द्यौलोक में शिरो भाग के समान सर्वोच्च स्थिति को धारण करता है और अग्नि जिस प्रकार(हव्यवाहं जिह्वां चकृषे) हवि को खाने वाली ज्वाला को भी प्रकट करता है उसी प्रकार (यत्र) जिस राष्ट्र में तू (भुव) समस्त पृथिवी का (नेता) नायक और (यज्ञस्य नेता) समस्त राष्ट्र-व्यवस्था का नायक और (रजस च नेता) समस्त लोकसमूह, जनसमूह और समस्त ऐश्वर्यों का नेता, प्राप्त करनेवाला होकर (शिवाभि·) मङ्गलकारिणी (नियुद्भि,) वायु के समान तीव्र वेगवाली शत्रु को छेदन भेदन करनेवाली सेनाओं से भी (सचसे) युक्त होकर रहता है और (दिवि) न्याय प्रकाशयुक्त श्रेष्ठ व्यवहार में (मूर्धान) शिरोभाग, सर्वोच्च पद को (दधिषे) धारण करता है और

(हव्यवाहम्) ग्रहण करने योग्य, ज्ञान से पूर्ण आज्ञा वचनों को प्राप्त करानेवाली (स्वर्षाम्) सुखदायिनी (जिह्वाम्) वाणी, आज्ञा को भी (चक्रुषे) प्रकट करता है ॥ शत० ७ । ४ । १ । १५ ॥

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा ।
मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दꣳह ॥१६॥

आतृण्णा अग्नि र्वा देवता । स्वराडार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ।

भा०—हे पृथिवि ! हे राजशक्ते ! हे स्त्रि ! तू (ध्रुवा असि) ध्रुव, सदा निश्चल भाव से रहनेवाली (असि) हो । (धरुणा) तू समस्त लोकों का आश्रय है और तू (विश्वकर्मणा) समस्त उत्तम कर्मों को करने में समर्थ शिल्पियों या प्रजापति, राजा द्वारा (आस्तृता) नाना उत्तम उपयोगी पदार्थों से आच्छादित एवं सुरक्षित रह । (समुद्र.) समुद्र या आकाश (त्वा) तुमको (मा उद्वधीत्) विनाश न करे । (सुपर्ण') उत्तम पालन करने वाले राज्यसाधनों से युक्त राजा भी (त्वा मा उद्वधीत्) तुझे न मारे । तू (अव्यथमाना) स्वयं पीड़ित न होकर (पृथिवीं) पृथिवी को या पृथिवी निवासिनी विशाल प्रजा को (दꣳह) बढ़ा ।

यज्ञ में इस मन्त्र से 'आतृण्णा' का स्थापन करते हैं । 'आतृण्णा' पद से ब्राह्मणकार ने पृथिवी, अन्न, प्राण प्रतिष्ठा, स्त्री और पृथ्वीनिवासी लोकों को ग्रहण किया है । अन्नं वै स्वयम् आतृण्णा । प्राणो वै स्वयमातृण्णा । इय (पृथिवी) स्वयमातृण्णा । या सा प्रतिष्ठा एषा सा प्रथमा स्वयमातृण्णा । इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा । इमे वै लोकाः प्रतिष्ठा ॥ शत० ७ । ४ । २ । १ । १० ॥

स्त्री पक्ष में—हे स्त्रि ! तू ध्रुव हो, तू सब गृहस्थ सुखों का (धरुणा) आश्रय है । तू (विश्वकर्मणा अस्तृता) समस्त धर्म कार्यों के करने वाले

१६—ऊर्ध्ववृहती सर्वा० ।

पति द्वारा सुरक्षित हो (समुद्रः त्वा मा उद्वधीत्) समुद्र के समान उमड़ने वाला कामोन्माद तुझे नाश न करे (सुपर्णः) उत्तम पालक साधनों से सम्पन्न पति भी तुझे न मारे। तू (अव्यथमाना) निर्भय, पीड़ा, कष्ट से रहित रहकर (पृथिवी) पृथिवी के समान अपने शरीर मे विद्यमान पुत्र-प्रजननाङ्ग रूप भूमि को (दृह) वृद्धि कर उनको हृष्ट पुष्ट कर ॥ शत० ७ । ४ । २ । ५ ॥

समुद्र इव हि कामः । नहि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य । तै० २।२।५।६॥

पृथिवी पक्ष में—वह ध्रुव, स्थिर, सर्वाश्रय है। बड़े शिल्पी उसको बड़े २ महल, सेतु उद्यान आदि आश्चर्यजनक पदार्थों और रक्षा साधन आदि द्वारा सुरक्षित रखें। समुद्र, अन्तरिक्ष और (सुपर्ण) सूर्य और वायु ये पृथ्वी की शक्तियों का नाश न करें। प्रत्युत वह अपनी निवासी प्रजा की ही वृद्धि करे।

प्रजापतिष्ट्वा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन्।
व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं प्रथस्व पृथिव्यसि ॥ १७ ॥

प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे पृथिवी निवासिनी प्रजे! अथवा राज्यशक्ते! (व्यचस्वतीम्) नाना प्रकार के उत्तम गुणों वाली (प्रथस्वतीम्) उत्तम रूप से विस्तारशील (त्वा) तुझको (प्रजापति) प्रजा का स्वामी (अपां पृष्ठे) जलों के पृष्ठ पर नौका के समान और (समुद्रस्य एमन्) समुद्र के यातव्य, यात्रायोग्य स्थान में (सादयतु) स्थापित करे हे प्रजे! तू भी (पृथिवी असि) विस्तृत होने से हे राजशक्ते! तू भी 'पृथिवी' कहाती है ॥ शत० ७।४।२।६॥

स्त्री के पक्ष में—(प्रजापति) प्रजा का पालक पति (समुद्रस्य एमन्) समुद्र के समान अपार कामोपयोगों मे भी (अपां पृष्ठे) आप्त पुरुषों के अथवा समस्त कार्यों के (पृष्ठे) आश्रय में (वि-अचस्वतीं)

विविध गुणों से प्रकाशित और (प्रथस्वतीम्) गुणों से विख्यात, प्रजा विस्तार करने हारी तुझको (सादयतु) स्थापित करे उनके बतलाये धर्म-मार्ग पर चलावे। तू (पृथिवी असि) पृथिवी के समान प्रजोत्पत्ति करने हारी है।

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री।
पृथिवी यच्छ पृथिवी दृंह पृथिवी मा हिंसीः ॥ १८ ॥

अग्निर्देवता । प्रस्तारपक्तिः । पञ्चम ॥

भा०—हे पृथिवि ! हे स्त्रि ! तू (भूः असि) सब को उत्पन्न करने में समर्थ होने से 'भू.' है। (भूमि असि) सब का आश्रय होने से 'भूमि' है। (अदितिः असि) अखण्डित, अहिंसनीय, अखण्डित बल और चरित्र वाली होने से 'अदिति' है। (विश्वधाया) समस्त प्रजाओं को धारण करने वाली होने से 'विश्वधाया' है। (विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री) समस्त 'भुवन', उत्पन्न होने वाले प्राणियों और राज्य कार्यों को धारण पोषण करने हारी है। हे राजन् ! तू इस (पृथिवीं यच्छ) पृथिवी को और हे पते ! तू इस प्रजा को भूमि रूप स्त्री को (यच्छ) नियम में सुरक्षित रख या विवाह कर (पृथिवीम् दृह) इस पृथिवी को बढ़ा, दृढ़ कर। (पृथिवीं मा हिंसी.) इस पृथिवी को विनाश मत कर, मत मार, पीड़ा मत दे॥ शत० ७। ४। २। ७॥

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय।
अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १९ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगति जगती । निषाद ॥

भा०—(विश्वस्मै=विश्वस्य) समस्त जंगम संसार के (प्राणाय) प्राण रक्षा, जीवन वृद्धि के लिये, (अपानाय) अपान के लिये या दुःख निवारण के लिये, (व्यानाय) व्यान या विविध व्यवहारों के लिये;

(उदानाय) उदान के लिये और उत्तम बल-प्राप्ति के लिये (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठा और (चरित्राय) सच्चरित्रता की रक्षा के लिये (त्वा) तेरी (अग्नि॰) ज्ञानवान् अग्रणी नायक राजा और यति भी (महया) बड़ी (स्वस्त्या) सुख सामग्री से और (शंतमया) अतिशान्तिदायक, कल्याण-कारिणी (छर्दिषा) गृहादि सम्पद्धि से (अभियातु) सब प्रकार से रक्षा करे, पालन करे। तू भी (तया देवतया) उस देवस्वरूप पति, पालक या राजा के संग (अंगिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्विनी होकर (ध्रुवा) स्थिर, दृढ़ होकर (सीद) विराजमान् हो, प्रतिष्ठा को प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ४ । २ । ८ ॥

काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥ २० ॥

पत्नी दूर्वा देवता । अग्निर्ऋषि॰ । अनुष्टुप् । गाधार॰ ॥

भा०—हे (दूर्वे) दूर्वे ! कभी पराजित न होने वाली अदम्य राजशक्ते ! दूर्वा या दूब घास जिस प्रकार (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्ड पर (प्ररोहन्ती) अपने मूल नमाती हुई और (परुष परि), प्रत्येक पोरु २ पर से (प्ररोहन्ती) अपनी जड़ पकड़ती हुई फैलती है उसी प्रकार वह राज्यशक्ति भी पृथ्वी पर (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्ड से और (परुष॰ परुषः) प्रत्येक पोरु से, प्रत्येक अंग और विभाग से, स्थान २ पर दृढ़ आसन या मूल जमाती हुई (सहस्रेण) हज़ारों और (शतेन च) सैकड़ों प्रकार के बलों से (प्रतनु) अपने आप को खूब विस्तृत कर ॥ शत० ७ । ४ । २ । १४ ॥

'दूर्वा'—अयं वाव मा धूर्वीत् इति यदब्रवीद् 'धूर्वीन् मा' इति तस्मात् धूर्वा । धूर्वा ह वै ता दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम् ॥ शत० ७ । ४ । २ । १२ ॥

(स्त्री पक्ष में—वह स्त्री (काण्डात् काण्डात्) ग्रन्थि २ पर और

पोरु २, पर वढ़ती हुई दूव के समान वरावर दृढ़ मूल होकर सहस्रों शाखाओं से हमारे कुल को वढ़ावे ।

या शतेन प्रतनोपि सहस्रेण विरोहसि ।
तस्यास्ते देवीषृके विधेम हविषा वयम् ॥ २१ ॥

दूर्वा पत्नी देवता । अग्निर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे दूर्वा के समान पृथ्वी पर फैलने वाली राज्यशक्ते ! तू (या) जो (शतेन) सैकड़ो वलों से (प्रतनोपि) अपने को विस्तृत करती है और (सहस्रेण) अपने हज़ारों वीर योद्धाओं द्वारा (विरोहसि) विविध रूपों में अपना जड़ जमाती है । हे (देवि) देवि ! विजयशीले ! धन-दात्रि ! (इषृके) सब को इष्ट या प्रिय-लगनेवाली, सबकी व्यवस्था करने वाली (तस्या. ते) उस तेरा (वयम्) हम (हविषा) अन्न आदि, कर आदि रूप में दातव्य और राजा द्वारा उपादेय पदार्थों से या ज्ञानपूर्वक (विधेम) सेवन या विधान या निर्माण करें ॥ शत० ७ । ४ । २ । १५ ॥

यास्तेऽअग्ने सूर्य्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ २२ ॥

इन्द्राग्नी ऋषी । अग्निर्देवता । भुरिगनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् राजन् ! जिस प्रकार सूर्य में विद्यमान (रुच.) कान्तियां (रश्मिभिः) सूर्य की किरणों से (दिवम्) द्यौलोक को (आतन्वन्ति) घेर लेती हैं उसी प्रकार (या) जो (ते) तेरी (सूर्ये) सूर्य के समान उज्ज्वल, मानास्पद स्वरूप में विद्यमान (रुचः) दीप्तियां, उत्तम ख्यातियां या उत्तम कामनाएं या अभिलाषाएं (रश्मिभिः) सब को प्रकाश देने वाले साधनों से (दिवम् आ तन्वन्ति) प्रकाश को फैलाती हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सब अभिलाषाओं से (अद्य) अब, सदा तू (न.) हमारे और (जनाय) प्रजा जन के (रुचे)

अभिलाषा पूर्त्ति के लिये (कृधि) प्रयत्न कर। और (नः) हमें भी (जनाय रुचे कृधि) प्रजा की अभिलाषा पूर्त्ति के लिये समर्थ कर ॥ शत० ७ । ४ । २ । २१ ॥

या वो देवा. सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभि. सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

इन्द्राग्नी ऋषी । देवा. इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्च देवता । अनुष्टुप् गाधार ॥

भा०—हे (देवा) ज्ञानप्रद एवं ऐश्वर्यप्रद विद्वान् पुरुषो ! और राजा लोगो ! (वः) तुम लोगों की (या) जो (सूर्ये रुचः) सूर्य में विद्यमान दीप्तियों के समान फुरने वाली कान्तियां या अभिलाषाएं या रुचिकर प्रवृत्तियें हैं और (याः रुच) जो मनोहर लक्ष्मी, सम्पत्तियां (गोषु अश्वेषु) गौओं और अश्वों में हैं (ताभि. सर्वाभिः) उन सब रुचिकर समृद्धियों से हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र ! हे अग्ने ! और हे (बृहस्पते) हे सेनापते ! हे राजन् ! हे विद्वन् ब्रह्मन् ! आप सब लोग (न.) हमें (रुचः) समस्त रुचिकर सम्पत्तियां (धत्त) प्रदान करें ॥ शत० ७ । ४ । २ । २१ ॥

विराड्ज्योतिरधारयत्स्वराड्ज्योतिरधारयत् ।
प्रजापतिष्ट्वा क्षादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वेस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ २४ ॥

विराट् स्वराट् । प्रजापतिरग्निश्च देवता. । निचृद् बृहती । ऋषभ. ॥

भा०—(विराट्) विविध प्रकारों से और विविध ऐश्वर्यों से प्रकाशमान विराट्, पृथिवी जिस प्रकार (ज्योति) अग्नि को या सूर्य के तेज को अपने भीतर (अधारयत्) धारण करती है उसी प्रकार (विराट्) विविध गुणों से कान्तिमती विराट् पत्नी (ज्योतिः) अपने पति के तेजस्वरूप वीर्य को धारण करती है ।

(स्वराट् ज्योति अधारयत्) स्वयं अपने प्रकाश से दीप्त होने वाला सूर्य जिस प्रकार (ज्योतिः अधारयत्) तेज को धारण करता है उसी प्रकार अपने वीर्य या बाहु पराक्रम से प्रकाशमान राजा और अपने गुणों से प्रकाशमान पति, पुरुष भी तेज को धारण करे। हे पति ! (त्वा ज्योतिष्मतीम्) तुझ उत्तम तेज से सम्पन्न को (प्रजापतिः) प्रजा का पालक (पृथिव्याः पृष्ठे सादयतु) पृथिवी के पृष्ठ पर स्थापित करे। अथवा पति तुझ उत्पादक भूमि मे वीर्य आधान करे। इसी प्रकार (प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा हे प्रजे ! (त्वा ज्योतिष्मतीम्) तुझ ऐश्वर्य वाली को (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथ्वी-तल पर (सादयतु) बसावे। (विश्वस्मै प्राणाय अपानाय व्यानाय) सब प्रजाजनो के प्राण, अपान और व्यान इन शक्तियों की वृद्धि के लिये यत्न करे। हे राजन् ! तू (विश्वं ज्योतिर्यच्छ) सब प्रकार का तेज प्रदान कर। हे पृथिवि ! हे पत्नि ! (ते अधिपतिः) तेरा अधिपति, स्वामी, (अग्निः) अग्नि या सूर्य के समान हो। (तया देवत्या) उस देवस्वभाव अधिपति के साथ या देव, राजागण के संग तू भी (अगिरस्वत्) अग्नि के समान देदीप्यमान विद्वान् शिल्पियो से समृद्ध होकर (ध्रुवा) स्थिर होकर (सीद) विराज ॥ शत० ७ । ४ । २ । २३ । २८ ॥

इसी प्रकार स्त्री (अस्मै विश्वं ज्योति) अपने पति के समस्त सर्वाङ्ग तेजोरूप वीर्य को प्रजा के प्राण, अपान व्यान के लिये नियम मे रक्खे।

'मधुश्च॑ माधवश्च॑ वासन्तिकावृतू ऽऋ॒ग्नेर॑न्तः श्ले॒षोऽसि॒ कल्पेतां॑ द्यावापृथि॒वी कल्प॑न्ता॒मापु॒ ऽओष॑धय॒: कल्प॑न्ता॒मग्न॑य॒: पृथ॒ङ् मम॒ ज्यैष्ठ्या॑य॒ सव्र॑ता॒: । 'ये ऽअ॒ग्नय॒: सम॑नसोऽन्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी ऽइ॒मे वास॑न्तिकावृतू ऽअ॑भि॒कल्प॑माना ऽइन्द्र॑मिव दे॒वा अ॑भि॒संवि॑शन्तु॒ तया॑ दे॒वत॑याङ्गिर॒स्वद् ध्रु॒वे सी॑दतम् ॥२५॥

ऋतवो देवता । (१) भुरिगति जगती । निषाद । (२) भुरिग् ब्राह्मी बृहती । मध्यम ॥

२५—'वासन्तिका ऋतू०' इति काण्व० ।

भा०—(मधु च) मधु और (माधवः च) माधव अर्थात् चैत्र और वैशाख के दोनों (वासन्तिकौ ऋतू) वसन्त के दो ऋतु अर्थात् मास रूप से दो स्वरूप है। ये दोनों जिस प्रकार सवत्सर स्वरूप अग्नि के बीच में (श्लेपः) जोड़ने वाले हैं, उसी प्रकार मधु के समान मधुर गन्ध और पुष्प युक्त और माधव या वैशाख के समान फलोत्पादक दोनों प्रकार के पुरुष मानो (अग्ने) राजा रूप प्रजापति के दोनों वसन्त ऋतु के दो मासों के समान उसके (अन्त) भीतर (श्लेप असि) स्नेहशील होते है और दो राजाओं के बीच सन्धि कराने मे कुशल होते हैं। इनके द्वारा ही (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि के समान नर और नारी, राजा और प्रजा (कल्पेताम्) कार्य करने मे समर्थ होते हैं। (आप ओषधय· कल्पन्ताम्) और जिस प्रकार वसन्त के दोनों मासों के द्वारा सम्पूर्ण ओषधियां वीर्यवान् होती हैं उसी प्रकार वीर्यवती बलवती वीर प्रजायें भी मधु माधव के समान पुष्प-फलजनक हों और प्रजाएं भी कार्य-कारण को देख परस्पर सन्धि के कराने वाले सदस्य जनों के द्वारा समर्थ होती हैं। और जैसे वसन्त के दोनों मास ज्येष्ठ मास में होने वाले ओषधि आदि के कारण होते है उसी प्रकार सभी (अग्नय·) अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् लोग (मम) मेरे-मुझ राजा के सर्वश्रेष्ट पदाधिकार की प्राप्ति और रक्षा के लिये (सव्रता·) समान कार्य मे दीक्षित होकर (पृथक्) अलग २ भी (कल्पन्ताम्) अपना २ कार्य करने मे समर्थ हों। और (ये) जो (द्यावापृथिवी) द्यो और भूमि दोनों के बीच या राजा और प्रजा के बीच में (समनस) एक समान चित्त वाले, प्रेमी (अग्नय) विद्वान् पुरुष हैं वे सब भी (वासन्तिकौ ऋतू) वसन्त काल के दो मास चैत्र वैशाख के समान मधुर गुणों से युक्त होकर राजा के लिये सुखकारी और (अभिकल्प-माना) सामर्थ्यवान् होकर (देवा. इन्दम् इव) प्राणगण जिस प्रकार आत्मा के आश्रय पर रहते हैं उसी प्रकार वे सब अग्नि स्वभाव तेजस्वी विद्वान् सदस्य और माण्डलिक राजगण भी (इन्दम् अग्निम् सं विशन्तु) बड़े सम्राट् के चारों

ओर विराजें । हे (ध्रुवे) द्यौ और पृथिवी ! हे राज प्रजागण ! (तया देवतया) उस महान् देव, राजा से और उस राजगण से तू (अङ्गिरस्वत्) तेजस्वी और पूर्णाङ्ग होकर तुम दोनों (सीदतम्) स्थिर होकर विराजो ॥ शत० ७ । ४ । २ । २६ ॥

अषाढासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व पृतनायतः ।
सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्व ॥ २६ ॥

देवा सविता वा ऋषि । क्षत्रपतिरषाढा देवता । निचृदनुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—हे सेने ! तू (अपाढ़ा असि) शत्रु से कभी पराजित न होने वाली होने से 'अषाढ़ा', असह्य पराक्रम वाली है । तू (सहमाना) विजय करती हुई (अरातीः) कर न देने वाली शत्रुओं को (सहस्व) विजय कर । और (पृतनायत.) अपनी सेना बनाकर हम से युद्ध करना चाहने वालों को भी (सहस्व) पराजित कर । तू (सहस्रवीर्यासि) सहस्रों वीर पुरुषों के बलों से युक्त है । (सा) वह तू (मा) मुझ राष्ट्रपति और क्षत्र-पति को (जिन्व) हृष्ट पुष्ट कर ॥ शत० ७ । ४ । २ । ३३ । ७० ॥

गृहस्थ में—स्त्री भी शत्रु द्वारा असह्य हो, वह सब विरोधियों को दबा कर पति को प्रसन्न करे । अध्यात्म में—अषाढा=वाक् ।

मधु वाता ऽऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ २७ ॥ ऋ० १ । ९० । ६ ॥

गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवता. । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(मधु) मधुर (वाताः) वायुएं (ऋतायते) जल के समान शीतल लगें । अथवा (ऋतायते) सत्य, ज्ञान, यज्ञ की, ब्रह्मचर्य की साधना या कामना करने वाले के लिये (वाता) वायुएं और (सिन्धवः) समुद्र भी (मधु क्षरन्ति) मधुर रस ही बहाते हैं । (नः) हमें (ओषधीः) ओषधियें भी (माध्वी) मधुर रस से पूर्ण (सन्तु) हों ॥ शत० ७।५।१।३।४ ॥

२६—अत पर । १२ । १९ । मन्त्रः पठ्यते काण्व० ।

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः ।
मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ २८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(नक्तम्) रात्रि (न) हमारे लिये (मधु) मधुरता (उत) और (उषसः) प्रभात समय भी हमे मधुर हों। (पार्थिव रजः) पृथिवी लोक अथवा पृथिवी की धूलि भी (मधुमत्) हमे मधुर मधु के समान सुखप्रद हो। (नः) हमारे पिता के समान पालक (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य या आकाश, अन्तरिक्ष भी (नः मधु अस्तु) हमें मधुर हो ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३ । ४ ॥

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ऽ अस्तु सूर्य्यः ।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(वनस्पतिः) पीपल, वट, आम्र आदि वृक्ष (नः) हमारे लिये (मधुमान्) मधु के समान मधुर गुण वाले आनन्दप्रद, रोगनाशक हों। (सूर्यः मधुमान् अस्तु) सूर्य हमें मधु के समान मधुर गुण वाला, पुष्टिकर अन्नप्रद हो (नः गाव) किरणें, गौवें और पृथिवियें (माध्वीः भवन्तु) मधुर सुख, अन्न, रस वहाने वाली हों ॥ शत० ७।५।१।३।४॥

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभितापसीन्मागिनवैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा ऽअनुवीचस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥३०॥

कूर्मः प्रजापतिर्देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे पुरुष ! प्रजापते ! राजन् ! तू (अपां गम्भन्) जलों को धारण करने वाले मेघ या सूर्य के समान प्रजाओं और आप्त पुरुषों को वश करने वाले राजपद पर (सीद) विराजमान हो। (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष तुझ से अधिक बलवान् पुरुष भी (त्वा मा अभि-

ताप्सीत्) तुझे संतापित या पीड़ित न करे । (वैश्वानरः) समस्त विश्व का हितकारी नायक (अग्निः) प्रजा का अग्रणी नायक भी (मा) तुझे मत सतावे । तू केवल (प्रजाः) प्रजाओं को (अच्छिन्नपत्राः) विना किसी प्रकार के आघात पाये, सर्वाङ्ग, हृष्ट पुष्ट (अनुवीक्षस्व) सुखी देख उनको कटे मुंडे वृक्ष लतादि के समान हीन, क्षीण, दुखी, पीड़ित मत होने दे । (त्वा अनु) तेरे अनुकूल ही (दिव्या वृष्टिः) आकाश से होने वाली वृष्टि और सुखदायी पदार्थों की वृष्टि भी (सचताम्) प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । १ । ८ ॥

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गान्नृपां पतिर्वृषभ ऽइष्टकानाम् ।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः ॥३१॥

वरुणो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे सूर्य ! प्रजापते ! तू (त्रीन्) तीन (स्वर्गान्) सुखदायी (समुद्रान्) समस्त पदार्थों के उत्पादक तीनों लोको और तीनों कालों को (सम् असृपत्) व्याप्त होता है । तू ही (इष्टकानाम्) समस्त अभीष्ट सुख साधनों का या अभीष्ट (अपाम्) जलों के वर्षक मेघ के समान प्रजाओं का (पतिः) पालक (वृषभः) सब सुखों का वर्षक है । तू (पुरीषं वसान.) मेघ जिस प्रकार जल को धारण करता हुआ जाता है उसी प्रकार तू भी पुरुष, पशु समृद्धि को धारण करता हुआ (सुकृतस्य) पुण्य के (तत्र) उस (लोके) लोक या पद या प्रतिष्ठा को (गच्छ) प्राप्त हो (यत्र) जहां (पूर्वे) पूर्व के (परेताः) परम पद को प्राप्त उत्तम पुरुष जाते हैं ॥ शत० ७ । ५ । १ । ६ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरीमभि. ॥ ३२ ॥

ऋ० १ । २२ । १३ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ८ । ३३ ॥ शत० ७ । ५ । १ । १० ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३३ ॥ ऋ० १ । २२ । १९ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ६ । ४ ॥ शत० ७ । ५ । १ । १० ॥

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो ऽआधिजातवेदा. ।
स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥३४॥

उखा वा जात वेदा वा देवता । भुरिक् त्रिष्टुप । धैवत ॥

भा०—हे पृथिवी ! एव हे स्त्रि ! (त्व ध्रुवा असि) तू ध्रुवा, स्थिर रहने वाली है । तू (धरुणा) जगत् के समस्त प्राणियों का आश्रय है । (जातवेदाः) धनसम्पन्न और विद्वान् ज्ञानसम्पन्न पुरुष (प्रथमम्) पहले (इत) इससे ही हुआ है । वह (प्रजानन्) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर ही और (अधि) बाद में (एभ्य. योनिभ्य.) इन उत्पत्ति स्थानो से (जज्ञे) उत्पन्न होता है । (गायत्र्या) गायत्री (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुप् और (अनुष्टुभा च) अनुष्टुप् इन छन्दों से ही (देवेभ्य) देव-विद्वान् पुरुषों के लिये (हव्यम्) अन्नादि उपादेय पदार्थ को (वहतु) प्राप्त करावे ।

अथवा—गायत्री—ब्राह्म-बल । त्रिष्टुप्-क्षात्र-बल और अनुष्टुप्—सर्वसाधारण प्रजा का बल । इन तीनों से समस्त (हव्यानि) उपादेय भोग्य ऐश्वर्यों को प्राप्त कर । विद्वान् देवों, राजाओं को प्राप्त करावें ॥ शत० ७ । ५ । १ । २० ॥

स्त्री के पक्ष में-स्त्री ध्रुव और गृहस्थ का आश्रय है । यह पुरुष (प्रथमम् इत. जज्ञे) प्रथम इस माता से उत्पन्न होता है । और फिर (एभ्यः योनिभ्यः) इन गुरु आदि आश्रयस्थानो से उत्पन्न होता है ।

इषे राये रमस्व सहसे द्युम्न ऽऊर्जे अपत्याय ।
सन्नाडसि स्वराडसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावताम् ॥ ३५ ॥

उखा, प्रजापतिर्जातवेदा वा देवता । निचृद बृहती । मध्यमः ॥

३५—'सन्नाळसि' 'स्वराळसि' इति काण्व० ।

भा०—हे प्रजापते ! सुरूप ! हे राजन् ! तू (इषे) अन्न, (राये) ऐश्वर्य, (सहसे) बल, (द्युम्ने) तेज वा यश और (ऊर्जे) पराक्रम और (अपत्याय) सन्तान के लाभ के लिये तू (रमस्व) यत्न कर, इसी प्रकार हे स्त्री 'एव पृथिवीनिवासिनि प्रजे' तू भी इस अपने प्रजापति राजा और पति के साथ अन्न, धन, बल, यश, पराक्रम और सन्तान के लाभ के लिये (रमस्व) क्रीड़ा कर, उसके साथ प्रसन्नता पूर्वक रह। हे राजन् ! तू (सम्राड् असि) सम्राड् है। तू (स्वराड् असि) हे स्त्री ! हे पृथिवी ! तू स्वराट् स्वयं प्रकाशमान है। (सारस्वतौ उत्सौ) सरस्वती, वेद ज्ञान के दोनों निकास, मन और वाणी राष्ट्र के नर और नारी, पृथिवी के जड़ और चेतन, अध्यापक और उपदेशक दोनों प्रकार के पदार्थ, (त्वा) तेरी (प्र अवताम्) खूब रक्षा करे ॥ शत ७ । ५ । १ ॥ ३१ ॥

मनो वा सरस्वान् वाक् सरस्वती। एतौ सारस्वतावुत्सौ ॥ द्वयं ह वैतद्रूपं सृच्चापश्च ॥ शत० ७ । ७ । ५ । १ । २१ ॥

अग्ने युक्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्ति मन्यवे ॥ ३६ ॥

भारद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) शत्रु संतापक राजन् ! हे (देव) विद्वन्, विजिगीषो ! (ये) जो (तव) तेरे (साधवः) कार्यसाधक (अश्वासः) अश्व (मन्यवे) शत्रु के स्तम्भन करने के लिये, उस पर आये क्रोधशमन करने के लिये रथादि को (अरं वहन्ति) खूब अच्छी प्रकार वहन करते हैं उनको (युक्ष्वा) रथ में नियुक्त कर। और हे देव ! राजन् ! हे पुरुष ! जो तेरे कार्यसाधक अश्वों को समान व्यापक, गतिशील प्राण हैं या (साधव) उत्तम पुरुष हैं जो (मन्यवे अरं वहन्ति) मन्यु अर्थात् मनन करने योग्य ज्ञान तक पर्याप्त रूप से पहुंचाते हैं उनको (युंक्ष्व)

राज्य कार्य में नियुक्त कर और प्राणों को योग्याभ्यास में नियुक्त कर॥ शत० ७ । ५ । १ । २ । ३ ॥

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२ऽ अश्वाँ२ऽ अग्ने रथीरिव ।
नि होता पूर्व्यः सदः ॥ ३७ ॥ ऋ० ८ । ६४ । १ ॥

विरूप ऋषि । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी ! नायक ! राजन् ! (रथीः) रथ का स्वामी जिस प्रकार (अश्वान्) घोड़ो को रथ मे जोड़ता है उसी प्रकार (देवहूतमान्) विद्वानों द्वारा शिक्षाप्राप्त पुरुषो और उत्तम गुण विद्या प्रकाशादि को ग्रहण करने वाले योग्य, शिक्षित पुरुषों को (युक्ष्वा हि) निश्चय से अपने राज्य-कार्य में नियुक्त कर । तू ही (पूर्व्य) सब पूर्व के विद्वानों द्वारा शिक्षित अथवा सब से पूर्व, अग्रासन पर विद्यमान (होता) सर्व ऐश्वर्यों का दाता या ग्रहीता होकर (नि षद.) नियत, उच्च आसन पर विराजमान् हो ॥ शत० ७ । ५ । १ । ३३ ॥

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना ऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
घृतस्य धारा ऽअभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये ऽअग्नेः॥३८॥

ऋ० ६ । ५८ । ६ ॥

अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(सरितः न) जिस प्रकार नदियें या जल-धाराएं बहती हैं उसी प्रकार (अन्तः) भीतर (हृदा) धारणशील हृदय और (मनसा) मननशील चित्त से (पूयमाना.) पवित्र की हुई (धेना) वाणियें भी (सम्यक्) भली प्रकार से विद्वान् पुरुष के मुख से (सरितः न) जल-धाराओं के समान (स्रवन्ति) प्रवाहित होती हैं । यह आत्मा (हिरण्यय.) सुवर्ण के समान देदीप्यमान, तेजोमय, अति रमणीय (वेतस·) दण्ड के समान है । अथवा वह भोक्ता स्वरूप है । उससे निकलती या उठती ज्ञान-

धाराओं को भी (अग्नेः मध्ये) आग के बीच में (घृतस्य धाराः) घृत की धाराओं के समान अति उज्वल ज्वाला रूप में परिणत होती हुई (अभिचाकशीमि) देखता हूं । अथवा—मैं (हिरण्यय) अभि (रमणीय) तेजस्वी पुरुष उन वाणियों को अग्नि के बीच में (वेतस) वेग से पड़ती (घृतस्य धारा.) घृत की धाराओं के समान, अथवा—(अग्ने.) विद्युत् के बीच में से निकलती (घृतस्य धारा इव) जल की धाराओं के समान देखता हूं ॥ शत० ७ । ५ । २ । १ ॥

ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा ।
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥३६॥

ऋ० ६ । ५८ । ५ ॥

अग्निर्देवता । निचृद् बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे पुरुष ! (त्वा) तुझ के (ऋचे) यथार्थ ज्ञान के लिये, (त्वा रुचे) तुझ को कान्ति, यथोचित प्रीति का और अभिलाषा पूर्त्ति के लिये, (भासे त्वा) दीप्ति के लिये, (ज्योतिषे त्वा) तेज को प्राप्त करने के लिये प्राप्त करता हूं । (इद) यह (विश्वस्य भुवनस्य) समस्त विश्व का (वाजिनम्) प्रेरक बल है और यही (अग्ने.) ज्ञानवान् और (वैश्वानरस्य) समस्त नरों या नेताओं में व्यापक रूप से विद्यमान प्रजापति के भी (वाजिनम्) वीर्य या उनके समस्त वाणी का ज्ञान करने वाला है ॥ शत० ७ । ५ । २ । १२ ॥

अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान् ।
सहस्रदा ऽअसि सहस्राय त्वा ॥ ४० ॥

अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभ ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन् ! राजन् ! अग्ने ! तू (ज्योतिषा) तेज से (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी होने से (अग्नि) 'अग्नि' है । (वर्चसा) कान्ति

से (वर्चस्वान्) कान्तिमान् होने के कारण (रुक्मः) 'रुक्म', सुवर्ण के समान 'रुक्म' कान्तिमान् है। तू (सहस्रदा असि) सहस्रों ऐश्वर्यों और ज्ञानों का देने वाला है। (त्वा) तुझे (सहस्राय) अनन्त ऐश्वर्यों और ज्ञानों की रक्षा और प्राप्ति के लिये नियुक्त करता हू॥ शत० ७।५।२।१२।१३॥

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम्।
परिवृङ्ग्धि हरसा माभि मंस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥४१॥

अग्निर्देवता। निचृत् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—व्याख्या देखो० १२। ६१॥ शत० ७। ५। २। १७॥

वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानꣳसरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्॥४२॥

अग्निर्देवता। निचृत् त्रिष्टुप्। धैवत॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! राजन्! विद्वन्! (वातस्य जूतिम्) वायु के वेग को जिस प्रकार कोई विनाश नहीं करते, इसी प्रकार वायु के वेग के समान इसे भी (परमे व्योमन्) परम आकाश या परम रक्षाकार्याधिकार, राजत्व पद में स्थित (वरुणस्य नाभिम्) जलमय समुद्र के बाधने वाले (हरिम्) आकर्षण वेग के समान ज्ञानमय, दूसरों को पापों से वारण करने वाले आचार्य, (नाभिम्) बाधने वाले, उसके आश्रय और (सरिरस्य) जल के (मध्ये) बीच में से उत्पन्न सूर्य के समान प्रजा जनों के बीच या सेना सागर के बीच में (जज्ञान) पैदा होने वाले, (नदीना) नदियों के समान अति समृद्ध, नित्य दुग्ध पिलानेवाली माताओं के बीच (शिशुम्) बालक के समान अति गुप्त रूप से व्यापक, (अद्रिबुध्नम्) मेघ के आश्रयभूत वायु, अवकाश के समान अति व्यापक, (हरिम्) हरणशील यन्त्रों, रथों और राष्ट्रों के सञ्चालन में समर्थ अश्व और विद्वान् को (मा हिंसीः) मत विनाश कर॥ शत० ७। ५। २॥ १८॥

अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः ।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥४३॥

अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अजस्रम्) अहिंसक और अविनाशी (इन्दुम्) ऐश्वर्यवान्, जल के समान शीतल और स्वच्छ (अरुषम्) रोषरहित, (भुरण्युम्) सब के पोषक (पूर्वचित्तिम्) पूर्ण ज्ञानवान् (अग्निम्) ज्ञानवान् परमेश्वर या राजा को (नमोभि.) नमस्कारों द्वारा (ईडे) मैं स्तुति करता हूं। अथवा (नमोभिः पूर्वचित्तिम्) अन्नों द्वारा पूर्व ही संग्रह करने वाले धनाढ्य पुरुष को मैं (ईडे) प्राप्त करूं । (स) वह तू (पर्वाभिः) पालनकारी सामर्थ्यों से (ऋतुशः) सूर्य जिस प्रकार अपने ऋतु से सबको चलाता है उसी प्रकार राजा (ऋतुभिः) अपने राजसभा के सदस्यों से (कल्पमानः) सामर्थ्यवान् होता है । वह तू (विराजम्) विविध पदार्थों, गुणों से प्रकाशित (गाम्) गौ और पृथिवी को (मा हिंसीः) मत विनष्ट कर ॥ शत० ७ । ५ । २ । १९ ॥

'पूर्वचितिम्' इति दयानन्द सम्मतः पाठ 'पूर्वचित्तिम्' इति सर्वत्र ।

वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्मात् ।
महीं सांहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥४४॥

अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(त्वष्टुः) समस्त ससार को गढ़ने वाले परमेश्वर की (वरूत्रीम्) वरण करने वाली उसी को एक मात्र अपना आश्रय स्वीकार करने वाली, (वरुणस्य नाभिम्) जगत् के मूलकारण रूप जल के (नाभिम्) बन्धन-कारिणी, उसको स्तम्भन करने में समर्थ, (परस्मात्) सबसे उत्कृष्ट (रजसः) लोक, परमपद परमेश्वर से ही (जज्ञानाम्) प्रादुर्भूत होने वाली (असुरस्य) मेघ के समान सबको प्राण देने में समर्थ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की (महीम्)

बड़ी भारी (साहस्रीम्) असंख्य शक्तियों से युक्त समस्त जगत् की उत्पादक, (अविम्) वस्त्रादि से भेड़ के समान सबकी पालक, (मायाम्) निर्माण करनेवाली शक्ति या सब ज्ञानों को ज्ञापन कराने वाली परमेश्वरी शक्ति को (अग्ने) हे ज्ञानवन् विद्वन् ! तू (परमे व्योमन्) परम, सब से ऊंचे पद पर विराज कर (मा हिंसीः) विनाश मत कर ॥ शत० ७ । ५ । २ । २० ॥

यो ऽअग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या ऽउत वा दिवस्परि ।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु ॥ ४५॥

अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष (अग्नेः अधि) एक दूसरे उत्कृष्ट परम ज्ञानी पुरुष के संग से, अग्नि से दीप्त अग्नि और दीपक से जलाये गये दीपक के समान ज्ञानवान् (अधि अजायत) होता है। और जो (पृथिव्याः शोकात्) पृथिवी और माता के तेज से (उत) और जो (दिव. शोकात्) तेजस्वी सूर्य या पिता के तेज से (परि अजायत) सर्वत्र प्रकाशमान है। (येन) जिसके द्वारा (विश्वकर्मा) समस्त कार्यों का कर्त्ता धर्त्ता प्रजापति राजा (प्रजाः) समस्त प्रजाओं को (जजान) उत्तम बनाता है (तम्) उस विद्वान् पुरुष को हे (अग्ने) राजन् ! परसंतापक ! (ते हेडः) तेरा क्रोध और अनादर (परि वृणक्तु) छोड़ दे अर्थात् उसके प्रति तू न क्रोध कर न उसका अनादर कर। अर्थात् विद्वान् शिष्य स्नातक और योग्य माता और तेजस्वी पिता के विद्वान् पुत्र के प्रति राजा कभी अनादर न करे ॥ शत० ७ । ५ । २ । २ । २१ ॥

ईश्वर-पक्ष में—(यः अग्नेः अधि अग्निः अजायत) जो ज्ञानवान योगी से भी अधिक ज्ञानवान् है। (य शोकात् पृथिव्या उत दिवः परि अजायत) और जो अपने तेज से पृथिवी और सूर्य के भी ऊपर अधिष्ठाता रूप से है, और (येन) जिस तेज से (विश्वकर्मा) विश्व का स्रष्टा प्रजा-

पति (प्रजाः जजान) प्रजाओं को उत्पन्न करता है (तम्) उस परमेश्वर के प्रति हे विद्वान् पुरुष ! (ते हेड परिवृणक्तु) तेरा अनादर भाव न हो ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य ऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च४६
ऋ० १ १ । ५ ॥ १ ॥

सूर्यो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो (देवानाम्) पृथिवी आदि का एक मात्र (चित्रं) संचित, (अनीकम्) बलस्वरूप होकर (उत् अगात्) उदय को प्राप्त होता है । और जो (मित्रस्य) मित्र, सूर्य, प्राण (वरुणस्य) जल, उदान और मृत्यु का भी (चक्षु) ज्ञापक है और जो (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी, प्रकाश और अन्धकार से युक्त दोनों प्रकार के लोकों को और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को भी (आ अप्राः) सब प्रकार से व्यापता और पूर्ण कर रहा है । वह (सूर्यः) सूर्य के समान (जगत) जंगम और (तस्थुष. च) स्थावर सबका (आत्मा) आत्मा सर्वान्तर्यामी, सबका प्रेरक धारक है ॥ शत० ७ । ५ । २ । २७ ॥

इमं मा हिꣳसीर्द्विपादं पशुꣳ सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः ।
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४७ ॥

अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! हे पुरुष ! तू (मेधाय) सुख प्राप्त करने के लिये (चीयमान) निरन्तर बढ़ता हुआ (इमं) इस (द्विपादं) दोपाये पुरुष को और (पशुं) उसके उपयोगी चौपाये पशु को भी (मा हिंसीः) मत नाश कर, मत मार । हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! नेतः ! तू (मेधम्)

४७—'सहस्राक्ष मेधा या' इति काण्व ।

पवित्र अन्न उत्पन्न करनेवाले (मयुं पशुम्) जंगली पशु को भी (जुषस्व) प्रेम कर, उसकी वृद्धि चाह। और (तेन) उससे भी (चिन्वानः) अपनी सम्पत्ति को बढ़ाता हुआ (तन्वः) अपने शरीर के बीच मे हृष्ट पुष्ट होकर (निषीद) रह। (ते शुक्) तेरा संतापकारी क्रोध या तेरी पीड़ा भी (मयुम्) हिंसक जंगली पशु को (ऋच्छतु) प्राप्त हो। और (यं द्विष्म.) जिससे हम प्रेम नहीं करते (तं) उसको (ते) तेरा (शुक्) संतापकारी क्रोध या तेरी पीड़ा (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ शत० ७।५।२।३२॥

इमं मा हिꣳसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु ।
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४८ ॥

भा०—हे पुरुष ! (इमं) इस (कनिक्रदं) हर्ष से ध्वनि करने या हिनहिनाने वाले या सब प्रकार के कष्ट सहने में समर्थ (एकशफं) एक खुर के (वाजिनेषु) वेगवान्, या संग्रामोपयोगी पशुओं के बीच सब से अधिक (वाजिनम्) वेगवान् अश्व, गधे, खच्चर आदि (पशुं) पशु को (मा हिंसी.) मत मार (आरण्यम् गौरम्) जंगल के गौर नामक बारह सींगे को लक्ष्य करके (ते अनु दिशामि) तुझे मैं यह उपदेश करता हू कि (तेन चिन्वान.) उसकी वृद्धि से भी तू अपनी वृद्धि करता हुआ (तन्व निषीद) अपने शरीर की रक्षा कर। (ते शुक्) तेरा शोक, संताप या क्रोध भी (गौरम् ऋच्छतु) उस गौर नामक, खेती को हानि पहुचाने वाले मृग को प्राप्त हो। (यं द्विष्म) जिसके प्रति हमारी प्रीति नहीं है (ते शुक्) तेरा शोक, सताप या क्रोध (तम् ऋच्छतु) उसको ही प्राप्त हो ॥ शत० ७।५।२।३३॥

इमꣳसाहस्रꣳ शतवारमुत्सं व्युच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये ।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ।
गव्यमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।

ग॒व॒यं ते॒ शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ४९ ॥

अग्निर्देवता । कृति । निषादः ॥

भा०—(सरिरस्य मध्ये) आकाश, अन्तरिक्ष के बीच में (व्यच्यमानं) विविध प्रकार से फैलने वाले (शतधारम्) सैकड़ों धार बरसाने वाले (उत्सं) आश्रय, सोमरूप मेघ के समान (सरिरस्य मध्ये व्यच्यमानम्) लोक में विद्यमान सैकड़ों को धारक पोषक और (साहस्रम्) हज़ारों सुखप्रद पदार्थों के उत्पादक (इमम्) इस बैल को और (जनाय) मनुष्यों के हित के लिये (घृतम्) घी, दूध, अन्न आदि पुष्टिकारक पदार्थ (दुहानाम्) प्रदान करने वाली (अदितिम्) अहिंसनीय, पृथिवी के समान गौ को भी हे (अग्ने) राजन् ! (परमे व्योमन्) अपने सर्वोत्कृष्ट रक्षा स्थान में या अपने रक्षण कार्य में तत्पर होकर (मा हिंसीः) मत मार । (ते) तुझे मैं (गवयम् आरण्यम्) जंगली पशु गवय का (अनु दिशामि) उपदेश करता हूं । (तेन) उससे (चिन्वान) अपनी ऐश्वर्य की वृद्धि करता हुआ (तन्व निषीद) अपने शरीर को स्थिर कर । (ते शुक् गवयम् ऋच्छतु) तेरा शोक, संताप या क्रोध 'गवय' नाम के पशु को प्राप्त हो । और (यं द्विष्म. तं ते शुक् ऋच्छतु) जिस शत्रु से हम द्वेष करते हैं तेरा संताप और पीड़ाजनक क्रोध उसको प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । २ । २४ ॥

इ॒मꣳ सू॒र्णायु॑ वरु॒णस्य॒ नाभि॒ त्वच॑ पशू॒नां द्वि॒पदां॑ चतु॒ष्पदाम् ।
त्वष्टुः॒ प्र॒जाना॑ प्रथ॒मं ज॒नित्र॒मग्ने॒ मा हि॑ꣳसीः पर॒मे व्यो॑मन् ।
उष्ट्र॑मार॒ण्यमनु॑ ते दिशामि॒ तेन॑ चिन्वा॒नस्त॒न्वो॒ निषी॑द ।
उष्ट्रं॑ ते शुगृ॑च्छतु॒ यं द्वि॒ष्मस्तं ते॒ शुगृ॑च्छतु ॥ ५० ॥

अग्निर्देवता । कृतिः । निषाद. ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! तू (परमे व्योमन्) परम, सर्वोच्च 'व्योम' अर्थात् विविध प्राणियों के रक्षाधिकार में नियुक्त होकर (त्वष्टु) सर्व-

जगत् के रचयिता परमेश्वर की (प्रजानाम्) प्रजाओं के (प्रथमं) सब से उत्तम या सब से प्रथम (जनित्रम्) उत्पादक कारण, मेघ के समान सुखों के उत्पादक, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् वरण करने योग्य सुख के (नाभिम्) मूलकारण, (द्विपदां चतुष्पदां) दो पाये और चौपाये (पशूनां) पशुओं में ही (त्वचं) शरीरों को कम्बलादि से ढकने वाले (इमम्) इस ऊर्णायुं ऊन को देने वाले भेड़ जन्तु को (मा हिंसी.) मत मार। (ते) तुझे (आरण्यम् उष्ट्रम् अनुदिशामि) मैं जंगली ऊंठ का उपदेश करता हूं। (तेन चिन्वान.) उससे समृद्ध होकर (तन्व· ।निषीद) शरीर के सुखों को प्राप्त कर। (तें शुक्) तेरी पीड़ाजनक प्रवृत्ति (उष्ट्रम् ऋच्छतु) दाहकारी पीड़ाजनक जीव को प्राप्त हो। और (ते शुक्) तेरा दुःखदायी क्रोध (तम् ऋच्छतु) उसको प्राप्त हो (यं द्विष्म.) जिससे हम द्वेष करते हों॥ शत० ७। ५। २। ३५॥

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो ऽअपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्रमायन्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः।
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥ ५१॥

अग्निर्देवता। भुरिक् कृतिः। निषाद.॥

भा०—(अज.) अज, अजन्मा, ज्ञानी आत्मा, जीव (अग्ने) अग्नि, ज्ञानमय तेजोमय परमेश्वर के (शोकात्) तेज से (अजनिष्ट) ज्ञानवान् और तेजस्वी हो जाता है। तभी वह (अग्रे) अपने से भी पूर्व विद्यमान (जनितारम्) समस्त जगत् का और अपने भी उत्पादक परमेश्वर का (अपश्यत्) साक्षात् करता है। (तेन) उसी अजन्मा आत्मा के द्वारा (देवा.) विद्वान् जन अथवा इन्द्रिय क्रीड़ी पुरुष भी (अग्रम्) उत्तम (देवताम्) देव भाव को (आयन्) प्राप्त होते हैं। और (तेन) उसी के बल पर (मेध्यासः) पवित्रात्मा जन या ज्ञानवान् पुरुष (रोहम्)

उन्नत पद को या पुन जन्म भाव को (आयन्) प्राप्त करते हैं (ते) तुझको मैं (आरण्यं शरभम्) जंगली शरभ अर्थात् हिंसक व्याघ्र पशु का (अनु दिशामि) स्वरूप दर्शाता हूं। (तेन) उसके समान (चिन्वानि) अपने रक्षा साधनो का संग्रह करता हुआ बलवान् होकर तू (तन्व) अपने शरीर की रक्षा के लिये (निषीद) स्थिर होकर रह। (ते शुक्) तेरा शोक संताप और पीड़ा जनक कार्य (शरभं ऋच्छतु) 'शरभ' नाम पशु या हिंसक पुरुष को प्राप्त हो। और (यं द्विष्मः) जिससे हम द्वेष करते हैं (तं ते शुक् ऋच्छतु) उसका तुम्हारा पीड़ा-संताप-जनक क्रोध प्राप्त हो ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३६ ॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ५२ ॥ ऋ० ८ । ७३ । ३ ॥

अग्निर्देवता । निचृद् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (यविष्ठ) अति अधिक बलवान् पुरुष ! राजन् ! तू (दाशुषः नॄन्) दानशील और कर आदि देने वाले प्रजा जनों को (पाहि) पालन कर। और प्रेम से (गिरः) उनकी कही वाणियों को (शृणुधि) श्रवण कर। (उत) और (त्मना) स्वयं ही उनकी (तोकम्) पुत्र के समान (रक्ष) रक्षा कर ॥ शत० ७ । ५ । २ । ३१ ॥

उशना ऋषि । आपो देवताः । (१) ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः । (२) ब्राह्मी जगती । निषादः । (३) निचृद् ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

[1]अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोक्षन् त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन् त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि। [2]सरिरे सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि सादयाम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ साद-

याम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पार्थसि सादयामि ³गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ॥ ५३ ॥

भा०—[१] हे राजन्! (त्वा) तुझको मैं (अपाम्/एमन्) जलों, प्राणों या प्रजाओं के गन्तव्य, या प्राप्त करने योग्य जीवन रूप वायु पद पर (सादयामि) स्थापित करता हूं। अर्थात् मेघ के जलों को इधर उधर लेजाने वाला वायु जिस प्रकार यथेष्ट दिशा में मेघों को ले जाता है और जिस प्रकार समस्त प्राणों का आश्रय वायु है उसी प्रकार राजा को भी प्रजाओं के सञ्चालन और उनके जीवन प्रदान, उनके निग्रहानुग्रह के अधिकार पर स्थापित करता हूं। [२] (त्वा अपां ओद्मन् सादयामि) तुझको जलों के दलदल भाग में जहां नाना ओषधियां उत्पन्न होती हैं उस पद पर स्थापित करता हूं। अर्थात् जलों के एकत्र हो जाने पर दल २ में जिस प्रकार वहां ओषधियां बहुत उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार तू भी प्रजाओं का एकत्र हो जाने का केन्द्र है। तुझको मुख्य पद पर स्थापित कर नाना वीर्य धारक प्रजाओं और शासक पुरुषों के उत्पन्न कर लेने का अधिकार प्रदान करता हूं ॥ शत० ७ । ५ । २ । ४६—६२ ॥

[३] (त्वां अपाम् भस्मन् सादयामि) जलों के तेजो रूप भाग मेघ के पद पर तुझको स्थापित करता हूं। अर्थात् जलों का सूर्य किरणों से बना मेघ जिस प्रकार सब पर छाया और निष्पक्षपात होकर जल वर्षण करता है उसी प्रकार प्रजाओं पर तू समस्त सुख कर ऐश्वर्यों का वर्षण और छत्रछाया कर। इसी निमित्त तुझे स्थापित करता हू।

[४] (अपां ज्योतिषि त्वा सादयामि) तुझे जलों की ज्योति अर्थात् विद्युत् के पदपर स्थापित करता हूं। अर्थात् जिस प्रकार जलों में विद्युत्

अति तीव्र, वलवती शक्ति है उसी प्रकार तू भी प्रजाओं के वीच अति तीव्र, वलवती शक्ति वाला होकर रह । उसी पद पर तुझको मैं नियुक्त करता हूं ।

[५] (त्वा अपाम् अयने सादयामि) तुझको जलों को एकमात्र आश्रय, इस भूमि के पदपर स्थापित करता हूं । अर्थात् जिस प्रकार समस्त जलों का आधार भूमि है उसी प्रकार समस्त प्रजाओं का आश्रय होकर तू रह ।

[६] (अर्णवे त्वा सदने सादयामि) तुझको 'अर्णव'=जीवन प्राण के 'सदन', आसन पर स्थापित करता हूं । अर्थात् प्राण जिस प्रकार समस्त इन्द्रियों का आधार है, उसी प्रकार तू भी समस्त प्रजाओं का और शासक वर्गों का आश्रय और उनका सञ्चालक होकर रह ।

[७] समुद्रे त्वा सदने सादयामि) तुझको मैं समुद्र अर्थात् मन के आसन पर स्थापित करता हूं । अर्थात् जिस प्रकार समस्त रत्न समुद्र से निकलते हैं वही उनका उद्गम स्थान है, और जिस प्रकार समस्त वाणियों का उद्गम स्थान मन है, उसी प्रकार समस्त प्रजाओं का उद्गम स्थान तू बन कर रह ।

[८] (त्वाम् अपां क्षये सादयामि) जलों के निवासस्थान तड़ाग अथवा शरीर में जलों के नित्य आश्रय चक्षु के पद पर तुझको नियुक्त करता हूं । अर्थात् सुख दुःख में जिस प्रकार ग्राम जनता तालाब या कूप के आश्रय पर रहती है और सुख दुःख में जिस प्रकार शरीर में आंख ही और दुःखाश्रु और आनन्दाश्रु वहाती है, अथवा वही सब पर निरीक्षण करती है उसी प्रकार तू प्रजा के सुख दुःख में सुखी दुखी हो और उनपर रेख देख रख ।

[९] (अपां त्वा सधिषि सादयामि) समस्त जलों को समान रूप से धारण करने वाले गम्भीर जलाशय के पद पर और समस्त प्रजाओं के निष्पक्ष होकर वचन सुनने वाले 'श्रवण' के पद पर स्थापित करता हूं । अर्थात् समस्त प्रजाओं के निष्पक्ष होकर वचन सुन और निर्णय कर ।

[१०] (सरिरे सदने त्वा सादयामि) तुझे सर्वत्र प्रसरणशील और प्रेरक जल के पदपर स्थापित करता हूं और अध्यात्म में स्वयं सरण करने वाली वाणी के पद पर नियुक्त करता हूं । वहां तू अपनी आज्ञा से सबको संचालित कर ।

[११] (अपां त्वा सदने सादयामि) सूक्ष्म जलों का आश्रयस्थान द्यौलोक या समस्त लोकों के आश्रयभूत महान् आकाश के पद पर तुझे स्थापित करता हूं । अर्थात् उसके समान तू सब प्रजाओं को अपने में आश्रय देने वाला हो ।

[१२] (अपां त्वा सधस्थे सादयामि) जलों को एकत्र धारण करने वाले अन्तरिक्ष के पद पर तुझको स्थापित करता हूं अर्थात् अन्तरिक्ष जिस प्रकार मेघ आदि रूप से जलों को और सूर्यारश्मियों को भी एकत्र रखता हैं उसी प्रकार राजपुरुषों और प्रजा जन दोनों को तू समान रूप से धारण कर ।

[१३] (अपां त्वा योनौ सादयामि) समस्त नद नदियों के चारों तरफ से आकर मिलने के एक मात्र स्थान समुद्र के पद पर तुझको मैं स्थापित करता हू । अर्थात् तू समस्त देश देशान्तरों से आई प्रजाओं को शरण देने वाला हो ।

[१४] (अपां त्वा पुरीषे सादयामि) तुझको मैं जलों के भीतर दीप्ति सहित विद्यमान रेती के पदपर स्थापित करता हूं । जैसे रेती जलों को स्वच्छ रखती और उसकी शोभा को बढ़ाती है । उसी प्रकार तू प्रजाओं को स्वच्छ रख और उसकी शोभा को बढ़ा ।

[१५] (अपां त्वा पाथसि सादयामि) जलों के भीतर विद्यमान, पालनकारी तत्व अन्न के पद पर तुझको मैं स्थापित करता हूं । अर्थात् जिस प्रकार जलों से उत्पन्न अन्न सबको प्राणप्रद, जीवनप्रद और पालक है उसी प्रकार तू भी सबका जीवनप्रद, पालक हो ।

[१६] (त्वा गायत्रेण छन्दसा सादयामि) तुझको गायत्र छन्द से स्थापित करता हू । अर्थात् ब्राह्मणो विद्वानो के विद्या बल से तुझको स्थापित करता हूं ।

[१७] (त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि) तुझको मैं त्रैष्टुभ छन्द से स्थापित करता हूं । अर्थात् तुझको क्षात्र-बल से स्थिर करता हूं ।

[१८] (जागतेन त्वा छन्दसा स्थापयामि) तुझको मैं जागत छन्द अर्थात् वैश्यों के बल से स्थापित करता हूं ।

[१९] (आनुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि) आनुष्टुभ छन्द से अर्थात् सर्व साधारण लोक के बल से तुझको स्थापित करता हूं ।

[२०] (पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि) तुझको मैं पांक्त छन्द से अर्थात् दशों दिशाओं अथवा पांचो जनो के बल से तुझे स्थापित करता हूं ।

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपाꣳशोस्त्रिवृत् त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठ ऽऋषिः । प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५४ ॥

प्राणा देवता । विश्वकर्मा ऋषिः । स्वराड् ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—(अयम्) यह अग्निस्वरूप वाला (पुरः) पूर्व दिशा से और (भुवः) सबका मूल कारण स्वयं सत्-रूप से विद्यमान था । (तस्य) उसका ही यह सामर्थ्य स्वरूप (प्राणः) प्राण है । इसी से वह (भौवायनः) 'भुव्' का अपत्य उससे उत्पन्न होने से 'भौवायन' कहाता है । (प्राणायन) प्राण से उत्पन्न होने वाला (वसन्तः) 'वसन्त' है । अर्थात् प्राणों से वह तत्व उत्पन्न हुआ जिसमें समस्त जीव बसते हैं । (वासन्ती गायत्री) 'वसन्त' सबको बसाने वाले तत्व से 'गायत्री', प्राणो की रक्षा करने वाली शक्ति या वाणी उत्पन्न हुई । (गायत्र्यै गायत्रम्)

गायत्री शक्ति से गायत्र अर्थात् प्राण रक्षक बल उत्पन्न हुआ (गायत्राद् उपांशु) गायत्र बल से 'उपांशु' नाम प्राण-उत्पन्न हुआ (उपांशो त्रिवृत्) उपांशु प्राण से त्रिवत् नामक प्राण उत्पन्न होता है। (त्रिवृत रथन्तरम्) त्रिवृत् नाम प्राण से रथन्तर नाम प्राण का बल जिससे इन्द्रियों में ग्राह्य विषय ग्रहण किये जाते हैं वह उत्पन्न होता है। उन सबका (ऋषिः) प्रवर्त्तक और द्रष्टा (वसिष्ठ) सब प्राणों में मुख्य रूप से बसने वाला 'प्राण' वसिष्ठ कहाता है। हे चितिशक्ते ! या हे वाणि ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजा के पालक मुख्य प्राण द्वारा वशीकृत (त्वया) तुझ द्वारा मैं (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के (प्राण गृह्णामि) प्राण को वश करता हूं। शत० ८।१।१।१-६॥

राजा और राष्ट्र-पक्ष में - यह प्राण राजा 'भुव' है। उसके प्राण रूप अमात्य आदि 'भौवायन' है। उनमें उत्तरोत्तर वसन्त गायत्री. (सेना) गायत्र (बल) उपांशु (सेनापति) त्रिवत् त्रिवर्ण. रथन्तर. रथ बल उत्पन्न होते हैं। सबका द्रष्टा मुख्य राजा का पुरोहित 'वासिष्ठ' है। प्रजापति, प्रजा के पालक राजा से वशीकृत तुझ प्रजा या पृथिवी से मैं प्राण को या अन्न को प्रजा के हितार्थ प्राप्त करता हूं।

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मणं ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुग् वैषमी त्रिष्टुभः स्वारꣳ स्वारादन्तर्य्यामोऽन्तर्य्यामात्पञ्चदश पञ्चदशाद् बृहद् भरद्वाज ऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५५ ॥

प्रजापतिः प्राणा वा देवता । निचृद आर्षिगति धृति । षड्जः ॥

भा०—(दक्षिणा) दक्षिण दिशा से (अयं) यह स्वयं (विश्वकर्मा) समस्त कर्म करने में समर्थ है। (तस्य) उसके ही (वैश्वकर्मण) विश्वकर्मा रूप से उत्पन्न (मनः) मन अन्तःकरण है। (मानस ग्रैष्मः) मन से ही उत्पन्न ग्रीष्म ऋतु है। मन की पुष्टि से ही अर्थात् विचार से ही पराक्रम

की उत्पत्ति होती है (ग्रैष्मी) सूर्य के प्रखर ताप वाली ऋतु के मानस तेज से ही (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् अर्थात् मन, वाणी और कर्म तीनों में हिंसा करने वाला क्षात्र-बल उत्पन्न होता है। (त्रिष्टुभ स्वारम्) उस त्रिष्टुप्, क्षात्र-बल से स्वर समूह अर्थात् स्वयं राजमान राजा गण उत्पन्न होते हैं। (स्वाराद् अन्तर्यामः) स्वयं तेजस्वी राज गण से पृथिवी का अन्तर्यमन अर्थात् प्रबन्ध या राज्यव्यवस्था उत्पन्न होती है। (अन्तर्यामात् पञ्चदश.) उस व्यवस्था से राष्ट्र के १५ हों अंगों पर आत्मा के समान शासक मुख्य राजा की उत्पत्ति होती है। (पञ्चदशात् बृहत्) उस मुख्य राजा से बृहत् बड़े भारी राष्ट्र की उत्पत्ति होती है। (ऋषिः भरद्वाज) उसका द्रष्टा और सञ्चालक स्वयं प्राण के समान 'भरद्वाज' है। अर्थात् मुख्य प्राण जिस प्रकार सब अन्नों को स्वयं प्राप्त करता है उसी प्रकार राजा समस्त ऐश्वर्यों, वीर्यों और भोगों को प्राप्त करने में समर्थ होता है। हे राजशक्ते ! (प्रजापतिगृहीतया त्वया) प्रजापति राजा द्वारा वशीकृत तुझसे मैं (प्रजाभ्य मन गृह्णामि) प्रजाओं के मन को अपने वश करता हूं। शत० ८। १। १। ६-९ ॥

अयं पश्चाद् विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जागत्या ऋक्सामम् ऽऋक्सामाच्चक्षुकः शुक्रास्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरूपं जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५६ ॥

प्रजापतिर्देवता । निचृद्धृति । षड्ज ॥

भा०—(अयम्) यह प्रजापति (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (विश्वव्यचा) तेज द्वारा समस्त विश्व में फैलने वाले सूर्य के समान है (अस्य) उसका (चक्षुः) चक्षु भी (वैश्वव्यचम्) विश्व में व्यापक सूर्य के आकाश से जिस प्रकार पुरुष की आंख उत्पन्न होती है उसी प्रकार प्रजापालक परमेश्वर की भी चक्षु सूर्य की बनी हुई है। अर्थात् सूर्य ही अलंकार रूप से ईश्वर की चक्षु है। (वर्षा चाक्षुष्यः) जैसे आंखों से प्रेम-अश्रु बहते

हैं उसी प्रकार मानो ये समस्त वर्षाएं सूर्य से उत्पन्न होकर परमेश्वर की चक्षु से बहते हैं। और राजा के ज्ञानवान् पुरुष ही चक्षु है उनके द्वारा ही समस्त ऐश्वर्यों की वृष्टि होती है। (जगती वार्षी) यह समस्त सृष्टि वर्षा से ही उत्पन्न होती है। इसी प्रकार राजा के राज्य में सब कारबार विद्वानों द्वारा उत्पादित ऐश्वर्यों द्वारा ही चलते हैं। (जगत्या ऋक्-समम्) जगती छन्द से जिस प्रकार 'ऋक्सम' नाम साम की उत्पत्ति है और जगत् की रचना देख कर ज्ञान की प्राप्ति होती है। (ऋक् समात् शुक्र.) ऋक् सम नामक साम से जैसे शुक्र 'ग्रह' उत्पन्न होता है। और ज्ञान प्राप्ति के बाद वीर्य शुद्ध बल, उत्पन्न होता है। और जिस प्रकार, ऋक् अर्थात् स्त्री का साम पति है और पति पत्नी के मिलने पर वीर्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार राष्ट्र में ऋक्-सम प्रजा को समान रूप से प्राप्त करके ही राजा को बल प्राप्त होता है। (शुक्रात् सप्तदश) शुक्र ग्रह से यज्ञ में 'सप्तदश' स्तोम की उत्पत्ति होती है। अध्यात्म में वीर्य से सप्तदश नाम आत्मा के शरीर उत्पत्ति होती है। राजा प्रजा के बल से १७ अंगों वाले सप्तदशाङ्ग राज्य और उसपर स्थित राजा की उत्पत्ति होती है। (सप्तदशात् वैरूपम्) सप्तदश नाम आत्मा से ही वैरूप अर्थात् विविध जीवसृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। साम में सप्तदश स्तोम से वैरूप नाम 'पृष्ठ' का उदय होता है। राष्ट्र में, सप्त दश अङ्गों से युक्त राजा के द्वारा राज्य की विविध रचना होती है। (जमदग्नि ऋषि) यह चक्षु सूर्य ही जमदग्नि है, वही सब का द्रष्टा है। परमेश्वर उसी द्वारा जगत् को देखता और उसी से देख कर उनको वश करता है। इस शरीर में चक्षु वही जमदग्नि है। राष्ट्र में सर्वोपरि द्रष्टा पुरुष ही जगमदग्नि है।

(प्रजापति गृहीतया त्वया) प्रजा के पालक परमेश्वर द्वारा स्वीकार की गई पत्नी के समान तुझ निर्मात्री शक्ति से, एव देह में आत्मा द्वारा प्राप्त चितिशक्ति से, राष्ट्र मे राज्य शक्ति से मैं (प्रजाभ्य. चक्षु) प्रजाओं की चक्षु को (गृहणामि) अपने वश करता हूं। शत० ८।१।२।१-३॥

इदमुत्तरात् स्वस्तस्य श्रोत्रꣳ सौवꣳशरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप शारद्यनुष्टुभ ऽऐडमैडान् मन्थी मन्थिन ऽएकविꣳश ऽएकविꣳशाद् वैराजं विश्वामित्र ऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५७ ॥

प्रजापतिर्देवता । स्वराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

(इदम् उत्तरात् स्व.) यह उत्तर दिशा में या सब से ऊपर महान् आकाश 'स्व.' है । (तस्य) उस प्रजापति का वह आकाश ही महान् श्रोत्र है । इसलिये (सौवं श्रोत्रम्) उसका श्रोत्र 'स्वः' होने से 'सौव' कहाता है । इसी प्रकार इस शरीर में 'स्वः' अर्थात् सुख का साधन आकाश की तन्मात्रा से ही बना हुआ श्रोत्र है । (श्रौत्री शरत्) 'संवत्सर' रूप प्रजापति में शरत् ऋतु ही श्रोत्र के समान है । वर्षा के बाद आकाश और दिशाएं खुल जाने से शरद् ऋतु उत्पन्न होती है, इसी से शरत् मानो प्रजापति के श्रोत्र रूप आकाश या दिशाओं से उत्पन्न होती है । (शारदी अनुष्टुप्) शरद् ऋतु से अनुष्टुप् छन्द उत्पन्न होता है । अर्थात् छन्दों में जिस प्रकार अनुष्टुप् सर्व प्रिय है उसी प्रकार ऋतुओं मे 'शरद्' है । (अनुष्टुभ ऐडम्) अनुष्टुप् से 'ऐड' नाम साम की उत्पत्ति होती है । अर्थात् अनुष्टुप् नाम छन्द से ऐड अर्थात् 'इड़ा' वाणी का विस्तार होता है । (ऐडात् मन्थी) ऐड नाम साम से यज्ञ में मन्थिग्रह उत्पन्न होता है । वाणी के विस्तार से इन्द्रियों और हृदय को मथन करने की शक्ति उत्पन्न होती है । (मन्थिनः एकविंशः) मन्थिग्रह से यज्ञ में 'एकविंश' नाम सोम की उत्पत्ति होती है । वाणी के बल पर हृदय मथन हो जाने पर २० अंगों सहित इक्कीसवा आत्मा स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होता है । (एकविंशाद् वैराजम्) यज्ञ में एकविंशस्तोम से 'वैराज'

५७—'ऐऽमळान्' इति काण्व० ।

साम की उत्पत्ति होती है। आत्मा से ही विविध तेजों से राजमान देह की उत्पत्ति होती है। 'एकविंश' राजा से ही विविध राष्ट्र के कार्यों की उत्पत्ति होती है। (विश्वामित्र ऋषि.) शरीर में श्रोत्र ही विश्वामित्र ऋषि है। वह ज्ञानवान् पुरुष राष्ट्र में कर्म के समान समस्त प्रजाओं के दुःख पीड़ाओं को सुनता है। वह भी ऋषि द्रष्टा 'विश्वामित्र', सब का परम स्नेही है। (प्रजापतिगृहीतया त्वया) प्रजापति द्वारा स्वीकृत तुझ परम प्रकृति से जिस प्रकार (प्रजाभ्य.) समस्त उत्पन्न पदार्थों के हितार्थ (श्रोत्रं) आकाश रूप श्रोत्र का उपयोग किया गया है, उसमें समस्त सृष्टि फैली है। उसी प्रकार राजा द्वारा राजशक्ति के वश कर लेने पर प्रजाओं के 'श्रोत्र' अर्थात् सुख दुःख श्रवण करने वाले न्यायाधीश को मैं(गृह्णामि) स्वीकार करूं। इसी प्रकार हे स्त्री ! प्रजापति, गृहपति द्वारा स्त्री रूप में स्वीकृत तुझ द्वारा मैं प्रजा के हित के लिये अपने श्रोत्र का उपयोग करूं। शत० ८। १। २।४–६॥

इयमुपरि मतिस्तस्यै वाङ् मात्या हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हैमन्ती पङ्क्त्यै निधनवन्निधनवत ऽआग्रयण ऽआग्रयणात् त्रिणवत्रय.स्त्रिꣳशौ त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्यां२ शाक्करैवते ।विश्वकर्म ऽऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः॥५८॥

प्रजापतिर्देवता । विराडाकृतिः । पञ्चम ॥

भा०—(इयम् उपरि मति) यह सबसे ऊपर विराजमान प्रज्ञा है जो विराड् शरीर में चन्द्रमा स्वरूप है। (तस्यै मात्या वाड्) उससे उत्पन्न होने वाली वाणी मति से उत्पन्न होने के कारण मात्या' वाक् है। (वाच्यः हेमन्त) हेमन्त जिस प्रकार अति शीतल है उसी प्रकार वाणी से हृदय की शान्ति उत्पन्न होती है। इससे माना वाणी से हेमन्त उत्पन्न होता है। संवत्सर प्रजापति के रूप में शरत् काल के चन्द्र ज्योति के बाद तीव्र

५८—अवसाने लोकं, ता, इन्द्रम् क्रमशः (१२ अ० । ५४ । ५५ । ५६) इति मन्त्रत्रयस्य प्रतीकानि।

गर्जनाकारी वाणी रूप मेघ और उसके बाद हेमन्त उत्पन्न होता है। हेमन्त से पंक्ति उत्पन्न होती है। अर्थात् हेमन्त काल के बाद अन्न पकना प्रारम्भ होता है। सवत्सर में पञ्चम ऋतु हेमन्त से मानो यज्ञ में पंक्ति छन्द की उत्पत्ति हुई। राष्ट्र में प्रजा के हृदयों को शमन करने से ही शत्रु परिपाक की शक्ति प्राप्त होती है अथवा पञ्चाङ्ग सिद्धि प्राप्त होती है। (पङ्क्त्यै निधनवत्) यज्ञ में पक्ति छन्द से 'निधनवत् साम' की उत्पत्ति है। (निधनवतः आग्रायणः) निधनवत् साम से 'आग्रयण' ग्रह की उत्पत्ति होती है। और (आग्रयणात् त्रिणव-त्रयस्त्रिंशौ) आग्रयण ग्रह से त्रिनव और त्रयस्त्रिंश दोनों स्तोम उत्पन्न होते हैं (त्रिनवत्रयस्त्रिंशाभ्यां शाक्कर रैवते) त्रिनव और त्रयस्त्रिंश दोनों स्तोमों से शाक्कर और रैवत दो 'पृष्ठ' उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार राष्ट्र मे शत्रु संतापक पक्ति न मक सैन्य पाचों जनों की सम्मति, सेन्य शक्ति से 'निधनवत्' अर्थात् शत्रु हनन हाता है। उससे आग्रयण अर्थात् आगे बढ़ने वाले शूरवीर का पद नियत होता है। उससे त्रिनव और त्रयस्त्रिंश २७ और ३३ के स्तोम अर्थात् सघों की रचना होती है और उनसे शाक्कर अर्थात् शक्तिशाली और रैवत, धनाढ्य राष्ट्रों की उत्पत्ति होती है। इस सबका (ऋषिः विश्वकर्मा) ऋषि द्रष्टा और नेता सञ्चालक विश्वकर्मा प्रजापति है। (प्रजापति गृहीतया त्वया प्रजाभ्यः वाच गृह्णामि) प्रजापति राजा द्वारा वशीकृत राजशक्ति रूप तुझ से प्रजा के हित के लिये आज्ञा प्रदान करने वाली वाणी को अपने वश करूं। शत० ८। १। २। ७–९ ॥

'श्लोकं०, ता०, ऽइन्द्रम्० ॥'[1]

१२ अ० के ५४,५५,५६ इन तिन मन्त्रों की प्रतीक मात्र रक्खी है।

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

[तत्र अष्टापञ्चाशदृचः]

इति मीमासातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥

१—'श्लोक' पूरणता अस्येन्द्र विश्वाः इति काण्व०।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया।
उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥१॥

अश्विनौ देवते । विराड् अनुष्टुप् त्रिष्टुप् वा । गान्धारो धैवतो वा ॥

भा०—हे पृथिवि ! तू (ध्रुवक्षितिः) स्थिर निवास स्थान या स्थिर जनपद वाली है। तू (ध्रुवयोनि) स्थिर गृह और स्थान वाली है। तू स्वयं भूमि और आश्रय होकर (ध्रुवा) ध्रुव, अप्रकम्प, बसने वाली प्रजा का स्थिर आश्रय है। तू (ध्रुवं योनिम्) अपने स्थिर आश्रय पर ही (साधुया) उत्तम राज्यप्रबन्ध से (आसीद) आश्रित होकर रह। तू प्रथमं) सर्वश्रेष्ठ, सब से प्रथम (उख्यस्य) 'उखा', पृथिवी के योग्य केतुं) ज्ञान को (जुषाणा) सेवन करने वाली (अध्वर्यू) स्थिर, नित्य राष्ट्र यज्ञ के सम्पादक हो। (अश्विना) विद्या के पर पारंगत ज्ञानी और कर्मिष्ट विद्वान् शासनादि के दोनों (त्वा) तुमको (इह) इस आश्रय पर (सादयताम्) स्थिर करें।

स्त्री के पक्ष में—तू स्थिर निवास स्थान वाली, स्थिर आश्रय वाली होने से ध्रुवा है। तू (साधुया) उत्तम आचरण पूर्वक और स्थिर पति का आश्रय लेकर विराज। (उख्यस्य केतुम्) उखा अर्थात् स्थाली के योग्य पाक आदि विद्या को (प्रथम जुषाणा) अति प्रेम से करने वाली होकर रह। तुमे (अध्वर्यू अश्विनौ) अध्वर अर्थात् गृहस्थ यज्ञ या अविनाशी प्रजा तन्तु रूप यज्ञ के अभिलाषी माता पिता विद्वान् जन (इह सादयताम्) इस गृहाश्रम में स्थिर करें ॥ शत० ८ । २ । १ । ४ ॥

कुलायिनीं घृतवतीं पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः ।

१—अथ द्वितीया चिति । सर्वा० ।

अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयताभिह त्वा ॥ २ ॥

ऋषिदेवते पूर्ववत् । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे पृथिवि ! हे प्रजे ! तू (कुलायिनी) 'कुलाय' अर्थात् गृह वाली और (घृतवती) तेज और स्नेह या ऐश्वर्य से युक्त एवं (पुरधिः) पुर को धारण करने वाली है । तू (पृथिव्या. सदने) पृथिवी के (स्योने) सुखकारी, ऊपर बने गृह या आश्रय पर (सीद) विराजमान हो । (त्वा) तुझको (रुद्रा) उपदेश करने हारे विद्वान् और (वसवः) वसु ब्रह्मचारी निवास करने हारे विद्वान् लोग (त्वा अभि गृणन्तु) तुझे नित्य उपदेश करें । (सौभगाय) सौभाग्य की वृद्धि के लिये तू (इमा ब्रह्म) इन वेद मन्त्रों में स्थित ज्ञानों को (पीपिहि) प्राप्त कर । (अश्विना अध्वर्यू इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । २ । १ । ५ ॥

स्त्री के पक्ष में—तू गृहवाली, घृत-पुष्टि कारक अन्न और जल से पूर्ण या स्नेह से पूर्ण होकर (पुरन्धि.) 'पुर'=पालन कारी घर को धारण करने वाली स्त्री है । पृथिवी के तल पर बने सुखप्रद गृह में विराज । रुद्र वसु आदि नैष्टिक ब्रह्मचारी लोग तुझे (ब्रह्म अभिगृणन्तु) वेदों का उपदेश करें । तू अपने सौभाग्य की वृद्धि के लिये उनको प्राप्त कर । यज्ञकर्त्ता विद्वान् माता पिता तुझे यहां स्थिर करें ।

अध्यात्म में—चितिशक्ति पुरन्धि है, वह शरीररूप गृह वाली है । शरीर में बसने वाले प्राण उसकी स्तुति करते हैं वह अन्न को प्राप्त करे । (अध्वर्यू अश्विनौ) जीवन यज्ञ के कर्त्ता प्राणापान उसे वहां स्थित रखें ।

स्वदस्वापतिहि सीद देवानां सुम्ने बृहते रणाय ।
पितेवैधि सूनव आ सुशेवा स्वावेशा तन्वा संविशस्वाश्विनाध्वर्यू सादयताभिह त्वा ॥ ३ ॥

ऋष्यादयः पूर्ववत् ॥

भा०—राज और पालक पुरुष के कर्त्तव्य। हे बलवान् पुरुष ! हे स्वामिन् राजन् ! तू (स्वैः दक्षै) अपने बलों और ज्ञानों द्वारा और अपने चतुर बलवान् भृत्यों के बल से (दक्षपिता) कार्य-कुशल पुरुषों का पालक, बल और ज्ञान का पालक, पिता के समान होकर और (बृहते रणाय) बड़े भारी संग्राम के लिये (देवानां) विद्वानों और विजयी पुरुषों के बीच में (सुम्ने) सुखकारी पद पर या राष्ट्र या गृह में (सीद) विराजमान हो। (सूनवे) पुत्र के लिये (पिता इव) जिस प्रकार पिता हितकारी और उसका पालक होता है उसी प्रकार तू भी (एधि) हो। हे पृथिवी, मात· ! तू भी पालक पिता के समान हो। (आ सुशेवा) सब प्रकार से सुखकारिणी और (आ सुवेशा) उत्तम प्रकार से, सुख से प्रवेश करने योग्य, सुख से बसने योग्य हो। तू (तन्वा) अपने विस्तृत राज्य शक्ति से (संविशस्व) प्रवेश कर। (अश्विना अध्वर्यू० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । २ । १ । ६ ॥

पुरुष स्त्री के पक्ष में—हे पुरुष ! तू भृत्यों और अपने बल का पालक होकर विद्वान् पुरुषों को सुख और बड़े भारी रमण योग्य उत्तम कार्य के लिये स्थिर हो। पुत्र के लिये पिता के समान हो। हे स्त्री ! तू पति को सुखकारिणी, सुखपूर्वक गृहस्थ सुख देने वाली, उत्तम वेश धारण करके अपने (तन्वा सविशस्व) देह से पति के साथ संगत, एक होकर रह।

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वेऽअभि गृणन्तु देवाः। स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणा यजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत्।

भा०—हे राजशक्ते ! तू (पृथिव्या.) पृथिवी का (पुरीषम्) पालन करने वाला (अप्स. नाम) स्वरूप है। (तां त्वा) उस तेरी (विश्वे देवा)

समस्त विद्वान् और राजगण (अभिगृणन्तु) स्तुति करें। तू (स्तोमपृष्ठा) वीर्य, बल को अपनी 'पृष्ठ' या पालन सामर्थ्य में धारण करने वाली (घृतवती) जल के समान तेज को धारण करने वाली होकर (सीद) विराजमान हो। और (अस्मे) हमें (प्रजावत् द्रविणा) उत्तम प्रजाओं के समान ही नाना ऐश्वर्यों को भी (यजस्व) प्रदान कर। अर्थात् राष्ट्र शक्ति समृद्धि ऐश्वर्य के साथ उत्तम हृष्ट पुष्ट प्रजा की भी वृद्धि कर। (अश्विना अध्वर्यू० इत्यादि) पूर्ववत्॥ शत० ८। २। १। ७॥

स्त्री के पक्ष में—तू (अप्सः नाम पृथिव्याः पुरीषम् असि) तू रूपवती होकर निश्चय से पृथिवी के ऊपर पालक होकर या श्री समृद्धि होकर (असि) विद्यमान है। समस्त विद्वान् तेरी कीर्त्ति गावें। तू (स्तोमपृष्ठा) वीर्यवान् पुरुष को अपने आश्रय किये हुए तेजस्विनी या अन्न घृत और स्नेह से युक्त होकर विराज और हम सब को उत्तम प्रजायुक्त ऐश्वर्य प्रदान कर।

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम्। ऊर्मिर्द्रप्सो ऽअपामसि विश्वकर्मा त ऽऋषिरश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा॥ ५॥

ऋष्यादि पूर्ववत्।

भा०—हे राजशक्ते ! राजपुरोहित ! (अदित्या पृष्ठे) अखण्ड पृथिवी के पीठ पर (अन्तरिक्षस्य) प्रजा के भीतर दानशील या पूजनीय पुरुष, राजा के या भीतरी अक्षय कोश या ऐश्वर्य, बल और विज्ञान को (धर्त्रीम्) धारण करने वाली और (दिशाम्) दिशाओं और उनमें निवास करने वाली प्रजाओं को (विष्टम्भनीम्) विविध उपायों से अपने वश करने वाली और (भुवनानाम् अधिपत्नीम्) लोकों को अधिष्ठाता रूप से पालन करने वाली (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापित करता

हूं। तू (अपाम्) जलों के बीच में जिस प्रकार वेग या रस विद्यमान रहता है उसी प्रकार तू भी (अपाम्) प्रजाओं के बीच (रस) रस रूप से सारवान् एव वेगवान् बलवान् या उनको हर्षदायक हो और जलों के बीच में (ऊर्मि) ऊपर उठने वाले तरङ्ग के समान उदय को प्राप्त होने वाला है। (ते ऋषिः) तेरा द्रष्टा, अधिष्ठाता साक्षात् करने वाला तुझे वश करने वाला जिस प्रकार (विश्वकर्मा) समस्त शिल्प के उत्तम कार्यों का कर्त्ता, महाशिल्पी, 'एन्जीनियर' हो उसी प्रकार समस्त कार्यों का कर्त्ता राजा (ते ऋषिः) तेरा सञ्चालक द्रष्टा है। (अश्विना अध्वर्यू० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० २ । २ । १ । १० ॥

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्रि ! तुझको पृथिवी के ऊपर स्थापित करता हूं। तू (अन्तरिक्षस्य) भीतर उपास्य, पतिदेव या अक्षय उत्साह के धरने वाली सब दिशाओं को थामने वाली और उत्पन्न पुत्रों की पालक है। तू जलों के तरग के समान हर्षकारिणी है। तेरा द्रष्टा पति ही तेरा 'विश्वकर्मा' सर्व शुभ कर्मों का करने वाला कर्त्ता धर्त्ता है। जगत्पालक परमेश्वरी शक्ति के पक्ष में भी मन्त्र स्पष्ट है।

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ऽअग्नेरन्त श्लेषोऽस्यहि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामग्नय पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः। ये ऽअग्नय समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे ग्रैष्मावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा ऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६ ॥

भा०—(शुक्र च शुचि च) शुक्र और शुचि ये दोनों (ग्रैष्मौ ऋतू) ग्रीष्म काल के दोनों मास अगस्वरूप है। (अग्ने) श्लेष (अस्ति०) इत्यादि व्याख्या देखो अ० १३ । म० २५ ॥ शत० ८ । २ । १ । ७६ ॥

[1] सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधै-

र॒ग्नये॑ त्वा वैश्वान॒राय॒ाश्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दयता॒मिह त्वा॑। स॒जू-
ऋ॒तुभि॑: स॒जूर्वि॒धाभि॑: स॒जूर्वसु॑भि: स॒जूर्दे॑वैर्व॑यो॒ना॒धैर॒ग्नये॑ त्वा
वैश्वान॒राय॒ाश्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दयता॒मिह त्वा [२]स॒जूर्ऋ॒तुभि॑: स॒जू-
र्वि॒धाभि॑: स॒जू रु॒द्रै स॒जूर्दे॒वैर्व॑यो॒ना॒धैर॒ग्नये॑ त्वा वैश्वान॒राय॒ाश्वि-
ना॑ध्व॒र्यू सा॑दयता॒मिह त्वा॑ [३] स॒जूर्ऋ॒तुभि॑: स॒जूर्वि॒धाभि॑: स॒जूरा-
दि॒त्यै. स॒जूर्दे॒वैर्व॑यो॒ना॒धैर॒ग्नये॑ त्वा वैश्वान॒राय॒ाश्विना॑ध्व॒र्यू सा॑द
यता॒मिह त्वा॑ स॒जूर्ऋ॒तुभि॑: स॒जूर्वि॒धाभि॑: स॒जूर्विश्वै॑र्दे॒वै: स॒जू-
र्दे॒वैर्व॑यो॒ना॒धैर॒ग्नये॑ त्वा वैश्वान॒राय॒ाश्विना॑ध्व॒र्यू सा॑दयता॒मिह
त्वा॑ ॥ ७ ॥

विश्वेदेवा ऋषय । मन्त्रोक्ता वस्वादयो देवता । (१) भुरिक् कृतिः । धैवतः ।
(२) स्वराट् पंक्ति । (३) निचृदाकृतिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (ऋतुभिः सजूः) संवत्सर के घटक ऋतुओं के समान राष्ट्र के घटक या राजसभा के बनाने वाले सदस्यों, राज्य-कर्त्ता नेताओं के साथ (सजूः) समान रूप से प्रीतिपूर्वक हो । तू (विधाभिः) जल जिस प्रकार प्राणों और जीवित शरीर के निर्माता एवं प्राण प्रद हैं उसी प्रकार राष्ट्र शरीर के विधाता आप्त पुरुषों के साथ (सजूः) समान रूप से प्रीति युक्त होकर (देवैः सजूः) दानशील और विजिगीषु वीर पुरुषों से प्रेम युक्त हो और (वयोनाधैः) जीवन को देह के साथ बांधने वाले प्राणों के समान राष्ट्र में जीवन, जागृति एवं विज्ञानों द्वारा सब को जीवनप्रद अन्नों द्वारा व्यवस्थाओं में बांधने वाले (देवैः) विद्वानों के साथ (सजूः) प्रीतियुक्त बर्ताव करने वाला हो । इसी प्रकार (वसुभिः सजूः, रुद्रैः सजूः, आदित्यैः सजूः, विश्वेदेवैः सजूः) तू वसु, रुद्र, आदित्य और विश्वेदेव इन सब विद्वान् शत्रुतापक प्रजा के पालक, व्यवस्थापक, आदान प्रतिग्रह करने वाले ज्ञानी तेजस्वी पुरुषों के साथ प्रेम युक्त होकर रह ।

(अश्विनौ) विद्याओं में व्यापक (अध्वर्यू) राष्ट्र यज्ञ के सम्पादक विद्वान् (त्वा) तुझको (इह) इस राष्ट्राधिकार के पदपर (सादयताम्) स्थापित करें ।

स्त्री और पुरुष के पक्ष में—हे स्त्री और हे पुरुष ! तुम ऋतुओं, प्राणों, विद्वानों, जीवनोपयोगी पदार्थों से युक्त हो । (अश्विना अध्वर्यू) प्रजा तन्तु के इच्छुक माता पिता दोनों तुझको (वैश्वानराय अग्नये) सर्व हितकारी अग्नि, अग्रणी नेता पद के लिये (इह त्वा सादताम्) सद्गृहस्थ में स्थापित करें । इसी प्रकार तू वसु, रुद्र और आदित्य नामक विद्वान् जितेन्द्रिय पुरुषों के साथ (सजूः) प्रेमपूर्वक सत्संग लाभ कर ॥ शत० ८ । २ । २ । ८-९ ॥

प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्म ऽउर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकय । अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात्पाहि दिवो वृष्टिमेरय ॥ ८ ॥

पूर्वार्धस्य प्राणा उत्तरार्धस्य च आपो देवता । निचृदति जगती । निषाद ॥

भा०—हे प्रभो ! (मे प्राणं पाहि) मुझ प्रजागण के प्राण की रक्षा कर । (मे अपान पाहि) मेरे अपान की रक्षा कर । (मे व्यान पाहि) मेरे शरीर के विविध सधियों में चलने वाले व्यान की रक्षा कर । (मे चक्षु) मेरे चक्षु को (उर्व्या) विशाल, विस्तृत दर्शन शक्ति से (विभाहि) प्रकाशित कर । (मे श्रोत्रम्) मेरे श्रोत्र को (श्लोकय) श्रवण समर्थ कर । (अप पिन्व) जलों के समान प्राणों को सेचन कर, उनको पुष्ट कर । (ओषधी) ओषधियों को (जिन्व) प्राप्त कर, (द्विपात्) दो पांव के मनुष्यों की रक्षा कर । (चतुष्पात् पाहि) चौपायों की रक्षा कर । (दिव) द्यौलोक से (वृष्टिम् ईरय) वृष्टि को प्रेरित कर । अथवा जैसे आकाश से वृष्टि होती है उसी प्रकार तेरी तरफ से सुखों की वर्षा हो ।

८—दम्पती देवते । द० ।

स्त्री के पक्ष में—हे पते ! तू (उर्व्या) विशाल शक्ति से मेरे प्राण, अपान और व्यान की रक्षा कर । चक्षु को प्रकाशित कर । श्रोत्र को उत्तम शास्त्र-श्रवण मे युक्त कर । प्राणों को पुष्ट कर । ओषधियों को प्राप्त कर । भृत्य और चौपायों की रक्षा कर । सूर्य जैसे पृथ्वी पर वर्षा करता है ऐसे तू मुझ अपनी भूमि रूप स्त्री पर सन्तानादि के निमित्त वीर्यादि का प्रदान कर ॥ शत० ८ । २ । ३ । ३ ॥

[1]मूर्धा वयः प्रजापतिश्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दो विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो विश्वकर्मा वयः परमेष्ठी छन्दो वस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णिर्वयो विशालं छन्दः [2]पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयो ऽनाधृष्टं छन्द सिꣳहो वयश्छदिश्छन्दः पष्ठवाड्वयो बृहती छन्द ऽऊक्षा वयः ककुप् छन्द ऽऋषभो वयः सतोबृहती छन्दः ॥ ९ ॥

[3]अनड्वान्वयः [4]पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्दस्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप् छन्दो दित्यवाड्वयो विराट् छन्दः पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वयः उष्णिक् छन्दस्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप् छन्दः ॥ १० ॥

लिंगोक्ता. प्रजापत्यादयो देवताः । (१) निचृद ब्राह्मी पक्तिः । (२) ब्राह्मी पक्ति. । पन्चम ॥ (३) स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यम ।

भा०—१. (मूर्धा) 'मूर्धा', शिर (वयः) बल, पद या स्थिति है तो (प्रजापति· छन्द.) 'प्रजापति' उसका 'छन्द' अर्थात् स्वरूप है । अर्थात् शिर जिस प्रकार शरीर में सब के ऊपर विराजमान है उसी प्रकार समाज में जो सबसे ऊंचे पद पर स्थित हो उसका कर्त्तव्य प्रजापति का है । वह प्रजापति के समान समस्त प्रजाओं का पालन करे ।

९—'वस्तो वयो विवल छन्दः' इति दयानन्दसम्मत पाठः ।

२. (क्षत्रं वयः मयन्दं छन्दः) 'क्षत्र' वय है और 'मयन्द' छन्द है। अर्थात् जो 'क्षत्र' या वीर्यवान् पद पर स्थित है उसका कर्त्तव्य प्रजा को सुख प्रदान करना है।

३. (विष्टम्भ· वयः अधिपति· छन्दः) 'विष्टम्भ' वय है और अधिपति छन्द है। अर्थात् जो विविध प्रजाओं को विविध प्रकारों और उपायों से स्तम्भन कर सके, पाल सके वे वैश्य या जो शत्रुओं को विविध दिशाओं से थाम या रोकने में समर्थ हो उसका कर्त्तव्य 'अधिपति' होने का है। वह सबका अधिपति हो कर रहे।

४. (विश्वकर्मा वय परमेष्ठी छन्दः) विश्वकर्मा 'वय' है और 'परमेष्ठी' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष 'विश्वकर्मा' राज्य के समस्त कार्यों के प्रवर्त्तक श्रम विभाग के मुख्य पदपर स्थित हैं वे 'परमेष्ठी' परम उच्च पद पर स्थित होने योग्य हैं।

५. (वस्त वय· विवलं छन्द) वस्त 'वय.' है और 'विवल' छन्द है। अर्थात् सबको आच्छादित करने वाले पदाधिकारी का कर्त्तव्य है कि वह विविध प्रकार से संवरण, शरीरगोपन के पदार्थों को उपस्थित करे।

६. (वृष्णि वय. विशालं छन्द.) वृष्णि 'वय' है और 'विशाल' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष बलवान् सब सुखों को प्रदान करने में समर्थ है उसका कर्त्तव्य है कि वह विविध ऐश्वर्यों से शोभायमान हो। और अन्यों को भी विविध ऐश्वर्य प्रदान करे।

७. (पुरुष. वयः तन्द्र छन्द.) 'पुरुष' वय है 'तन्द्र' छन्द है। अर्थात् जिसमें पुरुष होने का सामर्थ्य है उसका 'तन्द्र' अर्थात् तन्त्र कुटुम्ब को भरण पोषण करने का कर्त्तव्य है।

८. (व्याघ्रं वयः अनाधृष्टं छन्द.) 'व्याघ्र' वय है और 'अनाधृष्ट' छन्द है। जो पुरुष व्याघ्र के समान शूरवीर है उसका कर्त्तव्य है कि वह शत्रु से कभी पराजित न हो।

९. (सिंहः वयः छदिः छन्दः) 'सिंह' वय है और 'छदि' छन्द है। अर्थात् सिंह के समान बडे २ बलवान् शत्रुओं को भी जो हनन करने में समर्थ है वह प्रजा पर 'छदि' अर्थात् गृह के छत के समान सब को आश्रय देने वाला होकर अपनी छत्र-छाया में रक्खे।

१०. (पृष्ठवाड् वयः बृहती छन्दः) 'पृष्ठ वाड्' वय है और 'बृहती' छन्द है। अर्थात् जो पीठ से बोझा लादने वाले पशु के समान राष्ट्र के कार्य-भार को वहन करने में समर्थ है वह 'बृहती' पृथ्वी के समान बड़े कार्य भार को अपने ऊपर ले।

११. (उक्षा वयः ककुप् छन्दः) 'उक्षा' वय है और 'ककुप्' छन्द है। वीर्य सेचन में समर्थ वृषभ के समान वीर्यवान् पुरुष का कर्त्तव्य 'ककुप्' अर्थात् अपने अधीन प्रजाओं को आच्छादन करना और सब से अपने सरल सत्य व्यवहार से वर्त्तना है।

१२. (ऋषभोः वयः सतोबृहती छन्दः) 'ऋषभ' वय है और 'सतो-बृहती' छन्द है। अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञानमान से प्रकाशित है उसका कर्त्तव्य 'सतः-बृहती' अर्थात् प्राप्त हुए बड़े २ कार्यों का उठाना है।

भा०—१३. (अनड्वान् वयः पंक्तिः छन्दः) अनड्वान् वय है और पंक्ति छन्द है। अर्थात् शकट वहन करने में समर्थ बैल के समान बलवान् पुरुष अपने वीर्य को परिपक्व रक्खे और गृहस्थ-के भार को उठाये।

१४. (धेनुर्वयः जगती छन्दः) 'धेनु' वय है 'जगती' छन्द है। अर्थात् जो जीव दुधार गौ के समान दूसरों का पालन व पोषण करने में समर्थ हैं वे जगत् को पालन करें।

१५. (त्र्यवि. वय. त्रिष्टुप् छन्द) 'त्र्यवि' वय है और त्रिष्टुप् छन्द है। अर्थात् तीनों वेदों की रक्षा करने में समर्थ पुरुष कर्म उपासना और ज्ञान तीनो से स्तुति करे।

१६- (दित्यवाड् वय विराड् छन्दः) 'दित्यवाट्' वय है और 'विराट्' छन्द है। आदित्य के समान तेज को धारण करने वाला पुरुष विविध ऐश्वर्यों और ज्ञानों से स्वयं प्रकाशित हो और अन्यों को प्रकाशित करें।

१७. (पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दः) 'पञ्चावि' वय है, 'गायत्री' छन्द है। अर्थात् जो पुरुष पाचों प्राण पाचों इन्द्रियों पर वश करने में समर्थ है वह पुरुष अपने प्राणों की रक्षा करने में सफल हो।

१८. (त्रिवत्स वयः उष्णिक् छन्द) 'त्रिवत्स' वय है और 'उष्णिक्' छन्द है अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान में, या वेदत्रयी में ही निवास करने वाला अथवा तृतीयाश्रमी पुरुष अपने समस्त पापों का दाह करने में सफल हो।

१९. तुर्यवाट् वयः अनुष्टुप् छन्दः) 'तुर्यवाट्' वय है और 'अनुष्टुप्' छन्द है। अर्थात् तुर्य अर्थात् तुरीय चतुर्थ आश्रयवासी पुरुष का होकर पुरुष (अनुष्टुप्) निरन्तर परमेश्वर की स्तुति करे।

(लोकं० ता० इन्द्रम्०) ये १२ वें अध्याय के ५४, ५५, ५२ इन तीनों मन्त्रों की प्रतीक मात्र प्रायः रक्खी मिलती हैं।

प्रकारान्तर से प्रजापति, मयन्द, अधिपति, परमेष्ठी, विलद, विशाल, तन्द, अनाधृष्ट, छदि, बृहती, ककुप्, सतोबृहती, पंक्ति, जगती, त्रिष्टुप्, विराट्, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप् ये १९ छन्द हैं ये भी प्रजापति के ही १९ स्वरूप हैं। और मूर्धा, क्षत्र, विष्टम्भ, विश्वकर्मा ये चार वर्णभेद से प्रजापति के नाम हैं। वस्त, वृष्णि, सिंह और व्याघ्र ये चार पशु नाम हैं। पुरुष पांचवां। पष्ठवाट्, उक्षा, ऋषभ, अनड्वान् ये ४ पुमान् गौ के स्वरूप हैं। धेनु, गौ का रूप है। ऋषि, दित्यवाट्, पञ्चावि, त्रिवत्स तुर्यवाट् ये अवस्था भेद से बछड़े के नाम हैं। परन्तु श्लेष से मनुष्यों की ये (छन्द) प्रवृत्ति और प्रगति भेद से १९ प्रकार किये हैं जिनको १९ पदों या अवस्थाओं में १९ प्रकार के मानवगण करते

हैं यह वेद ने बतलाया। दूसरे प्रजापति आदि १६ छन्दों के मूर्धा आदि १६ नाम या स्वरूप भी समझने चाहियें। १६ प्रकार के 'वयस्' और १६ प्रकार के 'छन्द' दोनों ही प्रजापति के स्वरूप हैं। एक एक छन्द से क्रम से प्रजापति अर्थात् प्रजा के पालन करने वाला पुरुष एक २ 'वयस्' अर्थात् विशेष २ पद, अधिकार प्राप्त करता है। अर्थात् विशेष २ पद को प्राप्त कर पुरुष विशेष २ कर्म करें॥ शत० ८। २।। ३। १०–१४॥

इन्द्राग्नी ऽअव्यथमानामिष्टकां दृꣳहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवी ऽअन्तरिक्षं च विबाधसे॥ ११॥

विश्वकर्मा ऋषिः। इन्द्राग्नी देवता। भुरिगनुष्टुप्। गाधारः॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, सेनापति और राजा या राजा और पुरोहित! (युवम्) तुम दोनों (अव्यथमानाम्) पीड़ा को प्राप्त न होती हुई (इष्टकाम्) ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली प्रजा को (दृंहतम्) दृढ़ करो। हे प्रजे! तू (पृष्ठेन) अपनी पृष्ठ से (द्यावापृथिवी) द्यौ, पृथिवी और (अन्तरिक्षं च) अन्तरिक्ष तीनों लोकों को, (विबाधसे) प्राप्त होती है। सब स्थानों के भोग्य पदार्थों को प्राप्त होती है॥ शत० ८। ३। १। ८॥

अथवा—हे इन्द्र और अग्नि के समान तेजस्वी स्त्री पुरुषो! तुम दोनों अपीड़ित, इष्ट बुद्धि को प्राप्त होकर गृहस्थाश्रम को दृढ़ करो। वह गृहस्थाश्रम आकाश, पृथिवी, और अन्तरिक्ष; माता पिता और पति तीनों की सेवा करती है।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीमन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं दृꣳहान्तरिक्षं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। वायुष्ट्वाभि-

११—२ वाधृ विलोडने भ्वादिः। अथ तृतीया चितिः।

पातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १२ ॥

विश्वकर्मा ऋषिः । वायुर्देवता । विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे राजशक्ते ! (व्यचस्वतीम्) विविध रूपों से विस्तृत और (प्रथस्वतीम्) विस्तृत ऐश्वर्य वाली (त्वा) तुझको (विश्वकर्मा) समस्त उत्तम कार्यों के करने हारा पुरुष राजा (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) अन्तरिक्ष के समान सब के बीच पूजनीय पुरुष के पृष्ठ पर अर्थात् उसके बल या आश्रय पर स्थापित करे । तू स्वयं (अन्तरिक्षम्) अपने भीतर विद्यमान पूज्य पुरुष या अन्तरिक्ष के समान प्रजा के रक्षक राजा को (यच्छ) बल प्रदान कर । (अन्तरिक्षं इह) उसी 'अन्तरिक्ष' नाम राजा को रखकर, बदा (अन्तरिक्षं) उस अन्तरिक्ष पदपर विद्यमान सर्वरक्षक राजा को (मा हिंसीः) मत विनाश कर (विश्वस्मै) सब के (प्राणाय) प्राण, (अपानाय) अपान, (व्यानाय) व्यान, (उदानाय) उदान (प्रतिष्ठात्रे) प्रतिष्ठा और (चरित्राय) उत्तम चरित्र या आश्रय की रक्षा के लिये (वायु) वीर्यवान् वायु के समान बलशाली पुरुष (मह्या स्वस्त्या) बड़े भारी कल्याणकारी सम्पत्ति या शक्ति से (शतमेन) अति शान्तिदायक (छर्दिषा) तेज और पराक्रम से (त्वा अभि पातु) तेरी रक्षा करे । (तया देवतया) उस देवस्वरूप पुरुष के साथ तू (आङ्गिरस्वत्) अग्नि के समान तेजस्विनी होकर (ध्रुवा सीद) स्थिर होकर रह । शत० ८ । ३ । १ । ९–१० ॥

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्री (विश्वकर्मा) तेरा पति (व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं) विविध गुणों से प्रकाशित और प्रसिद्ध कीर्ति वाली तुझको अन्तरिक्ष के पृष्ठ अर्थात् हृदय में स्थापित करे । तू उसको अपने आप को सौंप, उसको बढ़ा और उसको पीड़ा मत दे । सबके प्राण, अपान, व्यान, उदान और सच्चरित्र की रक्षा के लिये वायु के समान प्राणेश्वर पति तेरी रक्षा करे । तू उस हृदय-देवता से तेजस्विनी होकर रह ॥

राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा । दिक् सम्राडसि प्रतीची दिक् स्वराडुदीची दिगाधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥ १३ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः । दिशो देवता. । विराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(प्राची दिग्) प्राची पूर्वदिशा जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से देदीप्यमान होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू (राज्ञी असि) अपने तेज से प्रकाशमान राजा की शक्ति है । तू (दक्षिणा दिक्) दक्षिण दिशा से जिस प्रकार सूर्य के विशेष प्रखर ताप और तीव्र प्रकाश से विशेष तेजस्विनी होती है उसी प्रकार तू भी (विराड् असि) राजा के विशेष तेज से प्रकाशमान हो । (प्रतीची दिक् सम्राट् असि) पूर्व से पश्चिम को जाने वाले सूर्य से जिस प्रकार उत्तरोत्तर पश्चिम दिशा प्रकाशमान होती जाती है उसी प्रकार तू भी 'सम्राट्' सब प्रकार के ऐश्वर्यों से उत्तरोत्तर तेजस्विनी हो । (उदीची दिक् स्वराड् असि) उत्तर दिशा जिस प्रकार ध्रुवीय प्रकाश से या उत्तरायण गत सूर्य से स्वतः प्रकाशमान होती है उसी प्रकार तू राजशक्ति भी स्वराट् अर्थात् स्वयं अपने स्वरूप से तेजस्विनी हो । (बृहती दिक् अधिपत्नी असि) बृहती दिशा ऊपर की जिस प्रकार मध्याह्न काल के सूर्य से प्रकाशित और सब पर विराजमान हो उसी प्रकार राजशक्ति सब पर अधिकार करके सबकी पालन करने वाली हो ॥ मैत्रा० ८ । ३ । १ । १४ ॥

स्त्री के पक्ष में—स्त्री भी विविध गुणों से विराट्, सुख में विद्यमान होने से सम्राट्, स्वयं तेजस्विनी होने से स्वराट्, गृहपत्नी होने से अधिपत्नी और रानी हो । ये पांच पदवी पांच दिशाओं के समान तुझे प्राप्त हों ।

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् । विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ । वायुष्टेऽधिपतिस्तयां देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ १५ ॥

विश्वेदेवा ऋषय । वायुर्देवता । स्वराड् ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(विश्वकर्मा) प्रजापालक राजा (अन्तरिक्षस्य पृष्ठे) समस्त प्रजा के पूज्य पुरुष के आधार पर (ज्योतिष्मतीम् त्वा) ज्योति अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी पुरुषों से युक्त तुझको (सादयतु) स्थापित करे। तू (विश्वस्मै) सब को (प्राणाय अपानाय व्यानाय) शरीर में प्राण, अपान और व्यान के समान राष्ट्र के सब प्रकार के बल सम्पादन के लिये (ज्योति॰ यच्छ) ज्योति को प्रदान कर। (वायु॰ ते अधिपति॰) शरीर में जिस प्रकार प्राण समस्त शरीर की चेतना का स्वामी है उसी प्रकार वायु के समान गतु रूप वृत्तों को उखाड़ फेंकने में समर्थ, बलवान् पुरुष तुझ राजशक्ति का (अधिपति) अधिपति है। तू (तया देवतया) इस देवस्वरूप अधिपति का (आंगिरस्वत्) तेजस्विनी होकर (ध्रुवा सीद) अब स्थिर होकर रह। शत० ८। ३। २। ३। ४॥

स्त्री के पक्ष में—विश्वकर्मा तेरा पति, जलों के ऊपर सूर्य प्रभा के समान तुझ को अपने हृदय में प्राणादि की उन्नति के लिये स्थापित करता है। तू सब को ज्योति प्रदान कर। प्राण के समान प्रिय पति तेरा अधिपति है। तू उसके संग स्थिर होकर रह।

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू ऽऋग्नेरन्त श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधय: कल्पन्तामग्नय: पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सवंता:। ये ऽअग्नय: समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे वार्षिकावृतू ऽआभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव ऽदेवा अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १५ ॥

इषश्चोर्जश्च शारदावृतू ऽऋग्नेरन्त श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावा-पृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधय: कल्पन्तामग्नय पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सवंता:। ये ऽअग्नय: समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे शारदावृतू ऽआभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा ऽआभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ १६ ॥

विश्वेदेवाः ऋषय॰ । ऋतवो देवता। स्वराड् उत्कृति । षड्ज॰ ॥

भा०—(नभः नभस्य. च) नभस् और नभस्य ये दोनों (वार्षिकौ ऋतू) वर्षा ऋतु के भाग हैं। (अग्नेः० सीदतम्) इत्यादि अ० १२। २५ ॥

भा०—(इष च ऊर्जः च शारदौ ऋतू) इष और ऊर्ज ये दोनों शरद् ऋतु के दो मास हैं। (अग्ने सीदतम् इत्यादि) देखो अ० १२।२५॥ शत० ८। ३। २। ५–१३ ॥

आयुर्मे पाहि प्राणं मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि चक्षुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ ॥ १७ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! प्रभो ! हे स्वामिन् ! (मे आयुः पाहि) मेरी आयु की रक्षा कर। (मे प्राणं प्राहि) मेरे प्राण का पालन कर। (मे अपानं पाहि) मेरे अपान की रक्षा कर। (मे व्यानं पाहि) मेरे व्यान की रक्षा कर। (मे चक्षु पाहि) मेरी आखों का पालन कर। (श्रोत्रं मे पाहि) मेरे कानों का पालन कर। (मे वाचं पिन्व) मेरी वाणी को तृप्त कर। (मे मनः जिन्व । मेरे मन को प्रसन्न कर। (मे आत्मानं पाहि) मेरे आत्मा या देह की रक्षा कर। (मे) मुझे (ज्योति) ज्ञान ज्योति का (यच्छ) प्रदान कर ॥ शत० ८। ३। २। १४ : १५ ॥

मा च्छन्दः प्रमा च्छन्दः प्रतिमा च्छन्दोऽअस्रीवयच्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दऽउष्णिक् छन्दो बृहती छन्दोऽनुष्टुप् छन्दो विराट् छन्दो गायत्री छन्दस्त्रिष्टुप् छन्दो जगती छन्द. ॥१८॥ पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षञ्छन्दो द्यौश्छन्द. समा श्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो वाक् छन्दो मनश्छन्दः । कृषिश्छन्दो हिरण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजाछन्दोऽश्वश्छन्दः ॥ १९ ॥

विश्वेदेवा देवता. । छन्दासि देवताः । भुरिगति जगती । निषाद ।

भा०—(मा) ज्ञान कराने वाली, यथार्थ प्रज्ञा (प्रभा) उत्कृष्ट

ज्ञान कराने वाली प्रमाणवती बुद्धि (प्रतिमा) प्रत्येक पक्ष अर्थ का मान करने वाली बुद्धि, (अस्रीवय·) कामना योग्य अन्न (पंक्ति) पञ्च अवयवों से युक्त योग अथवा परिपक्व शक्ति । (उष्णिक्) उत्तम (बृहती) बड़ी शक्ति या प्रकृति, (अनुष्टुप्) अनुकूल स्तुति (विराट्) विविध पदार्थ विज्ञान, (गायत्री) स्तुतिकर्त्ता ज्ञानी को रक्षा करने वाली शक्ति (त्रिष्टुप्) विविध सुखों की वर्णन करने वाली विद्या (जगती) सब जगत् व्यापनी शक्ति ये सभी (छन्द·) सुख देने वाले साधन और बल के स्थान हैं ।

इसी प्रकार—(पृथिवी) पृथिवी और (द्यौः) द्यौ, आकाश, (समा) वर्ष, (नक्षत्राणि) नक्षत्र, (वाक्) वाणी, (मन) मन, (कृषि) कृषि, (हिरण्यम्) सुवर्ण, (गौः) गौ आदि पशु (अजा) अजा आदि पशु (अश्व) अश्व आदि एक खुर के पशु ये सब भी (छन्द) शक्ति के स्थान, कार्यों के साधन करने में सहायक, अथवा मानव प्रजा को अपने भीतर आच्छादित या सुरक्षित रखते हैं । शत० २ । ३ । ३ । १-१२ ॥

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता दित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥ २० ॥

विश्वेदेवा ऋषय । अग्न्यादयो देवता । भुरिग् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(अग्निः) अग्नि, (वात·) वात, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमा) चन्द्रमा, (वसव·) आठ वसु, (रुद्रा) ११ रुद्र, प्राण, (आदित्याः) १२ आदित्य, मास, (मरुत·) मरुत् गण, विद्वान्गण (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवगण समस्त दिव्य पदार्थ, (बृहस्पतिः) बृहस्पति, ब्रह्माण्ड और वेद वाणी का पालक (इन्द्र·) इन्द्र, ईश्वर और (वरुण) वरुण ये सब (देवता) देवता अर्थात् दिव्य शक्तियां हैं, राष्ट्र में ये ही सब अधिकारी लोग देवता अर्थात् राजशक्ति के अंश है । ब्रह्माण्ड में ये ही परमेश्वरी शक्ति के स्वरूप हैं ॥ शत० ८ । ३ । ३ । १-१२ ॥

मूर्धासि राड् ध्रुवासि ध्रुवाणां ध्रुवमसि धरुणी ।
दायुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥ २१ ॥

विश्वेदेवा ऋषय । प्राणा विदुषी देवता । निचृद् अनुष्टुप । ऋषभ ॥

भा०—हे राजशक्ते ! तू (मूर्धा वा राट् असि) पौ या सूर्य के समान सब से उच्च शिरोभाग पर स्थित है। तू 'राट्' अर्थात् सूर्य के समान ही तेजस्विनी है। (ध्रुवा धरुणा असि) ध्रुवा दिशा जिस प्रकार सब का आश्रय है उसी प्रकार तू भी स्थिर होकर राष्ट्र को धारण करने वाली है। (धर्त्री धरणी असि) तू समस्त प्रजा को धारण करने वाली और धरणी भूमि के समान सबका आधार है। इसी प्रकार घर में स्त्री सब के ऊपर सूर्य-प्रभा के समान गुणों से प्रकाशित, आश्रयस्तम्भ के समान स्थिर और पृथ्वी के समान सब गृहस्थ का धारण करने वाली है तुझको मैं (आयुषे) आयु, जीवनवृद्धि के लिये (वर्चसे) तेज की वृद्धि के लिये । कृष्यै) खेती, अन्नादि की उत्पत्ति के लिये और (क्षेत्राय) प्रजा की सुख वृद्धि के लिये (त्वा ४) तुझ को स्वीकार करता हूं ॥ शत० ८ । ३ । ४ । १-८ ॥

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री ।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ २२ ॥

विश्वेदेवा ऋषयः । विदुषी देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे राज्य शक्ते ! तू (मन्त्री) समस्त राष्ट्र को नियम में रखने वाली (राष्ट्र) राजवैभव से प्रकाशमान होने से, तू (यन्त्री असि) यन्त्री, नियमकारिणी शक्ति कहाती है। तू (यमनी) नियम व्यवस्था करने वाली और (धरित्री) प्रजा को धारण करने वाली पृथ्वी के समान (ध्रुवा असि) ध्रुव, स्थिर है। (त्वा) तुझ राज-शक्ति को पृथ्वी के समान जान कर मैं (इषे) अन्न सम्पदा की वृद्धि के लिये (ऊर्जे) पराक्रम के लिये, (रय्यै) प्राणशक्ति या ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये और (पोषाय) पुष्टि

आदि समृद्धि के लिये या शरीरों की पुष्टि के लिये स्वीकार करता हूं ॥ शत० ८ । ३ । ४ । १० ॥

आशुस्त्रिवृद्भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धृरुणोऽएकविꣳशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशोऽभीवर्त्तः सविꣳशो वचो द्वाविꣳशः सम्भरणस्त्रयोविꣳशो योनिश्चतुर्विꣳशः गर्भाः पञ्चविꣳश ऽओजःक्षिणवःऋतुरेकात्रिꣳशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिꣳशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशो नाकः षट्त्रिꣳशो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिꣳशो धर्त्रं चतुष्टोमः ॥ २३ ॥

ऋषयो ऋषयः । मेधाविनो देवता । भुरिग् विकृतिः । मध्यम ॥

भा०—१. (आशु त्रिवृत्) आशु, शीघ्रकारी, वायु के समान बलवान् पुरुष वायु के समान तीनों लोकों में व्याप्त और तीनों बलों से युक्त होता है । और जिस प्रकार (त्रिवृत्) शीत, उष्ण और शीतोष्ण तीन प्रकार की ऋतुओं से युक्त सवत्सर होता है उसी प्रकार प्रजापति राजा भी शीत, उष्ण और सम इन तीन स्वभाव वाला होता है उसको 'आशु' कहते हैं । अथवा जिसके अधीन तीन शक्तियां हों या जिसके अमात्य तीन हों वह अपने नियमों को शीघ्र कर लेने वाला होने से 'आशु' नाम प्रजापति कहाता है । वह प्राण वायु के समान त्रिवृत्-वीर्य होता है ।

२. (भान्तः पञ्चदश) १५ गुण वीर्य या वीर सहायक पुरुषों से युक्त राजा 'भान्त' नामक है । अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा प्रतिपक्ष में बढ़ती १५ कलाओं से युक्त होता है उसी प्रकार १५ राज्यांगों से युक्त प्रजापालक राजा १५ गुण-वीर्य होने से चन्द्रमा के समान 'भान्त' कहाता है ।

३. (व्योमा सप्तदश) जिस प्रकार सवत्सर में १५ मास और ५ ऋतु होने से १७ विभाग होते हैं, इसी प्रकार वह प्रजापालक राजा

२३—अतः पर चतुर्थी चिति. । मेधो विनो देवता । द० ।

जो इसी प्रकार अपने राज्य के १७ विभाग बना कर रखता है वह (व्योमा) विशेष रक्षाकारिणी शक्ति से सम्पन्न होने से 'व्योम' प्रजापति कहाता है।

४. (धरुण. एकविंशः) जिस प्रकार सूर्य १२ मास, ५ ऋतु, तीन लोक, इन २१ वीर्यों सहित सबका आश्रय होकर अकेला विराजता है और 'धरुण' कहाता है। उसी प्रकार जो प्रजा पालक राजा अपने राष्ट्र में २१ वीर्यों या प्रबल विभागों या वीर सहायक अधिकारियों सहित प्रजा का पालन करता, सबका आश्रय रहता है वह भी 'एकविंश धरुण' कहाता है।

५. (प्रतूर्त्तिः अष्टादशः) जिस प्रकार संवत्सर रूप प्रजापति के १२ मास, ६ ऋतु या १२ मास, ५ ऋतु और १८ वां स्वयं होकर समस्त जन्तुओं को खूब बढ़ाता है उसी प्रकार जो राजा स्वयं अपने राज्य के १८ विभाग करके प्रजाओं की वृद्धि और उनको हृष्ट पुष्ट करता है वह 'प्रतूर्त्ति' कहाता है।

६. (तपः नवदशः) जिस प्रकार १२ मास, ६ ऋतु और आप स्वयं मिलकर १९ वां होकर समस्त प्राणियों को संतप्त करने से आदित्य रूप संवत्सर 'तप.' है उसी प्रकार राजा भी १८ विभागों के राज्य पर स्वयं १९ वां अधिपति होकर शासन करता हुआ, शत्रुओं को संतापित करे, वह भी 'तप' कहाता है।

७. (अभीवर्त· सविंशः) जिस प्रकार १२ मास, ७ ऋतुओं से आदित्य रूप संवत्सर समस्त प्राणियों को पुन· प्राप्त होने से 'अभिवर्त्त' कहाता है उसी प्रकार राज्य के १९ विभागाध्यक्षों पर स्वयं २० वां होकर शासन करने वाला प्रजापति राजा उस सूर्य के समान समस्त राष्ट्र में व्यापक प्रभाव वाला होकर 'अभीवर्त्त' पद को प्राप्त करता है।

८ (वर्चः द्वाविंशः) जिस प्रकार १२ मास, ७ ऋतु, दिन और रात्रि उनका प्रवर्त्तक स्वयं २२ वां आदित्य रूप संवत्सर वर्चस्वी होने से 'वर्चः'

कहाता है, उसी प्रकार जो राजा १२ मास, ७ ऋतु, दिन और रात्रि के लक्षणों से युक्त २१ विभागाध्यक्षों पर स्वयं २२ वां होकर विराजता है वह भी वर्चस्वी होने से 'वर्चः' पद का भागी होता है।

९. (सम्भरणः त्रयोविंशः) जिस प्रकार १३ मास, ७ ऋतु, २ रात, दिन, इन २२ का विधाता स्वय २३ वां आदित्य रूप संवत्सर समस्त प्राणियों का भरण पोषण कर्त्ता होने से 'सम्भरण' कहाता है उसी प्रकार २२ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक २३ वां स्वय समस्त प्रजाओं का भरण पोषण करने वाला राजा 'सम्भरण' पदका अधिकारी है।

१०. (योनि. चतुर्विंश.) १२ मास, २४ अर्ध मासों से युक्त आदित्य-रूप सवत्सर समस्त प्राणियों का आश्रय होने से योनि कहाता है उसी प्रकार २४ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक राजा भी सबका आश्रय होने से 'योनि' कहाता है।

११. (गर्भो पञ्चविंश) २४ अर्ध मासो का प्रवर्त्तक स्वयं २५ वां आदित्य-रूप संवत्सर जिस प्रकार १३ वें मास का रूप धर कर समस्त अन्य ऋतुओं में अंशांशि भाव से प्रविष्ट होता है और 'गर्भ' नाम से कहाता है उसी प्रकार २४ विभागाध्यक्षों का प्रवर्त्तक राजा पृथक् स्वरूप रह कर भी सब पर अपना वश करके 'गर्भ' नाम से कहाता है।

१२. (ओजस्विणव.) २४ अर्ध मास और २ रात्रि दिन, इन २६ सों पर स्वयं २७ वां प्रवर्त्तक होकर विराजने वाला आदित्य संवत्सर ओजस्वी होने से 'ओज' कहाता है उसी प्रकार २६ अध्यक्षों का स्वयं प्रवर्त्तक २७ वां राजा ओजस्वी वज्र के समान पराक्रमी होकर 'ओज.' कहाता है।

१३. (क्रतु. एकत्रिंश) २४ अर्धमास और ६ ऋतु सब मिलकर जिस प्रकार ३० का समष्टि विभागों रूप सवत्सर आदित्य स्वयं सबका

कर्त्ता होकर 'क्रतु' कहाता है उसी प्रकार ३० विभागों का शासक राजा राज्यकर्त्ता होने से 'क्रतु' कहाता है ।

१४. (प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंश.) २४ अर्धमास, ६ ऋतु, २ दिन-रात्रि, उन का प्रवर्त्तक ३३ वां स्वयं आदित्य संवत्सर सबकी प्रतिष्ठा या स्थिति का कारण होने से 'प्रतिष्ठा' कहाता है, उसी प्रकार ३२ विभागों पर स्वयं ३३ वां प्रवर्त्तक राजा सबका प्रतिष्ठापक होने से 'प्रतिष्ठा' पद को प्राप्त होता है।

१५ (ब्रह्मस्य विष्टपं चतुस्त्रिंश.) २४ अर्धमास, सात ऋतु, २ रात दिन, इनका प्रवर्त्तक संवत्सर आदित्य जिस प्रकार स्वयं ३४ वां है और वह 'ब्रह्म का विष्टप' अर्थात् सर्वाधार सूर्य का लोक या पद इस नाम से कहाता है उसी प्रकार ३३ विभागों का प्रवर्त्तक शासक स्वयं ३४ वां होकर 'ब्रह्म का विष्टप' 'सूर्य का पद, सम्राट्' कहाता है ।

१६. (नाकः षंट्त्रिंश.) २४ अर्धमास, १२ मास इनका प्रवर्त्तक संवत्सर सब के दुःखों का नाशक होने से 'नाक' कहाता है इसी प्रकार ३६ विभागों का राजतन्त्र सुखप्रद होने से 'नाक' कहाता है ।

१७. (विवर्त्तः अष्टाचत्वारिंशः) २६ अर्धमास और २३ मास, २ अहोरात्र, ७ ऋतु इनका प्रवर्त्तक सूर्य स्वयं इनका स्वरूप होकर 'विवर्त्त' कहाता है उसी प्रकार ४८ विभागों का प्रवर्त्तक राजा समस्त प्रजाओं को विविध मार्गों में चलाने हारा होने से 'विवर्त्त' कहाता है ।

१८. (धर्त्रं चतुष्टोमः) चारों दिशाओं में अपने बल वेग से गमन करने वाले वायु के समान अपने संहारक पराक्रम से चारों दिशों का विजय करने में समर्थ अपनी राज्य प्रतिष्ठा करने वाला विजेता राजा 'धर्त्र' कहाता है । शत० ८ । ४ । १ । १-१८ ॥

वीर्यं वै स्तोमाः । ता० २ । ५ । ४ । प्राणा वै स्तोमाः । शत० ८ । १ । ३ ॥

इस आधार पर स्तोम त्रिवृद् आदि वीर्य अर्थात् अधिकारों और उनके सञ्चालक और धारक अधिकारी अध्यक्षों का वाचक हैं ।

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया ऽआधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोमः । इन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रꣳ स्पृतं पञ्चदश स्तोमः । नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रꣳ स्पृतꣳ सप्तदश स्तोमः । मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृत एकविꣳश स्तोमः ॥ २४ ॥

वसूनां भागोऽसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात् स्पृतं चतुर्विꣳश स्तोमः । आदित्यानां भागोसि मरुतामाधिपत्यं गर्भाः स्पृता. पञ्चविꣳश स्तोम. । अदित्यै भागोऽसि पूष्ण आधिपत्यमोजस्पृतं त्रिणव स्तोमः । देवस्य सवितुर्भागोऽसि बृहस्पतेराधिपत्यꣳसुर्मीचीर्दिश स्पृताश्चतुष्टोम स्तोमः ॥ २५ ॥

यज्ञानां भागोऽस्ययज्ञानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिꣳश स्तोमः । ऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतꣳ स्पृतं त्रयस्त्रिꣳश स्तोम ॥ २६ ॥

(२४) लिंगोक्ता देवताः । भुरिक् विकृतिः । मध्यम. । (२५) स्वराट् संकृतिः । गान्धार. । (२६) निचृदति जगती । निषादः ॥

भा०—१. हे विज्ञान राशे ! (अग्नेः भागः असि) तू अग्नि ज्ञानवान् पुरुष के सेवन करने योग्य है । तुझ पर (दीक्षाया.) दीक्षा, व्रतग्रहण और वाणी का (आधिपत्यम्) आधिपत्य, स्वामित्व है । इससे ही (ब्रह्म स्पृतम्) ब्रह्म अर्थात् वेद ज्ञान सुरक्षित रहता है । (त्रिवृत् स्तोमः) उपासना, ज्ञान और कर्म ये तीन प्रकार का वीर्य प्राप्त होता है ।

२. (इन्द्रस्य भाग. असि) हे क्षात्रबल ! तू (इन्द्रस्य)

ऐश्वर्यवान् या शत्रुओं के नाशकारी वीर पुरुष का (भाग· असि) सेवन करने योग्य अंश है। उस पर (विष्णोः आधिपत्यम्) व्यापक या विस्तृत सामर्थ्यवान् पुरुष का आधिपत्य या स्वामित्व है। उसके अधीन (क्षत्रं स्पृतम्) क्षात्र-बल की रक्षा होती है। (पञ्चदशः स्तोम) उसका अधिकारी बल चन्द्र के समान १५ तिथियों या कलाओं से युक्त है। या उसका पद १२ मास ३ ऋतु वाले आदित्य संवत्सर के समान है।

३. (नृचक्षसां भागः असि) हे राष्ट्र मे बसे प्रजाजन ! तुम लोग (नृचक्षसां भागः असि) प्रजाओं के कार्यों के निरीक्षक अधिकारी पुरुषों के भाग हो। तुम पर (धातुः) प्रजा का पालन करने और ऐश्वर्य या पौष्टिक अन्नादि पदार्थों से पुष्ट करने हारे 'धातृ' नामक अधिकारी का (आधिपत्यम्) स्वामित्व है। (जनित्रम् स्पृतम्) इस प्रकार प्रजाओं का उत्पन्न होना और उनके जीवन की रक्षा होती है। इसमें (सप्तदश स्तोम) इस अधिकारी के अधीन १७ अन्य अधिकारी जन हों।

४. (मित्रस्य भागः असि) मित्र सर्व प्रजा के प्रति स्नेही, निष्पक्षपात, न्यायकारी, सूर्य के समान तेजस्वी, पुरुष का यह भाग है। इस पर (वरुणस्य आधिपत्यम्) वरुण दुष्टों को वारण करने वाले दमनकर्त्ता अधिकारी का अधिकार है। (दिवः वृष्टिः) आकाश से जैसे जल वृष्टि सब को समान रूप से प्राप्त होता है और (वात·) वायु जिस प्रकार सब को समान रूप से प्राप्त है उसी प्रकार सर्व साधारण के अन्न जल वायु के समान जन्म सिद्ध अधिकार भी (स्पृतः) सुरक्षित हों। (एकविंशः स्तोम) उसमे २१ अधिकारीगण हों ॥ २४ ॥

५. (वसूनां भागः असि) हे पशु सम्पत्ते ! तू राष्ट्र में बसने वालों का सेवन करने योग्य पदार्थ है। तुझ पर (रुद्राणाम् आधिपत्यम्) तेरे रोधन करने वाले रुद्र, गोपाल लोगों का स्वामित्व हैं। इस प्रकार (चतु-

प्राव् स्पृतम्) चौपायों की रक्षा हो । (चतुर्विंशः स्तोमः) इसमें २४ अधिकारीगण नियुक्त हों ।

६. (आदित्यानां भागः असि) हे गर्भगत जीवो ! तुम आदित्यों या तेजस्वी पुरुषों के भाग हो । तुम पर (मरुताम् आधिपत्यम्) शरीरवर्त्ती प्राणों का स्वामित्व है । इस प्रकार प्रजाओं के गर्भ सुरक्षित होते हैं । (पञ्चविंश. स्तोम.) उसमें २५ अधिकारीगण हैं ।

७. हे ओज ! (आदित्यै भाग· असि) तू अखण्ड राजशक्ति का भाग है । तुझ पर (पूष्णा आधिपत्यम्) राष्ट्र को पुष्ट करने वाले पुरुष का स्वामित्व है । इस पर राष्ट्र का (ओजः स्पृतम्) ओज, तेज सुरक्षित हो । (त्रिनवः स्तोम.) इसमें २७ अधिकारी गण हैं ।

८. (देवस्य सवितुः भागः असि) हे समस्त दिशाओं के सर्व प्रेरक देव ! तू राजा का भाग हो । तुझ पर (बृहस्पतेराधिपत्यम्) तुझ पर महान् राष्ट्र के पालक का स्वामित्व है । इस प्रकार (समीची दिशः) समान रूप से फैली दिशाएं (स्पृता·) सुरक्षित होती हैं । (चतुस्तोमः स्तोमः) इसमें ४ मुख्य अधिकारी होते हैं ॥ २५ ॥

९. हे प्रजाजनो ! तुम (यवाना भाग असि) पूर्व पक्ष के लोगों या शत्रुनाशक वीर भटों के भाग अर्थात् सेवन करने योग्य हो और तुम पर (अयवानाम्) सौम्य अधिकारी जो सेना में शत्रु का नाश न कर शान्ति से शासन करते हैं उनका (आधिपत्यम्) स्वामित्व है। इसमें (चतुश्चत्वारिंश. स्तोमः) ४४ अधिकारी जन होते हैं ।

१०. (ऋभूणां भागः असि) हे पञ्च भूतगण तुम सत्य से शोभा देने वा न्यायकारी पुरुषों का भाग हो । उनपर (विश्वेषा देवानाम्) समस्त विद्वानों का (आधिपत्यम्) स्वामित्व है । (भूतम् स्पृतम्) यथार्थ सत्य पदार्थ की रक्षा होती है । अथवा (ऋभूणा) तुम शिल्पि जनों का भाग हो ।

(विश्वेषां देवानाम् आधिपत्यम्) समस्त विजयी पुरुषों का उन पर स्वामित्व हो । (भूतम्) इससे समस्त उत्पादक शिल्प की रक्षा होती है । (त्रयस्त्रिंश स्तोम.) उसमें ३३ अधिकारीगण हैं ॥ ८ । ४ । २ । १-४ ॥

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू ऽअग्नेरन्त श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामन्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये ऽअग्नय समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी इमे । हैमन्तिकावृतू ऽअभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा ऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ २७ ॥

भा०—(सहः सहस्यः च) सह और सहस्य ये दोनों (हेमन्तिकौ ऋतू) हेमन्त ऋतु के भाग हैं। (अग्ने. अन्त सीदतम्०) इत्यादि व्याख्या देखो १२ । २५ ॥ शत० ८ । ४ । २ । १४ ॥

एकयास्तुवत प्रजा ऽअधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत् । तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् । पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्यन्त भूतानां पतिरधिपतिरासीत् । सप्तभिरस्तुवत सप्त ऽऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥ २८ ॥

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीत् । एकादशभिरस्तुवत ऽऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवा ऽआधिपतय आसन् । त्रयोदशभिरस्तुवत मासा ऽअसृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत् । पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत् । सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥ २९ ॥

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रे ऽआधिपत्नी आस्ताम् । एकविंशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् । त्रयोविंशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिपतिरासीत् । पञ्चविंशत्यास्तु वनाऽऽरण्याः पशवोऽ-

सृज्यन्त वायुराधिपतिरासीत् । सप्तावि॑ꣳशत्यास्तुवत द्यावापृथि-वी व्यै॑तां वसवो रुद्रा ऽआदि॒त्या ऽअ॑नुव्या॒यँस्त एवाधिपतय ऽआस॒न् ॥ ३० ॥

नवावि॑ꣳशत्यास्तुवत वन॒स्पत॑यो ऽसृज्यन्त॒ सोमो ऽधि॑पतिरास॒ीत् । एका॑त्रिꣳशतास्तुवत प्र॒जा ऽअ॑सृज्यन्त॒ यव्रा॑श्चा॒यव्र॑ाश्चाधि॑पतय आस॒न् । त्र॒य॑स्त्रिꣳशतास्तुवत भू॒तान्य॑शाम्यन् प्र॒जाप॑तिः परमे-ष्ठ्यधि॑पतिरासीत् ॥ ३१ ॥

प्रजापतिर्देवता । (२८) निचृद्विकृति । मध्यमः । (२९) १—आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः । २—ब्राह्मी जगती निषाद ॥ (३०) १—ब्राह्मी जगती । निषादः । २—ब्राह्मी पंक्तिः । पञ्चमः ॥ (३१) स्वराड् ब्राह्मी जगती । निषादः ॥

भा०—१. (एकया अस्तुवत) विद्वान् लोग उस प्रजापति परमेश्वर की एक वाणी द्वारा गुण स्तुति करते हैं । उसी परमेश्वर ने (प्रजा अधि इयन्त) प्रजाओं को उत्पन्न किया और (प्रजापति. अधि-पति. आसीत्) प्रजापति ही सदा से सबका स्वामी रहा ।

२. (तिसृभिः) शरीर में प्राण, अपान, व्यान ये तीन प्रकार की प्राणशक्तियां विद्यमान हैं । इन तीनों महान् समष्टि शक्तियों से ही (ब्रह्म असृज्यत) यह ब्रह्माण्ड भी बनाया गया है । उन तीनों के द्वारा ही उस परमेश्वर की (अस्तुवत) स्तुति करते हैं । उस ब्रह्माण्ड हिरण्य गर्भ का (ब्रह्मणस्पति अधिपतिः आसीत्) ब्रह्मणस्पति ब्रह्माण्ड का स्वामी या ब्रह्मवेद का स्वामी परमेश्वर ही अधिपति रहा ।

३. (पञ्चभिः) शरीर में जिस प्रकार पांच मुख्य प्राण हैं । उन पांच के बल से यह देह चल रहा है । उसी प्रकार इस जगत् में उसी प्रकार को पांच महान् शक्तियों के द्वारा (पञ्च भूतानि असृज्यन्त) पांच

भूत पृथ्वी, वायु, जल, तेज, आकाश को बनाया। उन शक्तियों के द्वारा ही (अस्तुवत) विद्वान् पुरुष उस परमेश्वर और शक्तियों का वर्णन करते हैं कि (भूतानां पतिः) इन पांचों महाभूतों का स्वामी ही (अधिपतिः) सबका स्वामी है।

४. (सप्तभिः) देह में २ श्रोत्र, २ चक्षु, २ नासा और १ वाणी, इन सात शिरोगत प्राणों या मांस आदि सात धातुओं से यह देह स्थिर है। उसी प्रकार विश्व में (सप्त ऋषयः) सात महान् द्रष्टा या प्रवर्त्तक ऋषि, ५ सूक्ष्म मात्राएं और महत् तत्व और अहंकार भी (असृज्यन्त) बनाई गयी हैं। विद्वान् पुरुष उस परमेश्वर की उन (सप्तभिः) सातों प्रकट महा शक्तियों द्वारा (अस्तुवत) स्तुति करते हैं। उन सबका भी वह (धाता) विधाता सर्वस्रष्टा ही अधिपति है॥ २८॥

५. (नवभिः) शरीर में नव प्राण हैं पूर्वोक्त सात शिरोगत और दो नीचे के भाग में मूलेन्द्रिय और गुदा। ये शरीर को धारण करते हैं उसी प्रकार (पितरः) विश्व में अग्नि आदि ९ पालक शक्तियां 'पितृ' रूप से प्रकट होती हैं। विद्वान् लोग (नवभिः अस्तुवत) उन नवों ही शक्तियों के द्वारा उसकी स्तुति करते हैं। उन नवों पर (अदितिः अधिपत्नी आसीत्) उस परमेश्वर की अखण्ड शक्ति पालक रहती है।

६. (एकादशभिः) शरीर में १० प्राण, ५ कर्मेन्द्रिय और ९ बुद्धीन्द्रियें हैं, ११ वां आत्मा है। विश्व में भी (ऋतवः असृज्यन्त) ११ ऋतु=प्राण रचे गये हैं। विद्वान् लोग उन (एकादशभिः अस्तुवत) ११ मुख्य प्राणों के द्वारा ही इस परमेश्वर या विधाता की स्तुति करते हैं। उनके (आर्त्तवाः) ऋतुओं के भीतर विद्यमान विशेष दिव्य शक्तियां ही (अधिपतयः) पालक (आसन्) हैं।

७. (त्रयोदशभिः) शरीर में दश प्राण, दो चरण और एक आत्मा

ये १३ प्रधान वल हैं। उसी प्रकार विश्व मे (मासाः असृज्यन्त) एक संवत्सर रूप प्रजापति के १३ मास अग रूप से वने हैं। मासों का (अधिपति. संवत्सर· आसीत्) अधिपति जिस प्रकार 'सवत्सर' है, उसी प्रकार उक्त १३ हों का भी अध्यक्ष परमेश्वर भी 'संवत्सर' नाम से कहाने योग्य है। उसकी १३ हों अंगों द्वारा (अस्तुवत) विद्वान् लोग स्तुति करते हैं।

८ (पञ्चदशभि) इस शरीर मे जिस प्रकार दश हाथ की अगुलियां, दो वाहुएं और दो टांगे और १५ वां नाभि से ऊपर का शरीर भाग है। उसी प्रकार विश्व-ब्रह्माण्ड में १५ महती शक्तियां विश्व की ३ प्रकार से रक्षा करती हैं, जैसे हाथ शरीर की। विश्व की रक्षा के लिये ही (क्षत्रम् असृज्यत) क्षत्र, शत्रु को खदेड़ने वाला और प्रजा को शत्रु द्वारा पहुंचने वाली क्षति से वचाने वाला वल वनाया गया। उक्त १५ हों शक्तियों से विद्वान् उस विधाता प्रजापति की (अस्तुवत) स्तुति करते हैं अर्थात् उसके वनाये शरीर को देख कर उसके भीतर विद्यमान वलवान् हाथों की अंगुलियों की रचना को देख कर स्वयं भी उसके अनुकरण में समाज में प्रजा के रक्षक क्षत्रिय-वल की रचना करके उसके भी परस्पर उपकारक अंग प्रत्यंग रचते हैं।

९. (ससदशभि अस्तुवत) शरीर में जिस प्रकार १० हाथ पैर के अंगुलियां, दो टांगें, दो गोडे, दो पैर और नाभि का अधोभाग ये १७ अंग हैं उसी प्रकार (इन्द्र अधिपति. आसीत्) उनका अधिपति 'इन्द्र' है। विश्व के भी जीव सर्ग में सर्वत्र ये शक्तिया विद्यमान हैं और विश्व के जीव सर्ग को चला रही हैं। विद्वान्गण उन द्वारा भी परमेश्वर विधाता की ही स्तुति करते हैं। उन शक्तियों से ही (ग्राम्या) ग्रामवासी नाना (पशव) पशु गण (असृज्यन्त) पैदा किये गये हैं। उन सब का (बृहस्पति) महान् विश्व और महती ज्ञानमयी वेदवाणी का स्वामी परमेश्वर ही (अधिपतिः) मालिक है।

१०. (नव दशाभि. अस्तुवत) दश हाथों की अंगुलियां और शरीर गत ९ प्राण ये १९ जिस प्रकार शरीर की रक्षा करते हैं और उसको चेतन बनाये रखते हैं उसी प्रकार १९ धारक और पालक बल विश्व को थामे हैं, उन १९ शक्तियों के वर्णन द्वारा भी उसी परमेश्वर की रचना कौशल की विद्वान् गण स्तुति करते हैं उन १९ अभ्यन्तर और बाह्य अंगों के समान ही (शूद्रार्यौ असृज्येताम्) शूद्र और आर्य, श्रमजीवी और स्वामी लोगों के परस्पर संघों की रचना हुई है। शूद्र बाहर के हाथों की अंगुलियों के समान और आर्य या श्रेष्ठ स्वामी गण समाज के भीतरी प्राणों के समान रहें। उनके (अहोरात्रे अधिपत्नी आस्ताम्) दिन, रात ये दो ही अधिपति या पालक हैं अर्थात् दिन, प्रकाशमान और रात्रि अन्धकारमय है। इसी प्रकार शूद्र कर्म कर ज्ञान रहित और आर्य ज्ञानवान् हैं। अहोरात्र का सम्मिलित स्वरूप उभयविध ज्ञान-कर्ममय प्रजापति ही शूद्र आर्य दोनों का पालक है।

११. (एकविंशत्या अस्तुवत) १० हाथ की और १० पैर की अंगुलियां हैं और आत्मा २१ वां हैं। उसी प्रकार विश्व में भी उत्तर और अधर लोकों की १०, १० कार्यकारिणी और पालनकारिणी शक्तियां काम कर रहीं है। उनको देखकर उन द्वारा भी विद्वान्जन प्रजापति की स्तुति करते उसकी रचना के गुणों का दर्शन करते और उसका अनुकरण करते हैं। उसके अनुकूल (एकशफाः पशवः असृज्यन्त) एक खुर वाले पशुओं की रचना हुई। अर्थात् हाथ की दशों अंगुलियों के समान १० दिशागामी १० दिशाओं में दश सेनाएं और उनके सहायतार्थ घोड़े, खच्चर आदि उपयोगी पशु पैदा किये जाते हैं। उनका (अधिपतिः वरुण आसीत्) अधिपति 'वरुण' और सर्वश्रेष्ठ सब शत्रुओं को वारक सेनापति पुरुष है।

१२. (त्रयोविंशत्या) अस्तुवत १० हाथ की और १० पैर की अंगु-

लियां दो पैर और २३ वां आत्मा देह में विद्यमान है। उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में २३ महान् शक्तियां कार्य कर रही हैं। उन २३ स्वरूपों से ही विद्वान् गण परमेश्वर की स्तुति करते हैं। (क्षुद्राः पशव. असृज्यन्त) उक्त अंगों की शक्तियों द्वारा क्षुद्र पशुओं की रचना हुई है। उन सब का (पूषा अधिपतिः) अधिपति पूषा. अन्नमय अन्नदात्री पृथिवी ही है।

१३. (पञ्चविंशत्या अस्तुवत) हाथों, पैरों की दश दश अंगुलियां, दो बाहु, दो पैर और २५ वां आत्मा ये देह के घटक हैं। इसी प्रकार सृष्टि रचना के भी घटक ये ही पदार्थ हैं, उनके द्वारा विद्वान् विधाता की स्तुति करते हैं। उन घटक अवयवों से ही (आरण्या पशवः असृज्यन्त) जंगली पशु रचे गये है। (वायुः अधिपति आसीत्) तीव्र गतिशील वायु के समान, वेगवान् पालक ही उनका अधिपति है।

१४. (सप्तविंशत्या अस्तुवत) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, २ बाहु और २ टांगें, दो चरण एक आत्मा ये सत्ताईस शरीर के घटक हैं। इन सत्ताईस घटक अंगों के सञ्चालक महती शक्तियों के द्वारा ही विद्वान् पुरुष विधाता की स्तुति करते हैं। उनके द्वारा ही (द्यावापृथिवी व्यैताम्) द्यौ और पृथिवी दोनों व्याप्त होते हैं और उनमें ही (वसव) आठ वसु, (रुद्रा·) ११ प्राण और (आदित्या·) १२ मास (अनु-वि-आयन्) उनके भी भीतर व्याप्त हैं। (त एव) वे ही उन दोनों आकाश और पृथिवी के (अधिपतयः आसन्) अधिपति या पालक हैं।

१५. (नवविंशत्या अस्तुवत) देह में हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, ९ प्राण हैं उसी प्रकार २९ घटक शक्तियां विश्व को रच रही हैं। उन द्वारा विद्वान् जन विधाता प्रजापति की स्तुति करते हैं। (वनस्पतयः असृज्यन्त) उन घटक शक्तियों से ही वनस्पतियों को बनाया गया है। उनका (सोम अधिपति. आसीत्) सोम अधिपति है।

१६. (एकत्रिंशता अस्तुवत) हाथ पैर की दस २ अंगुलियां, १०

प्राण और ३१ वां आत्मा उन घटको से समस्त शरीर बने हैं। उन शक्तियों द्वारा ही विद्वान् जन विधाता के कौशल का वर्णन करते हैं॥ इनसे ही (प्रजा. असृज्यन्त) समस्त प्रजा सृजी गयी है। उनके (यवाः च अयवा. च अधिपतयः आसन्) उनके पूर्व पक्ष और अपर पक्ष अथवा मिथुन भूत जोड़े अमैथुनी अथवा जन्तु शरीरों मे होने वाले ऋतु धर्म सम्बन्धी पूर्वोत्तर पक्ष या (यवाः) पुरुष और (अयवाः) स्त्रियें ही उनके अधिपति हैं।

१७. (त्रयः त्रिंशता अस्तुवन्) हाथों पैरों की दस २ अंगुलियां, दश प्राण, २ चरण और ३३ वां आत्मा ये सब पूर्ण शरीर के मुख्य मुख्य घटक हैं, और उसी प्रकार ३३ ही ब्रह्माण्ड के भी घटक हैं उनके द्वारा ही परम विधाता की विद्वान स्तुति करते हैं। उनसे ही (भूतानि) समस्त प्राणि गण (अशाम्यन्) सुखी होते हैं। उन सब का (परमेष्ठी प्रजापतिः अधिपति आसीत्) परमेष्ठी सर्वोच्च पद पर प्रजापति परमात्मा ही सबका अधिपति है। ८। ४। ३। १-१९॥

राष्ट्र पक्ष में—१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९, ३१, और ३३ इन भिन्न २ घटक अङ्गों से बने राज्यों एवं राजाओं को परमेश्वर के बनाये देह के मुख्यांगों की रचना के अनुसार बनाना चाहिये और उनके अधिपति भी भिन्न २ योग्यता के पुरुषो को रखना चाहिये। और विद्वान् लोग उन घटक अवयवों का ही उत्तम रीति से (अस्तुवत) उपदेश करें और तदनुसार राज्यों की कल्पना करें। उन राष्ट्र के भिन्न २ भागों में प्रजापति ब्रह्मणस्पति, धाता, अदिति, आर्तव आदि नामधारी मुख्य पदाधिकारियों को नियत करें।

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

इति मीमासातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥

॥ अथ पञ्चदशोऽध्यायः ॥

१—६८ अध्याय परिसप्राप्ते. परमेष्ठी ऋषि. ॥

॥ओ३म्॥ अग्ने जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः।
अधि नो ब्रूहि सुमना ऽअहेडँस्तव स्याम शर्मँ स्त्रिवरूथ ऽउद्भौ॥१॥

अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी सेनापते ! राजन् ! तू (नः) हमारे (जातान् सपत्नान्) प्रकट हुए शत्रुओ को (प्रणुद) दूर भगा । और हे (जातवेद.) ऐश्वर्यवान् और शक्तिशालिन् ! तू (अजातान् सपत्नान्) अभी तक प्रकट न हुए शत्रुओं को (प्रतिनुद) मुकाबला करके परास्त कर । और (न) हमारा (अहेडम्) अनादर न करता हुआ (सुमन) उत्तम शुभ प्रसन्न चित्त होकर (नः अधि ब्रूहि) हमें आधिष्ठाता होकर आज्ञा कर, सन्मार्ग का उपदेश कर। हम (तव) तेरे (त्रिवरूथे) त्रिविध तापो के वारण करने वाले (उद्भौ) उत्तम सुखों के उत्पादक या उच्च (शर्मन्) गृह में या आश्रय में (स्याम) रहें ।

सहसा जातान् प्रणुदा नः सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
अधि नो ब्रूहि सुमनस्यमानो वयꣳ स्याम प्रणुदा नः सपत्नान् ॥२॥

अग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (जातवेदः) बल और ऐश्वर्य और प्रजा से सम्पन्न राजन् ! सेनापते ! तू (जातान् सपत्नान्) उत्पन्न हुए विरोधी शत्रुओं को (सहसा) पराजय करने में समर्थ बल से (प्रणुद) परे मार भगा । और (अजातान्

अथ पञ्चमी चितिः ।

प्रतिनुदस्व) अप्रकट शत्रुओं को भी परास्त कर । (सुमनस्यमानः) शुभ चित्त वाला, उत्तम मन वाला होकर (नः अधि ब्रूहि) हमें उपदेश कर । जिससे (वयम्) हम लोग तेरे सहायक (स्याम) हों । तू (नः सपत्नान् प्रणुद) हमारे शत्रुओं को दूर भगा ।

षोड॒शी स्तोम॒ ओज॒ो द्रवि॑णं च॒तुश्च॒त्वारि॑ꣳश स्तोम॒ो वर्च॑ो द्रवि॑णम् अ॒ग्नेः पु॒रीष॑म॒स्य॒प्सु॒षा नाम॒ तां त्वा॒ विश्वे॑ अ॒भि गृ॑णन्तु दे॒वाः । स्तोम॑पृष्ठा घृ॒तव॑ती॒ह सी॑द प्र॒जाव॑द॒स्मे द्रवि॑णा यजस्व ॥ ३ ॥

असपत्नकृद् अग्निर्देवता । ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(षोडषी स्तोमः) षोडशी स्तोम अर्थात् १६ कलाओं या वीर्य, बल या अधिकारों से युक्त 'स्तोम' पद (ओजः द्रविणम्) पराक्रम और धनैश्वर्य प्रदान करता है । हे राष्ट्रशक्ते ! वह तेरा एक स्वरूप है । दूसरा (चत्वारिंशः स्तोमः) ४४ वीर्यों या अधिकारों या अधिकारियों से युक्त स्तोम , पद भी (वर्च) तेज और (द्रविणम्) ऐश्वर्य प्रदान करता है वह तेरा दूसरा स्वरूप है । हे राज्य शक्ते ! तू (अग्नेः) अग्रणी शत्रु संतापक राजा के बल को (पुरीषम्) पूर्ण करने वाला समृद्ध ऐश्वर्य है । तेरा (नाम) स्वरूप (अप्सः) 'अप्स' है अर्थात् तेरे भीतर रहकर एक आदमी दूसरे का जान माल और अधिकार को नहीं खाता है । (त्वा) तेरा ही (विश्वेदेवा) समस्त विद्वान् (अभिगृणन्तु) स्तुति करें । हे पृथिवि ! तू (स्तोमपृष्ठा) समस्त अधिकारों, बलों और वीर्यवान् पुरुषों का आश्रय होकर (घृतवती) तेजस्विनी होकर (इह सीद) इस भूतल पर विराज, स्थिर हो । (अस्मे) हमें (प्रजावद् द्रविणा) प्रजाओं से युक्त ऐश्वर्यों का (यजस्व) प्रदान कर ।

दम्पती देवते । द० ॥

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परिभूश्छन्द आच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छन्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरं छन्दः क्रकुप् छन्दस्त्रिक्रकुप्छन्दः काव्यं छन्दोऽआरुंकुपं छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपंङ्क्तिश्छन्दो विष्टारपंङ्क्तिश्छन्दः क्षुरोभ्रज-श्छन्दः ॥ ४ ॥

आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दस्संयच्छन्दो वियच्छन्दो बृहच्छन्दो रथन्तरच्छन्दो निकायश्छन्दो विवधछन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सुरस्तुप् छन्दोऽनुष्टुप् छन्द एवश्छन्दो वरिवश्छन्दो वयश्छन्दो वयस्कृतच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो विशालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्रच्छन्दो ऽआरुंकाङ्कं छन्दः ॥ ५ ॥

(४) विद्वासो विराजो वा देवता । निचृदा कृति. । पन्चमः ॥

(५) भुरिगभिकृतिः ऋषभः ॥

भा०—१. (एवः) सब प्राणियों को प्राप्ति स्थान, भूलोक, सब से ज्ञान द्वारा गम्य प्रभु (छन्द) सबका आच्छादक या रक्षक है ।

२. (वरिवे) सबको आवरण करने वाला अन्तरिक्ष 'वरिवस्' है । वह (छन्द) सुखकारी हो ।

३. (शंभूः) शान्ति का उत्पत्ति स्थान, परमेश्वर, द्यौ के समान शान्तिकारक जलादि पदार्थों का दाता और स्वयं द्यौलोक (छन्दः) सुख-प्रद हो ।

४ (परिभू छन्दः) सर्वत्र सामर्थ्यवान् दिशा के समान व्यापक, परमेश्वर (छन्दः) सुखप्रद हो ।

५. (आच्छत् छन्दः) समस्त शरीरों को आच्छादन करने वाला

४—क्षुरोभ्रजश्छन्द (निःसम)

प्राण के समान जीवनप्रद और वायु के समान सर्व दोषों को वारक प्रभु हमें सुख प्रदान करे ।

६. (मनः छन्द·) 'मन', ज्ञानमय सन के समान या सत्यसंकल्प-मय परमेश्वर हमें सुख प्रदान करे ।

७. (व्यचः छन्दः) सब जगत् को व्याप्त करने वाले, आदित्य के समान तेजस्वी प्रभु हमारी रक्षा करे ।

८. (सिन्धुः छन्द.) नदी के समान आनन्द रस बहाने वाला प्राण वायु के समान 'सिन्धु' रूप परमेश्वर हमें सुख दे ।

९. (समुद्रः छन्दः) नाना संकल्प विकल्प को उत्पन्न करने वाला, नाना आशाओं का आश्रय, समुद्र के समान गम्भीर, अथाह परमेश्वर हमारी रक्षा करे ।

१०. (सरिरं छन्दः) स्रोत से निकालने वाले जल के समान हृदय या मुख से निकलने वाली वाणी रूप परमेश्वर हमें रक्षा करे ।

११. (ककुप् छन्द) सुख का एकमात्र धारण करने वाला सुख स्वरूप, सबका प्राणरूप परमेश्वर सुख प्रदान करे ।

१२ (त्रिककुप् छन्द.) तीनों प्रकारों के सुखों का दाता, उदान के समान प्रभु हमे सुख दे ।

१३. (काव्यम् छन्द·) परम प्रभु रूप कवि का बनाया वेद-त्रय-रूप ज्ञानमय काव्य हमें सुख दे ।

१४. (अड्कुप् छन्दः) कुटिल मार्गों से जाने वाले जल के समान विषम स्थानों में भी जाकर पालन करने में समर्थ प्रभु हमें सुख प्रदान करे ।

१५ (अक्षरपंक्ति. छन्दः) स्थिर नक्षत्रावलियों के समान अवि-नाशी गुणों से ससार को परिपाक करने में समर्थ प्रभु हमें सुख दे ।

१६. (पदपंक्ति छन्द) चरणों के समान समस्त वाक्-पदों या ज्ञानोपलियों का आश्रय प्रभु हमें सुख दे।

१७. (विष्टार पंक्ति छन्द) विस्तृत पदार्थों का धारण करने वाली दिशाओं के समान अनन्त प्रभु हमें सुख दे।

१८. (क्षुरो अज) क्षुरे के समान अज्ञान वासनाओं का छेदक और सूर्य के समान अन्धकार में ज्योतिः-प्रकाशक प्रदीप्त तेजस्वी (छन्द) प्रभु हमें सुख दे।

१९. (साच्छद् छन्द) शरीर के समस्त अंगों को प्राण शक्ति से सुरक्षित करने वाले अन्न के समान ब्रह्माण्ड के अंग प्रत्यंग में व्याप्त प्रभु हमारी रक्षा करे।

२०. (अन्वृच छन्द) उत्कृष्ट रीति से शरीर की रक्षा करने वाले अन्न के समान प्रभु हमें सुख दे।

२१ (सयत छन्द) समस्त कार्य-व्यवहारों से संयमन करने वाली रात्रि के समान समस्त ब्रह्माण्ड के कार्य व्यवहारों को संयमन करने वाला प्रभु या राज्यव्यवस्था (छन्द) हमारी रक्षा करे।

२२ (वियत छन्द) विविध कार्य-व्यवहारों को नियमित करने वाला सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर हमें सुख दे।

२३. (बृहत् छन्द) बृहत्, महान् द्यौलोक के समान विशाल प्रभु हमें सुख दे।

२४ (रथन्तर छन्द) रथों से गमन करने योग्य इस भूमण्डल के समान रथों रमण योग्य रत्नों में सब से श्रेष्ठ परमेश्वर हमें सुख दे।

२५ (निकाय छन्द) नित्य ज्ञानोपदेश करने वाले गुरु के समान या वाणी में शब्द करने वाले वायु के समान सर्वत्र ध्वनि जनक या ज्ञानोपदेशप्रद प्रभु हमें सुख दे।

२६. (विवधश्छन्दः) विविध रूपों से बांधने या दण्ड देने वाले अन्तरिक्ष के समान विविध कर्म फलों द्वारा जीवों को बांधने वाला प्रभु हमें सुख दे ।

२७. (गिरः छन्दः) निगलने योग्य, अन्न के समान सुखकारी परम आस्वाद्य प्रभु हमें सुख शरण दे ।

२८. (अज. छन्द) अग्नि के समान देदीप्यमान प्रभु हमें सुख दे ।

२९. (संस्तुप् छन्दः) उत्तम रीति से शब्द और अर्थों को प्रकट करने वाली वाणी के समान सकल पदार्थों का प्रकाशक प्रभु हमें सुख दे ।

३०. (अनुष्टुप् छन्दः) श्रवण करने के बाद अर्थ का प्रकाशन करने वाली वाणी के समान जगत् को रचकर अपने विज्ञान को दर्शाने वाला प्रभु हमे सुख दे ।

३१. (एवश्छन्द) समस्त सुख प्राप्त कराने वाले ज्ञान और प्रापक साधन के समान प्रभु हमें सुख दे ।

३२. (वरिवश्छन्द) और देवोपासना द्वारा परिचर्या योग्य प्रभु हमें सुख दे ।

३३. (वयः छन्द.) जीवनों का अन्न के समान मूल कारण प्रभु हमें सुख दे ।

३४. (वयस्कृत् छन्दः) जठराग्नि के समान सब प्राणियों को दीर्घायु करने वाला प्रभु हमें सुख दे ।

३५. (विष्पर्धा. छन्दः) विविध प्रजाओं में स्पर्धा पूर्वक ग्रहण करने योग्य परम लोक रूप प्रभु हमें सुख दे ।

३६. (विशालं छन्द·) विविध पदार्थों से शोभा देने वाले भूमि के समान विविध गुणों से सुन्दर प्रभु हमें सुख दे ।

३७. (छदिः छन्दः) भूतल को आच्छादित करने वाले अन्तरिक्ष के समान सबपर करुणा रूप छाया करने वाला प्रभु हमें सुख दे ।

३८. (दूरोहणं छन्द.) बड़े कष्टों और तपस्याओं से प्राप्त होने योग्य सूर्य के समान तेजोमय मोक्ष रूप प्रभु हमें सुख दे।

३९. (तन्दं छन्द·) कुटुम्ब भरण करने वाले परिपक्व वीर्यवान् युवा पुरुष के समान समस्त जीव लोक का भरण पोषण करने हारा प्रभु हमें सुख दे।

४०. (अङ्काङ्कं छन्द) अङ्क अङ्क द्वारा प्रकट हुई विस्तृत गणित विद्या के समान सत्य नियमों का व्यवस्थापक प्रभु हमें सुख दे। यह परमात्मा पक्ष में नियोजना है।

राष्ट्र पक्ष में—(छन्दः) राष्ट्र के भिन्न २ विभागो और कार्यों द्वारा राष्ट्र के धन, प्रजा और अधिकारों की रक्षा करने वाला बल, प्रयोग, कार्य व्यवहार, व्यापार और शिल्प छन्द है जो प्रजा के सुख का साधन हो और मनुष्यो की प्रवृत्ति उसमें हो सके, इस प्रकार निम्नलिखित कार्य विभाग राष्ट्र मे होने आवश्यक हैं।

१. (एवः) ज्ञान, प्रजाओं का शिक्षण अथवा पृथिवी मे गमनागमन के साधन रथादि। २. (वरिव) गुरु, देव, पितृजन आदि की सेवा। ३. (शंभू) प्रजाओं को शान्ति सुख देने के उपाय, औषधालय, उद्यान, तड़ाग आदि निर्माण। ४. (परिभू) चारों ओर से प्रजा की परकोट आदि से रक्षा। ५. (आच्छत्) आच्छादन योग्य वस्त्र। ६. (मन) मनन, शास्त्रमनन, उत्तम शास्त्र चिन्तन। ७. (व्यच.) सूर्य के समान राजा की कीर्त्ति का और राष्ट्र का प्रसार अथवा विविध शिल्प। ८ (सिन्धुः) नदियों का, नहरों का निर्माण, निरोध एवं उन द्वारा गमन-आगमन। ९. (समुद) समुद से व्यापार और मुक्ता रत्न आदि प्राप्ति। १०. (सरिरं) सलिल, जल। ११. (ककुप्) प्रजा के सुख वर्धक उपाय। १२. (त्रिककुप्)

त्रिविध सुखों का सम्पादन। १३. (काव्यम्) कवियों की कृति काव्य, सुन्दर वाग्विलास। १४. (अड्कुपं) प्रजा की कुटिल कूट नीतियों, व्यवहारों से और कुटिलाचारों से रक्षा। १५. (अक्षरपंक्तिः) अक्षय ब्रह्म का ज्ञान या अक्षर अखण्ड ब्रह्मचर्य की या वीर्य की परिपक्वता का साधन। १६. (पदपंक्तिः) गृहस्थ का पालन। १७. (विष्टारपंक्तिः) प्रजोत्पादन, प्रजापालन। १८. (क्षुरः) क्षुर, छूरा कर्म। १९. (अजः) दीप्ति, प्रकाश आदि का करना अथवा (क्षुरोऽजः) छुरे की धार के समान कठिन आदित्य व्रत की साधना। २०. (आच्छत्) प्रजा की सब ओर से रक्षा। २१. (प्रच्छत्) अच्छी प्रकार रक्षा। २२. (संयत्) दुष्टों का संयम। २३. (वियत्) विविध व्यवहारों का नियमन। (बृहत्) बड़े राष्ट्र का प्रबन्ध। २४. (रथन्तरम्) रथों के मार्गों का निर्माण और प्रबन्ध। २५. (निकामः) शरीर के प्राण वायु की साधना, अथवा समस्त प्रजा के शरीरों की रक्षा अथवा विशेष खाद्य पदार्थों का संग्रह। २६. (विवध) विविध हनन साधनों हथियारों का संग्रह। २७. (गिरः) अन्नों का संग्रह। २८. (अज.) अग्नि, विद्या या विद्युत द्वारा प्रकाश उत्पादन। २९. (संस्तुप्) उत्तम विद्याओं का पठन पाठन। ३०. (अनुष्टुप्) सामान्य विद्याओं का अध्ययन। ३१. (एवः वरिवः) ज्ञान और उपासना एवं गुरु सेवा। ३२. (वयः) जीवन वृद्धि या अन्न। ३३. (वयस्कृत्) अन्न के उत्पादक प्रयोग। ३४. (विष्पर्धा) संग्राम। ३५. (विशालं) विविध वस्तु, भवन निर्माण। ३६. (छदि) उनके छतें आदि बनाना (दूरोहणं) दुर्गम स्थानों पर चढ़ने के साधन। ३७. (तन्द्रं) मोहन विद्या। ३८. (अङ्काङ्कं) गणित विद्या। इन सब शिल्पों को सरहस्य जाना और किया जाय। इसी प्रकार अध्यात्म में इन सब छन्दों से आत्मा की इतनी शक्तियों, प्रवृत्तियों, स्वभावो, भोक्तव्य पदार्थों और साधनीय कार्यों का वर्णन किया गया है। प्रजनन संहिता में इन शब्दों के तदनुसार भिन्न २ अर्थ होंगे।

शतपथ के अनुसार एवः आदि के अर्थ नीचे लिखे जाते हैं।

१	एव	अयं लोकः	२१	सयत्	रात्रिः
२	वरिवः	अन्तरिक्षं	२२	वियत्	अहः
३	शंभू	द्यौ.	२३	वृहत्	असौलोकः
४	परिभूः	दिशः	२४	रथन्तरं	अयं लोकः
५	आच्छत्	अन्नं	२५	निकायः	वायुः
६	मनः	प्रजापतिः (आत्मा)	२६	विवधः	अन्तरिक्ष
७	व्यचः	आदित्यः	२७	गिर.	अन्नम्
८	सिन्धुः	प्राणः	२८	अज	अग्नि.
९	समुद्रं	मनः	२९	संस्तुप्	वाग्
१०	सरिरं	वाग्	३०	अनुष्टुप्	
११	ककुप्	प्राणः	३१	एव	अयंलोकः
१२	त्रिककुप्	उदान.	३२	वरिवः	अन्तरिक्षं
१३	काव्यं	त्रयी विद्या	३३	वय.	अन्नं
१४	अड्कुपं	आपः	३४	वयस्कृतः	अग्नि.
१५	अक्षरपंक्तिः	असौ लोकः	३५	विष्पर्धाः	असौ लोकः
१६	पदपंक्तिः	अयं लोकः	३६	विशालं	अयं लोकः
१७	विष्टारपंक्तिः	दिशः	३७	छदिः	अन्तरिक्षम्
१८	क्षुरोभ्रजः	आदित्यः	३८	दूरोहणम्	आदित्य.
१९	आच्छत्	अन्नं	३९	तन्दं	पंक्तिः
२०	प्रच्छत्		४०	अङ्काङ्कं	आपः

'एवः' आदि के 'अयं लोकः' आदि साक्षात् अर्थ नहीं, प्रत्युत उपमान होने से साधारण धर्मों के द्योतक पदार्थ हैं। शतपथ इन पदार्थों को 'बन्धु' अर्थात् उपमान मात्र ही बताता है। शरीर में और ब्रह्माण्ड में विस्तृत घटक-तत्वों का आध्यात्मिक आधिभौतिक भेद से भी यहा निरूपण किया गया है।

रश्मिना सत्याय सत्यञ्जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मञ्जिन्वान्वित्या दिवा दिवञ्जिन्व सन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षं जिन्व प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीं जिन्व विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिं जिन्व प्रवयाऽह्नाहर्जिन्वानुया रात्र्या रात्रीञ्जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसूञ्जिन्व प्रकेतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व ॥ ६ ॥

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सुष्ठ सुपेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतञ्जिन्वाभिजित्या तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

स्तोमभागाः विद्वासो देवता. । (६) विराडभिकृतिः । ऋषभः ।
(७) ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—१. (सत्याय) सत्यव्यवहार की वृद्धि के लिये नियुक्त (रश्मिना) सूर्य की किरणों के समान विवेक द्वारा छिपी बातों को भी प्रकाशित करने में समर्थ विवेकी पुरुष द्वारा (सत्यं जिन्व) सत्य व्यवहार की राष्ट्र में वृद्धि कर । अर्थात् उत्तम विवेकी न्याय कर्त्ता पुरुष को नियुक्त कर ।

२. (धर्मणा[1]) धर्म, प्रजा को व्यवस्थित करने वाले कानून के निमित्त (प्रेतिना) उत्तम विज्ञान युक्त, पुरुष द्वारा (धर्मं जिन्व) धर्म या व्यवस्था, कानून को उन्नत कर ।

३. (दिवा) धर्म, या ज्ञान के प्रकाश के लिये नियुक्त (अन्वित्या) अन्वेषण करने वाली समिति द्वारा (दिव जिन्व) विज्ञान के और सत्य तत्वों की वृद्धि कर, ।

४. (अन्तरिक्षेण) पृथ्वी और आकाश के बीच जिस प्रकार अन्तरिक्ष

१—सर्वत्र निमित्ते तृतीया ।

दोनों लोकों को मिलाता है उसी प्रकार दो राजाओं के बीच स्थित मध्यस्थ रूप से विद्यमान 'अन्तरिक्ष' पद के कार्य के लिये नियुक्त (सन्धिना) परस्पर के 'सन्धि' कराने वाले 'सन्धि' नामक अधिकारी से तू (अन्तरिक्षं जिन्व) उक्त अन्तरिक्ष पद को पुष्ट कर ।

५. (पृथिव्या) पृथिवी के शासन के लिये नियुक्त (प्रतिधिना) अपने स्थान पर स्थापित प्रतिनिधि द्वारा अथवा (पृथिव्या) पृथिवी के शासनार्थ लोकवृत्त जानने के लिये नियुक्त (प्रतिधिना) प्रत्येक बात के पता लगाने वाले गुप्तचर द्वारा (पृथिवीं जिन्व) तू पृथिवी को अर्थात् पृथिवी निवासी प्रजाजन या अपने राष्ट्र भूमि की वृद्धि कर, उसको पुष्ट कर ।

६. (वृष्ट्या) प्रजापर जलों की वर्षा करने के लिये जिस प्रकार जलों का स्तम्भन करने में समर्थ वायु अपने भीतर जल थाम लेता है उसी प्रकार प्रजापर पुनः अपने ऐश्वर्यों की वृष्टि करने के लिये (विष्टम्भेन) विविध उपायों से धनों को स्तम्भन या संग्रह करने वाले विभाग को नियुक्त करके उससे तू (वृष्टिं जिन्व) सुखों के वर्षण की वृद्धि कर ।

७. (अन्हा) सूर्य के समान तेजस्वी होकर राष्ट्र के कार्यों को चलाने के लिये (प्रवया) उत्कृष्ट तेजस्वी पुरुष को नियुक्त करके उससे (अहः जिन्व) सूर्य पद की वृद्धि कर ।

८. (रात्र्या) समस्त प्रजाओं के रमण करने, उनको विश्राम देने एवं रात्रि के समान शत्रुओं को भूमि पर सुला देने के लिये (अनुया) चारों ओर डाकुओं के पीछा करने वाले विभाग द्वारा (रात्रीं जिन्व) तेजास्वनी रात्री, या रात्रि को राष्ट्र की रक्षा करने वाली संस्था को (जिन्व) पुष्ट कर ।

९. (वसुभ्य.) ऐश्वर्यों के प्राप्त करने के लिये और राष्ट्र में बसने

वाले जनों के हित के लिये (उशिजा) धनादि के अभिलाषा करने वाले वणिग् विभाग द्वारा (वसून्) प्रजा के सुखकारी अग्नि आदि शक्ति और समस्त पदार्थों को और प्रजा जनों को पुष्ट कर, अथवा 'वसु' ब्रह्मचारियों के लिये कामना प्रकट करने वाले स्त्री वर्ग द्वारा (वसून्) वसु ब्रह्मचारी युवकों को (जिन्व) संतुष्ट कर । उनके विवाह आदि की उत्तम व्यवस्था कर ।

१०. (आदित्येभ्यः) आदित्य ब्रह्मचरियों के स्थापित (प्रकेतेन) उत्कृष्ट ज्ञान के साधन पुस्तकालय, विद्यालय आदि द्वारा (आदित्यान्) आदित्य, ज्ञाननिष्ठ पुरुषों को भी (जिन्व) पुष्ट कर ।

११. (रायः पोषेण) धनैश्वर्य और गवादि पशु सम्पत्ति के वृद्धि के निमित्त (तन्तुना) और भी अधिक प्रजा-परम्परा रूप तन्तु से (रायः पोषम्) उस ऐश्वर्य समृद्धि की (जिन्व) वृद्धि कर ।

१२. (श्रुताय) लोक वृत्तों के श्रवण के लिये (प्रसर्पेण) दूर तक जाने वाले गुप्त चरों द्वारा (श्रुतं जिन्व) लोक वृत्त श्रवण के विभाग को पुष्ट कर ।

१३. (ओषधीभिः) ओषधियों के संग्रह के लिये (ऐडेन) इडा, अन्न, ओषधी या पृथ्वी के गुणों के जानने वाले विभाग द्वारा (ओषधीः जिन्व) अन्नादि रोगहर और पुष्टि कर ओषधियों को वृद्धि कर ।

१४. (तनूभिः) शरीरों की उन्नति के लिये (उत्तमेन) सब से उत्कृष्ट शरीर वाले पुरुष द्वारा (तनूः जिन्व) प्रजा के शरीरों की वृद्धि कर ।

१५. (अधीतेन) विद्याभ्यास, शिक्षा की वृद्धि के लिबे (वयोधसा) ज्ञानवान् और दीर्घायु पुरुषों से (अधीत) अपने स्वाध्याय और शिक्षा की (जिन्व) वृद्धि कर ।

१६. (तेजसा) तेज और पराक्रम की वृद्धि के लिये (अभिजिता) शत्रुओं को सब प्रकार से विजय करने में समर्थ पुरुषों द्वारा (तेजः जिन्व) अपने तेज और पराक्रम की वृद्धि कर ।

सत्य, धर्म, दिव्, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वृष्टि, अह., रात्री, वसु और आदित्य, रायः पोष, श्रुत, ओषधी, तनु, अधीत, और तेज इन १६ अभ्युदय कारी लक्ष्मियों की वृद्धि के लिये क्रम से रश्मि, प्रेति, संधि, प्रतिधि, विष्टम्भ, प्रचया अनुया, उपिणग्, प्रकेत, तन्तु, ससर्प, ऐड, उत्तम, वयोधा, अभिजित् ये १६ पदाधिकारी या अध्यक्ष हों उनके उतने ही विभाग राष्ट्र में हों ।

इन मन्त्रों की योजना शतपथ ने तीन प्रकार से दर्शाई है । प्रथम जैसे 'रश्मिः असि सत्याय त्वाम् उपदधामि ।' द्वितीय जैसे—रश्मिना अधिपतिना सती सत्यं जिन्व ।' तृतीय जैसे—'रश्मिना अधिपतिना सत्येन सत्यं जिन्व ।' इत्यादि । सर्वत्र ऐसे ही कल्पना कर लेनी चाहिये अर्थात् प्रत्येक मनुष्य में तीन आकांक्षाएं हैं जैसे—

१. योग्य अधिकारों को उसके कर्त्तव्य के लिये नियुक्त करना ।

२. अधिकारी को नियुक्त करके कर्त्तव्य पालन द्वारा उस विभाग की वृद्धि करना । ३. अध्यक्ष के द्वारा कर्त्तव्य कर्म को वृद्धि करना । इसी प्रकार शरीर में और ब्रह्माण्ड में भी ये १६ घटक विद्यमान हैं । जिनपर आत्मा और परमात्मा अपने भिन्न २ सामर्थ्यों से वश करते हैं ।

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोऽसि तेजसे त्वा ॥ ८ ॥

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाऽऽक्रमोऽस्याक्रमाय त्वा संक्रमोऽसि संक्रमाय

त्वोत्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिर्नोर्जोर्ज जिन्व ॥ ६ ॥

परमेष्ठी ऋषि. । प्रजापतिर्देवता । स्वराड् आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः । (६) ब्राह्मी जगती । निषाद. ॥

भा०—१. तू (प्रतिपत् असि) प्रत्येक पदार्थों को प्राप्त करने और ज्ञान करने में समर्थ होने से 'प्रतिपत्' नाम का अधिकारी है । तुझको (प्रतिपदे) 'प्रतिपत्' पद के लिये नियुक्त करता हूं ।

२. (अनुपत् असि अनुपदे त्वा) तू अनुरूप या अनुकूल हितकारी पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ होने से तू 'अनुपद' है । तुझको 'अनुपद' पद पर नियुक्त करता ।

३. (सम्पत् असि सम्पदे त्वा) अच्छी प्रकार से समस्त पदार्थों को ज्ञान करने और प्राप्त करने वाला होने से तू 'सम्पत्' है । तुझ को 'सम्पद' पद के लिये नियुक्त करता हूं ।

४. (तेजः असि तेजसे त्वा) तेजःस्वरूप पराक्रमशील होने से 'तेजस्' है । तुझको तेज की वृद्धि के लिये उसी पद पर नियुक्त करता हूं ।

५- (त्रिवृत् असि त्रिवृते त्वा) तू त्रिगुण शक्तियों से वर्त्तमान होने से, या तीनों वेदों में, ज्ञानी 'तीनों लोकों में यशस्वी' एवं तीन कालों में तत्व-द्रर्शी होने से 'त्रिवृत्' है । तुझ को 'त्रिवृत्' पद के लिये ही नियुक्त करता हूं ।

६. (प्रवृत् असि प्रवृते त्वा) तू प्रकृष्ट, दूर देश में भी व्यवहार करने में समर्थ होन से 'प्रवृत्' है । तुझे 'प्रवृत्' पद के लिये नियुक्त करता हूं ।

७.(सवृत् असि सवृते त्वा) समस्त प्रजाओं में समान रूप से व्यवहार

६—जिन्व वेप श्रीःक्षत्र जिन्व' इति काण्व० ।

करने में समर्थ है. अतः तुझे 'सवृत्' पद पर नियुक्त करता हूं।

८. (विवृत् असि विवृते त्वा) तू विविध दशा और प्रजाओं और कार्यों में व्यवहार करने में समर्थ होने से 'विवृत्' है अत. तुझे 'विवृत्' पद के लिये नियुक्त करता हूं।

९. तू (आक्रमः असि आक्रमाय त्वा) सब तरफ आक्रमण करने में समर्थ है। अतः तुझे 'आक्रम' अर्थात् आक्रमण करने के पद पर नियुक्त करता हूं।

१०. (संक्रमः असि संक्रमाय त्वा) तू सब तरफ फैल जाने में सथर्म होने से 'संक्रम' है। तुझे 'संक्रम' नाम पद पर नियुक्त करता हूं।

११. (उत्क्रम· असि उत्क्रमाय त्वा) तू उन्नत पद या स्थानों पर क्रमण करने में समर्थ होने से 'उत्क्रम' है तुझे 'उत्क्रम' पद पर नियुक्त करता हूं।

१२ (उत्क्रान्तिः असिः उत्क्रान्त्यै त्वा) तू ऊचे प्रदेशों मे क्रमण करने में समर्थ होने 'उत्क्रान्ति' है। तुझे मैं उत्क्रान्ति पद पर ऊंचे स्थानों में चढ जांने के कार्य पर ही नियुक्त करता हूं।

हे राजन्! इस प्रकार योग्य २ कार्यों के लिये योग्य २ पद पर, योग्य २ पुरुषों को नियुक्त करके तू (अधिपतिना) अधिपति, अध्यक्ष रूप अपने ही (ऊर्जा) बल वीर्य या पराक्रम से (ऊर्जम्) अपने पराक्रम, बल वीर्य की (जिन्व) वृद्धि कर, उसे पुष्ट कर।

इस प्रकार प्रतिपत्, अनुपत्, सम्पत्, तेजस्, त्रिवृत्, प्रवृत्, विवृत्, संवृत्, आक्रम, संक्रम, उत्क्रम, और उत्क्रान्ति। इन बारह कार्यों के लिये १२ पदाधिकारियों को और नियुक्त किया जाता है। १६ पहली और १२ ये मिलकर २८ राष्ट्र की सम्पदाओं या विभागों का वर्णन हो गया।

[1] राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवा ऽअधिपतयोऽग्निर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिवृत् त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरꣳ साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋषयस्त्वा । [2] प्रथमजा देवेषु द्विवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १० ॥

वस्वादयो नाकसदो देवता । (१) ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः । (२) ब्राह्मी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(प्राची दिग्) प्राची, पूर्व दिशा जिस प्रकार सूर्य के उदय से प्रकाशमान है उसी प्रकार राजा के तेज और पराक्रम से तेजस्विनी हे राज शक्ते ! तू भी (राज्ञी असि) रानी के समान सर्वत्र तेजस्विनी है । (वसवः देवाः) वसु गण विद्वान् पदाधिकारी लोग (ते अधिपतयः) तेरे पालन करने वाले अधिकारी पुरुष है । (अग्नि) अग्नि, सूर्य के समान तेजस्वी, संतापकारी, अग्रणी सेनापति (हेतीना) समस्त शस्त्र अस्त्रों का और अस्त्रधारी सेनाओ का (प्रतिधर्त्ता) धारण करने वाला है । (त्वा) तुझको (त्रिवृत् स्तोमः) त्रिवृत् नामक स्तोम अर्थात् पदाधिकारी (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर (श्रयतु) मन्त्र, प्रज्ञा, सेना इन तीनों शक्तियो सहित वर्तमान आश्रय करे, स्थापित करे या तेरा उपभोग करे । (आज्यम्) आज्य, संग्रामोपयोगी (उक्थम्) युद्ध विद्या या शासन (त्वा) तुझको (स्तभ्नातु) तुझे स्तम्भ के समान आश्रय देकर स्थिर करे । (रथन्तरं साम) रथों से तरण करने वाला सैन्यबल (प्रतिष्ठित्या) तेरी प्रतिष्ठा के लिये हो । (प्रथमजा. ऋषयः) श्रेष्ठ, मन्त्रद्रष्टा लोग (त्वा) तुझको (देवेषु) विद्वानों, या विजयी राजाओं, या पदाधिकारियों के बीच (दिव मात्रया) ज्ञान प्रकाश के बड़े परिमाण से और (वरिम्णा) विशाल सामर्थ्य से (प्रथन्तु) विस्तृत करें । (विधर्त्ता) विशेष पदों के धारक जन और

(अधिपतिः च) आधिपति, अध्यक्ष लोग (ते) सर्वे वे सब मिल कर (संविदानाः) परस्पर सहयोग और सहमति करते हुए (त्वा) तुझको (नाकस्य पृष्ठे) दुखों से सर्वथा रहित (पृष्ठे) आश्रय पर (स्वर्गे लोके) सुखमय प्रदेश में (सादयन्तु) स्थापित करें । और (यजमानं च) उसी उत्तम सुखमय लोक में इस राष्ट्रयज्ञ के विधाता राजा को भी स्थापित करें । शत० ८ । ६ । ५ ॥

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवा अधिपतय इन्द्रो हेतीनां प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयतु प्रऽउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋषयस्त्वा । प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ ११ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ।

भा०—(दक्षिणा दिग्) दक्षिण दिशा जिस प्रकार सूर्य के प्रखर ताप से बहुत अधिक उज्ज्वल होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू (विराड् असि) विराट् है, तू विशेष तेज और विविध ऐश्वर्यों से शोभा युक्त है । (रुद्राः देवा ते अधिपतयः) रुद्र शत्रुओं को रुलाने में समर्थ, एव शरीर में प्राणों के समान जीवनोपयोगी द्रव्यों को और बलकारी पदार्थों को रोक लेने में समर्थ रुद्रगण तेरे अधिपति हैं । (हेतीनां प्रतिधर्त्ता) इन्द्र शस्त्रास्त्रों का धारक है । (पञ्चदशः स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) शरीर में जिस प्रकार दश इन्द्रिय, पञ्च प्राण, अथवा हाथों की दश अंगुलियें और २ पैर और २ बाहु, और आत्मा या शिर १५ वा, ये शरीर को धारण करते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के रक्षक और धारक १५ विभाग तुझको पृथिवी पर स्थिर रखें (अव्यथायै) पीड़ा, कष्ट न होने देने के लिये (प्रउगम्

उक्थम्) नाना अधिकारियों की उत्कृष्ट योजना या उत्तम २ पुरुषों की उत्तम २ पदो पर स्थापना रूप उक्थ अर्थात् अभ्युदय का कार्य, या बल राष्ट्र का (स्तभ्नातु) थामे रहे । (प्रतिष्ठित्या) प्रतिष्ठा के लिये (बृहत्साम) बृहत्साम या महान बल सामर्थ्य हो, (अन्तरिक्ष ऋषय.) इत्यादि पूर्ववत् । शत० ८ । ६ । १ । ६ ॥

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवा आधिपत्यो वरुणो हेतीनां प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याꣳ श्रयतु मरुत्वतीयमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु वैरूपꣳ साम प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्तु ॥ १२ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ।

भा०—(प्रतीची दिग्) पश्चिम दिशा जिस प्रकार मध्यान्ह के बाद भी प्रखर सूर्य से सब प्रकार से दीप्त, उज्ज्वल होती है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू भी अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त कर लेने के बाद (सम्राट् असि) 'सम्राट्' की शक्ति बन जाता है । (ते आधिपत्यः आदित्याः) आदित्य के समान तेजस्वी, पदाधिकारी अथवा आदान, प्रतिदिन करने वाले वैश्य-गण तेरे अधिपति, स्वामी होते हैं । (वरुणः हेतीनां प्रतिधर्त्ता) शत्रुओं को वारण करने में समर्थ पुरुष शस्त्रों का धारण करने वाला होता है । (सप्तदश. स्तोमः त्वा पृथिव्यां श्रयतु) शरीर में दश हाथ की अगुलियों, बाहु टांगें ४, शिर, उदर, और आत्मा इन १७ अंगों के समान राष्ट्र को धारण करने वाले १७ घटक विभागों से सम्पन्न वीर्यवान् अधिकारीगण, तुझको पृथिवी पर स्थिर रखें । (मरुत्वतीयम् उक्थम् अव्यथायै स्तभ्नातु), वायु के समान वेगवान् वीर भटों के नायक इन्द्र, सेनानायक का सेना

बल ही राष्ट्र-व्यवस्था को पीड़ा न पहुंचाने के लिये दृढ़ करे। और (वैरूपं साम प्रतिष्ठित्या) उसके प्रतिष्ठा या आश्रय के लिये 'वैरूप' अर्थात् विविध प्रकार की प्रजा का विविध बल ही रहे। (अन्तरिक्ष ऋषयः० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । ७ ॥

'प्रउगम्-उक्थम्'—तद् यत् आभिप्रायुञ्जत तत् प्रउगस्य प्रउगत्वम् ॥ प्राणा प्रउगम्। तस्माद् बहवो देवता प्रउगे शस्यन्ते । कौ० १४ । ५ ॥ अहोक्थं वा एतद् यत् प्रउगम्। ऐ० ३ । १ ॥ सब तरफ़ उत्तम अधिकारियों को नियोजन करना या अहों की या राज्याङ्गो की स्थापना 'प्रउग' कहाता है। इसमें बहुत से 'देव' राजपदअधिकारी पुरुषों का वर्णन होता है। प्राण एव उक् तस्य अन्न मेव थम् शत० १० । ४ । १ । २३ ॥ अग्निर्वा. उक् तस्याहुतय एव थम्। १० । ६ । २ । १० । अतो हि सर्वाणि नामानि उत्तिष्ठन्ति। विड् उक्थानि। तां० १८ । ८ । ६ ॥ जिस प्रकार शरीर मे प्राण और वेदी मे अग्नि है उसी प्रकार राष्ट्र में वह पद जिस पर मुख्य पदाधिकारी नियुक्त है 'उक्थ' कहाता है। इसमे पदाधिकार और उसका भोग्य वेतन और ऐश्वर्य दोनो सम्मिलित हैं। इसी का दूसरा नाम 'शस्त्र' है। इसे सामान्यत 'धारा' कह सकते है।

मरुत्वतीयम् उक्थम्। एतद् वार्त्रघ्नमेवोक्थं यन्मरुत्वतीयम् एतेन हीन्द्रः पृतना अजयत् ॥ कौ० १५ । २ ॥ तदेतत् पृतनाजिदेव सूक्तम्। एतेन हीन्द्रो वृत्रमहन् ॥ कौ० १५ । ३ ॥

[1] स्वराड॒स्युदी॑ची दिग् म॒रुत॑स्ते दे॒वा ऽआधि॑पत्य॒ः सोमो॑ हे॒तीनां॑ प्र॑तिध्व॒स्तैका॑विꣳशस्त्वा॒ स्तोम॑. पृथि॒व्याꣳ श्र॑यतु नि॒ष्के॑वल्यमु॒क्थमव्य॑थायै स्तभ्नातु। वै॒रा॒जꣳ साम॒ प्रति॑ष्ठित्या ऽअ॒न्तरि॑क्ष ऽऋ॒षय॑स्त्वा [2] प्रथम॒जा दे॒वेषु॑ द्वि॒वो मात्र॑या वरि॒म्णा प्र॑थन्तु वि॒ध॒र्त्ता चा॒यमधि॑पतिश्च॒ ते त्वा॒ सर्वे॑ संविदा॒ना नाक॑स्य पृ॒ष्ठे स्व॒र्गे लो॒के यज॑मानं च सादयन्तु ॥ १३ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(उदीची दिग्) उत्तर दिशा जिस प्रकार ध्रुव प्रदेश में स्वयं उत्पन्न विद्युत् धाराओं से स्वतः प्रकाशमान है, उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तू (स्वराड् असि) स्वयं दीप्तिमती होने से 'स्वराट्' है । (ते आधिपतयः) तेरे स्वामी (मरुतः देवाः) वायुओं के समान तीव्र गतिशील, शरीर में प्राणों के समान जीवनप्रद विद्वान् हैं । (सोमः हेतीनां प्रतिधर्त्ता) शस्त्रों के धारणकर्त्ता, वशयिता 'सोम' है । (एकविंशः त्वा स्तोमः पृथिव्यां श्रयतु) शरीर गत २१ अंगों के समान २१ विभागों के अधिकारीगण तुझको पृथ्वी पर स्थिर रक्खें । (निष्केवल्यम् उक्थम् अव्यथायै स्तभ्नातु) पीड़ा-कष्ट न होने देने के लिये 'निष्केवल्य उक्थ' अर्थात् एकमात्र राजा का ही बल उसको पुष्ट करे । (वैराजं साम प्रतिष्ठित्यै) 'वैराज साम' अर्थात् सर्वोपरि राजा की आज्ञा का बल ही उसकी प्रतिष्ठा के लिये पर्याप्त है । (अन्तरिक्षे ऋषयः० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । ८ ॥

निष्केवल्यम् उक्थम्—अथैतदिन्द्रस्यैव निष्केवल्यम् । तन्निष्केवल्यस्य निष्केवल्यत्वम् ॥ कौ० १५ । ४ ॥ आत्मा यजमानस्य 'निष्केवल्यम् ॥ ऐ० ८ । २ ॥ राजा का अपना ही सर्वोपरि प्रधान पदाधिकार 'निष्केवल्य' है । उसके अधिकारों का विधान निष्केवल्य उक्थ है ।

'वैराजं साम'—स वैराजमसृजत तदग्नेर्घोषोऽन्वसृज्यत । तां० ७।८।१। प्रजापतिर्वैराजम् । तां० १६ । ५ । १७ ॥

'आधिपत्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवा ऽआधिपत्यो बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳ श्रयतां वैश्वदेवाग्निमारुते ऽउक्थे ऽअव्यथायै स्तभ्नीताꣳ शाक्वर-रैवते सामनी प्रतिष्ठित्या ऽअन्तरिक्ष ऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते

त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १४ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् । (१) ब्राह्मी जगती । निषादः । (२) ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(बृहती दिग्) बृहती या सबसे ऊपर की दिशा जिस प्रकार सबसे ऊपर विराजमान है उसी प्रकार हे राज-शक्ते ! तू भी (आधिपत्नी असि) समस्त राष्ट्र में सर्वोपरि रह कर पालन करती है । (विश्वेदेवा ते आधिपतय.) तेरे समस्त देव, विद्वान् गण आधिपति हैं । (हेतीनां प्रतिधर्त्ता बृहस्पति.) शस्त्रों का धारणकर्त्ता बृहस्पति है । (त्रिनव त्रयस्त्रिंशौ वा स्तौमौ त्वा पृथिव्यां श्रयताम्) २७ या ३३ अंगों के समान २७ और ३३ विभागों के अधिकारीगण तुझे पृथ्वी पर स्थिर करें । (वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथायै स्तभ्नीताम्) वैश्वदेव और आग्निमारुत दोनों 'पद' राज्य कार्य में पीड़ा न पहुचने देने के लिये स्तोम के समान सम्भालें उसकी रक्षा करें (शाक्वररैवते सामनी प्रतिष्ठित्या) शाक्वर और रैवत दोनों बल उसके आश्रय के लिये हों । (अन्तरिक्षे ऋषय. त्वा० इत्यादि पूर्ववत् । शत० ८ । ६ । १ । १६ ॥

'वैश्वदेव उक्थ'—पांक्तजन्यं वा एतद् उक्थं यद्वैश्वदेवम् । ऐ० ३।३२॥ शाक्वरं मैत्रावरुणस्य । कौ० २५।११॥ रेवत्य सर्वाः देवताः । ऐ० २।१।१६॥ वाग् वा रेवती । शत० २।३।८।१।१२॥

अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानिग्रामण्यौ । पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ । दङ्क्षणवं. पशवो हेतिः पौरुषेयो वध. प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १५ ॥

परमेष्ठी ऋषिः । लिंगोक्तो हरिकेशो वसन्तो देवता । विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—संवत्सर मे ऋतुओं के समान प्रजापालक राजा के अधीन ५ मुख्य सरदारो का वर्णन करते हैं । (अयम्) यह (पुर) सब के आगे पूर्व की ओर (सूर्यरश्मिः) सूर्य की किरणों के समान तेजों से प्रकाशमान वसन्त ऋतु के समान (हरिकेशः) नये २ कोमल हरे पीले पत्रो रूप केशों से युक्त, प्रजा के क्लेशो को हरण करने वाला है । (तस्य) उसके अधीन वसन्त ऋतु के 'मधु' और 'माधव' दो मासो के समान (रथ-गृत्स. च) रथों के सञ्चालन में परम बुद्धिमान् 'रथगृत्स' और (रथौजाः च) रथो के द्वारा पराक्रम करने मे कुशल 'रथौजाः' ये दोनो क्रमशः (सेनानी-ग्रामण्यौ) सेनानायक और ग्रामनायक या सैनिक दलों (दस्तों) के नायक हैं । इनके अधीन (पुञ्जिकस्थला च) पुञ्ज रूप होकर स्थान या देश में विद्यमान, अथवा पुं-जिक, पुरुषों को विजय करने का आश्रय रूप 'सेना' और (क्रतुस्थला) क्रतु अर्थात् प्रज्ञा, बुद्धि का एकमात्र आश्रय 'समिति' ये दोनों (अप्सरसौ) पुंजीभूत रूप लावण्य की आश्रय और क्रतु=काम की आश्रय रूप होकर स्त्रियों के समान साथ रहती हैं और वे (अप्सरसौ) अप्-आप्त पुरुषों द्वारा या अप्-प्रजाओं में व्याप्त या अप्-कर्म और प्रज्ञा दोनों द्वारा सरण करने, आगे बढ़ने वाली होने से 'अप्सरा' कहाती हैं ।

इनके अधीन (दंष्ट्रिणः पशवः) दाढ़ों से काटने वाले पशु सिंह, व्याघ्र, कुत्ते चीते आदि के समान मार काट करने वाले भट लोग (हेति) शस्त्रों के समान अथवा सिंह, व्याघ्रादिक पशुओं के समान उनके घोर रुधिरपायी शस्त्र और (पौरुषेयः वधः) पुरुषों का, पुरुषों के द्वारा वध करना (प्रहेतिः) उत्तम श्रेणी के अस्त्रादि हैं (तेभ्य. नमः अस्तु) उनका हम आदर करें । (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें । (ते न मृडयन्तु) वे हमें सुखी करें । (यं ते द्विष्मः) वे और हम जिसको

द्वेष करें और (य. च न. द्वेष्टि) जो हमारे से प्रेम का वर्ताव न करके हम से द्वेष करता है (तम्) उसको (एषां) इनके (जम्भे) हिंसाकारी जम्भ-मुख में या कष्टदायी हवालात में (दध्म) डालें ॥ शत०८।६।१।१६॥

अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य रथस्वनश्च रथेचित्रश्च सेनानीग्रामण्यौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ यातुधाना हेती रक्षांसि प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥

परमेष्ठी ऋषि. । लिंगोक्तो विश्वकर्मा ग्रीष्मर्तुर्देवता । प्रकृति । धैवत. ॥

भा०—(दक्षिणा) दक्षिण दिशा में, दायें ओर (अय) यह साक्षात् (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा, वायु के समान बलशाली, शरीर में प्राण वायु या मन के समान राष्ट्र शरीर का आधार, राज्य के समस्त कार्यों का विधायक 'विश्वकर्मा' नाम पदाधिकारी है। (तस्य रथस्वनः च रथेचित्र. च) उसके 'रथस्वन' और 'रथेचित्र' नामक दो ग्रीष्म ऋतु के प्रखर दो मास 'शुक्र' और 'शुचि' के समान तेजस्वी प्रतापी हैं। जिसके रथ में अद्भुत शत्रु-भयकारी शब्द निकलता हो वह 'रथस्वन' और जिसके रथ में चित्र विचित्र रचना और युद्धार्थ विचित्र उपकरण हो वह 'रथेचित्र' कहाता है। उनकी (मेनका च सहजन्या च अप्सरसौ) मेनका और सहजन्या दोनों स्त्रियों के समान सहयोगिनी हैं। जिसका सब मान करें, जिसको सब मानें वह द्यौ के समान ज्ञान प्रकाश वाली विज्ञान की प्रबल शक्ति या विद्वानों का सघ मेनका' है। और पृथिवी या राष्ट्र के समान जनों से पूर्ण युद्ध-की शक्ति या जनसमुदाय की 'सघ' शक्ति 'सहजन्या' है। (यातुधानाः हेति.) पीड़ा प्रदान करने वाले शस्त्रधर और गुप्त घातक लोग उसके सामान्य खड्ग के समान हैं। (रक्षासि प्रहेति) राक्षस स्वभाव के क्रूर वधक लोग उसके उत्कृष्ट शस्त्र के समान हैं।(तेभ्य नम. अस्तु० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । १७ ॥

अ॒यं प॒श्चाद्वि॒श्वव्य॑चा॒स्तस्य॒ रथ॑प्रोत॒श्चास॑मरथश्च सेनानीग्रा-म॒ण्यौ॑। प्र॒म्लोच॑न्ती चानु॒म्लोच॑न्ती चाप्स॒रसौ॑ व्या॒घ्रा हे॒तिः स॒र्पाः प्रहे॑ति॒स्तेभ्यो॒ नमो॑ ऽअस्तु ते नो॑ऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां जम्भे॑ दध्मः ॥ १७ ॥

वर्षर्त्तर्विश्वव्यचा देवता । विराट् कृति॰ । निषादः ॥

भा०—(पश्चात्) पीछे की ओर यह (विश्वव्यचाः) समस्त विश्व मे फैलने वाला वर्षा ऋतु के सूर्य के समान शत्रुओं पर शस्त्रास्त्र वर्षण करने मे समर्थ या शरीर में चक्षु के समान सर्वत्र व्यापक अधिकारी है जिसके (रथप्रोतः च असमरथ. च सेनानी ग्रामण्यौ) 'रथप्रोत' और 'असमरथ' ये दो सेनानायक और ग्राम नायक हैं । जो सदा रथ पर ही चढ़े रह कर युद्ध करे वह 'रथप्रोत' और जिसके मुकाबले में दूसरा कोई रथ न लड़ा सके वह 'असमरथ' है । उन दोनों की (प्रम्लोचन्ती च अनुम्लोचन्ती च अप्सरसौ) 'प्रम्लोचन्ती' और 'अनुम्लोचन्ती' ये दोनों असप्सराएं हैं । दिन के समान प्रकाश करने वाली विद्युत आदि पदार्थ विज्ञान की शक्ति 'प्रम्लोचन्ती' और रात्रि के समान अन्धकार करने वाली या सबको सुला देने वाली या वश करने वाली शक्ति 'अनुम्लोचन्ती' है । (व्याघ्राः हेतिः) व्याघ्र के समान शूर पुरुष 'हेति' अर्थात् उसके साधारण शस्त्र हैं और (सर्पाः) सांपों के समान कुटिलाचारी एवं विषादि द्वारा प्रस्वापन करने वाले लोग (प्रहेति) उत्कृष्ट अस्त्र हैं (तेभ्यः नमः इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८ । ६ । १ । १८ ॥

अ॒यस॑मुत्त॒रात्सं॑यद्व॒सुस्तस्य॒ तार्क्ष्य॑श्चारि॒ष्टने॑मिश्च सेनानीग्रा॒म॒ण्यौ॑। वि॒श्वाची॑ च घृ॒ताची॑ चाप्स॒रसा॒वाप॑ो॒ हे॒निर्वा॑त॒ः प्रहे॑ति॒स्तेभ्यो॒ नमो॑ ऽअस्तु ते नो॑ऽवन्तु ते नो॑ मृडयन्तु ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां जम्भे॑ दध्मः ॥ १८ ॥

सयुद्वसुः शरद्ऋतुर्देवता । भुरिगतिधृति. । षड्जः ॥

भा०—(उत्तरात्) उत्तर की ओर, बायें, (अयम् संयद्वसुः) यह धनार्थी पुरुष जिसके पास बराबर आते हैं अथवा वसु, वासशील प्रजाओं का संयमन करने वाला जिसके पास बड़ाभारी खजाना एकत्र हो, वह है। उसके (तार्क्ष्यः च अरिष्टनेमिः च सेनानीग्रामण्यौ) 'तार्क्ष्य' और 'अरिष्टनेमि' ये दोनों सेनानायक और ग्रामनायक हैं। शरद् ऋतु के दो मास 'इष' और 'ऊर्ज' के समान तीक्ष्ण नाम अन्तरिक्ष में बाणों के फेंकने वाला 'तार्क्ष्य' और अहिंसित मनन या मनन शक्ति वाला 'अरिष्टनेमि' कहाता है। उन दोनों की (विश्वाची च घृताची च अप्सरसौ) 'विश्वाची' और 'घृताची' ये दोनों अप्सराएं हैं। समस्त जनों को व्यवस्था में बांधने और समस्त पदार्थ प्राप्त कराने वाली व्यवस्था 'विश्वाची' है और सर्वत्र पुष्टि-कारक पदार्थों को प्राप्त करने वाली या अग्नि या राजा के मान गौरव प्रतिष्ठा को उभाड़ने वाली शक्ति 'घृताची' है। उनके (अपः हेतिः वातः प्रहेतिः) जल सामान्यशस्त्र और वायु उत्कृष्ट शस्त्र हैं। (तेभ्यः नमः० इत्यादि) पूर्ववत् ॥ शत० ८। ६। १। १६ ॥

अयमुपर्यर्वाग्वसुस्तस्य सेनाजिच्च सुषेणश्च सेनानीग्रामण्यौ। उर्वशी च पूर्वचितिश्चाप्सरसावव॑स्फूर्जन् हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ १६ ॥

हेमन्तर्तुरर्वाग्वसुर्देवता। निचृत् कृतिः। निषादः॥

भा०—(उपरि) सबके ऊपर (अयम्) यह (अर्वाग्-वसुः) हेमन्त ऋतु के समान वृष्टि के बाद अन्न समृद्धि के देने वाला एवं प्रजा के ऊपर निरन्तर ऐश्वर्य बरसाने वाला, अथवा समस्त राष्ट्र वासी जिसके अधीन हैं वह राजा हेमन्त के समान अति शीत एव युद्धादि में समृद्ध शत्रु राष्ट्रों का भी पतझड़ के समान ऐश्वर्य रहित कर देने में समर्थ है।

(तस्य) उसके (सेनजित् च सुषेणः च सेनानी-ग्रामण्यौ) सेना द्वारा परसेना को विजय करने वाला 'सेनजित्' और उत्तम सेना वाला 'सुषेण' ये दो सेनानायक और ग्रामनायक हेमन्त के दो मास सहः' और 'सहस्य' के समान हैं। (उर्वशी च पूर्वचित्तिश्च अप्सरसौ) 'उर्वशी' और 'पूर्वचित्ति' ये दोनों अप्सराएं हैं, अर्थात् विशाल राष्ट्र को वश करने वाली शक्ति 'उर्वशी' और पूर्व प्राप्त देशों से धन संग्रह करने वाली या पूर्व ही समस्त कर्त्तव्य का निर्धारण करने वाली 'पूर्वचित्ति' कहाती है। (अवस्फूर्जन् हेतिः) उसका घोर गर्जन करने वाला 'शस्त्र' है। विद्युत् के समान तीव्र दीप्ति से पड़ने वाला उत्कृष्ट अस्त्र है (तेभ्यः नमः० इत्यादि) पूर्ववत्। शत० ८। ६। १। २०॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या ऽअयम्।
अपाꣳ रेताꣳसि जिन्वति॥ २०॥ ऋ० ८। ४४। १६॥

अग्निर्ऋषिः। निचृद् गायत्री। षड्जः॥

भा०—(अग्निः) अग्नि के समान प्रतापी पुरुष (दिवः) सूर्य के समान द्यौलोक, आकाश एवं ज्ञान विज्ञान का और विद्वान् उत्कृष्ट प्रजा का (पृथिव्याः) पृथिवी का, पृथिवी पर के समस्त प्राणियों का (ककुत् पति) महान् स्वामी, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पालक है। वह ही (अपां) आप्त प्रजाओं के (रेतांसि) वीर्यों, बलों को (जिन्वति) बढ़ाता है।

आत्मा प्राणों का नेता होने से अग्नि है। वह सब का (मूर्धा) शिरोमणि, (दिवः) मस्तक से लेकर और (पृथिव्या) चरणों तक का महान् स्वामी है। वह (अपां) प्राणों के बलों की वृद्धि करता है। इसी प्रकार परमेश्वर सब का शिरोमणि आकाश और पृथिवी का स्वामी है। वह (अपां) मूलकारण प्रकृति के परमाणुओं में उत्पादक शक्ति को अधीन करता है। (व्याख्या देखो ३। १२)

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः ।
मूर्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥ ऋ० ८ । ६४ । ४ ॥

विरूप ऋषि. । अग्निर्देवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अयम्) यह साक्षात् (अग्नि.) अग्रणी, परसंतापक, परंतप राजा (कविः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी और सूक्ष्मदर्शी है। वह (सहस्रिणः) सहस्रों सुखों से युक्त और (शतिनः) सैकड़ों ऐश्वर्यों वाले (वाजस्य) बल और ऐश्वर्य का (पतिः) पालक और सब के (मूर्धा) शिर के समान उच्च पद पर विराजमान है। वही (रयीणाम् पतिः) समस्त ऐश्वर्यों का भी स्वामी है।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ २२ ॥ ऋ० ६ । १६ । १३ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० ११ । ३२ उत्तरार्ध)

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ।
दिवि मूर्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ २३ ॥

ऋ० १० । ८ । ६ ॥

भा०—व्याख्या देखो (१३ । १५)

अयोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ २४ ॥

ऋ० ५ । १ । ६ ॥

युधगविष्ठिरौ ऋषी । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—(धेनुम् इव) दुधार कपिला गाय के समान (आयतीम्) आनेवाली (प्रति उपासम्) प्रत्येक प्रात काल को (राजा के पक्ष में) (जनाना समिधा) जनों, प्रजाओं के उपकार के लिये (समिधा) समिधा से (अग्नि. अबोधि) जिस प्रकार होमाग्नि प्रदीप्त होता है और

जिस प्रकार (जनानां) मनुष्यों के उपकार के लिये (समिधा) तेज से (प्रतिउपासम्) प्रति प्रातःकाल (अग्निः अबोधि) सूर्य प्रकाशित होता है उसी प्रकार (जनानां) राष्ट्र के प्रजाजनों के (सम्-इधा) सूर्य के समान तेज से ही (धेनुम् इव) कपिला गाय के समान (आयतीम्) प्राप्त होने वाला (प्रति उपासम्) प्रत्येक दुष्टों के संताप देने के अवसर (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी अग्रणी नेता रूप परंतप राजा को (अबोधि) प्रज्वलित, उत्तेजित किया जाता है। (उज्जिहानाः यह्वाः) ऊपर उड़ने वाले बड़े २ पक्षी जिस प्रकार (वयाम् प्रसिस्रते) शाखा की ओर आश्रय लेने के लिये बढ़ते हैं। और (भानवः) सूर्य की उज्ज्वल किरणें (नाकम् प्रसिस्रते) जिस प्रकार आकाश की ओर बढ़ती हैं। उसी प्रकार (यह्वाः) बड़े २ पदाधिकारी लोग (वयाम्) व्यापक उदार नीति को या कीर्त्ति को प्राप्त करते हैं और (भानव) तेजस्वी पुरुष लोग (नाकम्) सुखमय राष्ट्र को (अच्छ) भली प्रकार प्राप्त करते हैं।

अध्यात्म में देखो सामवेद द्वितीय संस्क० मन्त्र सं० ७३ ॥ और अथर्व० १३ । २ । ४६ ॥

अवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारु वृषभाय वृष्णे।
गविष्ठिरो नमसा स्तोममश्यौ दिवीव रुक्ममुरुव्यञ्चमश्रेत् ॥२५॥

ऋ० ५ । १ । १२ ॥

अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(मेध्याय) उत्तम गुणों, आचरणों से युक्त पवित्र, (कवये) क्रान्तदर्शी, प्रज्ञावान् मेधावी, बुद्धिमान् (वृष्णे) बलवान् (वृषभाय) श्रेष्ठ पुरुष के लिये (वन्दारु) हम वन्दना योग्य, स्तुति और आदर के (वचः) वचन का (अवोचाम) प्रयोग करें। (गविष्ठिरः) गौः,

वेद वाणी में स्थिर प्रवचन करने वाला विद्वान् (नमसा) विनय भाव से (अग्नौ) प्रकाशमय परमेश्वर के विषय में (स्तोमम्) स्तुति समूह को ऐसे (अश्रेत्) प्रदान करे जैसे (गविष्ठिरः) किरणों में स्थित सूर्य (दिवि) आकाश में (उरुव्यचम्) बहुत से लोकों में फैलने वाले (रुक्मम्) प्रकाश को (अश्रेत्) प्रदान करता है ।

अथवा–(गविष्ठिरः)पृथिवी पर स्थिर रूप से रहने वाला प्रजाजन (नमसा) वमन या दमनकारी बल से प्रभावित होकर (अग्नौ) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष में (स्तोमम्) अधिकार, वीर्य और सामर्थ्य (अश्रेत्) ऐसे प्रदान करती है जैसे (दिवि) आकाश में (उरुव्यचम् रुक्मम् इव) बहुत से लोको में व्यापक प्रकाशमान् सूर्य को स्थापित करता है ।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ २६ ॥

ऋ० ४ । ७ । १ ॥

भा०—(अयम्) यह (प्रथम.) सर्व श्रेष्ठ पुरुष (अध्वरेषु यजिष्ठः होता) यज्ञों में, यज्ञ करने वालों में सबसे उत्तम यज्ञ करने वाले होता के समान (अध्वरेषु) अहिंसा रहित राष्ट्र के पालन के कार्यों में या युद्धों में (यजिष्ठ) सबसे उत्तम संगति या व्यवस्था करने हारा, (होता) दान-शील होकर (ईड्य) स्तुति करने योग्य है । वही (धातृभिः) राष्ट्र के धारण करने वाले पुरुषों द्वारा (इह) इस राष्ट्र शासन के मुख्य पद पर (धायि) स्थापित किया जाता है । (अप्नवान. भृगवः) ज्ञानी विद्वान् जिस प्रकार (वनेषु) वनों में (विभ्वं) व्यापक अग्नि को (विरुरुचुः) विविध उपायों से प्रकाशित करते हैं, प्रज्वालित करते हैं उसी प्रकार (वनेषु) रश्मियों में (चित्रम्) अद्भुत तेजस्वी, (विभ्वम्) विविध सामर्थ्यों से सम्पन्न (यम्) जिस प्रधान पुरुष को आश्रय लेकर

(विशे विशे) प्रजा के हित के लिये (अमवानः भृगवः) रूप विज्ञान शाली तेजस्वी पुरुष (विरुरुचुः) विविध प्रकार से प्रकाशित करते हैं। उसके लिये अपने २ गुण और शिल्प प्रकट करते हैं।

जनस्य गोपा ऽअजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुवितायं नव्यसे।
घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः॥२७॥
ऋ० ५। ११। १॥

भा०—(अग्निः) अग्रणी, नेता, राजा (नव्यसे) अभी नये २ प्राप्त किये (सुविताय) राष्ट्र के शासन-कार्य के संचालन के लिये (सुदक्षः) उत्तम बल और ज्ञानवान् होकर (जागृविः) सदा जागरणशील सावधान होकर (जनस्य गोपा) समस्त प्रजाजन का पालक, रक्षक (अजनिष्ट) रहे। और वह (घृतप्रतीक) मुखपर घृत लगाये ब्रह्मचारी के समान तेजस्वी स्वरूप होकर (दिविस्पृशा) आकाश में व्यापक (द्युमत्) कान्तिमान् तेजस्वी, ऐश्वर्य युक्त (बृहता) बड़े भारी राष्ट्र से सूर्य के समान तेज से (शुचिः) कान्तिमान्, निष्कपट, दोष रहित, शुद्ध होकर (भरतेभ्यः) प्रजा के भरण पोषण करने हारे विद्वान् पुरुषों से (द्युमत्) तेजस्वी होकर (विभाति) विविध ऐश्वर्यों से और तेजों गुणों से प्रकाशित होता है।

त्वामग्ने ऽआङ्गिरसो गुहा हितमन्वविन्दञ्छिश्रियाणं वनेवने।
स जायसे मथ्यमान सहो महत् त्वामाहुः सहसस्पुत्रमाङ्गिरः॥२८॥
ऋ० ५। ११। ६॥

अग्निर्देवता। विराडार्षी जगती। निषादः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान प्रकाशमान तेजस्विन्! (गुहा-हितम्) अपने हृदय के गुह्य स्थान में स्थित और (वने वने शिश्रियाणम्) वन २, प्रत्येक आत्मा आत्मा में विद्यमान (त्वाम्) तुझ परमेश्वर

का (अंगिरस) ज्ञानी योगाभ्यासी पुरुष जिस प्रकार (अनु अविन्दन्) साक्षात् दर्शन करते हैं या प्रथम अपने आत्मा का और फिर उसमें भी व्यापक तेरा साक्षात् करते हैं और जिस प्रकार (वने वने शिश्रियाणम्) प्रति पदार्थ या प्रत्येक काष्ठ में या प्रत्येक जल के परमाणु में विद्यमान (गुहा हितम्) गुप्त रूप से स्थित अग्नि तत्व को (अङ्गिरसः) विज्ञान वेत्ता (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं और जिस प्रकार (स.) वह तू (मथ्यमान) प्राणायाम, ज्ञान, ध्यानाभ्यास से माथित होकर परमेश्वर प्रकट होता है और जिस प्रकार अरणियों से मथा जाकर अग्नि प्रकट होता है उसी प्रकार (मथ्यमानः) अपनी और शत्रु सेना के बीच में युद्धादि द्वारा मथा जाकर (महत् सहः) बड़े भारी बल रूप में (जायसे) प्रकट होता है। हे (अंगिरः) सूर्य के समान या अगारों के समान तेजस्विन् या शरीर में प्राण के समान राष्ट्र के प्राणरूप ! (त्वाम्) तुझको (सहस पुत्रम्) बल का, पुन शक्ति का पुतला शक्ति से उत्पन्न हुआ (आहु.) कहते हैं।

सखायः सं वः सम्यञ्चमिषꣳ स्तोमं चाग्नये।
वर्षिष्ठाय क्षितीनामूर्जो नप्त्रे सहस्वते ॥ २६ ॥

ऋ० ५ । ७ । १ ॥

इष ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (सखायः) मित्रजनो ! (व) आप लोग (क्षितीनां वर्षिष्ठाय) भूमियों पर प्रभूत जल वर्षाने हारे मेघ के समान (क्षितीनां) राष्ट्र निवासी प्रजाजनों पर (वर्षिष्ठाय) समस्त कामना योग्य सुखों को वर्षण करने हारे और (वर्षिष्ठाय) सब निवासियों से सबसे ऐश्वर्य, ज्ञान और बल में बढ़े हुए और (ऊर्जे नप्त्रे) बल पराक्रम के बाधने, उसको नियम व्यवस्था में रखने वाले (सहस्वते) शत्रु विजयकारी बल से युक्त (अग्नये) अग्नि स्वरूप तेजस्वी पुरुष को (सम्यञ्चम् इषम्) सर्वो-

त्तम अन्न या आभिलाषा योग्य पदार्थ और (स्तोमं च) स्तुतियों या पदाधिकारों का (सं-भरत) अच्छी प्रकार प्रदान करो।

सꣳसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य्य आ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ३० ॥

ऋ० १० । १९ । १ ॥

सवनन ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! तेजस्विन् ! राजन् ! हे (वृषन्) प्रजाओं पर सुखों के वर्षक ! बलवन् ! तू (अर्य) स्वामी होकर ही (सं युवसे) समस्त ऐश्वर्यों को प्राप्त कराता है। और (ईड. पदे) पृथ्वी के पृष्ठ पर (आ समिध्यसे) सब तरह से प्रकाशित होता है। और (विश्वानि) समस्त (वसूनि) ऐश्वर्यों को (सः) वह तू (नः) हमें (सम् सम् आभर) निरन्तर प्राप्त कर।

त्वां चित्रश्रवस्तम हवन्ते विक्षु जन्तवः।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे ॥ ३१ ॥

ऋ० १ । ४५ । ६ ॥

प्रस्कण्वः ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—हे (चित्रश्रवस्तम) अद्भुत, आश्चर्यकारी नाना अन्न आदि ऐश्वर्यों के और यशों के सबसे बड़े स्वामिन् ! हे (पुरुप्रिय) बहुत प्रजाओं के प्रिय ! अथवा राष्ट्र वासी प्रजाओं को प्रेम करने हारे ! हे (अग्ने) तेजस्विन् ! अग्रणी पुरुष ! (हव्याय) स्वीकार करने योग्य राष्ट्र के भार को (वोढवे) अपने ऊपर उठाने के लिये (विक्षु) प्रजाओं में से (जन्तवः) समस्त जन (शोचिष्केशम्) दीप्ति युक्त किरणों वाले सूर्य के समान दीप्तिमान् (त्वाम्) तुझको (हवन्ते) बुलाते हैं। तुझे चाहते हैं।

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमा हुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥ ३२ ॥

ऋ० ७ । १६ । १ ॥

वशिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! (वः) तुम्हारे (एना नमसा) इस आदर सत्कार के भाव एवं अन्न द्वारा या तुम्हारे नमन, वशीकरण के अधिकार के साथ २ (प्रियं) तुम्हारे प्रिय (चेतिष्ठम्) तुम सबको खूब चेताने वाले धर्म मार्ग को उत्तम रीति से बतलाने वाली (अरतिम्) अत्यन्त बुद्धिमान्, (स्वध्वरम्) उत्तम यज्ञशील, अहिंसक (विश्वस्य दूतम्) सबके आदर योग्य सर्वत्र व्यापक (अमृतम्) स्वयं अविनाशी, स्थिर अथवा (अमृतम्) सब कार्यों के मूल आश्रयरूप (ऊर्ज. नपातम्) बल को विनष्ट न होने देने हारे अग्रणी राजा को (आहुवे) मैं बुलाता हूं। आप सबके सामने प्रस्तुत करता हूं ।

विश्वस्य दूतममृतं विश्वस्य दूतममृतम् ।
स योजते ऽअरुषा विश्वभोजसा स दुद्रवत् स्वाहुतः ॥२३॥

ऋ० ७ । १६ । १ । २ ॥

अग्निर्देवता । निचृद् बृहती मध्यम ॥

भा०—(विश्वस्य दूतम्) संघ के पूजनीय या सर्व के समान रूप से प्रतिनिधि (अमृतम्) अविनष्ट, दीर्घायु पुरुष को मैं प्रस्तुत करता हूं । (विश्वस्य दूतम् अमृतम्) सब दुष्टों के तापक राष्ट्र के लिये अमृतस्वरूप पुरुष को मैं प्रस्तुत करता हूं । (सः) वह (अरुषा) रोष रहित, सौम्य स्वभाव के (विश्वभोजसा) समस्त विश्व के पालक, सबके अन्न देने वाले सामर्थ्य से युक्त होकर (योजते) सबको सन्मार्ग में लगाता है । (स्वाहुतः) उत्तम रीति से बुलाया जाकर ही (सः दुद्रवत्)

रथादि से गमन करता है। अथवा (अरुषा=अरुषौ) वह दोष रहित सौम्य स्वभाव के (विश्वभोजसौ) समस्त जगत् के पालक एक उसको भोग करने में समर्थ दो प्रधान पुरुषों के राष्ट्र कार्य मे रथ में दो अश्वो के समान (योजते) नियुक्त करे। इस (सु-आहुतः) उत्तम रीति से अधिकार प्राप्त करके (सः) वह (दुदवत्) राज्य कार्य का संचालन करे।

स दुद्रवत् स्वाहुतः स दुद्रवत् स्वाहुतः।
सुब्रह्मा यज्ञः सुशमी वसूनां देवꣳ राधो जनानाम् ॥ ३४ ॥

ऋ० ७ । १६ । २ ॥

अग्निर्देवता । निचृद् बृहती मध्यमः ॥

भा०—(सः स्वाहुत. दुदवत्) वह अच्छी प्रकार अधिकार प्राप्त करके राष्ट्र के कार्य को रथ के समान चलाता है। और (सः स्वाहुतः दुदवत्) वह उत्तम आदर से बुलाया जकर आता है। वह (सुब्रह्मा) राजा, उत्तम ब्रह्मा, विद्वान् ब्रह्मवेत्ता से युक्त, (यज्ञ) यज्ञ के समान उत्तम विद्वानों से युक्त होकर (वसूनां) राष्ट्र में बसने वाले (जानानम्) मनुष्यों के लिये। (सुशमी) उत्तम कर्मवान होकर (देवं) रमण करने, भोगने योग्य (राध्यः) ऐश्वर्य को (दधाति) प्रदान करता है।

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।
अस्मे धेहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३५ ॥ ऋ० १ । ७१ । ४ ॥

गोतम ऋषिः अग्निर्देवता। उष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—हे (सहसः यहो) बल के कारण उच्च पद को प्राप्त और आदर पूर्वक सम्बोधन करने योग्य राजन्! हे (अग्ने) अग्रणी नेतः। तू (गोमत) गौ आदि पशु सम्पत्ति से युक्त (वाजस्य) ऐश्वर्य का (ईशानः) स्वामी है। हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवान्! राजन्! (अस्मे) हमें तू (महि श्रवः) बड़ा भारी अन्न आदि ऐश्वर्य, कीर्ति (धेहि) प्रदान कर।

'यहुः'-यातेर्हातेश्चौणादिके सृगय्वादित्वात् कुप्रत्यये निपातनाद्रूपसिद्धिः । यातः प्राप्तः पुण्यवशेन ह्यते च स्वनाम्ना, इति यहुरिति देवराजः । यहुर्यातश्चाहूतश्चेति माधवः ॥

स ऽइधानो वसुष्कविरग्निरीड्येन्यो गिरा ।
रेवदस्मभ्यं पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । ७९ । ५ ॥

अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(स.) वह तू हे राजन् ! (इधा) अपने तेज से देदीप्यमान (वसु.) सब प्रजा का वसाने हारा (कवि.) दूरदर्शी, क्रान्तदर्शी, विद्वान्, मेधावी (गिरा) वाणियों से (ईड्येन्यः) सदा स्तुति योग्य होकर हे (पुर्वणीक) बहुत से सेना-बल से युक्त राजन् ! तू (अस्मभ्यं) हमारे (रेवत्) धनैश्वर्य से युक्त राष्ट्र में (दीदिहि) निरन्तर तेजस्वी होकर रह ।

क्षपो राजन्नुत त्मनाग्ने वस्तोरुतोषसः ।
स तिग्मजम्भ रक्षसो दह प्रति ॥ ३७ ॥ ऋ० १ । ९ । ६ ॥

अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभ. ॥

भा०—हे (राजन्) राजन् ! तेजस्विन् ! हे (अग्ने) अग्ने ! हे (तिग्म जम्भ) तीक्ष्ण होकर शत्रुओं के अंग भंग करने वाले ! (तिग्मजम्भ) वज्र के समान या वज्र या खड्ग रूप दंष्ट्रा वाले, खड्गों से शत्रु को खा जाने वाले राजन् ! (क्षपः) रात्रि के अवसरों में (वस्तोः उत उषसः) दिन और प्रात. कालों के अवसरों में भी और सदा सब काल में (सः) वह तू (रक्षसः) प्रजा के नाशक राक्षसों को (प्रति दह) एक २ करके भस्म कर डाल ।

भद्रो नो ऽअग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो ऽअध्वरः ।
भद्रा ऽउत प्रशस्तयः ॥ ३८ ॥ ऋ० ८ । १९ १९ । १९ ॥

सौभरिर्ऋषि. । अग्निर्देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (आहुतः) अग्निहोत्र द्वारा आहुतियों से प्रदीप्त अग्नि के समान (आहुतः) सब प्रकार से आदर पूर्वक, नाना ऐश्वर्यों से पुरस्कृत, शत्रुसंतापक, अग्रणी पुरुष (भद्रः) हमें कल्याणकारक हो। (रातिः भद्रा) उसका दान भी हमें सुखदायी हो। हे (सुभग) उत्तम ऐश्वर्यवन्! (अध्वरः) तेरा हिंसारहित राज्य पालन का कार्य (भद्रः) सबको सुखप्रद हो। (उत) और (प्रशस्तयः) उत्तम प्रशंसाएं और प्रशंसा योग्य कार्य भी (भद्रा) सुखदायी हों।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥ स्फुटम् ॥

समस्त ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान, वैराग्य ये छः पदार्थ 'भग' कहाते हैं।

भद्रा ऽउत प्रशस्तयो भद्रं मनः कृणुष्व वृत्रतूर्य्ये।
येना समत्सु सासहः ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । ६ । २० ॥

अग्निर्देवता। निचृदुष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—(भद्रा उत प्रशस्तयः) और समस्त स्तुतियां सुखकारी हों और तू (वृत्रतूर्ये) नगर को घेरने वाले, सन्मर्यादा के लोप करने वाले दुष्ट पुरुषों के नाशक संग्राम कार्यों में अपना (भद्रं मनः) कल्याण युक्त चित्त (कृणुष्व) प्रदान कर। (येन) जिससे (समत्सु) संग्रामों में तू उनको (सासहः) पराजय करने में समर्थ हो।

येना समत्सु सासहोऽव स्थिरा तनुहि भूरि शर्धताम्।
वनेमा ते ऽअभिष्टिभिः ॥ ४० ॥ ऋ० ८ । ६ । ३० ॥

अग्निर्देवता। निचृदुष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—(येन) क्योंकि (समत्सु) संग्रमों में तू (सासहः) शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ रहे। अतः तू (शर्धताम्) बल पराक्रमशील

पुरुषों के (स्थिरा) स्थिर सेन्यों को (अवतनुहि) अपने अधीन विस्तृत रूप से रख। और हम (ते) तेरे (अभिष्टिभिः) अभीष्ट कामनाओं और अभिलाषाओं के सहित (ते) तेरे अधीन (वनेम) ऐश्वर्य का भोग करें।

अग्निं तं मन्ये यो वसुरस्तं यं यन्ति धेनवः।
अस्तमर्वन्त आशवोऽस्तं नित्यासो वाजिन इषꣳ स्तोतृभ्य आ भर ॥ ४१ ॥ ऋ० ५ । ६ । १ ॥

कुमारवृषावृषी अग्निर्देवता । निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(य) जो (वसु) गृहस्थ के समान व प्रजाओं का बसाने हारा है और (यं) जिसके पास (धेनवः) दुधार गौवें और उनके समान समृद्ध प्रजाएँ (अस्तम् यन्ति) घर के समान शरण समझ कर प्राप्त हों और (आशव.) शीघ्र गमनकारी (अर्वन्तः) अश्व और अश्वारोहीगण (अस्तं यन्ति) जिसको अपना गृह समझ कर शरण होते हैं। और (वाजिनः) वेगवान् या ऐश्वर्यवान् (नित्यासः) नित्य, सदा स्थायी रूप से रहने वाले गृहस्थ पुरुष (यं अस्तं यन्ति) जिसको अपना घर सा शरण जान कर प्राप्त होते हैं मैं तो (त अग्निम् मन्ये) उस सब के अग्रणी, नेता बलवान् पुरुष को 'अग्नि' शब्द से कहाने योग्य मानता और जानता हूं। ऐसे गुणों से युक्त सर्वाश्रय हे अग्ने ! राजन् ! तू (स्तोतृभ्य.) सत्य गुणों के प्रकाशक विद्वानों को (इषम्) अन्न आदि ऐश्वर्य (आ भर) प्राप्त करा, प्रदान कर।

सो ऽअग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः।
समर्वन्तो रघुद्रुवः स सुजातासः सूरय ऽइषꣳ स्तोतृभ्य आ भर॥४२॥

ऋ० ५ । ६ । २ ॥

अग्निर्देवता । निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यः वसुः) जो सबको बसाने वाला है। और (यं धेनवः सम् आयान्ति) जिसके पास दुधार गौवों के समान समृद्ध प्रजाएं शरण आती हैं। और (रघुद्रुवः अर्वन्तः) तीव्रवेग से जाने वाले अश्व और अश्वारोही पुरुष (ये सम् आयन्ति) जिसके पास शरण आते हैं। और (यम्) जिसके पास (सुजातासः सूरयः) उत्तम रूप से विद्या आदि में कुशल विद्वान् पुरुष पहुंचते हैं (स अग्निः) वह 'अग्नि' प्रकाशवान् तेजस्वी नेता कहाने योग्य है (गृणे) ऐसा मैं कहता हूं। हे राजन् ! (स्तोतृभ्यः) उत्तम गुणों के वक्ता विद्वानों को तू (इषं आ भर) अन्न आदि भोग्य पदार्थ प्रदान कर।

उभे सुश्चन्द्र सर्पिषो दर्वी श्रीणीष आसनि।
उतो न उत्पुपूर्या उक्थेषु शवसस्पत इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ४३ ॥ ऋ० ५ । ६ । ९ ॥

अग्निर्देवता । निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (सुश्चन्द्र) शोभन आचारवान् और प्रजा के आह्लादक ! अथवा प्रजा को उत्तम गुणों से रंजन करने हारे ! अथवा उत्तम ऐश्वर्यवान् ! तू (उभे दर्वी) चमसों के समान फैलने वाले दोनों हाथों को जिस प्रकार पान करने वाला पुरुष अपने (आसनि) मुख पर धर लेता है उसी प्रकार तू भी (उभे दर्वी) शत्रु सेनाओं को विदारण करने में समर्थ दोनों तरफ विस्तृत दोनों पक्षों या बाहुओं (Wings) को अपने (आसनि) मुख्य भाग पर (श्रीणीषे) आश्रित रखता, उनको नियुक्त करता है, उनको अपनी सेवा में लगाता है। हे (शवसः पते) बल के स्वामिन् ! तू (नः) हमें (उक्थेषु) ज्ञानों और उत्तम स्तुति योग्य व्यवहारों में (उत्पुपूर्याः) ऊपर तक भर दे, या उत्तम पद तक पालन पोषण कर। (इषं स्तोतृभ्यः आ भर) विद्वानों को अन्नादि भोग्य पदार्थ प्राप्त करा।

गुरु के पक्ष में—हे गुरो ! आलहादक (उभे दर्वी) अज्ञान के नाशक दोनों ज्ञान और क्रिया योग दोनों को (आसनि श्रेणीषे) मुखाग्र, परिपक्व करा (उक्थेषु) विद्याओं में हमें पूर्ण कर।

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रꣳ हृदिस्पृशम्।
ऋध्यामा त ऽओहैः ॥ ४४ ॥ ऋ० ४ । १० । १ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नेतः ! (अश्वं न) जिस प्रकार वेगवान् अश्व को शीघ्रता से पहुंचा देने के कारण उत्तम साधु-वादों और अन्नों से समृद्ध करते हैं और (स्तोमैः क्रतु न) जिस प्रकार स्तुति समूहों और वेद मन्त्रों से यज्ञ कर्म को समृद्ध करते हैं। उसी प्रकार (भद्रं) कल्याणकारी (हृदिस्पृशम्) हृदय में स्पर्श करने वाले, अतिप्रिय (तम्) उस परम उपकारी तुझ को भी (ते) तेरे योग्य (ओहैः) नाना पुरस्कार योग्य पदार्थों से (ऋध्याम) समृद्ध करें।

अधा ह्यग्ने क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ ॥ ४५ ॥ ऋ० ४ । १० । २ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! (अधा हि) और तू निश्चय से (भद्रस्य) सुखकारी कल्याणकारी, (दक्षस्य) बलवान् (साधो) कार्यसाधक उत्तम (बृहत) महान् (ऋतस्य) सत्य यज्ञ, या राष्ट्र सञ्चालन के कार्य का (रथीः) रथ के स्वामी के समान नेता (बभूथ) हो कर रह।

एभिर्नो अर्कैर्भवा नो ऽअर्वाङ् स्वर्ण ज्योतिः।
अग्ने विश्वेभिः सुमना ऽअनीकैः ॥ ४६ ॥ ऋ० ४ । १० । ३ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—हे (अग्ने) हे अग्रणी राजन् ! विद्वन् ! (एभिः) इन अर्चना

योग्य पूजनीय विद्वानों के साथ और (विश्वेभिः) समस्त (अनीकैः) सैन्य-बलों के साथ रहकर भी (अर्वाड्) साक्षात् (स्व ज्योतिः न) सुखकारी तेजस्वी, सूर्य के समान (सुमनाः) शुभ चित्त वाला होकर (भव) रह ।

अग्निꣳ होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुꣳ सूनुꣳ सहसो जातवेदसꣳ विप्रं न जातवेदसम् । य ऽऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनुवष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ॥ ४७ ॥ ऋ० १ । २७ । १ ॥

अग्निर्देवता । विराड् ब्राह्मी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—मैं (होतारम्) ऐश्वर्य के ग्रहण करने वाले, (दास्वन्तं) ऐश्वर्य के दान करने वाले, (वसुम्) प्रजा के बसाने हारे, (सहसः सूनुम्) शत्रु को पराजय करने में समर्थ, सेना बल के संचालक, (जातवेदसम्) अग्नि के समान तेजस्वी, (विप्रम्) ज्ञानवान् पुरुष को मैं (अग्निं मन्ये) 'अग्नि' अग्रणी नेता होने योग्य जानता हूं । (यः) जो (ऊर्ध्वया) अपने सर्वोच्च (देवाच्या) देव, विजिगीषु पुरुषों को वश करने वाली (कृपा) सामर्थ्य या शक्ति से स्वयं (स्वध्वरः) सुरक्षित, उत्तम राष्ट्र का स्वामी, अहिंसित (देवः) राजा विजिगीषु होकर (आजुह्वानस्य सर्पिषः) आहुति दिये गये घृत की (शोचिषा) कान्ति से जिस प्रकार अग्नि जाज्वल्यमान होता है उसी प्रकार (आजुह्वानस्य) चारों तरफ से युद्ध में आ आ कर टूट पड़ने वाले (सर्पिषः) सर्पणशील, विविध पैंतरों से चलने वाले सेना-बल के (शोचिषा) तेज से, लपटों से (घृतस्य) तेज की (विभ्राष्टिम्) विविध प्रकार की दीप्ति की (अनुवष्टि) कामना करता है ।

अग्ने त्वन्नो ऽअन्तम ऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ।
वसुरग्निर्वसुश्रवा ऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिन्दाः ।

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नायं नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ४८ ॥

ऋ० ५ । २४ । १ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० ३ । २५, २६) ।

येन ऽऋषयस्तपसा सत्रमायन्निन्धाना ऽअग्निꣳस्वराभरन्तः ।
तस्मिन्नहं निदधे नाकें ऽअग्निं यमाहुर्मनव स्तीर्णबर्हिषम् ॥४९॥

ऋ० ५ । २४ । २ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(येन) जिस (तपसा) तप, सत्य धर्म के अनुष्ठान और तपश्चर्या के बल से (ऋषयः) दीर्घदर्शी वेद मन्त्रार्थ के ज्ञाता (सत्रम् आयन्) सत्य ज्ञान को प्राप्त होते हैं। और (यम्) जिस (अग्निम्) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ज्योति को (इन्धानाः) प्रज्वलित करते हुए (स्व) सुखमय लोक और आत्मप्रकाश को (आभरन्तः) प्राप्त करते हुए (सत्रम्) सत्य सुख को प्राप्त करते हैं। (तस्मिन्) उसी (लोके) सुखमय लोक या पद पर मैं (अग्निम्) अग्रणी और अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को (नि दधे) स्थापित करता हूं। (यम्) जिसको (मनवः) मनुष्य लोग (तीर्णबर्हिषम्) एवं महान् आकाश को लांघ कर विराजमान सूर्य के समान समस्त प्रजाओं से ऊपर या इस लोक पर अधिष्ठाता रूप से विराजमान बतलाते हैं ॥ शत० ८।६।३१।१८॥

'तीर्णबर्हिषम्'—प्रजा वै बर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥ पशवो वै बर्हिः । ऐ० २ । ४ ॥ अयं लोको बर्हिः श० १ । ४ ॥ २४ । क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरं बर्हि । श० १ । ३ । ४ । १६ ॥

तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः ।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे ऽअधि रोचने दिवः॥५०॥

ऋ० ५ । २४ । ३ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वानो ! विजिगीषु पुरुषो ! (तम्) उस पूर्व कहे अग्रणी नेता और विद्वान् की हम लोग (पुत्रैः) पुत्रों, (भ्रातृभिः) भाइयों, (पत्नीभिः) धर्मपत्नियों, (उत वा) और (हिरण्यैः) सुवर्ण आदि धातुओं सहित (नाकम्) परम सुख का (गृभ्णानाः) ग्रहण करते हुए अर्थात् सुख प्राप्ति के साधनों का उपार्जन करते हुए (सुकृतस्य) उत्तम धर्माचरण के (लोके) लोक में और (तृतीय) उत्कृष्टतम (पृष्ठे) आश्रय में (दिव) सूर्य के प्रकाश से (रोचने) प्रकाशित, अन्धकार रहित स्थान में (अनुगच्छेम) अनुसरण करें । शत० ८ । ६ । ३ । १६ ॥

आ वाचो मध्यमरुहद्भुरण्युरयमग्निः सत्पतिश्चेकितानः ।
पृष्ठे पृथिव्या निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः॥५१॥

अग्निर्देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम्) यह (भुरण्युः) प्रजा का भरण पोषण करने में समर्थ (सत्पतिः) सत्य का, सत् जनों का पालक (चेकितानः) विद्वान् (अग्निः) अग्रणी, राजा (वाचः) वाणी के वेदत्रयी के, अथवा राज्य की व्यवस्थाओं के (मध्यम्) मध्य स्थान, मध्यस्थ न्यायकर्त्ता पद को (अरुहत्) प्राप्त करें । और (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी, भूमि की पीठ पर (निहितः) स्थापित होकर सूर्य के समान (दाविद्युतत्) सत्य का प्रकाश करे । और (ये पृतन्यवः) जो सेना द्वारा संग्राम या कलह करना चाहते हैं उनको (अधः पदम् कृणुताम्) नीचे स्थान पर गिरा दे । शत० ८ । ६ । ३ । २० ॥

अयमग्निर्वीरतमो वयोधाः सहस्रियो द्योततामप्रयुच्छन् ।
विभ्राजमानः सरिरस्य मध्यऽउप प्रयाहि दिव्यानि धाम ॥ ५२॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अयम् अग्निः) यह अग्रणी, नेता, राजा (वीरतमः) वीरों में सबसे अधिक वीर (वयोधाः) सबसे अधिक दीर्घायु अथवा अधीनों के जीवनों का पोषक या अन्नादि ऐश्वर्य का धारक, (सहस्रियः) हजारों योद्धाओं के बराबर बलवान्, और (अप्रयुच्छन्) प्रमाद न करता हुआ (द्योततात्) प्रकाशित हो। (सरिरस्य मध्ये) अन्तरिक्ष के बीच में सूर्य के समान (सरिरस्य मध्ये) इस लोक समूह के बीच (विभ्राजमानः) विशेष तेज से प्रकाशमान होकर हे राजन् ! तू (दिव्यानि धामा) दिव्य अधिकारों तेजों और पदों को (उप प्र याहि) भली प्रकार प्राप्त कर। शत० ८। ६। ३। २१ ॥

सम्प्रच्यध्वमुप संप्रयाताग्ने पथो देवयानान् कृणुध्वम्।
पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वाताꣳसीत् त्वयि तन्तुमेतम् ॥५३॥

अग्निर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! प्रजाजनो ! आप लोग (सम् पृच्यध्वम्) अच्छी प्रकार मिलकर आओ और (सं प्रयात) साथ मिलकर प्रयाण करो। हे (अग्ने) अग्रणी नेता और विद्वान् पुरुषो ! आप सब मिलकर (देव यानान् पथः) देवों, विद्वानों के जाने योग्य मार्गों को धर्माचरण की व्यवस्थाओं को और देव, राजा के जाने योग्य विशाल मार्गों को या विजयार्थी सेनाओं के-जाने योग्य मार्गों को (कृणुध्वम्) बनाओ। और हे (अग्ने) नेतः राजन् ! (युवाना पितरा) युवा माता पिता, (पुनः) बार २ (त्वयि) तेरे आश्रय पर, तेरी रक्षामें रहते हुए (कृण्वाना) ब्रह्मचर्य का पालन एवं गृहस्थ धर्म का आचरण करते हुए (एतम्) इस (तन्तुम्) विस्तृत राष्ट्र रूप यज्ञ को या प्रजोत्पालन रूप सन्तति कार्य को (अनु आतांसीत्) बराबर बनाये रक्खें।

०'कृण्वानाः' 'पितरा' ऐसा महीधर और उव्वटाभिमत पाठ है।

तदनुसार—प्रजाजन ही (युवाना पितरौ कृण्वाना) युवा युवतियों को ही अगली सन्तान के निमित्त पिता माता बनाते हुए (त्वयि) तुझ राजा के आश्रय में (पुनः एतम् तन्तुम् अनु-आतांसीत्) फिर भी इस प्रजातन्तु को बनाये रक्खें । शत० ८ । ६ । ३ । २२ ॥

पूर्व पक्ष में 'अन्वातांसीत्' यहां व्यत्यय से द्विवचन के स्थान में एक वचन है । और दूसरे पक्ष में बहु वचन के स्थान में एक वचन है । परन्तु यह शपथाभिमत पाठ के विरुद्ध होने से उपेक्षा योग्य है ।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन् सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ५४

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, गृहपति के समान प्रजापालक राजन् ! तू (उद्बुध्यस्व) उठ, जाग, उत्कृष्ट धर्माचरण को जान । (त्वम्) तू (प्रति जागृहि) प्रत्येक कार्य के लिये जागृत रह, प्रत्येक प्रजा के लिये सावधान होकर रह । (त्वम् अयम्) तू और यह प्रजाजन दोनों मिलकर (इष्टापूर्त्ते) इष्ट, अभिलषित सुख के देने वाले उत्तम कर्म, दान, यज्ञ, तप आदि और 'पूर्त्त' शरीर और गृह को पूर्ण करने वाले ब्रह्मचर्य और कृषि आदि कर्म, इनका (संसृजेथाम्) पालन करो और (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) सर्वोत्कृष्ट (सधस्थे) एकत्र होने के स्थान, गृहस्थ और राष्ट्र में (विश्वेदेवाः) समस्त देवगण, विद्वान् और राजा लोग और (यजमानः च) यजमान, दाता, गृहपति और राष्ट्रपति भी (अधि-सीदत) आकर विराजें । वे राष्ट्र पर अधिकार पदों को प्राप्त करें ॥ शत० ८ । ६ । ३ । २३ ॥

येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ५५ ॥ अथर्व० ६।५।१७॥

अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वान् ! राजन् ! गृहपते ! राष्ट्रपते ! (येन) जिस बल से तू (सहस्रं) हजारों अपरिमित प्रजाओं को (वहसि) धारण करता है । और (येन) जिस बल से (सर्ववेदसम्) समस्त ऐश्वर्यों और समस्त वेदोक्त ज्ञानों और कर्मों को (वहसि) धारण करता है (तेन) उस बल सामर्थ्य से (नः) हमारे (इमं यज्ञं) इस यज्ञ, गृहाश्रम, राष्ट्र पालनरूप परस्पर संगत कर्त्तव्य को (देवेषु) विजयी और विद्वान् पुरुषों के आश्रय पर (स्व गन्तवे) सुख प्राप्त करने के लिये (नय) सन्मार्ग पर ले चल । अर्थात् तू हमारे राज्य और गृह के कार्यों को विद्वानों के दिखाये मार्ग पर चला । ८ । ६ । ३ । २५ ॥

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो ऽअरोचथाः ।
तञ्जानन्नग्न ऽआ रोहाथानो वर्धया रयिम् ॥ ५६ ॥

ऋ० ३ । ५९ । १० ॥

व्याख्या देखो (अ० ३ । १४) और (अ० १२ । ५२) । शत० ८ । ६ । ३ । २४ ॥

तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू ऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावा-पृथिवी कल्पन्तामाप ऽओषधयः कल्पन्तामन्नयः पृथङ् मम ज्यैष्ठ्याय सवंताः । ये ऽअग्नय. समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवी ऽइमे शैशिरावृतू ऽअभिकल्पमाना ऽइन्द्रमिव देवा ऽअभिसंविशन्तु तया देवतया ङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ५७ ॥

भा०—(तप तपस्यः च) 'तप और तपस्य' माघ और फाल्गुन दोनों (शैशिरौ ऋतू) शिशिर ऋतु के दो मास हैं । दोनों शिशिर कहाते हैं । अग्नेः अन्तः० इत्यादि (१३ । २५) के समान जानो । शत० ८।७।१।५॥

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ।
सूर्यस्तेऽधि पति स्तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥५८॥

भा०—(परमेष्ठी) परम, सर्वोच्च स्थान पर स्थित सूर्य के समान, विद्वान् तेजस्वी राजा (त्वा) तुझ (ज्योतिष्मतीम्) सूर्य के प्रकाशित पृथ्वी के समान आश्रयभूत सकल ऐश्वर्य से युक्त पृथ्वी को (दिवः पृष्ठे) ज्ञान और प्रकाश के आश्रय में (सादयतु) स्थापित करे । शेष की व्याख्या देखो (अ० १४ । १४ ।) शत० ८ । ७ । १ । २१, २२ ॥

लोकं पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ।
इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनावसीषदन् ॥ ५९ ॥
ता ऽअस्य सूददोहसः सोमꣳश्रीणन्ति पृश्नयः ।
जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वारोचने दिवः ॥ ६० ॥
इन्द्रं विश्वा ऽअवीवृधन् समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमꣳरथीनां वाजानाꣳसत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

भा०—व्याख्या देखो (अ० १२ । मं० ५४, ५५, ५६ ॥) शत० ८ । ७ । २ । १–१६ ॥ ८ । ७ । ३ । ८ ॥

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् ।
आदस्य वातो अनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥६२॥

अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवता ॥ वसिष्ठ ऋषिः ।

भा०—(अश्वः) अश्व जिस प्रकार (यवसे अविष्यन्) घास के लिये जाना चाहता हुआ (प्रोथत्) अपने नाक, नथुने फड़ फड़ा कर शब्द करता है और (यदा) जब वह (महः संवरणात्) बड़े भारी अपने 'संवरण', बन्द रहने के स्थान अस्तबल से (वि अस्थात्) विविशेष रूप से जाता है तब भी हिनहिनाता है । उसके अनुकूल वायु बहता है । तब

उसका (व्रजनं) चाल (कृष्णम् अस्ति) बड़ा आकर्षक होता है। और जिस प्रकार वह (अग्निं) लौकिक अग्नि भी (यवसे) अपने भक्ष्य काष्ठ आदि में लगना चाहता हुआ (प्रोथत्) शब्द करता है। और जब (मह संवरणात्) अपने बड़े भारी आच्छादक काष्ठ आदि से (प्र वि अस्थात्) प्रकट होता है तब भी शब्द करता है। (आत्) और उसके पश्चात् अग्नि के प्रकट हो जाने पर (वातः वायु आस्य शोचिः अनुयाति) वायु इसकी ज्वाला के अनुकूल बहता है उसको ज्वाला को बढ़ाता है तब (ते व्रजन कृष्णम् अस्ति) हे अग्ने ! तेरा व्रजन, गमन का स्थान काला कोयला बन जाता है। इसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (अवसे अश्वः न.) घास चारे के लिये लालायित अश्व के समान (अविष्यन्) राष्ट्र को प्राप्त करना अथवा शत्रु पर चढ़ाई के लिये जाना चाहता है तब और जब (महः संवरणात्) बड़े संवरण राजमहल आदि से निकल कर (व्यस्थात्) प्रस्थान करता है तब तू (प्रोथत्) शब्दों को करता हुआ, अपनी आज्ञाएं देता हुआ और गाजे बाजे के साथ आगे बढ़ता हुआ जाता है। (आत्) तब (अस्य शोचि अनु) उस तेरे ज्वाला या तेज के अनुकूल (वातः) वायु के समान प्रबल वेगवान्, शत्रु को तोड़ फोड़ डालने वाला वीर सैन्य (अनुवाति) तेरे पीछे पीछे जाता है। (अध) और तब (ते व्रजनं) तेरा ऐसा प्रयाण करना (कृष्णम्) सब के चित्तों के आकर्षण करने वाला और शत्रुओं के राज्य समृद्धि को खैंच लाने वाला या शत्रुओं को उखाड़ देने वाला (अस्ति) होता है। शत० ८। ७। ३। ९–१२॥

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायांꣳसमस्य हृदये।
रश्मीवतीं भास्वतीमा या द्यां भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥६३॥

भा०—हे राज्यशक्ते ! (रश्मिवतीम्) किरणों से युक्त, प्रभा के समान तेजस्विनी, (भास्वतीम्) सूर्य की दीप्ति के समान प्रकाशवाली (त्वा) तुझ को (आयो.) न्याय मार्ग पर चलने वाले दीर्घायु (अवतः) प्रजा

के रक्षक राजा के (सदने) आश्रय पर और (छायायाम्) उसके आश्रय में और (समुद्रस्य हृदये) समुद्र के समान गम्भीर अक्षय कोशवान् राजा के (हृदये) हृदय मे, उसके चित्त में (सादयामि) स्थापित करता हूं। तू (या) जो (द्याम्, पृथिवीम्, उरु अन्तरिक्षम्) आकाश, पृथिवी और विशाल अन्तरिक्ष तीनों को अपने तेज से (आभासि) प्रकाशित करती है ॥ शत० ८।७।३।१३ ॥

स्त्री पक्ष में—(आयोः) आयुष्मान्, पूर्णायु (अवतः) पालक (समुद्रस्य) गम्भीर, अक्षय वीर्यवान् पुरुष के (सदने) गृह में, उसकी (छायायाम्) छाया मे, उसके गहरे हृदय में स्थापित करता हूं। तू प्रभा के समान रश्मिवती और भास्वती, तेजस्विनी हो। तू अपने सद्गुणों से तीनों लोकों को प्रकाशित कर।

परमेष्ठी त्वा सादयतु दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं दिवं यच्छ दिवं दृꣳह दिवं मा हिꣳसीः। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। सूर्यस्त्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतम् ॥ ६४ ॥

भा०—व्याख्या देखो (१४ । १२) (१४ । १४) (१५ । ५८) शत० ८ । ७ । १ । २२ ॥ शत० ८ । ७ । ३ । १८ । १९ ॥

सहस्रस्य प्रमासि सहस्रस्य प्रतिमासि।
सहस्रस्योन्मासि सहस्रोऽसि सहस्राय त्वा ॥ ६५ ॥

भा०—हे राजन्! हे राष्ट्रशक्ते! स्त्रि! और हे पुरुष! तू (सहस्रस्य प्रमा असि) हजारों पदार्थों से युक्त इस विश्व का यथार्थ ज्ञान करने वाला है। तू (सहस्रस्य प्रतिमा असि) सहस्रों ऐश्वर्यों का मापक अर्थात् सहस्रों के बल के तुल्य बलवान् है। (सहस्रस्य उन्मा

असि) हजारों से अधिक ऊंचे पद मान, प्रतिष्ठा और बल से युक्त है। इसी से तू (साहस्र· असि) सहस्रों के ऊपर अधिष्ठाता होने योग्य है। (सहस्राय त्वा) तूझे मैं 'सहस्र' नाम उच्च पद के लिये नियुक्त करता हूं। शत० ८। ७। ४। ११ ॥

॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः ॥

[तत्र पञ्चषष्टिर्मन्त्राः]

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥

॥ अथ षोडशोऽध्यायः ॥

(१-६६) देवाः प्रजापतिश्च ऋषयः । (१-१६) रुद्रो देवता ।

॥ ओ३म् ॥ नमस्ते रुद्र मन्यव ऽउतो त ऽइषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥ १ ॥

आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टों के रुलाने वाले राजन् ! (मन्यवे) तेरे मन्यु को अर्थात् मन्युस्वरूप तेरे अधीन रहने वाले तीक्ष्ण वीर पुरुषों को (नमः) नमस्कार या उनका भोग्य अन्न और वज्र, शस्त्र और वीर्योचित कर्म या वीर्य, शक्ति प्राप्त हो । (उतो) और (ते) तेरे (इषवे) इषु, शत्रुओं के मारने वाले बाण अर्थात् बाणधारी सैन्य को (नमः) अन्न प्राप्त हो । (ते बाहुभ्याम्) तेरी बाहुओं को बाहु रूप सेना के दस्तों को (नमः) शत्रु को नमाने वाला वीर्य प्राप्त हो ।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि ॥ २ ॥

स्वराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (रुद्र) शत्रुओं के रुलाने और सज्जनों को सुख देने हारे ! राजन् ! (या) जो (ते) तेरी (शिवा) कल्याणकारिणी (अघोरा) अघोर, उपद्रवरहित, शान्त, सौम्य रूप वाली (अपापकाशिनी) पाप से अतिरिक्त पुण्य का ही प्रकाश करने वाली (तनूः) विस्तृत कानूनादि की व्यवस्था या आज्ञा रूप वाणी है (तया) उस (तन्वा) (शन्तमया) अति अधिक कल्याण और शान्तिदायिनी वाणी, राज्यव्यवस्था से, हे

१—अथातः शतरुद्रियो होमः ॥ १-३ कुत्स ऋषिः । द० ।

(गिरिशन्त) आज्ञारूप, व्यवस्था या वाणी से ही सब को शान्ति देने वाले ! तू (अभि चाकशीहि) सब को देख, सब पर दृष्टि रख या तू राज्य का शासन कर ।

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंꣳसीः पुरुषं जगत् ॥ ३ ॥

विराड् आसुर्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (गिरिशन्त) आज्ञारूप या वाणी में सब को शान्तिदायक या मेघ के समान सुखों को सब पर वर्षानेवाले स्वरूप में सब को शान्तिदायक ! (याम् इषुम्) जिस इषु अर्थात् बाण आदि शस्त्र गण को तू (अस्तवे) शत्रुओं पर फेंकन के लिये (हस्ते) अपने हनन-कारी हाथ मे (बिभर्षि) धारण करता है । हे (गिरित्र) विद्वानों के रक्षक या अपनी आज्ञा, व्यवस्था में सब के रक्षक ! (ताम्) उसको (शिवाम्) शिवा, मगलकारक (कुरु) बनाये रख । (पुरुषम्) पुरुषों, मनुष्यों और अन्य (जगत्) जगम गौ आदि पशुओं को (मा हिंसीः) मत मार ।

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि ।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳसुमना असत् ॥ ४ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (गिरिश) समस्त वाणियों या आज्ञाओं में स्वयं आज्ञापक और व्यवस्थापक रूप से विद्यमान राजन् ! (त्वा) तुझको हम (शिवेन वचसा) कल्याणकारी, सुन्दर वचन से (अच्छा वदामसि) भली प्रकार निवेदन करते हैं । (यथा) जिससे (नः) हमारा (सर्वम् इत् जगत्) समस्त जगत् प्राणि वर्ग और राज्यव्यवहार (अयक्ष्मम्)

४–परमेष्ठी ऋषिः । द० ।

राजयक्ष्मा आदि रोगो से रहित (सुमनाः) और परस्पर शुभ चित्त वाला (असत्) हो ।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहीꣳश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥५॥

भुरिगार्षी वृहती । मध्यमः ॥

भा०—(प्रथमः) सर्वश्रेष्ठ (दैव्यः) देवों-राजाओं का और विद्वानों और शासकों का हितकारी (भिषक्) शरीर-गत और राष्ट्र-गत रोगों और पीड़ाओं को दूर करने में समर्थ पुरुष (अधिवक्ता) सबसे ऊपर अधिष्ठाता रूप से आज्ञापक होकर (अधि अवोचत्) आज्ञा दे । हे ऐसे समर्थ विद्वान् राजन् ! तू (सर्वान् च अहीन्) समस्त प्रकार के सापों को जिस प्रकार विषवैद्य और गारुडिक वश करता है उसी प्रकार तू भी (अहीन् सर्वान्) सब प्रकार के सर्पों के समान कुटिलाचारी पुरुषों को (जम्भयन्) उपायों से विनाश करता हुआ और (सर्वाः च) सब प्रकार की (यातुधानीः) प्रजाओं को पीड़ा, रोग, कष्ट, बाधा देने वाली, (अधराची) नीचमार्ग मे लगी हुई, दुराचारिणी, व्यभिचारिणी स्त्रियें हैं, उन सबको (परा सुव) राष्ट्र से दूर कर ।

असौ यस्ताम्रो ऽअरुण ऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः । ये चैनꣳ रुद्रा ऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳ हेड ऽईमहे ॥ ६ ॥

निचृदार्षी पंक्ति. । पञ्चम ॥

भा०—(असौ यः) यह जो (ताम्रः) ताम्बे के समान रक्त कठिन शरीर एव तेजस्वी (अरुणः) अग्नि के समान तेजस्वी (बभ्रुः) सूर्य के समान पीले-लाल रंग का (सुमङ्गल.) शुभ मंगल चिन्हों से अलंकृत है । अथवा यह जो (ताम्र.) सूर्य के समान लाल सुर्ख, तेजस्वी

और शत्रुओं को क्लेशित कर देने में समर्थ और (अरुण.) सूर्योदय के समय के सूर्य के समान गुलाबी प्रभा वाला, अथवा शत्रु से कभी न रोके जाने वाला, अथवा सबका शरण्य (उत बभ्रु) पीले धूम्र वर्ण का, कापिल या पाटला रंग का अथवा अन्न के समान सब प्रजा और भृत्य वर्गों का भरण पोषण पालन, करने में समर्थ (सुमंगल) सुखपूर्वं सर्वत्र विचरने मे समर्थ है। और (ये च) जो भी (रुद्रा.) शत्रु को रुलाने, रोकने वाले, या गभीर गर्जना करने वाले वीर गण (एनम् अभित.) इसके इर्द गिर्द (दिक्षु) समस्त दिशाओं में (सहस्रश' श्रिता.) हजारों की सख्या में विराजमान हैं (एषाम्) इनके (हेड') रोष, क्रोध या अनादर भाव को हम (अव ईमहे) दूर करें। शमन करें।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपा ऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य्यः. स दृष्टो मृडयाति नः॥७॥

विराड् आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—(य.) जो (असौ) वह (नीलग्रीव.) गले में नीलमणि बांधे और (विलोहित.) विष रूप से लाल पोशाक पहने अथवा विविध गुणों और अधिकारों से उच्च पद को प्राप्त कर (अवसर्पति) निरन्तर आगे बढ़ा चला जाता है (एन) उसको तो (गोपा) गौवों के पालक गोपाल और (उदहार्य) जल लाने वाली कहारियों तक भी (अदृश्रन्) देख लेती हैं और पहचानती हैं (स') वे (दृष्ट') आखों से देखा जाकर (न. मृडयाति) हम प्रजाजनों को सुखी करें।

(६,७)—अध्यात्म में समाधि के अवसर के पूर्व ताम्र, अरुण, बभ्रु, नील, व रक्त आदि वर्णों का साक्षात् होता है। उस आत्मा के ही आधार पर (रुद्रा) रोदन शील सहस्रों प्राणि आश्रित है। हम उनका अनादर न करें। क्योंकि उनमें वही चेतनांश हैं जो हम में हैं। उसी आत्मा को

नलिमणि के समान स्वच्छ कान्तिमान् अथवा लालमणि के समान विशुद्ध लोहित रूप से (गोपा) जो इन्द्रिय-विजयी अभ्यासी जन और (उदहार्यः) ब्रह्मामृत रस का स्वादन करनेवाली चित्त भूमियें साक्षात् करती हैं वह हमें सुखी करें ।

ईश्वर-पक्ष में—वह पापियों को पीड़ित करने से 'ताम्र', शरण देने से 'अरुण', पालन पोषण करने से 'वभ्रु', सुखमय रूप से व्यापक होने से 'सुमङ्गल' है। समस्त (रुदाः) बडी शक्तियां, उसी पर आश्रित हैं। हम उनका अनादर न करें। वह प्रलयकाल में या भूतकाल मे जगत् को लीन करने वाला होने से 'नीलग्रीव' है, भविष्य में विविध पदार्थों का निरन्तर उत्पादक होने से 'विलोहित' है। उसको सयमी जन और ब्रह्मरसपायिनी ऋतंभरा आदि चित्त वृत्तियां साक्षात् करती हैं। वह ईश्वर हमें सुखी करें।

नीलग्रीवाः = नीलास्या.—यथा चूलिकोपनिषदि नीलास्याः ब्रह्म शायिने । अत्र दीपिका—लीनमास्यम् मुखं प्रवृत्ति द्वारं रागादि येषां तथोक्ता। तत्र नलयो वर्णविपर्ययश्छान्दसः—

यस्मिान् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम् ।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति बुद्बुदाः सागरे यथा ॥ १७ ॥ चू० आ० ॥

नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये ऽअस्य सत्वानोऽहं तेभ्यो अकरं नमः ॥ ८ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—पूर्वोक्त (नीलग्रीवाय) नीलमणि से सुभूषित ग्रीवा वाले, अग्रणी, (सहस्राक्षाय) सभासद् और प्रणिधि, चरों आदि द्वारा सहस्रों आंखों वाले (मीढुषे) प्रजा पर सुखो और शत्रु पर बाणों की वर्षा करने वाले सूर्य या मेघ के समान उदार, तेजस्वी राजा और सेनापति को

(नम अस्तु) शत्रुओं को नमाने का वज्र, वल, प्रजा पालन का सामर्थ्य, अन्न और आदर भाव प्राप्त हो। (अथो) और (ये) जो (अस्य) इसके अधीन (सत्वान') और भी सत्ववान्, सामर्थ्यवान्, वलवान् वीर पुरुष हैं (अहम्) मैं प्रजाजन (तेभ्य.) उनके लिये भी (नमः) अन्न आदि भोग्य पदार्थ, शस्त्रास्त्र वल और आदर (अकरम्) करूं, उनको दूं।

प्रमुञ्च धन्वन्त्स्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम्।
याश्च ते हस्त इषव पराता भगवो वप ॥ ६ ॥

भुरिगाप्युष्णिक। ऋषभ ॥

भा०—हे सेनापते ! अग्रणीनेत ! वीर राजन् ! (धन्वन') धनुष की (उभयो आर्त्न्यो) दोनों कोटियों में (ज्याम्) ज्या, विजयशालिनी या शत्रुक्षयकारिणी, जयदायिनी डोरी को (प्रमुञ्च = प्रतिमुञ्च) जोड़ और (या च) और जो (इषव) वाण (ते हस्ते) तेरे हाथ में हैं (ता) उनको तू हे (भगव) ऐश्वर्यवन् ! (परा वप) दूर तक शत्रुओं पर फेंक।

अथवा—(आर्त्न्यो ज्याम् प्रमुञ्च) हे भगवन् ! तू अपनी धनुष कोटियों की डोरी उतार ले। (हस्ते इषव ता परावप) और जो हाथ में वाण है उनको दूर रख। हमें उनसे न मार (उव्वट')

अथवा—(या ते हस्ते इषव ता उभयो आर्त्न्यो. ज्याम् उपरि नियोज्य परा वप) हाथ के वाणों को कोटियों पर लगी डोरी पर लगा कर उनके ऊपर फेंक। ८० ॥

विज्यन्धनुः कपर्दिनो विशल्यो वाणवाँ२उ उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥ १० ॥

भुरिगार्ष्यनुष्टुप्। गाधार. ॥

भा०—(कपर्दिन·) सुन्दर जटावान्, शुभ केशकलाप वाले, केशवान् या शिर पर शुभ फुनगी या मौर को धारण करने वाले वीर पुरुष का क्या (धनु· विज्यम्) धनुष डोरी से रहित हो सकता है ? नहीं। (उत बाणवान् विशल्य·) तो क्या बाणों से भरा तर्कस बाण रहित हो सकता है ? नहीं। (अस्य या इषवः) इसके जो इषु, बाण हैं क्या वे (अनशन्) नष्ट हो सकते है ? नहीं। तो क्या (अस्य निषङ्गधिः) वे इसकी तलवार का कोश (आभुः) खाली रह सकता है ? कभी नहीं। प्रत्युत, सदा उसके धनुष पर डोरी, तर्कस में बाण, और हाथ में बाण और कोष में तलवार रहनी आवश्यक हैं।

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः।
तयास्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परि भुज ॥ ११ ॥

निचृदनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—हे (मीढुस्तम) अति अधिक वीर्यशालिन् नरर्षभ ! या शत्रुओं पर मेघ के समान शरवर्षक ! (या ते) जो तेरे (हस्ते) हाथ में (हेति·) वज्र और (ते धनु बभूव) और तेरी हाथ में धनुष है। (तया) उस (अयक्ष्मया) रोगादि रहित, विशुद्ध बाण से (त्वम्) तू (विश्वतः) सब प्रकार से (अस्मान्) हमे (परि भुज) सब तरफ से रक्षा कर।

सेना के शस्त्रों और अस्त्रों में रोगकारी, विष आदि का प्रयोग नहीं होना चाहिये।

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम् ॥ १२ ॥

भा०—(ते धन्वनः हेतिः) हे रुद्र ! तेरे धनुष का बाण (अस्मान्) हमें सदा (विश्वत) सब ओर से (परिवृणक्तु) रक्षा करे, शत्रुओं से

१२, ११ इति मन्त्रक्रमविपर्ययः। काण्व०।

बचावे । (अथो) और (यः तव इषुधि) जो तेरा बाण आदि शस्त्रों को रखने का तर्कस या शस्त्रागार है उसको (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (निधेहि) रख । शस्त्रागार और तोप खाना नगर से पर्याप्त दूर हो जिससे फटने पर नगर की हानि न हो । शस्त्रों तोपों को नगर के चारों ओर रक्षार्थ लगावें ।

अवतत्य धनुष्ट्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे ।
निशीर्य्य शल्यानाम्मुखा शिवो नः सुमना भव ॥ १३ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (सहस्राक्ष) चर आदि प्रणिधि और सभा के विद्वान् सभासदों रूप हजारों आखों वाले राजन् ! हे (शतेषुधे) सैकड़ों बाणों के रखने के तुणीर और शस्त्रागारों वाले ! तू (धनु अवतत्य) धनुष को तान कर और (शल्यानाम् मुखा) बाणों के फलों के मुखों को खूब तेज करके भी (नः) हमारे लिये (शिवः) कल्याणकारी और (सुमना. भव) हमारे प्रति शुभ चित्त वाला होकर रह ।

नमस्त आयुधायानाततायं धृष्णवे ।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥ १४ ॥

भुरिगार्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(ते) तेरे (अनाततायं) अविस्तृत, सक्षिप्त परन्तु (धृष्णवे) शत्रु का धर्षण करने, मानभङ्ग करने वाले (आयुधाय) आयुध, हथियार शस्त्र का (नम) बल वीर्य प्रकट हो । अथवा (आयुधाय) सब ओर लड़ने वाले (अनाततायं) न अति विस्तृत अपितु स्वल्प काय होकर भी (धृष्णवे) शत्रु का पराजय करने में समर्थ (ते) तुझको (नम) हम प्रजागण आदर दें एवं अन्न आदि पदार्थ दें, या तुझे वीर्य प्राप्त हो । तुझ में शत्रु को नाना देने का सामर्थ्य प्राप्त हो । (उत) और (ते) तेरे

(उभाभ्याम् बाहुभ्याम्) शत्रुओं को बाधा करने वाले दोनों बाहुओं के समान, स्थिर अस्थिर या दाये, बायें विद्यमान या पदाति और सवार दोनो प्रकार की सेनाओ को (नम.) बल और अन्न प्राप्त हो और (तव धन्वने नमः) तेरे धनुष अर्थात् धनुर्धर सेना बल को भी अन्न या वीर्य प्राप्त हो ।

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकम्मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्ररीरिषः १५

निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! सेनापते ! तू (न.) हमारे (महान्तम्) बड़े, वृद्ध, आदरणीय, पूजनीय (उत) और (न·) हमारे (अर्भकम्) छोटे, बालक अथवा छोटे पद के पुरुष को भी (मा वधी.) मत मार । (नः उक्षन्तम्) हमारे वीर्यसेचन में समर्थ तरुण पुरुष को भी (मा) मत मार । (उत) और (न) हमारे (उक्षितम्) गर्भाशय से निषिक्त, वीर्य अर्थात् गर्भस्थ डिम्ब को (मा वधी.) विनष्ट मत कर । (नः पितरम्) हमारे पालक, पिता को (मा वधी.) मत मार (उत मातरम् मा वधीः) और माता को भी मत मार । हे (रुद्र) दुष्टों के रुलाने हारे शत्रु के दुर्गों को रोधन करने हारे रुद्र ! (न.) हमारे (प्रियाः तन्वः) प्रिय शरीरों को भी (मा रीरिष.) मत पीडित कर । या (तन्वः) हमारे कुल के विस्तारक पुत्र पौत्र आदि प्रजाओं को भी मत मार ।

तन्वः शरीराणि (द०) । शरीराणि पुत्रपौत्रादिलक्षणानि इत्युव्वटः ।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।
मा नो वीरान्रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे १६

निचृदार्षी जगती । निषाद. ॥

भा०—हे (रुद्र) दुष्टो के रुलाने हारे राजन् ! (नः) हमारे (तोके)

नव शिशु पर और (तनये) पाच वर्ष से ऊपर के पुत्र पर (मा मा रीरिष) हिसा का प्रयोग मत कर। और (न आयुषि) हमारे आयु पर (मा रीरिष.) आघात मत कर। (न·) हमारे (भामिनः वीरान्) क्रोधयुक्त वीर पुरुषों का (मा वधी·) घात मत कर। और हम लोग (सदम्) सदा (हविष्मन्तः) अन्न आदि भेंट योग्य पदार्थों के लिये हुए (त्वा इत् हवामहे) तेरा ही आदर करते हैं।

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशां च पतये नमो नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमो नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः१७

(१७–४६) त्र्यशीती रुद्रा देवता। निचृदतिधृति। षड्ज॥

भा०—१. (हिरण्यबाहवे सेनान्ये नम.) बाहु पर सुवर्ण पट्टक या विशेष आभूषण या नाम या सख्या चिन्ह को धारण करने वाले अथवा ज्योति या सूर्य के समान प्रखर वीर्यवान् बाहुओं या सेनारूप तेजस्वी बाहुओ वाले, सेना नायक को वज्र का बल प्राप्त हो। २. (दिशा च पतये नम.) दिशाओं के पालक को अन्न आदि प्राप्त हो। ३. (हीरकेशभ्य) पीले या नीले पत्तों के समान पीले या नीले या मनोहरी केशो को धारण करने वाले (वृक्षेभ्य) वृक्षों के समान सब के आश्रय दाता पुरुषों को नम) नमस्कार है। अथवा (हरिकेशेभ्य) केशो को हरण करने वाले (वृक्षेभ्य) शत्रुओं को भक्षन करने वाले रुद्ररूप वीर पुरुषों को (नम.) अन्न बल प्राप्त हों। अथवा हरे पत्तोंवाले वृक्षों को (नमः) पशु से काटो। ४. (पशूनां पतये नम.) पशुओं के पालक को (नमः) अन्न और बल पदाधिकार प्राप्त हो। ५. (शष्पिन्जराय) सूखे घास के समान पीत, कान्तिमान् वर्ण वाले (त्विषीमते) दीप्ति से युवक तेजस्वी पुरुष को अथवा–'शष्पि'=घास आदि को 'जर'=जलाने वाले, अग्नि वालों को, अथवा–(शष्पिन्जराय नम.) छहों, आंख,

नाक, रसना, कान, त्वचा और मन से ग्रहण योग्य विषय बन्धन को त्यागने हारे, (त्विषीमते) कान्तिमान् को (नमः) अन्न आदि बल और आदर प्राप्त हो । (पथीनाम्) मार्गों के और मार्गगामी यात्रियों के (पतये) पालक मार्गाध्यक्ष को भी (नम) राष्ट्र के अन्न में भाग एवं पदाधिकार, या बल प्राप्त हो । (हरिकेशाय) हरित अर्थात् नील केशवाले अति युवक (उपवीतेन) यज्ञोपवीत के धारण करने वाले बालब्रह्मचारी को (नमः) अन्न भाग और आदर, वीर्य सब प्राप्त हो । (पुष्टानां पतये) हृष्ट पुष्ट बालकों के पालक माता पिता को अधिकार एवं अन्नादि पदार्थ और आदर प्राप्त हो ।

अथवा—सेनानी, दिशाम्पति, वृक्षपति, पशुपति, शर्ष्पिजरपति, पथीपति, हरिकेशपति, उपवीतपति, ये राष्ट्र के भिन्न २ विभागों के अधिकारी हैं उनके हिरण्यबाहु, हरिकेश, त्विषीमान्, आदि ये मानवाचक पद हैं । उनको (नमः) राष्ट्र के अन्न के भाग प्राप्त हों ।

अथवा—१. सुवर्ण आदि धन के बलपर शासन करने वाला, पुरुष 'हिरण्यबाहु' । २. सेना का नायक 'सेनानी' । ३. दिशाओं का पालक दिक्पाल, 'दिशाम्पाल' । ४. वृक्षों के समान शरण प्रद बड़े धनाढ्य लोग, सब शरण योग्य 'वृक्ष' नामक अधिकारी । ५. क्लेशों के हरण करने वाले स्वयंसेवक, लोग 'हरिकेश' । ६. पशुओं के पालक 'पशुपति' । ७. शष्प अथवा घास का चरने का प्रबन्ध कर्त्ता 'शर्पिञ्जर' । नगर में प्रकाश का प्रबन्धकर्त्ता 'त्विषीमान्' । ८. मार्गों का स्वामी 'पथीनांपति' । ९. क्लेशों का हर्त्ता वैद्य 'हरिकेश' । १०. यज्ञोपवीत धारण करने कराने वाले गुरुशिष्य 'उपवीति' । ११ पुष्ट पशुओं का पालक 'पुष्टपति' ये सब भिन्न २ नाम के रुद्र 'जातसंज्ञ' अर्थात् नाम पदधारी रुद्र कहाते हैं उनके (नमः) राष्ट्र में भाग अधिकार प्राप्त हो ।

नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै

जगतां पतये नमो नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः ॥ १८ ॥

रुद्रा देवताः । निचृदष्टि । मध्यम ॥

भा०—(वभ्लुशाय) वभ्रुवर्ण, खाकी रंग की पोषाक पहनने वाले या राज्य के भरण पोषण करने वाले (व्याधिने) शिकारी पुरुष को (नम.) अन्न प्राप्त हो । (अन्नाना पतये नम.) अन्नों के पालक खेतों पर पड़ने वाले मृग, हाथी और साम्भर आदि वनैले पशुओं से खेतों के बचाने वाले को (नम) राष्ट्रान्न में से भाग, पद, अधिकार आदि प्राप्त हो । (भवस्य हेत्यै) 'भवस्य' उत्पन्न होने वाले प्राणियों के 'हेति' धारण पोषण करने वाले उनकी वृद्धि करने के लिये और (जगतां पतये नमः) जंगम प्राणियों के पालन कर्त्ता को (नम) बलवीर्य, अधिकार प्राप्त हो। (रुद्राय आततायिने नम) चारों तरफ विस्तृत शत्रु दलपर आक्रमण करने वाले अथवा धनुष चढ़ाकर चढ़ाई करने वाले को (नमः) बल, वीर्य, अधिकार प्राप्त हो । (क्षेत्राणा पतये नम) क्षेत्रों की रक्षा करने वाले को अधिकार मिले । (सूताय) घोड़ों को हाकने में समर्थ और (अहन्त्यै) युद्ध में किसी को स्वयं न मारने वाले को (नम) अन्न, वज्र या खड्ग प्राप्त हो। (वनानां पतये नम) वनों के पालक को शस्त्र प्राप्त हो ।

'सूताय'—क्षत्रियाद्विप्रकन्याया जाताय वीराय प्रेरकाय इति दयानन्दः। तच्चिन्त्यम् ।

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः ॥ १९ ॥

१८—'नमो वभ्रुशाया व्या०' इति काण्व० ।

विराडति धृतिः । षड्ज ॥

भा०—(रोहिताय नम.) लाल वर्ण की पोशाक पहनने वाले अधिकारी को (नम.) शस्त्र बल प्राप्त हो । (स्थपतये नमः) स्थानों के पालक के लिये अथवा गृहादि निर्माण करने वाले तक्षक आदि शिल्पी लोगों को (नमः) शस्त्र प्राप्त हों । (वृक्षाणां पतये नमः) वृक्षों के पालक को शस्त्र प्राप्त हो । (भुवन्तये नमः) भूमियों के विस्तार करने वाले अर्थात् जंगल पहाड़ी आदि की भूमि को ठीक करके खेत बनाने वाले अथवा आचारवान् पुरुष को (नमः) शस्त्र और अन्न प्राप्त हो । (वारिवस्कृताय नम.) सेवा करने वाले अथवा धन ऐश्वर्य पैदा करने वाले पुरुष को (नमः) बल और आदर प्राप्त हो । (मन्त्रिणे नम.) राजा के मन्त्री को बल, आदर, और पद प्राप्त हो । (वाणिजाय) वणिग् व्यापार कुशल पुरुष को (नम.) अन्न, आदर, अधिकार प्राप्त हो । (कक्षाणा पतये नम) वन के झाड़ी, लता, घास आदि के पालन करने वाले अधिकारी पुरुष को अथवा राज-गृह के प्रान्तों के रक्षक को (नम) शस्त्र प्राप्त हो । (उच्चैर्घोषाय) राष्ट्रों मे राजा की आज्ञा को ऊंचे स्वर से आघोषित करने वाले अधिकारी को, (आक्रन्दयते) शत्रुओ को रुलाने वाले या पीछे के आक्रमण से बचाने वाले को (नमः) बल आदि प्राप्त हो । (पत्तीनां पतये नमः) पैदल सेना के पति को (नम.) शस्त्र बल प्राप्त हो ।

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्वनां पतये नमो नमः सहमानाय निव्याधिन आव्याधिनानां पतय नमो नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो नमो निचेरवे परिचरायारण्यानां पतये नमः२०

अतिधृति । षड्जः ॥

भा०—(कृत्स्नायतया धावते) पूर्ण विजय लाभ के निमित्त शत्रु

२०—'नमः कृत्स्नायताय०' ०'ककुभाय निषङ्गिणे सेनाना०' इति काण्व० ।

पर आक्रमण करने वाले अथवा धनुष को पूर्ण रूप से तान कर शत्रु पर वेग से आक्रमण करने में समर्थ पुरुष को (नम) बल, शस्त्र और अन्न, आदर प्राप्त हो । (सत्वनां पतये) वीर्यवान् प्राणी या सैनिको के पति को (नम.) आदर या शस्त्र-बल प्राप्त हो । (सहमानाय) शत्रु को पराजय करने वाले को और (निव्याधिने) नियत लक्ष्य पर ठीक २ निशाना लगाने वाले को और (आव्याधिनीना पतये नम.) सब तरफ से शस्त्रों का प्रहार करने वाली सेनाओं के पति को (नम) आदर, शस्त्र बल और अधिकार प्राप्त हो। (निषङ्गिणे) शस्त्रागार में अस्त्र शस्त्रो के पालक को (नम) अधिकार, सत्कार प्राप्त हो । (ककुभाय) बड़े भारी (स्तेनाना पतये) चोरों के पति सर्दार, चोरो को वश मे रखनेवाले पालक, कारागार के अध्यक्ष को भी (नम.) आदर पद प्राप्त हो। (नि चेरवे) गुप्तरूप से राजा के कार्य से सर्वत्र विचरने वाले को और (परिचराय) भृत्य, सेवक को (अरण्यानां पतये) जगलो के पति, पालक, वनाध्यक्ष को (नम) अधिकार प्राप्त हो ।

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो निषङ्गिणे ऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमोऽसिमद्भ्यो नक्तं चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः ॥ २१ ॥

निचृदतिधृति । षड्जः ॥

भा०—(वञ्चते) ठगने वाले को, (परिवञ्चते) सर्वत्र कपट से रहने वाले को और (स्तायूना पतये नम.) चोरो के सर्दार को (नम.) वज्र प्रहार की पीड़ा प्राप्त हो । अथवा शत्रु सेना को छल कर उनका पदार्थ प्राप्त करने वाले, उनमें कपट से रहने वाले और उनके माल को चुराने और डाका डाल कर हर लेने वालो का सर्दार उनके वश करने वाले को (नम) आदर प्राप्त हो । (निषङ्गिणे इषुधिमते) खड्ग धारण करने में समर्थ और

वाणों का तर्कस उठाने वाले वीर पुरुष का (नम.) आदर हो । (तस्करणां पतये) शत्रुओं पर नाना क्रूर कर्म और चौर्यादि का कार्य करने वालों के सर्दार को पदाधिकार प्राप्त हो। अथवा| चोरो के सर्दार को वज्र से दण्ड दिया जाय । (सूकायिभ्य. जिघासद्भ्यः) शत्रुओं का हनन करने की इच्छा वाले खाण्डा को धारण कर चलने वालों को (नमः) शस्त्र बल प्राप्त हो । (मुष्णतां पतये नमः) घरों से धन को और खेतों से अन्न आदि पदार्थों को हर लेने वाले पुरुषो के पति अर्थात् उनपर नियुक्त दण्डाधिकारी को (नम) अधिकार बल प्राप्त हो । (असिमद्भ्यः नक्तं) चरद्भ्यः) तलवार लेकर रात को विचरण करने वा पहरा देने वालों को (नमः) अन्न आदि पदार्थ और शस्त्राधिकार प्राप्त हो । (विकृतानां पतये नम) प्रजा के नाक कान हाथ पैर काट कर आभूषण, धन आदि लूट लेने वाले दुष्ट पुरुषों के (पतये) पति अर्थात् उनपर नियुक्त अधिकारी पुरुष को (नमः) शस्त्राधिकार, बल और अन्न प्राप्त हो।

नमऽउष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमऽइषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नमः ॥ २२ ॥

निचृदष्टि । मध्यम. ॥

भा०—(उष्णीषिणे) ऊंची पगड़ी पहनने वाले ग्रामपति या अध्यक्ष को (नम) आदर प्राप्त हो । (गिरिचराय) पर्वतों पर विचरण करने वाले (कुलुञ्चानां पतये) कुत्सित उपायो से लूट लेने वालो के पति, पालक उनपर नियुक्त शासक को (नम.) आदर प्राप्त हों । (इषुमद्भ्य) बाण वालों को (धन्वायिभ्यश्च नम.) धनुष लेकर विचरने वालो को (नम) अन्नादि प्राप्त हो । (आतन्वानेभ्य प्रतिदधानेभ्यः च नम. नम.) धनुष पर डोरी तानने वालों को और बाण लगा कर छोड़ने

वालों को भी आदर प्राप्त हो। (आयच्छद्भ्य अस्यद्भ्यः च वः नमः नम.) धनुषों को खैंचने वाले या शत्रुओं को निग्रह करने वाले, और बाण आदि शस्त्रास्त्रों को फेंकने वाले तुम वीरो को भी (नमः) आदर प्राप्त हो।

नमो॑ विसृ॒जद्भ्यो॒ विद्ध्य॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ स्व॒पद्भ्यो॒ जाग्र॑द्भ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ शया॑नेभ्य॒ऽआसी॑नेभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमस्ति॒ष्ठद्भ्यो॒ धाव॑द्भ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २३ ॥

निचृदति जगती । निषादः ॥

भा०— (विसृजद्भ्य) शत्रुओं पर बाण छोड़ने वाले, (विद्ध्यद्भ्यः शत्रुओं को बेधने वालों को (नम नम) नमस्कार हो। (स्वपद्भ्यः जाग्रद्भ्य च व नमः नम) युद्ध के ढेरों में सोने वाले या युद्ध में आहत होकर लेट जाने वाले, जाग कर पहरा देने वालों को भी तुमको (नम) आदर प्राप्त हो। (शयानेभ्य) सोने वाले, लेटने वाले, बैठे हुए, (तिष्ठद्भ्य) खड़े हुए और (धावद्भ्यः च व) दौड़ने वाले को भी (नम. नम नमः नम.) आदर योग्य पद प्राप्त हो।

नमः॑ स॒भाभ्य॑ स॒भाप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॑ऽश्वे॒भ्यो॑ऽश्व॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ ऽआव्या॒धिनी॑भ्यो वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॑ उग॑णाभ्यस्तृꣳह॒तीभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥ २४ ॥

शक्वरी । धैवत. ॥

भा०—समूह या संघ बना कर काम करने वालों की गणना करते हैं ॥ (व.) आप मे से (सभाभ्यः) सभाओं को, (सभापतिभ्यः) सभाओं के संञ्चालक पतियों को (अश्वेभ्य) घुड़सवारों को, (अश्वप-

---

२४—४६ एते जातरुद्राः ।

तिभ्यः) घुड़सवारों के प्रमुख नेता पतियों को, (आव्याधिनीभ्यः) सब ओर व्यूह बनावर शस्त्र फेकने में कुशल सेनाओं को, (विविध्यन्तीभ्यः) विविध उपायों से शत्रुओं को वेधने वाली 'विविध्यन्ती' नाम सेनाओं को, (उगणाभ्य) उच्चकोटि के सैनिकों की सेनाओं को । (स्तृंहतीभ्य' चावः) आप लोगों की नाशकारिणी तृहंती नाम सेनाओं को भी (नमः) राष्ट्र में उत्तम अन्न, पद, अधिकार और आदर और साधुवाद प्राप्त हो ।

नमो॑ ग॒णेभ्यो॑ ग॒णप॑तिभ्यश्च वो॒ नम॒ो नम॒ो व्रा॒तेभ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नम॒ो नम॒ो गृत्से॑भ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नम॒ो नम॒ो वि॒रू॒पेभ्यो॒ वि॒श्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २५ ॥

भुरिक् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(गणेभ्यः) गण या दस्ता या संघ बन कर सेना का कार्य करने वाले, (गणपतिभ्य.) उन गणों के सरदार, (व्रातेभ्य) समूह या कुल बना कर रहने वाले और (व्रातपतिभ्य. च) उन संघों के पालक विद्वान कुल पतियों को और (गृत्सेभ्य) नाना पदार्थों को चाहने वाले, या पदार्थों के गुण वर्णन करने वाले मेधावी विद्वान पुरुषों और (गृत्सपतिभ्यः) उन मेधावी पुरुषों के प्रमुख नेताओं को और (विरूपेभ्यः विश्वरूपेभ्यः च) अपने विविध प्रकार के रूप धारण करने वालों को और सब प्रकार स्वरूप बना लेने में सिद्धहस्त बहुरूपिया आदि कुशल करनाटकी पुरुषों आदि (व नम.) आप लोगों को उचित आदर और यथायोग्य अन्न, बल पदाधिकार प्राप्त हो ।

नमः॑ सेना॑भ्यः सेना॑निभ्य॑श्च वो॒ नम॒ो नमो॑ र॒थिभ्यो॑ अर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नम॒ो नम॑ क्ष॒त्तृभ्यः॑ संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नम॒ो नमो॑ महद्भ्यो॑ऽअर्भ॒-केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥ २६ ॥

भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—(सेनाभ्य सेनानिभ्य च) सेनाएं, सेनाओं के नायक, (रथिभ्य. प्रस्थेभ्य. च) रथी और विना रथ के, (क्षत्तृभ्य) क्षत्ता, अर्थात् रथी योद्धा के अगरक्षक, सारथिया द्वारपाल और (सग्रहीतृभ्य. च) कर आदि संग्रह करने वाले अथवा घोडों का रास पकड़ने वाले (महद्भ्य) बड़े और (अर्भकेभ्य) छोटे (व. नम.) आप सबको यथा योग्य पद, आदर, अन्नादि ऐश्वर्य प्राप्त हो ।

क्षत्तृभ्य.'—शूद्रात् क्षत्रियाया जातेभ्यः इति भाष्ये श्रीदया० । तच्चिन्त्यम् ॥ क्षत्ता सारथिर्द्वारपालो वैश्याया शूद्रा ज्जातोवेति उणादिव्याख्याया दया० । तच्चोभय विभिद्यते । 'क्षियन्ति निवसन्ति रथेष्विति क्षत्तार. । यद्वा क्षियन्ति प्रेरयन्ति सारथीनिति क्षत्तारो रथाधिष्ठातार ' इति महीधर । रत्नाधिष्ठातारः क्षत्तार. इति उव्वटः ।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्य कर्म्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्य पुञ्जिष्टेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः ॥ २७ ॥

निचृत् शक्वरी । धैवत ॥

भा०—(तक्षभ्य.) तक्षा, बढ़ई (रथकारेभ्य) रथों के बनाने वाले शिल्पी, (कुलालेभ्य) कुम्हार, मट्टी के बर्त्तन बनाने वाले, (कर्मारेभ्य) लोहार, लोहे के अस्त्र शस्त्र बनाने वाले (निषादेभ्य) वनों, पर्वतों में रहने वाले नीच जीवन स्थिति में रहने वाले (पुञ्जिष्टेभ्य) पुल्कस, डोम आदि शुद्र के कामों में लगे हुए या नाना रंगों या भाषाओं में प्रवीण, (श्वनिभ्य) कुत्तों के पालक और सधाने वाले (मृगयुभ्य.) मृगों के शिकारी, इन सब (व नम.) तुम लोगों को यथोचित वेतनादि द्रव्य प्राप्त हो ।

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥२८॥

आर्षी जगती । निषाद. ॥

भा०—(श्वभ्यः) कुत्ते अथवा कुत्तों के समान चोरों का पता लगाने वाले, (श्वपतिभ्यः) कुत्तों के पालक इन (वः नमः) तुम सबको पालन योग्य वेतन, अन्नादि प्राप्त हो । (भवाय) गुणो के श्रेष्ठ, या पुत्रोत्पादन मे समर्थ, (रुद्राय) शत्रुओं को रुलाने वाला, (पशुपतये) पशुओं के पालक (नीलग्रीवाय) गले में नील चिन्ह के धारक (शितिकण्ठाय) श्वेत वर्ण या चिन्ह को कण्ठ में धारण करने वाला, इन सब को (नमः) उचित चिन्ह आदर, भोज्य अन्नादि प्राप्त हो ।

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च नमो गिरिशायं च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च

भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—(कपर्दिने) कपर्द अर्थात् जटावाला, जटिल ब्रह्मचारी, अथवा जटा से सुशोभित वीर पुरुष, (व्युप्तकेशाय) विशेष रूप से केश कटा कर रखने वाले, संन्यासी या गृहस्थ, (सहस्राक्षाय) सर्वत्र हजारो शास्त्रीय विषयों मे चक्षु वाले विद्वान्, (शतधन्वने) सैकड़ों धनुष के प्रयोगों को जानने वाले, (शिरिशाय) वाणी मे रमण करने वाले कवि, (शिपिविष्टाय) पशुओं मे लगे हुए अथवा धनादि ऐश्वर्यों मे निमग्न, धनाढ्य वैश्य, (मीढुस्तमाय) वीर्यसेचन में समर्थ, 'तरुण' अथवा वृक्षों उद्यान आदि सेचन समर्थनादि और (इषुमते च) उत्तम बाणों वाले वीर, इन सबको (च) और अन्यान्य इनके भृत्य आदि को भी (नमः) योग्य पद, वेतनादि सत्कार प्राप्त हो ।

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च नमो वृद्धाय च सवृधे च नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च ॥ ३० ॥

विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ह्रस्वाय च) आयु मे छोटे, (वामनाय च) शरीर के कद में

छोटे अथवा रूप आदि गुणों में सुन्दर (बृहते च) शरीर में बड़े, और (वर्षीयसे) आयु मे बड़े, (वृद्धाय च) पद में बड़े, (सवृधे च) समान वयस् के मित्रों में बड़े, (अग्न्याय च) या अधिकार में बड़े और (प्रथमाय च) योग्यता में बड़े, इन सब के लिये (नमः नमः) उचित आदर और पद प्राप्त हो।

नमः ऽआशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च नम ऽऊर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नाद्येयाय च द्वीप्याय च ॥ ३१ ॥

पक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(आशवे च) शीघ्र गति करने वाले अश्व के समान तीव्र गामी, (आजिराय च) निरन्तर बहुत देर तक अनथक चलने वाला, (शीघ्र्याय च) शीघ्र कार्य करने में चतुर; (शीभ्याय च) चुस्ती से करने योग्य कार्यों में कुशल, (ऊर्म्याय च) तरङ्ग या उमङ्ग मे आकर काम करने वाला, (अवस्वन्याय च) शब्द न करते हुए चुप चाप रीति से काम करने वाला, (नाद्येयाय) नाद, ऊचे शब्द गर्जना के साथ कार्य करने वाला और (द्वीप्याय च) जलादि से चारों ओर घिरे द्वीप के समान शत्रु द्वारा घिर जाने पर भी उन अवसरों और ऐसे स्थानों पर कार्य करने में कुशल इन सब प्रकार के पुरुषो को (नमः ४) उचित कार्य आदर और वेतन प्राप्त हों।।

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च नमो मध्यमाय चापगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्न्याय च ॥ ३२ ॥

स्वराड् आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ज्येष्ठाय च) अपने से पूर्व उत्पन्न, आयु और बल में बड़े, (कनिष्ठाय च) आयु और मान में छोटे, (पूर्वजाय च) पूर्व उत्पन्न, (अपरजाय च) पीछे उत्पन्न, (मध्यमाय च) बड़ों छोटों के बीच के भाई, (अपगल्भाय च) धृष्टतारहित अथवा एक का अन्तर छोड़ कर पैदा हुए तीसरे भाई (जघन्याय च) नीच या छोटे कर्म में लगे, या नीचे के पद पर स्थित

और (वृध्न्याय च) सब से नीचे के आश्रय रूप पुरुष इन सब को (नमः) यथायोग्य आदर सत्कार ऐश्वर्य, मान, पद प्राप्त हो।

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्य्याय च नमो याम्याय च क्षेम्याय च नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नमः उर्व्वर्य्याय च खल्याय च ॥३३॥

आर्षी त्रिष्टुप। वैवतः॥

भा०—(सोभ्याय) उभय पाप और पुण्य अथवा उभय, इह लोक और परलोक अथवा उभय, अपना राष्ट्र और पर राष्ट्र दोनों में रहनेवाला उभय वेतन प्रणिधि, 'सोभ्य' अथवा ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों में वर्त्तमान पुरुष, सोभ्य, (प्रतिसर्याय च) प्रति सरण, शत्रु पर चढाई करने और उसके पीछा करने में समर्थ, (याम्याय च) शत्रुओं को बांधने और राष्ट्र के नियमन करने में कुशल, (क्षेम्याय च) प्रजाओं का क्षेम करने में कुशल, (श्लोक्याय च) वेदमन्त्रों द्वारा स्तुति करने अथवा उनके व्याख्यान करने में कुशल, (अवसान्याय च) अवसान, कार्यों की समाप्ति करने या वेद के अन्तिम भाग उपनिषदों के उपदेश करने में कुशल, (उर्वर्य्याय च) 'उरु-अर्य' अर्थात् बड़े २ ऐश्वर्यों के स्वामी अथवा 'उर्वर्य' उर्वरा भूमियों को क्षेत्र उद्यान बनाने में कुशल और (खल्याय च) 'खल' कटे धान्यों को एकत्र करने के स्थान, खलिहान में धान्य अन्न आदि को स्वच्छ करने में कुशल, या उन २ स्थानों के वृद्धि करने में कुशल अधिकारी लोगों को भी (नमः) योग्य मान, पद एवं वेतन आदि प्राप्त हो।

नमो वन्याय च कक्ष्याय च नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च नमः आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च ॥ ३४ ॥

स्वराट् आर्षी त्रिष्टुप्। वैवत ॥

भा०—(वन्याय च) वनों के रक्षण में कुशल वनाध्यक्ष, 'वन्य' (कक्ष्याय च) पर्वतों और नदियों के तटों के अध्यक्ष 'कक्ष्य' (श्रवाय च)

शब्द करने वाले, बाजा आदि बजाने वाले और (प्रतिश्रवाय च) प्रति शब्द करने वाले, (आशुषेणाय च) शीघ्रगामिनी सेना के स्वामी, (आशुरथाय) शीघ्रगामी रथसेना वाले (शूराय च) शूरवीर, (अवभेदिने च) शत्रु के व्यूह और गढ़ों को तोड़ने वाले इन समर्थ राष्ट्र और युद्धोपयोगी पुरुषों को (नम) उचित अन्न, मान, पद, अधिकार आदि दिया जाय।

नमो विल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च ॥ ३५॥

स्वराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(विल्मिने) उत्तम विल्म, शिरस्त्राण को धारण करने वाले या उजले वस्त्र धारण करने वाले या शत्रु के गढ़ तोड़ने के हथियार धरने वाले, (कवचिने च) कवचधारी, (वर्मिणे) लोह के कवच धारने वाले (वरूथिने) गृह, प्रासाद आदि के स्वामी अथवा हाथी पर रखने के हौदावाले या छत वाले रथ पर सवार (श्रुताय) शौर्य आदि से प्रसिद्ध, (श्रुतसेनाय) विजय कार्य और शूरता मे विख्यात सेना वाले, (दुन्दुभ्याय च) दुन्दुभि के उठाने वाले और (आहनन्याय च) सेना में जोश डालने के लिये नगाड़ों पर दण्डादि से आघात करके बजाने वाले इन सबको भी (नमः ४) उचित अन्न, पद, कार्य, वेतन आदि प्राप्त हो।

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च ॥ ३६ ॥

स्वराडार्षी त्रिष्टुप । धैवत ॥

भा०—(धृष्णवे च) शत्रु का धर्षण करने मे समर्थ, प्रगल्भ, दृढ, निर्भय पुरुष, (प्रमृशाय च) उत्तम विचारशील, शास्त्रज्ञ, (निषङ्गिणे च) खड्ग आदि नाना शस्त्रधारी, (इषुधिमते च) उत्तम शस्त्रास्त्र बाण आदि के तर्कस वाले (तीक्ष्णेषवे च) तीक्ष्ण बाण वाले, (आयुधिने

च) हथियारबन्द (स्वायुधाय च) उत्तम हथियारों से सजे, (सुधन्वने च) उत्तम धनुषधारी, इनको भी (नमः ४) योग्य वेतन, पद और आदर प्राप्त हो ।

नमः स्रुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नाद्येयाय च वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत" ॥

भा०— (स्रुत्याय च) स्रुति, छोटे २ मार्गों या नालों के अध्यक्ष, (पथ्याय च) बड़े मार्ग, पथों के अध्यक्ष, (काट्याय च) काट, अर्थात् बुरे मार्ग या विषम मार्ग, या कूप या नहर या पुलों के अध्यक्ष, (नीप्याय च) बहुत गहरे जल के स्थानों के अध्यक्ष, (कुल्याय च) नहरों के प्रबन्ध में, या बनाने में लगा पुरुष, (सरस्याय) तालाबों के बनाने या प्रबन्ध में लगा पुरुष, (नाद्येयाय) नद नालों पर का अध्यक्ष (वैशन्ताय च) वेशन्त ताल, तलैय्याओं का अध्यक्ष इनको भी यथोचित वेतन और आधिकार प्राप्त हो ।

नमः कूप्याय चावट्याय च नमो वीध्र्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(कूप्याय च) कूपों पर नियत पुरुष, (अवट्याय च) अवट अर्थात् गढ़ों पर नियत पुरुष, (वीध्र्याय च) विविध प्रकाशों के विज्ञान में कुशल, (आतप्याय च) सूर्य के ताप का उत्तम उपयोग या विज्ञान वाले, अथवा आपत, धूप में कार्य करने वाले, (मेघ्याय च) मेघों का विज्ञान जानने वाले, (विद्युत्याय च) विद्युत् के विज्ञान में कुशल, (वर्ष्याय च) वृष्टि के विज्ञान में कुशल और (अवर्ष्याय च) अवर्ष अर्थात् वर्षाओं के न होने

३८—'नम ईध्र्याय' इति काण्व० ।

पर जल का उचित प्रबन्ध करने में, अतिवृष्टि को दूर करने में समर्थ इन समस्त पुरुषों के राष्ट्र में उचित आदर, पद, अन्न, वेतन आदि प्राप्त हो।

नमो वात्याय च रेष्म्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च नमः सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय च ॥ २९ ॥

स्वराटार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(वात्याय च) वायु विद्या के ज्ञाता, (रेष्म्याय च) हिंसाकारी प्रबल आन्धड़ के समय उचित उपाय जानने वाले, (वास्तव्याय च) वास्तु विद्या गृह निर्माण के ज्ञाता, (वास्तुपाय च) गृहों, महलों, राजप्रासादों की रक्षा के विज्ञान को जानने वाले, (सोमाय च) सोम आदि ओषधियों के विद्वान् या ऐश्वर्यवान्, (रुद्राय च) रुत्=दुःखों के नाशक वैद्य या शल्य चिकित्सक या दुष्टों के रुलाने वाले और (ताम्राय च) शत्रुओं को पराजित करने वाले इन सब पुरुषों को (नमः ४) योग्य पदाधिकार, मान और वेतन आदि प्राप्त हो।

नमः शङ्गवे च पशुपतये च नम उग्राय च भीमाय च नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय ॥ ४० ॥

गतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—गौओं के लिये कल्याणकारी अथवा कल्याण और सुख को प्राप्त करने वाला, (पशुपतये च) पशुओं का पालक, (उग्राय च) उग्र, तेजस्वी, (भीमाय) भयानक, शत्रुओं में भय उत्पन्न करने में समर्थ, (अग्रेवधाय च) आगे आये शत्रुओं को मारने वाला, (दूरेवधाय च) दूरस्थ शत्रुओं को मारने वाला, (हन्त्रे) मारने वाला, (हनीयसे च) बहुत अधिक मारने वाला, (वृक्षेभ्यः) शत्रुओं का काट डालने वाले शूरवीर या वृक्ष के समान आश्रय-प्रद और वृक्ष (हरि-

केशेभ्य.) नीले बालों वाले अथवा क्लेशों को दूर करने वाले इन समस्त पुरुषों को (नम) उचित आदर, पदाधिकार और वेतन अन्न आदि प्राप्त हो । (ताराय) दुःख से या जल, समुद्रादि से तराने वाले को (नमः ४) अन्नादि प्राप्त हो ।

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ ४१ ॥

स्वराडार्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(शम्भवाय च) प्रजाओं को शान्ति प्राप्त कराने वाले, (मयोभवाय च) सुख के साधन उपस्थित करने वाले, (शङ्कराय च) कल्याण करने वाले, (मय -कराय) सुखप्रद, (शिवाय) स्वत. कल्याणमय (शिवतराय च) और भी अधिक शिव, मङ्गलकारी पुरुषों को (नम. ४) आदर प्राप्त हो ।

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च ॥ ४२ ॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(पार्याय च) पार, परले तट के अध्यक्ष, (अवार्याय च) उरले तट के अध्यक्ष, (प्रतरणाय) परले तट से इस तट को पहुंचाने वाली नौका के अध्यक्ष, (उत्तरणाय) इस तट से उस परले तट तक पहुचने वाली नौका के अध्यक्ष, (तीर्थ्याय) तीर्थ, घाट आदि के अधिष्ठाता (कूल्याय च) तट पर का अध्यक्ष, (शष्प्याय च) घास तृण गुल्मादि के अध्यक्ष या शुल्कग्राही और (फेन्याय च) फेन, दूध आदि के पदार्थों पर नियत शुल्कग्राही अथवा जहां नदी, धारापात से झगयाती गिरे ऐसे प्रपातों के अध्यक्ष इन सब को (नमः) उचित वेतन आदि प्राप्त हो।

४१—'नमः शम्भवे च मयोभवे च' इति काण्व० ॥

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च ४३

जगती । निषाद. ॥

भा०—(सिकत्याय च) बालू के विज्ञान जाननेवाले (प्रवाह्याय च) 'प्रवाह', जलधारा के प्रयोगज्ञ अथवा भारी पदार्थ को अच्छी प्रकार दूर ले जाने के साधनों के जानकार, (किंशिलाय च) छोटी बजरी के प्रयोगज्ञ या क्षुद्र २ पेशों के अध्यक्ष, (क्षयणाय च) जलों से भरे गढ़ों के अध्यक्ष अथवा गृह बना कर रहने वाले, (कपर्दिने च) कपर्द अर्थात् कौड़ी, सींप, शख आदि के व्यापार के अध्यक्ष या जटाजूट वाले जन (पुलस्तये च) बड़े २ भारी पदार्थों को उठाने वाले यन्त्रों का निर्माता, (इरिण्याय च) ऊपर भूमियों का अधिकारी और (प्रपथ्याय च) उत्तम २ मार्गों का अधिकारी इन सब को (नम ४) उचित मान, पद, वेतन आदि प्राप्त हो ।

नमो व्रज्याय गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्याय च नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च ॥४४॥

आर्षी त्रिष्टुप । धैवतः ॥

भा०—(व्रज्याय) व्रज अर्थात् गौओं के रेवड़ों के अध्यक्ष, (गोष्ठ्याय) सरकारी गोशालाओं के अध्यक्ष, (तल्प्याय) विस्तरयोग्य पदार्थों पर नियुक्त सेवक, (गेह्याय) गृह, मकान पर भृत्य अधिकारी, (हृदय्याय च) हृदय को सदा प्रसन्न करनेवाले खिलौने और खेल करने वाले, हृदय के प्रेमी (निवेष्याय च) उत्तम वेष पहनाने और बनाने वाला अथवा (निवेष्याय च) आवर्त या निहार या कोहरा को दूर करने वाला, (काट्याय च) कट, चटाई आदि बनाने में प्रवीण या उचित रूप से बिछाने वाला, (गह्वरेष्ठाय च) पर्वतों के

४३—'पुलस्तिने च' इति काण्व० ।

गह्वरों, गहरे जल और विषम स्थानों का उत्तम परिचित इन सबको (नमः) उचित आदर और अन्नादि वृत्ति प्राप्त हो।

नमः शुष्क्यांय च हारित्यांय च नमः पांसव्यांय च रजस्यांय च नमो लोप्यांय चोलप्यांय च नम ऊर्व्यांय च सूर्व्यांय च ॥४५॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—(शुष्क्याय च) शुष्क पदार्थों से व्यवहार करने वाले, (हरित्याय च) शाक आदि हरे पदार्थों के अधिकारी, (पांसव्याय च) पासु, मिट्टी ढोने वालों पर का अधिकारी (रजस्याय) रजस् अर्थात् सूक्ष्म धूल का व्यापार करने वाले, (लोप्याय च) पदार्थों का लोप या विनाश करने वाले, (उलप्याय च) उलप, तृण राशि के ऊपर के अधिकारी, (ऊर्व्याय च) 'ऊर्वी' भूमि या विस्तृत खेतों पर के शासक अथवा (सूर्व्याय च) उत्तम भूमियों के स्वामी, अथवा उत्कृष्ट हिंसा कार्य में कुशल, इन सब को भी उत्तम वेतन आदि दे।

नमः पर्णांय च पर्णशदाय च नम ऽउद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम ऽआखिदते च प्रखिदते च नम ऽइषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्च वो नमो नमो वः किरिकेभ्यो देवानाꣳ हृदयेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम ऽआनिर्हतेभ्यः ॥ ४६ ॥

स्वराड् प्रकृतिः । धैवत ॥

भा०—(पर्णाय) वृक्षों के नीचे गिरे पत्तों के ठेकेदार, (पर्णशदाय च) पत्तों के काटने वाले, (उद्गुरमाणाय च) भार उठा कर लाने वाले, श्रमी, (अभिघृते) कुठार चला कर वृक्ष काटने वाले, (आखिदते च) दीनों पर नियुक्त पुरुष, (प्रखिदते) बहुत ही पतित दीनों पर नियुक्त पुरुष अथवा (आखिदते) पशुओं को हांकने वाले और (प्राखिदते) बहुत दीन, (इषुकृद्भ्यः धनुष्कृद्भ्यः च) बाण और धनुष बनाने वाले इन

सब छोटे मोटे पेशों वाले सबको यथोचित रूप से वृत्ति और अन्न प्राप्त हो। (किरिकेभ्य॰) नाना प्रकार के काम करने वाले या नाना पदार्थों को कारीगरी से पैदा करने वाले और (देवानां हृदयेभ्यः) देव, दिव्य-शक्तियों के हृदय अर्थात् मुख्य केन्द्रों के संस्थापक, अग्नि वायु और आदित्य इन की विद्या में कुशल, (क्षिचिन्वत्केभ्य) नये २ पदार्थों तत्त्वों और पुराने उपयोगी पदार्थों, शत्रुओं और चोरों की खोज लगाने वाले अविष्कारक लोग, (क्षिक्षिणत्केभ्य ,) और विविध उपायों से शत्रुओं का विनाश करने में कुशल और (आनिर्हतेभ्य॰) गुप्त रूप से सब तरफ शत्रु देश में व्याप जाने वाले इन सब को भी (नम) उचित वृत्ति प्राप्त हो। शत॰ ६।१।१।२३॥

इन सब नाना रुद्रों की विवेचना भूमिका भाग में विशेष रूप से की जायगी पाठक वहा ही देखें।

द्रापे ऽअन्धंसस्पते दरिद्र नीललोहित।
आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ्मो च नः किंचनाममत् ४७

एको रुद्रो देवता। भुरिगार्षी बृहती। मध्यम ॥

भा०—हे (द्रापे) शत्रुओं को कुत्सित गति अर्थात् दुर्दशा में पहुंचा देने हारे! हे (अन्धसः पते) अन्न आदि भोग्य पदार्थ, एवं जीवनप्रद पदार्थों के पालक! स्वामिन्! हे (दरिद्र) शत्रुओं को दुर्गति में डालने वाले! अथवा दुर्गत! दुष्प्राप्य! एकाकी अधिकारिन्! हे (नीललोहित) कण्ठ देश में नीले और शेष देह पर लाल वर्ण के वस्त्र पहनने हारे राजन्! वीर! तू (आसाम्) इन प्रजाओं में से और (एषाम् पशूनाम्) इन पशुओं में से किसी को (मा भेः) भयभीत मत कर (मा रोङ्) रोग से पीड़ित मत कर, (मो च) और न (किंचन) किसी प्रकार से (आममत्) पीड़ा, कष्ट दे। शत॰ ६।१।१।२४॥

४७—'मा भेर्मो रोङ्मो' इति क्काण्व॰।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः ।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे ऽअस्मिन्ननातुरम् ४८
ऋ० १ । ११४ । १ ॥

भा०—(तवसे) बड़े भारी, बलवान्, (कपर्दिने) शिर पर जटाजूट को धारण करने वाले अथवा जटा के स्थान में केशों पर मुकुट धारण करने वाले (क्षयद्-वीराय) अपने आश्रय पर वीरों को बसाने वाले, (रुद्राय) प्रजा के दुःखों के नाशक एवं शत्रुओं को रुलाने वाले, (महे) बड़े भारी राजा के लिये हम (इमा. मतीः) उन उत्तम स्तुतियों को या यथार्थ गुण-वर्णनों को अथवा (मतीः) मनन द्वारा प्राप्त नाना साधनों का (प्रभरामहे) अच्छी प्रकार प्रयोग करें । अथवा, (इमा. मती प्र भरामहे) इन मतिमान् विद्वानों को अच्छी प्रकार पालें पोषण करें (यथा) जिससे (द्विपदे) दो पाये मनुष्यों और (चतुष्पदे) चौपायों को (शम्) शान्ति (असत्) प्राप्त हो । और (विश्वम्) समस्त प्रजा और पशु आदि प्राण-गण (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (अनातुरम्) नीरोग, व्याकुलता रहित अभय रहकर (पुष्टम् असत्) हृष्ट होकर रहे ।

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ४९ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारं ॥

भा०—हे (रुद्र) सत् अर्थात् प्राणियों की चीख पुकारवाली पीड़ा को दूर करने हारे ! (या) जो (ते) तेरी (शिवा) मङ्गलमय (तनूः) विस्तृत राजशक्ति है वह (विश्वाहा) सब दिनों (शिवा) मङ्गलमय, सुखकारिणी और (भेषजी) ओषधि के समान कष्ट-पीड़ाओं को दूर करने वाली हो । वह (शिवा) शिव, कल्याणकारिणी (रुतस्य) देह की व्याधि

४९—'शिवमृतस्य', 'मृळ' इति काण्व० ।

को (भेषजी) दूर करने वाली हो । (तया) उससे ही तू (नः) हमें (जीवसे) दीर्घ जीवन तक (मृड्) सुखी कर ।

परि॑ नो रु॒द्रस्य॑ हे॒तिर्वृ॑णक्तु॒ परि॑ त्वे॒षस्य॑ दुर्म॒तिर॑घा॒योः ।
अव॑ स्थि॒रा म॒घव॑द्भ्यस्तनुष्व मी॒ढ्व॑स्तो॒काय॒ तन॑याय मृड ॥५०॥
ऋ० २ । ३३ । १४ ॥

आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मीढ्वः) समस्त प्रजापर सुखों की वर्षा करने हारे पर्जन्य के समान राजन् ! (रुद्रस्य) दुष्टों के रुलाने वाले वीर पुरुषों के (हेति) शस्त्र (नः) हमें (परिवृणक्तु) दूर से ही छोड़ दें, हम पर वे प्रहार न करें । और (अघायो) हम पर पाप और अत्याचार करने की इच्छा वाले (त्वेषस्य) क्रोध से जले हुए पुरुष की (दुर्मति) दुष्ट बुद्धि भी (नः परिवृणक्तु) हमसे दूर रहे । (मघवद्भ्यः) धन-सम्पन्न प्रजाओं की रक्षा के लिये (स्थिरा) स्थिर शस्त्रों को (अव तनुष्व) स्थापित कर । और हमारे (तोकाय तनयाय) पुत्र और पौत्रों के लिये या छोटे और बड़े बालकों को (मृड) सुखी कर ।

मी॒ढु॑ष्टम॒ शिव॑तम॒ शिवो॑ नः सु॒मना॑ भव ।
प॒र॒मे वृ॒क्ष आयु॑धं नि॒धाय॒ कृत्ति॒ वसा॑न॒ आ च॑र॒ पिना॑कं॒ बिभ्र॒दा गहि
निचृदार्षी यवमध्या त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (मीढुस्तम) अतिशय वीर्यसम्पन्न एवं प्रजा पर अति अधिक सुखों के और शत्रुओं पर अति अधिक शरों के वर्षा करने में समर्थ ! हे (शिवतम) अतिशय कल्याणकारिन् ! तू (नः) हमारे प्रति (शिवः) कल्याणकारी और (सुमना) शुभ चित्त वाला (भव) हो । तू (परमे वृक्षे) अति अधिक काटने योग्य शत्रु सेना पर अपने

५०—परिणो हेती रुद्रस्य वृज्यात् परित्वेषस्य दुर्मतिर्महीगात्, 'मृळ' इति काण्व० ।
५१—'मीळ्हुस्तम' इति काण्व० ।

(आयुधं निधाय) शस्त्र को रख कर और (कृत्तिम्) चर्म को (वसानः) धारण करके (पिनाकं बिभ्रद्) प्रजा के-पालन और त्राण साधन शस्त्र अस्त्र, धनुष आदि (बिभ्रद्ः) धारण करता हुआ (आचर) चारों ओर विचर और (आ गहि) हमें प्राप्त हो।

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते ऽअस्तु भगवः।
यास्ते सहस्रꣳ हेतयोऽन्यमस्मन्नि वपन्तु ताः ॥ ५२ ॥

आर्ष्यनुष्टुप । गान्धारः ॥

भा०—हे (विकिरिद्र) शरों की बौछारों से शत्रुओं को भगा देने हारे ! अथवा विविध प्रकार के घात, हत्या, चोरी, वटमारी आदि उपद्रवों के दूर करने हारे ! हे (विलोहित) विशेष रूप से रक्त वर्ण की पोषाक पहनने हारे अथवा पाप के भावों से रहित, विविध पदार्थों का स्वामिन् ! हे (भगवः) ऐश्वर्यवन् ! (ते नम अस्तु) तेरे लिये हमारा आदर भाव प्रकट हो। और (याः) जो (ते) तेरे (सहस्रम्) हजारों (हेतयः) शस्त्र अस्त्र हैं (ताः) वे (अस्मत्) हमसे दूर होकर (निवपन्तु) शत्रु पर पड़ें।

विकिरिद्र—विकिरिन् इषून् द्रावयति इति विकिरिद्र इति उव्वट. । विविधं किरिं घाताद्युपद्रवं द्रायति नाशयति इति महीधर । विशेषेण किरिः सूकर इव द्रायति शेते विशिष्टं किरिंद्राति निन्दति वा तत्सम्बुद्धौ विकिरिद्र इति दया० ।

उव्वट और महीधरकृत व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ ऊपर किया गया है। दयानन्दकृतव्युत्पत्ति के अनुसार उनके बनाये भाषाभाष्य मे किये अर्थ का तात्पर्य नहीं पता लगता। कदाचित् उनका अभिप्राय है, (विकिरिद्र) विशेष रूप से बलवान् ! शूकर के समान निश्चिन्त होकर शयन करने हारे ! या विशेष बलवान् ! शूकर को भी बल मे पराजित करने वाले ! अर्थात् निर्भीक आक्रामक !

'विलोहित.'— विगतकलमषभावः इति उव्वटः ।

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (भगव.) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! (तव बाह्वोः) तेरी बाहुओं में (सहस्राणि सहस्रशः) हजारहों, लाखों, (हेतयः) शस्त्रास्त्र हैं । तू (तासां) उनका (ईशान.) स्वामी है । (पराचीना मुखा) उनके मुख परली तरफ को (कृधि) कर ।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा ऽअधि भूम्यास् ।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥

शत० ९ । १ । १ । ३० ॥

विराड् आर्ष्यनुष्टुप् । गाधार. ॥

भा०—(भूम्यास् अधि) भूमि पर अधिष्ठाता रूप से या शासक रूप से (ये) जो (असंख्याता सहस्राणि) असख्य, हजारों (रुद्राः) प्राणियों को रुलाने वाले पदार्थ और प्राणी, हैं । (तेषाम्) उनके (धन्वानि) धनुषो को हम (सहस्रयोजने) हजारों कोसों तक (अव तन्मसि) विस्तृत करें या शान्त करे ।

अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा ऽअधि ।
तेषाꣳसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५५ ॥

भुरिगार्ष्युष्णिक् । ऋषभ. ॥

भा०—(अस्मिन्) इस (महति) बड़े भारी (अर्णवे) समुद्र के समान विस्तृत (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक सर्व रक्षक राजा के अधीन (भवा· अधि) उत्पादन सामर्थ्य से युक्त 'भव' नामक अधिकारी रूप से सहस्रों पुरुष विद्यमान है (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत् ।

५४—५३ सतोवतान । सप्तदशाः दश मन्त्राः । सर्वा० ।

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवꣳरुद्रा ऽउपश्रिताः ।
तेषा ँ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५६ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—(नीलग्रीवाः) गर्दनो मे नील वर्ण के और (शितिकण्ठाः) कण्ठ पर श्वेत चिन्ह धारण करने वाले (रुद्रा) प्राणियों के दुःखहर (दिवि) सूर्य के आश्रय मे चन्द्र आदि लोक के समान आल्हादक राजा के (उपश्रिता) आश्रित बहुत से अधिकारी विद्यमान है । (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत् ।

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा ऽअधः क्षमाचराः ।
तेषा ँ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५७ ॥

निचृदार्ष्य नुष्टुप् । गाधारः ॥

भा०—(नीलग्रीवाः शितिकण्ठा) गर्दन पर नील वर्ण के और कण्ठ में श्वेत वर्ण के चिन्ह को धारण करने वाले (शर्वा) हिंसा कारी (अधः) नीचे (क्षमाचराः) पृथ्वी पर विचरने वाले अथवा नीचे की श्रेणियों में विचरने वाले हैं (तेषां सहस्र० इत्यादि) पूर्ववत् ।

चन्द्रादि लोक जो स्वयं प्रकाशमान नही हैं वे सूर्य के आश्रित होकर उसके प्रकाश से कण्ठ अर्थात् आगे की ओर से तो चमकीले और पीछे की ओर से अन्धकारमय, नीले होते हैं । उसी प्रकार जो राजा के आश्रित भृत्य हैं वे भी आगे से चमकते राज शासन का कार्य करते हैं और उनके काले गुण अर्थात्, लोभ आदि पीछे रहते हैं । वे उनका प्रयोग नहीं कर सकते ।

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः ।
तेषा ँ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५८ ॥

आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—(ये) जो (नीलग्रीवा) गर्दन पर नीले वर्ण के (शञ्जि-ञ्जरा) हिंसक व्याघ्रादि के समान पीले वर्ण वाले, पीली वर्दी पहने और (विलोहिता.) शेष में लाल रंग के वर्ण के रह कर (वृक्षेषु) वृक्षों पर या काटने योग्य शत्रुओं पर जा पड़ते हैं (तेषा सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत्।

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।
तेषा सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५९ ॥

आसुर्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—(ये) जो (भूतानाम्) प्राणियों के (अधिपतय') अधिपति, पालक (विशिखास) शिखा केश आदि रहित सन्यासी गण और (कपर्दिनः) जटिल ब्रह्मचारी लोग अथवा (विशिखासः) विना शिखा के, विना तुर्रे वाले और जो (कपर्दिनः) शिर पर मुकुट धारण करने वाले हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत्।

ये पथा पथिरक्षय ऽऐलवृदा आयुर्युधः ।
तेषा सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६० ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—(ये) जो (पथाम्) मार्ग के रक्षक और (पथिरक्षयः) मार्ग में चलने वाले यात्रियों के भी रक्षा करने हारे, (ऐलवृदा) अथवा (ऐल-वृधा') पृथ्वी पर के अन्न आदि पदार्थों को बढ़ाने वाले या पृथ्वी पर उत्पन्न अन्नों से सबके पालन में समर्थ अथवा (= ऐल-भृता) अन्नादि द्वारा भरण पोषण किये गये, (= ऐल-वृता) अन्नादि मात्र की वृत्ति प्राप्त किये हुए केवल (आयुर्युध.) जान तोड़ कर शत्रु से लड़ने वाले हैं (तेषा सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

६०—'पथिरक्षिण. ऐळ'० इति काण्व० ।

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६१ ॥

निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार. ॥

भा०—(ये) जो (सृकाहस्ता) भाला हाथ मे लिये, (निषङ्गिणः) तलवार बांधे, (तीर्थानि) विद्यालयो, जहाजो और घाटो की रक्षा के लिये उन स्थानो पर (प्रचरन्ति) घूमते हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६२ ॥

भुरिगार्ष्यनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—(ये) जो दुष्ट पुरुष (अन्नेषु) अन्नादि भोजनो और (पात्रेषु) पात्रो मे अर्थात् जल दुग्ध आदि के पात्रो पर (पिबत) पान करने वाले (जनान्) जनो को (विविध्यन्ति) उनपर शस्त्र का प्रहार करते या उनको बाण के तुल्य घायल करते है । (तेषा सहस्र०) उनको दूर करने के लिये हजारों योजन तक फैले देश मे हम धनुषो को विस्तृत करे ।

अथवा—जो, अन्न दुग्धादि पदार्थों को खाते पीते हुए अपराधी पुरुषो पर प्रहार करते हैं उनके धनुषो को हजारो योजन तक विस्तृत करे ।

य एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषांसहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ६३ ॥

भुरिगार्ष्युनुष्टुप् । गाधार ॥

भा०—(ये) जो (एतावन्त च) इतने पूर्व कहे और (भूयांसः च) इनसे भी अधिक (रुद्रा.) प्राणियों को दण्ड देने वाले राज-पुरुष (दिश.) समस्त दिशो मे (वितस्थिरे) विविध पदो पर स्थित हैं (तेषां सहस्र०) इत्यादि पूर्ववत् ।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः । तेभ्यो दश प्राची-

र्दशं दक्षिणा दशं प्रतीच्चीर्दशोदीच्चीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६४ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये ऽन्तरिक्षे येषां वात ऽइषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दशं दक्षिणा दशं प्रतीच्चीर्दशोदीच्चीर्दशोर्ध्वा । तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६५ ॥

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दशं दक्षिणा दशं प्रतीच्चीर्दशोदीच्चीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नोऽमृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६६ ॥

(६४–६६) धृति । ऋषभ ॥

भा०—(ये) जो (दिवि) सूर्य के आश्रित या द्यौलोक मे विद्यमान सूर्यादि के समान (दिवि) तेजस्वी राजा के आश्रित (रुद्राः) रुद्र गण है (येषाम्) जिनका (वर्षम्) जल-वर्षण के समान शस्त्र-वर्षण ही (इषव) बाण हैं उन (रुद्रेभ्य) दुष्टों को रुलाने हारो के लिये (नमः अस्तु) आदर प्राप्त हो ॥

इसी प्रकार (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में वायु, मेघ आदि के समान हैं और जो अन्तरिक्ष के समान सब को आवरण करने वाले रक्षक राजा पर आश्रित रुद्र गण हैं (तेषा वात इषव) जिनके वायु या वायु के समान तीव्र वेगवान् बाण है (तेभ्य नमः अस्तु) उनको हमारा नमस्कार है ।

इसी प्रकार (ये पृथिव्याम्) जो रुद्र गण पृथिवी पर हैं । और जो

६४–६६—ऋयोऽपि अवरोह सज्ञा मन्त्राः । सर्वा० । 'तेनो मृळयन्तु'० इति काण्व० ।

पृथिवी के समान सर्वाश्रय राजा के आश्रय पर रहते हैं (येषाम् अन्नम् इषव) जिनका अन्न आदि भोग्य पदार्थ ही प्रेरक द्रव्य या बाण के समान वशकारी साधन हैं उन (रुद्रेभ्यः नम. अस्तु) रुद्रों को नमस्कार हो। (तेभ्यः) उनको (दश प्राची· दश प्रतीची दश दक्षिणाः दश उदीचीः दश ऊर्ध्वा) दश दश प्रकार की पूर्व, पश्चिम उत्तर दक्षिण और ऊर्ध्व दिशाएं प्राप्त हों। अर्थात् सब दिशाओं मे उनको दशों दिशाओं के सुख प्राप्त हों। अथवा दशों दिशो मे उनका दोनो हाथो को जोड कर दश अगुलिये आदरार्थ दर्शाता हू।

(तेभ्य. नम. अस्तु) उनको हमारा आदरपूर्वक नमस्कार हो। (ते नः अवन्तु) वे हमारी रक्षा करें। (ते न मृडयन्तु) वे हमे सुखी करें। (ते) वे और हम (यं द्विष्म) जिसको द्वेष करते हैं (य. च न· द्वेष्टि) और जो हमसे द्वेष करता है (तम्) उसको हम लोग मिलकर (एषाम्) उनके (जम्भे) बिल्ली के मुख में जिस प्रकार मूसा पीडा पाता है उसी प्रकार कष्ट पाने के लिये उनकी अधीनता मे (दध्म) धर दे। वे उनको दण्ड दें। ६४, ६५, ६६ ॥ शत० ६। १। ३५–३६ ॥

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तदशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्य ओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽ अधि सम्भृतं पयः । तां न इषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳ-रराणाऽअश्मँस्ते क्षुन् मयि त ऽऊर्ग्यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥१॥

मरुतो ग्रश्माच देवता. । अति शक्वरी । पन्चम· ॥

भा०—हे (मरुत.) मरुद्-गण ! वैश्यगण प्रजागण ! और कृषाण लोगो ! आप लोग (संरराणा) अन्न आदि समृद्धि को भरपूर देने वाले होकर (अश्मन्) राष्ट्र के भोग करने में समर्थ एव अपने पराक्रम से उस मे राजशक्ति से व्यापक, (पर्वते) पालनकारी सामर्थ्य से युक्त राजा मे, मेघ मे विद्यमान रस के समान (शिश्रियाणम्) आश्रित, विद्यमान, (ऊर्जम् · अन्नादि समृद्धि को और (अद्भ्य) जलों से, (ओषधिभ्य) ओषधियों से और (वनस्पतिभ्य.) वट आदि वनस्पति, बड़े वृक्षो से, जो (पय.) पुष्टिकारक रस (अधि सम्भृतम्) प्राप्त किया जाता है (ताम्) उस (इषम्) अभिलाषा के योग्य अन्न, (ऊर्जम्) बल-कारी रस को (न· धत्त) हमें प्रदान करो । हे (अश्मन्) राजन् ! भोक्तः ! (ते क्षुत्) तुझे भूख है, परन्तु हे राजन् ! (ते ऊर्ग्) तेरा बलकारी अन्नादि रस भी (मयि) मुझ प्रजा के अधार पर है तो भी (ते शुग्) तेरा शुक्, क्रोध और भूख, ज्वाला (यं द्विष्मः) हम जिससे द्वेष करते हैं उस शत्रु को (ऋच्छतु) प्राप्त हो । राजा धन तृष्णा से प्रेरित होकर भी प्रजा को न रुलावे, प्रत्युत शत्रु-राजा को विजय करे । वायुएं जिस प्रकार समुद के जलों को ढोकर लाते हैं और वे पर्वत पर बरसा देते हैं और वह सब नादियों, ओषधि, वनस्पतियों को प्राप्त होकर अन्न दूध

१—सेयातिथिऋषिः । द० ।

आदि के रूप में प्रजा को मिलता है उसी प्रकार प्रजा लोग, व्यापारी लोग और सैनिक लोग जितना भी धन सम्पत्ति, व्यापार, कृषि आदि से उत्पन्न करते हैं वे सब राजा के साथ मिलकर मानो उसी पर बरसाते है, उसी को दे देते हैं। उसके पास से फिर सब को देशभर में वासियों को प्राप्त होता है। सबकी भूख पीड़ा की शान्ति राजा के आधार पर है। राजा को अन्न आदि की प्राप्ति प्रजा के आधार पर है। राजा यादि क्रोध भी करे तो अपने प्रजा को पीड़ित न करके उसको पीड़ित करे जो प्रजा का शत्रु होकर प्रजा को कष्ट दे। चोर, डाकू, लोभी शासक, राजा के लोभी भृत्य, राजा का अपना लोभ और बाह्य शत्रु ये प्रजा के शत्रु हैं, उनका दमन करे। शत० ६। १। २। ५-१२॥

मरुतः—ये ते मारुता पुरोडाशा रश्मयस्ते। श० ६। ३।१। २५॥ गणशो हि मरुतः १६। १४। २॥ मरुतो गणनां पतयः। तै० ३। ११। ४। २॥ विशो वै मरुतो देवविशः।२। ५। १। १२॥ विड् वै मरुत'। त० १। ८। ३। ३॥ विशो मरुतः। श० २। ५। २६॥ कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥ तै० २। ४। ८। ७॥ पशवो वै मरुत। तै० १। ७। ३। ५। इन्द्रस्य वै मरुतः। कौ० ५। ४॥ अथैनमूर्ध्वायां दिशि मरुतश्चाङ्गिरसश्च देवा अभ्यषिञ्चन् पारमेष्ठ्याय माहाराज्यायाधिपत्याय स्वावश्यायातिष्ठाय। ऐ० ८। १४॥ हेमन्तेन ऋतुना देवा मरुतस्त्रिणवे स्तुतं बलेन शक्करीः सह' हविरिन्द्रे वयो दधुः। तै० २। ६। १६। २॥

मरुत्-सम्बन्धी पुरोडाश रश्मिएं हैं। अर्थात् सूर्य की जिस प्रकार रश्मियें मरुत् कहाती हैं उसी प्रकार राजा की सेनाएं और अधीन गण मरुत हैं। गण २, दस्ते २ बनाकर मरुत् लोग रहते हैं। गणों के पति भी 'मरुत्' हैं। प्रजाएं जो राजा की प्रजाएं हैं वे 'मरुत्' हैं। प्रजा सामान्य या वैश्यगण 'मरुत्' हैं। कीनाश अर्थात् किसान लोग भी 'सुदानु' उत्तम अन्नादि के दाता 'मरुत्' कहाते हैं। पशुगण भी 'मरुत्' हैं। इन्द्र आत्मा

के अधीन प्राणों के समान इन्द्र राजा के अधीन लोग 'मरुत्' हैं। सर्वोच्च स्थान में मरुत् गण और अंगिरस्, अर्थात् वीर सैनिक पुरुषों और विद्वान् पुरुष राजा को परम स्थान के अधिपति पद, महाराज पद, राष्ट्र को अपने वश में करने वाले 'स्वावश्य' पद और सबसे ऊचे स्थित 'आतिष्ठ' पदपर अभिषिक्त करते हैं। हेमन्त ऋतु जिस प्रकार सब वृक्षों के पत्ते झाड़ देती है उसी प्रकार युद्ध-विजयी राजा शत्रु और मित्र सबकी समृद्धि हर लेता है, हेमन्त की तीव्र वायुओं के समान वीर जन ही २७ पदाधिकारियों से शासित राष्ट्र में बलपूर्वक शक्तिमती सेना और शत्रु पराजयकारी बल और अन्न और हुकूमत शक्ति को स्थापित करते हैं।

१५ वें अध्याय में 'हेमन्त' पदपर राजा की स्थापना हो चुकी। १६ वें में रुद्र का अभिषेक, उसको समृद्धि और राजपद प्राप्त हुआ। समस्त छोटे मोटे बड़े ऊचे नीचे राजपदाधिकारियों की असख्यात रुद्रों के रूप में स्थापना अधिकार, मान, पद वेतन आदि पर नियुक्ति की जा चुकी। सबको नमस्कार हो गया। अब प्रजा-पालन और शत्रु-कर्षण दुष्ट-दमन का इस अध्याय में वर्णन किया जायगा।

अश्मा—पर्वत.—आवा—स्थिरो वा अश्मा। श० ६।१।२।५॥ असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निः। श० ६।२।३।१४॥ वज्रो वै आवा। श० १।१।५।६।७॥ मारुता वै आवाणः (तां० ६।१।१४) चकमक पत्थर के शस्त्र और बाण के फले बनते थे इससे वज्र या शस्त्र का प्रतिनिधि 'अश्मा' कहा गया है। वही राजा, प्रतिनिधि अथवा स्थिर पर्वत के समान दृढ़ राजा भी अश्मा है। पालन सामर्थ्य होने से राजा ही पर्ववान् 'पर्वत' है। इसी से आदित्य भी 'अश्मा पृश्नि' है। उसके समान तेजस्वी राजा भी कररूप रस ग्रहण करने वाला 'अश्मा' है।

इमा मे ऽअग्न ऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च

प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे ऽअग्न ऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥ २ ॥

अग्निर्देवता । विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवान् ! विद्वन् ! पुरोहित ! (मे) मेरी ये (इष्टका) मकान में चुनी गयी ईंटो के समान राज्यरूप महल में लगी, राज्य के नाना विभागो में नियुक्त शासक वर्ग, भृत्य वर्ग रूप ईंटें, सेनाएं और प्रजाएं अथवा इष्ट अर्थात् वेतनरूप से दिये गये अन्न या पिण्ड पर नियुक्त अमात्य भृत्यादि, सब, अथवा मेरे अभिलाषित राज्याङ्गरूप प्रजा-गण (मे) मेरे लिये (धेनवः) दुधार गौओं के समान समृद्धि और ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली और पुष्टिकारक बलप्रद, कर आदि देने वाली हों। और वे (एका च दश च) एक, एक, एक करके दश हों। (दश च शतं च) वे दस, दस दस करके सौ तक बढ़ जांय। (शतं च सहस्रं च) वे सौ, सा, सौ करके हजार तक बढ़ जांय। (सहस्रं च, अयुतं च) इसी प्रकार वे हज़ार २, दस हज़ार हो जांय। (अयुतं च नियुतं च) बे दस हज़ार बढ़कर एक लाख हो जांय (नियुतं च प्रयुतं च) वे एक लाख बढ़कर दस लाख हो जांय। इसी प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वे (अर्बुदं च) १० करोड़, (न्यर्बुदं च) अर्ब खर्ब, निखर्ब महापद्म, शंख (समुद्र च) समुद्र (मध्यं च) मध्य (अन्तः च) अन्त, (परार्धः च) और परार्ध हो जांय। और (एताः) ये सब (मे) मेरी (इष्टकाः) दान किये वेतन आदि पर बद्ध एवं प्रिय, एवं सुसंगठित राज्य की ईंटों के समान प्रजा गण (धेनवः सन्तु) दुधार गौओं के समान ऐश्वर्य रस के देने वाली ने आर (अमुष्मिन् लोके) परलोक में भी (अमुत्र) परदेश में भी सुखकारी हो। शत० ६ । १ । २ । १३–१७ ॥

ऋतवः स्थ ऋतावृधं ऋतुष्ठाः स्थ ऽऋतावृधः।
घृतश्च्युतो मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघा आसीयमाणाः ॥३॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी पंक्ति पञ्चम ॥

भा०—पूर्व कही राज्य की घटक इष्टकाओं का स्वरूप दर्शाते हैं—हे राज्य के विशेष २ मुख्य अंगों के नेता पुरुषो ! तुम (ऋतव. स्थ) वर्ष, संवत्सर रूप प्रजापति के अंशभूत जिस प्रकार ६ या ५ ऋतु होते हैं और नाना प्राणियों का उपकार करते हैं उसी प्रकार तुम लोग भी 'ऋतु' हो अर्थात् (ऋतावृध) ऋत अर्थात् सत्य व्यवहार और न्याययुक्त राज्य-तन्त्र को वृद्धि करने वाले हो । और हे उन अधिकारियों के आश्रय प्रजा लोगो ! और (ऋतुष्टा. स्थ) जिस प्रकार ऋतुओं में आश्रित मास पक्ष दिन आदि है उसी प्रकार तुम राष्ट्र के संचालकों पर आश्रित लोग भी 'ऋतुस्थ' ही हो क्योंकि तुम भी (ऋतावृध. स्थ) सत्य व्यवहार की वृद्धि करने वाले हो । आप लोग ही (घृतश्च्युत) घृत, दुध, तेज और पुष्टिप्रद पदार्थों को देने वाले हो (मधुश्च्युत.) अन्न और मधुर प्रदार्थों और सुखकारी पदार्थों और ज्ञानों को भी उत्पन्न करने वाले हो, तुम लोग (विराज.) विविध गुणों और ऐश्वर्यों से युक्त होकर (अक्षीय-माणा) कभी क्षीण न होने वाले, अक्षय (कामदुघा) यथेष्ट प्रकार से प्रजा की आकांक्षाओं के भरपूर करने वाले कामदुघा गौओं के समान हो ।

शत० ६ । १ । २ । १८–१६ ॥

समुद्रस्य त्वावकयाग्ने परि व्ययामसि ।
पावको ऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ ४ ॥

भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान शत्रुओं को भस्म करने हारे तेजस्विन् ! राजन् ! (समुद्रस्य अवकया) समुद्र के भीतर जिस प्रकार 'अवका' नाम शैवाल से जिस प्रकार मेंडक जल जन्तु सुरक्षित रहते हैं उसी प्रकार समुद्र के समान गम्भीर जल के बीच में (अवकया) प्रजा के रक्षण करने की शक्ति से तुझे (परि) सब ओर से (व्ययामसि) विविध प्रकारों से

हम प्रजाजन ही घेर लें। तू (पावक) पवित्रकारक अग्नि के समान राष्ट्र को पवित्र करने वाला होकर (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (शिवः भव) कल्याणकारी हो। शत० ६ । १ । २ । २०–२५ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परिव्ययामसि ।
पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ ५ ॥

अग्निर्देवता भुरिगार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(हिमस्य जरायुणा) हिम, शीतल जल की जरायु, शैवाल जिस प्रकार तालाब को घेर लेती है और मंडूक आदि उसमें सुख से रहते हैं उसी प्रकार हे (अग्ने) अग्ने ! संतापकारिन् (त्वा) तुझको (हिमस्य) हिम, पाला जिस प्रकार वनस्पतियों का नाश करता, जन्तुओं को कष्ट देता है, उसी प्रकार प्रजाओं के नाशकारी शत्रु के (जरायुणा) अन्त करने वाले बल से (परि व्ययामसि) हम तुझे चारों ओर से घेर लेते हैं। हे (पावकः) अग्नि के समान राज्य-कण्टकों को शोधन करनेहारे ! तू (अस्मभ्यं शिव. भव) हमारे लिये कल्याणकारी हो। शत० ६।१।२।२६॥

उप जमन्नुप वेतसेऽवतर नदीष्वा । अग्ने पित्तमपामसि मणिङ्क्तिताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधि ॥ ६ ॥

भा०—हे (मणिङ्क्ति) आनन्द करने, तृप्त करने और भूमि को सुभूषित करने वाली विशेष कलाकौशल समृद्धे ! तू (जमन् उप) पृथ्वी पर (अवतर) उतर आ। और (वेतसे) विस्तृत या अपने नाना सूत्रों के फैलने वाले राज्य में (अवतर) प्राप्त हो और (नदीषु) नदियों के समान प्रभूत. समृद्ध प्रजाओं में (आ अवतर) प्राप्त हो। हे (अग्ने) राजन् ! अग्रणी नेतः ! (अपाम्) समस्त कर्मों, प्रज्ञानों और प्राप्त प्रजाओं का (पित्तम्) तेजस्वरूप बल या पालक (असि) है। हे (मणिङ्क्ति) आनन्द आमोदकारिणि, विद्वत्सभे ! सेने ! तू (ताभिः)

उन प्रजाओं के साथ, (आगहि) प्राप्त हो। (इमं) इस (नः यज्ञं) हमारे सुव्यवस्थित यज्ञ, संगति करने वाले, व्यवास्थित (पावकवर्णम्) पावक पवित्रकारक अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष को अपने नेता रूप से वरण करने वाले राष्ट्र को (शिव) मङ्गलकारी, सुखदायी (कृधि) बना। शत० ६ । १ । २ । २७ ॥

गृहस्थ पक्ष में—हे (मण्डूकि) सुभूषिते, आनन्दकारिणि, पुत्रैषणा की तृप्तिकारिणि ! स्त्रि ! तू (ज्मन्) पृथिवी पर (वेतसे) प्रजा तन्तु सन्तान को फैलाने वाले पुरुष के आश्रय पर और (नदीषु) समृद्धि कारिणी लक्ष्मियों में आकर रह। हे (अग्ने) पुरुष ! तू (अपा) कर्मों का या इच्छाओं का पालक है। हे स्त्रि ! तू उक्त सब पदार्थों सहित और इस अग्नि के समक्ष स्वीकार किये गये या गार्हपत्याग्नि से प्रकाशमान गृहस्थ यज्ञ को मंगलमय बना।

'वेतसे'—वयति तन्तून् संतनोति इति वेतसः। द० उ० भा०। वैतसः पुंप्रजननाङ्गम्। वेतस एव वैतस । वेतसस्यायमिति वा। वैतसो वितस्तो भवति। नि०।

मण्डूकि—मंडूका मज्जूका, मज्जनात् मन्दतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणः मण्डयतेरिति वैयाकरणः मण्ड एषामोकमिति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा। इति निरु० ६ । १ । ५ ॥

अपामिदं न्ययनꣳसमुद्रस्य निवेशनम्।
अन्यास्ते ऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥७॥

अग्निर्देवत । आर्षी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(इदम्) यह अन्तरिक्ष या भूतल जिस प्रकार जलों का आश्रय है। और (समुद्रस्य) समुद्र का भी (निवेशनम्) आधार है। उसी प्रकार यह राष्ट्र (अपाम्) आप्त प्रजाओं का (नि-अयनम्) आश्रय-

स्थान है और (समुद्रस्य) समुद्र के समान भूमि के घेरने वाले, उसके रक्षक गम्भीर भूमि पर अन्तरिक्ष के समान प्रजा के आच्छादक राजा का भी (निवेशनम्) सेना सहित छावनी बना कर रहने का स्थान है। हे राजन् ! (ते हेतयः) तेरे शस्त्र (अस्मत् अन्यान् तपन्तु) हम से अतिरिक्त दूसरे शत्रुओं को पीड़ित करें और तू (पावकः) आहुति योग्य अग्नि के समान (अस्मभ्यं शिव भव) हमारे लिये कल्याणकारी, सुखदायी हो। शत० ६ । १ । २ । २८ ॥

गृहस्थ पक्ष मे—(इदं) यह गृहस्थ (अपाम्) समस्त कर्मों का आश्रय और (समुद्रस्य) उठती कामना का भी आश्रय है। हे विद्वान् गृहस्थ (ते हेतय·) तेरी लक्ष्मी को बढ़ी सम्पत्तियां हम से दूसरे शत्रुओं को सतावें। तू अग्नि के समान सब को आचार से पवित्र करने वाला होकर सुखकारी हो।

अग्ने पावक रोचिषा मन्द्रया देव जिह्वया।
आ देवान्वक्षि यक्षि च ॥ ८ ॥ ऋ० ५ । २६ । १ ॥

वसूयव ऋषय· । अग्निर्देवता । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! (पावक) हृदयों को, एक राज्य तन्त्र को पवित्र करने हारे ! तू (रोचिषा) तेज से हे देव) राजन् ! और (मन्द्रया) हर्षित करनेवाली, तृप्तिकारी, सुखद, गम्भीर (जिह्वया) जिह्वा, वाणी से (देवान्) अन्य विद्वानों और राजाओं के प्रति (वक्षि) उपदेश करता और आज्ञा प्रदान करता और (यक्षि च) सत्संग करता और अन्य राजाओं को मित्र बनाता है। शत० ६ । १ । २ । ३० ॥

स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ२ऽ इहावह।
उप यज्ञꣳ हविश्च नः ॥ ६ ॥ ऋ० ६ । १५ । ५ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (पावक) पवित्रकारक, कण्टकशोधक ! हे (अग्ने) अग्रणी नायक ! एव अग्नि के समान तेजस्विन् ! हे (दीदिवि.) शत्रु-दाहक ! अग्नि के समान जाज्वल्यमान ! (स) वह तू ही (नः) हमारे हित के लिये (देवान्) विद्वान् पुरुषों को (इह) इस राष्ट्र में (आ वह) प्राप्त करा, लाकर बसा । और (न. यज्ञ) हमारे यज्ञरूप परस्पर की संगति से बने राष्ट्र को । उप वह) अपने ऊपर ले और (न हविः च उपवह) और हमें अन्न भी प्राप्त करा । शत० ६ । १ । २ । ३० ॥

पावकया यश्चितयन्त्या कृपा क्षामन् रुरुच ऽउषसो न भानुना ।
तूर्वन्न यामन्नेतशस्य नू रण ऽआ यो घृणे न ततृषाणो ऽअजरः ॥१०॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी जगती । निषाद ॥

भा०—(भानुना उपस. न) उषा के प्रकाश से जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमान् होता, वह सबको निद्रा से जगाता, पृथ्वी पर प्रकाश डालता और भूतल को पवित्र करता है उसी प्रकार (य) जो राजा (पावकया) पवित्र करने वाली (चितयन्त्या) प्रजा को ज्ञानवान् करने वाली चेतानेवाली या संगृहीत या सुव्यवस्थित करनेवाली (कृपा) राष्ट्र निर्माण शक्ति से युक्त होकर (क्षामन्) इस पृथ्वी पर (रुरुचे) शोभा देता है । और (य) जो (रणे) रण मे (एतशस्य) अश्वमेध मे छोड़े अश्व के (यामन्) मार्ग मे आनेवाले विपक्षियो को (तूर्वन् न) मारता हुआ (घृणे न) प्रदीप्त, संग्राम मे भी सूर्य के समान (ततृषाणः) राज्य-लक्ष्मी का सदा पिपासित रहकर भी (अजर. न) अजर जरारहित, अमर, वीर के समान राज्यवृद्धि में लगा रहता है वह तू हमें प्राप्त हो । शत० ६ । १ । २ । ३० ॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते ऽअस्त्वर्चिषे ।
अन्याँस्ते ऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव ११

भुरिगार्षी बृहती । मध्यम ॥

भा०—हे राजन् ! (ते हरसे नमः) जलाहरण करनेवाले, प्रखर तेज वाले सूर्य के समान तेरे शत्रुओं की राज्य-लक्ष्मी को पाकर, हरण करने वाले क्रोध, या प्रजा के दुःखहारी दल के लिये हम आदर करते हैं। (ते शोचिषे) तेरे पवित्र तेजस्वरूप और (अर्चिषे) सत्कार योग्य शस्त्र ज्वाला का भी (नम) आदर करते हैं। (ते हेतयः) तेरी शस्त्र ज्वालाएं (अस्मत् अन्यान्) हमारे से दूसरे शत्रुओं को (तपन्तु) पीड़ित करें। तू (पावक) पावक अग्नि के समान (अस्मभ्यं शिव. भव) हमारे लिये कल्याणकारी हो। शत० ९ । २ । १ । २ ॥

नृषदे वेडप्सुषदे वेड् बर्हिषदे वेड् वनुसदे वेट् स्वर्विदे वेट् ॥१२॥

निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राजन् ! (नृषदे) मनुष्यों के बीच में जिस प्रकार प्राण विराजता है, उसी प्रकार प्रिय होकर (नृषदे) सब मनुष्यों के बीच में बैठने वाले तुझको (वेट) यह मान आदर प्राप्त हो। (अप्सुषदे) समुद्रों मे और्वानल के समान प्रजाओं के बीच ग्लानि रहित होकर विराजने वाले तुझको (वेट्) उच्च आसन प्राप्त हो। (बर्हिषदे) यज्ञ में प्रज्वलित अग्नि के समान अथवा ओषधियों में विद्यमान रस रूप अग्नि के समान प्रजा या राष्ट्र शरीर के दोषों को नाश करने वाले तुझको (वेट्) अधिष्ठातृपद प्राप्त हो। (वनसदे) वनों, जगलों में लगने वाली दावाग्नि के समान सर्वस्व भस्म कर देने वाले तुझको (वेट्) उग्र पद का अधिकार प्राप्त हो। (स्वर्विदे) आकाश में विद्यमान सूर्य के समान सबको सुख पहुंचाने वाले तुझको (वेट्) उच्च तेजस्वी पद प्राप्त हो। शत० ९ । २ । १ । ८ ॥

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाꣳ संवत्सरीणमुपं भागमासते ।
अहुतादो ह्वविषो यज्ञे ऽआस्मिन्तꣳ स्वयं पिवन्तु मधुनो घृतस्य ॥१३॥

लोपामुद्रा ऋषिका । प्राणा देवता । आर्षी जगती । निषाद. ॥

भा०—(ये । जो (देवाना) दानशील, राजाओं में भी (देवा) विद्या और ज्ञान के देने वाले उत्कृष्ट विद्वान् है और (यज्ञियाना) यज्ञ करने वालों के भी (यज्ञिया) पूजनीय ज्ञान योगी और राष्ट्र सगति करने वाले व्यवस्थापको मे भी (यज्ञिया.) प्राणों के समान स्वय सगति बनाने वाले विद्वान् महात्मा लोग हैं जो (सवत्सरीणम्) एक वर्ष के बाद प्राप्त होने वाले वार्षिक भेंट (भागम्) अन्न आदि ऐश्वर्य को अथवा वर्ष भर अपने भीतर पुष्ट किये अभ्यस्त (भागम्) सेवनोपासना योग्य ब्रह्म-ज्ञान या ब्रह्मचर्य की उपासना करते हैं वे (यज्ञे) इस राष्टमय यज्ञ मे भी (अहुताद) राजा से दिये वेतन को भोग न करने वाले होकर (अस्मिन् यज्ञे) इस राष्ट्र रूप यज्ञ मे (मधुमत) अन्न और (घृतस्य) तेजोदायक पुष्टिकारक पदार्थों का (स्वय पिबन्तु) स्वय यथेच्छ उपभोग करे । शत० ६ । २ । १ । १४ ॥

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो ऽअस्य । येभ्यो न ऽऋते पवते धाम किं चन न ते दिवो न पृथिव्या ऽअधि स्नुषु १४

आर्षी जगती । निषाद ॥

भा०—और (ये देवा) जो विद्वान् ज्ञानप्रद, लोकप्रकाशक विद्वान् लोग (देवेषु अधि) राजाओं के भी ऊपर (देवत्वम्) आदर योग्य देवत्व, राजत्व को (आयन्) प्राप्त हो जाते हैं, (ये) और जो (अस्य ब्रह्मण.) इस ब्रह्मरूप ज्ञानसागर के (पुर.) सबसे प्रथम या पूर्ण (एतार.) ज्ञाता होते हैं । और (येभ्य. ऋते) जिनके विना (किंचन धाम) कोई स्थान, कोई गृह (न पवते) पवित्र नहीं हो । (ते) वे (दिव. न) न द्यौलोक और (न पृथिव्याः) न पृथिवी के किसी स्थान पर रमकर वे (स्नुषु) पर्वतों के शिखरो पर विचरते है । अथवा सरण शील

प्राणों में ही स्नाते हुए सर्वत्र विचरते है । या (स्नपु) मार्गों में ही परिव्राट् होकर विचरते हैं। शत० ६ । २ । १ । १५ ॥

प्राणदा ऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदा. ।
अन्यान्नस्ते ऽअस्मत्तपन्तु हेतय पावका ऽअस्मभ्यꣳ शिवो भव १५

आर्षी पंक्ति. । पञ्चम: ॥

भा०—हे अग्ने ! राजन् ! जिस प्रकार शरीर में जाठर अग्नि प्राण, अपान, व्यान, वर्चस और जीवन धन को देने वाला होता है उसी प्रकार तू राष्ट्र में (प्राणदा) प्राणों को देने वाला (अपानदाः) राष्ट्र में अपान, मल आदि को और हानिकर पदार्थों को दूर करने वाला (व्यानदा.) व्यान के समान व्यापक बल रखने वाला (वर्चोदा.) वर्चस् या त्याग के समान पराक्रम को स्थिर रखने हारा और (वरिवोदाः) प्रजा को धन ऐश्वर्य का देने हारा है । (अस्मत् अन्यान्) हमसे अन्य, शत्रुओं के तेरे (हेतय) शस्त्रास्त्र (तपन्तु) पीड़ित करें । राजन् तू (पावक) राष्ट्र को पवित्राचारवान् करने हारा होकर (अस्मभ्य शिव. भव) हमारे लिये शुभ कल्याणकर हो । शत० ६ । २ । १ । १७ ॥

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्यत्रिणम् ।
अग्निर्नो वनते रयिम् ॥ १६ ॥ ऋ० ६ । १६ । २८ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्ज. ॥

भा०—(अग्निः) आग जिस प्रकार (तिग्मेन शोचिषा) अपनी तीक्ष्ण ज्वाला से (विश्वं) समस्त (अत्रिणम्) अपने खाने योग्य सूखे, गीले सब पदार्थों को (नि यासत्) विनष्ट कर डालता है उसी प्रकार तेजस्वी, परंतप राजा (अत्रिणम्) प्रजा के माल प्राण को खा जाने वाले राक्षस वृश्चिक, पुरुषों को और सिंह व्याघ्र आदि को अपने (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) दीप्ति वाले आग्नेय अस्त्र से (नियासत्) सर्वथा विनष्ट कर

डाले । और वही (अग्निः) तेजस्वी शत्रुतापक राजा (नः) हम में (रयिम्) ऐश्वर्य को (वनते) विभक्त करे ॥ शत० ६ । २ । २ । ५ ॥

य ऽइमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत्पिता नः ।
स ऽआशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरा२ऽ आविवेश॥१७॥

(१७-२३) ऋ० १० । ८ ॥ १-७ ।

१७-३० त्रिष्टुभ । धैवत. ॥ विश्वकर्मा भौवन ऋषि. । विश्वकर्मा देवता ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(य.) जो (न) हमारा (पिता) पिता के समान पालक (ऋषि) ज्ञानवान् होकर (इमा) इन (विश्वा भुवनानि) समस्त उत्पन्न मनुष्य पशु पक्षी आदि प्राणियों को (जुह्वत्) अपने अधीन स्वीकार करता है और (होता) सबका स्वीकर्त्ता और गृहीता, स्वामी, होकर (नि असीदत्) निश्चय करके सिंहासन पर विराजता है (सः) वह (आशिषा) इच्छापूर्वक (द्रविणम्) ऐश्वर्य की (इच्छमान) कामना करता हुआ स्वय (प्रथमच्छत्) प्रथम, सर्वश्रेष्ठ पदपर अधिष्ठित होकर (अवरान्) अपने से छोटे, अपने अधीन लोगों को (आविवेश) ऐश्वर्य प्रदान करता है ।

परमेश्वर-पक्ष में—(यः) जो (न पिता) हमारा पालक परमेश्वर (इमा विश्वा भुवनानि) इन समस्त भुवनों, लोकों को (जुह्वत्) प्रलय काल में आहित करके अथवा अपने वश में लेकर (ऋषि) स्वयं ज्ञानवान् और (होता) सबका आदानकर्त्ता, वशयिता रूप से (नि असीदत्) व्यापक रूप में विराजता है । (स) वह अपने (आशिषा) व्यापक शासनसामर्थ्य से (द्रविणम्) द्रुतगति से चलने वाले संसार को (इच्छमान) अपनी कामना या सकल्प मात्र से चलाता हुआ स्वय (प्रथमच्छत्) सर्वोत्तम सबसे विशाल लोको को भी आच्छादित करके (अवरान्) अपने से बाद मे उत्पन्न आकाशादि भूतों और समस्त लोकों को (आविवेश) गति देता और उनमें व्यापक होकर रहता है ।

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमास्वित्कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः १८

भा०—राजा के पक्ष में—जब राजा प्रथम महान् राज्य की स्थापना करना प्रारम्भ करता है उसके विषय मे प्रश्न करते हैं—[प्र० १] उस समय उसका (अधिष्ठानम्) आश्रयस्थान (किं स्वित्) भला क्या (आसीत्) होता है। और (प्र० २) (कतमस्वित्) कौनसा पदार्थ (आरम्भणम्) महान् साम्राज्य को आरम्भ करने के लिये मूल रूप से है। और (कथा आसीत्) वह किस प्रकार होता है। (यत) जिससे (विश्वकर्मा) राज्य के समस्त कर्मों को सम्पादन करने में कुशल राजा (भूमिं जनयन्) अपने आश्रय भूमि को पैदा करके, अपनी बनाकर, (महिना) अपने महान् पराक्रम से (विश्वचक्षा) समस्त राष्ट्र का स्वयं-द्रष्टा होकर (द्याम्) सूर्य के समान तेजस्वी पद को (वि और्णोत्) विशेष रूप से या विविध प्रकार से आच्छादित करता या प्राप्त करता है।

परमेश्वर के पक्ष में—सृष्टि के उत्पन्न करने के पूर्व [१] (किं स्वित्) कौनसा (अधिष्ठानम्) आश्रय (आसीत्) था। और [२] जगत् को (आरम्भणम्) बनाने के लिये आरम्भक मूल द्रव्य (कतमत् स्वित्) दृश्यमाण आकाशादि तत्वों मे कौनसा था ? और [३] वह (कथा आसीत्) किस दशा मे था ? (यतः) जिससे वह (विश्वकर्मा) समस्त संसार का कर्त्ता (भूमिम्) सबको उत्पन्न करने वाली भूमि या प्रकृति को (जनयन्) अव्यक्त से व्यक्त रूप मे प्रकट करता हुआ (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (विश्वचक्षाः) विश्व भर को साक्षात् करने हारा होकर (द्याम्) समस्त आकाश को (वि और्णोत्) विविध प्रकार के लोकों, ब्रह्माण्डों से आच्छादित कर देता है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ १९ ॥

भा०—राजा के पक्ष में—वह राजा विजिगीषु स्वयं (विश्वत· चक्षुः) चरों और मन्त्रियों द्वारा सब ओर अपनी आख रखता है। वह (विश्व तो मुख.) सब ओर अपना मुख रखता है। (विश्वतो बाहु.) वह सब ओर अपने शत्रुओं को पीड़न करने वाली बाहुए रखता है। और (विश्वत पात्) सब ओर शत्रु पर आक्रमण करने के कदम बढ़ाता रहता है। वह (बाहुभ्याम्) बाहु के समान सेना के दोनों पक्षों से संग्रामभूमि में (संधमति) आगे बढ़ता है और (पतत्रै) अपने सेना दल रूप पक्षों या आगे बढ़ने वाले दस्तों सहित (सधमति) शत्रु पर जा चढ़ता है। (द्यावाभूमी) योग्य भूमि और भूमिस्थ प्रजाओं और द्यौ = सूर्य के समान भोक्ता राजा दोनों को (जनयन्) स्वय पैदा करता हुआ (एक देव) एकमात्र विजयी होकर विराजता है।

ईश्वर के पक्ष में—वह परमेश्वर (विश्वतः चक्षुः) सर्वत्र आंख वाला, सर्वत्र द्रष्टा, (विश्वत· मुख) सर्वत्र ज्ञानोपदेशक मुख वाला, (विश्वतो बाहुः) सर्वत्र वीर्यरूप बाहुमान् और (विश्वत पात्) सर्वत्र चरण वाला है। अर्थात् वह सब प्रकार की शक्तियों से सर्वत्र व्याप्त है। वह (बाहुभ्याम्) अनन्त बल वीर्यों द्वारा (एक. देवः) अकेला देव (द्यावाभूमी जनयन्) आकाशस्थ और भूमि और भूमिस्थ पदार्थों को रचता हुआ (पतत्रै) व्यापनशील या प्रगतिशील प्रकृति के परमाणुओं से (स धमति) संसार को सुव्यवस्थित करता और रचता है।

किꣳस्विद्वनं क ऽउ स वृक्ष ऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यद्ध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥२०॥

भा०—राजा के पक्ष मे—(किं स्वित् वनम्) जिस प्रकार काठ के नाना पदार्थों को बनाने के लिये लकड़ी आवश्यक होती है और उसको किसी वृक्ष मे से काटा जाता है और जंगल से लाया जाता है और दृढ़, उत्तम

पदार्थ को बनाने के लिये उत्तम काष्ठ का ही संग्रह किया जाता है। इसी प्रकार गृह, राज्य और समस्त रचनायुक्त कार्यों के लिये पहले मूल द्रव्य की अपेक्षा होती है। उसी के विषय में प्रश्न है कि—(१) (यतः) जिसमें से (द्यावापृथिवी) द्यौ., सूर्य और पृथिवी दोनो के समान भोक्ता और भोग्य राजा और प्रजा दोनों को (नि ततक्षु·) विद्वान् लोग गढ़कर तैयार करते है वह (वनं कि स्वित्) कौन सा 'वन' है। अर्थात् जैसे किसी वन से काष्ठ लाकर काठ के पदार्थ बनाये जाते हैं ऐसे राजा प्रजाओ को बनाने के लिये किस जगह से मूल द्रव्य लाया जाता है। और (२) (कः उसः वृक्षः आस) वह वृक्ष कौनसा है ? अर्थात् जिस प्रकार कुर्सी आदि बनाने के लिये किसी वृक्ष को काट कर उसमे से कुर्सी बनाई जाती है उसी प्रकार यह राजा प्रजा युक्त राष्ट्र को किस मूल स्थिर पदार्थ मे से गढ़कर निकाला गया है। हे (मनीषिणः) मनीषी, मतिमान् विद्वान् पुरुषो ! (मनसा) अपने मन से समझ बूझकर तुम भी क्या इसपर कभी (पृच्छत इत् उ) प्रश्न या तर्क वितर्क या जिज्ञासा किया करते हो कि (तत्) वह महान् बल कौनसा है (यत्) जो (भुवनानि धारयन्) समस्त उत्पन्न प्राणियों को पालन करता हुआ उनपर (अधि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता, शासक रूप से विराजता है। वह क्या है ?

परमेश्वर-पक्ष में—(किं स्विद् वनं) वह कौनसा मूलकारण, सबके भजन करने योग्य परम पदार्थ है और (कः उ सः वृक्ष· आस) वह कौनसा वृक्ष अर्थात् मूल 'स्कम्भ' या तना है (यत द्यावापृथिवी) जिसमें से द्यौ और भूमि, जमीन और आकाश इनको परमेश्वर ने (नि· ततक्षु) गढ़ कर निकाला है। हे (मनीषिणः) ज्ञानशाली, संकल्प विकल्प और ऊहापोह करने मे कुशल विवेकी पुरुषो ! आप लोग भी (तत्) उस मूल कारण के सम्बन्ध में (पृच्छत) प्रश्न, तर्क वितर्क, जिज्ञासा करो (यत्) जो (भुवनानि धारयन्) समस्त उत्पन्न हुए असंख्य ब्रह्माण्डो और

उत्पन्न लोकों और सूर्यादि पदार्थों को धारण पालन पोषण और स्तम्भन करता हुआ उनपर (अधि आतिष्ठत्) अध्यक्ष रूप से शासन कर रहा है।

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः २१

भा०—राजा के पक्ष में—हे विश्वकर्मन्) समस्त राष्ट्र के कार्यों के करने वाले या उसको बनाने वाले ! हे (स्वधाव) अपने राष्ट्र को धारण करने के बल से युक्त ! अथवा 'स्व', शरीर के पालक पोषक अन्न आदि ऐश्वर्य के स्वामिन् ! (या) जो (ते) तेरे (परमाणि) सबसे श्रेष्ठ, (या) जो (अवरा) सबसे निकृष्ट, या (मध्यमा) मध्यम श्रेणी के (उत इमानि) और ये साधारण (धामानि) कर्म और धारण करने योग्य पदाधिकार और तेज हैं उनको (सखिभ्यः) अपने मित्र वर्गों को (हविषि) अपने गृहीत राष्ट्र में (शिक्ष) प्रदान कर और (स्वयं) अपने आप (तन्वं) अपने विस्तृत राष्ट्र को बढ़ाता हुआ (यजस्व) सबको सुसंगत, सुव्यवस्थित, दृढ़ता से सम्बद्ध कर।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) विश्व के कर्त्ता ! हे (स्वधाव) बिना किसी की अपेक्षा किये स्वयं समस्त ससार को धारण करने के अनन्त बल वाले ! (या) जो (ते) तेरे (परमाणि) परम, सर्वोच्च (अवमा) सूक्ष्म, बहुत छोटे २, (मध्यमा) बीच के (उत इमा) और ये सभी आखों से दीखने वाले (धामानि) कर्म हैं उन सबको (सखिभ्य.) हम मित्र रूप जीवों को (शिक्ष) तू प्रदान करता है, तू ही (तन्वः वृधानः) हम जीवों के शरीरों की वृद्धि करता हुआ (हविषि) आदान करने योग्य अन्नादि में (स्वयं) आप से आप हमें (यजस्व) संयुक्त करता है। अथवा (हविषि तन्वं वृधान. स्वयं यजस्व) अन्न के आधार पर शरीरों की वृद्धि करता हुआ आप से आप सब सुसगत करता या समस्त भोग्य सुख प्रदान करता है।

विश्वकर्मन्हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् ।
मुह्यन्त्वन्ये ऽअभितः सपत्ना ऽइहास्माकं मघवा सूरिरस्तु ॥२२॥

भा०—राजा के पक्ष में—हे (विश्वकर्मन्) समस्त राष्ट्र के विधात· ! या राष्ट्र के समस्त उत्तम कर्मों के कर्त्तः ! तू (हविषा) कर के आदान और राष्ट्रों के विजय के कार्यों से (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (स्वयं) अपने आप सामर्थ्य से (पृथिवीम् उत द्याम्) पृथिवी और सूर्य के समान प्रजा और तेजस्वी राजा दोनो के विभागों को (यजस्व) सुसंगत, संगठित कर । पर उनको ऐसे मित्र भाव में बांधे रख जिसमे (अभितः) चारों ओर के (अन्ये सपत्नाः) और दूसरे शत्रु गण (मुह्यन्तु) मोह में पड़े रहें । वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जायं और फोड़ फाड़ करने में असमर्थ होकर लाचार बने रहें । और (इह) इस राष्ट्र में (अस्माकं) हमारे बीच में (मघवा) धन ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष (सूरिः) विद्वान् (अस्तु) हो वह मूर्ख न रहे जिससे शत्रु के बहकावे मे न आ जावे ।

परमेश्वर के पक्ष में—(हविषा) समस्त संसार को अपने वश करने वाले सामर्थ्य से (वावृधान) बढ़ता हुआ हे (विश्वकर्मन्) विश्व के कर्तः ! परमेश्वर ! तू (पृथिवीं द्याम् उत स्वयं यजस्व) द्यौर और पृथिवी को परस्पर सुसंगत करता, दोनो को एक दूसरे के आश्रित करता है । (अन्ये सपत्नाः) अन्य समान पतित्व या ईश्वरत्व चाहने वाले बड़े ऐश्वर्यवान्, विभूतिमान् जीव भी तेरे इस महान् सामर्थ्य को देख कर मुग्ध होते हैं । कहते हैं कि तू ही (इह) यहां, इस संसार में हमारा (मघवा) एकमात्र ईश्वर और (सूरिः) एकमात्र ज्ञानप्रद विद्वान् (अस्तु) है ।

वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये मनोजुवं वाजे ऽअद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा ॥२३॥

भा०—राजा के पक्ष में—(वाचस्पतिम्) वाक्, वाणी, आज्ञा

वचनों, शासनों के स्वामी (विश्वकर्माणम्) राष्ट्र के समस्त कार्यों का प्रवर्त्तक (मनोजुवम्) मन के समान गति करनेवाली अर्थात् जिस प्रकार इन्द्रियों में और शरीर में मन, चेष्टा और चेतना का सञ्चार करता है उनको व्यवस्था मे रखता और सब का भोग भी करता है, उसी प्रकार राष्ट्र के शासक अधिकारियों को सञ्चालन करने और उनको सचेत रखने और राष्ट्र शरीर से नाना भोग प्राप्त करने वाले राजा को हम (अद्य) आज, सदा (ऊतये) रक्षा के लिये (हुवेम) बुलाते हैं। (स) वह (न) हमारे (विश्वा) समस्त (हवनानि) आह्वानो और पुकारों को (जोषत्) प्रेम से श्रवण करता है। क्योंकि वह (अवसे) रक्षा करने के लिये ही (विश्वशम्भू) समस्त राष्ट्र का कल्याण करने वाला और (साधुकर्मा) उत्तम कर्मों का करनेवाला है। वह रक्षा-कार्य से 'विश्वशम्भू' और साधुकर्मा होने से ही 'विश्वकर्मा' है।

ईश्वर-पक्ष में—ईश्वर-वाणी, वेद वाणी, समस्त ज्ञान का स्वामी, विश्व का कर्त्ता और विश्व के समस्त कार्यों का भी कर्त्ता मनोगम्य है, उसको हम अपनी रक्षा के लिये पुकारते हैं। वह हमारे आत्मा की पापों से रक्षा करे। वह हमारी सब पुकारो को प्रेम से सुनता है। वह सब का कल्याणकारी और श्रेष्ठ कर्म करने हारा, उपकारी है। विशेष व्याख्या देखो अ० ८। ४२ ॥

विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम्।
तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ॥ २४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ८। ४५ ॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने ऽअजनन्नस्मयमाने।
यदेदन्ता ऽअदंदहन्त पूर्व ऽआदिद्द्यावा पृथिवी ऽअप्रथेताम् ॥२५॥

[२५–३१] ऋ० १० । ८ ॥ १-७ ॥

भा०—राजा के पक्ष में-(यदा इत्) जब ही (पूर्वे) पूर्व के विद्वान्

लोग (अन्ता) सीमा भागों को (अदृंहन्त) विस्तृत करके स्थिर कर लेते हैं। (आत् इत्) उसके बाद ही (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी के समान एक दूसरे के उपकारक राजा और प्रजा भी दोनों (अप्रथेताम्) विस्तार को प्राप्त होते है। और (चक्षुषः पिता) सब प्रजा पर निरीक्षण करने वाले राजा का (पिता) पालक, विद्वान् पुरोहित ही (धीरः) बुद्धिमान् होकर (मनसा) अपने ज्ञान से (घृतम्) तेज और ज्ञान-बल को (अजनत्) उत्पन्न या प्रकट करता है और (एने) इन दोनों को (नम्नमाने) एक दूसरे के प्रति आदर से झुकने वाले विनयशील बनाता है। विद्वान् लोग ही राजा प्रजा को परस्पर मिलाते हैं और दोनों को एक दूसरे के प्रति विनीत बनाते और वे ही राज्य की सीमाओं को और व्यवस्थाओं को बनाते है।

ईश्वर के पक्ष में--(यदा इत्) जबही (अन्ता) सीमाएं अर्थात् प्रकृति के विरल परमाणु (अदृंहन्त) कुछ घनी भूत होकर दृढ़ हो गये तो (आत् इत्) तभी (द्यावापृथिवी अप्रथेताम्) आकाश और भूमि दोनों पृथक् २ हो गये। बीच का अवकाश प्रकट हो गया। (धीरः) जगत् को धारण करने हारे (मनसा) अपने मन, संपल्प के बल से ही (नम्नमाने एने) एक दूसरे के प्रति झुकने वाले इन दोनों के प्रति (घृतम् अजनत्) जल को प्रकट किया अर्थात् पृथ्वी से जल ही ऊपर को सूक्ष्म होकर उठता है। सूर्य से किरण पृथिवी पर पड़ती हैं। पुनः भूमि उत्तम होती है। फिर जलही आकाश से नीचे आता है अर्थात् दोनो को परस्पर सम्बन्ध विधायक जल ही है।

स्त्री पुरुष के पक्ष में—जब विद्वान् लोग दोनो स्त्री पुरुषो के (अन्ता) विवाह द्वारा अंचरे बांध देते हैं तभी वे (द्यावापृथिवी अप्रथेताम्) नरनारी सूर्य और पृथिवी के से सम्बन्ध से मिले दीखते हैं। पुरुष सूर्य के समान तेजस्वी, तेज रूप वीर्य का प्रक्षेपक होता है और पृथिवी स्त्री बीज को भीतर धारण

करने हारी होती है। तत्र (चक्षुप पिता) आंख का पालक, स्नेहमय चक्षु का पालक प्राण (एने नम्नमाने प्रति) इनको एक दूसरे के प्रति झुकते हुए या परस्पर संगत होते हुए इनके बीच में (घृतम्) स्नेह या 'तेज', वीर्य को (अजनत्) उत्पन्न कर देता है।

विश्वकर्म्मा विमना ऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऽऋषीन् पर ऽएकमाहु २६

भा०—राजा के पक्ष में-(विश्वकर्मा) पूर्वोक्त राष्ट्र के समस्त कार्यों का सम्पादक राजा (विमना) विविध विज्ञानों से युक्त अथवा विशेष रूप से मननशील होकर (आत् विहाया) फिर स्वय विविध कार्यों व्यवहारों में ज्ञानपूर्वक प्राप्त होता है और पुन (धाता) सबका पोषण करने वाला, (विधाता) राष्ट्र के विविध अगों का निर्माता, (परमा) सर्वोच्च पदपर विराजमान और (संदृक्) समस्त राष्ट्र के कार्यों और प्रजा के व्यवहारों को देखने हारा होता ह। (तेषाम्) उन प्रजा जनों के (इष्टानि) समस्त अभिलषित सुख के पदार्थ (इपा) अन्न के सहित उसी के आश्रय पर (सम् मदन्ति) हर्ष और आनन्दप्रद होते है, वृद्धि को प्राप्त होते है (यत्र) जहा (सप्त ऋषीन्) शरीर गत सातों प्राणों के समान राष्ट्र के मुख्य मन्त्रद्रष्टा सात प्रधानामात्यों को (पर) अपने से भी उत्कृष्ट राजा मे (एकम्) एकाकार हुए (आहु) बतलाते हैं।

ईश्वरपक्ष मे-वह विश्वस्रष्टा, विज्ञानवान्, व्यापक, पालक पोषक, कर्त्ता परम द्रष्टा है। जिसमें समस्त जीवों क (इष्टानि) प्राप्य कर्मफल आश्रित हैं। और जिसके आश्रय पर सर्व जीव (इषा) अन्न तथा कर्म फल द्वारा खूब हर्षित होते हैं। और जहा सातो (ऋषीन्) गतिशील प्रकृति के मुख्य विकारों को भी परब्रह्म में एकाकार हुआ बतलाते हैं। अथवा-(यत्र तेषाम् इष्टानि) जिसके वश में जीवों के इष्ट कर्मफल हैं।

(यत्र सप्त ऋषीन् प्राप्य जीवाः इषा सम्मदन्ति) और जिसके आधार पर जीव अपने अन्नादि, कर्म फल से तृप्त होते हैं। औ (य परः) जो सब से उत्कृष्ट है (यत् एकम् आहुः) जिसको एक, अद्वितीय बतलाते हैं।

आत्मापक्ष मे-आत्मा विश्वकर्मा है। वह विशेष मन रूप उपकरण वाला, सब में व्यापक, सब प्राणों का पोषक, कर्त्ता, परम द्रष्टा है प्राणों की वाञ्छित चेष्टाए उसी में आश्रित हैं। और (इषा) इसी की इच्छा या प्रेरणा से (सम्मदन्ति) भली प्रकार तृप्त होते हैं। जिसमे सातों शीर्ष गत प्राणों को एकाकार मानते हैं। वही सब से पर, उत्कृष्ट है।

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा एक एव तꣳ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या २७

भा०—राजा के पक्ष में—(यः) जो राजा (नः पिताः) हमारा पालक है (जनिता) सब राष्ट्र के कार्यों का प्रकट करने वाला, या उत्पादक पिता के समान हमारी स्थिति का कारण, (यः विधाता) जो विशेष नियम व्यवस्थाओं का कर्त्ता धर्त्ता, होकर (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों को और (धामानि) धारक सामर्थ्यों, तेजो और अधिकार पदों को (वेद) जनता और प्राप्त करता है। (यः) जो (देवानाम्) सब विद्वान् शासको या अधीन विजिगीषु नायकों के (नामधा) नामो का स्वयं धारण करने वाला (एक. एव) एक ही है (तम्) उस (सम्प्रश्नम्) सब के प्रश्न करने योग्य अर्थात् आज्ञा प्राप्त करने योग्य को आश्रय करके (अन्या भुवना यन्ति) और सब लोग और राष्ट्र के अंग विभाग चल रहे हैं। सभी अधीन लोग राजा से पूछ कर ही काम करते हैं इस लिये राजा 'सम्प्रश्न' है।

ईश्वर के पक्ष में —जो हमारा पालक, उत्पादक, विशेष धारक पोषक, है। जो समस्त भुवनो, लोकों और (धामानि) तेजो और विश्व के धारक

सामर्थ्यों को प्राप्त कर रहा है। जो समस्त (देवाना) देवों, दिव्य पदार्थों के नामों को स्वयं धारण करता है। अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि भी जिस के नाम हैं वह (एक एव) अद्वितीय ही है (तम् सम्पश्नं) उस सम्यग् रीति से सभी से जिज्ञासा करने योग्य परमपद का आश्रय करके (अन्या भुवना) और सब लोक (यन्ति) गति करते हैं। सभी परमेश्वर के विषय मे तर्क वितर्क जिज्ञासा करते हैं इसलिये वह 'सम्प्रश्न' है।

अध्यात्म में-वह आत्मा (न) हम प्राणों का पालक धारक है, वह सब के (धामानि) तेजों को धारण करता है। सब (देवाना) प्राणों का नाम या स्वरूप वह स्वय धारण करता है। वह सर्व जिज्ञास्य है उसके आश्रय पर (भुवना) उससे उत्पन्न समस्त प्राण चेष्टा कर रहे हैं।

त ऽआयंज त्र द्रविंणꣳ सम॑स्मा ऽऋपंयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्त्ते सूर्त्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृंण्वन्निमानि ॥ २८ ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(ते ऋषय) वे राजनीति के मन्त्रदृष्टा लोग, मुख्य महामात्य लोग (अस्मै) इस राष्ट्रवासी प्रजाजन को (पूर्वे जरितारः न) अपने से पूर्व के विद्वान् नीति शास्त्र के प्रवक्ताओं के समान ही (भूना) बहुत अधिक (द्रविणम्) धन ऐश्वर्य (सम् आयजन्त) प्रदान करते हैं। और (ये) जो (असूर्त्ते) अप्रत्यक्ष परोक्ष अर्थात् दूर के और (सूर्त्ते) प्रत्यक्ष, समीप के, (निषत्ते) अपने अधीन स्थिरता से प्राप्त (रजसि) प्रदेश में (इमानि भूतानि) इन समस्त प्रजास्थ प्राणियों को (सम्-आकृण्वन्) उत्तम रीति से संस्कृत करते, शिक्षित करते एवं सुसभ्य बनाने का यत्न करते हैं।

राजा के मन्त्रदृष्टा विद्वान् अपने अधीन दूर समीप सभी देशों की प्रजाओं को शिक्षित सभ्य बनाने का उद्योग करें।

ईश्वर के पक्ष में—(ते ऋषयः) वे पूर्व के ऋषि, प्रकृति की सात विकार

आदि महान् शक्तियां (जरितार.) विद्वान् उपदेशकों के समान (अस्मै) इस जीव सर्ग को (भूना द्रविणं आयजन्त) बहुत २ ऐश्वर्य प्रदान करते हैं अर्थात् पाचों भूत, अहंकार और महत्तत्व प्राणादि पाच, सूत्रात्मा और धनञ्जय ये सातो जीवों को बहुत विभूति प्रदान करते हैं। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रजोगुण में विराजमान् प्राणियों को ये ही विशेष २ रूप सैं उत्पन्न करते हैं।

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कꣳ स्विद्ग गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्व्वे २६

भा०—राजा के पक्ष मे-[प्र०] (दिवा परः) सूर्य से भी गुणों में पर अर्थात् उत्कृष्ट (एना पृथिव्या पर) इस पृथिवी से भी गुणो मे उत्कृष्ट, (देवेभिः) विद्वानों से और (असुरै) अविद्वान्, केवल प्राणधारी बलवान् पुरुषों से भी (परः) ऊंचा (यत् अस्ति) जो पदाधिकारी है वह कौन है ? और (आप.) आप्त प्रजाएं (कं स्वित्) किस (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ को (गर्भम्) राष्ट्र के ग्रहण मे समर्थ जानकर अपने बीच मे। दध्रे) धारण करती हैं। (यत्र) जिसके आश्रय पर (पूर्व) शक्तियो मे पूर्ण (देवा.) समस्त विद्वान् और राजा गण (सम् अपश्यन्त) राष्ट्र के कार्यों का भली प्रकार आलोचन या विचार करते हैं। वह कौन है ? (उत्तर) राजा।

ईश्वर के पक्ष में-(दिवः परः) आकाश और सूर्य से भी परे, पृथिवी से भी परे, (देवेभिः) दिव्य पदार्थों और प्राणो से भी परे, (असुरैः) काल रूप वर्ष आदि से भी परे कौन है ? (आप) प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु किस शक्ति को प्रथम अपने भीतर धारण करते हैं ? और (यत्र) किसमें (पूर्वे देवाः। पूर्ण शक्तियुक्त दिव्य पदार्थ भी (सम् अपश्यन्त) अपने को एकत्र हुआ पाते है। या किसके आश्रय पर (पूर्वे देवाः) पूर्ण विद्वान् पुरुष (सम् अपश्यन्त) सम्यग् दर्शन करते हैं। (उत्तर) ब्रह्म।

तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र ऽआपो यत्र देवा· समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थु· ॥३०॥

भा०—पूर्व प्रश्न का उत्तर । राजा के पक्ष में— तम्) उस (प्रथमम्) सर्वश्रेष्ठ (गर्भम्) राष्ट्र को ग्रहण करने में समर्थ या प्रजा द्वारा राजा स्वीकार करने और आश्रय रूप से ग्रहण करने योग्य पुरुष को (आप) आप्त प्रजाएं (दध्रे) धारण करती हैं (यत्र) जिसका आश्रय लेकर (देवा) समस्त विद्वान् गण और शासक (सम् अगच्छन्त) एकत्र होते और व्यवस्था में सगठित हो जाते हैं । (अजस्य) अनुत्पन्न, अप्रकट रूप में विद्यमान राज्य के (नाभौ) नाभि, या केन्द्र भाग में (अधि) सबके ऊपर अधिष्ठाता रूप से (एकम्) उस एक पद को (अर्पितम्) स्थापित किया जाता है (यस्मिन्) जिस पर आश्रित होकर (विश्वानि भुवनानि) समस्त चर अचर प्राणि और प्रजाएं (तस्थु) राष्ट्र में स्थिर होकर रहते हैं ।

परमेश्वर के पक्ष में—(तम् इत् प्रथमम्) उसही सर्वश्रेष्ठ सबसे प्रथम विद्यमान परमेश्वर के (आप) प्रकृति के कारण परिमाणु अपने (गर्भम् दध्रे) गर्भ में धारण करते हैं (यत्र) जिसके आश्रित (विश्वे देवा सम् अगच्छन्त) समस्त दिव्य शक्तियां, पाचो भूत आदि वैकारिक पदार्थ एकत्र होकर एक काल में व्यवस्थित हैं । वस्तुत (अजस्य) अव्यक्त रूप से विद्यमान संसार के (नाभौ) नाभि, केन्द्र अथवा उसको बांधने वाले तत्व के रूप में (एकम्) एक परम तत्व (अधि अर्पितम्) सर्वोपरि विद्यमान है (यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थु) जिसमें समस्त भुवन, उत्पन्न लोक आश्रय पाकर स्थिर हैं ।

न तं विदाथ य ऽइमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप ऽउक्थशासश्चरन्ति ॥ ३१ ॥

भा०—राजा के पक्ष मे—हे प्रजाजनो ! (तं न विदाथ) तुम लोग उसको नहीं जानते, नही देखते (यः इमा जजान) इन समस्त राज्य-कार्यों को प्रकट करता है । (अन्यत्) और वह (युष्माकम्) तुम लोगो के ही (अन्तर) बीच में (बभूव) रहता है । (जल्प्या) केवल बातें कहने वाले (असुतृपः) प्राणमात्र लेकर सन्तुष्ट रहने वाले (उक्थशासः) राजाज्ञा के अनुसार शासन करने वाले लोग भी (नीहारेण प्रावृता) मानो कोहरे मे छिपे हुए के समान होकर विचरते हैं । वे भी राजा के परम पद को भली प्रकार नहीं जानते हैं । वे केवल अपने वेतन या प्राण वृत्ति से ही तृप्त रहते हैं ।

ईश्वर के पक्ष में—हे मनुष्यो ! (य. इमा जजान) जो इन समस्त लोको को पैदा करता है (त न विदाथ) तुम लोग उसको नहीं जानते । (अन्यत्) वह और ही तत्व है जो सब से भिन्न होकर भी (युष्माकम् अन्तरं) तुम लोगो के भी बीच मे (बभूव) व्यापक है । (नीहारेण प्रावृता) कोहरे या धुन्ध से घिरे हुए पुरुषों के समान दूर तक न देखने वाले लघु दृष्टि होकर (जल्प्या) केवल मौखिक वार्त्तालाप या वाद विवाद में ही लिपटे हुए होकर केवल (असुतृपः) प्राण लेकर ही तृप्त होने वाले, (उक्थशास) ज्ञान के योग्य तत्व का अनुशासन करने वाले बन कर (चरन्ति) विचरते हैं। अर्थात् लोग उसके विषय शास्त्रो की बातें बहुत करते है, परन्तु साक्षात् नही करते ।

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिद्गन्धर्वो अभवद् द्वितीयः ।
तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा ॥ ३२ ॥

स्वराडार्षी पंक्तिः । पञ्चम ॥

भा०—राजा के पक्ष मे—(विश्वकर्मा) राष्ट्र के समस्त उत्तम कार्यों

३२—इति वैश्वकर्मण होमः ॥

का सञ्चालक, प्रवर्त्तक (हि) निश्चय से (देवः) वह सर्वप्रद, सर्वविजयी राज सबसे प्रथम (अजनिष्ट) प्रकट होता है। (आत् इत्) उसके बाद (गन्धर्वः) गौ अर्थात् पृथिवी का धारण करने वाला भूमिपति, गौ वाणी शासनाज्ञा का धारक (अभवत्) होता है। और फिर (तृतीयः) तीसरे वह (ओषधीनाम्) ओप अर्थात् शत्रु के दाह करने के वीर्य को धारण करने वाली सेनाओं का पालक और उत्पादक है। वह ही (पुरुत्रा) बहुतों को रक्षा करने में समर्थ होकर (अपाम्) आप्त प्रजाजनों का (गर्भम्) गर्भ अर्थात् ग्रहण करने वाले, उनको वश करने वाले राष्ट्र को (व्यदधात्) विविध प्रकार से विधान करता है। विविध व्यवस्थाओं से उनको व्यवस्थित करता है। राजा के क्रम से चार रूप हुए प्रथम 'देव' विजिगीषु, दूसरा 'गन्धर्व' विजित भूमि का स्वामी, तृतीय सेनाओं का पालक और उत्पादक, चतुर्थ प्रजाओं का वशकर्त्ता।

ईश्वरपक्ष में—सब से प्रथम (विश्वकर्मा देव' हि अजनिष्ट) विश्व का कर्त्ता प्रकाशस्वरूप विद्यमान था। (आत् इत् द्वितीय गन्धर्व अभवत्) फिर उससे गौ, वाणी वेद, और पृथिवी का धारक सूर्य प्रकट हुआ यह ईश्वरीय शक्ति का दूसरा रूप था। (तृतीय ओषधीना जनिता पिता च) तीसरा, ओषधियों-घास लता वृक्षादि का पालक और उत्पादक मेघरूप है। वह (अपा गर्भम् पुरुत्रा व्यदधात्) मेघ होकर प्रजापति बहुत से जीव सर्गों के पालने में समर्थ होकर जलों को अपने गर्भ में धारण करता है।

अध्यात्म में—विश्वकर्मा आत्मा है। वह वाणी का प्राण द्वारा धारक होने से गन्धर्व है। ओषधि=ज्ञान-धारक इन्द्रियगण का पालक और उत्पादक है। वह (अपां गर्भम्) ज्ञानो और कर्मों को ग्रहण करने में समर्थ होता है।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतꣳ सेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः ३३

[३३-४४] ऋ० १० । १०३ । १—१२ ॥

३३—४४ अप्रतिरथ ऐन्द्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुभः ॥ अप्रतिरथ सूक्तम् ॥

भा०—सेनापति रूप से इन्द्र का वर्णन । (आशुः) अति वेगवान्, शीघ्रगामी, बड़े वेग से शत्रु पर आक्रमण करने वाला (शिशानः) अपने हथियारों को खूब तीक्ष्ण करके रखने वाला अथवा (शिशान·) शत्रु-सेनाओं को काटता फाटता, (वृषभ न भीमः) मदमत्त वृषभ के समान भयकार अथवा मेघ के समान शत्रुओं पर शर वर्षण करने वाला होकर अति भयंकर (घनाघनः) शत्रुओं को निरन्तर या बार बार हनन करने वाला, अथवा मारो मारो इस प्रकार सेनाओं को आज्ञा देने वाला, (चर्षणीनाम् क्षोभण.) समस्त मनुष्यों को विक्षुब्ध कर देने वाला, (संक्रन्दन.) शत्रुओं को अच्छी प्रकार रुलाने या ललकारने वाला, (अनिमिष) कभी न झपकन वाला, सदा सावधान एव निर्भय, प्रमाद रहित, (एक वीरः) एक मात्र वीर्यवान् शूरवीर (इन्द्र.) शत्रुओं का विदारण करने में समर्थ पुरुष ही (शत सेनाः) सैकड़ो नायको सहित दलों, या सेनाओं को (साकम्) एकही साथ (अजयत्) विजय करता है । जो पुरुष ऐसा शूरवीर हो वही सेनापति इन्द्र पद पर विराजे । शत० ९।२।३।६॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर ऽइषुहस्तेन वृष्णा ॥ ३४ ॥

भा०—हे (युध नरः) योद्धा नायक वीर पुरुषो ! तुम लोग (संक्रन्दनेन) दुष्ट शत्रुओं को रुलाने वाले या उनको ललकारने वाले (अनिमिषेण) निरन्तर सावधान, न चूकने वाले (जिष्णुना), सदा जयशील, (युत्कारेण) युद्ध करने वाले, अतिवीर (दुश्च्यवनेन) शत्रुओं से कभी पराजित न होने वाले मैदान छोड़ कर कभी न भागने वाले दृढ़,

(धृष्णुना) शत्रुओं का मानभङ्ग करने में समर्थ, (इषुहस्तेन) बाणों को अपने हाथ में लेने वाले अथवा बाणों से मारने वाले, (वृष्णा) बलवान्, (इन्देण) शत्रु-गढों को तोड़ने वाले, 'इन्द्र' नाम गुरुय सेनापति के साथ (तत् जयत) उस लक्ष्य भूत युद्ध का विजय करो (तत्) उस दूरस्थ शत्रु-गण को (सहध्वम्) पराजित करो ।

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी सꣳस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
सꣳसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥३५॥

भा०—(स) वह (वशी) अपने भीतरी काम, क्रोध, लोभ, मोह मद, मात्सर्य इन छः शत्रुओं पर वश कर्त्ता या राष्ट्र का वशयिता अथवा कान्तिमान्, प्रजाओं का प्रिय, होकर (इषुहस्तै) बाण आदि को दूर फेंकने वाले अस्त्रों को हाथ में लिये (निषङ्गि भ) खड्गधारी वीरों के साथ (संसृष्टा) मिल कर उनके बीच उत्तम कर्त्ता धर्त्ता एवं व्यवस्थापक होकर (गणेन) अपने गण, सैन्यदल सहित (युध) युद्ध करने वाला होता है । (स) वह ही । सोमपा) सोम रस का पान करने वाला अथवा 'सोम' राजा और राष्ट्र का पालन करने हारा, (बाहुशर्धी) बाहुबल, क्षात्रबल से युक्त होकर (संसृष्टजित्) खूब परस्पर मिलकर आये, सुव्यवस्थित शत्रु सेनादल का विजेता होता है । (स) और वह ही (उग्रधन्वा) भयङ्कर धनुर्धर होकर (प्रतिहिताभि) प्रति पक्ष पर फेंके गये बाणों से (अस्ता) शत्रुओं का नाशक अथवा (प्रतिहिताभि) साक्षात् धारण की वशीकृत या युद्धावले पर खड़ी की गयी, अपनी सेनाओं से (अस्ता) शत्रु उपर शस्त्रास्त्रों का फेंकने वाला होता है ।

बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहामित्राँ२ अपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्त्सेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानाम् ॥३६॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़ी भारी विशाल सेना के पालक मुख्य

सेनापते ! तू ' रक्षोहा) दुष्ट पुरुषो का घातक है। तू (रथेन) रथ से, अर्थात् 'रथ' नामक सेना के अग से, रथो के दल से, (अमित्रान्) शत्रुओ को (अपवाधमानः) दूर से ही मारता हुआ उनको पीड़ित करता हुआ (परिदीया.) युद्ध मे आगे बढ़ और शत्रु का नाश कर और (युधा) योद्धा दल, पदाति सेना दल से (प्रमृण) हमारा नाश करने वाली (सेनाः) शत्रु सेनाओं को (प्रभञ्जन्) खूब छिन्न भिन्न करके उनको (जयन्) जीतता हुआ (अस्माकं रथानाम्) हमारे रथों का (आविता एधि) रक्षक बना रह।

वलविज्ञाय स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्र.। अभिवीरो अभिसत्वा सहोजा जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोवित् ॥ २७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) शत्रुओं का घात करने और उनके गढ़ों और व्यूहो को तोडन फोड़ने में समर्थ इन्द्र ! तू (वल-विज्ञाय) सेना विज्ञान में चतुर अर्थात् सेनाओं के व्यूह बनाने और उनके प्रयोग और संचालन मे कुशल, एवं शत्रु के बलों को भी जानने वाला और सेना के द्वारा ही उत्तम नायक रूप से जाना गया (स्थविर) स्वय ज्ञानवृद्ध, अनुभव-वृद्ध या युद्ध में स्थिर, (प्रवीर) स्वयं उत्तम शूरवीर, और उत्तम वीर्य-वान् पुरुषो से सम्पन्न, (सहस्वान्) शत्रु विजयी वल से युक्त, (वाजी) वेगवान्, (उग्रः) भयानक (अभिवीरः) प्रिय, वीरो से घिरा हुआ या वीरों को पराजय करने वाला, (अभिसत्वा) बलवान् पुरुषो से सम्पन्न, (सहोजाः) बल के कारण ही विख्यात और (गोवित्) पृथिवी को विजय से प्राप्त करने वाला अथवा आज्ञा, वाणी का स्वामी होकर (जैत्रम्) विजयशील योधाओं से युक्त (रथम्) रथ पर (आतिष्ठ) सवार हो और विजय को निकल।

गोत्रभिदं गोविदं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा।
इमꣳ सजाता अनु वीरयध्वमिन्द्रꣳ सखायो अनु सꣳरभध्वम्

भा०—हे (सजाता') बल, कीर्त्ति, वंश आदि से समान रूप से विख्यात वीर पुरुषो ! आप लोग (गोत्रभिदम्) शत्रुओं के गोत्रों को तोड़ने वाले शत्रु-वंशों के नाशक, (गाविदम्) पृथ्वी के प्राप्त करने वाले (वज्रबाहुम्) बाहु में वीर्यवान् (अजम जयन्तम्) संग्राम का विजय करने वाले और (ओजसा) बल पराक्रम से शत्रुओं को खूब (प्रमृणन्तम्) विनाश करने वाले (इमम् इन्द्रम्) इस इन्द्र सेनापति को (अनु वीर्यध्वम्) अनुसरण करके उसके अधीन रहकर (वीर्यध्वम्) वीरता के कार्य करो, विक्रम पूर्वक युद्ध करो । हे (सखाय.) मित्र लोगो ! आप लोग उसके ही (अनु) अनुकूल रहकर (सम् रभध्वम्) अच्छी प्रकार युद्ध आरम्भ करो ।

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोऽदयो वीरः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवन. पृतनाषाळयुध्योऽस्माकꣳ सेना ऽअवतु प्र युत्सु ॥३९॥[1]

भा०—(सहसा) अपने शत्रुपराजयकारी बल से (गोत्राणि) शत्रुओं के कुलों पर (अभि गाहमान) आक्रमण करता हुआ (अदय) दया रहित, (वीर) शूरवीर (शतमन्यु) अनेक प्रकार के कोप करने में समर्थ (दुश्च्यवन) शत्रु से विचलित न होने वाला, (पृतनाषाड्) शत्रु-सेनाओं को विजय करने में समर्थ, (अयुध्य युद्ध में शत्रुओं से अजेय, (इन्द्र) इन्द्र, सेनापति (युत्सु) संग्रामों में और योद्धाओं के बीच में (अस्माक सेना प्र अवतु) हमारी सेनाओं की उत्तम रीति से रक्षा करे ।

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर ऽएतु सोमः ।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥ ४० ॥

भा०—(इन्द्र.) इन्द्र, परम ऐश्वर्ययुक्त, सेनापति जो शत्रु के व्यूहों को तोड़ने में समर्थ हो वह (आसाम्) इन सेनाओं का (नेता)

नायक होकर पीछे से सेना को मार्ग पर चलावे। (बृहस्पति) बड़े २ अधिकारो का अध्यक्ष या बड़े २ दलों का स्वामी 'बृहस्पतिः' (दक्षिणा) अपनी सेना के दायें भाग मे होकर चले। (यज्ञ) व्यूहादि मे दलों को संगत या व्यवस्थित करने में कुशल पुरुष (पुरः एतु) आगे २ चले (सोम) सेना का प्रेरक या उत्साहवर्धक पुरुष बायें ओर होकर चले। और (जयन्तीनाम्) विजय करनेवाली (अभिभञ्जतीनाम्) शत्रुओं के दलों, दलों और गढ़ो को तोड़ती फोड़ती हुई (देवसेनानाम्) विजयी पुरुषो की सेनाओ के (अग्रम्) अग्र भाग मे (मरुत) शत्रुओ को मारने मे समर्थ एवं वायु के समान बलवान् शूरवीर पुरुष (यन्तु) चलें।

उव्वट के मत मे–इंन्द्र सेनानायक हो और बृहस्पति उसका मन्त्री उसके साथ हो। यज्ञ दक्षिण मे और सोम आगे हो। अथवा यज्ञ और सोम दोनो सेना के दायीं ओर आगे के भाग मे हो।

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्या मारुतꣳ शर्धऽउग्रम्।
महामनसां भुवनच्यवानां घोषा देवानां जयतामुदस्थात् ॥४१॥

भा०—(वृष्ण.) बलवान्, (इन्द्रस्य) इन्द्र, सेनापति के और (वरुणस्य) प्रजा द्वारा स्वयं वरण किये गये राजा का और (आदित्यानाम् मरुताम्) आदित्य के समान पूर्ण ब्रह्मचारी, तेजस्वी और वायु के समान तीव्र वेगवान् शत्रुओ के बलो के नाशक योद्धाओं का (उग्रम् शर्धः) बड़ा उग्र, भयंकर बल और (महामनसाम्) बड़े मनस्वी, विज्ञानवान् (भुवनच्यवानाम्) भुवन को कपा देने वाले, समस्त भूलोक को विचलित कर देने वाले (जयताम्) विजय करते हुए (देवानां) विजिगीषु राजाओं का (घोषः) नाद (उत् अस्थात्) उठे और फैले।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्वनां मामकानां मनाꣳसि।
उद्वृत्रहन् वाजिनां वाजिनान्युद्रथानां जयतां यन्तु घोषाः ॥४२॥

भा०—हे (मघवन्) प्रशस्त धनैश्वर्य सम्पन्न ! तू (सत्वनाम्) बलवान् (मामकानाम्) मेरे पक्ष के वीर पुरुषों के (आयुधानि) शस्त्र अस्त्रों को (उद् हर्षय) चमकवा, आवेश में ऊपर खड़े करवा। और (मनांसि उत् मनों को भी बढवा दे। हे (वृत्रहन्) घेरने वाले शत्रु के नाशक सेनापते ! तू (वाजिनाम्) घुड़सवार सेनाओं के (वाजिनानि) शीघ्र गतियों को, चालों को (उद् हर्षय) चला। (जयता) विजय करने हारे (रथानाम्) रथों के (घोषा) घोष, घोर शब्द (उद् यन्तु) ऊपर उठें।

अस्माकमिन्द्र समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मॉ२ उ देवा अवता हवेषु ॥४३॥

भा०—(ध्वजेषु) रथों पर लगे झण्डों के (समृतेषु) उत्तम रीति से प्राप्त हो जाने पर (अस्माकम् इन्द्र.) हमारा शत्रुहन्ता नायक और (या. अस्माक इषव.) जो हमारे बाण अर्थात् बाण आदि शस्त्रधारी योद्धा हैं (ता.) वे (जयन्तु) जीतें। (अस्माक वीरा) हमारे वीर पुरुष युद्ध में (उत्तरे भवन्तु) ऊचे होकर रहें। और (देवा) विजयी पुरुष (हवेषु) संग्रामों में (अस्मान् उ अवत) हमारी ही रक्षा करें।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ४४

भा०—हे (अप्वे) शत्रुओं को दूर भगा लेजाने वाली भय की प्रवृत्ति अथवा शरीर की उत्पन्न पीड़े ! अथवा भयकर सेने ! तू (अमीषा) उन शत्रुओं के (चित्त) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) साक्षात् मोहित करती हुई (अङ्गानि गृहाण) शत्रुओं के अगों को जकड़ ले। और (परा इहि) स्वयं दूर भाग जा। (अभि प्र इहि) आगे २ बढ़ी चली जा। (शोकै) ज्वाला की लपटों से शत्रुओं के (हृत्सु) हृदयों में (निर्दह) जलन पैदा

कर । और (अमित्राः) शत्रु गण (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धकार, या अन्धकार देने वाले तम, शोक और पीड़ा दुःख से (सचन्ताम्) युक्त हो जांय।

अप्त्रा–'शरर्वारे राजास्त्रि' इति दया० । यदेनया 'विद्धो अपवीयते । व्याविद्धा भय वा इति यास्कः । नि० ६ । ३ । ३ ॥

अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्म संशिते ।
गच्छामित्रान् प्र पद्यस्व मामीषां कञ्चनोच्छिषः ॥ ४५ ॥
ऋ० ६ । ७५ । १६ ॥

४५–४६ अप्रतिरथ ऋषिः । प्रजापतिः विवस्वान्वेत्येके । इषुर्देवता । आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (शरव्ये) हिंसक या प्राणघातक साधनों की बनी हुई शरव्ये ! शर वर्षाने वाली कले ! हे (ब्रह्मसंशिते) बड़े भारी बल वीर्य से अति तीक्ष्ण, वेग वाली की गयी तू (अवसृष्टा) छोड़ी या चलाई जा कर (परापत) दूर तक जा और (गच्छ) इधर भी जा और (अमित्रान्) शत्रुओं तक (प्र पद्यस्व) आगे बढ़ी चली जा और उनतक पहुंच । (अमीषां) उन शत्रुओं में से (कञ्चन) किसी को भी (मा उत् शिषः) जीता बचा न छोड ।

अनेक बाणों या गोलियों को एकही साथ छोड़ने वाली तोप के समान कोई कला 'शरव्या' कहानी प्रतीत होती है । शरमयी इषुः शरव्य इति उव्वटः । 'शरमयी हेति. शरव्या' इति महीधर । 'इषु' या हेति' जो किसी साधन को दूर फेंके वह कला 'इषु' या 'हेति' कहाती है ।

अथवा—हे (ब्रह्मसंशिते शरव्ये) विद्वानों से प्रशंसित बाणविद्या की विदुषि स्त्रि ! तू प्रेरित होकर जा, शत्रुओं को मार, उनमें से किसी को न छोड ॥

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु ।
उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥ ४६ ॥ ऋ० १० । १०३ । १३ ॥
योद्धारो देवता । विराडनुष्टुप् । गान्धार. ॥

भा०—ऐ (नर.) वीर नेता पुरुषो ! (प्र इत) आगे बढो । (जयत) विजय करो । (इन्द्रः) शत्रुओं का नाशक सेनापति (वः) तुमको (शर्म) गृह या रक्षा का साधन (यच्छतु) दे । (वः) तुम्हारे (बाहव) बाहुएं या शत्रुओं को पीडा देने वाले हथियार (उग्रा) उग्र, बड़े बलवान् भयकारी हों । (यथा) जिससे तुम लोग (अनाधृष्याः) शत्रु से कभी पछाड़ न खाने वाले (असथ) बने रहों ।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना ।
तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी ऽअन्यो अन्यं न जानन् ॥ ४७ ॥

अथ० ३ । २ । ६ ॥

मरुतो अशास्त्यक्षत्रियो वा देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (मरुतः) वायु के समान तीव्र वेग से शत्रु रूप वृक्षो के अंगों को तोड़ते फोड़ते युद्ध मे आक्रमण करने हारे वीर पुरुषो ! (असौ या) यह जो (परेषा सेना) शत्रुओं की सेना (ओजसा) बल पराक्रम से (स्पर्धमाना) हमसे स्पर्द्धा करती हुई, हमारा मुकाबला करती हुई (नः अभि एति) हमारी तरफ ही बढ़ी चली आरही है (ताम्) उसको (अपव्रतेन) सब कर्मों को या इन्द्रिय व्यापारो को नाश कर देने वाले, (तमसा) अन्धकार, धूमादि से या शोक और भय से (गूहत) घेर दो । (यथा) जिससे (अमी) ये लोग (अन्य अन्यम् । एक दूसरे को भी (न जानन्) न जान पावें । आखो को भ्रमा देने या नाश कर देने वाले, धूम्र या कृत्रिम अन्धकार का प्रयोग करने का उपदेश वेद करता है ।

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव ।
तत्र ऽइन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥८॥

इन्द्रादयो लिंगोक्ता । देवताः । पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यत्र) जिस सग्राम भूमि में (विशिखा) शिखारहित या विविध शिखाओं वाले (कुमारा) कुमारो बालकों के समान चपल,

(कुमारा कुत्सित दुःखदायी मार करने हारे, (विशिखा) विविध तीक्ष्ण शिखा या तेज़ धार वाले (वाणाः) घनघोर गर्जन करने वाले शस्त्रास्त्र (सम्पतन्ति) निरन्तर गिरते है (तत्) वह (इन्द्रः) शत्रु घातक इन्द्र, सेनापति (बृहस्पातः) बड़ा भारी सेना या सभा का पालक स्वामी (अदिति) अखण्डित बल पराक्रम वाला राजा या तेजस्वनी सभा या अनथक परिश्रम करने वाली स्वयंसेवकसमिति (शर्म यच्छतु) हताहतो को सुख दे । और (विश्वाहा) सदा, सब दिनों (शर्म यच्छतु) सबको सुख दिया करे । (४८-४९) ऋ० ६।७५।१७ १८ ॥

ममाँणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् ।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ ४९ ॥

सोमो वरुणो देवाश्च लिंगोक्ता लिंगोक्तः क्षत्रियो वा देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे वीर योद्धा, क्षत्रिय[1] इन्द्र ! पुरुष ! (ते) तेरे (मर्माणि) आघात लगने से मृत्युजनक कोमल मर्मस्थानों को (वर्मणा) आघात से बचने वाले कवच से (छादयामि) ढकता हूं । (राजा सोमः) सौम्य गुण, दया आदि से युक्त अथवा ऐश्वर्यवान् राजा (त्वा) तुझको (अमृतेन) सर्व निवारक ओषधि और अन्न से (अनु वस्ताम्) तुझे ढके, तेरी रक्षा करे । (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ राजा ही (ते) तुझे (उरो. वरीयः) बहुतसे बहुत, अधिक धन (कृणोतु) प्रदान करे । और (जयन्तं त्वा) विजय करते हुए तुझे देख कर (देवा) विजयशील सैनिक भी (अनु मदन्तु) तेरे साथ प्रहर्षित हों या धनादि विजय-लक्ष्मी से तृप्त हों ।

उदेनमुत्तरां नयाग्ने घृतेनाहुत ।
रायस्पोषेण समिषा मदेम प्रजया च बहुं कृधि ॥ ५० ॥

४९—१ अथवा अत्र क्षत्रिय-एव देवता । तस्य सम्बोध्यत्वेनात्रप्रधानत्वादिति याज्ञि कोऽनन्तदेवः' ॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी आष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (घृतेन । तेज से या शस्त्रों के सञ्चालन रूप पराक्रम से (आहुत) प्रदीप्त ! (अग्ने) अग्रणी ! सेना नायक ! (एनम्) इस राष्ट्र और राष्ट्रपति को तू (उत्नय) ऊंचे पदपर बैठा और (उत्तराम् नय) और अन्यों से भी अधिक उच्चपद या प्रतिष्ठा पर प्राप्त करा । इसको (राय पोषेण) ऐश्वर्य की वृद्धि से संसृज) युक्त कर । (प्रजया च) और प्रजा से (बहु कृधि) बहुत, बहुतसे वीर पुरुषों से युक्त, बड़े समुदाय का स्वामी बना दे ।

इन्द्रेम प्रतरां नय सजातानामसद्वशी ।
समेनं वर्चसा सृज देवाना भागदा ऽअसत् ॥ ५१ ॥

इन्द्रो देवता आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धार ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! सेनापते ! (इम) इस राष्ट्रपति को (प्र-तराम्) बहुत उत्कृष्ट मार्ग से (नय) ले चल । जिससे वह (सजातानाम्) अपने समान वश और पद वालो को भी (वशी असत्) वश करने मे समर्थ हो । (एन) इसको (वर्चसा , ऐसे तेज और बल से (ससृज) युक्त कर जिससे यह (देवाना) समस्त विजयशील योद्धाओं, विद्वानो और शासक वर्गों को (भागदा.) अंश, उनके उचित वेतन आदि देने मे समर्थ (असत्) हो ।

यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्द्धया त्वम् ।
तस्मै देवा ऽअधिब्रुवन्नयं च ब्रह्मणस्पतिः ॥ ५२ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(वयम्) हम लोग (यस्य गृहे) जिसके घर में या जिसके शासन में रह कर (हवि कुर्म) 'हवि' अन्न आदि पदार्थों आदान के प्रदान योग्य कर्मों को उत्पन्न करते है हे (अग्ने) अग्रणी

नायक ! (त्वम्) तू (तम्) उसको (वर्धय) बढ़ा । (देवाः) विद्वान् और विजिगीषु जन भी (तस्मै) उसको ही (अधिब्रुवन्) कहें कि (अयं च) यह ही (ब्रह्मण पति.) महान् बल, वीर्य या वेद या ब्रह्म, अन्न का पालक स्वामी अन्नदाता है । अथवा—(देवाः ब्रह्मणस्पतिः च तस्मै अधिब्रुवन्) विद्वान् पुरुष विद्वानों का भी पालक, वेदवित् पुरुष (तस्मै अधिब्रुवन्) उसको सर्वोच्च होने का उपदेश करें ।

उद्बु॑ त्वा॒ विश्वे॑ दे॒वा ऽअग्ने॑ भर॑न्तु चि॒त्तिभिः॑ ।
स नो॑ भव शि॒वस्त्वꣳ सु॒प्रती॑को वि॒भाव॑सुः ॥ ५३ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धार. ॥

भा०—व्याख्या देखो (१२ । १३)

पञ्च॒ दिशो॒ दैव्री॑र्य॒ज्ञम॑वन्तु दे॒वीर॒पाम॑तिं दुर्म॒तिं बा॑धमानाः ।
रा॒यस्पोषे॑ य॒ज्ञप॑तिमाभजन्ती रा॒यस्पोषे॒ ऽअधि॑ य॒ज्ञो ऽअ॑स्थात् ५४

दिशो देवता । स्वराडार्षी त्रिष्टुप । वैवतः ॥

भा०—(दैवी.) देव, अर्थात् राजा या विजयशील प्रजाओं के अधीन (पञ्च) पाचों (दिशः) दिशाएं अर्थात् पाचों दिशाओं में रहने वाली प्रजाएं, अथवा पांच राजसभाएं (यज्ञम्) सत्कार करने और संगति करने योग्य राजा और राष्ट्र की (अवन्तु) रक्षा करे । (देवीः) और उत्तम विदुषी स्त्रियां और विदुषी प्रजाएं राजसभाएं (अमतिम्) अज्ञान और (दुर्मतिम्) दुष्ट विचारों को (बाधमाना) दूर करती हुई और (यज्ञपतिम्) यज्ञपति को (राय. पोषे) ऐश्वर्य के निमित्त (आभजन्ती) आश्रय करती हुई, यज्ञ की रक्षा करें । वृद्धि मे जिससे (यज्ञ) समस्त राष्ट्र रूप यज्ञ (राय पोषे) ऐश्वर्य की वृद्धि मे (अधि अस्थात्) स्थित रहे । शत० ६ । २ ३ । ८ ॥

५४—(५४-५६) पञ्च यज्ञाङ्गसाधनवादिन्य । सर्वा० ।

गृहस्थ पक्ष में—पांच दिशाओं के समान (देवी) विद्वान् स्त्रिया सब के अज्ञान और दुष्ट बुद्धि की नाश करती हुई (यज्ञपतिम्) गृहस्थ यज्ञ के स्वामी पतियों को सेवन करती एवं ऐश्वर्य का भागी बनाती हुई यज्ञ की रक्षा करें। गृहाश्रम ऐश्वर्य की वृद्धि में लगा रहे।

समिद्धे अग्नावधि मामहान ऽउक्थपत्र ऽईड्यो गृभीतः।
तप्तं घर्म्म परिगृह्यायजन्तोर्जा यद्यज्ञमयजन्त देवा. ॥ ५५ ॥

अग्नि देवता। भुरिगार्षी पंक्ति.। पञ्चम स्वर ॥

भा०—(देवा) जिस प्रकार विद्वान् ऋत्विग् लोग (यत्) जब (तप्तम्) प्रतप्त (घर्मम्) सेचन योग्य घृत को (परि गृह्य) लेकर (अय जन्त) आहुति देते हैं और (यज्ञम्) उस पूजनीय परमेश्वर को लक्ष्य करके (ऊर्जा) अन्न द्वारा (समिद्धे अग्नौ) प्रदीप्त अग्नि में (अयजन्त) आहुति देते और यज्ञ करते हैं तब (अधि मामहान) अति अधिक पूजनीय (उक्थपत्र , वेद वचनों द्वारा ज्ञान करने योग्य (ईड्य) सर्व स्तुति योग्य परमेश्वर ही (गृभीत) ग्रहण किया जाता है अर्थात् यज्ञ मे उसी की प्रजा की जाती है। उसी प्रकार (देवा) विजिगीषु वीर पुरुष (यत्) जब (तप्तम्) अति प्रतप्त, अति क्रुद्ध या शत्रुओं को तपाने मे समर्थ (घर्मम्) तेजस्वी राजा को (परिगृह्य) आश्रय करके (अयजन्त) उसका सत्कार करते और उसके आश्रय पर परस्पर मिल जाते हैं और (अग्नौ समिद्धे) अग्रणी नेता के अति प्रदीप्त, तेजस्वी, हो जाने पर (यत्) जब (यज्ञम्) संगति स्थान, सग्राम को (अयजन्त) करते हैं तब भी (ईड्य) सब के स्तुति योग्य (उक्थपत्र) शासन-आज्ञाओं से प्रजाओं को ज्ञापन य घोषणा करने वाला राजा ही (अधि मामहान) सर्वोपरि पूजनीय रूप से (गृभीत) स्वीकार किया जाता है। शत० ६। २। ३। ६ ॥

दैव्याय धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमना. शतपयाः।
परिगृह्य देवा यज्ञमायन् देवा देवेभ्यो ऽअध्वर्यन्तो ऽअस्थु. ॥५६॥

अग्निर्देवता । विराडार्षी पंक्ति । पञ्चमः ॥

भा०—(देवा') देव, विद्वान् पुरुष, (देवेभ्यः) विद्वानों के हित के लिये ही (अध्वर्यन्त) अपने हिंसा रहित आचरण एवं यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों की कामना करते (अस्थु.) रहते हैं । वे विद्वान् लोग जो (देवश्री') राजा के समान लक्ष्मी से युक्त, अथवा देवों, विद्वानों के निमित्त अपने धन वैभव को व्यय करने हारा, उदार, (श्रीमनाः) अपने चित्त में सेवनीय शुभ वृत्ति या पूज्य प्रभु को धारण करने वाला या लक्ष्मी शोभा को चाहने वाला, और (शतपया) सैकड़ों दूध या दुधार गौवों वाला, या सैकड़ों पुष्टि कारक अन्न आदि से सम्पन्न होता है उस सम्पन्न पुरुष को (दैव्याय) दिव्य गुणों में सम्पन्न (धर्त्रे) जगत् के धारक, पोषक और (जोष्ट्रे) सबको प्रेम करने वाले परमेश्वर की स्तुति के लिये ही (परिगृह्य) आश्रय करके (यज्ञम् आयन्) यज्ञ करने के लिये आते हैं । शत० ६।२।३।१०॥

उसी प्रकार राष्ट्र पक्ष में—जो (देवश्री.) राजा के समान वैभव वाला, (श्रीमना.) राज्य वैभव को चाहने वाला, और (शतपयाः) सैकड़ों पोषण पदार्थों और बलों से युक्त होता है उसका (परिगृह्य) आश्रय लेकर (देवाः) विजिगीषु वीर जन (दैव्याय) देवों के हितकारी, (धर्त्रे) सब के धारक (जोष्ट्रे) सब के प्रेमी पुरुष की वृद्धि या ऐसी राष्ट्र की वृद्धि के लिये (यज्ञम् आयन्) संग्राम में आते हैं । (देवा. देवेभ्यः) विजयी लोग विजेताओं की उन्नति के लिये ही (अध्वर्यन्तः अस्थुः) संग्राम चाहते रहते हैं ।

वीतꣳ हविः शमितꣳ शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति।
ततो वाकाऽआशिषो नो जुषन्ताम् ॥ ५७ ॥

भा०—(यत्र) जिसमें (वीतं) सर्वत्र व्याप्त होने योग्य, (शमिता शमितम्) शान्ति दायक पुरुष द्वारा शान्ति सुख देने योग्य बनाया गया,

(हवि.) आहुति योग्य चरु (यजध्यै) अग्नि में आहुति करने के लिये (एति) प्राप्त होता है वह (तुरीयः) चतुर्थ या सर्वश्रेष्ठ (यज्ञ·) यज्ञ कहा जाता है । (तत.) उससे (वाकाः) प्रार्थनाएं, (आशिषः) उत्तम कामनायें नः (जुषन्ताम्) हमें प्राप्त हों । शत० ९ । २ । ३ । ११ ॥

तुरीयः यज्ञ·=चोथा यज्ञ, अध्वर्यु पुरस्तात् यजूंषि जपति । होता पश्चादृचोऽन्वाह, ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथ जपति एष तुरीयश्चतुर्थो यज्ञ ॥ प्रथम अध्वर्यु यजुषों का कहता है । फिर होता ऋचा पढ़ता है । फिर ब्रह्मा अप्रतिरथ सूक्त का पाठ करता है । यह चतुर्थ यज्ञ है । शत० ९।२।३।११ अथवा प्रथम अध्वर्यु का आवण, फिर अग्नीध्र का प्रत्याश्रवण, फिर अध्वर्यु का प्रैष, फिर होता का स्वाहाकार । अथवा—अध्यात्म मे (यत्र) जिस आत्मा में (शमिता) शम दम की साधना द्वारा (शमित) शान्त किया गया (वीतम्) ज्ञान से युक्त (हवि) ग्राह्य, आत्मा (यजध्यै) परमेश्वर के प्रति समर्पण कर देने के लिये ही (हवम् एति) स्तुति योग्य या आदान योग्य परम वेद्य परमात्मा को (एति) प्राप्त हो जाता है वह (तुरीय. यज्ञ.) 'तुरीय' अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति रूप 'यज्ञ' कहाता है । (तत.) उस तुरीय पद को प्राप्त ब्रह्मज्ञानी से हमे (वाका.) वाणी से बोलने योग्य आशीर्वाद (न जुषन्ताम् हमें प्राप्त हों ।

राष्ट्र पक्ष में—(शमिता) प्रजा में शान्ति फैलाने में समर्थ पुरुष द्वारा (शम्-इतम्) शान्त गुण युक्त किये (वीतम्) व्यापक (हवि) उपाय, या आदान योग्य कर जहां (यजध्वै) राजा को देने के लिये (हव्यम्) पूजनीय प्रभु को प्राप्त होता है वह तुरीय सर्वश्रेष्ठ (यज्ञ) व्यवस्थित राज्य है । (तत) उस राज्य से (वाका) गुरुपदेश योग्य विद्याएं और (आशिष.) उत्तम इच्छाएं (न·) हमे (जुषन्ताम्) प्राप्त हों ।

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२ऽ अजस्रम् ।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ५८

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धवत ॥

भा०—जो (सूर्यरश्मि.) सूर्य की किरणों के समान किरणों, विद्या आदि गुणों को धारण करता है, (हरिकेश) जो क्लेशों के हरण करने वाला, अथवा पीली ज्वाला, दीप्ति के समान उज्ज्वल एवं क्लेशकारी शस्त्रास्त्रों को धारण करने वाला है, जो (सविता) सूर्य के सम न समस्त प्रजा का प्रेरक, होकर (अजस्रम्) अविनाशी (ज्योति) ज्योति, प्रकाश रूप मे (उद् अयान्) ऊपर उठता है, (तस्य प्रसवे) उसके उ कृष्ट शासन मे रहकर (पूषा विद्वान्) पोषक विद्वान् (गोपा) जितेन्द्रिय, विद्यावाणी का पालक होकर (विश्व भुवनानि) समस्त भुवन, उत्पन्न पदार्थों को (सम् पश्यन्) अच्छी प्रकार देखता हुआ, उनका ज्ञान प्राप्त करता हुआ (याति) आगे बढ़ता है । ऋ० १०।१३६।१॥ शत० ६।२।३।२॥

परमेश्वर पक्ष में –(सूर्य रश्मि.) सूर्य आदि लोक भी जिसकी किरण के समान हैं, अत. वह परमेश्वर सूर्यरश्मि' है । क्लेश हरण करने वाला होने से वह 'हरिकेश' है। सर्वोत्पादक होने से सविता है। वह अविनाशी ज्योति रूप में हृदय में उदित हो । उसके (प्रसवे) उत्कृष्ट शासन या जगत् मे (पूषा) अपने बल और ज्ञान का पोषक विद्वान् ज्ञानी, जितेन्द्रिय पुरुष (विश्वा भुवनानि सम्पश्यन्) समस्त भुवनो को देखता, ज्ञान करता हुआ सूर्य के समान (याति) गति करता है ।

विमान॑ऽएष दि॒वो मध्य॑ऽआस्त॒ऽआपृ॒णन् रोद॑सी अ॒न्तरि॑क्षम्
स विश्वाची॒रभि॑ चष्टे घृ॒ताची॑रन्त॒रा पूर्व॒मप॑रं च के॒तुम् ॥ ५६ ॥

विश्वावसु ऋषि. । आदित्यो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धवतः ॥

भा०—सूर्य के पक्ष में-(एष) यह सूर्य (विमान. पक्षी के समान या विमान, व्योमयान के समान (दिव मध्ये) आकाश के बीच (आस्ते) स्थित है। वह (रोदसी अन्तरिक्षम्) द्यौ और पृथिवी और

अन्तरिक्ष तीनो को (आ पप्रिवान्) अपने तेज से पूर्ण करता है । (स) वह (विश्वाची) समस्त विश्व को अपने मे रखने वाला और (घृताची) जल को धारण करने वाला, भूमियों को, प्रजाओं को और दिशाओं को (अभिचष्टे देखता है । और (पूर्वम् अपरं च केतुम् अन्तरा) पूर्व के और पश्चिम के ज्ञापक लिग को भी देखता है । ऋ० १०।१३६।२।शत० ६।२।३।१७॥

अथवा—(स) वह (विश्वाची घृताची.) सर्वत्र फैलने वाली, जलाहरण करने वाली कान्तियों को और (पूर्वम् अपर च) पूर्व दिन और अपर रात्रि दोनों के बीच के काल को भी (आभिचष्ट) प्रकाशित करता है ।

राजा के पक्ष में—(एष) महाराजा (दिव मध्ये) तेज और प्रकाश के बीच या ज्ञानी पुरुषो के बीच में (विमान) विशेष मान, आदरवान् होकर (अस्ते) विराजता है वह (रोदसी) शासक और प्रजा दोनों को और (अन्तरिक्ष) सबके रक्षक सर्व पूज्य अन्तरिक्ष पद को भी पूर्ण करता है वह विश्व को धारण करने वाली (घृताची) अन्न जल की धारक भूमियों और प्रजाओं को (पूर्वम् अपरं च केतुम्) पूर्व के और पश्चिम के ज्ञापक ध्वजादि का भी (अभिचष्टे) सूर्य के समान देखता है ।

इसी प्रकार आदित्य योगी विशेष ज्ञानवान् होने से 'विमान' है । वह प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के बीच ब्रह्मस्थ होकर विराजता है । वह प्राण अपान और अन्तरिक्ष, हृदयाकाश सब को पूर्ण करता है । वह देह में व्याप्त और तेजोव्याप्त नाड़ियों को और पूर्व और अपर केतु अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों के ज्ञानमय स्वरूप को साक्षात् करता है ।

उद्वा समुद्रो अरुण सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश ।
मध्ये दिवो निहित पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥६०॥

अप्रतिरथ ऋषि आदित्यो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(उक्षा) राष्ट्र कर्त्तव्य भार को वहन करने वाला, (सप्तुद.) नाना ऐश्वर्यों और बलयुक्त कार्यों को उत्पादक, अथवा (सप्तुद) अपनी सुदादि का उत्पादक, या समुद्र के समान गंभीर अनन्त कोश रत्नों को स्वामी (अरुण) उगते सूर्य के समान रक्त वर्ण के वस्त्र पहने, रोहित स्वरूप, (सुपर्ण) उत्तम रूप से पालन करने वाला होकर ही (पूर्वस्य) अपने पूर्व विद्यमान (पितु.) पालक पिता राजा के (योनिम्) स्थान को (आविवेश) ले, पूर्व के राजा के पद पर स्वयं विराजे। यदि राजा का पुत्र उतना समर्थ न हो तो उसको पिता की राज-गद्दी न प्राप्त हो । क्योंकि (दिव. मध्ये) द्यौलोक के बीच में (निहित) स्थित सूर्य के समान तेजस्वी राजा ही (दिव. मध्ये) तेजस्वी राष्ट्र और राजचक्र के बीच में (निहित.) स्थापित होकर (पृश्निः) सूर्य जिस प्रकार पृथिवी आदि लोकों से रस को ग्रहण करता है उसी प्रकार कर आदि लेने में समर्थ एवं प्रजा पालन मे समर्थ और (अश्मा) चक्की या शिला के समान शत्रु गणों को चकना चूर कर देने मे समर्थ होकर ही वह (विचक्रमे) विविध प्रकार के विक्रम कर सकता है और (रजस) नाना ऐश्वर्यों से रंजित राष्ट्र रूप लोक के (अन्तौ) दोनो छोरों को (पाति) पालन कर सकता है । ऋ० ५।४७।३॥ शत० ६।२।३।१८॥

इसी प्रकार गृहपति के विषय मे —गृहस्थ माता पिता का पुत्र जब वीर्य सेचन में या गृहस्थ का भार उठाने में समर्थ 'उक्षा' उत्तम पालन, साधन रोजगारों से युक्त सुपर्ण' हो तो उसको अपने पूर्व पिता की गादी प्राप्त हो । वह ही (अश्मा) शिला के समान आदित्य के समान पालक, होकर (रजस) राग से प्राप्त काम्य, गृहस्थ सुख के दोनों अन्तो को वर वधू दोनों के गृह बन्धनो को पालन कर सकता है ।

अथवा योगी–(उक्षा) धर्म मेघ द्वारा आत्मा में ब्रह्म रसक वर्षक होकर तेजस्वी, उत्तम ज्ञानवान् होकर पूर्व पिता, पूर्ण पालक परमेश्वर

के धाम को प्राप्त होता है। वह (दिव) तेजोमय मोक्ष के बीच में स्थित होकर (पृश्नि) समस्त ब्रह्मा नन्द का भोक्ता (अश्मा) राजस, तामस उद्योगों का नाशक 'अष्मावरण' होकर (विचक्रमे) विविध लोकों में स्वच्छन्द गति करता है और (रजस) समस्त ब्रह्माण्ड या रजोमय प्राकृतिक विकृति विभूति के दोनों छोर उत्पत्ति और प्रलय दोनों को (पाति) पा लेता है। शत० ६।२।३।१८ ॥

इन्द्रं विश्वा ऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।
रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

ऋ० १।१।११ ॥

भा०—(समुद्रव्यचसम्) समुद्र या आकाश जिस प्रकार अनन्त जल-कोश या विविध सस्य और रत्न सम्पत्ति के देने वाले हैं उसी प्रकार विविध ऐश्वर्यों के दाता और (रथीनां रथीतमम्) समस्त रथियों में सब से बड़े महारथी, (सत्पतिम्) सत्-मर्यादाओं और सज्जनों के प्रतिपालक और (वाजाना) संग्रामों और ऐश्वर्यों के (पतिम्) पालक (इन्द्र) शत्रुओं के विनाशक इन्द्र सेनापति या राजा को (विश्वा गिरः) समस्त स्तुति-वाणियां (अवीवृधन्) बढ़ाती हैं। वे उसके गौरव को बढ़ाती हैं।

ईश्वर के पक्ष में—आकाश भूमि समुद्र में व्यापक (रथीना रथीतमम्) समस्त देह-धारियों में विराड् ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले अथवा रसयुक्त पदार्थों में सबसे उत्कृष्ट रस वाले, आनन्दमय, समस्त ऐश्वर्य के पालक प्रभु को सब वेदवाणियां बढ़ाती हैं, उसका गौरव गान करती हैं। व्याख्या देखो। १२।६ ॥ शत० ६।२।३।२०॥

देवहूर्यञ्च ऽआ च वक्षत्सुम्नहूर्यञ्च ऽआ च वक्षत्।
यक्षदग्निर्दैवो दैवाँ२ ऽआ च वक्षत् ॥ ६२ ॥

विधृतिर्ऋषिः। यज्ञो देवता। विराडार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—(देवहूः) देव-विद्वानों और विद्या आदि शुभ गुणों का स्वयं

धारण करने वाला, विद्वानों का आह्वाता (यज्ञः) सबका संगतिकारक, व्यवस्थापक, प्रजापति राजा (च) ही राष्ट्र का (आवक्षत्) सब प्रकार से कार्य-भार वहन करे। (सुम्नहू) सुखों, ऐश्वर्यों का प्रदाता (यज्ञः) यज्ञ, सर्वोपरि आदर योग्य प्रजापति ही राष्ट्र को आ वक्षत) धारण करे। (देवः) सब का द्रष्टा और दाता (अग्निः) अग्रणी नायक तेजस्वी राजा ही (आ वक्षत्) सबको संगत करे और (आ वक्षत् च) राष्ट्र के भार को धारण भी करे। शत० ६।२।३।२० ॥

ईश्वरपक्ष में—(यज्ञः) सर्वोपास्य यज्ञ, परमेश्वर दिव्य शक्तियों का धारक विद्वान् ज्ञानी पुरुषों को अपने पास बुलाने से 'देवहू.' है। सुख-प्रद एवं सुपुम्ना द्वारा भीतरी सुखद होने से 'सुम्नहू' है। वही सर्वप्रकाशक अग्नि सबको ज्ञान देता और धारण करता है।

वाजस्य मा प्रसव ऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत्।
अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधरा ँ२ऽ अकः ॥ ६३ ॥

इन्द्रो देवता। विराडार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा और ईश्वर (मा) मुझको (वाजस्य प्रसवः) विज्ञान, अन्न और ऐश्वर्य का उत्पादक होकर (उद् ग्राभेण) ऊपर ले जाने वाले उपाय या सामर्थ्य से (उत् अग्रभीत्) उत्तम पद पर या उत्तम स्थिति में रक्खे। (अध) और (निग्राभेण) निग्रह या दण्ड देकर वह (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओं को (अधरान् अकः) नाच करे। शत० ६।२।३।२१ ॥

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा ऽअवीवृधन्।
अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम् ॥ ६४ ॥

इन्द्राग्नी देवता। आर्ष्यनुष्टुप्। गाधारः ॥

भा०—(देवाः) विद्वान् पुरुष (उद्ग्राभम्) उत्कृष्ट पद को प्राप्त

करने के सामर्थ्य और (निग्राभम्) शत्रुओं को नीचे गिराने और दलित करने के सामर्थ्य को और (वह्या च) बड़े भारी धन और राष्ट्र को भी (अवीवृधन्) नित्य बढ़ावें । (अधा) और (इन्द्राग्नी) सेनापति इन्द्र और राष्ट्र का अग्रणी नायक तेजस्वी अग्नि दोनों (मे) मेरे (विषूचीनान्) विरुद्धाचारी (सपत्नान्) शत्रुओं को (व्यस्यताम्) विविध उपायों से विनष्ट करें । शत० ६।२।३.२२ ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳ हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ ६५ ॥

अग्निर्देवता । विराडार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा० – हे वीर पुरुषो ! तुम लोग (अग्निना) अपने अग्रणी तेजस्वी, ज्ञानवान् नेता राजा और आचार्य के साथ (नाकम्) सुखप्रद, (उख्यम्) उस उखा नाम पृथ्वी के हितकारी भोग्य राष्ट्र सुख को (हस्तेषु) अपने शत्रु को हनन करने वाले शस्त्रास्त्रों के बल पर (बिभ्रत) धारण करते हुए (क्रमध्वम्) आगे बढ़ो । (दिव पृष्ठं) न्याय, विद्या आदि से प्रकाशित सूर्य के समान तेजस्वी (पृष्ठ) पालन करने वाले (स्व) सुखमय राज्य को (गत्वा) प्राप्त करके (देवेभि.) विद्वान् विजयी पुरुषों के साथ (मिश्रा.) मिलकर (आध्वम्) विराजो । शत० ६।२।३।२४ ॥

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरो ऽअग्निर्भवेह ।
विश्वा ऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥६६॥

अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवत. ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नायक, राजन् ! सभापते ! तू (प्राचीम् प्रदिशम्) सूर्य जिस प्रकार प्राची दिशा को प्राप्त होकर समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ सब दो पाये, चौपायों के लिये प्रकाश करता और उनको बल, जीवन प्रदान करता है उसी प्रकार तू भी (प्राचीम् प्रदिशम् अनु) प्रकृष्ट, उन्नत पद को प्राप्त कराने वाली उन्नति के दिशा की ओर

(प्र इहि) आगे बढ़, प्रयाण कर । तू (अग्नेः) सूर्य के पराक्रम से स्वयं (पुरो अग्नि·) आगे चलने वाला मुख्य अग्रणी (इह) इस राज्य में (भव) होकर रह । तू (विश्वा·, आशाः) समस्त दिशाओं को (दीद्यानः) अपने तेज से सूर्य के समान प्रकाशित करता हुआ (विभाहि) प्रकाशित हो और (न) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे) दो पाये, भृत्य आदि और चौपाये गौ आदि पशुओं को (ऊर्जं धेहि) उत्तम अन्न और बल, पराक्रम प्रदान कर। शत० ६ । २ । ३ । २५ ॥

पृथिव्या ऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥ ६७ ॥ अथ० ४।१४।३॥

अग्निर्देवता । पिपीलिकामध्या बृहती । मध्यम. ॥

भा० - मैं अधिकार प्राप्त राजा (पृथिव्याः) पृथिवी से अर्थात् पृथिवी निवासी प्रजागण से ऊपर (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष के समान सर्वाच्छादक, सब सुखों के वर्षक पद को वायु के समान (आरुहम्) प्राप्त होऊं और मैं (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष पद से (दिवम् । सूर्य के समान तेजस्वी सर्व प्रकाशक सर्वद्रष्टा, तेजस्वी विराट् पद पर (आरुहम्) चढ़ूं । (नाकस्य · सर्व सुखमय (दिव.) उस तेजोमय (पृष्ठात्) सर्व-पालक, सर्वोपरि पद से भी ऊपर (स्व) सुखमय (ज्योतिः) परम प्रकाश ज्ञानमय ब्रह्मपद को भी (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त करू । शत० ६।७।३।२६॥

अध्यात्म में—योगी स्वयं मूलाधार से अन्तरिक्ष = नाभि देश को और फिर शिरोदेश को जागृत कर वहां से सुखमय परमब्रह्म ज्योति को प्राप्त करता है ।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त ऽआ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिरे ॥ ६८ ॥

अथ० ४ । १४ । ४ ॥

अग्निर्देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ये) जो (सुविद्वांसः) उत्तम विद्वान् पुरुष (विश्वतो धारम्) सब तरफ बसने वाले प्रजाजनों को धारण करने वाले (यज्ञं) राष्ट्र व्यवस्था रूप सुसगठित साम्राज्य को (वितेनिरे) विविध उपायों से विस्तृत करते हैं वे (स्वः यन्त) सुखकारी साम्राज्य को प्राप्त करते हुए (न अपेक्षन्ते) नीचे की तरफ नहीं देखते। अथवा (स्वः यन्तः) परम मोक्ष को प्राप्त होते हुए योगियों के समान संसार के भोगों की (न अपेक्षन्ते) अपेक्षा नहीं करते, प्रत्युत (रोदसी धाम्) समस्त पृथिवी के ऐश्वर्य को शत्रु बल को रोक लेने में समर्थ (धाम्) सर्वोपरि विजय-कारिणी शक्ति को (आरोहन्ति) प्राप्त हो जाते हैं। शत० ६।२।३।२७ ॥

योगी के पक्ष में—(ये विद्वास.) जो विज्ञानी, योगीजन (विश्वतो धारं यज्ञं) समस्त जगत् के धारक, परम उपास्य परमेश्वर को वितेनिरे) प्राप्त हो जाते हैं वे (स्वर्यन्त.) सुखमय परम मोक्ष को जाते हुए संसार-भोगों की (न अपेक्षन्ते) अपेक्षा नहीं करते, उनपर नीचे दृष्टि नहीं डालते। प्रत्युत (रोदसी) जन्म मृत्यु के रोकने में समर्थ (धाम्) प्रकाशमयी मोक्ष पदवी को (आरोहन्ति) प्राप्त करते हैं।

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामुत मर्त्यानाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ६६ ॥

अथ० ४। १४। ५ ॥

अग्निर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिः। पञ्चम ॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! राजन्! विद्वन्! (देवानाम्) ज्ञान प्रदान करने वाली इन्द्रियों के बीच में (चक्षुः) चक्षु के समान समस्त पदार्थों के दिखलाने हारा होकर तू (देवयताम्) कामना करने वाले, काम्य-सुखों को चाहने वाले (मर्त्यानाम्) मनुष्यों के बीच में तू (प्रथम.) सब से मुख्य होकर (प्र इहि) आगे २ बढ़। (यजमानाः) यज्ञ करने वाले, दानशील अथवा राष्ट्रों का संगठन करने वाले राजगण भी

(भृगुभि) परिपक्व विज्ञान वाले विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) अपना यज्ञ, प्रजा पालन का कार्य करते हुए (सजोषाः) परस्पर प्रेम सहित (स्वस्ति) कल्याण पूर्वक । (स्व॰ यन्तु) सुख धाम को प्राप्त हों ।

इसी प्रकार (यजमानाः) दान शील गृहस्थ लोग (भृगुभिः) पापों को भून डालने वाले, परिपक्व ज्ञानी, तपस्वी विद्वानों के साथ (इयक्षमाणाः) अपने अध्यात्म यज्ञ को सम्पादन करते हुए (स्वस्ति) सुखपूर्वक (स्वः यन्तु) मोक्ष सुख को प्राप्त करें । शत० ९ । २ । ३ । २८ ॥

नक्तोषासा समनसा विरूपे धापयेते शिशुमेकꣳ समीची ।
द्यावाक्षामा रुक्मोऽअन्तर्विभाति देवाऽअग्निं धारयन्द्रविणोदाः७०

भा०—व्याख्या देखो (अ० १२ । २) अ० १ । ९६ । ५ ॥

अग्ने सहस्राक्ष शतमूर्ध्नꣳस्तं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः । त्वꣳसाहस्रस्य रायऽईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहा ॥ ७१ ॥

अग्निर्देवता । भुरिगार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! हे (सहस्राक्ष) गुप्त चरों, दूतों और सभासदों रूप हजारों आंखों वाले ! हे (शतमूर्धन्) सैकड़ों राजसभासदों रूप विचार करने वाले मस्तकों से युक्त ! (ते) तेरे (शतं प्राणाः) सैकड़ों अधीन शासक रूप प्राण हैं जिनसे राष्ट्र शरीर में चेतनता जागृत रहती है इसी प्रकार (सहस्रं व्यानाः) हजारों व्यान के समान भीतरी व्यवहारों के कर्त्ता अधिकारी हैं । (त्वम्) तू (सहस्रस्य राय॰) सहस्रों ऐश्वर्यों का (ईशिषे) स्वामी है । (तस्मै ते) उस तुझ (वाजाय) वीर्यवान्, ऐश्वर्यवान् प्रभु को हम (स्वाहा) उत्तम यश कीर्त्ति के लिये (विधेम) अन्न, कर आदि प्रदान करें । परमेश्वर पक्ष में—हे परमेश्वर तेरे हजारों आंख, सिर, प्राण व्यान आदि हैं, तू सहस्रों ऐश्वर्यों का स्वामी है, हम तेरा आदर सत्कार करें । योगी के पक्ष में—योगी भी अपनी साधना

से अनेक शरीर में प्रविष्ट होकर आंख, नाक, कान, सिर आदि विभूति दिखाने में समर्थ होता है, हम ऐसे सिद्ध का आदर करें। शत० ६।२।३।३२-३३॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद। भासान्तरिक्षमापृण ज्योतिषा दिवमुत्तभान तेजसा दिश ऽउद्दꣳह ॥ ७२ ॥

अग्निर्देवता। निचृदार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे राजन्! तू (सुपर्णः आसि) सुख से पालन करने में समर्थ, उत्तम पालन साधनों से सम्पन्न और उत्तम लक्षणों वाला है। तू (गरुत्मान्) महान् गौरवपूर्ण आत्मा वाला होकर (पृथिव्याः पृष्ठे) पृथिवी के ऊपर (सीद) विराजमान हो। और (भासा) अपनी कान्ति, तेज और पराक्रम से (अन्तरिक्षम्) वायु के समान अन्तरिक्ष को भी पूर्ण कर, अन्तरिक्ष के समान समस्त प्रजा को घेर कर उनपर अपनी छत्र-छाया रख। और (ज्योतिषा) सूर्य से जिस प्रकार आकाश मण्डित है उसी प्रकार (ज्योतिषा) अपने तेज से (दिवम्) अपने विजय से प्राप्त क्रीड़ास्थल, आनन्द प्रमोद के स्थान, समृद्ध, कामना योग्य राज्य को (उत्-स्तभान) उन्नत कर और ऊपर उठाये रख। और (तेजसा) पराक्रम से (दिशः) समस्त दिशाओं दिशावासी प्रजाओं को (उद् दꣳह) उन्नत कर॥ शत० ६। २। ३। ३४॥

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया।
अस्मिन्त्सधस्थे ऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ७३

अग्निर्देवता। आर्षी त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने सूर्य के समान तेजस्विन्! राजन्! तू (आजुह्वान.) आदर सत्कार से सम्बोधन किया जाकर (सुप्रतीक.) शुभ लक्षण और रूप बनाकर, सौम्य होकर (पुरस्तात्) आगे सबसे मुख्य, पूर्व की ओर (साधुया) उत्तम रीति से (स्व योनिम्) अपने स्थान, मुख्य आसन पर (आसीद) विराज। (अस्मिन् सधस्थ) इस एकत्र

होकर बैठने के (उत्तरस्मिन्) उत्कृष्ट सभाभवन मे तू (अधि) सबसे ऊपर विराज और (विश्वे देवाः) समस्त विद्वान्, ज्ञानी पुरुष और (यजमान च) सबका सत्कार करने मे कुशल राजा महामात्य और राज-सभासद् गण भी (सीदत) विराजें। शत० ६ । २ । ३ । ३५ ॥

ताꣳ सवि॒तुर्व॑रे॒ण्यस्य॑ चि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्वज॑न्याम्।
याम॑स्य॒ कण्वो॒ ऽअदु॑ह॒त्प्रपी॑नाꣳ सह॒स्र॑धारा॒म्पय॑सा म॒हीं गाम् ७४

कण्वऋषि. । सविता देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अहम्) मैं (वरेण्यस्य) सर्व श्रेष्ठ, सबो द्वारा वरण करने योग्य वर उत्तम वरणयोग्य पद पर लेजाने हारे (सवितुः) सूर्य के समान सबके प्रेरक, ऐश्वर्यवान् राजा के (ताम्) उस (चित्राम्) अद्भुत (सुमतिम्) शुभ ज्ञानवाली (विश्वजन्याम्) समस्त प्रजाजनो में से बनाई गयी, उनके हितकारी को (वृणे) स्वीकार करता हूं। (याम्) जिस (प्रपीनाम्) अति पुष्ट, (सहस्रधाराम्) सहस्रों ज्ञानवाणियों या नियम-धाराओ से युक्त अथवा सहस्रो ज्ञानों को धारण करने वाली (पयसा) दूध से जिस प्रकार गौ, और अन्न से जिस प्रकार पृथिवी आदर योग्य होती है उसी प्रकार (पयसा) वृद्धिकारी राष्ट्र के पुष्टिजनक उपायों से (महीम् गाम्) बड़ी भारी ज्ञानमयी, (याम्) जिस विद्वत् सभा को (कण्वः) मेधावी जन (अदुहन्) दोहते हैं, उससे वादविवाद द्वारा सार तत्व को प्राप्त करते हैं। शत० ६।२।३।३८ ॥

राजा रूप प्रजापति की यही अपनी 'दुहिता' गौ, राजसभा है जिसे वह अपनी पत्नी के समान अपने आप उसका सभापति होकर उसको अपने अधीन रखता है। जिसके लिये ब्राह्मण ग्रन्थ में लिखा है—'प्रजापति स्वां दुहितरमभ्यधावत्।' इत्यादि उसी को 'दिव' या 'उषा' रूप से भी कहा है, वस्तुतः यह राज-सभा है।

परमेश्वर के पक्ष में—सबसे श्रेष्ठ सर्वोत्पादक परमेश्वर की अद्भुत (विश्वजन्या) विश्व को उत्पन्न करने वाली (सुमतिं) उत्तम ज्ञानवती (गाम्) वाणी को मैं (वृणे) सेवन करू (याम् महीम् गाम्) जिस पूजनीय वाणी को सहस्रो धार वाली हृष्ट पुष्ट गाय के समान (सहस्र-धाराम्) सहस्रों 'धारा', धारण सामर्थ्य या व्यवस्था-नियमों वाली को (कण्वः अदुहत्) ज्ञानी पुरुष दोहन करता है, उससे ज्ञान प्राप्त करता है।

विधेम ते परमे जन्मन्नग्ने विधेम स्तोमैरवरे सधस्थे ।
यस्मात्योनेरुदारिथा यजे तं प्र त्वे हवींषि जुहुरे समिद्धे ॥७५॥

ऋ० ७ । १ । ३ ॥

गृत्समद ऋषिः । त्रिस्थानोऽग्नि देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अपने तेज से दुष्टों का दहन करने हारे राजन्! हम (परमे जन्मनि) सर्वोत्कृष्ट पद पर स्थापित करके (ते) तेरा (विधेम) विशेष सत्कार करें। और (अवरे सधस्थे) उससे उतर कर 'सधस्थ' अर्थात् सब विद्वान् सभासदों के एकत्र होने के सभा-भवन में भी (स्तोमै) स्तुति वचनों या अधिकार पदों से (विधेम) तेरा आदर सत्कार करें। तू (यस्मात् योने.) जिस स्थान से भी (उत आरिथा) उन्नत पद को प्राप्त हो (तम् यजे) उसको भी मैं तुझे प्रदान करू। (समिद्धे) प्रदीप्त अग्नि में जिस प्रकार (हवींषि जुहुरे) नाना हवियों को आहुति करते हैं उसी प्रकार हम लोग (त्वे) तुझपर (हवींषि) आदन योग्य, ग्रहण करने और स्वीकार करने योग्य यथार्थ वचनों को प्रदान करें। शत० ६।२ ३।३६॥

योगी के पक्ष में—हे योगिन्! परम जन्म अर्थात् योग द्वारा प्राप्त उत्कृष्ट पद में स्थित तेरी हम सेवा करें। जिस मूल आश्रय से तू उन्नति को प्राप्त है (तम् यजै) उस परमेश्वर की हम भी उपासना करें। प्रदीप्त अग्नि के समान तुम्हें हम श्रेष्ठ अन्न प्रदान करें।

प्रेद्धो ऽअग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्म्या यविष्ठ ।
त्वाꣳ शश्वन्त ऽउपयन्ति वाजाः ॥ ७६ ॥ ऋ० ७ । १ । ३ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! तू (नः पुरः) हमारे आगे (अजस्रया) अविनाशी, नित्य (सूर्म्या) काष्ठ से जिस प्रकार आग जलती है उसी प्रकार उत्तम उत्साह और तेजः साधनों से (दीदिहि) प्रकीर्णित हो । हे (यविष्ठ) सदा बलवान् ! (त्वाम्) तुझ (शश्वन्तः) सदा के लिये स्थिर (वाजाः) अन्नादि ऐश्वर्य और ज्ञानवान् पुरुष (उपयन्ति) प्राप्त हों । शत० ६।२।३।४० ॥

अग्ने तमद्याश्वꣳ न स्तोमैः क्रतुꣳ न भद्रꣳ हृदिस्पृशम् ।
ऋध्यामा त ऽओहैः ॥ ७७ ॥ ऋ० ७ । १० । १ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १५ । १४ ॥ शत० ६।२।३।४१ ॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन्वीतिहोत्रा ऋतावृधः । पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे विश्वाहादाभ्यꣳ हविः ॥ ७८ ॥

विश्वकर्मा देवता । विराड् अतिजगती । निषादः ॥

भा०—मैं (घृतेन) घी के द्वारा जैसे अग्नि में आहुति दी जाती है उसी प्रकार (मनसा) मनन पूर्वक, चित्त से (चित्तिम्) तत्व जिज्ञासा के लिये चिन्तन या विवेक को (जुहोमि) प्राप्त करता हूं अर्थात् निर्णय करना चाहता हूं (यथा) जिससे (इह) इस विचार-भवन में (वीतिहोत्रा) उज्वल, ज्ञान की आहुति देने वाले (ऋतावृध) सत्य को बढ़ाने हारे (देवा) विद्वान् लोग (आगमन्) आयें । (भूमनः विश्वस्य पत्ये) बड़े भारी विश्व के स्वामी (विश्वकर्मणे) समस्त राष्ट्र के साधु कर्मों के प्रवर्त्तक राजा के निमित्त मैं (अदाभ्यं) अखण्ड, अविनाशी वे

चूक, कभी न कटने वाली, दृढ़ (हवि.) ज्ञान और अन्न को (विश्वाहा) सदा दिनों (जुहोमि) प्रदान करूं। शत० ६।२।३।४२ ॥

प्रत्येक विद्वान् सभासद् का कर्त्तव्य है कि जब विद्वान् सत्यशील लोग एकत्र हों तो मन लगा कर 'चिति' अर्थात् विषय के 'चिन्तन' या विचार में ध्यान दें। और राजा को अखण्डनीय, निश्चित सत्य तत्व का निर्णय प्रदान करे।

योगी के पक्ष में—प्रकाशित यज्ञ वाले सत्यवर्धक (देवा) देवगण, प्राण या विद्वान् मुझे प्राप्त हों इस रीति से मैं सत्यासत्य विवेचन करूं। और महान् विश्व के स्वामी परमेश्वर के लिये इस (अदाभ्यं हवि) अखण्ड, हवि रूप आत्मा को समर्पित करूं।

सप्त तें अग्ने समिधः सप्त जिह्वा सप्त ऋषयः सप्त धाम प्रियाणि।
सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरा पृणस्व घृतेन स्वाहा

अग्निर्देवता। आर्षी जगती। निषादः। सप्त ऋषयो ऋषयः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान उज्ज्वल तेजस्विन्! (ते) तेरे (सप्त समिधः) अग्नि के समान सात समिधाएं हैं अर्थात् अमात्यादि सात प्रकृतियां तेरी तेजोवृद्धि का कारण हैं। (सप्त ऋषयः) राष्ट्र के कार्यों का निरीक्षण करने वाले वे सात ही 'ऋषि' हैं, वे मन्त्रद्रष्टा, गुप्त मन्त्रणार्थ अमात्य हैं। (सप्त प्रियाणि धाम) सात ही प्रिय तेज या धारण सामर्थ्य हैं। वही तेरे (सप्त होत्राः) सात होत्र, यज्ञ के ७ होताओं के समान राष्ट्र के सात अंग हैं। वे सातों (त्वा) तुझ को (सप्तधा) सात तरह से (यजन्ति) प्राप्त होते हैं। तू उन (सप्त योनी) सातों स्थानों या पदाधिकारों को (घृतेन) अपने तेज से (स्वाहा) उत्तम रीति से (आपृणस्व) पूर्ण कर। शत० ६।२।३।४४ ॥

होत्राः—ऋतवो वा होत्राः। रश्मयो वाव होत्राः। अङ्गानि वा होत्राः॥ गो० उ० ६। ६॥

शुक्रज्यौतिश्च चित्रज्यौतिश्च सत्यज्यौतिश्च ज्यौतिष्माँश्च।
शुक्रश्चर्तपाश्चात्यंहाः॥ ८०॥

मरुतो देवता। आर्ष्युष्णिक्। ऋषभः॥

भा०—(शुक्रज्योतिः च) शुक्रज्योति, (चित्रज्योतिः च) चित्रज्योति, (सत्यज्योति च) सत्यज्योति (शुक्र· च) शुक्र, (ऋतपा· च) ऋतपा और (अत्यंहा.) अत्यंहा ये ७ 'मरुत्' अर्थात् शरीर में ७ प्राणों के समान राष्ट्र मे मुख्य अमात्य नियत किये जांय। शत० ९।३।१।२६॥

अति कान्तिमान् शुद्ध ज्योति, ज्ञानवान् पुरुष 'शुक्रज्योति' है। चित्र अर्थात् अद्भुत ज्योति वाला पुरुष 'चित्रज्योति' है। सत्य निर्णय देने वाला 'सत्यज्योति' और ज्ञानज्योति वाला पुरुष 'ज्योतिष्मान्' और शीघ्रकारी या शुद्ध रूप 'शुक्र' है। (ऋतपाः) सत्य या कानून ग्रन्थ का पालक ऋतपा' है। अहस् अर्थात् पापों को अतिक्रमण करनेवाला 'अत्यंहा.' है।

ये सभी ईश्वर के नाम भी हैं।

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च।
मितश्च सम्मितश्च सभराः॥ ८१॥

मरुतो देवता। आर्षी गायत्री। षड्जः॥

भा०—(इदृङ्) यह ऐसा है, (अन्यादृङ् च) यह अन्य के समान है अर्थात् इसके समान और भी है, (सदृङ् च) यह और यह समान है। (प्रतिसदृङ् च) प्रत्येक पदार्थ इस अंश में समान है ,(मितः च) यह इतने परिमाण का है, (समितः च) अच्छी प्रकार यह अमुक पदार्थ के बराबर ही परिमाण वाला है। (सभरा) ये सब पदार्थ समान भार वाले या समान वस्तु को धारण करते हैं। इस प्रकार सातों प्रकार

से देखने वाले विद्वान् राजा के राज्य-विभागों में कार्य करें। और उनके 'इर्ड्' आदि ही नाम हों।

इसी प्रकार सात प्रकार से विवेचना करने वाला होने से उनका मुख्य पुरुष और परमेश्वर भी इन सात नामों से कहाता है।

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च धर्त्ता च विधर्त्ता च विधारयः ८२

मरुतो देवता । आर्षी गायत्री । षड्ज ॥

भा०—(ऋत च सत्य च ध्रुव च) ऋत, सत्य, ध्रुव, (धरुण च) धरुण, (धर्त्ता च विधर्त्ता च) धर्त्ता और विधर्त्ता और (विधारयः च) विधारय ये ७ व्यवहार निर्णय के लिये अधिकारी हों। इनके भिन्न २ कार्य हैं। जैसे 'ऋत' जो व्यवस्था पुस्तक का प्रमाणग्राही, (सत्य.) घटना का सत्य रूप रखने वाला, (ध्रुव.) स्थिर निर्णयदाता (धरुण.) दोषों का पकड़ने वाला, (धर्त्ता) उसका वश करने वाला और (विधारयः) उसको विविध कार्यों में नियोजक।

इसी प्रकार इनके मुख्य पुरुष के भी कार्य भेद से ये सात नाम हैं, ईश्वर के भी ये सात नाम है।

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च।
अन्तिमित्रश्च दूरेऽमित्रश्च गणः ॥ ८३ ॥

मरुतो देवताः । निचृदार्षी जगती । निषाद. ॥

भा०—(ऋतजित् च सत्यजित् च, सेनजित् च सुषेण च) ऋतजित्, सत्यजित् सेनजित् और सुषेण, (अन्तिमित्र च, दूरे अमित्र च गण) अन्तिमित्र, दूरे अमित्र और गण ये सेना विभाग के अध्यक्ष हैं।

इदक्षास एतादक्षास ऊ षु णः सदक्षाः प्रतिसदक्षास एतन।
मितासश्च सम्मितासो नोऽद्य सभरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन् ८४

मरुतो देवता. । निचृदार्षी जगती । निषाद ॥

भा०—हे (ईदृक्षासः एतादृक्षासः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षासः मितासः संमितास सभरसः) ईदृक्ष, एतादृक्ष, सदृक्ष प्रति सदृक्ष मित और संमित और सभर ये सातो (मरुतः) मरुद्गण अर्थात् प्रजाओ के गण, पालक लोगों! आप लोग (अस्मिन्) इस राष्ट्र के यज्ञ में (एतन) आओ।

स्वतवाँश्च प्रधासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च ।
क्रीडी च शाकी चोज्जेपी ॥ ८५ ॥

भा०—और इसी प्रकार (स्वतवान्) स्वयं बलशाली, (प्रधासीच) उत्कृष्ट पदार्थ को भोजन करने वाला, (सांतपन च) उत्तम रूप से तप करने वाला या प्रजा के धर्म कर्म सस्कार करनेहारा, (गृहमेधी च) गृहस्थ, (क्रीडी च) क्रीड़ाशील, युद्धविजयी, (शाकी) शक्तिमान्, (उज्जेपी च) और उत्तम पदो का जय करने हारा ये लोग भी प्रजा के मुख्य अंग है।

इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनु वर्त्मानोऽभवन्यथेन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन् । एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानु वर्त्मानो भवन्तु ॥ ८६ ॥

८५—इतः पर क्वचित् पुस्तकेषु

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च ।
सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा ॥

अय मन्त्रः पठ्यते ।

अर्थ—(उग्र) बलवान् (भीम) भयानक, (ध्वान्त) अन्धकार के समान शत्रुओ को अन्धकार करनेहारा, (धुनि च) कपा देने वाला, (सासह्वान्) पराजित करने वाला, (अभियुग्वा) आक्रमण करनेवाला और (विक्षिप) विविध दिशाओ से शत्रु पर शस्त्र फेंकने वाला। ये भी विजय कार्य के निमित्त वीर नेता पुरुष आवश्यक हैं। इस प्रकार ये मरुद्गण ४९ गिने जाते हैं।

मरुतो देवता॰ । निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(दैवी. विश) विद्वान् लोगों की प्रजाएं (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् धार्मिक राजा के और (मरुतः) शत्रुओं को मारने वाली सेनाएं (इन्द्रम्) शत्रुओं के गदविदारक इन्द्र सेनापति के (अनु वर्त्मान॰) पीछे २ रास्ता चलने वाले होते हैं । (यथा) जिस प्रकार से (दैवी विश) देव, दर्शनशील आत्मा के भीतर प्रविष्ट प्राण आदि प्रजाएं (मरुत॰) और प्राण गण (इन्द्रम् अनुवर्त्मान) 'इन्द्र' आत्मा के पीछे चलने वाले होते हैं (एवम्) इसी प्रकार (इमं यजमानम्) इस अन्न, आजीविका वेतन और मान आदि के देने वाले राजा के (दैवी च) विद्वानों और (मानुषी॰ च) साधारण मनुष्यों की प्रजाएं भी (अनुवर्त्मानो भवन्तु) पीछे २ रास्ता चलने वाली हों ।

इमꣳस्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये ।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियꣳ सदनमा विशस्व ॥ ८७ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने अग्रणी नायक ! तेजस्विन् ! तू (सरिरस्य-मध्ये) आकाश के बीच में (अपा प्रपीनम्) जलों से परिपूर्ण (इमं) इस (ऊर्जस्वन्तम्) अन्न और बलकारी (स्तनम्) स्तन के समान रसों का बहाने वाले एव घोर गर्जनाकारी (उत्सं) कूप के समान अनन्त जल देने वाले (मधुमन्तम्) परिमाण में अन्नादि मधुर पदार्थों के देने वाले (समुद्रियम्) समुद्र से उत्पन्न मेघ के समान (सरिरस्य मध्ये) बड़े भारी व्यापक राष्ट्र के बीच में (अपा प्रपानम्) आप्त प्रजाओं से पुष्ट, (ऊर्जस्वन्तम्) बल पराक्रम और अन्नादि से सम्पन्न (उत्सम्) उत्तम फलों के दाता (मधुमन्तम्) अन्नादि मधुर पदार्थों से युक्त, (समुद्रियम्) समुद्र से घिरे अथवा नाना सम्पत्तियों के उत्पादक (स्तनम्) स्तन के समान

मधुर आनन्द रसदायक अथवा सब सुखों के आधार रूप इस उत्तम राष्ट्र को (धग) बालक के समान शान्ति से भोग कर । हे (अर्वन्) अश्व के समान वेगवान् साधनों से सम्पन्न तू (समुद्रियं सदनम्) समुद्र के समान गंभीर इस सम्राट् पद को (आविशस्व) प्राप्त कर ।

घृतं मिमिक्षे घृतमस्य योनिर्घृते श्रितो घृतमस्य धाम ।
अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥८८॥

ऋ० २ । ३ । ११ ॥

गृत्समद ऋषि. । अग्निर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—पूर्वोक्त 'पर्जन्य' पद की मेघ से और भी तुलना करते हैं । वह उक्त मेघ (घृतम् मिमिक्षे) जल का सेचन करता है । और (अस्य) उसका (घृतम् योनि.) जल ही मूलकारण है । वह (घृते श्रितः) उदक में ही आश्रित है । (अस्य धाम घृतम् उ) उसका जन्म, वर्षण कर्म और स्वरूप ये तीनों भी जल ही है । और हे पर्जन्य ! रसों को प्रजा पर बरसा देने वाले ! तू (अनु-स्वधम्) जल के ही साथ बहुत सी अन्नादि सम्पत्ति को (आवह) प्राप्त कराता है और (मादयस्व) सबको तृप्त करता है । हे (वृषभ) जलों के वर्षण करने हारे! तू (स्वाहा-कृतम्) यज्ञाग्नि में आहुति किये या अपने में उत्तम रीति से धारण किये जल से उत्पादित (हव्यम्) अन्न को (वक्षि) प्रजा को प्रदान करता है । इसी प्रकार हे राजन् ! तू मेघ के समान उच्च पद पर विराजमान होकर (घृतं मिमिक्षे) अग्नि के समान तेज और मेघ के समान सुख और स्नेह का वर्षण कर । (अस्य) इस अग्नि का जिस प्रकार घृत ही आश्रय है उसी प्रकार तेरा भी आश्रय स्थान 'घृत' तेज ही है । तू (घृतश्रितः) अपने तेज में आश्रित होकर रह । (घृतम् अस्य धाम) इस राजपद का धाम तेज या धारण सामर्थ्य या स्वरूप भी 'तेज', पराक्रम ही है । (अनुष्वधम्) अपनी धारण शक्ति के अनुसार ही इस राष्ट्र के कार्य-भार को (आवह) उठा । (मादयस्व)

स्वय समस्त प्रजाओं को तृप्त कर। (स्वाहा कृतम्) सुखपूर्वक प्रदान किये (हव्यम्) कर आदि पदार्थों को हे (वृषभ) प्रजा पर सुखों के वर्षक राजन् ! (वक्षि) तू स्वय ग्रास कर और अपने अधीन भृत्यों को दे।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपाꣳशुना समममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ ८६ ॥

ऋ० ४। ५८। १ ॥

अग्निर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप। धैवत ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(समुद्रात्) समुद्र के समान गम्भीर राजा से एक (मधुमान्) शत्रुओं को कँपा देने वाले सामर्थ्य से युक्त (ऊर्मिम्) प्रबल तरंग के समान पराक्रम (उत् आरत्) ऊपर उठता है और (अंशुना) व्यापक सैनिक बल या राष्ट्र के बल के साथ (अमृतत्वम्) अमृतत्व अर्थात् अमर यश के (उप सम् आनट्) प्राप्त कराता है। (घृतस्य) तेज का (यत्) जो (गुह्य नाम अस्ति) गुह्य, सुगुप्त स्वरूप है वह (देवानाम्) तेजस्वी विजयी पुरुषों की (जिह्वा) आहुति रूप क्रोधशिखा है जो (अमृतस्य नाभि) उस अमर, अविनाशी, स्थायी राष्ट्र को बाधने वाली है।

मेघ के पक्ष में—समुद्र से एक (मधुमान्) जल से पूर्ण (ऊर्मि) तरंग उठता है। जो (अंशुना) वायु या सूर्य के द्वारा (अमृतत्वम्) सूक्ष्म जल-भाव को प्राप्त होता है। (घृतस्य) मेघ द्वारा भूमि पर सेचन करने योग्य जल का (यत्) जो (गुह्य) गुहा, अन्तरिक्ष में स्थित (नाम) स्वरूप या परिवर्त्तित, परिपक्व रूप है वह (देवाना) सूर्य की रश्मियों की (जिह्वा) तापकारी शिखा या जल सेंचने वाली शक्ति के कारण है। और वही उस (अमृतस्य) सूक्ष्म जल को (नाभि) बाधने, आकाश में थामे रहने का कारण है।

जीवनपक्ष में—अन्न रूप अक्षय समुद्र से (मधुमान् ऊर्मि.) मधुर

रस की एक तरंग या उत्कृष्ट रूप उत्पन्न होता है। वह (अंशुना) प्राण वायु के साथ मिलकर (अमृतत्वम्) जीवन या चेतना के रूप में बदलता है। (घृतस्य) दीप्ति या ओज का या स्त्रीयोनि में निषेक करने योग्य वीर्य का (यत् गुह्यं नाम अस्ति) जो गुह्य अर्थात् प्रजनेन्द्रिय या शरीर में गुप्त रूप से विद्यमान परिपक्व स्वरूप है वह (देवानां जिह्वा, देवों, इन्द्रियों की दीप्ति या शक्ति का कारण है और (अमृतस्य नाभिः) अमृत, दीर्घ जीवन और अगली प्रजा का मूल कारण है।

परमेश्वरपक्ष में—(समुद्रात्) उस परम परमेश्वररूप अनन्त अक्षय, आनन्दसागर से (मधुमान्) ज्ञानमय तरंग या प्रजोत्पादक कामनारूप तरंग उत्पन्न होती है। वह (अंशुना) विषयो के भोक्ता जीव के साथ मिलकर (अमृतत्वम्) चित् शक्ति को (उप समानट्) जागृत करती है। (घृतस्य) प्रकृति के गर्भ में सेचन करने योग्य परमेश्वरीय तेज का जो गुह्य, परम विचारणीय (नाम) स्वरूप है वह (देवानाम्) समस्त दिव्य वैकारिक महत् आदि पदार्थों की (जिह्वा) वशकारिणी शक्ति है, वही (अमृतस्य नाभिः) समस्त अमृत, अविनाशी, चिन्मय जगत् का (नाभिः) बांधने वाला केन्द्र है।

गृहपति-प्रजापक्ष में—कामरूप अनन्त समुद्र से (मधुमान् ऊर्मि) मधुर स्नेहमय एक तरंग उठती है। और (अंशुना) प्राण के साथ मिलकर (अमृतत्वम् उप सम् आनट्) अमृत रूप प्रजाभाव को प्राप्त होती है। (घृतस्य नाम यत् गुह्यम् अस्ति) निषेकयोग्य वीर्य का जो परिपक्व रूप है वही (देवानाम्) रति क्रीड़ा करनेवाले पुरुषों की (जिह्वा) अर्थात् कामरस प्राप्त करने का साधन है और वही (अमृतस्य नाभिः) आगामी प्रजारूप अमर, तन्तु प्राप्त करने का मूल कारण है। वीर्य से ही रति उत्पन्न होती है और उसी से सन्तान।

व॒यं नाम॒ प्र ब्र॑वामा घृ॒तस्या॒स्मिन् य॒ज्ञे धा॑रयामा॒ नमो॑भि ।
उप॑ ब्र॒ह्मा शृ॑णवच्छ॒स्यमा॑नं चतुः॒शृङ्गो॑ऽवमीद् गौ॒र ए॒तत् ॥६०॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(वयम्) हम लोग (घृतस्य) बल, ऐश्वर्य से प्रजा का सेचन करने हारे और स्वयं तेजस्वी राजा के (नाम) शत्रुओं को नमाने वाले बल या दण्ड विधान, शासन का (प्र ब्रवाम) अच्छा प्रकार वर्णन या उपदेश करें । और (अस्मिन् यज्ञे) इस प्रजापालन, एवं राज्य कार्य में हम लोग उस शासन को (नमोभिः) दण्ड आदि शत्रुओं को दबाने वाले विविध साधनों से (धारयाम) धारण करें और पुष्ट करें । (ब्रह्मा) ब्रह्मा अर्थात् वेद का जानने वाला चतुर्वेदवित् विद्वान् (शस्यमानम्) विधान किये जाते हुए इसको (उपशृणवत्) स्वयं श्रवण करें । और (चतुःशृङ्गः) पदाति, रथ, अश्व और हस्ति आदि चारों प्रकार के हिंसासाधनों से सम्पन्न (गौरः) गो=पृथिवी में रमण करने हारा राजा (एतत्) उस दण्ड-विधान को (अवमीत्) विद्वानों से श्रवण करके पुनः प्रजा को आज्ञा रूप से कहे ।

ज्ञान के पक्ष में—ब्रह्मा, वेदवित् विद्वान् चार वेदों रूप चार शृङ्गवाला और (गौरः) वेद वाणी में रमण शील होकर वचन अर्थात् वेदों का उपदेश करे और लोग श्रवण करें (घृतस्य) ज्ञान के परिपक्व स्वरूप का हम प्रवचन करें और (यज्ञे) श्रेष्ठ कर्म या उपास्य परमेश्वर में उसको (नमोभिः) आदर वचनों सहित (धारयाम) प्रयोग करें ।

च॒त्वारि॒ शृङ्गा॒ त्रयो॑ अ॒स्य पा॒दा द्वे शी॒र्षे स॒प्त ह॒स्तासो॑ अ॒स्य ।
त्रिधा॑ ब॒द्धो वृ॑ष॒भो रो॑रवीति म॒हो दे॒वो मर्त्याँ२ आ॑विवेश ॥६१॥

ऋषभो यज्ञपुरुषो देवता । विराडार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—इस राजा रूप प्रजापति या राष्ट्र-रूप यज्ञ

के (चत्वारि शृङ्गा) चार शृङ्ग अर्थात् शत्रुओं के हनन करने वाले साधन चतुरंग सेना है। (अस्य) इसके (त्रय.) तीन (पादाः) पैर अर्थात् चलने के साधन हैं राजा, प्रजा और शासक। (द्वे शीर्षे) दो शिर हैं राजा और अमात्य या राजा और पुरोहित। (अस्य) इसके (सप्त हस्तासः) सात हाथ, सात प्रकृतियें हैं। (त्रिधा बद्धः) तीन शक्तियां प्रज्ञा, सेना और कोष। इन तीन शक्तियों से राष्ट्र बँधा या सुव्यवस्थित है। वह (वृषभः) सर्वश्रेष्ठ, वर्षणशील मेघ या बलीवर्द के समान (रोरवीति) गर्जना करता है और (महो देवः) वह बड़ा पूजनीय देव दानशील, प्रजा को सुखप्रद, राजा (मर्त्यान्) मनुष्यों को (आविवेश) प्राप्त है।

यज्ञ-पक्ष में—यज्ञ के ४ सींग, ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु। तीन पाद ऋग्, यजुः, साम। दो शिर हविर्धान और प्रवर्ग्य। सात हाथ सप्त होता या सात छन्द। तीन स्थान प्रात,सवन, माध्यंदिन सवन और सायं सवन से बंधा है। अथवा—४सींग ४ वेद। तीन पाद तीन सवन। प्रायणीय और उदयनीय दोनों इष्टियां दो शिर। सात हाथ सात छन्द। तीन प्रकार से बद्ध मन्त्र, छन्द, ब्राह्मण और कल्प। यास्क० निरु० १३।७॥

अथवा शब्द के पक्ष में—४ सींग, नाम, आख्यात (क्रियापद) उपसर्ग और निपात। तीन पद भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, दो सिर शब्द नित्य और अनित्य। सात हाथ, सात विभक्तियां। यह शब्द तीन स्थान पर बद्ध है छाती में, कण्ठ में और शिर में। सुनने से सुख का वर्षण करता है। वह शब्द करता, उपदेश देता है और ध्वनि रूप होकर समस्त मरणधर्मा प्राणियों में विद्यमान है। पतञ्जलि मुनि॥ व्या० महाभाष्य १। १। आ० १॥

आत्मा के पक्ष में—४ सींग धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तीन पाद अर्थात् ज्ञानसाधन, तीन वेद, या मनन, क्रिया और उच्चारण या ज्ञान,

कर्म और ज्ञान । दो शिर प्राण, अपान । सात हाथ शिरोगत सप्त प्राण- २ नाक, २ आंख, २ कान, एक मुख । अथवा सात धातु त्वग्, मांस, भेद, भठज, अस्थि, २ त्रिधा बद्ध मन, कर्म और वाणी, अथवा त्रिगुण सत्व रजस्, तमस द्वारा बद्ध है । वह भीतरी सब सुखों का वर्षक होने से 'वृषभ' महाप्राण आत्मा (देव) साक्षात् ज्ञानद्रष्टा होकर (मर्त्यान् आविवेश) मरणधर्मा देहों मे आश्रित है ।

परमात्मा के पक्ष मे—चार सींग चारों दिशाएं अथवा अ, उ, म् और अमात्र । तीन चरण, तीन काल अथवा तीन भुवन । दो शिर द्यौ, पृथिवी । सात हाथ सात मरुत् गण अथवा सात समष्टि प्राण, अथवा महत्, अहकार और ५ भूत । त्रिधा बद्ध है सत्, चित् और आनन्दरूप में । वह महान् परमेश्वर (वृषभ) समस्त सुखो का वर्षक एव जगत् को उठाने वाला, (रोरवीति) परम वेदज्ञान का उपदेश करता है वह महान् दैव उपादेय परमेश्वर (मर्त्यान् आविवेश) समस्त नश्वर पदार्थों मे भी व्यापक है।

त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गविं देवासो घृतमन्वविन्दन् ।
इन्द्र एकꣳ सूर्य एकञ्जजान वेनादेकꣳ स्वधया निष्टतक्षु.॥६२॥

यज्ञ पुरुषो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवत ॥

भा०--राजा के पक्ष में—(पणिभि) व्यवहार-कुशल पुरुषों द्वारा (गवि) गौ इव पृथ्वी या प्रजा में (गुह्यमानं) गुप्त रूप से (त्रिधा हितम्) तीन प्रकार से रक्खे, या बधे हुए (घृतम्) सेचन योग्य बल को (देवास.) विद्वान् विजेता पुरुष (अनु अविन्दन्) प्राप्त करते हैं। (इन्द्र) शत्रु नाशक सेनापति (एक) एक सेना-दल को (जजान) उत्पन्न करता है । (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष (एक) एक, कर आदि द्वारा धन, कोश रूप बल को उत्पन्न करता है । और (वेनात्) मेधावी पुरुष से ज्ञान रूप घृत को तपस्वी लोग (स्वधया) अपने ज्ञान को धारण करने वाली तपस्या द्वारा (नि. ततक्षुः) प्राप्त करते हैं ।

विद्वान् के पक्ष में -(पणिभिः) स्तुति करने वाले या व्यवहारज्ञ कुशल पुरुषों द्वारा या प्राणों द्वारा (गवि) गो-दुग्ध में छुपे (घृतम्) घी के समान (गवि) गौ में अर्थात् समस्त लोकों, पृथिवी, अन्तरिक्ष वाणी और अन्न में (गुह्यमानं) छुपाये गये और उसी में (त्रिधा हितम्) तीन प्रकार से रक्खे गये अन्न, ब्राह्मण और कल्प, इन तीन प्रकार से विद्यमान (घृतम्) ज्ञान को (देवासः) विद्वान् लोग (अविन्दन्) मनन द्वारा प्राप्त करते हैं (इन्द्रः) इन्द्र वायु, (एकम्) एक प्रकार के 'घृत' को (जजान) प्रकट करता या जानता है। और (सूर्यः) सूर्य एक प्रकार के घृत को (जजान) ज्ञान करता या प्रकट करता है। और विद्वान् पुरुष (स्वधया) अपनी धारित आत्म-शक्ति से (वेनात्) कान्तिमान् अग्नि से (निस्ततक्षुः) शिल्प द्वारा उत्पन्न करते हैं।

'गौ.'—इमे वै लोका गौः। यद्धि किंच गच्छति इमांस्तल्लोकान् गच्छति। श० ६। १। २। ३४॥ अयम्मध्यमो लोको गौः। तां० ४। १। ७॥ गौर्वा सार्पराज्ञी। कौ० २७। ४॥ प्राणो हि गौः। श० ४। ३। ४। २५॥ इडा हि गौः। श० २। ३। ४। ३४॥ सरस्वती गौः। श० १४। २। १। १७॥ या गौः सा सिनीवाली सो एव जगती। ऐ० ३। ४८॥ इन्द्रियं वै वीर्यं गावः।

ये तीनों लोक 'गौ' कहाते हैं। अन्तरिक्ष और पृथिवी, ये दोनों भी 'गौ' कहाते हैं। प्राण—'गौ' है। इडा 'गौ' है। सरस्वती या वाणी गौ है। इन्द्रिय गौवें हैं, अन्न गौ है। विद्वानों ने इन सब पदार्थों में घृत या रस के दर्शन किये।

घृतम्—अन्नस्य घृतमेव रसस्तेजः। मं० २। ६। १५॥ तेजो वै एतत् पशूनां यद् घृतम्। ऐ० ८। २०॥ देवव्रतं वै घृतम्। तां० १८। २। ६॥ रेतःसिक्तिर्वै घृतम्। कौ० १६। ५॥ उल्वं घृतम्। श० ६। ६। ६। २। १५॥ घृतमन्तरिक्षस्य रूपम्। श० ६। २। ३। ४४॥

अन्न का परम रस घृत है। वीर्य घृत है। अन्तरिक्ष तेज घृत है।

पणिभिः-सुरैः इति उव्वट । असुरै इति महीधर. । व्यवहारज्ञै.स्तावकैरिति दयानन्दः ।

तीनों लोकों में घृत विद्यमान है। सर्गव्यापार करने वाली शक्तियें उस ब्रह्म बीज रूप तेजस् को फैलाती हैं। परन्तु उसके एक तेज को आकाश में सूर्य ने प्रकट किया, एक को विद्युत् रूप से वायु ने और तीसरे को हम अग्नि रूप से अथवा अपने देह में जाठर रूप से प्राप्त करते हैं।

वाणी रूप गौ में ईश्वर के स्वरूप के स्तुतिकर्त्ता मन्त्रों ने तीन प्रकार का ज्ञान रूप घृत को धारण किया। जिसको वायु, सूर्य और अग्नि ने प्रकट किया।

एता ऽअर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य ऽआसाम्

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(एता घृतस्य धारा) ये तेज की धाराएं बल और शक्ति पूर्वक कही गयी आज्ञाए या सेनाएं (हृद्यात्) प्रजा के हृदय में उत्पन्न, उनके चित्तों को रमाने वाले (समुद्रात्) समुद्र के समान गम्भीर राजा से (अर्षन्ति) निकलती हैं। और (शतव्रजा·) सैकड़ों मार्गों में जाने वाली या सैकड़ों कार्यों को चलाने वाली होकर (रिपुणा) बाधक शत्रु द्वारा भी (न अवचक्षे) रोकी या विरोध नहीं की जा सकतीं। इन (घृतस्य) तेज की या बल, वीर्य या अधिकार की बनी (धाराः) राष्ट्र के धारण या व्यवस्थापन में समर्थ धाराओं को मैं (अभिचाकशीमि) सर्वत्र व्यापक देखता हूं और (आसाम् मध्ये) इनके बीच में (हिरण्ययः

वेतस) घृत-धाराओं के बीच अग्नि के समान सुवर्ण रूप कोषसम्पत्ति का बना अति कमनीय आधार रूप स्तम्भ हैं ।

अध्यात्म मे—(घृतस्य धारा. अभिचाकशीमि) मैं द्रष्टा जिस प्रकार घृत की धाराओं का प्रवाहित होता देखूं और (आसाम्) इनके (मध्ये) बीच में जिस प्रकार (हिरण्ययः वेतसः) सुवर्ण के समान कान्तिमान् अग्नि हो उसी प्रकार (एता.) ये (घृतस्य) स्वयं क्षरण होने वाले अनायास बहने वाले या स्वयं प्रस्फुटित होने वाले झरनों के समान फूट निकलने वाली वाणियों का मैं (अभि) साक्षात् (चाकशीमि) दर्शन करता हूं । और (आसाम् मध्ये) इनके बीच में व्यापक (हिरण्ययः) अति सुन्दर तेजस्वी (वेतसः) अति कमनीय पुरुष या ब्रह्म तत्व है । (एताः) ये वाणियें (हृद्यात् समुद्रात्) हृदय के समुद्र से अथवा हृदय से जानने और अनुभव करने योग्य हृदय मे बसे, (समुद्रात्) समस्त ज्ञान जलों के बहाने वाले परम अक्षय ज्ञानभण्डार मे (अर्षन्ति) निकलती हैं । वे (शतव्रजाः) सैकड़ो मार्गों मे जाने वाली, सैकड़ो अर्थों वाली, बहुत से पक्षों मे लगने वाली, श्लेष से बहुत से अभिप्राय बतलाने वाली होकर भी (रिपुणा) पापी शत्रु द्वारा भी (नं अवचक्षे) खण्डित नहीं की जा सकतीं । अर्थात् वे सब सत्य वाणियें सत्य ज्ञान की धारायें है । इसमे संदेह नहीं ।

'हृद्यात् समुद्रात्' श्रद्धोदकप्लुताद् देवतायाथात्म्यचिन्तनसन्तानरूपात् समुद्रात्, इति महीधरः ।

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना ऽअन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः ।
एते ऽअर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य मृगा ऽइव क्षिपणोरीषमाणाः ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—राजा के पक्ष मे-(धेनाः) राजाज्ञाएं (हृदा मनसा अन्तः पूयमानाः) हृदय और चित्त मे खूब मननपूर्वक विचारी जाकर (सरितः न)

नदियों के समान गम्भीर और अदम्य वेग से (स्रवन्ति) बहती हैं। राष्ट्र में फैलती है (घृतस्य ऊर्मयः एता) तेजस्वी राजकीय उन्नत आज्ञाएं या आज्ञाओं को धारण करने वाले राजदूत (क्षिपणो.) व्याध के भय से (ईषमाणा) व्याकुल (मृगा.) मृगों के समान वेग से (अर्षान्ति) गति करती हैं।

ज्ञानी के पक्ष में—(हृदा) हृदय द्वारा और (मनसा) मन से (अन्त. पूयमाना) भीतर ही भीतर निगम, निघण्टु, व्याकरण, शिक्षा छन्द आदि से पवित्र, सुविचारित होकर दोष रहित हुई हुई (धेना) ज्ञानरस पान कराने वाली वाणिया (सरित न) नदियों के समान (सम्यक्) भली प्रकार (स्रवन्ति) निकलती हैं, बहती हैं फूट रही हैं। (क्षिपणो) हिंसक व्याध के भय से (ईषमाणा) भागते हुए (मृगा. इव) मृगों के समान (एते) ये (घृतस्य) परम रस, ब्रह्म तेज, ब्रह्मज्ञान की (ऊर्मय) तरङ्गें, उद्गार (अर्षन्ति) उठती चली आरही हैं।

सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासो वातप्रमियः पतयन्ति यह्वा ।
घृतस्य धारा अरुषो न वाजी काष्ठा भिन्दन्नूर्मिभिः पिन्वमानः १५

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(प्राध्वने) मार्ग रहित प्रदेश में मार्ग न मिलने पर (सिन्धो) समुद्र के या महानदी के (शूघनास) शीघ्र वेग से बहने वाले (यह्वा) बड़े (वातप्रमिय.) वायु के समान तीव्र गति से जाने वाले नाले जिस प्रकार वेग से (पतयन्ति) फूट पड़ते हैं उसी प्रकार (घृतस्य धारा:) ज्ञान की वाणियें अग्नि के प्रति घृत की धाराओं के समान वेग से बहती हैं। (वाजी न) जिस प्रकार अश्व (काष्ठ्याः भिन्दन्) वेग से सीमाओं को भी तोड़ता फोड़ता हुआ और (ऊर्मिभि) स्वेद-धाराओं से (पिन्वमान) सींचता हुआ जाता है। और जिस प्रकार (अरुषः)

दीप्तिमान् (वाजी) तेजस्वी अग्नि (काष्ठा भिन्दन्) काष्ठों, समिधाओं को अपनी ज्वालाओं से भेदता हुआ, चटकाता हुआ, और (ऊर्मिभिः) तेज की ऊर्ध्वगामिनी धाराओं से (पिन्वमानः) सींचता हुआ जलता है उसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् भी (अरुष.) रोष रहित सुशील, और तेजस्वी कान्तिमान् होकर (काष्ठाः भिन्दन्) क' परम सुख की विशेष आस्था, या स्थिति मर्यादा या बाधाओं को तोड़ता हुआ (ऊर्मिभिः) ऊपर को जाने वालों प्राणों से (पिन्वमानः) स्वयं तृप्त आनन्द प्रसन्न होता हैं और वाणी या उद्गार रूप तरंगों से श्रोताओं को भी तृप्त करता है।

अध्यात्म में—(घृतस्य धाराः) साधक तेज की धाराएं उसके बीच तीव्र तरंगों या नालों के समान बहती हैं ।

राजा के पक्ष में—(यह्वाः) बड़े (वातप्रमियः) वायु के समान तीव्र गति वाले (घृतस्य) तेज के धारण करने वाली वीर सेनाएं (सिन्धोः (शूघनास. धाराः इव) सिन्धु की तीव्रगति वाली धाराओं के समान (पनयन्ति) आगे बढ़ती हैं । और वह स्वयं वेगवान् अश्व के समान (काष्ठा भिन्दन्) संग्रामों को पार करता हुआ (ऊर्मिभिः पिन्वमान) तरंगों से सींचते हुए उत्ताल समुद्र के समान विराजता है ।

अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम् ।
घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥९६॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(समना) समान रूप से एक ही अभिलषित पुरुष को मन से विचारती हुईं (कल्याण्यः) कल्याण, या शुभ आचरण और लक्षण वाली (योषाः इव) स्त्रियें, कन्याएं जिस प्रकार (स्मयमानासः) ईषत् कोमल हास करती हुईं (अग्निम् अभि) तेजस्वी विद्वान् को वरण करने के उद्देश्य से (प्रवन्ते) उसके पास जाती हैं। और (ताः जुषाणः)

उनको प्रसन्न चित्त से प्रेम करता हुआ (जातवेदा.) वह विद्वान् स्नातक भी हर्यति चाहता है। और जिस प्रकार (घृतस्य धारा.) घी की धाराए (समिध) अच्छी प्रकार उज्ज्वल होकर (अग्निम् वसन्त) अग्नि को प्राप्त होती हैं और (जातवेदः वा. हर्यति) अग्नि उन धाराओं को चाहता है उसी प्रकार (घृतस्य धारा·) ज्ञान की धाराएं (समिध) अच्छी प्रकार शब्दार्थ सम्बन्धों से उज्ज्वल होकर (अग्निम्) ज्ञानवान् पुरुष को प्राप्त होती हैं। और वह (ता. जुषाणा) उनका सेवन करता हुआ (जातवेदा) स्वय विज्ञानवान् होकर (हर्षति) उनको चाहता है।

राजा के पक्ष में—तेजो बल को धारण करनेवाली सेनाएं, (समिध.) क्रोध और वीरता से उज्ज्वल होकर (अग्निम्) तेजस्वी अग्रणी सेना नायक राजा को प्राप्त होती है और वह उनको चाहता है।

कन्या ऽइव वहतुमेतवा ऽउ ऽअञ्ज्यञ्जाना अभिचाकशीमि।
यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अभि तत्पवन्ते ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत ॥

भा०—(यत्र) जहां (सोम. सूयते) सोम का सवन होता है और (यत्र) जहा (यज्ञः) यज्ञ होता है (तत्) वहा (घृतस्य धारा) घृत का धाराए (पवन्ते) बहती हैं। इसी प्रकार (यत्र) जहा (सोम) राष्ट्र प्रेरक राजा का सवन अर्थात् अभिषेक होता है और (यत्र) जहां (यज्ञ·) परस्पर सगति, व्यवस्था से युक्त राजा प्रजा का पालन रूप यज्ञ या करादान और ऐश्वर्यदान रूप यज्ञ होता है। वहा (घृतस्य) वीर्य या बल को धारण करने वाली सेनाएं या अधिकार वाली राज्य व्यवस्थाएं नियम धाराए (पवन्ते) प्रकट होती हैं। मैं घृत की [illegible] पात्र के प्रति (एतवै) आने धारक सेनाओं को, (वहतुम्) [illegible]

के लिये उत्सुक (अञ्जि) अपने कमनीय स्वरूप सौभाग्य या पूर्ण यौवन के प्रकट करने वाले सुरूप को (अजाना) प्रकट करती हुई (कन्याः इव) कन्याओं के समान अति उत्सुक (अभिचाकशीमि) देखता हूं ।

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ॥ ६८ ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (सुस्तुतिम्) उत्तम स्तुति, कीर्त्ति, अथवा ईश्वरोपासना के लिये उत्तम स्तुति करने वाली वेद वाणी, (गव्यम्) गोदुग्ध के समान हृदय का उत्तम, पुष्टिप्रद, गो = वाणी में स्थित उत्तम ज्ञान और (आजिम्) सग्राम और यज्ञ अथवा समस्त उत्तम साधनों से प्राप्त करने योग्य राज्य और तपःसाधनों से प्राप्य परम पद को (अभि अर्षत) विजय करने के लिये लक्ष्य करके आगे बढ़ो । और (अस्मासु) हममें (भद्रा द्रविणानि) सुखकारी सुवर्णादि ऐश्वर्यों का (धत्त) प्रदान करो । और (अस्माक) हमारे इस (यज्ञम्) परस्पर सगति से प्राप्त इस गृहस्थ रूप यज्ञ को (देवता) विद्वानों के बीच में उनके अभिमत रूप से (नयत) प्राप्त कराओ । अथवा—हे (देवता) देवो ! विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (इमं यज्ञं नयत) इस यज्ञ को सन्मार्ग पर ले चले । और (नः) हमें (घृतस्य) हृदय में रस सेचन करते वाले ज्ञान की (धाराः) वाणियें (मधु मत्) ज्ञानमय आनन्द प्रद होकर (पवन्ते) प्राप्त हों ।

राजा के पक्ष में—हे (देवता) वीर विजगीषु पुरुषो । आप लोग (सुस्तुतिम्) उत्तम यश, (गव्यम्) पृथिवी में उत्पन्न समस्त उत्तम पदार्थ और (आजिम्) विजय करने योग्य संग्राम को (अभि) लक्ष्य करके (अर्षत) आगे बढ़ो । और (अस्मासु) हममें (भद्रा) सुखकारी (द्रविणाप्ट को संचालित करो और ( ) में (घृतस्य धारा) तेज, के धारण (धत्त) धारण कराओ । हमारे (इमं यज्ञं नयत) इस

रने वाली वीर सेनात (मधुमत्) अन्न आदि ऐश्वर्य और शत्रु के पीड़ा कारी बल सहित (पवन्ते) प्राप्त हो।

धामंते विश्वं भुवनमधि श्रितमन्तः समुद्रे हृद्यन्तरायुषि ।
अपामनीके समिथे य आभृतस्तमश्याम मधुमन्तं त ऊर्मिम् ६६

भा०—राजा के पक्ष में—हे राजन्! (ते धामनि) तेरे धारण करने वाले सामर्थ्य के आश्रय पर यह (विश्वं भुवनम्) समस्त राष्ट्र (समुद्रे अन्त) जो समुद्र के बीच उससे घिरा है, (श्रितम्) आश्रित है। इसी प्रकार (हृदि) हृदय में और (आयुषि अन्त) जीवन भर में और (अपाम् अनीके) प्रजाओं के सैन्य में और (समिधे) संग्राम के अवसर पर (य) जो भी नाना पदार्थ समूह (आभृत) एकत्रित किया जाता है वह (तम्) उस (मधुमन्तम्) मधुर फल से युक्त, या शत्रु-पीड़न-कारी सामर्थ्य से युक्त (न ऊर्मिम्) तेरे उस उर्ध्वगामी सामर्थ्य का (अश्याम) हम भोग करें।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर (ते धामनि विश्वं भुवनम् आधिश्रितम्) तेरे धारण सामर्थ्य के आश्रय पर यह समस्त विश्व आश्रित है। (समुद्रे) समुद्र के (अ त) बीच में, (हृदि) हृदय में (आयुषि अन्त.) जीवन में, (अपाम् अनीके) ज्ञानों और कर्म्मों के, या आप्त जनों के सत्संग में और (समिथे) यज्ञ में (य) जो तेरा (ऊर्मि) उत्कृष्ट रूप (आहृत.) प्राप्त है उस (मधुमन्तम्) ज्ञानमय मधुर, आल्हादकारी (ऊर्मिम्) रस स्वरूप तरंग को हम (अश्याम) प्राप्त करें।

ईश्वरीय बल की भिन्न २ स्थान में ऊर्मि कैसी २ है? समुद्र अर्थात् आकाश में सूर्य रूप, हृदय में जाठराग्नि रूप, जीवन में अन्न रूप जलों के संघात में विद्युत् रूप, संग्राम में शौर्य रूप, यज्ञ में अग्नि तेरा तेजोरूप या धाम रूप 'ऊर्मि' है।

राजा पक्ष में—राजा का तेज समुद्र मे राष्ट्रूप, हृदय में विजया भिलाप रूप, आयु में पराक्रमरूप, सैन्य मे बलरूप संग्राम में शौर्यरूप है ।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालङ्कार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥

ओ३म्

यजुर्वेद-संहिता

भाषा-भाष्य

(द्वितीय खण्ड)

भाष्यकार—
श्री पण्डित जयदेवजी शर्मा,
विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ.

प्रकाशक—
आर्य्यसाहित्यमण्डल, लिमिटेड, अजमेर.

प्रथमावृत्ति
२०००

सं० १९८८ वि०

मूल्य
४) रुपये

आर्य्य-साहित्यमण्डल लिमिटेड अजमेर के लिये
सर्वाधिकार सुरक्षित.

मुद्रक:—
ओंकार प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर.

यजुर्वेद द्वितीय खण्ड की

भूमिका

यजुर्वेद आलोक भाष्य के प्रथम खण्ड की भूमिका में हमने कुछ आव-
श्यक विषयों पर प्रकाश डाला था, जिन से यजुर्वेद का बाह्य परिचय
भली प्रकार विदित हो सकता है। शाखा भेद के विस्तार को
प्रथम खण्ड की भूमिका में दर्शा दिया था। यजुर्वेद के प्रतिपाद्य
विषय को आलोचना पूर्वक दर्शाने के लिये भूमिका के पृष्ठों में विशेष
प्रयत्न न करके हम पाठकों से सविनय निवेदन करेंगे कि वे विषयसूची
से प्रतिपाद्य विषय को जानने का यत्न करें। अथर्ववेद के समान यजु-
र्वेद में प्रत्येक सूक्त या अध्याय के विषयों को शीर्षकों द्वारा नहीं दर्शाया
गया है, प्रत्युत विषय सूची में अध्यायों के साथ ही कण्डिका या मन्त्र का जो
हुए मन्त्र का विषय संक्षेप में दर्शा दिया गया है, इससे उत्तम और
कोई उपाय यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय को विशुद्ध रीति से दिखाने का
नहीं हमारी मति में नहीं आया।

भाष्य के पाठकों में से बहुत से पाठक इस बात के लिये उत्सुक हैं कि
यजुर्वेद के मन्त्रों से किये जाने वाले यज्ञों और महायज्ञों के प्रकरणों को
भूमिका में खोल कर स्पष्ट किया जावे। ऐसे महोदयों का विचार बहुत
ही महत्व का है, परन्तु यह कार्य बड़े श्रम और काल की अपेक्षा करता है।
इसके अतिरिक्त ऐसे विषय को विस्तृत और स्पष्ट रूप से दर्शाने के लिये
ब्राह्मण ग्रन्थों ने जितना प्रयास किया है उस सबको प्रथम प्रकट करना
और फिर उन पर आलोचना और उन कर्म काण्डों के रहस्यों का विवे-
चन करना भूमिका के इनेगिने पृष्ठों में कभी सीमित नहीं हो सकता। इस
लिये उनका विवरण भविष्य के किसी विस्तृत ग्रन्थ के लिये रख कर यहां उनके

सम्बन्ध में मौन ही रहना ठीक है। दूसरे वेद संहिताओं के आलोक भाष्य के प्रकाशन के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों के भाषा भाष्य और आलोचनों को भी प्रकाशित करने का विचार है। "यदि आर्य साहित्य मण्डल" की स्थिति और हमारा मनोरथ दोनों की संगति दृढ़ रही तो यह भी कार्य सुचारु रूप से होकर यजुर्वेद के कर्मकाण्ड और यज्ञों का विवेचन जनता को अच्छी प्रकार जान लेने का सुअवसर प्राप्त होगा।

क्योंकि प्रस्तुत भाष्य में कर्मकाण्डपरक अर्थों को सर्वथा नहीं किया गया इस लिये भूमिका में यजुर्वेद के उवट, महीधर आदि के कर्मकाण्ड परक अर्थों को रख कर उनकी आलोचना या खण्डन मण्डन करना सर्वथा अनुपयुक्त है। जो भी कर्मकाण्ड ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है, जिसको आधार लेकर ब्राह्मणकारों की विचारमय व्याख्या प्रकट हुई है उसमें भी नाना प्रकार के भेद हैं, उन कर्म काण्डों की व्याख्याओं में भी भेद हैं, एक ही कर्मकाण्ड को लेकर मन्त्र के भाष्यकारों में भेद है, उन सब पर इस भूमिका में विचार करना असंगत प्रतीत होता है। जिस शैली को भाष्य में रखा गया है उसका दिग्दर्शन प्रथम खण्ड की भूमिका में पर्याप्त रूप में करा दिया गया है। उसको पाठक वहां ही देखने का श्रम करें।

परमेश्वर के पूर्ण अनुग्रह से यजुर्वेद का हिन्दी भाषा भाष्य पूर्ण हो गया। इसके पूर्व सामवेद और अथर्ववेद इन दोनों के भी भाष्य प्रकाशित हो चुके हैं। इस प्रयत्न को पार पहुंचाने में "आर्य साहित्य मण्डल" के संञ्चालकों को धन्यवाद है और साथ ही आर्य जनता को भी धन्यवाद हैं, जिसकी गुणग्राहिता ने इस प्रयत्न को सफल किया है। इसके अनन्तर केवल ऋग्वेद का ही भाष्य सम्पूर्ण करना शेष है। जगदीश्वर के अनुग्रह से उसकी पूर्त्ति हो जाना भी कठिन नहीं है।

सहृदय पाठकों से निवेदन है कि वे भाष्य की त्रुटियों को बताने की महानुभावता अवश्य मित्रभाव से करते रहें। शुद्धाशुद्धि पत्र में, दृष्टि दोष

तथा प्रेस के जगत्प्रसिद्ध भूतों की स्वाभाविक लीला से जो २ जिस २ तरह की त्रुटियां रह गई हैं, उनका यथा शक्ति संशोधन कर दिया गया है। पाठक अपनी २ पुस्तकों को उसके अनुसार अवश्य संशोधन कर लें, जिससे पढ़ने के समय वे त्रुटियां सत्यार्थ समझने में बाधक न हों। इसके अतिरिक्त त्रुटि करना मानुष धर्म है और त्रुटियां दूर करने का मार्ग दर्शाना देवधर्म है, वाचकों से इसी देव धर्म की आशा है।

अजमेर
वैशाख, कृष्ण ८,
१९८८ वि०

विद्वानों का अनुचर
जयदेव शर्मा
मीमांसातीर्थ, विद्यालंकार

शुद्धाशुद्ध पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
५	१७	(संवत्)	(संवित्)
२१	४	ज्येष्ठ जिस	ज्येष्ठमास जिस
३१	२२	द्वारा और सेवित है	द्वारा सेवित और उनका आश्रय है।
५५	२०	(मुज्यः सखा)	(युज्यः सखा)
६०	५	लक्ष्मण	लक्षण
६०	२३	अच्च प्रज्ञा	अन्तः प्रज्ञा
११०	१२	सघ कृत्वा	सघ कृत्वा
११५	२५	वेरी आदि	वेरी आदि ।
१३५	१३	'अपो प्रधा०	'अपो अद्या०
१४४	९	प्रताप के ।	प्रताप को
१७६	१७	श्लेपा विशेष	(श्लिष्ट विशेषणों
१९१	२४	ह्वेगूं	गेहूं
२०४	२०	जुषताꣳ	जुषेताꣳ
३२७	१९,२०,२१	सुपीलिका	सुषिलीका
३५४	६	मनुष्यों में जीवन	मनुष्यों में पूर्ण जीवन
३२७	२५	यक्षन्	यक्षेन्

पृ०	पं०	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
३६५	१९	चटख का २	चटख २ कर
३६७	१६	सुचा	स्रुचा
	१९	करूं कश	करूं । कश
३७१	८	भक्ता	भोक्ता
३७४	७	पदाथ से)	पदार्थ से (
३७८	५ से २० तक १६ पंक्तियें		३७५ पृष्ठ में ५ वीं पंक्ति से आगे पढ़नी चाहियें ।
३७८	१०	राजा से स्त्री का	राजा से और स्त्री का
४००	२३	(सहस्विणीभिः) अज़ारों	(सहस्रिणीभिः) हज़ारों
४८१,८३,८५	माथे पर	अष्टाविंशोऽध्यायः	एकोनत्रिंशोऽध्यायः
५१६	९	(ऋत्वा)	(स्पृत्वा)
५६०	१४	(इध्म)	(इध्मः)
५६८	८	रूप प्रकट	रूप को प्रकट
५७९	२४	(द्युत यामा)	(द्युतद्यामा)

टिप्पणी—इन अशुद्धियों के अतिरिक्त भी अशुद्धियां रह जानी सम्भव हैं जो संशोधक की आंख से रह गयी हों, वाचकजन इनको देखकर अपनी पुस्तकों को शुद्ध करके पढ़ें । प्रायः प्रेस की छपाई में इकार, उकार, एकार और रेफ़ की मात्रायें टूट जाती हैं या नहीं उभरतीं, या छपते २ टाइप निकल जाता है, वह ठीक न बैठाया जाय, गलत बैठा दिया जाय इत्यादि नाना कारणों से प्रायः त्रुटियां हो जाती हैं । ग्रन्थकार ।

विषय सूची

अष्टादशोऽध्यायः (पृ० १–५१)

मन्त्र (१) यज्ञ, प्रजापति परमेश्वर के अनुग्रह और उपासना और उत्तम राज्यप्रबन्ध से अन्न, वीर्य, ऐश्वर्य, राज्यप्रबन्ध, प्रेम, ध्यान, ज्ञान, वाणी, की प्राप्ति करना। (२) यज्ञ द्वारा प्राण आदि बल, वाणी आदि सामर्थ्य और चक्षु आदि इन्द्रियों के सामर्थ्यवान् होने की प्रार्थना। (३) यज्ञ द्वारा ओज, शारीरिक बल, आत्मिक बल, सुख, शास्त्रास्त्र बल, दृढ़ शरीर और शरीरांग, दीर्घ आयु और सुखी वार्धक्य की प्राप्ति। (४) यज्ञ से बड़ाई, उच्च पद, तेज, सहयोग, न्याय, उत्तम गुण, विजय बड़प्पन, कीर्त्ति, वृद्धि आदि की प्राप्ति। (५) यज्ञ से, सत्य, श्रद्धा, हर्ष, आनन्द, त्रैकालिक ऐश्वर्य, धर्म, शुभ वाणी की प्राप्ति। (६) यज्ञ से ज्ञान, अमृत, आरोग्य, दीर्घायु, अभय, मित्रयोग, सुखी जीवन, शुभ दिनों की प्राप्ति। (७) यज्ञ से उत्तम प्रबन्धकर्त्ता, धैर्य, उत्तम ज्ञान, अधिकार सन्तान, कृषि, आदि की प्राप्ति। (८) यज्ञ से शान्ति, सुख, मनोरथ, धनैश्वर्य, श्रेय, कल्याण समृद्धि की प्राप्ति। (९) यज्ञ से उत्तम अन्न रस, भोजन, पान, कृषि, वर्षा, विजय, वनस्पति आदि की प्राप्ति। (१०) ऐश्वर्य, पुष्टि, पूर्णता, अन्न और क्षुधादि की निवृत्ति, सुकाल की प्राप्ति (११) यज्ञ से वित्त, ज्ञान और परम प्राप्तव्य पद, भूत, भविष्यत, पथ्य, समृद्धि, सामर्थ्य की प्राप्ति। (१२) यज्ञ से जौ, माष तिल मूंग आदि धान्यों की प्राप्ति। (१३) यज्ञ से उत्तम पाषाण, रत्न, मिट्टी बालू, सुवर्ण लोह आदि धातुओं की प्राप्ति। (१४) यज्ञ से अग्नि, जल, लता, ओषधि, कृषि, पशु, भूति आदि की प्राप्ति। (१५) यज्ञ से धन, गृह, शक्ति, यत्न आदि की प्राप्ति। (१६–१८)

यज्ञ से अग्नि आदि दिव्य तत्त्व और उनके ज्ञाता विद्वानों की प्राप्ति, यज्ञ से न्यायाधीश आदि पदाधिकारियों की प्राप्ति। यज्ञ से पृथिवी, अन्तरिक्ष सूर्य, नक्षत्र, काल आदि पदार्थों के ज्ञान और उनके ज्ञाताओं की प्राप्ति (१९) यज्ञ से सूर्य के समान तेजस्वी नाना पदाधिकारियों की प्राप्ति। उसमें अंशु, उपांशु, अदाभ्य, अधिपति, ऐन्द्रवायव आदि का विवरण। (२०) आग्रयण आदि राज्यांगों की प्राप्ति, (२१) यज्ञ से स्रुक् चमसादि यज्ञ साधन के पात्रों की प्राप्ति और उनकी राष्ट्र और देह में व्याख्या (२२) यज्ञ से अग्नि, घर्म, अर्क, प्राण, अश्वमेध आदि की प्राप्ति। उनकी व्याख्या। (२३) यज्ञ से व्रत, ऋतु, तप, सवंत्सर आदि की प्राप्ति। (२४) एक, तीन, पांच आदि एकान्तर क्रम से सेना व्यूह और संख्या वृद्धि का नियम। (२५) यज्ञ से ४। ८। १२। क्रम से ४८ तक के व्यूह। (२३) यज्ञ से भिन्न २ अवस्था और बल वाले पशुओं की प्राप्ति (२६) यज्ञ सेना और नाना पशुओं की प्राप्ति। (२८) संग्राम, उत्तम सन्तान, ज्ञान, कर्म, ऐश्वर्य इनकी उत्तम रीति से शिक्षा और प्राप्ति। तेजस्वी पुरुषों के आदर, मुग्धों अज्ञानियों, को उत्तम ज्ञानोपदेश, प्रजापालक पुरुषों का आदर और उत्तम शिक्षा का आदेश। सूर्य के १२ नामों के अनुसार राजा के १२ नाम। (२९) यज्ञ से, आयु, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, वाणी, मन, आत्मा, ब्रह्मा, स्वः, पृष्ट, स्तोम, यजु, ऋक्, साम, बृहत्, रथन्तर आदि की प्राप्ति। इनकी व्याख्या। (३१) राष्ट्र में विद्वान् तेजस्वी पुरुषों का होना और उनका राष्ट्र को समृद्ध करना, (३२) ऐश्वर्य का विस्तार और राष्ट्र की रक्षा। (३३) ऐश्वर्य के साथ दानशीलता, पराक्रम और बल की वृद्धि। (३४–३६) ऐश्वर्य वृद्धि के लिये राजा से प्रार्थना। (३७) सम्राज्य से राजा का अभिषेक (३८–३९) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, यज्ञ, मन इनकी तुलना से प्रजा के प्रति राजा के कर्त्तव्य। उसके भिन्न २ गुणों से ६ नाम। 'गन्धर्व' नाम का रहस्य। (४४) सब वर्गों का आश्रय राजा; (४५) राजा के समुद्र, मारुत और अवस्यू नामों का रहस्य। पक्षान्तर

में परमेश्वर की तुलना। (४६–४८) राजा और विद्वान् शासक के कर्त्तव्य। राष्ट्र के तेज और स्नेह की वृद्धि। (४९) राजा और पक्षान्तर में परमेश्वर से ज्ञान और जीवन रक्षा की याचना। (५०) राजा के सूर्य के समान कर्त्तव्य। पक्षान्तर में भौतिक पदार्थों के सदुपयोग का आदेश। (५१) उन्नति के लिये अग्रणी नायक की नियुक्ति। पक्षान्तर में परमेश्वरोपासना। और भौतिकाग्नि का उपयोग। (५२) नायक के अधीन सेना के दो पक्ष। सभापति के आगे तत्व निर्णय में पक्ष प्रतिपक्ष, और अध्यात्म में आत्मा, परमात्मा का वर्णन। (५३) राजा की चन्द्र और वाज, से तुलना। पक्षान्तर में परमेश्वर का स्वरूप। हिरण्यपक्ष श्येन का रहस्य। (५४) राजा के कर्त्तव्य और जिम्मेवारी के पद। (५५) प्रजापालक राजा के मेघ के समान कर्त्तव्य। (५६) सर्वाशापूरक राजा और ऐश्वर्य की आकांक्षा। (५७) अग्रणी नायक का प्रजापालन का कर्त्तव्य और उसका आदर (५८) विद्वानों को उत्तम, पूर्व पुरुषों के उपार्जित पद प्राप्त करने का उपदेश। (५९) विद्वानों के समक्ष राजा को राष्ट्र के कोष का समर्पण। अध्यात्म रहस्य। (६०) सर्वोच्च सम्राट और उसके ऊपर विद्वानों का शासन। पक्षान्तर में ईश्वरोपासना। (६२) अग्रणी नायक को सुख प्राप्ति के मार्ग पर ले चलने के साधनों का उपदेश। (६४) लेन देन, तथा प्रजा के उपकारक बड़े २ कामों पर राजा का नियन्त्रण। (६५) अन्न, राज्य, बल और पराक्रम की वृद्धि, राज्य का विद्वानों के बल पर संचालन। (६६) सम्राट् कैसा हो। (६७) उसके श्रेष्ठ कर्त्तव्य। (६८) अग्रणी नायक के दो मुख्य कर्त्तव्य। (६९–७०) दुष्टों को दण्ड देने का विधान। (७१) शत्रुओं का प्रबल सैन्य से ताड़न। (७२–७३) वैश्वानर अग्नि का वर्णन, राजा सभापति के कर्त्तव्य। (७४) राजा की रक्षा में प्रजा का ऐश्वर्य सुख भोग। प्रजा का राजा के प्रति आदर। (७६) विद्वान् नायकों का राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य। (७५–७७) राजा का प्रजा और उनकी संतानों की रक्षा का कर्त्तव्य।

एकोनविंशोऽध्यायः (पृ० ५२–१२१)

सौत्रामणी । (१) ओषधियों के सदृश समान स्वभाव के शास्य शासक, तथा स्त्री पुरुषों की संगति करके बल की वृद्धि का उपदेश । स्त्री पुरुषों का परिपक्व वीर्य होकर गृहस्थ करने की आज्ञा। सौत्रामणी यज्ञ का रहस्य, सोम और सुराकी व्याख्या । (२) सोम सवन । अभिषेक योग्य पुरुष का लक्षण । (३) राजा का सैन्य बल से सहायवान् होकर शत्रु पर आक्रमण । (४) ज्ञानवान् पुरुष के मनोरथों को पूर्ण करने वाली श्रद्धा, सूर्य दुहिता का रहस्य । (५–६) अभिषिक्त के कर्तव्य । (७) राजा प्रजा के पृथक् अधिकार, सोम सुरा का रहस्य । (८) अभिषिक्त पुरुष का स्वरूप और बल । उसके अभिषेक के प्रयोजन । (९) तेज, वीर्य, बल, ओज मन्यु और सहः, राजा के ये ६ रूप । पक्षान्तर में परमेश्वर से इन छः हों पदार्थों की प्रार्थना । राजा की व्याघ्र, श्येन, सिंह आदि से तुलना और उसकी 'विषूचिका' नाम संस्था का वर्णन । अध्यात्म में अन्तःप्रज्ञा का वर्णन । (११) पुत्र का माता पिता के प्रति कर्त्तव्य । पितृ ऋण से मुक्ति, राजा का पृथ्वी के प्रति कर्त्तव्य । (१२–२१) राजा का बल सम्पादन । राष्ट्र यज्ञ का विस्तार । (१२) यज्ञ से राज्य की तुलना । शप्प, तोकम, लाजा और मधु आदि यज्ञ गत पदार्थों के नामों का श्लेष पूर्ण अर्थ । सौत्रामणी का स्वाध्याययज्ञ रूप से दिग् दर्शन । (२२) अभिषिक्त पुरुष का इन्द्रपद । उसकी वृद्धि । (२२) 'सरस्वती' और 'अश्विनौ' की वृद्धि का रहस्य । (२४) देह में शुक्र के समान राजा के ऐश्वर्यवान् पद का सार्वजनिक उपभोग । (२५) सैन्य बल की वृद्धि और उसका उपभोग । (२६) स्वधायी पिता, पितामह, प्रपितामहों का आदर, उन की तृप्ति, और उनका शुद्धि करने का कर्तव्य । पितरों का रहस्य । (२७) पितरों का शुद्धि करने का कर्तव्य । (२८) विद्वान् और राजा का दुःख संकट वारण का कर्तव्य । (२९–४४) सब विद्वानों का पवित्र करने का

कर्तव्य । (४५) यम राज्य में पितरों की स्वधा का रहस्य । (४६) समान और एक चित्त वाले जीवों की लक्ष्मी को अपने में प्राप्त करने की इच्छा. (४६) मर्त्यों और देवों के दो मार्ग । छान्दोग्य प्रोक्त तीन मार्गों का विवेचन । (४८) देह में सन्तानोत्पादक दश प्राण युक्त वीर्य की प्रार्थना । अग्नि स्वरूप पति । राष्ट्र पक्ष में दशवीर नायकों से युक्त सैन्य और नायक का वर्णन । (४९) अवर, पर और मध्यम पितरों का वर्णन । (५०) आंङ्गिरस, नवग्व, अथर्व, और सोम्य, पितरों अर्थात् पालकों का वर्णन, उनका रहस्य । (५१) वसिष्ठ पितरों का वर्णन और उनका रहस्य । (५२–५४) उनके मुख्य नायक सोम, राजा । (५५–५६) वर्हिषद् पितरों और सुविदत्र पितरों का वर्णन और उनका रहस्य । पितृ जनों को आदर से बुलाना और उनसे रक्षा की प्रार्थना । (५८) अग्निष्वात्त पितरों का वर्णन। उनके देवयान मार्ग और उनकी स्वधा से तृप्ति का रहस्य । (५९) उनके सर्ववीर रयि का रहस्य । (६०) उनकी असुनीति तनु की कल्पना का रहस्य । अग्निष्वात्त, ऋतुमान् सोमपायी विप्रों का वर्णन । (६२) उक्त पालक जनों का सभ्यता पूर्वक आसनों पर विराजना । (६३) पालक जनों का ऐश्वर्य दान । उसका विविध रहस्य । (६५) उसका पितृ जनों से सम्बन्ध । (६६) उसका पितृ जनों का उत्तम पुष्टि कारक अन्नों का दान । (६७) विद्वानों और ऐश्वर्यवान् का पालक पुरुषों के प्रति कर्त्तव्य । (६८) पूर्व और पर, तथा पृथिवी लोक और प्रजाओं पर अधिष्ठित पालक जनों का वर्णन । (६९) ज्ञानोपदेष्टा, ज्ञानवेत्ता पितरों का वर्णन, (७०) कामनावान् पितरों का वर्णन । (७०) सूर्य मेघ के दृष्टान्त से राजा का शत्रु के प्रति कर्त्तव्य । (७१) अपां फेन से नमुचि के शिर के काटने का रहस्य । (७२) अभिषिक्त राजा का कोष, बल द्वारा विपद्-विजय सम्पत् प्राप्ति । अध्यात्मिक मृत्युंजय और मधु अमृत पान का रहस्य । (७३) हंस के दृष्टान्त से अध्यात्म में ज्ञानी के परमानन्द रस का पान और राजा के ऐश्वर्य के उपभोग का वर्णन । (७४) हंस के दृष्टान्त

से शुचिपत् आत्मा और धर्मात्मा राजा का प्राणों और प्रजाओं से रस और ऐश्वर्य प्राप्ति का वर्णन। (७५) अन्न से पौष्टिक रस के समान राजा का सार भूत ऐश्वर्य और अध्यात्म में आनन्द रस की प्राप्ति। (७६) मूत्र, वीर्य तथा गर्भ जरायु के दृष्टान्त से दान और उत्सर्ग के महत्व का वर्णन। (७७) सत्य के बल पर प्रजापालक की सत्य में श्रद्धा और असत्य में अश्रद्धा का उपदेश। (७८) वेद द्वारा सद् असत् के विवेक का उपदेश। (७९) अत्तार के दृष्टान्त से शुद्ध उपाय से अर्थोपार्जन का उपदेश। (८०) सीसे से शत्रु नाश करने और सूत्र से कपड़ा बुनने के दृष्टान्त से निर्बल राष्ट्र की वृद्धि का उपदेश। (८१) दो अश्वी और सरस्वती तीनों का राष्ट्र रक्षा और पोषण के साधनों का उत्पादन। (८२) उक्त तीनों का अन्नों से शरीर को वैद्यों के समान वेतनबद्ध भृत्यों द्वारा सुदृढ़ करना। (८३) बुद्धिमती स्त्री के समान राजसभा का राष्ट्र में ऐश्वर्य और शोभा बढ़ाते रहना। (८४) वीर्य द्वारा सन्ततिजनन के समान राजा की उत्पत्ति। शरीर से मल के समान दुष्ट पुरुषों का राष्ट्र से निर्वासन। (८५) अन्न से बल प्राप्त करने के समान सुरक्षक राजा की बल वृद्धि, उदर के भीतरी अंगों से शासकों की तुलना। (८६-८७) प्लीहा आदि भीतरी अंगों की तुलना। (८८) मुख से राज्य व्यवस्था की तुलना। (८९) राष्ट्र की चक्षु से तुलना। (९०) समृद्ध राष्ट्र की नासिका से तुलना। (९१) राजा और आत्मा की बैल से तथा राष्ट्र की मुख से तुलना। (९२) पूर्ण राष्ट्र की शरीर से तुलना। (९३) योग द्वारा शरीर शोधन और चिकित्सा के समान ही राष्ट्र का शोधन और चिकित्सा। अंगों की ससाङ्गों से तुलना। पक्षान्तर में गृहस्थ का वर्णन। (९४) स्त्री के गर्भ में बालक के धारण के समान प्रजा के बीच राजा का धारण। (९५) दूध और मधु के समान अभिषेक द्वारा राजा का दोहन।

विंशोऽध्यायः (१२२-१७२)

(१) राजा, सभापति का स्वरूप और उसका प्रजा के प्रति कर्तव्य।

(२) सर्व श्रेष्ठ पुरुष का सिंहासन पर विराजना और उसको प्रजा पालन के कर्तव्योपदेश । (३) राजा का अभिषेक । और उसके ९ प्रयोजन । (४) सम्राट् का नामकरण और उपाधिवितरण । सम्राट का तेजस्वी रूप सम्राट् और विराट् का आंख कान का सा सम्बन्ध । (६–८) पदाधिकारों और अध्यात्म शक्तियों की तुलना । (१०) अंगों में आत्मा के समान राष्ट्र के अंगों में राजा की प्रतिष्ठा । (११) तेतींस विद्वान् देवों की प्रतिष्ठा । (१२) उनके परस्पर सहयोग से वृद्धि । (१३) राजा के शरीर के अंगों की राजा की शक्तियों या अधिकारों से तुलना । (१४–१८) विद्वानों का प्रजाजनों को असत्कर्मों और बन्धनों से छुड़ाना । (१९) आप्त पुरुषों का ओषधिवत् रक्षक और शत्रुनाश होने की प्रार्थना । (२०) आप्त पुरुषों का पापों से छुड़ाने का कर्त्तव्य । (२१) राजा का सर्वोत्तम पद । (२२) अभिषिक्त राजा का उपसर्पण और ऐश्वर्य धारण । (२३) सम्राट् की वैश्वानर ज्योति सूर्य के समान स्थिति । (२४) प्रजापति के अधीन व्रतोपायन और दीक्षा ग्रहण । गुरु शिष्य सम्बन्ध का विवरण । (२५–२६) ब्रह्म क्षत्र युक्त पुण्य लोक का वर्णन । (२७) सम्राट् को आशीर्वाद । (२८) दान शील उदार राजा का वर्णन । (२९) समृद्ध राजा का आश्रय करना । (३०) विद्वानों का राजा को उपदेश करने का धर्म । (३१) राजा का अभ्युक्षण, दीक्षा । (३२–३३) राजा का सरस्वती (राजसभा) इन्द्र, और सुत्रामा पद पर स्थापन भूताधिपति का पद । (३४) राष्ट्र शरीर के प्रधान शक्तियों के रक्षण कर्त्ता के पद पर नियुक्ति । (३६) शत्रु विजय का आदेश । (३७) नराशंस, तनूनपात् पद, उसके कर्त्तव्य । (३८) गोत्रभित्, वज्रबाहु राजा का स्वरूप । (३९) सूर्य के समान हरिवान् इन्द्र राजा का स्वरूप । (४०) पति को स्त्रियों के समान प्रजाओं और सेनाओं का अपना नायक वरण । (४१) उषा, नक्त नाम दो संस्थाओं का नायकत्वीकरण । (४२) अग्नि और वायु नाम दो मुख्याधिकारियों का राजा को स्वीकार । (४३) सरस्वती, इडा, भारती

तीनों देवियों का राजा को वरण। (४४) तेजस्वी पुरुष को सैनापत्य पद। (४५) वट आदि के समान वनस्पति पद। (४६) इन्द्र, सेनापति पद के योग्य पुरुष का लक्षण। (४७) इन्द्र सुत्रमा के कर्तव्य। (५५) अग्नि के समान तेजस्वी पद पर अभिषिक्त नायक के लक्षण। (५६–६०) सरस्वती और अश्वियों के कर्तव्य। (६१–७७) उषा, नक्त, अश्वि, तीन देवियें, सविता, वरुण, इन सबका इन्द्र पद को पुष्ट करना। (७८) अग्रणी नायक का स्वरूप। (७९) उसके कर्तव्य। (८०) राजा की बल वीर्य पुष्टि। (८१) अश्वियों के कर्तव्य। (८२) मेघ के समान राजा के कर्तव्य। (८३) अधिकारियों के कर्तव्य। (८४–८६) विद्वत्सभा के कर्तव्य। (८७–९०) इन्द्र सुत्रामा का आदर।

एकविंशोऽध्यायः (१७३–२२७)

(१) प्रजा की प्रार्थना सुनने का राजा का कर्तव्य, पक्षान्तर में परमेश्वर का स्मरण। (२) प्रजा की शरण याचना, राजा का अभय दान। (३) प्रजा के परस्पर कलहों का दूर करना राजा का कर्तव्य। (४) उत्तम नायक को प्राप्त करने की प्रार्थना। (५–७) राजसभा और राज्य व्यवस्था की नौका के साथ तुलना, कर्तव्य दृष्टि से उसका उत्तम स्वरूप। (८–९) मित्र और वरुण पदों के कर्तव्य। (१०–११) अश्वों, अश्वारोहियों और ज्ञानवान् पुरुषों के लक्षण। (१२–२२) आप्री देवों का वर्णन। अग्नि, तनूनपात्, सोम, बर्हिः, द्वार उषासानक्ता, दैव्य होता, इड़ा आदि तीन देवियें, त्वष्टा, वनस्पति, वरुण। इन पदाधिकारों के के कर्तव्य, बल और आवश्यक सदाचार। तपःसामर्थ्य का वर्णन। (२३–२८) संवत्सर के ६ ऋतु भेद से यज्ञ प्रजापति और प्रजापालक राजा के ६ स्वरूपों का वर्णन। (२६–४१) अधिकार प्रदान। और नाना दृष्टान्तों से उनके और उनके सहायकों के कर्तव्यों का वर्णन। अग्नि, तनूनपात्, नराशंस, बर्हि, द्वार, सरस्वती, उषा, नक्त, दैव्य होता

तीन देवी, त्वष्टा, वनस्पति, अश्विद्वय, इन पदाधिकारियों को अधिकार प्रदान। (४२–४७) अधिकार दान, उनके सहायकों के कर्तव्य। महीधर आदि के किये बकरे की बलिपरक अर्थ का सप्रमाण खण्डन। सरस्वती नाम विद्वत्सभा को अधिकार, उसके सहायकों के कर्तव्य। छाग, मेष, ऋषभ और उनके हवि, मद, तथा उनके पार्श्व, कटि, प्रजनन, आदि अंगों के अवदान करने का रहस्य। (४७–५८) स्विष्टकृत् अग्नि का विवरण। (४८–५८) उक्त अधिकारियों के स्थान, मान, पद और उनका ऐश्वर्य वृद्धि का कर्तव्य। (५९) होता नाम अग्रणी नायक का वरण। (६०) वनस्पति अधिकारी का वरण। (६१) वृत विद्वानों के कर्तव्य।

द्वाविंशोऽध्यायः (पृ० २२८२५५)

(१) राजा का राष्ट्र में स्थान और उसका कर्तव्य। (२) परमेश्वर की व्यापक शक्ति के समान राजा की राज्य-व्यवस्था का वर्णन। (३) परमेश्वर के गुणों का वर्णन, पक्षान्तर में राजा के गुणों का वर्णन। (४) राजा को और नायक विद्वानों को अधिकार प्रदान, (५) अधिकारपदों के लिये प्रोक्षण अभिषेक और आदर योग्य पुरुषों का वर्णन। (६) आदरणीय नायक पुरुष का नाना अवस्थाओं में भी उसका ४९ दशाओं में आदर सत्कार और रक्षा करने का उपदेश। (९) गायत्री। (१०–१२) हिरण्यपाणि सविता। आज्ञापक का स्वरूप। (१५–१६) अग्नि अर्थात् विद्वान् दूत का वर्णन, अध्यात्म में ज्ञानी उपासक का वर्णन। (१८) तेजस्वी पुरुष की उत्पत्ति, और उसका पृथ्वी के पालन का कर्तव्य। (१९) अश्व के दृष्टान्त से नायक भोक्ता आत्मा और परमेश्वर के १३ नाम, उनसे सूचित गुण, कर्तव्य और उन गुणों के कारण उसका अभिषेक। (२०) प्रभु के 'क' आदि नाना गुण, कर्मसूचक नाम और उनका आदर। (२१) नायक सखा। (२२) आदर्श राष्ट्र की समृद्धि की कामना। (२३) प्राण आदि शारीरिक शक्तियों की साधना। (२४) प्राची आदि ६

दिशाओं और १२ उपदिशाओं से राष्ट्र की रक्षा । (२५) नाना प्रकार के जलों के दृष्टान्त से, गुण भेद से नाना गुणों वाली सेनाओं और प्रजाओं का वर्णन । (२६) वात, धूम, अभ्र आदि नाना मेघ की दशाओं की तुलना के साथ २ नायक के नाना कर्मों का वर्णन । (२७) अग्नि आदि पदार्थों की साधना । (२८–३१) नक्षत्र आदि के सुखकारी होने की भावना । (३२–३३) यज्ञ से अन्न, ज्ञान, बल आदि की उत्पत्ति ।

त्रयोविंशोऽध्यायः (पृ० २५६–३०१)

(१) हिरण्यगर्भ परमेश्वर का वर्णन, पक्षान्तर में राजा का वर्णन । (२) व्यवस्था में बद्ध राजा की सूर्य और वायु और अन्तरिक्ष से तुलना । राजा का प्रजापति पद । (३) ईश्वर और राजा के महान् ऐश्वर्य का वर्णन । (४) व्यवस्थाबद्ध राजा का चन्द्र, अग्नि, नक्षत्रों से तुलित महान् सामर्थ्यों का वर्णन । पक्षान्तर में परमेश्वर का वर्णन । (५) दोषरहित तेजस्वी राजा की नियुक्ति, पक्षान्तर में परमेश्वर की योग द्वारा उपासना । पक्षान्तर में सूर्य का वर्णन । (६) रथ में जुते अश्वों के समान दो नायकों की नियुक्ति । (७) राजा को सन्मार्ग पर लेजाने के लिये उसके स्तोतृ नायक विद्वान् की नियुक्ति । (८) गायत्र, त्रैष्टुभ, और जागत तीन छन्दों से वसु, रुद्र और आदित्यों द्वारा स्तवन । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन द्वारा राजा की कीर्त्ति । तेजस्वी, शक्तिमान् राजा को राष्ट्रैश्वर्य भोग की आज्ञा । (९–१२) ब्रह्मोद्य । ब्रह्म और प्रभु राजा की शक्ति विषयक प्रश्नोत्तर । सूर्य, अग्नि, भूमि, द्यौः, अश्व, अवि और रात्रि विषयक प्रश्नोत्तर । (१३) राजा की शक्ति को पुष्ट करने के लिये सेनापति आदि पदाधिकारियों का उत्तम उद्योग । (१४) रथ अश्व के दृष्टान्त से ब्रह्मा नाम विद्वान् के कर्तव्य और स्थिति का वर्णन । पक्षान्तर में अध्यात्म विवेचन । (१५–१६) ऐश्वर्यवान् स्वामी और अध्यात्म में आत्मा का वर्णन । (१७) अग्नि, वायु, सूर्य के दृष्टान्त से विजयाभिलाषी राजा के कर्तव्यों का उपदेश ।

अग्नि, वायु, सूर्य तीनों के पशु कहाने का रहस्य। (१८) प्राण आदि शक्तियों का उपयोग, राज्यलक्ष्मी और वसुधा का वीरभोग्य होना। कार्म्मालवासिनी सुभद्रिका और सोने वाले अश्वक का रहस्य। पक्षान्तर में पतिंवरा कन्या तथा अध्यात्म में स्पष्ट विवरण (१९) गणपति, परमेश्वर, विद्वान्, राजा और गृहपति का वर्णन, गर्भाधान परमेश्वर और गर्भाधान प्रकृति का रहस्य। (२०) राजा प्रजा की चतुर्वर्ग-साधना। गृहस्थ का चतुष्पाद् स्वरूप। महीधर के अर्थों की असंगति। दुष्टों के प्रति राजा का व्यवहार। गृहस्थ पक्ष में चरकादि वैद्यक शास्त्रोक्त प्रजोत्पत्ति विद्या का मूल निदर्शन। (२२) समृद्ध, शक्तिमती प्रजा के ऊपर बलवान् राजा की स्थापना। दम्पति पक्ष में दोनों स्त्री पुरुषों के परस्पर कर्तव्य। (२३) शक्तिशाली राजा का स्वरूप और उसका मुख्य व्रत वाणी पर वश करना। दम्पति पक्ष में शक्तिमान् पुरुष का स्त्री के हृदय का आकर्षक और एक स्त्री व्रत होने का उपदेश। (२४) माता पिता का प्रधान पद और स्नेह से रक्षार्थ ही राष्ट्र की समृद्धि के आधार पर राजा का सैन्य बल का होता है। मन्त्रोक्त मुष्टि, गभ, वृक्ष आदि शब्दों का रहस्य विवेक। गृहस्थ पक्ष में माता पिता का उच्च पद, और ऐश्वर्य या स्त्री के आधार पर पारिवारिक स्नेह की व्यवस्था। (२५) राष्ट्र प्रजाजन की माता राजसभा और पिता राजा दोनों का विस्तृत राज्य पर सुखी रहना और धुरन्धर वेदवित् ब्रह्मा की जिम्मेवारी और वाणी पर वश। (२६–२७) पर्वत पर बोझा ढोने वाले के समान राष्ट्र भार के उठानेवाले की जिम्मेवारी। और वायु वेग से छाज द्वारा अन्न शोधन करने वाले के समान राष्ट्र का कण्टकशोधन। दम्पति पक्ष में गृहस्थ पुरुष के उत्तम कर्तव्य। (२८) गाय के खुरों की उपमा से ब्राह्म और क्षात्र बलों का पृथ्वी पालन में उपयोग। इसी प्रकार गृहपति के कर्तव्य। (२९) न्यायशील पुरुषों को सभा में सत्य निर्णय करने का उपदेश। मन्त्रोक्त 'नारी' पद का रहस्य। (३०) हरिण और खेत तथा स्वामी और दासी के दृष्टान्त से प्रबल राजा की धना

लालसा से प्रजा की समृद्धि के नाश हो जाने की चेतावनी। (३१) हरिण और यव तथा भृत्य और रानी के भोग के दृष्टान्त से दुष्ट राजा के द्वारा उत्तम प्रजा के नाश हो जाने की चेतावनी। (३२) विजयशील राजा की स्थापना। (३३) गायत्री आदि छन्दों के नामों से नाना प्रकार की उत्तम वाणियों से राजा के हृदय की शान्ति। (३४–३५) द्विपदा आदि और महानाम्नी आदि वेदवाणियों से स्वामी का शान्तिकरण। इसी प्रकार गायत्री, द्विपदा महानाम्नी आदि भिन्न २ प्रजाओं का वर्णन। (३७) सेनाओं के शस्त्रों द्वारा विजयी पुरुषों की पालक शक्तियों का शान्ति प्रयोग। इसी प्रकार उत्तम स्त्रियों द्वारा उत्तम पतियों की हृदय सुख शान्ति। (३७) उत्तम स्त्रियों के गुण, एवं उत्तम प्रजाओं के अपने स्वामी को प्रसन्न रखने और शान्त रखने का कर्तव्य। (६८) राजा का प्रजा के भोजनादि सुख का प्रबन्ध करना। (३९) प्रजाओं में शान्ति विधायक शासक का लक्षण। (४०) विद्वान् सदस्यों का शान्ति विधान का कर्तव्य। (४१) सवंत्सर के अंग भूत दिन रात्रि के समान नाना राज्याङ्गों और उनके अध्यक्षों के कर्तव्य। (४२) राष्ट्र के पालक पुरुषों का कार्य, राष्ट्र का शासन और उनका शान्तिकारिणी व्यवस्थाएं बनाना। (४३) सूर्य, वायु, आकाश और नक्षत्रों के समान तेजस्वी, बलवान्, और उदार और दृढ़ स्थिर लोगों से राष्ट्र की न्यूनताएं दूर करना। (४४) सर्वाङ्ग शान्ति। (४५–४८) पुनः ब्रह्मोद्य। सूर्य चन्द्र अग्नि, भूमि, ब्रह्म, द्यौ, इन्द्र, वाणी के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर। (४९–५०) व्यापक परमेश्वर के तीन चरणों में विश्व की स्थिति, (५१–५२) पुरुष अर्थात् जीव के आश्रय तत्व। (५३–५४) अ० २३। ११। १२। के समान प्रश्न। पिशंगिला, कुरु पिशंगिला, शश, और अहि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर और उनका रहस्य विवेचन। (५७–५८) जगत् रूप यज्ञ के आश्रय, तथा कारण पदार्थ, संचालक शक्तियों के सम्बन्ध में प्रश्न-उत्तर। (५९–६०) सर्वज्ञ विषयक ब्रह्म। (६१–६२) पृथिवी के पर अन्त, भुवन की

नाभि, अश्व के रेतस् और वाक् के परम व्योम सम्बन्धी प्रश्न और उनके उत्तर और रहस्य का स्पष्टी करण । (६२) प्रजापति की उत्पत्ति, पक्षान्तर में राजा और परमेश्वर के प्रजापति नाम होने का कारण । (६४) होता द्वारा प्रजा पालक राजा के अधीन ऐश्वर्य युक्त राज्य का समर्पण । (६५) प्रजापति का अद्वितीय सामर्थ्य और उससे ऐश्वर्य की प्रार्थना ।

चतुर्विंशोऽध्यायः (पृ० ३०२३३१)

(१-२) राजा के अधीन राष्ट्र के १६ पर्यङ्कों का वर्णन । (३-१९) अन्यान्य प्रत्यंगों तथा अधीन रहने वाले नाना विभागों के भृत्यों और उनके विशेष पोशाकों और चिन्हों का विवरण । (२४) ऋतु के अनुसार पक्षियों का वर्णन और उनसे राष्ट्र के हिताहित ज्ञान करने का उपदेश । (२१) समुद्र, मेव, जल, आदि से सम्बद्ध जीवों के ज्ञान का उपदेश । (२१—३९) भिन्न २ गुणों और विशेष हुनरों के लिये भिन्न २ प्रकार के नाना पक्षियों और जानवरों के चरित्रों का अध्ययन और संग्रह ।

पञ्चविंशोऽध्यायः (३३२-३७२)

(१) नाना प्रकार के शिल्पों तथा गुणों और रहस्यमय पदार्थों के ज्ञान के लिये शरीर गत अंगों का दृष्टान्त रूप से उल्लेख । (२-३) वाह्य जगत् की शक्तियों की देहगत शक्तियों से तुलना । (४-५) शरीर गत पसुलियों से राष्ट्र के अधिकारियों की तुलना । (६) देह के पीठ के मोहरों से राज्याधिकारियों की तुलना और उनके कर्त्तव्य विवेचन । उदर में स्थित अंगों से राष्ट्र के अन्य पदाओं की तुलना । अथवा उनकी शक्तियों से उनके उपयोगों की आलोचना । (८) शरीर के अंगों से अन्य पदार्थों की तुलना और उनके गुणों का विश्लेषण । (९) शरीर की और जगत् की प्रबल शक्तियों की तुलना । अपान और राजा की तुलना । (१०-१३) प्रजापति का वर्णन । परमेश्वर की उपासना (१४-१५) विद्वानों से

प्रार्थना । (१६) उनका आदर सत्कार । (१७) सुखकारी ओषधि, माता पिता, भूमि, सूर्य, विद्वान् ऐश्वर्यवान् पुरुष और यज्ञ साधनों से सबसे उत्तम सुख की कामना । (१८–१९) ईश्वरोपासना । वायुओं के समान मातृ भूमि के भक्त वीरों का वर्णन । उनके लक्षण और कर्तव्य । (२१) उत्तम वचन का सुनना, उत्तम दर्शन, स्थिर अंगों से सुख पूर्वक जीवन भोग की प्रार्थना । (२२) शत वर्ष के पूर्ण जीवन की कामना । (२३) अदिति के ९ प्रकार । (२४) ऐश्वर्यवान् बलवान् विद्वान् पुरुष के सामर्थ्यों का वर्णन । (२५) राजा की दी वृत्ति को मुख्य रूप से मानना । अधीन वृत्तिग्राहियों के कर्तव्य । पक्षान्तर में परमेश्वर और विद्वान दोनों की स्तुति । (२६–२७) प्रधान वीर पुरुषों के कर्तव्य । पूषा के विश्वदेव्य भाग, छाग और उसका अश्व के साथ आगे चलने का रहस्य । (२८) यज्ञ के होतादि कार्य कर्त्ताओं के समान राष्ट्र के प्रधान कार्य कर्त्ताओं का कर्तव्य । (२९) राज्य के राज सहायकों के सहोद्योग की आंकाक्षा । (३०) उत्तम कार्यकर्त्ताओं की कार्य में नियुक्ति । (३१) उनकी प्रधान शक्ति और अधिकार योग्य वेतन पर नियुक्ति । अश्व की रशना, और रज्जु का रहस्य । (३२) राष्ट्र के सब कार्यों को विद्वानों के हाथ में रखने का उपदेश । अश्व के मांस को मक्षिका के खाने, उसके स्वरु स्वधिति में लगने, शमिता के नखों और हाथों में लगने का रहस्य । (३३) दुष्टों का दमन । (३४) राष्ट्र की उपज का सदुपयोग और संग्रह । पक्षान्तर में ब्रह्मचर्य की रक्षा का उपदेश । (३५) वैश्यों, क्षत्रियों और विद्वान् परिव्राजकों के सहोद्योग की आकांक्षा । पक्षान्तार में ब्रह्मचारियों के व्रत की विवेचना । उनका भिक्षा व्रत । परिपक्व वाजी का रहस्य । (३६) उत्तम राष्ट्र के शोभा जनक भूषण, अध्यात्म में देह में स्थित आत्मा के विशेष गुण और शक्तियों का वर्णन । (३७) संकटों से रक्षा की चेतावनी और उनके उद्योग । (३८–३९) राजा के सब खान पान विहार आदि पर विद्वानों का निरीक्षण (४०) वेद ज्ञान द्वारा

राष्ट्र की बाधाओं को दूर करना। (४१) राष्ट्र के ३४ अंगों को दोष रहित करना। (४२) राष्ट्र के कार्यों का विभाग और उनपर योग्य विद्वान् अध्यक्ष की नियुक्ति। (४३) सेना आदि द्वारा राष्ट्र प्रजा को व्यर्थ न सताने का उपदेश। उत्तम मार्गों, और उत्तम व्यवस्थाओं से राष्ट्र, राज्य और राजा की दीर्घायु। उत्तम पदों पर रथ में अश्व के समान उत्तम पुरुषों की नियुक्ति। (४५) उत्तम क्षात्र बल की प्राप्ति। (४६) राष्ट्र को दृढ़ बनाने का उद्योग। (४७-४८) राजा को प्रजाप्रिय और तेजस्वी होने का उपदेश।

षड्विंशोऽध्यायः (३७३-३८६)

(१) अग्नि पृथिवी, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, आपः, वरुण, इनके समान परस्पर राजा प्रजा का प्रेम से उपकारी होकर रहना। सात संसत्, और आठवीं भूतसाधनी संस्था का वर्णन। उत्तम ज्ञान प्राप्ति का उपदेश। (२) सबके लिये कल्याणी वाणी का उपदेश। वृत्ति दाता और विद्वानों का प्रिय और पूर्णकाम हो। (३) बृहस्पति पद पर योग्य पुरुष का रूप। पक्षान्तर में परमेश्वर का वरण। (४-५) सभापति पद पर वाग्मी विद्वान् का वरण, उसके साथ विद्वानों का साहाय्य। (६-७-८) वैश्वानर पद पर योग्य पुरुष का वरण। उसका लक्षण। (९) अग्नि पद पर योग्य पुरुष की स्थापना। (१०) महेन्द्र पद पर योग्य विद्वान् की स्थापना। (११-२६) उत्तम विद्वानों, नायकों और शासकों से भिन्न २ कार्यों की कामना।

सप्तविंशोऽध्यायः (पृ० ३८७-४१०)

(१-७) अग्नि नाम विद्वान् नायक के कर्तव्य और लक्षण, (८-९) बृहस्पति पद पर स्थित विद्वान् का वर्णन (१०-२२) अग्नि और वाग्मी नाम विद्वानों का वर्णन। (२३-२४) वायु नाम सेनापति का वर्णन। (२५-२६) 'क' प्रजापति का वर्णन। (२७-३३) नियुत्वान् वायु,

सेनापति का वर्णन। (३५–४२) इन्द्र नायक का वर्णन। (४३–४४) अग्नि रूप से नायक राजा का वर्णन उससे रक्षा की प्रार्थना। (४५) संवत्सर के पांच रूप और तदनुसार प्रजा पालन के ५ रूप।

अष्टाविंशोऽध्यायः (४११–४४४)

(१–३४) होता द्वारा भिन्न २ अधिकारियों की नियुक्ति और उनके विशेष आवश्यक लक्षण, और अधिकार और शक्तियों का वर्णन। (३५–४५) उनका इन्द्र सेना नायक और उसके ऐश्वर्य को बढ़ाने का कर्तव्य। (४६) अग्नि होता का वरण।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः (४४५–४८५)

(१) घृत से तीव्र अग्नि या जाठराग्नि के दृष्टान्त से विवेकी विद्वान् का वर्णन। (२) संग्राम आदि के अवसरों पर संघ बना कर काम करने का उपदेश। (३) स्तुति योग्य, वन्दन करने योग्य, प्रसन्नमुख योग्य पुरुष की उत्तम पद पर नियुक्ति। (४) राष्ट्र प्रजा का विस्तृत करना और उसको व्यवस्थित रखना। पक्षान्तरमें विद्युत् का वर्णन। (५) गृह के द्वारों से देवियों की तुलना। दोनों पक्षों में श्लिष्ट विशेषण। पक्षान्तर में शास्त्र विजयी सेनाओं का वर्णन। (६) देह में प्राण और उदान के समान मित्र और वरुण का वर्णन। पक्षान्तर में दिन रात्रि और स्त्री पुरुषों के कर्तव्यों का वर्णन। (७) उपदेशक और अध्यापक और पक्षान्तर में स्त्री पुरुषों के परस्पर कर्तव्यों का वर्णन। (८) इडा, भारती, सरस्वती आदि संस्थाओं का कर्तव्य। (९) गृहस्थ में, राष्ट्र में और उपासना में क्रम से योग्य पुरुष, शिल्पी, और उपासकों की नियुक्ति। (१०) तेजस्वी सूर्य और आश्रय वृक्ष के दृष्टान्त से, नायक, मुख्य पुरुष का भृत्यों के प्रति कर्तव्य। (११) अग्रणी का कर्तव्य। (१२) उदय होते सूर्य, वाज, और वेगवान् हरिण के समान सेनानायक, का स्तुत्य रूप। (१३) राष्ट्र

के अनुयोक्ता त्रिवेदज्ञ पुरुष का होना, उसका आज्ञापक होना। पक्षान्तर में अध्यात्म देह व्यवस्था का वर्णन। (१४) नायक और आत्मा के यम, आदित्य, और अर्वा तीन नाम। उसके तीन वन्धन। (१५) उसके तीन स्थानों पर तीन २ वन्धन। (१६) उसका सर्वोत्कृष्ट रूप। (१७) व्यवस्थावद्ध नायक की अश्व से तुलना। उत्तम मार्गों से मुख्य व्यक्ति को जाने का आदेश। अध्यात्म में उन्नति मार्ग का अनुसरण। (१८) विजिगीषु का उत्तम रूप, ओषधियों के ग्रास का रहस्य। अध्यात्म में ओषधिमय जीवनप्रद भोजन का उपदेश। (१९) नायक के प्रति सबको सख्य भाव से रहने की आज्ञा। (२०) मुख्य अध्यक्ष का महान् सामर्थ्य, उसके हिरण्यशृंग और अयःपाद होने का रहस्य। (२१) वीरवाहु चुस्त शूर वीरों को दल वद्ध दस्ते बना कर युद्ध करने का आदेश। अध्यात्म में योगियों का वर्णन। (२२) वलवान् शरीर और मन होने और जंगलों में सेना दलों की स्थापना। (२३) शत्रु उच्छेदक नायक का वर्णन। 'अज' का रहस्य। उत्तम पद पर स्थित पुरुष को माता पिता के आदर का उपदेश। अध्यात्म में मोक्ष प्राप्त पुरुष को प्रकृति परमेश्वर का दर्शन। (२५) नायक को विद्वानों को संगठन करने का आदेश। दूत का कर्तव्य। (२६) तनूनपात् नामक विद्वान् के कर्तव्य। ज्ञान और उपास्य और ग्राह्य ज्ञानों को उत्तम भाषा में प्रकट करने का उपदेश। (२७) उत्तम प्रशंसनीय नायक, का महान् सामर्थ्य कि उसके आश्रय में अन्य विद्वान् रहें। (२८) दानशील संगठन के केन्द्रस्थ व्यक्ति के कर्तव्य। (२९) प्रथम संस्थापक का कर्तव्य। आसन के समान विस्तृत होकर अन्यों का आश्रय होना। (३०) द्वारों के दृष्टान्त से गृह देवियों के कर्तव्यों का वर्णन। पक्षान्तर में सेनाओं के कर्तव्य। 'अयन' शब्द का समुचित अर्थ। (३१) दिन रात्रि के समान स्त्री पुरुषों के कर्तव्य। (३२) मुख्य विद्वानों या स्त्री पुरुषों का कर्तव्य। ज्ञानोपदेश। (३३) भारती आदि तीन संस्थाओं के कर्तव्य। (३४) आकाश या सूर्य और पृथिवी के समान राजप्रजा

वर्गों को नाना ऐश्वर्यों से सुशोभित करने का कर्तव्य । (२५) ऋत्वनुसार भोजनों की व्यवस्था । (२६) यज्ञाग्नि की ज्वाला से हव्य के विस्तार के समान राजा के सत्य, न्यायवाणी पर समस्त प्रजाओं का सुख भोग । (२७) तेजस्वी सूर्य के समान प्रकाशक विद्वानों को तेजस्वी ज्ञान दाता होने का आदेश । (२८) कवच, शस्त्रधर की मेघ से तुलना । (२९) धनुर्बल से विजय का उपदेश । (४०) प्रिय पत्नी के समान धनुष की डोरी की शक्ति । (४१) उसका शत्रुनाशकारी कार्य । (४२) पुत्र पिता की तूणीर से तुलना । (४३) घोड़ों की वागों का वर्णन । अध्यात्म रहस्य विवेक । (४४) वीरों का वर्णन । (४५) रथ का वर्णन । (४६) शक्तिमान् पालक वीर पुरुषों का वर्णन । (४७) विद्वान् ब्राह्मणों के लक्षण । (४८) तीव्र वाणों से सुख की आशा । उनका वर्णन । (४९) शरीर के कठोर होने का उपदेश । (५०) कशा का वर्णन । (५१) हाथवन्द कवच. और कुशल वीरका श्लेष से वर्णन । (५२) वनस्पति, धनुर्दण्ड और नायक का वर्णन । (५३) नाना दृष्टान्तों से सार भाग प्राप्त करने का उपदेश । (५४–५७) दुन्दुभि और वीर पुरुष का श्लिष्ट वर्णन । (५८–५९) भिन्न २ अधिकारियों के अधीन नियुक्त भिन्न २ भृत्यों के विभेदक चिन्ह और लक्षण । भिन्न २ उपसमितियों का कपाल भेद से भेद वर्णन । ८, ११, आदि 'कपालों' का रहस्य ।

त्रिंशोऽध्यायः (४८५–५१५)

(१) ऐश्वर्य वृद्धि के लिये यज्ञ पति की स्थापना । वाणी के मधुर होने की प्रार्थना । सर्व प्रेरक सर्वोत्पादक प्रभु के तेज का ध्यान धारण और स्थापन । गायत्री । (२) उत्तमों के ग्रहण बुरों के त्याग का उपदेश । (४) अद्भुत ऐश्वर्य के विभाजक, परमेश्वर और सर्वशासक राजा की स्तुति । (५–२१) ब्रह्म ज्ञान, क्षात्र बल, मरुद् (वैश्य) विज्ञान आदि नाना

ग्राह्य शिल्प पदार्थों की वृद्धि और उनके लिये ब्राह्मण, क्षत्रियादि उन २ पदार्थों के योग्यपुरुषों की राष्ट्र रक्षा के लिये नियुक्ति। त्याज्य कार्यों के लिये उनके कर्त्ताओं को दण्ड का विधान। (२२) अति विचित्र, विकृत पुरुषों की विशेष व्यवस्था।

एकत्रिंशोऽध्यायः (५१६–५३३)

पुरुष सूक्तम्। (१) सहस्रशिर, सहस्र आखों और सहस्र पाओं वाले पुरुष का वर्णन। इसका रहस्य। उसका भूमि को व्याप कर दश अंगुल ऊपर विराजने का रहस्य। (२) पुरुष, भूत, भव्य, अमृत के ईशान और अन्नातिरोही। (३) उसकी महिमा और चार पाद। त्रिपात् पुरुष का उत्क्रमण और मापन। (४) विराट् की उत्पत्ति। (६) यज्ञ प्रजापति से आज्यसम्भरण, पशुओं की उत्पत्ति। (७) यज्ञ परमेश्वर से समस्त वेदों की उत्पत्ति। उससे अश्वों और गवादि पशुओं की उत्पत्ति। (९) उस पुरुष का सर्वोपरि अभिषेक और विद्वानों द्वारा पूजा। (१०–११) पुरुष प्रजापति की विविध अंग कल्पना और वर्ण विषयक प्रश्न और उत्तर। (१२) चन्द्र सूर्य वायु अग्नि की कल्पना। (१३) अन्तरिक्ष, द्यौ, भूमि दिशा और लोकों की कल्पनायें। (१४) संवत्सर यज्ञ का स्वरूप। (१४) उसकी तीन परिधियें और सात समिधाएं। यज्ञपुरुष के बन्धन का रहस्य। (१६) यज्ञपुरुष से यज्ञकाण्ड का यजन। साध्य विद्वानों की परम सुख प्राप्ति। (१७) मानुष जीव सर्ग। (१८) आदित्य वर्ण पुरुष का वर्णन। (१९) समस्त भुवनों का आश्रय प्रजापति। (२०) ब्राह्मी रुक्। (२१) देवों का वश कर्त्ता विद्वान् ब्राह्मण। (२२) प्रजापति की दो पत्नी लक्ष्मी, और श्री। इनका रहस्य। समस्त अध्याय की राजपक्ष में योजना।

द्वात्रिंशोऽध्यायः (५३४–५४६)

(१) परमेश्वर के अग्नि आदित्य, वायु चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः;

प्रजापति आदि नाना नाम। (२) उससे समस्त संसार की उत्पत्ति। (३) उसका कोई परिमाण नहीं। (४) उसका सर्वतोमुख वर्णन। उसका त्रिज्योति षोडषी स्वरूप। (६) सबका धारक प्रभु। (७) वह सबका संचालक और सूर्यादि का प्रकाशक। (८) वह सर्वाश्रय, सर्व व्यापक, सर्वत्र ओत प्रोत है। (९) उस परम प्रभु का ज्ञाता सबके पिता का पिता है। (१०) वह सबका बन्धु, विधाता, सर्वज्ञ सर्व सुख प्रद अमृत है। (११) वह व्यापक ही प्रकृति में भी व्यापक है। (१२) तन्मय जगत्। (१३) अद्भुत सदसस्पति। (१४–१५) उससे मेधा बुद्धि की प्रार्थना। (१६) ब्रह्म, क्षत्र दोनों के लिये ऐश्वर्य की प्रार्थना। समस्त मन्त्रों की राजपक्ष में योजना।

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः (५४७–६०९)

(१–२) प्रजापालक विद्वान् अग्नियों का वर्णन। (३—४) विद्वान् मित्रों और श्रेष्ठों का आदर करने का उपदेश। सूर्य चन्द्र या अग्नि सूर्य के समान दो शक्तियों का संसारपालन। (६) विद्वान् की शिशु से तुलना। (७) ३३३९ देवों का रहस्य। (८) सूर्धन्य अग्रणी और परमेश्वर का वर्णन। (९) अग्रणी नायक का दुष्ट संहार करने का कर्तव्य। (१०) वायु सहित सूर्य के जलपान के दृष्टान्त से राजा की ऐश्वर्य प्राप्ति। (११) वीर्य सेचन से पुत्रोत्पत्ति के समान जल सेचन से अन्नादि और राज साभर्थ्य से बल की उत्पत्ति का वर्णन। (१२) सौभाग्य वृद्धि के लिये उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त करने, दम्पति सम्बन्ध को सुदृढ़ करने और शत्रुओं के तेजों को जीतने का आदेश। (१३) तेजस्वी पुरुष का सूर्य और विद्युत् के समान वरण। (१४) पशुनाशकों के दण्डकर्त्ता जितेन्द्रियों के आदर करने का उपदेश। (१५) बहुश्रुत पुरुष को प्रजा के व्यवहारों को सुनने का आदेश। (१६) अग्रणी नायक सबको सुखकर और दयाशील हो। (१७) मुख्य पुरुष के उत्तम शासन में प्रजा निरपराध रहें और

वह प्रजा का अच्छा रक्षक रहे। (१८) जीवन वर्धक जलों के समान विद्वान जन प्रमुख पुरुष की वृद्धि करें। (१९) गौओं, रश्मियों, सूर्य पृथिवी के दृष्टान्त से स्त्री पुरुषों और राजा प्रजा के कर्तव्य। पक्षान्तर में उत्तम वचनों और आभूषणों से सजाने का उपदेश। (२१) मेध के समान उदार पुरुष को मुख्य पद पर स्थापन करने का उपदेश। (२२) शासक का आदर्श सूर्य। (२३) सर्वोपास्य परमेश्वर की उपासना। (२३) सूर्यवत् उत्साही नायक। (२४) नायक सेनापति को शत्रु नाश के नाना प्रकार के उपदेश। (२५–२७) सहसी पुरुष के कर्तव्य। (२८) राजा की स्तुति प्रजाओं को समृद्ध बनाने में है। पक्षान्तर में आचार्य का वर्णन। (२९) बलवान् का सहयोग। (३०–३२) मुख्य पदाधिकारियों का राष्ट्र को समृद्धिमान् बनाना। (३४) सभा, संग्रामों में उत्तम उपदेष्टा और आदेष्टा। (३५) संघ के वशकर्त्ता का सूर्यवत् उदय। (३५) उसका स्वरूप, उसका महान् सामर्थ्य। (३८) सूर्य के दृष्टान्त से परमेश्वर का वर्णन। उसके शुक्ल, कृष्ण दोनों प्रकार के रूपों का रहस्य। (३९–४०) महान् परमेश्वर। (४१) परमेश्वर के आश्रय पर कमाये धन के समान कर्म फल का भोग। (०२) विद्वानों का कार्य निन्दनीय कार्यों से बचना। पक्षान्तर में भौतिक तत्वों से उत्तम देह रचना। (४३) विजिगीषु नायक के कर्तव्य। (४४) वायु और सूर्य के दृष्टान्त से भागधुक् नाम अध्यक्ष के कार्य। (४५) विद्युत् आदि तत्वों का सदुपयोग। पक्षान्तर में राष्ट्र के अध्यक्षों के कर्तव्य। (४६) वरुण और मित्र दोनों के कर्तव्य। (४७) व्यापक अधिकारवान् पुरुष की अध्यक्षता। (४८) सब अध्यक्षों का राष्ट्र को प्रेम करना। (४९) रक्षा के लिये सबका आह्वान। (५०) उनका रक्षण कर्तव्य। (५०–५१) प्रजा का विद्वानों की शरण आना और रक्षा की याचना करना। (५२) विद्वानों को उत्तम आसन। (५३) परमेश्वर का विद्वानों के प्रति अपना स्वरूप प्रकाश। राजा का विद्वानों को ऐश्वर्य दान। (५५–५९) वायु, इन्द्र, वायु, अश्वी

आदि के कर्तव्य । (६०–६८) विजयी पुरुषों के लक्षण । इन्द्र का स्वरूप । (६९) बड़े राजा और परमेश्वर की स्तुति । अन्य अधिकारियों के कर्तव्य ।

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

(१–६) शिव संकल्पसूक्त । (७) पालक अन्न । (८—९) अनुमति नाम पुरुष और संस्था । (१०) सिनीवाली का रहस्य । (११) पञ्चनदी और सरस्वती का रहस्य । (१२) अंगिरा ऋषि, राजा । (१३) अग्नणी से रक्षा की प्रार्थना । (१४) राजा पृथ्वी और पतिपत्नी के कर्तव्य । (१५) पृथ्वी के केन्द्र में राजा की स्थिति । (१६) उत्तम विद्वान् और परमेश्वर का वर्णन । (१७–२१) विद्वानों और नायक राजा के कर्तव्य । (२२–२३) रात्रि, उषा, राजशक्ति और स्त्री । (३४–३९) प्रातः उपासना । (४०) उषा के समान स्त्रियों का वर्णन । (४१, ४२) पूषा राजा और परमेश्वर । (४३—४४) विष्णु राजा, और परमेश्वर । (४५) वरुण, परमेश्वर और राजा । (४६) अधिराट् का निर्माण । (४७) उसके अधीन अधियों के कर्तव्य । (४८—४९) विद्वानों के कर्तव्य । (५०—५१) सुवर्ण और उत्तम सैन्य बल का वर्णन । पक्षान्तर में ब्रह्मचर्य का वर्णन । (५४) विद्वान् अध्यक्ष । (५५) सप्त प्राण, सप्त अधिकारी । (५६—५८) ब्रह्मणस्पति, राजा, वेदवित् ।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

(१, २) राजा का प्रजा के प्रति कर्तव्य । पक्षान्तर में परमेश्वर की व्यवस्था । किरणों द्वारा जीवों की लोकलोकान्तर में गति । (३) वायु का पवित्रकारक गुण । (४) प्रजाओं को आदेश । (५) उत्पादक पिता और सविता के कर्म । (६) प्रजापति के कर्म । (७) प्रजाओं की रक्षा । (८, ९) शान्ति की प्रार्थना । (१०, ११) पाप नाश । (१२) उत्तम आप्त जन । (१३) अग्रणी धुरन्धर । (१४–१८) अग्रणी रक्षक के कर्तव्य । (१९) क्रव्यात् अग्नि का रहस्य ।

षट्त्रिंशोऽध्यायः

(१—१७) शान्ति करण । (१८) मित्रदृष्टि । (१९) दीर्घ जीवन । (२२) अभय । (२३) शतवर्ष आयु की प्रार्थना ।

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

महावीर सम्भरण । (१—८) मुख्य शिरोमणि नायक की उत्पत्ति । (९) अश्व, शकृत् से धूपन का रहस्य । (१२) पृथ्वी निवासिनी प्रजा के कर्तव्य । (१४, १८) तेजस्वी रक्षक पुरुष का स्वरूप । (१९) वरण का प्रकार।

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

(१—५) पृथ्वी स्त्री का समान वर्णन । (६) सार पदार्थ ग्रहण करने का उपदेश । (२७) विद्वान् के उद्देश्य और कर्तव्य ।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः (पृ० ७०८-७१८)

(१) प्राण, पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, सूर्य आकाश इनको आहुति की प्राप्ति । (२) दिशा, चन्द्र आदि के समान व्यक्तियों का उत्तम आदर हो। (३) वाणी प्राण आदि का उत्तम उपयोग । (४) मन वाणी की शक्ति का उपयोग करने और समृद्धि की प्रार्थना । (५–७) प्रजापति प्रभु और परमेश्वर के नाना गुण कर्म स्वभावानुसार नाना नाम। (८-९) देवमय राजा । लोम त्वचादि देह धातुओं को स्वच्छ रोग रहित रखने का उपदेश । (११) आयास आदि देह और आत्मा के धर्मों के लिये उत्तम आहार व्यवहार । (१२) तप धर्मादि के लिये उत्तम यत्न करने का उपदेश । (१३) नियन्ता आदर परमेश्वर की उपासना ।

चत्वारिंशोऽध्यायः (पृ० ७१९-७२८)

ईशोपनिषत् । (१) परमेश्वर व्यापक । उसके दिये के भोग करने और लोभ त्यागने का उपदेश । (२) जीवन भर निसंग होकर कर्म करने की आज्ञा । (३) आत्मा के नाशकों के दुर्गति । (४–५) आत्मा का स्वरूप । (६–७) सर्वत्र आत्म दर्शन । (८) आत्मा का स्वरूप । (९–११) सम्भूति और विनाशक दोनों का ज्ञान । उन दोनों की उपासना का फल मृत्यु मरण, और अमृत भोग । (१२—१४) विद्या अविद्या का ज्ञान । उन दोनों की उपासना फल । मृत्यु और वरण । (१५) देह और भौतिक जीवन की वास्तविकता । अन्त समय में 'ओ३म्' प्रभु का स्मरण । (१६)उत्तम मार्ग से चलने की भगवान् से प्रार्थना । सत्य तत्व पर हिरण्यमय आवरण । परम आत्म दर्शन । ब्रह्म में लय । मोक्ष प्राप्ति ।

ग्रन्थ समाप्त

यजुर्वेद संहिता

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १ ॥

१–२७ देवा ऋषयः ॥ अग्निर्देवता । शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(यज्ञेन) यज्ञ, प्रजापालनरूप सत्कर्म से (मे) मुझ राजा को, या परमेश्वर के अनुग्रह से और प्रजा के पालक प्रभु से मुझ प्रजा को (वाजः च) अन्न, वीर्य और (प्रसवः च) ऐश्वर्य (प्रयतिः) प्रयत्न और (प्रसितिः) उत्कृष्ट राज्यप्रबन्ध और प्रेम, (धीतिः च) उत्तम ध्यान या चिन्तन (क्रतुः च) उत्तम कर्म और प्रज्ञान, (स्वरः च मे) उत्तम स्वर, उत्तम कण्ठध्वनि और (श्लोकः च मे) उत्तम वाणी, (श्रवः च) उत्तम 'श्रव' अर्थात् गुरूपदेश या वेदमन्त्र, (श्रुतिः च) उत्तम, श्रवणयोग्य वेदमन्त्र (ज्योतिः) विद्या का प्रकाश और (स्वः च) उत्तम सुख ये सब (मे) मेरे (यज्ञेन) यज्ञ के द्वारा, उत्तम राज्य प्रबन्ध, व्यवस्था और राजा प्रजा के सम्मिलित यत्न द्वारा मुझे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों । (१–२१) शत० ६।३।१।१–१०॥

१—यथातोवसोर्धारामन्त्राः १-२७ ॥ 'आवश्च'० इति काण्व० ॥

अध्यात्म में—अन्न, ऐश्वर्य, प्रयत्न, प्रेम, ध्यान, ज्ञान अथवा अध्ययन और कर्म, स्वर और श्लोक, गुरुपदेश और वेदोपदेश, ज्ञानप्रकाश और सुख ये सब पदार्थ (मे) मुझे (यज्ञेन) आत्मा और परमात्मा या उपासना द्वारा (कल्पन्ताम्) सिद्ध हों, मुझे प्राप्त हों ।

प्राणश्चं मेऽपानश्चं मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म ऽआधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥

अतिजगती । निषादः ॥

भा०—(मे) मुझे (प्राणः च) प्राण, हृदयगत वायु जो शरीर में नाभि से उपर गति करता है, (अपानः च) अपान, जो नाभि से नीचे के भाग में विचरता है, (व्यानः च) व्यान, सर्वशरीर में व्यापक और मुख्य तथा नाभि देश में स्थित है, (असुः च) असु, नाग आदि नाम वाला वायु जो वमन आदि वेग के कार्य करता, रोग-परमाणुओं को बल से बाहर फेंकता एवं बल के अन्य कार्यों में सहायक होता है, (चित्तं च) चित्त, स्मरण करने वाली शक्ति, (आधीतं च) बाह्य विषयों का ज्ञान और सब प्रकार से स्थिर, निश्चयकारिणी बुद्धि, (वाक् च) वाणी इन्द्रिय (मनः च) मन, संकल्प विकल्प करने या ऊहापोह करने वाली भीतरी शक्ति, (चक्षुः च) चक्षु, देखने वाली इन्द्रिय, (श्रोत्रं च) श्रोत्र, कर्णेन्द्रिय (दक्षः च ज्ञान, इन्द्रिय का बल और कौशल, (बलं च) कर्म-इन्द्रियों का कौशल, बल, पराक्रम, (च च०) उदान, समान, धनंजय आदि अन्य वायुएं, धारणा श्रवण, अहंकार, प्रत्यक्ष प्रमाण, सामयिक मान आदि पदार्थ भी (यज्ञेन) यज्ञ, आत्मसामर्थ्य, ज्ञानाभ्यास, सत्संग और उपासना से (कल्पन्ताम्) समर्थ होकर मुझे प्राप्त हों ।

२—मे सुच० इति काण्व० ॥

ओजश्च मे सहश्च म ऽआत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मे ऽङ्गानि च मे ऽस्थीनि च मे परूंषि च मे शरीराणि च म ऽआयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥

स्वराड् अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(ओजः च) मुझे ओज, शरीर में स्थित तेज, (सहः च) शत्रुओं को पराजय करने में समर्थ शारीरिक बल (आत्मा च) आत्मा, परमात्मा या अपना स्वरूप और अपना सामर्थ्य (तनूः च) उत्तम दृढ़ शरीर और अपने सम्बन्धियों के शरीर (शर्म च) गृह और गृहोचित सुखसामग्री, (वर्म च) शरीररक्षक कवच, और शस्त्रास्त्र, (अङ्गानि च) देह के अंग और उपाङ्ग (अस्थीनि च) छोटी बड़ी समस्त अस्थियें, (परूंषि च मे) अंगुली आदि पोरू और शरीर के पालक मर्मस्थान, (शरीराणि च) शरीर के अन्य अवयव अथवा मेरे अन्य सम्बन्धियों के शरीर और सूक्ष्म देह के अवयव, (आयुः च मे) पूर्णायु और जीवनोपयोगी साधन, (जरा च) और वृद्धावस्था और यौवन आदि भी (यज्ञेन) सत् कर्मानुष्ठान और परमेश्वर की कृपा से (मे कल्पन्ताम्) मुझे प्राप्त हों ।

ज्यैष्ठ्यं च म ऽआधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मेऽमश्च मेऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राघिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्

निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(मे) मुझे (ज्यैष्ठ्यं च) ज्येष्ठता, बड़ाई, (आधिपत्यं च) अधिपति का पद, (मन्युः च) मन्यु, मानस कोप, ज्ञान और आत्मसन्मान (भामः च) क्रोध, शत्रुओं और दुष्टों पर असहनशीलता, (अमः च) न्यायोचित गृह आदि पदार्थ अथवा अपरिमित पदार्थ, (अम्भः च) जल, के

समान शीतलता और समुद्र के समान गम्भीरता (जेमा च) विजयशीलता, (महिमा च) महत्व, (वरिमा च) श्रेष्ठता, अधिक सम्पत्तिशालिता, (प्रथिमा च) विस्तृत गृह, क्षेत्र और राज्य आदि, (वर्षिमा च) ज्ञान, अनुभव, आयु, और पद की वृद्धि, (द्राघिमा च) दीर्घता, अर्थसंततिपरम्परा, (वृद्धं च) बढ़ा हुआ बल और धन, (वृद्धि च) विद्या आदि गुणों की उन्नति, बढ़ोतरी, वे समस्त पदार्थ मेरे (यज्ञेन कल्पताम्) परमेश्वर की कृपा और सत्कर्माचरण रूप यज्ञ से बढ़ें और मुझे प्राप्त हों ।

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ५ ॥

अत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(सत्यं, च) यथार्थ सत्य भाषण, (श्रद्धा च) सत्य धारण, (जगत् च) जगत्, जंगम सम्पत्ति, (धनं च) सुवर्णादि धन, (विश्वं च) समस्त स्थावर पदार्थ, (क्रीडा च) क्रीड़ा, विनोद के साधन, विहार, (मोदः च) आनन्द विनोद से प्राप्त हर्ष, (जातं च) उत्तम पुत्र पौत्रादि, अथवा उत्पन्न कृषि सस्यादि (जनिष्यमाणं च मे) आगे होने वाले समस्त ऐश्वर्य, (सूक्तं च) वेद मन्त्रगण, या उत्तम सुभाषित, (सुकृतं च) पुण्याचरण, ये और इनके साथ की अन्यान्य सम्पदाएं भी (मे) मुझे (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञ, धर्मानुष्ठान और ईश्वर की कृपा से और प्रजा पालन व्यवहार या राज्यवस्था द्वारा प्राप्त हों ।

ऋतं च मेऽमृतं च मे ऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

भा०— (ऋतं च) ऋत, यज्ञ और यथार्थ सत्य ज्ञान, (अमृतं च) अमृत, मोक्ष और यज्ञशेष, (अयक्ष्मं च) यक्ष्म तपेदिक आदि रोगों से रहित, शरीर की स्वस्थता, (अनामयत् च) पीड़ाकारी रोगों का अभाव (जीवातुः च) जीवनप्रद, अन्न और ओषधि आदि, (दीर्घायुत्वं च) दीर्घ आयु, (अनमित्रं च) शत्रु का न होना, (अभयं च) अभय, निर्भयता, (सुखं च) सुख, (शयनं च) सुखपूर्वक निद्रा, (सूषा च) उत्तम उषाकाल, (सुदिनं च) उत्तम दिन, ये सब (मे) मेरे (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञ, राष्ट्र पालन, सुकृत, धर्माचरण और ईश्वरोपासन से प्राप्त हों ।

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ७ ॥

भुरिगतिजगती । निषादः ॥

भा०— (यन्ता च) नियमकर्त्ता, या अश्वादि का नियन्ता, या राष्ट्र को नियम में रखने वाला, और (धर्त्ता च) धारण पोषण करने वाला पुरुष (क्षेमः च) विद्यमान राष्ट्र आदि सम्पदा का संरक्षण, (धृतिः च) धैर्य, आपत्तियों में भी चित्त की स्थिरता, (विश्वं च) समस्त अनुकूल पदार्थ, (महः च) यश, आदर, (संवत् च) उत्तम दृढ़ प्रतिज्ञा, या वेदशास्त्रादि का उत्तम ज्ञान, (ज्ञात्रम्) ज्ञान साधन और उनसे उत्पन्न उत्कृष्ट विज्ञानसामर्थ्य, (सूः च) पुत्र और भृत्यादि को आज्ञा करने का सामर्थ्य और (प्रसूः पुत्र आदि उत्पन्न करने का सामर्थ्य, (सीरं च) कृषि के साधन हल आदि और उनसे अन्न आदि की प्राप्ति, (लयः च) कृषि आदि की बाधाओं का विनाश ये सब (मे) मुझे (यज्ञेन) यज्ञ, धर्मानुष्ठान और प्रजापालन, राष्ट्र व्यवस्था से प्राप्त हों और बढ़ें ।

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च

मे सर्गश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥

भुरिक् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(शं च) कल्याण और (मयः च) सुख, ऐहिक और पारमार्थिक, (प्रियं च) प्रीति के पैदा करने वाला प्रिय पदार्थ और (अनुकामः च) धर्मानुकूल कामना, (कामः च उत्तम स्त्री, पुत्र, धन आदि काम्य एवं ग्राह्य विषयों की अभिलाषा, (सौमनसः च) उत्तम मन की स्थिति, शुभचित्तता, (सगः च) अष्टविध ऐश्वर्य, (द्रविणं च) सुवर्णादि द्रव्य, (भद्रं च) सुखदायी पदार्थ, (श्रेयः) कल्याणकारी मुक्ति का सुख, (वसीयः च) अति अधिक उत्तम धन धान्य समृद्धि, (यशः च) और यश, कीर्त्ति ये समस्त पदार्थ (मे) मुझे (यज्ञेन कल्पन्ताम्) राजा प्रजा के परस्पर संग तथा धर्मानुष्ठान और प्रजापालन आदि सत्कर्म से प्राप्त होकर वृद्धि को प्राप्त हों ।

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मे ऽऔद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(ऊर्क् च) परम रसवाला अन्न, (सूनृता च) उत्तम सत्य ज्ञान वाली वाणी, (पयः च) पुष्टिकारक दूध, (रसः च) सारवान् रस, (घृतं च) घी, (मधु च) मधु, आदि मधुर पदार्थ, (सग्धिः च) समान रूप से एक जैसा देह के अनुकूल, अथवा बन्धु बान्धवों के साथ मिलकर भोजन करना, (सपीतिः च) सब के साथ मिलकर दुग्धादि का पान करना, (कृषिः च) कृषि, खेती बाड़ी, (वृष्टिः च) और कृषि के बढ़ानेवाली वृष्टि, (जैत्रं च) विजय करने का स्वभाव और सामर्थ्य,

(औद्भिद्यं च) पृथिवी को फोड़ कर उत्पन्न होने वाले तरु; लता गुल्म आदि पदार्थों की सम्पत्ति, ये सब पदार्थ (मे) मुझे (यज्ञेन) यज्ञ, प्रजापालन व्यवहार, परमेश्वर की उपासना, आत्मसाधना आदि से (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों और बढ़ें ।

रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मेऽक्षितं च मेऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १० ॥

निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(रयिः च) विद्या और लक्ष्मी, (रायः च) उत्तम ऐश्वर्य, लौकिक मणि, मुक्ता आदि पदार्थ, (पुष्टं च) शरीर का हृष्ट पुष्ट होना और ऐश्वर्य की वृद्धि, (पुष्टिः च) पुष्टि होना, (विभु च) विविध पदार्थों की प्राप्ति, (प्रभु च) सब पर प्रभुता, (पूर्णं च) पूर्णता, धन पुत्र आदि सब से अधिक भरे पूरे रहना, (पूर्णतरं च) और भी अधिक ऐश्वर्य का बढ़ना; (कुयवं च) कुत्सित यव आदि धान्य, क्षुद्र जाति का धान्य, (अक्षितं च) क्षयरहित अन्न, शालि आदि धान्य, (अन्नं च) गेहूं आदि अन्न, (क्षुत् च) भूख का अच्छा लगना और (अक्षुत् च) भोजन द्वारा भूख का न रहना, उसका अन्न द्वारा मिट जाना, ये सब पदार्थ (मे) मुझे (यज्ञेन) यज्ञ, परमेश्वरोपासना, आत्मसाधना और राजा प्रजा के परस्पर संग से प्राप्त हों ।

वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च मेऽऋद्धं च मऽऋद्धिश्च मे कॢप्तं च मे कॢप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ११ ॥

भुरिक् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(वित्तं च) वित्त, पूर्वप्राप्त धन, या सुविचारित तत्त्व,

(वेद्यं च) भविष्य में प्राप्त करने योग्य द्रव्य, अथवा विचार करने योग्य ब्रह्म तत्त्व आदि. (भूतम् च) भूतकाल और (भविष्यत् च) भविष्यत् काल, (सुगं च) उत्तम जाने योग्य मार्ग, और सुन्दर प्रदेश, (सुपथ्यं च) उत्तम मार्गों का होना, (ऋद्धं च) समृद्ध होना, (ऋद्धिः) सम्पत्ति, (क्लृप्तं च) कार्य करने में समर्थ होना, (क्लृप्तिः च) सामर्थ्य, (मतिः च) मनन और (सुमतिः च) शोभन उत्तम मति, मननशक्ति ये सब (यज्ञेन) पूर्वोक्त यज्ञ और आत्मसाधना से (मे) मुझे प्राप्त हों और ये सब भी शक्तिशाली हों ।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥

भुरिगति शक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(व्रीहयः च) धान्य, (यवाः च) जौ, (माषाः च) उड़द, माष, (तिलाः च) तिल, (मुद्गाः च) मूंग, (खल्वाः च) चने, (प्रियंगवः च) प्रियंगु नामक क्षुद्र धान, (अणवः च) छोटा चावल, (श्यामाकाः च) सांवा चावल, (नीवाराः च) नीवार नाम का विना खेती से उपजने वाला धान, (गोधूमाः च) गोहूं और (मसूराः च) मसूर, ये समस्त अन्न की जातियें (मे) मुझे (यज्ञेन कल्पन्ताम्) पूर्वोक्त यज्ञ, राष्ट्रपालन और कृषि से प्राप्त हों ।

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामश्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १३ ॥

भुरिगतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

०'त्रपु च मे श्यामं च मे लोहं च मे यज्ञेन०' इति काण्व० ।

भा०—(अश्मा च) सब प्रकार के पाषाण, (मृत्तिका च) सब प्रकार की मिट्टियें, (गिरयः च) समस्त पर्वत, (सिकताः च) समस्त वालुकामय देश, (वनस्पतयः च) समस्त वनस्पतियां, बड़े २ वृक्षों से घिरे जंगल, (हिरण्यं च) समस्त सुवर्ण, (अयः च) लोहा, (श्यामं च) श्यामलोह, (लोहं च) लाल लोह, (सीसं च) सीसा, और (त्रपु च) त्रपु, टीन आदि ये सब धातुएं भी (यज्ञेन कल्पन्ताम्) राष्ट्र पालन के अधिकार से मुझे प्राप्त हों, मेरे अधिकार में हों ।

अग्निश्च म ऽआपश्च मे वीरुधश्च म ऽओषधयश्च म कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे वित्तञ्च मे वित्तिश्च मे भूतञ्च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १४ ॥

भा०—(अग्निः च) अग्नि, सब प्रकार की अग्नियें, (आपः च) समस्त जल, जलाशय, नदी आदि, (विरुधः) लता गुल्म आदि, (ओषधयः च) ओषधियें, (कृष्टपच्याः च) वे अनाज जो खेती से प्राप्त होते हैं और (अकृष्टपच्याः च) और वे अन्नादि पदार्थ जो विना हल जोते ही भूमि से प्राप्त होते हैं, (ग्राम्याः पशवः) गांव में रहने वाले गौ आदि पशु और (आरण्याः च पशवः) जंगल में रहने वाले हरिण आदि पशु गण और (वित्तम् च) इनसे प्राप्त समस्त धन धान्य और (वित्तिः च) और आगे होने वाली प्राप्ति, (भूतिः च) समस्त ऐश्वर्य, (भूतं च) भूत, नानाविध प्राणिसमूह, ये समस्त पदार्थ (मे) मुझे (यज्ञेन) प्रजापालनरूप कर्त्तव्य अर्थात् राज्य पदाधिकार द्वारा (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों और बढ़ें ।

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १५ ॥

१५—'०अर्थश्चमेधामक्ष्मे' इति काण्व० ।

भा०—(वसु च) समस्त वास योग्य धन या गृहादि, (वसतिः च) वासस्थान, ग्राम आदि (कर्म च) समस्त कर्म, यज्ञ, कूप तड़ाग खोदना, व्यापार आदि, (शक्तिः च) कर्म करने की शक्ति, अधिकार (अर्थः च) समस्तपदार्थ, संग्रह धन और योग्य अधिकार, (एमः च) प्राप्तव्य पदार्थ आयतन, (इत्या च) इष्ट पदार्थ प्राप्त करने का साधन, (गतिः च) गमनसामर्थ्य और क्रिया इत्यादि समस्त पदार्थ (मे) मुझे (यज्ञेन कल्पन्ताम्) राज्यलाभ के साथ ही प्राप्त हों और उनकी वृद्धि हो।

अग्निश्च म ऽइन्द्रश्च मे सोमश्च म ऽइन्द्रश्च मे सविता च म ऽइन्द्रश्च मे सरस्वती च म ऽइन्द्रश्च मे पूषा च म ऽइन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म ऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १६ ॥

मित्रश्च म ऽइन्द्रश्च मे वरुणश्च म ऽइन्द्रश्च मे धाता च म ऽइन्द्रश्च मे त्वष्टा च म ऽइन्द्रश्च मे मरुतश्च म ऽइन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा ऽइन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १७ ॥

पृथिवी च म ऽइन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च म ऽइन्द्रश्च मे द्यौश्च म ऽइन्द्रश्च मे समाश्च म ऽइन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म ऽइन्द्रश्च मे दिशश्च मे इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १८ ॥

शक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(अग्निः च) सूर्य और आग्नेय तत्व (इन्द्रः च) उनका ज्ञाता इन्द्र, (सोमः च इन्द्रः च) सोम, जल तत्व और इन्द्र, उसकी विद्या के रहस्यों का जानने वाला, (सविता च इन्द्रः च) सविता सूर्य या ऐश्वर्यवान् और इन्द्र, सूर्य तत्व का विज्ञाता (सरस्वती च) सरस्वती, वेदवाणी और (इन्द्रः च) उसका ज्ञाता, आचार्य, विद्वान् (पूषा च) सबका पोषण करने वाला अन्न और पशु तथा (इन्द्रः च) उनका ज्ञाता विद्वान् और अधिपति इन्द्र है। (बृहस्पतिः च) बृहस्पति, बृहती

वेद वाणी का पालक विद्वान् ब्राह्मण और (इन्द्रः च) उसके ऐश्वर्यों का भी स्वामी, इन्द्र, ये सब (यज्ञेन) यज्ञ, परस्पर संगति, प्रजा पालन और आत्म-साधना से मेरे (कल्पन्ताम्) राज्य व्यवहार में समर्थ एवं शक्तिशाली हों।

(मित्रः च) मित्र, न्यायाधीश और (इन्द्रः च) उसके ऊपर अधिष्ठित राजा, सभापति, (वरुणः च) दुष्टों का वारण करने वाला अधिकारी, 'वरुण', (इन्द्रः च) उसपर भी अधिष्ठित शत्रुनाशक इन्द्र, (धाता च) राष्ट्र का पोषक 'धाता' और (इन्द्रः च) उसपर भी शासक ऐश्वर्यवान् अन्नपति, इन्द्र, (त्वष्टा च,) शिल्पों का कर्त्ता पुरुष 'त्वष्टा' और (इन्द्रः च) उसका अधिपति व्यवहार कुशल 'इन्द्र', (मरुतः च) वायु के समान वेगवान् योद्धा लोग 'मरुत्-गण' और उनपर अधिपति (इन्द्रः च) इन्द्र सेनापति (विश्वे च देवाः) और समस्त विद्वान् पुरुष और (इन्द्रः च) उनका स्वामी इन्द्र ये सब भी अधिकारीगण और उनका शासक अधिपति (मे यज्ञेन कल्पन्ताम्) मेरे राष्ट्र में परस्पर सुसंगत, सुव्यवस्थित राज्य प्रबन्ध से अधिक पुष्ट और समर्थ हों।

(पृथिवी च इन्द्रः च) पृथिवी और उसका अधिपति अग्नि के समान तेजस्वी इन्द्र, (अन्तरिक्षं च इन्द्र च) अन्तरिक्ष और उसका अधिपति वायु के समान बलशाली इन्द्र, (द्यौः च इन्द्रः च) द्यौ, आकाश, उस विस्तृत राजसभा में सूर्य के समान तेजस्वी अधिकारी इन्द्र। (समाः च इन्द्रः च) वर्ष और उनका शासक सूर्य के समान तेजस्वी 'इन्द्र', (नक्षत्राणि च) नक्षत्र और उनके बीच में (इन्द्रः च) चन्द्र के समान ऐश्वर्यवान् 'इन्द्र', (दिशः च इन्द्रः च) दिशाएं और उनके बीच में विराजने वाले आकाश के समान व्यापक बलवान् राजा 'इन्द्र', ये सब (मे यज्ञेन कल्पन्ताम्) मेरे यज्ञ, उत्तम राज्यप्रबन्ध से अधिक समर्थ हों।

अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती, पूषा, बृहस्पति, मित्र, वरुण, धाता,

त्वष्टा, मरुत्, विश्वेदेव ये राष्ट्र के भिन्न २ विभागों के पदाधिकारी हैं। ये विभाग स्वतन्त्र होकर भी इनमें से प्रत्येक के साथ मुख्य अधिकारी या राजा का समान रूप से शासन है। इसलिये प्रत्येक के साथ 'इन्द्र' का सम्बन्ध रखा है। पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सभा, नक्षत्र और दिशा, ये भी गुणवाद से राजा के ही भिन्न २ अधिकार क्षेत्र हैं। तदनुसार ये भी अधिकार हैं, उनको भी 'इन्द्र' नाम मुख्य राजा के आधीन रहकर संगठित होना चाहिये। तभी ये अधिक दृढ़ होते हैं।

अध्यात्म में—अग्नि जाठराग्नि, सोम वीर्य, सविता चक्षु, सरस्वती वाणी, पूषा उदर और बृहस्पति मन है। मित्र प्राण, वरुण उदान, धाता मन, त्वष्टा आत्मा, मरुद्गण धनञ्जय आदि या इन्द्रियगण हैं, पृथ्वी चरण, अन्तरिक्ष मध्यभाग, द्यौः शिर, सभाः पूर्ण आयु के वर्ष, नक्षत्र लोम, दिशाएं श्रोत्र, ये सब इन्द्र नाम मुख्य आत्मा के साथ सम्बद्ध हैं। इन सब में इन्द्र की शक्ति है यह यज्ञ से और भी दृढ़ और समर्थ हों।

अꣳशुश्च मे रश्मिश्च मे ऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च ऽम उपाꣳशुश्च मेऽन्तर्यामश्चं म ऽऐन्द्रवायवश्चं मे मैत्रावरुणश्चं म आश्विनश्चं मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्चं मे मन्थी चं मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१९॥

निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०— (अंशुः च) अंशु, सूर्य और उसके समान तेजस्वी अधिकारी पुरुष, (रश्मिः च) रश्मि, सूर्य की किरण के समान उपभोग्य पदार्थों का संग्रहकारी पुरुष, (अदाभ्यः च) विनाशरहित 'अदाभ्य' नामक राज्य विभाग, (अधिपतिः) अधिपति, अधिष्ठाता, पूर्वोक्त 'निग्राह्य' नामक राज्य विभाग, (उपांशुः च) उपांशु नामक राज्यांग, (अन्तर्यामः च) अन्तर्याम, (ऐन्द्रवायवः च) इन्द्र और वायु का सम्मिलित पद (मैत्रावरुणः च) मित्र और सम्मिलित पदाधिकारी, (आश्विनः च) आश्विन नामक अधिकारी, (प्रतिप्रस्थानः च) शत्रु के प्रति चढ़ाई करने वाला अधिकारी, (शुक्रः च

मन्थी च) शुक्र और मन्थी सब राज्याधिकारी और राज्यांग (मे) मेरे (यज्ञेन) यज्ञ, राष्ट्रव्यवस्था के द्वारा (कल्पन्ताम्) अधिक समर्थ हों 'अंशु' का वर्णन देखो अ० ७ । १ ॥ अ० ७ । २ । २ ॥

अन्तर्याम—अ० ७ । ४ ॥ ऐन्द्रवायवः । अ० ७ । ८ ॥ मैत्रावरुण । अ० ७ । ६ ॥ ७ । २३ ॥ आश्विन । अ० ७ । ११ ॥ शुक्र । अ० ७।१२॥ मन्थी अ० ७ । १६ ॥

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च म ऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

भा०—(आग्रयणः च) आग्रयण, (वैश्वदेवः च) वैश्वदेव, (ध्रुवः च) ध्रुव, (वैश्वानरः च) वैश्वानर और (इन्द्राग्नः च) इन्द्र-अग्नि का पद, (महा वैश्वदेवः च) महावैश्वदेव, (मरुत्वतीयाः च) मरुत्वतीय, (निष्कैवल्यः च) निष्कैवल्य, मोक्षोपदेश (सावित्रः च) सावित्र (सारस्वतः च) सारस्वत, (पात्नीवतः च) पात्नीवत और (हारियोजनः च) हारियोजन ये समस्त राज्यांग और अधिकार (मे) मेरे (यज्ञेन कल्पन्ताम्) परस्पर की संगठित व्यवस्था से अधिक बलवान् हों ।

आग्रयण, अ० ७ । १६-२० ॥ वैश्वदेव, अ० ७ । २१-२२ ॥ ध्रुव, अ० ७ । २४-२५ ॥ वैश्वानर, अ० ७ । ३३-३४ ॥ ऐन्द्राग्न, अ०७।३२ ॥ मारुत्वतीय, अ० ७ । ३५-३८ ॥ महावैश्वदेव, अ० ७ । ३६-४० ॥ सावित्र, अ० ८ । ७ ॥ पात्नीवत, अ० ८ । ६-१० ॥ हारियोजन, अ० ८।११,

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च मे

वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २१ ॥

भा०—(स्रुचः च) स्रुच् स्रुवा, जुहू आदि, (चमसाः च) चमस आदि यज्ञ पात्र, (वायव्यानि च) वायव्य आदि पात्र, (द्रोणकलशः च) द्रोणकलश, सोमधारण के लिये कलश । (ग्रावाणः च) शिला, शिल वट्टा आदि सोम या अन्न कूटने के पाषाण, (अधिषवणे च) कुटे हुए सोम या अन्न रखने के फलक, (पूतभृत् च आधवनीयः च) पूतभृत् और आधवनीय नामक सोम या अन्न रखने के दो पात्र (वेदिः च) वेदि, (बर्हिः च) बर्हि, आसन, या दर्भ, (अवभृथः च) यज्ञान्त स्नान, (स्वगाकारः) स्वयं गान करने योग्य शंयुवाक नामक स्वस्तिवाचनकर्त्ता, ये सब (मे) मेरे (यज्ञेन कल्पन्ताम्) यज्ञ द्वारा सिद्ध एवं उत्तम फल देने में समर्थ हों ।

राष्ट्रपक्ष में—(१) 'स्रुचः' गौर्वै स्रुक् । श० ६ । ३ । १ । ८ ॥ इमे वै लोकाः स्रुचः । तै० ३ । ३ । १ । २ ॥ बाहू वै स्रुचौ । श० ७ । ४ । १ । ३६ ॥ योषा वै स्रुक् वृषा स्रुचः । श० १ । ३ । १ ॥ गवादि पशु, समस्त लोक, बाहुएं, वीर पुरुष, स्त्रियां और पुरुषगण ये सब, 'स्रुच्' कहाते हैं ।

(२) 'चमसाः'—१३ पात्र, 'राज्याङ्ग' नाना विभाग । देखो अ० ७ ॥ ३ ॥ 'वायव्यानि'—कति पात्राणि यज्ञं वहन्ति इति त्रयोदशेति ब्रयात् । प्रजापतिः प्राणापानाभ्यामेवोपांशवन्तर्यामौ निरमिमीत । व्यानादुपांशुसवनम् । वाचः एन्द्रवायवं, दक्षक्रतुभ्यां मैत्रावरुणं श्रोत्रादाश्विनम् । चक्षुषः शुक्रामन्थिनौ, आत्मनः आग्रयणम् । अङ्गेभ्यः उक्थ्यं । आयुषो ध्रुवम् । प्रतिष्ठाया ऋतुपात्रं । अथवा यजु० अ० ७ । २७, २८ ॥

अर्थात् यज्ञ में आग्रयण आदि ग्रह । राज्य में आग्रयण आदि राज्याङ्ग,

---

२१—०'स्वगाकारश्चमेऽवभृथश्चमे०' इति काण्व०' ।

और देह में प्राण, त्वक्, दक्ष क्रतु, श्रोत्र, चक्षु, आत्मा, अन्य अङ्ग, आयु और प्रतिष्ठा ये 'चमस' कहाते हैं। संवत्सररूप प्रजापति के १३ मास चमस हैं।

यज्ञपात्रों में—द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पंचाग्निहोत्रहवणी च। स्फ्यं च कपालानि च। शम्यां च कृष्णाजिनं च। उलूखलमुसले। दृषदुपले। तत् दश।' शूर्प आदि दश पात्र हैं। शरीर में दश प्राण के समान हैं।

(३) 'वायव्यानि'—शरीर में प्राणादि के समान राष्ट्र में अन्यान्य विभाग, यजु अ० ७। २७, २८॥ अथवा सोम के छानने के पात्र और दशा पवित्र आदि। 'सम्भ्रियमाणो वायुः पूयमानः' इत्यादि, यजु० ८।५६॥

(४) 'द्रोणकलश'—यज्ञ में सोमकलश। और राजा के पक्ष में राष्ट्र या स्वयं राजा। देवपात्रं द्रोणकलशः। तां० ६।५।७॥ प्रजापतिर्वै द्रोणकलशः। श० ४।३।७।६॥ यज्ञो वै द्रोणकलशः। श० ४।५।८।५॥ राष्ट्रं द्रोणकलशः। ता० ६।६।१॥ प्राणो वै द्रोणकलशः। तां० ६।६।३३॥

(५) 'आवाणः'—प्राणा वै आवाणः। श० १४।२।२।३३॥ पशवो वै आवाणः। ता० ६।६।३३॥ विड् वै आवाणः। श७ ३।६।३।३॥ विद्वांसो वै आवाणः। श० ३।६।३।१४॥ शरीर में प्राणगण, राज्य में पशु, प्रजागण और विद्वान् लोग 'आवा' है।

(६) 'अधिषवणे'—सोम को उत्पादक शिलाफलकों के समान परस्पर मिलकर राज्य के उत्पादक राजा और प्रजा। पुत्र के उत्पादक माता और पिता।

(७) 'पूतभृत्' वैश्वदेवौ वै पूतभृत्। श०। ७।४।१।१२॥

(८) वेदिः पृथ्वी।

(९) अवभृथः—वरुणस्य पुत्रो वा भ्राता वा। श० १२।६।२।४॥

समुद्रो वा अवभृथः । वै० २ । १ । ५ । २ ॥ राष्ट्र का उत्तम पालन-कर्त्ता अवभृथ है । देखो यजु० अ० ७ । ५६ ॥ समुद्र के समान पृथ्वी को घेर कर उसका पालक पोषक । 'सन्नः सिन्धुरवभृथायोद्यतः ।'

(१०) 'स्वगाकारः'—संवत्सरः स्वगाकारः । तै० २ । १ । ५ । २ ॥ राष्ट्र के समस्त ऐश्वर्य को सूर्य के समान दौरा लगाकर अपनानेवाला राजा।

अग्निश्च मे घर्मश्च मेऽर्कश्च मे सूर्यश्च मे प्राणश्च मेऽश्वमेधश्च मे पृथिवी च मेऽदितिश्च मे दितिश्च मे द्यौश्च मेऽङ्गुलयः शक्वरीर्यो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २२ ॥

भा०—(अग्निः च) अग्नि अग्रणी और ज्ञानी नेता पुरुष और अग्निष्टोम यज्ञ, (घर्मः च) तेज, प्रताप घर्म नामक प्रवर्ग्य इष्टि, (अर्कः च) अर्चना योग्य सामग्री, अर्चनीय पुरुष और याग, (सूर्यः च) प्राण, (अश्वमेधः च) अश्वमेध यज्ञ और राष्ट्र (पृथिवी च) पृथिवी, (अदितिः च) अखण्ड राजनीति (दितिः च) विभक्त भूमि अथवा शत्रु को खण्ड २ करनेवाली शक्ति, (द्यौः च) द्यौः, धर्म की प्रकाशक राजसभा, (अङ्गुलयः) अङ्गुलियों के समान पर-राष्ट्र को पकड़ने और वश करने वाली अग्रगामिनी सेनाएं, अथवा राष्ट्र के अङ्ग, (शक्वरयः) शक्तिशाली सेनाएं, (दिशः च) दिशाएं, और उनमें रहने वाली प्रजाएं, ये सब (मे) मेरी (यज्ञेन) परस्पर मेल और यज्ञ, राष्ट्रपालन द्वारा (कल्पन्ताम्) और अधिक उन्नत और समर्थ हों । शत० ६ । ३ । ३ । १ ॥

व्रतञ्च म ऽऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च मेऽहोरात्रे ऽऊर्वष्ठीवे बृहद्रन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २३ ॥

पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(व्रतं च) सत्य, अहिंसा आदि यम नियम का पालन,

२३—०'संवत्सरश्च मे तपश्च मे' इति काण्व० ॥

(ऋतवः च) वसन्त आदि ऋतु, (तपः च) ब्रह्मचर्य, प्राणायाम, स्वाध्याय आदि तपस्या, (संवत्सरः च) १२ मासों से परिमित वर्ष, (अहोरात्रे च) दिन और रात, (उरु-अष्ठीवे च) जंघाएं और गो तथा उनके समान प्रबल वैश्य वर्ग, (बृहत्-रथन्तरे च) बृहत् साम तथा विशाल क्षात्र-बल और रथन्तर साम अर्थात् ब्राह्मण-गण ये सब (मे) मेरे (यज्ञेन) यज्ञ, परस्पर मेल, एवं राष्ट्र पालन द्वारा (कल्पन्ताम्) अधिक समर्थ हों ।

[1] एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च म पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च म ऽएकादश च म ऽएकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म [2] ऽएकविꣳशतिश्च म ऽएकविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च म ऽएकत्रिꣳशच्च म ऽएकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २४ ॥

(१) संकृतिः । (२) विराट् संकृतिः । गान्धारः ॥

भा०—(एका च) एक, (तिस्रः च तिस्रः च) तीन और तीन, (पञ्च च पञ्च च) पांच और पांच, (सप्त च सप्त च) सात और सात, (नव च नव च) नौ और नौ, (एकादश च एकादश च) ग्यारह और ग्यारह, (त्रयोदश च त्रयोदश च) तेरह और तेरह, (पञ्चदश च पञ्चदश च) पन्द्रह और पन्द्रह, (सप्तदश च सप्तदश च) सत्रह, और सत्रह (नवदश च नवदश च) उन्नीस और उन्नीस, (एकविंशतिः च एकविंशतिः च) इक्कीस और इक्कीस, (त्रयोविंशतिः च त्रयोविंशतिः च) तेईस और तेईस, (पञ्चविंशतिः च पञ्चविंशतिः च) पचीस और पच्चीस, (सप्तविंशतिः

च सप्तविंशतिः च) सत्ताईस और सत्ताईस, (नवविंशतिः च नवविंशतिः च) उनतीस और उनतीस, (एकत्रिंशत् च एकत्रिंशत् च) इकतीस और इकतीस और (त्रयः त्रिंशत् च) तेतीस इस क्रम से (मे) मेरी सेनाएं व्यूह बना कर (यज्ञेन) परस्पर के मेल द्वारा (कल्पन्ताम्) अधिक समर्थ हों ।

१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९, ३१, ३३ ये अयुग्म स्तोम या अयुग्म राशियें कहाती हैं। इन इन संख्या में सेनाओं और सैनिक संघों को चला कर उत्तम राष्ट्र रूप स्वर्ग को विद्वान् लोग प्राप्त होते हैं। व्यूह में ओर छोर के छोड़ने से दो २ की क्रमशः वृद्धि और न्यूनता होनी सम्भव है ।

```
        १                                  १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११
      १ २ ३                                  १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
    १ २ ३ ४ ५          अथवा                   १ २ ३ ४ ५ ६ ७
  १ २ ३ ४ ५ ६ ७                                 १ २ ३ ४ ५
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९                                 १ २ ३
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११                            १
```

इसी प्रकार दो दो के जोड़ने से संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि और दो २ के घटाने से संख्या की न्यूनता करनी चाहिये । व्यूहों में भी एक २, तीन तीन, पांच पांच सात सात की पंक्ति बना कर चलने का भी उपदेश है ।

अथवा यजुर्वेद अ० १४ म० २८ से ३१ तक १, ३, ५, ७ आदि क्रम से बढ़ती राज्य-शक्तियों का वर्णन है वे सब राज्य की भिन्न २ शक्तियां मेरी परस्पर संग-लाभ द्वारा अधिक बलवान् बनें । उनका विवरण देखो यजुर्वेद अ० २४ । म० २८-३१-तक ।

चतस्रश्चं मेऽष्टौ चं मेऽष्टौ चं मे द्वादंश च मे द्वादंश च मे षोडंश च मे षोडंश च मे विंशतिश्चं मे विंशतिश्चं मे चतु-

विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मेऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मेऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २५ ॥

भा०—(चतस्रः च) चार, (अष्टौ च अष्टौ च) आठ और आठ, (द्वादश च द्वादश च) बारह और बारह, (षोडश च षोडश च) सोलह और सोलह, (विंशतिः च विंशतिः च) बीस और बीस, (चतुर्विंशतिः च चतुर्विंशतिः च) चौबीस और चौबीस, (अष्टाविंशतिः च अष्टाविंशतिः च) अट्ठाईस और अट्ठाईस, (द्वात्रिंशत् च द्वात्रिंशत् च) बत्तीस और बत्तीस, (षट्त्रिंशत् च षट्त्रिंशत् च) छत्तीस और छत्तीस, (चत्वारिंशत् च चत्वारिंशत् च) चालीस और चालीस, (चतुश्चत्वारिंशत् च चतुश्चत्वारिंशत् च) चवालीस और चवालीस, (अष्टाचत्वारिंशत् च अष्टाचत्वारिंशत् च) अड़तालीस और अड़तालीस के सेनाओं के व्यूह (मे यज्ञेन कल्पन्ताम्) मेरे यज्ञ परस्पर मेल, संयोग द्वारा अधिक बलवान् हों।

१ + १ = २, १ + २ = ३, ३ + २ = ५, ५ + २ = ७ इत्यादि। ३ + ५ = ८, ५ + ७ = १२, ७ + ९ = १६, ९ + ११ = २०, ११ + १३ = २४

इस प्रकार अयुग्म संख्याओं के योग से युग्म संख्याओं की निष्पत्ति होती है।

त्र्यविंश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविंश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

पष्ठवाट् च मे पष्ठौही च मे उक्षा च मे वशा च मे ऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २७ ॥

(२६) त्र्याही बृहती । मध्यमः । (२७) भुरिगार्षी पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—(त्र्यविः च त्र्यविः च) तीन छमाही वाले बैल और गाय, (दित्यवाट् च दित्यौही च) दो वर्ष के बैल और गाय, (पञ्चाविः च पञ्चावी च) पांच छमाही अढ़ाई वर्ष के बैल और गाय, (त्रिवत्सः च त्रिवत्सा च) तीन वर्ष के बैल और गाय, (तुर्यवाट् च तुर्यौही च) चार वर्ष के बैल और गाय (मे यज्ञेन कल्पन्ताम्) उक्त यज्ञ, प्रजापालन द्वारा मुझे प्राप्त हों और वे हृष्ट पुष्ट हों।

(पष्ठवाट् च पष्ठौही च) पीठ से बोझा उठाने वाले बैल, हाथी, गधा, घोड़ा आदि नर और मादा जन्तु, (उक्षा च वशा च) वीर्य सेचन में समर्थ बैल और वीर्य धारण में समर्थ गौएं। इसी प्रकार 'वशा' वन्ध्या गौ, और बांझ किये हुए बैल, (ऋषभः च) बलवान् बैल, (वेहत् च) गर्भवातिनी गौ, (अनड्वान् च) शकट में लगनेवाला बैल और (धेनुः च) दुधार गौ, ये सब प्रकार के पशु (मे) मुझे (यज्ञेन) यज्ञ या राष्ट्र पालन द्वारा (कल्पन्ताम्) खूब संख्या में प्राप्त हों।

' वाजाय॒ स्वाहा॑ प्रस॒वाय॒ स्वाहा॑ अ॒पिजा॑य॒ स्वाहा॒ क्रतवे॒ स्वाहा॒ वस॑वे॒ स्वाहा॑ऽहर्प॒तये॒ स्वाहा॒ रुद्रं॑ मन्यु॒मते॒ स्वाहा॑ मन्यु॒पत॑ये॒ स्वाहा॑ दी॒क्षायै॒ स्वाहा॑ तपसे॒ स्वाहा॑ऽहं॒पत॑ये॒ स्वाहा॑ ह॒रसे॒ स्वाहा॑ शोचिषे॒ स्वाहा॑ऽऽक्रन्दा॒यन॑ाय॒ स्वाहा॑ प्रतू॒र्वते॒ स्वाहा॑ मुहू॒र्ताय॒ स्वाहा॑ मुहू॒र्तपत॑ये॒ स्वाहा॑ व्र॒जाय॒ स्वाहा॑ व्र॒जप॑तये॒ स्वाहा॑ गो॒ष्ठाय॒ स्वाहा॑ गो॒ष्ठप॑तये॒ स्वाहा॑ नि॒वेश॑नाय॒ स्वाहा॑ नि॒वेश॑नपतये॒ स्वाहा॑ वस्त॒वे स्वाहा॑ऽहर्प॒तये॒ स्वाहा॑ऽह्ने मुग्धा॒य॒ स्वाहा॑ मुग्धा॒याय॑ वैनं॑शिनाय॒ स्वाहा॑ विनꣳशिन॑ऽआन्त्याय॒नाय॒ स्वाहा॑न्त्याय भौव॒नाय॒ स्वाहा॑ भुवनस्य॒ पत॑ये॒ स्वाहा॒धिप॑तये॒ स्वाहा॑ प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑।[२] इ॒यं ते॑ राण्मि॒त्राय॑ यन्ता॒सि॒ यम॑न॒ ऊर्जे॑ त्वा वृ॒ष्ट्यै॑ त्वा प्र॒जाना॑ं त्वाधि॒पत्या॑य ॥ २८ ॥

(१) निचृदति शक्वरी । पंचमः । (२) आर्ची बृहती । ऋषभः ॥

भा०—(वाजाय स्वाहा) वाज अर्थात् संग्राम की उत्तम शिक्षा हो। अन्न प्राप्ति कराने वाले चैत्र के समान प्रजा में अन्न की प्राप्ति वृद्धि, कराने वाले शासक की उत्तम कीर्त्ति हो। (प्रसवाय) ऐश्वर्य और प्रजोत्पादन के लिये स्वाहा उत्तम पुरुषार्थ, सत् शिक्षा हो। प्रसव अर्थात् वैशाख

के समान प्रचण्ड सूर्य से युक्त मास के समान अधिक तेजस्वी पुरुष को (स्वाहा) उत्तम यश और मानपद प्राप्त हो। (अपिजाय) उत्तम बुद्धि और ज्ञान में प्रसिद्ध होने के लिये (स्वाहा) उत्तम शिक्षा हो। (अपिजाय) ज्येष्ठ जिस प्रकार जल की अभिलाषा अधिक उत्पन्न करता है उसी प्रकार ज्ञान में लोगों की प्रवृत्ति कराने वाले पुरुष का उत्तम यश हो। (क्रतवे स्वाहा) उत्तम विज्ञान और कर्म की उत्तम शिक्षा और अभ्यास हो। योगादि से युक्त आषाढ़ मास के समान उत्तम कर्म और ज्ञान में प्रवृत्त कराने वाले पुरुष को उत्तम आदर और यश हो। (वसवे स्वाहा) वसु, ऐश्वर्य प्राप्ति के लिये उत्तम धन प्राप्त करने की शिक्षा हो। वसु अर्थात् आवरण के समान प्राणियों को अन्न धन देकर बसाने वाले पुरुष या राजा का उत्तम आदर और यश हो। (अहर्पतये स्वाहा) दिनों के पालक, कालवित् पुरुष बनने की उत्तम शिक्षा हो। अथवा 'अहः पति' दिन के स्वामी सूर्य के समान तापकारी भाद्रपद के समान शत्रुओं को संताप देने वाले पुरुष अथवा दिन के पति सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष का उत्तम आदर और यश हो। (अन्हे मुग्धाय स्वाहा) मेघ या कुहरे से आवृत दिन के समान अज्ञान मोह से घिरे ज्ञानी पुरुष को भी (स्वाहा) उत्तम वैराग्य की शिक्षा हो। मेघ से आवृत दिन के समान, मेघावृत आश्विन मास के समान रजोविलास में अचेत हुए पुरुष के लिये (सु-आहा) उत्तम शिक्षा हो। (मुग्धाय वैनं-शिनाय स्वाहा) मोह में प्राप्त होकर विनष्ट होने वाले पुरुष को भी उत्तम शिक्षा प्राप्त हो। कार्त्तिक मास के समान शीघ्र नाशवान् पदार्थों वा आचरणों में लिप्त पुरुष को उत्तम शिक्षा प्राप्त हो। (विनंशिने आन्त्यायनाय स्वाहा) विविध प्रकार से विनाश को प्राप्त होने वाले या राष्ट्र को विनाश करने पर तुले हुए 'आन्त्यायन' अर्थात् अन्तिम, चरम, नीचतम कोटि तक पहुंचे हुए राजा को भी (स्वाहा) उत्तम शिक्षा प्राप्त हो। मार्गशीर्ष मास के समान शीत हिम द्वारा सबके विनाशक और सबके अन्त में स्वयं शेष रहजाने वाले

सर्वसंहारक पुरुष का उत्तम यश हो। (आन्त्याय भौवनाय स्वाहा) सबसे अन्त में होने वाले, सर्वोच्च, परम भुवनों में व्यापक लोकपति को सब भुवनों के पालन के ज्ञान का उपदेश हो। भौवन अर्थात् जाठराग्नि को दीपन करके पुष्टिकारी प्राणियों के पोषक पौष के समान प्रजाओं को पुष्ट करने वाले पुरुष का उत्तम यश हो। (भुवनस्य पतये स्वाहा) भुवन समस्त प्राणियों के पालक को उत्तम शिक्षा हो। माघ के समान सबके पालक पुरुष का उत्तम आदर हो। (अधिपतये स्वाहा) सब के अधिपति को भी उसके पद के योग्य शिक्षा हो। इसी प्रकार फाल्गुन मास के समान अन्नादि द्वारा सुख कर पुरुष को उत्तम आदर मान प्राप्त हो। (प्रजापतये स्वाहा) प्रजा के पालक पुरुष को राज धर्म की उत्तम शिक्षा प्राप्त हो। द्वादश मासों के ऊपर संवत्सर रूप से विराजमान संवत्सर के समान समस्त प्रजाओं को अपने उक्त बारहों रूपों में प्रजा के पालक राजा को उत्तम मान, यश प्राप्त हो।

इन शब्दों पर विशेष विवरण देखो यजुर्वेद अ० ६। मं० २०॥ सूर्य के जिस प्रकार १२ मास हैं और वे सूर्य के १२ रूप हैं उसी प्रकार संवत्सर तेजस्वी राजा के १२ रूप, तदनुसार उसके १२ नाम हैं।

(अमुग्धाय वैनंशिने) और (अविनंशिने आन्त्यायनाय) ये दो महीधरसम्मत पदच्छेद हैं जो अ० ६। २० में आये पदों के ऊपर उसके अपने ही किये व्याख्यान से विरुद्ध हैं इसलिये असंगत हैं।

(इयं ते राट्) हे राजन्! यह तेरी राजशक्ति या राज्य है। तू (मित्राय) अपने मित्र राजाओं को भी (यन्ता असि) अपने वश में करने वाला है, इससे तू (यमनः) 'यमन', सर्वनियामक है। (ऊर्जे त्वा) परम अन्नादि पोषक पदार्थों की रक्षा के लिये (वृष्ट्यै त्वा) प्रजा पर सुखों की वर्षा के लिये और (प्रजानां आधिपत्याय) प्रजाओं पर आधिपत्य या राज्य करने के लिये (त्वा) तुझे स्थापित करता हूं।

[1] आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पता-
ꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पता-
मात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पता-ꣳ
स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् ।
[2] स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरञ्च । स्वर्देवा
ऽअगन्मामृता ऽअभूम प्रजापतेः प्रजा ऽअभूम वेट् स्वाहा ॥२९॥

(१) स्वराड् विकृतिः । पंचमः । (२) ब्राह्मी उष्णिक् ऋषभः ॥

भा०—(आयुः) आयु, दीर्घ जीवन, (चक्षुः) आंख, दर्शनशक्ति (श्रोत्रं) कान, श्रवणशक्ति, (वाग्) वाणी, भाषणशक्ति, (मनः) मन, मननशक्ति, (आत्मा) आत्मा, देह में व्यापक धारणशक्ति, (ब्रह्मा) चारों वेदों का विद्वान् अथवा देह में अन्तःकरण चतुष्टय, (ज्योतिः) प्रकाश, स्वयंप्रकाश परमात्मा और विद्याप्रकाश, (स्वः) परम सुख, आनन्दमय मोक्ष, (पृष्ठं) ज्ञान करने की इच्छा, पालनशक्ति, सर्वाश्रयता अथवा सर्वोपरि मोक्ष, (यज्ञः) उपास्य देव और उपासनादि धर्माचरण, (स्तोमः च) स्तुति के मन्त्र अथर्ववेद (यजुः च) यजुर्वेद (ऋक् च) ऋग्वेद, (साम च) सामवेद (बृहत् च रथन्तरं च) बृहत् और रथन्तर नामक साम विशेष ये समस्त ज्ञान (यज्ञेन) योग-साधन, सत्संग, धर्मानुष्ठान, देवोपासना आदि से (कल्पताम्) सिद्ध और फलप्रद हों । हम (देवाः) देव, विजयी, ज्ञानवान् होकर (स्वः) परम मोक्ष एवं सुखमय राज्य को (अगन्म) प्राप्त हों । हम (अमृताः) अमृत, मोक्ष सुख को प्राप्त एवं दीर्घायु (अभूम) हों (प्रजापतेः प्रजाः अभूम) प्रजा के पालक परमेश्वर और उत्तम राजा की प्रजा बन कर रहें । (वेट्) उत्तम सत्कर्मानुष्ठान द्वारा

२९—०मात्मायज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां ब्रह्म यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पताम् । इति काण्व० ॥

(स्वाहा) उत्तम यश और मान आदर को प्राप्त करें। विशेष विवरण देखो यजुर्वेद अ० ६ । २१ । २२ ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्यां नो देवः सविता धर्म्म सावित्वपत् ॥ २० ॥

व्याख्या देखो अ० ६ । म० ५ ॥

विश्वे ऽअद्य मरुतो विश्व ऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा ऽअवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो ऽअस्मे २१

लुशो धानाक ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०— (अद्य) आज (विश्वे मरुतः) समस्त विद्वानगण, प्रजाजन और सैनिक पुरुष (आ गमन्तु) इस राष्ट्र में मुझे प्राप्त हों, मेरे समीप आवें। (विश्वे) और सभी जन (ऊती) अपनी रक्षा और सामर्थ्य सहित आवें। (विश्वे अग्नयः) समस्त ज्ञानी, शत्रुसंतापक एवं अग्रणी नेता पुरुष (समिद्धाः) अग्नियों के समान प्रदीप्त, तेजस्वी होकर (भवन्तु) रहें। (विश्वे देवाः) समस्त दानशील और ज्ञानदृष्टा और विजयेच्छु पुरुष (अवसा) अपने ज्ञान और पालन सामर्थ्य से (आगमन्तु) प्राप्त हों। और (विश्वम्) समस्त (द्रविणम्) ऐश्वर्य और (वाजः) अन्न (अस्मे) हमारे उपभोग के लिये (अस्तु) हो।

वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा परावतः ।
वाजो नो विश्वैर्देवैर्धनसाताविहावतु ॥ २२ ॥

वाजो, अन्नं देवता । निचृदार्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(नः) हमारा (वाजः) अन्न, ज्ञान, ऐश्वर्य और पराक्रम (सप्त) सातों (प्रदिशः) प्रदेशों अर्थात् लोकों और (परावतः) दूर दूर

२३—'०धनसाता इहावतु' इति काण्व०।

२४—'सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम्' इति काण्व०।

तक फैली (चतस्रः प्रदिशः) चारों दिशाओं को प्राप्त हो (नः वाजः) हमारा ऐश्वर्य और पराक्रम (धनसातौ) धन, ऐश्वर्य के विभाग और प्राप्त करने में (इह) इस राष्ट्र में भी (विश्वैः देवैः सह) समस्त विद्वानों, शासकों, और दानशील या विजयी पुरुषों द्वारा (अवतु । हमारी रक्षा करे ।

वाजो नो ऽअद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवाँ२ऽ ऋतुभिः कल्पयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं जजान विश्वा ऽआशा वाजपतिर्जयेयम् ॥३३॥

वाजपतिर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वाजः) अन्नादि ऐश्वर्य और पराक्रम ही (नः) हमारी (अद्य) अब (दानं) दानशक्ति को (प्रसुवाति) उत्पन्न करे और बढ़ावे । (वाजः) वह अन्नादि ऐश्वर्य और पराक्रम ही (देवान्) देव, विद्वान् और विजयी पुरुषों को (ऋतुभिः) ऋतुओं के अनुसार (कल्पयाति) हृष्ट पुष्ट और कार्य करने में अधिक समर्थ बनावे । (वाजः) अन्नादि ऐश्वर्य ही (मा) मुझ को (सर्ववीरं) समस्त वीर पुरुषों से युक्त, समस्त वीर्यवान् पुत्रों और समर्थ प्राणों से युक्त (जजान) करे है । मैं (वाजपतिः) उस अन्न और बल का पालक, स्वामी होकर ही (विश्वा आशाः जयेयम्) समस्त कामनाओं और दिशाओं का विजय करूं ।

वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान् हविषा वर्धयाति ।
वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा ऽआशा वाजपतिर्भवेयम् ॥३४॥

वाजपतिर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वाजः) ऐश्वर्य और पराक्रम (नः) हमारे (पुरस्तात्) आगे, (उत मध्यतः) और बीच में भी रहे । (वाजः) वह ऐश्वर्य और पराक्रम ही (देवान्) देव, विद्वानों और विजयी पुरुषों और दानशील

३४—'विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम् । इति काण्व० ॥

पुरुषों को (हविषा) अन्नादि समृद्धि से (वर्धयाति) बढ़ाता है। (वाजः हि · वह ऐश्वर्य ही (मा सर्ववीरं चकार) मुझे सब वीर सैनिकों, पुत्रों और प्राणों से युक्त करता है। मैं (वाजपतिः) उस ऐश्वर्य का स्वामी होकर (सर्वाः आशाः) सब अभिलाषाओं और दिशाओं पर (भवेयम्) प्रभु हो जाऊं।

सं मा सृजामि पयसा पृथिव्याः सं मा सृजाम्यद्भिरोषधीभिः।
सोऽहं वाजꣳ सनेयमग्ने॥ ३५॥

अग्निर्देवता। स्वराडार्ष्यनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन्! अग्रणी! विद्वन्! राजन्! मैं (मा) अपने को (पृथिव्याः पयसा) पृथिवी के पुष्टिकारक रस से (सं सृजामि) युक्त करूं। और (मा) अपने को (ओषधीभिः) ओषधियों द्वारा भी (संसृजामि) युक्त करूं। (सः अहं) वह मैं (वाजं) नानाविध अन्न ऐश्वर्य का इस प्रकार (सनेयम्) उत्तम रीति से सेवन करूं।

पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम्॥ ३६॥

ऋष्यादि पूर्ववत्।

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! सूर्य! तेजस्विन्! परमेश्वर! विद्वन्! तू (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ओषधीषु) ओषधियों में (दिवि) द्यौलोक, आकाश या सूर्य प्रकाश में और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष वायु या जल में (पयः) पुष्टिकारक रस को (धाः) स्थापित कर। (प्रदिशः) समस्त दिशाएं (मह्यम्) मेरे लिये (पयस्वतीः) पुष्टिकारक रस से पूर्ण (सन्तु) हों।

विद्वान् लोग भी पृथिवी, ओषधिगण, सूर्य और वायु सब में से पुष्टिकारक रस या सार पदार्थ को ग्रहण करने का यत्न करें। इस प्रकार मैं राजा एवं प्रजाजन समस्त दिशाओं से अन्न आदि रस ग्रहण करें।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रेणाग्नेः साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥ ३७ ॥

भा० – हे राजन्! (सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) शासन और ऐश्वर्य में और (अश्विनोः बाहुभ्याम्) सूर्य चन्द्रमा दोनों के प्रताप और शीतलता, प्रचण्डता और सौम्य और उग्र रूप (बाहुभ्याम्) शक्तियों से, (पूष्णः) पुष्टिकारक अन्न या पृथिवी के (हस्ताभ्याम्) वशीकरण और आकर्षण करने वाले सामर्थ्यों से (सारस्वत्यै वाचः) सरस्वती, ज्ञानरूप वाणी, या विद्वत्सभा के उपदेश या व्यवस्था बल से (यन्तुः) नियन्ता (अग्नेः) शत्रुसंताप सेनापति या राजा के (यन्त्रेण) नियामक बल से और (साम्राज्येन) साम्राज्य के अधिकार से तुझे (अभिषिंचामि) अभिषिक्त करता हूं। तुझे सर्वविजयी सर्वप्रेरक पद का ऐश्वर्य देता हूं। (अश्विनोः) अर्थात् तुझे सूर्य के समान प्रचण्डता, चन्द्र के समान शीतलता अर्थात् निग्रह और अनुग्रह का सामर्थ्य देता हूं। पूषा अर्थात् अन्न या पृथिवी के समान दानशीलता सरस्वती, वेदवाणी या व्यवस्था सभा का आज्ञा देने का अधिकार और नियामक पुरुष का नियामक बल तुझे सौंपता हूं और साम्राज्य पदपर अभिषिक्त करता हूं।

ऋतापाड्ऋतधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम ।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥३८॥

भा०—(ऋतापाट्) ऋत, सत्यव्यवहार का सहन करने वाला, असत्य को न सहनेवाला या ऋत, सत्य ज्ञान के बल पर समस्त पृथिवी का विजय करने वाला, (ऋतधामा) सत्य ज्ञान रूप अविनाशी तेज वाला, (अग्निः) सूर्य या अग्नि के समान जो तेजस्वी (गन्धर्वः) गौ, पृथिवी वाणी और इन्द्रियों को अपने वश में करने में समर्थ होता है वह 'अग्नि'

३८—अथातो द्वादश राष्ट्रभृतः ॥

नाम से कहे जाने योग्य है। (तस्य) उस सूर्य या अग्नि के (ओषधयः) तेज को धारण करने वाली ओषधियें (मुदः) समस्त संसार को हर्ष, सुख प्रदान करने वाली (अप्सरसः) जल में उतराने वाली या जल से बढ़ने वाली होने से 'अप्सरस्' हैं और समस्त प्राणियों को हर्ष देने से 'मुद्' नाम वाली हैं। उसी प्रकार उस राजा के (अप्सरसः) ज्ञान और कर्म के मार्ग में आगे बढ़ने वाली प्रजाएं भी (मुदः नाम) सब प्रजाओं को और स्वयं भी मोद करने वाली होने से वे भी 'मुद्' नाम वाली हैं। (सः) वह अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष (नः) हमारे (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मण कुलों और (क्षत्र) क्षत्रिय कुलों की (पातु) रक्षा करे। (तस्मै) उसे। वाट्) राज्य-भार वहण करने वाला पद (सु-आहा) उत्तम रीति से प्रदान किया जाय। और (ताभ्यः) उसको उन प्रजा और ज्ञान कर्म में विचरनेवाली विद्वान्, शक्तिशाली योग्य प्रजाओं को भी (सु-आहा) उत्तम आदर और यश हो।

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरस आयुवो नाम स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रम्पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३९ ॥

सूर्यो देवता ; त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य जिस प्रकार (संहितः) समस्त पृथिवी, जल आदि भूतों में अपने किरणों से व्याप्त होकर उनको परस्पर मिलाने हारा और दिन और रात को सन्ध्या द्वारा मिलाने हारा, और (विश्व-सामा) समस्त विश्व में व्यापक होता है और वह (गन्धर्वः) गौ, किरणों को धारण करता और पृथ्वी का भरण पोषण करता है। उसी प्रकार सूर्य के समान विद्वान् राजा भी (संहितः) समस्त विद्वान् योग्य पुरुषों और शासकों और राज्यांगों को परस्पर मिलाने वाला, (विश्वसामा) समस्त

राज्य में सब के प्रति समान भाव से न्यायानुकूल होकर विद्यमान रहता है, वह (गन्धर्वः) पृथिवी को धारण करने में समर्थ 'सूर्य' कहाने योग्य है (तस्य) उसकी (अप्सरसः) ज्ञान और कर्म में कुशल प्रजाएं जल के परमाणुओं में व्यापक (मरीचयः) सूर्य की किरणों के समान स्वयं (मरीचयः) अज्ञान या शत्रु-बल के नाश करनेवाली सेनाएं (आयुवः नाम) परस्पर संगत, सुव्यवस्थित होकर रहने और युद्ध में जाने से 'आयु' नाम से कहाती हैं। (सः नः इदं०) इत्यादि पूर्ववत्।

सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम। स न ऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४० ॥

चन्द्रमा देवता । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—(चन्द्रमाः) चन्द्र जिस प्रकार (सुषुम्णः) उत्तम सुखप्रद, अथवा सुखस्वपन या निद्रा का देने वाला और (सूर्यरश्मिः) सूर्य की रश्मियों से प्रदीप्त होने वाला और (गन्धर्वः) रश्मियों को धारण करने से 'गन्धर्व' है (तस्य) उसके (नक्षत्राणि) नक्षत्रगण (अप्सरसः) स्त्रियों के समान भोग्य, एवं (भेकुरयः) भा, दीप्ति करने से 'भेकुरि' कहाती हैं उसी प्रकार (चन्द्रमाः) आह्लादकारी राजा भी चन्द्र के समान है। वह (सुषुम्णः) प्रजाओं को उत्तम सुख देने वाला (सूर्यरश्मिः) सूर्य के समान तेजस्वी, (गन्धर्वः) पृथ्वी का रक्षक है। (तस्य) उसके (अप्सरसः) ज्ञान, कर्म और प्रजाओं में विचरण करने वाली उत्तम प्रजाएं (नक्षत्राणि) कभी परास्त न होने वाली होने से 'नक्षत्र' कहाती हैं। वे ज्ञान दीप्ति करने वाली होने से 'भेकुरि' नाम से कहाती हैं। (सनः इदं० इत्यादि) पूर्ववत्।

हरिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापो ऽअप्सरस ऊर्जो नाम। स न ऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥४१॥

वातो देवता । आर्षी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—जिस प्रकार (वातः) वायु (हरिः) तीव्र वेगवान्, (विश्वव्यचाः) और समस्त विश्व में व्यापक एवं (गन्धर्वः) गो नाम पृथिवी, मध्यम वाणी और विद्युत् को अन्तरिक्ष में धारण पोषण करता है, (तस्य) उसके आश्रय पर (आपः) जल ही (अप्सरसः) अन्तरिक्ष में गतिमान् होकर मेघ रूप में विचरते हैं । वे अन्न द्वारा विश्व के बलकारक होने से (ऊर्जः नाम) 'ऊर्ज' नाम से कहाते हैं । उसी प्रकार (वातः) वायु के समान प्रबल राजा (हरिः) अति वेगवान्, सबका प्रेरक और सब के इच्छा योग्य, (विश्वव्यचाः) समस्त राष्ट्र में प्राण के समान व्यापक, सर्वप्रिय पुरुष (गंधर्वः) पृथ्वी को धारण पोषण करने में समर्थ है । (तस्य) उसके (आपः) आप्त जन ही (अप्सरसः) ज्ञान और कर्म में निष्ठ, ज्ञानी और प्रजा में व्यापक और (ऊर्जः नाम) राष्ट्र में बल उत्पन्न करने वाले होने से 'ऊर्ज' नाम से कहे जाते हैं । (सः नः० इत्यादि पूर्ववत् ।

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअप्सरस स्तावा नाम । स न ऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥४२॥

यज्ञो देवता । आर्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—जिस प्रकार (यज्ञः) यज्ञ, प्रजापति (भुज्युः) सबका पालक सबको भोग्य फल का देने वाला, (सुपर्णः) उत्तम पालन सामर्थ्यों से युक्त, (गन्धर्वः) वेद वाणी को अपने भीतर धारण करने से 'गंधर्व' है । (तस्य) उसकी (अप्सरसः) प्रजाओं या कार्यकर्त्ताओं को प्राप्त होने वाली (दक्षिणाः) कार्य से दक्षता की उत्पादक दक्षिणायें (स्तावाः) सुपात्र में दी जाकर यज्ञकर्त्ता और यज्ञ दोनों की स्तुति के कारण होने से 'स्तावा' नामक है उसी प्रकार (यज्ञः) राष्ट्र पालक, प्रजापति राजा भी

स्वतः (भुज्युः) प्रजा का पालक और राष्ट्र का भोक्ता, (सुपर्णः) आदित्य के समान उत्तम पालन सामर्थ्यों और उत्तम रथवाहनों से सम्पन्न, (यज्ञः) संघका संगतिकारक (गंधर्वः) पृथ्वी का धारण पोषक है। (तस्य) उसकी (अप्सरसः) ज्ञान और कर्म में व्याप्त (दक्षिणाः) राष्ट्र कार्य में बल उत्पन्न करनेवाली प्रजाएं (स्तावाः नाम) स्तुति योग्य होने से 'स्तावा' नाम से कहाती हैं। (स० नः इदं० इत्यादि पूर्ववत्)

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऽऋक्सामान्यप्सरस ऽएष्टयो नाम। स न ऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा

विश्वकर्मा मनो देवता। विराडार्षी जगती। निषादः॥

भा०—(मनः) ज्ञानवान् (विश्वकर्मा) समस्त विश्व का कर्त्ता, (प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा (विश्वकर्मा) सब राज्य के हितकर कर्मों को करनेहारा (मनः) शरीर में मन के समान सब का ज्ञाता, मननशील, (गन्धर्वः) पृथ्वी का पोषक है। (तस्य) उसके (ऋक् सामानि अप्सरसः एष्टयः नाम) ज्ञानानुकूल या स्तुत्य 'साम' शत्रुनाशक उपाय ही सब इष्ट कार्यों की साधक एवं प्रजा की प्रेरक आज्ञाएं 'एष्टिः' कहाती हैं। (सः न० इत्यादि) पूर्ववत्।

स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य त ऽउपरि गृहा यस्य वेह।
अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा॥ ४४॥

प्रजापतिर्देवता। भुरिगार्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे (भुवनस्य पते) समस्त भुवनों, उत्पन्न प्राणियों और लोकों के पालक! स्वामिन्! हे (प्रजापते) प्रजा के पालक! (यस्य) जिस (ते) तेरे (उपरि) ऊपर, तेरे आश्रय पर (गृहाः) गृह, गृहस्थ पुरुष (वा) और (यस्य) जिसके ऊपर (इह) इस राष्ट्र और लोक के

अन्य प्राणि भी आश्रित हैं वह तू (अस्मै) इस (ब्रह्मणे) वेद, वेद और ईश्वर के जानने वाले और अस्मै क्षत्राय) राष्ट्र को क्षति से बचाने वाले इस क्षत्रियवर्ग को (स्वाहा) उत्तम रीति से (महि शर्म) बड़ा सुख और शान्ति (यच्छ) प्रदान कर ।

समुद्रोऽसि नभस्वान्नार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ।
मारुतोऽसि मरुतां गणः शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ।
अवस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा ॥ ४५ ॥

प्रजापतिर्देवता । निचृदष्टिः मध्यमः ॥

भा०—हे (प्रजापते) प्रजा के पालक ! राजन् तू (समुद्रः असि) समुद्र के बड़ा गम्भीर, सब रत्नैश्वर्यों का आकर, सब ऐश्वर्यों का उत्पादक है । तू (नभस्वान्) आकाश में व्यापक वायु के समान सबका प्राणाधार और वायु के समान तीव्र वेगवान् है । तू (आर्द्रदानु) जलप्रद मेघ के समान आर्द्र भाव से प्रजा पर ऐश्वर्यों का त्याग करने हारा है । तू (शंभूः) जल के समान शान्तिदायक, (मयो भूः) तू परमेश्वर या आत्मा के समान परम-आनन्द जनक है । तू मा) मुझ प्रजाजन को । अभि वाहि) साक्षात् रूप से प्राप्त हो । तू (मारुतः असिः) प्राणों में श्रेष्ठ आत्मा के समान मरुत् अर्थात् वायु के समान तीव्रगामी, शत्रुसंहारक सैनिकों सेनापतियों का भी स्वामी है । तू (मरुतां गणः) प्राणों के गण के समान स्वयं विद्वानों के समूह का आश्रय, उनके बीच में मुख्य रूप से गणना करने योग्य है । तू (अवस्यूः) अपनी और अपनी प्रजा का रक्षा करने का इच्छुक और (दुवस्वान्) उत्तम आचरण और सेवा या परिचरण करने योग्य है । तू (शंभूः) शान्ति का जनक (मयोभूः) सुखों का उत्पादक होकर (मा अभि वाहि) मुझे साक्षात् प्राप्त हो । (स्वाहा) हमारी यही उत्तम प्रार्थना स्वीकार हो । परमेश्वर के विषय में विशेषण स्पष्ट हैं ।

यास्ते ऽअग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ।
ताभिर्नो ऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ ४६ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन् ! (याः ते) जो तेरी (रुचः) अग्नि की दीप्तियों के समान प्रीतियां (सूर्ये) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष में रहती हुई (रश्मिभिः) किरणों के समान नियमकारिणी व्यवस्थाओं से (दिवम्) आकाश के समान राजसभा को व्यापती हैं (ताभिः सर्वाभिः) उन सब प्रीतियों से (अद्य) आज के समान सदा ही (नः) हमें (जनाय रुचे) सर्वसाधारण प्रजाजन के प्रीति का पात्र (कृधि) कर अर्थात् परमेश्वर की जिस प्रकार दीप्तियें सूर्य में रह कर महान् आकाश के ग्रहादि को प्रकाशित करती हैं उसी प्रकार जो विद्वान् राजा के प्रति वेदज्ञ विद्वान् के प्रेम हैं उनसे हम अन्य विद्वज्जन राजगण भी सर्वसाधारण के लोकप्रिय हों । शत० ६ । ४ । २ । १४ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ ४७ ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् एवं विजिगीषु पुरुषो ! (वः) तुम्हारी (याः) जो प्रीतियां (सूर्ये) सूर्य के समान तेजस्वी राजा में, (गोषु) गौ आदि पशुओं और (अश्वेषु) अश्वादि युद्धोपयोगी पशुओं में हैं, हे (इन्द्राग्नी बृहस्पते) इन्द्र ! अग्ने ! बृहस्पते ! सेनापते ! राजन् ! वेदज्ञ विद्वन् ! (ताभिः सर्वाभिः) उन सब प्रेमों से (नः) हम में (रुचं धत्त) प्रेम का स्थापन करो । अर्थात् गवादि पशुओं का पालन करें । हम भी उक्त राजा, सेनापति महामान्य आदि के प्रेमपात्र हों । व्याख्या देखो अ० १३।२८, २३॥

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳराजसु नस्कृधि ।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ ४८ ॥

शुनःशेप ऋषिः । बृहस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(नः ब्राह्मणेषु) हमारे ब्राह्मणों में (रुचा) अपने व्यापक प्रेम

द्वारा (रुचं धेहि) परस्पर प्रेम प्रदान कर । (नः राजसु) हमारे राजगणों में (रुचं धेहि) प्रेम प्रदान कर । (विश्येषु) प्रजाओं में विद्यमान वैश्यजनों में और (शूद्रेषु) शूद्रों में भी (रुचं धेहि) प्रेम प्रदान कर और (मयि) मेरे में भी तू (रुचा) अपने विशाल प्रेम द्वारा (रुचं धेहि) प्रेम प्रदान कर । अर्थात् राजा हम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब में प्रेम पैदा करे । आपस में घृणा और द्वेष के बीज बोकर न फोड़े रक्खे और (मयि) मेरे निमित्त और प्रजा जनों में प्रेम पैदा करे । अर्थात् प्रत्येक पुरुष के प्रति सबका प्रेम हो । हरएक समझे कि मैं समस्त देश वासियों का प्रिय हूं और समस्त देशवासी अपने देशवासी को अपना प्रिय जाने । उसी प्रकार परमेश्वर भी हम में प्रेम पैदा करे ।

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीः ॥ ४६ ।

शुनःशेप ऋषिः । वरुणो देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (वरुण) वरण करने योग्य ! सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (ब्रह्मणा) ब्रह्म, वेद द्वारा (त्वा वन्दमानः) तेरी स्तुति करता हुआ मैं (त्वा यामि) तुझ से याचना करता हूं या तुझे प्राप्त होता हूं । (यजमानः) उपासना करने हारा (हविर्भिः) यज्ञ योग्य हवियों और स्तुतियों से भी (तत्) उसी परम प्रेम का (आशास्ते) कामना करता है कि, हे (उरुशंस) बहुतों से स्तुति किये जाने हारे या बहुतसों को ज्ञान द्वारा उपदेश देने हारे ! तू (अहेडमानः) कभी अनादर न किया जाकर, स्वयं सौम्य भाव से (इह) यहां (बोधि) हमें अपना ज्ञान प्रदान कर । और (नः आयुः) हमारे जीवन (मा प्र मोषीः) मत अपहरण कर । शत० ६ । ४ । २ । १७ ॥

राजा के पक्ष में—हे (वरुण) स्वयंवृत, श्रेष्ठ राजन् ! हे (उरुशंस) बहुतों के शिक्षक ! अति ज्ञानवन् ! (ब्रह्मणा) अन्नादि सहित या यहान् राष्ट्ररूप ऐश्वर्य पुरस्कार सहित (त्वा वन्दमानः) तेरी वन्दना, अभिवादन

करता हुआ मैं प्रजाजन (हविर्भिः यजमानः), स्तुति-वचनों और उपादेय भेटों सहित तुझे प्राप्त होता हुआ (तव यामि, तव आशास्ते) उस प्रेम और रक्षा की याचना करता और चाहता हूं कि तू (अहेडमानः) प्रजा के प्रति अनादर और क्रोध न करता हुआ (इह बोधि) यहां अपना कर्तव्य समझ और (नः) हम प्रजाओं के (आयुः) जीवनों का (मा प्र मोषीः) अपहरण मत कर, व्यर्थ को प्रजा को दण्डित मत कर ।

स्वर्ण घर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्ण शुक्रः स्वाहा
स्वर्ण ज्योतिः स्वाहा स्वर्णः सूर्यः स्वाहा ॥ ५० ॥

सूर्योऽग्निर्देवता । भुरिगार्ष्युष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(स्वः नः) सूर्य के समान (घर्मः) तेजस्वी पुरुष शत्रुओं का तापदायक होकर (स्वाहा) उत्तम यश को प्राप्त हो । (स्वः नः) सूर्य के समान (अर्कः) अर्चनीय, स्तुत्य पुरुष (स्वाहा) उत्तम पद को प्राप्त हो । (स्वः न ज्योतिः) सूर्य के समान ज्ञानप्रकाश से युक्त पुरुष (स्वाहा) उत्तम पद को प्राप्त हो ! (स्वः न सूर्यः) सुखमय सूर्य के समान सबका प्रेरक होकर राजा (स्वाहा) उच्च पद और उत्तम यश को प्राप्त हो । शत० ६ । ४ । २ । १६–२३ ॥

अग्निरर्कः असौ आदित्योऽश्वमेधः तौ सृष्टौ नाना हवास्तौ तौ देवाः आहुतिभिः समतन्वन्त्समदधुः ॥ शत० ६।४।३।१८॥ असौ वा आदित्यो घर्मः । अमुं तदादित्यं असौ प्रतिष्ठामयति । शत० ६ । ४ । ३ । १६ ॥

अर्थात् अग्रणी नेता में सूर्य के गुणों का प्रतिपादन किया है । उसको सूर्य के समान बतलाया है ॥

भौतिक पक्ष में—(घर्मः) ताप (अर्कः) अग्नि (शुक्रः) वायु (ज्योतिः) विद्युत् (सूर्यः) सूर्य ये सब (स्वाहा) उत्तम विज्ञानपूर्वक किया और प्रयोगों द्वारा (स्वः) सुखजनक हों । अथवा सूर्य के समान

शत्रुसंतापक, अग्नि के समान तेजस्वी, वायु के समान शुद्ध, विद्युत् के समान दीप्तिमान्, सूर्य के समान प्रवर्त्तक होकर राजा (स्वः) सबका सुखकारी हो । (स्वाहा) उत्तम यश प्राप्त करे ।

अग्निं युनज्मि शवसा घृतेन दिव्यꣳ सुपर्णं वयसा वृहन्तम् ।
तेनं वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपꣳ स्वो रुहाणा अधि नाकमुत्तमम्

यज्ञिर्देवता । स्वराडार्षी । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(घृतेन) घृत द्वारा जिस प्रकार (अग्निम्) अग्नि को यज्ञ में आधान किया जाता है उसी प्रकार (शवसा) बल पराक्रम के द्वारा (वयसा) व्यापक सामर्थ्य और ज्ञान से (वृहन्तम्) महान् (दिव्यम्) शुद्ध गुणों में उत्कृष्ट, (सुवर्णम्) उत्तम पालन करने वाले साधनों से सम्पन्न, (अग्निम्) ज्ञानवान् एवं शत्रुओं के संतापक अग्नि के समान तेजस्वी, अग्रणी पुरुष को (युनज्मि) राष्ट्र के उच्च पद पर नियुक्त करता हूं । (तेन) उसके द्वारा स्वयं हम लोग । उत्तमम्) उत्तम, सर्वोत्कृष्ट (नाकम्) दुःखों से रहित (स्वः) सुखों से समृद्ध राष्ट्र को (अधिरुहाणाः) बराबर प्राप्त होते हुए (ब्रध्नस्य) महान्, सर्वाश्रय राष्ट्र के (विष्टपं) भीतर प्रविष्ट लोकों के पालक या पीड़ा, ताप आदि दुःखों से रहित स्थान को (गमेम) प्राप्त होवें । शत० ९ । ४ । ४ । ३ ॥

परमात्मा के पक्ष में—(दिव्यं, सुपर्णं) दिव्य तेजोमय, उत्तम ज्ञानवान्, (वयसा बृहन्तम्) सामर्थ्य से महान्, (अग्निम्) ज्ञानमय आत्मा को (घृतेन शवसा) कान्तिमय बल द्वारा (युनज्मि) परमेश्वर के साथ योगाभ्यास द्वारा लगाता हूं । (तेन) इस (नाकम् उत्तमं स्वः रुहाणाः) सुखमय उत्तम स्वर्गमय लोक को प्राप्त होते हुए (ब्रध्नस्य विष्टपं)

'तेन गमेम०' इति काण्व० ।

आदित्य के समान तेजोमय परमब्रह्म के क्लेश-तापरहित स्वरूप को प्राप्त करें।

भौतिक पक्ष में—मैं शिल्पी (घृतेन शवसा) चिकने पदार्थ घी, तैल रूप बल से इस (अग्निम्) अग्नि विद्युत् को विमान आदि में जोड़ता है जो (सुपर्णम्) उत्तम गमन साधन चक्र और पक्षों से युक्त (वयसा बृहन्तम्) बल में बड़ा है। उससे हम महान् आकाश में गमन करें।

द्वमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः

अग्निर्देवता। विराड् आर्षी जगती। निषादः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी पुरुष! (द्वमौ) ये दोनों (अजरौ) कभी नाश न होने वाले (पतत्रिणौ) पक्षी के पक्षों के समान युद्ध में आगे बढ़ने वाले सेना के दो पहलू हैं। (याभ्याम्) जिनसे तू (रक्षांसि) विघ्न बाधा करने वाले शत्रुओं को (अपहंसि) मार भगाता है (ताभ्याम्) उन दोनों के बल पर (सुकृताम्) उत्तम आचारवान् पुण्यात्मा पुरुषों के (लोकम्) लोक, स्थान को प्राप्त हों (यत्र) जहां (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न, ज्येष्ठ (ऋषयः) ऋषि, ज्ञानदृष्टा लोग (जग्मुः) प्राप्त होते हैं। शत०९।४।४।४॥

अथवा—सभा में वाद-विवाद करने वाले दो पक्ष हैं जिनसे (रक्षांसि) बाधक तर्कों का नाश किया जाता है उन द्वारा ही (सुकृताम्) उत्तम विद्वानों के उस (लोकम्) साक्षात् दृष्ट सिद्धान्त तक हम पहुंचें जिसपर (प्रथमजाः) पूर्व उत्पन्न (पुराणाः) पुरातन (ऋषयः) मन्त्रार्थ द्रष्टा लोग (जग्मुः) पहुंचे हैं।

अध्यात्म में—ये दो (पक्षौ) स्वीकार करने योग्य, कार्य कारणरूप या आत्मा परमात्मा रूप (अजरौ) अजर अविनाशी (पतत्रिणौ) उच्च

५२—०'पक्षा अजरौ'० इति काण्व०॥

लोक में ले जाने वाले हैं। जिनके बल पर हे (अग्ने) ज्ञानी पुरुष ! तू (रक्षांसि) बाधक पाप दोषों को नष्ट करता है। उन दोनों के बल पर हम भी (सुकृताम् उ लोकं) सत्पुरुषों के द्रष्टव्य आत्मस्वरूप परमानन्द को प्राप्त हों (यत्र) जहां (ऋषयः) वेदार्थ वेत्ता और विद्वान् जन (प्रथमजाः) सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म परमेश्वर में दीक्षित होकर पहुंचते हैं।

इन्दुर्दक्षः श्येन ऽऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।
महान्त्सधस्थे ध्रुव ऽआ निषत्तो नमस्ते ऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ५३

इन्दुर्देवता। आर्षी पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—(इन्दुः) चन्द्र के समान शीतल स्वभाव, ऐश्वर्यवान्, (श्येनः) राज के समान पराक्रमी, (दक्षः) बलवान्, प्रज्ञावान्, (शकुनः) शक्तिशाली, (हिरण्यपक्षः) सुवर्ण आदि हित और रमणीय पदार्थों को ग्रहण करने हारा, (ऋतावा) सत्य कर्म और आचरण वाला, धर्मशास्त्र का स्वामी (भुरण्युः) प्रजा का पालक राजा (महान्) महान् होकर (सधस्थे) अपने अनुयायियों सहित एकत्र राज्यासन या सभाभवन में (ध्रुवः) ध्रुव, स्थिर होकर (आ निषत्तः) आसन पर विराजता है। हे राजन् ! (ते) तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार हो। (मा) मुझ प्रजाजन को (मा हिंसीः) मत मार। शत० ६। ४। ४। ५॥

परमेश्वर के पक्ष में—(इन्द्रः) चन्द्र के समान प्रेमार्द्र, (श्येनः) ज्ञानवान्, (ऋतावा) सत्य ज्ञानवान्, (हिरण्यपक्षाः) तेजस्वी, (शकुनः) सर्वशक्तिमान् (भुरण्युः) पालक पोषक, महान् (सधस्थे) सदा साथ (ध्रुवः) नित्य अविनाशी होकर विराजमान है। तुझे नमस्कार है। तू मुझे पीड़ित मत कर।

दिवो मूर्द्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम्।
विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे॥ ५४॥

अग्निर्देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! जिस प्रकार (दिवः मूर्धा) सूर्य आकाश का और तेजोमय पिण्डों या प्रकाश का (मूर्धा) उत्तमाङ्ग, शिर के समान सर्वोच्च है उसी प्रकार (दिवः) ज्ञानवान् पुरुषों की बनी राजसभा के (मूर्धा) मूर्धा शिरोमणि, प्रधान, सर्वोच्च पद पर विराजमान (असि) है । तू (पृथिव्या नाभिः) पृथिवी के नाभि के समान समस्त पृथ्वी के राज्य का प्रबन्ध करनेवाला राष्ट्र का मुख्य केन्द्र है । तू (अपाम् ऊर्ग्) जलों के उत्कृष्ट रस अन्न के समान (अपाम्) आप्त प्रजा जनों का (ऊर्क्) सर्वोत्तम बलरूप, पराक्रमी, सार रूप है । (ओषधीनाम्) वीर्यवती ओषधियों के बीच में सोम के समान तेजस्विनी क्षात्र सेनाओं में सेनापति है । तू (विश्वायुः) वायु के समान समस्त प्रजाओं का जीवनप्रद, (शर्म) गृह के समान शरण और (सप्रथाः) समान रूप से सर्वत्र विख्यात, एवं सर्वत्र महान् है । (पथे) सब के मार्गस्वरूप, सबको उद्देश्य तक पहुंचाने वाले तुझे (नमः) नमस्कार हो । तुझे प्रजा के वश करने का बल अधिकार प्राप्त हो । परमेश्वर के पक्ष में स्पष्ट है । शत० ९ । ४ । ४ । १३ ॥

विश्वस्य मूर्द्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो दत्तोदधिं भिन्त । दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ट्यावः ॥ ५५ ॥

अग्निर्देवता । आर्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन्! सभापते ! तू (विश्वस्य मूर्धन् अधि तिष्ठसि) सूर्य के समान समस्त राष्ट्र के शिरपर अधिष्ठाता रूप से विराजता है । तू (श्रितः) समस्त प्रजाओं द्वारा और आश्रय सेवित है । (ते) तेरा (हृदयम्) हृदय (समुद्रे) अन्तरिक्ष के समान व्यापक सर्वोपकारक परमेश्वर में मग्न हो । (अप्सु आयुः) प्रजाओं के उपकार के कार्यों में तेरा जीवन

व्यतीत हो । तू (अपः दत्त) ज्ञानों का और उत्तम कर्मों का उपदेश कर । अथवा (अपः दत्त) राष्ट्र में मेघ के समान कृषि आदि के निमित्त जलों का प्रदान कर और (उदधिं भिन्त) जिस प्रकार वायु जल धारण करनेवाले मेघ का भेदन करता है उसी प्रकार तू भी (उदधिम्) जल के धारण करने वाले स्रोतो और नदी-प्रवाहों को काट २ कर राष्ट्र में नहरों के रूप में बहा । (दिवः) सूर्य से या आकाश से (पर्जन्यात्) मेघ से (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष गत वायु से और (पृथिव्याः) पृथिवी से तथा (ततः) जहां कहीं भी जल हो वहां से प्रजा को जल प्राप्त करा और (नः) हमें (वृष्ट्या) मेघ के समान समस्त सुखों की वृष्टि से (अव) पालन कर । शत० ३ । ४ । ४ । १३ ॥

इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः ।
तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणोहागमेः ॥ ५६ ॥

गालव ऋषिः । यज्ञो देवता । आर्षी उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(यज्ञः इष्टः) जो प्रजापालन रूप यज्ञ एवं प्रजापति, राजा स्वयं (भृगुभिः) परिपक्व विज्ञान वाले विद्वानों और शत्रुओं को भून देने वाले वीरों द्वारा (इष्टः) सम्पादित किया जाता है वह (वसुभिः) वसु नामक विद्वानों, एवं प्रजा को बसाने हारे ऐश्वर्यवान् राजाओं द्वारा (आशीर्दाः) समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है । हे (द्रविणः) ऐश्वर्य ! (तस्य) उस (इष्टस्य) सुसम्पादित (प्रीतस्य) सब के प्रिय इस यज्ञ के द्वारा तू (नः) हमें (आगमेः) आ, प्राप्त हो ।

इष्टो ऽअग्निराहुतः पिपर्त्तु न ऽइष्टꣳ हविः ।
स्वाहेदं देवेभ्यो नमः ॥ ५७ ॥

गोलव ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(आहुतः) आहुति द्वारा बढ़ाये गये (अग्निः) अग्नि के

समान तेजस्वी, सत्कार प्राप्त विद्वान्, अग्रणी राजा (इष्टः) आदर सत्कार प्राप्त करके (नः) हमें (पिपर्त्तु) पालन करे । और (इष्टं) हमें यथेष्ट (हविः) अन्नादि पदार्थों से (पिपर्त्तु) पूर्ण करे । (देवेभ्यः) विजिगीषु और ज्ञानप्रद, दृष्टा विद्वान् पुरुषों के निमित्त (इदम्) यह (नमः) अन्न आदि सत्कार (स्वगा) अपने हितैषी पुरुषों को प्राप्त हों या वह अनायास, बिना मांगे आप से आप उन्हें प्राप्त हो ।

यदाकूतात्समसुस्रोद्धृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा ।
तदनु प्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऽऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥

५८–६५ विश्वकर्मा ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदार्षी जगती । निषादः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (यत्) जो कर्त्तव्यकर्म और ज्ञान (आकूतात्) मन की प्रवृत्ति के भी पूर्व आत्मा के भीतर विद्यमान सत्य उत्साह या तरंग विद्यमान होती है उससे (हृदः) हृदय से (मनसः) मनन करनेवाले अन्तःकरण से (वा) और (चक्षुः) आंख आदि बाह्य इन्द्रियों से (संभृतम्) सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो और सञ्चित हो (तत्) उसके (अनु) अनुकूल ही (सुकृताम्) पुण्य आचारवान् सत् पुरुषों के (लोकम्) दर्शन योग्य परम उस सुखधाम स्थान और स्थिति को (प्र इत) प्राप्त करो (यत्र) जहां (प्रथमजाः) हम में उत्कृष्ट पद को प्राप्त, (पुराणाः) हम से पहले उत्पन्न बुजुर्ग (ऋषयः) वेदार्थ के ज्ञाता और दृष्टा (जग्मुः) पहुंचे हैं । शत० ६ । ५ । १ । ४५ ॥

एतꣳ सधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः ।
अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वो ऽअत्र तꣳस्म जानीत परमे व्योमन् ॥५९॥

प्रजापतिर्देवता । निचृदार्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

५८—अतो ष्टौ वैश्वकर्मणानि ।

५९—'सधस्थं' इति उवटाभिमतः ।

भा०—हे (सधस्थ) एकत्र विद्वानों के बैठने के स्थान ! सभाभवन एवं सभाभवन में विराजमान विद्वान् राज्य-शासक जनो ! (जातवेदाः) ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाले समृद्ध पुरुष (यम्) जिस (शेवधिम्) धन कोश को (आवहात्) राष्ट्र से या व्यापारादि प्राप्त करके राजकोष में जमा कराते हैं (एतम्) उसका (ते) तेरे अधीन (परिददामि) प्रदान करता हूं। (यज्ञपतिः) यज्ञ रूप राष्ट्रव्यवस्था का पालन करने वाला राजा (वः अनु आगन्ता) आप लोगों के अनुकूल ही चलेगा। (अत्र) यहां, अब (तम्) उसको ही (परमे व्योमन्) परम, सर्वोत्कृष्ट विविध राष्ट्र कार्यों के रक्षक पद पर स्थित हुआ (जानीत स्म) जानो। शत० ६।२।१।४६॥

अध्यात्म में—हे जिज्ञासुओ ! (यं शेवधिं) जिस ज्ञान के खज़ाने को (जातवेदाः) परमेश्वर या वेदार्थवित् विद्वान् धारण करता है वह मैं (ते परिददामि) तुम जिज्ञासु जन को प्रदान करता हूं। (यज्ञपतिः) उपास्यदेव की उपासना का पालक, निष्ठ पुरुष (वः) तुमको (परमे व्योमन्) परमात्मा के विषय में (अनु आगन्ता) जिस अनुकूल उचित धर्मज्ञान का उपदेश करे (तं जानीत स्म) उसका ज्ञान करो।

एतं जानाथ परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद रूपमस्य।
यदा गच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्त्ते कृणवाथाविरस्मै ॥ ६० ॥

प्रजापतिर्देवता। निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् विजिगीषु, राजा लोगो ! आप लोग (एतं) इस अभिषिक्त सम्राट् को ही (परमे व्योमन्) परम सर्वोच्च रक्षक पद पर (जानाथ) जानो। हे (सधस्थाः) साथ ही एक सभा-भवन में विराजने वाले राजसभासत् पुरुषो ! (अस्य) इस (रूपम्) सबके प्रति प्रिय लगने वाले स्वरूप, अधिकार और कर्त्तव्य को (विद)

६० — ०'कृणवथा०' इति काण्व०।

जानो और उसको जनाओ। (यद्) जब भी (देवयानैः) विद्वानों और राजाओं द्वारा गमन करने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (आगन्छात्) यह प्राप्त हो, तब (इष्टापूर्तं) अपने इष्ट, यज्ञ, दान आदि परोपकार के कार्य और 'आपूर्तं' कूप तड़ाग आदि प्रजा के हितकारी कार्यों को (अस्मै) इसके निमित्त (आविः कृणवाथ) प्रकट करो। शत० ९ । २ । १ । ४७ ॥

परमात्मा के पक्ष में—(एतं पामे व्योमन् जानाथ) हे विद्वानो! इस परमेश्वर को परम स्थान में जानो। इसके रूप का साक्षात् करो। (देवयानैः) योगाभ्यास आदि देवयान मार्गों से वह तुम्हें साक्षात् हो, (अस्मै) परमेश्वर के प्रसन्न करने के लिये श्रद्धा से श्रौत स्मार्त कार्यों को प्रकट रूप से करो।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ।
अस्मिन्त्सधस्थे ऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ६१
येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् ।
तेनेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ६२ ॥

भा०—६१, ६२ दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो अ० १२।२४, २५ ॥

प्रस्तरेण परिधिना स्रुचा वेद्या च बर्हिषा ।
ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तवे ॥ ६३ ॥

यज्ञो देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(प्रस्तरेण) प्रस्तर, (परिधिना) परिधि, (स्रुचा) स्रुक्, (वेद्या) वेदि, (बर्हिषा) बर्हि, कुश (ऋचा) ऋग् मन्त्र, इन पदार्थों से जैसे यज्ञ का क्रियाकाण्ड सम्पादित किया जाता है उसी प्रकार (प्रस्तरेण) प्रस्तर, उत्तम रीति से राष्ट्र को विस्तार करने में कुशल, व्यवस्थापक क्षत्रिय, या क्षात्र बल, (परिधिना) परिधि अर्थात् राष्ट्र को सब ओर से धारण करने और रक्षा करने वाले वीर पुरुष, (स्रुचा) स्रुक् अर्थात् विद्वान्

स्त्री-जन, गवादि पशु, वाणी अथवा प्रजाजन या तेजस्विनी सेना, (वेद्या) वेदि, पृथिवी (ऋचा) वाणी, ज्ञानमय व्यवस्था और धर्मशास्त्र, (बर्हिषा) और प्रजाजन इन पदार्थों से (इमं) इस (नः) हमारे (यज्ञम्) परस्पर सुसंगत यज्ञ को (स्वः गन्तवे) सुख प्राप्त करने के लिये (देवेषु) विद्वान् विजयी, भूपति लोगों के आश्रय पर (नय) चला। शत० ६।५।१।४८॥

(१) 'प्रस्तरः'—यजमानो वै प्रस्तरः। श० २।३।४।३।१६ ॥ क्षत्रं वै प्रस्तरः। श० १।३।४।२० ॥

(२) परिधिः'—दिशः परिधयः। ऐ० ५।८। इमे लोकाः परिधयः। तै० ३।८।१८।४ ॥ शुसयै वा अभिताः परिधयो भवन्ति। श० १।३।४।२८॥

(३) 'स्रुक्'—वाग् वै स्रुक्। श० ६।३।१।८ ॥ योषा हि स्रुक् श० १।४।४ ॥ बाहू वे स्रुचौ। श० ७।४।१।३६ ॥ इमे वै लोका स्रुचः। तै० ३।३।१।२ ॥

(४) 'वेदिः'—पृथिवी वेदिः। ऐ० ५।२८ ॥

(५) 'ऋक्'—वाग् इति ऋक्। तै० ३।४।२३।४ ॥

(६) 'बर्हिः'—प्रजा वै 'बर्हिः। कौ० ५।५॥ क्षत्रं वै प्रस्तरो विश हृत्तरं बर्हिः' श० १।३।४।१० ॥

यद्दत्तं यत्परादानं यत्पूर्त्तं याश्च दक्षिणाः।
तद्विश्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ६४ ॥

यज्ञो देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—(यत्) जो (दत्तम्) दिया जाय, (यत्) जो (परादानं) दूसरों से लिया जाय (यत् पूर्त्तं) जो प्रजा के उपकार के लिये भी कूप, तड़ाग आदि बनवाये जावें, (याः च) और जो भी (दक्षिणाः) कर्म और परिश्रम के अनुरूप वेतन पुरस्कार आदि दिये जावें (तत्) उस सब को (वैश्वकर्मणः) विश्वकर्मा, राज्य के समस्त उत्तम कर्मों के प्रवर्त्तक राजा

पद पर विराजमान (अग्निः) विद्वान् नेता ही (देवेषु) विद्वान् द्रष्टा पुरुषों के आधार पर (नः) हम में (स्वः) सुख की वृद्धि के लिये (दधत्) स्थापित या नियत करे । शत० ६ । ५ । १ । ४६ ॥

अर्थात् लेन देन का व्यवहार मकान, कूए बागीचे आदि और वेतन आदि सब राजकीय व्यवस्था में रहें उनका देना लेना, स्वामित्व आदि सरकारी कागजों और स्टाम्पों पर विद्वान् शासकों के अधीन स्थिर रूप से हो, जिससे प्रजा सुखी हों ।

यत्र धारा ऽअनपेता मधोर्घृतस्य च याः ।
तद्ग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ६५ ॥

भा०—(यत्र) जिस राज्य में से (मधोः) मधु के समान मधुर अन्न और जल की (घृतस्य च) और घी, दूध की (याः) जो (धाराः) धाराएं होती हैं वे कभी भी (अनपेताः) जुदी न हों । इसी प्रकार (मधोः) शत्रु या दुष्ट पुरुषों के पीड़न, (घृतस्य च) घृत, तेज, पराक्रम की (धाराः) राज्य को धारण करनेवाली शक्तियां (यत्र) जिस राष्ट्र से कभी (अनपेताः) लुप्त न हों (तत्) ऐसे (स्वः) सुखकारी राज्य को । वैश्वकर्मणः अग्निः) राष्ट्र के सब उत्तम कर्मों के करनेवाला प्रजापति अग्रणी, विद्वान् शासक (नः देवेषु) हमारे विद्वानों के आधार पर (दधत्) स्थापित करे । शत० ६ । ५ । १ । ५० ॥

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म ऽआसन् ।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ६६ ॥

देवश्रवा देववातश्च भारतावृषी । अग्निर्देवता ।

भा०—मैं सम्राट् (जन्मना) जन्म अर्थात् स्वयं अपने प्रकट हुए स्वरूप से एवं स्वभाव से ही (अग्निः अस्मि) अग्नि के समान तीव्र, दुष्टों का संतापजनक और (जातवेदाः) प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ पर अधिकारी रूप से विद्यमान, एवं ऐश्वर्यवान् और समस्त पदार्थों को जानने हारा

(अस्मि) होऊं। (घृतम्) जिस प्रकार अग्नि में घी पड़ते ही वह प्रकट होकर प्रदीप्त होता है उसी प्रकार (घृतम्) तेज ही (मे) मेरा (चक्षुः) चक्षु के समान स्वरूप को प्रकट रूप से दिखाने वाला हो। (अमृतम्) अन्न आदि हवि जिस प्रकार अग्नि के मुख में दिया जाता है उसी प्रकार (मे आसन्) मेरे मुख में, मेरे मुख्य पद के निमित्त (अमृतम्) अखण्ड अविनाशी, ऐश्वर्य या अमृत, अन्नादि भोग्य पदार्थ हो। मैं (अर्कः) सूर्य के समान तेजस्वी, (त्रिधातुः) प्रज्ञा, शक्ति, उत्साह तीनों से राष्ट्र को धारण करने में समर्थ, (रजसः विमानः) लोकों का विविध रूपों से परिमाण और आदर करने वाला, (अजस्रः) शत्रुओं से न पराजित होने वाला (घर्मः) सूर्य के समान अति तेजस्वी, (हविः) राष्ट्र को अपने वश में लेने में समर्थ (नाम) सबको नमानेवाला (अस्मि) होकर रहूं।

ऋचो नामास्मि यजूंषि नामास्मि सामानि नामास्मि।
ये ऽअग्नयः पाञ्चजन्या ऽअस्यां पृथिव्यामधि।
तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुव ॥ ६७ ॥

पूर्वोक्ते ऋषिदेवते। आर्षी जगती। निषादः ॥

भा०—(ऋचः नाम अस्मि) ऋचाएं मैं हूं। (यजूंषि नाम अस्मि) यजुर्गण मैं हूं। (सामानि नाम अस्मि) सामगण मैं हूं। अर्थात् राष्ट्र की समस्त आज्ञाएं मेरे अधीन हों, वे मेरी प्रतिनिधि हों। राष्ट्र के समस्त 'यजुः' परस्पर संगत राज्य-कर्म मेरे अधीन हों। 'साम' अर्थात् उनमें सौष्ठव, परस्पर समता और एकता के सब स्वरूप मेरे अधीन हों। शत० ६।५।१।५३॥

हे राजन्! (ये) जो (अस्यां पृथिव्याम् अधि) इस पृथिवी पर (पाञ्चजन्याः) पांचों प्रजा जनों के हितकारी (अग्नयः) ज्ञानवान् तेजस्वी नेता पुरुष हैं (तेषाम्) उन सब में (त्वम् उत्तमः) तू सब से श्रेष्ठ है। तू (नः) हमारे (जीवातवे) दीर्घ जीवन के लिये (प्रसुव) उत्तम रीति से राष्ट्र का संचालन कर।

(१) 'यजूंषि'—यज्ञो ह वै नाम तद् यद् यजुः । श० ४।६। ७। १३॥ एष हि यन् एव इदं सर्वं जनयति । यन्तम् इदं अनु प्रजायते तस्माद् यजुः । एतमनुजवते तस्मात् यजुः । श० १०। ३ । ५ । २ ॥ मनो यजूंषि । श० ४ । ६ । ७ । ५ ॥ पितरो विशः···यजूंषि वेदः । श० १३।४।३।६ ॥ राष्ट्र स्वयं यजु है । उसके समस्त अंग 'यजु' हैं, राजा स्वयं नियमानुकूल राज्य बनाता है । उसके नियमपूर्वक चलते हुए उसके अनुसार यह राज्य बनता है । अतः वे शासक 'यजु' हैं । राष्ट्र के पालक 'पिता' हैं उनके कर्त्तव्यों का बोधक वेद 'यजु' है ।

'सामानि'—तद् यत् संयन्तितस्मात् साम । जै० उं० ३।१।३३।६।७ ॥ साम्राज्यं वै साम । श० १२ । ८ । ३ । २३ । धर्म इन्द्रो राजा···देवा विशः···सामानि वेदः । श० ···:··॥

परमेश्वर पक्ष में—(अग्निरस्मि जातवेदाः) वेदों का उत्पादक मैं स्वभाव से अग्नि, ज्ञानवान् हूं । (घृतं मे चक्षुः) तेजः, सूर्य मेरा चक्षु है । (अमृतम् मे आसन्) अमृत अविनाशी मोक्षानन्द मेरा मुख-मुख्य स्वरूप है । (अर्कः) मैं अर्चनीय, (त्रिधातु) सत्व रजः तमः तीनों का धारक, (रजसः विमानः) लोकों का निर्माता, (अजस्रः) अविनाशी, (घर्मः) तेजस्वी, (हविः नाम) सर्वव्यापक अन्नरूप हूं । मैं (ऋचः साम०) ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद हूं । तीनों वेद मेरे ही रूप हैं । हे परमेश्वर ! (मे पाञ्चजन्याः अग्नयः०) जो पांचों उत्पन्न भूतों में प्रवर्त्तक बल इस विशाल प्रकृति में हैं उन सब में तू सब से श्रेष्ठ है तू हम जीवों के दीर्घ जीवन के लिये उत्तम उपाय कर ।

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च ।
इन्द्र त्वावर्तयामसि ॥ ६८ ॥

६८-७४ इन्द्रो विश्वामित्रश्च ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृद् । गायत्री षड्जः ॥

भा०—(वार्त्रहत्याय) वर्त्तमान शत्रु का हनन करने में समर्थ और (पृतनापाह्याय) सेनाओं के विजय करने वाले (शवसे) बल, सेना-बल के शासन करने के लिये हे (इन्द्र) इन्द्र ! ऐश्वर्यवन् ! हे शत्रुनाशक ! (त्वा) तुझे हम (आवर्तयामसि) नियुक्त करते हैं । अग्रणी नेता पद पर स्थापित करते हैं । शत० ६ । ५ । २ । ४ ॥

सहदानुम्पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र संपिणक् कुणारुम् ।
अभि वृत्रं वर्द्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥ ६९ ॥

इन्द्रो विश्वामित्रश्च ऋषी । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (पुरुहूत) बहुत प्रजाजनों से सत्कार को प्राप्त करने हारे ! हे (इन्द्र) इन्द्र ! शत्रुओं के विदारक सेनापते ! (सहदानुम्) अपने बल से प्रजाजनों का खण्डन या नाश करने वाले या अपने सहवासी का नाश करने वाले, (क्षियन्तम्) समीप बसे, (कुणारुम्) कुत्सित वचन बोलने वाले दुष्ट पुरुष को तू (अहस्तम्) बे-हाथ का, निहत्था; निःशस्त्र करके (संपिणक्) अच्छी प्रकार कुचल डाल । जिससे वह समीप के लोगों को हानि न पहुंचा सके । और (वृत्रं) घेरनेवाले, (पियारुम्) मद्यपी अथवा हिंसाकारी (अभिवर्धमानम्) सब ओर बढ़नेवाले दुष्ट पुरुष को (अपादम्) बे पांव का लंगड़ा करके (तवसा) अपने बल से (जघन्थ) अविनष्ट-कर । जिससे वह शक्ति में बढ़ कर प्रजाओं का नाश न करे ।

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
यो अस्माँ२ अभिदासत्यधरं गमया तमः ॥ ७० ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ८ । ४४ ॥ शत० ६ । ५ । २ । ५ ॥

वृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आजगन्थापरस्याः ।
सृकꣳ सꣳशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि विमृधो नुदस्व

इन्द्रपुत्रः शासो भारद्वाज जयश्च ऋषी । इन्द्रो देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (कुचरः) ऊंचे, नीचे, खाई, वन, पर्वत, आदि सभी स्थानों पर विचरने वाला (भीमः मृगः न) भयानक पशु, सिंह बड़े जन्तुओं का नाश करता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) शत्रुओं के विनाशक इन्द्र ! तू भी (भीमः) अति भयानक (मृगः) शत्रुओं को खोज लेने वाला, (कुचरः) गढ़, नगर, वन, पर्वत, आदि सर्वत्र विचरने में समर्थ (गिरिष्ठाः) पर्वतों में निवास करने हारा होकर भी (परावतः) दूर २ के देशों तक (आ जगन्थ) पहुंचता है और (सृकम्) शत्रु के शरीरों में घुस जाने वाले (पविम्) पाप के शोधक वज्र को (संशाय) खूब तीक्ष्ण करके (तिग्मम्) खूब तीक्ष्णता से (परस्याः) शत्रु सेना के बीच में विद्यमान (शत्रून्) शत्रुओं को (वि ताढि) विविध प्रकारों से विनाश कर और (मृधः) संग्रामकारी सेनाओं को (वि नुदस्व) पीछे भगा, तितर बितर कर । शत० ६ । ५ । २ । ५ ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः ।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ ७२ ॥

इन्द्र ऋषिः । वैश्वानरोऽग्निर्देवता । आर्षी गायत्री । षैवतः ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों में अधिक प्रतिष्ठित; (अग्निः) अग्नि या सूर्य के समान तेजस्वी (परावतः) दूर देश से भी (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (आ प्र यातु) आवे और (नः) हमारी (सु-स्तुतीः) उत्तम स्तुतियों को (उप) श्रवण करे । शत० ६।५।२।६॥

पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीराविवेश ।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम् ॥

इन्द्रकुत्सौ ऋषी । वैश्वानरो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(दिवि) द्यौलोक, महान् आकाश में (पृष्टः) प्राण, बल सेचन करने में समर्थ, सूर्य के समान तेजस्वी और (पृथिव्यां पृष्टः) पृथिवी में मेघ रूप से जल सेचन करने में समर्थ, मेघ के समान और (पृष्टः)

रस वीर्य सेचन करने में समर्थ (विश्वाः ओषधीः) समस्त ओषधियों में प्रविष्ट जल के समान जो (अग्निः) अग्रणी नेता (दिवि) राजविद्वत्सभा में, (पृथिव्यां) पृथिवीवासी प्रजा में और (विश्वाः ओषधीः) समस्त तेजस्विनीः सेनाओं में (आ विवेश) राजा रूपसे विद्यमान है वह (वैश्वानरः) समस्त विश्व-राष्ट्र का नेता (सहसा) अपने शत्रु पराजय करने वाले बल से (पृष्टः) सर्वत्र ज्ञात, एवं बलवान्, सर्वोत्तम (अग्निः) अग्रणी पुरुष (सः) वह (नः) हमें (दिवा) दिन और (नक्तम्) रात को भी (रिषः) हिंसक लोगों से (पातु) बचावे । शत० ६ । ५ । २ । ६ ॥

'पृष्टः'–पृषु वृषु सेचने । भ्वादिः । पृष्टः वृष्टः वृषभ इति यावत् । कर्त्तरि क्तः ।

अश्याम॒ तं काम॑मग्ने तव॒ोती अश्याम॑ र॒यिꣳ र॑यिवः सु॒वीर॑म् ।
अश्याम॒ वाज॑म॒भि वा॒जय॑न्तोऽश्याम द्यु॒म्नम॑जर॒राज॑रं ते ॥७४॥

इन्द्रभरद्वाजावृषी । अग्निर्देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! अग्रणी सेनापते ! (तव ऊती) तेरे रक्षण सामर्थ्य से हम (तम् कामम्) उस २ अभिलाषा का (अश्याम) यथेच्छ भोग करें । हे (रयिवः) ऐश्वर्यवन् राजन् ! हम (सुवीरम्) उत्तम वीरों और वीर पुत्रों से युक्त (रयिम्) राष्ट्र समृद्धि का (अश्याम) भोग करें । (अभि वाजयन्तः) शत्रु के ऊपर संग्राम करते हुए (वाजम्) विजय से प्राप्त ऐश्वर्य का हम (अश्याम) भोग करें । (अभि वाजयन्तः) शत्रु के ऊपर संग्राम करते हुए (वाजम्) विजय से प्राप्त ऐश्वर्य का हम (अश्याम) उपभोग करें, हे (अजर) अविनाशिन् ! (ते) तेरे (अजरं) अविनाशी (द्युम्नम्) अक्षय ऐश्वर्य का हम (अश्याम) भोग करें । शत० ६ । ५ । २ । ७ ॥

व॒यं ते॑ अ॒द्य र॑रि॒मा हि काम॑मु॒त्ता॒नह॑स्ता॒ नम॑सोप॒ सद्य॑ ।
यजि॑ष्ठेन॒ मन॑सा॒ यक्षि॑ दे॒वान॑स्रे॒धता॒ मन्म॑ना॒ विप्रो॑ अग्ने ॥ ७५ ॥

उत्कील आत्कीलो वा ऋषिः । अग्निर्देवता । आर्षी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी नेतः ! विद्वन् ! (ते) तेरे (कामम्) अभिलषित पदार्थ को (अद्य) आज (वयम्) हम (उत्तान-हस्ताः) उतान हाथों से (नमसा) नमस्कारपूर्वक (उपसद्य) तेरे समीप पहुंच कर (ररिम) प्रदान करते हैं। और (देवान्) विजिगीषु वीर राजगण को और (अस्रेधता) स्थिर, (मन्मना) मननशील (यजिष्ठेन) अति आदर, प्रेम से युक्त (मनसा) मनसे (विप्रः) मेधावी, ज्ञानवान् होकर तू (यक्षि) प्राप्त होता है। शत० ६ । ५ । २ । ९ ॥

धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः ।
सचेतसो विश्वे देवा यज्ञं पावन्तु नः शुभे ॥ ७६ ॥

भा०—(धामच्छत्) सूर्य के समान तेज को धारण करनेवाला और समस्त स्थानों पर वश करने वाला, (अग्निः) अग्रणी नेता, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा, (देवः) विज्ञान द्रष्टा, (ब्रह्मा) वेदज्ञ विद्वान्, (बृहस्पतिः) बृहती वेद वाणी का पालक विद्वान् महामान्य और (सचेतसः) प्रज्ञावान् शुभ चित्त वाले, (विश्वे देवाः) समस्त दानशील, विद्वान् पुरुष सब लोग (नः) हमारे (शुभे) कल्याण के लिये (न.) हमारे (यज्ञं पावन्तु) यज्ञ, राष्ट्र और प्रजापालक की रक्षा करें। शत० १०।१।३।८॥

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमुत त्मना ॥ ७७ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १३ । ५२ ॥ हे (यविष्ठ) सब से अधिक बलिष्ठ सभापते ! राजन् ! तू (दाशुषः) दानशील (नॄन्) प्रजाजनों को (पाहि) पालन कर। उनके (गिरः) वाणियों को (शृणुधि) श्रवण कर। (उत) और (त्मना) स्वयं (तोकम्) उनके पुत्रादि अपत्यों की (रक्ष) रक्षा कर। शत० १० । १ । ३ । ११ ॥

॥ इत्यष्टादशोऽध्यायः ॥

॥ अथैकविंशोऽध्यायः ॥

अ० १९–२१ सौत्रामणी ॥ तस्याः प्रजापतिरश्विनौ सरस्वती च ऋषयः ॥

॥ ओ३म् ॥ स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृतांममृतेन । मधुमतीम्मधुमता सृजामि सꣳसोमेन । सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ १ ॥

सुरा सोमश्च देवते । निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(स्वादीं स्वादुना) जिस प्रकार उत्तम स्वादयुक्त ओषधि को स्वादु उत्तम रस से मिलाया जाता है । और (तीव्रां तीव्रेण) तीव्र प्रभाव करनेवाली ओषधि को तीव्र रस से मिलाया जाता है और (अमृताम्) अमृत, दीर्घ जीवन देनेवाली ओषधि को (अमृतेन) अमृतमय, दीर्घ जीवन-प्रद रस से मिलाया जाता है । उसी प्रकार (स्वाद्वीम्) उत्तम मधुर रस देने वाली (तीव्राम्) तीक्ष्ण स्वभाव वाली, (अमृताम्) अमृत, सदा जीवनदायिनी और (मधुमतीम्) मधुर अन्नादि समृद्धि से युक्त (ताम्) उस राज्य सम्पत्ति, नारी और प्रजा को भी मैं विद्वान् महामात्र, राजकर्त्ता पुरुष (स्वादुना) मधुर स्वभाव के, (तीव्रेण) तीक्ष्ण स्वभाव के (अमृतेन) अमृत, शत्रु को प्रहार करके मारने और स्वयं न मरने वाले स्वयं चिरञ्जीवी, (मधुमता) और मधुर गुणों से युक्त (सोमेन) सोम, स्वामी, आज्ञापक पति और राजा के साथ (सं सृजामि) संयुक्त करता हूं । हे पुरुष ! अधिपते ! राजन् ! तू (सोमः असि) सोम, प्रेरक, ऐश्वर्यवान् अभिषेक करने योग्य है । (अश्विभ्यां) सूर्य जिस प्रकार दिन और रात्रि या द्यौ और पृथिवी के लिये तपता है और मुख्य ओषध जिस प्रकार प्राण और अन्न के हित के लिये पकाया जाता

है उसी प्रकार तू भी (अश्विभ्यां) माता पिता और राष्ट्र के नर नारी दोनों या प्रजा और राजा, राष्ट्र और राज-पद दोनों के लिये (पच्यस्व) परिपक्व हो । हे पुरुष ! तू दम्पति भाव के लिये (पच्यस्व) परिपक्व वीर्य वाला हो । या हे वीर्यवन् ! (सरस्वत्यै पच्यस्व) सरस्वती, वेदवाणी और शासनाज्ञा के लिये उसे शत्रु, मित्र, उदासीन, एवं राष्ट्र और सब पर अच्छी प्रकार चलाने के लिये (पच्यस्व) अपने को परिपक्व कर । गृहस्थ पक्ष में—हे पुरुष ! तू (सरस्वत्यै) प्रेमयुक्त स्त्री के हित के लिये (पच्यस्व) परिपक्व वीर्यवान् हो । (सुत्राम्णे) उत्तम रीति से प्रजा के पालन करनेवाले (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक (इन्द्राय) इन्द्र, राजा पद के लिये (पच्यस्व) अपने को परिपक्व कर, तैयार कर, अपने बल, वीर्य को दृढ़ कर । संगति देखो अथर्व० १६ । ३१ । १४ ॥ शत० १२।७।३।५॥

(१) 'सौत्रामणी'—स यो भ्रातृव्यवान् स्यात् स सौत्रामण्या यजेत । पाप्मानमेव तद् द्विषन्तं भ्रातृव्यं हत्वा इन्द्रियं वीर्यमस्य वृङ्क्ते । तस्य शीर्षं-श्छिन्ने लोहितामिश्रः सोमोऽतिष्ठत् । तस्माद्बीभत्सन्त । त एतदन्धसोर्वि-पानमपश्यन् सोमोराजा अमृतं सुत इति । तेन एनं स्वदयित्वा आत्मन् अधत्त । शत० १२ । ७ । ३ । ४ ॥

जो शत्रु वाला राजा हो वह सौत्रामणी यज्ञ करता है । शत्रुरूप द्वेषी पाप को मार कर वह उसके ऐश्वर्य वीर्य को हर लेता है । उसके शिर कटने पर रुधिर से मिला 'सोम' अर्थात् राजपद, ऐश्वर्य रहता है । उसको देख लोग ग्लानि करते हैं । तब विद्वान् 'सोमपान' अर्थात् राष्ट्र के पालन के ज्ञान का दर्शन करते हैं कि सोम स्वयं राजा है । 'सुत' अभिषिक्त सोम राजा अमृत के समान है । उस राजपद से उस राजा को अधिक आनन्ददायक बना कर वह अपने में धारण करता है ।

(२) सोमो वै पयः अन्नं सुरा । क्षत्रं वै पयो विट् सुरां पूत्वा पयः पुनाति । विश एव तत्क्षत्रं जनयति । विशो हि क्षत्रं जायते ।

सोम दूध के समान है। अन्न और अन्न का विकार सुरा है। क्षत्र-बल दूध है। प्रजा सुरा है। सुरा को छान कर दूध छाना जाता है। अर्थात् प्रजा के बीच में से क्षत्र-बल पैदा किया जाता है। क्षत्र-बल प्रजा में से ही पैदा होता है।

(३) प्रजापतेर्वा एदन्धसी यत् सोमश्च सुरा च। श० ५ । १ । २ । १० ॥ पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा। तै० १ । ३ । ३ । ४ ॥ यशो हि सुरा। श० १२ । ७ । ३ । १४ ॥ प्रजापालक प्रजापति के ही दो भोग्य ऐश्वर्य हैं सोम और सुरा। राजपद और प्रजागण। पुरुष सोम है। स्त्री सुरा है। यश, ऐश्वर्य सुरा है।

(४) 'सोमः'—स्वा वै मे एषा इति तस्मात् सोमो नाम। श० ३ । ६ । ४ । २२ ॥ राजा वै सोमः। श० १४ । १ । ३ । १२ ॥ सोमो राजा राजपतिः। तै० २ । ५ । ७।३ ॥ पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा। तै० १।२।३।४॥ यह मेरी अपनी ही सम्पत्ति है ऐसा समझनेवाला स्वामी 'सोम' है। राजा सोम है। सोम राजाओं का भी स्वामी है। पुरुष सोम है, स्त्री सुरा है।

परीतो षिञ्चता सुतꣳ सोमो य उत्तमꣳ हविः।
दधन्वान् यो नर्यो अप्स्वन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः ॥ २ ॥

भरद्वाज ऋषिः सोमो देवता। भुरिक् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(यः) जो (सोमः) ऐश्वर्यवान् (उत्तमं हविः) उत्तम आदान प्रतिदान योग्य अन्न, धन सम्पत्ति ज्ञान और बल को (दधन्वान्) धारण करता है और (यः नर्यः) जो पुरुषों का हितकारी होने से (अप्सु अन्तरा) आप्त जनों के बीच में (सुषाव) अभिषिक्त किया जाता है उस (सुतम् सोमम्) अभिषिक्त सोम, राजा को (अद्रिभिः) वज्रों, या शस्त्रास्त्र धारी पुरुषों द्वारा (इतः) अब से (परि षिञ्चत) सब प्रकार से सेचन करो, उसको आभूषित या सुशोभित करो, उसके बल की वृद्धि करो। परिषेको अलंक्रिया।

सोमरस के पक्ष में—जो उत्तम (हविः) अन्न के ग्राह्य अंश को धारण करता है (नर्यः) पुरुष देह को हितकारी है (अप्सु अन्तरा) जलों के बीच शीतल करके (सुषाव) जो आसव रूप से उत्पन्न किया जाता है उनको (परिषिञ्चत) सब प्रकार सेवन करो ।

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ।
वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ् सोमो अतिद्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

आभूतिर्ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(सोमः) सोम, ऐश्वर्यवान् राजा (प्रत्यङ्) पीछे से (वायोः) वायु के समान तीव्र वेगवान् शत्रु रूप वृक्ष के शाखा प्रशाखाओं और मूल को भी तोड़ देने में समर्थ सेनापति के (पवित्रेण) कण्टक शोधन करने वाले सेना-बल से (पूतः) शुद्ध, पवित्र, शत्रु रहित होकर (अतिद्रुतः) अत्यन्त अधिक वेग से आक्रमणकारी हो जाता है वह राजा (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् सेनापति या राष्ट्र का भी (युज्यः) सदा साथ देने वाला (सखा) मित्र होता है । शत० १२ । ७ । ३ । १० ॥

इसी प्रकार (वायोः पवित्रेण पूतः) प्रचण्ड वायु के समान बलवान् पुरुष के शत्रु रूप कण्टकों से शोधन करने वाले बल से (पूतः) पवित्र या अभिषिक्त या शत्रु रहित होकर (सोमः) अभिषिक्त राजा (प्राङ् अतिद्रुतः) आगे की तरफ वेग से बढ़ता है वह (इन्द्रस्य भुज्यः सखा) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र वासी प्रजा जन का सदा का साथी और मित्र हो जाता है।

पुनाति ते परिस्रुतꣳ सोमꣳ सूर्यस्य दुहिता ।
वारेण शश्वता तना ॥ ४ ॥

प्राङ्सोमो० 'प्रत्यङ्सोमो०' इति काण्व० ।

सोमो देवता । आर्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राष्ट्रवासी जन ! (सूर्यस्य दुहिता) सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानवान् पुरुष की (दुहिता) समस्त ज्ञानरस को दोहन करनेवाली, सर्व कार्यों को पूर्ण करने में समर्थ श्रद्धा, सत्य धारण ही (ते) तेरे (परिस्रुतम्) सब प्रकार से अभिषिक्त (सोमं) ऐश्वर्यवान् राजा को (शश्वता) अनादि नित्य के चले आये, (तना) विस्तृत, (वारेण) शत्रु के वारण करनेहारे मौल बल, या वरण करने योग्य ऐश्वर्य से (पुनाति) पवित्र, शुद्ध, या शत्रु रहित करती है । शत० । १२।७।३।१६ ॥

ओषधि पक्ष में—(सूर्यस्य दुहिता) उषा अपने सदातन, वरणीय प्रकाश से सोम ओषधि को पवित्र करती है । सोम के पक्ष में—सूर्य की पुत्री श्रद्धा वालों के बने कम्बल से परिस्रुत नाम सोम को स्वच्छ करती है ।

ब्रह्म क्षत्रं पवते तेज इन्द्रियꣳ सुरया सोमः सुत आसुतो मदाय ।
शुक्रेण देव देवताः पिपृग्धि रसेनान्नं यजमानाय धेहि ॥ ५ ॥

निचृज्जगती । निषादः ॥

भा०—(सुरया) सुख पूर्वक रमण करने योग्य ऐश्वरीय, राज्यलक्ष्मी या उत्तम प्रजा द्वारा (सुतः) अभिषिक्त किया और (मदाय) सब की आनन्द प्रसन्नता के लिये (आसुतः) प्रत्यक्ष रूप से सर्वत्र अभिषिक्त हुआ (सोमः) सोम, ऐश्वर्यवान् पुरुष (ब्रह्म) ब्रह्म, ब्राह्मण वर्ग, (क्षत्रं) क्षत्रियगण को (पवते) पवित्र करता है और (तेजः) तेज, पराक्रम और (इन्द्रियम्) इन्द्रिय, राजोचित ऐश्वर्य को भी (पवते) उत्पन्न करता है । हे (देव) देव, दानशील राजन् ! तू (शुक्रेण) शुद्धि करनेवाले, अपने तेज से या सुवर्णादि द्रव्य से (देवताः) दानशील या विजिगीषु वीर पुरुषों और विद्वानों को (पिपृग्धि) पूर्ण कर, पालन कर । और (रसेन) रस, पुष्टि-

कारक अंश से युक्त (अन्नं) अन्न (यजमानाय) यजमान दानशील या अपने से संगत प्रजाजन के लिये (धेहि) सुरक्षित रख । शत०१२।७।३।१२॥

सोम–ओषधि पक्ष में—(सुरया सुतः आसुतः सोमः) सवन क्रिया से उत्पादित और सेवित सोम, ओषधियों का रस (तेजः इन्द्रियं ब्रह्म क्षत्रं च पवते) तेज, इन्द्रियों के सामर्थ्य, ब्रह्मज्ञान और बल को उत्पन्न करता है । अतः हे विद्वन् ! देव ! (शुक्रेण) तेजो वृद्धि करनेवाले (रसेन) रस से (देवताः) प्राणों की शक्ति को बढ़ा । (अन्नं यजमानाय धेहि) यजमान, उपासक जन को उत्तम अन्न प्रदान कर ।

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्ण एष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा ॥ ६ ॥

भा०—(कुविदङ्ग०.....०सुत्राम्णे) इस मन्त्र की व्याख्या देखो । अ० १०। ३२ ॥

(एष ते योनिः) हे राजन् ! तेरा यह योनि आश्रयस्थान या पद है । (त्वा) तुझको (वीर्याय) वीर्य सम्पादन, अधिकार प्राप्ति और (बलाय) बल वृद्धि के लिये नियुक्त करता हूं । शत० १२ । ७ । ३ । १३ ॥

नाना हि वां देवहितꣳ सदस्कृतं मा सꣳसृक्षाथां परमे व्योमन् । सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोम एष मा मा हिꣳसीः स्वां योनिमाविशन्ती ॥ ७ ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! हे राज्यलक्ष्मि ! अथवा राष्ट्रप्रजे ! (वां) तुम दोनों के लिये (देवहितम्) विद्वानों द्वारा शास्त्र-

६—पयोग्रहाः ।

विहित (नाना) पृथक् २ (सदः कृतम्) स्थान बना दिया गया है। दोनों के अधिकार कर्त्तव्य पृथक् २ हैं। तुम दोनों (मा संसृष्टाथाम्) परस्पर संसर्ग मत करो। दोनों अपने २ विभागों को पृथक् २ रक्खो। हे प्रजे ! हे राज्यलक्ष्मि ! (त्वम् शुष्मिणी) तू बलशालिनी (सुरा) मदिरा के समान अति बलकारिणी, एवं 'सुरा' उत्तम ऐश्वर्य वाली या उत्तेजना देने वाली है और (एषः सोमः) यह 'सोम' सब राष्ट्र का प्रेरक है। तू (स्वाम् योनिम्) अपने आश्रयस्थान को (आविशन्ती) प्राप्त करती हुई (मा) मुझ राजा को (मा हिंसीः) मत मार। इसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (त्वां योनिम् आविशन् मा मा हिंसीः) अपने आश्रय को प्राप्त करके मुझ प्रजाजन का नाश मत कर। शत० १२। ७। ३। १४॥

उपयामगृहीतोऽस्याश्विनं तेजः सारस्वतं वीर्यमैन्द्रं बलम्।
एष ते योनिर्मोदाय त्वानन्दाय त्वा महसे त्वा ॥ ८ ॥

पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे अधिकार पद योग्य पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राष्ट्र के नियन्ता राजा के विशेष धर्मों द्वारा बद्ध है। (आश्विनं तेजः) सूर्य चन्द्र, दिन रात्रि, स्त्री पुरुष, इन युगलों के समान राजा और प्रजा दोनों का सम्मिलित वीर्य है। (सारस्वतम् वीर्यम्) हे पुरुष ! सरस्वती, वेदवाणी अर्थात् समस्त ज्ञानी विद्वानों का संयुक्त बल है। हे पुरुष ! तू (इन्द्रं बलम्) शत्रु नाश करनेवाले इन्द्र, सेनापति का बल, सेनाबल है (एषः ते योनिः) तेरा यह आश्रय या अधिकारपद है। (त्वा) तुझ योग्य पुरुष को (मोदाय) राष्ट्र के हर्ष के लिये स्थापित करता हूं। (त्वा आनन्दाय) तुझको आनन्द प्राप्त करने के लिये नियुक्त करता हूं। (त्वा महसे) तुझको बड़े भारी ऐश्वर्य और मान, प्रतिष्ठा, आदर, सत्कार प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करता हूं।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ ६ ॥
पयः सुरा च देवते । शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (तेजः असि) तेज, तीक्ष्ण पराक्रम स्वरूप है । (मयि तेजः धेहि) मुझ प्रजाजन में भी तेज को धारण करा । तू (वीर्यम् असि) वीर्य, सब अंगों में स्फूर्ति, गति, चेष्टा उत्पन्न करनेवाला शरीर में वीर्य के समान सामर्थ्यवान् है । तू (मयि) मुझ में भी उस (वीर्यम्) वीर्य को (धेहि) धारण करा । (बलम् असि) तू बल अंगों में दृढ़ता उत्पन्न करनेवाला बलवान् है । (मयि) मुझ प्रजा जन में भी (बलं धेहि) उस बल, दृढ़ता को धारण करा । (ओजः असि) शरीर में जिस प्रकार ओज, अष्टम धातु, कान्ति उत्पन्न करनेवाला, मुख्य प्राण का उत्तम सामर्थ्य है उसी प्रकार के (ओजः) प्राण के उत्कृष्ट सामर्थ्य को (मयि धेहि) मुझ में धारण करा । (मन्युः असि) तू शत्रु या विपरीत बाधक पदार्थ को न सहन करनेवाला क्रोध रूप है उसी प्रकार के (मन्युं) शत्रुओं को स्तम्भन करने में समर्थ मन्यु को (मयि धेहि) मुझ में भी धारण करा । (सहः असिः) हे राजन् ! तू शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ शक्ति है । तू (सहः मयि धेहि) मुझ में भी शत्रु पराभव करने की शक्ति प्रदान कर । इसकी संगति देखो अथर्व वेद का० १६ । सू० ३१ । म० ११ ॥

परमात्मा और शरीर में आत्मा भी तेजः स्वरूप, वीर्यस्वरूप, बल-स्वरूप, ओजःस्वरूप, मन्युस्वरूप, और सहः स्वरूप हैं अतः हे परमेश्वर मुझ उपासक को तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु और सहः का प्रदान करें ।

या व्याघ्रं विषूचिकौभौ वृकं च रक्षति ।
श्येनं पतत्रिणꣳ सिꣳहꣳ सेमं पात्वꣳहसः ॥ १० ॥

हेमवर्चिर्ऋषिः । आर्ष्युष्णिक् । धैवतः ॥ विपूचिका स्तुतिः ॥

भा०—(या) जो (विसूचिका) विविध पदार्थों को सूचना देने वाली (व्याघ्रम्) व्याघ्र के समान शूरवीर, और (वृकं च) भेड़ियों के समान शत्रु पर साहस से जा पड़नेवाले अथवा व्याघ्र जिस प्रकार अपने आहार को सूंघ कर ही पता लगा लेता है उसी प्रकार सूक्ष्म २ लक्षण देखकर जो शत्रु का पता लगाले और वृक जिस प्रकार भेड़ आदि को बल पूर्वक हर लेता है उसी प्रकार जो शत्रु के राज्य को हर ले (उभौ) उन दोनों को जो (विषूचिका) विविध पदार्थों को सूचना करनेवाली संस्था (रक्षति) उनको शत्रु के पंजे में पड़ने से बचाती है इसी प्रकार जो विविध प्रकार की सूचना देनेवाली संस्था (श्येनम्) बाज के समान सहसा अपने शत्रु पर (पतत्रिणम्) सेना के दोनों पक्षों (wings) के साथ वेग से जा टूटने वाले विजयी को और (सिंहम्) सिंह के समान पराक्रमी शूरवीर पुरुष की (पाति) रक्षा करती है, उसको सब प्रकार से शत्रु की चालें बतलाकर उसको शत्रु के हाथों पड़ने से बचाती है । सा) वह (इमं) इस नये प्रतिष्ठित राजा को भी शत्रु की ओर से होने वाले (अहंसः) शत्रु वध आदि क्रूर कर्म से (पातु) बचावे । व्याघ्र, वृक, बाज़ पक्षी, और सिंह ये जीव दूर से ही अपने आहार आदि के विषय में जान लेते हैं उनकी जान लेने की प्राण शक्ति 'विपूंचिका' है । इसी प्रकार सेनापति, राजा, पराक्रमी पुरुषों को भी अपने अधीन गुप्त, समाचार देनेवाली, जासूस संस्था को नियुक्त करना चाहिये जो शत्रु की सब चालों का पता दे । वही संस्था 'विसूचिका' कहाती है । इसका वर्णन अर्थ शास्त्र 'गुप्त प्रणिधिसंस्था' रूप में किया गया है । शत० १२ । ७ । ३ । २१ ॥

अध्यात्म में—विविध ज्ञानों को देनेवाले अन्न प्रज्ञा विविध पदार्थों के ज्ञाता 'व्याघ्र', कर्म फलों के आदाता 'वृक', तीक्ष्ण ज्ञानी श्येन, पतत्री

हंस आत्मा, दोषों के नाशक 'सिंह' रूप आत्मा की रक्षा करती है वही उसको पाप से बचावे।

यदा पिपेष मातरं पुत्रः प्रमुदितो धयन्। एतत्तदग्ने अनृणो भवाम्यहतौ पितरौ मया। संपृच्च स्थ सं मा भद्रेण पृङ्क्त विपृच्च स्थ वि मा पाप्मना पृङ्क्त ॥ ११ ॥

अग्निर्वैवता। शक्वरी। धैवतः ॥

भा०—(यत्) जब (पुत्रः) पुत्र (प्रमुदितः) अत्यन्त हर्षित होकर (धयन्) स्तन्य पान करता हुआ (मातरं) अपनी माता को (आ पिपेष) गाढ़ आलिंगन करता या चिपटता है। (तत्) तब (एतत्) इस प्रकार से ही हे (अग्ने) अग्रणी, ज्ञानवान्, विद्वन्! मैं (अनृणः) माता पिताओं के ऋण से मुक्त (भवामि) हो जाता हूं और समझता हूं कि (मया) मुझ पुत्र ने गृहस्थ होकर जो माता पिता के ऋण को चुका दिया इससे (मया) मैंने (पितरौ) माता पिता को (अहतौ) पीड़ित न रखकर सुखी कर दिया। अर्थात् पुत्र रहित होना माता पिता को दुःखित रखना है। हे प्रेमी विद्वान् पुरुषो! आप लोग (संपृचः स्थ) मुझ से सत्संग करनेवाले हो, आप लोग (मां) मुझे (भद्रेण) सुखप्रद कल्याण कार्य से (सं पृङ्क्त) संयुक्त करो। हे विवेकी विद्वान् पुरुषो! आप लोग (विपृचः स्थ) विविध विषयों का ज्ञान करके और विवेक करनेवाले हो आप लोग (मा) मुझे (पाप्मना) पाप से (वि पृङ्क्त) विमुक्त रखो। शत० १२। ७। २। २१–२२ ॥

राजा पक्ष में—(यद्) जब (पुत्रः) पुरुषों को त्राण करने में समर्थ पुरुष, वीर राजा (प्रमुदितः) अति हर्षित होकर (धयन्) माता या गाय के बछड़े के समान पृथ्वी के पुत्र के समान ही उसका पुत्र होकर उसके अन्नादि का पान करता हुआ (मातरं आपिपेष) माता के तुल्य

सब प्राणियों के उत्पादक पृथ्वी को मैं पैरों आदि से या सेना बल से लताड़ता भी हूं तो भी हे (अग्ने) परमेश्वर या विद्वन् ! राजन् ! (अहम् (अनृणोऽस्वामि) मैं ऋण मुक्त ही होता हूं (मयः) मेरे द्वारा (पितरौ) माता पिता के समान पालक पुरुष सदा (अहतौ) कभी पीड़ित न हों, कष्ट न पावें ! हे (सम्पृचः) हे संपर्क करनेवाले पुरुषो ! आप लोग सदा मुझे (अदेघ संपृङ्क) कल्याण फल से युक्त करो और हे (विपृचः) पाप से पृथक् रखनेवाले पुरुषो ! तुम लोग (मा पाप्मना विपृङ्क) मुझे पाप मार्ग से पृथक् रखो ।

देवा यज्ञमतन्वत भेषजं भिषजाश्विना ।
वाचा सरस्वती भिषगिन्द्रायेन्द्रियाणि दधतः ॥ १२ ॥

१२–३२ सोम सम्पत् । अनुष्टुभः । गांधारः ॥

भा०—(भिषजा) रोगों को चिकित्सा करने में कुशल (आश्विनौ) आयुर्वेद के विज्ञान में पारंगत औषधवित् और शल्य चिकित्सक दोनों और (सरस्वती) सरस्वती, वेदवाणी, या विद्वत्सभा जो (वाचा) वाणी के उपदेश द्वारा (भिषक्) अज्ञान दोषों को दूर करने में कुशल, और (देवाः) विद्वान् लोग (इन्द्राय) इन्द्र के निमित्त (इन्द्रियाणि) राजोचित ऐश्वर्यों और सामर्थ्यों को (दधतः) धारण कराते हुए (भेषजम्) रोग, निर्बलता को दूर करनेवाले (यज्ञम्) परस्पर संगति करनेवाले प्रजा पालन व्यवहार का यज्ञ के समान ही (अतन्वत) उपदेश करते हैं ।

दीक्षायै रूपꣳ शप्पाणि प्रायणीयस्य तोक्मानि ।
क्रयस्य रूपꣳ सोमस्य लाजाः सौम्राꣳशवो मधु ॥ १३ ॥

१२—३२ देवायज्ञ मिति ब्राह्मणानुवाकः विंशतिरनुष्टुभः । सोम सम्पत् । इति सर्वानु० । अयंविंशतिकाण्डात्मको ब्रह्मणानुरूपोऽनुवाकः इति याज्ञिको ऽनन्तदेवः ॥

भा०—१. (शप्पाणि) शप्प-अर्थात् नये उगे धान्य, (दीक्षायै रूपम्) दीक्षा अर्थात् दीक्षणीयेष्टि के रूप हैं। यज्ञ में जिस प्रकार दीक्षणेयेष्टि है उसी प्रकार 'सौत्रामणी' में 'शप्प' नये हरे धान्य हैं। उत्तम रीति से पालन करनेवाले सुत्रामा नाम राजा प्रजापालनी वृत्ति में (शप्पाणि) शत्रुओं को हनन करने के साधन ही राष्ट्रपात की दीक्षा का रूप हैं।

'शप्पाणि'—शप्यते हन्यते इति तच्छप्पम्। वालतृणं कान्तिक्षयो वा इति दया० उणा० ॥ शप् हिंसार्थो भ्वादिः ॥ हिंसार्थस्य शसेर्वा स्तुत्यर्थस्य शंसेर्वा रूपम्।

२. (तोक्मानि प्रायणीयस्य रूपम्) तोक्म अर्थात् नये जौ यज्ञ में 'प्रायणीय' इष्टि के रूप हैं। राज्य पालन पक्ष में—(तोक्मानि) शत्रु के हनन करने या प्रजा के प्रसन्न करने के कार्य ही 'प्रायणीय' अर्थात् उत्कृष्ट पद का प्राप्ति का स्वरूप हैं।

'तोक्मानि'—तोकं तुष्यतेः। निरु० १०। १। ७॥ तोक्म, तुजे स्तुचेः, तवतेः तुष्यतेर्वा मनिनि ककारोन्त देशः। तुज हिंसायाम्। भ्वादिः। च प्रसादे। भ्वादिः।

३. (लाजाः सोमस्य क्रयस्य रूपम्) लाजाएं सोम के क्रय के रूप हैं। अर्थात् (लाजाः) प्रफुल्लित व्रीहि या प्रसन्न प्रजाएं या समृद्ध विभूतियें ही सोम रूप राजा के राजपद के वेतन के स्वरूप हैं, 'लाजाः' दीप्त्यर्थस्य राजंतेः। लत्वं छान्दसम्। आदित्यानां वा एतद्रूपं यल्लाजाः। तै० ३। ८।

४. (मधु सोमांशवः) मधु यज्ञ में सोम के अंशों के समान हैं। राजा के पक्ष में—(मधु) दुष्टों के धमन, या पीड़न करनेवाला सैनिक बल या प्रजा के तृप्तिकारक या हर्षकर, बलकारी अन्न, सोम नाम राजा के अंशु अर्थात् राष्ट्र में व्यापक बल के समान है।

१४। ४॥ नक्षत्राणां वा एतद्रूपं यल्लाजाः। तै० १।३।२।१।५॥

एतद् वै प्रत्यक्षात् सोमरूपं यन्मधु । श० १२ । ८ । २ । १५ ॥
धर्मतेर्वा मधु । देवय० ।

आतिथ्यरूपं मासरं महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपसदामेतत्तिस्रो रात्रीः सुरासुता ॥ १४ ॥

भा०—५. (मासरम् आतिथ्यरूपं) मासर अर्थात् धान और सांवा चावल के भातों का और पूर्व कहे शष्प, तोक्म, लाज आदि पदार्थों का मिश्रित पदार्थ 'मासर' कहाता है । वह आतिथ्य इष्टि का रूप है । इसी प्रकार राष्ट्र पक्ष में-(मासरं आतिथ्यरूपम्) राष्ट्र के कार्यकर्त्ताओं को जो प्रतिमास वेतनादि रूप में दिया जाता है वह 'मासर' कहाता है । प्रतिमास का वेतन देना यज्ञ में 'आतिथ्य' इष्टि के समान है ।

'मासर'-मासं मासं रीयते दीयते यत् तत् मासरम् ।

६. (नग्नहुः महावीरस्य) नंग्नंहु, महावीर अर्थात् यज्ञ में घर्मेष्टि का रूप है । राष्ट्र पक्ष में-नग्न अर्थात् अकिंचन पुरुषों को अन्न वस्त्रादि प्रदान करना ही 'महावीर' बड़े वीर्यवान् त्यागी पुरुष का रूप है । यः नग्नान् जुहोत्यादत्ते इति नग्नहूः । इति दया० ।

७. (उपसदाम्) उपसद् इष्टियों का (एतत् रूपम्) यह रूप है जो (तिस्रः रात्रीः) तीन रातों तक (सुरा=सुता) सुरा, अन्नरस, सवन किया जाता है । राष्ट्र पक्ष में-(एतत्) यह (उपसदाम्) समीप विराजनेवाले अधिकारी पुरुषों और समस्त राष्ट्रगत अधिकारों का ही (रूपम्) उज्ज्वल स्वरूप है जो (तिस्रः) तीन (रात्रीः) रातों तक, तीन दिनों तक (सुरा) सुख से रमण करने योग्य राज्यलक्ष्मी का (सुता) राजा के निमित्त अभिषेक किया जाता है । अर्थात् इन तीन दिनों में ही समस्त राज्या धिकार राजा को सौंपें जाते हैं । अथवा (तिस्रः रात्रीः) तीन प्रकार की

राजपालक शक्तियों से (सुरा सुता) अभिषेक क्रिया का सम्पादन किया जाता है, यही उपसद अर्थात् समस्त अधिकारों का उत्तम स्वरूप है ।

'उपसदः'—वज्रो वा उपसदः । श० १० । २ । ५ । २ ॥ जितयो वै नामैता यदुपसदः । ऐ० १ । २४ ॥ इषुं वा एते देवाः समस्कुर्वत यदुपसदस्तस्य अग्निरनीकमासीत्, सोमः शल्यः, विष्णुस्तेजनः वरुणः पर्णानि । ऐ० । १ । २५ ॥

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत्परिषिच्यते ।
अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायैन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥ १५ ॥

८. (परिस्रुत् परिषिच्यते) जो परिस्रुत् का परिषेक किया जाता है । वह (क्रीतस्य सोमस्य रूपम्) कीने हुए सोम का रूप है । अर्थात् राष्ट्रपक्ष में—(परिस्रुत्) सब देशों से प्राप्त राज्यलक्ष्मी से जो अभिषेक किया जाता है वही राज्यलक्ष्मी द्वारा कीने गये, तदधीन हुए, या उससे प्राप्त सोम अर्थात् सर्वाज्ञापक राजा का उत्तम रूप है । देखो शोडषिग्रहप्रकरण शत० ५।१।२।१६॥

९. (अश्विभ्याम्) अश्वियों, स्त्री पुरुषों और (सरस्वत्या) सरस्वती, वेद के विद्वानों की बनी सभा द्वारा (इन्द्राय) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा के हित के लिये (भेषजम्) सब कष्टों का निवारण करनेवाला (ऐन्द्रं) इन्द्र का पद (दुग्धम्) सब प्रकार से पूर्ण किया जाता है ।

आसन्दी रूपꣳ राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी ।
अन्तरऽउत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक् ॥ १६ ॥

१०. (आसन्दी) आसन्दी, यह पृथिवी ही (राजासन्द्यै रूपम्) राजा के बैठने के लिये आसन पीढ़ी का रूप है ।

'आसन्दी'—इयं पृथिवी या आसन्दी अस्या हिं इदं सर्वमासन्नम् । श० ६ । ७ । १ । १२ ॥

११. (सुराधानी कुम्भी वेद्यै रूपम्) सुरा अर्थात् राज्यलक्ष्मी को धारण

करने वाली (कुम्भी) घट के समान गोलाकार पात्र (वेद्यै) वेदी, पृथ्वी का ही उत्तम रूप है ।

१२. (अन्तरः उत्तरवेद्याः रूपम्) अन्तर लोक अर्थात् अन्तरिक्ष उत्तर वेदी का रूप है ।

१३. (कारोतरः भिषक्) कारोतर अर्थात् 'छनना' के समान सार और असार पदार्थों का विवेचन करनेवाला विवेकी पुरुष ही अच्छा (भिषक्) रोग और पीड़ाओं को दूर करने में समर्थ है । अतः छनना भिषक का प्रतिनिधि है ।

वेद्या वेदिः समाप्यते बर्हिषा बर्हिरिन्द्रियम् ।
यूपेन यूपऽआप्यते प्रणीतोऽअग्निरग्निना ॥ १७ ॥

१४. (वेद्या वेदिः समाप्यते) यज्ञ के वेदी से (वेदिः) यह समस्त पदार्थ के प्राप्त करानेवाली भूमि (सम् आप्यते) समान रूप से ली जाती है।

१५. (बर्हिषा) यज्ञवेदी में बिछे कुश से (बर्हिः इन्द्रियम्) महान् इन्द्र, राजा का ऐश्वर्य (समाप्यते) तुलना किया जाता है ।

१६. (यूपेन यूपः) यज्ञ के 'यूप' नामक स्तम्भ से (यूपः) सूर्य, वज्र, खड्ग या स्वयं राजा ही (आप्यते) ग्रहण किया जाता है ।

१७. (अग्निना अग्निः) यज्ञ में प्रदीप्त अग्नि से (अग्निः) अग्रणी अग्नि के समान तेजस्वी राजा को तुलना किया जाता है ।

हविर्धानं यदश्विनाग्नीध्रं यत्सरस्वती ।
इन्द्रायैन्द्रꣳ सदस्कृतं पत्नीशालं गार्हपत्यः ॥ १८ ॥

१८. राष्ट्र के (अश्विनौ) स्त्री पुरुष गण (हविर्धानम्) अन्नों के रखने वाले यज्ञ में ग्राह्य हविष्य पदार्थों के रखने वाले शकट के समान है ।

१९. (यत् सरस्वती) जो सरस्वती, विज्ञान का उपदेश करने का कार्य है वह यज्ञ में (आग्नीध्रम्) अग्नीध् नामक ऋत्विक् के स्थान या आसन के समान है।

२०. (इन्द्राय) इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् राजा के लिये (ऐन्द्रं) जो इन्द्रोचिति ऐश्वर्य (कृतम्) किया जाता है वह यज्ञ में (ऐन्द्रं सदः) ऐन्द्र सदस् के समान है।

२१. इसी प्रकार—(ऐन्द्रं पत्नीशालम्) पालन करने वाली राजा की राजसभा का भवन यज्ञ में पत्नीशाला के समान है।

२२. (ऐन्द्रं गार्हपत्यः) राजा का राज्य में गृहपति के समान रहना ही (गार्हपत्यः) यज्ञ में 'गार्हपत्य' अग्नि स्थापन के समान है।

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य।
प्रयाजेभिरनुयाजान्वषट्कारेभिराहुतीः ॥ १९ ॥

२३. (प्रैषेभिः) उत्तम आज्ञा-कर्मों द्वारा (प्रैषान्) भृत्यों को (आप्नोति) प्राप्त करता है। अथवा (यज्ञस्य प्रैषैः) यज्ञ के 'प्रैष' कर्मों से (प्रैषान्) राष्ट्र के कार्यों में प्रेरित भृत्यों के प्रति की गयी आज्ञाओं की तुलना की जाती है।

२४. (यज्ञस्य आप्रीभिः) यज्ञ की 'आप्री' ऋचाओं से राष्ट्र की (आप्रीः) सब को प्रसन्न रखने वाली वेतनादान, पारितोषिक आदि क्रियाओं की तुलना की जाती है।

२५. (प्रयाजेभिः [प्रयाजान्]) यज्ञ के प्रयाजों द्वारा राष्ट्र के प्रयाज अर्थात् उत्तम २ अधिकार स्थानों से बड़े २ दानों की तुलना की जाती है।

२६. ([अनुयाजेभिः] अनुयाजान्) यज्ञ के 'अनुयाजों' द्वारा राष्ट्र के अनुयाज अर्थात् अनुकूल या तदधीन पुरुषों के प्रति अधिकार ऐश्वर्य प्रदान के कार्यों की तुलना की जाती है।

२७. (वषट्कारेभिः [वषट्कारान्]) यज्ञ के वषट्कार अर्थात् स्वाहाकारों से राष्ट्र के वषट्कारों अर्थात् योग्य पुरुषों को योग्य अधिकार दानों से तुलना की जाती है।

पशुभिः पशून्नाप्नोति पुरोडाशैर्हवींष्यया ।
छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान् ॥ २० ॥

२८. (पशुभिः पशून् आप्नोति) यज्ञगत पशुओं द्वारा राष्ट्र के पशुओं की तुलना है ।

२९. (पुरोडाशैः हवींषि) यज्ञ के पुरोडाशों से राष्ट्र के अन्न आदि भोग्य पदार्थों की तुलना है ।

३०. (छन्दोभिः [छन्दांसि]) यज्ञ में मन्त्ररूप छन्दों से राष्ट्र में नाना अधिकार और व्यवहारों की तुलना है ।

३१. ([सामिधेनीभिः] सामिधेनीः) यज्ञ में समिधा आधान की ऋचाओं द्वारा सामिधेनी अर्थात् राष्ट्र में सेना के विशेष अधिकार और सेनावलों की तुलना है ।

३२. (याज्याभिः [याज्याः]) यज्ञ की याज्या ऋचाओं से राष्ट्र की याज्या अर्थात् भूमि, अन्न और धन के दानों की तुलना है ।

वज्रो वै सामिधेन्यः । कौ० ३ । २, ३ ॥

३३. ([वषट्कारैः] वषट्कारान्) यज्ञ के वषट्कारों से राष्ट्र में योग्य पुरुषों को योग्य अधिकार दानों की तुलना है ।

'याज्याः'—इयं पृथिवी याज्या । श० १ । ७ । २ । ११ ॥ अन्नं वै याज्या । कौ० १५ । ३ ॥ प्रत्तिर्वै याज्या पुरुषैव लक्ष्मीः । ऐ० २ । ४० ॥

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि ।
सोमस्य रूपꣳ हविषऽआमिक्षा वाजिनꣳ मधु ॥ २१ ॥

भा०—यज्ञमें (धानाः) भुने धान, खीलें, (करम्भः) भात की लप्सी, (सक्तवः) सत्तू, (परीवापः) हविष्य, (पयः) दूध (दधि) दही, (आमिक्षा) गरम दूध में खट्टा डालने से फटे दूध के स्थूल भाग आमिक्षा और (वाजिनम्) जल भाग 'वाजिन' और (मधु)

मधुर मधु, ये सब पदार्थ (सोमस्य) सोमरूप (हविषः) अन्न हवि का (रूपम्) रूप हैं । उसी प्रकार राष्ट्र में भी (धानाः) धारण पोषण करने वाली गौएं, (करम्भः) राज्य के कार्य करने वाले कर्मचारीगण, (सक्तवः) समूह या संघ में एकत्र प्रजागण, (परीवापः) पृथ्वी पर सर्वत्र अन्नादि बीजों का आवपन और शत्रुकानाशन, (पयः) पुष्टिकारी पदार्थों का संग्रह, (दधि) धारण पोषण के उपाय, (आमिक्षा) राजा और प्रजा के अधिकारियों का सम्मिलित गण, (वाजिनम्) पशु समृद्धि और (मधु) अन्न समृद्धि, ये सब (हविषः) ग्रहण करने योग्य (सोमस्य) राष्ट्र और राजा का (रूपं) उज्ज्वल रूप हैं ।

धानानाꣳ रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः ।
सक्तूनाꣳ रूपं वदरमुपवाकाः करम्भस्य ॥ २२ ॥

भा०—(धानानां रूपं कुवलम्) धाना, लाजाओं का रूप 'कुवल' अर्थात् कोमल 'वेर' का फल है । अर्थात् जिस प्रकार कोमल वेर को बकरी आदि पशु अनायास गुठली सहित खा जाते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के पोषणकारी गौ आदि पशु भी अनायास दूसरों के वश हो जाते हैं । (गोधूमाः परीवापस्य रूपम्) गोधूम, गेहूँ परिवाप का उत्तम रूप है । अर्थात् गेहूँ अन्न कृषि का उत्तम फल है ।

(सक्तूनां रूपं वदरम्) सक्तुओं का 'वदर' उत्तम रूप है । अर्थात् राष्ट्र में संघ बनाकर रहना शत्रु के लिये 'वेर' के समान होना है अर्थात् जैसे वेर कांटें खाकर प्राप्त होता है उसी प्रकार संघ में रहने से शत्रु को बड़ा कष्ट होता है ।

(उपवाकाः करम्भस्य रूपम्) करम्भ दही से मिले सत्तू का रूप उपवाक अर्थात् 'यव' है । करम्भ अर्थात् वीर्य से युक्त प्रजागण (उप-

वाकाः=उपपाकाः) शत्रु के समीप आने पर उसके दग्ध करने में समर्थ होते हैं ।

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि ।
सोमस्य रूपं वाजिनꣳ सौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥ २३ ॥

भा०—(पयसः रूपं यद्यवाः) जो पयस् अर्थात् दूध के रूप हैं । अर्थात् दूध जिस प्रकार शरीर को पुष्ट करते हैं उसी प्रकार यव अन्न राष्ट्र की प्रजा को पुष्ट करता है । और जिस प्रकार (पयः) पुष्टिकारक वीर्य शरीर का पोषक है उसी प्रकार (यवाः) शत्रुओं को दूर करने में समर्थ सैनिक वीरजन राष्ट्र को पुष्ट करते हैं ।

(दध्नः रूपं कर्कन्धूनि) दधि का रूप 'कर्कन्धू' अर्थात् पके बेरी के फल के समान है । दही जिस प्रकार वीर्य उत्पन्न करती है इसी प्रकार पके बेर भी बल उत्पन्न करते और स्वाद में खट्टे होते हैं । (दध्नः) राष्ट्र में धारण समर्थ बलका स्वरूप (कर्कन्धूनि) कांटेदार बेरी की झाड़ियों के समान हैं। वे जिस प्रकार बाड़ के रूप में रहकर पशुओं से कोमल विटपों को खाये जाने से बचाते हैं उसी प्रकार कांटों के समान पीड़ाकारी हिंसाजनक शस्त्रों को धारण करने वाले वीर सैनिकबल राज्य के (दधि) धारण-कारी बलका स्वरूप हैं ।

'कर्कन्धू'—कर्कं कण्टकं दधाति इति कर्कन्धूः । इति दया० उणा० । अथवा कर्कान् कण्टकरूपान् शत्रून् धुन्वते इति कर्कन्धूनि सेनाबलानि ।

(सोमस्य रूपं वाजिनम्) सोम का रूप 'वाजिन' है । सोम का रूप 'वाजिन' के समान है । 'सोम' अर्थात् राजा का रूप 'वाजिन' वाज अर्थात् अन्न और बल और संग्राम बल का स्वामी होता है । (सोमस्य रूपम् आमिक्षा) सोम राजा के राजत्व का रूप 'आमिक्षा' है । 'आमिक्षा' अर्थात् प्रजा पर सब सुखों का वर्षण करना अथवा सब ओर से राज्य के मुख्य पद पर

अभिषेक क्रिया होना अथवा सब ओर से दुष्ट पुरुषों का नाश करना है।

'आमिक्षा'—समन्तात् मेषति हिनस्ति इत्यामिक्षा। दया० उणा०। मेहति सिञ्चति वा सा आमिक्षा।

आ श्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावोऽअनुरूपः।
यजेति धाय्यारूपं प्रगाथा येयजामहाः॥ २४॥

भा०—('आश्रावय' इति स्तोत्रियाः) 'आश्रावय' इस प्रकार कहना यज्ञ में स्तोत्रिय अर्थात् प्रथम तीन ऋचा के पाठ के समान हैं।

राष्ट्रपक्ष में—(स्तोत्रियाः) विद्वान्, सत्यासत्य विद्याओं के योग्य विद्यार्थीगण (आश्रावय) सब प्रकार की विद्याओं को 'हे गुरो श्रवण कराओ' (इति) इस प्रकार विनय से प्रार्थना करें।

(प्रत्याश्रावो अनुरूपः) यज्ञ में प्रत्याश्राव 'अस्तु श्रौषट्' इस प्रकार कहना अनुरूप अर्थात् अन्त की तीन ऋचाओं के पाठ करने के समान है।

राष्ट्रपक्ष में—(प्रत्याश्रावः) विद्यार्थियों के प्रति विद्याओं का उपदेश करना (अनुरूपः) उनके योग्यता के अनुरूप होना चाहिये।

(यज इति धाय्यारूपम्) 'यज' इस प्रकार कहना 'धाय्या' नाम ऋचा के पठन के समान है।

राष्ट्रपक्ष में—(यज इति) 'प्रदान कर' इस प्रकार आदर से कहना (धाय्या रूपम्) धारण या ग्रहण करने योग्य पदार्थ का उत्तम रूप है। अर्थात् दानरूप में लेने के लिये दाता को (यज) प्रदान कर (इति) ऐसा कहे।

(प्रगाथाः ये यजामहाः) 'ये यजामहे' इत्यादि शब्द प्रगाथा ऋचाओं का पाठ करने के समान हैं।

राष्ट्रपक्ष में—(ये) जो हम लोग (यजामहाः) यज्ञ दान आदि

करते हैं, इस प्रकार श्रेष्ठाचारवान् हैं वे (प्रगाथाः) उत्तमरूप से स्तुति करने योग्य हैं ।

अर्धर्चैरुक्थानांꣳरूपं पदैरामोति निविदः ।
प्रणवैः शस्त्राणांꣳरूपं पयसा सोमऽआप्यते ॥ २५ ॥

भा०—(अर्ध ऋचैः उक्थानां रूपं आप्नोति) अर्ध ऋचाओं द्वारा उक्थ नाम स्तोत्रों का रूप प्राप्त करता है ।

राष्ट्रपक्ष में—समृद्ध स्तुतिवचनों से (उक्थानाम्) विशेष स्तुतियों का स्वरूप प्राप्त होता है ।

(पदैः निविदः आप्नोति) पदों द्वारा 'निविद्' नाम ऋचाओं का ग्रहण करता है ।

राष्ट्रपक्ष में—(पदैः) अधिकारों या अधिकार सूचक पद के द्वारा (निविदः) निखिल पदार्थों को प्राप्त करनेवाले ज्ञानवान् पुरुषों को प्राप्त करता है ।

(प्रणवैः शस्त्राणां रूपम् आप्नोति) यज्ञ में प्रणव अर्थात् ओंकारों द्वारा शस्त्रों अर्थात् स्तुतियुक्त मन्त्रों का स्वरूप प्राप्त करता है ।

राष्ट्रपक्ष में—(प्रणवैः) उत्कृष्ट नवयुवकों द्वारा (शस्त्राणां) शस्त्रधारी पुरुषों का उत्तम स्वरूप प्राप्त करता है ।

(पयसा सोमः आप्यते) 'पयस्' अर्थात् दूग्ध से यज्ञ में सोमलता के रस का रूप प्राप्त किया जाता है ।

राष्ट्रपक्ष में—पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थ से ही (सोमः) समस्त राज्य का सार या राजा का पद प्राप्त किया जाता है ।

अश्विभ्यां प्रातःसवनमिन्द्रैण्द्रं माध्यन्दिनम् ।
वैश्वदेवꣳ सरस्वत्या तृतीयमाप्तꣳ सवनम् ॥ २६ ॥

भा०—(अश्विभ्यां) अश्वियों से (प्रातःसवनम् आप्तम्) प्रातः सवन की तुलना की आती है ।

(इन्द्रेण) इन्द्र ग्रह से (ऐन्द्रं माध्यंदिनम्) इन्द्र देवताक माध्यंदि सवन की तुलना की है ।

(सरस्वत्या) सरस्वती द्वारा (तृतीयम्) तीसरे (वैश्वदेवं सवनम् आसम्) विश्वेदेव सम्बन्धी सवन की तुलना की गई है ।

राष्ट्रपक्ष में—'अश्वि' नामक पदाधिकारियों का स्थापन राष्ट्र के प्रातः सवन प्रातःकालिक आह्निक कृत्य के समान है । इन्द्र पदाधिकारी का स्थापन माध्यंदिन सवन अर्थात् मध्याह्नकाल के कृत्य के समान है। सरस्वती, वेदवाणी का प्रसार (वैश्वदेवं) समस्त प्रजाओं के हितकारी सायंसवन के समान है । अर्थात् प्रातः समय जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र दोनों विद्यमान होते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के दो वीर रक्षक राजा और अमात्य हैं । मध्याह्न में जिस प्रकार प्रखर सूर्य है उसी प्रकार राष्ट्र के बीच प्रचण्ड सेनापति है । सायंकाल रात्रि के समय जिस प्रकार सब दीप्तिमान नक्षत्र हैं उसी प्रकार ज्ञान से उज्ज्वल समस्त विद्वान्गण हैं ।

वायव्यैर्वायव्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम् ।
कुम्भीभ्यांमम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीरापोति ॥ २७ ॥

भा०—(वायव्यैः वायव्यानि आप्नोति) सोम और सौत्रामणी दोनों यज्ञों में वायव्य नामक पात्रों से वायव्यों की तुलना करे ।

(सतेन द्रोणकलशम् आप्नोति) वेत के बने पात्र से सोमयाग के द्रोणकलश की तुलना होती है ।

(सुते कुम्भीभ्यां अम्भृणौ) सोम सवन होजाने पर दो कुम्भियों से अम्भृण नाम पात्रों की तुलना होती है ।

(स्थालीभिः स्थालीः आप्नोति) स्थाली पात्रों से स्थालीपात्रों की तुलना होती है ।

राष्ट्रपक्ष में—वायु के समान तीव्र वेगवान् सैनिकों द्वारा उनके योग्य वेग के कार्यों को प्राप्त करता है।

(सतेन) सम्भाग करने हारे व्यवहार से (द्रोणकलशम्) राष्ट्र को प्राप्त करता है।

(सुते) राज्याभिषेक होजाने पर जलाधार और धान्याधार दोनों प्रकार के (कुम्भीभ्याम्) पात्रों से (अम्भृणौ) प्रजाका पालन पोषण करता है।

(स्थालीभिः) स्थापन क्रियाओं से राष्ट्र के व्यवस्थापक शक्तियों को प्राप्त करता है।

यजुर्भिराप्यन्ते ग्रहा ग्रहैः स्तोमाश्च विष्टुतीः।
छन्दोभिरुक्था शस्त्राणि साम्नावभृथ आप्यते ॥ २८ ॥

भा०—(यजुर्भिः [यजूंषि] आप्यन्ते) यजुओं से यजुओं की तुलना की जाती हैं (ग्रहा ग्रहैः) ग्रहों से ग्रहों का, (स्तोमाः [स्तोमैः]) स्तोमों से स्तोमों की और ([विष्टुतिभिः] च विष्टुतीः) विविध स्तुतियों से विविध स्तुतियों की, और (छन्दोभिः छन्दांसि) छन्दों से छन्दों की (उक्थशस्त्रैः उक्थशस्त्राणि) उक्थ शस्त्रों से उक्थ शस्त्रों की, (साम्ना साम, अवभृथेन अवभृथः) साम गायन से साम गान की और अवभृथ से अवभृथ स्नान की तुलना की जाती है।

राष्ट्रपक्ष में—जैसे यज्ञ में यजुर्वाक्य हैं उसी प्रकार राष्ट्र में (यजुः) व्यवस्थाकारक आज्ञाएं और नियम है। यज्ञ में जैसे 'ग्रह' होम हैं वैसे राष्ट्र में (ग्रहाः) अंग प्रत्यंग, अधिकार विभाग हैं। जैसे यज्ञ में 'स्तोम' हैं उसी प्रकार राष्ट्र में, स्तुति योग्य अधिकार पद हैं। जैसे यज्ञ में 'विष्टुति' नाम ऋचाएं हैं उसी प्रकार राष्ट्र में आदर योग्य पुरुषों की विशेष स्तुतियां हैं।

जैसे यज्ञ में छन्द हैं वैसे राष्ट्र में यथाशक्ति अधिकार कार्य

विभाग हैं। जैसे यज्ञ में 'उक्थशस्त्र' है वैसे राष्ट्र में वीर्यानुसार शस्त्र धारण हैं। जैसे यज्ञ में 'साम' हैं राष्ट्र में सामादि उपाय हैं। जैसे यज्ञ में 'अवभृथस्थान' है वैसे राष्ट्र में अधीनों के भरण पोषण का कर्त्तव्य है।

इडाभिर्भक्तानाप्नोति सूक्तवाकेनाशिषः।
शंयुना पत्नीसंयाजान्त्समिष्टयजुषां संस्थाम् ॥ २९ ॥

भा०—(इडाभिः इडाम्) इडाओं से इडाओं को (भक्तैः भक्तान् आप्नोति) भक्तों से भक्तों के, (सूक्तवाकेन सूक्तवाकम्) सूक्तवाक से सूक्तवाक को, (आशीर्भिः आशिषः) आशीर्वादों से आशीर्वादों को (शंयुना शंयुम्) शंयु से शंयु को, (पत्नीसंयाजान् पत्नीसंयाजैः) पत्न संयाजों से पत्नीसंयाजों की (समिष्टयजुषां समिष्टयजुः) समिष्ट यजु से समिष्ट यजु को और (संस्थया संस्थाम्) संस्था से संस्था को (आप्नोति) प्राप्त करता है। अर्थात् सोमयाग के इडादि विभागों से सौत्रामणी के इडादि विभागों की तुलना करता है।

राष्ट्र में—जैसे यज्ञ में 'इडा' है उसी प्रकार राष्ट्र में इडा, अन्न समृद्धियां और पृथिवियें हैं। यज्ञ में जैसे 'सोमभक्त' हैं उसी प्रकार इधर नाना भोग्य फल हैं। यज्ञ में 'सूक्तवाक' है, राष्ट्र में उत्तम वचन प्रयोग हैं। यज्ञ में आशीर्वाद, राष्ट्र में, आशीर्वादों के समान हैं, यज्ञ में 'शंयु' अर्थात् शांति वाचन है, राष्ट्र कार्यों में भी शांतिकर्म हैं। यज्ञ में पत्नीसंयाज है, राष्ट्र में पालनशक्ति से समस्त प्रजाओं को सुखप्रदान रूप कर्म हैं। यज्ञ में 'समिष्ट यजु' है राष्ट्र में समस्त विद्वानों और शासकों को परस्पर सुसंगत कर उनको योग्य वेतन आदि देना 'समिष्टयजु' है। यज्ञ में 'संस्था' है। राष्ट्र में राजसभा आदि 'संस्था' या व्यवस्था है।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ ३० ॥

भा०—(व्रतेन) सत्यभाषण, ब्रह्मचर्यादि नियम पालन से (दीक्षाम् आप्नोति) पुरुष दीक्षा को प्राप्त करता है। (दीक्षया) दीक्षा से (दक्षिणाम् आप्नोति) दक्षिणा, प्रतिष्ठा और राज्यलक्ष्मी को प्राप्त होता है। (दक्षिणा) प्रतिष्ठा से या शक्ति से (श्रद्धाम्) श्रद्धा, सत्य धारण करने की इच्छा को प्राप्त होता है। (श्रद्धया सत्यम् आप्यते) श्रद्धा, से सत्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल इच्छा से सत्य प्राप्त किया जाता है।

एतावद्रूपं यज्ञस्य यद् देवैर्ब्रह्मणा कृतम्।
तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते ॥ ३१ ॥

भा०—(देवैः) विद्वान् पुरुषों और (ब्रह्मणा) चारों वेदों ने (यज्ञस्य) यज्ञ कर्म का और राष्ट्र प्रजापालन रूप यज्ञ का और अध्ययनाध्यापन यज्ञ का भी (एतावद् रूपम्) इतना पूर्वोक्त किया और इष्टियों सहित उज्ज्वल, एवं उत्तम स्वरूप (यत्) जो (कृतम्) वर्णन किया है (तत्) वह सब (सौत्रामणी यज्ञे सुते) सौत्रामणी नाम यज्ञ में अभिषवन करने पर भी (खलु एतत् सर्वम्) वह सब यज्ञ का स्वरूप (आप्नोति) प्राप्त होता है।

(सौत्रामणी यज्ञे सुते) 'सुत्रामा' उत्तम रीति से त्राण, पालन करने वाले राजा के राष्ट्र पालन के निमित्त अभिषेक करने में भी यज्ञ का पूर्ण स्वरूप उपलब्ध होता है। इसी प्रकार स्वाध्याय यज्ञ में सौत्रामणी यज्ञ अर्थात् यज्ञोपवीत आदि सूत्र जिस क्रिया में मणि, ग्रन्थि आदि रूप से धारण किये जांय वह गुरु द्वारा किये शिष्योपनयन, वेदारम्भ, अध्ययन अध्यापन आदि कार्य भी सौत्रामणी यज्ञ हैं। उनमें शिष्य रूप सोम ज्ञान रूप अमृत या सुरा का पान करता है।

सूत्राणि यज्ञोपवीतादीनि मणिना ग्रन्थिना युक्तानि ध्रियन्ते यस्मिन् इति सौत्रामणी। इति दयानन्दः ॥

सुरावन्तं बर्हिषदꣳ सुवीरं यज्ञꣳ हिन्वन्ति महिषा नमोभिः ।
दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः ॥ ३२ ॥

अश्विनौ सरस्वती इन्द्रश्च देवताः । त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०—(महिषाः) महान् पूजनीय पुरुष (सुरावन्तं) राज्यलक्ष्मी से युक्त (बर्हिषदम्) आकाश में सूर्य के समान वृद्धिकर, पूजनीय आसन और प्रजागण के ऊपर अधिष्ठाता रूप से विराजमान, (सुवीरम्) उत्तम प्राणों से युक्त, आत्मा के समान उत्तम वीर पुरुषों से युक्त (यज्ञम्) सब के पूजनीय, सबको सुव्यवस्थित, सुसंगत करने में कुशल, प्रजापति राजा को (नमोभिः) नमस्कार युक्त आदर वचनों और शत्रुओं को नमाने में समर्थ शस्त्र बलों, वीर्यों से (हिन्वन्ति) बढ़ाते हैं। और हम (देवतासु) विद्वान् पुरुषों के समूहों में, विद्वत्सभाओं में और (दिवि) राजसभा में (सोमं) सब के प्रेरक और (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा को (दिवि) आकाश में सूर्य के समान सर्वप्रकाशक, सर्वोपरि मार्गदर्शक के रूप में (दधानाः) धारण करते हुए (स्वर्काः) उत्तम अर्चना योग्य ज्ञान और अन्नादि पदार्थों सहित (यजमानाः) उसकी सत्संगति लाभ कर और परस्पर सम्मिलित होकर हम (मदेम) स्वयं आनन्द लाभ करें। और उस राजा को भी (मदेम) तृप्त, प्रसन्न संतुष्ट करें। शत० १२।८।१।१॥

यस्ते रसः सम्भृतऽओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य ।
तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम् ॥ ३३ ॥

अश्व्यादयो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! (सुरया सुतस्य) उत्तम रूप से दान देने योग्य या उपभोग या रमण करने योग्य राज्यलक्ष्मी से अभिषिक्त हुए (सोमस्य) सब के प्रेरक (ते) तुझ राजा का (यः) जो (रसः) रस, बल,

३३—'०मश्विना इन्द्र' इति काण्व०।

(ओषधिषु) रोग निवारक ओषधियों, रसवती, स्वतः शत्रुदाहक वीर्य को धारण करने वाली सेनाओं और प्रजाओं में (समभृतः) एकत्र संगृहीत है (तेन) उस (मदेन) हर्षकारी बल से (यजमानं) दानशील प्रजाजन को, (सरस्वतीम्) ज्ञानवती विद्वत्सभा को और (अश्विनौ) राष्ट्र के स्त्री पुरुषों को दो मुख्य अधिकारी राजा रानी या और राजा मन्त्री दोनों को और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् शत्रुनाशक सेनापति और (अग्निम्) ज्ञानवान् आचार्य एवं अग्रणी पुरुष को (जिन्व) तृप्त कर। अर्थात् प्रजाओं के धन से राजा वैश्यों को, विद्वानों को, प्रजा के स्त्री पुरुषों और सेनापति आदि को पालन करे। शत० १२। ८। १ ४ ॥

यम॒श्विना॒ नमु॑चेरासु॒रादधि॒ सर॑स्व॒त्यसु॑नोदिन्द्रि॒याय॑ ।
इ॒मंत॑ꣳ शु॒क्रं म॒धु॑मन्त॒मिन्दु॑ꣳ सो॒म॒ꣳ राजा॑नमि॒ह भ॑क्षयामि ॥ ३४ ॥

अश्वादयो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा० —(अश्विनौ) राष्ट्र के स्त्री और पुरुष अथवा सूर्य और चन्द्र के समान तापकारी और सौम्यस्वभाव के सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष नाम दो अधिकारी और (सरस्वती) वेद वाणी के विज्ञ विद्वानों की सभा (नमुचेः) कर आदि न देने वाले या दुर्भिक्षकालिक मेघ के समान प्रजा के निमित्त कुछ भी सुख और राष्ट्र भोग को प्रदान न करने वाले (आसुरात्) असुर, दुष्ट स्वभाव के राजा से (अधि) अधिक बलवान् (यम्) जिस बलवान् पुरुष को (असुनोत्) अभिषिक्त करती है, राज्यपद पर बैठाती है (तं) उस (इमम्) इस प्रत्यक्ष (शुक्रं) बलवान् तेजस्वी, (मधुमन्तम्) अन्नादि ऐश्वर्य और शत्रुपीड़नकारी बल से युक्त, (इन्दम्) ऐश्वर्यकारी या दुखी प्रजा के प्रति दयार्द्र (सोमम्) सबको सन्मार्ग में प्रेरणा करने में समर्थ पुरुष को, (राजानम्) राजा रूप से (इह) इस राष्ट्र में (भक्षयामि) ऐश्वर्य के भोग का अधिकार

प्रदान करता हूं। अथवा उस राजा के होने का सुख समस्त प्रजाजन को भोग कराता हूं, अथवा मैं प्रजाजन उस पुरुष को राजा (भक्षयामि) भोग करता हूं, उसको स्वीकार करता हूं। शत० १२ । ८ । १ । २ ॥

यह राजा का भोग करना ऐसा ही समझना चाहिये जैसे ग्रहों का राशि भोग, अथवा किसी के 'स्वास्थ्य का पान' करना व्यवहार में प्रचलित है।

यदत्र रिसꣳ रसिनः सुतस्य यदिन्द्रोऽअपिबच्छचीभिः।
अहंतदस्य मनसा शिवेन सोमꣳ राजानमिह भक्षयामि ॥ ३५ ॥
ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—(अत्र) इस राष्ट्र में (रसिनः) बलवान् (सुतस्य) अभिषिक्त राजा के (यत्) जिस (रिसम्) क्रूर कर्म को (इन्द्रः) शत्रु-नाशक सेनापति ने (शचीभिः) अपनी शक्तिवाली सेनाओं द्वारा (अपिबत्) स्वयं ग्रहण किया है (अहम्) मैं प्रजाजन, एवं राष्ट्र के शासक वर्ग सब (तत्) उसको (शिवेन मनसा) कल्याणमय शुभ चित्त से (अस्य) इस राष्ट्र के (राजानं सोमम्) सर्वशासक, ऐश्वर्यवान् राज्य के रूप में (भक्षयामि) भोग करता हूं। अथवा—जो राष्ट्र का भाग प्रथम विजय के समय सेनापति के अधीन था जो पहले ऐश्वर्याश सेना पर व्यय हो रहा था अब उसको विजय और अभिषेक के अनन्तर राजा को भोगने के लिये प्रदान करता हूं। शत० १२ । ८ । १ । ५ ॥

पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः। अक्षन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः। पितरः शुन्धध्वम् ॥ ३६ ॥

पितरो देवताः। निचृदादि त्रिष्टुप्। मध्यमः।

भा०—(स्वधायिभ्यः) स्वधा, अन्न, जल या शरीर के पोषण योग्य वेतन स्वीकार करनेवाले (पितृभ्यः) राष्ट्र और प्रजा के पालक पुरुषों का (स्वधा नमः) अन्न जल एवं योग्य वेतन द्वारा आदर सत्कार और अधिकार दान किया जाय। इसी प्रकार (पितामहेभ्यः) उक्त पालकों के भी पालकों को और (प्रपितामहेभ्यः) उनसे भी ऊँचे पद पर विराजमान उनके भी पालक, शासक उन पुरुषों का जो (स्वधायिभ्यः) अन्न, वेतनादि को ग्रहण करनेवाले हैं (स्वधा नमः) अन्नादि वेतनों द्वारा सत्कार किया जाय। राष्ट्र के शासकों में क्रम से तीन श्रेणियां हों। जो क्रम से एक दूसरे के ऊपर उत्तरोत्तर अपना अधिकार रक्खें।

(पितरः) पालक पुरुष (अत्तन्) यह स्वीकार करें। (पितरः अमीमदन्त) पालक लोग तृप्त सन्तुष्ट होकर रहें। (पितरः अतीतृपन्त) पालक जन प्रसन्न होकर रहें। हे (पितरः) पालकपुरुषो ! (शुन्धध्वम्) हम प्रजाजन को शुद्ध आचरण वाला शत्रु रहित करें, एवं राजा का अभिषेक करें। शत० १२। ८।७। ८॥

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः। पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥ ३७॥

३७–४५ पावमानं सूक्तम्। भुरिगष्टिः। मध्यमः॥

भा०—(सोम्यासः) ऐश्वर्य, राज्य कार्य में स्थित सोम राजा के समान शान्त और तेजस्वी (पितरः) पालक गुरु, आचार्य, विद्वान् ऋत्विग् आदि पूज्य पुरुष (मा पुनन्तु) मुझे पवित्र करें। निन्दा योग्य, असत् आचार से छुड़ाकर सदाचार, शुद्ध व्यवहार में प्रवृत्त करावें। (पितामहाः मा पुनन्तु) पिता के पिता के समान पालकों के भी पालक, गुरुओं के गुरु, शासकों के भी शासक पुरुष मुझे पवित्र आचार

व्यवहारवाला करें। (पितामहाः पुनन्तु) उनके पूज्य लोग भी तुझे पवित्राचारवान् बनावें। वे (पवित्रेण) पवित्र (शतायुषा) सौ वर्ष के पूर्ण दीर्घ जीवनवाले आहार आदि से मुझे पवित्र करें। (पुनन्तु पिता०, पुनन्तु प्रपिता०, पवित्रेण शतायुषा) इति पूर्ववत्। जिससे मैं (विश्वम्) समस्त, सम्पूर्ण (आयुः) जीवन का (व्यश्नवै) भोग करूं। (३७–४५) शत० १२ । ८ । ६–१८ ॥

पुरुषायुषजीवित्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद् ब्रह्मवर्चसम् ॥ रघुवंशे० १ । ६३ ॥

अग्नऽआयूꣳषि पवस ऽआ सुवोर्ज्जमिषं च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ ३८ ॥

प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् विद्वन् ! राजन् ! पितः ! पितामह ! प्रपितामह ! तू (नः आयूंषि) दीर्घ जीवन और उसके प्रदान करनेवाले अन्न घृत आदि पदार्थ और प्राणायाम आदि साधनों को (पवसे) प्रदान कर (ऊर्जम्) परम उत्तम अन्नरस और पराक्रम (इषम्) इच्छानुरूप फल और अन्नादि ऐश्वर्य भी हमें (आसुव) प्रदान कर। और (आरे) समीप और दूर के (दुच्छुनाम्) दुष्ट, पगले कुत्तों के समान प्रजाओं को व्यर्थ काटने और डराने, धमकाने वाले शठ पुरुषों को (बाधस्व) पीड़ित कर,

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा ॥ ३९ ॥

वैखानस ऋषिः । देवजना धियो भूतानि च देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(मा) मुझको (देवजनाः) विद्वान्, दानशील, ज्ञानद्रष्टा, प्रकाशमान्, गुरु, सूर्य आदि जन (पुनन्तु) पवित्र करें। (मनसा धियः) मन, विज्ञान से युक्त, सोच विचार कर किये गये कर्म भी मुझे पवित्र करें। (विश्वा) समस्त (भूतानि) प्राणीगण और पृथिवी, अप्, तेज, वायु,

आकाशादि पदार्थ और हे (जातवेदः) विद्वान् और परमेश्वर ये ! सब (मा पुनन्तु) मुझ राजा और प्रजाजन को पवित्र करें ।

पवित्रेण पुनीहि मा शुक्रेण देव दीद्यत् ।
अग्ने क्रत्वा क्रतूँ१ऽ रनु ॥ ४० ॥

ब्रह्म अग्निर्वा देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (देव) देव ! परमेश्वर, आचार्य एवं विद्यादातः ! हे (दीद्यत्) दीप्यमान ! तेजस्विन् ! हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवान् ! (मा) मुझको (शुक्रेण) शुद्ध, दीप्तिमय, (पवित्रेण) अपने पवित्र ज्ञान स्वरूप और आचार के उपदेश से (पुनीहि) पवित्र कर । और (क्रत्वा) अपने ज्ञान और उत्तम कर्म से (अनु) तदनुसार किये (क्रतून्) हमारे कर्मों और ज्ञानों को भी पवित्र कर ।

यत्ते पवित्रमर्चिष्यग्ने वितंतमन्तरा । ब्रह्म तेन पुनातु मा ॥ ४१ ॥

अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! परमेश्वर ! (ते) तेरे (अर्चिषि) पूजनीय शुद्ध तेज के (अन्तरा) बीच में (पवित्रं) पवित्र, शुद्ध (ब्रह्म) ब्रह्म, वेद ज्ञान (वितनम्) विस्तृत है (तेन मा पुनातु) तू उससे मुझे पवित्र कर ।

विद्वान् के पक्ष में—हे अग्ने ज्ञानवन् (ते अर्चिषि अन्तरा) तेरे ज्वाला के समान तेजस्वी मुख या जिह्वा पर जो (पवित्रं ब्रह्म वितनम्) पवित्र ब्रह्म या वेदमन्त्र व्याख्यासहित विद्यमान हैं उनके उपदेश द्वारा तू मुझे पवित्र कर ।

राजा के पक्ष में—तेरे शुद्ध, पापशोधक ज्वाला, या तेज में जो पवित्र, पावन (ब्रह्म) ब्राह्मणगण विद्यमान है वह मुझ प्रजाजन को ज्ञान, सदाचार, उपदेश द्वारा पवित्र करे ।

पव॑मानः॒ सो॑ऽअ॒द्य नः॑ प॒वित्रे॑ण॒ वच॑र्षणिः ।
यः पोता॒ स पु॑नातु मा ॥ ४२ ॥

सोमो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(यः) जो (अद्य) आज, नित्य ही, (विचर्षणिः) सब का सूर्य के समान द्रष्टा, (पवमानः) वायु और प्राण के समान सब का पवित्र कर्त्ता एवं व्यापक (पोता) अग्नि के समान शोधक परमेश्वर, विद्वान् एवं राजा है (सः) वह (नः) हमें (पवित्रेण) पवित्र ज्ञान और कर्म से (मा) मुझ राजा और प्रजा को पवित्र करे ।

उ॒भाभ्यां॑ देव सवितः प॒वित्रे॑ण स॒वेन॑ च ।
मां पु॑नीहि वि॒श्वतः॑ ॥ ४३ ॥

सविता देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (देव) प्रकाशस्वरूप ! हे (सवितः) सबके उत्पादक ! आप (पवित्रेण) पवित्र, शुद्ध ज्ञान कर्म और (सवेन च) ऐश्वर्य, एवं राज्याभिषेक (उभाभ्यां) दोनों से (मां) मुझ अभिषेक योग्य राजा और प्रजाजन को भी (विश्वतः पुनीहि) सब प्रकार से पवित्र कर ।

वै॒श्व॒दे॒वी पु॑न॒ती दे॒व्याग॒ाद्य॒स्यामि॒मा ब॒ह्व॒य॒स्त॒न्वो॑ वी॒तपृ॑ष्ठाः ।
तया॒ मद॑न्तः सध॒मादे॑षु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ॥ ४४ ॥

विश्वेदेवा देवताः । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(देवी) समस्त उत्तम कार्यों का प्रकाश करने वाली, (वैश्वदेवी) समस्त शासकों और विद्वानों की महासभा (पुनती) समस्त राज्य को पवित्र करती हुई, सत्यासत्य धर्माधर्म का चालनी या सूप के समान विवेक करती हुई, (आगात्) प्राप्त हुई है । (यस्याम्) जिसमें (बह्वयः) बहुत सी (इमाः) ये (वीतपृष्ठाः) कमनीय स्वरूप वाले, ज्ञान प्राप्त किये, (तन्वः) शरीर अर्थात् शरीरधारी जन विद्यमान हैं ।

(तया) उनसे (सधमादेषु) एकत्र आनन्दोत्सवों के अवसरों पर (मदन्तः) प्रसन्न और हर्षित होते हुए (वयं) हम सब (रयीणां पतयः) ऐश्वर्यों के पालक, स्वामी (स्याम) हों। विशेष २ अवसरों पर समस्त प्रजाजनों के प्रतिनिधि, बड़े २ आदमी, अधिकारी आदि की महासभा हो। उसमें वे अपनी उन्नति के विषयों पर विचार करें।

इसी प्रकार (वैश्वदेवी) समस्त स्त्रियों में अधिक विद्यासम्पन्न विदुषी आचार्याणी प्राप्त हो। (यस्यां) जिसके आधीन (बह्वयः) बहुत सी (वीतपृष्ठाः) प्रश्न करने में कुशल जिज्ञासु, विद्यार्थिनी कन्याएं हों। उनके द्वारा हम प्रजाजन (सधमादेषु) गृहस्थ के कार्यों में भी अति सुख प्राप्त करें और ऐश्वर्यों के स्वामी हों।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम् ॥ ४५ ॥

पितरो देवताः। अनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—(यमराज्ये) नियन्ता राजा के राज्य में (ये) जो (समानाः) समान मान वाले, (समनसः) समान चित्त वाले, (पितरः) राज्य के पालक, अधिकारी जन हैं (तेषां) उनको (लोकः) रहने का निवास-स्थान और (स्वधाः) आत्मभरण पोषण योग्य अन्न, वस्त्र, वेतनादि (नमः) सत्कार प्राप्त हो जिससे (यज्ञः) यज्ञ, प्राप्त करने योग्य न्याय और प्रजापालन, परस्पर सुसंगत राजव्यवस्था (देवेषु) विद्वानों, शासकों और कर आधीन माण्डलिकों के बीच (कल्पताम्) और भी दृढ़ और उत्तम पद हो। शत० १२। ८। १। १६॥

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषाꣳ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳ समाः ॥ ४६ ॥

आशीः। श्रीर्देवता। त्रिष्टुप्। गांधारः॥

भा०—(जीवेषु) जीवित मनुष्यों में से (ये) जो (मामकाः) मेरे (जीवाः) जीवित सम्बन्धी लोग (समानाः) मेरे समान मान वाले और (समनसः) मेरे समान ज्ञान और चित्तवाले प्रेमीजन हैं (तेषां) उनकी (श्रीः) समस्त शोभा, लक्ष्मी, सम्पत्ति (अस्मिन् लोके) इस लोक में (शतं समाः) सौ वर्ष तक, पूर्ण आयु भर (मयि कल्पताम्) मेरे में, मेरे अधीन, मेरे निमित्त सदा बढ़ती और बनी रहे। शत० १२।८।१।२०॥

द्वे सृती ऽअशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् ।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥ ४७ ॥

पितरो देवताः । स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(अहम्) मैं (मर्त्यानाम्) मनुष्यों के लिये, उनके जीवन व्यतीत करने के (द्वे सृती) दो मार्ग (अशृणवम्) श्रवण करता हूं। (पितॄणाम्) एक पितरों का पितृयाण मार्ग (उत) और दूसरा (देवानाम्) देव, विद्वान् मुमुक्षुओं का (यत्) जो भी (पितरं मातरं च अन्तरा) पिता और माता के बीच, दोनों के संसर्ग से उत्पन्न (इदं) यह (विश्वम्) समस्त (एजत्) चर, जीवित संसार है वह (ताभ्याम्) उन दो मार्गों से ही (सम्-एति) सुखपूर्वक उत्तम रीति से प्रयाण करता है। जीवन व्यतीत कर रहा है। शत० १२।८।१।२१॥

अथवा—(अहम्) मैं जीवों के दो उत्तम मार्ग सुनता हूं। (देवानाम् उत पितॄणाम्) एक देवों का देवयान और दूसरा पितरों का 'पितृयाण' मार्ग। (उत) और शेष तीसरा (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा जीवों का मार्ग है। उन दोनों से यह जीव संसार (सम् इति) सम्यक् पद या लोक को प्राप्त होता है जो भी पिता माता के बीच या आकाश और भूमि के बीच उत्तम हैं।

छान्दोग्य में तीन मार्ग जैसे—(१) तद्य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये

श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः ॥ (२) अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्ते दत्तम् इत्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति (३) अथैतयोः पथोर्न कत्तरेणचन । तानीमानि क्षुद्राण्य सकृदावर्त्तीनि भूतानि भवन्तिं जायस्व म्रियस्वेत्येतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ-लोको न संपूर्यते ।

राष्ट्रपक्ष में—समस्त राष्ट्र वासी प्रजाजन के जीवन यापन के दो ही मार्ग हैं । एक पालक शासक रूप से राजा की सरकारी सेवा में लगने का, दूसरा (मर्त्यानाम्) साधारण प्रजा का अपने माता पिता के पेशे में लग रहने का ।

इदं हविः प्रजननं मे अस्तु दशवीरꣳ सर्वगणꣳ स्वस्तये । आत्मसनिं प्रजासनिं पशुसनिं लोकसन्यमभयसनिं । अग्निः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो ऽअस्मासु धत्त ॥ ४८ ॥

अग्निर्देवता । निचृदष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(इदं) यह (मे) मेरे (हविः) दान करने और गर्भ में स्त्री द्वारा स्वीकार करने योग्य (प्रजननं) उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाला वीर्य (दशवीरम्) दश पुत्र उत्पन्न करनेवाला अथवा दशों प्राणयुक्त (सर्वगणम्) सर्व अंगों में व्यापक, अथवा सब उत्तम गुणों और अंगों से पूर्ण, सर्वाङ्ग सुन्दर होकर (स्वस्तये) कल्याण के लिये हो । वह (आत्मसनि) अपने देह में बल धारण करनेवाला, (प्रजासनि) प्रजा देनेवाला, (पशुसनि) पशुओं और प्राणगण का बल दाता, (लोकसनि) लोक, आत्मा को बल देनेवाला और (अभयसनि) अभय देनेहारा हो । (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, अग्रणी, वीर, पति (मे) मेरी (बहुलां प्रजां) बहुतसी प्रजाओं को (करोतु) उत्पन्न करे । और (अस्मासु) हम में (अन्नं) अन्न, (पयः) पुष्टिकारक दुग्ध आदि पदार्थ और (रेतः) वीर्य को भी (धत्त) धारण करावे । शत० १२ । ८ । १ । २२

राष्ट्रपक्ष में—(इदं हविः) यह आदान योग्य कर (प्रजननं) उत्तम फलजनक हो। यह (दशवीरम्) शरीर में दश प्राणों के समान दशवीर नेताओं से युक्त (सर्वगणम्) समस्त प्रजाजन को (स्वस्तये करोति) सुख कल्याणयुक्त करे । वह (हविः) कर द्वारा प्राप्त अन्न आदि ऐश्वर्य (आत्मसनि) राजा के भोग योग्य, (प्रजासनि पशुसनि लोकसनि अभयसनि) प्रजा, पशु, अन्य लोक आश्रय का देनेवाला, या उनको पुष्ट करने वाला हो। (अग्निः) अग्रणी वीर नेता सेनापति मेरी प्रजाओं की वृद्धि करे और राष्ट्र में अन्न (पयः) दूध आदि पशु सम्पत्ति और (रेतः) वीर्य, बल की वृद्धि करे ।

उदी॑रतामव॒र ऽउत्परा॑स॒ ऽउन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॒ सो॒म्यासः॑ ।
असुं॒ य ऽई॒युर॑वृ॒का ऽऋ॑तज्ञा॒स्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥४९॥

४१–६१—शंख ऋषिः । पितरो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अवरे) निकृष्ट, तृतीय श्रेणी के (परासः) उत्कृष्ट श्रेणी के और (मध्यमाः) बीच की श्रेणी के (सोम्यासः) राजा के अधीन रहनेवाले राष्ट्र के हितकारी अधिष्ठाता रूप, (पितरः) राज्य के पालक अधिकारी जन, (उद् ३ ईरताम्) उन्नति को प्राप्त हों और राष्ट्र की उन्नति करें, उसे उठावें। (ये) जो (ऋतज्ञाः) सत्य व्यवहारों के जाननेहारे एवं ऋत, सत्य व्यवस्था नियमों के विज्ञ और स्वयं (अवृकाः) वृक, भेड़िये या चोरों के समान प्रजा के घातक और राजकार्य में धन के चोर न होकर (असुम्) अपने प्राण को (ईयुः) धारण करते हैं। अर्थात् ईमानदारी से जीवन व्यतीत करते हैं (ते) वे (पितरः) पालक जन (नः) हमारी संग्रामों में (अवन्तु) रक्षा करें ।

आङ्गि॑रसो नः पि॒तरो॒ नव॑ग्वा ऽअथ॒र्वाणो॒ भृग॑वः सो॒म्यासः॑ । तेषां॑ व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिया॑ना॒मपि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ ५० ॥

भा०—(नः) हमारे (पितरः) पालन करनेवाले, पिता के समान पूजनीय, (अंगिरसः) अग्नि और अंगारों के समान तेजस्वी, दुष्टों के संतापक, (नवग्वाः) नवीन या स्तुति योग्य, उत्तम २ वाणियों, ज्ञानों का उपदेश करने और स्वयं प्राप्त करनेवाले, (अथर्वाणः) अहिंसक, शत्रु से कभी परास्त व होने वाले, (भृगवः) दुष्ट पुरुषों को भूननेवाले, एवं स्वयं परिपक्व ज्ञानी, तेजस्वी (सोम्यासः) सौम्य, गुणवान्, एवं सोम अर्थात् राष्ट्र, ऐश्वर्य के हितकारी हैं। (तेषां) उन (यज्ञियानां) यज्ञ, राष्ट्र व्यवस्था के करनेहारे पुरुषों की (सुमतौ) शुभ मति और (भद्रे सौमनसे) कल्याणकारी, सुखप्रद शुभ चित्तता में (वयम्) हम सदा (स्याम) रहा करें।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व के या पूर्ण सामर्थ्य वाले, (पितरः) पालक पिता, गुरु, आचार्य आदि पूज्य पुरुष (वसिष्ठाः) अति अधिक ऐश्वर्यवान्, (सोम्यासः) सोम, राज्यैश्वर्य के हितकारी होकर (सोमपीथं) राज्य, ऐश्वर्य या राजपद के पालन एवं भोग को (अनु-ऊहिरे) उचित रीति से अनुकूल रहकर वहन करते हैं राजा की आज्ञा और नियमानुसार राज्य कार्यों के भार उठाते हैं (यमः) नियन्त, राजा पुत्र के समान (उशद्भिः) नाना कामनाएं करनेहारे (तेभिः) उनके साथ स्वयं भी (उशन्) कामनावान् या कान्तिमान् तेजस्वी होकर (हवींषि संरराणः) अन्न आदि भोग्य पदार्थों का अन्यों को दान करता एवं स्वयं रमण करता हुआ (प्रतिकामम्) प्रत्येक कामना योग्य भोग का (अनु) भोग करे।

त्वꣳ सोम प्रचिकितो मनीषा त्वꣳ रजिष्ठमनु नेषि पन्थाम् ।

तव प्रणीती पितरो न इन्दो देवेषु रत्नमभजन्त धीराः ॥ ५२ ॥

भा०—हे (सोम) सर्व आज्ञापक अभिषेकयुक्त, राजन् ! विद्वन् ! (त्वं) तू (अचिकितः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् है । अतः (मनीषा) अपनी बुद्धि से (त्वं) तू (राजिष्ठम्) अति सरल (पन्थाम्) मार्ग पर (नैषि) ले चल । (तव) तेरी (प्रणीती) उत्तम शासन नीति में हे (इन्दो) ऐश्वर्यवन् ! चन्द्र के समान, दयार्द्र एवं शीतलस्वभाव ! (धीराः) बुद्धिमान्, धैर्यवान् (पितरः) प्रजापालक जन, पुत्र के शासन में पिताओं के समान (देवेषु) राजाओं और ज्ञानवान् विद्वानों के बीच (रत्नम्) रमण करने योग्य श्रेष्ठ पद एवं राष्ट्र को (अभजन्त) प्राप्त करें ।

त्वया हि नः पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः पवमान धीराः ।
वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्ण्वीरेभिरश्वैर्मघवा भवा नः ॥५३॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! हे (पवमान) वायु के या सूर्य के समान शुद्ध करनेहारे ! (हि) क्योंकि (त्वया) तेरे द्वारा ही (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व के या विद्याओं में पूर्ण, (धीराः) बुद्धिमान् (पितरः) पालक पुरुष भी (कर्माणि) समस्त कार्य (चक्रुः) करते हैं । तू स्वयं (अवातः) किसी से पीड़ित और कम्पित न होकर, (वन्वन्) राष्ट्र का भोग करता हुआ, सेनाओं को उचित स्थानों पर संविभक्त करता हुआ (परिधीन्) चारों तरफ स्थित शत्रुओं को (अप ऊर्णु) दूर हटा देता । और (वीरेभिः अश्वेभिः) वीर अश्वारोहियों द्वारा (नः) हमारे लिये (मघवा) परम ऐश्वर्यवान् होकर (भव) रह ।

त्वꣳसोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी ऽआ ततन्थ ।
तस्मै त ऽइन्दो हविषा विधेम वयꣳस्याम पतयो रयीणाम् ॥५४॥

भा०—हे (सोम) सोम ! राजन् ! (त्वं) तू (पितृभिः) राष्ट्र-

पालक शासकों एवं राजसभा के सभासद् पुरुषों से (संविदानः) सहमति करता हुआ (अनु) तदनुसार (द्यावा पृथिवी) सूर्य पृथिवी के समान राजशक्ति और प्रजागण को (आततन्थ) विस्तृत कर। हे (इन्दो) चन्द्र के समान प्रिय ! (ते तस्मै) उस तुझे हम (हविषा) स्वीकार करने और प्रदान करने योग्य उत्तम आदर एवं पुरस्कार द्वारा (विधेम) सत्कार करें, तेरी आज्ञा पालन करें। और (वयं) हम (रयीणाम्) ऐश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

बर्हिषदः पितरऽ ऊत्युर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योरपो दधात ॥ ५५ ॥

भा०—हे (बर्हिषदः) प्रजाओं के ऊपर शासकरूप से विराजमान एवं उत्तम आसनों और पदों पर स्थित (पितरः) पालक जनो ! (वः) आप लोगों के लिये (इमा हव्या) इन अन्नादि भोग्य पदार्थों को हम (चकृम) उत्पन्न करते हैं। आप लोग (ऊत्या) अपने रक्षा के निमित्त (जुषध्वम्) उनको प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करें। (ते) वे आप लोग (शंतमेन) अति अधिक शान्तिदायक, सुखकारी (अवसा) रक्षण सामर्थ्य से (आगत) आओ। (नः) हमें (शं) शान्ति, सुख (योः) और कष्टों का निवारण कर (अरपः) पाप और दुःख से रहित, सदाचार और सुख (दधात) प्रदान करो।

अहं पितॄन्त्सुविदत्राँ२ऽ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त ऽइहागमिष्ठाः ॥५६॥

भा०—(अहम्) मैं (सुविदत्रान्) उत्तम, विविध शुभ ज्ञानों के देने और जानने वाले (पितॄन्) पिता के समान पूजनीय, गुरु आदि पालक पुरुषों को (आ अवित्सि) प्राप्त करूं। और (विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के

(नपातं च) अविनाशी, सामर्थ्य और (विक्रमणं च) विविध व्यापक सृष्टि-क्रम को भी (आ अचित्सि) जानूं। और (ये) जो (बर्हिषदाः) महान् ब्रह्म में ही स्थित ब्रह्मिष्ठ पुरुष (स्वधया) आत्म धारणा शक्ति से (सुतस्य) स्वयं निष्पादित। साक्षात् किये, (पित्वः) पान योग्य, परमानन्द, रसस्वरूप आत्मा का या ब्रह्म का (भजन्ते) भजन, सेवन करते हैं (ते इह) वे इस राष्ट्र या गृह में (आ अगमिष्ठाः) आवें।

राजा के पक्ष में—मैं प्रजाजन (सुविदत्रान्) उत्तम रीति से नाना प्रकार के पदार्थों के दाता, एवं पालक पुरुषों को प्राप्त करूं और जानूं और (विष्णोः) व्यापक सामर्थ्यवान् राजा के (नपातं) अखण्ड तेज और (विक्रमणं) पराक्रम को भी प्राप्त करूं। (ये) जो (स्वधया) अपने वेतन के द्वारा ही (बर्हिषदाः) उच्च आसन या प्रजाओं पर अधिकारी रूप से विराजते हैं और (सुतस्य पित्वः) उत्पादित अन्नादि पदार्थों का भोग करते अथवा अभिषिक्त परिपालक राजा की सेवा करते हैं (ते इह) वे इस राष्ट्र में (आ अगमिष्ठाः) आवें।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५७ ॥

भा०—(सोम्यासः) सोम, राष्ट्र, ऐश्वर्य एवं राजा के हित कर, उसके चाहने वाले (पितरः) पालक जन (बर्हिष्येषु) प्रजाओं के संगृहीत उत्तम उत्तम पदार्थों अथवा आसनों के योग्य (प्रियेषु) प्रिय, अतिमनोहर (निधिषु) धन कोशों के आधार पर उनके भोग करने के लिये (उपहूताः) निमन्त्रित किये जाते हैं। (ते) वे (आगमन्तु) आवें, (ते) वे (इह) इस राष्ट्र में आकर (श्रुवन्तु) हमारे वचन सुनें। (ते अधि ब्रुवन्तु) वे अधिष्ठाता होकर आज्ञा और उपदेश दें। (ते) वे (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें।

आ यन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः ।
अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्त तेऽवन्त्वस्मान् ॥ ५८ ॥

भा०—(नः) हमारे (सोम्यासः) राष्ट्र समृद्धि और ऐश्वर्य के इच्छुक (अग्निष्वात्ताः) अग्नि, अग्रणी रूप में स्वात्त, स्वीकृत; अथवा अग्रणी; ज्ञानी, विद्वान् आचार्य आदि पदों का भोग करने वाले; अथवा अग्नि के समान तेजस्वी राजा द्वारा स्वीकृत या उत्तम पदों पर प्राप्त होकर (पितरः) पालक जन (देवयानैः) देवों, विद्वानों से चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से, (आ यन्तु) आवें । (ते) वे भी (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञ में, ज्ञान मार्ग एवं प्रजा पालन के कार्य में (स्वधया) अन्नादि वेतनों द्वारा (मदन्तः) तृप्त, संतुष्ट होकर (अधि ब्रुवन्तु) शासक होकर आज्ञा करें और (अस्मान्) हमें (अवन्तु) दुष्ट पुरुषों के आघात से बचावें ।

अग्निष्वात्ताः पितरः एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳ सर्ववीरं दधातन ॥५९॥

भा०—हे (अग्निष्वात्ताः पितरः) पूर्वोक्त अग्निष्वात्त, अग्रणी रूप से राजा द्वारा स्वीकृत एवं पालक पुरुषो ! आप लोग (इह आगच्छत) यहां आओ । और (सुप्रणीतयः) उत्तम सुखदायक मार्ग में लेजाने एवं उत्तम न्याय और राजनीति के वर्त्तन में कुशल होकर (सदः सदः सदत) अपने २ पृथक् घरों और एवं राजसभाओं में विराजमान होओ । और (प्रयतानि) नियमपूर्वक नियत (हवींषि) स्वीकार योग्य अन्नादि वेतनों को (अत्त) भोग करो । (अथा) और (बर्हिषि) विशाल राष्ट्र एवं गण पर (सर्ववीरम् रयिम्) समस्त वीरों के उत्पादक ऐश्वर्य को (दधातन) धारण करो ।

ये ऽअग्निष्वात्ता ये ऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ ६० ॥

भा०—(ये) जो (अग्निष्वात्ताः) अग्रणी आदि पदों पर स्थित अथवा राजा से स्वीकृत हैं और (ये) (अनग्निष्वात्ताः) जो अग्रणी मुख्य पदों पर नहीं स्थित हैं अथवा जिनको राजा की ओर से नहीं चुना गया है प्रत्युत जो प्रजा द्वारा चुने गये हैं या ज्ञाननिष्ठ आदर योग्य हैं और जो (मध्ये दिवः) ज्ञान प्रकाश से युक्त राजसभा के बीच (स्वधया) अपनी धारणा, शक्ति, सामर्थ्य से (मादयन्ते) आनन्द प्रसन्न रहते और अन्यों को ज्ञान से तृप्त करते हैं। (तेभ्यः) उनके लिये भी (स्वराड्) स्वयं सर्वों पर विराजमान, सूर्य के समान तेजस्वी, बड़ा राजा (यथावशं) यथाशक्ति (असुनीतिम्) प्राण धारण कराने वाली (तन्वः) शरीरवृत्ति को (कल्पयाति) लगादे।

अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे नाराशꣳसे सोमपीथं य आशुः।
ते नो विप्रासः सुहवा भवन्तु वयꣳ स्याम पतयो रयीणाम् ॥६१॥

भा०—(ये) जो (नाराशंसे) उत्तम पुरुषों के प्रशंसा के समय, उत्तम आदर सत्कार व्यवहार में (सोमपीथम्) राज्यैश्वर्य के पालन करने के पदाधिकार को (आशुः) प्राप्त करते हैं उन (अग्नि-स्वात्तान्) अग्रणी, तेजस्वी पद को प्राप्त या सेनानायकों द्वारा स्वीकृत (ऋतुमतः) ज्ञान-बल के स्वामी पुरुषों को (हवामहे) आदर से बुलावें। (ते) वे (विप्रासः) मेधावी, विद्वान् पुरुष (नः) हमें (सुहवाः) उत्तम समृद्धि के देने वाले (भवन्तु) हों। और हम (रयीणां पतयः स्याम) ऐश्वर्यों के स्वामी बनें।

'ऋतुमतः'—याः षड् विभूतयः ऋतवस्ते। जै० १। २। १। ३॥ ऋतव उपसदः। श० १०। २। ५॥ तदस्या ऋतवोऽभवन्। तै० ३। १२। ६। ४॥ ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो, यथा, मनुष्यस्य। ऐ० १। २॥ ऋतव एते यदृतव्याः। क्षत्रं वा ऋतव्याः, विश इमा इतरा

इष्टकाः ॥ श० । ७ । १ । १ । ७२ ॥ विभूतियें उपसद् अर्थात् उप-सभाएं, या मोर्चे, राजाओं के सम्बन्धी जन, राजसभा के सदस्य और क्षत्रिय पदाधिकारी ये सब 'ऋतु' कहाते हैं ।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केनं चिन्नो यद्व ऽआगः पुरुषता कराम ॥६२॥

६२—७१ पितरो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(जानु) गोढ़े को (आच्य) संकोच कर (दक्षिणतः) दायें तरफ (निषद्य) बैठ कर (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ, सब राष्ट्र को सुसंगत करने वाले प्रजा पालक राजा को लक्ष्य करके (विश्वे) आप लोग सब (अभिगृणीत) अपना २ वक्तव्य प्रकट करो । हे (पितरः) प्रजा के पालक पुरुषो ! (केनचित्) किसी भी प्रकार से (नः) हमें (मा हिंसिष्ट) मत मारो । (यद्) जब हम (वः) आप लोगों के प्रति (पुरुषता= पुरुषतायाम्) पुरुषार्थ करते हुए अथवा पुरुष अर्थात् सामान्य मनुष्य होने से (आगः) अपराध या त्रुटि भी (कराम) करदें ।

आसीनासो ऽअरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त ऽइहोर्जं दधात ॥ ६३ ॥

भा०—हे (पितरः) पालक पिता लोगो ! आप लोग (अरुणीनाम्) गौर वर्ण, एवं गौओं के समान प्रिय, मनोहर मातृजनों के (उपस्थे) समीप में (आसीनासः) बैठे हुए (दाशुषे मर्त्याय रयिं धत्त) दानशील त्यागी पुरुष को ऐश्वर्य प्रदान करो । हे (पितरः) पालक पिता जनो ! (पुत्रेभ्यः) पुत्रों को (तस्य वस्वः) उस २ धन को प्रदान करो । (ते) वे आप लोग (इह) इस गृहाश्रम में रह कर (ऊर्जं) बल पराक्रम के गुण (दधात) धारण करो ।

राज्यपक्ष में—(अरुणीनाम्) लाल ऊन के गद्दियों के (उपस्थे) पीठ

पर या भूमियों पर अधिकारी रूप से (आसीनासः) बैठे हुए आप लोग (दाशुषे मर्त्याय) कर आदि देने वाले प्रजाजन को (रयिं धत्त) ऐश्वर्य भूमि आदि अधिकार प्रदान करो। (पितरः पुत्रेभ्यः) पुत्रों को जिस प्रकार पिता लोग अपनी २ जायदाद देते हैं उसी प्रकार आप लोग (तस्य वस्वः) उस २ नाना प्रकार के धन का प्रजाओं को (प्रयच्छत) प्रदान करो। (ते) वे आप लोग (इह) इस राष्ट्र में, या इस राजा में इसके अधीन रह कर इसके निमित्त (ऊर्जं) बल पराक्रम को (धत्त) धारण करो।

यमग्ने कव्यवाहन त्वं चिन्मन्यसे रयिम्।
तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यं देवत्रा पनया युजम् ॥ ६४ ॥

त्रिष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन् ! अग्रणी नेतः ! राजन् ! हे (कव्यवाहन) विद्वान्, कवि, पुरुषों के देने योग्य ऐश्वर्य के धारक ! अथवा स्तुत्य गुणों को धारण करने हारे ! (त्वं) तू (यम्) जिस (रयिम्) ऐश्वर्य को, (गीर्भिः) वाणियों द्वारा (श्रवाय्यम्) अन्यों को सुनाने योग्य, प्रशंसनीय (देवत्रा) देव, विद्वानों को (युजम्) देने योग्य (चित्) ही (मन्यसे) मानता है (तत्) उसको (नः) हमें (पनय) प्रदान कर।

यो ऽअग्निः कव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः।
प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य ऽआ ॥ ६५ ॥

अनुष्टुप् । गांधारः । अग्निर्देवता ॥

भा०—(यः) जो (अग्निः) ज्ञानवान् विद्याओं के प्रकाश से प्रकाशमान् (कव्यवाहनः) विद्वान् मेधावी पुरुषों के योग्य ज्ञानवचनों को धारण करने हारा विद्वान् (ऋतावृधः) सत्य ज्ञान के बढ़ाने वाले, (पितॄन्) पालक पुरुषों को (यक्षत्) पूजा सत्कार करता है। और (हव्यानि)

ग्रहण करने योग्य ज्ञानों का (देवेभ्यः) ज्ञानवान् पुरुषों और (पितृभ्यः) पालक पुरुषों के लिये, (आ प्रवोचत्) प्रवचन द्वारा सर्वत्र प्रदान या उपदेश करता है, वह (आ) सर्वत्र विख्यात होता है ।

त्वमग्न ईळितः कव्यवाहनाऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी । प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६६ ॥

अग्निर्देवता । निष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवान् ! हे (कव्यवाहन) विद्वानों के वर्णन योग्य कर्मों और सामर्थ्यों को धारण करने वाले ! (त्वम्) तू (ईडितः) स्तुति को प्राप्त होकर (हव्यानि) अन्नादि पदार्थों को (सुरभीणि कृत्वा) उत्तम सुगन्ध युक्त, अन्नों के समान सुखजनक करके (अवाट्) ग्रहण कर और (पितृभ्यः) पालक जनों को भी (प्रादाः) प्रदान कर । (ते) वे लोग (स्वधया) अपने देह के पोषणकारी अन्न और वेतन के रूप से उसका (अक्षन्) भोग करें और (त्वं) तू हे (देव) देव ! राजन् ! (प्रयता) उत्तम रीति से साधित अन्नादि के समान उन (हवींषि) प्रदत्त कर आदि भोग्य पदार्थों को (अद्धि) भोग कर ।

ये चेह पितरो ये च नेह याँश्च विद्म याँ२उ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳ सुकृतं जुषस्व ॥ ६७ ॥

भा०—(ये च पितरः) जो पालक जन, शासक (इह) यहां विद्यमान हैं (ये च) और जो (न इह) यहां नहीं हैं, (यान् उ च विद्मः) जिनको हम जानते हैं और (यान् उ च न प्रविद्म) जिनको हम नहीं भी जानते हैं, हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवन् ! हे विद्वन् ! (ते) (यति) जितने भी हों (त्वं) तू उनको (वेत्थ) जानता और (स्वधाभिः)

६६—त्वमग्न ईळितो जातवेदो वाड्ढव्यानि० इति काण्व० ।

योग्य अन्न आदि देहपोषक सामग्रियों से (सुकृतम्) उत्तम रूप से सम्पादित (यज्ञम्) प्रजापालनरूप 'यज्ञ' को (जुषस्व) सेवन करा। उनको राष्ट्र-कार्य से प्रेम उत्पन्न करा। उनसे राष्ट्र की सेवा करा।

इदं पितृभ्यो नमोऽअस्त्वद्य ये पूर्वासो यऽउपरासऽईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनꣳ सुवृजनासु विक्षु ॥६८॥

भा०—(अद्य) आज विशेष नियत दिन में (ये पूर्वासः) जो पूर्व के, हमारे पहले के और हमसे पूर्व ही कार्य में नियुक्त हैं और (ये) जो (उपरासः) अपने कार्य की अवधि समाप्त करके (ईयुः) चले गये हैं उन (पितृभ्यः) पालक पुरुषों के निमित्त (इदं नमः) यह नमस्कार, आदर भाव एवं अन्न आदि पदार्थ (अस्तु) प्राप्त हो। और (ये) जो (पार्थिवे रजसि) पृथिवी लोक में (आ निषत्ताः) अधिष्ठाता रूप से विद्यमान हैं (ये वा) और जो (नूनम्) निश्चय से (सु-वृजनासु) उत्तम बल और उत्तम आचार वाली (विक्षु) प्रजाओं पर (आनिषत्ताः) अधिष्ठाता रूप से विद्यमान हैं उनको भी (इदं नमः अस्तु) यह अन्नादि वेतन प्राप्त हो।

अग्ने यथा नः पितरः परासः प्रत्नासोऽअग्न ऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तोऽअरुणीरपव्रन् ॥६९॥

पितरो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन्! (अध) और (यथा) जिस प्रकार (नः) हमारे (परासः) पर, उत्कृष्ट पद को प्राप्त (प्रत्नासः) पूर्व के (पितरः) गुरु जन (शुचि) शुद्ध पवित्र (ऋतम्) सत्य, परम ज्ञान को (आशुषाणाः) प्राप्त होते हुए और (उक्थशासः) ज्ञानोपदेश करते हुए (क्षामाः) विनाशकारिणी नीच प्रवृत्तियों को या

भूमियों को (अभिन्दन्तः) भेदते हुए (दीधितिम्) ज्ञान-रश्मि या आदित्य स्वरूप परमेश्वर को (अप व्रन्) प्राप्त होते हैं। अथवा—(अप) सदूरवर्त्ती (अरुणीः) प्रकाशमय उच्चकोटि की भूमियों को (व्रन्) प्राप्त होते अथवा-अन्धकार भूमियों को दूर छोड़ते हुए प्रकाशमय लोकों को प्राप्त करते हैं।

उशन्तस्त्वा नि धीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ ७० ॥

पितरो देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) ज्ञानवन् ! पुत्र के समान प्रिय राजन् ! हम लोग (उशन्तः) कामना करते हुए (त्वा) तुझको (निधीमहि) राज्यासन पर स्थापित करते हैं। और (उशन्तः) कामनावान् होकर ही (सम्-इधीमहि) सब मिल कर तुझे अग्नि के समान नित्य प्रदीप्त करते, तुझे अधिक तेजस्वी करते हैं। तू (उशन्) स्वयं भी यश और अर्थ की कामना करता हुआ (उशतः) कामना वाले (पितॄन्) राज्य के पालक हम लोगों को (हविषे अत्तवे) अन्न, कर आदि ग्राह्य पदार्थों के प्राप्त करने और भोग करने के लिये (आ वह) प्राप्त करा या हमें प्राप्त कर लेने की आज्ञा दे।

अपां फेनेन नमुचेः शिरऽइन्द्रोदवर्तयः ।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ७१ ॥

इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! शत्रुविदारक ! वीर सेनापते ! राजन् ! (यत्) जब तू (विश्वाः) समस्त (स्पृधः) संग्राम में प्रतिस्पर्धा करने वाली शत्रु सेनाओं को (अजयः) विजय करता है तब (अपां फेनेन) जिस प्रकार सूर्य, वायु या विद्युत् वर्षा योग्य जलों की वृद्धि करके (नमुचेः) जल न छोड़ने वाले मेघ के (शिरः) घनीभूत भाग को (उत् अवर्त्तयः)

छिन्न भिन्न कर देता है उसी प्रकार राजा भी (अपां) प्रजा और आप्त पुरुषों के (फेनेन) बल की वृद्धि करके उससे (नमुचेः) आग्रह और संग्राम भूमि को न छोड़ने वाले शत्रु के (शिरः) शिर, सेना के मुख्य भाग को (उत् अवर्त्तयः) काट डालता है ।

'उत् अवर्त्तयः'—उत् पूर्वो वृति धातु छेदनेऽर्थे वर्त्तते इति उवटः । 'फेनः'—स्फायते वर्धते इति फेनः । दया० उणा० ।

सोमो राजामृतꣳ सुतऽऋजीषेणाजहान्मृत्युम् । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳशुक्रमन्धस ऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयो ऽमृतं मधु ॥ ७२ ॥

अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । ग्रहाः सोमो राजा च देवताः । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सोमः) सर्वप्रेरक (राजा) राजा, सब से ऊपर विराजमान पुरुष भी (सुतः) राज पद पर अभिषिक्त होकर (अमृतम्) अमृत, अखण्ड राज्याधिकार को प्राप्त करता है और (ऋजीषेण) सरल, धर्मानुकूल आचरण से, अथवा संगृहीत प्रभूत धनकोष और सेनाबल द्वारा (मृत्युम्) प्रजा और राजा पर आने वाले मृत्यु अर्थात् प्राण संकट को (अजहात्) दूर करता है। (ऋतेन) सत्य वेदज्ञान से (सत्यम्) सच्चे (विपानम्) विविध प्रकार से राष्ट्र की रक्षा करने में समर्थ (इन्द्रियम्) राजोचित ऐश्वर्य और (अन्धसः) अन्न के (शुक्रं) शुद्ध, सारभूत वीर्य और (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् सेनापति के (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य और (इदम्) इस प्रत्यक्ष (पयः) पुष्टिकारक अन्न, (अमृतम्) दीर्घ जीवन या उत्तम जल और (मधु) मधुर पदार्थ, सभी उत्तम पदार्थ को प्राप्त करता है ।

अध्यात्म में—(सोमः राजा) प्रकाशवान् ज्ञानी पुरुष (सुतः) योग आदि द्वारा ज्ञानसम्पन्न शुद्ध बुद्ध होकर (अमृतं) अमृत हो जाता

है और (मृत्युम् अजहात्) मृत्यु को पार कर जाता है। (अन्धसः) अन्न से जिस प्रकार वीर्य को प्राप्त करता है उसी प्रकार (ऋतेन) सत्य के बल पर (सत्यम् इन्द्रियं) सच्चे आत्मिक बल को और (इन्द्रस्य) अपने ऐश्वर्यवान् आत्मा के (इन्द्रियम्) ऐश्वर्यमय स्वरूप को (इदम्) साक्षात् (पयः) दूध के समान स्वच्छ (अमृतम्) अमृत के समान अविनाशी (मधु) मधु के समान मधुर आनन्दमय रूप को प्राप्त करता है।

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत् क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस ऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोऽमृतं मधु ॥ ७३ ॥

निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(क्रुङ्) हंस जिस प्रकार (अद्भ्यः) जलों के बीच में से (क्षीरम्) दूध को (वि अपिबत्) विशेष रूप से पान कर लेता है उसी प्रकार (आङ्गिरसः) ज्ञानवान् आत्मा, अङ्गों २ में रस या सार, शक्तिरूप में व्यापक (क्रुङ्) अति सूक्ष्म, आत्मा या ज्ञानी, योगी, परमहंस (धिया) अपनी योगधारणावती बुद्धि से (अद्भ्यः) प्राणों के बीच में से (क्षीरम्) परम उपभोग्य परमानन्द रस को (वि अपिबत्) विशेष रूप से पान करता है। (ऋतेन सत्यम् इत्यादि) पूर्ववत् ॥

इसी प्रकार राजा के पक्ष में—(क्रुङ्) हंस के समान अति सूक्ष्म या व्यापक, कुटिल दुर्बोध, गहन, नीतिमान् (आङ्गिरसः) शरीर में प्राण के समान राष्ट्र में व्यापक, कार्यप्रवर्त्तक एवं आङ्गिरस वेद का ज्ञाता, विद्वान् राजा (धिया) अपने धारण पालन करने वाली राजनीति से (अद्भ्यः) आप्त प्रजाओं से ही (क्षीरम्) भोग योग्य सार पदार्थ को (वि अपिबत्) विविध रूपों में पान करता, ग्रहण करता है।

सोमꣳस्रद्भ्यो व्यपिवच्छन्दसा हꣳसः शुचिषत्। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७४ ॥

सोमो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(हंसः) हंस जिस प्रकार (अद्भ्यः) जलों के बीच में से (सोमम्) परम साररूप अंश को (वि अपिवत्) विशेष रूप से पान कर लेता है उसी प्रकार (शुचिषत्) शुद्ध ब्रह्म में विद्यमान योगी (हंसः) अपने समस्त सांसारिक दुःखों का नाश करने में समर्थ होकर (छन्दसा) स्वच्छन्द अपने आत्म सामर्थ्य से या प्राण के बल से यथेच्छ (अद्भ्यः) प्राणों के बीच में से या प्राप्त ज्ञानों और कर्मों में से ही (सोमम्) परम ब्रह्मानन्द रसों का (वि अपिवत्) विविध प्रकारों से पान करता है। और उसी प्रकार राष्ट्र में राजा (शुचिषत्) शुचि, निष्पाप, निश्छल, शुद्ध निष्कपट, धर्माध्यक्ष के आसन पर विराजमान राजा भी (हंसः) शत्रुओं और दुष्ट पुरुषों के हनन करने के अधिकार को प्राप्त करके (छन्दसा) प्रजा के आच्छादन या रक्षण बल से (अद्भ्यः) आप्त प्रजाओं के बीच में से (सोमम्) राष्ट्र के ऐश्वर्य को (वि अपिवत्) विविध उपायों से प्राप्त करता है । (ऋतेन सत्यम् इत्यादि) पूर्ववत् ॥

अन्नात्परिस्रुतो रसं ब्रह्मणा व्यपिबत् क्षत्रं पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७५ ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा (परिस्रुतः) परिपक्व (अन्नात्) अन्न से प्राप्त (रसम्) रस के समान प्राप्त (क्षत्रं)

क्षात्रबल, (पयः) पुष्टिकार अन्न और (सोमम्) ऐश्वर्य को (ब्रह्मणा) ब्रह्मवेद और वेदज्ञ विद्वान् के साथ मिलकर (वि अपिबत्) विविध प्रकार से पान करने में समर्थ होता है । (ऋतेन० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

अध्यात्म में—(प्रजापतिः) आत्मा (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से परिपक्व अन्न से रस के समान (परिस्रुतः) परिस्रवण करने वाले आत्मा में प्रवाहित होने वाले ज्ञान का (क्षत्रम्) रक्षाकारी, पुष्टिकर, अध्यात्म ऐश्वर्य का पान करता है ।

रेतो मूत्रं विजहाति योनिं प्रविशदिन्द्रियम् । गर्भो जरायुणावृत ऽउल्वं जहाति जन्मना । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस ऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७६ ॥

इन्द्रो देवता । भुरिगति शक्करी । पञ्चमः ॥

भा०—जो (इन्द्रियं) इन्द्रिय (मूत्रं जहाति) मूत्रोत्सर्ग करता है परन्तु (योनिम्) स्त्री योनि-में (प्रविशत्) प्रवेश करता हुआ वही (इन्द्रियम्) पुरुष का उपस्थ इन्द्रिय जिस प्रकार (रेतः) वीर्य को (विजहाति) विशेष रूप से उत्सर्ग करता है । उसी प्रकार (इन्द्रियम्) राजा या इन्द्र का बल, सेना बल भी जो अन्यत्र प्रायः (मूत्रं) छोड़ देने योग्य, त्यागने योग्य पदार्थों का दान करता है अथवा जो छोड़ने या फेंकने योग्य अस्त्रों को शत्रु पर फेंकता है वही राजा का ऐश्वर्य बल (योनिम्) अपने आश्रयभूत राष्ट्र में (प्रविशत्) प्रवेश करता हुआ (रेतः) वीर्य, अर्थात् उत्पादन सामर्थ्य को (वि जहाति) विविध उपायों से और विविध रूपों में छोड़ता या फैला देता है । और जिस प्रकार (गर्भः जरायुणावृतः) गर्भ जरायुओं से ढका होकर भी (जन्मना) जन्म लेकर (उल्वं)

उस 'उल्व' अर्थात् जेर को (जहाति) छोड़ देता है। उसी प्रकार राजा भी (गर्भः) राष्ट्र को अपने वश करने में समर्थ होकर (जरायुणा) शत्रुनाशक बल से आवृत होकर अपने (जन्मना) राज्याभिषेक द्वारा या विशेष प्रादुर्भाव के द्वारा (उल्वं) संघ में एकत्र हुए अधिक सेना के भाग को (जहाति) परित्याग कर देता है। (ऋतेन सत्यम्०) इत्यादि पूर्ववत् ॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाꣳ सत्ये प्रजापतिः । ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽ इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७७ ॥

प्रजापतिर्देवता । अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक परमेश्वर, राजा और न्यायकर्त्ता, (ऋतेन) सत्य ज्ञान के बल से (सत्यानृते रूपे) सत्य और अनृत, सच और झूठ दोनों के स्वरूपों को पृथक् २ विवेचना द्वारा (दृष्ट्वा) देखकर (वि आ अकरोत्) पृथक् २ उपदेश करता है। वह (अनृते) असत्य, सत्यज्ञान से रहित पदार्थ में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा, अप्रेम, या अग्राह्य बुद्धि को (अदधात्) धारण करता और कराता है और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम् अदधात्) श्रद्धा अर्थात् सत्य करके मानने की बुद्धि को धारण कराता है। उसी प्रकार प्रजापालक राजा भी सत्य और असत्य को (ऋतेन) वेद के द्वारा निर्णय करा कर प्रकट करे और असत्य मन्तव्यों को अग्राह्य ठहरावें और सत्य में प्रेम, विश्वास और ग्राह्यता या मान्यता बुद्धि उत्पन्न करे। (ऋतेन) सत्य वेद द्वारा प्राप्त (सत्यम्) सत्य पदार्थ (इन्द्रियम्) आत्मा का हितकारी (विपानम्) विविध प्रकार से रक्षा करनेवाला, (शुक्रम्) आत्मा की शुद्धि करनेवाला, (अन्धसः इन्द्रस्य) अन्धकार के निवर्त्तक ऐश्वर्यवान् आत्मा और परमेश्वर प्रभु का (इन्द्रियम्)

परम ऐश्वर्य है जो (इदम्) साक्षात् (पयः) पुष्टिकारी दूध के समान सुखप्रद बुद्धिवर्धक, (अमृतम्) जल के समान जीवनप्रद, मृत्यु के भय को हरनेवाला और मधु के समान मधुर एवं ज्ञानरूप से मनन करने योग्य है। इसी प्रकार (ऋतेन) व्यवस्था ग्रन्थ के द्वारा सत्य (सत्यं) सत्यनिर्णय या सज्जनों का हितकारी (इन्द्रियम्) चक्षु के समान मार्गदर्शक, मनके समान निर्णयकारी, (विपानं) प्रजा का विशेष पालक, (शुक्रम्) शुद्ध, (अन्धसः इन्द्रस्य) अज्ञाननाशक राजा का (इन्द्रियम्) विशेष ऐश्वर्य के समान शोभाकर है, जो (इदम्) साक्षात् (पयः) सबको तृप्तिकारक, (अमृतम्) अमर, अविनाशी और (मधु) दुष्टों को दमनकारी है।

वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽ इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७८ ॥

प्रजापतिर्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा (वेदेन) परम ज्ञान, ईश्वर से प्रकाशित सत्य ज्ञान, वेद के द्वारा (सुतासुतौ) 'सुत', इन्द्रियग्राह्य एवं विद्वानों द्वारा उपदिष्ट और 'असुत' इन्द्रियों द्वारा अप्राप्य, एवं विद्वानों द्वारा न उपदेश किये गये दोनों प्रकार के पदार्थों का (वि-अपिबत्) विशेष रूप से ज्ञान ग्रहण करे। (ऋतेन० इत्यादि) पूर्ववत्।

दृष्ट्वा परिस्रुतो रसꣳ शुक्रेण शुक्रं व्यपिबत् पयः सोमं प्रजापतिः। ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस ऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७९ ॥

प्रजापतिर्देवता । भुरिगतिजगती । निषादः ॥

भा०—(परिस्रुतः) सब प्रकार से अभिषिक्त (प्रजापतिः) प्रजापालक राजा (शुक्रेण) शुद्धि करनेवाले उपाय से (शुक्रम्) शुद्ध किये

गये (रसं) सारवान् पदार्थ को (दृष्ट्वा) पर्यालोचन करके (पयः) पुष्टिकारक (सोमम्) ऐश्वर्य को (वि अपिवत्) नाविध उपायों से ग्रहण करता है। अथवा–(परिस्रुतः रसम्) परिपक्व अन्न के रस के समान उत्तम या भपके द्वारा प्राप्त सार पदार्थ के समान (शुक्रम्) शुद्ध, कान्तिमान् अन्न, सुवर्ण आदि पदार्थ को भी (प्रजापतिः) राजा (शुक्रेण) शुद्ध निष्पाप उपाय से (दृष्ट्वा) देखभाल कर (पयः सोमम्) पुष्टिप्रद दूध के समान ऐश्वर्य को ओषधि के समान स्वच्छ करके (वि अपिबत्) पान करे, ग्रहण करे। (ऋतेन सत्यम्० इत्यादि) पूर्ववत्।

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
अश्विना यज्ञꣳ सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन् ॥८०॥

सविता सरस्वती वरुणश्च देवताः। भुरिक् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(कवयः) क्रान्तदर्शी (मनीषिणः) बुद्धिमान्, विद्वान् पुरुष जिस प्रकार (सीसेन) सीसा के बल पर (तन्त्रं) राष्ट्र की (वयन्ति) वृद्धि करते हैं अर्थात् सीसा की गोलियों से दुष्ट शत्रुओं का संहार करके राष्ट्र की वृद्धि करते हैं और जिस प्रकार वे (मनसा) मन से, आत्मचिन्तन से (तन्त्रम्) अति विस्तृत शास्त्र सिद्धान्त को (वयन्ति) उहापोह द्वारा विस्तृत ज्ञान करते और व्याख्या करते हैं और जिस प्रकार (ऊर्णासूत्रेण) ऊन और अन्य कोमल सूत्रमय पदार्थों के सूत से उसके समान (तन्त्रं) विस्तृत पट को (वयन्ति) बुनते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) राष्ट्र के स्त्री पुरुष, (सविता) आज्ञापक, सूर्य के समान विद्वान् पुरुष और (सरस्वती) ज्ञानी वेदज्ञ और (वरुणः) शत्रुओं को वारण करने में समर्थ सेनापति ये सब मिलकर (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राजा के (रूपं) उज्वल कान्तिमान् रूप को (भिषज्यन्) शरीर के समान पीड़ा और बाधाओं से रहित, निष्कण्टक करते हुए (तन्त्रं) राष्ट्र का (वयन्ति) विस्तार करते हैं।

तदस्य रूपमृतꣳ शचीभिस्तिस्रो दधुर्देवताः सꣳरराणाः । लोमानि शप्पैर्बहुधा न तोकमभिस्त्वगस्य मांसमभवन्न लाजाः ॥ ८१ ॥

अश्विनौ सविता सरस्वती वरुणश्च देवताः । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(तिस्रः देवताः) तीनों विजयशाली देवगण, (शचीभिः) अपनी २ शक्तियों से (अस्य) इस राष्ट्र-प्रजा-पालक राजा को (अमृतम्) अविनाशी, अखण्ड (रूपम्) रूप (संरराणाः) अच्छी प्रकार प्रदान करते हुए (दधुः) धारण पोषण करते हैं। वे (बहुधा) बहुत प्रकारों के (शप्पैः) शप्पों अर्थात् शत्रुओं को मारने और पालन करनेवाले साधन अस्त्र शस्त्रों से (अस्य लोमानि संदधुः) इस राष्ट्रमय प्रजापति के रोमों को निर्माण करते हैं। जैसे शरीर पर या पशु के शरीर पर बाल उसकी रक्षा करते हैं और सेहे के शरीर के रोमरूप कांटे ही उसकी शत्रु से रक्षा करते हैं उसी प्रकार शस्त्रास्त्र भी राजा और राज्य की रक्षा करते हैं। अतः वही राष्ट्र शरीर के लोम हैं। (न) और (तोकमभिः) शत्रु को व्यथा देनेवाले और मारनेवाले सेनाओं के बल एवं महास्त्रों द्वारा वे विद्वान् (अस्य) इस राष्ट्रमय प्रजापति के (त्वक्) शरीर पर लगी त्वचा के समान आवरण परकोट की रचना करते हैं। बड़ी २ सेनाएं और परकोट आदि राष्ट्र की त्वचा के समान हैं। (न) और (लाजाः) शोभाजनक, कान्तिमान् विभूतियां ही (मांसम्) इसका 'मांस' अर्थात् मनको लुभानेवाले पदार्थ के समान (अभवन्) है। अथवा—वही राष्ट्र में विद्यमान भोग साधन, पुष्ट शरीर के घटक मांस के समान है। राष्ट्र में विभूति समृद्धि ही राष्ट्र के हृष्ट पुष्ट शरीर में मांस के समान है। उस समृद्धि से ही राष्ट्र हृष्ट पुष्ट रहता है, पर दूसरे उसी को देखकर लुभा जाते हैं और उनका मन हरने से ही समृद्धियां 'मांस' के समान हैं।

'न'—अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं नकाराः सर्वे चकारार्थाः इति महीधरः। चकारः समुच्चये आ अध्याय परिसमाप्तेरिति उवटः। यज्ञपक्षे—'न' निषेधार्थे इति दयानन्दः।

स्वाध्याय यज्ञपक्ष में—(तिस्रः देवताः) शिष्य गुरु और परीक्षक, परस्पर ज्ञान का आदान प्रदान करते हुए (अस्य अमृतं रूपं) इसके अमृतरूप को धारण करते हैं। और (शप्पैः लोमानि दधुः) लम्बे २ बालों के सहित लोमों को धारण करते हैं अर्थात् जटिल होकर व्रत से रहते हैं। (न तोक्मभिः) बालकों से यह यज्ञ नहीं होता। और (अस्य त्वग् मांसम् लाजा न अभवन्) उसके हवि में त्वचा, मांस, खीलें आदि हवि नहीं होतीं।

तद॒श्विना॑ भि॒षजा॑ रुद्रवर्तनी॒ सर॑स्वती वयति॒ पेश॒ो ऽअ॒न्तर॑म्।
अ॒स्थि म॒ज्जान॑ं मा॒सरै॑: कारोत॒रेण॑ द॒धत॒ो गवा॑ं त्व॒चि ॥ ८२ ॥

अश्विनौ सरस्वती च देवताः। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(रुद्रवर्त्तनी) शरीर में एकादश रुद्रों, प्राणों के समान राष्ट्र में जीवन सञ्चार कराने वाले (अश्विना) अश्विगण, विद्वान् स्त्री पुरुष एवं गुरु और शिष्य और (सरस्वती) वेदविद्या या विद्वत्-सभा ये तीनों मिलकर (तत्) उस राष्ट्र के (अन्तरं) भीतरी (पेशः) सुन्दर रूप को (वयति) बनाते हैं। और (मासरैः) परिपक्व ओषधि रसों से जिस प्रकार वैद्य लोग शरीर के (अस्थि मज्जानम्) हड्डी और मज्जा भाग को पुष्ट करते हैं उसी प्रकार उक्त विद्वान् लोग भी (कारोतरेण) कूप समूहों से और उत्तम शिल्पी, क्रियानिष्ठ मुख्य पुरुषों और (गवां त्वचि) भूमियों के पृष्ट पर और (मासरैः) मासिक वेतनबद्ध भृत्यों से राष्ट्र के (अस्थि) अस्थि के समान स्थिर कार्यों, आधार स्थानों और (मज्जानम्) मज्जा के समान दृढ़ संधिबन्धों को अथवा वर्ष के दिन

रातों के समान राष्ट्रशरीर के समस्त मुख्य और गौण अङ्ग प्रत्यङ्गों को (दृंहतः) धारण करते हैं ।

'अस्थि मज्जानम्'—सप्त च ह वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहानि च रात्रयश्चेत्येतावन्त एव पुरुषस्यास्थानि च मज्जानश्चेत्यत्र तत्समम् ॥ गो० पू० ५ । ५ ॥

सर॑स्वती॒ मन॑सा पेश॒लं वसु॒ नास॑त्याभ्यां वयति दर्श॒तं व॒पुः । र॒सं परि॑स्रुता॒ न रो॑हि॒तं न॒ग्नहु॑धी॒रस्तस॑रं॒ न वेम॑ ॥ ८२ ॥

सरस्वती देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सरस्वती) विज्ञानवाली, विदुषी स्त्री जिस प्रकार अपना (दर्शतम्) दर्शनीय (वपुः) शरीर बनाती है उसी प्रकार (सरस्वती) विज्ञानवान् विद्वानों की परिषद् भी (नासत्याभ्याम्) असत्य व्यवहारों से रहित, स्त्री पुरुषों से मिलकर राजा के लिये (मनसा) अपने ज्ञान के बल से (पेशलं) अति सुन्दर, सुवर्ण आदि से समृद्ध (वसु) ऐश्वर्य को (वयति) पट के समान निरन्तर बुनती सी रहती, पैदा ही करती रहती है । और जिस प्रकार स्त्री (परिस्रुता) परिस्रवण किये गये चुआये गये लाख से, मेंहदी के पीसे हुए रस से (रोहितं रसं न) लाल रस को पैदा कर देती है उसी प्रकार पूर्वोक्त विद्वत्सभा और (धीरः नग्नहुः) बुद्धिमान्, 'नग्न' अर्थात् विशुद्ध ज्ञान के ग्रहण करने हारा सभापति (परिस्रुता) राष्ट्र के समस्त प्रान्तों से प्राप्त राज्यलक्ष्मी से ही (रोहितं) 'रोहित', आदित्य के समान तेजस्वी, (रसम्) सारभूत लाल पोषाक पहने राजा को उसी प्रकार उत्पन्न करते हैं जैसे (तसरं वेम न) तसर और वेमा मिलकर (रोहितं न) लाल पट बुना करते हैं ।

अथवा—(सरस्वती) स्त्री और (नग्नहुः) सुन्दर स्त्री को

स्वीकार करने वाला उसका पति दोनों मिलकर (रोहितं) रक्त, कांचन वर्ण (तसरं वेम न) दुःखक्षयकारक पुत्र को जिस प्रकार उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार (सरस्वती नग्नहुः धीरः) विदुत् सभा और शुद्ध तत्वज्ञानी बुद्धिमान् सभापति दोनों (तसरम्) प्रजा के दुःखनाशक (रसं) आनन्दप्रद (रोहितं) लोहित, काञ्चन ऐश्वर्य से युक्त अथवा आदित्य के समान तेजस्वी और लाल पोषाक पहने राजा को (वयति) उत्पन्न करते हैं ।

सरस्वती—प्रशस्तं सरः विज्ञानं यस्याः सा: । दया० ।

'नग्नहूः'—नग्नं शुद्धं जुहोति गृह्णाति । अथवा—पतिपक्षे 'न-ग्नां' अन्येनानुपगतां कन्यां, अथवा नग्नशरीरे शुभलक्षणवतीं कन्यां जुहोति गृह्णाति यः सः ।

'नग्निकां श्रेष्ठां यवीयसीमुपयच्छेत' इति मानवगृह्यसूत्रम् । 'नग्न-शरीरेपि शुभलक्षणवतीमिति' अष्टावक्रः ।

'रोहितं'—देखो अथर्ववेद आलोकभाष्य रोहित सूक्त (२ खण्ड) ।

पयसा शुक्रमसृतं जनित्रꣳ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः ।
अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऊर्ध्वꣳ वातꣳ सुव्रꣳ तदारात् ॥८४॥

सोमो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पयसा) जिस प्रकार पुष्टिकारक अन्न से (अमृतं) अमृत, आनन्दप्रद (जनित्रम्) पुत्रोत्पादक, (मूत्रात्) मूत्रेन्द्रिय से (रेतः) वीर्य को (सुरया) सुख से रमण करने योग्य स्त्री के संग सुरति द्वारा उत्पन्न कर (जनयन्त) प्रजा को उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार (पयसा) पुष्टिकारक अन्न और बलके आधार पर (सुरया) सुख से रमण करने योग्य राज्यलक्ष्मी के संग से (मूत्रात्) शत्रु से त्राण करने वाले सेना-बल से ही (शुक्रम्) शुद्ध, (अमृतम्) अविनश्वर, अखण्ड (जनित्रम्)

और अधिक उत्पादक (रेतः) वीर्य या राजोचित तेज को (जनयन्त) विद्वान् लोग उत्पन्न करते हैं । (तत्) और तब (अमतिम्) राष्ट्र में से अमति, अज्ञानी या अदृश्य और (दुर्मतिं) दुष्टमति वाले या दुर्दान्त पुरुषों को । अप बाधमानाः) विनष्ट करते हुए (ऊवध्यं वातं) पेट में बैठी अपान वायु और (सञ्वं) पक्वाशयगत मल को जिस प्रकार दूर फेंक दिया जाता है उसी प्रकार (ऊवध्यम्) लटका कर मारने योग्य (वातम्) वायु के समान प्रबल (सञ्वं) राजा के विपरीत संघ या षड्यन्त्र बना कर बैठने वाले शत्रु को (आरात्) दूर निकाल देते हैं ।

राष्ट्र के कार्यों को शरीर के दृष्टान्त से समझाया है कि उसमें वीर्य और सन्तति जनक शक्ति के समान ही राष्ट्र में राजा का पद है। बुरे व्यक्ति मल और अपान वायु के समान हैं।

'मूत्रात्'—मुच्यते यत् तत् मूत्रम् । उणादि० ४ । १६२ ॥

'सञ्वं'—सप समवाये । समवायं संघ कृत्वा स्थितम् इत्यर्थः । सामवायिकों के वशीकरण का प्रकरण राजनीति के ग्रन्थों से जानना चाहिये ।

इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्यं पुरोडाशेन सविता जजान । यकृत् क्लोमानं वरुणो भिषज्यन्मतस्ने वायव्यैर्न मिनाति पित्तम् ॥ ८५ ॥

सविता देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सविता) उत्पादक पुरुष देह जिस प्रकार (पुरोडाशेन) सुसंस्कृत अन्न से (सत्यं) सात्विक बल वीर्य को (जजान) उत्पन्न करता है और जिस प्रकार (सविता) सूर्य (पुरोडाशेन) प्रकाश से (सत्यं जजान) सत्पदार्थों के सत्य स्वरूप को प्रकट करता है उसी प्रकार (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (सुत्रामा) उत्तम प्रजापालक (सविता)

सूर्य के समान तेजस्वी राजा (हृदयेन) अपने हृदय से (सत्यं) सज्जनों के हितकारक राज्य को (जजान) प्रकट करता है ।

और जिस प्रकार (वरुणः) शरीर में स्थित अपान (यकृत्) यकृत्-कलेजे को (क्लोमानं) पिलही या कण्ठ नाड़ी को और (पित्तम्) पित्तखण्ड को और (मतस्ने) गुर्दों को (वायव्यैः) अपने वायु वेगों से (भिषज्यन्) पीड़ाएं दूर करता हुआ भी (न मिनाति) नहीं विनष्ट होने देता उसी प्रकार (वरुणः) समस्त प्रजाओं द्वारा वरण किया गया एवं दुष्टों का वारक राजा (वायव्यैः) अपने वायु के समान बलवान् वीर पुरुषों द्वारा (भिषज्यन्) राष्ट्र-शरीर में बैठे रोग को दूर करके उसको स्वस्थ सुखी बनाना चाहता हुआ भी (यकृत्) शरीर में यकृत्=कलेजे के समान राष्ट्र में यथानियम समस्त प्रजाओं को परस्पर सत्कर्म में लगाने वाले, दानशील विद्वान्, धार्मिक पुरुष को (क्लोमानं) शरीर में क्लोम, पिलही के समान दुष्ट पुरुषों के नाशक या कण्ठ नाड़ी के समान प्राण-धारक पुरुषों को (मतस्ने) आनन्द से सब को स्नान कराने वाले, शरीर में गुर्दों के समान मलशोधकों के समान 'मत-स्ने' आनन्द से तृप्तिकारक ज्ञान से हृदय पवित्र करने वाले अध्यापक और उपदेशक, या आनन्द से रहने वाले स्त्री पुरुषों और राष्ट्र के भीतरी घटक और उपकारक अंगों को (पित्तम्) शरीर में पित्त के समान पालनकारी, पवित्रकारी, गुरुजन को भी (न मिनाति) पीड़ित नहीं करता ।

यकृत्। यजतीति यकृत्। यजेर्ऋतन् उणादिप्रत्ययः। इति दया० उणा०।

आन्त्राणि स्थालीर्मधु पिन्वमाना गुदाः पात्राणि सुदुघा न धेनुः। श्येनस्य पत्रं न प्लीहा शचीभिराखुन्दी नाभिरुदरं न माता ॥ ८६ ॥

सविता देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(श्येनस्य) बाज के समान तीव्र वेग से शत्रु पर आक्रमण करने में वीर राजा की (स्थालीः) राज्य स्थापना की शक्तियां (आन्त्राणि) शरीर में आँतों के समान राष्ट्र रूप ऐश्वर्य को भीतर ही उपयोग करती हैं। वे (पात्राणि) पालन करने वाले अधिकारी शासकों के पद शरीर में (मधु पिन्वमानाः) अन्न को समस्त शरीर में पहुंचा देने वाले (गुदाः) गुदागत स्थूल नाड़ियों के समान स्वयं भी (गुदाः) आनन्द या मधु ऐश्वर्य को (पिन्वमानाः) सर्वत्र पहुंचाने हारे (गुदाः) आनन्द या उत्तेजना उत्पन्न करने वाले या गति प्रदान करने वाले सञ्चालक रूप हैं। और (सुदुघा) समस्त उत्तम ऐश्वर्यों की देने वाली यह पृथिवी (धेनुः न) दुधार गौ के समान है। शरीर में स्थित (प्लीहा न) पिलही जिस प्रकार शरीरस्थ विकारों को नाश करती है उसी प्रकार (श्येनस्य) बाज के समान शत्रु पर झपटने वाले वीर पुरुष का (पत्रम्) तलवार या विजय रथ है। (नाभिः आसन्दी) जिस प्रकार शरीर में नाभि केन्द्र है सब नाड़ियें वहां सम्बद्ध हैं उसी प्रकार 'आसन्दी' राजा के बैठनी की गद्दी या राजधानी है। जिस प्रकार (उदरं न माता) शरीर में उदर, पेट समस्त अन्नों को लेकर रस ग्रहण करता और अपरस को बाहर निकालता है उसी प्रकार राजा की 'माता' उसको उत्पन्न करने वाली अथवा 'माता' ज्ञान करने हारी परिषद् सत्या-असत्य, ग्राह्या-अग्राह्य का विवेक करती है। वह (शचीभिः) अपनी प्रज्ञाओं और शक्तियों से और राज्य का सञ्चालन करती है।

कुम्भो वनिष्ठुर्जनिता शचीभिर्यस्मिन्नग्रे योन्यां गर्भो अन्तः।
प्लाशिर्व्यक्तः शतधार उत्सो दुहे न कुम्भी स्वधां पितृभ्यः ॥८७॥

भा०—(वनिष्ठुः) शरीर में 'वनिष्ठु' अर्थात् जिस में स्थूल आँतें रहती हैं वह कटि का चूतड़ भाग जिसमें (अग्रे) सब से प्रथम

स्त्री-शरीर में (योन्यां) योनि के (अन्तः) बीच में स्थित (गर्भः) गर्भ रहता है उसके समान ही राजा भी स्वयं (कुम्भः) पृथ्वी को भी पोषण करने में समर्थ और (शचीभिः) अपनी शक्तियों से (जनिता) राष्ट्र का उत्पादक होता है। शरीर में जिस प्रकार (प्लाशिः) शिश्न भाग (व्यक्तः) प्रकट है जो मूत्रादि बहाने में (शतधारः उत्सः इव) शतधार स्रोत के समान है उसी प्रकार राष्ट्र शरीर में भी (प्लाशिः=प्राशिः) उत्तम पदों और ऐश्वर्यों को प्राप्त करने वाला वैश्य भाग है जो (शतधारः उत्सः इव) सैकड़ों धारा वाले स्रोत या मेघ के समान ऐश्वर्यों को बहाता है। और (कुम्भी) घर की धान और जल से भरी गगरी जिस प्रकार (पितृभ्यः) घर के पालक वृद्धजनों को भी (स्वधां दुहे) अन्न और जल प्रदान करती है (न) उसी प्रकार (कुम्भी) पृथिवीवासिनी प्रजा का पालन करने वाली यह पृथिवी (पितृभ्यः) पालक, शासक पुरुषों को (स्वधाम्) अन्न और स्व अर्थात् देहधारक, वेतन आदिक (दुहे) प्रदान करती है।

गृहस्थ प्रकरण में—(कुम्भः) कलश के समान वीर्य शौर्य आदि से पूर्ण, (वनिष्ठुः) भोक्ता, (जनिता) सन्तानोत्पादक, (प्लाशिः) समस्त पदार्थों का संग्रहीता, (शतधारः) सैकड़ों वाणी वाला, (उत्सः) कूप के समान गंभीर प्रेम का स्रोत होकर पति रहे। और (कुम्भी) इसी प्रकार वीर्यादि से पूर्ण स्त्री भी रहे। दोनों (पितृभ्यां स्वधां दुहे) अपने पालक जनों को अन्न भोजन दें। पुरुष (यस्मिन् अग्रे) जिसमें प्रथम ही वीर्य रूप में सन्तान विद्यमान होती है और स्त्री जिसमें बाद में (योन्या-मन्तः गर्भः) योनि के भीतर गर्भ रूप से सन्तान उत्पन्न होती है, दोनों ही अपने (पितृभ्यां) पिताओं के ऋण रूप (स्वधाम्) उनके अपने अंश रूप सन्तति को (दुहे) उत्पन्न करके सफल हों।

मुखꣳ सदस्य शिरऽइत् सतेन जिह्वा पवित्रमश्विनासन्त्सरस्वती।
चप्यंन पायुर्भिषगस्य वालौ वस्तिर्न शेपो हरसा तरस्वी ॥८८॥

भा०—(अस्य) इस राजा का (मुखं) शरीर में मुख के समान और (शिरः) शिर के समान (सत्) संसत्, राजसभा है। (आसन्) मुख में जिस प्रकार (जिह्वा) जिह्वा होती है उसी प्रकार (सतेन) विभक्त राजसभा में (पवित्रम्) सदाचारवान् (अश्विना) स्त्री पुरुष और (सरस्वती) पवित्र वेदवाणी, व्यवस्था पुस्तक है। (पायुः) शरीर में 'पायु' गुदा भाग जिस प्रकार शरीर में से मल मूत्रादि दूर करके शरीर को शान्ति देता है (न) उसी प्रकार (चप्यं) राष्ट्र में दुष्टों को दूर करके प्रजा को सान्त्वना और सुख की आशा दिलाने के श्रेष्ठ कार्य हैं। (वालः) शरीर में जिस प्रकार वाल समस्त रोगों को दूर करते हैं और पुच्छादि के वाल जिस प्रकार मशक आदि को दूर करते हैं उसी प्रकार (अस्य) इस राजा के राष्ट्र के (भिषग्) रोगों के निवारक वैद्यगण हैं। (वस्तिः शेपः न) जिस प्रकार शरीर में वस्ति अर्थात् मूत्र स्थान और पुरुष-शरीर में 'शेप' अर्थात् प्रजनेन्द्रिय दोनों में एक तो वेग से मूत्र प्रवाहित करके शरीर को शुद्ध करता है दूसरा काम वेग से तीव्र होकर भोगाभिलाषी होता है उसी प्रकार राष्ट्र में (हरसा) शत्रु को मार भगाने में समर्थ वीर्य से (तरस्वी) अति वेगवान सेनाबल दुष्ट को राष्ट्र से वाहर निकालता है और राष्ट्र के निमित्त समस्त सुखों को प्राप्त भी कराता है।

गृहस्थ पक्ष में—इसी मन्त्र से स्त्री पुरुष के व्यवहार का भी वर्णन किया है।

'सतः' तिरः सतः इति प्राप्तस्य। निरु० ३। ४। ३॥ 'चप्यं' चप सान्त्वने। भ्वादिः॥

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां छागेन तेजो हविषा शृतेन।
पद्माणि गौधूमैः कुवलैरुतानि पेशो न शुक्रमसितं वसाते ॥८९॥

अश्विनौ देवते। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(ग्रहाभ्यां) एक दूसरे को ग्रहण या स्वीकार करनेवाले (आश्विभ्यां) एक दूसरे को व्याप्त को करके परस्पर का सुख आनन्द भोग करने वाले राजा प्रजा और स्त्री पुरुष दोनों से ही राजा या ऐश्वर्यमय राष्ट्र की (अमृतम्) अमृतमय (चक्षुः) शरीर में आंख के समान सत् असत् दिखानेवाली चक्षु बनती है। (छागेन) बकरी के दूध से और (शृतेन हविषा) परिपक्व अन्न से जिस प्रकार शरीर में चक्षु के (तेजः) तेज, कान्ति की वृद्धि ही होती है उसी प्रकार राष्ट्र के शरीर में (छागेन) पर पक्ष के छेदन करनेवाले तर्क अथवा शत्रु पक्ष के छेदन करनेवाले नीति और सैन्य बल से और (शृतेन हविषा) संपक्व अन्न के भोजन से (तेजः) तेज, बल, पराक्रम की वृद्धि होती है। जिस प्रकार (पक्ष्माणि) आंख के पलकों के बाल होते हैं उसी प्रकार राष्ट्र में उनकी तुलना (गोधूमैः) खेत में उगे गेहूं आदि धान्यों से करनी चाहिये। (उतानि) जिस प्रकार आंख के बचाव के लिये भौंहों के बाल हैं उनकी तुलना (कुवलैः) राष्ट्र भूमि में उगे झरबेरीयों के कांटेदार वृक्षों से करना चाहिये। और जिस प्रकार चक्षु को (शुक्रम् असितं न) श्वेत और काला (पेशः) दोनों प्रकार के चर्म (वसाते) आंख को ढके हुए हैं उसी प्रकार राष्ट्ररूप चक्षु को (शुक्रम्) शुद्ध स्वच्छ कान्तिमान् स्वर्ण, रजतादि धातु और (असितं) काले वर्ण के लोहे, सीसा आदि धातु दोनों (पेशः) बहुमूल्य सुवर्ण आदि पदार्थ अथवा (शुक्रम् असितं पेशः) श्वेत और काले, उजले और कृष्ण वर्ण के अथवा गृहस्थ और मुमुक्षु लोग (वसाते) बसा रहे हैं, आच्छादित करते हैं।

राष्ट्रवासी स्त्री पुरुषों ने मिलकर मानो राष्ट्र को एक आंख का रूप दे दिया है। शस्त्र, बल और अन्न उसका तेज है, गेहूं धान उसकी पलकें हैं, वेरी आदि कांटेदार वृक्ष भौहें हैं। गोरे और काले या गृहस्थ और

मुमुक्षु आदमी या उजली काली धातुएं, या चमकदार और बेचमकदार काले उसके सफेद पदार्थ भीतरी चमड़े हैं जो उसको ढांपते हैं ।

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्थाऽअमृतो ग्रहाभ्याम् ।
सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्वेदरैर्जजान ॥ ६० ॥

इन्द्रो देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—इन्द्र अर्थात् ऐश्वर्यवान् राष्ट्र की 'नासिका' से तुलना करते हैं । (नसि) नाक में जिस प्रकार (अविः मेषः) बल और जीवन का सेचन करनेवाला प्राण है और वह शरीर की (न) भी (अविः) रक्षा करता और (वीर्याय) शरीर में बल उत्पन्न करने के लिये है उसी प्रकार राष्ट्र में (अविः) राष्ट्र का रक्षक पुरुष और (मेषः) उसको सुख समृद्धि से सेचन करने और शत्रुओं के प्रति स्पर्द्धा करने में समर्थ होकर राष्ट्र के (वीर्याय) वीर्य, बल वृद्धि के लिये होता है । और यह नाक (ग्रहाभ्याम्) सदा ग्रहण करने योग्य प्राण और अपान या उच्छ्वास और निःश्वास दोनों द्वारा या श्वास ग्रहण करनेवाले मार्गों से बनी है और वही (प्राणस्य) प्राण का भी (अमृतः) अमृत, जीवनप्रद (पन्थाः) मार्ग है । उसी प्रकार (ग्रहाभ्याम्) एक दूसरे को स्वीकार करनेवाले स्त्री पुरुषों से ही इस राष्ट्र की रचना है, वह (प्राणस्य) मुख्य प्राण या बल का (अमृतः) अमृत, जीवनप्रद, अविनाशी (पन्थाः) मार्ग बना है । और वही (सरस्वती) वाणी शरीर में जिस प्रकार (उपवाकैः) समीप ही स्थित वचनों से नासिका में (व्यानं) व्यान नामक प्राण के विविध सामर्थ्यों को प्रकट करती है उसी प्रकार राष्ट्र में (सरस्वती) विज्ञानों से पूर्ण विद्वत्सभा (उपवाकैः) नाना शास्त्र-प्रवचनों से (व्यानं) विविध सामर्थ्य प्रकट करती है । (नस्यानि) जिस प्रकार नाक के लोम हैं वे नाक में शुद्ध वायु का प्रवेश कराते हैं और नासिका के हितकारी हैं उसी प्रकार

(बर्हिर्वेदैः) कुश आदि ओषधियें और वेर आदि वन्य फल के वृक्षों से मानो राष्ट्रूप नाक में लोम के समान (जजान) प्रतीत होते हैं । संक्षेप में-राष्ट्-रूप नाक में रक्षक राजा प्राण है स्त्री पुरुष दो प्राण के मार्ग हैं, विद्वत्सभा द्वारा बनाई नियमाज्ञावचन नाक में स्थित व्यान है और जंगल के ओषधि फलादि वृक्ष नाक के लोम हैं ।

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याꣳश्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम् । यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात् ॥ ९१ ॥

इन्द्रो देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राष्ट्र की मुख से तुलना करते हैं । (बलाय) बल के कार्य करने के लिये जिस प्रकार (ऋषभः) बड़ा बैल गाड़ी में लगाया जाता है उसी प्रकार (ऋषभः) शरीर में व्यापक, उसे गति देनेवाला आत्मा या मुख्य प्राण ही (बलाय) शरीर में बल उत्पन्न करने और बलके कार्य करने के लिये है । उसी प्रकार राष्ट्र में (ऋषभः) समस्त नरों में श्रेष्ठ पुरुष बलवान् कार्य के लिये नियुक्त किया जाता है । वही (इन्द्रस्य रूपम्) शत्रु नाशक राजा, एवं आत्मा का स्वरूप उत्तम मुख के समान है । कैसे ? (ग्रहाभ्याम् कर्णाभ्यां तस्य अमृतं श्रोत्रम्) जैसे शब्दों के ग्रहण करनेवाले कानों से उस आत्मा का 'अमृत' अविनाशी, (श्रोत्रम्) श्रोत्र अर्थात् श्रवण शक्ति बनी है उसी प्रकार वेतन आदि स्वीकार करनेवाले कानों के समान प्रिय वचनों को श्रवण करनेवाले स्त्री पुरुषों से ही उस राष्ट्रूप मुख का मानो 'श्रोत्र' बना है । और (यवाः बर्हिः न) और ओषधि आदि मानो राष्ट्रूप मुख पर लगे (भ्रुवि केसराणि) भौंहों के रोमों के समान है । (कर्कन्धु) परिपक्व फल मानो (सारघं मधु) मधु मक्खियों का मधु आदि पदार्थ और अन्न (मुखात्) मुख से निकलनेवाले (सारघं मधु) सारवान्, अर्थ संपूर्ण मधुर वचन के समान है ।

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम। केशो न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ॥९२॥

आत्मा देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राष्ट्र की शरीर से तुलना करते हैं (आत्मन्) समस्त देह में और (उपस्थे) गुह्य भाग में (लोम) जितने रोम या बाल हैं वे मानो राष्ट्र में विद्यमान (वृकस्य लोम) भेड़िये के लोमों के समान है। अर्थात् भेड़िये के स्वरूप या स्वभाव वाले पुरुष शरीर में सामान्य लोम गुह्यांग लोमों के तुल्य हैं। और (व्याघ्रलोम) व्याघ्र के लोम अर्थात् व्याघ्र के समान बड़े जन्तुओं पर भी आक्रमण करनेवाले शौर्य गुण के सम्पन्न पुरुष (मुखे श्मश्रूणि) शरीर में मुख पर लगे मोंछ के बालों के समान हैं। (यशसे) यश के लिये, बड़े साहस के कार्य करने वाले पुरुष देह में (शीर्षन्) शिर पर लगे (केशः न) केशों के समान हैं। लक्ष्मी और शोभामात्र के लिये उद्यम करनेवाले लोग (शिखा) सिर पर चोटी के बालों के समान हैं। (सिंहस्य लोम) सिंह के समान पराक्रम करनेवाले स्वभाव के लोग शरीर में विद्यमान (त्विषिः) तेज या कान्ति के समान एवं (इन्द्रियाणि) शरीर में लगे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के समान हैं।

अङ्गान्यात्मन् भिषजा तदश्विनात्मानमङ्गैः समधात् सरस्वती। इन्द्रस्य रूपꣳ शतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिरमृतं दधानाः ॥९३॥

अश्विनौ देवते । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(भिषजौ) समस्त रोगों की चिकित्सा करने वाले (अश्विनौ) सद्वैद्य जिस प्रकार (आत्मन्) देह में (अङ्गानि) अंगों को (सम् अधाताम्) जोड़ देते हैं और जिस प्रकार (अश्विनौ) शरीर में व्यापक प्राण और अपान दोनों (आत्मन्) आत्मा के समस्त (अंगानि) ज्ञाने-

न्द्रिय और कर्मेन्द्रियों को सम्बद्ध किये रहते हैं (तत्) उसी प्रकार (अश्विना) व्यापक सामर्थ्य वाले स्त्री और पुरुष या मुख्य दो अधिकारी (आत्मन्) आत्मस्वरूप राष्ट्र के राज्य में ही समस्त (अङ्गानि) राज्य के अंगों को (सम् अधातम्) भली प्रकार जोड़ते हैं। और (सरस्वती) उत्तम ज्ञान से युक्त स्त्री के समान राजसभा (अङ्गैः) राज्य के सारे अंगों के साथ (आत्मानम्) आत्मा के समान व्यापक शक्तिमान् राजा को (सम अधात्) संयुक्त करती है। पूर्वोक्त दो अश्विगण और सरस्वती तीनों (चन्द्रेण) चन्द्र के बल से (अमृतं ज्योतिः) अमृतमय सुखप्रद ज्योति के समान (चन्द्रेण) आह्लादकारी राजा या राज्य के साथ (अमृतम्) अविनाशी, सुखप्रद अन्नादि समृद्धि और (ज्योतिः) परम तेज को (दधानाः) धारण करते हुए (इन्द्रस्य) शत्रुनाशक राजा के (रूपं) स्वरूप को और (आयुः) जीवन को (शतमानम्) सौगुणा अथवा सौ वर्षों के परिमाण वाला कर देते हैं।

अध्यात्म में—(अश्विनौ अङ्गानि आत्मन्) प्राण और अपान दोनों का अभ्यास योग के अंगों को समाहित, सुसम्पन्न करता है। (सरस्वती आत्मानम् अङ्गैः सम् अधात्) सरस्वती, वेद वाणी का स्वाध्याय आत्मा को योगाङ्गों से युक्त करता है। प्राणायाम और स्वाध्याय दोनों (इन्द्रस्य रूपं शतमानम् आयुः) जीव की आयु को सौ वर्षों का बना देते हैं। वे (चन्द्रेण) आह्लादजनक वीर्य के साथ या सोमचक्र के साथ (अमृतं ज्योतिः दधानाः भवन्ति) अमृत-आत्म-ज्योति या प्रकाश को धारण कराते हैं।

'अंगानि'—मन्त्राङ्गानि—संहायाः साधनोपायाः विभागो देशकालयोः विनिपात प्रतीकारः मन्त्रः पञ्चांगइष्यते।

सप्ताङ्गानि—स्वाम्यमात्यसुहृत-कोश-राष्ट्र-दुर्ग-बलानि च।

योग के अष्टांग—यम, नियमासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा समाधयः ॥

गृहस्थ पक्ष में—(अश्विनौ) स्त्री पुरुष (आत्मान्) अपने आत्मा के भीतर समस्त अंगों को (सम् अधाताम्) संधान करें, धारण करें। (सरस्वती) वाणी, (अंगैः) अपने समस्त अंगों से आत्मा या जीव को युक्त करे। समस्त प्राणगण (चन्द्रेण) वीर्य के साथ (अमृतं ज्योतिः दधानाः) अमर आत्मा की ज्योति को धारण करने वाले अंग ही (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् आत्मा के (शतमानम् आयुः) सौ वर्ष के दीर्घ जीवन को धारण करते हैं।

सर॑स्वती योन्यां गर्भ॑मन्तर॒श्विभ्यां पत्नी सुकृ॑तं बिभर्त्ति।
अपां॑ रसे॑न॒ वरु॑णो न साम्नेन्द्रं॑ श्रियै ज॒नय॑न्नप्सु राजा॑ ॥ ९४ ॥

सरस्वती देवता। विराट् पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—जिस प्रकार (सरस्वती) स्त्री (पत्नी) गृहपत्नी होकर (योन्याम् अन्तः) योनिस्थान में (सुकृतम्) उत्तम रीति से स्थापित (गर्भम्) गर्भ को (बिभर्त्ति) धारण पोषण करती है, उसी प्रकार (योन्याम् अन्तः) संगत होने या एकत्र होने के स्थान सभाभवन के भीतर (पत्नी) राष्ट्र का पालन करने वाली (सरस्वती) उत्तम ज्ञान वाली विद्वत्सभा (अश्विभ्याम्) राजा और प्रजा दोनों के लिये (सुकृतम्) उत्तम रूप से बनाये गये (गर्भम्) राष्ट्र के ग्रहण करने वाले राजा को (बिभर्त्ति) धारण करती है। और (वरुणः) स्वयं वरण किया पति जिस प्रकार (अपां रसेन) प्राणों के वीर्य से (इन्द्रं जनयत्) जीव, बालक को उत्पन्न करता है। (वरुणः) समस्त प्रजा द्वारा वरण किया गया (राजा) राजा राजपद पर विराजमान होकर (अपां रसेन) आप्त पुरुषों के बल से (साम्ना) और साम उपाय से (अप्सु) प्रजाओं में (श्रियै) लक्ष्मी,

धन समृद्धि की वृद्धि के लिये (इन्दम्) ऐश्वर्य रूप राष्ट्र को (जनयत्) उत्पन्न करता है ।

तेजः पशूनाꣳ हविरिन्द्रियावत् परिस्रुता पयसा सारघं मधु । अश्विभ्यां दुग्धं भिषजा सरस्वत्या सुता सुताभ्यामृतः सोम इन्दुः ॥ ६५ ॥

अश्विनौ देवते । निचृज्जगती । निषादः ॥

भा०—जिस प्रकार (पशूनां) पशुओं का (दुग्धं) दुहा गया दूध (हविः) खाने योग्य, (इन्द्रियावत्) शरीर में बलकारक, (तेजः) तेज उत्पन्न करने वाला है । और जिस प्रकार (सारघम् मधु) मधुमक्खियों से प्राप्त किया, फूलों २ से दुहा गया 'मधु' (इन्द्रियावत् तेजः) बल और तेज को उत्पन्न करता है । उसी प्रकार (अश्विभ्याम्) राष्ट्र के स्त्री पुरुषों या मुख्य अधिकारियों ने और (सरस्वत्या) विद्वत्सभा ने मिलकर (परिस्रुता) सब ओर से स्रवण करने वाले अभिषेक के (पयसा) जल से (सुत-असुताभ्याम्) अभिषिक्त राजाओं और अनभिषिक्त प्रजाओं से (अमृतः) राष्ट्र के जीवन स्वरूप, अमर (इन्दुः) परमैश्वर्यवान् (सोम) सबका आज्ञापक राजा (दुग्धः) मानो दुहकर प्राप्त किया है ।

॥ इत्येकोनविंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥

अथ विंशोऽध्यायः

प्रजापतिर्ऋषिः ।

॥ ओ३म् ॥ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि ।
मा त्वा हिꣳसीन्मा मा हिꣳसीः ॥ १ ॥

राजा सभेशो देवता । द्विपदा विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (क्षत्रस्य) वीर्य, क्षात्रबल और राज्य का (योनिः) आश्रयस्थान (असि) है । (क्षत्रस्य) राजकुल, क्षात्र सेना-बल का (नाभिः) नाभि के समान केन्द्र, उनको परस्पर सुप्रबद्ध करने वाला मुख्य पुरुष (असि) है । यह राष्ट्रवासी प्रजाजन (त्वा) तुझे (मा हिंसीत्) न मारे, विनाश न करे । हे राजन् ! (मा) मुझ राष्ट्रवासी जन को भी तू (मा हिंसीः) मत मार ।

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यासु आ ।
साम्राज्याय सुक्रतुः । मृत्यो पाहि विद्योत् पाहि ॥ २ ॥

भुरिग् उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(धृतव्रतः) व्रतों, नियमों को धारण करने वाला, (सुक्रतुः) उत्तम प्रज्ञावान्, कुशल पुरुष (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, प्रजा के कष्टों को वारण करनेहारा (पस्त्यासु) न्यायगृहों में या प्रजाओं के बीच, (आ नि-ससाद) साक्षात् विराजमान हो । हे राजन् ! तू (मृत्योः) प्रजा को मृत्यु अर्थात् मरने के कारण से (पाहि) बचा । (विद्योत्) विद्युत् के समान अग्नि आदि के बने नाशक अस्त्रों से (पाहि) बचा । अर्थात् राजा प्रजा की अकारण, एवं अकाल मृत्यु से रक्षा करे और शत्रु के आक्रमणों से रक्षा करे ।

१—क्षत्रस्य नाभिरसि क्षत्रस्य योनिरसि० । इति काण्व० ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभि षिञ्चामि ।
सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभि षिञ्चामि ।
इन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभि षिञ्चामि ॥ ३ ॥

अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—अभिषेक का वर्णन करते हैं । हे राजन् ! मैं अध्वर्यु, वेदज्ञ पुरुष, राजा और प्रजाजन दोनों का प्रतिनिधि होकर (सवितुः) सर्वोत्पादक (देवस्य) सर्वप्रकाशक परमेश्वर के (प्रसवे) महान् ऐश्वर्यमय जगत् में (अश्विनोः) विद्या और कर्म दोनों में पारंगत विद्वान् और कर्मिष्ठ पुरुषों के (बाहुभ्याम्) शत्रुओं को पीड़न करने में समर्थ बाहुओं से और (पूष्णः) पुष्टि करने वाले अन्नादि से सबके पोषक भूमिवासी कृषक वर्ग के हाथों से और (अश्विनोः) वैद्यक विद्याओं में निष्णात पुरुषों के (भैषज्येन) चिकित्सा या रोगनिवृत्ति के द्वारा सम्पादित (तेजसे) तेज, पराक्रम की वृद्धि और (ब्रह्मवर्चसाय) ब्रह्मवर्चस, वीर्यरक्षा वेदज्ञान की वृद्धि के लिये (अभि षिञ्चामि) तुझे अभिषिक्त करता हूं । और (सरस्वत्यै) प्रशस्त ज्ञान वाली वेदवाणी के द्वारा (भैषज्येन) अविद्यादि दोषों के दूर करने के उपाय से मैं तुझको (वीर्याय) वीर्य, बल की वृद्धि के लिये और (अन्नाद्याय) राष्ट्र के भोग्य अन्नादि पदार्थों के भोगार्थ अधिक शक्ति प्राप्त करने के लिये (अभि षिञ्चामि) अभिषेक करता हूं और (इन्द्रस्य) शत्रुहन्ता सेनापति और ऐश्वर्यवान् राष्ट्र के (इन्द्रियेण) बल से (बलाय) बल या सेनाबल की वृद्धि और (श्रिये) राज्यलक्ष्मी की वृद्धि और (यशसे) कीर्त्ति के लिये (अभि षिञ्चामि) अभिषिक्त करता हूं ।

कोऽसि कतमोऽसि कस्मै त्वा काय त्वा ।
सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ४ ॥

निचृदार्षी गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे उत्तम पुरुष ! तू (कः असि) तू कौन है, तू (कतमः असि) उपस्थित पुरुषों में से कौन सा है । यह अपना परिचय समस्त पुरुषों को दे । (कस्मै त्वा) किस प्रयोजन के लिये तुझे यहां अभिषेक किया है, इसका भी परिचय दे । (काय) प्रजापालक, प्रजापति, राजा पद के लिये (त्वा) मैं तुझे अभिषेक करता हूं । अध्वर्यु राजा को राजपद पर बैठा कर तिलक कर के सम्बोधन करे । हे (सु-श्लोक) उत्तम कीर्त्ति वाले ! हे (सुमङ्गल) उत्तम मङ्गल कार्यों के करने हारे ! हे (सत्यराजन्) सत्य के प्रकाशक ! और सत्य न्याय से प्रकाशमान या सत्यधर्मों के प्रकाशक राजन् ! या सत्य यथार्थ राजा स्वरूप तुझे मैं अभिषिक्त करता हूं । अथवा—हे राजन् ! (कः असिः) तू प्रजापति है । तू (कतमः असि) प्रजापालकों में सब से उत्तम है । (कस्मै त्वा) प्रजापति के पद के लिये तुझे अभिषिक्त करता हूं । (काय त्वा) ब्रह्म, या वेद ज्ञान की वृद्धि के लिये तुझे अभिषिक्त करता हूं । इत्यादि पूर्ववत् ॥

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि ।
राजा मे प्राणोऽअमृतꣳसम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम् ॥ ५ ॥

अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! राज्य में अभिषिक्त (मे) मुझ राजा का (श्रीः) शोभा या धनैश्वर्य (शिरः) मेरे शिर के समान है । (यशः मुखं) यश मुख के समान है । (त्विषिः) ओज, कान्ति, पराक्रम, शौर्य (श्मश्रूणि केशाः च) शिर के केश और मूछों के समान है । (मे) मुझ राष्ट्र का (प्राणः) प्राण (राजा) राजा का पद या स्वयं राजा (अमृतम्) जीवन

रूप है। (सम्राट्) सम्राट् का पद (चक्षुः) आंख के समान साक्षीरूप है। (विराट्) विविध विद्वान् सभासदों से प्रकाशमान् राजसभा (श्रोत्रम्) शरीर में लगे श्रोत्र के समान प्रजा राजा के समस्त व्यवहारों को सावधान होकर श्रवण करने वाला हो।

जिह्वा मे भद्रं वाङ्महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदाऽअङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः ॥ ६ ॥

अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(जिह्वा मे भद्रम्) शरीर में जिस प्रकार जिह्वा है उसी प्रकार (मे) मेरे राष्ट्र में (भद्रम्) समस्त कल्याण के कार्य हैं। (वाक् महः) वाणी विज्ञान है। (मनः मन्युः) मन ज्ञानवान् पुरुष के समान है। (स्वराड् भामः) स्वराड् का पद शरीर में विद्यमान क्रोध के समान है। (मोदाः प्रमोदाः) राष्ट्र में विद्यमान आमोद, प्रमोद (अङ्गुलीः अङ्गानि) हाथ की अंगुलियों और अन्य अंगों के समान है। (मे सहः) शत्रु के पराजय करने में समर्थ सैन्यबल (मे मित्रम्) मेरा मित्र है।

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम्।
आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥

भा०—(इन्द्रियं बलम् मे बाहू) इन्द्र, सेनापति का समस्त बल मेरे बाहू हैं। (वीर्यं कर्म मे हस्तौ) वीर्योचित कर्म मेरे हाथ हैं। (आत्मा उरः च मम क्षत्रम्) राष्ट्र को क्षति से बचाने वाला क्षात्रबल मेरा आत्मा और विशेष कर छाती के समान है।

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥

निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(राष्ट्रं मे पृष्टीः) राष्ट्र, जनपद मेरी पसुलियों के समान हैं। (विशः) समस्त प्रजाएं (उदरम्) पेट, (अंसौ) कन्धे, (ग्रीवाः

च) गर्दन के मोहरे, (श्रोणी) कटि, (ऊरू) जांघ, (अरत्नी) हाथ के भाग, (जानुनी) गोड़े (सर्वतः) ये सब (मे अङ्गानि) मेरे अंगों के समान है ।

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् ।
आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यं पसः ।
जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ६ ॥

षट्पदाऽनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(चित्तं) चित्त (मे नाभिः) मेरी नाभि के समान है । (विज्ञानं) विज्ञान (पायुः) पायु अर्थात् गुदा के समान है । (अपचितिः) पूजासामग्री या प्रजाओं का उत्पन्न होना, (मे भसत्) स्त्री शरीर के प्रजननाङ्ग के समान (भगः) प्रजाओं का ऐश्वर्य, दोनों (मे) मेरे (आनन्द-नन्दौ) स्त्रीसंभोग द्वारा प्राप्त सुख में सुखी होने वाले (आण्डौ) अण्ड-कोशों के समान हैं । मैं (जंघाभ्यां पद्भ्यां) समृद्ध जंघाओं और पैरों से (धर्मः अस्मि) धारण करने वाला सामर्थ्य धर्म हूं । इस प्रकार से (विशि) समस्त प्रजा के स्वरूप में भी (राजा) राजा मानों शरीर धर के (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठा को प्राप्त है ।

इसी प्रकार—प्रत्येक शरीर में राष्ट्र के समस्त धर्म विद्यमान हैं वे भी कह दिये गये हैं । समाज के भिन्न २ विभागों के कर्त्तव्य शरीर के भिन्न २ भागों के धर्मों से तुलना द्वारा जानने चाहियें ।

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु ।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे
प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे ॥ १० ॥

विराट् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—राजा की राष्ट्र के भिन्न २ ऐश्वर्यों और भागों में प्रतिष्ठा । 'मैं' राजा (प्रति क्षत्रे) प्रत्येक क्षत्रियकुल में (प्रति तिष्ठामि) प्रतिष्ठा

को प्राप्त करूं। (राष्ट्रे प्रतितिष्ठामि) प्रत्येक राष्ट्र में प्रतिष्ठा को प्राप्त करूं। (अश्वेषु) अश्वों में और (गोषु) गौवों में भी (प्रतितिष्ठामि) प्रतिष्ठा को प्राप्त करूं। (अङ्गेषु) समस्त अङ्गों में प्रतिष्ठित होऊं। (आत्मन् प्रतितिष्ठामि) आत्मा में प्रतिष्ठित होऊं। (प्राणेषु) प्राणों में (प्रतितिष्ठामि) प्रतिष्ठित होऊं। (पुष्टे प्रति) पुष्ट, पोषणकारी अन्न आदि पदार्थों में प्रतिष्ठित होऊं। (द्यावा पृथिव्योः) आकाश और पृथिवी पर और (यज्ञे) यज्ञ में भी (प्रतितिष्ठामि) प्रतिष्ठा को प्राप्त करूं।

त्रया देवाऽ एकादश त्रयस्त्रिंशाः सुराधसः।
बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सवे। देवा देवैरवन्तु मा ॥११॥

भा०—(त्रयाः एकादश) तीन विशेष शक्तियों के ही अंशांश रूप से विद्यमान ११, ११, और ११ ये (त्रयः त्रिंशाः) तैंतीस (देवाः) देव-विद्वान्गण (सुराधसः) उत्तम धनैश्वर्य से सम्पन्न एवं (बृहस्पति पुरोधसः) बृहस्पति, वेदज्ञ विद्वान् को अपना महामात्य पुरोहित, अग्रवर्ती प्रमुख बनाकर (देवस्य) देव (सवितुः) सबके प्रेरक राजा के भी राजा परमेश्वर के (सवे) परमैश्वर्य युक्त शासन या जगत् में रहें। और वे (देवाः) समस्त विद्वान् पुरुष (देवैः) अपने दिव्य गुणों और व्यवहारों से (मा अवन्तु) मेरी, मुझ प्रजाजन और राजा की रक्षा करें।

साधारणतः—पृथ्वी अप, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ये आठ वसु, दश प्राण और ११ वां जीव, ये ११ रुद्र, १२ मास, १२ आदित्य, विद्युत् और यज्ञ ये सब मेरी रक्षा करें।

अर्थात्—शत्रु मित्र दोनों के देशों को वश करूं, पशु, गौ अश्वादिमान् होऊं। प्राणों से नीरोग होऊं, आत्मप्रतिष्ठ अर्थात् मानस दुःख से रहित

होऊं। धनसमृद्ध, इह और पर दोनों लोकों में कीर्त्तिमान्, धर्मात्मा और प्रभावशाली होऊं।

प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेन यज्ञो यजुर्भिर्यजूंष्यपि सामभिः सामान्यृग्भिर्ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्या याज्याभिर्याज्या वषट्कारैर्वष्ट्कारा आहुतिभिरा-हुतयो मे कामान्त्समर्धयन्तु भूः स्वाहा ॥ १२ ॥

विश्वेदेवा देवताः। प्रकृतिस्वैं। धैवतः॥

भा—(प्रथमाः) प्रथम कोटि के विद्वान् या देव, रक्षकजन (द्वितीयैः) द्वितीय कोटि के विद्वानों या रक्षकों के साथ मिल कर हमारे समस्त कामनायोग्य पदार्थों की वृद्धि करें। और (द्वितीयाः) द्वितीय कोटि के विद्वान् (तृतीयैः) तृतीय, सर्वोत्तम कोटि के विद्वान् पुरुषों से मिल कर और (तृतीयाः) तीसरे, उच्च कोटि के विद्वान् (सत्येन) सत्य व्यवहार, वेदानुकूल न्याय और धर्म से युक्त होकर, (सत्यं यज्ञेन) सत्य सत्यव्यवहार भा, यज्ञ, परस्पर आदर और संगति और सत्यवाणी से सम्पन्न होकर, (यज्ञः यजुर्भिः) यज्ञ, यजुर्वेद के मन्त्रों से वाणी को मानस विचारों से और प्रजापालन को क्षत्रियों से और (यजूंषि सामभिः) यजुर्वेद के मन्त्र सामवेदोक्त गायनों से, (सामानि ऋग्भिः) सामवेद के गायन ऋग्वेद की ऋचाओं से, (ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः) ऋचाएं पुरोनुवाक्या अर्थात्-अथर्ववेद के प्रकरणों से (पुरोनुवाक्याः) पुरोनुवाक्याएं (याज्याभिः) ऋचाओं से, (याज्याः वषट्कारैः) ज्याया ऋचाएं वषट्कारों या स्वाहाकारों से, (वषट्-कारैः आहुतिभिः) वषट्कार अर्थात् स्वाहाकार आहुतियों से समृद्ध हों। और (आहुतयः) आहुतियें (मे कामान्) मेरी समस्त कामनाओं को (समर्धयन्तु) समृद्ध करें। (भूः स्वाहा) यह समस्त पृथिवी मेरे वशमें अच्छी प्रकार हो।

(१) 'सत्यं'—तद् यत् सत्यं त्रयी सा विद्या । २ । ७ । ५ । १ । १८ ॥ सत्यं वा ऋतम् २ । ७ । ३ । १ । २३ ॥ यो वै धर्मः सत्यं वै तत् । सत्यं वदन्तमाहु धर्मं वदन्तीति । धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति । श० १४ । ४ । २ । २६ ॥ एतत् खलु वै व्रतस्य रूपं यत् सत्यम् । श० १२ । ८ । २५ ॥ एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति सत्यमेव । श० ३ । ४ । २ । ८ ॥

(२) 'यज्ञः'—स (सोमः) तायमानो जायत स यत् जायते तस्माद् यज्ञः । यज्ञो ह वै नाम एतत् यद् यज्ञः । श० ३ । ७ । ४ । २३ ॥ यज्ञो वै विशः । यज्ञो ह सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि । श० ८ । ७ । ३ । २१ ॥ वाग् यज्ञस्य रूपम् । श० १२ । ८ । २ । ४ ॥

(३) 'यजूंषि'—एष हि यन् एत्र इदं सर्वं जनयति । एतं यन्तमिदमनु-प्रजायते । तस्माद् वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः । यदिदमन्तरिक्षमेतं हि आकाशमनुजायते तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं यच्च जूश्च । तस्माद् यजुः । तस्माद् यजुः । श० १० । ३ । ५ । २ ॥ 'इषे त्वा । ऊर्जे त्वा । वायव स्थ । देवो वः सविता । प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण । इत्येवमादि कृत्वा यजुर्वेदमधीयते । गो० पू० १ । २७ ॥ मन एव यजूंषि । श० ४ । ६ । ७ । ५ । यजुर्वेदं क्षत्रियास्याहुर्योनिम् । तै० ३ । १२ । १ । २ ॥

(४) 'सामानि'—देवाः सोमं साम्ना समानयन् । तत्साम्नः समानत्वम् । तै० २ । २ । ८ । ७ ॥ स प्रजापतिः हैवं षोडधा आत्मानं विकृत्य सार्धं समैत् । तद् यत्सार्धं समैत् तत्साम्नः सामत्वम् । जै० ३ । १ । ४ । ७ । तद्यत् संयन्ति तस्मात्साम । जै० ३० १ । ३ । ३ । ६ ॥ तेनैष सर्वैर्लोकैः समः तस्मात् साम । जै० ३० १ । २२ । ५ ॥ सो ऽ श्राम्यतेति तत्साम अभवत् । जै० ३० १ । ५ । ३ । २ ॥ साम हि नाष्ट्राणां रक्षसाम-पहन्ता । श० ४ । ७ । ५ । ६ ॥ क्षत्रं वै साम । श० १२ । ८ । ३ । २३ ॥ साम हि सत्यमशीः । तां० ११ । १० । १० ॥ धर्म इन्द्रो राजा । तस्य देवाः विशः । सामानि वेदः । श० १३ । ४ । ३ । १५ ॥

(५) ' ऋचः '— प्राणा वा ऋक् । कौ० ७ । १० ॥ वाग् ऋक् । जै० ३ । ४ । २३ । ४ ॥ अमृतं ऋक् । कौ० ७ । १० ॥ अस्थि वा ऋक् । श० ७ । ५ । २ । २५ ॥ पय आहुतयो यद्दचः । श० १ । ५ । ६ । ४ ॥

(६) ' पुरोऽनुवाक्याः '—प्राण एव पुरोऽनुवाक्या । श० १४ । ६ । १ । १२ ॥ पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया यजति । शत० १४ । ६ । १ । ६ ॥

(७) ' याज्या '—इयं पृथिवी याज्या । श० १ । ४ । २ । १६ ॥ वृष्टिर्वै याज्या विद्युदेव । ए० २ । ४ । अन्नं वै याज्या । गो० उ० ३ । २२ । प्रत्तिर्वै याज्या पुण्या लक्ष्मीः । ए० ३ । ४० ॥

(८) ' वषट्काराः ' —स वै 'वौक्' इति करोति । वाग् वै वषटकारः वाग् रेतः । रेत एतत् सिञ्चति । षड् इति ऋतवः । ऋतवो वै षट् । ऋतुष्वे वैतद् रेतः सिच्यते । यो धाता स एव वषटकारः । ऐ० ३ । ४६ ॥

(९) ' आहुतयः '—तद् यदाह्वयति तस्मादाहुतिर्नाम । श० ११ । २ । २ ॥ आहितयो ह वै ता आहुतय इत्याचक्षते । श० १० । ६ । १ । २ ।

अर्थात्—प्रथम श्रेणी के पुरुष द्वितीय श्रेणीके पुरुषों के द्वारा बलवान् बनें, द्वितीय कोटि के तृतीय अर्थात् उच्च-कोटि के पुरुषों से समृद्ध हों । उच्च कोटि के लोग सत्य, न्याय और धर्म से बढ़ें । सत्य वाग् यज्ञ से बढ़ें । प्रजाजन रूप यज्ञ सत्य व्यवहार को बढ़ावें । यज्ञ यजुओं से बढ़े अर्थात् वाणी, मनके विचार से पुष्ट हो । और प्रजा का परस्पर संगठन रूप यज्ञ वायु के समान बलवान् और अन्तरिक्ष के समान आवरणकारी रक्षक राजा के बल से बढ़े । यजुर्वेद सामवेद से बढ़े अर्थात् क्षात्रबल एक साथ कार्य करके, सबके समान पोशाक, एक साथ सञ्चालनादि के कार्य से पुष्ट हो । सामवेद ऋक् से बढ़े अर्थात् क्षत्रिय लोग पुष्टिकारी अन्न या वैश्यों की सहायता से बढ़ें । ऋचाएं पुरोनुवाक्या से बढ़ें अर्थात् अन्न का बल प्राण या अन्न की वृद्धि पृथिवी की वृद्धि से हो । पुरोनुवाक्या याज्या से बढ़े अर्थात् पुण्य

लक्ष्मी अन्न सम्पत्ति से बढ़ें । याज्या वषट्कार से बढ़े अर्थात् पुण्य लक्ष्मी वीर्य और सामर्थ्य की वृद्धि से बढ़े । वषट्कार आहुतियों से बढ़ें अर्थात् बल वीर्य परस्पर के संघर्ष और स्थिर सम्पत्तियों के प्रदान कर्तव्य रक्षणों से बढ़ें । शत० १२ । ८ । ३ । ३० ॥

लोमा॑नि प्र॒यति॒र्मम॒ त्वङ् म॒ आन॑ति॒रागा॑तिः ।
मा॒ꣳसं म॒ ऽउप॑नति॒र्वस्यस्थि॑थ म॒ज्जा म ऽआन॑तिः ॥ १३ ॥

अनुष्टुप् । गांधारः । लोमत्वङ्मांसास्थिमज्जानो लिंगोक्ता देवताः ॥

भा०—राजा के शरीर की राष्ट्र से प्राप्त राजा की शक्तियों से तुलना । (प्रयतिः) राष्ट्र में समस्त जनों का प्रयत्न करना, श्रम करना या उत्तम नियमन या शासन व्यवस्था करना (मम) मेरे शरीर के (लोमानि) लोम के समान राष्ट्र की बाह्य या प्रत्यक्ष रक्षा करने वाले साधन हैं । (आनतिः) अपने समक्ष शत्रुओं और दुष्ट पुरुषों को झुकाने वाली शक्ति और (आगतिः) मेरी आज्ञा प्राप्त करते ही मेरे सामने उनका आजाना, उपस्थित हो जाना, ये दोनों शक्तियां (मे त्वङ्) मेरी त्वचा के समान मेरे राष्ट्र की रक्षा करने वाली हैं । (उपनतिः) मेरे समीप आने वाले लोगों को आदर से झुकाने वाली शक्ति (मे मांसम्) मेरे शरीर के मांस के समान राष्ट्र-शरीर के स्वस्थ और हृष्टपुष्ट होने की समृद्धि के समान है । (वसु अस्थि) मेरा समस्त प्रजाजनों को बसाने वाला सामर्थ्य और ऐश्वर्य मेरे शरीर में विद्यमान अस्थि या हड्डी के समान राष्ट्र-शरीर के दृढ़ मूल आधार के समान है । (मज्जा मे आनतिः) प्रेम से, स्नेह से लोगों को आदर पूर्वक मुग्ध करके मेरे गुणों के समक्ष झुकाने वाला बल (मे) मेरे शरीर में विद्यमान (मज्जा) मज्जा के समान, राष्ट्र-शरीर में सब को आनन्द, सुख, शान्ति देनेवाला एवं सब अंगों के पालन धारण करने वाला है । शत० १२ । ८ । ३ । ३१ ॥

यद्दे॒वा दे॒वहे॑ड॒नं दे॒वास॑श्चकृ॒मा व॒यम् ।

अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १४ ॥

अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् एवं विजिगीषु पुरुषो ! (देवासः) उत्तम गुण और विद्यावान्, एवं विजयशील (वयम्) हम लोग (यत्) जो भी (देवहेडनम्) उत्तम विद्वान्, ज्ञानी पुरुषों का अनादर और अपराध (चकृम) करें (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान् परमेश्वर, आचार्य और प्रतापी राजा (मा) मुझको (तस्मात् विश्वात्) उस सब प्रकार के (एनसः) अपराध और पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे, छुड़ावे। शत० १२ । ६ । २ । २ ॥

यदि दिवा यदि नक्तमेनाꣳसि चकृमा वयम् ।
वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १५ ॥

वायुर्देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यदि) चाहे (दिवा) दिन के समय (यदि नक्तम्) चाहे रात्रिकाल में (वयम्) हम लोग (एनांसि) अपराध और पाप (चकृम) करें तो भी (वायुः) वायु के समान व्यापक, अन्तर्यामी परमेश्वर, उसके समान आप्त पुरुष, एवं बलवान् राजा (तस्मात् एनसः) उस अपराध से और (विश्वात् अंहसः) सब प्रकार के पाप से भी (मा मुञ्चतु) मुझे मुक्त करे। शत० १२ । ६ । २ । २ ॥

यदि जाग्रद्यदि स्वप्न एनाꣳसि चकृमा वयम् ।
सूर्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १६ ॥

सूर्यो देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यदि जाग्रत्) यदि जागते और (यदि स्वप्ने) यदि सोते में भी (वयम्) हम (एनांसि) पाप (चकृम) करें तो (सूर्यः) सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर विद्वान् राजा (मा) मुझको (तस्मात्

१४—(१४-१६) निचृदः कृष्णाग्रीवसंज्ञा ऋचः । '०हेडनं०' इति काण्व० ।

पुनसः) उस पाप से और (विश्वात् अंहसः) समस्त प्रकार के पाप से (मुञ्चतु) मुक्त करे। शत० १२। ७। २। २॥

यद् ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥ १७ ॥

लिंगोक्ता देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(वयम्) हम (यत्) जो (एनः) पाप (ग्रामे) ग्राम में, (यत् अरण्ये) जो पाप जंगल में, (यत् सभायाम्) जो पाप सभा में, और (यत् इन्द्रिये) जो अपराध चित्त में और चक्षु आदि इन्द्रियों में, परस्त्री दर्शन आदि, (यत् शूद्रे) जो शूद्र या सेवक जन पर, (यद् अर्ये) और जो पाप स्वामी के प्रति, (चकृम) करें और (यत्) जो अपराध हम (एकस्य) एक, किसी भी पुरुष के (धर्मणि अधि) धर्म या कर्त्तव्य पालन या व्रत पालन के भङ्ग करने में करें (तस्य) उस अपराध का, हे परमेश्वर ! हे विद्वन् ! हे राजन् ! तू (अवयजनम्) नाश करने वाला (असि) हो। शत० १२। ६। २। ३॥

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च। अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः। अव देवैर्देवकृतमेनोऽयजयव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ १८ ॥

भा०—(यदाप० इत्यादि) देखो अ० ६। २२ ॥ (अवभृथ० इत्यादि) देखो व्याख्या अ० २। ४८ ॥

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सन्त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः। सुमित्रियान्नऽआप ऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १९ ॥

भा०—(समुद्रे० इत्यादि) व्याख्या देखो अ० ८। २५ ॥ (सुमित्रिया० इत्यादि) व्याख्या देखो अ० ६। २२ ॥

द्रुप॒दादि॑व मुमुच्मानः स्वि॒न्नः स्ना॒तो मला॑दिव ।
पू॒तं प॒वित्रे॑णे॒वाज्य॒मापः॑ शुन्धन्तु मैन॑सः ॥ २० ॥

आपो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(आपः) जलों के स्वच्छ करने वाले, स्वतः शान्ति और जीवन के देने वाले आप्त जन, या सदा प्राप्त परमेश्वर (मा) मुझको (एनसः) पाप से ऐसे (शुन्धन्तु) शुद्ध करें जैसे (मुमुचानः) मुक्त होने या टूटने वाला फल (द्रुपदात् इव) वृक्ष से अथवा (मुमुचानः द्रुपदादिव) जिस प्रकार छूटने वाला पशु काष्ट के बने खूंटे से छूट जाता है, और जिस प्रकार (स्विन्नः) पसीने से भरा पुरुष (स्नातः) नहा धोकर (मलात् इव) मल से रहित हो जाता है, और जिस प्रकार (पवित्रेण) छानने के कम्बल या वस्त्र से (पूतम्) छना हुआ (आज्यम्) घी, कीट, मल आदि से स्वच्छ हो जाता है । शत० १२ । ६ । २ । ७ ॥

उद्व॒यं तम॑स॒स्परि॒ स्वः॑ पश्यन्त॒ऽउत्त॑रम् ।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ २१ ॥

प्राकण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । विराड त्रिष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(वयम्) हम (उत्तरम्) इस लोक से उत्कृष्ट और उच्च, (स्वः) सुखमय लोक को और (उत्तमम्) सब से उत्तम, उत्कृष्ट, (ज्योतिः) परम ज्योतिःस्वरूप, (देवत्रा देवम्) प्रकाशमान पदार्थों में भी सब से अधिक प्रकाशमान, दानशीलों में सब से अधिक दानशील, विजिगीषुओं में सब से अधिक विजिगीषु (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी परमेश्वर और राजा को (पश्यन्तः ; देखते हुए (तमसः) अन्धकार से (परि) दूर (उत् अगन्म) ऊपर उठें । शत० १२ । ६ । २ । ८ ॥

आपो अद्यान्वचारिषꣳ रसेन॒ समसृक्ष्महि । पयस्वानग्न॒ऽ

आगंमं तं मा सꣳसृज वर्चसा प्रजया च धनेन च ॥ २२ ॥

अग्निर्देवता । पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! अग्नि के समान तेजस्विन् ! पापवारक ! (अद्य) आज मैं (अपः) जलों में नियमानुसार स्नान करने के समान आप्त पुरुषों को प्राप्त होकर ज्ञान और कर्मानुष्ठानों को (अनु अचारिषम्) नियमानुकूल यथाविधि आचरण कर चुका हूं और (रसेन) ज्ञान के उत्तम रस या बल से हम (सम् असृक्ष्महि) संयुक्त हो जावें । (पयस्वान्) उस शक्तिवर्धक ज्ञान-रस से युक्त होकर ही, (आगमम्) तेरी शरण आता हूं (तं मा) उस मुझको (वर्चसा) तेज, वीर्य और अधिकार से, (प्रजया) प्रजा से और (धनेन च) धन, ऐश्वर्य से (संसृज) युक्त कर ।१२ । ६ । २ । ६ ॥

लौकिक कर्मकाण्ड में 'यदापः०' मन्त्र से स्नान करते हैं । 'द्रुपदा०' मन्त्र से वस्त्र बदलते हैं । 'उद्वयं०' से जल से बाहर आते हैं, 'अपो अधा०' मन्त्र से उपास्य अग्नि के पास आते हैं । 'एधोसि०' से समित् लेकर अग्नि की परिचर्या करते हैं ।

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।
समावर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः । समु विश्वमिदं जगत् ।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून्कामान्व्यश्नवै भूः स्वाहा ॥२३॥

समिद् अग्निर्वैश्वानरश्च देवताः । स्वराड् अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे प्रभो ! (त्वम्) तू (एधः असि) काष्ठ जिस प्रकार अग्नि में रख देने से उसको अधिक प्रदीप्त करता है उसी प्रकार तू तेज को बढ़ा देने वाला है । हम (एधिषी महि) सदा वृद्धि को प्राप्त हों । तू (समित् असि) काष्ठ के समान संग लगे अग्नि को प्रज्वलित कर देने और प्रकाशित करने वाला है, तू स्वयं (तेजःअसि) तेजः स्वरूप है ।

(मयि) मुझ में तू (तेजः देहि) तेज प्रदान कर। (पृथिवी) पृथिवी, यह लोक (सम् आववर्ति) अच्छी प्रकार रहे, सुखदायक हो। (उषाः) प्रातःकालीन उषा (सम्) अच्छी प्रकार सुखदायिनी हो, (सूर्यः सम् उ) सूर्य भी हमें सदा सुखदायी हो। (इदं विश्वं जगत्) यह समस्त जगत् (सम् उ) सदा हमें सुखकारी हो। और मैं (वैश्वानर-ज्योतिः) समस्त विश्व के हितकारक जाठर अग्नि, सामान्य अग्नि, विद्युत् और सूर्य को और परमेश्वर सब के ज्योतियों के समान ज्योति को धारण करने वाला, अथवा, सर्व हितकारी ज्योति के समान सर्वोपकारक (भूयासम्) होऊं। मैं (विभून्) बड़े २, विविध (कामान्) कामना योग्य ऐश्वर्यों को (व्यश्नवै) प्राप्त करूं। (भूः स्वाहा) समस्त संसार के उत्पादक, सत्ता-मात्र परमेश्वर को और पृथ्वी को उत्तम न्यायानुकूल धर्माचरण और सत्य ज्ञान द्वारा प्राप्त करूं। शत० १२। ६। २। १० ॥

अभ्या दधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि ।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽहम् ॥ २८ ॥

अश्वतराश्वि ऋषिः । अग्निर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (व्रतपते अग्ने) समस्त व्रतों और सत्य कर्मों के पालक अग्ने ! तेजस्विन् ! (त्वयि) जिस प्रकार अग्नि में काष्ठ या समिधा रखदी जाती है उसी प्रकार तुझमें (समिधम्) अच्छी प्रकार प्रदीप्त होजाने में समर्थ अपने आपको मैं तुझ में (अभि आदधामि) तेरे समक्ष शिष्यरूप से स्थापित करता हूं। और (व्रतं च) व्रत और (श्रद्धां च) सत्य धारणा, दृढ़ विश्वास बुद्धि को (उप-एमि) प्राप्त होता हूं। और (अहम्) मैं (दीक्षितः) दीक्षित होकर (त्वा इन्धे) तुझे भी प्रज्वलित करूं।

गुरु शिष्य के समीप व्रत और श्रद्धा को प्राप्त करके उसकी दीक्षा प्राप्त करे और काष्ठ जिस प्रकार अग्नि में जलके अग्नि को भी प्रदीप्त

करता है उसी प्रकार शिष्य भी व्रत और विद्या से प्रदीप्त होकर गुरु के यश का कारण हो। इसी प्रकार वीरगण अपने नायक रूप अग्नि में अपने को काष्ठ के समान समर्पित करें और उसी के अधीन कर्म और सत्य विश्वासबुद्धि रख कर उसी की आज्ञा पालन करते हुए उसके तेज और पराक्रम की वृद्धि करें।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ २५ ॥

अश्वतराश्विर्ऋषिः। अग्निर्देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(यत्र) जहां (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्म, ब्राह्मणगण और वेद ज्ञान, क्षात्रबल, शौर्य, वीर्य और क्षत्रियगण, दोनों (सम्यञ्चौ) अच्छी प्रकार से पुष्ट होकर (सह) एक साथ (चरतः) विचरण करें, विद्यमान हों (तम्) उस दर्शनीय (लोकं) जनसमाज को मैं (पुण्यं) पुण्य, निष्पाप, पवित्र, (प्रज्ञेषं) उत्कृष्ट जानता हूं, (यत्र) जहां (देवाः) विद्वान् गण और विजयशील सैनिकजन (अग्निना) तेजस्वी आचार्य एवं नायक सेनापति या राजा के साथ निवास करते हैं।

वह आत्मा अच्छा है जिसमें वेदज्ञान और बाहुबल दोनों पूर्ण हों जिसमें इन्द्रिय गण आत्मा के साथ सुख से रहें। वह समाज और देश उत्तम है जिसमें ब्राह्मण क्षत्रिय हृष्ट पुष्ट रहें और देव अर्थात् विद्वान् गण प्रजागण अपने नायक के साथ रहें। वह परब्रह्म आचार्य कुल भी उत्तम है जिसमें दीक्षित होकर ब्रह्म क्षत्र अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय सभी सदाचारी होकर धर्म का आचरण करें और देव अर्थात् विद्वान् शिष्यगण आचार्य के साथ रहें।

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न शिष्यते ॥ २६ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत्।

भा०—(यत्र) जहां, जिस लोक में (इन्द्रः च वायुः च) इन्द्र और वायु (सम्यञ्चौ) पूर्ण बलवान् होकर (सह चरतः) एक साथ विचरण करते हैं मैं (तं लोकं) उस लोक, स्थान, प्रदेश, आत्मा और समाज को (पुण्यं) पवित्र (प्रज्ञेषं) जानता हूं। (यत्र) जहां (सेदिः) अन्नादि के न मिलने के कारण उत्पन्न विपत्ति, दुर्भिक्ष आदि क्लेश (न विद्यते) नहीं होता।

जिस मोक्ष में इन्द्र अर्थात् जीव और वायु अर्थात् व्यापक परमेश्वर दोनों साथ विचरते हैं, वह पुण्य लोक है। वहां भूख प्यास के कष्ट नहीं, या वहां जन्म मरण के कष्ट नहीं। वह देश जिसमें इन्द्र अर्थात् राजा, वायु अर्थात् सेनापति दोनों बलवान् होकर भी परस्पर (सम्यञ्चौ) सुसंगत होकर प्रेम से रहते हैं वह देश पुण्य हैं जहां (सेदिः) अन्नादि का अभाव और प्रजाजन का नाश नहीं होता है। वह शरीर पवित्र है जिसमें (इन्द्रः) आत्मा और (वायुः) प्राण सुसंगत होकर रहें, जहां (सेदिः) रोगादि क्लेश नहीं रहते।

अꣳशुना᳖ ते अꣳशुः पृच्यतां परु᳖षा परुः।
गन्ध᳖स्ते सोम᳖मवतु मदा᳖य रस᳖ोऽअच्यु᳖तः॥ २७॥

सूर्यो देवता। विराड् अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(ते अंशुना) तेरे व्यापक सामर्थ्य से (अंशुः) राष्ट्र का व्यापक सामर्थ्य और (परुषा परुः) पोरू से पोरू (पृच्यताम्) जुड़ा रहे। (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध या शत्रुनाशक बल और (अच्युतः) कभी न्यून न होने वाला (रसः) रस, परम बल (मदाय) परम आनन्द और सुख प्राप्त करने के लिये (सोमम्) सोम, ऐश्वर्य और राष्ट्र के राज-पद को (अवतु) रक्षा करे।

अध्यात्म में—व्यापक परमेश्वर से तेरा आत्मा और पालन करने

वाले सामर्थ्य अर्थात् वीर्य से तेरा पोरू २ सदा युक्त रहे। तेरा गन्ध अर्थात् सद्भाव (सोम) परमेश्वर को प्राप्त हो। अच्युत, परब्रह्म रस (ते मदाय) तेरे परम आनन्द के लिये हो।

सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत सिञ्चन्ति पुनन्ति च।
सुरायै वभ्रवे मदे किन्वो वदति किन्वः ॥ २८ ॥

सोम इन्द्रो वा देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—दानशील राजा का वर्णन करते हैं। सभी प्रजाजन (सिञ्चन्ति) राजा को अभिषेक करते हैं, (परि षिञ्चन्ति) वे सब ओर से आये प्रजाजन उसको अभिषेक करते हैं, (उत सिञ्चन्ति) उसको उत्तम पद पर अभिषिक्त करते हैं। और उसको (सुरायै) सुखपूर्वक देने योग्य, या उत्तम रमण करने योग्य, एवं (वभ्रवे) सब के भरण पोषण करने वाली राज्य-लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये (पुनन्ति) पवित्र करते हैं, जिससे राजा राज-पद को प्राप्त करके पापमय व्यसनों में न फंसे, प्रत्युत, उत्तम धर्मात्मा बना रहे। वह भी (मदे) राज्यलक्ष्मी के प्राप्ति के परम सुख में तृप्त होकर सब को (वदति) कहता है (किन्वः किन्वः) हे प्रजाजन तुझे क्या चाहिये ? तुझे क्या चाहिये ? तुझे क्या कष्ट है, तुझे क्या दुःख है। वह राज्य-लक्ष्मी पाकर दरिद्रों को अन्न वस्त्र आदि जो आवश्यक हों दे। दुःखितों का कष्ट निवारण करे, दण्डितों के अपराध क्षमा करे।

राज्याभिषेक के समय सभी लोकों का राजा को स्नान कराना उसको राजपद के लिये पवित्र करने और अनाचार, अधर्म, पाप से मुक्त करने के लिये होता है।

ध्रानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्।
इन्द्रं प्रातर्जुषस्व नः ॥ २९ ॥

विश्वामित्र ऋषिः। इन्द्रो देवता। गायत्री षड्जः ॥

भा०—(इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (नः) हम में से (धानावन्तं) धारण पोषण करने वाली नाना गौओं या शक्तियों से युक्त, (करम्भिणम्) क्रियाशील, उद्यमी पुरुषों से सम्पन्न, (अपूपवन्तम्) इन्द्रियों के सामर्थ्य वाले और (उक्थिनम्) वेद शास्त्र के ज्ञान प्रवचन से युक्त प्रजाजन को (प्रातः) प्रातः सब से प्रथम (जुषस्व) प्राप्त कर ।

करोतेरम्बच । करम्बः । उणादि० । अपूपमिन्द्रियम् । श० ।

बृहद्दिन्द्रा॑य गायत मरुतो बृत्रहन्तमम् ।
येन॒ ज्योति॒रज॑नयन्नृता॒वृधो॒ देवं॑ दे॒वाय॒ जागृ॑वि ॥ ३० ॥

नृमेध पुरुमेधावृषी । इन्द्रो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् पुरुषो ! वायु के समान तीव्र, वेगवान् वीर पुरुषो ! हे शत्रुओं को मारने हारो ! आप लोग (वृत्रहन्तमम्) नगर को रोक लेने वाले शत्रु को मारने वालों में सब से श्रेष्ठ (बृहत्) महान् शक्तिमान् राष्ट्र के उस अधिकार का (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा को (गायत) उपदेश करो (येन) जिस द्वारा (ऋतावृधः) सत्य ज्ञान और न्याय व्यवहार की वृद्धि करने वाले (देवाय) देव, दानशील राजा की (जागृवि) सदा जागने वाले, सदा सावधान, (देवं) सर्व विजयकारी, (ज्योतिः) तेज को (अजनयन्) उत्पन्न करते हैं, प्रकट करते हैं ।

उपासना विषय में—अज्ञाननाशक (इन्द्राय) परमेश्वर के महान् सामर्थ्य का वर्णन करो, जिससे (ऋतावृधः) ज्ञानवृद्धि करने वाले लोग परमेश्वर के सदा चेतन, प्रकाशस्वरूप ज्योति को साक्षात् करें ।

अध्व॑र्यो॒ऽ अद्रि॑भिः सुत॒ꣳसोमं॑ पवित्र॒ऽ आ न॑य ।
पुनी॑हीन्द्रा॒य॒ पात॑वे ॥ ३१ ॥

इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अध्वर्यो) अध्वर्यो! विद्वन्! यज्ञ के समान अहिंसित अखण्ड राज्य के संयोजक महामात्य पुरुष! तू (अद्रिभिः) अजेय शस्त्रधारियों से (सुतम्) अभिषिक्त हुए (सोमम्) राजा को (पवित्रे) पवित्र, पुण्य, राज सिंहासन पर (आ नय) प्राप्त करा, उसको बैठा। और (इन्द्राय) ऐश्वर्य युक्त, परमैश्वर्यवान्, राष्ट्र के (पातवे) पालन करने के लिये (पुनीहि) उसको पवित्र कर। उसके, आत्मा, मन और इन्द्रियों को भी पवित्र कर। उसको उसके परम, उच्च कर्त्तव्यों का उपदेश कर।

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः। य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ ३२ ॥

नारायणीयः कौण्डिन्य ऋषिः। आत्मा परमात्मा च देवते। पंक्तिः पञ्चमः।

भा०—राजा के कर्त्तव्यों का उपदेश। हे राजन्! (यः) जो परमेश्वर (भूतानाम्) समस्त चराचर प्राणियों का (अधिपतिः) सबसे बड़ा पालक, स्वामी है। (यस्मिन् लोकाः) जिसके भीतर, जिसके आश्रय पर समस्त लोक, समस्त ब्रह्माण्ड (अधिश्रिताः) आश्रित हैं, स्थान पा रहे हैं, (यः) जो (महान्) सबसे महान् होकर (महतः) बड़े २ आकाशादि महत् परिमाण के पदार्थों और महत् तत्व आदि प्रकृति के विकारों को भी (ईशे) अपने वश कर रहा है (तेन) उस परमेश्वर के परम ऐश्वर्य से (त्वाम्) तुझको (अहम्) मैं (गृह्णामि) राज्य पद के लिये स्वीकार करता हूं। (त्वाम्) तुझको (अहम्) मैं राज्य कार्य का मुख्य प्रवर्त्तक 'अध्वर्यु' (मयि) अपने ही उत्तरदातृत्व या सामर्थ्य पर (गृह्णामि) ग्रहण या स्वीकार करता हूं। अर्थात् जिस प्रकार परमात्मा समस्त भूतों का पति है वैसे तू भी राष्ट्र के समस्त प्राणियों का स्वामी बन, जैसे उसमें समस्त लोक स्थित हैं, वैसे तेरे आश्रय पर समस्त लोक जन हैं। जैसे वह

बड़े आकाशादि पर वश करता है वैसे तू बड़े २ राजाओं पर वश कर। उसी ऐश्वर्य से तुझे राज पद के लिये चुनता हूं।

उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे।
एष ते योनिरश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥३३॥

भा०—इसकी व्याख्या देखो अ० १० । २३ ॥

प्राणपा मेऽअपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे।
वाचो मे विश्वभेषजो मनसोऽसि विलायकः ॥ ३४ ॥

लिंगोक्ता देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! परमात्मन् ! राजन् ! हे विद्वन् ! आचार्य ! तू (मे) मुझ शिष्य जन और प्रजाजन के (प्राणपाः) प्राणों का पालक, (अपानपाः) अपानों का पालक, (श्रोत्रपाः) श्रोत्रों का पालक, (मे वाचः) मेरी वाणियों के (विश्वभेषजः) सब दोषों को दूर करने वाला और (मनसः) मनको (विलायकः) विविध मार्गों में लगाने हारा है। तू सदा पिता, गुरू, आत्मा के समान आदर करने योग्य है।

आश्विनंकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रेण सुत्राम्णा कृतस्य।
उपहूतऽउपहूतस्य भक्षयामि ॥ ३५ ॥

अहाः लिंगोक्ता देवताः । निचृदुपरिष्टाद् बृहती । मध्यमः ।

भा०—मैं गौण, अधीनस्थ अधिकारी पुरुष को भी (उपहूतः) आदरपूर्वक निमन्त्रित हूं। हे राष्ट्रजन ! मैं (आश्विन कृतस्य) प्रजा के स्त्री पुरुषों द्वारा कृत, निश्चित, (सरस्वतीकृतस्य) विद्वत्सभा द्वारा निश्चित और (सुत्राम्णा) उत्तम, सर्वोत्तम रक्षक राजा द्वारा (कृतस्य) नियत (ते) तेरे हितके लिये (उपहूतस्य) आदरपूर्वक प्राप्त अधिकार का मैं (भक्षयामि) उपभोग करूं।

समिद्धऽइन्द्रऽउपसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद् वावृधानः।

त्रिभिर्दैवैस्त्रिंशता वज्रबाहुर्जघान वृत्रं वि दुरो ववार ॥ ३६ ॥

[३६–४७] इन्द्रो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥ आंगिरस ऋषिः ।

भा०—(समिद्धः) अति प्रदीप्त, अति तेजस्वी, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सूर्य जिस प्रकार (उपसाम् अनीके) उषाओं या प्रभात काल के मुख में (पुरोरुचा) अपने आगे चलने वाली अति दीप्ति से (पूर्वकृत्) पूर्व विद्यमान अन्धकार को नाश करता हुआ आगे बढ़ता है इसी प्रकार (समिद्धः) सूर्य के समान तेजस्वी, (इन्द्रः) शत्रुओं का नाशक इन्द्र, सेनापति (उपसाम्) शत्रु के गढ़ों को जलाने हारे, या शत्रु सेनाओं को अपने आग्नेयास्त्रों से जलाने वाले सैन्यों के, या (उपसाम) स्वयं दाहकारी आयुधों के (अनीके) सेना समूह के, अग्र भाग में (पुरोरुचा) आगे फैलने वाली दीप्ति से या दीप्तिमान् शक्ति से (पूर्वकृत्) पूर्व ही शत्रु पर आक्रमण करने हारा होकर, या पूर्ण बलवान्, शत्रु का नाशक होकर स्वयं (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (वज्रबाहुः) खड्ग को हाथ में लिये, बलवान्, दण्डधर राजा, (त्रिभिः त्रिंशता देवैः) तेंतीस देवों अर्थात् राष्ट्र के निमित्त विजय करने वाले कुशल पुरुषों के साथ मिलकर (वृत्रं जघान) आवरणकारी शत्रु का नाश करे। और (दुरः) शत्रु दुर्गके द्वारों को (वि ववार) विविध रूप से खोलदे।

आत्मा के पक्ष में—(इन्द्रः समिद्धः) इन्द्र, आत्मा योगद्वारा तेजस्वी होकर (उपसाम् अनीके) अज्ञानदाहक, ध्यान योग से प्रकट होने वाली ज्योतिष्मती प्रज्ञाओं के प्रारम्भ में स्वयं उग्र दीप्ति से अन्धकार को नाश करके ज्ञानवज्र से युक्त होकर आवरणकारी तम और बन्धनकारी देहबन्धन का नाश करे और द्वारों को खोलदे।

नराशꣳस्रः प्रति शूरो मिमानस्तनूनपात्प्रति यज्ञस्य धाम ।

३६—तः नौनागमिकं नौनम् ॥ यतः स्यादैन्द्रस्याभिधः ।

गोभिर्वपावान्मधुना समञ्जान्हिरण्यैश्चन्द्री यजति प्रचेताः ॥३७॥

इन्द्रस्तनूनपाद् देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(नराशंसः) अपने आश्रित जनों से स्तुति के योग्य, (शूरः) शूरवीर, निर्भय, (प्रति मिमानः) राष्ट्र के प्रत्येक कार्य को स्वयं जानता और करता हुआ (तनूनपात्) अग्नि के समान, तेजस्वी, जाठर अग्नि जिस प्रकार शरीर को नहीं गिरने देता उसी प्रकार राष्ट्र का पतन न होने देने वाला और प्राण जिस प्रकार शरीर नष्ट नहीं होने देता उसी प्रकार राष्ट्र का रक्षक होकर विराजमान (यज्ञस्य) राज्यावस्था रूप यज्ञ या प्रजापति राजा को (धाम) धारण सामर्थ्य और प्रताप के । (प्रति) प्रतिस्पर्द्धा में बनाये रक्खे । वह (गोभिः) गवादि पशुओं से (वपावान्) अति लक्ष्मीवान् पुनः (गोभिः वपावान्) भूमियों से कृषि-सम्पत्तिमान्, (गोभिः वपावान्) शास्त्र-वाणियों से विस्तृत बुद्धिमान् होकर (मधुना) स्वयं मधु, ज्ञान, अन्न और बल से (समञ्जन्) अच्छी प्रकार प्रकाशित होता हुआ, (हिरण्यैः) सुवर्ण आदि रमणीय और हितकारी पदार्थों से (चन्द्री) प्रजा के आनन्दकारी, ऐश्वर्यवान् होकर (प्रचेताः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् होकर (यजति) यज्ञ करता, दान देता, राष्ट्र को सुव्यवस्थित करता है ।

ईडितो देवैर्हरिवाँ२॥ अभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्द्धमानः ।
पुरन्दरो गोजिद्वाजंवाहुरयांसु यज्ञमुप नो जुषाणः ॥ ३८ ॥

इड इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (देवैः) देव, विजिगीषु वीर पुरुषों और विद्वानों द्वारा (ईडितः) स्तुति और आदर, मान (हरिवान्) उत्तम घोड़ों वाला, (अभिष्टिः) सब दिशाओं में आक्रमण करने और शासन करने में समर्थ, (आजुह्वानः) शत्रुओं द्वारा ललकारा गया, या विद्वानों द्वारा आदर से

बुलाया हुआ (हविषा) राष्ट्र से प्राप्त कर रूप ऐश्वर्य से (शर्धमानः) शत्रुओं का पराजय करता हुआ, (पुरन्दरः) शत्रु के गढ़ों को तोड़ने वाला, (गोत्रभिद्) शत्रुवंशों के उच्छेद करने वाला, (वज्रबाहुः) खड्ग आदि वीर्य को धारण करने वाला वह राजा (नः) हमारे (यज्ञम्) राष्ट्र के पालन कार्य, प्रजापति पद को (जुषाणः) प्रेम से स्वीकार करता हुआ हमें (आ यातु) प्राप्त हो।

जुषाणो बर्हिर्हरिवान्त्रऽइन्द्रः प्राचीनꣳसीदत्प्रदिशा पृथिव्याः।
उरुप्रथाः प्रथमानꣳस्योनमादित्यैरक्तं वसुभिः सजोषाः ॥ ३६ ॥

बर्हिष्मान् इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(बर्हिः जुषाणः इन्द्रः) अन्तरिक्ष में विराजमान सूर्य जिस प्रकार (पृथिव्याः) पृथिवी के (प्राचीनं) प्राचीन दिशा के प्रदेश में (प्र-दिशा) प्रबल तेज से विराजता है और (हरिवान्) किरणों से युक्त सूर्य जिस प्रकार (आदित्यैः) अपने किरणों से (अक्तं) प्रकाशित (बर्हिः) महान् ब्रह्माण्ड या अन्तरिक्ष में (आ सीदत्) विराज जाता है। (हरिवान्) तीव्र वेगवान् अश्वों और तीव्र मतिमान् विद्वान्, वीर पुरुषों का स्वामी, (इन्द्रः) शत्रुनाशक, ऐश्वर्यवान् राजा (प्र-दिशा) अपने उत्कृष्ट शासन के बल से (पृथिव्याः) पृथिवी (बर्हिः) महान्, बृहत् राष्ट्र या ऐश्वर्य को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (उरुप्रथाः) अति विस्तृत शक्तिशाली होकर (आदित्यैः) सूर्य के किरणों के समान तेजस्वी, (वसुभिः) बसने वाले प्रजा के विद्वान् पुरुषों द्वारा अथवा (आदित्यैः वसुभिः) प्राप्त करने योग्य ऐश्वर्यों से (सजोषाः) सम्पन्न होकर (अक्तं) प्रकाशित, तेजोमय (स्योनम्) सुखकारी (प्रथमानम्) विख्यात एवं विस्तृत एवं (प्राचीनं) अति उत्कृष्ट राज्य को (आसीदत्) विराजे।

३६—'जुषितो०' इति काण्व०।

इन्द्रं दुरः कवय्यो धावमाना वृषायणं यन्तु जनयः सुपत्नीः ।
द्वारो देवीरभितो वि श्रयन्तां सुवीरा वीरं प्रथमाना महोभिः ॥४०॥

ऋ० २ । ३ । ५ ॥

द्वावान् इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (कवय्यः) उत्तम स्तुति करने वाली, (जनयः) पुत्रजनन में समर्थ (सुपत्नीः) उत्तम गृहपत्नियां, स्त्रियां (धावमानाः) रजोधर्म शुद्ध हुई (वृषायणं) वीर्य सेचन में समर्थ अपने पतियों के पास जाती हैं उसी प्रकार (कवय्यः) उत्तम, हर्ष ध्वनि करने वाली, (दुरः) अति वेगवती (जनयः) उत्तम रूप से सजाई गई, (सुपत्न्यः) उत्तम रीति से नगर की रक्षा करने वालीं (द्वारः) द्वारों के समान शत्रुओं का वारण करने वाली (धावमानाः) बड़े उत्सुकता से समीप आती हुई सेनाएं (वृषायणं) बलवान् (इन्द्रम्) राजा या सेनापति को (यन्तु) प्राप्त हों और जिस प्रकार (सुवीराः) उत्तम पुत्रवती स्त्रियें (महोभिः) आनन्द उत्सवों से (वीरं प्रथमानाः) अपने वीर पति की प्रशंसा करती हुई विराजती हैं उसी प्रकार (सुवीराः) उत्तम वीर पुरुषों से सजीं (देवीः) शोभा वाली, विजयशील (महोभिः) तेजों से (वीरं) वीर्यवान् राजा की (प्रथमानाः) शक्ति और यश को विस्तृत करती हुई (द्वारः) शत्रुओं का वारण करने वाली द्वारों के समान सुदृढ़ सेनाएं (विश्रयन्ताम्) विविध रूप से विविध देशों और दिशाओं में खड़ी हों ।

अथवा—जिस प्रकार पत्नियां पति के स्वागत के लिये (दुरः यन्तु) द्वार पर आजाती हैं उसी प्रकार (जनयः) प्रजाएं राजा के स्वागत के लिये (दुरः यन्तु) द्वार पर आवें । उसी प्रकार (सुवीराः देवीः द्वारः विश्रयन्ताम्) उत्तम वीर पुरुषों से युक्त उत्तम प्रजाएं द्वारों पर खड़ी हों ।

संस्कृत में ' द्वार ' शब्द स्त्रीलिङ्ग होने से उनकी श्लिष्टोपमा स्त्रियों के साथ की गई है । फलतः ऐसे वीर राजा के स्वागत और नगर की रक्षा के लिये बहुत से द्वार तथा रक्षक कटक खड़े किये जायं ।

उषासानक्ता बृहती बृहन्तं पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम् ।
तन्तुं ततं पेशसा संवयन्ती देवानां देवं यजतः सुरुक्मे ॥ ४१ ॥

ऋ० २ । ३ । ६ ॥

उषासानक्तौ देवते । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार (उषासानक्ता) उषा अर्थात् प्रभातवेला, और नक्त-रात्रिवेला दोनों (इन्द्रम्) सूर्य को (पेशसा) उत्तम रुचिकारक तेज से (संवयन्ती) आवरण करती हुई (यजतः) संगत होती हैं उसी प्रकार (बृहती) बड़ी भारी दो सेनाएं या प्रजा और सेना की पंक्तियें (पयस्वती) पुष्टिकारक तेज पराक्रम और अन्न को धारण करने वाली, (सुदुघे) उत्तम शक्ति और ऐश्वर्य से राजा को पूर्ण करने वाली होकर (शूरम् इन्द्रम्) शूरवीर राजा को (तन्तुम्) पट के तन्तुओं के समान स्वयं (ततं) विस्तृत (पेशसा) ऐश्वर्य या उज्ज्वल रूप से (संवयन्ती) मानो बुनतीसी हुई उसके विस्तृत रूप को प्रकट करती हुई (सुरुक्मे) सुखप्रद ऐश्वर्य सहित होकर (देवानां) तेजस्वी और विजयी पुरुषों के बीच (देवम्) तेजस्वी विजिगीषु पुरुष को (यजतः) प्राप्त होती हैं ।

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होताराविन्द्रं प्रथमा सुवाचा ।
मूर्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनं ज्योतिर्हविषा वृधातः ॥ ४२ ॥

दैव्यौ होतारौ देवते । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(दैव्यौ होतारौ) देवों, विद्वानों में उत्तम प्रतिष्ठा से विद्यमान, (होतारौ) यज्ञ के होताओं के समान राष्ट्र को अपने वश करने में समर्थ अधिकारी वायु और अग्नि, सेनापति और विद्वान् महामात्य दोनों (प्रथमा) सबसे मुख्य (सुवाचा) उत्तम वाणी वाले, (पुरुत्रा मनुषः) बहुतसे मनुष्यों को (मिमानौ) अपने वश करके राज्य का निर्माण करते हुए और (इन्द्रम्) शत्रुनाशक या ऐश्वर्यवान् राजा को (यज्ञस्य) सुव्यवस्थित

४२ — ०होतारा इन्द्रं० इति काण्व० ।

राज्य के या प्रजापति के पद के (मूर्धन्) मुख्य शिरोभाग पर (मधुना) अपने ज्ञान और बल से (दधाना) स्थापन करते हुए (प्राचीनं ज्योतिः) प्राची दिशामें उत्पन्न सूर्य के समान उदित होते हो तेजस्वी राजा को (हविषा) अन्न, बल, ज्ञान और कर द्वारा होता जिस प्रकार हविसे अग्नि को बढ़ाते हैं उसी प्रकार (वृधातः) बढ़ाते हैं, अधिक शक्तिशाली बनाते हैं।

तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमानाऽइन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः।
अच्छिन्नं तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः ॥४३॥

ऋ० २ । ३ । ८ ॥

इडासरस्वतीभारत्यस्तिस्रो देव्यो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सरस्वती) सरस्वती, विद्वत्-सभा या विद्वान् जन ! (इडा) इडा, धर्मसभा और (देवी) विजयशालिनी (भारती) धारण पोषण करनी, प्रबन्धक सभा, (विश्वतूर्त्तिः) तीनों समस्त कार्यों को विना विलम्ब के अति शीघ्रता से करने में समर्थ, (तिस्रः) तीनों (देवीः) दिव्य गुण वाली, एवं विद्वान् सदस्यों से बनी सभाएं (हविषा) अन्नादि ऐश्वर्य, ज्ञान और बल से (वर्धमानाः) बढ़ती हुई (जनयः पत्नीः नु) पुत्रोत्पादन करने वाली पत्नियों के समान, (इन्द्रं) अपने ऐश्वर्यशील स्वामी, राजा या राज्य कार्य को (जुषाणाः) प्राप्त करके (पयसा) ऐश्वर्य, वीर्य, सामर्थ्य से (अच्छिन्नं तन्तुम्) अटूट सन्तान के समान विस्तृत राज्य-प्रबन्ध को (वर्धयन्ति) बढ़ावें।

त्वष्ट्रा दत्रञ्छुष्मभिन्द्रा॑य वृ॒ष्णेऽवा॑क्रो॒ऽचि॑क्रदद्गि॒रा सं पु॑रू॒णि।
वृषा॑ यजन्वृष॒णं भूरि॑रेता मू॒र्द्धन्य॒ज्ञस्य॒ समनक्तु॒ देवा॑न् ॥ ४४ ॥

त्वष्टा रूपेहेन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

४३—०तिस्रा० इति काण्व० ।

भा०—(त्वष्टा) राज्य के समस्त उत्तम कार्यों को सम्पादन करने में समर्थ तेजस्वी वीर क्षत्रिय (वृत्राणे) शत्रुओं की शक्ति को बांधने वाले (इन्द्राय) इन्द्र ऐश्वर्यवान्, राज पद या सेनापति पद के लिये (शुष्मम्) शत्रुओं को सुख देने वाला बल वीर्य को (दधत्) धारण करे। और वह (अपाकः) जिससे अधिक और प्रशंसनीय, योग्यतम प्राप्त न हो ऐसा, सब से अधिक प्रशंसनीय और (यशसे) यश और कीर्त्ति के लिये (अचिष्टुः) समस्त देश भर में पूजनीय होकर (पुरूणि) बहुतसी प्रजाओं को (दधत्) धारण करे। वही (वृषा) जल सेचन में समर्थ मेघ और वीर्य सेचन में समर्थ वृषभ के समान (भूरिरेताः) प्रचुर वीर्यवान्, शक्तिशाली होकर (वृषणं) मेघ के समान समस्त सुखों की धाराएं वर्षाने वाले राष्ट्र को या प्रभूत बल को (यजन्) प्राप्त करता हुआ (यज्ञस्य) प्रजा पालक राष्ट्र के (मूर्धन्) सर्वोच्च पद पर रह कर (देवान्) विजयशील, विद्वान् पदाधिकारियों को और राज-सभासदों को (सम् अनक्तु) एकत्र करे।

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः।
इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन ॥ ४५ ॥

वनस्पतिरूप इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वनस्पतिः) वन में लगे वृक्षों के समान अगणित असंख्य प्रजाजनों और सेनाजनों का पालक अथवा वनस्पति, महा वृक्ष वट आदि के समान बहुतों को अपने नीचे शीतल छाया और आश्रय का देने वाला राजा स्वयं (पाशैः) सभी बंधनों से (अवसृष्टः) मुक्त सा होकर भी (त्मन्या) अपने ही तेजः सामर्थ्य से (सम् अञ्जन्) प्रकाशमान होता हुआ वह (देवः) सूर्य के समान तेजस्वी, अन्यों को प्रकाशप्रद होकर (शमिता न) सब को शान्तिदायक एवं दण्डकर्ता हो जाता है। वह (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र के (जठरं) उदर के समान यहां कोश को (हव्यैः)

ग्रहण करने योग्य अन्न और ऐश्वर्यमय बहुमूल्य रत्नों से (पृणानः) पूर्ण करता हुआ (यज्ञं) व्यवस्थित, सुसंगत राष्ट्र को (मधुना घृतेन) मधुर घी से भोजन के समान (मधुना) मधुर (घृतेन) तेज से (स्वदाति) स्वयं भोगता है ।

स्तोकानामिन्दुं प्रति शूर इन्द्रो वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट् ।
घृतप्रुषा मनसा मोदमानाः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम् ॥४६॥

भा०—(स्तोकानाम्) अल्प शक्ति वाले पुरुषों में से जो (वृषभः) महान् (तुराषाट्) हिंसक, दुष्ट पुरुषों को पराजित करने हारा, (वृषायमाणः) सब प्रजाओं पर मेघ के समान वर्षक और राष्ट्र पर आने वाले संकटों का प्रतिबन्धक होकर (शूरः) शूर वीर है, वह (इन्दः) इन्द्र पद के योग्य है । उस (इन्दम् प्रति) ऐश्वर्यवान्, दयार्द्र स्वभाव, राजा के (प्रति) प्रति (घृतप्रुषा) स्नेह और तेज को सेचन करने वाले (मनसा) मन या विज्ञान से (मोदमानाः) अति प्रसन्न होते हुए (अमृताः देवाः) जीवित, अधिकारी राज पुरुष (स्वाहा) उत्तम यश या अपने आत्मसमर्पक वचनों द्वारा (मोदयन्ताम्) हर्ष अनुभव करें और प्रजा को सुप्रसन्न, सुतृप्त करे ।

आयात्विन्द्रोऽवस उप न इह स्तुतः सधमादस्तु शूरः ।
वावृधानस्तविषीर्यस्य पूर्वीर्द्यौर्न क्षत्रमभिभूति पुष्यात् ॥ ४७ ॥
ऋ० ४ । २१ । १ ॥

वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रः) शत्रुओं का विदारण करनेवाला, विजयी (शूरः) शूरवीर (नः अवसे) हमारी रक्षा करने के लिये (इह) इस राष्ट्र में (उप आयातु) प्राप्त हो । (स्तुतः) उत्तम गुणों से प्रशंसित वह

४७—(४७-५२) षड् याज्यानुवाक्या ।

(सधमाद् अस्तु) समस्त प्रजा और शासन के साथ सु-प्रसन्न होकर रहे। (यस्य) जिसके (पूर्वीः) पूर्ण सामर्थ्यवाले (तविषीः) बल के बड़े २ कार्य और शक्तियां विद्यमान हैं और जो स्वयं (वावृधानः) सदा वृद्धिशील है वह (अभिभूति) शत्रु के पराजय करने में अपने समर्थ (क्षत्रम्) क्षात्र बल, वीर्य को (द्यौः न) सूर्य के समान (पुष्यात्) तेजस्वी, प्रचण्ड और पुष्ट करे।

आ नऽइन्द्रो दूरादा नऽआसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः।
ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्के समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥४८॥

ऋ० ४। २०। १॥

इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(नः) हमारा (इन्द्रः) शत्रुओं को फोड़देने में समर्थ ऐश्वर्यवान् राजा (दूरात्) दूर देश से और (आसात्) समीप से भी (नः अवसे) हमारी रक्षा के लिये (उग्रः) अति बलवान् होकर (आ यासत्) आवे। और वह (ओजिष्ठेभिः) अति पराक्रमी, वीर पुरुषों के (सङ्के) संग में (समत्सु) संग्राम के अवसरों पर (पृतन्यून्) सेना द्वारा आक्रमण करने वाले शत्रुओं को (तुर्वणिः) विनाश करने में समर्थ (वज्रबाहुः) वीर्यवान् बाहुओं वाले शस्त्रास्त्र सम्पन्न (नृपतिः) नरों का पालक हो।

आ नऽइन्द्रो हरिभिर्यात्वर्वाङ्मावीनोऽवसे राधसे च।
तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ ॥ ४९ ॥

ऋ० ४। २०। २॥

इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(वज्री) वीर्यवान्, शस्त्र बल से युक्त, (मघवा) ऐश्वर्यवान्, (विरप्शी) महान्, (इन्द्रः) इन्द्र, सेनापति, (अर्वाचीनः) अभिमुख दिशा में आगे की तरफ बढ़नेवाला, सदा उदयशील, होकर (नः)

हमारे (अघसे) रक्षा के लिये और (राधसे च) हमारे ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये (अच्छे) भली प्रकार (आयातु) आगे बढ़े । वह (वाजसातौ) संग्राम में या वाज=ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (इमं यज्ञम्) इस यज्ञ अर्थात् प्रजापति के महान् कार्य को (अनु तिष्ठाति) करे ।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्दꣳ हवे हवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम् ।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥५०॥

ऋ० ४ । ४७ । १२ ॥

गर्ग ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—मैं (इन्द्रम्) शत्रुओं के विदारण करनेवाले और (त्रातारम्) कष्टों से बचाने वाले पुरुष को (ह्वयामि) बुलाता हूं । (हवे हवे) प्रत्येक संग्राम में मैं (अवितारम्) रक्षा करनेवाले (इन्द्रम्) परमैश्वर्य-वान् पुरुष को बुलाता हूं । मैं (सुहवं) उत्तम संग्राम करनेवाले शूरवीर, (इन्द्रम्) इस राष्ट्र के धारणकर्त्ता 'इन्द्र', राजा को बुलाता हूं । मैं (शक्रं) शक्तिशाली, (पुरुहूतम्) बहुत प्रजाओं द्वारा स्वीकृत, (इन्द्रम्) अन्नादि के रक्षक पुरुष को (ह्वयामि) बुलाता हूं । वह (मघवान्) धनादि समृद्ध (इन्द्रः) पृथ्वी का पालक (नः) हमें (स्वस्ति) कल्याण और सुख (धातु) प्रदान करे ।

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ२ऽ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।
बाधतां द्वेषो ऽअभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ५१ ॥

ऋ० ४ । ५७ । १२ ॥

इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् भुरिक् पंक्तिर्वा पञ्चमो वा । धैवतः ॥

भा०—(सुत्रामा) राज्य के उत्तम साधनों से पालन करनेवाला, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (स्ववान्) अपने नाना सहायकों से युक्त (विश्व-वेदाः) सब प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त करके (अवोभिः) अपने नाना

प्रकार के रक्षण साधनों से (सुमृडीकः भवतु) प्रजा को सुखकारी हो। वह (द्वेषः) शत्रुता करनेवालों को (बाधताम्) पीड़ित करे और दण्डित करे और राष्ट्र में (अभयं कृणोतु) समस्त प्रजा को परस्पर भय रहित करे। और हम प्रजाजन (सुवीर्यस्य) उत्तम सामर्थ्य और पराक्रम के (पतयः) स्वामी (स्याम) होकर रहें।

तस्य॑ व॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म। स सु॒त्रा-मा॒ स्व॒वाँ२ऽ इन्द्रो॑ऽअ॒स्मेऽआरा॒च्चिद्द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑योतु ॥ ५२ ॥

ऋ० ४ । ४७ । १२ ॥

इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(वयम् अपि) हम भी (तस्य) उस (यज्ञियस्य) प्रजापति पद के योग्य, राज्य व्यवस्थापन में कुशल पुरुष के (सुमतौ) शुभ उत्तम ज्ञान और (भद्रे) सुखकारी (सौमनसे) उत्तम चित्त के व्यवहार में, उसकी प्रसन्नता में (स्याम) रहें। (सः) वह (सुत्रामा) उत्तम रक्षक (स्ववान्) उत्तम धनैश्वर्य और सहायकों से युक्त, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा या सेनापति (सनुतः) सदा (द्वेषः) द्वेष करनेवाले पुरुषों को (अस्मे) हम से (अरात् चित्) दूर ही (युयोतु) करे।

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः। मा त्वा॒ के चि॒न्नि य॑मन्वि॒ न पा॒शिनोऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ२ऽ इ॑हि ॥ ५३ ॥ ऋ० ३ । ४५ । १ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! राजन् ! तू (मयूररोमभिः) मोर के पंखों के समान नील वर्ण के लोमों वाले (मन्द्रैः) अति उत्तम (हरिभिः) अश्वों सहित, अथवा (मयूररोमभिः) मोर के पंखों से सजे (हरिभिः) शत्रुसंहारक सेनानायकों सहित (आयाहि) तू प्राप्त हो। (पाशिनः वि न) फांसा फेंकनेवाले शिकारी लोग जिस प्रकार पक्षी के फांस लेते हैं

उसी प्रकार (त्वा) तुझ को (के चित्) कोई भी (मा नियमन्) न बांध लें। तू (तान्) उन दुष्ट बन्धकों को भी (अतिधन्वा इव) बड़े धनुर्धर के समान (अति) वीरता पूर्वक अतिक्रमण करके, पार करके (आ इहि) हमें प्राप्त हो।

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥५४॥

ऋ० ७।२३।६॥

वसिष्ठ ऋषिः। इन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(वृषणम्) बड़े बलवान्, (वज्रबाहुम्) वीर्यवान् और शस्त्रों से सुसज्जित बाहु वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा की (एव इत्) ही (वसिष्ठासः) बड़े २ धनाढ्य राष्ट्रवासी पुरुष (अर्कैः) उत्तम आदर सत्कारों से (अभि अर्चन्ति) सब प्रकार से पूजा सत्कार करें। (सः) वह (स्तुतः) कीर्तिमान् पुरुष, (नः) हमारे (वीरवद्) वीरों से युक्त और (गोमत्) गौ, अश्व आदि पशुओं से समृद्ध राष्ट्र की (धातु) रक्षा करे। हे वीर पुरुषो ! (यूयम्) आप लोग (नः) हमें (सदा) सदा काल, (स्वस्तिभिः) सुखकारी उपायों से (पात) पालन करो।

समिद्धोऽअग्निरश्विना तपो घर्मो विराट् सुतः।
दुहे धेनुः सरस्वती सोमꣳ शुक्रमिहेन्द्रियम् ॥ ५५ ॥

विदर्भिर्ऋषिः। अश्विनौ सरस्वती इन्द्रश्च देवताः। अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—हे (अश्विनौ) प्रजा के स्त्री पुरुषो ! (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी राजा (सम् इद्धः) अपने तेज से अति प्रदीप्त (तपः) पराक्रम से शत्रु प्रतापी, (घर्मः) आदित्य के समान (विराट्) विविध

५५—अतो द्वादशाऽध्यायप्रायः।

ऐश्वर्यों से युक्त होकर (सुतः) अभिषिक्त है । (सरस्वती) उत्तम ज्ञान से युक्त वेदवाणी के समान विदुषी, विद्वत्सभा (धेनुः) गाय के समान समस्त सार पदार्थों को प्रदान करने वाली (इह) इस राष्ट्र में (शुक्रम्) शुद्ध, कान्तिमान्, (इन्द्रियम्) इन्द्र राजा के पद के योग्य (सोमम्) समस्त राज्यैश्वर्य या राज्य को (दुहे) दोहन करती, पूर्ण करती है । उसको पूर्ण बलवान् करती है ।

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती ।
मध्वा रजांस्यिन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान् ॥ ५६ ॥

भा०—(तनूपा) शरीर की रक्षा करने वाले, (भिषजा) सर्व रोग निवारक वैद्यों के समान राष्ट्र के विस्तृत शरीर के रक्षक, दुष्ट पुरुषों के चिकित्सक, (उभे अश्विना) दोनों अश्व युक्त, सेना के पति, राजा मन्त्री या सज स्त्री और पुरुष गण और (सरस्वती) वेद वाणी के समान ज्ञान से पूर्ण विद्वत्सभा ये सब (मध्वा) मधुर अन्न, ज्ञान और बल से (रजांसि) समस्त लोक और (इन्द्रियम्) राजोचित ऐश्वर्य का, (पथिभिः) नाना सत्-उपायों और मार्गों से (इन्द्राय) परम ऐश्वर्यवान् राजा के लिये (वहान्) प्राप्त कराओ, एकत्र करो ।

इन्द्रायेन्दुꣳ सरस्वती नराशꣳसेन नम्नहुम् ।
अधात्ताम श््विना मधु भेषजं भिषजा सुते ॥ ५७ ॥

भा०—(सरस्वती) उत्तम ज्ञानसम्पन्न विदुषी सभा, (इन्द्राय) दुःखों के नाश करने वाले परम ऐश्वर्य युक्त राजपद के लिये (नराशं सेन) समस्त उत्तम पुरुषों द्वारा गुण स्तवन के सहित (नम्नहुम्) दरिद्रों के पालक, प्रजा के सुखदायक (इन्दुम्) दयालु, आर्द्रस्वभाव, ऐश्वर्यवान् आल्हादक पुरुष को (अधात्) राज्य पद पर स्थापित करे । और (भिषजा अश्विना) रोग निवारक वैद्यों के समान विवेकी विद्वान् स्त्री पुरुष

(सुते) अभिषिक्त राजा के निमित्त या राष्ट्र में (भेषजम्) रोग निवारक ओषधि के समान (मधु) मधुर अन्न और सेना बल को (अक्षताम्) धारण करें, स्थापित करें । सेना पोलीस आदि भी शरीर में रोग शमन, कारी ओषधि के समान उपद्रवकारी पुरुषों को शान्ति के लिये और अन्नादि पदार्थ भूख शान्ति के लिये हों । वह व्यर्थ प्रजा के पीड़ित करने और अन्नादि पदार्थ व्यसनों में फेंकने या दुरुपयोग के लिये न हों ।

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्यम् ।
इडाभिरश्विनाविषꣳ सपूर्जꣳ सꣳ रयिं दधुः ॥ ५८ ॥

भा०—(इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा के लिये (इन्द्रियाणि) इन्द्रियों के सामर्थ्यों और इन्द्रोचित ऐश्वर्यों का और (वीर्यम्) परम शक्ति, अधिकार (आजुह्वाना) प्रदान करती हुई (सरस्वती) प्रशस्त ज्ञानवती विदुषी स्त्री के समान विद्वत्सभा और (अश्विनौ) ओषधियों से ही अन्न और बल को उत्पन्न करा देने वाले वैद्यों के समान (अश्विनौ) नाना विद्याओं में विख्यात स्त्री और पुरुष, या उच्च दो अधिकारी (इडाभिः) नाना प्रकार के अन्नों से (इषं) इच्छानुसारी (ऊर्जम्) बल पराक्रम को और (रयिम्) ऐश्वर्य को भी (सं सं दधुः) प्रदान करें ।

अश्विना नमुचेः सुतꣳ सोमꣳ शुक्रं परिस्रुता ।
सरस्वती तमाभरद्बर्हिषेन्द्राय पातवे ॥ ५९ ॥

भा०—(अश्विनौ) नाना विद्याओं में कुशल राष्ट्र के स्त्री पुरुष अथवा वसन्त और ग्रीष्म के समान सौम्य और प्रचण्ड अधिकारी, सन्धि और विग्रह के कर्ता अधिकारीगण, (नमुचेः) न छोड़ने योग्य शत्रु से ही प्राप्त करके (परिस्रुता) अभिषेक क्रिया द्वारा (सुतं) अभिषिक्त (शुक्रं) शुद्ध किये गये (सोमम्) राज्य को प्राप्त करते हैं । (सरस्वती) विद्वत्सभा भी (तम्) उसको (बर्हिषे) बड़े भारी सामर्थ्य से या प्रजारूप से

(इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् शासक के (पातवे) भोग के लिये (आभरत्) प्रस्तुत करती है ।

"* 'अश्विनौ'—अथ यदेनं (अग्निम्) द्वाभ्याम् बाहुभ्यां द्वाभ्याम् अरणीभ्यां मन्थन्ति द्वौ वा अश्विनौ तदस्याश्विनं रूपम् ॥ ऐ० ३ । ४ ॥ मुख्यौ वा अश्विनौ यज्ञस्य । श० ४ । १ । ५ । १७ ॥ वसन्तग्रीष्मावेवाश्विनाभ्यामवरुन्धे । श० १२ । २ । २ । ३४ ॥

गृहस्थपक्षमें—स्त्री पुरुष, ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी, या गुरु और शिष्य (नसुचेः) अत्याज्य, अखण्ड्य ब्रह्मचर्यकाल से प्राप्त जिस (सोमं) वीर्य को सम्पादित करते हैं उसको (सरस्वती) उत्तम स्त्री, (बर्हिषा) सन्तति रूप से (इन्द्राय पातवे) अपने सौभाग्य के भोग के लिये अपने भीतर (आभरत्) धारण करती है । अर्थात् वीर्याधान द्वारा पुरुष को भोग और सन्तति लाभ, दोनों प्राप्त हों ।

क्रत्वष्ट्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिशः ।
इन्द्रो न रोदसी उरु आ दुहे कामान्त्सरस्वती ॥ ६० ॥

भा०—(इन्द्रः) सूर्य जिस प्रकार (अश्विभ्याम्) दिन और रात्रि द्वारा या वायु सूर्य और चन्द्र द्वारा (व्यचस्वतीः) विस्तृत रूप से व्यापक (दिशः) दिशाओं को पूर्ण करता है, उनमें व्यापता है, उसी प्रकार (इन्द्रः) शत्रुओं का नाशक, एवं ऐश्वर्यवान् राजा (अश्विभ्याम्) नाना भोग समृद्धि के भोक्ता स्त्री पुरुषों द्वारा, या व्यापक अधिकार वाले मुख्य अधिकारियों द्वारा (कवत्यः) नाना स्तुति समान शत्रुवारण करने वाली वीर प्रजाओं और सेनाओं को वचनों और वाद्य ध्वनियों से गूंजती हुई (दुरः) नगर की द्वारों या शत्रुवारक सेनाओं को (दुहे) पूर्ण करता है । द्वारों को शोभा और उत्सवों से और सेनाओं को युद्ध साधनों से युक्त करता है । इसी प्रकार (इन्द्रः) सूर्य जिस प्रकार (सरस्वती१) अपनी तीव्र

व्यापक शक्ति से (उभे रोदसी) दोनों आकाश और पृथ्वी को (दुहे) पूर्ण करता है और उनसे दोनों के रसों का दोहन करता है उसी प्रकार (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (सरस्वती) उत्तम ज्ञान वाली विद्वत्सभा द्वारा (उभे) दोनों राजा और प्रजागण तथा स्त्री और पुरुषों के वर्गों को (दुहे) पूर्ण करता और उनसे सारवान् रत्न आदि ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रꣳ सायमिन्द्रियैः ।
संजानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥ ६१ ॥

भा०—अश्वि नामक राष्ट्र के दो मुख्य कार्यकर्त्ताओं के कर्त्तव्य—(अश्विना) दोनों अश्विगण, (उषासा नक्तम्) उषा दिन और रात्रि काल के समान हैं। उषा अर्थात् दिन जिस प्रकार अपने तेज से पदार्थों को तपाता है उसी प्रकार राजा के वह मुख्य अधिकारी हैं जो दुष्ट पुरुषों को तपावें। दूसरा रात्रि जिस प्रकार शीतल स्वभाव है उसी प्रकार दुःखितों को सान्त्वना देने वाला दूसरा अध्यक्ष है। वे दोनों अधिकारी राष्ट्र के कार्यों में व्यापक होने से 'अश्वि' हैं। उनमें से एक प्रजा के हितकारी नियमों का प्रकाशन करता है दूसरा उसको न पालन करने वालों को दण्ड देता है। वे दोनों (इन्द्रम्) ऐश्वर्य सम्पन्न राष्ट्र को या राष्ट्र के राजा को (इन्द्रियैः) इन्द्र पद के योग्य अधिकारों और बलों से (समञ्जाते) युक्त करते हैं। और स्वयं (संजानाने) परस्पर सहमति करके तत्पश्चात् (सरस्वत्या) उत्तम ज्ञानसम्पन्न विद्वत्सभा द्वारा राजा को (सुपेशसा) उत्तम ऐश्वर्य या रूप से (सम्-अञ्जाते) सम्पन्न करते और अच्छी प्रकार प्रकट करते हैं।

पातं नो अश्विना दिवा पाहि नक्तꣳ सरस्वति ।
दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रꣳ सचा सुते ॥ ६२ ॥

भा०—हे (अश्विना) सूर्य चन्द्र और दिन रात्रि के समान, प्रताप और शान्ति से युक्त मुख्य दो अधिकारी जनो ! आप दोनों (नः) हमारी (दिवा) दिन के समय रक्षा करो और हे (सरस्वति) सरस्वति !

विद्वत्सभे ! तू हमें (नक्तम्) जिस काल में कोई सत्य पदार्थ स्पष्टरूप में प्रकट न हों वहां ज्ञान द्वारा उत्तम रीति से दर्शा कर (पाहि) अनर्थ से बचा। (दैव्या होतारा) दिव्यगुण सम्पन्न, सब प्रकार के सुख देनेवाले (भिषजा) शरीर के रोगों की चिकित्सा करनेवाले वैद्यों के समान राष्ट्र शरीर के दोषों को दूर करने वाले आप दोनों (सुते) उत्तम रीति से व्यवस्थित राष्ट्र में (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा की (सचा) एक साथ मिलकर (पातम्) रक्षा करे।

अध्यात्म में—प्राणापानौ वै दैव्यौ होतारौ। ए० ३। ४॥ वाक् सरस्वती। इन्द्र आत्मा।

तिस्रस्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा।
तीव्रं परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥ ६३ ॥

भा०—(सरस्वती) सरस्वती, (भारती) भारती (इडा) इडा ये (तिस्रः) तीनों और (अश्विनौ) दोनों, सद्-वैद्यों के समान उक्त अधिकारी (परिस्रुता) अभिषेक द्वारा (इन्द्राय) इन्द्र, राजा के लिये (तीव्रं) तीव्र (मदम्) आनन्द और हर्ष जनक (सोमम्) राष्ट्र रूप ऐश्वर्य को (सुषुवुः) उत्पन्न करते हैं। अथवा—(इन्द्राय) ऐश्वर्यमय राष्ट्र के लिये (मदम्) हर्षजनक (तीव्रम्) तीव्र, तीक्ष्ण स्वभाव के राजा को उत्पन्न करते हैं।

अश्विना भेषजं मधु भेषजं नः सरस्वती।
इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियꣳ रूपꣳ रूपमधुः सुते ॥ ६४ ॥

भा०—(अश्विनौ) पूर्वोक्त दोनों अश्वि नाम अधिकारियों ने (मधु) मधुर (भेषजम्) समस्त रोगों और दोषों को शान्त करने वाला उपाय, अन्न, बल और ज्ञान (सुते इन्द्रे) अभिषिक्त राष्ट्र और राष्ट्रपति में स्थापित किया

६०—१. तृतीयाविभक्तेर्लुक्।

और (सरस्वती) विदुषी सभा के समान विद्वत्सभा भी (सुते इन्दे) अभिषिक्त इन्द्र राजा में (भेषजम्) सर्व रोगों और उपद्रवों को शान्त करने वाले (यशः) यश या वीर्य बल और अधिकार प्रदान करती है। (त्वष्टा) शिल्पी, समस्त पदार्थों को घड़ कर बनाने वाला विश्वकर्मा जिस प्रकार (इन्द्रे) विद्युत् के बल पर (श्रियम्) नाना शोभाजनक, बहुमूल्य सम्पत्ति और (रूपम् रूपम्) नाना सुन्दर २ पदार्थ, (अधुः) स्थापित करता है उसी प्रकार विश्वकर्मा लोग राजा के आधार पर नाना राष्ट्र के कार्य करें।

ऋतुथेन्दो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता।
कीलालमश्विभ्यां मधु दुहे धेनुः सरस्वती ॥ ६५ ॥

भा०—(वनस्पतिः) वृक्ष जिस प्रकार (शशमानः) बृद्धि को प्राप्त होकर (ऋतुथा) ऋतु के अनुसार (परिस्रुता) जलादि सेचन करने से (मधु कीलालं दुहे) मधुर अन्न फल प्रदान करता है उसी प्रकार वनस्पति स्वभाव का (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा भी (शशमानः) उत्तम रीति से बृद्धि को प्राप्त होकर (परिस्रुता) अभिषेक द्वारा (ऋतुथा) अपने बल वीर्य के अनुसार (मधु) मधुर बलकारी (कीलालम्) अन्न और अन्न के समान नाना भोग्य पदार्थों को (दुहे) उत्पन्न करता है। अथवा—(मधु) शत्रु को कंपन करने वाला (कीलालम्) बल उत्पन्न करता है। (धेनुः) दुधार गाय के समान (सरस्वती) उत्तम ज्ञान वाली विद्वत्सभा भी (अश्विभ्याम्) दो प्रधान विद्वान् मन्त्रि और सभापति के साहाय्य से, (मधु कीलालम्) मधुर दुग्ध के समान मनन करने और धारण करने योग्य ज्ञान को, अथवा—(मधु) आनन्दजनक सुखकारी, (कीलालम्) राज्य के प्रबन्ध को (दुहे) उत्पन्न करती है।

कीलालम्—कीलालममृतं पयः इति अमरः। कल गतौ चौरादिः। कील बन्धने खण्डने च स्वादिः। कलयति कल्पते वा तत् ज्ञानं कीलालम्।

कीलयति बध्नाति, खण्डयति घध्यते खण्ड्यते वा तत् कीलालम् प्रबन्धः, राष्ट्रच्छेदकं बलं, अन्नं वा ।

गोभिर्न सोममश्विना सरस्वत्या परिस्रुता ।
सम्बर्हिषं सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतं मधु ॥ ६६ ॥

भा०—हे (अश्विनौ) अश्विगणो ! दो मुख्य अधिकारीजनो ! आप लोग (सरस्वत्या) सरस्वती नामक विद्वत्सभिति के साथ मिलकर (गोभिः) पशुओं से और (परिस्रुता) अभिषेक द्वारा प्राप्त सब दिशाओं की प्राप्त लक्ष्मी और (मासरेण) प्रति मास देने योग्य वेतन के नियम से (स्वाहा) उत्तम राज्य की नीति से (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र में (मधु सुतम्) मधुर, सर्वप्रिय अभिषिक्त पुरुष को (सम् अधातम्) स्थापित करो । अथवा—(इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् पुरुष में (मधु) मधुर, आनन्दजनक (सुतं) ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र को (सम् अधातम्) अच्छी प्रकार स्थापन करो ।

अश्विना हविरिन्द्रियं नलुचेर्विया सरस्वती ।
आ शुक्रमासुराद्वसु त्वमिन्द्राय जभ्रिरे ॥ ६७ ॥

[६७–६९] अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अश्विनौ) पूर्वोक्त दो अधिकारी जन और (सरस्वती) विद्वत्सभा (धिया) बुद्धिपूर्वक और राष्ट्र के धारण करनेवाली शक्ति से (नलुचेः) कभी न छोड़ने योग्य, सदा बंध कर देने योग्य शत्रु से अथवा शत्रु के हाथ कभी न देने योग्य राष्ट्र से (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक राजा के लिये (हविः) अन्न समृद्धि या स्वीकार करने योग्य (इन्द्रियं) ऐश्वर्य या इन्द्रपद और (शुक्रम्) शुद्ध तेजोमय (वसु) प्रजा को बसानेवाला राष्ट्र और (मघम्) ऐश्वर्य सम्पत्ति इन पदार्थों को (आ जभ्रिरे) प्राप्त कराते हैं ।

यमश्विना सरस्वती हविषेन्द्रमवर्धयन् ।
स विभेद वलं सुघं नमुचावासुरे सचा ॥ ६८ ॥

भा०—(अश्विना, सरस्वती) दोनों प्रकार के वैद्य और विदुषी माता जिस प्रकार पुत्र को (हविषा) अन्न से (अवर्धयन्) पुष्ट करते हैं (आसुरे नमुचौ) प्राणों में रमण करनेवाले आत्मा के निमित्त (मघं वलं विभेद) अति उत्तम बल प्राप्त करता है उसी प्रकार (अश्विनौ सरस्वती) उत्तम पदों को प्राप्त होकर अश्विजन और विद्वत्सभा तीनों मिलकर (हविषा) अन्नादि समृद्धि और उत्तम उपाय से (यम् इन्द्रम्) जिस शत्रु नाश करनेवाले पुरुष को (अवर्धयन्) बढ़ाते हैं (सः) वह ही (आसुरे नमुचौ) असुर स्वभाव के नमुचि अर्थात् उपेक्षा न करने योग्य, शत्रु के पास (सचा) विद्यमान (मघम्) ऐश्वर्य को (विभेद) उससे छीन लेता है और (वलम्) उसके बल, सेना-बल और यन्त्र-बल को (विभेद) तोड़ डालता है ।

तमिन्द्रं पशवः सचाश्विनोभा सरस्वती ।
दधानाऽअभ्यनूषत हविषा यज्ञऽइन्द्रियै ॥ ६९ ॥

भा०—(पशवः) नाना पशु सम्पत्तियें, अथवा बहुत से दूरदर्शी पुरुष (सचा उभा अश्विना) परस्पर संयुक्त दोनों मुख्य पदाधिकारी और (सरस्वती) सरस्वती नामक विद्वत्-सभा (तम् इन्द्रम्) उस ऐश्वर्य-वान्, शत्रुनाशक, राष्ट्र और राष्ट्रपति को (दधानाः) धारण करते हुए (यज्ञैः) प्रजापालनरूप यज्ञ में (हविषा) अन्नादि सामग्री और (इन्द्रियैः) ऐश्वर्यों और राजकीय बलों से (अभि अनूषत) सब प्रकार से बढ़ाते और उसकी प्रशंसा और कीर्ति उत्पन्न करते हैं ।

य इन्द्र इन्द्रियं दधुः सचिता वरुणो भगः ।

६८—'०मुचा आसु०' इति काण्व० ॥

स सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत ॥ ७० ॥

[७०–७२] इन्द्रसवितृवरुणा देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(सविता) उत्पादक या अभिषेककर्त्ता, (वरुणः) राज का वरण करनेवाला, (भगः) राजा का सेवक अथवा (सविता) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष सबका आज्ञापक, (वरुणः) राष्ट्र के विपत्तियों का निवारक सेनापति और (भगः) ऐश्वर्यवान्, कोषाध्यक्ष ये तीनों मिलकर (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् शत्रुविजयी—इन्द्र पद के योग्य पुरुष में (इन्द्रियम्) इन्द्रपद के योग्य ऐश्वर्य और बल को (दधुः) स्थापन करते हैं । (सः) वह (सुत्रामा) राष्ट्र का उत्तम रीति से रक्षा करनेहारा (हविष्पतिः) समस्त ग्राह्य पदार्थों का स्वामी होकर (यजमानाय) दानशील, करप्रद अधीन माण्डलिक और अपने साथ आ मिलनेवाले अथवा पूजनीय प्रजाजन के लाभ के लिये उस राजपद को (सश्चतु) प्राप्त करें ।

सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे ।
आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम् ॥ ७१ ॥

भा०—(सविता) सबका प्रेरक और (वरुणः) दुष्टों का निवारक श्रेष्ठ पुरुष, (दाशुषे) करप्रद (यजमानाय) अपने से मिले हुए मित्र राजा को (सुत्रामा) उत्तम त्राणकर्त्ता होकर (नमुचेः) आत्याज्य शत्रु के (बलम् इन्द्रियम्) बल, ऐश्वर्य और (वसु) धन को स्वयं (आदत्त) ले ले ।

वरुणः क्षत्रमिन्द्रियं भगो न सविता श्रियम् ।
सुत्रामा यशसा बलं दधाना ब्रह्मणस्पत ॥ ७२ ॥

भा०—(वरुणः) शत्रुओं का निवारक, (इन्द्रियं) इन्द्र, राजा के योग्य (क्षत्रं) क्षात्रबल को (सविता) सर्वाज्ञापक अथवा ऐश्वर्य का

उत्पन्न करनेवाला, स्वयं (भगेन) कोष के अध्यक्ष के साथ मिलकर (श्रियम्) राज्यलक्ष्मी को और (सुत्रामा) उक्त रीति से राष्ट्र की रक्षा करनेहारा राजा स्वयं (यशसा) अपने अंश से, वीर्य से (बलं) सेनाबल को (दधानाः) धारण करते हुए (यज्ञम्) यज्ञ सुव्यवस्थित राष्ट्र को (आशत) छाये रहें, वश किये रहें, या भोग करें ।

अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्यं बलम् ।
हविषेन्द्रꣳ सरस्वती यजमानमवर्द्धयन् ॥ ७३ ॥

[७३–७५] अश्विसरस्वतीन्द्राः देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(अश्विनौ) राज्य के दो मुख्य पदाधिकारी, (गोभिः) दुग्धों से जिस प्रकार शरीर में इन्द्रिय सामर्थ्य बढ़ता है और (अश्वेभिः) व्यापक प्राणों से वीर्य और बल बढ़ता है उसी प्रकार (अश्विनौ) राज्य के दोनों मुख्य पदाधिकारी क्रम से (गोभिः) गौ आदि पालतू पशुओं से (इन्द्रियम्) राजा के ऐश्वर्य को बढ़ावें । और (अश्वेभिः) घोड़ों से या घुड़सवारों से (वीर्यम्) शरीर में वीर्य के समान राष्ट्र में तेज और वीरकर्म से युक्त (बलम्) सेना के बल की वृद्धि करें । और (सरस्वती) उत्तम ज्ञान वाली विद्वत्सभा (यजमानम्) सबके स्नेही, राज्य के व्यवस्थापक, सर्वाश्रयप्रद (इन्द्रम्) इन्द्र, राजा को (हविषा) आदान योग्य करके (अवर्धयन्) वृद्धि करें ।

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्त्तनी नरा ।
सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोऽवत ॥ ७४ ॥

भा०—(ता) वे दोनों (नासत्या) सदा सत्य धर्म में वर्त्तमान, (सुपेशसा) उत्तम रूप वाले, (हिरण्यवर्त्तनी) सुवर्ण आदि धातुओं के व्यापार वृत्ति करने वाले, अथवा हितकारी सन्मार्ग से जाने वाले (नरा) नेता और (सरस्वती) विद्वत्-सभा (हविष्मती) प्रदान करने

योग्य ज्ञान और श्रवण करने योग्य उपायों से सम्पन्न होकर हे (इन्द्र) राजन् ! (नः) हमारे (कर्मसु) समस्त कार्यों में (अवत) रक्षा करें ॥

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती ।
स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ७५ ॥

भा०—(ता) वे दोनों (सुकर्मणा) उत्तम राष्ट्र के कर्म करने वाले (भिषजा) उत्तम वैद्य के समान राष्ट्र के दोषों को दूर करने हारे हैं। (सा) वह (सरस्वती) ज्ञानवती विदुषी सभा (सुदुघा) उत्तम दुग्ध देने वाली गौ के समान ज्ञानरस को दोहन करती है। और (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्म करने वाले (वृत्रहा) शत्रुओं को मारने वाले, (इन्द्राय) इन्द्र पद, राज्य के लिये (ऐश्वर्यम् दधुः) ऐश्वर्य को धारण करें ॥

युवꣳ सुराममश्विना नमुचौ वासुरे सचा ।
विपिपाना: सरस्वतीन्द्रं कर्मस्ववावत ॥ ७६ ॥

[७६, ७७] अश्विसरस्वतीन्द्राः देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (अश्विना) पूर्वोक्त मुख्य पदाधिकारियो ! (युवं) तुम दोनों एवं हे (सरस्वति) ज्ञानवाली विदुषि सभे तुम मिलकर ! तीनों (असुरे) असुर स्वभाव के (नमुचौ) शत्रु के सदा विद्यमान रहते हुए (सुरामम्) उत्तम रीति से रमण करने योग्य, सुन्दर (इन्द्रम्) इन्द्र पद को या ऐश्वर्य युक्त राष्ट्र को (कर्मसु) समस्त कर्मों में (विपिपानाः) विविध उपायों से रक्षा करते हुए (अवतम्) प्राप्त होवे अथवा सदा उसकी रक्षा करता रहें ।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः ।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नाभिष्णक् ॥७७॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १० । ३४ ॥

७६—'०नमुचा आसुरे०' इति काण्व० ।
७७—'०तरा अश्वि०' इति काण्व० ।

यस्मिन्नश्वासऽऋषभासऽउक्षणो वशा मेषाऽअवसृष्टास आहुताः।
कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये ॥ ७८ ॥

ऋ० १० । ९१ । १४ ॥

[७८, ७९] अग्निर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(यस्मिन्) जिसके आश्रय, जिसके निमित्त, और जिसके अधीन (अश्वासः) अश्व के समान वेगवान् अश्वारोही जन, (ऋषभासः) श्रेष्ठजन, एवं महावृषभ के समान परोपकारी, (उक्षाणः) सेचन समर्थ, युवा पुरुष, (वशाः) इन्द्रियों और देशों पर वश करने में समर्थ वशी, तपस्वी और तेजस्वी लोग (मेषाः) शत्रुओं से स्पर्द्धा पूर्वक लड़ने वाले योद्धा लोग (आहुताः) आदरपूर्वक बुला २ कर (अवसृष्टासः) उनके अधीनस्थ अधिकारी बनाये गये हैं उस (कीलालपे) शत्रु छेदन में समर्थ बल की रक्षा करने वाले (सोमपृष्ठाय) राष्ट्र और राजपद को पालन करने एवं उसको अपने ऊपर लेने वाले (वेधसे) बुद्धिमान्, महापुरुष (अग्नये) ज्ञानवान् सबके नेता पुरुष के लिये (हृदा) हृदय से (चारुम्) श्रेष्ठ (मतिम्) मान आदर (जनय) करो ।

ईश्वर के पक्ष में—जिस परमेश्वर में (अश्वासः) तीव्र वेगवान् सूर्य विद्युत् आदि पदार्थ, (ऋषभासः) मेघ के समान (उक्षाणः) नद, जल वर्षक, (वशाः) पृथिवी, (मेषाः) सूर्य ये सब (अवसृष्टासः) उत्पन्न होते और प्रलय काल में फिर लीन होजाते हैं । उस (कीलालपे) नाशवान् स्वतः उच्छेद्य संसार के रक्षक अथवा कीलाल-अमृत के रक्षक, (सोमपृष्ठाय) संसार के पालक, (वेधसे) जगत् के विधाता (अग्नये) ज्ञानवान् स्वप्रकाश, परमेश्वर के लिये (हृदा मतिं चारुं जनय) हृदय से उत्तम स्तुति कर । उवट और महीधर दोनों ने इस मन्त्र का अर्थ किया है;—'जिस अग्नि में घोड़े, बैल, सांड, बांझ गायें और मेंढे काट २ कर डाल दिये और पकड़ २ कर ला ला कर झोंक दिये उस अग्नि के लिये उत्तम शुद्ध चित्त रख ।'

विद्वान् के पक्ष में—जिस पुरुष के अधीन घोड़े, बैल, सांड, बांझ गौएं और भेंढ भी (आहुताः) पकड़ पकड़ कर लाये गये और (अवसृष्टासः) सधा लिये जाते, अधीन रहकर नाना कार्यों में नियुक्त करने योग्य बना लिये जाते हैं, उस (कीलालपे) उत्तम अन्नाहारी या अन्नरक्षक (सोमपृष्ठाय) सोम्य गुण के पोषक (अग्नये) विद्वान् के लिये हृदय से उत्तम विचार रक्खो। अर्थात् पशुओं के सधाने वाले लोगों को भी तुच्छ दृष्टि से न देखो। मं० दयां० ॥

अहांव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः।
वाजसनिꣳ रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥७९॥

ऋ० १० । ९१ । १५ ॥

अग्निर्देवता । जगती छन्दः । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! सर्वप्रकाशक ! (ते) तेरे (आस्ये) शत्रु के उखाड़ फेंकने वाले बल के निमित्त (हविः) ग्रहण करने योग्य समस्त राष्ट्र (स्रुचि घृतम् इव) स्रुवे में घृत के समान और (चम्वि) यज्ञपात्र में (सोमः इव) सोम के समान, अथवा (चम्वि) सेना के ऊपर (सोमः) उसके आज्ञापक के समान, अथवा (चम्वि सोमः) पृथ्वी पर राजा के समान (अहावि) प्रदान किया, या धरा जाता है वह तू (अस्मे) हम पर (वाजसनिम्) संग्राम द्वारा प्राप्त होने योग्य अथवा बहुत अन्न और ऐश्वर्य प्राप्त कराने वाले (रयिम्) ऐश्वर्य को (धेहि) दे और हम पर (प्रशस्तं सुवीरम्) उत्तम, बढ़िया सुस्वभाव के वीर (यशसं) यशस्वी (बृहन्तम्) बड़े पुरुष को (धेहि) स्थापित कर।

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्।
वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दध्युरिन्द्रियम् ॥ ८० ॥

[८० — ९०] एकादशर्चं शस्त्रम्। अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः। अनुष्टुप्। गांधारः ॥

भा०—(अश्विनौ) शरीर में प्राण और अपान दोनों (तेजसा) तेज के साथ (चक्षुः) चक्षु इन्द्रिय को (दधतुः) धारण करते हैं। और (सरस्वती) बल को धारण करने वाली चेतना शक्ति (प्राणेन वीर्यम्) प्राण के द्वारा वीर्य को शरीर में धारण करती है। (इन्द्रः) इन्द्र, मुख्य प्राण (वाचा) वाक्-शक्ति के साथ और (बलेन) बल से (इन्द्राय) जीव के लिये (इन्द्रियम्) इन्द्रियगण को (दधौ) धारण करता है। उसी प्रकार (अश्विनौ) राष्ट्र के स्त्री-पुरुष या मुख्य अधिकारी (तेजसा) तेजसे जिस प्रकार चक्षु को धारण करते हैं और जिस प्रकार (प्राणेन वीर्यम्) प्राण से बलवीर्य को धारण करते हैं और (वाचा) वाक्शक्ति से (इन्द्रः) जीव (इन्द्रियम्) इन्द्रियगणों को धारण करता है। उसी प्रकार (अश्विनौ) दोनों मुख्य अधिकारी दो आंखों के समान (तेजसा) तेज, पराक्रम से (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राज्य के (चक्षुः) चक्षु या निरीक्षण के कार्य को धारण करें और (सरस्वती) विद्वत्सभा, (प्राणेन) प्राण के समान जीवनप्रद अन्न और वेतन आदि आदि पदार्थों द्वारा राष्ट्र के (वीर्यम्) वीर्य, बल और पराक्रम को धारण करे। (इन्द्रः) सभापति (वाचा) ज्ञानमय वाणी, व्यवस्था पुस्तक से और सेनापति (बलेन) अपनी आज्ञाकारिणी वाणी से और (बलेन) सेना-बल से (इन्द्राय) ऐश्वर्य सम्पन्न राज्य के (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य को (दधुः) धारण करो।

गोमद्दधु र्णासत्याश्वावद्यातमश्विना।
वर्त्तीं रुद्रा नृपाय्यम् ॥ ८१ ॥ ऋ० २। ४१। ७॥

[८१—८३] गृत्समद ऋषिः। अश्विनौ देवते। निचृद् गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे (नासत्या) सदा सत्यव्यवहार में रहनेवाले, (अश्विना) राष्ट्र के व्यापक शक्ति से युक्त! हे (रुद्रा) दुष्टों को रुलानेहारे (वर्त्तीं) न्यायोचित मार्ग से वर्त्तनेवाले अधिकारी पुरुषो! आप दोनों (गोमत्) गौ

आदि पशुओं से सम्पन्न (अश्वादिवत्) अश्वों और अश्वारोहियों से भरपूर, (नृपायन्न) और मनुष्यों की रक्षा करनेवाले राज्य को आप दोनों (सु यातम्) उत्तम रीति से प्राप्त करो ।

न यत्परो नान्तर ऽआदधर्षद्वृषण्वसू ।
दुःशंसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८२ ॥ ऋ० २ । ४१ । ८ ॥

भा०—हे (वृषण्वसू) जलों के वर्षण करनेवाले मेघ और विद्युत् के समान सुखों का वर्षण करनेवाले होकर प्रजाओं को बसानेवाले आप दोनों अधिकारी सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष जनो ! (यत्) जिससे (परः) बाहर का शत्रु और (आन्तरः) राजा के भीतर का शत्रु और (दुःशंसः) दुःखाप्य (मर्त्यः रिपुः) शत्रु पुरुष अथवा बुरी अपकीर्ति फैलानेवाला (रिपुः) पापी मर्त्यः) पुरुष (न आदधर्षत्) राष्ट्र का और राजा का अपमान और आघात न कर सके वैसे आप राज्य को वश करो ।

ता नु ऽआ वोढमश्विना रयिं पिशङ्गसन्दृशम् ।
धिष्ण्या वरिवोविदम् ॥ ८३ ॥ ऋ० २ । ४१ । ९ ॥

भा०—हे (धिष्ण्या) बुद्धिमान् एवं विशेष आसन पर प्रतिष्ठित (ता) वे आप दोनों (अश्विना) राष्ट्र पर विशेष अधिकार प्राप्त पुरुषो ! आप लोग (नः) हमें (पिशङ्गसंदृशम्) सुवर्ण के समान सुन्दर दीखनेवाले (वरिवोविदम्) धन समृद्धि को प्राप्त करानेवाले (रयिम्) राष्ट्ररूप ऐश्वर्य को (आ वोढम्) धारण करो, उसका सञ्चालन करो ।

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।
यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ ८४ ॥ ऋ० १ । ३ । १० ॥

[८४—८६] मधुच्छन्दा ऋषिः । सरस्वती देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा० – (पावका) पवित्र करने वाली, (वाजेभिः) ऐश्वर्यों और

८३—०वोढ्हम० इति काण्व० ९ ॥

बलों से (वाजिनीवती) बलयुक्त पुरुषों से बनी सेनाओं और विद्वान् पुरुषों से बनी उप समितियों से युक्त (धियावसुः) बुद्धि और क्रिया व्यापार द्वारा ऐश्वर्यवती अथवा अपने धारण पालन सामर्थ्य से सबको बलानेवाली होकर (यज्ञं) प्रजा पालक यज्ञ को या प्रजापति राजा को (वष्टु) तेजस्वी बनावे ।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ८५ ॥ ऋ० १ । ३ । ११ ॥

भा०—(सूनृतानाम्) उत्तम सत्य वाणियों की (चोदयित्री) प्रेरणा देनेवाली, आज्ञा करनेवाली, (सुमतीनाम्) उत्तम बुद्धियों को और बुद्धिमान् पुरुषों को (चेतन्ती) ज्ञानवान् करती हुई, (सरस्वती) सरस्वती वेदवाणी जिस प्रकार (यज्ञं दधे) यज्ञ, परमेश्वर को (दधे) धारण करती उसका ज्ञान धारण करती और उसका प्रतिपादन करती है उसी प्रकार (सरस्वती) विद्वत्सभा (सूनृतानां) उत्तम सत्य सिद्धान्तों, उत्तम सत्य व्यवस्थाओं को प्रेरित और प्रोत्साहित करती हुई, (सुमतीनां) राष्ट्र के हित के लिये शुभ मतियों, विचारों को (चेतन्ती) प्रकट करती हुई लोगों को चेताती हुई, (यज्ञं) प्रजापति राजा को और राज्य को भी (दधे) धारण करती है ।

महो ऽअर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥ ८६ ॥ ऋ० १ । ३ । १२ ॥

भा०—(सरस्वती) वेदवाणी (केतुना) अपने महान् ज्ञान से (महः अर्णः) बड़े भारी ज्ञान या शब्दसागर को (प्र चेतयति) प्रकट करती है । और (विश्वाः धियः) समस्त कर्मकाण्डों, कर्मों, कर्त्तव्यों को (वि राजति) प्रकाशित करती है । उसी प्रकार विद्वत्सभा (केतुना) विज्ञापक बल से (महः अर्णः) बड़ा ज्ञान प्रकट करती है । राष्ट्र के

(विश्वा धियः) समस्त कर्मों को या समस्त (धियः) बुद्धियों, बुद्धिमान् पुरुषों या धारण सामर्थ्यों को (वि राजति) विविध रूपों में प्रकाशित करती है ।

इन्द्रायाहि चित्रभानो सुता ऽइमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ ८७ ॥ ऋ० १ । ३ । १२ ॥

(८७-८९) मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृद् गायत्री षड्जः ॥

भा०—हे (चित्रभानो) अद्भुत २ ज्ञानों के प्रकाश करनेवाले ! सूर्य के समान तेजस्विन् ! (इन्द्र) ज्ञानों के द्रष्टा ! सभापते ! राजन् ! (इमे) ये (सुताः) समस्त प्राप्त राष्ट्रगत ऐश्वर्य एवं अभिषिक्त या पालक राजगण (त्वायवः) तुझे ही प्राप्त हो रहे हैं और वे (अण्वीभिः) अपने से छोटी प्रजा के द्वारा (तना) अपने विस्तृत गुण कीर्ति द्वारा (पूतासः) अभिषेक द्वारा पवित्र हैं ।

इन्द्रायाहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ ८८ ॥ ऋ० १ । ३ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! तू (धिया) बुद्धि और उत्तम कर्म द्वारा प्रेरित (विप्रजूतः) विद्वान् मेधावी पुरुषों से शिक्षित होकर (सुतावतः) ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले (वाघतः) विद्वान् पुरुषों को (ब्रह्माणि उप) अन्नों, धनों, ऐश्वर्यों, वीर्यों और अधिकारों को प्राप्त करने के लिये (उप आ याहि) प्राप्त हो ।

इन्द्रायाहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ८९ ॥ ऋ० १ । ३ । ५ ॥

भा०—हे (हरिवः) ज्ञानी पुरुषों और वीर अश्वारोहियों के स्वामिन् ! हे (इन्द्र) राजन् ! तू (तूतुजानः) क्षिप्रकारी, राष्ट्र के समस्त कार्यों को विद्युत् के समान अति शीघ्रता से करने हारा होकर (ब्रह्माणि) समस्त अधिकारों, वीर्यों और ऐश्वर्यों को (उप आयाहि) प्राप्त कर । (नः)

बलों से (वाजिनीवती) बलयुक्त पुरुषों से बनी सेनाओं और विद्वान् पुरुषों से बनी उप समितियों से युक्त (धियावसुः) बुद्धि और क्रिया व्यापार द्वारा ऐश्वर्यवती अथवा अपने धारण पालन सामर्थ्य से सबको बसानेवाली होकर (यज्ञं) प्रजा पालक यज्ञ को या प्रजापति राजा को (वष्टु) तेजस्वी बनावे ।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ८५ ॥ ऋ० १ । ३ । ११ ॥

भा०—(सूनृतानाम्) उत्तम सत्य वाणियों की (चोदयित्री) प्रेरणा देनेवाली, आज्ञा करनेवाली, (सुमतीनाम्) उत्तम बुद्धियों को और बुद्धिमान् पुरुषों को (चेतन्ती) ज्ञानवान् करती हुई, (सरस्वती) सरस्वती वेदवाणी जिस प्रकार (यज्ञं दधे) यज्ञ, परमेश्वर को (दधे) धारण करती उसका ज्ञान धारण करती और उसका प्रतिपादन करती हैं उसी प्रकार (सरस्वती) विद्वत्सभा (सूनृतानां) उत्तम सत्य सिद्धान्तों, उत्तम सत्य व्यवस्थाओं को प्रेरित और प्रोत्साहित करती हुई, (सुमतीनां) राष्ट्र के हित के लिये शुभ मतियों, विचारों को (चेतन्ती) प्रकट करती हुई लोगों को चेताती हुई, (यज्ञं) प्रजापति राजा को और राज्य को भी (दधे) धारण करती है ।

महो ऽअर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥ ८६ ॥ ऋ० १ । ३ । १२ ॥

भा०—(सरस्वती) वेदवाणी (केतुना) अपने महान् ज्ञान से (महः अर्णः) बड़े भारी ज्ञान या शब्दसागर को (प्र चेतयति) प्रकट करती है । और (विश्वाः धियः) समस्त कर्मकाण्डों, कर्मों, कर्त्तव्यों को (वि राजति) प्रकाशित करती है । उसी प्रकार विद्वत्सभा (केतुना) विज्ञापक बल से (महः अर्णः) बड़ा ज्ञान प्रकट करती है । राष्ट्र के

(विश्वा धियः) समस्त कर्मों को या समस्त (धियः) बुद्धियों, बुद्धिमान् पुरुषों या धारण सामर्थ्यों को (वि राजति) विविध रूपों में प्रकाशित करती है ।

इन्द्रायाहि चित्रभानो सुता ऽइमे त्वायवः ।
अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ ८७ ॥ ऋ० १ । ३ । १२ ॥

(८७-८९) मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृद् गायत्री षड्जः ॥

भा०—हे (चित्रभानो) अद्भुत २ ज्ञानों के प्रकाश करनेवाले ! सूर्य के समान तेजस्विन् ! (इन्द्र) ज्ञानों के द्रष्टा ! सभापते ! सज्जन ! (इमे) ये (सुताः) समस्त प्राप्त राष्ट्रगत ऐश्वर्य एवं अभिषिक्त या पालक राजगण (त्वायवः) तुझे ही प्राप्त हो रहे हैं और वे (अण्वीभिः) अपने से छोटी प्रजा के द्वारा (तना) अपने विस्तृत गुण कीर्ति द्वारा (पूतासः) अभिषेक द्वारा पवित्र हैं ।

इन्द्रायाहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ।
उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ ८८ ॥ ऋ० १ । ३ । ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! तू (धिया) बुद्धि और उत्तम कर्म द्वारा प्रेरित (विप्रजूतः) विद्वान् मेधावी पुरुषों से शिक्षित होकर (सुतावतः) ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले (वाघतः) विद्वान् पुरुषों को (ब्रह्माणि उप) अन्नों, धनों, ऐश्वर्यों, वीर्यों और अधिकारों को प्राप्त करने के लिये (उप आ याहि) प्राप्त हो ।

इन्द्रायाहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः ।
सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ८९ ॥ ऋ० १ । ३ । ५ ॥

भा०—हे (हरिवः) ज्ञानी पुरुषों और वीर अश्वारोहियों के स्वामिन् ! हे (इन्द्र) राजन् ! तू (तूतुजानः) क्षिप्रकारी, राष्ट्र के समस्त कार्यों को विद्युत् के समान अति शीघ्रता से करने हारा होकर (ब्रह्माणि) समस्त अधिकारों, वीर्यों और ऐश्वर्यों को (उप आयाहि) प्राप्त कर । (नः)

इनाये (सुते) अभिषेक द्वारा प्राप्त राष्ट्र में (स्वः) सौख्य ऐश्वर्य और इस समृद्धि को (दधिष्व) धारण कर, जिससे प्रजा भूखी न मरे।

आश्विना पिबतां मधु सरस्वत्या सजोषसा ।
इन्द्रः सुत्रामा वृत्रहा जुषन्तां सोम्यं मधु ॥ ९० ॥

ऋ० १ । ३ । ६ ॥

अश्विसरस्वतीन्द्राः देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(अश्विनौ) राष्ट्र के मुख्य दो अधिकारी (सजोषसा परस्पर प्रीतियुक्त होकर (सरस्वत्या) सरस्वती, विद्वत्सभा के साथ मिलकर (मधु) उत्तम राष्ट्र के ऐश्वर्य को (पिबताम्) भोग करें। वे और (सुत्रामा) राष्ट्र का उत्तम रीति से पालन करने में समर्थ। इन्द्रः) शत्रुनाशक राजा, (वृत्रहा) शत्रु एवं विघ्नकारी वारक या बाधक कारणों का नाश करके (सोम्यं) ऐश्वर्य एवं राजपद के योग्य (मधु) मधुर अन्नादि से युक्त राष्ट्र का (जुषन्ताम्) भोग करें, या प्रेम से पालन करें।

॥ इति विंशोऽध्यायः ॥

इति पूर्वविंशतिः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्परिव्राजकाचार्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये विंशोऽध्यायः ॥

रसवस्वङ्कचन्द्राब्दे कार्तिकेऽपरपक्षके ।
द्वादश्यां मङ्गले शुक्लयजुषोऽर्द्धं समाप्यते ॥

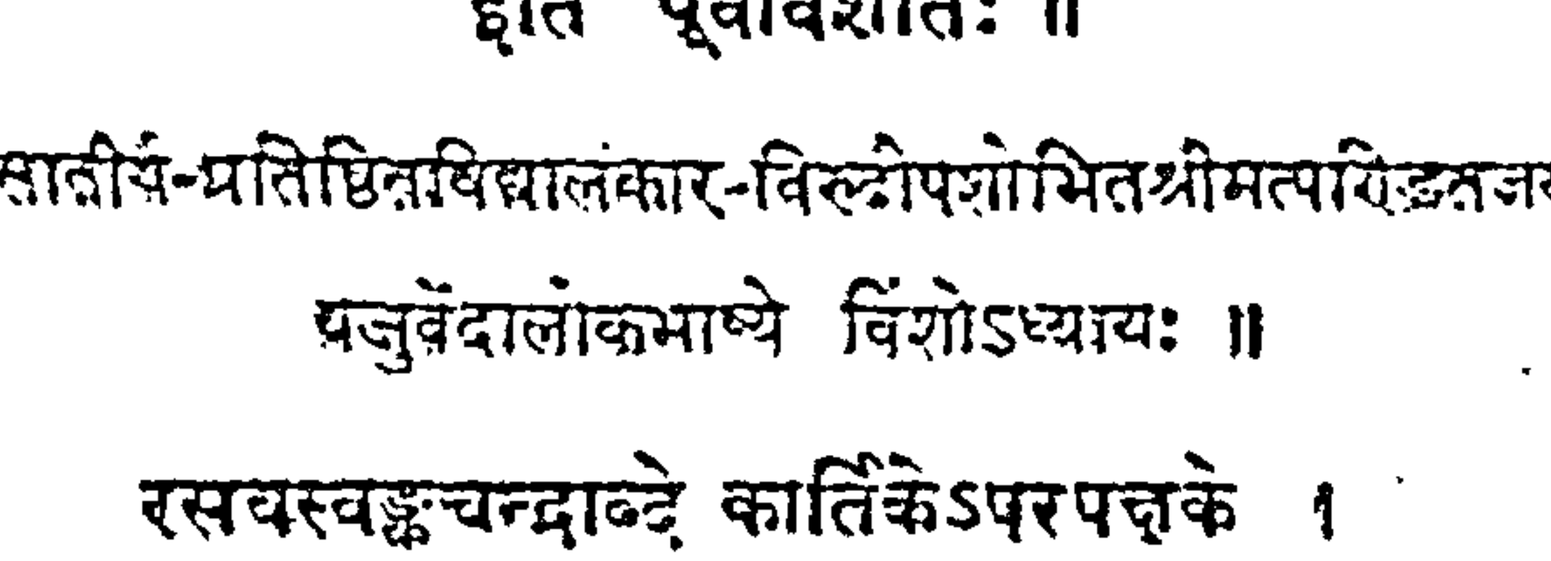

॥ अथैकविंशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय ।
त्वामवस्युराचके ॥ १ ॥ ऋ० १ । २५ । १९ ॥

[१,२] शुनःशेप ऋषिः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (वरुण) सब द्वारा वरण करने योग्य ! सर्वश्रेष्ठ (मे) मेरी, मुझ प्रजाजन की (हवम्) स्तुति, आह्वान, पुकार को (श्रुधि) श्रवण कर और (अद्य च) आज और सदा ही, हमें (मृळय) सुखी कर । (अवस्युः) रक्षा चाहता हुआ मैं (त्वाम्) तुझे मैं अपना रक्षक बनाना (आचके) चाहता हूं । ईश्वर और राजा के पक्ष में समान है ।

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदा शास्ते यजमानो हविर्भिः ।
अहेळमानो वरुणेह बोध्युरुशꣳस मा न आयुः प्रमोषीः ॥२॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १९ । मं० ४९ ॥

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो ऽअव यासिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाꣳसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥३॥
ऋ० ४ । १ । ४ ॥

[३,४] वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप् धैवतः । अग्निर्वरुणश्च देवते ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नेतः ! ज्ञानवन् ! विद्वन् ! (त्वं) तू (नः) हमारे बीच में (विद्वान्) विद्यावान् है । अतः तू (वरुणस्य देवस्य) समस्त शत्रुओं के वारक एवं सर्वश्रेष्ठ, देव, विजयशील राजा के द्वारा (हेडः) प्राप्त अनादर एवं उसके प्रति हमसे हुए अनादर या अवज्ञा के भाव को या उसके कोप को (अव यासिसीष्ठाः) दूर कर । तू ही

१—'०मृळय'० इति काण्व० । २—'हेळो'० इति काण्व० ।

(यजिष्ठः) सब से अधिक पूजा करने योग्य, (वह्नितमः) समस्त कार्य-भार को वहन करने में सब से उत्तम, नेता होने योग्य और (शोशुचानः) और अग्नि के समान स्वयं शुद्ध और अन्यों को शुद्ध पवित्र करने हारा तथा ज्ञान दीप्ति से प्रकाशमान है । तू गुरु या आचार्य के समान शिक्षक होकर (अस्मत्) हम से (विश्वा द्वेषांसि) समस्त प्रकार के द्वेषभावों को (प्र सुसुग्धि) दूर कर ।

स त्वं नो ऽअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो ऽअस्या ऽउषसो व्युष्टौ ।
अव यक्ष्व नो वरुणꣳ रराणो वीहि मृळीकꣳ सुहवो न ऽएधि ॥४॥

मै० ४ । १ । ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! परमेश्वर ! (सः) वह (त्वं) तू (नः) हमारा (ऊती) अपने रक्षा सामर्थ्य से (अवमः) सब से उत्तम रक्षक, (नेदिष्ठः) हमारे अति समीप (भव) हो । और (अस्याः) इस (उषसः) प्रभात काल के (व्युष्टि) प्रकाशित होने पर (नः) हमें (वरुणम्) सबसे वरण करने योग्य राजा का (अव यक्ष्व) सत्संग करा । और तू (रराणः) उत्तम भेंट पुरस्कार आदि प्रदान करता हुआ (मृडीकम्) सुखकर राजा को (वीहि) प्राप्त हो अथवा (मृडीकम्) सुखकारी, पद, या भोग्य ऐश्वर्य को प्राप्त कर । (नः) हमें (सुहवः) सुख प्रदान करता (एधि) रह । प्रजा अपने में से को उत्तम अपने अति निकट प्रेमी अधिकारी नेता बना कर स्वयं भी राज्य में सुख प्राप्त करे ।

महीमू षु मातरꣳ सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम ।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीꣳसुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम् ॥ ५ ॥

अथ० ७ । ६ । २ ॥

अदितिर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

४—०मृळीकं० इति क्षागव० ।

भा०—हम लोग, (महीम्) बड़ी, माननीय, (सुव्रतानाम् मातरम्) उत्तम व्रतों, नियमों, कर्तव्य आचरणों को निर्माण करने वाली एवं सदाचारवान् पुरुषों की माता के समान (ऋतस्य) सत्य व्यवस्था धर्म और न्याय के (पत्नीम्) पालन करने वाली (तुविक्षत्राम्) बहुत से क्षत्र बल से युक्त, (अजरन्तीम्) वह भी नाश न होने वाली सदा नूतन २ सभासदों से बनी, (उरूचीम्) विशाल राष्ट्र के शासक रूप से व्यापक (सुशर्माणम्) उत्तम गृह, सभाभवन में विद्यमान उत्तम सुख देने वाली (सुप्रणीतिम्) उत्तम, सुखकारी नीति, राजनैतिक प्रगतियों वाली (अदितिम्) सदा अखण्ड शासन वाली, महासभा को (हुवेम) हम बनावें और उसको स्वीकार करें ।

इसी प्रकार जो उत्तम सदाचारी पुरुषों की माता है, (ऋत) अन्न, यज्ञ और जीवन की मालिक है, जो बहुतसे ऐश्वर्य और वीर्यवान् वीरों से सुरक्षित सदा अजर, विस्तृत सुखप्रद, अखण्ड उत्तम नीतियुक्त उस पृथिवी या राष्ट्र को हम (हुवेम) अपनावें ।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसꣳ सुशर्माणमदितिꣳ सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावꣳ स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीं मारुहेमा स्वस्तये ॥ ६ ॥

अथ० ७ । ६ । २ ॥ ऋ० १० । ६३ । १० ॥

गयस्कात ऋषिः । अदितिर्देवता । भुरिक्त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सुत्रामाणम्) उत्तम रीति रक्षा करने वाली, (पृथिवीम्) अति विस्तृत, (द्याम्) ज्ञान प्रकाश से युक्त, (अनेहसम्) पाप के समान नाश न करने योग्य, अथवा क्रोध रहित । (सुशर्माणम्) उत्तम भवन या शरणप्रद साधनों और सुखसाधनों से युक्त, (सुप्रणीतिम्) उत्तम राजा प्रजा की नीति से युक्त, (सु-अरि-त्राम्) उत्तम रीति से शत्रुगण से प्रजा की रक्षा करने वाली, (अस्रवन्तीम्) अपना रहस्य शत्रुको न देने वाली

छिद्र रहित, (अनागसः) अपराध रहित निर्दोष धर्मानुकूल, (देवाः) विद्वानों की बनी हुई (नावम् [इव]) नाव के समान समस्त कष्टों से पार उतारने और सबको सन्मार्ग में चलाने वाली (अदितिम्) दूसरों के उपजाप आदि के प्रयोगों से अखण्डित, एकमत, फूट से रहित राजसभा का या राज्यव्यवस्था का (स्वस्तये) सुख और कल्याण प्राप्त करने के लिये (अरुक्षेम) आश्रय लें ।

नाव के पक्ष में—(सुत्रामाणं) डूबने से बचाने वाली, (पृथिवीम्) विस्तृत, (अनेहसम्) निर्दोष, उथल पुथल न होने वाली, (सुशर्माणम्) उत्तम घर उक्त तथा डूबते को बचाने के साधनों वाली, (सुप्रणीतिम्) उत्तम रचना और चाल वाली अथवा उत्तम संचालन प्रबन्ध वाली, (सु अरित्राम्) उत्तम पतवारों वाली, (अनागसम्) निर्दोष, शत्रु आदि के भय से रहित, (अस्रवन्तीम्) बिना छिद्र की, जल को भीतर आने न देने वाली, (दैवीं नावं) विद्वानों की बनाई नाव को हम (स्वस्तये) सुख वृद्धि के लिये चढ़ें ।

'सुत्रामा' इन्द्र का वर्णन पूर्व अध्याय में सौत्रामणी प्रकरण में आचुका है । यहां उसी प्रजा पालक राजशक्ति एवं विद्वत्सभा का नौका रूप से श्लेष विशेष से वर्णन किया गया है यह मन्त्र पृथिवी और सूर्य पक्षमें भी लगता है ।

सुत्रात्रमा पृथिवीमनेहसꣳसुशर्माणमदितिꣳसुप्रणीतिम् ।
अस्रवन्तीमनागसमरित्रा꣡ꣳ स्वस्तये ॥ ७ ॥

यज्ञप्रजापतिर्ऋषिः । स्वार्यनौर्देवता । यवमध्या गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(अस्रवन्तीं) अपना रहस्य अपने से किसी भी प्रकार बाहर न जाने देने वाली, गुप्त मन्त्र रखने वाली, (अनागसम्) निर्दोष, प्रजा के हित में किये सब धर्मानुकूल कार्यों को करने वाली, (अरित्राम्) संकट

से पार जाने के सैकड़ों उपायों से युक्त (सुनावम्) उत्तम मार्ग से प्रेरित करने वाली नौका के समान राजसभा और धर्मसभा का (आरुहेयम्) मैं राजा भी आश्रय लूं ।

नौका के पक्ष में—गत मन्त्र में सब विशेषणों को दर्शा दिया गया है । 'नावम्, सुनावम्'—नौः नुदति प्रेरयतीति नौः । ग्लानुद्दिभ्यां डौप्रत्यय उणादिः । २ । ६४ ॥ इति उणा० दया० ॥

आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ।
मध्वा रजांसि सुक्रतू ॥ ८ ॥ ऋ० ३ । ६२ । १२ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(मित्रावरुणौ) हे मित्र ! समस्त लोकों को स्नेह से देखने और मृत्यु से बचाने वाले न्यायाधीश ! और हे वरुण ! सबसे वरण, करने योग्य सब को संकटों से वारक, दुष्ट चोरों के वारण करने हारे अधिकारिन् ! तुम दोनों (गव्यूतिम्) मार्ग को दो दो कोस (घृतैः) जलों से, और तेजस्वी पुरुषों से (नः) हमारे हित के लिये (आ उक्षतम्) सेचित करो । जिस प्रकार मित्र और वरुण, वायु और मेघ जलों से सेचन करते हैं उसी प्रकार राजा के दो महकमे प्रति दो कोसों पर (घृतैः) जलस्थानों, जनरक्षक पुलिस के सैनिकों और विद्वान् पुरुषों से प्रजाजन को भरदें । अर्थात् प्रति दो कोश में पुलिस की चौकी जल के प्याऊ और पाठशाला हों । और हे (सुक्रतू) उत्तम कर्मों को करने एवं उत्तम प्रज्ञा वालो ! आप इस प्रकार (मध्वा) मधुर ज्ञान, अन्न और बल सुख ऐश्वर्य से (रजांसि) समस्त लोकों को (सिञ्चतम्) युक्त करो । अथवा—(घृतैः गवि-ऊतिम् आ उक्षतम्) तेजस्वी पुरुषों से पृथिवी पर, प्रजापालन की नीति को फैलाओ । अथवा पृथिवी पर कृषि को सेचन करो ।

प्र वाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूतिमुक्षतं घृतेन । आ मा जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा ॥ ६ ॥

ऋ० ७ । ६२ । ५ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मित्रावरुणा) मित्र, सबके स्नेही एवं मरण से त्राणकारिन् ! और हे (वरुण) दुष्टों के वारक ! तुम दोनों (नः जीवसे) हम प्रजाजनों के जीवन की रक्षा के लिये (वाहवा) अपने बाहुओं को, शत्रुगण या विपत्तों के बाधन, पीड़न करने वाले साधनों को और बाहुओं के समान वीरों को (प्र सिसृतम्) आगे बढ़ाओ या तुम दोनों बाहुओं के समान आगे बढ़ो । अर्थात् जिस प्रकार शरीर की रक्षा के लिये बाहुएं आगे बढ़ती हैं उसी प्रकार प्रजा की रक्षा के लिये राष्ट्र की बाहुएं, क्षत्रिय लोग, आगे बढ़ें । और (घृतेन) मेघ जिस प्रकार जल से पृथिवी को सींचता है, उसी प्रकार आप दोनों अधिकारी (नः) हमारे (गव्यूतिम्) राष्ट्र के प्रति दो कोस की भूमि को (घृतेन) जल के समान प्राणप्रद या तेजस्वी विद्वान् और वीर क्षत्रिय गण से (आ उक्षितम्) सर्वत्र सेचन करदो । हे (युवानौ) सदा युवाओ । अथवा संधि और विग्रह, मेल और फूट कराने में कुशल पुरुषो ! आप दोनों (जने) समस्त राष्ट्र जन के बीच (मा) मुझको राजा, शासक रूप से (आ श्रवयतम्) आघोषित करदो । और (मे) मेरी (इमा हवा) इन आज्ञाओं को (श्रुतम्) श्रवण करो ।

राजा, मित्र और वरुण दोनों अधिकारियों को अपने समस्त राज्य में प्रति दो कोश में राज्य की चौकी, प्याऊ, पाठशाला, धर्म स्थान आदि बनाने की आज्ञा दे, प्रजा की रक्षा के लिये बाहुओं के समान वे प्रजा की रक्षा करें, राजा की आज्ञा आघोषित करें, उसकी आज्ञा पर ध्यान दें और पालन करें ।

शन्नो॑ भवन्तु वा॒जिनो॒ हवे॑षु दे॒वता॑ता मि॒तद्र॑वः स्व॒र्काः ।
ज॒म्भय॑न्तोऽहिं वृ॒कꣳ रक्षा॑ꣳसि॒ सने॑म्यस्म॒द्युय॑वन्नमी॒वाः ॥ १० ॥
वाजे॑-वाजेऽवत वाजिनो नो॒ धने॑षु विप्रा ऽअमृता ऽऋतज्ञाः ।
अ॒स्य मध्वः॑ पिवत मा॒दय॑ध्वं तृ॒प्ता या॑त प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ॥ ११ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ६ । १६, १८ ॥

स॒मि॒द्धो ऽअ॒ग्निः स॒मिधा॑ सु॒स॒मि॒द्धो व॑रे॒ण्यः ।
गा॒य॒त्री छन्द॑ ऽइन्दि॒यं त्र्य॑वि॒र्गौस्त्रि॒यौ द॑धुः ॥ १२ ॥
[१२–२२] स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । आग्नियो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष, अग्रणी नेता, (समिधा समिद्धः) काष्ठ से प्रज्वलित आग के समान (सम्-इधा) उत्तम ज्ञान प्रकाश से (सम्-इद्धः) खूब प्रज्वलित और (सु-सम्-इद्धः) सूर्य के समान अत्यन्त देदीप्यमान, तेजस्वी होकर (वरेण्यः) वरण करने योग्य श्रेष्ठ पुरुष (गायत्री) समस्त जीवों के प्राणों की रक्षा करने वाली पृथिवी के समान (छन्दः) समस्त जनों का आच्छादन या रक्षा करने वाला पुरुष, (त्र्यविः) शरीर, इन्द्रिय और आत्मा इन तीनों की रक्षा करने वाला, (गौः) विद्वान् पुरुष, ये सब 'इन्द्र' या राजा के ऐश्वर्यमय राज्य में (इन्द्रियं) ऐश्वर्य आत्मिक बल और (वयः) बल, ज्ञान, दीर्घ आयु को (दधुः) धारण, स्थापन करें ।

तनू॒नपा॒च्छुचि॑व्रतस्त॒नू॒पाश्च॒ सर॑स्वती ।
उ॒ष्णिहा॒ छन्द॑ ऽइन्द्रि॒यं दि॑त्य॒वाड् गौर्वयो॑ दधुः ॥ १३ ॥

भा०—(तनूनपात्) शरीरों को न गिरने देने वाले प्राण के समान (शुचिव्रतः) शुद्ध धर्माचरण, शीलवान् पुरुष और (तनूपाः) शरीरों अर्थात् पुत्रादि की रक्षा करने वाली (सरस्वती) उत्तम ज्ञान वाली स्त्री और

१०—अतः परं ६ । १६ पठ्यते । कागव० ।

विद्वत् सभा, और (उष्णिहा छन्दः) उष्णिहा छन्द, और (दित्यवाड् गौः) 'दित्यवाड्' बैल ये चारों ऐश्वर्यसम्पन्न राष्ट्र में (इन्द्रियम्) राजा के योग्य ऐश्वर्य को और (वयः) दीर्घ आयु, ज्ञान, बल को (दधुः) धारण करें। अर्थात् (उष्णिहा छन्दः) २८ अक्षरों के समान २८ वर्षों तक अपने बल वीर्य को आच्छादित करने वाला पुरुष और दित्यवाड् गौ अर्थात् दो वर्ष का वृषभ जिस प्रकार (इन्द्रियं) हृष्ट पुष्ट वीर्य और बल को धारण करते हैं उसी प्रकार के लोग राष्ट्र में राजा के ऐश्वर्य और बल की वृद्धि करें।

१. उष्णिहा छन्दः—उष्णिक् इत्युत्सादात्। स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणः। आपिवोष्णीपिणोवेत्यौपामिकम्। दैव्य० ३। ४॥ आयुर्वा उष्णिक्। ऐ० १। ५॥ चक्षुरुष्णिक्। शत० १०। ३। १। १॥ पशवो वा उष्णिक्। ता० २। १०। १४॥

दित्यवाड् गौः—द्विवर्षः पशुःइति महीधरः। अथवा दित्यं खण्डनीय धान्यं वहति इति दित्यवाड्।

इडाभिरिड्यः सोमो देवो ऽअमर्त्यः।
अनुष्टुप् छन्द ऽइन्द्रियं पञ्चाविर्गौर्वयो दधुः॥ १४॥

भा०—(इडाभिः) हवियों-अन्नों द्वारा (ईड्यः) पूजनीय अग्नि के समान (इडाभिः) अन्नों और स्तुतियों द्वारा प्रशंसनीय (अग्निः) ज्ञानवान् नेता पुरुष और (अमर्त्यः) कभी नाश न होने वाला (देवः) देव, दिव्य गुणों से युक्त, तेजस्वी, (सोमः) सूर्य या वायु के समान प्राण देने वाला राजा, (अनुष्टुप् छन्दः) अनुष्टुप् छन्द, अर्थात् ३२ वर्ष तक इन्द्रियों और बलों का रक्षक ब्रह्मचारी और (पञ्चविः गौः) अढ़ाई वर्ष का बल अथवा पांचों इन्द्रियों का संयमी

१४—'इळा०' इति काण्व०।

जिस प्रकार (इन्द्रियं) प्राण बल, और (वयः) दीर्घ, जीवन को धारण करते हैं वैसे ही लोग राष्ट्र में ऐश्वर्य बल और वीर्य जीवन को धारण करें ।

अनुष्टुप् छन्दः—द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप् । कौ० २६ । १ ॥ प्रजापतिर्वा अनुष्टुप् । तां० ४ । ८ । ६ ॥

पञ्चाविः गौः । सार्धद्विवर्षः । परमासात्कः कालोऽविः ।

सुवर्हिराग्निः पूपण्वान्त्स्तीर्णबर्हिरमर्त्यः ।
बृहती छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः ॥ १५ ॥

भा०—(पूषण्वान्) पृथिवी को धारण करने वाला (अग्निः) सूर्य जिस प्रकार (सु बर्हिः) उत्तम रीति से आकाश में व्याप्त है वैसे (पूषण्वान्) पुष्टकारक भूमि और अन्नों से युक्त अथवा पोषक जनों से युक्त (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानवान् पुरुष (सु-बर्हिः) उत्तम प्रजा से युक्त होता है । (स्तीर्णबर्हिः) वह पुरुष यज्ञ में वेदि पर कुशाओं को बिछाने वाले यज्ञकर्त्ता के समान पृथिवी पर अपनी प्रजाओं को फैला देता है । वह (अमर्त्यः) अमर हो जाता है । वह सदा मानो प्रजा रूप से जीता रहता है । इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी राजा (सु-बर्हिः) उत्तम प्रजा वाला, (पूषण्वान्) पोषक अन्न सम्पत्ति और भूमियों और प्रजाओं के पोषक अधिकारियों से युक्त हो । वह (स्तीर्णबर्हिः) शत्रु के नाशकारी क्षात्रबल को फैलाकर बैठने वाला (अमर्त्यः) फिर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता । (बृहती छन्दः) छत्तीस अक्षरों के बृहती छन्द के समान ३६ वर्षों तक के ब्रह्मचर्य का पालक पुरुष और (त्रिवत्सः गौः) तीन वर्ष के हृष्टपुष्ट बैल के समान युवा पुरुष, ये सब (इन्द्रियम्) ब्रह्मचर्य बल और दीर्घ जीवन को धारण करते हैं । उनके समान प्रजागण भी राष्ट्र में बल वीर्य और दीर्घ जीवन धारण करें ।

दुरो॑ दे॒वीर्दिशो॑ म॒हीर्ब्रह्मा दे॒वो बृ॒हस्पति॑: ।
प॒ङ्क्तश्छन्द॑ ऽइ॒हेन्दि्रयं तु॒र्य्य॒वाड् गौर्व॑यो दधुः ॥ १६ ॥

भा०—(देवीः) तेजवाली स्त्रियां, (दुरः) प्रकाश वाले बड़े २ द्वार और (महीः) बड़ी विस्तृत (दिशः) दिशाओं के समान (महीः दिशः) पूजनीय, गुरुवाणियां और (ब्रह्मा) चतुर्वेदों का विद्वान् (देवः) ज्ञान का प्रकाशक, (बृहस्पतिः) वेद वाणी का पालक, अथवा महान् राष्ट्रपति देव, राजा और (पंक्तिः छन्दः) चालीस अक्षरों वाले पंक्ति छन्द के समान ४० वर्ष तक का ब्रह्मचारी पुरुष, और (तुर्यवाड् गौः) चतुर्थ वर्ष का बैल अथवा (तुर्यवाड्) चतुर्थ आश्रम का सेवी परिव्राट् और (गौः) आदित्य के समान तेजस्वी ज्ञानी पुरुष ये सब (इन्द्रियं) ऐश्वर्य और दीर्घ जीवन स्वयं धारण करते हैं, वे ही राष्ट्र में भी ऐश्वर्य तेजबल और दीर्घ जीवन धारण करावें ।

उ॒षे य॒ह्वी सु॒पेश॑सा॒ विश्वे॑ दे॒वा ऽअ॑मर्त्याः ।
त्रि॒ष्टुप् छन्द॑ ऽइ॒हेन्दि्रयं प॑ष्ठ॒वाड् गौर्व॑यो दधुः ॥ १७ ॥

भा०—(यह्वी) बड़ी, पूजनीय, (सुपेशसा) उत्तम रूप वाली, (उषे) उषा और सायं वेलाओं के समान पूज्य, उत्तम ज्ञान प्रकाश वाली, पाप और अज्ञान का दहन करने में समर्थ, उपदेशिका और अध्यापिका, अथवा धर्मसभा और विद्वत्-सभा और (विश्वे देवाः) समस्त ज्ञानी और विजयी पुरुष, (अमर्त्याः) दिव्य पदार्थ पृथिवी सूर्य के समान स्थिर रहने वाले, अनश्वर, सुरक्षित एवं नित्य हैं । वे और (त्रिष्टुप् छन्दः) ४४ अक्षरों वाले त्रिष्टुप् के समान ४४ वर्षों तक के अक्षत ब्रह्मचर्यवान् पुरुष और (पष्ठवाड् गौः) पृष्ठ से भार उठाने वाले बैल के समान राष्ट्र का कार्यभार अपने ऊपर लेने वाले पुरुष ये

सब (इह) इस राष्ट्र में (इन्द्रियं) बल, वीर्य, ऐश्वर्य और (वयः) दीर्घ जीवन, अन्न और ज्ञान को (दधुः) स्वयं धारण करें और धारण करावें ।

दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा ।
जगती छन्द इन्द्रियमनड्वान् गौर्वयो दधुः ॥ १८ ॥

भा०—(दैव्या) देवों, शरीरस्थ प्राणों में व्यापक, (होतारौ) सब को अपने भीतर ग्रहण करने वाले, (भिषजा) वैद्यों के समान शरीर के समस्त रोग विकारों को दूर करने वाले, (इन्द्रेण सयुजौ) इन्द्र आत्मा के साथ सदा संयुक्त और (युजा) सदा स्वयं साथ रहने वाले प्राण अपान और उनही के समान (दैव्या होतारा) देवों, विद्वानों में हितकारी, (भिषजाः) शरीर और मन एवं समाज शरीर के दोषों को भी सद्वैद्य के समान दूर करने वाले (इन्द्रेण) राजा के साथ (सयुजौ) सहयोग रखने वाले, (युजा) सदा परस्पर संयुक्त और (जगती छन्दः) ४८ अक्षर के जगती छन्द के समान ४८ वर्ष के अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालक पति और (अनड्वान् गौः) शकट को उठाने वाले बैल के समान राष्ट्र के शकट को उठाने वाला वीर बलवान् पुरुष, ये सभी (इन्द्रियम्) बल ऐश्वर्य और (वयः) दीर्घ आयु और ज्ञान को (दधुः) धारण करते हैं और ऐश्वर्यमय राष्ट्र में भी धारण कराते हैं ।

तिस्र इडा सरस्वती भारती मरुतो विशः ।
विराट् छन्द इडेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः ॥ १९ ॥

भा०—(इडा, सरस्वती, भारती) इडा, सरस्वती और भारती नामक, (तिस्रः) तीनों समितियें और (मरुतः) वायुओं के समान तीव्र वेग वाली या देश देशान्तर में गमन करने वाली अथवा—शत्रु मारक वीर सेनारूप (विशः) प्रजाएं और (विराट् छन्दः) ४० अक्षरों के विराट्

छन्द के अनुसार ४० वर्षों का अक्षत ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला पुरुष और (धेनुः गौः) दुधार गौ ये सब राष्ट्र में (इन्द्रियम्) राजा के ऐश्वर्य और (वयः) दीर्घ जीवन को धारण करते हैं वे उसमें भी धारण करावें ।

त्वष्टा तुरीपो ऽअद्भुत ऽइन्द्राग्नी पुष्टिवर्धना ।
द्विपदा छन्द ऽइन्द्रियमुक्ता गौर्न वयो दधुः ॥ २० ॥

भा०—(त्वष्टा) शिल्पी, नये यन्त्र और पदार्थों को गढ़ कर बनाने वाला त्वष्टा या कान्तिमती विद्युत् (अद्भुतः) आश्चर्यजनक रूप से (तुरीपः) शीघ्रता से स्थानान्तर में जाने में समर्थ है। इसी प्रकार (इन्द्राग्नी) सेनापति ग्राम और नगर के नेता दोनों ही (पुष्टिवर्धना) राज्य की पुष्टि को बढ़ाते हैं। (द्विपदा छन्दः) द्विपदा ऋचा के समान दो पैरों से प्रतिष्ठित होने वाली मानव सृष्टि और (उक्ता गौः) वीर्य सेचनमें समर्थ वृषभ ये सब राष्ट्र में (इन्द्रियम् वयः) ऐश्वर्य और दीर्घ जीवन को (दधुः) धारण करावें ।

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम् ।
ककुप् छन्द ऽइहेन्द्रियं वशा वेहद्भयो दधुः ॥ २१ ॥

भा०—(वनस्पतिः) वन का पालक या वट आदि महावृक्ष के समान (शमिता) शान्तिप्रद छाया और शरण देने वाला (सविता) और सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष (भगम्) सेवन करने योग्य ऐश्वर्य को (प्रसुवन्) उत्पन्न करता हुआ और (ककुप् छन्दः) ककुप्-२८ अक्षरों का छन्द, तदनुसार २८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का पालक पुरुष अथवा प्राण के समान श्रेष्ठ मुख्य नेता, (वशा) पृथ्वी या राष्ट्र को वश करने वाली सभा और (वेहत्) दुष्टों के षड्यन्त्रों को गर्भ में ही विविध उपायों से नाश करने वाली राजा की नीति, ये सब ऐश्वर्य से पूर्ण राष्ट्र और राजा में

(वयः) दीर्घ जीवन, बल, और (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य को स्वयं धारण करें और (दधुः) धारण करावें ।

स्वाहा यज्ञं वरुणः सुत्रत्रो भेषजं करत् ।
अतिछन्दा इन्द्रियं बृहद्वयो गौर्यो दधुः ॥ २२ ॥

भा०—(वरुणः) सब से वरण करने योग्य, सर्वश्रेष्ठ राजा, (सुत्रत्रः) उत्तम धन-ऐश्वर्य और क्षात्रबल से युक्त होकर (स्वाहा) उत्तम उपदेश, शिक्षा, सत् रीति नीति से (यज्ञम्) सुसंगत राष्ट्र या प्रजापति के पदको (भेषजं) शरीर में से रोग को दूर करने वाली ओषधि के समान राष्ट्र के दोष दूर करने में समर्थ उपाय (करत्) करता है । जिस प्रकार (अतिछन्दाः) और अति शब्द के योग्य से कहे जाने वाले छन्द, अति धृति, अत्यष्टि अतिशक्करी और अतिजगती, ये चारों छन्द अपने विशुद्ध नाम धृति, अष्टि, शक्करी और जगती इनसे ४, ४ अक्षर अधिक होते हैं उसी प्रकार अन्यों से सामर्थ्यों में अधिक पुरुष, (बृहत् ऋषभः गौः) और बड़े विशाल क्लीवद के समान बहुत अधिक भार उठाने में समर्थ महा पुरुष ये सब (वयः) दीर्घ जीवन, बल और (इन्द्रियं) वीर्य, इन्द्रियसामर्थ्य और ऐश्वर्य को स्वयं धारण करते हैं वे ऐश्वर्य सम्पन्न राष्ट्र में उसके स्वामी राजा में भी इन पदार्थों को धारण करावें।

वसन्तेन ऋतुना देवा वसवस्त्रिवृता स्तुताः ।
रथन्तरेण तेजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २३ ॥

(२३–२८) लिंगोक्ता देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(वसवः देवाः) वसु नामक देव, विद्वान् पुरुष, (वसन्तेन ऋतुना त्रिवृता) त्रिवृत् स्तोम और (रथन्तरेण) रथन्तर साम से और तेज, पराक्रम से (इन्द्रे) इन्द्र, राजा और राष्ट्र में या निमित्त (हविः वयः दधुः) अन्न और बल, दीर्घजीवन को धारण कराते और स्वयं धारण करते हैं ।

ग्रीष्मेण ऽऋतुना देवा रुद्राः पञ्चदशे स्तुताः ।
बृहता यशसा बलꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २४ ॥

भा०—(रुद्राः देवाः) रुद्र नामक देव, विद्वान् गण, (ग्रीष्मेण ऋतुना) ग्रीष्म ऋतु से (पञ्चदशे) पंचदश नामक स्तोम के आधार पर (बृहता) बृहत् नामक साम से (यशसा) और यश से (इन्द्रे) इन्द्र, राजा और राष्ट्र में (बलं वयः हविः दधुः) बल, दीर्घायु और अन्नादि ऐश्वर्य धारण करते और कराते हैं ।

वर्षाभिर्ऋतुनादित्या स्तोमे सप्तदशे स्तुताः ।
वैरूपेण विशौजसा हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २५ ॥

भा०—(आदित्याः) 'आदित्य' नामक विद्वान् गण, वर्षाभिःऋतुना) वर्षाऋतु से (सप्तदशे स्तोमे) सप्तदशस्तोम के आधार पर (वैरूपेण) वैरूप साम से (विशौजसा) प्रजा और पराक्रम से (इन्द्रे हविः वयः दधुः) इन्द्र, राजा और राष्ट्र में अन्न और दीर्घ जीवन को धारण कराते और करते हैं ।

शारदेन ऽऋतुना देवा ऽएकविꣳश ऽऋभव स्तुताः ।
वैराजेन श्रिया श्रियꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २६ ॥

भा०—(शारदेन ऋतुना) शरद् ऋतु से, (देवाः ऋभवः) ऋभु नामक विद्वान् गण, (एकविंशे) एक विंशस्तोम के आधार पर (वैराजेन) वैराज साम से और (श्रिया) लक्ष्मी से (इन्द्रे) इन्द्र, राजा और राष्ट्र में (श्रियं) शोभा, लक्ष्मी, ऐश्वर्य (हविः) अन्न और (वयः) दीर्घ जीवन को (दधुः) धारण कराते और स्वयं धारण करते हैं ।

हेमन्तेन ऽऋतुना देवास्त्रिणवे मरुत स्तुताः ।
बलेन शक्वरीः सहो हविरिन्द्रे क्यो दधुः ॥ २७ ॥

भा०—(मरुतः देवाः) मरुत् नामक देव, विजिगीषु पुरुष, (हेमन्तेन ऋतुना) हेमन्त ऋतु से, (त्रिनवे स्तुताः) त्रिनव नामक स्तोम में स्तुत होकर

(बलेन) बल से (शक्करीः) शक्वरी नामक सोम से (इन्द्रे हविः सहः वयः) राष्ट्र और राष्ट्रपति इन्द्र में अन्न, शत्रु-विजयकारी बल और दीर्घ जीवन (दधुः) धारण कराते हैं और उसके निमित्त स्वयं भी धारण करते हैं।

शैशिरेण ऽऋतुना देवास्त्रयस्त्रिꣳशेऽमृता स्तुताः।
सत्येन रेवतीः क्षत्रꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः ॥ २८ ॥

भा०—(अमृताः देवाः) अमृत नामक देव, विद्वान् पुरुष (शैशिरेऋतुना) शिशिर ऋतु के साथ, (त्रयस्त्रिंशे) त्रयस्त्रिंश नामक स्तोम में (स्तुतः) वर्णित या प्रस्तुत होकर (रेवतीः) रेवती साम द्वारा (सत्येन) सत्य के बल से (इन्द्रे) राष्ट्र और राष्ट्रपति इन्द्र में या उसके निमित्त या उसके आश्रय पर (क्षत्रं हविः वयः दधुः) धन, अन्न और दीर्घ जीवन धारण कराते और स्वयं करते हैं।

संवत्सर और यज्ञ दोनों ही प्रजापति के स्वरूप हैं। इधर राजा भी प्रजापति है। आत्मा और परमात्मा भी प्रजापति है। उनके अंग प्रत्यंगों की कल्पना द्वारा राजा के अधीन २ अधिकारीगणों के कर्त्तव्यों का निरूपण उक्त ६ मन्त्रों में किया गया है, जैसे—

१—वर्ष में ६ ऋतु हैं राजा या प्रजापति के ६ प्रकार के प्रधान रूप हैं। प्रथम ऋतु वसन्त है। जिसके आश्रय पर लोग बसें जो सबको बसावें वह मुख्य अधिकारी 'वसन्त' के समान है। एवं उस प्रकृति का स्वतः राजा भी 'वसन्त' है। अधीन प्रजाओं को सुखपूर्वक वास देने हारे अधिकारी जन 'वसु' है पृथिव्यादि आठ वसुओं के समान वे प्रजाओं के को शरण दें। शरीर में बसे प्राणों के समान प्रजा के जीवन प्रद हों, उनका स्तोम अर्थात् मुख्य पुरुष संघ "त्रिवृत्" हैं त्रिवृत स्तोम में जिस प्रकार तीन ऋचाएं हैं उसी प्रकार तीन अधिकारी हैं। उसका बल रथन्तर है रथों से देश देशान्तर में जाएं आवें और तेज, पराक्रम से रथ सेना

संग्रामों को तरते हैं। वे उस पराक्रम से ही राज्य और राजा का बल बढ़ाते हैं।

२. नेता, प्रजापति राजा का दूसरा स्वरूप है, उसका प्रधान नेता ग्रीष्म ऋतु के समान है। सूर्य जिस प्रकार प्रखर होकर भूभागों को तपा कर उनसे जल शोष लेता है उसी प्रकार अपने तेज से बलपूर्वक अधीन किये भूपतियों से राजा करों द्वारा ऐश्वर्य ग्रहण करता है। उस कार्य में नियुक्त पुरुष 'रुद्र' रूप देव हैं। उनको देखकर जमींदार लोग बोते हैं। वे भी शरीर में भूख प्यास लगाने वाले तीव्र प्राणों के समान होने से रुद्र हैं। उनके पञ्चदश स्तोम हैं। अर्थात् जिस प्रकार शरीर में अंग और पांच प्राण हैं उसी प्रकार राष्ट्र में उनके १५ अधिकारियों की स्थिति है। उनका 'यश' अर्थात् वीर्य और ख्याति यज्ञ में वृहत् साम के समान महान् है। वे राज्य में बल, अन्न और दीर्घायु धारण कराते हैं।

३. वर्षा ऋतु प्रजापति का तीसरा रूप है। उसका कार्य वर्षा के मेघ के समान प्रजा या पृथिवी से संगृहीत ऐश्वर्य को प्रजा के हित के लिये पुनः प्रजा पर वर्षा देना है। यह कार्य 'आदित्य' नामक अधिकारियों का है। उनकी स्थिति सूर्य में किरणों के समान है। उनका वर्णन 'सप्तदश' स्तोम से किया जाता है अर्थात् दश इन्द्रिय, पंच प्राण और आत्मा, मन इन १७ के समान ये राष्ट्र शरीर में व्याप्त रहते हैं और कार्य करते हैं। उसका ओज पराक्रम नाना रूप से विविध प्रकारों से प्रकाशित होने से यज्ञ में वैराज साम के समान एवं प्रजा को समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होने से वे प्रजा के द्वारा राष्ट्र की सम्पत्ति और बल को बढ़ाते हैं।

४. प्रजापति का तीसरा रूप 'शरद् ऋतु' है। शरद् काल वर्षाकालिक मेघों को छिन्न भिन्न करके जैसे आकाश को स्वच्छ करता, चन्द्रमा को निर्मल करता, अन्न और फलों को वृद्धि करता और जलों को स्वच्छ करता है

उसी प्रकार राजा प्रजा के ऊपर आयी शत्रु घटाओं को दूर करता, संकटों को हटाता, अन्नादि सम्पदाओं को बढ़ाता, सबको उत्सवादि से प्रसन्न करता है। इस कार्य में नियुक्त अधिकारी 'ऋतु देव' हैं। 'ऋत' सत्य से प्रकाशित होना, ज्ञान विज्ञान कौशल से समस्त प्रजा को सुखी करना, संकटों को दूर करना उनका कर्त्तव्य है। उसी से वे 'ऋतु' कहाते हैं इस वर्ग में न्यायाधीश, विद्वान्, शिल्पी, वैज्ञानिक आजाते हैं। ये 'एकविंश-स्तोम' से स्तुत या वर्णित हैं। यज्ञ में २१ ऋचा वाले स्तोम के समान एवं शरीर में हाथ पांवों की दश २ अंगुली एवं २१ वां आत्मा, इनके समान नये २ पदार्थों को प्राप्त करते हैं। और राष्ट्र को उत्तम मार्गों में चलाते और नाना सुख भोग प्रदान करते हैं। विविध ऐश्वर्यों से प्रकाशित होने से उनकी तुलना वैराज साम के साथ है। वे 'श्री', लक्ष्मी, शोभा, शिल्प, कला कौशल से राज्य और राजा के राजकार्य में भी ऐश्वर्य और शोभा करते और अन्न, ऐश्वर्य और दीर्घजीवन प्रदान करते हैं।

५. प्रजापति का पांचवां स्वरूप 'हेमन्त ऋतु' है। हेमन्त ऋतु जिस प्रकार अपने तीव्र शीत से समस्त प्राणियों को कष्ट देता, जलों को असह्य शीतल कर देता है, नदियों को संकोचित कर देता है। उसी प्रकार दुष्ट जनोंओ को तीव्र दण्डों से दण्डित करता है, उनको संकुचित करता है, प्रजाओं को वश करता है। उसके तीव्र शीतल वायुओं के समान मरुद्गण, देव हैं जो दुष्टों को दमन करने वाले वायु के समान वेगवान् सैनिकबल हैं। उनका स्तोम 'त्रिनव' है अर्थात् शरीर में हाथ पांव के २० अंगुलियों पांच प्राण, मन और आत्मा के समान राष्ट्र के २७ अंग हैं। यज्ञ में शाक्वर साम के समान उनका भी स्वरूप 'शक्वरी' अर्थात् शक्तिमती सेनाएं हैं वे सैन्य-बल से ही शक्तिमती होने से 'शक्वरी' कहाती हैं। वे शत्रु को पराजय करने का परम सामर्थ्य 'सहः' को और वीर्य और राष्ट्र के दीर्घजीवन को उत्पन्न करते हैं।

६. प्रजापति का ६ ठा रूप शिशिर-ऋतु है। शिशिर जिस प्रकार पत-झड़ के बाद वृक्षों में नया रस सेचन करता है नये पत्र और नये पुष्प खिलाने के निमित्त रस उत्पन्न करता है उसी प्रकार प्रजा में नवीन साहस, नवीन शक्ति, नवीन ऐश्वर्य संचारित करने वाला राजा शिशिर के समान है। उसके अधीन कार्यकर्त्ता 'अमृत देव' हैं। वे प्रजा में जलों के समान अमर जीवन प्रदान करते हैं। उनको स्थिति यज्ञ में त्रयस्त्रिंश स्तोम के समान है, अर्थात् जिस प्रकार शरीर में पञ्च स्थूल भूत, पंचतन्मात्रा, पंच-कर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, चार अन्तःकरण, जीव, शिर, २ हाथ, २ जांघें, १ उदर, २ उरःस्थल, ये अंग हैं। उसी प्रकार वे भी राष्ट्र-शरीर के स्थूल, सूक्ष्म विभागों के घटक, संयोजक और अंग हैं। वे सत्य के बल से ऐश्वर्यवान् होने से 'रेवतीः' कहाती हैं। वे यज्ञ में रैवत साम के समान ऐश्वर्यजनक हैं। वे राष्ट्र में 'क्षत्र' धन अन्न, वीर्य, दीर्घायु धारण कराते हैं।

सभी मुख्य, गौण अधिकारी राजा ही के प्रतिनिधि हैं। और राजा ही सबका स्वरूपवान् आत्मा के समान है। इसलिये गुण भेद से 'वसन्त' आदि राजा के ही स्वरूप होकर राजा के भिन्न २ विभागों के प्रधान पदा-धिकारियों के भी ये नाम हैं। उनके भिन्न २ कर्त्तव्य वर्ष में ऋतुओं के अनुसार, ब्रह्माण्ड में सूर्य की किरणों के और जगत् की मुख्य दिव्य शक्तियों के अनुसार, यज्ञ में स्तोमों के अनुसार, शरीर में अंगों के अनु-सार जानने चाहियें। उन दृष्टान्तों से स्थूल रूप से, और शब्द में छिपे धात्वर्थगत स्वरूपों और निर्वचनों से सूक्ष्मरूप से राजा के उन स्वरूपों के और अधीन अधिकारियों के कर्त्तव्यों का वर्णन जानना चाहिये। अन्ततः, वे सब व्यवस्थाएं, पद, अधिकार आदि राष्ट्र और राष्ट्र पति में ही अपने समस्त बल, अधिकार ऐश्वर्यों को समर्पित करते हैं। यही वेद ने उपदेश किया है। इस विषय में विशेष संगतियें देखने के लिये देखो। अ० १० । मं० १०, १४ ॥ अ० ९ । २४ ॥ अ० ११ । ५८, ६०, ६५ ॥

वसन्तादि ऋतुओं के विशेष रहस्य एवं तुलना के लिये देखो अ० १२। मं० ५४–५८ ॥ तथा अ० १३। मं० २५ ॥ तथा अ० १४। मं० ६, १५, २७, ५७ ॥ वसु आदि के कर्त्तव्यों के विषय में अ० १४। मं० २५ ॥ स्तोमों के स्वरूप देखो अ० १४। २८—३१ ॥

होता यक्षत्समिधाग्निमिडस्पदेऽश्विनेन्द्रꣳ सरस्वतीमजो धूम्रो न गोधूमैः कुवलैर्भेषजं मधु शष्पैर्न तेज ऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २६ ॥

(२६–४१) एता द्वादश आप्रियः। अश्विसरस्वान्द्राः लिंगोक्ता देवताः। निचृदष्टिः। मध्यमः ॥

भा०— (१) (होता समिधा अग्निम् इडस्पदे अश्विनौ, इन्द्रं सरस्वतीं यक्षत्) यज्ञ में (होता) होता नामक विद्वान् ऋत्विक् जिस प्रकार (समिधा) काष्ठ से (अग्निम्) अग्नि को प्रज्वलित करता है उसी प्रकार (होता) राष्ट्र को पदाधिकारियों के प्राप्त करने और उनको मननपूर्वक स्वीकार करने वाला पुरुष (इडस्पदे) इस पृथ्वी के प्रधान आसन पर (अश्विनौ) विद्याओं और राष्ट्र भागों के अच्छे ज्ञाता, सूर्य और चंद, और शरीर में प्राण और अपान के समान दोषनाशक प्रधान सचिव रूप दो अधिकारियों को (इंद्रम्) शत्रुनाशकारी, ऐश्वर्यवान्, बलवान् सेनापति को और (सरस्वतीम्) उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों की बनी विद्वत्सभा को (यक्षत्) नियुक्त करे और उचित स्थानों पर संगत करे।

(२) (अजो धूम्रो न गो, धूमैः कुवलैः भेषजम्) (अजः) बकरा बकरी जाति का पशु और अजवायन, अजमोद नामक ओषधि जिस प्रकार अपने उग्रगन्ध से नाना रोगों को (भेषजम्) दूर करता है और (धूम्रः) तीव्र धूम्र जिस प्रकार रोगकारी अंशों को नष्ट करता है और (गोधूमैः) हूगं के अन्नों से जिस प्रकार शरीर पुष्ट होता है और (कुवलैः) बेर

आदि झाड़ियों से जिस प्रकार पौधों को अन्य पशुओं से खाये जाने से बचाया जाता है उसी प्रकार (अजः) शत्रुओं पर नाना अस्त्र शस्त्रों को फेंकने में कुशल वीर योद्धा पुरुष (न) और (धूम्रः) उनको अपने बल, साहस. वीरता, पराक्रम और युद्ध नीति से कंपा देने और धुन डालने वाला पुरुष (गोधूमैः) पृथ्वी के देशों को कम्पाने में समर्थ वीर पुरुषों और अस्त्रशस्त्रों से और (कुवलैः) अति घोर गर्जनाकारी अथवा शत्रु की भूमि को घेर लेने वाले सेना दलों सहित (भेषजम्) शत्रु तथा प्रजा-पीड़कों को दूर करने का उचित उपाय प्राप्त होता है ।

(३) (शष्पं मधु न तेजः इन्द्रियम्) (शष्पैः) शष्प, नवांकुरित धान और उसकी जाति के धान्यों से जिस प्रकार (मधु) मधु खाद्य अन्न (न) और (तेजः) तेज, प्राणबल और (इन्द्रियम्) शरीर में इन्द्रिय सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार राष्ट्र में (शष्पैः) शत्रु के मारने में समर्थ वीर पुरुषों और घोर घातक अस्त्रों से शस्त्र आदि साधनों से राष्ट्र और राजा (मधु) शत्रुओं को पीड़न में समर्थ (तेजः) पराक्रम और (इन्द्रियम्) इन्द्र, विद्युत् और सूर्य का सा राजकीय ऐश्वर्य और पराक्रम उत्पन्न होता है ।

(४) (पयः सोमः परिस्रुता) (परिस्रुता) उत्तम रीति से प्राप्त रस से जिस प्रकार (पयः) दुग्ध आदि पुष्टि प्रद अन्न और (सोमः) परिस्रवणक्रिया से प्राप्त सोम, ओषधियों का रस जिस प्रकार तीव्र गुण-कारी हो जाता है उसी प्रकार (परिस्रुता) अभिषेक द्वारा (पयः) राष्ट्र के पोषकवर्ग और (सोमः) ऐश्वर्यवान् अभिषिक्त राजा दोनों ही राष्ट्र में बलवान् और तेजस्वी हो जाते हैं ।

(५) (घृतं मधु व्यन्तु) हे पूर्वोक्त अश्वि, इन्द्र, सरस्वती, सोम आदि पदाधिकारियों सर्व विद्वत्सभा के सभासद्गण ! साधारण मनुष्य जैसे शरीर

की उन्नति और पुष्टि के लिये घी दुग्ध और अन्न ग्रहण करता है उसी प्रकार आप सब लोग (घृतं) तेज और (मधु) बल, अन्न और ज्ञान को राष्ट्र की उन्नति और अभ्युदय के लिये (व्यन्तु) प्राप्त करें ।

(६) (आज्यस्य होतः यज) हे (होतः) होता जन ! तू जिस प्रकार यज्ञ में घृत की आहुति देता है उसी प्रकार हे (होतः) राष्ट्र के पदों को प्रदान करने हारे विद्वन् ! तू (आज्यस्य) वीर्य, विजयोपयोगी सामर्थ्य और बलको (यज) प्रदान कर या प्राप्त करा ।

होवा॑ यक्षत्तनू॒नपा॒त्सर॑स्वतीमवि॒र्मे॒पो न मे॑ष॒जं प॒था म॑धु॒मता॒ भर॑-
च्छ्वि॒नेन्द्रा॑य वी॒र्यं॒ ह॒दै॒रेरु॒प॒वाका॑भि॒र्मे॑ष॒जं तोक्मा॑भिः पय॒ः सोमः॑
परि॒स्रुता॑ घृ॒तं॑ मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३० ॥

अतिधृतिः । षड्जः ।

भा०—(१) (तनूनपात् होता सरस्वतीम् अश्विनौ इन्द्राय यक्षत्) (तनूनपात्) शरीर के न्यून अंश को पुष्ट कर उसको पालन और पूर्ण करने में समर्थ (होता) राष्ट्र के पदाधिकारों का प्रदाता, विद्वान् (सरस्वतीम्) ज्ञानमय वाणी के उपदेष्टा गुरु के समान उत्तम ज्ञानमय विद्वत्सभा को और (अश्विनौ) विद्याओं में पारंगत दो मुख्य विद्वान् पुरुषों को (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा और राष्ट्र की उन्नति के लिये (यक्षत्) नियुक्त करे ।

(२) (पथा मधुमता इन्द्राय वीर्यं हरन्) जिस प्रकार (मधुमता) जल वाले, जल से हरे भरे या नदी के मार्ग से जाने वाला सुगमता से और सुख से चला जाता है इसी प्रकार राष्ट्र के सञ्चालकों को (मधुमता) मधुर, उत्तम फलों से युक्त (पथा) नीति मार्ग से (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा को (वीर्यं) बल (हरन्) प्राप्त करावे ।

(३) (अविः मेषः न मेषजम्) शीतकाल में जिस प्रकार शीत निवारण के लिये मेढ़, भेड़ ही अपनी ऊन द्वारा उसके उपाय हैं उसी

अक्षर राष्ट्र पर आने वाले बाधक कारणों का उपाय (मेषः न) मेढ़े के समान प्रतिपक्ष से टक्कर लेने वाला, शत्रुजन पर शस्त्रों का और प्रजा पर सुख साधनों का वर्षण करने वाला (अग्निः) रक्षक का होना ही (भेषजम्) बाधाओं को दूर करने का उत्तम उपाय है।

(४) (वदैरः उपवाकाभिः तोक्मभिः भेषजम् यत्तत्) जिस प्रकार (वदैरः) वेर जैसी झाड़ियों से बाड़ बना कर उद्यानों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार राष्ट्र पर आने वाले शत्रुओं को (वदैरः=वधैरः) हिंसाकारी शस्त्रों का प्रहार करने वाले सेना दलों से (यत्तत्) उपाय करे। राष्ट्र की मूर्ख जनता को (उपवाकाभिः) गुरुओं के दीक्षा द्वारा उपदेश क्रियाओं से शिक्षित करे। (तोक्मभिः) व्यथादायी उपायों से राष्ट्र के भीतरी दुष्टों का उपाय करे।

(५) (पयः सोमः परिस्तुतः। घृतं मधु व्यन्तु। आज्यस्य होतः यज) इत्यादि पूर्ववत् ॥

होता यक्षन्नराशꣳसं न नग्नहुं पतिꣳ सुरया भेषजं मेषः सरस्वती श्रिषग्रथो न चन्द्रयाश्विनोर्व्यपाऽइन्द्रस्य वीर्य्यं वदैरुपवाकाभिर्भेषजं तोक्माभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३१ ॥

अतिधृतिः। षड्जः।

भा०—(१) (होता नराशंसं नग्नहुं पतिं न सुरया यत्तत्) (न) जिस प्रकार (नराशंसं) समस्त पुरुषों से प्रशंसनीय (नग्नहुं) सुन्दर स्त्री को स्वीकार करने वाले (पतिं) पति को (सुरया) उत्तम रमणी के साथ संगत कर दिया जाता है उसी प्रकार (होता) राष्ट्र के पदाधिकारियों का नियोजक विद्वान् पुरुष (सुरया) उत्तम रमणयोग्य, राज्यलक्ष्मी से (नराशंसं) समस्त नेतृ पुरुषों से प्रस्तुत, स्तुति योग्य, (नग्नहुम्)

दरिद्रों के पोषक, दुष्ट पुरुषों के विनाशक, (पतिम्) पालक, राष्ट्रपति को (यक्षत्) संगत करे ।

(२) (भेषजं मेषः सरस्वती भिषग्) पति-पत्नी के परस्पर विवाहित होजाने पर यदि प्रजोत्पत्ति में कोई बाधक कारण हो तो जिस प्रकार (मेषः) वीर्य सेचन करने में वीर्यपुष्टिकर औषध ही (भेषजम्) रोग-नाशक होता है और (सरस्वती भिषग्) उत्तम ज्ञानमय वाणी या उसका धारक विद्वान् ही भिषक्, चिकित्सक है । अथवा विवाहित होजाने पर भी परस्पर मिलने में (मेषः) वीर्य सेचन में समर्थ युवा पुरुष ही उत्तम प्रजोत्पत्ति का (भेषजम्) उपाय है और (सरस्वती) स्त्री ही (भिषक्= अभि-पक्) प्रजोत्पत्ति करने वाली, उससे संगत होती है । उसी प्रकार राष्ट्र पति बनाने में आये बाधक कारणों को दूर करने में (मेषः भेषजम्) प्रतिद्वन्द्वी से टक्कर लेने वाले मेढ़े के समान वीर, प्रतिस्पर्द्धी पुरुष ही (भेषजम्) उपाय है । और (सरस्वती) वेदवाणी विद्वत्सभा ही (भिषग्) उस उपाय को बतलाने वाले वैद्य के समान है ।

(३) (रथो न चन्द्री) दम्पति के लिये जिस प्रकार मार्ग पार करने का साधन रथ है उसी प्रकार राष्ट्र लक्ष्मी और राष्ट्रपति को नीति मार्ग पर चलने का उत्तम साधन (चन्द्री) सुवर्ण आदि धन वाला कोशवान् पुरुष ही है ।

(४) (अश्विनोः वपा इन्द्रस्य वीर्यम्) जिस प्रकार (अश्विनोः) स्त्री पुरुषों की (वीर्यम्) वीर्य ही (वपा) सन्तानोत्पत्ति की शक्ति है, उसी प्रकार (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् राष्ट्रपति और राष्ट्र का (वीर्यम्) बल ही (अश्विनोः) प्रधान पदपर नियुक्त महामात्यों की (वपा) शत्रु-उच्छेदन करने की शक्ति है ।

(५) (यद्देवैः उपवाकाभिः० इत्यादि) पूर्ववत् ।

होतां यक्षद्विडेडितऽआजुह्वानः सरस्वतीमिन्द्रियेण वयोधसेन्द्रमेन्द्रियेण

गवेन्द्रियमश्विनेन्द्राय भेषजं यवैः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होत्रर्यज ॥ ३२ ॥

विराड् अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(१) (होता सरस्वतीम् आजुह्वानः इडा यक्षत्) पूर्व वर्णित पदाधिकारियों को नियुक्त करने हारा विद्वान् 'होता' (ईडितः) स्वयं आदर सत्कार प्राप्त करके (सरस्वतीम्) उत्तम विद्वानों से पूर्ण विद्वत्-सभा या वेदवाणी की व्यवस्था को (आजुह्वानः) प्रदान करता हुआ, या स्वीकार करता हुआ (इडा) अन्न सम्पदा से (इन्द्राय) सम्पन्न राष्ट्र को (यक्षत्) संयुक्त करे ।

(२) (बलेन इन्द्रं वृषभेण गवा इन्द्रियं वर्धयन्) बल से, सेना-बल से 'इन्द्र' राजा को (वर्धयन्) अधिक शक्तिशाली करता हुआ, और (वृषभेण) सांड और (गवा) गौ इन जाति के पशुओं से (इन्द्रियम्) इन्द्र अर्थात् राजा के ऐश्वर्य को (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ ।

(३) (यवैः कर्कन्धुभिः मधु लाजैः न मासरं भेषजं यक्षत्) (यवैः) जौ आदि धान्यों से (मधु) राष्ट्र के अन्न और उनके समान रोगनाशक, (यवैः) शत्रुनाशक पुरुषों से राष्ट्र के (मधु) बल को उसी प्रकार (कर्कन्धुभिः) कांटेदार वृक्षों से (मधु) बेर के समान मधुर फल एवं हिंसाकारी शस्त्रों के धारक वीर पुरुषों से (मधु) शत्रु के नाशक बल को और (लाजैः न) लाजाओं, खीलों के समान शुभ्रवर्ण से (मासरम्) प्रति-मास दिये जाने वाले वेतन को (भेषजम्) उपायन्न, या भेंट रूप धातुओं से (यक्षत्) नियत करे ।

(४) (पय सोमः० इत्यादि) पूर्ववत् ।

'०दिळेक्षित' इति काण्व० ।

होता यक्षद्बर्हिरूर्णम्रदा भिषङ् नासत्या भिषज्याश्विनाश्व्या शिशु-
मती भिषग्धेनुः सरस्वती भिषग्दुह इन्द्राय भेषजं पयः सोमः
परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३३ ॥

निचृदष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(होता) दक्ष होता नाम पदाधिकारी पुरुषों का नियोक्ता विद्वान् 'होता' नाना प्रकार के दोषों को दूर करने के साधनों और उपायों को (यक्षत्) प्राप्त करे । (१) (बर्हिः ऊर्णम्रदाः भिषक्) ऊन जिस प्रकार कोमल होकर शरीर को शीत से रक्षा करती है उसी प्रकार (बर्हिः) प्रजा भी (ऊर्णम्रदाः) कोमल होकर भी राजा और राष्ट्र की कम्बल के समान रक्षाकारी होकर (भिषक्) उसकी त्रुटियों को दूर करती है। (२)(ना सत्या अश्विना भिषजा) कभी असत्य व्यवहार न करने हारे, सदा सत्यप्रेमी पूर्वोक्त दो अधिकारी भी वैद्यों के समान राष्ट्र के भीतर विद्यमान असद्-व्यवहारों को दूर करते हैं । (अश्वा) वेगवती घोड़ी के समान तीव्र बुद्धि वाली अथवा (अश्वा) हृदयग्राहिणी और (शिशुमती) उत्तम बालकों से युक्त (धेनुः) गौ के समान मधुर रस देने वाली विदुषी स्त्री राजा और राष्ट्र के दोषों को (भिषग्) दूर करती है । और (सरस्वती) सरस्वती विदुषी स्त्री और विद्वत्सभा भी (भिषग्) नाना दोषों को दूर करते हैं ये सब भी (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र और राजा के लिये (भेषजम्) औषधि रसों के समान नाना उपाय (दुहे) प्रदान करती है। (पयः सोमः० इत्यादि । पूर्ववत् ।

होता यक्षद्बुरो दिशः कबन्ध्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यां न दुरो दिश
ऽइन्द्रो न रोदसी दुघे । दुहे धेनुः सरस्वत्यश्विनेन्द्राय भेषजꣳ
शुक्रं न ज्योतिरिन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वा-
ज्यस्य होतर्यज ॥ ३४ ॥

भुरिगतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(होता यक्षत्) उक्त होता नामक विद्वान् अश्वि नामक अधिकारी और सरस्वती नामक विद्वत्सभा को नियुक्त करे। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (अश्विभ्यां) उक्त दोनों राजनीति कुशल अधिकारियों द्वारा (दिशः न) दिशाओं के समान (कवस्यः) विशाल अवकाशवाली और (व्यचस्वतीः) अति विस्तृत (दुरः) द्वारों और (दुरः) द्वारों के समान (दिशः) अवकाश वाली विस्तृत दिशाओं को, और (रोदसी न) सूर्य चन्द्र या वायु और सूर्य द्वारा आकाश और पृथ्वी जिस प्रकार दुही जाती हैं, उनके पूर्ण उपभोग्य पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं, उसी प्रकार विद्वान् नेता और सूर्य के समान तेजस्वी पुरुषों द्वारा राष्ट्रवासी स्त्री पुरुषों या राज प्रजावर्ग दोनों को (दुघे) दोहता है, उनसे ऐश्वर्य प्राप्त करता है। (सरस्वती) सरस्वती नाम विद्वत्सभा (इन्द्राय) राजा के लिये (पयः) दूध को (धेनुः) दुधार गौ के समान (भेषजं) सर्व रोग-हर औषध, (शुक्रं) शरीर में बलकारी, वीर्य और (ज्योतिः) प्रकाश और (इन्द्रियं) ऐश्वर्य उत्पन्न करे। इसी प्रकार (अश्विनौ) शरीर में व्यापक प्राण और अपान के समान दोनों अधिकारी (इन्द्राय) शरीर के अधिष्ठाता, इन्द्र, जीव के समान राष्ट्र के स्वामी के लिये (भेषजं शुक्रं न) सर्व रोगहर औषध और वीर्य के समान ऐश्वर्य और (ज्योतिः) जीवन-बल और (इन्द्रियम्) राज्य सामर्थ्य को (दुहे) उत्पन्न करें। (सोमः परिस्रुता०) इत्यादि पूर्ववत्।

होता॑ यक्षत् सु॒पेश॑सोषे नक्तं॒ दिवा॒श्विना॒ सम॑ञ्जाते॒ सर॑स्वत्या। त्विषि॒मिन्द्रे॒ न भे॑ष॒ज꣡ꣳ श्ये॒नो न रज॑सा हृ॒दा श्रि॒या न मास॑र॒ꣳ पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३५ ॥

भुरिगतिधृतिः। षड्जः ॥

भा०—(होता) होता नामक विद्वान् (यक्षत्) राष्ट्र की सुव्यवस्था के अधिकारियों को योग्यपद पर नियुक्त करे । (सुपेशसा) उत्तम रूप वाली, उत्तम धनैश्वर्य से सम्पन्न, (उषे) प्रातःसायं की सन्ध्याओं के समान, या सूर्य चन्द्र के समान (अश्विना) अधि नामक विद्वान् दोनों अधिकारी (दिवानक्तम्) दिन और रात (सरस्वत्या) सरस्वती नामक विद्वत्सभा से (सम् अञ्जाते) एक मत करके रहते हैं । और (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् राजा में (त्विषिम्) कान्ति या तेज को (भेषजम्) रोगहारी रस के समान स्थापन करते हैं । तब वह (श्येनः न) श्येन या बाज़ जिस प्रकार बड़े वेग से अपने निर्बल पक्षियों पर आक्रमण करता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने (रजसा) कान्ति से या तेजस्वी लोक-समूह से निर्बल शत्रुपक्ष पर आक्रमण करने में समर्थ हो जाता है । तब वह (हृदा) हृदय से या हरणकारी आक्रमण से और (श्रिया) श्री—शोभा और ऐश्वर्य से (न) भी (मासरं) मास के समान या अपने मासिक वेतन के समान अपने अधीन शत्रु को भोग करता है । (पयः सोम० इत्यादि) पूर्ववत् ।

होता॑ यक्षद्दैव्या॒ होता॑रा भि॒षजा॒श्विनेन्दु॑ न जा॒र्गृवि॒ दिवा॒ नक्तं॒ न भे॑ष॒जैः । शु॒चिꣳ सर॑स्वती भि॒षक् सी॒सेन॒ न द्रु॒हऽइ॒न्द्रिय॑ं । पय॒ः सोम॑ः परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३६ ॥

निचृदष्टिः । मध्यः ॥

भा०—(होता) पदाधिकारियों का नियोक्ता विद्वान् (दैव्या होतारौ) देवों, प्रजा के विद्वान् दानशील पुरुषों के हितकारी दो (होतारौ) प्रधान वशकारी अधिकारी पुरुषों को और (अश्विना) अधिकार, और राजनीति विद्या में व्यापक, (भिषजा) शरीर के रोगों के चिकित्सकों के समान राष्ट्र दोषों के सुधारक पुरुषों को और (इन्द्रं न) शत्रुहन्ता पुरुष को भी (यक्षत्) नियुक्त करे । (भिषक् भेषजैः न) वैद्य

जिस प्रकार अपने औषधों द्वारा शरीर में बल उत्पन्न करता है उसी प्रकार (सरस्वती) उत्तम विद्वत्सभा (दिवा नक्तं) दिन रात (जागृवि) जागती हुई, सावधान रह कर, (सीसेन) सीसा के बने गुलिकास्त्र से (शूषं) बल, सामर्थ्य और (इन्द्रियं) इन्द्र, राजा के उचित मान, ऐश्वर्य को भी (दुहे) उत्पन्न करती है। (पयः सोमः०) इत्यादि पूर्ववत्।

होता यक्षत्तिस्रो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसो रूपमिन्द्रे हिरण्ययमश्विनेडा न भारती। वाचा सरस्वती महऽइन्द्राय दुह ऽइन्द्रियं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥३७॥

धृतिः। ऋषभः॥

भा०—(होता) पूर्वोक्त पदाधिकारियों का नियोजक व्यक्ति 'होता' ही (तिस्र देवीः) तीन सभाओं को (यक्षत्) व्यवस्थित करें। (त्रिधातवः) शरीर की तीन धारक धातु वात पित्त, कफ़ जिस प्रकार (भेषजं न) वैद्य से दी गई ओषधि को धारण कर लेते हैं उसी प्रकार (त्रयः) वे तीन (अपसः) कर्मों के करने वाले प्रधान नेताओं के अधीन होकर (इन्द्रे) राजा में (रूपं) रुचि-रूप धारण कराती हैं। (अश्विनौ) इनमें भी दो मुख्य अधिकारी अश्वि नामक हैं वे दोनों और (इडा) इडा नाम भूमि की प्रबन्धकर्त्री संस्था (इन्द्रे) राजा में (हिरण्ययम् दुहे) सुवर्ण आदि धातुमय ऐश्वर्य को धारण कराती हैं। भारती और भारती नाम कला कौशल की नियामक संस्था भी और (अश्विना) दो अधिकारियों को प्राप्त होकर (इन्द्रे रूपं हिरण्ययम् दुहे) राजा में ऐश्वर्य को प्रदान करती है। (सरस्वती) सरस्वती नाम विद्वत्सभा (वाचा) वाक् या त्रयी विद्या, वाणी, व्यवस्था और आज्ञा द्वारा (इन्द्राय महः इन्द्रियम् दुहे) राजा के अति आदर योग्य बड़े भारी सामर्थ्य को प्रदान करती है। (पयः सोमः०) इत्यादि पूर्ववत्।

होता यक्षत् सुरेतसमृषभं नयाँपसं त्वष्टारमिन्द्रमश्विना भिषजं

न सरस्वतीमोजो न जूतिरिन्द्रियं वृको न रभसो भिषग् यशः सुरया भेषजꣳ श्रिया न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३८ ॥

भुरिक् कृतिः । निषादः ॥

भा०—(होता) उचित पदों पर उचित व्यक्तियों को नियुक्त करने वाला अधिकारी होता, (सुरेतसम्) उत्तम वीर्यवान्, (ऋषभम्) सेचने में समर्थ वृषभ के समान उत्तम भूमि में उत्तम बीज वपन करने में समर्थ, एवं मेघ के समान उत्तम जलरूप उत्पादक सामर्थ्य से युक्त, (नर्यापसम्) लोकोपकारी कर्म करने वाले, (त्वष्टारम्) शिल्पी, एन्जीनीयर और (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् धनाढ्य पुरुष को, और (अश्विनौ) दो मुख्य अधिकारियों को (भिषजम्) सब दोषों को दूर करने वाले वैद्य के समान (सरस्वतीम्) उत्तम ज्ञान और ज्ञानी पुरुषों से युक्त विद्वत्सभा को (यक्षत्) राष्ट्र में नियुक्त करे । वे सब लोग क्रम से (ओजः ; पराक्रम (न) और (जूतिः) वेग से, चुस्ती से कार्य संचालन, (इन्द्रियम्) राजा के उचित ऐश्वर्य और इन्द्रियों के तीव्र सामर्थ्य को उत्पन्न करते हैं । और (वृकः न) जिस प्रकार-भेड़िया छुपकर अपने से निर्बल जीव को ताकता है और बेखबर पर वेग से जा पड़ता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने ओज और शीघ्रकारिता से उसी प्रकार अपने निर्बल शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ होता है । और (रभसः भिषग्) अति कार्य-कुशल वैद्य जिस प्रकार अपनी चुस्ती से (सुरया) उचित ओषधि से या सुरा के योग से (भेषजं) रोगहारी ओषधि को देता है और (यशः) धन और सुख्याति प्राप्त करता है और मरणासन्न रोगी को भी बचा लेता है उसी प्रकार (सुरया) उत्तम राज्यलक्ष्मी से या उत्तम सुव्यवस्था से राजा राष्ट्र शरीर में उठी अव्यवस्था का उपाय करता है और (यशः) यश, ऐश्वर्य और ख्याति प्राप्त करता है और (श्रिया) अपने ऐश्वर्य से,

ही (मासरम्) अपने राष्ट्र और पर-राष्ट्र को परिपक्व भात के समान भोग करता है, अथवा लक्ष्मी के बल से सब को प्रति मास वेतन भी देता है। (पयः सोमः० इत्यादि) पूर्ववत् ॥

होता॑ यक्षद्वनस्पतिꣳ शमि॒तार॑ꣳ शतक्र॑तुं भी॒मं न म॒न्युꣳ राजा॑नं व्या॒घ्रं नम॑सा॒श्विना॒ भाम॒ꣳ सर॑स्वती मि॒षमि॑न्द्रा॑य दुह ऽइन्द्रि॒यं पय॒: सोम॑: परि॒स्रुता॑ घृ॒तं मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑॥३६॥

निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(होता) योग्य पदाधिकारियों का नियोक्ता 'होता' नामक विद्वान् पुरुष (वनस्पतिम्) वट आदि महावृक्ष के समान समस्त प्रजाओं को निःस्वार्थ भाव से आश्रय देने वाले, (शमितारम्) वन में लगी आग को जलधाराओं से शमन करने वाले मेघ के समान संतप्त प्रजाओं को शान्ति देने वाले, (शतक्रतुम्) सैकड़ों प्रकार के कर्म करने में समर्थ विद्युत् के समान सैकड़ों सामर्थ्यों से युक्त और (मन्युं न भीमं) मन्यु, क्रोध के समान अति भयकारी (व्याघ्रं राजानम्) पशुओं पर व्याघ्र के समान, अन्य बड़े राजाओं पर भी आक्रमण करने में निर्भय राजा को (नमसा) सब को नमाने वाले दण्डाधिकार से युक्त करके और (अश्विनौ) दो मुख्य पदाधिकारियों को भी (यक्षत्) नियुक्त करे। (सरस्वती) उत्तम ज्ञानपूर्ण विदुषी, विद्वत्-सभा और वेदवाणी (इन्द्राय) इन्द्र को (भामम्) असह्य क्रोध रूप तेज और (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य को (दुहे) प्रदान करती है। (पयः सोमः० इत्यादि) पूर्ववत्।

होता॑ यक्षद॒ग्निꣳस्वाहाज्य॑स्य स्तो॒काना॒ꣳस्वाहा॒ मेद॑सां पृथ॒क् स्वाहा॒ छाग॑म॒श्विभ्या॒ꣳ स्वाहा॑ मे॒षꣳसर॑स्वत्यै॒ स्वाहे॑ऽऋष॒भ-मिन्द्रा॑य॒ खꣳहा॑य॒ सह॑स ऽइन्द्रि॒यꣳ स्वाहाग्निं न भे॑ष॒जꣳ स्वाहा॒ सोम॑मिन्द्रि॒यꣳ स्वाहेन्द्र॑ꣳ सु॒त्राणꣳ॑ सवि॒तार॑ं वरु॒णं भि॒षज॑ां

पतिꣳस्वाहा वनस्पतिं प्रियं पाथो न भेषजꣳस्वाहा देवाऽआज्यपा जुषाणोऽअग्निर्भेषजं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ४० ॥

निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(होता) पूर्वोक्त उचित पदों पर उचित पुरुषों को नियुक्त करने वाला होता नामक विद्वान् (अग्निम्) अग्रणी सेनापति को (स्वाहा) उत्तम रीति, सुख्याति और उत्तम अन्नादि वृत्ति से (यक्षत्) पद पर नियुक्त करे । (आज्यस्य) प्राप्त होने योग्य, विजयकारी सेना बल, साधन के लिये (स्तोकानां) खोटी वृत्ति वालों को भी (सु-आहा) उत्तम शिक्षा द्वारा (यक्षत्) नियुक्ति करे । (मेदसां) व्याघ्र सिंह आदि हिंसक जन्तुओं के समान एक स्थान पर मिलकर न रहने वाले हिंसाकारी पुरुषों को (पृथक्) सब से पृथक् (स्वाहा) उत्तम रीति से, उत्तम शिक्षा और व्यवस्था से नियुक्त करे । (अश्विभ्याम्) अश्वि, राष्ट्र में व्यापक, बढ़े दो पदों के लिये (छागम्) प्रजाओं के दुःखों और दुष्टों के गर्वों के काटने में समर्थ पुरुष को (स्वाहा) उत्तम अन्न द्रव्य की वृत्ति देकर (यक्षत्) नियुक्त करे । (सरस्वत्यै मेषम्) सरस्वती, प्रशस्त ज्ञान वाली स्त्री के लिये जिस प्रकार वीर्य सेचन में समर्थ पुरुष को संगत किया जाता है उसी प्रकार उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों की विद्वत्सभा के लिये भी (मेषम्) मेष के समान प्रतिस्पर्द्धी से टक्कर लेने वाले, ज्ञान जलों के वर्षक और विजयी स्पर्द्धालु मस्तक बल से जीने वाले विद्वान् पुरुष को नियुक्त करे । (इन्द्राय) इन्द्र, राजा पद के लिये (ऋषभम्) मेघ के समान प्रजाओं पर जल के वर्षक, सर्वश्रेष्ठ, सौम्य पुरुष को (यक्षत्) नियुक्त करे । इसी प्रकार (सिंहाय सहसे) सिंह के समान बलशाली पुरुष के योग्य (सहसे) शत्रु को पराभव करने वाले बल कार्य के लिये (इन्द्रियम्) इन्द्र अर्थात् महाराज पद को प्राप्त करने योग्य, ऐश्वर्यवान् एवं शत्रु को पराभव करने

चाले बल से युक्त पुरुष को (स्वाहा) उत्तम वेतन वृत्ति, भूमि एवं यश, मान द्वारा (यक्षत्) नियुक्त करे । (अग्निम् न) अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानी पुरुष को (भेषजं) दोष को दूर करने वाले औषध के समान (स्वाहा) उत्तम आदर से (यक्षत्) नियुक्त करे । (सोमम् इन्द्रियम्) सोम, राजा पद को भी (इन्द्रियम्) इन्द्र, शत्रु-नाशक बलधारी के पुरुष के समान ही (स्वाहा) उत्तम मान आदर से (यक्षत्) नियुक्त करे । (इन्द्रम्) शत्रुहन्ता, (सुत्रामाणम्) उत्तम प्रजा के रक्षक, (सवितारम्) सब के प्रेरक (वरुणम्) सर्वश्रेष्ठ सब के वरण योग्य पुरुष को (भिषजां पतिम्) सर्व दोषों के चिकित्सकों ज्ञानवान् पुरुषों के भी पालक बनाकर उनको (स्वाहा) उत्तम आदर करके उचित रीति से (यक्षत्) नियुक्त करे । (प्रियम् पाथः न) प्रिय, मनोहारी अन्न के समान, (वनस्पति) महावृक्ष के समान सर्वाश्रय दाता ऐश्वर्यवान् पुरुष को (भेषजम्) उपद्रवों के शान्त करने वाले औषध के समान जानकर (स्वाहा) आदर से (यक्षत्) रक्खे । (देवाः) देव, विजिगीषु लोग सभी (आज्यपाः) संग्राम के विजयकारि पदों के पालक हों । (जुषाणः) आदरपूर्वक नियुक्त (अग्निः) ज्ञानी विद्वान् नेता ही (भेषजम्) औषध के समान राष्ट्र शरीर के सब अंगों को शान्त, स्वस्थ रखता है । (पयः सोमः० इत्यादि) पूर्ववत् ।

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ छाग॑स्य व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षेता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ।
होता॑ यक्ष॒त्सर॑स्वतीं मे॒षस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ।
होता॑ यक्ष॒दिन्द्र॑मृष॒भस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४१ ॥

त्रयो वपानां प्रैषाः । सप्तलिंगोक्ता देवताः । अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(होता) पदों पर योग्य अधिकारियों का नियोजक 'होता' नामक अधिकारी पुरुष (अश्विनौ यक्षत्) अश्वि नामक दो अधिकारी

पुरुषों को नियुक्त करे। वे दोनों (छागस्य) शत्रु और प्रजा के पीड़कों के उच्छेदन करने में समर्थ पुरुष की (वपायाः) उच्छेदन करने वाली शक्ति और (मेदसः) हिंसन या दण्ड देने के सामर्थ्य को (जुषेताम्) प्राप्त करें। हे (होतः) होतः ! तू उन दोनों को (हविः) उचित अन्न, वीर्य और अधिकार (यज) प्रदान कर। इसी प्रकार (होता) होता नामक विद्वान् (सरस्वतीम्) ज्ञान से पूर्ण विद्वत्सभा को (यजत्) नियुक्त करे। वह (मेषस्य) परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करने वाले विद्वान्गण के (वपायाः) परस्पर खण्डन मण्डन की शक्ति और (मेदसः) परस्पर स्नेह या परपक्ष के खण्डन की शक्ति का (जुषेताम्) सेवन या अभ्यास करें। (होता इन्द्रम् यक्षत्) होता 'इन्द्र' नामक शत्रुनाशक सेनापति को नियुक्त करे। वह (ऋषभस्य) सर्वश्रेष्ठ, सर्वोच्च पुरुष के (वपायाः) दूसरे की यश कीर्त्ति के उच्छेदन करने की शक्ति और (मेदसः) स्पर्धा में दूसरे के नाशक बल वीर्य को (जुषताम्) प्राप्त करे। (होतः) हे होतः ! तू इस अधिकारी को (हविः यज) मान, अन्न, वेतन, अधिकार प्रदान कर।

गृहस्थ पक्षमें—(अश्विनौ) स्त्री पुरुषों को होता यज्ञ करावे। परस्पर नियुक्त करे, वे (छागस्य) बकरे की सी उत्पादक शक्ति और परस्पर के स्नेह को करें। (सरस्वती) विदुषी स्त्री, वीर्य सेचन में समर्थ पुरुष के (वपायः) बीजवपन शक्ति और स्नेह का लाभ करे। इन्द्र ऐश्वर्यवान् पुरुष (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पुरुष के (वपायाः) ज्ञान और ऐश्वर्य और श्रेष्ठ पुरुष के समान शिष्यों और पुत्रों को स्नेह से अपने समान बनाने और देखने की प्रेममयी शक्ति को प्राप्त करे। हे (होतः) विद्वन् ! तू उन तीनों स्त्री पुरुष विदुषी ब्रह्मचारिणी स्त्री और श्रेष्ठ आचार्य को (हविः यज) अन्न आदि प्रदान कर।

होता यक्षद॒श्विनौ॒ सर॑स्वतीमिन्द्र॑ꣳ सु॒त्रामा॑णमि॒मे सोमाः॑ सु॒रा-मा॑णश्छा॒गैर्न मे॒षैर्ऋ॒॑ष॒भैः सु॒ताः श॑ष्पै॒र्न तोक्मा॑भिर्ला॒जै र्म॑हस्वन्तो मदा मास॑रेण॒ परि॑ष्कृताः शु॒क्राः पय॑स्वन्तोऽमृ॒ताः प्र॑स्थि॒ता वो मधु॒श्चुत॒स्तान॒श्विना॒ सर॑स्व॒तीन्द्रः॑ सु॒त्रामा॑ वृ॒त्रहा॑ जुषन्ता॑ꣳ सो॒म्यं मधु॑ पिबन्तु॒ मद॑न्तु व्यन्तु होत॒र्यज॑ ॥ ४२ ॥

अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(होता) योग्य पुरुषों को योग्य अधिकारों का प्रदाता विद्वान् पुरुष (अश्विनौ सरस्वतीम्) विद्या और राज्य-कार्यों में अच्छी प्रकार कुशल दो पुरुषों को और सरस्वती नामक विद्वत्सभा को, और (इन्द्रं सुत्रामाणम्) उत्तम रीति से राज्य के पालन करनेहारे इन्द्र, राजा को (यक्षत्) आदरपूर्वक योग्य अधिकार प्रदान करे । (इमे सोमाः) ये परम ऐश्वर्य सम्पन्न विद्वान्, राज पदाधिकारी जन (सुरामाणः) उत्तम राज्यलक्ष्मी को प्राप्त होकर (छागैः) शत्रुनाशक, (मेषैः) विद्या और बल में प्रतिस्पर्द्धा वाले (ऋषभैः) और प्रजा में प्रतिष्ठित, उत्तम पुरुषों द्वारा (सुताः) अभिषिक्त होकर, (शष्पैः) शत्रुओं को हिंसाकारी शस्त्रों, (तोक्मभिः) शत्रु के व्यथादायी महास्त्रों और (लाजैः) विशेष दीप्तिजनक ऐश्वर्यों से (महस्वन्तः) बड़े भाग्यशाली, आदर और अधिकार को प्राप्त, (मदा) तृप्ति कर, उनके चित्तों को संतोष-जनक (मासरेण) प्रतिमास दिये जाने वाले वेतन, पुरस्कार आदि या अन्न आदि भोग्य सामग्री से (परिष्कृताः) सत्कृत, (शुक्राः) शुद्ध आचारवान्, (पयस्वन्तः) पुष्टिकारक, अन्न, दुग्ध एवं पशु आदि समृद्धि से सम्पन्न, अथवा वीर्यवान्, (अमृताः) अनघ, आत्मज्ञानी, दीर्घायु, (प्रस्थिताः) उत्तम पद पर स्थित हैं । हे ऐश्वर्यवान्, विद्वान्, सौम्य पुरुषो ! (तान्) उन (मधुश्चुतः) ज्ञान को प्रदान करने वाले (वः) आप लोगों को (अश्विनौ) दोनों

प्रधान पुरुष, (सरस्वती) विद्वत्-सभा और (सुत्रामा वृत्रहा) उत्तम पालक, शत्रुनाशक (इन्द्रः) इन्द्र राजा, ये सब (जुषन्ताम्) प्रेम और आदर से प्राप्त करें। और (सोम्यं मधु) सोम्य=राष्ट्र के हितकारी ऐश्वर्य या ज्ञान को (पिबन्तु) उत्तम रीति से सुनें, प्राप्त करें। और (मदन्तु) तृप्त और सन्तुष्ट हों। और (व्यन्तु) उसको ग्रहण करें। हे (होतः) विद्वन् होतः ! तू उनको (यज) अधिकार प्रदान कर।

[1]होता यक्षद॒श्विनौ॒ छाग॑स्य [2]ह॒विष॒ आत्ता॑मु॒ऽअध्व॒र्यो मेद॒ऽउद्भृ॑तं पु॒रा द्वेषो॑भ्यः पु॒रा पौरु॑षेय्या गृ॒भो व॒स्तां नू॒नं व्या॒से॒ऽअ॒ङ्गा॒रा॒णां यव॑सप्रथमाना॒ꣳ सु॒मत्क्ष॑राणा॒ꣳ शत॑रुद्रियाणामग्निष्वा॒त्ता॒नां पी॒यू॒ष॒पव॑सनानां पार्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ताम॒त ऽउ॑त्साद॒तोऽङ्गा॑दङ्गा॒दव॑त्तानां कर॒तऽए॒वाश्विना जुषेता॒ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४३ ॥

(१) याजुषी पंक्तिः । पंचमः । (२) उष्णिक् । षड्जः ॥

भा०—(होता) पदाधिकारों का प्रदाता (अश्विनौ) व्यापक अधिकारों वाले दो मुख्य अधिकारियों को (यक्षत्) नियुक्त करे। और वे दोनों (छागस्य) शत्रुओं के बल को नष्ट करने वाले राष्ट्र के (हविषः) उपादान योग्य अन्न आदि कर को (आ अत्ताम्) प्राप्त करें। (अध्वर्यो) अध्व, नित्य (मध्यतः) राष्ट्र के बीच में से (मेदः) शत्रु के बल को नाश करने वाला सेना बल (उद्भृतम्) प्राप्त किया जाय। उक्त दोनों अधिकारी (द्वेषोभ्यः पुरा) शत्रुओं के हाथ में आजाने से पूर्व और (पौरुषेय्याः गृभः पुरा) लोगों के पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करलेने के पूर्व ही (नूनं) निश्चय से (वत्तान्) वे उसको लेलें। कैसे अन्नों को लें सो बतलाते हैं ? दोनों अधिकारी (व्यासे अङ्गारान्) खाने में जिनका रस नष्ट न हुआ हो, जिनको भोजन के निमित्त प्राप्त किया जा सके, ऐसे (यवसप्रथमानान्) यव, गोधूम आदि जाति के अन्नों में भी सब से

उत्तम कोटि के (सुमत्तराणाम्) उत्तम रीति से तृप्ति और आनन्द देने वाले, (शतरुद्रियाणाम्) सैकड़ों रुद्र नाम पदाधिकारियों द्वारा प्राप्त करने योग्य अथवा उनके निमित्त लेने योग्य, (अग्निध्वात्तानाम्) सूर्य रूप अग्नि से उत्तम रीति से परिपक्व, अथवा अग्नि और ज्ञानी पुरुषों द्वारा उत्तम रीति से परीक्षा करके लिये गये, (पीवोपवसनानाम्) आहार व्यवहार द्वारा पुष्टि करने वाले, (पार्श्वतः) राष्ट्र के पार्श्वों पर के बसे देशों से, (श्रोणितः) बीच के देशों से, (शितामतः) अति वीर्यवान् या विस्तृत या विशेष रूप से व्यवहित देशों से और (उत्सादतः) जो देश राजा के विपरीत सिर उठाते हैं उन देशों से भी अर्थात् (अङ्गाद् अङ्गाद्) राष्ट्र के प्रत्येक अंग से (अवत्तानाम्) प्राप्त किये, करों को (अश्विनौ) उक्त दोनों 'अश्विनामक' अधिकारीगण (नूनम्) अवश्य संग्रह करलें और (जुषेताम्) उनको सेवन करें। अथवा (करतः एव जुषेताम्) कर रूप से ही सेवन करें। हे (होतः) होतः ! तू (हविः) अन्न आदि ग्राह्य पद को (यज) प्रदान कर।

इसी प्रकार, अश्विनामक व्यापक अधिकार वाले अधिकारी गण (छागस्य) शत्रुओं के छेद न करने वाले (हविषः) राष्ट्र से संग्रह करने योग्य सेना बल को (आ अत्ताम्) प्राप्त करें। यह सेना बल कहां से प्राप्त करें ? (मेदः) यह शत्रुनाशक एवं बलकारी प्रजा का अंश भी (मध्यतः उद् भृतम्) राष्ट्र के बीच में से उठाया जाय, प्राप्त किया जाय। कब ? (द्वेषोभ्यः पुरा) शत्रुओं के वश में चले जावे के पहले ही अर्थात्, जब प्रजा में राजा के शत्रुपक्ष प्रजा के बलवान् अंश को राजा के विपरीत संगठित करें इसके पहले ही प्रजा के बीच में से बलवान् प्रजा के अंश को अश्वि नामक अधिकारी अपनी सेना और अन्यान्य कार्यों में लगावें। और कब ? (पुरा पौरुषेय्याः गृभः) वे स्वयं अपने विशेष पुरुषार्थ, धनार्जन धर्मार्थ, एवं मोक्ष मार्ग के निमित्त, विशेष व्यवसाय को पकड़ें अथवा स्वयं

पुरुषार्थ करके वे कोई अधिकार या बल पकड़लें इससे भी पूर्व उनको राजकार्य में लगा लिया जाय। और वे दोनों अधिकारी (नूनं वस्तम्) अवश्य ही इस अंश को लेही लें, उपेक्षा न करें। राष्ट्र-बल के और सेना के निमित्त जिन प्रजाजनों को लिया जाय वे किस प्रकार के हों? (घासे) अन्न या राज से भोजन-वृत्ति प्राप्त करलेने पर (अज्राणाम्) शत्रु से कभी पराजित न होनेवाले, अथवा अन्न प्राप्त करने पर या अन्नद्वारा कभी शरीर में जीर्ण न होनेवाले, हृष्ट पुष्ट, (यवस-प्रथमानाम्) शत्रुओं को नाश करने में सबसे श्रेष्ठ, अथवा सबसे उत्तम यव आदि प्राप्त करने वाले, (सुमत्-क्षराणाम्) उत्तम हर्ष आनन्द के सेचन करनेवाले, सदा सुप्रसन्न, स्वामी की सदा प्रसन्नता के उत्पादक, स्वामी के सेवक. (शत-स्रुद्वियाणाम्) सैकड़ों दुष्टों को रुलानेवाले, अथवा वीर सेनापतियों के अधीन, अथवा सेनापति पद के योग्य, (पीवोपवसनानाम्) स्थूल, मजबूत, पक्की पोशाक, कवच आदि पहनने वाले, (पार्श्वतः) पासों से. (श्रोणितः) कमर से, (शितामतः) गुल्फांग से और (उत्साद्तः) उखड़नेवाले, निर्बल (अङ्गात् अङ्गात् अवत्तानाम्) प्रत्येक अंग अंग पर सुबद्ध अर्थात् छाती पर कसी पोषाक, कमर में पेटी और गुल्फांगों में लंगोट बांधने वाले, उत्साद् अर्थात् विनाश योग्य, या ढीले प्रत्येक अंग को पेटी कवच आदि से बांधनेवाले, कसे कसाये वीर पुरुषों को (करतः एव) अवश्य प्राप्त करें। और (अश्विनौ) विद्या और अधिकार वाले जन उनको (जुषेतां) प्रेम से स्वीकार करें। (होतः) हे होतः! अधिकार दातः! तू (हविः यज) उनको अन्न और अधिकार, वृत्ति और पद प्रदान कर।

अध्यात्म में—होता, प्राणापान का साधक, प्राणापान को वश करनेहारा (अश्विनौ) प्राण और अपान दोनों को वश करे। वे दोनों (छागस्य) अज सर्वज्ञेत्ता. आत्मा के (हविषः) बल को (आत्तान्) प्राप्त करें। (मेदः) बल पूर्वक आत्मा को (मध्यतः) अपने

शरीर के बीच में से (उद्भृतम्) उठाया जाय । वे प्राण और अपान, अपने ग्राह्य सूक्ष्म अंशों को (द्वेषोभ्यः पुरा, पौरुषेय्याः गृभः पुरा) अप्रीति जनक, बाधक व्यसनों, रोगों और पुरुष देह पर आनेवाली विपत्तियों के द्वारा उन अंशों के नष्ट होने के पहले ही, (नूनं वस्ताम्) देह के उन अंशों को अवश्य ग्रहण करे, वश करे । वे सूक्ष्म अंश कैसे हों ? (वासे अज्राणाम्) अन्नरस खाने में कभी नष्ट न होनेवाले, सदा बलवान्, (यवस-प्रथमानाम्) मिश्रण अमिश्रण, उचित अंश के ग्रहण और हानि-कारक अंश के त्याग में श्रेष्ठ, (सुमत्क्षराणाम्) उत्तम हर्षजनक, (शत रुद्रियाणां) सैकड़ों प्राणों के स्वरूप में प्रकट, (अग्नि-स्वात्तानाम्) जठराग्नि द्वारा उत्तम रीति से सुपाचित, (पीवोपवसनानाम्) पुष्टिकारी आवरण में सुरक्षित, (पार्श्वतः) कोखों से, (श्रोणितः) कटि भाग से, (शितामतः) गुह्यांग से और (उत्सादतः अङ्गाद् अङ्गाद् अवत्तानाम्) हानि प्राप्त करनेवाले प्रत्येक मर्म अंग से उन प्राणों के सूक्ष्म अंशों को (क्रतः एव) वे प्राण और अपान क्रिया शक्ति से ही (सुपताम्) संचालित करे । (होतः हविः यन) हे साधक ! तू ! प्राण की अपान में और अपान की प्राण में हवि को प्रदान कर । अर्थात् इसी विधि से प्राणायाम का अभ्यास कर ।

इस मन्त्र को उवट और महीधर ने बकरे के कोख, कमर, लिंग, गुदा आदि भागों से मांस काट २ कर अश्वि देवताओं के निमित्त आहुति करने परक अर्थ किया है । सो असंगत है । वस्तुतः इसमें अश्विनाम व्यापक बड़े अधिकारी लोगों को नियुक्त करने और सेनाबल के निमित्त सैनिक लेने एवं अध्यात्म में, प्राणापान द्वारा शरीर को पुष्ट करने के नियमों का उपदेश किया है ।

(१) 'छागस्य'—छ्यतेश्छेदनार्थाद् धातोरौणादिको गन् प्रत्ययः । छ्यति छिनत्ति इति छागः । इति दया० उणादि० । छापूखाडिभ्यः कित् ।

उणादिसूत्रम् । १ । १२४ ॥ छो छेदने । दिवादिः । छोगुग् हन्च्श्च इति कत् प्रत्यये गुणागमोह्रस्वश्च उणादि० १ । १०४ ॥ छ्यति छिनत्तीति छगलः छागः वर्करो वा इति दया० उणादि० । 'अजः'—न जायते इत्यजः । अजति गच्छति, व्याप्नोति इत्यजः । अथ यः सः कपाले रसो लिप्त आसीदेष सोऽजः । श० ६ । ३ । १ । २८ ॥ ब्रह्म वा अजः श० ७ । ५ । २ । २१ ॥ प्रजापतिर्वा एष यदजपंभः । श० ५ । २ । १ । २४ ॥

'मेदः'—मिद मेद मेधा हिंसनयोः । भ्वादिः । मेदो वा मेधः । श० ३ । ८ । ४ । ६ ॥ मेधाय अज्ञायेत्येतत् । श० ७५ । २ । ३२ ॥ ते मेधं (देवाः) खनन्त इवान्वीपुस्तमन्वविन्दन् तावियौ व्रीहियवौ । मेधो वा आज्यम् । तै० ३ । १ । १२ । १ ॥

'अज्राणां'—यैरजितं स्वेच्छया, यान्यजराणि वा इत्युवटः ।

[1]होता यक्षत् सरस्वतीं मेषस्य [2]हविषऽआवयद्द्य मध्यतो मेद ऽउद्भृतं पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसत्वनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानꣳ सुमत्क्षराणाꣳ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानां पीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्सादतोऽक्षाद्वृग्रादवक्तानां करद्देवꣳ सरस्वती जुषतांꣳ हविर्होतुर्यजं ॥ ४४ ॥

(१) याजुषी त्रिष्टुप् । धैवतः ॥ (२) स्वराट् उष्णिक् । षड्जः ॥

भा०—(होता) अधिकार प्रदाता अधिकारी (सरस्वतीम्) पूर्वोक्त विदुल्लभा को (यक्षत्) संयोजित करे । वह (मेषस्य) ज्ञान और बलमें प्रतिस्पर्द्धा करने वाले विद्वान् के (हविः) ग्रहण करने योग्य ज्ञान बल को (आवयत्) प्राप्त करें । (मध्यतः मेदः उद्भृतम्) विद्वानों के बीच में से मेधा ज्ञानवती वाणी का बल उत्पन्न होता है । वह भी पूर्वोक्त रीति से ही (पुरा द्वेषोभ्यः. पुरा पौरुषेय्याः गृभः) शत्रुओं के हाथ में जाने और उनके अपने उपयोग में लगने से पहले ही (घसत् नूनं) उनको अवश्य

प्राप्त करले । (घासे अज्राणां) अन्नादि वृत्ति पाने पर कभी जीर्ण न होने वाले, सदा विजयी, (यवसप्रथमानाम्) सब से प्रथम अन्न प्राप्त करने वाले, (सुमत्क्षराणां) उत्तम ज्ञान उत्पन्न करने वाले, (शतरुद्रियाणां) सैकड़ों ज्ञान स्तुतियों को देने वाले (अग्नि-स्वात्तानाम्) ज्ञानवान् आचार्य द्वारा सुशिक्षित, (पीवोपवसनानाम्) दृढ़ता से निवास करने वाले, (पार्श्वतः श्रोणितः शितामतः उत्साद्तः अङ्गाद् अङ्गाद् अवत्तानां) देश के समस्त भागों से प्राप्त, अथवा पार्श्व, कमर, लिंङ्ग, और मर्म के अंगों अंगों में दृढ़, अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुषों को (करत्) नियुक्त करे । (सरस्वती एवं जुषताम्) विदुत् सभा इस प्रकार राष्ट्र के कार्य को स्वीकार करे । हे (होतः हविः यज) विद्वन् ! तू अधिकार और वेतनान्न प्रदान कर ।

[1]होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य हविष[2] आवयदद्य मध्यतो मेदऽउद्भृतं पुरा द्रेपोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घसन्नूनं घासेऽअज्राणां यवसप्रथमानाꣳ सुमत्क्षराणाꣳ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानामपीवोपवसनानां पार्श्वतः श्रोणितः शितामतऽउत्साद्तोऽङ्गादङ्गाद्अवत्तानां करदेवमिन्द्रो जुषताꣳ हविर्होतर्यज ॥ ४५ ॥

(१) भुरिक् प्राजापत्या उष्णिक् । (२) भुरिगभिकृतिः ॥ ऋषभः ॥

भा०—(होता इन्द्रम् यक्षत्) पूर्वोक्त अधिकारप्रदाता पुरुष इन्द्र नाम पदाधिकारी सेनानायक या राजा को नियुक्त करे । वह इन्द्र नाम पदाधिकारी (ऋषभस्य) ज्ञानवान्, सर्वश्रेष्ठ पुरुष के (हविषः) ग्रहण योग्य अधिकार और अन्नादि भृति को (आवयत्) प्राप्त करे । (अद्य मध्यतः० ०यज । इत्यादि) पूर्ववत् ।

होता यक्षद्वनस्पतिमभि हि प्रियतमया रभिष्ठया रशनयाधित । यत्राश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि यत्र सरस्वत्या मेषस्य

ह्विषः प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्यऽ ऋषभस्य ह्विषः प्रिया धामानि यत्राग्नेः प्रिया धामानि यत्र सोमस्य प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य सुत्रामणः प्रिया धामानि यत्र सवितुः प्रिया धामानि यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथांसि यत्र देवानामाज्यपानां प्रिया धामानि यत्राग्नेर्होतुः प्रिया धामानि तत्रैतान् प्रस्तुत्येवोपस्तुत्येवोपावस्नक्षद्भीयसऽ इव कृत्वी करद्देवं देवो वनस्पतिर्जुषतां ह्विर्होतर्यज ॥ ४६ ॥

भुरिगभिकृतिश्छन्दः । ऋषभः ॥

भा०—(होता) योग्य पदाधिकारों का दाता 'होता' नामक विद्वान्, (वनस्पतिम्) वनस्पति, महावृक्ष के समान अपने आश्रितों के पालक बड़े उच्च पदाधिकारी को (यक्षत्) नियुक्त करे। और जिस प्रकार (पिष्टतमया) अत्यन्त कूट पीस कर बनाये महीन २ सूतों से बनी और (रभिष्टया) और खूब दृढ़ता से बांधने वाली, मज़बूत, (रशनया) रस्सी से पशु को बांधते हैं, उसी प्रकार उस मुख्य प्रजापालक सर्वाश्रय राजा को भी खूब (पिष्टतमया) अधिक पिसी या अति सुविचार और विवेक और तर्कद्वारा निर्धारित और (रभिष्टया) अति दृढ़ता से बांधने वाली (रशनया) अतिव्यापक राजनियमव्यवस्था से राजा और अधीन पदाधिकारियों को (हि अभि-अधित) निश्चय से बांधे। उनको कहां नियुक्त करे ? (यत्र) जिस स्थान पर (अश्विनोः छागस्य) पूर्वोक्त व्यापक, राष्ट्र के अधिकारी मुख्य दो पुरुषों के अधीन दुष्टों के छेदन करने वाले शूर पुरुष को (ह्विषः) देने योग्य पदाधिकार (प्रियाणि) अति प्रिय, उसके मन के अनुकूल, हितकर, उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले (धामानि) स्थान, या पद हों उनपर। और (यत्र सरस्वत्याः) जहां सरस्वती नाम विद्वत्सभा के ऊपर (मेषस्य) नियुक्त अतिविद्वान्, ज्ञानी पुरुष के (प्रिया धामानि) मनोनुकूल पद हों,

और यत्र (इन्द्रस्य ऋषभस्य) ऐश्वर्यवान् श्रेष्ठ पुरुष सभापति के (प्रिया धामानि) मनोनुकूल पद हों, और (यत्र अग्नेः) जहां अग्रणी नायक, विद्वान् आचार्य आदि के अधीन (प्रिया धामानि) उनके मन के अनुकूल पद हों, इसी प्रकार यत्र, (सोमस्य) सोम, सर्व प्रेरक राजा; के (सुत्राम्णः इन्द्रस्य) उत्तम पालक, शत्रुनाशक इन्द्र के, (सवितुः) सर्व-प्रेरक, एवं उत्पादक सविता के (वरुणस्य) सर्व कष्टों के वारक, दुष्टों के नाशक, सब के वरणीय पुरुष के, (वनस्पतेः) वट आदि के समान प्रजा के आश्रयरूप पुरुष के; और (यत्र) जहां (आज्यपानाम्) विजय साधन शास्त्रास्त्रों के पालक, (देवानाम्) विजयशील पुरुषों के और (यत्र अग्नेः हुतेः) जहां सब विज्ञानों के प्रकाशक; सब को पदाधिकारों के प्रदाता होता नामक अधिकारी के (प्रिया धामानि) उन २ अधिकारियों के मनोनुकूल पद और (प्रिया पाथांसि) प्रिय, अन्नादि द्रव्य, या पालन करने योग्य सेवा स्थान हों (तत्र) उन २ स्थानों पर (एतान्) इन २ नाना पदाधिकार योग्य २ पुरुषों को (प्रस्तुत्य इव) स्वयं बुला २ कर, सब के समक्ष आदर २ पूर्वक दर्शन करा कर उन को प्रस्तुत कर २ के, या प्रस्ताव करके और (उपस्तुत्य च) साथ ही उनके सम्बन्ध में उत्तम परिचय करा कर, या उनका समर्थन करके (उप अव अस्थात्) उन २ मुख्य पदाधिकारियों के अधीन स्थापित करे। और उनको भी (रभीयसः इव) खूब नियम में प्रबद्ध, एवं कार्यकुशल (कृत्वी) बना कर स्वयं (वनस्पतिः) आश्रय वृक्ष के समान सर्वाश्रयदाता, वनस्पति नामक पद पर स्थित मुख्य पुरुष (करद्) अपने राष्ट्र में नियुक्त करे। (एवं) इस प्रकार (देवः वनस्पतिः) विजिगीषु राजा, या सबको अधिकार देनेवाला, (वनस्पतिः) सर्वाश्रय, मुख्य पदाधिकारी (हविः जुषताम्) ग्रहण करने योग्य पद और राष्ट्र को स्वीकार करे। हे (होतः यज) होतः ! तू उसको यह पद प्रदान कर।

किसी व्यक्ति को कोई पदाधिकार या सभासद् पद प्रदान करने के पूर्व उसका परिचय और गुणस्तुति आवश्यक है। इसी को वेद 'प्रस्तुत्य, उपस्तुत्य' कहता है। प्रथम 'प्रस्ताव' हो उसके पश्चात् 'उपस्ताव' या समर्थन हो।

[1]होता यक्षद्[2]अग्निꣳस्विष्टकृतम् [2]अग्नाऽग्निरग्निनोऽछागस्य हविषः प्रिया धाम्नान्याय्याद् सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धाम्नान्याया-ऽिन्द्रस्य ऽऋषभस्य हविषः प्रिया धाम्नान्यायाऽग्नेः प्रिया धाम्नान्याय्याद् सोमस्य प्रिया धाम्नान्याय्याऽिन्द्रस्य सवाम्नः प्रिया धाम्नान्यायाद् सवितुः प्रिया धाम्नान्यायाद् वरुणस्य प्रिया धाम्नान्यायाद् वनस्पतेः प्रिया पाथाꣳस्यायाद् देवानामाज्य-पानी प्रिया धामानि यक्षदग्नेर्होतुः प्रिया धामानि यजत् स्वं महिमानमायजतामेज्याऽइषः कृणोतु सो ऽअध्वरा जातवेदा जुषता-ꣳहविर्होतर्यज ॥ ४७ ॥

१. शुरिगाकृतिः । (२) आकृतिः । पञ्चमः ॥

भा०—(होता) पूर्वोक्त अधिकार प्रदाता विद्वान् पुरुष (स्विष्ट कृतम्) स्विष्टकृत, राज्यरूप सुप्रवस्थित राष्ट्र के संचालन की न्यूनाधिकता को पूर्ण करने वाले और सर्वाश्रय क्षत्रपति, (अग्निम्) अग्रणी तेजस्वी, ज्ञानी, विद्वान् पुरुष को भी (यक्षत्) आदर से नियुक्त करे। वह (अग्निः) नेता, क्षात्र बलका नायक पुरुष भी (आग्नेः) उक्त अग्निनाम पदाधिकारी जनों के (अजस्य हविषः) शत्रु नाशक साधन के (प्रिया धामानि) अनुकूल पदों को (अयाट्) सुव्यवस्थित करे। वह (सरस्वत्याः मेषस्य हविषः) सरस्वती नाम विद्वत्सभा के ज्ञान प्रतिस्पर्द्धी नायक के (प्रिया धामानि) मनोनीत पदों को सुसंगत करे। वह (इन्द्रस्य ऋषभस्य हविषः) इन्द्र पद पर बैठे, सर्व श्रेष्ठ पुरुष के मनोनीत पद को (अयाट्)

सुसंगत करे । इसी प्रकार (अग्नेः, सोमस्य, सुत्राम्णः इन्द्रस्य, सवितुः) अग्नि, सोम, उत्तम रक्षक सेनापति इन्द्र, और सविता नाम मुख्य पदाधिकारियों के (प्रिया धामानि अयाट्) मनोनुकूल प्रिय पदों को या तेज, और वीर्यों को प्राप्त करे करावे । वह (वनस्पतेः प्रिया पाथांसि अयाट्) वनस्पति नामक अधिकारी के प्रिय, अधिकारों को प्राप्त करावे । (आज्यपानां देवानाम्) युद्धोपयोगी सामग्री के रक्षक देव, विजयी पुरुषों के या ज्ञान के रक्षक विद्वानों के (प्रिया धामानि यक्षत्) प्रिय अधिकारों को प्राप्त करावे । (होतुः अग्नेः) सब के अधिकारों को प्रदान करने वाले नेता पुरुष के भी (प्रिया धामानि यक्षत्) प्रिय, मनोनुकूल अधिकारों को प्राप्त करावे । इस प्रकार वह 'स्विष्ट कृत्' अग्रणी नेता 'अग्नि' (स्वम्) अपने (महिमानम्) महान् सामर्थ्य को ही (आयजताम्) सब को प्रदान करे । और वही (एन्याः) प्रदान करने योग्य (इषः) अभिलषित वेतन और अन्नादि सामग्री (कृणोतु) उत्पन्न करता है । (सः) वह ही (जातवेदाः) समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी होकर (अध्वरा) प्रजा का पालन करने वाले राज्यों को (जुषताम्) सेवन करे, प्राप्त करे । हे (होतः हविः यज) होतः ! तू उसको (हविः) उचित अधिकार (यज) प्रदान कर ।

'स्विष्टकृतम्':—क्षत्रं वै स्विष्टकृत् । श० १२ । ८ । ३ । १६ ॥ तपः स्विष्टकृत् । श० ११ । २ । ७ १६ ॥ अयमेवावाङ् प्राणः स्विष्टकृत्-शत० ११ । १ । ६ । ३० ॥ वास्तु स्विष्टकृत् श० १ । ७ । ३ । १८ ॥ प्रतिष्ठा वै स्विष्टकृत् । ऐ० २ । १० ॥

स्विष्टम् —यद्वै यज्ञस्य न्यूनातिरिक्तं तत्स्विष्टम् । श० ११ । २ । ३ । १६ ॥

क्षत्रं वै स्विष्टकृत् । क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चति । सोमो वै वनस्पतिरग्निः स्विष्टकृत् । अग्नीषोमाभ्यामेवैनमेतत् परिगृह्याभिषिञ्चति । तस्माद्ये चैते

विदुर्ये च न, त आहुः क्षत्रियो वाव क्षत्रियस्याभिपेक्ता । इति ॥ श० १२ । ८ । ३ । १९ ॥

देवं बर्हिः सरस्वती सुदेवमिन्द्रे ऽश्विना । तेजो न चक्षुरध्यो र्बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवनं वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४८ ॥

(४८—५९) सरस्वत्याद्यो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः

भा०—(सरस्वती) उत्तम बल वीर्य, और ज्ञानवती स्त्री जिस प्रकार (देवं) अपने कामना योग्य पति को (बर्हिः) आसन, या विस्तर प्रदान करती है उसी प्रकार (सरस्वती) विद्वत्-सभा (सुदेवम्) उत्तम राजा को (बर्हिः) बृहत् राष्ट्र या प्रजा के ऊपर शासन पद प्रदान करे । (अश्विनौ) सूर्य और चन्द्र जिस प्रकार (अक्ष्योः चक्षुः न) दोनों आखों को दर्शन शक्ति प्रदान करते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) उक्त मुख्य विद्वान् एवं व्यापक शक्तिमान् 'अश्वि' नामक अधिकारी दोनों (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् राजा में (तेजः इन्द्रियं दधतुः) तेज और ऐश्वर्य को प्रदान करें । और दो अश्विन्, और सरस्वती तीनों मिलकर (इन्द्रे) राजा और राष्ट्र में (बर्हिषा) इस प्रजामय राष्ट्र के महान् पद या प्रजागण द्वारा ही (वसुधेयस्य) ऐश्वर्य, धन समृद्धि के रक्षा स्थान कोष के योग्य धनको (वसुवने) धन समृद्धि प्राप्त करने वाले राजा के लिये स्वयं (व्यन्तु) प्राप्त करें । हे (होतः) अधिकार प्रदातः ! तू (यज) उनको वह अधिकार प्रदान कर ।

देवीर्द्वारो ऽश्विना भिपजेन्द्रं सरस्वती । प्राणं न वीर्यं नासि द्वारो दधुरिन्द्रियं वसुवनं वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४९ ॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सरस्वती) सुशिक्षिता स्त्री जिस प्रकार (इन्द्रे) अपने सौभाग्यवान् पति के लिये (देवीः) प्रकाशवाले, उत्तम सजे (द्वारः) द्वारों को खोल देती है उसी प्रकार (सरस्वती) विद्वत्सभा

(इन्द्रे) राजा के लिये (देवीः द्वारः) उत्तम शोभा से युक्त द्वारों और विजयशील शत्रुवारक शक्तियों को खोलती, प्रकट करती है। और (अश्विना) प्राण और अपान जिस प्रकार (नासि प्राणं न दधतुः) नासिका में प्राण का स्थापन करते हैं उसी प्रकार (भिषजा अश्विना) रोग चिकित्सक, विद्यापारंगत अश्वि नामक वैद्य या पूर्वोक्त राष्ट्र शरीर के दोषों, उपद्रवों को शान्त करने वाले दोनों अधिकारी गण (नासि प्राणं न) नांक में प्राण के समान ही मुख्य पुरुष में (वीर्यं दधुः) वीर्य, इन्द्रिय, राजा के ऐश्वर्यों और बलको धारण कराते हैं। और वे तीनों मिलकर (वसुधेयस्य वसुवने) कोश के निमित्त धन को धनाभिलाषी राजा के लिये (व्यन्तु) प्राप्त करावें। और हे होतः ! तू उनको (यज) अधिकार प्रदान कर।

दैवीऽ उषासावश्विना सुत्रामेन्द्रे सरस्वती। वलं न वाचमास्यऽ उषाभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५० ॥

त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा० —(सरस्वती देवी उपासा) स्त्री जिस प्रकार प्रकाशमान प्रातः और सायं दोनों कालों को (इन्द्रे) उत्तम परिपालक पति के निमित्त अर्पण करती है उसी प्रकार (सरस्वती) विदुत्सभा (उपासा देवी) दिव्य गुणवाली दिन रात्रि प्रातः सायं दोनों कालों को (इन्द्रे) इन्द्र, राजा के निमित्त व्यय करे। और (सुत्रामा) उत्तम रक्षक स्वरूप (अश्विना) प्राण और उदान जिस प्रकार शरीर में (आस्ये वाचम्) मुख में वाणी को धारण कराते हैं उसी प्रकार उक्त अश्वी नामक पदाधिकारी (उषाभ्याम्) दोनों कालों, दिन और रात (बलं दधतुः) बल को धारण करावें। और (इन्द्रियं वसुवने०) इत्यादि पूर्ववत्।

दैवी जोष्ट्री सरस्वत्यश्विनेन्द्रमवर्धयन्। श्रोत्रं न कर्णयोर्यशो जोष्ट्रीभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५१ ॥

भा०—(सरस्वती) पूर्वोक्त सरस्वती (देवी जोष्ट्री) गृहदेवी पति के प्रति अति प्रेमवती होकर जिस प्रकार उसको बढ़ाती है उसी प्रकार विद्वत्सभा और (अश्विनौ) प्राण और अपान जिस प्रकार (इन्द्रम्) आत्मा को बढ़ाते हैं और (कर्णयोः) कानों में (श्रोत्रं न) श्रवणेन्द्रिय के समान (यशः) उत्तम ख्याति को उक्त तीनों (जोष्ट्रीभ्यां दधुः) प्रेम और सेवा करनेवाली प्रजा और राजवर्ग दोनों से धारण कराते हैं इस प्रकार वे (इन्द्रियं दधुः) ऐश्वर्य को भी प्रदान करते हैं। वे तीनों (वसुवने) धनवान् राजा के लिये (वसुधेयस्य) ऐश्वर्य को (व्यन्तु) प्राप्त करें। हे होतः ! तू उनको (यज) पदाधिकार दे।

देवीऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघेन्द्रे सरस्वत्यश्विना भिषजावतः। शुक्रं न ज्योति स्तनयोराहुती धत्तऽइन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ५२

त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(सरस्वती) स्त्री जिस प्रकार सायं प्रातः दोनों समय (इन्द्रे) अपने पति के लिये (देवी) उत्तम गुणवाली, मन को लुभाने वाली (ऊर्जाहुती) अन्न की थाली प्रदान करती है। उसी प्रकार (सरस्वती) विद्वत्सभा (इन्द्रे) राजा के निमित्त (देवी) उत्तम गुणों वाली होकर (दुघे) बलकारक (ऊर्जाहुती) अन्न और वीर्य के आहुतियों को प्रदान करती है। और (सुदुघा) उत्तम रीति से समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले (अश्विना) दोनों अश्वी नामक अधिकारी (भिषजा) दो वैद्यों के समान (अवसः) इन्द्र, अर्थात् राजा और राज्य की रक्षा करते हैं। और स्त्री जिस प्रकार (स्तनयोः शुक्रं न) स्तनों में दूध धारण करती है और प्राण और अपान जिस प्रकार शरीर में (ज्योतिः) कान्ति को या दिन रात्रि जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी के बीच में कान्तिमान् (ज्योतिः) सूर्य को धारण करते हैं उसी प्रकार वे तीनों

(ज्योतिः) तेज और पराक्रम को और (आहुती) अन्नाहुति और वीर्याहुति दोनों प्रकार की आहुतियों द्वारा (इन्द्रे इन्द्रियं धत्त) राजा और राष्ट्र में ऐश्वर्य और राजोचित बल (धत्त) धारण करावें । वे (वसुवने) राष्ट्र-सम्पत्ति के भोक्ता राष्ट्रपति के लिये (वसुधेयपस्य) धन कोश को (व्यन्तु) प्राप्त करें । हे होतः ! उनको (यज) तू अधिकार प्रदान कर ।

देवा देवानाँ भिषजा होतारावि न्द्रमश्विना । वषट्कारैः सरस्वती त्विषिं न हृदये मतिꣳ होतृभ्यां दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५३ ॥

अतिजगती । विषादः ॥

भा०—(सरस्वती देवानां होतारौ देवौ) स्त्री जिस प्रकार विद्याप्रेमियों को विद्या प्रदान करनेवाले गुरु और उपदेशक दोनों को अपने पति के बढ़ाने के लिये (वषट्कारैः) सत्कारपूर्वक अन्नादि प्रदान करके सत्कार करती है उसी प्रकार (सरस्वती) विद्वत्सभा (वषट्कारैः) राष्ट्र के निमित्त सन्धि आदि छहों कार्यों द्वारा (दैव्यौ होतारौ) उत्तम विद्वान् कर्म-शिक्षा और ज्ञान देनेवाले दो विद्वानों को नियत करे और (इन्द्रम् अवर्धयत्) इन्द्र राजा की वृद्धि करे । और जिस प्रकार (भिषजा अश्विना) वैद्यों के समान प्राण और उदान शरीर में (होतृभ्यां) आदान और प्रतिदान करनेवाले बलों से (हृदये मतिम्) मस्तक में मनन शक्ति की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (अश्विनौ) वे दोनों अश्विनामक अधिकारी और सरस्वती नाम विद्वत्सभा राष्ट्र में (त्विषिं) उग्र तेज (होतृभ्याम्) उक्त प्रकार के दोनों विद्वानों द्वारा और (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य को (दधुः) स्थापन करें । और (वसुवने० इत्यादि) पूर्ववत् ।

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीरश्विनेडा सरस्वती । शूषं न मध्ये नाभ्रा-

मिन्द्रा॑य दधुरिन्द्रि॒यं व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५४ ॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सरस्वती इन्द्राय यथा तिस्रः देवीः) स्त्री जिस प्रकार अपने पति के लिये अन्न, कान्ति और उत्तम वाणी तीनों अभिलषणीय शक्तियों का प्रयोग करती है, उसी प्रकार (इन्द्राय सरस्वती तिस्रः देवीः) राजा के लिये विद्वत्सभा भी तीनों प्रकार की सभाओं की स्थापना करे। और (अश्विनौ) अश्वि नामक अधिकारी, और (इडा) इडा नाम भूमि की प्रबन्ध-कारिणी सभा तीनों (नाभ्यां मध्ये शूपं न) नाभी के बीच में बल के समान (इन्द्रियं दधुः) वीर्य को धारण करें। और (वसुवने० इत्यादि) पूर्ववत्।

दे॒वऽ इन्दो॒ नरा॒शꣳस॑स्त्रिव॒रूथस्स॑र॒स्वत्य॒श्विभ्यामीयते॒ रथः॑। रे॒तो न रू॒पम॒मृतं॑ जनि॒त्रमिन्द्रा॑य॒ त्वष्टा॑ दधा॒दिन्द्रि॒याणि॑ वसु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य व्यन्तु॒ यज॑ ॥ ५५ ॥

स्वराट् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(देवः) विजिगीषु विद्वान् (इन्दः) ऐश्वर्यवान् (नराशंसः) समस्त जनों से स्तुति योग्य, राजा (त्रिवरूथः) अपने तीनों तरफ़ तीन शस्त्रवाहक सेनाओं सहित होकर (सरस्वत्या अश्विभ्याम्) सरस्वती, और दोनों अश्वीनामक अधिकारी इन तीनों से (त्रिवरूथः रथ इव) तीन छज्जों से सुरक्षित रथ के समान (ईयते) प्रतीत होता है। (त्वष्टा) शिल्पी, बढ़ई जिस प्रकार (इन्द्राय रूपम् इन्द्रियाणि दधत्) ऐश्वर्यवान् स्वामी के लिये रुचिकर सुन्दर, पदार्थ, और नाना ऐश्वर्य के योग्य बहुमूल्य पदार्थ बनाता है और जिस प्रकार (त्वष्टा) जगत् का कर्त्ता परमेश्वर (इन्द्राय) जीव के भोग के लिये (अमृतम्) अमृत स्वरूप, (जनित्रम्) सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ (रेतः न) वीर्य को और (इन्द्रियाणि)

चक्षु, नाक, कान आदि इन्द्रियों को (दधत्) शरीर में रचता है (न) उसी प्रकार (त्वष्टा) नाना शिल्पों का विज्ञ, विश्वकर्मा, अधिकारी (इन्द्राय) राजा के भोग के लिये (रूपम्) सुन्दर २ भक्ष्य, आभूषण युक्त पोषाक और (इन्द्रियाणि) नाना राजोचित ऐश्वर्य, यन्त्र कौशल आदि प्रदान करता है। (वसुवने० इत्यादि) पूर्ववत्।

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णोऽश्विभ्यां सरस्वत्या सुपिप्पल ऽइन्द्राय पच्यते मधु। ओजो न जूतिरृषभो न भामं वनस्पतिर्न्यो दधदिन्द्रियाणि वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५६ ॥

निचृदत्यष्टिः। गान्धारः ॥

भा०—(वनस्पतिः) महावृक्ष वट, गूलर आदि जिस प्रकार बहुतों को आश्रय देता है उसी प्रकार समस्त प्रजाजनों को आश्रय देनेवाला पुरुष, अथवा वृक्ष समूहों के समान सघन सैनिक दलों का पति (देवः) विजयशील सेनापति स्वयं (देवैः) विजयेच्छु सैनिकों से (हिरण्यवर्णः) सुवर्ण के पत्रों या सुन्दर पत्रों से सजे वृक्ष के समान और (सुपिप्पलः) उत्तम पालन सामर्थ्यों से उत्तम बलवान् (अश्विभ्यां सरस्वत्या च) अश्विगण और सरस्वती, विद्वत्-सभा द्वारा (इन्द्राय) सम्राट् के लिये (मधु पच्यते) मधुर रस के समान उत्तम बल को परिपक्व करता है। वह (ऋषभः वनस्पतिः) सर्वश्रेष्ठ बलवान् वृषभ के समान हृष्ट पुष्ट 'वनस्पति,' सेनापति (ओजः न, भामं न) देह में स्थित ओज और क्रोध के समान राष्ट्र में भी (ओजः भामं) पराक्रम और तेजस्विता को और (इन्द्रियाणि) शरीर के इन्द्रियों के समान राष्ट्र में नाना ऐश्वर्यों को (दधत्) धारण करावे। (वसुवने० इत्यादि) पूर्ववत्।

अग्निर्वै वनस्पतिः। कौ० १० । ६ प्राणो वै वनस्पतिः। कौ० १२ । ७ ॥

देवं बर्हिर्वारितीनामध्वरे स्तीर्णमश्विभ्यामूर्णम्रदाः सरस्वत्या

स्योनमिन्द्र ते सदः । ईशायै मन्युश्वराजानं वर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज्ञं ॥ ५७ ॥

भा०—माता पिता द्वारा (उर्णम्रदाः स्तीर्णवर्हिः) ऊन के समान कोमल बिछाया आसन जिस प्रकार (सदः) वर के बैठने का आसन होता है उसी प्रकार हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! (वारितीनाम्) संकटों और शत्रु के आक्रमणों को निवारण करने वाली सेनाओं के (अध्वरे) राज्य पालन के कार्य में (सरस्वत्याः अश्विभ्याम्) सरस्वती और अश्वि नामक प्रधान पदाधिकारियों द्वारा (स्तीर्णम्) विस्तृत (अध्वरे) यज्ञ में या गृह में (सरस्वत्या अश्विभ्याम्) विदुषी कन्या और उसके द्वारा किया गया (देवं) ज्ञान और उत्तम गुणों से युक्त, भव्य (वर्हिः) प्रजारूप राष्ट्र या जनपद (ते) तेरे लिये (उर्णम्रदाः) ऊन के समान कोमल एवं आच्छादक या राजा के गुणों के आच्छादन करनेवाले लोगों को मर्दन करे देनेवाले (स्योनं सदः) सुखकारी आसन के समान आश्रय हो। सरस्वती और दोनों अश्विगण (मत्सुम्) शत्रुओं का स्तम्भन करनेवाले (राजानम्) राजा को (ईशायै) राष्ट्र के शासन करने के लिये (इन्द्रियं) ऐश्वर्य को (दधुः) धारण कराते हैं । (वसुवने० इत्यादि) पूर्ववत् ।

क्षत्रं वै प्रस्तरो विश इतरे वर्हिः । श० १ । ३ । ४ । १० ॥ अयं वै लोको वर्हिः । श० १ । ४ । १ । २४ ॥ प्रजा वै वर्हिः । कौ० ५ । ७ ॥

गृहस्थपक्ष में—पशवो वै वर्हिः । ऐ० २ । ४ ॥

[1]देवोऽअग्निः स्विष्टकृद् देवान्यज्ञ्वथायथꣳ होतारमिन्द्रमश्विना वाचा वाचꣳ सरस्वतीमग्निꣳ सोमꣳ स्विष्टकृत् स्विष्टऽ इन्द्रः सुत्रामा सवितावरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा देवा आज्यपाः [2]स्विष्टोऽअग्निरग्निना होता होत्रे स्विष्टकृद्यशो न दधेदिन्द्रियमूर्जमपचितिꣳ स्वधां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज्ञं ॥५८॥

भा०—(स्विष्टकृत्) उत्तम रीति से अधिकार प्रदान करनेवाला (देवः अग्निः) विद्वान् अग्रणी पुरुष (देवान् यक्षत्) अन्य विद्वान्, विजयशील, एवं इच्छानुकूल पुरुषों को (यक्षत्) नियुक्त करे। (होतारौ) अधिकार प्रदान करनेवाले (अश्विना) अश्वि नामक व्यापक अधिकार वाले विद्वान् पुरुष (वाचा) अपनी आज्ञा रूप वाणी से (इन्द्रम्) इन्द्र ऐश्वर्यवान् शत्रुनाशक पुरुष को नियुक्त करते हैं। वे ही (वाचम्) व्यवस्थापुस्तक, वाणी का विधान करते हैं। वे ही (सरस्वतीम्) विद्वत्-सभा को, (अग्निम्) अग्रणी, सेनापति को, और (सोमम्) ऐश्वर्यवान् राजा को, नियुक्त करते हैं। (स्विष्टकृत् स्विष्टः) उत्तम शासक पुरुष भी उत्तम आदर के पद को प्राप्त हो। (सुत्रामा इन्द्रः) उत्तम रक्षक इन्द्र नामक पदाधिकारी, (सविता, वरुणः भिषग्) सविता, वरुण और चिकित्सक, (देवः वनस्पतिः) वनस्पति नामक विजेता, ये सब (इष्टः) उचित आदर प्राप्त करें। (आज्यपाः देवाः) बल वीर्य के रक्षक विद्वान् पुरुष (स्विष्टाः) उत्तम आदर प्राप्त करें। (अग्निना) अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष द्वारा ही (अग्निः) उसी प्रकार का तेजस्वी पुरुष (स्विष्टः) उत्तम रीति से आदर पद प्राप्त करे। और (होता) अधिकार दाता पुरुष (होत्रे) अन्य अधिकार दाता पुरुष को (स्विष्टकृत्) उत्तम आदर मान देनेवाला हो। और वह (यशः) यश, (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य (ऊर्जम्) उत्तम अन्न, बल, पराक्रम, (अपचितिम्) आदर पूजा, (स्वधाम्) अन्न वेतनादि (दधत्) प्रदान करे। ये सभी (वसुवने) ऐश्वर्य के अधिकारी बड़े राजा के कार्य के लिये (वसुधेयस्य व्यन्तु) उचित धनैश्वर्य प्राप्त करें। हे होतः ! (यज) उन सबको अधिकार और वेतनादि प्रदान कर।

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पन्नन् पक्तीः पचन् पुरोडाशान् वधनश्वश्विभ्यां छागꣳसरस्वत्यै मेषमिन्द्राय ऋषभꣳ सुन्व-

अश्विभ्याꣳसरस्वत्या ऽइन्द्राय सुत्राम्णे सुरासोमान् ॥ ५९ ॥

धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—(अद्य) आज, अब, नित्य (अयं यजमानः) यह यजमान, सब राज्यव्यवस्था को सुसंगत करने और सबको पदाधिकार देनेवाला राजा (अग्निम्) ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष को (होतारम्) 'होता' पद के लिये (अवृणीत) वरण करता है। और वह यजमान, (पक्तीः) नाना कर्मों के बदले में देने योग्य प्रति फलों को और (पुरोडाशान्) काम करने के पूर्व ही पेशगी देने योग्य पदार्थों को (पचन् २) पकाता या नियत करता हुआ उनको पक्का करता हुआ और (अश्विभ्यां) पूर्वोक्त अश्वि नामक व्यापक या बड़े पद के अधिकारियों के कार्य के लिये (छागम्) छेदन भेदन में कुशल पुरुष को और (सरस्वत्यै) सरस्वती, विद्वत्सभा के लिये (मेषम्) प्रतिपक्षी की स्पर्द्धा में बोलने वाले पुरुष को और (इन्द्राय) इन्द्र, सेनापति पद के लिये, या राष्ट्र के संचालक पद के लिये (ऋषभम्) सर्वश्रेष्ठ पुरुष को (वध्नन्) बड़े वेतन पर बांधता हुआ और (अश्विभ्यां) अश्वियों, (सरस्वत्यै) सरस्वती, विद्वत्सभा और (सुत्राम्णे इन्द्राय) उत्तम त्राणकारी, सुरक्षक इन्द्र पद के लिये (सुरासोमान्) राज्य-लक्ष्मी और राष्ट्र के अंशों को, या (सुरासोमान्) स्त्री पुरुषों को, या अभिषेक क्रिया से अभिषिक्त पुरुषों को (सुन्वन्) नाना पदों पर अभिषिक्त करता हुआ 'होता' का वरण करता है।

सपरस्थाऽ अद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विभ्यां छागेन सरस्वत्यै मेषेणेन्द्राय ऽऋषभेणावाँस्तान् मेदस्तः प्रति पचताग्नीषतावीवृधन्त पुरोडाशैरपुरश्विना सरस्वतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् ॥६०॥

धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—(अद्य) आज, अब, अभिषेक हो चुकने और पदाधिकारियों

के नियुक्त हो जाने पर, (वनस्पतिः) वट आदि महावृक्ष के समान समस्त प्राणियों को अपनी सुख देने वाली छत्रछाया में रखने हारा (देवः) राजा (अश्विभ्यां) मुख्य अधिकारियों के निमित्त स्थापित (छागेन) संशय छेदन करने वाले विद्वान् द्वारा और (सरस्वत्यै) सरस्वती, वेदवाणी या विद्वत्सभा के कार्य के लिये नियुक्त (मेषेण) प्रतिपक्षियों के स्पर्द्धाशील, विद्वान् से और (इन्द्राय ऋषभेण) इन्द्र के निमित्त नियुक्त सर्वश्रेष्ठ पुरुष से (सूपस्थाः) उत्तम रीति से राष्ट्र में व्यवस्थित (अभवत्) हो जाता है। (मेदस्तः) उनके स्नेह से या उनके प्रिय पदार्थ या उनको शत्रुनाशक बल से ही वे अश्वि आदि पदाधिकारी उक्त पुरुषों को (अक्षन्) प्राप्त करते हैं। और (पक्वता) परिपक्व, सुअभ्यस्त, दृढ़ करने योग्य पुरुषों को दृढ़ करने के लिये (प्रति अग्रभीषत) प्राप्त करते हैं, उनको भर्ती करते हैं। और बहुतों को (पुरोडाशैः) पद पर नियुक्त होने के पूर्व ही वृत्तियां देकर उन पूर्व प्रदत्त वृत्तियों से (अवीवृधन्त) उन पुरुषों के उत्साहों को बढ़ाते हैं, और इस प्रकार (अश्विनौ) दोनों उच्च पदाधिकारी अश्विजन और (सरस्वती) विद्वत्सभा और (सुत्रामा इन्द्रः) उत्तम प्रजारक्षक राजा, (सुरासोमान्) अभिषेक क्रिया द्वारा अभिषिक्त योग्य पुरुषों को अथवा राज्यलक्ष्मी से ऐश्वर्यवान् पुरुषों को (अपुः) पालन करते हैं।

त्वामद्यऽऋषऽआर्षेयऽऋषीणां नपादवृणीतायं यजमानो बहुभ्यऽआ सङ्कसेभ्यऽएष मे देवेषु वसु वार्या यच्छतऽइति ता या देवा देव दानान्यदुस्तान्यस्माऽआ च शास्वा च गुरस्वेषितश्च होत-रसि भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः सूक्तवाकाय सूक्ता ब्रूहि ॥६१॥

भुरिग् विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—हे (ऋषे) विद्वन् ! मन्त्रार्थों के देखने वाले ! (आर्षेय) ऋषि मन्त्रार्थ द्रष्टाओं में उत्तम विद्वन्, ! हे (ऋषीणां नपात्) मन्त्रार्थ-

हुए ऋषियों के पुत्र ! अथवा उनके सिद्धान्तों को न गिरने देनेहारे ! (अयं यजमानः) यह यजमान, वेतन पुरस्कार आदि देने वाला राजा, गृहपति, यजमान के समान (बहुभ्यः) बहुतसे (संगतेभ्यः) एकत्र हुए विद्वानों में से (अद्य) आज (त्वाम् आ अवृणीत) तुझे ही वरण करता है । क्योंकि यह जानता है (एषः) यह आप (मे) मुझ यजमान को (देवेषु) विद्वानों और राजाओं के बीच (वसु) धनैश्वर्य, (वारि) और वरण करने योग्य सकल पदार्थ (आयक्ष्यते) प्राप्त करा देंगे (इति) इसलिये वह आपको वरता है । हे (देव) विद्वन् ! (देवाः) विद्वान् पुरुष या दानशील राजागण, धनाढ्य पुरुष (या) जो २ (ता) वे नाना प्रकार के (दानानि) दान करने योग्य पदार्थों को (अदुः) प्रदान किया करते हैं (तानि) वे सब प्रकार के पदार्थ (अस्मै) इसके लिये भी (आशास्व च) प्राप्त करने की आशा कर । (इषितः च) इस प्रकार प्रार्थना किया गया तू (आशुरस्व च) उद्यम कर । हे (होतः) होतः ! विद्वन् ! उपदेष्टः ! ज्ञान प्रदान करने हारे ! तू (भद्रवाच्याय) सुख और कल्याण करने वाले हितकारी कार्यों के उपदेश के लिये (प्रेषितः असिः) प्रार्थना किया जाता है । हे विद्वन् ! तू (मानुषः) विचारवान् पुरुष होकर (सूक्तवाकाय) उत्तम सुवचनों के उपदेश के करने के लिये (सूक्ता ब्रूहि) उत्तम २ वचनों और वेद के सूक्तों का उपदेश कर ।

पारिप्लव विधिमें होता समस्त राज्य के प्रजाजनों को नाना वेदों का उपदेश करता है ।

॥ इत्येकविंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये एकविंशोऽध्यायः ॥

॥ अथ द्वाविंशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसायुष्पाऽआयुर्मे पाहि । देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामादद्दे ॥

[अ० २२—२५] प्रजापतिर्ऋषिः । सविता देवता । निचृत् पंक्तिः । पंचमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (तेजः) तेज है। तू (शुक्रम्) शरीर में शुक्र धातु के समान राष्ट्र में बलकारी है। (अमृतम्) शरीर में वीर्य, पृथ्वी में जल और अग्नि के समान राष्ट्र में भी अमृत, जीवन का रक्षक है। तू (आयुष्पाः) सब के आयुओं का पालक (असि) है। तू (मे आयुः पाहि) मेरे में दीर्घजीवन का पालन कर। परमेश्वर के पक्ष में स्पष्ट है।

हे राष्ट्र वासिजन ! (त्वा) तुझको (सवितुः) सर्वोत्पादक परमेश्वर के (प्रसवे) बनाये जगत् में (अश्विनोः) सूर्य और चन्द्र के समान प्रचण्ड और सौम्य स्वभाव के अधिकारियों की (बाहुभ्याम्) शत्रुओं के बाधक शक्तियों या बाहू के समान बलवान् क्षात्रबल से और (पूष्णः) पृथ्वी के समान पोषक वैश्य वर्ग के या राजा के (हस्ताभ्याम्) हाथों के समान ग्रहण करनेवाले या दुष्टों के हनन करनेवाले साधनों के द्वारा (त्वा आददे) तुझ राष्ट्र को मैं अपने वश करता हूं। (देवस्य त्वा सवितुः०) इत्यादि व्याख्या देखो अ० १ । मं० १० ॥

इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्वऽआयुषि विदथेषु कव्या ।
सा नोऽअस्मिन्त्सुत आ बभूवऽऋतस्य सामन्त्सुरमारपन्ती ॥२॥

यज्ञपुरुष ऋषिः । रशना देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

अथातश्चतुर्भिरध्यायैरश्वमेधः ॥

भा०—(अस्मिन् सुते) इस उत्पन्न जगत् में भी (नः) हमें (सा) वह व्यापक शक्ति (आबभूव) प्राप्त होती है जो (ऋतस्य) मूल, परम

सत्य कारणरूप परमेश्वर और प्रकृति के सत्य तत्व के (सरम्) व्यापार या चेष्टा को (सामन्) आदि से अन्त तक (आ रपन्ती) स्पष्ट बतलाती है । (इमाम्) उस (रशनाम्) व्यापक शक्ति की ज्ञान शृंखला को ही (ऋतस्य पूर्वे आयुपि) संसार के प्रारम्भ के काल में (कवयः) क्रान्त-दर्शी ऋषि लोग (विदथेषु) यज्ञों और ज्ञान के अवसरों में या ज्ञानरूप वेदों में (अगृभ्णन्) ग्रहण करते हैं, जानते हैं ।

राष्ट्र के पक्ष में—(ऋतस्य पूर्वे आयुपि) व्यक्त जगत् के प्रारम्भ के आदि काल में (वृषभः) क्रान्तदर्शी ऋषि लोग (इमाम् रशनाम्) रस्सी के समान व्यापक या विस्तृत संसार की नियामक शक्ति को या व्यवस्था को (विदथेषु) ज्ञानमय वेदों में (अगृभ्णन्) प्राप्त करते हैं । (सा) वह व्यापक व्यवस्था (अस्मिन् सुते) राजा के अभिषेक के अवसर पर भी (नः आबभूव) हमें प्राप्त हो । वह (ऋतस्य) सत्य व्यवहार से पूर्ण राष्ट्र के (सामन्) आदि से अन्त तक हमें (सरम्) ज्ञान का (आरपन्ती) स्पष्ट उपदेश करनेवाली रहे । शत० १३।१।२।१॥

अभिधाऽ असि भुवनमसि यन्तासि धर्त्ता ।
स त्वमग्निं वैश्वानरꣳ सप्रथसङ्गच्छ स्वाहाकृतः ॥ ३ ॥

अग्निर्देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! तू (अभिधाः असि) समस्त पदार्थों को साक्षात् बतलाने वाला है । तू (भुवनम् असि) जलके समान समस्त चराचर प्राणियों और लोकों का प्राण देने वाला आश्रय, उत्पादक है । तू (यन्ता असि) समस्त संसार का नियन्ता, उसको नियम में रखने वाला है । तू (धर्त्ता) सबका धारण करने वाला है । (सः) वह तू (सप्रथसम्) अति विस्तृत शक्ति से युक्त (वैश्वानरम्) समस्त ब्रह्माण्ड को चलाने वाली प्रवर्त्तक शक्तियों के सञ्चालक (अग्निम्) ज्ञानरूप, तेजोमय, स्वतः

प्रकाश, सर्वप्रकाशक सूर्य आदि को भी (स्वाहाकृतः) उत्तम गुण-कीर्त्तनों और सत्य वाणियों द्वारा स्तुति किया जाकर (गच्छ) व्याप्त है ।

विद्वान् नेता एवं राजाके पक्षमें—हे राजन् ! तू (अभिधाः असि) ज्ञानों का उपदेश करने वाला या राष्ट्र को सब प्रकार से बांधने या प्रबन्ध करने में समर्थ है । तू (भुवनम् असि) सबका आश्रय, (यन्ता) नियामक और (धर्त्ता) कर्त्ता, धर्त्ता, धारण करने हारा है । (सः त्वम्) वह तू (स्वाहाकृतः) उत्तम स्तुति से युक्त होकर या उत्तम यश कीर्त्ति से सम्पन्न होकर, या सत्यवाणी से विश्वासयोग्य होकर, (सप्रथसम्) अतिविस्तृत यश से युक्त, (वैश्वानरम्) समस्त जनों के हितकारी (अग्निम्) अग्रणी नेता पद को (गच्छ) प्राप्त हो । शत० १२ । १ । २ । ३ ॥

स्वगा त्वा देवेभ्यः प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्यासम् । तं बंधान देवेभ्यः प्रजापतये तेन राध्नुहि ॥४॥

अश्वो विश्वेदेवाश्च देवताः । जगती । निषादः ॥

भा०—हे राजन् ! हे विद्वन् ! मैं अभिषेककर्त्ता (त्वा) तुझको (स्वगा) स्वतन्त्र, यथेच्छा पूर्वक जाने का अधिकार देता हूं । (देवेभ्यः) समस्त विद्वानों और विजिगीषु गुरुषों के लिये और (प्रजापतये) प्रजा के पालक राजा के पद के लिये, हे (ब्रह्मन्) ब्रह्मन् ! ज्ञानवृद्ध पुरुष ! (देवेभ्यः) विद्वानों, विजिगीषु पुरुषों के हित के लिये और (प्रजापतये) प्रजा के पालन करने वाले राजा के कर्त्तव्य पालन के लिये (अश्वं) मैं अति शीघ्रगामी अश्व के समान व्यापक शक्ति-वाले, शूरवीर एवं राष्ट्र के भोक्ता पुरुष को (भन्त्स्यामि) बांधूंगा, राजपद पर नियुक्त करूंगा । (तेन) उससे मैं (राध्यासम्) समृद्ध होऊं, बढ़ूं, उद्देश्य को प्राप्त करूं । हे विद्वन् ! तू (देवेभ्यः प्रजापतये) विद्वानों, विजयेच्छु पुरुषों के लिये और प्रजापति पद के लिये (तं बधान)

उसको बांध, नियुक्त कर। उसको भोग्य सामग्री देकर उसे वेतनादि पर रक्ख। तू(तेन राध्नुहि) उससे समृद्ध हो, कार्य को पूर्ण कर।

अश्वमेध में इस मन्त्र से अश्व को बांधकर खुला विचरने देते हैं। वह अश्व राष्ट्रपति का प्रतिनिधि है। शत० १३। १। २। ३, ४॥

वीर्यं वा अश्वः। श० २। १। ४। २३॥ क्षत्रं वा अनु अश्वः। श० ६। ४। ४। १२॥ क्षत्रं वा अश्वो विडितरे पशवः। श० १३। २। २। १५॥ वज्रो वा अश्वः। श० १३। १। २। ९॥ इन्द्रो वा अश्वः। कौ० १५। ४॥ वज्रो वा अश्वः प्राजापत्यः। तै० ३। ८। ४। २॥

अध्यात्ममें—अश्व=आत्मा, ब्रह्म=परमात्मा। ब्रह्मचर्य पक्षमें—ब्रह्म=आचार्य। अश्व=वीर्य।

प्रजापतये त्वा जुष्टं प्रोक्षामीन्द्राग्निभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामिवायवे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि सर्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जुष्टं प्रोक्षामि। योऽअर्वन्तं जिघाꣳसति तमभ्यमीति वरुणः। परो मर्त्तः परः श्वा॥ ५॥

इन्द्रादयो देवताः। अतिधृतिः। षड्जः॥

भा०—हे विद्वन्! श्रेष्ठ पुरुष! (जुष्टं) सबके प्रेमपात्र (त्वा) तुझको मैं (प्रजापतये) प्रजा के पालक पद के लिये, (इन्द्राग्नीभ्यां त्वा) इन्द्र और अग्नि, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी सेनापति और अग्रणीपद के लिये, (वायवे) वायु के समान शत्रुरूप वृक्षों के डाले तोड़ डालने वाले शूरवीर के पद पर और (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त प्रजा के विद्वान् पुरुषों के हित के लिये, (जुष्टं) सब लोगों से प्रसन्न, एवं चाहे गये (त्वा) तुझको (प्रोक्षामि ५) अभिषिक्त करता हूं। (यः) जो पुरुष भी (अर्वन्तम्) अश्व के समान तीव्र वेगवान् वीर, एवं विद्वान् पुरुष, और सब पदों के प्राप्त करने वाले राजा को

(जिघांसति) मारना चाहता है (वरुणः) दुष्टों का वारक पदाधिकारी (तम्) उसको (अभि-अशोति) विनष्ट करे । ऐसा (मर्त्तः) राजद्रोही, पुरुष (परः) शत्रु है, उसको देश से निकाल कर दूर कर दिया जाय और (परः श्वा) पर अर्थात् शत्रु पुरुष कुत्ते के समान दुत्कार दिया जाय । अथवा (श्वा) कुत्ते के स्वभाव के व्यर्थ निन्दा करनेवाला पुरुष भी (परः) पर, अर्थात् शत्रु है उसे भी राष्ट्र से बाहर कर दिया जाय । शत० १२ । १ । २ । ५-६ ॥

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाऽपां मोदाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा वायवे स्वाहा विष्णवे स्वाहेन्द्राय स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा मित्राय स्वाहा वरुणाय स्वाहा ॥ ६ ॥

भुरिगति जगती । निषादः ॥ अग्न्यादयो देवताः ॥

भा०—राजा के समस्त स्वरूपों के लिये आदर सत्कार करने का उपदेश करते हैं । (अग्नये स्वाहा) अग्नि के समान ज्ञानदाता आचार्य और उसके समान तेजस्वी राजा आदि पुरुष का उत्तम स्तुति और सत्कार करो । 'अग्नि' तत्व का सदुपयोग लो । (सोमाय स्वाहा) सब के आज्ञापक, ऐश्वर्यवान्, ज्ञानी और सोमरस के समान आनन्द और पुष्टिकारक पुरुष का आदर करो और ओषधियों के रस रूप सोम का सेवन करो । (अपां मोदाय) जलों के समान स्वच्छ, शान्तिदायक एवं प्रवाह से चलने वाले आप्त जनों के आनन्द देनेवाले और प्रजाओं के हर्षकारी राजा के कर्मों और ज्ञानों को प्रसन्नता से प्राप्त कराने वाले गुरु का आदर सत्कार करो और जलों से प्राप्त आनन्द का उत्तम रीति से सेवन करो । (सवित्रे स्वाहा) सविता, सूर्य, सर्वोत्पादक परमेश्वर, आज्ञापक राजा, नेता, सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् का आदर करो और सूर्य के प्रकाश और ताप का उचित प्रयोग और ज्ञान करो । (वायवे स्वाहा) वायु के

दशाश्वस्तोमीयाः ।

समान तीव्र, गतिमान् सैनिक, उसके समान शत्रु रूप वृक्षों को उखाड़ने में समर्थ सेनापति, राजा, और वायु के समान जीवनाधार पुरुष का आदर करो और वायु और प्राण का उत्तम उपयोग और ज्ञान करो। (विष्णवे स्वाहा) सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना, स्तुति प्रार्थना करो और व्यापक शक्तिशाली राजा शास्त्र में पारंगत विद्वान् का आदर सत्कार करो। विष्णु अर्थात् यज्ञ का अनुष्ठान करो, और विद्युत् का प्रयोग करो। (बृहस्पतये स्वाहा) सब बड़ों से भी बड़े, ब्रह्माण्डों के पालक परमेश्वर की उपासना करो। बृहती वेदवाणी के पालक विद्वान् ब्राह्मण का, राजा के विद्वान् मन्त्री का और बड़े राष्ट्र के पालक सम्राट् का आदर करो। (मित्राय स्वाहा) सबके स्नेही, मृत्यु से बचानेवाले परमेश्वर की उपासना करो। एवं मित्र, स्नेही पुरुष, सूर्य के समान तेजस्वी राजा, स्नेही न्यायाधीश और मित्र राजा का भी आदर करो। (वरुणाय स्वाहा) दुष्टों के वारक, रक्षक, सब से श्रेष्ठ, वरण करने योग्य पुरुष का आदर और ऐसे परमेश्वर की स्तुति करो। शत० १३। १।२।३॥

हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहा क्रन्दते स्वाहाऽभिक्रन्दाय स्वाहा प्रोथते स्वाहा प्रप्रोथाय स्वाहा गन्धाय स्वाहा घ्राताय स्वाहा निविष्टाय स्वाहोपविष्टाय स्वाहा सन्दिताय स्वाहा वल्गते स्वाहासीनाय स्वाहा शयानाय स्वाहा स्वपते स्वाहा जाग्रते स्वाहा कूजते स्वाहा प्रबुद्धाय स्वाहा विजृम्भमाणाय स्वाहा विचृताय स्वाहा सञ्जिहानाय स्वाहोपस्थिताय स्वाहाऽयनाय स्वाहा प्रायणाय स्वाहा ॥ ७ ॥

सृते स्वाहा धावते स्वाहोद्द्रावाय स्वाहोद्द्रुताय स्वाहा शूकाराय स्वाहा शूकृताय स्वाहा निषण्णाय स्वाहोत्थिताय स्वाहा जवाय

७—प्रक्रमहोमय एकोनत्र्चपाशत्।

स्वाहा वलाय स्वाहा विवर्तमानाय स्वाहा विवृत्ताय स्वाहा विधून्वानाय स्वाहा विधूताय स्वाहा शुश्रूषमाणाय स्वाहा शृण्वते स्वाहेक्षमाणाय स्वाहैक्षिताय स्वाहा वीक्षिताय स्वाहा निमेषाय स्वाहा यदत्ति तस्मै स्वाहा यत् पिबति तस्मै स्वाहा यन्मूत्रं करोति तस्मै स्वाहा कुर्वते स्वाहा कृताय स्वाहा ॥ ८ ॥

अत्यष्टिः । गान्धारः । ८ अतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(हिंकाराय स्वाहा) 'हिं' ऐसा शब्द करने वाले साम गायक विद्वान् का, राजा का, (हिंकृताय) 'हिं' कर चुकनेवाले विद्वान् का (स्वाहा) आदर सत्कार करो । और अश्व प्राणी का उपयोग करो । वज्रो हिङ्कारः । कां० ३ । २ ॥ हिङ्कारेण वज्रेण अस्माल्लोकादसुरानन्नुदत । जै० उ० २ । ८ । ३ ॥ अर्थात् वज्र को धारण करनेवाले राजा का और शासन करने वाले शासक का आदर करो । शुक्लमेव हिंकारः । जै० उ० १ । ३४ । १ ॥ उत्तम धर्म कार्य करनेवाले और धर्मात्मा का आदर करो । प्राणो वै हिंकारः । श० ४ । २ । २ । ११ ॥ प्राण साधक और प्राण विद्यावित् का आदर करो । प्रजापतिर्वै हिंकारः । ता० ६ । ८ । ५ ॥ प्रजा के पालक पुरुष का आदर करो । जिसने प्रजा का पहले पालन किया हो ऐसे वृद्ध, भूतपूर्व पालक की भी प्रतिष्ठा करो । (क्रन्दते स्वाहा अवक्रन्दाय स्वाहा) शत्रु को ललकारने वाले, विद्वानों को बुलाने वाले और ललकारने वाले का दबाने-वाले राजा का, या विजय से बुलानेवाले सत्पुरुष का आदर करो । (प्रोथते स्वाहा प्रप्रोथाय स्वाहा) स्वयं सब पदार्थों को स्वतः प्राप्त करनेवाले उत्कृष्ट कोटि के धनैश्वर्यादि प्राप्त करनेवाले का आदर सत्कार करो । (गन्धाय स्वाहा घ्राताय स्वाहा) गन्ध लेनेवाले और गन्धादि के भोग के अनुभवी, सुगन्ध प्रेमी स्वामी का और पुरुष का भी आदर करो । (निविष्टाय स्वाहा) छावनी बनाकर, या बस्ती बसाकर बैठे हुए और (उपविष्टाय) 'आसन'

वृत्ति से नीति पूर्वक विराजनेवाले राजा का आदर करो। इसी प्रकार पूज्य पुरुष को लेटा हो या बैठा हो उसका उसी अवस्था में भी आदर करे। (संदिताय स्वाहा) अच्छी प्रकार से शत्रुओं को काटनेवाले या न्यायपूर्वक विभाग करनेवाले का आदर करो। (वल्गते स्वाहा) गमन करते हुए, या आतिथ्य सत्कार करते हुए, उत्तम उपदेश करने वाले पुरुष का आदर करो। (आसीनाय स्वाहा) बैठे हुए आदर करो। (शयानाय स्वाहा) सोते हुए का आदर करो। (स्वपते, जाग्रते, कूजते स्वाहा) सोते हुए, जागते हुए, बुद बुदाते हुए का भी आदर करो। (प्रबुद्धाय, विजृम्भमाणाय, विचृताय स्वाहा) अच्छी तरह से जागे हुए, जम्भाई लेते हुए, बन्धनादि से युक्त होते हुए का भी आदर करो। (संहानाय स्वाहा) बिस्तर त्यागते हुए का आदर करो। (उपस्थितमय स्वाहा) सभाभवन में उपस्थित हुए का, (अपानाय) मार्ग से जाते हुए का (प्रायणाय) विशेष रूप से जाते हुए का भी (स्वाहा) आदर करो ॥ ७ ॥

(यते) गमन करते हुए, (धावते) दौड़ते हुए, (उद्द्रावाय) बहुत तीव्र गति से जाते हुए (उद्द्रुताय स्वाहा) और उछल २ कर द्रुत गति से जाने वाले शूरवीर का भी आदर करो। (शूकाराय, शूकृताय) शीघ्र काम करने वाले और शीघ्रता करने वाले, (निषसदाय, उत्थिताय,) बैठे और उठे का भी आदर करो। (जवाय, बलाय, विवर्तमानाय, विवृत्ताय) वेग और बल वाले, लोटते पोटते और पासे पलटते हुए का भी आदर करो। (विधून्वानाय, विधूताय) विविध शत्रुओं अथवा विविध मानस वासनाओं को धुनते हुए और शत्रुओं को परास्त कर चुके हुए या पापमलसे रहित का भी आदर करो। (शुश्रूषमाणाय, श्रृण्वते,) विद्वानों से ज्ञान श्रवण करने के लिये उनकी सेवा शुश्रूषा करने वाले और ज्ञान श्रवण करते हुए को भी आदर करो। (ईक्षमाणाय, ईक्षिताय, वीक्षिताय) साक्षात्

करते हुए, साक्षात् किये, और विशेष रूप से साक्षात् हुए का भी आदर करो। (निमेषाय) पलक चलाते हुए, इशारा करते हुए (यदत्ति तस्मै) जब खावे तब उसका, (यत् पिबति तस्मै) जब कुछ पान करता हो तब उसका, (यत् मूत्रं करोति) जब मूत्र करता हो तब उसका, (कुर्वते, कृताय स्वाहा) काम करते हुए और काम कर चुकने पर भी उसका आदर करो ॥ ८ ॥ शत० १३ । १ । ३ । ५ ॥

इस प्रकार ४६ दशाओं में आदरणीय पुरुष का आदर करना चाहिये और इन ४६ दशाओं में राजा को भी उत्तम रीति से आदर सत्कार और संरक्षा करनी चाहिये।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ ६ ॥ ऋ० ३ । ६२ । १० ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । ३५ ॥

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये।
स चेत्ता देवता पदम् ॥ १० ॥ ऋ० १ । २२ । ५ ॥

१०—१४ सविता देवता। गायत्री। षड्जः ॥

भा०—(हिरण्यपाणिम्) सुवर्ण को कंकण रूप में धरने। हाथों में रखने वाले, अथवा हिरण्य अर्थात् लोह के बने तलवार को हाथ में रखने वाले (सवितारम्) सबके आज्ञापक, वीर राजा को मैं (ऊतये) रक्षा के लिये (उपह्वये) बुलाता हूं। (सः) वह (चेत्ता) समस्त बातों का ज्ञाता और सब को सत्यासत्य का बतलाने वाला राजा (देवता) साक्षात् देव सब का दाता और परम सर्वोच्च पद है। अथवा वह (देवता पदम्) समस्त विद्वानों का आश्रय है।

परमेश्वर के पक्षमें—(हिरण्यपाणिम्) सूर्यादि पदार्थों को वश करने वाले, (सवितारम्) सर्वोत्पादक, परमेश्वर की मैं स्तुति करता हूं वह

(चेत्ता) सर्वज्ञ, सत्यासत्य का ज्ञापक और (पदम्) परम प्राप्य (देवता) देव, प्रकाशक और सर्वप्रद है ।

देवस्य चेततो महीं प्र सवितुर्हवामहे ।
सुमतिꣳ सत्यराधसम् ॥ ११ ॥

भा०—(सवितुः) सब के शासक, (चेततः) सब को चैतन्य अर्थात् सावधान करने वाले, (देवस्य) दानशील राजा की (महीम्) बड़ी भारी (सत्यराधसम्) सत्य, धर्मानुकूल ऐश्वर्य के देनेवाली (सुमतिम्) उत्तम मति, शासन शक्ति की (प्र हवामहे) स्तुति करते हैं ।

ईश्वर पक्षमें—(चेततः सवितुः) चित्स्वरूप, सर्वोत्पादक (देवस्य) परमेश्वर देव के (सत्यराधसम्) सत्य ज्ञान, ऐश्वर्ययुक्त (सुमतिं) उत्तम ज्ञानमयी वेदवाणी की (प्र हवामहे) याचना करते हैं ।

सुष्टुतिꣳ सुमतीवृधो रातिꣳसवितुरीमहे ।
प्र देवाय मतीविदे ॥ १२ ॥

भा०—(सुमतीवृधः) उत्तम स्तुति और मति, ज्ञान की वृद्धि करने वाले (सवितुः) सर्वोत्पादक, परमेश्वर और सर्वप्रेरक राजा का (देवाय) धन विद्यादि की कामना करने वाले (मतीविदे) विद्वान् के प्रति देने योग्य रातिम्) दान की (ईमहे) याचना करते हैं ।

रातिꣳ सत्पतिं महे सवितारमुप ह्वये ।
आसवं देववीतये ॥ १३ ॥

भा०—(रातिम्) दानशील, (सत्पतिम्) सत् जनों, सत् पदार्थों और समस्त जीवों के पालक, (सवितारम्) सब के शासक, सब के उत्पादक (आसवं) सब कार्यों की अनुज्ञा देनेहारे, अथवा सब प्रकार से ऐश्वर्यवान् परमेश्वर और राजा की (देववीतये) दिव्यगुणों और विद्वान् पुरुषों के प्राप्त करने के लिये (उपह्वये) स्तुति करता हूं ।

देवस्य सवितुर्मतिमासवं विश्वदेव्यम् ।
धिया भगं मनामहे ॥ १४ ॥

भा०—(देवस्य) सब सुखों के दाता, सब कुछ देखने वाले (सवितुः) शासक और उत्पादक राजा और परमेश्वर की (मतिम्) मति अर्थात् ज्ञान का और (विश्वदेव्यम्) समस्त विद्वानों के हितकारी, (आसवम्) समस्त ऐश्वर्यों के उत्पादक (भगम्) ऐश्वर्य का (धिया) धारणवती बुद्धि से हम (मनामहे) मनन करते हैं ।

अग्निꣳ स्तोमेन बोधय समिधानो अमर्त्यम् ।
हव्या देवेषु नो दधत् ॥ १५ ॥

[१५—१७] अग्निर्देवता । सुतम्भरविश्वामित्रविश्वरूपा ऋषयः ।
गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे पुरुष ! तू (अमर्त्यम्) अविनाशी, कारणरूप से नित्य (अग्निम्) अग्नि को जिस प्रकार (स्तोमेन) काष्ठ समूह से जलाया जाता है उसमें (हव्या) हव्य, चरु पदार्थ डाल कर वायु आदि दिव्य-गुण वाले पदार्थों में पहुंचा दिये जाते हैं उसी प्रकार तू (सम् इधानः) ज्ञान से प्रदीप्त होता हुआ भी (स्तोमेन) स्तुतियों द्वारा (अमर्त्यम्) अमर, मरणधर्म से रहित, आत्मारूप (अग्निम्) अग्नि, स्वतःप्रकाश तेजोमय को (बोधय) प्रदीप्त कर । और (नः देवेषु) हमारे देव अर्थात् अन्य प्राणों में भी (हव्या) ग्रहण योग्य अन्न आदि पदार्थों को (दधत्) धारण कर ।

दूत के पक्ष में—(स्तोमेन) स्तुतियों से (अमर्त्यम्) अमर्त्य, सुरक्षित, न मारने योग्य, अवध्य, (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी, विद्वान् पुरुष को (समिधानः) प्रदीप्त करता हुआ (बोधय) चेता । और वह (नः देवेषु) हमारे अन्य विजिगीषु शासकों और विद्वान् पुरुषों को (हव्या)

अन्न आदि भोग्य पदार्थ अथवा राजा की ग्रहण और स्वीकार करने योग्य आज्ञाओं को (दधत्) प्रदान करें।

स हव्यवाडमर्त्य उशिग्दूतश्चनोहितः।
अग्निर्धिया समृण्वति ॥ १६ ॥　　ऋ० ३ । ११ । २ ॥

भा०—(सः) वह (हव्यवाड्) स्वीकार करने योग्य आज्ञाओं को दूसरों तक पहुंचाने वाले, (अमर्त्यः) न मारने योग्य (उशिग्) स्वयं कान्तिमान्, अन्यों को प्रिय, विद्वान् (दूतः) दूत (चनोहितः) वचनों को धारण करने में समर्थ है वह (अग्निः) तेजस्वी, ज्ञानवान् पुरुष (धिया) अपनी बुद्धि से (सम् ऋण्वति) समस्त कर्म सम्पादन करता है।

अग्नि के पक्ष में—हव्य चरु को वायु आदि तक पहुंचानेवाला कारण, नित्य, (उशिक्) कान्तिमान्, (दूतः) तापवान्, (चनोहितः) परिपाक करने में लगाने योग्य (अग्निः) अग्नि (धिया) धारण सामर्थ्य या दाहक्रिया से ही (सम्-ऋण्वति) अन्य दिव्य पदार्थों से संगत होता है।

अध्यात्म में—वह ज्ञानी, कान्तिमान्, (दूतः) उपासक (चनो-हितः) सञ्चित ज्ञान या उत्तम वचन को धारण करनेवाला (अग्निः) ज्ञानी आत्मा (धिया) धारणा के बल से परमेश्वर को (समृण्वति) प्राप्त करता है।

' चनः '—वचनशब्दस्य वकारलोपेनान्ते सकारोपधनेन ' चनः '। यद्वा वचे रसुनि बाहुलकात् नोन्तादेशः इति दे० य० ॥ चनः इत्यन्न नाम। तथैव पचनस्य पकारलोपे सकारोपजनेन च। पचेर्वासुनि नोन्तादेशः। चीयतेर्वा।

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे देवाँ२ऽ
आसादयादिह ॥ १७ ॥　　ऋ० ८ । ४४ । ३ ॥

१६—०वाळ० इति काण्व०। इतः परमेका ऋगधिका पठ्यते काण्व० परिशिष्टे द्रष्टव्या।

भा०—मैं राजा (हव्यवाहम्) ग्रहण करने योग्य संदेश को लानेवाले (दूतम्) दूत बनकर आये, (अग्निम्) ज्ञानी विद्वान् को (पुरः) सबके समक्ष, आगे (दधे) स्थापित करता हूं और (उपब्रुवे) उससे प्रार्थना करता हूं कि वह (इह) इस पद पर रहकर (देवान् आसादयात्) अन्य राजाओं तक पहुंचे ।

अग्नि के पक्ष में—हव्य, चरु को वहन करनेवाले (दूतं) तापयुक्त अग्नि को मैं आगे स्थापित करता हूं । वह (देवान् आसादयात्) वायु आदि पदार्थों तक चरुको पहुंचावे ।

अजीजनो हि पवमान सूर्यं विधारे शक्मना पयः ।
गोजीरया रंहमाणः पुरंध्या ॥ १८ ॥ ऋ० ९ । ११० । ३ ॥

अरुणवसदस्यू ऋषी । पवमानो देवता । पिपीलिकमध्याकृतिः अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (पवमान) सबको पवित्र करनेहारे विद्वन् ! अग्नि तत्व जिस प्रकार (सूर्यं) सूर्य को उत्पन्न करता है उसी प्रकार तू (सूर्यम्) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष राजा को (अजीजनः) उत्पन्न करता है । और सूर्य जिस प्रकार (गोजीरया) समस्त पृथ्वी लोक को जीवन देने और (पुरन्ध्या) पुर देह, ब्रह्माण्ड को धारण पोषण करनेवाली शक्ति से (रंहमाणः) गति करता हुआ (शक्मना) अपनी शक्ति से (पयः) जल को (विधारे) विशेष रूप से धारण करता है और उसी प्रकार (गोजीरया) गौ आदि पशुओं के जीवन देनेवाली और (पुरंध्या) पुर को धारण करनेवाली राजनीति से (रंहमाणः) चलता हुआ (शक्मना) अपनी शक्ति से (पयः) पुष्टिकारक राष्ट्र को धारण करता है ।

विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रा श्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोस्यर्वाँसि सप्तिरसि वाजयुः शेनूरसि नृमणा असि । ययुर्नामासि शिशुर्नामास्यादित्यानां पत्वान्विहि । देवा आशापाला एतं देवेभ्यो-

ऽश्वं मेधाय प्रोक्षितꣳ रक्षत। इह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ॥ १६ ॥

अग्निर्देवता। भुरिग् विकृतिः। मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (मात्रा विभूः) माता के प्रभाव से विविध गुणों से युक्त है। और (पित्रा प्रभूः) पिता के द्वारा उत्कृष्ट प्रभु शक्ति या ऐश्वर्य से युक्त है। अर्थात् तू मातृमान् और पितृमान् है। गर्भ के उत्तम संस्कारों में माता और विनय आदि में पिता द्वारा शिक्षित है। तू (अश्वः असि) समस्त राष्ट्र का भोक्ता है। तू (हयः असि) अति वेगवान्, पराक्रमी है। तू (अत्यः असि) निरन्तर गतिशील, बराबर आगे बढ़नेवाला, सबको अतिक्रमण करने हारा है। तू (नयः असि) प्रजा का सुखकारी अथवा नियन्ता है। तू (अर्वा असि) सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करने हारा, एवं सब विद्याओं का ज्ञाता है। तू (सप्तिः असि) शत्रु का पीछा करने हारा, अथवा राष्ट्र के सातों अंगों का स्वामी, या राष्ट्र में समवाय बनाकर रहने में समर्थ है। तू (वाजी असि) ऐश्वर्यवान्, ज्ञानवान् और आक्रमण में वेगवान् है। तू (नृमणाः असि) मनुष्यों के मान और आदर योग्य, सबके मनों का आकर्षक है। तू (ययुः नाम असि) शत्रुओं पर विजय करने के लिये प्रयाण करनेवाला होने से 'ययु' नाम से विख्यात है। तू (शिशुः नाम असि) क्षत्रियों को कृश, या दुर्बल, या नाश करनेवाला, राष्ट्र में व्यापक होकर रहने वाला होने से 'शिशु' नाम से कहाता है। पृथ्वी का पुत्र या शासक होने से भी तू 'शिशु' है। (आदित्यानां) सूर्य जिस प्रकार मासों के अनुसार द्वादश राशियों में गमन करता है उसी प्रकार तू आदित्य के समान तेजस्वी होकर द्वादश राज-मण्डल के बीच में (पत्वा) राजमार्ग से (अनु इहि) गमन कर। अथवा—(आदित्यानां) आदित्यों के समान विद्वान् पुरुषों के (पत्वा) गमनयोग्य मार्ग का (अनु इहि) अनुसरण कर। हे (देव) विजय की

कामना करनेवाले ! (आशापालाः) दिशावासिनी प्रजा के पालक मण्डलिक राजगण ! आप लोग (देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषों, विजयी और दानशील पुरुषों की उन्नति और (मेधाय) राष्ट्र के बलवृद्धि या शत्रुओं के नाश के लिये (एतं) इस (प्रोक्षितं) आभिषिक्त हुए राजा की (रक्षत) रक्षा करो। (इह) इस राष्ट्र में (रन्तिः) चित्त की प्रसन्नता है। (इह रमताम्) यहां रमण करें। (इह धृतिः) इस राष्ट्र में धारण करने की सामर्थ्य है (इह) इसमें ही (स्वधृतिः) अपनी पूर्ण धृति अर्थात् धारण शक्ति हो। (स्वाहा) इससे तेरा उत्तम यश और आदर हो।

यही विशेषण अश्व, विद्वान्, परमेश्वर और आत्मा पक्ष में भी लगते हैं। मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद। शत०।

[1]काय॒ स्वाहा॑ कस्मै॒ स्वाहा॑ कत॒मस्मै॒ स्वाहा॒ स्वाहा॒धिमा॑धीताय॒ स्वाहा॒ मनः॑ प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑ चि॒त्तं विज्ञा॑ताया॒दि॑त्यै॒ स्वाहा॒दि॑त्यै म॒ह्यै स्वाहा॒दि॑त्यै सु॒मृड्डी॑काय॒ै स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॒ [2]सर॑स्वत्यै पावकाय॒ै स्वाहा॒ सर॑स्वत्यै बृह॒त्यै स्वाहा॑ पू॒ष्णे स्वाहा॑ पू॒ष्णे प्र॑प॒थ्या॑य॒ स्वाहा॑ पू॒ष्णे न॒रन्धि॑षाय॒ स्वाहा॒ त्वष्ट्रे॒ स्वाहा॒ त्वष्ट्रे॑ तु॒रीपा॑य॒ स्वाहा॒ त्वष्ट्रे॑ पुरु॒रूपा॑य॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे निभूय॒पाय॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे शिपिवि॒ष्टाय॒ स्वाहा॑ ॥ २० ॥

कादयो देवताः। (१) विराड् अतिधृतिः। (२) निचृदतिधृतिः। षड्जः॥

भा०—(काय, कस्मै, कतमस्मै) साधनों के करनेवाले, सुखस्वरूप साधकों में भी श्रेष्ठ, प्रजापालक प्रजापति का (स्वाहा) उत्तम मान, आदर करो। (आधिम्)[1] आधीन, अग्निस्थापन या पदार्थसंग्रह करनेवाले का और (आधीताय) समस्त विद्याओं को पढ़नेवाले का (स्वाहा)

---

२० औदुम्बराणि। [1] 'मृळीकाय०' इति काण्व०।

उत्तम अन्नादि से सत्कार करो। (मनः=मनसे) मननशील और (प्रजापतये) प्रजा के पालक का (स्वाहा) उत्तम रीति से आदर करो। (चित्तं–चित्ताय) चित्त के समान चिन्तन करनेवाले का और (विज्ञाताय) विज्ञान और उसके विशेष ज्ञाता का आदर करो। (आदित्यै स्वाहा) पृथिवी और माता का आदर करो। (आदित्यै मह्यै) अखण्ड, पृथ्वी, पूजनीय माता और विशाल अखंड शासन की व्यवस्था और पूज्य गोमाता का (स्वाहा) आदर करो। (सुमृडीकायै आदित्यै स्वाहा) समस्त सुखों के देनेवाली, माता, वेदवाणी का उत्तम उपयोग करो। (सरस्वत्यै स्वाहा) सरस्वती, वेदवाणी, स्त्री और विद्वत्सभा का आदर, आज्ञापालन, संमान करो। (पावकायै सरस्वत्यै) पावन, पवित्र करनेवाली ज्ञानमयी ब्रह्मशक्ति की (स्वाहा) पूजा करो। (बृहत्यै सरस्वत्यै) बृहती, बड़ी भारी, विद्वानों की सभा या प्रभुवाणी का (स्वाहा) अभ्यास, मनन, श्रवण और अध्यापन, वाचन, दान करो। (पूष्णे स्वाहा) पोषक पुरुष का आदर करो। (पथ्यायै) उत्तम पथ्य, आहारयोग्य पोषक अन्न का (स्वाहा) सदुपयोग करो। और (नरन्धिषाय पूष्णे) मनुष्यों को धारण पोषण करनेवाले प्रजापालक राजा का (स्वाहा) उत्तम रीति से आदर करो। (त्वष्ट्रे स्वाहा) त्वष्टा, शिल्पी का आदर करो, उसे उत्तम उपयोग में लगाओ। (तुरीपाय त्वष्ट्रे स्वाहा) तुरीप अर्थात् नौकाओं के पालक अथवा बुनने के यन्त्रों के पालक, अथवा वेगवान् रथों के पालक, निर्माता का आदर और (पुरुरूपाय त्वष्ट्रे) नाना रूपों के पदार्थों के बनाने वाले, त्वष्टा, परमात्मा की उपासना करो। (विष्णवे स्वाहा) व्यापक परमेश्वर की उपासना करो। (निभूयपाय विष्णवे स्वाहा) सब के नीचे, सब का आश्रय होकर, जो सब की रक्षा करे उस व्यापक शक्तिमान् राजा का आदर करो। और (शिपिविष्टाय विष्णवे स्वाहा) समस्त पशुओं में व्यापक रूप से, अथवा शक्ति रूप से या किरणों में तेज रूप से विद्यमान तेजस्वी, सर्वोत्पादक प्रभु शक्ति का आदर करो।

यही सब नाम ईश्वर, परमेश्वर, आत्मा और राजा के भी होने से उन में उन गुणों को रक्खा जा सकता है ।

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो रायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा ॥ २१ ॥

अग्निर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(विश्वः) समस्त (मर्त्तः) मनुष्य, मरणशील प्राणीमात्र (नेतुः देवस्य) नायक राजा के (सख्यम्) मित्रभाव को (वुरीत) प्राप्त करे । (विश्वः मर्त्तः) समस्त मनुष्य (रायः) धनों को (इषुध्यति) चाहते हैं । और सभी (पुष्यसे) पुष्टि के लिये (द्युम्नं) धनैश्वर्य को (वृणीत) प्राप्त करना चाहते हैं । उसी के लिये (स्वाहा) उत्तम व्यवहार से रहो । विशेष व्याख्या देखो (अ० ४ । ८) ।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्युः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ २२ ॥

लिंगोक्ता देवता । स्वराडुत्कृतिः । षड्जः ॥

भा०—हे (ब्रह्मन्) ! महान् शक्ति वाले ब्रह्मन् ! परमेश्वर ! (राष्ट्रे) राष्ट्र में (ब्राह्मणः) ब्रह्म, वेद का विद्वान्, ज्ञाता पुरुष (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मवर्चस्वी, वीर्यवान् (आ जायताम्) हो । और राष्ट्र में (राजन्यः) राजा का पुत्र या क्षत्रियगण (शूरः) शूर, (इषव्यः) धनुर्धर (अति व्याधी) अति वेग और बल से शत्रु को परास्त करने वाला, (महारथः) महारथी, बड़े २ रथारोही वीरों का स्वामी, (आ जायताम्) हो । (धेनुः

२२ — ० 'वोळ्हा ०' इति काण्व० ।

दोग्ध्री) गाय बहुत दूध देने वाली, (अनड्वान् वोढा) बैल खूब बोझा उठाने में समर्थ, (आशुः सप्तिः) घोड़ा अति वेगवान् और (योषा पुरन्धिः) स्त्री कुटुम्ब को धारण करने में समर्थ हो । (जिष्णुः रथेष्ठाः) रथ पर स्थित वीर विजयशील हो । (अस्य यजमानस्य) सब को वेतन और जीवन वृत्ति देने हारे राजा के राष्ट्र में (सभेयः युवा) सभा में साधु उत्तम वक्ता और युवा, स्त्रियों के हृदयों का ग्रहण करने वाला, (वीरः) वीर्यवान् पुरुष (आ जायताम्) हो । (नः) हमारे राष्ट्र में (निकामे निकामे) प्रत्येक प्रार्थना के अवसर पर जब जब भी हमें आवश्यकता हो तब २ (पर्जन्यः वर्षतु) मेघ बरसे । (नः) हमारी (ओषधयः) ओषधि, अन्न आदि (फलवत्यः) फल वाली होकर (पच्यन्ताम्) पकें । (नः) हमारे राष्ट्र में (योगक्षेमः) जो धन पहले प्राप्त न हो वह प्राप्त हो, जो प्राप्त है वह सुरक्षित (कल्पताम्) रहे ।

प्राणाय॒ स्वाहा॑पा॒नाय॒ स्वाहा॑ व्या॒नाय॒ स्वाहा॒ चक्षु॑षे॒ स्वाहा॒ श्रोत्रा॑य॒ स्वाहा॒ वाचे स्वाहा॒ मन॑से॒ स्वाहा ॥ २३ ॥

प्राणादयो देवताः । स्वराडनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(प्राणाय) भीतर से बाहर आने वाला निःश्वास 'प्राण' है । और (अपानाय) बाहर से भीतर जाने वाला उच्छ्वास अपान है । अथवा इससे विपरीत समझें । अथवा नाभि तक संचरण करने वाला श्वासोच्छ्वास 'प्राण' है । नाभि से गुदा तक व्याप्त, एवं नीचे की तरफ़ के मलों को बाहर करने वाला बल 'अपान' है । इन दोनों को (स्वाहा) योग क्रिया से वश करना चाहिये । (व्यानाय स्वाहा) इसी प्रकार शरीर के अन्य शिर, बाहु, जंघा आदि में विद्यमान प्राण ही 'व्यान' है । उसका भी उत्तम रीति से ज्ञान और अभ्यास करना चाहिये । (चक्षुषे स्वाहा, श्रोत्राय स्वाहा) चक्षु को उत्तम रीति से देखने के कार्य में लगाओ, एवं दर्शन शक्ति को उत्तम

रीति से प्राप्त करो । श्रोत्र को गुरु के उपदेश में लगाओ और श्रवण शक्ति की वृद्धि करो । (वाचे स्वाहा, मनसे स्वाहा) वाणी को उत्तम रीति से योग करो और मन को उत्तम रीति से एकाग्र करो । शरीर में प्राण, अपान, व्यान, चक्षु, श्रोत्र वाग् और मन को हृष्ट पुष्ट करो इसी प्रकार राष्ट्र शरीर के इन भागों को भी पुष्ट करो ।

प्राच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा दक्षिणायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा प्रतीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोदीच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहोर्ध्वायै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा ॥ २४ ॥

दिशो देवताः । निचृदतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(प्राच्यै दिशे) सूर्य प्रातः जिस दिशा को प्रथम स्पर्श करता है वह सूर्योदय की दिशा 'प्राची' है । (अर्वाच्यै दिशे) उसके समीप की कोण दिशा 'अर्वाची' है । (दक्षिणायै दिशे) पूर्वाभिमुख के दाहिने हाथ की दिशा 'दक्षिणा' है उसके समीप की (अर्वाच्यै दिशे) एक कोण दिशा 'अर्वाची' है । (प्रतीच्यै दिशे) पूर्वाभिमुख खड़े पुरुष की पीठ पीछे की दिशा 'प्रतीची' या पश्चिम दिशा है । उसके पास की दिशा (अर्वाच्यै दिशे) 'अर्वाची' है । (उदीच्यै दिशे) पूर्वाभिमुख पुरुष के बायें हाथ की दिशा 'उदीची' है उसके समीप की दिशा (अर्वाच्यै दिशे) 'अर्वाची' है । इसी प्रकार (ऊर्ध्वायै दिशे, अर्वाच्यै दिशे) पुरुष के शिर के ऊपर की दिशा ऊर्ध्वा है उसके पास की कोण-दिशा 'अर्वाची' है । और (अवाच्यै, अर्वाच्यै दिशे) पैरों के नीचे की दिशा 'अवाची' और उसकी कोण दिशा 'अवाची' है ।

इस प्रकार ६ दिशाएं, १२ उपदिशाएं हैं उनका उत्तम रीति से ज्ञान और उपयोग करो । इसी प्रकार राष्ट्र की सभी दिशाओं की उत्तम रीति

से रक्षा और विजय करनी चाहिये । इसी प्रकार विजिगीषु और प्रजापति की भी दिशाएं हैं । देखो व्रात्यसूक्त अथर्ववद ।

अद्भ्यः स्वाहा वार्भ्यः स्वाहोदकाय स्वाहा तिष्ठन्तीभ्यः स्वाहा स्रवन्तीभ्यः स्वाहा स्यन्दमानाभ्यः स्वाहा कूप्याभ्यः स्वाहा सूद्याभ्यः स्वाहा धार्याभ्यः स्वाहार्णवाय स्वाहा समुद्राय स्वाहा सरिराय स्वाहा ॥ २५ ॥

जलादयो देवताः । अष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(अद्भ्यः) सामान्य जल, (वार्भ्यः) रोगनिवारक, उत्तम जल, (उदकाय) गहरे प्रदेशों से ऊपर निकाले गये या गीला करने वाले, (तिष्ठन्तीभ्यः) एक स्थान पर खड़े रहने, या स्थिर परिमाण वाले (स्रवन्तीभ्यः) चूने या झरने वाले, (स्यन्दमानाभ्यः) प्रवाह से या नदी रूप से प्रवाह में बहने वाले, (कूप्याभ्यः) कूप के जल, (सूद्याभ्यः) झरनों के जल, (धार्याभ्यः) पात्रादि में धरे जल, (अर्णवाय) समुद्र और (समुद्राय) आकाशस्थ जल (सरिराय) वायुस्थ अथवा मध्यस्थ जल । इन सब को (स्वाहा) उत्तम रीति से शुद्ध करो, प्रयोग करो, संग्रह करो, उपयोग में लाओ जिससे सुख हो । जलों के समान प्रजाओं और सेनाओं के भी इतने भेद जानने चाहियें राजा उनको वश करे । जैसे आप्त प्रजा-जन 'आपः' हैं । शत्रुवारक वीर प्रजाएं 'वार्' हैं । सदा खड़े रहने वाली सावधान वीर सेनाएं 'तिष्ठन्ती' हैं । साधारण वेग से जाने वाली 'स्रवन्ती' हैं । रथ-वेग से दौड़ने वाली 'स्यन्दमाना' हैं । गहरी खाइयों की आड़ में बैठी 'कूप्या' हैं । शत्रु पर प्रहार करने वाली 'सूद्या' हैं । विशेष अवसर के लिये सुरक्षित सेनाएं 'धार्या' हैं । संग्रहीत समस्त सेना समूह 'अर्णव' है, और उमड़ती सेनाएं 'समुद्र' हैं और शत्रु पर आक्रमण करती सेना 'सरिर' हैं ।

वाताय॒ स्वाहा॑ धू॒माय स्वाहा॒भ्राय॒स्वाहा॑ मे॒घाय॒ स्वाहा॑ वि॒द्यो-
तमानाय स्वाहा॑ स्त॒नय॑ते॒ स्वाहा॑व॒स्फूर्ज॑ते॒ स्वाहा॒ वर्ष॑ते॒ स्वाहा॑-
व॒वर्ष॑ते॒ स्वाहो॒ग्रं वर्ष॑ते॒ स्वाहा॑ शी॒घ्रं वर्ष॑ते॒ स्वाहो॒द्गृह्ण॑ते स्वा-
हो॒द्गृही॑ताय स्वाहा॑ मु॒ष्ण॒ते स्वाहा॑ शी॒काय॒ते॒ स्वाहा॒ मुष्णं॑त्य॒: स्वाहा॑ ह्रादुनी॒भ्य॒: स्वाहा॑ नीहा॒राय॒ स्वाहा॑ ॥ २६ ॥

विराड्अभिकृतिः । ऋषभः ॥

भा०—(वाताय, स्वाहा) बहने वाली, तीव्र वायु का उत्तम उपयोग करो, उसके समान प्रबलता से शत्रु पर आक्रमण करने और शत्रुरूप वृक्ष को तोड़ने वाले सेनापति का आदर करो। अथवा (स्वाहा) उसको उत्तम बल प्राप्त हो। (धूमाय स्वाहा) धूम, और धूम के समान नीले मेघ, उत्तम रीति से उत्पन्न हों। धूम अर्थात् शत्रु को कंपाने वाले को आदर, बल, मान प्राप्त हो। (अभ्राय स्वाहा) वर्षणकारी मेघ की पूर्व दशा के मेघ अच्छे प्रकार बनें। अभ्र अर्थात् बदली के समान राष्ट्र या शत्रु सेना पर छा जाने वाले को उत्तम अधिकार, मान आदर प्राप्त हो। (मेघाय स्वाहा) जल बर्षाने वाला 'मेघ' कहाता है, उसी के समान प्रजा पर सुखों की वर्षा करने वाला पुरुष भी 'मेघ' है, उसका आदर हो। (विद्योतमानाय स्वाहा) विविध विद्युतों को पैदा करने वाला मेघ 'विद्योतमान' है उसकी उत्पत्ति हो। और विविध विद्याओं और गुणों से प्रकाशमान और अन्यों को प्रकाश देने वाला पुरुष 'विद्योतमान' है, उसको आदर और उन्नति प्राप्त हो। (स्तनयते स्वाहा) गर्जते हुए मेघ की वृद्धि हो। सिंहनाद करते पुरुष की वृद्धि हो। (अवस्फूर्जते स्वाहा) नीचे विद्युतें फेंकते हुए मेघ बढ़ें। और उस मेघ के समान ही आग्नेयास्त्रों का शत्रु पर प्रयोग करने वाले वीर सेनापति की विजय हो। (वर्षते स्वाहा, उग्रं वर्षते स्वाहा) बरसते

२६—' प्रश्नते ' इति काण्व० ।

हुए, प्रचण्ड वेग से बरसते हुए और भयंकर तीव्रता से बरसते हुए मेघ बढ़ें और लाभकारी हों। उनके समान प्रजाओं पर सुखों की और शत्रुओं पर शस्त्रों की वर्षा करते हुए शत्रुओं पर भयंकरता से शस्त्र बरसाते हुए और अति शीघ्रता से अस्त्र फेंकते हुए वीर सेनापति की वृद्धि और विजय हो। (उद्गृह्णते स्वाहा, उद्गृहीताय स्वाहा) जलों को पुनः ऊपर उठाते हुए, और खूब जल लेलेने वाले मेघ अच्छी प्रकार उठें और बरसें। उनके समान शत्रु से और मित्र राष्ट्र और अपने राष्ट्र से बल, धन, ऐश्वर्य संग्रह करते हुए और कर चुके हुए वीर पुरुष की वृद्धि और विजय हो। (प्रुष्णते स्वाहा) स्थूल बूंदों से सींचते हुए या नदी ताल आदि को भरते हुए मेघ की वृद्धि हो। और प्रजा पर स्नेह से देखते हुए उस पर कृपा करते और धनधान्य से पूर्ण करते हुए की सदा वृद्धि और यश हो। (शीकायते स्वाहा) सेचन करते हुए, फुहार छोड़ते हुए मेघ की अच्छी प्रकार से उत्पत्ति हो। और इसी प्रकार सुखकारी धनधान्य, उपकारों और सद्वचनों से प्रजा पर सुख सेचन करते हुए राजा की खूब वृद्धि हो। (प्रुष्वाभ्यः स्वाहा) मेघ के स्थूल बिन्दु सेचन करने वाली धाराओं की वृद्धि हो, राजा की भयंकर प्रजा को समृद्ध करने वाली शक्तियों की वृद्धि हो। (हादुनीभ्यः स्वाहा) शब्द करने वाली विद्युते बढ़ें। राजा की गरजती तोपें बढ़ें। (नीहाराय स्वाहा) कुहरे की वृद्धि हो। उसके समान शत्रु की लक्ष्मी को निःशेष रूप से हर लेने वाले सेनापति और राजा की वृद्धि हो।

इस मन्त्र में मेघ की सब दशाओं का और उसके समान आचरण करने वाले वीर सेनापति का वर्णन और उसकी वृद्धि की प्रार्थना भी है।

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेन्द्राय स्वाहा पृथिव्यै स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा दिग्भ्यः स्वाहाशाभ्यः स्वाहोर्व्यै दिशे

स्वाहार्वाच्यै दिशे स्वाहा ॥ २७ ॥

अग्न्यादयो देवताः । जगती । निषादः ॥

भा०—(अग्नये स्वाहा) अग्नि का सदुपयोग, जाठराग्नि की वृद्धि और स्वस्थता तथा अग्रणी नेता का अभ्युदय हो । (सोमाय स्वाहा) सोम आदि ओषधि रस प्राप्त हों, सब के प्रेरक राजा की उन्नति हो । (इन्द्राय स्वाहा) जीव की उन्नति हो, परमेश्वर प्रसन्न हो, विद्युत् गुणकारी हो, वह ऐश्वर्य सुख प्रदान करे । (पृथिव्यै स्वाहा) पृथिवी, (अन्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा) अन्तरिक्ष और २ द्यौ तीनों लोक सुखकारी हों, (आशाभ्यः स्वाहा) आशाएं दिशाएं सुखकारी हों, प्रजाएं बढ़ें, (ध्रुवायै दिशे स्वाहा) ऊपर की दिशा और (अर्वाच्यै दिशे स्वाहा) नीचे की दिशा ये सब खूब फलें, फूलें और सुखकारी हों।

नक्षत्रेभ्यः स्वाहा नक्षत्रियेभ्यः स्वाहाहोरात्रेभ्यः स्वाहार्धमासेभ्यः स्वाहा मासेभ्यः स्वाहर्तुभ्यः स्वाहार्तवेभ्यः स्वाहा संवत्सराय स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा चन्द्राय स्वाहा सूर्याय स्वाहा रश्मिभ्यः स्वाहा वसुभ्यः स्वाहा रुद्रेभ्यः स्वाहा दित्येभ्यः स्वाहा मरुद्भ्यः स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा मूलेभ्यः स्वाहा शाखाभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा पुष्पेभ्यः स्वाहा फलेभ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥

नक्षत्रादयो देवताः । भुरिगष्टी । मध्यमः ।

भा०—(नक्षत्रेभ्यः, नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा २) नक्षत्र, जो कभी अपने स्थान से च्युत नहीं होते और 'नक्षत्रिय', नक्षत्रों में गति करने वाले ग्रह, उपग्रह, ये सभी हमें सुखकारी हों । (अहोरात्रेभ्यः, अर्धमासेभ्यः, ऋतुभ्यः, आर्त्तवेभ्यः, संवत्सराय स्वाहा ५) दिन-रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु और ऋतुओं में होने वाले विशेष परिवर्त्तन और संवत्सर ये हमें सुखकारी हों । (द्यावापृथिवीभ्यां, चन्द्राय, सूर्याय, रश्मिभ्यः स्वाहा ४) द्यौ, पृथिवी,

चन्द्र, सूर्य और रश्मियें सुखकारी हों। इनके शुभ लक्षण प्रकट हों। (वसुभ्यः रुद्रेभ्यः आदित्येभ्यः स्वाहा ३) आठ वसु, पृथिवी आदि ११ रुद्र= प्राण आदित्य द्वादश मास या अविनाशी काल के अवयव और (मरुद्भ्यः स्वाहा) नाना वायुएं ये हमें सुखकारी हों। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) समस्त अन्य दिव्य शक्तियां सुखकारी हों। (मूलेभ्यः शाखाभ्यः वनस्पतिभ्यः, पुष्पेभ्यः, फलेभ्यः ओषधीभ्यः स्वाहा ६) मूल, शाखा, वनस्पतियें, फूल, फल और ओषधिगण ये सब हमारे लिये सुखकारी हों और हम उन सब उक्त पदार्थों को सुखकारी बनाने के उत्तम साधन उपस्थित करें।

पृथिव्यै स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्य्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा ॥ २६ ॥

पृथिव्यादयो देवताः। निचृदत्यष्टिः। गान्धारः॥

भा०—(पृथिव्यै, अन्तरिक्षाय, दिवे, सूर्याय, चन्द्राय, नक्षत्रेभ्यः स्वाहा) पृथिवी, अन्तरिक्ष, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र ये सब हमें सुख दें, हम इनको सुखकारी बनाने के उत्तम उपाय करें। (अद्भ्यः ओषधीभ्यः वनस्पतिभ्यः स्वाहा) जल, ओषधि और वनस्पति उनको हम उत्तम बनाने का साधन करें जिससे ये सुखकारी हों। (परिप्लवेभ्यः चराचरेभ्यः सरीसृपेभ्यः स्वाहा) आकाश में स्वच्छन्दता से विहार करने, उपद्रव करने वाले धूमकेतु उल्का आदि, चराचर प्राणि और सर्प आदि रेंगने वाले जन्तु ये सभी हमें सुखकारी हों, हम इनको सुखकारी बनाने का उत्तम उपाय करें।

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहाभिभुवे स्वाहाधिपतये स्वाहा शूषाय

स्वाहा॑ स॒र्पाय॒ स्वाहा॑ च॒न्द्राय॒ स्वाहा॒ ज्योति॑षे॒ स्वाहा॑ मलिम्लु॒चाय॒ स्वाहा॒ दिवा॑ प॒तय॑ते॒ स्वाहा॑ ॥ ३० ॥

अस्वादयो देवताः । कृतिः । निपादः ॥

भा०—(असवे स्वाहा) शरीर के रोगों को बाहर फेंकने वाले 'प्राण' की हम उत्तम साधना करें । (वसवे स्वाहा) शरीर में बसने वाले जीव की उत्तम साधना करें । (विभुवे स्वाहा) व्यापक वायु और परमेश्वर की हम साधना और उपासना करें । (विवस्वते स्वाहा) विविध वसु, वास योग्य लोकों को धारण करने वाले सूर्य को हम सुखकारी बनावें । इसी प्रकार शत्रु को बाहर निकालने के लिये अस्त्रों के फेंकने वाला 'असु', प्रजा को बसाने वाला 'वसु', विशेष सामर्थ्यवान् 'विभु', विविध ऐश्वर्यों से युक्त 'विवस्वान्', इन सब प्रकार के उत्तम आदर योग्य पुरुषों का हम आदर करें । (गण-श्रिये) गण, संघ, सैनिक संघ से सुशोभित या संघों में सुशोभित सैनिकों को उत्तम अन्न आदि पदार्थ प्राप्त हों । (गणपतये स्वाहा) उन गणों के पालक का उत्तम आदर हो । (अभिभुवे स्वाहा) सन्मुख जाने वाले का और (आधिपतये) अधिपति का उत्तम मान आदर हो । (शूषाय स्वाहा) सैन्य बल की उत्तम वृद्धि और विजय लाभ हो । (संसर्पाय स्वाहा) शत्रुगण में गुप्त रूप से फैल कर उनके भेद लेने वालों को उत्तम जीविका प्राप्त हो । (चन्द्राय स्वाहा) आह्लादकारी पुरुष को और (ज्योतिषे) दीप्ति प्रकाश के उत्पादक को उत्तम पद प्राप्त हो । (मलिम्लुचाय स्वाहा) मारा मारी करके दूसरे के धन हरण करने वाले दुष्ट पुरुष का अच्छा दमन हो । और (दिवापतये स्वाहा) दिन के पालक अथवा दिन के समय दूर तक चलने वाले पथिक की उत्तम रक्षा हो ।

मधवे॒ स्वाहा॑ माधव॒राय॒ स्वाहा॑ शु॒क्राय॒ स्वाहा॑ शु॒चये॒ स्वाहा॑ नभ॑से॒ स्वाहा॑ नभ॒स्या॑य॒ स्वाहे॒षाय॒ स्वाहो॒र्जाय॒ स्वाहा॑ स॒हसे॒

स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहाऽहसस्पतये स्वाहा ॥ ३१ ॥

मध्वाद्यो देवताः । भुरिगत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(मधवे स्वाहा) मधुरादि गुणों के उत्पादक 'मधु' नाम चैत्र को हम सुखकारी बनावें। इसी प्रकार (माधवाय, शुक्राय, शुचये, नभसे, नभस्याय, इषाय, ऊर्जाय, सहसे, सहस्याय, तपसे, तपस्याय, स्वाहा) वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण भाद्र, आश्विन, कार्त्तिक, मार्गशीर्ष, पौष माघ और फाल्गुन इन समस्त मासों को हम सुखकारी बनायें। और (अंहसः पतये स्वाहा) सब मासों में अवशिष्ट तिथियों के रूप में लेटे हुए काल के पालक १३ वें मल मास को भी हम सुखदायी बनावें। इसके अतिरिक्त संवत्सर के समान प्रजापति के ये द्वादश मासों के समान द्वादश अधिकारी और तदनुसार प्रजापति राजा के १३ स्वरूपों के भी क्रम से ये नाम हैं।

मधुर स्वभाव होने से 'मधु', अन्न आदि मधु या उनका उत्पादक प्रबन्धक 'माधव', शुद्धि करने एवं तेजस्वी होने से 'शुक्र', ज्योतिष्मान्, सत्य व्यवहारवान् होने से 'शुचि', जलवर्षक होने या सब को बांधने वाला प्रबन्धक होने से 'नभस्', उस कार्य में उत्तम सहायक 'नभस्य' अन्नोत्पादक होने से 'इष्', बलोत्पादक या पराक्रमी होने से 'ऊर्ज', शत्रुदमन कारी बलवान् 'सहस्', उसका उत्तम सहयोगी 'सहस्य' शत्रुतापक 'तपस्', उसका उत्तम सहयोगी 'तपस्य' और पापी पुरुषों का अध्यक्ष जेलर 'अंहस्पति' ये राजपदाधिकारी समझने चाहियें।

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा स्वः स्वाहा मूर्धने स्वाहा व्यश्नुविने स्वाहान्त्यायन भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥३२॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा प्राणो यज्ञेन कल्पतां स्वाहापानो

य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ स्वाहा॑ व्या॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ स्वाहो॑दा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ स्वाहा॑ स॒मा॒नो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳस्वाहा॒ चक्षु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्प॒ता॒ꣳस्वाहा॒ श्रोत्रं॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳस्वाहा॒ वाग्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳस्वाहा॒ मनो॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ स्वाहा॒त्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ स्वाहा॑ ब्र॒ह्मा य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ स्वाहा॒ ज्योति॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳ स्वाहा॒ स्वर्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳस्वाहा॑ पृ॒ष्ठं य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ꣳस्वाहा॑ य॒ज्ञो य॒ज्ञेन॑ कल्प॒ता॒ꣳस्वाहा॑ ॥ ३३ ॥

भा०—(३२ । ३३) की व्याख्या देखो क्रम से, अ० १८ मन्त्र २८ । २९ ॥ (स्वः स्वाहा,) सुख और प्रकाश हमें उत्तम रीति से प्राप्त हो, (मूर्ध्नें स्वाहा) शिर हमारा उत्तम सुख प्राप्त करे, उसको हम उत्तम रीति से शुद्ध पवित्र बलवान् करें। (व्यश्नुविने स्वाहा) विविध अंगों में व्यापक, वीर्य और उसके समान बलकारी पुरुष की वृद्धि हो।

(प्राणः अपानः, व्यानः, उदानः, समानः, यज्ञेन, कल्पताम्, स्वाहा) प्राण अपान, व्यान, उदान, समान पांचों शरीरस्थ वायुएं हमारे यज्ञ, परस्पर संगति, योगाभ्यास और साधना से अधिक बलशाली हों।

एक॑स्मै स्वाहा॒ द्वाभ्या॑ꣳ स्वाहा॑ श॒ताय॒ स्वाहैक॑शताय॒ स्वाहा॒ व्यु॒ष्ट्यै॒ स्वाहा॑ स्व॒र्गाय॒ स्वाहा॑ ॥ ३४ ॥

एकादयो देवताः । अरिगुष्ठिक् । धैवतः ॥

भा०—(एकस्मै, द्वाभ्यां, स्वाहा) एक परमेश्वर, दो कार्य और कारण, इनको उत्तम साधना से साधो। ईश्वर की उपासना करो और कार्य और कारण का ज्ञान करो ! इसी प्रकार (एकस्मै, द्वाभ्यां, त्रिभ्यः, चतुर्भ्यः, इत्यादि) एक, दो, तीन, चार, पांच आदि सभी संख्या से परिमित

३३—'आन्त्यायाय स्वाहा. आन्त्यायनाय स्वाहा भौ०' इति काण्व०।

पदार्थों को सुख से प्राप्त करो, उनका सदुपयोग करो। और इन संख्या से परिमित आयु के वर्ष भी सुखकारी हों। उनको हम सुखकारी बनावें। और अन्त में सौ वर्ष तक जीवें तब (शताय स्वाहा) सौ वर्ष का जीवन भी सुखकारी हो और अधिक जीवन हो तो (एकशताय स्वाहा) एक-सौ एकवां वर्ष भी सुखकारी हो। इससे अधिक की गणना दो, तीन आदि पहले कह चुके। विशेष पाप भावों को दहन करने वाली शक्ति की (व्युप्ट्यै स्वाहा) उन्नति हो, वह हमें प्राप्त हो। और (स्वार्गाय स्वाहा) स्वर्ग, अर्थात् सुख देनेवाले पदार्थ और उसके निमित्त पुरुषार्थ हमें उत्तम रीति से प्राप्त हों, उस आनन्दमय मोक्ष को हम साधना करें।

॥ इति द्वाविंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये एकविंशोऽध्यायः ॥

॥ अथ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १३ । ४ ॥

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिः सूर्य्यस्ते महिमा । यस्तेऽहन्त्संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते वाया-२वन्तरिक्षे महिमा सम्बभूव यस्ते दिवि सूर्य्ये महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये स्वाहा देवेभ्यः ॥ २ ॥

प्रजापतिर्देवो देवता । निचृदाकृतिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (उपयाम-गृहीतः असि) राजव्यवस्था या समस्त प्रजा के निर्धारित राजनियमों द्वारा स्वीकृत या बद्ध है (जुष्टं) सबके प्रेमपात्र (त्वा) तुझको (प्रजापतये) प्रजापति के पद के लिये (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं और नियुक्त करता हूं । (ते एषः योनिः) तेरा यह स्थान, पद, अधिकार है । (सूर्यः ते महिमा) सूर्य तेरा महान् सामर्थ्य है । अर्थात् सूर्य तेरे बड़े अधिकार और सामर्थ्य को बतलाता है । अर्थात् सूर्य जिस प्रकार दिन को प्रकट करता है वह अन्धकार को नाश करता है इससे दिन में सूर्य का महान् सामर्थ्य प्रकट होता है, उसी प्रकार शत्रुरूप अन्धकार और अज्ञान को नाश करके प्रजा में सुख, शान्ति और ज्ञानप्रकाश फैला कर सब प्रजाजन को कार्यों में प्रवृत्त कराने रूप (यः) जो (ते) तेरा (अहनि) दिन में दिन के समान तेरे उज्ज्वल

२—वाया अन्तरिक्षे० इति काण्व० ।

राज्य में (महिमा) महान् सामर्थ्य (संबभूव) अच्छी प्रकार प्रकट हो रहा है और (संवत्सरे) सूर्य जैसे वर्ष में १२ मासों को उत्पन्न कर उनमें भूलोक से जल ग्रहण कर, पुनः वर्षा कर अन्नादि उत्पन्न करता, एवं समस्त प्राणियों को पालन करता है उसी प्रकार प्रजा से कर लेकर दुष्टों का दमन कर, सब को वर्षा के समान शान्ति देकर, ऐश्वर्य को प्रजा के हित लगा कर (संवत्सरे) पुनः समस्त प्रजाओं को एकत्र बसा देने रूप कार्य में (यः ते महिमा) जो तेरा महान् सामर्थ्य है, और (वायौ) वायु जिस प्रकार सब प्राणों का आधार है उसी प्रकार सब के जीवनों का आधार होने से (यः) जो तेरा महान् सामर्थ्य (वायौ) वायु नाम महाभूत में और (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष जिस प्रकार सब को आच्छादित करता है उसी प्रकार सब पर छत्र-छाया रखने वाले तेरा (यः) जो (महिमा) महान् सामर्थ्य (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (संबभूव) प्रकट होता है। अथवा—(अन्तरिक्षे वायौ) अन्तरिक्ष में जिस प्रकार वायु सर्वव्यापक और वेगोंकेटोक बड़े वेग से व्यापता, गति करता है उसी प्रकार तू (अन्तरिक्षे) अपने और शत्रु राष्ट्र के बीच में स्थित मध्यम राष्ट्र में वेरोक गति करने का बड़ा प्रबल, महान् सामर्थ्य है, (दिवि सूर्ये) परले महान् आकाश में जिस प्रकार सूर्य प्रखर तेज से चमकता है, कभी अस्त नहीं होता, सबको प्रकाशित करता है उसी प्रकार (दिवि) तेजोमय राजसभा में तेरा सूर्य के समान जो प्रखर (यः महिमा संबभूव) महान् सामर्थ्य प्रकट है (तस्मै) उस (ते) तुझ (प्रजापतये) प्रजापालक राजा के (महिम्ने) महान् सामर्थ्य के लिये और (देवेभ्यः) तेरे अन्य देव, दानशील, विजयी, विद्वान् तेजस्वी पुरुषों के लिये भी (स्वाहा) हम उत्तम आदर सत्कार करते हैं। परमेश्वर पक्षमें—योग के यम नियमों से तू साक्षात् किया जाता है। (जुष्टं) अति सेवनीय तुझको (प्रजापतये गृह्णामि) प्रजापालक परमेश्वर करके मानता हूं (एषः) यह समस्त

विश्व (ते) तेरा निवासस्थान है । (सूर्यः ते महिमा) सूर्य तेरी महिमा है, (यः ते अहन् संवत्सरे) प्रतिदिन और प्रतिवर्ष में जो तेरा महान् सामर्थ्य (सं बभूव) प्रकट होता है, (यः ते महिमा वायौ अन्तरिक्षे संबभूव) जो तेरी महिमा वायुगण और अन्तरिक्ष में विद्यमान है और (यः ते दिवि सूर्ये महिमा) जो तेरा महान् सामर्थ्य तेजोमय सूर्य में प्रकट है उस महान् सामर्थ्य स्वरूप समस्त प्रजापालक परमेश्वर की और (देवेभ्यः) उसके प्रकट दिव्य गुणों की मैं (सु-आहा) सदा उत्तम स्तुति करूं ।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥

कः प्रजापतिर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—परमेश्वर पक्षमें—(यः) जो परमेश्वर (महित्वा) अपने महान् सामर्थ्य से (प्राणतः) प्राण लेने वाले और (निमिषतः) नेत्रादि के चेष्टा करने वाले सजीव, चर (जगतः) जगत् का (एक इत्) एकमात्र (राजा बभूव) राजा है । और (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये मनुष्य, पक्षी और (चतुष्पदः) चौपाये पशु संसार का भी (ईशे) स्वामी है, (कस्मै देवाय) उस 'क' प्रजा के विधाता, परमेश्वर, प्रजापति, देव, सर्वद्रष्टा, सर्व सुखदाता के लिये (हविषा) भक्ति से (विधेम) स्तुति, सेवा, प्रार्थना करें ।

राजा के पक्षमें—(यः) जो (महित्वा) अपने बड़े सामर्थ्य से समस्त प्राणधारी जगत् का राजा है, और दुपाये चौपायों का स्वामी है, उस राज्यकर्त्ता, विधाता, प्रजापति का हम (हविषा) उसकी आज्ञानुसार चल कर अथवा अन्नादि भेंट योग्य पदार्थ द्वारा (विधेम) सत्कार करें ।

उपयामगृहीतोऽसि प्रजापतये त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिश्चन्द्र-मास्ते महिमा। यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूव यस्ते पृथिव्यामग्नौ महिमा सम्बभूव यस्ते नक्षत्रेषु चन्द्रमसि महिमा सम्बभूव तस्मै ते महिम्ने प्रजापतये देवेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

विकृति । मध्यमः ॥

भा०—(उपयामगृहीतः असि०) इत्यादि पूर्ववत्। हे राजन्! (ते महिमा चन्द्रमाः) तेरे महान् सामर्थ्य का एक स्वरूप चन्द्र है। अर्थात् तू चन्द्र के समान सबको आह्लादित, सुखी करता, रात्रि में भी प्रकाश और पहरेदारी करता है। अर्थात् (यः ते रात्रौ संवत्सरे महिमा) जो तेरा महान् सामर्थ्य रात्रि और संवत्सर में (सं बभूव) प्रकट होता है और (यः ते महिमा पृथिव्याम् अग्नौ सं बभूव) जो तेरा महान् सामर्थ्य पृथिवी पर अग्नि अर्थात्—शत्रुसाधक नायक अग्रणी के रूप में प्रगट होता है, (यः ते महिमा) जो तेरा महान् सामर्थ्य (नक्षत्रेषु चन्द्रमसि) नक्षत्रों और उसके बीच में उपस्थित चन्द्रमा में (सं बभूव) प्रकट है, उस (ते प्रजापतये महिम्नः) तुझ प्रजापति के महान् सामर्थ्य और (देवेभ्यः) तेरे दिव्य गुणों के लिये (स्वाहा) हम तेरा आदर सत्कार करते हैं। राजा का महान् सामर्थ्य रात्रि में कैसे? रात्रि में जिस प्रकार चन्द्र प्रकट होता है, उसको प्रकाशित करता है और रात्रि चन्द्र को अधिक उज्ज्वल करती है इसी प्रकार ऐश्वर्यों को देनेवाली, समस्त प्राणियों को रमण कराने वाली राजसभा या राष्ट्र—शक्ति में राजा की महत्ता प्रकट होती है। जिस राजव्यवस्था में प्रजाएं सुखी, रात को सुख से निर्भय रहेंगी वह व्यवस्था राजा की महिमा है। इसी प्रकार चन्द्रमा संवत्सर में नाना स्वरूप प्रकट करता है। सभी मासों, पक्षों का प्रवर्त्तक है। उसी प्रकार जो संवत्सररूप राष्ट्र है जिसमें सब प्राणी एकत्र सुख से रहते हैं, उसमें चन्द्र

स्वरूप राजा की महत्ता प्रकट होती है। पृथिवी पर अग्नि की महती सत्ता प्रकट होती है, वह सब को भस्म कर देती है उसी प्रकार राजा पृथिवी पर समस्त प्रतिद्वन्द्वी शत्रुओं को भस्म कर देता है। नक्षत्रों के बीच में जैसे चन्द्रमा की शोभा है वैसे ही 'नक्षत्र' अर्थात् क्षत्र-बल से रहित प्रजाओं के बीच क्षत्रिय राजा की शोभा है।

परमेश्वर के पक्षमें—परमेश्वर का महान् सामर्थ्य चन्द्र है उसका महान् सामर्थ्य रात्रि में, संवत्सर में, पृथिवी में, अग्नि में, नक्षत्रों में, चन्द्रमा में, सभी दिव्य पदार्थों में विद्यमान है। उन्हीं दिव्य गुणों के लिये हम प्रजापालक परमेश्वर की स्तुति उपासना करें।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ५ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। सूर्यराजाऽऽत्मपरमेश्वराः स्तुतिविषया देवताः। गायत्री षड्जः।

भा०—परमेश्वर पक्षमें—जो विद्वान्, योगाभ्यासी जन (ब्रध्नम्) महान्, सूर्य के समान, सब के मध्य में स्थित होकर, सबको अपनी आकर्षण शक्ति से बांधने वाले, (परि तस्थुषः) अपने चारों ओर स्थिर चेतना रहित, महान्, पांच भूत आदि प्रकृति के विकार-पदार्थों के भीतर और बाहर सब प्रकार से (चरन्तम्) व्यापक (अरुषं) शरीर के सभी मर्मों में विराजमान आत्मा को (युञ्जन्ति) योग द्वारा साक्षात् करते हैं। वे (दिवि) ज्ञानमय मोक्ष में (रोचनाः) स्वतः दीप्तिमान् एवं यथा काम, यथारुचि होकर (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं।

आत्मा के पक्षमें—जो योगाभ्यासी (परितस्थुषः) चारों ओर स्थित इन्द्रियों में व्याप्त, (ब्रध्नम्) सब को अपने साथ बांधने वाले आत्मा को, अथवा, (तस्थुषः) स्थावर या स्थूल स्थिर देहों के (परि)

आधार पर (चरन्तम्) भोग करने हारे (अरुपम्) मर्मों में व्यापक आत्मा को योग द्वारा प्राप्त करते हैं वे (दिवि) ज्ञान प्रकाश में (रोचनाः) यथेष्ट प्रज्वलित होकर (रोचन्ते) सबके प्रीतिपात्र होते हैं, अथवा प्रकाशित होते हैं, अथवा यथेष्ट कामों को प्राप्त करते हैं ।

सूर्यपक्षमें—(दिवि) आकाश में (रोचनाः) तेजस्वी नाना सूर्य (रोचन्ते) चमकते हैं । (परि तस्थुपः) चारों ओर स्थित ग्रहों तक (चरन्तम्) प्रकाश से व्यापनेवाले (ब्रध्नम्) उनको आकर्षण सामर्थ्य से बांधने वाले (अरुपम्) अति दीप्त सूर्य को (युञ्जन्ति) सब के सञ्चालक रूप से नियुक्त करते हैं ।

राजा के पक्ष में—विद्वान् लोग (परितस्थुपः) चारों ओर खड़े रहनेवाले, अनुयायी लोगों और देशों को (चरन्तम्) भोग और पराक्रम द्वारा प्राप्त करनेवाले (अरुपम्) रोष रहित, सौम्य स्वभाव के, (ब्रध्नम्) सूर्य के समान तेजस्वी, सबके बांधनेवाले, उत्तम प्रबन्धकर्त्ता, महान् पुरुष को (युञ्जन्ति) राष्ट्रपति के पद पर नियुक्त करें और (रोचनाः) तेजस्वी पुरुष (दिवि) राजसभा में (रोचन्ते) विराजें ।

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ।
शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ६ ॥

सूर्यो देवता । विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(काम्या) कमनीय, कान्तिमान्, सुन्दर (विपक्षसा) विविध बन्धनों से बंधे (हरी) दो घोड़ों को (रथे) रथ में जिस प्रकार (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं उसी प्रकार (रथे) रमण योग्य इस शरीर में (काम्या) कान्तियुक्त, (विपक्षसा) विविध उपायों से वश में आये (हरी) वेगवान् प्राण और अपान को (युंजन्ति) योग द्वारा नियुक्त करते हैं । उसी प्रकार योगी जन (अस्य रथे) इस परमेश्वर के परम रस

में अपने (काम्या हरी) कमनीय, सुन्दर वेगवान् ज्ञान और कर्मेन्द्रियों को भी लगा देते हैं। (अस्य रथे) इस राष्ट्रपति के राष्ट्र में भी (काम्या) सब की अभिलाषा के पात्र, (विपक्षसा) विविध पक्ष अर्थात् अनुयायियों वाले, (हरी) समर्थ पुरुषों को (युञ्जन्ति) नियुक्त करते हैं। अश्व कैसे ? (शोणौ) लाल रंग के (धृष्णू) बलवान् दृढ़, (नृवाहसौ) मनुष्यों को ढो लेजाने वाले। प्राणापान कैसे हैं, (शोणौ) गतिशील, (धृष्णू) अन्य समस्त प्राणों को दमन करनेवाले, (नृवाहसौ) शरीर के नेता प्राणों को अपने में धारण करनेवाले। दो विद्वान् नेता कैसे हों ? (शोणौ) ज्ञानी अथवा लाल पोषाक पहनने वाले, अथवा तेजस्वी, (धृष्णू) धर्षणशील, (विपक्षसा) विपक्ष के पराभव करनेवाले, (नृवाहसा) नेता पुरुषों को सन्मार्ग पर लेजाने वाले।

यद्वातोऽ अपो अगंनीगन्प्रियाम्मिन्द्रस्य तन्वम्।
एतꣳ स्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्त्तयासि नः ॥ ७ ॥

भा०—(यद्) जब (वातः) वायु के समान तीव्रगति होकर या प्रचण्ड होकर यह राजा (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् पुरुष के (प्रियाम्) प्रिय (तन्वम्) स्वरूप और (अपः) जल के समान शीतल स्वभाव वाले आप्त प्रजाओं को (अगनीगत्) प्राप्त हो, तब हे (स्तोतः) विद्वन् ! (नः) हमारे (एतं) इस (अश्वम्) राष्ट्र के भोक्ता स्वामी को अश्व के समान (अनेन पथा) इस सन्मार्ग से (आवर्त्तयासि) लेआ। अर्थात् जब राजा अपनी प्रिय प्रजा को प्राप्त होकर स्वयं वायु के समान प्रचण्ड होकर चलने लगे तब विद्वान् पुरुष उसको सौम्य मार्ग में प्रवृत्त करें।

वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा। भूर्भुवः स्वर्लाजीञ्छाचीन्यव्ये गव्यऽ एतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापते ॥ ८ ॥

वाय्वादयो देवताः अत्यष्टिः। गांधारः ॥

भा०—हे राजन् ! (वसवः) वसु नामक विद्वान् जन (त्वा) तुझको (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री मन्त्र से, अथवा पृथ्वी पालन, अथवा ब्राह्मबल से (अञ्जन्तु) ज्ञानवान् एवं युक्त करें । (रुद्राः) रुद्र नैष्ठिक पुरुष (त्वा) तुझको (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुभ मन्त्र से (त्वा अञ्जन्तु) तुझको ज्ञानवान् करें अथवा (रुद्राः) क्षात्रियगण तुझको क्षात्रबल से युक्त करें । (आदित्याः) आदित्य ब्रह्मचारी लोग (त्वा) तुझको (जागतेन छन्दसा) जगती छन्द के मन्त्रों से शिक्षित करें और वैश्यगण व्यापारों द्वारा तुझे समृद्ध करें ।

इसी प्रकार परमेश्वर के स्वरूप को (वसवः) बसनेवाले, जीवगण जीवों के बसाने वाले पृथिवी आदि लोक (गायत्रेण छन्दसा) पृथ्वी लोक के ज्ञान से प्रकाशित करते हैं । (रुद्राः) अन्तरिक्षस्थ वायु प्राण आदि पदार्थ (त्रैष्टुभेन छन्दसा) अन्तरिक्षस्थ जल वायु विद्युत् पदार्थों से परमेश्वर के स्वरूप को प्रकट करते हैं । सूर्य आदि लोक जागत छन्द से अर्थात् नाना जगतों के स्वरूप से ईश्वर के महान् सामर्थ्य को प्रकट करते हैं । हे विद्वान् पुरुषो ! (भूःभुवः स्वः) पूर्व कहे उक्त तीनों लोक हैं भूः, भुवः, स्वः, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और प्रकाशस्थ लोक इन तीनों को तू वश कर । हे (लाजिन्) प्रकाशों से प्रकाशवान् और हे (शाचिन्) शक्ति से शक्तिमान् ! तू उक्त लोकों को अपने वश कर । हे (देवाः) विद्वान् पुरुष ! (यव्ये) जव आदि से बने और (गव्ये) गो दुग्ध आदि के बने पदार्थ के स्वरूप में विद्यमान (एतत्) इस (अन्नम्) भोजन करने योग्य अन्न को (अत्त) खाओ । हे (प्रजापते) प्रजापालक राजन् ! तू भी (एतत् अन्नम्) इस अन्न को (अद्धि) भोजन कर ।

लाजिन् शाचिन् इत्येतत् संबोधनपदद्वयम् । दूरादाह्वाने प्लुतिः । लाजाः दीप्तयोऽस्य सन्तीति लाजी दीप्तिमान् । शाचाः शक्तयोऽस्य सन्तीति स शाची । शक्तिमान् इत्यर्थः ।

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः ।
किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥ ६ ॥

[६-१२] ब्रह्मोद्यम् । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—वतलाओ (कः स्वित्) कौन (एकाकी चरति) अकेला विचरता है ? (कः उ स्वित्) वतलाओ कौन (पुनः) वार २ पैदा होता है ? (किं स्वित्) वतलाओ क्या पदार्थ (हिमस्य) शीत का (भेषजम्) उपाय है ? (किम्) और कौनसा पदार्थ (महत्) वड़ा भारी (आवपनम्) वोने का खेत है ?

सूर्य ऽ एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ १० ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य, सूर्य के समान सवका प्रेरक परमेश्वर और विद्वान् परिव्राट् और राजा (एकाकी चरति) अकेला, अद्वितीय विचरता है । (चन्द्रमाः) चन्द्र जिस प्रकार वार २ पैदा होता है कला घटते २ नाम शेष होकर पुनः कलावृद्धि से वढ़ता है उसी प्रकार जीव आत्मा बालक रूप से बढ़कर युवा होता, पुनः क्षीण होकर मृत्यु द्वारा अदृष्ट हो जाता है, अथवा योग द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होकर पुनः संसार में आता है । इसी प्रकार प्रजा को आह्लादित करनेवाला राजा युद्धादि में क्षीण होकर पुनः समृद्ध हो जाता है । (अग्निः) अग्नि, (हिमस्य) शीत का (भेषजम्) उपाय है । (हिमस्य) हनन करनेवाले शत्रु या दुष्ट पुरुष का वश करने का उपाय भी (अग्निः) अग्नि के समान प्रतापी राजा ही है । (भूमिः) यह भूमि ही (महत् आवपनम्) वड़ाभारी वीज वोने के योग्य खेत है । समस्त स्थूल विकारों को उत्पन्न करनेवाली प्रकृति ही परमेश्वर के वीज वपन का स्थान है । वही 'क्षेत्र' है । परमात्मा 'क्षेत्री' है ।

आदित्यस्य हि सहायनैरपेक्ष्येण जगद्भ्रमणं प्रसिद्धम्। कृष्णपक्षे क्षीणश्चन्द्रः शुक्लपक्षे पुनर्जायत इति प्रसिद्धम्। अग्निसेवया हि शैत्योपद्रवो निवर्त्तते इति सायणः तै० ब्रा० भाष्ये [तै० ब्रा० । ८ । ३ । ६ । ५ ॥]

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥ ११ ॥

भा०—(पूर्वचित्तिः) सबसे पूर्व की स्मरण करने योग्य (का आसीत्) कौनसी स्थिति है। और (किं स्वित्) बताओ ! कौनसा (बृहद् वयः) सबसे बड़ा बल है। (का स्वित्) कौनसी (पिलिप्पिला) 'पिलिप्पिला' सुन्दर अर्थात् शोभावती है ? (का स्वित्) कौनसी (पिशंगिला) 'पिशंगिला' अर्थात् समस्त रूपों को निगल जाने वाली है।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥ १२ ॥

भा०—(द्यौः) द्यौ, वृष्टि ही (पूर्वचित्तिः) 'पूर्वचित्ति' है अर्थात् सबसे प्रथम स्मरण करने योग्य पदार्थ है। (अश्वः) समस्त पदार्थों को भस्मकर खाजाने वाला, सर्वव्यापक अग्नि ही (बृहत् वयः) सबसे बड़ा बल है और (अविः) सब की रक्षिका भूमि (पिलिप्पिला) 'पिलिप्पिला' सब से अधिक शोभा वाली है। (पिशंगिला) और 'पिशंगिला', समस्त पदार्थों के रूपों को निगलजाने वाली (रात्रिः आसीत्) रात्रि है।

राष्ट्र पक्षमें—सबसे पूर्व चयन या निर्माण करने योग्य, (द्यौः) प्रकाश ज्ञानवाली राजसभा है। (अश्वः) सर्व राष्ट्र का भोक्ता राजा या तुरंग बल ही (बृहद् वयः) बड़ा भारी बल है। (अविः) सबकी रक्षा करनेवाली राजशक्ति (पिलिप्पिला) पालन करनेवाली 'राष्ट्र श्री' है। (रात्रिः) समस्त ऐश्वर्यों को प्रदान करनेवाली, सबको रमानेवाली रात्रि, राजशक्ति ही (पिशंगिला) समस्त रूपवान् पदार्थों को अपने भीतर निगल जाती है।

श्रीर्वै पिलिप्पिला । अहोरात्रे वै पिशंगिले । शत० १३ । २ । ६ । १६ ॥ या वृष्टिकारणभूता द्यौः सैव प्रथमतः श्वेतयमाना । प्रथमतो वृष्टौ सत्यां पश्चाद्गोपधिद्वारा सर्वे प्राणिनो जीवन्ति ।। युद्धद्वारा वीरजीवन हेतुत्वादश्वो बृहद्वयः ॥ अतिशयेन रूपवती पिशङ्गिला रात्रिश्च तादृशी चन्द्रिकया नक्षत्रैश्च रूपत्वप्रतिभासात् प्रजासमूहनिमित्तस्य ध्वनिविशेषस्य-पिलिप्पिलेत्यनुकरणं श्रीश्च तथाविधध्वनियुक्ता यस्मिन् गृहे धनं समृद्धिस्तत्र जनबाहुलतया निरन्तरं तथाविधः शब्दो भवति । इति सायणः ।

वायुष्ट्वा पचतैरवत्वसितग्रीवश्छागैर्न्यग्रोधश्चमसैः शल्मलि-र्वृद्धया । एष स्य राथ्यो वृषा पड्भिश्चतुर्भिरेदगन्ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये ॥ १३ ॥

ब्रह्मादयः अश्वो वा देवता । भुरिगतिजगती । निषादः ।

भा०—हे राजन् ! (त्वा) तुझको (वायुः) वायु के समान वेगवान्, शत्रुओं को अपने प्रबल आक्रमण से उखाड़ने वाला वीर पुरुष (पचतैः) अपने शत्रुओं को परिपाक या पीड़न करने के साधनों से (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करे । (असितग्रीवः) नीले गर्दन वाला, अर्थात् नीले मणि या विशेष चिह्न को कण्ठ में पहिनने वाला वीर पुरुष तुझे (छागैः) शत्रुओं के छेदन करने वाले अस्त्रों या वीरों से (अवतु) तेरी रक्षा करे । (न्यग्-रोधः) वट जिस प्रकार ज्यों २ फैलता जाता है त्यों स्थान २ पर अपने मूल छोड़ता है उसी प्रकार जिस २ देश को विजय करता जा र वहां वहां ही छावनी जमा कर राजा के शासन-सूत्रों को छोड़नेहारा 'वनस्पति' नामक अधिकारी (चमसैः) पर राष्ट्र को वश करने या हड़प जाने वाले सैनिकों द्वारा या पिण्डभोजी, वेतनबद्ध भृत्यों से (त्वा अवतु) तेरी रक्षा करे । (शल्मलिः वृद्धया) और सैमर वृक्ष के समान खूब विशाल प्रकाण्ड फैला २ कर बढ़ने और परिणाम में कई

उड़ा २ कर मानो राजा की कीर्त्ति फैलाने वाला अधिकारी या प्रधान माण्डलिक अपनी वृद्धि से तुझे बढ़ावे। (एषः) यह (अस्य) इस राजा का (राथ्यः) रथ समूहों का स्वामी (वृषा) बलवान् सेनापति (चतुर्भिः षड्भिः) चार पदों या अधिकारों से युक्त होकर (आ अगन् इत्) आवे और (अकृष्णः च) अकृष्ण अर्थात् शुक्ल, निष्पाप या शुद्ध श्वेतवस्त्र धारण करने हारा (ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता होकर (नः) हमें (अवतु) रक्षा करे। (नमः अग्नये) उस अग्नि के समान तेजस्वी वेदज्ञ विद्वान्, अग्नि के समान तेजस्वी राजा और सेनापति का हम प्रजाजन झुक कर आदर करें।

सꣳशितो रश्मिना रथः सꣳ शितो रश्मिना हयः।
सꣳ शितो अप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः॥ १४॥

भा०—जिस प्रकार (रश्मिना) रस्सी से (संशितः) अच्छी प्रकार बँधा (रथः) रथ अच्छा सुखकारी होता है और जिस प्रकार (हयः) घोड़ा भी (रश्मिना) रासों से बंधा हुआ उत्तम और वशीभूत रहता है उसी प्रकार (अप्सुजाः) प्रजा में से उत्पन्न विद्वान् (अप्सु संशितः) प्रजाओं द्वारा ही भली प्रकार नियम व्यवस्थाओं और कर्म, कर्त्तव्यों से बद्ध हो। और (ब्रह्मा) ब्रह्म अर्थात् वेद का जानने हारा विद्वान् ही (सोम-पुरोगवः) राजा के आगे २ चलने हारा, उसका मार्गदर्शक हो। अथवा—(अप्सुजाः) प्रजाओं में विशेष तेज से स्वामी बनने वाला राजा (अप्सु संशितः) प्रजाओं द्वारा ही खूब तीक्ष्ण, एवं कर्त्तव्यपरायण, व्यवस्था बद्ध किया जाकर (ब्रह्मा) महान् शक्तिमान् प्रभु और विद्वान् के समान (सोम-पुरोगवः) ऐश्वर्य या राष्ट्र का नेता हो।

अध्यात्म में—(रथः) रमण साधन देह, (रश्मिना) सूर्य के किरण के समान तापदायी तप से (संशितः) तीक्ष्ण किया जाय।

(हयः) इन्द्रियें भी तप से तीक्ष्ण हों । (अप्सुजाः) प्राण भी तप से तप्त हो । और तब (ब्रह्मा) विद्वान् योगी (सोम-पुरोगवः) सोमनाम ब्रह्म रस प्राप्ति में अग्रसर होता है ।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ।
महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥ १५ ॥

विराट् छन्दः ॥

भा०—हे (वाजिन्) ऐश्वर्यवन् ! हे बलवन् ! तू (तन्वं) अपने शरीर या विस्तृत राष्ट्र को (स्वयं) स्वयं, अपनी इच्छानुसार (कल्पयस्व) सजा, उत्तम और समर्थ, अधिक बलवान् बना । (स्वयं यजस्व) स्वयं यथेच्छ दान कर, अथवा स्वयं अन्यों से संगति लाभ कर । (स्वयं जुषस्व) स्वयं यथेच्छ राष्ट्र का प्रेम से सेवन कर । (अन्येन) अन्य, तेरे से भिन्न २ कोई, तेरा शत्रु राजा (ते) तेरे (महिमा) महान् सामर्थ्य को न (सं नशे) प्राप्त नहीं कर सकें । अथवा तेरी महिमा को कोई नष्ट नहीं करे ।

अध्यात्म में—हे (वाजिन्) आत्मन् ! तू अपने शरीर को यथेच्छ ग्रहण कर । स्वयं (यजस्व) अध्यात्म यज्ञ करा स्वयं (जुषस्व) सेवन कर । तेरी महिमा तुझ से अन्य, जड़ देह, प्राणादि प्राप्त नहीं कर सकती ।

न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२ इदेषि पथिभिः सुगेभिः ।
यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥१६॥

अश्वो देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—(न वा) और न ही (एतत्) इस प्रकार शक्तिशाली होजाने पर तू (म्रियसे) मर सकता है । (न देवान्) और न देवों, अन्य विद्वान्, एवं शासक और विजयशील, या तुझे चाहने, या तुझ से धन चाहने वाले लोगों को (इत्) ही (रिष्यसि) विनष्ट

करे । तू (सुगेभिः) सुख से गमन करने योग्य, सुगम (पथिभिः) प्रजा पालन के मार्गों से (एपि) गमन कर । (यत्र) जिस मार्ग में (सुकृतः) उत्तम सदाचारी पुरुष (आसते) स्थित रहते हैं और (यत्र) जिस पर उच्च यशस्वी पद को (ते ययुः) वे प्राप्त होते हैं । (देवः सविता) सब का द्रष्टा और दाता, सर्वोत्पादक परमेश्वर या तेरा मार्गदर्शक प्रेरक विद्वान् (तत्र) वहां ही (दधातु) स्थापित करे ।

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त स ए॒तं लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॒न्नग्निः स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तꣳ जे॑ष्यसि॒ पिब॒ैता॒ अप॑: । वा॒युः प॒शुरा॑सीत्तेना॑यजन्त॒ स ए॒तं लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॑न्वा॒युः स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिब॒ैता॒ अप॑: । सूर्य्यः॑ प॒शुरा॑सीत्तेना॑यजन्त॒ स ए॒तं लो॒कम॑जय॒द्यस्मि॒न्त्सूर्य्यः॑ स ते॑ लो॒को भ॑विष्यति॒ तं जे॑ष्यसि॒ पिब॒ैता॒ अप॑: ॥ १७ ॥

अग्न्यादयो देवताः । अतिशक्वर्यौ पञ्चमः ॥

भा०—(अग्निः) 'अग्नि', ज्ञानी (पशुः) सर्वद्रष्टा, मार्गदर्शक, निरीक्षक (आसीत्) है । (तेन) उससे विद्वान् लोगों के समान दिव्य पांचों भूत (अयजन्त) यज्ञ किया करते हैं । (सः) वह (एतं लोकम्) इस लोक को (अजयत्) विजय कर लेता है, (यस्मिन् अग्निः) जिसमें अग्नि तत्व ही मुख्य बल है । तू भी हे राजन्, अग्नि के समान तेजस्वी होकर राष्ट्र का निरीक्षक साक्षी होकर रह । और इससे (सः) वह यह भूलोक (ते लोकः) तेरा अपना आश्रयस्थान (भविष्यति) हो जाएगा। तू (तं जेष्यसि) उसी लोक को विजय कर लेगा । इसके लिये (एताः अपः) इन आप्त पुरुषों का ज्ञान रस और इन प्रजाओं के ऐश्वर्य रस का (पिब) पान कर ।

(वायुः पशुः आसीत्) 'वायु' सर्वद्रष्टा है, (तेन अयजन्त) देवगण उससे यज्ञ करते हैं । (सः) वह वायु (एतम् लोकम् अजयत्) इस

अन्तरिक्ष लोक का विजय करता है (यस्मिन् वायुः) जिसमें वायु प्रधान बल है। (ते सः लोकः भविष्यति) तेरा वही लोक हो जायगा (एताः अपः पिब) तू इन आप्त जनों और प्रजागणों के ज्ञान और ऐश्वर्य का पान कर।

(सूर्यः पशुः आसीत्) सूर्य पशु, सर्वद्रष्टा है। देवगण (तेन अयजन्त) उससे ही यज्ञ सम्पादन करते हैं। (सः एतं लोकम् अजयत्) सूर्य उस लोक का विजय करता है (यस्मिन् सूर्यः) जिसमें सूर्य स्वयं विराजता है। (ते सः लोकः भविष्यति) तेरा भी वही लोक हो जायगा। (एताः अपः पिब) इन आप्तजनों के ज्ञानों और प्रजाओं का ऐश्वर्य पान कर।

अर्थात् राजा वायु के समान प्रचण्ड हो तो उसको मुख्य बनाकर 'देव' विजिगीषु जन युद्ध यज्ञ करते हैं। उससे वे अन्तरिक्ष लोक अर्थात् मध्यम राजाओं पर विजय करते हैं। इससे वह अन्तरिक्ष में वायु के समान और प्रजा का प्राण होकर विराजता है। यही राजा का अन्तरिक्ष विजय है। इसी प्रकार सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी को मुख्य बनाकर विजिगीषु गण युद्धयज्ञ करते हैं इससे वह स्वयं राजा सूर्य के समान 'द्युलोक' अर्थात् समस्त राजाओं और विद्वानों पर वश पाता है वह समस्त राजाओं के बीच, ग्रहों के बीच सूर्य के समान विराजता है। इन तीनों दशा में उसको प्रजा का ऐश्वर्य और विद्वानों का साहाय्य प्राप्त करना आवश्यक है।

इस मन्त्र की योजना अ० ६। १० के साथ लगाकर देखो॥

प्राणाय॒ स्वाहाऽपा॒नाय॒ स्वाहा॑ व्या॒नाय॒ स्वाहा॑।
अम्बे॒ अम्बि॒केऽम्बा॑लिके॒ न मा॑ नयति॒ कश्च॒न।
ससस्त्यश्व॒कः सुभ॑द्रिकां काम्पील॒वासिनी॑म्॥ १८॥

प्राणादयो देवताः। विराड् जगती। निषादः॥

भा०—(प्राणाय, अपानाय, व्यानाय स्वाहा) प्राण, अपान और व्यान इन तीनों मुख्य शरीर के प्राणों को उत्तम रीति से प्रयोग करो और उनको उत्तम सामर्थ्य प्राप्त हो ।

सामर्थ्यवान् पुरुष के न होने से राजा से रहित राज्यलक्ष्मी कहती है हे (अम्बे) मातः पृथिवि ! हे (अम्बिके) मातः पृथिवि ! हे (अम्बालिके) मातः पृथिवि ! (अश्वकः) कुत्सित राजा तो (ससस्ति) आलस्य और अज्ञान से पड़ा सोता है । (सुभद्रिकाम्) उत्तम सुख-सम्पदा से युक्त (काम्पीलवासिनीम्) सुन्दर सुखप्रद, शोभाजनक वस्त्रों से ढकी सुन्दरी स्त्री के समान (काम्पीलवासिनीम्) सुखों के बांधनेहारे पति को राष्ट्रपति के अपने ऊपर बसाने में समर्थ (मा) मुझको (कः चन) कोई भी वीर-जन (न नयति) प्राप्त नहीं करता । कुत्सित आचरण वाला राजा सुभ राज्यलक्ष्मी को क्या भोग कर सकता है ? वीरभोग्यावसुन्धरा ।

'काम्पीलवासिनीम्'—काम्पीलनगरे हि सुभगा सुरूपा विदग्धा स्त्रियो भवन्तीत्युवटः । तथैव च महीधरः । काम्पीलशब्देन वस्त्रविशेष उच्यते । तं वस्ते आच्छादयति इति काम्पीलवासिनी इति सायणस्तैत्तिरीयसंहिता भाष्ये । का० ७ । ४ । १६ ॥ शृङ्गारार्थं विचित्रदुकूलवस्त्रोपेते इत्यपि सायणः । तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्ये का० ३ । ६ । ६ ॥ कं सुखं पीलयति बध्नाति गृह्णाति इति कंपीलः । स्वार्थे अण् । तं वासयितुं शीलमस्यास्ताम् लक्ष्मीम् । इति दयानन्दः स्वभाष्ये । कं सुखं पीलयति बध्नाति इति कम्पीलः, अथवा कं प्रजापतिं पीड़यति । डो लत्वं छान्दसम् । सुखेन बध्नाति आश्लिष्यति यः सः पतिः प्रियतमः । तं वासयितुं शीलमस्याः स्त्रियाः राज्यलक्ष्म्याः वा । सा काम्पीलवासिनी । अथवा कामेन यथाकामं वा पीडयति आश्लिष्यतियः स काम्पीलः । अलोपो लं त्वं च छान्दसम् । पृषोदरादित्वाद्

साधुः । तं वासयति तदधीनं वा वसति या सा काम्पीलवासिनी स्त्री । तत्सादृश्याच्च राजलक्ष्मीः । वेदे नगरविशेषाप्रसिद्धेरुवटमहीधरौ न समीचीनौ ।

उक्त मन्त्र का शुक्ल कृष्ण दोनों शाखाओं में विनियोग भेद होने से कर्म काण्डानुसारी योजना व्यभिचरित है इसलिये उवटादिकृत कर्मकाण्ड-परक योजना असंगत, अव्यवस्थित और अश्लील है ।

स्वयंवरा कन्या का माता आदि बूढ़ी स्त्रियों से ऐसा कहना कि—हे माता ! क्षुद्र पुरुष तो आलस्य में सोते हैं । मुझ कल्याणी को कोई वैसा पुरुष न प्राप्त करे, बहुत उपयुक्त है । उस पक्ष में योजना नीचे लिखे प्रकार से है ।

हे (अम्बे अम्बालिके अम्बिके) माता ! हे दादी ! हे परदादी ! (अश्वकः ससस्ति) क्षुद्र पुरुष प्रायः आलस्य किया करता है । वह (सुभद्रिकाम्) उत्तम कल्याण लक्षणों से युक्त (काम्पीलवासिनीम्) शुभ, सुखप्रद पति के पास रहने योग्य (मां) मुझको (कः चन) वैसा कोई भी (न नयति) न लेजावे ।

इससे अगले १९—३१ तक १२ मन्त्र राष्ट्र की प्रजा और राजा के प्रबल दुर्बल और समबल के परस्पर भोग्य-भोक्तृरूप वर्त्ताव का वर्णन करते हैं और श्लेष से गृहपति और गृहपत्नी के परस्पर रहस्य का भी वर्णन करते हैं । यहां विशेषतः प्रथम पक्ष ही मुख्य है क्योंकि शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मण दोनों में उस पक्ष को लेकर ही व्याख्यान है । और अश्वमेध का प्रकरण भी उसी अर्थ को पुष्ट करता है ।

अध्यात्म में—हे (अम्बे) जगत् की माता स्वरूप परमात्मन् सबको परमोपदेश देने वाली शक्ते ! (अश्वकः ससस्ति) कुत्सित विषयों का भोक्ता मनुष्य प्रमाद में पड़ा सोता है । और (मां) सुभ पुरुष, या आत्मा को (सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्) अति कल्याण कारिणी एवं परम सुख

मय ब्रह्म में रहने वाली ब्रह्मविद्या के पास (मा कश्चन न नयति) मुझे कोई नहीं लेजाता ।

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम । आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १६ ॥

गणपतिर्देवता । शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—हे (वसो) सब राष्ट्र को वसाने हारे ! परमेश्वर और राजन् ! हे विद्वन् ! हम (त्वा) तुझको (गणानां) समस्त गणों का (गणपतिम्) गणपति, गणनायक (हवामहे) स्वीकार करते हैं । (प्रियाणां) सब प्रिय पदार्थों का तुझको (प्रियपतिम्) प्रियपति, पालक (हवामहे) स्वीकार करते हैं । और (निधीनां) समस्त ख़जानों का तुझको (निधिपतिम्) निधिपति, कोशपाल, (हवामहे) स्वीकार करते हैं । हे (वसो) राष्ट्र को बसाने हारे राजन् ! परमेश्वर ! तू (मम) मुझ पृथ्वीवासी राष्ट्र प्रजा का भी पति है । (अहम्) मैं प्रजा (गर्भधम्) अपने 'गर्भ'=ग्रहण करने या वश करने के सामर्थ्य को धारण करने वाले तुझ पति को (आ अ जानि) प्राप्त होती हूं । तू (गर्भधम्) अपने भीतर समस्त ऐश्वर्यों को धारण करने वाली मुझको (अजासि) प्राप्त हो ।

पति-पत्नी के पक्ष में—हे पते ! मैं समस्त गणों में स्त्री के समान अपना गणपति, समस्त प्रिय जनों में तुझको प्रियपति, अपने समस्त ऐश्वर्यों का निधिपति तुझको ही कहती हूं । मैं गर्भ धारण कराने में समर्थ तुझको (आ अजानि) प्राप्त होती हूं । गर्भ धारण में समर्थ, उर्वरा मुझ पत्नी को तू प्राप्त हो ।

परमेश्वर सबका गणपति, प्रियपति और निधिपति है । प्रकृति कहती है—हे ईश्वर ! हिरण्यगर्भ को धारण करनेवाले, तुझको मैं (आ

अजानि) प्राप्त होती हूं और तू (गर्भधम्) समस्त संसार को अपने भीतर अव्यक्त रूप में धारण करनेवाली मुझ प्रकृति को (त्वम् अजासि) तू प्राप्त होता और सृष्टि को उत्पन्न करता है । अथवा (अहम्) मैं जीव (गर्भधम्) हिरण्यगर्भ के धारक और संसार को अपने बीच धारण करनेवाली प्रकृति के भी धर्त्ता तुझको जानूं, प्राप्त होऊं और तू प्रकृति को प्राप्त हो ।

'गर्भधं'—गर्भधारकं कलत्ररूपं इति सायणः । तै० ब्रा० भा० । 'गर्भधात्री' इति सायणः । तै० सं० भा० ॥

ताऽउभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ २० ॥

लिंगोक्ते राजप्रजे, पतिपत्नी च देवते । स्वराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(तौ उभौ) वे हम दोनों राजा और प्रजा मिलकर (चतुरः पदः) चारों पद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन प्राप्तव्य पुरुषार्थों को (सम्प्रसारयाव) भली प्रकार विस्तृत करें, बढ़ावें । और (स्वर्गे लोके) सुखमय लोक में (प्र ऊर्णुवाथाम्) एक दूसरे को अच्छी प्रकार ढापें, एक दूसरे की अच्छी प्रकार रक्षा करें । (वृषा) दुष्टों को बांधनेवाला और राष्ट्र का प्रबन्ध करनेवाला राजा और (रेतोधाः) वीर्य, सामर्थ्य, बल, पराक्रम को धारण करनेहारा होकर (रेतः) राष्ट्र में भी वीर्य, बल, पराक्रम को (दधातु) धारण करे ।

पतिपत्नी पक्षमें—(तौ उभौ) वे दोनों पति पत्नी परस्पर (चतुरः पदः) चारों पद, अर्थात् प्राप्तव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इनको विस्तृत करें । (स्वर्गे लोके) सुखमय लोक, गृहस्थ आश्रम में (प्र ऊर्णुवाथाम्) दोनों उत्तम रीति से अच्छे वस्त्र धारण करें या दोनों एक दूसरे को कवच के समान

२०—तौ सह चतुरः पदः । संप्रसार यावह । सुवर्गे लोके सं प्रोर्णवाम् । वृषांग रेतोधा रेतो दधातु । इति तै० सं० । काण्व० च ।

आच्छादित करें, रक्षा करें । उन दोनों में से (वृषा) वीर्य सेचन में समर्थ पुरुष (वाजी) वेगवान् अश्व के समान बल वीर्यवान् एवं (रेतोधा) स्वयं वीर्य धारण करनेहारा और कलत्र में भी वीर्य स्थापन करने में समर्थ होकर (रेतः) वीर्य का (दधातु) स्थापन करे ।

महीधर और उवट ने इस मन्त्र को घोड़े और रानी के भोग में लगाने का जो अष्ट और असंगत अर्थ किया है वह अमान्य है ।

'सम्प्रोर्णुवाथाम्' सौमं वस्त्रं सम्यगाच्छादयतम् । इति सायणः तै० सं० भा० का० ७ । ४ । १६ ॥

उत्सक्थ्या ऽअव गुदं धेहि समञ्जि चारया वृषन् ।
य स्त्रीणां जीवभोजनः ॥ २१ ॥

भुरिग्गायत्री । षड्जः । लिंगोक्तो वृषा देवता ॥

भा०—हे (वृषन्) दुष्टों के शक्ति को दमन करनेवाले ! तू (उत्सक्थ्याः) सत्संग से वर्तमान प्रजा के बीच में (गुदं) उस केवल क्रीड़ाशील, व्यसनी पुरुष को (यः) जो (स्त्रीणां) स्त्रियों के ऊपर (जीवभोजनः) अपनी आजीविका का भोग करता है । (अव धेहि) नीचे गिरा । और (अञ्जिम्) विद्या और न्याय के प्रकाश को (सं चारय) अच्छी प्रकार फैला ।

पति-पत्नीपक्षमें—हे (वृषन्) वीर्यसेक्तः पुरुष ! तू (उत्सक्थ्याः) जांघें उठाये स्त्री के (गुदम् अव अञ्जि धेहि, संचारय) उस अंग में सुखपूर्वक वीर्य आधान कर (स्त्रीणां) स्त्रियों का (यः) जो अंग (जीवभोजनः)

२१—उत्सक्थ्योर्गुदं धेह्यञ्जिमुदञ्जिमवज । यः स्त्रीणां जीवभोजनो य आसां विलधावनः । प्रियः स्त्रीणामधीच्यं । य आसां कृष्णे लक्ष्मणि सर्दिगुदिं परावधीत् । इति तै० सं० । अत्र उत् इतिः । सक्थ्योः । इति पदपाठः ॥

न्यायधीशो देवता । द० । अश्व० इति सर्वा० ॥

सन्तान रूप जीव का पालन करनेहारा है अथवा, हे वृषन् ! युवा पुरुष (यः) जो तू (स्त्रीणां) स्त्रियों के जीवन की रक्षा करता है वह तू सन्तानोत्पत्ति कर इत्यादि इस रहस्य के विशेष जिज्ञासा के लिये चरक के प्रजोत्पत्ति विषयक शास्त्र भाग का मनन करना चाहिये ।

अजिः शुक्ल वर्णः । इति सायणः तै० । सं० ७ । ३ । १७ ॥

यकास॒कौ श॑कुन्ति॒काह॒लेति॒ वञ्च॑ति ।
आह॑न्ति॒ गभे॒ पस॒ो नि॑गल्गली॒ति॒ धार॑का ॥ २२ ॥

राजप्रजे देवते । विराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यका असकौ=या असौ) यह जो (शकुन्तिका) शक्ति सम्पन्न प्रजा (आहलक्) मेरा भूपति सर्वत्र कृषि के निमित्त हलादि चलाने के कार्य में कुशल है (इति) इस कारण (वञ्चति) अपने भूपति को प्राप्त होती है । वह भूमिपति (गभे=भगे) भाग्यवान् समृद्ध प्रजा में (पसः=सपः) संघ बनाकर बैठे, सुसम्बद्ध, सुप्रबद्ध राष्ट्र के राज्य-प्रबन्ध को (आ हन्ति) विस्तृत करता है । और वह (धारका) ऐश्वर्य धारण करने में समर्थ प्रजा उसकी आज्ञा को (नि गल्गलीति) अच्छी प्रकार श्रवण करती है ।

'निगल्गलीति'—गल श्रवणे । भ्वादिः ॥

गभः, पसः, वर्णव्यत्ययेन भगः सपः । पप ससवाये । भ्वादिः ॥

'शकुन्तिका'—शके ष्वुनोन्तोन्त्युत्तयः । उणा० । पू० २ । ४६ ॥ शक्नोतीति शकुनः । शकुन्तः । शकुन्तिः । शकुनिः ॥ इति दया० उणा० । 'यका', 'असकौ', अकच् प्राक् टेः ॥

२२—इयं यका शकुन्तिकाऽऽहलगिति सर्पति । आहतं गभे पसो निजल्गुलीति धारिणका इति तै० सं० । इतो दश अभिमेथिन्यः ॥

दम्पति पक्षमें—(यकां) जो वह (शकुन्तिका) शक्तिमती, प्रजोत्पत्ति में समर्थ स्त्री (असकौ आहलक्) यह पुरुष मेरे हृदय को विलेखन, प्रेम से अंकन या आकर्षण करता है (इति) इस कारण से (वञ्चति) उसको प्राप्त हो। वह प्रेमी पति, (गभ पसः आहन्ति) उसके ऐश्वर्य सौभाग्य के निमित्त उससे संगत होता है। वह (धारिका) गर्भ धारण में समर्थ स्त्री (निगलीति) उसके वचन आदर से श्रवण करती है। अर्थात् शक्तिमती स्त्री समर्थ पति को प्रेम से प्राप्त हो। वे सुसंगत होकर रहें। प्रेम से एक दूसरे के वचन श्रवण करें।

यकोऽसकौ शकुन्तक ऽआहलगिति वञ्चति।
विवक्षतऽ इव ते मुखमध्वर्यो मा नस्त्वमभि भाषथाः ॥ २३ ॥

भा०—(यकः=यः) जो पुरुष (शकुन्तः) शक्तिशाली है, (असकौ=असौ) वह (आहलक्) मैं सब प्रकार से भूमि को विलेखन करने में समर्थ हूं (इति) इस हेतु से (वञ्चति) भूमि को प्राप्त होता है। राज्य प्राप्त होजाने पर आगे उपदेश है कि—हे (अध्वर्यो) अध्वर्यो! हिंसा रहित! प्रजापालन के कार्यभार को संचालन करने हारे राजन्! (विवक्षतः ते) विशेषरूप से राष्ट्र भार को उठाना चाहने वाले तेरा पद (मुखम् इव) शरीर में मुख के समान मुख्य है। अतः तू (नः) हम से (मा अभिभाषथाः) व्यर्थ बातें मत किया कर।

दम्पति पक्ष में—(यः शकुन्तः) जो पुरुष शक्तिमान् है वह (आहलक्) मैं अमुक स्त्री के हृदय को खींचने में समर्थ हूं (इति वञ्चति) इसलिये उसको प्राप्त हो। हे अध्वर्यो! गृहस्थ यज्ञ के मार्ग में युक्त होना चाहने वाले पुरुष! (ते विवक्षतः इव मुखम्) तेरा मुख अब विवाहेच्छु पुरुष के समान है। तू (नः मा अभिभाषथाः) अब हम सामान्य स्त्री पुरुषों से अधिक व्यर्थालाप मत कर। महीधर ने इसमें अष्ट अर्थों की पराकाष्ठा करदी है। जिसकी यहां गन्ध भी नहीं।

माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः ।
प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमंतꣳसयत् ॥ २४ ॥

भूमिस्थूर्यो देवते । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! हे सूर्य ! (ते माता च) तेरे मध्य में माता अर्थात् ज्ञानवान् पुरुष तुझे निर्माण करने वाला, (ते च पिता) और तेरा पिता, पालक राजा, वे दोनों (वृक्षस्य) समस्त भूमि को आच्छादन करने वाले शासन के (अग्रम्) मुख्य पद पर (रोहतः) आरूढ़ होते हैं। और (ते पिता) तेरा पालक राजा भी (प्रतिलामि इति) स्नेह करता हूं इस भाव से ही (गभे=भगे) प्रजा के ऐश्वर्य के आधार पर (मुष्टिम्) अपने दुःखों से छुड़ाने वाले सुसंगठित राष्ट्र को अथवा शत्रु नाशक शस्त्र-बल को (अतंसयत्) सुशोभित करता है ।

'अग्रं'—श्री वै राष्ट्रस्य अग्रम् । श्रियमेवैनं राष्ट्रस्याग्रं गमयति । विड्वै गभो । राष्ट्रं मुष्टिः । राष्ट्रमं एव विशि आहन्ति । तस्माद् राष्ट्री विशं घातुकः । श्री राष्ट्र का अग्र भाग है । 'गभ' प्रजा है । राष्ट्र राज्य-प्रबन्ध या शासन मुष्टि है । अर्थात् जिस प्रकार ढीले हाथ में कुछ शक्ति नहीं, परन्तु उसकी मुट्ठी बांध लेने पर वह बलवान् होजाता है उसी प्रकार अव्यवस्थित प्रजा को शासन में बांध लेने पर वह एक दृढ़ मुट्ठी के समान होजाता है । वह राष्ट्र ही प्रजा के आधार पर चलता है । इसीसे राष्ट्रपति भी प्रजा को ही प्राप्त होता है । राजा का यह स्नेह ही है कि वह बिखरी प्रजा को मुट्ठि का रूप देता है जिस स्नेह से पांचों अंगुलियों के समान पांचों जन मिलकर एक होजाते हैं और यही प्रजा की शोभा है ।

'वृक्षस्य'—वृक्वा क्षां तिष्ठतीति । निरुक्तम् ।

'मुष्टिम्'—मोचनाद् मोषणाद्, मोहनाद्वा । निरु० ६ । १ । १ ॥

गृहस्थ पक्षमें—हे पुरुष ! (ते माता च पिता च वृक्षस्य अग्रं रोहतः) तेरे माता पिता ही गृहस्थाश्रमरूप आश्रय वृक्ष के मुख्य पद पर स्थित हैं। (ते पिता) तेरे पिता स्नेह करता हूं इस भाव से ही (गभे = भगे) ऐश्वर्य के बल पर अथवा स्त्री के आधार पर ही अपने (मुष्टिम्) मुट्ठी के समान एक कर देने वाली पारि वारिक स्नेहकी व्यवस्था को सुशोभित करता है।

माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य रोहतः ।
विवक्तेऽ इव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु ॥ २५ ॥

निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे प्रजाजन ! हे पुरुष ! (ते माता च) तेरी माता, उत्पादक जननी के समान परिपालक राजसभा और (पिता च) तेरा पिता, पालक राजा, दोनों (वृक्षस्य) समग्र पृथ्वी पर फैले राज्य के (अग्रे) मुख्य पद पर (रोहतः) विराजमान होते हैं। हे (ब्रह्मन्) महान् राष्ट्रपते ! और हे ब्रह्मज्ञान के जानने वाले विद्वन् ! (विवक्तेः इव) भार वहन करने वाले के समान (ते) तेरा (मुखम्) मुख्य कार्य है अर्थात् शरीर में मुख के समान राष्ट्र की व्यवस्था करना तेरा मुख्य और दर्शनीय कार्य है, इसलिये हे (ब्रह्मन्) महान् शक्तिशालिन् ! (त्वं) तू (बहु) बहुत सा व्यर्थ (मा वदः) मत बोला कर। उत्तरदायी जिम्मेवार पुरुष को व्यर्थ बहुत नहीं बोलना चाहिये। मुख्य अधिकारी को अपना आज्ञाकारी मुख बहुत सम्भाल कर रखना चाहिये। उससे बहुत अनर्थ होने सम्भव होते हैं।

ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापय गिरौ भारꣳ हरन्निव ।
अथास्यै मध्यमेधताꣳ शीते वाते पुनन्निव ॥ २६ ॥

श्रीर्देवता अनुष्टुप् । गांधारः ॥

२५—०क्रीळतः० इति काण्व० ।

भा०—(गिरौ) पर्वत पर (भारं) भार, बोझा को (हरन् इव) उठा कर लेजाने वाला पुरुष जिस प्रकार सिर या पीठ पर लदी पोट को ऊपर लेजाता है उसी प्रकार (एनाम्) इस प्रजा, पृथ्वी को (ऊर्ध्वाम्) उन्नत पद पर (उत् श्रापय) उठा कर उन्नत कर। (अथ) और (अस्यै) इस राष्ट्र की प्रजा का (मध्यम्) मध्य भाग, बीच की राजधानी का भाग (एधताम्) बढ़े, समृद्ध हो। और (शीते वाते) शीतल वायु में जिस प्रकार किसान अन्न को छाज से गिरा २ कर साफ करता है और वायु के बल से तुषों को दूर करता है और स्वच्छ अन्न की ढेरी को बढ़ाता है, उसी प्रकार हे राजन् ! तू भी (शीते वाते) शीत अर्थात् बढ़े हुए वात अर्थात् वायु के समान प्रचण्ड बल पर राष्ट्र को पवित्र कर, उसे दुष्ट पुरुषों से रहित कर।

दम्पति के पक्षमें—(एनाम् ऊर्ध्वम् उत् श्रापय) इस स्त्री को तू उच्च पद पर स्थापित कर, हे पुरुष ! तू (गिरौ भारं हरन् इव) पर्वत पर बोझा उठाकर लेजाने हारे के समान है। (अथ अस्य मध्यम्) और जब इसका मध्य भाग, गर्भाशय पुत्र सन्तान आदि से वृद्धि को प्राप्त हो तब तू उस समय पूर्वोक्त अन्न को साफ करनेवाले के समान (शीते) वृद्धि-कारी और (वाते) पवित्र पदार्थों के आधार पर अपने आचार व्यवहार को पवित्र रख और बालक पर उत्तम संस्कार डाल। स्त्री के गर्भिणी होने के काल में पुरुष को संयम से रहना चाहिये। उसको 'शीत' अर्थात् वृद्धि-कर, पुष्टिप्रद और पवित्र पदार्थों पर पुष्ट करे।

'शीतम्'—श्यैङ् वृद्धौ। भ्वादिः। श्रीवैराष्ट्रस्य भारः। श्रीवैराष्ट्रस्य मध्यम्। हेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्। श० ३। ३। १—४॥

ऊर्ध्वमेनमुच्छ्रयताद्गिरौ भारꣳ हरन्निव।
अथास्य मध्यमेजतु शीते वाते पुनन्निव ॥ २७ ॥

अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(गिरौ भारं हरन् इव) पर्वत पर बोझा उठाकर लेजाने वाला जिस प्रकार बोझा को पर्वत के शिखर पर लेजाता है और स्वयं भी ऊपर चढ़ जाता है उसी प्रकार हे प्रजे ! (ऊर्ध्वम्) ऊंचे पद पर स्थित (एनम्) इस राजा को (उच्छ्रयतात्) उन्नत कर । (अथ) और जब (अस्य मध्यम्) इसका मध्य भाग बीच का शासन का केन्द्र-बल (शीते वाते) परिपुष्ट ऐश्वर्य के आधार पर ऐसे (एजतु) कम्पन करें, ऐसे प्रदीप्त हो जैसे (वाते) वायु में (पुनन् इव) तुष, अन्न को साफ करता हुआ पुरुष चेष्टा करता है । अर्थात् राज्य का मुख्यबल देश के लुच्चे लोगों को दूर करे । सदा ऐसा प्रयत्न होता रहे ।

दम्पति के पक्ष में—स्त्री पुरुष को उन्नत करे । पुरुष का मध्यभाग, धनसम्पत्ति अथवा प्रजनन भाग वीर्य बल से युक्त हो । और वह अपने आचार को ब्रह्मचर्य से पवित्र करे ।

यदस्या अꣳहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् ।
मुष्काविदस्याऽ एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ २८ ॥

प्रजापतिर्देवता । निचृदनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यद्) जब (अस्याः) इस (अꣳहुभेद्याः) पाप को भेदन करनेवाली, स्वच्छ, दुष्टों से रहित, प्रजा को (कृधु) दुष्टों का नाशक (स्थूलम्) स्थूल, स्थिर दृढ़ राज्य (उपातसत्) पृथ्वी पर जम जाता है । तब (अस्याः) इसके (मुष्कौ) शत्रुओं और अज्ञान का खण्डन या विनाश करनेवाले अथवा बन्धन से छुड़ानेवाले अथवा पुष्टि करनेवाले क्षात्र और ब्राह्म दोनों (गोशफे) गौ के चरण में (शकुलौ) लगे खुर के दो भाग के समान (राजतः) शोभा देते हैं । अर्थात् जिस प्रकार गौ के चरण के खुर के दो भाग ही पूरे शरीर को थामे रहते हैं उस

२८—मुष्काइद० इति काण्व० ।

प्रकार प्रजा में से दुष्टों के नाशक क्षात्रबल और अज्ञान, अविद्या का नाशक ब्राह्म वल विद्वान् गण, दोनों पृथिवी के शासनरूप चरण में विराजते और पृथिवी रूप गौ का भार उठाये रहते हैं ।

'सुप्कः' सुपेः कः । औणा० ३ । ४१ ॥ अथवा 'सुखे खण्डने' इत्यस्मात् कः पत्वं छान्दसम् । पुष्टिवद् मोचनाद्वेति इतिनिरुक्तम्: । पुपेर्वा । पस्य मश्छान्दसः । 'कृधु' कृणोतेर्हिंसार्थस्य । करोतेर्वा । 'स्थूलं' तिष्ठतेः ।

यद्देवासो ललामगुं प्र विष्टीमिनमाविषुः ।
सुक्थ्ना दोदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ २९ ॥

देवाः देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(यत्) जब (देवासः) विद्वान् पुरुष (ललामगुम्) सुन्दर उत्तम वाणी वाले विद्वान् (विष्टीमिनम्) विशेष दयालुता के भावों से युक्त, अथवा विशेष प्रजा के विविध कर्मों के विवेचक न्यायाधीश पुरुष को (प्र आविषुः) प्राप्त होते हैं तब जैसे (सक्थ्या) शरीर के जंघा भाग से (नारी दोदिश्यते) स्त्री या मादीन का पता लग जाता है उसी प्रकार (अक्षिभुवः सत्यस्य) आंख से देखे गये सत्य और (अक्षिभुवः) प्रत्यक्ष से उत्पन्न होनेवाले (सत्यस्य) सत्य अनुमान ज्ञान का भी (दोदिश्यते) वर्णन किया जाय ।

'ललामगुः' ललाम सुखं कर्तुं गच्छति इति ललामगुः । इति उवटः (विष्टीमिनम्) विविधाः ष्टीमाः आर्द्रीभूताः पदार्था यस्मिन् अथवा 'विष्टी-मिनम्' विष्टीः कर्माणि वेतनानि वा मिनोति, माति, मन्यते, विवेचयति वा शब्दयति उपादिशति वा स 'विष्टीमी' तम् । माङ् माने शब्दे च अयादिः । माङ् माने । दिवादिः । ललामः ललाटेश्वित्ययुक्तः इति सायणः

अथवा—(नारी) नेता पुरुषों की बनी सभा में (सक्न्था) प्रेम से, सम्मिलित शक्ति से (यथा) यथावत् (अक्षिभुवः सत्यस्य दर्शिश्यते) आंख से देखे सत्य पदार्थ का प्रतिपादन करना उचित है।

पच सेचने सेचने च । पच समवाये भ्वादिः ।

'नारी' इति लुप्तसप्तमीकं पदम् । नराणां इयं नारी तस्याम् ।

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यते ।

शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति ॥ ३० ॥

राजा देवता । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(यत्) जब (हरिणः) हरिण (यवम्) जौं को (अत्ति) खाता है तब क्षेत्रपति (पशुम्) पशु को (पुष्टं) पुष्ट हुआ (न मन्यते) नहीं मानता। प्रत्युत क्षेत्रपति अपने खेत का विनाश हुआ ही गिना करता है। इसी प्रकार यदि राष्ट्र की राजसत्ता यवरूप प्रजा को खाजाय तो प्रजा का स्वामी राजा (पशुं) राजसत्ता को पुष्ट हुआ नहीं मानता, प्रत्युत प्रजा के विनाश को होता देखकर अधिक दुःखी होता है। इसलिये राजा को चाहिये कि वह प्रजा को हानि पहुंचा कर राज्य प्रबन्ध या राजशक्ति को न पुष्ट करे। (यद्) जब (शूद्रा) शूद्र वर्ण की स्त्री नौकरानी (अर्यजारा) वैश्य या स्वामी को जार रूप से प्राप्त करती है तब वह (पोषाय) अपने कुटुम्ब पोषण के लिये धन नहीं चाहती। इसी प्रकार जो प्रजा (शूद्रा) केवल श्रमशील होकर (अर्य-जारा) अपने स्वामी की बल वृद्धि के लिये ही स्वयं जीर्ण और निर्बल होती रहती है और वह (पोषाय) अपने को समृद्ध वा पुष्ट करने के लिये (न धनायति) धन की आकांक्षा नहीं करती तब वह नष्ट ही होजाती है। इसलिये प्रजा को चाहिये कि राजा के भोग ऐश्वर्य के बढ़ाने के लिये वह अपना नाश न करे। इसी कारण विद्वान्जन वैशी पुत्र या वैश्यवृत्ति के राजा का अभिषेक नहीं करते वह प्रजा का समस्त ऐश्वर्य हर लेता है और प्रजा को धन समृद्ध नहीं करता है।

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते ।
शूद्रो यद्यार्यै जारो न पोषमनुमन्यते ॥ ३१ ॥

राजप्रजे देवते । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(यत्) जो (हरिणः) हरिण के समान राजा (यवम्) यव के समान प्रजाजन को खालेता है वह राजा (पुष्टम्) पुष्ट प्रजाजन को (बहु) अधिक आवश्यक (न मन्यते) नहीं जानता । इसी प्रकार वह (शूद्रः) शूद्र वर्ण का पुरुष, नौकर (यत्) जो (आर्यायैः जारः) गृहस्वामिनी का भोग करता है तब वह भी (पोषम्) अपने भरण पोषण की आजीविका पर (न अनुमन्यते) विचार नहीं करता । अर्थात्—जो राजा अपनी प्रजा को लूट कर पीड़ित करके खाता है वह उस हरिण के समान है जो खेत में लगे जौं को खाजाता है और खेत के जौं को बढ़ने नहीं देता । इसी प्रकार वह राजा उस शूद्र, नौकर के समान है जो व्यभिचार से घर की मालकिन का भोग करके उसका और उसके यश का नाश कर देता है और उसकी सम्पदा, मान कीर्ति और लक्ष्मी की वृद्धि की परवाह नहीं करता । वह राजा व्यभिचारी दुराचारी भृत्य के समान समृद्ध प्रजा को लूट खसोट के दरिद्र कर देता है और उसकी समृद्धि को बढ़ने नहीं देता । और प्रजा के भी आचार, व्यवहार, मान, कीर्ति और धन सब का नाश कर देता है ।

दधिक्राव्णो ऽअकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूꣳषि तारिषत् ॥ ३२ ॥

जिष्णुर्वाजी राजा वा देवता । अनुष्टुप् । गान्धारः । दधिक्रावा ऋषिः ॥

भा०—(दधिक्राव्णः) अपने धारक पोषक पुरुषों को प्राप्त होने वाले (जिष्णोः) विजयशील, (वाजिनः) ऐश्वर्यवान्, (अश्वस्य) राष्ट्र

के भोक्ता पुरुष को (अकारिषम्) मैं नियत करता हूं । वह (नः) हमारे (मुखा) मुख्य पदों को (सुरभि) उत्तम, बलवान्, यशस्वी (करत्) बनावे । (नः आयूंषि) हमारे जीवनों को (प्र तारिषत्) दीर्घ, चिरकाल तक स्थिर करे । ईश्वर पक्ष में—(दधिक्राव्णः) ध्यान करने वाले को प्राप्त होने वाले (जिष्णोः) सब दुखों के नाशक, ऐश्वर्यवान् परमेश्वर की (अकारिषम्) स्तुति करता हूं। वह (नः मुखा) हमारे मुख्य प्राणों को (सुरभि) बलवान् बनावे, हमें दीर्घ जीवन दे ।

गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप्पङ्क्तया सह ।
बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३३ ॥

वाचः विद्वांसो देवता । उष्णिक् । ऋषभः ।

भा०—हे पुरुष ! (गायत्री) गायत्री, (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्, (जगती) जगती, (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् ये समस्त छन्द (पंक्तया सह) पंक्ति छन्द के साथ और (बृहती) बृहती और (ककुप्) ककुप् ये दोनों (उष्णिहा) उष्णिक् छन्द के साथ मिलकर (सूचीभिः) ज्ञान को सूचित करनेवाली ऋचाओं से तेरे हृदय को शान्त करती हैं । उसी प्रकार (गायत्री) गान और उपदेश करने वालों को त्राण या पालन करने वाली (त्रिष्टुप्) तीनों प्रकारों के सुखों को वर्णन करने वाली (जगती) जगत् में विस्तृत शक्ति, अनुष्टुप्, सबको अनुकूल उपदेश करनेहारी, (पंक्तया सहा) परिपाक या: पुनः २ अभ्यास करने की क्रिया के सहित और (बृहती) बड़े प्रयोजनवाली, (ककुप्) सुन्दरपद-लालित्यवाली वाणी, (उष्णिहा) उत्तम स्नेहमयी वाणी के साथ मिलकर (सूचीभिः) ज्ञान और साधनों की सूचना देनेवाली अथवा वस्त्र खण्डों के समान नानादेश के भागों को मिलाकर सीकर सन्धियों द्वारा एक करदेने वाली नाना प्रकार की सन्धिकारिणी, वाणियों से विद्वान् लोग, हे राजन् ! (त्वा) तुझे (शम्यन्तु) शान्ति प्रदान करें ।

३३—१. 'वाच', इति पद ३५ मन्त्रादाकृष्यते ।

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः ।
विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३४ ॥

वाचः देवताः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे पुरुष (द्विपदाः) दो चरणवाली, (याः च चतुष्पदाः) और जो चार चरणवाली (याः च षट्पदाः) और जो छः चरणवाली, (विच्छन्दाः) बिना छन्द की और (सच्छन्दाः) जो छन्द वाली हैं वे सब प्रकार की वाणियां (सूचीभिः) विशेष २ अभिप्राय बोधक शैलियों से (त्वा शम्यन्तु) तुझे शान्ति प्रदान करें ।

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः ।
मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३५ ॥

वाचो देवताः । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(महानाम्न्यः) 'महानाम्नी' नामक वेद वाणियां, (रेवत्यः) रेवती नामक ऋचाएं और (विश्वाः आशाः) समस्त 'आशा' शब्दवाली ऋचाएं, (प्रभुवरीः) 'प्रभु' शब्दावली, (मैघीः) मेघ सम्बन्धी ऋचाएं, (विद्युतः) विद्युत् सम्बन्धी ऋचाएं, ये सब (वाचः) वाणियें (सूचीभिः) अपनी ज्ञानसूचक शैलियों से (त्वा शम्यन्तु) तुझे शान्ति प्रदान करें । ऊपर की तीनों ऋचाएं वाणियों के साथ २ प्रजाओं का भी वर्णन करती हैं । जैसे—(गायत्री) ब्राह्मण वर्ग, (त्रिष्टुप्) क्षत्रिय वर्ग, (जगती) वैश्य वर्ग, (अनुष्टुप्) भृत्य वर्ग, (पंक्ति) पञ्चजन, (बृहती) बड़े राष्ट्र की जनपद वासिनी या बड़ी शक्तिवाली, (उष्णिहा) सबके प्रेमी, (ककुप्) सर्व श्रेष्ठ पुरुष ये अपनी ज्ञान सूचक वाणियों से हृदय को शान्त करें ।

(२) (द्विपदाः) ब्रह्मचारी वर्ग, (चतुष्पदाः) गृहस्थ वर्ग, (त्रिपदा) वानप्रस्थ, (षट्पदा) षट्-साधनी, मुमुक्षु, (विच्छन्दाः) त्यागी

(सच्छन्दाः) विशेष साधननिष्ठ ये सब भी तुझे ज्ञानप्रद वाणियों से सुखी करें। (३) (महानाम्न्यः) बड़ी यशस्विनी, (रेवत्यः) धन धान्य सम्पन्न, (विश्वाः आशा) समस्त दिशाओं में बसी, (प्रभूवरीः) प्रभूत, बल और धन सामर्थ्य वाली, (मैधीः) मेघ के समान सब पर सुख वर्षण करनेवाले ज्ञानोपदेशक वर्ग, (विद्युतः) विद्युत के समान प्रकाश देने-वाले शिल्पिवर्ग, (वाचः) वेद वाणियों के वक्ताजन ज्ञानसाधनों से तुझे शम्यन्तु) शान्ति दें।

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया।
देवानां पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३६ ॥

भा०—हे राजन् ! (ते) तेरे राष्ट्र को (पत्न्यः) पालन करनेवाली (नार्यः) नेता पुरुषों की बनी राजसभाएं और (नार्यः) पुरुषों के हित के लिये बनी सेनाएँ, (मनीषया) बुद्धि से (ते) तेरे (लोम) काटने योग्य, उच्छेद्य शत्रु को, नाइ जिस प्रकार केशों को पकड़ कर काटता है उसी प्रकार (विचिन्वन्तु) विशेषरूप से संग्रह करे। और (देवानां पत्न्यः) विद्वानों की पालक (दिशः) दिशाओं में रहनेवाली प्रजाएं और सेनापति के आज्ञा में मार्ग देखनेहारी सेनाएं (सूचीभिः) अपने ज्ञान सूचक नीतियों से और सेनाएं शस्त्रों से (त्वा शम्यन्तु) तुझको शान्ति, सुख, अभय प्रदान करें।

रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते कर्मभिः।
अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः शम्यन्तु शम्यन्तीः ॥ ३७ ॥

रजतादयः स्त्रियो देवताः। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—(रजताः) राग से युक्त, (हरिणीः) मन को हरण करने-वाली, (सीसाः) प्रेम को बांधने वाली, (युजः) गृहकार्य में चतुर, समस्त कार्यों में सहयोग देने, और सावधान रहनेवाली, स्त्रियें (कर्मभिः) धर्मानुकूल क्रियाओं और व्रत पालन की प्रतिज्ञाओं द्वारा (अश्वस्य)

उनके हृदय में व्यापक, (वाजिनः) उत्तम बलवान् श्रेष्ठ पुरुष की (त्वचि) रक्षा में, उसके साथ (युज्यन्ते) सदा के लिये जोड़ दी जाती है, संग करदी जाती हैं। वे (सिमाः) बद्ध होकर (शम्यन्तीः) स्वयं शान्ति सुख प्राप्त करती हुई उस पति को भी शम्यन्तु) सुख प्रदान करें।

राजा प्रजा पक्षमें—(रजताः) अनुरक्त या सुवर्णादि धनैश्वर्य से सम्पन्न (हरिणीः) हरणशील, बलवती, (सीसाः) और सन्धियों से या वेतनों से बंधी (युजः) राजा का राज्य कार्यों में सहयोग देनेवाली, प्रजाएं (अश्वस्य वाजिनः) राष्ट्र के भोक्ता, बलवान् पुरुष के (त्वचि) रक्षा में (कर्मभिः युज्यन्ते) कर्मों में नियुक्त की जांय। वे (सिमाः) बद्ध होकर (शम्यन्तीः) स्वयं शान्त रह कर (शम्यन्तु) राजा को सुखी करें।

क॒विद॒ङ्ग यव॑मन्तो॒ यवं॑चि॒द्यथा॒ दान्त्य॑नुपू॒र्वं वि॒यूय॑ं।
इ॒हेहै॑षाङ् कृणुहि॒ भोज॑नानि॒ ये ब॒र्हिषो॒ नम॑ऽउक्ति॒ यज॑न्ति ॥ ३८ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १० । ३२ ॥

कस्त्वाच्छ्यति॒ कस्त्वा॒ विशा॑स्ति॒ कस्ते॒ गात्रा॑णि शम्यति।
क उ॑ ते॒ शमि॑ता क॒विः ॥ ३९ ॥

भा०—हे प्रजाजन ! (त्वा कः आछ्यति) तुझको कौन विद्वान् पुरुष सब तरफ से काटता, या तुझे दण्डित करता है ? (त्वा कः विशास्ति) तुझको कौन नाना प्रकारों से विविध शास्त्रों में उपदेश करता है (ते गात्राणि) तेरे अंगो को (कः शम्यति) कौन सुख पहुंचाता है। और बतला, (कः उ) कौन सो विद्वान् पुरुष (ते शमिता) तुझे शान्ति प्रदान करता है। उन प्रश्नों का उत्तर इसके बीच में ही हैं। (कः) सुखकारक प्रजापति, प्रजापालक राजा ही प्रजा को दण्ड देता है। वही उस पर शासन करता है,

३८—०नयउक्तिनजगतुः। इति काण्व०।

वह राज्य के समस्त अंगों को सुखी करता है, वही उसका (शमिता) शान्तिप्रद है ।

ऋतवस्त ऽऋतुथा पर्व शमितारो वि शासतु ।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ४० ॥

ऋतवो देवताः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(ऋतवः) सत्यज्ञानवान्, राजसभा के सदस्यगण, (ऋतुथा) अपने ज्ञान के अनुसार (शमितारः) शान्तिदायक होकर (पर्व) प्रजा पालन करने के कार्य का (वि शासतु) विविध रूपों से उपदेश या शासन करें । और (संवत्सरस्य) समस्त प्राणियों और लोकों को बसाने वाले सर्वाश्रय राजा के (तेजसा) तेज, बल, पराक्रम से (शमीभिः) शान्तिदायक उपायों से हे राष्ट्र (त्वा) तुझे (शम्यन्तु) शान्ति प्रदान करें, सुख पहुंचावें ।

सदस्या ऋतवोऽभवन् । तै० ३ । १२ । ६ । ४ ॥ ऋतवो वै विश्वेदेवाः । यजु० १२ । ६१ ॥ ऋतवो वै वाजिनः । कौ० ५ । २ ॥ ऋतवो वै सोमस्य राज्ञो राजभ्रातरो यथा मनुष्यस्य । ऐ० १ । १३ ॥

जिस प्रकार कालात्मक संवत्सर में ऋतुएं हैं उसी प्रकार राजा के अधीन विद्वान्, कार्यकुशल मुख्य राजसभासद्, शासक पुरुष हैं । वे सदा प्रजापालन के नये २ उपाय सोचें ।

अर्द्धमासाः परूंष्यपि ते मासा आ च्छ्यन्तु शम्यन्तः ।
अहोरात्राणि मरुतो विलिप्टꣳ सूदयन्तु ते ॥ ४१ ॥

प्रजाः राष्ट्रं वा देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—जिस प्रकार संवत्सर के पर्वों को अर्धमासों और मासों में विभक्त करते हैं । उसी प्रकार हे राष्ट्र ! (ते) तेरे (परूंषि) पालन कार्य, राज्य-व्यवस्था के अंगों को (अर्धमासाः) विशेष समृद्ध विद्वान् पुरुष और (मासाः) विद्वान् पुरुष (शम्यन्तः) शान्ति प्राप्त करानेहारे (आ

च्छ्यन्तु) सब तरफ विभक्त करें । परिमाण करने या मापने में कुशल जन ही भूमि रूप राष्ट्र को भी माप २ कर विभाग करें । (अहोरात्राणि) वर्ष में दिन और रात्रि के समान विद्यमान (मरुतः) विद्वान्गण और दण्ड देनेहारे नियुक्त राजपुरुष (ते) तेरे व्यवस्थाकार्य में (विलिष्टम्) होनेवाली त्रुटि को (सूदयन्तु) विनष्ट करें । सामान्य मनुष्य पक्षमें—हे मनुष्य ! तेरे पर्वों को मास, पक्ष और दिन, रात विभक्त करें । और वे तुझे शान्ति दें । (मरुतः) विद्वान् पुरुष तेरी (विलिष्टम्) त्रुटि को दूर करें ।

दैव्या॑ अध्व॒र्यव॒स्त्वाच्छ्य॑न्तु॒ वि च॑ शासतु ।
गात्रा॑णि पर्व॒शस्ते॒ सिमा॑ः कृण्वन्तु शम्य॑न्तीः ॥ ४२ ॥

भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! (देवाः) विद्वानों में भी कुशल, श्रेष्ठ कोटि के (अध्वर्यवः) यज्ञ के समान न नष्ट होनेवाले राष्ट्र के पालनकर्त्ता पुरुष (त्वा) तुझे (छ्यन्तु) विभक्त करें और (वि शासतु च) विविध उपायों से शासन करें । और वे (ते) तेरे (गात्राणि) अंगों को (पर्वशः) प्रति पर्व या पौरु २ पर (शम्यन्तीः) शान्तियुक्त सुखी करती हुई (सिमाः) तुझे बांधनेवाली मर्यादाएं, राज नियमानुकूल व्यवस्थाएं (कृण्वन्तु) करें ।

द्यौस्ते॑ पृथि॒व्युन्तरि॑क्षं वा॒युश्छिद्रं॑ पृणातु ते ।
सूर्य॑स्ते॒ नक्ष॑त्रैः स॒ह लो॒कं कृ॑णोतु साधु॒या ॥ ४३ ॥

अनुष्टुप् । गांधारः । पृथिव्यादयो देवताः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! (ते) तेरे (छिद्रं) छिद्र को (द्यौः) आकाश और उसके समान ज्ञानमय विद्वन्रूप सूर्यों से प्रकाशित राजसभा (पृथिवी) पृथिवी और उसके समान सर्वाश्रय राजा, (वायुः) वायु और वायु के समान तीव्र बलवान् सेनापति (पृणातु) पूर्ण करे । (सूर्यः) सूर्य और सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् राजा (नक्षत्रैः) नक्षत्रों और उनके समान

सामान्य प्रजाओं, अथवा युद्ध में क्षत और विचलित न होनेवाले वीर सैनिकों के (सह) साथ (ते) तेरे में बसे (लोकं) जन समूह को (साधुया) साधु, सच्चरित्र (कृणोतु) बनावे ।

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः ।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शमस्तु तन्वै तव ॥ ४४ ॥

भा०—हे राष्ट्र ! और हे राजन् ! (ते) तेरे (परेभ्यः) पर उत्कृष्ट अंगों को (शम् अस्तु) कल्याण और शान्ति प्राप्त हो । और (अवरेभ्यः) गौण अंगों को भी (शम्) शान्ति प्राप्त हो । (अस्थभ्यः) शरीर में विद्यमान हड्डियों को और उनके समान राष्ट्र में विद्यमान उन दृढ पुरुषों को जो शत्रुओं और दुष्टों पर शस्त्र फेंकते हों, या उनको परे हटाते हों और (तव मज्जभ्यः) तेरी मज्जाओं और तुझे राष्ट्र के कण्टक शोधन करनेहारे, दमनकारी अथवा नगरों, ग्रामों और वसतिस्थानों में सफाई करानेवाले अधिकारी लोगों को और (तव तन्वै) तेरे शरीर को और तेरे सम्पूर्ण राष्ट्र को (शम् अस्तु) शान्ति प्राप्त हो, सदा कल्याण सुख बना रहे ।

'अस्थि'—असेः क्थिन् उणादिः । ३ । १५४ ॥ अस्यति प्रक्षिपति येन तद् अस्थि । 'मज्जा'—मज्जतेः मज्जति शुन्धतीति मज्जा । उणादि निपातनम् । १ । १५७ ॥

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः ।
किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥ ४५ ॥
सूर्य ऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४६ ॥

भा०—(४५-४६) इन दोनों मन्त्रों की व्याख्या देखो इसी अध्याय के मन्त्र ९, १० में ।

किꣳ स्वित्सूर्य्यꣳसमं ज्योतिः किꣳ स꣡मुद्रस꣡मꣳ स꣡रः ।
किꣳ स्वित्पृथिव्यै वर्षी꣡यः कस्य꣡ मात्रा न वि꣡द्यते ॥ ४७ ॥

अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(सूर्यसमं ज्योतिः किम्) सूर्य के समान प्रकाश कौनसा है ? (समुद्रसमं सरः किम्) समुद्र के समान तालाब कौनसा है ? (पृथिव्यै वर्षीयः) पृथिवी से भी अधिक वर्षों का पुराना (किं स्वित्) कौनसा पदार्थ है ? (कस्य मात्रा न विद्यते) किसका परिमाण नहीं है ?

ब्रह्म सूर्यꣳसमं ज्योति꣡र्द्यौः स꣡मुद्रस꣡मꣳ सर꣡ः ।
इन्द्र꣡ः पृथिव्यै वर्षी꣡यान् गोस्तु मात्रा न वि꣡द्यते ॥ ४८ ॥

ब्रह्मादयो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(सूर्यसमं ज्योतिः) सूर्य के समान तेजस्वी प्रकाश (ब्रह्म) ब्रह्म, वेद, वेदज्ञ और महान् परमेश्वर है । (समुद्रसमं) समुद्र के समान (सरः) जलों को निरन्तर बहानेवाला तालाब महान् जलाशय (द्यौः) आकाश या सूर्य है । (पृथिव्यै वर्षीयान्) पृथिवी से भी अधिक चिरकाल पुराना (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सूर्य है । अथवा पृथिवी के लिये (वर्षीयान्) प्रभूत जल वर्षानेवाला, इन्द्र, वायु या मेघ है और पृथिवी से भी अधिक (वर्षीयान्) वृद्धतर, पूज्य (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा समस्त पृथिवी का पूज्य है । (गोः तु) गौ, वाणी और सूर्य की किरणों की (मात्रा न विद्यते) मात्रा या परिमाण कोई नहीं है ।

पृ꣡च्छामि꣡ त्वा चि꣡तये देवसख यद꣡ि त्वमत्र꣡ मन꣡सा ज꣡गन्थ꣡ ।
ये꣡षु विष्णु꣡स्त्रि꣡षु प꣡देष्वेष्ट꣡स्तेषु꣡ विश्व꣡ं भुव꣡नमावि꣡वेशा꣡ँ ३ऽ ॥ ४९ ॥

ब्रह्मविषयकः प्रश्नः ।

४९—०'विवेशा' इति काण्व० ।

भा०—हे (ब्रह्मन्) विद्वन् ! ब्रह्मन् ! हे (देवसख) देवों-विद्वानों के परम मित्र ! मैं (चितये) ज्ञान प्राप्ति के लिये (त्वा पृच्छामि) तुझ से प्रश्न करता हूं । (यदि) क्या (त्वम्) तू (अत्र) इस देवसभा में (मनसा) ज्ञान के साथ दत्तचित होकर (जगन्थ) उपस्थित है । अथवा यह प्रश्न स्वयं परमेश्वर से ही उपासक करता है । हे (देवसख) विद्वानों के सखा परमेश्वर ! (त्वा) तुझ से (चितये) ज्ञान को उत्तम रीति से प्राप्त करने के लिये (पृच्छामि) मैं पूछता हूं । (यदि) क्या (त्वम्) तू (अत्र) यहां (मनसा) ज्ञानरूप से (जगन्थ) व्याप्त है ? (येषु त्रिषु पदेषु) जिन तीन ज्ञान कराने वाले साधनों या ज्ञान करने योग्य पदों और लोकों, चरणों, सृष्टि, स्थिति, संहार इन त्रिविध सामर्थ्यों में (विष्णुः) तू व्यापक परमेश्वर ही (इष्टः) उपासना किया गया है (तेषु) उनमें ही क्या (विश्वं भुवनम्) यह समस्त उत्पन्न जगत् (आ विवेशाँ ३॥३) समा जाता है ?

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश ।
सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवोऽ अस्य पृष्ठम् ॥५०॥

परमेश्वरो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—[उत्तर]-(तेषु) उन (त्रिषु पदेषु) सृष्टि, स्थिति और संहार, द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी इन तीनों जानने योग्य स्वरूपों में (अपि) भी (अस्मि) मैं ही हूं (येषु) जिन में (विश्वम् भुवनम्) समस्त उत्पन्न जगत् भी (आविवेश) आविष्ट है । मैं (पृथिवीम्) पृथिवी को (सद्यः) बहुत शीघ्र या अब भी समान भाव से (परि एमि) व्याप्त हूं । (उत द्याम्) और द्यौ, सूर्य आदि तेजस्वी पदार्थों से व्याप्त आकाश में भी सदा व्याप्त हूं । और (एकेन अंगेन) एक अंग या एक अंश से (अस्य दिवः) इस तेजोमय सूर्य के भी (पृष्ठम्) ऊपर के भाग को या सेचन करने वाले सामर्थ्य को भी व्याप्त हूं ।

केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषेऽ अर्पितानि ।
एतद् ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किꣳस्विन्नः प्रति वोचास्यत्र ॥५१॥

पुरुषो देवता । प्रश्नः । पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(पुरुषः) पुरुष, जीव और परमेश्वर (केषु) किन पदार्थों के (अन्तः) बीच (आ विवेश) प्रविष्ट है। और (कानि) कौन २ से और कितने तत्व (पुरुषे अर्पितानि) पुरुष के आश्रय पर विद्यमान हैं। हे (ब्रह्मन्) ब्रह्मन् ! ब्रह्मवित् विद्वन् ! (एतत्) यह बात हम (त्वा उप-वल्हामसि) तुझ से पूछते हैं ? तू (अत्र) इस विषय में (नः) हमें (किंस्वित्) क्या (प्रतिवोचासि) प्रत्युत्तर कहता है ?

पुरुष, अर्थात् जीव या चेतन शक्ति किन २ तत्वों पर आश्रित है। और चेतन तत्व में क्या २ तत्व गुंथे हैं ? यह प्रश्न है। इस प्रश्न को वैज्ञानिक भी अभी तक सरल नहीं कर सके।

पञ्चस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषेऽ अर्पितानि ।
एतत्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥५२॥

पुरुषो देवता । प्रतिवचनम् । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(पञ्चसु अन्तः) पांच प्राणों के भीतर (पुरुषः) पुरुष, जीवात्मा चेतन, (आविवेश) प्रविष्ट है, ओत प्रोत है। और (तानि) वे पाचों (पुरुषे अर्पितानि) पुरुष, आत्मा में आश्रित हैं। इसी प्रकार पांचों भूत और उन पांचों सूक्ष्म रूप पञ्चतन्मात्राओं के भीतर पुरुष, पूर्ण परमेश्वर आविष्ट है और वे पांचों भूत और तन्मात्राएं पूर्ण परमेश्वर में ओत प्रोत हैं। (एतत्) यह (त्वा) तुझे मैं (प्रतिमन्वानः) बतला रहा (अस्मि) हूं। हे प्रश्न करनेवाले ! (मायया) बुद्धि या ज्ञान से तू (मत्) मुझ से (उत्तरः) बढ़कर उत्कृष्ट समाधान करने वाला (न भवसि) नहीं है।

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद्वयः ।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥ ५३ ॥

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः ।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥ ५४ ॥

भा०—(५३,५४) दोनों की व्याख्या देखो अ० २३ । ११ । १२ ॥

काऽ ईमरे पिशङ्गिला काऽ ईं कुरुपिशङ्गिला ।
कऽ ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां विसर्पति ॥ ५५ ॥

प्रश्नः । अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(अरे) हे विद्वन् ! बतला (का ईम् पिशङ्गिला) 'पिशङ्गिला' क्या वस्तु है ? (कुरुपिशङ्गिला का ईम्) 'कुरुपिशङ्गिला' यह क्या वस्तु है ? (आस्कन्दम्) उछल उछल के (कः ईम् अर्षति) कौन चलता है । (पन्थाम्) मार्ग में (कः ईम्) कौन (विसर्पति) सरकता जाता है ।

अजारें पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला ।
शशऽ आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति ॥ ५६ ॥

प्रतिवचनम् । स्वराड् उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(अरे) हे प्रश्नकर्त्तः ! सुन, (पिशङ्गिला) समस्त रूपों को अपने भीतर निगल जाने वाली (अजा) अजा प्रकृति है। वह कारणरूप समस्त कार्य पदार्थों को अपने में विलीन कर लेती है । (श्वावित्) सेही जिस प्रकार धान्यादि उत्पन्न अन्न को खाजाता है उसी प्रकार 'श्वा' कुत्ते के समान केवल विषय रस के पीछे भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने वाला जीव, (कुरुपिशङ्गिला) स्वयं अपने कर्मों से उत्पादित रूपों को अपने में धारण करता है इसलिये वह 'कुरुपिशंगिला' है । (शशः) शशक जिस प्रकार कूद २ कर चलता है । उसी प्रकार (शशः) सबको क्षीण करने

वाला काल ही 'शश' है वह (आस्कन्दम्) सब पदार्थों पर आक्रमण करता हुआ (अर्पति) गुजरता जा रहा है । (अहिः) सर्प जिस प्रकार मार्ग पर सरकता जाता है उसी प्रकार सेव (पन्थाम्) आकाश मार्ग में (विसर्पति) भ्रमण करता है । अथवा (अहिः) आघात करने वाला काल या मृत्यु (पन्थाम् विसर्पति) जीवन मार्ग में व्यापता है ।

कत्यस्य विष्टाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः ।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो यजन्ति ॥५७॥

प्रश्नः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अस्य) इस जगत् के (कति विष्टाः) कितने विशेष आश्रय हैं, जिन में यह जगत् स्थित है ? (कति अक्षराणि) इसमें कितने अक्षर अर्थात् अविनाशी पदार्थ हैं जो कारण रूप होने से भी कभी नष्ट नहीं होते ? (कति होमासः) कितने प्रकार के 'होम' अर्थात् कारण पदार्थों के संयोग विभाग हैं ? (कतिधा समिद्धः) यह कितने प्रकारों से प्रकाशित एवं प्रेरित है अथवा (कतिधा समिद्धः) इसमें कितने प्रकाशक और प्रेरक तत्व हैं ? हे विद्वन् ! (यज्ञस्य विदथा) इन 'यज्ञ' विषयक विज्ञानों को मैं (त्वा) तुझ से (पृच्छम्) पूछता हूं और यह भी बतला कि (कति होतारः) कितने होता (ऋतुशः) ऋतुओं के अनुकूल (यजन्ति) यज्ञ कर रहे हैं ।

षडस्य विष्टाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ।
यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतार ऽऋतुशो यजन्ति ॥ ५८ ॥

प्रतिप्रश्नः । यज्ञो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

५८—वत्सस्य इति काण्व० ।

भा०—(अस्य) इस अध्यात्म यज्ञ के (विष्टाः षट्) छः आश्रय हैं। जिनमें वह विशेषरूप से स्थित हैं ५ प्राण, ६ ठा मन या आत्मा। (शतम् अक्षराणि) जीवन के सौ वर्ष, सौ अक्षर हैं। (अशीतिः होमाः) इस पुरुष यज्ञ में (अशीतिः) अन्न का अशन, अर्थात् भोजन करना ही 'होम' है। (तिस्रः समिधः) तीन समिधा हैं बाल्य, तारुण्य और वार्धक्य। (यज्ञस्य विदथा) यज्ञ विषयक ज्ञानों को (प्र ब्रवीमि) मैं बतलाता हूं कि (सप्त होतारः) सात होता, शिर में स्थित सात प्राण (ऋतुशः) ऋतु अर्थात् प्राणों के बल पर (यजन्ति) यज्ञ करते, ग्राह्य विषयों से ज्ञान प्राप्त करते हैं।

संवत्सररूप यज्ञ में—६ विष्टा अर्थात् आश्रय, ६ ऋतुएं हैं, (शतं अक्षराणि) सौ अक्षर हैं। अर्थात् सैकड़ों दिन रात हैं। (अशीतिर्होमाः) अन्न का भोजन ही होम योग्य पदार्थ हैं। तीन सामिधाएं तीन मुख्य ऋतु हैं, गर्मी, सरदी और वर्षा और सात रश्मियां जल ग्रहण करने से 'होता' है।

को ऽअस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी ऽअन्तरिक्षम्।
कः सूर्य्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥५६॥

प्रश्नः। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(अस्य भुवनस्य) इस उत्पन्न जगत् की (नाभिम्) नाभि, बन्धनस्थान, या आश्रय को (कः वेद) कौन जानता है? (कः द्यावा-पृथिवी) आकाश भूमि और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को कौन जानता है कि वे कहां से पैदा हुए हैं? (बृहतः सूर्यस्य) महान् सूर्य के (जनित्रम्) मूल कारण को (कः वेद) कौन जानता है? (चन्द्रमसं कः वेद) चन्द्रमा के विषय में कौन जानता है कि वह (यतः-जाः) कहां से पैदा हुआ है?

वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी ऽअन्तरिक्षम् ।
वेद सूर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥ ६० ॥

प्रतिचनम् । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अहम्) मैं (अस्य भुवनस्य) इस समस्त उत्पन्न जगत् के (नाभिम्) परम आश्रय, मुख्य केन्द्र को (वेद) जानता हूं। और मैं (द्यावापृथिवी, अन्तरिक्षम्) आकाश पृथिवी और वायु स्थान, अन्तरिक्ष के विषय में भी जानता हूं कि ये जहां से उत्पन्न होते हैं। (सूर्यस्य बृहतः) महान् सूर्य के (जनित्रम्) उत्पत्ति स्थान को भी (वेद) जानता हूं। (अथो) और (चन्द्रमसं) चन्द्रमा के विषय में भी जानता हूं कि वह (यतः-जाः) जहां से उत्पन्न होता है। वह सब परमात्मा से उत्पन्न होते हैं। वह सबका कर्त्ता है और 'प्रकृति' जगत् का उपादान कारण है।

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो ऽअश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥६१॥

प्रश्नः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे विद्वन् ! (त्वा) तुझ से मैं (पृथिव्याः) पृथिवी का (परम् अन्तम्) परला अन्त, परली सीमा (पृच्छामि) पूछता हूं। (यत्र) जिस स्थान पर (भुवनस्य) इस जगत् का (नाभिः) केन्द्र है, जिस पर बद्ध होकर वह ठहरा है वह भी (पृच्छामि) पूछता हूं। और (पृच्छामि) पूछता हूं कि (वृष्णः) उस महान्, सब सुखों के वर्षक (अश्वस्य) सर्वव्यापक परमेश्वर का (रेतः) उत्पादक वीर्य क्या पदार्थ है ? और पूछता हूं (वाचः) वाणी का (परमं) परम, सर्वोत्कृष्ट (व्योम) विशेष रक्षास्थान कौनसा है ?

इयं वेदिः परोऽ अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयꣳ सोमो वृष्णो ऽअश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥६२॥

भा०—(इयं वेदिः) यह 'वेदि' (पृथिव्याः परः अन्तः) पृथिवी का परम अन्त है। (अयं यज्ञः) यह यज्ञ सर्व पूजनीय परमेश्वर (भुवनस्य नाभिः) समस्त संसार का परम आश्रय है। वही उसका व्यवस्थापक, संयोजक, और प्रबन्धक है। (अयं सोमः) यह 'सोम' सबका प्रेरक सूर्य, वायु, अग्नि, विद्युत् आदि पदार्थ समूह ही (वृष्णः) महान् (अश्वस्य) व्यापक परमेश्वर का (रेतः) परम वीर्य, सर्वोत्पादक सामर्थ्य है। (अयं ब्रह्मा) यह ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञ विद्वान् ब्रह्मा ही (वाचः) वाणी का (परमम् व्योम) परम रक्षास्थान है।

ये सब प्रश्नोत्तर राष्ट्र के पक्षमें भी नीचे लिखे प्रकार से नाना प्रश्नों का समाधान करते हैं। जैसे—

मं० [४७-४८] ब्रह्म, बृहत् राष्ट्रपति या महान् ब्रह्मज्ञ सूर्य के समान प्रकाशक है। 'द्यौः' राजसभा समुद्र के समान ज्ञानप्रसारक होने से अगाध समुद्र के समान अगाध ज्ञान का भण्डार है। 'इन्द्र' अर्थात् राजा पृथिवी से महान् है। 'गौ' अर्थात् पृथिवी या वाणी का कोई परिमाण नहीं।

मं० [४९–५०] राजा तीनों पदों में विद्यमान है, राजा, शासकजन और प्रजा। उन्हीं में सब राष्ट्र स्थित हैं। पृथिवी और (द्यौः) राजसभा को प्राप्त करके राजा एक अङ्ग से सिंहासन पर विराजता है।

मं० [५१–५२] पुरुष, सबका पालक राजा पांचों जनों में स्थित है और पांचों जन उसमें आश्रित हैं।

[५६–५७] राष्ट्रवासी पुरुष चार प्रकार के स्वभाव वाले हैं एक 'अजा' स्वभाव के हैं जो सब स्थानों से धन प्राप्त करते हैं दूसरे 'श्वावित्' जो कर्म करके धन प्राप्त करते हैं। तीसरे 'शश' हैं जो उन्नति को उछाल भरते हैं, चौथे 'अहि' जो पथिक हैं।

(५७, ५८) ६ अमात्य राष्ट्र के ६ आधार हैं । सैकड़ों अक्षर. अक्षय कोष हैं । अन्नप्राप्ति होम है । प्रज्ञा, उत्साह, सेना ये तीन समिधाएं हैं । ६ अमात्य और सातवां राजा या राज्य के ससाङ्ग सात होता हैं ।

[५९, ६०] समस्त राष्ट्र का प्रबन्धक, राजा, राजसभा और शासक, सबका मूल, महान् सूर्य राजा है । आह्लादक राजा का उत्पत्ति स्थान यह राष्ट्र है ।

[६१, ६२] राज्याभिषेक की वेदि सर्वोत्कृष्ट स्थान है यह राज्य प्रबन्ध राष्ट्र का प्रबन्ध है । सोम, ऐश्वर्य या राष्ट्र स्वतः राजा का बल है । ब्रह्मा, वेदज्ञ विद्वान्, वाणी अर्थात् समस्त आज्ञाओं का उत्कृष्ट स्थान है ।

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥ ६२ ॥

प्रजापतिर्देवता । विराड् अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०— (सुभूः) सब से श्रेष्ठ, सर्वोत्पादक, (स्वयं भूः) स्वयं अपनी सत्ता से विद्यमान, (प्रथमः) सबसे प्रथम, पूर्व विद्यमान, जगदीश्वर (महति अर्णवे) बड़े भारी अर्णव, प्रकृति के परमाणु रूप सागर के (अन्तः) बीच में, (ऋत्वियं) स्त्री के देह में ऋतुकाल के अवसर पर पुरुष जैसे संतति उत्पादक गर्भ को स्थापित करता है उसी प्रकार (ऋत्वियं) ऋतु अर्थात् ठीक नियत काल में (गर्भम्) हिरण्यगर्भ को (दधे) स्थापन करता है । (यतः) जहां से (प्रजापतिः) प्रजा का पालक, सूर्य या संवत्सर (जातः) उत्पन्न होता है । राजा के पक्षमें—(सुभूः) उत्तम सामर्थ्यवान्, (स्वयंभूः) स्वयं सत्तावान्, (प्रथमः) सब से श्रेष्ठ विद्वान् (महति अर्णवे अन्तः) बड़े भारी जन-सागर के बीच (ऋत्वियं) राजसभा के सदस्यों के अनुकूल (गर्भम्) राष्ट्र को वश करने वाले प्रबन्ध को (दधे) स्थापित करता है (यतः) जिसमें से (प्रजापतिः) प्रजा का पालक राजा और राष्ट्र (जातः) उत्पन्न होता है ।

होता॑ यक्षत्प्र॒जाप॑तिꣳ सो॒मस्य॑ महि॒म्नः ।
जु॒षतां॑ पिबतु सो॒मꣳ होत॒र्यज॑ ॥ ६४ ॥

भा०—(होता) सब को अधिकार देनेहारा होता नामक विद्वान् (प्रजापतिम्) प्रजापति, अर्थात् प्रजा के पालक पुरुष को (सोमस्य) समग्र राष्ट्र के ऐश्वर्य के (महिम्नः) बड़े भारी अधिकार को (यक्षत्) प्रदान करे । और वह (सोमं) समग्र राष्ट्ररूप ऐश्वर्य को (जुषताम्) प्रेम से स्वीकार करे । और (पिबतु) उसका उपभोग करे । हे (होतः) होतः ! तू (यज) अधिकार प्रदान कर ।

प्र॒जाप॑ते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ रू॒पाणि॑ परि॒ता ब॑भूव ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ अस्तु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो र॒यीणा॑म् ॥ ६५ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १० । २० ॥

॥ इति त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥

॥ अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीवऽ आग्नेयो रराटे पुरस्तात्सारस्वती मेष्युधस्ताद्बार्हस्पत्यो राभौ वाह्योः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याँऽ सौर्यश्यामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छऽ इन्द्राय स्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः ॥ १ ॥

भुरिक् संकृतिः । गान्धारः ॥

भा०—राजा के अधीन राष्ट्र के अन्य अंग प्रत्यङ्गों का वर्णन करते हैं—(१) 'अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः॥' (अश्वः) घोड़ा, (तूपरः) सींगों वाला मेढ़ा, (गोमृगः) गोमृग अर्थात् नील गाय, ये तीन (प्राजापत्याः) प्रजापालक राजा के स्वरूप हैं अर्थात् राजा के ही स्वभाव के हैं। घोड़ा जिस प्रकार विजयशील है, अपने कन्धों पर दूसरों को उठाता है, गाड़ी में लग कर उसको खींचता है, इसी प्रकार राजा संग्राम में विजयी, अपने कन्धों पर प्रजाओं का भार उठाने वाला, राष्ट्र के रथ में आगे जुड़कर राष्ट्र का संचालन करता है। मेढ़ा अपना सिर दूसरे से जोप में लड़ाता है, अपने प्राणान्त तक लड़ना नहीं छोड़ता। इसी प्रकार राजा प्रजापालक भी अपने प्रतिस्पर्धी शत्रु से लड़े और प्राण रहते तक प्रतिपक्ष से टक्कर ले। 'गोमृग' नर बारहसींगा या नीलगाय मृग, नीली मादा गाय के लिये प्राण पण से लड़ता है इसी प्रकार राजा अपनी भूमि के लिये प्राण दे। अथवा जिस प्रकार नीलगाय अपने चंवर वालों के लिये जान देती है राजा भी अपनी शोभा और मान के लिये प्राण दे। इस प्रकार प्रजापति के ये तीन पशु प्रतिनिधि हैं। इनसे राजा

१—०'तूपराः' ०इति काण्व०।

:

देवता की (मेपी) भेड़ (हन्वोः अधस्तात्) दोनों जबाड़ों के नीचे । अर्थात् भेड़ का स्वभाव है कि दो लड़ाऊ भेड़ों में जो प्रबल है वह उसको प्राप्त होती है । अर्थात्, (हन्वोः) परस्पर आघात प्रतिघात करने वालों के (अधःस्तात्) मूल में उनके नीचे जिस प्रकार उन दोनों की स्पर्धा का विषय वह मेड़ी होती है और जिस प्रकार (सरस्वती) सरस्वती, वाणी स्वयं (हन्वोः अधस्तात्) दोनों जबाड़ों के नीचे होती है इसी प्रकार (सारस्वती मेपी) सरस्वती नामक विद्वान् की प्रतिस्पर्द्धा में प्रवृत्त सभा भी (हन्वोः) पक्ष प्रतिपक्ष से एक दूसरे का खंडन करने वाले दोनों दलों के (अधस्तात्) नीचे, उनके किये निर्णय के अधीन रहे ।

(४) 'अश्विनौ अधोरामौ बाह्वोः ॥' शरीर में (बाह्वोः) जिस प्रकार बाहू हैं उसी प्रकार राष्ट्र शरीर में दो बाहुओं के स्थानों पर (अश्विनौ) 'अश्वि' देवता वाले (अधोरामौ) नीचे से श्वेत वर्ण के दो बकरों के समान स्वभाव के दो पुरुष नियुक्त किये जांय । अर्थात् बकरे जिस प्रकार सदा चरते हैं उस प्रकार वे दोनों भी राष्ट्र को चर सकें, निरन्तर भोग सकें, निरन्तर भोगने में समर्थ होने से ही वे (अश्विनौ) अश्वि देवता के हैं। अर्थात् वे राष्ट्र में व्याप्त होकर भोगने में समर्थ हैं । उनके पोशाक ऊपर से काले नीचे से श्वेत हों । ऊपर से भयंकर और नीचे से उज्वल हों । ऐसे भीतर में हितैषी और प्रकट में क्रूर, कठोर स्वभाव के पुरुषों को राष्ट्र के (बाह्वोः) बाहुओं अर्थात् रक्षा के निमित्त नियुक्त करें ।

(५) 'सौमापौष्णः श्यामः नाभ्याम् ॥' सोम और पूषा देवता लावा श्याम वर्ण का नाभिस्थान में हो । (श्यामः) श्याम, हरे वर्ण का खेतों में लगा हुआ अन्न (नाभ्याम्) राष्ट्र के नाभि या केन्द्रस्थान या मध्य भाग में हो । वे (सौमापौष्णाः) सोम, राष्ट्र के ऐश्वर्य और 'पौष्ण' प्रजा के पोषणकारी हैं । इस श्यामल वनस्पति वर्ग के दो देव, विद्वान्

अधिकारी है सोम, ओषधि रस का वेत्ता वैद्य और पोषक अन्न का उत्पादक कृषि–विभागाध्यक्ष ।

(६) सौर्ययामौ श्वेतः च कृष्णः च पार्श्वयोः ॥ सूर्य और यम अर्थात् वायु और आकाश इन दो के गुणों के दिखानेवाले काले और सफेद पोषाक को पहनने वाले दो मुख्य अधिकारी (पार्श्वयोः) शरीर में दो पासों या बगलों के समान राष्ट्र की दो बगलें बनावें अर्थात् राष्ट्र में एक बगल श्वेत सूर्य के समान तेजस्वी प्रखर राजा और दूसरी बगल में यम अर्थात् दिन के विपरीत रात्रि के समान समस्त राष्ट्र में शान्तिस्थापन करनेवाला नियन्ता पुरुष हो । वह 'सूर्य' नामक पदाध्यक्ष श्वेत हो अर्थात् राष्ट्र के सब कार्यों को बढ़ानेवाला और यशस्वी, तेजस्वी हो, दूसरा नियन्ता 'यम' कृष्ण, रात्रि के समान सुख में प्रजा को प्रेम से खेंचने-वाला और पीड़ाओं से शत्रुओं को (कर्षण) अर्थात् बन्धनागार में खेंचनेवाला हो । राष्ट्र-व्यवस्था की ये ही दो बगलें या पहलू हैं । एक प्रजा की वृद्धि और दूसरा दुष्टों का दमन ।

(७) "त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योः ॥" (लोमशसक्थौ) जिनकी सक्थि अर्थात् समवाय अर्थात् एका करके शत्रुओं का छेदन करनेवाले दो नायक जो (त्वाष्ट्रौ) शत्रु सेनाओं को शस्त्रों से विनष्ट करनेवाले हों उनको (सक्थ्योः) राष्ट्र-शरीर के 'सक्थि' अर्थात् जंघा भाग समझे ।

(८) "वायव्यः श्वेतः पुच्छे ॥" पुच्छ भाग, आधार स्थान पर (वायव्यः) वायु के समान तीव्र प्रचण्ड बलवान् (श्वेतः) अति वृद्धिशील तेजस्वी पुरुष को नियुक्त करे ।

(९) स्वपस्याय इन्द्राय वेहत् ॥ (स्वपस्याय) उत्तम कर्म और प्रज्ञावान् (इन्द्राय) इन्द्र सेनापति के कार्य के लिय (वेहत्) विशेष

रूप से या विशेष २ साधनों से शत्रुओं का नाश करनेवाला पुरुष नियुक्त किया जाय ।

(१०) "वैष्णवो वामनः ॥" सर्वव्यापक सामर्थ्यवान् पद के लिये (वामनः) अति सुन्दर, हृदयग्राही पुरुष को नियुक्त करें ।

रोहितो धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या वभ्रुररुणवभ्रुः शुकवभ्रुस्ते वारुणाः । शितिरन्ध्रोऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्ताशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः । शितिबाहुरन्यतः शितिबाहुः समन्तशितिबाहुस्ते बार्हस्पत्याः पृषती क्षुद्रपृषती स्थूलपृषती ता मैत्रावरुण्यः ॥ २॥

निचृत् संकृतिः । गांधारः ॥

भा०—(११) "रोहितः धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितः ते सौम्याः ॥" (रोहितः) लाल रंग, (धूम्ररोहितः) धूआं मिला लाल रंग, लाल नीला और (कर्कन्धु रोहितः) बेर के फल का सा लाल, ये तीन रंग की पोशाक वाले अधीन अधिकारी (सोम्याः) सोम अर्थात् राजा के पद के साथ सम्बद्ध हैं ।

(१२) (वभ्रुः) भूरा, (अरुणवभ्रुः) लाल भूरा, (शुकवभ्रुः) हरा भूरा ये तीन प्रकार के रंग की पोशाकों वाले (वारुणाः) वरुण नाम पद के सम्बन्धी पुरुष हों ।

(१३) (शितिरन्ध्रः) श्वेत चिटकनों वाला, (अन्यतः शितिरन्ध्रः) एक तरफ श्वेत चिटकनेवाला, (समन्त शितिरन्ध्रः) सारे शरीर पर श्वेत चिटकनवाला ये तीन प्रकार के वस्त्रों के पुरुष (सावित्राः) सविता पद के सम्बन्ध के पुरुष हों ।

(१४) "शितिबाहुः अन्यतः शितिबाहुः समन्तशितिबाहुः ते बार्हस्पत्याः ॥" (शितिबाहुः) बाहु भागों पर श्वेत, (अन्यतः शितिबाहुः) किसी एक ओर की बाहु भाग पर श्वेत, (समन्त शितिबाहुः) समस्त

वाहुओं पर श्वेत, (ते) ऐसी पोशाक वाले सर्व (वार्हस्पत्याः) वृहस्पति अर्थात् महामात्य पद के अधीन हों ।

(१५) पृपती, क्षुद्रपृपती, स्थूलपृपती ता मैत्रावरुण्यः ॥ (पृपती) विचित्र वर्ण के विन्दु या छींटवाली, (क्षुद्रपृपती) छोटी २ छींट वाली, (स्थूल पृपती) वड़ी २ छींटवाली पोशाकों वाली स्त्रियां (मैत्रावरुण्यः) मित्र, न्यायाधीश और वरुण, दुष्टों के वारक पोलीस विभाग की समझनी चाहियें ।

ये १५ विभाग या अङ्ग राष्ट्र के 'पर्यङ्क' कहाते हैं ।

शुद्धवालः सर्वशुद्धवालो मणिवालस्तऽआश्विनाः श्येतः श्येताक्षोऽरुणस्ते रुद्राय पशुपतये कर्णायामाऽअवलिप्ता रौद्रा नभो रूपाः पार्जन्याः ॥ ३ ॥

भा०—(शुद्धवालः) शुद्ध श्वेत, वालों वाले, (सर्वशुद्धवालः) समस्त श्वेत वालों वाले, (मणिवालः) मणि के समान नीले वाल वाले (ते आश्विनाः) वे आश्विन पद के अधिकारियों के अधीन हों ।

"श्येतः श्येताक्षः अरुणः ते रुद्राय पशुपतये ।" (श्येतः) श्वेत वर्ण का (श्येताक्षः) आंख पर श्वेत वर्णवाला और (अरुणः) लाल ये (रुद्राय) सव दुष्टों के रुलाने वाले (पशुपतये) पशु पालकजन के अधीन जानो ।

(कर्णाः यामाः) कानों वाले अर्थात् वहुश्रुत लोग 'यम' नामक अधिकारी के हों ।

(अवलिप्ताः रौद्राः) शरीर पर चन्दन आदि के विशेष रङ्ग का लेप करने वाले 'रुद्र' पद से सम्वद्ध जानो । (नभोरूपाः पार्जन्याः) आकाश के समान वर्षावाले हलके नीले रंग के (पार्जन्याः) 'पर्जन्य' अर्थात् मेघ के समान पुरुष जल-धाराओं से अग्नि वुझानेवाले विभाग के हों ।

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूलोहितोर्णाः पल्क्ली ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुष्ठाकर्णोऽध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्त ऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिरस्त उपस्थ्याः ॥ ४ ॥

भा०—(पृश्निः) चित्रविचित्र वर्ण, (तिरश्चीनपृश्निः) तिरछे या आड़े शरीर पर चिटकने वाला, (ऊर्ध्वपृश्निः) ऊपर की ओर चित्र विन्दु-वाले, (मारुताः) 'मरुत' विभाग के हैं ।

फल्गूः, लोहितोर्णाः, पलक्ली ताः सरस्वत्यः ॥ (फल्गूः) स्वल्पबल वाली, (लोहितोर्णाः) लाल ऊन पहनने वाली और (पलक्ली) श्वेत ऊन वाली अथवा अतिचञ्चल आंखों वाली स्त्रियां (ताः) वे (सारस्वत्यः) सरस्वती, वाणी या आज्ञाएं पहुंचाने के कार्य में लगाई जायं ।

प्लीहाकर्णः शुष्ठाकर्णः अध्यालोहकर्णः ते त्वाष्ट्राः ॥ (प्लीहाकर्णः) तीव्र गति से भीतर प्रवेश करने वाले साधन, (शुष्ठाकर्णः) शुष्क काष्ठ के बने अथवा छोटे उपकरण और (अध्यालोहकर्णः) समस्त लोह के बने साधनों वाला (ते) ये सब (त्वाष्ट्राः) त्वष्टा अर्थात् शिल्पि वर्ग के पुरुष हैं ।

"कृष्णग्रीवः शितिकक्षः अञ्जिसक्थः ते ऐन्द्राग्नाः ॥" काली ग्रीवा वाला या ग्रीवा पर काले चिह्न वाला, कक्ष अर्थात् बगल में श्वेत चिह्न वाला और जांघ पर श्वेत चिह्न वाला ये सब भी इन्द्र, अग्नि, सेनापति और अग्रणी-नेता पुरुषों के वर्ग के हैं ।

कृष्णाञ्जिः, अल्पाञ्जिः महाञ्जिः तेः उपस्थ्याः । काले लंगोट के छोटे लंगोट के और बड़े लंगोट के ये पुरुष 'उपस्थ्याः', उपा शत्रुदाहक या प्रकाश-कारी विभाग के पुरुष हों ।

शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो वाचेऽविज्ञात्राऽआदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानां पत्नीभ्यः ॥ ५ ॥

निचृद् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(वैश्वदेव्यः शिल्पाः) सब प्रकारों के शिल्पों को दर्शाने वाले सभी कोटि के विद्वान् गण हैं । (रोहिण्यः) पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली लताएं या उनके समान बढ़ती उमर की कुमारी कन्याएं (त्र्यवयः) माता, पिता और गुरु इन तीन की रक्षा में रहने वाली होकर (वाचे) ज्ञान वाणी की शिक्षा के लिये जावें । (अविज्ञाताः) ज्ञान रहित प्रजाएं (आदित्यै) पृथ्वी के ऊपर कृषि और खोदने आदि श्रम के कार्य्य पर लगें । अथवा (अविज्ञाताः) अज्ञात कुल की कन्याएं पालनार्थ (आदित्यै) अखण्ड स्थिर गृहस्थों को पालनार्थ देदी जायं । (सरूपाः) समान रूप, गुण, कीर्त्ति वाली स्त्रियें (धात्रे) पोषण करने और उत्तम सन्तानार्थ बीज वपन करने में समर्थ पतियों को प्राप्त हों । (वत्सतर्यः) बहुत छोटी उमर की कन्याएं (देवानां पत्नीभ्यः) विद्वान् गुरुओं की स्त्रियों के अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त करें ।

कृष्णग्रीवा आग्नेयाः शितिभ्रवो वसूनाꣳरोहिता रुद्राणाꣳश्वेता ऽअवरोकिणोऽआदित्यानां नभोरूपाः पार्जन्याः ॥ ६ ॥

विराड् उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(कृष्णग्रीवाः आग्नेयाः) गर्दन पर काले चिह्न वाले पुरुष 'अग्नि' अर्थात् अग्रणी सम्बन्धी हों । (शितिभ्रवः वसूनाम्) भ्रुवों पर श्वेत चिह्न के पुरुष ' वसु ' नाम के प्रजा बसाने वाले अधिकारियों के हों । (रोहिताः रुद्राणां) लाल वर्ण के पोषाक वाले 'रुद्र' नाम अधिकारियों के हों । श्वेत वस्त्र वाले दूसरों को बुरे काम करने और कुमार्ग से जाने में रोकने वाले पुरुष (आदित्यानां) आदित्य नाम के अधिकारियों के हैं । (नभोरूपाः

पार्जन्याः) नील मेघ के वर्ण की पोशाक वाले पुरुष 'पार्जन्याः' पर्जन्य, मेघ के समान जलदाता विभाग के हों।

उन्नतऽऋषभो वामनस्तऽऐन्द्रावैष्णवाऽउन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्तऽऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषाऽआग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः ॥ ७ ॥

अतिजगती । निषादः ॥

भा०—(उन्नतः) ऊंचा, (ऋषभः) हृष्ट पुष्ट और (वामनः) बौना, या अतिसुन्दर रूप वाले ये तीनों प्रकार के पुरुष (ऐन्द्राबैष्णवाः) इन्द्र और विष्णु नाम अधिकारी के अधीन हों। (उन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठः ते) ऊंचे, बाहु पर श्वेत वस्त्र वाले और पीठ पर श्वेत वस्त्र वाले ये तीनों (ऐन्द्राबार्हस्पत्याः) 'इन्द्र बृहस्पति' राजा, राजमन्त्री के विभाग के हों। (शुकरूपाः वाजिनाः) तोते के समान हरे पोषाक के पुरुष वेगवान् अश्वों के ऊपर नियत हों। (कल्माषाः आग्निमारुताः) श्वेत काले, खाखी रङ्ग की पोशाक वाले 'अग्नि और मरुत्' विभाग के हों। (श्यामाः पौष्णाः) नीले रङ्ग के पूषा अर्थात् कर-संग्राहक विभाग के हों।

एताऽऐन्द्राग्ना द्विरूपाऽआग्नीषोमीया वामना आनड्वाहऽआग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यतऽएन्यो मैत्र्यः ॥ ८ ॥

विराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(एताः) कर्बुर रंग के (ऐन्द्राग्नाः) इन्द्र और अग्नि-विभाग के हैं। (द्विरूपाः आग्नीषोमीयाः) दो २ रंग की पोशाक वाले (आग्नीषोमीया) अग्नि और सोम विभाग के हैं। (वामनाः) छोटे अंग के पुरुष या पशु (आनड्वाहः) जो गाड़ी खींच कर लेजावें के (आग्नावैष्णवाः) अग्नि और विष्णु विभाग के हैं। (वशाः) वशकारिणी संस्थाएं और पुरुष (मैत्रावरुण्यः) 'मित्र और वरुण' विभाग के हैं। एक तरफ़ से चित्रित

वर्ण के वस्त्र पहनने वाली स्त्रियां (मैत्र्यः) 'मित्र' विभाग के अधीन हों।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेया वभ्रवः सौम्याः श्वेता वायव्याऽआविज्ञातारा आदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यौ देवानां पत्नीभ्यः ॥ ९ ॥

निचृत्पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(कृष्णग्रीवाः आग्नेयाः) गर्दन पर काले चिह्न वाले 'अग्नि' विभाग के हैं। (वभ्रवः सौम्याः) वभ्रु, नेवले के रंग के, या भूरे रंग के 'सोम' विभाग के हैं। (श्वेता वायव्याः) श्वेत वर्ण के वायु विभाग के हैं। (आविज्ञाताः) इत्यादि म० ५ के समान।

कृष्णा भौमा धूम्राऽआन्तरिक्षा बृहन्तो दिव्याः शवला वैद्युताः सिध्मास्तारकाः ॥ १० ॥

विराड् गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(कृष्णाः भौमाः) कृषि के उपयोगी, कर्षक पुरुष और पशु (भौमाः) भूमि के उपायोगी हों। (धूम्रा आन्तरिक्षाः) धूम जिस प्रकार अन्तरिक्ष में जाता है ऐसे धूम के द्वारा रमण करने में कुशल पुरुष अन्तरिक्ष में जाने में कुशल हों। (बृहन्तः) बड़े शक्तिशाली पुरुष (दिव्याः) सूर्य के समान तेजस्वी एवं ज्ञान, विजय और तेज को प्राप्त करते हैं। (शवलाः) बल को प्राप्त करने वाले तीव्र गतिमान् यन्त्र (वैद्युताः) विद्युत् से उत्पन्न करने के योग्य हैं। (सिध्माः) तीव्र वेग से जाने हारे साधन (तारकाः) दूर देशों तक लेजाने के लिये हों।

धूम्रान् वसन्तायालभते श्वेतान् ग्रीष्माय कृष्णान् वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय ॥ ११ ॥

विराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(वसन्ताय) वसन्त ऋतु के लिये (धूम्रान्) धुमैले रंग के वस्त्रादि को (आलभते) प्राप्त करे। (ग्रीष्माय श्वेतान्) ग्रीष्म काल

के लिये श्वेत वस्त्रों का उपयोग करे । (वर्षाभ्यः कृष्णान्) वर्षा काल के लिये काले या नीले रंग के वस्त्रों का उपयोग करे । (अरुणान् शरदे) शरद् काल के लिये लाल रंग के वस्त्रों का उपयोग करे । (पृषतः हेमन्ताय) नाना वर्ण के चित्रकबरे अथवा मोटे वस्त्रों को हेमन्त काल में उपयोग करे । (पिशङ्गान् शिशिराय) पीले, वसन्ती रंग के वस्त्रों का उपयोग शिशिर ऋतु के लिये करे । विशेष ऋतु में विशेष रंग के वस्त्रों, तथा अन्य पदार्थों के उपयोग से प्राकृतिक लाभ और चित्तप्रसाद और स्वास्थ्य उत्पन्न होता है । अथवा ऋतु भेद से जिस प्रकार मेघों का वर्ण भेद है उसी प्रकार सदस्यों के भेद से राजा के कर्त्तव्यों का भेद है । जैसे वसन्त के निमित्त धूमाकार मेघों को प्राप्त करता है । ग्रीष्म में श्वेत मेघों को, वर्षा में काले, शरद् में सायं समय में लाल, हेमन्त में कई रंग के और शिशिर के लिये पीले मेघों को प्राप्त करते हैं ।

त्रयवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभै द्वित्यवाहो जगत्यै त्रिवत्सा ऽअनुष्टुभै तुर्यवाहऽउष्णिहे ॥ १२ ॥

पष्ठवाहो विराजऽउक्षाणो बृहत्याऽऋषभाः कुकुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिच्छन्दसे ॥ १३ ॥

विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—जैसे गौओं में अवस्था भेद से भेद है उसी प्रकार गौ रूप वाणी में भी छन्दो भेद से भेद है । गौ की अवस्थाओं को वाणी के छन्दों से तुलना करते हैं । (त्रवयो गायत्र्यै) १½ वर्ष की गौएं गायत्री के स्थान पर हैं । (पञ्चावयः त्रिष्टुभे) २⅓ वर्ष की गौएं त्रिष्टुप् की तुलना के लिये हैं । (द्वित्यवाहः जगत्यै) कटे धानों को पीठ पर लेकर चलने वाली ३ वर्ष की गौएं जगती के समान जानो । (त्रिवत्सा अनुष्टुभे) तीन तीन वर्ष की गौ अनुष्टुप् के समान हैं । (तुर्यवाह उष्णिहे) चतुर्थ वर्ष की

गो-जाति उष्णिग् छन्द के समान है। (पष्ठवाहः विराजे) पृष्ठ से बोझ उठाने वाली गो-जाति विराट् छन्द के समान है। (उक्षाणः बृहत्याः) वीर्य सेचन में समर्थ बैल बृहती के समान हैं (ऋषभाः ककुभे) ऋषभ, बड़े बल, ककुप् छन्द के समान समझो। (अनड्वाहः पंक्त्यैः) शकट का बोझ उठाने वाले बैल, (पंक्त्यै) पंक्ति छन्द के समान हैं और (धेनवः) दुधार गौवें (अतिछन्दसे) अति शब्दयुक्त छन्द के समान जानो। कृष्णग्रीवा आग्नेया वभ्रवः सौम्याऽउपध्वस्ताः सावित्रा वत्सतर्यः सारस्वत्यः श्यामाः पौष्णाः पृश्नयो मारुता बहुरूपा वैश्वदेवा वृशा द्यावापृथिवीयाः ॥ १४ ॥

भा०—(कृष्णग्रीवाः आग्नेयाः) गर्दन पर काले चिह्नवाले सेवक-जन (आग्नेयाः) 'अग्नि' पद के सम्बन्ध के हैं। (वभ्रवः सौम्याः) भूरे पोशाक वाले 'सोम' पद के सम्बन्ध के हैं। (उपध्वस्ताः सावित्राः) अन्य वर्ण से मिले २ वर्ण के 'सवितृ' पद के सम्बन्धी जन हैं। (वत्सतर्यः सारस्वत्याः) अत्यन्त छोटे वर्ष की बालक प्रजाएं (सारस्वत्याः) सरस्वती अर्थात् शिक्षा अथवा विभाग के अथवा गृहस्थ स्त्री द्वारा पोषण योग्य हैं। (श्यामाः पौष्णाः) श्याम, हरे धान, 'पूषा' अर्थात् भाग-धुक् नामक अधिकारी के हैं अथवा (श्यामाः पौष्णाः) नीले मेघ पृथ्वी के और अन्न के निमित्त हों। (पृश्नयः) रसों से पूर्ण गौएं (मारुताः) वैश्यगण की हैं। (बहुरूपाः वैश्वदेवाः) नाना प्रकार की प्रजाएं सामान्य समस्त विद्वान् पुरुषों की हैं। (वशाः) वशकारिणी शक्तियां (द्यावा पृथिवीयाः) द्यौ पृथिवी के समान माता पिता और राजा प्रजा के बीच में प्रयुक्त हैं।

उक्षाः सञ्चराऽएतांऽऐन्द्राग्नाः कृष्णा वारुणाः पृश्नयो मारुताः क्रायास्तूपराः ॥ १५ ॥

विराड् उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(सञ्चराः) भिन्न २ विभागों के योगा उनके भृत्य और अनुचरों का (उक्ताः) वर्णन कर दिया गया है । जैसे (एताः ऐन्द्राग्नाः) कर्बुर रंग के इन्द्र और अग्नि के (कृष्णाः वारुणाः) काले रंग के वरुण के, (पृश्नयः मारुताः) चित्र वर्ण के मरुतों के, (तूपराः कायाः) हिंसक स्वभाव के प्रजापति के हों ।

अग्नयेऽनीकवते प्रथमजानालभते मरुद्भ्यः सान्तपनेभ्यः सवात्यान् मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यो वाष्किहान् मरुद्भ्यः क्रीडिभ्यः संसृष्टान् मरुद्भ्यः स्वतवद्भ्योऽनुसृष्टान् ॥ १६ ॥

शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(अनीकवते) मुख्य सेना के स्वामी (अग्ये) अग्रणी सेना नायक के कार्य के लिये, (प्रथमजान्) प्रथम श्रेणी के, एवं श्रेष्ठ गुणों और विद्याओं में कुशल पुरुष को (आ लभते) प्राप्त करे और उनको अग्रणी के बलवृद्धि के लिये नियुक्त करे ।

(सांतपनेभ्यः) अच्छी प्रकार स्वयं तपस्या करने और शत्रुओं के तपानेहारे (मरुद्भयः) विद्वान् पुरुषों या वायु के समान तीव्र वेग से आक्रमण करनेवाले पुरुषों के लिये (सवात्यान्) प्राणों को या तीव्र वायु के समान तेज़ी से भागनेवाले, हवा से बात करनेवाले पुरुषों और यानादि को (आलभते) प्राप्त करे । (गृहमेधिभ्यः मरुद्भ्यः) गृहस्थ विद्वान् के रक्षा के लिये (वाष्किहान्) हिंसकों के भी मारनेवाले रक्षकों को (आलभते) प्राप्त करे । (क्रीडिभ्यः) क्रीड़ा अर्थात् आनन्द विनोद, या युद्ध क्रीड़ा करनेवाले (मरुद्भ्यः) प्रजाओं या वीर पुरुष के लिये (संसृष्टान्) उनके साथ मिलकर काम करने में समर्थ, या खूब सधे हुए साथियों को प्राप्त करे । (स्वतवद्भ्यः) अपने ही बल पर कार्य करनेवाले (मरुद्भ्यः) मनुष्यों के लिये (अनुसृष्टान्) उनके अनुकूल चलनेवाले पुरुषों को प्राप्त करे ।

---

१६ — साकमेधाः ।

उक्ताः सञ्चराऽएता ऐन्द्राग्नाः प्राशृङ्गा माहेन्द्रा बहुरूपा वैश्वकर्मणाः ॥ १७ ॥

भा०—(सञ्चराः उक्ताः) इनके साथ के अनुचर पूर्व कह चुके हैं। ये विशेष समझो कि (ऐन्द्राग्नाः) इन्द्र और अग्नि के (एताः) चितकबरे वर्ण के (प्राशृङ्गाः माहेन्द्राः) महान् राज के अनुचर खुले हिंसा साधन, हथियारों को आगे थामे हुए हों। (वैश्वकर्मणाः) विश्वकर्मा एञ्जीनियर के अधीन (बहुरूपाः) नाना प्रकार के कर्मचारी हों।

इस प्रकार राष्ट्र के भिन्न २ पदाधिकारियों के अधीन उनके भृत्य, साथी सङ्गियों के नाना वर्ण के पोषाकों, स्वभावों और प्रकारों का वर्णन कर दिया। तदनुसार ही उनके विभाग में काम आनेवाले पशुओं और यान आदि के भी भिन्न २ रूप संकेतार्थ कर लेने चाहियें।

अश्वमेध यज्ञ में प्रतिनिधिवाद से इन वर्णों के बकरों को ही लेकर २१ यूथों में बांधने का लिखा है। पर जब अश्व राष्ट्र का प्रतिनिधि है तो ये बकरे भी राष्ट्र के कार्यों में नियुक्त पुरुषों के उपदर्शक मात्र हैं। ऐसा जानना चाहिये।

धूम्रा बभ्रुनीकाशाः पितॄणाꣳ सोमवतां बभ्रवो धूम्रनीकाशाः। पितॄणां बर्हिषदां कृष्णा बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः ॥ १८ ॥

भुरिग् अतिजगती। निषादः ॥

भा०—(सोमवतां पितॄणां) राज्य के विशेष पालन करने वाले रक्षक पुरुषों के अधीन पुरुष (धूम्राः) धुमैले रंग के और (बभ्रुनीकाशाः) भूरे के से पोशाक के हों। (बर्हिषदां पितॄणाम्) प्रजा पर अधिष्ठित पालक पुरुषों के अधीन चाकर (बभ्रवः) भूरे रङ्ग के (धूम्रनीकाशाः) धुमैले छापवाले, हों। अर्थात् उन के वस्त्रों पर धूमैले रंग पर भूरे रङ्ग की धारियां हों। दूसरों के वस्त्रों

पर भूरे रंग पर धूमैली धारियां हो। (अग्निष्वात्तानां पितृणाम्) विद्वान् अग्नि, स्वभाव के अग्रणी नेता पुरुषों के अधीन पालक पुरुषों के (कृष्णाः वभ्रनीकाशाः) काले वस्त्रों पर भूरे चिह्न हों। (त्रैयम्बकाः) 'त्रियम्बक' अर्थात् तीन २ अधिकारों में लगे पुरुष (कृष्णाः पृषन्तः) काले रङ्ग पर चितकबरे नाना वर्णों के चिह्न के वस्त्र वाले हों।

उक्षाः सञ्चराः पृताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वैताः सौर्याः १६

भा०—(सञ्चराः उक्षाः) उनके साथ के अनुचर भी इसी प्रकार कहे जानने चाहियें। (शुनासीरीयाः) शुनासीर-विभाग, कृषि विभाग के लोग (पृताः) कर्बुर रंग के हों। (वायव्याः) वायु विभाग के श्वेत और (सौर्याः श्वेताः) सूर्य अर्थात् प्रकाशकारी विभाग के श्वेत वस्त्र के पुरुष हों। वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान्वर्षाभ्यस्तित्तिरीञ्छरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककरान्छिशिराय विकंकरान् ॥ २० ॥

विराड् जगती। निषादः ॥

भा०—ऋतुओं के अनुसार पक्षियों का वर्णन करते हैं। (वसन्ताय) वसन्त में (कपिञ्जलान्) कपिञ्जल नामक पक्षियों को (आलभते) देखता है। (ग्रीष्माय कलविङ्कान्) ग्रीष्म में 'कलविङ्क' नाम पक्षी को देखे। (वर्षाभ्यः तित्तिरीन्) वर्षा ऋतु में 'तित्तिरि' तीतर नाम के पक्षियों को देखे। (शरदे वर्त्तिकाः) शरत् काल में बटेर नामक पक्षियों को देखे। (हेमन्ताय ककरान्) हेमन्त में ककर नाम के पक्षियों को प्राप्त करे। (शिशिराय विकंकरान्) शिशिर के लिये 'विकंकर' नाम के पक्षियों को देखे।

भिन्न २ ऋतुओं में भिन्न २ पक्षी प्रकट होते हैं। उसी २ ऋतु में ही उन २ पक्षियों को पक्षिशास्त्रज्ञ प्राप्त करें, जानें और उनका अध्ययन करे, विपरीत कालों में विपरीत पक्षियों का प्राप्त होना राष्ट्र के लिये दैवी

विपत्तियों का सूचक होता है। इसलिये राष्ट्र प्रकरण में इसका उल्लेख किया जाता है।

समुद्राय शिशुमारानालभते पर्जन्याय मण्डूकानब्द्यो मत्स्यान् मित्राय कुलीपयान् वरुणाय नाक्रान् ॥ २१ ॥

विराट् । मध्यमः ॥

भा०—(समुद्राय शिशुमारान् आलभते) समुद्र में शिशुमार घड़ियालों प्राप्त करे। (पर्जन्याय मण्डूकान्) मेघ काल में मेण्डक, (अब्द्यः मत्स्यान्) जलों में मच्छियां, (मित्राय कुलीपयान्) मित्र अर्थात् मित्रता के लिये अथवा सूर्य सेवन या जल विहार के लिये 'कुलीपय' सुर्गाबी नाम के जन्तु, (वरुणाय नाक्रान्) वरुण अर्थात् भारी जलों में, या परस्पर वरण के निमित्त बड़े २ नाकों को प्राप्त करे, उनका स्वाध्याय करे।

सोमाय हꣳसानालभते वायवे बलाकाऽइन्द्राग्निभ्यां क्रुञ्चान् मित्राय मद्गून् वरुणाय चक्रवाकान् ॥ २२ ॥

विराड़ बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(सोमाय हंसान्) राजा के विनोद या चांदनी में या जल की शोभा के लिये, हंस को प्राप्त करे। (वायवे बलाकान्) वायु में बलाका या बक पक्षियां देखे। (इन्द्राग्निभ्यां क्रुञ्चान्) इन्द्र, सूर्य और अग्नि के अवसरों पर क्रुञ्च नाम पक्षी देखे। (मित्राय मुद्गून्) सूर्य या सुखद जलाशय के निमित्त या मित्रता के लिये मद्गु नामक छोटे हंस को देखे। और (वरुणाय चक्रवाकान्) परस्पर प्रेम पूर्वक वरण के निमित्त चकवों को देखे। हंस, बलाका, क्रुञ्च, आदि पक्षी उन स्थानों पर जिस २ विशेषता को रखते हैं उन २ विशेषताओं का ज्ञान और अध्ययन करे।

अग्नये कुटरूनालभते वनस्पतिभ्यऽउलूकानिन्द्राग्नीभ्यां चाषान्नाश्विभ्यां मयूरान् मित्रावरुणाभ्यां कपोतान् ॥ २३ ॥

पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(अग्नये) अग्नि के प्रयोग के लिये (कुटरून्) कुटरू नामक सुर्गा, पक्षियों को (आलभते) प्राप्त करे। (वनस्पतिभ्यः उलूकान्) वनस्पतियों के ज्ञान के लिये उल्लू जातियों के पक्षियों को प्राप्त करे, उनके जीवन का अनुशीलन करे । (अग्निषोमाभ्यां) अग्नि और जल की परीक्षा के लिये (चापान्) चाप नामक पक्षियों को देखे। (अश्विभ्यां मयूरान्) स्त्री पुरुषों के संयमी और प्रेमी और सुन्दरता सुखप्रद आलाप के लिये (मयूरान्) मयूरों को देखे। (मित्रावरुणाभ्यां कपोतान्) मित्र और वरुण अर्थात् मित्रता, स्नेह और परस्पर वरण के लिये (कपोतान्) कपोत नाम पक्षियों को देखे।

सोमाय लवानालभते त्वष्ट्रे कौलीकान् गोपादीर्देवानां पत्नीभ्यः कुलीकाः देवजामिभ्योऽग्नये गृहपतये पारुष्णान् ॥ २४ ॥

भा०—(सोमाय लवान् आलभते) सोम, सौम्य भाव के लिये 'लवा' नामक पक्षी को देखे (त्वष्ट्रे कौलीकान्) त्वष्टा, अर्थात् कारीगरी के काम देखने के लिये 'कौलिक' वया नाम पक्षी को देखे। (देवानां पत्नीभ्यः) विद्वान् पुरुषों या राजाओं की पत्नी या पालक शक्तियों के अच्छे दृष्टान्त के लिये (गोपादीभ्यः) गौओं पर बैठने वाली 'गुरुसल' नामक पक्षियों को देखे। वे गौ पर बैठती हैं, उनके नाशकारी कीड़ों को खाजाती हैं और गौ को हानि नहीं पहुंचातीं। इसी प्रकार पृथ्वी के पास शक्तियों को राष्ट्रवासी प्रजाओं को हानि न पहुंचा कर उनके बीच में दुष्ट पुरुषों को पकड़ २ कर नष्ट करें। (कुलीकाः देवजामिभ्यः १) देव, विद्वानों या राजाओं या विजयी पुरुषों के 'जामि' भगिनियों या स्त्रियों के लिये दृष्टान्त रूप से 'कुलीक' नामक पक्षी को देखना चाहिये। (अग्नये गृहपतये पारुष्णान्) गृहपति के उत्तम दृष्टान्त के लिये पारुष्ण

१—जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः ।

नामक पक्षियों को देखना चाहिये। वे प्रत्येक अंग में उष्ण होते हैं और अपने बच्चों को अपने अंगों से लगा कर पालते हैं।

अह्ने पारावतानालभते रात्र्यै सीचापूरहोरात्रयोः सन्धिभ्यो जतूर्मासेभ्यो दात्यौहान्त्संवत्सराय महतः सुपर्णान् ॥ २५ ॥

विराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—दिन के प्रारम्भ के लिये (पारावतान्) कबूतरों को देखे, वे भोर में ही उठते हैं, चूत्कार करते हैं। वैसे मनुष्य भी शीघ्र उठे और मन्त्रपाठ करे। अथवा दिन के कार्य के लिये पारावत, कबूतरों के प्रयोग करे वे दिन में दूर तक देखते हैं। (रात्र्यै सीचापूः) रात्रि के कार्य के लिये 'सीचापूः' नाम पक्षी का ज्ञान करे। (अहोरात्रयोः संधिभ्यः जतूः) दिन और रात की संधिकाल या संध्या समय में 'जतू' अर्थात् चमगीदड़ों का ज्ञान करे। वे उस समय अच्छा देखती और आहार पाती हैं। (मासेभ्यः दात्यौहान्) मासों के उत्तमता के ज्ञान के लिये काले कौओं का ज्ञान करे। (संवत्सराय महतः सुपर्णान्) संवत्सर की उत्तमता को जानने के लिये बड़े २ पक्षियों का अध्ययन करे।

भूम्याऽआखूनालभतेऽन्तरिक्षाय पाङ्क्तान् दिवे कशान् दिग्भ्यो नकुलान् वभ्रुकानवान्तरदिशाभ्यः ॥ २६ ॥

भा०—(भूम्यै आखून् आलभते) भूमि की उत्तमता के लिये मूषकों का स्वाध्याय करे। (अन्तरिक्षाय पांक्तान्) अन्तरिक्ष विज्ञान के लिये पंक्ति बनाकर चलनेवाले पक्षियों को देखे। (दिवे कशान्) प्रकाश के लिये 'कश' नाम के पक्षियों को प्राप्त करे। (दिग्भ्यः नकुलान्) दिशाओं के ज्ञान के लिये (नकुलान्) नेवलों को स्वाध्याय करे। (अवान्तर दिग्भ्यः) उपदिशाओं के ज्ञान के लिये (वभ्रुकान्) वभ्रुक नामक जन्तुओं को देखे।

वसुभ्य ऽऋष्यानालभते रुद्रेभ्यो रुरूनादित्येभ्यो न्यङ्कून् विश्वेभ्यो देवेभ्यः पृषतान्त्साध्येभ्यः कुलुङ्गान् ॥ २७ ॥

भा०—प्रजा में वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वदेव और साध्य ये पांच श्रेणियां उसी प्रकार उत्तरोत्तर उत्कृष्ट जानो जैसे वन के मृगों में ऋष्य, रुरु, न्यङ्कु, पृषत और कुलुङ्ग ये पांच हरिण जातियां हैं। इनमें क्रम से एक के लिये एक को दृष्टान्तरूप से ले ले। (वसुभ्यः ऋष्यान् आलभते) वसु, २४ वर्ष के ब्रह्मचारियों के लिये मृग जाति में (ऋष्यान् आलभते) ऋष्य नामक मृगों को लेले। (रुद्रेभ्यः रुरून्) रुद्रों के लिये रुरु नामक मृगों को और (आदित्येभ्यः) आदित्य ब्रह्मचारियों के लिये (न्यंकून्) न्यङ्कु जाति के मृगों को और (साध्येभ्यः कुलङ्गान्) साध्य अर्थात् योग साधनाशील पुरुषों के लिये कुरङ्ग जाति के मृगों को ग्रहण करें। अथवा उक्षवसु आदि के लिये अमुक २ मृगों के चर्म वस्त्र, आसनादि के लिये प्राप्त करे।

ईशानाय परस्वत ऽआलभते मित्राय गौरान् वरुणाय महिषान् बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्र उष्ट्रान् ॥ २८ ॥

बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(ईशानाय) ऐश्वर्य या सामर्थ्यवान् जन के लिये (परस्वतः) परस्वान् नामक मृगों का निरीक्षण करे। (मित्राय गौरान्) मित्र, स्नेही व्यक्ति के लिये (गौरान्) गौर मृगों का दृष्टान्त देखे। ये परस्पर बहुत ही स्नेह करते हैं। (वरुणाय महिषान्) वरुण, प्रतिद्वन्द्वी को वारण करने वाले के लिये महिष अर्थात् भैंसा को देखना चाहिये। (बृहस्पतये गवयान्) बृहस्पति के बड़े राष्ट्र की रक्षा के लिये नील गायों को देखना चाहिये। वे अपने रेवड़ की बड़ी धीरता से रक्षा करते हैं, नर गवय मादीनों के बीच में घेर के रक्षा करते हैं। (त्वष्ट्रे उष्ट्रान्) त्वष्टा, शिल्पियों के लिये उष्ट्र जाति के बोझा उठाने वाले जन्तुओं का निरीक्षण करना चाहिये। जिस प्रकार

लम्बी टांगों पर भारी शरीर किस कारीगरी से लगा है उसका अनुकरण करना चाहिये। या भार वाले पदार्थों के उठाने के लिये ऊंटों का उपयोग करना चाहिये।

प्रजापतये पुरुषान् हस्तिन आलभते वाचे प्लुपींश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः ॥ २६ ॥

भा०—(प्रजापतये) प्रजापालक राजा की सेवा के लिये (पुरुषान्) वीर पुरुषों को और (हस्तिनः) हाथियों को (आलभते) प्राप्त करे। (वाचे) वाणी के लिये (प्लुपीन्) प्लुपी नामक जन्तुओं को प्राप्त करे। (चक्षुषे मशकान्) आंख के लिये छोटे २ मच्छरों को देखें। जिस प्रकार चक्षु के रूप को देखकर वे मुग्ध होते हैं ऐसे उत्तम रूपों पर चक्षु को लगावे। (श्रोत्राय भृङ्गाः) श्रवणेन्द्रिय के सुख के लिये (भृङ्गाः) भृङ्गों को प्राप्त करे, उनके सुन्दर झंकार श्रवण करे।

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदंपभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्त्तिका नीलङ्गोः कृमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती ॥ ३० ॥

भा०—(प्रजापतये वायवे च) प्रजा के पालक और वायु के समान वेग से जाने के लिये (गोमृगः) गवय अनुकरण करने योग्य है। (वरुणाय) शत्रु को वरण करने के लिये (आरण्यः मेषः) जंगली मेढ़ा अनुकरण करने योग्य है। अर्थात् शत्रु को वारण करने वाला वीर मेढे के समान शत्रु से टक्कर ले। और (यमाय कृष्णः) यम, नियमपालक ब्रह्मचारी के लिये (कृष्णः) कृष्ण मेष अनुकरणीय है, वह उसके समान हृष्ट पुष्ट हो। (मनुष्यराजाय मर्कटः) मनुष्य स्वभाव के राजा के लिये वानर का दृष्टान्त समझना चाहिये। अर्थात् प्रायः मनुष्य-स्वभाव के राजा

वानर के समान चपल और क्रोधी होते हैं, अथवा वे उनके समान दिखावटी क्रोध के हों। भीतर से वे क्रोध न करें। (शार्दूलाय रोहित्) जिस प्रकार सिंह के लिये एक मृग पर्याप्त होता है उसी प्रकार शार्दूल के समान वीर पराक्रमी के लिये (रोहित्) वृद्धिशील प्रजा प्राप्त हो (ऋषभाय गवयी) जिस प्रकार बैल को भोग के लिये गौ प्राप्त होती है उसी प्रकार नरश्रेष्ठ को यह पृथिवी भोग के लिये प्राप्त हो। (श्येनाय वर्त्तिका) जिस प्रकार वेग से झपटने वाले बाज को (वर्त्तिका) बटेरी शिकार में प्राप्त होती है। उसी प्रकार वेग से सेन पक्षी के समान परराष्ट्र पर आक्रमण करने में समर्थ वीर पुरुष को भी (वर्तिका) वृत्ति राज्य से प्राप्त हो (नीलंगोः कृमिः) नीड़ में बैठने वाले विशेष छोटी जाति के पक्षी को जिस प्रकार भोजन के लिये (कृमिः) कृमि प्राप्त होता है उसी प्रकार 'नीड़' अर्थात् आश्रय रक्षास्थान में बैठे पुरुष को उसके कर्म का फल प्राप्त हो। (समुद्राय शिशुमारः) समुद्र में जिस प्रकार स्वयं 'शिशुमारः' नाम का घड़ियाल आश्रय किये रहते हैं। उसी प्रकार ऐश्वर्य के समुद्र राजा के पास घड़ियाल के समान परशत्रु को अपने बल से खींचलाने वाले भयंकर विजयी पुरुष प्राप्त हों। (हिमवते हस्ती) जिस प्रकार विशालकाय हाथी जन्तु हिमवान् पर्वत का आश्रय लेता है उसी प्रकार हिमालय के समान उन्नत पुरुष के अधीन नर कुंजर भी प्राप्त होते हैं।

मयुः प्राजापत्य ऽउलो हलिक्ष्णो वृषदंशस्ते धात्रे दिशां कुक्कुटो धुङ्क्षाग्नेयी कलविङ्को लोहितास्यः पुष्करसादस्ते त्वाष्ट्रो वाचे क्रुञ्चः ॥ २१ ॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(मयुः) उत्तम आज्ञा देने वाला पुरुष (प्राजापत्यः) प्रजापति प्रजापालक राजापद के योग्य है। अथवा (मयुः) गान, संगीत आदि के उत्तम

शब्द गान करने हारा (प्राजापत्यः) प्रजापति, राजा के सुख के लिये हो। (उलः) ऊन के वस्त्र देने वाला, (हलिक्षणः) सिंह के समान निर्भय चक्षु वाला और (वृषदंशः) वृषभ के समान हृष्ट पुष्ट दिखाई देने वाला (ते) ये तीनों प्रकार के पुरुष (धात्रे) राष्ट्र में धाता, प्रजा के पोषणकारी पद के योग्य हैं। (धुङ्क्षा) शत्रुओं को धुन डालने या कंपा देने वाली और उसको क्षीण करने वाली सेना (आग्नेयी) 'अग्नि' नामक अग्रणी नायक के अधीन रहे। (कलविङ्कः) मधुरध्वनियों को या कलायन्त्रों को प्रकट करने वाला, (लोहिताहिः) लोहित अर्थात् लोहादि के बने पदार्थों को आघात करने वाला लोहकार और (पुष्कर-सादः) तालाब को बनाने वाला, अथवा पुष्ट करने वाले दृढ़ दुर्गों को बनाने वाला (ते) ये सब (त्वाष्ट्राः) शिल्पकार के अधीन हों। (वाचे क्रुञ्चः) उत्तम वाणी के लिये ज्ञानवान्, चतुर पुरुष प्राप्त हो।

सोमाय कुलुङ्ग ऽआरण्योऽजो नकुलः शक्रा ते पौष्णाः क्रोष्ट्रा मायोरिन्द्रस्य गौरमृगः पिङ्गो न्यङ्कुः कक्कटस्तेऽनुमत्यै प्रतिश्रुत्कायै चक्रवाकः ॥ ३२ ॥

भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—(सोमाय कुलुङ्गः) 'सोम' अर्थात् ऐश्वर्यवान् पद के लिये (कुलुङ्गः) मृग के समान उछाल भर कर शत्रु पर धावा करने वाला पुरुष प्राप्त हो। (आरण्यः अजः) जंगली 'अज' 'अजाशृंगी नामक औषध' या शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाला पुरुष, (नकुलः) नेवुरा और उस स्वभाव का विषवैद्य, (शकाः) मधु-मक्खियें और उनसे तैयार मधु अथवा समवाय बनाकर शक्तिशाली हुए पुरुष (ते पौष्णाः) ये सब पुष्टि करने के लिये प्राप्त किये जायँ। (मायोः) दीर्घ शब्द करने के निमित्त पद के लिये (क्रोष्टा) दूर तक बुलाने वाला पुरुष प्राप्त किया जाय। (इन्द्रस्य गौरमृगः)

ऐश्वर्यवान् या इन्द्र आचार्य के पद के लिये (गौरमृगः) वाणिज्यों में रमण करने और अन्तःकरणों को शुद्ध करने में समर्थ पुरुष चाहिये अथवा ऐश्वर्यवान् होने के लिये (गौरमृगः) गौओं और भूमियों में रमण करने और धनादि के खोजने वाला पुरुष चाहिये। (पिद्धः) ज्ञानवान् पुरुष, (न्यङ्कुः) नीचे, शनैः भाषणशील और (कक्कटः) निरन्तर ज्ञान का अभ्यास करने वाला (ते) वे (अनुमत्यै) अनुमति, सलाह करने के लिये प्राप्त करने चाहियें। (चक्रवाकः) चक्र, राजचक्र में भाषण करने में समर्थ, वाग्मी पुरुष (प्रति-श्रुत्काय) सभा में स्थित प्रत्येक को राजा की घोषणा श्रवण कराने के लिये प्राप्त किया जाय।

'पिद्धः'—पी गतौ। भ्वादिः। दुगागमः। न्यङ्कवति इति न्यङ्कुः। कटी गतौ। भ्वादिः, गति ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति त्रयोर्थाः। चक्रे वक्तीति चक्रवाकः। प्रति प्रति श्राव्यते यया क्रियया सा प्रतिश्रुत्का तस्यै। गोषु, वाणीषु, भूमिषु, गोषु धनेषु वा रमते इति गौरः। मृजू शुद्धौ। मृगयतेर्वा। कुलुंगः कुलं गच्छति इति कुलंगः उत्वं छान्दसम्। अथवा कुत्सितं लुनाति इति कुलुः शत्रुकुलं आकुलयति वा। अजति क्षिपति रोगान् बहिरिति अजः। अरण्ये भवः आरण्यः। न कुत्सितं मलं लाति इति नकुलः शुद्धान्नौषधग्रापकः। शकाः शचन्ते समवायेन वर्त्तन्ते, शक्नुवन्तीति वा शकाः।

सौरी बलाका शार्ङ्गः सृंजयः शयाण्डंकुस्ते मैत्राः सरंस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद्भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरंस्वते शुकः पुरुषवाक् ॥ ३३ ॥

भा०—(बलाका) बल से जाने वाली सेना को (सौरी) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के लिये प्राप्त करे। (शार्ङ्गः=सारङ्गः) सार पदार्थों तक पहुंचने वाला अथवा 'शार-ग' शरसमूहों सहित जाने वाला, अथवा (शार्ङ्गः) शृङ्ग के धनुष का धारण करने वाला, या शस्त्रधर (सृंजयः) वेग

से विजय करने वाला और (शयाण्डकः) शयन से सुख कराने वाला, (ते) ये तीनों (मैत्राः) स्नेही एवं प्रजा को मरण से बचाने वाले राजा के लिये प्राप्त करो। (सरस्वत्यै) विद्या के अभ्यास के लिये (पुरुषवाक् शारिः) पुरुष वाणी बोलने वाली मैना के समान पढ़े पाठ को पुनः अभ्यास करने वाला पुरुष हो। (भौमी श्वावित्) भूमि के भीतरी तत्वों को प्राप्त करने वाला (श्वावित्) सेहे के समान खोदने वाला हो। (शार्दूलः) शार्दूल के समान पराक्रमी, (वृकः) भेड़िये के समान साहसी और (पृदाकुः) अजगर के समान तपस्वी ये तीनों प्रकार के पुरुष (मन्यवे) 'मन्यु' अर्थात् क्रोधशीलता के लिये राजा को अनुकरणीय है (सरस्वते) प्रशस्त ज्ञान का अगाध सागर होने के लिये (पुरुषवाक् शुकः) पुरुष की वाणी बोलने वाले शुक के समान पुनः २ पाठशील पुरुष को प्राप्त करो।

सुपर्णः पार्जन्य ऽआतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे वृहस्पतये वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलज आन्तरिक्षः प्लवोमद्गुर्मत्स्यस्ते नदीपतये द्यावापृथिवीयः कूर्मः ॥ ३४ ॥

स्वराट् शाकरी । धैवतः ॥

भा०—(सुपर्णः) उत्तम पालनशक्ति से सम्पन्न सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष (पार्जन्यः) मेघ के समान प्रजाओं पर सुखों का प्रदाता हो। (आतिः) निरन्तर सर्वत्र भ्रमण करने में समर्थ, (वाहसः) वाहनों को साथ रखने वाला और (दर्विदा) दारु, अर्थात् काष्ठों के विद्वान् (ते) वे तीनों पुरुष (वायवे) वायु के समान तीव्र वेग से गति करने में उपकारी होवें, वे शीघ्रगामी रथ बनावें।

(वाचस्पतये पैङ्गराजः) वाणी के पालकस्वरूप वाचस्पति पद के लिये उत्तम उपदेश और अध्यापन कार्य, एवं उत्तम सूक्त पद्यादि कहने वालों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष को प्राप्त करो। (अलजः) जो पुरुष अपने कामों

से दूसरों को संताप न दे ऐसा व्यक्ति (श्रान्तरिक्षः) अन्तरिक्ष के समान सब का रक्षक होने योग्य है। (प्लवः) जहाज़, (मद्गुः) जलकाग के समान जल और स्थल दोनों स्थानों पर विहार करने में समर्थयान और (मत्स्यः) मछली के समान रचना वाला यान (ते नदीपतये) ये नदीपति समुद्र के संतरण के लिये चाहिये।

(द्यावापृथिवीयः कूर्मः) क्रिया उत्पन्न करने में समर्थ सूर्य जैसे द्यौ और पृथिवी को प्रकाश करता है। इसी प्रकार (कूर्मः) क्रियाशील, कर्मक्षम, तेजस्वी पुरुष राजा और प्रजा दोनों का हितकारी हो। नीचे की पृथिवी और ऊपर का आकाश दोनों मिल कर महान् 'कूर्म' अर्थात् कच्छप का आकार बनाते हैं। यह विराट् कूर्म है, वह जैसे पृथिवी और आकाश का मिलकर कूर्म है उसी प्रकार पृथिवी और उसका रक्षक राजा दोनों का मिलकर राज्य रूप एक कूर्म बनता है। वह उत्तम राज्य राजा प्रजा दोनों का ही होने से द्यावा पृथिवी दोनों का कहाता है।

'पैङ्गराजः'—पिजिर्भाषार्थः। 'अलजः'—अज लजीभर्जने भ्वादिः। पुरुषमृगश्चन्द्रमसो गोधा कालका दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनां कृकवाकुः सावित्रो हꣳसो वातस्य नाको मकरः कुलीपयस्ते-ऽकूपारस्य द्वियै शल्यकः ॥ ३५ ॥

निचृत् शक्करी। धैवतः ॥

भा०—(चन्द्रमसः पुरुषमृगः) पुरुषों को अपने उपदेश, आचार व्यवस्था द्वारा पवित्र करने वाला पुरुष 'चन्द्रमा' के पदके योग्य है। वह चन्द्र के समान सब का आह्लादक है। (गोधा) गौओं का पालक (कालका) यथाकाल, ऋतु अनुसार फल प्राप्त करने वाला और (दार्वा-घाटः) काष्ठों को चीरने फाड़ने वाला (ते) ये तीन पुरुष (वनस्पतीनाम्) वन के वनस्पतियों के पालने और प्रयोग के लिये हों। (कृकवाकुः)

कण्ठ से शुद्ध वाणी बोलने वाला विद्वान् (सावित्रः) सविता, सर्वप्रेरक आज्ञापक और सविता के समान ज्ञानी आचार्य पद के योग्य है। (हंस वातस्य) हंस के समान जल में निर्लेप रह कर विहार करने वाला योगी (वातस्य) प्राण के संयमन में कुशल (नाक्रः) नक्र के शरीर के समान बनी नाव, (मकरः) मगरमच्छ के शरीर के समान बनी नाव और (कुलीपयः) कुलीपय नामक जलजन्तु के समान रचना वाला जलयान (अकूपारस्य) समुद्र के विहार के लिये बनाना चाहिये। (ह्रियै शल्यकः) लज्जा के लिये सेहा या जंगली कांटेदार चूहा अनुकरण करने योग्य है वह आहट और स्पर्श पाते ही मुंह छिपाकर पड़ जाता है।

ऋणयहो मण्डूको मूषिका तित्तिरिस्ते सर्पाणां लोपाश ऽआश्विनः कृष्णो रात्र्या ऋक्षो जतूः सुपिलीका त ऽइतरजनानां जह्का वैष्णवी ॥ ३६ ॥

निचृज्जगती । निषादः ॥

भा०—(ऋणी) नित्य आनेवाली उषा (अह्नः) दिन को प्रकाश करती है। (मूषिका तित्तिरिः मण्डूकः) मेंढक, मूसा और तीतर ये तीनों (सर्पाणाम्) सांपों के आहार होते हैं। (लोपाशः आश्विनः) स्त्री और पुरुष दोनों का परस्पर सम्बन्ध 'लो' [पाश=लोहपाश] अर्थात् लोह से बने पाश के समान दृढ़ हों। (कृष्णः) काला अंधकार (रात्र्याः) रात्रि का स्वरूप है। (ऋक्षः जतूः सुपीलिका ते इतरजनानाम्) रीछ, चमगीदड़ और सुपीलिका नामक पक्षी ये तीनों श्रेष्ठ पुरुषों से भिन्न २ जनों के स्वभाव के दृष्टान्त हैं। रीछ क्रूर है वह पशु होकर भी अपुच्छ है, चमगीदड़ न पक्षी है न पशु है। सुपीलिका पक्षी होकर बिल बनाकर रहती है। इस प्रकार ये जिस वर्ग के हैं उसमें होकर भी उनसे भिन्न रूप और स्वभाव के हैं इसी प्रकार जो लोग श्रेष्ठ पुरुषों में होकर भी उनसे भिन्न

आचार व्यवहार के हों वे इन जन्तुओं के समान हैं। (जहका वैश्वणी) सर्वत्र फैलाने वाली व्यापक शक्ति परमेश्वर की है। राष्ट्र में व्यापक शक्ति राजा की है। 'जहका'—ओहाङ् गतौ।

अन्यव्रापोऽर्द्धमासानामृश्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्धर्वाणामपामुद्रो मासान् कृश्यपो रोहित्कुष्ठ्रणाची गोलत्तिका तेऽप्सुरसां मृत्यवेऽस्थितः ॥ ३७ ॥

भुरिग् जगती । निषादः ॥

भा०—(अन्यव्रापः अर्धमासानाम्) स्वक्षेत्र में दूसरों द्वारा बीज वपन केवल (अर्धमासानाम्) आधे मास, ऋतुकाल-मात्र के लिये हो। उसके अतिरिक्त समय नियुक्त पुरुष का क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं। जिस प्रकार 'अन्यव्राप' अर्थात् दूसेर के बीज से उत्पन्न कोयल का काक से पालन मात्र का सम्बन्ध है बाद में वह पुनः कोमल का ही बच्चा कहाता है इसी प्रकार असमर्थ पुरुष के स्त्री में अन्य वीर्य द्वारा उत्पादित नियोगज पुत्रों का भी वीर्य सेक्ता के साथ केवल ऋतुकाल के १५ दिनों के संग-मात्र का सम्बन्ध है। उसके अतिरिक्त वे पुत्र स्त्री के पाणिग्रहीता पति के ही कहाते हैं।

(ऋष्यः मयूरः सुपर्णः ते गन्धर्वाणाम्) ऋष्य नामक मृग जो गान पर मुग्ध हो जाता है (मयूरः) मोर जो मधुर षड्ज स्वर का आलाप करता है (सुपर्णः) हंस ये गन्धर्व अर्थात् गान-विद्या के विशेष २ पुरुषों के लिये स्वर-निर्णय में अनुकरण करने योग्य हैं। ऋष्य मृग का स्वर ऋषभ, मयूर का षड्ज और हंस का पञ्चम है।

(अपाम् उद्रः) उद्र, अर्थात् उदक में रमण करनेहारे कर्कट नाम जीव का अनुकरण करके (अपाम्) जलों के विहार करने के साधन तैयार करना चाहिये। (कश्यपः) सर्वप्रकाशक, सूर्य (मासान्) मासों, १२ महीनों का उत्पादक होता है। (रोहित् कुष्ठ्रणाची गोलत्तिका ते

अप्सरसाम्) रोहित्, कुण्डृणाची और गोलत्तिका ये तीन पशुजातियें (अप्सरसाम्) स्त्रियों के स्वभाव बतलाने वाले दृष्टान्त हैं। अथवा ये स्त्रियों के तीन नमूने हैं, १. 'रोहित्' जो पुरुष का सङ्ग लाभ कर पुत्र सन्तानादि से फूलती फलती हैं। अथवा लता स्वभाव की हैं। वे पुरुष का आश्रय करके रहती हैं। दूसरी (कुण्डृणाची) दाह या कामानल से पीड़ित होकर पुरुष के पास आती हैं। तीसरी 'गोलत्तिका' अर्थात् गोरतिका, गौ के स्वभाव की, अन्न वस्त्र ही से संतोष करनेवाली अथवा गौ, इन्द्रियों को सुख देनेवाली. पशु के समान रतिमात्रफला। कदाचित् कामशास्त्र की दृष्टि से रोहित्=मृगी। कुण्डृणाची = हस्तिनी और गोलत्तिका = चित्रिणी हों।

(असितः) बन्धन रहित जीव (मृत्यवे) मृत्यु अर्थात् शरीर त्याग के वश होता है। अर्थात् मृत्यु का स्वरूप देहबन्धन से छूटना है। अथवा (असितः) कृष्ण, पापी बन्धनरहित, निर्मर्याद पुरुष (मृत्यवे) मृत्यु-दण्ड के योग्य है।

वर्षाहूऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितृणांबलायाजगरो वस्तूनां कपिञ्जलः कपोत ऽउलूकः शशस्ते निर्ऋत्यै वरुणायारण्यो मेषः ॥ ३८ ॥

स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—(वर्षाहूः ऋतूनाम्) वर्षाओं को लानेवाला काल (ऋतूनाम्) ऋतुओं में सबसे श्रेष्ठ है। (आखुः) सब ओर से भूमि को खनकर उसमें से रत्न, जल, अन्नादि प्राप्त करने वाला, (कशः) कशा के समान शासन करने हारा या सर्व विद्याओं का प्रकाशक और (मान्थालः) मथन करके सार भाग प्राप्त करने वाला. ये तीनों प्रकार के पुरुष (पितृणाम्) पालक माता पिता के समान प्रिय, हितकारी होते हैं। (बलाय) बल के सम्पादन के लिये (अजगरः) अजगर का अनुकरण करना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार अजगर सुदृढ़, यथेच्छ बलवाला होता है उसी प्रकार

शरीर देखने में कोमल होकर भी इच्छानुसार कठोर और बलपूर्ण हो। (वसूनां कपिञ्जलः) उत्तम वचन कहने वाला पुरुष (वसूनाम्) राष्ट्रवासी प्रजाओं का प्रिय होता है। (कपोत उलूकः शशः ते निर्ऋत्यै) कपोत, उलूक और शशक ये तीनों जन्तु संकट, विपत्ति की सूचना देने वाले और उस काल में सहायक हैं। उसके लिये इनकी प्रकृति का स्वाध्याय अर्थात् चाहिये। (आरण्यो मेषः वरुणाय) जंगली मेढ़ा या जंगली भैंसा, 'वरुण' अर्थात् शत्रुनिवारण करने वाले पुरुष को अनुकरण करने योग्य हैं। वह जैसे शत्रु से प्राणपण से जुट जाता है उसी प्रकार शत्रु मारने के काम में लगे पुरुष को अपने कार्य में प्राणपण से जुट जाना चाहिये।

श्वित्र ऽआदित्यानामुष्ट्रो वृणीवान् वार्ध्रीनसस्ते ऽमत्या अरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः कायिः कुटरुर्दात्यौहस्ते वाजिनां कामाय पिकः ॥ ३९ ॥

स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(श्वित्रः आदित्यानाम्) श्वेत प्रकाश सूर्य की किरणों का होता है। वह श्वित्र, निष्पाप चरित्र आदित्य ब्रह्मचारियों को अनुकरण करना चाहिये। (उष्ट्रः घृणीवान्, वार्ध्रीनसः ते मर्त्यः) उष्ट्र, अर्थात् पापों का दहन करने वाला (घृणीवान्) सूर्य के समान तेजस्वी और (वार्ध्रीनसः) नाक में नकेल लगालेने के समान अपने इन्द्रियों पर निग्रह करने वाला ये तीन प्रकार के पुरुष (मर्त्यै) उत्तम मति, ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपासना करने योग्य हैं। (अरण्याय सृमरः) गवय के समान नित्य जंगलों में घूमने वाला पुरुष जंगल के प्रदेश के लिये पथप्रदर्शक होने योग्य है। (रुरुः) निरन्तर उपदेश करने वाला (रौद्रः) उपदेशक विद्वान् होने योग्य है। अथवा भयंकर शब्द करने वाला पुरुष भयजनक है।

(कायिः कुटरुः दात्यौहः ते) कायि कुटरु=कुक्कुट और काला काक ये तीनों (वाजिनाम्) घोड़ों के हितकारी होते हैं। अथवा बटेरा कुक्कुर और काक

ये तीन दृष्टान्त (वाजिनाम्) युद्ध करनेवालों को अनुकरण करने योग्य हैं। (कामाय पिकः) काम, मनोभिलाषा पूर्ण करने के लिये (पिकः) कोकिल के समान मनोहर वाणी से बोलनेहारा हो।

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिंहो मारुतः कृकलासः पिप्पका शकुनिस्ते शरव्यायै विश्वेषां देवानां पृषतः ॥ ४० ॥

भा०—(खड्गः) गैण्डा नामक पशु (वैश्वदेवः) समस्त विजिगीषु, योद्धा पुरुषों के ढाल बनाने के काम का होता है। अथवा (खड्गः) खड्ग, तलवार सब सैनिकों के उपयोग की है। (कृष्णः श्वा) काला कुत्ता, (कर्णः गर्दभः) कानों वाला गधा और (तरक्षुः) चीता ये पदार्थ (रक्षसाम्) दुष्ट पुरुषों से बचने के लिये उपाय और अनुकरणीय दृष्टान्त हैं। (इन्द्राय सूकरः) भूमि विदारण करने के काम में 'सूकर' सूअर नाम का लम्बी थोथन वाला पशु अनुकरण करने योग्य है। (सिंहः मारुतः) सिंह, प्रयाण करने वाले योद्धा के लिये वीरता और तीव्रता के लिये अच्छा अनुकरण योग्य दृष्टान्त है। (कृकलासः) कृकलास नाम सरट. गिरगट; (पिप्पका) पिप्पका नाम का छोटा पक्षी और (शकुनिः) शक्तिशाली बड़ा पक्षी, ये तीनों पदार्थ (शरव्यायै) बाण बनाने के उपयोग के हैं। गिरगट के समान बाण का मुख पिप्पका के पूंछ के समान बाण की पूंछ, और बड़े पक्षियों के पंखों के खण्डों से बाण बनाया जाता है। (पृषतः विश्वेषां देवानाम्) पृषत् नामक सामान्य मृग समस्त विद्वान् पुरुषों के लिये मृगछाला आदि के आसन और वस्त्र के कार्य का है।

॥ इति चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुर्विंशोऽध्यायः ॥

॥ अथ षड्विंशोऽध्यायः ॥

॥ ओ३म् ॥ [1] शादं दद्भिरवक्कां दन्तमूलैर्मृदं घस्वैस्ते गान्दꣳष्ट्रा-भ्याꣳ सरस्वत्याऽ अग्रजिह्वं जिह्वायाऽ उत्खादमवक्रन्देन तालु व्राजꣳ हनुभ्यामप ऽआस्येन वृषणमाण्डाभ्याम् । [2] आदित्याँ श्मश्रुभिः पन्थानं भ्रूभ्यां द्यावापृथिवी वर्त्तोभ्यां विद्युतं कनीनकाभ्यांꣳशुक्राय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा पार्याणि पद्माणयवार्या इत्वोऽवार्याणि पद्माणि पार्या इत्वः ॥ १ ॥

भुरिक् शक्वरी (२) निचृदतिशक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(शादं दद्भिः) काटने की क्रिया को दांतों से सीखो । (दन्त-मूलैः) दांतों के मूल भागों से (अवक्काम्) रक्षा करने की विधि का प्रयोग सीखो । काटने का विज्ञान दांतों से सीखना चाहिये कि किस प्रकार वे पदार्थों को काटते हैं । उसी प्रकार दन्तमूल काटने के अवसर पर दांतों की कैसे रक्षा करते हैं । (वस्वैः मृदं) दांतों के पृष्ठ-भागों से (मृदम्) मर्दन करने की क्रिया का पाठ सीखें । वे चबाये पदार्थ को कैसे मसलते हैं । (दंष्ट्राभ्यां तेगाम्) दांतों से तीक्ष्णता का ज्ञान करो । (सरस्वत्यै अग्रजिह्वम्) सरस्वती, शुद्ध वाणी के उच्चारण के लिये जिह्वा के अग्रभाग का उपयोग करो । (जिह्वायाः) जीभ से (उत्सादम्) उखाड़ने के व्यापार की शिक्षा लो । वह अपनी चतुरता से दांतों में फंसे अन्नादि के अवयवों को किस प्रकार उखाड़ती है । (अवक्रन्देन तालु) नीचे शब्द के प्रयोग से (तालु) तालु का प्रयोग सीखो (हनूभ्याम् व्राजम्) दोनों जबाड़ों से बल की शिक्षा लो । (आस्येन अपः) मुख से जलों के

१—शादंदद्भिरित्यारभ्य पृथिवीं त्वचा [२५ । ६] इत्यन्तः संहिता भागो ब्राह्मणं न मन्त्राः इति महीधरः ॥

प्रकट होने का विज्ञान देखो, किस प्रकार मुख में लगी ग्रन्थियों से जल छूटता है और नित्य सदा मुख जल से गीला रहता है। (आण्डाभ्याम् वृषणम्) अण्डकोषों से वीर्य सेचन के ज्ञान को प्राप्त करो। (श्मश्रुभिः) दाढ़ी मोंछ के बालों से (आदित्यान्) आदित्य ब्रह्मचारियों को पहचानो, अथवा दाढ़ी मोंछ के बालों से (आदित्यान्) सूर्य की किरणों को जानो। अर्थात् मनुष्य के मुख पर दाढ़ी मोंछे उसी प्रकार हैं जिस प्रकार सूर्यबिम्ब के चारों ओर उससे निकलने वाली किरणें। (भ्रूभ्याम् पन्थानम्) भौहों से मार्ग को जानो अर्थात् जिस प्रकार नाक पर दो भौहें एक दूसरे के विपरीत दिशा में लगी हैं उसी प्रकार भिन्न २ दिशा में गये मार्गों को सूचित करना चाहिये। अथवा (भ्रूभ्याम्) भौहों के इशारे से ही (पन्थानम्) जाने योग्य मार्ग को समझो। बुद्धिमान को इशारों से ही अपने कर्त्तव्या-कर्त्तव्य को जानना चाहिये। (वर्त्तोभ्यां द्यावापृथिवी) ऊपर नीचे की पलकों से आकाश और पृथिवी को जाने अर्थात् जैसे दो पलकें ऊपर नीचे हैं वे चक्षु को अपने भीतर लिये रहती हैं उसी प्रकार आकाश ऊपर और पृथिवी नीचे वे दोनों दो पलकों के समान सूर्य रूप तेज को अपने भीतर धारण करती हैं। (कनीनकाभ्यां) आंख की पुतलियों से (विद्युतम्) विद्युत् या विशेष द्युतिमय सूर्य को समझो। पलकों के बीच की पुतली उसी प्रकार है जैसे आकाश और भूमि के बीच विशेष तेजस्वी सूर्य है। (शुक्लाय स्वाहा) आंख के शुक्ल भाग का भी ज्ञान करो और (कृष्णाय स्वाहा) कृष्ण भाग का भी ज्ञान करो। वे दोनों दिन और रात्रि के प्रकाश और अन्धकार के समान हैं। (पक्ष्माणि) पलकों पर के लोम (पार्याणि) नदी के परले तट पर लगे कासों के समान हैं। (इक्षवः) नीचे की पलकों के लोम (अवार्याणि) मानो इस तीर के कासों के समान हैं। अथवा (पक्ष्माणि) स्वीकार करने योग्य वस्तु (पार्याणि) पालन करने योग्य हैं। (इक्षवः) इच्छानुकूल पदार्थ (अवार्याणि)

वारण नहीं करने चाहियें। और इसी प्रकार (पद्यायिण अवार्यांणि) अपने पक्ष के ग्रहण योग्यों को तिरस्कार न किया जाय। (इक्षवः पार्या) इष्ट सम्बन्धियों को पालन करना चाहिये।

अथवा–इस मन्त्र में राष्ट्र की मनुष्य के मुँह से तुलना की गई प्रतीत होती है। जैसे (शादं दन्तिः) 'शाद' अर्थात् छेदन करनेवाले शस्त्र बल की दांतों से तुलना करो। (अवका दन्तमूलैः) शैवाल को दन्तमूलों से तुलना कर। अथवा काटने वाले हथियारों की दांतों से तुलना कर। राष्ट्र की रक्षा करने वाली सेना को दांतों के मूलों के तुल्य मानो। (तेगां दंष्ट्राभ्याम्) तीक्ष्ण शस्त्र की दाढ़ों से तुलना करो। (सरस्वत्या अग्रजिह्वं) सरस्वती या विद्वत्सभिति से मुखस्थ जीभ की तुलना करो। (जिह्वायाः उत्सादम्) मुख में लगी जीभ की राष्ट्र में शत्रु को उखाड़ देने की शक्ति से तुलना करो। (अवक्रन्देन) शत्रु को ललकारने वाले या दबाने वाले बल से (तालु) तालु की तुलना करो। जिस प्रकार भोज्य पदार्थ को तालु दबा लेता है उसी प्रकार राजा भोग्य राष्ट्र को दबाकर भोग करे। (वाजं हनुभ्याम्) राष्ट्र के बल वीर्य की मुख के जबाड़ों से तुलना करो। (अपः आस्येन) राष्ट्र में स्थिर जलों की (आस्येन) गीले मुख से तुलना करो। अथवा (अपः आस्येन) प्रजाओं की समस्त खाने वाले मुख से तुलना करो। (वृषणम् आण्डाभ्याम्) शरीर में स्थित अण्डकोशों से वर्षा करनेवाले मेघ की तुलना करो। (आदित्यान् श्मश्रुभिः) सूर्य की किरणों की मुख के मूंछ दाढ़ी से तुलना करो। (पन्थानं भ्रूभ्याम्) राष्ट्र में बने मार्ग की मुख पर लगी भौहों से तुलना करो। (वर्त्तोभ्यां द्यावापृथिवी) दो पलकों से आकाश और पृथिवी की तुलना करो। (विद्युतं कनीनकाभ्याम्) आकाश पृथिवी के बीच स्थित विशेष कान्तिवाले सूर्य या विद्युत् की आंखों की पुतलियों से तुलना करो। (शुक्लाय स्वाहा कृष्णाय स्वाहा अर्थात् शुक्लेन शुक्लं सुष्ठु आह। कृष्णेन कृष्णं सुष्ठु उच्यते। अथवा, शुक्लः

शुक्लं स्वम् उपमानमाह कृष्णः कृष्णं स्वम् उपमानम् आह) आंख के श्वेत भोग और कृष्ण भाग के लिये भी दिन और रात्रि के शुक्ल और कृष्ण, प्रकाश और अन्धकार दोनों की उत्तम रीति से तुलना करो। (पक्ष्माणि पार्याणि) ऊपर के पलक के लोम राष्ट्र के पालन करने वाले अथवा दूर के देश वासी जन के समान हैं। और (इक्षवः) निचली पलक के रोम (अवार्याणि) समीप के प्रान्तों के वासी जनों के समान हैं। अथवा इससे विपरीत (पक्ष्माणि अवार्याणि पार्या इक्षवः) ऊपर की पलकों के लोम पास के प्रान्तों की प्रजा और नीचे के पलक के रोम दूर के प्रान्तों की प्रजा के समान हैं।

वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्धा स्तनयित्नुं निर्बाधेनाशनिं मस्तिष्केण विद्युतं कनीनकाभ्यां कर्णाभ्याꣳ श्रोत्रꣳ श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेद्रनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिरदितिꣳ शीर्ष्णा निर्ऋतिं निर्जल्पेन शीर्ष्णा संक्रोशैः प्राणान् रेष्माणꣳ स्तुपेन ॥ २ ॥

भुरिगतिशक्वर्यौ । धैवतः ॥

भा०—(प्राणेन वातम्) शरीरगत प्राण से राष्ट्रगत वायु की तुलना करो। (अपानेन नासिके) शरीर की नासिका को अपान वायु से तुलना करो। (अधरेण ओष्ठेन उपयामम्) नीचे की होठ से राज्यव्यवस्था की तुलना करो। (सत् उत्तरेण) ऊपर के होंठ से राज्य के सदाचार व्यवस्था की तुलना करो। (प्रकाशेन अन्तरं) राज्य में विद्यमान् विद्या, विज्ञान और सूर्यादि के प्रकाश से शरीर के भीतर विद्यमान् अङ्गों की ज्ञानपूर्वक रचना की तुलना करो। (अनूकाशेन) उसके अनुरूप प्रकाश से (बाह्यम्) देह के बाह्य स्वरूप की तुलना करो। (मूर्धा निवेष्यं) शरीर

के शिरो भाग से राष्ट्र के भीतर व्यापक या एक स्थान पर राजधानी में बसे मुख्य भाग की तुलना करो। (स्तनयित्नुं निर्बाधेन) शरीर में स्थित शिर के बीच के भेजे के श्वेत भाग की तुलना आकाश में स्थित गर्जनकारी मेघ से करो। (अशनिं मस्तिष्केण) मस्तक में स्थित भेजे या भूरे रंग के भाग से मेघस्थ वज्र की तुलना करो। (विद्युतं कनीनिकाभ्यां) चक्षुओं में स्थित पुतलियों से मेघस्थ विद्युत् की तुलना करो। (कर्णाभ्यां श्रोत्रम्) दिशाओं के दो कोनों से शरीर के श्रोत्र की, या कानों से आकाश की तुलना करो। (श्रोत्राभ्यां कर्णौ) शरीरगत श्रवण के साधन कानों से (कर्णौ) शेष दो कोनों की तुलना करो। (तेदनीम् अधरकण्ठेन) राष्ट्र की 'तेदनी'=तेजनी, तीक्ष्ण शक्ति को शरीरगत कण्ठ के अधर भाग से तुलना करो। (शुष्ककण्ठेन अपः) शरीरगत सूखे कण्ठ से राष्ट्र की (अपः) प्रजाओं की तुलना करो। अर्थात् वे सदा सूखे गले के समान अन्न जल की प्यासी रहती हैं। (चित्तं मन्याभिः) शरीर में स्थित चित्त को (मन्याभिः) राष्ट्र की मान करने वाली राजसभाओं से तुलना करो। (अदितिं शीर्ष्णा) शरीरस्थ शिर से प्रभु की अखण्ड आज्ञा की तुलना करो। (निर्ऋतिं निर्जर्जल्पेन शीर्ष्णा) राष्ट्र के नाश या विपत्ति की तुलना शरीर में लगे बिना बोलने वाले मृत्युग्रस्त अथवा (निर्जर्जल्पेन) अत्यन्त जर्जर, उस बेसुध शिर से करो जिसका बोलना बन्द हो चुका हो। (संक्रोशैः प्राणान्) राष्ट्र में एक दूसरे के प्रति बोले हुए शब्द, वार्तालाप, आह्वान आदि की तुलना शरीरस्थ प्राणों से करो। (रेष्माणं स्तुपेन) शिर में लगे आघात आदि से राष्ट्र में उत्पन्न परस्पर घात प्रतिघात उपद्रव की तुलना करो।

अथवा—(प्राणेन वातम् आपूरय) हे अभ्यासी पुरुष! तू प्राणवृत्ति अर्थात् बाहर से भीतर श्वास द्वारा वायु को पूर्ण कर। (अपानेन नासिके) और फिर अपान अर्थात् भीतर से बाहर आते हुए निःश्वास द्वारा दोनों नाकों को रिक्त करे। (अधरेण ओष्ठेन उत्तरेण सत् उपयामम्) ऊपर और नीचे

के ओष्ठों से प्राप्त या स्वीकृत नियम, मौनमुद्रा या वाक् संयम की साधना कर। (प्रकाशेन अन्तरम्) ज्ञान के प्रकाश से भीतर को उज्ज्वल कर और (अनुकाशेन बाह्यम्) तदनुसार स्वच्छ आचरण से अपने बाह्य शरीर को सुन्दर बना। (मूर्ध्ना निवेश्यम्) अपने शिर से ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थ की चिन्ता कर। (निर्बाधेन) अच्छी प्रकार रोक लेने के उपाय से (स्तनयित्नुम्) मेघ को या गर्जनकारी विद्युत् को प्राप्त कर अथवा (निर्बाधेन) निरन्तर ताड़ना या प्रहार से (स्तनयित्नुम्) शब्द करने की क्रिया को उत्पन्न कर। (मस्तिष्केण अशनिम्) मस्तिष्क--मस्तक में स्थित मज्जा तन्तु के जाल से देह में व्यापक विद्युत् की साधना कर। (कनीनकाभ्याम् विद्युतम्) आंख की पुतलियों से विशेष दीप्ति को प्राप्त कर। (कर्णाभ्यां श्रोत्रम्) कानों से श्रवण शक्ति को प्राप्त कर। (श्रोत्राभ्यां कर्णौ) श्रवण करने वाले भीतरी इन्द्रियों से बाह्य कानों को शक्तियुक्त कर। (अधरकण्ठेन तेदनीम्) कण्ठ के नीचे के भाग से 'तेदनी' भोजन की क्रिया को कर। (शुष्ककण्ठेन अपः) सूखे कण्ठ से जलों का पान कर। (मन्याभिः चित्तम्) मन्या नाम की धमनियों से या मनन करने की विज्ञान क्रियाओं से चित्तम्) चित्त को तीव्र कर। (शीर्ष्णा अदितिम्) शिर से अविनाशिनी अर्थात् न नाश होने वाली अखण्ड ब्रह्मविद्या या प्रज्ञा को प्राप्त कर। (निर्जर्जल्येन) सर्वथा जर्जर हुए शिर से (निर्ऋतिम्) मृत्यु को या भूमि को प्राप्त हो। अर्थात् शिर की ज्ञान चेतना के सर्वथा नाश या लोप होजाने पर पुनः देह से मृत्यु द्वारा मिट्टी में मिल जा। (सक्रोश्यैः प्राणान्) लम्बे २ आह्वान अर्थात् दीर्घ शब्दों से प्राणों की शक्ति को बढ़ा (स्तुपेन रेष्माणं) हिंसा के प्रयोग से अपने हिंसक को विनाश कर।

'निर्जल्पेन' इतिबम्बईनिर्णयसागरीयः पाठः', 'निर्जर्जल्पेन इत्यजमेर मुद्रितः पाठः।' 'निर्जर्जल्येन' इति स्वाध्यायमण्डलप्रकाशितः शुद्धः पाठः

मशकान् केशैरिन्दꣳ स्वपसा वहेन बृहस्पतिꣳ शकुनिसादेन कूर्म्माञ्छफैराक्रमणꣳ स्थूराभ्यामृक्षलाभिः कपिञ्जलान् जवं जङ्घाभ्यामध्वानं बाहुभ्यां जाम्बीलेनारण्यमश्निमतिरुग्भ्यां पूषणं द्रोभ्यामश्विनावꣳ सांभ्याꣳ रुद्रꣳ रोराभ्याम् ॥ ३ ॥

भा०—राष्ट्र में स्थित (मशकान्) मशक, मच्छर आदि क्षुद्र जन्तुओं की शरीर में स्थित (केशैः) केशों से तुलना करो। (वहेन स्वपसा) उत्तम कर्म करने और भार उठाने में समर्थ स्कन्ध देश से (इन्द्रम्) राष्ट्र के इन्द्र या मुख्य राजा की तुलना करो, (शकुनिसादेन) पक्षी या शक्तिशाली पुरुष के समान पैर जमाकर बैठने की शक्ति से (बृहस्पतिम्) राष्ट्र के बृहस्पति पद, महामात्य की तुलना करो। (शफैः कूर्मान्) पैर के खुरों से राष्ट्र के कछुओं या क्रियाशील पुरुषों की तुलना करो। (स्थूराभ्याम् आक्रमणम्) स्थूल चूतड़ों से राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण कर उसे दबा बैठने की तुलना करो। अर्थात् जैसे मनुष्य चूतड़ों से आसन पर बैठ जाता है और उस जगह को घेर लेता है उसी प्रकार एक राष्ट्र दूसरे पर आक्रमण करके उसे अपने वश कर लेता है, उसे घेर लेता है। (ऋक्षलाभिः कपिञ्जलान्) चूतड़ के नीचे की नाड़ियों से राष्ट्र में विद्यमान कपिञ्जल अर्थात् उत्तम २ उपदेश देनेवाले विद्वानों की तुलना करो। (जङ्घाभ्याम् जवम्) शरीर के जंघाओं से राष्ट्र के वेग के कार्यों की तुलना करो। (बाहुभ्याम् अध्वानम्) शरीर के हाथों से राष्ट्र के मार्ग की तुलना करो। (जाम्बीलेन अरण्यम्) गाड़ी के नीचे के भाग से राष्ट्र के जंगल के भाग की तुलना करो। (अतिरुग्भ्याम् अश्निम्) अति दीप्तिवाले सुन्दर दोनों जानु भागों से राष्ट्र के 'अश्नि' अग्रणी पद से तुलना करो। (दोभ्यां पूषणं) बाहुओं से राष्ट्र के पूषा नामक अधिकारी की तुलना करो। (अंसाभ्याम् अश्विनौ) कन्धों से 'अश्वी' नामक दो मुख्य अधिकारियों की तुलना करो। (रोराभ्यां रुद्रम्) कन्धों की गांठों से रुद्र नामक अधिकारी की तुलना करो।

अथवा—(केशैः मशकान्) बालों की चौआरियों से जिस प्रकार मच्छरों को दूर किया जाता है उसी प्रकार मच्छर के स्वभाव के दुःखदायी जीवों को (केशैः=क्लेशैः) क्लेशदायी साधनों से विनष्ट करो। (स्वपसा) उत्तम कर्म और प्रज्ञा से (इन्द्रम्) आत्मा और ऐश्वर्यवान् परमेश्वर को प्राप्त करो। (वहेन) उत्तम प्राप्ति के साधन रथादि से (बृहस्पतिम्) बृहती वेद वाणी के पालक आचार्य को, या बड़े राष्ट्र के पालक राजा को प्राप्त करो। (शकुनिसादेन) पक्षियों को पकड़ने के साधन जाल से ही कूर्म के जाति के जन्तुओं को जल में से जिस प्रकार पकड़ा जाता है उसी प्रकार (शकुनिसादेन) पक्षियों के पकड़ने की विधि अर्थात् प्रलोभन दिखा २ कर (कूमान्) कर्म करनेवाले योग्य पुरुषों को वश करो। (शफैः आक्रमणम्) खुरों से जिस प्रकार वेग से आक्रमण किया जाता है इसी प्रकार वेगवान् साधनों से आक्रमण करो। (स्थूराभ्यां जंघाभ्य जवम्) हृष्ट पुष्ट जंघाओं से वेगपूर्वक गमन करो। (ऋक्षलाभिः कपिञ्जलान्) 'ऋक्षरा' अर्थात् कपाटिकाओं से जिस प्रकार गौरय्या जैसे छोटे २ पंछियों को पकड़ा जाता है उसी प्रकार 'ऋक्षरा' अर्थात् विद्वानों की वृत्तियों द्वारा उत्तम उपदेश देनेवाले विद्वानों को प्राप्त करो। (जंघाभ्याम्) अध्वानम्) जांघों से ही मार्ग को तय करो। (जाम्बीलेन अरण्यम्) जम्बीर जाति के कांटेदार वृक्षों से जंगल को पूर्ण करो। (अतिरुग्भ्याम् पूषणं अग्निम्) रुचि और पुष्टिकारक अन्न को और दीप्ति से अग्नि को प्राप्त करो। (दोर्भ्यां अंसाभ्यां) बाहुओं और कन्धों से (अश्विनौ) राजा और प्रजा को प्राप्त करो। अर्थात् राजा अपने बाहुओं के बल से प्रजा को वश करे और प्रजाएं अपने कन्धों से राजा का वहन करें। (रोराभ्याम्) श्रवण और उपदेश द्वारा (रुद्रं) विद्वान् उपदेशक को प्राप्त करो।

अग्नेः पंक्तिर्वायोर्निपंक्तिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै

पञ्चमीन्द्राण्यै पष्ठी मरुतां॰ सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी ॥४॥

स्वराड् धृतिः । ऋषभः ॥

भा०—राष्ट्र के अंगों की, शरीर के छाती की पसुलियों के अंगों से तुलना करते हैं। (अग्नेः पत्तितिः) अग्नि अर्थात् अग्रणी पुरुष की शरीर में प्रथम पसुली से तुलना करो । (वायोर्निपत्तितिः) वायु की दूसरी पसली से तुलना करो । (इन्द्रस्य तृतीया) इन्द्र विद्युत् की तीसरी पसुली से तुलना करो । (सोमस्य चतुर्थी) सोम, ओषधि आदि की तीसरी पसुली से तुलना करो । (पञ्चमी अदित्यै) अदिति अर्थात् भूमि से पांचवीं पसुली की तुलना करो । (इन्द्राण्यै षष्ठी) इन्द्र राजा की स्त्री, महाराणी, से छठी पसुली की तुलना करो । (मरुतां सप्तमी) वायुएं और वैश्य प्रजाओं या विद्वान् पुरुषों से सातवीं पसली की तुलना करो । (बृहस्पतेः अष्टमी) बृहस्पति, मन्त्री की आठवीं पसुली से तुलना करो । (अर्यम्णः नवमी) अर्यमा, न्यायकारी न्यायाधीश की नवीं पसुली से तुलना करो । (धातुर्दशमी) धाता, राष्ट्रपोषक से दशवीं पसुली की तुलना करो । (इन्द्रस्य एकादशी) इन्द्र, सेनापति की ११ वीं पसुली से तुलना करो । (वरुणस्य द्वादशी) वरुण की १२ वीं पसुली से तुलना करो । (यमस्य त्रयोदशी) नियन्ता ब्रह्मचारी पुरुष 'यम' की तेरहवीं पसुली से तुलना करो । इस प्रकार १३ अधिकारी मानो राष्ट्र की दायीं ओर की छाती के १३ अधिकारी हैं । इसी प्रकार अगले मन्त्र में वाम पार्श्व की १३ पसुलियों से अन्य १३ अंगों का वर्णन करेंगे ।

इन्द्राग्न्योः पत्तितिः सरस्वत्यै निपत्तितिर्मित्रस्य तृतीयापां चतुर्थी निर्ऋत्यै पञ्चम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणां॰ सप्तमी विष्णोरष्टमी

४—तृतीयायां चतुर्थी० इति काण्व० ।

पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यम्यै त्रयोदशी द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम् ॥५॥

स्वराड् विकृतिः । मध्यमः ॥

भा०—(इन्द्राग्न्योः पत्नतिः) बायें पार्श्व की प्रथम पसुली इन्द्र और अग्नि दोनों पदों की समझो । (सरस्वत्यै निपत्नतिः) सरस्वती की दूसरी पसुली से तुलना करो । (मित्रस्य तृतीया) 'मित्र' की तीसरी पसुली से तुलना करो । (अपां चतुर्थी) प्रजाओं की चौथी पसुली से तुलना करो । (निर्ऋत्यै पञ्चमी) 'निर्ऋति' अर्थात् मृत्यु दण्ड की पांचवीं पसुली से तुलना करो । (अग्निषोमयोः षष्ठी) अग्नि और सोम की छठी पसुली से तुलना करो । (सर्पाणां सप्तमी) सर्प अर्थात् चरों की सातवीं पसुली से तुलना करो । (विष्णोः अष्टमी) व्यापक विष्णु या राजा की आठवीं पसुली से तुलना करो । (त्वष्टुः) त्वष्टा अर्थात् शिल्पशास्त्रा वेत्ता की (नवमी) नवमी पसुली से तुलना करो । (इन्द्रस्य एकादशी) इन्द्र की ११ वीं पसुली से तुलना करो । (वरुणस्य द्वादशी) 'वरुण' की १२ वीं पसुली से तुलना करो । (यम्यै त्रयोदशी) यमी, ब्रह्मचारिणी स्त्रियों की १३ वीं पसुली से तुलना करो । इस प्रकार (द्यावापृथिव्योः) द्यौ और पृथिवी के समान एवं राजा और प्रजा दोनों का (दक्षिणं पार्श्वम्) दायां पार्श्व है और (विश्वेषां देवानाम् उत्तरम्) समस्त विद्वान् पुरुषों का बायां पार्श्व है ।

अर्थात् राजसभा के दो भाग होगये एक में राजा और प्रजा के अधिकारीगण और दूसरे में समस्त विद्वान् जन ।

मरुतां॰ स्कन्धा विश्वेषां देवानां प्रथमा कीकसा रुद्राणां द्वितीयादित्यानां तृतीया वायोः पुच्छमग्नीषोमयोर्भासदौ क्रुञ्चौ

५—० तृतीया सोमस्य० इति काण्व० ।

श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पतीऽऊरुभ्यां मित्रावरुणावल्गाभ्यामाक्रमणꣳ स्थूराभ्यां वलं कुष्ठाभ्याम् ॥ ६ ॥

निचृदतिधृतिः । षड्जः ॥

भा०—(मरुतां स्कन्धाः) जैसे शरीर में कन्धे हैं वैसे ही राष्ट्र में 'मरुत्' अर्थात् शत्रु को वायुवेग से झपट कर मारने वाले सैनिकों के (स्कन्धाः) स्कन्धावार या छावनियां ही राष्ट्र के कन्धे हैं। (विश्वेषां देवानाम्) समस्त विद्वान् पुरुषों की (प्रथमा) सब से प्रथम, सर्वोत्तम (कीकसा) उपदेश क्रिया (प्रथमा कीकसा) प्रथम 'कीकसा' अर्थात् कूल्हे की पहली मोहरी के समान परम आधार है। (रुद्राणां द्वितीया) रुद्र अर्थात् दुष्टों को रुलाने वाले दमनकारी पुरुषों की शासन व्यवस्था दूसरी मोहरी के समान-है। (तृतीया आदित्यानां) आदित्य के समान तेजस्वी अखण्डित शासन कारी अधीशों का शासन तीसरी मोहरी के समान है। (वायोः पुच्छम्) 'वायु' न्यायाधीश का पद शरीर में पूंछ के समान राष्ट्र का आश्रय अथवा (पुच्छम्) दुष्ट पुरुषों का नाशक है। (अग्निसोमयोः) अग्नि, अग्रणी, सेनापति और सोम, ऐश्वर्यवान् राजा इन दोनों तेजस्वी पदाधिकारी राष्ट्र के (भासदौ) दो नितम्ब भागों के समान राष्ट्र के आधार हैं। (क्रञ्चौ) हंसों के समान विशेष विवेकी, दो विद्वान् (श्रोणिभ्याम्) राष्ट्र के कटीप्रदेशों से तुलना किये जाते हैं। (इन्द्रा बृहस्पती) इन्द्र और बृहस्पति, राजा और मन्त्री दोनों (ऊरुभ्याम्) राष्ट्र के दो जांघों से तुलना किये जाते हैं। (अल्गाभ्यां) अति वेग से गमन करने वाले ऊरुओं के दो सन्धि भागों से (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण इन दो पदाधिकारियों की तुलना की जाती है। (आक्रमणं) राष्ट्र का विजयार्थ आक्रमण करना (स्थूराभ्याम्) स्थूल जांघों के भागों से तुलना किया

६—मित्रावरुणा अल्गा० इति काण्व० ।

जाता है। (कुष्ठाभ्याम्) जांघ और चूतड़ दोनों के बीच गहरे स्थानों से (बलं) राष्ट्र के सैन्य-बल की तुलना की जाती है।

पूषणं वनिष्ठुनान्त्रांहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान् गुदाभिर्विहृत ऽआन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनꣳ शेपेन प्रजाꣳ रेतसा चाषान् पित्तेन प्रदरान् पायुना कूश्माञ्छकपिण्डैः ॥ ७ ॥

भा०—(वनिष्ठुना पूषणम्) स्थूल आँतों से पूषा नाम अधिकारी की तुलना करो। (स्थूलगुदया अन्धाहीन्) अन्धे साँपों की स्थूल गुदा के भाग से तुलना करे। (गुदाभिः सर्पान्) गुदाओं से सांपों की तुलना करो। (आन्त्रैः विहृतः) शरीर की आंतों से अन्य कुटिलगामी सर्पों की तुलना करो। (वस्तिना अपः) राष्ट्र के भीतर जल, जलाशयों नदियों की वस्ति भाग से तुलना करो। (वृषणमाण्डाभ्याम्) वर्षणकारी मेघ की वीर्य सेचन समर्थ अण्डकोशों से तुलना करो। (वाजिनं) वीर्यवान् पुरुष बलवान् को शरीर में पुं-लिङ्ग से तुलना करो। (रेतसा प्रजां) राष्ट्र की प्रजा की शरीरस्थ वीर्य से तुलना करो। (चाषान् पित्तेन) खाने योग्य पदार्थों की शरीरस्थ पित्त पदार्थ से तुलना करो। (पायुना प्रदरान्) शरीरस्थ पायु या गुदा मार्ग से राष्ट्र के भीतर विशेष फटे २ दरारभागों की तुलना करो। (कूश्मान्) 'कूष्म' अर्थात् शासक पदाधिकारी अथवा अग्नि के बल से फेंके जाने वाले गोलों और अग्निमय पदार्थों को (शकपिण्डैः) शक्तिमान् पिण्डों के समान शरीर में स्थित विष्ठा के पिण्डों से तुलना करो।

अथवा—(पूषणम्) पोषक पुरुष को उससे (वनिष्ठुना) याचना द्वारा शक्ति और अन्न प्राप्त करो। (स्थूलगुदया सहितान् अन्धाहीन् गुदया सर्पान्) मोटी गुदा से युक्त अंधे सापों को और गुदा भाग से साधारण सांपों को पकड़ कर वश करो। (आन्त्रैः विहृतः) विशेष कुटिल सापों को उनकी आंतों से वश करो। (वस्तिना अपः) वस्ति

क्रिया द्वारा जलों को प्राप्त करो। (अण्डाभ्याम् वृषणम्) अण्ड-कोषों से वीर्याधार स्थान को पूर्ण करो। (शेपेन वाजिनम्) लिङ्ग-भाग से वीर्यवान् अश्व या वीर्यवान् पुरुष की परीक्षा करो। (रेतसः) वीर्य से (प्रजाम्) प्रजा को प्राप्त करो। (पित्तेन) पित्त के बल से (चापान्) भुक्त पदार्थों को पचाओ। (प्रदरान् पायुना) गुदा भाग से पेट के भीतरी भागों को स्वच्छ और बलवान् करो। (शकपिण्डैः) शक्ति के संघों से (कृष्मान्) कासन बलों को प्राप्त करो।

इन्द्रस्य क्रोडोऽदित्यै पाजस्यं दिशां जत्रवोऽदित्यै भसज्जीमूता-न्हृदयौपशेनान्तरिक्षं पुरीतता नभ उदर्येण चक्राकौ मतस्नाभ्यां दिवं वृक्काभ्यां गिरीन् प्लाशिभिरुपलान् प्लीहा वल्मीकान् क्लोमभिर्गुल्मान्हिराभिः स्रवन्तीर्हृदान् कुक्षिभ्याꣳ समुद्र-मुदरेण वैश्वानरं भस्मना ॥ ८ ॥

निचृदतिकृतिः । ऋषभः ॥

भा०—(क्रोडः इन्द्रस्य) शरीर का गोद का भाग इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा का है। शरीर में जिस प्रकार पेट का अगला भाग, नाभि स्थान केन्द्र है उसी प्रकार राष्ट्र के नाभि भाग में राजा का स्थान है। (अदित्यै पाजस्यं) अदिति पृथिवी का स्वरूप शरीर में पाद या खड़े होने का स्थान है। (दिशां जत्रवः) दिशाओं का स्वरूप शरीर में जत्रु अर्थात् कन्धे और कोखके बीच की पसुलियां है। (अदित्यै भसत्) अदिति, द्यौः, आकाश ही राष्ट्र की (भसत्) प्रकाशक, तेजस्वरूप होने से वह शरीर में भी (भसत्) लिङ्गभाग, तेजोमय, वीर्यवान् अंग के समान है। (जीमूतान् हृदयौपशम्) राष्ट्र के विजयशील पुरुषों को, या मेघों को शरीर के हृदय भाग में विद्यमान् बल या रुधिर सञ्चारक उपकरणों से तुलना करो। (पुरीतता अन्तरिक्षम्) शरीर में स्थित पुरीतत् नामक हृदय की नाड़ी से अन्तरिक्ष

की तुलना करो। (उदर्येण) उदर में स्थित यन्त्रों से (नमः) आकाश की तुलना करो। (मतस्नाभ्यां) हृदय के दोनों पार्श्वों पर स्थित फुफ्फुसों को (चक्रवाकौ) राष्ट्र में स्थित चकवा चकवी के समान प्रेम से बद्ध स्त्री पुरुषों की तुलना करो। (दिवं वृक्काभ्याम्) शरीर में वृक्क अर्थात् गुर्दों से (दिवम्) द्यौ या आकाश की तुलना करो। अर्थात् जिस प्रकार आकाश से जल गिरता है उसी प्रकार शरीर के गुर्दों से मूत्र जल स्रवित होता है। (गिरीन् प्लाशिभिः) शरीर में स्थित 'प्लाशि' नामक पेट के भीतरी अन्नरस प्राप्त करने वाली नाड़ियों से (गिरीन्) राष्ट्र में स्थित पर्वतों की तुलना करो। (उपलान् प्लीहा) शरीर में स्थित प्लीहा, पित्तही भाग से मेघों की तुलना करो। (क्लोमभिः वल्मीकान्) राष्ट्र में स्थित वल्मीक के बने ढेरों की शरीर के 'क्लोम' नाम कलेजों के खण्डों से तुलना करो। दोनों सछिद्र होने से एक जैसे हैं। (क्लोभिः गुदमान्) राष्ट्र में विद्यमान लता आदि से आवृत प्रदेशों को 'क्लोम' नामक हृदय की हर्ष, क्षय या शोक, पीड़ा, आघात संवेदना आदि अनुभव करने वाली विशेष नाड़ियों से तुलना करो। (हिराभिः स्रवन्तीः) शरीर में स्थित अन्नरस और रुधिर को वहन करने वाली नाड़ियों से राष्ट्र में स्थित नदियों की तुलना करो। (हृदान् कुक्षिभ्याम्) राष्ट्र में विद्यमान ताल, जलाशयों की शरीर में स्थित कोखों के बीच रुधिर से भरे स्थानों से तुलना करो। (समुद्रम् उदरेण) समुद्र की उदर भाग से तुलना करो। जिस प्रकार समुद्र से जल उठकर समस्त भूमि पर वर्षा होती और बलकारी अन्नरस ओषधियां उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उदर से अन्नरस उठकर सर्वत्र पहुंचते हैं और केश, लोम, मांस, त्वचा आदि सब पुष्ट होते हैं। (वैश्वानरं भस्मना) भस्म के समान निस्सार अथवा भुक्त अन्न को जीर्ण करने वाली कान्तिजनक जाठर अग्नि से वैश्वानर नामक समस्त नरों के हितकारी अग्नि की तुलना करो।

इस मन्त्र की तुलना तैत्तिरीय संहिता के का० ७ । प्र० ५ । २५ से तथा बृहदारण्यक के १ । १ । से करो, उसमें अश्व के अङ्गों से यज्ञ पुरुष, एवं विराट् प्रजापति और राष्ट्र शरीर की तुलना की गई है ।

विधृतिं नाभ्यां घृतꣳ रसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहार-मूष्मणा शीनं वसयोष्णा अश्रुभिर्हादुनीर्दूषीकाभिरसृग्रक्षाꣳसि वित्राणयङ्गैर्नꣳसाणि रूपेण पृथिवीं त्वचा ।

भुरिगत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(विधृतिं) विशेष रूप से लोकों को धारण पालन करने वाली शक्ति को (नाभ्या) शरीर के मध्य में स्थित नाभि के भाग से तुलना करो । (घृतं रसेन) घृत के समान तेजोवर्धक पदार्थ की शरीरस्थ बलकारी रस से तुलना करो । (यूष्णा आपः) शरीर में पक्वाशय में स्थित पक्वरस से राष्ट्र में स्थित जनों की या परिपक्व ज्ञान वाले विद्वान् आप्त पुरुषों की तुलना करो । (मरीचीः विप्रुड्भिः) सूर्य की किरणों की तुलना विशेष पूर्ण रूप करने वाले शरीर के वसा आदि धातुओं से करो । (ऊष्मणा नीहारम्) शरीर में स्थित उष्णता से राष्ट्र के 'नीहार' अर्थात् प्रभात काल में पड़े जलके ओस के फुहार से तुलना करो । अर्थात् जैसे शरीर की गर्मी से सब अंग जीवित जागृत रहते हैं उसी प्रकार ओस से वनस्पति आदि जीवित, वर्धित होते हैं । (शीनं वसया) शरीर में स्थित अंग प्रत्यंग या मांस के प्रत्येक परमाणु में बसे जीवन के कारणस्वरूप जीवन शक्ति से शीन अर्थात् वनस्पतियों और प्राणियों की वृद्धि करने वाली शीतलता की तुलना करो । (प्रुष्वा अश्रुभिः) शरीर के आँसुओं से वृक्षों को सींचने वाले फुहारों की तुलना करो । (हादुनीः दूषिकाभिः) नेत्र में उत्पन्न मल, बीजों से आकाश में उत्पन्न विद्युतों की तुलना करो । (असृग् रक्षांसि) शरीर के रुधिर से रक्षा करने वाले साधनों और रक्षा करने योग्य पदार्थों

की तुलना करो। (चित्राणि अङ्गैः) शरीर के भिन्न २ अङ्गों से राष्ट्र के चित्र विचित्र, स्थानों, दृश्यों और देशों की तुलना करो। (नक्षत्राणि रूपेण) नक्षत्रों की तुलना शरीर के बाह्य रूप या रुचिकर तेज से करो। (पृथिवी त्वचा) पृथिवी या राष्ट्र के पृष्ठ की तुलना (त्वचा) शरीर की त्वचा से करो।

जुम्बकाय स्वाहा ॥ ६ ॥

शुगिडभो मुगिडभोवा औदन्यऋषिः। जुम्बको वरुणो देवता।
द्विपदा यजुर्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(जुम्बकाय) सब शत्रुओं के नाश करने में समर्थ, सब से अधिक वेगवान्, बलवान् पुरुष को यह राष्ट्र (स्वाहा) उत्तम सत्य प्रतिज्ञा करा कर उसी तरह सौंप दिया जाय जिस प्रकार (जुम्बकाय) रोगनाशन में समर्थ या वेगवान् बलकारी, अपान के अधीन यह समस्त शरीर है।

वरुणो वै जुम्बकः। श० १३ । ३ । ६ । ५ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १० ॥
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ११ ॥

भा०—व्याख्या (१०—११) को देखो अ० २३ । १, ३ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रꣳ रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १२ ॥

कः प्रजापतिर्देवता । स्वराट्पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यस्य) जिसके (महित्वा) महान् सामर्थ्य से (इमे) ये (हिमवन्तः) हिमवाले वर्फों से ढके पर्वत बने हैं और (यस्य महित्वा) जिसके महान् सामर्थ्य से (रसया सह) स्नेह गुण या जलों से बद्ध, ठोस हुई

स्थल रूप पृथिवी के साथ (समुद्रम्) महान् समुद्र को वर्तमान (आहुः) बतलाते हैं। और (यस्य) जिसके महान् सामर्थ्य से बनी (इमाः) ये (प्रदिशाः) दिशाएं और उपदिशाएं (यस्य बाहू) जिसके बाहुओं के समान फैली हैं, उस (कस्मै) सुखस्वरूप, प्रजापालक (देवाय) कान्तिमान् तेजस्वी परमेश्वर की (हविषा) स्तुति द्वारा हम (विधेम) उपासना करें। राजा के पक्ष में—(यस्य महित्वा) जिसके महान् सामर्थ्य के अधीन ये हिमवाले पर्वत और पृथ्वी सहित समुद्र कहे जायं, दिशा प्रदिशा के वासी जिसके आधीन रहकर (यस्य बाहू) जिसके बाहु के समान बल या सहायक हों उस महान् प्रजापालक राजा को हम (हविषा) कर और अन्न और ज्ञान द्वारा सेवा करें।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

निचृत् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (आत्मदाः) आत्मा, चेतन जीव को प्राणियों के शरीर में प्रदान, स्थापन करता है और जो (बलदाः) जीवों को जीते रहने और बाधक कारणों को दूर करने का बल प्रदान करता है अथवा (यः) जो (आत्मदाः) समस्त विश्व को अपना ऐश्वर्य प्रदान करता है (यस्य) जिसके (प्रशिषं) उत्कृष्ट शासन को (विश्वे देवाः) समस्त सामान्य जन और विद्वान् गण एवं छोटे बड़े सूर्य आदि लोक भी (उपासते) शरण के समान प्राप्त करते हैं और उसके शासनकारी स्वरूप की उपासना, या ध्यान करते हैं। (यस्य) जिसकी (छाया) आश्रय लेना (अमृतम्) अमृत स्वरूप, अभय और मृत्यु पर विजय है। और (यस्य) जिसके शासन का भङ्ग करना ही (मृत्युः) मृत्यु है। (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप प्रजापालक सब सुखों के दाता परमेश्वर की हम ज्ञान स्तुति द्वारा उपासना करें।

राजा के पक्ष में—जो (आत्मदाः) अपने आपको राष्ट्र में सौंपता और राष्ट्र शरीर में आत्म के समान ऐश्वर्य को भोगता है, (बलदा) राष्ट्र में बल प्रदान करता है । समस्त सामान्य जन और (देवाः) विजिगीषु राजा भी जिसके शासन का आश्रय लेते हैं जिसकी (च्छाया) छत्रछाया अभय, अमृत के समान है (यस्य) जिसकी आज्ञा भङ्ग करना, करने वालों के लिये मृत्यु है उसकी हम अन्न आदि द्वारा सेवा करें ।

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतासऽउद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥१४॥

[१४–२३] गोतम ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । [१४–१९] जगतीः । निषादः ॥

भा०—(नः) हमें (विश्वतः) सब प्रकार से सब से, (अदब्धासः) अविनाशी, नित्य, (अपरीतासः) अविज्ञात, जिनको अभी तक किसी ने न पाया हो ऐसे, (उद्भिदः) नाना फलों को उत्पन्न करने वाले, (भद्राः) सुखकारी, (क्रतवः) विज्ञान और बल (नः) हमें (विश्वतः) सब ओरों से, (आयन्तु) प्राप्त हों । (यथा) जिससे (नः रक्षितारः) हमारे रक्षक (देवाः) देव, दिव्य पदार्थ और विद्वान् पुरुष (अप्रायुवः) दीर्घायु और अप्रमादी होकर (दिवे दिवे) प्रतिदिन (वृधे) वृद्धि, उन्नति के लिये (नः सदम्) हमारा सभा में (असत्) विद्यमान हों ।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳरातिरभि नो निवर्त्तताम् ।
देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥१५॥

भा०—(देवानां) विद्वान्, विद्या के दाता, ज्ञानप्रकाशक पुरुषों की (भद्रा) कल्याणकारिणी सुखप्रद (सुमतिः) उत्तम ज्ञानमयी, शुभ मति, (नः) हमें (नि वर्त्तताम्) सब प्रकार से प्राप्त हो । और (ऋजूयतां) सरल, धर्म के मार्गों से जाने वाले या सब की वृद्धि की कामना करने वाले

(देवानां) दानशील विद्वान् और पुरुषों के (रातिः) ज्ञान और धन के दान (नः) हमें (अभि निवर्त्तताम्) सब ओर से प्राप्त हों । (वयम्) हम (देवानां सख्यम्) विद्वानों के मित्र भाव को (उप सेदिम) प्राप्त हों । (देवाः) विद्वान् पुरुष (जीवसे) दीर्घ जीवन के लिये (आयुः प्रतिरन्तु) आयु की वृद्धि करें ।

तान् पूर्व्या निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम् । अर्यमणं वरुणꣳ सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥ १५ ॥

भा०—(वयम्) हम (भगम्) ऐश्वर्यवान्, (मित्रम्) स्नेही, (अदितिम्) अखण्ड ब्रह्मचारी, अखण्ड विद्यावान्, (दक्षम्) ज्ञानवान्, बलवान्, कार्यचतुर, (अस्रिधम्) बात से न चूकने वाला, सदा सद्भाव युक्त, अहिंसक, (अर्यमणम्) न्यायकारी, स्वामी, (वरुणम्) सर्वश्रेष्ठ, दुःखों के वारक, (सोमम्) सन्मार्ग में प्रेरक, ऐश्वर्यवान्, (अश्विनौ) विद्या में निष्णात स्त्री और पुरुष और (सुभगा) उत्तम सौभाग्य से युक्त (सरस्वती) वेदवाणी, विद्वत्सभा या विदुषी स्त्री इन (तान्) नाना विद्वानों की हम (पूर्व्या) सब से पूर्व विद्यमान अथवा पूर्णभाव से युक्त, अथवा प्रथम जिस रूप में चित्त में आई, ऐसी अकृत्रिम सत्य (निविदा) ज्ञानयुक्त वाणी से (हूमहे) आदर सत्कार करें । वह (नः) हमें (मयः) सुख कल्याण (करत्) करे ।

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः । तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥ १६ ॥

भा०—(वातः) वायु (नः) हमें (तत्) नाना प्रकार के (भेषजं) रोगनाशक, (मयोभु) सुखकारी ओषधि (वातु) प्राप्त करावे या औषध

रूप होकर वहे । (माता) माता और उसके समान सर्वोत्पादक (पृथिवी) पृथिवी और (तत्) उसी के समान (पिता) पालक पिता और (द्यौः) सूर्य, (तद्) उसी के समान (सोमसुतः) ज्ञान ऐश्वर्य के देने वाले (आवायः) उपदेशक विद्वान् पुरुष, ये सब (मयोभुवः) सुख के उत्पादक हों । (तत्) और हे (अश्विना) विद्या में निष्णात उत्तम पुरुषो ! या स्त्री और सारथी के समान राजा और मन्त्री जनो ! (धिष्ण्या) प्रज्ञावान् एवं राष्ट्र की व्यवस्था के धारक और मुख्य पदाधिकार पर स्थित होकर (युवम्) तुम दोनों (नः श्रुणुतम्) हम, प्रजा के हितों का श्रवण करो ।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥१८॥

भा०—(तम्) उस (जगतः तस्थुषः) जंगम और स्थवर संसार के (पतिम्) पालक, (धियं जिन्वम्) अपने कर्म और ज्ञान से सबको तृप्त और प्रसन्न करनेहारे (ईशानम्) परमेश्वर और स्वामी को (वयम्) हम (अवसे) रक्षा के लिये (हूमहे) बुलाते हैं, प्रार्थना और स्तुति करते हैं । (यथा) जिससे (पूषा) सब का पोषक, (रक्षिता) रक्षक, (वायुः) सबका पालक, (अदब्धः) किसी से भी न पराजित होकर (नः) हमारे (वेदसां) धनैश्वर्यों और ज्ञानों के (वृधे) वृद्धि करने के लिये और (स्वस्तये) सुख पूर्ण जीवन स्थिति या कल्याण के लिये (असत्) हो ।

'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥१९॥

इन्द्रो देवता । स्वराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(वृद्धश्रवाः) बहुत अधिक ज्ञान, यश, धन से युक्त आचार्य, राजा और परमेश्वर (नः) हमें (स्वस्ति दधातु) सुख प्रदान

करे। (विश्ववेदाः) समस्त ज्ञान रूप वेदों और समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी, (पूषा) सबका पोषक, परमेश्वर (नः) हमें (स्वस्ति दधातु) कल्याण, सुख प्रदान करे। (तार्क्ष्यः) रथ या अश्व जिस प्रकार (अरिष्टनेमिः) चक्र धारा के बिना टूटे, सुखपूर्वक मार्ग से इष्ट देश को पहुंचाता है उसी प्रकार (अरिष्टनेमिः) अखण्ड, अटूट या नित्य सामर्थ्यवान् (तार्क्ष्यः) अश्व के समान बलवान् राजा और व्यापक शक्तिमान् परमेश्वर (नः स्वस्ति दधातु) हमें कल्याण सुख प्रदान करे। (बृहस्पतिः) महान् राष्ट्र का पालक राजा और बृहती वेदवाणी का पालक विद्वान् और महती शक्ति का स्वामी परमेश्वर (नः स्वस्ति दधातु) हमारा कल्याण करे।

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः। अग्नि-जिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवाऽअवसागमन्निह ॥ २० ॥

मरुतो देवताः। गोतम ऋषिः। निषादः॥

भा०—(पृषदश्वाः) हृष्ट पुष्ट अश्वों वाले, (पृश्निमातरः) पृथिवी को अपनी माता मानने वाले (शुभंयावानः) शुभ, कल्याण मार्ग पर गमन करने वाले (विदथेषु जग्मयः) संग्रामों में जाने वाले, (मरुतः) वायुओं के समान तीव्र वेगगामी, (मनवः) मननशील एवं शत्रु स्तम्भन में समर्थ, (अग्निजिह्वाः) विद्वान् को प्रमुख प्रवक्ता रखने वाले, (सूरचक्षसः) सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् को अपने आँखो के समान मार्गदर्शक बनाने वाले (देवाः) विजयी पुरुष (अवसा) अपने रक्षण और ज्ञान सामर्थ्य सहित (इह) इस राष्ट्र में (नः) हमें (आ गमन्) प्राप्त हों।

वायु पक्ष में—(पृषदश्वाः) पुष्ट अश्वों के समान तीव्रगामी या महान् आकाश को व्यापने वाले, (पृश्निमातरः) मेघों के उत्पादक, अथवा अन्तरिक्ष में उत्पन्न, (शुभंयावानः) प्रजा के कल्याण के लिये गमन करने वाले, (विदथेषु) आकाश भागों में चलने वाले (अग्निजिह्वाः)

विद्युत्रूप जिह्वा से युक्त अथवा अग्नि की लपटों की ज्वाला से युक्त (सूरचक्षसः) सूर्य के प्रकाश से प्रेरित, (मनवः) जलस्तम्भक, (देवाः) सुखदायक (अवसा) अपने रक्षण, सामर्थ्य और अन्न, जल समृद्धि सहित (इह) यहां (आगमन्) आवें।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ २१॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) कल्याणकारी, सुखजनक, हितवचनों का (शृणुयाम) श्रवण करें। हे (यजत्राः) ईश्वरोपासक, पुनः सत्संगति योग्य पुरुषो! हम सदा (भद्रम्) सुख कल्याणजनक पदार्थ को ही (अक्षभिः) आंखों से देखा करें। हम (स्थिरैः) स्थिर, दृढ़ (अङ्गैः) अङ्गों से (तुष्टुवांसः) ईश्वर की स्तुति करते हुए अथवा सत्य तत्वों का उपदेश करते हुए, (तनूभिः) शरीरों से (देवहितं) विद्वानों द्वारा 'हित' अर्थात् निश्चित की हुई (यत्) जो (आयुः) उचित १०० या १२५ वर्ष आयु की अवधि है उसको (वि अशेमहि) विशेष प्रकार से और विविध उपायों से प्राप्त करें और उसका आनन्द लाभ करें। सांग वर्षशतं जीवेत्। इति स्मृतिः। भूयश्च शरदः शतात् इति श्रुतिः॥

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥२२॥

त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (देवाः) विद्वान् पुरुषो! (अन्ति) आप लोगों के समीप (यत्र) जब, जिस काल में, (शतम् शरदः) सौ वर्ष (इत् नु) का ही जीवन कम से कम (नः) हमारे (तनूनाम्) शरीरों के (जरसं) वृद्धावस्था को (चक्र) बनावे। अर्थात् विद्वानों के सत्संग से हम १०० वर्षों

२१—"व्यशेम देव" इति काण्व॥

के वृद्ध हों। (यत्र) जब (पुत्रासः) मनुष्यों को बुढ़ापे के कष्ट से बचाने वाले पुत्र और शिष्य लोग (पितरः) बच्चों के बाप और बूढ़ों और कुटुम्बियों के पालक (भवन्ति) होजायं तब तक आप लोग (गन्तोः) गुजरते हुए (नः) (आयुः) आयु को (मध्या) हमारे बीच में (मा रीरिषत) मत विनष्ट करो।

वृद्धावस्था आदि बाह्य कष्टों को देख कर भी विद्वान् लोग जीवन को बीच ही में विनष्ट न किया करें। मनुष्यों में जीवन भोगने दिया करें।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्मातासपितासपुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥२३॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(द्यौः) आकाश और सूर्यादि कारणरूप तेज (अदितिः) कभी खंडित या टुकड़े २ या विनष्ट नहीं होते। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भी (अदितिः) अविनाशी, सत् है। (माता) सब जगत् की निर्माण करने वाली प्रकृति भी (अदितिः) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती। (सः पिता) वह सबका पालक परमेश्वर और (सः पुत्रः) वह पुत्र, पुरुषदेह का पालक जीव, ये भी (अदितिः) कभी नाशशील नहीं हैं। (विश्वेदेवाः अदितिः) सब दिव्य पदार्थ या मूल तत्व जो अपने गुण इन नाशवान् पदार्थों को प्रदान कर रहे हैं वे भी नाश न होने वाले हैं। (पञ्चजनाः) पांच उत्पन्न होने वाले तत्व, भी (अदितिः) विनष्ट होने वाले नहीं हैं। (जातम् अदितिः) उन पांचों भूतों के सूक्ष्म परमाणुओं से उत्पन्न हुआ यह जगत् भी (अदितिः) कारण रूप से नाशवान् नहीं है। और (जनित्वम्) जो आगे पैदा होता है वह भी सत् कारण रूप से विनष्ट नहीं होता।

राजा के पक्ष में—(द्यौः) राजसभा, (अन्तरिक्षम्) सर्वोपरि रक्षक राजा, (माता) राजा को बनाने वाली प्रजा, (सः पिता) वह पालक राजा और पुत्र के समान (सः) वही राजा पृथिवी का पुत्र है। समस्त

विद्वान् लोग और (पञ्चजनाः) पांचों जन चार वर्ण और वर्णबाह्य, पांचवां (जातम्) नव उत्पन्न सन्तान और (जनित्वं) अगली उत्पन्न होने वाली सन्तान ये सब (अदितिः) पृथिवी या अखण्ड राष्ट्र का रूप है और ये सब (अदितिः) अदीन, दीनता रहित या प्रवाह से नाश न होने वाली हों ।

मानो मित्रो वरुणो अर्य्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन् ।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्र वक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥ २४ ॥

[२४–३९] दीर्घतमा ऋषिः । त्रिष्टुप् धैवतः । मित्रादयो देवताः ॥

भा०—(मित्रः) सबका स्नेही, प्राण के समान प्रिय मित्र, (वरुणः) दुष्टों का वारक, उदान के समान श्रेष्ठ, (अर्यमा) न्यायाधीश के समान नियन्ता (आयुः) दीर्घ जीवन, अन्न (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सेनापति, राजा के समान आत्मा, (ऋभुक्षाः) सत्य व्यवहार से उज्ज्वल पुरुषों में निवास करने वाले बड़े पुरुष और (मरुतः) विद्वान् पुरुष (नः) हमें (मा परि ख्यन्) त्याग न करें, हमारी निन्दा और उपेक्षा न करें । (यत्) क्योंकि (देव-जातस्य) विद्वान् पुरुषों द्वारा उत्पन्न और दिव्य गुणों से प्रसिद्ध (वाजिनः) वेग और ऐश्वर्यवान् (सप्तेः) सर्पणशील अश्व के समान बलवान् एवं समवाय बनाकर कार्य करने वाले राजा के (वीर्याणि) बल पराक्रम और पदाधिकारों का ही हम (प्र वक्ष्यामः) विशेष रूप से वर्णन करते हैं ।

यन्निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति ।
सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः ॥ २५ ॥

भा०—(यत्) जब (निर्णिजा) विशेष राज्य अभिषेक और (धनेन) ऐश्वर्य से (प्रावृतस्य) घिरे हुए सुशोभित राजा के (रातिम्) प्रदान की हुई और पुनः (गृभीताम्) स्वीकार की गई वृत्ति को सब अधीनस्थ लोग (मुखतः) मुख्य रूप से (नयन्ति) प्राप्त करते हैं । तभी (सुप्राङ्) उत्तम रीति से आगे बढ़ाने वाला, उन्नतिशील (विश्वरूपः)

सब अधिकारियों के स्वरूपों को धारण करने वाला (अजः) सब का प्रेरक राजा, (मेम्यत्) सब को आज्ञा करता हुआ (इन्नपूष्णोः) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राजा और सर्व पोषक पूषा, दोनों पदों के (प्रियम्) मनोहर (पाथः) पालन करने हारे सामर्थ्य और भोग्य ऐश्वर्य को (अप्येति) प्राप्त करता है।

अर्थात् जब राजा राज्याभिषेक और राष्ट्र के ऐश्वर्य को प्राप्त करले और अधीन नियुक्त पुरुष उसकी दी वृत्ति और पुरस्कार का मुख्य रूप से ग्रहण करें उसी को सर्वस्व मानें, वे और सब पेशे छोड़ दें और वे सबको आज्ञा में चलावें, तभी यह राजा, प्रजा पोषक के प्रिय ऐश्वर्य पद को प्राप्त करता है। वह दान देने से 'इन्द्र' है, वृत्ति द्वारा पोषक होने से पूषा है।

परमेश्वर के पक्ष में—(यत्) क्योंकि (निर्णिजा) शुद्ध स्वरूप से और (रेक्णसा) ऐश्वर्य से युक्त परमेश्वर के दिये दान और प्राप्त वृत्ति को ही लोग मुख्य मानते हैं। वह सुख से पूर्व दिशा में प्राप्त सूर्य के समान उज्ज्वल (विश्वरूपः) समस्त विश्व का प्रकाशक, वेदवाणी द्वारा उपदेश करता सब लोकों को अपनी आज्ञा में चलाता है। वह इन्द्र और पूषा के परम ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

विद्वान के पक्ष में—(निर्णिजा रेक्णसा प्रावृतस्य) जो विद्वान्गण शुद्ध, निष्पाप, धन से युक्त पुरुष के दान को प्राप्त कर सुख से खाते हैं, वे और विश्व के पदार्थों को निरूपण करने वाला विद्वान् ऐश्वर्यवान् और पोषक दोनों के प्रिय अन्न भोग्य को प्राप्त करता है।

वृष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः।
अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनꣳ सौश्रवसाय जिन्वति ॥२६॥

निचृत् जगती। निषादः॥

भा०—(यत्) जब (विश्वदेव्यः) समस्त विजयी पुरुषों से, सबसे श्रेष्ठ, एवं सब विद्वानों का हितकारी (एषः) यह (छागः) शत्रुओं का छेदन भेदन करने हारा अथवा राष्ट्र को भिन्न २ विभागों में बांटने वाला पुरुष (वाजिना) ऐश्वर्य युक्त (अश्वेन) राष्ट्र के द्वारा (पुरः) सबके आगे, सबसे प्रथम, (पूष्णः) पूषा, सर्व राष्ट्र पोषक के पद को (भागः) सेवन करने वाला (नीयते) प्राप्त किया जाता है। तब (त्वष्टा इत्) त्वष्टा, शत्रुनाशक सेनापति ही (अर्वता) व्यापक राष्ट्र के सहित विद्यमान, (अग्नि प्रियम्) सबको प्रिय लगने वाले (पुरोडाशम्) सबसे प्रथम देने योग्य पदाधिकार को (सौश्रवसाय) उत्तम कीर्त्ति के लिये (जिन्वति) पूर्ण करता, या राजा को प्रदान करता है।

यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति ।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः ॥२७॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यत्) जब (हविष्यम्) अन्न के समान श्रेष्ठ हवि के रूप में स्वीकार करने योग्य (देवयानं) देवों, विद्वानों को प्राप्त करने योग्य (अश्वं) अश्व के समान बलवान्, राष्ट्र के भोक्ता राष्ट्रपति को (मानुषाः) मनुष्य लोग (ऋतुशः) ऋतु, ऋतु में भिन्न २ अवसरों में (त्रिः) वर्ष में तीन वार (परि नयन्ति) सर्वत्र लेजाते हैं उसको भ्रमण कराते हैं तब (अत्र) इस राष्ट्र में (पूष्णः) पोषक, पृथ्वी का (प्रथमः भागः) सबसे अधिक श्रेष्ठ, सेवनीय (अजः) सबका प्रेरक विद्वान् (देवेभ्यः) समस्त विद्वानों के हित के लिये (यज्ञं) प्रजापालक, सबके संयोजक राजा को (प्रतिवेदयन्) विज्ञापित करता हुआ (एति) प्राप्त होता है।

होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः ।
तेन यज्ञेन स्वरङ्कृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम् ॥ २८ ॥

निचृत त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार यज्ञ में होता, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता अग्नीध्र, आवस्तुत्, प्रशास्ता, और ब्रह्मा ये ऋत्विग् होते हैं उसी प्रकार राष्ट्ररूप यज्ञ में (होता) अधिकारों का प्रदाता, (अध्वर्युः) मुख्य महामात्य या पुरोहित (आवयाः) आहुति प्रदान करने वाले के समान, सबको परस्पर सुसंगत करने वाला, या धनों को वेतन देने वाला, (अग्निमिन्धः) अग्नि को प्रदीप्त करने वाले अग्नीध्र के समान राजा को विशेष ज्ञान और मान से उज्वल करने वाला, (आवग्राभः) सोमयज्ञ में प्रस्तरों के ग्रहण करने वाले के समान राष्ट्र में विद्वानों का आदर सत्कार से ग्रहण करने वाला या शस्त्रास्त्र धर, (शंस्ता) राजा का प्रशंसक अथवा उत्तम उपदेष्टा, (सुविप्रः) यज्ञ के ब्रह्मा के समान उत्तम मेधावी, ज्ञानी विद्वान् सभापति पद पर स्थित हो। (तेन) उस (स्वरङ्कृतेन) उत्तम रीति से सुसज्जित सुशोभित (स्विष्टेन) उत्तम रीति से सुसञ्चालित (यज्ञेन) सुव्यवस्थित राष्ट्र से (वक्षणाः) जलों से नदियों के समान अपनी अभिलाषाओं या प्रजाओं को (आ पृणध्वम्) पूर्ण करो।

यूपव्रस्का उत ये यूपवाहाश्चषालं ये अश्वयूपाय तक्षति।
ये चार्वते पचनꣳ सम्भरन्त्युतो तेषामभिगूर्त्तिर्न इन्वतु ॥ २९ ॥

त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(ये)जो पुरुष (यूपव्रस्काः) यज्ञ के यूप को गढ़ने वालों के समान शत्रुओं के विनाश करने वाले राजा या उसके बल अधिकार को बनाते हैं—(उत) और (ये) जो (यूपवाहाः) उस शत्रुनाशक, सूर्य समान तेजस्वी अधिकारी को अपने ऊपर धारण करते हैं। जो (ये) और (अश्वयूपाय) अश्व के लिये खड़े यशस्तम्भ के समान राष्ट्र संचालक राजा के लिये (चषालम्) यूप के छल्ले या अग्र भाग के समान राजा के अग्रासन का (तक्षति) निर्माण करते हैं और (ये च) जो (अर्वते) ज्ञानवान् राजा के लिये

(पचनं) पाक योग्य नाना भोग्य ऐश्वर्य सामग्री को (संभरन्ति) संग्रह करते हैं, लाते हैं (तेषाम्) उन सबका (अभिगूर्त्तिः) उद्यम (नः) हमें (इन्वतु) प्राप्त हो ।

उप॒ प्रागा॑त्सु॒मन्मे॑ऽधायि॒ मन्म॑ दे॒वाना॒माशा॒ उप॑ वी॒तपृ॑ष्ठः ।
अन्वे॑नं॒ विप्रा ऋष॑यो मदन्ति दे॒वानां॑ पु॒ष्टे च॑कृमा सु॒बन्धु॑म् ॥३०॥
त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जो पुरुष (मे) मुझ प्रजाजन के हित के लिये (वीतपृष्ठः) विशाल हृष्ट पुष्ट पीठ वाला, सबको आश्रय देने में समर्थ, अश्व के समान बलवान् (सुमत्) स्वयं (उप प्र अगात्) मुझे अनायास ही प्राप्त है और (येन) जो (देवानाम्) विद्वानों और शासकों के मन को अभिप्रेत ऐश्वर्य को और (आशाः) समस्त कामनाओं और दिशावासी प्रजाजनों को भी (उप अधायि) धारण पोषण करता है (एनम् अनु) उसको देखकर (विप्राः) विद्वान्, मेधावी (ऋषयः) ज्ञानी, मन्त्रद्रष्टा, ऋषिजन भी (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं । और (पुष्टे) हृष्ट पुष्ट, धन से समृद्ध प्रजाजन के बीच उसको ही हम (देवानाम्) विद्वानों और विजयशील सैनिकों के (सुबन्धुम्) उत्तम बन्धु और उत्तम प्रबन्धकर्त्ता (चकृम) नियत करें ।

यद्वा॑जि॒नो दाम॑ स॒न्दान॒मर्व॑तो॒ या शी॑र्ष॒ण्या॒ रश॑ना रज्जु॒रस्य ।
यद्वा॑ घा॒स्य॒ प्रभृ॑तमा॒स्ये॒ तृ॒णꣳ सर्वा॒ ता ते॒ अपि॑ दे॒वेष्वस्तु ॥३१॥
त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (वाजिनः) वेगवान् अश्व के (दाम) दमन करने वाला बन्धन, नियन्त्रण उसके पेट पर, (संदानम्) और जैसा नियन्त्रण पैरों आदिक में रहता है । और (अर्वतः) शीघ्र वेग से जाने वाले अश्व के (या) जो (शीर्षण्या) शिर पर बन्धी (रज्जुः)

रस्सी होती है उसी प्रकार (वाजिनः) ऐश्वर्यवान् पुरुष पर भी (दाम) दमनकारी नियन्त्रण और (संदानम्) उत्तम दान करने के नियम या दण्ड भय अथवा (दाम संदानम्) सुन्दर, प्रभावशाली शिरोवेष्टन या मुकुट आदि होता है (अर्वतः) ज्ञानी पुरुष को (अस्य) इसके (शीर्ष्ण्या) शिर की या मुख्य अङ्ग या पद के लिये शोभा देने वाली (रशना) राष्ट्र में व्यापक (रज्जुः) सदा सर्जनकारिणी, व्यवस्थानिर्मात्री शक्ति या अधिकार प्राप्त हों । (यत्) और जिस प्रकार (अस्य आस्ये तृणं प्रभृतम्) इस पशु के मुख में तृण, घास आदि दिया जाता है उसी प्रकार (अस्यः आस्ये) इसके मुख्य अधिकार के स्थान में (तृणम्) शत्रु और संकटों के काटने वाले बल, (प्रभृतम्) भली प्रकार भृति या वेतन पर नियत किया जाय, (ता ते सर्वा) वे तेरे सब पदार्थ (देवेषु अपि) विद्वान् पुरुषों के आश्रय पर (अस्तु) हों ।

रशनाः—अशेरशन्च् । अश्नुते व्याप्नोतीति रशना ॥ उ० २ ॥ ७५ ॥

रज्जुः—सृजेरसुम् च । उ० २ । १५ ॥ सृज्यते सृजति वा इति रज्जुः । तृणम्-तृहेः क्नो हलोपश्च । उ० २ । ८ ॥ तृह्यते हन्यते तृन्धि हिनस्ति वा तत् तृणम् ।

अर्थात् ऐश्वर्य राष्ट्र और राष्ट्रपति पर भी उत्तम व्यवस्था और नियन्त्रण हों, उसके रचना और निर्माण की शक्ति विद्वान् के हाथ में हो, उसका नाशकारी मुख्य बल वेतनबद्ध हो वे सब विद्वानों के आश्रय पर हों ।

यद्श्वस्य क्रविषो मक्षिकाश यद्वा स्वरौ स्वधितौ रिप्तमस्ति ।
यद्धस्तयोः शमितुर्यन्नखेषु सर्वा ता ते आपि देवेष्वस्तु ॥ ३२ ॥

निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

मही०—(क्रविषः) विजय करने योग्य (अश्वस्य) अश्व के समान बड़े बलवान् राष्ट्र का (यत्) जो अंश (मक्षिका) शिक्षा या उपदेश या रोष का कार्य करने वाली सभा या सेना (आशः) खाजाती है (यत् वा) और जो अंश (स्वरौ) अति तापदायक, शत्रुसन्तापक (स्वधितौ) वज्र आदि शस्त्रास्त्रों में (रिप्तम् अस्ति) लग जाता है और (यत्) जो भाग (शमितुः) शान्ति कराने वाले मध्यस्थ पुरुष या दुष्टों के उपद्रव शान्त करने वाले के (हस्तयोः) हाथों में या हनन करने के साधनों और उपायों में है। और (यत् नखेषु) जो भाग राष्ट्र के प्रबन्धकर्त्ताओं और प्रबन्ध के कार्यों में राष्ट्र का है (सर्वा ता अपि) ये सब भी कार्य (देवेषु) विद्वानों के अधीन हों।

अर्थात् सेना, शस्त्रागार, शान्ति, सन्धि, विग्रह आदि, राज्य प्रबन्ध आदि पर होने वाले सब राष्ट्र के व्यय विद्वानों के अधीन हों।

"मक्षिका"—मश शब्दे रोषकरणे च। भ्वादिः। हनिमाशिभ्यां सिकन्। उशा० ४।१५४॥ मशति शब्दयति रोषं करोति वा सा मक्षिका।

'क्रविषः'॥ कृवि हिंसाकरणयोश्च॥ अत्र करणमर्थः॥ 'स्वरुः' स्वृ शब्दोपतापयोः। अत्र उपतापार्थः। स्वधितिर्वज्रः। 'नखेषु' नहेः हलोपश्चेतिखः। उ० ५। २३॥ नह्यति बध्नाति इति नखः॥

यदूवध्यमुदरस्यापवाति य आमस्य क्रविषो गन्धो अस्ति।
सुकृता तच्छमितारः कृण्वन्तूलूखलसुतमेवशृतपाकं पचन्तु॥३३॥

भुरिक् त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(यत्) जो भी (ऊवध्यम्) उच्छेद करने योग्य या मलिन कार्य करने वाला राष्ट्र का भाग (उदरस्य) पेट से अधकचे अजीर्ण अन्न के समान उपद्रवियों के उच्छेदक विभाग से (अप वाति) निकल भागे और (यः) जो (आमस्य) रोगकारी, हिंसक जन्तुओं का (गन्धः)

हिंसा का व्यापार (अस्ति) है । (शमितारः) उपद्रवों और संतापक दवो और मानुषी विपत्तियों के शान्त करने वाले विद्वान् (सुकृता) उत्तम उपाय द्वारा (तत्) उसका (कृण्वन्तु) प्रतिकार करें । और (मेधं) हिंसा योग्य दुष्टजन को अन्न के समान (शृतपाकं) खूब परि संताप से (पचन्तु) संतप्त करें ।

उदि इणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च । 'उद्गरम्' । उणा० ५ । ७६ ॥

अम रोगे । आमः । गन्ध चूर्णने । गन्धः । मेधः । मेधृ हिंसानादरयोः ।

यत्ते गात्रादग्निना पच्यमानादभि शूलं निहतस्यावधावति ।
मा तद्भूम्यामाश्रिषन्मा तृणेषु देवेभ्यस्तदुशद्भ्यो रातमस्तु ॥३४॥

भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! (शूलम्) पीड़ाजनक शूल, हल आदि शस्त्रों से (अभिनिहतस्य) मारे या खोदे गये और (अग्निना) अग्नि के समान संतापक सूर्य या राजपुरुष द्वारा (पच्यमानात्) परिपक्व किये हुए (गात्रात्) शरीर रूप खेतों आदि से (यत्) जो भाग भी (अवधावति) अलग प्राप्त हो (तत्) वह भाग (भूम्यान्) भूमि पर (मा) न (आशिश्रिषन्) पड़ा रहे, (मा तृणेषु) वह अंश तिनकों में न मिल जाय अत्युत (तत्) वह (उशद्भ्यः) चाहने वाले (देवेभ्यः) देवों, विद्वान् पुरुषों को (रातम् अस्तु) दान कर दिया जाय ।

हल आदि चला कर सूर्य द्वारा पके हुए अन्न और ओषधि आदि जो पदार्थ राष्ट्र के शरीर से उत्पन्न हों वे मट्टी में और घासफूस में न मिल जायं प्रत्युत वे विद्वानों को प्राप्त हों । वे उससे प्रजा का पालन और रोग नाश करें ।

ब्रह्मचर्य पक्ष में—हे ब्रह्मचारि ! (अग्निना पच्यमानात्) ब्रह्मरूप अग्नि या तप से संतप्त (शूलम् अभि निहतस्य) संतापकारी कामदेव से

पीड़ित (गात्रात्) गात्र से जो वीर्य नीचे के अंगों में स्रवित होता है वह वीर्य भूमि स्त्री योनि में भी न जावे और तिनकों, या तुच्छ व्यसनों में भी न नष्ट हो बल्कि (उशद्भ्यः) वह सुरक्षित वीर्य या बलको चाहने वाले अंगों की पुष्टि में लगाया जावे ।

ये वाजिनं परिपश्यन्ति पक्वं य ईमाहुः सुरभिर्निर्हरेति ।
ये चार्वतो मांसभिक्षामुपासत उतो तेषामभिगूर्तिर्न इन्वतु ॥३५॥

स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवत् ॥

भा०—(ये) जो विद्वान् लोग (वाजिनम्) अन्नादि समृद्धि से युक्त या संग्रामादि समृद्धि से युक्त राष्ट्र को खूब (पक्वं) परिपक्व, पके खेतों वाला और दृढ़ (परि पश्यन्ति) देख लेते हैं और (ये) जो (ईम्) इसके प्रति (आहुः) कहा करते हैं कि वह (सुरभिः) बड़े उत्तम पक्व धान के गन्ध से युक्त हैं (निः हर्र) इसे अच्छी प्रकार काट लाओ और (ये च) जो इस (अर्वतः) भोग योग्य राष्ट्र के (मांसभिक्षाम्) मन के लुभाने वाले अन्न आदि पदार्थों की भिक्षा या याचना का (उपासते) आश्रय करते हैं (तेषाम्) उनका (अभिगूर्तिः) उद्यम (नः) हमें सफलता पूर्वक प्राप्त हो ।

पूर्ण ब्रह्मचारी के पक्ष में—जो विद्वान् (वाजिनं) ज्ञानवान् बलवान् ब्रह्मचारी को (परिपश्यन्ति) देखते हैं और (ये) जो (ईम्) इसको लक्ष्य करके (पक्वं) उसे परिपक्व (आहुः) कहते हैं और (सुरभिः) उत्तम वीर्य पालक होकर उत्तम आचार के सुगन्धि से युक्त पुरुष (निर्हर) हम से भिक्षा ले (इति) इस भाव से (ये च) जो गृहस्थ जन (अर्वतः) ज्ञानवान् पुरुष के (मांसभिक्षाम्) मनको प्रिय लगने वाले पदार्थों की भिक्षा की (उपासते) प्रतीक्षा करते हैं उन हितैषी पुरुषों का (अभिगूर्तिः) उद्यम, प्रयत्न (नः) हमें (इन्वतु) सफल होकर प्राप्त हो।

शूरवीर पुरुष के पक्ष में—(ये) जो (वाजिनं) बलवान् पुरुष को देखते हैं, (ये ईम् पक्वम् आहुः) जो उसको परिपक्व, शस्त्रकौशल में सुअभ्यस्त बतलाते हैं (सुरभिः निर्हर इति ये च) सुरक्षित होकर परराष्ट्र की लक्ष्मी को लेआ इस प्रकार जो (अर्वतः मांस भिक्षाम् उपासते) बलवान् पुरुष के शरीर की याचना की प्रतीक्षा करते हैं (तेषां) उनका (अभिगूर्त्तिः) राष्ट्र के प्रति किया श्रम (नः) हमें प्राप्त हो। राजा राष्ट्र में बलवान् पुरुषों को परिपक्व करे और फिर उनके शरीरों को युद्धादि कार्यों के लिये लगावे ।

यद्वीक्षणं मांसपचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि ।
ऊष्मण्यापिधानाँ चरूणामङ्काः सूनाः परिभूषन्त्यश्वम् ॥ ३६ ॥

भुरिक् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यत्) जो (मांसपचन्याः) मनको अच्छे लगने वाले नाना फलों को परिपाक करने वाली (उखायाः) उत्तम फल देने वाली भूमि का (वीक्षणं) निरंतर देखभाल करना, या दर्शन करने योग्य दृश्य और (या) जो (पात्राणि) पालन करने वाले (यूष्णः) रस या जल के (आसेचनानि) सेचन करने के साधन कूप तड़ाग आदि स्थान हैं और जो (चरूणाम्) विचरने वाले पथिकों के निमित्त (ऊष्मण्या) ग्रीष्मकाल में सुखकारी (अपिधाना) के आच्छादित स्थान, विश्राम गृह हैं और जो (अङ्काः) स्थान २ पर अंकित मार्ग और (सूनाः) स्नान करने के तीर्थ स्थान हैं वे ही सब सुखद पदार्थ (अश्वम्) अश्व अर्थात् विशाल राष्ट्र को (परि भूषन्ति) सर्वत्र सुभूषित करते हैं।

उवट आदि की दृष्टि में--मांस की हांडी को खोल २ कर झांकना, मांसरस के पात्र, उनके गरम ढक्कन और मांस काटने के छाबड़े ये अश्व को सुभूषित करते हैं। अश्व को इन आभूषणों से सजाया जाय तो बस समस्त संसार के अश्व विनष्ट हो जायं।

अध्यात्म में—(सांस्पचन्याः उखायाः) मांस आदि देहगत धातुओं को अन्न रस से परिपक्व या दृढ़ करने वाले देह रूप इस पात्र का (यत्) जो (निरीक्षणं) स्वयं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्राह्यपदार्थों का देखना, और (या) जो (पात्राणि) कोष्ठ भाग (Sells) (यूष्णः) अन्न रस को सर्वत्र (आसेचनानि) सेचन करते हैं और (चरूणाम्) अंगों के (ऊष्मण्या) देह के ताप की रक्षा करने वाली (अपिधाना) त्वचाएं हैं और जो (अंकाः) बाह्य पदार्थों का भीतर ज्ञान करना और (सूनाः) भीतरी मन के विचारों को बाहर प्रकट करना है ये सब अद्भुत बातें (अन्वस् परिभूषन्ति) सोता आत्मा के शोभाजनक हैं।

मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिर्मा भ्राजन्त्यभिविक्त जघ्रिः ।
इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतं तं देवासः प्रतिगृभ्णन्त्यश्वस् ॥ ३७ ॥

स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे राष्ट्र ! एवं राष्ट्रपते ! (धूमगन्धिः) धूएं के गन्ध वाला (अग्निः) आग जिस प्रकार मनुष्य को छींक और आंसू ला देता है उसी प्रकार (धूमगन्धिः) परराष्ट्र को कम्पा देने वाले बल से प्रजा को पीड़ित कर देने वाला (अग्निः) कोई अग्रणी, अग्नि के समान सन्तापक पुरुष अथवा विषैली धूम से प्रजा को पीड़ित करने वाला अग्नि (त्वा) तुझको (मा ध्वनयीत्) पीड़ित कर न रुलावे। अग्निमयी हांडी, कृत्या या बॉम्ब जिस प्रकार चटखका २ फूट जाता है और पास बैठने वाले के लिये भय का कारण होता है उसी प्रकार (भ्राजन्ती) तेज और क्रोध से अति प्रदीप्त होती हुई (उखा) पृथिवी, (जघ्रिः) प्रचण्ड व्याधि के समान तुझे सूंघती हुई तेरा पीछा करती हुई, तुझे (मा अभिदिक्षत्) उद्विग्न न करे। (इष्टं) सब को प्रिय, (वीतम्) कान्तिमान् तेजस्वी, (अभिगूर्त्तं) परिश्रमी, (वषट्कृतं) दानशील, (तं अश्वस्) उस नरश्रेष्ठ शिल्पकारी चतुर पुरुष को (देवासः) विद्वान् पुरुष (प्रतिगृभ्णन्ति) अपना नेता स्वीकार करते हैं।

'आजन्ती उखा' कदाचित् विस्फोट पदार्थों से फूटने वाली विशेष घातक कृत्या प्रतीत होती है जिसका वर्णन अथर्ववेद का० ११ सू० १ में स्पष्ट है। इसी प्रकार 'धूमगन्धी अग्नि' धूममात्र से मार देने वाली आग विषैली गैस प्रतीत होती है।

निक्रमणं निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥ ३८ ॥

विराट् पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—(अर्वतः) अश्व का जिस प्रकार कदम बढ़ाना, बैठना, लेटना पैरों का बान्धना, जल पीना, घास खाना आदि सब विवेक पूर्वक हो उसी प्रकार (अर्वतः) व्यापक राष्ट्र का भी (निक्रमणम्) सुरक्षित रूप से निकलने के मार्ग, (निषदनम्) सुरक्षित रूप से गुप्त बैठने के स्थान, (यत् च पड्वीशम्) और जो पदाधिकारों पर योग्य पुरुषों का नियुक्त करने का कार्य, (विवर्त्तनम्) विविध प्रकार के राजकीय कारबार के स्थान और राष्ट्रवासी जन और अधिकारी राष्ट्रपति आदि (यत् च पपौ) जो पदार्थ पान करते और (यत् च घासिं जघान) जो खाने योग्य पदार्थ खाते हैं (ते) तुझ राष्ट्र और राष्ट्रवासी जन और राष्ट्रपति राजा के (सर्वा ता) वे सब कार्य भी (देवेषु) देव अर्थात् विद्वानों के अधीन (अस्तु) हों।

यदश्वाय वासं उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै।
संदानमर्वन्तं पड्वीशं प्रिया देवेष्वा यामयन्ति ॥ ३९ ॥

विराट् पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—(यत्) जो (अश्वाय) अश्व के समान वेगवान्, तीव्र पराक्रमी राष्ट्रपति के आदर के लिये (वासः) वस्त्र (उपस्तृणन्ति) बिछाये जाते हैं और (यत्) जो (अधिवासं) ऊपर पहनने का लम्बा गौन दिया जाता है और (या) जो (अस्मै) उसको (हिरण्यानि) सुवर्ण के

आभूषण पहनाये जाते हैं और (अर्वन्तं) उस व्यापक, महान् अधिकारवान् पुरुष को (संदानं) शिर का विशेष मुकुट दिया जाता है और जो (पड्वीशं) पैर का पीढ़ा दिया जाता है वह सब (प्रिया) प्रिय, मनोहर पदार्थ उसको (देवेषु) विद्वान् पुरुषों के अधीन (आयामयन्ति) सर्वथा नियमानुकूल रूप से सुरक्षित रखते हैं ।

यत्ते सादे महसा शूकृतस्य पाष्ण्यार्वा कशया वा तुतोद ।
स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि ॥४०॥

भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! (महसा) अपने तेज से (शूकृतस्य) शीघ्रता से कार्य करने वाले, अविवेक से कुपथ पर पैर रखने वाले (ते) तेरे (सादे) अवसाद, अर्थात् कार्यभ्रष्ट हो जाने पर यदि कोई पुरुष, (पाष्ण्यार्वा) प्रमादयुक्त घोड़े को अश्वारोही जिस प्रकार 'शू' करके एडी या चाबुक से चला देता है उसी प्रकार कोई (पाष्ण्यार्वा) तेरे पीठ पीछे से आक्रमण करने वाली सेना द्वारा और (कशया) अपनी शासन शक्ति से तुझे (तुतोद) व्यथा या पीड़ा पहुंचावे तो (ते) तेरी (ता) उन (सर्वा) सब त्रुटियों को मैं पुरोहित (हविषः स्रुचा इव) स्रुवों से जैसे हवि, चरु दिया जाता है उसी प्रकार उनको (ब्रह्मणा सूदयामि) वेद ज्ञान द्वारा अथवा महान् साम्राज्य शक्ति से (सूदयामि) दूर करूं नष्ट करूं कश गतिशासनयोः । भ्वादिः ॥

चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति ।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोतु परुष्परुरनुघुष्या विशस्त ॥४१॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(स्वधितिः) स्वयं समस्त राष्ट्र को धारण करने में समर्थ वीर्यवान् पुरुष तथा वज्र, दण्ड, शासन चक्र, (वाजिनः) ऐश्वर्यवान्, (देवबन्धोः) विद्वानों के बन्धु (अश्वस्य) व्यापक राष्ट्र के (चतुश्चि-शत्) इन ३४ (वंक्रीः) अंगों को (समेति) भली प्रकार प्राप्त करता है, अपने वश करलेता है । हे विद्वान् पुरुषो ! आप लोग राष्ट्र के (गात्रा) अंगों को (वयुना) ज्ञान द्वारा (अच्छिद्रा) त्रुटि रहित, निर्दोष (कृणोतु) करे और उसके (पर्वः पर्वः) प्रत्येक पोरु २, अंग २ अर्थात् प्रत्येक विभाग को (अनुष्ठुभ्य) क्रम आरोपित कर २ के प्रजाजन को (वि शस्त) विविध प्रकार से बतला ॥

स्पष्टीकरण देखो शतपथ में पारिप्लव विधि ॥

एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्त्वा द्वा यन्तारा भवतस्तथर्तुः ।
या ते गात्राणामृतुथा कृणोमि ता ता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ ॥४२॥

स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—संवत्सर रूप प्रजापति की राष्ट्रमय प्रजापति से तुलना करते हैं । (त्वष्टुः) सूर्य के (अश्वस्य) आशुगामी काल का (एकः ऋतुः) एक पूर्ण वत्सर (विशस्ता) उसको विभाग करता है और इसके (द्वा यन्तारा) दो अयन नियन्ता (भवतः) होते हैं । (तथा) उसी प्रकार (ऋतुः) एक २ ऋतु संवत्सर को विभक्त करता है और उस ऋतु के भी (द्वा यन्तारा) दो दो मास नियम से (भवतः) होते हैं । इसी प्रकार हे प्रजापते! प्रजापालक राष्ट्र ! (ते) तेरे (गात्राणाम्) अङ्गों में से (या) जिन अङ्गों को मैं विद्वान् पुरुष (ऋतुथा) संवत्सर के ऋतु के समान नियामक, बली पुरुष के सामर्थ्य के अनुसार (कृणोमि) पृथक् २ विभक्त करूं उन विभक्त (पिण्डानाम्) अवयवों में से (ता ता) उन २ अवयवों, या राष्ट्र के विभागों को (अग्नौ) ज्ञानवान्, नेता, अग्रणी पुरुष के अधीन (प्र जुहोमि) प्रदान करूं ।

मा त्वा॑ तपत् प्रि॒य आ॒त्मापि॒यन्तं॑ मा स्व॒धिति॒स्तन्व॑ऽआ ति॑ष्ठिपत्ते।
मा ते॑ गृ॒ध्नुर॑विश॒स्तातिहा॑य॒ छिद्रा॑ गात्रा॑ण्य॒सिना॒ मिथू॑ कः ॥४३॥

भा०—हे राजन्! हे राष्ट्र! (प्रियः आत्मा) अपने देह और आत्मा के समान प्रिय पुरुष (अपियन्तम्) प्रयाण करते समय (त्वा) तुझको (मा तपत्) सन्तप्त न करे, तुझे शोकातुर न बनाये, अथवा तुझे पीड़ित न करे। (स्वधितिः) वज्र, तलवार या शस्त्र-बल भी (ते तन्वः) तेरे शरीर के भागों पर (मा आ आतिष्ठिपत्) अपना अधिकार न करे। अर्थात् शस्त्र-बल भी तुझे व्यर्थ न सतावे। (अविशस्ता) उत्तम शासक न होकर कोई (गृध्नुः) लालची महामात्य या राजा (ते छिद्राणि) तेरे भीतर विद्यमान त्रुटियों को (अतिहाय) छोड़कर (मिथू) व्यर्थ, झूठ मूठ, निष्प्रयोजन (ते गात्राणि) तेरे अंगों, राज्यांगों को (असिना) शस्त्र बल से (मा कः) मत काटे। राष्ट्र जिसको अपना हितू समझे वह उसको पीड़ित न करे, व्यर्थ शस्त्र-बल सेना आदि प्रजा को न सतावे। राजा या मन्त्री उत्तम शासक न होकर केवल लोभ, और जबरदस्ती करके अपने पैसे के लोभ में राष्ट्र के अंग छेदन न करें अर्थात् प्रजा को न सतावे।

अध्यात्म में—(अपियन्तम्) ब्रह्म में 'अप्यय' अर्थात् लीन होने वाले या परिव्राजक मार्ग या गुरुगृह में जाते हुए (त्वा प्रियः आत्मा मा तपत्) तेरा प्रिय देह, या बन्धु तुझे शोक से संतप्त मत करे। (स्वधितिः) अपनी ही विशेष धारण करने की अहंकार वासना अथवा स्व=धन की लालसा (ते तन्वः) तेरे शरीर को (मा आतिष्ठिपत् आस्थापयेत्) न बनाये रक्खे। (अविशस्ता) अविद्वान्, उपदेश से अनभिज्ञ, अविद्वान् पुरुष (गृध्नुः) केवल लोभ वश (ते छिद्राणि अतिहाय) तेरे दोषों को छोड़कर, तेरे अपराधों के बिना ही, (गात्राणि) तेरे अंगों को (असिना इव) तलवार के समान दुख-

दायी शस्त्रादि या वाणी से (मा मिथू कः) व्यर्थ मत काटे, व्यर्थ अंग भेदन छेदन और पीड़ित आदि न करे।

न वा उ एतन् म्रियसे न रिष्यसि देवाँ२ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद्वाजी धुरि रासभस्य ॥४४॥

स्वराड् पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे राष्ट्रवासीजन! (एतत्) इस प्रकार सुव्यवस्था से तू (न वा उ म्रियसे) कभी मृत्यु को प्राप्त न हो। (न रिष्यसि) तू कभी पीड़ित न हो, (सुगेभिः पथिभिः) उत्तम गमन करने योग्य मार्गों, राज-नियम और मर्यादाओं से (देवान्) इस उत्तम २ राज प्रजा के परस्पर व्यवहारों, श्रेष्ठ गुणों और उन्नत प्रजाओं और विद्वानों को (एषि) प्राप्त हो। (ते) तेरे सञ्चालक (पृषती हरी) रथ में हृष्ट पुष्ट घोड़ों के समान खूब दृढ़ राज्य के सञ्चालन में कुशल हो कर (युञ्जा) नियुक्त (अभूताम्) हों और (रासभस्य) मार्गोपदेश करने वाले महामन्त्री के (धुरि) पद पर (वाजी) ज्ञानैश्वर्यवान् पुरुष (उप अस्थात्) स्थित हो, स्थापित किया जाय।

हे साधक पुरुष! तू तपस्या में लगा कर मर मत, (न रिष्यसि) कष्ट मत पा। इन (सुगेभिः) सुगम मार्गों से विद्वानों को प्राप्त होते हुए तेरे (पृषती हरी) बलवान् प्राण और अपान (युञ्जा) योग द्वारा युक्त हों और (रासभस्य धुरि) उपदेश करने वाले आचार्य के पद पर (वाजी) ज्ञानवान् पुरुष (उप अस्थात्) उपस्थित हो।

सुगव्यं नो वाजी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ२ उत विश्वापुषꣳ रयिम्।
अनागास्त्वं नोऽदितिः कृणोतु क्षत्रं नोऽअश्वो वनतां हविष्मान् ॥४५॥

स्वराट् पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—(वाजी) ज्ञानैश्वर्यवान्, संग्राम में कुशल राष्ट्रपति पुरुष (नः) हमें (सुगव्यम्) उत्तम गोधन, (सु-अश्वं) उत्तम अश्व धन, (पुंसः पुत्रान्) पुमान्, वीर पुरुष स्वभाव के मर्द, पुत्र को (उत) और (विश्वापुषम् रयिम्) समस्त विश्व को पोषण करने में समर्थ ऐश्वर्य प्रदान करे। हे राजन्! तू (अदितिः) अखण्ड शासन और अदीन, स्वतन्त्र शासन वाला होकर (नः) हमें (अनागाः) अपराधों से रहित, शुद्ध आचार व्यवहार वाला (कृणोतु) बनावे। (नः) हमारा (अश्वः) राष्ट्र का भोक्ता श्रेष्ठ पुरुष (हविष्मान्) अन्नादि समृद्धि से युक्त एवं ज्ञान और उपायों से युक्त होकर (क्षत्रं) क्षात्र बल को (वनताम्) प्राप्त करे।

इमा नु कं भुवना सीषध्रामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः। आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत्। यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ ४६ ॥

अयास्यपुत्रो भुवन ऋषिः। विश्वेदेवा देवताः। भुरिक् शक्वरी। धैवतः॥

भा०—(नुकं इमा भुवनानि) इन समस्त भुवनों, लोकों को, हम (सीषधाम) अपने वश करें, (इन्द्रः च) ऐश्वर्यवान् सेनापति, राजा, (विश्वे चः देवाः) समस्त विद्वान्, शासकजन या विजयी सैनिक लोग, (इन्द्रः आदित्यैः) १२ मासों सहित सूर्य के समान राष्ट्र को अपने वश में करने हारे शासकों से युक्त इन्द्र, राजा, (सगणः) अपने गणों या-दलों सहित (मरुद्भिः) वैश्यों या तीव्र वेगवान् रथों से जाने वाले वीर पुरुषों सहित (अस्मभ्यं) हमारे राष्ट्र का (भेषजं करत्) यथोचित प्रबन्ध करे। दोषों को दूर कर उसे शरीर के समान हृष्ट पुष्ट करे। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा, (आदित्यैः सह) १२ मासों सहित सूर्य के समान अपने आदित्य समान तेजस्वी विद्वान् सभासदों, या मन्त्रियों

सहित (नः) हमारे (यज्ञं) सुसंगत प्रजापालक राष्ट्र को और (नः तन्वं) हमारे शरीरों को और (प्रजां च) हमारी प्रजा को भी (सीषधाति) हृष्ट पुष्ट कर अपने अधीन रक्खे।

अग्ने त्वन्नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।
वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥ ४७ ॥
तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः।
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो अघायतः समस्मात् ॥ ४८ ॥

भा०—[४७-४८] दोनों की व्याख्या देखो अ० २ । २५, २६ ॥

॥ इति पञ्चविंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चविंशोऽध्यायः ।

४८—बहुव 'सखिभ्य'। इत्यन्तो मन्त्रः। 'स नो बोधीति० ' चरणद्वयं अ० २। २६ । इत्यंस्योत्तरार्धभागः ॥

॥ अथ षड्विंशोऽध्यायः ॥

[अ० २६-४०] विवस्वान् याज्ञवल्क्यश्च ऋषी ॥

॥ ओ३म् ॥ अग्निश्च पृथिवी च संनते ते मे संनमतामदो। वायुश्चान्तरिक्षं च संनते ते मे संनमतामदऽआदित्यश्च द्यौश्च संनते ते मे संनमतामदः। आपश्च वरुणश्च संनते ते मे सन्नमतामदः। सप्त सप्तसदौ अष्टमी भूतसाधनी। सकामाँ२॥ अधन्वन-स्कुरु संज्ञानमस्तु मेऽमुना ॥ १ ॥

अभिकृतिः। ऋषभः ॥

भा०—(अग्निः च पृथिवी च) अग्नि अर्थात् सूर्य और पृथिवी दोनों (संनते) परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहते हैं। (ते) वे दोनों (अदः) अमुक मेरे प्रेम और अभिलाषा के पात्र को (मे संनमताम्) मेरे अनुकूल करें, उसे मेरे प्रति प्रेम से झुकावें। (वायुः च अन्तरिक्षं च) वायु और अन्तरिक्ष दोनों (संनते) परस्पर एक दूसरे के उपकार्य उपकारक होकर एक दूसरे के अनुकूल रहते हैं। वे दोनों अपने दृष्टान्त से (अदः) अमुक को (मे) मेरे लिये (संनमतात्) प्रेम से संगत करें। (आदित्यः च द्यौः च) सूर्य और आकाश दोनों (संनते) एक दूसरे के साथ उपकार्य उपकारक भाव से संयुक्त हैं। वे (मे) मेरे लिये अमुक को (संनमताम्) अपने दृष्टान्त से मेरे अनुकूल प्रेम व्यवहार युक्त करें। (आपः च वरुणः च) जल और वरुण, महान् समुद्र या मेघ दोनों (संनते) एक दूसरे के अनुकूल होकर रहते हैं। (ते) वे दोनों (मे) मेरे लिये (अदः संनमताम्) अमुक को मेरे प्रति प्रेमयुक्त, अनुकूल करें।

अथ खिलानि। अतः सप्तसप्तति मन्त्राः ॥

(सप्तसंसदः) ये सात संसद् हैं इनके आश्रय समस्त जीव स्थिर हैं इनमें (अष्टमी) आठवीं (भूतसाधनी) समस्त भूतों अर्थात् प्राणियों को अपने वश करती है। अर्थात् अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष आदित्य द्यौ, आपः और वरुण ये सात 'संसत्' हैं इनके आश्रय समस्त लोक विराजते हैं। और आठवीं पृथ्वी सब प्राणियों को अपने वश में करती है। वह सबको उत्पन्न करती और पालती है। हे राजन् ! तू (अध्वनः) समस्त मार्ग को (सकामान्) अपने कामनानुकूल कर। (अमुना) अमुक, २ शक्ति और पदार्थ से मे संज्ञानम् अस्तु) मुझे सम्यक् अर्थात् सत्य, यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणायच। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥ २ ॥

स्वराड् अत्यष्टिः। गान्धारः ॥

भा०—मैं परमेश्वर और राजा (यथा) जिस प्रकार (इमां) इस (कल्याणीं वाचम्) सब को सुख देनेवाली वाणी के (जनेभ्यः) समस्त उत्पन्न लोकों के हित के लिये (ब्रह्मराजन्याभ्याम्) ब्राह्मण, क्षत्रिय (शूद्राय) शूद्र और (अर्याय च) वैश्य, (स्वाय च) अपने प्रिय लगने और (अरणाय) प्रियं न लगने वाले, अपने और पराये सब जनों के लिये (आवदानि) सर्वत्र उपदेश करूँ। इसी प्रकार मैं भी सब जनों के हितकारी वाणी बोलूँ जिससे मैं (देवानां) विद्वानों का और (दक्षिणायै दातुः) दक्षिणा वृत्ति देनेहारे पुरुष का भी (इह) इस राष्ट्र में या लोक में (प्रियः भूयासम्) प्रिय होऊँ। (मे अयं कामः) मेरी यह कामना, (समृध्यताम्) पूर्ण हो। (अदः) अमुक पुरुष और मेरा अमुक प्रयोजन (मा उपनयतु) मुझे प्राप्त हो, मेरे अनुकूल हो, मेरे वश या अधीन हो।

परमेश्वर जिस प्रकार सब के हितार्थ वेद-वाणी का उपदेश करता है

इसी प्रकार राजा भी अपनी आज्ञा वाणी को सर्वहितार्थ बोले वह विद्वानों और प्रजाजनों के वृत्तिदाता धनकुवेरों का भी प्रिय होकर रहे। उसकी सब इच्छा पूर्ण हों, इस प्रकार उसके अनुकूल, प्रतिकूल समीप और दूर के सभी व्यक्ति और राष्ट्र भी इसके अधीन हों।

बृहस्पते अति यदर्यो अर्हाद् द्युमद्विभाति क्रतुमज्जनेषु। यद्दीदयच्छवसऽऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम्। उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतये त्वैष ते योनिर्बृहस्पतये त्वा ॥ ३ ॥

गृत्समदो बृहस्पतिर्वा ऋषिः। बृहस्पतिर्देवता। भुरिग् अत्यष्टिः। गान्धारः॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़े बड़ों के पालक, उनके स्वामिन्! उनमें प्रधान पुरुष! (यत्) जिस कारण से तू (अर्यः) सबका स्वामी होकर (अर्हात्) पूजने योग्य है। और (जनेषु) समस्त जनों में (द्युमत्) सूर्य के समान तेजस्वी (ऋतुमत्) प्रज्ञावान् और क्रियावान् होकर (अति विभाति) सब से अधिक चमकता है और (यत्) जिस कारण से हे (ऋतप्रजात) सत्य व्यवहार, धर्म और ज्ञान द्वारा प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट पद पर स्थित तू (शवसा) बल से ही (दीदयत्) सब की रक्षा करता है अतः तू (अस्मासु) हम प्रजाजनों में (चित्रम्) संग्रह करने योग्य (द्रविणम्) ऐश्वर्य का (धेहि) प्रदान कर, धारण करा। हे विद्वान् पुरुष! तू (उपयामगृहीतः असि) राष्ट्र के सुव्यवस्थित राजानियमों द्वारा स्वीकार किया गया है। (त्वा) तुझको (बृहस्पतये) बृहस्पति पद के लिये चुनते हैं। (एषः ते योनिः) यह तेरे योग्य आसन, पदाधिकार है। (बृहस्पतये त्वा) तुझे बृहस्पति पद के लिये नियुक्त करता हूँ।

परमात्मा के पक्षमें—हे (बृहस्पते!) महान् लोकों और बृहती वेद वाणी और बृहती अर्थात् प्रकृति के स्वामिन्! तू (जनेषु क्रतुमत्) समस्त

उत्पन्न होनेहारे पदार्थों में क्रियावान् और ज्ञानवान् है, तू प्रकाशस्वरूप, सर्व से पूज्य और स्वामी रूप से प्रकाशमान है। हे (ऋतुप्रजात) व्यक्त जगत् के उत्पादक और सत्यरूप से प्रसिद्ध हमें उत्तम ऐश्वर्य प्रदान कर। तू (उपयामगृहीतः) यम नियमों और तप द्वारा योग से प्राप्त होता है यही तेरा स्वरूप है, तुझको बृहस्पति करके मानता हूँ ।

इन्द्र गोमन्निहा याहि पिबा सोमꣳ शतक्रतो विद्युद्भिर्ग्रावभिः सुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ४ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! हे (गोमन्) वाणी, आज्ञा एवं गवादि पशु और गौ=पृथ्वी के स्वामिन् ! तू (इह) यहां इस राष्ट्र में (आयाहि) प्राप्त हो, हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञाओं क्रिया सामर्थ्यों और अधिकारों से युक्त ! तू (विद्युद्भिः) विशेष रूप से विद्यमान अथवा विविध खण्डन-मण्डन करने वाले (ग्रावभिः) विद्वानों द्वारा (सुतम्) सिद्धान्त रूप से प्राप्त किये (सोमम्) ज्ञान रस का पान कर। अथवा (विद्युद्भिः) विविध शस्त्रास्त्रों से शत्रुओं का खण्डन करनेवाले (ग्रावभिः) शस्त्रधारियों और विद्वानों से (सुतम्) प्राप्त किये गये (सोमम्) अभिषेक द्वारा प्रदत्त सोम नाम राजपद या राष्ट्र और ज्ञान का (पिब) पान कर, उपभोग कर। हे वीर पुरुष ! तू (उपयामगृहीतः असि) राष्ट्र द्वारा शासन व्यवस्था द्वारा स्वीकृत या नियुक्त है (त्वा गोमते इन्द्राय) तुझको 'गोमत् इन्द्र' अर्थात् पृथिवी के स्वामी 'इन्द्र' पद के लिये नियुक्त करता हूँ। (एष ते) यह तेरे योग्य (योनिः) आश्रय, पदाधिकार है। (इन्द्राय त्वा गोमते) 'गोमान् इन्द' पद के लिये तुझे स्थापित किया जाता है।

इन्द्रा याहि चित्रभानो पिबा सोमꣳ शतक्रतो। गोमद्भिर्ग्रावभिः

सुतम्। उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ५ ॥

भा०—हे (इन्द्र) हे शत्रुओं के विदारक ! हे (वृत्रहन्) विघ्नकारियों के नाशक ! हे (शतक्रतो) सैकड़ों प्रज्ञा और अधिकारों से सम्पन्न ! तू (गोमद्भिः) पृथ्वी के स्वामी, (आद्रिभिः) शस्त्रधारी भूपतियों द्वारा (सुतम्) अभिषेक द्वारा प्राप्त (सोमम्) राष्ट्र ऐश्वर्य को शिलाओं से कुटे सोमरस के समान (पिब) उपभोग कर। (उपयाम गृहीत० इत्यादि) पूर्ववत्।

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं घर्ममीमहे। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥६॥

भा०—(ऋतावानं) सत्य ज्ञानवान् (ऋतस्य ज्योतिषः) सत्यज्ञान रूप ज्योति के पालक (घर्मम्) अति देदीप्त विद्वान्, (वैश्वानरम्) समस्त पुरुषों के हितकारी पुरुष को (अजस्रं) निरन्तर (ईमहे) प्राप्त हों।

सूर्य के पक्ष में—(ऋतावानम्) जल को रश्मियों से ग्रहण करने वाला (ऋतस्य ज्योतिषः पतिम्) जल और प्रकाश के पालक, सूर्य से (घर्मम्) अविनाशी ज्योति या दीप्ति, तेज को (ईमहे) प्राप्त करें। (उपयाम० इत्यादि) पूर्ववत्।

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ७ ॥

जगती। निषादः ॥

भा०—हम लोग (वैश्वानरस्य) समस्त विश्व के, या समस्त राष्ट्र के नायक के (सुमतौ) शुभ बुद्धि के अधीन (स्याम) रहें। (राजा) वह राजा ही (भुवनानां) समस्त लोकों के लिये (अभिश्रीः) सब प्रकार से आश्रय करने योग्य है। वह (जातः) प्रादुर्भूत होकर (इतः) इस मुख्य पद से

ही (विश्वम् इदम्) इस समस्त विश्व को सूर्य के समान (विचष्टे) देखता है और प्रकाशित करता है। इसी से (वैश्वानरः) समस्त राष्ट्र का नेता वैश्वानर नाम राजा, (सूर्येण) सूर्य के समान तेजस्वी होकर (यतते) राष्ट्र के कार्यों में उद्योग करता है। (उपयाम० इत्यादि पूर्ववत्)।

अध्यात्म में—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और आठवीं वाणी है। हे वाणि ! तू मेरे लिये सब ज्ञान मार्गों को सफल कर और अमुक अभ्यास, प्रयत्न और पदार्थ से मुझे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो।

पृथिवी पर जिस प्रकार अग्नितत्व प्रधान है, पृथिवी अग्नि के अधीन है। और पृथिवी अग्नि का ही उपकारक है इसी प्रकार राष्ट्र की प्रजा का राजा से, स्त्री का पुरुष से सम्बन्ध है। इसी प्रकार अन्तरिक्ष में वायु व्यापक है और स्वच्छन्द विहार करती है इसी प्रकार वायु के समान तीव्र वेगवान् बलवान् सेनापति अपने आच्छादक बल पर रहे। आदित्य सूर्य जिस प्रकार आकाश में तेजस्वी है, आकाश को प्रकाशित करता है उसी प्रकार सभापति सभा में विराजे, जल जिस प्रकार समुद्र के आश्रय है आप्तजन या प्रजाजन वरुण, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ पुरुष में अपना आश्रय समझें। उसी से अपनी वृद्धि करें। परन्तु पृथिवी और तत्स्थानीय राष्ट्र प्रजा ही आठवीं समस्त प्राणियों को अपने आश्रय में रखती है। हे पुरुष ! राजन् ! तू अपने (अध्वनः) मार्गों, राज्य के संञ्चालन के नियमों को अपने प्रयोजन और इच्छा और आवश्यकतानुसार बना। (अमुना) अमुक २ विद्वान् पुरुष से मुझे उत्तम ज्ञान प्राप्त हो सदा ऐसा यत्न कर।

वैश्वानरो नऽ ऊतयऽ आ प्रयातु परावतः। अग्निरुक्थेन वाहसा। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥८॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त राष्ट्र का नेता, अथवा समस्त नेता पुरुषों का स्वामी, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी (उक्थेन)

अपने प्रशंसनीय (वाहसा) साधनों और वाहनों से (नः ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (परावतः) दूर देश तक भी (आ प्रयातु) जाए और दूर देश से भी आजाया करे । (उपयाम० इत्यादि) पूर्ववत् ।

अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः । तमीमहे महागयम् । उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसऽएष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे ॥ ६ ॥

वसिष्ठभारद्वाजावृषी । अग्निर्देवताः । जगती । निषादः ॥

भा०—(अग्निः) ज्ञानवान् अग्नि के समान तेजस्वी, (ऋषिः) ज्ञानों, मन्त्रार्थों का देखने वाला, (पाञ्चजन्यः) पांचों जनों का हितकारी (पुरोहितः) पुरोहित, सब कर्मों का साक्षी हो । (महागयम्) अति स्तुति योग्य या बड़े विशाल गृहों, धनैश्वर्यों और बड़ी प्रजावाले (तम्) इससे हम अपने अभिलषित पदार्थ की (याचामहे) याचना करें । (उपयामगृहीतः असि०) इत्यादि पूर्ववत् ।

महाँऽइन्दो वज्रहस्तः षोडशी शर्म यच्छतु । हन्तु पाप्मान्न योऽस्मान् द्वेष्टि । उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा ॥ १० ॥

वसिष्ठ ऋषिः । महान् इन्द्रो देवता । निचृज्जगती । निषादः ॥

भा०—(महान्) बड़ा भारी (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक इन्द्र राजा, (वज्रहस्तः) खांडा हाथ में लिये हुए, बलवान् वीर्यवान्, (षोडषी) सोलहों कलाओं के समान सोलह अमात्यों या राज्यांगों से चन्द्र के समान पूर्ण होकर हमें (शर्म) सुख (यच्छतु) प्रदान करे । (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करे उस (पाप्मानं) पापी, दुष्टाचारी पुरुष को (हन्तु) दण्ड दे । (उपयामगृहीत०) इत्यादि पूर्ववत् ।

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।

अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे ॥ ११ ॥

नोधा गोतमः आदित्ययाज्ञवल्क्यौ वा ऋषी । इन्द्रो देवता । गान्धारः ।
विराड् अनुष्टुप् ॥

भा०—(स्वसरेषु) दिनों के पूर्ण भाग में (धेनवः वत्सं न) गौवें जिस प्रकार अति प्रेम से अपने बच्चे के प्रति हंभारती है उसी प्रकार हम भी (वत्सं) अभिवादन और स्तुति करने योग्य, (दस्मम्) दर्शनीय, शत्रुओं के विनाशक, प्रियवादी और कार्यसाधक (वसोः) बसनेवाले राष्ट्र और (अन्धसः) अन्नादि नानाभोग्य पदार्थ से (मन्दानम्) स्वयं और अन्यों को तृप्त, आनन्दित करनेवाले (ऋतीषहम्) अपने ज्ञान, प्रयाण या चालों से शत्रुओं को परास्त करनेवाले (इन्दम्) इन्द्र, सेनापति और राजा को हम (गीर्भिः) स्तुतिवाणियों द्वारा (अभि नवामहे) साक्षात् होने पर स्तुति करें, उसका आदर करें ।

यद्ध वाहिष्ठन्तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
महिषीव त्वदृयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ १२ ॥

सयुर्ऋषिः । अग्निर्देवता । विराड् गायत्री ॥ षड्जः ॥

भा०—हे मनुष्यो! (यत्) जो (वाहिष्ठम्) सब से अधिक सुख प्राप्त करानेवाला; बड़े जिम्मेवारी का (बृहत्) बड़ा महान् पद है वह (अग्नये) ज्ञानवान् अग्रणी पुरुष को प्रदान करो । (अर्च) उसका आदर सत्कार करो ॥ हे (विभावसो) तेजो रूप ऐश्वर्यवान् तेजस्विन्! (महिषी इव) जिस प्रकार रानी अपने पति के लिये बड़ी उत्कंठा और प्रेम से उसके आदरार्थ उठती है, उसे प्राप्त होती है, इसी प्रकार (त्वत् रयिः) तेरे निमित्त ऐश्वर्य और (त्वत्) तेरे निमित्त, (वाजाः) समस्त वीर्य, पदाधिकार (उदीरते) उठते हैं और तुझे प्राप्त होते हैं ।

पक्षू णु ब्रवाणि तेऽग्नेऽइत्थेतरा गिरः । एभिर्वर्द्धास ऽइन्दुभिः ॥१३॥

भरद्वाज ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नायक ! (एहि) आ । (ते) तुझे मैं विद्वान् पुरुष (इतराः) और नाना (गिरः) उपदेश वाणियों का (इत्था) यथार्थ रूप से (सु ब्रवाणि) उत्तम रीति से उपदेश करूँ । (एभिः) इन (इन्दुभिः) ऐश्वर्यों से तू (वर्धासे) वृद्धि को प्राप्त हो ।

ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविः ।
संवत्सरस्ते यज्ञं दधातु नः प्रजां च परि पातु नः ॥ १४ ॥

भुरिग् बृहती । निषादः । संवत्सरो देवता ॥

भा०—हे नायक ! राजन् ! (ऋतवः) जिस प्रकार जगत् रूप यज्ञ को ऋतुएँ करते हैं उसी प्रकार उनके समान सदस्यगण (ते यज्ञम्) तेरे राष्ट्र पालन रूप यज्ञ को (वितन्वन्तु) विविध उपायों से करें । (मासाः) मास जिस प्रकार जगत् के अन्नादि पदार्थों की रक्षा करते हैं उसी प्रकार (मासाः) ज्ञानवान् और दुष्ट के नाशक अधिकारीगण (ते) तेरे (हविः) अन्न और राष्ट्र की (रक्षन्तु) रक्षा करें । (ते यज्ञं) तेरे यज्ञ को (संवत्सरः) जिसमें समस्त प्राणी सुख से बसें और रमण करें ऐसे प्रजा पालक विद्वान् पुरुष वर्ष के समान सर्वगुणनिधान, (दधातु) धारण करे । और वही (नः) हमारे (प्रजां) प्रजा का (परिपातु) परिपालन करे ।

उपह्वरे गिरीणाꣳ सङ्गमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रोऽ अजायत ॥ १५ ॥

वत्स ऋषिः । सोमो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(गिरीणाम्) पर्वतों के (उपह्वरे) समीप में (नदीनां च सङ्गमे) और नदियों के संगम स्थान में, रह कर (धिया) ध्यान, धारण,

कर्म; और विद्याभ्यास करके (विप्रः) विविध विद्याओं से संपूर्ण, निष्णात होकर विद्वान् सोम और सूर्य के समान जन (अजायत) प्रकट होता है ।

उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे ।
उग्रꣳशर्म महि श्रवः ॥ १६ ॥

[१६–१९] आमहीयवऋषिः । गायत्री । षड्जः ॥

भा —(ते) तेरे हे (सोम) ऐश्वर्यसम्पन्न ! सूर्य के समान सबके प्रेरक राजन् ! (अन्धसः ते) तुझे अखिल विश्व को धारण करनेवाले तेरा जो (उच्चा दिवि) ऊँचे आकाश में (सत्) सत् शक्ति रूप से वही (उग्रम्) बड़ा बल, (शर्म) सुखकारी शरण और (महि श्रवः) बड़ा ऐश्वर्य (जातम्) प्रकट होता है उसको (भूमि आददे) भूमि स्वयं ग्रहण करती हैं, अथवा उसको मैं प्रजाजन (भूमि इच) सर्वोत्पादक सर्वाश्रय रूप से स्वीकार करता हूँ ।

स नऽ इन्द्राय यज्यवे वरुणाय मरुद्भ्यः ।
वरिवोवित्परिस्रव ॥ १७ ॥

भा०—हे सोम ! राजन् ! (सः) वह तू (नः) हमारे (इन्द्राय) शत्रुनाशक, (यज्यवे) दानशील, (वरुणाय) सर्व श्रेष्ठ, आपत्ति निवारक और (मरुद्भ्यः) विद्वान् मनुष्यों के लिये (वरिवोवित्) धनवान् ऐश्वर्यवान् सेवा करो कर्त्तव्य जानकर (परिस्रव) प्राप्त हो ।

एना विश्वान्यर्य आ द्युम्नानि मानुषाणाम् ।
सिषासन्तो वनामहे ॥ १८ ॥

भा०—(एना) ये (विश्वा) सब प्रकार के (मानुषाणां द्युम्नानि मनुष्यों के उपायोगी धनों का (अर्यः) स्वामी ही (आ) प्राप्त करता

है। हम (सिषासन्तः) उनका सेवन करना चाहते हुए (वनामहे) उन्हीं पदार्थों की याचना करते हैं।

अनु वीरैरनु पुष्यास्म गोभिरन्वश्वैरनु सर्वेण पुष्टैः।
अनु द्विपदानु चतुष्पदा वयं देवा नो यज्ञमृतुथा नयन्तु ॥१९॥

आशीः। त्रिष्टुप्। धैवतः। मुगल ऋषिः॥

भा०—(देवाः) देवगण (नः) हमारे (यज्ञम्) परस्पर संगत, गृहस्थ, समाज और राष्ट्र रूप यज्ञ को या प्रजापालक राजा को ऋतुथा) ऋतुओं के अनुसार, यथाकाल, यथावसर इस प्रकार (नयेन्तु) ले जावें। इस प्रकार मार्ग दिखावें कि (वयम्) हम (वीरैः) वीरों से (अनुपुष्यास्म) पुष्ट हों, (गोभिः अनु) गौओं से समृद्ध हों, (पुष्टैः अश्वैः अनु) हृष्ट पुष्ट अश्वों से समृद्ध हों, (सर्वेण द्विपदा चतुष्पदा) सब प्रकार के दोपाये और चौपाये भृत्यु और पशुओं से (अनु) खूब पुष्ट हों।

अग्ने पत्नीरिहा वह देवानामुशतीरुप।
त्वष्टारꣳ सोमपीतये ॥ २० ॥

मेधातिथिर्ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने! राजन् अग्रणी! पुरुष! (इह) इस परस्पर सुसंगत राष्ट्र और समाज के कार्य में (देवानाम्) विद्वान् पुरुषों की उन (पत्नीः) स्त्रियों को जो (उशतीः) कार्य के करने की अभिलाषा करती हों (उप वह) प्राप्त करा, उनको भी इस कार्य में लगा और (सोमपीतये) सोम या राजापद के स्वीकार करने के लिये (त्वष्टारं) शत्रुहन्ता, प्रजापालक पुरुष को भी प्राप्त करा।

अथवा—राष्ट्र के पालन के लिये (देवानां पत्नीः) देवों विद्वानों और राजा और विजयी पुरुषों की पालन शक्तियों, सेनाओं को एकत्र कर (त्वष्टारं) सब के त्वष्टा, शिल्पक या भूमि आदि के मापन राजप्रासाद दुर्गआदि के निर्माता शिल्पी को भी प्राप्त कर।

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऋतुना ।
त्वꣳ हि रत्नधाऽअसि ॥ २१ ॥

[२१–२२] मेधातिथिर्ऋषिः । ऋतुर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (नेष्टः) नेता ! नायक पुरुष ! राजन् ! (नः) हमारे (यज्ञं) प्रजापालक राष्ट्र के स्वरूप को (अभि) स्पष्टरूप को (नः गृणीहि) हमें बतला । हे (ग्नावः) पालक शक्ति से युक्त वाग्मिन् ! इस राष्ट्र को (ऋतुना) अपने बल और ज्ञान से या अन्य अधिकारियों द्वारा (पिब) भोग कर । (त्वं हि) तू ही (रत्नधा असि) राज्य के रत्नों और पुरुषों का धारक और पोषक है ।

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत । नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ॥२२॥

भा०—(द्रविणोदाः) धन और यश का देनेवाला पुरुष ही (पिपीषति) सृष्टि का भोग करना चाहता है । (जुहोत) उसको पदाधिकार प्रदान करो और (प्रतिष्ठत च) शत्रु पर प्रस्थान करो । (नेष्टाद्) नेष्टा, नायक से (ऋतुभिः) ऋतुओं के अनुसार उसके मुख्य सदस्यों सहित (इष्यत) इष्ट फल को प्राप्त करो ।

तवायं सोमस्त्वमेह्यर्वाङ्शश्वत्तमꣳ सुमना अस्य पाहि । अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर इन्दुमिन्द्र ॥ २३ ॥

भा०—हे राजन् ! (अयं सोमः) यह ऐश्वर्य युक्त राज्य या राष्ट्र (तव) तेरा है । (त्वं) तू (सुमनाः) शुभ चित्त होकर (अस्य) इस राष्ट्र के (शश्वत्तमम्) सदा काल से चले आये ऐश्वर्य को (अर्वाङ्) अपने अधीन रख के (पाहि) पालन कर । (अस्मिन् यज्ञे) इस महान् यज्ञ में, और इस (बर्हिषि) राजगद्दी पर या प्रजा जन के ऊपर (आनिषद्य) विराज कर (इमं) इस (इन्दुम्) ऐश्वर्य शील राष्ट्र को (इन्द्र) ऐश्वर्य

के इच्छुक (जठरे) पेट में अन्न के, या ओषधि रस के समान (दधिष्व) धारण कर ।

अमेव नः सुहवा ऽआ हि गन्तन नि बर्हिषि सदतना रणिष्टन ।
अथा मदस्व जुजुषाणो ऽअन्धसस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिः सुमद्गणः॥२४

गृत्समद ऋषिः । जगती । निषादः । त्वष्टा देवत्पत्न्यश्च देवताः ॥

भा०—हे (सुहवाः) सुन्दर, शुभ नामवाली देवपत्नियों अर्थात् विद्वान् पुरुषों के स्त्री जनो ! और हे विद्वान् जनो ! आप सब लोग (आ गन्तन हि) आइये । (बर्हिषि) उत्तम आसन पर (नि सदतन) निश्चिन्त होकर विराजिये । और (रणिष्टन) उत्तम उपदेश, शिक्षा प्रदान कीजिये । हे (त्वष्टः) विद्वन् ! राजन् ! सूर्य के समान तेजस्विन् ! जिस प्रकार सूर्य अपने (देवेभः) किरणों से जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार तू भी (देवेभिः) सहयोगी विद्वान् पुरुषों और (जनिभिः) सहयोगी माता भगिनी पत्नी आदि आनन्द प्रसन्न स्त्रियों के सहित और (सुमत्-गणः) उत्तम गुणों वाले गणों अर्थात् भृत्यजनों सहित (अन्धसः) अन्न आदि का (जुजुषाणः) भोग करता हुआ (मदस्व) हृष्ट-पुष्ट हो ।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ २५ ॥

भा०—हे (सोम) सबके प्रेरक ! तू (इन्द्राय) 'इन्द्र' पद अर्थात् समृद्ध राज्य के लिये (सुतः) अभिषिक्त होकर (स्वादिष्ठया) अति स्वाद वाली, अति मधुर (मदिष्ठया) सबको अति आनन्द देनेवाली, (धारया) प्रजा को धारण पोषण करने वाली, दुग्ध-धारा के समान मधुर वाणी और शक्ति से (इन्द्राय) ऐश्वर्य के (पातवे) पालन करने और भोग करने के लिये (पवस्व) निरन्तर शुद्ध पवित्र होकर रह ।

२५

रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहते ।
द्रोणे सधस्थमासदत् ॥ २६ ॥

भा०—(रक्षोहा) राक्षसों और दुष्ट पुरुषों का नाशक (विश्वचर्षणिः) समस्त प्रजाओं का द्रष्टा होकर सुवर्ण आदि से व्याप्त, ऐश्वर्य युक्त (द्रोणे) राष्ट्र में (सधस्थम्) योग्य स्थान, मान और पद के समान योग्य प्रतिष्ठित पद और (योनिम्) अपने गृह या अधिकार पद पर (आसदत्) विराजे और उत्तम गृह में रहे ।

॥ इति षड्विंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते
यजुर्वेदालोकभाष्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥

॥ अथ सप्तविंशोऽध्यायः ॥

[अ० २७] प्रजापतिर्ऋषिः । अग्निर्देवता ॥

॥ ओ३म् ॥ समास्त्वाग्न ऽऋतवो वर्द्धयन्तु संवत्सरा ऽऋषयो यानि सत्या । सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा ऽआभाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

[१—९] अग्निर्ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! अग्रणी नायक ! राजन् ! (त्वा) तुझको (समाः) एक समान मान, पद और ज्ञानवाले विद्वान् पुरुष और (ऋतवः) बलवान् सभासद् गण, (संवत्सराः) अच्छी प्रकार प्रजाओं को बसाकर उनमें स्वयं रमण करनेहारे प्रजापालक नरपति लोग और (ऋषयः) वेदमन्त्रों और सत्य ज्ञानों के गूढ़ तत्वों के अध्यापक तथा अध्येता जन और (यानि-सत्या) जितने होनेवाले सत्य, यथार्थ विज्ञान और सत्य व्यवहार हैं वे सब (त्वा) तुझको (सं वर्धयन्तु) बढ़ावें, तेरे यश, बल और ऐश्वर्य की वृद्धि करें । तू (दिव्येन) उत्तम कान्तियुक्त (रोचनेन) सबको अच्छा लगने वाले तेज से (सं दीदिहि) सूर्य के समान प्रकाशित हो । और सूर्य के समान ही (विश्वा) समस्त (चतस्रः) चारों दिशा उपदिशाओं सबको (आभाहि) जगमगा, प्रकाशित कर ।

सूर्यपक्ष में—(समाः) वर्ष (ऋतवः) वसन्तादि, (संवत्सराः) प्रभव आदि सब सूर्य की महिमा को बढ़ाते हैं ।

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय ।
मा च रिषदुपसत्ता ते ऽअग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये ॥ २ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! विद्वन् ! नायक ! राजन् ! तू (सं इध्यस्व च)

अग्नि के समान खूब प्रज्वलित, तेजस्वी हो। (एनम्) इस राष्ट्र को भी (प्र बोधय च) खूब जगा, प्रबुद्ध और शिष्य को गुरु के समान सोते से, या अज्ञान दशा से जगा कर ज्ञानवान् कर। तू स्वयं भी (महते सौभगाय) बड़े सौभाग्य और ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये, (उत् तिष्ठ) ऊँचे आसन पर विराज। हे (अग्ने) तेजस्विन्! (ते उपसत्ता) तेरे समीप आनेवाला, तेरा उपासक और तेरे समीप बैठने वाला अमात्य, शिष्य, मित्र आदि (मा रिषत् च) कभी कष्ट प्राप्त न करे। हे (अग्ने) विद्वन् तेजस्विन्! (ब्रह्माणः) ब्रह्म वेद और ऐश्वर्य के ज्ञानी विद्वान्गण (ते) तेरे आश्रय रह कर (यशसः) यशस्वी (सन्तु) हों। (ते अन्ये) और वे दूसरे अर्थात् तेरे शत्रु जन (मा) कभी यशस्वी न हों। अथवा (यशसः ब्रह्माणः अन्ये मा सन्तु) यशस्वी विद्वान् ब्राह्मण तेरे विरोधी शत्रु न हों जायं।

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा ऽइमे शिवो ऽअग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहा नो ऽअभिमातिजिच्च स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) राजन्! तेजस्वी पुरुष! (त्वां) तुझको (इमे ब्राह्मणाः) ये ब्रह्म के जाननेहारे विद्वान् ब्राह्मण लोग (वृणते) वरण करते हैं, अपना नेता स्वीकार करते हैं। हे (अग्ने) अग्ने! तेजस्विन्! तू (नः) हमारे (संवरणे) वरण करलेने पर (शिवः) हमारे प्रति कल्याण और सुख का देनेहारा (भव) हो। और तू (सपत्नहा) शत्रुओं का नाशक और (अभिमाति-जित् च) गर्वीले, दुष्ट पुरुषों को विजय करनेहारा होकर (स्वे गये) अपने गृह और विजित राष्ट्र में (अप्रयुच्छन्) कभी प्रमाद न करता हुआ (जागृहि) सदा सावधान होकर पहरेदार के समान जागता रह।

इहैवाग्ने ऽअधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचितो निकारिणः।
क्षत्रमग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्द्धतां ते ऽअनिष्टृतः ॥ ४ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! हे राजन् ! तू (इह एव) यहां ही इस राष्ट्र में, या पद पर (रयिम्) धन ऐश्वर्य को (अधि धारय) धारण कर। और (पूर्वचितः) तेरे पूर्व परिचित जन (निकारिणः) तेरा अपमान करने में समर्थ पुरुष भी (त्वा मा निक्रन्) तेरा निरादर न करें। अथवा—(पूर्वचितः) पूर्व ही प्राप्त अधिक विज्ञानवान् पुरुष और (कारिणः) निरन्त कर्मशील, उद्योगी जन (त्वा मा नि क्रन्) तुझे नीचे न गिरादें, तुझे राजसिंहासन से न उतार दें। (तुभ्यम्) तेरी रक्षा के लिये तेरा (क्षत्रम्) वीर्य और क्षात्रबल (सुयमम्) उत्तम प्रबन्ध में व्यवस्थित (अस्तु) हो। (ते उपसत्ता) तेरे समीप बैठा हुआ मन्त्री, आदि आश्रित प्रजाजन भी (अनिस्तृतः) किसी प्रकार क्षति को प्राप्त न होकर, सुरक्षित रह कर (वर्धताम्) सदा वृद्धि को प्राप्त हो।

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः सꣳ रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्था ऽएधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह ॥ ५ ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! राजन् ! तू (क्षत्रेण) क्षात्रबल, क्षत अर्थात् त्रुटि के पूर्ण करने वाले, धन और प्रजा को क्षय होने से बचाने वाले राज्य से (सु-आयुः, स्व-आयुः) अपने उत्तम आयु को (संरभस्व) प्राप्त कर, अपने जीवन को सुरक्षित रख। हे अग्ने ! राजन् ! (मित्रेण) अपने स्नेही, मित्र राजा और धार्मिक विद्वान् पुरुषों से (मित्रधेये) मित्रता के बनाये रखने का (यतस्व) यत्न कर। और (सजातानाम्) कुल, शील, राज्य और ऐश्वर्य और पद में समान प्रतिष्ठा वाले पुरुषों के बीच में (मध्यमस्थाः) मध्यम राजा के रूप में सबका बल तोलने में समर्थ होकर (एधि) रह। हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! तू (राज्ञाम्) राजाओं के बीच में (विहव्यः) विशेष आदर से स्तुति योग्य और विशेष आदर से बुलाये जाने योग्य होकर (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहि) प्रदीप्त, तेजस्वी होकर चमक।

अति निहोऽ अति स्निधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने ।
विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳ सहवीराꣳ रयिं दाः ॥६॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! तेजस्विन् ! विद्वन् ! राजन् ! तू (निहः अति) प्रजाके घातकों को दबा कर, (स्निधः अति) निन्दित आचार व्यवहार वालों को दबाकर, (अचित्तिम्) अज्ञानी और मूर्ख या हृदय-हीन को दबा कर और (अरातिम्) अदानशील शत्रु को दबा कर (विश्वा दुरिता) समस्त प्रकार के दुष्ट आचरणों को (सहस्व) विनष्ट कर। (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीराम्) वीर पुत्रों और वीर सैनिकों सहित (रयिम्) राष्ट्र और ऐश्वर्य का (दाः) प्रदान कर।

अनाधृष्यो जातवेदा ऽअनिष्टृतो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह ।
विश्वा ऽआशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः शिवेभिरद्य परि पाहि नो वृधे॥७

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! राजन् ! सभापते ! तू (अनाधृष्यः) दूसरे से कभी अपमान करने एवं पराजय करने योग्य न हो। तू (जातवेदाः) विद्यावान् ऐश्वर्यवान्, (अनिस्तृतः) अहिंसित, (विराट्) विशेषरूप से तेजस्वी, (क्षत्रभृत्) क्षात्र-बल को पालन और धारण करने हारा होकर (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहि) हमें प्रेम कर या प्रकाशमान होकर रह। और (मानुषीः भियः) समस्त प्रकार के मनुष्यों को या मनुष्यों से होने वाले भयों को (प्र मुञ्चन्) छोड़ कर और अन्यों को भी भय से मुक्त करता हुआ (नः) हमारी (विश्वाः आशाः) सब आशाओं, मनोरथों को और दिशाओं को और उनमें रहने वाली प्रजाओं को (अद्य) अब, निरन्तर (नः वृधे) हमारी वृद्धि के लिये (परिपाहि) पालन कर।

बृहस्पते सवितर्योधयैनꣳ सꣳशितं चित्सन्तराꣳ सꣳ शिशाधि।
वर्धयैनं महते सौभगाय विश्व ऽएनमनु मदन्तु देवाः ॥ ८॥

भा०—हे (बृहस्पते) बड़े लोकों के पालक, बड़े राज्यों और राज-कार्यों के पालक, अधिष्ठातः ! बृहस्पते ! विद्वन् ! हे (सवितः) सूर्य के समान तेजस्विन् ! राजन् ! आचार्य ! तू (एनं) इस अपने अधीन प्रजाजन और शिष्य को (संशितम्) और अच्छी प्रकार तप, और विद्या-अभ्यास द्वारा तीक्ष्ण, बुद्धिमान् करके (संबोधय) अच्छी प्रकार ज्ञानवान् कर। (संतराम् सं शिशाधि) अच्छी प्रकार इसका शासन कर और उपदेश कर। (एनं) उसको (महते सौभगाय) बड़े भारी सौभाग्य, उत्तम लक्षण, चरित्र और ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (वर्धय) बढ़ा। (एनम् अनु) इसको देखकर इसके पीछे २ (देवाः) समस्त विद्वान् पुरुष और उसको चाहनेवाले प्रेमी तथा विजयेच्छुजन भी (अनु मदन्तु) आनन्द प्रसन्न हों।

अमुत्र भूयाद्अधु यद्यमस्य बृहस्पते ऽअभिशस्तेरमुञ्चः।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः॥ ६ ॥

भा०—हे (बृहस्पते) बृहत् राष्ट्र के पालक ! और विद्वन् ! (यत्) जो (यमस्य) राष्ट्र के नियन्ता राजा को (अमुत्र भूयात्) अमुक, दूसरे देश में होने वाले (अभिशस्तेः) अपराध, अपवाद, लोक निन्दा से और (अध) और (यत्) भी जो अयुक्त बात हो उससे उसको (अमुञ्चः) छुड़ा। हे (अग्ने) राजन् ! (अश्विना) विद्या में पारंगत 'अश्वी' नामक अधिकारीजन (देवानां भिषजा) विद्वान् पुरुषों में वैद्यों के समान सब राज्यगत दोषों के उपाय करने में कुशल होकर (शचीभिः) अपनी शक्तिशाली सेनाओं से (अस्मा) इस राष्ट्र में (मृत्युम्) मृत्यु या मारनेवाले दुष्ट जन को (प्रति औहताम्) यत्नपूर्वक दूर करें।

उद्बुध्यन्तमसुरघ्नि स्वः पश्यन्त ऽउत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १० ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० २० । २१ ॥

ऊर्ध्वा ऽअ॑स्य स॒मिधो॑ भवन्त्यू॒र्ध्वा शु॒क्रा शो॒चीँ॑ष्यु॒ग्नेः ।
द्यु॒म॒त्त॒मा सु॒प्र॒ती॒क॒स्य सू॒नोः ॥ ११ ॥

[११—१२] द्वादश आप्रियः । प्रजापतिरग्निर्देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के जिस प्रकार ऊपर जलते हुए काष्ठ उज्ज्वल, तेजवान् होते हैं उसी प्रकार (समिधः) प्रकाशक, उत्तम ज्ञान से उसकी बुद्धि को चमकाने वाले जन भी (ऊर्ध्वाः भवन्ति) उच्चपद पर विराजमान होते हैं। और उस अग्नि रूप प्रजापालक परमेश्वर और राजा के (शुक्राः) शुद्ध करने वाले (शोचींषि) तेज भी (ऊर्ध्वाः) सबके ऊपर विद्यमान् होते हैं। (सुप्रतीकस्य) सुन्दर उज्ज्वल मुख वाले, उत्तम ज्ञानवान् (सूनोः) पुत्र और शिष्य के समान सौम्य स्वभाव वाले, अथवा सबके प्रेरक आदित्य के समान तेजस्वी ईश्वर और राजा के तेज (द्युमत्तमानि) अति ऐश्वर्यवान् अति उज्ज्वल हों।

तनू॒नपा॒दसु॑रो वि॒श्ववे॑दा दे॒वो दे॒वेषु॑ दे॒वः ।
प॒थो अ॑नक्तु मध्वा॑ घृ॒तेन॑ ॥ १२ ॥

भा०—(तनूनपात्) शरीरों को न गिरने देने वाला, (असुरः) प्राणों में रमण करने वाला, (देवः) शक्ति देने और ज्ञान के देखने वाला जीव (देवेषु देवः) श्रोत्र आदि पदार्थ द्रष्टा उपकरणों में (देवः) सबका अध्यक्ष है वह (मध्वा) ज्ञान से (घृतेन) और प्रकाश से (पथः) अपने जीवन के मार्गों को (अनक्तु) प्रकाशित करे।

वायु के पक्ष में—शरीरों को न गिरने देने वाला (असुरः) बलवान् (देवः) दिव्य गुणवाला सर्वत्र व्यापक, (देवेषु देवः) अग्नि आदि पदार्थों को शक्ति देने वाला, (मध्वा) मधुर (घृतेन) जल से (पथः) मार्गों को (अनक्तु) सींचे, वृष्टि करे।

राजा के पक्ष में—विस्तृत राष्ट्र का पालक, (विश्वेवेदाः) समस्त ऐश्वर्य वाला, (असुरः) बलवान्, ऐश्वर्यवान्, (देवेषु देवः) दानशीलों में सब से अधिक दानशील, (देवः) सबका द्रष्टा, (मध्वा घृतेन) मधुर आकर्षण और तेज से, सौम्यता और प्रखरता दोनों से (पथः) प्रजा के व्यवस्थापक मार्गों, राजनियमों को (अनक्तु) प्रकाशित करे।

परमेश्वर के पक्ष में—सब शरीरों का रक्षक होने से 'तनूनपात्' है, सर्वज्ञ होने से 'विश्ववेदा', सब सूर्यादि का प्रकाशक होने से 'देवों का देव', सर्वप्रद होने से 'देव' और सबके प्राणों का और ऐश्वर्यों का दाता होने से [वसु-र] 'असुर' है। वह (मध्वा) मधुर आनन्द से और (घृतेन) प्रकाशमय ज्ञान से हमारे जीवन के समस्त ऐहिक और पारलौकिक मार्गों को वेदोपदेश द्वारा प्रकाशित करे।

मध्वा यज्ञं नक्षसे प्रीणानो नराशꣳसो ऽअग्ने।
सुकृद्देवः सविता विश्ववारः ॥ १३ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! राजन् ! तू (यज्ञम्) परस्पर के आदान प्रतिदान व्यवहार और प्रजा-पालन-रूप यज्ञ को, (मध्वा) मधुर चित्ता-कर्षक वचन से, या सुन्दर, मधुर रूप से (नक्षसे) व्याप्त है। यदि राजा की व्यवस्था न हो तो प्रजा के परस्पर व्यवहार बड़े कर्कश और दुःखदायी हों, व्यवस्था होने से वे सौम्य होजाते हैं। तू (नराशंसः) विद्वानों का प्रशंसक और सर्व साधारण से स्तुति योग्य, या सबको शिक्षा देने हारा और (प्रीणानः) सबको तृप्त और प्रसन्न करने हारा हो। तू स्वयं (सुकृत्) शुभ कार्यों का करने वाला, (सविता) सबका प्रेरक और (विश्ववारः) सबको वरने या स्वीकारने वाला, सब से वरने योग्य, या सबका रक्षक एवं सब बुरे पदार्थों का वारण करने हारा हो।

अच्छायमेति शवसा घृतेनेडानो बार्हिर्नमसा।

अग्निꣳ स्रुचो अध्वरेषु प्रयत्सु ॥ १४ ॥

भा०—(अयम् वह्निः) यह राज्य-भार को वहन करने में समर्थ पुरुष, (शषसा) बल से, (घृतेन) तेज से और (नमसा) दुष्टों को नमाने या दमन करने वाले बल से (ईडानः) स्तुति योग्य होता हुआ (अच्छ एति) प्राप्त होता है। (अध्वरेषु प्रयत्सु) हिंसा रहित, प्रजा के पालन कार्यों के प्रारम्भ होजाने पर (स्रुचः) स्रुवे जिस प्रकार अग्नि को उद्दीप्त करते हैं उसी प्रकार (स्रुच्) दानशील प्रजाएं अपने अंशों से (अग्निम्) इस नायक को प्रदीप्त तेजस्वी और बलवान् करें।

स यक्षदस्य महिमानमग्नेः सऽईं मन्द्रा सुप्रयसः ।
वसुश्चेतिष्ठो वसुधातमश्च ॥ १५ ॥

भा०—जो (वसुः) प्रजाओं को वसानेहारा, (वसिष्ठः) सबसे अधिक ज्ञानवान्, (वसुधातमः) बसनेवाली प्रजाओं का धारण पोषण करनेवाला, सबको ऐश्वर्य देनेवाला है। वह (अस्य अग्नेः) इस अग्नि, अग्रणी नामक पद के (महिमानम्) महान् सामर्थ्य को (यक्षत्) प्राप्त करे और (सः) वही (सुप्रयसः) उत्तम अन्नादि योग्य पदार्थों से सम्पन्न धनाढ्य पुरुष के (मन्द्रा) आनन्दप्रद सुखों को (ईम् यक्षत्) भी प्राप्त करे।

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रता ददन्ते अग्नेः ।
उरुव्यचसो धाम्ना पत्यमानाः ॥ १६ ॥

भा०—(द्वारः) द्वार जिस प्रकार गृह के स्वामी को आने और जाने देते हैं और गृहस्वामी के ऐश्वर्य के अनुसार ही सजते हैं, उसी के इच्छानुसार खुलते और बंद होते हैं। और (देवीः) स्त्रियां जिस प्रकार गृहस्वामी के ऐश्वर्यानुसार सजती और उसी के आज्ञानुसार कार्य, धर्माचरण आदि करती हैं उसी प्रकार (अस्य) इस (अग्नेः) ज्ञानवान् अग्रणी नायक पुरुष के (अनु) अनुकूल, उसके पीछे, (देवीः द्वारः)

विजयशील शत्रु वारक सेनाएं और (विश्वे) समस्त पुरुष (व्रता) नाना सत्य भाषण आदि कर्मों को (दधन्ते) धारण करते हैं और (उरुव्यचसः) महान् व्यापक सामर्थ्य वाले इसके ही (धान्ना) तेज, ऐश्वर्य से और पराक्रम या पद से वे स्वयं (पत्यमानाः) ऐश्वर्यवान्, समृद्ध हो जाते हैं ।

ते ऽअर्य्य योषणे दिव्ये न योना ऽउषासानक्ता ।
इमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ १७ ॥

भा०—(ते) वे दोनों स्त्री और लक्ष्मी, घर की शोभा का आश्रय स्थान स्त्री और राज्यलक्ष्मी दोनों (उषासा नक्ता न) दिन और रात्रि के समान (दिव्ये योषणे) दिव्य, उत्तम गुणवती और दानशील दो स्त्रियां हैं । वे दोनों (नः इमं यज्ञम्) हमारे इस यज्ञ और राष्ट्र को (अध्वरम्) अविनष्ट रूप में (अवताम्) पालन करें ।

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यावहोरात्रे' इत्यादि २८ ।...यजु० ।

दैव्या होतारा ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वामभि गृणीतम् ।
कृणुतं नः सुष्टिम् ॥ १८ ॥

भा०—(दैव्या होतारो) विद्वानों, आप्त प्रसिद्ध विद्या, कला कौशल की शिक्षा देने में कुशल । नः अध्वरम्) हमारे विनष्ट होनेवाले (ऊर्ध्वम्) सबके ऊपर विद्यमान् उन्नत 'यज्ञ' राज्यव्यवस्था का (अभिगृणीतम्) सब प्रकार से उपदेश करें । और वे दोनों (अग्नेः) ज्ञानवान्, अग्रिणी नायक पुरुष की (जिह्वाम्) मुख, वाणी की अथवा (जिह्वाम्) वश-कारिणी व्यवस्था की शिक्षा दें । और (नः) हम प्रजाजनों को (सु-इष्टिम्) उत्तम फल देनेवाली व्यवस्था (कृणुतम्) करें ।

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ सदन्त्विडा सरस्वती भारती ।
मही गृणाना ॥ १९ ॥

भा०—(मही) बड़ी, उच्च गुणोंवाली, (देवीः) ज्ञान की प्रकाशक, (गृणाना) उत्तम उपायों का उपदेश देती हुई (इडा, सरस्वती, भारती) इडा, सरस्वती, और भारती, पृथ्वी, वाणी और तेज को धारण करने-वाली (तिस्रः) तीनों सभाएं (इदं वर्हिः) इस महान् प्रजा या राष्ट्र पर (आ सदन्तु) आकर विराजें, ये तीनों सभाएं शासन करें ।

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु त्वष्टा सुवीर्यम् ।
रायस्पोषं वि ष्यतु नाभिमस्मे ॥ २० ॥

भा०—(त्वष्टा) अति दीप्तिमान्, अति शीघ्रता से सर्वत्र व्यापने-वाला, शीघ्रगामी । शिल्पज्ञ पुरुष (नः) हमें (तुरीपम्) वेग से पहुंचा देने और प्राप्त होनेवाले (अद्भुतम्) आश्चर्यकारक (पुरुक्षु) नाना प्रकार के पदार्थों में विविध प्रकार से विद्यमान (सुवीर्यम्) उत्तम वीर्य या बलयुक्त (रायस्पोषम्) धनैश्वर्य के पोषण करनेवाले ऐश्वर्य को (अस्मे नाभिम्) हमारे राष्ट्र के बीच में (वि ष्यतु) प्रदान करे ।

वनस्पतेऽवसृजा ररांणस्त्मना देवेषु ।
अग्निर्हव्यꣳ शमिता सूदयाति ॥ २१ ॥

भा०—हे (वनस्पते) सेवन करने योग्य राष्ट्र के पालक ! (शमिता) शान्तिदायक, राष्ट्र के उपद्रवों को शान्त करदेने में समर्थ, (अग्निः) अग्नि के समान तेजस्वी, सेनानायक (हव्यं) ग्रहण करने योग्य राष्ट्र आदि ऐश्वर्य को (सूदयाति) तुझे प्रदान करे । और तू (त्मना) स्वयं (देवेषु) विद्वान्, विजयशील पुरुषों के हाथों उसको (रराणः) प्रदान करता हुआ (अव सृज) उसको अपने अधीन रख ।

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेद इन्द्राय हव्यम् ।
विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ २२ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! हे (जातवेदः) विद्याओं में कुशल पुरुष ! तू (स्वाहा) उत्तम उपदेशप्रद वाणी से (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र या राष्ट्रपति के लिये (वृषम्) स्वीकार करने योग्य स्तुति एवं राष्ट्र पदाधिकार को (कृणुहि) कर । (इदं हविः) इस स्वीकार करने योग्य अन्नादि पदार्थों को (विश्वे देवाः) सभी विद्वान् शासकगण (जुषन्ताम्) प्राप्त करें ।

पीवो॑ऽअन्ना रयि॒वृधः॑ सु॒मे॒धाः॑ श्वे॒तः सि॑षक्ति नि॒युता॑मभि॒श्रीः॑ ।
ते वा॒यवे॒ सम॑नसो॒ वि त॑स्थु॒र्विश्वेन्नरः॑ स्वप॒त्यानि॑ चक्रुः ॥ २३ ॥

[२३—२४] वसिष्ठ ऋषिः । वायुर्देवता त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(नियुताम्) नियुक्त हुए शासकों को (अभि श्रीः) सब प्रकार से आश्रय करने योग्य, मुख्य, पुरुष (श्वेतः) उनकी वृद्धि करने वाला होकर (पीवः-अन्नाः) पुष्टिकर अन्नों को खानेवाले, (रयिवृधः) ऐश्वर्य की वृद्धि करने वाले, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धिमान् ज्ञानी पुरुषों को (सिसक्ति) अपने साथ मिलाकर समवाय बना कर रहे । और (ते) वे (समनसः) सब एक समान चित्त होकर, (वायवे) अपने प्राण-स्वरूप, वायु के समान जीवनप्रद नेता के लिये (वि तस्थुः) विविध कार्यों पर अधिष्ठाता या अध्यक्ष होकर विराजें । और (नरः) नेता लोग या सर्वसाधारण मनुष्य (विश्वा) सब अपने (सु-अपत्यानि) उत्तम २ सन्तानों को (चक्रुः) बनावें ।

रा॒ये नु यं ज॒ज्ञतू रोद॑सीमे रा॒ये दे॒वी अ॒दि॑तिर्धाति दे॒वम् ।
अध॑ व्रा॒युं नि॒युतः॑ सश्चत॒ स्वा उ॒त श्वे॒तं वसु॑धितिं निरे॒के ॥२४॥

भा०—(इमे रोदसी) पृथिवी और सूर्य के समान सम्बद्ध राजा और प्रजायें दोनों (यं) जिस मध्यस्थान अन्तरिक्ष में व्यापक वायु के समान दोनों के धारण पोषण करने में समर्थ पुरुष को (राये) ऐश्वर्य

की रक्षा के लिये (जज्ञतुः) प्रकट करते हैं । और (धिषणा) समस्त कर्म और विज्ञानों और अधिकारों को धारण करने वाली (देवी) स्त्री जिस प्रकार विद्वान् पतिको अपने पतिरूप से स्वीकार करती है उसी प्रकार यह राजसभा जिस (देवम्) विद्वान्, मार्गद्रष्टा पुरुष को (धाति) धारण करती या मुख्य पद पर स्थापित करती है । (अथ और जिस प्रकार (नियुतः) अश्वगण अपने 'वायु' अर्थात् प्रेरक सारथी को धारण करते हैं उसी प्रकार (नियुतः) नियुक्त हुए पदाधिकारी लोग जिस (वायुम्) प्राण और जीवनवृत्ति के दाता अपने स्वामी को (स्वाः) अपने अकृष्ट बन्धु-जनों के समान (लक्षत) सेवन करते, उसका आश्रय लेते हैं (उत) और उस (श्वेतम्) परम वृद्ध, आदर योग्य पुरुष को (शिरेके) निर्भय या बहुत से जनों से बसे स्थान में, या (शिरेके) अक्षय कोष पर (वसु धितिम्) समस्त ऐश्वर्य की रक्षा करने जाना कर (लक्षत) स्थापित करते हैं और स्वयं उसकी रक्षा करते हैं ।

अक्षयकोष के रक्षक राजा या खजानची को ' वायु ' पद प्रदान किया जाय ।

आपो॑ ह॒ यद् बृ॑ह॒तीर्विश्व॒मायन् गर्भ॑ दध॒ाना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम् ।
ततो॑ दे॒वाना॑ꣳसम॑वर्त्त॒तासु॒रेक॑: क॒स्मै दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥२५॥

भा०—(यत्) जब (बृहतीः आपः) बड़ी भारी शक्तिशाली (आपः) प्रकृति की व्यापक तन्मान्त्राएं, अर्थात् सूक्ष्म कारणावयव (विश्वम्) अपने भीतर प्रवेश करने वाले परमेश्वर के सामर्थ्य को (गर्भम्) गर्भ रूप से (दधानाः) धारण करती हुई (अग्निम्) अग्नि, सूर्य आदि तेजस्तत्व को प्रकट कर रही होती हैं (ततः) तब भी (देवानाम्) सब दिव्य शक्तियों, पृथिवी आदि पदार्थों का (एकः) एक ही (असुः) प्राणस्वरूप सबको स्वतन्त्र रूप से गति देनेहारा प्रवर्त्तक होता है । (कस्मै) उस सर्वकर्त्ता

(देवाय) सबको गति देनेवाले, सर्व जगत् के प्रकाशक परमेश्वर का हम (हविषा) ज्ञान और स्तुति से (विधेम) प्रतिपादन करें ।

उसी प्रकार से राजा के पक्षमें—(बृहतीः) बड़ी भारी, बड़े सामर्थ्य वाली, वृद्धिशील, (आपः) जलों के समान राष्ट्र में व्यापक, आप्त प्रजाएं (यत्) जब, (विश्वम्) उनमें प्रविष्ट होनेवाले, व्यापक, बलवान् पुरुष को (आयन्) प्राप्त होती हैं और (गर्भम्) ग्रहण करनेहारे गर्भ को स्त्री के समान, राष्ट्रैश्वर्यवान् (अग्निम्)अग्रणी नेता को अपने बीचमें (जनयन्तीः) प्रकट कर रही होती हैं (ततः) तब वह (देवानां) समस्त विद्वान् शासकों का (एकः) एकमात्र (असुः) प्रवर्त्तक, इन्द्रियों के प्रवर्त्तक प्राण के समान होता है । (कस्मै) उस प्रजापालक, सर्वकर्त्ता (देवाय) राजा का हम (हविषा) ग्रहण करने योग्य ऐश्वर्य आदि से (विधेम) आदर सत्कार करें ।

यश्चिद्धापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२६॥

[२५—२६] हिरण्यगर्भ ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यः चित्) और जो (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (दक्षं दधानाः) बल और क्रियावेग को धारण करती हुई (यज्ञं जनयन्तीः) सुसंगत, नियमबद्ध संसार को प्रकट करती हुई (आपः) प्रकृति की सूक्ष्म तन्मात्राओं को (परि अपश्यत्) साक्षात् देखता, उनपर साक्षी रूप से विद्यमान् रहता है । और (यः) जो (देवेषु) समस्त क्रीड़ाशील, एवं फलाकांक्षी जीवों पर, और पृथिव्यादि कान्तिमान् लोकों पर भी (एकः देवः) एक अकेला सबको प्रकाशक सुखदाता परमेश्वर (अधि आसीत्) अधिष्ठाता रूप से विद्यमान् है, (कस्मै) उस विश्व के कर्त्ता-सुखकारक प्रजापति परमेश्वर को हम (हविषा) ज्ञान और क्रियायोगसे (विधेम) परिचर्या करें ।

राजा के पक्षमें—(यः चित्) जो (महिना) अपने महान् सामर्थ्य से (दक्षं दधानाः) अपने ही बलका धारण करती हुई, (यज्ञम्) राष्ट्र को और राष्ट्रपति को प्रकट करती हुई (आपः) प्रजाओं को अध्यक्षरूप से (परि अपश्यत्) देखता है । और (यः देवेषु अधिदेवः एकः) जो एक अकेला ही सब विद्वानों और शासकों पर भी शासक है उसका हम अन्नादि से सत्कार करें ।

प्र याभिर्यासि दाश्वाꣳसमच्छा नियुद्भिर्वायविष्टये दुरोणे ।
नि नो रयिꣳ सुभोजसं युवस्व नि वीरं गव्यमश्व्यं च राधः ॥२७॥

भा०—हे (वायो) सब के प्राण के समान जीवनाधार वायु ! अधिकारिन् ! तू (याभिः) जिन (नियुद्भिः) नियुक्त पुरुषों के साथ या जिन सेवाओं के साथ (दाश्वांसम्) दानशील राष्ट्र के प्रति (दुरोणे) अपने आश्रय स्थान, गृह में (इष्टये) इष्टि अर्थात् योग्य कार्य सम्पादन करने के लिये (प्रयाति) प्रयाण करता है (अच्छ) वह ठीक ही है । (नः) हमें (सुभोजसं) उत्तम अन्नादि भोग्य पदार्थों से युक्त या उत्तम रक्षावाले (रयिम्) ऐश्वर्य को (नि युवस्व) निरन्तर प्रदान कर । और (वीरं) वीरों, (गव्यम्) गौओं और (अश्व्यम्) अश्वों से युक्त (राधः) धन का भी (नियुवस्व) प्रदान कर ।

'नियुत्' शब्द उभयलिङ्गः, इति उवटः ॥

आ नो नियुद्भिः शतिनीभिरध्वरꣳसहस्रिणीभिरुप याहि यज्ञम् ।
वायो अस्मिन्त्सवने मादयस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥२८॥

भा०—हे (वायो) वायु के समान प्राणरक्षक ! वायु के समान प्रचण्डता से शत्रुओं के उखाड़ देने हारे वीर ! सेनापते ! तू (शतिनीभिः) सैकड़ों पुरुषों से बनी और (सहस्रिणीभिः) हज़ारों से बनी (नियुद्भिः) शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करनेहारी सेनाओं के साथ (नः)

हमारे (अध्वरम्) रक्षा करने योग्य (यज्ञम्) प्रजापति, सबके व्यवस्थापक, राष्ट्रपति को उपयाहि) प्राप्त हो । तू (अस्मिन् सवने) उस राज्याभिषेक काल में (मादयस्व) सबको प्रसन्न कर । (यूयम्) आप सब लोग (स्वस्तिभिः) उत्तम कल्याणकारी उपायों से (नः) हमारी (सदा) सदा काल (पात) रक्षा करो ।

नियुत्वान् वायवागह्ययꣳ शुक्रो ऽअयामि ते ।
गन्तासि सुन्वतो गृहम् ॥ २९ ॥

गृत्समद ऋषिः । वायुर्देवता । गायत्री षड्जः ॥

भा०—हे (वायो) ! ज्ञानवन् ! बलवन् ! सेनापते ! तू (नियुत्वान्) सेनाओं का नियन्ता होकर (आ गहि) आ, प्राप्त हो । (अयं) यह मैं (शुक्रः) शुद्ध, ज्योतिष्मान्, तेजस्वी होकर (ते) तेरे पास (अयामि) प्राप्त होता हूं । तू भी (सुन्वतः) अभिषवन या अभिषेक करनेहारे के (गृहम्) गृह अर्थात् ग्रहण करनेहारे सामर्थ्य या अधीनता को (गन्तासि) प्राप्त हो ।

वायो शुक्रो ऽअयामि ते मध्वो ऽअग्रं दिविष्टिषु ।
आ याहि सोमपीतये स्पार्हो देव नियुत्वता ॥ ३० ॥

पुरुमीढाजमीढौ ऋषी ॥ वायुर्देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (वायो) वायु के समान बलवन्, सर्व प्राणाधार ! मैं (शुक्रः) शुद्ध तेजस्वी होकर (दिविष्टिषु) ज्ञान प्राप्त करानेवाली विद्वत्सभाओं में (ते) तेरे (मध्वः अग्रं) मधु, मधुर ज्ञान के (अग्रम्) उत्तम सार भाग को (अयामि) प्राप्त होऊँ । हे (देव) राजन् ! तू (सोम-पीतये) सोम अर्थात् राष्ट्र के ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिये (स्पार्हः) अति स्पृहा, इच्छा या प्रेमवाला होकर (नियुत्वता) नियुक्त, शत्रु उच्छेदन में समर्थ सेनावाले सेनापति के सहित (आ याहि) आ ।

वायुरग्रेगा यज्ञनीः साकं गन्मनसा यज्ञम् ।
शिवो नियुद्भिः शिवाभिः ॥ २१ ॥

भा०—तू (अग्रेगाः) सबके आगे चलनेहारा, अग्रणी और (शिवः) कल्याणकारी होकर (यज्ञनीः) राष्ट्र को प्रसन्न अनुरञ्जित करके स्वयं (वायुः) वायु के समान बलवान् होकर (मनसा) अपने चित्त से (शिवाभिः नियुद्भिः साकम्) कल्याणकारिणी, नियुक्त सेनाओं या शक्तियों और नियुक्त पुरुषों सहित (यज्ञम् आ गहि) तू यज्ञ अर्थात् व्यवस्थित राष्ट्र या राष्ट्रपति के माननीय पद को प्राप्त हो ।

वायो ये ते सहस्रिणो रथास्तेभिरा गहि ।
नियुत्वान्त्सोमपीतये ॥ २२ ॥

गायत्री षड्जः ॥

भा०—हे (वायो) वायु के समान बलवान् सेनापते ! (ये) जो (ते) तेरे (सहस्रिणः) सहस्रों पुरुषों से अधिष्ठित (रथासः) रथ, या रमणकारी साधन हैं (तेभिः) उनसे (नियुत्वान्) तू विशेष शक्तिशाली और सेना-सम्पन्न होकर (सोमपीतये) सोम अर्थात् राष्ट्रैश्वर्य के पालन और भोग के लिये (आ, गहि) आ, प्राप्त हो ।

एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्यामिष्टये विंशतीं च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशतां च नियुद्भिर्वायविह ता वि मुञ्च ॥२३॥

त्रिष्टुप् धैवतः ॥

भा०—हे (वायो) वायो ! ऐश्वर्यवन् ! हे (स्वभूते) स्वयं ऐश्वर्यवन् ! तू (एकया दशभिः च) दस दस की एक (द्वाभ्याम् विंशती= विंशत्या च) या बीस २ की दो और (तिसृभिः त्रिंशता च) तीस २ की तीन, (नियुद्भिः) सभाओं और सेनाओं से (इष्टये) इष्ट लाभ के लिये

(ता) उन नाना अधिकारियों या अंगों को (वहसे) धारण करता है तू (विमुञ्च) उनको विविध कार्यों में नियुक्त कर ।

परमेश्वर के पक्ष में—हे (स्वभूते) जगत् रूप अपनी ही विभूति से युक्त अथवा हे राजन् ! तू ११ से, २२ से और ३३ से राष्ट्र एवं जगत् के नाना कार्यों को धारण करता है । उनको विविध कार्यों में लगा ।

तवं वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत । अवाꣳस्या वृणीमहे ॥३४॥

भा०—हे (ऋतस्पते) सत्यपालक ! जगत्पालक ! ज्ञानपालक ! सत्य राष्ट्रपालक ! (वायो) बलवन् ! हे (त्वष्टुः) तेजस्वी राजा के (जामातः) जवाई के समान उसका स्वयं उत्पादित सेना के पते ! हे (अद्भुत) आश्चर्य कर्मकारक ! अभूतपूर्व बलशालिन् ! हम तेरे (अवांसि) रक्षा-संधनों को (आवृणीमहे) सब प्रकार से वरण करते हैं, चाहते हैं ।

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाऽइव धेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ ३५ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती ।

भा०—हे शूरवीर पुरुष ! हे परमेश्वर ! हे स्वामिन् ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! तुझे हम साक्षात् स्तुति करते हैं और तेरे लिये हम (अदुग्धाः धेनवः इव) बिना दुही गायें जैसे अपने बछड़ों को दूध पिलाने के लिये सदा नमती हैं उसी प्रकार हम तेरे आगे (नोनुमः) नमते हैं । तू हमारा सारभूत ऐश्वर्य प्राप्त कर । और (अस्य जगतः) इस चराचर जगत् के (ईशानम्) ईश्वर, स्वामी और इस (तस्थुषः ईशानम्) स्थावर संसार के स्वामी (स्वर्दृशम्) आदित्य के समान दर्शनीय, तेजस्वी एवं सुखस्वरूप (त्वाम् नोनुमः) तेरी हम स्तुति करते हैं ।

न त्वावाँ२ऽ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ ३६ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । सतो वृहती । मध्यमः ।

भा०—हे (इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वावान्) तेरे जैसा (अन्यः) और कोई (दिव्यः न) द्यौलोक में सूर्यादि तेजस्वी पदार्थ नहीं है। और (न पार्थिवः त्वावान् अन्यः) पृथिवी के पदार्थों में भी तेरे जैसा कोई और नहीं है। (न जातः) न अभी तक पैदा हुआ है और (न जनिष्यते) न पैदा होगा। हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् (इन्द्र) साक्षात् दर्शनीय ! परमेश्वर ! हम (वाजिनः) ज्ञानवान्, बलवान् और ऐश्वर्यवान् होकर (अश्वायन्तः) अश्व और (गव्यन्तः) गौओं के समान कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों की विशेष कामना करते हुए या उन पर वश करते हुए (त्वा हवामहे) तेरी स्तुति करते हैं।

राजा के पक्ष में—(न त्वावान् अन्यः दिव्यः) तेरे जैसा उत्तम गुणवान्, तेजस्वी कोई न राजसभा में, (न पार्थिवः) न पृथिवी में कोई (न जातो न जनिष्यते) न पैदा हुआ है, न आगे पैदा होगा। हम (वाजिनः) ऐश्वर्यवान् होकर भी (गव्यन्तः अश्वायन्तः त्वा हवामहे) गौओं और घोड़ों की इच्छा करते हुए तेरी शरण आते, तुझे राजा स्वीकार करते हैं।

त्वामिद्धि हवामहे सातौ वाजस्य कारवः ।
त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः ॥ ३७ ॥

ऋ० ६ । ४६ । २ ॥

शंयुर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (इन्द्र) सूर्य के समान तेजस्विन्, राजन् ! (कारवः) उत्तम कर्मों और शिल्पों को करनेवाले विद्वान् पुरुष (वाजस्य सातौ) ऐश्वर्य और अन्न की प्राप्ति के लिये (वृत्रेषु) विघ्नकारियों के उपस्थित हो

जाने पर मेघों में सूर्य के समान (सत्पतिम्) सज्जनों के प्रतिपालक (त्वाम् इत् हि) तुझको ही हम उसी प्रकार (हवामहे) स्मरण करते हैं, बुलाते हैं जिस प्रकार (नरः) लोग (काष्ठासु) दूर की सीमाओं और दिशाओं को पार करने के लिये (अर्वतः) अश्व को याद करते हैं ।

स त्वं नश्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया महः स्तवानो अद्रिवः ।
गामश्वꣳ रथ्यमिन्द्र संकिर सत्रा वाजं न जिग्युषे ॥ ३८ ॥
ऋ० ६ । ४६ । २ ॥

स्वराड् बृहती । निषादः ॥

भा०—हे (वज्रहस्त) खड्गहस्त ! शत्रुवारक शस्त्रास्त्र युक्त सेनाओं के वशकारिन् ! (अद्रिवः) प्रस्तर सेवने शस्त्रों वाले, अथवा अभेद्य शिला के समान दुर्गवाले ! हे (चित्र) आश्चर्य कर्म करनेहारे ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् राजन् ! (सः त्वं) वह तू (धृष्णुया) शत्रुओं को धर्षण करने वाले सामर्थ्य और (महः) महान् बलवान् (स्तवानः) स्तुति किया जाकर (गाम्) गौ और (रथ्यम्, अश्वम्) रथ में लगने योग्य अश्व और (जिग्युषे) विजयशील पुरुष (सत्रा) रक्षाकारी (वाजम्) विज्ञान और ऐश्वर्य (न) भी (संकिर) प्रदान कर ।

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥ ३९ ॥ ऋ० ४ । ३१ । १ ॥

वामदेव ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (चित्र) अद्भुत कर्म करनेहारे वीर पुरुष ! तू (सदावृधः सखा) सदा बढ़ाने हारे पुरुष का मित्र है । तू (कया ऊती) किस रक्षण सामर्थ्य से और (कया) किस (वृता) सदा विद्यमान् (शचिष्ठया) अतिशक्ति शाली रक्षा से (नः) हमारा (सदावृधः) सदा वृद्धिशील (सखा) मित्र (आभुवत्) बना रह सकता है । अथवा—(कया) सुख देनेहारी,

अतिशक्ति मती (वृता) व्यवहार शैली और (ऊती) रक्षा द्वारा तू हमारा सदा वृद्धिशील मित्र बना रहता है।

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳ हिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिद्दारुजे वसु ॥ ४० ॥ ऋ० ४ । ३१ । २ ॥

निचृद् गायत्री। षड्जः। इन्द्रो देवता। वामदेव ऋषिः ॥

भा०—हे राजन्! सेनापते! (मदानां) हर्षजनक पदार्थों में से (मंहिष्ठः) सब से उत्तम (अन्धसः) भोग योग्य राष्ट्र का (कः) कौन-सा विशेष अंश या स्वरूप (त्वा मत्सत्) तुझे सब से अधिक सुखी और हर्षयुक्त करता है। जिससे (दृढा चित्) दृढ़ (वसु) वास योग्य पुरों को भी (आरुजे) तोड़ने को समर्थ करता है, वही अंश तुझे प्राप्त हो।

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
शतं भवास्यूतये ॥ ४१ ॥ ऋ० ४ । ३१ । ३ ॥

भा०—हे इन्द्र राजन्! तू (अभि) साक्षात् (नः) हम (सखीनाम्) मित्रों और (जरितॄणाम्) स्तुति और उपदेश करनेहारे विद्वान् पुरुषों का (सु-अविता) उत्तम रक्षक है। और (ऊतये) रक्षा करने के लिये भी तू (शतं) सैकड़ों प्रकार से समर्थ (भवासि) हो जाता है।

यज्ञायज्ञा वो ऽअग्नये गिरागिरा च दक्षसे।
प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥ ४२ ॥
ऋ० ६ । ४८ । १ ॥

बृहती। मध्यमः। शंयुर्ऋषिः ॥

भा०—हे मनुष्यो! (यज्ञे यज्ञे) प्रत्येक यज्ञ, संग्राम और सभा में और (गिरा गिरा च) प्रत्येक वाणी से (दक्षसे) बलवान्, बुद्धिमान्, (अग्नये) ज्ञानी, परमेश्वर और विद्वान् अग्रणी नायक राजा को (वयम्) हम लोग (अमृतम्) अविनाशी, नित्य (जातवेदसम्) ज्ञानवान्,

ऐश्वर्यवान्, (प्रियम् मित्रं न) प्रिय मित्र के समान (प्र म शंसिषम्) प्रशंसा करें ।

प्राहि नो अग्न एकया प्राहुत द्वितीयया ।
प्राहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते प्राहि चतसृभिर्वसो ॥ ४३ ॥

ऋ० ८ । ४६ । ६ ॥

गर्ग ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नायक, ज्ञानी विद्वन् ! (नः) हमें (एकया) एक शिक्षा से (पाहि) पालन कर । (उत) और (द्वितीयया) दूसरी अध्यापन क्रिया से भी (पाहि) पालन कर (तिसृभिः गीर्भिः) तीन वाणियों से भी (पाहि) पालन कर । (ऊर्जां पते) सब अन्नों, बलों और पराक्रमों के पालक ! (वसो) सबको बसानेहारे ! तू (चतसृभिः) हमें चारों वाणियों से (पाहि) रक्षा कर । (एकया) ऋग्वेदरूप प्रथम वाणी (द्वितीयया) दो ऋक् और यजुर्वेद स्वरूप, (तिसृभिः) तीन ऋग्, यजुः, साम और (चतसृभिः) चारों ऋग्, यजुः, साम और अथर्व से हमारी रक्षा कर ।

अथवा—साम 'दान' भेद और दण्ड इन चारों उपायों से, चारों प्रकार की आज्ञाओं से हमारा पालन कर । मित्रों में साम, लोभियों में दान, शत्रुओं में भेद और दुष्टों पर दण्ड वाणी का प्रयोग कर के राष्ट्र की रक्षा कर ।

ऊर्जो नपातꣳ स हि नायमस्मयुर्दाशेम हव्यदातये ।
भुवद्वाजेष्वविता भुवद्वृध उत त्राता तनूनाम् ॥ ४४ ॥

ऋ० ६ । ४८ । २ ॥

अग्निर्देवता । स्वराड् बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुष ! (सः) वह तू (ऊर्जः नपातम्) बल पराक्रम को कभी नष्ट न होने देनेवाले, सदा बलवान् सुसज्ज पुरुष को सदा (हिन) बढ़ा, उन्नत पद पर स्थापित कर। (अयम्) वह (अस्मयुः) हमारी ही उन्नति चाहने वाला हो। और उसके (हव्यदातये) ग्राह्य पदार्थों के देनेवाले, या स्तुति योग्य दानशील या उपदेश करने वाले अन्नादि दान के योग्य पदार्थ को (दाशम) अन्नादि पदार्थ प्रदान करें। वह (वाजेषु) संग्रामों में (अविता) रक्षक हो और वही (वृधे) वृद्धि के लिये हमारे (तनूनाम्) शरीरों का (त्राता) रक्षक (भुवत्) हो।

संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसीदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसंस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्द्धमासास्ते कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ताꣳसंवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्या ऽएत्यै सं चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णाचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवः सीद ॥ ४५ ॥

अग्निर्देवता। निचृदतिकृतिः। ऋषभः ॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य के समान तेजस्विन् ! सूर्य जिस प्रकार पांच वर्ष वाले युग में संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर और वत्सर इन पंचरूपों में परिवर्तित होता है इसी प्रकार तू भी : संवत्सरः असि) तेरे संग समस्त प्राणी आकर बसते हैं, तुझे प्रेम से सब अभिवादन करते और स्तुति करते हैं इसलिये तू 'संवत्सर' है। (परिवत्सरः असि) चारों ओर घेर कर तेरे इर्दगिर्द तेरी शरण में लोग आवसते हैं, चारों ओर तू स्तुति और अभिवादन किया जाता है, इसलिये तू 'परिवत्सर' है। (इदा वत्सरः असि) अन्न के द्वारा तू सबको बसाता है, इससे तू 'इदावत्सर' है। (इद्वत्सरः असि) तू इस लोक को बसाता है इससे, अथवा जल आदि से तू लोकों का पालन करता है इससे तू 'इद्वत्सर' है। (वत्सरः असि) तू

पुत्रों के समान सब को आनन्द प्रसन्न रखता है, उनको ऐश्वर्य प्रदान करता है इससे तू 'वत्सर' है। इस प्रकार राजा को संवत्सर प्रजापति के समान तुलना करके अब उसके अंगों की तुलना भी करते हैं। (ते उषसः कल्पन्ताम्) वर्ष की जिस प्रकार ३६५ उषाएं होती हैं इसी प्रकार तेरी उषाएं, अर्थात् दुष्टों के दमन और राष्ट्र के व्यवहार प्रकाशक कार्य को समृद्ध करनेवाली शक्तियां नित्य बढ़ें। (अहोरात्राः ते कल्पन्ताम्) वर्ष के दिनों और रातों के समान तेरे राज्य में स्त्री पुरुषों की वृद्धि हो। (अर्ध मासाः ते कल्पन्ताम्) अर्ध मासों के समान तेरे राज्य में आह्लादकारी, समृद्ध विद्वानों की वृद्धि हो। (मासाः ते कल्पताम्) वर्ष के मासों के समान तेरे राज्य में आदित्य के समान तेजस्वी विद्वान् बढ़ें। (ऋतवः ते कल्पन्ताम्) ऋतुओं के समान तेरे राष्ट्र में राजसभा के सदस्यों की वृद्धि हो। (संवत्सरः ते कल्पताम् : तेरा पूर्ण संवत्सर स्वरूप प्रजापति पद उन्नति को प्राप्त हो। (प्र इत्य) आगे बढ़कर और (आ इत्य च) पुनः लौट २ कर तू (सम् अञ्च) अपनी शक्तियों को अच्छी प्रकार प्राप्त कर और (प्रसारय च) आगे भी बढ़ा। तू (सुपर्णचित् असि) आदित्य के समान उत्तम पालन करनेवाले साधनों से युक्त, एवं उत्तम पुष्टिकारी पदार्थों का संग्रह करने वाला है। अथवा—सुपर्ण, उत्तम बलवान् पक्षी जिस प्रकार आकाशमार्ग को भली प्रकार तय करने के लिये अपने पंखों को संकोच करता और फैलाता है और सुन्दर, सुखदायी किरणों वाला सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणों को नित्य नियम से फैलाता और संकुचित करता है उसी प्रकार हे अग्ने ! राजन् ! सेनापते ! तू भी अपनी सेनाओं को (सम् अञ्च) संयुक्त कर, संकुचित कर और फिर (प्रसा रयच) फैला। इस प्रकार तू (सुपर्णचित्) गरुड़ पक्षी और सूर्य के समान है। अथवा प्राण जिस प्रकार (प्र इत्य आ इत्य च) एकबार बाहर जाता फिर लौटकर आता है (सम् अञ्च,

प्र सारय च) इसी प्रकार तू भी अपने राष्ट्र से एकवार विदेश में प्रयाण कर एकवार पुनः अपने देश में आकर (समूअन्च) धन को संग्रह कर और उसको राष्ट्र में विस्तारित कर । इस प्रकार शरीर में प्राण के समान राष्ट्र के बीच में तू राष्ट्र का प्राण, जीवन होकर उसको चैतन्य किये रह । (तया देवतया) उस चित्स्वरूप शरीरधारिणी देवता, आत्मा के समान रूप से तू (अंगिरस्वत्) अंग २ में रस रूप होकर राष्ट्र के प्रत्येक भाग में बलरूप होकर (ध्रुवः) निश्चित, स्थिर होकर (सीद) विराज, सिंहासन पर बैठ ।

॥ इति सप्तविंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते

यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तविंशोऽध्यायः ।

॥ अथाष्टाविंशोऽध्यायः ॥

प्रजापत्यश्विसरस्वत्य ऋषयः ।

॥ ओ३म् ॥ होता॑ यक्षत्स॒मिधे॑न्द्र॒मिड॒स्पदे॒ नाभा॑ पृथि॒व्या-
अधि॑ । दि॒वो वर्ष्म॒न्त्स॑मिध्यत॒ ऽओजि॑ष्ठश्चर्षणी॒सहा॑ वेत्वाज्य॑स्य॒
होत॒र्यज॑ ॥ १ ॥ ऋग्वेद परिशिष्टे ॥

बृहदुक्थो वामदेव्य ऋषिः । इन्द्रो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(होता) आहुति प्रदान करने वाला पुरुष 'होता' जिस प्रकार (समिधा) समित् अर्थात् काष्ठ से यज्ञ करता है उसी प्रकार (इडस्पदे) पृथिवी के सर्वोच्च मान, आदर प्रतिष्ठा के पद अर्थात् केन्द्र स्थान पर (समिधा) अच्छी प्रकार चमकने वाले तेज से । इन्दम्) शत्रुओं के नाशक और ऐश्वर्य के वर्धक वीर पुरुष को (यक्षत्) अधिकार प्रदान करे । (पृथिव्याः नाभौ) पृथिवी की नाभि अर्थात् राष्ट्र में (अधि) अधिष्ठाता होकर (दिवःवर्ष्मन्) आकाश से सुखों की वर्षा करने वाले मेघ के समान प्रजा पर सुखों की वर्षा करने वाले पद पर (चर्षणीसहाम्) समस्त मनुष्यों को अपने पराक्रम से वश करने वालों में (ओजिष्ठः) सब से अधिक पराक्रमी, तेजस्वी पुरुष ही (समिध्यते) सब से अधिक प्रकाशित होता है । वही (आज्यस्य) विजयलक्ष्मी, ऐश्वर्य का (वेतु) भोग करे । हे (होतः) अधिकार प्रदान करने में समर्थ विद्वन्! तू (यज) ऐसे पुरुष को ही अधिकार प्रदान कर । देखो अ० २१ । २६ ॥

होता॑ यक्षत्तनू॒नपा॑त॒मू॒ति॒भि॒र्जेता॑र॒मप॑राजितम् । इन्द्रं॑ देव॒ꣳस्व॒र्विदं॑
प॒थि॒भि॒र्म॑धु॒म॒त्त॒मै॑र्न॒राश॑ꣳसं॒न॒ तेज॑सा वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज ॥ २ ॥

तनूनपादिन्द्रो देवता । निचृज्जगती । निषादः ॥

भा०—(होता) अधिकारों को प्रदान करने हारा विद्वान् 'होता' (तनूनपातम्) समस्त राष्ट्रवासियों के शरीरों की रक्षा करने हारे, उनको क्षति न पहुंचाने वाले (अपराजितं) कभी भी न हारे हुए, (जेतारम्) विजेता, (स्वर्विदम्) सुख समृद्धि का लाभ करने और कराने वाले, (देवम्) विद्वान्, दानशील, राष्ट्र के द्रष्टा पुरुष को (इन्द्रम्) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् पद पर (यक्षत्) संगत करे, स्थापित करे, उसको यह पद प्रदान करे। वह (मधुमत्तमैः) अत्यन्त मधु, ज्ञान और मनोहर चित्ताकर्षक, मधुर (पथिभिः) उपायों, मार्गों और व्यवस्था-मर्यादाओं से (नाराशं-सेन तेजसा) समस्त नेता पुरुषों को आदेश करने में समर्थ, एवं सब द्वारा स्तुति योग्य तेज से, पराक्रम से (आज्यस्य) राष्ट्र के ऐश्वर्य को (वेतु) प्राप्त करे। हे (होतः) विद्वन्! ऐसे पुरुष को (यज) तू अधिकार प्रदान कर। देखो अ० २१ । ३० । ३१ ॥

होता॑ यक्षदि॒डाभि॒रिन्द्र॑मी॒डित॒माजु॑ह्वा॒नमम॑र्त्यम् ।
दे॒वो दे॒वैः स॒वी॒र्यो॑ वज्र॑हस्तः पुरन्द॒रो वे॑त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥३॥
स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(होता) सर्वाधिकारप्रद विद्वान् (इडाभिः) उत्तम प्राणियों से (ईडितम्) स्तुत, प्रशंसा प्राप्त, (आजुह्वानम्) शत्रुओं को मैदान में ललकारने वाले, प्रतिस्पर्द्धी, (अमर्त्यम्) साधारण मनुष्यों से विशेष बल-शाली, (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवान् पुरुष को (यक्षत्) अधिकार प्रदान करे। वह (देवः) विद्वान्, कान्ति और तेज वाला, सबको रुचिकर, (देवः) विजिगीषा या विजय की इच्छा करने वाले वीर सैनिकों से (सवीर्यः) वीर्यवान् होकर (वज्रहस्तः) शस्त्रास्त्रों को अपने हाथ में अर्थात् वश में लेकर (पुरन्दरः) शत्रुओं के गढ़ तोड़ने में समर्थ होकर (आज्यस्य वेतु) राज्य को प्राप्त करे। हे (होतः यज) विद्वन्! तू अधिकार प्रदान कर। देखो अ० २१ । ३२ ॥

होता यक्षद्बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम् ।
वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद्धोत्राज्यस्य होतर्यज ॥४॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(होता) सबको अधिकार प्रदान करने वाला विद्वान्, (निषद्वरम्) राज-सभा में विराजने वालों में से सब से श्रेष्ठ, (वृषभम्) अति-बलवान् (नर्यापसम्) सब मनुष्य-हितकारी कार्यों के करने वाले (इन्द्रम्) ऐश्वर्य और उत्तम गुणों वाले पुरुष को (बर्हिषि) महान्, वृद्धि युक्त, प्रजाओं के राष्ट्र के न्यायासन पर (यक्षत्) संगत करे । वह (वसुभिः) प्रजा को सुख से बसाने वाले, (रुद्रैः) दुष्टों को दण्डों द्वारा रुलाने वाले (आदित्यैः) आदित्य के समान तेजस्वी, उत्तम सद्गुण प्रदान करने हारे और परस्पर आदान प्रतिदान करने वाले (सयुग्भिः) साथ योग देने वाले विद्वान् पुरुषों के साथ मिलकर अथवा वसु, रुद्र, आदित्य, क्रमसे एक, दो, तीनों वेदों के अभ्यासी और योगी पुरुषों सहित (बर्हिः) न्यायासन या राज-सभा के ऊपर (आसदत्) विराजे और (आज्यस्य) राष्ट्र के ऐश्वर्य, उत्तम न्याय, शासन को प्राप्त करे । हे (होतर्यज) विद्वन् योग्य पुरुष को अधिकार प्रदान कर । देखो अ० २१ । २३ ॥

होता यक्षद्वोजो न वीर्यꣳ सहो द्वार इन्द्रꣳसवर्द्धयन् । सुप्राचीना ऽअस्मिन्यज्ञे चिरायन्तामृक्षवृधो द्वार ऽइन्द्राय सीदुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ५ ॥

भा०—(होता) योग्य पुरुषों को योग्याधिकार देनेवाला विद्वान् (यक्षत्) योग्य पुरुषों को अधिकार प्रदान करे । (ओजः) जल प्रवाह के समान वेगवान् (वीर्यम्) वीर्य और (सहः) शत्रु को नाश करनेवाला बल और (द्वारः) शत्रुओं को वारण करनेवाली वीर सेनाएं ये सभी (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (अवर्धयन्) बढ़ाते हैं । (द्वारः) द्वार जिस

प्रकार (यज्ञे) यज्ञ गृह में (सुप्रायणाः) सुख से निर्गम और प्रवेश कराने हारे बनाये जाते हैं उसी प्रकार (ऋतावृधः) सत्य व्यवहारों को बढ़ाने वाले या ऋत अर्थात् राष्ट्र के बल और ऐश्वर्य के बढ़ाने वाले (द्वारः) शत्रुओं के वारक वीर पुरुष । सुप्रायणाः) शुभ, उच्च पदाधिकार स्थानों पर विराजमान होकर (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर सुव्यवस्थित राष्ट्र में (वि श्रयन्ताम्) विविध रूपों में स्थापित किये जायं । वे (सीदुषे) नाना सुखों और ऐश्वर्यों से प्रजाओं का सेचन करनेवाले, वीर्यवान् (इन्द्राय) इन्द्र, राजा और राज्य के (आज्यस्य) ऐश्वर्य को (व्यन्तु) प्राप्त हों । उसका भोग करें । हे (होतः) विद्वन् ! तू (यज) योग्य पुरुषों को 'द्वार' अर्थात् शत्रुनिवारक पदों पर (यज) अधिकार प्रदान कर ।

'द्वारः'—द्रवतेर्वा, जवतेर्वा, वारयतेर्वा । नि० ।

होता यक्षद्दुषे इन्द्रस्य धेनू सुदुघे मातरा मही । सुवातरौ न तेजसा वत्समिन्द्रमवर्द्धतां वीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ ६ ॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(होता यक्षत्) पदाधिकारों का दाता विद्वान् योग्य पुरुषों को अधिकार प्रदान करे । (सुदुघे धेनू वत्सं न) उत्तम दूध देते ही दो गौएं या माता पिता दोनों मानो जैसे एक बच्चे को दूध पिलाकर पालते हों उसी प्रकार प्रतापयुक्त, तेजस्विनी, उपात्रों की तरह समस्त व्यवहारों को प्रकाशित करने वाली (मही) बड़ी (मातरौ) माता पिता के समान पूज्य एवं राष्ट्र को बनाने वाली और राजा को उत्पन्न करने वाली, (सवातरौ) वेगवान् वायु के समान बलवान् पुरुषों से युक्त होकर । तेजसा) तेज से, (वत्सम् इन्द्रम्) स्तुति योग्य इन्द्र को (अवर्धताम्) बढ़ावें और वे दोनों (आज्यस्य) राष्ट्र के ऐश्वर्य को (वीताम्) प्राप्त करें । हे (होतः) होतः विद्वन् ! (यज) तू अधिकार प्रदान कर ।

ये दोनों उषाएं, उषासानक्ता, उषा और रात्रि हैं। दोनों समान हैं जो राज्य की दो शक्तियों की प्रतिनिधि हैं। एक विजयशालिनी और दूसरी राष्ट्र को शान्तिपूर्वक व्यवस्थित करनेवाली। अथवा एक ज्ञान विज्ञान की प्रवर्त्तक दूसरी संस्थापक।

होता यक्षद्दैव्या होतारा भिषजा सखाया हविषेन्द्रं भिषज्यतः।
कवी देवौ प्रचेतसाविन्द्राय धत्त इन्द्रियं वीतामाज्यस्य होतर्यज॥७॥

जगती। निषादः॥

भा०—(होता यक्षत्) अधिकारदाता विद्वान् योग्य पुरुषों को अधिकार प्रदान करे। (दैव्या) विद्वान् और विजिगीषु पुरुषों में श्रेष्ठ (होतारा) उत्तम सुख के देनेवाले, (भिषजा) उत्तम रोग चिकित्सकों के समान (सखायौ) मित्र होकर (हविषा) उत्तम अन्नादि उपायों से इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् राजा को (भिषज्यतः) शारीरिक और मानसिक तथा राष्ट्र संबंधी रोगों और कष्टों से निवृत्त रखते हैं। वे (कवी) उत्तम दूरदर्शी (देवौ) स्वयं ज्ञान के प्रदाता, (प्रचेतसौ) उत्तम ज्ञानवान्, उत्तम चित्तोंवाले होकर (इन्द्राय) इन्द्र, राष्ट्रपति के (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य युक्त पद को (धत्तः) रक्षा और पालन करते हैं वे भी (आज्यस्य) राष्ट्र के ऐश्वर्य को (वीताम्) प्राप्त करें। हे (होतः यज) विद्वन्! तू उनको अधिकार प्रदान कर।

होतर्यक्षत्त्रिरो देवीर्न भेषजं त्रयस्त्रिधातवोऽपसु इडा सरस्वती भारती मही:। इन्द्रपत्नी विमतीर्बर्हन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥८॥

निचृज्जगती। निषादः॥

भा०—(होता यक्षत्) होता, सर्वाधिकारप्रद विद्वान् अधिकार प्रदान करे। शरीर में (त्रिधातवः) तीन धातुओं वाले (त्रयः) तीन (अपसः) सब कर्म करनेवाले पदार्थ शरीर के लिये (भेषजम्) उत्तम

रोग विनाशक होते हैं उसी प्रकार (तिस्रः देवीः) तीन विद्वानों की परिषदें राष्ट्र के लिये (भेषजम्) उसके दोषों को दूर करने वाली औषध के समान हैं। वे (इडा, सरस्वती, भारती) इडा, सरस्वती भारती, इन तीन नामोंवाली (महीः) बड़े आदर योग्य हैं। वे तीनों (हविष्मतीः) विविध विज्ञानों से युक्त होकर, (इन्द्रपत्नीः) शरीर में तीन धातुएं जैसे जीव का पालन करती हैं उसी प्रकार ये भी राष्ट्र में 'इन्द्र' के पद की पालन करनेहारी, राजा के अधिकार की रक्षा करनेहारी होती हैं। वे तीनों भी (आज्यस्य व्यन्तु) समस्त राष्ट्र के ऐश्वर्य को अपने अधीन करें। हे (होतः यज) विद्वन् ! तू अधिकार प्रदान कर।

होता॑ यक्ष॒त्त्वष्टा॑रमिन्द्रं॑ देवं॑ भि॒षज॑ꣳ सु॒यज॑ं घृत॒श्रिय॑म्। पुरु॑रूपꣳ सुरे॒तस॑ं म॒घोन॒मिन्द्रा॑य॒ त्वष्टा॒ दध॑दिन्द्रि॒याणि॒ वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ६ ॥

निचृद्-अतिजगती । निषादः ॥

भा०—(त्वष्टारं) शरीर में कान्ति के उत्पन्न करने वाले, (भिषजं) रोग के निवारक, (सुयजं) उत्तम पुष्टि बलदायक, (घृताश्रियम्) शोभा को धारण करनेवाले, (पुरुरूपं) नाना रूपों में प्रकट, (सुरेतसम्) उत्तम वीर्य को जिस प्रकार मनुष्य सदा धारण करे उसी प्रकार (होता) सबको अधिकार पद प्रदान करनेहारा होता नामक विद्वान् पुरुष (त्वष्टारम्) तेजस्वी, (इन्द्रं) शत्रुनिवारक, (देवम्) दानशील राष्ट्र निरीक्षक, देख भाल करने में चतुर, (भिषजं) उसकी त्रुटियों को दूर करनेवाले, (सुयजम्) उत्तम संगति, व्यवस्था करने में कुशल, (घृताश्रियम्) समस्त राज्य-लक्ष्मी को धारण करने में समर्थ, (पुरुरूपम्) नाना प्रकार के पशु, मनुष्य, मृगादि के स्वामी; (सुरेतसम्) उत्तम वीर्यवान्, (मघोनम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष के (इन्द्राय) 'इन्द्र' पद के लिये (यक्षत्) अधिकार प्रदान करे। (त्वष्टा) वह तेजस्वी पुरुष (इन्द्रियाणि) इन्द्रोचित समस्त

अधिकारों को और बलों, सामर्थ्यों को (वेतु) प्राप्त करे, उनका उपभोग करे और (आज्यस्य) राष्ट्र के प्राप्त समृद्धि को वह भी भोगे । (होतर्यज) हे विद्वन् ! तू उनको अधिकार प्रदान कर ।

होता यक्षद्वनस्पतिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुं धियो जोष्टारमिन्दि-यम् । मध्वा समञ्जन् पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ १० ॥

स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—(होता) योग्य अधिकार प्रदान करने वाला विद्वान् पुरुष 'होता' (वनस्पतिम्) किरणों के पालक सूर्य के समान तेजस्वी बनों के समान या वने बसे प्रजागणों के स्वामी, सेवन करने योग्य ऐश्वर्यों के स्वामी, महावृक्ष के समान सबको अपने आश्रय में लाकर सुख देनेवाले, (शमितारम्) सबको शान्ति के दाता, (शतक्रतुम्) सैकड़ों विद्वानों से युक्त (धियः) प्रज्ञा और कर्म के (जोष्टारम्) सेवन करने वाले (इन्द्रियम्) इन्द्र के पद के योग्य, पुरुष को भी (यक्षत्) पदाधिकार प्रदान करे । वह (मध्वा) मधुर ज्ञान से और (सुगेभिः) सुख से गमन करने योग्य, (पथिभिः) पालन करने योग्य मार्गों और मर्यादाओं से (यज्ञम्) प्रजा के पालन करने वाले प्रजापति के राज्य को (सम् अंजन्) अच्छी प्रकार सुशोभित करता हुआ उसको (स्वदाति) सुख से भोगे । वह (मधुना) ज्ञानपूर्वक (घृतेन) तेजसे (आज्यस्य) राज्यैश्वर्य को (वेतु) प्राप्त करे । हे (होतः) होतः ! (यज) तू उसको अधिकार प्रदान कर ।

होता यक्षदिन्दुꣳ स्वाहाज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳ स्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳ स्वाहा हव्यसूक्तीनाम् । स्वाहा देवा आज्यपा जुषाणा इन्दु आज्यस्य व्यन्तु होतर्यज ॥ ११ ॥

निचृत्शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(होता) योग्याधिकार प्रदाता पुरुष (इन्द्रं यस्तत्) 'इन्द्र' ऐश्वर्यवान् और शत्रुनाशक वीर पुरुष को योग्य पद प्रदान करे। (आज्यस्य स्वाहा) 'आज्य', राज्य, अथवा संग्रामोपयोगी अधिकार उत्तम रीति से प्रदान करे। (मेदसः स्वाहा) स्नेहयुक्त अथवा हिंसा, करने और राष्ट्र की वृद्धि करनेवालों को उत्तम रीति से अधिकार दे। (स्तोकानां स्वाहा) छोटे २ पदाधिकारियों पर उसका उत्तम अधिकार हो। (स्वाहाकृतीनां स्वाहा) उत्तम वचन बोलनेवाले विद्वानों पर उसको अधिकार प्रदान करे। (हव्यसूक्तीनाम् स्वाहा) आदान योग्य, उत्तम स्तुति वचनों को स्वीकार करने का उत्तम रीति से अधिकार दे। (स्वाहा) उत्तम रीति से (आज्यपाः) पूर्वोक्त राज्यैश्वर्य का पालन और वृत्ति से भोग करनेवाले सभी (देवाः) विद्वान् पुरुष और (इन्द्रः) राजा (आज्यस्य व्यन्तु) राष्ट्र को प्राप्त करें। हे (होतः यज) विद्वन्! तू अधिकार प्रदान कर।

देवं बर्हिरिन्द्रꣳ सुदेवं देवैर्वीरवत् स्तीर्णं वेद्यामवर्द्धयत्। वस्तो-र्घृतं प्राक्तोर्भृतꣳ राया। बर्हिष्मतोऽत्यंगाद्भुवनं वसुधेयस्य वेतु यज्ञं ॥ १२ ॥

अश्विनावृषी। निचृदति जगती। निषादः॥

भा०—(बर्हिः) इस लोकवासिनी प्रजाएं और वैश्यगण स्वयं (वीरवत्) वीर पुरुषों से युक्त और (वेद्याम्) प्राप्त पृथिवी पर फैल कर (देवं) दिव्य गुण वाले उत्तम दानशील, विजयी (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान्, इन्द्र पद पर विराजमान; (सुदेवम्) उत्तम विद्वान्, दाता पुरुष को (देवैः) अन्य विद्वानों और विजयी पुरुषों द्वारा (अवर्धयत्) बढ़ावें। जिस प्रकार जंगल के कुशादि तृण दिन के समय ऊपर से काटलेने पर रात्रि के शीतल समय में बढ़ जाते हैं उसी प्रकार (वस्तोः) दिन के प्रखर ताप के समान राजा के

शत्रुओं के प्रति प्रचण्डता के युद्धादि के अवसरों पर (वृतम्) काट लिया जाकर भी (अक्तोः) रात्रि के समान शान्तिदायक राज्यव्यवस्था में (राया) धनैश्वर्य से (प्रभृतम्) खूब अच्छी प्रकार हृष्ट पुष्ट होकर (बर्हिष्मतः) प्रजा के पालक अधिकारी राजाओं, भूपतियों से भी (अति अगात्) अधिक समृद्धिशाली होजाता है। अर्थात् ऐश्वर्य विभूति से उनको भी लांघ जाता है। तब (वसुवने) वह ऐश्वर्य वसु अर्थात् राष्ट्र के भोक्ता राजा के (वसुधेयाय) ऐश्वर्य के रखने के स्थान कोष के लिये (वेतु) प्राप्त हो। प्रजा की समृद्धि के अवसर से प्राप्त ऐश्वर्य राष्ट्रवासी जनों के हित के लिये राष्ट्र कोष में जमा हो। हे (यज) होतः ! तू ऐसी आज्ञा प्रदान कर।

देवीर्द्वार इन्द्रꣳ सङ्घाते वीड्वीर्यामन्नवर्द्धयन्। आ वत्सेन तरुणेन कुमारेण च मीवता पार्वाणꣳ रेणुकाटं नुदन्तां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ १३ ॥

भुरिक् शक्वरी। पञ्चमः ॥

भा०—(देवीः) जिस प्रकार कान्तिमती और पति की कामना करने वाली स्त्रियां (यामन्) उपयम अर्थात् विवाह के अवसर पर (इन्द्रं) अपने इच्छानुकूल पति की वृद्धि करती हैं उसी प्रकार विजय की कामना या इच्छा करनेवाली विजिगीषा से युक्त, (द्वारः) शत्रुओं का वारण करने वाली सेनाएं (संघाते वीड्वीः) संघात अर्थात् परस्पर एकत्र होकर व्यवस्था द्वारा अति बलशालिनी होकर (यामन्) राज्य के नियम व्यवस्था के कार्य में (इन्द्रम्) राजा या सेनापति को गृह द्वारों के समान बढ़ाते हैं। वे सेनाएं (वत्सेन) स्तुति योग्य, (तरुणेन) हृष्ट पुष्ट, जवान, (कुमारेण) बुरी तरह शत्रुओं को मारनेवाले या ब्रह्मचारी (मीवता) हिंसक, घातप्रतिघात में कुशल पुरुषों द्वारा शत्रुओं का (अर्वाणं)

तीव्र वेगवान् अश्व, और घुड़सवार सैन्य की (रेणुकाटम्) ऐसे वेग से कि उनकी उड़ी धूल से कूप आदि भी भर जायं (अप नुदन्ताम्) परे भेजें। इस प्रकार विजय से प्राप्त (वसुवने) ऐश्वर्य के प्राप्त करने वाले राजा के (वसुधेयस्य) ऐश्वर्य कोष को वे भी और शत्रुवारक सेनाएं भी (व्यन्तु) भोग करें। (यज) हे होतः ! ऐसी आज्ञा प्रदान कर।

देवी उषासानक्तेन्द्रं यज्ञे प्रयत्यृञ्जेताम्। दैवीर्विशः प्रायासिष्टाꣳ सुप्रीते सुधिते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १४ ॥

भा०—(देवी) दिव्य गुणों वाली, व्यवहार और आनन्द विनोद करने-वाली (उषासानक्ता) दिन और रात्रि के समान प्रजाओं को उद्योग और विश्राम देनेवाली, (इन्द्रम्) इन्द्र, राजा को भी (प्रयति यज्ञे) उत्तम रीति से सञ्चालित राज्य-कार्य में (अञ्जेताम्) बुलावें। उसमें उसको सदा सचेत रखें। वे (दैवीः) राजा की (विशः) प्रजाओं को (प्र अयासिष्टाम्) उत्तम रीति से प्राप्त कर हैं, उनको उद्योगों में लगाती रहें, वे दोनों (सुप्रीते) उत्तम रीति से प्रसन्न होकर (सुधिते) सुखपूर्वक हित करनेवाली होकर (वसुवने) धन के विभाग कार्य में (वसुधेयस्य) राज्यकोष को (वीताम्) उपभोग करें। (यज) हे होतः ! उनको यह आज्ञा प्रदान कर।

देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्रमवर्द्धताम्। अयाव्यन्याघ्रा द्वेष्याꣳस्यान्या वक्षद्भ्यु वार्याणि यजमानाय शिक्षते वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १५ ॥

भुरिगतिजगती। निषादः ॥

भा०—(देवी) दिन और रात्रि दोनों जिस प्रकार सूर्य से प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार राजा के प्रभाव से उत्तम गुणों को धारण करने वाले स्त्री पुरुष या दो संस्थाएं (जोष्ट्री) राष्ट्र की यथायोग्य सेवा करने वाली, (वसुधिती)

घसने योग्य राष्ट्र और ऐश्वर्य को धारण करनेवाली दोनों (इन्द्रम्) राजा के (अवर्धताम्) शक्ति और ऐश्वर्य को बढ़ावें । (अन्या) दोनों में से एक (अघा) पापी (द्वेषांसि) प्रजा को दुःख देनेवाले, द्वेषसे, वर्त्ताव न करने वाले शत्रुओं को (अयावि) दूर हटावे । और (अन्या) दूसरी (वार्याणि) वरण करने योग्य (वसू) ऐश्वर्यों को (वक्षत्) धारण करे । और वे दोनों (शिक्षिते) सुशिक्षित (यजमानाय) दानशील राज्य को दृढ़ करने वाले (वसुवते) ऐश्वर्य के भोक्ता राजा के (वसुधेयस्य) धन को (वीताम्) प्राप्त करें ।

देवी ऊर्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रमवर्द्धताम् । इषमूर्जमन्याव॑त्स-ग्धिꣳ सपीतिमन्या नवेन॒ पूर्व॒ दय॑माने पुरा॒णेन॒ नव॒मधा॑ताम् । ऊ॒र्जमूर्जाहुती ऊ॒र्जय॑माने॒ वसु॒ वार्या॑णि॒ यज॑मानाय शिक्षि॒ते व॑सु॒वने॑ वसु॒धेय॑स्य वी॒तां यज॑ ॥ १६ ॥

भुरिगाकृतिः । निषादः ॥

भा०—(सुदुघे पयसा) उत्तम रीति से दूध देनेवाली दो गौवें जिस प्रकार अपने स्वामी या बछड़ों को पुष्ट करती हैं, उसी प्रकार दो संस्थाएँ (देवी) उत्तम अन्न आदि देने में समर्थ, (दुघे) समस्त राष्ट्र को पूर्ण करनेवाली, (ऊर्जाहुती) अन्न देनेवाली, (पयसा) पुष्टिकारक अन्न से (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राष्ट्रपति और राष्ट्र की (अवर्धताम्) वृद्धि करें । उन दोनों में से भी (अन्या) एक संस्था (ऊर्जम्) राष्ट्र के अन्न को धारण करे । और (अन्या) दूसरी (सग्धिम् सपीतिम्) सब के एक समान जल आदि पान के योग्य पदार्थों को (आवक्षत्) प्राप्त करावे । वे दोनों (नवेन) नये अन्न से (पूर्वम्) पूर्व विद्यमान अन्न की और (पुराणेन) पुराने गत वर्ष के अन्न से (नवम्) नये (ऊर्जम्) अन्न को (अधाताम्) सुरक्षित रक्खें । अर्थात् नया अन्न प्राप्त करके पुराने

की रक्षा करें और पुराने अन्न को प्रयोग में लाकर उसको बीज रूप में क्षेत्रों में डलवा कर नये अन्न को प्राप्त करें। इस प्रकार वे (ऊर्जम्) राष्ट्र को अन्न का (दयमाने) प्रदान करती हुई, और रक्षा करती हुई ही (ऊर्जाहुती) राष्ट्र को अन्न सम्पत् देनेवाली होने के कारण 'ऊर्जाहुती' कहाती हैं। वे दोनों (ऊर्जयमाने) अन्न द्वारा बल की वृद्धि करती हुई (शिक्षिते) नाना विद्याओं में शिक्षा प्राप्त करके (वार्याणि वसु) प्राप्त करने योग्य नाना उत्तम ऐश्वर्यों को (वसुवने) ऐश्वर्य के भोक्ता (यजमानाय) राजा के (वसुधेयस्य) लाभार्थ धनैश्वर्य को (वीताम्) प्राप्त करें और उसकी रक्षा करें। हे (होतः यज) होतः ! विद्वन् ! तू उन दोनों संस्थाओं को उत्तम अधिकार प्रदान कर।

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रमवर्द्धताम्। हताघंशꣳसावाभार्ष्टां वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षितौ वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १७ ॥

भुरिग् जगती। निषादः॥

भा०—(देवौ) दो विद्वान् (दैव्या विद्वानों और राजा के हितकारी, (होतारा) उत्तम सुखों और ऐश्वर्यों के देनेवाले, (देवम्) विजिगीषु (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक राजा को (अवर्धताम्) पुष्ट करें। वे दोनों ही (हताघशंसौ) पाप की शिक्षा देनेवाले दुष्ट पुरुषों को नाश करके (वार्याणि) उत्तम वरण योग्य, श्रेष्ठ (वसु) ऐश्वर्यों को (अभार्ष्टाम्) प्राप्त करावें। वे दोनों (शिक्षितौ) उत्तम विद्याओं में शिक्षा प्राप्त करके, (यजमानाय वसुवने) दानशील राष्ट्र के भोक्ता राजा के (वसुधेयस्य) कोश योग्य ऐश्वर्य को (वीताम्) रक्षा करें। (यज) हे होतः ! इन दोनों को भी अधिकार प्रदान कर।

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्द्धयन्। अस्पृक्षद्धारती

दिवꣳ रुद्रैर्यद्वꣳसरस्वतीड्वा वसुमती गृहान्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ १८ ॥

अतिजगती । निषादः ॥

भा०—(देवी) देवियां जिस प्रकार अपने (पतिम्) पालक पति के वंश की वृद्धि करती हैं, उसी प्रकार (तिस्रः देवीः) दिव्य गुण वाली तीन संस्थाएँ भी (पतिम् इन्द्रम्) अपने पति इन्द्र ऐश्वर्यवान् राजा की (अवर्धयन्) वृद्धि करें। उनमें से एक (भारती) 'भारती' नामक 'संस्था' है। (दिवम्) द्यौलोक को जिस प्रकार सूर्य रूप समस्त नक्षत्र ही नक्षत्र जगमगा देते हैं उसी प्रकार 'भारती' नामक परिषत् (दिवम् अस्पृक्षत्) परम विद्वान् पुरुषों की बनी 'दिव' नाम सर्वोच्च राजसभा को संयोजित करती है। और (सरस्वती) सरस्वती नामक विद्वत्सभा (रुद्रैः) दुष्टों के रुलाने वाले तीव्र बलवान् ज्ञानोपदेश करना भी पुरुषों से (यज्ञम् अस्पृक्षत्) सुव्यवस्थित राष्ट्र का प्रबन्ध करती है और तीसरी (इडा) इडा (वसुमती) वसु अर्थात् राष्ट्र के वासियों को अपने में धारण करने वाली जनपद सभा या प्रजासभा, (गृहान्) गृहों का प्रबन्ध करती है। (वसुवने) राजा के (वसुधेयस्य व्यन्तु) राष्ट्र धन की ये तीनों संस्थाएं वृद्धि या रक्षा करें। हे होतः ! (यज) तीनों सभाओं की तू योजना कर। 'भारती' 'विद्वत् सभा' ज्ञान की वृद्धि करती है, 'सरस्वती' वह राजसभा है जो शासक पुरुषों के निमित्त उपद्रवकारी, दुष्टों के दमन के उपायों का विचार करती है। तीसरी 'इडा' है जो गृहों की या जनपद वासियों की व्यवस्था करती है।

देव इन्द्रो नराशꣳसस्त्रिवरूथस्त्रिवन्धुरो देवमिन्द्रमवर्द्धयत् । शतेन शितिपृष्ठानामाहुतः सहस्रेण प्रवर्त्तते मित्रावरुणेदस्य

होत्रमर्हतो बृहस्पतिस्तोत्रमाश्विनाध्वर्यवं वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ १९ ॥

कृतिः । निषादः ॥

भा०—(देवः) विजीगीषु, तेजस्वी (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (नराशंसः) समस्त नेता पुरुषों द्वारा प्रशंसा योग्य होकर (त्रिवरूथः) तीनों सभारूप गृहों का स्वामी, (त्रिबन्धुरः) तीनों के नियमों को बांधने वाला होकर (देवः) उत्तम गुणवान्, उदार दानशील, तेजस्वी, कान्तिमान् (इन्द्रं) इन्द्र पद को (अवर्धयत्) वृद्धि करता है । वह स्वयं (शितपृष्ठानाम्) तीक्ष्ण स्वभाव वाले, तीव्र बुद्धिवाले या श्यामवर्ण की पीठवाले, पीठ भाग पर श्याम रंग के काले गौन पहने (शतेन) सौ राजपुत्रों और (सहस्रेण) हज़ार अर्थात् अनेक सरदारों से (आंहितः) चारों ओर से घिरा (प्रवर्त्तते) रहता है । (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण सर्वस्नेही न्यायाधीश और 'वरुण' दुष्टों का वारक पुलिस विभाग का अध्यक्ष दोनों शरीर में प्राण अपान के समान इसके (होत्रम् अर्हतः) अधिकार को प्राप्त करके कार्य सम्पादन करते हैं । (बृहस्पतिः) बृहती वेद वाणी का पालक विद्वान् पुरुष (स्तोत्रम्) ज्ञानोपदेश का कार्य करता है । और (आध्वर्यवम्) हिंसा रहित मित्र पद या राज्य शासक के कार्य के (आश्विनौ) अश्विगण, (अर्हतः) योग्य सम्पादन करते हैं । वह इन्द्र (वसुवने) राष्ट्र कार्य के प्राप्त करने हारे इन्द्र पद के (वसुधेयस्य) धन को (वेतु) भोग करे, रक्षा करे । (यज) हे होतः ! तू उसको अधिकार प्रदान कर ।

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो मधुशाखः सुपिप्पलो देवमिन्द्रमवर्द्धयत् । दिवमग्रेणास्पृक्षदन्तरिक्षं पृथिवीमदृंहीद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ २० ॥

निचृदतिशक्करी । पञ्चमः ॥

भा०—(देवः) ज्ञानद्रष्टा, विजयशील, सुखप्रद. शरणप्रद, विद्वान् (वनस्पतिः) सर्व सेवन योग्य पदाधिकारों का पति, स्वामी, सर्वश्रेष्ठ, ऐश्वर्यों का स्वामी, (हिरण्यपर्णः) सुवर्ण के समान तेजो युक्त पत्रों वाले महावृक्ष के समान (हिरण्यपर्णाः) तेज और यश, पराक्रम युक्त पालन सामर्थ्यों और ज्ञानों से युक्त, (मधुशाखः) मधुर, मनोहर शाखाओं के समान ब्रह्म ज्ञानमय वेद शाखाओं से युक्त, (सुपिप्पलः) उत्तम ज्ञानमय फलों से भरा हुआ, विद्वान् पुरुष (देवम् इन्द्रम्) सर्वोत्तम ऐश्वर्यवान् राजा के पद को (अवर्धयत्) वृद्धि करता है। महावृक्ष जिस प्रकार (अग्रेण) चोटी से आकाश को छूता है उसी प्रकार अपने (अग्रेण) मुख्य पद से, (दिवम्) प्रकाशमय सूर्य को, ज्ञान को (अस्तृक्षत्) धारण करता है और मध्य और चरणभाग से (अन्तरिक्षम् पृथिवीम्) अन्तरिक्ष और पृथिवी अर्थात् रक्षक शासकों और प्रजाजनों को भी मध्यमवृत्ति और चरण, अर्थात् विनयवृत्ति से (अदंहीत्) बढ़ाता है। वह (वसुवने) ऐश्वर्य के स्वामी राजा के (वसुधेयस्य) राष्ट्रैश्वर्य की (वेतु) रक्षा करे। (यज) होतः तू ऐसे विद्वान् पुरुष को अधिकार प्रदान कर।

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रमवर्द्धयत् । स्वासस्थमिन्द्रेणासन्न-सन्या बर्हींष्यभ्यभूद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ २१ ॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(बर्हिः) अन्तरिक्ष अर्थात् वायु जिस प्रकार (वारितीनाम्) जलों के स्थान मेघों के बीच में (इन्द्रम् देवम् अवर्धयत्) प्रकाशमय विद्युत् को बढ़ाता है उसी प्रकार (देवं बर्हिः) दानशील प्रजागण, राष्ट्र, (वारितीनाम्) शत्रुओं को वारण करने वाली सेनाओं के बीच स्थित (इन्द्रम् देवम्) शत्रुनाशक राजा की वृद्धि करते हैं। वह अन्तरिक्ष के समान अधिक शक्ति सम्पन्न मुख्य प्रजागण या प्रजा के दानशील पुरुष (स्वा-

सस्यम्) उत्तम रीति से राष्ट्र में जमकर (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् राज के (आसक्तम्) अति समीप, होकर उस द्वारा (अन्या वहीषि) अन्य प्रजाओं को भी (अभि अभूत्) अपने अधीन कर लेते हैं। वह मुख्य प्रजाजन भी (वसुवने) ऐश्वर्य के स्वामी राजा के (वसुधेयस्य) कोष योग्य धन की रक्षा करे। हे होतः! तू उनको भी (यज) अधिकार प्रदान कर।

देवो अग्निः स्विष्टकृद्देवामिन्द्रमवर्द्धयत्। स्विष्टं कुर्वन्त्स्विष्टकृत् स्विष्टमद्य करोतु नो वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ २२ ॥

त्रिष्टुप । धैवतः ॥

भा०—(अग्निः देवः) अग्नि के समान तेजस्वी, अग्रणी विद्वान् पुरुष (स्विष्टकृत्) उत्तम यज्ञों या परिमित कार्यों का कर्त्ता भी (देवम् इन्द्रम् अवर्धयत्) देव, इन्द्र' अर्थात् राजा की वृद्धि करता है। वह (स्विष्टम्) शुभ इष्ट, इच्छानुकूल समस्त कार्यों का सम्पादन (कुर्वन्) करता हुआ ही (स्विष्टकृत्) 'स्विष्टकृत्' कहाता है। वह (नः) हम प्रजाजनों का भी (अद्य) आज (सु-इष्टं करोतु) उत्तम हमारे इच्छित कार्यों को करे।

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरोडाशं बध्नन्निन्द्राय छागम्। सूनृस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदिन्द्राय छागेन। अयत्तं मेदस्तः प्रति पचताग्नीदवीवृधत्पुरोडाशेन त्वाम्रद्य ऋषे ॥ २३ ॥

कृतिः निषादः ॥

भा०—(यजमानः) यजमान जिस प्रकार विद्वान् पुरुष को अपना होता वरण करता है उसी प्रकार (अयं यजमानः) दानशील राष्ट्रवासी जन भी (अग्निम्) ज्ञानवान् अग्रणी पुरुष को(होतारम्) पूर्वोक्त 'होता', सर्वाधिकारों के दाता और स्वीकर्त्ता पद पर (अद्य) आज (अवृणीत)

वरण करता है। और वह (पक्तीः) पाक करने योग्य क्रियाओं को (पचन्) परिपक्व करता हुआ अर्थात् जिन कार्यों के एवज में बाद में परिश्रमिक प्राप्त हो उन क्रियाओं का (पचन्) फलरूप से परिश्रमिक निर्धारित करता हुआ, अथवा (पक्तीः) परिपक्व ज्ञान वाली संस्थाओं को (पचन्) परिपक्व, दृढ़ करता हुआ और (पुरोडाशं पचन्) इसी प्रकार कार्य कर्त्ताओं के कार्यारम्भ में ही (पुरोडाशं) पूर्व ही देने योग्य धनको भी (पचन्) परिपक्व अर्थात् निश्चित करता हुआ, और (इन्द्राय) इन्द्र नाम पद या ऐश्वर्यमय राष्ट्र की रक्षा के लिये शत्रुओं को काट गिराने वाले प्रधान पुरुष या सैन्यबल और सेनापति को (बध्नन्) वेतन पर बांध कर, उसको भी स्थिर करता हुआ (अग्निम् होतारम् अवृणीत) विद्वान् 'होता' नामक पुरुष को वरण करे।

(इन्द्राय छागेन) ऐश्वर्यमय राष्ट्र की रक्षा के लिये, शत्रु के काट गिरा देने वाले सैन्यबल के द्वारा (वनस्पतिः देवः) वनस्पतियों में श्रेष्ठ महावृक्ष के समान सर्वाश्रय राजा, (अद्य) आज (सु उपस्थाः) प्रजा द्वारा उपासना करने योग्य, आश्रय प्राप्त करने योग्य है।

हे (ऋषे) मन्त्रद्रष्ट ! विद्वन् ! होतः ! (मेदस्तः) स्नेह से या सार पदार्थ को स्वीकार करके अथवा हिंसनीय शत्रु से रक्षा करके (तम्) उस राष्ट्र का वह पूर्वोक्त राजा (अघत्) भोजन के समान उपभोग करे। उसको अपना जीवनाधार समझे। हे (ऋषे) विद्वन् ! सर्वद्रष्टः ! (पचता) परिपाक योग्य, तेरे श्रम के एवज में प्रदान करने योग्य फलस्वरूप पदार्थों को भी वह (प्रति अग्रभीत्) तुझे प्रदान करे। और (पुरोडाशेन) पुरोडाश अर्थात् प्रारम्भ में श्रद्धा और प्रेम से भी देने योग्य पदार्थों द्वारा (त्वाम् अवोवृधत्) तेरा वृद्धि करे। इसी के समान देखिये अ० २१। मन्त्र ५९-६१ ॥

होता यक्षत्समिधानं महद्यशः सुसमिद्धं वरेण्यमग्निमिन्द्रं वयोधसम् । गायत्रीं छन्द इन्द्रियं त्र्यविं गां वयो दधद्धेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २४ ॥

स्वराड् जगती । निषादः ॥

भा०—(होता) अधिकार देनेवाला विद्वान् पुरुष (सम् इधानम्) स्वयं अच्छी प्रकार प्रकाशमान, (महत् यशः) बड़े यश से (सुसमिद्धं) उत्तम गुणों से विख्यात, (वरेण्यम्) वरण करने योग्य, (अग्निम्) ज्ञानवान् (वयोधसम्) दीर्घ जीवन, बल, ब्रह्मचर्य को धारण करने और कराने वाले (इन्द्रम्) दुष्ट वासनाओं को दूर करने वाले आचार्य पुरुष को (यक्षत्) उच्च अधिकार प्रदान करे और वह (गायत्रा छन्दः) गायत्री छन्द, (इन्द्रियं) इन्द्रोचित ऐश्वर्य अथवा उत्तम इन्द्रियों में बल, और (त्र्यविम्) मन, वाणी और देह तीनों की रक्षा करने वाले को (गाम्) वाणी को और (वयः) वीर्य और दीर्घजीवन को राष्ट्र में (दधत्) धारण करावे । और (आज्यस्य वेतु,) राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा करें । हे (होतः यज) होतः ! विद्वन् ! तू योग्य पुरुषों को यह अधिकार प्रदान कर ।

राज्य में विद्वान् आचार्यों की स्थापना की जाय । वे गुरुमन्त्र का उपदेश करें । २४ वर्ष का ब्रह्मचर्य का पालन करावें, लोगों में दीर्घजीवन का साधन करें ।

होता यक्षत्तनूनपातमुद्भिदं यं गर्भमदितिर्दधे शुचिमिन्द्रं वयोधसम् । उष्णिहं छन्द इन्द्रियं दित्यवाहं गां वयो दधद्धेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २५ ॥

अति जगती । निषादः ॥

भा०—(होता) अधिकार दाता विद्वान् (तनूनपातम्) शरीरों के न गिरने देनेवाले, शरीरों के रक्षक (उद्भिदं) ज्ञान के तत्वों को

खोल २ कर बतलाने वाले, अथवा (यं) जिस बीज को (अदितिः) पृथिवी (गर्भम् दधे) गर्भ में धारण करती है और वह ऊपर की तह को तोड़ कर उत्पन्न होता है उसी प्रकार (अदितिः) माता के समान अखण्ड राजशक्ति (यं) जिसको अपने (गर्भम्) गर्भ में (दधे) धारण करती है ऐसे (उद्भिदम्) वृक्ष की तरह से उसके बीच में बढ़े हुए, स्थिर, आश्रय वृक्ष के समान, (शुचिम्) अति शुद्ध चरित्रवान्, (वयोधसम्) बल, आयु के धारक और हर्षक (इन्द्रम्) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष को (यक्षत्) आदरपूर्वक उत्तम पद से युक्त करे। इस प्रकार वह (उष्णिहं छन्दः) राष्ट्र में उष्णिक् छन्द के समान २२ वर्ष के गुरु के अधीन ब्रह्मचर्य, (इन्द्रियं) शारीरिक बल, (दित्यवाहं गाम्) दित्यवाड् बैल के समान (पयः) बल वीर्य को राज्य में (दधत्) धारण करावें। उक्त विद्वान् (आज्यस्य वेतु) राष्ट्र ऐश्वर्य की वृद्धि करे। हे (होतः यज) विद्वन्! तू उसको योग्य पद प्रदान कर।

होता यक्षद्वीड॒न्यꣳसी॒डितं॑ वृ॒त्रहन्त॑मसि॒डाभि॒रीड॒थ्ꣳ सह॒ः सोम॒मिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। आनु॑ष्टुभं॒ छन्द॒ इन्द्रि॒यं प॒शूꣳर्गां वयो द॑धद्धे॒ज्याज्य॑स्य॒ होत॒र्यज ॥ २६ ॥

निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(होता) योग्याधिकारका दाता विद्वान् (ईडन्यम्) स्तुति करने योग्य, (वृत्रहन्तमम्) मेघ या अन्धकार को छिन्न भिन्न करने वाले सूर्य के समान अज्ञान और बाधक कारणों को दूर करने वालों में सब से श्रेष्ठ, (इडाभिः इड्यम्) उत्तम वाणियों से प्रशंसा के योग्य (सहः) बल के कारण (सोमम्) सोम अर्थात् चन्द्र के समान आह्लादक, या वायु के समान बलवान्, (इन्द्रम्) विद्वान् (वयोधसम्) दीर्घायु पुरुष को (यक्षत्) स्थापित करे। (आनुष्टुभं छन्दः) अनुष्टुप् छन्द के समान, ३२ वर्ष के ब्रह्मचर्य पूर्वक

(इन्द्रियम्) शरीर के भीतर (इन्द्रिय) वीर्य और (पञ्चाविं गां) ढाई वर्ष के बैल के समान (वयः) बलको (दधत्) राष्ट्र में धारण करावे । वह उक्त विद्वान् भी (आज्यस्य वेतु) राष्ट्र के ऐश्वर्य की वृद्धि करे । हे (होतः यज) विद्वन् ! तू उसे योग्य पद प्रदान कर ।

होता यक्षत्सुबर्हिषं पूषण्वन्तममर्त्यꣳ सीदन्तं बर्हिषि प्रिये ऽमृतेन्द्रं वयोधसम् । बृहतीं छन्द इन्द्रियं त्रिवत्सं गां वयो दधद्धेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २७ ॥

स्वराडति जगती । निषादः ॥

भा०—(होता) अधिकार देनेवाला विद्वान् (सुबर्हिषम्) उत्तम प्रजा से युक्त, (पूषण्वन्तम्) अच्छे पोषक अन्न और भूमि से युक्त, (अमर्त्यम्) अन्य मनुष्यों से कहीं अधिक, (बर्हिषि) आसन पर (सीदन्तम्) बैठे हुए के समान (बर्हिषि सीदन्तम्) महान् राष्ट्र पर शासक रूप से विराजमान, (प्रिये) प्रिय (अमृते) अन्न और वीर्य और जल के आश्रय पर (वयोधसम्) बल और दीर्घ आयु को धारण करने वाले (इन्द्रम्) विद्वान् पुरुष को (यक्षत्) उत्तम पद पर स्थापित करे । (बृहती छन्दः इन्द्रियं) बृहती छन्द के समान ३६ वर्ष का इन्द्रिय दमन या ब्रह्मचर्य पालन और (त्रिवत्सं गां वयः) तीन वर्ष के बैल के समान बल (दधत्) धारण करावे । वह (आज्यस्य वेतु) राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा करे । और हे (होतः यज) विद्वन् ! तू उस योग्य पुरुष को पद प्रदान कर ।

होता यक्षद्वयचस्वतीः सुप्रायणा ऋतावृधो द्वारो देवीर्हिरण्ययीर्ब्रह्माणमिन्द्रं वयोधसम् । प्रङ्क्ति छन्द इहेन्द्रियं तुर्यवाहं गां वयो दधद्धत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ २८ ॥

स्वराट् शकरी । धैवतः ॥

भा०—(होता) पदाधिकार प्रदाता विद्वान् (व्यचस्वतीः) विशेष रूप से और विविध प्रकारों से गमन करने और फैलने वाली, (सुप्र-अयनाः) उत्तम और अच्छे पदों और अधिकारों पर स्थित, (ऋतावृधः) बल, राष्ट्र, और ऐश्वर्य को बढ़ाने वाली (देवीः) विजयशील, रक्षाकारिणी, (हिरण्ययीः) लोह के आयुधों से तेजोयुक्त (द्वारः) युद्ध में वेग से भावन करने प्रबल वेग से आक्रमण करने और शत्रुका वारण करने वाली, सेनाओं को राष्ट्र रूप विशाल भवन में (व्यचस्वतीः) विविध मार्गों से लोगों के प्रवेश निर्गम के अवकाश वाली (सुप्रायणाः) सुख से गुजरने योग्य, (ऋतावृधाः) ऐश्वर्यवर्धक, (हिरण्ययीः) सुवर्ण, लोहादि से भूषित, महाद्वारों के समान (यक्षत्) राष्ट्र में सुसंगत करे और (वयोधसम्) बलधारी (ब्रह्माणम्) महान् राष्ट्र के पोषक (इन्द्रम्) सेनापति को (यक्षत्) नियुक्त करे। (इह) इस निमित्त (पंक्ति छन्दः इन्द्रियम्) पंक्ति छन्द के समान ४० अक्षरों के समान ४० वर्ष के अखण्ड ब्रह्मचर्य को और (तुर्यवाहं गां वयः) ४ वर्ष के वृषभ के समान बल को भी (दधत्) धारण करावे। वे वीर सेना और शक्तिशाली सेनापति सब (आज्यस्य व्यन्तु) राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा और भोग करें। (होतः यज) हे विद्वन्! तू उनका योग्य पद प्रदान कर।

होता यक्षत्सुपेशसा सुशिल्पे बृहती उभे नक्तोषासा न दर्शते विश्वमिन्द्रं वयोधसम्। त्रिष्टुभं छन्द इहेन्द्रियं पष्ठवाहं गां वयो दधद्धीताज्यस्य होतर्यज ॥ २९ ॥

निचृदतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(होता) अधिकार प्रदान करने वाला पुरुष (सुपेशसा) शुभ, उत्तम स्वरूप वाली, (सुशिल्पे) उत्तम शिल्प, वाली, (उभे) दोनों (नक्तोषासा न) दिन और रात्रि के समान (दर्शते) दर्शनीय,

पूर्वोक्त दोनों संस्थाओं को और (विश्वम्) उनमें प्रविष्ट (वयोधसम्) बल के धारण करने वाले सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष को (यक्षत्) अधिकार प्रदान करे । (इह) इस कार्य में (त्रिष्टुप् छन्दः इन्द्रियम्) त्रिष्टुप् छन्द के ४४ अक्षरों के समान ४४ वर्षों के अक्षत वीर्य पालन या ब्रह्मचर्य और (पष्टवाहं गाम् वयः) पीठ से बोझा उठाने में समर्थ और बैल के समान बल, उमर को (दधत्) धारण करावें । वे दोनों संस्थाएँ और उनका पालक इन्द्र (आज्यस्य वीताम्) राष्ट्र के ऐश्वर्य का पालन, वृद्धि और उपभोग करें । हे (होतः यज) हे होतः ! विद्वन् ! तू अधिकार प्रदान कर ।

होता यक्षत्प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या कवी सयुजेन्द्रं वयोधसम् । जगतीं छन्द इन्द्रियमनड्वाहं गां वयो दधद्धीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ ३० ॥

निचृद् अतिशक्वरी । पञ्चमः ॥

भा०—(होता) योग्य अधिकार के देनेवाला विद्वान् (प्रचेतसा) उत्कृष्ट कोटि के ज्ञानवाले, (देवानाम्) विद्वान् पुरुषों में (उत्तमं) सब से ऊँचे (यशः) यश, वीर्य, परम ज्ञान (होतारौ) प्राप्त करनेवाले, (दैव्या) सर्व विद्वानों में श्रेष्ठ, (कवी) दूर तक देखने वाले, दीर्घदर्शी (सयुजौ) मिल कर परस्पर सहयोग से विचार करनेहारे दो विद्वान् और (वयोधसम् इन्द्रम्) राष्ट्र के बल को धारण करने वाले तेजस्वी पुरुष को (यक्षत्) योग्य पद पर संगत करें । (जगती छन्दः इन्द्रियम्) जगती छन्द के ४८ अक्षरों के समान अक्षय इन्द्रिय के बल वीर्य, ब्रह्मचर्य और (अनड्वाहं गां वयः) शकट का बोझा उठा कर चलने में समर्थ बलवान् बलीवर्द के समान बल को (दधत्) धारण करावे । वे दोनों (आज्यस्य वीताम्) राष्ट्र के ऐश्वर्य की वृद्धि,

पालन और भोग करें। हे (होतः) विद्वन्! तू उनको उचित अधिकार (यज) प्रदान कर।

होतायक्षत्पेशस्वतीस्तिस्रो देवीर्हिरण्ययीर्भारतीर्बृहतीर्महीः पतिमिन्द्रं वयोधसम्। विराजं छन्द इहेन्द्रियं धेनुं गां न वयो दधद्व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥ ३१॥

सरस्वती ऋषिः। तिस्रो देव्य इन्द्रश्च देवताः। भुरिक् शक्वरी। धैवतः॥

भा०—(होता) योग्याधिकार प्रदाता विद्वान् होता' (पेशस्वतीः देवीः) रूपवती स्त्रियों को जिस प्रकार (वयोधसम् पतिम्) पूर्ण अवस्था को धारण करनेवाले पति को (यक्षत्) प्राप्त कराता है उसी प्रकार (हिरण्ययीः) हित और रमणीय गुणों को धारण करनेवाली (तिस्रः) तीन (बृहतीः) बड़ी २ (महीः) अति आदर योग्य (भारतीः) ज्ञान, दीप्ति और क्रियायों में कुशल (देवीः) विद्वानों की संस्थाओं को (वयोधसम्) बल और ज्ञान, अन्न और ऐश्वर्य के स्वयं धारण करने और राष्ट्र में धारण कराने में समर्थ (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक पुरुष को (पतिम्) उनका पालक, पति, प्रधान पद के भोक्ता रूप से (यक्षत्) सुसंगत करे, नियत करे। वह पालक राजा (इह) इस राष्ट्र में (विराजं छन्दः) विराट् छन्द के ३३ अक्षरों के समान ३३ वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत पालन (गां) पृथिवी को (इन्द्रियं) राष्ट्र के बलवीर्य स्वरूप और (धेनुं गां न वयः) दुधार गाय के समान जान कर उस अन्न, बल को (दधत्) धारण करें। वे सब (आज्यस्य व्यन्तु) राष्ट्र के ऐश्वर्य की रक्षा और वृद्धि प्राप्ति करें। हे (होतः) विद्वन्! (यज) इनको उचित अधिकार प्रदान कर।

होतायक्षत्सुरेतसं त्वष्टारं पुष्टिवर्द्धनं रूपाणि बिभ्रतं पृथक्

पुष्टिमिन्द्रं वयोधसम् । द्विपदं छन्द इन्द्रियमुक्षाणं गां न वयो दधद्धेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३२ ॥

भुरिक् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—योग्याधिकार देनेवाला विद्वान् 'होता' (सुरेतसम्) उत्तम वीर्यवान्, उत्पादक बल से सम्पन्न, (त्वष्टारं) कान्तिमान् तेजस्वी, (पुष्टिवर्धनम्) पुष्टिकारक अन्नादि सम्पत्ति के वर्धक, (रूपाणि बिभ्रतम्) नाना प्रकार पशुओं को पालन पोषण करनेवाले, (वयोधसम्) पूर्ण दीर्घायु को धारण करनेवाले, (इन्द्रं) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (पृथक्) पृथक् २, अलग २ नाना प्रकार के (पुष्टिम्) पुष्टियुक्त समृद्धि को (यत्तत्) धारण करावे । वह राष्ट्र में (द्विपदं छन्दः) द्विपदा गायत्री के २० अक्षरों के समान २० वर्षों तक (इन्द्रियं) इन्द्रिय-संयम का पालन करावे और (उक्षाणं गां न वयः) वीर्य सेचन में समर्थ बैल के समान बल वीर्य को (दधत्) धारण करे । और (आज्यस्य वेतु) राष्ट्र के ऐश्वर्य या वीर्य की रक्षा करे । हे (होतः यज) विद्वन् ! ऐसे उत्तम पुरुष को योग्य अधिकार प्रदान कर ।

अर्थात् धन, धान्य, सम्पत्ति, भूमि आदि का पृथक् अधिकार बालिग होने पर दिया जाय और वह अधिकार पुरुष को (द्विपदं छन्दः) द्विपद् छन्द अर्थात् १२ + ८=२० वर्ष के बाद प्राप्त हो । ऐसी उमर में वह ब्रह्मचारी हो, सदाचारी, कमाऊ हो, नपुंसक, निर्बल और अल्पायु न हो ।

होता यक्षन्नग्नितꣳ सुरेतसꣳ त्वष्टारꣳ सुपाणिꣳ सुहस्तꣳ सुकृतमꣳ सुवाचꣳ सुशमिꣳ शमितारꣳ शतक्रतुꣳ हिरण्यपर्णमुक्थिनꣳ शतनिं बिभ्रतं बृहिं भगमिन्द्रं वयोधसꣳ सुकुभं छन्द इहेन्द्रियं वशां बेहतं गां वयो दधद्धेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३३ ॥

निचृद् अत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—(होता) योग्याधिकार प्रदाता विद्वान् पुरुष (वनस्पतिम्) महा वट के समान सबको आश्रय देने में समर्थ, वन-पालक के समान नाना भोग्य पदार्थों या जनों के पालक, (शमितारं) शान्तिदायक, (शत-क्रतुम्) सैकड़ों प्रज्ञाओं और कर्म सामर्थ्यों से युक्त, (हिरण्यपर्णम्) सुवर्ण आदि ऐश्वर्य से सबके पालन करने वाले, अथवा अति सुन्दर ज्ञान से युक्त, (उक्थिनम्) वेदोक्त गुरु-उपदेश को धारण करने वाले (रशनां) राष्ट्र के या समाज के और अपने शरीर की इन्द्रियों पर दमन को (बिभ्र-तम्) धारण करने वाले, लंगोटबन्द मेखलाधारी, जितेन्द्रिय, (वशिम्) पूर्णवशी, (भगम्) ऐश्वर्यवान्, (वयोधसम्) बल, वीर्य और दीर्घायु के धारण करने वाले (इन्दम्) श्रेष्ठ पुरुष को (यक्षत्) योग्य 'वनस्पति' नामक अधिकार पद प्रदान करे। (इह) इस कार्य में वह (ककुभं छन्दः) ककुप् छन्द के (८ + १२ + ८) २८ अक्षरों के समान २८ वर्ष का (इन्द्रियम्) इन्द्रिय अर्थात् ब्रह्मचर्य और (वेहतं गाम् इव) गर्भघातिनी गौ या (वशां) वेशा, बांझ गौ के समान (वयः) बल (दधत्) धारण करे। अर्थात् जिस प्रकार 'वशा' अर्थात् वंध्या गाय नाना नरों का भोग करके भी विक्षत नहीं होती और गर्भ धारण नहीं करती, इसी प्रकार वह 'वनस्पति' नामक पदाधिकारी भी नाना भोक्ताओं के आजाने पर भी सबको वश करने में समर्थ शक्तिमान् बना रहे। और जिस प्रकार गर्भ-घातिनी गौ नाना सांडों से भोग करके भी गर्भ में आये वीज का नाश कर डालती है उसी प्रकार इस पृथ्वी पर नाना भोक्ता राजाओं के आजाने पर भी और उन द्वारा राष्ट्र का क्रम से या एक ही काल में यथेच्छ भोग कर लेने पर भी उनके भोग के प्रभाव को न रहने दें प्रत्युत उनके भुक्त राष्ट्र को भी भरा पूरा ही बनाये रक्खे। ऐसे पुरुष को 'वनस्पति' पद पर नियुक्त करे। इसी प्रकार सेना रूप जन वनों के पालक सेनापति को भी ऐसा बनावे जो वशा के समान अन्यों के भोग के प्रभाव को जमने न दे

'और शत्रु-राजाओं के किये क्षत विक्षत को स्थिर न रहने दे। प्रत्युत गर्भ-घातिनी गौ के समान उनको गर्भ में ही नाश करदे। वह (आज्यस्य वेतु) राष्ट्र के युद्धोपयोगी बल, वीर्य, ऐश्वर्य की रक्षा वृद्धि करे। हे (होतः यज) विद्वन् होतः ! ऐसे पुरुष को तू उक्त अधिकार प्रदान कर।

होता॑ यक्षत् स्वाहा॑कृतीर॒ग्निं गृ॒हप॑तिं पृथु॒ग्व॑रुणं भेष॒जं क॒विं क्ष॒त्रमि॑न्द्रं॑ वयो॒धस॑म्। अति॑छन्दसं॒ छन्द॑ऽइन्दि॒यं बृ॒हद॑नु॒भं गां वयो दधद्धयन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३४ ॥

अतिशक्वरीः । पञ्चमः ॥

भा०—(होता) योग्याधिकार दाता विद्वान् पुरुष (स्वाहा-कृतीः) उत्तम ज्ञान, वाणियों के उपदेश करने वाली संस्थाओं को (यक्षत्) योग्य अधिकार प्रदान करे। और (अग्निम्) ज्ञानवान्, तेजस्वी (गृह-पतिम्) गृह के पालक (वरुणम्) सर्व दोषों के वारण करने में समर्थ श्रेष्ठ पुरुष को (कविम्) क्रान्तदर्शी, विद्वान् (भेषजम्) रोगचिकित्सा में कुशल वैद्य और (क्षत्रम्) बल, वीर्य से सम्पन्न राज्यकर्त्ता क्षत्रिय (वयोधसम्) दीर्घायु, बल वीर्य, अन्न के धारक (इन्द्रं) राजा को (पृथक्) पृथक् २ नाना पदों पर (यक्षत्) नियुक्त करे। इन पदों पर नियुक्त पुरुषों में (अतिछन्दसं छन्दः इन्द्रियम्) क्रम से 'अति' शब्द से युक्त अति-धृति, अत्यष्टि, अतिशक्करी और अति जगती इन चार छन्दों के क्रम से ७६, ६८, ६० और ४८ अक्षरों के समान इतने २ वर्षों का (बृहत् इन्द्रियं) विशाल ब्रह्मचर्य पालन और (ऋषभं गाम्) ऋषभ बैल के समान (ऋषभं) सर्वश्रेष्ठ पद को (दधत्) धारण करे। वे ही लोग (आज्यस्य व्यन्तु) राष्ट्र के ज्ञान ऐश्वर्य की वृद्धि और पालन करें। हे (होतः यज) विद्वन् ! उन योग्य पुरुषों को अधिकार प्रदान कर।

देवं ब॒र्हिर्वे॑यो॒धसं॑ देवमि॒न्द्रमवर्द्धयत्। गा॒य॒त्र्या छन्द॑सेन्दि॒यं चक्षु-

रिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ३५ ॥

इन्द्रो देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(देवं) दिव्य गुणवाला (बर्हिः) आकाश जिस प्रकार (इन्दम् देवम्) प्रकाशमान सूर्य को (अवर्धयत्) बढ़ाता है, उसके सामर्थ्य की वृद्धि करता है, उसके तेज को फैलने देता है और वही प्रकाश, (इन्द्रे) जीव में (चक्षुः इन्द्रियं वयः दधत्) चक्षु नामक तेजोमय इन्द्रिय को धारण कराता है उसी प्रकार (देवम् बर्हिः) दानशील, करप्रद प्रजा (वयोधसम्) बल और ऐश्वर्य के धारण करने वाले (देवं) तेजस्वी (इन्दम्) राजा की (अवर्धयत्) वृद्धि करती है । वह प्रजागण, (गायत्र्या छन्दसा) गायत्री छन्द अर्थात् ब्राह्मण-रूप बल से (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् राजा में (चक्षुः इन्द्रियम्) आँख के समान देखने वाली शक्ति को और (वयः) बल को (दधत्) धारण करावे । वह प्रजारूप गायत्री (वसुवने) ऐश्वर्यवान् राजा के (वसुधेयस्य) ऐश्वर्य का (वसु) पालन और भोग करे । हे होतः ! (यज) तू उसको यह अधिकार प्रदान कर ।

देवीर्द्वारो वयोधसꣳ शुचिमिन्द्रमवर्द्धयन् । उष्णिहा छन्दसेन्द्रियं प्राणमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ३६ ॥

भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(देवीः द्वारः) उत्तम प्रकाश से युक्त बड़े २ द्वार जिस प्रकार (वयोधसम्) दीर्घ जीवन प्रदान करनेवाली (शुचिम्) शुद्ध (इन्दम्) वायु को (अवर्धयन्) गृह में बढ़ा देते हैं । और वह वायु (उष्णिहा छन्दसा) अंग प्रत्यंग में व्यापक स्निग्ध पदार्थ के बल से युक्त होकर (इन्द्रियम्) जीव के हितकारी (प्राणम्) प्राण वायु को (इन्द्रे) जीव में (वयः दधत्) दीर्घ जीवन और बलरूप से धारण कराता है उसी प्रकार (देवीः)

विजयशील (द्वारः) शत्रुओं को वारण करने में समर्थ सेनाएं (वयोधसम्) शक्तिशाली (शुचिम्) निष्कपट (इन्दम्) सेनापति और राजा को (अवर्धयन्) बढ़ाती हैं, उसके बलको बढ़ाती हैं। और वह (उष्णिहा) अति अधिक स्नेह से युक्त (छन्दसा) छन्द अर्थात् रक्षा सामर्थ्य से (प्राणम् इन्द्रियम्) दृढ़ प्राण के समान विशेष इन्द पद के उचित ऐश्वर्य और बल को (इन्द्रे दधत्) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र में धारण कराता है। अतः हे होतः विद्वन् ! (वसुवने) ऐश्वर्य के भोक्ता राजा के (वसुधेयस्य) राज्य-कोष को ये विजयशील सेनाएं भी (व्यन्तु) पालन, वृद्धि और उपभोग करें। (यज) उनको तू यह अधिकार प्रदान कर।

देवी ऽउष्सानक्ता देवमिद्ं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्। अनुष्टुभा छन्दसेन्द्रियं वलमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ३७ ॥

भुरिगतिजगती। निषादः ॥

भा०—(देवी) जिस प्रकार पतिव्रता पति-प्रिया स्त्री (देवम्) अपने कामना योग्य प्रिय पति को बढ़ाती है और जिस प्रकार (देवी) प्रकाशयुक्त (उषासानक्ता) दिन और रात्रि दोनों (इन्दम्) सूर्य के ही महिमा और बल की (अवर्धताम्) वृद्धि करते हैं। उसी प्रकार (देवी उषासानक्ता) विजय कामना से युक्त, उत्तम व्यवहार में कुशल, तेज से शत्रुओं को दाह या संताप देनेवाली 'उषा' नामक संस्था और अव्यक्त रूप से व्यवस्था करने वाली 'नक्त' नामक राजसंस्था दोनों (वयोधसम्) बलधारी (इन्दम्) इन्द. ऐश्वर्यवान् राजा और राष्ट्र के (अवर्धताम्) बल की वृद्धि करती हैं। वह राजा (इन्द्रे) समृद्ध राज्य में (अनुष्टुभा) प्रजा के अनुकूल राजा और राजा के अनुकूल प्रजा के परस्पर प्रशंसा और गुण स्तुतियुक्त (छन्दसा) परस्पर रक्षा व्यापार से (इन्द्रियं बलं दधत्)

राजोचित उत्तम बलको धारण कराता है। हे होतः विद्वन्! (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) उक्त दोनों संस्थाएं भी ऐश्वर्य भोक्ता राजा के कोश की वृद्धि, पालन और उपभोग करें। (यज) तू उनको अधिकार प्रदान करा।

देवी जोष्ट्री वसुधिती देवमिन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्। बृहत्या छन्दसेन्द्रियꣳ श्रोत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ३८ ॥

भुरिगतिजगती । निषादः ॥

भा०—(देवी देवम्) प्रियतमा स्त्री जिस प्रकार अपनी कामना के अनुकूल प्रिय पुरुष को सन्तानादि से बढ़ाती है और (देवी जोष्ट्री) जिस प्रकार उत्तम व्यवहार वाले, एक दूसरे को प्रेम करने वाले (वसुधिती) ऐश्वर्य को धारण करने वाले नरनारी (देवं) कामना योग्य (वयोधसम्) दीर्घजीवन और बलप्रद (इन्द्रम्) शुभ सन्तान को बढ़ाते हैं उसी प्रकार (देवी) उत्तम तेजोयुक्त, (जोष्ट्री) परस्पर प्रेमयुक्त, विद्या संस्थाएं (वसुधिती) राष्ट्र में बसने वाले लोकों को धारण करने में समर्थ होकर (वयोधसम्) दीर्घजीवी (देवम् इन्द्रम्) विद्वान् राजा को (अवर्धताम्) बढ़ावें। और वह (बृहत्या छन्दसा) बृहती छन्द अर्थात् बड़ी भारी वेदवाणी के बल से (श्रोत्रम् इन्द्रियम्) शरीर में श्रवण इन्द्रिय के समान (श्रोत्रम् वयः दधत्) श्रवण योग्य ज्ञानरूप बलको धारण कराता है। (वसुवने वसुधेस्य वीताम्) राजा के राज्यकोष की वे दोनों संस्थाएं भी वृद्धि, पालन और उपभोग करें। हे विद्वन्! (यज) तू उनको वह अधिकार प्रदान कर।

देवी ऽऊर्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रं वयोधसं देवी देवमवर्द्धताम्। पङ्क्तया छन्दसेन्द्रियꣳ शुक्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ३९ ॥

निचृत् शक्वरी । धैवतः ॥

भा०—(देवी देवम्) पति की कामना के अनुकूल रहनेवाली उत्तम स्त्री जिस प्रकार अपनी अभिलाषा के योग्य उत्तम पुरुष को प्रेम और सन्मान से बढ़ाती है और (सुदुघे) उत्तम दूध देनेवाली दो गौएं जिस प्रकार (पयसा) अपने दूध से (वयोधसम्) अन्न देनेवाले स्वामी को बढ़ाती हैं और जिस प्रकार (ऊर्जाहुती पयसा) अन्न और जल को प्रदान करनेवाली द्यौ और पृथिवी दोनों (पयसा) अन्न और जल द्वारा (दुघे) समस्त मनोरथों की पूरक होकर (इन्द्रम्) जीव प्राण को (अवर्धताम्) बढ़ाती हैं उसी प्रकार (ऊर्जाहुती) उत्तम जल और अन्न को प्रदान करने वाली (देवी) विद्वानों की दो संस्थाएं (दुघे) सब कार्यों को पूर्ण करने वाली (सुदुघे) उत्तम पदार्थों को देने वाली होकर (पयसा) अन्न और जल से (वयोधसं देवम् इन्द्रम्) दीर्घजीवन-धारी उत्तम व्यवहार युक्त राष्ट्र की (अवर्धताम्) वृद्धि करें। (पङ्क्त्या छन्दसा शुक्रम् इन्द्रियम्) जिस प्रकार अन्न की परिपाक क्रिया से 'शुक्र' वीर्य को बल रूप से और (वयः) दीर्घ जीवन को (दधत्) धारण करता है उसी प्रकार (पङ्क्त्या छन्दसा) पंक्ति छन्द या अन्न के परिपक्व होने की क्रिया से (शुक्रम्) शुद्ध वीर्य के जनक (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य बलकारी (वयः) अन्न को (इन्द्रे) राष्ट्र में (दधत्) धारण करावे। (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) धन भोक्ता राजा के ऐश्वर्य की वे दोनों संस्थाएं भी पालन और उपभोग करें। हे होतः! (यज) उनको यह अधिकार प्रदान कर।

देवा देव्या होतारा देवमिन्द्रं वयोधसं देवौ देवमवर्द्धताम्। त्रिष्टुभा छन्दसेन्द्रियं त्विषिमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ४० ॥

अतिजगती। निषादः ॥

भा०—(देवौ देवम्) विद्वान् माता पिता जिस प्रकार उत्तम गुण-

वान् पुत्र को बढ़ाते हैं उसी प्रकार (दैव्या होतारा) विद्वानों में उत्तम विद्वान् (देवौ) कार्य-व्यवहार में कुशल (होतारौ) योग्य पदाधिकारों या ज्ञानों के देने हारे पुरुष (देवम् इन्द्रं वयोधसं) ऐश्वर्य के दाता बल-शाली राजा की भी वृद्धि करते हैं। (त्रिष्टुभा छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्द अर्थात् क्षात्र बल से वे (इन्द्रे) ऐश्वर्यवान् राष्ट्र में (त्विषिम् इन्द्रियं) शरीर में प्राणापान जिस प्रकार कान्ति को धारण कराते हैं उसी प्रकार वे राष्ट्र में तेज को और (वयः) बल, दीर्घ जीवन को धारण कराते हैं। (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) वे भी राष्ट्र पालक राजा के धन कोश की वृद्धि, पालन और उपभोग करें। (यज) हे विद्वन् ! उनको पदाधि-कार प्रदान कर।

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्वयोधसं पतिमिन्द्रमवर्द्धयन्। जगत्या छन्दसेन्द्रियꣳ शूषमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४१ ॥

भुरिग्अतिजगती। निषादः॥

भा०—(तिस्रः देवीः) तीनों श्रेणियों की उत्तम स्त्रियां जिस प्रकार अपने (पतिम्) पति की वृद्धि करती हैं उसी प्रकार (तिस्रः देवीः) तीनों पूर्वोक्त विद्वत्संस्थाएँ (वयोधसम्) राष्ट्र के बल को धारण करनेवाले (पतिम् इन्दम्) पालक राजा को बढ़ाती हैं। वे (जगत्या छन्दसा) जगती छन्द से अर्थात् वैश्य बल से (इन्द्रे) राष्ट्र में (शूषम्) पर राष्ट्रशोषक (इन्द्रियम्) बल और (वयः) जीवन को (दधत्) धारण कराते हैं। (वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु) वे भी राष्ट्रभोगी राजा के कोष की वृद्धि, पालन और उपभोग करें। (यज) हे होतः ! उनको तू अधिकार प्रदान कर।

देवो नराशꣳसो देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत्। विराजा

छन्दसेन्द्रियꣳ रूपमिन्द्रे वयो दधद्धसुनें वसुधेयस्य वेतु यज ॥४२॥

निचृदतिजगती । निषादः ॥

भा०—(नराशंसः) सब मनुष्यों से प्रशंसित अथवा जनों का उपदेष्टा (देवः) उत्तम पदार्थों और ज्ञानों का देने हारा है। (देवः) उत्तम विद्वान् जिस प्रकार (देवम्) विद्या के अभिलाषी पुरुष की ज्ञान से वृद्धि करता है उसी प्रकार वह विद्वान् पुरुष भी (वयोधसम् देवम् इन्द्रम् अवर्धयत्) दीर्घजीवी, बलको धारण करने वाले या अन्नदाता राजा इन्द्र की वृद्धि करता है। (विराजा छन्दसा) विराट् छन्द, अर्थात् विशेष कान्तिजनक ज्ञान से (इन्द्रे) राजा और राष्ट्र में (इन्द्रियं रूपम् वयः दधत्) इन्द्र पद के योग्य रूप और बलको धारण कराता है। वह भी (वसुधेयस्य वेतु) लोक के भोक्ता राजा के राज्य-कोष का उपभोग करे। यज) हे होतः ! विद्वन् उसको अधिकार दे।

देवो वनस्पतिर्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत्। द्विपदा छन्दसेन्द्रियं भगमिन्द्रे वयो दधद्धसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४३ ॥

पूर्ववत् ॥

भा०—(देवः देवम्) दानशील पुरुष जिस प्रकार धनके अभिलाषी पुरुष को धन देकर बढ़ाता है इसी प्रकार (वनस्पतिः देवः) वनों के पालक, वट आदि के समान आश्रितजनों को शरण देनेवाला, विद्वान् दाता पुरुष भी (वयोधसं) अन्न के दाता (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् राजा की (अवर्धयत्) वृद्धि करता है। वह (द्विपदा छन्दसा) दो चरणवाले भृत्य मनुष्यों के बल से (इन्द्रे) राष्ट्र और राजा में (इन्द्रियम्) इन्द्र पद के योग्य (भगम्) ऐश्वर्य और (वयः) बल को (दधत्) धारण कराता है। (वसुधेयस्य इत्यादि) पूर्ववत् ॥

देवं बर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रं वयोधसं देवं देवमवर्द्धयत् । ककुभा च्छन्दसेन्द्रियं यशऽइन्दे वयो दधद्धसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥४४॥

पूर्ववत् ॥

भा०—(वारितीनाम्) जलों द्वारा अति अधिक उन्नत नदियों का (देवं बर्हिः) उत्तम जल जिस प्रकार (देवम्) दिव्य समुद्र को बढ़ाता है उसी प्रकार (वारितीनाम्) वारण करने में समर्थ गतियों वाली सेनाओं का (बर्हिः) अति विस्तृत (देवम्) विजयशील सेना बल, (वयोधसम्) अन्नदाता, (इन्द्रं देवं) ऐश्वर्यवान् राजा के बल को (अवर्धयत्) वृद्धि करता है । (ककुभा छन्दसा) ककुप् अर्थात् दिशाओं में व्यापक या सर्वश्रेष्ठ, सर्वाच्छादक बल से (इन्द्रे) राष्ट्र और राजा में (इन्द्रियं) इन्द्र पद के योग्य (वयः) बल और (यशः) यश, कीर्त्ति (दधत्) धारण कराता है । (वसुवने०) इत्यादि पूर्ववत् ।

देवो अग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत् । अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद्धसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४५ ॥

स्वराट् अति जगती । निषादः ॥

भा०—(देवः देवम्) परमेश्वर जिस प्रकार जीव को बढ़ाता है, विद्वान् जिस प्रकार ज्ञान के इच्छुक शिष्य को बढ़ाता है उसी प्रकार (स्विष्टकृत्) समस्त राष्ट्र के सुख इष्ट धन जन को उत्पन्न करनेवाला (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानवान् पुरुष (देवः) सर्व विद्याप्रकाशक होकर (वयोधसम्) सब के अन्नदाता (इन्द्रम् देवम् अवर्धयत्) राजा और राज्य की वृद्धि करता है । और (अतिछन्दसा छन्दसा) अति बलशाली रक्षा साधन से (इन्द्रे) राज्य में (इन्द्रियं) इन्द्र पद के योग्य (क्षत्रम्) क्षात्र-बल और ऐश्वर्य और (वयः) अन्न और बल (दधत्) धारण कराता है । (वसुवने०) इत्यादि पूर्ववत् ।

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन् पक्तीः पचन् पुरो-डाशम्वध्नन्निन्द्राय वयोधसे छागम् । सूपस्था ऽअद्य देवो वन-स्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे छागेन । अधत्तं मेद्रस्तः प्रतिपचता-शीभीदवीवृधत्पुरोडाशेन । त्वामद्य ऽऋषे ॥ ४६ ॥

भा०—व्याख्या देखो इसी अध्याय का मन्त्र २३ ।

॥ इत्यष्टाविंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तविंशोऽध्यायः ।

॥ अथैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

[अ० २९] प्रजापतिर्ऋषिः ॥

॥ ओ३म् ॥ समिद्धोऽ अग्न आ वह तनूनपात्पूर्वमानः । वाजी वहन्वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम् ॥ १ ॥

[१–११] अम्बः सामुद्रिः, बृहदुक्थो वामदेव्यो वा ऋषिः । आग्नेयः । अग्निर्जातवेदा देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी विद्वान् पुरुष ! हे (जातवेदः) विद्याओं में निष्णात, ज्ञानप्रद बुद्धिमन् ! जिस प्रकार (समिद्धः) खूब प्रदीप्त हुआ अग्नि (मधुमत्) मधुर अन्न से युक्त (घृतम्) घी को (पिन्वमानः) सेवन करके अर्थात् चरु और स्निग्ध पदार्थ पाकर (कृदरं अञ्जन्) सकल पदार्थों के छिन्न-भिन्न करनेवाले गुण को प्रकट करता है इसी प्रकार तू भी (मधुमत् घृतस् पिन्वमानः) मधुर अन्न से युक्त घृत आदि स्निग्ध, पुष्टिकारक पदार्थों का सेवन करता हुआ (मतीनाम्) मनन योग्य बुद्धियों के (कृदरम्) समस्त पदार्थों के विवेक करनेवाले गुण को (अञ्जन्) प्रकट करता हुआ (देवानां प्रियम्) विद्वानों के प्रिय (सधस्थम्) एक साथ स्थिर होने योग्य, सर्वमान्य सिद्धान्त तक (वाजिनं) वीर्यवान् पुरुष को (वहन्) उठा कर जिस प्रकार (वाजी) घोड़ा स्थानान्तर को ले जाता है उसी प्रकार (आ वक्षि) पहुँचा ।

जाठराग्नि के दृष्टान्त से जैसे—(मधुमत् घृतं पिन्वमानः) अन्न युक्त घृत को सेवन करके जिस प्रकार जाठराग्नि (मतीनां कृदरं) मनुष्यों के उदर की शक्ति को (अञ्जन्) प्रकट करता है उसी प्रकार हे पुरुष !

मधुर घृत का सेवन करके (मतीनाम्) बुद्धियों के (कृदरम्) विवेक-जनक रहस्य को प्रकट कर। और हे (जातवेदः) बुद्धिमान् पुरुष ! (वाजिनं वहन् वाजी) बलवान् पुरुष को जिस प्रकार वेगवान् अश्व उठा कर लेजाता है उसी प्रकार तू स्वयं (वाजी) संग्राम सम्पन्न, युद्धविजयी होकर (वाजिनम्) ऐश्वर्ययुक्त राष्ट्र को (वहन्) धारण करता हुआ (देवानां प्रियम् सधस्थम्) देवों के प्रिय, एकत्र होने के स्थान सभा-भवन को (आ वक्षि) धारण कर, उसका सभापति बनकर उसको चला।

अर्थात्—जैसे जठराग्नि अन्नादि खाकर मनुष्यों के उदर शक्ति को प्रकट करता है और (देवानां) देव, इन्द्रियों के (सधस्थं आवक्षि) एकत्र रहने के स्थान शरीर को धारण करता है उसी प्रकार राजा या सभापति (मधुमत्) अन्न युक्त या मधुर फलों से युक्त (घृतम्) तेजस्वी सूर्य के पद को सेवन करता हुआ बुद्धियों के या मनुष्यों के बीच राजधानी या केन्द्र स्थान को प्रकट करता हुआ स्वयं (समिद्धः) अति वृत होकर (सधस्थम्) एकत्र रहने के स्थान सभास्थल या राष्ट्र को धारण करे।

घृतेनाञ्जन्त्सं पथो देवयानान् प्रजानन्वाज्यप्येतु देवान्। अनु त्वा सप्ते प्रदिशः सचन्ताꣳ स्वधामस्मै यजमानाय धेहि ॥ २ ॥

भा०—हे (सप्ते) राष्ट्र में व्यापक ! हे युद्ध में सर्पणशील ! हे समवाय या परस्पर संघ बनानेहारे ! (घृतेन अञ्जन्) जिस प्रकार आग घी से और विद्युत् जल से प्रकट होता है उसी प्रकार तू स्वयं (घृतेन) तेज से (अञ्जन्) प्रकट होता हुआ (देवयानान्) विद्वानों के चलने योग्य संग्राम-विजयी पुरुषों के वर्त्तने योग्य, राजनीति, उत्तम (पथः) मार्गों मर्यादाओं या चालों को (प्रजानन्) भली प्रकार जानता हुआ (वाजी) संग्रामों में कुशल, ऐश्वर्यवान् ज्ञानवान् और अश्व के समान वेगवान् होकर

(देवान्) विद्वानों और विजयशील राजाओं को (अपि एतु) प्राप्त हो। हे (सप्ते) संघ बना लेने में कुशल ! समवायकारिन् ! (त्वा अनु) तेरे अनुकूल ही (प्रदिशः) उत्तम विद्वान् पुरुष अथवा (प्रदिशः) दिशा प्रदिशाओं के वासीजन, (सचन्ताम्) संघ बनाकर, सुव्यवस्थित होकर रहें। और तू (अस्मै यजमानाय) इस दानशील, करप्रद माण्डलिक पुरुष को (स्वधाम् धेहि) अपने राष्ट्र धारण करने के बल, अधिकार आदि प्रदान कर। अथवा हे राष्ट्र! तू (अस्मै यजमानाय) इस दानशील या संगतिकारक सुव्यवस्थापक राजा को (स्वधाम् देहि) अपने शरीर, बल, राष्ट्र के धन आदि के धारण करने के बल आदि प्रदान कर।

ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते।
अग्निर्वा देवैर्वसुभिः सजोषाः प्रीतं वहिं वहतु जातवेदाः ॥ ३ ॥

भा०—हे (वाजिन्) ऐश्वर्यवन् ! ज्ञानवन् ! संग्रामजयशील ! तू (ईड्यः च असि) स्तुति के योग्य है। और तू (वन्द्यः च असि) अभिवादन करने योग्य है। (आशुः च असि) अति शीघ्र कार्यकारी, वेगवान् भी है। और (मेध्यः च) सत्संग करने योग्य है। (अग्निः) अग्रणी, ज्ञानवान् (जातवेदाः) विद्वान् प्रज्ञावान् पुरुष, (वसुभिः देवैः) प्रजाओं को बसाने वाले विद्वानों या स्वयं राष्ट्र में बसने वाले व्यवहारकुशल प्रजाजनों के साथ (सजोषाः) समान भाव से प्रेमयुक्त होकर (प्रीतं त्वां) अति प्रसन्न तुझ (वहिं) राष्ट्र के वहन करने में समर्थ पुरुष को (वहतु) प्राप्त हो, तेरे दिये पदों को धारण करे।

स्तीर्णं बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्रथमानं पृथिव्याम्।
देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनं कृण्वाना सुविते दधातु ॥ ४ ॥

भा०—राष्ट्रपक्ष में—हम लोग (स्तीर्णम्) आच्छादित, सुरक्षित, (बर्हिः) प्रजा लोक को (सु स्तरीम) उत्तम रीति से विस्तृत करें।

और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (उरु) बहुत बड़े रूप में (पृथु) और विस्तृत रूप में (प्रथमानम्) स्वयं फैलनेवाले (देवेभिः युक्तम्) वीर विजयी, विद्वान्, व्यवहारकुशल, तेजस्वी, रक्षाशील पुरुषों से युक्त प्रजा-जन को, (सजोषाः) अति प्रेम युक्त होकर (अदितिः) अखण्ड शासन व्यवस्था, (स्योनं कृण्वाना) सुखदायी करती हुई (सु-इते) उत्तम रीति से संचालित मार्ग में (दधातु) रक्खे, उसका पालन करे।

विद्युत्पक्ष में—(स्तीर्णम्) आच्छादित, साङ्गोपाङ्ग यानादि यन्त्रों को और (पृथु प्रथमानम्) विस्तृत, विख्यात एवं फैले हुए (बर्हिः) आकाश या जल में भी व्यापक (देवेभिः युक्तम्) दिव्य पदार्थ जलादि से युक्त सबको (जुषाणा) प्राप्त और सबको (स्योनं कृण्वाना) सुखकारी करती हुई (अदितिः) अखण्ड शक्ति विद्युत् आदि (सुविते) उत्तम गतिशील यन्त्रादि में बल (दधातु) धारण करावे।

एताऽउ ऽउ वः सुभगा विश्वरूपा विपक्षोभिः श्रयमाणाऽउदातैः।
कृष्वाः सतीः कवपः शुम्भमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु ॥५॥

भा०—(एताः) ये नाना उत्तम (द्वारः) गृह के द्वार और (देवीः) देवियां दोनों समान रूप से आगे लिखे प्रकार की हों। द्वारों के पक्ष में—(एताः द्वारः) ये द्वार (देवीः) प्रकाशयुक्त, (सुभगाः) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त, उत्तम रीति से सेवन योग्य, सुखकारी, सुकर, (विश्वरूपाः) नाना रूपों के (आतः) बराबर चलने वाले, आने जानेवाले (विपक्षोभिः) विविध प्रकार के पक्षों से (उत् श्रयमाणा) खूब ऊंचे तक विस्तृत (कृण्वाः) बड़ी (सतीः) होकर भी (कवपः) उत्तम शब्द करनेहारी, (शुम्भमानाः) सुशोभित (सुप्रायणाः) सुख से आने जाने योग्य (भवन्तु) हों।

स्त्रियों के पक्ष में—(एताः) वे (देवीः) स्त्रियां (सुभगाः) उत्तम ऐश्वर्य और अंग सौन्दर्य से युक्त, उत्तम भगवती हों, दुर्भगा न हों, वे

(विश्वारूपाः) नाना रूपों और नाना रुचिकर गुणोंवाली, (विपक्षोभिः) नाना ग्राह्य पदार्थों से और (विश्रयमाणाः) विविध प्रकार से सेवन करने वाली और (आतैः) नाना प्रकार के आचार व्यवहारों से (उत्-श्रयमाणाः) उत्तम पदको प्राप्त होती हुई (ऋष्वा) बड़ी (सतीः) सदाचारिणी (कवयः) उत्तम मधुर शब्द बोलनेहारी, (शुम्भमानाः) सुशोभित, आभूषित, (सुप्रायणाः) उत्तम चाल चलनेवाली, सुख से गमन करने योग्य अथवा उत्तम गृह स्थान आदि से सम्पन्न होकर (भवन्तु) रहें ।

शत्रुवारक सेनाओं के पक्ष में—(द्वारः देवीः) विजयशील, शत्रुओं के वारण करने में समर्थ सेनाएं (सुभगाः) उत्तम ऐश्वर्यवाली, (पक्षोभिः) पक्षों-बाजुओं से (आतैः) नाना चालों से (विश्रयमाणाः) विविध रूप धारण करने वाली (उत्-श्रयमाणाः) उत्तम रूप को धारण करने वाली (ऋष्वाः) शत्रुनाशक (सतीः) होकर, (कवयः) नाना शब्द करती हुई, (शुम्भमानाः) चमचमाती हुई, (सुप्रायणाः भवन्तु) उत्तम २ अयन, पदों और स्थानों से युक्त हों ।

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने ।
उषासा वाꣳ सुहिरण्ये सुशिल्पे ऽऋतस्य योनाविह सादयामि ॥६॥

भा०—(अन्तरा) शरीर के भीतर जिस प्रकार (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण, प्राण और उदान, विचरते हैं और जिस प्रकार ब्रह्माण्ड में सूर्य और वायु विचरते हैं उसी प्रकार राष्ट्र के बीच में (मित्रावरुणौ) 'मित्र' अर्थात् प्रजा के प्रति स्नेहवान् और उनको मृत्यु से बचाने वाला और 'वरुण' दुष्टों का वारक अर्थात्, न्यायाधीश और दुष्टों का दमनकारी दो विभाग (उषासा) दिन और रात्रि के समान न्याय-प्रकाशक और प्रजा-पालक, (यज्ञानां) समस्त श्रेष्ठ व्यवहारों, परस्पर की सुसंगत व्यवस्थाओं, या प्रजा के पालनरूप यज्ञ के (मुखम्) मुख्य मुखिया, राजा के साथ (अभि

भा०—(त्वष्टा) कान्तिमान्, वीर्यवान् पुरुष (देवकामम्) विद्वानों के प्रिय (वीरं) वीर पुत्र को (जजान) उत्पन्न करता है। (त्वष्टा) त्वष्टा के शिल्पों से ही (अर्वा) गतिशील यन्त्र भी (आशुः) वेगवान् (अश्वः) अश्व के समान मार्ग तय करने वाला (जायते) उत्पन्न होता है। (त्वष्टा) समस्त विश्व का रचयिता विश्वकर्मा परमेश्वर (विश्वं भुवनम्) समस्त भुवन, जगत् को पैदा करता है। इस कारण हे (होतः) होतः ! विद्वन्! (बहोः कर्त्तारम्) बहुत से वीर कार्यों और वीर पुरुष उत्पन्न करनेवाले बहुत से पदार्थों के रखनेवाले और बहुत बड़े विश्व के रचने वाले, उत्तम गृहस्थ और राजा, उत्तम शिल्पी और महान् परमेश्वर को (इह) इस महान् यज्ञ, अश्वमेध या राष्ट्रकार्य में और उपासना में (अवि) क्रम से अधिकार प्रदान करता, नियुक्त करता एवं उपासना करता हूं। अर्थात् वीर्यवान् गृहस्थ को गृहस्थ यज्ञ अर्थात् पुत्रप्रजनन कार्य में नियुक्त कर, शिल्पवान् पुरुष को राष्ट्र में नियुक्त कर के देवोपासना में परमेश्वर उपासक नियुक्त कर ।

अश्वो घृतेन त्मन्या समक्त उप देवाँ२॥ ऋतुशः पाथ एतु । वनस्पतिर्देवलोकं प्रजानन्नग्निना हव्या स्वदितानि वक्षत् ॥ १० ॥

भा०—(अश्वः) सूर्य जिस प्रकार (घृतेन त्मन्या) अपने तेज से (समक्तः) युक्त होकर (ऋतुशः) प्रत्येक ऋतु में (देवान्) किरणों के द्वारा (पाथः एतु) जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार (अश्वः) राष्ट्र का भोक्ता राजा (त्मन्या) स्वयं (घृतेन सम् अक्तः) तेज से सम्पन्न होकर (ऋतुशः) प्रति ऋतु, (पाथः) अपने पालन कार्य के निमित्त (देवान् उप एतु) देवों, विद्वानों को प्राप्त हो। (वनस्पतिः) मनुष्यों या सेवनीय पदार्थों का पालक (देवलोकं प्रजानन्) विद्वान् जनों को जानता हुआ, (अग्निना स्वदितानि हव्यानि) अग्निद्वारा स्वादित्त,

स्वीकृत, सुपक्व अन्नों को (वक्षत्) प्राप्त करे। अर्थात् अन्नों को प्रथम यज्ञाग्नि में देकर उसके बाद स्वयं अन्नों को ग्रहण करे। अथवा (अग्निः) अग्रणी पुरुष द्वारा प्रथम उपभुक्त शेष अन्नों को धारण करे।

प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने।
स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः ॥११॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! अग्रणी पुरुष ! राजन् ! विद्वन् ! तू (प्रजापतेः) प्रजा के पालक राजा पद के (तपसा) तप से, प्रभाव से (वावृधानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ (सद्यः जातः) शीघ्र ही राजा बनकर (यज्ञम्) राष्ट्र रूप सुव्यवस्थित कार्य को (दधिषे) धारण कर। तू (स्वाहाकृतेन) स्वाहा द्वारा अग्निमें आहुति किये हुए (हविषा) अन्न से अथवा (सु-आह-कृतेन) उत्तम कीर्ति को जनक, उत्तम रीति से सम्पादित (हविषा) उपाय से (पुरोगाः) सबको अग्रगामी होकर (याहि) प्रयाण कर। और (साध्याः) उत्तम रीति से साधन सम्पन्न (देवाः) देव, विद्वान्गण और विजयी वीर जन (हविः अदन्तु) अन्न और उपादेय राष्ट्र का उपभोग करें।

जिस प्रकार अग्नि में आहुति किया हव्य भस्म होकर अन्य दिव्य पदार्थों में लीन हो जाता है इसी प्रकार राजा द्वारा प्राप्त किया, कर रूप में अन्नादि पदार्थ विद्वानों और वीर, विजेता सेना पुरुषों को प्राप्त होता है।

यदक्रन्दः प्रथमं जायमान उद्यन्त्समुद्रादुत वा पुरीषात्।
श्येनस्य पक्षा हरिणस्य बाहू ऽउपस्तुत्यं महि जातं ते ऽअर्वन् ॥ १२ ॥

ऋ० १ । १६३ । १ ॥

[१२–२४] जमदग्निर्दीर्घतमाश्च ऋषी। अश्वस्तुतिः। त्रिष्टुभः। धैवतः ॥

भा०—हे (अर्वन्) वेग से प्रयाण करनेहारे राजन् ! (यत्) जब तू (समुद्रात् उद्यन्) समुद से ऊपर उठते हुए सूर्य या मेघ के समान

उदय को प्राप्त होकर (प्रथमं जायमानः) पहले २ उत्पन्न होकर, राजा बनाया जाकर समस्त जन-सागर में (वा) और (पुरीषात्) ऐश्वर्यमय पदार्थों के बीच में से ऊपर उठता हुआ, उन्नत राजपद पर विराजता हुआ (अक्रन्दः) शब्द करता है, आज्ञा प्रदान करता है या गर्जना या अपनी राजा होने की घोषणा करता है उस समय तेरी (पक्षा) दोनों बाजू (श्येनस्य) बाज पक्षी के समान अति वेग से शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ दायें बायें दो सेनाओं के दस्ते (Wings) और (हरिणस्य) हरिण की (बाहू) अगली टांगों के समान अति शीघ्रगामी दो सेनादल (बाहू) बाहुओं के समान शत्रु पीड़न में समर्थ आगे को होते हैं और उस समय (ते) तेरा स्वरूप (महि) बहुत अधिक (उपस्तुत्यं जातम्) वर्णन करने योग्य हो जाता है ।

यमेन॑ दत्तं त्रित ऽएनमायुन॒गिन्द्र॑ ऽएणं प्रथ॒मो ऽअ॑ध्यतिष्ठत् ।
ग॒न्ध॒र्वो ऽअ॑स्य रश॒नामगृ॑भ्णा॒त्सूर॒ादश्वं॑ वसव॒ो निर॑तष्ट ॥ १३ ॥

ऋ० १ । १६३ । २ ॥

भा०—(त्रितः) तीनों वेदों का विद्वान् त्रिविध शक्तियों से सम्पन्न पुरुष, (यमेन) नियम करने वाले पद द्वारा (दत्तम्) प्रदत्त, स्वीकृत (एनम्) इस राष्ट्र को (आयुनग्) नियुक्त करता है । (इन्दः) शत्रुनाशक, ऐश्वर्यवान् पुरुष (एतम्) इस राष्ट्र को (प्रथमः) सबसे प्रथम (अधि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता रूप से विराजता है । (गन्धर्वः) गौ, पृथिवी या आज्ञारूप वाणी के धारण करने में समर्थ पुरुष (अस्य) इस राष्ट्र रूप अश्व की (रशनाम्) रस्सी, राज्यशासन की बागडोर को (अगृभ्णात्) धारण करता है । (वसवः) हे वसुगणो ! प्रजाजनो ! विद्वानो ! (सूरात्) सबके प्रेरक सूर्य के तेज से (अश्वम्) इस व्यापक राज्य को (निर् अतष्ट) निर्माण करो । बनाओ, सुव्यवस्थित करो ।

अध्यात्म में—(यमेनदत्तं) प्राण वायु से धारण किये हुए इस शरीर को (त्रितः) तीन धातुओं से युक्त अन्न या आत्मा (आयुनक्) युक्त करता है। (इन्दः) जीव इसका अधिष्ठाता है। गन्धर्व मन इसकी 'रशना' बागडोर को सम्भालता है। (वसवः) बसनेवाले चक्षु आदि इन्द्रिय (सूरात्) प्रेरक प्राण से ही इसको निर्माण करते हैं।

असि॑ य॒मो ऽअस्या॑दित्यो ऽअर्व॒न्नसि॑ त्रि॒तो गुह्ये॑न व्र॒तेन॑। असि॒ सोमे॑न स॒मया॒ विपृ॑क्त ऽआहु॒स्ते त्रीणि॑ दि॒वि बन्ध॑नानि ॥ १४ ॥

ऋ० १ । १६३ । ३ ॥

भा०—हे राजन्! तू (यमः असि) स्वयं प्राण वायु के समान राष्ट्र का नियामक है। (आदित्यः असि) तू सूर्य के समान सब कार्यों का प्रकाशक, सूर्य के समान प्रजा से कर लेनेहारा है। तू ही (अर्वन् असि) शीघ्र गतिवाला होकर (गुह्येन व्रतेन) रक्षा करने योग्य हम से (त्रितः) तीनों लोकों में व्यापक वायु के समान उत्तम मध्यम और अधम, व राजा, शासक और प्रजा तीनों में व्यापक है और (सोमेन) ऐश्वर्य मय राष्ट्र स (समया विपृक्तः) सदा संयुक्त रहता है। (ते) तेरे (दिवि) राजसभा में (त्रीणि बन्धनानि) तीनों प्रकार के बंधन के (आहुः) बतलाते हैं। सूर्य लोक को बांधने वाले तीन बंधन, आकर्षण प्रकाश और प्राण है। परस्पर समाज के तीन बंधन शरीररक्षा, वाणी की प्रतिज्ञा और मानस प्रेम। राजा इन तीनों से बंधा रहे। वह आचार में पवित्र रहे, वाणी में सच्चा रहे और मन में प्रजा के प्रति प्रेमी रहे। सूर्य के द्यौ लोक में तीन बांधने के साधन हैं आकर्षण, तेज और गति या चेतन सामर्थ्य। इसी प्रकार उत्पन्न जीव के भी ज्ञानमय जीवन में तीन बंधन हैं देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण जिनके प्रतिनिधि यज्ञोपवीत के तीन सूत्र हैं।

त्रीणि त ऽआहुर्दिवि वन्धनानि त्रीण्यप्सु त्रीण्यन्तः समुद्रे ।
उतेव मे वरुणश्छन्त्स्यर्वन्यत्रा त ऽआहुः परमं जनित्रम् ॥ १५ ॥

ऋ० १ । १६३ । ४ ॥

भा०—हे राजन् ! हे विद्वन् ! हे आत्मन् ! (दिवि) द्यौ लोक में जिस प्रकार सूर्य के (त्रीणि वन्धनानि) तीन बांधनेवाले बल हैं और (त्रीणि अप्सु) तीन ही बंधन जलों में हैं, अन्न, स्थान और बीज । और इसी प्रकार (त्रीणि अन्तः समुद्रे) तीन ही बंधन अन्तरिक्ष में वृष्टि के उत्पादक हैं मेघ, विद्युत् और गर्जन । उसी प्रकार हे राजन् ! (दिवि) ज्ञान प्रकाश करनेवाली राजसभा में (ते त्रीणि वंधनानि) तेरे तीन प्रकार के बंधन या मर्यादाएँ हैं । (त्रीणि अप्सु) तीन बंधन आप्तजनों या प्रजाओं के बीच में है और (त्रीणि अन्तः समुद्रे) समुद्र के समान अपार अनंत सुखजनक पदार्थों के उत्पादक, राष्ट्र या सेना समुदाय में भी तीन प्रकार के बंधन कहे जाते हैं । हे (अर्वन्) अर्वन् ! राजन् ! विद्वन् ! (उतेव) और (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ होकर तू (मे) मुझ राष्ट्र जन को (छन्त्सि) सन्मार्ग का उपदेश कर (यत्र) जहां जिस कार्य में (ते) तेरा (परमं) परम, सब से उत्कृष्ट (जनित्रं) जन्म या विकास हुआ (आहुः) बतलाते हैं ।

इमा तं वाजिन्नवमार्जनानीमा शफानां सनितुर्निधाना । अत्रा ते भद्रा रशना ऽअपश्यमृतस्य या ऽअभिरक्षन्ति गोपाः ॥ १६ ॥

भा०—हे (वाजिन्) संग्रामशील, ऐश्वर्यवान् ! राजन् ! (ते) तेरे (इमा) ये (अवमार्जनानि) राष्ट्र के कण्टक शोधन करने के उपाय हैं । और (सनितुः) राष्ट्र के विभाग करनेहारे तेरे (शफानां) चरणों या पदों के ये (निधाना) रखने के स्थान या (शफानां निधाना) खुरों के समान आश्रयभूत राज्याङ्गों या अधिकार पदों के लिये खजाने हैं ।

और (अत्र) यहां (ते) तेरे निमित्त (भद्राः) कल्याण करनेवाली (गोपाः) रक्षण करनेवाली (रशनाः) रस्सियों के समान बांधनेवाली मर्यादाएँ हैं (याः) जो (ऋतस्य) सत्य व्यवहार, यज्ञ, राष्ट्र की (अभि-रक्षन्ति) रक्षा करती हैं ।

आत्मानं ते मनसारादजानामवो दिवा पतयन्तं पतङ्गम् ।
शिरो ऽअपश्यम्पथिभिः सुगेभिरेणुभिर्जेहमानं पतत्रि ॥ १७ ॥

भा०—मैं (दिवा) दिन के समय आकाश मार्ग से (पतयन्तं) जाते हुए (पतङ्गम्) सूर्य के समान (ते आत्मानम्) हे राष्ट्रपते ! तेरे आत्मा, स्वरूप को (मनसा) मन से, ज्ञानपूर्वक (आराद्) सदा निकट में ही (अजानाम्) जानता हूं, समीप ही विचारता हूं । और (अरेणुभिः) धूलि आदि से रहित (सुगेभिः) सुगम, सरल (पथिभिः) मार्गों से (जेहमानं) जाते हुए (पतत्रि) नित्य गमन करते हुए (शिरः) तेरे शिर अर्थात् मुख्य भाग को, मुख्य पदपर स्थित व्यक्ति को (अपश्यम्) देखूं । अर्थात् राजा स्वयं साक्षात् आकाश में सूर्य के समान तेजस्वी होकर रक्षा कार्य में रहे । उसका शिर, मुख्य भाग उत्तम विशुद्ध मार्गों से गमन करे । वह सात्विक सन्मार्ग पर चले ।

आत्मा के पक्ष में—हे जीव ! तेरे आत्मा को मैं आकाश में जाते सूर्य के समान जानूं । (सुगेभिः) सुखदायी (अरेणुभिः) राजस् तामस विकारों से रहित (पथिभिः) मार्गों से जाते हुए (शिरः) मुख्य, मनको जाता हुआ देखूं । अर्थात् आत्मा को सूर्य के समान तेजस्वी जानूं और मस्तक को सद्विचारों से युक्त स्वच्छ मार्ग में जाता पाऊं ।

अत्रा ते रूपमुत्तममपश्यं जिगीषमाणमिष आ पदे गोः ।
यदा ते मर्तो ऽअनु भोगमानडादिद्श्लिष्ठ ओषधीरजीगः ॥१८॥

भा०—हे राजन् ! (अत्र) इस (गोः पदे) पृथ्वी के शासनाधिकार पद पर विराजमान (इषः) अन्नादि पदार्थों या सेनाओं को (जिगीषमा-

णम्) विजय करने की इच्छा वाले (ते) तेरे (उत्तमम्) उत्तम (रूपम्) रूप को (अपश्यम्) देखता हूं। और (यदा) जब (ते) तेरे अधीन रहने वाला (मर्त्तः) मनुष्यजन, (भोगम् अनु आनड्) भोग-योग्य सम्पत्ति प्राप्त करता है (आत् इत्) तभी तू (असिष्ठः) बहुत खाने वाला जीव जिस प्रकार (ओषधीः) अन्नादि पदार्थ खाता है उसी प्रकार तू भी (असिष्ठः) शत्रुओं के राज्यों और धनों को सब से अधिक ग्रसन में समर्थ होकर (ओषधीः) संताप देने वाले शत्रुओं को, (अजीगः) ग्रस लेता है।

आत्मा के पक्ष में—हे आत्मन् ! (गोः पदे) वाणी के या गमन योग्य, प्राप्तव्य अपने (पदे) ज्ञानमय स्वरूप पर विजय चाहने वाले तेरे (रूपम्) सुन्दर रूप को मैं देखूं। (ते मर्त्तः) तेरा मरणधर्मा शरीर जब (भोगम् अनु आनड्) भोग को चाहता है तभी (असिष्ठः) बहुत खाने वाला भोक्ता होकर (ओषधीः अजीगः) जीवनाग्नि देनेवाले अन्नादि ओषधियों और उनके समान तापदायी भोगों को ग्रसता है।

अनु॑ त्वा॒ रथो॒ऽ अनु॒ मर्यो॑ ऽअर्व॒न्ननु॒ गावो॒ऽनु॒ भगः॑ क॒नीना॑म्।
अनु॒ व्राता॑स॒स्तव॑ स॒ख्यमी॑युरनु॒ देवा॑ ममिरे वी॒र्य॑न्ते ॥ १६ ॥

भा०—हे (अर्वन्) ज्ञानवन्, व्यापक ! राष्ट्र ! हे राष्ट्रपते ! जिस प्रकार अश्व के पीछे (रथः, मर्यः, गावः) रथ, मनुष्य और अन्य पशु आदि रहते हैं उसी प्रकार (त्वा अनु) तेरे पीछे २ (रथः) रथ आदि यान, एवं रमण योग्य पदार्थ, (अनु मर्यः) तेरे पीछे समस्त मनुष्य, (अनु गावः) तेरे पीछे, समस्त गौ आदि दुधार पशुगण, (अनु कनीनां भगः) तेरे पीछे २ तेरे अधीन कन्याओं का सौभाग्य, (अनु व्रातासः) तेरे अधीन समस्त मनुष्य गण (सख्यम् ईयुः) तेरे अधीन होकर ही मित्रता को प्राप्त होते हैं (देवाः) देवगण, (ते वीर्यम्) तेरे ही बल का (अनु ममिरे) तेरे अनुकूल

निर्माण करते हैं। राजा के सुव्यवस्था कारी रहने पर रथ, जन, पशु, स्त्रियों की रक्षा, मनुष्य संघ, उनके परस्पर मैत्री भाव आदि स्थिर हैं।

हिरण्यशृङ्गोऽयो ऽअस्य पादा मनोजवा अवरऽ इन्द्रऽ आसीत्।
देवाऽ इदस्य हविरद्यमायन्योऽ अर्वन्तं प्रथमो ऽध्यतिष्ठत् ॥२०॥

भा०—(यः) जो (प्रथमः) सब से प्रथम, सर्वश्रेष्ठ, सब से मुख्य होकर (अर्वन्तम्) व्यापक शक्ति वाले, अतिवेगवान् इस राष्ट्र पर (अधि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता होकर विराजता है (देवाः) देव, विद्वान् एवं विजयशील शूरवीर पुरुष भी (अस्य) इसके (हविरन्नम्) अन्न के समान भोग्य वस्तु (आयन्) बन जाते हैं। (हिरण्यशृङ्गः) लोह के बने हिंसा साधनों, हथियारों से युक्त (इन्द्रः) इन्द्र, शत्रुनाशक सेनापति भी (अस्य अवरः) इसके अधीन नीचे पद पर (आसीत्) होता है। और (अस्य) इसके (मनोजवाः पादाः) मनके समान अति वेग वाले पैरों के समान इसके शेष अङ्ग अर्थात् नीचे के पदाधिकारी भी (मनोजवाः) इसके मन को अनुकूल वेग से कार्य करने वाले और (अयः) सुवर्णादि वेतन से बद्ध हैं।

ईर्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सꣳ शूरणासो दिव्यासो ऽअत्याः।
हꣳसा ऽइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्दिव्यमज्मम श्वाः ॥ २१ ॥

भा०—(ईर्मान्तासः) ईर्म अर्थात् बाहुरूप से पृथ्वी के परले अन्न को विजय करनेवाले, (सिलिकमध्यमासः) कृश पेट वाले, अथवा अपने बीच मुखिया को रखनेवाले ऐसे (शूरणासः) शीघ्र युद्धविजयी, (दिव्यासः) तेजस्वी (अत्याः) नित्य गतिशील, वेगवान्, (अश्वाः) अश्वारोहीगण (यद्) जब (दिव्यम्) विजय करने योग्य (अज्मम्) संग्राम (सम् आक्षिषुः) प्राप्त करते हैं तब (हंसा इव) पंक्तिबद्ध सारस पक्षियों के समान (श्रेणिशः) श्रेणि, दल या दस्ता बना २ कर (यतन्ते) युद्ध करते हैं।

अध्यात्म योगियों के पक्षमें—(ईर्मान्तासः) प्रेरित प्राप्त अन्न वाले, सिद्धान्त के विज्ञ, या उद्देश्य तक पहुँचे हुए (सिलिकमध्यमासः) मध्यम भाग जिनके क्षीण, कृश हो गये हैं ऐसे (शूरणासः) अति वीर, (अत्याः) नित्य गतिशील आत्मा, (अश्वा.) ज्ञानी होकर यदा (दिव्यम्) दिव्य (अज्मम्) 'अजानि' अर्थात् मोक्ष को (समाक्षिपुः) प्राप्त होते हैं तब (हंसा इव) हंसों के समान (श्रेणिशः) श्रेणि बना २ कर एक दूसरे के पीछे सन्मार्ग पर चलने का अभ्यास करते हैं ।

'ईर्मान्तासः'—ईर्मौ इति व्याहू । समीरितान्तः पृथ्व्यन्ताः वा (निरु०)। 'सिलिकमध्यमासः'—संसृत मध्यमाः, शीर्षमध्यमाः (निरु०) संलग्न मध्यमाः इति दया० । मध्ये निविडा इति सायणः । संश्लिष्टोदरा, निरुदरा इति उवटः । कृष्णोदराः इति महीधरः ।

'हंसाः'—'घ्नन्त्यध्वानं' इति (निरु०)।

'अज्मम्'—अजनिम्, आजिम् (निरु०)। अजान्ति गच्छन्ति यम् मार्गम् इति दया० । अज्मम् संग्रामम् इति मही० ।

'श्रेणिशः'—बद्धपंक्तयः इति दया० । शीघ्रधावनाय श्रेणिशः पंक्ती भूय । इति सा० ।

तव शरीरं पतयिष्णुर्वन्तवं चित्तं वातऽ इव ध्रजीमान् ।
तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्भुराणा चरन्ति ॥ २२ ॥

भा०—हे (अर्वन्) वीर पुरुष ! (तव शरीरम् । तेरा शरीर (पतयिष्णु) वेग से जाने में समर्थ हो । (तव चित्तं) तेरा चित्त (वातः इव) वायु के समान (ध्रजीमान्) बहुत अधिक बल से युक्त हो । तेरे (शृङ्गाणि) सींगों के समान हिंसा करने वाले सेना दल (अरण्येषु) जंगलों में (पुरुत्रा) नाना स्थानों पर (विष्ठिता) विविधरूपों में स्थित होकर (जर्भुराणाः) खूब परिपुष्ट होते हुए, अथवा राष्ट्र का निरन्तर धारण पालन करते हुए (चरन्ति) विचरें ।

उप॒ प्रागा॒च्छस॑नं वा॒ज्यर्वाँ॑ दे॒वद्री॑चा॒ मन॑सा॒ दीध्या॑नः ।
अ॒जः पु॒रो नी॑यते॒ नाभि॑र॒स्यानु॑ प॒श्चात्क॒वयो॑ यन्ति रे॒भाः ॥ २३ ॥

भा०—(वाजी अर्वा) वेगवान् अश्व के समान तीव्र गति होकर बलवान् पुरुष (देवद्रीचा) देव अर्थात् विजयशील पुरुषों और विद्वानों से प्राप्त होनेवाले (मनसा) ज्ञान से (दीध्यानः) स्वयं प्रकाशित, तेजस्वी होता हुआ (शसनम्) शासन-कार्य पर (उप प्र अगात्) नियुक्त होता है। (अजः) शत्रुओं को दूर हटाने वाला और उन पर शर वर्षा करने वाला वीर पुरुष (नाभिः) सब को बांधने या व्यवस्थित करने में समर्थ होकर (अस्य) इस राष्ट्र के (पुरः) आगे, मुख्य पद पर (नीयते) लाकर बैठाया जाता है। (पश्चात्) पीछे उसके पोषक रूप से (रेभाः) विद्याओं के उपदेश करने में कुशल (कवयः) मेधावी, विद्वान् पुरुष (अनु यन्ति) अनुगमन करते हैं, उसका साथ देते हैं।

उप॒ प्रागात्पर॒मं यत्स॒धस्थ॒मर्वाँ॑२॥ अच्छा॑ पि॒तरं॒ मा॒तर॑ं च ।
अ॒द्या दे॒वाञ्जु॒ष्टत॑मो॒ हि ग॒म्याऽ अथा॑शा॒स्ते द्रा॒शुषे॒ वार्या॑णि ॥२४॥

भा०—(अर्वान्) ज्ञानी, बलवान् पुरुष, (यत्) जब (परमम्) सब से उत्तम (सधस्थम्) एकत्र रहने के स्थान, सभा भवन, देश या स्थान को (उप अगात्) प्राप्त होता है और जब (पितरं मातरं च) पालक पिता और मानयोग्य माता को भी साक्षात् करता है। (अद्य) तब वह (जुष्टतमः) अति प्रेमयुक्त होकर (देवान्) देव, विद्वान् पुरुषों को (गम्याः) प्राप्त होता है। (अथ) और (दाशुषे) दानशील पुरुष के लिये (वार्याणि) उत्तम २ पदार्थों को (आशास्ते) प्रदान करता है।

अध्यात्म में—जीव ज्ञानी होकर (परमं सधस्थं) परम एकत्र होने के स्थान, मोक्ष को प्राप्त होता है, वहां वह पिता परमेश्वर और माता

प्रकृति का साक्षात् ज्ञान करता है। देव, दिव्य पदार्थों और भोगों को भी पाता है। दानशील परमेश्वर से नानावरण योग्य पदार्थ प्राप्त करता है।

समिद्धो ऽअद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥ २५॥

ऋ० १०। ११०। २॥

[२५–३६] जमदग्नी रामो वा जामदग्न्य ऋषिः। आप्रियः समित्तनूनपादादयो देवताः। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (जातवेदः) अग्ने! ज्ञानवन्! जातप्रज्ञ! विद्वन्! (अद्य) आज तू (समिद्धः) अच्छी प्रकार ज्ञान से अग्नि के समान प्रकाशित एवं प्रज्वलित, तेजस्वी, स्वयं (देवः) दानशील राजा के समान, सर्वद्रष्टा होकर (मनुषः दुरोणे) मनुष्यों के दुःख से रक्षण करने योग्य गृह के समान इस राष्ट्र में (देवान् यजसि) विद्वान् एवं विजयशील शूरवीर पुरुषों को (यजसि) आदरपूर्वक सुसंगत कर। और (मित्रम्) मित्र राजा को भी (आ वह च) प्राप्त कर। (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (त्वं) तू (दूतः) शत्रु को उपताप देने में समर्थ, (कविः) क्रान्तदर्शी और (प्रचेताः) उत्कृष्ट ज्ञानवान् (असि) होकर रह।

सामान्य विद्वान् के पक्ष में—वह ज्ञानवान् होकर मनुष्य के गृह में अग्नि के समान (देवान्) विद्वानों और प्रेमी पुरुषों का सत्कार करे, मित्र को प्राप्त करे। मेधावी, ज्ञानी बने।

दूत के पक्ष में—स्वयं तेजस्वी होकर राजाओं को (यजसि) संगत करे, मित्र राजा को प्राप्त करे।

तनूनपात्पथऽऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ २६॥

ऋ० १०। ११०। २॥

भा०—हे (तनूनपात्) विस्तृत राष्ट्र को पतन न होने देने वाले, उसके रक्षक ! हे (सुजिह्व) उत्तम वाणी वाले ! तू (ऋतस्य) सत्य के (यानान् पथः) आचरण करने योग्य, चलने योग्य मार्गों को (मध्वा) मधुर उपदेश रस से (सम् अञ्जन्) अच्छी प्रकार प्रकाशित करता हुआ (स्वदय) सबके लिये रुचिकर बना। अर्थात् धर्म के कार्यों को उत्तम आकर्षक भाषा में लोगों के सामने रखकर उन पर उनको चलने की प्रेरणा कर। और (धीभिः) अपनी बुद्धियों से (मन्मानि) मनन करने योग्य ज्ञातव्य विषयों को (उत) और (यज्ञम्) परस्पर संगत राष्ट्र को, समाज को, अथवा उपास्य देव को (ऋन्धन्) अति समृद्ध, सुशोभित, करता हुआ, (नः) हमारे (अध्वरम्) हिंसा से रहित या अविनाशी यज्ञ, राष्ट्रपालन के कार्य को (देवत्रा च) देवों, विद्वानों, कार्यकुशल, व्यवहार श्रेष्ठ पुरुषों के आधार पर (कृणुहि) सम्पादन कर।

नराशꣳसस्य महिमानमेषामुपस्तोषाम यजतस्य यज्ञैः।
ये सुक्रतवः शुचयो धियन्धाः स्वदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥२७॥

भा०—(यज्ञैः) सत्संग आदि उत्तम, आदर सत्कार के कार्यों से (यजतस्य) सत्कार करने योग्य, (नराशंसस्य) समस्त पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय, प्रजापालक या विद्वान् उत्तम पुरुष के (महिमानम्) महिमा, महान् सामर्थ्य की हम (एषाम्) इन प्रजाजनों के बीच (उपस्तोषाम) वर्णन करें। (ये) जो (सुक्रतवः) उत्तम कर्म और ज्ञान वाले (शुचयः) शुद्ध, निष्कपट, (धियन्धाः) बुद्धिमान्, उत्तम कर्मशील, (देवाः) विद्वान् अभिलाषुक होकर (उभयानि) शरीर और आत्मा के सुखकारी अथवा राजा और प्रजा दोनों के हितकारी (हव्या) प्राप्त करने योग्य पदार्थों या पदाधिकारों का (स्वदन्ति) भोग करते हैं।

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ २८ ॥
ऋ० १० । ११० । ३ ॥

भा०—हे (अग्ने) विद्वन् ! अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! तू (आजुह्वानः) सब अपने समान बल वालों से स्पर्द्धा किया जाता है या दुःखितों से पुकारा जाता है अथवा सबको स्वयं अपने राष्ट्र में या स्पर्द्धा में बुलाने हारा, (ईड्यः) सबके आदर योग्य, (वन्द्यः) सबके अभिवादन करने योग्य, (वसुभिः सजोषाः) राष्ट्रवासी प्रजाजनों का समान रूप से प्रेम पात्र, (देवानां) विद्वानों, राजाओं में से (यह्वः) महान् (होता) सबको योग्य अधिकार, मान, पद और धन का दाता, (यजीयान्) सबको उत्तम सुसंगत करने वाला, होकर (एनान्) इन सब पुरुषों को (इषितः) प्रेरित या स्वयं अभिलाषा युक्त होकर (यक्षि) सुसंगत कर।

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते ऽअग्रे ऽअह्नाम्।
व्युं प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो ऽअदितये स्योनम् ॥ २६ ॥

ऋ० १० । ११० । ४ ॥

भा०—जिस प्रकार (अह्नाम् अग्रे) दिनों के पूर्व भाग में वेदि पर बिछाने के लिये पूर्वाभिमुख आसनार्थ कुशा बिछाई जाती है उसी प्रकार (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी की (प्रदिशा) समस्त उत्तम दिशाओं में या उत्तम शासन से (प्राचीनं) उत्कृष्ट दिशा में जाने वाला उन्नतिशील उत्तम ज्ञानवान् प्रजाजन (वस्तोः) बसने के लिये (अह्नाम् अग्रे) दिनों के पूर्व भाग में (वस्तोः) सूर्य के आच्छादक, विस्तृत प्रकाश के समान (वृज्यते) लाया जाता है। वह (देवेभ्यः) विजयी, वीर पुरुषों विद्वानों और (अदितये) आदित्य के समान तेजस्वी राजा के लिये भी (वितरं) विस्तृत (स्योनम्) सुखकारी (वरीयः) धन ऐश्वर्य को (वि प्रथते उ) विविध प्रकार से फैलाता है।

व्यन्त्स्वतीरुर्विया विश्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।

देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ३० ॥

ऋ ०१० । ११० । ५ ॥

देवीर्द्वारो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(न) जिस प्रकार (पतिभ्यः) अपने पतियों के लिये (जनयः) स्त्रियें, (देवीः) गृहदेवियें (व्यचस्वतीः) विविध प्रकार से गमन करने वाली (उर्विया) सब प्रकार से आश्रय लेती हैं और उसके प्रति अपने को समर्पण कर देती हैं, उसके प्रति अपने अङ्गों को प्रकट करती हैं, उसी प्रकार (द्वारः) गृह के द्वार भी (व्यचस्वतीः) विविध प्रकार के आवागमन करने वाले, (उर्विया) अपने दो बड़े बड़े कपाटों को खोलें । हे (देवीः) पतियों की कामना करने वाली गृह देवियो ! आप (बृहतीः) विशाल हृदयवाली, (विश्वमिन्वाः) समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली हो । अतः (देवेभ्यः) तुमारी अभिलाषा करने वाले पुरुषों के लिये ही तुम (सुप्रायणाः) सुख पूर्वक प्राप्त होने वाली होकर सुखप्रद उत्तम अयन अर्थात् गृह बनाकर (भवत) रहो । इसी प्रकार हे (द्वारः देवीः) प्रकाश वाले द्वारो ! तुम (बृहतीः) बड़े २ और (विश्वमिन्वाः) सबको अपने भीतर गुजारनेहारे हो । तुम (देवेभ्यः) उत्तम विद्वान् पुरुषों के लिये (सु-प्र-अयनाः भवत) सुख से आने-जाने के साधन होवो ।

सेनाओं के पक्षमें—जैसे स्त्रियें अपने पतियों के प्रति अपने को खोलती हैं उसी प्रकार (व्यचस्वतीः) विविध देशों में जानेवाली, अथवा विविध प्रकार की चालों और व्यूहों में जानेवाली, आप सेनाएँ (पतिभ्यः) अपने सेनापतियों के प्रति (उरु विश्रयन्ताम्) अपने विशाल स्वरूप को प्रकट करें । हे (देवीः) विजयेच्छु, (द्वारः) शत्रुओं को वारण करने वाली सेनाओ ! (बृहतीः) बड़ी भारी (विश्वमिन्वाः) पूर्ण राष्ट्र या शत्रु-देश में और युद्धभूमि में व्यापने वाली होकर भी (देवेभ्यः) विजिगीषु

पुरुषों के लिये (सुप्रायणाः भवत) सुख से अपने २ उत्तम अयन अर्थात् नियत स्थान में स्थित रहो ।

'सुप्रायणाः'—'अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः' । गीता ।

आ सुष्वयन्ती यजतेऽ उपाकेऽ उषासानक्ता सदतां नि योनौ ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियꣳ शुक्रपिशं दधाने ॥३१॥

उषासानक्ते देवते । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(उषासानक्ता) दिन और रात्रि के समान स्त्री और पुरुष (उपाके) परस्पर एक दूसरे के पास आकर (यजते) सुसंगत होकर (सुष्वयन्ती) लेटते हुए, (दिव्ये) परस्पर की कामना करके (योषणे) परस्पर संगत होनेवाले दोनों (बृहती) प्रजा को वृद्धि करने वाले, (सुरुक्मे) सुख पूर्वक एक दूसरे को चाहने वाले, कान्तिमान्, होकर (श्रियम्) लक्ष्मी को और (शुक्रपिशं) वीर्यांशों को (दधाने) स्थापन और धारण करते हुए (योनौ) एक ही गृह में (आ निसदताम्) विराजें (२) उसी प्रकार राष्ट्र में दिन रात्रि के समान उषाः और नक्त नाम की दो संस्थाएं (यजते उपाके) परस्पर मिल कर रहने के स्थान में समीप २ आकर (सुरुक्मे) अति रोचन स्वरूप धारण करती हैं और (शुक्रपिशं दधाने) राष्ट्र के शुद्ध स्वरूप को धारण करती हैं। इसी प्रकार राजा प्रजा परस्पर एक ही राष्ट्र में लक्ष्मी, धारण करके रहें ।

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै ।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥३२॥

भा०—(दैव्या) विद्वानों में कुशल, (होतारा) उत्तम शिक्षा के देनेवाले, (सुवाचा) शुभ वाणियों के बोलने वाले, (मनुषः यजध्यै) मनुष्यों को परस्पर सुसंगत रखने के लिये (यज्ञं मिमाना) यज्ञ, सुव्य-

वस्थित राष्ट्र का निर्माण करते हुए (विदथेषु) उत्तम विज्ञानों और लाभ के कार्यों में (अ चोदयन्ता) भली प्रकार प्रेरणा करते हुए (कारू) क्रिया कुशल होकर (प्राचीनं ज्योतिः) प्राचीन, पुरातन, सनातन से प्राप्त वेदमय, ज्ञानमय ज्योति को (प्रदिशा) अपने उपदेश से (दिशन्ता) उपदेश करते हुए दो विद्वान् रहें ।

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ स्योनꣳ सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥ ३३॥

भा०—(भारती) भारती, (इडा) इडा, और (सरस्वती) सरस्वती (तिस्रः देवीः) ये तीनों दिव्यगुण वाली, ज्ञान प्रकाश से युक्त संस्थाएं (मनुष्वत्) मननशील पुरुष के समान (चेतयन्ती) ज्ञान का प्रकाश करनेवाली और (स्वपसः) उत्तम ज्ञानो और कर्मों को सम्पन्न करने वाली होकर (इह) यहां (नः यज्ञम्) हमारे यज्ञ और राष्ट्र को (तूयम्) शीघ्र (एतु) प्राप्त हों । (इदं बर्हिः) इस लोक को (स्योने) सुखपूर्वक (आ सदन्तु) आसन के समान सुशोभित करें ।

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा ।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ३४॥

भा०—(यः) जो परमेश्वर (जनित्री) संसार को उत्पन्न करने वाले (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी या सूर्य और पृथिवी (इमे) इन दोनों को और (विश्वा भुवना) समस्त लोकों, और प्राणियों को (रूपैः) नाना रूपों और रुचिकर पदार्थों से (अपिंशत्) प्रत्येक अवयव अवयव में बनाता है । हे (होतः) ज्ञानप्रद ! तू (इषितः) प्रेरित होकर (यजीयान्) नाना पदार्थों को सुसंगत करने में कुशल होकर (तम् त्वष्टारम्) उस निर्माणकर्त्ता, विधाता (देवं) देव, परमेश्वर की (अद्य) आज, सदा, (इह) इस राष्ट्र, या संसार में (विद्वान्) सबको भली प्रकार जान

कर (यक्षि) उपासना कर, उसके बनाये पदार्थों की रचना के अनुसार इस राष्ट्र में भी नाना कौशल के पदार्थों को सुसंगत कर और बना ।

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथऽ ऋतुथा हवीꣳषि ।
वनस्पतिः शमिता देवोऽ अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ ३५ ॥

भा०—हे विद्वन् ! (देवानां) विद्वानों के (पाथः) पान, भोजन करने योग्य जल, दुग्ध और (हवींषि) अन्नों को (ऋतुथा) ऋतुओं के अनुसार (त्मन्या) स्वयं अपनी बुद्धि से (सम् अञ्जन्) प्रकट करता हुआ (उप अवसृज) प्रदान कर । इसी प्रकार (हव्यं) हवन करने योग्य चरु को (मधुना) मधुर गुण युक्त (घृतेन) घृत से (सम् अञ्जन्) मिला कर (उप अवसृज) आहुति प्रदान कर जिससे (वनस्पतिः) किरणों का पालक सूर्य, और (शमिता देवः) शान्तिदायक मेघ और (देवः अग्निः) तेजस्वी, आग, तीनों (स्वदन्तु) ग्रहण करें ।

राष्ट्र और गृहपक्ष में—विद्वान् पुरुष मधुर घृत आदि से अन्नों को मिला-कर ऋतु २ के अनुसार अन्नों का प्रदान करे । (वनस्पतिः) वनस्पति के समान सर्वाश्रय राजा, या गृहपति (शमिता) शान्तिप्रद ब्राह्मण विद्वान् और (अग्निः देवः) अग्रणी सेनापति आदि प्रमुख पुरुष उन सब पदार्थों को यथावत् उपभोग करें । उन मुख्य पुरुषों का भोजन विद्वान् वैद्य के निरीक्षण में हो, वह ऋतु अनुसार पुष्टिकारी पदार्थों के साथ मिलाकर उनको भोजन दे ।

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः । अस्य होतुः प्रदिशऋतस्य वाचि स्वाहा कृतꣳ हविरदन्तु देवाः ॥ ३६ ॥

भा०—(अग्निः) अग्नि जिस प्रकार (यज्ञं वि अमिमीत) यज्ञ को विविध रूपों में प्रकट करता है । और वह अग्नि ही (देवानां पुरोगाः अभवत्) समस्त वायु आदि दिव्य पदार्थों का अग्रगामी है । और (अस्य-

वाचि स्वाहा कृते हविः देवाः अदन्ति) इस अग्नि के ज्वाला में स्वाहा किये हुए हविष् को अन्य वायु, जल आदि भी ग्रास करते हैं उसी प्रकार (अंसिः) अग्रणी ज्ञानवान् पुरुष जो (देवानाम्) विद्वानों और विजय की कामना करने वाले और व्यवहार कुशल पुरुषों का (पुरोगाः) अग्रगामी, नेता (अभवत्) हो जाता है। वह (सद्यः जातः) शीघ्र ही सामर्थ्यवान् होकर (यज्ञम्) परस्पर सुसंगत, सुव्यवस्थित, प्रजापालन करने वाले राष्ट्र का (वि अमिमीत) विशेष २ रूप से और विविध प्रकारों में निर्माण कर लेता है। (अस्य होतुः) सबको यथा योग्य पदाधिकार प्रदान करनेवाले इस विद्वान् के (प्रदिशि) उत्कृष्ट शासन में और (ऋतस्य वाचि) सत्य व्यवहार, या ज्ञान, शासन विधान की वाणी, या आज्ञा के अधीन रहकर (देवाः) समस्त सुख चाहने वाले विद्वान् शासक सैनिक और प्रजागण, (स्वाहाकृतं) उत्तम रीति से न्यायानुकूल या आदर से प्रदान किये (हविः) अन्न और भोग्य पदार्थ को (अदन्तु) भोग करें।

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥३७॥

मधुच्छन्दा ऋषिः। अग्निर्देवता। गायत्री। षड्जः॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (उषद्भिः) दाहकारी किरणों के सहित उदित होता है उसी प्रकार जो (मर्याः) मनुष्य (अकेतवे) अज्ञानी पुरुष को (केतुम्) ज्ञान प्रदान करते हैं और जो (अपेशसे) धन हीन पुरुष को (पेशः) धन प्रदान करते हैं उन (उषद्भिः) अज्ञान और दारिद्र्य का नाश करने वाले तेजस्वी पुरुषों के साथ २ तू भी हे राजन्! (अकेतुम्) प्रज्ञाहीन पुरुष के (केतुं कृण्वन्) प्रज्ञा प्रदान करता हुआ और (अपेशसे) सुवर्णादि से रहित पुरुष को (पेशः कृण्वन्) सुवर्ण प्रदान करता हुआ तू (अजायथाः) प्रसिद्ध हो।

जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद्वर्मी याति समदामुपस्थे।

अनाविद्धया तन्वा जय त्वꣳ स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्त्तु ॥३८॥

ऋ० ६ । ७५ । १ ॥

पायुर्भारद्वाज ऋषिः । सन्नाहादीनि संग्रामाङ्गानि देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यत्) जब (वर्मी) कवच पहने हुए योद्धाजन (समदाम्) संग्रामों के (उपस्थे) समीप (याति) जाता है तब (प्रतीकम्) सेना का मुख (जीमूतस्य) मेघ के (इव) समान होता है । अर्थात् जिस प्रकार मेघ निरन्तर बिजुलियों, गर्जनाओं और बराबर पड़नेवाली बौछारों से भयंकर होता है उसी प्रकार आग्नेयास्त्रों की लपट, शस्त्रों की चमक, उनके गर्जन और शस्त्रों की वर्षा से सेना का मुख भी बड़ा विकट भयंकर होता है । अथवा (प्रतीकं) उस कवचधारी वीर का ही स्वरूप मेघ के समान होता है । शरीर पर मेघ के समान श्याम कवच और हाथ में बिजुली के समान तीव्र तलवार और वर्षण करने को शस्त्रास्त्र होते हैं । हे वीर पुरुष ! (त्वं) तू ऐसे रण संकट में भी (अनाविद्धया) बिना चोट खाये, सुरक्षित (तन्वा) शरीर से, या अनष्ट विस्तृत सेना से (जय) विजय कर । (वर्मणः) कवच का (सः महिमा) वह महान् सामर्थ्य ही (त्वा पिपर्तु) तेरी रक्षा करे ।

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम ।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥ ३९ ॥

ऋ० ६ । ७५ । २ ॥

भा०—(धन्वना) धनुष से हम (गाः जयेम) गौओं और भूमियों को विजय करें । (धन्वना आजिम्) धनुष के बल से हम संग्राम का (जयेम) विजय करें । (धन्वना) धनुष के बल से (तीव्राः) अति तीव्र आनेवाली (समदाः) मद और हर्ष से भरी शत्रु सेनाओं का (जयेम) विजय करें । (धनुः) धनुष (शत्रोः) शत्रु के (अपकामम्)

मन चाहे फल का नाश (कृणोति) कर देता है। और (धन्वना) धनुष से हम (सर्वाः प्रदिशः) समस्त दिशाओं का (जयेम) विजय करें।

वद॒यन्ती॒वेदा ग॑नीगन्ति॒ कर्णं॑ प्रि॒यꣳ सखा॑यं परिषस्वजा॒ना ।
योषे॑व शिङ्क्ते॒ वित॒ताधि॒ धन्व॒न् ज्या इ॒यꣳ समने॒ पार॑यन्ती ॥४०॥

ऋ० ६ । ७५ । ३ ॥

भा०—(योषा इव) स्त्री जिस प्रकार (वदयन्ती इव इत्) मानों कुछ कहती हुई सी (कर्णम् आगनीगन्तिं) कान के समीप आती और (प्रियं सखायम्) अपने प्यारे सखा, पति को (परि-सस्वजाना) आलिंगन करती हुई (समने पारयन्ती) एक चित्त हो करने योग्य गृहस्थोचित कृत्य पुत्रोत्पत्ति आदि कार्यों के पार लगा देती है उसी प्रकार (इयम् ज्या) यह धनुष की डोरी, (अधिधन्वन्) धनुष पर (विततां) कसी हुई (वदयन्ती इव इत्) मानो कुछ कहती हुई सी (कर्णम् आगनीनन्ति) कान के पास तक आती है। और अपने (सखायं प्रियं परि सस्वजाना) मित्र के समान प्रिय धनुर्दण्ड को आलिंगन करती हुई, (शिङ्क्ते) ध्वनि करती है वही (समने) संग्राम में (पारयन्ती) पार पहुंचा देती है या पालन करनेवाला या पूर्ण सामर्थ्यवान् करती है।

ते॑ऽ आचरन्ती॒ समने॑व॒ योषा॑ मा॒तेव॑ पु॒त्रं बि॑भृ॒तामुपस्थे॑। अप॒ शत्रू॑न्विध्य॒ ताꣳ सं वि॑दा॒नेऽ आर्त्नी॑ऽ इ॒मे वि॑ष्फु॒रन्ती॑ऽ अमित्रा॑न् ॥४१॥

ऋ० ६ । ७५ । ४ ॥

भा०—(समना योषा इव) एक चित्त होकर रहने वाली प्रियतमा स्त्री अपने पति की और (माता इव) माता दोनों (सं विदाते) परस्पर मिलकर अपने उस ही प्रेमपात्र (पुत्रं) पुत्र को (उपस्थे) अपनी गोद या क्रोड़ में आलिंगन कर (बिभृताम्) धारण करती हैं। उसी प्रकार (इमे आर्त्नी) ये दोनों धनुष की डोरियां भी धनुर्दण्ड को अथवा

(पुत्रं) पुरुषों की रक्षा करने वाले वीर सेनापति को (विभृताम्) पोषण करती हैं । और (ते) वे दोनों (आचरन्ती) उसके दोनों तरफ पत्नी और माता के समान रक्षक और सेवक रूप से आचरण करनेवाली होकर (तान् शत्रून् अपविध्य) उन शत्रुओं को दूर से ही ताड़न करके और (अमित्रान्) शत्रुओं को (विस्फुरन्ती) विविध प्रकारों से विनष्ट करती हुई राजा की (बिभृताम्) रक्षा करें । इसी से धनुर्व्यूह की दोनों सेनाओं का भी वर्णन कर दिया है ।

बह्वीनां पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चाकृणोति समनावगत्य ।
इषुधिः सङ्काः पृतनाश्च सर्वाः पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूतः ॥४२॥

भा०—(बह्वीनां पिता) बहुतसी कन्याओं का पिता और जिसके (बहुः पुत्रः) बहुत से पुत्र भी हों वे सब बच्चे मिल कर जिस प्रकार (समना अवगत्य) एकत्र होकर मिलने के स्थान में आकर (चिश्चा कृणोति) चीं चां करते हैं उसी प्रकार (इषुधिः) बाणों को धारण करने वाला तूणीर या तरकस (बह्वीनां पिता) बहुत से तीरों का 'पिता' पालक है । (अस्य पुत्रः बहुः) इसके गर्भ से निकलने वाले पुत्र भी बाणरूप (बहुः) संख्या में बहुत से हैं । वे सब (समना अवगत्य) युद्ध स्थान में आकर (चिश्चा कृणोति) च, चा, इत्यादि ध्वनि करता है। वह (इषुधिः) तरकस (सर्वाः) समस्त (सङ्काः) संघ बना कर खड़ी हुई (पृतनाः) समस्त शत्रु सेनाओं को (पृष्ठे निनद्धः) पीठ पीछे बंधा रह कर भी (प्रसूतः सन्) जब अपने गर्भ से बाणों को पैदा करता है तब शत्रु का (जयति) विजय कर लेता है ।

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः ।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ॥४३॥

भा०—(सु-सारथिः) उत्तम सारथि, कोचवान्, रथका चलाने वाला,

(रथे तिष्ठन्) रथ पर बैठा हुआ भी (यत्र यत्र कामयते) जहां जहां भी चाहता है वहां २ (वाजिनः) वेगवान् अश्वों को (पुरः नयति) अपने आगे २ लेजाता है। (मनः) मन जिस प्रकार इन्द्रियों को अपने वश रखता है उसी प्रकार (रश्मयः) रासें (पश्चात्) घोड़ों को पीछे से (अनु यच्छन्ति) नियम में बांधे रहती हैं। हे विद्वान् पुरुषो ! (अभीशूनां) इन मन की प्रवृत्तियों के समान वेग से सब तरफ लेजाने वाली रासों के ही (महिमानम्) महान् सामर्थ्य की (पनायत) स्तुति करो उनको ही बड़े महत्व का जानो। उनही के वश करने के कार्य को बड़ा आवश्यक जानो।

अध्यात्म में—मन रासें रूप है। उसकी ही सब महिमा है कि वह इन्द्रियों को वश करता है। इन्द्रियों को वश करने के लिये भी मनको वश करना बड़ा आवश्यक कार्य है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
बुद्धीन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्विचक्षणाः ॥
काठकोपनिषत् वल्ली ३। ३,४ ॥

तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः सह वाजयन्तः।
अवक्रामन्तः प्रपदैरमित्रान् क्षिणन्ति शत्रूँरनपव्ययन्तः॥४४॥
ऋ० ६। ७५। ७ ॥

भा०—(वृषपाणयः) शस्त्रों के वर्षण करने वाले, धनुषों को हाथ में लिये वीर पुरुष (तीव्रान् घोषान् कृण्वते) तीव्र, कर्णकटु शब्दों को करते हैं। इसी प्रकार (रथेभिः सह) रथों के साथ २ (वाजयन्तः) वेग से जाने हारे (अश्वाः) घोड़े भी (अवक्रामन्तः) भागते २ भी

(प्रपदैः) अगले पाओं से (अनपव्ययन्तः) स्वामी का अपव्यय न करते हुए, अथवा–स्वयं दूर न भागते हुए, खड़े रहकर भी, या स्वयं नष्ट न होते हुए भी (अमित्रान् शत्रून्) मित्रों से भिन्न, द्वेषी शत्रुओं को (क्षिणन्ति) विनाश करते हैं।

रथवाहणꣳ हविरस्य नाम यत्रायुधं निहितमस्य वर्म।
तत्रा रथमुपशग्मꣳ सदेम विश्वाहा वयꣳ सुमनस्यमानाः॥४५॥

ऋ० ६ । ७५ । ७ ॥

भा०—(यत्र) जिस रथ पर (रथवाहनं) रथ को चलाने योग्य उपकरण (हविः) खाने पीने, पहनने की अन्नादि सामग्री, (नाम) शत्रुओं का नमाने वाले (आयुधं) शस्त्र अस्त्र, और (अस्य) इस वीर सेनापति, रथी का (वर्म) कवच भी (निहितम्) रखा जाता है (तत्र) उस (शग्मं) सुखकारी (रथम्) रथ को (वयम्) हम सब (सुमनस्यमानाः) उत्तम मन वाले, शुभ चित्त होकर (विश्वाहा) सब दिनों (उप सदेम) प्राप्त हों।

अध्यात्म में—(रथम्) रस स्वरूप उस आत्मा को हम प्राप्त हों वही (रथवाहनं) रस को प्राप्त कराने हारा है। जिसमें (आयुधम्) सब प्रकार के आनन्द (वर्म) परम रक्षा स्थान और (हविः) परम उपादेय ज्ञान भरा है।

स्वादुष्संसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः।
चित्रसेना इषुबला अमृधाः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः॥४६॥

ऋ० ६ । ७५ । ९ ॥

भा०—(स्वादु-संसदः) स्वादु, रसवान्, उत्तम पदार्थों को सब मिलकर आनन्द लाभ करने हारे, अथवा–स्वादु अर्थात् सुख से एक स्थान पर खड़े हुए, (पितरः) राष्ट्र पालन करने में समर्थ, (वयोधाः) बल वीर्य के धारण करने वाले, (कृच्छ्रेश्रितः) संकट समय में विपत्तियों में रहकर

भी (शक्किवन्तः) शक्तिमान्, सदा वलवान्, या शक्ति नाम अष्टचक्रा तोपों को धारण करने वाले (गभीराः) गम्भीर स्वभाव वाले (चित्र सेनाः) नाना प्रकार की सेनाओं के स्वामी (इषुवलाः) अस्त्रों द्वारा फेंकेजाने वाले वाण आदि के वल से युद्ध करने में कुशल, (अमृध्राः) अहिंसनीय, दृढ़ शरीर, (सतोवीराः) विद्यमान सेनाके वीच में विद्यमान, अथवा अति विस्तृत, वलवान्, वीर पुरुषों से युक्त, (व्रातसाहाः) वीर समूहों भी पराजय करने में समर्थ (उरवः) विशाल वाहुओं और शरीर वाले हों ।

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवी ऽअनेहसा ।
पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नो ऽअघशंसस
ऽईशत ॥ ४७ ॥ ऋ० ६ । ७५ । १० ॥

भा०—(ब्राह्मणासः) ब्रह्म के जाननेहारे वेदज्ञ विद्वान् और (पितरः) पालकजनः क्षत्रिय लोग (सोम्यासः) सोम अर्थात् राष्ट्र के हितकारी और सौम्य स्वभाव के हों । वे दोनों (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि या सूर्य और पृथिवी के समान प्रकाशक और सब के आश्रय (शिवे) कल्याणकारी, (अनेहसा) निष्पाप, बुरे कर्मों से रहित हों । (पूषा) सर्व पोषक राजा और (ऋतावृधः) सत्य व्यवहार और यथार्थ, ज्ञान 'ऋत' सत्य ज्ञान के प्रतिपादक, या वेद के धर्म के वढ़ानेहारे जन (नः) हमें (दुरितात्) दुष्ट आचरणों से (पातु) वचावें और (रक्ष) पालन करें । (अघशंसः) पाप की शिक्षा देनेवाला जन (नः माकिः ईशत) हम पर कभी स्वामी न हो, वह कभी अधिकार प्राप्त न करे ।

सुपर्णं वस्ते मृगो ऽअस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता । यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥४८॥
ऋ० ६ । ७५ । १२ ॥

भा०—(मृगः) तीव्र मृग के समान गति शील वाण (सुपर्णं)

शोभन पक्षों को (वस्ते) धारण करता है। और (अस्याः दन्तः) इस बाण का मुख या फला केवल दन्त के समान ही काटने वाला होता है। अथवा—वाण (सुपर्णं वस्ते) पक्षी के पंखों को धारण करता और (अस्य दन्तः मृगः) इसका काटने का साधन मृग अर्थात् व्याघ्र के दांत के समान तीक्ष्ण होता है। वह स्वयं (गोभिः) गो चर्म की बनी तांतों से (समक्ता) खूब बंधी जकड़ा हुआ और (प्रसूता) धनुष द्वारा प्रेरित होकर (पतति) बड़ी दूर जा पड़ता है (यत्र) जहां (नरः) मनुष्य (संद्रवन्ति) परस्पर एक दूसरे के साथ वेग से भागते हैं और (विद्रवन्ति च) एक दूसरे के विपरीत होकर दौड़ते हैं। (तत्र) उस युद्ध काल में भी (इषवः) वाण (अस्मभ्यम्) हमें (शर्म) सुखप्रद आश्रय (यंसन्) प्रदान करते हैं।

'सुपर्ण', 'मृग', 'गो', इत्यादिशब्दाः कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति इति यास्कवचनात् तद्विकारवाचका भवन्ति।

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः।
सोमो ऽअधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥ ४९ ॥

ऋ० ६ । ७५ । १२ ॥

विराट् अनुष्टुप् गांधारः ॥

भा०—हे (ऋजीते) सरल, सीधे मार्ग से जाने वाले वाण! (नः परिवृङ्ग्धि) तू हमें आघात करने से छोड़ दे, या हमें बढ़ा। अथवा—हे राजन्! (ऋजीते) सरल व्यवहार में हमें (परि वृङ्ग्धि) चला। (नः तनूः) हमारा (तनूः) शरीर (अश्मा भवतु) पत्थर के समान कठोर हो। (सोमः) सबका प्रेरक विद्वान् राजा हमें (अधि ब्रवीतु) उत्तम मार्ग का उपदेश करे। और (अदितिः) अखण्ड राजनीति या पृथिवी (नः) हमें (शर्म) शरण, सुख (यच्छतु) प्रदान करे।

आ जङ्घन्ति सान्त्वेषां जघनाँ२ ऽउप जिघ्नते।

अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्त्समत्सु चोदय ॥ ५० ॥

ऋ० ६ । ७५ । १३ ॥

अश्वाजनिर्देवता । जगती । गांधारः ॥

भा०—(प्रचेतसः) उत्कृष्ट ज्ञान वाले विद्वान् पुरुष (एषां) इन अश्वों के (सानु) टांगों पर और (जघनान्) जांघों के भागों पर (आजंवन्ति) घोड़ा २ मारते हैं और (उप जिघ्नते) हलका २ ताड़ते हैं, तब हे (अश्वाजनि) अश्वों के प्रेरणा देनेवाली कशे ! या उसको धारण करने वाले सारथे ! तू (अश्वान्) अश्वों को (समत्सु) संग्रामों में (चोदय) प्रेरित कर ।

अहिरिव भोगैः पर्य्येति बाहुं ज्याया हेतिं परिबाधमानः । हस्तघ्नो विश्वा वयुनानि विद्वान् पुमान् पुमांसं परि पातु विश्वतः ॥ ५१ ॥ ऋ० ६ । ७५ । १४ ॥

भा०—(हस्तघ्नः) हाथ में बंधी डोरी के आघातों से बार २ ताड़ित होनेवाला हाथबन्द नामक कवच जिस प्रकार (बाहुं) बाहु को (अहिः इव भोगैः) सांप के समान अपने अंगों से (बाहुं परि एति) बाहु पर चारों ओर से लिपट जाता है और (ज्यायाः) डोरी के (हेतिम्) आघात को (परिबाधमानः) दूर से ही बचाता हुआ मनुष्य की रक्षा करता है उसी प्रकार (हस्तघ्नः) अपने हाथों से ही शस्त्रास्त्र चलाने में कुशल वीर पुरुष (भोगैः) अपने पालन करनेवाले साधनों से (अहिः इव) मेघ के समान (परि एति) नगर को चारों ओर से घेर लेता है (बाहुं) बाधा, पीड़ा देनेवाले शत्रु को और (ज्याया हेतिम्) डोरियों से फेंके गये बाणों को (परि बाधमानः) दूर से ही नष्ट करता हुआ (विश्वा वयुनानि) सब प्रकार के ज्ञानों और युद्ध कौशलों को जानने हारा (विद्वान् पुमान्) ज्ञानी पुरुष (पुमांसं) नगरवासी जन को (विश्वतः) सब प्रकारों से (परि पातु) रक्षा करे ।

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया ऽअस्मत्सखा प्रतरणः सुवीरः ।
गोभिः सन्नद्धो ऽआसि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥५२॥

ऋ० ६ । ४७ । २६ ॥

गर्गा भारद्वाज ऋषिः । वनस्पतिर्देवता । भुरिक्पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे (वनस्पते) किरणों के पालक सूर्य, जलों के पालक मेघ के समान मुख्य सेना पुरुषों के पालक सेनापते ! तू (अस्मत्सखा) हमारा मित्र, (प्रतरणः) युद्ध आदि सकटों के अवसरों से रथ के समान नदी पर नाव के समान पार कराने वाला, (सुवीरः) उत्तम वीर योद्धाओं से युक्त, एवं स्वयं भी वीर होकर (वीड्वङ्गः) दृढ़ अंगों वाला (भूयाः) होकर रह । तू (गोभिः) रथ जिस प्रकार गोचर्म से ढका एवं रासों से बंधा हुआ होता है उसी प्रकार तू भी (गोभिः) दूध के बने नाना पदार्थों से या अपने मुख्यनायक की आज्ञाओं से (संनद्धः असि) अच्छी प्रकार बद्ध है । तू (वीडयस्व) खूब वीरकर्म कर । (ते अस्थाता) तेरे आश्रय पर रहने वाला तेरा अधिष्ठाता भी रथी के समान (जेत्वानि) विजय करने योग्य सभी पदार्थों को (जयतु) जीते ।

दिवः पृथिव्याः पर्योज ऽउद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्य्याभृतꣳ सहः ।
अपामोजमानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳ हविषा रथं यज ॥५३॥

ऋ० ६ । ४७ । २७ ॥

विराड् जगती । निषादः ॥

भा०—(दिवः) सूर्य या द्यौलोक, आकाश से और (पृथिव्याः) पृथिवी से सब प्रकार का (ओजः) बल और पराक्रम (परिभृतं उद्भृतं च) प्राप्त किया जाता और उत्पन्न किया जाता है । और (वनस्पतिभ्यः) बट आदि वृक्षों से भी (सहः) शत्रुओं के विजय करने में समर्थ बल को (परि आभृतम्) संग्रह किया जाता है । इसी प्रकार (अपाम्) जलों

के (ओजसानं) बल को (परि) सब तरफ से एकत्र करके प्राप्त कर । (इन्द्रस्य) सूर्य के (गोभिः) किरणों से (आवृतम्) घिरे हुए (वज्रं) प्रकाशमय तीक्ष्ण ताप रूप वज्र को भी (हविषा) उसके ग्रहण करने वाले उपाय द्वारा (रथम्) रथ या रस, या सार रूप से (यज) प्राप्त कर ।

राष्ट्र पक्ष में—(दिवः) आकाश से जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश रूप ओज प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञानवान् पुरुषों से विज्ञान को प्राप्त करो । पृथिवी से जिस प्रकार अन्न उत्पन्न किया जाता है उसी प्रकार पृथिवी निवासी प्रजा से अन्न संग्रह करो । वनस्पतियों से जिस प्रकार औषध संग्रह किया जाता है उसी प्रकार प्रजाओं के पालक माण्डलिक राजाओं से शत्रुओं के पराजयकारी सेनाबल का संग्रह करो । जलों से जिस प्रकार नहर आदि एवं यन्त्रों के चलाने का बल प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार आप्त प्रजाओं का संगृहीत पुरुषबल प्राप्त किया जाय । सूर्य की किरणों से जिस प्रकार आतसी शीशे द्वारा तेज प्राप्त किया जाता है उसी प्रकार (इन्द्रस्य) सेनापति के (गोभिः) आज्ञाओं द्वारा (आवृतम्) उनके भीतर छिपे (वज्रं) बल वीर्य को (रथं) रथ, साररूप रस के समान या शिल्पी जिस प्रकार रथ के नाना अंगों को जोड़ कर रथ बनाता है उसी प्रकार (यज) संगत कर, उन सब बलों को प्राप्त करके (हविषा) उपाय से, ज्ञान से संयोजित कर ।

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ।
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ५४ ॥

ऋ० ६ । ४७ । ५८ ॥

निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(इन्द्रस्य वज्रः) सेनापति या राजा का जल वर्षक मेघ के

विद्युत् के समान प्रखर (वज्रः) शत्रु निवारक बल वीर्य, और (मरुताम्) प्रचण्ड वायुओं के समान तीव्र वेगवान् एवं शत्रुमारक सेनापतियों का (अनीकम्) सैन्य है और (मित्रस्य गर्भः) सूर्य के समान तेजस्वी, स्नेही मित्र का ग्रहण सामर्थ्य और (वरुणस्य) श्रेष्ठ पुरुष, दुष्ट निवारक बलवान् स्वयं वृत्त राजा का (नाभिः) प्रबन्ध बल या संघ बल है (सः) वह सब हे (देव) राजन् तू ही है । हे (रथ) रथ के समान वेग से जाने वाले अंग प्रत्यंग में दृढ़ एवं रमणीय गुणों से युक्त ! वह तू (नः) हमारे (हव्यदातिं) अन्नादि के दान को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (हव्या) समस्त ग्राह्य पदार्थों को (प्रति) गृभाय) ग्रहण कर ।

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्टितञ्जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयोऽअप सेध शत्रून् ॥ ५५ ॥

ऋ० ६ । ४७ । २७ ॥

दुन्दुभिर्देवता । भुरिक् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) नगारे के समान गम्भीर गर्जन करनेहारे एवं शत्रुगणों को निरन्तर मारनेहारे अथवा शत्रु बल को वृक्ष के समान चीर देनेहारे परशु के समान तीक्ष्ण ! तू (पृथिवीम्) पृथिवी निवासिनी प्रजा को (द्याम्) आकाश के समान उन्नत पुरुषों या राज सभा को भी (उप श्वासय) आश्वासन दे, उनको प्राणयुक्त कर । (जगत्) समस्त जगत् (विष्टितम्) विविध प्रकारों से स्थित सुरक्षित होकर (ते) तुम्हें (पुरुत्रा) बहुत प्रकार से (मनुताम्) जाने । (सः) वह तू (इन्द्रेण) राजा और सेनापति के साथ (देवैः) और देवों विद्वान् पुरुषों के साथ (सजूः) मिलकर (दूरात् दवीयः) दूर से भी दूर के (शत्रून) शत्रुओं को (अप-सेध) पराजित कर । जिस प्रकार दुन्दुभिः अपने भयंकर शब्द से दूर से ही शत्रुओं को दहलाकर नाश करता है उसी प्रकार राजा भी

अपनी भेद नीति, गर्जना और मन्त्र वल से अपने राष्ट्र की रक्षा करे और पर वल का नाश करे ।

'दुन्दुभिः—' दुन्दुभिरिति शब्दानुकरणं । द्रुमो भिन्नमिति वा दुंदुभ्यतेर्वा स्याद् वधकर्मणः ॥ निरु० ।

आ क्रन्दय वलमोजो न ऽआ धा निष्टनिहि दुरिता वाधमानः ।
अप प्रोथ दुन्दुभे दुच्छुना इत इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥५६॥

ऋ० ६ । ४७ । ३० ॥

त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (दुन्दुभे) दुन्दुभे ! भेरी के समान भैरव गर्जन करने हारे, शत्रुओं को पशु के समान काट डालने और भेदने हारे नीतिमान् ! तू (वलम् आक्रन्दय) अपने सैन्य-वल को सव तरफ़ से बुलाकर तैयार रख । (नः) हम प्रजाओं में भी (ओजः) पराक्रम को (आ धाः) सव प्रकार से धारण करा (निः स्तनिहि) खूव गर्जना कर या सेना वल की वृद्धि कर । और (दुरिता) दुष्ट व्यसनों को (वाधमानः) दूर करता हुआ (दुच्छुनाः) पागल कुत्तों के समान दुःखदायी पुरुषों को (इतः) हमारे राष्ट्र से (अप प्रोथ) दूर भगा । तू (इन्द्रस्य मुष्टिः असि) इन्द्र अर्थात् राजा के प्रहार करने वाले मुक्के के समान प्रवल प्रहार करने वाला (असि) है । तू (वीडयस्व) सदा अपने को दृढ़ वनाये रख ।

दुन्दुभि के पक्ष मे—दुन्दुभि वल को एकत्र करे । सेना वल में वल फूंक दे, बुरे भावों को वाधकर वीर भाव संञ्चारित करे । सेनापति के मुक्के के समान दुःखदायी शत्रुओं के दिलों को धुन डाले ।

आ मूरज प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति ।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥५७॥

ऋ० ६ ॥ ७७ । ३१ ॥

भुरिक् पंक्तिः । पञ्चमः ।

भा०—हे (इन्द्र) राजन्! सेनापते! (अमूः) इन परायी शत्रु सेनाओं को (आभज) सम्मुख से परे फेंक दे। (इमाः प्रति आवर्त्तय) इनको लौटा डाल। (केतुमत् दुन्दुभिः) ध्वजा वाला नगारा जिस प्रकार बड़े जोर से शब्द करता है, उसी प्रकार यह (केतुमत्) प्रज्ञावान्, शत्रु-हिंसक, सेनापति (वावदीति) बराबर आज्ञाएं देता चला जाय। और (नः) हमारे (अश्वपर्णाः) अश्वों से दौड़ने वाले, घुड़ सवार (नरः) वीर सैनिक पुरुष (चरन्ति) गति करें, वेग से चलें, और (अस्माकम्) हमारे (रथिनः) रथारोही वीर गण (जयन्तु) शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें।

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी वभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेव ऽऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माष ऽऐन्द्राग्नः सꣳहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्ण एकशिति पात्पेत्वः ॥ ५८ ॥

भा०—राष्ट्र के भिन्न २ अधिकारियों के अधीन नियुक्त पुरुषों के भिन्न लक्षण दर्शाते हैं। (कृष्णग्रीवः आग्नेयः) अग्नि नामक प्रधान अग्रणी पुरुष गर्दन में कृष्ण वर्ण का चिन्ह रखें। (सारस्वती मेषी) सरस्वती नामक सभा के विद्वान् पुरुष मेषी अर्थात् भेड़ी के समान श्वेत वस्त्र वाले अथवा ऊन का वस्त्र धारण करें। (सौम्यः बभ्रुः) 'सोम' नाम पदाधिकारी पुरुष 'बभ्रु' अर्थात् भूरे रंग की पोशाक पहने। (पौष्णः श्यामः) पूषा अधिकारी के पुरुष श्याम रंग के पोषाक पहनें। (बार्हस्पत्यः शिति-पृष्टः) बृहस्पति के अधीन पुरुष पीठ पर काले रंग के पोशाक वाला हो। (वैश्वदेवः शिल्पः) विश्वेदेव अर्थात् सामान्य प्रजा के सेवक जन नाना वर्णों के पोशाक वाले हों। (ऐन्द्रः अरुणः) 'इन्द्र' सेनापति के लाल केसरिया। (मारुतः कल्माषः) मरुत्, तीव्र वेगवान् सेना के सैनिक जन कल्माष,

---

५८, ५९, ६०—इमानि ब्राह्मणवाक्यानि द्रव्यदेवताप्रतिपादकानि नतु मन्त्राः इति महीधरो याज्ञिकोऽनन्तदेवश्च ॥

चितकबरे या खाखी रंग की पोशाक पहने । (ऐन्द्राग्नः संहितः) इन्द्र और अग्नि दोनों के समान रूप से कर्त्ताजन, मिले हुए पोशाक पहनें । (साविन्त्रः अधोरामः) 'सविता' के नीचे से श्वेत हों, (वारुणः कृष्णः) वरुण के भृत्य काले पोशाक के हों, परन्तु (पेत्वः) अति वेग से जाने वाले का या पूरे सवारी में (एकशितिपात्) एक पैर काले रंग का हो ।

ये चिह्न भिन्न २ विभागों के कार्यकर्त्ताओं के नियत किये जायं अथवा उन २ विभाग के चिह्नों पर इस २ प्रकार के पशु का चित्र हो ।

अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ साविन्त्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कलमाष ऽआग्नेयः कृष्णोऽजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः ॥ ५६ ॥

भा०—(अनीकवते अग्नये रोहिताञ्जिः अनड्वान्) अनीकवान्, सेनामुख के स्वामी, अग्रणी पुरुष का लक्षण लाल वर्ण का वृषभ हो । अर्थात् जिस प्रकार लाल लंगोटी का बैल शकट को ढोता है उसी प्रकार वह अग्रणी पुरुष सेना व्यूह के अग्र में रह कर सेना व्यूह को मार्ग पर लेजाता है । इसी से उस अग्रणी नेता का व्यंग्य लक्षण लाल चिन्ह का शकटवाही बैल है । (अधोरामौ साविन्त्रौ) सविता अर्थात् पुत्र प्रजनन करने में समर्थ स्त्री पुरुष अपने अधो भाग, इन्द्रियों से रमण करते हैं इससे उनके प्रतिनिधि चिह्न 'अधोराम'—नीचे को शुक्र वाले या अधो भाग में शुक्र = श्वेत भाग वाले बकरे नियत जानो । (पौष्णौ) प्रजाओं के पालन पोषण करने वाले धनाढ्य स्त्री पुरुष दोनों (रजतनाभी) मानो सबको सुवर्ण, चान्दी, धन से अपने साथ बांध लेने में समर्थ होते हैं । इसलिये उनके लक्षण नाभि में स्थित श्वेत वर्ण वाले दो पशु कल्पित हैं । (वैश्वदेवौ पिशङ्गौ) विश्वदेव, सामान्य प्रजा के स्त्री पुरुष निःशस्त्र होने से (तूपरौ) विना सींग के पशु ही उनके चिह्न हैं । (मारुतः कलमापः) वायु जिस प्रकार वेग से आकाश को धूलिधूसरित या नाना मेघावृत कर देता

है उसी प्रकार मरुत् के समान तीव्र वेगवान् सेना के जन युद्धस्थल को नाना वर्णों से रंग देते हैं इसलिये उनका निदर्शक चिह्न चितकबरा या खाखी पशु है। (आग्नेयः कृष्णः अजः) अग्नि अस्त्र आदि के विभाग का चिह्न श्याम अज़ है, क्योंकि उनके अग्नि-अस्त्र में श्याम अर्थात् काला बारूद, मसाला और अज़ अर्थात् गोले आदि के दूर फेंकने के लिये बल प्रयुक्त होता है इस श्लेष से उनका निदर्शक 'कृष्ण अज' है। (सारस्वती मेषी) भेड़ जिस प्रकार शिर झुका कर चलती है और मेष जिस प्रकार माथे से प्रहार करता है उसी प्रकार सरस्वती के उपासक विद्वान् विनय से रहते हैं और मस्तक से विज्ञान द्वारा स्पर्द्धा करते हैं, इसलिये उनकी सभा सरस्वती का लक्षण मेषी है। (वारुणः पेत्वः) जल जिस प्रकार अति शीघ्रगामी है और जिस प्रकार दुष्टों का वारक दमनकारी सिपाही भी अति शीघ्रकारी है उसका का चिह्न भी (पेत्वः) शीघ्रगन्ता अश्व है।

अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपाल ऽइन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वेभ्यो देवेभ्यो जागतेभ्यः सप्तदशेभ्यो वैरूपेभ्यो द्वादशकपालो मित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभाभ्यामेकविंशाभ्यां वैराजाभ्यां पयस्या बृहस्पतये पाङ्क्ताय त्रिणवाय शाक्वराय चरुः सावित्र ऽआर्ष्णिहाय त्रयस्त्रिंशाय रैवताय द्वादशकपालः प्राजापत्यश्चरुरदित्यै विष्णुपत्न्यै चरुरग्नये वैश्वानराय द्वादशकपालोऽनुमत्या आष्टाकपालः ॥ ६० ॥

भा०—(गायत्राय) गायत्री छन्द से जाने गये ब्राह्म बल से युक्त और (राथन्तराय) रथ, बल या आत्मज्ञान से तरण करने वाले (अग्नये) अग्नि अर्थात् अग्रणी, प्रधान पुरुष के लिये (अष्टाकपालः) आठ कपालों में परिपक्व विचार आवश्यक है। वह अपने अधीन विचारार्थ आठ विचारवान् पुरुषों को नियुक्त करे। (त्रैष्टुभाय) क्षात्र बल से युक्त (पञ्चदशाय) पन्द्रह अंगों से युक्त (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् राजा के लिये (एकादश

कपालः) ११ कपालों अर्थात् विद्वान् पुरुषों से परिपक्व विचार आवश्यक है। (जागतेभ्यः) जागत अर्थात् वैश्यों से समृद्ध (वैरूपेभ्यः) नाना प्रकार की रुचि वाले ।(विश्वेभ्यः देवेभ्यः) समस्त दानशील पुरुषों के लिये (द्वादशकपालः) १२ कपालों अर्थात् १२ विद्वानों द्वारा सुविचारित परिपक्व विचार आवश्यक है। (मैत्रावरुणाभ्यांआनुष्टुभाभ्यां एकविंशाभ्यां वैराजाभ्यां पयस्या) प्राण और अपान के समान मित्र और वरुण, दोनों आनुष्टुभ अर्थात् इस सामान्य जनों के हितकारी २१ अधिकारियों से युक्त विशेष कान्ति दोनों को 'पयस्या' चरु हो अर्थात् दूध जिस प्रकार शुद्ध सात्विक एवं पुष्टिप्रद है उसी प्रकार शुद्ध सात्विक और पुष्टिप्रद पुरुष ही प्रजा के न्याय निर्णय और दुष्ट दमन के कार्यों का विधान करें। (पांक्ताय त्रिनवाय, शाक्कराय बृहस्पतये चरुः) पाचों जनों के हितकारी २७ विभागों से युक्त शक्तिशाली बृहस्पति के लिये (चरुः) अन्नमात्र भोग्य पदार्थों की व्यवस्था होनी चाहिये। (सवित्रे) प्रजोत्पत्ति करने वाले (औष्णि-हाय) अति अधिक स्नेहवान् (त्रयः त्रिंशाय) तेतींस विभागों से युक्त, (रैवताय) धनधान्यवान् के लिये (द्वादशकपालः) १२ कपालों में संस्कृत अर्थात् १२ विद्वानों द्वारा सुविचारित (प्राजापत्यः) प्रजा पालक पिता माता के निमित्त (चरुः) विधान होना चाहिये। (अदित्यै विष्णु-पत्न्यै चरुः) राजा की अखण्ड पालक शक्ति के लिये भी परिपक्व विचार होना आवश्यक है।(वैश्वानराय अग्नये द्वादशकपालः) समस्त नरनारी के हितकारी नेता के लिये द्वादश कपाल अर्थात् उसके अधीन १२ विद्वान् विचारक हों। (अनुमत्या अष्टाकपालः) अनुमति नाम सभा के लिये आठ कपाल अर्थात् आठ विद्वान् आवश्यक हैं।

कपाल शब्द केवल विभागप्रदर्शक है।

इत्येकोनत्रिंशोऽध्यायः।

अथ त्रिंशोऽध्यायः

[अ० ३०, ३१] नारायण ऋषिः । *

॥ ओ३म् ॥ देव॑ सवितः प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं भगा॑य ।
दि॒व्यो गन्ध॒र्वः के॒तपू॒ः केत॑ं नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु ॥१॥

सविता देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (सवितः) सब जगत् के उत्पादक ! हे (देव) सब के द्रष्टा और प्रकाशक परमेश्वर ! एवं विद्वन् ! (यज्ञं) परस्पर संगति से होने वाले कार्य का (प्रसुव) भली प्रकार संचालन कर । और (भगाय) ऐश्वर्य की वृद्धि के लिये (यज्ञपतिम्) यज्ञ, प्रजापालक, राष्ट्र के पालक राजा का (प्रसुव) उत्तम रीति से अभिषेक कर । (दिव्यः) ज्ञान और प्रकाशक गुणों से युक्त होकर (गन्धर्वः) गौ, वाणी और पृथ्वी का धारण करने वाला परमेश्वर, विद्वान् और राजा (केतपूः) अपने ज्ञान से सब को पवित्र करने हारा होकर (नः केतं) हमारे ज्ञान और चित्त को (पुनातु) पवित्र करे । और वह (वाचस्पतिः) समस्त वाणियों का पालक प्रभु, विद्वान्, समस्त आज्ञाओं और वाणियों का स्वामी (नः) हमारी (वाचं) वाणी को (स्वदतु) स्वादयुक्त, मधुर करे, अथवा स्वयं स्वीकार करे । शत० १३।६।२।९ ॥

तत्स॑वितु॒र्वरे॑ण्यं॒ भगो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि ।
धिय॒ो यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ २ ॥

गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(सवितुः देवस्य) सर्वोत्पादक सर्वप्रेरक और सब के प्रकाशक

---

* अथ पुरुषमेधः । शत० १३।६।२।१—२० ॥

प्रभु, परमेश्वर के (वरेण्यम्) सर्वश्रेष्ठ पद को प्राप्त करने वाले, एवं सबों से वरण करने योग्य, सर्वोत्तम (भर्गः) पापों के भून डालने वाले तेज का (धीमहि) हम ध्यान करते हैं। (यः) जो (नः) हमारे (धियः) बुद्धियों, कर्मों और स्तुति-वाणियों को (प्रचोदयात्) उत्तम मार्ग में प्रेरित करे। शत० १३।६।२।९ ॥

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥ ३ ॥

श्यावाश्व ऋषिः । सविता देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (देव सवितः) सर्व प्रकाशक ! सर्वोत्पादक परमेश्वर ! (विश्वानि) सब प्रकार के (दुरितानि) दुष्ट आचरणों और दुःखदायी, बुरे व्यसनों को (परासुव) दूर करो। (यत् भद्रम्) जो सुखदायक, कल्याणकारी है (तत्) उसे (नः) हमें (आसुव) प्राप्त कराइये ॥ शत० १३।६।२।९॥

विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः ।
सवितारं नृचक्षसम् ॥ ४ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । सविता । देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(चित्रस्य) विचित्र, (वसोः) इस पृथ्वी पर बसने वाले चराचर जीवसंसार रूप संसार के बसाने वाले प्रभु के (राधसः) धन के (विभक्तारम्) विभाग करने वाले, उनको नाना वर्गों, श्रेणियों और कर्मों में विभक्त करने वाले, (नृचक्षसम्) सब मनुष्यों के द्रष्टा, सर्व साक्षी, (सवितारम्) सर्वोत्पादक, परमेश्वर और सर्वप्रेरक 'सविता' नाम विद्वान् और परमेश्वर की (हवामहे) हम स्तुति करते हैं।

ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीबमाक्रयायाऽऽक्रयोगूं

कामाय पुँश्चलूमतिंक्रुष्टाय मागधम् ॥ ५ ॥

भा०—(१) (ब्रह्मणे ब्राह्मणम्) ब्रह्म, परमेश्वर की उपासना, ब्रह्म ज्ञान, वेदाध्ययन, अध्यापन इन कार्यों के लिये 'ब्राह्मण' ब्रह्मवेत्ता, वेदज्ञ विद्वान् को नियुक्त करो ।

(२) (क्षत्राय राजन्यम्) प्रजा को विनष्ट होने से बचाने, राज्य पालन और वीर्य पराक्रम के कार्य करने के लिये 'राजन्य' अर्थात् श्रेष्ठ राजा को नियुक्त कर ।

(३) (मरुद्भ्यः वैश्यम्) मनुष्यों के हित के लिये, उनके अन्न आदि उत्पन्न करने, गो पालन और प्रदान और अन्य नाना व्यवसाय बढ़ाने के लिये (वैश्यं) वैश्य को नियुक्त करो ।

(४) (तपसे) श्रम के कार्य के लिये (शूद्रम्) शीघ्रता से द्रुत गति से जाने वाले, श्रमशील पुरुष को नियुक्त करो ।

(५) (तमसे) अन्धकार के भीतर कार्य करने के लिये (तस्करम्) उसमें जो पुरुष कार्य करने में समर्थ है उसको ही नियुक्त करो ।

(६) (नारकाय वीरहणम्) नीचे की योनि के कष्ट भोगने के लिये (वीरहणम्) पुत्रों और अपने ही वीर्यवान् पुरुषों के नाश करने वाले को पकड़ो ।

(७) (पाप्मने क्लीवम्) पाप को नष्ट करने के लिये कार्य में 'क्लीव' अर्थात् ऐसे शक्तिहीन पुरुष को नियुक्त करो कि वह पाप कर ही न सके । अथवा, उसका अनुकरण करो, पाप के प्रति स्वतः नपुंसक के समान उदासीन होकर रहो ।

(८) (आक्रयाय अयोगूम्) सब प्रकार के पदार्थों के क्रय विक्रय करने के लिये 'अयोगू' अर्थात् चांदी साने आदि के परिमाण सिक्कों की गणना और व्यवहार विज्ञ पुरुष को नियुक्त करो ।

[५-३०] ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति द्वे काण्डिके, 'तपसे'० नुवाकश्च (इत्यध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तो नुवाकश्च) ब्राह्मणम् इति सर्वानुक्रमणिका ।

(९) (कामाय पुंश्चलूम्) काम के उपभोग में गिरने के निमित्त पुरुषों में अति चंचल स्वभाव की पुरुष या स्त्री को दोष युक्त फंसा जानो।

(१०) (अतिक्रुष्टाय मागधम्) अति राग से आलाप करने के लिये 'मागध' को उपयुक्त जानो। शत० १३।६।२।१०॥

नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्टायै भीमलं नर्माय रेभꣳ हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीपुꣳसं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेधायै रथकारं धैर्य्याय तक्षाणम् ॥ ६ ॥

निचृदष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(११) (नृत्ताय) नाट्य के लिये (सूतम्) दूसरे से प्रेरित होने वाले अथवा नाट्य के पात्रों के प्रेरक पुरुष को नियुक्त करो।

सूतम् क्षत्रियाद् ब्राह्मण्यां जातम् इति दयानन्दस्तच्चिन्त्यम्।

(१२) (गीताय शैलूषम्) गीत कर्म के लिये 'शैलूष' अर्थात् ऐसे नट को उपयुक्त जानो जो नाना भाव विकारों को दर्शाते हुए गा सके।

(१३) (धर्माय सभाचरम्) धर्म, अर्थात् स्मृति शास्त्र राज-नियम या विधान के निर्णय के लिये 'सभाचर' अर्थात् धर्मसभा में कुशल पुरुष को उपयुक्त जानो।

(१४) (नरिष्टायै) नेता के पद पर स्थिति प्राप्त करने के लिये (भीमलम्) भयङ्कर, भीतिप्रद पुरुष को नियुक्त करो जिसके भय से प्रजाजन उस पद का मान करें।

(१५) (नर्माय) कोमल वचनों के प्रयोग करने के कार्य में (रेभम्) सुन्दर वचनों को प्रयोग करने वाले स्तुति करने में चतुर पुरुष को प्राप्त करो।

(१६) (हसाय) आनन्द विनोद और उपहास के काम में (कारिम्) नकल उतारने वाले को चतुर जानो।

(१७) (आनन्दाय) आनन्द, गृहसुख प्राप्त करने में (स्त्री-सखम्) अपनी स्त्री के साथ मित्र रूप से रहने वाले पति को योग्य जानो।

(१८) (प्रमदे) अति अधिक हर्ष, काम वेग के उत्पन्न करने के कार्य में (कुमारीपुत्रम्) कुमारी दशा में व्यभिचार से उत्पन्न कानीन बच्चे को जानो। अर्थात् कुमारी दशा में विना विवाह के जो नाजायज़ पुत्र पैदा होते हैं वे अयुक्त काम व्यसनों में फंसकर प्रायः दुराचारी होते हैं इसलिये उनको दूर करने का यत्न करो।

(१९) (मेधाय) बुद्धि के कार्य में (रथकारम्) रथकार को दृष्टान्त के रूप से जानो। रथकार जिस प्रकार नाना कौशल से रथ के नाना प्रकार के अवयवों को जिस बुद्धिमत्ता से लगाता है उसी प्रकार बुद्धिपूर्वक कार्ययोजना के लिये रथकार शिल्पी का अनुकरण करना चाहिये।

(२०) (धैर्याय) धैर्य की शिक्षा के लिये (तक्षणम्) तरखान को दृष्टान्त रूप से जानो। जिस प्रकार श्रम से तरखान अपने छोटे से औज़ार से बड़ी धीरता से अपने हाथ पांवों को बचाते हुए लकड़ी को गढ़ कर उत्तम कपाट, मेज, कुर्सी आदि बना देता है उसी प्रकार हम धैर्य से अपने साधनों का प्रयोग करके श्रम से पदार्थों को तैयार करें। अधीर होकर जल्दबाज़ी से कार्य बिगड़ जाते हैं अपने ही औज़ार अपना नाश करते हैं।

तपसे कौलालं मायायै कर्मारꣳ रूपाय मणिकारꣳ शुभे वपꣳ शरव्याया इषुकारꣳ हेत्यै धनुष्कारं कर्मणे ज्याकारं दिष्ट्यै रज्जुसर्जं मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम् ॥ ७ ॥

भा०—(२१) (तपसे कौलालम्) अग्नि से तपाने के कार्य में (कौलालम्) कुलाल अर्थात् घड़े के बनाने वाले कुम्हार का अनुकरण करो। वह जिस प्रकार कच्चे भाण्डों को बड़ी विधि से रख कर अग्नि से उनको

तपाता है इसी प्रकार हम भी मां बाप आचार्य अपने शिष्यों और राजा अपने प्रजा और राष्ट्र के कार्यों की रक्षा करते हुए उनको परिपक्व करे।

(२२) (मायायै कार्मारम्) बुद्धि और आश्चर्य के कार्य करने के लिये लोहकार का अनुकरण करो। जैसे वह बुद्धिमत्ता से लोहे आदि पदार्थों के नाना द्रव्य बनाता है वैसे ही बुद्धिपूर्वक नाना पदार्थों को उत्पन्न करने का कौशल उससे सीखना चाहिये।

(२३) (रूपाय मणिकारम्) रुचिकर, सुन्दर जड़ाऊ पदार्थ को बनाने के लिये 'मणिकार' का अनुकरण करो। मणिकार, मणियों के आभूषण बनाने वाले जिस प्रकार सूक्ष्मता से मणियों को धैर्य से जड़ता है वह सुन्दर आभूषण बन जाता है उसी प्रकार धैर्य से पदार्थों को सुन्दर बनाने का यत्न करो।

(२४) (शुभे) मुख की शोभा के लिये (वपम्) केश डाढ़ी के काटने वाले नाई को लो। इसी प्रकार राष्ट्र की समृद्धि के लिये (वपम्) बीज वपन करने वाले किसान को लो। सुन्दरता को पैदा करने के लिये जिस प्रकार नाई अपने औज़ारों से मुख पर की शोभा के विघातक बालों को छांट कर सुन्दर बना देता है उसी प्रकार राजा भी राष्ट्र के उत्तम पदार्थों की शोभा के नाशक कारणों को दूर करे। महामारी दुर्भिक्षादि को दूर करने के लिये कृषकों को भी नियुक्त करे। या कृषक के समान ही मनुष्य अपनी शोभा, शुभ सन्तान के लिये धैर्य से स्त्री रूप भूमि में बीज वपन करे और उसके समान ही सन्तानों की रेख देख करे।

(२५) (शरव्यायै) बाणों को प्राप्त करने के लिये (इषुकारम्) बाण बनाने वाले को प्राप्त करो, उसे राष्ट्र में बसाओ।

(२६) (हेत्यै धनुष्कारम्) दूर फेंकने वाले अस्त्रों के लिये धनुष आदि बनाने वाले शिल्पि को प्राप्त करो।

(२७) (कर्मणे) अधिक देर तक युद्ध कार्य करने के लिये (ज्याकां-

रम्) डोरी के बनाने वाले को प्राप्त करो । अधिक कार्य से डोरी वार २ टूटना सम्भव है, इसलिये उसके बनाने वाले से बराबर डोरियां प्राप्त हो सकेंगी ।

(२८) (दिष्टाय) बहुत लम्बी रचना करने के लिये (रज्जुसर्जम्) लम्बी रज्जी बनाने वाले का अनुकरण करो । वह जिस प्रकार छोटे २ तृणों से भी लम्बा रस्सा बना लेता है उसी प्रकार राजा अल्प शक्ति वाले मनुष्यों की भी लम्बी और दृढ़ सेना बनावे । और उनको उसके समान पुनः आवर्त्तन या अभ्यास द्वारा परिपक्व करे ।

(२९) (मृत्यवे मृगयुम्) मृत्यु अर्थात् दुष्ट प्राणियों के वध के लिये (मृगयुम्) व्याध को उपयुक्त जानो । दुष्ट पुरुषों के विनाश के लिये राजा व्याध का अनुकरण करे । उसी के समान खोज २ कर दुष्ट पुरुषों को नाना उपाय से प्रलोभन आदि के जाल में फांस कर पकड़े और उनको निर्दय होकर मृत्युदण्ड दे ।

(३०) (अन्तकाय श्वनिनम्) दुष्ट प्राणियों का अन्त करने के लिये 'श्वनी' अर्थात् कुत्ते पालने वाले शिकारी को नियुक्त करो । अथवा—जिस प्रकार कुत्तों को साथ लेकर शिकारी अपने शिकार को चारों ओर से घेर कर व्याघ्र आदि को भी मार डालता है उसी प्रकार राजा भी शत्रु और दुष्ट पुरुषों को घेर २ कर नष्ट करे ।

'दिष्टाय रज्जुसर्पम्' और 'अन्तकाय स्वनिनम्' ऐसा पाठ मान लेना श्री पं० श्री पाद दामोदर भट्टजी का असंगत है । वह उन्हीं के प्रकाशित शुद्ध यजुर्वेद के पाठ से विपरीत भी है ।

नद्यीभ्यः पौञ्जिष्ठमृत्तीकाभ्यो नैषादं पुरुषव्याघ्राय दुर्मदं गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यं प्रयुग्भ्य ऽउन्मत्तꣳ सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयैभ्यः कितवमीर्यतायै ऽअकितवं पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः करट्कीकारीम् ॥ ८ ॥

(३१) (नदीभ्यः) नदीयों के पार करने के लिये (पौञ्जिष्टम्) काष्ठखण्डों के पुञ्जों पर बैठ कर नदी पार करने वाले या बड़े पशुओं की खालों की मशक बना कर उस पर तैरने वाले पुरुषों को नियुक्त करे ।

(३२) (ऋक्षीकाभ्यः नैषादम्) ऋच्छ छाति के वनचारी जन्तुओं के लिये नैषाद, अर्थात् निषाद या जंगली जाति के पुरुषों को नियुक्त करो । वे ऋक्ष आदि को सुगमता से वध कर देते हैं । अथवा—(ऋक्षीकाभ्यः) कुटिल चालों को चलने वाली स्त्रियों को वश करने के लिये (नैषादम्) नीच धर्म से रहने वाले पुरुषों को ही नियुक्त करे ।

(३३) (पुरुषव्याघ्राय) पुरुषों में व्याघ्र के समान शुरुवीर पुरुषों के पद के लिये (दुर्मदम्) दुर्दान्त, अदभ्य पुरुष को नियुक्त करे ।

(३४) (गन्धर्वाप्सरोभ्यः) युवा पुरुष और युवति स्त्रियों की रक्षा के लिये (व्रात्यम्) व्रात अर्थात् मनुष्यों के हितकारी विद्वान् को नियुक्त करो ।

(३५) (प्रयुग्भ्यः) उत्कृष्ट योगाभ्यासों के लिये प्रवृत्त, (उन्मत्तम्) उत्तम कोटि के हर्ष से युक्त योगी को जानो ।

(३६) (सर्वदेवजनेभ्यः अप्रतिपदम्) सर्व, राष्ट्र भर में गुप्तचर के काम करने के लिये और 'देवजन' अर्थात् युद्ध के विजय करने निमित्त सैनिक के कार्य करने के लिये (अप्रतिपदम्) अर्थात् अज्ञात पुरुष को प्राप्त करे अर्थात् जिसको कोई जान न सके ऐसे को चर बनावे और जो किसी को कुछ नहीं समझे ऐसे को सिपाही बनावे ।

(३७) (अक्षेभ्यः) पासों के खेलने के लिये (कितवम्) जुवारी पुरुष को दोषी जाने ।

(३८) (ईर्षतायै अकितवम्) दूसरों को सन्मार्ग पर ले चलने के लिये छल कपट से रहित सज्जन पुरुष को नियुक्त करे ।

(३९) (पिशाचेभ्यः) कच्चे मांस पर गीध की तरह रूप भोग पर पड़ने वाले पुरुषों को वश करने के लिये (विदलकारीम्) विरुद्ध

दल खड़ा करा देने वाली मांसपिण्ड पर गीधों के समान आपस में फोड़ डाल देने वाली नीति का प्रयोग करे ।

(४०) (यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम्) कुटिल मार्गों से धन प्राप्त करने वाले और प्रजाओं को पीड़ा देने वाले, ठगों, चोर लुटेरों के वश करने के लिये कण्टकी अर्थात् हिंसा करने वाली नीति को अपने व्यवहार में लाने वाली सेना को अथवा उन पर आंख रखने की नीति का प्रयोग करे।

कण्टकः कन्तपो वा कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः। निरु० ॥ कण्टति पश्यति परान् इति स्कन्दस्वामी ।

सन्धये जारं गेहायोपपतिमात्यै परिविक्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराद्ध्या एदिधिषुःपतिं निष्कृत्य पेशस्कारीꣳ संज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानुरुधं बलायोपदाम् ॥ ६ ॥

भा०—(४१) (संधये) परस्त्रीगमन के लिये जाने वाले (जारम्) जार, व्यभिचारी पुरुष को राष्ट्र से दूर करे । अथवा—(संधये) परराष्ट्र से संधि करने के लिये (जारम्) उत्तम रीति से बात कहने वाले, वाक्य-कुशल विद्वान् को या वृद्ध पुरुष को नियुक्त करे ।

(४२) (गेहाय) घर में विद्यमान स्त्री के प्रति दुर्बुद्धि से (उपपतिम्) पति के समान भोग करने में प्रवृत्त उपपति पुरुष को राष्ट्र से दूर करे ।

(४३) (आत्यै) आर्त्ति अर्थात् क्षुधा आदि पीड़ा को दूर करने के लिये (परिविक्तम्) पर्याप्त धनवान् पुरुष को प्राप्त करो ।

(४४) (निर्ऋत्यै) निर्ऋति अर्थात् भूख, महाभारी आदि कष्टों को दूर करने के लिये (परि-विविदानम्) सब तरफ़ से साधनों को प्राप्त करने वाले को नियुक्त करो ।

(४५) (अराद्धया) कार्य में सिद्धि न होती हो तो उसको या दरि-

द्रता को दूर करने के लिये (एदिधिपुः पतिम्) पूर्व ही धारण करने योग्य सम्पत्ति के पालक स्वामी को प्राप्त करो ।

परिवित्त, परिविविदान और एदिधिपुः पति इन शब्दों का लौकिक संस्कृत में अर्थ इस प्रकार है । छोटे भाई के विवाहित होजाने पर जो बड़ा अविवाहित है वह 'परिवित्त' कहाता है । और वह छोटा भाई 'परिविविदान' कहाता है । इसी प्रकार बड़ी बहिन के विवाह के पूर्व ही छोटी बहिन विवाह करे तो वह 'एदिधिपु' या 'अग्रे दिधिषु' है उसका पति 'एदिधिषूपति' कहाता है । महर्षि के मत में—(आर्त्ये) काम पीड़ा में प्रवृत्त हुए (परिवित्तम्) विवाहित छोटे भाई के अविवाहित बड़े भाई को दूर करो । अर्थात् उसका भी विवाह करो । या राजा ऐसा नियम बनावे कि बड़े भाई के पहले छोटे भाई का विवाह न हो । इससे स्त्री की अभिलाषा के कारण गृह कलह न होंगे । (निर्ऋत्यै परिविविदानम्) निर्ऋति अर्थात् पृथिवी के लेने के लिये प्रवृत्त परिविविदान बड़े भाई की उपेक्षा करके दाय भाग लेने वाले छोटे भाई को दूर करो । अर्थात् राजा नियम बना दे कि बड़े भाई की उपेक्षा करके छोटे भाई को जायदाद न मिले ।

इसी प्रकार (अराद्धयै एदिधीषुः पतिम्) बड़ी कन्या के अविवाहित रहते हुए भी छोटी कन्या को विवाह करने वाले पुरुष को 'अराधि' अर्थात् अविद्यमान सिद्धि में प्रवृत्त जान कर उसे दूर करो । इसका तात्पर्य यह है कि बड़ी कन्या के विवाह योग्य होजाने पर यदि कोई पुरुष अप्राप्तकाला छोटी कन्या से ही विवाह करने में प्रवृत्त हो तो राजा उसको दूर करे । अर्थात् राजा ऐसा नियम बना दे कि प्राप्तकाला बड़ी कन्या के होते हुए अप्राप्तकाला छोटी कन्या को कोई विवाह न करे ।

(४६) (निष्कृत्यै) निष्कृति अर्थात् प्रायश्चित्त, संताप आदि द्वारा मलशोधन करना 'निष्कृति' है उसके लिये (पेशस्कारीम्) सुवर्ण को तपा २ कर शुद्ध करने की शैली का प्रयोग करो । महर्षि के मत से—प्राय-

श्चित्त के लिये (प्रवृत्त) 'पेशस्कारी' अर्थात् रूप बनाकर बैठने वाली व्यभिचारिणी स्त्री को दूर करो । अभिप्राय स्पष्ट नहीं है ।अथवा—(निष्कृत्यै) प्रायश्चित्तों द्वारा मानसिक मलों को दूर करने के लिये (पेशस्कारीम्) रूप बना कर लुभा लेने वाली व्यभिचारिणी ।स्त्रियों को दूर करे अर्थात् उनके प्रलोभनों से बचे ।

(४७) (संज्ञानाय स्मरकारीम्) ज्ञान को भली प्रकार प्राप्त करने के लिये (स्मरकारीम्) स्मरण, अनुचिन्तन, पुनः २ ध्यान, मनन कराने वाली क्रिया का अभ्यास करो । कठिन बातों का बार २ अभ्यास और मनन करने से उत्तम ज्ञान हो जाता है ।

महर्षि के मत में—(संज्ञानाय प्रवृत्ताम् स्मरकारीं परासुव) भली प्रकार काम चेष्टा को जगाने में लगी स्मरकारी अर्थात् काम जगाने वाली दूती को दूर करो । इससे काम-प्रबोध न होगा ।

(४८) (प्रकामोद्याय) उत्तम कामनाओं से कार्य करने में उद्यत पुरुष के लिये (उपसदम्) जो उसके ।निकट तम व्यक्ति हो उसको ही लगाओ ।

अथवा—(प्रकामोद्याय = प्रकाम-उद्याय) उत्तम इच्छाओं के कथन या यथेष्ट विषयों पर विवाद या कथनोपकथन द्वारा निर्णय करने के लिये (उपसदम्) समीप २ स्थित होकर विचार करने वाली उपसमिति को प्रयुक्त करो । अथवा—यथेष्ट बात चीत करने के लिये निकटतम मित्र को प्राप्त करो ।

(४९) (वर्णाय) किसी बात को स्वीकार करा देने के लिये (अनुरुधं) अनुरोध करने वाले पुरुष को नियुक्त करो ।

(५०) (वलाय उपदाम्) बल अर्थात् सैन्य बल की वृद्धि के लिये उनमें अधिक उत्साह बढ़ाने के लिये (उपदाम्) भेट पुरस्कार देने वाले पुरुष को नियुक्त करो ।

उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्थामं स्वप्नायान्धमधर्मीय वधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशित्वायै प्रशिनमुपशित्वायै अभिप्रश्निनं सूर्यादायै प्रश्नविवाकम् ॥ १० ॥

(५१) (उत्सादेभ्यः) विनाशकारी कार्यों के लिये (कुब्जम्) कुत्सित मार्ग से चलने वाले पुरुष को दण्डित कर ।

(५२) (प्रमुदे) विनोदकारी कार्यों के लिये (वामनम्) बौने पुरुष को नियुक्त करो ।

(५३) (द्वार्भ्यः) द्वारों की रक्षा के लिये (स्थामं) जिसकी आँखों से सदा जल बहता हो ऐसे चक्षु दोष के रोगी पुरुष को मत रक्खो । द्वारों की रक्षा के लिये तीव्र दृष्टि और प्रभावजनक चक्षु-वाला चाहिये ।

(५४) (स्वप्नाय) सुखपूर्वक शयन करने के लिये (अन्धम्) अन्धे, नेत्रहीन पुरुष को मत नियुक्त करो । प्रत्युत अच्छे देखने वाले को पहरेदार बनाओ । अथवा जिस प्रकार अंधे को रूप का ज्ञान न होने से उसको रूप के स्वप्न नहीं आते इसी प्रकार स्वप्नदोष से बचने के लिये (अन्धम्) अन्धे, लोचनहीन पुरुष का अनुकरण करो । बुरे पदार्थों और व्यसनों के लिये अन्धे के समान बने रहो, उनकी तरफ़ दृष्टि न करो ।

(५५) (अधर्माय वधिरम्) अधर्म के कार्यों के लिये वधिर, बहरे कान से न सुनने वाले का अनुकरण करो । अर्थात् अधर्म की बात पर कान मत दो । अथवा अधर्माचरण के लिये बहरा कर दो ।

(५६) (पवित्राय भिषजम्) शरीर और राष्ट्र को पवित्र करने रोग-और मलों से रहित करने के लिये 'भिषग्' अर्थात् रोग निवारक, और रोग कारी मैले पदार्थों को दूर करने वाले पुरुष को नियुक्त कर ।

अथवा—पदार्थों को स्वच्छ पवित्र रखने के लिये वैद्य या भिषग् को स्वास्थ्य विभाग का अध्यक्ष नियत करो ।

(५७) (प्रज्ञानाय) दूर के पदार्थों का ज्ञान करने के लिये (नक्ष-

त्रदर्शम्) नक्षत्रों को देखने वाले या नक्षत्रों को दिखा देने वाले दूरवीक्षण यन्त्र के समान दूरदर्शी विद्वान को नियुक्त करो ।

(५८) (आशिक्षायै) सब प्रकार की विस्तृत शिक्षा के लिये (प्रश्निनम्) प्रश्न करने वाले अध्यापक को नियुक्त करो । जितने ही प्रश्न प्रतिप्रश्न उठाए जायंगे उतना ही विस्तृत ज्ञान प्राप्त होगा ।

(५९) (उपशिक्षायै अभि प्रश्निनम्) समीप स्थित विद्यार्थियों की शिक्षा या अति सूक्ष्म विषयों की शिक्षा के लिये उनके सन्मुख नाना प्रश्न करने वाले विद्वान् को नियुक्त करो ।

(६०) (मर्यादायै) मर्यादा, न्याय अन्याय की व्यवस्था के निर्णय के लिये (प्रश्नविवाकम्) प्रश्नों को विविध प्रकार से कहने वाले विवेचक पुरुष को नियुक्त करो ।

अर्मेभ्यो हस्तिपं जवायाश्वपं पुष्ट्यै गोपालं वीर्यायाविपालं तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशं कीलालाय सुराकारं भद्राय गृहपꣳश्रेयसे वित्तधमाध्यक्षायानुज्ञातारम् ॥ ११ ॥

भा०—(६१) (अर्मेभ्यः) बड़ी सवारियों के लिये (हस्तिपम्) हाथीवान् को नियुक्त कर ।

(६२) (जवाय अश्वपम्) वेग से देशान्तर पहुंचने के लिये अश्वों के पालक पुरुष को नियुक्त करो ।

(६३) (पुष्ट्यै) अन्न, गोदुग्ध आदि पुष्टिकारक पदार्थों के प्राप्त करने के लिये (गोपालम्) गौओं के पालक पुरुष को रक्खो ।

(६४) (वीर्याय अविपालम्) वीर्य की वृद्धि के लिये भेड़ों के पालने वाले पुरुष को नियुक्त करो ।

(६५) (तेजसे अजपालम्) तेज, स्फूर्ति की वृद्धि के लिये बकरियों के पालक पुरुष को नियुक्त करो ।

यहां अश्व-पालन के अनुभवी पुरुषों की यह अनुभवसिद्ध बात है कि

भैंस का दूध सुस्ती बढ़ाता है, गौ का दूध पुष्टिकारक, वीर्यवर्धक है और बकरी का दूध कान्ति और स्फूर्ति पैदा करता है।

धन्वन्तरि के मत से गोदुग्ध—

पथ्यं रसायनं वल्यं हृद्यं मेध्यं गवां पयः ॥

अजादुग्ध—छागं कषायं मधुरं शीतं ग्राहितरं लघु।

अविदुग्ध—आविकं तु पयः स्निग्धं कफपित्तहरं परम्।

स्थौल्यमेहहरं पथ्यं लोमशं गुरुवृद्धिदम् ॥

(६६) (इषायै) अन्न की वृद्धि के लिये (कीनाशम्) किसान को नियुक्त कर।

(६७) (कीलालाय) अन्न ओषधि के सार-भाग को ग्रास करने के लिये (सुराकारम्) सुरा विधि से भपके द्वारा चुवाने वाले पुरुष को नियत कर।

(६८) (भद्राय गृहपम्) सुख और कल्याण की वृद्धि के लिये गृह के पालक पुरुषों को नियुक्त करे।

(६९) (श्रेयसे वित्तधम्) सबके कल्याण के लिये धर्म कार्य करने के निमित्त वित्तधारण करने वाले धनाढ्य पुरुषों को प्रेरित कर।

(७०) (आध्यक्ष्याय) अध्यक्ष के कार्य के लिये (अनुक्षत्तारम्) क्षत्ता अर्थात् अश्वों को चलाने वाले सारथि या कोचवान के समान अपने अधीन पुरुषों को सन्मार्ग पर चलाने वाले पुरुष को नियुक्त करो।

भायै दार्वाहारं प्रभायाऽअग्नेधं ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्ष्मिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारं देवलोकाय पेशितारं मनुष्यलोकाय प्रकरितारꣳ सर्वेभ्यो लोकेभ्यऽउपसेक्तारमवऽऋत्यै व्रधायौपमन्थितारं मेधाय वासःपल्पूलीं प्रकामाय रजयित्रीम् ॥ १२ ॥

भा०—(६१) (भायै) अग्नि के लिये (दार्वाहारम्) लकड़हारे

को नियुक्त करो। पञ्जाब के पश्चिम प्रान्त सुलतान आदि स्थानों में अभी-तक 'भा' अग्नि का वाचक है।

(७२) (प्रभाये अग्न्येधम्) और अधिक तीव्र अग्नि के लिये अग्नि को और अधिक प्रदीप्त करने वाले पुरुष को नियुक्त कर।

(७३) (वृक्षस्य विष्टपाय अभिषेक्तारम्) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष के विशेष तापकारी बल या तेजस्वी पद को प्राप्त करने के लिये 'अभिषेक्ता' अर्थात् राज्य-अभिषेक करने वाले विद्वान् को प्राप्त कर। अथवा सूर्य के विशेष ताप को दूर करने के लिये जल से स्नान कराने वाले को नियुक्त कर। अथवा, अश्व के मार्ग पर जल सेचने वाले को नियुक्त कर (दया०)

(७४) (वर्षिष्ठाय) अति अधिक सर्वश्रेष्ठ (नाकाय) दुःख रहित परमसुख प्राप्त करने के लिये (परिवेष्टारम्) सर्वत्र व्यापक या सब सुखों के दाता परमेश्वर की उपासना कर।

(७५) (देवलोकाय) विद्वान् जनों के कार्य के लिये (पेशितारं) प्रत्येक अवयव २ के ज्ञान करने वाले को प्राप्त करो। अथवा—(देवलोकाय) विजयेच्छु पुरुषों या विद्वानों के लिये (पेशितारम्) शत्रुओं को पीस डालने वाले नेता को नियुक्त कर। पिश नाशने। चुरादिः।

(७६) (मनुष्य लोकाय) मनुष्यों को अपने वश करने के लिये (प्रकरितारम्) शत्रुओं को उखाड़ फेंकने वाले को अथवा (मनुष्यलोकाय) मनुष्यों के हित के लिये उत्तम ज्ञान आदि पदार्थों के प्रदान करने वाले को नियुक्त कर।

(७७) (सर्वेभ्यः लोकेभ्यः उपसेक्तारम्) समस्त प्राणियों के हित के लिये मेघ के समान या माली के समान जल और सुखों का सेचन करने वाले उदार पुरुष को नियुक्त करो, अथवा समस्त लोकों और प्राणियों की सन्तति-वृद्धि के लिये वीर्य सेचन में समर्थ, नर-जीवों को प्राप्त करो।

(७८) (अव क्रत्यै) नीचे की ओर, दुष्टाचरणों की तरफ जाने और (वधाय) प्राणि-वध को रोकने के लिये (उपमन्थितारम्) दुष्टाचरण करने वालों और वधकारी पुरुषों को दण्ड देने वाले प्रबल पुरुष को नियुक्त कर । स्पष्टता के लिये देखो 'भक्ति' अधिकारी का वर्णन। अ० ७।१७॥

(७९) (मेधाय) ताड़ना करने या दण्ड देने के लिये (वासः पल्पूलीम्) वस्त्र को धोने वाली धोविन का अनुकरण करो । अर्थात् जिस प्रकार वस्त्र को धोने वाला तभी तक वस्त्र को छांटता, कूटता है जब तक उसमें मल रहता है इसी प्रकार अपराधियों को राजा उतनी ही ताड़ना करे जिससे उनके मलिन आचार नष्ट हो जायं। इसी बात का अध्यापक और माता पिता भी अपने शिष्य और पुत्रों की ताड़ना के समय ध्यान रक्खें ।

अथवा—(मेधाय) बुद्धि की वृद्धि या सत्संग लाभ के लिये (वासः पल्पूलीं) वस्त्रों को शुद्ध करने वाली धोविन उसकी क्रिया का अनुकरण करे । जिस प्रकार खार लगाने से वस्त्र शुद्ध हो जाता है इसी प्रकार सत्संग लाभ करके मनुष्य सदाचारी होजाय ।

अथवा—संग के वस्त्र के समान स्वच्छ अपने उपसेवनीय अंगों और पदार्थों को भी स्वच्छ रखने वाली स्त्री को प्राप्त करो ।

वास उपसेवायाम् । चुरादिः । पल्पूल प्रक्षालनच्छेदनयोः । पल्पूल लवनपवनयोः । चुरादिः ॥

(८०) (प्रकामाय) उत्तम कामना, काम्य गृहस्थ सुख को प्राप्त करने के लिये (रजयित्रीम्) हृदय को रंगने वाली अर्थात् अनुराग, प्रेम करने वाली, शुभ स्त्री को प्राप्त करो ।

अथवा—उत्तम अभिलाषा के लिये (रजयित्रीम्) रंगने वाली स्त्री का अनुकरण करो । जिस प्रकार रंगने वाली वस्त्र को स्वच्छ कर के रंग में रंग देती है इसी प्रकार हृदय को स्वच्छ करके मनुष्य कामना करे तो उसकी अवश्य सिद्धि होती है।

ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनं विविक्त्यै क्षत्तारमौपद्रष्ट्या-यानुक्षत्तारं बलायानुचरं भूम्ने परिष्कन्दं प्रियाय प्रियवादिन-मरिष्ट्या अश्वसादꣳ स्वर्गाय लोकाय भागदुघं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम् ॥ १३ ॥

(८१) (ऋतये) अर्थात् 'ऋति' हत्या आदि के कार्य्य के लिये (स्तेनहृदयम्) स्तेन और-चौर के समान भीरु हृदय को पकड़ लेना चाहिये । हत्यारे आदि दण्ड से भागते हैं । उसको दिल से परख कर पकड़ना चाहिये ।

अथवा—(ऋतये) शत्रु नाश करने के लिये (स्तेन-हृदयम्) चोर के हृदय के समान अप्रकट, छुपे आकार विचार के पुरुष को नियुक्त करे ।

(८२) (वैरहत्याय) वैर से हत्या के कर्म को रोकने के लिये (पिशुनम्) उन अपराधों को तुरन्त सूचित करने वाले पुरुषों और साधनों को नियुक्त करे ।

(८३) (विविक्तये) विवेक के लिये (क्षत्तारम्) सारथि के समान इन्द्रियों को सन्मार्ग में चलाने वाले मन एवं मनुष्यों को सन्मार्ग में चलाने वाले पुरुष को नियुक्त करे ।

(८४) (औपद्रष्ट्याय अनुक्षत्तारम्) सूक्ष्मता सब पदार्थों को दिखाने वाले के कार्य के लिये मार्गदर्शक एवं अश्वों के समान उच्छृंखल वृत्तियों को नियम में रखने वाले, तपस्वी पुरुष को नियुक्त करे । महाभारत काल में धृतराष्ट्र का सञ्जय और दुर्योधन का विदुर 'क्षत्ता' पद पर नियुक्त थे । दशरथ का 'क्षत्ता' सुमन्त्र था । यह भी एक आवश्यक पद था जो राजा को संदिग्ध कार्यों में सलाह देने और सूक्ष्म बातों का विवेचन करने और मोहादि के समय में ज्ञानप्रदर्शन करने का काम करता था । यह कार्य संजय,

विदुर और सुमन्त्र ने अच्छी प्रकार किया था। जाति जन्मादि का इसमें कोई विचार नहीं है।

(८५) (बलाय अनुचरम्) अपने बल बढ़ाने के लिये अपने आज्ञा में चलने वाले पुरुषों को स्वीकार कर।

(८६) (भूम्ने परिष्कन्दम्) बहुत से प्रजा को उत्पन्न करने के लिये सर्वत्र वीर्य सेचन में समर्थ पुरुषों को आज्ञा करे। अर्थात् यह राज-नियम हो कि नपुंसक, निर्वीर्य पुरुष गृहस्थ में प्रवेश न करें उनको विवाह करने का हक न हो। अथवा—(भूम्ने) बहुतसे सेनाबल के लिये (परिस्कन्दम्) विशेष छावनी, स्कन्धावार को नियुक्त करे।

(८७) (प्रियाय प्रियवादिनम्) अपने प्रिय कार्य के लिये मधुर-भाषी पुरुष को नियुक्त करे।

(८८) (अरिष्टयै अश्वसादम्) राष्ट्र को नाश न होने देने और उसमें शान्ति स्थापन और कुशल क्षेम करने और विघ्न नाश करने के लिये अश्वारोही सैन्य को नियुक्त करे।

(८९) (स्वर्गाय लोकाय भागदुघम्) विशेष सुख प्राप्त करने और लोक के हित के लिये कररूप से राजा के भाग को एकत्र करने वाले पुरुष को नियुक्त करो।

(९०) (वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारम्) सबसे उत्तम सुख, आनन्द को प्राप्त करने के लिये विज्ञान को सर्वत्र प्रदान करने वाले विद्वान् और ऐश्वर्य देने वाले धनाढ्य को नियुक्त करो।

मन्यवेऽयस्तापं क्रोधाय निसुरं योगाय योक्तारꣳ शोकायाभिसर्त्तारं क्षेमाय विमोक्तारमुत्कूलनिकूलेभ्यः खिष्टिनं वपुषे मानस्कृतꣳ शीलायाञ्जनीकारीं निर्ऋत्यै कोशकारीं यमायासूम् ॥ १४ ॥

भा०—(९१) (मन्यवे) मन्यु अर्थात् राष्ट्र के भीतरी क्रोध को शान्त करने के लिये (अयःस्तापम्) लोहे को तपाने वाले लोहार को दृष्टान्त

के रूप में लो। वह जिस प्रकार तपे लोहे को एक दम शीतल जल में डालता है या वह उसको संडासी से पकड़ कर उस पर चोटें मार कर यथेष्ट वस्तु बना देता है उसी प्रकार राजा क्रोधान्ध पुरुषों को भी उपाय से वश करे और शान्ति के उपचार करे।

(९२) (क्रोधाय निसरम्) राष्ट्र के बाह्य क्रोध को शान्त करने के लिये (निसरम्) नियमपूर्वक शत्रु के प्रति अभिसरण या चढ़ाई करने वाले को नियुक्त करे।

(९३) (योगाय योक्तारम्) योग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध के अभ्यास के लिये (योक्तारम्) योग करने वाले पुरुष की आराधना करे।

(९४) (शोकाय) 'शोक' अर्थात् तेजस्वी होने के के लि (अभिसर्त्तारम्) शत्रुओं के प्रति मुकाबले पर अभिसरण या प्रयाण करने हारे पुरुष को नियुक्त करो।

(९५) (क्षेमाय विमोक्तारम्) रक्षण आदि कुशल प्राप्ति के लिये दुःखों और संकटों से मुक्त करने वाले को नियुक्त करो।

(९६) (उत्कूलनिकूलेभ्यः त्रिष्ठिनम्) ऊंचे नीचे स्थानों और अवसरों के लिये तीनों प्रकार के ऊंचे, नीचे और सम एवं तीनों प्रकार के कालों में स्थिति करने में कुशल पुरुष को नियुक्त करो।

(९७) (वपुषे मानस्कृतम्) शरीर के हित के लिये विचारपूर्वक कर्म करने वाले को नियुक्त करो।

(९८) (शीलाय आञ्जनीकारीम्) शील स्वभाव की रक्षा के लिये आञ्जनी-अञ्जन लगाने वाली सुशील, सुरूप स्त्री का अनुकरण करो।

(९९) (निर्ऋत्यै कोशकारीम्) विपत्ति आदि दूर करने के लिये (कोशकारीम्) कोश सञ्चय करने वाली स्त्री या नीति का अनुकरण करो।

अथवा (निर्ऋत्यै) भूमि के प्राप्त करने के लिये (कोशकारीम्) कोश-धनैश्वर्य की वृद्धि करने वाली भूमि को प्राप्त करो।

(१००) (यमाय असूम्) यम अर्थात् ब्रह्मचारी पुरुष के लिये (असूम्) जिसने अभीतक पुत्र न जना हो ऐसी ब्रह्मचारिणी कुमारी स्त्री को प्राप्त कराओ। अथवा—(यमाय) नियन्ता राजा के लिये या नियन्त्रण के लिये (असूम्) शत्रुओं पर शस्त्रादि फेंकने वाली सेना को प्राप्त कर।

यमाय यमसूमर्थर्वभ्योऽवतोकाꣳसंवत्सराय पर्य्यायिणीं परिवत्सरायाविजातामिदावत्सरायातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरीं वत्सराय विर्जरासꣳ संवत्सराय पलिक्नीमृभुभ्योऽजिनसंधꣳ साध्येभ्यश्चर्मघ्नम् ॥ १५ ॥

(१०१) (यमाय) नियन्ता पुरुष के लिये (यमसूम्) यम, नियन्त्रण करने वाले नियमों को बनाने वाली या, नियामक पुरुषों को आज्ञा चलाने वाली राजसभा प्राप्त हो।

(१०२) (अथर्वभ्यः) प्रजापालक विद्वान् पुरुषों के लिये (अवतोकां) शत्रुओं को अपने नीचे दबा कर दुःख देने वाली सेना प्राप्त हो।

(१०३) (संवत्सराय पर्यायिणीम्) संवत्सर ज्ञान के लिये 'पर्याय' अर्थात् क्रम से कालों का ज्ञान कराने वाली यन्त्रकला या गणितविद्या को प्राप्त करो।

(१०४) अथवा जो स्त्री 'अवतोका' है अर्थात् जिसका बालक गर्भ में नष्ट हो जाते हैं उस स्त्री को 'अथर्वा' नामक उन विद्वानों के पास चिकित्सार्थ लेजाय जो बालक के प्राणों को नष्ट न होने दें। अथवा 'अवतोका' वह स्त्री है जिसका बालक प्रसवकाल में नीचे की ओर बाहर को आने को हो ऐसे प्रासप्रसवा स्त्री को बालरक्षा के विज्ञ विद्वानों के सुपुर्द करे। (यमाय मयसूम्) जो स्त्री जोड़ा जनती है उसको 'यम' अर्थात् संयमी पुरुष के व्रत पालन के लिये अधीन रक्खो।

(१०५) (संवत्सराय पर्यायिणीम्) एक वार नर और एक वार

मादा सन्तान उत्पन्न करने वाली स्त्री को (संवत्सराय) एक वर्ष के लिये संयम से रक्खे । उसका यह दोष नष्ट हो जायेगा ।

(१०६) (अविजाताम् परिवत्सराय) विशेष कारण से सन्तान जो न उत्पन्न करती हो तो उसको 'परिवत्सर' अर्थात् द्वितीय वर्ष में वैद्य की चिकित्सा करानी उचित है ।

(१०७) (अतिष्कद्वरीं इदावत्सराय) अति अधिक पतिसंग करने वाली–अति कामिनी स्त्री को पुत्र लाभ के निमित्त तीसरे वर्ष तक प्रतीक्षा करे ।

(१०८) (अतिष्कद्वरीं इद्वत्सराय) अति अधिक रजःस्राव करने हारी स्त्री की सन्तान के निमित्त पांचवें वर्ष तक प्रतीक्षा करे ।

(१०९) (वत्सराय विजर्जराम्) विशेष रोगादि कारण से कृश या जर्जर शरीर की स्त्री को (वत्सराय) एक वर्ष के लिये संयम से रहने दे ।

(११०) (संवत्सराय पलिक्नीम्) जिस स्त्री के उमर से पहले ही पलित आजाय ऐसी स्त्री को सन्तान के निमित्त ४ वर्ष तक प्रतीक्षा करे ।

(१११) (अजिनसंधं ऋभुभ्यः) शिल्पी लोगों के कार्य के लिये 'अजिन संध' अर्थात् चर्म के पदार्थों को सीने जोड़ने वाले कारीगर को नियुक्त करो । अथवा विद्वान् पुरुषों या 'ऋत' अर्थात् राष्ट्र से चमकने वाले राजाओं के कार्य के लिये ऐसे पुरुष को नियुक्त करो जो (अजिनसंधं) अजेय राष्ट्रों को भी चर्मों के समान परस्पर संधि या मेल कराने में समर्थ है । इससे राजाओं और विद्वान् विज्ञानी पुरुषों की हत्या न होकर परस्पर सहयोग से विज्ञान कला कौशल और व्यापार, राज्य, ऐश्वर्य की उन्नति होती है ।

(११२) (साध्येभ्यः चर्मघ्नम्) साध्य अर्थात् बनाने योग्य चर्मों को जिस प्रकार चमड़े धोटने वाला रगड़ २ कर मुलायम कर लेता है इसी प्रकार (साध्येभ्यः) वश करने योग्य उद्दण्ड पुरुषों के वश करने के लिये उनपर बराबर दण्ड का प्रयोग करने वाले पुरुष को नियुक्त करे ।

सरोभ्यो धैवरमुपस्थावराभ्यो दासं वैशन्ताभ्यो वैन्दं नड्वलाभ्यः शौष्कलं पाराय मार्गारमवाराय कैवर्त्तं तीर्थेभ्य आन्दं चिर्भेभ्यो मैनालꣳ स्वर्नेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातꣳ सानुभ्यो जम्भकं पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम् ॥ १६ ॥

भा०—(११३) (सरोभ्यः) सरोवरों के स्वच्छ रखने के लिये (धैवरम्) धीवर को नियुक्त करो। अथवा (सरोभ्यः) उत्तम ज्ञानों के प्राप्त और शिक्षण के लिये (धीवरम्) बुद्धि में श्रेष्ठ पुरुष को नियुक्त करो।

(११४) (उपस्थावराभ्यः दासं) उपवन में लगे छोटे २ स्थावर वृक्षों की वाटिकाओं के कार्य के लिये या उपस्थित तुच्छ कार्यों के लिये (दासं) वेतन बद्ध भृत्य को नियुक्त कर लो।

(११५) (वैशन्ताभ्यः) छोटे २ ताल तलैयों के प्रबन्ध और रक्षा के लिये (वैन्दम्) वैन्द अर्थात् उससे लाभ लेने वाले पुरुष को नियुक्त करे। उन ताल तलैयों को वे ही अच्छा रक्खें जो उससे कुछ फ़ायदा उठाते हैं।

(११६) (नड्वलाभ्यः शौष्कलम्) जिन भूमियों में नड़, सरकण्डे आदि उत्पन्न हों उन दलदल वाली भूमियों को बसाने के लिये (शौष्कलम्) शोषण करने या उनके सुखा डालने वाले उपायों से विज्ञ पुरुष को नियुक्त करे।

(११७) (पाराय मार्गारम्) परले पार या दूर के देशों को जाने के लिये जल जन्तुओं के शत्रु, उनके नाशक पुरुष को नियुक्त कर। और—

(११८) (अवाराय कैवर्तम्) उरले पार आने के लिये जल के भीतर रहने वाले, उसी में आजीविका करने वाले को नियुक्त करो।

(११९) (तीर्थेभ्यः आन्दम्) तीर्थ, जलों के भीतर उतरने की सीढ़ियों के या घाटों के बनाने के लिये बांध लगाने में चतुर, जो किनारा दृढ़ता से बांध दे ऐसे पुरुष को नियुक्त करो।

(१२०) (विषमेभ्यः मैनालम्) ऊंचे नीचे विषम संकटमय स्थानों के लिये भी हिंसक जन्तुओं के नाश करने वाले पुरुष को नियुक्त करो ।

(१२१) (स्वनेभ्यः) नाना प्रकार के शब्दों को उत्पन्न करने के लिये (पर्णकम्) जो पुरुष रक्षा और युद्धादि कार्य में कुशल हो ऐसे को नियुक्त कर ।

(१२२) (गुहाभ्यः किरातम्) पर्वतों की गुहाओं की रक्षा और प्रबन्ध के लिये, तुच्छ कर देने वाले पुरुषों को लगावें । वे उन स्थानों में रहें ।

(१२३) (सानुभ्यः जम्भकम्) पर्वत शिखरों के प्रबन्ध के लिये हिंसक जन्तुओं के नाशक पुरुष को नियुक्त करे ।

(१२४) (पर्वतेभ्यः) पर्वतों में बसने के लिये (किम्पूरुषम्) अल्प शक्ति और व्यवसाय वाले अथवा पुरुष प्रमाण से भी छोटे कद वाले पुरुषों को बसावे ।

वीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वणिजं पश्चा-दोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्य सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमात्यै जनवादिनं व्यृद्धया अपगल्भꣳसꣳशरायं प्रच्छिदम् ॥ १७ ॥

भा०—(१२५) (वीभत्सायै) बीभत्स क्रियाओं के लिये (पौल्क-सम्) पुक्कस नाम घृणित पदार्थ के व्यवहारी पुरुष को लगावे ।

(१२६) (वर्णाया हिरण्यकारं) उत्तम वर्ण या सुन्दर वरण करने योग्य पदार्थ के लिये (हिरण्यकारम्) सुवर्णकार को नियुक्त करो ।

(१२७) (तुलायै वणिजम्) तुला, तराजू के व्यवहार के लिये वणिग् व्यवसाय में कुशल पुरुष को लगावे ।

(१२८) (पश्चादोषाय ग्लाविनम्) पीछे से दोष देने के लिये अप्रसन्न पुरुष, जिसको ग्लानि होजाय वही पीछे से दोष दिया करता है ।

(१२९) (विश्वेभ्यः भूतेभ्यः) समस्त प्राणियों के सुख के लिये (सिध्मलम्) त्वचा रोग के रोगी पुरुष को सदा दूर रक्खे। अथवा समस्त प्राणियों के सुख के लिये सुधसाधक पदार्थों से युक्त पुरुष को नियुक्त करो।

(१३०) (जागरणंभूत्यै) जागना, सावधान रहना भूति, ऐश्वर्य वृद्धि के लिये आवश्यक है।

(१३१) (स्वपनम्) सोना, आलस्य करना (अभूत्यै) ऐश्वर्य के नाश के लिये है।

(१३२) (आर्त्यै जनवादिनम्) पीड़ा को दूर करने और उससे खबरदार करने के लिये सर्वसाधारण जनों के प्रति स्पष्ट रूप से बतला देने और उनको सूचित कर देने वाले पुरुष को नियुक्त कर।

(१३३) (व्यृद्धयै अपगल्भम्) ऋद्धि सम्पत्ति के नाश करने के लिये प्रवृत्त हुए (अपगल्भम्) बुरे प्रकार के ढीठ पुरुष को दमन करे। अथवा (व्यृद्धयै) सम्पत्ति समृद्धि के नाश या विपरीत गुण वाली समृद्धि से बचने के लिये (अपगल्भम्) दुरभिमानी को दमन कर। और विनीत पुरुष को नियुक्त कर।

(१३४) (संशराय) अच्छी प्रकार शरों या बाणों का प्रयोग करने के लिये (प्रच्छिदम्) दूर तक छेदन भेदन में कुशल पुरुष को नियुक्त कर।

अक्षराजाय कितवं कृतायाधिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुं मृत्यवे गोव्यच्छमन्तकाय गोघातं जुष्टे यो गां विकृन्तन्तं भिन्द्मानं उपतिष्ठति दुष्कृताय चरकाचार्यं प्राप्मनै सैलगम् ॥ १८ ॥

भा०—(१३५) (अक्षराजाय) पासों से खेलने वाले पुरुषों के बीच राजा, सबका मुख्य होने के लिये (कितवं) क्षितव, बड़े भारी जूआ

खोर धूर्त्त को, या चतुर पुरुष को जानो । अथवा अक्षों अर्थात् इन्द्रियों के बीच में उनका स्वामी होने के लिये (कितवः) अति चतुर, चेतना युक्त मन या आत्मा जिस प्रकार है उसी प्रकार 'अक्ष' अर्थात् अध्यक्ष पुरुषों के बीच में राजा पद के लिये भी 'कितव' अर्थात् विशेष ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष, अथवा सबका स्वामी होने से प्रत्येक को यह कहने वाला कि 'किं तव' तेरा क्या कार्य है ? इस प्रकार प्रत्येक के कार्य का निरीक्षण करने वाला सूक्ष्म विवेचक पुरुष को सबका निरीक्षक रखना चाहिये ।

(१३६) (कृताय) किये कर्म के निरीक्षण के लिये या उसकी और अधिक उन्नति के लिये (आदिनवदर्शम्) किये कर्म में विद्यमान दोष या त्रुटियों को देख लेने में चतुर पुरुष को नियुक्त करे ।

(१३७) (त्रेतायै कल्पिनम्) भूत, भविष्यद् और वर्त्तमान तीनों कालों में होने वाले कार्यों को देखने के लिये सामर्थ्यवान् या कल्पनाशील, दूरदर्शी, विज्ञ पुरुष को नियुक्त करो ।

(१३८) (द्वापरायै अधिकल्पिनम्) करने वाले और देखने वाले दोनों के करने और निरीक्षण से परे के और भी उत्तम कार्य को करा लेने के लिये और भी अधिक कल्पनाशील चतुर मस्तिष्क को नियुक्त करो ।

(१३९) (आस्कन्दाय) सब तरफ़ से राष्ट्र के रसों को सूर्य के समान शोषण या चूस लेने के कार्य व्यवस्था के लिये (सभास्थाणुम्) सभी के बीच में स्थित मुख्य पदाधिकारी को नियुक्त करना चाहिये ।

(१४०) (मृत्यवे गोव्यच्छम्) गौ आदि पशुओं पर विविध कष्ट-दायी विकार या चेष्टा करने वाले को मृत्युदण्ड के लिये दे दो ।

(१४१) (अन्तकाय गोघातम्) गौ को मारने वाले पुरुष को अन्त कर देने वाले जल्लाद के हाथ सौंप दो ।

(१४२) (यः) जो (भिक्षमाणः) अन्न की भीख मांगता हुआ भिक्षाजन (उपतिष्ठति) उपस्थित हो तो उसकी (क्षुधे) भूख की निवृत्ति

के लिये (गां विकृन्तन्तं) भूमि को खोदने, हल चलाने वाले कृषक को नियुक्त करो ।

(१४३) (दुष्कृताय चरकाचार्यं) दुष्कर्म के दूर करने के लिये (चरकाचार्यम्) भोज्य पदार्थों के ऊपर आचार्य को नियुक्त कर जो सबको उत्तम पुष्टिकारक भोजन करने का उपदेश करे । और बुरे २ भोजनों के दुर्व्यवहार और हानियों को बतलाता रहे । इससे लोग बुरे आचार व्यवहारों को छोड़ कर उत्तम आहार विहार करना सीखेंगे ।

(१४४) (पाप्मने) पाप कार्य को रोकने के लिये (सैलगम्) दुष्टों के वश करने वाले को नियुक्त कर । अथवा (पाप्मने) पापाचरण के लिये दुष्ट पुरुषों के सन्तानों और शिष्यों, साथियों को भी दण्डित कर । उनको पकड़ ।

प्रतिश्रुत्कायार्तनं घोषाय भषमन्ताय बहुवादिनमनन्ताय मूकꣳ शब्दायाऽस्वराघातं महसे वीणावादं क्रोशाय तूणवध्मं वरस्पराय शङ्खध्मं वनाय वनपमन्यतोऽरण्याय दावपम् ॥१६॥

भा०—(१४५) (प्रतिश्रुत्काय) प्रतिज्ञा पूर्त्ति के लिये (अर्त्तनम्) ऐसे व्यक्ति को नियत कर जो लोकों से प्रतिज्ञा निभवा सके । उसके लिये वह उनको दबा भी सके ।

(१४६) (घोषाय भषम्) घोषणा करने के लिये बड़ी आवाज़ से बोलने वाले को नियुक्त कर ।

(१४७) (अन्ताय बहुवादिनम्) सिद्धान्त प्रतिपादन, या मर्यादा निर्णय करने के लिये बहुत अधिक कहने में कुशल पुरुष को नियुक्त करो ।

(१४८) (अनन्ताय मूकम्) अनन्त अर्थात् जिस वाद विवाद की मर्यादा न हो उसको दूर करने के लिये 'मूक' गूंगे का अनुसरण करे । मौन रहे ।

(१४९) (शब्दाय आडम्बराघातम्) शब्द करने के लिये आडम्बर पूर्वक बाजों को बजाने वाले को नियुक्त करो । अथवा भयंकर शब्द के लिये कोलाहल करने वाले को दण्डित करो ।

(१५०) (महसे वीणावादम्) महत्व पूर्ण कार्य के लिये वीणा बजाने वाले को नियुक्त करो ।

(१५१) (क्रोशाय तूणवध्मम्) सैन्य बल और जन समूह को निमन्त्रण देकर बुलाने के लिये (तूणवध्मम्) तूणव नामक ढोल या ढक्का बजाने वाले को नियुक्त करो ।

(१५२) (अवरस्पराय शङ्ख्वध्मम्) आस पास और दूर के लोगों को बुलाने के लिये शंख बजाने वाले को नियुक्त करो ।

(१५३) (वनाय वनपम्) वन की रक्षा के लिये वनपाल को नियुक्त करो ।

(१५४) (अन्यत अरण्याय) जिस देश में एक तरफ वन हों ऐसे देश की रक्षा के लिये (दावपम्) जंगल में लगने वाली आग से देश की रक्षा के रक्षा करने में कुशल पुरुष को नियुक्त करो ।

नर्माय पुँश्चलूꣳ हसाय कारिं यादसे शाबल्यां ग्रामण्यं गणकमक्षिक्रोशकं तान्महसे वीणावादं पाणिघ्नं तूणवध्मं तान्नृत्तायानन्दाय तलवम् ॥ २० ॥

भा०—(१५५) (नर्माय) कोमल, मन लुभाने वाले बचनों को बोलने में लगी (पुंश्चलूम्) व्यभिचारिणी स्त्री को दूर करो ।

(१५६) (हसाय) उपहास के लिये (कारिम्) नकल उतारने वाले को दण्डित कर । अथा शोभाजनक पदार्थों को बनाने के लिये कारीगर शिल्पी को नियुक्त कर ।

(१५७) (यादसे शबल्याम्) जल जन्तुओं की रक्षा के लिये

'शबल' वर्ण अर्थात् मलिन कार्य करने वाली जाति को दूर करो। वे उनका विनाश न करें।

(१५८-१५९) (महसे) बड़े कारबार, या राज्य प्रबन्ध के लिये (ग्रामण्यम्) ग्रामनायक, (गणकम्) गणक, हिसाब में चतुर और (अभिक्रोपकम्) सबको बुलाने वाले (तान्) इन तीन को नियुक्त करे।

(१६०-१६१) (नृत्ताय) नृत्य के लिये (वीणावादं) वीणा बजाने वाले, (पाणिघ्नम्) हाथ से तबले आदि बजाने वाले और (तूणव-ध्मम्) तुरही बजानेवाले को नियुक्त करो।

(१६२) (आनन्दाय तलवम्) आनन्द, प्रसन्नता के लिये करताल-बजाने वालें को नियुक्त करो।

अग्नये पीवानं पृथिव्यै पीठसर्पिणं वायवे चण्डालमन्तरिक्षाय वꣳशनर्तिनं दिवे खलतिꣳ सूर्याय हर्यक्षं नक्षत्रेभ्यः किर्मिरं चन्द्रमसे किलासमह्ने शुक्लं पिङ्गाक्षꣳ रात्र्यै कृष्णं पिङ्गाक्षम् ॥२१॥

भा०—(१६३) (अग्नये पीवानम्) अग्नी पद के लिये, प्रबल हृष्ट पुष्ट पुरुष को नियुक्त करो।

(१६४) (पृथिव्यै) पृथिवी के शासन के लिये (पीठसर्पिणम्) सिंह-आसन या मुख्य आसन पर विराजनेहारे तेजस्वी पुरुष को नियुक्त कर।

(१६५) (वायवे चण्डालम्) वायु के समान तीव्र बल से शत्रु के अंग भंग करने के लिये चण्डता से युद्ध करने वाले, प्रचण्डपुरुष को नियुक्त कर।

(१६६) (अन्तरिक्षाय वंशनर्त्तिनम्) अन्तरिक्ष में रहने के लिये वंश या बांस पर नाचने वाले का अनुकरण करो। वह व्यायाम से बहुत चुस्त शरीर होकर कूदने फांदने में समर्थ होता है, वह निरवलम्ब स्थान में भी भयभीत नहीं होता।

(१६७) (दिवे) द्यौलोक के ज्ञान के लिये (खलतिम्) नक्षत्रों और ग्रहों के सञ्चालन के जानने वाले को नियुक्त करो ।

सञ्चलनार्थस्य स्खलतेः खलतिरिति औणादिको निपातः ॥ स्खलति सञ्चलति इति खलतिः । उपचारात् स्खलनविज्ञः ॥ स्खलनं ग्रहगतिभ्रंशो वा ।

(१६८) (सूर्याय हर्यक्षम्) सूर्य के समान तेजस्वी पद के लिये हरि अर्थात् सिंह के समान या सूर्य के समान तेजस्वी चक्षु वाले प्रभावशाली पुरुष को नियुक्त करो । अथवा—(सूर्याय) सूर्य के दुष्प्रभाव को रोकने के लिये या उससे बचने के लिये (हर्यक्षम्) हरे रंग के काच के बने देखने के यन्त्र का प्रयोग करो ।

(१६९) (नक्षत्रेभ्यः किर्मिरम्) नक्षत्रों के ज्ञान के लिये 'किर्मिर' अर्थात् चित्र विचित्र, काले पर श्वेत चित्र का प्रयोग करो ।

(१७०) (चन्द्रमसे किलासम्) चन्द्रमा के प्रकाश का आनन्द लेने के लिये 'किलास' अर्थात् श्वेत वर्ण के पदार्थों पर दृष्टि करो ।

(१७१) (अन्हे शुक्र-पिंगाक्षम्) दिन का स्वरूप श्वेत, पीले सूर्य रूप चक्षु को धारण करने वाला जानो ।

(१७२) (रात्र्यै कृष्ण-पिंगाक्षम्) रात्रि का स्वरूप श्याम और पीली आंख वाला जानो, अर्थात् रात में काला अन्धकार में पीत वर्ण का अग्नि प्रकाश ही चक्षु है ।

अथैतान्नष्टौ विरूपान्ना लभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च । अशूद्रा ऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः । मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्रा ऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥ २२ ॥

भा०—(अथ) और (एतान्) इन (अष्टौ) आठ (विरूपान्) विकृत रूप वाले पुरुषों को (आलभते) राजा अपने अधीन रक्खे । (अतिदीर्घं) बहुत अधिक लम्बा, (अतिह्रस्वं च) बहुत छोटा, बौना, (अति-

कृशं च) बहुत दुबला, पतला, (अतिशुक्लं च) बहुत श्वेत, अति गौर, (अति-कृष्णं च) बहुत ही काला (अति लोमशं च) बहुत अधिक लोम वाला। ये आठ विचित्र होने से संग्रह करने योग्य हैं। यदि ये (अशूद्राः) शूद्र कर्म करने वाले न हों और (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण के काम करने वाले विद्वान् भी न हों तो (ते) वे (प्राजापत्याः) प्रजापालक राजा के ही अधीन उसकी सम्पत्ति एवं भरण पोषण योग्य जीव समझे जायं। इसी प्रकार (अशूद्राः अब्राह्मणाः) शूद्र और ब्राह्मण के काम के अयोग्य (मागधः) स्तुति पाठक, या नृशंस घोर लोभी (पुंश्चली) पुरुषों के भीतर व्यभिचार का जीवन बिताने वाली, चञ्चल नारी, (क्रितवः) जूआखोर और (क्लीवः) नपुंसक (ते) ये चारों भी (प्राजापत्याः) प्रजापालक राजा के ही अधीन रहें।

अर्थात् यदि ये ब्राह्मण का ज्ञान, सदाचार का जीवन और शूद्र आदि की पराधीनता का जीवन बिता सकें तो राजा इनको अपने अधीन न ले ये क्षत्रियों में रह नहीं सकते क्योंकि वहां वीर चाहियें। स्तुति पाठक, खुशामदी जुआचोर, व्यभिचारी पुरुषों से क्षात्र कर्म नहीं हो सकता। किसी व्यापार में ये लग नहीं सकते। व्यभिचारी जूआखोरी से असत्य व्यवहार और दुराचार बढ़ता है इसलिये ऐसों को राजा अपने नियन्त्रण में रक्खे। मागध को बन्दी बनाकर स्तुति पाठ के लिये रक्खे। 'क्रितव' को क्रीड़ा के लिये, पुंश्चली को सेवा के लिये, क्लीव को अन्तःपुर की भृत्यता के लिये रखे। अथवा ऐसे व्यक्तियों को सबसे अलग कैदखाने में रक्खे जिससे ये दुराचारादि न फैला सकें।

इति त्रिंशोऽध्यायः।

अथैकविंशोऽध्यायः

[१—१६] नारायण ऋषिः । पुरुषो देवता । पुरुष सूक्तम् । १—१५ अनुष्टुप् गान्धारः ।

॥ ओ३म् ॥ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिꣳ सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

भा०—(सहस्रशीर्षाः) हज़ारों शिरों वाला, (सहस्राक्षः) हज़ारों, अनन्त आंखों वाला, (सहस्रपात्) हज़ारों, अनन्त पैरों वाला (पुरुषः) 'पुरुष' सर्वत्र पूर्ण जगदीश्वर है । वह (भूमिम्) सबको उत्पन्न करने वाली भूमि के समान सर्वाश्रय प्रकृति को भी (सर्वतः) सब प्रकार (स्पृत्वा) व्यापकर (दशाङ्गुलम्) और भी दश अंगुल अर्थात् दश अंग—विकार महत् आदि या पृथिवी आदि स्थूल और सूक्ष्म भूतों का (अतिष्ठत्) अति क्रमण करके, उनमें भी व्याप्त होकर उनसे भी अधिक शक्तिमान् होकर विराजता है ।

(१) 'सहस्रशीर्षाः सहस्राक्षः सहस्रपात्'—सहस्रशब्दस्य उपलक्षणत्वाद् अनन्तैः शिरोभिर्युक्त इत्यर्थः । यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तःपातित्वात्तदीयान्येवेति सहस्रशीर्षत्वम् । एवं सहस्राक्षत्वं सहस्रपादत्वं चेति सायणो ऋग् भाष्ये ।

अर्थ—'सहस्र' शब्द केवल उपलक्षण है । वह अनन्त शिरों से युक्त है, यह अभिप्राय है । सब प्राणियों के शिर उसी महान् पुरुष के देह के भीतर समा जाने से वे सब उसी के हैं । इससे उसके हज़ारों सिर हैं । इसी प्रकार उसकी हज़ारों आंखें और हज़ारों पैर भी हैं । सायण ऋ० भाष्य ।

[१—१६]—शत० १३ । ६ । २ । १२ ॥ ऋग्वेद १० । ९० ॥ अथर्ववेद १९ । ६ ॥

जैसे गीता में भी—'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं'। अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुम्'। 'रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं। इत्यादि। गी० ११॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
ऋ० १०।८१।३॥

इस मन्त्र के अनुसार अनन्त पदार्थों का द्रष्टा होने से वह सहस्राक्ष आदि है।

(२) 'भूमिम्' भूगोलम् इति दयानन्दः। ब्रह्माण्डगोलकरूपान् इति सायणः। भुवनकोशस्य भूमिरिति उवटः।

(३) 'दशाङ्गुलम् अति अतिष्ठत्।'—'दशाङ्गुलम्' इत्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्यस्थित इत्यर्थः। इति सायणः॥ 'दशांगुल' यह उपलक्षण मर है। अर्थात् ब्रह्माण्ड को व्याप कर और दश अंगुल बाहर तक भी वह व्याप्त है, अभिप्राय यह है कि ब्रह्माण्ड से बाहर भी सर्वत्र व्याप कर विराजता है।

दश च तानि अंगुलानि दशाङ्गुलानीन्द्रियाणि। केचिदन्यथा रोचयन्ति दशाङ्गुलप्रमाणं हृदयस्थानम्। अपरे तु नासिकाग्रं दशांगुलम्। इत्युवटः॥

दश अंगुल दश इन्द्रिय हैं। आत्मा उनसे परे, उनको विषय गोचर नहीं है। कइयों के मत में हृदय दश अंगुल प्रमाण है वह उसमें विराजता है। कोई नासिका-अग्र के आगे दश अंगुल मापते हैं। यह उवट का मत है।

पञ्चस्थूलसूक्ष्मभूतानि दशाङ्गुलान्यंगानि यस्य तत् जगत्। इति दया०। पांच स्थूलभूत और पांच सूक्ष्मभूत, इन दस अंगों वाला जगत् 'दशाङ्गुल' कहाता है वह परमेश्वर इस समस्त जगत् को व्याप कर विराजता है। जैसा लिखा है—

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। उप०।

यह महर्षि दयानन्द का मत है।

पुरुषः—सर्वप्राणि समष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराडाख्यो यः पुरुषः इति सायणः। नारायणाख्य इत्युवटः। सर्वत्र पूर्णो जगदीश्वरः इति दयानन्दः।

सायण के मत से—सब प्राणियों का समष्टि रूप, ब्रह्माण्ड देह के समान धारण करने वाला विराट् नामक पुरुष है। उवट के मत से नारायण नामक पुरुष है। म० दयानन्द के मत से—सर्वत्र पूर्ण परमेश्वर पुरुष है। पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः।पूरयतेर्वा पूरयति अन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य। यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्। यस्मान्नाणीयो नज्यायोस्ति किञ्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णपुरुषेण सर्वम्॥ निरु० प० अ० २। ख० ३॥

नाना इमे वै लोकाः पूः। अयमेव पुरुषो योयं पवते। सोऽस्यां पुरि शेते। तस्मात् पुरुषः। इति शत०॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ २॥

भा०—(पुरुषः एव) वह जगत् में पूर्ण व्यापक परमेश्वर ही (यत् भूतम्) जो जगत् उत्पन्न है (यत् च) और जो (भाव्यम्) भविष्य में उत्पन्न होगा और (यत्) जो (अन्नेन) भोग्य अन्न के समान भोग्य कर्म फल से स्वयं (अति रोहति) शरीर, स्थावर जंगम रूप पृथिव्यादि पर उत्पन्न होता (इदं सर्वम्) इस सबका (उत) और (अमृतत्वस्य) अमृतत्व, मोक्ष या सत्, अविनाशी स्वरूप का (ईशानः) स्वामी, परमेश्वर है। वही सब कुछ रचता है।

सायण के मत में—भूत और भव्य सब वही पुरुष है। वही अमृतत्व का स्वामी भी है। वही भोग्य अन्न के निमित्त से जगत् रूप में प्रकट होता है।

'अन्नेनातिरोहति'—भोग्येन अन्नेन निमित्तभूतेन स्वकीयकारणावस्थामतिक्रम्य परिदृश्यमानां जगदवस्थां प्राप्नोति। तस्मात्प्राणिनां कर्मफलभोगाय जगदवस्थास्वीकारन्नेदं तस्य वस्तुतत्वम्। इति सायणः॥ भोग्य अन्न के कारण अपनी कारण-दशा से पार होकर पुरुष दृश्य-जगत्

का रूप प्राप्त करता है। फल भोग के लिये वह जगत् की दशा में आता है। वह वैसा है नहीं।

सायण के मत में ब्रह्म परिणामी हो जाता है। जीवों के कर्म फल भोग के लिये जीव शरीर धारण करे, सो युक्तियुक्त है ईश्वर ही स्वयं ब्रह्माण्ड शरीर में बंधे यह अनुचित है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

भा०—(अस्य) इस जगदीश्वर का (एतावान्) इतना ये सब दृश्य, ब्रह्माण्डमय जगत् (महिमा) महान् सामर्थ्य का स्वरूप है। (पूरुषः) इस जगत् में परिपूर्ण परमेश्वर (अतः) इससे (ज्यायान् च) कहीं बड़ा है। (विश्वा भूतानि) समस्त उत्पन्न होने वाले पृथिवी आदि लोक (अस्य पादः) इसका एक पाद, एक अंश अथवा उसका ही ज्ञान कराने वाले कार्यरूप ज्ञापक हैं। और (त्रिपात्) तीन अंशों वाला (अस्य) इस परमेश्वर का स्वरूप (दिवि) तेजोमय अपने स्वरूप (अमृतम्) अमृत, नित्य, अविनाशी रूप से विद्यमान है।

यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यास्मात्तस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं। तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षया अत्यल्पम् इति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः। इति सायणः॥

इदं सर्वं सूर्यचन्द्रादिलोकलोकान्तरं चराचरं जगत्...परमेश्वरस्य चतुर्थांशे तिष्ठति नैवास्य तुरीयांशस्याप्य वधिं प्राप्नोति।...नानेन कथनेन तस्यानन्तत्वं हन्यते। किन्तु जगदपेक्षया तस्य महत्वं जगतो न्यूनत्वं च ज्ञाप्यते। इति दया० 'सत्य ज्ञानमनतं ब्रह्म' ज्ञानस्वरूप और अनन्त है ऐसा कहा है। इसका परिमाण नहीं है। इसलिये उसके चार पाद नहीं कहे जा सकते। तो भी जगत् ब्रह्म के स्वरूप की अपेक्षया बहुत छोटा है इस अभिप्राय से 'पाद' रूप से कहा है। (सायण)

सूर्य चन्द्रादि लोक लोकान्तर वाला चर अचर समस्त जगत् परमेश्वर के एक चौथाई अंश में स्थित है। अर्थात् उसके चौथाई अंश के भी बराबर नहीं है। ऐसा कहने से परमेश्वर की अनन्तता नहीं खण्डित होती। परन्तु जगत् की अपेक्षा उसका बड़प्पन और जगत् की अपेक्षा न्यूनता ही कही गई है। (म० दया०)

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

भा०—(त्रिपात् पुरुषः) तीन अंशों वाला पुरुष (ऊर्ध्व उत् ऐत्) सबसे ऊंचा, संसार से पृथक् शुद्ध, बुद्ध, मुक्त रूप होकर रहता है। और (अस्य पादः) उसका एक अंश (पुनः) बार बार (इह अभवत्) इस संसार में व्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। (ततः) उस एक अंश से ही वह परमेश्वर (साशनानशने अभि) खाने वाले चेतन और न खाने वाले जड़, दोनों प्रकार के चराचर लोकों को (विष्वङ्) सब प्रकार से व्याप्त होकर (वि-अक्रामत्) विविध प्रकारों से उनको उत्पन्न करता है।

'उदैत्'—'देदीप्यमानस्तिष्ठति' इति उवटः। सूर्य के समान स्वयं उज्वल होकर सबको प्रकाशित करता हुआ विराजता है।

'साशनानशने'—साशनमशनादिव्यवहारोपेतम्। प्राणिजातम्। अनशनं तद्रहितम् चेतनं गिरिनद्यादिकम्। इति सायणमहीधरदयानन्दाः। साशनं स्वर्गः अनशनं मोक्ष इति उवटः॥

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

भा०—(ततः) उस पूर्ण पुरुष परमेश्वर से (विराट् अजायत) 'विराट्' अर्थात् विविध पदार्थों, नाना सूर्यादि लोकों से प्रकाशमान ब्रह्माण्ड उत्पन्न हुआ। (विराजः अधि) उस विराट् के भी ऊपर अधिष्ठाता रूप से

५—'विराळजायत' इति काण्व०।

(पूरुषः) पुरमें वसने वाले स्वामी के समान उस ब्रह्माण्ड को पूर्ण करने हारा व्यापक परमेश्वर ही था। (सः) वह (पुरः) सबसे पूर्व विद्यमान रह कर (जातः) कार्य-जगत् में शक्ति रूप से प्रकट होकर भी (अति अरिच्यत) उससे भी कहीं अधिक बड़ा है। (पश्चात्) पीछे से वह (भूमिम्) प्राणियों और वृक्षादि को उत्पन्न करने वाली भूमि को उत्पन्न करता है। अथवा—(स जातः अतिअरिच्यत) वह प्रादुर्भूत होकर भी उस जगत् से पृथक् रहा। और (सः पश्चाद्) वह पीछे (भूमिम् अथो पुरः) भूमि और जीवों के शरीरों को उत्पन्न करता है। विशेष विवरण देखो अथर्ववेदालोकभाष्य, कां० १८। ६। ९॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ ६॥

ऋ० १०। ९०। २॥

भा०—(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सर्वपूज्य, सर्वसम्मत (यज्ञात्) सर्वोपास्य, सबको प्राण आदि सब कुछ देने हारे परमेश्वर प्रजापति से (पृषद्-आज्यम्) दधि, घृत आदि भोग्य पदार्थ (सम्भृतम्) उत्पन्न हुआ। और वह ही (तान्) उन (वायव्यान्) वायु के समान गुण वाले, तीव्र वेगवान् अथवा (वायव्यान्) वायु से जीने हारे (पशून्) पशुओं के (ये) जो (आरण्याः) जंगल के सिंह, शूकर आदि और (ग्राम्याः च) ग्राम के गौ, अश्व आदि सबको (चक्रे) उत्पन्न करता है।

अथवा—(पृषदाज्यं सम्भृतम्) (पृषत्-आज्यम्) शरीर में पालक और पूरक रूप से विद्यमान वीर्य या शुक्र को व्यक्त रूप में प्रकट करने वाला अथवा जिस वीर्य से प्राणियों के नाना देह यथाक्रम सन्तान रूप में बराबर उत्पन्न होते हैं वह वीर्य भी उसी परमेश्वर की शक्ति से उत्पन्न होता है।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाँसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ ७॥

भा०—(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय, सर्वोपास्य एवं सब के दाता, (सर्वहुतः) सर्वसम्मत, सब कुछ के त्यागने के पात्र अथवा समस्त संसार को प्रलय काल में अपने भीतर लेने हारे उस परमात्मा से ही (ऋचः) ऋग्वेद, ऋचाएं, मन्त्र, (सामानि) सामवेद, साम के समस्त गायनों के ज्ञान (जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं। (तस्मात्) उससे ही (छन्दः ह) 'छन्द' अर्थात् अथर्ववेद के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं। (तस्मात्) उससे ही (यजुः अजायत) यजुर्वेद उत्पन्न होता है।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ ८॥

भा०—(अश्वाः) घोड़े (ये च के च) और जो भी कोई गधे आदि (उभयादतः) दोनों जबाड़ों में दांत वाले जीव हैं और (गावः) गौएं भी (तस्मात् ह) उससे ही (जज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं। (तस्मात्) (अजावयः) बकरी, भेड़ें भी (जाताः) पैदा हुई हैं।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ ९॥

भा०—(तं) उस (यज्ञं) पूजनीय, (अग्रतः जातम्) सबसे आगे, प्रादुर्भूत जगत् के कर्त्ता, (पुरुषम्) पूर्ण परमेश्वर को (अग्रतः) सृष्टि के पूर्व (बर्हिषि) विद्यमान महान् ब्रह्माण्ड रूप यज्ञ में (प्र औक्षन्) खूब अभिषिक्त करते हैं। (तेन) उसी ज्ञानमय परम पुरुष से (साध्याः) योगाभ्यास आदि के साधना वाले ज्ञानी और (ऋषयः च) ऋषिगण (ये च) और जो भी हैं वे (अयजन्त) परमेश्वर की उपासना करते हैं।

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्यासीत्किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥१०॥

भा०—(यत्) जो विद्वान् ज्ञानी पुरुष (पुरुषम्) उस महान् पूर्ण पुरुष का (वि अदधुः) विविध प्रकारों से विधान करते हैं, वर्णन

करते हैं, उसके महान् सामर्थ्य का प्रतिपादन करते हैं, वे उसको (कतिधा) कितने प्रकार से (वि अकल्पयन्) विभक्त करते या कल्पना करते हैं। (अस्य मुखम् किम्) इसका मुख भाग क्या है? (बाहू किम्) बाहुएं क्या हैं (उरू किम्) जांघे क्या पदार्थ हैं? (पादौ उच्यते) दोनों पैर क्या कहे जाते हैं।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥११॥

भा०—(अस्य) इस परमेश्वर की बनाई सृष्टि में (ब्राह्मणः मुखम् आसीत्) ब्राह्मण, वेद और वेदज्ञ और ईश्वरोपासक जन मुख रूप हैं। (बाहू राजन्यः कृतः) राजन्य, क्षत्रिय लोग शरीर में विद्यमान बाहु के समान बनाये हैं। (यत् वैश्यः) जो वैश्य हैं (तत्) वह (अस्य ऊरू) उसके जंघा हैं। और (पद्भ्यां) पैरों से (शूद्रः अजायत) शूद्र को प्रकट किया जाता है।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

भा०—प्रजापति के ब्रह्माण्डमय विराट् शरीर का वर्णन करते हैं। (चन्द्रमाः) चन्द्र (मनसः) मन रूप से (जातः) कल्पना किया गया है। अर्थात् चन्द्र मानो प्रजापति का मन है। जैसे शरीर में मन वैसे विराट् शरीर में चन्द्र। (सूर्यः चक्षोः अजायत) चक्षु से सूर्य को प्रकट किया जाता है। मानो उसकी आंख सूर्य है। (श्रोत्रात् वायुः च प्राणः च) श्रोत्र से वायु और प्राण प्रकट किये जाते हैं। मानो श्रोत्र वायु और प्राण हैं। (मुखाद्) मुख से (अग्निः अजायत) अग्नि को प्रकट किया जाता है, मानो अग्नि मुख है।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२ अकल्पयन् ॥१३॥

भा०—(नाभ्याः अन्तरिक्षम् आसीत्) नाभि-भाग से अन्तरिक्ष

भाग कल्पित है। (द्यौः) आकाश (शीर्ष्णः सम् अवर्त्तत) शिर भाग से कल्पित हुआ। (पद्भ्याम् भूमिः) पैरों से भूमि और (दिशः श्रोत्रात्) श्रोत्र से दिशाएं तथा (लोकान्) लोंको को (अकल्पयन्) कल्पित किया गया है। उस विराट् के अन्तरिक्ष नाभि है, सिर द्यौ है, भूमि पैर हैं, कान दिशाएं तथा लोक हैं।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥१४॥

भा०—(यत्) जब (हविषा) स्वीकार करने योग्य, साक्षात् करने योग्य, परम वेद्य, (पुरुषेण) पूर्ण परमेश्वर से (देवाः) विद्वान गण (यज्ञम्) उपासनामय ज्ञानयज्ञ का (अतन्वत) सम्पादन करते हैं तब (अस्य) इस यज्ञ का (वसन्तः) वर्ष के प्रारम्भ काल, वसन्त ऋतु के समान सौम्य भाग दिन वा पूर्वाह्न भाग (आज्यम्) अग्नि को घृत के समान आत्मा के बल वीर्य की प्राप्ति करता है। (ग्रीष्मः इध्मः) वर्ष में ग्रीष्म ऋतु के समान दिन का मध्यान्ह भाग, अग्नि को इंधन के समान आत्मा की ज्ञानाग्नि को अधिक प्रखर कर देता है। (शरत् हविः) वर्ष के शरत् भाग के समान शीतल, शान्तिदायक रात्रि काल आत्मा के समस्त प्राणों को पुनः आत्मा में आहुति देने वाला होने के कारण यज्ञ में हवि के समान वह भी 'हवि' है।

इसी प्रकार प्रारम्भ में बाल्यकाल वसन्त, यौवन, ग्रीष्म और वृद्धता शरत् है। उवटाचर्य के मत में—वसन्त सत्व। ग्रीष्म रजस और शरत् तमो गुण है।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान्गण (यद्) जिस (यज्ञं) यज्ञ को (तन्वानाः) करते हुए (पुरुषं) पूर्ण पुरुष को (पशुम्) सर्वद्रष्टा रूप

से (अबध्नन्) ध्यान सूत्र से बांधते हैं (अस्य) उसके (सप्त) सात (परिधयः) परिधि अर्थात् धारण सामर्थ्य हैं। और (त्रिःसप्त) २१ (समिधः) उसके प्रकाशक सामर्थ्य (कृताः) विधान किये गये हैं।

'सप्त परिधयः—सात परिधियें, सात छन्द। अध्यात्म में—जीवन यज्ञ को कहते हैं। (पशुम्) जिस द्रष्टा पुरुष आत्मा को (देवाः) दिव्य शक्तियें, चक्षु आदि इन्द्रियें बांध रही हैं उसके सात परिधियें सात शीर्षण्य प्राण और २१ समिधें, प्राकृतिक २१ विकार अहंकार आदि हैं। अथवा—सात समिधें, शरीर की सात धातुएं। 'त्रिः सप्त समिधः'—प्रकृति, महत्, अहंकार, ५ तन्मात्राएं, ५ स्थूलभूत, ५ इन्द्रिय और तीन गुण। अथवा ५ तन्मात्रा, ५ भूत, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय और मन (अन्तः-करण चतुष्टय)। संवत्सर यज्ञ में १२ मास, ५ ऋतु, ३ लोक, १ आदित्य॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

भा०—(यज्ञेन) पूर्वोक्त मानस यज्ञ से (देवाः) विद्वान् जन (यज्ञम्) उस प्रजापति पुरुष को (अयजन्त) उपासना करते हैं। (तानि धर्माणि) वे सब धारक सामर्थ्य (प्रथमानि आसन्) प्रथम ही विद्यमान रहे। (ते ह) वे (महिमानः) महान् सामर्थ्य वाले, ईश्वरोपासक जन, (नाकम्) उस सुखमय परमेश्वर को ही (सचन्त) प्राप्त होते हैं, उसी में विराजते हैं, (यत्र) जिसमें (पूर्वे) पूर्व के (साध्याः) साधनाशील, (देवाः) विद्वान् ब्रह्मात्म-ज्ञान के साक्षात् द्रष्टा लोग (सन्ति) नित्य विराजते हैं।

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥ १७ ॥

भा०—(अद्भ्यः) जलों से और (पृथिव्यै) पृथिवी, (विश्वकर्मणः) समस्त संसार के कर्त्ता परमेश्वर के (रसात्) प्रेरक बल से (अग्रे)

सब से प्रथम जो ब्रह्माण्ड (सम् अवर्त्तत) उत्पन्न हुआ। (त्वष्टा) वह विधाता ही (तस्य) उसके (रूपम्) रूप को (विदधत्) स्वयं विविध रूपों से धारण करता हुआ (एति) प्राप्त होता है। (मर्त्यस्य) मरण धर्मा पुरुष के (तत्) उस (आजानं) समस्त जनों के करने योग्य कर्म और (देवत्वम्) दर्शन करने योग्य ज्ञान को (अग्रे) सबसे पूर्व (एति) स्वयं धारण करता और प्राप्त कराता है।

सोऽअकामत। बहुः स्यां प्रजायेयेति। सतपोऽतप्यत। सतपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तैत्ति० उप०।

अथवा—जल और पृथिवी से विश्वकर्मा जगत्-स्रष्टा ने उसको बनाया। स्वयं बनाने वाला 'त्वष्टा' तदनुरूप हो गया। यही उस (मर्त्यस्य) मरण-धर्मा विनाशी पदार्थ का भी (अग्रे) पहले से ही (आजानम् देवत्वम्) जन्म से ही देव अर्थात् स्वतः देव रूप है। वह स्वतः ईश्वर की शक्ति की दिव्य शक्ति का मूर्त्तिमान् अंश है।

'देवत्वम्, आजानम्'—मर्त्ये देवत्वं प्रभुत्वं, आजानम् आप्तम् इत्यर्थः (उवटः)। पुरुषस्य विराडाख्यस्य सम्बन्धि, तत् विश्वं प्रसिद्धं देवमनुष्यादिरूपं सर्वं जगत् अग्रे सृष्ट्यादौ आजानं सर्वतः उत्पन्नम्। इति सायणः॥ देवत्वं विद्वत्वम्। आजानं समन्तात् जनानां मनुष्याणामिदं कर्तव्यं कर्म इति दयानन्दः। आजानदेवत्वं, मुख्यं देवत्वम्। द्विविधा देवाः। कर्मदेवा आजानदेवाश्च। उत्कृष्टेन कर्मणा देवत्वं प्राप्ताः कर्मदेवाः। सृष्ट्यादावुत्पन्ना आजानदेवाः। ते कर्मदेवेभ्यः श्रेष्ठाः। ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः। तै०। उप०। इति श्रुतेः सूर्यादय आजानदेवाः॥ इति महीधरः।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १८॥

निचृत् त्रिष्टुप्। धैवतः।

भा०—(अहम्) मैं (एतम्) उस (महान्तम्) बड़े भारी (पुरुषं) ब्रह्माण्ड भर में व्यापक पूर्ण परमेश्वर को (आदित्यवर्णम्) सूर्य के समान तेजस्वी और (तमसः) अन्धकार के (परस्तात्) दूर विद्यमान (वेद) जानता और साक्षात् करता हूं। (तम्) उसको ही (विदित्वा) जानकर (मृत्युम् अति एति) मृत्यु को पार कर जाता है। (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) कोई अभीष्ट मोक्ष स्थान को प्राप्त करने के लिये (न विद्यते) नहीं है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे ऽअन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥१९॥

भा०—(प्रजापतिः) वह समस्त प्रजा का पालक (गर्भे अन्तः) गर्भ, गर्भस्थ जीवात्मा में भी अथवा—हिरण्यगर्भ के भीतर, व्यापक होकर (चरति) विचरता है, विद्यमान है। वह (अजायमानः) स्वयं कभी उत्पन्न न होता हुआ भी (बहुधा) बहुत प्रकारों से (विजायते) विविध रूपों से प्रकट होता है। (तस्य) उसके (योनिम्) परम कारणस्वरूप को (धीराः) धीर, ध्याननिष्ठ योगिजन ही (परिपश्यन्ति) भली प्रकार देखते, साक्षात् करते हैं। (तस्मिन ह) उस सबके मूलकारण परमेश्वर में ही (विश्वा भुवनानि) समस्त भुवन, नाना ब्रह्माण्ड एवं सूर्यादि लोक (तस्थुः) स्थित हैं। वे सब उसी के आश्रय पर ठहरे हैं।

यो देवेभ्य ऽआतपति यो देवानां पुरोहितः।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

अनुष्टुप्। गांधारः।

भा०—(यः) जो (देवेभ्यः) दिव्य गुण वाले पृथिवी, अग्नि, जल, तेज आदि के उत्पन्न करने के लिये स्वयं (आतपति) सब प्रकार तप करता है। और (यः) जो (देवानां) पृथिव्यादि लोकों, पञ्चभूतों में से भी (पुरः हितः) सब से पूर्व उनके बीच में उनको मूल कारणों को

धारण करने वाला होकर विद्यमान रहा। और (यः) जो (देवेभ्यः) तेजोमय सूर्यादि पदार्थों से भी (पूर्वः) प्रथम (जातः) हिरण्यगर्भ रूप से प्रकट होता है। उस (ब्राह्मये) ब्रह्म अथवा वेद द्वारा प्रतिपादित, (रुचाय) स्वयं प्रकाशमान् परमेश्वर को (नमः) नमस्कार है। सूर्य के पक्ष में—(यः) जो सूर्य पृथिव्यादि लोकों के लिये तपता है, जो सब के बीच (पुरोहितः) पुरोहित, उनके प्रवर्त्तक के समान प्रकाशक है, जो उनसे पहले उत्पन्न हुआ उस ब्रह्म, परमेश्वर के सन्मान प्रकाशमान् सूर्य से (नमः) अन्नादि उत्पन्न होता है।

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा ऽअग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा ऽअसन्वशे ॥ २१ ॥

भा०—(देवाः) विद्वान गण, (ब्राह्मं) पर ब्रह्म सम्बन्धी, (रुचं) तेज, या ज्ञान को अथवा (रुचं ब्राह्मं) तेजस्वी ब्रह्म के विद्वान, को (जनयन्तः) उत्पन्न करते हुए, विद्योपदेशादि के द्वारा, प्रकट करते हुए (अग्रे) सबसे प्रथम (तत्) उस परमेश्वर का ही (अब्रुवन्) उपदेश करते हैं। (एवं) इस प्रकार से ब्रह्मचर्य, तपस्या द्वारा (यः) जो ब्रह्मनिष्ठ, वेदवेत्ता, विद्वान् (विद्यात्) उस परमेश्वर के विज्ञान को प्राप्त करता है (तस्य) उसके (वशे) अधीन समस्त (देवाः) देव, विद्वान् गण, एवं उत्तम व्यवहार और दिव्य आत्मिक और भौतिक शक्तियां (असन्) रहती हैं।

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निषाणामुं म ऽइषाण सर्वलोकं म ऽइषाण ॥२२॥

निचृदार्षी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—हे परमेश्वर (श्रीः च) सबको आश्रय देने वाली और (लक्ष्मीः च) सबके बीच में तुझको व्यापक और शक्तिमान् दिखाने वाली, दोनों

२२—'पत्न्या अहो ०ठे' इति काण्व०।

शक्तियां (ते) तेरी (पत्न्यौ) समस्त संसार को पालन करने हारी होने से तेरी दो स्त्रियों के समान हैं। (अहोरात्रे पार्श्वे) दिन और रात्रि ये दो जिस प्रकार सूर्य से उत्पन्न किये जाते हैं, जब वह प्रत्यक्ष होता है तब दिन और जब वह नहीं प्रत्यक्ष हो तब रात्रि होती है इसी प्रकार हे परमेश्वर ! दिन रात के समान तुम्हारे दो पार्श्व या पासे हैं। जब तुम साक्षात् होते हो तब हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो जाने से दिन के समान हो जाता है। तामस आवरण से जबतुम प्रत्यक्ष नहीं होते तब रात्रि के समान अन्धकार हो जाता है। जिस प्रकार (नक्षत्राणि रूपम्) समस्त नक्षत्र सूर्य के ही रूप हैं, वे सब सूर्य हैं, उसी प्रकार नक्षत्रों के समान सब तेजोमय पदार्थ परमेश्वर के ही अंश हैं।

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्व मम तेजोंशसम्भवम् । गीता ॥

अतः वे सब (रूपम्) उसी के रूप अर्थात् कान्ति हैं।

तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति । कठो प० ॥

(अश्विनौ व्यात्तम्) आकाश और पृथिवी, वे दोनों मानो खुले मुख के समान हैं। अथवा (अश्विनौ) प्राण और अपान, दो जबाड़ों के या खुले मुख के समान हैं। तू ही (इष्णन्) समस्त जगत् को प्रेरणा कर रहा है। तू सबको (इषाण) प्रेरित कर। (अमुम्) उस परम प्राप्तव्य मोक्ष पद को (मे इषाण) मुझे प्राप्त करा। और (मे) मुझे (सर्वलोकं इषाण) समस्त लोक, समस्त प्रकार के दर्शन, ज्ञान और समस्त लोकों का भोग्य सुख (इषाण) प्रदान कर।

इस प्रकार ब्रह्मपरक पुरुष सूक्त का विवरण किया गया है। महर्षि दयानन्द इसके उपसंहार में लिखते हैं—अत्रेश्वरसृष्टिराजगुणवर्णनादेतदध्यायोक्तार्थस्य पूर्वाध्यायोक्तार्थेन सह संगतिरस्ति इति वेद्यम्। अर्थात् इस अध्याय में ईश्वर की सृष्टि, राजगुणों का भी वर्णन किया है। इसी से

इस अध्याय की पूर्व अध्याय से संगति है। फलतः इस अध्याय की योजना राजा के पक्ष में नीचे लिखे प्रकार से जाननी चाहिये—

(१) (सहस्र०) वह राजा रूप पुरुष हज़ारों शिरों वाला, हज़ारों आंखों वाला, हज़ारों पैरों वाला है। वह समस्त भूमि को अधीन करके दश अंगुल ऊंचा होकर विराजे, अर्थात् सहस्रों मस्तिष्क उसके अधीन राज-सभा के सभासद् रूप उसी के शिर हैं। वे उसी की आंखे हैं एवं नाना चर उसकी सहस्रों आंखें हैं और सहस्रों भृत्य, सैनिकादि उसके सहस्रों पद हैं। वह अपनी राज-सत्ता से भूमि को व्याप कर अपने राज्य के दशों अंगों पर दश दिशाओं पर अधिष्ठाता रूप से विराजे।

(२) जो भूत और भव्य अर्थात् सब राष्ट्र का उत्पन्न और भावी सम्पत्ति है वह सब राजा की ही है। (अमृतत्व) जीवन-प्रद पदार्थ जल और अन्न का भी वही स्वामी है। जो पदार्थ भी अन्न के रूप में उगता है उसका भी वही स्वामी है।

(३) यह उसका बड़ा सामर्थ्य है। वह उससे भी अधिक शक्ति शाली होकर रहे। समस्त राष्ट्र के प्राणी उसका एक भाग हों और (दिवि) राजसभा आदि दिव्य, तेजः सामर्थ्य में उसके तीन भाग सुरक्षित रहें।

(४) वह उन तीन गुणा अधिक सामर्थ्य को स्वयं धारण करके ही सब से ऊंचा रहे। एक अंश से राष्ट्र में रहे। चर अचर, स्थावर जंगम सबकी विशिष्ट व्यवस्था करे।

(५) वह स्वयं विराट् सभा को बनावे, उसपर स्वयं अधिष्ठाता होकर रहे। वह सब से अधिक सामर्थ्यवान् हो। वह भूमियों और पुर गढ़ और दुर्ग आदि भी बनावे।

(६) वह सब से पूज्य होकर समस्त (पृषदाज्यम्) पालक, सेना-

वल को भी धारण करे। अन्नादि भी संग्रह करे। ग्राम और जंगल की पशु सम्पत् को भी वढ़ावे।

(७) वह ऋक्, साम, अथर्व और यजुः सव वेदों का ज्ञान करे, और उनकी रक्षा करे। उनके अध्ययनाध्यापन के द्वारा उनको प्रचारित और प्रकाशित करे।

(८) अश्व, गौ, भेड़, वकरी सवकी वृद्धि करे।

(९) पुरुषोत्तम को विद्वान् लोग (बर्हिषि) महान् राष्ट्र प्रजाजन पर (प्रौक्षन्) अभिषिक्त करें। उसके वल पर साधनसम्पन्न, वलवान् और ऋषि ज्ञानी पुरुष सव (अयजन्त) संगत होकर, परस्पर मिल कर कार्य करें।

(१०) यह जो महान् राष्ट्ररूप पुरुष हैं इसको कितने विभागों में विद्वान् कल्पना करते हैं? उसका मुख, वाहु, जांघ और पैर क्या हैं?

(११) उस महान् राष्ट्रमय पुरुष के एवं पुरुष रूप राजा के भी, ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय लड़ने वाले बाहू, व्यापारी वैश्य जंघाएं और शूद्र, सेवक जन चरण हैं।

(१२) उसका मन चन्द्र के समान आह्लादक हो। आंख सूर्य के समान तेजस्वी हो। कान वायु के समान व्यापक और मुख अग्नि के समान तेजस्वी हो।

(१३) अन्तरिक्ष के समान उसका नाभि अर्थात् केन्द्रस्थ राजधानी सर्वाश्रय हो, आकाश के समान शिर तेजस्वी नाना नक्षत्रों के समान विद्वानों से मण्डित राजसभा हो। पैर भूमि के समान स्थिर, प्रतिष्ठित हों। लोक सव श्रोत्र के समान एक दूसरे के दुख श्रवण करने हारे हों।

(१४) यह पुरुष ही राज्याधिकार के लिये स्वीकार करने योग्य 'हवि' है। उससे राष्ट्रयज्ञ विस्तृत करते हैं। उसका राज्य, वल, ऐश्वर्य वसन्त के समान शोभाजनक और प्रजाओं का वसाने वाला हो। इध्म अर्थात्

तेज ग्रीष्म के समान प्रखर असह्य हो । ग्रहण करने वाला सेना बल 'शरत्' अर्थात् शीत काल के समान भयजनक, शत्रुनाशक और कंपाने वाला हो ।

(१५) उसके ७ परिधि, सप्ताङ्ग राज्य हों, २१ 'समिध्' २१ महामात्य हों । देव, विद्वान् गण राष्ट्रयज्ञ को विस्तृत करते हुए पशु अर्थात् सर्व साक्षी, द्रष्टा, पुरुष को राज्य कार्य में बद्ध या दृढ़ता से स्थापन करें ।

(१६) उस सर्व पूज्य राजा से प्रजापालक राष्ट्र यज्ञ का सम्पादन करते हैं । वे नाना राष्ट्र धारक प्रथम नियत, स्थिर हों । वे महान् सामर्थ्यवान् शासक जन उस सुखमय राष्ट्र पर (सचन्त) समवाय बनाकर रहें । उसी में साधनों से सम्पन्न विद्वान् और विजयी लोग रहें ।

(१७) राजा जल, पृथिवी और विश्वकर्मा, शिल्पी विद्वानों के बल से नाना प्रकार के साधनों से सम्पन्न हो । शिल्पी जन या त्वष्टा प्रजापति राज्य का दर्शनीय स्वरूप बनाता है । इसी से उस भृत्य मनुष्य को भी 'देवत्व' प्राप्त होता है । वह राजा देव कहाता है ।

(१८) मैं उसी तेजस्वी, शोक, अज्ञान से परे निर्दोष, निष्पक्षपात सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष को प्राप्त करूं । उसको बिना पाये प्रजा को दूसरा शरण नहीं ।

(१९) प्रजापालक राजा सब राज्य-कार्यों के भीतर व्यापक रहें वही स्वयं उपस्थित होकर नाना प्रकार के राज्य कार्यों को प्रकट करता है । वीर पुरुष उसके राजपद को साक्षात् करते हैं । उसमें समस्त राष्ट्र-विभाग और जन आश्रित रहते हैं ।

(२०) वह विजयी, शासकों के लिये उग्र होकर सूर्य के समान तपता है । वह विद्वानों के समक्ष गुरु के समान व्यवस्थापक है । वह उन द्वारा ही राजा बनाया जाता है । वह ब्रह्म, वेद और ब्राह्म-बल से उत्पन्न होकर तेजस्वी है । उसको (नमः) सब आदर करें ।

(२१) ब्राह्म अर्थात् ब्राह्मणों से उत्पन्न इस (रुचं) तेजस्वी राजन्य को

उत्पन्न करते हुए विद्वान् लोग प्रथम ही उसको उपदेश करें। जो ब्रह्मज्ञ पुरुष इस प्रकार के पद का लाभ करता है सब उसके अधीन रहें।

(२२) सबको आश्रय देने वाली श्री, राष्ट्र-सम्पत्, शोभा और लक्ष्मी उसको राजा रूप से दिखावे, ऐसी राज्यलक्ष्मी वैभव ये दोनों उसकी पत्नी के समान हैं। सूर्य के जिस प्रकार दिन रात दो स्वरूप हैं इसी प्रकार राजा के दो स्वरूप दिन और रात्रि हैं, सर्व प्रकाशक दिन, और सर्व प्राणियों को सुख से रमाने वाली राज्यव्यवस्था रात्रि हैं। (नक्षत्राणि) युद्ध में न भागने वाले वीर और क्षत्र से भिन्न दूसरे प्रजागण ये सब राज्य के रूप हैं। अश्विनौ नामक दो मुख्य पदाधिकारी राजा के मुख हैं। वह सबको प्रेरणा करता हुआ सबका सञ्चालन करे। दूर के भोग्य पदार्थों को भी राष्ट्र में प्राप्त करावे। समस्त प्रकार के लोकों को वह प्राप्त करे, उनका संचालन करे। और सबका अधिपति होकर रहे।

इत्येकत्रिंशोऽध्यायः।

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये एकत्रिंशोऽध्यायः॥

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः

[३२—३३ । ५४] स्वयंभु ब्रह्म ऋषिः । आत्मा देवता ।

॥ ओ३म् ॥ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ १ ॥

१, २ अनुष्टुप् गान्धारः ॥

भा०—(तत्) वह, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सनातन सच्चिदानन्द नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, न्यायकारी दयालु, जगत्-स्रष्टा, जगत्-हर्त्ता, जगत्-नियन्ता परमेश्वर ही (अग्निः) स्वयंप्रकाश, सर्वत्र, सर्वप्रकाशक, सबके आगे विद्यमान होने से 'अग्नि' है । (तद् आदित्यः) वह ही परमेश्वर, समस्त संसार को प्रलय काल में अपने भीतर लय कर लेने वाला होने और सूर्य के समान तेजस्वी होने से 'आदित्य' है । (तद् वायुः) वह ही अनन्त बलवान्, सर्वप्राण, सर्वकर्त्ता एवं व्यापक होने से 'वायु' है । (तत् उ चन्द्रमाः) वह ही आह्लादजनक, आनन्दमय होने से 'चन्द्रमा' है । (तद् एव शुक्रम्) वह ही शुद्धस्वरूप और जगत् के सब कार्यों को अति शीघ्रता से, विना विलम्ब के यथाविधि करते और सबका प्रकाशक एवं स्वयं देदीप्यमान होने से 'शुक्र' है । (तत् ब्रह्म) वह ही सबसे महान्, सबसे बड़ा, सबका बढ़ाने वाला होने से ब्रह्म है । (ताः आपः) वही सब में व्यापक होने से 'आपः' है । (सः प्रजापतिः) वही समस्त प्रजाओं का पालक होने से प्रजापति है ।

राजा के पक्ष में—अग्नि के समान शत्रुतापक और अग्रणी, सूर्य के समान तेजस्वी, वायु के समान बलवान्, प्रजा का प्राण, चन्द्र के समान

१—अथातः सर्वमेधः आ प्रवायुमच्छे [३३ । ५४] तिमन्त्रात् । इयमेव 'तदेवोपनिषत्' ।

बलधारक, अन्न के समान सबको पोषक, जलों के समान प्राणप्रद, प्रजा पालक होने से वह राजा ही आदित्य, वायु चन्द्र, शुक्र ब्रह्म, आपः, प्रजापति आदि नामों से कहा जाता है। अन्यत्र भी—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्॥ २॥

भा०—(विद्युतः) विद्युत् से जिस प्रकार (निमेषाः) निमेष उत्पन्न होते हैं, अर्थात् मेघस्थ विद्युत् जिस प्रकार सहस्रों वार चमकती और सहस्रों वार फिर छिप २ जाती है, वे सब विलास उसी से उत्पन्न होते हैं और जिस प्रकार (विद्युतः) विशेष तेजस्वी सूर्य से (निमेषाः) दिन और रात्रि उत्पन्न होते हैं, अथवा जिस प्रकार सूर्य के (निमेषाः) नियम से बराबर 'मेष' आदि राशि प्रवेश या मेष, वृष आदि राशि के संक्रमण से मास और वर्ष उत्पन्न होते हैं अथवा निमेष त्रुटि, काष्ठा, विपल, पल, घड़ी, होरा, याम, दिन, पक्ष, मास, वर्ष आदि सभी उत्पन्न होते हैं, अथवा—(विद्युतः) विशेष तेजस्वी सूर्य से (निमेषाः) निरन्तर वर्षणशील मेघ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार (विद्युतः पुरुषात्) विशेष द्युति से प्रकाशमान् एवं समस्त जगत् के प्रकाशक उस पूर्ण पुरुष परमेश्वर से (सर्वे निमेषाः) समस्त निमेष, अध्यात्म में आत्मा के द्वारा नेत्रादि इन्द्रियों के निमीलन, उन्मीलन, सूर्य से, कला, काष्ठा आदि काल के अवयव और जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, तथा निरन्तर होने वाला उत्पाद और विनाश सब (अधिजज्ञिरे) उत्पन्न होते हैं। कोई भी (एनम्) उसको (न तिर्यञ्चं) न तिरछे, (न ऊर्ध्वम्) न ऊपर से और (न मध्ये) न बीच में से (परि-अग्रभत्) ग्रहण करता है, अर्थात् उसको किसी विशेष अंग से भी पकड़ा नहीं जा सकता, उसका पूर्ण ज्ञान नहीं किया जा सकता।

स एष नेति नेत्यात्मा अगृह्यो नहि गृह्यते । बृहदारण्यकोप० ॥

राजा के पक्ष में—विशेष तेजस्वी पुरुष से राष्ट्र के समस्त निमेष, छोटे बड़े कार्य उत्पन्न होते हैं । उसको कोई ऊपर से, बीच में से, या तिरछे भी नहीं पकड़ सकता । कोई उसको वश नहीं कर सकता ।

न तस्य प्रतिमा ऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः । हिरण्यगर्भ ऽइत्येष मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्न जात ऽइत्येषः ॥ ३ ॥

निचृत् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यस्य) जिसका (महत्) बड़ा भारी (नाम) नाम, स्वरूप और जगत् को वश करने का सामर्थ्य है और जिस का (महद् यशः) बड़ा भारी यश है । अथवा—जिसका (नाम) प्रसिद्ध (महत् यशः) बड़ा यश है (तस्य) उसकी (प्रतिमा न अस्ति) कोई मापक साधन, परिमाण, प्रतिकृति नहीं है । (हिरण्यगर्भः इति) 'हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे०' यह अनुवाक (अ० २५। १०–१३) (यस्मान्न जातः इति एषा:) 'यस्मान्न जातः० [अ० ८ । ३६] इत्यादि ऋचा और (मा मा हिंसादित्येषा) 'मा मा हिंसीत्०' इत्यादि अनुवाक में (१२ । १०२) (यस्य-महत् यशः) जिसका बड़ा यशोगान है ।

अथवा—(एषः हिरण्यगर्भः इति) वह परमेश्वर ही अपने भीतर सूर्यादि लोकों को धारण करने हारा होने से 'हिरण्यगर्भ' इस प्रकार कहाता है । (मा मा हिंसीत् इति एषा) मुझे मत मार इस प्रकार की प्रार्थना उसी से की जाती है । (यस्मात् न जातः) जिससे बढ़ कर कोई नहीं पैदा हुआ ऐसा जो प्रसिद्ध है ।

राजा के पक्ष में—जिसका मननकारी बल और यश बड़ा हो उसका (प्रतिमा) मुकाबले का कोई नहीं । उसका 'हिण्यगर्भः' इत्यादि सूक्तो से भी वर्णन किया जाता है ।

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥४॥

४-७ त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(एषः देवः) निश्चय से यह ही सब पदार्थों का द्रष्टा और प्रकाशक (सर्वाः प्रदिशः) समस्त दिशाओं को (अनु) व्यापे हुए है । (ह) वही निश्चय से (पूर्वः) सबसे पूर्व (जातः) प्रथम प्रकट होता है । (सः उ) और वह ही (अन्तः गर्भे) भीतर गर्भ में आत्मा और हिरण्यगर्भ में परमात्मा विद्यमान रहता है । (सः एव) वह (जातः) समस्त लोकों में शक्ति रूप से प्रकट होता है । (सः) वह ही (जनिष्यमाणः) भविष्य में भी प्रकट होगा । हे (जनाः) पुरुषो ! वह (प्रत्यङ्) प्रत्येक पदार्थ में व्यापक होकर (सर्वतः मुखः) सब ओर उसके मुख आदि अवयवों के समान सब प्रकार के करने की शक्ति वाला है ।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्यतिष्ठति । गीता । १३ । १३ ॥

यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥५॥

भा०—(यस्मात् पुरा) जिससे पहले (किञ्चन) कुछ भी (न जातम्) नहीं उत्पन्न हुआ । और (यः) जो (विश्वा भुवनानि) समस्त लोकों, भुवनों को (आबभूव) व्याप्त होरहा है । वह (प्रजापतिः) प्रजा पालक परमेश्वर राजा और पिता के समान (प्रजया) अपनी समस्त उत्पन्न प्रजा सृष्टि के साथ (संरराणः) उसमें ही रमण करता हुआ (त्रीणि ज्योतींषि) तीन ज्योति अग्नि, विद्युत्, सूर्य या सत्, चित्, आनन्द इनको (सचते) प्राप्त है, इनमें व्यापक है, इन तीन रूपों से स्मरण किया जाता है । और (सः) वह ही (षोडशी) १६ कलावान् चन्द्र के समान, आह्लादक १६ कला अर्थात् शक्तियों से सम्पन्न है । प्राण,

श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोक ये १६ अंश या कलाएं समष्टि रूप से परमात्मा में और व्यष्टि रूप से जीवात्मा में भी विद्यमान होने से वह शोडपी है। इसी प्रकार १६ राज्याङ्गों से युक्त राजा भी शोडपी है। वह भी प्रजा से ही रमण करता है। उसी में आनन्द प्रसन्न रहता है। 'प्रजापतिः स्वां दुहितरं चकमे' इत्यादि अर्थवाद भी इसी बात को दर्शाते हैं।

अध्यात्म में तीन तेज, आत्मा, इन्द्रिय और मन समाज में ब्राह्म-बल, क्षात्र-बल और अर्थबल यही परमेश्वर के। 'त्रिपाद्' या 'त्रीणि पदानि है'।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
यो ऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

ऋ० १०। १२१। ५॥

भा०—(येन) जिस परमेश्वर ने (द्यौः) आकाश को (उग्रा) उग्र, विशेष बलशालिनी और वृष्टिदायिनी बना कर उसको धारण किया और (येन) जिसने (दृढा च पृथिवी) पृथिवी को दृढ़ बना कर उसको भी धारण किया। (येन) जिसने (स्वः स्वभितम्) स्वः अर्थात् समस्त सुख या समस्त तेजोमय आदित्य को भी धारण किया है। (येन नाकः) जिसने समस्त आनन्दमय, सर्व दुःखरहित मोक्ष को धारण किया है। (यः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में विद्यमान (रजसः) समस्त लोकों को और (विमानः) विशेष रूप से बनाने और जानने हारा है (कस्मै) उस प्रजापति स्वरूप, आनन्दमय, परमेश्वर की (हविषा) भक्ति से (विधेम) स्तुति अर्चना करें।

यं क्रन्दसी ऽअवसा तस्तभाने ऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने।
यत्राधि सूर ऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
आपो ह यद् बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥

भा०—(यम्) जिसको आश्रय लेकर (क्रन्दसी) नाना गुणों से

युक्त आकाश और पृथिवी (अवसा) व्यापक सामर्थ्य और रक्षा सामर्थ्य से अथवा—(यं अवसा) जिसको बल, सामर्थ्य से (तस्तभाने) समस्त जगत् को थाम रही हैं और स्वयं थमी खड़ी हैं। और (मनसा) मन से या जिसके ज्ञानबल या स्तम्भन सामर्थ्य से वे दोनों (रेजमाने) कांपती हुई या चलती हुई (अभि ऐक्षेताम्) दोनों एक दूसरे के सन्मुख देख रही हैं अथवा दिखाई दे रही हैं। (यत्र अधि) जिसके बलपर (सूरः) सूर्य (उदितः) उदय को प्राप्त होकर (विभाति) प्रकाश करता है (कस्मै) उस सुखस्वरूप जगत् के कर्त्ता (देवाय) सब के प्रकाशक, परम देव की हम (हविषा) भक्ति से (विधेम) उपासना करें।

(आपो ह यद् बृहतीः० इत्यादि) और (यश्चिदापः० इत्यादि) दोनों ऋचाएं भी उसी परमेश्वर का वर्णन करती हैं।

'आपोह यद् बृहती' यह ऋचा देखो (२७।२५) 'यश्चिदापः०' यह ऋचा देखो २७।२६ ॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदꣳ सञ्च वि चैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥८॥

[८–१२] त्रिष्टुप्। धैवतः।

भा०—(वेनः) विद्वान् मेधावी, ज्ञानवान् पुरुष (तत्) उस परम ब्रह्म को (गुहा निहितम्) गुहा अर्थात् बुद्धि में स्थित, अथवा गूढ़ कारण रूप में विद्यमान (सत्) सत् रूप से (पश्यत्) देखता है, साक्षात् करता है। (यत्र) जिसमें (विश्वम्) समस्त विश्व, (एकनीडम्) एक ही स्थान में धरे के समान, एक आश्रय पर स्थित (भवति) होता है। (तस्मिन्) उसमें (इदं) यह दृश्य जगत् (सम् एति च) समा जाता, प्रलयकाल में लीन हो जाता है और पुनः सृष्टि के अवसर में (वि एति च) विविध रूप में प्रकट हो जाता है। (सः) वह परमेश्वर (प्रजासु विभूः)

८—०'कनीळम्' इति काण्व०।

उत्पन्न होने वाली समस्त सृष्टियों और प्राणियों में (ओतः प्रोतः च) ओत और प्रोत है। उरोया पिरोया हुआ है।

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्॥ ६॥

अथर्व० २। १। २॥

भा०—(गन्धर्वः) गौ अर्थात् वेदवाणी को धारण करने वाला, वेदज्ञ (विद्वान्) विद्वान्, आत्मज्ञान का साक्षात् लाभ करनेहारा पुरुष (तद्) उस (अमृतम्) अमृत स्वरूप (गुहा) बुद्धि में, गुहास्थान में (विभृतं) विशेष रूप से विद्यमान (धाम) सब को धारण करने वाले, परम तेजोमय, सर्वाश्रय, परमेश्वर के स्वरूप का (प्रवोचेत् नु) हमें प्रवचन करे, उसका उपदेश करे। (अस्य) उस परमेश्वर के (त्रीणि पदानि) तीन पद, जानने योग्य तीन स्वरूप (गुहा निहितानि) बुद्धि में स्थित हैं। (यः) जो (तानि) उनको (वेद) साक्षात् कर लेता है (सः) वह (पितुः पिता) हमारे पिता से भी बढ़कर (पिता) पालक (असत्) होने योग्य है।

'त्रीणि पदानि'—त्रिपादस्यामृतं दिवि। त्रीणि पदा विचक्रमे। त्रिपानस्यः। त्रिपस्त्यं। ऋ० ८।३९।८॥ त्र्यनीकः। ऋ० ३।५६।३॥ त्रि ऊधन्। त्रिप्रतिष्ठितः। अ० १०।२।३२। त्रिसधस्थः। ऋ० ५।४।८॥ त्रिदिवः त्रिनाक, त्र्यरुण, त्रिधातु, त्रिवृत इत्यादि नाना त्रिक लेने योग्य हैं।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ १०॥

अथर्व० २। १। ३॥

भा०—(सः) वह (नः) हमारा (बन्धुः) बन्धु, भाई के समान सहायक एवं सबको हृदयों में बांधने वाला है। (जनिता) वह उत्पन्न करने वाला पिता है। (सः विधाता) वह विविध उपायों से धारण

पोषण करने हारा है। वह (विश्वा) समस्त (धामा) धारण सामर्थ्यों, स्थानों और (भुवनानि) लोकों को भी (वेद) जानता है। (यत्र) जिस परमेश्वर में (देवाः) विद्वान्गण, एवं सूर्यादि तेजस्वी पदार्थ (अमृतम्) अमृत, मोक्ष-सुख और कभी नाश न होने वाले सत् तत्व को (आनशानाः) प्राप्त करते हुए उस (तृतीये) परम, सबसे परे विद्यमान, जीव और प्रकृति से भी विलक्षण (धामन्) परम तेज में (अधि-ऐरयन्त) स्वच्छन्दतया विचरते हैं।

'तृतीये धामनि'—तृतीय रजस्, तृतीय नाक, तृतीय पृष्ठ, तृतीय लोक ये सब रचना एकार्थक हैं। 'तृतीयं' तीर्णतमम् इति निरु०। सर्वोच्च लोक।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥ ११ ॥

भा०—(भूतानि परीत्य) पांचों भूतों को व्याप्त होकर, (लोकान् परीत्य) समस्त लोकों को व्याप्त होकर, (सर्वाः प्रदिशः दिशः च) सब दिशाओं और उपदिशाओं को व्याप्त होकर, (ऋतस्य) अभिव्यक्त हुए इस संसार के भी (प्रथमजाम्) प्रथम विद्यमान प्रकृति को (उपस्थाय) प्राप्त होकर, उसके साथ (आत्मना) अपने स्वरूप से (आत्मानम्) आत्मा अर्थात् अपने को स्त्री के साथ पुरुष के समान (अभि संविवेश) सब प्रकार से संयुक्त करता है। अध्यात्म में—आत्मवित् ज्ञानी भूतों को, लोकों को और दिशा उपदिशाओं को जान कर (ऋतस्य प्रथमजाम् उपस्थाय) सत्य परमात्मा को प्रथम उत्पन्न वाणी का सेवन, ज्ञान करके वह (आत्मना) परमात्मा के साथ (आत्मानम् अभि संविवेश) अपने को उसके साथ जोड़ देता है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत। श० १४।३॥

परि द्यावापृथिवी सद्य ऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥ १२ ॥

भा०—(द्यावापृथिवी) द्यौ, आकाश, पृथिवी (परि त्वा) सब प्रकार से व्याप कर (लोकान् परि इत्वा) समस्त लोकों को व्याप कर (दिशः परि) समस्त दिशा और (स्वः परि) परम मोक्षमय सुख को व्याप कर (ऋतस्य) महान् संसार की (विततं) व्यापक (तन्तुं) परम आश्रय, मूलकारण प्रकृति तत्व को (विचृत्य) विशेष रूप से बांध कर (तत्) इसको (अपश्यत्) देखा । और (तत् अभवत्) प्रधान तत्व के साथ संयुक्त हुआ और (तत् आसीत्) इस ब्रह्माण्ड अर्थात् जगत् रूप में उत्पन्न हुआ ।

अथवा अध्यात्म में—ज्ञानयोगी (द्यावापृथिवी सद्यः परि इत्वा) द्यौ और पृथिवी दोनों को शीघ्र जान कर (लोकान् दिशः) समस्त लोकों को और दिशाओं को (परि) जान कर, (स्वः) उस सुखमय मोक्ष को प्राप्त करके (ऋतस्य) सत्यमय परमेश्वर के यज्ञमय प्रजापति के (विततं) विस्तृत (तन्तुम्) जन्म मरण के सूत्र को (विचृत्य) काट कर, मुक्त होकर (तत् अपश्यत्) उस आत्मस्वरूप को साक्षात् करता है (तत् अभवत्) वही 'तत्' अर्थात् तन्मय हो जाता है (तत् आसीत्) वैसा ही, या उसमें ही रहता है ।

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ १३ ॥

ऋ० १ । १८ । ६ ॥

भा०—(सदसः) सबके विराजने योग्य, सभा मण्डप के समान इस सर्वाश्रय ब्रह्माण्ड के (पतिम्) पालक, (अद्भुतम्) सर्वाश्चर्यकारी, (इन्द्रस्य) जीव के (काम्यम्) कामनायोग्य, (प्रियम्) अति प्रिय (सनिम्) भजन करने योग्य, परम सेव्य, (मेधाम्) अति पवित्र, मुझ आत्मा

को अपने में धारण करने वाले परमेश्वर को (स्वाहा) उत्तम स्तुति से ही मैं (अयासिषम्) प्राप्त होऊं ।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १४ ॥

भा०—(याम्) जिस (मेधाम्) आत्मज्ञान को धारण करने वाली परम बुद्धि को (देवगणाः) देव, विद्वान् गण (पितरः) पालक जन पूर्व के विद्वान् (च) भी (उपासते) उपासना करते हैं (तया मेधया) उस परम प्रज्ञा से हे (अग्ने) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! या गुरो ! (माम्) मुझको भी (स्वाहा) उत्तम उपदेश वाणी और योगाभ्यास द्वारा (मेधाविनं कुरु) मेधवान् प्रज्ञावान् कर ।

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥१५॥

भा०—(वरुणः) सर्वश्रेष्ठ, सब दुःखों का वारण करने वाला परमेश्वर (मे मेधाम् ददातु) मुझे मेधा, प्रज्ञा का प्रदान कर । (अग्निः) ज्ञानस्वरूप (प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी, आचार्य और परमेश्वर (मेधाम्) मेधा प्रदान करे । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर और (वायुः च) सर्वज्ञ, सर्वव्यापक परमेश्वर (मे मेधाम् ददातु) मुझे मेधा बुद्धि प्रदान करे । (धाता) सबका पोषक परमेश्वर (स्वाहा) उत्तम उपदेश वाणी द्वारा (मे मेधां दधातु) मुझे मेधा बुद्धि प्रदान करे ।

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ १६ ॥

भा०—(ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्रह्म, ब्राह्मण विद्वान् जन और क्षत्रिय लोग (उभे) दोनों (मे) मेरे (श्रियम्) लक्ष्मी का (अश्नुताम्) उपभोग करें । (देवाः) देव, विद्वान् गण या ईश्वरप्रदत्त दिव्य गुण (मयि)

मुझमें (उत्तमां श्रियम्) उत्तम श्री, लक्ष्मी को (दधातु) धारण करावें (तस्यै ते स्वाहा) उस तुझ लक्ष्मी से मैं उत्तम यश को प्राप्त करूं।

१३ मन्त्र में आये 'सदसस्पति' शब्द का अर्थ 'महर्षि दयानन्द ने सभा या ज्ञानस्य न्यायस्य दण्डस्य वा पतिम् पालकम् ऐसा किया। इस लिङ्ग में यह समस्त अध्याय दण्डपति शासक, सभापति राजा के पक्ष में भी लगाता है जिसको संक्षेप से दर्शाते हैं—

१—राजा शत्रुतापक होने से अग्नि कर लेने से आदित्य, बलवान् उग्र होने से 'वायु' आह्लादक होने से 'चन्द्र' वीर्यवान् होने से 'शुक्र' आप्त पुरुषों का आश्रय होने से 'आपः' और प्रजा पालक होने से प्रजापति है।

२—उस तेजस्वी राजा से ही राष्ट्र के सब (निमेषाः) छोटे बड़े कार्य व्यवहार उत्पन्न होते हैं। उस राजा को कोई शत्रु भी न ऊपर से, न पीछे से, न बीच से आक्रमण करे।

३—उसके बराबरी का कोई नहीं। उसका महान् नाम और यश हो।

४—वह सबसे मुख्य हो, वह सब प्रदेशों का शासक हो। वह प्रसिद्ध हो, राष्ट्र का प्रत्येक पदार्थ और जन का स्वामी हो। वह सबसे मुख्य अधिकारी होकर रहे।

५—जिससे बढ़ कर सब पर कोई शासक नहीं वह प्रजापालक राजा प्रजा से ही सुखी होता हुआ तीनों प्रकार के ज्योति, बलों, अधिकारों को प्राप्त करे और १६ हों अमात्यों या राज्याङ्गों से युक्त हो। शरीर बल, ज्ञान-बल और अर्थबल तीन ज्योति हैं। अथवा, अपने देह, सभा और राष्ट्र का बल।

६—वह आकाश, पृथिवी, सुख प्रद ऐश्वर्य और सर्व सुख कर राष्ट्र का वश कर्त्ता हो अन्तरिक्ष को पद पर रह कर समस्त (रजसः) लोकों को वश करे।

७—राजा और प्रजावर्ग उसके रक्षण-बल से सुव्यवस्थित होकर चित्त से उसका भय मानें। वह सूर्य के समान उदय को प्राप्त हो।

८—विद्वान् जन उस राजा को राष्ट्र के मध्य भाग में स्थित देखता है, समस्त राष्ट्र उस पर एकाश्रय होकर रहता है। वह उसी के आश्रय पर बढ़ता घटता है। वह विशेष सामर्थ्यवान् होकर प्रजाओं में करने योग्य व्यवस्थाओं से ओत प्रोत हो जाता है।

९—विद्वान् ज्ञानी पुरुष तेज के धारण करने वाले उस अमर, अखण्ड शासन का उपदेश करे। जिसमें तीन पद उसी में विराजमान हैं। जो उस राज्य-तत्व को जानता है वह पालकों से बढ़ कर पालक है।

१०—वह समस्त प्राणियों, लोकों, देशों और दिशाओं को प्राप्त करके 'प्रथमजा' अर्थात् भूमि को प्राप्त कर स्वयं अपने बल से उसमें जमकर बैठता है।

११—वह राजा प्रजावर्ग और समस्त लोकों और (स्वः) राज-सभा को प्राप्त कर, वश कर (ऋतस्य) राष्ट्र की सत्य व्यवस्था, क़ानून सूत्र को बांध कर राष्ट्र पर आंख रखता है और तन्मय हो जाता है और राष्ट्रस्वरूप होकर रहता है।

१२—मैं प्रजाजन 'सदसस्पति' अर्थात् राष्ट्रपति, सभापति, दण्डपति, अद्भुत, (इन्द्रस्य काम्यम्) ऐश्वर्यमय राष्ट्र के कामना योग्य, जिसको सब कोई चाहे, ऐसे आश्चर्यजनक वीर, प्रिय राजा को प्राप्त करूं और (सनिम्) सेवनीय, सुखप्रद और (मेधाम्) मुझ राष्ट्र प्रजा के धारक पोषक या शत्रुनाशक शक्ति को प्राप्त करूं।

१३—जिस (मेधाम्) संगतिकारक शक्ति को या शत्रुनाशक शक्ति को देव, विजेता राजा लोग और राष्ट्र के पालक लोग उपासना करते, उसका आश्रय लेते हैं, हे अग्रणी नेतः! तू उससे मुझे युक्त कर।

१४—शत्रुओं का वारक, अग्रणी, प्रजापालक, शत्रुनाशक पृथ्वीपति, वायु के समान उग्र, बली पुरुष मुझे वह 'मेधा' शक्ति प्रदान करे।

१६—मेरी राष्ट्र सम्पत्ति का ब्राह्मण, क्षत्रिय, विद्यावान् और बलवान् पुरुष भोग करें। विजेता लोग और विद्वान् लोग मुझ में श्री, सम्पत्ति को धारण करें, (तस्यै ते स्वाहा) उसका वे उत्तम पात्र में प्रदान करें।

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥

अथ त्र्यर्चिस्त्रोऽध्यायः

१—१७ अग्निर्देवता ।

॥ओ३म्॥ अस्याजरासो दमामरित्रा ऽअर्चद्धूमासोऽअग्नयः पावकाः ।
श्वितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः ॥१॥

ऋ० १० । ४६ । ७ ॥

वत्सप्री ऋषिः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अस्य) इस राजा के राज्य और परमेश्वर की सृष्टि में (अग्नयः) अग्रणी, नेता पुरुष और अग्नि, विद्युत् आदि अति तीव्र ताप के पदार्थ (पावकाः) दूसरों को पवित्र करने वाले (दमाम्) गृहों की (अरित्राः) शत्रुओं और रोगादि से रक्षा करने वाले और (अर्चद्-धूमासः) उज्वल, दीप्ति-युक्त धूम वाले अग्नि के समान तेजस्वी, बलशाली हों। वे (श्वितीचयः) श्वेत पदार्थ चान्दी, रजत, मुक्ता आदि ऐश्वर्यों के, यश के और शुक्ल अर्थात् शुभ चरित्रों के सञ्चय करने हारे (श्वात्रासः) अति धनवान्, अथवा आलस्यरहित शीघ्रता से कार्य करने वाले (भुरण्यवः) प्रजाओं के धारण पोषण करने वाले, (वनर्षदः) वन में रहने वाले, तपस्वी, सेवनीय, संविभक्त धनों ऐश्वर्यों या गृहों में निवास करनेवाले या रश्मियों में स्थित, सूर्य के समान तेजस्वी या जलों से अभिषिक्त, (वायवः न) वायुओं के समान, बलवान् तीव्र (सोमाः) प्रेरक, जीवनप्रद, राष्ट्र के प्राणस्वरूप, एवं ऐश्वर्यप्रद (अजरासः) जरारहित युवा, बलवान् हों ।

हरयो धूमकेतवो वातजूता ऽउप द्यवि ।
यतन्ते वृथगग्नयः ॥ २ ॥ ऋ० ८ । ४३ । ४ ॥

विश्वरूप ऋषिः । गायत्री । षड्जः ॥

१—१७ अग्निर्देवत्याः पुरोरुचः ॥

भा०—जिस प्रकार (वृथक्) नाना प्रकार के (अग्नयः) अग्नि (हरयः) पीत वर्ण के अति तेजस्वी (धूमकेतवः) धूमरूप ध्वजा से दूरसे ही जानने योग्य, (वातजूताः) वायु द्वारा अति प्रदीप्त होकर (द्यवि) प्रकाश के निमित्त (उप यतन्ते) जला करते हैं, उसी प्रकार (अग्नयः) तेजस्वी, ज्ञानी पुरुष (हरयः) ज्ञान का धारण करने हारे (धूमकेतवः) धूम के समान चतुर्दिगन्त में फैलने वाले ज्ञान से युक्त और (वातजूताः) वायु के समान सबके प्राणप्रद, परमेश्वर की उपासना से तेजस्वी, अथवा प्राणायाम से बलवान्, अथवा वायु के बल के समान बल से बलवान् होकर (द्यवि) प्रकाश और ज्ञान के निमित्त (उप यतन्ते) सदा यत्न किया करते हैं ।

यजा॑ नो मित्रावरु॒णा यजा॑ दे॒वाँ२ऽ ऋ॒तं बृ॒हत् ।
अग्ने॒ यक्षि॒ स्वं दम॑म् ॥ ३ ॥ ऋ० ५ । ७५ । ५ ।

गोतम ऋषिः ।

भा०—हे (अग्ने) विद्वन्, अग्रणी नेतः ! तू (नः मित्रावरुणा) हमारे मित्र, स्नेही पुरुषों और 'वरुण', श्रेष्ठ और दुःखनिवारक पुरुषों का (यज) सत्कार कर, आदर कर । तू (देवान् यज) विद्वान् पुरुषों का सत्संग कर, उनको दान दे । और (स्वं) अपने (दमम्) दमन करने हारे राष्ट्र को (यक्षि) सुसंगत, सुव्यवस्थित कर ।

युक्ष्वा हि दे॒वहू॑तमाँ२ऽ अश्वाँ२ऽ अग्ने॒ रथी॑रिव ।
नि होता॑ पू॒र्व्यः स॒दः ॥ ४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १२ । ३७ ॥

द्वे विरू॑पे चरतः स्व॒र्थे ऽअ॒न्यान्या॑ व॒त्समुप॑ धापयेते ।
हरि॑र॒न्यस्या॑ं भवति स्व॒धावाँ॑ऽछु॒क्रो ऽअ॒न्यस्याँ॑ ददृशे सु॒वर्चा॑ः ॥५॥
ऋ० १ । ९५ । १ ॥

भा०—जैसे (द्वे) दो (विरूपे) भिन्न २ रूप रंग वाली स्त्रियें

(सु-अर्थे) शुभ प्रयोजन में लगी हुई (चरतः) भिन्न २ प्रकार का आचरण करती हैं और भिन्न २ प्रकार से आहार विहार करती हैं। और (अन्या-अन्या) वे दोनों पृथक्, २ या एक दूसरे के (वत्सम्) बालक को (उपधापयेते) दूध पिलाती हैं। (अन्यस्यां) एक में से तो (हरिः) श्याम वर्ण का, मनोहर (स्वधावान्) उत्तम, शान्ति आदि गुणों वाला पुत्र (भवति) हो और (अन्यस्याम्) दूसरी में से (शुक्रः) शुचिकर, शुद्ध, (सुवर्चाः) उत्तम, तेजस्वी पुत्र (ददृशे) प्रकट हुआ दिखाई दे इसी प्रकार रात्रि और दिन (द्वे विरूपे चरतः) दोनों प्रकाश और अन्धकार के कारण भिन्न २ रूप होकर विचरते हैं। दोनों (अन्या-अन्या वत्सम् उपधापयेते) पृथक् २ एक दूसरे के बालक के समान चन्द्र और सूर्य को पोषित करते हैं। अथवा वे दोनों एक दूसरे से मिल कर (वत्सम्) बसे हुए संसार को पालते पोसते हैं। एक में (हरिः) ताप आदि हरने से हरि, मनोहर, (स्वधावान्) अन्नादि ओषधि के पोषक रसों एवं जल, ओस आदि से युक्त चन्द्र उत्पन्न होता है और (अन्यस्याम्) दूसरी, दिन वेला में (शुक्रः) कान्तिमान् (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी सूर्य (ददृशे) दिखाई देता है। अथवा—दिन वेला रात्रि से उत्पन्न हुए सूर्य को अधिक तेजस्वी करती है और रात्रि वेला दिन के अन्तिम प्रहर में उत्पन्न अग्नि को अधिक उज्वल कर देती है। जलादि रस के शोषण करने से सूर्य हरि है और कान्तिमान् होने से अग्नि शुक्र है।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ ६ ॥

ऋ० ४ । ७ । १ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३ । १५ ॥

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ७ ॥

ऋ० ३ । ९ । ९ ॥

स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥ विश्वामित्र ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः ।

भा०—(त्रीणि शता, त्री सहस्राणि, त्रिंशत् च नव च) तीन सहस्र, तीन सौ, तीस और ९ अर्थात् ३३३९ इतने (देवाः) विजयशील सैनिक (अग्निम्) अपने अग्रणी सेनापति की (असपर्यन्) आज्ञा मानें । वे उसको (घृतैः) जलों से (औक्षन्) अभिषेक करें । और (अस्मै) उसके लिये (बर्हिः) बड़ा, वृद्धिसूचक आसन, पद भी (अस्तृणन्) प्रदान करें । और (आत् इत्) उसके पश्चात् उसको ही (होतारम्) सबका होता, दाता, एवं वेतन और अधिकार देने वाला बना कर (नि-असादयन्त) मुख्य आसन पर बैठावें ।

मूर्द्धानं दिवो ऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत ऽआ जातमग्निम् ।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥८॥

ऋ० ६ । ७ । १ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ७ । २४ ॥

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्द्विषस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र ऽआहुतः ॥ ९ ॥ ऋ० ६ । १६ । ३४ ॥

भारद्वाज ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—जिस प्रकार (अग्निः) सूर्य और वायु (वृत्राणि) आकाश को घेरने वाले मेघों को छिन्न भिन्न करता है उसी प्रकार (द्विषस्युः) यश और धनैश्वर्य का इच्छुक (अग्निः) अग्रणी, दुष्ट संतापक, विद्वान्, नेता और राजा (विपन्यया) विविध प्रकार के व्यवहारों से युक्त नीति से स्वयं (समिद्धः) अति तेजस्वी (शुक्रः) शीघ्रकारी होकर (आहुतः) शत्रुओं से ललकारा जाकर, या दुःखी प्रजाओं से कष्ट निवारणार्थ पुकारा जाकर (वृत्राणि) प्रजा के नगरों के घेरने वाले शत्रुओं को और सदाचार नाश करने वाले पापाचारों को (जंघनत्) नाश करे ।

अथवा—यश का अभिलाषी नेता राजा (विपन्यया समिद्धः) प्रजाओं

की विविध प्रकार की स्तुतियों प्रार्थना से प्रेरित, उत्तेजित होकर (शुक्रः) तेजस्वी (आहुतः) सर्व स्वीकृत होकर (घृत्राणि) कदाचारियों और राज्य के विघ्नों को नाश करे ।

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना ।
पिबा मित्रस्य धामभिः ॥ १० ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (अग्ने) सूर्य के समान तेजस्विन् ! तू (वायुना) वायु के समान अपने आक्रमण के प्रबल वेग से शत्रुओं को हिला देने वाले (इन्द्रेण) शत्रुघातक सेनापति और (विश्वेभिः) समस्त विजय-शील वीर नेता पुरुषों के साथ मिल कर (मित्रस्य धामभिः) मित्र, स्नेही राजा के पदाधिकारियों सहित (सोम्यं) राष्ट्र के ऐश्वर्य रूप (मधु) मधुर, भोग्य ऐश्वर्य को (पिब) स्वीकार कर । अग्नि या सूर्य का ताप जिस प्रकार रसधारक वायु के साथ अपने किरणों से जल को पान कर लेता है उस प्रकार राजा अपने मित्रों सहित सेनापति के बल से राष्ट्र का भोग्य अन्न आदि ऐश्वर्य प्राप्त करे ।

आ यदिषे नृपतिं तेज आनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके ।
अग्निः शर्धमनवद्यं युवानꣳ स्वाध्यं जनयत्सूदयंच्च ॥ ११ ॥

ऋ० १ । ७१ । ८ ॥

पराशर ऋषिः । अग्निर्देवता । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(यत्) जिस प्रकार (नृपतिम्) नर रूप नायक पति अर्थात् पुरुष को (इषे) कामनापूर्त्ति वा निषेक करने के निमित्त (तेजः) तेज, वीर्य (आनट्) प्राप्त होता है तभी वह (शुचि) शुद्ध, दीप्तियुक्त (रेतः) पुत्रादि का उत्पादक वीर्य (द्यौः अभीके) कामना युक्त स्त्री में (निषिक्तम्) निषिक्त हो तो (अग्निः) वह तेजस्वी पुरुष (शर्धम्) बलवान्, (अनवद्यम्) निर्दोष, अनिन्द्य, सुन्दर (स्वाध्यं) उत्तम विचारानुसार (युवानं)

जवान, दीर्घायु हृष्ट पुष्ट सन्तान को (जनयत्) उत्पन्न करता है। और (सूदयत् च) इसी के निमित्त वीर्य निषेक करता है उसी प्रकार (यत्) जब (इषे) वर्षा के निमित्त या अन्नादि के उत्पन्न होने के लिये राजा के समान नेतृ शक्तियों के पालक या सब मनुष्यों के पालक राजा का (तेजः) तेज (आ आनट्) सर्वत्र व्याप्त होता है तब और (द्यौः अभीके) आकाश में सर्वत्र (शुचि रेतः निषिक्तम्) शुद्ध जल गुप्तरूप से गर्भित हो जाता है। तब भी (अग्निः) वह सूर्य (शर्धम्) बलकारी (अनवद्यम्) निर्दोष (युवानम्) यौवन या बल के वर्धक परस्पर मिश्रित, (स्वाध्यं) सुख से स्मरण या धारण करने योग्य, उत्तम पोषक जल को (जनयत्) उत्पन्न करता है और (सूदयत् च) भूमि पर वर्षाता है।

इसी प्रकार राजा के पक्ष में—(यत्) जब (इषे) अन्नादि के वितरण के लिये (नृपतिं तेजः आनट्) नरों के नायक वीरों के पालक राजा का तेज फैलता है तब वह (द्यौरभीके) ज्ञान प्रकाश से युक्त राजसभा में अपने (शुचि रेतः) विशुद्ध सामर्थ्य को प्रदान करता है। और तब (अग्निः) अग्रणी नेता (अनवद्यम्) दोष रहित, स्तुतियोग्य, (युवानं) राष्ट्र के यौवन को बनाने वाले (स्वाध्यं) उत्तम ध्यान या धारण करने योग्य (शर्धम्) बलकारी सामर्थ्य को (जनयत्) उत्पन्न करता है और (सूदयत् च) उसको पुनः प्रजा पर ही वर्षा कर देता है।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ रघु०।

अग्ने शर्द्धं महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यꣳ सुयममाकृणुष्व शत्रूयतामभितिष्ठा महाꣳसि॥१२॥

ऋ० ५। ६८। ३॥

विश्ववारा ऋषिका। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी नायक! विद्वन्! राजन्! तू (महते)

बड़े भारी (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्ययुक्त पद को प्राप्त करने के लिये (शर्द्ध) बल प्रकट कर, उद्योग कर। (तव) तेरे (द्युम्नानि) धन और ऐश्वर्य (उत्तमानि) उत्तम, उच्च कोटि के (सन्तु) हों, तेरे पास उत्तम २ धन प्राप्त हों। तू (जास्पत्यम्) पति पत्नी के सम्बन्ध को (सुयमम्) उत्तम नियमों से सुबद्ध, खूब दृढ़ (आ कृणुष्व) बना। (शत्रूयताम्) शत्रुता का व्यवहार चाहने वाले पुरुषों के (महांसि) तेजों और बड़े २ ऐश्वर्यों पर तू (अभि तिष्ठ) आक्रमण कर, उनको विजय कर।

त्वाꣳ हि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥१३॥

ऋ० ६। ४। ७॥

भारद्वाज ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! विद्वन्! राजन्! आचार्य! हम लोग (मन्द्रतमम्) अति अधिक गम्भीर, सबको प्रसन्न करने हारे, स्वयं सुप्रसन्न, सबसे आदरणीय, एवं अति कोमल हृदय वाले दयालु (त्वां हि) तुझको ही (अर्कशोकैः) सूर्य के समान तेजों से युक्त पुरुषों सहित (ववृमहे) वरण करते हैं। तू (नः) हमारे (महि) बड़े प्रयोजन वाले वचन को (श्रोपि) श्रवण कर। (नृतमाः) श्रेष्ठ मनुष्य (शवसा) बल, ज्ञान के कारण (इन्द्रं न) सूर्य के समान तेजस्वी, (वायुं न) और वायु के समान व्यापक, बलशाली एवं प्राणों के पालक (देवता) देव स्वरूप, दाता और द्रष्टा, ज्ञानप्रकाशक जान कर (राधसा) धन और ऐश्वर्य से (त्वां) तुझको (पृणन्ति) पालते एवं पूर्ण करते हैं।

'अर्कशोकैः'—मन्त्रैः दीप्तैः यथोक्तस्थानकर्मानुप्रदानवद्भिः। देवताद्यात्म वित्तसन्तानगर्भगुरुशुश्रूषाधिगताविप्लुतब्रह्मचर्यैः। इति उवटः॥

त्वे ऽअग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम् ॥ १४ ॥

ऋ० ७ । १६ । ७ ॥

वासिष्ठ ऋषिः । अग्निर्देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (स्वाहुत) अग्नि के समान उत्तम २ पदार्थों और ज्ञानों को प्राप्त करने हारे (अग्ने) तेजस्विन् ! (ये) जो (सूरयः) सूर्य के समान तेजस्वी, विद्वान् (यन्तारः) स्वयं जितेन्द्रिय, अथवा (जनानां यन्तारः) मनुष्यों को नियम में रखने वाले (मघवानः) धन ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर भी (गोनां उर्वान्) गौ आदि पशुओं के नाश करने वालों को (दयन्त) नाश करते एवं दण्ड देते हैं वे (त्वे) तेरे (प्रियासः) प्रिय (सन्तु) हों।

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः । आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रो ऽअर्य्यमा प्रातर्य्यावाणो ऽअध्वरम् ॥१५॥

ऋ० १ । ४४ । ३ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । अग्निर्देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (श्रुत्कर्ण) अभ्यर्थना करने वाले के वचनों को श्रवण करनेवाले, अथवा (श्रुत्कर्ण) गुरुओं द्वारा बहुश्रुत कर्णों वाले ! अथवा बहुत विद्वानों को अपने अधीन रखने हारे ! (अग्ने) अग्रणी, विद्वन् ! राजन् ! तू (सयावभिः) सदा साथ जाने वाले, सहयोगी(वह्निभिः) राज-कार्यों को भली प्रकार निर्वाहने वाले (देवैः) विद्वानों के साथ मिल कर (श्रुधि) प्रजा के व्यवहारों को सुना कर । और (बर्हिषि) इस आसन पर, अथवा इस महान्, राष्ट्र व राजसभा में (मित्रः) सबको स्नेह से देखने हारा (अर्यमा) स्वामी के समान मान करने योग्य होकर तू और (प्रातर्यावणः) प्रातःकाल ही राज-कार्यों पर जाने वाले अधिकारी जन (अध्वरम्) अहिंसनीय, अनाश्य, उल्लंघन न करने योग्य राज्यकार्य में (आसीदन्तु) आ २ कर बैठें ।

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम् ।
अग्निर्देवानामवो ऽआवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः ॥१६॥
ऋ० ३ । १ । २० ॥

गोतम ऋषिः । अग्निर्जातवेदा देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ।

भा०—(विश्वेषाम्) समस्त (यज्ञियानाम्) पूजनीय, राष्ट्रपालन रूप यज्ञ के सम्पादक पुरुषों में (अदितिः) अखण्ड ज्ञान और आज्ञा वाला (विश्वेषाम्) और समस्त (मानुषाणाम्) मनुष्यों में से (अतिथिः) सबसे अधिक पूज्य, सर्वोपरि स्थित और (देवानाम्) विद्वान्, विद्या और धन के दानशील एवं विजयेच्छु पुरुषों में से (जातवेदाः) ज्ञानवान् (अग्निः) अग्रणी, तेजस्वी विद्वान् राजा (अवः) रक्षण कार्य और अन्न आदि को (आवृणानः) प्रदान करता हुआ (सुमृडीकः भवतु) उत्तम सुख देने वाला हो ।

महो ऽअग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये ।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवो ऽअद्या वृणीमहे ॥१७॥
ऋ० १० । ३६ । १२ ॥

लुशो धानाक ऋषिः । त्रिष्टुप् । धैवतः । अग्निर्देवता ।

भा०—हम लोग (समिधानस्य) अति तेजस्वी, (अग्नेः) संताप-कारी, दुष्ट-संहारक, अग्रणी, नायक राजा के (महः) बड़े भारी (शर्मणि) शरण में रह कर (मित्रे) स्नेहवान् मित्र और (वरुणे) श्रेष्ठ पुरुष के आश्रय पर, उनके प्रति (स्वस्तये) कल्याण के लिये (अनागाः) अपराध रहित होकर (स्याम) रहें । और (सवितुः) सबके प्रेरक परमेश्वर और राजा के (श्रेष्ठे) परम कल्याणमय, सर्वोत्तम (सवीमनि) शासन या आज्ञा में (स्याम) रहें । और (देवानाम्) विद्वान्, ज्ञानप्रद और विजयेच्छु पुरुषों के (तत्) उस (अवः) रक्षण और ज्ञान को (अद्य) आज, एवं सदा (वृणीमहे) प्राप्त करें ।

आपश्चित्पिप्युस्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र । याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वꣳ हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ १८ ॥

ऋ० ७ । २३ । ४ ॥

वासिष्ठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(आपः न) जल जिस प्रकार (ऋतम्) जीवन की (पिप्युः) वृद्धि करते हैं उसी प्रकार (आपः) आप्त जन (ऋतं) सत्य ज्ञान की (पिप्युः) वृद्धि करें । और हे (इन्द्र) परमेश्वर ! हे विद्वन् ! (गावः न) वेदवाणियां जिस प्रकार (ऋतं नक्षन्) यज्ञ, पूजनीय ब्रह्म और सत्य तत्व को व्यापती हैं उसी प्रकार (ते जरितारः) तेरे स्तुति करने हारे एवं तेरे अधीन यथार्थ तत्व का उपदेश करने वाले गुरुजन (ऋतं) सत्य ज्ञान को (नक्षन्) प्राप्त करें, उसी में रमे । हे विद्वन् ! राजन् ! (वायुः न) वायु जिस प्रकार (नियुतः) अपने तीव्रता आदि विशेष गुणों को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार तू वायु के समान प्रचण्ड बलशाली होकर (नियुतः) निरन्तर युद्ध करने हारी सेनाओं को अथवा निरन्तर संयोग विभाग करने वाली शक्तियों को (याहि) प्राप्त कर । और (त्वं हि) तू ही (धीभिः) अपने कर्म और विज्ञानों द्वारा (वाजान्) नाना ऐश्वर्यों और अन्नों को (नः) हमें (अच्छ) भली प्रकार (विदयसे) विविध प्रकार से प्रदान और ग्रहण करता है ।

गाव उपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा ।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ १९ ॥ ऋ० ८ । ६१ । १२ ॥

भा०—(गावः) सूर्य की किरण जिस प्रकार (यज्ञस्य) इस महान् ब्रह्माण्डमय यज्ञ की रक्षा करती हैं उसी प्रकार हे (गावः) गौओ ! तुम (यज्ञस्य) राष्ट्र के सुसंगत यज्ञ की (उप अवत) अच्छी प्रकार रक्षा करो । हे (मही) बड़ी सूर्य और पृथिवी (रप्सुदा) रूप शोभा प्रदान करने वाली तुम दोनों जिस प्रकार प्रजापालन रूप व्यवहार की (अवतम्)

रक्षा करते हो उसी प्रकार हे (मही) बड़ी शक्ति वाली (रप्सुदा) रूप शोभा को देने वाली राजा प्रजाओ ! तुम दोनों (यज्ञस्य अवतम्) परस्पर के सुसंगत व्यवहार की, गृहस्थ धर्म की स्त्री पुरुषों के समान (अवतम्) रक्षा और पालन करो। और जिस प्रकार (उभा) दोनों स्त्री पुरुष (हिरण्यया) सुवर्ण के आभूषण और हित और प्रिय वचनों से युक्त कानों वाले होकर (यज्ञस्य अवतम्) मैत्री उत्पन्न करने वाले प्रेम वचन को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार हे स्त्री पुरुषो तुम दोनों (हिरण्यया) हित और रमणीय आचरणशील (कर्णा) करने वाले होकर (यज्ञस्य) परस्पर के मित्रता के प्रेम व्यवहार की (अवतम्) रक्षा करो। उसी प्रकार राजा प्रजा ये दोनों भी (हिरण्यया) धनैश्वर्य से सम्पन्न होकर (कर्णा) एक दूसरे के कार्य करने वाले, उपकारक बन कर (यज्ञस्य) राष्ट्र रूप सुसंगत व्यवहार की (अवतम्) रक्षा करें।

'उभा कर्णा हिरण्यया' अर्थात् 'दोनों कान सोने वाले' इस शब्द से कानों में स्वर्ण के आभूषण पहनना एवं उनका यज्ञ का रक्षण अर्थात् शरीर की रक्षा करने का तत्व भी स्फुट होता है।

अथवा—(यथा मही रप्सुदा यज्ञस्य अवतम् तथा उभा हिरण्यया कर्णा यज्ञस्य अवतम्। यथा च गावः मही अर्वान्त तथा गावः उभा कर्णा अवत।) जैसे नाना रूप वाली बड़ी द्यौ और पृथिवी यज्ञ प्रजापति विराट् पुरुष को प्राप्त हैं, उनमें दोनों सूर्य, चन्द्र दो कुण्डल के समान हैं। उसी प्रकार दोनों सुवर्ण से भूषित कान यज्ञ आत्मा या पुरुष मुख को प्राप्त हों। और जिस प्रकार किरणें आकाश पृथिवी को व्यापती हैं उसी प्रकार वाणियें दोनों कानों को व्यापें।

अथवा—(गावः उपावत) जब किरणें व्यापती हैं, तब (मही यज्ञस्य रप्सुदा अवतम्) ब्रह्माण्ड को रूप देने वाली बड़ी आकाश और पृथिवी प्राप्त होती हैं। उसी प्रकार (गावः उपावत) हे वेदवाणियो ! तुम प्राप्त

हो अतः (उभौ कर्णौ) हमारे दोनों कान (हिरण्यया) सुवर्ण से मण्डित होकर जैसे शरीर की रक्षा करते हैं उसी प्रकार ज्ञान श्रवण से सुशोभित होकर (यज्ञस्य अवतम्) वे दोनों कान गुरूपदेश श्रवण से मण्डित होकर यज्ञ, अर्थात् आत्मा की रक्षा करें ।

यद्द्य सूर उदितेऽनागा मित्रो ऽअर्य्यमा ।
सुवाति सविता भगः ॥ २० ॥ ऋ० ७ । ६६ । ४ ॥

वासिष्ठ ऋषिः । सविता देवता । गायत्री । षड्जः ।

भा०—(यत्) जब (मित्रः) सबका स्नेही, मित्र के समान (अर्यमा) स्वामी रूप से अभिमत न्यायकारी, (सविता) सबका प्रेरक, सूर्य के समान तेजस्वी, (भगः) सर्वैश्वर्यवान् (सुवाति) राज्य करता है तब (सूरे उदिते इव) सूर्य उग आने पर जैसे कोई पुरुष अपराध, चोरी आदि नहीं करता, कहीं अन्धकार नहीं रहता, समस्त प्रजागण उसी प्रकार (अद्य) आज (सूरे अदिते) तेजस्वी सूर्य समान राजा के उदय होने पर प्रजाजन (अनागाः) पाप से दूर रहें ।

आ सुते सिञ्चत श्रियꣳ रोदस्योराभिश्रियम् ।
रसा दधीत वृषभम् ॥ ऋ० ८ । ६१ । १३ ॥

सुनीतिर्ऋषिः । रसा देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे मनुष्यो ! तुम (रसा) सारवान्, बलवान् एवं तीव्र वेग से जाने वाले जलप्रवाहों के समान बलवान् होकर (रोदस्योः अभिश्रियम्) आकाश और पृथिवी के बीच सर्वत्र शोभाजनक (वृषभम्) वर्षणशील सूर्य या मेघ के समान राजवर्ग और प्रजावर्ग या दो बड़े राज्यों के बीच (अभिश्रियम्) अति अधिक शोभा पाने वाले आश्रय करने योग्य, एवं (वृषभम्) अति बलवान् पुरुष को (सुते) राष्ट्र के बीच में (श्रियम्) राज्यलक्ष्मी (आसिञ्चत) प्रदान करके अभिषेक करें । और वह राज्य को (दधीत) धारण करे ।

तं प्रत्नथा० । अयं वेनः० ॥ २१ ॥

भा०—'त प्रत्नथा०' और 'अयं वेनः०' ये दोनों (अ० ७।१२) और २६) मन्त्रों की प्रतीक मात्र हैं । उनकी व्याख्या वहीं देखो ।

आ तिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो ऽअमृतानि तस्थौ ॥२२॥

ऋ० ३ । ३८ । ४ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(तिष्ठन्तं) एकत्र स्थिर हुए राजा को (विश्वे) सब लोग (परि) चारों ओर से (अभूषन्) घेर कर खड़े होते हैं । और वह (स्वरोचिः) स्वयंप्रकाश, सूर्य के समान तेजस्वी (श्रियः) शोभाजनक ऐश्वर्यों को (वसानः) धारण करता हुआ (चरति) विचरता है । (वृष्णः असुरस्य) वर्षा करने वाले मेघ के समान (असुरस्य) समस्त प्राणियों को प्राण दान करनेवाले उसका (महत् नाम) नमाने का बड़ा भारी सामर्थ्य है कि वह (विश्वरूपः) विश्वरूप होकर अर्थात् समस्त पदाधिकारियों का स्वरूप धर कर (अमृतानि) अविनश्वर ऐश्वर्यों पर (तस्थौ) शासक होकर विराजता है ।

विद्युत् पक्ष में—वर्षाशील मेघ में वह बड़ा भारी बल है जो नाना रूप होकर जलों में व्याप्त है ।

प्र वो महे मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखꣳसहो महि श्रवो नृम्णञ्च रोदसी सपर्यतः२३

ऋ० १० । ५० । १ ॥

सुचीक ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो ! (यस्य) जिस (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्

२१—'तं प्रत्नथायं वेनश्चोदयत्' इति काण्व० ।

परमेश्वर और राजा का (सुसखं) उत्तम यज्ञ, (सहः) शत्रु के पराजयकारी बल, (महि श्रवः) बड़ा भारी यश और (नृम्णं च) धन इन पदार्थों को (रोदसी) द्यौ और पृथिवी ज्ञानी अज्ञानी और राजवर्ग प्रजावर्ग दोनों (सपर्यतः) उपहार में प्रदान करते हैं। उस (विश्वानराय) समस्त नरों और राजा की नेताओं के उत्पादक (विश्वाभुवे) समस्त विश्व के उत्पादक, सर्व विश्वव्यापक (अन्धसः) अन्न के दान करने वाले (महे) महान् (मन्दमानाय) सबको आनन्द देने वाले, स्वयं आनन्दस्वरूप उस परमेश्वर की (वः) तुम लोग (अर्च) अर्चना और स्तुति आदर करो।

बृहन्निदिध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २४ ॥ ऋ० ८ । ४५ । २ ॥

त्रिशोक ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(येषाम्) जिनका (सखा) मित्र (बृहन्) महान् (इध्म) तेजस्वी, (पृथुः) विस्तीर्ण राज्य वाला (स्वरुः) शत्रुओं का तापक, सूर्य के समान तेजस्वी (युवा) युवा पुरुष के समान सदा बलवान् उत्साही हो, (एषां) उन प्रजाओं का (भूरि) बहुत (शस्तम्) उत्तम, प्रशंसा योग्य फल होता है।

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महाँ२ऽ अभिष्टिरोजसा ॥ २५ ॥ ऋ० १ । ९ । १ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! विद्वन् ! तू (विश्वेभिः) समस्त (सोमपर्वभिः) सोम, राजपद या राज्य के पालन करने वाले पुरुषों सहित (अन्धसः) अन्न या राज्यैश्वर्य से (मत्सि) तृप्त हो और (ओजसा) बल पराक्रम से तू स्वयं (महान्) बड़ा (अभिष्टिः) आदर सत्कार करने योग्य है।

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः ।
अहन् व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥२६॥

ऋ० ३ । ३४ । ३ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(शर्धनीतिः) बल अर्थात् सेनाबल को अग्रणी होकर ले चलने वाला (इन्द्रः) शत्रुसंहारक सेनापति (वृत्रम् अवृणोत्) नगर-रोधी शत्रु को रोक ले और (वर्पणीतिः) नाना रूपों के व्यूहों के करने और चलाने में चतुर सेनापति (मायिनाम्) मायावी पुरुषों को भी (अमिनात्) विनाश करे । (वनेषु) वनों में लगा (उशधग्) अग्नि जिस प्रकार सबको भस्म कर देता है । उसी प्रकार (उशधग्) पराये धन के लोभी चोर डाकू आदि को संतप्त या पीड़ित करने में कुशल राजा (वनेषु) वनों में स्थित (व्यंसम्) अपने पराये धनों के हरने वाले चोर को उसके बाहुएं या कन्धे काट करके (अहन्) मारे । और (राम्याणाम्) प्रसन्न करने वाले स्तुति पाठकों की (धेना) वाणियों को (आविः अकृणोत्) प्रकट करे ।

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किन्त इत्था ।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्ते ऽस्मे ॥

ऋ० १ । १६५ । ३ ॥

अगस्त्य ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) इन्द्र ! हे (सत्पते) सज्जनों के पालक ! (त्वम्) तू (माहिनः) अति पूज्य और महान् सामर्थ्यवान् होकर (एकः) अकेला (यासि) प्रयाण करता है, सो (कुतः) क्यों किस प्रयोजन से ? (ते) तेरा (इत्था) इस प्रकार के कार्य करने में (किम्) क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार (समराणः) ठीक रास्ते पर जाता हुआ तू (शुभानैः) शुभ, मङ्गल-कामना करने वाले हितैषी पुरुषों से (सम्पृच्छसे) पूछा जावे ।

(नः) हमें (तत्) उस सब कारणों को (वोचः) बतला, हे (हरिवः) अश्वों के स्वामिन् ! यत् क्योंकि (अस्मे) हम (ते) तेरे ही हितैषी हैं ।

महाँ२ऽ इन्द्रो य ओजसा० । कदा चन स्तरीरसि० ॥
कदा चन प्रयुच्छसि ॥ २७ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् इन्द्र । (ओजसा महान्) तू बल पराक्रम से महान् है । यह मन्त्र प्रतीक देखो ७ । ४० ॥ (कदाचन स्तरीः असि) तू कभी प्रजा का नाश नहीं करता । यह मन्त्र प्रतीक देखो ८ । २ (कदा च न प्रयुच्छसि) तू कभी प्रमाद नहीं करता । यह मन्त्र प्रतीक देखो अ० ८ । २ ॥

आ तत्तऽइन्द्रायवः पनन्ताभि य ऽऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान् ।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीꣳ सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन् ॥ २८ ॥

ऋ० १० । ७४ । ४ ॥

गौरिवीति ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (ये) जो लोग (ऊर्ध्वं) हिंसक, दुष्ट, (गोमन्तम्) भूमि के मालिक को (तितृत्सान्) मरना चाहते हैं और जो (पुरुपुत्राम्) बहुत से पुत्रों वाली, (सकृत्स्वम्) एक ही वार बहुत अन्नादि उत्पन्न करने में समर्थ, (महीम्) भूमि को और (सहस्रधाराम्) सहस्रों को धारण पोषण करने वाली भूमि या सहस्रों धाराओं से वर्षण करने वाली, (बृहतीम्) विशाल द्यौ को (दुदुक्षन्) गौ के समान दोह लेना चाहते हैं अर्थात् जो उस के ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेने के इच्छुक हैं वे (आयवः) मनुष्य (ते) तेरे (तत्) उस विजय और प्रजापालन के कार्य की (पनन्त) निरन्तर स्तुति करते हैं ।

(ये ऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्) जो आंगिरस लोग प्राप्त हुए गौ संघ को मारना चाहते हैं, यह सायणकृत अर्थ असंगत है ।

(ये गोमन्तं उदकवन्तं ऊर्वं अन्नं तितृत्सान् हिंसितुमिच्छन्ति) जो

पानी वाले अन्न अर्थात् सोम को मारना चाहते हैं। यह अर्थ उव्वट और महीधर का है।

अचार्य पक्ष में—हे इन्द्र ! आचार्य ! (ये) जो (गोमन्तम् ऊर्वम्) वाणी के स्वामी अर्थात् विद्वान् होकर भी हिंसक या दुष्ट पुरुष हैं उसको जो नाश करना चाहते हैं और बहुत से शिष्य रूप पुत्रों वाली सहस्रों ज्ञानों का धारण और प्रदान करने वाली, बड़ी (सकृत्स्वं) एक ही बार समस्त ज्ञान प्रकट करने वाली, (बृहतीं) वेद वाणी को दोहना चाहते हैं वे (ते आपनन्त) तेरी शरण आते हैं।

इमान्ते धियं प्र भरे महो महिमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्त आनजे।
मुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु ॥२९॥

ऋ० १ । १०२ । १ ॥

कुत्स ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राजन् ! मैं (महतः) महान् सामर्थ्य वाले (ते) तेरे लिये (इमां) इस (धियम्) धारण योग्य कर्म और ज्ञान को (प्र भरे) धारण करता हूं। (अस्य) इस तेरे सेवक की (स्तोत्रे) स्तुति करने में (यत् धिषणा) जो बुद्धि या वाणी है वह (ते आनजे) तेरे ही महान् सामर्थ्य को प्रकट करती है। (तम्) उस (सासहिम्) सत्रुओं को पराजय करने में समर्थ (इन्द्रम्) राजा या सेनापति को (देवासः) वीर विजिगीषु लोग शवसा बल के कारण (उत्सवे) उत्सव और (प्रसवे) ऐश्वर्य प्राप्ति और उत्तम शासन के कार्य में प्राप्त करके उसके (अनु अमदन्) आनन्द के साथ २ स्वयं भी आनन्दित, हर्षित होते हैं।

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविंहुतम्।
वात्तजूतो यो अभि रक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति॥३०॥

ऋ० १० । १७० । ३ ॥

विभ्राड् ऋषिः । सूर्यो देवता ।

भा०—(विभ्राट्) विविध दिशाओं में विशेष रूप से प्रदीप्त, तेजस्वी सूर्य जिस प्रकार (बृहत्) बड़ा है। वह (सोम्यं मधु) सोम अर्थात् जीवन के हितकारी, मधु अर्थात् जल को किरणों से पान कर लेता है। (वातजूतः) वायु से किरणों द्वारा युक्त होकर वह स्वयं समस्त प्रजाओं को पालता और पोषता है और बहुत सी प्रजाओं और लोकों को धारण करता हुआ विविध रूप से प्रकाशित होता है उसी प्रकार (विराट्) विशेष तेज से देदीप्यमान तेजस्वी राजा (बृहत्) बड़े भारी (सोम्यम्) ऐश्वर्य-जनक सोम अर्थात् राजपद के योग्य (मधु) अन्न, ज्ञान और शत्रुनाशक राष्ट्र-स्तम्भक बल और मान को (पिबतु) भोग करे और वह (यज्ञपतौ) यज्ञ अर्थात् परस्पर सुसंगत व्यवस्था और पूज्य पदों के पालन करने वाले पुरुष में (अविह्रुतम्) अखण्डित, सम्पूर्ण (आयुः दधत्) दीर्घ जीवन धारण करता हुआ, अथवा (यज्ञपतिं) राष्ट्रपति के पद पर (अविह्रुतम् आयुः दधत्) अपने सम्पूर्ण अखण्डित, जीवन को धारण करता हुआ या प्रदान करता हुआ (यः) जो (वातजूतः) वायु के समान प्रचण्ड वेग वाले बलवान् सेनापति के बल से स्वयं वेगवान्, बलवान् होकर (त्मना) अपने सामर्थ्य से (पुरुधा) बहुत प्रकारों से (प्रजाः अभि रक्षति) प्रजाओं की रक्षा करता है और (पुपोष) उनको पुष्ट और समृद्ध करता है वह (वि राजति) इस प्रकार स्वयं विशेष रूप से प्रकाशित होता है।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ ३१ ॥ ऋ० १ । ५० । ९ ॥

भा०—व्याख्या देखो (७ । ४१)

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२ अनु ।
त्वं वरुण पश्यसि ॥ ३२ ॥ ऋ० १ । ५० । ६ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । गायत्री षड्जः ॥

३१—'यज्ञपता अवि०' इति काण्व० ।

भा०—हे (वरुण) सब पापों के निवारक ! सर्वश्रेष्ठ वरुण ! परमेश्वर ! राजन् ! हे (पावक) सूर्य और अग्नि के समान पवित्रकारक, जनों के तीक्ष्ण दण्ड आदि से निष्पापकारक ! (येन) जिस (चक्षसा) दर्शन या प्रकाश से मार्गदर्शक, प्रकाशक ज्ञान (भुरण्यन्तम्) सबके पालक पुरुष को (पश्यसि) देखता है उसी से (त्वं) तू अन्य मनुष्यों को भी (अनु पश्यसि) देख, उनको ज्ञान प्रदान कर और मार्ग दिखा। राजा छोटे बड़े सबको एक समान दृष्टि से देखे और एक समान दृष्टि से उन पर शासन करे।

दैव्यावध्वर्यू ऽआ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा।
मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे ॥

भा०—हे (दैव्यौ अध्वर्यू) देवों, विद्वानों और दिव्य गुणों के निमित्त कुशल अध्वर अर्थात् यज्ञ, अहिंसा युक्त राज्यपालन में कुशल दो पदाधिकारी पुरुषो ! आप दोनों (सूर्यत्वचा) सूर्य के समान चमकने वाले वाह्य आवरण से मढ़े (रथेन) रथ से या तेजस्वी, रक्षा के साधन शस्त्रास्त्र बल और रथारोही सैन्य सहित (आ गतम्) आओ। और (यज्ञम्) राष्ट्र-यज्ञ को (मध्वा) अन्न, यश और मधुर भोग्य पदार्थों से (सम्-अञ्जाथे) युक्त करो।

तं प्रत्नथा०। अयं वेनः०। चित्रं देवानाम्० ॥ ३३ ॥

भा०—तं प्रत्नथा० यह प्रतीक है। व्याख्या देखो अ० ७। १२ ॥ 'अयं वेनः०' यह मन्त्र प्रतीक देखो ७।१६ ॥ 'चित्रं देवानाम्०' यह प्रतीक देखो ७। ४२ ॥

आ न ऽइडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देव ऽएतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा ॥३४॥

— ऋ० १। १८६। १॥

३३—'दैव्या अध्व०' इति काण्व०। 'वेनश्चोदयत्' इति काण्व०।

३४—इळा० इति काण्व०।

अगस्त्य ऋषिः । त्रिष्टुप् । सविता देवता । धैवतः ॥

भा०—(विश्वानरः) सबका नेता, नायक, अग्रणी, सबका स्वामी, (सविता) सबका प्रेरक, उत्पादक एवं सूर्य के समान (देवः) उत्तम ज्ञान प्रकाशों का दिखलाने हारा, उत्तम पदार्थों का दाता, विद्वान् (नः) हमारे (विदथे) संग्राम कार्य, एवं ज्ञानमय संगम स्थान में (सुशस्ति) उत्तम उपदेश करने वाली (इडाभिः) वाणियों सहित (नः) हमें (आ एतु) प्राप्त हो। हे (युवानः) युवा, तरुण, बलवान् पुरुषो ! तुम लोग (अभिपित्वे) अपने आगे आने वाले (नः) हमारे (विश्वं जगत्) समस्त पुत्र पशु आदि संसार को (यथा) जिस प्रकार से (अपि मत्सथाः) आनन्द प्रसन्न एवं भोजन वस्त्रादि से तृप्त करते रहो ऐसी (मनीषा) उत्तम बुद्धि से काम करो ।

यद॒द्य कच्च॑ वृत्रहन्नु॒दगा॑ ऽअ॒भि सू॑र्य ।
सर्वं॒ तदि॑न्द्र ते॒ वशे॑ ॥ ३५ ॥ ऋ० ८ । ८३ । ४ ॥

श्रुतकक्षः सुकक्षश्च ऋषि । सूर्यो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (सूर्य) समस्त ऐश्वर्य के उत्पादक ! हे (वृत्रहन्) मेघ के नाशक, सूर्य के समान विघ्नकारी शत्रुओं के नाशक ! तू (अभि उद् अगाः) सब प्रकार से, सबके समक्ष उदय को प्राप्त हो, उन्नत पद पा। (अद्य) आज दिन (यत् यत्) जो कुछ भी है (तत् सर्वम्) वह सब हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! (ते वशे) तेरे ही वश में है ।

तर॑णि॒र्वि॒श्वद॑र्शतो॒ ज्योति॒ष्कृ॑दसि सूर्य ।
विश्व॒मा भा॑सि रोच॒नम् ॥ ३६ ॥ ऋ० १ । ५० । ४ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । सूर्यो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—तू (तरणिः) सब कष्टों से पार तराने वाला (विश्वदर्शतः) सबसे दर्शन करने योग्य है । (ज्योतिःकृत्) तू समस्त सूर्यादि तेजस्वी लोकों को बनाने वाला है । हे (सूर्य) समस्त जगत् के प्रेरक और सञ्चालक !

तू (रोचनम्) तेजस्वी, दीप्तिमान् (विश्वम्) समस्त संसार को (आभासि) प्रकाशित करता है।

इसी प्रकार हे सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ! तू प्रजाजनों को पार लगाने वाला होने से 'तरणि' है, तू सबमें दर्शनीय है, तू ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकाश का करने वाला है, समस्त रुचिकर पदार्थों का प्रकट करने वाला है।

तत्सूर्य्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्वितंतꣳ सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ३७ ॥

ऋ० १ । ११५ । ४ ॥

[३७, ३८] कुत्स ऋषिः । सूर्यो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सूर्यस्य) सूर्य सब के प्रेरक सञ्चालक और उत्पादक परमेश्वर का (तत् देवत्वम्) यही अवर्णनीय 'देवत्व' अर्थात् सर्व शक्तिमद् स्वरूप है और (तत्) वही अलौकिक (महित्वम्) महान् सामर्थ्य है कि वह (विततं) इस नाना प्रकारों से बने, फैले विस्तृत संसार को (कर्त्तोः) बनाने में समर्थ है और वही (मध्या) बीच में व्यापक है और वही (सं जभार) इसका संहार करता है। (यदा इत्) जब भी वह (सधस्थात्) एकत्र होने के केन्द्र स्थान से (हरितः) अपनी तीव्र गतिदायिनी शक्तियों को और विस्तृत दिशाओं को भी, समस्त किरणों को सूर्य के समान (अयुक्त) एकत्र कर लेता है (आत्) तभी (रात्री) रात्रि के समान ही प्रलयकाल की रात्रि (सिमस्मै) इस समस्त ब्रह्माण्ड के ऊपर (वासः तनुते) आवरण सा छा देती है।

राजा के पक्ष में—सूर्य के समान तेजस्वी राजा का यही देवत्व और महत्व है कि वह (मध्या) समस्त राष्ट्र के बीच में रहकर विस्तृत राष्ट्र को बनाने और बिगाड़ने में समर्थ है। वह जब एक ही मुख्य पद से समस्त (हरितः) दिशाओं अर्थात् देशों को या समस्त विद्वानों और वीर पुरुषों को (अयुक्त) रथ में अश्वों के समान, राष्ट्र के कार्य में नियुक्त करता है तभी (रात्री)

सबको आनन्द सुख देने वाली राज्य-व्यवस्था सबके लिये वस्त्र के समान गर्मी, सर्दी, दुःख, पीड़ा विपत् से बचाने वाली होकर रक्षा प्रदान करती है।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति ॥ ३८ ॥

ऋ० १ । ११५ । ५ ॥

भा०—(सूर्यः) सूर्य जिस प्रकार (द्योः उपस्थे) आकाश के बीच में रहकर (मित्रस्य) वायु और (वरुणस्य) जल के (तत् रूपं कृणुते) उस रूप प्रकट करता है जिसे (अभिचक्षे) समस्त जगत् का प्राणी देखता है। इसी प्रकार (सूर्यः) सबका प्रेरक, उत्पादक परमेश्वर भी (द्योः) प्रकाशमय, ज्ञानमय स्वरूप में (उपस्थे) विद्यमान रह कर (मित्रस्य वरुणस्य) मित्र और वरुण, सब में विद्यमान प्राण और उदान इन दोनों का ऐसा (रूपं कृणुते) रुचिकर स्वरूप उत्पन्न करता है (अभिचक्षे) जिसे यह मनुष्य भी देखता है। अथवा—[मित्रम् अहः वरुणो रात्रिः] मित्र अर्थात् दिन और वरुण अर्थात् रात्रि इन दोनों का ऐसा रूप उत्पन्न करता है जिन से यह जन या वह स्वयं सबको देखता है। (अस्य) इसका भी (रुशत्) तेजो युक्त सूर्य के समान (अनन्तम्) अनन्त (पाजः) बल, सामर्थ्य (अन्यत्) एक प्रकार का है। और (अन्यत् कृष्णम्) दूसरा, एक और सामर्थ्य 'कृष्ण' अर्थात् काला है। अर्थात् सूर्य के जिस प्रकार दो सामर्थ्य है एक चमकने वाला, दिन करने वाला दूसरा कृष्ण, काला, रात्रि करने वाला, उसी प्रकार परमेश्वर के दो सामर्थ्य हैं एक (रुशत् पाजः) तेजो युक्त अर्थात् सबको प्रकाशमय, चेतनामय करने वाला उत्पादक सामर्थ्य और दूसरा 'कृष्ण' सब संसार को 'कर्षण' करने वाला या कृन्तन, विनाश करने वाला, प्रलयकारी बल है जिस प्रकार सूर्य के दोनों प्रकार के सामर्थ्यों को (हरितः) दिशाएं धारण करती हैं उसी प्रकार इस परमेश्वर के भी दोनों सामर्थ्यों को (हरितः) अतिवेग वाली

शक्तियां (संभरन्ति) भरण पोषण करती हैं और वे ही (संभरन्ति) संहार करती हैं ।

अध्यात्म में—सूर्य सब का प्रेरक आत्मा (द्योः उपस्थे) सर्व प्रकाशमय चेतनामय मस्तक के बीच रहकर मित्र-प्राण और वरुण-अपान दोनों का ऐसा रूप करता है कि यह देह देखता है । इसका अनन्त सामर्थ्य एक (रुशत्) रोचक है जो इस को सात्विक कर्म कराता है, चेतन रखता है । दूसरा 'कृष्ण' तामस बल है जो समस्त प्राणों को कर्षण करता है जिसको (हरितः) इन्द्रियें धारण करती हैं । [२] इसी प्रकार राष्ट्र में सूर्य के समान तेजस्वी राजा मित्र और वरुण के रूप धारण करता है, अर्थात् वह सज्जनों पर अनुग्रह और दुष्टों पर निग्रह करने वाले दो विभाग करता है । एक उसका तेजस्वी रूप है, दूसरा 'कृष्ण' अर्थात्, भयानक, शत्रु नाशकारी बल है । जिसे संहारकारी वीर सेनाएं और प्रजाएं धारण करती हैं ।

बण्महाँ२॥ असि सूर्य्य बडादित्य महाँ२॥ असि ।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२ऽ असि ॥ ३९ ॥

ऋ० ८ । ९० । ११ ॥

[३९, ४०] जमदग्नि ऋषिः । सूर्यो देवता । सतो बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (सूर्य) सबके प्रेरक, सूर्य के समान तेजस्विन् ! तू (बट्) सच मुच (महान् असि) महान् है । हे (आदित्य) सबको अपने में ग्रहण करने हारे तू (बट्) सचमुच (महान् असि) महान् है । (सतः) सत्, नित्य, सबके कारण रूप में विद्यमान तेरा (महः महिमा) महान् सामर्थ्य (पनस्यते) कहा जाता है (अद्धा) सचमुच हे (देव) देव ! तू सचमुच (महान् असि) महान् है । सब पक्षों में समान है ।

वट् सूर्य्य श्रवसा महाँ२ऽ असि सत्रा देव महाँ२ऽ असि ।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४० ॥

ऋ० ८ । ९० । १३ ॥

भा०—हे (सूर्य) सूर्य के समान तेजस्विन् ! सर्व प्रेरक प्रभो ! राजन् ! (श्रवसा) श्रवण करने योग्य, ऐश्वर्य, ज्ञान और यश से तू (बट्) सचमुच (महान् असि) महान् है । हे (देव) सबके प्रकाशक हे सर्वत्र दानशील कान्तिमय ! तू (सत्रा) सत्य ही अथवा सत्य के द्वारा (महान् असि) महान् है । (महा) अपने महान् सामर्थ्य से (देवानाम्) समस्त दानशील पुरुषों या पृथिव्यादि लोकों के बीच, सूर्य के समान (असुर्यः) प्राणियों का हितकारी है । तू (पुरोहितः) दीपक के समान विवेक से मार्ग चलने के लिये (पुरः हितः) आगे के मुख्य अग्रणी पद पर स्थापित किया जाता है । तू (विभु) विविध सामर्थ्यों से युक्त (अदाभ्यम्) अविनाशी (ज्योतिः) ज्योति, आनन्दमय, तेज स्वरूप है ।

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत ।
वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ ४१ ॥

ऋ० ८ । ८८ । ३ ॥

नृमध ऋषिः । सूर्या देवता । बृहती छन्दः । मध्यमः ॥

भा०—हे मनुष्यो ! तुम लोग (सूर्यम्) सबके प्रेरक सर्वोत्पादक परमेश्वर का (श्रायन्तः इव) आश्रय लेते हुए ही (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् आत्मा के (विश्वा वसूनि) समस्त देह में बसने से प्राप्त करने योग्य आनन्दों का (भक्षत) भोग करो । हम लोग (जाते) उत्पन्न हुए और (जनमाने) आगे उत्पन्न होने वाले संसार में जिस प्रकार (भागं न) अपने कमाये धन को प्रदान करते हैं उसी प्रकार (ओजसा) बल पराक्रम से कमाए हुए (भागं) सेवन करने योग्य कर्म-फल को (जाते जनमाने) अबतक उत्पन्न और आगे उत्पन्न होने जाले जन्म या देह में (दीधिम) धारण करते हैं, प्राप्त करते हैं ।

राजा के पक्ष में—सूर्य के समान तेजस्वी राजा का आश्रय लेकर ही

हम ऐश्वर्यवान् राष्ट्र के धनों का भोग करे और उत्पन्न और आगे होने वाले प्रजा आदिक में अपने पराक्रम से कमाये सेवनीय पदार्थ को प्रदान करे।

अद्या देवा ऽउदिता ऽसूर्यस्य निरꣳहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी ऽउत द्यौः॥४२॥

कुत्स ऋषिः। सूर्यो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (देवाः) सब अर्थों के प्रकाश करने वाले, प्रिय, विद्वान् पुरुषो! आप (सूर्यस्य) सूर्य के उदय हो जाने पर जिस प्रकार किरणें अन्धकार को दूर कर देती हैं उसी प्रकार आप लोग (सूर्यस्य उदिता) सूर्य के समान तेजस्वी ब्रह्म ज्ञान के हृदय में उदित हो जाने पर और राष्ट्र में तेजस्वी राजा के उदय हो जाने पर आप लोग हमें (अंहसः) पाप से और (अवद्यात्) कहे जाने के अयोग्य, निन्दनीय कर्म से भी (पिप्रृत) बचावें। पापों से पृथक् करें। और (मित्रः) सबका स्नेही न्यायाधीश, (वरुणः) दुष्टों का वारक, सर्वश्रेष्ठ, (अदितिः) अखण्ड शासनाज्ञा वाला, (सिन्धुः) नदी के समान वेगवान्, बलवान् अथवा, राष्ट्र को बांधने वाला, प्रबन्धक (पृथिवि) पृथिवी के समान सर्वाश्रय, उत (द्यौः) आकाश के समान विशाल पुरुष (नः) हमारे (तत्) उस संकल्प को (मामहन्ताम्) सत्कार करे।

भौतिक पक्ष में—सूर्य के उदय होने पर (देवाः) सूर्य की किरणें हमें बुरे कर्म (अंहसः) पाप और रोग से दूर करें। हम स्वच्छ नीरोग, शुभ संकल्पवान् हों (मित्रः) सूर्य, (वरुणः) जल, (अदितिः) आकाश, (सिन्धुः) सागर या विशाल जल प्रवाह, (पृथिवी) पृथिवी और (द्यौः) सूर्य का प्रकाश (नः तत् मामहन्ताम्) हमारे इस शरीर को उत्तम बनावे।

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ ४३

ऋ० १। ३५। २॥

हिरण्यस्तूप ऋषिः । सविता देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य (कृष्णेन रजसा) परस्पर आकर्षण करने वाले लोक समूह के साथ सर्वत्र भ्रमण करता हुआ मर्त्य, नाशवान् प्राणियों और अनाशवान् भौतिक तत्वों को अपने २ स्थान पर स्थिर करता है और (हिरण्ययेन रथेन) तेजस्वी स्वरूप से सब लोकों को प्रकाशित करता हुआ जाता है उसी प्रकार (कृष्णेन) शत्रुओं को काट गिरा देने वाले (रजसा) सैन्य-बल से (आवर्त्तमानः) सर्वत्र विद्यमान रहता हुआ (सविता) सबका शासक राजा (अमृतम्) अमृत, अखण्ड, अविनाश्य स्थिर पदार्थों को और (मर्त्यं च) मरने वाले सामान्य जनों को (निवेशयन्) यथा स्थान स्थापित करता हुआ (देवः) विजिगीषु राजा (हिरण्ययेन) स्वर्ण या लोह के बने (रथेन) रथ से अथवा धनैश्वर्यादि रमणसाधन रथ आदि से (भुवनानि) समस्त प्राणियों को (पश्यन्) देखता, उनका निरीक्षण करता हुआ (याति) प्रयाण करे ।

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिट इयाते ।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान् ॥ ४४ ॥

ऋ० ७ । ३९ २ ॥

वाशिष्ठ ऋषिः । वायुः पूषा च देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सुप्रयाः वायुः) जिस प्रकार उत्तम वेग से चलने वाला वायु (एषाम्) इन लोकों में से (बर्हिः) जल को (प्र वावृजे) उत्तम रीति से ले लेता है और जैसे (पूषा) सबका पोषक सूर्य (एषाम्) इन लोकों में से (बर्हिः प्र वावृजे) किरणों द्वारा जल के अंश को पृथक् कर लेता है । अथवा (सुप्रयाः वायुः यथा बर्हिः प्र वावृजे) उत्तम वेग से चलने वाला वायु जिस प्रकार अन्न को भली प्रकार तुषों से पृथक् कर देता है उसी प्रकार यह राजा (वायुः) वायु के समान प्रचण्ड वेग से जाने वाला, एवं प्रजा का प्राणस्वरूप, (सुप्रयाः) उत्तम अन्न

आदि सामग्री से सम्पन्न अथवा (सुप्रयाः) उत्तम रीति से प्रयाण करने वाला बलवान् होकर (एषाम्) इन मनुष्यों में से (बर्हिः) प्रबल जन संघ को (प्र वावृंजे) पृथक् कर लेता है। इसी प्रकार (पूषा) सर्व पोषक पूषा, भागदुध् नामक अधिकारी भी (एषाम्) इन प्रजा जनों के (बर्हिः) वृद्धिकर अन्न का उत्तम रीति से संग्रह करता है। और जिस प्रकार (वायुः पूषा) वायु और सूर्य दोनों (विरिटे इयाते) अन्तरिक्ष मार्ग से जाते हैं उसी प्रकार ये दोनों भी (विश्पती इव) प्रजा जनों के पालक राजा और पोषक होकर (विरिटे) भयभीत शत्रु पर और अधीन प्रजा के बीच (नियुत्वान्) अश्वारोहिगण से युक्त होकर (इयाते) गमन करते हैं। और (अक्तोः) रात्रि के और (उषसः) दिन के (पूर्वहूतौ) पूर्व ही बुलाये वायु और सूर्य के समान वे दोनों (विशां स्वस्तये) प्रजाओं के कल्याण के लिये होते हैं।

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्।
आदित्यान्मारुतं गणम् ॥ ४५ ॥ ऋ० १ । १४ । ३ ॥

[४५, ४६] मेधातिथि ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(इन्द्र वायू) विद्युत्, वायु, (बृहस्पतिम्) बड़े लोकों के पालक सूर्य, (मित्राग्निम्) मित्र, प्राण और अग्नि, (पूषणम् भगम्) पुष्टिकारक, अन्न और सेवन योग्य ऐश्वर्य (आदित्यान्) सूर्य की किरणों या १२ मासों और (मरुतां गणम्) वायुओं के समूह का ज्ञान करके उत्तम उपयोग करो।

राष्ट्र-पक्ष में—(वायू) इन्द्र राजा, वायु के समान प्रचण्ड सेनापति, (बृहस्पतिं) विद्वान् पुरुष (मित्राग्निम्) सर्वस्नेही न्यायकारी, अग्नि, अग्रणी नेता, (पूषणं) पोषक, पृथ्वी या भागदुध्, (भगं) ऐश्वर्यवान् (आदित्यान्) आदान प्रतिदान करने वाले वैश्यगण, सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष,

(मारुतं गणम्) मनुष्यों के गण इन सबको अपने २ पद पर नियुक्त करो। जैसे अगले मन्त्र में स्पष्ट किया है।

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः ।
करतां नः सुराधसः ॥ ४६ ॥ ऋ० १ । ३३ । ६ ॥

भा०—(वरुणः) सब दुष्ट पुरुषों का निवारण करने हारा, एवं प्रजा द्वारा वरण करने योग्य मुख्य पदाधिकारी और (मित्रः) प्रजा को मरने से बचाने हारा, सबका स्नेही पदाधिकारी पुरुष ये दोनों शरीर में उदान और प्राण के समान (विश्वाभिः ऊतिभिः) अपने समस्त रक्षा के कार्यों से (प्र-अविता) उत्तम रक्षक (भुवत्) हों और (नः) हमें (सुराधसः) उत्तम ऐश्वर्य से युक्त (करताम्) करें।

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम् ।
इता मरुतो अश्विना । ऋ० ८ । ७२ । ७ ॥

कुसीदिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! हे (विष्णो) व्यापक शक्ति वाले ! हे (मरुतः) शत्रु के मारने हारे वीर भटो ! हे (अश्विना) विद्याओं में पारंगत राष्ट्र में व्यापक अधिकार के स्वामियो ! आप सब यथाधिकार (नः) हमारे और (एषां) इन (सजात्यानाम्) हमारे ही समान धन, मान और कुल में प्रसिद्ध पुरुषों के बीच में (अधि) अधिकारी रूप से (इत) मान प्रतिष्ठा को प्राप्त करो।

तम्प्रत्नथा० । अयं वेनः० । ये देवासः० । आ न इडाभिः० । विश्वेभिः सोम्यं मधु० । ओमासश्चर्षणीधृतः० ॥ ४७ ॥

भा०—ये सब प्रकीक मात्र हैं। 'तम् प्रत्नथा'० अ० ७ । १२ ॥ 'अयं वेनः'० ७ । १६ ॥ 'ये देवासः'० ७ । १९ ॥ 'आ न इडाभिः'०

४७—अयं वेनश्चोदत्पदे । आन इळाभि० इति काण्व० ।

३३ । ३४ ॥ 'विश्वेभिः सोम्यं मधु'० ३३ । १० ॥ 'ओमासश्चर्षणीधृतः'० ७ । ३३ ॥ इनकी व्याख्या वहीं देखो ।

अग्न इन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्द्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो ।
उभा नासत्या रुद्रो ऽअध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त ॥४८॥

ऋ० ५ । ४६ । २ ॥

प्रतिक्षत्र ऋषिः । इन्द्राग्नयो विश्वेदेवाः देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी ज्ञानवन्! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! हे (वरुण) सर्वश्रेष्ठ! हे (मित्र) सर्वस्नेहिन्! हे (मारुत) मनुष्यों शत्रुहन्ता लोगों के समूह! हे (विष्णो) व्यापक सामर्थ्य वाले! (देवाः) आप सब देव, विद्वान्गण बल और ज्ञान देने हारे आप (शर्द्धः) शरीर और आत्मा के बल का (प्रयन्त) प्रदान करो। (उभा नासत्या) कभी असत्य का व्यवहार न करने वाले दोनों (रुद्रः) दुष्टों को रुलाने वाला या ज्ञानों का उपदेष्टा, और (ग्नाः) गमन योग्य स्त्रियें और ज्ञान करने योग्य वाणियें, (भगः) ऐश्वर्यवान् धनाढ्य पुरुष, (सरस्वती) उत्तम ज्ञान वाली स्त्री या राजसभा, ये सब (जुषन्त) प्रेम से राष्ट्र का सेवन करें। प्रेम से वर्त्ताव करें।

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२ऽ अपः । हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳ सवितारमूतये ॥ ४९ ॥ ऋ० ५ । ४६ । ३ ॥

वत्सार ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । जगती । मध्यमः ॥

भा०—मैं (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, (मित्रा वरुणा) मित्र और वरुण, (अदितिम्) अदिति, अखण्ड शासन करनेवाली राजसभा या अन्तरिक्ष, (स्वः) शत्रुओं का तापकारी, ज्ञानोपदेष्टा और सुखकारी, आकाश, (पृथिवीम्) पृथिवी, भूमि (द्याम्) सूर्य, (मरुतः) वायुगण और मरुद्गण, (पर्वतान्) पर्वतों, मेघों और पालनसामर्थ्य से युक्त

स्थिर राज्य कर्त्ताजन, (अपः) जलों, और आप्त पुरुषगण, (विष्णुं) व्यापक सामर्थ्यवान्, (पूषणम्) पुष्टिकारक अन्न, पशु आदि या भाग-दुध्, (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्माण्ड और वेद के पालक परमेश्वर और आचार्य (भगम्) ऐश्वर्य और ऐश्वर्यवान् धनकुवेर, (शंसम्) स्तुति योग्य या विद्योपदेशक, (सवितारम्) उत्पादक, पिता या आचार्य को मैं (ऊतये) रक्षा, ज्ञान, प्रियाचरण, आदि विविध प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिये (हुवे) स्तुति करूं, उनको प्राप्त करूं, उनका अन्यों को उपदेश करूं ।

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः । यः शꣳसते स्तुवते धायि पज्र इन्द्रज्येष्ठा अस्माँ२ अवन्तु देवाः ॥५०॥

ऋ० ८ । ५२ । १२ ॥

प्रगाथ ऋषिः । रुद्रो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(अस्मे) हममें से (यः) जो (शंसते) उत्तम २ उपदेश करता, (स्तुवते) और परमेश्वर की स्तुति करता है एवं ज्ञान से सत्य गुणों का वर्णन करता है । और (यः पज्रः) जो धनादि ऐश्वर्यों को कमाने हारा, ऐश्वर्यवान् पुरुष (धायि) नाना प्रजाओं को धारण पोषण करता है । उसको अथवा वह (रुद्राः) उपदेश करने वाले विद्वान् और शत्रुओं को रुलाने वाले वीर गण, (मेहनाः) प्रजाओं पर मेघों के समान सुख समृद्धियों के वर्षण करने वाले (पर्वतासः) पोरू २ अर्थात् नाना टुकड़ियों से बने सेनादल, अथवा पर्वतों के समान अभेद्य और अलंघनीय गंभीर, अथवा मेघों के समान शत्रुओं पर बाण वर्षण करने वाले, अथवा पर्वतों पर यज्ञ, उत्सवों वाले (सजोषाः) परस्पर समान प्रीति से युक्त, (इन्द्र, ज्येष्ठाः) शत्रुनाशक, ऐश्वर्यवान् पुरुष को अपना सर्वोपरि श्रेष्ठ स्वामी स्वीकार करने वाले अपने नायक के अधीन रहकर (देवाः) विजय के इच्छु सैनिक गण और विद्वान् पुरुष (भरहूतौ) संग्राम के लिये आह्वान या ललकार आ जाने पर (अस्मान्) हम प्रजाजनों की (अवन्तु) रक्षा करें ।

अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्रा ऽआ वो हार्दिभयमानो व्ययेयम् ।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्त्तादवपदो यजत्राः ॥५१॥

ऋ० २ । २९ । ६ ॥

कूर्मो गार्त्समद ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (यजत्राः) अभय दान करने और राष्ट्रों को सुसंगत करने वाले वीर, युद्ध-यज्ञ के सम्पादक एवं पूज्य, सत्संग योग्य पुरुषो ! (अद्य) आज आप लोग (अर्वाञ्चः) हमारे सन्मुख, हमें प्राप्त (भवत) होवो । (वः) आप लोगों के (हार्दि) हृदय में स्थित भीतरी भाव को (आ वि-अयेयम्) भली प्रकार जानूं । मैं प्रजाजन (भयमानः) शत्रुगण से भय करता हुआ आपकी शरण हूं । हे (देवाः) विजयशील विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (नः) हमें (निजुरः) सब प्रकार सर्वथा विनाश करने वाले, (वृकस्य) हमारा सर्वस्व अपहरण करने वाले चोर, डाकू तथा भेड़िये के समान क्रूर पुरुषों और जीवों से भी (त्राध्वम्) हमारी रक्षा करो । और हे (यजत्राः) सुसंगत, संघ बना कर रहने वाले सेनाजनो ! आप लोग (अव-पदः) गढ़े के समान गिरने के स्थान, संकट और विपत्ति रूप गहरे (कर्त्तात्) गड्ढे से, अथवा (अवपदः कर्त्तात्) विपत्ति के जनक पुरुष से अथवा राष्ट्र को नीचे गिरा देने वाले हिंसा कार्य, शस्त्रादि वध से (त्रा-ध्वम्) रक्षा करो ।

वृकः—वृक आदाने । भ्वादिः । श्वापि वृक उच्यते विकर्त्तनात् । निरु० ५ । ४ । २ ॥ 'अवपदः कर्त्तात् ।'—यत्र अवपद्यन्ते पतन्ति ततः कर्त्तात् कूपात् इति उवटमहीधरदयानन्दाः । विपदः कर्त्तुरिति सायणः । हिंसार्थ-स्य वा करोतेः कर्तस्तस्मात् । अथवा गर्त्तो वा कर्तः । कत्वं छान्दसम् ।

विश्वे ऽअद्य मरुतो विश्व ऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः ।
विश्वे नो देवा ऽअवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो ऽअस्मे ॥५२॥

लुशोधानाक ऋषिः । विश्वे देवा देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—व्याख्या देखो । अ० १८ । ३१ ॥

विश्वे॑ देवाः शृणुतेम॒ꣳ हव॑ं मे॒ ये अ॒न्तरि॑क्षे य ऽउप॒ द्यवि॒ ष्ठ । ये अ॒ग्निजि॑ह्वा ऽउ॒त वा॒ यज॑त्रा ऽआ॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयध्वम् ।५३।

ऋ० ६ । ५२ । १३ ॥

सुहोत्र ऋषिः । विश्वेदेवाः देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (मे) मेरे (इमं) इस (हवम्) स्तुति, आह्वान या विद्योपदेश का (शृणुत) श्रवण करो । (ये) जो आप लोग (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष के समान सबके पालक और (द्यवि) सूर्य के समान सर्वप्रकाशक पद पर (उपस्थ) सदा हमारे समीप विद्यमान रहते हो (उतवा) और जो (अग्निजिह्वा) जिह्वा के समान अग्नि अर्थात् ज्ञानवान् तेजस्वी पुरुष को मुख्य पद या उपदेशक और ज्ञानप्रद गुरु पद पर स्थापन करने वाले (यजत्राः) परस्पर सत्संग करने एवं पूजा करने योग्य हैं वे आप लोग भी (अस्मिन् बर्हिषि) इस महान् आसन के समान उत्तम राष्ट्र, प्रजा या पदासनों पर (आसद्य) विराज कर (मादयध्वम्) समस्त प्रजाओं को आनन्द और हर्षयुक्त करो ।

दे॒वेभ्यो॒ हि प्र॑थ॒मं य॒ज्ञिये॑भ्यो॒ऽमृत॒त्वꣳ सु॒वासि॑ भा॒गमु॑त्त॒मम् ।
आदिद्रा॑मान॒ꣳ स॑वितर्व्यूर्णुषेऽनू॒चीना॒ जी॑वि॒ता मानु॑षेभ्यः ॥५४॥

ऋ० ४ । ५४ । २ ॥

वामदेव ऋषिः । सविता देवता । जगती । मध्यमः ॥

भा०—हे (सवितः) सूर्य के समान समस्त पदार्थों के प्रकाशक और उत्पादक परमेश्वर ! तू (हि) जिस कारण (यज्ञियेभ्यः) आत्मा और परमात्मा के उपासक एवं ज्ञान यज्ञ के करने वाले (देवेभ्यः) ज्ञान के द्रष्टा पुरुषों को (प्रथमम्) सबसे प्रथम, सर्वश्रेष्ठ और (उत्तमम्)

५४—इति समाप्तं सार्वमौधिकम् । इति वैश्वदेवस्तुत् चतुर्थमहः ।

उत्तम (भागम्) सेवन करने योग्य (अमृतत्वम्) अमृतस्वरूप मोक्ष का (सुवसि) प्रदान करता है (आत्) और (दामानम् इत्) सब सुखों और ज्ञानों के देने वाले अपने प्रकाशस्वरूप को भी (व्यूर्णुषे) विविध प्रकार से फैलाता है। इसीसे (मानुषेभ्यः) मनुष्यों को हितार्थ (अनूचीना) उनके अनुकूल सुख प्राप्त कराने वाले (जीवितानि) जीवनों और जीवनों के उत्पादक कर्मों को भी (वि उर्णुषे) विविध प्रकार से प्रकट करता है, उपदेश करता है।

राजा के पक्ष में—हे तेजस्विन् ! राजन् ! तू (यज्ञियेभ्यः देवेभ्यः) प्रजा के सुव्यवस्थित राष्ट्र के सञ्चालक एवं विजयी स्त्री पुरुषों को प्रथम (अमृतत्वम्) जीवनोपयोगी अन्न जल और उत्तम सेवन योग्य पदार्थ प्रदान करता है और दानशील पुरुष को प्रकट करता है। और मनुष्यों को नाना अनुकूल जीवनोपयोगी साधन भी प्रदान करता है।

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम्।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो ॥५५॥

ऋ० ६ । ४९ । ४ ॥

[५५—अ० ३४ । ५८] आदित्यो याज्ञवल्क्यश्चऋषी । अनारम्याधीतमन्त्रा ॥ ब्रह्मयज्ञार्हाः । तत्र 'प्रवायुम्' इति ऋजिष्वा ऋषिः । वायु देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (प्रयज्यो) उत्तम रीति से यज्ञ करने हारे, उत्तम उपापक एवं उत्तम संगति, परस्पर संगठन करने में कुशल विद्वन् ! तू (नियुतः) निश्चित, नियुक्त पुरुषों अथवा निश्चित पदार्थों को प्राप्त होकर (बृहती) बड़ी भारी (मनीषा) प्रज्ञा, बुद्धिबल या मानस प्रेरणा से स्वयं (कविः) क्रान्तदर्शी होकर (बृहद्रयिम्) महान् ऐश्वर्यों के स्वामी, (विश्ववारम्) सबके वरण करने वाले, सबके रक्षक, (रथप्राम्) रथों से रणाङ्गण को भर देने वाले, (द्युतद्यामा) तेजस्वी अग्नि को प्राप्त कर उसको और भी

५५—इत आरभ्य ६९ अदब्धेभिरित्यन्तं पुरोरुचः ॥

अधिक तेजस्वी बनाने वाले, (वायुम्) वायु के समान तीव्र, वेगवान्, बलशाली (कविम्) क्रान्तदर्शी, मेधावी, विद्वान् (वायुम्) प्राणवायु के समान सबके जीवनाधार पुरुष का (इयक्षसि) आदर कर और उससे संगति लाभ कर ।

अथवा (द्युतद्-यामा कविम् कवि-इयक्षसि) समस्त याम अर्थात् आठों पहरों को प्रकाशित करने वाले सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष का तू विद्वान् पुरुष ही आदर कर । अथवा, तू (द्युतद्-यामा) देदीप्यमान तेजस्वी विद्वान् पुरुष को प्राप्त होकर स्वयं (कविः कविम् इयक्षसि) मेधावी होकर विद्वान् पुरुष का आदर करें ।

परमेश्वर के पक्ष में—सबका जीवनाधार होने से परमेश्वर 'वायु' है । महान् ऐश्वर्यवान् होने से 'बृहद्रयि' है, सबका रक्षक होने से 'विश्ववार' है । उसकी नियमव्यवस्था सर्वत्र प्रकाशित होने से 'द्युतद्-यामा' है । रमणसाधन, परम आनन्द रस से पूर्ण करने हारा होने से 'रथप्रा' है, क्रान्तदर्शी होने से 'कवि' है । उस परमेश्वर को (नियुतः पत्यमानः) प्राणों द्वारा ऐश्वर्यवान् होकर तू साधक (इयक्षसि) उसकी उपासना करे ।

आचार्यपक्ष में—आचार्य, ज्ञानवान् होने से वायु, बृहती वेद वाणी के ऐश्वर्य से युक्त होने से 'बृहद्रयि' ज्ञानरस से शिष्य को पूर्ण करने वाला होने से 'रथप्रा' है । प्रकाशमान ज्ञान का प्राप्त करने हारा होने से 'द्युतद्-यामा' है उसको विद्वान् पुरुष निश्चितसिद्धान्त तत्वों को प्राप्त होता हुआ अपने विद्वान् गुरु का विद्वान् पुरुष सदा आदर सत्कार करे ।

अथवा—(वायुम्) वायु के समान सबके जीवनाधार (बृहद्-रयिम्) बड़े ऐश्वर्यवान्, (विश्ववारम्) सबसे वरण करने योग्य या सब कष्टों के निवारक (रथप्राम्) रथ को धनों, ऐश्वर्यों से पूर्ण करने हारे वीर पुरुष को (बृहती मनीषा) बड़ी मानसिक शक्ति, बुद्धि (अच्छ) प्राप्त हो । और हे (प्रयज्यो) उत्तम पूजनीय पुरुष ! वह (द्युतद्यामा) अति

उज्वल मान वाला होकर (नियुतः पत्यमानः) समस्त नियुक्त अधीन पुरुषों और अश्वों को वश कर उनका स्वामी एवं (कविः) विद्वान् होकर भी (कविम्) कान्तदर्शी विद्वान् पुरुष का (इयक्षसि) सत्कार करे ।

इन्द्रवायू ऽइमे सुता ऽउप प्रयोभिरा गतम् ।
इन्दवो वामुशन्ति हि ॥ ५६ ॥

भा०—व्याख्या देखो । अ० ७ । ८ ॥

मित्रꣳ हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम् ।
धियं घृताचीꣳ साधन्ता ॥ ५७ ॥ ऋ० १ । २ । ७ ॥

भा०—मैं प्रजाजन (पूतदक्षं) पवित्र ज्ञान और बल से युक्त (मित्रम्) सुहृद्, स्नेही पुरुष को और (रिशादसम्) हिंसा करने वाले शत्रुओं को भी दण्ड देने वाले उनके विनाश, (वरुणं च) सर्वश्रेष्ठ धार्मिक राजा को (हुवे) स्वीकार करूं । और वे दोनों (घृताचीम्) घृत को ग्रहण करने वाली अतितीक्ष्ण अग्निज्वाला के समान पाप दहन करने वाली उग्र शक्ति तथा शीतल जल को धारण करने वाली रात्रि के समान सबको सुख देने वाली शान्तिकारिणी शक्ति को (साधन्ता) साधन करने वाले हों । जिस प्रकार प्राण, उदान शुद्ध प्रज्ञा को उत्पन्न करते हैं और जिस प्रकार सूर्य चन्द्र सुखद रात्रि को साधते हैं उसी प्रकार मित्र और वरुण, सुहृद् वर्ग वयस्य और शक्तिशाली पुरुष स्नेह और तीक्ष्णता मधुर और तेजस्विनी वृत्ति वाली राजशक्ति की वृद्धि करें ।

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः ।
आयातꣳ रुद्रवर्त्तनी ॥ ५८ ॥ ऋ० १ । ३ । ३ ॥

मधुच्छन्दा ऋषिः । अश्विनौ देवते । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (दस्रौ) वैद्य जिस प्रकार रोगों का नाश करते हैं उसी प्रकार

५६—क्वचित् पुस्तकेषु "उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा ।
एष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वा ।" इत्यधिकं पठ्यते ॥

राज्य की प्रजाओं के दुःखों के विनाश करने वाले (नासत्यौ) कभी असत्य भाषण और असत्य आचरण न करने वाले पूर्वोक्त दोनों विद्वान् पुरुषो ! आप दोनों (रुद्रवर्त्तनी) शत्रुओं के रुलाने वाले या न्यायाधीश के वीर सैनिकों के मार्गों से चलने में समर्थ होकर (आयातम्) आओ । ये (सुताः) उत्पन्न हुए पदार्थ एवं नाना पदों पर अभिषिक्त उत्तम जन भी (युवाकवः) तुम दोनों को चाहने वाले और (वृक्तबर्हिषः) यज्ञ या बर्हि अर्थात् प्रजा को बढ़ाने वाले हैं । पदार्थों के पक्ष में—(वृक्तबर्हिषः) यज्ञादि से पृथक् भोजनार्थ प्राप्त पदार्थ तुम्हारे लिये हैं उनको ग्रहण करो ।

तं प्रत्नथा० । अयं वेनः० ॥ ५८ ॥

भा०—'तं प्रत्नथा०' देखो अ० ७ । १२ ॥ 'अयं वेनः०' देखो ७ । १६ ॥ 'रुद्रवर्त्तनी'—

यदिदद्यदीं सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यꣳ सध्यूक्कः ।
अग्रन्नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात् ॥ ५९ ॥

ऋ० ३ । ३१ । ६ ॥

कुशिक ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—सेना पक्ष में—(यदि) यदि (सरमा) वीर विजयी लोगों को एकत्र रमाने अर्थात् युद्ध क्रीड़ा कराने वाली सेना (अद्रेः) मेघ के समान प्रजा पर सुखों के और शत्रुओं पर बाणों के वर्षण करने वाले एवं शत्रुओं द्वारा न दीर्ण होने वाले वज्र, अर्थात् शस्त्रबल को (रुग्णम्) टूटा हुआ (विदत्) जाने तो वह (महि) बड़े भारी (पूर्वम्) पूर्व सञ्चित (पाथः) अपने पालनकारी सामर्थ्य को (सध्यूक्) एक ही स्थान पर एकत्र (कः) करे । वह (सुपदी) उत्तम रीति से पग चलाने वाली (अक्षराणाम्) कभी नाश न होने वाले पुरुषों के (अग्रम्) अग्र, अर्थात् मुख्य भाग को (नयत्) आगे लेजावे और वह (प्रथमा) स्वयं सबसे प्रथम होकर (रवं) उत्तम आदेश को (जानती) भली प्रकार

५८—'अयं वेनश्चोदयत्' इति काण्व० ।

जानती हुई (अच्छा गात्) भली प्रकार आगे बढ़े । उत्तम सेना जब अपने बल को मग्न हुआ जाने तो वह अपने उत्तम पालक बल को एकत्र करले और उत्तम दृढ़ पुरुषों को आगे बढ़ावे और स्वयं सेनापति के आवेशों को भली प्रकार जानती हुई आगे बढ़े ।

अथवा, (यदि) जब (सरमा) साथ रमण करने वाली स्त्री (रुग्णम् विदत्) दुःखों के भंग करने वाले पति को प्राप्त करे तब (सध्यक्) साथ रहने वाला, सहचारी पति (पूर्व्यम्) पूर्व से ही प्राप्त (अद्रेः) मेघ से उत्पन्न होने वाले (महि पाथः कः) बहुत अन्न, धन अथवा मेघ के समान ज्ञानप्रद आचार्य के श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करे । वह स्त्री जो (सुपदी) उत्तम चरण वाली, (प्रथम) प्रथम (अक्षरणां खं जानती) अक्षर अर्थात् अविनाशी वेदवचनों के उपदेश को (जानती) जानती हुई (अग्रं) आगे २ स्वयं होकर अपने पीछे पति को लेती हुई (अन्वगात्) पति को प्राप्त हो । अर्थात् स्त्री प्राप्त करने के पूर्व पुरुष धन संग्रह करे अथवा ब्रह्मचर्य पालन करे, वह स्त्री भी ज्ञान प्राप्त करे । स्वयं ज्ञानवती होकर आगे स्वयं प्रदक्षिणा कर पति को प्राप्त करे ।

वाणी के पक्ष में—(यदि) यदि (सरमा) जब समान रूप से विद्वानों को आनन्दित करने वाली, स्त्री के समान सुखदायिनी वेदमयी वाणी, (अद्रेः) न विदीर्ण होने वाले अज्ञान के (रुग्णम्) विनाशक उपाय को (विदत्) ज्ञान करती है । तब (सध्यक्) उसके सहयोग से ज्ञान प्राप्त करने वाला पुरुष (पूर्व्यम्) पूर्व से चले आये (महि-पाथः) बड़े भारी ज्ञान को (कः) प्राप्त करता है । और (सुपदी) उत्तम ज्ञान कराने वाली (प्रथमा) सबसे प्रथम विद्यमान वेद वाणी (अक्षराणां) अक्षर, अविनाशी सत्य सिद्धान्त तत्वों के (खं जानती) उपदेश को जनाती हुई (गात्) प्रतीत होती है (अग्रं नयत्) हमें आगे, सर्वश्रेष्ठ, सबसे पूर्व विद्यमान परमेश्वर तक पहुंचाती है ।

स्त्री के पक्ष में—(यदि) जब (सरमा) पति के साथ रमण करने हारी प्रियतमा स्त्री (प्रथमा सुपदी) सर्व प्रथम, सुविख्यात उत्तम ज्ञान और आचरण वाली और (अक्षराणां खं जानती) अक्षरों के यथार्थ उच्चारण, ध्वनि आदि को जानने हारी होकर (रुग्णं) दुखी, पीड़ित जन को (विदत्) जाने, तब (सध्र्यक्) वह सदा साथ रह कर (पूर्व्यम्) पूर्व प्राप्त किये हुए (अद्रेः महि पाथः) मेघ से प्राप्त महान् प्रभूत अन्न को उत्पन्न करे। वह स्त्री (पतिम् अच्छ गात्) उत्तम पति को प्राप्त हो। भाव स्पष्ट नहीं है।

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुर एतारमग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृता अमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः ॥ ६० ॥

विश्वामित्र ऋषिः। वैश्वानरो देवता। भुरिक् त्रिष्टुप्॥ धैवतः॥

भा०—(अस्मात्) इस (वैश्वानरात्) सब मनुष्यों के हितकारी (अग्नेः) अग्नि, सूर्य या दीपक के समान प्रकाशस्वरूप तेजस्वी राजा, विद्वान् के (अन्यम्) अतिरिक्त दूसरे किसी को (देवाः) विद्वान् और विजयी पुरुष भी (पुरः एतारम्) अपने आगे २ चलने वाले नायक रूप (स्पशं न अविदन) दूत या द्रष्टा को नहीं जानते। वे (अमृताः) स्वयं दीर्घ, शतायु जीवन वाले होकर इस (अमर्त्यं) अन्य मनुष्यों से अधिक उच्च कोटि के (वैश्वानरम्) सर्वजन-हितकारी पुरुष को ही (क्षैत्रजित्याय) क्षेत्र, भूमि विजय करने के लिये (ईम् एनम्) इसको (अवीवृधन्) बढ़ाते हैं।

अध्यात्म में—समस्त देहों में विद्यमान समस्त प्राणों के पुरोगामी इस आत्मा के सिवाय (नहि स्पशम् अविदन्) किसी दूसरे को नहीं पाते। ये (अमृताः) अमर (देवाः) विद्वान् पुरुष भी (क्षैत्रजित्याय) क्षेत्र, देह या बन्धन को विजय करने के लिये (अमर्त्यं वैश्वानरम् वृधन्) मरण रहित वैश्वानर, सर्वात्मा की शक्ति को बढ़ाते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—सर्वव्यापक परमेश्वर के सिवाय विद्वान् जन

किसी दूसरे को (स्पशम् नहि अविदन्) सर्वद्रष्टा नहीं जानते। अपने फल भोगों की प्राप्ति के लिये कर्म रूप बीजों के वपन के लिये एकमात्र क्षेत्र रूप इस देह के बन्धन को विजय करने के लिये ही (अमृतासः देवाः) अमृत, ज्ञानी, एवं अमर परमात्मा में लीन, अविनाशी विद्वान्, मुमुक्षु जन इसी अभय परमेश्वर की महिमा को स्तुतियों से बढ़ाया करते हैं।

उग्रा विघनिना मृध ऽइन्द्राग्नी हवामहे।
ता नो मृडात ऽईदृशे ॥ ६१ ॥ ऋ० । १० । ६० । ५ ॥

भरद्वाज ऋषिः। इन्द्राग्नी देवते। गायत्री। षड्जः ॥

भा०—(उग्रौ) उग्र, तेजस्वी, (मृधः) संग्राम करने हारे शत्रुओं को (विघनिना) विविध प्रकारों से शत्रुओं को मारने और दण्ड देनेवाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र, सेनापति और अग्नि, अग्रणी नायक, सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष हों। (ता) वे दोनों (नः) हमें (ईदृशे) इस प्रकार के संग्राम आदि के अवसर में (मृडात) सुखी करें, हम पर सदा दया करें।

मृडतिरुपदयाकर्मा इति सायणः ॥

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे।
अभि देवाँ२ऽ इयक्षते ॥ ६२ ॥ ऋ० ९। ११ । १ ॥

भा०—हे (नरः) नायक नेता विद्वान् पुरुषो ! आप लोग (पवमानाय) सदाचार एवं व्रताचरण द्वारा अपने को पवित्र करने वाले (इन्दवे) परम ऐश्वर्यवान्, सोम्य स्वभाव के एवं (देवान् अभि इयक्षते) विद्वानों का आदर सत्कार करने वाले गुरुजनों के प्रति विद्यार्थी के समान विनीत पुरुष को (उप गायत) उपदेश करो।

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ। ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः ॥ ६३ ॥

ऋ० ३ । ४७ । ४ ॥

६१—०मृडात० इति काण्व०। ६३—ये ग इष्टौ' इति काण्व० ॥

विश्वामित्र ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (अहिहत्ये) मेघों के आघात करने और उनको छिन्न भिन्न करने के कार्य में वायु और सूर्य के समान तेजस्वी प्रचण्ड और (शाम्बरे) मेघ के साथ संग्राम करने के कार्य में तीव्र ताप वाले सूर्य के समान अति प्रखर और (गविष्टौ) किरणों के एकत्र रखने के कार्य में उनके स्वामी रूप सूर्य के समान इन्द्रियों के वश करने, भूमियों को अपने अधीन रखने और गौ आदि पशु सम्पत्ति को प्राप्त करने के कार्य में (ये) जो विद्वान् और बलवान् प्रजास्थ पुरुष (त्वा) तुझको (अवर्धन्) बढ़ाते हैं, तेरी शक्ति की वृद्धि करते हैं और (ये विप्राः) जो विद्वान् मेधावी पुरुष (नूनम्) निश्चय से (त्वां अनु-मदन्ति) तेरे ही हर्ष के साथ स्वयं हर्षित होते हैं, हे (हरिवः) किरणों के स्वामी सूर्य के समान, तीव्र अश्वों और अश्वारोहियों और प्रजाओं के दुःखों, अज्ञान अन्धकारों के हरण करने वाले आप्त पुरुषों के स्वामिन् ! हे (इन्द्र) सेनापते ! राजन् ! तू (मरुद्भिः) वायु के समान तीव्र सैनिक और शत्रुओं को मारने वाले एवं प्रजा के प्राणों के समान प्रिय अधिकारी पुरुषों के साथ (सगणः) गण, अर्थात् दलसहित (सोमम्) ओषधि रस के समान अति बलकारी राष्ट्र के ऐश्वर्य का (पिब) पान कर, उपभोग कर, उसको प्राप्त कर ।

जनिष्ठा ऽउग्रः सहसे तुराय मन्द्र ऽओजिष्ठो बहुलाभिमानः ।
अवर्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरन्दधनद्धनिष्ठा ॥ ६४ ॥

ऋ० १० । ७३ । १ ॥

गौरिवीतिर्ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजन् ! तू (मन्द्रः) समस्त प्रजा को हर्षित करने हारा, (ओजिष्ठः) सब से अधिक पराक्रमी, (बहुलाभिमानी) बहुत अधिक आत्माभिमान से युक्त, मनस्वी पुरुष ही (तुराय) अपने शीघ्र करनेवाले

गुण, चुस्ती, आलस्य रहितता, कार्यदक्षता अथवा शत्रुओं के नाशकारी (सहसे) और शत्रुओं के पराजय करने वाले बल के कारण ही (उग्रः) उग्र, प्रचण्ड, शत्रुओं के लिये भयंकर, (जनिष्ठाः) होवे। (मरुतः) वायुओं के समान प्रचण्ड बलवान्, शत्रुरूप वृक्षों को जड़ मूल से उखाड़ फेंकने वाले शूरवीर उस (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान्, शत्रुनाशक पुरुष को सूर्य को वायुओं के समान (अवर्धन्) बढ़ावे, प्रखर और प्रचण्ड करें। और (अत्र) ऐसे वीरता और राज्यपालन के कार्य के लिये ही (यत्) जब (वीरम्) वीर पुत्र को (दधत्) धारण करती है, तभी वह (धनिष्ठा) धन्य उत्तम गर्भ धारण करने वाली, ऐश्वर्यवती, सौभाग्यवती कहाती है। अथवा, (माता) पृथिवी, जब ऐसे वीर को धारण करती है तभी वह (धनिष्ठा) ऐश्वर्यवती, धन्य, वसुंधरा या धरा कहाती है।

आ तू न इन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्धमा गहि।
महान्महीभिरूतिभिः ॥ ६५ ॥ ऋ० ४ । ३२ । १ ॥

वामदेव ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (वृत्रहन्) शत्रुओं के नाश करने हारे ! हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! तू (अस्माकम्) हमारे (अर्द्धम्) समृद्ध राष्ट्र-भाग को (आगहि) प्राप्त कर। हे राजन् ! तू (महीभिः) बड़े भारी (ऊतिभिः) रक्षा साधनों से (महान्) बड़ा बलशाली होकर (नः) हमें भी पुष्ट कर।

'अर्धम्'—अर्धो हरतेर्वा विपरीतात्। धारयतेर्वास्यादुद्धृतं भवति, ऋघ्नोतेर्वा स्याद्वृद्धतमो विभागः। समीपे इति सा०। निवासदेशमिति (म०) पक्षमिति (उ०) वर्धनमिति (द०)

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य्य तरुष्यतः ॥ ६६ ॥
ऋ० ८। ८८। ५ ॥

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । पथ्या बृहती ।

भा०—हे (इन्द्र) राजन् ! (प्रतूर्त्तिपु) खूब अधिक हिंसा योग्य, या खूब अधिक हनन करने के स्थानों, संग्रामों में तू (विश्वाः स्पृधः) अपने समस्त स्पर्धा करने वाली, ईर्षालु शत्रु-सेनाओं को (अभि असि) पराजित करता है। तू (जनिता) सब सुखों का उत्पादक और (अशस्तिहा) सब दुष्ट पुरुषों और अप कीर्त्तियों का विनाशक होकर (विश्वतूः) समस्त शत्रुओं का ही नाश करने हारा (असि) हो। हे राजन् ! सेनापते ! (त्वं) तू (तरुष्यतः) हमें मारना चाहने वाले एवं मारने का उद्योग करने वाले शत्रुओं को (तूर्य) विनाश कर।

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ ६७ ॥
ऋ० ८ । ८८ । ६ ॥

भा०—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राजन् ! (मातरा शिशुं न) माता और पिता जिस प्रकार शिशु, बालक के (अनु ईयतुः) पीछे २ प्रेम से चलते हैं उसी प्रकार (क्षोणी) अपने और शत्रु के राष्ट्र दोनों (ते) तेरे (तुरयन्तम्) शत्रु के विनाशकारी (शुष्मम्) बल, पराक्रम के (अनु ईयतुः) अनुकूल होकर चलते हैं। और (यत्) जब तू (वृत्रं) अपने राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को (तूर्वसि) मार गिराता है तब (विश्वाः स्पृधः) समस्त शत्रुसेनाएं भी (ते मन्यवे) तेरे क्रोध के आगे (श्नथन्त) शिथिल, हतवीर्य, निर्बल हो जावें।

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाचीं सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥ ६८ ॥

भा०—व्याख्या देखो। अ० ८ । ४ ॥

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳशिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशꣳस ईशत ॥ ६९ ॥
ऋ० ६ । ७१ । ३ ॥

६८—'०मूळयन्तः' इति काण्व० ।

भरद्वाज ऋषिः । सविता देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—सूर्य जिस प्रकार (अदब्धेभिः) नष्ट न होने वाली सुखकारी (वायुभिः) पवित्रकारी, पालन में समर्थ किरणों से हम (गयम्) गृह, प्राण और देह की रक्षा करता है और जिस प्रकार अग्नि (हिरण्यजिह्वः नव्यसे) सुवर्ण के समान दीप्ति वाली जिह्वा, अर्थात् ज्वाला से सदा नये २ सुख प्रदान करता है । हे (सवितः) सबके प्रेरक, उत्तम कर्मों और राज्य प्रबन्धों के उत्पादक, सूर्य के समान तेजस्विन् विद्वन् ! राजन् ! तू (अदब्धेभिः) अखण्डित, स्थिर, जिनको कोई भंग न कर सके ऐसे (शिवेभिः) कल्याणकारी (पायुभिः) रक्षण, पालन करने से उपायों से (अद्य) आज और अब के समान सदा, (नः गयम्) हमारे गृह, पुत्र, कलत्रादि की भी (परिपाहि) सब प्रकार से रक्षा कर । तू (हिरण्यजिह्वः) हित और हृदय को उत्तम लगने वाली वाणी से युक्त अथवा हिरण्य के समान सदा उज्वल, खरी, सत्य वाणी बोलने हारा होकर (नव्यसे) सदा नये से नये मनोहर (सुविताय) उत्तम ऐश्वर्य और ज्ञान के प्राप्त करने के लिये (रक्ष) हमारी रक्षा कर, हमें पालन कर । (नः) हम पर (अघशंसः) पापकर्म का उपदेश करने वाला (माकिः ईशत) कोई शासन या स्वामित्व न करे ।

'हिरण्यजिह्वः'—हिरण्यं, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा निरु० २ । १० ॥ जिह्वेति वाङ्नाम । निघ० १ । ११ ॥ हिरण्यवदविचला जिह्वा यस्य । सत्यवाक् । यद्वा हिरण्या हिता रमणीया जिह्वा ज्वाला यस्येति । म० द० । सत्यवाक् । उ० ।

प्र वीरया शुचयो दद्रिरे वामध्वर्युभिर्मधुमन्तः सुतासः ।
वह वायो नियुतो याह्यच्छा पिबा सुतस्यान्धसो मदाय ॥७०॥

ऋ० ७ । ९० । १ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । वायुर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे राजा और प्रजाजनो ! (वाम्) तुम दोनों के परस्पर सहयोग से बनी (वीरया) वीर, बलवती सेना के बल से ही (शुचयः) शुद्ध पवित्र आचारवान्, निष्कपट पुरुष, (मधुमन्तः) ज्ञान और बलों से युक्त (सुतासः) माता पिता दोनों में से वीर माता से उत्पन्न, मधुर सोम्य गुणों वाले पुत्रों के समान (सुतासः) उत्तम विद्या और आचार-शिक्षा से सम्पन्न, एवं उत्तम पदों पर अभिषिक्त राजपुरुष (अध्वर्युभिः) परस्पर हिंसा, घात प्रतिवात से रहित, राष्ट्र यज्ञ के सञ्चालक विद्वान् पुरुषों से मिलकर (प्र दद्रिरे) शत्रुओं की सेनाओं और उनके दल बल का विदारण करें अथवा उनको भयभीत करें । हे (वायो) वायु के समान शत्रुओं को उखाड़ने हारे बलवन् ! सेनापते ! तू (नियुतः) नियुक्त अपने अधीन समस्त सेनाओं को, या अश्वों को, वायु के तीव्रता आदि गुणों को (वह) स्वयं धारण कर, उनको अपने वश कर, (अच्छ यांहि) शत्रुओं पर भली प्रकार चढ़ाई कर । और (मदाय) हर्ष और प्रजा के सुख, तृप्ति के लिये (अन्धसः) अन्न के और (सुतस्य) नाना प्रकार के भोग्य पदार्थ, ऐश्वर्य और अभिषेक द्वारा प्राप्त राज्य को ओषधि रस के समान अपने शरीर, मन आदि की शक्ति वृद्धि करने और आत्मसुख और राष्ट्र के हर्ष के लिये (पिब) पान कर, उपभोग कर ।

गात्र ऽउपावतावतं मही यज्ञस्य रप्सुदा ।
उभा कर्णा हिरण्यया ॥ ७१ ॥

भा०—इस ऋचा की व्याख्या देखो अ० ३३ । १९ ॥ तथापि, हे (गावः) सूर्य की रश्मियों के समान प्रकाशवान् तेजस्वी ज्ञानी पुरुषो ! आप लोग (उप अवत) आओ, हमारी रक्षा करो । और (यज्ञस्य) यज्ञ अर्थात् सबको एकत्र मिलाये रखने वाले, राष्ट्र यज्ञ के (रप्सुदा) उत्तम रूप प्रदान करने वाले सूर्य पृथिवी के समान राजा और प्रजाजन (मही) दोनों पूज्य हैं । और (उभा) दोनों ही (हिरण्यया) एक दूसरे के प्रति

हितकर और रमणीय ज्ञानवान् और सम्पन्न कार्य करने में पतिपत्नी के समान, (कर्णा) एक ही राष्ट्र के कार्य करने हारे होकर (अवतम्) एक दूसरे की रक्षा करो । अथवा—हे (गावः) ज्ञानवान् प्रजास्थ पुरुषो ! जिस प्रकार गौवें अपने (अवतम्) रक्षक गोपति के पास आती हैं उसी प्रकार तुम भी अपने (अवतम् उप अवत) रक्षक को प्राप्त कर उसकी रक्षा करो ।

काव्ययोराजानेषु क्रत्वा दक्षस्य दुरोणे ।
रिशादसा सधस्थ आ ॥ ७२ ॥

दक्ष ऋषिः । मित्रावरुणौ देवते । गायत्री छन्दः । षड्जः ॥

भा०—हे (रिशादसौ) प्रजाओं के नाश करने वाले, शत्रुओं का भी नाश करनेवाले मित्र और वरुण, न्यायाधीश और सेनापते ! तुम दोनों (सधस्थे) एकत्र मिल कर बैठने के स्थान, एवं (दक्षस्य) समस्त कार्यों के सञ्चालन में उत्साहवान् राजा के (दुरोणे) गृह, सभाभवन में (काव्ययोः) क्रान्तदर्शी पुरुषों के बनाये व्यवहार और परमार्थ के प्रतिपादक दोनों प्रकार के ग्रन्थों में प्रतिपादित (आजानेषु) चतुर विद्वान् कार्य कुशल बना देने वाले, ज्ञान कराने वाले व्यवहारों के निर्णयों के लिये (क्रत्वा) अपने ज्ञानबल से (आ) कार्य सम्पादन करो । अथवा (काव्ययोः आ-जानेषु) विद्वानों के बनाये या साक्षात् किये हुए प्रजा के हितार्थ मार्ग दर्शाने वाले 'आज्ञापन' या राजनियमों के आधार पर (क्रत्वा) अपने कर्म और प्रज्ञाबल से (आ) न्याय और दण्ड का विधान करो। 'आजानम्' आज्ञापनम्, इति दया० ऋ० भू० (१३८)

दैव्यावध्वर्यू आ गतꣳरथेन सूर्यत्वचा ।
मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे ॥ ७३ ॥

७३—दैव्या अव्व० इति काण्व० ।

भा०—व्याख्या देखो० अ० ३३ । ३२ ॥

तम्प्रत्नथा० । अयं वेन:० ॥

भा०—'तंप्रत्नथा'० (अ० ७।१२) की प्रतीक है और 'अयं वेनः'० यह मन्त्र (अ० ७ । १६) की प्रतीक है ।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥७४

ऋ० १० । १२९ । ५ ॥

प्रजापतिऋषिः । भाववृत्तो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—राष्ट्रपक्ष में—(एषाम्) इन अपने स्थानों पर आदरपूर्वक अभिषेक को प्राप्त हुए विद्वान् अधिकारी पुरुषों का शासनाधिकार या तेज (रश्मिः) तेजस्वी सूर्य आदि पदार्थों के किरणों के समान (तिरश्चीनः) बहुत दूर तक जानेवाला, प्रकाश की किरण के समान तिरछा, अपनी सीध में जाने वाला और (विततः) विविध प्रकारों से फैलता है । (अधः स्वित् आसीत्) वह नीचे भी रहता है और (उपरिस्वित्) और ऊपर भी रहता है । वे सभी राष्ट्र के भीतर (रेतो धाः आसन्) शरीर में वीर्य को धारण करने वाले अंगों के, समान स्वयं वीर्यवान् बलवान् एवं ब्रह्मचारी हों । और वे (महिमानः) महान् सामर्थ्य वाले, आदर सत्कार योग्य भी हों । उनकी (स्वधा) अपने शरीर के धारण निमित्त प्राप्त होने वाला अन्न, वेतन आदि पदार्थ (अवस्तात्) नीचे अर्थात् तुच्छ है परन्तु उनका (प्रयतिः) राष्ट्र की व्यवस्था का उत्तम यत्न और नियम का कार्य (परस्तात्) परम उच्च, उत्कृष्ट हो ।

अधिदैवत पक्ष में—(एषाम् रश्मिः) इन सूर्यादि लोकों का प्रकाशक (तिरश्चीनः विततः) तिरछा, सर्वत्र दूर २ तक फैला है । (अधः-

---

७४—अयंवेनश्चोदयत् । इति काण्व० ।

स्विद् आसीत्) क्या नीचे और क्या ऊपर क्या पास और क्या दूर ? सभी स्थान पर है। ये सभी ज्योतिर्मय सूर्य आदि पदार्थ, (रेतोधाः आसन्) जीव सृष्टि के उत्पन्न करने वाले वीजों को धारण करते हैं। और (महिमानः आसन्) बड़े भारी, सामर्थ्य वाले हैं । (स्वधा) स्वयं संसार को धारण करने वाली प्रकृति, शरीर को धारण करने वाले जीव और भोग्य पदार्थ अन्न आदि के समान (अवस्तात्) पर-भोग्य और अधीन रहने से नीची श्रेणी के हैं और (प्रयतिः) उनको प्रेरणा देने वाला, चलाने वाला परम प्रयत्नस्वरूप परमेश्वर (परस्तात्) बहुत ऊंचा, उनसे कहीं महान् है।

अध्यात्म में—(एषाम् रश्मिः) प्रकृति, प्रजापति के सृष्टि उत्पादक संकल्प और सृष्टि के प्रेरक बल इन तीनों का (रश्मिः) सृष्टि नियामक वल (तिरश्चीनः) मध्य में, (अधस्तात् उपरिस्वित्) क्या ऊपर और क्या नीचे सर्वत्र ही (विततः आसीत्) व्यापक है। सृष्टि-रचना के अवसर में (रेतोधाः आसन्) बीजरूप से कर्मों को संस्कार में धारण करने वाले कर्त्ता और भोक्ता जीव भी विद्यमान थे और (महिमानः आसन्) पृथिवी आदि पांच महाभूत भोग्य रूप भी थे, परन्तु उनमें भी (स्वधा अवस्तात्) अन्न के समान भोग्य पदार्थ निकृष्ट था और (प्रयतिः परस्तात्) प्रयत्नशील आत्मा उत्कृष्ट था (सायण, मही०)।

अथवा—यहां परमेश्वर के उत्पादक और नियामक बल का वर्णन है—(एषां लोकानां मध्ये रश्मिः) इन समस्त लोकों के बीच में सबका प्रकाशक रश्मि और सर्व का नियन्ता (निरश्चीनः) सब दूर २, (अधः स्विद् उपरिस्वित्) क्या ऊपर और क्या नीचे, सर्वत्र (विततः आसीत्) फैला हुआ, सर्वत्र व्याप्त है। ये समस्त सूर्यादि लोक और महत् आदि प्रकृति विकार गण (रेतोधाः) सृष्टि के उत्पादक ब्रह्म वीज को धारण करने वाले और उसी के (महिमानः) समान सामर्थ्य को धारण करने हारे हैं। परमात्मा (स्वधा) स्व-रूप को धारण करने वाली परम शक्ति ही (अध-

स्तात्) उरे, यहां, छोटे से छोटे पदार्थ में है । और उसका लोक-सञ्चालक (प्रयतिः) महान् प्रयत्न (परस्तात्) दूर से दूर लोक में भी विद्यमान है।

आ रोदसी ऽअपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसो ऽअधारयन् ।
सो ऽअध्वराय परिणीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥७५॥

ऋ० ३ । २ । ७ ॥

विश्वामित्र ऋषिः । वैश्वानरो देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से आकाश और पृथिवी दोनों को व्याप लेता है उसी प्रकार तेजस्वी विद्वान्, पुरुष (रोदसी) शास्य और शासक दोनों वर्गों को (आ अपृणत्) सब प्रकार से व्यापता और उनको भरण पालन और पूर्ण भी करता है और वह, (स्वः) अन्तरिक्ष को वायु के समान, (महत् जातम्) बड़े भारी, उत्पन्न हुए सुखमय राष्ट्र को भी अपने वश करता है । (यत्) जिससे (एनम्) उसको (अपसः) समस्त कर्म, समस्त बड़े कार्य अथवा कार्य करने वाले प्रजाजन (अधारयन्) धारण करते हैं । अर्थात् वह सब कर्मों का आश्रय, मुख्य केन्द्र हो जाता है । (सः) उस को (कविः) क्रान्तदर्शी, दूरदर्शी पुरुष (अध्वराय) न नष्ट होने वाले, एवं हिंसारहित, पालन करने के उत्तम कर्म के लिये (वाजसातये अत्यः न) संग्राम, ऐश्वर्य और वेगयुक्त कार्य करने के लिये जिस प्रकार अश्व को काम में लाया जाता है उसी प्रकार (परिणीयते) कार्यों में नियुक्त किया जाता है, वरण किया जाता है । वह (चनोहितः) अन्न आदि ऐश्वर्य को स्वयं धारण करने वाला होता है ।

(२) अग्नि के पक्ष में—सूर्य रूप से और व्यापक रूप से भी द्यौ और पृथिवी को व्यापता, पोषता है । समस्त कर्मों को धारण करता है । वही हिंसा रहित शिल्पों के लिये प्राप्त किया जाता है। अश्व के समान यन्त्रों में भी वेग प्राप्त करने के लिये लगाया जाता है। (३) परमेश्वर भी सर्वत्र व्यापक,

सबकापोषक है । समस्त कर्म उसके आश्रय हैं, वह क्रान्तदर्शी महान् यज्ञ के लिये पुनः २ उपासना किया जाता, एवं समस्त ऐश्वर्यों का पोषण करता है ।

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा ।
आङ्गूषैराविवासतः ॥ ७६ ॥ ऋ० ७ । ९४ । ११ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(या) जो दो (वृत्रहन्तमा) घेर लेने वाले शत्रुओं के नाश करने वालों में सबसे श्रेष्ठ, (मन्दाना) सबको आनन्दित करने वाले, हैं वे इन्द्र आचार्य और अग्नि, ज्ञानवान्, अथवा सेनापति और सभाध्यक्ष (उक्थेभिः) उत्तम वचनोपदेशों से, (गिरा) उत्तम वाणी से और (आंगूषैः) घोषणाओं द्वारा (आ आविवासः) लोकसेवा करते हैं, यथार्थ ज्ञान प्रकाश करते हैं ।

उप नः सूनवो गिरः शृण्वन्त्वमृतस्य ये ।
सुमृडीका भवन्तु नः ॥ ७७ ॥ ऋ० ६ । ५२ । ९ ॥

सुहोत्र ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(ये नः सूनवः) जो हमारे पुत्र लोग हैं वे (अमृतस्य) अमर, अविनाशी परमेश्वर की दी (गिरः) वेद-वाणियों का (शृण्वन्तु) श्रवण करें और (नः) हमारे लिये (सुमृडीकाः) उत्तम सुखकारी (भवन्तु) हों । अथवा (ये) जो (अमृतस्य) अमर प्रजापति परमेश्वर के (सूनवः) पुत्र के तुल्य उसके उपासक हैं वे (नः गिरः शृण्वन्तु) हमारी वाणियों का श्रवण करें । अथवा हमें वेद-वाणियों का श्रवण करावें । और हमें सुखकारी हों ।

ब्रह्माणि मे मतयः शꣳ सुतासः शुष्म ऽइयर्ति प्रभृतो मे ऽअद्रिः ।
आ शासते प्रतिहर्य्यन्त्युक्थेमा हरी वहतस्ता नो ऽअच्छ ॥ ७८ ॥

ऋ० १ । १६५ । ४ ॥

७७—'सुमृळीका० इति काण्व० ।

अगस्त्य इन्द्रो वा ऋषी । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(सुतासः) विद्या और शिक्षा से अभिषिक्त हुए पुत्र या शिष्य के समान विनीत होकर (मतयः) मननशील पुरुष (मे) मुझ विद्वान् आचार्य से (ब्रह्माणि) वेदमन्त्रों के ज्ञानों की (आ शासते) अभिलाषा करते हैं । और वे (इमा उक्था) इन वेदवचनों, या सूक्तों को ही (प्रति हर्यन्ति) चाहते हैं । (मे) मेरे द्वारा (प्रभृतः) उत्तम रीति से परिपुष्ट या प्रदत्त (शुष्मः) बलकारी (अद्रिः) अज्ञान अन्धकार करने हारा ज्ञानवज्र अथवा ज्ञानवर्षण करने वाला, मेघ के समान गुरु ही उनको (शम्) सुख (इयर्त्ति) प्रदान करता है । (हरी) ज्ञान को धारण करने वाले और अज्ञान हरने वाले अध्यापक और शिष्य, दोनों (नः) आप हमें (ता) वे नाना प्रकार के वेद ज्ञानों को (वहतः) प्राप्त करावें ।

राजा के पक्ष में—(मतयः) प्रजा को स्तम्भन करने वाले बलवान् पुरुष (मे ब्रह्माणि आशासते) मेरे से धन की अभिलाषा करते हैं । और (सुतासः) पुत्र के समान प्रिय प्रजाजन (इमा उ वचा प्रति हर्यन्ति) इन उत्तम राजाज्ञा और न्यायवचनों को चाहते हैं । और (मे अद्रिः प्रभृतः शम् इयर्त्ति) मेरा यह तीक्ष्ण वज्र प्रजा को सुख शान्ति प्रदान करता है । (हरी) राष्ट्र के शकट को उठा लेने वाले अश्वों के समान अमात्य और राजा या सभापति और सेनापति प्रजाओं के दुःखहारी होकर (नः ता अच्छ वहतः) हम प्रजा को वे सब पदार्थ प्राप्त करावें । राजा धनेच्छुओं के लिये धनप्रद और ज्ञानेच्छुओं या साम वचनों के इच्छुकों के लिये ज्ञानप्रद पुरुषों को नियुक्त करे । शान्ति स्थापन के लिये वज्र या दण्ड को उपयोग में लावे । साम, दान और दण्ड तीनों का विधान है ।

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ२ऽ अस्ति देवता विदानः ।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥७९॥

ऋ० १ । १६५ । १ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् राजन् (नकिः) कोई पदार्थ भी ऐसा नहीं जो (ते अनुत्तम्) तेरे द्वारा नहीं चलाया गया। तू ही सबका प्रेरक है। और (त्वावान् देवता) तेरे सदृश द्रष्टा और दानशील, (विदानः) ज्ञानवान् और समस्त पदार्थों का प्राप्त करने कराने वाला भी दूसरा (न अस्ति) नहीं है। हे (प्रवृद्ध) महान्, सबसे अधिक शक्तिशालिन्! (न जायमानः) न भविष्य में कोई पैदा होने वाला और (न जातः) न पैदा हुआ है जो (यानि करिष्ये) जिन कामों को तू भावी में करे या (कृणुहि) अब करता है उनको भी (नशते) प्राप्त कर सके।

परमेश्वर के पक्ष में—(ते) तेरे स्वरूप को (अनुत्तम् आ) हम किसी अन्य से प्रेरित नहीं पाते अर्थात् तू अद्वितीय है। (न त्वावान् विदानः देवता अस्ति) तेरे जैसा ज्ञानवान् देव भी कोई नहीं है। तू (जायमानः न, जातः न) तू कभी न पैदा होता है, न हुआ है। (यानि करिष्या) जो करेगा और जो (कृणुहि) करता है उसको भी (नकिः नशते) कोई न जान सकता है, न उसका पार पा सकता है।

तदिदास॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञऽउ॒ग्रस्त्वेष॑नृम्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यं विश्वे॒ मद॑न्त्यू॒माः॥ ८०॥
ऋ० १० । १२० । १॥

बृहदिव ऋषिः। महेन्द्रो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(तत्) वह (इत्) ही (भुवनेषु) समस्त उत्पन्न लोकों, प्रजाजनों के बीच में (ज्येष्ठम् आस) सबसे बड़ा, सबसे अधिक आदर के योग्य है। (यतः) जिससे (त्वेषनृम्णः) तेज रूप धन से युक्त, अति तेजस्वी, (उग्रः) शत्रुओं को भय देने वाला, बलवान् सेनापति या राजा (जज्ञे) पैदा होता है। और (सद्यः) शीघ्र ही (जज्ञानः) उत्पन्न होकर (शत्रून्) शत्रुओं को (निरिणाति) विनष्ट करता है और (यम् अनु) जिसके अनुकूल रह कर (विश्वे ऊमाः) समस्त प्रजारक्षक जन और प्राणि वर्ग (मदन्ति) अति हर्षित होते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—वह परमेश्वर ही सबसे महान् है जिससे यह दीप्त तेजस्वी सूर्य उत्पन्न होकर अन्धकारों को विनाश करता है और जिसको उगता देख-कर सब प्राणी हर्षित होते हैं अथवा वह परमेश्वर ही महान् है जिसकी उपासना से वीर पुरुष तेजस्वी होता है और शत्रुओं का नाश करता है, जिसके अनुकूल रहकर अन्य प्रजापालक अधिकारी प्रसन्न होते हैं।

इमाऽउ त्वा पुरूवसो गिरो वर्द्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ ८१ ॥

ऋ० ८ । ३ । २ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (पुरुवसो) बहुत से ऐश्वर्य वाले ! राजन् ! (इमाः उ गिरः) ये उत्तम उपदेशप्रद वाणियां (याः मम) जो मेरी या मुझ प्रजाजन के हित की हैं वे (त्वा) तुझको या तेरे सामर्थ्य को (वर्धन्तु) बढ़ावें। और (पावकवर्णाः) अग्नि के समान तेजस्वी (शुचयः) शुद्ध, आचारवान्, सत्यवादी, निश्छल, (विपश्चितः) विद्वान् पुरुष (स्तोमैः) स्तुति वचनों से (अभि अनूषत) तेरी साक्षात् स्तुति करें। ईश्वरपक्ष में—हे (पुरुवसो) सबमें बसने हारे ! मेरी वाणियें तेरी महिमा बढ़ावें। ब्रह्मचारी, तेजस्वी, सदाचारी विद्वान् जन तेरी स्तुति करते हैं।

यस्यायं विश्व ऽआर्यो दासः शेवधिपा ऽअरिः।
तिरश्चिद्यर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सो ऽअज्यते रयिः ॥ ८२ ॥

ऋ० ८ । ५१ । ९ ॥

भा०—(विश्वः आर्यः) समस्त आर्य, श्रेष्ठ पुरुष (यस्य) जिसका (दासः) दास, कर्मकर, भृत्य के समान आज्ञापालक हैं और (शेवधिपाः) अपने खजाने को बचाकर रख लेने वाले, कंजूस पुरुष ही जिसका (अरिः) शत्रु के समान प्रतिद्वन्द्वी है। और (अर्ये) वैश्य धनस्वामी (रुशमे) हिंसा कारी और (पवीरवि) शस्त्रधारी पुरुष के पास भी (तिरः चित्)

छिपा हुआ समस्त जितना भी धन है (सः रयिः) वह समस्त ऐश्वर्य भी हे राजन् (तुभ्य इत् अज्यते) तेरे ही लिये खोल कर रख दिया जाता है । अर्थात् सब श्रेष्ठ पुरुष तेरे सेवक हैं, उनका सब धन तेरे ही लिये है, अपना धन बचा कर रखनेवाला तेरा शत्रु है, वैश्यों और शत्रुहिंसक क्षत्रियों के पासका सभी धन राजा के लिये ही है ।

अयꣳ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र ऽइव पप्रथे ।
सत्यः सो ऽअस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ ८२ ॥

ऋ० ८ । ३ । ४ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । आदित्यो देवता । सतो बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(अयम्) यह राजसभाध्यक्ष (सहस्रम् ऋषिभिः) सहस्रों मन्त्रार्थ वेत्ता विद्वानों के साथ (सहस्कृतः) बलवान् होकर (समुद्र इव) समुद्र के समान गम्भीरता आदि गुणों में विख्यात है । (यज्ञेषु) सम्मिलित नाना राजकार्यों में और (विप्रराज्ये) मेधावी, बुद्धिमान् विद्वानों के राज्य में (अस्य) उसकी (सत्यः महिमा) सत्य महिमा और (शवः) बल का (गृणे) वर्णन किया जाता है । अथवा—(अयं) यह (ऋषिभिः) यथार्थ तर्कशील विद्वानों के द्वारा (सहस्रं सहस्कृतः) हजारों प्रकार के ज्ञानों और बलों से युक्त हो जाता है । (अस्य सः महिमा समुद्र इव पप्रथे) इसकी वह महिमा समुद्र के समान बढ़ती है । मैं (यज्ञेषु विप्रराज्ये शवः गृणे) प्रजाजन इसके बल की यज्ञों और विद्वानों के राज्य में स्तुति करूं ।

'सहस्रम्'—सहस्र कृत्व इत्युवटः । सहस्रैः ऋषिभिरिति सायणः । सहस्रं सख्यं ज्ञानं प्राप्त इति दयानन्दः ।

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परिपाहि नो गयम् ।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो ऽअघशꣳस ऽईशत ८४

भा०—व्याख्या देखो (अ० ३३ । ६९)

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः ।
अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानो अयꣳ शुक्रो अयामि ते ॥ ८५ ॥
ऋ० ८ । ९० । ६ ॥

जमदग्निर्ऋषिः । वायुर्देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (वायो) वायो ! वायु के समान अपने प्रचण्ड वेग से शत्ररूप वृक्ष को उखाड़ देने में समर्थ ! अथवा, छाज से गिरते अन्न को अपने वेग से पवित्र करने हारे वायु के समान विवेकवान् ! वायो ! तू (सुमन्मभिः) उत्तम ज्ञानोंसहित (नः) हमारे (दिविस्पृशम्) राजसभा में आश्रित, विद्या के प्रकाश से युक्त (यज्ञम्) राज्य पालन के कार्य या प्रजापति पद को (आयाहि) प्राप्त हो । (पवित्रे अन्तः उपरि) पावन या शोधन करने वाले छाज पर जिस प्रकार अन्न रहता है उसी प्रकार (पवित्रे) शुद्ध सदाचार युक्त एवं प्रजा को पवित्र करने वाले तुझ पर (अयम्) यह (शुक्रः) शुद्ध किरणों वाले सूर्य के समान विद्वान् वेदज्ञ पुरुष (श्रीणानः) अधिष्ठित हैं । इसी कारण मैं प्रजाजन (ते अयामि) तुझ बलवान् राजा के शरण में आता हूं । अर्थात् जिस प्रकार छाज पर से अन्न गिरता है, वायु उस को पवित्र करता, उसके भी ऊपर सूर्य का प्रकाश रहता है उसी प्रकार प्रजा पालन के कार्य में विवेकी सभाध्यक्ष और उसपर भी सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष हो । प्रजा उसके अधीन रहे । अथवा—(अन्तः) प्रजा के भीतर (पवित्रे उपरि) इस परम पवित्र पद पर (श्रीणानः) आश्रय देनेहारा यह राजा ही (शुक्रः) आशु कार्यकारी, चतुर एवं सूर्य के समान तेजस्वी है । हे राजन्! (ते अयामि) मैं तेरी शरण आता हूं ।

इन्द्रवायू सुसन्दृशा सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमना असत् ॥ ८६ ॥
ऋ० १० । १४१ । ४ ॥

८६—इन्द्रवायू बृहस्पतिः सुहवेह हवामहे । यजानः सर्व इज्जनः संङ्गत्यां सुमना असत् । ऋ० ॥

तापस ऋषिः । इन्द्र वायू देवते । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(सुसंदृशौ) उत्तम रीति देखने वाले, उत्तम रीति एवं समान निष्पक्षपात दृष्टि और सम्यक्, और निष्पाप भाव से देखने वाले (इन्द्रवायू) ऐश्वर्यवान् राजा और सेनापति दोनों को सूर्य और वायु के समान (इह) इस राज्य में (हवामहे) हम बुलाते या अपना प्रधान स्वीकार करते हैं। (यथा) जिससे (नः) हमारे (सर्वः इत् जनः) सभी जन (संगमे) परस्पर मिलने के अवसर में (सुमनाः) उत्तम चित्त वाले (असत्) होकर रहें।

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये ।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टय आचक्रे हव्यदातये ॥ ८७ ॥
ऋ० ८ । ९० । १ ॥

भा०—जिस प्रकार मनुष्य (मित्रावरुणा) प्राण और उदान दोनों को (अभिष्टये) अपने अभीष्ट सुख प्राप्त करने के लिये और (हव्यदातये) प्राप्त करने योग्य परम पद की प्राप्ति के लिये (आचक्रे) वश करता है उनके आगमन का अभ्यास करता है (सः मर्त्यः) वह पुरुष (देवतातये) अपने इन्द्रियों के विशेष हित के लिये (ऋधक्) अति समृद्धिमान् शक्तिशाली होकर भी (इत्था शशमे) सचमुच शान्ति को प्राप्त कर लेताहै। (२) उसी प्रकार (यः) जो (नूनं) निश्चय से (मित्रावरुणा) प्रजा के स्नेही न्यायाधीश और शत्रुओं और दुष्टों के वारक श्रेष्ठ राजा दोनों को (हव्यदातये) ग्रहण करने योग्य उत्तम पदार्थों के प्रदान और स्वयं प्राप्त करने के लिये (आचक्रे) उचित रूप से आश्रय लेता है (सः मर्त्यः) वह मनुष्य (देवतातये) विद्वान् और विजयी पुरुषों के हित के लिये (ऋधक्) समृद्धिमान् होकर भी (इत्था) इस प्रकार से (शशमे) बहुत अधिक शान्ति प्राप्त करता है, वह मान, मद, गर्व नहीं धारण करता। और स्वतः उपद्रव रहित भी रहता है। उसके यश और समृद्धि में दूसरे उपद्रव नहीं करते।

आ या॑तमुप॑ भूषतं मध्व॑: पिबतमश्विना ।
दुग्धं पयो॑ वृषणा जेन्यावसू मा नो॑ मर्धिष्टमा ग॑तम् ॥ ८८ ॥

ऋ० ७ । ७४ । ३ ॥

वासिष्ठ ऋषिः । अश्विनौ देवते । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (अश्विनौ) स्त्री पुरुषों के समान एक दूसरे के अधीन रहने वाले राजा प्रजाजनो ! अथवा पूर्वोक्त राष्ट्र में व्यापक अधिकार वाले दो अधिकारी राजा और सभापति पुरुषो ! आप दोनों (आयातम्) आओ । (उप भूपतम्) इस स्थान को सुभूषित करो । अथवा दोनों समीप होकर रहो । हे (वृषणा) सुखों के वर्षाने वाले ! तुम दोनों (मध्वः पिबतम्) अन्न और उसके उत्तम रस का कर के रूप में स्वयं पान करो जिस प्रकार सूर्य और मेघ पृथ्वी से जल ग्रहण करते हैं और फिर उसी पर वरसा देते हैं उसी प्रकार (पयः दुग्धम्) उत्तम पुष्टिकारक दूध और अन्न और जल से राष्ट्र को पूर्ण करो । और (जेन्यावसू) विजयशील धन के स्वामी तुम दोनों (नः) हम प्रजाओं को (मा मर्धिष्टम्) कभी विनाश मत करो और (नः आगतम्) हमें सदा प्राप्त होवो ।

प्रैतु ब्रह्म॑णस्पति॒: प्र दे॒व्ये॑तु सू॒नृता॑ ।
अच्छा॑ वी॒रं नर्यं॑ पङ्क्ति॒रा॑धसं दे॒वा य॒ज्ञं न॑यन्तु नः ॥ ८९ ॥

ऋ० १ । ४० । ३ ॥

भा०—(ब्रह्मणः पतिः) धन, वेद और महान् राष्ट्र का पालक पुरुष (प्र एतु) हमें प्राप्त हो । (सूनृता) शुभ सत्यमयी वाणी (देवी) ज्ञान से पूर्ण विदुषी स्त्री के समान हमें (प्र एतु) प्राप्त हो । (देवाः) विद्वान् पुरुष और वीर सैनिक गण (नः) हमारे (वीरं) शूरवीर (नर्यम्) सब पुरुषों के हितकारी, नरश्रेष्ठ (पंक्तिराधसम्) पंक्ति अर्थात् पांचों जनों को वश करनेहारे, अथवा सेना की पंक्तियों को वश करने में समर्थ अथवा पांचों प्रकार के धनों के स्वामी या पांचों प्रकार के राष्ट्र के वशकारी अरि,

मित्र, अरि-मित्र, मित्र-मित्र और स्वकीय इनमें (यज्ञम्) प्रजापति रूप सब के पूज्य और सब के संगतिकारक पुरुष को (अच्छ नयन्तु) साक्षात् प्राप्त करावें । ऐसे को राजा बनावें ।

चन्द्रमा॑ अ॒प्स्व॑न्तरा सु॒पर्णो॑ धावते दि॒वि ।
र॒यिं पि॒शङ्गं॑ बहु॒लं पु॑रु॒स्पृह॑ꣳ हरि॑रेति॒ कनि॑क्रदत् ॥ ९० ॥
(प्र० द्वि०) १ । १०५ । १ ॥

त्रित ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—जैसे (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (अप्सु अन्तरा) जलों या जलमय मेघों या अन्तरिक्ष के बीच में गति करता है और (सुपर्णः) उत्तम किरणों से युक्त सूर्य या उत्तम पक्षों से युक्त विशाल पक्षी (दिवि धावते) आकाश में गति करता है और जिस प्रकार (कनिक्रदत्) खूब गर्जना करता हुआ (हरिः) सिंह, या हिनहिनाता हुआ अश्व गति करता है और तीनों में से प्रत्येक (पिशङ्गम्) सुवर्ण के समान उज्ज्वल (बहुलं) बहुत अधिक (पुरुस्पृहम्) बहुतों का अच्छा लगने हारा मनोहर रूप धारण करता है उसी प्रकार राजा, सभाध्यक्ष (अप्सु अन्तरा) आप्त प्रजाजनों के बीच (चन्द्रमाः) चन्द्र के समान आह्लादक कान्ति से युक्त होकर और (दिवि) ज्ञान प्रकाश में या राजसभा में (सुपर्णः) उत्तम पालन और ज्ञानमय साधनों से युक्त होकर सूर्य या महा गरुड़ के समान विजयी होकर (धावते) गति करे । और वह (हरिः) अश्व के समान या सिंह के समान स्वयं सबको आगे ले जाने में समर्थ, सबके मन को हरनेहारा, सब के दुःखों का नाशक होकर (कनिक्रदत्) गर्जन करता हुआ (पिशङ्गं) सुवर्ण के समान उज्ज्वल, (बहुलं) बहुत अधिक (पुरुस्पृहम्) बहुतों से वाञ्छित (एवं) सबकी इच्छानुकूल (रयिम्) ऐश्वर्य को प्राप्त करता है ।

दे॒वन्दे॑वं वोऽवसे दे॒वन्दे॑वमभिष्टये ।
दे॒वन्दे॑वꣳ हुवेम वाजसातये गृणन्तो॑ दे॒व्या धिया ॥ ९१ ॥
ऋ० ८ । २७ । १३ ॥

मनुर्ऋषिः । विश्वदेवा देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(देव्या धिया) उत्तम भावों से उज्वल, प्रकाशमान विद्वान्, ईश्वर और वीर राजा के योग्य (धिया) स्तुति से और (गृणन्तः) स्तुति या आदर वचन का प्रयोग करते हुए हम लोग (अवसे) रक्षण, ज्ञान और आजीवन सुख के प्राप्त करने के लिये हम (देवं देवम्) प्रत्येक विद्वान् को बुलायें । और (अभीष्टये) अभीष्ट सुख प्राप्त करने के लिये हम (देवं देवम्) प्रत्येक व्यवहारकुशल पुरुष को (हुवेम) आदर-पूर्वक बुलावें । और (वाजसातये) संग्राम विजय के लिये और अन्नादि ऐश्वर्य के प्राप्त करने के लिये (देवं देवम्) प्रत्येक विजयेच्छु वीर पुरुष को हम अपनावें ।

दिवि पृष्ठो अरोचताग्निर्वैश्वानरो बृहन् ।
क्ष्मया वृधान ओजसा चनोहितो ज्योतिषा बाधते तमः ॥६२॥

मेध ऋषिः । वैश्वानरो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(वैश्वानरः) समस्त लोकों का हितकारी, (अग्निः) प्रकाश स्वरूप सूर्य जिस प्रकार (बृहन्) महान् होकर (दिवि) प्रकाश में, तेज में (पृष्टः) पूर्ण रूप से स्थित होकर (क्ष्मया) पृथिवी के साथ अपने (ओजसा) तेजो बल से (वृधानः) समस्त ओषधियों को बढ़ाता हुआ (चनोहितः) अन्न के लिये अति हितकारी होता है और (ज्योतिषा) प्रकाश से (तमः बाधते) अन्धकार को दूर करता है। उसी प्रकार (अग्निः) सबका अग्रणी नायक एवं विद्वान् (वैश्वानरः) समस्त मनुष्यों का हितकारी, (बृहन्) स्वयं महान् होकर (दिवि) ज्ञान विज्ञान से युक्त राज-सभा के बीच (पृष्टः) तेज से और ज्ञान से सिक्त होकर, अथवा अभिषेक द्वारा अभिषिक्त होकर (क्ष्मया) अपने बड़े सामर्थ्य से पृथिवी रूप राष्ट्र से और (ओजसा) तेज, पराक्रम से (वृधानः) स्वयं वृद्धि करता हुआ, (चनोहितः) अपने सामर्थ्य से अन्न आदि ऐश्वर्यों को धारण करने

वाला होकर (ज्योतिषा) अपनी ज्ञान ज्योति, तेज से (तमः) समस्त प्रजा के दुःखकारी कारण, शोक, दुःख रूप अन्धकार को (बाधते) नष्ट करता है।

इन्द्राग्नी अपादियमपूर्वागात्पद्वतीभ्यः।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत्त्रिंशत्पदा न्यक्रमीत् ॥६३॥
ऋ० ६। ५९। ६॥

सुहोत्र ऋषिः। इन्द्राग्नी देवते। प्रवल्हिका। अनुष्टुप्। गांधारः॥

भा०—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि! (इयम्) यह (अपात्) पाद रहित होकर (पद्वतीभ्यः) पाद वालियों से (पूर्वा) पूर्व भी विद्यमान (आ अगात्) आती है। (शिरः हित्वा) शिर त्याग कर (जिह्वया वावदत्) जीभ से बोलती है। (चरत्) चलती है, और (त्रिंशत् पदा) तीस पग (नि अक्रमीत्) चलती है। यह प्रहेलिका का शब्दार्थ है। इसकी योजना उषा और वाणी दोनों पक्षों में होती है।

उषापक्ष में—हे (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि, सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशमान गुरु और शिष्य, राजा और प्रजाजनो! (इयम्) यह उषा (अपात्) विना पगों वाली होने से 'अपात्' है। अथवा सूर्य के अभाव में प्रथम प्रकट होने से निराधारसी दीखती है इसलिये अपात् है वह (पद्वतीभ्यः) पैरों वाली प्रजाओं से भी (पूर्वा) पूर्व अर्थात् सोती हुई प्रजाओं से पूर्व उदय होकर (आ अगात्) आती है, प्रकट होती है। वह (शिरः हित्वा) शिर को छोड़ कर अर्थात् विना शिर रूप सूर्य के उदय होने के पूर्व ही (जिह्वया) वाणी से या पक्षियों आदि की जिह्वा द्वारा (वावदत्) बोलती, शब्द करती और (चरत्) कालक्रम से विचरती है और (त्रिंशत् पदा) तीस मुहूर्त रूप पदों को (नि अक्रमीत्) चलती है (द्या०, सायण)।

वाणी के पक्ष में—हे इन्द्र! और हे अग्ने! हे प्राण और हे पुरुष! (इयं अपाद्) यह वाणी पाद रहित गद्य वाणी (पद्वतीभ्यः पूर्वा आ अ-

गात्) पर्दों वाली, पद्यमयी वाणी से भी पूर्व आती है, वह मनुष्य के मन में अन्धकार में उषा के समान, ज्ञान रूप से प्रकट होती है (शिरः हित्वी) शिर अर्थात् प्रथम पद या मुख्य, आख्यात पद को छोड़ कर (जिह्वया वावदत्) वाणी द्वारा बोली जाती है। (चरत्) और इस प्रकार प्रकट होती हुई (त्रिंशत् पदा) तीस पद अर्थात् तीस अंगुल (नि अक्रमीत) गति करती है अर्थात् मूल आधार से लेकर मुख तक ३० अंगुल गति करती है। (महीधर).

अथवा—उषापक्ष में—यह पादहित होकर पाद वाली, सोती प्रजाओं से पूर्व ही आजाती है। और (शिरः हित्वी) प्राणियों के शिर को प्रेरित करती हुई प्राणियों के जिह्वा द्वारा शब्द करती हुई (चरत्) उच्चारण करती है। और ३० मुहूर्त्त को पार करती है (सायण)

वाणीपक्ष में अर्थान्तर—(इन्द्राग्नी) हे इन्द्र, जीव और अग्ने जाठर अग्ने ! यह तुम्हारी अद्भुत क्रिया है कि वाणी (इयं) यह (पद्-वतीभ्यः पूर्वा) सुबन्त, तिङन्त पदों से युक्त प्रकट वाणी से पूर्व (अपात्) पाद रहित, अव्यक्त रूप में ही अन्तःकरण में (आअगात्) प्रकट होती है। वह प्रथम (शिरः हित्वी) शिरो भाग, तालु को प्रेरणा करके (जिह्वया) जीभ द्वारा (वावदत्) बोली जाती हुई (चरत्) प्रकट होती या उच्चारण की जाती है। और पुनः (त्रिंशत् पदानि) तीस पदों या स्थानों को (नि अक्रमीत्) व्याप लेती है। अर्थात् मूल देश से लेकर जिह्वा तक तीसों अंगुल परिमाण शरीर भाग को व्याप लेती है। महर्षि दयानन्द ने ऋग्भाष्य में विद्युत् के पक्ष में भी इस मन्त्र की योजना की है। मन्त्र अस्पष्ट है और अधिक विचार की अपेक्षा करता है।

देवासो॒ हि ष्मा॑ मन॑वे॒ सम॑न्यवो॒ विश्वे॑ सा॒कꣳ स॒रा॑तयः।
ते नो॑ अ॒द्य ते ऽप॑रन्तु॒चे तु नो॒ भव॑न्तु वरिवो॒विदः॑ ॥ ६४ ॥

ऋ० ८ । २७ । ९४ ॥

मनुर्ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—(विश्वे) समस्त (देवासः) विद्वान्, विजयी एवं व्यवहारकुशल पुरुष (मनवे) मननशील मनुष्य के हित के लिये (साकम्) एक साथ (समन्यवः) समान ज्ञान और मान और तेज तथा क्रोध या पराक्रम युक्त (सरातयः) समान रूप से दानशील, निष्पक्षपात होकर (हि स्म) रहा करें। और वे (अद्य) आज और (अपरम्) आगामी भविष्य में भी (नः) हमारे और (नः तुचे) हमारे दुःखहारी पुरुषों या सन्तानों के हित के लिये (वरिवोविदः) धन ऐश्वर्य के प्राप्त करने और कराने करने वाले (भवन्तु) हों।

'तुचे'—'तुग्' इति अपत्यनाम, तोजयति हिनस्ति हि पितुर्दुःखमिति तुक्, पुत्रः ॥ इति सायणः ॥

अपाधमद॒भिश॑स्तीरश॒स्ति॒हाथेन्द्रो॑ द्यु॒म्न्याभ॑वत् ।
दे॒वास्त॑ ऽइन्द्र स॒ख्याय॑ येमिरे॒ बृह॑द्भानो॒ मरु॑द्गण ॥ ६५ ॥

ऋ० ८ । ७६ । २ ॥

नृमेध ऋषिः । मरुत्वान् इन्द्रो देवता । वहतौ । मध्यमः ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा, सेनापति (अशस्तिहा) शासन व्यवस्था से रहित, उच्छृङ्खल पुरुषों का नाशक उनको दण्ड देने में समर्थ होकर (अभिशस्तीः) सब ओर से आने वाली हिंसाकारिणी सेनाओं और अपवादों को (अप-अधमत्) दूर भगा दे और इस प्रकार वह (इन्द्र) शत्रुहन्ता होकर (द्युम्नी) अन्नादि से समृद्ध और ऐश्वर्यवान् (अभवत्) होता है हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! शत्रुहन्तः! हे (बृहद्भानो) अति अधिक तेज से युक्त अग्नि और सूर्य के समान तेजस्विन्! हे (मरुद्गण) वीर सैनिकों के गणाधीश्वर (देवाः) विजयशील पुरुष और विद्वान् एवं व्यवहार कुशल वैश्यगण भी (ते) तेरे (सख्याय) मित्र भाव के लिये (येमिरे) यत्न करते हैं, एवं नियम व्यवस्था में रहते हैं।

प्र व ऽइन्द्रा॑य बृह॒ते मरु॑तो ब्रह्मा॑र्चत ।
वृत्रꣳ ह॑नति वृत्र॒हा श॒तक्र॑तुर्व॒ज्रेण॑ श॒तप॑र्वणा ॥ ९६ ॥

ऋ० ८ । ७८ । ३ ॥

नृमेध ऋषिः । इन्द्रो देवता । बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (मरुतः) वायु के समान तीव्र वेग से शत्रुओं पर आक्रमण करने और उनको मारने वाले वीर प्रजास्थ पुरुषो और आप लोग (वः) अपने में से (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् (बृहते) बड़े पुरुष के लिये (ब्रह्म अर्चत) धन और अन्न या आदर सत्कार प्रदान करो । (शतक्रतुः) सैकड़ों प्रज्ञा और कर्म सामर्थ्यों से युक्त (वृत्रहा) विघ्नकारी, नगर घेरने वाले शत्रु को मेघ को सूर्य के समान छिन्न भिन्न करने में समर्थ वीर पुरुष ही (शतपर्वणा) सैकड़ों के पालन करने वाले एवं सैकड़ों अवयवों, पोरुओं एवं शस्त्रास्त्रों, या सेना के दलों से युक्त(वज्रेण) वीर्यवान् सैन्यबल, और शस्त्रास्त्र समूह से (वृत्रं हनति) शत्रु को नाश करे ।

अ॒स्येदिन्द्रो॑ वावृधे वृष्ण्य॒ꣳ शवो॒ मदे॑ सु॒तस्य॒ विष्ण॑वि ।
अ॒द्या तम॑स्य महि॒मान॑मा॒यवो॒ऽनु ष्टु॑वन्ति पू॒र्वथा॑ ॥ ९७ ॥

ऋ० ८ । ३ । ८ ॥

मेधातिथिर्ऋषिः । महेन्द्रो देवता । सतो बृहती । मध्यमः ॥

भा०—जिस प्रकार (विष्णवि) व्यापक पृथ्वी पर (सुतस्य मदे) प्राप्त हुए जल से पूर्ण हो जाने पर (इन्द्रः) सूर्य (अस्य) इस मेघ के (शवः) विद्युत् बल और (वृष्ण्यं) वर्षण सामर्थ्य को (वावृधे) बढ़ाता है । उसी प्रकार (सुतस्य) अभिषेक द्वारा स्थापित (विष्णवि) व्यापक राष्ट्र में (मदे) हर्ष, सुख और समृद्धि से तृप्त, भरे पूरे रहने पर (इत्) ही (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा भी (शवः) अपना बल और (वृष्ण्यं) प्रजा पर सुख सेचन या वर्ष, के सामर्थ्य को और सेना बल को उसी प्रकार बढ़ावे ।

इमा उ त्वा०। यस्यायम्०। अयꣳ सहस्रम्०। ऊर्ध्व ऊ षु णः०।

भा०—'इमा उ त्वा०', 'यस्यायम्०', 'अयं सहस्रम्०' ये तीनों प्रतीकें अ० २३।८१–८२ तक के तीनों मन्त्रों की हैं। 'ऊर्ध्व ऊ षु णः'० यह प्रतीक अ० ११।४२ मन्त्र की है।

॥ इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजगदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

[अ० ३४] आदित्ययाज्ञवल्क्यावृषी ॥

॥ओ३म्॥ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥१॥

[१–६] शिवसंकल्प आदित्ययाज्ञवल्क्यौ वा ऋषी। मनो देवता। त्रिष्टुप्।
धैवतः ॥ शिवसंकल्पसूक्तम् । शिवसंकल्पोपनिषत् ।

भा०—(यत्) जो (मनः) मन, संकल्प विकल्प करने वाला भीतरी अन्तःकरण (जाग्रतः) जागते हुए पुरुष का (दूरम् उद् आ एति) दूर २ के पदार्थों तक संकल्प द्वारा ही सर्वत्र जाया करता है । और (सुप्तस्य) वह ही सोते हुए पुरुष का (तथा एव) उसी प्रकार (एति) उसके भीतर आ जाता है । (तत्) वह (उ) निश्चय से (ज्योतिषां) ज्योति-वाले, प्रकाश करने वाले ग्रह नक्षत्रादि के बीच सूर्य के समान, नाना विषयों को प्रकाशित करने वाले इन्द्रिय गण के बीच में (दूरंगमम्) दूर तक पहुंचने वाला (ज्योतिः) प्रकाशक साधन है । वह ही (देवम्) देव अर्थात् विषयों में रमण करने वाले आत्मा का (एकम्) एकमात्र भीतरी साधन है । (तत्) वह मेरा (मनः) मन, अर्थात् ज्ञान का साधन, इन्द्रिय सदा (शिवसंकल्पम्) शुभ, कल्याणमय संकल्प करने वाला (अस्तु) हो ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

भा०—(येन) जिस मन से (अपसः) कर्म करने हारे, कर्मण्य पुरुष और (मनीषिणः) मनस्वी, दृढ़ निश्चयी, ज्ञानवान् पुरुष और (धीराः) ध्याननिष्ठ योगी जन, (विदथेषु) यज्ञों, ज्ञानयुक्त व्यवहारों,

सभास्थानों और युद्धादि के अवसरों में और (यज्ञे) यज्ञ या परम उपासनीय पूज्य परमेश्वर के निमित्त (कर्माणि) नाना उत्तम कर्मों का (कुर्वन्ति) आचरण करते हैं और (यत्) जो (प्रजानाम् अन्तः) समस्त प्रजाओं के भीतर (अपूर्वम्) अपूर्व, अद्भुत, सबसे उत्तम भीतरी इन्द्रिय (यक्षम्) सब अन्य इन्द्रियों को सुसंगति, सुव्यवस्था करने वाला है (तत्) वह (मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु) मेरा मन शुभ संकल्प वाला, धार्मिक, कल्याण ज्ञान वाला हो ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥३॥

भा०—(यत्) जो मन (प्रज्ञानम्) सबसे उत्तम ज्ञान का साधन है जो (चेतः) यथार्थ ज्ञान कराने वाला और स्मरण करने का भी साधन है । और जो (धृतिः च) भीतर धारण अर्थात् चिरकाल तक स्मरण रखने का भी साधन है । और (यत्) जो (प्रजासु) प्रजाओं, प्राणियों के भीतर (अमृतम्) कभी नष्ट न होने वाला (अन्तरम्) भीतर ही विद्यमान, (ज्योतिः) सब पदार्थों का प्रकाशक गृह में दीपक के समान शरीर को 'चेतन' रखने वाला साधन भी है । (यस्मात् ऋते) जिसके बिना (किञ्चन कर्म) कुछ भी कर्म (न क्रियते) नहीं किया जाता (तत् मे मनः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पम्) शिव, शान्त, शुभ परमेश्वर के संकल्प या इच्छा वाला और उत्तम विचारवान् (अस्तु) हो ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४॥

भा०—(येन) जिस मन के द्वारा (इदम्) यह (भूतम्) अतीत, भूतकाल के, (भुवनम्) वर्त्तमान काल के और (भविष्यत्) भविष्यत् काल के (सर्वम्) समस्त पदार्थ (अमृतेन) अमृत, नित्य आत्मा के साथ मिलकर (परिगृहीतम्) ग्रहण किये जाते हैं, जाने जाते हैं और

जैसे ब्रह्मा द्वारा, या यजुर्वेद द्वारा (सप्तहोता) सात होता, आदि ऋत्विजों से होने वाला यज्ञ किया जाता है उसी प्रकार (येन) जिस अन्तःकरण द्वारा सात शिर में स्थित विषयों के ग्रहण करने वाले चक्षु आदि इन्द्रियों से युक्त अथवा सात शरीर को धारण और जीवन देने वाले सात धातुओं से युक्त (यज्ञः) आत्मा या देहरूप यज्ञ (तायते) सम्पादन किया जाता है (तत्) वह (मे मनः) मेरा मन (शिवसंकल्पम्) शुभ संकल्प वाला और मोक्षपथगामी (अस्तु) हो ।

यस्मिन्नृचः साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिँश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥५॥

भा०—(रथनाभौ अराः इव) रथ के चक्र की नाभि में जिस प्रकार अरे लगे होते हैं उसी प्रकार (यस्मिन्) जिस मनमें (ऋचः) ऋग्वेद के मन्त्र, (साम) सामवेद और (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र गण (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं अर्थात् वेद आदि नाना विज्ञान पढ़ लेने पर स्मृति रूप से जिसमें सब स्थित रहते हैं । और (यस्मिन्) जिसमें (प्रजानाम्) प्रजाओं, प्राणियों के (सर्वम् चित्तम्) समस्त चित्त, समस्त पदार्थों का ज्ञान भी (ओतम्) सूत्र में मणियों के समान और पट में सूत्रों के समान ओत प्रोत अर्थात् पिरोये जाते हैं (तत्) वह मेरा (मनः) मननशील अन्तःकरण और उससे युक्त आत्मा भी (शिवसंकल्पम् अस्तु) शुभ वेद तथा परमेश्वर आदि के ज्ञान, पठन, मनन आदि उत्तम विचार परम्परा से युक्त हो ।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

भा०—(सुषारथिः = सु-सारथिः) उत्तम सारथि, कोचवान् (अभीशुभिः) वागों से (वाजिनः) वेगवान् (अश्वान् इव) अश्वों को जिस प्रकार (नेनीयते) नाना मार्गों पर ले जाता है उसी प्रकार (यत्) जो मन, (अभाशुभिः) सर्वत्र अपनी शीघ्र गतियों और शीघ्र क्रिया करने

वाली प्रेरक वृत्तियों से (वाजिनः) ज्ञान और वल से युक्त (मनुष्यान्) मननशील प्राणियों को भी (नेनीयते) अपने वश करके ले जाता है और (यत्) जो (हृत्-प्रतिष्ठम्) हृदय स्थान में स्थित और (अजिरम्) जरा आदि दशाओं से रहित, सदा वलवान् अथवा (अजिरम्) विषयों के प्रति इन्द्रियों को लेजाने में और स्वयं संकल्प द्वारा जाने में समर्थ है और जो (जविष्ठम्) सवसे अधिक वेगवान् है (तत् मे मनः) वह मेरा मननशील चित्त सदा (शिवसंकल्पम् अस्तु) शुभ संकल्पवाला हो ।

पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम् ।
यस्यौजसा त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत् ॥ ७ ॥

ऋ० १ । १८७ । १ ॥

अगस्त्य ऋषिः । पितुर्देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥ अन्नस्तुतिः ॥

भा०—मैं उस (महः) महान् (धर्माणम्) शरीरों और राष्ट्रों के धारण करने वाले (तविषीम्) वलवान् (पितुम्) सवके पालक, अन्न के समान सवके जीवनों के आधार आत्मा और राजा के (स्तोषम्) गुणों का वर्णन करता हूं । (यस्य ओजसा) अन्न के वल पर जिस प्रकार पुरुष (वृत्रं विपर्वम् वि अर्दयत्) विघ्नकारी कालरूप मृत्यु को भी खण्ड २ कर नाना प्रकार से पीड़ित करता है अर्थात् काल पर वश पा लेता है उसी प्रकार (यस्य ओजसा) जिसके पराक्रम से (त्रितः) तीनों कालों में व्याप्त एवं उत्तम, मध्यम, अधम तीनों में प्रतिष्ठित, अथवा शत्रु, मित्र और उदासीन तीनों पर विजयशील होकर अथवा विस्तृत राष्ट्र वल वाला होकर (वृत्रं) राष्ट्र को घेरने वाले शत्रु को, जल सहित मेघ को सूर्य के समान (विपर्वम्) उसके पर्व २, ग्रन्थि २, खण्ड २ काट कर (वि अर्दयत्) विविध उपायों से पीड़ित या दण्डित करता है ।

त्रितः—त्रिस्थान इति म० । त्रिषु कालेषु इति द० । विस्तीर्णतम इति सा० ।

अन्विदनुमते त्वं मन्यासै शञ्चं नस्कृधि ।
क्रत्वे दक्षाय नो हिनु प्र ण आयूंषि तारिषः ॥ ८ ॥
अथर्व० ७ । २० । २ ॥

[८०९] ब्रह्मा ऋषिः । अनुमतिर्देवता । अनुष्टुप् गान्धारः ॥

भा०—हे (अनुमते) अनुकूल मति से युक्त, सब कार्यों की अनुमति, अर्थात् स्वीकृति देने वाले सभापते ! अथवा राजसभे ! तू (नः) हमें (अनु मन्यासै) अनुमति, स्वीकृति दिया कर । तू (शं च कृधि) सुख कल्याणकारी कार्यों को ही किया कर । (क्रत्वे) उत्तम मति, या बुद्धि और (दक्षाय) बल, चतुरता सम्पादन करने के लिये ही (नः हिनु) हमें आगे बढ़ा, प्रेरित कर । (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषः) खूब बढ़ा ।

अनु नोऽद्यानुमतिर्यज्ञन्देवेषु मन्यताम् ।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतं दाशुषे मयः ॥ ९ ॥
अथर्वा ऋषिः । अनुमति देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(अद्य) आज (अनुमतिः) स्वीकृति देने वाला सभापति, (नः) हमारे (यज्ञम्) परस्पर सुसंगत राज्य कार्य को (देवेषु) विद्वान् पुरुषों में (अनुमन्यताम्) स्वीकार करे अर्थात् राष्ट्र कार्य को विद्वानों के आधार पर चलावे और (हव्यवाहनः) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को प्राप्त कराने वाला (अग्निः) अग्रणी नायक, एवं तेजस्वी राजा और सभापति दोनों (दाशुषे) दानशील, करप्रदा प्रजा के लिये (मयः भवतम्) सुखकारी हों ।

८—त्वं मंससे इति अथर्व० । (तृ० च०) 'जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देविरस्य नः' इति अथर्व० ।

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥ १० ॥

ऋ० २ । ३२ । ६ ॥ अथर्व० ७ । ४६ । १ ॥

गृत्समद ऋषिः । सिनीवाली देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—हे (सिनीवालि) समस्त प्रजाओं को अपने पालन और रक्षण, भरण और पोषण के सामर्थ्य से बांधने वाली, प्रतिपत् चन्द्रकला और अमावास्या के समान नव राजचन्द्र से विराजने वाली राजसभे । हे (पृथुष्टुके) बड़े भारी संघशक्ति से युक्त तू (या) जो (देवानां) देवों, विद्वानों, एवं विजयेच्छु और व्यवहार कुशल, ज्ञानद्रष्टा, तत्वदर्शी पुरुषों को (स्वसा) उत्तम रीति से अपने भीतर बैठाने वाली, विद्वान् सभासदों से बनी (असि) है । तू (आहुतम्) प्रदान किये या समस्त राष्ट्र से ग्रहण किये गये (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य कर और सञ्चित बल को (जुषस्व) स्वीकार कर । और हे (देवि) दिव्य गुणों से युक्त राजसभे ! तू (नः प्रजां दिदिड्ढि) हमारी प्रजा को उत्तम मार्ग दर्शा । उत्तम सुख प्रदान कर।

स्त्री के पक्ष में—हे (सिनीवालि) हृदय में प्रेम से बंधने वाली और गृह का पालन करनेवाली ! अथवा, प्रेम बन्धन में स्वयं बँधने और भरण पोषण करने योग्य ! हे (पृथुष्टुके) विशालबन्धन ! विशाल कामना युक्त, विशाल केशपाश से युक्त ! बड़ी स्तुति योग्य, यशस्विनि ! हे (देवि) कामना युक्त प्रियतमे ! (या) जो तू (देवानाम्) विद्वानों या कामना करने वाले अभिलाषी वरों के बीच में (स्वसा) सुभूषित, सुन्दर रूपवती होकर (असि) विराजती है तू मेरे (आहुतम्) दिये हुए (हव्यम्) स्वीकार करने योग्य अन्न वस्त्रालंकारादि पदार्थ को (जुषस्व) प्रेम से स्वीकार कर । और (नः) हमें (प्रजां) उत्तम सन्तान (दिदिड्ढि) प्रदान कर । उत्पन्न कर और उसको उत्तम शिक्षा दे ।

'सिनीवाली'—दृष्टचन्द्राऽमावास्या सिनीवालीति सायणः । सिन-

मिति अन्ननामसु व्याख्यातम् । वालं पर्व इति देवराजः ।। सिनी प्रेमवद्धा चासौ वलकारिणी चेति दया० । सिनमन्नं भवति । सिनाति भूतानि । वालं पर्व । पर्व वृणोतेः । तस्मिन्नवर्तीति वा । वालिनीवा, वालेनैवास्यामणुत्वत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवति इति वा । निरु० १ । १ । २ । १० ॥

'स्वसा'—सुअसा भवति । स्वेपु सीदति वा । निरु० ११ । ३ । ११॥

पञ्च॑ न॒द्यः सर॑स्वतीमपि॑ यन्ति सस्रो॑तसः ।
सर॑स्वती तु प॑ञ्च॒धा सो दे॒शेऽभ॑वत्स॒रित् ॥ ११ ॥

गृत्समद ऋषिः । सरस्वती देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(सस्रोतसः) समान रूप से स्रोत अर्थात् प्रवाह वाली नदियें जिस प्रकार अधिक जलवाली, बड़ी नदी में मिलकर उसी में लीन हो जाती हैं उसी प्रकार (पञ्च) पांचों (नद्यः) समृद्ध प्रजाएं (सरस्वतीम्) प्रशस्त वेद ज्ञानवाली विद्वत्सभा या विद्वान् को (सस्रोतसः) समान ज्ञानप्रवाह वाली होकर (अपियन्ति) आ मिलती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं । वह (सरस्वती) सरस्वती उत्तम वेद ज्ञान को धारण करने वाली विद्वत्सभा और विद्वान् जन (पञ्चधा) पांचों प्रकार के जनों को धारण करने वाला होकर (देशे) देश, राष्ट्र में (सरित्) नदी के समान सबके जीवनाधार ज्ञान रूप जल को फैलाने वाला और नदी के समान ज्ञान के अक्षय प्रवाह और निष्पक्षपात रूप से सबके मलों का शोधक (अभवत्) हो जाता है ।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद पांचों समृद्ध प्रजाएं विद्वानों के वेदमय ज्ञान-वाणी में मिलकर और उसको प्रमुख बनाकर एकाकार ज्ञानवती हो जाती हैं । वह वेदमयी वाणी पांचों को पालती पोषती है । वह नदी के समान सब के लिये समान रूप से उपयोगी, सुखजनक और पाप मलादि धोने वाली हो ।

वाणी के पक्ष में—(पञ्चनद्यः) नदियों के समान प्रवाहरूप से इन्द्रिय नालिकाओं से बहने वाली पांच प्रकार की वृत्तियां (सस्रोतसः)

राजन् ! (चिकित्वान्) ज्ञानवान् होकर (अव भर) अपने अधीन प्रजा का भरण पोषण कर। इससे (प्रवीता) अच्छी प्रकार कामना युक्त स्त्री के समान प्रेम से बंधकर प्रजा भी (सद्यः) शीघ्र ही (वृषणं) सब सुखों के वर्षक, वीर्यवान् राजा को (जजान) उत्पन्न करती है। वह (अरुषस्तूपः) हिंसा रहित ज्वालामय अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। (अस्य) उसका (पाजः) पालन सामर्थ्य (रुशत्) शत्रुओं का नाशक होता है। और वह (इडायाः पुत्रः) पृथ्वी का पुत्र, पृथ्वीनिवासी पुरुषों को दुःखों से त्राण करने में समर्थ होकर (वयुने) उत्तम ज्ञान, कर्त्तव्य कर्म में भी (अजनिष्ट) सामर्थ्यवान् हो जाता है।

स्त्री पुरुष पक्ष में—(अरुषस्तूपः) अपने तेज या वीर्य से स्त्री को कष्टदायी न होकर पति (अस्य रुशत् पाजः) अपने तेजोमय वीर्य को (चिकित्वान् उत्तानायाम् अव भर) रोग रहित, गृहस्थ होकर उत्तान सोई पत्नी में धारण करावे। वह (प्रवीता सद्यः वृषणं जजान) प्रेम से बद्ध होकर शीघ्र ही अग्नि को अरणि के समान वीर्यवान् पुत्र को उत्पन्न करे। अथवा वह कामना युक्त होकर (वृषणं) वीर्य सेचन में समर्थ पुरुष को (जजान) उससे संग लाभ करके पुत्र रूप से उत्पन्न करे। (इडायाः) उत्तम स्त्री, या बीजारोपण की भूमि के (वयुने पुत्रः अजनिष्ट) उचित गर्भाशय में वह तेजो रूप वीर्य ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है।

इडायास्त्वा पदे वयं नाभा पृथिव्या अधि।
जातवेदो निधीमह्यग्ने हव्याय वोढवे ॥ १५ ॥

ऋ० ३ । २९ । ४ ॥

देवश्रवादेववातो भारतावर्षा। अग्निर्देवता। विराड् अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवन् ! हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्, अग्रणी सेनानायक, (त्वा) तुझको (वयम्) हम (पृथिव्याः

१५—इळा पा०,० वोळ्हवे इति काण्व०।

लाभा अधि) पृथिवी के केन्द्र में और (इडायाः पदे अधि) स्तुति योग्य प्रजा के प्रतिष्ठित पद पर अथवा वाणी या आज्ञा प्रदान करने के आज्ञापक पद पर (हव्याय) स्तुति योग्य राजपद के (वोढ़वे) धारण करने के लिये (निधीमहि) स्थापित करते हैं ।

आचार्य पक्ष में · हे विद्वन् ! तुझको हम पृथिवी के बीच, उत्तम वाणी के प्रतिष्ठित आचार्य पद पर, प्रदान करने योग्य ज्ञान के प्रदान करने के लिये स्थापित करें ।

प्र मन्महे शवसानाय शूषमाङ्गूषं गिर्वणसे ऽअङ्गिरस्वत् ।
सुवृक्तिभिः स्तुवत ऋग्मियायार्चामार्कं नरे विश्रुताय ॥ १६ ॥

ऋ० १ । ६२ । १ ॥

[१६-१७] नोधा ऋषिः । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हम लोग (शवसानाय) बल के समान दुष्टों का नाश करने वाले अथवा दुष्टों के नाश के लिये बल वृद्धि चाहने वाले (गिर्वणसे) समस्त स्तुतियों के प्राप्त (अंगिरस्वत्) वायु, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, बलवान् (सुवृक्तिभिः) उत्तम शत्रुओं का वर्जन करनेवाली शक्तियों से (स्तुवते) स्तुतियोग्य (ऋग्मियाग) विद्वान्, (विश्रुताय) विविध शौर्य आदि गुणों द्वारा प्रख्यात, (नरे) नायक के (शूषम्) बल और (आङ्गूषम्) घोषणा करने का अधिकार या यशोवृद्धि को (प्रमन्महे) अच्छी प्रकार चाहें और (सुवृक्तिभिः) उत्तम रीति से हृदय को खींचने वाली और पापनाशक ज्ञान वाणियों से (स्तुवते) शास्त्र के सिद्धान्तों का प्रवचन करनेवाले (ऋग्मियाय) स्तुतियोग्य एवं वेदमन्त्रों के ज्ञाता (विश्रुताय) विविध विद्याओं में प्रसिद्ध विद्वान् के (अर्चम्) स्तुति योग्य ज्ञान का (अर्चाम) आदर करें, उसे प्राप्त करें ।

परमेश्वर के पक्ष में—विज्ञान के प्राप्त करने के लिये सर्व स्तुति योग्य

एक समान मनरूप स्रोत से ही बहती हैं। वे पांचों (सरस्वतीम् अपियन्ति) उत्तम ज्ञानमयी वाणी के रूप में लीन हो जाती हैं। अर्थात् पांचों ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है। (सा उ) वह वाणी भी (देशे) स्व-स्थान मुख में, (सरित्) निरन्तर बहनेवाली नदी के समान ही धारा प्रवाहरूप से निकलती (अभवत्) है।

दृषद्वती, शतद्रु, चन्द्रभागा, विपाशा, इरावती ये पांच नदियों का सरस्वती में मिलने परक अर्थ उवट ने किया है। पांच नदियें सरस्वती में मिल जाती हैं वह सरस्वती ही पञ्च प्रकार की या पांचगुनी होकर देश में नदी हो जाती है। 'दृषद्वती' आदि नामों का यहां उल्लेख न होने से ऐसा अर्थ करना असंगत है।

त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।
तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥१२॥

ऋ० १ । ३१ । १ ॥

हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषिः । अग्निर्देवता । जगती । निषादः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्रणी, अग्नि और सूर्य के समान तेजस्विन्! राजन्! तू (अङ्गिराः) शरीर में रस के समान, अथवा अग्नि के समान तेजस्वी (ऋषिः) मन्त्रार्थद्रष्टा, (देवानाम्) विद्वानों और तेजस्वी पुरुषों के बीच में (देवः) सबसे अधिक विद्वान्, तेजस्वी, विजयी और (प्रथमः) सबसे प्रथम, मुख्य, सबका (शिवः सखा) कल्याणकारी मित्र (अभवः) हो। (तव) तेरे (व्रते) बनाये नियम व्यवस्था में रह कर (कवयः) विद्वान्, क्रान्तदर्शी पुरुष (विद्मनापसः) समस्त कर्त्तव्य कर्मों को जानने वाले हों और (मरुतः) शत्रुओं को मारने वाले वीर पुरुष (भ्राजद्-ऋष्टयः) प्रखर, तेजस्वी, चमचमाते हुए शस्त्रों वाले (अजायन्त) हों।

परमेश्वर के पक्ष में—हे अग्ने! परमेश्वर! तू ही सबसे प्रथम ज्ञानवान्

सबका द्रष्टा, सब देवों का देव, सबका कल्याणकारी, सबका मित्र है। तेरे व्रत में दीक्षित होकर विद्वान् पुरुष (विश्वानापसः) सब सत्कर्मों के ज्ञाता और सब ज्ञानों के द्रष्टा हो जाते हैं।

त्वन्नो ऽअग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य।
त्राता तोकस्य तनये गवामस्यनिमेषꣳ रक्षमाणस्तव व्रते ॥१३॥

ऋ० १ । ३१ । १२ ॥

हिरण्यस्तूप आंगिरस ऋषिः। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (अग्ने) तेजस्विन्! राजन्! (तव व्रते) तेरे नियम व्रत में रहने वाले (नः) हमें (त्वम्) तू हे (देव) दानशील, सर्वद्रष्टः! हे विजिगीषो! (तव पायुभिः) अपने पालनकारी सामर्थ्यों से (नः मघोनः) हमारे धन सम्पन्न पुरुषों और (तन्वः च) हमारे शरीरों को भी (रक्ष) पालन कर। हे (वन्द्य) वन्दनीय! हे स्तुति करने योग्य! तू हमारे (तोकस्य) पुत्र का और (तनये) पुत्र के पुत्र, पौत्रादि सन्तति और (गवाम्) गौ आदि पशुओं का भी (अनिमेषम्) निरन्तर (रक्षमाणः) रखवाला (असि) हो।

परमेश्वर पक्ष में—हे अग्ने! परमेश्वर! तू अपने रक्षा सामर्थ्यों से ऐश्वर्यवानों की और हमारे शरीरों की रक्षा कर। हे स्तुति योग्य! तू हमारे पुत्र, पौत्र और गौओं की निरन्तर रक्षा कर। हम तेरे बनाये नियमों में रहें।

उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्यः प्रवीता वृषणं जजान।
अरुषस्तूपो रुशदस्य पाज ऽइळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट ॥ १४ ॥

ऋ० ३ । २९ । ३ ॥

देवश्रवोदेववातौ भारतावृषी। अग्निर्देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(उत्-तानायाम्) उत्तम रूप से विस्तृत पृथिवी में तू हे

१०—'इळायास्पु०' इति काण्व०।

आप के समान सर्व जीवनाधार, ज्ञानी, स्तुति योग्य, प्रसिद्ध परमेश्वर के बलकारी वेदमय आधोष रूप मन्त्रों या स्तुति योग्य स्वरूप की स्तुति करें और विचार और चिन्तन करें।

प्र वो महे महि नमो भरध्वमाङ्गूष्यꣳ शवसानाय साम। येना नः पूर्वे पितरः पदज्ञा अर्चन्तो अङ्गिरसो गा अविन्दन्॥ १७॥

ऋ० १। ६२। २॥

भा०—हे विद्वान् पुरुषो! (वः) आप लोग (शवसानाय) बल वृद्धि के इच्छुक (महे) महान् राजा के लिये (आङ्गूष्यम्) घोषणा करने योग्य, कीर्त्तिजनक, (महि नमः) बड़ा भारी आदर सत्कार एवं शत्रु दमाने में समर्थ बल और अन्नादि ऐश्वर्य और ऐसे (साम) साम, स्तुति वचन, (प्र भरध्वम्) अच्छी प्रकार प्रदान करो, (येन) जिससे (नः) हमारे (पूर्वे पितरः) श्रेष्ठ पालक जन (पदज्ञाः) पद अर्थात् ज्ञान योग्य तत्वों के जाननेवाले (अंगिरसः) ज्ञानी और तेजस्वी पुरुष (अर्चन्तः) योग्य रूप से वर्त्तते हुए (गाः) नाना भूमियों, ज्ञान-वाणियों, और गौ आदि समृद्धियों को (अविन्दन्) प्राप्त करते हैं।

परमेश्वर और आचार्य के पक्ष में—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के लिये (आङ्गूष्यं साम महि नमः प्र भरध्वम्) आंगूष्य साम अर्थात् स्तुति योग्य सामगान और बड़ा भारी विनय प्रकट करो। (येन) जिसके बल से (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व के पालक गुरुजन और (अंगिरसः) ज्ञानवान् पुरुष (पदज्ञाः) आत्मस्वरूप को जानने हारे होकर (अर्चन्तः) स्तुति करते हुए (गाः) वेदवाणियों को ज्ञानरश्मियों के समान स्वयं प्राप्त करते और औरों को प्रदान करते हैं।

इच्छन्ति त्वा सोम्यासः सखायः सुन्वन्ति सोमं दधति प्रयाꣳसि।
तितिक्षन्ते ऽअभिशस्तिं जनानामिन्द्र त्वदा कश्चन हि प्रकेतः॥ १८॥

ऋ० ६। ३०। १॥

देवश्ववोदेववातौ ऋषी । इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे इन्द्र ! राजन् ! आचार्य ! (त्वा) तुझको (सोम्यासः) राष्ट्र-ऐश्वर्य प्राप्त करनेहारे उसके योग्य (सखायः) मित्रगण (त्वा) तुझे (इच्छन्ति) चाहते हैं । (सोमं सुन्वन्ति) सोम, ऐश्वर्य को उत्पन्न करते हैं । अथवा ऐश्वर्यवान् सबके आज्ञापक तेरा (सुन्वन्ति) अभिषेक करते हैं । और (प्रयांसि दधति) मनोहर अन्नादि उत्तम पदार्थों को धारण करते और प्रदान करते हैं । और (अभिशस्तिं) शत्रुओं के द्वारा किये जानेवाले घोर शस्त्राघातों और निन्दाप्रवादों को भी (तितिक्षन्ते) सहते हैं । हे (इन्द्र) राजन् ! ऐश्वर्यवन् ! (जनानाम्) प्रजाजनों के बीच में (प्रकेताः) उत्कृष्ट ज्ञानवान्, सबसे अधिक बुद्धिमान् और कीर्तिमान् (त्वत्) तुझ से (कः चन) दूसरा कौन है ? कोई भी नहीं ।

परमेश्वर के पक्ष में—सोम रस के इच्छुक यज्ञकर्त्ता और ब्रह्मानन्द रस के इच्छुक जन तुझे चाहते हैं। सोम अर्थात् परमेश्वर की स्तुति करते हैं उत्तम ज्ञानों का मनन करते हैं । निन्दा वचनों को सहते हैं और तितिक्षा का अभ्यास करते हैं । हे परमेश्वर ! तुझ से बड़ा ज्ञानी दूसरा कौन है?

न ते दूरे परमा चिद्रजाँस्या तु प्र याहि हरिवो हरिभ्याम् ।
स्थिराय वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः सविधाने ऽअह्नाम् ॥१६॥

ऋ० ३ । ३० । २ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ॥

भा०—हे (हरिवः) अश्वों के स्वामिन् ! (परमा चित् रजांसि) दूर से दूर के लोक, प्रजाजनों के निवासस्थान और शत्रुओं के देश भी (ते) तेरे लिये (दूरे न) दूर नहीं है । तू (हरिभ्याम्) अश्वों से ही(आ प्र याहि) सब देशों में प्रयाण कर, आया जाया कर । (स्थिराय) स्थिर (वृष्णे) सुखों के वर्षक एवं बलवान् तेरे लिये ही (इमा) ये सब (सवना) ऐश्वर्य उत्पादक कार्य (कृता) किये जाते हैं । और (सविधाने अह्नौ)

अति प्रदीप्त अग्नि में जिस प्रकार (सवाना कृता) यज्ञ कर्म करने पर (प्रावाणः) मेघ उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार (समधाने अग्नौ) तुझ नायक, अग्रणी पुरुष के प्रचण्ड और अग्नि के समान युद्ध में प्रज्वलित हो जाने पर (प्रावाणः) ज्ञानों का उपदेश करने वाले विद्वान् एवं पाषाणों के समान दुष्टों के दलन करने वाले शस्त्रधर बलवान् पुरुष भी (युक्ताः) योग्य स्थानों पर नियुक्त होते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—हे ईश्वर ! दूर से दूर के स्थान भी तेरे लिये दूर नहीं। तू अपने धारण और आकर्षण सामर्थ्य से सब में व्याप्त है। तेरे ही किये हुए ये सब कार्य हैं। हृदय में तेरे प्रदीप्त हो जाने पर ही ये सब (प्रावाणः) समस्त स्तुतिकर्त्ता विद्वान् भी योग द्वारा तेरा साक्षात् करते हैं, वे समाहित होते हैं।

अषाढं युत्सु पृतनासु पप्रिꣳ स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्।
भरेषुजाꣳ सुक्षितिꣳ सुश्रवसं जयन्तं त्वामनु मदेम सोम ॥२०॥

ऋ० १ । ९१ । २१ ॥

२०—२३ गोतम ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (सोम) राजन् ! सेनापते ! (युत्सु) युद्धों में (अषाढम्) शत्रुओं से जिसको पराजित न होने वाले और (पृतनासु) सेनाओं में (पप्रिम्) पूर्ण बलवान् एवं सबके रक्षा करने वाले, (स्वर्षाम्) सबको सुख और ऐश्वर्य के देने और बांटने वाले (अप्साम्) मेघ जिस प्रकार जल सबको प्रदान करता है उसी प्रकार सबको प्राण अन्न देने वाले, अथवा (अ-प्साम्) प्रजाओं के धन को स्वयं न खा जाने वाले, (वृजनस्य) शत्रुओं के वारण करने वाले सैन्य बल के (गोपाम्) रक्षक, (भरेषुजां) संग्रामों और यज्ञों एवं प्रजा के भरण पोषण के कार्यों में प्रसिद्ध एवं विजयी (सुक्षितिम्) उत्तम निवासस्थान से युक्त, उत्तम

२०—अषाळ्हं० इति काण्व०।

भूमि के स्वामी, दृढ़ दुर्गवान्, (सुश्रवसम्) उत्तम यश ऐश्वर्य और अन्नादि से समृद्ध (जयन्तम्) विजय करने हारे (त्वाम् अनु) तेरे ही हर्ष के साथ हम प्रजाजन भी (मदेम) प्रसन्न एवं तृप्त, सुखी होकर रहें ।

सोमो धेनुꣳ सोमो अर्वन्तमाशुꣳ सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति ।
सादन्यं विदथ्यꣳ सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै ॥ २१ ॥

भा०—(सोमः) सबका प्रेरक, अभिषिक्त हुआ राजा (धेनुं ददाति) दुधार गौओं को देता है । (सोमः) वह अभिषेक योग्य आज्ञापक राजा ही (आशुम् अर्वन्तम् ददाति) वेगवान् अश्वसैन्य और कर्म कुशल वीर पुरुष प्रदान करता है । (यः) जो प्रजाजन अपने आपको और अपने राज्य को (अस्मै) इस राजा के अधीन (ददाशत्) दे देता है उस प्रजा को वह (सादन्यम्) उत्तम गृहों और राजसभाओं उत्तम पदों पर विराजने योग्य, (विदथ्यम्) ज्ञान सत्संग, यज्ञ आदि के योग्य ज्ञानवान् (सभेयम्) सभा में कुशल, (पितृश्रवणम्) पिता, पालक गुरु जनों के उपदेश और आज्ञाओं के श्रवण करने वाले अथवा पिताओं के यश कीर्ति फैलाने वाले पुरुषों को भी (ददाति) प्रदान करता है ।

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ २२ ॥

भा०—हे (सोम) अभिषिक्त राजन् ! ऐश्वर्यवन् ! (इमा ओषधीः) मेघ जिस प्रकार जल वर्षा कर इन नाना ओषधियों को पैदा करता है उसी प्रकार (त्वम्) तू ऐश्वर्य प्रदान करके (इमाः) इन नाना (ओषधीः) शत्रु संतापक बल और तेज को धारण करने वाली वीर सेनाओं और वीर पुरुषों को (अजनयः) उत्पन्न करता प्रकट करता है । (त्वम्) तू मेघ जिस प्रकार जलों की वर्षा करता है उसी प्रकार (अपः अजनयः) जलों के समान शान्तिदायक आप्त पुरुषों, उत्तम बुद्धियों और कर्म व्यवस्था को (अजनयः) प्रकट करता है । (त्वं गाः) तूही गौ

आदि पशुओं और राजाज्ञा रूप वाणियों को प्रकट करता है। (त्वम्)तू (अन्तरिक्षम्) वायु के समान विशाल अन्तरिक्ष और सबको आवरण और रक्षा करने वाले रक्षक, शासक विभाग को (आततन्थ) विस्तृत कर । और (त्वं) तू ही (ज्योतिषा) सूर्य के समान प्रकाश से (तमः) अन्धकार के समान प्रजा के कष्टदायी और शोक के हेतु दुःखों को (ववर्थ) निवारण कर ।

अथवा—वह राजा ही सोम आदि ओषधियों को, वही जलों की लहरों को, गौ आदि पशुओं को उत्तम बनावे। वही विशाल आकाश को वश कर ज्ञानज्योति से अविद्या, अन्यायादि को दूर करे ।

परमात्मा के पक्ष में—वह समस्त अन्न आदि ओषधि, जल, पशु प्रदान करता, आकाश को बनाता और सूर्य से अन्धकार और ज्ञान से मोह को दूर करता है ।

देवेन नो मनसा देव सोम रायो भागꣳ सहसावन्नभि युध्य ।
मा त्वा तनदीशिषे वीर्यस्योभयेभ्यः प्र चिकित्सा गविष्टौ ॥२३॥

ऋ० १ । ९१ । २३ ॥

भा०—हे (सहसावन्) बलपूर्वक शत्रु को पराजय करके विजय लाभ करने हारे ! हे (देव) राजन् ! प्रजाओं के सुखदाता एवं शत्रु पर विजय करने के इच्छुक ! तू (देवेन मनसा) विजय की कामना वाले मन से (नः) हमारे (रायः भागम्) ऐश्वर्य को ले लेने वाले शत्रु को (अभि-युद्धय) युद्ध में परास्त कर । तू (उभयेभ्यः) शत्रु और मित्र दोनों पक्षों के लोगों के (वीर्यस्य) बलों पर (ईशिषे) अपना स्वामित्व करने में समर्थ है । शत्रु (त्वा मा तनत्) तुझे न व्याप ले, तुझे न दबाले ! तू (गविष्टौ) वाणों के निरन्तर प्रहारों के स्थान संग्राम में (प्र चिकित्स)

२३—ग इष्टौ इति काण्व० ।

शत्रुओं को रोगों के समान दूर करने का यत्न कर, अथया (प्र चिकित्स) युद्ध से प्राप्त क्षत आदि की उत्तम चिकित्सा का प्रबन्ध कर ।

अथवा—(रायः भागं नः अभियुद्धय) ऐश्वर्य का भाग हमें प्राप्त करा । (गविष्टौ उभयेभ्यः प्र चिकित्स) स्वर्ग, सुख के निमित्त, हमारे ऐहिक पारमार्थिक सुखों के बीच में आये विघ्न निवारण कर। (मही०, दया०, उवट)

अष्टौ व्यख्यत्ककुभः पृथिव्यास्त्री धन्व योजना सप्त सिन्धून् ।
हिरण्याक्षः सविता देव आगाद्दधद्रत्ना दाशुषे वार्याणि ॥२४॥
ऋ० १ । ३५ । ८ ॥

हिरण्यस्तूप आङ्गिरस ऋषिः । सविता देवता । भुरिक् पंक्तिः । पंचमः

भा०—राजा के पक्ष में—(सविता) सबका प्रेरक, सञ्चालक, ऐश्वर्य का उत्पादक सूर्य के समान प्रखर तेजस्वी, (देवः) विजिगीषु राजा (हिरण्याक्षः) प्रजा के प्रति हित और रमणीय चक्षु वाला, सौम्य दृष्टि होकर (दाशुषे) भेंट और कर प्रदान करने वाले प्रजाजन को (वार्याणि) वरण करने योग्य, उत्तम २ (रत्नानि) रत्न रमणयोग्य पदार्थों को (दधत्) स्वयं धारण करता और प्रदान करता हुआ (आगात्) आवे, प्राप्त हो । और सूर्य जिस प्रकार (अष्टौ ककुभः) ४ दिशा, ४ उपदिशा मिलाकर आठों दिशाओं को, (पृथिव्याः योजना) पृथिवी पर के समस्त प्राणियों और (त्री धन्व) तीनों लोकों और (सप्त सिन्धून्) प्रवाहित होने वाले स्थूल सूक्ष्म जलों को भी (वि अख्यत्) विशेष रूप से प्रकाशित करता है, उसी प्रकार राजा भी (अष्टौ ककुभः) आठों दिशाओं, (पृथिव्याः योजना) पृथिवी के साथ योग रखने वाले या कोश, योजनादि भागों या पृथ्वी से युक्त प्राणियों, या (त्री धन्व) तीनों अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश और गतिशील नद नालों, या सातों समुद्रों को (वि अख्यत्) विशेष रूप से देखे । सब पर अपनी चक्षु रक्खे ।

महर्षिदयानन्दः—ऋग्वेदे—'पृथिव्यामध्ये स्थितानामेकोनपञ्चाशत् कोशपर्यन्तेऽन्तरिक्षे स्थूलसूक्ष्मलघुगुरुत्वरूपेण स्थितानामपां सप्तसिंध्विति संज्ञा'। यजुर्वेदभाष्ये—'पृथिवीमारभ्य द्वादशकोशपर्यन्तं गुरुत्वलघुत्वभूतानां सप्तविधानामपामवयवाः' इत्यादि उभयविधलेखनं सुविचार्यम् ॥

हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी ऽअन्तरीयते
अपामीवां बाधते वेति सूर्य्यꣳसभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति ॥२५॥

हिरण्यस्तूप ऋषिः । निचृज्जगती । सविता देवता । निषादः ॥

भा०—जिस प्रकार (सविता) रसों और प्रकाशमय किरणों का उत्पादक सूर्य (हिरण्य पाणिः) सुवर्ण के समान तीक्ष्ण किरणों को जलादि ग्रहण करने वाले हाथों के समान धारण करता हुआ (विचर्षणिः) समस्त विश्व को अपने प्रकाश से दिखलाता और तीव्र ताप से पदार्थों को फाड़ता और विश्लेषण करता है। और वह सूर्य जिस प्रकार (उभे द्यावापृथिवी अन्तः) आकाश और पृथिवी दोनों के बीच में स्थित होकर गति करता है और जिस प्रकार सूर्य (अमीवां) रोगकारी पीड़ाओं को और रात्रि के अन्धकार को भी (अप बाधते) दूर करता और नष्ट करता है। और जब वह (सूर्यम्) सूर्य अपने ही स्वरूप को (वेति) प्रकट करता है तब भी (कृष्णेन) अन्धकार के नष्ट करनेवाले (रजसा) तेज से (द्याम्) आकाश को (अभि ऋणाति) सब प्रकार से व्याप लेता है उसी प्रकार यह (सविता) राष्ट्र के सब ऐश्वर्यों का उत्पादक, सबका प्रेरक राजा (हिरण्यपाणिः) सबके हितकारी और रमण योग्य व्यवहारों वाला, एवं सुवर्ण आदि रत्नों को दूसरों के देने के लिये अपने हाथ में, या वश में करके (विचर्षणिः) समस्त मनुष्यों में विशेष पुरुष होकर एवं विविध प्रकार से सबका द्रष्टा होकर (उभे द्यावापृथिवी अन्तः) दोनों राजवर्ग और प्रजावर्ग या शत्रु और मित्र दोनों राष्ट्रों के बीच में (ईयते) आ खड़ा होता है। दोनों के बीच मध्यस्थ रूप से सर्वमान्य जाना जाता है

तब ही वह (अमीवाम्) रोग पीड़ा के समान दुःखदायी शत्रु सेना को भी (अप बाधते) दूर करता है। और (सूर्यम् वेति) सूर्य पद को प्राप्त करता है। और (कृष्णेन रजसा) शत्रु बल को कर्षण अर्थात् क्षीण कर देने वाले तेज से (द्याम्) देदीप्यमान राजसभा या उच्च पद को (ऋणोति) प्राप्त करता है।

अथवा—जब (सूर्यम् = सूर्यः) सूर्य ही (वेति) अस्त हो जाता है तब (द्याम् कृष्णः न रजसा कृणोति) आकाश को काले अन्धकार से ढक देता है। (दया० यजुर्भाष्ये) अथवा—जब वह सूर्य (सूर्यम्) रश्मि समूह को (वेति) प्रकट करता है तब (कृष्णेन रजसा) आकृष्ट लोकों द्वारा अपना प्रकाश प्राप्त करवाता है। (दया० ऋग्भाष्ये)

हिरण्यहस्तो ऽअसुरः सुनीथः सुमृडीकः स्ववाँ यात्यर्वाङ्।
अपसेधन्रक्षसो यातुधानानस्थाद्देवः प्रतिदोषं गृणानः ॥ २६ ॥

ऋ० १ । ३५ । १० ॥

भा०—(हिरण्यहस्तः) सब प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त और सब दिशाओं में अपने किरणरूप हस्तों वाला (असुरः) सबको प्राणदाता, बलवान् (सुनीथः) सुखपूर्वक सबको प्राप्त, (सुमृडीकः) उत्तम सुखप्रद, (स्ववान्) अपने उत्तम गुणों से युक्त (अर्वाङ् याति) अपने समस्त गुणों को प्रकट करता हुआ सूर्य या वायु जिस प्रकार प्राप्त होता है उसी प्रकार यह राजा और सभापति (हिरण्यहस्तः) प्रजा के हित और रमण करने योग्य सुखकारी पदार्थों को और सुवर्ण आदि बहुमूल्य धनैश्वर्यों को अपने हाथ में, अपने अधीन रखने हारा, तेजस्वी (असुरः) समस्त प्रजाओं को प्राण देने वाला, उन पर अनुग्रह करने और उनको वृत्ति देने वाला, (सुनीथः) उत्तम मार्ग में प्रजा को चलाने हारा, या उत्तम स्तुतियुक्त, (सुमृडीकः) सुखकारी, दयालु, (स्ववान्) धनाढ्य,

२६—सुमृळीक इति काण्व० ।

एवं अपने आत्मबल से युक्त होकर (अर्वाङ् यातु) अपने शत्रु के अभिमुख और प्रजा के प्रति भी मान करे। और वह (यातुधानानाम्) प्रजाओं को पीड़ा देने वाले, एवं दण्डित करने योग्य (रक्षसः) दुष्ट, चोर, डाकू आदि प्रजापीड़क लोगों को (अप सेधन्) दूर करता हुआ और (प्रतिदोषम्) प्रजा के प्रत्येक दोष के सुधार के लिये उनको (गृणानः) उत्तम मार्गोपदेश करता हुआ (देवः) दानशील, विद्वान्, सर्वद्रष्टा राजा (अस्थात्) सिंहासन पर स्थिति प्राप्त करे। अथवा (प्रतिदोषं गृणानः) प्रति रात्रि काल में या प्रतिदिन लोगों को सावधान करता हुआ विराजे।

'रक्षसः'—रक्षो रक्षयितव्यमस्मात्। इति निरु० । ४ । १८ ॥

'प्रतिदोषम्'—प्रतिजनं यो दोषः तम्। श्रुतिस्मृति विहितधर्मपराङ्मुखानां यावन्तो दोषास्तावतो गृणानः इति महीधरः।

ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृता ऽअन्तरिक्षे।
तेभिर्नो ऽअद्य पथिभिः सुगेभी रक्षा च नो ऽअधि च ब्रूहि देव ॥२७॥
ऋ० १ । ३० । ११ ॥

भा०—हे (सवितः) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष ! राजन् ! (ते) तेरे बनाये (ये) जो (पूर्व्यासः) पूर्व के विद्वानों, आप्त जनों से बनाये एवं चले गये और पालन किये गये (सुकृताः) उत्तम रीति से रचे हुए धर्म कृत्य, (अन्तरिक्षे) और आकाश में विद्यमान (अरेणवः) धूलि रहित स्थानों के समान (अरेणवः) विद्वानों के हृदय में निर्मल मार्ग, सदाचार के मर्यादा रूप मार्ग या व्रताचरण हैं (तेभिः) उन (सुगेभिः) सुख से चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (नः) हमें (अद्य) आज और सदा ही (रक्ष) पालन कर। हे (देव) दानशील, विद्वन् ! तेजस्विन् राजन् ! (नः) हमें तू (अधि ब्रूहि च) सन्मार्गों का उपदेश भी कर।

उभा पिंवतमश्विनेभा नः शर्म यच्छतम्।
अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ २८ ॥ ऋ० १ । ४६ । १५ ॥

प्रस्कण्व ऋषिः । अश्विनौ देवते । निचद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(उभा) दोनों (अश्विना) विद्या और अधिकारों में व्याप्त अध्यापक, सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष दोनों मुख्य अधिकारी (पिबतम्) उत्तम राष्ट्रैश्वर्य का उत्तम रस के समान पान, पालन या स्वीकार करें । और (उभा) दोनों (नः) हमें (शर्म) सुख, शरण (अविद्रियाभिः) अखण्डित, कभी नष्ट न होने वाले, दृढ़, अथवा त्रुटि रहित, छलछिद्र रहित एवं अनिन्दित, उत्तम (ऊतिभिः) रक्षा साधनों से (शर्म) सुख एवं शरण, उत्तम गृह आदि साधन (यच्छतम्) प्रदान करें ।

'अविद्रियाभिः'—'द्र विदारणे' इत्यस्मादौणादिकः इयक् इति मही० । घञर्थेकस्ततोघस्तद्धित इति दया० । द्रा कुत्सायां गतौ इत्यस्मादौणादिकः क्विः । अविद्रिर्निन्दा, तद्विरोधिनीं स्तुतिं यान्तीति अविद्रियाः, ताभिरिति सायणः ।

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम् ।
अद्यूत्येऽवसे नि ह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ ॥ २६ ॥

ऋ० १ । ११२ । २४ ॥

कुत्स ऋषिः । अश्विनौ देवते । विराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अश्विनौ) दिन और रात्रि, सूर्य और चन्द्र दोनों के समान तेज, प्रभाव तथा सर्व जनों को आल्हाद करने वाले सेनाध्यक्ष और सभाध्यक्ष दोनों पदाधिकारी गणो ! आप दोनों (अस्मे वाचम्) हमारी वाणी को (अप्नस्वतीम्) उत्तम कर्म युक्त (कृतम्) करो । और हे (दस्रा) शत्रुओं और प्रजा के पीडाकारी दुःखों और दुष्ट पुरुषों के नाश करने वालो ! हे (वृषणा) माता पिता के समान प्रजा पर सुखों के वर्षण करने वालो ! तुम दोनों (अप्नस्वतीम् मनीषाम् कृतम्) शुभ कर्म से युक्त मन की इच्छा या बुद्धि को उत्पन्न करो, मैं प्रजाजन (वाम्) तुम दोनों को (अद्यूत्ये) द्यूत आदि छल युक्त कार्यों या शर्तों रहित,

निकार्य, कार्य में अथवा (अद्यूत्ये) प्रकाश रहित, अन्धकार के समय अज्ञात स्थानों में और (अवसे) प्रजा के रक्षण कार्य करने के लिये (वां) आप दोनों को (निह्वये) निरन्तर बुलाता हूं। आप दोनों (वाजसातौ) संग्राम में या ऐश्वर्य प्राप्ति के कार्य में (नः) हमारे (वृधे) बढ़ाने के लिये (भवतम्) समर्थ होवो।

'अद्यूत्ये'—द्यूतादागतं, द्यूते भवं वा द्यूत्यम्, न द्यूत्यमद्यूत्यं तस्मिन्।

द्युभिरक्तुभिः परिपातमस्मानरिष्टेभिरश्विना सौभगेभिः।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥२०॥
ऋ० १। ११२। २५॥

कुत्स ऋषिः। अश्विनौ देवते। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—(अश्विना) व्यापक अधिकार और सामर्थ्य वाले सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष, सूर्य चन्द्र के समान तुम दोनों (द्युभिः अक्तुभिः) दिनों और रात्रियों में आप दोनों (अरिष्टेभिः) अविनष्ट, एवं मंगलकारक सुख-प्रद हितकारी (सौभगेभिः) सौभाग्यों, धन सम्पदाओं से (अस्मान् परि-पातम्) हम प्रजाजनों की रक्षा करो। (तत्) तब (मित्रः वरुणः) मित्र, स्नेही और वरुण, दुष्टवारक, सर्वश्रेष्ठ न्यायाधीश और दण्डाध्यक्ष दोनों (नः) उस पालन के कार्य को (मामहन्ताम्) और अधिक उत्तम एवं कीर्त्ति और आदर योग्य बनावें। (अदितिः) अखण्ड राज्य शासन करने वाली राजसभा और (सिन्धुः) सब राज्यप्रबन्ध द्वारा समस्त देशों और प्रजाओं को परस्पर बांधने वाला, समुद्र के समान गम्भीर राजा (पृथिवी उत द्यौः) पृथिवी के समान विस्तृत और सूर्य के समान तेजस्वी होकर दोनों (मामहन्ताम्) राजा के रक्षण कार्य को उन्नत करें।

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥ ३१॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३३। ४३॥

आ रात्रि पार्थिवꣳ रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदाꣳसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्त्तते तमः ॥ ३२ ॥
अथर्व० १९ । ४७ । १ ॥

काश्यपा नाम भरद्वाजकन्या ऋषिका । रात्रिर्देवता । पथ्या बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे (रात्रि) रात्रि के समान समस्त प्रजाओं को रमण कराने, सबको सुख देने वाली ! सबको दान एवं वेतनादि देने वाली राजशक्ते ! (पार्थिवं) पृथिवी का (रजः) समस्त लोक (पितुः) पालन करने वाले वायु और सूर्य के समान तेजस्वी बलवान् पुरुष के (धामभिः) धारण सामर्थ्यों और तेजों, पराक्रमों से (अप्रायि) पूर्ण रहे और तू (बृहती) बड़ी भारी शक्ति वाली होकर (दिवः सदांसि) उषःकाल जिस प्रकार आकाश में फैलती है उसी प्रकार राजसभा के (सदांसि) नाना अधिकार पदों पर (वितिष्ठसे) विशेष रूप से स्थित रह । और (तमः) अन्धकार जिस प्रकार सर्वत्र फैल कर आंखों को निर्बल कर देता है और (त्वेषं) प्रकाश जिस प्रकार सर्वत्र फैल कर प्राणियों को सामर्थ्यवान् करता है उसी प्रकार हे राजशक्ते ! तेरा (त्वेषं तमः) अति तेजस्वी रूप मित्रगण को अधिक सामर्थ्यवान् कर देने वाला और शत्रुओं को निर्बल एवं दिवान्ध करनेवाला बल (आवर्त्तते) सर्वत्र फैले है । यहां राज्य प्रबन्ध करने वाली शक्ति 'रात्रि' शब्द से कही गई है । विशेष विवरण अथर्ववेद के रात्रि सूक्त के व्याख्यान में देखो ।

उषस्तच्चित्रमा भरास्मभ्यं वाजिनीवति ।
येन तोकं च तनयं च धामहे ॥ ३३ ॥ ऋ० १।९२।१३॥

गोतम ऋषिः । उषो देवता । पराष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (वाजिनीवति) वाजिनी अर्थात् अश्व रथ आदि सेना से युक्त (उषः) शत्रुओं को दान करने वाली, उनका नाश करने वाली, दण्डशक्ते ! तू (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (तत्) उस नाना

प्रकार के (चित्रम्) अद्भुत २ धन को (आ भर) प्राप्त करा (येन) जिससे हम लोग (तोकं च) सब दुःखों के नाशक पुत्रों और (तनयं च) अगली सन्तति के विस्तार करने वाले पौत्र आदि को भी (धामहे) धारण, पालन पोषण करें ।

स्त्री के पक्ष में—हे (वाजिनीवति उषः) बल, वीर्य, ज्ञान, बल और अन्नादि से समृद्ध उषा के समान शोभा से युक्त तू संग्रह करने योग्य उस धन को प्राप्त कर जिससे पुत्र पौत्रों का धारण पोषण करें ।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रꣳ हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रꣳ हुवेम ॥ ३४ ॥
ऋ० ७ । ४१ । १ ॥

वसिष्ठ ऋषिः । अग्न्यादयो देवताः । जगती । निषादः ॥

भा०—(प्रातः) जब पांच घड़ी रात्रि रहे तब प्रभात वेला में, प्रातः काल, हम लोग (अग्निं हवामहे) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर का स्मरण करें और ज्ञानवान् आचार्य को नमस्कार करें । (प्रातः इन्द्रम्) प्रातःकाल में हम उस समस्त ऐश्वर्यों के दाता परमेश्वर का स्मरण करें और परम ऐश्वर्य को प्राप्त करें । अथवा आत्मा और ज्ञान के द्रष्टा आचार्य की उपासना करें । (प्रातः मित्रावरुणा हवामहे) प्रातःकाल के समय ही हम लोग मित्र अर्थात् प्राण के समान सबके स्नेहकारी, जीवनप्रद, प्रिय और वरुण अर्थात् अपान के समान सर्व मलनाशक और शक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करें । इसी प्रकार प्रातः काल हम लोग प्राण और अपान की साधना प्राणायाम द्वारा करें । प्रातः काल हम लोग मित्र, स्नेही और श्रेष्ठ पुरुष को नमस्कार आदि सत्कार करें । (प्रातः अश्विना) माता पिता को प्रातः नमस्कार करें । सूर्य द्यौ और पृथिवी और दिन और रात्रि के उत्पादक परमेश्वर की भी प्रातः उपासना करें । (भगम्) सबके सेवन करने योग्य, (पूषणं) सबके पोषक, (ब्रह्मणस्पतिम्) वेद और ब्रह्माण्ड के पालक परमेश्वर और ब्रह्म

अन्न बल, यश और ज्ञान के पालक विद्वान् तेजस्वी पुरुष की (प्रातः) प्रातःकाल, दिन के पूर्व भाग में, सब कार्यों से प्रथम, (सोमम्) सबके अन्तर्यामी प्रेरक, (उत) और (रुद्रम्) पापियों के रुलाने हारे, पुनः सर्वरोगनाशक, सर्वज्ञानोपदेशक परमेश्वर की हम प्रातःकाल उपासना करें और इसी प्रकार विद्वान्, रोगहारी वैद्य और ज्ञानी विद्वानों का संगभी प्रातःकाल सर्व कार्यों के प्रथम करें ।

प्रातःकाल ही (सोम) सोम आदि ओषधियों का सेवन और (रुद्र) जीव आत्मा का चिन्तन भी प्रातःकाल ही किया करें । महर्षि दयानन्द ।

प्रातर्जितं भगमुग्रꣳ हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्त्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥२५॥

भा०—परमेश्वर के पक्ष में—(यः) जो परमेश्वर (अदितेः) अखण्ड शक्ति और अखण्ड ब्रह्माण्ड का (विधर्त्ता) विविध उपायों से और विविध लोकों को धारण करने हारा है उस (जितम्) सबके विजेता और सबसे उत्कृष्ट (भगम्) सबके भजन करने योग्य और ऐश्वर्यशील, (उग्रम्) दुष्टों के प्रति सदा दण्ड देने वाले, उग्र, अति भयंकर परमेश्वर को (वयम्) हम (प्रातः) प्रातःकाल ही (हुवेम) स्मरण करें । (यं) जिस (भगं) उस भजन योग्य परमेश्वर को (आध्रः) अधीर एवं अतृप्त, भोगेच्छु या दरिद्र पुरुष (चित्) भी (तुरः चित्) अति शीघ्रकारी या शत्रुओं का नाशक बलवान् पुरुष और (राजा चित्) ऐश्वर्यों और उत्तम गुणों से प्रकाशमान् राजा भी (मन्यमानः) आदर सत्कार एवं प्रेम से मनन करता हुआ (भक्षि) मुझे ऐश्वर्य का प्रदान कर (इति) इसी प्रकार (आह) प्रार्थना किया करता है ।

राजा के पक्ष में—हम उस ऐश्वर्यवान् राजा को सबसे प्रथम प्रातः बुलावें (यः अदितेः विधर्त्ता) जो पृथ्वी का विविध उपायों से धारण पोषण करता है और उसको तृप्त करता है । (यं मन्यमानः) जिसका आदर

करता हुआ (आध्रः) दरिद्र भी और (तुरः चित्, राजाचित्) शत्रु हिंसक बलवान् पुरुष और राजा भी (इति आह) ऐसा ही कहता है कि तू (भगं भक्षि) सेवन करने योग्य ऐश्वर्य का विभाग कर दे, धन सम्पदाओं को बांट ।

'आध्रः'—दरिद्रः इति सायणः । अपुत्रस्य पुत्रः [अथवा, अतृप्तस्य पुत्रः इति वा स्यात् न्यायादि में तृप्ति न करने वाले का पुत्र] ? इति दया० ध्रै तृप्तौ । न तृप्यति स अध्रः । दीर्घश्छान्दसः । यद्वा आ समन्तात् ध्रः । अध्र एव वा आध्रः । स्वार्थे तद्धितः । इति महीधरः ।

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३६ ॥

भा०—हे (भग) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! राजन् ! हे (प्रणेतः) उत्कृष्ट मार्ग में लेजाने वाले ! उत्तम न्याय के करने हारे ! हे (सत्यराधः) सज्जनों के योग्य धनैश्वर्यों के स्वामिन् ! सत्य के पालक, सत्यधन ! तू (नः) हमें (ददत्) नाना ऐश्वर्यों को प्रदान करता हुआ (धियम् उत् अव) हमारे कर्म और बुद्धि को उन्नत कर । अथवा (नः धियं ददत् उत् अव) हमें सद्बुद्धि और सत्कर्म की शिक्षा प्रदान करता हुआ उन्नत कर, हमारी रक्षा कर । हे (भग) ऐश्वर्यवन् ! (नः) हमें (गोभिः) वेदवाणियों, गौवों और (अश्वैः) विद्वानों और वेगवान् अश्वों से (प्र जनय) उन्नत कर । हे (भग) ऐश्वर्यवन् ! हम (नृभिः) उत्तम कुलनायक और नेता पुरुषों से (नृवन्तः) उत्तम नेता वाले एवं पुत्र, भृत्य और सहायकों से युक्त (प्र स्याम) भली प्रकार हों ।

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ३७ ॥

भा०—हे (मघवन्) ऐश्वर्यवन् ! (उत) और हम भी (इदानीम्) अब (भगवन्तः स्याम) ऐश्वर्यवान् एवं तुझ से स्वामी वाले हों ।

(उत) और (अह्नाम्) दिनों के (प्रपित्वे) प्रारम्भ और (मध्ये) बीच में भी और (सूर्यस्य उदिता) सबके प्रेरक सूर्य के उदय काल में और सबके प्रेरक सूर्य के समान तेजस्वी राजा के अभ्युदय के समय में (वयम्) हम सब (देवानां) विद्वान् पुरुषों की (सुमतौ) शुभ, सुन्दर, सुखजनक सम्मति में (स्याम) रहा करें ।

अभ्युदय काल में ईर्षावश हम लोग दुर्बुद्धि से नष्ट न हो जांय ।

भग एव भगवाँ२ऽ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व ऽइज्जोहवीति स नो भग पुर ऽएता भवेह ॥३८॥

भा०—हे (देवाः) देवगण, विजयशील पूर्व विद्वान् पुरुषो ! (भगः) सबके सेवा भजन करने योग्य परमेश्वर और ऐश्वर्यवान् पुरुष ही (भगवान् अस्तु) समस्त ऐश्वर्यों का स्वामी हो । (तेन) उसके द्वारा (वयं) हम भी (भगवन्तः स्याम) ऐश्वर्यवान्, स्वामी हों । हे (भग) ऐश्वर्यवन् (सर्व इत्) समस्त जन भी (तं त्वा) उस तुझे ही (जोहवीति) वार २ याद करता है, तेरा ही स्मरण करता है । तुझे ही सब अवसरों पर पुकारता है । हे (भग) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! राजन् ! (इह) इस लोक में (सः) वह तू (नः) हमारे (पुरः-एता) सबसे आगे चलने हारा नायक (भव) हो ।

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय ।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथमिवाश्वा वाजिन ऽआ वहन्तु ॥३९॥

भा०—(उषसः) उषाएं, प्रभात वेलाएं जिस प्रकार (अध्वराय) हिंसारहित, परम पवित्र यज्ञ के लिये (सं नमन्त) अच्छी प्रकार आती हैं, प्रकट होती हैं । उसी प्रकार (अध्वरस्य) शत्रुओं से न मारे जाने योग्य प्रजापालन रूप राज्य कार्य के लिये (उषसः) शत्रुदाहक तेजस्वी पुरुष भी (सं नमन्त) अच्छी प्रकार एकत्र होते हैं और (दधिक्रावा) अपनी पीठ पर पुरुष को धारण करके चलने में समर्थ अश्व जिस प्रकार (पदाय)

प्राप्त करने योग्य दूर देश को प्राप्त होता है उसी प्रकार (दधिक्रावा) राष्ट्र कार्य को अपने ऊपर धारण करके उसके चलाने और पराक्रम करने में समर्थ राजा (शुचये) अत्यन्त शुद्ध, तेजस्वी, ईर्षा, द्वेष, लोभ, काम रोग कादि से रहित, ईमानदार, धर्मयुक्त (पदाय) पद प्राप्त करने के लिये (सं नमतु) प्राप्त हो। इसी प्रकार (दधिक्रावा) ध्यान बल से भ्रमण करने वाला योगी शुचि पद, परम पावन परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये यत्न करता है। और (वाजिनः अश्वाः) वेगवान् अश्व (रथम् इव) जिस प्रकार रथ को धारण करते हैं उसी प्रकार (अश्वाः) विद्या अग्नि-कार में व्यापक सामर्थ्य वाले (वाजिनः) अन्न आदि ऐश्वर्य और ज्ञानों वाले विद्वान् पुरुष (रथम्) रथ युक्त, एवं रमण करने वाले, (अर्वाची-नम्) साक्षात् एवं हमारे अभिमुख (वसुविदं) ऐश्वर्य को देने और प्राप्त कराने वाले (भगं) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर का (आ वहन्तु) उपदेश करें और (भगं आवहन्तु) ऐश्वर्यवान् राजा के राज्य को धारण करें।

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥४०॥

ऋ० ७। ४१। ७॥

भा०—जिस प्रकार (उषासः) प्रभात वेलाएं (अश्वावतीः) वेगवान् वायु और व्यापनशील प्रकाश से युक्त होने से 'अश्वावती और (गोमतीः) किरणों से युक्त होने से 'गोमती' और (वीरवतीः) विविध पदार्थों को कंपाने वाले वायु से या सूर्य रूप पुत्र से युक्त 'वीरवती' और (भद्राः) सुखदायी होने से 'भद्रा' हैं, वे (घृतं दुहानाः) ओसरूप जल को प्रदान करती हैं उसी प्रकार (उषासः) शत्रुओं का दहन या नाश करने में समर्थ सेनाएं (अश्वावतीः) अश्वारोहियों से युक्त (गोमतीः) बैल आदि नाना पशुओं से युक्त (वीरवतीः) वीर पुरुषों वाली (भद्राः) उत्तम, सुखकारी होकर (सदम्) हमारे गृह और राजसभा या आश्रय-स्थान

राष्ट्र और राष्ट्रपति को (उच्छन्तु) प्राप्त हों, उसके यश और प्रताप को विकसित करें। वे (घृतं दुहानाः) तेज को पूर्ण करती हुई (विश्वतःप्रपीताः) सब प्रकार से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष द्वारा हृष्ट पुष्ट, सुरक्षित होकर रहें। हे अग्रणी, वीर पुरुषो ! (यूयं) तुम लोग (नः) हमारा (सदा) सदा काल (स्वस्तिभिः = सु अस्तिभिः) उत्तम कल्याणकारी साधनों से रक्षा करो।

स्त्रियों के पक्ष में—(अश्वावतीः) विद्या और बल में व्याप्त पुत्र अश्व के समान हृष्ट पुष्ट, उत्तम पतियों से युक्त, (गोमतीः) पूर्ण इन्द्रियों, वेद वाणियों और गवादि पशुओं से समृद्ध, (वीरवतीः) पुत्रों से युक्त, (भद्राः) सुखदायिनी होकर (नः सदम् उच्छन्तु) हमारे गृह की शोभा को बढ़ावें। वे (घृतं दुहानाः) गौओं के समान प्रेमरस को भरपूर करती हुई (विश्वतः प्रपीताः) सब प्रकार उत्तम हृष्ट पुष्ट, सुरक्षित या बालकों द्वारा स्तन्य पान की जाने वाली हों। हे विद्वान् पुरुषो ! तुम उत्तम श्रेयस्कर साधनों से हमें पालन करो।

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन।
स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४१ ॥ ऋ० ६ । ५४ । ६ ॥

भरद्वाजो बार्हस्पत्यः सुहोत्रो वा ऋषिः। पूषा देवता। गायत्री। षड्जः ॥

भा०—हे (पूषन्) सब के पोषक परमेश्वर और राजन् ! हम (तव) तेरे बनाये (व्रतं) आचरण करने योग्य कर्म, नियम एवं सदाचार में रह कर (कदा चन) कभी भी (न रिष्येम) पीड़ित न हों, कष्ट न पावें। और (स्तोतारः) तेरे गुण गान करने हारे हम विद्वान् लोग (ते) तेरे ही होकर (इह) इस जगत् में (स्मसि) रहें।

पथस्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतो अभ्यानड्र्कम्।
स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्रा धियंधियꣳ सीषधाति प्र पूषा ॥४२॥
ऋ० ६ । ४९ । ६ ॥

ऋजिश्वा ऋषिः। पूषा देवता। विराट् त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—जो (पूषा) सब प्रजाओं का पोषण पालन करने वाला राजा (वचस्या) वेदोक्त वचन और (कामेन) शुभ और प्रबल अभिलाषा से (कृतः) निष्पन्न, दृढ़, एवं तैयार होकर (पथः पथः परिपतिम्) प्रत्येक धर्म मर्यादा और उत्तम मार्ग के सब प्रकार से पालक, स्वामी (अर्कम्) स्तुति करने योग्य तेजस्वी सूर्य के तेजस्वी पद को (अभि-आनड्) साक्षात् सबके सन्मुख प्राप्त है (सः) वह (नः) हमें (चन्द्राग्राः) सुवर्णादि से सुभूषित अथवा सुवर्णादि से समृद्ध (शुरुधः) शोक और पीड़ादि के रोकने वाली सम्पदाएं (रासत्) प्रदान करें और वह ही (धियं धियं) प्रत्येक काम को (प्र सीषधाति) उत्तम रीति से चलावे ।

अथवा—मैं (कामेन कृतः) प्रबल अभिलाषा और इच्छा से युक्त होकर (वचस्या) उत्तम वेदवचनों से (पथः पथः परिपतिं) प्रत्येक सन्मार्ग-मर्यादा के पालक उस (अर्कम् अभ्यानड्) पूजनीय परमेश्वर को साक्षात् स्तुति कर प्राप्त होऊं । वह (चन्द्राग्राः) आह्लाद से भरी हुई (शुरुधः) शोकनाशनी उत्तम वाणियों को (रासत्) हमें प्रदान करें । वह (पूषा) सर्व पोषक परमेश्वर और विद्वान् (धियं धियं प्र सीषधाति) हमारी प्रत्येक बुद्धि और कर्म को अच्छे मार्ग में चलावे ।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ॥ ४३ ॥ ऋ० १ । २२ । १८ ॥

(४३, ४४) मेधातिथिर्ऋषिः । विष्णुर्देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(विष्णुः) व्यापक (गोपाः) गतिमान् लोकों का पालक, अथवा सबका रक्षक, (अदाभ्यः) कभी नष्ट और खण्डित न होने वाला, नित्य परमेश्वर (त्रीणि पदा) तीन जानने वा प्राप्त होने योग्य, तीनों लोकों, तीनों वेदों और तीन प्रकार के पदार्थों और जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति रूप व्यवहारों को (विचक्रमे) विविध प्रकार से बनाता और चलाता है । और (अतः) उसीसे (धर्माणि) समस्त संसार के धारण करने वाले नियमों को भी (धारयन्) स्वयं धारण करता है ।

'त्रीणि पदा'—कारण, स्थूल, सूक्ष्म रूपाणि इति दया० यजुर्भाष्ये। भूम्यन्तरिक्षसूर्यरूपेण त्रिविधं जगद् इति तत्रैव भावार्थे स एव। अग्निर्वायवादित्याख्यानि इति उवटमहीधरौ।

उस सबके रक्षक नित्य परमेश्वर ने तीन ज्ञान करने योग्य वेद ऋग्, यजुः, साम, बनाये। उससे ही वह समस्त धर्ममर्यादाओं को धारण करता है। इसी प्रकार राजा भी वेदत्रयी से समस्त मर्यादाओं और धर्मों को धारण करे। अथवा तीनों लोक जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं सर्ग, स्थिति, प्रलय ये तीन पद हैं, उनसे ही समस्त स्थावर जंगम प्राणियों और लोकों को प्रभु धारण करता है।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ ४४ ॥ ऋ० १ । २२ । २१ ॥

भा०—(विप्रासः) विद्वान् मेधावी (विपन्यवः) विविध प्रकार से ईश्वर की स्तुति करने हारे विद्वान् पुरुष (जागृवांसः) सदा जागृत अप्रमादी रह कर, अथवा प्रातः उठ कर सुचित्त होकर (विष्णोः) व्यापक अन्तर्यामी परमेश्वर का (यत् परमं पदम्) जो सर्वोत्कृष्ट ज्ञातव्य स्वरूप परम पद मोक्ष है (यत्) उसको ही (सम् इन्धते) भली प्रकार प्रकाशित करते, उसी की साधना करते हैं।

राजा के पक्ष में—सावधान विद्वान् पुरुष व्यापक, महान् शक्तिशाली राजा के ही सर्वोत्कृष्ट पद को प्रकाशित करते हैं उसको नित्य अपने उत्तम विचारों से उत्कृष्ट बनाते हैं।

घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा।
द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा ॥४५॥
ऋ० ६ । ७० । १ ॥

भारद्वाज ऋषिः। द्यावापृथिव्यौ देवते। जगती। निषादः॥

भा०—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथ्वी दोनों जिस प्रकार (घृत-

वती) जल और प्रकाश से युक्त, (भुवनानाम्) उत्पन्न हुए समस्त लोक लोकान्तरों की (अभिश्रिया) सब प्रकार से शोभा और आश्रय देने वाले, (मधुदुघे) जल एवं मधुर पदार्थों के प्रदान करने वाले, (सुतेजसा) उत्तम रूप वाले तेज और सुवर्णादि से युक्त, (अजरे) कभी जीर्ण या विनष्ट न होने वाले और (भूरिरेतसा) बहुत अधिक उत्पादक सामर्थ्य और जल से युक्त होकर भी (वरुणस्य) दोनों सूर्य और वायु के (धर्मणा) धारण सामर्थ्य से और इसी प्रकार सर्व श्रेष्ठ परमेश्वर के धारण सामर्थ्य से (विष्कभिते) विशेष रूप से थमे खड़े हैं, वे अपनी नियम मर्यादा को नहीं तोड़ते, उसी प्रकार राजवर्ग और प्रजावर्ग भी दोनों (घृतवती) पराक्रम और तेज से युक्त और घृत आदि पुष्टिकारक अन्न से युक्त हों। वे (भुवनानाम् अभिश्रिया) समस्त प्राणियों और लोकों के आश्रय देने वाले, समृद्धि से युक्त हों। दोनों (उर्वी) विशाल (पृथ्वी) विस्तृत सामर्थ्य वाले हों, (मधुदुघे) दोनों मधुर और शत्रुपीड़क बल और मधुर अन्न से भरे पूरे, एक दूसरे को पूरने वाले हों। (सुपेशसा) उत्तम रूपवान् सुवर्णादि से मण्डित हों। वे दोनों (वरुणस्य धर्मणा) स्वयं वरण किये गये श्रेष्ठ राजा के बनाये धर्म, नियम, राज्यव्यवस्था द्वारा (विष्कभिते) मर्यादा में स्थित हों, दोनों (अजरे) कभी नष्ट न हों। दोनों (भूरिरेतसा) बहुत वीर्यवान्, बलवान् हों। इसी प्रकार स्त्री पुरुष भी स्नेहयुक्त, लक्ष्मीसम्पन्न, मधुर स्वभाव वाले, सुवर्णादि आभूषणों से युक्त, सुरूप, सुन्दर बुढ़ापे से रहित, अति वीर्य बल से युक्त, ब्रह्मचारी होकर (वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते) परस्पर वरण करके स्वयंवर धर्म के द्वारा अथवा सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर के बनाये वेद के बतलाये धर्म से नियमित होकर रहें।

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामहे तान्।
वसवो रुद्रा ऽआदित्या ऽउपरिस्पृशं मोग्रं चेत्तारमधिराजमक्रन् ४६

ऋ० १० । १३८ । ६ ॥

विहव्य ऋषिः । वस्वादयो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रुगण हैं (ते) वे (अप भवन्तु) हमसे दूर रहें । (तान्) उनका हम लोग (इन्द्राग्निभ्याम्) सूर्य से जिस प्रकार मेघ और अन्धकार छिन्न भिन्न होते और अग्नि से जिस प्रकार अन्धकार दूर होता है उसी प्रकार इन्द्र, सेनापति और अग्नि, अग्रणी राजा, या वायु के समान बलवान् और अग्नि के समान तेजस्वी नायक पुरुषों से या विद्युत् और वायु के अस्त्रों से (अव बाधामहे) विनष्ट करें । उनको नीचे दबावें । और (वसवः) राष्ट्र में बसने वाले जन (रुद्राः) शत्रुओं को रुलाने वाले वीर पुरुष और (आदित्याः) आदान प्रतिदान करने वाले वैश्य गण ये सब मिल कर (उपरिस्पृशम्) सबके ऊपर के पद पर पहुंचे हुए, (उग्रम्) अति बलवान् (मा) मुझको (चेत्तारम्) सबको सत्यासत्य बतलाने और चेताने वाला (अधिराजम्) अधिराज, (अक्रन्) बनावें ।

अथवा—(वसवः) पृथिवी आदि आठ वसु, (रुद्राः) १० प्राण और एक आत्मा और १२ मास सब मुझे यथार्थ विज्ञ राजा बनावें ।

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपेयमश्विना ।
प्रायुस्तारिष्टं नीरपांसि मृजत्रꣳ सेधतन्द्वेषो भवतꣳ सचाभुवा ॥४७

ऋ० १ । ३४ । ११ ॥

हिरण्यस्तूप ऋषिः । अश्विनौ देवते । जगती । निषादः ॥

भा०—(नासत्या) राजवर्ग और प्रजावर्ग दोनों सत्याचरण युक्त, (अश्विना) विद्या और अधिकार में व्यापक एवं एक दूसरे का उपभोग करने हारे होकर (त्रिभिः एकादशैः) तीन ग्यारह अर्थात् तेंतीस (देवैः) विद्वान् राजसभासदों या अध्यक्षों द्वारा (मधुपेयम्) ज्ञान, मधुर स्वभाव और बलपूर्वक रक्षा करने योग्य राष्ट्र को (आ यातम्) प्राप्त हों । वे (आयुः प्र तारिष्टम्) आयु, जीवन की वृद्धि करें । दीर्घ जीवन

भोगें । (अपांसि) सब प्रकार के पापों को (निर् मृक्षतम्) सर्वथा शुद्ध करें । (द्वेषः निः सेधतम्) आपस के द्वेष को दूर करें और (सचासुवा भवतम्) सब कार्यों में एक साथ मिल कर पुरुषार्थशील होकर रहें ।

इसी प्रकार स्त्री पुरुष भी पृथिवी आदि पदार्थों सहित मधुर स्नेह से प्राप्त होने योग्य पालने योग्य गृहस्थ के मधुर उपभोग को प्राप्त करें । जीवन की वृद्धि करें, पापों को दूर करें, द्वेष त्याग करें, सदा साथ मिल कर रहें ।

एष व स्तोमो मरुत ऽइयङ्गीर्मान्दार्यस्य मान्यस्य कारोः ।
एषा यासीष्ट तन्वे वयां विद्यामेषं वृजनं जीरदानुम् ॥ ४८ ॥

ऋ० १ । १६५ । १५ ॥

अगस्त्य ऋषिः । मरुतो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मरुतः) विद्वान् वीर पुरुषो ! एवं प्रजा पुरुषो ! (मान्यस्य) मान करने योग्य एवं मनन करने हारे शत्रुओं का स्तम्भन करने वाले और (मांदार्यस्य) मुझे यह वीर सेनानायक काटेगा शत्रु गण में इस प्रकार का भय उत्पन्न करने हारे, सबको हर्ष देनेहारे (कारोः) क्रिया कुशल सेनापति का (वः) तुम्हारे ही हित के लिये (एषः स्तोमः) यह शस्त्रास्त्र समूह या नियम या अधिकार या व्यवस्था या सैनिक संघ है । और (इयं गीः) यह उसकी वाणी अर्थात् आज्ञा है । उसको आप लोग (वयाम्) दीर्घ जीवन वाले प्राणियों के (तन्वे) शरीरों की रक्षा के लिये (इषा) इच्छापूर्वक (आ अयासिष्ट) उसे प्राप्त होवो । हम लोग (इषं) अन्न और (जीरदानुम्) दीर्घ जीवन के देने वाले (वृजनम्) दुःखों के वारक बल को (विद्याम) प्राप्त करें । अथवा, उसको हम (इषं) सबके प्रेरक (वृजनं) शत्रुओं के वारक (जीरदानुम्) सबका जीवनप्रद (विद्याम) जानें ।

सहस्तोमाः सहच्छन्दस ऽआवृतः सहप्रमा ऽऋषयः सप्त दैव्याः ।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा ऽअन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ॥४९॥

ऋ० १० । ३० । ७ ॥

प्राजापत्यो यज्ञ ऋषिः । ऋषयो देवताः । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(रथ्यः) रथारोही पुरुष (न) जिस प्रकार (रश्मीन्) घोड़ों की रासों को थामे रहते हैं और वे (सहस्तोमाः) अपने दल के सदा साथ रहते हैं, (सहछन्दसः) एक साथ एक चाल से चलते हैं, (सहप्रमाः) वे एक साथ प्रयाण करते हैं और (पूर्वेषाम् पन्थाम् अनुदृश्य रश्मीन् अनु आलेभिरे) अपने से पहले गये हुए अग्रगामी, योद्धा नेताओं के मार्ग को देखकर घोड़ों की रासों को उसके अनुकूल ही चलाते हैं उसी प्रकार (धीराः) ध्यान-योगशील, धीर, बुद्धिमान् पुरुष (दैव्याः) विजयशील देव, राजा या परमेश्वर के अनुयायी, भक्त, (सप्त) शरीर में सात प्राणों के समान, एवं सदा सर्पण शील, आगे बढ़ने वाले, (ऋषयः) तर्कशील, ज्ञानद्रष्टा विद्वान् ऋषिगण भी (पूर्वेषां पन्थाम्) अपने पूर्व के विद्वान् पुरुषों के मान को (अनुदृश्य) भली प्रकार देख कर (सहस्तोमाः) एक साथ वेदस्तुतियों का प्रवचन करने वाले, (सहछन्दसः) एक साथ गुरु के अधीन वेदपाठ करने वाले, एक समान गति वाले, (सहप्रमाः) एक साथ समान रूप से यथार्थ ज्ञान करने हारे (दैव्याः) गुण कर्म में कुशल (आवृताः) गुरुकुलों से समावर्त्तन कराकर, स्नातक होकर (रश्मीन् अनु आलेभिरे) गृहस्थ और राज्य कार्य की महारथियों के समान रासों को ग्रहण करते हैं ।

आयुष्यं वर्चस्यꣳ रायस्पोषमौद्भिदम् ।
इदꣳ हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादु मामु ॥ ५० ॥

दक्ष ऋषिः । हिरण्यं तेजो देवता । भुरिगुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—(इदम्) यह (आयुष्यम्) आयु के बढ़ाने वाला, (वर्चस्यं) तेज ब्रह्मचर्य और विद्याध्ययन का हितकारी, (रायःपोषम्) धन समृद्धि को बढ़ाने वाला, (औद्भिदम्) दुःखों और शत्रुओं को उखाड़ फेंकने में समर्थ, (वर्चस्वत्) उत्तम तेज और अन्नादि ऐश्वर्य से युक्त,

(हिरण्यम्) सब प्रजा का हित कर और सबको सुख देने वाला; सुवर्ण के समान तेजस्वी शस्त्र बल (माम्) मुझ राष्ट्रपति को (जैत्राय) शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये (आविशतात्) प्राप्त हो ।

न तद्रक्षाꣳसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोजः प्रथमजꣳह्येतत् ।
यो बिभर्त्ति दाक्षायणꣳ हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः
स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ ५१ ॥ अथर्व० १ । ३५ । २ ॥

दक्ष ऋषिः । हिरण्यं तेजो देवता । भुरिक् शक्करी । धैवतः ॥

भा०—(तत्) उस पूर्वोक्त तेज को (न रक्षांसि) न सत्कार्यों में विघ्न करने वाले, एवं दूसरों को पीड़ा देकर अपने को बचाने वाले दुष्ट, स्वार्थी पुरुष और (न पिशाचाः) न प्राणियों के मांस रुधिरादि खाने वाले, क्रूर, अत्याचारी लोग (तरन्ति) लांघते हैं । (हि) क्योंकि (एतत्) वह (प्रथमजम्) सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ सर्वश्रेष्ठ, (देवानाम् ओजः) देव, विद्वान् विजिगीषु पुरुषों का परम बल, पराक्रम एवं वीर्य है । (यः) जो (दाक्षायणः) दक्ष अर्थात् व्यवहारकुशल, एवं बलवान् प्रज्ञावान् पुरुष से संञ्चालन करने योग्य; (हिरण्यं) प्रजाओं के हितकर और सुखकारी बल, (बिभर्त्ति) धारण एवं पालन करता है (सः) वह (देवेषु) देव, विद्वान् विजिगीषु पुरुषों के बीच में (दीर्घम् आयुः कृणुते) दीर्घ जीवन उत्पन्न करता है । और (सः) वह ही (मनुष्येषु दीर्घम् आयुः कृणुते) मनुष्यों के भी जीवन को चिरस्थायी कर देता है । जो राजा अपने सेनाबल को पुष्ट करता है उसके बल का पार दुष्ट, राक्षस और पिशाच भी नहीं पाते । वह अपने वीर पुरुषों और प्रजाजनों के जीवनों की रक्षा करता है ।

ब्रह्मचर्यपक्ष में—(देवानां हि एतत् प्रथमजं ओजः) विद्वान् पुरुषों का आयु के प्रथम भाग में उत्पन्न ब्रह्मचर्यरूप वीर्य है जिसको राक्षस और पिशाच नहीं पार कर सकते । दक्ष, अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषों से प्राप्त

होने योग्य उसको जो धारण करता है वह विद्वानों और मनुष्यों में अपने जीवन को बहुत दीर्घ बना लेता है।

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तन्म ऽआबध्नामि शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥ ५२ ॥

अथर्व० १ । ५५ । १ ॥

दक्षऋषिः । हिरण्यं तेजो देवता । निचृत् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(दाक्षायणाः) दक्ष अर्थात् वीर्यबल और प्रज्ञा के एक मात्र आश्रय, और दक्ष, अर्थात् सेना बल के 'अयन' अर्थात् मुख्य अधिकारों पर स्थित वीर पुरुष (यद्) जिस बल को (सुमनस्यमानाः) परस्पर उत्तम चित्त वाले होकर (शतानीकाय) सैकड़ों सैनिकों के स्वामी सेनापति के लिये (आबध्नन्) बांधते हैं, उसको नियम व्यवस्था में रखते और अपने अधीन वेतनादि पर नियुक्त करते हैं। (तत्) उसी सैन्यबल को मैं (मे) अपने राष्ट्र के लिये (शतशारदाय) सौ वरस के दीर्घ जीवन तक के काल के लिये (आबध्नामि) बांधता हूं, व्यवस्थित करता हूं और (यथा) जिससे मैं (आयुष्मान्) दीर्घ आयु से युक्त होकर (जरदष्टिः) जरावस्था का भोग करने वाला पूर्णायु (असम्) होऊं।

ब्रह्मचर्य के पक्ष में—बलों और विज्ञानों के निधान विद्वान् पुरुष जिस विज्ञान और व्रत पालन रूप 'हिरण्य' अर्थात् वीर्य को शुभ चित्तवान् आचार्य गण सैकड़ों सेनाबलों से युक्त सेनापति के समान बलवान् एवं सौ वर्षों तक जीवन प्राप्त करने, एवं सैकड़ों विद्याओं को मुख से कहने में समर्थ होने के लिये नियम से पालन करते हैं उसी को मैं भी सौ वर्ष तक पूर्णायु प्राप्त करने के लिये बांधू, नियमपूर्वक पालन करूं।

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज ऽएकपात्पृथिवी समुद्रः। विश्वे देवा ऽऋतावृधो हुवाना स्तुता मन्त्राः कविशस्ता ऽअवन्तु ॥५३॥

ऋ० ६ । ५० । १४ ॥

भा०—राजापक्ष में—(बुध्न्यः) अन्तरिक्ष में उत्पन्न होने वाले (अहिः) मेघ के समान सबके ऊपर शासक पद पर रह कर कभी न क्षीण होने वाला, सदा ऐश्वर्यों का वर्धक, (एकपात्) एकमात्र मोक्ष-रूप पाद, चरण या स्वरूप से युक्त (अजः) कभी उत्पन्न न होने वाले परमेश्वर के समान स्वयं (एकपात्) एक अद्वितीय होकर राष्ट्र के पालन करने वाला और (अजः) सब राष्ट्र का मुख्य संचालक, शत्रुओं का स्वयं उच्छेत्ता, (पृथिवी) पृथिवी के समान सर्वाश्रय और (समुद्रः) समुद्र के समान गम्भीर, अनेक रत्नों का आश्रय, (नः शृणोतु) हमारे कष्टों और प्रार्थनाओं को श्रवण करे। (विश्वे) समस्त (ऋतावृधः) सत्य ज्ञान और ऐश्वर्य को बढ़ाने वाले (हुवानाः) एक दूसरे से स्पर्धा पूर्वक बढ़ने हारे (देवाः) देवगण और (कविशस्ताः) विद्वान् दीर्घदर्शी पुरुषों से कहे गये, (स्तुताः) स्तुति युक्त एवं उत्तम (मन्त्राः) मनन करने योग्य विचार एवं वेदमन्त्र सभी (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें।

परमेश्वर—सर्वाश्रय होने से 'बुध्न्य' है। कभी नाश न होने से 'अहि' है। उत्पन्न न होने से 'अज' है। एकमात्र ज्ञानमय मोक्षस्वरूप होने से 'एकपात्' है। सर्वाश्रय और सब जगत् का विस्तार करने वाला होने से 'पृथिवी' है वही समस्त लोकों का उद्भव होने से 'समुद्र' है। वह हमारी प्रार्थना श्रवण करे।

इमा गिर आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो जुह्वा जुहोमि।
शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तुविजातो वरुणो दक्षो अंशः ५४

ऋ० २। २७। १॥

कृमो गात्समद ऋषिः। आदित्या राजानो देवताः। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—मैं विद्वान् पुरुष (राजभ्यः) प्रजाओं से अधिक तेज वाले राजा रूप (आदित्येभ्यः) सूर्य के समान तेजस्वी और अदिति अर्थात् पृथिवी के के रक्षण, पालन, विभाजन आदि में कुशल शासक पुरुषों को (इमाः गिरः)

इन वेदवाणियों का (सनात्) चिरकाल से, सदा नित्य ही (जुह्वा) वाणी द्वारा (जुहोमि) उपदेश करूं। और (मित्रः) सबका स्नेही, सबको मरण से बचाने वाला, मित्र, (अर्यमा) शत्रुओं को नियम में बांधने वाला, न्यायकारी, (भगः) ऐश्वर्यवान्, सबके सेवा करने योग्य; (तुविजातः वरुणः) बहुतसे प्रजाजनों या सैनिक गणों में यशस्वी और बहुत से सेनादलों से बलवान्, सामर्थ्यवान् वरुण, दुष्टों और पापों के वारण में समर्थ पुरुष (दक्षः) दक्ष, चतुर, बुद्धिमान् (अंशः) सबके योग्य अंशों का विभाजन करने वाला इस समस्त अधिकारी वर्ग में से प्रत्येक (शृणोतु) मेरी ज्ञान-वाणियों का श्रवण करे।

अथवा—(राजभ्यः आदित्येभ्यः इमाः सनात् गिरः जुह्वा आजुहोमि) प्रदीप्त तेजस्वी आचार्यों से मैं इन नित्य वेदवाणियों को अपने ग्रहण साधन, और धारण सामर्थ्य से ग्रहण करूं, पढ़ूं। उनको मित्र आदि जन श्रवण करें।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो ऽअस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ ५५ ॥

काण्व ऋषिः। शरीर-सत्रसदौ देवताः। भुरिग् जगती। निषादः॥

भा०—जिस प्रकार (सप्त) सात (ऋषयः) विषयों को दिखाने वाले पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि (शरीरे) इस शरीर में (प्रतिहिताः) प्रति विषय ज्ञान के लिये स्थापित किये गये हैं और वे (सप्त) सातों (अप्रमादम्) बिना प्रमाद के इस (सदम्) अपने आश्रयस्थान शरीर की (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं। और जब वे (सप्त) सातों (आपः) सूक्ष्म व्यापनशील प्राण (स्वपतः) शयन करने वाले पुरुष के (लोकम्) द्रष्टा आत्मा को (ईयुः) प्राप्त होते हैं, उसी के भीतर लीन होते हैं उस समय भी (अस्वप्नजौ) आत्मा में अप्यय अर्थात् लीन न होने वाले, निद्रा रहित हो

(सत्रसदौ) सदा साथ रहने वाले (देवौ) देव, दिव्य गुणयुक्त प्राण और अपान गति करते हैं। उसी प्रकार (शरीरे) इस राष्ट्ररूप शरीर में (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः) सात द्रष्टा विद्वान् पुरुष प्रत्येक भिन्न २ पदों पर स्थापित किये जांय, वे सातों (अप्रमादम्) विना प्रमाद के (सदम्) सदा सभाभवन की रक्षा करें। (सप्त आपः) वे सातों आप्त पुरुष शयन करते हुए, असावधान दशा में प्रजाजन के रहते हुए भी (लोकम् ईयुः) समस्त पदार्थों के दर्शन करने वाले मुख्य पुरुष को प्राप्त रहते हैं और उस समय भी (सत्रसदौ) सज्जनों के कारण कार्य में अधिष्ठित कभी भी सोने या प्रमाद न करने वाले (देवौ) दो विद्वान् पुरुष नियुक्त हों।

सप्त ऋषयः—त्वक् चक्षुः श्रवण रसन घ्राण मनो बुद्धि लक्षणाः इति महीधरः। पडिन्द्रियाणि मनःसप्तमानि इत्युवटः।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे।
उप प्रयन्तु मरुतः सुदानव इन्द्र प्राशूर्भवा सचा ॥ ५६ ॥

ऋ० १ । १० । १ ॥

[५६—५७] काण्वो घौर ऋषिः। [५६—५८] ब्रह्मणस्पतिर्देवता। बृहती। मध्यमः ॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) महान् ऐश्वर्य और बड़े भारी राष्ट्र के पालक राजन्! एवं विद्वन्! तू (उत्-तिष्ठ) उठ, उदय को प्राप्त हो। (देवयन्तः) तुझे देव अर्थात् उत्तम राजा बनाने की इच्छा करते हुए (त्वा ईमहे) तुझे प्रार्थना करते हैं। (मरुतः) मनुष्य, प्रजागण (सुदानवः) उत्तम दानशील होकर (उप प्र यन्तु) तेरे समीप आवें। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन्! तू (सचा) समस्त समवाय या संघशक्ति से (प्राशूः भव) खूब उत्तम रीति से शत्रु पर शीघ्र यान करने हारा और राष्ट्र का उत्तम भोक्ता हो।

विद्वान् के पक्ष में—हे ब्रह्मणस्पते! विद्वन्! तू उठ हम देवों—विद्वानों और उत्तम गुणों की कामना करते हुए तेरे पास विद्यार्थी होकर आये हैं।

प्रजाजन दानशील होकर तेरे समीप दान देने के लिये आवे। तू सबके साथ उस दान का उत्तम भोक्ता हो।

प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो ऽअर्य्यमा देवा ऽओकांसि चक्रिरे॥५७॥

ऋ० १। ४०। ५॥

भा०—राजमन्त्री के पक्ष में—(ब्रह्मणस्पतिः) वेद विद्या का पालक विद्वान् पुरुष (नूनं) निश्चय से (उक्थ्यम्) प्रवचन करने योग्य श्रेष्ठ (मन्त्रं) मन्त्र, मनन योग्य विचार का (प्र वदति) उपदेश करता है। (यस्मिन्) जिसमें (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (वरुणः) दुःखों और पापों का निवारक, शासक (मित्रः) सर्वस्नेही सभापति, (अर्यमा) न्यायकारी शासक ये (देवाः) सब विद्वान् गण (ओकांसि) अपने आश्रयस्थान (चक्रिरे) बनाते हैं।

परमेश्वर के पक्ष में—(यस्मिन् इन्द्रः वरुणः मित्रः अर्यमा देवाः ओकांसि चक्रिरे) जिस परमेश्वर में विद्युत्, चन्द्र, प्राण, वायु और अन्य पृथिवी आदि लोक और समस्त विद्वान् अपना आश्रयस्थान किये हुए हैं वह ब्रह्मणस्पति महान् जगत् और वेद का पालक परमेश्वर ही (उक्थ्यं) उपदेश करने और श्रवण करने योग्य (मन्त्रं) वेदमन्त्रों का भी (प्रवदति) उपदेश करता है। सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योग०॥

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व।
विश्वन्तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥

ऋ० २। २३। १९।

गृत्समद ऋषिः। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (ब्रह्मणस्पते) महान् राष्ट्र के पालक! विद्वन्! आचार्य! (यन्ता त्वम्) सब राष्ट्र को नियम में रखने हारा तू (अस्य सूक्तस्य) इस उत्तम उपदेश करने योग्य प्रवचन का (बोधि) स्वयं ज्ञान कर, औरों

को उपदेश कर। और हमारे (तनयं च) पुत्र आदि को (जिन्व) विद्या आदि में पुष्ट कर। (यत्) जब (देवाः) देव, विद्वान् पुरुष (अवन्ति) रक्षा करते हैं (तत्) तब (विश्वम्) समस्त कार्य (भद्रम्) सबको कल्याणकारी होता है। हम (सुवीराः) उत्तम वीर होकर (विदथे) संग्राम में और ज्ञानसंघ और यज्ञ में (बृहत्) बड़ा यश कहें या बड़े उत्तम २ ज्ञान का उपदेश करें।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर ! तू समस्त जगत् का नियन्ता है। तू इस वेदमय सूक्त का ज्ञान कराने वाला है। तू हमारे पुत्रादि का पोषण कर, समस्त कल्याणमय पदार्थ और आचरण को विद्वान् लोग पालन करें। हम यज्ञ में महान् वेद ज्ञान का प्रवचन, उच्चारण करें अथवा यज्ञ में हम (बृहत्) उस महान् परमेश्वर की स्तुति करें। स्तुति के मन्त्रों की प्रतीक आगे देते हैं।

य इमा विश्वा० । विश्वकर्म्मा० । यो नः पिता० ।
अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि० ॥ ५८ ॥

भा०—'य इमा विश्वा०' अ० १७।१७॥ 'विश्वकर्मा०' अ० १७।२६॥ 'यो नः पिता०' अ० १७।२७॥ 'अन्नपतेऽन्नस्यनो देहि०' अ० ११।८३॥ इन चारों मन्त्रों की व्याख्या उन २ स्थानों पर देखो।

॥ इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

अ० ३५, आदित्या देवाः वा ऋषयः । पितरो देवताः ॥

॥ओ३म्॥ अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः अस्य लोकः सुतावतः । द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमोददात्ववसानमस्मै ॥ १ ॥

पिपीलिकामध्या गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(असुम्नाः) दूसरों को सुख न देने वाले, दुःखकारी, परपीड़क, (देवपीयवः) विद्वानों, उत्तम पुरुषों और उत्तम गुणों के नाश करने वाले (पणयः) दूसरों के द्रव्य से व्यवहार करने वाले, धूर्त्त पुरुष (इतः) इस राष्ट्र से (अप यन्तु) दूर चले जांय । यह (लोकः) लोक, समस्त प्रजाजन (सुतावतः) अभिषेक को प्राप्त (अस्य) इस राजा के अधीन है । वह ही (यमः) सब राष्ट्र का नियन्ता होकर (द्युभिः) प्रकाश से युक्त, (अहोभिः अक्तुभिः) दिन और रातों से (व्यक्तं) प्रकाशित (अवसानम्) स्थान (अस्मै) इस बसने वाले लोक समूह को (ददातु) प्रदान करे ।

परमेश्वर के पक्ष में—दुष्ट पुरुष दूर हों । उत्तम कर्म करने वाले का यह लोक है । सर्व नियन्ता परमेश्वर इस जीव को दिन रात सूर्य चन्द्र नक्षत्रादि से प्रकाशित लोक प्रदान करता है ।

सविता ते शरीरेभ्यः पृथिव्यां लोकमिच्छतु ।
तस्मै युज्यन्तामुस्रियाः ॥ २ ॥

सविता देवता । गायत्री । षड्जः ॥

१—अथ पितृमेधसम्बन्धिनो मन्त्राः ॥

भा०—राजा के पक्ष में—(सविता) सबका प्रेरक राजा हे पुरुष ! (ते शरीरेभ्यः) तेरे सम्बन्धि जनों के शरीरों के भरण-पोषण के लिये (पृथिव्याम्) इस पृथिवी में (लोकम्) पर्याप्त उतना स्थान जितने की उत्तम रीति से वह देख भाल कर सके (इच्छतु) देवे । (तस्मै) इस राजा के लिये (उक्षियाः) बैल (युज्यन्ताम्) जोड़े जायं ।

परमेश्वर के पक्ष में—परमेश्वर जीव के शरीरों के भोग के लिये पृथिवी में स्थान दे । उस जीव के शरीर में, रथ में बैलों के समान ज्ञान ग्राहक प्राण प्रदान करता है । अथवा उसी को देह से देहान्तर में और लोक से लोकान्तर में ले जाने के लिये किरणों को युक्त करता है । किरणों द्वारा जीव लोक-लोकान्तर में गमन करते हैं ।

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्य्यस्य वर्चसा ।
विमुच्यन्तामुक्षियाः ॥ ३ ॥

सविता देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—कृषिपक्ष में—हल वाह देने पर क्षेत्र को (वायुः) वायु (अग्नेः) आग की (भ्राजसा) ज्वाला से और (सविता) सूर्य (सूर्यस्य वर्चसा) अपने ही प्रकाश से (पुनातु) क्षेत्र को पवित्र करे । इस-लिये (उक्षियाः) बैल (विमुच्यन्ताम्) छोड़ दिये जांय ।

जीवपक्ष में—जब जीव शरीर त्याग कर जाता है तो उसे (वायुः) वायु अर्थात् ज्ञानी पुरुष (अग्नेः भ्राजसा) अग्नि या परमेश्वर के दीप्ति से और (सविता सूर्यस्य वर्चसा) सर्वोत्पादक सूर्य प्रभु अपने प्रकाश से पवित्र करे । और देहान्तर प्राप्ति के समय वे पूर्वोक्त (उक्षियाः) सहयोगी कारण भी (विमुच्यन्तां) उससे छूट जांय ।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ४ ॥

ऋग्० १०।९७।५ ॥

वायुः सविता च देवते । अनुष्टुप् । गान्धरः ॥

भा०—हे मनुष्यो ! क्योंकि (वः) आप लोगों का (नि-सदनम्) नियम में रहना (अश्वत्थे) अश्वारूढ़ सावधान, क्षत्रिय राजा के अधीन है और (वः वसतिः) आप लोगों का निवासस्थान भी (पर्णे) पालन करने हारा राजा के अधीन (कृता) की गई है, अतः (यत्) जब (पूरुषम्) अपने गुरु या अध्यक्ष राजा जो (सनवथ) उसका भाग दे चुको तो आप लोग (गोभाजः) पृथिवी की उपज और वेद वाणी का सेवन करने वाले । (इत्) ही होकर (किल) निश्चय से (असथ) रहो । व्याख्या देखो अ० ११।७९॥

परमेश्वर के पक्ष में—हे जीवो ! तुम लोगों की स्थिति (अश्वत्थे) कल तक भी स्थिर न रहने वाले, अनित्य और (पर्णे) पत्ते के समान चञ्चल संसार में की है । इसलिये (यत्) अब तुम (पुरुषम् सनवथ) परमेश्वर को उपासना करो तो (गोभाजः इतकिल असथ) वेदवाणी, इन्द्रिय किरण आदि का सेवन करने वाले ज्ञानवान्, भोगवान् होवो ।

सविता ते शरीराणि मातुरुपस्थ आ वपतु ।
तस्मै पृथिवि शं भव ॥ ५ ॥

पूर्ववत् ।

भा०—हे जीव ! (सविता) सबका प्रेरक राजा (ते शरीराणि) तेरे शरीरों को, तेरे सम्बन्धि जनों को (मातुः) माता के समान पालक पोषक पृथिवी के (उपस्थे) ऊपर (आवपतु) स्थापित करे । हे (पृथिवि) पृथिवि ! (तस्मै) उस प्रजाजन को तू (शं भव) कल्याणकारिणी हो ।

जीव के प्रजनन पक्ष में—उत्पादक पिता हे जीव तेरे शरीरों को (मातुः) जननी के (उपस्थे) प्रजननाङ्ग में (आवपतु) बीज रूप से वपन करे । हे (पृथिवि) पृथिवी के समान आश्रय देने वाली माता उस गर्भगत जीव को (शं भव) शान्तिदायिन हो ।

परमेश्वर तुझ जीव के शरीरों को पृथ्वी पर स्थापित करे, पृथ्वी जीव को सुखदायिनी हो ।

प्रजापतौ त्वा देवतायामुपादधके लोके निदधाम्यसौ ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ६ ॥

प्रजापतिर्देवता । उष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—हे (असौ) पुरुष, प्रजाजन ! (त्वा) तुझको मैं (प्रजापतौ) प्रजा के पालक राजा के अधीन (उप-उदके लोके) पानी के समीप स्थित प्रदेश में (निदधामि) नियत रूप से स्थापित करता हूं । वह प्रजापालक राजा ही (नः) हमारे (अघम्) पापाचरण, परस्पर घात प्रतिघात आदि को (नः) हममें से (अप शोशुचत्) मल को अग्नि से जला कर नष्ट कर देने के समान दूर कर दे ।

हे जीव ! जलादि जीवनोपयोगी लोक में मैं तुझे स्थापित करता हूं उस परमेश्वर के अधीन तू रह वही हमारे पापों को दग्ध कर दूर करे ।

परो मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते ऽअन्य ऽइतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजा रीरिषो मोत वीरान् ॥७

ऋ० १० । १८ । १ ॥

यमपुत्रः संकसुक ऋषिः । मृत्युर्देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (मृत्यो) दुष्टों के मारने वाले राजन् ! (यः) जो (ते) तेरा (देवयानात्) देवों-विद्वानों के गमन करने योग्य मार्ग से (इतरः) दूसरा (अन्यः) कोई और भिन्न मार्ग है तू उस (परं पन्थान् अनु) दूसरे मार्ग को लक्ष्य करके (परा इहि) दूर ही से चला जा । (चक्षुष्मते) आंखों वाले, बुद्धिमान् और (शृण्वते) कानों वाले, प्रजाहितैषी (ते) तुझे (ब्रवीमि) उपदेश करता हूं कि तू (नः) हमारी (प्रजां) प्रजा

६—मासौ ॥ पर० इति काण्व० ।

को (उत) और (वीरान्) वीर पुरुषों को (मा रीरिषः) मत मार, उनका नाश मत कर, नियन्ता राजा शिष्टजनों के सदाचार से अतिरिक्त सदाचार के मार्ग पर दृष्टि रक्खे। वह आंख से प्रजा का व्यवहार देखे, कानों से उभय पक्ष का सुने। व्यर्थ प्रजा और वीर पुरुषों को न सतावे।

मृत्यु के पक्ष में—हे मृत्यो ! तू (देवयाना) अर्थात् विद्या के बल पर मोक्ष मार्ग के अतिरिक्त मार्ग से जा अर्थात् ज्ञान मार्गियों के लिये मृत्यु नहीं है जन्म मरण का चक्र पितृयाण वालों को और अविद्यामार्गियों को है। चक्षुष्मान् और कर्णवान् पुरुष तुझे ज्ञान का उपदेश करता है जिससे बाल प्रजा और वीर्यवान् युवा पुत्रों को मृत्यु न सतावे।

शं वातः शꣳ हि ते घृणिः शं ते भवन्त्विष्टकाः।
शं ते भवन्त्वग्नयः पार्थिवासो मा त्वाभि शूशुचन् ॥ ८ ॥

विश्वेदेवा देवताः। अनुष्टुप्। गान्धारः।

भा०—हे पुरुष ! हे जीव ! हे प्रजाजन ! (वातः) वायु (ते शम्) तुझे सुखकारी और कल्याणकारी हो, (घृणिः ते शम्) सूर्य भी तुझे सुख कर हो (इष्टकाः) ईटें, ईटों से बने गृह आदि, तथा यज्ञ कर्म, अथवा तेरे अन्य इष्ट अभिलषित पदार्थ और प्रिय सम्बन्धी जन (ते शं भवन्तु) तुझे शान्तिदायक हों। (पार्थिवासः अग्नयः) इस पृथिवी पर के प्रसिद्ध अग्नि, विद्युत् आदि अथवा अग्नि के समान तेजस्वी पृथ्वी के राज काज ये सभी (ते शं भवन्तु) तुझे शान्ति प्रदान करें, वे (त्वा) तुझे (मा अभि शूशुचन्) न सतावें, दग्ध न करें। तेरे शोक और खेद का कारण न हों।

कल्पन्तान्ते दिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षꣳ शिवं तुभ्यं कल्पन्तान्ते दिशः सर्वाः ॥ ९ ॥

विश्वेदेवाः देवताः। बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे जीव ! प्रजाजन ! राजन् ! (दिशः) दिशाएं दिशाओं के

समस्त प्रजाजन (ते) तेरे लिये हितकारी (कल्पन्ताम्) हों। (आपः तुभ्यम् शिवतमाः) आप्त जन और जल भी तेरे लिये अत्यन्त कल्याणकारी हों। (सिन्धवः तुभ्यं शिवतमाः भवन्तु) वहने वाले नद नदियां और राष्ट्र को सूत्र में बांधने वाले वलवान् पुरुष तेरे लिये कल्याणकारी हों। (अन्तरिक्षं तुभ्यं शिवम्) अन्तरिक्ष, आकाश तथा अन्तरिक्ष के समान मध्यस्थ जन भी तेरे लिये सुखकर हों। (सर्वाः दिशः ते कल्पन्ताम्) समस्त दिशाएं और उपदिशाएं तथा उत्तम उपदेश देने हारे गुरुजन तुझे सुखकर हों।

अश्मन्वती रीयते सꣳ रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा ये ऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥१०॥
ऋ० १० । ५३ । ८ ॥

भा०—हे (सखायः) मित्र जनो ! जिस प्रकार (अश्मन्वती) पत्थरों से भरी हुई नदी (रीयते) जारही हो तो (सं रभध्वम्) उसको पार करने के लिये तैयारी करते, (उत् तिष्ठत) उठ खड़े होते, और (प्रतरत) उसको अच्छी प्रकार पार करते। (अत्र) उसमें ही (ये अशिवाः असन्) जो असुखकर, दुःखदायी मल हों उनको हम (जहीमः) त्याग देते और (वयम्) हम (वाजान्) अन्नादि ग्राह्य पदार्थों को नदी से हैं (उत् तरेम) उत्तम रीति से प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार (अश्मन्वती रीयते) शस्त्रों से युक्त यह सेना चल रही है। (संरभध्वम्) शत्रु विजय का उद्योग करो। (उत् तिष्ठत) उठो, (प्र तरत) आगे बढ़ो। (अत्र) इस संग्राम में ये (अशिवाः असन्) हमारे अकल्याण-कर कष्टदायी शत्रु हैं उनको (जहीमः) त्याग दें, नाश करें और (वयम्) हम (वाजान् अभि) संग्रामों और ऐश्वर्यों को लक्ष्य करके (उत् तरेम) उत्तम रीति से, शत्रु से ऊंचे रह कर चलें और ऐश्वर्यों को प्राप्त करें।

अपाघमप किल्बिषमप कृत्यामपो रपः।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव ॥ ११ ॥

शुनःशेप ऋषिः । अपामार्गो देवता । विराट् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—हे (अपामार्ग) दुष्टों को दूर करके राष्ट्र के कण्टकों को शोधन करने हारे राष्ट्रपते ! (त्वम्) तू (अस्मत्) हमसे (अघम् अप सुव) पाप, परस्पर के घात प्रतिघात को दूर कर । (किल्विषम् अप सुव) व्यर्थ, विचारशून्यता से पर-अपकार करने के पाप कृत्य को भी दूर कर । (कृत्याम् अप सुव) शत्रु से प्रयुक्त गुप्त हत्या के घातक प्रयोग को दूर कर । (रपः अप) बलात्कार से स्त्री आदि पर किये व्यभिचार आदि पापों को भी दूर कर । (दुःस्वप्न्यम् अप सुव) दुःख सहित निद्र होने के कारण को, अथवा दुःखकारी स्वप्न और मृत्यु को भी दूर कर ।

अघ, किल्विष, कृत्या, रपः, दुष्वप्न्य आदि यद्यपि सभी सामान्यतः पापवाचक और विशेषतः भिन्न २ प्रकार के अपराधों को दिखाते हैं । कृत्या और अपामार्ग के प्रकरणों के स्पष्टी करण अथर्ववेद भाष्य में विस्तार से किया गया है। 'दुःष्वप्न्य' का प्रकरण भी अथर्ववेद में ही विस्तार से कहा गया है । अपामार्ग ओषधि, स्वप्न दोष आदि रोगों को दूर करती है । उसी [illegible]ग से प्रजा के भीतर से पापों और हत्या आदि दुष्कर्मों को दूर कर-[illegible] भी 'अपामार्ग' कहाता है । करनेवाला अधिकारी विभ[illegible]

सुमित्रिया न ऽआप ऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ १२ ॥

आपो देवताः । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ६ । २२ ॥ अ० २० । १९ ॥

(नः) हमारे लिये (आपः ओषधयः) जल और ओषधियें और और आप्त जन (सुमित्रियाः) शुभ स्नेह वाले मित्र जनों के समान हिताचरण वाले, सुखकारी और मित्र हों । जो हम से द्वेष करें और हम जिससे द्वेष करें उसके लिये वे दुखदायी हों ।

अनड्वाहमुन्वारभामहे सौरभेय꣡ꣳ स्वस्तये ।
स न ऽइन्द्र ऽइव देवेभ्यो वह्निः सुन्तरणो भव ॥ १३ ॥

अनड्वान् देवता । अनुष्टुप् । गांधारः ॥

भा०—(अनड्वाहम्) शकट को खींचने के लिये जिस प्रकार लोग बड़े बैल को प्राप्त करते हैं और 'अनः' अर्थात् यज्ञ को धारण करने वाले अग्नि को जिस प्रकार याज्ञिक लोग ग्रहण करते हैं उसी प्रकार (अनड्वाहम्) गाड़ी के समान राष्ट्र के शकट को उठाने में समर्थ (सौरभेयम्) सुरभि अर्थात् समस्त सुखदायी कामधेनु, उत्तम भूमि के परम हितकारी, मातृभूमि के सच्चे पुत्र राजा को हम (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आरभामहे) प्राप्त करें, स्थापित करें । (सः) वह (इन्द्रः इव) सूर्य और वायु के समान तेजस्वी, बलवान्, ऐश्वर्यवान् सेनापति और राजा होकर अथवा (देवेभ्यः इन्द्रः इव) इन्द्रियों के लिये आत्मा के समान (वन्हिः) समस्त राज्याङ्गों और देवों को वहन करने में समर्थ और उनका नेता होकर (संतरणः भव) सबको भली प्रकार युद्ध आदि के और राज्यकार्यों के पार लगाने वाला नाव के समान आश्रय और कर्णधार के समान नायक हो ।

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽउत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १० । २१ ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ १५ ॥

संकसुक ऋषिः । मनुष्या मृत्युर्वा देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—(जीवेभ्यः) जीवों की रक्षा के लिये मैं राजा (इमं) इस (परिधिम्) नगर के चारों ओर परकोट के समान रक्षा का साधन (दधामि) स्थापित करता हूं । जिससे (अपरः) दूसरा शत्रु पुरुष (एषाम्) इन

महे स्वस्तये इति काण्व० ।

मेरे प्रजाजनों के (एतम्) इस (अर्थम्) धन को (मा नु गात्) प्राप्त न करे । वे प्रजाजन (पुरूचीः) बहुत से ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले होकर (शतं शरदः जीवन्तु) सौ २ वर्ष जीवें । (पर्वतेन) शत्रु को जिस प्रकार पर्वत आदि अलङ्घ्य पदार्थ से परे रक्खा जाता है उसी प्रकार (मृत्युम्) मृत्यु को और अन्य मरने के कारण रूप शत्रु और हिंसक जीवों को भी (पर्वतेन) पालन पोषण सामर्थ्यों से युक्त राजा द्वारा तथा पर्व, अध्यायों और काण्डों से युक्त वेद के ज्ञानकाण्ड द्वारा और पर्व अर्थात् बाण आदि से युक्त सेना द्वारा (अन्तः दधाताम्) दूर करें ।

अग्न ऽआयू'ꣳषि पवस ऽआ सुवोर्ज्जमिषञ्च नः ।
आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १६ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० १९ । ३८ ॥

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभि रक्षतादिमान्त्स्वाहा॥१७॥

वैखानस ऋषिः । अग्निर्देवता । स्वराट् त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे (अग्ने) अग्ने ! ज्ञानवन् ! अग्नि के समान तेजस्विन् ! राजन् ! तू (हविषा) अन्न के समान ग्रहण योग्य षष्ठांश राज-कर से (वृधानः) बढ़ता हुआ (आयुष्मान्) दीर्घायु होकर (घृतप्रतीकः) तेज को सब के प्रति दर्शाने हारा अथवा जल के समान शान्तस्वभाव का विश्वास दिलाने वाला, अथवा तेजस्वी मुख वाला होकर और (घृतयोनिः) मेघस्थ जल में रहने वाले विद्युत् या समुद्र वासी और अग्नि या घृत से तीव्र अग्नि के समान तेज, पराक्रम को अपना आश्रय बना कर (एधि) राष्ट्र में रह । तू (गव्यं चारु मधु घृतं पीत्वा) गौ के उत्तम मधुर घृत को पान करके जिस प्रकार अग्नि तेज को धारण करता है उसी प्रकार (गव्यं) गौ अर्थात् पृथिवी के हितकारी, (चारु) उत्तम, एक देश से देशान्तरों में जाने वाले, (मधु) मधुर एवं शत्रुओं के पीड़ा देने वाले, बलस्वरूप

(घृतं) तेजस्वी सैन्यबल रूप तेज को धारण करके, (पिता पुत्रम् इव) पिता जिस प्रकार पुत्रकी रक्षा करता है उसी प्रकार (इमान्) इन राष्ट्र के प्रजाजनों की (स्वाहा) उत्तम प्रकार से ज्ञान पूर्वक (अभि रक्षतात्) सब प्रकार से रक्षा कर ।

परीमे गामनेषत पर्य्यग्निमहृषत ।
देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ२॥ आ दधर्षति ॥ १८ ॥

ऋ० १० । १५ । ५ ॥

भारद्वाजः शिरिम्बिठ ऋषिः । इन्द्रो देवता । विराड् अनुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(इमे) ये राजा के जन और प्रजावर्ग भी (गाम्) पृथ्वी को और वाणी को (परि अनेषत) प्राप्त करते हैं अथवा (गाम्) शकट के वहन करने वाले बैल के समान कार्य-भार को उठाने में समर्थ पुरुष पुंगव को (परि अनेषत) सब प्रकार से नेता रूप से स्वीकार करें । और (अग्निम्) अग्नि के समान तेजस्वी और अग्रणी नायक को ही (परि अहृषत) सर्वत्र ले जावें, अपने ऊपर धारण करते रहें । और (देवेषु) विद्वान् ब्राह्मणों के अधीन रह कर (श्रवः अक्रत) वेदोपदेश का श्रवण करें । तब (इमान्) इन विद्वान्, निष्ट पुरुषों को (कः) कौन (आद्-धर्षति) पराजित कर सकता है ।

इसी प्रकार सब लोग ब्रह्मचर्य से गौ अर्थात् वेद-वाणी का अभ्यास करें फिर अग्नि-आधान पूर्वक गृहस्थ करें, फिर श्रवण योग्य ब्रह्म विद्या का विद्वानों से श्रवण करें । फिर मृत्यु भी उनको नहीं पछाड़ सकता ।

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ १९ ॥

अथर्व० १२ । २ ॥

दमन ऋषिः । क्रव्यादाग्निर्जातवेदाश्च देवते । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—मैं (क्रव्यादम्) कच्चा मांस खाने वाले, (अग्निम्) आग

के सगान संतापकारी दुष्ट जन को (दूरं प्र हिणोमि) दूर भगाऊं। (प्रवाहः) पापों के फैलाने वाला या धारनेवाला पुरुष (यमराज्यं) नियन्ता राजा के राज्य को (गच्छतु) प्राप्त हो। अर्थात् वह राजा के दमनकारी बल के अधीन रहे। और (इतरः) दूसरा पुण्यकर्मा (जातवेदाः) जो अग्नि के समान तेजस्वी, ज्ञानवान् ऐश्वर्यवान् वेदज्ञ पुरुष है (अयम्) यह (इहैव) यहां, इस राष्ट्र में ही (प्रजानन्) उत्कृष्ट ज्ञान से युक्त होकर (हव्यं) ग्रगह करने योग्य अन्न आदि पदार्थ और अधिकार को भी (वहतु) प्राप्त करे।

वह वपां जातवेदः पितृभ्यो यत्रैनान्वेत्थ निहितान् पराके। मेदसः कुल्या उप तान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सं नमन्ताꣳस्वाहा २०

जातवेदा देवता। त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे (जातवेदः) ऐश्वर्यवन्! हे ज्ञानवान् पुरुष! तू (पितृभ्यः) पालन करने वाले पुरुषों के हित के लिये (वपां) बीज वपन करने योग्य भूमि को (वह) प्रदान कर, अथवा उनके हित के लिये इस भूमि को तू स्वयं धारण कर। और (यत्र) जहां (पराके) दूर देश में भी तू (एना) इनको (निहितान्) नियुक्त हुआ या स्थित हुआ जाने, वहां भी उनकी रक्षा के लिये (वपां वह) शत्रुओं को खण्डन करने वाली सेना को पहुंचा। इसी प्रकार (मेदसः) जल की (कुल्याः) धाराएं, नहरें (तान् उप स्रवन्तु) उन तक पहुंचे। (एषाम्) उनकी (आशिषः) सब कामनाएं (स्वाहा) उत्तम क्रिया द्वारा (सत्याः) सत्य एवं सज्जनों के हितकारी होकर (सं नमन्ताम्) फलें फूलें, पूरी हों।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचदघम् ॥ २१ ॥ ऋ० १। २२। १५॥

मेधातिथिर्ऋषिः। पृथिवी देवता। गायत्री यजुरन्ता। षड्जः॥

२०—शिषः कामाः स्वाहा इति काण्व०।

भा०—हे (पृथिवि) पृथिवि ! तू (नः) हमारे लिये (स्योना) सुखकारिणी, (अनृक्षरा) कांटों और बाधक शत्रु और दुष्ट पुरुषों से रहित और (निवेशनी) बसने योग्य (भव) हो। तू (सप्रथाः) सब प्रकार से विस्तृत होकर (नः) हमें (शर्म यच्छ) शरण और सुख प्रदान कर। (नः) हमारे (अघम्) पाप को भी (अप शोशुचत्) दग्ध करके दूर कर।

अस्मात्त्वमधि जातोऽसि त्वदयं जायतां पुनः।
असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा ॥ २२ ॥

अग्निर्देवता। स्वराड् गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे अग्ने ! अग्रणी नायक ! विद्वन् ! (त्वम्) तू (अस्मात्) इस लोक, प्रजाजन से ही (अधिजातः असि) ऊपर उठकर उसपर अध्यक्ष रूप से अधिकारवान् बनाया गया है इसलिये (अयं) यह लोक भी (त्वत्) तेरे से ही (पुनः) पुनः (जायताम्) ऐश्वर्यवान् हो। (असौ) वह तू (स्वर्गाय लोकाय) सुखप्रद जनसमूह के हित के लिये (सु-आहा) उत्तम कर्म और सत्य न्याय करे।

॥ इति पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः

[अ० ३६–४०] दध्यङ् आर्थवण ऋषिः । (अ० ३६) शान्तिकरणः ॥

॥ओ३म्॥ ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥१॥

भा०—(ऋचं वाचं प्रपद्ये) मैं मननशील अन्तःकरण के तुल्य यजुर्वेद को प्राप्त होऊं । (साम प्राणं प्रपद्ये) प्राण अर्थात् योगाभ्यासादि उपासना के निदर्शक सामवेद को प्राण के तुल्य जानूं और प्राप्त करूं । (चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये) 'चक्षुः' वेद अर्थात् अथर्ववेद को 'श्रोत्र', कर्ण के समान जान कर उसको धारण करूं । अथवा—वाणी से ऋग्वेद को, यजुर्वेद को मन से, प्राण बल से सामगान के वेद को और चक्षु और श्रोत्र को मैं प्राप्त करूं । (वाग् ओजः) वाणी, मानस बल और (सह) उनके साथ (ओजः) शरीर-बल और (प्राणापानौ) प्राण और अपने उच्छ्वास और निःश्वास दोनों भी (मयि) मुझ में विद्यमान रहें ।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ २ ॥

बृहस्पतिर्देवता । निचृत्पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(मे) मेरे (चक्षुषः) आंख, (हृदयस्य) हृदय और (मनसः) मन का (यत् छिद्रम्) जो छिद्र या त्रुटि हो (वा) और जो इन इन्द्रियों का छिद्र (अति तृण्णं) अति अधिक पीड़ित हो (तत्) उसको

अथातः प्रवर्ण्याग्नि काश्वमेधोपनिषत् ।

१—सहोजो० इति काण्व० ।

(बृहस्पतिः) महान् राष्ट्र का स्वामी और बड़े जगत् का पालक परमेश्वर और वेदवित् विद्वान् (मे) मेरे उसको (दधातु) पुष्ट करे । और (यः) जो (भुवनस्य पतिः) समस्त भुवनों, प्रदेशों और लोकों का स्वामी, परमेश्वर है वह (नः शं भवतु) हमें सुखकारी शान्तिदायक हो ।

भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २ ॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥ ४ ॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
दृढा चिदारुजे वसु ॥ ५ ॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् ।
शतम्भवास्यूतिभिः ॥ ६ ॥

भा०—(२—६) इन चारों मन्त्रों की व्याख्या देखो अ० २ । ३५, २७, ३९—४१ ॥

कया त्वं न ऽऊत्याभि प्र मन्दसे वृषन् ।
कया स्तोतृभ्य ऽआ भर ॥ ७ ॥ ऋ० ८ । ८२ । १९ ॥

इन्द्रो देवता । वर्धमाना गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे (वृषन्) सुखों और ऐश्वर्यों के वर्षक परमेश्वर एवं राजन् ! (त्वं) तू (कया ऊत्या) किस प्रकार की रक्षाविधि से (अभि प्र मन्दसे) प्रजाओं को प्रसन्न करता है । और (स्तोतृभ्यः) स्तुतिशील विद्वानों के (कया) किस पालन क्रिया से (आ भर) सब प्रकार से समृद्धि प्राप्त करता है ? उससे हमें भी समृद्ध कर ।

इन्द्रो विश्वस्य राजति ।
शन्नो ऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥

५—'दृळ्हा० इति काण्व० ।

इन्द्रो देवता । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (विश्वस्य राजति) समस्त संसार के बीच प्रकाशमान है इसी प्रकार राजा समस्त राष्ट्र में (राजति) तेजस्वी होकर विराजे । वह (नः) हमारे (द्विपदे चतुष्पदे शम् अस्तु) दोपाये मनुष्य, भृत्य आदि और चौपाये पशुओं के लिये भी सुखदायी और कल्याणकारी हो ।

शन्नो॑ मि॒त्रः शं व॑रु॒णः शन्नो॑ भवत्वर्य्य॒मा ।
शन्न॒ऽइन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒: शन्नो॒ विष्णु॑रुरुक्र॒मः ॥ ६ ॥

ऋ० १ ६० । ९ ॥

भा०—(मित्रः नः शम्) प्राण के समान सबका स्नेही, ईश्वर और राजा हमें सुखकारी हो । (वरुणः नः शं) जल के समान शान्तिप्रद वह हमें सुखकारी हो । (अर्यमा नः शं भवतु) न्यायाधीश और न्यायकारी परमेश्वर हमें शान्तिकारक सुखदायी हो । (इन्द्रः) शत्रु का नाशकारी, परमैश्वर्यवान्, (बृहस्पतिः) बड़े भारी राष्ट्र का पालक राजा और बृहती वेदवाणी का पालक, आचार्य, परमेश्वर (नः शं) हमें सुखदायी हो । (उरुक्रमः) संसार की रचना में बहुत प्रकारों से चेष्टा करने वाला परमेश्वर और महान् विक्रमशील राजा (विष्णुः) सेनापति, व्यापक सामर्थ्यवान् व्यापक ईश्वर और राजा (नः शम्) हमें सुखदायक हो ।

शन्नो॑ वा॒तः प॑वता॒ꣳ शन्न॑स्तपतु॒ सूर्य्यः॑ ।
शन्नः॑ कनि॒क्रद॒द्देवः॒ पर्ज॑न्यो॒ऽअ॑भि वर्षतु ॥ १० ॥

अथर्व० ७ । ६९ । १ ॥

वातादयो देवताः । विराड्नुष्टुप् । गान्धारः ॥

भा०—(वातः) वायु (नः) हमें (शं पवताम्) सुखकरी होकर बहे । वह व्याधिजनक न हो । (नः सूर्यः शं तपतु) हमारे लिये सूर्य शान्तिदायक होकर तपे । रोगों को नष्ट करे । (कनिक्रदत्) गर्जता हुआ

(देवः) जलप्रद (पर्जन्यः) उत्तम रस बरसाने वाला मेघ और धर्म मेघमय प्रभु (नः शम् अभिवर्षतु) हमें सुख शान्ति वर्षे ।

अहा॑नि॒ शं भव॑न्तु नः॒ शꣳ रात्री॒ः प्रति॑ धीयताम् । शन्न॑ इन्द्रा॒ग्नी भव॑ताम॒वो॑भिः॒ शन्न॒ इन्द्रा॑वरु॒णा रा॒तह॑व्या । शन्न॒ इन्द्रा॑पू॒षणा॒ वाज॑सातौ॒ शमिन्द्रा॑सोमा॒ सुवि॒ताय॒ शं योः ॥ ११ ॥

ऋ० ७ । ३५ । १ ॥

लिङ्गोक्ता देवताः । अति शक्करी । पञ्चमः ॥

भा०—(नः) हमारे लिये (अहानि शं भवन्तु) दिन सुखकारी हों । (रात्रीः) रातें भी (नः शं) हमें शान्तिदायक (प्रतिधीयताम्) रहें । (इन्द्राग्नी) विद्युत् और अग्नि (अवोभिः) अपने नाना रक्षा साधनों से (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (इन्द्रवरुणा) इन्द्र और वरुण, सूर्य और मेघ, विद्युत् और जल दोनों भी (रातहव्या) प्रजा को अन्न देने वाले होकर (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (इन्द्र पूषणा) इन्द्र और पूषा, सूर्य और पृथिवी (वाजसातौ) अन्नों और ऐश्वर्यों के प्राप्त कराने के निमित्त संग्राम में (नः शम्) हमें शान्तिदायक हों । (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोम, सूर्य और ओषधिगण (सुविताय) उत्तम फल प्रदान करने और उत्तम सन्तान प्रसव करने के लिये (शंयोः) रोगों का शमन और भय संकट का निवारण करें ।

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ ऽआपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १२ ॥

आपो देवताः । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे विद्वन् ! हे राजन् ! (देवीः आपः) दिव्य गुणों से युक्त जल, विद्वान् आप्त पुरुष, उत्तम कर्म और ज्ञान (नः अभिष्टये)

११—रात्रिः इति काण्व० ।

हमारे इष्ट कार्यों को सिद्ध करने के लिये (शं नः) हमें शान्तिदायक हों। और वे (पीतये भवन्तु) पान और पालन करने के लिये भी हों। वे ही (नः) हमें (शंयोः अभिस्रवन्तु) शान्ति सुख के वर्षण करने और बहाने वाले हों।

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ३५। २१ ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥ १४ ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥ १५ ॥
तस्मा अरङ्गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥ १६ ॥

भा०—[१४-१६] तीनों मन्त्रों की व्याख्या [अ० ११। ५०-५२] द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

अथर्व० १९। ११४ ॥

भा०—(द्यौः) महान् आकाश या सूर्य (शान्तिः) शान्ति देने वाला हो। (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष, (पृथिवी) पृथिवी, (आपः) जल, (ओषधयः) ओषधिगण, (वनस्पतयः) वट आदि बड़े वृक्ष, (विश्वे-देवाः) समस्त विद्वान्गण और तेजोमय पदार्थ और (ब्रह्म) चारों वेद और परमेश्वर और अन्न ये सभी (शान्तिः) शान्ति के देने वाले होने से शान्तिमय हों। (सर्वं शान्तिः) सब पदार्थ शान्तिप्रद हों। (शान्तिः एव शान्तिः) शान्ति स्वयं हृदय को शान्ति दे, दुःखों का शमन करे। (सा) वह परम (शान्तिः) शान्ति (मा एधि) मुझे प्राप्त हों।

दते दꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १८ ॥ अथर्व ४ । १५ । १६ ॥

भा०—हे (दते) समस्त दुःखों और अज्ञानों के विदारक ! महावीर राजन् ! परमेश्वर ! (मा दंह) मुझे दृढ़ कर । (मा) मुझको (सर्वाणि भूतानि) समस्त प्राणी गण (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आंख से (समीक्षन्ताम्) देखें और (अहम्) मैं भी (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों को (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आंख से (समीक्षे) देखूं । हम सब (मित्रस्य चक्षुषा) मित्र की आंख से (समीक्षामहे) एक दूसरे को भली प्रकार देखा करें ।

दते दꣳह मा । ज्योक्ते सꣳदृशि जीव्यासꣳ ।
ज्योक्ते सꣳदृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

भा०—हे (दते) अज्ञान और पापनाशक ! राजन् ! परमेश्वर ! (मा दंह) मुझ प्रजाजन और उपासक को दृढ़ कर । मैं (ते) तेरे (संदृशि) सम्यक् ज्ञानरूप दर्शन और अध्यक्षता में (जीव्यासम्) जीवन धारण करूं, दीर्घ जीवन जीऊं । (ते संदृशि) तेरे समान निष्पक्षपात उत्तम शासन और निरीक्षण में (ज्योक् जीव्यासम्) दीर्घ जीवन व्यतीत करूं ।

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे । अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ २० ॥

भा०—व्याख्या देखो १७ । ११ ॥

नमस्ते ऽअस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥

भगवान् ईश्वरो देवता । अनुष्टुप् गांधारः ॥

भा०—(विद्युते ते नमः) विद्युत् के समान तेजस्वी तुझे नमस्कार है। (स्तनयित्नवे ते नमः) मेघ के समान गर्जन करने वाले तुझे नमस्कार है। हे (भगवन्) ऐश्वर्यवन् राजन् एवं परमेश्वर ! (यतः स्वः समीहसे) क्योंकि तू ही समस्त प्राणियों को सुख देने के लिये समस्त व्यापार कर रहा है अतः (ते नमः अस्तु) तुझे सदा नमस्कार हो।

यतो॑ यतः समीह॑से ततो॑ नो॒ऽअभ॑यं कुरु।
शं नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यं नः॒ प॒शुभ्यः॑ ॥ २२ ॥

भगवान् देवता। भुरिगुष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—हे भगवन् ! राजन् ! ईश्वर ! तू (यतः यतः समीहसे) जिस २ कारण से, जिस २ स्थान और कर्म से (सम् ईहसे) चेष्टा करे। (ततः नः अभयं कुरु) वहां २ से तू हमें भय रहित कर। (नः प्रजाभ्यः शं कुरु) हमारी प्रजाओं के लिये शान्ति प्रदान कर (नः पशुभ्यः) हमारे पशुओं के लिये (अभयम् कुरु) अभय प्रदान कर।

सु॒मि॒त्रिया॒ न॒ऽआप॒ ओष॑धयः सन्तु दुर्मित्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु।
यो॒ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यञ्च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २३ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ६। २२ ॥

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमु॑च्चर॒त्। पश्ये॑म श॒रद॑ः श॒तं जीवे॑म श॒रद॑ः श॒तꣳ शृ॑णुयाम श॒रद॑ः श॒तं प्र ब्र॑वाम श॒रद॑ः श॒तमदी॑नाः स्याम श॒रद॑ः श॒तं भूय॑श्च श॒रद॑ः श॒तात् ॥ २४ ॥

ऋ० ७। ६६। १६ ॥

सूर्यो देवा। ब्राह्मी त्रिष्टुप्। धैवतः ॥

भा०—(तत्) वह (देवहितम्) देवों-विद्वानों का हितकारक, विद्वानों द्वारा स्थापित, (पुरस्तात्) सर्वत्र समक्ष (शुक्रम्) शीघ्र कार्य करने में कुशल, एवं शुद्ध, तेजस्वी, (चक्षुः) आंख के समान सबका निरीक्षक,

सर्वाध्यक्ष होकर (उत् चरत्) सब उत्तम पद पर विराजता और कार्य करता है। उसी प्रकार परमेश्वर भी (पुरस्तात्) पूर्व काल से ही शुद्ध सर्वज्ञ देवों विद्वानों का हितकारी (उत् चरत्) सब से उच्च रहकर सब को जानता है। इसी प्रकार सर्वद्रष्टा, सबकी आंख के समान पदार्थ निदर्शक होकर शुद्ध तेज प्रदान करता है। उसी के प्रताप से हम (शरदः शतम्) सौ बरसों तक (पश्येम) देखें। (शरदः शतं जीवेम) सौ बरसों तक जीवें। (शरदः शतं शृणुयाम) सौ बरसों तक श्रवण करें। (शरदः शतं प्र ब्रवाम) सौ बरसों तक उत्तम रीति से बोलें। (शरदः शतम् अदीनाः स्याम) सौ बरसों तक दीनता रहित होकर रहें। (शरदः शतात् भूयः च) और सौ बरसों से भी अधिक वर्षों तक हम देखें, जीवें, सुनें, बोलें और अदीन होकर रहें।

॥ इति षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आ ददे नारिरसि ॥ १ ॥

ऋषिरुक्तः । सविता देवता । निचृदुष्णिक् । ऋषभः ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ५ । १४ ॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥२।

भा०—व्याख्या देखो अ० ५ । १४ ॥

देवी द्यावापृथिवी मखस्य वामद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ३ ॥

द्यावापृथिव्यौ देवते । गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(देवी) दिव्य गुणों से युक्त (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी, सूर्य और भूमि के समान राजा-प्रजावर्गों ! (वाम्) तुम दोनों के (मखस्य) परस्पर त्रुटि रहित राज्य पालन रूप यज्ञ के (शिरः) सिर के समान मुख्य पुरुष को (पृथिव्याः) पृथिवीनिवासिनी प्रजा के (देवयजने) विद्वानों, राजगण और विजिगीषु पुरुषों के यज्ञस्थान या संगत, एकत्र होने के स्थान में (राध्यासम्) उत्तम रीति से बनाऊं । हे वीर पुरुष (त्वा) तुझको (मखाय) त्रुटि रहित राज्य पालनरूप यज्ञ के लिये नियुक्त करता हूं । तुझे (मखस्य शीर्ष्णे) राष्ट्र रूप यज्ञ के शिर या मुख्य पद के लिये नियत करता हूं ।

१—अथातो महावीरसम्भरणम् ।

देव्यौ वम्रयो भूतस्य प्रथमजा सखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः । सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ४ ॥

वम्रयो देवता । व्यूहनार्षी पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(वम्रयः) उपजाप करने और देश देशान्तर और पृथिवी निवासिनी प्रजा के चरित्रों को राजा तक वमन करने या पहुंचाने हारी उपजापकारिणी संस्थाएं, या धन प्रदान करने वाली प्रजाएं (देव्यः) उत्तम गुण वाली, विजयशील हों। वे ही पृथिवी या (भूतस्य) समस्त प्राणियों के बसने के पूर्व (प्रथमजाः) विद्यमान रहती हैं। वह सबसे श्रेष्ठ हैं। (पृथिव्याः देवयजने) पृथिवी पर विद्वान् राजाओं के एकत्र होने के स्थान, सभा भवन के बीच में हे प्रजाजनो! (वः) तुम्हारे (सखस्य) त्रुटि रहित राज्य कार्य के (शिरः अद्य राध्यासम्) मुख्य पुरुष को आज नियत करता हूं। हे वीर पुरुष! (सखाय त्वा) तुझ योग्य पुरुष को मैं प्रजापालन रूप यज्ञ एवं पूजनीय मुख्य पद के लिये नियुक्त करता हूं। (त्वा सखस्य शीर्ष्णे) तुझे मानयोग्य राज्य के शिरोमणि पद के लिये नियुक्त करता हूं।

'सखः'—सहेः खचेति खः प्रत्ययो हलोपश्च । यद्वा सख गतौ । घः । इति सख इत्येतद् यज्ञनामधेयम् । छिद्रप्रतिषेध सामर्थ्यात् । छिद्रं ख मित्युक्तं तस्यमेति प्रतिषेधः । मा यज्ञं छिद्र करिष्यतीति । गो० उ० २।५।

स एव सखः स विष्णुः । श० १४ । १ । १ । १३ ॥ एष वै सखो य एष तपति । श० १४ । १ । २ । ५ ॥ स एव सखः स विष्णुः । तत इन्द्रो सखवान् अभवत् । सखवान् ह वैतं सखवानित्याचक्षते । परोक्षम् । श० १४ । १ । १ । १३ ॥ इन्द्रो वै सखवान् । श० ४ । १ । २ । १५ । पूजनीय पद 'सख' है। या संग्राम या एकत्र होने और प्राप्त होने का स्थान या पद 'सख' है। इससे यज्ञ और संग्राम दोनों सख शब्द वाच्य हैं। सख यज्ञ का नाम है। 'ख' छिद्र कहाता है। छिद्र या त्रुटि का न होना प्रत्युत सम्पूर्ण होना पूर्ण व्यवस्था या यज्ञ 'सख' है। 'सख' विष्णु, व्यापक

शक्तिमान् परमेश्वर और राजा दोनों कहाते हैं। 'मख' यह सूर्य है उसके समान तेजस्वी प्रतापी राजा भी मख है। व्यापक राष्ट्र मख है। उसका पति मखवान् इन्द्र-राजा या सेनापति 'मखवान्' होने से 'मववान्' कहाता है।

स्त्रियों के पक्ष में—हे (देव्यः वध्रयः) स्वल्प उमर की देवी, कन्याओ! आप लोग (सूतस्य) उत्पन्न होने वाले गर्भ, सन्तान के भी (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न होती हैं। (वः मखस्य अध शिरः राध्यासम्) आप लोगों के भावी गृहस्थ रूप यज्ञ के मुख्य पति को मैं तुम्हारे मन के अनुकूल बनाऊं। हे योग्य पुरुष! सुसंगत, पूज्य पतित्व के लिये गृहस्थ के मुख्य पद के लिये वरता हूं।

इयत्यग्रे आसीन्मखस्य तेऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
सखायं त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ५ ॥

वराहविहतं देवता। ब्राह्मी गायत्री। षड्जः॥

भा०—हे पृथिवी! पृथिवी निवासिनी प्रजे! (अग्रे) पहले (इयती) इतनी ही तो कुल (आसीत्) रही। अर्थात् विजयशील, उत्साही राजा के लिये बड़ी भारी पृथ्वी भी थोड़ी है। हे पृथिवि (ते मखस्य) तेरे ऊपर पूज्य (पृथिव्याः देवयजने शिरः राध्यासम्) पृथिवी पर विजिगीषु पुरुषों के एकत्र होने के स्थान संग्रामभूमि और सभाभवन में मुख्य सेनापति को (राध्यासम्) मैं प्राप्त करूं। हे योग्य पुरुष! (सखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) संग्राम, राज्यशासन और उसके शिरोमणि पद के लिये तुझे वरण करता हूं।

'इयति। अग्रे।' इत्यादि पदपाठो महर्षिदयानन्दसम्मतश्चिन्त्यः शतपथादिविरोधात्।

इन्द्रस्यौजः स्थ मखस्य वोऽद्य शिरो राध्यासं देवयजने पृथिव्याः।
सखायं त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे। सखायं त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे।
सखायं त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

आदारा देवताः । भुरिगति जगती । निषादः ॥

भा०—हे प्रजाजनो ! वीर सैनिक पुरुषो ! आप लोग ही (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान्, शत्रु के नाश करने वाले सेनापति के (ओजः स्थ) पराक्रम स्वरूप हो । (वः यज्ञस्य शिरः राध्यासम्) आप के यज्ञ, राष्ट्र पालन के मुख्य पदाधिकारी को मैं स्थापित करता हूं। इत्यादि० पूर्ववत् । इस प्रकार भिन्न सेनादलों के मुख्य पुरुषों को नियुक्त किया जाय ।

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता । अच्छा वीरन्नर्यम्पङ्क्तिरा-धसन्देवा यज्ञन्नयन्तु नः । सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे । सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे । सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे । सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥७॥

घर्मो देवता ।

भा०—(ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्म, महान् ऐश्वर्य, वेदज्ञान का पालक राजा और विद्वान् (प्र एतु) उत्तम पद को प्राप्त हो । (सूनृता देवी) शुभ, सत्यज्ञान से युक्त विदुषी और विद्वत् सभा भी (प्र एतु) उत्तम पद को प्राप्त हो । (वीरम्) वीर, शूर, सब दुःखों और शत्रुओं के प्रक्षेपक, नाशक, (नर्यम्) सब मनुष्यों के हितकारी , (पंक्तिराधसम्) सेना की पंक्तियों को वश में करने में समर्थ वीर पुरुष को (देवाः) विजयी, युद्धक्रीड़ाशील सैनिक और उत्तम विद्वान् जन (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ अर्थात् प्रजापति पद को (नयन्तु) प्राप्त करावें । (सखाय त्वा, सखस्य शीर्ष्णे त्वा) पूज्य पद और यज्ञ या संग्राम के प्रमुख स्थान के लिये तुझे नियुक्त करते हैं । इत्यादि ।

सखस्य शिरोऽसि सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे । सखस्य शिरोऽसि सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे । सखस्य शिरोऽसि सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे । सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे । सखाय त्वा सखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ८ ॥

घर्मो देवता ।

भा०—हे योग्य पुरुष ! तू (मखस्य) पूजनीय व्यवस्था, राष्ट्र आदि के कार्य में (शिरः असि) शरीर में शिर के समान, ज्ञानवान्, विचार-शील और प्रमुख है । इसलिये (त्वा मखाय मखस्य शीर्ष्णे०) इत्यादि पूर्ववत् ।

महर्षि ने, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वनस्थ और मुमुक्षु आदि पक्षों में प्रमुख पुरुषों के स्थापन परक अर्थ किये हैं । भावार्थ में अन्य २ स्थानों में भी प्रमुख पुरुषों के स्थापन का निर्देश किया है । यज्ञपक्ष में तीन महावीरों की कल्पना है । सेना, राष्ट्रपालन और गृहस्थ तीनों में समान योजना है ।

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ६ ॥

अति शक्करी । पञ्चमः । घर्मो देवता ।

भा०—जिस प्रकार कच्चे मट्टी के वर्तन को (अश्वस्य शक्ना) घोड़े की लीद को जला कर उससे, या कण २ में व्याप जाने वाले अग्नि की ताप शक्ति से संतप्त कर पकाया जाता है उसी प्रकार हे वीर नेता पुरुष ! (त्वा) तुझको (वृष्णः) बलवान् वीर्यवान्, शत्रुओं को और प्रजाओं को व्यवस्था में बांधने में समर्थ (अश्वस्य) आशुगामी, व्यापक सामर्थ्यवान् और बहुत से राष्ट्र के भोगने हारे बड़े पदाधिकारी पुरुष के (शक्ना) शक्ति, अधिकार सामर्थ्य से (पृथिव्याः देवयजने) पृथिवी के विजयी विद्वान् पुरुषों के एकत्र होने के स्थान, संग्राम, यज्ञ और सभाभवन में (धूपयामि) तुझे अधिक बलवान्, सुशोभित और सामर्थ्यवान् करता हूं । 'मखाय त्वा० इत्यादि पूर्ववत् ।' अश्वस्य त्वा० इत्यादि पूर्ववत् ।

ऋ॒जवे॑ त्वा सा॒धवे॑ त्वा सु॒क्षि॒त्यै त्वा॑ । स॒खा॑य त्वा स॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे । स॒खा॑य त्वा स॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे । स॒खा॑य त्वा स॒खस्य॑ त्वा शी॒र्ष्णे ॥ १० ॥

घर्मो देवता । स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—हे वीर पुरुष ! (त्वा ऋजवे) तुझको आदित्य के समान प्रकाशमान कुटिलता रहित सत्य के दर्शाने वाले न्यायकारी पद या कार्य के लिये नियुक्त करता हूं। (साधवे त्वा) वायु के समान सबके प्राण प्रदान करने वाले, सब को अपने वश करने वाले उत्तम पद के लिये स्थापित करता हूं। और (सुक्षित्यै त्वा) उत्तम पृथिवी के समान सब प्रजाओं को सुख से निवास कराने वाले पद के लिये नियुक्त करता हूं। सुविधानुसार इन तीन पदों पर तीन अथवा एक ही अधिकारी शिरोमणि स्थापित किया जासकता है। वे अधिकार और कर्तव्य भेद से तीन हैं। (सखाय त्वा०) इत्यादि पूर्ववत्।

यमा॑य त्वा स॒खा॑य त्वा॒ सूर्य्य॑स्य त्वा॒ तप॑से । दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता म॑ध्वा॒नक्तु॑ पृथि॒व्याः स॒ꣳस्पृ॒शस्पा॑हि । अ॒र्चिर॑सि शो॒चिर॑सि॒ तपो॑ऽसि ॥ ११ ॥

घर्मः सविता देवता । त्रिष्टुप् । धैवतः ॥

भा०—हे विद्वन् ! वीर पुरुष ! (यमाय) सूर्य जिस प्रकार ग्रह उपग्रहों और पृथ्वी आदि को अपने नियम में रखता है उसी प्रकार समस्त राष्ट्र को नियम में रखने वाले पद के लिये (त्वा सखाय) पूजनीय उत्तम प्रजापति पद के लिये तुझको (सूर्यस्य तपसे त्वा) सूर्य के समान शत्रुओं को संतापन करने में समर्थ 'तपस्' पद के लिये तुझे नियुक्त करता हूं। (सविता) सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझको (मध्वा)

१०—इति महावीरसंभरणम् ।

१०—अतो महावीरप्रोक्षणम् । अभिषेक इति यावत् ।

मधुर अन्न आदि ऐश्वर्य और शत्रुपीड़क बल से (आनक्तु) युक्त करे। हे विद्वन्! तू उस वीर पुरुष को (पृथिव्याः संस्पृशः) भूमि पर स्पर्श होने से अर्थात् उसे सामान्य जनों में मिल कर अनादृत होने से (पाहि) बचा। अथवा हे राजन्! तू राष्ट्र को पृथिवी पर आक्रमण करने वाले शत्रु से बचा। तू (अर्चिः असि) अग्नि की ज्वाला के समान दाहकारी है। (शोचिः असि) विद्युत् की दीप्ति के समान संतापकारी है। तू (तपः असि) सूर्य के ताप प्रकाश के समान तपस्वी, संतापक और धर्मात्मा है।

अना॑धृष्टा पुरस्ता॒द॒ग्नेरा॑धिपत्य॒ऽआयु॑र्मे दाः। पुत्र॑वती दक्षिण॒त॒ऽइन्द्र॑स्याधिपत्ये प्र॒जां मे दाः। सुप॑दा पश्चा॒द्दे॒वस्य॑ सावि॒तुरा॑धि-पत्ये॒ चक्षु॑र्मे दाः। आश्रु॑तिरुत्तर॒तो धा॒तुरा॑धिपत्ये र॒यस्पोषं॑ मे दाः। विधृ॑तिरुपरिष्टा॒द् बृह॒स्पते॒रा॑धिपत्य॒ऽओजो॑ मे दाः। विश्वा॑भ्यो मा नाष्ट्राभ्य॑स्पाहि। मनो॒रश्वा॑सि ॥ १२ ॥

पृथिवी देवता। स्वराड् उत्कृतिः। षड्जः ॥

भा०—हे पृथिवी! [१] (अनाधृष्टा) शत्रु से कभी धर्षण नहीं की जाकर तू (पुरस्तात्) पूर्व की दिशा से (अग्नेः) अग्नि अर्थात् सूर्य के (आधिपत्ये) स्वामित्व में रह कर जिस प्रकार (आयुः) जीवनप्रद अन्न का प्रदान करती है उसी प्रकार तू (अग्नेः आधिपत्ये) अग्नि के समान तेजस्वी शत्रुसंतापक, प्रतापी, अग्रणी नायक के स्वामित्व में रहकर (मे) मुझ प्रजाजन को (आयुः दाः) आयु प्रदान कर। (२) हे पृथिवि! (पुत्रवती) पुत्रों से स्त्री जिस प्रकार अपने पति के अधीन रहकर उत्तम प्रजा को प्रदान करती है, इसी प्रकार तू भी (पुत्रवती) पुरुषों को दुःखों से बचाने वाले वीर पुरुष से युक्त होकर (दक्षिणतः) दक्षिण दिशा से (इन्द्रस्य आधिपत्ये) विद्युत् या सूर्य के समान तेजस्वी और शत्रु-नाशक और ऐश्वर्यवान् पुरुष के स्वामित्व में रह कर (मे) मुझ राष्ट्र के राज-वर्ग को उत्तम (प्रजां दाः) प्रजा, सन्तति को प्रदान कर। (३)

हे पृथिवि ! तू (सुपदा) सुख से बैठने और वसने योग्य समतल होकर (पश्चात्) पश्चिम से (देवस्य सवितुः) प्रकाशमान सूर्य के अधीन रहकर जिस प्रकार चक्षु, उत्तम दर्शनशक्ति प्रदान करती है। समतल भूमि पर सूर्य का प्रकाश विस्तृत पड़ता है दूर तक, स्पष्ट दिखाई देता है। उसी प्रकार, तू (देवस्य सवितुः) दानशील, विजिगीषु, सूर्य के समान तेजस्वी, सबके प्रेरक पुरुष के अधीन रहकर (मे) मुझ शासक को (चक्षुः) ज्ञान चक्षु एवं प्रजा पर निरीक्षण करने का बल (दाः) प्रदान कर। (४) (आश्रुतिः) सब तरफ़ से उत्तम रीति से श्रवण करने हारी होकर (उत्तरतः) उत्तर दिशा से (धातुः) धारण करने वाले, वायु के समान व्यापक, बलशाली पुरुष के (आधिपत्ये) स्वामित्व में रहकर (रायः पुष्टिः) धन समृद्धि और पशु सम्पत्ति को (मे दाः) मुझे प्रदान कर। (५) (विधृतिः) विविध पदार्थों के धारण और विशेष ज्ञान के धारण में समर्थ होकर तू (बृहस्पतेः) बृहती, वेदवाणी के पालक विद्वान् पुरुष के (अधिपत्ये) स्वामित्व में, उसके अधीन रहकर (मे) मुझे (ओजः) बल पराक्रम, एवं ब्रह्मचर्य पूर्वक वीर्य (दाः) प्रदान कर। (६) (मा) मुझ को (विश्वाभ्यः) समस्त (नाष्ट्राभ्यः) नाश करनेवाली दुष्ट स्वभाव की प्रकृतिवाली शत्रु सेनाओं से (पाहि) सुरक्षित रख। तू (मनोः) मननशील पुरुष के (अश्वा) भोग करने योग्य (असि) है।

शरीर के पांच मुख्य भाग हैं नाक मुख, प्रजननाङ्ग, चक्षु, मन और धारणा बुद्धि। इनके पांच कार्य हैं अन्न प्राण और अन्न का ग्रहण, प्रजा प्राप्त करना, देखना, दूर का श्रवण करना, ज्ञान प्राप्त करना। इन सब शक्तियों से युक्त पृथिवी निवासिनी प्रजा क्रम से (१) अन्न और प्राण के बल से वह शत्रु से कभी पराजित नहीं होती। ऐसी प्रजा अपने नायक के अधीन रह कर राजा के राज्य की आयु को बढ़ाती है। (२) खूब प्रजाओं, सन्ततियों से पृथिवी निवासिनी प्रजा पुत्रवती होकर सेनापति को वीर

सैनिक प्रदान करती है। (३) सुख से जिस में राजा शासन करता है वह प्रजा दूरदर्शिनी है वह कभी अन्धी होकर द्रोह नहीं करती। वह शान्ति से दूर तक देखने और गम्भीर विचारने का अवसर प्रदान करती है। (४) समृद्ध प्रजा राजा की आज्ञा पालन करने वाली 'आप्रुति' है। वह अपने पोषक राजा के अधीन रहे तो और समृद्ध होती है। (५) राष्ट्रपालक या सेनापालक के अधीन रह कर राष्ट्र विविध प्रजाओं के अपने भीतर धरती है वह 'विधृति' है। उसमें बल पराक्रम की मात्रा बहुत है। वह राजा को सब विपत्तियों से बचावे। वह मननशील राजा के ही भोग्य हो, मूर्ख अत्याचारी राजा उसको भोग न सके।

स्वाहा॑ मरुद्भिः परि॑ श्रीयस्व।
दि॒वः स॒ꣳस्पृश॑स्पाहि मधु॒ मधु॒ मधु॑ ॥ १३ ॥

सुवर्ण विद्वान्, प्राणश्च देवताः। निचृद् गायत्री षड्जः ॥

भा०—हे राजन्! विद्वन्! तू (मरुद्भिः) प्रजा गणों और हे वीर सेनापते! तू शत्रुओं को मारने वाले वीर सैनिकों से (परिश्रीयस्व) सब तरफ से आश्रय बन। वे तेरा आश्रय लें। तू उन द्वारा पृथ्वी का भोग कर। तू इस राष्ट्र को (दिवः) सूर्य के समान तेजस्वी राज गण के (संस्पृशः) तीक्ष्ण स्पर्श करने वाले कष्टदायी कारण से (पाहि) रक्षा कर और (मधु मधु मधु) कर्म, उपासना और ज्ञान, इनका सेवन कर और इसी प्रकार शरीर में स्थित प्राण, उदान, व्यान के समान तीनों ब्राह्मबल, क्षात्रबल और धनबल प्राप्त कर।

गर्भो॑ देवानां॑ पि॒ता म॑तीनां॑ पतिः॑ प्र॒जाना॑म्।
सं दे॒वो दे॒वेन॑ सवि॒त्रा ग॑त॒ सꣳ सूर्य्ये॑ण रोचते ॥१४॥

घर्मो देवता। भुरिगनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—सेनापति और राजा के पक्ष में—(देवानां गर्भः) देव, विजयशील वीर सैनिकों और विद्वानों, शासकों को अपने अधीन ग्रहण करने

वाले सूर्य के समान, (पिता मतीनाम्) मननशील, मेधावी, पुरुषों का पालक, (प्रजानाम् पतिः) प्रजाओं का स्वामी (देवः) दानशील, तेजस्वी, विजयी होकर (सवित्रा) सब संसार के प्रेरक (सूर्येण देवेन) सूर्य देव के समान (संगत) पृथ्वी से भली प्रकार युक्त होता है और (संरोचते) पृथ्वी पर उसी के समान प्रकाशित होता है।

ईश्वर के पक्ष में—(देवानां गर्भः) ईश्वर तेजस्वी समस्त सूर्य आदि पदार्थों के भीतर व्यापक, एवं सबको अपने भीतर लेने वाला। सविता सूर्य के समान प्रकाशित है।

समग्निरग्निना गत सं देवेन सवित्रा सꣳ सूर्य्येणारोचिष्ट।
स्वाहा समग्निस्तपसा गत सं दैव्येन सवित्रा सꣳसूर्येणारूरुचत १५

अग्निर्देवता। निचृद् ब्राह्मी अनुष्टुप्। गान्धारः॥

भा०—(अग्निः) वह महान् वीर सेनापति अग्नि के समान तेजस्वी होने और अग्रणी होने से 'अग्नि' है। इसी गुण से वह (अग्निना संगत) अग्नि के साथ मेल खाता है, उसकी उससे तुलना की जाती है। वह (देवेन सवित्रा) देव, सर्वप्रेरक (सूर्येण) सूर्य के साथ (सम्) तुलना पाकर (अरोचिष्ट) प्रकाशित होता है। वह (अग्निः) किसी प्रकार बुझाया न जाकर अग्नि के समान तेजस्वी होकर (स्वाहा) उत्तम, सत्य वाणी और सत्य क्रिया से और (तपसा) धर्मानुष्ठान और तपस्या से (संगत) युक्त होता है। वह भी (दैव्येन सवित्रा सूर्येण) देवों, पृथिवी आदि में सर्वोत्तम ऐश्वर्यकारी, सबके प्रेरक सूर्य के साथ तुलना पाकर (सम् अरूरुचत) भली प्रकार सदा प्रकाशित होता है।

परमेश्वरपक्ष में—यह अग्नि उसी स्वयंप्रकाश परमेश्वर के द्वारा

१४—अथातो 'मा माहिंसीः'। (२०) इत्यन्तं महावीरपरिक्रमणम्।

प्रकाशित होता है। और यह अग्नि सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होती है। उस परमेश्वर को सत्य क्रिया, धर्मानुष्ठान से तुम लोग जानो।

धर्त्ता दिवो विभाति तपसस्पृथिव्यां धर्त्ता देवो देवानाममर्त्य-स्तपोजाः वाचमस्मे नियच्छ देवायुवम् ॥ १६ ॥

भा०—(दिवः तपसः धर्त्ता) प्रकाशमान द्यौलोक को और ताप को जिस प्रकार सूर्य धारण करता है उसी प्रकार वह (दिवः) राजसभा या तेज को धारण करने हारा, (पृथिव्यां) इस पृथिवी पर और (तपसः) तप, धर्माचरण और शत्रुसंतापक बल का (धर्त्ता) धारण करने हारा होकर (देवानां) समस्त विद्वानों में (देवः) सबसे बड़ा तेजस्वी, राजा (अमर्त्यः) साधारण मनुष्यों से भिन्न होकर (तपोजाः) तपोबल और धर्मानुष्ठान के बल से अधिक शक्ति सामर्थ्यवान् हो। वह (अस्मे) हमें (देवायुवम्) समस्त विद्वान् पुरुषों को एकत्र संगत करने में कुशल, विजयशील सैनिकों और शासकों को एक ही काल और स्थान में एकत्र कर लेने वाली (वाचम्) वाणी को (नियच्छ) प्रदान कर।

परमेश्वर के पक्ष में—वह परमेश्वर सूर्य का धारक तेजस्वी, अमरण धर्मा, सब देवों का देव, तप से प्रकट होने वाला है। वह हम में विद्वानों से संगति कराने वाली और पृथिव्यादि लोकों और उत्तम ज्ञानों का लाभ कराने वाली वेद वाणी को प्रदान करे।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्त्ति भुवनेष्वन्तः॥१७॥

ऋ० १। १६४। ३१॥

निचृत्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—मैं (गोपाम्) सबके रक्षक, (अनिपद्यमानम्) अचल, स्थिर, विपत्तियों से नष्ट न होने वाले वीर और (पथिभिः) नाना मार्गों से (आ चरन्तम्) समीप आते और (परा चरन्तं च) दूर देशों में जाते

हुए सर्वत्र शासक को (अपश्यम्) देखता हूं। यह (सध्रीचीः) अपने साथ रहने वाली और (विषूचीः) नाना दिशाओं में विस्तृत प्रजाओं पर भी (वसानः) शासक रूप से रहता हुआ (भुवनेषु अन्तः) समस्त लोकों में (आ वरीवर्त्ति) सब प्रकार से सर्वोपरि होकर रहता है।

सूर्य के पक्ष में—अपने साथ रहने वाली और सर्वत्र फैलने वाली दिशाओं या रश्मियों को धारण करता हुआ वह सब लोकों में व्याप्त होता है।

परमेश्वरपक्ष में—वह समस्त दिशाओं में व्यापक है। सबका रक्षक है और ज्ञान मार्गों से हमें इस लोक में प्राप्त होने और परलोक में भी प्राप्त होने वालों का ध्रुव रक्षक है।

विश्वासां भुवां पते विश्वस्य मनसस्पते विश्वस्य वचसस्पते सर्वस्य वचसस्पते। देवश्रुत्त्वन्देव धर्म देवो देवान् पाह्यत्र श्रावीरनु वां देवगीतये। मधु माध्वीभ्यां मधु माधूचीभ्याम् ॥ १८ ॥

ऋ० १। ११६। १२ ॥

अत्यष्टिः। गान्धारः ॥

भा०—हे राजन्! हे ईश्वर! हे (विश्वासां) समस्त (भुवाम् पते) भूमियों के पालक! स्वामिन्! (विश्वस्य मनसः पते) समस्त प्रजाजन के मनों के स्वामिन्! समस्त ज्ञानों के पालक! (विश्वस्य वचसः पते) समस्त प्रजा की वाणियों और आज्ञाओं के स्वामिन्! समस्त वेदवाणियों के स्वामिन्! (सर्वस्य वचसः पते) समस्त लौकिक वचनों के स्वामिन्! प्रजा की वाणियों के स्वामिन्! हे (देवश्रुत्) देवों—विद्वानों को श्रवण करने हारे एवं शासकों, वीर पुरुषों से आज्ञा रूप से श्रवण करने योग्य! दोनों में प्रसिद्ध! हे (धर्म) तेजस्विन्! सबके प्रकाशक श्रवणशील, दयार्द्र! तू (देवः) सूर्य के समान तेजस्वी, दाता, रक्षक होकर (देवान्

पाहि) देवों, विद्वानों की रक्षा कर । हे राजप्रजावर्गो ! हे स्त्री पुरुषो ! वह राजा (वा) तुम दोनों को (देववीतये) दिव्य गुणों और वीर सैनिकों की प्राप्ति के लिये (प्र अवीः) उत्तम रीति से तृप्त कर, पालन कर । (माध्वीभ्याम्) मधुर गुणों से युक्त विद्या और सुशिक्षा इन दोनों के (मधु) सार युक्त ज्ञान को और (माधूचीभ्याम्) मधु-नाम ब्रह्म विज्ञान प्राप्त करने वाले शिक्षक और शिष्य गण की प्रजाओं के (मधु) मधुर गुण युक्त सत् चरित्र को भी (प्रः अवीः) उत्तम रीति से रक्षा कर और उनका बल प्रदान कर ।

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्य्याय त्वा ।
ऊर्ध्वो ऽअध्वरं दिवि देवेषु धेहि ॥ १९ ॥

भा०—हे परमेश्वर ! हे राजन् ! (त्वा) तुझको (हृदे) हृदय की चेतनता को प्राप्त करने लिये, उसकी स्वस्थता के लिये (मनसे त्वा) विज्ञान युक्त अन्तःकरण के लिये, मन की स्वस्थता के लिये और (दिवे त्वा) विद्या प्रकाश के लिये और (सूर्याय त्वा) सूर्यादि लोकों के विज्ञान के लिये ध्यान करते हैं । तू सब से (ऊर्ध्वः) ऊंचा है । तू (अध्वरं) अहिंसामय यज्ञ को (दिवि) उत्तम व्यवहार में और (देवेषु) विद्वानों में (धेहि) स्थापन कर । हे राजन् ! अपने हृदय, चित्त और राजसभा में और सूर्य समान तेजस्वी पद के लिये तुझे स्थापित करते हैं । तू सब से ऊंचा होकर ज्ञानपूर्वक, विद्वान् पुरुषों के आश्रय में इस राष्ट्रमय यज्ञ को स्थापित कर ।

पिता नोऽसि पिता नो बोधि नमस्ते ऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ।
त्वष्टर्मन्तस्त्वा सपेम पुत्रान् पशून्मयि धेहि प्रजामस्मासु धेह्य-
रिष्टाहꣳ सह पत्या भूयासम् ॥ २० ॥

निचृद् अति जगती । निषादः ॥

२०—पशून्यपि धेह्यरिष्टा० इति काण्व० ।

भा०—(नः पिता असि) हे गजन् ! हे परमेश्वर ! तू हमारे पिता के समान पालक है। (नः) हमारे पिता के समान एवं गुरु के समान हो (बोधि) हमें ज्ञानवान् कर, शिक्षित कर। (ते नमः अस्तु) तुझे नमस्कार हो। (मा मा हिंसीः) मुझ प्रजाजन को मत मार, विनष्ट मत कर। हम समस्त प्रजाजन (त्वष्टुमन्तः) त्वष्टा, तेजस्वी, प्रजापति रूप स्वामी वाले होकर (त्वा सपेम) तुझे प्राप्त हों। तुझ से मिलें। तू (पुत्रान् पशून्) पुत्रों और पशुओं को (मयि धेहि) मुझ में पति के समान ही धारण करा। (अस्मान्) हम में (प्रजाम्) उत्तम सन्तान, प्रजा को धारण करा। मैं प्रजा (अरिष्टा) मङ्गलमयी स्त्री के समान शुभ गुणों वाली होकर (सह पत्या) पति के समान तुझ प्रजापति के साथ (भूयासम्) रहूं।

परमेश्वर के पक्ष में—हे परमेश्वर ! तू हमारा पिता है, गुरु है, हमें ज्ञानवान् बना। हमें विनष्ट न कर। हम उत्तम गुणवान् उत्तम पदार्थों और शिल्पों से युक्त होकर तुझे प्राप्त हों। तू हमें पशु प्रदान कर। प्रजा दे। मैं तेरी प्रजा तुझ स्वामी से युक्त होकर रहूं।

गृहस्थपक्ष में—हे पितः ! हे श्वशुर ! तू हमारा पिता है हमें सचेत कर। हमें कष्ट मत दे। हे पते ! हम स्त्रियां कन्याएं प्रजन सामर्थ्य से युक्त होकर तुझ पति को प्राप्त हों। तू हमें पुत्रादि सन्तान धारण कर। मैं स्त्री सुमङ्गली होकर पति के साथ होकर रहूं।

अहः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा।
रात्रिः केतुना जुषतां सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ २१ ॥

घर्मो देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—(सुज्योतिः) उत्तम ज्योति युक्त (अहः) दिन के समान प्रकाश स्वरूप तेजस्वी पुरुष (ज्योतिषा) ज्योतिर्मय (केतुना) सूर्य के समान तेजस्वी, आज्ञापक कर्म और प्रज्ञावान् पुरुष या उत्तम ज्ञापक चिन्ह और ज्ञान से (जुषताम्) युक्त हो। और (सुज्योतिः) उत्तम ज्योति या तेज

वाली (रात्रिः) सब प्रजाओं को सुख ऐश्वर्य देने वाली राज्यव्यवस्था (ज्योतिषा केतुना) दीपक अग्नि वा चन्द्र के समान ज्योतिर्मय, तेजस्वी सबके आज्ञापक, विद्वान् राजा से (स्वाहा) सत्य और उत्तम कर्म द्वारा (जुषताम्) युक्त हो । (स्वाहा) हमारी यह उत्तम इच्छा पूर्ण हो ।

अथवा तेजस्वी राजा से दायीं बायीं आखों के समान दो विद्वान् नियुक्त हों । रात्रि और दिन दोनों तेज हमें प्राप्त हों, हमें सुख प्रदान करें ।

इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः

॥ ओ३म् ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददेऽदित्यै रास्नासि ॥ १ ॥

रज्जुर्देवता ।

भा०—हे पृथिवि ! पृथिवी निवासिनि प्रजे ! हे स्त्रि ! (देवस्य) कान्तियुक्त कामनावान् (सवितुः) सकल जगत् के उत्पादक ईश्वर के (प्रसवे) उत्पन्न हुए इस संसार में (अश्विनोः) सूर्य के समान दिन और रात्रि के समान स्त्री और पुरुष धर्मों से युक्त दायें बायें देहों के (बाहुभ्याम्) बाहु रूप बलवीर्यों से और (पूष्णः हस्ताभ्याम्) पूषा, सर्वपोषक पति या स्वामी (हस्ताभ्याम्) हाथों से (त्वा) मैं तुझको (आददे) ग्रहण करता हूं । राजा या स्वामी होकर पृथ्वी को स्त्री के समान स्वीकार करता हूं । मैं पति तुझ स्त्री को अपने बाहुओं और हाथों से स्वीकार करता हूं । हे राज्यव्यवस्थे ! राजसभे तू (आदित्यै) पृथिवी की (रास्ना असि) गाय के गले में बंधी रस्सी के समान बांधने वाली, प्रजाओं को सत्य उपदेश करने वाली, सन्मार्ग पर चलाने वाली है ।

'रास्ना—'रासृशब्दे । भ्वादि० । निपतनान्नक् औणादिः । रास्ना ।

इड ऽएह्यदित ऽएहि सरस्वत्येहि ।
असावेह्यसावेह्यसावेहि ॥ २ ॥

नौः सरस्वती देवता । निचृद्गायत्री । षड्जः ॥

भा०—(इडे) हे स्तुति योग्य ! उत्तम वाणी से युक्त ! तू (एहि) आ । हे (अदिते) अखण्डिते ! पृथिवि ! तू (एहि) प्राप्त हो । हे (सरस्वति) उत्तम विज्ञानों से युक्त ! उत्तम जलधाराओं, तलावों से युक्त ! पृथिवि ! (एहि) प्राप्त हो । इसी प्रकार हे (असौ) अमुक २ नाम

और गुणों वाली ! सस्यश्यामले ! शुभ्रज्योत्स्ना फुल्लद्रुमदलशालिनि ! तू (एहि) तू (एहि) मुझ अपने पालक राजा को प्राप्त हो ।

राजसभा के पक्ष में—हे (इडे) वाणि ! स्तुत्ये ! हे (अदिते) अखण्ड शासन वाली ! हे (सरस्वति) उत्तम 'ज्ञानवति ! विदुत्सखे ! (असौ) दशावरे, त्र्यवरे इत्यादि (एहि) तू प्राप्त हो ।

स्त्रीपक्ष में—हे (इडे) स्तुत्ये, वन्दये ! हे (अदिति) अखण्ड-चरित्रे ! हे (सरस्वति) आनन्द प्रदे ! ज्ञानवति ! (असौ) हे वरानने ! अखण्डित अनिन्दितांङ्गि ! इत्यादि (एहि) तू मुझ पति को प्राप्त हो ।

अदित्यै रास्नासीन्द्राण्या ऽउष्णीषः ।
पूषासि घर्माय दीष्व ॥ २ ॥

रास्ना वत्सश्च देवते । भुरिक्साम्नी बृहती । मध्यमः ॥

भा०—हे राज्यव्यवस्थे एवं राजन् ! जैसे रज्जु गाय को वश करने हारी होती है उसी प्रकार तू (अदित्यै) पृथिवी की (रास्ना) वागडोर है । तू ही उसको वश करने वाला और सन्मार्ग पर चलाने हारा है । तू (इन्द्राण्या) इन्द्र, ऐश्वर्यवान् राष्ट्र की लक्ष्मी का राजसभा की (उष्णीष) पगड़ी के समान शिर की शोभा है । बछड़ा जिस प्रकार गौ का प्रेमपात्र उससे उत्पन्न और उसी के दिये दूध से पलता है और वायु जिस प्रकार सबको प्राण द्वारा पुष्ट करता है, उसी प्रकार तू भी (पूषा) पृथ्वी को पोषण करने हारा और उसका प्रेमपात्र होकर उसी के दुग्ध से स्वयं पुष्ट होने हारा (असि) है । तू (घर्माय) अपने तेजस्वी पद एवं प्रजा को नाना सुख प्रदान करने के लिये (दीष्व) कृपा कर ।

गृहस्थपक्ष में—(अदित्यै रस्नासि) हे पुरुष ! अखण्डचरित्र वाली सदाचारिणी स्त्री की वागडोर है । 'इन्द्राणी' अर्थात् पति वाली, सती सौभाग्यवती स्त्री का सिरमौर है । उसका पोषक है । (घर्माय) वीर्य सेचन या पुत्रोत्पत्ति के निमित्त स्त्री का पालन कर । स्त्री के पक्ष में—हे स्त्रि ! तू अखण्ड यश, या अखण्ड वीर्यवान् कुमार को सम्बन्ध में बांधने वाली,

गृहनीति की प्रमुख, भूमि के समान पोषक है, तू गृहस्थ यज्ञ के लिये मनोयोग दे, उसमें आत्मसमर्पण कर।

अश्विभ्यां पिन्वस्व सरस्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व।
स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् स्वाहेन्द्रवत् ॥ ४ ॥

अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः। आर्ची पंक्तिः। पञ्चमः॥

भा०—हे पृथिवि! (अश्विभ्याम्) प्रजा के स्त्री और पुरुषों के लिये (पिन्वस्व) प्रचुर धनैश्वर्य प्रदान कर। (सरस्वत्यै पिन्वस्व) उत्तम ज्ञानवान् विद्वत्सभा के लिये भी ऐश्वर्य प्रदान कर। (इन्द्राय पिन्वस्व) ऐश्वर्यवान् राजा, सेनापति और राष्ट्र के लिये ऐश्वर्य प्रदान कर। हे पुरुषो! (इन्द्रवत्) ऐश्वर्य युक्त राज्य को (स्वाहा) उत्तम, सत्य नीति से संचालित करो। (इन्द्रवत् स्वाहा) आत्मा से युक्त शरीर को उत्तम विधि से पालन करो। (इन्द्रवत् स्वाहा) विद्युत आदि से युक्त पदार्थों का उत्तम रीति से ज्ञान करो।

स्त्री के पक्ष में—हे स्त्रि! अपने माता पिता, सरस्वती, आचार्याणी और वेद के विद्वानों और (इन्द्राय) सौभाग्यशाली पति को अन्न द्वारा तृप्त कर, समस्त यज्ञ (इन्द्रवत्) अपने पति के संग कर।

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः।
उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ५ ॥ ऋ० १ । १६४ । ४९ ॥

दीर्घतमा ऋषिः। वाग् देवता। निचृद् अतिजगती। निषादः॥

भा०—हे (सरस्वति) सरस्वति! उत्तम ज्ञानवान् पुरुषों एवं ज्ञानों से युक्त राजसभे! (स्तनः) माता का स्तन जिस प्रकार (शशयः) बालक को सुख की नींद सुलाने वाला, (मयोभूः) सुखजनक, (रत्नधा) उत्तम ज्ञान और बल का दाता, एवं रम्य, बालक का पोषक, (वसुवित्) प्राणों को प्राप्त कराने वाला है। और जिससे समस्त (वार्याणि)

वरण करने योग्य गुणों और बलों को माता पुष्ट करती है उसी प्रकार (ते) तेरा (स्तनः) उत्तम दुग्ध के समान मधुर ज्ञानोपदेश प्रदान करने वाला पुरुष, सभापति (शशयः) प्रजा को सुख शान्ति से रखने वाला और स्वयं भी शान्ति से विद्यमान रहता है (यः) जो (मयोभूः) प्रजा के कल्याण और सुख को उत्पन्न करता है, (यः रत्नधा) जो रमण योग्य उत्तम गुणों और ऐश्वर्यों का धारण करता और उत्तम नर-रत्नों का पालन पोषण करता है, (यः वसुवित्) जो वसु नामक ब्रह्मचारियों को आचार्य के समान, विद्वानों को प्राप्त करता या राष्ट्र में बसने वाले उत्तम प्रजाजनों को ऐश्वर्य प्राप्त करने कराने हारा है और जो (सुदत्रः) उत्तम दानशील है (येन) जिससे तू राजसभा (विश्वा) समस्त (वार्याणि) वरण करने योग्य, वाञ्छनीय ऐश्वर्यों, कार्यों और राज्यांगों को (पुष्यसि) पुष्ट करती है (तम्) उस 'स्तन' अर्थात् ज्ञानोपदेष्टा, विद्वान् पुरुष को (इह) इस राष्ट्र में (धातवे) प्रजा को धारण, पालन पोषण करने के लिये (अकः) नियुक्त कर ।

(उरु) मैं विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष आकाश का (अनु-एमि) अनुयायी होऊं, उसका अनुकरण करूं । मैं नियुक्त विद्वान् भी अन्तरिक्ष या मेघ के समान ज्ञान और ऐश्वर्य की धाराओं से वर्षकर प्रजा को पुष्ट करूं । सरस्वती वेद वाणी का उपदेष्टा आचार्य सरस्वती का उपदेश करने से उसका 'स्तन' है । वह बालक के समान शिष्य को शान्तिप्रद, सुखजनक, उत्तम ज्ञानपोषक वसु ब्रह्मचर्य द्वारा प्राणों को पुष्ट करता, उत्तम ज्ञान दान करता है, उस से ही सब प्राप्य ज्ञानों और वीर्यों को पुष्ट करता है । आचार्य भी अन्तरिक्षगत मेघ के समान शिष्यों पर ज्ञानवर्षण करे । मेघ के समान आचार्य प्रजापति का वर्णन देखो बृहदारण्यक उप० ।

गृहस्थ पक्ष में—पुरुष अन्तरिक्ष के समान पुत्रादि पर अनुग्रहकारी, एवं स्त्री का भरण पोषणकारी हो ।

'स्तनः'—ष्टन वन शब्दे । भ्वादिः । स्तन गदी देवशब्दे । चुरादिः स्तनयतीति स्तनः आचार्यो विद्वान् आज्ञापकः । स्तनयतीतिस्तन मेघः ।

गायत्रं छन्दोऽसि त्रैष्टुभं छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यान्त्वा परिगृह्णाम्यन्तरिक्षेणोपयच्छामि । इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्मं पात वसवो यजत वाट् । स्वाहा सूर्यस्य रश्मये वृष्टिवनये ॥६॥

परोशासौ, अश्विनौ घर्मश्च देवताः । निचृदत्यष्टिः । गान्धारः ॥

भा०—हे (इन्द्र) विद्वान् पुरुष ! (गायत्रं छन्दः असि) गायत्री छन्द जिस प्रकार २४ अक्षरों से युक्त होता है उसी प्रकार तू २४ वर्ष के अक्षत बल वीर्यों से युक्त हो । (त्रैष्टुभं छन्दः असि) त्रिष्टुप् छन्द जिस प्रकार ४४ अक्षरों से युक्त है उसी प्रकार ४४ वर्षों के अक्षय बल वीर्यों से युक्त हों ।

अथवा—हे (इन्द्र) राजन् ! उत्तम शासक ! सभापते ! विद्वन् ! प्रजापालक ! तू (गायत्रं छन्दः) गायत्री छन्द से प्रकाशित अर्थ या अग्नि के समान उत्तम ज्ञानप्रकाशवान् (त्रैष्टुभं छन्दः असि) त्रिष्टुप् छन्द से प्रकाशित अर्थ के समान, छन्द, या ऐश्वर्यवान् के गुणों से युक्त अथवा ब्राह्मबल और क्षात्रबल से युक्त हो । हे (अश्विना) राजा प्रजावर्गो ! (द्यावापृथिवीभ्यां) द्यौ, सूर्य और पृथिवी, उन दोनों के समान राजा और प्रजावर्ग दोनों के हित के लिये (त्वा) तुझ पुरुष को (परिगृह्णामि) उचित पद के लिये स्वीकार करता हूं । (अन्तरिक्षेण उपयच्छामि) सूर्य जिस प्रकार अन्तरिक्ष से मेघ द्वारा वर्षण और वायु द्वारा सबका प्राण धारण कराता है उसी प्रकार मैं तुझ योग्य विद्वान् पुरुष से प्रजा पर ज्ञानैश्वर्य के वर्षण के निमित्त (उप यच्छामि) तुझे स्वीकार करता हूं ।

स्त्रीपक्ष में—हे (अश्विना) स्त्री और पुरुष ! तुम दोनों (गायत्रं छन्दः असि त्रैष्टुभं छन्दः असि) गायत्री और त्रिष्टुप् छन्दों के समान २४ या ४४ वर्ष के अक्षत बल वीर्यवान् होवो। अथवा अग्नि और सूर्य या मेघ के समान

तेजस्वी, प्रतापी, वीर्यवान् हो। (द्यावा पृथिवी त्वा अन्तरिक्षेण उपयच्छामि) सूर्य और पृथिवी के समान एक दूसरे के तेज, बल वीर्य को धारण करने कराने में समर्थ होकर जल के द्वारा स्वीकार करता हूं। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य और पृथिवी दोनों के बीच अन्तरिक्ष रहकर एक दूसरे के साथ सम्बन्ध कराता है और अन्तरिक्ष के द्वारा ही सूर्य पृथिवी पर जल वर्षण कराता और अन्न पैदा करता है और इसी प्रकार पृथ्वी अन्तरिक्ष द्वारा सूर्य की रश्मियों का ग्रहण करती है उसी प्रकार (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष अर्थात् जल के द्वारा ही पुरुष और स्त्री परस्पर विवाहित होते हैं। वही उनमें आदान प्रतिदान का कारक है उस द्वारा (त्वा उपयच्छामि) मैं पुरुष तुझ स्त्री को और मैं स्त्री तुझ पुरुष को पत्नी और पतिरूप से स्वीकार करता और करती हूं।

हे (वसवः) पृथिवी आदि प्रजाओं के वसाने वाले पदार्थों के समान यशस्वी एवं बसने वाले प्रजास्थ पुरुषो ! आप लोग (स्वाहा) उत्तम दान प्रतिदान और सत्य वाणी द्वारा (सारघस्य) मधु मक्खी के बने विशुद्ध (मधुनः) मधु के समान मधुर व्यवहार के (घर्मम्) तेजो युक्त पराक्रम से सम्पन्न, राज्य रूप परम लाभ का (पात) पालन करो या उत्तम रस, आनन्द का पान करो, उपभोग करो। और (वाट्) उत्तम व्यवहार से उत्तम रीति से ही (यजत) परस्पर लो, दो, सुसंगति करो। और (सूर्यस्य) सूर्य के (वृष्टिवनये) वृष्टि प्रदान करने वाले (रश्मये) किरणों को जिस प्रकार पृथिवी, वायु आदि 'वसु' नामक पदार्थ 'मधु' अर्थात् जल और अन्न प्रदान करते हैं उसी प्रकार सूर्य के समान तेजस्वी राजा प्रजा के प्रति ऐश्वर्यादि वर्षण करने वाले रश्मि अर्थात् राजप्रबन्ध के कार्य के लिये हे (वसवः) समस्त प्रजागणो ! (यजत) तुम कर प्रदान करो, अथवा परस्पर संगत रहो।

गृहस्थपक्ष में—हे स्त्री पुरुषो ! (सारघस्य मधुनः घर्मं पात) मधु

मक्खियों के बनाये मधु के रस, मधुपर्क का पान करो। उसी के समान मधुर परस्पर गृहस्थ धर्म, यज्ञ का पालन एवं रसास्वादन करो। अथवा सहस्रों भ्रमरों द्वारा संगृहीत मधु का जिस प्रकार स्त्री पुरुष उपभोग करते हैं उसी प्रकार गतिशील प्राणों के द्वारा सञ्चित मधुर; सुखप्रद (घर्म) सेचन करने योग्य वीर्य का (पात) पालन करो। एवं गृहस्थोचित कार्य में उसका उपभोग और उपयोग करो (वाट्) यज्ञाहुति के समान ही (यजत) उस सार पदार्थ का, श्रेष्ठ फल के लिये प्रदान करो, और परस्पर संगत होवो। सूर्य के समान (वृष्टिवनये रश्मये) वृष्टि अर्थात् वीर्य सेचन आदि कार्य तथा उससे उत्पन्न पुत्रादि लाभ के लिये उत्तम रीति से संगत होवो।

समुद्रायं त्वा वातायु स्वाहा। सरिरायं त्वा वातायु स्वाहा। अनाधृष्यायं त्वा वातायु स्वाहा। अप्रतिधृष्यायं त्वा वातायु स्वाहा। अवस्यवे त्वा वातायु स्वाहा। अशिमिदायं त्वा वातायु स्वाहा ॥ ७ ॥

वातनामानि देवताः। भुरिगष्टिः। मध्यमः ॥

भा०—(१) मैं प्रजावर्ग (त्वा) तुझ राजा विद्वान् पुरुष को (वाताय) प्राण वायु के समान, (समुद्राय) समस्त प्राणियों को उत्पन्न करने वाले 'समुद्र' वा मेघादि से जल वर्षण करने वाले वायु के पद के लिये (स्वाहा) सत्य क्रिया से स्वीकार करता हूं। (त्वा) तुझको (सरिराय वाताय) समस्त प्राणियों में एक साथ और एक समान चेष्टा उत्पन्न करने वाले वायु के समान सर्वप्रेरक शासक पद के लिये (स्वाहा) तुझको मैं शासक रूप से सत्य वाणी से स्वीकार करता हूं। (अनाधृष्याय वाताय त्वा स्वाहा) प्रबल वात या आन्धी को जिस प्रकार कोई काबू नहीं कर सकता उसी प्रकार शत्रुओं से कभी न दबने वाले, प्रचण्ड पराक्रमी पद के लिये तुझे सत्य वाणी से स्वीकार करता हूं।

(त्वा अप्रतिधृष्याय वाताय स्वाहा) प्रतिस्पर्धी द्वारा दमन न किये जा सकने वालेप्रचण्ड तेजस्वी पद के लिये तुझे सत्य वाणी से स्वीकार करता हूं। (अवस्यवे वाताय त्वा स्वाहा) रक्षा करने वाले प्राण वायु के समान विद्यमान रक्षक पद के लिये तुझको मैं सत्य क्रिया से स्वीकार करता हूं। (अशिमिदाय वाताय त्वा स्वाहा) अखण्ड शक्ति वाले वायु के समान अक्षत वीर्यवान् सामर्थ्यवान् पद के लिये तुझे स्वीकार करता हूं।

स्त्री पुरुष पक्ष में—स्त्री के लिये पुरुष वायु के समान प्राणप्रद, समुद्र के समान अनन्त सुख वर्षक मेघ हो, एक साथ सब अभिलाषाओं का प्रेरक पूरक, दूसरे से धर्षण योग्य न हो, प्रतिस्पर्धा में किसी से न दबे, रक्षण कार्य में कुशल हो। एवं वायु के समान सुखजनक, सुशीतल, अदम्य, उत्साहवान् और प्राणप्रिय हो। इसी निमित्त स्त्री पुरुष को और पुरुष स्त्री को स्वीकार करे। अक्षत वीर्य, कर्म और सामर्थ्यवान् अथवा क्लेश कर्म के दूर करने या शान्ति प्राप्त कराने वाला, अथवा आकाश में चलने के लिये, वायुशोधन, जल, गृह, वायु शुद्धि, निर्भयता, ओषधिगत वायुविज्ञान, वायु वेगविज्ञान, रस, प्राणशक्ति विज्ञान के लिये स्त्री पुरुष एक दूसरे को वरण करें।

'अशिमिदाय'—क्लेशात्मकं कर्म शिमि तन्न ददाति इत्यशिमिदः तस्मै क्लेशविवर्जकायेति महीधरः। शिमीति कर्म नाम क्लेशात्मकं चैतत् अक्लेशदाय इति उवटः। शिमीति कर्मनाम शमयतेर्वा। इति यास्कः निरु० ५।२।७॥ न शिमिं शान्तिं द्यति खण्डयति इति अशिमिदः। न शिमिं क्लेशयुक्तं कर्म ददाति इति वा। शिमिः शक्तिः न दीयते खण्डयते यस्य सोऽशिमिदः तस्मै। यदश्यते भुज्यते तदन्नं। तन्मेदते यस्मिन् तस्मै रसायेति दया०।

इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते स्वाहेन्द्राय त्वादित्यवते स्वाहेन्द्राय त्वाभिमातघ्ने स्वाहा। सवित्रे त्वर्ऽऋभुमते विभुमते वाजवते स्वाहा बृहस्पतये त्वा विश्वदेव्यावते स्वाहा ॥ ८ ॥

इन्द्रो देवता । अष्टिः । मध्यमः ॥

भा०—(वसुमते) धन ऐश्वर्य से युक्त वसने वाली प्रजा और वसने वाले उत्तम पुरुषों से युक्त और (रुद्रवते) शत्रुओं को रुलाने वाले वीर पुरुषों से युक्त या प्राणों से युक्त (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् शत्रुनाशक पद के लिये (त्वा) तुझको मैं प्रजावर्ग स्वीकार करता हूं । (आदित्यवते इन्द्राय स्वाहा) आदित्य अर्थात् १२ हों मासों से युक्त सूर्य के समान आदित्य ब्रह्मचारी, पूर्ण विद्वानों या आदान प्रतिदान करने वाले वैश्यगण से युक्त ऐश्वर्यवान्, राजपद के लिये तुझको मैं स्वीकार करता हूं । (अभिमातिघ्ने इन्द्राय त्वा) अभिमानी शत्रुओं के नाशकारी इन्द्र, सेनापति पद के लिये तुझे स्वीकार करता हूं। (सवित्रे) सूर्य के समान तेजस्वी, सर्वप्रेरक, (ऋभुयते) ऋत, सत्य ज्ञान से प्रकाशित होने वाले, विद्वानों से युक्त, (विभुमते) व्यापक सामर्थ्यवान्, एवं विशेष बल और ज्ञान के उत्पादक पदार्थों, मन्त्रों और विद्वानों से युक्त, (वाजवते) अन्न, ऐश्वर्य और संग्राम बल के स्वामी, पद के लिये (त्वा) तुझको (स्वाहा) उत्तम रीति से स्वीकार करता हूं (बृहस्पतये) महान् राष्ट्र के पालक पद के लिये और (विश्वदेव्यावते) समस्त देवों, राजा और विद्वान् शासकों के हितकारी कार्य के पालक पद के लिये (स्वाहा) तुझे उत्तम रीति से हम स्वीकार करते हैं । स्त्री पुरुष भी एक दूसरे को, धन, प्राण की रक्षा, ऐश्वर्य वृद्धि, शत्रुनाश, शिल्पियों की रक्षा, अन्न, वेदवाणी, समस्त विद्वानों और हितकारी कार्यों के लिये स्वीनार करें ।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते । स्वाहा घर्माय ।
स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ ६ ॥

भुरिग्गायत्री । षड्जः ॥ यमो घर्मश्च देवते ।

भा०—(अंगिरस्वते) अंगारों के समान चमकने वाले तेजस्वी पुरुषों और प्राण विद्युदादि विद्या के ज्ञाता विद्वानों से संयुक्त और (पितृ-

मते) पालक पुरुषों से युक्त (यमाय) सर्वनियन्ता राजा के पद के के लिये (स्वाहा) उत्तम सत्यवाणी से तुझ को स्वीकार .करता हूं । (घर्माय) अति तेजस्वी यज्ञ, प्रजापति पद के लिये तुझे सत्य वाणी से स्वीकार करता हूं । (घर्मः) तेजस्वी पद (पित्रे) पालक पुरुष को (स्वाहा) उत्तम रीति से प्रदान किया जाय ।

स्त्री पुरुष पक्ष में—हम दोनों (घर्मः) स्वयं तेजस्वी या वीर्यवान् होकर उत्तम ज्ञानी, पालक जनों से युक्त सन्तान के लिये यज्ञ के लिये उत्तम सत्य वाणी और क्रिया द्वारा एक दूसरे को स्वीकार करें ।

'समुद्राय त्वा वाताय (मं० ७) से लेकर 'यमाय' त्वा० इत्यादि तक १२ नाम वायु के गुण भेद से हैं । यह शतपथकार का मत है । गुण भेद से उपमानोपमेय भाव से इसकी संगति लगानी चाहिये ।

विश्वा आशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाड्इह ।
स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिवतमश्विना ॥ १० ॥

भा०—हे (अश्विना) राष्ट्र के भोग करने वाले उसके स्वामी राज प्रजावर्ग तुम दोनो ! (स्वाहाकृतस्य) एक दूसरे के प्रति सत्य संकल्प और सत्य वाणी द्वारा उत्पन्न किये (घर्मस्य) राष्ट्ररूप यज्ञ के अति प्रदीप्त या जल सेचन से प्राप्त (मधोः) मधुर अन्न का (पिवतम्) उपभोग करो । वह राष्ट्र का नियन्ता विद्वान् राजपुरोहित (दक्षिणसत्) दक्षिण दिशा में विराजमान प्रखर, सूर्य के समान तेजस्वी एवं (दक्षिणसत्) राजासन के दक्षिण भाग और दायें ओर में विराजमान होकर (विश्वाः आशाः) समस्त दिशाओं की प्रजाओं और (देवान्) समस्त उत्तम विद्वान्, वीर पुरुषों और राजाओं को (इह) इस राष्ट्र में या सभाभवन में (अयाट्) संगत करता, आदर करता है ।

१०—अयाळिह० इति काण्व० ।

यज्ञपक्ष में—वेदी के दक्षिण भाग में अध्वर्यु विराज कर जलादि देवों के विशोधन के लिये अग्नि में आहुति प्रदान करता है। (अश्विनौ) दोनों स्त्री पुरुष (स्वाहा कृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतम्) आहुति किये यज्ञ के शेष का उपभोग करें।

दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः।
स्वाहाग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः ॥ ११ ॥

घर्मो देवता। विराडुष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—हे विद्वन्! (इमम् यज्ञम्) इस राष्ट्र रूप यज्ञ, प्रजापालक राजा को (दिवि धाः) राजसभा के आधार पर धारण कर (इमं यज्ञं) इस प्रजापालक सब के संगति कराने में कुशल पुरुष को (दिवि) उत्तम ज्ञान में या राजसभा के ऊपर सभापति रूप से स्थापित कर। (यज्ञियाय) यज्ञ, राष्ट्रावस्था के हितकर, उसको संभालने में योग्य (अग्नये) ज्ञानवान्, अग्रणी, तेजस्वी पुरुष को (स्वाहा) उत्तम अधिकार, मान और आदर एवं अन्नादि पदार्थ प्रदान करो। (यजुर्भ्यः) अन्य उसके साथ राज्य कार्यों में सहयोग देने वाले शासक जनों को भी (शम्) शान्ति सुख प्राप्त हो। अथवा (यजुर्भ्यः) यजुर्वेद के मन्त्रों में प्रतिपादित क्षत्रियोचित राज्य-कर्मों से शान्ति स्थापन करो।

गृहस्थपक्ष में—इस यज्ञ को सूर्य के प्रकाश में करो और उत्तम ज्ञान के प्राप्त करने के लिये (दिवि) सत्संग रूप यज्ञ करो। विद्वान् और याज्ञिकों को आदर करो और वेदमन्त्रों से सुख शान्ति प्राप्त करो।

अश्विना घर्मं पातꣳ हार्द्दिनमहर्दिवाभिरूतिभिः।
तन्त्रायिणे नमसो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥

घर्मो देवता। आर्ची पंक्तिः। पञ्चमः ॥

भा०—हे (अश्विनौ) राज प्रजावर्गो! हे स्त्री पुरुषो! तुम दोनो (अहर्दिवाभिः) दिन और रात सदा, (हार्द्दिनं) हृदय को प्रिय लगने

वाले, हृदयग्राही (घर्मम्) तेजस्वी, ऐश्वर्यवान् राष्ट्र को (ऊतिभिः) सब प्रकार के रक्षा साधनों से (पातम्) पालन करो, एवं उपभोग करो। (तन्त्रायिणे) शास्त्रों और कलाकौशल, शिल्पों के जानने वाले और कुटुम्ब और उसके समान समस्त राज्य तन्त्र के धारण करनेहारे गृहपति और राजा को और (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य और पृथिवी के समान राजा प्रजा वर्गों और स्त्री पुरुषों को (नमः) अधिकार, मान और अन्न प्राप्त हों।

अपातामश्विना घर्ममनु द्यावापृथिवी अमꣳसाताम्।
इहैव रातयः सन्तु ॥ १३ ॥

अश्विनौ देवते। निचृदुष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—हे राज प्रजावर्गो! आप दोनों (द्यावापृथिवी अनु) सूर्य और पृथिवी के समान एक दूसरे के अनुकूल परस्पर उपकारक होकर (घर्मम्) राष्ट्रपति का पालन और राष्ट्र-ऐश्वर्य को रस के समान (पातम्) पान करो, उसका पालन और स्वीकार करो, उपभोग करो। (अनु अमंसाताम्) उसी के समान एक दूसरे का आदर मान करो। (इह एव) यहां, उसके निमित्त ही (रातयः) विद्यादि सुखों और ऐश्वर्यों के दान भी (सन्तु) हों। स्त्री पुरुष भी अपने गृहस्थ रूप यज्ञ की रक्षा करें। इसी में नाना दान भी करें।

इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ब्रह्मणे पिन्वस्व क्षत्राय पिन्वस्व द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व। धर्मासि सुधर्मामेन्यस्मे नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ १४ ॥

धर्मो महावीरश्च देवते। अतिशक्करी। पञ्चमः ॥

भा०—हे तेजस्वी पुरुष! तू (इषे) अन्न की वृद्धि के लिये प्रजावर्ग को (पिन्वस्व) पुष्ट कर। (ऊर्जे पिन्वस्व) बल पराक्रम के लिये पुष्ट कर। (ब्रह्मणे पिन्वस्व) ब्रह्म वेद ज्ञान और वेदज्ञ

वृद्धि के लिये पुष्ट कर। (क्षत्राय पिन्वस्व) क्षात्रबल और क्षत्रियों की वृद्धि के लिये पुष्ट कर। (द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व) सूर्य, पृथिवी और उनके समान स्त्री और पुरुषों की वृद्धि के लिये भी पुष्ट कर। हे महावीर राजन्! (धर्मा असि) समस्त राष्ट्र को धारण करने में समर्थ होने से 'धर्मा' है। तू (सुधर्मा असि) उत्तम रीति से धारण में शक्तिमान् होने से 'सुधर्मा' है। तू (अमेनि असि) हिंसारहित हो। (अस्मे) हमें (नृम्णानि) मनुष्यों के हितकारी ऐश्वर्य (धारय) धारण करा। (ब्रह्म धारय) वेद और वेदज्ञ ब्राह्मण वर्ग को धारण कर (क्षत्रं) वीर्य वीर्यवान् वीर पुरुषों को धारण कर। (विशं धारय) वैश्य प्रजा को धारण कर।

स्वाहा॑ पू॒ष्णे शर॑से॒ स्वाहा॒ ग्रावभ्य॒ः स्वाहा॑ प्रतिर॒वेभ्य॑ः। स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ ऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्यो घर्म॒पाव॑भ्य॒ः स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॒ꣳ स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्य॑ः ॥ १५ ॥

रथादयो लिङ्गोक्ता देवताः। स्वराड् जगती। निषादः॥

भा०—(पूष्णे) अन्न और वायु के समान प्रजा के पोषण करने वाले (शरसे) और शत्रु को बाण के समान मारने वाले वीर पुरुष को (स्वाहा) उत्तम मान, आदर प्राप्त हो। (ग्रावभ्यः स्वाहा) मेघों के समान गर्जना करनेवाले वीरों और ज्ञानोपदेष्टा गुरुजनों को उत्तम मान और आदर प्राप्त हो। (प्रतिरवेभ्यः स्वाहा) गुरु के कहे वचनों को दोहराने वाले शिष्यों अथवा प्रतिस्पर्द्धियों के प्रति उत्तर देने वाले, राष्ट्र के प्राणों के समान वीर पुरुषों को उत्तम अन्न एवं मान प्राप्त हो। (ऊर्ध्वबर्हिभ्यः) प्राची दिशा की ओर उगे कुशादि काटने वाले, पालक, यज्ञशील सोमयाजी विद्वानों के समान उत्कृष्ट पदों तक वृद्धि प्राप्त करने हारे और (घर्मपावभ्यः) यज्ञ से और अपने प्रखर तेज से सबके हृदयों और देश के शासन को पवित्र करने हारे (पितृभ्यः) सबके गुरु जन, माता पिता के समान अथवा ऋतुओं के समान उत्तम विद्वानों को (स्वाहा) उत्तम

अन्न, आदर पद प्राप्त हो। (द्यावापृथिवीभ्याम् स्वाहा) सूर्य और अन्तरिक्ष या भूमि के समान राजा रानी, राज प्रजावर्ग और उत्तम स्त्री पुरुषों के लिये उत्तम मानसूचक वचन और अधिकार और अन्नादि पदार्थ प्राप्त हों। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) समस्त विद्वान, दानशील, विजयेच्छु पुरुषों को उत्तम आदर प्राप्त हो।

स्वाहा रुद्राय रुद्रहूतये स्वाहा सं ज्योतिषा ज्योतिः। अहः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। रात्रिः केतुना जुषताꣳ सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा। सध्रुं हुतमिन्द्रतमे ऽअग्नावश्याम ते देव घर्म नमस्ते ऽअस्तु मा मा हिꣳसीः ॥ १६॥

रुद्रादयो देवताः। भुरिगतिधृतिः। षड्जः ॥

भा०—(रुद्रहूतये) दुष्टों को रुलाने वाले, वीर पुरुषों को आह्वान करने वाले, उनके आज्ञापक, (रुद्राय) रुद्र रूप सेनापति को (स्वाहा) उत्तम आदर प्राप्त हो। (स्वाहा) सत्य वाणी से (ज्योतिः) ज्योति अर्थात् प्रकाश जिस प्रकार (ज्योतिषा) अपने से अधिक प्रबल प्रकाश से मिल कर एक हो जाता है उसी प्रकार वीर पुरुष वीर सेनापति से मिलकर एक हो जायं। (अहः केतुना) दिन जिस प्रकार उसके ज्ञापक प्रवर्त्तक सूर्य से युक्त होता है उसी प्रकार (सुज्योतिः) उत्तम ज्योति, तेज वाला सेनापति (स्वाहा) उत्तम सत्य वचन द्वारा (ज्योतिषा) तेजस्वी वीर पुरुष से (संजुषताम्) सुसंगत हो, प्रेमयुक्त हो। (केतुना) रात्रि के ज्ञापक चन्द्र से जिस प्रकार (रात्रिः) सब प्राणियों को सुख देने वाली रात्रि युक्त होती है उसी प्रकार (ज्योतिषा) ज्योतिर्मय तेजस्वी, ज्ञानवान् पुरुष से (सुज्योतिः) उत्तम ज्योति वाली (रात्रि) सब प्रजा को सुखदायी राज्यव्यवस्था (स्वाहा) उत्तम, सत्य क्रिया द्वारा (जुषताम्) प्रेमपूर्वक संयुक्त रहे। (इन्द्रतमे) अति वीर्यवान् तेजस्वी

१६—०अग्ना अस्याम० इति काण्व०।

(अग्नौ) आग में (हुतम् मधु) आहुति किये हुए मधुर सुगन्ध युक्त अन्नादि पदार्थ को जिस प्रकार हम उपभोग करते हैं उसी प्रकार तुझ (इन्द्रतमे) सबसे अधिक बलवान् और ऐश्वर्यवान् (अग्नौ) शत्रु को आग के समान जला डालने वाले तेजस्वी राजा के अधीन (हुतम्) प्रदान किये (मधु) पृथिवी रूप राष्ट्र का हम (अश्याम) प्रजाजन भोग करें । हे (देव) विजिगीषो ! हे (घर्म) तेजस्विन् ! सूर्यवत् प्रकाशमान राजन् ! (ते नमः अस्तु) तुझे अन्न, आदर और बल वीर्य प्राप्त हो । (मा) मुझ प्रजावर्ग को तू (मा हिंसीः) मत मार, मत पीड़ित कर ।

सामन्य जीवों के अक्ष में—(रुद्रहूतये रुद्राय) प्राणों की आहुति से जीने वाले जीव के लिये (ज्योतिषा ज्योतिः सम् जुषताम्) प्रकाश के साथ प्रकाश को संगत करो । (केतुना) बुद्धिपूर्वक (अहः रात्रिः) दिन और रात्रि को भी (ज्योतिषा ज्योतिः) ज्ञान से सद्गुणों को और मनन चिन्तन से धर्मादि तत्वों को संगत कर सेवन करो । अति तीव्र अग्नि में आहुति किये घृतादि मधुर पदार्थों को हम प्राप्त हों । हे परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । आप हमें पीड़ित न कर पालन करें ।

अभ्रीमं महिमा दिवं विप्रो बभूव सप्रथाः । उत श्रवसा पृथिवीꣳ सꣳसीदस्व महाँऽअसि रोचस्व देववीतमः । वि धूममग्ने ऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ १७ ॥

अग्निर्देवता । त्र्यवसाना शक्करी । पञ्चमः ॥

भा०—हे वीर विद्वन् ! राजन् ! (महिमा) तेरा महान् सामर्थ्य (इमं दिवम्) इस तेजस्वी सूर्य को भी (अभि बभूव) मात करता है । वह (विप्रः) विविध प्रजाओं को पूर्ण करने वाला और (सप्रथाः) सर्वत्र एक साथ फैलने वाला है । (उत) और (श्रवसा) यश और ऐश्वर्य के बल से तू (पृथिवीम्) पृथिवी पर (सं सीदस्व) अच्छी प्रकार विराजमान हो । उस पर राजा अभिषिक्त होकर विराजे । तू (महान् असि)

वड़ा है, बड़े सामर्थ्य वाला है। (देववीतमः) दिव्य गुणों से अति अधिक प्रकाशमान् होकर (रोचस्व) सबको प्रिय हो। हे (अग्ने) अग्नि के समान तेजस्विन्! हे (मियेध्य) शत्रुओं के नाश करने में समर्थ! जिस प्रकार अग्नि अन्धकार के समय अपने तेज से भभकते हुए लाल धूएं को छोड़ता है उसी प्रकार तू भी (अरुषम्) रोष रहित, प्रेमयुक्त एवं देदीप्यमान, लाल वर्ण के प्रतापशाली (दर्शतम्) दर्शनीय (धूमम्) शत्रुओं के कंपाने वाले सेनाबल को (वि सृज) विविध दिशाओं में प्रेरित कर, भेज और विजय कर।

'दिवं' अविद्यादिगुणप्रकाशमिति दया० तत् चिन्त्यम् ॥

या ते धर्म दिव्या शुग्या गायत्र्याꣳ हविर्धाने। सा त आप्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यै ते स्वाहा। या ते धर्मान्तरिक्षे शुग्या त्रिष्टुभ्याग्नीध्रे। सा त आ प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यै ते स्वाहा। या ते धर्म पृथिव्याꣳ शुग्या जगत्याꣳ सदस्या। सा त आ प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यै ते स्वाहा ॥ १८ ॥

धर्मो देवता। भुरिगाकृतिः। पञ्चमः ॥

भा०—हे (धर्म) तेजस्विन् राजन्! (या) जो (ते) तेरी (दिव्या) दिव्य पदार्थ सूर्य में रहने वाली दीप्ति के समान, उत्तम गुणों से उत्पन्न (शुक्) कान्ति, (गायत्र्या) वेदों के गान करने वाले ब्राह्मण विद्वानों के रक्षा करने वाली राज्य नीति में और (हविर्धाने) उत्तम संग्रह योग्य कर, अन्नादि पदार्थों के ग्रहण करने में है (सा) वह (ते) तेरी (आप्यायताम्) खूब बढ़े, वह (निः ष्ट्यायताम्) खूब प्रबल हो और (ते) तेरे (तस्यै) उस शक्ति के लिये (स्वाहा) तुझे उत्तम यश प्राप्त हो।

हे (धर्म) वायु के समान तेजस्विन् बलवन्! राजन्! (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में वायु के समान या (शुक्) जो तेरी प्रचण्डशक्ति (आग्नीध्रे) अग्नियों के समान प्रदीप्त बलवान् तेजस्वी वीर पुरुषों को धारण पोषण

करने के कार्य में और (त्रिष्टुभि) विविध क्षात्रशक्ति में है (ते सा) वह तेरी (अप्यायताम्) खूब बढ़े। (निः स्त्यायताम्) दृढ़ हो। (ते तस्यै स्वाहा) उससे तुझे उत्तम यश प्राप्त हो।

हे (धर्म) अग्नि के समान तेजस्विन्! (जगत्यां) जंगम जीवों से युक्त इस सृष्टि में और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (या) जो (ते) तेरी (सदस्या) राजसभा में प्रकट होने वाली (शुक्) शोभा, कान्ति और शक्ति है (सा ते आप्यायताम्) तेरी वह शक्ति खूब बढ़े। (निः स्त्यायताम्) खूब दृढ़ हो। (ते तस्यै स्वाहा) तेरी उस शक्ति से खूब कीर्त्ति हो।

क्षत्रस्य त्वा परस्पाय ब्रह्मणस्तन्वं पाहि।
विशस्त्वा धर्मणा वयमनु क्रामाम सुविताय नव्यसे ॥१९॥

महावीरो घर्मो देवता। निचृदुपरिष्टाद् बृहती। मध्यमः॥

भा०—हे राजन्! तू (परस्पाय) दूसरों को पालन करने के लिये प्रजा को शत्रु से बचाने और उत्तम रीति से पालन करने के लिये हो। अतः तू (क्षत्रस्य) क्षत्रियों के और (ब्रह्मणः) विद्वान् ब्राह्मणों के (तन्वं पाहि) शरीरों की रक्षा कर। अथवा (क्षत्रस्य) राष्ट्र के बल, वीर्य और (ब्रह्मणः) धनैश्वर्य और अन्न की (तन्वम्) विस्तृत सम्पत्ति की रक्षा कर। (विशः धर्मणा) प्रजाओं के कर्त्तव्य नियम और धर्म से (नव्यसे) नये से नये, अति उत्तम (सुविताय) शुभ पदार्थों के प्राप्त करने एवं उत्तम मार्ग चलने और राज्य शासन के कार्य के लिये हम (त्वा अनुक्रामाम) तेरा अनुगमन करें, तेरे पीछे २ चलें, तेरी आज्ञा पालन करें।

चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः। अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥२०॥

घर्मो देवता। निचात्त्रिष्टुप्। धैवतः॥

भा०—हे तेजस्वी पुरुष! राजन्! (चतुस्रक्तिः) तू चारों दिशाओं

में प्रबल हथियारों वाला हो। तू (ऋतस्य नाभिः) सत्य, न्यायव्यवस्था, धर्म मर्यादा और क़ानून का नाभि अर्थात् केन्द्र हो। तू (सप्रथाः) विस्तृत शक्तिवाला है। (सः) वह तू (सप्रथाः) अति विस्तृत यश और राष्ट्र वाला होकर (विश्वायुः) पूर्ण आयु होकर, जीवन भर (नः) हमारी रक्षा कर। और (सः) वह तू (नः) हमारे कल्याण के लिये (सर्वायुः सप्रथाः) पूर्ण जीवन को प्राप्त हो और विस्तृत कीर्त्ति वाला हो। हम लोग (द्वेषः) द्वेष करने वाले और (ह्वाः) कुटिल चाल वाले और (अन्यव्रतस्य) अन्य, भिन्न शत्रु के कर्मों वाले पुरुष को (अप सध्मिम) दूर करें। अथवा—(अन्यव्रतस्य ते द्वेषः दूरः च अपसध्मिम) अन्यों को पालन करने वाले तेरे शत्रुओं और कुटिल पुरुषों को दूर करें।

शत्रुवाच्यन्यशब्दः प्रायो वेदे दृश्यते। यथा 'अन्यांस्तपन्तु हेतयः०' इत्यादि।

घर्मैतत्ते पुरीषं तेन वर्द्धस्व चा च प्यायस्व।
वर्द्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि ॥ २१ ॥

घर्मो देवता। अनुष्टुप्। गान्धारः ॥

भा०—हे (घर्म) मेघ के समान प्रजा पर सुख समृद्धि के वर्षक और सूर्य के समान तेजस्विन्! (ते) तेरा (एतत्) यह इतना बड़ा (पुरीषम्) ऐश्वर्य और राज्यपालन करने का सामर्थ्य है। तू (तेन) उससे (वर्धस्व) बढ़ और (आप्यायस्व च) खूब समृद्ध हो और प्रजा को भी पुष्ट कर। (वयम् च) हम भी (वर्धिषीमहि) बढ़ें और (आप्यासिषीमहि) खूब लक्ष्मी से समृद्ध और तृप्त हों।

अचिक्रदद्वृषा हरिर्महान्मित्रो न दर्शतः।
सध्रीचीनः सूर्येण द्युतद्युदधिर्नोधिः ॥ २२ ॥

आदित्यो घर्मो देवता। परोष्णिक्। ऋषभः ॥

भा०—(वृषा) शत्रुओं को रोकने में समर्थ, प्रजाओं पर सुखों की

वर्षा करने वाला, मेघ के समान (अचिक्रदत्) गर्जन करता है। (हरिः) प्रजाओं के दुःखों को हरनेवाला, एवं सूर्य के समान प्रजा से कर लेने वाला होकर, (मित्रः न) सूर्य के समान सबके प्रति समान भाव से स्नेही, न्यायकारी, (दर्शतः) सब से दर्शनीय और सबका द्रष्टा है। वह ही (सूर्येण) सूर्य के समान तेज से (सं दिद्युतत्) अच्छी प्रकार चमके। शौर्य, वीर्य, बल, पराक्रम और उपकार आदि अपने गुणों को प्रकाशित करे। वह (उदधिः) सागर के समान गम्भीर हो और (निधिः) कोश, ख़ज़ाने के समान सब ऐश्वर्यों का रक्षक हो।

सुस्रिया न ऽआप ऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु
योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० ६ । २२ ॥

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्त ऽउत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २४ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० २० । २१ ॥

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥ २५ ॥

भा०—व्याख्या देखो अ० २० । २३ ॥

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे ।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ॥२६॥

इन्द्रो देवता । स्वराट् पंक्तिः । पञ्चमः ॥

भा०—(यावती) जितने बड़े (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि या सूर्य और भूमि और उनके समान स्त्री पुरुष, एवं राज प्रजावर्ग हैं और (यावत्) जहांतक (सिन्धवः) सातों समुद्र (वि तस्थिरे) विविध दिशाओं में फैले हैं। हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् (ते) तेरे लिये (तावन्तम्) वहां तक का (ग्रहम्) शासनाधिकार (ऊर्जा) बल,

पराक्रम से (गृह्णामि) ग्रहण करूं, स्वीकार करूं और वहांतक ही मैं (मयि) अपने में (अक्षितम् ग्रहम्) अक्षय, ग्रहण सामर्थ्य को (गृह्णामि) धारण करूं ।

अथवा—हे (इन्द्र) ऐश्वर्यवन् ! राष्ट्र-प्रजागण ! आकाश भूमि के विस्तारक तक और समुद्रों के विस्तार तक के (ग्रहम्) अधिकार को मैं राजा (मयि) अपने अधीन (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ।

मयि त्यदिन्द्रियं बृहन्मयि दक्षो मयि क्रतुः ।
धर्मस्त्रिशुग्विराजाति विराज्ज्योतिषा सह ब्रह्मणा तेजसा सह ।२७

धर्मो देवता । पंक्तिः पञ्चमः ॥

भा०—(मयि) मुझ प्रजावर्ग में (त्यत्) वह अलौकिक, अपूर्व, वाञ्छनीय (बृहत्) बड़ा भारी (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य बल प्राप्त हो (मयि दक्षः) मुझमें बल प्रज्ञा, बुद्धि और मुझ में विज्ञान प्राप्त हो । इसी प्रकार (मयि) मुझ राजा के अधीन (क्रतुः) बड़ा भारी ऐश्वर्य युक्त राष्ट्रबल और राज्यकार्य विज्ञान प्राप्त हो । इस प्रकार (धर्मः) तेजस्वी राजा (त्रिशुक्) अग्नि, विद्युत्, सूर्य तीनों के समान तेजस्वी होकर (विराजा ज्योतिषा) विराट् प्रकाश, विविध राजोचित तेज और (ब्रह्मणा तेजसा) ब्रह्म, वेदमय तेज या बड़े भारी ऐश्वर्यमय तीक्ष्ण प्रताप के (सह) साथ (विराजति) विराजे शोभा को प्राप्त हो ।

वयसो रेत आभृतं तस्य दोहमशीमहि उत्तरामुत्तरां समाम् ।
त्विषः संवृक् क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्णस्य ते सुषुम्णाग्निहुतः ।
इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमत उपहूत उपहूतस्य
भक्षयामि ॥ २८ ॥

घर्मो देवता । स्वराड् धृतिः । पञ्चमः ॥

भा०—(पयसः रेतः आभृतम्) दूध से जिस प्रकार शरीर में वीर्य अच्छी प्रकार धारण किया जाता है। और जिस प्रकार (पयसः) वृष्टि के जल से (रेतः) पृथ्वी के ऊपर ओषधि और प्राणियों के उत्पादक बीज (आभृतम्) सर्वत्र पुष्ट होता और प्राप्त होता है उसी प्रकार मैं राजा (पयसः) राष्ट्र के पोषण करने वाले ऐश्वर्य के बल से (रेतः) उसमें उत्पादक सामर्थ्य अर्थात् प्रजा और ऐश्वर्य के पदार्थों के पैदावार के सामार्थ्य को (आभृतम्) प्राप्त कराऊं और पुष्ट कराऊं। और जिस प्रकार गौ को दोहन करके उसके दुग्ध का सभी उपभोग करते हैं और जिस प्रकार वृष्टि जल के द्वारा प्रभूत अन्न को प्रति वर्ष प्राप्त करते हैं उसी प्रकार (तस्य) उस राष्ट्रैश्वर्य के (दोहम्) योग्य रीति से प्राप्त किये पूर्ण ऐश्वर्य को हम लोग (उत्तराम् उत्तराम् समाम्) उत्तरोत्तर आने वाले वर्ष में प्राप्त करें और उसका उपभोग करें। हे (सुघुम्ण) उत्तम सुखयुक्त प्रजाजन ! (ते क्रत्वे) तेरे कर्म और ज्ञान की वृद्धि के लिये (सुघुम्णस्य) उत्तम सुख से युक्त (ते) तेरे (दक्षस्य) बल और (त्विषः) कान्ति को (संवृक्) स्वीकार करने वाला होकर मैं (अग्निहुतः) अग्रणी, तेजस्वी नायक द्वारा स्वीकृत होकर (उपहूतः) आदरपूर्वक बुलाया जाकर ही मैं (इन्द्रपीतस्य) ऐश्वर्यवान् पुरुषों या प्रजाजन से युक्त या पालित और (प्रजापति भक्षितस्य) प्रजा के पालक माता पिताओं द्वारा खाये गये अर्थात् उपयुक्त, (मधुमतः) मधुर अन्नादि ऐश्वर्य से सम्पन्न राष्ट्र को मैं सेनापति और राजा (भक्षयामि) उपभोग करूं। महावीर का समस्त प्रकरण, ब्रह्मचर्य, परमेश्वरोपासना, योग द्वारा आत्म साधना और सूर्य चन्द्र आदि परक भी लगता है विस्तारमय से नहीं लिखा।

॥ इत्यष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभितश्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥

अथैकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

ॐ स्वाहा प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः । पृथिव्यै स्वाहा-
ग्नये स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा वायवे स्वाहा दिवे
स्वाहा सूर्य्याय स्वाहा ॥ १ ॥

भा०—(साधिपतिकेभ्यः) अधिपति आत्मा या मन के सहित शरीर में विद्यमान प्राणों के समान राष्ट्र में अपने अधिपति, अध्यक्षों के सहित (प्राणेभ्यः) उत्तम जीवन वाले, राष्ट्र को चेतन बनाये रखने वाले प्रजाजनों को (स्वाहा) उत्तम रीति से अन्न आदि प्राप्त हो । (पृथिव्यै अन्तरिक्षाय अग्नये वायवे दिवे सूर्य्याय स्वाहा) पृथिवी और उस पर रहने वाले प्रजाजन को (स्वाहा) उत्तम अन्न प्राप्त हो । 'अन्तरिक्ष' को उत्तम आहुति और राजा प्रजा के बीच के मध्यस्थ कार्यकर्त्ता को आदर और अग्नि, वायु आकाश और सूर्य इनको (स्वाहा) उत्तम घृत आदि पुष्टिकारक पदार्थों की आहुति और उत्तम ज्ञानपूर्वक प्राप्ति हो । (वायवे स्वाहा) वायु को उत्तम आहुति प्राप्त हो । और वायु के समान सबको जीवन देने वाले एवं उसके समान शत्रु को उखाड़ देने वाले राजा को आदर प्राप्त हो । (दिवे स्वाहा) सब तेजस्वी सूर्य, चन्द्रादिक के आश्रय स्थान आकाश के समान सब तेजस्वी पुरुषों के आश्रय राजा को उत्तम अन्न, यश, ऐश्वर्य प्राप्त हो । (सूर्याय स्वाहा) सूर्य के समान तेजस्वी पुरुष का उत्तम अन्न और आदर प्राप्त हो ।

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा । नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा ॥ २ ॥

लिंगोक्ता देवताः ॥

भा०—(दिग्भ्यः स्वाहा) दिशाओं और उनके वासी प्रजाओं

को उत्तम आदर और अन्न प्राप्त हो। (चन्द्राय स्वाहा) चन्द्र के समान आह्लादक राजा को उत्तम ऐश्वर्य और आदर कीर्त्ति प्राप्त हो। (नक्षत्रेभ्यः स्वाहा) नक्षत्रों के समान अपने स्थान से विचलित न होने वाले वीर पुरुषों को यश प्राप्त हो। (अद्भ्यः स्वाहा) जलों के समान शीतल स्वभाव, मल, पाप के दूर करने वाले आप्त पुरुषों को उत्तम अन्न दान, यश, उत्तम वचन द्वारा आदर प्राप्त हो। (वरुणाय स्वाहा) मेघ और समुद्र के समान सर्वश्रेष्ठ राजा को उत्तम आदर एवं धनादि प्राप्त हो। (नाभ्यै) अपने में सबको बांध लेने वाले, नाभि के समान केन्द्रस्थ पुरुष को आदर प्राप्त हो, (पूताय स्वाहा) पवित्र करने वाले स्वयं पवित्र पुरुष का आदर हो।

अथवा—(१) मन सहित समस्त प्राणों को बलवान् करने के लिये उत्तम साधन करो। पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, आकाश और सूर्य इनको सुखकारी बनाने के लिये उत्तम साधन करो।

(२) दिशाएं, चन्द्र, नक्षत्र, जल, समुद्र, नाभि और शरीर की पवित्रता के लिये भी उत्तम साधनों का प्रयोग करो।

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा।
चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा। श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा॥३॥

भा०—(वाचे) वाणी के सुधार और उसके उत्तम शिक्षा के लिये, (प्राणाय प्राणाय) दायें बायें प्राणों की स्वच्छता और बल के लिये (चक्षुषे चक्षुषे) दायें बायें आंखों के उत्तम शक्ति के लिये, (श्रोत्राय श्रोत्राय) दाये बायें कानों की श्रवण शक्ति के लिये (सु-आहा) उत्तम अन्न खाओ, उत्तम रीति से इनका उपयोग लो और उनको सन्मार्ग में चलावो।

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय।
पशूनां रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥ ४॥

कामादयो देवताः। निचृद् बृहती। मध्यमः॥

भा०—(मनसः) मन, मननशील अन्तःकरण की (कामम्) इच्छा और (आकूतिम्) अभिप्राय जतलाने की शक्ति और (वाचः) वाणी के (सत्य) यथार्थ, सत्य भाषण को मैं (अशीय) प्राप्त करूं, अर्थात् मनसे दृढ़ इच्छा और प्रबल अभिप्राय-ज्ञापन का अभ्यास करूं और वाणी से सत्य बोलूं। (पशूनां) पशुओं के (रूपम्) नाना प्रकार के (अन्नस्य) अन्न के (रसः) नाना सार रूप रस और (यशः श्रीः) यश और ऐश्वर्य ये सब (मयि) मुझ पुरुष में (स्वाहा) उत्तम कर्म और वाणी से (श्रयताम्) आवें और स्थिर हों।

प्रजापतिः सम्भ्रियमाणः सम्राट् सम्भृतो वैश्वदेवः संछंसन्नो धर्मः प्रवृक्तस्तेज उद्यत आश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लर्थन्। मैत्रः शरसि सन्त्राय्यमाने वायव्यो हियमाण आग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः ॥ ५ ॥

महावीरो देवता। कृतिः। निषादः॥

भा०—(संभ्रियमाणः) प्रजाएं जब राजा को नाना ऐश्वर्यों से पुष्ट करती हैं तब वह (प्रजापतिः) प्रजा का पालक होने से 'प्रजापति' कहाता है। ('सम्भृतः सम्राट्) वह अच्छी प्रकार परिपुष्ट हो जाता है तब वह प्रजा में उत्तम रीति से सर्वत्र ऐश्वर्य से प्रकाशित होने से 'सम्राट्' कहाता है। (संसन्नः वैश्वदेवः) अच्छी प्रकार राजसभा में विराज कर समस्त विद्वानों से आदर पाने के कारण 'वैश्वदेव' कहाता है। (प्रवृक्तः धर्मः) ऊंचे आसन को प्राप्त होकर वह तेजस्वी होने से 'धर्म' कहाता है। (उद्यतः तेजः) उन्नत पद पर स्थित होकर वह तेजस्वी एवं तीक्ष्ण स्वभाव होने से 'तेज' या सूर्य के समान कहाता है। (पयसि आश्विनः) जल द्वारा अभिषेक कर लेने पर स्त्री पुरुष दोनों प्रकार के प्रजाओं अथवा

५—विष्कन्दयाव० इति काण्व०।

राजवर्ग और प्रजा वर्ग दोनों द्वारा अभिषिक्त होने के कारण वह 'आश्विन' कहाता है। (विस्यन्दमाने पौष्णः) विशेष रूप से वेग से गमन करता हुआ हुए वह राजा पृथिवी के हित के लिये प्रवृत्त होने के कारण 'पौष्ण' कहाता है। (कृथन् मारुतः) जब वह शत्रुओं का नाश कर रहा होता है तब वह मारने वाले सैनिकों का स्वामी होने से 'मारुत' कहाता है। (शरसि संताय्यमाने मैत्रः) शत्रु नाशक सेनाबल के स्थान २ पर विस्तृत कर देने पर, अथवा जलाशय तड़ाग आदि कृषि के साधनों के फैला देने पर वह (मैत्रः) प्रजा के प्रति स्नेहवान् और प्रजा को भरण पोषण से रक्षा करने वाला होने से वह सूर्य के समान तेजस्वी राजा 'मित्र' कहाता है। (वायव्यः ह्रियमाणः) वेग से युद्ध क्षेत्र में रथादि साधनों से जाता हुआ वह वायु के समान तीव्र गामी होकर शत्रु की जड़ों को हिला देने वाला वायु के समान होने से 'वायव्य' है। (हूयमानः आग्नेयः) वह बराबर शत्रु के ऐश्वर्यों से उनके शरीर से मानो आहुति पाता हुआ, अग्नि के समान प्रचण्ड होने के कारण 'आग्नेय' है। (हुतः वाक्) सब प्रजाओं द्वारा अपना राजा स्वीकार कर लिया जाकर, सबको आज्ञा देने वाला होने से 'वाक्' स्वरूप है। वह सबको आज्ञा देता है। इस प्रकार ये १२ स्वरूप राजा के समझने चाहिये।

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वे देवा द्वादशे ॥ ६ ॥

सवित्रादयो देवताः । विराड्धृतिः । धैवतः ॥

भा०—राजा के द्वादश रूपों का वर्णन। (प्रथमे अहनि) पहले दिन वह सूर्य के समान सबका प्रेरक, आज्ञापक और ऐश्वर्य का उत्पादक होने से 'सविता' है। (द्वितीये अग्निः) दूसरे दिन वह अग्नि के समान मार्ग प्रकाशक अग्रणी होने से 'अग्नि' है। (तृतीये वायुः)

तीसरे दिन वायु के समान बलवान् हो जाने से वह 'वायु' है। (चतुर्थे आदित्यः) चौथे दिन आदित्य के समान जलों के समान करों के ग्रहण करने से 'आदित्य' है। (चन्द्रमाः पञ्चमः) पाचवें दिन चन्द्र के समान आह्लादक होने से 'चन्द्रमा' है। (षष्ठे ऋतुः) छठे दिन सबको नाना पदार्थों के प्राप्त कराने और सबको नाना प्रकारों से सुखी करने वाला होने से 'ऋतु' है। (मरुतः सप्तमे) सातवें दिन सैनिकों के रूप में या प्रजा साधारण के रूप में विद्यमान होने से वह 'मरुत्गण' ही है। (अष्टमे बृहस्पतिः) बड़े राष्ट्र का पालक होने से 'बृहस्पति' है। (मित्रः नवमे) नवे दिन वह सर्वत्र स्नेहवान् होने से 'मित्र' है। (वरुणः दशमे) दसवें दिन वह सबसे वरण करने योग्य होने से 'वरुण' है। (एकादशे इन्द्रः) ग्यारहवें दिन विद्युत् के समान तेजस्वी होने से 'इन्द्र' है। और (विश्वे देवाः द्वादशे) बारहवें दिन समस्त विद्वानों के बीच में निष्पक्षपात होकर रहने से विश्व देवों अर्थात् विद्वानों से सम्मति में भिन्न न होने से 'विश्व देव मय है।

जीवपक्ष में—वह मरणोत्तर प्रतिदिन क्रम से सूर्य, आग, वायु, रश्मि, चन्द्र, ऋतु, वायु, प्राण, उदान और विद्युत् और शेष सब दिव्य पदार्थ इनमें उत्तरोत्तर प्राप्त होने से उस २ रूप का होकर विचरता है और कर्म फलों का भोग करता है।

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च।
सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥ ७॥

मरुतो देवताः। भुरिग् गायत्री। षड्जः॥

भा०—वह राजा (उग्रः च) भयंकर और सदा वायु के समान प्रचण्ड वेग से शत्रु पर आक्रमण करने से 'उग्र' है। (भीमः च) उनको भयप्रद होने से 'भीम' है। (ध्वान्तः च) अन्धकार के समान मूढ़ कर देने वाला होने से 'ध्वान्त' है। (धुनिः च) कंपा देने वाला होने से 'धुनि' है। (सासह्वान् च) बराबर पराजित करने में समर्थ होने से 'सास-

ह्वान्' है। (अभियुग्वा) उन पर आक्रमण करने से 'अभियुग्वा' है और उनको तितर बितर कर देने से 'विक्षिप' है। (स्वाहा) वह अपने ही उत्तम कर्मों के कारण उन नामों से मान पाने योग्य है।

जीवपक्ष में—जीव, तीव्र स्वभाव, भयंकर, तामस, कम्पमान, सहनशील, आसक्त विक्षिप्त और [चकारसे] शान्त, निर्भय, प्रकाशमान, स्थिर, असहनशील, विक्षिप्त, आदि अपने कर्म फलों से हो जाता है।

अग्निꣳ हृदयेनाशनिꣳ हृदयाग्रेण पशुपतिँ कृत्स्नहृदयेन भवं यक्ना। शर्वं मतस्नाभ्यामीशानं मन्युना महादेवमन्तः पर्शव्येनोग्रं देवं वनिष्ठुना वसिष्ठहनुः शिङ्गीनि क्रोश्याभ्याम् ॥ ८ ॥

उग्रं लोहितेन मित्रꣳ सौव्रत्येन रुद्रं दौव्रत्येनेन्द्रं प्रक्रीडेन मरुतो वलेन साध्यान् प्रमुदा। भवस्य कण्ठ्यꣳ रुद्रस्यान्तः पार्श्व्यं महादेवस्य यकृच्छर्वस्य वनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् ॥ ९ ॥

उग्रादयो देवताः। (८) भुरिगष्टिः। मध्यमः। (९) आकृतिः। पञ्चमः॥
प्रजापतिर्ऋषिः॥

भा०—(१) राजा के सर्वदेवमय शरीर का वर्णन अलंकार रूप से करते हैं। वह (हृदयेन अग्निम्) हृदय से अग्नि को धारण करता है। (हृदयाग्रेण अशनिम्) हृदय के अगले भाग से वह विद्युत् को धारण करता है। (कृत्स्नं हृदयेन पशुपतिम्) समस्त हृदय के भाग से वह पशुओं के पालक प्राणवायु को धारण करता है। (यक्ना भवम्) यकृत् कलेजे से वह सर्वत्र विद्यमान आकाश को धारण करता है। (मतस्नाभ्यां

८, ९—'तत्राग्निं हृदयेन,' 'उग्रं लोहितेन' इति द्वेकाण्डके ब्राह्मणरूपे देवताऽश्वरवयवसम्बन्धविधानादिति महीधरः। देवताश्वरवयवविधाना द्वेकाण्डके श्रुतिरिति उव्वटः। प्रक्रोष्ठेन० इति काण्व०।

शर्वम्) गुर्दों से वह जल को धारण करता है । (मन्युना ईशानम्) मननशील चित्त या मन्यु, क्रोध से सब पर शासन करने वाले ऐश्वर्यवान् विद्युत को धारण करता है । (अन्तः पर्शव्येन) भीतर के पंसुलियों से (महादेवम्) सबसे बड़े देव, अन्तर्यामी परमेश्वर को धारण करता है । (वनिष्ठुना) आंतों से (उग्रं देवम्) तीव्र देव, अग्नि को जाठर रूप से धारण करता है । (वसिष्ठहनुः) समस्त प्रजा को बसाने हारे लोगों में से सबसे श्रेष्ठ होकर शत्रु को हनन करने वाले साधनों से सम्पन्न होकर (कोश्याभ्याम्) कोश में रखने योग्य शस्त्रों और ऐश्वर्य से (शिङ्गीनि) समस्त ग्राह्य करने योग्य कीर्तिजनक गुणों को हृदय कोश में धारण करता है ।

इस मन्त्र में 'वसिष्ठहनुः शिङ्गीनी कोश्याभ्याम्' यह अंश संदिग्ध एवं अस्पष्ट है ।

भा०—हे राजन् ! तू (लोहितेन) तपे लोहे के समान तीक्ष्ण स्वभाव से (उग्रम्) अति उग्र, प्रचण्ड पुरुष को वश कर । (सौव्रत्येन मित्रम्) उत्तम २ व्रत और सुखकारी नियम कर्मों के पालन से (मित्रम्) मित्रों को अपने वश करे । (दौर्व्रत्येन) दुष्टों के प्रति दुःखदायी, कष्टप्रद कार्यों से (रुद्रम्) प्रजा को कष्टों से रुलाने वाले पुरुष को वश करे । (प्रक्रीड़ेन) उत्तम, मन को बहलाने वाले क्रीड़ा विनोद से (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् धनाढ्य पुरुष को वश करे । (बलेन) बल से, सेनाबल के कार्य से (मरुतः) मारने हारे सैनिकों को, अथवा बल या सेना द्वारा मनुष्यों को वश करे । (प्रमुदा) अति हर्षकारी सुखप्रद उपाय से (साध्यान्) वश करने योग्य लोगों को वश करे ।

अथवा अध्यात्म में—उग्र आदि नाना प्राणों के नाम भेद हैं । (कण्ठयं) कण्ठ में विद्यमान उत्तम स्वर गायन आदि (भवस्य) सत्तावान् प्रशंसा योग्य सामर्थ्यवान् प्राण का कार्य है । (रुद्रस्य) शत्रुओं को रुलाने वाले प्राण का स्थान (अन्तः पार्श्व्यम्) पसुलियों के भीतर का स्थान है । (यकृत् महादेवस्य) बड़े भारी दीप्ति वाले या

जाठर अग्नि ज्वाला से युक्त पित्त का स्थान (यकृत्) यकृत्, कलेजा है, (शर्वस्य वनिष्ठुः) भुक्त अन्न को सूक्ष्म २ अणु करके सर्वत्र अंगों में पहुंचाने वाले जाठर बल का स्थान (वनिष्ठुः) आंतें हैं। (पशुपतेः) दर्शनशील इन्द्रियों अथवा कर्मकर भृत्य के समान शरीर के काम करने वाले अंगों के पालक आत्मा का स्थान (पुरीतत्) पुरीतत् नामक हृदय की नाड़ी है।

लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहा स्नावभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहास्थभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा। रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा ॥ १० ॥

भा०—(लोमभ्यः स्वाहा लोमभ्यः स्वाहा) रोमों को उत्तम अन्न बल प्राप्त हो। वे स्वच्छ रोग रहित रहें। (त्वचे स्वाहा) त्वचा के प्रत्येक भाग को उत्तम रीति से रक्खो। (लोहिताय स्वाहा) रक्त के प्रत्येक भाग को स्वच्छ रक्खो। (मेदोभ्यः स्वाहा मेदोभ्यः स्वाहा) मेद, धातु के प्रत्येक अंश को स्वच्छ और रोग रहित करो। (मांसेभ्यः स्वाहा मांसेभ्यः स्वाहा) देह में मांसों के प्रत्येक अंश को विकाररहित, नीरोग रक्खो। (स्नावभ्यः स्वाहा स्वावभ्यः स्वाहाः) प्रत्येक स्नायु बलवान्, अविकृत रक्खो। (अस्थभ्यः स्वाहा अस्थभ्यः स्वाहा) प्रत्येक हड्डी को बलवान् और दोष रहित रक्खो। (मज्जभ्यः स्वाहा मज्जभ्यः स्वाहा) मज्जा के प्रत्येक भाग को उत्तम, तथा अविकृत, स्वच्छ रक्खो। (रेतसे स्वाहा) वीर्य की वृद्धि के लिये भी उत्तम प्रयत्न करो और (पायवे स्वाहा) गुदा इन्द्रिय के मलशोधक अंग को स्वच्छ रक्खो। शरीर में विद्यमान उक्त धातुओं के समान राष्ट्र

१०—भेदसे स्वाहा भेदसे० इति काण्व०।

में भी घटक अवयवों को अच्छी प्रकार यत्नपूर्वक रक्खो उनको उत्तम अन्न आदि प्रदान करो ।

आयासाय स्वाहा प्रायासाय स्वाहा संयासाय स्वाहा वियासाय स्वाहोद्यासाय स्वाहा । शुचे स्वाहा शोचते स्वाहा शोचमानाय स्वाहा शोकाय स्वाहा ॥ ११ ॥

भा०—(आयासाय स्वाहा) अंगों के व्यापक श्रम के लिये (स्वाहा) उत्तम अन्न खाओ । (प्रायासाय स्वाहा) उत्तम कोटि के परिश्रम के लिये भी उत्तम अन्न खाओ । (संयासाय) मिल कर अंगों के एकत्र यत्न करने के लिये, (वियासाय) विविध अंगों के श्रम के लिये, (उद्यासाय) उठाने के परिश्रम के लिये भी (स्वाहा) उत्तम अन्न का ग्रहण करो । (शुचे स्वाहा) स्वच्छ रहने और शरीर की कान्ति के लिये उत्तम आहार करो । (शोचते) शुद्ध विचार करने वाले आत्मा के लिये (स्वाहा) उत्तम भोजन करो । (शोचमानाय स्वाहा) उत्तम तेजस्वी विचार प्रकाशित करने के लिये और (शोकाय) तेज के प्राप्त करने के लिये उत्तम आहार करो ।

इसी प्रकार राष्ट्र में भी आयास, वियास आदि नाना यत्न और बलसाध्य कार्यों के लिये, तेज, बल के बढ़ाने के लिये और तेज बल बढ़ाने वाले विद्वान् जनों के लिये उत्तम २ रीति से यत्न किया जाय ।

तपसे स्वाहा तप्यते स्वाहा तप्यमानाय स्वाहा तप्ताय स्वाहा घर्माय स्वाहा । निष्कृत्यै स्वाहा प्रायश्चित्यै स्वाहा भेषजाय स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—(तपसे) धर्माचरण, तप का अनुष्ठान, (तप्यते) तपस्या करनेवाले पुरुष, (तप्यमानाय) विद्याभ्यासादि करनेवाले ब्रह्मचारी

१२—तपसे स्वाहा तप्यमानां० इति काण्व० ।

(तप्ताय) सिद्ध तपस्वी, परिव्राजक आदि और (घर्माय) सूर्य के समान तेजस्वी सब पुरुषों के लिये (स्वाहा) उत्तम रीति से यत्न करो। धर्म कार्यों और धर्म के कार्य करने वालों के लिये उत्तम दान करो। (निष्कृत्यै) पापों के निवारण करने, (प्रायश्चित्यै) बिगड़े कार्यों और पाप आचरणों को सुधारने और (भेषजाय) शारीरिक कष्टों को चिकित्सा द्वारा दूर करने और सुख प्राप्त करने के लिये (स्वाहा) उत्तम रीति से यत्न किया जाय।

यमाय स्वाहान्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा। ब्रह्मणे स्वाहा ब्रह्महत्यायै स्वाहा विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याꣳ स्वाहा ॥ १२ ॥

भा०—(यमाय स्वाहा) राष्ट्र का नियन्त्रण करने वाले राज्य-व्यवस्थापक और शरीर के नियामक वायु का उत्तम रीति से आदर और तर्पण करो अन्न और कर आदि प्रदान करके उसको अनुकूल रक्खो। सर्व-नियन्ता परमेश्वर का सदा स्मरण करें। (अन्तकाय स्वाहा) दुष्टों का अन्त करने वाले राजा को आदर और सब शरीरों के अन्त करने वाले मृत्यु का उपाय और परमेश्वर का स्मरण करें। (मृत्यवे स्वाहा) सबको मारने वाले वीर का आदर, मृत्यु का उपाय और सर्वदुष्ट मारक परमेश्वर की उपासना करें, उससे सत्य आत्म ज्ञान प्राप्त करें। (ब्रह्मणे स्वाहा) महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपाय और विशाल राष्ट्र की रक्षा का उपाय करें, परमब्रह्म परमेश्वर की उपासना करें। (ब्रह्महत्यायै स्वाहा) वेद ज्ञान के विनाश के निवारण का उत्तम उपाय करो। अथवा ब्रह्म, अर्थात् महान् ऐश्वर्य के हत्या अर्थात् प्राप्ति का उपाय करो और ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति का सदुपयादि करो। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा) राष्ट्र के सभी देव, शासक, विद्वानों का उचित आदर मान, पदाधिकार वेतनादि प्रदान करो। शरीर के सभी प्राणों की साधना करो, जगत् के सभी दिव्य पदार्थों का ज्ञानपूर्वक

सदुपयोग करो। (द्यावापृथिवीभ्याम् स्वाहा) राष्ट्र में राजा और प्रजा वर्ग, स्त्री और पुरुष दोनों को उत्तम साधन और अन्नादि ऐश्वर्य प्राप्त हों। आकाश और पृथिवी दोनों को उत्तम रीति से ज्ञान करो।

॥ इत्येकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः

[अ० ४४] दध्यङ् आथर्वण ऋषिः । आत्मा देवता ।
अनुष्टुप् । धैवतः ॥

ॐ ओ३म् ॥ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

भा०—(जगत्याम्) इस सृष्टि में (यत् किंच) जो कुछ भी (जगत्) चर, प्राणी, जंगम संसार या गतिशील है (इदं) वह (सर्वं) सब (ईशा) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर से (वास्यम्) व्याप्त है । (तेन त्यक्तेन) उस त्याग किये हुए, या (तेन) उस परमेश्वर से (त्यक्तेन) दिये हुए पदार्थ से (भुञ्जीथाः) भोग अनुभव कर । (कस्य स्वित्) किसी के भी (धनम्) धन लेने की (मा गृधः) चाह मत कर । अथवा (धनं कस्य स्वित् ?) धन किसका है ? किसी का भी नहीं । इस लिये (मा गृधः) मत लालच कर ।

'ईशा'—ईश्वरेण सकलैश्वर्यसम्पन्नेन सर्वशक्तिमता परमात्मना' इति दया० । ईश ऐश्वर्ये । क्विप् । ईष्ट इतीट् । ईशिता परमेश्वरः । सहि-सर्वं जन्तूनामात्मा सन् ईष्टे । इति मही० ।

'इदं सर्वं'—प्रकृत्यादिपृथिवीपर्यन्तं । इति दया० । प्रत्यक्षतो दृश्यमानं सर्वं इति मही० ।

'जगत्यां'—'गम्यमानामां सृष्टौ' इति दया० । लोकत्रये इति मही० । पृथिव्यामति उवटः ।

१—अथातो ज्ञानकाण्डम् ।

'तेन त्यक्तेन'—'तेन वर्जितेन तच्चित्तरहितेन' इति दया० । तेन सर्वेण त्यक्तेन त्यक्तस्वस्वामिभावसम्बन्धेन इत्युवटः ।

अथवा—(त्यक्तेन तेन भुञ्जीथाः) अपना स्वामित्व और चित्त त्याग किये, अर्थात् ममता या संग से रहित इस भोग्य पदार्थ से भो अनुभव कर । इति दया० ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः—तेन त्यागेन आत्मानं पालयेथाः इति शंकरः इस त्याग से अपना पालन कर ।

राष्ट्रपक्ष में—इस (जगत्यां) पृथ्वी पर जितना (जगत्) जड़ पदार्थ, पशु पक्षी आदि (इदं सर्वम्) यह सब जड़ पदार्थ हैं सब (वास्यम्) शक्तिमान् ऐश्वर्यवान् राजा द्वारा अधिकार करने योग्य हैं । उन छोड़े गये या प्रदान किये का तू प्रजावर्ग भोग कर और आपस में कोई एक दूसरे के धन की चाह मत कर । मत ललचा ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

भा०—(इह) इस संसार में मनुष्य (कर्माणि) वेद में वत लाये हुए निष्काम कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्षों तक (जिजीविषेत्) जीना चाहे । हे मनुष्य (एवं) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) कार्य करने वाले पुरुष में (कर्म न लिप्यते) कर्म का लेप नहीं होगा । (इतः अन्यथा) इससे दूसरे किसी प्रकार से (न अस्ति) कर्म का लेप लगे बिना नहीं रहता ।

'कर्म'-कर्माणि वेदोक्तानि निष्कामकृत्यानि इति दया० । मुक्तिहेतुकानि इति उवटः । कर्म अधर्म्यमवैदिकं मनोऽर्थसम्बन्धिकर्म । दया० ।

राष्ट्र पक्ष में—इस राष्ट्र में कर्म अर्थात् कर्त्तव्य पालन करते हुए सौ बरसों तक लोग जीना चाहें । हे पुरुष ! इस प्रकार तुझ नेता पुरुष में कर्म का

अर्थात् दोष नहीं लगेगा। इससे दूसरा कोई और प्रकार नहीं, राष्ट्र में कोई निकम्मा नहीं रहे। सब अपना २ कर्त्तव्य पालन करें।

असुर्या नाम ते लोका ऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि[3] गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ ३॥

भा०—(ते) वे (लोकाः) लोक अर्थात् मनुष्य (असुर्याः) असुर कहाने योग्य, केवल अपने प्राण को पोषण करने हारे, पापाचारी जो (अन्धेन) अन्धकार रूप (तमसा) आत्मा को ढक लेने वाले तमोगुण से (आवृताः) ढके हैं। (ये के च) जो कोई (जनाः) लोग भी (आत्महनः) अपने आत्मा का घात करते हैं, उसके विरुद्ध आचरण करते हैं (ते) वे (प्रेत्य) मर कर (अपि) जीते हुए भी (तान्) उन उक्त प्रकार के लोकों को ही (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं।

'लोकाः'—ये लोकन्ते पश्यन्ति ते जनाः। लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते कर्मफलानि यत्रेति लोका जन्मानि।

राष्ट्रपक्ष में—वे सूर्य रहित स्थान गहरे अन्धकार से ढके हैं जो आत्मा अर्थात् जीवों के देहों का नाश करते हैं। वे उन स्थानों पर जीते भी रक्खे जाते हैं। और मरकरतो परलोक में वे तामस दशाओं का अनुभव करते ही हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

भा०—(अनेजत्) अपनी अवस्था से कभी च्युत न होने वाला, परिणाम रहित, (एकम्) अद्वितीय, (मनसः जवीयः) मन से भी अधिक वेगवान् ब्रह्म है। (पूर्वम्) सबके पूर्व सबसे आगे, (अर्षत्) गति करते हुए (एनत्) उसको (देवाः) पृथिवी आदि तत्व और चक्षु आदि इन्द्रिय

३—०प्रेत्याभि० इति काण्व०।

गण (न आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होते । (तत्) वह परब्रह्म (तिष्ठत्) अपने स्वरूप में स्थित, कूटस्थ स्थिर होकर भी (धावतः) विषयों के प्रति जाते हुए (अन्यान्) अपने से भिन्न अन्य, मन आदि इन्द्रियों को (अति एति) लांघ जाता है उनकी पहुंच से परे रहता है । (तस्मिन्) उस सर्वव्यापक में ही (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में गति करने वाला वायु और उसके समान जीव भी (अपः) कर्म (दधाति) करता है ।

आत्मपक्ष में—उस आत्मा के आश्रय पर (मातरिश्वा) प्राण गति करता है ।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

भा०—(तत् एजति) वह क्रिया करता है (तत् न एजति) वह क्रिया नहीं करता । वह स्वयं कूटस्थ, निष्क्रिय होकर समस्त ब्रह्माण्ड को गति दे रहा है । (तत् दूरे) वह अधर्मात्मा, अविद्वान् पुरुषों से दूर है । (तत् उ अन्तिके) वह ही धर्मात्मा और विद्वानों के समीप है । (तत्) वह (अस्य सर्वस्य) इस समस्त जगत् और जीवों के (अन्तः) भीतर, (तत्) वह ही और (अस्य सर्वस्य) इस समस्त जगत् के (बाह्यतः) बाहर भी वर्त्तमान है । वह सर्वव्यापक है ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति ॥ ६ ॥

भा०—(यः तु) जो पुरुष (सर्वाणि भूतानि) सब प्राणियों और प्राण रहित पदार्थों को भी (आत्मन् एव) परमात्मा पर ही आश्रित (अनुपश्यति) विद्याभ्यास, धर्माचरण और योगाभ्यास कर साक्षात् कर लेता है । और (सर्वभूतेषु च) समस्त प्रकृति आदि पदार्थों में

६—'विजुगुप्सते' इति काण्व० ।

(आत्मानं) परमेश्वर को व्यापक जानता है। (ततः) तब वह (न विचिकित्सति) संदेह में नहीं पड़ता।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। तस्मिन् दृष्टे परावरे। गी०

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

भा०—(यस्मिन्) जिस ब्रह्मज्ञान की दशा में (सर्वाणि भूतानि) समस्त जीव, प्राणी (आत्मा एव अभूत्) अपने आत्मा के समान ही हो जाता है, अर्थात् समस्त जीव अपने समान दीखने लगते हैं उस (एकत्वम् अनु पश्यतः) एकता या समानता को प्रतिक्षण देखने वाले (विजानतः) विशेष आत्मज्ञानी पुरुष को (तत्र) उस दशा में फिर (कः मोहः) कौनसा मोह और (कः शोकः) कौनसा शोक रह सकता है? अर्थात् तब कोई शोक मोह नहीं रह जाता।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

भा०—(सः) वह परमेश्वर (परि अगात्) सर्वत्र व्यापक है। वह (शुक्रम्) शुद्ध, कान्तिमय, अथवा तीव्र शक्तिमय शीघ्र गति देने वाला, (अकायम्) स्थूल सूक्ष्म और कारण नामक तीनों शरीरों से रहित, (अव्रणम्) व्रण, घाव आदि से रहित। (अस्नाविरम्) स्नायु आदि बन्धनों से रहित, शुद्ध अविद्यादि दोषों रहित, सदा पवित्र, (अपापविद्धम्) पापों से सदा मुक्त, (कविः) क्रान्तदर्शी, मेधावी, (मनीषी) सबके मनों को प्रेरणा करने वाला, (परिभूः) सर्वत्र व्यापक, सबका वशयिता, (स्वयम्भूः) स्वयं अपनी सत्ता से सदा विद्यमान, माता पिता द्वारा जन्म न लेने हारा है। वह (याथातथ्यतः) यथार्थ रूप से, ठीक

ठीक (शाश्वतीभ्यः) सनातन से चली आयीं (समाभ्यः) प्रजाओं क
के लिये (अर्थात्) समस्त पदार्थों को (विअदधात्) रचता है । और म
उनका ज्ञान प्रदान करता है ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रताः ॥ ६ ॥

भा०—(ये) जो (असंभूतिम्) सत्व, रजस्, तमस् तीन गुणों वाली अव्यक्त प्रकृति की (उपासते) उपासना करते हैं वे (अन्धं तमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) चले जाते हैं । (ये उ) और जो (संभूत्याम्) मरुत् आदि विकारमय सृष्टि में (रताः) रमण करते हैं, उसी में मग्न हो जाते हैं (ते) वे (ततः) उससे भी (भूयः इव) अधिक गहरे (तमः) अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं । अर्थात् केवल प्रकृति के उपासक भी परमानन्द परमेश्वर की आनन्दमय परम ज्योति को प्राप्त नहीं करते । वे जड़ोपासना में मग्न रहते हैं । और जो प्रकृति विकारों की ही उपासना करते हैं वे भी सुख नहीं पाते ।

अथवा—(असम्भूतिम्) इस देह को छोड़ कर पुनः आत्मा अन्य देह में उत्पन्न नहीं होता, जो इसी प्रकार मानते हैं वे गहरे अज्ञान में रहते हैं और जो (सम्भूतिम्) आत्मा ही कर्मानुसार उत्पन्न होता है मरता है और ईश्वर कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं वे उससे भी गहरे अन्धकार में पड़ते हैं।

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

भा०—(सम्भवात्) उत्पन्न होने अर्थात् कार्यजगत् से (अन्यत् एव) अन्य ही फल (आहुः) कहते हैं । (असम्भवात्) नहीं उत्पन्न होने अर्थात् कारणरूप प्रकृति के ज्ञान से (अन्यत्) अन्य ही फल (आहुः) कहते हैं । (ये) जो विद्वान् पुरुष (नः) हमें (तत्) इस

नत्व का (विवक्षिरे) विशेष रूप से बतलाते हैं, उन (धीराणां) बुद्धिमान् पुरुषों से (इति) इसी विषय का (शुश्रुम) श्रवण करें ।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

भा०—(सभूंतिम्) जिसमें नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं इस कार्य सृष्टि और (विनाशं च) जिसमें विनाश अर्थात् कारण में लीन होते (उभयं) दोनों को (यः) जो (सह) एक साथ (वेद) जान लेता है । वह (विनाशेन) सबके अदृश्य होने के परम कारण को ज्ञान कर (मृत्युम्) देह को छोड़ने के धर्म के भय को (तीर्त्वा) पार करके, उसको सर्वथा त्याग कर (सभूत्या) कारण से कार्यों के उत्पन्न होने के तत्व को जान कर (अमृतम्) उस अमर अविनाशी मोक्ष को (अश्नुते) प्राप्त करता है ।

संभूति = सम्भवैकहेतुः परं ब्रह्म । विनाशः विनाशधर्मकं शरीरमिति उवटः ।

अन्धन्तमः प्र विशन्ति ये ऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय ऽइव ते तमो य ऽउ विद्यायाꣳरताः ॥ १२ ॥

भा०—(ये) जो लोग (अविद्याम्) अविद्या अर्थात् नित्य, पवित्र और आत्मा से भिन्न पदार्थों को नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा पासते) करके जानते हैं, उसी मिथ्या ज्ञान में मग्न रहते हैं वे (अन्धं तमः) रेअन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं । वे बड़े अज्ञान में रहते हैं । र.(ये उ) जो भी (विद्यायाम् रताः) विद्या अर्थात् केवल शास्त्राास में ही (रताः) लगे रहते हैं वे (ततः भूयः इव) उससे भी धिक (तमः) अज्ञानान्धकार में कष्ट पाते हैं ।

अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽअन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

भा०—(विद्यायाः) विद्या का फल और कार्य (अन्यत् एव आहुः) दूसरा ही बतलाते हैं। और (अविद्यायाः अन्यत् आहुः) अविद्या का फल और ही बतलाते हैं। (ये नः तद् विचचक्षिरे) जो हमें विद्या और अविद्या के स्वरूप का उपदेश करते हैं हम उन (धीराणाम्) बुद्धिमान् पुरुषों के मुखों से (इति शुश्रुम) इस तत्व का श्रवण किया करें।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

भा०—(विद्यां च अविद्याम् च) विद्या और अविद्या (यः) जो (तत् उभयं वेद) इन दोनों के स्वरूप को जान लेता है वह (अविद्यया) अविद्या से (मृत्यु तीर्त्वा) मृत्युं को पार करके (विद्यया अमृतम् अश्नुते) विद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है।

अविद्यया—शरीरादि जड़ पदार्थ द्वारा पुरुषार्थ करके। (दया०)
विद्यया—शुद्ध चित्त से सम्यग् तत्व दर्शन करके। (दया०)

स्वर्गाद्यर्थानि कर्माणि अत्मज्ञान चेति उवटः। अविद्या अग्निहोत्रादि लक्षणा, इति मही०।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतꣳ स्मर ॥ १५ ॥

भा०—(वायुः) वायु, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, धनंजय आदि (अनिलम्) उक्त प्राणों के मूलकारण, वायु तत्व और (अमृतम्) अमृत आत्मा यह एक दूसरे के आश्रित हैं। वायु के आश्रय प्राण, प्राणों के आश्रय आत्मा जीवन धारण करता है। (अथ) और पश्चात् (इदम्) यह शरीर (भस्मान्तम्) राख हो जाने तक ही टिकता

१३—०विद्यया ०रविद्यया० इति काण्व०।

१५—ॐक्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। इति काण्व०।

है। इसलिये हे (क्रतो) कर्म के कर्त्ता जीव ! और प्रज्ञावान् पुरुष ! अथवा हे संकल्पात्मा जीव ! तू (ओ३म् स्मर) ओं३कार का स्मरण कर। 'ओ३म्' परमेश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है। और (क्रिवे) अपने भरसक सामर्थ्य और प्रयत्न से साधे हुए लोक की प्राप्ति के लिये (स्मर) अपने अभीष्ट का स्मरण कर। और (कृतं स्मर) अपने किये हुए अच्छे बुरे कर्मों का स्मरण कर।

अग्ने नय सुपथा राये ऽअस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम ऽउक्तिं विधेम ॥ १६ ॥

भा०—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप ! करुणामय प्रभो ! तू हमें (सुपथा) धर्म के उत्तम मार्ग से (राये) विज्ञान, धन और सुख प्राप्त करने के लिये (सुपथा) सन्मार्ग से (नय) ले चल। (विश्वानि वयुनानि) सब उत्तम ज्ञानों को और मार्गों और लोकों को (विद्वान्) जानता हुआ (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिल व्यवहार को (युयोधि) दूर कर। (ते) तेरे हम (भूयिष्ठां) बहुत २ (नमः उक्तिम्) स्तुति वचन (विधेम) करें।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म ॥१७॥

भा०—(हिरण्यमयेन) सब के हृदयग्राही, हित और रमणीय ज्योतिर्मय (पात्रेण) पालक द्वारा (सत्यस्य) सत्य आत्मा और परमात्म तत्व का (अपिहितम्) ढका हुआ (मुखम्) मुख खोला जाता है। (यः) जो (असौ) वह (आदित्ये) सूर्य अर्थात् प्राण में (पुरुषः) पुरुष, शक्तिमान् प्रकाश कर्त्ता है (असौ अहम्) वह ही मैं हूं। (ओ३म्) सब संसार

१७—०मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।
पूषन्नेकर्षेय सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्त समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं
तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥ इति काण्व० ।

का रक्षा करनेहारा वह (खम्) आकाश के समान व्यापक, अनन्त और आनन्दमय है । और वही (ब्रह्म) गुण, कर्म, स्वभाव में सबसे बड़ा है ।

अथवा, ढकने से जैसे वस्तु छिपी रहती है उसी प्रकार ज्योतिर्मय पदार्थों से मुझ से परम शक्ति का सत् पदार्थों में विद्यमान सत्यस्वरूप छिपा है, दृष्टान्त के रूप से जो महान् शक्ति सूर्य में विद्यमान है वही मैं हूं ।

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चाग्नौ ·····तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ गीता ॥

ओ३म् खं ब्रह्म

॥ इति चत्वारिंशोऽध्यायः ॥

इति यजुर्वेदः समाप्तः ॥

इति मीमांसातीर्थ-प्रतिष्ठितविद्यालंकार-विरुदोपशोभित-श्रीमत्पाण्डितजयदेवशर्मकृते यजुर्वेदालोकभाष्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ इति समाप्तं यजुर्वेदालोकभाष्यम् ॥

ऋषिवस्वङ्कचन्द्रा (१९८७) ब्दे चैत्रे मासि सिते दले ।
नवम्यां शशिवारे च यजुः शुक्लं समाप्यत ॥